वेदार्थपारिजात

खण्ड १

स्वामी करपात्रीजी महाराज

1.2 – Alm

वेदशास्त्रानुसन्धान ग्रन्थमाला

प्रथम पुष्प

वेदार्थपारिजात

खण्ड १

(अद्यावधि प्राप्त वेदभाष्यों का समालोचनात्मक अध्ययन)

लेखक

अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज

प्रथम संस्करण

वाराणसी २०३६ वि०

प्रकाशक
वेदशास्त्रानुसन्धान परिषद्
वाराणसी–१

मूल्य (दो भाग)
सामान्य संस्करण १६०.००
विशिष्ट संस्करण ३००.००

पुस्तक-प्राप्ति स्थान

१. श्री राधेश्याम खेमका, वेदशास्त्रानुसन्धान परिषद्, के. ६२/९२ कर्णघंटा, वाराणसी।
२. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, मार्फत श्री हनुमानप्रसाद धानुका, १४ नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता ७०००01
३. श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती (वेदान्ती जी), धर्मसंघ शिक्षामंडल, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।
४. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, मार्फत एस. पी. जैन, ८१ सुन्दर नगर, नई दिल्ली।

मुद्रक
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

VEDAŚĀSTRĀNUSANDHĀNA SERIES

No. 1

VEDĀRTHA-PĀRIJĀTA

Vol. I

CRITICAL STUDY OF VEDA-BHĀṢYAS

By

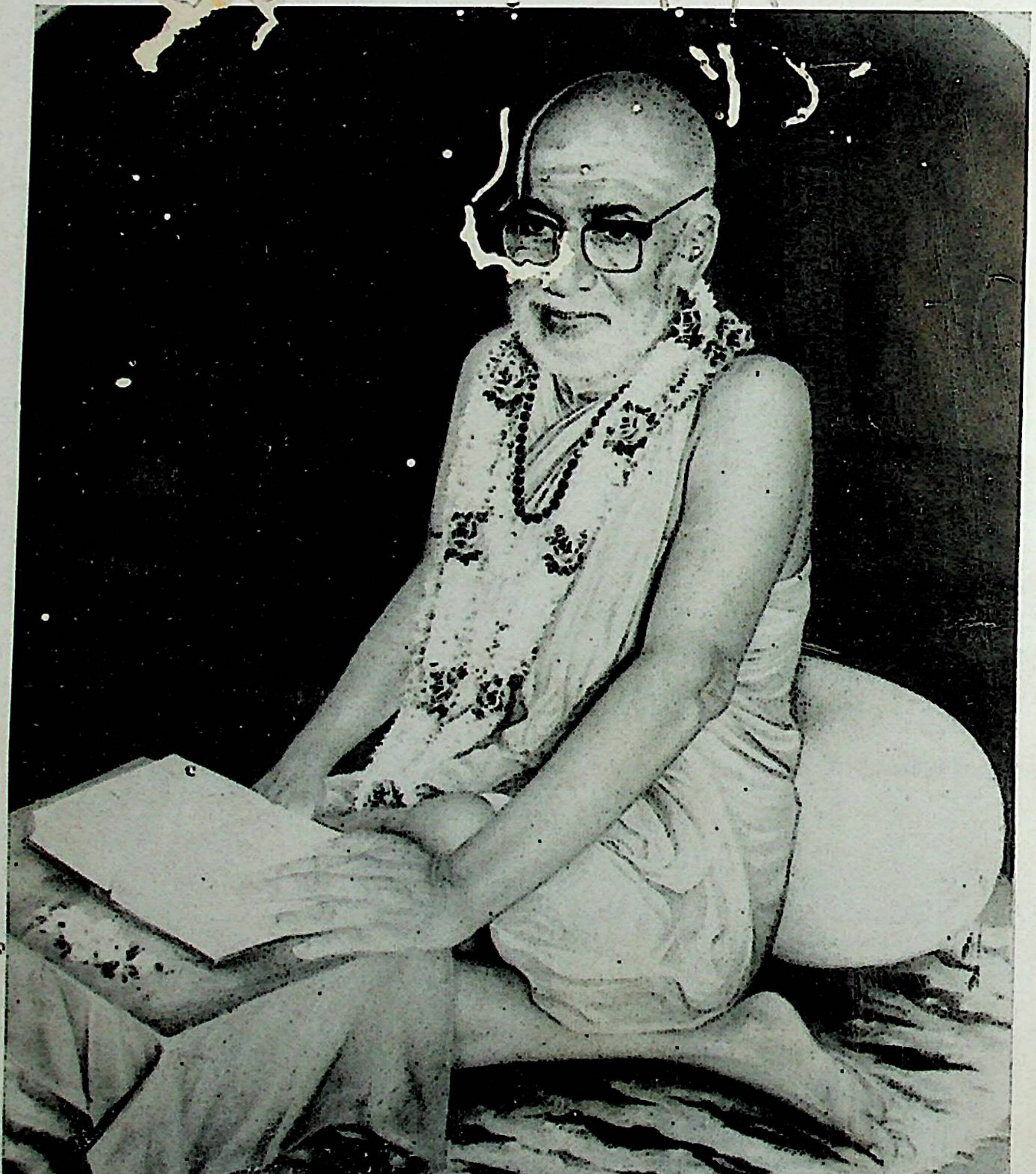
Anantaśri Svāmī Karapātrī Jī

FIRST EDITION

VARANASI 1979

पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज के अन्य ग्रन्थ

१.	श्रीविद्यारत्नाकर (संस्कृत)	३०.००
२.	मार्क्सवाद और रामराज्य (हिन्दी)	२५.००
३.	विचार पीयूष (हिन्दी)	२२.००
४.	श्रीभगवत्तत्त्व (हिन्दी)	२०.००
५.	भक्तिसुधा (हिन्दी) प्रथम भाग	प्रेस में
६.	„ („) द्वितीय भाग	१०.००
७.	„ („) तृतीय भाग	१०.००
८.	चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शः (संस्कृत) प्रथम भाग	५.००
९.	„ „ „ द्वितीय भाग	१०.००
१०.	वेद का स्वरूप और प्रामाण्य (हिन्दी)	७.५०
११.	अहमर्थ और परमार्थसार (हिन्दी)	६.००
१२.	राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिन्दू धर्म (हिन्दी)	५.००
१३.	भक्तिरसार्णवः (संस्कृत)	५.००
१४.	वेदस्वरूपविमर्शः (संस्कृत)	७.००
१५.	पूंजीवाद, समाजवाद और रामराज्य (हिन्दी)	५.००
१६.	संघर्ष और शान्ति (हिन्दी)	४.००
१७.	क्या संभोग से समाधि ? (हिन्दी)	२.२५
१८.	राहुल जी की भ्रान्ति (हिन्दी)	१.२५
१९.	वेदप्रामाण्यमीमांसा (संस्कृत)	१.००
२०.	तिथ्यादिनिर्णयः कुम्भनिर्णयश्च („)	१.००
२१.	धर्म और राजनीति (हिन्दी)	.५०
२२.	शाङ्करभाष्य पर आक्षेप और समाधान (हिन्दी)	प्रेस में
२३.	धर्मसंघ और विश्वशान्ति	प्रेस में
२४.	रामराज्य परिषद् और स्वतन्त्र पार्टी (हिन्दी)	.५०
२५.	गोवध की समस्याएं (हिन्दी)	२.००
२६.	राजनीति में ईमानदारी (हिन्दी)	.२५
२७.	भारत पर चीन का आक्रमण (हिन्दी)	.५०
२८	महाभारत कालमीमांसा (हिन्दी)	३.००
२९.	श्रीविद्यावरिवस्या (संस्कृत)	८.००
३०.	रामायणमीमांसा (हिन्दी)	४०.००



सच्छास्त्रसारनिगमागमपारदृश्वश्रुत्यर्थदूषणनिवारणबद्धकक्षाः ।
सन्देहभञ्जनचणाः करपात्रिपादाः श्रीस्वामिनो जगति सद्गुरवो जयन्ति ॥

अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज
जिनके करकमलों में यह ग्रन्थ समर्पित किया गया है ।

समर्पण :

त्वदीयं वस्तु हे स्वामिन् तुभ्यमेव समर्प्यते

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'

जिस आचरण के द्वारा इस लोक और पर लोक में भी कल्याण हो उसी का नाम धर्म है। उस धर्म का मूल वेद है, 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। वेदों की रक्षा करना ही धर्म की सबसे बड़ी रक्षा है। इतर मतावलम्बियों द्वारा सनातन धर्म के मूलभूत वेदों पर निरन्तर प्रहार किये जाते रहे हैं। समय-समय पर तत्कालीन मनीषियों द्वारा उन आक्षेपों और प्रहारों का यथार्थ खण्डन भी किया जाता रहा है। किन्तु इधर कुछ शताब्दियों से इतर धर्मालम्बियों एवं पाश्चात्यों द्वारा किये गये बेबुनियाद आक्षेपों का उत्तर नहीं हो पाया था। चूंकि उन आक्षेपों का उत्तर तो वही देने में समर्थ हो सकता है, जो समस्त वेद-वेदान्त का पूर्ण ज्ञाता हो। ऐसे महामनीषियों का तो कई शताब्दियों पश्चात् ही धर्म रक्षार्थ आविर्भाव होता है। श्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने उन आक्षेपों का युक्तियुक्त निराकरण करके वेद पर भाष्य करने का सत्प्रयास किया है। श्री स्वामी महाराज के तपश्चरण के द्वारा हृदय-ग्रन्थि का भेदन होने से समस्त ज्ञान-विज्ञान करामलकवत् भासित हो गये हैं। सम्पूर्ण शास्त्रों के चूड़ान्त सिद्धान्तों का ज्ञानवारिधि समुद्वेलित हो गया है। धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक, सामाजिक, पौराणिक, तान्त्रिक आदि साहित्यों पर श्रीचरणों ने अनेकों सन्दर्भ लिखे हैं। तत्तत् विषयों के मार्मिक विलक्षण विवेचन से आपकी अलौकिक प्रतिभा सुस्पष्ट प्रतिभासित होती है। आपके प्रवचन सुनने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उस समय समस्त वेद-वेदाङ्ग आदि शास्त्र अहमहमिकया उपस्थित होकर प्रेरित कर रहे हों। यह सुस्पष्ट ही है कि 'तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति'। ब्रह्मज्ञान द्वारा समस्त विषयों के अलौकिक ज्ञान से यह प्रतिफलित होता है कि श्री स्वामीजी महाराज उस कोटि तक पहुँचे हुए हैं। आपने धर्म-रक्षार्थ प्रचुर साहित्य का सृजन किया है, अनेकों संस्थाएँ स्थापित की हैं और अपरिगणित आन्दोलन किये हैं। जेल यात्रा से आपने उस युक्ति को चरितार्थ किया कि धर्म-रक्षार्थ श्री रामचन्द्र के सुकोमल चरण कमलों में दण्डक वन के कंटक चुभे तो उनके भक्तों की आँखों में भी कंटक चुभे तो विशेषता नहीं। आपके जीवन का प्रत्येक क्षण वैदिक सनातन धर्म की रक्षा के लिये समर्पित है। शास्त्रों में सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न विश्व कल्याण की भावना से विदित हृदय वाले महामनीषियों द्वारा ही ऐसे सत्प्रयास सम्भव हो सकते हैं। आज से करीब चालीस वर्ष पूर्व श्री स्वामीजी महाराज का हमारे ऊपर अनुग्रह हुआ था। मेरे पूज्य पिताजी स्व० श्री राधाकृष्णजी धानुका की श्री स्वामीजी के चरणों में अन्त तक अनन्य श्रद्धा बनी रही। श्री स्वामीजी महाराज के कार्यकलापों में सहयोग देना ही वे अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे। यही कारण है कि उनके परलोक गमन के उपरान्त भी श्री स्वामीजी द्वारा रचित वेद-भाष्य भूमिका के प्रथम खण्ड का प्रकाशन श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान के द्वारा सम्पन्न हो रहा है। इसका कारण श्री स्वामीजी महाराज की हमारे परिवार पर महती अनुकम्पा ही है। यत् किंचित् सम्भव हो सका है, यह सब इनकी कृपा-कटाक्ष का ही फल है। श्री चरणों की सेवा का सुअवसर हमें प्राप्त होता है, तो हम अपना सौभाग्य ही समझते हैं।

अतः श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान के द्वारा प्रकाशित वेद भाष्य का प्रथम खण्ड 'त्वदीयं वस्तु हे स्वामिन् तुभ्यमेव समर्प्यते' के अनुसार विनम्र भाव से श्री स्वामीजी को ही समर्पित करता हूँ।

हनुमानप्रसाद धानुका

अध्यक्ष

श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,

कलकत्ता।

प्रकाशकीय वक्तव्य

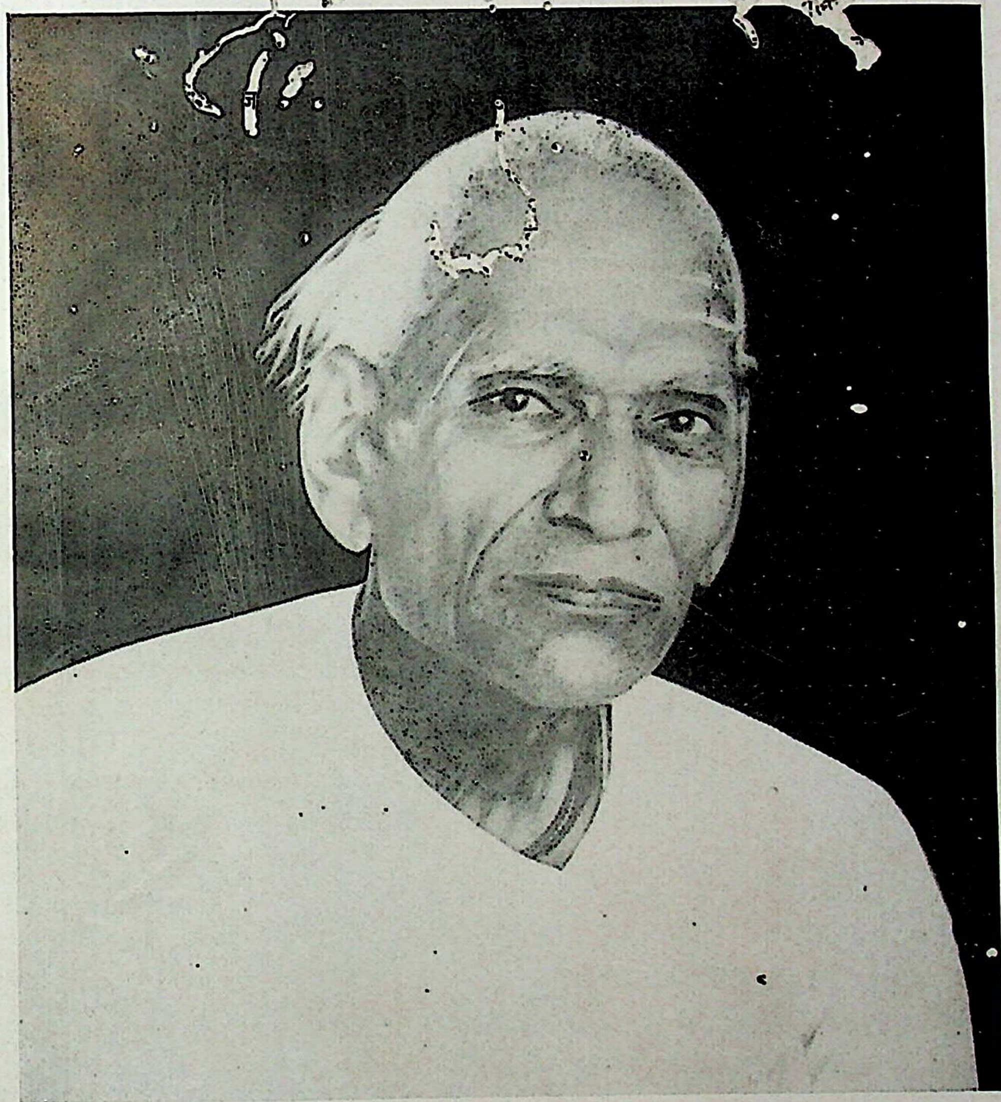
वेद भारतीय राष्ट्र की ही नहीं, सारे विश्वकी महान् निधि हैं। भारतीय जन अनन्त काल से इनको परम पवित्र अपौरुषेय शास्त्र के रूप में मानते हैं। वेदार्थ समझने के लिये प्राचीन काल से ही महर्षि यास्काचार्य तथा उनके अनुयायी सायणाचार्य प्रभृति द्वारा रचित वेद-भाष्य भारतीय आस्तिक जनों के आधार रहे हैं। परन्तु कुछ देशी एवं विदेशी लोगों द्वारा समय-समय पर वेदों के प्रति अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करने का कुत्सित प्रयास किया गया है, जिसके कारण वेदों के अर्थ का अनर्थ, आक्षेप एवं शंकाएं उत्पन्न होती हैं। ११३१ वेद शाखाओं की संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—यह पूरा वाङ्मय ... वेदराशि में समाविष्ट है। इस स्पष्ट भारतीय उद्घोषणा को भी कुछ लोग नकारना चाहते हैं। यद्यपि भारत में और विदेशों में भी वेदों के अध्ययन के प्रति गहरी रुचि जागृत हुई है, विज्ञान की एक नूतन शाखा 'भाषा विज्ञान' का विकास भी वैदिक वाङ्मय की सहायता से किया गया है, तथापि कुछ लोग समग्र रूप से इस वेदराशि को प्रमाण नहीं मानते, तो अन्य लोग कालक्रम से इसके विकास की बात उठाते हैं और इसका अर्थ मनमानी पद्धति से करना चाहते हैं। वेदार्थ के ज्ञान की एक निश्चित प्रमाण-संपुष्ट भारतीय-परम्परा को वे स्वीकार नहीं करते। इस विषम परिस्थिति में श्रद्धालु जनों का भी शंकालु वन जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी।

अनाचार-अत्याचार के अधिक बढ़ जाने पर तो भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं, किन्तु बीच-बीच में छोटी-मोटी अव्यवस्थाओं को दूर करने के लिये वे सन्त-महात्माओं के रूप में भी अवतीर्ण होते हैं। समग्र वेदराशि और वेदार्थ के प्रति श्रद्धालु जनों के मन को कलुषित कर देने वाली अब तक की उक्त परिस्थिति के परिहार के लिये हमारे बीच अनन्तश्रीविभूषित परिव्राजकसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज अवतीर्ण हुए हैं। श्रद्धालु आस्तिक जनों के कल्याण के लिये वे नूतन वेद-भाष्य की रचना में संलग्न हैं। यजुर्वेद का भाष्य पूरा हो चुका है और अब वे ऋग्वेद का भाष्य लिख रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी भाष्य का भूमिका भाग है। यह लगभग दो हजार पृष्ठों का ग्रन्थ है, जो दो खण्डों में पूरा होगा। प्रारम्भ में दार्शनिक भाग के अन्तर्गत प्राचीन मतों की समालोचना की गई है और बाद में आधुनिक भारतीय और पाश्चात्य मतों की। इस सम्पूर्ण भूमिका-भाग का प्रकाशन 'श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान' के द्वारा सम्पन्न हो रहा है। इस प्रकाशन संस्थान के संस्थापक श्री हनुमान प्रसाद जी धानुका ने यह शुभ कार्य अपने पूज्य पिता स्व० श्री राधाकृष्ण जी धानुका की पुण्य स्मृति में सम्पन्न कराया है। श्री राधाकृष्ण जी धानुका एक उच्च कोटि के साधक भगवद्भक्त एवं तपोनिष्ठ व्यक्ति थे। उनका जीवन दूसरों के लिये प्रेरणादायक एवं महान् आदर्शों का प्रतीक था। अतः हम संक्षेप में यहाँ उनका जीवन-परिचय प्रस्तुत करते हैं, जिससे पाठकगण लाभान्वित हो सकें।

श्री राधाकृष्णजी धानुका का जीवन-परिचय

संसृति के अजस्र प्रवाह में इस भूतल पर अनेक सन्त महात्मा भगवद्भक्तों का आविर्भाव होता रहा है। उनमें से अधिकांश के नाम भी विस्मृति की गह्वर में विलीन हो गये। जिनका वर्तमान में इतिहास के पृष्ठों पर आंशिक जीवनवृत्त उपलब्ध है, उन पर दृष्टि डालने से यह प्रतीत होता है कि वे तो कृतकृत्य हुए हो, उनके समकालीन लोग भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। तदनन्तर उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर अंकित साधना प्रणाली और जीवनवृत्त के अवलोकन से अनेक लोगों का जीवन आलोकित होता रहता है।

इन्हीं भगवद्भक्तों में स्व० श्री राधाकृष्णजी धानुका का पुनीत जीवनचरित्र भी विशेष प्रेरणा का स्रोत है। धानुका जी का जीवन वस्तुतः एक महान् आदर्श का प्रतीक था। श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त सनातन धर्म पर दृढ़ निष्ठा, अनिमित्ता भागवती भक्ति, अभावग्रस्त मानवों की अप्रकट रूप से सेवा—ये त्रिविध गुण उनके जीवन में परम पवित्र त्रिवेणी संगम के समान विद्यमान थे। श्री धानुकाजी की साधना जीवन के प्रथम चरण में



राधाकृष्णपदारविन्दमधुपाः श्रीधानुकावंशजाः
राधाकृष्ण इति प्रसिद्धिमगमन् ये श्रेष्ठिनो धार्मिकाः ।
तेषां स्मारकमेतदस्ति विपुलं प्राप्ताः पदं वैष्णवं
वेदार्थेन विशेषितं धिषणया श्रीपारिजाताभिधम् ॥

स्व० श्री राधाकृष्ण जी धानुका
जिनकी पुण्य स्मृति में यह ग्रन्थ प्रकाशित कराया गया है ।

ही प्रारम्भ हो गई थी। तभी से सांसारिक व्यवहार कार्यों में अरुचि, भगवद्भजन में आसक्ति उत्तरोत्तर वृद्धिगत होने से चालीस वर्ष की तरुण अवस्था में ही भगवद्भाव रूपी समुद्र की उत्तुंग तरंगों ने सांसारिक बन्धन रूपी शृंखला को खण्ड-खण्ड कर डाला। तभी से संसार के कोलाहल से निवृत्त होकर किसी निराले स्थान में साधना-जीवन के ध्येय ज्ञेय की प्राप्ति के लिये वृन्दावन वास को 'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुरानन्दसच्चिद्घनतामुपैति' के आधार पर सर्वोत्तम मान्यता दी।

तीर्थवास के नियमानुसार अहोरात्र का संपूर्ण कार्यक्रम भगवद् संबन्धी क्रियाकलापों में व्यतीत होने लगा। देह निर्वाह के लिये एक समय फलाहार, उषा काल में जागरण, त्रिकाल सन्ध्योपासन, देवर्षि तर्पण, देव पूजन नित्य होम आदि धर्मशास्त्रोक्त कर्मयोगपरायणता, श्रीमद्भागवती कथा, श्री विहारीजी का दर्शन, कीर्तनादि भक्तियोग का अवलम्बन करके सम्पूर्ण जीवन ऋषि-मुनियों के समान यापन किया। श्री राधाकृष्णजी धानुका की धर्मशास्त्रों के प्रति दृढ़ निष्ठा के कारण ही पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज में अटूट श्रद्धा हो गयी और उन्होंने स्वामी जी के कार्यकलापों में सहयोग एवं उनका अनुसरण करना ही अपना पावन कर्तव्य समझा। श्री स्वामीजी की आज्ञा से रमणरेती वृन्दावन में धर्मसंघ शिक्षा मण्डल द्वारा संचालित धर्मसंघ विद्यालय की स्थापना की, जिसमें करीब २० विद्यार्थियों की निःशुल्क भोजन, आवास और शिक्षण की व्यवस्था चल रही है। विद्यालय के सन्निकट ही दण्डी संन्यासी आश्रम का निर्माण करवाया है, जिसमें उनके लिये भिक्षा एवं आवास की व्यवस्था है। सन् १९४२ में अपनी जन्मभूमि फतेहपुर (राजस्थान) में अखिल भारतीय धर्मसंघ का द्वितीय महाधिवेशन बड़े समारोह से सम्पन्न कराने का गौरव भी श्री राधाकृष्णजी धानुका को ही मुख्य रूप से प्राप्त है। इस प्रकार श्री स्वामीजी महाराज के चरणों में इनका जीवन पर्यन्त अनुपम श्रद्धाभाव बना रहा। यही कारण है कि श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान द्वारा श्री स्वामीजी महाराज की इस अपूर्व कृति वेदभाष्य भूमिका के प्रथम खण्ड का प्रकाशन सम्भव हुआ। श्री धानुकाजी के हृदय में वाराणसी के प्रति भी महती श्रद्धा थी। उन्होंने काशी क्षेत्र में वृन्दावन विहारी भवन नाम से अतिथिशाला का निर्माण करवाया है। श्री धानुकाजी का जन्म फतेहपुर (राजस्थान) में वि० सं० १९४६ कार्तिक शुक्ल द्वितीया को तथा गोलोकवास वि० सं० २०३१ ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया को हुआ। ८४ चौरासी वर्ष की पूर्ण अवस्था प्राप्त कर भगवद्भजन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। चालीस वर्ष के वृन्दावनवास में तो आपके जीवन का प्रत्येक क्षण भगवत्सेवा में समर्पित रहा। लेशमात्र भी लौकिक वार्ता उन्हें सह्य नहीं होती थी। वे सदा शास्त्रविधि द्वारा निर्दिष्ट कर्मानुष्ठान में संलग्न रहते थे। बाह्याडम्बर, मान-प्रतिष्ठा आदि तो उनका स्पर्श भी नहीं कर पाये थे। सारल्य, सौजन्य आदि शील गुणों से जीवन भरपूर था। वृन्दावन विहारी के चरणकमलों के मकरन्द का रसास्वादन करते हुए आपने अपनी साधना को लोकनेत्रों से अलक्ष्य एवं अत्यन्त संगोपित रखकर श्रीकृष्ण रसभाव से भावित मति होकर अपने जीवन को कृतकृत्य एवं अनुकरणीय बनाया। श्री राधाकृष्णजी धानुका के भजन का ही प्रभाव है कि वर्तमान समय में सुसम्पन्न होते हुए उनका पुत्रपौत्रादि परिवार भी परम धार्मिक है एवं श्री स्वामीजी का पूर्ण भक्त है तथा श्री धानुकाजी के अनुसार ही अपनी परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए है। अतः किसी कवि ने कहा है कि—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

अन्त में हम उन महानुभावों को भी स्मरण करना चाहते हैं, जो इस महान् ज्ञान-यज्ञ में अपनी श्रद्धा और भक्ति के अनुसार आहुति प्रदान कर रहे हैं। ये हैं श्री चमनलालजी तथा लाला लक्ष्मणदास जी आदि।

मंत्री
वेदशास्त्रानुसन्धान परिषद्, वाराणसी

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्यवर्य पुरीपीठाधीश्वर श्री निरंजनदेव तीर्थ जी महाराज का वक्तव्य

वेद भगवान् अधिकारानुसार प्राणी मात्र के कल्याणकारक हैं। वे अनादि, अनन्त और अपौरुषेय हैं। अतः पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, करणापाटव, विप्रलिप्सा आदि पुरुषसाधारण दोषों से रहित हैं। कोई भी व्यक्ति यदि कोई ग्रन्थ लिखता है, तो वह उसमें निहित सामग्री का ज्ञान प्रमाणान्तरों से करता है, किन्तु वैदिक सामग्री का ज्ञान किसी भी प्रमाणान्तर से हो सकता नहीं। सन्ध्यावन्दन, याग, होम आदि उपात्तदुरितक्षय तथा स्वर्गादि के साधन हैं, इत्यादि बातें किसी भी पुरुष को किसी भी प्रकार से ज्ञात नहीं हो सकतीं। जब ज्ञात नहीं हो सकतीं तो कोई पुरुष इन बातों को लिख कैसे सकता है? अतः वेदों में पुरुष-संबन्ध के गन्ध की भी आशंका की सम्भावना ही नहीं है। वेदों का तात्पर्य ब्राह्मण भाग, ६ अंग, ६ शास्त्र एवं पुराणेतिहास आदि के द्वारा ही जाना जा सकता है। आचार्य भगवत्पाद ही नहीं, अपितु श्रीमद् रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों का भी यही मत है। आचार्य वेङ्कट माधव (सायण से भी प्राचीन), सायण-माधव, उव्वट, महीधर आदि सभी की यह स्पष्ट घोषणा है। किन्तु डा० आफ्रेक्ट बेवर, मैक्समूलर, याकोवी, कीथ, विन्टरनित्ज, मेकडोनल्ड आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों और तदनुयायी लोकमान्य तिलक, डा० कैलासचंद्र, डा० पी० वी० काणे, स्वामी दयानन्द आदि कुछ भारतीय विद्वानों ने भी वेदों के संबन्ध में मनमानी की है।

अनन्त श्री स्वामीजी महाराज ने उन सबका यथार्थ उत्तर देकर यह 'वेदार्थपारिजात' सुविज्ञ पाठकों को सुलभ कराने का स्वर्णमय अवसर दिया है।

आशा है इससे सारा संसार उपकृत होगा।

प्रस्तावना

अथेदानीं 'वेदार्थपरिजात'नामा वेदभाष्यग्रन्थोऽनुसन्धातॄणां तत्त्वविमर्शकानां चिन्तकानां चाध्ययनाय प्रकाशपथमानीयते। अस्य ग्रन्थस्य प्रणेतारोऽनन्तश्रीविभूषिताः सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः सनातनधर्मसमुज्जीवकाः प्रातःस्मरणीयाः पुण्यश्लोकाश्च श्रीकरपात्रस्वामिश्रीचरणाः। तत्रायं वेदभाष्यभूमिकायाः स्वामिचरणैर्विरचितायाः प्रथमो भागः। अस्य द्वितीयो भागो भाष्यं चाश्वेव भागशः पाठकानां करकमलान्यलङ्करिष्यति। स्वामिचरणानां विषये नाधिकमहं विवक्षामि। लोकविश्रुतास्ते त्यागशीला अपि 'ह्रासदर्शनतो ह्रासः' इति न्यायेनानुकलं क्षीयमाणस्य सनातनधर्मस्य समुज्जीवनाय प्रतिश्वासं यतमाना आ च हिमवतः, आ च कुमारिकायाः, नैकवारं भारतभुवमिमां परिभ्रम्यानितरसाधारणीं शैलीमास्थाय लोककल्याणाय समुपदिशन्तो लोकानां मनांस्यावर्जयन्तश्च तान् सनातनधर्मोन्मुखान् विदधतीति न तिरोहितमिदं समेषां भारतनिवासिनाम्।

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' इति प्रमाणानुसारेण जगतः स्थितिर्धर्ममूलेति कथनं पिष्टपेषणम्। तत्राप्यस्माकं भारतमतिचिरन्तनादेव कालाद् धर्मनिष्ठं सद्विश्वस्य जगतो गुरुस्थानेऽवर्तत इति मनुरब्रवीत्। तत्राप्यस्मद्देशं सुमहत्प्रासादरूपेण परिकल्प्य तत्र दृष्टिर्विधेया। प्रासादनिर्माणाय इष्टकानां सिकतानां स्नुह्याः सुधायाश्चावश्यकतेति लोकसिद्धः पन्थाः। तत्र च स्नुही विशिष्टा सामान्या चेति द्विविधा समाश्रीयते प्रासादनिर्मातृभिः, तथैव कन्दमूलफलाशिनश्चिरन्तना अपि द्वितीयं तृतीयं च पुरुषार्थमिष्टकास्थाने परिगृह्य धर्मं सामान्यतो विशेषतश्च स्नुहीरूपेण परिकल्प्य विशेषस्नुह्या इष्टकाः संयोज्याभ्रंलिहा भित्तीर्निर्माय ताः सुदृढाभिः शिलाभिराच्छाद्य दार्ढ्याय सामान्यस्नुह्या भित्तीरनुलिप्य मोक्षसुधया सम्भूष्यातिमनोहरं प्रासादं सम्पाद्य तत्र सुखेन निवसितुमस्मभ्यं प्रादुरिति वर्णनं मन्ये नातिशयोक्तये कल्पेत इति। एतेनार्थकामप्रधानेभ्यो देशान्तरेभ्यो भारतस्य वैलक्षण्यं सिध्यति, भारतस्य धर्मसंवलितार्थकामप्रधानत्वात्।

स्नुहीस्थानापन्नस्य धर्मस्य मूलं वेदः, 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इति स्मरणात्। धर्ममूलं वेदं तन्मूलकस्मृतिपुराणेतिहासदर्शनशास्त्राणि च भारतादपास्य भारतं पश्यामो यदि, तर्हि देशान्तरेभ्योऽस्य किं वैलक्षण्यं प्रसिद्ध्येदिति विचिन्तनीयमेकैकेन भारतभुवि जनिमातस्थुषा मानवेन। भारतमातुः प्राणा वेदाः। प्राणेष्वपगतेषु शववदवस्थिते भारते वसन्तो वयं देशान्तरेभ्योऽस्य वैलक्षण्यं कथमिव सम्पादयितुं शक्नुम इति चिरं विभावनीयं सर्वेण मानवेन। क्षणेनैव सर्वं जगद् विध्वंसयितुं समर्थान्याणविकान्यस्त्राणि शस्त्राणि नैकविधानि यानानि च निर्माय तैर्भारतं पूरयितुं सुमतयो विज्ञानिनः कामं भारते भवेयुः, नैतावता भारतस्य वैशिष्ट्यं सम्पादितं स्यात्, देशान्तरेष्वपि तथाविधानां सत्त्वात्। ज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानमित्यस्ति त्रेधा विभागः। ज्ञानविज्ञानयोः सातिशयत्वम्, प्रज्ञानस्य च निरतिशयत्वमिति विचिन्त्य चिरन्तना अस्मदीया निरतिशयस्य प्रज्ञानस्यावाप्तये यत्नशीला अभवन्। सातिशयान् पदार्थानवाप्यापि मानवः किं कर्तुं शक्नुयात्, कथं वा मनसः शान्तिमवाप्नुयात्, ततोऽप्यतिशयितवस्तुनः प्राप्तये लोलुप एव मानवः स्यात्।

'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्' इत्युक्त्यनुसारेणात्मदर्शनमपि धर्मत्वेनानुसन्दधानाश्चिरन्तनास्तुरीयपुरुषार्थादपि धर्मस्य ज्यायस्त्वं निश्चित्य तन्मूलभूतस्य वेदस्य परिरक्षणे बद्धश्रद्धा अभवन्। वेदस्य परिरक्षणं नाम तदध्ययनं तदध्यापनञ्च। अध्ययनाध्यापनाभ्यामेव वेदः परिरक्षितो भवति। शब्दप्रधानः खलु वेदः। स चायं शब्दसमूहो गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणरूपाऽध्ययनेनैवाप्तुं शक्यत इति सम्प्रदायः। सम्प्रदायश्चाविच्छिन्नगुरुशिष्यपारम्पर्येण विद्याप्राप्तिः। अत एव स्वाध्यायाध्ययनं चतुर्विधेषु उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतिरूपेषु कर्मसु आप्तिसंस्कारकर्मेति मीमांसका आचक्षते। एवमस्यां विद्यायां प्राप्तायामध्येतुरात्मनि कश्चनातिशयविशेषो जायते। यथानियमं खलु वेदा अध्येतव्याः। केवलं पुस्तकमवलोक्य पठनं वाचनं वाध्ययनं न परिगण्यते। तत्र कथमिव तादृशसंस्काराहितस्याध्यापकस्य वाग् वितथा भवेत्? स्वाध्यायाध्ययनं तपः। तपसा च निग्रहानुग्रहशक्ती समुत्पद्येते। नियमाननति-

ऋग्याधीतवेदेन मन्त्रेणाभिमन्त्र्य प्रदत्तं भस्म शिशूनां बालानां यूनां प्रवयसां च साधारणान् ज्वरादीन् व्याधीन् अपाकरोतीति जनपदेष्वसकृदनुभवाम। पुरा जनपदेषु ग्रामटिकासु च सर्वासु क्व वा भिषज आसन्। तत्रैतादृशाधीतवेदा एव जनतायाः शरणमासन्।

यथा वा शब्दसमूहप्राप्तौ नियमास्तथैव तदर्थग्रहणेऽपि सम्प्रदायः। सम्प्रदायोऽयं न श्रद्धाविजृम्भितः। वेदार्थनिर्णयेऽपि सन्त्यनेके नियमा मीमांसकैर्वेदान्तिभिरन्यैश्च यास्कप्रभृतिभिर्महर्षिभिः प्रवर्तिताः। यथा वा राज्ञः प्रासादं प्रवेष्टुं नैकविधान्यभेद्यानि दुर्गाणि भवन्ति, तथैव भगवतो वेदपुरुषस्य तत्त्वमवबोद्धुं सन्त्यनेकानि शिक्षा-व्याकरणादीनि दुर्गाणि महर्षिभिस्तपसा प्रकल्पितानि। न केवलमिदमेव, तीर्त्वापीमानि दुर्गाणि न्यायाब्धिरूपं मीमांसकोन्नीतं दुर्गम्, तार्किककेसरिभिः प्रकल्पितं तर्ककूपारदुर्गम्, पुराणाख्यं महासमुद्रम्, धर्मशास्त्ररूपाणि विपिनानि च तीर्त्वा वेदार्थाधिगमाधिकारी भवति। तदिदमुक्तम्—

'पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥' इति।

दुर्गमेष्वेतादृशेषु सत्स्वपि दुर्गेषु, राजानं विध्वंसयितुं कथमपि प्रासादं प्रविशन्त्येव रिपवः। तथैव वेदपुरुषं मूलतः समुच्छेत्तुमस्मदीया एव बौद्धा भूत्वा वेदबाह्या वेदपुरुषं हन्तुमारभन्त। यत्र देवा भवन्ति तत्र भवेयुरसुरा अपि। देवासुरसङ्ग्रामोऽतिचिरन्तनः। सत्स्वेव परिपन्थिषु न्यायतत्त्वमवगतं भवेत्। नीतिपतेर्निर्णयाय वादिप्रतिवादिनोरुभयोः कथनमावश्यकं भवति। वेदपुरुषं बौद्धैराक्रम्यमाणं विलोक्य कार्तिकेयो भट्टपादरूपेण शङ्करश्च भगवत्पादरूपेण जगत्यवतीर्णौ। बौद्धाश्च धर्ममूलं शब्दसमूहं वेदमेव समुच्छेत्तुमारभन्त। तदिदं मूलं भट्टपादा भगवत्पादाश्च परिरक्षितवन्तः। कालगत्यनुसारेण वेदाध्ययनतदर्थावगमसम्प्रदायः पुनरपि भारते किञ्चिदिव प्रवर्तते स्म। अस्य सम्प्रदायस्य परिपोषकाः श्रीमदुदयनाचार्य-सर्वतन्त्रस्वतन्त्रवाचस्पतिमिश्र-श्रीमदप्पयदीक्षितेन्द्रप्रभृतयो महामनीषिणः। सर्वोऽपि दार्शनिकः पृथगेकं वेदाविरोधेन पन्थानं परिकल्प्य गच्छति। गच्छन् मध्येमार्गं परैः प्रक्षिप्यमाणान् कण्टकान् प्रस्तरखण्डान् वा दूरीकृत्य स्वीयं दर्शनसम्बद्धं मार्गं निष्कण्टकं विदधाति। तथापि स्वयूथ्यैः वेदमार्गानुसारिभिः प्रक्षिप्यमाणान् तान् तत्परवर्तिनो युक्तिभिरुत्सारयन्ति। एवमास्तिकदर्शनेषु प्रतिदर्शनं खण्डनमण्डने स्तः। एकेनापरं दर्शनं खण्डितमिति तस्यानुपादेयत्वं नान्यो मन्यते। मिथो विरुद्धसिद्धान्तावलम्बिनोऽपीमे एकीभूय नास्तिकदर्शनानि 'वयं पञ्चोत्तरं शतम्' इति न्यायेन तन्मतखण्डने मिलिता भवन्ति। प्रस्तुतग्रन्थस्य दार्शनिकभूमिकाभागे विषयोऽयं विस्तरेण विशदीकृतः। एषा नीतिर्दार्शनिकानाम्।

एवमास्तिकनास्तिकदर्शनानां स्थितौ सत्यां सम्प्रति भारते सन्निकृष्टकाले नूतनं किञ्चिन्मतमाविर्भूतम्। मतमिदमतिभयङ्करम्। नास्तिकास्तु मूलोच्छेदाय प्रवृत्ताः, नवीनमतावलम्बिनस्त्विमे मूलस्यैकं भागं परिगृह्णन्ति, भागान्तरं च कर्तयन्ति, अण्डस्यैको भागो भक्षणाय भागान्तरं च प्रसवायेति यथा। पलितकेशायाः श्रुतेर्मातुः केशानामेकं भागं हस्तेन गृह्णन्तो भागान्तरगतान् केशान् लुञ्चन्ति। जरसा समाक्रान्ता माता श्रुतिः किं करोतु? द्रुपदतनयायाः केशाकर्षणं शृणुमः, श्रुतेर्मातुः केशाकर्षणं सम्प्रति वयं पश्यामः। न केवलमिदमेव, श्रुतिमातरमनुसरन्ती प्रवृत्ता युवती मीमांसेति सर्वजनप्रसिद्धम्। तस्या युवत्याः शीलभङ्गेऽपीमे न लज्जन्ते।

श्रुतेः परिरक्षणाय चिरन्तनैः सुमहत् साहित्यमाविष्कृतं विचारात्मकं प्रयोगात्मकं च। अपारे वेदात्मनि जलनिधौ तिमिङ्गिला इव दुष्प्रवेशे विपिने सिंहा इव निःसाध्वसं सञ्चरन्तश्चिरन्तना वैदिकसाहित्यं समुपबृंहितवन्तः। क्षीयमाणामध्ययनाध्यापनपरम्परामन्वीक्ष्य तत्तच्छाखाभ्यः सारं परिगृह्य स्मृतीः, तद्विचाराय प्रभूतान् निबन्धग्रन्थांश्च मनीषिणः प्राणैषुः। वेदवाक्यार्थनिर्णयाय सत्स्वपि निगमनिरुक्तव्याकरणादिषु अनेके न्याया मीमांसकैः प्रवर्तिताः। न्यायानां सम्मुखमवनतशिरस्कैर्मौनवैर्भवितव्यमिति सर्वसम्मतः पक्षः। सर्वमिदं समवेक्ष्य वेदार्थनिर्णयाय यतितव्यम्।

ततस्र एव संहिता वेदाः, ब्राह्मणभागो न वेदः, मन्त्रान् विरच्य संहितायां संयोज्य तद्विनियोगाय नूतनानि कर्माणि परिकल्पितवन्तः प्राञ्चः, साधारणरूपेणादौ अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यान्येवानुष्ठीयमानान्यासन्, इमानि च कर्माणि सात्त्विकानि, अनन्तरं तामसकर्मणां योजनम्, तेषामाडम्बरेणानुष्ठानं द्रव्यसङ्ग्रहायेत्यादि प्रलपन्तो

लिखन्तश्च वर्तन्ते । एतेषां मते निश्चितः सिद्धान्तः कश्चिन्नास्त्येव । निःसङ्कोचं वदन्ति लिखन्ति च ब्राह्मणभागो न वेदः, तथापि शतपथब्राह्मणस्य केनचिदंशेन प्रामाण्यमंशान्तरेण चाप्रामाण्यमिति । स्वकल्पितस्य पथो यदेव विरोधमाचरति तच्चाप्रामाणम् । संहितागतमन्त्रा एव विधायकाः, ते च यज्ञसम्बन्धिन एवेति नास्ति निर्बन्धः, लौकिकान् सामाजिकांश्च विषयान् प्रतिपादयन्तो मन्त्रास्तेषु विषयेषु लोकान् प्रवर्तयितुं समर्था भवन्तीति । देवताविषये महानेव विवादः, परमेश्वरविषये महती चर्चा तैरुपस्थाप्यते । शब्दार्थनिर्णये स्वस्मै यद्रोचते तदेव प्रमाणम् । चोरास्तु विडालपादा गृहेषु प्रविश्य चौर्यकर्म कुर्वन्ति, इमे त्वाक्रमणकारिणो धूर्ता इव प्रत्यक्षं सालोके जगति वेदभवनं प्रविश्य मातुः श्रुतेः केशान् स्पृशन्ति । धर्मतत्त्वविमर्शायैव प्रवृत्तं मीमांसाशास्त्रं त्वेतेषां यत्किञ्चित् । जैमिनिशवरभट्टपादप्रभृतयो मनीषिण एतेषामगणनीया एव । पूर्वापरसन्दर्भसमवलोकन इमे अन्धा एव ।

इमां दुःस्थितिं समवेक्ष्य कृपालवः श्रीकरपात्रस्वामिचरणास्तत्र तत्रैतन्मतावलम्बिनः, तेषु तेषु शास्त्रेषु लब्धप्रतिष्ठान् विदुषश्च सादरमाहूय विचारगोष्ठीः समायोज्य नैकवारं वादांश्च प्रवर्तयामासुः । प्रत्यक्षमहमन्वभवं क्वचित्सभायां निग्रहस्थानमापन्ना इमे प्रस्तरखण्डान् ववर्षुः । मातुः केशानां लुञ्चने प्रवृत्तिमतामेतेषां प्रस्तरखण्डवर्षणं किमसाध्यम् ? अथवा युक्ति-तर्क-प्रमाणविहीनानामेषां कोऽन्य उपायः स्यादृते प्रस्तरखण्डवर्षणात् ? इमां स्थितिं पर्यवेक्ष्य स्वामिचरणा दयानन्देन लिखितं वेदभाष्याभासम् ऋग्भाष्योपक्रमणिकाम् अन्यैश्च तन्मतावलम्बिभिर्जिज्ञासुप्रभृतिभिश्च लिखितान् ग्रन्थाभासांश्चालोड्य, चिरन्तनैरास्तिकदार्शनिकैः प्रवर्तितान् ग्रन्थानाश्रित्य नाम्ना 'वेदार्थपारिजातम्' वेदभाष्यं प्राणैषुः । न केवलं भाष्यमेव, विषयाणामनुशीलनाय तदुपोद्घातं बृहदाकारेण निर्मितवन्तः यस्यायं प्रथमो भागः । द्वितीयभागश्चाचिरादेव प्रकाशमेष्यति ।

अस्मिंश्च महत्युपोद्घातग्रन्थे 'मानाधीना मेयसिद्धिः' इत्युपदिष्टदिशा प्रथमं प्रमाणानि दार्शनिकीं दृष्टिमवलम्ब्य सविशेषमनुशीलितानि । अत्र बौद्धानां पक्षं समुद्धृत्य विचारः प्रवर्तितः । शब्दप्रमाणविषये आस्तिकानां नास्तिकानां च या या विप्रतिपत्तयः, ता निष्पक्षपातया दृशा विवेचिताः । प्रमाणानां प्रामाण्ये यः कलहो दार्शनिकानां स विशेषरूपेण परिशीलितः । अस्मिन्नेव प्रसङ्गे वेदस्य स्वरूपं तदपौरुषेयत्वं तत्प्रामाण्यं च कीदृशमिति विस्तरेण निरूप्य दयानन्दमतं सप्रमाणं सुपरीक्षितम् । ब्राह्मणभागानां सत्यपि संहिताव्याख्यानरूपत्वे यथा तदपौरुषेयत्वं प्रसिद्ध्यति, तथा मनोहरः पन्थाः प्रदर्शितः । पदपदार्थावधारणं वाक्यवाक्यार्थनिश्चयः कथं प्रसिद्ध्यति ? कस्तत्र प्रकारः ? कानि च तत्र प्रमाणानि ? तत्र दयानन्दः किमभिप्रैति ? तस्य किं समाधानम् ? तदनुयायिनः किं लिखन्ति ? तदुत्तरं किम् ? इत्यादयो विषया विशदरूपेण विवेचिताः । एतेषु विषयेषु तत्र तत्र दार्शनिकैः सूत्रकारैः स्मृतिकारैश्च यदुक्तं तत्प्रमाणीकृत्य विषया विवेचिताः । हिंसिधातोर्लभतिधातोश्च कोऽर्थः ? तत्र प्रवृत्तिनिमित्तं किम् ? 'न हिंस्यात्' इति निषेधशास्त्रस्य कुत्र प्रवृत्तिः ? तदर्थमुत्सर्गापवादस्वरूपपरीक्षणम्, अत्र मीमांसकानां वेदान्तिनां च मतप्रदर्शनम्, देवतास्वरूपे समाजिनां यो भ्रमस्तदपसारणं प्रमाणैस्तर्कैश्च सुष्ठु कृतम् । एवमादयो बहवो विषयाः श्रीचरणैरत्रोपनिबद्धाः ।

परिणते वयसि परिश्रमस्यैतादृशस्य वहने तेषां किमुद्देश्यम् ? लोककल्याणायैवैतावान् परिश्रमस्तैराश्रितः । अन्यथा कालान्तरे सनातनधर्मस्य तन्मूलभूतवेदस्य च स्वरूपमिदमेव यत्समाजिभिरुन्नीतमित्यस्मदपत्यानि जानीयुः । यद्यपि सत्यस्य पिधानं केनापि कर्तुं न शक्यम्, तथापि कदाचनाऽसत्येऽपि मानवाः समाकृष्टा भवेयुः, तन्निरोधाय स्वामिचरणानां परिश्रमः सफलः स्यादिति । यान्त्रिकयुगेऽस्मिन् प्रायः कोऽपि धर्मेऽभिरतो न दृश्येत, किन्तु काल एतादृश एव स्यादिति न निर्द्धारयितुं शक्यते । परिभ्रम्यमाणे कालचक्रे पुनरपि चिरन्तनस्य धर्मस्य संस्कृतेश्च समागमः सम्भाव्यत एव । किन्तु लोकशास्त्रवञ्चनाय समाजिनां प्रवृत्तिर्मनीषिणां खेदं जनयत्येव । सत्यमेवेमे पश्यतोहराः । कथमन्यथा कात्यायनापस्तम्बाश्वलायनादिभिर्विरचितेषु कल्पेषु सूत्रेषु च विद्यमानेषु नूतनान् मन्त्रान् विरचय्य तद्विनियोगाय कर्माणि प्रवर्तयामासुरिति ब्रूयुः, कूष्माण्डचोराः कूष्माण्डमिव प्रभूतं वैदिकसाहित्यं कथमिव प्रच्छादयेयुः । इमे वराका आचक्षते—तैत्तिरीयशाखा न वेदः, कैश्चन कल्पितेति । रामायणकालात् पूर्वमेव कठतैत्तिरीयादिशाखाध्यायिन आसन्निति महर्षिवाल्मीकेरादिकवेर्वचनादवगच्छामः । आपस्तम्बादयो महर्षयो मिथ्यावादिनः, ब्रह्मदत्तादयः

सत्यवाचः । ये कर्मसु प्रथममपि पदार्थमाचमनं न जानन्ति, ते हि नाम सत्यवादिन इति किमितोऽपि विस्मयजनकं भवेत् । अधुना भारते यजुर्वेदस्य तैत्तिरीयशाखाया अध्ययनाध्यापनपारम्पर्येण यावद् यथा च रक्षणं भवति, तावत् तथा नान्यशाखायाः परिदृश्यते ।

विंशतितमेऽस्मिन् शतके परिलुप्यमानमध्ययनाध्यापनपारम्पर्यं वेदानां प्रत्यक्षमेव वयमनुभवामः । अध्ययनं च शाखाया एव भवति न वेदस्य, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति विधेः । कर्मानुष्ठाने स्ववेदीयस्वशाखाया एवावश्यकता भवति, न तु स्ववेदीयशाखान्तरस्य । वेदान्तरीयशाखायाः कामं स्यात् प्रयोजनम्, किन्तु स्ववेदीयां शाखामधीत्य वेदान्तरीयशाखाध्ययनमित्यस्ति नियमः । ये च स्वस्वसूत्रं गोत्रं प्रवरं च यथायथं न जानन्ति, ते नूनं ब्रूयुः—चतस्रः संहिता एव वेदपदाभिधेया इति । तत्र तत्र शिष्टाः कर्मकाण्डिनः स्वसूत्रगोत्रप्रवरानभिवादनावसर एवं स्मरन्ति—'अभिवादये भार्गवच्यावनाप्नवानौर्वजामदग्न्यपञ्चार्षेयप्रवरान्वितः श्रीवत्सगोत्र आपस्तम्बसूत्रो यजुर्वेदान्तर्गततैत्तिरीयशाखाध्यायी श्रीकृष्णशर्माऽहमस्मि भोः' इति । अत्रैव बोधायनसूत्र इति; सामवेदिनो भारद्वाजगोत्रो द्राह्यायणसूत्रः सामवेदान्तर्गतकौथुमशाखाध्यायीति, ऋग्वेदिनः शाकलशाखाध्यायी इति च स्वस्वशाखाभेदं परम्पराप्राप्तं स्मरन्ति । चतस्रः संहिता एव वेदास्तर्हि पूर्वोक्तस्मरणस्य का गतिः ? न केवलमिदमेव, स्वस्वशाखागतानि वाक्यानि पदानि वर्णान् तत्स्वरान् तद्गतदेवताकरणस्थानकालमात्रादींश्च विशेषतः परिपालयन्तोऽधुनापि दृश्यन्ते वैदिकाः । तथाहि—

'अग्निः' इति पदस्य रक्षणप्रकारः—वैदिका वेदाध्यापका अध्यापनात् पूर्वं शुद्धवर्ण-स्वरवर्ण-मात्रावर्ण-अङ्गवर्ण-वर्णसारक्रमैः पञ्चविधैः क्रमैः प्रतिपदं संरक्षन्ति । तत्र 'अग्निः' इति पदस्य तान् प्रदर्शयामः—(१) अकार-गकारद्वित्व-तृतीययमनकारेकारविसर्जनीया इति शुद्धवर्णक्रमः । (२) अनुदात्ताकारगकारद्वित्व-तृतीययमनकारो-दात्तेकारविसर्जनीया इति स्वरवर्णक्रमः । (३) एकमात्रिकानुदात्ताकारार्धमात्रिकविराम-द्व्यणुमात्रिकगकार-द्वित्वाणुमात्रिकतृतीययमार्धमात्रिकनकारैकमात्रिकोदात्तेकाराणुमात्रिकविरामार्धमात्रिकविसर्जनीयद्विमात्रिकविरामा इति मात्रावर्णक्रमः । (४) एकमात्रिकानुदात्ताकारार्धमात्रिकविराम-द्व्यणुमात्रिकपूर्वाङ्गभूतगकारद्वित्वाणुमात्रिकपूर्वाङ्गभूत-तृतीययमार्धमात्रिकपराङ्गभूतनकारैकमात्रिकोदात्तेकाराणुमात्रिकविरामार्धमात्रिकपूर्वाङ्गभूतविसर्जनीयद्विमात्रिकविरामा इत्यङ्गवर्णक्रमः ।

(५) पञ्चमो वर्णसारक्रम इत्युच्यते । स चेत्थम्—संवृतकण्ठोत्थितसंवाराख्यबाह्यप्रयत्नसहितनादध्वनि-
जनितनात्युपसंहृतहनुस्थानतथाविधौष्ठकरणसंवृतप्रयत्नैकमात्रिकाग्निदेवताकक्षत्रियजातितमोगुणसहितकनिष्ठिकाङ्गु-
ल्यधोरेखान्यासयोग्यशरीरह्रासंधितगलविलविनिस्सृतमृदुध्वनिक-वृषभरुततुल्यऋषभस्वरहेतुभूतहृदयस्थानोत्पन्नह्रस्वा-
नुदात्तस्वरगुणकवायुदेवताकब्राह्मणजातिकाकारार्धमात्रिकविरामसंवृतकण्ठोत्थितसंवारघोषाल्पप्राणाख्यबाह्यप्रयत्नसहि-
तनादध्वनिजनितहनुमूलस्थानजिह्वामूलकरणस्पृष्टप्रयत्नद्व्यणुमात्रिकपूर्वाङ्गभूतभूमिदेवताकक्षत्रियजातिकगकारद्वित्व-
तादृशध्वनिजनितसंवृतनासिकहनुमूलस्थानजिह्वामूलकरणस्पृष्टप्रयत्नाणुमात्रिकपूर्वाङ्गभूततृतीययमसंवृतकण्ठोत्थितसं-
वारघोषाल्पप्राणाख्यबाह्यप्रयत्नसहितनादध्वनिजनितविवृतनासिकोत्तरदन्तमूलाधोभागस्थानजिह्वाग्रकरणस्पृष्टप्रयत्ना-
र्धमात्रिकपराङ्गभूतसूर्यदेवताकवैश्यजातिकनकारसंवृतकण्ठोत्थितसंवाराख्यबाह्यप्रयत्नसहितनादध्वनिजनिततालुस्थाना-
त्युपसंहृतकण्ठोष्ठसहितजिह्वामध्यकरणत्रिवृतप्रयत्नैकमात्रिकभूमिदेवताकब्राह्मणजातिसत्त्वगुणसहिततर्जन्यङ्गुलिमध्य-
रेखान्यासयोग्यशरीरायामश्लक्ष्णीकृतगलविलविनिस्सृतपरुषध्वनिकाजारुततुल्यगान्धारस्वरहेतुभूतमूर्धस्थानोत्पन्नोदात्त-
स्वरगुणकाग्निदेवताकब्राह्मणजातिकेकाराणुमात्रिकविरामविवृतकण्ठोत्थितविवाराघोषमहाप्राणाख्यबाह्यप्रयत्नविशिष्ट-
श्वासध्वनिजनितकण्ठोपरिभागस्थानतदधोभागकरणविवृतप्रयत्नार्धमात्रिकपूर्वाङ्गभूतसूर्यदेवताकशूद्रजातिकविसर्जनीय-
द्विमात्रिकविरामा इति वर्णसारक्रमः ।

'अग्निः' इति पदस्येयं स्थितिः । प्रतिपदमेवं वैदिकानां रक्षणप्रकारः । अस्य सर्वस्य नियमा मत्सम्पादिते व्यासशिक्षाग्रन्थे स्पष्टमुल्लिखिताः । अधुनापि जीवन्ति कतिपये वैदिकाः पूर्वोक्तप्रकारेण वेदसंरक्षकाः । एवं स्थितौ सत्यामाधुनिको द्राग् ब्रवीति तैत्तिरीयशाखा न वेद इति । सर्वविधस्याप्येतादृशप्रलापस्य यथायथमुत्तरं सप्रमाणं श्रीचरणानां ग्रन्थ एव विस्तरेण दत्तं वर्तते ।

अस्य ग्रन्थस्य सावधानेन मननसाध्ययनमावश्यकम्। वेदविषये परैः क्रियमाणानां शङ्कानां यथायथमुत्तराणि दत्तानि विद्यन्ते। अनुसन्धातॄणां महत उपकाराय ग्रन्थोऽयं स्यादिति विश्वसिमि। संस्कृते परिचयरहितानां लाभायास्य ग्रन्थस्य हिन्दीभाषानुवादोऽपि विद्वद्भिः कृतः प्रकाशितः। अयं च भूमिकायाः प्रथमो भागः। अस्य द्वितीयभागे विदेशीयानां कृते विषयाववोधाय स्वामिचरणैर्निवद्धस्योपोद्घातस्याङ्गलभाषया संग्रहोऽपि प्रकाशयिष्यते।

अस्य ग्रन्थस्य पाण्डुलिपिसम्पादने तत्तद्वाक्यानामाकरस्थलान्यन्विष्य लेखने मुद्रणालयसम्बन्धिनि संशोधनकार्ये हिन्दीभाषानुवादकार्ये च प० श्रीमार्कण्डेयशास्त्रिभिः, प० श्रीव्रजवल्लभद्विवेदिभिः, श्रीगजाननमुसलगाँवकरशास्त्रिभिश्च यः परिश्रमः कृतः सोऽनिर्वर्णनीयः। येषां च कृतेऽद्यत्वे साक्षाद् वेदपुरुष इति प्रयोगो नातिशायी ते वैदिकशिरोमणयो रामनाथमिश्रमहोदयाः, तदनवमास्तेषां तनूजन्मानः श्रीनाथमिश्राः, सारस्वतकुलावतंसाः पण्डितप्रवराः श्रीनारायणजीमहोदयाः, वादलोपाह्वाः कर्मकाण्डनिष्णाताः श्रीमङ्गलजीमहोदयाः, तत्पुत्राः श्रीविनायकजीमहोदयाश्च, भगवद्विश्वनाथस्वरूपमुपगता महामान्याः सखारामदीक्षितमहोदयाः, विशेषतो हस्तलिखितप्राचीनपुस्तकादिप्रदानेन महदुपकर्तारो घनान्तवेदपाठिनो दीक्षितकुलावतंसाः साङ्गवेदमहाविद्यालये यजुर्वेदाध्यापका अस्मत्परममित्रभूताः सहृदयौदार्याभिजात्यादिगुणगणालङ्कृता दीक्षितकुलपयोधिचन्द्रमसः श्रीलक्ष्मीकान्तमहोदयाः, संस्कृतविश्वविद्यालये प्राचीनव्याकरणविभागाध्यक्षाः त्रिपाठिप्रवरश्रीपण्डितरामप्रसादत्रिपाठिमहोदयाः, पूर्वपक्षोत्थापनार्थं पुस्तकादिसाहाय्यदानेन परमोपकर्तारः विश्वनाथस्वरूपमुपगता गौडवंशावतंसाः श्रीपण्डितभगवत्प्रसादशर्माणः, चमत्कृत्याधायकप्रतिभाः प्रायोऽद्यतनानां प्रसिद्धानां सर्वेषां वैयाकरणानां वेदान्तिनां च गुरवो महामीमांसकाः पण्डितप्रवरा नैकग्रन्थेषु टीकादिविधातारो वलियामण्डलवास्तव्याः श्रीरघुनाथशर्माण इति नामग्राहमुट्टङ्कितानां सर्वेषामेव विदुषां सहयोगः सम्पन्नः। इत्थं साक्षात्सनातनधर्मपक्ष एष वेदार्थपारिजात इति कथयितुं युज्यते। सर्वथा पण्डिता इमे श्रीचरणानामनुग्रहपात्रं भविष्यन्तीति सुदृढं विश्वसिमि। भाष्यभूमिकाद्वितीयभागस्य वेदभाष्यग्रन्थस्य चाचिरादेव प्रकाशमिष्यमाणस्य निर्विघ्नेन समाप्तिर्भगवतः श्रीविश्वनाथस्यानुग्रहेण भवेदिति तं सम्प्रार्थ्येतो विरमामि—

वि० सं० २०३६
चैत्र शु० ९, वाराणसी

विनयावनतः
पट्टाभिरामशास्त्री, विद्यासागरः

प्रस्तावना

वेदार्थ के जिज्ञासुओं तथा तत्त्वचिन्तक अनुसन्धाताओं के समक्ष 'वेदार्थपारिजात' नामक वेदभाष्य को प्रस्तुत करने की हमारी योजना है। इस भाष्य के प्रणेता अनन्तश्रीविभूषित सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सनातनधर्मसमुज्जीवक प्रातःस्मरणीय पुण्यश्लोक श्री स्वामी करपात्री जी महाराज हैं। अभी वेदभाष्यभूमिका का यह प्रथम भाग प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका द्वितीय भाग और शुक्ल यजुर्वेद का विस्तृत भाष्य शीघ्र ही विज्ञ पाठकों के समक्ष आवेगा। स्वामी जी के विषय में हमें अधिक नहीं कहना है। उनसे सभी परिचित हैं। त्यागी महात्मा होते हुए भी आप कालचक्र की विपरीत गति के कारण ह्रासोन्मुख सनातन धर्म को पुनरुज्जीवित करने के लिये निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक सद्धर्म का प्रचार और प्रसार करने के लिये, अपने उपदेशामृत से भक्त जनों को आह्लादित करने के लिये इन्होंने अनेक बार यात्राएं की हैं और आस्तिक भारतीय जनों को अपनी अनोखी प्रवचन शैली से शाश्वत सनातन धर्म की ओर आकृष्ट करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है।

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' इस प्रामाणिक वचन के अनुसार जगत् की स्थिति धर्म के कारण ही है। मनुस्मृति के अनुसार हमारा देश भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से धर्मनिष्ठ होने के कारण ही सारे जगत् का गुरु बन गया था। भारत देश की भव्य प्रासाद के रूप में कल्पना कर हमें देखना चाहिये। मन्दिर या महल का निर्माण करने के लिये ईंट, बालू, सीमेन्ट और चूने की आवश्यकता पड़ती है। कन्द, मूल, फल मात्र से अपनी उदर पूर्ति कर हमारे चिरन्तन ऋषि-महर्षियों ने अर्थ और काम नामक दो पुरुषार्थों की इष्टका (ईंट) के रूप में परिकल्पना करके, सामान्य और विशेष धर्म की सामान्य और विशिष्ट सीमेन्ट के रूप में कल्पना की है। जैसे विशिष्ट प्रकार की सीमेन्ट से ईंटों को जोड़कर गगनचुम्बी दीवालें खड़ी की जाती हैं और उन पर सामान्य कोटि की सीमेन्ट से पलस्तर चढाया जाता है, उसी प्रकार सामान्य और विशेष धर्म की सहायता से यह भव्य प्रासाद खड़ा होता है। चूने से सफेदा कर स्थूल प्रासाद को सजाया जाता है, उसी तरह से मोक्ष रूपी सुधा से इस प्रासाद को सजाकर हमारे पूर्वजों ने हमें सौंपा है। इस प्रकार यह भारतवर्ष रूपी भव्य प्रासाद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों से बना है। केवल अर्थ और काम के ही सहारे चलने वाले देशों की अपेक्षा इसकी विशेषता स्पष्ट है, क्योंकि धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम को ही यह देश मान्यता देता है।

उक्त प्रासाद के रूपक में धर्म को सीमेन्ट का प्रतिरूप माना गया है। इस धर्म का मूल वेद है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इस शास्त्रवचन से यह स्पष्ट है। धर्म के मूलभूत वेद और वेदाभिमत स्मृति, पुराण, इतिहास, दर्शनशास्त्र आदि को निकालकर भारत को देखा जाय तो अन्य देशों की अपेक्षा इसकी क्या विशेषता रह जायगी? यह बात प्रत्येक भारत निवासी के लिये विचारणीय है। भारत माता के प्राण वेद हैं। प्राण के निकल जाने पर शव के समान निष्प्राण भारत देश में रह कर हम अन्य देशों की अपेक्षा क्या विशेषता दिखा पावेंगे? एक क्षण में सारे जगत् को नष्ट कर देने में समर्थ परमाणु अस्त्रों और नाना प्रकार के राकेटों का निर्माण कर भारत भूमि को पाट देने वाले वैज्ञानिकों से भारत का गौरव नहीं बढ़ेगा, क्योंकि इनसे भी बढ़कर योग्य वैज्ञानिक विदेशों में मिल जायेंगे। ज्ञान, विज्ञान और प्रज्ञान—ये मानवीय ज्ञान की तीन कोटियां हैं। इनमें ज्ञान और विज्ञान में एक से एक बढ़कर विकास होता रहता है, किन्तु प्रज्ञान एक रस है। इससे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं हो सकती, यही विचार कर हमारे पूर्वज निरतिशय प्रज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। सातिशय पदार्थों को प्राप्त करके भी मनुष्य क्या करेगा? उसके मन को शान्ति कहां से मिलेगी? वह तो जो प्राप्त हुआ है, उससे भी बढ़कर विशिष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिये लालायित रहेगा।

'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' (मनुष्य का यही परम कर्तव्य है कि वह योग की सहायता से आत्मदर्शन करे) इस उक्ति के अनुसार आत्मदर्शन भी धर्म के अन्तर्गत ही आता है। इसीलिये हमारे पूर्वजों ने

चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष से भी धर्म को अधिक गौरव प्रदान किया है और धर्म के मूलभूत वेद की रक्षा के लिये विशेष प्रयास किया है। अध्ययन और अध्यापन की परम्परा से ही वेद की रक्षा हो सकती है। विशिष्ट शब्दराशि ही वेद है। यह विशिष्ट शब्दराशि गुरुमुख से उच्चरित शब्दों का शिष्य के द्वारा उसी रूप में उच्चारण रूप अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती है। गुरु और शिष्य के अध्ययन-अध्यापन की इस प्रकार की अविच्छिन्न परम्परा को ही सम्प्रदाय कहा जाता है। वेदविद्या की प्राप्ति इस प्रकार की साम्प्रदायिक परम्परा से ही होती चली आ रही है। मीमांसा शास्त्र में उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति—ये चार प्रकार के कर्म वर्णित हैं। वेदशास्त्र का उक्त विधि से अध्ययन आप्ति संस्कार के अन्तर्गत आता है। वेदशास्त्र के अध्ययन से अध्येता की आत्मा का एक विशेष प्रकार का परिष्कार होता है। वेद का अध्ययन नियमानुसार ही किया जाता है। केवल पुस्तक को देखकर पढ़ना या वांचना अध्ययन नहीं है। नियमानुसार स्वाध्याय (अपनी शाखा) का अध्यापन कराने वाले अध्यापक की वाणी कभी विफल नहीं होती। स्वाध्याय का अध्ययन भी एक प्रकार का तप है। तप से निग्रह और अनुग्रह को शक्ति उत्पन्न होती है। नियमानुसार स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति के द्वारा दी गई अभिमन्त्रित भस्म से शिशु, बालक, युवक और वृद्ध पुरुषों की ज्वर प्रभृति साधारण बीमारियाँ दूर हो जाती हैं, प्रायः हमें ऐसा देखने को मिलता है। पुराने जमाने में गाँवों या शहरों में भी कहाँ डाक्टर मिलते थे ? उस समय ये तपस्वी वैदिक ही जनता की सहायता करते थे।

जैसे शब्दराशि को साम्प्रदायिक परम्परा से प्राप्त करने के नियम हैं, उसी तरह से इस शब्दराशि के अर्थ को जानने के भी साम्प्रदायिक नियम हैं। यह सम्प्रदाय केवल श्रद्धा पर ही आधारित नहीं है। इसके लिये पूर्वमीमांसा, वेदान्तसूत्र तथा निरुक्त प्रभृति ग्रन्थों में वैज्ञानिक पद्धति से नियम बताये गये हैं। जैसे राजप्रासाद में पहुँचने के लिए अनेक दुर्भेद्य दुर्गों को पार करना पड़ता है, उसी तरह से भगवान् वेदपुरुष के वास्तविक मर्म को समझने के लिये भी शिक्षा, व्याकरण प्रभृति दुर्गों की रचना ऋषि-महर्षियों ने की है। केवल इतना ही नहीं, इन दुर्गों को उत्तीर्ण कर देने के बाद भी मीमांसा दर्शन में, प्रदर्शित विविध न्यायरूपी दुर्ग को, तार्किक सिंहों के द्वारा विस्तीर्ण तर्कसमुद्र को, पुराण रूपी महासमुद्र को और धर्मशास्त्र रूपी गहन वन को पार करके ही मनुष्य वेदार्थ को जानने का वास्तविक अधिकारी बनता है। जैसा कि कहा गया है—

> पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
> वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याकरण प्रभृति छः अंग और चार वेद ये चौदह विद्यायें धर्म के रहस्य को बताने वाली हैं।

दुर्गम दुर्गों के रहते हुए भी शत्रु किसी न किसी उपाय से राजा को नष्ट करने के लिये इनमें घुस ही जाते हैं, उसी तरह में वेदपुरुष का समूल उच्छेद कर देने के लिये भी कुछ लोग इस पर सदा आक्रमण करते रहते हैं। देवताओं के साथ असुर रहते ही हैं। देवों और असुरों का संग्राम चिरन्तन काल से चला आ रहा है। विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने पर ही सही-गलती का निर्णय हो पाता है। सही बात का निर्णय करने के लिये वादो और प्रतिवादी दोनों का कथन सामने रहे, यह आवश्यक है। अज्ञानी नास्तिकों का वेदों पर आक्रमण होता देखकर स्वामी कार्तिकेय भट्टपाद कुमारिल के रूप में और भगवान् शंकर भगवत्पाद शंकराचार्य के रूप में अवतीर्ण हुए। उस समय बौद्धों ने धर्म के मूलभूत वेदशास्त्र का ही उन्मूलन करना प्रारंभ कर दिया था। उनके आक्रमण से भट्टपाद कुमारिल ने और भगवत्पाद शंकराचार्य ने वेदों को रक्षा की। समय की गति के अनुसार तदुपरान्त वेदों के अध्ययन और उनके अर्थों को जानने की प्रवृत्ति पुनः बढ़ने लगी। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, श्रीमान् अप्पय दीक्षित प्रभृति मनीषियों ने इस सम्प्रदाय का परिपोषण किया। सभी दार्शनिक मार्ग भिन्न होते हुए भी कभी वेद का विरोध नहीं करते, वेदशास्त्र का अनुवर्तन करते हुए ही ये सभी दर्शन आगे बढ़े हैं। पथिक चलते समय बीच मार्ग में खड़े किये गये अवरोध स्वरूप कण्टक, पाषाण खण्ड आदि को हटा कर अपना रास्ता बनाता है, उसी प्रकार से दार्शनिक भी अपने मत के विरुद्ध खड़े किये गये दुस्तर्कों का प्रबल युक्तियों से खण्डन कर अपने लक्ष्य तक

पहुँचता है। इस प्रकार का मतभेद केवल वेदविरोधियों के साथ ही नहीं, वेद को समान रूप से प्रमाण मानने वाले दर्शनों में भी विद्यमान है। इनमें भी परस्पर खण्डन-मण्डन की परम्परा चलती रहती है। इतना होने पर भी एक दूसरे को अनावश्यक नहीं मानता। इनमें परस्पर मतभेद रहने पर भी ये सब मिलकर नास्तिक दर्शनों का सामना करते हैं। तृतीय पक्ष के उपस्थित होने पर कौरव और पाण्डव मिलकर उसका सामना करते थे। इसी न्याय से ये दार्शनिक गण भी वेदविरोधियों का मिलकर सामना करते हैं। प्रस्तुत भूमिका के दार्शनिक भाग में इस विषय का विशद विवेचन किया गया है। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों की यही पद्धति है।

भारतीय आस्तिक-नास्तिक दर्शनों की यही स्थिति है। किन्तु अभी कुछ ही समय पहले एक नये मत का प्रचलन हुआ है। यह मत बड़ा भयावना है। नास्तिक लोग तो' मूलभूत वेदशास्त्र का उन्मूलन ही कर देना चाहते थे, किन्तु यह नया मत वेदशास्त्र के एक भाग को तो प्रमाण मानता है और दूसरे भाग को अस्वीकार कर देता है। उनका यह कार्य वैसा ही है, जैसे कि कोई व्यक्ति अंडे के आधे भाग को खाने के लिये और बचे आधे भाग को चूजा पैदा करने के लिये रख दे। वृद्धा वेदमाता के केशों को एक हाथ से पकड़कर दूसरे हाथ से उनको काट डालने का सा यह उनका दुःसाहस है। जराजर्जर बेचारी माता ऐसे कपूतों का क्या बिगाड़ सकती है। द्रौपदी के केशों को पकड़कर खींचने की कथा को तो हम सुनते ही थे, किन्तु वेदमाता के इस अभिनव अपमान को तो हम स्वयं देख रहे हैं। इतना ही नहीं, वेदमाता की पुत्री मीमांसा उसका अनुसरण करती है, तो उसका भी अपमान करने में इनको लज्जा नहीं आती।

वेदशास्त्र की रक्षा के लिये पुरातन भारतीय मनीषियों ने विचारात्मक और प्रयोगात्मक विशाल वाङ्मय का आविष्कार किया था। अनन्त अपार समुद्र में जलचरों के जैसे और बीहड वन में सिंह के समान अनन्त अपार दुष्प्रवेश वेदराशि का निर्भय आलोडन करने के लिये इन्होंने विशाल वेदांग साहित्य का निर्माण किया। अध्ययन-अध्यापन की परम्परा को क्षीण होता देखकर उन उन शाखाओं के सार भाग को लेकर स्मृति ग्रन्थों की और उन पर विचार विमर्श करने के लिये निवन्ध ग्रन्थों की रचना की गई। वेद वाक्यों के अर्थ का निर्णय करने के लिये निगम, निरुक्त, व्याकरण प्रभृति के रहते हुए भी मीमांसा के अनेक न्यायों की रचना की गई। इन न्यायों का समादर होना चाहिये, यह भारतीय दार्शनिकों का सर्वसंमत पक्ष है। इन सबको देखने-सुनने के बाद ही वेदार्थ का निर्णय करना चाहिये।

'चार संहिता ही वेद हैं। ब्राह्मण भाग वेद नहीं है। नये मन्त्रों की रचना करके उनको संहिता भाग में जोड़ दिया गया है और उनका विनियोग नये नये याज्ञिक कर्मकाण्डों के लिये कर दिया गया है। सामान्य रूप से प्रारंभ में संहिता में केवल अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास प्रभृति अनुष्ठेय कर्मों का ही विधान था और ये सभी अनुष्ठान सात्त्विक थे, किन्तु वाद में इनमें तामस अनुष्ठानों को भी जोड़ दिया गया। उनका बड़े आडम्बर के साथ अनुष्ठान किया जाता था। यह सब धन बटोरने के लिये था'। इस तरह की बातें बघारने वाले और लिखने वाले लोग आजकल हैं। इनका अपना कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। विना शील-संकोच के ये लिखते हैं कि ब्राह्मण भाग वेद नहीं है, किन्तु साथ ही अपनी बात को पुष्ट करने के लिये वे उसको प्रमाण रूप में उद्धृत भी करते हैं। इस तरह से वे एक ही ग्रन्थ के एक भाग को प्रमाण और दूसरे भाग को अप्रमाण मानते हैं। अपने विचारों के विपरीत जो कुछ भी, जहां कहीं भी दिखाई पड़ता है, उसको ये प्रक्षिप्त कह देते हैं। इनका कहना है कि संहिता भाग में विद्यमान मन्त्र ही विधायक हैं, न कि ब्राह्मण भाग गत वाक्य। ये विधायक वाक्य केवल यज्ञ से ही संवद्ध हों, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। इनमें लौकिक और सामाजिक विषय भी वर्णित हैं और ये मन्त्रगत वाक्य उन उन विषयों में लोक को प्रवृत्त कराने में समर्थ हैं। देवताओं के संबन्ध में ये बड़ा बखेड़ा उठाते हैं और परमेश्वर के विषय में बड़ी बड़ी चर्चाएं करते हैं। शब्दार्थ का निर्णय ये अपनी रुचि के अनुसार करते हैं। चोरी करने जाते समय चोर बिल्ली के जैसे चुपके से घर में घुसते हैं, किन्तु ये आक्रमण कारी धूर्त सबके सामने उजाले में वेदमाता के केशों को खींचते हैं। धर्म के वास्तविक अभिप्राय को प्रकट करने के लिये प्रवृत्त मीमांसा शास्त्र की इनके यहाँ कोई गणना नहीं है। जैमिनि, शबरस्वामी, भट्टपाद कुमारिल प्रभृति इनके सामने नगण्य हैं। किसी भी वाक्य के पूर्वापर संबन्ध को ये नहीं देख पाते।

इस तरह की दुरवस्था को देखकर दयालु स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने विभिन्न मतवादों को मानने वाले प्रतिष्ठित विद्वानों को आदर पूर्वक बुलाकर उनके साथ विचार विमर्श किया और अनेक बार शास्त्रीय चर्चाएं आयोजित कीं। मैंने प्रत्यक्ष अपनी आंखों से देखा है कि सभाओं में अपनी बात की हेठी होते देखकर ये लोग पत्थर फेंकने लगते हैं। जो लोग माता के केश खींच सकते हैं, उनके लिये पत्थर बरसाना कौन बड़ी बात है? अथवा युक्ति, तर्क और प्रमाण के अभाव में पत्थर वर्षा करने के सिवाय इनके पास दूसरा कोई उपाय ही कहां रह जाता है? दूसरा कोई उपाय न देखकर अन्त में स्वामी जी ने स्वामी दयानन्द विरचित वेदभाष्य और ऋग्भाष्यभूमिका को तथा उनके अनुयायी ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, भगवद्दत्त प्रभृति के ग्रन्थों का आलोडन कर, साथ ही चिरन्तन आस्तिक दार्शनिकों के द्वारा प्रवर्तित ग्रन्थों का सहारा लेकर 'वेदार्थपारिजात' नामक वेदभाष्य की रचना की है। केवल भाष्य ही नहीं, उन उन विषयों के अनुशीलन के लिये एक विस्तृत भूमिका भी लिखी है। इसका यह पहला भाग है। दूसरा भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

इस विशाल ग्रन्थ में 'मानाधीना मेयसिद्धिः' (प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है) इस वचन के अनुसार विभिन्न दार्शनिक मतवादों का सहारा लेकर सर्वप्रथम प्रमाणों की विशेष रूप से परीक्षा की गई है। इस प्रसंग में बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की भी परीक्षा की गई है। शब्द प्रमाण के विषय में आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में बड़ा विवाद है। इसका भी निष्पक्षपात विवेचन किया गया है। प्रमाणों की प्रामाणिकता पर दार्शनिकों का परस्पर बड़ा विवाद है। प्रामाण्यवाद के नाम में यह जाना जाता है। इस पर भी ग्रन्थ में बहुत विचार किया गया है। इसी प्रसंग में वेदों के स्वरूप, उनकी अपौरुषेयता और प्रामाणिकता पर भी विस्तार से चर्चा की गयी है। साथ ही वेदस्वरूप संबन्धी स्वामी दयानन्द के मत की समालोचना भी की गई है। ब्राह्मण भाग संहितागत मन्त्रों की व्याख्या करते हुए भी अपौरुषेय ही है, इस बात को प्रबल युक्तियों के सहारे बड़ी ही मनोरंजक पद्धति से सिद्ध किया गया है। पद और पदार्थ का, वाक्य और वाक्यार्थ का निश्चय किस प्रकार होता है? इनमें क्या प्रमाण है? स्वामी दयानन्द का इस विषय में क्या मत है? उसका समाधान क्या है? स्वामी दयानन्द के अनुयायी क्या लिखते हैं? उनका क्या उत्तर है? इन सब विषयों पर भी यहाँ पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इन सब प्रसंगों में दार्शनिक सूत्रकारों, स्मृतिकारों और निबन्धकारों के मतों का भी प्रामाणिक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। 'हिंसि' धातु और 'लभति' धातु का क्या अर्थ है? इनकी प्रवृत्ति कहाँ कैसे होती है? 'न हिंस्यात्' इस निषेध शास्त्र की प्रवृत्ति कहाँ होती है? इन सब विषयों पर भी विचार किया गया है। इसके लिये उत्सर्ग और अपवाद के स्वरूप की तथा मीमांसकों और वेदान्तियों के मतभेदों की भी चर्चा की गई है। देवता के स्वरूप के संबन्ध में प्रदर्शित आर्यसमाजियों के भ्रम को प्रबल प्रमाणों और तर्कों के सहारे दूर किया गया है। इसी तरह के अन्य प्रासंगिक विषयों पर भी यहाँ विस्तार से विचार हुआ है।

इस वृद्धावस्था में इस तरह का परिश्रम करने का क्या प्रयोजन है? लोक कल्याण के लिये ही तो वे यह सब कर रहे हैं। ऐसा न करने पर कालान्तर में सनातन धर्म और उसके आधारभूत वेदशास्त्र का स्वरूप वही मान लिया जायगा, जो कि आजकल के आर्यसमाजी एवं अन्य आधुनिक विद्वान् निश्चित करते हैं। यद्यपि सत्य को कोई छिपा नहीं सकता, तथापि कभी-कभी भ्रमवश मानव असत्य पथ की ओर भी उन्मुख हो जाता है। इसको रोकने के लिये स्वामी करपात्रीजी महाराज का यह प्रयत्न सार्थक है। आजकल के इस यान्त्रिक युग में धर्म में किसी की रुचि नहीं रह गई है, किन्तु आगामी काल भी इसी तरह का होगा, यह कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता। कालचक्र घूमता रहता है। फिर ऐसा समय आ सकता है, जिसमें कि चिरन्तन धर्म और संस्कृति का सुन्दर समन्वय हो। जनता और शास्त्र के साथ भी छल-कपट करने की आर्यसमाजियों तथा अन्य कुछ लोगों की प्रवृत्ति विद्वानों के लिये खेदजनक है। ये लोग सामने ही आँख में धूल झोंकने का काम करते हैं। यदि ऐसा न होता तो ये कात्यायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन प्रभृति महर्षियों के द्वारा विरचित कल्पसूत्र प्रभृति ग्रन्थों के रहते हुए भी कहते हैं कि इन ऋषि-महर्षियों ने नूतन मन्त्रों की रचना करके उनका विनियोग विविध कर्मकाण्डों को फैलाने में किया है। चोर कुम्हड़े को नहीं छिपा सकता। उसी तरह से ये लोग भी अतिविशाल वैदिक साहित्य को आँख ओझल नहीं कर

३

सकते । इन लोगों का कहना है कि तैत्तिरीय शाखा वेद नहीं है, यह कुछ लोगों के द्वारा कल्पित है । रामायण काल में कठ, तैत्तिरीय प्रभृति शाखाओं का अध्ययन होने लगा था, ऐसा हमें आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के वचनों से ज्ञात होता है । आपस्तम्ब प्रभृति महर्षिगण मिथ्यावादी थे और ब्रह्मदत्त "जिज्ञासु, युधिष्ठिर मीमांसक प्रभृति सत्यवादी हैं । कर्मकाण्ड में सर्वप्रथम अनुष्ठेय आचमन के रहस्य को भी जो नहीं जानते, वे सत्यवादी हैं । इससे बढ़कर आश्चर्य की और क्या बात हो सकती है । आजकल भारतवर्ष में यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा की जैसी अध्ययन-अध्यापन की परम्परा है और उसको जिस तरह से रक्षा की जा रही है, वैसा प्रयास अन्य शाखाओं की रक्षा के लिये नहीं देखा जाता ।

इस बीसवीं शताब्दी में वेदों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा लुप्त होती जा रही है, इस बात को हम स्पष्ट देख रहे हैं । अध्ययन अपनी शाखा का ही होता है, वेद का नहीं । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य के अनुसार स्वाध्याय अपनी शाखा को ही कहा जाता है । कर्मकाण्ड का अनुष्ठान अपनी शाखा की आनुपूर्वी के अनुसार मन्त्रपाठ करके ही किया जाता है, अपने ही वेद की अन्य शाखाओं के मन्त्रों का पाठ वहाँ मान्य नहीं है । अन्य वेद की शाखा की भी आवश्यकता पड़ सकती है, किन्तु उसका अध्ययन अपनी शाखा के अध्ययन के बाद ही किया जाय, ऐसा ही शास्त्रीय नियम है । जो व्यक्ति अपने सूत्र, गोत्र, प्रवर आदि को नहीं जानते, वे अवश्य ही कहेंगे कि चार संहिता ही वेद हैं । शिष्ट वैदिकजन किसी को अभिवादन करते समय सूत्र, गोत्र, प्रवर का इस तरह से उच्चारण करते हैं—भो भगवन् ! भार्गव, च्यावन, आप्नवान्, और्व, जामदग्न्य नामक पाँच आर्षेय प्रवर वाला श्रीवत्स गोत्र वाला आपस्तम्ब सूत्रवाला यजुर्वेदान्तर्गत तैत्तिरीय शाखा वाला मैं श्रीकृष्ण शर्मा आपको प्रणाम करता हूँ । इसी तरह से सामवेदी का भारद्वाज गोत्र और द्राह्यायण सूत्र सामवेदान्तर्गत कौथुमशाखा, ऋग्वेदी की शाकल शाखा का अध्येता—इस तरह से अपनी-अपनी परम्परा प्राप्त शाखा का उल्लेख भी इन अवसरों पर किया जाता है । यदि चार संहिताएँ ही वेद मानी जायँ तो फिर इस तरह के उल्लेखों की क्या आवश्यकता रह जायगी ? केवल इतना ही नहीं, अपनी-अपनी शाखा के वाक्य, पद, वर्ण, स्वर की और उनके देवता, करण, स्थान, कालमान आदि की रक्षा के लिये भी वैदिकगण निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं । जैसे कि—

'अग्निः' इस पद की रक्षा के लिये वेदों के विद्वान् अध्यापक अध्यापन कार्य आरंभ करने से पहले शुद्धवर्ण, स्वरवर्ण, मात्रावर्ण, अङ्गवर्ण और वर्णसार नाम के पाँच क्रमों से सुने गये पदों की रक्षा की शिक्षा देते हैं । १. अकार, दो गकार, तृतीय यम, नकार, इकार और विसर्जनीय—यह शुद्धवर्ण क्रम है । २. अनुदात्त अकार, दो गकार, तृतीय यम, नकारोत्तर उदात्त इकार और विसर्जनीय—यह स्वरवर्ण क्रम है । ३. एकमात्रिक अनुदात्त अकार, अर्धमात्रिक विराम, दो अणु मात्रा के दो गकार, अणुमात्रिक तृतीय यम, अर्धमात्रिक नकार, एकमात्रिक उदात्त इकार, अणुमात्रिक विराम वाला अर्धमात्रिक विसर्जनीय और द्विमात्रिक विराम—यह मात्रावर्ण क्रम हुआ । ४. एकमात्रिक अनुदात्त अकार, अर्धमात्रिक विराम, दो अणु मात्रा के पूर्वांग भूत दो गकार, अणुमात्रिक पूर्वांगभूत तृतीय यम, अर्धमात्रिक परांगभूत नकार, एकमात्रिक उदात्त इकार, अणुमात्रिक विराम, अर्धमात्रिक पूर्वांगभूत विसर्जनीय और द्विमात्रिक विराम—यह अंगवर्ण क्रम कहलाता है । पंचम वर्णसार क्रम अधिक जटिल है । प्रस्तावना के संस्कृत भाग में इसको समझाने का प्रयत्न किया गया है । जिज्ञासु जनों को गुरुमुख से ही उसको सुनना चाहिये ।

एक अग्नि पद की रक्षा के लिये इतना प्रयत्न किया गया है । प्रत्येक वैदिक पद की रक्षा इसी पद्धति से की गई है । इस विधि के सभी नियम हमारे द्वारा संपादित 'व्यासशिक्षा' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लिखित हैं । इसी पद्धति से वेदशास्त्र की रक्षा करने वाले वैदिक विद्वान् आज भी जीवित हैं । इन सबकी अनदेखी करके आजकल के लोग झट से कह देते हैं कि तैत्तिरीय शाखा वेद नहीं है । इस तरह के सभी प्रलापों का प्रामाणिक उत्तर महाराजश्री ने यथावसर अपने ग्रन्थ में दिया है । उनको वहीं देखना चाहिये ।

इस ग्रन्थ का अध्ययन बहुत सावधानी से किया जाना चाहिये। वेदशास्त्र पर की गई सभी प्रकार की शंकाओं का समाधान यहाँ किया गया है। यह ग्रन्थ अनुसन्धाताओं के लिये बड़ा उपयोगी होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ पाठकों के लाभ के लिये इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया जा रहा है। भूमिका का यह पहला भाग है। इसके द्वितीय भाग में विदेशी जिज्ञासुओं को ग्रन्थ के विषयों से परिचित कराने के लिये अंग्रेजी भाषा में एक सार-संक्षेप भी दिया जायगा।

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को तैयार करने में, उद्धृत वचनों का स्थल निर्देश करने में, मुद्रणालय संबन्धी संशोधन कार्य में और हिन्दी भाषा के अनुवाद कार्य में पण्डित श्री मार्कण्डेय शास्त्री, श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी और श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर का परिश्रम अत्यन्त प्रशंसनीय रहा है। वेदभाष्य निर्माण के इस पुण्य कार्य में वैदिक शिरोमणि श्री रामनाथ मिश्र, उनके पुत्र श्रीनाथ मिश्र, पण्डितप्रवर श्री नारायण जी सारस्वत, बादलोपाह्व श्री मंगल जी कर्मकाण्डी, उनके पुत्र श्री विनायक जी, शिवसायुज्य प्राप्त माननीय सखारामजी दीक्षित, हस्तलिखित प्राचीन पाण्डुलिपियों को देकर उपकृत करने वाले घनान्तपाठी सांगवेद विद्यालय में यजुर्वेद के अध्यापक, सहृदयता, औदार्य, आभिजात्य आदि गुणों से अलंकृत, दीक्षित कुल को अपने जन्म से धन्य करने वाले श्री लक्ष्मीकान्त दीक्षित, संस्कृत विश्वविद्यालय में प्राचीन व्याकरण विभाग के अध्यक्ष पण्डितप्रवर श्री रामप्रसाद त्रिपाठी, स्वर्गीय भगवत्प्रसाद मिश्र, अद्भुत प्रतिभा वाले आजकल के प्रायः सभी प्रसिद्ध वैयाकरण और वेदान्तशास्त्र के विद्वानों के गुरु महामीमांसक अनेक ग्रन्थों और टीका-टिप्पणी ग्रन्थों की रचना करने वाले बलिया जिले के छाता ग्राम के निवासी पण्डित श्री रघुनाथ शर्मा प्रभृति सभी विद्वानों ने पुस्तक आदि की सहायता देकर तथा विभिन्न पूर्वपक्षों की उपस्थापना करके अपना बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया है। हम कह सकते हैं कि इन सबके सहयोग से उद्भावित इस वेदार्थपारिजात नामक वेदभाष्य के रूप में साक्षात् सनातन धर्म ही मूर्त रूप में प्रकट हुआ है। ये सभी विद्वान् श्री स्वामी जी के शुभाशीर्वाद के अवश्य ही अधिकारी हैं। भूमिका भाग के द्वितीय खण्ड का और सम्पूर्ण वेदभाष्य का प्रकाशन अविलम्ब निर्विघ्न पूरा हो जाय, इसके लिये हम भगवान् विश्वनाथ की अनुकम्पा के लिये विनयावनत हैं।

विक्रम संवत् २०३६
चैत्र शुक्ल रामनवमी
वाराणसी।

विनयावनत
पट्टाभिराम शास्त्री, विद्यासागर

ŚRĪ

REVERENCE TO THE PRECEPTORS

We are now publishing the commentary on the Veda called Vedārthapārijāta for the use of research scholars, philosophers and all seekers of truth. The author of this book is Śrī Karapātrīsvāmī, an all-round supermaster, and an illustrious rejuvenator of Sanātanadharma. The present volume is the first part of his introduction to the commentary on the Vedas. The second part of this introduction and a detailed commentary will shortly be available to the learned reader. I need not say much about the author. He is well known to people as a great ascetic. All who live in India know that he strives in his every breath to promote the universal Sanātanadharma which at present seems to be constantly waning, as Udayanācārya observed in the Nyāyakusumāñjali when he said that it must be waning now, since we observe that it has waned in the past. It is equally well known that the Svāmī has many times travelled on foot throughout India, right from Himalayas to Cape Comarin and has successfully taught the true teachings of Sanātanadharma for the benefit of the world and has been able to attract people's attention in his own peculiar inspiring way.

In accordance with the authoritative maxim "Dharma is the support of this entire universe", the condition of the universe depends on Dharma. Even so, Manu has said that this sacred land of ours India, since time immemorial simply due to her dependence on Dharma has stood as a preceptor to the whole world. Imagining our country as a great palace, we may observe the following. It is a common knowledge that bricks, sand, cement and whitewash are necessary for constructing a proper house. Just as the construction crew make two kinds of cement mixture, a special one for joining the bricks and an ordinary one for stuccoing the walls, so also our ancients, who led simple lives, took Kāma and Artha as bricks and put Dharma as the cement, both special and ordinary. They joined the bricks with special cement and made the walls very high, put a hard stone roof over them, applied ordinary cement to the walls to make them hard and decorated the walls with whitewash in the form of Mokṣa (the ultimate liberation). In this way they erected a beautiful house and it may easily be seen that we live happily in it. This description, I believe, I have made without exaggeration. Because India's primary goals are Kāma and Artha as controlled by Dharma, this feature is quite distinct from other nations whose primary goals are Kāma and Artha. In this palace Dharma alone is the cementing force that joins together the bricks, walls and thus supports the roof.

The source of this Dharma, which figures as cement in the above metaphor, is the Veda. This is manifest in the smṛti quotation, "The entire Veda is the source of Dharma". If we look at India deprived of this source of Dharma i. e. the Vedas and

provedic smṛtis, purāṇas, itihāsa and darśana, what will be the difference between India and the other countries ? Every man born in India must bear this in mind. The Vedas are the life breath of Mother India, without which she will merely be like a corpse. Granted there may be scientists capable of providing India with atomic weapons capable of destroying the entire world instantly, and manufacturing supersonic rockets, but all this will not make a special feature for India since other nations may have greater scientists to beat all our inventions and material discoveries. There is a threefold division in human knowledge, namely worldly knowledge, science and transcendent wisdom. Our ancients, considering that knowledge and science are ever evolving and changing but this alone is changeless, they strove hard towards this unsurpassable transcendent wisdom. Even after a man obtains the things obtained by everchanging material knowledge and science, they will be of little use to him. They will not contribute to his peace of mind. The result would be that men would become constantly greedy for obtaining more and more through material knowledge and science. In accordance with the saying "Realizing oneself through yoga is the highest Dharma (duty)" the ancient sages determined that the self-realization is within the orbit of Dharma and thus decided that Dharma is of still greater importance even than mokṣa (salvation) and thus have regularly strived to preserve the Veda as its original source.

Preservation of the Vedas means Vedic recitation and teaching of the Vedic recitation since the Vedas have been preserved only by means of a systematic teaching of the recitation. Indeed the Veda is nothing but a specific phonetic collection that can be acquired through a particular mode of phonetic utterance of a disciple exactly imitating the phonetic recitation by the preceptor. This unbroken chain of teaching and learning from preceptor to disciple is known as sampradāya. The acquisition of the Vedic knowledge has ever been possible only through this systematic teaching series on these Sampradāyic lines. According to Mīmāṃsā theory the actions have been classified four fold as follows viz—1. Creation, 2. Acquisition 3. Variation and 4. Modification. The learning of the Vedas and provedic Śāstras falls within the orbit of 'Āpti' (acquisition) that brings about a sort of specific mode of mental modification within the disciple. There are definite set rules and regulations for the study of the Vedas that cannot be obtained simply through a mere look into the books. A systematic recitation of one's own Vedic branch according to the Śāstric commands is ever imbued with definite unfailing results. The daily recitation called svādhyāya is a tapas. Tapas (penance) gives rise to the power of control and benevolence. We have seen the children, young men and even grown up people being cured of various maladies simply through the sacred ashes (bhasma) given by a regular reciter of the Vedas. In the old times when physicians were not available in the villages or even in big cities, it was these pious vedic hermits that came to the rescue of the afflicted.

Just as there are set rules for acquisition of the vocal composition of the Veda, also is there an established tradition for their interpretation. This tradition is not an outcome

simply of blind faith. Pūrvamīmāṃsā, Vedanta sūtras, and Nirukta of Yāska have laid down definite rules on scientific lines for interpretation of the Vedic texts. Just like a well fortified approach to the palace of a great king, our sages have also developed sound and steady fortifications in the form of Śikṣā (phonetics) and Vyākaraṇa (grammar) to get at the real hidden sense of the Vedic terminology. Besides these two protective barriers, one has still to cross the fortification in the form of a sea of rules, laid down in the Mīmāṃsā, the fortification which is the ocean of logical argumentations by the Naiyāyika Logician Lions, the ocean of paurāṇic texts and dense jungles of Dharmaśāstra. It is then and then alone that one can become competent to get at the meaning of Veda. Thus Yājñavalkya-smṛti counts as many as fourteen forms of knowledge and of Dharma viz Purāṇa, Nyāya, Mīmāṃsā, Dharmaśāstra, the six Vedic ancillary disciplines and the fourfold Veda itself count as the fourteen forms of knowledge, essential to indicate the real meaning of the Veda. Enemies intent on killing the king somehow try to enter the palace inspite of the impregnable fortifications. Just so anti-vedic enemies like Buddhists intent on uprooting Veda altogether, since they do not accept the authority of Veda, have repeatedly sought to attack the Vedic Dharma. The Gods are generally confronted by the Demons. The battle of Gods and Demons is quite old. The presence of obstacles and hindrances is only a road to a discrimination between right and wrong. For a Judge to pronounce his decision it is essential that both the parties, the complainant and the defending one, must be present with their respective statements. Thus, seeing that the agnostics were attacking the Vedapuruṣa, Kārttikeya and Śiva descended on earth as Kumārila and Ādiśaṅkarācārya. The Buddhists had started uprooting the Veda and provedic Śāstras, the original sources of Dharma. Then Kumārila and Śaṅkarācārya rescued them from their onslaughts. These were followed by Provedic Scholars like Udayanācārya, Vācaspatimiśra Appayadīkṣita and the like. Each of these philosophers inspite of their different philosophic outlook never swerved from the authority of the Veda. Thus once again there started a current for the study of the Vedas and their real meaning. They moved along the Vedic path steadily in order to reach their destination. Just as a pilgrim has to remove thorns and barriers, so also these great philosophers disproved the illicit arguments of their opponents. Such opposition need not be always external but sometimes even provedic philosophers may also differ in philosophic viewpoint. There is thus also a tradition of support for refutation amongst the provedic scholars themselves. And yet the other school of thought is not rejected as altogether unnecessary. Inspite of their mutual differences they are ever united against the anti-vedic agnostics just as Kauravas and Pāṇḍavas, inspite of internal differences were united against external enemies. This has been a rule of conduct amongst the ancient philosophers of India.

There has been a perpetual struggle amongst the provedic and anti-vedic schools. In recent times in India, a new doctrine has crept up and is causing terri-

ble anxiety. The anti-vedic agnostics were out to uproot the Veda altogether. But the new doctrine accepts one part of the Veda and rejects the other. As if a person were to cook half of a hen for meals and leave the other half to lay eggs. This is like outraging the chastity of the old Veda mother by pulling her hair with one hand and cutting them off with the other.

The old Veda mother, shattered as if by old age is helpless in their hands. We used to hear the story of pulling of Draupadī's hair but today we actually see the outrageous treatment meted out to Veda mother herself. Not only this, but these people are not ashamed of decrying Mīmāṃsā that tries to follow up and protect Veda-mother like a loyal daughter of the Vedas. They produced a vast vedāṅga literature to counteract the crocodile like antivedic arguments in the limitless Vedic ocean and to ward off the antivedic lions from the impenetrable vedic jungle and thus they arrive at unflinching decisions.

The ancient Indian Sages produced a vast intellectual and practical literature in defence of the Vedas. It gives deliberations apprehending the dwindling of the study and teaching tradition of the Vedas. The sages composed smṛtis and treatises through the summary of various branches of the Vedas. Even in the presence of Nigama, Nirukta and Vyākaraṇa for Vedic textual interpretation, the Mīmāṃsā set forth a number of maxims for determining the textual meaning of the Vedas. All provedic philosophers bear a respectful regard for these maxims and fundamental rules of Mīmāṃsā.

A due study of and loyalty to these rules is regarded as a prerequisite for the correct interpretation of the Vedic Text. It is a contention of certain modern writers that four Saṃhitās alone constitute the Veda and that the Brāhmaṇā portion is not Veda and that the ancient sages composed new mantras, added them to the Saṃhitās and devised new directive viniyogas, fresh ritual wherein they would be used. In the beginning, in general, rituals of pious and non-violent nature like Agnihotra, Darśapūrṇamāsa and Cāturmāsya were provided. But later on were superadded the dark rituals that were performed with great pomp and were intended to bring more and more wealth for the officiating priests. Certain modern writers contend all this quite shamelessly. They do not stick to any firm standpoint and go on blurting quite brazen-faced and without the least hitch that the Brāhmaṇa portion is not Veda. And still they also quote the same Brāhmaṇa portion as an authority as and when it suits their ends. And nevertheless they reject the other portion as unauthoratative. They condemn any text as an interpolation if and when it conflicts with their views. They further contend that the hymns in the Saṃhitā portion are also indicative of their procedure and that no text on the Brāhmaṇa portion is required for direction of their use. They also hold that the mantras need not be connected with rituals. They also regard Vedas dealing

with worldly and social matters and persuading and guiding people in various worldly affairs. A thief enters a house like a sneaking cat but these people openly enter the vedic citadel in broad daylight and pull the hair of Mother Veda in the presence of onlookers. The Mīmāṃsā that is intended to determine the real aim of Dharma is merely a trifle for them. Savants like Jaimini, Śabarasvāmī and great Kumārila are quite insignificant for them. They are quite blind to the context and interconnections of sentences in the entire mass of Vedic Literature.

Viewing this sad state of affairs, the compassionate personality of Śrī Karapātrīsvāmī convened repeated seminars of great scholars for and against this traditional doctrines, brought them into the arena of debate and himself participated in discussions. It is my personal experience that these people apprehending a defeat in the discussions take to pelting stones and creating rowdyism. Stone throwing is quite an ordinary thing for those who can pull the Vedic mother's hair. When failing to prove one's argument by logical reasoning or the textual authority, their only face saving device is stone throwing. They dispute regarding the Vedic GODs and pronounce high sounding statements on the Supreme GOD. The meaning of the text is only subjected to their whim. After a thorough study of Vedabhāṣya and Ṛgvedabhāṣyabhūmikā by Svāmī Dayānanda and books written by his followers like Brahmadatta Jijñāsu, Bhagavat Datta and the like and finding no other path to save the Vedas from these unbehoving onslaughts, Śrī Karapātrīsvāmī, after reviewing this serious situation, has composed a commentary on the Vedas called Vedārthapārijāta basing his arguments on the books written by ancient provedic philosophers. Not only a commentary but he has also written an extensive introduction containing a critical review of all these matters. The present volume is the first part of the introduction. The second is expected to follow shortly.

In this volume the sources of knowledge are examined in the beginning in accordance with a maxim that the proof of a correct knowledge is dependent on the authority of its source. In this connection, Svāmīji has also examined the Buddhists' view of the sources of knowledge. There is a serious dispute between the provedic and antivedic philosophic schools, regarding the authority of Word as a source of knowledge. Svāmīji has discussed this point at length quite impartially. There is a great dispute amongst the philosophies regarding the authority of the sources of knowledge. This discussion is known as Pramāṇa theory, Prāmāṇyavāda. In this connection he discusses at length the meaning and nature of the Veda, their non-individualistic or non personal composition and their validity as source of knowledge. Then follows an examination of the views of Svāmī Dayānanda.

It is proved in a very interesting manner how the Brāhmaṇa portion, inspite of its elucidation of the meaning of hymns in the Saṃhitā portion, still remains of non-personal origin. This is proved to the hilt with strong arguments. What is the process

for determining the nature and meaning of a word and the nature and meaning of a sentence and what is the authority in determining the meaning forms a very interesting discussion. The views of Svāmī Dayānanda in these matters and their solution, again, how the Svāmī's followers argue in this regard and what exact is a reply to their objections—there is an ample light thrown on such matters. In this context the views of aphorism (sūtra) philosophers, the smṛti sages and the treatise writers have also been discussed at some length. In the course of the discussion, the learned author has introduced many other topics, e. g., what do verb roots like hisi and ālabhāti exactly mean? what exactly is a procedure for their use? what exactly is a scope of the injuction 'he shall not kill (na hiṃsyāt)'? Such matters are also given a fitting treatment. To this end the nature and scope of general rules and exceptions and the respective stands of Mīmāṃsā and Vedānta are also explained. The erroneous view of the modern Ārya Samājists regarding the nature of the GODs have been dispelled through strong arguments, authoritative testimonies and other sound reasons.

What possibly should be the purpose behind undertaking such as arduous task in such as old age ? Surely it is nothing but the service of the Universe as a whole. In absence of such an effort only a distorted figure of the universal Sanātanadharma and its basic authoritative sources. The Vedas, as presented today by the Ārya Śamājists and other modern scholars would come to be regarded as the real and the only truth.

Even though no one can fully conceal the truth yet at times men can be deluded into falsity through erroneous conceptions. This work of Svāmī Kárapātrī Ji Mahārāj is really effective in preventing this mischief. No person is expected to be interested in Dharma in this machine age but we cannot say with certainity that the times will never change. As the wheel of time is ever revolving, a time may come to usher in a beautiful consonance of the Universal ancient Dharma and culture. A tendency to commit fraud on the Vedic and provedic Śāstras as also on the public in general by the Arya Samajists and certain other modern writers is really painful to scholars. These people try to throw dust in the eyes in broad daylight. How else could they impute composition of fresh Mantras by Ṛṣis in the face of authoratative work like Kalpasūtras of great sages like Kātyāyana, Āpastamba, Āśvalāyana and others and their application in new ritual performances ? They cannot hide away the vast Vedic literature any more than a thief can conceal a pumpkin in his clothes.

They allege that the Taittirīyasaṃhitā is not the original Veda and that it is of a later composition. We know on the authority of the Rāmāyaṇa of Vālmīki, the first poet of the world, that Kāṭhaka and Taittirīyasaṃhitā were being regularly recited in those times. Are we to accept Āpastamba as a liar and on the other hand regard Brahmadatta and his companions as apostles of truth ? It would be quite

surprising if those who do not know even the secret of Ācamana (the ritual sip of water) an initial requisite of all karmakāṇḍa were to be tellers of truth regarding karmakāṇḍa at present. There is no other Śākhā of Veda so well recited concerning and protected as the Taittirīyaśākhā of the Yajurveda.

We can clearly see that in this twentieth century the traditional recitation of the Veda is practically disappearing. This recitation and study is that of one's own recension and not of entire Veda for there is a commandment "Study and recite one's own Vedic recension". In ritual performance, one needs one's own recension of one's own Veda, not another recension even of the same Veda. Granted, there may be a necessity for knowing the text of other recensions of the same or the other Vedas, but there is a rule that "one should recite a recension of another Veda only after one has recited one's own recension". And those who know nothing of their own ritual sūtras, gotra or pravara, cannot but blurt out that only the four Saṃhitās constitute the Vedas. Yet the Veda accepters, when offering salutation recall their own sūtra, gotra and pravara. For example, O Revered Sir : I, Śrī Kṛṣṇa Śarmā sprung of Bhārgava, Cyāvana Āpnavana Aurva Jāmadagnya pancārṣeyapravara, belonging to the Śrīvatsagotra, Āpastambasūtra, reciter of Tattirīyaśākhā of the Yajurveda, salute you." Similarly the Baudhāyanasūtra Sāmavedī, Bhāradvāja and Drāhyāyaṇa sūtra reciter of Kauṭhuma Śākhā of the Sāmaveda and reciter of the Sākalaśākhā of the Ṛgveda would offer their respective salutations in their respective ways. They all have to recall their own respective recension obtained through their traditional recitation. If only four saṃhitās were to constitue the Veda, why do they remember all this in the salutation ?

Furthermore, the Vaidikas have regularly to strive to protect the sentences, clauses, words, consonants and vowels, their deities, the vocal organ, place of articulation, the limit of time and tune of articulation and so on in their own respective Vedic recensions, taking for instance, the word Agniḥ (fire). Teachers of Vedic recitation protect this word before recitation in the five kramas viz 1. śuddhavarṇakrama 2. svaravarṇakrama 3. mātrāvarṇakrama 4. aṅgavarṇakrama 5. varṇasārakrama.

1. Śuddhavarṇakrama consists of A; two G's; the third yama of G; N; I; visarjanīya. 2. In the Svaravarṇakrama the non-raised A; two G's; the yama of G; N; raised I; and visarjanīya constitute the whole word. 3. Mātrāvarṇakrama again consists of A of one mātrā; ½-mātrā stopping of phonation; two ¼-mātrā G's; the yama ¼-mātrā; ½-mātrā N; one-mātrā raised I; ¼-mātrā stopping of phonation; ½-mātrā visarjanīya; 2-mātrā stopping of phonation.

4 Aṅgavarṇakrama. One-mātrā non-raised A; ½-mātrā stopping of phonation two ¼-mātrā G's, as constituent of the preceding A; ¼-mātrā yama of G as a constituent of the preceding A; ½-mātrā N as constituent of the following I; one mātrā raised I; ¼-mātrā

of stopping of phonation. ½-mātrā Visarjanīya as constituent of the preceding I; 2-mātrā of stopping of phonation.

5. Vārṇasārakrama. One-mātrā A. It is pronounced with phonetic effort called vowel closure produced by contracted vocal cords. The place of articulation is the lower jaw, not completely closed. The lips as the articulators are also not completely closed. The articulatory effort is called closure. It has a non-raised, tone of the variety called short non-raised whose deity is Agni, caste is Kṣatriya and quality is darkness. This tone is signalled by placing the tip of the thumb at the first line of the smallest finger. It springs up in the heart and is cause of the musical tone Ṛṣabha. It is like the soft bellowing of a bull emanating from the throat cavity; strengthened by a shortness of the body. The deity of A is Vāyu and its caste is Brāhmaṇa.

½-mātrā stopping phonation.

2. ¼-mātrā G's, constituents of the preceding A. These are voiced sounds with phonetic effort produced by contracted vocal cords and called consonantal closure with minimised breath. The place of articulation is the posterior portion of the lower jaw. The posterior portion of the tongue is the articulator. The articulatory effort is called stoppedness. Their deity is Bhūmi and their caste is Kṣatriya.

¼-mātrā yama of G, constituent of the preceding A. It is voiced sound with phonetic effort produced by contracted vocal cords and called consonantal contraction with minimum breath. The nasal resonator is closed. The place of articulation is the posterior portion of the lower jaw. The posterior portion of the tongue is the articulator. The articulatory effort is called stoppedness.

½-mātrā N, constituent of the following I. This is a voiced sound with phonetic effort produced by contracted vocal cords and called consonantal closure with minimum breath. The nasal resonator is open. The place of articulation is the root and lower part of the upper jaw. The articulator is the tip of the tongue. The articulatory effort is stoppedness. Its deity is Sūrya and its caste is Vaiśya.

One-mātrā I. It is a voiced sound with phonetic effort called vowel closure produced by closed vocal cords. The place of articulation is the hard palate. The articulators are the middle of the tongue and the nearly completely contracted lips. The articulatory effort is called openness. It has a raised tone, whose deity is Bhūmi, caste Brāhmaṇa and quality luminosity. This tone is signalled by placing the tip of the thumb at the middle line of the index finger. It is produced in the head and is cause of the musical tone Gāndhāra. It is like the shrill bleating of a she-goat emanating from the throat cavity, mellowed by length of body. I's deity is Agni and its caste is Brāhmaṇa.

¼-mātrā stopping of phonation.

½-mātrā visarjanīya constituent of the preceding I. It is a voiceless sound with phonetic effort called breathy consonantal voicelessness. The place of articulation is the upper part of the vocal cords. The articulator is the lower part of the vocal cords. The articulatory effort is called openness. Its deity is Sūrya and its caste is Śūdra.

2-mātrā stopping of phonation.

This, for instance, is a demonstration of the amount of effort in protecting one word Agni. In the same way the traditional vaidik scholars protect every word of the Veda. All the rules and regulations of this procedure are separately described in the Vyāsaśikṣā I have edited. Even today certain traditional vaidika scholars who protect the Veda in this way are still living.

To the utter disregard of all these efforts, certain modern propogandists blurt out that Taittirīyaśākhā is not Veda. Sri Karapātrīsvāmī Mahārāja has given in extenso fitting reply to all these allegations, together with quite sound arguments. They are to be found in their proper context in the present book. All other aspersions and objections regarding the Veda are appropriately answered and should be studied with attention in their proper place. I am confident that this book will be of great value to the research scholars. A translation of the book in Hindi has been provided and published for the benefit of those who do not know Sanskrit. This volume is only the first part of the introduction. In its second part, an English summary of the introduction will also be presented so that foreign scholars desireous of knowing the subject matter of the book, may be able to benefit thereby.

We thank Pt. Śrī Markandeya Shastri, Pt. Sri Brij Vallabh Dvivedi and Sri Musalgaonkar Shastri for their invaluable assistance in locating the sources of quotations in the original texts, for preparing the press copy, for correcting the proof sheets and for the Hindi translation thereof. I firmly believe that all these scholars amply deserve the worthy blessings of Śrī Svāmī Ji Mahārāja.

I conclude with a prayer that by the grace of Lord Viśvanātha the second part of this introduction and the commentary on the Veda itself which we intend to publish will soon be completed without any hindrances.

Pattabhiram Shastri

Translation : Elliot M. Stern, Research Fellow, Varanasi

विषय-सूची

नैयायिक-जैन-बौद्धादिमतखण्डनम्

श्रीः

वेदार्थपारिजातः

ॐ स्वस्ति श्रीगणेशाय नमः । ॐ सरस्वत्यै नमः । ॐ वेदपुरुषाय नमः ।

अगजाननपद्मार्कं गजाननमहर्निशम् । अनेकदं तं भक्तानामेकदन्तमुपास्महे ॥ १ ॥
सच्चिदानन्दरामाय प्रत्यगानन्दरूपिणे । नमो वेदान्ततात्पर्यगोचराय परात्मने ॥ २ ॥
नमश्शिवाय शान्ताय त्रिपुरालिङ्गिताय च । प्रत्यक्चैतन्यरूपाय महते परमात्मने ॥ ३ ॥
अनादिनिधनः शब्दराशिर्वेदपदाभिधः । सतां परम्पराप्राप्तो द्योतते विश्ववन्दितः ॥ ४ ॥
आर्याणां बहुमानत्वादत्र कर्तृस्मृतिं विना । नित्यत्वापौरुषयत्वे सन्तिष्ठेते ध्रुवात्मनः ॥ ५ ॥
षडङ्गस्मृतिरत्नानामितिहासपुराणयोः । दर्शनप्रातिशाख्यानामुपयोगोऽर्थनिर्णये ॥ ६ ॥
वेदवाक्यार्थनिर्णीतिर्मीमांसाया विशेषतः । न्यायैः परिष्कृता न्याय्या रीतिरेषाश्रिता बुधैः ॥ ७ ॥
काले काले ग्रहीतॄणां बुद्धिस्मृत्यादिदोषतः । कर्मश्रेयसि मूढानामनुग्रहपरायणैः ॥ ८ ॥
साङ्गोपाङ्गास्तथा वेदा भाष्यकृद्भिश्च टीकिताः । निबन्धृभिर्निबन्धानां बहूनां रचनाः कृताः ॥ ९ ॥

श्रीः

श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः

श्रीगुरुभ्यो नमः

अगजा अर्थात् भगवती पार्वती के मुख रूपी कमल को प्रफुल्लित कर देने के लिए जो सूर्य के समान हैं, ऐसे गजानन गणेश का हम स्मरण करते हैं, जो कि भक्तों को अनेक अभीष्ट वस्तुएँ देने वाले हैं, तो भी स्वयं एकदन्त अर्थात् एक दाँत वाले हैं ॥ १ ॥

सत्, चित्, आनन्द स्वरूप, रमणीय, प्रत्यक् अर्थात् पारमार्थिक आन्तर आत्म-स्वरूप, सभी वेदान्तों के तात्पर्यभूत परमात्मा को हम प्रणाम करते हैं ॥ २ ॥

कल्याणमय, शान्तस्वरूप, भगवती त्रिपुरसुन्दरी से आलिंगित प्रत्यग् चैतन्य स्वरूप महान् परमात्मा भगवान् शिव को हम प्रणाम करते हैं ॥ ३ ॥

जिसका आदि अन्त नहीं है, ऐसा शब्द-राशि वेद के नाम से कहा जाता है। यह वेद इस भारतवर्ष में अनादि परम्परा से वेदज्ञ विद्वानों को प्राप्त है और अब तो सारे जगत् में इसकी प्रतिष्ठा फैल गई है। इस वेदराशि को आर्य प्रजा बड़े सम्मान के साथ पूजती है। ऐसी कोई यादगार नहीं है कि जिसके आधार पर इसका कोई कर्ता माना जाय, अतः वेद का नित्यत्व और अपौरुषेयत्व सदा प्रकाशित है ॥ ४–५ ॥

इसके अर्थ के निश्चय के लिए व्याकरण प्रभृति छः वेदांग, ऋषि प्रणीत स्मृतियाँ, इतिहास, पुराण, दर्शनशास्त्र और प्रातिशाख्य प्रभृति ग्रन्थों की सहायता ली जाती है ॥ ६ ॥

वेद के संशय ग्रस्त अर्थों के निर्णय के लिए मीमांसा के परिष्कृत न्यायों की विशेष रूप से सहायता ली जाय, इस पद्धति को विद्वद्गण मानते हैं ॥ ७ ॥

अध्येताओं की बुद्धि और स्मृति-शक्ति का क्रमशः ह्रास होता देखकर और क्या उचित है, क्या अनुचित, इस सन्देह के कारण कल्याण मार्ग का निश्चय करने में प्रजा को किंकर्तव्यविमूढ़ देखकर अनुग्रहशील आचार्यों ने समय-समय पर अंग और उपांग सहित वेदों पर भाष्य और टीकाएँ लिखीं और अनेक विद्वानों ने इन्हीं विषयों पर अनेक निबन्ध ग्रन्थों की रचना की ॥ ८–९ ॥

माध्यन्दिनीयशाखायां तत्रोव्वटमहीधरौ। संहिताया विशेषेण चक्रतुर्भाष्यमुत्तमम् ॥ १० ॥
वितेने सायणस्सर्ववेदानां सारगर्भितम्। अल्पाक्षरमसन्दिग्धं भाष्यं मानसमन्वितम् ॥ ११ ॥
वेदभाष्यविधातारो ये केचिदधुनातनाः। सर्वेषां सायणं भाष्यमुपजीव्यमभिष्टुतम् ॥ १२ ॥
प्रामाणिकानि सर्वाणि भाष्याणीमानि सूरिभिः। शास्त्रार्थतत्त्वचिन्तैकमानसैः स्वीकृतानि च ॥ १३ ॥
यानि चाद्योपलभ्यन्ते दैवाद्भाग्यप्रकर्षतः।
तानि चेन्नोपलभ्येरन् वेदार्थाधिगमे भृशम्। जाड्यान्धकारमग्नस्स्यात्कृत्स्नो लोको निरायति ॥ १४ ॥
वेदमार्गं खिलीकर्तुं प्रवृत्तास्सौगतादयः। ते कृता विफलास्सर्वे मीमांसानयकोविदैः ॥ १५ ॥
गते बहुतिथे काले दयानन्दाभिधो जनः। दूषयामास सर्वां तां पद्धतिर्या सदातनी ॥ १६ ॥
लोकायतिकमार्गस्थ आस्तिक्यमिव दर्शयन्। ख्यातिसम्मानपूजार्थं लोकवञ्चनहेतवे ॥ १७ ॥
इतस्ततस्समानीय सारहीनमुदक्षरम्। प्रादुश्चक्रे भाष्यनाम्ना न लघीयो न विस्तृतम् ॥ १८ ॥
मानं स्वप्रतिभैवात्र भाष्याभासेऽवलम्बिता। किं पूर्वं किं परश्चेति सन्दर्भो नैव वीक्षितः ॥ १९ ॥
एवं प्रवर्तितो ग्रन्थो वेदवाक्यार्थबोधकः। वशीकर्तुं यथाजातान् वञ्चनाकुशलेन वै ॥ २० ॥
पाश्चात्याश्च तथा तेषां दीक्षया दीक्षिताः पुनः। तांस्तान्दुस्तर्कहतकान् नैकान् प्रादुरभावयन् ॥ २१ ॥
एतैस्सर्वैश्च सम्भूय वेदार्थो मलिनीकृतः। वेदमार्गावसादाय यत्नस्तैः क्रियतेऽधुना ॥ २२ ॥

इनमें से उव्वट और महीधर ने माध्यन्दिन संहिता पर अपने विशिष्ट भाष्यों की रचना की है ॥ १० ॥

आचार्य सायण ने सभी वेदों पर प्राचीन भाष्यों का सार-संग्रह करते हुए थोड़े शब्दों में अर्थ को असंदिग्ध रूप से स्पष्ट करने वाले प्रामाणिक भाष्यों की रचना की। आजकल जितने भी वेद भाष्यकार हैं, सायण भाष्य उन सबका उपजीव्य है, ऐसा माना जाता है ॥ ११–१२ ॥

शास्त्रों में प्रतिपादित अर्थ की चिन्ता में निमग्न सभी विद्वान् इन भाष्यों को प्रामाणिक ग्रन्थों के रूप में स्वीकार करते हैं। हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि ये भाष्य आज भी उपलब्ध होते हैं। यदि ये भाष्य न उपलब्ध होते, तो वेद के अर्थ का ठीक से ज्ञान न होने के कारण यह सारा जगत् जड़ता के अन्धकार में डूब जाता, इसका कोई भविष्य नहीं रह जाता ॥ १३–१४ ॥

पूर्वकाल में वेद-मार्ग को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए बौद्ध प्रभृति नास्तिक जन प्रवृत्त रहे हैं। उन सबके प्रयत्नों को पूर्व और उत्तर मीमांसा के विद्वानों ने अपने तर्कों के सहारे विफल कर दिया था ॥ १५ ॥

बहुत समय बीत जाने के बाद फिर स्वामी दयानन्द ने इस सनातन पद्धति में अनेक दोषों की उद्भावना की। यद्यपि इनके तर्क चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शन का अनुसरण करते हैं, किन्तु इन्होंने अपने को वैदिक धर्मावलम्बी आस्तिक बताकर यह सब किया है। प्रसिद्धि और लोक-सम्मान अर्जित करने के लिए, अपनी पूजा कराने तथा अबोध जनता का हलका मनोरंजन करने के लिए इधर-उधर से जोड़-तोड़ मिलाकर बिना प्रमाण के सारहीन वेद-बाह्य ग्रन्थ की रचना भाष्य के नाम से की है, जो कि न तो बहुत संक्षिप्त ही है और न अति विस्तृत ही ॥ १६–१८ ॥

भाष्य का भ्रम पैदा करने वाले इस ग्रन्थ में अपनी प्रतिभा को ही प्रमाण माना गया है। पूर्व और पर भाग में स्थित सन्दर्भों का भी यहाँ कोई विचार नहीं किया गया है। इस प्रकार वेद के वाक्यों के स्वाभीष्ट अर्थ का ज्ञान कराने के लिए इस भाष्याभास की रचना की गई थी। इसको बनाने का मुख्य प्रयोजन अज्ञ जनों को प्रवंचनामय तर्कों के सहारे अपने वश में कर लेना मात्र रहा है ॥ १९–२० ॥

आज के पाश्चात्य विद्वान् और इन्हीं के मत का अनुसरण करने वाले कुछ भारतीय पंडित भी वेदार्थ के सम्बन्ध में अनेक कुतर्कों की उद्भावना करते हैं ॥ २१ ॥

प्रमाणविपरीतोऽपि नूतनो यदि कश्चन । मुह्यन्ति विषये तस्मिन्निति रीतिः श्रिता जनैः ॥ २३ ॥
सामाजिकव्यवस्थायां सक्ता ये देशवासिनः । नास्तिक्यमोहयुक्तास्ते लक्ष्यन्ते परिपन्थिनः ॥ २४ ॥
धर्ममार्गे निरालम्बे आस्तिकाः कान्दिशीकताम् । भजमाना विलोक्यन्ते तेषां धैर्यं कथं भवेत् ॥ २५ ॥
सर्वतः प्रसृतं वीक्ष्य वेदमार्गावसादनम् । सुधीभिस्तन्निरासाय प्रार्थिता वयमद्य वै ॥ २६ ॥
प्राचामाचार्यवर्याणां निकषेषु परीक्षितान् । मीमांसागूढसिद्धान्तसिद्धानर्थान् विचक्ष्महे ॥ २७ ॥
अद्य यावदुपेतानां महतीनां दृढात्मनाम् । शङ्कानामितरासां वा समीक्षाश्च विदध्महे ॥ २८ ॥
वेदाविरोधिनीयुक्तीश्शास्त्रैश्च समुदाहृताः । आश्रित्य वेदतत्त्वार्थबोधने व्याप्रियामहे ॥ २९ ॥
रूपग्रामाभ्रहस्तेषु व्यतीतेषु च विक्रमात् । प्रभवे वह्निदैवत्ये वत्सरे समुपस्थिते ॥ ३० ॥
वसन्ते माधवे शुक्ले तृतीयागुरुवासरे ॥ ३१ ॥

येषां पितृपितामहादिपुरुषा आसन् सदा वैदिका
ये स्वान्ते परिशीलयन्ति सततं वेदान् सदर्थान्वितान् ।
वेदद्विड्भिरुदीरितानभिनवानर्थानुदीक्ष्य स्वयं
ये क्लिश्यन्ति महत्तदर्थमखिलो ह्यस्माकमेष श्रमः ॥ ३२ ॥

परम्पराप्रवृत्तस्य न्यायोपेतस्य सर्वशः । प्रीयतामीश्वरोऽर्थस्य तादृशस्य समर्थनात् ॥ ३३ ॥

इन सबने मिलकर वेदों के अर्थ को दूषित कर दिया है। आजकल ये लोग वैदिक मार्ग को नष्ट कर देने पर तुले हुए हैं ॥ २२ ॥

आज जनता की यह स्थिति है कि उसके सामने कोई भी नई बात आती है तो यह प्रामाणिक है कि नहीं, इसकी बिना परीक्षा किये उस पर लट्टू हो जाती है ॥ २३ ॥

देश में जो व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था में लगे हुए हैं, वे भी नास्तिकता के मोह-पाश में फँसे हुए वेद-मार्ग के विरोधी ही प्रतीत होते हैं ॥ २४ ॥

इस प्रकार धर्म का मार्ग निरवलम्ब हो गया है। आस्तिक जन भय से व्याकुल दिखाई देते हैं। उन्हें कोई मार्ग नहीं सूझ रहा है। उनको धैर्य किस प्रकार बँधाया जाय, ऐसा विचार कर आधुनिक समय में वैदिक परम्परा में आये अवसाद का निराकरण करने के लिये विद्वानों की प्रार्थना को स्वीकार कर हम ऊपर वर्णित प्राचीन महनीय आचार्यों के द्वारा निर्धारित कसौटी पर भली-भाँति परखे गये पद, वाक्य और प्रमाण शास्त्र की व्याख्या का उलंघन न करने वाले मीमांसा भाष्य के गम्भीर नियमों से भली-भाँति परीक्षित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले नवीन भाष्य की रचना करना चाहते हैं ॥ २५–२७ ॥

इसमें हम आज तक उठाई गई बड़ी-बड़ी दृढ़ शंकाओं और आक्षेपों का सिंहावलोकन करते हुए और आग्रही जनों के द्वारा उठाई गई व्यर्थ की बातों की समीक्षा करते हुए वेद एवं अन्य शास्त्रों से अविरुद्ध युक्तियों के सहारे वेदों के वास्तविक तत्त्व को प्रकाशित करना चाहते हैं ॥ २८-२९ ॥

विक्रम के समय से २०३१ वर्ष बीतने पर प्रभव नामक संवत्सर के, जिसके कि देवता वह्नि हैं, उपस्थित होने पर बसन्त ऋतु में वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया गुरुवार के दिन यह वेदभाष्य प्रकाशित किया जा रहा है ॥ ३०–३१ ॥

जिनके पिता, पितामह प्रभृति पूर्वपुरुष सदा वैदिक धर्म के अनुयायी रहे हैं, जिनके मन में सदा वैदिक सद्विचारों का अनुशीलन चलता रहा है, ऐसे सज्जन व्यक्ति वेद-शास्त्र के साथ द्वेषभाव रखने वाले व्यक्तियों के द्वारा भाष्य विरुद्ध अर्थ को सुनकर दुःखी हो जाते हैं। उनके इस क्लेश को दूर करने के लिए ही हमने यह श्रम किया है ॥ ३२ ॥

परम्परा से प्राप्त, सब तरह से न्याय और युक्तियों से परिपूर्ण इस प्रकार के अर्थ का समर्थन करने के इस शुभ कार्य से ईश्वर का प्रसाद प्राप्त हो, यही हमारी प्रार्थना है ॥ ३३ ॥

अस्माभिर्ग्रथितस्यास्य देववाणीमयस्य वै । लोकानामुपकाराय भवेद् हिन्दीमयोऽपि च ॥ ३४ ॥
कार्येऽस्मिन्विनियुक्ताश्च द्विवेदो व्रजवल्लभः । मार्कण्डेयो ब्रह्मचारी मुसलगांवगजाननः ॥ ३५ ॥
पट्टाभिरामशास्त्री च कार्यस्य परिसाधने । चत्वारस्सुधियश्शिष्यास्सक्ता ग्रन्थप्रकाशने ॥ ३६ ॥
आशास्महे शमेतेषां मेधाग्र्त्वं पुनर्नवम् । दीर्घमायुर्बलं पुष्टं वैदुष्यञ्च विलक्षणम् ॥ ३७ ॥
निर्विघ्नं साधयन्त्वेते पुण्यं कार्यमिदं महत् । तदर्थं कुर्महे दिव्यां स्मृतिं नारायणस्य वै ॥ ३८ ॥

प्रमा-प्रमाणलक्षणादिकम्

इदमिह विशेषतोऽवधारणीयं यदैहिकामुष्मिकः सर्वोऽपि साध्यसाधनभावः प्रमाणमूलक एव प्रसिद्ध्यति । प्रमाणञ्च प्रमाकरणमेव । प्रमात्वञ्चानधिगताबाधितविषयज्ञानत्वमेव । वेदान्तरीत्या प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽपि संसारदशायामबाधितत्वस्याव्याहतत्वात् । प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव, तस्यैव स्वतोऽपरोक्षत्वात् । यद्यपि तस्यानादित्वेन न तत्करणत्वं चक्षुरादेः सङ्घटते, तथापि तदभिव्यञ्जिकाया अन्तःकरणवृत्तेश्चक्षुरादिजन्यत्वसम्भवेन वृत्तिविशिष्टचैतन्यस्य सादित्वोपपत्त्या चक्षुरादीनां तत्करणत्वे बाधाभावात् । मनसः सावयवत्वेन मध्यमपरिमाणस्य चक्षुरादिसन्निकर्षद्वारावरके तमस्यपनीते तडागोदकस्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तत्तदाकारवच्चक्षुरादिप्रणालिकया घटादिविषयदेशमुपगतस्य तत्तदाकारतापत्तिः । घटमठयोरिव विभाजकयोरुपाध्योरेकदेशस्थत्वेन विभेदाजनकत्वादुपहितयोरभेद एव । तथा च वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वमेव घटांशे घटज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्, विषयस्य तु प्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावत्वमेव प्रत्यक्षत्वम् । घटादेः स्वावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्ततया विषयचैतन्यसत्तैव घटादिसत्ता, अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात् ।

हमारे द्वारा संस्कृत भाषा में रचे गये इस भाष्य का हिन्दी भाषा में भी अनुवाद हो जाय, जिससे कि जनसाधारण का भी उपकार हो सके, इस कार्य में हमने शिष्य कोटि में प्रविष्ट, भली-भाँति परीक्षित सर्वश्री पट्टाभिराम शास्त्री, व्रजवल्लभ द्विवेदी, मार्कण्डेय ब्रह्मचारी एवं गजानन मुसलगांवकर इन चार विद्वानों को लगाया है । हम इनका कल्याण चाहते हैं और चाहते हैं कि इनमें नूतन मेधा-शक्ति का प्रादुर्भाव हो । ये लोग इस कार्य को निर्विघ्न पूरा कर सकें, इसके लिए हम भगवान् नारायण को स्मरण करते हैं ॥ ३४-३८ ॥

प्रमा और प्रमाण का लक्षण

विशेष रूप से यह समझने का विषय है कि सभी साध्यसाधनभाव चाहे वह ऐहिक या आमुष्मिक हों, वे प्रमाण मूलक ही सिद्ध होते हैं । प्रमा का करण ही प्रमाण है । प्रमा वह ज्ञान है जो कि अज्ञात और अबाधित विषय को ग्रहण करता है । अद्वैत सिद्धान्त में वस्तुतः प्रपंच मिथ्या है, किन्तु व्यावहारिक दशा में वह बाधित नहीं है । इस मत में प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य है, उसी का अपरोक्ष ज्ञान होता है और यह अनादि है । अतः इसका कोई कारण नहीं है । यद्यपि प्रत्यक्ष में चक्षु आदि इन्द्रियाँ कारण होती हैं, तथापि वे करण नहीं हैं, चैतन्य की अभिव्यञ्जक अन्तःकरण वृत्तियों की करण होने से वृत्तिविशिष्ट चैतन्य की करण कहलाती हैं[1] । जैसा कि तालाब का जल कुल्या द्वारा खेतों में प्रवेश कर तत्तदाकार को प्राप्त करता है, उसी प्रकार तालाब स्थानीय अन्तःकरण से इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न नलिकारूपी वृत्तियाँ निकल कर विषय देश (जो कि खेतों के स्थानापन्न है) को प्राप्त कर विषयाकार बन जाती हैं । जैसा कि घट, मठ

१. मीमांसक मत में 'यजेत' 'जुहुयात्' इत्यादि स्थलों में लिङ्वाच्य शाब्दी भावना नित्य होते हुए भी उसका करण लिङ्गादिज्ञान माना जाता है । लिङ्गादिज्ञान शाब्दी भावना का उत्पादक नहीं है, किन्तु शाब्दी भावना की भाव्य प्रवृत्ति अर्थात् आर्थी भावना का उत्पादक होकर शाब्दी भावना का करण कहलाता है । उसी प्रकार इन्द्रियाँ नित्य चैतन्य की उत्पादक नहीं हैं, किन्तु चैतन्य से सम्बद्ध अन्तःकरण की वृत्तियों की उत्पादक होकर वृत्तिविशिष्ट चैतन्य की करण कहलाती हैं ।

यथा प्रकाशः स्वतः प्रकाशते तदन्यत्तु तत्संसर्गेण, चैतन्यस्यासङ्गत्वेन तस्याध्यासिकसंसर्गमन्तरा नान्यः संसर्गः सम्भवतीति विषयस्य विषयावच्छिन्नचैतन्येनाध्यासिकसम्बन्धसत्त्वेऽपि न प्रमातृचैतन्येन तत्सम्बन्ध इति तत्संसर्गसाधनायैव चक्षुरादिव्यापारः। अन्तःकरणघटयोरेकदेशस्थत्वेनान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपप्रमातृचैतन्येन विषयावच्छिन्नचैतन्यरूपप्रमेयचैतन्यस्यैक्यं भवति। तथा च विषयावच्छिन्नचैतन्याध्यस्तमपि घटादिकं प्रमातृचैतन्याध्यस्तं भवति। तावतैव विषयस्य प्रमातृचैतन्येनाध्यासिकसंसर्गत्वात् चैतन्येन घटादिविषयप्रकाशः सम्पद्यते।

अनुमित्यादिस्थले तु चक्षुराद्यसंसर्गेणान्तःकरणस्य वह्न्यादिदेशगमनाभावेन विषयान्तःकरणाभेदाभावेन न प्रत्यक्षत्वम्, किन्तु व्याप्तिज्ञानादिजन्या परोक्षवृत्तिरेव जायते। सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य च नियमेनैकत्रस्थितोपाधिद्वयावच्छिन्नत्वान्नियमेनाहं सुखीत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमेव।

धर्माधर्मयोरन्तःकरणनिष्ठत्वेऽप्ययोग्यत्वादेव शब्दादिना तदाकारवृत्तौ जातायामपि न वृत्तितदवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदः, योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणात्। योग्यत्वायोग्यत्वयोस्तु फलबलकल्प्यस्वभावत्वस्यैव शरणत्वात्।

वर्तमानदशायां त्वं सुखीति वाक्यजन्यस्यापि ज्ञानस्य प्रत्यक्षतैव। अत एव 'दशमस्त्वमसि' इतिवत् 'तत्त्वमसि' इति महावाक्यजन्यस्याप्यहं ब्रह्मेति ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमेव।

'रूपी घटः' इत्यत्र रूपाकारवृत्तिदशायां तत्र परिमाणसत्त्वेऽपि परिमाणाद्याकारवृत्त्यभावेन परिमाणाद्याकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभेदाभावेन न तत्प्रत्यक्षता।

रूपी विभिन्न उपाधियाँ एक अधिष्ठान (आकाश) में रहने से तदुपहित का अभेद सिद्ध है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न अतःकरण वृत्तियाँ और घट, मठ आदि विभिन्न विषयों से उपहित वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य अभिन्न हैं, यही प्रत्यक्ष है। अतः वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद ही घट-ज्ञान का प्रत्यक्ष है। घटादि विषय और उसका प्रत्यक्ष प्रमातृ चैतन्य सत्ता से अतिरिक्त सत्ता का अभावात्मक है, क्योंकि अधिष्ठान सत्ता से अतिरिक्त आरोपित सत्ता नहीं मानी जाती। जैसा कि प्रकाश स्वयं प्रकाशमान है, उससे भिन्न घट, मठ आदि पदार्थ प्रकाश के संबन्ध से प्रकाशमान हैं, उसी प्रकार प्रकाशस्वरूप चैतन्य स्वयं प्रकाश है, उसके संसर्ग से अन्य वस्तु भासमान हैं। इतना अन्तर है कि सूर्य प्रकाश का संसर्ग घट आदि के साथ क्लृप्त है, चैतन्य असङ्ग है (अर्थात् किसी अन्य पदार्थ से संसर्ग नहीं रखने वाला), अतः उसका संसर्ग असिद्ध होने से आध्यासिक संसर्ग कल्प्य है। बिना कल्पना किये संसर्ग नहीं बनता। घट आदि का यह संसर्ग विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ संभव होते हुए भी प्रमातृ चैतन्य के साथ संभव नहीं है। इसकी सिद्धि में ही चक्षु आदि इन्द्रियों का व्यापार है। इससे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूपी प्रमातृ चैतन्य एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य रूपी प्रमेय चैतन्य का ऐक्य सिद्ध होता है तो विषयावच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त घटादिक प्रमातृ चैतन्य में अध्यस्त हो जाता है। अतः घट आदि विषय के साथ चैतन्य का संबन्ध और घट आदि का प्रकाश सिद्ध हुआ।

अनुमिति स्थल में वह्नि का प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि चक्षुःसंयोग वह्नि के साथ अविद्यमान है। अतः अन्तःकरण वह्नि देश तक नहीं जा सका। किन्तु व्याप्तिज्ञान परामर्श आदि से उत्पन्न परोक्ष वृत्ति ही है। 'अहं सुखी' इत्यादि स्थलों में ज्ञान प्रत्यक्ष है, क्योंकि सुखादि विषयावच्छिन्न चैतन्य और तद्वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य की स्थिति एक देश में विद्यमान है।

धर्म और अधर्म अन्तःकरण में रहने वाले हैं, अर्थात् अतीन्द्रिय हैं। अत एव शब्द के द्वारा अन्तःकरण की तदाकारावृत्ति होकर भी योग्यता न होने से वृत्ति विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद नहीं है। घट, मठ आदि ऐन्द्रियक हैं, अत एव वे योग्यता वाले हैं, धर्म और अधर्म अतीन्द्रिय हैं, अतः उनमें योग्यता नहीं है। योग्यता भी विषय का विशेषण है। फल बल से योग्यता और अयोग्यता का निर्णय करना पड़ता है। उस प्रकार का स्वभाव ही इसमें शरण है।

'त्वं सुखी' वाक्य से वर्तमान काल में उत्पन्न ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। अतः 'तत्त्वमसि' महावाक्य से उत्पन्न 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक ज्ञान भी 'दशमस्त्वमसि' के समान प्रत्यक्ष ही है।

'रूपी घटः' में अन्तःकरणवृत्ति रूपाकारा है। रूपाधिकरण घट में परिमाण विद्यमान होने पर भी परिमाणाकार अन्तःकरण वृत्ति न होने से परिमाणाकार अन्तःकरणवृत्त्युपहित प्रमातृ चैतन्य का अभेद सिद्ध नहीं है। अतः परिमाण प्रत्यक्ष नहीं है।

सांख्यादिदृष्ट्या प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणमिति व्युत्पत्त्या प्रमां प्रति करणत्वमेव प्रमाणलक्षणम्। असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः प्रमाणम्। बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा। एतेन संशयविपर्यस्मृतिसाधनेषु नातिव्याप्तिः। चैतन्यप्रतिविम्बविशिष्टवुद्धिवृत्तिः, वृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्यं वा फलपदार्थः। स एव मुख्यप्रमापदवाच्यः। तत्करणत्वेन वृत्तेः प्रमाणत्वम्। वृत्तिकरणत्वेनेन्द्रियादीन्यपि प्रमाणपदवाच्यानि भवन्ति।

प्रत्यक्षप्रमाणविचारः

नैयायिकादिरीत्या त्विन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्य, शाब्दे पदज्ञानस्य, स्मृतावनुभवस्य कारणत्वात् तत्र नाव्याप्तिः। इदञ्चेश्वरज्ञानसाधारणं लक्षणम्। पूर्वं तद्व्यावृत्तमेव। आलोके सति महत्त्वे सति उद्भूतरूपवत्त्वं चाक्षुषद्रव्यप्रत्यक्षत्वे कारणम्। द्रव्यसमवेतरूपप्रत्यक्षे तु स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन, द्रव्यसमवेतसमवेतरूपत्वादेः प्रत्यक्षे तु स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेनेति। एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवायः, गन्धसमवेतस्य प्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्। शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायः कारणम्। शब्दसमवेतश्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवायः कारणम्।

वेदान्तरीत्या वृत्तिजननेऽप्येतेषां सम्वन्धानामुपयोगः। सांख्यदृष्ट्या प्रतिविषयाध्यवसायः प्रत्यक्षलक्षणम्। श्रीमद्भागवते त्वेकादशवृत्तयोऽङ्गीकृताः—

> एकादशासन् मनसो हि वृत्तय आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः।
> मात्राणि कर्माणि पुरञ्च तासां वदन्ति हैकादश वीर भूमीः॥ (५।११।९)

सांख्य 'प्रमीयतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति से प्रमाकरण को प्रमाण मानते हैं। प्रमाकरणत्व ही प्रमाण का लक्षण है। असन्दिग्ध, अविपरीत और अनधिगत पदार्थ को विषय करने वाली चित्तवृत्ति प्रमाण है। अतः संशय-विपर्यय-स्मृतियों में लक्षण की अतिव्याप्ति दोष नहीं है। बोध पौरुषेय और प्रमा फल है। चैतन्य प्रतिबिम्ब विशिष्ट बुद्धिवृत्ति अथवा बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य फलपदार्थ है। मुख्य प्रमा यही है, इसका कारण बुद्धिवृत्ति है, बुद्धिवृत्ति की कारण हैं—इन्द्रियाँ। अतः बुद्धिवृत्ति और इन्द्रियाँ भी प्रमाण कहलाती हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण विचार

नैयायिकों ने इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है, परन्तु यह जीवों के प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण है। ईश्वर प्रत्यक्ष में यह लक्षण नहीं घटता, अतः अव्याप्ति दोषग्रस्त होने से प्रत्यक्ष ज्ञान का दूसरा लक्षण है कि—जिसका ज्ञान करण नहीं है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। अनुमिति मे व्याप्तिज्ञान, शाब्द बोध में पदज्ञान, स्मृति में अनुभवज्ञान करण हैं। अतः इन स्थलों में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। यह द्वितीय लक्षण ईश्वरज्ञान साधारण है, प्रथम लक्षण ईश्वर ज्ञान व्यावृत्त है। (क्योंकि प्रथम लक्षण में 'इन्द्रियत्वेन रूपेण' उनसे उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। ईश्वर अशरीरी हैं; उनके इन्द्रियाँ नहीं हैं। अतः प्रथम लक्षण तद्व्यावृत्त है) द्रव्य चाक्षुष प्रत्यक्ष में आलोक (प्रकाश) एवं महत्त्वसहकृत उद्भूतरूप कारण है। द्रव्य गत रूप प्रत्यक्ष में स्वाश्रयसमवाय सम्बन्ध से, (स्वं रूप, तदाश्रय द्रव्य तत्समवेत रूप) द्रव्य समवेत पदार्थ में समवाय संबन्ध से विद्यमान रूपत्व के प्रत्यक्ष में स्वाश्रयसमवाय सम्बन्ध से, (स्व रूप, उसका आश्रय द्रव्य, तत्समवेत रूप, रूप में समवेत रूपत्व) कारण है। इसी प्रकार गन्धादि प्रत्यक्षो में भी पूर्वोक्त संबन्ध लागू होंगे। एवं शब्द प्रत्यक्ष में श्रोत्रावच्छिन्न समवाय, शब्दसमवेत शब्दत्व के प्रत्यक्ष में श्रोत्र समवेत समवाय कारण है।

वेदान्तियों के मत में इन ज्ञानों की उत्पत्ति वृत्तियों द्वारा होती है, उन वृत्तियों के जनन में पूर्वोक्त संबन्धों का उपयोग है। सांख्य दर्शनकारों ने प्रतिविषय निश्चय को प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है। श्रीमद्भागवत में प्रत्यक्ष के प्रति ग्यारह वृत्तियाँ प्रतिपादित हैं—'एकादशासन् मनसो हि वृत्तयः'। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन। इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियाँ और इनके द्वारा रूपादि ग्रहण में प्रवर्तमान प्रमाता के लिए ग्यारह वृत्तियों का उपयोग है। इनमें आकृति-क्रियाकारा वृत्तियाँ पांच, ज्ञानाकारा वृत्तियाँ पाँच, अभिमान-मन, शब्द रसादि ज्ञानेन्द्रियों के विषय, विसर्गादि कर्म और इनका अधिष्ठान पुर-शरीर, ये सब इन एकादश वृत्तियों के विषय हैं। वीर पद संबोधन है।

श्रोत्रादीनि दश, एकञ्च स्वयं मन इत्येकादशेन्द्रियाणि; तैरिन्द्रियैर्बहीरूपादिषु प्रवर्तमानस्यैकादशवृत्तयो भवन्ति। तदुक्तम्—

एकादशेन्द्रियद्वारा स्युरेकादश वृत्तयः।

तत्राकूतयः क्रियाकाराः पञ्च, धियो ज्ञानाकाराः पञ्च, अभिमानश्च, मात्राणि शब्दादयो विषयाः, विसर्गादीनि कर्माणि, पुरं शरीरम्, तासां वृत्तीनां भूमीर्विषयान् वदन्ति। वीरेति सम्बोधनम्।

अन्यत्र च श्रीमद्भागवते जाग्रदादयोऽवस्था अपि बुद्धिवृत्तिरूपा एवोक्ताः—

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तिश्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः। तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः॥

(श्री० भा० ११।१३।२७)

सत्त्वोद्रेके प्रमारूपा वृत्तयो भवन्ति। रजसा दोषैश्च संशयविपर्ययौ भवतः। तमसा निद्रारूपा वृत्तिर्जायते। दैवस्य फलाभिमुखस्य प्राक्तनकर्मणो दैवस्य देवसमूहस्य परमेश्वरस्य देहादेश्च सर्वकार्येष्विवात्रापि हेतुत्वम्,

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्॥ (१८।१४)

इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात्।

अनुमानप्रमाणविचारः

ननु प्रत्यक्षेणैव सर्वव्यवहारोपपत्तौ तदतिरिक्तानुमानादिप्रमाणोपगमो व्यर्थ एव, न च देहातिरिक्तात्मपरमात्म-स्वर्गमोक्षादिसिद्ध्यर्थं तदुपगम इति वाच्यम्, तत्सिद्धेरेवासिद्धेः। न चानुमानादिसमुत्पत्तिसंभवः, यतो व्याप्तिपक्षधर्मताशालि लिङ्गमनुमितिकारणमित्यनुमानप्रामाण्यवादिभिरुपेयते। व्याप्तिश्चोपाधिविधुरः सम्बन्ध एव। स च न चक्षुरादिवत्सत्तया हेतुत्वमुपगच्छति, किन्तु ज्ञाततयैव। न च तत्र प्रत्यक्षप्रसरः, तस्य वर्तमानगोचरत्वेन भूतभविष्यतोस्तदसम्भवात्। नाप्यनुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः, तत्राप्येवमित्यनवस्थानात्। नापि शब्दस्तत्साधनम्, तस्यापि वृद्धव्यवहाररूपलिङ्गावगतिसापेक्षतया पूर्वोक्तदूषणग्रासात्। न च वचनमात्रविश्वासेन धूमवह्न्योरविनाभावनिश्चयः। न वा विविधदेशकालवर्तिधूमवह्निव्यक्तिज्ञान-

श्रीमद्भागवत में ही बुद्धि वृत्ति रूप से जाग्रदादि अवस्थायें प्रतिपादित हैं। सत्त्व, रज और तम के भेद से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन वृत्तियाँ हैं। जीव इनके कार्यों में साक्षी होकर रहता है।

सत्त्व के आधिक्य से प्रमा रूपी, रज और दोषों से संशय एवं विपर्यय रूपी, तम से निद्रारूपी वृत्तियाँ होती हैं। सभी कार्यों में दैव और देहादिक कारण हैं। दैव तीन प्रकार का है—फलाभिमुख दैव, प्राक्तन कर्म रूपी दैव एवं देवसमूह परमेश्वर रूपी दैव। यह श्रीमद्भगवद्गीता के इस वचन से सिद्ध है—"अधिष्ठान अर्थात् शरीर, कर्ता जीवात्मा, भिन्न भिन्न व्यापार वाली इन्द्रियाँ और नाना प्रकार की प्राण वायु की चेष्टाओं के साथ पाचवाँ कारण दैव ये सभी मिलकर ही किसी कार्य को पूरा करने में सहायक होते हैं।"

अनुमान प्रमाण विचार

यहाँ प्रश्न होता है कि केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सभी प्रकार के लोक व्यवहार की निष्पत्ति हो जाती है तो इससे भिन्न अनुमान आदि प्रमाणों को मानना व्यर्थ है। शरीर से भिन्न आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-मोक्ष आदि तो हैं ही नहीं, अतः इनकी सिद्धि के लिये भी अनुमान की आवश्यकता नहीं है। अनुमान आदि की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान को प्रमाण मानने वाले व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त हेतु को ही अनुमिति में कारण मानते हैं। पदार्थों के निरुपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है। वह चक्षुरादि के समान केवल अपनी सत्तामात्र से हेतु नहीं होती, किन्तु उसका ज्ञान भी आवश्यक है। इस उपाधिरहित सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान का ही होता है, भूत और भविष्य का ज्ञान उससे नहीं होता। व्याप्ति का ज्ञान अनुमान से भी नहीं होगा, ऐसा मानने पर अनवस्था हो जायगी। शब्द प्रमाण से भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द प्रमाण भी वृद्ध-व्यवहार रूप लिङ्ग ज्ञान की अपेक्षा रखता है, इस प्रकार यहाँ पर भी पूर्ववत् अनवस्था दोष आवेगा। किसी की बात पर विश्वास कर लेने मात्र से धूम और वह्नि का अविनाभाव नहीं ज्ञात हो जायगा। विविध देश और काल में विद्य-

सम्भवः, तदभावे च कुतो व्याप्तिग्रहः। उपाध्यभावोऽपि दुर्बोधः। उपाधीनां प्रत्यक्षत्वनियमासम्भवेन प्रत्यक्षाणामुपाधीनामभावस्य प्रत्यक्षत्वेऽप्यप्रत्यक्षाणामुपाधीनामभावस्याऽप्रत्यक्षतयाऽनुमानाद्यपेक्षायामुक्तदूषणानतिवृत्तेः। किञ्च, साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिलक्षणमास्थीयते। तत्रोपाधिज्ञानार्थमपि साध्यव्यापकत्वज्ञानमपेक्षितम्, तदपि च व्याप्तिज्ञानाधीनमेवेति कुतो नान्योन्याश्रयतेति चेन्न, तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावस्य सुज्ञानत्वात्। तदुक्तम्—

कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्॥

ननु कार्यकारणभावेऽपि व्यभिचारशङ्का भवत्येवेति वाच्यम्, कारणं कार्यव्यभिचारि स्यात् चेत्, तर्हि कारण विना कार्यमुत्पद्येत। न च कारणमन्तरा कार्यमुत्पद्यते, दृष्टविरोधादिति व्यभिचारशङ्कानिवर्तकस्य तर्कस्य सत्त्वात्। तदेवाशङ्क्यं यस्मिन्नाशङ्क्यमाने व्याघातादयो न भवेयुः। अत्र तु भवत्येव व्याघातः। कार्यस्य कारणोत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः, कारणोपलम्भे सति कार्योपलम्भः, कारणानुपलम्भादनुपलम्भश्चेति धूमवह्न्योः कार्यकारणभावोपलम्भः।

मान धूम और वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान सम्भव भी नहीं है, उसके बिना व्याप्ति का ग्रहण कैसे हो सकता है? यहाँ कोई उपाधि नहीं है, यह जान पाना भी कठिन है। सभी उपाधियाँ प्रत्यक्ष ही हों, यह कोई जरूरी नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष उपाधियों का भले ही ज्ञान हो जाय, किन्तु जो उपाधियाँ प्रत्यक्ष नहीं है, उनके अभाव का बोध प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, अनुमान आदि प्रमाणों का सहारा लेने पर पूर्ववत् अनवस्था दोष यहाँ भी पिण्ड नहीं छोड़ेगा। अपि च, उपाधि उसको कहा जाता है जो साध्य का व्यापक होकर साधन का अव्यापक हो।[1] इस प्रकार उपाधि को समझने के लिये भी साध्य से उसकी व्यापकता को समझना जरूरी है और यह व्याप्ति-ज्ञान के हो जाने पर ही सम्भव है। यहाँ पुनः अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है। इस पूरे पूर्वपक्ष का निराकरण इस प्रकार हो जाता है कि अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा सरलता से हो जाता है। निम्न श्लोक में यही बात कही गई है—

अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान दर्शन और अदर्शन के आधार पर न होकर कार्यकारणभाव अथवा स्वभाव की नियामकता के आधार पर होता है। अर्थात् किसी वस्तु के स्वभाव को देखकर उसी स्वभाव की वस्तु के साथ उसका अविनाभाव ज्ञान होता है और इसी प्रकार कार्यकारणभाव के आधार पर भी किसी पदार्थ की किसी से उत्पत्ति देखकर उसके साथ उसका अविनाभाव सम्बन्ध जाना जाता है।

कार्यकारण सम्बन्ध की उपस्थिति में भी यह शंका उठ सकती है कि कार्य और कारण का व्यभिचार हो सकता है, अर्थात् एक दूसरे के बिना भी इनकी स्थिति रह सकती है, किन्तु इसका समाधान इस तरह से हो जाता है कि यदि कारण का कार्य से व्यभिचार होता, तो बिना कारण के भी कार्य हो सकता था, किन्तु ऐसा देखा नहीं गया कि बिना कारण के भी कोई कार्य हुआ हो। इस तर्क के सहारे उक्त व्यभिचार की शंका दूर हो जाती है। आशंका वही उचित कही जा सकती है, जिसके कि उठने पर उसमें आगे व्याघात आदि दोष न आवे। यहाँ पर तो उठाई गई शंका का बाद में उपस्थित तर्क के द्वारा व्याघात (बाध) हो जाता है। कारण की सत्ता के पहले कार्य की उपलब्धि नहीं होती। कारण की उपलब्धि के बाद ही कार्य की उपलब्धि होती है और कारण के उपलब्ध न होने पर कार्य की भी उपलब्धि नहीं होती। इसी प्रकार धूम और वह्नि का भी कार्यकारणभाव ज्ञात हो जाता है।

---

१. पर्वतो धूमवान् वह्नेः, इस अनुमान में 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि दिया जाता है। यहाँ साध्य धूम है। उसका व्यापक है आर्द्रेन्धनसंयोग, क्योंकि जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग अवश्य है। अतः साध्य धूम का आर्द्रेन्धनसंयोग व्यापक हुआ, एवं यहाँ साधन वह्नि है, उसका यह आर्द्रेन्धनसंयोग अव्यापक है। जहाँ जहाँ वह्नि है वहाँ वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है, अयोगोलक में वह्नि है, किन्तु आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है। अतः साधन वह्नि का आर्द्रेन्धनसंयोग अव्यापक है। यही उपाधि का स्वरूप है।

एवमेव यदि निम्बो वृक्षत्वमतिपतेत्, तर्हि स्वात्मानमेव जह्यादिति विपक्षे बाधकप्रवृत्तेः। निम्बवृक्षयोस्तादात्म्य-निश्चयस्तु निम्बो वृक्ष इति सामानाधिकरण्यबलात्। नह्यत्यन्ताभेदे तत्सम्भवति, पर्यायत्वेन यौगपद्येन तयोः प्रयोगा-सम्भवात्। नाप्यत्यन्तभेदे, गवाश्वयोरनुपलम्भात्।

नैयायिकरीत्या तु सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या धूमत्वेन सन्निकर्षेण धूम इत्येवं सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते। वह्नित्वेन सन्निकर्षेण वह्नय इति सकलवह्निविषयकं ज्ञानं भवति, तेन व्याप्तिज्ञानं नासम्भवमिति।

अपि चानुमानं न प्रमाणमित्यत्र किमपि प्रमाणमस्ति न वा ? नान्त्यः, प्रतिज्ञामात्रेण तदसिद्धेः। अनुमानप्रामाण्यं तु न वक्तुं शक्यते, त्वया तदनभ्युपगमात्। किञ्च, नानुमानं प्रमाणमिति वदता चार्वाकेण कथमन्यगता विप्रतिपत्तिः, प्रतिपित्सा, संशीतिर्विपरीतावगतिरनवगतिश्च प्रत्यक्षेणावगन्तुं शक्या ? अनुमानन्तु तेन नाभ्युपगम्यते। अनवधृताज्ञानसंशय-विपर्ययस्तु यं कञ्चन प्रति प्रतिपादयितुं प्रवर्तमानः प्रमत्त एव स्यात्। मुखाकृत्या, व्यवहारेण, वचनेन वा तदनुमानेऽनुमान-प्रामाण्याभ्युपगम एव बलाच्छिरसि निपतितः।

शब्दप्रमाणविचारः

एवमेव शब्दप्रामाण्याभ्युपगमोऽप्यावश्यकः।

बौद्धो वैशेषिकश्चानुमानव्यतिरेकेण शब्दस्य प्रामाण्यं नाभ्युपगच्छतः। तथाहि—शब्दोऽनुमानान्नातिरिच्यते,

तादात्म्य स्थल में आने वाली आशंका का परिहार भी इसी तरह की—नींब वृक्षपने को यदि छोड़ दे तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जायगा, विपक्ष में इस तर्क की प्रवृत्ति बाधक होगी। नींब और वृक्ष इन दोनों में तादात्म्य का निश्चय 'निम्बो वृक्षः' (निम्ब वृक्ष है) इस सामानाधिकरण्य के सहारे होता है। अत्यन्त अभेद में तादात्म्य नहीं होता, क्योंकि दोनों शब्द पर्यायवाची हो जायेंगे, तब इनका एक काल में प्रयोग सम्भव नहीं होगा। अत्यन्त भेद होने की अवस्था में भी तादात्म्य नहीं हो सकता, जैसे कि गो और अश्व शब्द का तादात्म्य नहीं होता।

नैयायिकों के मत से तो सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के सहारे धूमत्व जाति के संनिकर्ष से सामान्य धूम के रूप में सकल धूम का और वह्नित्व जाति के संनिकर्ष से (देश और काल के प्रतिबन्ध से रहित) सामान्य वह्नि का ज्ञान हो जाता है। अतः (इनके मत में भी) व्याप्ति का ज्ञान असम्भव नहीं है।

आप जो कहते हैं कि अनुमान प्रमाण नहीं है, इसमें कोई प्रमाण है या नहीं ? यदि कोई प्रमाण नहीं है, तो केवल आपके कह देने मात्र से वह बात नहीं मानी जायगी। यदि है तो क्या ? अनुमान प्रमाण आप दे नहीं सकते, क्योंकि आपने अनुमान को प्रमाण नहीं माना है, दूसरी बात ऐसी है कि चार्वाक यदि अनुमान को प्रमाण नहीं मानता तो वह दूसरे की असहमति, सहमति, संशय, विपरीत ज्ञान और अज्ञान को केवल प्रत्यक्ष के सहारे कैसे समझेगा, अनुमान को तो वह मानता नहीं। जब तक यह ज्ञान न हो जाय कि दूसरे को किस प्रकार का अज्ञान, संशय अथवा विपरीत ज्ञान है, दूसरे का अज्ञान, संशय अथवा विपरीत ज्ञान बिना जाने कुछ भी कहने वाले व्यक्ति पागल ही हो सकते हैं। मुँह की आकृति, व्यवहार और वाणी से दूसरे के मनोभावों को अनुमान के द्वारा समझा जा सकता है। इस प्रकार न चाहते हुए भी आपके सिर पर अनुमान को प्रमाण मानने का बोझ आ जाता है, क्योंकि यह सब अनुमान के ही प्रकार हैं।

शब्द प्रमाण विचार

इसी तरह शब्द का भी प्रामाण्य अनिवार्य रूप से मानना पड़ता है।

बौद्ध और वैशेषिक शब्द का अनुमान प्रमाण में ही अन्तर्भाव करते हैं। वे अनुमान से अतिरिक्त शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। यह बात इस अनुमान से सिद्ध होती है कि शब्द अनुमान से अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि दोनों का विषय एक ही है और

तदभिन्नविषयत्वात् तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वाच्च, यदेवं तत्तथा, यथा कुतश्चिदनुमानादनुमानान्तरम्। न च शब्दस्य तदभिन्नविषयत्वमसिद्धम्, शब्दानुमानयोरविशेषेण सामान्यगोचरचारित्वात्। तदुक्तम्—

परोक्षविषयत्वं हि तुल्यं तावद् द्वयोरपि। सामान्यविषयत्वञ्च सम्बन्धापेक्षणाद् द्वयोः॥
अगृहीतेऽपि सम्बन्धे नैकस्यापि प्रवर्तनम्। सम्बन्धश्च विशेषाणामानन्त्यादतिदुर्गमः॥
यथा प्रत्यक्षतो धूमं दृष्ट्वाऽग्निरनुमीयते। तथैव शब्दमाकर्ण्य तदर्थोऽप्यवगम्यते॥ (न्या. मं. १५२)

ज्ञानहेतुत्वाच्च, अतथात्वे अतिप्रसङ्गात्। सम्बद्धमर्थं प्रतिपादयन् शब्दो न लिङ्गतामतिवर्तते, धूमादिवत्। शब्दस्यार्थप्रतीतौ सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्तत्सामग्रीसमन्वितत्वमपि सिद्धमेव।

यो हि शब्दो लोके यत्रार्थे दृश्यते स तत्रैव प्रयुज्यते, यत्र न दृश्यते तत्र न प्रयुज्यते। तदेवमन्वयव्यतिरेकौ च। अयं धूमो वह्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवद् इतिवद् विवक्षितशब्दोऽर्थवान् शब्दत्वात् पूर्वोपलब्धशब्दवद् इति पक्षधर्मता च।

यथा धूमं दृष्ट्वा वह्निं प्रत्येति तथा शब्दं श्रुत्वा तदर्थं प्रत्येति। अभ्यस्तविषये दृष्टान्तनिरपेक्षत्वञ्चोभयोरविशिष्टम्। यथा प्रसिद्धाविनाभावस्य लिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थेऽनुमानं भवति, ज्ञातेऽव्यभिचारिसम्बन्धे शब्दादर्थोऽवगम्यते। तेन धूम इव लिङ्गमेव शब्दः।

किञ्च शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणं न बाह्ये, व्यभिचारात्, अत एवाङ्गुल्यग्रे करिणां शतमिति प्रतीतिविरोधान्न प्रमाणम्। तदप्युक्तम्—

दोनों की सामग्री भी एक ही है, जो ऐसा होता है वह उससे भिन्न नहीं होता, जैसे कि एक अनुमान से दूसरा अनुमान। समान रूप से शब्द और अनुमान सामान्य विषय को ग्रहण करते हैं, अतः इनकी अभिन्नविषयता असिद्ध नहीं है। इसीलिये न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने कहा है कि सम्बन्ध को बिना जाने किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विशेष अनन्त हैं, अतः उनका सम्बन्ध जान पाना बड़ा कठिन है, अतः सामान्य का ही सम्बन्ध गृहीत होता है। जैसे प्रत्यक्ष रूप से सामान्य धूम को देखकर सामान्य अग्नि का अनुमान होता है, उसी तरह शब्द सामान्य को सुनकर उसके अर्थ का अवगम होता है। अनुमान और शब्द दोनों ही परोक्ष अर्थ से सम्बद्ध हैं, इसी तरह समान रूप से दोनों सामान्य से सम्बद्ध हैं और परोक्ष अर्थ के ज्ञान में कारण है, यदि ऐसा नहीं होगा तो अतिव्याप्ति दोष पड़ेगा। शब्द अपने से सम्बद्ध अर्थ का ही प्रतिपादन करता है, अतः धूम आदि के समान शब्द को भी लिंग ही मानना पड़ेगा। अर्थ की प्रतीति में शब्द सम्बन्ध स्मृति की भी अपेक्षा रखता है, इस प्रकार अनुमान स्थल में स्थित सारी सामग्री यहाँ सिद्ध है।

लोकव्यवहार में जो शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत होता है, वहीं उसका प्रयोग होता है। जहाँ नहीं दिखाई देता वहाँ उसका प्रयोग नहीं होता। इस तरह से अन्वय और व्यतिरेक भी यहाँ वर्तमान हैं। यह धूम वह्निमान् है, धूम होने से, पूर्वकाल में उपलब्ध धूम के समान, इस अनुमान की ही तरह विवक्षित शब्द अर्थवान् है, शब्द होने से, पूर्वकाल में उपलब्ध शब्द के समान, इस तरह पक्षधर्मता भी यहाँ बनती है।

जैसे प्रमाता धूम को देखकर वह्नि को जान लेता है, उसी तरह शब्द को सुनकर उसके अर्थ को समझ जाता है। बार-बार के अभ्यस्त विषय में शब्द और अनुमान दोनों ही स्थलों में दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे प्रसिद्ध अविनाभाव वाले लिंग के दर्शन और प्रसिद्धि के अनुस्मरण में अतीन्द्रिय अर्थ का अनुमान होता है, उसी तरह अव्यभिचरित सम्बन्ध के ज्ञात हो जाने पर शब्द से अर्थ का अवगम हो जाता है। इसलिये धूम की तरह शब्द भी लिंग ही है।

शब्द विवक्षा (वक्तुमिच्छा विवक्षा) में ही प्रमाण होता है, तदतिरिक्त में नहीं, इसीलिये अंगुली के पोर पर सैकड़ों हाथी हैं, यह विषय प्रतीतिविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं है। निम्न श्लोकों में यही बात कही गई है—"सारे वाक्यों से विवक्षा का ही अनुमान होता है। प्रत्यक्ष दर्शन और अदर्शन से विवक्षा में ही शब्द का प्रामाण्य निश्चित होता है। विवक्षा शब्दगम्य होने से

वचोभ्यो निखिलेभ्योऽपि विवक्षैवानुमीयते। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तद्धेतुः सा हि निश्चिता ॥
विवक्षायां हि गम्यायां विस्पष्टैव त्रिरूपता। पुंसि धर्मिणि साध्या या कार्येणैव च सा यतः ॥
पादपार्थविवक्षावान् पुरुषोऽयं प्रतीयते। वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात् पूर्वावस्थास्वहं यथा ॥

तदप्युक्तम्—"यद्यपि ते पदार्था मिथस्संसर्गवन्तः वाक्यत्वादिति व्यधिकरणम्, पदार्थत्वादिति चानैकान्तिकम्; पदानि स्मारितार्थसंसर्गवन्ति तत्स्मारकत्वादित्यादौ साध्याभावः, तथाप्याकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वाद् गामभ्याजेति पदार्थवदिति स्यात्" (वे० उ० पृ० २२३)। पदानि स्मारितार्थविज्ञप्तिपूर्वकाणि योग्यतासत्तिमत्त्वे सति संसृष्टार्थपदत्वाद् गामभ्याजेति पदकदम्बवत्। यद्यपि पूर्ववर्णक्रमोद्भूतसंस्कारसहकारिता, पुरुषापेक्षवृत्तिता, विवक्षानुसृतिक्रमश्चेति वैलक्षण्यं शब्दे समास्ते, तथापि नैतावता तस्य प्रमाणान्तरता,कार्यकारणधर्मादिविशेषस्यानुमानेऽपि सत्त्वात्।

उसमें त्रिरूपता अनुमान स्थल की तरह स्पष्ट है, क्योंकि यह विवक्षा पुरुष धर्मी में कार्य के द्वारा साध्य होती है। विवक्षा में ही शब्द का प्रामाण्य देखा जाता है, अविवक्षा में प्रामाण्य नहीं देखा जाता। यह पुरुष पेड़ रूपी अर्थ को कहना चाहता हो, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि वृक्ष शब्द का प्रयोग कर रहा है, जैसा कि पहले मैं करता था।

यह भी कहा जाता है कि यद्यपि ये पदार्थ परस्पर संसर्ग वाले हैं, क्योंकि यह वाक्य हैं, इस अनुमान में व्यधिकरण[1] दोष है। इसी अनुमान में 'पदार्थत्व' हेतु देने पर अनैकान्तिक दोष होगा। पद अपने द्वारा स्मारित अर्थ के साथ संसर्ग वाले हैं, क्योंकि ये उनके स्मारक हैं—इस अनुमान में साध्याभाव[2] दोष होगा, तो भी आकांक्षा-योग्यता आदि से युक्त पदों से स्मारित होने से 'गामभ्याज' इन पदों के अर्थ के समान सभी पद स्मारित अर्थ की विज्ञप्ति पूर्वक होते हैं।[3] यद्यपि शब्द और अनुमान में इतना वैलक्षण्य है कि शब्द में पूर्व पूर्व वर्ण के क्रम से उत्पन्न संस्कार की सहकारिता रहती है, इसकी वृत्ति के लिये पुरुष की अपेक्षा रहती है और क्रम, वक्ता की विवक्षा का अनुसरण करते हैं, तो भी केवल इतने से ही शब्द अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं हो जायगा, क्योंकि कार्यकारणगत धर्म आदि की विशेषतायें अनुमान में भी हैं। अभ्यस्त विषय में दृष्टान्त की कोई आवश्यकता नहीं रहती, यह कहा जा चुका है। अनभ्यस्त विषय में तो शब्द और अनुमान दोनों ही जगह सम्बन्ध स्मरण सापेक्षता समान रूप से विद्यमान हैं। इसी तरह यथेष्ट नियोज्यत्व अर्थात् शब्द में यथेष्ट विनियोज्यता (अभीष्टार्थ बोधक वाक्य से प्रयुक्त होने की योग्यता) भी अनुमान से शब्द की भिन्नता का कारण नहीं है, क्योंकि हस्त संकेत आदि लिंगों का भी अभिमतार्थबोधन से विनियोग होता ही है। (चतुष्पथों पर मार्ग व्यवस्थापक व्यक्ति द्वारा व्यवहृत हस्त संकेत से यान चालक यान ले जाते हैं) जैसे सैन्धव आदि शब्द अश्व, लवण आदि अनेक अर्थों के बोधक होते हैं, वैसे ही अस्पष्ट लिंग वाले अनुमान में अनेक प्रकार की प्रतीतियों की उत्पत्ति देखी गई है। जैसे प्रमाणाभास में हेतु से स्पष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। ऐसी स्थिति में शब्द विशेष से अर्थात् यह ज्ञात होने पर ही कि यह आप्तोक्त वाक्य है, तभी व्यक्ति किसी

---

१. 'पदार्थ' रूपी पक्ष में 'वाक्यत्व' रूपी हेतु विद्यमान है। अतः व्यधिकरण दोष है—अर्थात् हेतु साध्य का सामानाधिकरण्य नहीं है। अनुमान में हेतु और साध्य का सामानाधिकरण्य अपेक्षित है। 'वाक्यत्व' हेतु को हटाकर 'पदार्थत्वात्' हेतु देने पर अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचार दोष है। प्रत्येक पद के अर्थ में पदार्थत्व है, किन्तु साध्य संसर्गवत्त्व नहीं है।

२. प्रत्येक पद पदार्थस्मारक होता है, किन्तु उसमें स्मारितार्थ संसर्ग नहीं है। स्मारित अर्थों का संसर्ग अर्थों में ही होगा, पदों (शब्दों) में नहीं। अतः पक्ष (पदों) में साध्याभाव (स्मारित अर्थों के संसर्ग का अभाव) बाध रूप दोष होता है। बाधित हेतु अपना साध्य सिद्ध नहीं कर सकता। अतः यह अनुमान दोषपूर्ण है।

३. अर्थात् 'गामभ्याज' (गाय लावो) इत्यादि पद समूह में जैसे योग्यता (बाध राहित्य), आसत्ति (अविलम्बित उपस्थिति) और पदों द्वारा स्मारित अर्थों का परस्पर सम्बन्ध पदोपस्थिति के क्षण में ही प्रतीत होता है, वैसे ही यह अनुमान होगा कि पद पदस्मारित पदार्थ विज्ञानपूर्वक होते हैं। अनुमान का स्वरूप मूल में है।

अभ्यस्ते दृष्टान्तनिरपेक्षत्वं तूक्तमेव, अनभ्यस्ते तु सम्बन्धस्मृतिसापेक्षतोभयोरपि समानैव। एवं यथेष्टविनियोज्यत्वस्य सत्त्वात्, अश्वलवणादिबोधकसैन्धवशब्दवत्। अनेकप्रतीत्युत्पत्तिहेतुत्वमप्यस्पष्टलिङ्गेऽनुमाने भवत्येव। प्रमाणाभासतो यथा लिङ्गेन स्फुटार्थानवभासः, तथैव नानार्थभ्रमकारिणि शब्देऽपि कुत्रचिच्छब्दात्प्रतिभाते आप्तवादत्वलिङ्गेन निश्चिता मतिर्जायते। अत एव शब्दस्याप्याप्तवादाविसंवादसामान्यानुमानतामेव बौद्धवैशेषिकौ मन्येते।

तत्राभिधीयते—शब्दोऽनुमानान्नातिरिच्यत इति यदुक्तम्, तन्न; अभिन्नविषयत्वासिद्धेः। अर्थमात्रं शब्दस्य विषयः, साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी विषयोऽनुमानस्य। किञ्च, सामान्यमात्रविषयत्वेन विषयाभेदः किं सामान्यमात्रविषयतया, तद्वन्मात्र-विषयतया? उत सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया वा? नाद्यः, वेदान्तिरीत्या सकलव्यक्त्यनुस्यूतनित्यैकत्वादिधर्मोपेतरूपस्य सामान्यस्यासिद्धेः, अन्यापोहविषयत्वरूपस्य च सामान्यस्य निराकरिष्यमाणत्वात्, नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वे चानयो-र्मीमांसकमतप्रवेशोऽपि स्यात्। न च सामान्यवदर्थविषयत्वेन विषयाभेदोऽभिप्रेतः, तथात्वे प्रत्यक्षस्याप्यनुमानत्वप्रसङ्गात्, सकलप्रमाणानां सामान्यविशेषात्मकार्थविषयत्वप्रतिपादनात्।

अत एव सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वेन शब्दानुमानयोरभेदोऽपि प्रत्याख्यातः, प्रत्यक्षस्यापि सम्बद्धार्थावगमहेतुत्वे-नानुमानत्वप्रसङ्गात्। यदि तु सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वेऽपि प्रत्यक्षस्य सामग्रीभेदादनुमानभेदः, तदा तु शब्दस्यापि तद्विशेष-त्वेन भेदः किन्न स्यात्? किञ्च, वाक्यरूपशब्दस्य सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमपि नास्त्येव। पदस्य सम्बद्धार्थबोधकत्वेऽपि वाक्यस्यानवगतसम्बन्धस्यैव वाक्यार्थावगमहेतुत्वोपपत्तेः। अत एवाभिनवविरचितश्लोकश्रवणे सति पदसंस्कृतमतीनां

निश्चय पर पहुँचता है। इसीलिये बौद्ध और वैशेषिक शब्द का भी अनुमान में अन्तर्भाव मानते हैं, क्योंकि इससे भी प्रवृत्ति विसंवाद रहित आप्तोक्ति का निश्चय होने के अनन्तर ही होती है।

इस पर हमारा यह कहना है कि शब्द अनुमान से अतिरिक्त नहीं यह कहना गलत है, क्योंकि यह सिद्ध नहीं हो सकता कि इन दोनों का विषय एक है। शब्द का विषय केवल अर्थ है और अनुमान का विषय साध्य रूप धर्म से विशिष्ट धर्मी है। आप यह कह सकते हैं कि शब्द और अनुमान दोनों का ही सामान्य मात्र विषय है। अर्थात् धूम को देखकर जैसे वह्नि विशेष का ज्ञान न होकर वह्नि सामान्य का ही ज्ञान होता है, वैसे ही गवादि शब्द से भी श्वेत-पीत गोविशेष का ज्ञान न होकर गोसामान्य का ही बोध होता है। आप यह बताइये कि शब्द और अनुमान का अभेद सामान्य मात्र गोचर होने से है? अथवा सामान्य से युक्त विशेष गोचर होने से? अथवा सम्बद्धार्थ की प्रतिपत्ति का हेतु होने से दोनों का विषयाभेद है? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्त मत में सकल व्यक्तियों में अनुस्यूत नित्यत्व-एकत्व आदि धर्मों से युक्त सामान्य मान्य नहीं है। अन्यापोह रूप सामान्य का भी निराकरण आगे किया जायगा। नित्यत्वादि स्वभाव सामान्य विषय शब्द विषय है, ऐसा हो तो वैशेषिक बौद्ध दोनों का मीमांसक मत में प्रवेश होगा। सामान्यवान् (सामान्य युक्त व्यक्ति) पदार्थ दोनों का अभिन्न है, इसलिये शब्द और अनुमान का अभेद है, यह भी पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष का भी अनुमान में अन्तर्भाव हो जायगा, क्योंकि सभी प्रमाणों के सामान्य-विशेषात्मक अर्थ ही विषय होते हैं।

इसीलिये सम्बद्ध अर्थ की प्रतिपत्ति में कारण होने से शब्द और अनुमान की अभिन्नता भी निरस्त है। यदि ऐसा माना जाता है तो प्रत्यक्ष को भी अनुमान मानना पड़ जायगा; क्योंकि प्रत्यक्ष भी सम्बद्ध अर्थ की अवगति में कारण है। यदि आप कहें कि सम्बद्ध अर्थ की प्रतिपत्ति में कारण होने पर भी सामग्री के भेद से प्रत्यक्ष अनुमान से भिन्न है, तो फिर सामग्री के भेद के ही कारण शब्द भी अनुमान से भिन्न क्यों नहीं होगा? एक बात और यह है कि वाक्य रूप शब्द की सम्बद्ध अर्थ की प्रतिपत्ति में हेतुता भी नहीं है। पद सम्बद्ध अर्थ का बोधक होता हुआ भी वाक्य तो बिना सम्बन्ध बोध के ही वाक्यार्थ की अवगति में कारण हो जाता है। इसी-लिये नये बनाये गये श्लोक के सुनने पर पद पदार्थ संगति ग्रह वालों को अर्थ की अवगति हो जाती है। इस प्रकार सम्बन्ध के अधिगम

तदर्थावगमः। तेन सम्बन्धाधिगममूलप्रवृत्तिनाऽनुमानेन तदनपेक्षस्य शब्दस्य कथमभेदः शक्यसाध्यः ? पदस्य तु सत्यपि सम्बन्धाधिगमसापेक्षत्वे सामग्रीभेदादनुमानाद्भिन्नत्वमेव। किञ्च, न परोक्षमात्रविषयत्वं शब्दस्य, त्वं सुखी दशमस्त्वमसीति तत्त्वमसीत्यादिवाक्यैर्लोके वेदे चापरोक्षज्ञानजननदर्शनात्, अर्थमात्रं शब्दस्य विषयः, साध्यविशिष्टो धर्मी त्वनुमानस्येति चोक्तमेव।

यदुक्तं पदान्यपि वाक्यार्थवृत्तीनि सन्ति गोमानौपगवः कुम्भकार इति, तत्सत्यम्; किन्तु गोमान् क इत्याकाङ्क्षाया अनिवृत्तेर्निराकाङ्क्षप्रत्ययोत्पत्त्यसम्भवात्। अपि च, लिङ्गात्पर्वतादिविशेष्यावगमपूर्विका वह्न्यादिविशेषणावगतिरुत्पद्यते, पदात्तु विशेषणावगतिपूर्विका विशेष्यावगतिरित्यपि विषयभेदः। यदुक्तं यथानुमाने धर्मविशिष्टो धर्मी साध्यते, एवमिहार्थविशिष्टः शब्दः साध्यो भवतु इति, तन्न; शब्दस्य हेतुत्वात्, हेतोः पक्षभिन्नत्वनियमात्।

ननु यथा वह्निमानयं धूमः, धूमत्वाद् महानसधूमवद् इत्यपि "सदेशस्याग्नियुक्तस्य धूमस्यान्यैश्च कल्पिता" इति भट्टपादैरग्निविशिष्टस्य पर्वतस्य धूमं धर्मीकृत्य कैश्चित्तात्त्विकैरनुमेयतेत्युक्तम्, एवं गोशब्द एवार्थवत्त्वेन साध्यतां गोशब्दत्वादिति तत्र हेतुरिति चेन्न; विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि-शब्दस्य धर्मिणोऽर्थविशिष्टत्वं साध्यते, प्रत्यायनशक्तिमत्त्वं वा, अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं वा ? नाद्यः, धूमपर्वतयोरिव शब्दार्थयोर्धर्मधर्मिभावाभावात्। यद्यर्थविषत्वेन शब्दस्यार्थविशिष्टत्वमुच्येत, तदपि न, तत्प्रतीतिजननमन्तरेण तद्विषयत्वानुपपत्तेः। प्रतीतौ तु सिद्धायां किं तद्विषयत्वद्वारेण तद्धर्मत्वेन ? यदि तु तद्विषयत्वेन तद्धर्मित्वपूर्विकार्थप्रतीतिः, अर्थप्रतीतिमूलञ्च तद्विषयत्वम्, तदेतरेतराश्रयत्वम्। तदुक्तं भट्टपादैः—

गमकत्वाच्च धर्मत्वं धर्मत्वाद् गमको यदि।
स्यादन्योऽन्याश्रयत्वं हि तस्मान्नैषापि कल्पना॥ इति।

के बाद हो जिसकी प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसे अनुमान से सम्बन्धाधिगम से निरपेक्ष शब्द की अभिन्नता कैसे हैं ? पद यद्यपि सम्बन्धाधिगम सापेक्ष हैं, तो भी सामग्री के भेद से इनकी अनुमान से भिन्नता है। इसी तरह शब्द केवल परोक्ष को ही अपना विषय नहीं बनाता, 'तुम सुखी हो', 'तुम दसवें हो', 'वह ब्रह्म तुम ही हो' इत्यादि लौकिक और वैदिक वाक्यों से अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान भी होता है। यह बताया जा चुका है कि शब्द का विषय केवल अर्थ है और अनुमान का विषय साध्यविशिष्ट धर्मी है।

यद्यपि यह कहना ठीक है कि गोमान्, औपगव, कुम्भकार आदि पद भी वाक्यार्थ वृत्ति हैं, तो भी गोमान् कौन है ? इस आकांक्षा की निवृत्ति न होने से इनसे किसी निराकांक्ष ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि लिंग से पर्वत आदि विशेष्यावगमन के अनन्तर वह्नि आदि विशेषण की अवगति होती है, किन्तु पद से विशेषण की अवगति के पश्चात् विशेष्य प्रतीत होता है। इस प्रकार इनमें विषय भेद भी स्पष्ट है। यह कथन सही नहीं है कि जैसे अनुमान में धर्मविशिष्ट धर्मी सिद्ध किया जाता है, उसी तरह यहाँ पर अर्थविशिष्ट शब्द को साध्य मान लिया जाय, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में शब्द हेतु हो जायगा और यह नियम है कि हेतु को पक्ष से भिन्न होना चाहिये, अर्थात् पक्ष और हेतु एक नहीं होना चाहिये।

यहाँ शंका होती है कि 'यह पर्वतस्थ धूम वह्निमान् है, धूम होने से, महानसस्थ धूम के समान' इस प्रकार पर्वतस्थ धूम से पर्वतस्थ वह्नि का अनुमान करने वाले किन्हीं तत्त्वचिन्तकों के मत का उल्लेख भट्टपाद ने किया है, उसी प्रकार गो शब्द को पक्ष मानकर गोशब्दत्व हेतु से अर्थवत्त्व की अनुमेयता मानी जाय। यह कथन इसलिये ठीक नहीं है कि, आगे दिये गये विकल्प नहीं हो सकेंगे। साध्य के विषय में तीन विकल्प बन सकते हैं—क्या धर्मी शब्द को पक्ष मानकर अर्थवैशिष्ट्य को साध्य माना जाय ? अथवा उसी पक्ष में अर्थबोधन शक्ति को साध्य माना जाय ? अथवा अर्थज्ञानवैशिष्ट्य को साध्य माना जाय ? इनमें पहला विकल्प इसलिये ठीक नहीं है कि धूम और पर्वत के समान शब्द और अर्थ का धर्मधर्मिभाव (विशेष्यविशेषणभाव) नहीं है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि शब्द का विषय अर्थ है, अत एव शब्द अर्थविशिष्ट है, क्योंकि अर्थप्रतीति के बिना शब्द की अर्थविषयकता नहीं बन सकती।

तेन नार्थविशिष्टः शब्दः साध्यः। नाप्यर्थप्रत्यायनशक्तिविशिष्टः साध्यः, तदर्थत्वेन शब्दप्रयोगाभावात्। तदुक्तमेव—

न शक्तिसिद्धये शब्दः कथ्यते श्रूयतेऽपि वा।
अर्थगत्यर्थमेवामुं शृण्वन्ति कथयन्ति च॥

न वा अर्थप्रतीतिविशिष्टः शब्दः साधयितुं शक्यः, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—अर्थप्रतीतिः सिद्धा असिद्धा वा? आद्ये तत्सिद्धौ तदनुमानवैयर्थ्यात्। असिद्धया तया कथं पक्षस्य तद्वत्ता साधयितुं शक्या। न चैवं वह्न्यादिसाध्येऽप्येवं विकल्पे सत्यनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गः, वैषम्यात्। तथाहि—न तत्राग्निर्धूमेन जन्यते, अर्थप्रतीतिस्तु शब्देन जन्यत इति तत्रैव सिद्धयसिद्धिविकल्पसम्भवः। किञ्च, गवादिशब्दे धर्मिणि गत्वादिसामान्यात्मकस्य हेतोर्ग्रहणम्, ततो व्याप्तिस्मरणम्, ततो लिङ्गपरामर्शः, ततोऽर्थप्रतिपत्तिरिति कालद्राघीयस्त्वाद् धर्मी तिरोहितो भवति, तस्योच्चरितप्रध्वंसित्वात्। न च पर्वतादिवत् शब्दो धर्मी स्थायीत्यनुमानकाले लोकेन नहि शब्दोऽर्थवत्त्वेन ज्ञायते। किन्तु शब्दात् पृथगेवार्थः प्रतिपद्यते। तस्माद् धर्मविशिष्टस्य साध्यस्येहासम्भवान्न शब्दलिङ्गयोरैक्यम्।

यदुक्तमभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वेन शब्दानुमानयोरभेद इति, तन्न; पक्षधर्मत्वादीनां शब्देऽसंभवात्। तथाहि—शब्दस्य पक्षधर्मत्वं न संभवति, धर्मिण एवात्र कस्यचिदभावात्। शब्दोऽर्थो वात्र धर्मीति विचार्य्यताम्, शब्दस्य धर्मित्वे तस्यैव च हेतुत्वे हेतोः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गात्। यदि तु शब्दत्वस्य हेतुत्वेन न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वमिति, तदपि न; शब्दत्वस्य सामान्य-

प्रतीति सिद्ध हो जाने पर तो अर्थविषयकता के द्वारा तद्धर्मत्व को सिद्ध करना व्यर्थ है। यदि अर्थविषयता से शब्द की धर्मिता सिद्ध होकर अर्थ की प्रतीति होगी और अर्थप्रतीति से शब्द की अर्थविषयता बनेगी तो इसमें परस्पराश्रय दोष होगा। जैसा कि भट्ट कुमारिल ने कहा है—"शब्द अर्थ का गमक (बोधक) हो तभी अर्थविशिष्ट धर्मी बनेगा और यदि अर्थविशिष्ट धर्मी बन जाय तभी वह अर्थ का गमक हो सकेगा। ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, अतः ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती।" अतः अर्थविशिष्ट शब्द साध्य नहीं हो सकता। अर्थप्रत्यायन शक्ति से विशिष्ट शब्द भी साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि इस अभिप्राय से शब्द का प्रयोग नहीं होता। कहा भी गया है—"शक्ति की सिद्धि के लिये न तो शब्द कहा जाता है और न सुना ही जाता है। अर्थ की अवगति के लिये ही इसका उच्चारण और श्रवण होता है।" अर्थ की प्रतीति से विशिष्ट शब्द भी साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ पर भी आगे दिये गये विकल्पों का कोई उत्तर नहीं है। जैसे कि अर्थप्रतीति सिद्ध है या असिद्ध? यदि यह सिद्ध है तो फिर इसको सिद्धि के लिये अनुमान करना व्यर्थ है। यदि वह असिद्ध है तो ऐसी अवस्था में उसमे पक्षधर्मता कैसे सिद्ध की जा सकती है? यदि आप कहें कि वह्नि आदि की साध्य दशा में भी ऐसा विकल्प उठाने पर तो अनुमान मात्र के उच्छेद का प्रसंग उपस्थित हो जायगा, तो ऐसी बात नहीं हैं। इन दोनों स्थलों में स्पष्ट अन्तर है। जैसे कि पर्वत में धूम अग्नि को पैदा नहीं करता। इसके विपरीत अर्थप्रतीति शब्द से पैदा होती है। अतः यहीं पर उक्त सिद्धि और असिद्धि वाला विकल्प लागू होता हैं, अनुमान स्थल में नहीं। दूसरी बात यह भी है कि गो शब्द प्रभृति धर्मी में गत्वादि सामान्यात्मक हेतु का पहले ग्रहण होगा, तब व्यक्ति का स्मरण होगा, उसके बाद लिंग का परामर्श होगा, तब कहीं जाकर अर्थ की प्रतिपत्ति होगी। इस तरह कई क्षण समय बीतने के कारण धर्मी तिरोहित हो जायगा, क्योंकि शब्द का तो उच्चारण के बाद ही नाश हो जाता है। पर्वत आदि की तरह शब्द कोई स्थायी धर्मी नहीं हैं। इसलिये अनुमान करते समय लोक शब्द को अर्थ से युक्त नहीं जान सकते, किन्तु शब्द से पृथक् ही अर्थ की अवगति होती है। इसलिये धर्मविशिष्ट साध्य के यहाँ उपलब्ध न होने से शब्द और लिंग की एकता नहीं मानी जा सकती।

यह जो कहा गया है कि समान सामग्री से युक्त होने से शब्द और अनुमान में अभेद है, ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द में पक्षधर्मता आदि नहीं बन सकती। जैसे कि शब्द की पक्षधर्मता नहीं बन सकती, क्योंकि यहाँ पर कोई धर्मी नहीं है। आप यह विचार कीजिये कि यहाँ पर शब्द धर्मी होगा या अर्थ? यदि शब्द को धर्मी माना जाय तो उसी के हेतुता कोटि में भी रहने पर हेतु प्रतिज्ञात अर्थ का ही एक देश हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि हेतुता शब्द में न रह कर शब्दत्व में रहती है, अतः हेतु की प्रतिज्ञार्थ के साथ एकदेशता नहीं है तो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि बौद्ध मत में सामान्य स्वभाव शब्दत्व की परमार्थ सत्ता नहीं है। कल्पित की सत्ता

स्वभावस्य बौद्धमते परमार्थसतोऽभावात् । कल्पितस्य सत्त्वेऽपि न गमकत्वम्, अर्थोऽर्थं गमयतीति तदभ्युपगमात् । शब्दस्य पक्षत्वप्रतिक्षेपाच्च तद्धर्मतया गत्वादिसामान्यस्य शब्दत्वस्य वा लिङ्गता, नाप्यर्थस्य धर्मित्वं सिद्धचसिद्धिविकल्पानुपपत्तेः । न च तद्धर्मत्वं शब्दस्य, तत्र तद्वृत्त्यभावात् । प्रतीतिजनकत्वेन तद्धर्मतायां तु पूर्ववदितरेतराश्रयता, पक्षधर्मत्वादिबलेन प्रतीतिः, प्रतीतौ च सत्यां पक्षधर्मत्वादिलाभात् । किञ्च, तत्प्रतीतिहेतुत्वेन शब्दस्यार्थधर्मित्वे चक्षुरादेरपि पक्षधर्मत्वसिद्धौ तत्प्रभवायाः प्रतीतेरप्यनुमितित्वप्रसङ्गात् । किञ्च, शब्दस्य स्वलक्षणात्मकेनार्थेन सम्बन्धो नाभ्युपेयते बौद्धैः । नह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा इति तदभ्युपगमात् । न चार्थेनासम्बद्धोऽपि शब्दस्तद्धर्मः, अतिप्रसङ्गात् । न चाग्निपर्वतयोरिव शब्दार्थयोर्धर्मधर्मिभावः, आश्रितत्वाभावात् । न चार्थः शब्दाश्रितः, विभिन्नदेशत्वात् । यत्राश्रयाश्रयिभावो नास्ति, तत्र धर्मधर्मिभावो न संभवति, सह्यविन्ध्ययोः काशीकाश्मीरयोस्तथाऽदर्शनात् ।

देशे काले च शब्दार्थयोरननुगमान्नान्वयव्यतिरेकावपि सम्भवतः । नहि यत्र पिण्डखर्जूरादिशब्दस्तत्र पिण्डखर्जूराद्यर्थः संभवति । यथा यत्र धूमस्तत्राग्निः, न तथा देशकृतोऽन्वयः शब्दार्थयोः । नापि कालकृतः, रावणादिशब्दानां वर्तमानत्वेऽपि तदर्थानामविद्यमानत्वात् । रावणादिव्यक्तिमन्तरा रावणादिजातेरपि विद्यमानता दुर्निरूपैव । यत्रार्थे शब्दो दृष्ट इतीदृगन्वयादिभिस्तु वाच्यवाचकभावनिर्णय एव । नैतावताऽस्यानुमानत्वम्, तथात्वे प्रत्यक्षस्यापि तदापत्तेः । घटसत्त्वे प्रत्यक्षत्वं तदभावे त्वप्रत्यक्षत्वमित्यन्वयादेस्तत्रापि सत्त्वात् । संवन्धस्मृतिसंशयोपमानादिष्वपि नातिप्रसक्तिः । सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं तु प्रत्यक्षादावतिव्याप्तम् ।

मानने पर भी वह किसी का साधक नहीं बन सकता । क्योंकि अर्थ ही अर्थ का गमक है, ऐसा बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता है । जब शब्द की पक्षधर्मता को अपास्त कर दिया गया तो शब्दधर्मतया गत्वादि सामान्य अथवा शब्दत्व की भी लिंगता नहीं बन सकती । अर्थ भी धर्मी नहीं हो सकता, क्योंकि यहां पर सिद्धि और असिद्धि के विकल्प का समाधान नहीं बन सकता । अर्थ की धर्मिता सिद्ध है तो अनुमान व्यर्थ होगा । असिद्ध है तो अर्थ के धर्मी न होने से पक्ष बिना अनुमान की प्रवृत्ति ही न होगी । शब्द अर्थ का धर्म है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शब्द को अर्थ में वृत्ति नहीं है, अर्थात् शब्द अर्थ में नहीं रहता । शब्द अर्थ की प्रतीति का जनक है, अतः उसमें अर्थ की धर्मता मानी जायगी तो यहां पर इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग होगा, क्योंकि पक्षधर्मता आदि के बल से प्रतीति होगी और प्रतीति के होने पर पक्षधर्मता आदि का लाभ होगा । दूसरा दोष यह आवेगा कि अर्थ की प्रतीति में कारण होने से शब्द को यदि अर्थ का धर्म माना जाता है तो इसी पद्धति से चक्षुरादि इन्द्रियों की भी पक्षधर्मता बनने लगेगी, फलतः चक्षुरादि इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न प्रतीति में भी प्रत्यक्षत्व न होकर अनुमितित्व मानना पड़ जायगा । अपि च, शब्द का स्वलक्षणात्मक अर्थ से संबन्ध बौद्ध दार्शनिक नहीं मानते । उनकी यह मान्यता है कि शब्द न तो अर्थ में रहते हो हैं और न वे अर्थात्मक ही हैं । जब शब्द अर्थ से असंबद्ध है तो उसका धर्म कैसे हो सकता है ? ऐसा मानने पर अतिप्रसंग होगा । अग्नि और पर्वत के समान शब्द और अर्थ का धर्मधर्मीभाव बन नहीं सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ का अग्नि और पर्वत के समान परस्पर आश्रयाश्रयीभाव नहीं है । अर्थ शब्द में नहीं रहता, क्योंकि दोनों का स्थान भिन्न-भिन्न है । जहां पर आश्रयाश्रयीभाव नहीं बनता, वहां पर धर्मधर्मीभाव की भी संभावना नहीं रहती, क्योंकि परस्पर अनाश्रित सह्य और विन्ध्यपर्वत में तथा काशी एवं काश्मीर में कोई भी व्यक्ति धर्मधर्मीभाव नहीं मानता ।

देश और काल में भी शब्द और अर्थ का अनुगम नहीं होता, अतः यहां पर अन्वय और व्यतिरेक भी नहीं बन सकते । जहां पर पिण्ड-खजूर शब्द रहता है, वहीं पिण्डखजूर रूपी अर्थ भी नहीं रह सकता । जैसे जहां धूम है वहां अग्नि है, यहां पर धूम और अग्नि का देशकृत संबन्ध है, वैसा देशकृत अन्वय शब्द और अर्थ का नहीं हो सकता । शब्द और अर्थ का कालकृत संबन्ध भी नहीं हो सकता, रावण आदि शब्द तो आज भी वर्तमान है, किन्तु उनका अर्थ विद्यमान नहीं है । रावण प्रभृति व्यक्ति के बिना रावणत्व आदि जाति की विद्यमानता भी दुर्निरूप्य है । यह शब्द इस अर्थ में ऐसा देखा जाता है । इस प्रकार के अन्वय से वाच्यवाचकभाव का ही निर्णय होता है । इतने से ही शब्द में अनुमानता नहीं आरोपित की जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष में भी यही आपत्ति आवेगी । घट के रहने पर प्रत्यक्ष होगा, न रहने पर नहीं, इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक आदि वहां पर भी हैं ही । संबन्ध, स्मृति,

शब्दो नानुमानं तद्भिन्नविषयत्वात् तद्भिन्नसामग्रीकत्वाच्च प्रत्यक्षवत्। ऋष्यार्यम्लेच्छादिभिः शब्दस्य यथेष्टं नियुज्यमानस्याप्यर्थप्रतीतिहेतुत्वं दृश्यते, न तथा कृतकत्वं नित्यत्वसाधनाय धूमत्वादिकं वा जलादिसाधनाय नियुज्यमानं तत्प्रतीतिहेतुर्भवति।

न्यायसूत्रानुरोधेन विचारः

शब्दो नानुमानम्, अनाप्ताप्रणीतत्वेनैवाव्यभिचारिज्ञानजनकत्वात्। कृतकत्वादिहेतोस्तु साध्याव्यभिचारिज्ञानेऽविनाभाव एव निमित्तं नानाप्ताप्रणीतत्वादिकम्। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे न्यायदर्शने पूर्वपक्षः—"शब्दोऽनुमानम्, अर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात्" (अ० २ आ० १।४९) इत्यत्रोक्तं शब्दोऽनुमानम्, न प्रामाणान्तरम्, कस्मात्? शब्दार्थस्यानुमेयत्वात्। यथाऽनुपलभ्यमानो लिङ्गी मितेन लिङ्गेन पश्चादनुमीयते, तथैव मितेन शब्देन पश्चान्मीयतेऽनुपलभ्यमानोऽर्थ इत्यनुमानं शब्दः। उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वाच्च (५० तदेव)। यथाऽनुमानोपमानयोरन्यथाऽन्यथोपलब्धिर्द्विप्रवृत्तिः, तथा शब्दानुमानयोर्द्विप्रकारोपलब्धिर्भवति। सम्बन्धाच्च (५१) यथा सम्बद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोरसम्बन्धप्रतीतौ लिङ्गोपलब्धौ लिङ्गिग्रहणम्, तथैव शब्दार्थयोः सम्बन्धप्रसिद्धौ शब्दोपलब्धेरर्थग्रहणम्। एवं पूर्वपक्षं प्रदर्श्य सिद्धान्ते शब्दस्य स्वतन्त्रप्रामाण्यमुक्तम्। आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसंप्रत्ययः (५२)। स्वर्गः, अप्सरसः, उत्तराः कुरवः, सप्तद्वीपाः, समुद्रः (क्षीरसमुद्रादिः), लोकसन्निवेश इत्येवमादेरप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात् प्रत्ययः, किं तर्ह्याप्तैरयमुक्तः शब्द इत्यतः संप्रत्ययः, विपर्ययेण सम्प्रत्ययाभावान्न त्वेवमनुमानं सम्भवति। अत एवोपलब्धिप्रकारभेदोऽपि तयोः सिद्धयत्येव। उपलब्धिभेदसत्त्वादेव न तयोरैक्यम्। सूत्रार्थस्तु—आप्तस्य भ्रमादिशून्यस्य य उपदेशः शब्दस्तत्र यत्सामर्थ्यम्, आकाङ्क्षायोग्यतादिमत्त्वं ततोऽर्थसम्प्रत्ययः। तेन व्याप्तिनिर-

संशय, उपमान आदि में भी अतिव्याप्ति नहीं है। संबन्ध आदि के ज्ञान का कारणत्व तो प्रत्यक्ष आदि में भी है ही, अतः प्रत्यक्ष को भी अनुमान मानना पड़ेगा।

शब्द अनुमान नहीं है, क्योंकि इसका विषय और इसकी सामग्री प्रत्यक्ष के समान ही भिन्न है। ऋषि हो, आर्य हो अथवा म्लेच्छ हो, किसी के द्वारा स्वेच्छानुसार प्रयुज्यमान शब्द अर्थ के प्रत्यायक होते हैं, इसी तरह से अपनी इच्छा के अनुसार कृतकत्व हेतु को नित्यता की तथा धूमत्वादि को जलादि की सिद्धि के लिये नियुक्त करने पर उनकी प्रतीति नहीं हो सकती।

न्यायसूत्र के अनुसार विचार

शब्द अनुमान नहीं है, क्योंकि केवल यह मालूम हो जाने पर ही कि यह शब्द अनाप्त प्रणीत नहीं है, अर्थात् इस शब्द का निर्माता कोई अप्रामाणिक व्यक्ति नहीं है, उससे सही ज्ञान होता है। कृतकत्व आदि हेतु साध्य का अव्यभिचारी है, इसको जानने में अविनाभाव ही निमित्त माना जाता है, अनाप्त से अप्रणीतत्व आदि उसमें हेतु नहीं हो सकते। अतः शब्द और अनुमान में महान् अन्तर है। इसी प्रसंग में न्यायदर्शन में पूर्वपक्ष के रूप में 'शब्दोऽनुमानम्०' इत्यादि सूत्र में कहा गया है कि शब्द अनुमान से भिन्न नहीं है, क्योंकि शब्द का अर्थ अनुमितिगम्य है। जैसे अनुपलभ्यमान अग्नि आदि लिंगी प्रामाणिक धूम आदि लिंग से बाद में अनुमित होता है, उसी तरह से प्रामाणिक शब्द से बाद में अनुपलभ्यमान अर्थ ज्ञात होता है, अतः शब्द अनुमान ही है। शब्द अनुमान से भिन्न इसलिये भी नहीं है कि यहाँ पर अनुमान और उपमान के समान दो भिन्न-भिन्न उपलब्धियाँ न होकर एक सी ही उपलब्धि होती है। यह इसलिये भी है कि संबद्ध लिंग और लिंगी को एक स्थान पर देखकर बाद में जैसे असंबद्ध लिंग की उपलब्धि से लिंगी का ग्रहण होता है, उसी तरह एक बार शब्द और अर्थ के संबन्ध के ज्ञात हो जाने पर बाद में शब्द की उपलब्धि होने पर अर्थ का ज्ञान हो जाता है। इस तरह पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त में शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। 'आप्तोपदेश०' इत्यादि सूत्र में कहा गया है कि स्वर्ग, अप्सरा, उत्तर कुरु, सात द्वीप, क्षीर सागर आदि समुद्र, सारे संसार का ढाचा इस तरह के अप्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान केवल शब्द से नहीं होगा, किन्तु इसलिये होगा कि ये शब्द आप्त अर्थात् प्रामाणिक व्यक्ति के कहे हुए हैं। यदि वक्ता प्रामाणिक नहीं है तो उससे अर्थ का निश्चय नहीं होगा। यह स्थिति अनुमान में नहीं है। इसीलिये शब्द और अनुमान में भी अनुमान और उपमान के समान प्रतीति

पेक्षादाकाङ्क्षादिज्ञानादर्थे संप्रत्ययः शाब्दबोधो भवति। शब्दादमुमर्थं प्रत्येमि, न त्वनुमिनोमीत्यनुव्यवसायात्। शब्दार्थयोः संकेतरूपसम्बन्धसत्त्वेऽपि न प्राप्तिलक्षणः सम्बन्धः। येनेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते, न तेनार्थः। अतीन्द्रियोऽप्यर्थः शब्दस्य विषयो भवति, तयोः प्राप्तिलक्षणे सम्बन्धे गृह्यमाणे शब्दान्तिकेऽर्थः स्यादर्थान्तिके वार्थः स्यादुभयं वोभयं स्यात्। न च शब्देन सहार्थस्य व्याप्तिसम्बन्धः, तथात्वे मोदकाग्न्यसिशब्दैर्मुखपूरणमुखदाहमुखपाटनानि स्युः, शब्दस्य व्याप्यस्य सत्त्वेनान्नादेरर्थस्यापि सत्त्वात्। ननु शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः (५४) शब्दादर्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयते, अस्ति शब्दार्थसम्बन्धो व्यवस्थाकारणम्, कश्चिदेकः शब्दः कञ्चिदेवार्थं बोधयति, न सर्वः सर्वम्। इत्थं सम्बन्धेऽङ्गीकृते तेन सम्बन्धेन व्याप्तिरावश्यकी। स च सम्बन्धो न मुखपूरणादिनियामक इति चेन्न, शब्दार्थसम्बन्धस्य साङ्केतिकत्वेन व्याप्त्यप्रयोजकत्वात्।

तदाह—सामयिकत्वादर्थस्य (५५) शक्तिग्रहाधीनत्वात् शक्तिरूपसम्बन्धेन न व्याप्तिः, तस्या वृत्तिनियामकसम्बन्धाधीनत्वात्। जातिविशेषे चानियमात् (५६) ऋष्यार्यम्लेच्छानां यथाकामं शब्दविनियोगोऽर्थप्रत्यायनाय प्रवर्तते, तेन सामयिकः सम्बन्धो न स्वाभाविकः। यथा तैजसप्रकाशस्य रूपप्रत्ययहेतुत्वं न जातिविशेषे व्यभिचरति, न तथात्र। आर्या यवशब्दाद् दीर्घशूकं प्रतियन्ति, म्लेच्छास्तु कङ्गुम्। नानाशक्तावपि यस्य यत्र शक्तिग्रहः, तस्य तदर्थोपस्थितिः। तथा च सिद्धान्तेऽप्यर्थव्यवस्थोपपत्तिः।

का भेद भी बन जायेगा। इस प्रतीति के भेद के ही कारण शब्द और अनुमान की एकता भी नहीं होगी। सूत्र का अर्थ यह है—आप्त अर्थात् भ्रम आदि से शून्य प्रामाणिक व्यक्ति का जो उपदेश रूप शब्द, उसमें वर्तमान जो आकांक्षा, योग्यतारूप सामर्थ्य, उससे अर्थ का बोध होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि बिना ही व्याप्ति ज्ञान के शब्द से आकांक्षा आदि की सहायता से अर्थ का जो बोध होता है, वही शाब्दबोध कहलाता है। क्योंकि बाद में यहाँ पर प्रतीति यह होती है कि मैं शब्द से अर्थ को जानता हूँ। यह अनुव्यवसाय नहीं होता कि मैं शब्द से अर्थ का अनुमान करता हूँ। शब्द और अर्थ का संबन्ध संकेतरूप है, प्राप्तिरूप नहीं। जिस इन्द्रिय से शब्द गृहीत होता है, उसी इन्द्रिय से अर्थ का भी ग्रहण नहीं होता। अतीन्द्रिय अर्थ भी शब्द का विषय होता है। यदि इनका प्राप्तिरूप संबन्ध माना जाय तो शब्द के पास अर्थ, अर्थ के पास शब्द अथवा शब्द ही अर्थ और अर्थ ही शब्द हो जायगा। शब्द की अर्थ के साथ व्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर मोदक, अग्नि, असि आदि शब्दों के उच्चारण के साथ ही मुँह में मिठास, मुँह का झुलस जाना और मुँह का कट जाना आदि कार्य भी होने लगेंगे, क्योंकि व्याप्य शब्द के मुँह से उच्चारण करने पर लड्डू, आग और तलवार रूप अर्थ भी वहाँ उपस्थित हो जाने चाहिये और उनकी उपस्थिति में उक्त कार्यों का होना अनिवार्य हो जायगा। इस पर 'शब्दार्थ०' इत्यादि सूत्र से पूर्वपक्षी कहता है किसी निश्चित शब्द से ही निश्चित अर्थ का बोध देखा जाता है, इससे यह मालूम होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध किसी व्यवस्था के आधीन है। कोई एक शब्द किसी एक ही अर्थ को बताता है, सभी शब्द सभी अर्थों का बोध नहीं कराते। इस तरह शब्द और अर्थ का संबन्ध मान लेने पर उनकी व्याप्ति भी माननी पड़ेगी। और ऐसा संबन्ध मुखपाटन-पूरण आदि का प्रयोजक नहीं है, यदि शब्द और अर्थ का संयोग, तादात्म्य आदि संबन्ध हो तभी मोदक शब्द से मुख के पूरण और क्षुरशब्द से मुखपाटन का प्रसंग होता है। पूर्वोक्त संबन्ध ऐसा नहीं है, अतः वैसा प्रसंग भी नहीं होगा। इस शंका का उत्तर 'सामयिकत्वादर्थस्य' इस सूत्र में दिया गया है। शब्द और अर्थ का संबन्ध सांकेतिक है, अतः इसमें व्याप्ति की अपेक्षा नहीं है। संकेत शक्तिग्रह के अधीन होता है, अतः उसको शक्ति रूप संबन्ध से व्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि व्याप्ति वृत्तिनियामक संयोगादि संबन्ध के अधीन होती है बिना शक्ति के संबन्ध वृत्तिता का नियामक नहीं है। 'जातिविशेषे०' इत्यादि सूत्र में यह बताया गया है कि ऋषि, आर्य और म्लेच्छ इन सबमें अपनी अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ बोध के लिये शब्दों की व्यवस्था है, इसलिये यह संबन्ध सामयिक है, स्वाभाविक नहीं। जैसे प्रकाश बिना जाति का भेदभाव किये सभी के लिये समानरूप से रूपग्रहण में सहायक होता है, वैसा यहाँ पर नहीं है। आर्य यव शब्द से जौ का ग्रहण करते हैं और म्लेच्छ कंगुनी का। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी जिस व्यक्ति को जिस अर्थ में शक्ति बोध होता है, उसको उसी अर्थ की अवगति होती है। इस तरह से सिद्धान्त में अर्थ की व्यवस्था बन जाती है।

लौकिकवैदिकशब्दयोः स्वतन्त्रं प्रामाण्यम्

तस्माच्छब्दस्य स्वतन्त्रमेव प्रामाण्यमव्याहतम्। शब्दमन्तरा मातापित्रादिज्ञानस्याप्यसम्भवात्। सर्वत्रैव मनुष्येषु दायविवाहादिप्रथा विद्यते। नाना विधिनिषेधा अपि तत्र तत्र दृश्यन्ते। न च पित्रादिज्ञानमन्तरा तन्निर्वाहः। तेन सर्वत्रैव शब्दप्रामाण्यव्यवस्था दृश्यते। किञ्च, पश्वाद्यपेक्षया मनुष्येषु धर्ममूलकमेव वैशिष्ट्यम्। धर्मज्ञानञ्च न शब्दमन्तरेति सर्वत्रैव शास्त्रप्रामाण्यमपि। तदुक्तम्—

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥ इति।

तत्रापि प्राकृताद्यपभ्रंशमयशब्दापेक्षया तत्प्रकृतिभूतसाधुसंस्कृतशब्दानां कोऽपि विलक्षणो माहात्म्यातिशयः, येषामधिकारिकर्तृकोच्चारणेनापि पुण्यजनिः, दोष-बाधविधुरस्य शब्दविशेषस्य कोऽपि माहात्म्यविशेषः सुख्यात एव। तदभ्यासे वाचां क्रियाफलाश्रयत्वं सम्पद्यते।

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥ (उ० रा० च० १।१०)

तेनैव कस्यचित् तपोधनस्य वाचैव नहुषस्य सर्पत्वम्, कस्यचित् सत्यव्रतस्य वाचैव नन्दिनस्तेनैव देहेन देवत्वं सम्पन्नमिति पौराणिकाः। 'नास्ति सत्यसमो धर्मः।' (म० भा० अनु० प० ६२।९२), 'अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेव विशिष्यते॥' (महा० आ० प० ७४।१०३; शा० प० १६२।२६; अनु० प० ७५।२९)

लौकिक और वैदिक शब्द का स्वतन्त्र प्रामाण्य

इसलिये शब्द के स्वतन्त्र प्रमाण होने में कोई बाधा नहीं है। शब्द के बिना मनुष्य को माता-पिता का ज्ञान भी न हो सकेगा। संसार में सभी जगह उत्तराधिकार, विवाह आदि की व्यवस्था है। भाँति-भाँति के विधान और निषेध, क्या करणीय है और क्या अकरणीय, सभी देशों के मनुष्य-समाज में प्रचलित हैं। माता-पिता के ज्ञान के बिना इन सब व्यवहारों का निर्वाह नहीं हो सकता। इस तरह सभी जगह शब्द का प्रामाण्य व्यवस्थित रूप से देखा जाता है। एक बात और है, पशु आदि की दृष्टि से मनुष्य में यही विशेषता है कि वह धर्म का आचरण करता है। इस धर्म का ज्ञान विना शब्द के नहीं हो सकता, अतः सभी जगह शास्त्र का भी प्रामाण्य अनिवार्य रूप से मानना पड़ता है। किसी ने कहा है—

'प्रत्यक्षादि के आश्रित बुद्धि का अनुसरण करने वाले मनुष्य वानर हैं, अर्थात् वे मनुष्य होते हुए भी पशुतुल्य हैं। वास्तव में मनुष्य वे ही हैं, जो कि शास्त्रों का अनुसरण करते हैं।

इनमें भी प्राकृतिक, अपभ्रंश आदि भाषाओं के शब्दों की अपेक्षा से इन भाषाओं की प्रकृति संस्कृत भाषा के शब्दों की कोई अनोखी महिमा है, जिनके कि अधिकारी पुरुष द्वारा किये गये उच्चारण से पुण्य लाभ होता है। कारणदोष और विषयबाध से रहित शब्द के उच्चारण की महिमा सभी जगह प्रसिद्ध है। ऐसी वाणी क्रियाफल का आश्रय होती है, उस वाणी के अनुसार क्रियाफल सम्पन्न होता है। उत्तररामचरित में भवभूति ने कहा है—

लोक व्यवहार में पड़े हुए साधुओं की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है, किन्तु प्राचीन ऋषियों की वाणी का अनुसरण अर्थ करता है। इसका यह अभिप्राय है कि साधारण मनुष्य सिद्ध वस्तु का अनुसरण करते हुए ही तदनुसार शब्दों का प्रयोग करता है। इसके विपरीत ऋषिगण जो कुछ कह देते हैं, तदनुसार ही सब कुछ सम्पन्न हो जाता है।

इसीलिए किसी तपस्वी की वाणी से ही नहुष के सर्प हो जाने की तथा किसी सत्यव्रत की वाणी से नन्दी के इसी देह में देव बन जाने की कथा पुराणों में वर्णित है। "सत्य के समान तप नहीं है।" "तराजू के एक पलड़े पर सत्य और दूसरे पर हजार अश्वमेध यज्ञों को रखा गया, किन्तु अकेला सत्य हजार अश्वमेधों से भारी पड़ा।" इन वाक्यों में उसकी महिमा स्पष्ट है। मिथ्यावादी की भी सत्यवाणी का आदर किया जाता है, तो फिर सत्यवादी की उक्तियाँ क्यों न आदृत होंगी? सत्यव्रत ऋषियों की, तप और सत्य का

इति तन्माहात्म्योक्तिः सुस्फुटैव। मृषाधादिनामपि सत्योक्तिरादियते, किमुत सत्यवादिनां तथोक्तयः, सत्यव्रतानामृषीणां सुसिद्धानामृतसत्यनिष्ठानां देवानां देवदेवानामीश्वरस्य चोक्तयो दोषबाधवैधुर्यतारतम्येनोत्तरोत्तरं विशिष्यन्ते। तदपेक्षयापि स्वप्रकाशपरब्रह्मनिःश्वसितप्रायाणां पुरुषमात्रबुद्धिप्रयत्ननिरपेक्षाणामपास्तसमस्तपुंदोषशङ्काकलङ्कपङ्कानां तदीयनित्यानन्तज्ञानानुविद्धाकृत्रिमनित्यपौरुषेयशब्दराश्यात्मकमन्त्रब्राह्मणात्मकानां वेदानां सर्वातिशायी माहात्म्यातिशयस्तु सर्वत्र जार्गतितमाम्। येषामनुग्रहादेव धर्मब्रह्मादयोऽतीन्द्रिया अपि पदार्थाः करतलगतामलकायन्ते। तत एव स्वात्मावबोधनाय करुणावरुणालयस्याकारणकरुणस्य सर्वेश्वरस्यैव वेदात्मना विशिष्यावतरणं मन्यन्ते वैदिकाः—

"वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम। वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥" इत्यादिव्यासोक्तेः।

वेदलक्षणम्

तन्त्रागमपुराणन्यायसांख्ययोगमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गोपवृंहितविविधानवद्यविद्योद्गमस्थानभूतानां वेदानां सर्वार्थविद्योतित्वं निरुपचरितमेव। "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" (म० १।२१), "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (वे० १।३।२८), "शास्त्रयोनित्वात्" (वे० १।१।३) इति रीत्या विश्वस्रष्टृतत्सृष्टिप्रकाशकत्वेन वेदानामनितरसाधारणं माहात्म्यम्। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्यापस्तम्बादिभिस्तत्स्वरूपाववोधकं लक्षणं विहितम्।

आचरण करने वाले सिद्धों की, देवताओं की, देवाधीशों की और ईश्वर की वाणी में उत्तरोत्तर विशिष्टता इस लिए है कि इनमें क्रमशः दोष और बाध का तरतमभाव कम होता जाता है। इनकी अपेक्षा से भी स्वप्रकाश परब्रह्म के निःश्वासरूप, पुरुष मात्र की बुद्धि और प्रयत्न से निरपेक्ष होने से जिनमें समस्त पुरुषबुद्धिजन्य दोषों की शंका नहीं हो सकती, परब्रह्म के [1]नित्य, अनन्त ध्यान से अनुविद्ध होने से जो अकृत्रिम, नित्य, अनन्त हैं, ऐसे अपौरुषेय शब्दराशिस्वरूप मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदों की महिमा तो सर्वातिशायी है ही। इन्हीं की कृपा से धर्म और ब्रह्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों की अवगति हाथ में रखे आँवले की तरह स्पष्ट हो जाती है। स्वात्म स्वरूप के अवबोध कराने के लिए अकारण करुणा करने वाले करुणा के समुद्र भगवान् ही अपने आप को वेद के रूप में विशिष्ट अवतार के रूप में प्रकट करते हैं। व्यास ने कहा है कि—

"साक्षात् नारायण ही स्वयं वेदों के रूप में प्रकट हुए, ऐसा हमने सुना है। वेद ईश्वर स्वरूप ही है, अतः बड़े-बड़े विद्वान् इसके स्वरूप को समझने में असमर्थ हो जाते हैं।"

वेद का लक्षण

तन्त्र, आगम, पुराण, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा, धर्मशास्त्र और षडङ्ग से युक्त विविध अनवद्य विद्याओं के उद्गमस्थान वेदों की सर्वार्थप्रकाशकता स्वतः सिद्ध है। "प्रारम्भ में ब्रह्मा ने वेद के शब्दों के आधार पर सबके भिन्न-भिन्न नाम, कर्तव्य कर्म और जीवन-यापन की व्यवस्था की।" इस मनुस्मृति के वचन के आधार पर "शब्द इति" इत्यादि वेदान्त सूत्रों के आधार पर भी विश्व की सृष्टि करने और उसको प्रकाशित करने में वेदों का असाधारण माहात्म्य ज्ञात होता है। उसी वेद के स्वरूप को बताने वाला लक्षण आपस्तम्ब प्रभृति ने किया है कि मन्त्र और ब्राह्मणभाग इन दोनों का नाम वेद है। उदयनाचार्य ने वेद का लक्षण यह किया है कि जिसका दूसरा मूल कहीं उपलब्ध नहीं है और महाजनों अर्थात् आस्तिक लोगों ने वेद के रूप में मान्यता दी हो, उन आनुपूर्वी विशिष्ट वाक्यों को वेद कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने उसका लक्षण इस प्रकार किया है—शब्दातिरिक्त एव

---

१. सभी ज्ञानों में शब्द का अनुबोध होता है। अतः परमेश्वर के नित्य ज्ञान में शब्दों का अनुबोध अनिवार्य है, ईश्वर के अनादि ज्ञानों में अनुविद्ध शब्दराशि ही वेद है। "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते (वा० प० १.१२३)।

वाक्य लक्षण में आने वाले पदों का कार्य पदकृत्य कहलाता है। अर्थात् इस लक्षण में कौन सा पद किस लक्ष्य भिन्न की व्यावृत्ति करने के लिए दिया गया है, इस बात को समझाना पदकृत्य का काम है। तात्पर्य यह है कि लक्षण का प्रत्येक पद सार्थक होना चाहिए, जिससे लक्ष्यभिन्न में लक्षण न चला जाय।

"अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वं वेदत्वम्" इत्युदयनाचार्येणापि तल्लक्षितम्। "शब्दातिरिक्तं शब्दोपजीविप्रमाणातिरिक्तं च यत्प्रमाणं तज्जन्यप्रमितिविषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिकसुखजनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यो यो प्रमाणशब्दस्तत्त्वं वेदत्वम्" इति च प्राचीनैस्तल्लक्षणमुक्तम्।

अत्र व्यासादिचाक्षुषादिप्रत्यक्षजन्ये दृष्टार्थके भारतायुर्वेदादिभागेऽतिव्याप्तिवारणाय प्रथमसत्यन्तम्। इत्थं च तदुभयातिरिक्तं प्रमाणं चक्षुरादिरेव तज्जन्यप्रमितिविषयार्थकतया तयोर्नातिव्याप्तिः। न च दृष्टार्थकवेदभागस्यापि लक्ष्यतया कथं तत्र लक्षणसमन्वय इति वाच्यम्, अत्रार्थपदस्य मुख्यतात्पर्यविषयपरत्वाद् मीमांसकनये विध्यर्थ एव मुख्यतात्पर्यविषयः। न्यायनयेऽपि "स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ" इति रीत्या विध्यर्थ एव तेषां मुख्यं तात्पर्यम्। अत एव सत्यन्तेऽनतिरिक्तेति। तथा च तेषां दृष्टार्थकत्वेऽपि नाव्याप्तिः। प्रमित्यविषयार्थकत्वमात्रोक्तावसम्भव इति जन्यान्तं प्रमितिविशेषणम्। शब्दोपजीव्यतिरिक्तेन प्रमाणेन वेदात्मकशब्देन वेदार्थस्य प्रमापणात् शब्दातिरिक्तपदस्य प्रमाणविशेषणतया निवेशः। मन्त्रावयवभूतवाक्येऽतिव्याप्तिवारणाय द्वितीयसत्यन्तम्। एवं स्तोभेऽतिव्याप्तिवारणाय प्रमाणशब्दनिवेशः।

शब्दोपजीवी जो प्रमाण (श्रुतार्थापत्ति आदि) उससे अतिरिक्त जो प्रमाण चक्षुरादि तज्जन्य प्रमिति का जो विषय उस विषय से अनतिरिक्तार्थक जो प्रमाण उससे भिन्न होकर, पारलौकिक सुखजनक उच्चारणवाला, तथा जन्य ज्ञान से अजन्य जो प्रमाण शब्द है, वही वेद है।

यदि इतना ही लक्षण किया जाय कि प्रमाण शब्द वेद है, तो यह लक्षण महाभारत आयुर्वेद आदि के दृष्टार्थ भाग में भी चला जायगा, अतः यह वेद का लक्षण अतिव्याप्ति दोषग्रस्त होने से दोषयुक्त होगा। जो लक्षण लक्ष्य में घटित होता हुआ अलक्ष्य में भी चला जाय उस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष माना जाता है। जैसे गाय का लक्षण शृङ्गित्व (सींगवाला जानवर गाय है) यदि किया जाय तो यह लक्षण गाय के साथ-साथ महिष (भैंसा) में भी चला जायगा। अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोषग्रस्त होने से गाय का ठीक लक्षण नहीं कहा जा सकता। इस दोष को दूर करने के लिए प्रमाण शब्द रूप वेद के लक्षण में विशेषण दिया गया शब्दातिरिक्त आदि प्रथम अंश। इससे महाभारत के दृष्टार्थ भाग (जो व्यासादि के चाक्षुषादि प्रत्यक्षजन्य हैं उस) भाग में उक्त लक्षण नहीं गया, कारण वह प्रमाण होते हुए भी चक्षुरादि जन्य प्रमिति के विषय से अनतिरिक्तार्थक ही है, भिन्न नहीं। इसलिए महाभारत अथवा आयुर्वेद के दृष्टार्थक भाग में यह लक्षण नहीं जा सकता। इस पर कहा जा सकता है कि फिर तो अर्थवादादि जो वेद के दृष्टार्थ भाग हैं यहाँ भी लक्षण नहीं जायगा और वेद का लक्षण अव्याप्ति दोषग्रस्त हो गया, क्योंकि लक्ष्य के एक देश में लक्षण न जाना अव्याप्ति दोष होता है जैसे यदि गाय का लक्षण शुक्लत्व (अर्थात् जो श्वेत वर्ण की हो वह गाय है) तो यह लक्षण श्वेत गाय में भले ही जाय, परन्तु तद्भिन्न लाल या काली गाय में नहीं जायगा, अतः अव्याप्तिदोष युक्त होने से यह वेद का लक्षण ठीक नहीं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि लक्षण के प्रथम अंश में कहा गया है 'चक्षुरादिजन्यप्रमिति के विषय से अनतिरिक्त अर्थ को प्रकाशित करनेवाला' इसमें अर्थ शब्द का अर्थ है मुख्य तात्पर्य का विषय। अर्थवाद का तात्पर्य उसके अक्षरार्थ में न होकर विध्यर्थ की प्रशंसा में है, अतः विध्यर्थ ही अर्थवाद का मुख्य अर्थ है और विध्यर्थ प्रत्यक्षादि का विषय नहीं उससे भिन्न होने से वहाँ भी लक्षण चला जायगा अतः अव्याप्तिदोष न होगा। यदि 'चक्षुरादिजन्य प्रमिति के विषय से अनतिरिक्तार्थक से भिन्न ऐसा न कहकर प्रमिति का अविषय ऐसा ही कहा जाय तो यह लक्षण असम्भव दोषग्रस्त हो जायगा। कहीं भी लक्ष्य में जो लक्षण न जाय उसमें असम्भव दोष होता है, जैसे गाय का लक्षण किया एक खुरत्व (एक खुरवाली) तो यह लक्षण किसी भी गाय में न जायगा कारण सभी गायों के खुर बीच में फटे होते हैं। इसी तरह नैयायिकों के सिद्धान्त से सभी कुछ प्रमिति का विषय है अविषय कुछ भी नहीं; अतः यह लक्षण कहीं भी नहीं जा सकेगा। प्रथम अंश में यदि शब्दातिरिक्त विशेषण न दें तो शब्दोपजीवी प्रमाण से अतिरिक्त स्वयं वेद शब्द उसकी प्रमिति का विषय ही समस्त वेदार्थ है, अतः लक्षण कहीं भी नहीं जायगा, अन्ततोगत्वा असम्भव बना ही रहेगा। इसीलिए 'शब्दातिरिक्त' यह विशेषण प्रमाण का दिया गया। अब लक्षण चला जायगा कारण 'वेदशब्द' शब्दातिरिक्त प्रमाण नहीं है। शब्दातिरिक्त प्रमाणजन्य प्रमिति विषयानतिरिक्तार्थ से भिन्न है। अतः असम्भव दोष न होगा। इतना होने पर भी मन्त्र के एक देश में (जो वेद नहीं है) लक्षण चला जायगा इससे अति व्याप्त दोष होगा। (यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण न करके मन्त्र के एक देश का उच्चारण किया जाय तो उसमें वेदत्व नहीं रहता) अतः दूसरा विशेषण दिया गया पारलौकिक सुखजनक उच्चारण वाला। अब यह लक्षण नहीं गया कारण

मन्वादिस्मृतिभारताद्यदृष्टार्थकभागेष्वतिव्याप्तिवारणायाजन्य इत्यन्तम्। यद्यपि "अनन्ता वै वेदाः" इति श्रुत्यनुसारेण वेदा अनन्ता एव, तथापि एकत्रिंशदधिकशतोत्तरसहस्रशाखोपवृंहितो मन्त्रब्राह्मणात्मकोऽविच्छिन्नपारम्पर्येणाधीयमानोऽपौरुषेयः शब्दराशिरेव मानवबुद्धिगम्यो वेदः। गुरोर्मुखादनुश्रूयमाणत्वादेवान्वर्थकानुभवत्वमपि तस्य, "प्रमाणानां प्रामाण्यादेव हि प्रमेयसिद्धिः" इति नियमात्।

उपमान-प्रमाणम्

वेदान्तपरिभाषादिरीत्या उपमितिकरणत्वमुपमानत्वम्। करणत्वञ्चासाधारणत्वमिह विवक्षितम्, न तु व्यापारवत्त्वघटितमिति, गवयनिष्ठसादृश्यज्ञानस्योपमितौ जनयितव्यायां व्यापाराभावात्। उपमितिश्च सादृश्यज्ञानत्वेन सादृश्यज्ञानजन्या। उपमितौ कारणान्तरानुपपत्त्यां गवादिप्रतियोगिकगवयादिनिष्ठसादृश्यज्ञानस्य सादृश्यज्ञानत्वे करणत्वकल्पनान्नासम्भवः। तदनुव्यवसायादेश्च तत्त्वेन तज्जन्यत्वाभावान्नातिव्याप्तिः। न च गोविसदृश उष्ट्र इति वैधर्म्यज्ञानजन्यायाम्

मन्त्र के एकदेश के उच्चारण में पारलौकिक सुख नहीं होता। यदि शब्दातिरिक्तं शब्दोपजीविप्रमाणातिरिक्तं च यत्प्रमाणं तज्जन्यप्रमितिविषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिकसुखजनकत्वोच्चारणकत्वं यह दो अंश ही वेद का लक्षण रखा जाय, प्रमाण शब्द यह विशेष्य अंश न रखा जाय तो सामगान में जो स्तोभ हैं 'हावु' आदि उनमें भी लक्षण चला जायगा, कारण वे चक्षुरादिप्रमाणजन्य प्रमिति के विषय से अनतिरिक्तार्थक से अन्य हैं और पारलौकिक सुखजनक उच्चारण वाले भी हैं—परन्तु वे वेद नहीं हैं कारण मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् कहा गया है और स्तोभ दोनों से बहिर्भूत हैं। इस अति व्याप्ति दोष के वारण के लिए यह अंश रखा गया 'प्रमाणशब्दत्व' अर्थात् प्रमाजनक शब्द। स्तोभ का कुछ भी अर्थ नहीं होता। निरर्थक होने से वे प्रमाजनक भी नहीं हो सकते। अतः वेद का लक्षण स्तोत्र में नहीं गया। यदि कोई प्रश्न करे कि यदि स्तोम वेद नहीं हैं तो शूद्रों के लिए उनका उच्चारण निषिद्ध क्यों? इसका समाधान यह है कि वेदाध्ययन निषेध के कारण स्तोभों के अध्ययन का निषेध शूद्रों के लिए नहीं अपितु वाचनिक पृथक् निषेध है। इतना लक्षण होने पर भी मन्वादि स्मृतियों में तथा महाभारतादि के अदृष्टार्थक भागों में भी वेद का लक्षण चला जायगा क्योंकि वे चक्षुरादिजन्य प्रमिति विषयानतिरिक्तार्थ से भिन्न भी हैं, पारलौकिक सुखजनक उच्चारणवाले भी हैं, तथा प्रमाण शब्द भी हैं। अतः इस लक्षण में पुनः अतिव्याप्ति दोष होगा। अतः जन्यज्ञानाजन्यत्व यह तीसरा विशेषण दिया गया है। इससे यह लक्षण मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों और महाभारतादि के अदृष्टार्थक भागों में नहीं जायगा, क्योंकि वे सभी ग्रन्थ पौरुषेय (प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचित) होने के कारण जन्यज्ञानजन्य ही हैं। जन्यज्ञानाजन्य नहीं। यदि कहा जाय कि प्रमाण शब्द में 'शब्द' यह अंश क्यों रखा गया, केवल प्रमाण इतना ही कहना चाहिए। तो इसका उत्तर यह है कि इतना लक्षण मनमें भी चला जायगा और वेद का लक्षण अतिव्याप्ति दोषग्रस्त हो जायगा, कारण चक्षुरादिप्रमितिजन्य विषयानतिरिक्तार्थक से भिन्न मन है और 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि के अर्थग्रहण पर्यवसायी होने से 'प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः' इस वाक्य से प्रतिपाद्य मन से भी वाक्योच्चारण के समान धर्म होता है, तथा वैशेषिकों के सिद्धान्त से मन नित्य होने के कारण अजन्य है। अतः जन्यज्ञानाजन्य भी है, ऐसे मनमें यह लक्षण न चला जाय इसीलिए प्रमाण शब्द में शब्द यह अंश अवश्य देना चाहिए। मन शब्द नहीं है, अतः यह वेद का लक्षण मन में नहीं गया और सर्वथा निर्दुष्ट वेद का यह लक्षण हुआ।

उपमान प्रमाण

वेदान्तपरिभाषा को पद्धति से उपमिति के करण को उपमान प्रमाण कहते हैं। असाधारण कारण यहाँ करण माना गया है। यहाँ 'व्यापारवत्' ऐसा विशेषण जोड़ने की जरूरत नहीं है, क्योंकि उपमिति में गवयनिष्ठ सादृश्य ज्ञान की उत्पत्ति में व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती। उपमिति एक प्रकार का सादृश्य ज्ञान है, अतः सादृश्य बोध होने पर यह उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त उपमिति में अन्य कोई कारण की आवश्यकता नहीं है, अतः गो आदि है प्रतियोगी जिसका, ऐसा गवयादिनिष्ठ सादृश्यज्ञान, उपमिति में करण होने से असंभव दोष नहीं होगा। उपमिति स्थल का अनुव्यवसाय (गामुपमिनोमि इत्याकारक) सादृश्य ज्ञानत्वेन सादृश्य ज्ञानजन्य न होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। यहाँ पर यह कथन उचित नहीं है कि ऊँट गाय से विलक्षण है, इस वैधर्म्य ज्ञान से जनित, 'मेरी गाय ऊँट से विलक्षण है' इस उपमिति में उक्त लक्षण का समन्वय न होने से अव्याप्ति दोष आवेगा, क्योंकि ऐसे स्थलों पर उपमान

अनया विसदृशी मदीया गौरित्युपमितावव्याप्तिः, तत्रोपमानप्रामाण्यानभ्युपगमात् । करभेण (उष्ट्रेण) गामुपमिनोमीत्यनुव्यवसायादर्शनात् । तथाहि ग्रामनगरादिषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनगतस्य गवयेनेन्द्रियसन्निकर्षे सति गोसदृशोऽयमिति भवति प्रतीतिः । तदनन्तरञ्चानेन सदृशी मदीया गौरिति निश्चयरूपोपमितिरुत्पद्यते । सादृश्यञ्च तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयःसामान्यवत्त्वमेव । तदसाधारणधर्मशून्यत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वं वा । न चैवं गजमशकयोरपि सादृश्यापत्तिः स्यादिति वाच्यम्, प्राणित्वादिना तत्र तस्येष्टत्वात् । अत एव न सादृश्यं पदार्थान्तरं तस्य सामान्येऽन्तर्भावात् । तदसाधारणधर्मशून्यत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वस्य सादृश्यस्योपाधिरूपत्वेन प्रमेयत्वादिवत् सामान्यवृत्तित्वेऽपि विरोधाभावात् । तद्गतधर्मवत्त्वलक्षणञ्चेतरनिरूप्यत्वात् सप्रतियोगिकमपि तत्, तच्च न पदार्थान्तरम्, तथात्वे सुसदृशमीषत्सदृशमित्युत्कर्षापकर्षभावप्रसङ्गात् । सिद्धान्ते तु सामान्याल्पभूयस्त्वाभ्यां तदुपपत्तिः । तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणं गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम् । न चेदं प्रत्यक्षेण सम्भवति, गोपिण्डस्य तदानीमिन्द्रियासन्निकर्षात् । नाप्यनुमानेन, गवयनिष्ठसादृश्यस्यातल्लिङ्गत्वात् ।

ननु प्रत्यक्षेण गवये गोसादृश्ये गृह्यमाणे गव्यपि गवयसादृश्यं गृहीतमेव, समानसंवित्संवेद्यत्वात्, इति चेन्न, धर्मिप्रतियोगिभेदेन समानसंविद्वेद्यत्वासिद्धेः ।

ननु मदीया गौरेतद्गवयसदृशी, एतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वात्, यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी स तत्सदृशः, यथा मैत्रनिष्ठसादृश्यप्रतियोगी चैत्रो मैत्रसदृश इत्यनुमानात्तत्सम्भवः, इति चेन्न, तथाविधानुमानानवतारेऽप्यनेन सदृशी मदीया गौरिति

प्रमाण माना ही नहीं जाता । इसका कारण यह है कि ऐसे स्थलों पर ऊँट से गाय की उपमिति करता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय नहीं देखा जाता । उपमान की प्रक्रिया यह है कि गाँव, नगर आदि में जो मनुष्य गाय से परिचित है वह वन में गवय को देखता है तो उसको प्रतीति होती है कि यह गाय के जैसा है । अनन्तर इस गवय के सदृश मेरी गौ है, इस प्रकार की निश्चय रूप उपमिति होती है । सादृश्य का लक्षण है कि उससे भिन्न हो और तद्गत अधिक धर्मवान् हो । अथवा असाधारण अर्थात् विशेष धर्म के न रहने पर जिनमें साधारण धर्म समान हो, उसको सादृश्य कहते हैं । यह आशंका ठीक नहीं है कि इस प्रकार सामान्य धर्म लेकर हाथी और मच्छर में भी सादृश्य मिल जायेगा, क्योंकि इनमें प्राणी के रूप में तो सादृश्य अभिप्रेत ही है । इसीलिए सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ नहीं है । उसका सामान्य में अन्तर्भाव हो जाता है । द्वितीय लक्षण से लक्षित सादृश्य प्रमेयत्व आदि के समान सामान्य वृत्ति होने पर भी कोई विरोध नहीं होगा । क्योंकि 'तद्गतधर्मवत्व' निरूपक सापेक्ष है । जो निरूपक है वह उसका प्रतियोगी है । इस रूप से वह सप्रतियोगी बन जाता है । अतः सादृश्य पदार्थान्तर नहीं है । सादृश्य को भिन्न पदार्थ मानने पर यह अत्यन्त सदृश है; यह कम सदृश है इत्यादि सादृश्य में उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं बन पावेगा । सिद्धान्त में तो इसकी उपपत्ति थोड़ी और अधिक समानता के आधार पर हो सकेगी । यहाँपर अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा गवय में स्थित गो का सादृश्य ज्ञान करण है और गाय में स्थित गवय सादृश्य ज्ञान उपमिति का प्रयोजन है । यह प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय वन में गाय के साथ इन्द्रियों का संनिकर्ष नहीं है । अनुमान से भी यह ज्ञात नहीं हो सकता, क्योंकि गवयनिष्ठ सादृश्य उसमें हेतु नहीं बन सकता ।

यहाँ शंका होती है कि प्रत्यक्ष से गवय में गाय का सादृश्य गृहीत होने पर गाय में भी गवय का सादृश्य गृहीत हो जाता है क्योंकि यह समानसंवित्संवेद्य हैं, अर्थात् एक प्रकार के ज्ञान से दोनों गृहीत होते हैं । तब उपमिति की क्या आवश्यकता है ? यह शंका इसलिये उचित नहीं है कि यह समानसंवित्संवेद्य नहीं है, धर्मी एवं प्रतियोगी का भेद है ।

प्रत्यक्ष से न सही, किन्तु मेरी गाय इस गवय के समान है, क्योंकि इसमें विद्यमान सादृश्य का गवय प्रतियोगी है[1], जो जिस सादृश्य का प्रतियोगी है, वह उसके समान है, जैसा कि मैत्र में विद्यमान सादृश्य का प्रतियोगी चैत्र मैत्र सरीखा होता है, इस अनुमान

१. जैसा कि गवय सादृश्य को गो में ले जाना हो तो उस सादृश्य का प्रतियोगी गवय है और अनुयोगी गो है । प्रतियोगी गवय से भिन्न होकर गवयगत अधिक धर्मवाली गाय है । अतः गवय सादृश्य गो में विद्यमान है । अथवा असाधारण गवयत्व गोत्व आदि हैं, गो में असाधारण गवयत्व धर्म नहीं है, किन्तु गवय के चतुष्पात्त्व लोमवत्त्व आदि सामान्य धर्म हैं । अतः गवय के सदृश गो है ।

प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात्। कथञ्चित्साध्यहेतुप्रसिद्धावपि गवि गवयसादृश्यानुभवकाले नियमेन व्याप्तिज्ञानाभावात्। उपमिनोमीत्यनुव्यवसायाच्चोपमानमेव तत्र मन्तव्यम्।

नैयायिकरीत्या तु कीदृशो गवय इति प्रश्नानन्तरं यथा गौस्तथा गवय इत्याप्तारण्यकपुरुषद्वारा लब्धोपदेशस्य वनं गतस्य तद्वाक्यं स्मरतश्चक्षुःसन्निकर्षेणायं गोसदृश इति प्रत्यक्षे जातेऽसौ गवयशब्दवाच्य इति प्रतीतिरेवोपमितिः। तत्करणञ्च नाप्तवाक्यं तस्य पिण्डप्रत्यक्षात्प्रागपि सत्त्वात्। नापि प्रत्यक्षं तस्मिन् सत्यपि वाक्याश्रवणे वाच्यताप्रतीतेः। नापि मिलितयोः कारणत्वं भिन्नभिन्नकालतया तयोर्मेलनासिद्धेः। प्रत्यक्षसमये तद्वाक्यानुस्मृतिसम्भवेऽपि शाब्दत्वापरोक्षत्वयोः साङ्कर्यापत्त्या ताभ्यां विजातीयाभ्यां तादृशप्रमानुपपत्तेः। नाप्यनुमानं करणं तदनवतारेऽपि तादृशप्रतीतेः सिद्धत्वात्। तदुक्तमुदयनाचार्यैः—

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह। प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः॥ (न्या० कु० ३।१०) इति।

वेदान्तिनस्तु गवयत्वविशिष्टो गवयशब्दवाच्यः, गोसदृशत्वात्, अतिदेशवाक्यावगतपिण्डवदित्यनुमानेन गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकम्, पदत्वात्, घटपदवदित्यनुमानेन च गतार्थमेव तत्। वस्तुतस्तु नहि गवयेन गामुपमिनोमीत्यनुव्यवसायो वाच्यत्वविषयः, तस्मान्न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धबुद्धिरूपं तत्फलमिति।

अर्थापत्ति-प्रमाणम्

उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। उपपाद्यज्ञानं करणमुपपादकज्ञानं फलम्। येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोप-

से उसकी प्रतीति हो जायगी तो उपमिति प्रमाण की क्या आवश्यकता है? यह अनुमान भी इसलिये असफल हो जायगा कि बिना इस अनुमान के भी इस गवय के समान मेरी गाय है, ऐसी प्रतीति अनुभव से सिद्ध है। ऐसे स्थलों में किसी प्रकार साध्य और हेतु की प्रसिद्धि हो जाने पर भी निश्चित रूप से व्याप्ति ज्ञान की सिद्धि नहीं हो पाती। ऐसे स्थलों में अनुव्यवसाय अनुमान का न होकर उपमान का होता है, इससे भी यहाँ पर उपमान ही मानना पड़ेगा, अनुमान नहीं।

नैयायिकों का यह कहना है कि गवय कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में जैसी गाय है, वैसा गवय है, ऐसी आप्त अरण्यवासी की उक्ति को सुनकर जंगल में गवय को प्रत्यक्ष करते हुये आप्त वाक्य का स्मरण करता है तो यह गाय का जैसा प्राणी है, इस प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा यह गवय शब्द का वाच्य प्राणी है, ऐसी प्रतीति हो उपमिति है। यहाँ करण आप्त वाक्य नहीं है, क्योंकि गवय पिण्ड के देखने से पहले भी वह विद्यमान था। प्रत्यक्ष भी यहाँ पर करण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष होने पर जिसने उक्त आरण्यक पुरुष की वाणी नहीं सुनी है, उसको गवयशब्द वाच्यता की प्रतीति नहीं हो सकती। दोनों मिलकर भी कारण नहीं हो सकते, क्योंकि ये दोनों भिन्न-भिन्न काल के हैं। अतः ये दोनों मिल नहीं सकते। गवय का प्रत्यक्ष होते समय आप्त व्यक्ति के वाक्य का स्मरण यद्यपि संभव है, तो भी ऐसी अवस्था में शाब्द और प्रत्यक्षज्ञान का सांकर्य होगा, ये दोनों विजातीय प्रमाण हैं, इन परस्पर विरोधी प्रमाणों से किसी प्रमा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अनुमान भी यहाँ पर करण नहीं हो सकता, क्योंकि बिना अनुमान के भी तादृश प्रतीति होती है। इसीलिये उदयनाचार्य ने कहा है कि—"गवयादि संज्ञा का गवय पिण्ड के साथ सम्बन्ध का ज्ञान कराना ही उपमान का प्रयोजन है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द के द्वारा नहीं सम्भव होता"।

इस पर वेदान्तियों का कहना है कि गवयत्व जाति से विशिष्ट प्राणी गवय शब्द वाच्य है, क्योंकि वह गोसदृश है, उदाहरण है अतिदेश वाक्य (आप्त वाक्य से) ज्ञात गवय पिण्ड। इस अनुमान से, अथवा गवय पद अवश्य किसी का बोधक है, पद होने से, घट पद के समान, इस अनुमान से नैयायिकाभिमत गवय शब्द वाच्यता का ज्ञान हो जाता है। अतः यह उपमिति का प्रयोजन नहीं है। वस्तुतस्तु गवय से गाय की उपमिति करता हूँ, यह अनुव्यवसाय वाच्यत्व का विषय नहीं है, अतः संज्ञासंज्ञी रूपी सम्बन्ध ज्ञान की अवगति उपमिति का फल नहीं होगा।

अर्थापत्ति प्रमाण

उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना अर्थापत्ति-प्रमाण कहलाता है। यहाँ उपपाद्य का ज्ञान करण और उपपादक का ज्ञान फल है। उपपाद्य उसे कहते हैं जिसके बिना जो उपपन्न (सिद्ध) न होता हो और उपपादक वह कहलाता है जिसके अभाव में

पाद्यम्, यस्याभावे यदनुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्। यथा रात्रिभोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वमुपपाद्यम्, यथा वा रात्रिभोजनस्याभावे तादृशपीनत्वानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनं तदुपपादकम्।

सा चार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिदृष्टार्थापत्तिभेदेन द्विधा। इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव निषिद्ध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति रजतस्य तद्भिन्नत्वं सत्यत्वात्यन्ताभाववत्त्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयति इति दृष्टार्थापत्तिः। 'तरति शोकमात्मविद्' (छा० उ० ७।१।३) इति श्रूयमाणस्य शोकपदवाच्यस्य बन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्यान्यथानुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते। यथा वा जीवी देवदत्तो गृहे नास्तीति श्रवणानन्तरं जीविनो गृहासत्त्वं बहिःसत्त्वं कल्पयति।

श्रुतार्थापत्तिरपि द्विविधा—अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च। यत्र वाक्यैकदेशश्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्त्या अन्वयाभिधानोपयोगिपदान्तरं कल्प्यते तत्राभिधानानुपपत्तिः। यथा द्वारमित्यत्र पिधेहीत्यध्याहारः। अत्राभिधानपदेनाभिधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या तात्पर्यस्य विवक्षितत्वेन कर्मक्रियासंसर्गावबोधनतात्पर्येण अनेन द्वारमित्युच्चारितमिति ज्ञानवतोऽन्वयाभिधानात् पूर्वावस्थायामपि तथा ज्ञानं सम्भाव्यते। अभिहितान्वयानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति तत्र द्रष्टव्या। यथा 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र श्रुतौ स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिकज्योतिष्टोमयागगततयावगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते।

न चेयमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवति, अन्वयव्याप्त्यज्ञानेनान्वयिन्यनन्तर्भावात्। न च व्यतिरेकिणश्चानुमानत्वम्, अर्थापत्तिवादिभिस्तदनङ्गीकारात्। तद्रीत्या नानुमानस्य व्यतिरेकिरूपत्वम्, साध्याभावे साधनभावनिरूपितव्याप्तिज्ञानस्य

किसी विशेष कार्य की सम्भावना न हो। जैसे कि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता हुआ पीन है। यहाँ पीनत्व उपपाद्य है, वह बिना रात्रि भोजन से उपपन्न नहीं है। एवं रात्रि भोजन के अभाव में पीनत्व बनता नहीं तो रात्रि भोजन उसका उपपादक है।

यह अर्थापत्ति श्रुतार्थापत्ति और दृष्टार्थापत्ति के भेद से दो प्रकार की है। चक्षु से संयुक्त द्रव्य में 'यह रजत है' इस प्रकार का ज्ञान यदि सत्य है, तो उसकी 'यह रजत नहीं है' ज्ञान से निवृत्ति कभी नहीं संभव हो सकती। अतः निषेध से रजत में या तो रजत भिन्नत्व अथवा सत्यता के अत्यन्ताभाव रूपी मिथ्यात्व की कल्पना होती है। इसको दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। "आत्मविद् शोक के पार पहुँच जाता है" इस श्रुतिवाक्य से अवगत शोकपद वाच्य संसारबन्ध ब्रह्मज्ञान के द्वारा तभी निवृत्त हो सकता है, जब कि वह बन्ध मिथ्या हो। अथवा जैसे देवदत्त जीवित तो है, किन्तु वह घर में नहीं है, यहाँ पर जीवित व्यक्ति का घर में न रहना, कहीं बाहर उसकी स्थिति को बताता है। इस प्रकार के सब दृष्टार्थापत्ति के उदाहरण हैं। श्रुतार्थापत्ति दो प्रकार की होती है—अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति। अभिधानानुपपत्ति वहाँ होती है, जहाँ कि वाक्य के एक अंश के सुनने पर उसका किसके साथ अन्वय है, यह प्रतीत न होने पर तदुपयोगी पदान्तर की कल्पना की जाती है, जैसे कि 'द्वार' (दरवाजा) पद के सुनने पर 'पिधेहि' (बन्द करो) पद का अध्याहार किया जाता है। यहाँ 'अभिधीयतेऽर्थोऽनेन' इस करण व्युत्पत्ति द्वारा अभिधान पद से तात्पर्य विवक्षित है, अतः कर्म और क्रिया के संबन्ध को बताने के तात्पर्य से इसने 'द्वार' पद का उच्चारण किया है, ऐसा जिसको ज्ञान है, उसको अन्वय के पहले भी इस प्रकार का ज्ञान हो सकता है। अभिहितान्वय की अनुपपत्ति वहाँ पर होती है, जहाँ पर कि वाक्य से अवगत अर्थ अनुपपन्न है, ऐसा मालूम होने पर उससे भिन्न किसी उपपन्न अर्थ की कल्पना की जाती हो। जैसे कि "स्वर्गकाम व्यक्ति ज्योतिष्टोम याग करे" इस श्रुति में सुनी गई क्षणिक ज्योतिष्टोम याग की स्वर्गसाधनता अनुपपन्न होकर ज्योतिष्टोम याग और स्वर्ग प्राप्ति के बीच में ज्योतिष्टोम से उत्पन्न अपूर्व की कल्पना में सहायक होती है।

इसका अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वय व्याप्ति का ज्ञान न होने से उसमें इसका अन्तर्भाव नहीं होगा। अर्थापत्ति को प्रमाण मानने वाले दार्शनिक व्यतिरेकानुमान मानते ही नहीं, इसलिए व्यतिरेक व्याप्ति का यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि साध्याभाव में साधनाभाव से जाना जाने वाला व्याप्ति ज्ञान साधन से साध्य के अनुमान में सहायक नहीं हो सकता। यहाँ शंका

साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात्। ननु कथं धूमादावन्वयव्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानादनुमितिरिति चेन्न, तदर्थमेवार्थापत्तिरूपप्रमाणान्तरस्वीकारात्। अत्र एव केवलान्वय्यपि नानुमानम्, वेदान्तिरीत्या सर्वस्यैव धर्मस्य ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वरूपकेवलान्वयित्वस्यासिद्धेः।

नन्वर्थापत्तिस्थले इदमनेन विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं करणमित्यभ्युपेयते। तत्र किमिदं तेन विनानुपपन्नत्वमिति चेन्न, तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वस्यैव तत्त्वात्। अत एव 'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जलम्' इत्यादौ गन्धवत्त्वमितरभेदं विनाऽनुपपन्नमित्यादिविज्ञानस्य कारणत्वादर्थापत्तिरूपतैव। अत एव-पृथिव्यामितरभेदं कल्पयामि इत्यनुव्यवसायो भवति। कथञ्चित्तदङ्गीकारेऽपि व्यतिरेकसहचारज्ञानजन्यान्वयव्याप्तिज्ञानस्यैव तत्र हेतुत्वेन तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वविषयकोपपाद्यज्ञानस्याहेतुत्वान्नातिव्याप्तिः। अस्तु वा व्यतिरेकसहचारज्ञानजन्यव्यतिरेकव्याप्तिज्ञाना-

उठती है कि तब धूमादि में अन्वय व्याप्ति को न जानने वाले व्यक्ति को व्यतिरेक व्याप्ति के ज्ञान से कैसे अनुमिति होती है? इसका उत्तर यही है कि यह अनुमान का विषय न होकर अर्थापत्ति रूप एक भिन्न प्रमाण का विषय है। इसीलिये केवलान्वयी भी अनुमान नहीं होता, क्योंकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार सभी धर्म ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, अर्थात् कोई भी धर्म ब्रह्म से कभी अलग नहीं है। इसके विपरीत अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य में ही केवलान्वयी की प्रवृत्ति हो सकती है, फलतः अद्वैत वेदान्त में केवलान्वयी हेतु बन ही नहीं सकता।

शंका उठती है कि अर्थापत्ति प्रमाण में 'यह इसके बिना उपपन्न नहीं हो सकता', इस प्रकार का ज्ञान करण माना जाता है, यहाँ पर यह उसके बिना अनुपपन्नता क्या वस्तु है? उत्तर है—'तद्भाव' इत्यादि।[1] इसलिये "पृथिवी अन्य से भिन्न है, क्योंकि यह गन्धवती है, जो दूसरों से भिन्न नहीं है, वह गन्धवान् भी नहीं है, जैसे कि जल"[2] इत्यादि स्थलों में गन्धवत्त्व इतर भेद के बिना उपपन्न नहीं इत्यादि विज्ञान, कारण होने से यहाँ अर्थापत्ति ही प्रमाण है। इसीलिये पृथिवी में दूसरे पदार्थों से भेद की कल्पना करता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय होता है। किसी प्रकार व्यतिरेकी अनुमिति को मानने पर भी अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि—व्यतिरेक के साहचर्य से उत्पन्न अन्वय व्याप्ति ज्ञान को ही व्यतिरेकी अनुमिति में हेतु मानना पड़ेगा।[3] अथवा व्यतिरेक के साहचर्य ज्ञान से जन्य व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान से भी भले ही अनुमान प्रमाण की स्थिति माने, तो भी अर्थापत्ति के लक्षण की वहाँ पर अतिव्याप्ति इसलिये नहीं होगी कि वह व्यतिरेक व्याप्ति वहाँ पर व्यभिचार ज्ञान के विरोधी ज्ञान के रूप में हेतु होगी, फलतः वहाँ पर अर्थापत्ति का उक्त

---

१. 'पीनो देवदत्तः, दिवा न भुङ्क्ते' इस स्थल में रात्रि भोजन के बिना देवदत्त में पीनत्व अनुपपन्न है, पीनत्व का उपपादक है रात्रि भोजन। यदि रात्रि भोजन कल्पित नहीं हुआ तो पीनत्व की उपपत्ति नहीं होगी। यह अनुपपन्न 'तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्व रूप है। अर्थात् तदभाव-रात्रिभोजनाभाव, उसका व्यापक अभाव दिन में भोजन न करते हुए पीनत्वाभाव, इस अभाव का प्रतियोगी पीनत्व, यही अनुपपन्नत्व है।

२. नैयायिक पृथिवी में इतरभेद सिद्ध करने हेतु व्यतिरेकी अनुमान मानते हैं, उस स्थल में भी अर्थापत्ति प्रमाण से ही कार्य सम्पन्न होता है, यह दिखलाया जाता है—'अत एव' आदि से। पृथिवी में गन्धवत्त्व के बिना जल आदि पदार्थों से भेद उपपन्न नहीं होता है। अनुपपद्यमान है पृथिवी में इतर भेद, इतर भेद का कल्पक है—गन्धवत्त्व। गन्धवत्त्वाभाव का व्यापक जो अभाव इतर भेदाभाव, उसका प्रतियोगी इतर भेद, वही अनुपपद्यमान है। अतः अर्थापत्ति से ही व्यतिरेक स्थल में कार्य सम्पन्न किया जा सकता है तो व्यतिरेकी अनुमिति की आवश्यकता नहीं है।

३. विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—हेतु के रहने से साध्य का रहना अन्वय है, साध्य के न रहने से हेतु का न रहना व्यतिरेक है। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में साध्य वह्नि है और हेतु धूम है। साध्य वह्नि के अभावस्थल में धूम हेतु का भी अभाव है। इस व्यतिरेक ज्ञान से अन्वय व्याप्ति का ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् वह्नि नहीं रहने पर धूम नहीं रहेगा इस ज्ञान से धूम हेतु के अधिकरण में साध्य वह्नि का अभाव नहीं मिलने पर साध्याधिकरण वृत्तिता हेतु को मिल जाती है, ऐसा अन्वय ज्ञान हो जाता है। यही ज्ञान व्यतिरेकी अनुमिति में कारण है। अर्थापत्ति में जो उपपाद्य ज्ञान माना जाता वह कारण नहीं है। अतः व्यतिरेकानुमिति में अतिव्याप्ति नहीं है।

दनुमितिः, तथापि तस्य व्यभिचारज्ञानविरोधिज्ञानतयाऽहेतुत्वेन तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वज्ञानत्वेनाहेतुत्वान्नातिप्रसङ्गः।

अनुपलब्धि-प्रमाणम्

ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्, अनुमानादिजन्यातीन्द्रियाभावानुभवहेतौ अनुमानादावतिव्याप्तिवारणायाजन्यान्तेति पदम्। अदृष्टादौ साधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारणकारणहेतुसंस्कारेऽतिव्याप्तिवारणायानुभवेति विशेषणम्।

नन्वतीन्द्रियाभावानुमितिस्थलेऽपि कुतो नानुपलब्ध्यैवाभावो गृह्यते विशेषाभावादिति चेन्न, धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वात्।

ननु केयं योग्यानुपलब्धिः ? किं योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिराहोस्वित् योग्येऽधिकरणे प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिः ? नाद्यः, स्तम्भे पिशाचभेदस्याप्रत्यक्षत्वापत्तेः। नान्त्यः, आत्मनि धर्माद्यभावस्य प्रत्यक्षत्वापत्तेरिति चेन्न, योग्या चासावनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयाश्रयणे दोषविरहात्। अनुपलब्धेर्योग्यता च तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा। यस्याभावो गृह्यते तस्य प्रतियोगिनः सत्त्वेनाधिकरणे तर्कितेन प्रसञ्जितमापादनयोग्यं यत्प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्यानुपलम्भस्य तत्त्वं तदुपलब्धियोग्यत्वम्। अत एव स्फीतालोकवति भूतले यदि घटः स्यात्तदा घटोपलम्भः स्याद् इत्यापादन-

लक्षण इसलिये घटित नहीं होता कि वह उस वस्तु के अभाव में तदाश्रित वस्तु की कभी भी विद्यमानता न बन सकने के रूप में हेतु नहीं है।

अनुपलब्धि-प्रमाण

जो किसी ज्ञान की सहायता से उत्पन्न नहीं होता हुआ भी अभावात्मक अनुभव का असाधारण कारण है, उसको अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। अनुमानादि ज्ञान से जन्य अतीन्द्रिय अभाव के अनुभव में कारण अनुमान आदि में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'लक्षण में ज्ञानकरणाजन्य' यह पद जोड़ा गया है। अदृष्टादि की सर्वत्र साधारण कारणता रहती है, उनमें अतिव्याप्ति के वारण के लिये 'असाधारण' पद दिया गया है। अभाव की स्मृति के असाधारण कारण रूप संस्कार में अतिव्याप्ति के परिहार के लिये 'अनुभव' विशेषण समाविष्ट है।

प्रश्न उठता है कि अतीन्द्रिय पदार्थों के अभाव का बोध भी अनुपलब्धि प्रमाण से ही क्यों नहीं मान लिया जाता, उसके लिये अनुमान का सहारा क्यों लिया जाता है ? उत्तर यह है कि धर्म और अधर्म की अनुपलब्धि रहते हुए भी इनके अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, अतः अतीन्द्रिय पदार्थों के अभाव का निश्चय न हो पाने के कारण योग्यानुपलब्धि की ही अभाव में कारणता मानी जाती है, अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य पदार्थ के अभाव का बोध अनुपलब्धि से होता है।

पुनः प्रश्न उठता है कि यह योग्यानुपलब्धि क्या है ? योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि है ? या योग्य अधिकरण में प्रतियोगी की अनुपलब्धि ? पहला पक्ष इसलिये उचित नहीं है कि ऐसा मानने पर स्तम्भ में पिशाच के भेद की अप्रत्यक्षता की आपत्ति होगी, क्योंकि यहाँ पर पिशाच भेद का प्रतियोगी पिशाच योग्य प्रत्यक्ष योग्य नहीं है, अतः प्रत्यक्ष का विषय न होकर अनुपलब्धि का यह विषय हो जायगा। दूसरा पक्ष भी इसलिये ठीक नहीं है कि ऐसा मानने पर आत्मा में धर्मादि के अभाव की प्रत्यक्षता की आपत्ति होगी। आपका कहना ठीक है, किन्तु यहाँ पर 'योग्या चासौ अनुपलब्धिः' यह कर्मधारय समास किया जायगा। ऐसा करने से इस लक्षण में उक्त दोष नहीं आवेंगे। अनुपलब्धि की योग्यता 'तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा' मानी जाती है। इसका यह अभिप्राय है कि अधिकरण में प्रतियोगी के तर्कित सत्त्व से प्रसञ्जित होता है, प्रतियोगी जिसका तद्रूप होना ही अनुपलब्धि योग्यता है। यथा यदि भूतल में घट होता तो इस प्रकार घट रूप (घटाभाव के) प्रतियोगी के तर्कित सत्त्व से 'तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार (अनुपलब्धि) प्रतियोगी रूप उपलम्भ का आपादन किया जा सकता है। इसलिये जिस भूतल पर चारों तरफ प्रकाश फैला हुआ है, वहाँ पर यदि घट होता तो वह उपलब्ध होता, इस प्रकार आपादन संभव है, इसलिये इस प्रकार के भूतल पर घटाभाव अनुपलब्धिगम्य है,

सम्भवात्तादृशभूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः, नान्धकारे। आत्मनि धर्माधर्मादिसत्त्वेऽप्यस्यातीन्द्रियतया निरुक्तोपालम्भापादनासम्भवान्न धर्माद्यभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वम्।

ननूक्तरीत्याऽधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थलेऽभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वमनुमतम्, तत्र क्लृप्तेन्द्रियमेवाभावाकारवृत्तावपि करणम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानादिति चेन्न, तत्प्रतियोग्यनुपलब्धेरपि अभावग्रहे हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन कारणत्वमात्रस्य कल्पनात्। इन्द्रियस्य चाभावेन सह सन्निकर्षाभावेन भावग्रहहेतुत्वासम्भवात्। इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोस्त्वधिकरणज्ञानादुपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धत्वमेव।

यदुक्तम्—'भूतले घटो न' इत्यभावानुभवस्थले भूतलांशे प्रत्यक्षत्वमुभयसिद्धमिति तदर्थं वृत्तिनिर्गमनस्यावश्यकत्वेन भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत्तन्निष्ठघटाद्यभावावच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभेदेन घटाद्यभावस्य प्रत्यक्षत्वेन तदतिरिक्तानुपलब्धिप्रमाणस्वीकरणं व्यर्थमिति चेन्न, अभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात्। अत एव दशमोऽहमस्मीति ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य दशमस्त्वमसीति वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वोपगमः। घटाद्यभावाकारवृत्तिर्नेन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेणासन्निकर्षात्, किन्तु घटाद्यनुपलब्धिरूपमानान्तरजन्यैव।

नन्वेवमभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे घटवति घटाभावभ्रमस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तौ तत्राप्यनिर्वाच्यघटाभावोऽभ्युपगम्येत ? न चेष्टापत्तिः, तस्य मायोपादानकत्वेनाभावत्वानुपपत्तिरिति मायोपादानकत्वाभावे सकलकार्योपादानत्वानुपपत्तिरिति चेन्न, घटवति घटाभावभ्रमस्य तत्कालोत्पन्नघटाभावविषयत्वाभावेनादोषात्। न च तर्हि कथं तद्वति तदभाववत्ताप्रतीति-

अन्धकार में यह संभव नहीं है। आत्मा में धर्म, अधर्म आदि की स्थिति रहते हुए भी उनके अतीन्द्रिय होने से उक्त प्रकार का आत्मा में उनकी सत्ता का आपादन सम्भव नहीं है, इसलिये धर्मादि का अभाव अनुपलब्धि से नहीं जाना जा सकता।

इस परिस्थिति में शंका उठती है कि जहाँ पर अधिकरण के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष होता है, वहाँ पर अभाव अनुपलब्धि से गम्य माना जाता है, तब वहाँ पर क्लृप्त इन्द्रिय ही अभावाकार वृत्ति का भी करण हो जायगा, क्योंकि इन्द्रिय के रहने से वह ज्ञान होगा और इन्द्रिय के न रहने पर वह ज्ञान नहीं होगा, तब ऐसे स्थलों पर अनुपलब्धि की क्या आवश्यकता है ? इस शंका का उत्तर यह है कि प्रत्येक पदार्थ के अभाव के प्रतियोगी की अनुपलब्धि भी अभाव के ग्रहण में हेतु क्लृप्त है, अब केवल करण की कल्पना करनी है। इन्द्रिय का अभाव के साथ संनिकर्ष नहीं है, अतः वह अभाव के ग्रहण में समर्थ नहीं है। इन्द्रिय के अन्वय और व्यतिरेक का अधिकरण के ज्ञान में उपयोग पूरा हो जाता है, अतः उसकी अभाव के प्रतिकरणता अन्यथा सिद्ध है। अतः अभाव स्थल में योग्यानुपलब्धि की ही करणता सम्भव है।

पुनः प्रश्न उठता है कि 'भूतल पर घट नहीं है' इत्यादि अभाव के अनुभव की जगह पर भूतल का प्रत्यक्ष दोनों पक्ष मानते हैं, अतः उसके लिये वृत्ति का बहिर्निर्गमन जरूरी है, ऐसी अवस्था में भूतल से अवच्छिन्न चैतन्य के समान भूतलनिष्ठ घटाद्यभावावच्छिन्न चैतन्य का भी प्रमाता के साथ अभेद हो जाने से घटादि के अभाव का भी प्रत्यक्ष हो जाने से अलग से अनुपलब्धि को प्रमाण मानना व्यर्थ है। उत्तर यह है कि ऐसे स्थलों में अभाव की प्रतीति के प्रत्यक्ष होने पर भी उस प्रतीति की करणभूत अनुपलब्धि एक भिन्न प्रमाण मानी जाती है। इसीलिये 'मैं दसवा हूँ' इस ज्ञान के प्रत्यक्ष होने पर भी उस ज्ञान का करण 'दशमस्त्वमसि' यह वाक्य है, अतः उक्त ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर शाब्द बोध माना जाता है। घटादि के अभावस्वरूप वाली वृत्ति इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि उस अभावरूप विषय से इन्द्रिय का संनिकर्ष नहीं है, किन्तु वह घटाद्यनुपलब्धि रूप एक भिन्न प्रमाण से उत्पन्न होती है।

यदि आप अभाव की प्रतीति को प्रत्यक्ष मानते हैं तो घट से युक्त भूतल में घटाभाव के भ्रम की भी प्रत्यक्षता की आपत्ति होने पर अनिर्वाच्य घटाभाव मानना पड़ेगा, इस आपत्ति को यदि आप स्वीकार करते हैं तो यह दोष आवेगा कि यदि उसको मायोपादानक मानेंगे तो उसमें अभावत्व की अनुपपत्ति होगी और यदि माया को उपादान नहीं मानते तो सकल कार्यों की उपादानता नहीं बनेगी। इस आपत्ति का समाधान यह है कि घटयुक्त भूतल में घटाभाव भ्रम का विषय तत्काल उत्पन्न घटाभाव नहीं है, अतः

रिति वाच्यम्, भूतलरूपादौ विद्यमानस्य लौकिकघटाभावस्य भूतले समारोपात् । आरोप्यसन्निकर्षस्थले सर्वत्रान्यथाख्यातेरेवाभ्युपगमात् । अस्तु वा तद्वति तदभावभ्रमस्यानिर्वाच्यार्थविषयत्वम् । मायोपादानकत्वेऽपि नाभावत्वानुपपत्तिः, उपादानोपादेययोरत्यन्तसाजात्यानुपपत्तेः । तन्तुपटयोरपि तन्तुत्वपटत्वादिना वैजात्यदर्शनात् । मिथ्यात्वानिर्वचनीयत्वादिना मायाभावयोरपि साजात्योपपत्तेश्च । अन्यथा व्यावहारिकघटाद्यभावं प्रति मायोपादानत्वस्यापि शङ्कनीयत्वापातात् ।

नन्वेवं विजातीययोरप्युपादानोपादेयत्वे ब्रह्मण एवोपादानत्वमस्त्विति चेन्न, प्रपञ्चविभ्रमाधिष्ठानत्वेन तस्येष्टत्वात् । परिणामित्वरूपस्योपादानत्वस्य निरवयवे ब्रह्मण्यनुपपत्तेः । प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया न ब्रह्मेति सिद्धान्तात् ।

प्रमाण-स्वरूपम्

तत्र व्युत्पन्नाव्युत्पन्नसन्दिग्धविपर्यस्तानां प्रतिपादनाय प्रमाणमपेक्ष्यते । तत्र अर्थतथात्वप्रकाशकं प्रमाणम्, तस्यार्थाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम् । तस्य यदि प्रमाणान्तरात्प्रसिद्धिस्तदानवस्था । तदन्तरेण चेत् सर्वं सर्वस्येष्टं सिद्ध्येत् । तदुक्तम्—'प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः' (गो० सू० २।१।१७) । यदि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्तरेणोपलभ्यन्ते तर्हि येन प्रमाणेनोपलभ्यन्ते तत्प्रमाणान्तरमस्तीति प्रमाणान्तरसद्भावः प्रसज्येत । तस्याप्यन्येन तस्याप्यन्येनेत्यनवस्था । 'तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः ।' (गो० सू० २।१।१८) । यदि प्रमाणाभावेऽपि प्रत्यक्षादिकं सिद्ध्येत् तदा प्रमेयोऽपि तथैव किन्न सिद्ध्येत् ? एवञ्च प्रमाणविलोप एव स्यात् ।

कोई दोष नहीं होगा । तब पटयुक्त भूतल में घटाभाव की प्रतीति कैसे होती है ? इसलिये होती है कि भूतल रूप आदि में विद्यमान लौकिक घटाभाव की प्रतीति का भूतल में समारोप कर लिया जाता है । आरोप्य के सन्निकर्ष स्थल में सर्वत्र अन्यथाख्याति मानी जाती है । अथवा घटयुक्त भूतल में घटाभाव के भ्रम को अनिर्वाच्य माना जा सकता है । इसको मायोपादानक मानने पर भी अभावत्व की अनुपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि उपादान और उपादेय का अत्यन्त साजात्य नहीं माना जायगा । तन्तु और पट में भी तन्तुत्व और पटत्व का वैजात्य देखा जाता है । मिथ्यात्व और अनिर्वचनीयत्व आदि के कारण माया और अभाव में भी साजात्य हो सकता है । अन्यथा व्यावहारिक घटादि अभाव के प्रति मायोपादानता भी शंका का विषय हो जायगी ।

यदि विजातीय पदार्थों की भी उपादान-उपादेयता मानी जायगी तो फिर सब पदार्थों के प्रति ब्रह्म की ही उपादानता क्यों न मान ली जाय ? इस शंका के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इस सारे प्रपंच-विभ्रम का अधिष्ठान ब्रह्म को ही माना जाता है । परिणामित्व रूप उपादान ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह निरवयव है । प्रपञ्च का परिणामी उपादान माया है, ब्रह्म नहीं, यही सिद्धान्त है ।

प्रमाणों का प्रयोजन

व्युत्पन्न तथा अव्युत्पन्न, संदिहान तथा भ्रान्त लोगों को वस्तुतत्त्व के बोध के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है । वस्तु की वास्तविक स्थिति को बताने वाला प्रमाण कहलाता है और इसका कहीं भी व्यभिचरित न होना प्रामाण्य कहा जाता है । इस प्रामाण्य की व्यवस्था यदि प्रमाणान्तर से मानी जाय तो अनवस्था दोष होगा और यदि बिना प्रमाणान्तर के इसका प्रामाण्य माना जायगा तो जिसको जो इष्ट है, वही प्रमाण मान लिया जायगा । यही बात 'प्रमाणतः सिद्धे' इत्यादि न्यायसूत्र में कही गई है । इसका यह अर्थ है कि यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणान्तर से होती है तो ये जिस प्रमाण से उपलब्ध होते हैं, उसके इनसे भिन्न होने से प्रमाणान्तर की सिद्धि होती है, उस प्रमाणान्तर के प्रामाण्य के लिये भी प्रमाणान्तर अपेक्षित होगा और इस प्रकार प्रमाणान्तर को स्वीकार करने पर अनवस्था दोष उपस्थित होगा । इससे आगे के 'तद्विनिवृत्तेर्वा' इस सूत्र में बताया गया है कि यदि प्रमाणान्तर के बिना भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की सिद्धि हो जाती है, तो प्रमाण के समान प्रमेय की भी बिना ही प्रमाण के सिद्धि क्यों नहीं हो जायगी ? इस प्रकार तो प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी ।

अन्येऽप्याहुः—ननु प्रमाणसंसिद्धिः प्रमाणान्तरतो यदि तदानवस्थितिः, नो चेत्प्रमाणान्वेषणं वृथा, तत्रेष्टानिष्टयोः साधनदूषणान्यथोपपत्त्या प्रमाणसद्भाव एव। न चैवमनवस्था, इष्टसिद्ध्यनिष्टप्रतिषेधयोः प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वेन प्रमाणान्तरापेक्षानुपपत्तेः। 'न प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धेः' (गो० सू० २।१।१९)। नैयायिकमते प्रामाण्यपरतस्त्वेऽपि अर्थक्रियादिज्ञानस्याभीष्टसिद्धिरूपत्वात्, तत्र प्रमाणान्तरापेक्षा न भवतीति तादृशस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यस्वतस्त्वमेव। मीमांसकैस्तु तद्वदेव सर्वेषामपि प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवाभ्युपेयते।

प्रमाणञ्च सम्यग् ज्ञानमिति केचित्। परे तु प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगताधिगमलक्षणत्वात्। केचित्तु प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्, अनधिगताबाधितार्थविषयज्ञानं प्रमाणमिति च।

प्रामाण्यविचारः

तत्र प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्चोभयं स्वत इति सांख्याः। उभयं परत इति तार्किकाः। अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति बौद्धाः। प्रामाण्यं स्वतः, अप्रामाण्यं परत इति मीमांसकाः।

यत्तु—'किमिदं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्? न स्वत एव जन्म, स्वस्य स्वहेतुत्वविरोधात्। न वा प्रमाणादेव प्रामाण्यस्य जन्म तत्त्वम्, ज्ञानस्य गुणत्वेन स्वप्रामाण्यं प्रति समवायिकारणत्वानुपपत्तेः। नापि ज्ञानसामग्रीतो जन्म, तस्योपाधित्वे जातित्वे च जन्मासम्भवात्। अनधिगतार्थविषयस्य ज्ञानस्य बाधात्यन्ताभावस्य प्रामाण्ये न तज्जन्म सम्भवति,

अन्य दार्शनिकों ने भी कहा है कि प्रमाण की सिद्धि यदि प्रमाणान्तर से मानी जायेगी तो अनवस्था होगी, यदि प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है, तो प्रमाण की खोज भी व्यर्थ हो जायगी। इष्ट की सिद्धि और अनिष्ट के परिहार के कारण प्रमाण की सत्ता मान ली जायगी। इसमें अनवस्था दोष इस लिये नहीं होगा कि इष्ट सिद्धि और अनिष्ट परिहार ऐसी प्रवृत्तियाँ है, जो कि प्रत्येक प्राणी को ज्ञात है, अतः यहाँपर दूसरे प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यही बात न्यायसूत्र में इस प्रकार कही गई है कि प्रदीप के प्रकाश की तरह उसकी सिद्धि होती है, अर्थात् दीपक जैसे अपने प्रकाश से दूसरे को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है, उसी तरह प्रमाण भी दूसरे को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है। नैयायिक के मत में प्रमाण का प्रामाण्य प्रमाणान्तर से ज्ञात होता है, तो भी अर्थक्रियाज्ञान से अभीष्ट सिद्धि हो जाती है, अतः वहाँ पर दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। फलतः ऐसे स्थलों में ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः ही गृहीत होता है। मीमांसकों का कहना है कि इस एक उदाहरण से ही सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः ज्ञात हो जाता है।

कुछ लोग सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, अन्य लोगों का कहना है कि प्रमाण उस ज्ञान को कहते हैं, जो कि आगे चलकर परस्पर विरोधी न हो जाय, क्योंकि जो अब तक ज्ञात नहीं है, उसका परिज्ञान प्रमाण से होता है। अतः जो ज्ञात हुआ, उसका आगे बाध न होना प्रमाण की आवश्यक शर्त है। कुछ लोग प्रमाण का लक्षण यह करते हैं कि वह अपने को, दूसरों को भी अवभासित होने वाला बाधरहित ज्ञान है, अथवा अनधिगत और अबाधित वस्तुविषयक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

प्रामाण्य विचार

सांख्य दर्शन के अनुयायियों का कहना है कि प्रमाण का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः परिगृहीत होते हैं। नैयायिकों का कहना है कि ये दोनों परतः परिगृहीत होते हैं। बौद्धों का कहना है कि अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः गृहीत होता है। इसके विपरीत मीमांसक कहते हैं कि प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः ग्राह्य है।

यहाँ पर शंका उठती है कि प्रामाण्य का स्वतस्त्व क्या है? अपने से जन्म होना स्वतस्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोई वस्तु स्वतः अपना कारण नहीं हो सकती। यदि स्वतस्त्व का यह अर्थ किया जाय कि उसी प्रमाण से प्रामाण्य का भी जन्म होता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो गुण है, अतः वह अपने प्रामाण्य के प्रति समवायिकारण नहीं हो सकता। ज्ञान की सामग्री से उसका जन्म मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रामाण्य के उपाधि अथवा जाति होने से उसका जन्म नहीं हो सकता। अनधिगत वस्तु

अत्यन्ताभावत्वादेव। जातिरूपत्वेऽपि नित्यत्वादेव न तज्जन्मसम्भवः। एवं ज्ञानसामग्रीजन्यत्वमपि प्रमाया न प्रामाण्यस्वतस्त्वम्, अप्रमाया अपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वेनातिप्रसङ्गात्। न च ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वोक्त्यापि निस्तारः, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वमात्रं पदार्थः, दोषासहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वं वा? नाद्यः, परतः प्रामाण्यवादिमतप्रवेशापत्तेः। न द्वितीयः, विशेषदर्शनस्य भ्रमनिवृत्तिहेतुत्वे तद्विपर्ययस्य भ्रमहेतुत्ववद् दोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यज्ञानस्याप्रमात्वे प्रमां प्रति दोषाभावस्य हेतुत्वमपि सिद्ध्यत्येव।

ननु प्रमासामग्र्यां दोषाभावस्याकाशस्येवावर्जनीयतया सान्निध्येऽपि ईश्वरज्ञान इव प्रमायां न हेतुत्वम्। न चेश्वरज्ञाने दोषाभावः प्रयोजकः, तत्प्रयुक्तत्वस्य तदन्तर्गतसामग्रीजन्यत्वानतिरेकात्। न च नित्यस्य तस्य सामग्रीजन्यत्वमुपपद्यत इति चेन्न, नित्यद्रव्येषु तत्सामग्रीजन्यत्वाभावेऽपि गुणवत्त्वप्रयुक्तद्रव्यत्ववत्तत्प्रयुक्तत्वोपपत्तेः। न च दोषाभावस्याभावत्वादेवाकारणत्वम्, विशेषदर्शनाभावस्य भ्रमहेतुत्ववदनुपलम्भस्याभावप्रमितिहेतुवत्तदुपपत्तेः। तदुक्तमुदयनाचार्येण—'भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतम्।' (न्या० कु० १।१०)। न च निःस्वभावत्वेनाभावस्य न कारणत्वम्, तदसिद्धेः। सत्तानधिकरणस्य निःस्वभावत्वे सामान्यादीनां बुद्धिकारणत्वासिद्धेः। स्वरूपसत्त्वरहितत्वं त्वभावस्यासिद्धमेव, तदप्युक्तम्—'नह्यसौ विधिरूपेण तुच्छ इति स्वरूपेणापि तथा, इतरथा भावस्यापि तथात्वापातात्। किञ्चाभावस्य कार्यत्वानङ्गीकारे प्रध्वंसानुपपत्त्या घटस्य नित्यत्वापत्तिः। यदि कार्यत्वं सम्भवति तर्हि किमपराद्धं कारणत्वेनेति तन्न, विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे

विषयक ज्ञान को जो कि बाधात्यन्ताभाव का विषय है, प्रामाण्य मानने पर भी उसका जन्म नहीं होगा, क्योंकि जिसका अत्यन्ताभाव होता है, उसका जन्म नहीं होता। इसको जातिरूप मानने पर भी जाति की नित्यता के कारण उसका जन्म नहीं बनेगा। प्रमा की सामग्री से ही जन्म होना भी प्रामाण्य का स्वतस्त्व नहीं माना जायगा, क्योंकि अप्रमा का जन्म भी ज्ञान की सामग्री से होता है। अतः लक्षण में अतिप्रसंग दोष आवेगा। इस लक्षण में ज्ञान सामग्री मात्र से जन्म होना, यह जोड़ने पर भी दोष का परिहार नहीं होता। क्योंकि उस परिस्थिति में भी आगे दिये गये विकल्प का कोई उत्तर नहीं बनता। जैसे कि दोषाभाव सहकृत ज्ञानसामग्री से जन्यता उपर्युक्त लक्षण का अर्थ है या दोष से असहकृत ज्ञानसामग्री से जन्यता? पहला पक्ष मानने पर परतः प्रामाण्यवादी के पक्ष में प्रवेश हो जायगा। दूसरे पक्ष में विशेष दर्शन को भ्रम की निवृत्ति में कारण मानने पर अविशेष दर्शन के भ्रम का हेतु होने से उसी तरह दोष-सहकृत ज्ञानसामग्री से उत्पन्न ज्ञान के अप्रमा में कारण होने से प्रमा के प्रति दोषाभाव की हेतुता स्वतः सिद्ध हो जायगी।

प्रमा की सामग्री में आकाश के समान दोषाभाव की भी स्थिति अपरिहार्य है, अतः उसकी सन्निधि में भी ईश्वर के ज्ञान के समान उसकी प्रमा के प्रति कारणता नहीं बन सकेगी। ईश्वर के ज्ञान में भी दोषाभाव को प्रयोजक नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोषाभावप्रयुक्तत्व भी दोषभावयुक्त सामग्री से जन्यत्व के अतिरिक्त नहीं है। ईश्वर का ज्ञान तो नित्य है, अतः उसकी सामग्रीजन्यता नहीं बनेगी। इसका उत्तर यह है कि नित्य द्रव्यों में उस सामग्री से जन्यता के अभाव में भी गुणवत्त्व से प्रयुक्त द्रव्यत्व के समान दोषाभावप्रयुक्तत्व की उपपत्ति हो जायगी। यह कहना भी ठीक नहीं है कि दोषाभाव तो अभाव है, अतः वह किसी का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे विशेष दर्शन का अभाव भ्रम का कारण होता है, अनुपलम्भ जैसे अभाव की प्रमिति का हेतु होता है, उसी तरह दोषाभाव की भी कारणता बन सकती है। उदयनाचार्य ने यही बात कही है—"भाव के समान अभाव भी कारण और कार्य दोनों अवस्थाओं में देखा जाता है।" अभाव तो निःस्वभाव है, अतः उसकी कारणता कैसे सिद्ध होगी? इस तरह से कि उसकी निःस्वभावता ही असिद्ध है। सत्ता के अनधिकरण को यदि निःस्वभाव कहा जाय तो सामान्य प्रभृति की बुद्धि के प्रति कारणता भी सिद्ध नहीं होगी। अभाव की स्वरूपसत्ता का भी निषेध तो नहीं किया जा सकता। यही बात यहाँ पर कही गई है—"अभाव का कोई विधिरूप न होने से उसका कोई स्वरूप ही नहीं बनेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, अन्यथा भाव में भी अभाव स्वरूप की अविद्यमानता का दोष आवेगा। अभाव को कार्य न मानने में यह एक दोष और आवेगा कि प्रध्वंसाभाव की उपपत्ति नहीं बनेगी और फलतः घट को नित्य मानना पड़ेगा। यदि अभाव में कार्यता बन सकती है, तो फिर कारणता ने क्या अपराध किया है कि वह नहीं बनेगी? यह कथन ठीक नहीं है। विज्ञान सामग्री मात्र से उत्पन्न होता हुआ तदतिरिक्त सामग्री की अपेक्षा नहीं रखता हो, वही प्रामाण्य का स्वतस्त्व है, ऐसा

सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वस्य प्रामाण्यस्वतस्त्वे दोषाभावात्। कार्यकारणादेव कार्येण सहोत्पत्तिरेव प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्, कार्यशक्तेरसति बाधके कार्यकारणादेवोत्पत्तिः सर्वैरप्यङ्गीकार्या, अन्यथा दाहादिशक्तेः कारणान्तरादुत्पत्तावुत्पन्नस्याप्यग्नेरदाहकत्वापत्तिः स्यात्। वह्निश्च स्वाश्रयं दहन्नेव जायते।

न चैवमप्रामाण्यमपि स्वत एवास्त्विति वाच्यम्, तस्य दोषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन तद्धेतुमात्रजन्यत्वाभावात्। न चाजन्यत्वादीश्वरज्ञान उक्तलक्षणाव्याप्तिरिति वाच्यम्, तस्याजन्यत्वेऽपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तकारणाजन्यत्वलक्षणविशिष्टधर्मवत्त्वाभावात्। तेन विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वात्यन्ताभाववत्त्वं प्रामाण्यस्वतस्त्वलक्षणम्। न चात्र मानाभावः, कार्यशक्तेः कारणान्तराजन्यत्वेन तदनुमातुं शक्यत्वात्। तथाहि—ज्ञानस्य प्रामाण्यं ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेतुजन्यं न भवति, शक्तित्वात्, वह्निशक्तिवत्। न च शक्तिरसिद्धा, तस्याः साधयिष्यमाणत्वात्। प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदरिक्तजन्या न भवति, अप्रमातिरिक्तत्वात्, पटादिवत्। न च ज्ञानत्वाधिकरणत्वमुपाधिः, ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेः। यदुक्तम्—ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधिः, न चायमीश्वरज्ञाने, साध्येऽव्याप्तः, तस्य नित्यत्वे सुतरां ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वसिद्धेरिति, तन्न, व्यतिरेके सोपाधिकतया साध्याव्यापकत्वात्। तथाहि—यज्ज्ञानसामग्रीजन्यं तज्ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्यमप्रमाणवदिति व्यतिरेकिव्याप्तावप्रमात्वस्यैवोपाधित्वात्। यदुक्तम्—अनीश्वरप्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वाद् घटवत्। ननु ज्ञानत्वाश्रयभूताज्ञानव्यक्तिः प्रमात्वाश्रयभूतायाः प्रमाव्यक्तेर्भिन्ना अभिन्ना वा? प्रथमे प्रत्यक्षज्ञानव्यक्त्या व्यभिचारः, प्रत्यक्षज्ञानव्यक्तेर्ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनताभावात्। अन्त्ये च अनीश्वरज्ञानरूपापि प्रमा न ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेतुजन्येति बाध इति चेन्न, ज्ञानव्यक्तिप्रमाव्यक्त्योर्भिदाभावेऽपि विज्ञानत्वप्रमात्वयोर्भेदेन प्रमाया अपि द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वादीनां विभिन्नप्रयोजकप्रयोज्यत्व-

मानने से कोई दोष नहीं आवेगा। कार्य का जो कारण है, उसीसे कार्य के साथ जिसकी उत्पत्ति होती है, वही प्रामाण्य का स्वतस्त्व है। किसी बाधक के उपस्थित न होने पर कार्य के कारण से ही कार्यगत शक्ति की उत्पत्ति सभी को माननी पड़ती है, अन्यथा अग्नि की दाह प्रभृति शक्ति की उत्पत्ति यदि दूसरे कारण से मानी जाती है, तो उत्पन्न हुई अग्नि में अदाहकता की आपत्ति आवेगी। वह्नि तो अपने आश्रय को जलाती हुई ही पैदा होती है।

तब फिर अप्रामाण्य का भी स्वतस्त्व क्यों नहीं हो जायगा? इस लिए नहीं होगा कि वह दोष के अन्वय और व्यतिरेक की भी अपेक्षा रखता है, अतः यह ज्ञानजनक सामग्रीमात्र से पैदा नहीं होता। ईश्वर ज्ञान के जन्य न होने से वहाँ स्वतस्त्व लक्षण की अव्याप्ति की शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति अतिरिक्तदोषादिकारणजन्यरूप (अप्रमावृत्ति) विशिष्ट धर्म का अत्यन्ताभाव ईश्वर ज्ञान में रहता ही है। दण्डी पुरुषो नास्ति यह व्यवहार दण्ड न होने से, पुरुष न होने से तथा दोनों के न होने से त्रिविध होता है। यहाँ उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव समझना चाहिए। इस लिए यह मानना होगा कि जो विज्ञान सामग्री से जन्य है तथा तदतिरिक्त सामग्री दोष से जन्यता का जहाँ अत्यन्ताभाव है, वही प्रामाण्य स्वतस्त्व का लक्षण है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि कार्य की शक्ति किसी दूसरे कारण से पैदा नहीं होती, अतः अनुमान प्रमाण से उसको जाना जा सकता है। जैसे कि ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञान की सामग्री से भिन्न अन्य किसी कारण से पैदा नहीं होता, शक्ति होने से, वह्निनिष्ठ शक्ति के समान शक्ति असिद्ध है. ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसको आगे सिद्ध किया जायगा। प्रमा विज्ञान जनक सामग्रीजन्यत्व विशिष्ट होकर भिन्न किसी कारण से जन्य नहीं है, क्योंकि यह अप्रमा से भिन्न है, पट आदि के समान, जैसे पट अपने कार्य अङ्ग प्रावरण, शीतापनयन आदि में अन्य की अपेक्षा नहीं करता, वैसे प्रमा भी अपने कार्य-वस्तु प्रकाशन में अन्य की अपेक्षा नहीं करती। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस अनुमान में ज्ञानत्वानधिकरणत्व उपाधि हो जायगी, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में साध्य की अव्याप्ति है। उपाधि का साध्य में व्यापक होना अनिवार्य होता है। यह कहा जाय कि इस अनुमान में ज्ञानसामग्री से अजन्यत्व उपाधि है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता, ईश्वर ज्ञान को साध्य मान कर उसकी अव्यापकता का कारण उपाधि नहीं, यह ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान के नित्य होने के कारण उसमें सुतरां ज्ञानसामग्री से अजन्यता विद्यमान है। यह कथन गलत है, क्योंकि व्यतिरेक में हेतु सोपाधिक है, अतः साध्यव्यापकता वहाँ बनी

साधन इव ज्ञानत्वप्रयोजकव्यतिरिक्तप्रयोज्यसाधने दोषाभावात्। यदि ज्ञानमात्रप्रयोजकप्रयोज्या प्रमाऽपि स्यात्तदा प्रयोज्यज्ञानवृत्तिज्ञानत्ववत् प्रमात्वमप्रमायामपि स्यादिति बाधकतर्काच्चेति तन्न, प्रमा दोषव्यतिरिक्तहेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वादप्रमावदिति सत्प्रतिपक्षसम्भवात्। विज्ञानसामग्रीमात्रादेव प्रमोत्पत्तिसम्भवे तदतिरिक्तगुणस्य दोषाभावस्य वा हेतुत्वकल्पने गौरवरूपबाधकतर्काच्च। न चैवं प्रमात्वस्य विज्ञानसामग्रीमात्रप्रयोज्यत्वे ज्ञानत्ववदप्रमावृत्तित्वं च स्यादिति वाच्यम्, प्रयोजकाभावेन तदप्रसक्तेः। दोषासहकृतज्ञानसामग्रीप्रयोज्यप्रमात्वस्य दोषसहकृततत्प्रयोज्यायामप्रमायामसम्भवात्। न च दोषस्याप्रमाहेतुत्वे तदभावस्य प्रमाहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धमेवेति वाच्यम्, विरोध्यप्रमाप्रतिबन्धकत्वेन तयोरन्यथासिद्धत्वेन कारणत्वासाधकत्वात्। यथा च पिङ्गलताया अग्निवदेव दाहेन सहान्वयव्यतिरेकयोः सतोरपि न दाहं प्रति कारणता, अनन्यथासिद्धयोरेव तयोः कारणत्वावेदकत्वात्। गुणेभ्यो दोषाणामभाव एव जायते न तु प्रामाण्योत्पत्तिः। दोषाभावाच्च न प्रामाण्योत्पत्तिः, किन्तु मिथ्यात्वसंशयत्वलक्षणस्याप्रामाण्यद्वयस्य निवृत्तिरेव जायते। अनुत्पत्तिलक्षणस्याप्रामाण्यस्यानाद्यभावतया दोषादुत्पत्त्यसम्भवेन तदभावेनाभावस्याप्यसम्भवेनोत्सर्गो ज्ञानसामग्रीप्रयुक्तत्वलक्षणोऽनपोदितस्तिष्ठति। तदुक्तं भट्टपादैः—'तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः। अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः॥' (चोदनसूत्रवार्त्तिकम् ६५)।

रहेगी। जैसा कि जो ज्ञानसामग्री से जन्य है, वह ज्ञानसामग्री से जन्य होकर अतिरिक्त हेतु से भी जन्य है, प्रमाण के समान, इस व्यतिरेक व्याप्ति में अप्रमात्व ही उपाधि है। यही बात इस प्रकार कही गई है कि ईश्वर से भिन्न व्यक्ति की प्रमा विज्ञान के कारण से भिन्न कारण की अपेक्षा रखती है, क्योंकि यह भी घट की तरह ही कार्य है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि ज्ञानत्व का आश्रयभूत ज्ञान व्यक्ति प्रमात्व के आश्रयभूत प्रमाव्यक्ति से भिन्न है या अभिन्न? प्रथम पक्ष में प्रत्यक्ष ज्ञानव्यक्ति से व्यभिचार होगा, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञानव्यक्तिज्ञान के हेतु से अतिरिक्त हेतु के अधीन नहीं है। दूसरे पक्ष में अनीश्वर की ज्ञानरूप प्रमा भी ज्ञान के हेतु से अतिरिक्त हेतु से जन्य नहीं है, अतः बाध होगा? आपका प्रश्न ठीक है। उसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि ज्ञानव्यक्ति और प्रमाव्यक्ति में भेद न रहते हुए भी विज्ञानत्व और प्रमात्व के रूप में भेद रहने से प्रमा के भी ज्ञानत्व प्रयोजक से भिन्न प्रयोजक के साधन में कोई दोष नहीं माना जायगा। जैसे कि द्रव्यत्व पृथिवीत्व, घटत्व आदि के भेद से विभिन्न प्रयोज्य-प्रयोजक सिद्ध होते हैं। यह बाधक तर्क भी यहाँ विद्यमान है कि यदि प्रमा भी ज्ञानमात्र प्रयोज्य हो तो प्रयोज्यज्ञानवृत्ति ज्ञानत्व के समान प्रमात्व भी अप्रमा में रहने लगेगा। यह कथन भी इसलिए उचित नहीं है कि प्रमा दोष व्यतिरिक्त हेतु से भिन्न से नहीं पैदा होती, क्योंकि यह ज्ञान है, अप्रमा के समान, इस प्रकार यहाँ सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो जायगा। विज्ञान की सामग्री मात्र से प्रमा की उत्पत्ति हो जाने से उससे भिन्न गुण या दोषाभाव को हेतुता को कल्पना करने में गौरव रूप बाधक तर्क भी है। इस प्रकार प्रमात्व को यदि विज्ञान-सामग्री मात्र से प्रयोज्य मानें तो ज्ञानत्व के समान इसको भी अप्रमा में वृत्ति हो जायगी? ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अप्रयोजक के अभाव में ऐसा नहीं हो सकता। प्रमात्व का प्रयोजक दोष से असहकृत ज्ञान सामग्री है, अप्रमा दोषसहकृत सामग्री से पैदा होती है, अतः अप्रमा में प्रमात्व का आरोप नहीं किया जा सकता। यह कहना भी ठीक नहीं है कि दोष यदि अप्रमा का हेतु है, तो उसका अभाव प्रमा का हेतु है। यह बात तो अन्वय-व्यतिरेक से ही सिद्ध हो जायगी, क्योंकि उस अन्वय-व्यतिरेक की स्थिति विरोधी अप्रमा के प्रतिबन्धक रूप में गतार्थ हो गई है, अतः अन्यथासिद्ध हो जाने के कारण उसकी कारणता यहाँ नहीं बनेगी। जैसे कि पिंगल वर्ण की अग्नि के समान ही दाह के साथ भी अन्वय-व्यतिरेकता विद्यमान है, तो भी उसकी दाह के प्रति कारणता नहीं है, अनन्यथा सिद्ध होने पर ही अन्वय-व्यतिरेक की कारणता के प्रति प्रयोजकता मानी जाती है। गुणों से दोषों का अभाव ही जाना जाता है, उससे प्रामाण्य को उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी तरह दोषाभाव से भी प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होगी, किन्तु मिथ्यात्व और संशय रूप दो अप्रमाणों की केवल उससे निवृत्ति होगी। अनुत्पत्ति लक्षण अप्रामाण्य तो अनादि अभाव है, अतः उसकी दोष से उत्पत्ति नहीं हो सकती और उत्पत्ति के अभाव में अभाव की भी स्थिति नहीं होगी। अतः ज्ञानसामग्री का प्रयोजक उत्सर्ग अबाधित रूप से विद्यमान रहेगा। यही बात भट्ट कुमारिल ने भी कही है—"इस लिये गुणों से दोषों के अभाव की प्रतीति होगी, दोषाभाव से मिथ्यात्व और संशय रूप दो अप्रमाणों की निवृत्ति होगी। इससे स्वभावतः प्राप्त ज्ञान का प्रामाण्य दूर नहीं होगा।"

ननु यथा संस्कारस्यानुभवनाशकत्वेऽपि स्मृतिजनकत्वं भवति तथैव दोषाभावस्य विरोध्यप्रमानाशकत्वेऽपि प्रामाण्यजनकत्वमस्तु, इति चेन्न, तत्र स्मृतेः संस्कारातिरिक्तकारणान्तरानिरूपणे संस्कारस्योभयहेतुत्वेऽपि प्रकृते तद्वैषम्यात्। न च नित्यद्रव्येषु गुणनाशस्य गुणान्तरोत्पादनियतत्वेन तत्रापि संस्कारनाशात् स्मृतिरस्त्विति वाच्यम्, स्मृत्युत्पत्तिव्यतिरेकेण संस्कारनाशासम्भवात्। प्रकृते तु ज्ञानसामग्रीत एव प्रामाण्योत्पत्तिसम्भवे दोषाभावस्य तद्धेतुत्वकल्पनाया वैयर्थ्यात्। न च दोषाणामप्यप्रामाण्योत्पत्तौ गुणाभावेनान्यथासिद्धिरिति वाच्यम्, अभावस्य हेतुत्वानुपपत्त्या कारणान्तरानुपपत्त्या च दोषाणामेव तत्कारणत्वोपपत्तेः। न च सामग्र्यैक्ये ज्ञानप्रमालक्षणकार्यभेदानुपपत्तिरेव बाधिकेति वाच्यम्, एकस्मादग्निसंयोगात् पार्थिवपरमाणौ रूपरसगन्धस्पर्शादीनां बहूनामङ्गीकारात्।

यत्तु प्रामाण्यप्रागभावस्य प्रामाण्योत्पत्तौ हेतुत्वे परतस्त्वापत्तिरिति तन्न, प्रागभावाभावे कार्याभावलक्षणव्यतिरेकाभावात्, विशेषस्याकारणत्वात्। प्रामाण्योत्पत्तिस्वतस्त्ववत् प्रामाण्यज्ञप्तेरपि स्वतस्त्वम्, विज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव तज्ज्ञानसिद्धेः।

ननु न घटसंवेदनस्य प्रामाण्यं घटसंवेदनेनैव ज्ञातुं शक्यते, घटसंवेदनस्य घटं प्रत्येव प्रत्यक्षत्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वात्, स्वप्रामाण्यपरिच्छित्तौ तु न तत्प्रमाणम्, तस्य बहिरिन्द्रियैरसन्निकर्षात्। मनःसन्निकर्षेण तत्परिच्छित्तिरपि न वक्तुं शक्या, प्रामाण्यस्य मनःसन्निकर्षसमये तत्सत्त्वार्थं तदाश्रयज्ञानस्यापि सत्त्वं वक्तव्यम्। तथा च न तदेव ज्ञानं स्वाश्रितप्रामाण्येन्द्रियसन्निकर्षादुत्पत्तुमर्हति, सिद्धस्वभावत्वात्, ज्ञानान्तरोत्पत्तौ तु परतः प्रामाण्यप्रसक्तिः।

जैसे संस्कार अनुभव का नाशक होते हुए भी स्मृति का जनक है, उसी तरह दोषाभाव भी विरोधी अप्रमा का नाशक होते हुए भी प्रामाण्य का जनक क्यों नहीं माना जाय? इस लिये नहीं माना जायगा कि स्मृति का संस्कार के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है, अतः संस्कार अनुभव का नाशक तथा स्मृति का जनक, दोनों हो सकता है, किन्तु दोषाभाव में ऐसी बात नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि नित्य द्रव्यों में एक गुण का नाश होने पर दूसरे गुण की नियत उत्पत्ति होती है, अतः वहाँ पर भी संस्कार के नाश से स्मृति उत्पन्न होगी, क्योंकि स्मृति की उत्पत्ति के बिना संस्कार का नाश ही नहीं होगा। प्रकृत स्थल में ज्ञान की सामग्री से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति हो सकती है तो दोषाभाव की उसके हेतु के रूप में कल्पना करना व्यर्थ है। तब तो अप्रामाण्य की उत्पत्ति में दोष भी गुणाभाव के आगे अन्यथासिद्ध हो जायँगे? नहीं, अभाव किसी का हेतु नहीं होता, दूसरा कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता, अतः दोष ही अप्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण माने जाते हैं। एक ही प्रकार की सामग्री से ज्ञान और प्रमा स्वरूप दो कार्य कैसे हो सकते हैं? जैसे एक अग्निसंयोग से पार्थिव परमाणु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक कार्य होते हैं, उसी तरह एक ही सामग्री से ज्ञान और प्रमा स्वरूप दो कार्य भी हो सकते हैं।

प्रामाण्य का प्रागभाव भी प्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण है, अतः प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः न होकर परतः माननी पड़ेगी? इस शंका का समाधान यह है कि प्रागभाव के अभाव में कार्याभाव भी होगा, इस व्यतिरेक व्याप्ति के न बन पाने से प्रामाण्य के प्रति कोई विशेष कारण न होने से उसका परतस्त्व सिद्ध नहीं हुआ। जैसे प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः होती है, उसी तरह प्रामाण्य की ज्ञप्ति भी स्वतः ही होती है, क्योंकि जिस सामग्री से प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है, उसी सामग्री से उसका ज्ञान भी होता है।

यहाँ पर शंका उठती है कि घट ज्ञान का प्रामाण्य घट ज्ञान से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि घट ज्ञान से घट का ही प्रत्यक्ष होता है, उसीके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष है, अतः वह अपने प्रामाण्य को जान सकने में समर्थ नहीं होगा, क्योंकि उसका बाहर की इन्द्रियों से सन्निकर्ष नहीं है। मन के संनिकर्ष से भी उसका ज्ञान हो जायगा, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रामाण्य की मनःसंनिकर्ष के समय में सत्ता मानने के लिये उसके आश्रयभूत ज्ञान की भी सत्ता माननी पड़ेगी, तब वही ज्ञान स्वाश्रित प्रामाण्य और इन्द्रिय के संनिकर्ष से कैसे पैदा होगा, क्योंकि वह तो पहले ही विद्यमान है। यदि इसकी ज्ञानान्तर से उत्पत्ति मानते हैं तो परतः प्रामाण्य मानना हो गया। लिङ्ग आदि से भी यह पैदा नहीं होता, अतः यहाँ पर अनुमिति आदि की भी शंका नहीं होगी। यह विकल्प भी यहाँ परीक्षणीय है कि यहाँ पर प्रामाण्य का ग्रहण इदंरूपेण होता है या तद्रूपेण? यदि इदंरूपेण ग्रहण होता है तो ज्ञाननिष्ठतया

लिङ्गादिजन्यत्वाभावादनुमित्यादिशङ्कापि न भवति। तत्रापीदं प्रामाण्यमिति रूपेण, तत्तेन गृह्यते तत्प्रामाण्यमिति रूपेण वा? आद्ये ज्ञाननिष्ठतया अग्रहणाद् गृहीतेऽपि तस्मिन् संशयप्रसङ्गः। द्वितीये स्वविशेषितप्रामाण्यग्रहणे स्वग्रहापत्तिः। किञ्च, तद्विज्ञानस्यैव प्रामाण्यं गृह्णाति, तत्प्राकट्यलक्षणस्य फलस्य वा? भाट्टमतरीत्या प्राकट्यलिङ्गेन विज्ञानमनुमीयते। न चाप्रत्यक्षगतं प्रामाण्यं प्रत्यक्षं भवितुमर्हति। न च यथा वाय्वाकाशयोरप्रत्यक्षत्वेऽपि स्पर्शशब्दयोः प्रत्यक्षत्वम्, तथैवेहापि भविष्यतीति वाच्यम्, जातेरिव व्यक्तिप्रत्यक्षतानियतप्रत्यक्षत्वात्। फलस्य तु स्वप्रकाशतया बाह्येन्द्रियाविषयत्वेन तद्गतयथार्थत्वलक्षणप्रामाण्यस्यापि बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः। यदि तु तद्वेदनग्राहकमात्रग्राह्यत्वेन स्वतोग्राह्यत्वमुच्यते, तदापि ज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयाभावप्रसङ्गः।

ननु यथा ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेऽप्यर्थविशेषितस्य सांशयिकत्ववत् प्रामाण्यस्यापि सांशयिकत्वमुपपद्यते। यथा कुम्भज्ञानस्य कुम्भवत्तदम्भोऽपि विषयो भवति न वेति संशयो भवति, साम्भसामनम्भसामपि कुम्भानामुपलम्भात्, तथैव प्रामाण्येऽपि संशयो भविष्यतीति चेन्न, अम्भसः कुम्भग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वासंभवात्। तथात्वे वा सकलकुम्भानां सलिलवत्त्वप्रसङ्गः स्यात्। नारिकेलफलान्तर्गतसलिलादिवद् भिन्नसामग्रीग्राह्यत्वादेव तत्र संशय इति, तन्न, प्रामाण्यस्य विज्ञानग्राहकसाक्षिमात्रग्राह्यत्वेऽपि स्वतः प्रमाणत्वेन भवदभिमतधर्मिज्ञानेऽनुव्यवसाये च भासमानेऽपि सुगतमतानुसारिणामप्रमाणमेवेति विपर्ययवत् स्वतः प्रमाणत्वेनाभिमतेऽनुमित्यादौ चार्वाकस्य विप्रतिपत्तिवच्चाहार्यसंशयाद्युप-

उसका ग्रहण न होने से उसके स्वरूप के विषय में संशय बना रहेगा। द्वितीय पक्ष में स्वविशेषणयुक्त प्रामाण्य के ग्रहण में अपने ग्रहण की भी आपत्ति उठेगी। एक नया विकल्प और उठ खड़ा होगा कि वह विज्ञान के ही प्रामाण्य को ग्रहण करता है या उसके प्राकट्य लक्षण फल को भी? कुमारिल भट्ट के मत में प्राकट्य रूप लिंग से विज्ञान का अनुमान होता है। प्रामाण्य तो प्रत्यक्षगत है नहीं, अतः उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? जैसे वायु और आकाश प्रत्यक्ष नहीं है, तो भी वायुगत स्पर्श और आकाशगत शब्द का प्रत्यक्ष होता है, वैसा ही यहाँ भी अप्रत्यक्षगत प्रामाण्य का भी प्रत्यक्ष मान लेंगे, यह भी संभव नहीं है, क्योंकि जाति को व्यक्ति की प्रत्यक्षता के आधार पर प्रत्यक्ष माना जा सकता है, फल तो स्वप्रकाश है, अतः वह बाह्येन्द्रिय का विषय नहीं हो सकता। फलतः उसकी यथार्थता का सूचक प्रामाण्य भी बाह्येन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकेगा। यदि स्वतोग्राह्य का लक्षण केवल यही किया जाता है कि वह ज्ञान के ग्राहक से ही केवल गृहीत होता है, अर्थात् जिस सामग्री (साधन) से ज्ञान होता है, उस ज्ञान के साधन से ही ज्ञान की प्रामाणिकता का भी ज्ञान हो जाता है, तब भी ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण? इस प्रकार के संशय की तो स्थिति रह ही नहीं जायगी।

ऐसे स्थलों में भी संशय इसलिये हो सकता है कि ज्ञान की सामग्री से सामान्य रूप से तो वस्तु का ग्रहण हो जायगा, किन्तु किसी विशेष अर्थ से यदि उसका संबन्ध है तो ऐसी अवस्था में संशय उठ खड़ा होगा, जैसे कि कुम्भ (घड़ा) ज्ञान का विषय जलयुक्त कुम्भ भी होता है या नहीं, यह संशय होता है। घड़े जल के और बिना जल के भी होते हैं। इस तरह से प्रामाण्य में भी संशय उठ सकता है। आपका यह प्रतिपादन असत्य है, क्योंकि कुम्भगत जल केवल कुम्भग्राहक सामग्री से गृहीत नहीं हो सकता, यदि ऐसा माना जायगा तो सारे कुम्भों को जल से भरा मानना पड़ जायगा। नारियल के भीतर वर्तमान जल के समान वहाँ पर भिन्न सामग्री ग्राह्यता होने से ही संशय होता है, यह कथन भी असत्य है, क्योंकि प्रामाण्य यद्यपि विज्ञान के ग्राहक साक्षी मात्र से ग्राह्य है, अतः स्वतः प्रमाण है। ऐसी अवस्था में आपके अभिप्रेत धर्मी ज्ञान में और अनुव्यवसाय में उसका भान होने पर भी बौद्धमतावलम्बी की दृष्टि से वह विपरीत ज्ञान के समान तथा चार्वाक की दृष्टि में अनुमान के समान वह अप्रमाण है, अतः आहार्य संशय वहाँ उठ ही सकता है। अथवा जैसे स्वरूपभेदवादी के मत में स्वरूप के गृहीत होने पर भी यह स्थाणु है या पुरुष? इस संशय की अथवा यह पुरुष ही है, इस विपर्यय की संभावना बनी रहती है, इसी तरह सामग्री के रहने पर भी प्रतिबन्धक दोष आदि के संसर्ग से संशय उठ खड़ा होता है, उसी भाँति स्वतःग्राह्यता में भी प्रामाण्य का संशय उठ खड़ा हो सकता है। यहाँ पर प्रामाण्य को ज्ञान की ज्ञापक सामग्री मात्र से ग्राह्य मानने पर मिथ्या रजत बुद्धि में भी प्रामाण्य का बोध मानना पड़ जायगा। ऐसी आपत्ति इसलिये नहीं उठाई जा सकती कि ऐसे स्थलों में प्रामाण्य की प्रसक्ति का कारणगत दोष तथा परवर्ती बाधज्ञान से परिहार हो जाता है। यदि आप कारणदोष और बाध के अभाव ज्ञान को प्रामाण्यग्रह में कारण मानते हैं, तब तो आपको परतः प्रामाण्य मानना पड़ेगा? नहीं, क्योंकि दोष-ज्ञान

पत्तेः। यथा वा स्वरूपभेदवादिनां गृह्यमाणेऽपि स्वरूपे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सन्देहस्य पुरुष एवेति विपर्ययस्य च सम्भवस्तथैव सत्यामपि सामग्र्यां प्रतिबन्धकदोषादिसमवधानाद् यथा संशयादिर्भवति, तथैव स्वतो ग्राह्येऽपि प्रामाण्यसंशयादिकमुपपद्यत एव। न च ज्ञानज्ञापकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वे प्रामाण्यस्य मिथ्यारजतादिबुद्धिष्वपि प्रामाण्यग्रहणप्रसङ्गः स्यादिति वाच्यम्, प्रसक्तस्यापि प्रामाण्यस्य कारणदोषबाधाभ्यां तदपनोदनात्। न च तर्हि तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यग्रहहेतुत्वोपपत्तौ परतः प्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्, दोषबाधबोधानुत्पत्तिमात्रेण प्रामाण्यस्फुरणाङ्गीकारेण दोषाभावात्। तदुक्तम्—'तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता। अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानैरपोद्यते॥' (चोदनासूत्रवार्त्ति० ५३), 'यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदान्यन्नैव मृग्यते। निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः॥' (चो. सू. वा. ५२)। दोषबाधाभावावगमस्य प्रामाण्यहेतुत्वे तस्यापि प्रामाण्यावगमायावगमान्तराणामाश्रयणीयत्वेनानवस्थापातात्।

यदुक्तम्—'प्रामाण्यं परतो ज्ञायते, अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात्, अप्रामाण्यवत्' इति, तदपि न, स्वतः प्रमाणत्वेन भवदभिमतेष्वनुमानोपमानानुव्यवसायधर्म्यध्यवसायेषु व्यभिचारस्योक्तत्वात्। न च तदनभ्युपगमपराहतम्, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्रैस्तदङ्गीकृतत्वात्। तथाहि—विमतं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रमाणाभास इति व्यतिरेकि, अन्वयव्यतिरेकि वा? अनुमानस्य स्वतः प्रमाणतया अन्वयस्यापि सम्भवात्। अनुमानस्य स्वतः प्रामाण्यमपि तत्रैवोक्तम्। तथानुमानस्य परितो निरस्तविभ्रमाशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्यम्, अनुमेयाव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्। तथैवोपमानमपि। परतः प्रामाण्यसाधकानुमानं सत्प्रतिपक्षग्रस्तञ्च। विमतं प्रमात्वं विज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यम्, अप्रमावृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ज्ञानैकवृत्तिजातित्वात्, ज्ञानत्ववत्। अनुमित्यादिस्थले सिद्धसाधनता स्यादिति तद्वारणाय ज्ञानैकवृत्तीत्युक्तम्। अप्रमात्वसंशयत्वादिभिर्व्यभिचारवारणाय अप्रमावृत्तित्वानधिकरणेत्युक्तम्। साधनवैकल्य-

और बाध-ज्ञान की अनुत्पत्ति मात्र से प्रामाण्य का स्फुरण माना गया है, अतः परतः प्रामाण्य की कोई आशंका नहीं उठती। यही बात इन दो श्लोकों में कही गई है—" इसलिये ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञान की स्वतः प्रमाणता सिद्ध होती है। ज्ञान के विषय अर्थ को अन्यथा देखकर उत्पन्न हुए दोष-ज्ञान से ज्ञान की प्रामाणिकता निवृत्त हो जाती है। जब प्रमाण का प्रमाणत्व स्वतः है, तो प्रामाण्य के लिये अन्य हेतु के अन्वेषण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दोष का ज्ञान न होने से प्रमाण का मिथ्यात्व बिना प्रयत्न के अपने आप निवृत्त हो जायगा। दोष और बाध के अभाव को भी यदि प्रामाण्य के ज्ञान में हेतु माना जाय तो इनकी प्रामाणिकता के लिये भी अन्य ज्ञान की आवश्यकता माननी पड़ेगी। फिर उस ज्ञान के लिये भी एक और ज्ञान की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष उठ खड़ा होगा।

यह जो कहा गया है कि प्रामाण्य परतः ज्ञात होता है, क्योंकि अनभ्यस्त विषय में संशय उसी प्रकार बना रहता है, जैसा अप्रामाण्य में, यह कथन इसलिये ठीक नहीं है कि स्वतः प्रामाण्य विधिवत् सिद्ध किया जा चुका है और आपके अभिप्रेत अनुमान, उपमान, अनुव्यवसाय, धर्मी अध्यवसाय आदि में दोष दिखाया जा चुका है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस बात को किसी ने माना नहीं है, क्योंकि न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने इस बात को स्वीकार किया है। वह इस प्रकार है—विवादास्पद (विवाद का विषय) ज्ञान अर्थ से व्यभिचरित नहीं है, क्योंकि समर्थ प्रवृत्ति का जनक है, जो समर्थ प्रवृत्ति का जनक नहीं होता, वह अर्थ से अव्यभिचरित भी नहीं होता, अर्थात् जहाँ ज्ञान के विषय का व्यभिचार है, वहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, जैसा कि प्रामाण्याभास में, यह व्यतिरेकानुमान इसमें प्रमाण है। अथवा यहाँ पर अन्वय-व्यतिरेक भी हो सकता है, क्योंकि अनुमान स्वतः प्रमाण है, अतः वहाँ पर अन्वय भी हो सकता है। अनुमान की स्वतः प्रमाणता भी वहीं मानी गई है। जैसे कि अनुमान में सभी तरह से विभ्रम की आशंका के न रहने से स्वतः प्रामाण्य सिद्ध है, क्योंकि वह अनुमेय से अव्यभिचरित हेतु से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार उपमान को भी समझना चाहिये। परतः प्रामाण्य का साधक अनुमान सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास से दूषित है। अन्ततः स्वतःप्रामाण्य के साधक अनुमान का यह आकार बनेगा—विवाद का विषय प्रमात्व विज्ञान की ग्राहक सामग्री मात्र से ग्राह्य है, क्योंकि यह अप्रमा का अधिकरण न होकर केवल एक ज्ञान (प्रमा) में ही रहने वाली जाति है, जैसी कि ज्ञानत्व जाति। अनुमिति आदि में साध्यसाधनता दोष के परिहार के लिये इस लक्षण में ज्ञानैकवृत्ति पद जोड़ा गया है। अप्रमात्व, संशयत्व आदि से व्यभिचार की व्यावृत्ति के लिये लक्षण में

निवृत्त्यर्थं साधनविशेषणांशमात्रग्रहणम्। तथापि प्रमामात्रवर्तिना प्रमान्यान्यत्वादिना व्यभिचारः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं जातिग्रहणम्, तस्यान्योन्याभावत्वेन प्रतियोगिसापेक्षत्वेन विवक्षितत्वात्।

ननु प्रमात्वस्य साक्षात्कारित्वेन परापरत्वासम्भवेन जातित्वासम्भवाद् विशेष्यसिद्धिः। साक्षात्कारित्वं यदि परं तदा तदपरसामान्यस्य प्रमात्वस्य परसामान्याविनाभावनियमात् सर्वैव प्रमा साक्षात्कारिण्येवेति परोक्षस्यानुमानादेरप्रमात्वमेव स्यात्। यद्यपरं तत्तदा साक्षात्कारित्वस्य प्रमात्वाविनाभावादिदं रजतमित्यादिसाक्षात्कारिणो विभ्रमस्य प्रमात्वप्रसङ्गः। प्रमात्वस्य जातित्वे एकस्यैवेदं रजतमित्यादिज्ञानस्य धर्म्यंशे प्रमात्वमितरांशे चाप्रमात्वमिति जातिसाङ्कर्यप्रसक्त्या सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय इति सिद्धान्तोऽपि बाध्येतेति चेन्न, साक्षात्कारित्वस्य रजतादिविभ्रमेष्ववृत्तित्वात्, इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यतोपाधिमात्रेण तु साक्षात्कारित्वाभिमानः। धर्म्यंशे तु प्रमाव्यवहारोऽबाधितानुभूतित्वोपाधिमूलकोऽपि सम्भवत्येव। नन्वेवं सर्वत्रैवोपाधिनिबन्धनो भवतु व्यवहार इति जातिकल्पना मास्त्विति चेन्न, प्रमिणोमीत्यबाधितानुगतव्यवहारस्य गौर्गौरिति व्यवहारस्येव जातिमन्तराऽनुपपत्तेः।

वस्तुतस्त्विदं साङ्कर्यनिराकरणं परिरीत्यैव। मीमांसकानां नेदं दूषणम्, अत एवार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणम्, असन्निकृष्टेऽर्थे ज्ञानमिति मीमांसासूत्रभाष्यकाराभ्यां 'प्रमात्वज्ञानत्वादिजातिरङ्गीकृतैव। संशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानानि

'अप्रमावृत्तित्वानधिकरण' यह जोड़ा गया है। साधनविकलता की निवृत्ति के लिये साधन विशेषण के अंश रूप में 'मात्र' पद दिया गया है। इस पर भी प्रमामात्रवर्ती (सभी यथार्थ ज्ञानों में वर्तमान) प्रमान्यान्यत्व (प्रमा से भिन्न से भिन्न अर्थात् प्रमा) में व्यभिचार होगा, उसकी निवृत्ति के लिये 'जाति' पद गृहीत है, प्रमान्यान्यत्व अन्योन्याभाव है, अतः यहाँ पर प्रतियोगी सापेक्ष रूप से विवक्षित है, जाति रूप से नहीं। अर्थात् भेदज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान की अपेक्षा जरूर होती है, क्योंकि केवल भिन्न कहने से काम नहीं चलता, किससे भिन्न है, यह बताना ही होगा।

यह कहना कि प्रमात्व भी जाति नहीं होगी, क्योंकि साक्षात्कारित्व में परत्व और अपरत्व के न बन पाने से विशेष्य ही नहीं सिद्ध होगा। जैसे कि यदि साक्षात्कारिता को पर सामान्य मानें तो अपर सामान्य प्रमात्व का पर सामान्य के साथ अविनाभाव होने से सारी प्रमा साक्षात्कारिणी होगी, ऐसी अवस्था में परोक्ष अनुमान आदि से अप्रमात्व मानना पड़ेगा। यदि साक्षात्कारित्व को अपर सामान्य माने तो साक्षात्कारित्व का प्रमात्व से अविनाभाव होगा, अर्थात् जहाँ जहाँ प्रमात्व होगा, वहाँ साक्षात्कारित्व भी मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि अनुमान में प्रमात्व है, साक्षात्कारित्व नहीं। फलतः यह रजत है, इस तरह से साक्षात् प्रतीत हो रहे विभ्रम में प्रमात्व का प्रसंग हो जायगा। प्रमात्व को जाति मानने पर एक दूसरा दोष यह भी आवेगा कि यह रजत है, इस एक ज्ञान में ही धर्मी अंश में प्रमात्व और इतर अंश में अप्रमात्व होने से जाति-सांकर्य की प्रसक्ति में सारा ज्ञान धर्मी में अभ्रान्त है और उसके प्रकार में ही भ्रान्ति होती है, इस सिद्धान्त का भी बाध होने लगेगा? इस आशंका का उत्तर यही दिया जा सकता है कि साक्षात्कारित्व की स्थिति रजत आदि विभ्रम स्थल में नहीं रहती। ऐसे स्थलों में इन्द्रिय सम्पर्क से जन्यता नामक उपाधि के कारण साक्षात्कारित्व का अभिमान होता है। धर्मी अंश में प्रमा का व्यवहार अबाधित अनुभूतित्व रूप उपाधि के कारण हो जाता है। प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो फिर सभी जगह उपाधि प्रयुक्त ही सारा व्यवहार निष्पन्न हो जाय, तब जाति की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि मैं प्रमात्व का अनुभव करता हूँ, इस प्रकार का व्यवहार विना जाति के उसी प्रकार सम्भव नहीं है, जैसे कि गोत्व जाति के बिना 'यह गाय है' इस प्रकार का व्यवहार सम्भव नहीं होता।

वास्तव में तो हमने यह सांकर्य निवृत्ति अन्य दार्शनिकों की रीति से कही है। मीमांसकों के मत से यह दोष है ही नहीं। इसीलिये वस्तु (अर्थ) के न मिलने पर वह प्रमाण न होगा, वस्तु का इन्द्रिय के साथ संन्निकर्ष न होने पर भी हो जायगा। तात्पर्य यह है कि रस्सी में सर्प का जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ सर्प के साथ चक्षु का सन्निकर्ष नहीं है, किन्तु सर्प का ज्ञान तो हो ही जाता है। किन्तु वह ज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि ज्ञान होने पर भी सर्प की उपलब्धि नहीं होती। मीमांसा सूत्र और भाष्य के प्रमाण से ज्ञानत्व आदि को जाति माना ही है। 'संशय, विपर्यय और स्मृति से भिन्न ज्ञान इनसे अतिरिक्त में रहने वाली जाति से संयुक्त हैं,

स्वतदतिरिक्तवृत्तित्वानधिकरणजातिमन्ति, जातिमत्त्वात्, सम्प्रतिपन्नवत्, इत्यनुमानमपि प्रमात्वादिजातिसद्भावे मानम्, यथा रजतादिभ्रमेषु विज्ञानत्वसाक्षात्कारित्वादिकं नास्ति, तेन न साङ्कर्यमपि। तथोक्तम्—'विज्ञानत्वमधिष्ठानधियामारोपितेषु यत्। अविद्यापरिणामत्वाद्विज्ञानाभासताऽमता॥ येन यत्तत्र विज्ञानं तत्प्रमाणमुपेयते। अप्रमाणं न विज्ञानं तत्क सङ्कर-सम्भवः॥' सामग्रीभेदस्य कार्यभेदनियमात्, अप्रमायाश्च ज्ञानविशेष्यत्वासिद्धेः।

न चैवं सर्वज्ञानानां यथार्थत्वेऽख्यातिवादापत्तिः स्यादिति वाच्यम्, अविद्यापरिणामरूपभ्रमारोप्ययोरङ्गीकारेण तद्भेदात्। न चोपाधिमादाय जातिप्रत्याख्यानं युक्तम्, अन्यथा गोत्वादिष्वपि तदापत्तेः। ननु यद्यनुवृत्तव्यवहारसिद्धये गोत्वादिवज्जातिकल्पनमावश्यकम्, तर्हि पाचकादावपि भवतु जातिकल्पनमिति चेन्न, 'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥' इत्युक्तबाधकानामभावे जातिनिबन्धनोऽनुवृत्तव्यवहारोऽन्यत्र तूपाधिनिबन्धन इति व्यवस्थोपपत्तेः। तथाहि—आकाशादौ व्यक्तेरभेदेनाकाशत्वादिकं न जातिः, अनेकसमवेतत्वाभावात्। कुम्भत्वकलशत्वयोस्तुल्यत्वेन तयोर्न भिन्नजातित्वम्, एकयैवानुगतव्यवहारसिद्धेः। अन्यथा पर्यायत्वविलोपापत्तिः। भूतत्वमूर्तत्वयोः परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र स्थित्या न जातित्वम्, भूतत्वमपहाय मूर्तत्वस्य क्षित्यप्तेजोवायुमनःसु वर्तमानत्वेन मूर्तत्वमपहाय भूतत्वस्य क्षित्यादिवियदन्तेषु वर्तमानत्वेन पृथिव्यादिचतुष्टये तयोरुभयोरपि प्रतीतिर्वन्ध्या मे मातेतिवत् विरुद्धार्थकतया न प्रामाण्यमर्हतीति तदभावः। परस्परपरिहारेण वर्तमानयोः सामान्ययोरेकत्र समावेशे तदतज्जातीय-विरोधोच्छेदापत्तिः। सत्तायां सत्तास्वीकारे तत्रापि न जातिकल्पना, अनवस्थाप्रसङ्गात्। पाचकत्वादौ तु पाचकत्वादे-

क्योंकि ये भी जातिमान् हैं, जैसी कि जाति स्वीकृत है' यह अनुमान भी प्रमात्व आदि जाति के सद्भाव में प्रमाण है। रजतादि भ्रम स्थल में विज्ञानत्व, साक्षात्कारित्व आदि के न होने से उनका सांकर्य सुतरां नहीं है, यह बात इन दो श्लोकों में बताई गई है—"शुक्ति-रजत आदि आरोपित स्थलों में अधिष्ठान ज्ञान का जो विज्ञानत्व है, वह अज्ञान का परिणाम होने के कारण ज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञानाभास, है, अर्थात् वहाँ वस्तुतः शुक्ति है, रजत नहीं है। किन्तु ज्ञान रजत का होता है। वह शुक्ति के अज्ञान का परिणाम है। अतः अधिष्ठान शुक्ति में रजतज्ञान ज्ञानाभास है, ज्ञान नहीं। जिस समय यह विज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह प्रमाणभूत ही माना जाता है, अप्रमाण नहीं। ऐसी अवस्था में प्रमात्व और अप्रमात्व के सांकर्य की संभावना ही कहाँ है?" सामग्री के भेद से ही कार्य में भिन्नता मानी जाती है। अप्रमा कभी भी ज्ञानविशेष नहीं मानी जाती।

इस प्रकार तो सभी ज्ञान यथार्थ माने जायँगे, फलतः अख्यातिवाद (भ्रम की अस्वीकृति) मानना पड़ेगा? किन्तु यह कहना ठीक नहीं, अविद्या के परिणामभूत भ्रम और आरोप्य को स्वीकार किया जाता है, अतः सभी ज्ञान यथार्थ ही नहीं हो सकते। ऐसे स्थलों में उपाधि को मानकर जाति का खण्डन भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था में गोत्व आदि में भी उपाधि ही मानना पड़ जायगा। प्रश्न उठता है कि अनुगत व्यवहार की सिद्धि के लिये गोत्व आदि जाति आवश्यक है, तो फिर पाचक आदि में भी उपाधि न मानकर जाति ही क्यों न मानी जाय? इसका उत्तर यही है कि 'व्यक्तेरभेदः' इत्यादि श्लोक में प्रदर्शित जाति के बाधक हेतुओं की अनुपस्थिति में जाति निमित्तक अनुगत व्यवहार होता है और इनसे भिन्न स्थलों में उपाधि निमित्तक। इस प्रकार की जाति और उपाधि की भिन्न-भिन्न रूप से व्यवस्था शास्त्रों में निश्चित कर दी गई है। 'व्यक्तेरभेदः' इत्यादि श्लोक का अभिप्राय इस प्रकार है—आकाश प्रभृति में व्यक्ति का अभेद है, अतः आकाशत्व जाति नहीं होगा, क्योंकि जाति अनेक व्यक्तियों में समवेत रहती है। इसी प्रकार कुम्भत्व और कलशत्व भी भिन्न जाति नहीं होगी, क्योंकि ये तुल्य हैं, इनमें से किसी एक से ही अनुगत व्यवहार सम्पन्न हो सकेगा, अन्यथा शब्दों की पर्यायता ही लुप्त हो जायगी। भूतत्व और मूर्तत्व परस्पर व्यभिचारी हैं, इनकी एकत्र स्थिति होने पर भी उनमें जातित्व नहीं माना जायगा। भूतत्व को छोड़कर मूर्तत्व मन में विद्यमान है, मूर्तत्व को छोड़कर भूतत्व आकाश में विद्यमान है। पृथिवी, जल, तेज और वायु में भूतत्व और मूर्तत्व दोनों हैं। इस प्रकार की प्रतीति 'मेरी माता वन्ध्या है' इस वाक्य की तरह विरुद्ध अर्थ को बताती है, अतः प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। क्योंकि परस्पर एक दूसरे को छोड़कर वर्तमान सामान्य का एकत्र समावेश (सांकर्य) मानने पर तज्जातीय और अतज्जातीय का विरोध ही उच्छिन्न हो जायगा। इसी प्रकार सत्ता में सत्ता

रागन्तुकत्वेन नित्यत्वलक्षणस्य जातिरूपस्य हान्या न जातित्वम्। विशेषेषु च स्वतो व्यावर्तकत्वहान्या न जातिः। यत्र जातिकल्पनायां व्यक्त्या सह सम्बन्धाभावस्तत्रापि न जातिः। यथा समवाये जातिकल्पनायां समवायाभावान्न तत्र जातिव्यक्त्योः सम्बन्धसम्भवः। तथा च प्रमात्वस्य जातित्वेन ज्ञानैकवृत्तिजातित्वसिद्धया न विशेष्यासिद्धिशङ्कापि। किञ्च, प्रमात्वस्य विज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वानुपगमे प्रमाणान्तरग्राह्यत्वे तस्याप्यन्यस्तस्याप्यन्य इति ग्राहकान्तर-कल्पनेऽनवस्था च स्यात्।

न च निलीनस्यैव प्रमाणस्येन्द्रियादेरिवार्थे व्यवहारजनकत्वमस्त्विति वाच्यम्, प्रमाणप्रमाणानुदये तदस्तित्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात्। न च ज्ञानस्य स्वतः स्फुरणेऽपि तत्प्रामाण्यं तद्गतगुणत्वादिवदन्यतः स्फुरत्विति वाच्यम्, ज्ञानस्यादित एव प्रमाणत्वेनास्फुरणे तद्विषये निःशङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। मरीच्युदकादौ ज्ञाने सत्यपि तदप्रामाण्यनिश्चये प्रवृत्त्यदर्शनात्। नन्वप्रामाण्यास्फुरणे प्रामाण्यस्फुरणमन्तरेणापि ज्ञानमात्रात् प्रवृत्तिर्भवत्येवेति चेन्न, उभयोरस्फुरणे संशयान्निःसंशय-प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। दृश्यते चानभ्यासदशायामपि नवदृष्टेषु फलितरसालादिषु तत्फलादित्सोः निःसंशयप्रवृत्तिः। प्रामाण्य-परतस्त्ववादिभिरपि नैयायिकादिभिः स्वर्गादिसाधनेषु प्रामाण्यनिश्चयाधीनैव निःशङ्कप्रवृत्तिरुपेयते।

न च संशये सत्यपि कृष्यादौ प्रवृत्तिर्भवत्येवेति वाच्यम्, तत्र निःसंशयप्रवृत्तेरभावात्। तेन यत्र निःशङ्कप्रवृत्तिः, तत्र प्रामाण्यनिश्चयाधीनेवेति मन्तव्यम्, अन्यथा संशयस्य कोटिद्वयसमानत्वात् प्रवृत्तिवन्निवृत्तिरपि किं न स्यात्? न च

स्वीकार करने पर भी जाति की कल्पना नहीं की सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था हो जायगी। पाचकत्व आदि स्थल में भी जाति नहीं मानी जायगी, क्योंकि पाचकत्व एक आगन्तुक धर्म है। इसको जाति मानने पर जाति की नित्यता की हानि हो जायगी। विशेष में जाति इसलिये नहीं मानी जायगी कि जाति मानने पर इनमें स्वतः व्यावर्तकता नहीं रह जायगी। जहाँ पर जाति की कल्पना करने पर उसका व्यक्ति के साथ सम्बन्ध न बनता हो, वहाँ पर भी जाति नहीं मानी जाती, जैसे कि समवाय में जाति की कल्पना करने पर दूसरे समवाय के अभाव में जाति और व्यक्ति का सम्बन्ध ही नहीं बन पाता। इस नियम के अनुसार प्रमात्व एक जाति है, अतः ज्ञान में नियत रूप से विद्यमान जाति की सिद्धि हो जाने से विशेष्य के अभाव की कोई शंका ही नहीं उठ सकती। दूसरी बात यह भी है कि यदि प्रमात्व को विज्ञान सामग्री मात्र से ग्राह्य नहीं माना जायगा तो उसके ग्रहण करने के लिये प्रमाणान्तर मानना पड़ेगा। इस प्रकार की परम्परा चलने पर ग्राहकान्तर की कल्पना में अनवस्था दोष की आपत्ति होगी।

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि जैसे स्वयं अप्रकाशित इन्द्रियों की ही अपने विषय के प्रति व्यवहारजनकता है, वैसे ही विलीन (अप्रकाशित) प्रमाण के विषय में भी माना जायगा, क्योंकि जब तक प्रमाण में प्रामाण्य का उदय नहीं होता, तब तक उसके अस्तित्व का निश्चय करना ही कठिन है। ज्ञान के स्वतः स्फुरित होने पर भी ज्ञानगत गुणत्व आदि का स्फुरण जैसे अन्यतः होता है, उसी तरह प्रामाण्य का भी स्फुरण अन्यतः क्यों न माना जाय? इसका उत्तर यही है कि ज्ञान यदि प्रारम्भ से ही प्रामाणिक रूप से स्फुरित नहीं होगा, तो उसके विषय में निःशंक प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मृगमरीचिका में उदक का ज्ञान होने पर उसकी अप्रामाणिकता के निश्चय हो जाने पर प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। जब अप्रामाण्य का स्फुरण नहीं होता, उस समय प्रामाण्य के बिना भी ज्ञानमात्र से प्रवृत्ति देखी जाती है, यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि जब तक दोनों का स्फुरण नहीं होता तो संशय बना रहेगा, फलतः ऐसी अवस्था में निःसंशय प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अनभ्यास दशा में नये नये देखे गये फले हुए आमों को लेने के लिए निःसंशय प्रवृत्ति देखी जाती है। नैयायिक प्रभृति दार्शनिक प्रामाण्य का निश्चय परतः माननेवाले हैं, उनके मन में भी स्वर्गादि के साधनों में प्रामाण्य के निश्चय के अधीन ही निःसंशय प्रवृत्ति मानी गई है।

यह कहना कि संशय के रहते हुए भी कृषि आदि में प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिये ठीक नहीं है कि ऐसे स्थलों में निःसंशय प्रवृत्ति नहीं रहती। इसलिये जहाँ निःसंशय प्रवृत्ति होती है, वहाँ पर प्रामाण्य का निश्चय अवश्य ही हुआ करता है। अन्यथा संशय की तो दोनों कोटियाँ समान हैं, अतः उसमें प्रवृत्ति के समान निवृत्ति भी क्यों न हो सकेगी? प्रवृत्ति तो मन रूप इन्द्रिय से होती है, निवृत्ति प्रागभाव रूप है, अतः यह इन्द्रियजन्य नहीं हो सकती, यही दोनों में वैषम्य है यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि

प्रवृत्तेर्मनोरूपाक्षजत्वं प्रागभावरूपाया निवृत्तेस्तु नाक्षजत्वमिति वैषम्यमिति वाच्यम्, वैधर्म्यमात्रत्वात्। यद्यप्रामाण्यानिश्चयान्न निवृत्तिस्तर्हि प्रामाण्यानिश्चयात् प्रवृत्तिरपि न स्यात्। यदुक्तम्—इच्छा प्रवृत्तेः कारणम्, सा च समीहितोपायज्ञानमपेक्षते, तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवं सोऽपीन्द्रियसन्निकर्षात्, प्रामाण्यग्रहणं तु न केनाप्यंशेनोपयुज्यते, उपयोगे वा स्वत इति कुत एतदिति, तदपि न, प्रमाणतयाऽनवगम्यमानस्य समीहितसाधनताज्ञानस्येच्छाजनकत्वाभावेन तत्रैव स्वतः प्रामाण्योपयोगसम्भवात्। यदि क्वचिदपि चेन्निःशङ्कसमर्थप्रवृत्तिः संशयादुत्पद्येत, तर्हि सर्वत्रैव तथा सम्भवेन प्रामाण्यनिश्चयो निरर्थकः स्यात्। तथा च यागादिप्रवृत्तावपि प्रामाण्यनिश्चयोऽनपेक्षितः स्यात्।

यथा प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वं तथैव व्यवहृतावपि स्वतस्त्वमेव। ज्ञानादेव ज्ञेयाभिव्यक्तिरूपफलस्य सिद्धेः। यत्तु हानोपादानादिकमेव सर्वत्र ज्ञानफलम्, तच्चेष्टसाधनताज्ञानाधीनमिति परतस्त्वमेव तदिति, तन्न, हानोपादानादिजनकत्वेन तद्विषयकज्ञानानामन्यनैरपेक्ष्येण स्वत एव फलजनकत्वोपपत्तेः। यदुक्तम्—'असतामसाध्यत्वात् प्रामाण्यमप्रामाण्यमुभयमपि स्वत एव स्यादिति शशविषाणादिकमसन्न क्रियते। तदुक्तम्—'असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारकैः सत्त्वसङ्गिभिः। असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥' इति। किञ्च, कारणाभिन्नस्य तस्य कार्यप्रागसत्त्वं नोपपद्यते, भिन्नं चेत् कार्यं न तत उत्पद्येत, यथा गौरश्वान्नोत्पद्यते। भिन्नयोः संयोगोऽप्राप्तिर्वा भवति यथा कुण्डबदरयोः, मेरुविन्ध्ययोर्वा। न तदुभयमपि तन्तुपटादीनाम्। तस्मात्कारणाभिन्नत्वात् कार्याणां ततः प्रागपि सत्त्वमेवेति

यह तो वैधर्म्यमात्र है। यदि अप्रामाण्य के अनिश्चय से निवृत्ति नहीं होती तो प्रामाण्य के अनिश्चय से प्रवृत्ति भी नहीं होगी। निम्न उद्धरण मे यही बात कही गई है—"इच्छा प्रवृत्ति में कारण है और वह इच्छा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के उपाय की अपेक्षा रखती है। इससे हमारा इष्ट ही सिद्ध होगा, इस प्रकार के अनुभव से वह पुष्ट होगी और इसके लिये उस पदार्थ के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष आवश्यक है। इसमें प्रामाण्य ग्रहण की किसी भी अंश में उपयोगिता नहीं है। उपयोग होने पर भी वह स्वतः उपयुक्त हो जायगी, यह कैसे सम्भव हो सकता है? प्रमाणतया अनवगम्यमान समीहित साधनता का ज्ञान इच्छाजन्य नहीं हो सकता, ऐसे स्थलों में ही स्वतः प्रामाण्य का उपयोग हो सकता है। यदि कहीं भी संशय से निःशंक समर्थ प्रवृत्ति होने लगे तो सभी जगह ऐसी ही सम्भावना रहने से प्रामाण्य के निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। ऐसी स्थिति में यागादि प्रवृत्ति में भी प्रामाण्य के निश्चय की अपेक्षा न रह जायगी।

जैसे प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति में स्वतस्त्व है, उसी भाँति उसके व्यवहार में भी स्वतस्त्व माना जाता है, क्योंकि ज्ञान से ही ज्ञेय की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) रूप फल निष्पन्न होता है। यह कहना कि सभी जगह ज्ञान का फल इष्ट का उपादान और अनिष्ट का त्याग ही है और वह इष्ट साधनता ज्ञान (यह मेरे अभीष्ट का साधन है, ऐसा ज्ञान) के अधीन है, अतः व्यवहार में तो परतस्त्व ही मानना पड़ेगा, यह कहना इसलिये गलत है कि हान और उपादानविषयक ज्ञान ही अन्य की अपेक्षा रक्खे बिना हान (त्याग) और उपादान (स्वीकार या ग्रहण) रूप फल के जनक हो सकते हैं। जैसा कि कहा गया है—"असत् पदार्थ किसी भी कारण से सिद्ध नहीं किये जा सकते, अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः सिद्ध होंगे, इस प्रकार शशविषाण (खरगोश के सींग) जैसे विषय भी असत् होने के कारण ही क्रिया के विषय नहीं बनते।" इस बात को निम्न श्लोक में भी कहा गया है—"शशविषाण आदि असत् पदार्थों का सत् साधनों के साथ सम्बन्ध नहीं है। बिना सम्बन्ध के भी (कार्यकारण के) किसी साधन से किसी साध्य की उत्पत्ति मानने पर अव्यवस्था हो जायगी। तात्पर्य यह है कि मृत्तिका रूप कारण का घट रूप कार्य से सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध मृत्तिका में पहले घट की सत्ता मानने पर ही बन सकता है। असत् घट की मृत्तिका से उत्पत्ति मानने पर तो बिना सम्बन्ध के ही उत्पत्ति माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में एक दूसरे से असम्बद्ध सभी वस्तुओं की उत्पत्ति होनी चाहिये, पर ऐसा होता नहीं। दूसरी बात यह है कि कार्य कारण से अभिन्न होता है। अतः उस कार्य की उत्पत्ति से पहले असत्ता नहीं मानी जा सकती। यदि कार्य कारण से भिन्न है तो वह उससे पैदा नहीं हो सकता, जैसे कि गौ अश्व से उत्पन्न नहीं होती। दो भिन्न वस्तुओं का ही संयोग अथवा अप्राप्ति होती है, जैसे कि कुण्ड और बदर का, मेरु और विन्ध्यपर्वत का। पट और तन्तु में तथा घट-मृत्तिका आदि में ये दोनों नहीं है। इसलिए कार्य कारण से अभिन्न है, अतः उसकी उत्पत्ति के पहले भी उसकी सत्ता है ही। यह सारा असत् की सत्ता का प्रतिपादन गलत है,

तन्न, सत्त्वेऽपि तदनुपपत्तेः। यदि क्रियमाणत्वमेव सत्त्वसाधनं तदा सतोऽपि तन्नोपपद्यते, सतो घटादेः क्रियमाणत्वादर्शनात्, कृतकरणव्यापारानुपपत्तेश्च। सत्याञ्च सामग्र्यां घटोत्पत्तिदर्शनेन प्रागसतोऽपि कार्योत्पत्तिरभ्युपेतव्या। यदुक्तम्—कारणेनासम्बद्धस्य कार्यस्योत्पत्तौ इदमेवास्य कार्यमिदमेवास्य कारणमिति व्यवस्थानुपपत्तिरिति, तन्न, किञ्चिदेव कारणं कस्मिंश्चित्कार्ये शक्तमिति शक्तितो नियमनसिद्धेः।

न च शक्तिरेव नास्तीति वाच्यम्, अयमग्निः अद्विष्ठातीन्द्रियाश्रयः, कारणत्वात्, गुरुत्वाश्रयवदित्यनुमानेन तत्सिद्धेः। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' (श्वेता० उ० ६।८) इति श्रुतेः। न च शक्तिरपि कार्येणासम्बद्धा न नियामिकेति वाच्यम्, शक्ताश्रयायास्तस्याः प्रतिनियतशक्यानुकूलस्वभावत्वात्। अन्यथा सत्कार्यवादेऽपि विवेकहेतोरभावाद् इदमेवास्य कारणमिति नियमासिद्धेः। यदि तु तत्तदभिव्यञ्जकसामर्थ्यनियमात् तत्तदभिव्यक्तिनियम आस्थीयते, तदा तु तद्वदेव तत्तदुत्पादककारणसामर्थ्यनियमात् तत्र सत्कार्योत्पत्तिनियमोऽपि सिद्ध्यत्येव। कार्यकारणाभेदसाधकानुमानन्तु प्रत्यक्षेण तन्तुपटयोर्भेदोपलम्भेन बाधदोषग्रस्तम्। किञ्च, कारकव्यापारात्प्रागपि कारणे कार्यस्य सत्त्वे तदुपलम्भोऽपि स्यात्, न चोपलभ्यते, तस्मादसदेव तत्। यदि त्वभिव्यक्तेरभावादनुपलब्धिः, तदा सापि सती असती वा? सती चेत्प्रागपि कारणे कार्यं कुतो नोपलभ्यते, असती चेत्कारकव्यापारादुत्पद्यते, तदा कार्यस्यैवासतः कुतो नोत्पत्तिरास्थीयते? तस्मात् प्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयोरपि स्वतस्त्वे किञ्चिदेव प्रमाणमप्रमाणमन्यदिति व्यवस्थानुपपत्त्या नोभयं स्वत इति मन्तव्यम्।

क्योंकि इस प्रकार से तो सत् का भी उपपादन नहीं किया जा सकता। यदि क्रियमाणत्व को ही सत्त्व का साधन माना जाय तो वह तो सत् पदार्थ में भी उपपादित नहीं हो सकता, क्योंकि सत् घटादि से कुछ नहीं बनता, जो वस्तु निष्पादित हो चुकी है, उसमें बाद में करणव्यापार प्रवृत्त नहीं होता। सामग्री के रहने पर ही घट की उत्पत्ति देखी गई है, अतः पहले से अविद्यमान वस्तु की भी उत्पत्ति माननी पड़ती है। जैसा कि कहा गया है कि कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानने पर यही इसका कार्य है, यही इसका कारण है, इस तरह की व्यवस्था नहीं बन पावेगी। इसका उत्तर भी यह दिया जा सकता है कि शक्ति से इसको व्यवस्थित किया जा सकता है कि एक निश्चित कारण ही एक निश्चित कार्य को पैदा कर सकता है।

शक्ति है ही नहीं, यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि अनुमान से उसकी सिद्धि होती है कि यह अग्नि केवल एक में रहनेवाली इन्द्रियों से न जाने जा सकनेवाली दाहकत्व रूप शक्ति का आश्रय है, दाह का कारण होने से, गुरुत्व के आश्रय पृथ्वी, जल आदि की तरह। "इस ईश्वर की परा शक्ति नाना रूपों में देखी जाती है" इत्यादि श्वेताश्वतर श्रुति भी शक्ति के अस्तित्व में प्रमाण है। कार्य से असंबद्ध होने पर शक्ति भी कार्य की नियामक नहीं हो सकती, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह शक्ति समर्थ में रहती है, अतः उसमें प्रतिनियत शक्य वस्तु की निष्पत्ति के अनुकूल सामर्थ्य स्वभावतः विद्यमान है। अन्यथा सत्कार्यवाद में भी किसी विवेचक कारण के अभाव में यही इसका कारण है, यह नियम सिद्ध न हो सकेगा। यदि तत्तत् निश्चित अभिव्यञ्जक सामर्थ्य के नियम के अनुसार अभिव्यक्ति का नियम माना जाता है, तो उसी पद्धति पर उत्पादक कारण की सामर्थ्य के अनुसार वहाँ पर सत्कार्य की उत्पत्ति का नियम भी बन सकता है। कारण और कार्य का अभेद बताने वाला अनुमान बाधित है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से तन्तु और पट का भेद प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि कारक व्यापार से पहले भी कारण में यदि कार्य की सत्ता मानी जाती है तो उसकी उपलब्धि होनी चाहिये, वह उपलब्ध नहीं होता, अतः उसको असत् मानना पड़ेगा। यह कहा जाय कि अभिव्यक्ति के न होने से वह उपलब्ध नहीं होता तो पहले आपको यह बताना पड़ेगा कि यह अभिव्यक्ति सत् है या असत्? यदि सत् है तो अभिव्यक्ति से पहले भी कारण में कार्य क्यों उपलब्ध नहीं होता? यदि यह असत् है तो मानना पड़ेगा कि कारक व्यापार से उसकी उत्पत्ति होती है। ऐसी अवस्था में कार्य को ही असत् मानकर कारक व्यापार से उसकी उत्पत्ति क्यों न मानी जाय। बीच में अभिव्यक्ति का अड़ंगा लगाना व्यर्थ ही है। इसलिये प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों के स्वतस्त्व के पक्ष में कुछ ज्ञान प्रमाण हैं, अन्य अप्रमाण हैं, यह व्यवस्था संभव नहीं है, अतः यह मानना चाहिये कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः अवगत न होकर परतः प्रतीत होते हैं।

प्रवृत्तस्य विसंवाददर्शनादपि नोभयं स्वतः। यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यमुभयमपि स्वतः स्यात्तर्हि शुक्तौ रजतज्ञानं प्रमाणतया वा अप्रमाणतया वान्यथा वेति वक्तव्यम्। प्रथमे कथं विसंवादः? द्वितीये कथं प्रवृत्तिः? प्रमाणत्व-परिच्छित्तौ विसंवदति तत्कथम्? अप्रामाण्यगृहीतौ वा तस्मिन् कस्मात् प्रवर्तते? अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति तृतीयोऽपि पक्षो न सम्भवति, स्वतो ह्यप्रामाण्ये निश्चिते प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। वस्तुतस्त्वप्रामाण्यमुत्पत्तौ कारणदोषानपेक्षते निश्चये च बाधकज्ञानम्, ततो न स्वतो भवितुमर्हति। यदुक्तम्—'अप्रामाण्यमवस्तुत्वात् न स्यात् कारणदोषतः' (चो० सू० वा० ३६) इति, तन्न, संशयविपर्ययात्मकस्य ज्ञानस्य वस्तुत्वात् तद्गतस्याप्रामाण्यस्यापि वस्तुत्वाविशेषात्।

बौद्धास्तु—अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं च परतोऽभ्युपयन्ति। यदि प्रामाण्यं स्वतः स्यात् तदैकतरकोटिनिर्णयात् संशयो न स्यात्। यदि निश्चयेऽपि संशयो भवेत् तदा सन्देहोपरमो न कदाचिदपि स्यात्, तेन कारणगुणज्ञानाद् अर्थक्रिया-संवादाद् वा प्रामाण्यनिर्णयः। ननु पूर्वमेवार्थतथात्वानिश्चये कथं तदुत्तरकालीना प्रवृत्तिः, कथं वा समर्थप्रवृत्तिज्ञानम्, तदभावे कथं प्रामाण्यनिश्चय इति चेन्न, कृष्यादाविवार्थसन्देहेऽपि प्रवृत्तिसम्भवात्। प्रवृत्तौ चार्थक्रियोपलब्धौ पूर्वावगतस्य

किसी ज्ञान से जानी हुई वस्तु को लेने के लिये प्रवृत्त व्यक्ति को कभी धोखा भी हो जाता है। इससे यह मानना पड़ता है कि दोनों (प्रामाण्य और अप्रामाण्य) का स्वतस्त्व ठीक नहीं है। यदि ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः प्रतीत होते हैं, तो आप बताइये कि शुक्ति में रजत का ज्ञान प्रमाण है, अप्रमाण है, या उसका कोई दूसरा रूप है? यदि प्रमाण है तो फिर धोखा कैसा? यदि अप्रमाण है तो फिर उससे प्रवृत्ति कैसे होगी? प्रमाणित रूप में ज्ञात होने पर भी वह बाद में गलत कैसे हो जाता है? अप्रमाणित रूप में जाने जाने पर भी उसमें प्रवृत्ति कैसे होती है? अप्रामाण्य का बोध स्वतः तथा प्रामाण्य का ज्ञान परतः होता है, यह तृतीय पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि स्वतः अप्रामाण्य के निश्चित हो जाने पर प्रवृत्ति नहीं होगी। प्रवास्तव में अप्रामाण्य अपनी उत्पत्ति में कारणगत दोषों की तथा निश्चय में बाधक ज्ञान की अपेक्षा रखता है, इसलिये यह स्वतः नहीं हो सकता। कहा भी गया है—"अप्रामाण्य अभावात्मक है, अतः उसकी अवगति स्वतः न होकर कारण दोष से होती है।" यह उक्ति इसलिए उचित नहीं है कि संशय, विपर्यय प्रभृति ज्ञान अभावात्मक, अवस्त्वात्मक न होकर वस्तुगत होते हैं, अतः तद्गत अप्रामाण्य भी वस्त्वात्मक ही माना जायगा। तात्पर्य यह है कि अप्रामाण्य को अभाव रूप मान कर उसकी उत्पत्ति कारणगत दोषों से न मानना ठीक नहीं है, क्योंकि अप्रामाण्य यदि अभाव रूप हो तब तो वास्तव में उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु संशय, विपर्यय स्वरूप जो ज्ञान है, वह वस्तुरूप है। इसलिये उन संशय-विपर्यय आदि में रहने वाला जो अप्रामाण्य है, उसे भी वस्तुरूप ही मानना पड़ेगा। अतः कारण दोष से ही उसकी उत्पत्ति मानना न्यायसंगत है।

बौद्ध दार्शनिक ज्ञान के अप्रामाण्य को स्वतः और प्रामाण्य को परतः मानते हैं। उनका कहना है कि यदि प्रामाण्य का स्वतः ज्ञान होता हो तो किसी एक कोटि के पक्ष में निर्णय हो जाने से संशय नहीं होगा। यदि निश्चय हो जाने पर भी संशय माना जाय तो फिर संदेह की निवृत्ति कभी न हो सकेगी। अतः मानना पड़ेगा कि कारणगत गुणों के ज्ञान से अथवा अर्थक्रिया के संवाद से प्रामाण्य का निश्चय होता है। यदि आप पूछें कि यदि पहले ही अर्थ की यथार्थता का निश्चय नहीं है तो उससे आगे प्रवृत्ति कैसे होगी, यह प्रवृत्ति उचित है, इसका ज्ञान कैसे होगा? और इसके अभाव में प्रामाण्य का निश्चय कैसे होगा? तो इसका यही उत्तर दिया जा सकता है कि अर्थ की संदिग्धता में कृषि आदि कर्मों में प्रवृत्ति देखी गई है। प्रवृत्ति होने पर यदि अर्थ क्रिया की उपलब्धि हो जाती है तो पूर्व-काल में अवगत विषय की अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्यता का निश्चय होता है। इसके बाद ही तद्विषयक पूर्व ज्ञान के सत्य अर्थ से संबद्ध होने के कारण प्रामाण्य का निर्णय होता है। निम्न श्लोक में यही बौद्ध मत प्रतिपादित है—"प्रामाण्य की विद्यमानता में भी उसका प्रामाण्य स्वतः निश्चित नहीं किया जा सकता। आगे होने वाली अर्थक्रिया को जानकर ही उसकी प्रतीति होती है"। आप यह आक्षेप भी नहीं कर सकते कि "अर्थक्रिया का ज्ञान भी अपने विषय की अर्थक्रिया के निश्चय के लिये दूसरे की अपेक्षा रखता है, फलतः यहाँ पर अनवस्था होगी", क्योंकि वह फल रूप है। सारी क्रियायें फल के लिये ही होती हैं, फल किसी दूसरे के लिये नहीं होता। अर्थक्रिया-ज्ञान स्पष्टतः असंदिग्ध रूप है, अतः यह अपने विषय की सचाई का निर्णायक है और प्रमाण भी है। यदि आप यह कहें कि प्रामाण्य का निर्धारण तो प्रवृत्ति का अंग है, अतः प्रवृत्ति के उत्तरकाल में उसका निर्णीत होना व्यर्थ है, तो इसका यह उत्तर है कि अन्य ज्ञानों में

विषयस्यार्थक्रियाकारित्वरूपं सत्यत्वं निश्चीयते। ततस्तद्विषयस्य पूर्वज्ञानस्य सत्यार्थसम्बन्धित्वेन प्रामाण्यं निर्णीयते। तदुक्तम्—'तस्मिन् सदपि मानत्वं विनिश्चेतुं न शक्यते। उत्तरार्थक्रियाज्ञानात् केवलं तत्प्रतीयते ॥' इति।

न चार्थक्रियाज्ञानस्यापि स्वविषयार्थक्रियापरिनिश्चयेऽपि परापेक्षा स्यात् ततश्चानवस्था स्यादिति वाच्यम्, तस्य फलरूपत्वात्। फलार्थं सर्वं न फलमन्यार्थम्। स्फुटाविकल्परूपत्वाच्च स्वत एवार्थक्रियाज्ञानं स्वविषययथार्थत्वनिर्णायकं प्रमाणञ्च। न च प्रामाण्यनिर्धारणस्य प्रवृत्त्यङ्गत्वेन प्रवृत्त्युत्तरकालं तन्निर्णयो व्यर्थ एवेति वाच्यम्, ज्ञानान्तरेषु निःशङ्क-प्रवृत्त्यर्थं तदपेक्षणात्। तथाहि—अभ्यासवत्याञ्च प्रवृत्तौ प्रथमज्ञाने फलस्याप्रतीतावपि अर्थक्रियारूपं फलमिति विषयीकुर्वतो विज्ञानान्तराद् विसंवादिभ्यो व्यावृत्तं वैलक्षण्यं प्रतीयते। यथोक्तम्—'वृत्तावभ्यासवत्यां तु वैलक्षण्यं प्रतीयते। अतद्विषय-विज्ञानादाद्येऽप्राप्तेऽपि तत्फलम् ॥' इति। तेन झटिति निःशङ्कप्रवृत्तिरपि तत्र विसंवादिव्यावृत्तप्रमाणप्रतिबन्ध(सम्बन्ध)-रूपविशेषलिङ्गकादनुमानादेवेति न स्वतः प्रमाणावगमः।

तदेतदपरे मीमांसका न क्षमन्ते। अर्थतथात्वनिश्चयाद् वृत्तेः प्रामाण्यमस्तु, तन्निश्चयस्तु गुणज्ञानात् संवादाद्वा इति तु न युक्तम्, यतः प्रमितिसाधकतमत्वं हि प्रामाण्यम्, प्रमितिश्चानधिगतार्थावधारणरूपा। नन्वेवं तर्हि इन्द्रियादेरेव प्रामाण्यम्, न ज्ञानस्य, तस्यावधारणरूपत्वेनावधारणान्तरसाधकतमत्वानुपपत्तेरिति चेन्न, ज्ञानरूपप्राकट्यरूपावधारण-द्वैविध्येन तदुपपत्तेः। तथा चानधिगततथाभूतार्थगोचरत्वेन ज्ञानस्य प्रामाण्यम्। अनधिगततथाभूतार्थावधारणाच्च प्रमितिः, तत्साधनं ज्ञानं प्रमाणम्, तद्भावः प्रामाण्यम्, इति नाशब्दार्थत्वमपि। तेन लक्षणवाक्यगतावधारणशब्देन ज्ञानप्राकट्ययोः कार्यकारणभावेनादूरविप्रकृष्टयोरेकरूपप्रामाण्यव्युत्पत्त्यर्थं तन्त्रेणोपादानम्। प्रमाणाप्रमाणगोचरे शक्ती प्रामाण्याप्रामाण्ये, ते च तथाभूतोऽयमर्थ इत्येवंरूपात् तत्त्वावधारणात्, अतथाभूतोऽयमर्थ इत्यतथात्वावधारणाच्च ज्ञायेते। तत्र तथाभूतार्था-वधारणमर्थक्रियाज्ञानादिपरानपेक्षत्वेन ज्ञानस्वरूपमात्राधीनम्। तेनैव प्रामाण्यं स्वतोऽवसीयते। अतथाभूतार्थावधारणमपि

निःशंक प्रवृत्ति के लिये उसकी आवश्यकता है। जैसे कि किसी अभ्यस्त प्रवृत्ति में प्रथम ज्ञान में फल की प्रतीति न होने पर भी अर्थ-क्रिया रूप फल को विषय रूप में ग्रहण करने वाले दूसरे विज्ञान से विसंवाद से रहित विलक्षणता की प्रतीति होती है। जैसा कि कहा गया है—"अभ्यास वाली प्रवृत्ति में विलक्षणता प्रतीत होती है, प्रथम प्रवृत्ति में यद्यपि वैसी बात नहीं, तथापि अर्थक्रियाकारित्व रूप फल तो हो ही जाता है"। इसलिये प्रथम तात्कालिक निःशंक प्रवृत्ति भी विसंवादि ज्ञान से भिन्न प्रमाणसंबन्ध रूप हेतु वाले अनुमान प्रमाण से हो होगी, इस प्रकार किसी भी तरह से प्रामाण्य का अवगम स्वतः नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि प्रथम ज्ञान होते ही जो निःशंक प्रवृत्ति हो जाती है, उसका कारण 'यह ज्ञान विसंवादी प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले ज्ञान के संबन्ध से रहित है, अतः प्रमाण ही है' ऐसे अनुमान के द्वारा उस ज्ञान की प्रमाणता हो है।

इस बौद्ध पक्ष को मीमांसकगण नहीं स्वीकार करते। अर्थ की यथार्थता के निश्चय से प्रवृत्ति का प्रामाण्य हम मान सकते हैं, किन्तु उसका निश्चय गुण के ज्ञान से अथवा परवर्ती संवाद से होता है, यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि प्रमिति (यथार्थ ज्ञान) का साधकतम ही प्रामाण्य कहलाता है और प्रमिति अनधिगत अर्थ की अवधारणा को कहते हैं। प्रश्न उठता है कि तब तो इन्द्रियादि में ही प्रामाण्य मानना पड़ेगा, ज्ञान में नहीं, क्योंकि ज्ञान तो अवधारण (निश्चय) रूप है, अतः वह दूसरे अवधारण में साधकतम कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि अवधारण दो तरह का है—एक ज्ञानरूप और दूसरा प्राकट्यरूप। अतः उक्त दोनों स्थितियों में वह समर्थ हो जायगा। इस तरह से अनधिगत विषय का ज्ञान कराने के कारण ज्ञान में प्रामाण्य माना जायगा। अनधिगत विषय का अवधारण प्रमिति करती है और उसका साधन प्रमाण है। हम प्रमाण की सत्ता को प्रामाण्य कहते हैं। इस तरह से यहाँ पर ऐसी कोई बात नहीं है, जो कि इन शब्दों से न प्रतीत होती हो। इस तरह यहाँ पर लक्षण वाक्य में स्थित अवधारण शब्द से ज्ञान और प्राकट्य दोनों का ग्रहण आवृत्ति के द्वारा होगा, जिससे कि कार्यकारणभाव के कारण अदूरवर्ती एकरूप प्रामाण्य की अवगति हो सके। प्रामाण्य और अप्रामाण्य में दोनों प्रमाण और अप्रमाणगत शक्तियाँ है। यह अर्थ यथार्थ है, इस प्रकार के तत्त्वावधारण से प्रामाण्य की तथा यह अर्थ अयथार्थ है, इस तरह के विषय निर्धारण से अप्रामाण्य की अवगति होती है। इनमें तथाभूत अर्थ का अवधारण अर्थक्रिया आदि

ज्ञानस्वरूपमात्राधीनत्वेऽपि कारणदोषावगमादिलक्षणपरापेक्षत्वेनाप्रामाण्यं परतोऽवसीयत इत्युच्यते। न चाप्रामाण्यमपि ज्ञानस्वरूपाधीनमेवास्तु, तथात्वे भ्रमबाधयोरसम्भवापातात्। तस्माज्ज्ञानस्वभावाधीनमप्यतथाभूतत्वं कारणदोषावगमाद् बाधकप्रत्ययाद्वा परत एव निश्चीयत इत्यप्रामाण्यं परत एव।

नैयायिकास्तु अप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमपि गुणज्ञानात् संवादाद्वा परत एव ज्ञायत इत्याहुः। अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वहेतुना प्रामाण्यपरतस्त्वमुच्यते। व्यभिचारप्रदर्शनादिना तत्तु निराकृतमेव। ननु ज्ञप्तावनपेक्षत्वेऽपि प्रामाण्योत्पत्तौ परापेक्षा भवतु। यदि ज्ञानमात्राधीनं प्रामाण्यं भवेत् तर्हि प्रमाणपरिज्ञानमप्रमाणं भवेत्, प्रामाण्ये कारणाभावात्। तथा च सति ज्ञानमेव न स्याद् घटादिवत्। तत्र दोषे तदभावाद् दोषाभावस्य प्रामाण्यकारणत्वेन नातिप्रसङ्ग इति चेन्न, तथात्वे ज्ञानमात्रहेत्वनधीनत्वेन प्रामाण्यस्वतस्त्वभङ्गप्रसङ्गात्। न च दोषाभावस्य प्रामाण्यहेतुत्वेऽपि गुणस्य तदहेतुत्वे प्रामाण्यस्वतस्त्वमिति वाच्यम्, दोषाभावे सत्यपि गुणाभावादप्रामाण्यप्रसङ्गात्। अन्वयव्यतिरेकयोरुभयत्राविशेष्यामिति चेन्न, कार्यकारणातिरिक्तस्य कार्यशक्तेः कारणत्वासम्भवस्योक्तत्वेन कार्येण सहैव कार्यशक्तेः कार्यकारणादेवोक्तेरङ्गीकर्तव्यत्वात्। अप्रामाण्यस्य च दोषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन परतस्त्वमेव।

ननु प्रामाण्यस्य ज्ञानहेतुमात्राधीनत्वेन स्मृतेरपि प्रामाण्यं स्यात्, इति चेन्न, प्रामाण्यशब्देन तथाभूतार्थावधारकशक्तेरेव विवक्षितत्वात्। तस्या एव ज्ञानहेतुमात्राधीनत्वसमर्थनात्। अन्यथा नैयायिकमतेऽप्यप्रामाण्यस्य दोषाधीनत्वेन

के ज्ञान के बिना भी केवल ज्ञान स्वरूप के अधीन है। इसलिये प्रामाण्य स्वतः गृहीत हो जाता है। अयथार्थ स्वरूप का निर्धारण भी यद्यपि केवल ज्ञान स्वरूप के ही अधीन है, तो भी कारणदोष आदि का ज्ञान भी उसमें अपेक्षित है। अतः परापेक्ष होने से ज्ञान का अप्रामाण्य परतः ही निश्चित होता है। अप्रामाण्य को भी ज्ञान के स्वरूप के अधीन ही क्यों न कर दिया जाय? यह इसलिये नहीं किया जा सकता कि ऐसा करने पर भ्रम और बाध की उपपत्ति ही नहीं बन सकेगी। इसलिये ज्ञान के स्वरूप के अधीन रहने पर भी अप्रामाण्य दोष के कारण अथवा बाधक ज्ञान के द्वारा ही निश्चित होता है, अतः अप्रामाण्य की अवगति परतः ही मानी जायगी।

नैयायिक तो अप्रामाण्य के समान प्रामाण्य को भी गुणज्ञान अथवा संवाद के माध्यम से जाने जा सकने के कारण परतः गृहीत ही मानते हैं। अनभ्यास दशा में संशय बना है, अतः प्रामाण्य में परतस्त्व मानना चाहिए, इस बात का तो पहले खण्डन किया जा चुका है। नैयायिकों का कहना है ज्ञप्ति में किसी की अपेक्षा भले ही न हो, प्रामाण्य की उत्पत्ति में दूसरे की अपेक्षा रहती है। यदि प्रामाण्य ज्ञान मात्र के अधीन हो, तो प्रमाण का परिज्ञान अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि यह प्रामाण्य में कारण नहीं है। ऐसी अवस्था में घटादि के समान ज्ञान ही नहीं होगा। यदि यह कहा जाय कि वहाँ पर दोष रहने से घटादि की उत्पत्ति नहीं हुई, दोषाभाव प्रामाण्य में कारण है, अतः कोई आपत्ति नहीं आवेगी, तो ऐसा मानने पर प्रामाण्य के केवल ज्ञानमात्र के अधीन रहने से प्रामाण्य का स्वतस्त्व समाप्त हो जायगा। यदि यह कहे कि दोषाभाव के प्रामाण्य में हेतु होने पर भी गुण के उसमें हेतु न होने के कारण प्रामाण्य स्वतस्त्व में कोई बाधा नहीं आवेगी, सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दोषाभाव के रहते भी गुणाभाव के कारण अप्रामाण्य का प्रसंग आ सकता है, अन्वय और व्यतिरेक दोनों अगर समान है। इसका उत्तर यह है कि कार्य और कारण से अतिरिक्त कार्य की शक्ति में कारणता नहीं बन सकती, ऐसा कहा जा चुका है, अतः कार्य के साथ ही कार्य की शक्ति भी कार्य के कारण से ही पैदा होती है, ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार दोष के रहते अप्रामाण्य की प्रतीति होगी और दोषाभाव में अप्रामाण्य नहीं प्रतीत होगा, इस अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अप्रामाण्य में परतस्त्व ही मानना पड़ेगा।

प्रश्न उठता है कि प्रामाण्य यदि केवल ज्ञान के साधनों के ही अधीन है, तो स्मृति में भी प्रामाण्य मानना पड़ेगा? नहीं, यहाँ पर प्रामाण्य शब्द से तथाभूत (वास्तविक) अर्थ की अवधारिका (निश्चायिका) शक्ति ही विवक्षित होती है और वही ज्ञान हेतु मात्र के अधीन भी रहती है। अन्यथा नैयायिक के मत में भी अप्रामाण्य के दोष के अधीन होने से दोष के अभाव में स्मृति में भी प्रामाण्य की प्रसक्ति अनिवार्य रूप से हो जायगी। दूसरी बात यह कि किसी दूसरे की अपेक्षा रहने पर भी परतस्त्व बन सकता है। आप यह बताइये कि यहाँ पर परापेक्षा प्रमाण की उत्पत्ति में है, अपने कार्य की साधना में है, या प्रामाण्य के निश्चय में है? उत्पत्ति के विषय में

तदभावे स्मृतावपि प्रामाण्यप्रसङ्गस्यानिवार्यत्वात् । किञ्च, परापेक्षायामेव परतस्त्वं सङ्घटते । परापेक्षा च प्रमाणस्योत्पत्तौ, स्वकार्यकरणे, प्रामाण्यनिश्चये वा ? उत्पत्तौ च कारकस्वरूपमात्रापेक्षा, तदतिरिक्ततद्गतगुणापेक्षा वा ? कारकस्वरूपमात्रापेक्षायां तु सिद्धसाधनतैव, असत्सु तेषु कार्यस्य ज्ञानस्यैवाभावात् प्रामाण्याप्रामाण्यचिन्तैव न स्यात् । कारकातिरिक्ततदधिकरणगुणापेक्षापि न सङ्घटते, तत्सत्त्वे प्रमाणाभावात् । तदुक्तमेव—'न कारणगुणग्राहि प्रत्यक्षमुपपद्यते । चक्षुरादेः परोक्षत्वात् प्रत्यक्षास्तद्गुणाः कथम् ॥ लिङ्गं चादृष्टसम्बन्धं न तेषामनुमापकम् । यथार्थबुद्धिसिद्धिस्तु निर्दोषादेव कारकात् ॥' इति । अप्रमाणज्ञानं तु दुष्टकारणजन्यमेव दृष्टम् । तदप्युक्तम्—'दृष्टः कुटिलकुम्भादिसम्भवो दुष्टकारणात् । तथा मानान्तरमितात् तिमिरादेर्द्विचन्द्रधीः ॥' इति । तस्मात् स्वरूपावस्थितेभ्यः कारणेभ्य एव प्रमाणज्ञानं जायत इति मन्तव्यम् ।

यदप्युक्तम्—'प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वात्, अप्रमावत्' इत्यनुमानं प्रामाण्यपरतस्त्वसाधकम्, तदपि न, अनुमानस्यास्य प्रमा गुणदोषयोरन्यतराधीना न भवति, ज्ञानत्वात्, अप्रमावदित्यनुमानेन निर्विशेषणहेतुजत्वेन शीघ्रप्रवृत्तेन विशेषविषयत्वेन च प्रबलेन बाधितविषयत्वात् । त्वदनुमानस्य सविशेषणहेतुजत्वेन विलम्बितप्रवृत्तत्वेन दौर्बल्याच्च । तस्माज्ज्ञप्ताविवोत्पत्तावपि प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमेव ।

आप यह बताइये कि यहाँ पर कारक के स्वरूप मात्र की अपेक्षा है या उससे अतिरिक्त तद्गत गुण की अपेक्षा है ? यदि कारक के स्वरूप मात्र की अपेक्षा है, तो इसमें सिद्धसाधनता दोष आवेगा, अर्थात् यह बात तो पहले से ही सिद्ध है, जिसे आप अब सिद्ध करना चाहते हैं; क्योंकि उसके न रहने पर कार्यरूप ज्ञान ही नहीं होगा, तो उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य की चिन्ता का प्रसंग ही कहाँ है ? कारक के अतिरिक्त उसमें रहने वाले गुण की भी अपेक्षा नहीं बन सकती, क्योंकि उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है । इसमें निम्न श्लोक प्रमाण है—"कारण के गुणों का ज्ञान कराने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि चक्षुरादि करणभूत इन्द्रियाँ परोक्ष हैं, अतः उनमें रहने वाले गुण कैसे प्रत्यक्ष हो सकते हैं ? इसमें अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि लिंग का सम्बन्ध यहाँ नहीं देखा जा सकता । अतः यथार्थ बुद्धि की सिद्धि तो दोषरहित ज्ञान के साधन से ही हो जायगी ।" अप्रमाण ज्ञान दुष्ट कारण से ही पैदा होता देखा गया है । यही बात इस श्लोक में भी कही गई है—"यह देखा गया है कि मिट्टी आदि कारण-कलाप में कोई दोष होने पर घड़ा टेढ़ा-मेढ़ा बन जाता है । इसी तरह अप्रामाणिक रूप में कल्पित प्रमाणों से उत्पन्न तिमिर प्रभृति दोषों के कारण दो चन्द्रमा दिखाई देना, जैसी असत् प्रतीतियाँ होने लगती हैं ।" इस लिए अपने परिनिष्ठित स्वरूप में अवस्थित कारणों से ही प्रमाण का ज्ञान होता है, ऐसा मानना चाहिए ।

प्रामाण्य के परतस्त्व को सिद्ध करने के लिए किसी ने इस अनुमान को प्रमाण माना है कि "प्रमा (ज्ञान का प्रामाण्य) ज्ञान के उत्पादक हेतु से अतिरिक्त (भिन्न) हेतु के अधीन है, क्योंकि इसमें कार्यत्व की एक विशेष अवस्था है, जैसी कि अप्रमा में है ।" किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि एक अन्य अनुमान से इसका बाध हो जाता है । जैसे कि "प्रमा (ज्ञान का प्रामाण्य) गुण या दोष इन दोनों में से किसी के भी अधीन नहीं होती, क्योंकि यह ज्ञान है, जैसे कि अप्रमा ।" इस अनुमान से, जो कि विशेषण रहित हेतु से उत्पन्न होने से शीघ्र प्रवृत्त हो जाता है, अतः इसके प्रबल होने से यह पूर्व अनुमान को बाधित कर देता है । आपके पहले अनुमान का हेतु विशेषण से युक्त है, अतः यह विलम्ब से प्रवृत्त होता है, फलतः दुर्बल है । तात्पर्य यह है कि ज्ञान के परतः प्रमाणत्व को सिद्ध करने वाले अनुमान के हेतु में विशेषण है । अतः विशेषण का ज्ञान होने पर ही हेतु का ज्ञान होगा । हेतु का ज्ञान होने पर अनुमान होगा । इतना विलम्ब लगेगा । ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य को सिद्ध करने वाले अनुमान के हेतु में तो कोई विशेषण नहीं है । अतः उसका ज्ञान तुरन्त हो जायगा । अनुमान में देर नहीं लगेगी । इस लिए पहले शीघ्र उत्पन्न होने वाला ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का साधक अनुमान देर से उत्पन्न होने वाले अनुमान को रोक देगा । इस लिये ज्ञप्ति के समान उत्पत्ति में भी प्रामाण्य का स्वतस्त्व ही मानना श्रेयस्कर है ।

एवमनुमाने पक्षधर्मान्वयादिसामग्री ज्ञानस्य जनिका सैव च प्रामाण्यकारणत्वेन दृष्टा। यदि च स्वरूपावस्थितानि कारणानि कार्योत्पत्तावुदासीनानि स्युस्तदा गुणसहकारिता कल्प्या स्यात्। तेन न कारणगुणाः कार्योत्पत्तौ कारणतामुपयान्ति। चक्षुरादेर्नैर्मल्यादिकं तु काचकामलादिदोषराहित्याद्यभिप्रायेणैव न स्वरूपातिरिक्तगुणकृतम्। अञ्जनाद्युपयोगोऽपि नैर्मल्यार्थमेव न गुणाधानार्थं न वा गुणोत्पत्तये, दोषाधिकैस्तु तैरेव विपरीतज्ञानमुत्पद्यते। तदुक्तमेव—'तस्मादवितथा संवित् स्वरूपस्थितिहेतुजा। दोषाधिकैस्तु तैरेव जन्यते विपरीतधीः॥ अत एवाप्रमाणत्वं परतोऽभ्युपगम्यते। जन्मन्यपेक्षते दोषान् बाधकञ्च स्वनिश्चये॥' अर्थप्रकाशनस्वभावस्य प्रमाणस्य स्वहेतोरेवोपपत्तेस्तदर्थमपि नान्यापेक्षेत्यप्युक्तमेव। न च प्रवृत्त्यादिकं तत्कार्यम् तस्य पुरुषेच्छाधीनत्वात्। तदुक्तम्—"अर्थप्रकाशने किञ्चिन्न तूत्पन्नमपेक्षते॥" इति। यथा घटः स्वजन्मनि मृद्दण्डचक्रसूत्राद्यपेक्षते, तदुत्पत्तौ तु जलाद्यानयनार्थं नान्यदपेक्षते। घटस्य जलानयनार्थं कथञ्चिदन्यापेक्षा स्यात् तदाप्यत्र प्रमाणस्य स्वकार्ये नान्यापेक्षा। न च प्रमाणं स्वग्रहणापेक्षमर्थं प्रकाशयतीति वाच्यम्, अज्ञातस्यापि चक्षुरादिवत् प्रकाशत्वोपपत्तेः।

ननु प्रामाण्यनिश्चये तस्यान्यापेक्षेति चेन्न, तदनुपपत्तेः। तथाहि—कारणगुणज्ञानात्, बाधकाभावज्ञानाद्वा, संवादाद्वा तन्निश्चयः? नाद्यः, तस्य निरस्तत्वात्। किञ्च, न कारणगुणज्ञानमिन्द्रियकारणकम्, अतीन्द्रियकारणाधिकरणत्वेन तद्गुणानामपरोक्षत्वात्, किन्तूपलब्ध्याख्यकार्यपरिशुद्धिसमधिगम्यगुणस्वरूपम्, अप्रवृत्तस्य प्रमातुर्न कार्यपरिशुद्धि-

इसी तरह अनुमान में पक्षधर्म के अन्वयादि की सामग्री[1] ही ज्ञान को भी पैदा करती है और वही प्रामाण्य में भी कारण है। यदि स्वरूप में अवस्थित कारण कार्य की उत्पत्ति में उदासीन हों तो वहाँ पर गुणों की सहकारिकारणता कल्पित की जा सकती है। ऐसा नहीं है, अतः कारण के गुण कार्य की उत्पत्ति में कारण नहीं माने जाते। चक्षुरादि की निर्मलता का तात्पर्य तो इतना ही है कि उनमें काच, कामला आदि रोगप्रयुक्त कोई दोष तो नहीं है। यह नैर्मल्य भी उसके स्वरूप के अतिरिक्त कोई गुण नहीं है। चक्षु के लिए अंजन प्रभृति का उपयोग निर्मलता के लिए ही किया जाता है, इससे उसमें कोई नये गुण का आधान अथवा उत्पत्ति नहीं होती। निर्मलता में कमी होने पर दोषों की अधिकता के कारण विपरीत ज्ञान होने लगता है। निम्न श्लोकों में यही बात कही गई है—"इस लिये यथार्थ ज्ञान स्वरूपावस्थित कारण से ही होता है। हेतु के स्वरूप में यदि दोषों की मात्रा का आधिक्य हो जाय, तो विपरीत ज्ञान होने लगता है। इसीलिए अप्रामाण्य का परतस्त्व माना जाता है। अप्रामाण्य अपने जन्म में दोष की अपेक्षा रखता है और अपने निश्चय में बाधक ज्ञान की अपेक्षा रखता है।" इसके विपरीत अर्थ प्रकाशन स्वभाव वाला प्रमाण अपने हेतु से ही उत्पन्न होता है, अतः इसके लिए किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती, यह बताया जा चुका है। प्रवृत्ति कराना उसका कार्य नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति तो पुरुष की इच्छा के अधीन है। कहा भी गया है—"उत्पन्न वस्तु अपनी अर्थक्रिया कारिता में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती…।" जैसे कि घट अपने जन्म के लिए तो मिट्टी, सूत्र, चक्र, दण्ड आदि की अपेक्षा रखता है, किन्तु उत्पन्न हो जाने के बाद जल ले आना जैसी अर्थक्रिया, अर्थात् जलानयन रूप प्रयोजन की निष्पत्ति में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता। यदि घट को जल ले आने के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा हो, तो भी प्रमाण को अपने कार्य की निष्पत्ति में अन्य की अपेक्षा नहीं होगी। यह कहना कि प्रमाण केवल अपने ग्रहण के लिये अपेक्षित अर्थ को ही प्रकाशित करेगा, इसलिए उचित नहीं है कि प्रमाण चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों के समान ही अज्ञात वस्तु का भी ज्ञापक होता है।

यह कहना कि प्रामाण्य के निश्चय में प्रमाण को अन्य की अपेक्षा रहेगी, इसलिये अनुचित है कि इसकी उपपत्ति ही नहीं बनेगी। आप यह बताइये कि प्रामाण्य का निश्चय कारणगत गुणज्ञान से होगा? बाधक के अभाव के ज्ञान से होगा या संवाद से होगा? इनमें से प्रथम पक्षका खण्डन पहले ही किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि कारणगत गुणज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता, क्योंकि अतीन्द्रिय कारण में रहने वाले गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु इनका ग्रहण उपलब्धि नामक कार्य की परिशुद्धि से होता है। जो

---

१. जिस पर्वत में अग्नि सिद्ध करना चाहते हैं, उस पर्वत में साध्य अग्नि के साधक धूम की अविच्छिन्नमूल धारा दिखाई दे रही है। इस ज्ञान को पक्षधर्मता ज्ञान कहते हैं।

र्भवति, तन्न, प्रामाण्यनिश्चयपूर्विका प्रवृत्तिर्भवति अन्यथा वा ? अनिश्चितप्रामाण्यादेव ज्ञानात् प्रवृत्तिसिद्धौ किं तन्निश्चयेन ? निश्चितप्रामाण्यात्तु प्रवृत्तौ दुस्तरश्चक्रकः। तथाहि—प्रवृत्तौ सत्यां कार्यपरिशुद्धिग्रहणम्, ततः कारणगुणावगमः, ततः प्रामाण्यनिश्चयः, ततः प्रवृत्तिरिति। न द्वितीयोऽपि, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—बाधकाभावज्ञानं तात्कालिकं कालान्तरभावि वा प्रामाण्यनिश्चायकम् ? नाद्यः, कूटकार्षापणादौ किञ्चित्कालमनुत्पन्नेऽपि बाधके कालान्तरे तदुत्पाददर्शनात्। सर्वथा बाधकाभावज्ञानं त्वसर्वज्ञस्य न सम्भवति। तदुक्तम्—'तात्कालिको न पर्याप्तः प्रामाण्यपरिनिश्चये। सर्वथा तदभावस्तु नासर्वज्ञस्य गोचरः॥' इति।

संवादात् प्रामाण्यनिश्चय इति तृतीयोऽपि पक्षो न सम्भवति, तदनिरुक्तेः। तथाहि—कोऽयं संवादः ? किमुत्तरं तद्विषयं ज्ञानमात्रमुतार्थान्तरज्ञानमथवा अर्थक्रियाज्ञानम् ? आद्ये पूर्वोत्तरयोर्ज्ञानयोः को विशेषो येनोत्तरज्ञानसंवादात् पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यम् ? तदप्युक्तम्—'अपि चोत्तरसंवादात् पूर्वपूर्वप्रमाणताम्। वदन्तो नाधिगच्छेयुरन्तं युगशतैरपि॥ सुदूरमपि गत्वा तु प्रामाण्यं यदि कस्यचित्। स्वत एवाभिधीयेत को द्वेषः प्रथमं प्रति॥ कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता। प्रथमस्य तथाभावे विद्वेषः किं निबन्धनः॥' इति। ननु चान्यविषयज्ञानमपि तस्य संवाद इत्युच्येतेति चेन्न, तथाऽदर्शनात्। नहि स्तम्भज्ञानं कुम्भज्ञानस्य संवादोऽभ्युपेयते। यत्तु अर्थक्रियाज्ञानसंवादात् प्रथमस्य प्रवर्तकज्ञानस्य प्रामाण्यमिति तन्न, अनिश्चितप्रामाण्यस्यार्थक्रियाज्ञानस्य पूर्वज्ञानप्रामाण्यप्रयोजकत्वासम्भवात्। किञ्च, पूर्वस्माज्ज्ञानात् किं वैलक्षण्यमर्थक्रिया-

प्रमाता प्रवृत्त नहीं है, उसमें कार्य की परिशुद्धि कैसे होगी ? यह प्रश्न ही असत्य है, क्योंकि आप यह बताइये कि यह प्रवृत्ति प्रामाण्य के निश्चय के साथ होती है या उसके विना ही ? यदि अनिश्चित प्रामाण्य वाले ज्ञान से ही प्रवृत्ति हो जायगी, तो फिर प्रामाण्य का निश्चय करने की क्या आवश्यकता है ? अब यदि निश्चित प्रामाण्य वाले ज्ञान से प्रवृत्ति मानते हैं तो दुर्निवार चक्रक दोष की आपत्ति होगी। जैसे कि प्रवृत्ति के होने पर कार्य भी परिशुद्धि का ग्रहण होगा, उसके बाद कारणगत गुणों का अवगम (ज्ञान) होगा, तब प्रामाण्य का निश्चय होगा और अन्त में प्रवृत्ति होगी और प्रवृत्ति होने पर कार्य की परिशुद्धि, कार्य की परिशुद्धि से गुणों का ज्ञान, गुणों के ज्ञान से प्रामाण्य, प्रामाण्य से प्रवृत्ति और फिर प्रवृत्ति से कार्य की परिशुद्धि यह चक्कर छूट ही नहीं सकेगा। द्वितीय पक्ष अर्थात् बाधक के अभाव के ज्ञान से भी प्रामाण्यकी सिद्धि नहीं बनेगी, क्योंकि आप यह बताइये कि बाधकाभाव ज्ञान तत्काल प्रामाण्य का निश्चायक है कि कुछ समय बाद निश्चय करेगा ? पहला पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि नकली कार्षापण (रुपया) को देखकर तत्काल बाध नहीं होगा, किन्तु ऐसे स्थलों में कालान्तर में बाध ज्ञान उत्पन्न होता है। सभी तरह के बाधकों के अभाव का ज्ञान तो सर्वज्ञ को ही हो सकता है, अल्पज्ञ को नहीं। कहा भी है—"तत्कालिक बाधज्ञान प्रामाण्य के निश्चय के लिये पर्याप्त नहीं है और सभी तरह के बाधक ज्ञान के अभाव का निश्चय अल्पज्ञ नहीं कर सकता।"

संवाद से प्रामाण्य का निश्चय होगा, यह तृतीय पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि संवाद की कोई समुचित व्याख्या नहीं दी जा सकती। जैसे कि यह संवाद क्या वस्तु है ? बाद में तद्विषयक ज्ञानमात्र को संवाद कहते हैं ? अर्थान्तर ज्ञान को संवाद कहते हैं ? या अर्थक्रिया ज्ञान को ? प्रथम पक्ष में आप यह बताइये कि पूर्व ज्ञान की अपेक्षा उत्तर ज्ञान में वह क्या विशेषता है कि जिसके कारण उत्तर ज्ञान के संवाद से पूर्व ज्ञान का प्रामाण्य होगा ? जैसा कि कहा गया है—"उत्तर ज्ञान के प्रामाण्य से पूर्व ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध करने वालों के मत से सैकड़ों युगों के अन्त में भी समाधान नहीं मिल सकेगा। बहुत दूर तक इसी प्रकार चलने के बाद फिर किसी एक ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानना है, तो फिर पहले ही ज्ञान को स्वतः प्रमाण न मान लेने में आप इतना हठ क्यों करते हैं ? अन्ततः यदि किसी ज्ञान की स्वतः प्रमाणता माननी ही है, तो प्रथम ज्ञान को ही स्वतः प्रमाण मानने में आप किस लिये द्वेष करते हैं ?" संवाद अन्य विषयक ज्ञान से होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा देखा नहीं गया है। स्तम्भ के ज्ञान से कुम्भ के ज्ञान का संवाद नहीं देखा गया है। यह कहना भी गलत है कि अर्थक्रिया के संवाद से प्रथम प्रवर्तक ज्ञान का प्रामाण्य होता है, क्योंकि अनिश्चित प्रामाण्य वाली अर्थक्रिया का ज्ञान पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का प्रयोजक (साधक) नहीं हो सकता। आप यह बताइये कि पूर्व ज्ञान से अर्थक्रिया ज्ञान में क्या विलक्षणता है, जिससे कि उसके अधीन पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य की अवगति (ज्ञान) होगी ? यदि यह कहा

ज्ञानस्य, येन तदायत्तः पूर्वस्य प्रामाण्यावग्रमः ? यत्तु अर्थक्रियाज्ञानत्वमेव वैलक्षण्यम्, यतो मरीचिष्वविद्यमानेऽपि तोये तोयप्रत्ययदर्शनान्न ज्ञानमात्रे विस्रम्भः। पानावगाहनादिलक्षणार्थक्रियाज्ञानस्य त्वनवधारितं व्यभिचरिततया पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयप्रयोजकत्वमुपपद्यत इति, तदप्यसत्; स्वप्ने पानावगाहनादेरपि व्यभिचारदर्शनात्। किञ्च, स्वप्नसीमन्तिनी मिथ्याभूतापि रेतोविसर्गहेतुत्वं भजते। यदि च रागोद्रेकनिमित्तत्वेन पित्तादिधातुविकृतिनिबन्धनत्वेन तद्विसर्गस्य न स्वसाधनव्यभिचार इत्युच्येत, तदसमञ्जसम्, असकृदनुभूतयुवतिसंसर्गान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन तत्कार्यत्वावधारणात्। तस्मादर्थक्रियाज्ञानव्यभिचारावधारणात् तत्प्रामाण्यपरीक्षायामनवस्था न शाम्यति। किञ्चेदमर्थक्रियाज्ञानं नाप्रवृत्तस्य सम्भवति। प्रामाण्यावधारणपूर्विकायां प्रवृत्तौ कारणगुणनिश्चयाद्यपेक्षायाञ्च चक्रकादिदोषः। अनिश्चितप्रामाण्यस्य प्रवृत्तौ तु पश्चात्तन्निर्णयस्य प्रयत्नः कृतक्षौरस्य नक्षत्रपरीक्षावन्निरर्थक एव। तदुक्तम्—'अथवाप्तफलत्वेन किं तत्प्रामाण्यचिन्तया।'

यदुक्तम्—अनभ्यासदशायां प्रामाण्यपरीक्षाया आवश्यकत्वेऽप्यभ्यासदशायां तदनपेक्षणम्। यथा सलिलासिक्तमसृणमृदि क्षेत्रैकदेशे तथाविधशरावादौ वा शाल्यादिबीजपरीक्षणाय स्वल्पान्येव बीजानि निरुप्यन्ते, पश्चात्तेषामङ्कुरादिजननकौशलमवलोक्य केदारेषु निःशङ्कं बीजान्युप्यन्ते, एवमेव परीक्षितप्रमाणभावादेव ज्ञानाद् व्यवहरन् तत्तत्फलज्ञाने तस्य प्रामाण्यमवगच्छन् पुनस्तथाविधे ज्ञाने जाते सुखमेव प्रवृत्त्यादिकं भविष्यतीति, तेन न सर्वथा वैयर्थ्यं परीक्षाया इति, तन्न, वैषम्यात्। तथाहि—'तज्जातीयतया बीजं शक्यते यदि वेदितुम्। तत्र तन्निश्चयाद् युक्तं निर्विशङ्कं प्रवर्तताम्॥ ज्ञाने तथा-

जाय कि अर्थक्रिया ज्ञान ही अपने आप में विलक्षण है, क्योंकि मरुमरीचिका में जल के न रहने पर भी जल दिखाई देना है, अतः ज्ञान मात्र में विश्वास नहीं जमता। पान (पीना) और अवगाहन (स्नान) प्रभृति अर्थक्रिया अर्थात् प्रयोजनों की सिद्धि से उसमें व्यभिचार की अवधारणा नहीं होती, अतः यहाँ पर पूर्व ज्ञान की प्रामाण्यके निश्चय में प्रयोजकता उपपन्न (सिद्ध) हो सकती है, तो यह भी असत्य है, क्योंकि स्वप्न में पान और अवगाहन में भी व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात् स्वप्न में वस्तुतः जल न होने पर भी मिथ्या जल पिया भी जाता है और उससे स्नान भी किया जाता है। दूसरी बात यह है कि स्वप्न में देखी गई स्त्री मिथ्या होते हुए भी वीर्य के क्षरण का कारण बनती है। यदि यह कहा जाय कि काम के उद्रेक के कारण तथा पित्त आदि धातु-विकार के कारण यहाँ पर वीर्य का क्षरण होता है, इस लिए यहाँ पर साधन का व्यभिचार नहीं है, तो यह उक्ति सत्य नहीं है। अनेक बार यह देखा गया है कि युवती के संसर्ग से वीर्य का क्षरण होता है और उसके अभाव में नहीं होता, अतः वीर्य के विसर्ग में स्त्री ही कारण है। इस लिए अर्थक्रिया ज्ञान में भी उक्त स्थल पर व्यभिचार की अवधारणा होती है, इसलिये उसको प्रामाण्य परीक्षा में भी अनवस्था नहीं मिट सकती। एक बात और है कि यह अर्थक्रिया ज्ञान अप्रवृत्त व्यक्ति को नहीं होता, प्रामाण्य के अवधारण से होने वाली प्रवृत्ति में और कारण गुण के निश्चय की अपेक्षा में चक्रक प्रभृति दोष उपस्थित होंगे। बिना प्रामाण्य का निश्चय किये प्रवृत्ति मानने में उसके बाद निर्णय का प्रयत्न करना, उसी प्रकार निरर्थक माना जायगा, जैसा कि कोई व्यक्ति क्षौर करा लेने पर नक्षत्र आदि पर विचार करने लगे (मुहूर्त देखने लगे)।" अथवा प्रवृत्ति से फल की प्राप्ति हो जाने के बाद उस प्रवृत्ति के प्रामाण्य का निश्चय करना व्यर्थ हो है।" इस पंक्ति में उक्त बात का ही प्रतिपादन किया गया है।

यह कहना कि "अनभ्यास दशा में प्रामाण्य को परीक्षा आवश्यक है, किन्तु अभ्यास दशा में उसकी आवश्यकता नहीं है। जैसे कि पानी से सींची गई जोती हुई मुलायम मिट्टी में खेत के एक किनारे अथवा गमले आदि में परीक्षा के लिये थोड़े से धान के बीज बोये जाते हैं। बाद में इनसे अंकुर आदि को पैदा करने की सामर्थ्य देखकर पूरे खेत में बिना डर के बीज बो दिये जाते हैं। इसी तरह जिस ज्ञान से प्रामाण्य की परीक्षा कर ली जाती है, उसी से व्यवहार करते हुए उस उस फल के ज्ञान के लिये उसका प्रामाण्य जानकर पुनः उसी तरह के ज्ञान के होने पर सुविधापूर्वक प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार परीक्षा की व्यर्थता नहीं होगी", इस लिये अनुचित है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में वैषम्य है। "बीज किस जाति का है, इसका जानना सरल है, अतः पहले जिस जाति का बीज बोया गया, उसी जाति का बीज बाद में बिना शंका के बो दिया जायगा। किन्तु ज्ञान में बोधरूपता की अविशेषता (समानता) के कारण यह पहले जैसा ही है कि नहीं, इसका जानना कठिन है। इसकी विशेषता का अवगम स्वरूपतः न होकर

विषत्वं तु बोधरूपाविशेषतः। कार्याद्वा कारणाद्वापि ज्ञातव्यं न स्वरूपतः॥ कारणानां परोक्षत्वान्न तद्द्वारा तदा गतिः। कार्यात्तु नाप्रवृत्तस्य भवतीत्युपवर्णितम्॥ तस्माद्वै यस्य चोद्यस्य नायं परिहृतिक्रमः। एवञ्चार्थक्रियाज्ञानात् कीदृक् प्रामाण्य-निश्चयः॥ समर्थकारणज्ञानाद्योऽपि प्रामाण्यनिश्चयम्। ब्रूते सोऽपि कृतोद्वाहस्तत्र लग्नं परीक्षते॥' इति।

यदप्युक्तम्—अतिविकसितकुसुममकरन्दपानमुदितभ्रमरकुले महोद्याने, वाद्यमानायां वीणायां लतासन्तानान्त-रितवपुषि वादके विदूरादनालोक्यमाने वीणाध्वनिसंविदि रोलम्बनादसन्देहदूषितायां दर्शनपथमवतीर्णे वादके स्वरानुकूल-कारणनिश्चयात् तत्प्रतीतौ संशयनिवृत्तेः प्रामाण्यनिश्चयो जायते, तेन समर्थकारणज्ञानकृत एव प्रामाण्यनिश्चय इति, तदप्य-किञ्चित्करम्, प्रवृत्तिमन्तरा कारणसामर्थ्यदर्शनासम्भवस्य तत्राप्यव्याहतत्वात्। प्रामाण्यनिश्चयमन्तरा प्रवृत्तौ सिद्धायां तन्निश्चयस्यापार्थकत्वात्। तन्निश्चयात् प्रवृत्तौ तस्याञ्च सत्यां तन्निश्चये चान्योन्याश्रयोऽपरिहार्यः। ततश्चोत्पत्तौ स्वकार्यकारणे स्वप्रामाण्यनिश्चये च निरपेक्षत्वाद् अपेक्षात्रयराहित्येन प्रामाण्यस्वतस्त्वं निष्प्रत्यूहं सिद्धम्। अप्रामाण्यं तूत्पत्तौ दोषापेक्षत्वात् स्वनिश्चये बाधकप्रत्ययादिसापेक्षत्वात् परत इति।

यदुक्तम्—उत्पत्तिवेलायां विशेषो नावधार्यते, तेन प्रमाणेतरयोः संशयो भवति। परिच्छित्तिमात्रं प्रमाणकार्यम्। तच्च यथार्थायथार्थप्रमितिसाधारणम्। रूपसाधारणधर्मग्रहणस्यैव संशयकारणत्वात् संशयो युज्यते। तेन प्रमाणान्तरसंवाद-विसंवादौ विना कथं प्रमाणेतरनिर्णीतिरितश्च परतो द्वयमिति, तदपि न किञ्चित्, भावानवबोधात्। तथाहि यद्यपि परिच्छित्ति-

कार्य के द्वारा अथवा कारण के द्वारा ही हो सकता है। कारण तो परोक्ष हैं, अतः उससे उनकी अवगति (ज्ञान) नहीं होगी और कार्य के द्वारा अवगति इसलिये नहीं होगी कि यह पहले ही कहा जा चुका है कि ऐसी अवस्था में बिना प्रवृत्ति के कार्य ही नहीं हो सकता। अतः उस शंका के परिहार का यह मार्ग नहीं है। ऐसी अवस्था में अर्थक्रिया के ज्ञान से किस प्रकार प्रामाण्य का निश्चय होगा? समर्थ कारण के ज्ञान से प्रामाण्य का निश्चय होगा, ऐसा जो कहते हैं, उसका यह कथन उसी तरह का है, जैसा कि कोई व्यक्ति विवाह हो जाने के बाद विवाह के मुहूर्त की परीक्षा करे।"

इसी प्रकार का यह कथन भी कि—"अत्यन्त विकसित पुष्पों का रस पीकर मदमत्त हुए भ्रमर समूह से भरे बड़े बगीचे में जब वीणा बजाई जा रही हो और वादक लतामण्डप में छिपा हुआ हो तो ऐसी अवस्था में दूरी के कारण जब वीणा की ध्वनि की संविद् (ज्ञान) भ्रमर कुल के झंकार के कारण संदेहावस्था में पड़ गई हो कि यह वीणा की ध्वनि है या भवरों का गुंजन? ऐसी अवस्था में जब वीणा-वादक पर दृष्टि पड़ जाय तो उस समय वीणा के स्वर के अनुकूल कारण का निश्चय हो जाने से उसकी प्रतीति में सन्देह की निवृत्ति हो जाने से प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। इसलिये समर्थ कारण के ज्ञान से ही प्रामाण्य का निश्चय होगा" इसलिये अनुचित है कि यहाँ पर भी बिना प्रवृत्ति के कारण के सामर्थ्य का दर्शन हो नहीं सकता। प्रामाण्य के निश्चय के बिना प्रवृत्ति मानने पर बाद में उसके निश्चय का प्रयोजन ही क्या रह जाता है? प्रामाण्य के निश्चय से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति के होने पर प्रामाण्य का निश्चय माने तो स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय दोष अपरिहार्य रूप से उपस्थित होगा। इसलिये उत्पत्ति में, अपने कार्य के कारण में और अपने प्रामाण्य के निश्चय में भी निरपेक्ष होने से—इन तीन अपेक्षाओं से रहित प्रामाण्य का स्वतस्त्व बिना बाधा के सिद्ध होता है। अप्रामाण्य को तो उत्पत्ति में दोष की अपेक्षा रहती है और निश्चय करने के लिये बाधक प्रत्यय की अपेक्षा होती है, अतः इसका परतस्त्व ही मान्य है।

यह कहना कि—"उत्पत्ति के समय उसकी विशेषता निर्धारित नहीं हो पाती, इसलिये यह प्रमाण है या नहीं, इस तरह का संशय होना स्वाभाविक है। प्रमाण का कार्य केवल परिच्छित्ति (निश्चय) मात्र है। यह परिच्छित्ति यथार्थ और अयथार्थ दोनों ही तरह की हो सकती है। संशय में साधारण धर्म का ग्रहण ही कारण होता है, अतः ऐसे स्थलों में संशय हो ही सकता है। ऐसी अवस्था में प्रमाणान्तर के संवाद और विसंवाद के बिना प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय कैसे होगा? इसलिये यह मानना पड़ेगा कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का बोध परतः होता है", यह सब व्यर्थ की उक्ति है, क्योंकि ग्रन्थ के भाव को ही नहीं समझा गया है। यह ठीक है कि प्रमाण का कार्य परिच्छित्ति मात्र है, तो भी उत्पन्न होने के साथ ही यह संशय आदि से दूषित नहीं हो जाती।

रेव प्रमाणकार्यं, तथापि न सा जायमानैव सन्देहादिदूषिता भवति। तेनौत्सर्गिकं तस्याः प्रामाण्यमेव। अर्थपरिच्छेदात् प्रवृत्तः प्रमाता प्रमाणादेव प्रवृत्तः, न संशयात्। यत्र तस्यापवादो भवति, तत्राप्रामाण्यम्। अपवादश्च बाधकप्रत्ययात् कारणदोषज्ञानाच्च। तदुक्तम्--'तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता। अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते॥' (चो० सू० वा० ५३)। तत्र पूर्वज्ञानोपमर्दनेन समानविषयकत्वात् पूर्वं बाधकम्, द्वितीयं तु भिन्नविषयकत्वेऽपि कार्यैक्याद् बाधकं भवति। यथा क्रत्वर्थस्य चमसेनापःप्रणयनस्य 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' इति काम्यमानपशुनिर्देशात् पुरुषार्थगोदोहनेनापःप्रणयने सम्पन्ने चमसो निवर्तते, एवमेव कारणदोषज्ञानं दोषविषयमपि दोषाणामयथार्थज्ञानजनन-स्वभावत्वात् तस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं बाधते। तदुक्तम्--'दुष्टकारणबोधे तु जातेऽपि विषयान्तरे। अर्थात् तत्तुल्यतां प्राप्य बाधो गोदोहनादिवत्॥' (चो० सू० ११.५८) इति।

यत्र तदपवादद्वयं न दृश्यते तत्रौत्सर्गिकं प्रामाण्यमनपोदितमास्ते, तदप्रामाण्यशङ्काकारणाभावात्। दोषज्ञाने त्वनुत्पन्ने नाशङ्का निष्प्रमाणिका। संशयस्तु साक्षिवेद्यत्वात् स्वसंवेद्य एव। सति तस्मिन्न प्रामाण्यम्। हठात् संशयबाधाद्युत्पादनेन सकलक्रियाकलापविलोप एव प्रसज्यते। तदुक्तम्--'कश्चिदुत्पन्न एवेह स्वसंवेद्योऽस्ति संशयः। स्थाणुर्वा पुरुषो वेति

इसलिये स्वभावतः उसका प्रामाण्य सुरक्षित है। अर्थ के निश्चित ज्ञान के लिये प्रवृत्त होने वाला प्रमाता प्रमाण के आधार पर ही प्रवृत्त होता है, संशय के कारण नहीं। जहाँ उसका अपवाद मिल जाता है, वहाँ अप्रामाण्य का बोध होता है। अपवाद का परिज्ञान बाधक ज्ञान से अथवा कारणगत दोष ज्ञान से होता है। कहा भी गया है—"इसलिये बुद्धि की बोधात्मकता के कारण उसका प्रामाण्य माना जाता है। उसका यह प्रामाण्य अर्थ की विपरीतता के कारण तथा दोष के ज्ञान से निवृत्त हो जाता है।" इनमें से अर्थान्यथात्व समान विषयक होने से पूर्व ज्ञान को दबाकर उसका बाध करता है और दोषज्ञान भिन्नविषयक होने पर भी कार्यैक्य की वजह से बाधक होता है। जैसे कि चमस के द्वारा अपः प्रणयन की क्रत्वर्थता के प्रसंग में "पशुकाम व्यक्ति का अपःप्रणयन[1] गोदोहन से करे" इस प्रकार काम्यमान पशु को निर्दिष्ट कर पुरुषार्थ की निष्पत्ति के लिये गोदोहन का विधान होने से चमस से अपःप्रणयन यहाँ पर निवृत्त हो जाता है, उसी तरह कारणगत दोषज्ञान दोषविषयक होते हुए भी दोषों की अयथार्थ ज्ञान की जनकता स्वाभाविक रूप से होने से यह ज्ञान के प्रामाण्य को बाधित कर देता है। जैसा कि कहा गया है—"दुष्ट कारण के बोध हो जाने पर विषयान्तर के उपस्थित हो जाने पर भी उससे अर्थतः तुल्यता प्राप्त कर ज्ञान में बाधकता उसी प्रकार प्राप्त हो जाती है, जैसे कि अपःप्रणयन के प्रसंग में गोदोहन से चमस का बाध हो जाता है।"

जहाँ पर अर्थान्यथात्व तथा दोष ज्ञान ये दोनों अपवाद नहीं हैं, वहाँ पर औत्सर्गिक अर्थात् स्वभावतः प्राप्त ज्ञान के प्रामाण्य को हटाया ही नहीं जा सकता, प्रामाण्य विद्यमान रहेगा, क्योंकि वहाँ पर अप्रामाण्य की आशंका का कोई कारण नहीं है। दोषज्ञान के उत्पन्न न होने पर बिना प्रमाण की आशंका नहीं उठ सकती। संशय में साक्षिवेद्य होने के कारण संवेदनता मानी जाती है। इसके रहते ज्ञान में प्रामाण्य नहीं रह सकता। हठात् बिना कारण के संशय, बाध आदि की उत्पत्ति मानने पर सारे क्रियाकलाप के ही लुप्त हो जाने की आशंका हो जायगी। जैसा कि कहा गया है—"संशय उत्पन्न होने के बाद भी स्वसंवेद्य ही रहता है, जैसा कि यह स्थाणु है या पुरुष यह संशय है, अपनी इस संशय दशा को मिटाने का प्रयत्न कौन करेगा? यदि हम हठात् बिना किसी प्रसंग या कारण के

१. यज्ञ में अपःप्रणयन भी एक क्रिया होती है। वह सामान्य रूप से चमचे जैसे चमस नाम के लकड़ी के पात्र में की जाती है। किन्तु जिस यजमान को उसी यज्ञ से पशु रूप फल की इच्छा हो, उस यजमान के लिये यह अपःप्रणयन क्रिया चमस पात्र में न करके जिस पात्र में गाय दुही जाती है, उसमें करनी चाहिये। यहाँ यजमान की पशुरूप फल की इच्छा ने जैसे सामान्य रूप से प्राप्त चमस पात्र का बाध कर दिया, ऐसे ही दोष ज्ञान पहले ज्ञान में सामान्यतः प्राप्त प्रामाण्य का बाध कर देता है। यजमान की पशु रूप फल की इच्छा चमस में अप्रामाण्य का उत्पादन करके गोदोहन पात्र में प्रामाण्य का उत्पादन करती है, ऐसे ही दोषज्ञान पूर्वज्ञान में अप्रामाण्य की उत्पत्ति करके प्रामाण्य का बाध कर देता है।

को नापह्नुवीत तम् ॥ हठादुत्पद्यमानस्तु हिनस्ति सकलाः क्रियाः । स्वभार्यापरिरम्भेऽपि भवेन्मातरि संशयः । विनाशी संशयात्मेति पाराशर्योऽभ्यभाषत । नायं लोकोऽस्ति कौन्तेय न परः संशयात्मनः ॥' इति । भट्टपादैरप्युक्तम्—'उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि बाधनम् । स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत् ॥' इति । यत्रापि कचिद्बाधकप्रत्यये संशयो जायते तत्रापि तृतीयज्ञानापेक्षणाद् नानवस्था । तत्रापि न स्वतः प्रामाण्यहानिः । यत्र तृतीयज्ञानं प्रथमविज्ञानसंवादि' तत्र प्रथमस्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यं स्थितमेव । तृतीयेनारोपितालीककालुष्यशङ्कानिराकरणम्, न तु संवादात् प्रामाण्यम् । यदि तु तृतीयं ज्ञानं द्वितीयज्ञानसंवादि, तदा प्रथमस्याप्रामाण्यम् । तच्च परत इष्टमेवाद्वितीयस्य तु न संवादकृतं प्रामाण्यम्, किन्तु कुशङ्कानिराकरण एव तदुपयोगः । 'एकं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो बाधिका मतिः । प्रार्थ्यते तावतैवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ॥'

शब्दस्यापि स्वतः प्रामाण्यम्

एवं सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यस्वतस्त्वे सिद्धे शब्दस्यापि तथैव स्वतः प्रामाण्यं सिद्धयति । यदुक्तम्—'शब्दस्य नैसर्गिकार्थसंस्पर्शित्वमिन्ति, तन्न, शब्दस्यार्थविबोधजनकत्वस्य दृष्टत्वात्, बहुसम्मतत्वाच्च । क्वचिदप्रामाण्यं तु पुरुषानुप्रवेशकारितम् । 'शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितिः ।' (चो॰ सू. १।६२) । पौरुषेये वचसि गुणवति वक्तरि तद्गुणापसारितदोषतया स्वाभाविकं प्रामाण्यमेवानपोदितं तिष्ठति । न तु गुणकृतं प्रामाण्यम्, गुणानां तदनङ्गत्वाद् । वेदे प्रणेतुरभावाद् दोषाणां वक्त्रधीनत्वाद् दोषाभावात् स्वतः प्रामाण्यमेव । 'तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी । वेदे तेनाप्रमाणत्वं न शङ्का-

संशय करते ही चले जायेंगे तो इससे जगत् के सारे क्रियाकलाप का ही लोप होने लगेगा । अपनी भार्या का आलिंगन करते समय भी अपनी माता का संशय होने लगेगा । गीता में पाराशर व्यास ने कहा है—"संशयात्मा व्यक्ति नष्ट हो जाता है । संशयात्मा व्यक्ति के लिये न तो यह लोक और न परलोक ही सुखमय रह जाता है ।" भट्ट कुमारिल ने भी कहा है—"जो व्यक्ति मोहवश अविद्यमान बाधक की भी उत्प्रेक्षा, कल्पना करने लगता है, ऐसा संशयात्मा व्यक्ति सारे व्यवहारों में संशयग्रस्त होने के कारण किसी काम का नहीं रह जाता, अर्थात् नष्ट हो जाता है ।" जहाँ कहीं भी बाधक प्रत्यय (ज्ञान) में संशय उठता है, वहाँ पर भी तृतीय ज्ञान की अपेक्षा होने के कारण अनवस्था नहीं होती । वहाँ पर भी प्रामाण्य की हानि स्वतः नहीं होती । जहाँ पर तृतीय ज्ञान प्रथम विज्ञान के समान ही है, वहाँ पर प्रथम ज्ञान का औत्सर्गिक (स्वाभाविक) प्रामाण्य अप्रतिहत रहेगा । यहाँ पर तृतीय ज्ञान से आरोपित मिथ्यात्व की शंका का निराकरण होगा । ऐसा नहीं माना जायगा कि इस तृतीय ज्ञान के संवाद के कारण प्रथम ज्ञान में प्रामाण्य की अवगति होती है । यदि तृतीय ज्ञान द्वितीय ज्ञान का संवादी है तो,प्रथम ज्ञान में अप्रामाण्य की अवगति होगी, इसको (अप्रामाण्य) परतः माना ही गया है । यहाँ पर भी द्वितीय ज्ञान में संवादकृत प्रामाण्य नहीं है, किन्तु कुशंका के निराकरण में ही उसका उपयोग है । "इसी तरह से तीसरे अथवा चौथे ज्ञान के प्रामाण्य में बाधक ज्ञान की उत्पत्ति मानी जा सकती है, किन्तु इससे ज्ञान की स्वतः प्रमाणता में कोई बाधा नहीं आ सकती, क्योंकि एक की स्वतः प्रमाणता सिद्ध हो चुकी है ।"

शब्द का स्वतः प्रामाण्य

इस तरह से सभी प्रमाणों के प्रामाण्य के स्वतस्त्व के सिद्ध होने पर शब्द का भी उसी तरह स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है । यह कहना कि शब्द का स्वाभाविक रूप से अर्थ से स्पर्श नहीं होता, असत्य है, क्योंकि शब्द में अर्थावबोध की जनकता देखी गई है । अर्थात् शब्द ठीक ठीक सुना जाय और अर्थ के साथ उसके सम्बन्ध का ज्ञान हो तो शब्द सुनने पर अर्थ का ज्ञान निश्चित रूप से होता ही है । ज्यादातर वादियों ने इसको माना भी है । कहीं कहीं शब्द में जो अप्रामाण्य देखा जाता है, वह पुरुषगत दोषों के कारण होता है । कहा गया है—"शब्द में दोष का उद्भव वक्ता के अधीन होता है ।" पौरुषेय वचन में (पुरुष के वाक्य में) गुणयुक्त वक्ता के होने पर वक्ता के गुण के कारण दोष की सम्भावना नहीं रहती । इस प्रकार वहाँ पर शब्द में विद्यमान स्वाभाविक प्रामाण्य ही बिना किसी विघ्न-बाधा के विद्यमान रहता है । यहाँ पर वक्ता के गुण के कारण शब्द में प्रामाण्य नहीं माना जाता, क्योंकि पुरुषगत गुण शब्द के अंग नहीं है । वेद में तो उसका कोई प्रणेता न होने से दोषों की सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि दोष तो वक्तृगत होते हैं, अतः इनका स्वतः प्रामाण्य सुतरां सिद्ध है । कहा भी गया है—"वेद में वक्ता (निर्माता) के अभाव के कारण दोष

मधिगच्छति ॥' (चो. सू. वा. ६८)। तदुक्तं जैमिनिना—'तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (मी० सू० १।१।५)। 'गिरां मिथ्यात्वहेतूनां गुणानां पुरुषाश्रयात्। अपौरुषेयं सत्यार्थमित्ययुक्तं तु मन्वते ॥ इति, 'नहि पुरुषगुणानां सत्यतासाधनत्वं वचसि खलु निसर्गादेव सत्यत्वसिद्धिः। गुणमपि नरवाचां विप्लवाधायि दोषप्रशमनचरितार्थं सङ्गिरन्ते गुणज्ञाः ॥' इति च।

यदुक्तं—दृष्टार्थेषु प्रमाणेषु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव व्यवहारः सिद्धयति। तत्र प्रामाण्यस्वतस्त्वपरतस्त्वविचारो व्यर्थ एवेति। बहुद्रव्यश्रमादिसाध्येषु कर्मसु वेदप्रामाण्यनिर्णयमन्तरा प्रेक्षावतां प्रवर्तनमनुचितमिति तदेव विचारणीयमिति तन्न, दृष्टार्थेषु प्रत्यक्षादिष्वप्याञ्जस्येन व्यवहारसिद्धयर्थं तद्विचारस्यावश्यकत्वात्।

यदुक्तम्—स्वतः प्रामाण्यमित्यस्य कोऽर्थः? किं स्वत एव प्रमाणस्य प्रामाण्यं भवति, उत स्वयमेव तत्प्रमाणमात्मनः प्रामाण्यं गृह्णातीति। न तावत् स्वयमेव प्रामाण्यग्रहणमुपपद्यते, अप्रामाणिकत्वात्। तथाहि—यदेतन्नीलप्रकाशने प्रवृत्तं प्रत्यक्षं तन्नीलं प्रति प्रत्यक्षं प्रमाणम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वात्। प्रामाण्यपरिच्छेदे तु किं तत्प्रमाणम्—प्रत्यक्षमनुमानं वा? प्रमाणान्तराणामनाशङ्कनीयत्वात्। स्वप्रामाण्यपरिच्छेदे तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं तद्विज्ञानस्य वा प्रामाण्यं गृह्णीयात्, तत्फलस्य वा? तत्र ज्ञातृव्यापारात्मनो ज्ञानस्य भवन्मते नित्यपरोक्षत्वात् प्रत्यक्षतः परिच्छेदानुपपत्तौ तत्प्रामाण्यस्यापि कथं प्रत्यक्षेण ग्रहणम्? फलस्याप्यर्थप्रकाशनाख्यस्य संवेदनात्मनो नेन्द्रियसंसर्गयोग्यता विद्यते, येन तद्गतमपि यथार्थत्वलक्षणं प्रामाण्यमिन्द्रियव्यापारलब्धजन्मना प्रत्यक्षेण परिच्छिद्येत। न च मानसमपि प्रत्यक्षं फलगतयथार्थत्वनिर्णयक्षमम्, तदानीमनुभूयमानत्वात्। नहि नीलसंवित्प्रसवसमनन्तरं यथार्थेयं नीलसंवित्तिरिति संविदन्तरमुत्पद्यमानमनुभूयते। अनुभवे

प्रयुक्त अप्रामाण्य का परिहार बड़ी सरलता से हो जाता है, अतः यहाँ पर अप्रामाण्य की शंका का प्रसंग ही नहीं उठता।" जैमिनि ने भी कहा है कि "वेद का निरपेक्ष प्रामाण्य बादरायण को भी अभिप्रेत है।" "पुरुषाश्रित गुण-दोष के कारण वाणी में मिथ्यात्व आदि का आरोप हो सकता है, अतः अपौरुषेय वाक्य ही सत्य है, इस कथन को गुणज्ञ लोग अयुक्त मानते हैं, क्योंकि पुरुषगत गुण वाणी की सत्यता को सिद्ध करते हों, ऐसी बात नहीं है। वाणी में स्वाभाविक रूप से सत्यता की सिद्धि होती है। बोलने वाले मनुष्य का गुण वाणी में सम्भावित दोष की शान्ति में चरितार्थ माना जाता है, जो कि उसमें व्यवधान पैदा कर सकता हो'।

यह जो कहा गया है कि—"इष्ट प्रयोजन वाले प्रमाणों में प्रामाण्य के निश्चय के बिना ही व्यवहार चलता है। यहाँ पर प्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व का विचार व्यर्थ है। भारी धन और श्रम की लागत पर सिद्ध होने वाले यज्ञ-याग आदि में वेद की प्रामाणिकता के निर्णय के बिना समझदार व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः अदृष्ट प्रयोजन के प्रामाण्य का ही विचार होना चाहिये।" यह ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक दृष्टि से प्रयुक्त होने वाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में भी सरलता से व्यवहार की सिद्धि के लिये प्रामाण्य के विचार की आवश्यकता हो जाती है।

"स्वतः प्रामाण्य, इसका क्या अर्थ है? स्वतः ही प्रमाण का प्रामाण्य होता है, या वह प्रमाण स्वयं ही अपने प्रामाण्य को ग्रहण करता है? यदि दूसरा पक्ष कहें तो वह ठीक नहीं होगा, क्योंकि प्रमाण के द्वारा प्रामाण्य का स्वतः ग्रहण सम्भव नहीं है। यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जैसे नील के प्रकाशन में प्रवृत्त प्रत्यक्ष उस नील के प्रति प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि वह इन्द्रिय (नेत्र) और अर्थ (नील) के संनिकर्ष (सम्बन्ध) के कारण उत्पन्न हुआ है। किन्तु प्रामाण्य के निश्चय में प्रवृत्त वह प्रमाण प्रत्यक्ष होगा या अनुमान? तीसरा प्रमाण तो हो ही नहीं सकता। यदि प्रत्यक्ष कहें तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अपने प्रामाण्य का निश्चय कराने में वह प्रत्यक्ष प्रमाण अपने विज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण करेगा? अथवा उसके फल का? इनमें ज्ञाता के व्यापार से परिचित होने वाला ज्ञान आपके मत में नित्य परोक्ष है, अतः प्रत्यक्ष से उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण नहीं होगा। ज्ञान का फल अर्थप्रकाशन कहलाता है, यह भी संवेदनात्मक है, इसकी इन्द्रिय के साथ संसर्ग (सम्बन्ध) की योग्यता नहीं बन सकती। अतः संवेदनगत यथार्थतास्वरूप प्रामाण्य का ग्रहण इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न प्रत्यक्ष द्वारा कैसे गृहीत हो सकता है? मानस प्रत्यक्ष भी फलगत यथार्थता के निर्णय में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय उसका अनुभव नहीं होता। एक नील संवित्ति (ज्ञान) के उत्पन्न होने के बाद यह संवित्ति (ज्ञान) यथार्थ है, इसका बोध कराने वाली कोई दूसरी संवित्ति उत्पत्ति होती हुई नहीं देखी जाती। यदि अनुभूत होती भी हो, तो

वा ततो द्वितीयात् प्रथमोत्पन्ननीलज्ञानयाथार्थ्यग्रहणान्न स्वतः प्रामाण्यनिश्चयः। तस्मान्न प्रत्यक्षस्यैव विषयः। अनुमानेनापि ज्ञानस्य फलस्य वा तन्निश्चेयम् ? फलस्य तथात्वसाधने न कस्यचिल्लिङ्गत्वमवगम्यते। ज्ञातृव्यापारात्मनो ज्ञानस्य तु स्वकार्यं फलं भवेदपि लिङ्गम्, फलस्य क्रियामात्रव्याप्तिग्रहणात् स्वरूपसत्तामात्रमनुमापयितुमुत्सहते न यथार्थत्वरूपं प्रामाण्यम्। तद्धि फलं निर्विशेषणं वा स्वकारणस्य ज्ञातृव्यापारस्य प्रामाण्यमनुमापयेत्, यथार्थविशिष्टं वा ? नाद्यः, यतः कुतश्चित्फलात् तत्प्रामाण्यानुमाने सर्वस्यैव प्रामाण्यापत्तेः। नान्त्योऽपि, फलगतयाथार्थ्यपरिच्छेदोपायाभावस्योक्तत्वात्।

ननु सोऽनुभव एवोपायः, तद्धि नीलसंवेदनतया फलं स्वत एव प्रकाशते, नीलसंवेदनत्वमेव चास्य यथार्थत्वं नान्यत्। यद्येवं शुक्तिकायामपि रजतसंवेदने समानो न्यायः, नहि रजतसंवेदनादन्या यथार्थत्वसम्पत्तिरिति, तन्न युक्तं, दत्तोत्तरत्वात्। विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वरूपस्य प्रामाण्यस्वतस्त्वस्योक्तत्वेन विकल्पजालस्यानवकाशपराहतत्वात्। तथा च कार्यकारणादेव कार्येण सहोत्पत्तिरेव प्रामाण्यस्वतस्त्वमित्युक्तमेव। एवं न दाहशक्तेरुत्पादाय साधनान्तरमपेक्ष्यते। तथाभूतार्थावधारकशक्तेरेव प्रामाण्यमित्यप्युक्तम्। अर्थतथात्वं वा प्रामाण्यम्। तस्य चार्थग्राहकग्राह्यत्वमुपपद्यत एव। शुक्तिरजतादीनां तु बाधकप्रत्ययोपनिपातेन स्फुटं प्रामाण्यापनोदनम्। बाधाद्यभावे तु नाप्रामाण्यशङ्केत्याद्युक्तमेव।

न चैवं बाधकाभावज्ञानाधीनं प्रामाण्यमूरीकृतमिति वाच्यम्, विज्ञानसामग्रीमात्रात्तदुत्पत्तिसम्भवेन दोषाभावस्य

प्रथम संवित्ति की यथार्थता का ग्रहण द्वितीय संवित्ति से होने पर स्वतः प्रामाण्य का निश्चय कहाँ हुआ ? अनुमान से भी ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय किया जायगा या फल का ? फल के प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए तो कोई हेतु नहीं है। ज्ञाता के व्यापाररूप ज्ञान का कार्य है फल, वह हेतु हो सकता है। किन्तु फल तो केवल क्रिया के साथ ही अपनी व्याप्ति रखता है, अतः वह केवल अपनी स्वरूपसत्ता को बता सकता है, यथार्थतारूप प्रामाण्य को नहीं। वह फल विशेषणरहित अपने कारण ज्ञाता के व्यापाररूप केवल ज्ञान का प्रामाण्य अनुममान से बनावेगा ? अथवा यथार्थ विशेषण से युक्त ज्ञान का ? यहाँ पर पहला पक्ष इसलिये नहीं बन पावेगा कि कहीं पर भी फल से उसके प्रामाण्य का निश्चय होने पर सब ज्ञानों में प्रामाण्य अवगत हो जायगा। दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि फलगत यथार्थता का परिच्छेदक उपाय कोई नहीं बन पाता।

यह कहना कि अनुभव से ही प्रामाण्य का ग्रहण हो जायगा, क्योंकि नील-ज्ञान का फल स्वतः ही प्रकाशित होता है। नील संवेदनता ही ज्ञान की यथार्थता है, दूसरी नहीं। ऐसा मानने पर तो शुक्तिका में रजत का ज्ञान भी यथार्थ माना जाने लगेगा, क्योंकि रजत के संवेदन के अतिरिक्त कोई यथार्थता नहीं है, किन्तु यह कहना इसलिये ठीक नहीं है कि इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। प्रामाण्य का स्वतस्त्व विज्ञान की सामग्री से जन्य होते हुए भी उसके अतिरिक्त हेतु से जन्य नहीं होता, यह कहा जा चुका है। अतः आपके बताये अन्य अनेक विकल्पों की प्रवृत्ति के लिये यहाँ कोई अवसर नहीं है। इसीलिये कार्यरूप ज्ञान के कारणों (साधनों) से ही कार्य अर्थात् ज्ञान के साथ ही ज्ञान के प्रामाण्य की भी उत्पत्ति हो जाना ही ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतस्त्व है। इसीलिये अग्नि में दाह शक्ति की उत्पत्ति के लिये अग्नि से भिन्न किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिये अर्थनिश्चायक शक्ति ही प्रामाण्य है, यह भी बताया जा चुका है। अथवा अर्थतथात्व को प्रामाण्य कहा जाता है। इस अर्थतथात्व (वस्तु की सच्चाई) की अर्थग्राहक से ग्राह्यता है ही। अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उस वस्तु की सच्चाई का ज्ञान भी उनके साधनों से ही हो जाता है। यही बात युक्तियुक्त भी है। शुक्ति में जो रजत का ज्ञान होता है, उस ज्ञान में भी ज्ञान की सामग्री के बाधक ज्ञान के साथ ही उसकी सचाई भी स्वाभाविक रूप से आ ही जाती है। किन्तु बाद में उत्पन्न होने वाला बाधक ज्ञान पहले ज्ञान की सचाई को निवृत्त कर देता है। यदि बाधक ज्ञान या दोष ज्ञान आदि न हों तो पहले ज्ञान की सचाई में कभी शंका ही न होगी। इसको स्पष्ट रूप से बताया जा चुका है।

इस तरह से तो बाधक के अभाव ज्ञान के अधीन प्रामाण्य मान ही लिया गया, अतः वह परतः हो गया, यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि केवल विज्ञान की सामग्री से ही उसकी उत्पत्ति हो सकती है, अतः दोषाभाव अथवा गुण को उसमें कारण मानना उचित नहीं है। विज्ञान की सामग्री से ही प्रमा की उत्पत्ति हो सकती हो, तो उसमें गुण और दोषाभाव की कारणता की कल्पना नहीं करनी चाहिये,

गुणस्य वा तदहेतुत्वात् । विज्ञानसामग्रीमात्राद् प्रमोत्पत्तिसम्भवे गुणस्य दोषाभावस्य वा न तत्र हेतुत्वं कल्पनीयम्, गौरवात् । न च दोषस्याप्रमाहेतुत्वे तदभावस्य प्रमाहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धमिति वाच्यम्, विरोध्यप्रमाप्रतिबन्धकत्वेन तयोरन्यथासिद्धत्वात् । तदुक्तमेव—गुणेभ्यो दोषाणामभाव एव जायते, न तु प्रामाण्योत्पत्तिः । दोषाभावाच्च न प्रामाण्योत्पत्तिः, किन्तु मिथ्यात्वसंशयत्वलक्षणस्याप्रामाण्यद्वयस्य निवृत्तिरेव जायते । किञ्च, बाधकाभावो न प्रामाण्यहेतुत्वं प्रतिपद्यते, तात्कालिककूटकार्षापणादौ व्यभिचारात् । सर्वथा तदभावस्यासर्वज्ञागोचरत्वाच्च । यदुक्तम्—यदि प्रसवसमय एव ज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चिनुयाम, तर्हि प्रवर्तमाना न क्वचिदपि विप्रलभ्येमहि । विप्रलभ्यामहे तु, तेन मन्यामहे न निश्चितं तत्प्रामाण्यम् । संशयादेव व्यवहराम इति, तदपि न, स्वरूपस्थितहेतुजायाः संविदः प्रामाण्यस्वतस्त्वे दोषाभावात् । दोषाधिकैः प्रमाणैर्जनितायाः संविदस्त्वप्रामाण्यादेव विप्रलम्भस्तदप्रामाण्यनिश्चयस्तु परत एव । न च संशयात् प्रवृत्तिः, ततो निवृत्तेरेव सम्भवात् । शुक्तिरजतप्रतीतावपि निश्चिन्वन्त एव लौकिकाः प्रवर्तन्ते । नाननुभूयमानोऽपि संशयारोप उचितः । यदुक्तम्—एकतरग्राह्यप्रत्ययस्तन्निश्चयोपायविरहात् संशयकोटिपतित एव बलाद् भवति, यथास्ति कूपे जलमिति भिक्षवो मन्यन्ते । एवं रजतमिदमित्येकपक्षग्राह्यमपि । तदानीं प्रतिभासो वस्तुवृत्तेन संशय एव । यदि प्रमाणतयाऽसौ गृह्येत कथं क्वचिद्विसंवदेत् ? अप्रमाणतया तु गृह्यमाणः कथं प्रवर्तयेत् ? तदुक्तम्—'उभाभ्यामपि रूपाभ्यामथ तस्यानुपग्रहः । सोऽयं संशय एव स्यादिति किं नः प्रकुप्यसि ॥' इति, तदपि तुच्छम्, परिच्छित्तेरेव प्रमाणकार्यस्योक्तत्वेन बाधकारणदोषप्रत्ययमन्तरा सन्देहदूषिततनोस्तस्या उपलम्भाभावेन च तत्र संशयादिकल्पनाया निर्बीजत्वात् । उभयकोटिकस्य प्रत्ययस्य संशीतिपदास्पदत्वेन तदभावे तदनुपपत्तेः । सन्देहदूषितत्वानुपलब्ध्या प्रामाण्यमेव तस्या औत्सर्गिकम् । तत एवार्थपरिच्छेदात् प्रवर्तमानः प्रमाता प्रमाणेनैव

क्योंकि ऐसा करने में गौरव होगा । यह कथन भी अनुचित है कि दोष के अप्रमा में हेतु होने पर दोषाभाव की प्रमा-हेतुता अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है, क्योंकि गुण और दोषाभाव विरोधी अप्रमा के प्रतिबन्धक हैं । इसलिये प्रामाण्य की उत्पत्ति में अन्यथा सिद्ध हैं । इस उद्धरण में यही बात कही गई है—"गुणों से दोषों का अभाव ही प्रतीत होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती । इसी तरह दोषों के अभाव से भी प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु मिथ्यात्व और संशयत्व रूप से अप्रामाण्य की निवृत्ति ही होती है । अपि च, बाधक का अभाव प्रामाण्य में हेतु नहीं बन सकता, क्योंकि बाधक के रहते हुए भी खोटे रुपये में तत्काल प्रामाण्य बुद्धि होती है । सर्वथा बाधकाभाव तो सर्वज्ञ के ही ज्ञान का विषय हो सकता है । जो यह कहा गया है कि—"यदि उत्पत्ति के समय में ही ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो जाय तो उसके अनुसार प्रवृत्त होने पर कहीं भी ठगाई का अवसर नहीं आना चाहिये, किन्तु ऐसा होता है, इसलिये मानना पड़ेगा कि उत्पत्ति के समय प्रामाण्य का निश्चय नहीं हुआ । संशय में ही व्यवहार होता हो, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप स्थित (दोष रहित) कारण से उत्पन्न संविद् के प्रामाण्य स्वतस्त्व में कोई दोष नहीं होता । ऐसे प्रमाण, जिनमें कि दोषों का आधिक्य है, उनसे उत्पन्न संविद् की अप्रामाणिकता के कारण ही विप्रलम्भ (धोखा) होता है, अतः अप्रामाण्य का निश्चय परतः होता है । संशय से प्रवृत्ति हो भी नहीं सकती, वह तो निवृत्ति में ही कारण हो सकता है । शुक्ति में रजत की प्रतीति के स्थल में भी प्रवृत्ति निश्चय के कारण ही होती है । यहाँ पर संशय का आरोप करना अनुचित है, क्योंकि वह अनुभूयमान नहीं है । जैसा कि कहा गया है—"किसी एक पक्ष का ग्राहक ज्ञान उसके निश्चायक उपाय के अभाव में संशय कोटि में ही पड़ा हुआ माना जायगा, जैसा कि इस कुएँ में पानी है, ऐसा भिक्षुगण मानते हैं । इसी तरह से यह रजत है, इस प्रकार एक पक्ष का प्रतिभास भी वस्तुतः संशय ही है । यदि इसको प्रमाण माना जाय तो फिर इसका कहीं विसंवाद कैसे होता है ? और यदि अप्रमाणतया गृहीत होता है, तो फिर प्रवृत्ति कैसे कराता है ? जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है—"अब यदि दोनों ही रूपों में इससे कुछ नहीं बन सकता, तो उसको संशय मान लेने में हमारा क्या बिगड़ता है ।" यह सब व्यर्थ की बातें हैं, क्योंकि परिच्छित्ति (स्वेतरव्यावृत्ति अथवा स्वनिश्चय) को ही प्रमाण का कार्य कहा गया है, अतः बाधक कारणदोष ज्ञान के बिना सन्देहदूषित परिच्छित्ति का उपलंभ न होने से परिच्छित्ति स्थल में संशय आदि की कल्पना निरर्थक है । उभय कोटि वाला ज्ञान ही संशय कहलाता है, अतः जहाँ पर दो कोटियाँ नहीं हैं, वहाँ सन्देह नहीं कहा जा सकता । सन्देहदूषित परिच्छित्ति की अनुपलब्धि में स्वभावतः उसके प्रामाण्य का बोध होगा । उसीसे अर्थ की परिच्छित्ति होने पर प्रवृत्त हुआ

प्रवर्तितो भवति न संशयात्। यत्र बाधकप्रत्ययाद्युपनिपातेन तदपवादो भवति, तत्रैव परतोऽप्रामाण्यं निश्चीयते। एतदपि—'अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते' (चो० सू० वा० ५३) इत्यादिनोक्तमेव।

यदुक्तम्—अननुभूयमानोऽपि न्यायादभ्यस्ते विषयेऽविनाभावस्मरणात् संशयः परिकल्प्यः, निश्चयनिमित्तस्य तदानीमविद्यमानत्वात्, संशयजनकहेतोः सामग्र्याः सन्निहितत्वात्। तथाहि—यथार्थेतरार्थसाधारणो धर्मो बोधरूपत्वमूर्ध्वत्वादिवत्तदा प्रकाशत एव। न च प्रामाण्याविनाभावी विशेषः कश्चन तदानीमवभाति। तदग्रहणे च समानधर्माधिगमप्रबोध्यमानवासनाधीना तत्सहचरितपर्यायानुभूतविशेषस्मृतिरस्ति सम्भवत्येवेति संशयजननी सामग्री सन्निहितैवेति कुतस्तज्जन्यः संशयो न स्यात्? इति, तदपि न किञ्चित्, द्वैविध्यदर्शनाद्विना संशयानुपपत्तेः। न च बोधरूपत्वदर्शनेन तत्कल्पयितुं शक्यम्, सत्यारोपे निमित्तानुसरणात्, न निमित्तमस्तीत्यारोप इति न्यायविरोधात्। यद्यपि पूर्वोक्तयुक्त्या कार्याद्वा कारणाद्वा तद्विशेषो नावगन्तुं शक्यः, तथाप्यर्थतथात्वरूपं प्रामाण्यं जायमान एव प्रत्यये तज्ज्ञापकात् साक्षिण एव स्फुरतीति विशेषाग्रहणमपि न वक्तुं शक्यम्।

यदुक्तम्—न स विशेषः। कः? यदि स्पष्टताविशेषः, शुक्तिकायामपि रजताभासः स्पष्ट एव। नहि तत्राप्यनध्यवसायकालुष्यं किञ्चिदस्ति। अथ निष्कम्पता विशेषः, सोऽपि रजतावभासे विद्यत एव। नह्यसौ जायमान एवाङ्गुल्यग्रादिवाक्यकरणदोषवत् कम्पमानो दृश्यते। अथ निर्विचिकित्सता, सोऽपि निर्विचिकित्स एव, तत्र कोटिद्वयानवमर्शात्। अथ अस्मिन् सति बाधा न दृश्यते सोऽस्य विशेष इति, हन्तैतदेव पृच्छामि कस्मिन् सति बाधा न दृश्यते? सर्वावस्थस्य बाधदर्शनात्। न चासौ चिरमपि

प्रमाता प्रमाण से ही प्रवृत्त होता है, संशय से नहीं। जहाँ पर बाधक प्रत्यक्ष के आ जाने से उसका अपवाद हो जाता है, वहीं पर परतः अप्रामाण्य का निश्चय होता है। यह बात भी "अर्थ के अन्यथात्व को देखकर उत्पन्न हुए दोषज्ञान से उस प्रामाण्य का अपनोदन (निवारण) हो जाता है" इत्यादि से कही गई है।

यह जो कहा गया है कि—"न्याय से (साहचर्य आदि से) अविनाभाव संबन्ध के स्मरण के द्वारा अनुभूत न होने पर भी संशय परिकल्पित करना पड़ता है, क्योंकि उस समय निश्चय का निमित्त हेतु विद्यमान नहीं है और संशय को पैदा करने वाली सामग्री सामने है। जैसे कि यथार्थ और अयथार्थ उभय साधारण धर्म बोधरूप 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस वाक्य में उभयकोटिक धर्म ऊर्ध्वत्व प्रकाशित होता है, वैसे ही यथार्थ और अयथार्थ दोनों ज्ञानों में रहने वाला केवल बोधरूप ही जहाँ प्रकाशित होता है, वहाँ संशय होता है, क्योंकि प्रामाण्य के साथ सदा रहने वाला ज्ञान का कोई विशेष रूप उस समय प्रकाशित नहीं होता। उस विशेषता की प्रतीति न होने पर समान धर्म के ज्ञान से उदीयमान वासना के अधीन किसी पर्याय में वासना सहकृत अनुभव से विशेष स्मृति भी हो ही सकती है, इसलिये संशय को पैदा करने वाली सामग्री के सांनिध्य के कारण तज्जन्य संशय क्यों नहीं पैदा होगा?" किन्तु यह भी कुछ ठीक नहीं बनता, क्योंकि द्वैविध्य के दर्शन के बिना केवल स्मरण मात्र से संशय नहीं होता। बोधरूप साधारण धर्म को देखकर उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। "आरोप होने पर निमित्त का अनुसरण करना पड़ता है। निमित्त है, इसलिये आरोप नहीं करना चाहिये" इस न्याय (सिद्धान्त) का विरोध होगा। यद्यपि पूर्वोक्त युक्ति से कार्य या कारण से विशेष का अवगमन (ज्ञान) नहीं हो सकता, तो भी अर्थ यथार्थत्व रूप प्रामाण्य ज्ञानोत्पत्ति के साथ साथ उसके ज्ञापक साक्षी से ही पैदा होता है, इसलिये विशेष का यहाँ स्फुरण नहीं होता, यह बात भी नहीं कही जा सकती।

यह जो कहा गया है कि—"वह विशेष नहीं है। तब विशेष क्या है? यदि स्पष्टता को विशेष कहा जाय तो शुक्ति में भी रजत का आभास स्पष्ट ही है। वहाँ पर भी निश्चय के अभाव के कारण कोई अनिश्चयरूप कालुष्य नहीं प्रतीत होता। यदि आप निष्कम्पता को विशेष मानें तो यह भी रजत के अवभास में विद्यमान ही है। जैसा कि 'अंगुल्यग्रे करियूथशतम्' वाक्य को सुनते ही योग्यताभाव रूप दोष के ज्ञान से ज्ञान कम्पमान होता है, वैसा 'यह रजत है' यह ज्ञान उत्पन्न होते ही कम्पमान नहीं होता। अर्थात् किसी व्यक्ति के मेरी अंगुलि पर सौ हाथी हैं, ऐसा कहते ही 'अंगुली पर सौ हाथी है' यह ज्ञान लड़खड़ा जाता है, ऐसे ही शुक्ति में चाँदी का ज्ञान तो तत्काल नहीं लड़खड़ाता। अब यदि निर्विचिकित्सा (संदेह राहित्य) को विशेष माना जाय तो रजतावभास भी निर्विचिकित्सा

चिन्तयित्वा विशेषयितुं शक्यः। अथ स्वविषयाव्यभिचारित्वमेव विशेषः, स तदानीं नावभासत इत्युक्तमेव। अथ यदि तथाविधोऽपि विशेषः समस्ति तर्हि यत्र ज्ञानेऽसौ न दृश्यते, ततः किमिति प्रवर्तते ? तद्विशेषदर्शी वा प्रवर्तमानः कथं विप्रलभ्येत ? यदयं स्थाणुर्न पुरुषः, 'तेनैव व्यवहारस्य सिद्धत्वात् सर्वदेहिनाम्। अतश्च संशयादेव व्यवहारं वितन्वताम्॥ लौकिकानां प्रयोक्तव्या नाभिशापपरम्परा।' तस्माज्ज्ञानोत्पत्तिकाले प्रामाण्यं ग्रहीतुमशक्यम्। तेन प्रामाण्याग्रहणमेवानध्यवसाय-संशयशब्देन व्यपदेक्ष्यामः। तस्मात् स्वयं प्रामाण्यं गृह्यत इति दुर्घटम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भावानवबोधात्। दत्तोत्तरमेतदपि। तथाहि—अर्थतथात्वप्रकाशकं हि प्रमाणमुक्तम्। तस्य स्वप्रमेयाव्यभिचारित्वं नाम प्रामाण्यम्, तत्र परापेक्षायां परतः प्रामाण्यमिति वक्तुं शक्यते। न चास्य परापेक्षा, कारकस्वरूपमात्रापेक्षत्वान्नास्योत्पत्तावन्यापेक्षा। नापि स्वकार्यकरणेऽन्यापेक्षा, अर्थप्रकाशनस्वभावस्य तस्य स्वहेतोरुत्पादात्। तदुक्तम्—'नैव वा जायते ज्ञानं जायते वा प्रकाशकम्। अर्थप्रकाशने किञ्चिन्न तूत्पन्नमपेक्षते॥' अप्रामाण्यं तूत्पत्तौ दोषान् स्वनिश्चये बाधकमपेक्षते। बोधात्मकत्वेन रजतबुद्धिरपि प्रमाणतां प्राप्तैव। तत एव तस्याः प्रवर्तकत्वमपि। अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानात्तु तदपोद्यते। विस्तरेण चैतत्सर्वमुक्तमेव। एवं प्रामाण्यस्वतस्त्वेनैव बुद्धेः प्रवर्तकत्वम्, न संशयात् प्रवृत्तिः। बाधादिभिस्तु तत्प्रामाण्यमपोद्यते। विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वेन प्रामाण्यस्वतस्त्वं साधितमेव।

एतेन यदुक्तम्—'न प्रामाण्योत्पत्तौ स्वतस्त्वम्, कार्याणां कारणाधीनजन्मत्वात्, प्रामाण्यस्य कार्यत्वात्। अस्त्विदं

(निःसंदिग्ध) ही है, क्योंकि उस समय वहाँ पर दो कोटियों की प्रतीति नहीं होती। अब यदि यह विशेष की परिभाषा मानी जाय कि जिसके रहने पर बाधबुद्धि न हो तो भाई मेरे, यही तो पूछना है कि वह क्या वस्तु है, जिसके रहने पर बाधा नहीं दिखाई देती ? सभी अवस्थाओं में बाध बुद्धि होती है। ऐसी बात नहीं है कि बहुत सोच-विचार के बाद भी उसमें कोई विशेषता न देखी जाय। अब यदि अपने विषय से अव्यभिचरित होना ही विशेषता मानी जाय तो यह विशेषता उस समय प्रतीत नहीं होती, यह कहा जा चुका है। यह कहा जाय कि इस प्रकार का यह विशेष उस समय है, तो जिस ज्ञान में यह नहीं दिखाई देता, वहाँ कैसे प्रवृत्ति होती है ? अब यदि विशेषता दिखाई देती है तो उस विशेष को देखकर प्रवृत्त हुआ व्यक्ति ठगा क्यों जाता है ? ठगा अवश्य जाता है, क्योंकि अन्त में यह पुरुष नहीं है, किन्तु स्थाणु है, यह रुपया नहीं है, किन्तु लोहे की टिकिया पर मुलम्मा चढ़ाया हुआ है, इस प्रकार की ठगाई प्रत्यक्ष देखी जाती है। "यदि संशय से ही सब प्राणियों के व्यवहार सिद्ध हो सकते हों तो उससे सारे व्यवहार को चलाने वाले लौकिकों को कोसने की कोई जरूरत नहीं है।" इसलिये ज्ञान की उत्पत्ति की वेला में प्रामाण्य का ग्रहण करना असम्भव है। अतः इस प्रामाण्य के अग्रहण को ही हम अनध्यवसाय अथवा संशय शब्द से कहेंगे। इसलिये प्रामाण्य का ग्रहण स्वतः होता है, यह बात गलत है।" ये सब भी व्यर्थ की बातें हैं। अभिप्राय न समझ सकने के कारण ये कही गई हैं। इसका भी पहले ही उत्तर दिया जा चुका है। जैसे कि अर्थ की यथार्थता को बताने वाले को प्रमाण कहा जाता है। उस प्रमाण की अपने प्रमेय (विषय) के प्रति अव्यभिचारिता को प्रामाण्य कहते हैं। इसमें यदि दूसरे की अपेक्षा हो तो परतः प्रामाण्य माना जाय। ऐसा तो नहीं है। कारक स्वरूप मात्र की अपेक्षा होने से यहाँ पर उत्पत्ति में दूसरे की अपेक्षा नहीं है। अपने कार्य के करने में भी दूसरे की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अर्थ को प्रकाशित करने का स्वभाव उसके अपने कारण से ही पैदा होता है। कहा भी है—"एक तो ज्ञान पैदा ही नहीं होता, यदि पैदा होता भी है तो उसमें प्रकाशकता साथ ही पैदा होती है। उत्पन्न होने के बाद अर्थ प्रकाशन के लिये यह किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करता।" अप्रामाण्य तो उत्पत्ति में दोषों की अपेक्षा रखता है और अपने निश्चय में बाधक ज्ञान की अपेक्षा रखता है। इसलिये वह परतः है। शुक्ति में रजत ज्ञान भी ज्ञान स्वरूप होने से प्रमाणभाव को प्राप्त करता है। इसीलिये उससे प्रवृत्ति होती है। अर्थ को अन्यथा देखकर पैदा हुए दोष ज्ञान से प्रामाण्य का अपनोदन होता है। विस्तार से यह सब बातें पहले ही कही जा चुकी हैं। इस प्रकार प्रामाण्य के स्वतस्त्व के कारण ही बुद्धि की प्रवर्तकता मानी जाती है। संशय से प्रवृत्ति किसी भी दशा में नहीं मानी जाती। बाध आदि दोषों से वह प्रामाण्य हट जाता है। इस प्रकार प्रामाण्य का स्वतस्त्व यही है कि वह विज्ञान की सामग्री से ही पैदा होता है, उससे भिन्न अन्य कोई हेतु उसकी उत्पत्ति में नहीं है।

उक्त कथन से यह जो कहा गया है कि "प्रामाण्य की उत्पत्ति में स्वतस्त्व नहीं है, क्योंकि कार्यों का जन्म कारणाधीन होता है

प्रामाण्यं वस्तु, तच्च न नित्यं तस्मात्कार्यमेव। कार्यत्वाच्च न स्वतो भवति' इत्यादिकम्, तदप्यपास्तम्, प्रकारान्तरस्य प्रामाण्य-स्वतस्त्वस्य निरस्तत्वात्। यदुक्तम्—'गुणवता कारणेन सम्यक् कार्यम्, दोषवता चासम्यक् कार्यमुत्पद्यते। तदुक्तम्—'निर्दोषं निर्गुणं वापि न समस्त्येव कारणम्। अत एव तृतीयस्य न कार्यस्यास्ति सम्भवः॥' सम्यग्ज्ञानोत्पादकं कारकधर्मि-स्वरूपातिरिक्तधर्मसापेक्षं कार्यनिर्वर्तकम्। साध्यो धर्मः, कारकत्वात्, मिथ्याज्ञानोत्पादककारकवत्। सम्यज् ज्ञानं वा धर्मि-स्वरूपातिरिक्तधर्मसम्बन्धवत्कारकनिष्पाद्यम्, कार्यत्वान्मिथ्याज्ञानवत्। आयुर्वेदाच्चेन्द्रियगुणान् प्रतिपद्यामहे यदमी वैद्याः स्वस्थवृत्तेरौषधोपयोगमुपदिशन्ति तद्गुणोपयोगायैव न दोषशान्तये। दृश्यते च तदुपदिष्टौषधोपयोगेनेन्द्रियातिशयः। तद्विषय एव च लोके नैर्मल्यव्यपदेशः। न दोषभावनिष्ठः। तस्मादुत्पत्तौ गुणानपेक्षत्वान्न स्वतः प्रामाण्यमिति यदुक्तं तन्न युक्तमिति' तत्रोच्यते, स्वरूपावस्थितेभ्यो निर्दोषेभ्यः कारकेभ्यः कार्योत्पत्तौ सम्भवन्त्यां गुणानां तद्धेतुत्वकल्पनाया निष्प्रमाणत्वात्। न तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्, निर्दोषकारणभिन्नस्य गुणस्य लिङ्गेन सम्बन्धादर्शनात्। तत्र स्वरूपस्थितानि कारणानि न कार्यजन्म-न्युदासते, येन यथार्थोपलब्धिजनने गुणसहकारिता कल्प्येत। अप्रमाणस्य तु दोषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन भवतु दोष-जन्यत्वम्, परं न प्रमाणस्य तथात्वम्, गुणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वासिद्धेः।

ज्ञानस्य प्रामाण्यं ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेतुजन्यं न भवति, कार्यशक्तित्वात्, वह्निशक्तिवदिति तत्साध-नस्य सत्त्वाच्च। एवं प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति अतिरिक्तजन्या न भवति, अप्रमातिरिक्तत्वात्, पटादिवत्। न च ज्ञान-

और प्रामाण्य भी कार्य है। यह प्रामाण्य भी वस्तु है, यह नित्य नहीं है, इसलिये कार्य है। कार्य होने से यह स्वतः नहीं हो सकता, इत्यादि" उसका खण्डन हो जाता है, क्योंकि प्रामाण्य स्वतस्त्व का प्रकारान्तर निराकृत हो चुका है। यह जो कहा गया है कि गुणवान् कारण से सही कार्य होता है और दोषयुक्त कारण से गलत कार्य। जैसा कि कहा गया है—निर्दोष और निर्गुण ऐसा कोई कारण है ही नहीं, इसीलिये दोषयुक्त और गुणयुक्त कार्य के सिवाय कार्य की तीसरी कोई कोटि नहीं बन सकती। सम्यग् ज्ञान के उत्पादक कारक के धर्मी स्वरूप से अतिरिक्त धर्म की अपेक्षा रखने वाला कारण ही कार्य का निष्पादक होता है। यहाँ पर धर्म साध्य है, क्योंकि वही कारक है, जैसा कि मिथ्याज्ञान का उत्पादक कारक होता है। अथवा सम्यग् ज्ञान ही धर्मी के स्वरूप के अतिरिक्त धर्म के सम्बन्ध से युक्त कारक का निष्पाद्य है, क्योंकि यह भी मिथ्याज्ञान के समान कार्य है। आयुर्वेद से हम इन्द्रियों के गुणों को जानते हैं कि ये वैद्य स्वस्थ मनुष्य के लिये भी औषध का उपयोग बताते हैं। ऐसे प्रसंगों में औषध के गुण का ही उपयोग होता है, किसी दोष की शान्ति नहीं। वैद्य के द्वारा बताई गई औषध के सेवन से इन्द्रियों में अतिशय वैशिष्ट्य देखा जाता है। इसी अर्थ में लोक में इन्द्रिय अत्यन्त निर्मल हो गई, इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। यह व्यवहार केवल दोष के अभाव का बोधक नहीं है। इसलिये उत्पत्ति में गुणों की अपेक्षा न होने से ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है, यह जो कहा गया है, वह ठीक नहीं है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि अपने स्वरूप में स्थित निर्दोष कारणों (साधनों) से ही कार्य की उत्पत्ति जब सम्भव है, तब साधनगत गुणों को कार्य की उत्पत्ति में कारण मानना यह केवल कल्पना की बात है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि गुण चक्षु प्रभृति से परोक्ष हैं, अतः उनके गुण प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। ऊपर के दोनों अनुमान भी इसमें प्रमाण नहीं होंगे, निर्दोष कारण से भिन्न गुण का लिंग से सम्बन्ध न होना ही इसमें कारण है। यहाँ पर स्वरूप स्थित कारण कार्य के जन्म के समय उदासीन नहीं होते, जिससे कि यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में गुण की सहकारिता की कल्पना की जाय। यदि स्वरूप स्थित कारण कार्य को पैदा करने में उदासीन हो जाय तो कार्यगत गुणों को सहकारी कारण मान भी सकते हैं। पर कारण कभी उदासीन होते नहीं। दोष रहने पर होता है, नहीं रहने पर नहीं होता है, इसलिये भले ही अप्रमाण दोषजन्य हो, किन्तु प्रमाण के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी गुण के साथ अन्वयव्यतिरेकिता नहीं सिद्ध होती।

ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञान की सामग्री से ही उत्पन्न होता है, इसके अतिरिक्त इसमें कोई कारण नहीं है, क्योंकि "कारण में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान है, अग्नि में दाह को पैदा करने की शक्ति की तरह" यह अनुमान भी प्रामाण्य स्वतस्त्व का साधक है। इसी तरह "प्रमा विज्ञान सामग्री से पैदा होती है, इससे अतिरिक्त उसका और कोई कारण नहीं है, क्योंकि वह अप्रमा से अतिरिक्त है, पटादि की तरह" (पट पट की साधक सामग्री से जन्य है तदतिरिक्त सामग्री से अजन्य है), इस अनुमान में ज्ञानत्वान-

त्वानधिकरणत्वमुपाधिः, ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेरित्यादिकमुक्तमेव। प्रमा दोषव्यतिरिक्तहेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वाद-प्रमावदिति सत्प्रतिपक्षसम्भवाच्च। नैर्मल्यव्यपदेशोऽपि काचकामलादिदोषापायनिवन्धन एव, आयुर्वेदोपदिष्टाञ्जनाद्युपयोगोऽपि दोषनिर्हरणायैव न गुणजन्मने। अत एवायुर्वेदादपि न गुणसिद्धिः। कथञ्चित्तत्सिद्धावपि दोषाभावसम्पादन एव तदुपयोगो न प्रामाण्योत्पादने, तस्य स्वरूपावस्थितेभ्यः कारकेभ्य एव सम्भवात्। यथा सर्वार्थावभासशीलं चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यामवरुद्धं सन्न सर्वार्थभासकं भवति, रजस्तमोऽपनये सति तु तत्तारतम्येन प्रकाशते, तथैव तत्तद्रूपादिप्रकाशनशीलं चक्षुरादिकमपि नानाविधैर्दोषैरवरुद्धशक्तिकं भवति। अञ्जनादिभिस्तत्तद्दोषघ्नैर्दोषापनयतारतम्येन प्रकाशते। योगजैस्तूपायैर्दूरस्थ(विप्रकृष्टदेशस्थ)रूपादिकमपि प्रकाशते।

यदुक्तम्—'प्रमाणस्य स्वकार्यंकरणे परानपेक्षत्वमपि व्याख्येयम्। किं स्वकार्यंकरणे निरपेक्षत्वम्? सामग्री, तदेकदेशो वा, तज्जन्यं वा ज्ञानम्? तत्र सामग्र्याः सत्यं स्वकार्यजन्मनि नैरपेक्ष्यम्, न तु तावता स्वतः प्रामाण्यम्, तत्परिच्छेदस्य परायत्तत्वात्। सामग्र्यन्तर्गतकारकस्य स्वकार्ये परापेक्षत्वमपरिहार्यम्, एकस्मात् कारकात् कार्यनिर्वृत्त्यसम्भवात्। ज्ञानं फलमेव न प्रमाणमित्युक्तमेव। न च फलात्मनस्तस्य किञ्चित् स्वकार्यमस्ति, यत्र सापेक्षत्वमनपेक्षत्वं वा स्यात्। पुरुषप्रवृत्त्यादौ तु

धिकरणत्व उपाधि नहीं होगी, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में ज्ञानत्वानधिकरणत्व कभी नहीं बन सकता, यह कह चुके हैं। प्रमा, दोष व्यतिरिक्त जो हेतु तदतिरिक्त हेतु से जन्य नहीं है क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है, इसलिये अप्रमा की तरह। यह सत्प्रतिपक्ष यहाँ उपस्थित हो सकता है। नैर्मल्य का व्यपदेश (कथन) भी काच, कामलादि नेत्र दोषों के निराकरण से मूलक हो है। आयुर्वेद में उपदिष्ट अंजन आदि का उपयोग भी दोष के परिहार के लिये ही होता है, किसी गुण को पैदा करने के लिये नहीं। इसलिये आयुर्वेद से भी गुण की सिद्धि नहीं होगी। किसी तरह गुण की सिद्धि हो भी जाय तो उसका उपयोग दोषाभाव के सम्पादन के लिये ही होगा, प्रामाण्य के उत्पादन में नहीं, क्योंकि प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वरूपावस्थित कारकों से ही होना सम्भव है। जैसे सभी अर्थों को प्रत्यक्ष प्रकाशित करने वाले स्वभाववाला चित्तसत्त्व यदि रज और तम से अवरुद्ध है तो वह सभी अर्थों का प्रकाश नहीं कर सकता, रज और तम के हट जाने पर उसका न्यूनाधिक रूप से प्रकाशन होता है, उसी तरह से उस उस रूप आदि का प्रकाशन करने वाले चक्षुरादि की शक्ति भी नाना प्रकार के दोषों से अवरुद्ध हो जाती है। अंजन प्रभृति औषधियों के उपयोग से दोषों का परिहार होने पर वे ही चक्षुरादि न्यूनाधिक रूप से विषय को प्रकाशित कर देते हैं। यौगिक समाधि से उत्पन्न उपायों से तो बहुत दूर के रूपादि का भी प्रकाश हो जाता है।

यह जो कहा गया है कि "प्रमाण को अपने कार्य को करने में दूसरे की अपेक्षा नहीं होती, इसको भी स्पष्ट रूप से बताना होगा। कार्य को उत्पन्न करने में कौन निरपेक्ष है? सम्पूर्ण सामग्री या उसका एक देश? अथवा उस सामग्री से उत्पन्न होने वाला ज्ञान? इन तीनों में से यदि सम्पूर्ण सामग्री को निरपेक्ष कहो तो ठीक है, क्योंकि वह सामग्री अपने कार्य को पैदा करने में किसी की अपेक्षा नहीं रखती, किन्तु इतने से स्वतः प्रामाण्य नहीं बनता, क्योंकि उसका निश्चय पराधीन है। सामग्री के अन्तर्गत कारक की अपने कार्य को पैदा करने में परापेक्षा अपरिहार्य है, क्योंकि किसी एक कारक (साधन) से पूरा कार्य नहीं बनता। ज्ञान-फल ही है, प्रमाण नहीं, यह पहले कहा जा चुका है। फलस्वरूप उस ज्ञान का अपना कोई कार्य नहीं है, जहाँ पर कि सापेक्षता अथवा निरपेक्षता बन सकती हो। पुरुष की प्रवृत्ति में तो इच्छा की अपेक्षा विद्यमान है ही, यह सब गलत है, क्योंकि चित् के प्रतिबिम्ब से युक्त[1] वृत्त्यात्मक ज्ञान की अज्ञान, संशय आदि की निवृत्ति रूप कार्य के प्रति निरपेक्ष कारणता होने से

१. जैसे तालाब का पानी छिद्र से निकलकर नहर या नाली के द्वारा खेत में जाता है और खेत की क्यारी में जाकर क्यारी के त्रिकोण, चतुष्कोण, वर्तुल आदि आकारों को स्वयं धारण कर लेता है, ऐसे ही निर्मल सत्त्व गुण का परिणाम अन्तःकरण चक्षु आदि प्रणाली के द्वारा घट आदि विषय पर जाकर घटादि विषयों के आकार वाला बन जाता है। अन्तःकरण के इस विषयाकार परिणाम को ही दार्शनिकगण वृत्ति कहते हैं। इतना होने पर भी घट का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि अन्तःकरण भी जड़, उसकी विषयाकार परिणत वृत्ति भी जड और घट भी जड हैं। यह ठीक वैसी ही स्थिति है, जैसे कि एक अन्धे के पीछे दूसरा अन्धा लग जाय। इसलिये जब अन्तःकरण की घटाकार वृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब घट का ज्ञान होता है।

तदिच्छाद्यपेक्षत्वं विद्यत एवेति तन्न, चित्प्रतिबिम्बोपेतस्य वृत्त्यात्मकस्य ज्ञानस्य अज्ञानसंशयादिनिवृत्तिलक्षणकार्यं प्रति नैरपेक्ष्येण प्रामाण्यस्वतस्त्वोक्तिसम्भवात्। ज्ञानस्येन्द्रियसन्निकर्षाद्यपेक्षया फलत्वेऽपि संशयज्ञानादिनिवृत्तिरूपस्य तत्फलस्यानुभविकत्वेन फलवत्त्वोपपत्तेः। मीमांसकरीत्या ज्ञानप्राकट्ययोर्भेदाभ्युपगमेनापि तत्समाधानमुक्तमेव।

यदप्युक्तम्—"प्रामाण्यनिश्चयस्य हि द्वयी गतिः, नास्तित्वं कारणापेक्षिता वा। न पुनरस्ति च प्रामाण्यनिश्चयः कारणानपेक्षश्चेति वक्तुं शक्यम्, तत्र प्रथमप्रवर्तकप्रतिभासप्रसवसमये तावन्नास्त्येव प्रामाण्यनिश्चयः। नहि नीलग्राहिणा प्रमाणेन नीलस्वरूपमिव स्वप्रामाण्यमपि निश्चेतुं पार्यते। कालान्तरे प्रामाण्यनिश्चयः सत्यमस्ति, न तु तत्र नैरपेक्ष्यम्, प्रवृत्तिसामर्थ्याधीनत्वात् तन्निश्चयस्येति, तदपि न, नीलग्राहिणा प्रत्यक्षेण नीलस्येव तस्याग्राह्यत्वेऽपि ज्ञानग्राहकेण साक्षिणैव तद्ग्रहणेन तद्ग्रहणोपपत्तेः। अत एव ज्ञानस्यादित एव प्रमाणत्वेन स्फुरणम्, अन्यथा प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेन च प्रामाण्यस्य स्वतो ग्राह्यत्वाभ्युपगमे दोषाभावात्। ननु च तथात्वे प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिरिति चेन्न, स्वतः प्रमाणत्वेन भवदभिमते धर्मिज्ञानेऽनुव्यवसाये च सुगतमतानुसारिणां विपर्ययवत् तदुपपत्तेः।

एवमेव विज्ञानग्राहकसाक्षिमात्रग्राह्यत्वमेव स्वतो ग्राह्यत्वमप्युक्तमेव। मिथ्यारजतादिबुद्धिष्वपि प्रसक्तस्यापि तस्य कारणदोषबाधकज्ञानाभ्यां तदपनोदनान्न तत्र स्वतस्त्वप्रसङ्गः। निःशङ्कप्रवृत्त्यापि प्रामाण्यस्वतस्त्वमुक्तमेव। प्रामाण्यस्य परतो ग्रहणासम्भवादपि स्वतस्त्वमुक्तम्।

प्रामाण्य का स्वतस्त्व माना जा सकता है। इन्द्रिय संनिकर्ष की दृष्टि से ज्ञान फल होने पर भी संशय, अज्ञान आदि की निवृत्ति रूप फल की दृष्टि से ज्ञान की भी फलवत्ता अनुभव सिद्ध है। मीमांसक की दृष्टि से ज्ञान और प्राकट्य में श्रेष्ठ है। इससे भी शंका का समाधान हो जाता है, जो कि बताया जा चुका है।

कहा जाता है कि—"प्रामाण्य के निश्चय के प्रसंग में दो ही रास्ते हैं या तो वह नहीं है और यदि है तो उसका कोई न कोई कारण है। प्रामाण्य का निश्चय भी है और उसका कोई कारण नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह बात सही है कि प्रथम प्रवर्तक के प्रतिभास पैदा होते समय प्रामाण्य का निश्चय नहीं ही है, क्योंकि नील के ग्राहक प्रमाण से नील के स्वरूप की तरह अपने प्रामाण्य का भी निश्चय नहीं हो सकता। कालान्तर में प्रामाण्य का निश्चय है सही, किन्तु वह निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि उसका निश्चय प्रवृत्ति सामर्थ्य के अधीन है"। किन्तु यह बात गलत है, क्योंकि नील का ज्ञान कराने वाले प्रत्यक्ष से नील वर्ण के ज्ञान की तरह नील ज्ञान की प्रामाणिकता के न बताये जाने पर भी ज्ञान के ग्राहक (ज्ञापक) साक्षी के द्वारा हो उसके ग्रहण (ज्ञान) की उपपत्ति हो जाती है। इसीलिये ज्ञान प्रारम्भ से ही प्रमाण रूप में स्फुरित होता है, अन्यथा वह प्रवर्तक नहीं हो सकता। ज्ञान का जो ग्राहक है, मात्र उसीसे इसका भी ग्रहण होता है, अतः प्रामाण्य के स्वतस्त्व को मानने में कोई दोष नहीं है। यह कहना कि ऐसी अवस्था में तो फिर प्रामाण्य में संशय उठेगा ही नहीं, ठीक नहीं है, क्योंकि [1] स्वतः प्रमाण रूप से अभिमत धर्मी ज्ञान में और अनुव्यवसाय में सौगत मतानुयायी जैसे विपर्यय मानते हैं, उसी पद्धति से संशय की भी उपपत्ति हो जायगी।

इसी तरह से स्वतः ग्राह्यता का अभिप्राय यह है कि वह विज्ञान के ग्राहक साक्षी मात्र से हो ग्राह्य है। यह बात पहिले कही जा चुकी है। मिथ्या रजत आदि बुद्धि में भी विज्ञान ग्राहक साक्षीमात्र से ग्राह्य प्रामाण्य की प्राप्ति होने पर भी ऐसे स्थलों में कारण दोष और बाधक ज्ञान से उसका (प्रामाण्य का) अपनोदन हो जाता है, अतः वहाँ स्वतः प्रामाण्य की प्रसक्ति नहीं है। निःशंक प्रवृत्ति भी प्रामाण्य के स्वतस्त्व को सिद्ध करती ही है, यह कहा जा चुका है। प्रामाण्य का परतः ग्रहण संभव नहीं होता, इससे भी उसका स्वतस्त्व ही प्रतिपादित है।

---

१. नैयायिक ज्ञान को परतः प्रमाण मानते हुए भी धर्मी ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानते हैं। फिर भी उनके मत में संशय बन ही जाता है। इसी प्रकार बौद्ध ज्ञान को परतः प्रमाण मानते हुए भी अनुव्यवसाय (ज्ञान विषयक ज्ञान) को स्वतः प्रमाण मानते हैं। फिर भी उनके मत में जैसे विपर्यय बन जाता है, ठीक वैसे हो हमारे मत में भी ज्ञान को स्वतः प्रमाण मान लेने पर भी संशय और विपर्यय बन ही सकते हैं।

यदुक्तम्—'क्षणिकत्वात् कालान्तरे ज्ञानमेव न तिष्ठति, प्रामाण्याप्रामाण्यचिन्ता वृथेति' तदपि यत्किञ्चित्, अतिक्रान्तस्यापि स्मर्यमाणस्य तदुत्पादकस्य वा वर्तमानस्य कारकचक्रस्य प्रामाण्यनिश्चायकत्वसम्भवात्।

यदुक्तम्—'अदृष्टविषये प्रामाण्यनिश्चयपूर्विकायाः प्रवृत्तेरभ्युपगमान्नेतरेतराश्रयादिकं न वा चक्रकम्, दृष्टे विषये ह्यनिर्णीतप्रामाण्यस्यार्थसंशयात् प्रवृत्तिरूपमनर्थसंशयाच्च निवृत्त्यात्मकं व्यवहारमारभमाणो लोको दृश्यत इति चेत्तत्र दृष्टविषयेऽपि संशयान्निवृत्तेः सम्भवेऽपि प्रेक्षावतां प्रामाण्यस्वतस्त्वादेव प्रवृत्त्युपपत्तेः। दृष्टादृष्टविषये सर्वत्र न्यायस्य समानत्वाद् इतरेतराश्रयादिकमनिवार्यमेव। प्रामाण्यपरतस्त्वपक्षे दृष्टेऽपि विषये—'सर्पान् कुशाग्राणि तथोदकानि ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति। अज्ञानतस्तत्र पतन्ति चान्ये ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्॥' भोजने शयने शस्त्रास्त्रप्रयोगे युद्धे च संशयितप्रवृत्तिर्महतेऽनर्थाय भवति। किञ्चादृष्टविषयेऽपि कर्मोपासनादौ नानुष्ठातारः प्रामाण्यनिर्णयाय प्रमाणान्तराण्यपेक्षन्ते। तत्कस्य हेतोः? प्रामाण्यस्वतस्त्वादेवेति मन्तव्यम्। संशयादिहेतूपस्थितौ तु स्वतः प्राप्तस्य प्रामाण्यस्यापनोदनादेवाप्रामाण्यशङ्कया निवर्तन्ते। प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यौपयिकप्रामाण्याप्रामाण्यविचारस्तु दृष्टादृष्टादिविषयेषु सर्वत्रैव।

यदुक्तम्—'दृष्टे विषये प्रामाण्यान्वेषणं व्यर्थमिष्यत एव, किन्तु तत्र प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यं निश्चिन्वन् आप्तोक्तत्वस्य हेतोः प्रामाण्येन व्याप्तिमवगच्छति, अदृष्टविषयोपयोगिवेदादिप्रामाण्याप्रामाण्यपरिच्छेदे पारम्पर्येणोपायत्वात्। तस्मात् स्वविषये व्यर्थोऽपि प्रामाण्यनिर्णयस्तत्र साधको भवतीति', तन्न, अनाप्तानुच्चरितत्वेनैव पौरुषेयापौरुषेयसर्वविधवाक्यानां प्रामाण्योपपत्तावाप्तोक्तत्वस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वासिद्धौ तादृग्व्याप्तेरेवासिद्धत्वात्।

यह कहना भी गलत है कि ज्ञान तो क्षणिक है, कालान्तर में वह रहेगा ही नहीं तो उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य की चिन्ता व्यर्थ है, क्योंकि बीते हुए ज्ञान का स्मरण होने पर अथवा ज्ञान के उत्पादक वर्तमान समय के साधन समूह में प्रामाण्य का निश्चय हो सकता है।

यदि आप यह कहें कि अदृष्ट विषय में प्रवृत्ति प्रामाण्य निश्चय पूर्वक ही स्वीकार करने से इतरेतराश्रय अथवा चक्रक दोष नहीं होगा, दृष्ट विषय में प्रामाण्य के अनिर्णीत होने पर अर्थ के संशय से प्रवृत्तिरूप और अनर्थ के संशय से निवृत्तिरूप व्यवहार करते हुए लोग देखे जाते हैं, तो इस पर हमारा कहना है कि दृष्ट विषय में संशय से निवृत्ति भी तो हो सकती है, ऐसी परिस्थिति में समझदार व्यक्ति की प्रवृत्ति प्रामाण्य के स्वतस्त्व से ही उपपन्न हो सकती है। दृष्ट और अदृष्ट विषय में सर्वत्र समान ही न्याय होने से इतरेतराश्रय आदि दोष अनिवार्य है। प्रामाण्य का परतस्त्व मानने वालों के पक्ष में दृष्ट विषय में भी "सर्प, कुशा के तीखे अग्रभाग, जल आदि को देखकर जानकार मनुष्य चलते समय इनको छोड़कर चलता है, इसके विपरीत नहीं जानने वाले मनुष्य इनके चक्कर में पड़ जाते हैं। इसीसे आप समझिये कि ज्ञान की क्या विशेषता है" इस आभाणक के अनुसार भोजन, शयन, शस्त्रास्त्र के प्रयोग, युद्ध आदि में संशयग्रस्त प्रवृत्ति होगी तो उससे महान् अनर्थ होने की आशंका रहती है। इसी तरह अदृष्ट विषय में भी यज्ञ-याग आदि कर्म और उपासना करने वाले व्यक्ति प्रामाण्य के निर्णय के लिए दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखते। इसमें क्या कारण है? प्रामाण्य के स्वतस्त्व को ही इसमें कारण मानना पड़ेगा। संशय प्रभृति कारणों के उपस्थित होने पर स्वतःप्राप्त प्रामाण्य का अपनोदन हो जाने से अप्रामाण्य की आशंका से निवृत्ति होती है। समझदार व्यक्ति की प्रवृत्ति के लिये सहायक प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विचार दृष्ट और अदृष्ट सभी विषयों में होता है।

यह जो कहा गया है कि "दृष्ट विषय में प्रामाण्य की खोज व्यर्थ ही मानी जाती है, किन्तु वहाँ पर प्रवृत्ति के सामर्थ्य से प्रामाण्य का निश्चय कर आप्तोक्तत्व रूप हेतु की प्रामाण्य के साथ व्याप्ति जानता है। क्योंकि अदृष्ट विषय के लिये उपयोगी वेद आदि के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के परिच्छेद में आप्तोक्तत्व हेतु परम्परा से सहायक है। इसलिये अपने विषय में व्यर्थ होते हुए भी प्रामाण्य का निर्णय ऐसे स्थलों में साधक होता है", किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनाप्त के द्वारा अनुच्चरित इतने मात्र से ही पौरुषेय एवं अपौरुषेय सभी तरह के वाक्यों में प्रामाण्य की उपपत्ति हो जाती है, इसलिये आप्तोक्तत्व को प्रामाण्य का प्रयोजक मानना कथमपि सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वैसी व्याप्ति ही नहीं बनेगी।

यदुक्तम्—'समीहा प्रवृत्तिरुच्यते, सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्धः' (भाष्य उपोद्घाते) इति न्यायभाष्यानुसारेणार्थक्रियाफलज्ञानमेव प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, तेनैव पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यम्', इति, तदपि न, अदृष्टविषये क्रियाफलज्ञानासम्भवात्। यत्र लौकिके जलज्ञानादावर्थक्रियाफलज्ञानं सम्भवति, तत्र प्रामाण्यविचारस्य वैयर्थ्यमुपेयते। यत्रार्थक्रियाफलज्ञानमेव न सम्भवति, तत्र प्रामाण्यविचारस्य प्रयोजनमुपेयत इति चित्रमेव। यदि क्वचिदपि निःशङ्कसमर्थप्रवृत्तिः संशयादुत्पद्येत, तर्हि सर्वत्रैव तथा सम्भवेन प्रामाण्यनिश्चयो निरर्थकः स्यात्। तथा च यागादिप्रवृत्तावपि प्रामाण्यनिश्चयोऽनपेक्षितः स्यात्।

यदप्युक्तम्—सकलप्राणभृत्प्रतीतिसाक्षिकव्यवहारविरोधित्वाद् अर्थक्रियाज्ञानस्य प्रमाणान्तरान्वेषणानपेक्षणाद् अपरीक्षणीयप्रामाण्याद् अर्थक्रियाज्ञानस्य नानवस्था। प्रवर्तकं तु सर्वज्ञानं प्रवृत्तिसिद्धये परीक्षणीयप्रामाण्यं भवति। फलज्ञाने तु सिद्धप्रयोजनत्वात् प्रामाण्यपरीक्षापेक्षैव नास्ति, कुतोऽनवस्था? संशयाभावाद्वा तत्प्रामाण्यविचाराभावः। प्रवर्तकं तूदकज्ञानमविद्यमानेऽपि नीरे मिहिरमरीचिषु दृष्टमिति संशेरते जनाः। अर्थक्रियाज्ञानं तु सलिलमध्यवर्तिनां मत्स्यादीनामिव तदविनाभूतमेवेति न तत्र संशयः। तदभावान्न तत्र प्रामाण्यविचारः, विचारस्य संशयपूर्वकत्वात्। विशेषदर्शनाद्वा फलज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः। शौचाचमनमज्जनदेवपितृतर्पणपटक्षालनश्रमतापापनोदनाद्यनेकप्रकारनीरपर्यालोचनप्रबन्धलक्षणविशेषदर्शनादपि प्रामाण्यनिश्चयः। नहीयान् कार्यकलापो मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य क्वचिदपि दृष्टः। नहि स्वप्नेऽप्यस्य प्रबन्धस्य दर्शनमस्ति, स्वप्नदशाविसदृशविस्पष्टजाग्रदवस्थाप्रत्ययस्य संदर्शनसंवेद्यत्वात्। एषोऽस्मि जागर्मि न स्वपिमीति स्वप्नविलक्षणमनिद्रायमाणः प्रत्यक्षमेव जाग्रत्समयं सकलो जनश्चेतयते। न च तस्मिन्नवसरे सलिलमन्तरेणैताः क्रिया वर्तमाना दृश्यन्ते, तद्विशेषदर्शनात् सुज्ञानमर्थक्रियाज्ञानप्रामाण्यम्। कारणपरीक्षातोऽपि प्रामाण्यं निश्चेष्यामः। यथोक्तं

यह कहा जाता है कि "समीहा प्रवृत्ति को कहते हैं और इस प्रवृत्ति के फल के साथ संबद्ध होने को सामर्थ्य कहते हैं" इस न्यायभाष्य की उक्ति के अनुसार अर्थक्रिया के फल का ज्ञान हो प्रवृत्ति का सामर्थ्य हुआ। इसी से पूर्वज्ञान का प्रामाण्य बनेगा", यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अदृष्ट विषय में क्रिया के फल का ज्ञान नहीं हो सकता। लौकिक जलज्ञान आदि स्थलों में जहाँ पर कि अर्थक्रिया के फल का ज्ञान हो सकता है, प्रामाण्य विचार की व्यर्थता मानी जा सकती है। जहाँ पर अर्थ क्रिया के फल का ज्ञान नहीं हो सकता, वहाँ पर तो प्रामाण्य के विचार का प्रयोजन माना जाता है, यह उक्ति भी विचित्र प्रतीत होती है। यदि कहीं पर भी संशय के अनन्तर शंका रहित सफल प्रवृत्ति देखी गई हो तो सभी जगह इसकी संभावना रहने से प्रामाण्य का निश्चय निरर्थक हो जायगा। इसी स्थिति में याग आदि अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्म में प्रवृत्ति के लिये भी प्रामाण्य के निश्चय की अपेक्षा नहीं रहेगी।

इसी प्रकार यह जो कहा गया है कि "अर्थक्रिया ज्ञान को सभी प्राणियों की प्रतीति के साक्षी व्यवहार की सिद्धि के लिये प्रमाणान्तर के अन्वेषण से निरपेक्ष मानना पड़ेगा, जिससे प्रामाण्य की परीक्षा की अपेक्षा न रहे, फलतः ऐसी परिस्थिति में अनवस्थादोष नहीं होगा। इसके विपरीत सभी प्रवर्तक ज्ञान प्रवृत्ति की सिद्धि के लिये प्रामाण्य के परीक्षण की अपेक्षा रखते हैं। फल ज्ञान के हो जाने पर तो प्रयोजन के सिद्ध हो जाने से प्रामाण्य के परीक्षण की अपेक्षा ही नहीं रहती, क्योंकि यहाँ पर प्रामाण्य का प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, अतः यहाँ पर भी अनवस्था कैसी? अथवा संशय के अभाव में उसके प्रामाण्य पर विचार ही नहीं होगा। प्रवर्तक ज्ञान में तो जल के न रहने पर भी बालू रेत पर चमकती सूरज की किरणों में जल का सन्देह होता है, अतः यहाँ पर मनुष्यों का संशय में पड़ जाना स्वाभाविक है। अर्थक्रिया ज्ञान तो जल के मध्यवर्ती मत्स्य आदि के समान अविनाभावी है, अत. यहाँ पर भी संशय नहीं होगा। संशय के अभाव में वहाँ पर प्रामाण्य का विचार भी नहीं होगा, क्योंकि संशय होने पर ही विचार की प्रवृत्ति होती है। फलज्ञान में विशेष दर्शन के कारण से भी प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। शौच, आचमन, स्नान, देव तथा पितृतर्पण, कपड़ा धोना, श्रम एवं गरमी को हटाना प्रभृत्ति अनेक प्रकार के कार्य जल के देखे जाते हैं, इनमे भी प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। इतने सारे कार्य मिथ्याज्ञान से प्रवृत्त होने पर कहीं देखे नहीं जाते। ये सारे कार्य जल से स्वप्न में भी होते देखे गये हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वप्नदशा से विपरीत विस्पष्ट जाग्रत् अवस्था का प्रत्यय ही संदर्शन कहलाता है। यह मैं जाग रहा हूँ, सोया नहीं हूँ, इस तरह से स्वप्न से विलक्षण जाग्रत् काल को सभी सचेत व्यक्ति जानते हैं। इस जाग्रत् अवस्था में बिना जल के ही ये सब क्रियाएँ

मीमांसकैरेव—"प्रयत्नेनान्वेषमाणा न दोषमवगच्छेम, तत्प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि। तथा हि विषयस्य चलत्व-सादृश्यादिदोषविरहः, आलोकस्य मलीमसत्वादिकारणवैकल्यम्, अन्तःकरणस्य निद्रादिदोषाद्यदूषितत्वम्, आत्मनः क्षुत्कोपाद्यनाकुलत्वम्, ईक्षणयुगलस्य तिमिरपटलादिविकलत्वमित्यादि। स्वयञ्च कार्यद्वारेण परोपदेशेन सर्वं सुज्ञानम्। निरवद्यकारणजन्यत्वात् प्रमाणमर्थक्रियाज्ञानमिति", तदत्रोच्यते, ज्ञानत्वसामान्याद्यथा तस्य प्रमाणान्तरानपेक्षतया प्रामाण्यस्वतस्त्वमूरीक्रियते, तथैव ज्ञानान्तरेष्वपि तत्किं नाङ्गीक्रियते? ज्ञानत्वाविशेषेऽपि यद्यर्थक्रियाज्ञानस्य प्रामाण्यस्वतस्त्वं तदा किमपराद्धं ज्ञानान्तरैः?

यदुक्तम्—'प्रवर्तकत्वाद् ज्ञानान्तराणि परीक्षणीयप्रामाण्यानि, सिद्धप्रयोजनत्वात्तु नार्थक्रियाज्ञानमिति', तदपि तुच्छम्, प्रमितेरेव प्रमाणफलत्वेन प्रसिद्ध्या तस्याः प्रमाणेनैव निष्पन्नत्वात्, तत्रापि सिद्धप्रयोजनत्वेन तददोषात्। प्रवर्तकत्वं त्विच्छादीनामेव न प्रमाणानाम्, तेषामनधिगतगन्तृत्वेनाकृतकारकत्वाभावात्। न च पूर्वोक्तिविरोधः, पूर्वं संशयाज्ञाननिवर्तकत्वेन फलवत्त्वं ज्ञानस्योक्तमिति वाच्यम्, प्रवर्तकत्वाभावाभिप्रायेण सिद्धप्रयोजनत्वोक्तेः सार्थक्यात्।

निवर्तकत्वं त्वर्थक्रियाज्ञानेऽपि समानमेव। यत्र संशयः समुत्पद्यते तत्रावश्यं प्रामाण्यं परीक्षणीयम्। न च प्रामाण्यपरीक्षणाय संशय उत्प्रेक्षणीयः। तदुक्तमेव—'उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि बाधकम्। स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं

संपन्न होती हैं, ऐसा देखा नहीं जाता। इन विशेषताओं के कारण अर्थक्रिया ज्ञान का प्रामाण्य सरलता से जाना जा सकता है। कारण की परीक्षा से भी प्रामाण्य का निश्चय कर लेंगे, जैसा कि मीमांसकों ने कहा है—"प्रयत्नपूर्वक खोज करने पर भी हम दोषों को नहीं जान पाते, प्रमाण के अभाव में हम उसको निर्दुष्ट मान लेते हैं। जैसे कि विषय में चलत्व, सादृश्य आदि दोष नहीं हैं, प्रकाश में मलिनता आदि कारण नहीं हैं, अन्तःकरण निद्रा प्रभृति दोषों से दूषित नहीं है, आत्मा (प्राण-मन) भूख, क्रोध आदि से आकुल नहीं है, आँखें तिमिर पटल आदि से दूषित नहीं है। स्वयं भी कार्य के द्वारा अथवा दूसरे के उपदेश से यह सब कुछ सरलता से जान सकता है। इस तरह निरवद्य (निर्दोष) कारण से पैदा होने से अर्थक्रियाज्ञान प्रमाण है।" इस पर हमारा कहना है कि जैसे यहाँ पर ज्ञानत्व सामान्य से प्रमाणान्तर निरपेक्ष प्रामाण्य का स्वतस्त्व माना जाता है, उसी तरह ज्ञानान्तरों में भी वह क्यों नहीं स्वीकार किया जाता? ज्ञानत्व में कोई विशेषता न होने पर भी अर्थक्रिया ज्ञान में ही प्रामाण्य का स्वतस्त्व माना जाता है, तो फिर दूसरे ज्ञानों ने क्या अपराध किया है?

यह जो कहा है "प्रवर्तक होने से ज्ञानान्तरों को प्रामाण्य परीक्षा आवश्यक है, अर्थ क्रियाज्ञान का प्रयोजन तो सिद्ध है, अतः यहाँ पर प्रामाण्य परीक्षा की आवश्यकता नहीं है।" यह कथन भी कमजोर है, क्योंकि प्रमिति ही तो प्रमाण के फल के रूप में प्रसिद्ध है और इनकी निष्पत्ति प्रमाण से ही होती है, इसलिये कि यहाँ पर भी प्रयोजन सिद्ध हो गया, अतः अर्थक्रियाज्ञान के समान ही यह भी निर्दुष्ट होगा। प्रवर्तकता इच्छा प्रभृति की ही मानो जाती है, प्रमाणों की नहीं, क्योंकि प्रमाण अनधिगत वस्तु के ज्ञापक माने जाते हैं? अतः इनमें अकृतकारकता[1] नहीं होती। यह कहना कि इससे पूर्व कथन का विरोध होगा, जहाँ पर कि पहले के संशय ज्ञान के निवर्तक होने के कारण ज्ञान का फलवत्त्व माना गया है", इसलिये गलत है कि वहाँ पर प्रमिति प्रवर्तक नहीं होती है इसी अभिप्राय से प्रयोजन सिद्ध है, ऐसा कहा गया है। वही सार्थक भी है।

निवर्तकत्व तो अर्थक्रिया ज्ञान में भी समान ही है। जहाँ पर संशय उठ खड़ा होता है, वहाँ पर अवश्य ही प्रामाण्य की परीक्षा करनी चाहिये। प्रामाण्य की परीक्षा के लिये संशय की कल्पना नहीं कर लेनी चाहिये। जैसा कि कहा गया है—"जो व्यक्ति मोहवश अनुत्पन्न (अविद्यमान) बाधक की कल्पना कर लेता है, वह व्यक्ति सभी व्यवहारों में संशयालु होने के कारण नष्ट हो जाता है। जबरदस्ती उठाया गया संशय व्यक्ति को सभी कार्यों के लिये अस्त-व्यस्त दृष्टिकोण प्रदान कर देता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी

---

१. जैसे पहले से अविद्यमान घड़ा, मिट्टी आदि से बनाया जाता है, ऐसे प्रमाणों के द्वारा प्रमेय (प्रमाणों के विषय) बनाये नहीं जाते किन्तु पहले से विद्यमान ही घट-पट आदि प्रमेय (प्रमाणों के विषय) का ज्ञानमात्र प्रमाणों से होता है।

व्रजेत् ॥ हठादुत्पद्यमानस्तु हिनस्ति सकलाः क्रियाः । स्वभार्यापरिरम्भेऽपि भवेन्मात्रादिसंशयः ॥' इत्यादिना । अर्थक्रियाकारित्वं तु कूटकार्षापणादीनां भृशं दृश्यते, स्वप्नाङ्गनाया रेतोविकिरणहेतुत्वमपि दृश्यत एव । स्वप्ने पानावगाहनादीनामपि व्यभिचारदर्शनान्नार्थक्रियाज्ञानेनापि प्रामाण्यनिर्णयः । अर्थक्रियाज्ञानमपि नाप्रवृत्तस्य भवति, प्रामाण्यावधारणपूर्विकायां प्रवृत्तौ कारणगुणनिश्चये प्रामाण्यचर्चाविबद्धचक्रकादिकमापतत्येव, अनवस्थापि न शाम्यति । दोषज्ञाने तु सत्यप्रामाण्यमेव निश्चीयते, अप्रामाण्यस्य परतस्त्वाभ्युपगमात् । फलज्ञानेन वा कारणपरीक्षया वा दोषज्ञाने स्वतःप्राप्तस्य प्रामाण्यस्यापनोदनम्, दोषाभावज्ञाने तु तदनपोदनादनपोदितं सत् तिष्ठत्येव । फलज्ञानमपि न पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यनिर्धारकं भवति, व्यभिचारदर्शनादित्यप्युक्तमेव । तेन तदपि परीक्षणीयमेव, अन्यथा तद्वदेव प्रवर्तकमपि यावद्बाधादिकं नोदियात् प्रमाणमेव ।

यदप्युक्तम्—'अथ संशयोत्पत्तिसामर्थ्यादिव यथार्थनिश्चयः फलज्ञानेन लप्स्यते । संशयो हि नाम द्वैविध्यदर्शनाद्विना न भवति; नहि स्थाणुपुरुषसाहचर्यमूर्ध्वताख्यस्य धर्मस्य यो न जानाति, स तं दृष्ट्वा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशेते । एवमूर्ध्वत्वादिवद् बोधरूपत्वस्य व्यभिचारित्वाव्यभिचारित्वाभ्यां सहदर्शनमवश्यमाश्रयणीयम् । अन्यथा तद्विषयसंशयानुत्पादः स्यात् । अतः पूर्वमव्यभिचारित्वदर्शने सिद्धे यस्तदा तत्परिच्छेदोपायः स पश्चादपि भविष्यतीति सर्वथा सिद्ध्यत्यव्यभिचारित्वनिश्चयः । अनिश्चितप्रामाण्यादपि वा फलज्ञानात् प्रवर्तकस्य प्रामाण्यनिश्चयो युक्तः । न तु स्वत उत्पत्तौ प्रमाणतदाभासयोर्विशेषग्रहणात् फलज्ञाने च तद्विशेषप्रतिभासात्' इति, तदपि न किञ्चित्, संशयकुक्षिनिविष्टस्याव्यभिचारित्वदर्शनस्य प्रवृ-

भार्या के आलिंगन के समय भी अपनी माता का संशय हो सकता है" इत्यादि । नकली सिक्कों से भी ज्यादातर व्यवहार सम्पन्न होते देखे गये हैं, स्वप्न में देखी गई स्त्री भी शुक्र-क्षरण में कारण होती है । इसी तरह स्वप्न में जल से पान, अवगाहन आदि क्रियाओं का व्यभिचार[1] देखा जाता है, तो इस प्रकार अर्थक्रिया के ज्ञान से भी प्रामाण्य का निर्णय नहीं हो पाता । अर्थक्रिया ज्ञान भी अप्रवृत्त व्यक्ति को नहीं होता, ऐसी परिस्थिति में प्रामाण्य के अवधारण के बाद ही प्रवृत्ति के होने पर और तब कारणगत गुण का निश्चय होने पर प्रामाण्य चर्चा के साथ जुड़े हुए चक्रकादि की आपत्ति को कौन रोक सकता है, अनवस्था भी किसी तरह समाहित नहीं हो सकती । दोषज्ञान के होने पर तो अप्रामाण्य का ही निश्चय होता है, क्योंकि अप्रामाण्य का परतस्त्व माना जाता है । फल के ज्ञान से अथवा कारण की परीक्षा से दोष का ज्ञान होने पर स्वतःप्राप्त प्रामाण्य का अपनोदन हो जाता है और जब दोष के अभाव का ज्ञान होता है, तब ज्ञान प्रामाण्य से अपनोदित (निरस्त अथवा बाधित) न होकर अबाधित रूप में विद्यमान रहता है । फल का ज्ञान भी पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का अवधारक नहीं होता, क्योंकि इसमें भी व्यभिचार देखा जाता है । अर्थात् फल ज्ञान है और प्रामाण्य नहीं है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है । इसलिये इसकी भी परीक्षा करनी ही है । अन्यथा उसी की तरह प्रवर्तक ज्ञान भी जब तक दोष-ज्ञान या बाध उत्पन्न न हो, तब तक प्रमाण ही है ।

यह जो कहा गया है कि—"अब यदि यह कहें कि संशय की उत्पत्ति की सामर्थ्य से ही फलज्ञान से यथार्थता का निश्चय हो जायगा, तो संशय द्वैविध्य के दर्शन के बिना नहीं होता । स्थाणु और पुरुष में समान रूप से मिलने वाले ऊर्ध्वता रूपी धर्म के साहचर्य को जो नहीं जानता, वह उसको देखकर इस संशय में नहीं पड़ेगा कि यह स्थाणु है या पुरुष ? इसलिये ऊर्ध्वत्व आदि की बोधरूपता का व्यभिचारित्व और अव्यभिचारित्व के साथ सहदर्शन (साथ ही साथ ज्ञान) अवश्य अपेक्षित रहेगा । अन्यथा तद्विषयक संशय की उत्पत्ति नहीं होगी । अतः पहले अव्यभिचारित्व दर्शन के सिद्ध हो जाने पर उसके निश्चय के उपाय बाद में भी हो जायँगे, फलतः अव्यभिचारित्व का निश्चय सभी तरह से बन जाता है । अनिश्चित प्रामाण्य वाले फलज्ञान से भी प्रवर्तक ज्ञान का प्रामाण्य-निश्चय उचित है । स्वतः उत्पत्ति में प्रमाण और प्रमाणाभास के विशेष ग्रहण (ज्ञान) से फलज्ञान में फलविशेष के प्रति प्रतिभास से यह सम्भव नहीं है" यह कथन भी जैसा-तैसा ही है, क्योंकि संशय के उदर में पड़ा हुआ अव्यभिचारि-दर्शन प्रवृत्ति का अंग नहीं

१. यह स्पष्ट है कि स्वप्न में प्यास लगने पर दिखाई देने वाला पानी हम भी पी लेते हैं और उससे स्नान भी कर लेते हैं. अतः अर्थक्रियाकारित्व तो वहाँ है, किन्तु स्वप्न में होने वाला जल-ज्ञान प्रमाण (सच्चा) तो नहीं है । इसलिये अर्थक्रिया के आधार पर प्रामाण्य का निश्चय करना सर्वथा गलत है ।

त्यनङ्गत्वात्, अनिश्चितप्रामाण्यात् फलदर्शनाच्च न प्रवर्तकज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयो युक्तः, अप्रमाणस्य प्रामाण्यसाधकत्वानुपपत्तेः। तस्यापि प्रामाण्यनिर्णयाय प्रामाण्यान्वेषणे चानवस्था नोपशाम्यत्येव, बाधादिभिः प्रमाणतदाभासयोर्विशेषग्रहणे तु न सिद्धान्तहानिः। बाधाद्यभावे तु स्वाभाविकं प्रामाण्यमनपोदितमेव तिष्ठति।

यदुक्तम्—'दृष्टविरुद्धत्वादनवस्थाद्यभिधानं विरुद्धाभिधानमेव' इति, तदपि न, प्रामाण्यस्वतस्त्वादेव दृष्टव्यवहारोपपत्तेः। एवं प्रमाणानां परीक्षणं प्रमाणैरप्रमाणैर्वा? प्रमाणैरपि परीक्षितैरपरीक्षितैर्वा? अप्रमाणैरपरीक्षितैः प्रमाणैः प्रमाणपरीक्षणापेक्षया अपरीक्षणमेव युक्तम्। परीक्षितैः परीक्षणे त्वनवस्थैव। तस्मात् प्रामाण्यस्वतस्त्वमेवाभ्युपगन्तव्यम्। सन्देहाद्युत्पत्तौ तु बाधज्ञानकारणदोषज्ञानादिकमन्वेष्टव्यम्। तदुपलम्भेऽप्रामाण्यम्, अनुपलम्भे तु स्वाभाविकं प्रामाण्यमेष्टव्यम्। दृष्टे विषयेऽर्थानर्था अपि दृष्टा एव, ततस्तत्परीक्षणे महताभिनिवेशेन जनानां प्रवृत्तिः। अदृष्टे त्वर्थानर्थावपि तथाविधावेव। यदि दृष्टे विषये प्रामाण्यपरीक्षामन्तरैव प्रवृत्तिस्तदा कुतोऽदृष्टे तत्परीक्षणाभिनिवेशः।

बाध-विचारः

यत्र शुक्तिरजतादौ नेदं रजतमित्यर्थान्यथात्वज्ञानं जायते, तत्र त्वर्थान्यथात्वरूपाऽप्रमाणता शीघ्रगम्यैवेति नानवस्थाशङ्काऽपि, तदपवादात्मनस्तस्य तद्बाधमन्तरानुत्पत्तेः। पूर्वं तु परस्याजातत्वात्तदबाधित्वैव जायते। तदुक्तम्—

हो सकता, उसका प्रामाण्य भी निश्चित नहीं है। फल के दर्शन से भी प्रवर्तक ज्ञान का प्रामाण्य निश्चय ठीक नहीं है, क्योंकि अप्रमाण प्रमाण का साधक नहीं हो सकता। इसके प्रामाण्य के निर्णय के लिये यदि पुनः प्रामाण्य का अन्वेषण करना है; तो ऐसी परिस्थिति में अनवस्था की शान्ति (समाप्ति) नहीं होगी। बाध प्रभृति से प्रमाण और प्रमाणाभास की विशेषता के ग्रहण करने में कोई सिद्धान्त की हानि नहीं है। बाध आदि यदि नहीं है, तो स्वाभाविक रूप से प्रामाण्य की अव्याहत स्थिति रहेगी।

यह जो कहा गया है कि "दृष्ट प्रमाण से विरुद्ध होने से अनवस्था आदि की बात करना विरुद्ध कथन ही माना जायगा, यह भी गलत है, क्योंकि प्रामाण्य के स्वतस्त्व से ही सारे इष्ट व्यवहारों की उपपत्ति बन सकेगी। इसी तरह आप यह बताइये कि प्रमाणों की परीक्षा प्रमाणों से होगी या अप्रमाणों से? यदि प्रमाणों से होगी तो वे परीक्षित होंगे अथवा अपरीक्षित? अप्रमाणों से तथा अपरीक्षित प्रमाणों से यदि प्रमाण की परीक्षा होनी है, तो इसकी अपेक्षा प्रमाण की परीक्षा ही न की जाय, यही अच्छा है। यदि परीक्षित प्रमाणों से परीक्षा करनी है तो उसमें अनवस्था दोष होगा।[1] इसलिये यही अच्छा है कि प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः ही माना जाय। सन्देह आदि की उत्पत्ति होने पर बाध-ज्ञान, कारणगत दोष-ज्ञान आदि की खोज करनी चाहिये। इनकी उपलब्धि हो जाने पर अप्रामाण्य मानना पड़ेगा। यदि उपलब्धि नहीं होती तो स्वाभाविक प्रामाण्य मानना पड़ेगा। दृष्ट विषय में अर्थ और अनर्थ दोनों दृष्ट ही हैं, अतः इनकी परीक्षा में महान् प्रयत्न के साथ मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है। अदृष्ट विषय में अर्थ और अनर्थ भी अदृष्ट ही है। यदि दृष्ट विषय में प्रामाण्य की परीक्षा के बिना ही प्रवृत्ति हो सकती है, तब अदृष्ट के विषय में प्रमाणों की परीक्षा का इतना आग्रह क्यों?

बाध विचार

जहाँ शुक्ति में ज्ञान रजत का होता है, वहाँ बाद में जब यह ज्ञान होता है कि यह रजत (चाँदी) नहीं है, यहाँ पर मुझे अर्थ का अन्यथा ज्ञान हो गया था, इस तरह की प्रतीति होती है, तब इस तरह के ज्ञान को अप्रामाणिकता का बोध शीघ्र हो जाता

---

१. एक प्रमाण की परीक्षा करने के लिये दूसरा प्रमाण, फिर उस दूसरे प्रमाण की परीक्षा करने के लिये तीसरा प्रमाण और तीसरे के लिये चौथा, चौथे के लिये पाँचवाँ, इस तरह से प्रमाणों की परीक्षा कभी समाप्त ही नहीं होगी। यदि अन्त में किसी एक प्रमाण को बिना परीक्षा किये ही सत्य मान लेंगे, तो पहले प्रमाण को ही सत्य मान लेने में क्या आपत्ति है?

पूर्वं परमजातत्वादबाधित्वैव जायते । परस्यानन्यथोत्पादान्न त्वबाधेन सम्भवः ॥

एतेन रजतज्ञानस्य ज्यायसः कनीयसा नेदं रजतमिति ज्ञानेन कथं बाधः, ज्यायसा कनीयस एव बाधौचित्यादित्यपास्तम् । अनपेक्षितस्य ज्यायस्त्वं बाध्यत्वे हेतुर्न बाधकत्वे इत्युक्तमेव—

पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम् । अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत् ॥ इति ।

ततश्चात्र पूर्वस्य निरपेक्षत्वेऽपि पूर्वाबाधेनोत्पत्तिमेवानासादयतोत्तरेणेत्युत्पत्त्यवस्थायामेवार्थान्यथात्वरूपाप्रामाण्यबोधनाल्लाघवमेव ।

नन्वेवं समानविषयेणार्थान्यथात्वज्ञानेन पूर्वस्य बाधेऽपि दोषज्ञानेन तु भिन्नविषयेण कथं पीतशङ्खज्ञानं बाध्यते ? यतोऽत्र पीतशङ्खज्ञानं शङ्खे पीतिमानमवगमयति, दोषज्ञानं तु नेत्रे पित्तदोषमिति वाच्यम्, दुष्टकारणबोधे विषयभेदेन तादृशलाघवाभावेऽपि कारणदोषावगमप्रणाल्याऽऽर्थिकतुल्यताप्राप्त्या गोदोहनेन चमसस्येव बाधोपपत्तेः । यथा 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' इति पुरुषार्थेनापि गोदोहनेन क्रत्वर्थस्यापि चमसस्यार्थिकतुल्यविषयतया भवति बाधः, द्वयोरपि प्रणयनद्वारत्वात् । गोदोहनेन तत्साधने चमसस्यार्थान्निवृत्तिर्भवति, एवमत्राऽपि ।

यद्यपि पित्तज्ञानं पित्तं गृह्णाति, पित्तं च श्वेते पीतभ्रमस्य कारणतयाऽवगते चक्षुषि दृश्यमानं स्वकार्यस्य

है, अतः यहाँ पर अनवस्था दोष[1] की शंका नहीं रहती, क्योंकि यह दूसरा ज्ञान पहले ज्ञान का अपवाद है, अतः जब तक वह पहले ज्ञान को बाध नहीं लेगा, तब तक यह दूसरा ज्ञान पैदा ही नहीं हो सकता । पूर्व ज्ञान की स्थिति के समय तो उत्तर ज्ञान पैदा हुआ नहीं है, अतः वह बिना किसी को बाधित किये पैदा होता है । जैसा कि कहा गया है—"बाद में पैदा होने वाले ज्ञान के पहले पैदा न होने से पहला ज्ञान दूसरे ज्ञान को बाधित किये ही पैदा होता है.। किन्तु दूसरा ज्ञान तो पहले ज्ञान को बाधित किये बिना पैदा ही नहीं हो सकता । अतः दूसरा ज्ञान पहले ज्ञान को बाधित करके ही पैदा होता है, क्योंकि पहले ज्ञान का बाध ही दूसरे ज्ञान का स्वरूप है, अतः उसको बिना बाधे वह कैसे पैदा हो सकता है ।"

इस तर्क के आधार पर किसी की इस उक्ति का खण्डन हो जाता है कि "रजत-ज्ञान तो ज्येष्ठ (पूर्वोत्पन्न) है और यह रजत नहीं है, यह ज्ञान कनिष्ठ (पश्चाद्भावी) है, अतः ज्येष्ठ ज्ञान का कनिष्ठ ज्ञान से कैसे बाध होगा ? प्रत्युत ज्येष्ठ ज्ञान से ही कनिष्ठ ज्ञान का बाध होना चाहिये ।"

यह कहा जा चुका है कि अनपेक्षित ज्ञान की ज्येष्ठता उसको बाध्यता में ही कारण होती है, वह किसी की बाधिका नहीं हो सकती । "जहाँ पर ज्ञान सन्तति की अन्योन्य निरपेक्ष उत्पत्ति होती है, वहाँ पर पूर्व बुद्धि की अपेक्षा पर बुद्धि की बलवत्ता मानी जाती है ।" अर्थात् एक दो, तीन आदि ज्ञान जहाँ एक दूसरे की अपेक्षा के बिना हों, वहाँ पूर्व की अपेक्षा पर ज्ञान बलवान् होता है । किन्तु यहाँ पर पूर्व ज्ञान के निरपेक्ष होने पर भी वह पर ज्ञान की अपेक्षा हलका ही माना जायगा, क्योंकि पूर्व ज्ञान को बाधित किये बिना उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती और जब यह उत्पन्न हो जाता है तो उसी अवस्था में पूर्व ज्ञान के अर्थान्यथात्व को बताकर उसके अप्रामाण्य का बोधन कराता है । इस प्रकार लाघव ही है ।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि शुक्ति, रजत आदि स्थल में परवर्ती अर्थान्यथात्व ज्ञान से, अर्थात् यह रजत न होकर शुक्ति है, इस प्रकार के समानविषयक ज्ञान से पूर्व ज्ञान का बाध सम्भव है, किन्तु दोष ज्ञान तो भिन्न विषयक है, अतः उससे शंख की

---

१. शुक्तिका में रजत का ज्ञान हुआ, तदनन्तर 'यह रजत नहीं' यह ज्ञान होने पर पूर्व रजत ज्ञान बाधित होता है । इस स्थिति में शंका हो सकती है कि जैसे द्वितीय ज्ञान प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का विघटक है, वैसे एक तृतीय ज्ञान को मानकर उसे द्वितीय ज्ञान के प्रामाण्य का विघटक क्यों न माना जाय ? इस प्रकार अनवस्था क्यों न होगी ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि उत्प्रेक्षा मात्र से कहीं भी शंका नहीं होती । यदि ऐसा हो तो सभी व्यवहार उच्छिन्न हो जायेंगे । भगवान् ने ठीक ही कहा कि 'संशयात्मा का यह लोक भी नहीं, न परलोक ही' । तृतीय ज्ञान में दोष ज्ञान या बाधज्ञान होने पर ही वह द्वितीय का बाधक बनेगा । अतः अनवस्था नहीं ।

पीतज्ञानस्य भ्रान्तत्वमवगमयति, भ्रान्तत्वेन चार्थान्यथात्वमिति बाधसिद्धि, तथापि नाऽयमुत्सर्गो यदाऽऽद्यस्य द्वितीयेन बाधः। किन्तु द्वितीये बाधज्ञाने यदि तृतीयं बाधकज्ञानं दोषान्तरज्ञानं च न भवेत्, तदैवैषा गतिः। तदुद्भवे तु द्वितीयस्य मिथ्यात्वादाद्यस्यैव तद्बाधकत्वेन प्रामाण्यम्।

न चैवं तृतीयज्ञानाधीनमाद्यस्य प्रामाण्यमिति परायत्तमेव प्रामाण्यमिति वाच्यम्, तस्योत्पत्तित एवार्थमवबोधयतः स्वत एव प्रामाण्यात्। द्वितीयेन दोषज्ञानेन तदपवादः प्रसक्तः। तृतीयेन द्वितीये बाधिते सति अवगतदोषत्वात् अनपवाद एव।

ननु यथाऽऽद्यस्य द्वितीयेन दोषोऽवगतस्तस्यापि तृतीयेन, तथा तृतीयस्याप्यन्येन दोषाऽवगमसंभवान्न क्वचिदाश्वास इति चेन्न, भावानवबोधात्। तथाहि—यदा जाग्रद्दशायां स्वस्थेन्द्रियमनस्कस्य स्फीतप्रकाश मध्यवर्तिसन्निहितघटज्ञाने लोकप्रसिद्धमिथ्यात्वहेतवो दोषा नानुभूयन्ते, तदा दोषाशङ्काया अभावाद् अप्रामाण्यशङ्काऽपि

पीतता का ज्ञान कैसे बाधित होगा? क्योंकि यहाँ पर पीत शंख का ज्ञान शंख में पीलेपन का ज्ञान कराता है और दोष का ज्ञान नेत्र में पित्तजन्य दोष को बताता है, इस प्रकार इन दोनों का विषय भिन्न है। कारणगत (नेत्रगत) दोष ज्ञान से विषयगत (शङ्खगत) पीतिमा का बाध प्राप्त ही नहीं होता। समान विषय में ही लाघवात् बाध-बाधकभाव की प्राप्ति हो सकती थी। यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि कारणगत दोष के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में यथार्थता बुद्धि नहीं होगी। अर्थान्यथात्व का ही ज्ञान होगा। इसी से बाध होगा। जैसे गोदोहन से चमस का बाध होता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी दोष ज्ञान से पीत शंख ज्ञान का बाध हो सकेगा। जैसे कि "पशुकामना वाला गोदोहन से प्रणयन करे"[1] इस विधि वाक्य के द्वारा पुरुषार्थ स्वरूप गोदोहन से क्रत्वर्थ चमस का आर्थिक विषय समान होने के कारण बाध होता है, क्योंकि गोदोहन और चमस दोनों ही प्रणयन के साधन हैं। गोदोहन से प्रणयन करने पर चमस की स्वभावतः निवृत्ति हो जायगी। उसी तरह यहाँ पर नेत्र दोष के ज्ञान से शंख में पीत ज्ञान की निवृत्ति हो जायगी।

यद्यपि पित्त ज्ञान पित्त को ग्रहण करता है। यही पित्त श्वेत वस्तु में पीत वर्ण के भ्रम का कारण होता है, ऐसा समझ लेने पर चक्षु के द्वारा परिदृश्यमान पीत ज्ञान की भ्रान्तता की अवगति हो जाती है। भ्रान्त होने से यह ज्ञात हो जाता है कि अर्थ जैसा अवगत हो रहा था, उससे भिन्न प्रकार का है, इस प्रकार बाध की सिद्धि हो जाती है, तो भी यह नियम नहीं है कि पहले ज्ञान का बाध दूसरे ज्ञान से होगा ही। किन्तु यह स्थिति तभी आती है, जब कि द्वितीय बाध ज्ञान के बाद उसके बाधक तृतीय ज्ञान का अथवा दोषान्तर का ज्ञान न हो। यदि तृतीय बाधक ज्ञान का उद्भव हो गया तो उससे द्वितीय बाध ज्ञान के ही मिथ्या सिद्ध हो जाने से प्रथम ज्ञान का भी प्रामाण्य द्वितीय ज्ञान के बाधक रूप में ही होगा।

इस पर यह आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि इस तरह से तो प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य तृतीय ज्ञान के अधीन होने से परतः ही होगा, क्योंकि प्रथम ज्ञान अपनी उत्पत्ति के समय से ही अर्थ की अवगति कराता है, अतः उसके स्वतः प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं उठती। द्वितीय बाधक ज्ञान से अथवा दोष ज्ञान से प्रथम ज्ञानगत प्रामाण्य का अपवाद प्राप्त हुआ था, किन्तु जब तृतीय ज्ञान द्वितीत ज्ञान का बाधक हो जाता है, तो इस परिस्थिति में दोष का ज्ञान न होने से प्रामाण्य का बाध नहीं हो पाता।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जैसे प्रथम ज्ञान में द्वितीय ज्ञान से और तृतीय ज्ञान से द्वितीय ज्ञान में दोष का ज्ञान होता है, उसी तरह से तृतीय ज्ञान में भी अन्य ज्ञान से दोष की अवगति संभव हो सकती है, इस तरह से तो मनुष्य कहीं भी आश्वस्त नहीं हो सकेगा, तो यह प्रश्न अभिप्राय बिना समझे ही उठा दिया गया है। जाग्रत् अवस्था में स्वस्थ इन्द्रिय और मन वाला व्यक्ति जब चारों तरफ फैले प्रकाश के बीच में रखे हुए घट को देखता है और वहाँ पर लोक प्रसिद्ध संशय, बाध आदि दोषों की संभावना नहीं रहती तो इस

---

१. दर्शपूर्णमास में जल प्रणयन एक अंग है। यह प्रणयन 'चमस' पात्र से किया जाता है—'चमसेनापः प्रणयति'। यह नित्य है। प्रणयन में प्रवृत्त यजमान गुण फल की कामना करता हो तो 'गोदोहनेन प्रणयेत् पशुकामः' इस विधि से प्रणयन के लिए गोदोहन प्राप्त है। गाय जिस पात्र में दुही जाती है, वह गोदोहन है, यहाँ 'काम्यं नित्यस्य बाधकम्' इस न्याय से काम्य गोदोहन द्वारा नित्य चमस का बाध है।

न भवत्येव। यादृग्विधेषु हि अप्रामाण्यसंभवः, तत्रैव दोषशङ्का, न सर्वत्र। नहि ज्ञानत्वमात्रेण संशयः, तस्य साधारणधर्मादिनिश्चयाधीनत्वात्। तस्माद् अवश्यं कानिचित् ज्ञानानि अप्रमाण्येवोत्पद्यन्ते। यत्र दूरत्वादिदोषसम्भवादप्रामाण्यशङ्का, तत्रापि प्रत्यासत्तिगमनादिनाऽन्यतरपदार्थनिर्णयान्नातिदूरगमनम्। तृतीयज्ञाने यदि दोषो न संभावितः, ततस्तदवधिरेव निर्णयः। यदि सम्भावितस्ततस्तन्निराकरणप्रयत्नेन चतुर्थज्ञानावसानो निर्णयः, नाधिकज्ञानापेक्षा।

तृतीयेन चतुर्थेन वा द्वितीयस्य तृतीयस्य वा बाधे आद्यस्य द्वितीयस्य वा यस्यैव प्रामाण्यं समर्थ्यते, तस्य स्वाभाविकं प्रामाण्यमनपोदितं भवति। इतरदपवादादप्रमाणमिति नानवस्था। तदुक्तम्—

एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः। प्रार्थ्यते तावतैवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते॥ इति।

तत्र शब्दे वक्त्रधीन एव दोषोद्भवः, क्वचिद् गुणवद्वक्तृकत्वेन दोषाभावश्च। वेदस्य चापौरुषेयत्वात् पुरुषाभावेन निराश्रयत्वाद् दोषाभावेनाऽनपोदितं स्वतः प्रामाण्यमेव।

न च वक्तृगुणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् शब्दस्य गुणाधीनमेव प्रामाण्यमिति तदभावेन वेदस्याप्रामाण्यमेवेति वाच्यम्, प्रमाणानां परायत्तप्रामाण्यस्य निराकृतत्वेन प्रामाण्यस्वतस्त्वसाधनात्, अन्वयव्यतिरेकयोश्च दोषाभावेन गतार्थत्वाच्च। प्रमाणभूतपौरुषेयवचस्सु न केवलं गुणा दृष्टाः, किन्तु दोषभावोऽपि दृष्टः। दोषभावनिबन्धनत्वेन प्रामाण्यस्य वेदेऽपि सुलभत्वात्।

न चैवमपि प्रामाण्यपरतस्त्वमेवायातम्, तस्यापवादाभाव एवोपयोगित्वात्। गुणेभ्यो दोषाभावादप्रामाण्यद्वयाभावः

परिस्थिति में अप्रामाण्य की कोई शंका नहीं उठती। जिस स्थिति में अप्रामाण्य की संभावना उठ सकती है, वहीं दोष की आशंका रहती है, सब जगह नहीं। केवल ज्ञान है, इसीलिये उसके साथ संशय नहीं उठ खड़ा होता, संशय की उत्पत्ति तो साधारण धर्म आदि को देखने से होती है। इसलिये यही मानना उचित है कि कुछ ज्ञान अप्रामाणिक ही उत्पन्न होते हैं। जहां पर दूरी आदि दोषों की उपस्थिति में अप्रामाण्य की शंका होती है, वहां पर भी पास जाने पर भी किसी एक पदार्थ का निश्चय हो जाता है, अतः संशय की निवृत्ति के लिये अधिक दूर नहीं जाना पड़ता। तृतीय ज्ञान में यदि दोष संभावित नहीं है तो वही निर्णय की सीमा है। यदि दोष संभावित है तो उसके निराकरण के लिये चतुर्थ ज्ञान के अन्त में निर्णय हो ही जाता है, इससे अधिक ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती।

तृतीय अथवा चतुर्थ ज्ञान से द्वितीय अथवा तृतीय ज्ञान के बाध होने पर प्रथम अथवा द्वितीय में से जिस किसी का प्रामाण्य समर्थित होता है, उसका स्वाभाविक प्रामाण्य बाधित या निरस्त नहीं होता। प्रामाण्य के अपवाद से दूसरा अप्रमाण होता है, फलतः यहां पर अनवस्था दोष नहीं होता। जैसा कि कहा गया है—

"इस तरह तीन अथवा चार ज्ञान से अधिक दूरी तक बुद्धि को ले जाने की आवश्यकता नहीं है। इतने से ही किसी एक ज्ञान का प्रामाण्य अवगत हो जाता है।"

शब्द में वक्ता के अधीन ही दोष का उद्भव होता है। जब वक्ता गुणवान् होता है तो तत्प्रयुक्त शब्द में दोष नहीं रहता। वेद तो अपौरुषेय है। यहां पर पुरुष के न रहने से पुरुष-प्रयुक्त दोषों के अभाव के कारण वेद का स्वतः प्रामाण्य ज्यों का त्यों रहता है।

यह कहना उचित नहीं है कि वक्ता के गुणवान् होने पर शब्द प्रमाण होता है और गुणवान् न होने पर प्रमाण नहीं होता, इस अन्वय और व्यतिरेक के कारण शब्द का प्रामाण्य गुणाधीन है। वेद में वक्ता के अभाव में यह गुणाधीन प्रामाण्य कैसे बनेगा ? क्योंकि प्रमाणों की परतः प्रमाणता का निराकरण किया जा चुका है और स्वतः प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। उक्त अन्वय और व्यतिरेक की गतार्थता दोषाभाव के ज्ञान से हो जायगी। प्रमाणभूत पुरुष के वचन में गुण न होने पर भी अप्रामाण्य नहीं होता, किन्तु दोष होने पर ही अप्रामाण्य होता है। इस तरह गुण न होने पर भी दोषाभाव से ही वचनों का प्रामाण्य देखा जाता है। वेद में दोषाभाव स्वाभाविक है, अतः वे परम प्रमाण हैं।

यह कहना गलत है कि इस तरह से तो दोषाभाव से प्रयुक्त होने से प्रामाण्य का परतस्त्व ही आवेगा, क्योंकि दोषाभाव का उपयोग केवल अपवाद के अभाव ज्ञान में होता है। गुणों के कारण अथवा दोषों की अनुपस्थिति में दोनों ही प्रकार से अप्रामाण्य के

ततश्चानपोदितं स्वतः प्रामाण्यमेव तिष्ठति। यत्र साक्षाद्विपरीतबोधकज्ञानादर्थान्यथात्वमवगम्यते, यत्र च दोषज्ञानेनोभयत्रापि ज्ञानस्यायथार्थत्वे दोष एव कारणम्, दोषाभावेन तद्द्वयासत्त्वेनोत्सर्गस्यानपवाद एव सिद्धयति। अपवादाभावे प्रत्ययोत्पत्तिहेतुत्वात् प्रत्यक्षादिवत् पौरुषेयवाक्यस्यापि प्रामाण्यं प्राप्तम्, तन्नापनीयते। एवं पौरुषेयवाक्यस्यापि स्वतः प्रामाण्ये सिद्धेऽपौरुषेये वेदे तु सुतरां स्वतः प्रामाण्यम्।

ननु दोषाभावस्य गुणाधीनत्वे पुनरपि सैव स्थितिरिति चेन्न, प्रामाण्यावधारणे गुणानां ज्ञायमानत्वेन कारणत्वेऽनवस्थासम्भवेऽपि दोषभावस्य सत्तामात्रेणोपकारित्वेन तदसम्भवात्। गुणनिराकृतदोषा औत्सर्गिकं प्रामाण्यं नोपघ्नन्तीति क्वानवस्थावकाशः? वेदे तु वक्त्रभावादपवादनिर्मुक्तिस्ततोऽपि लघीयसी, तेन तत्रापवादशङ्काऽपि नोदेति।

एवं लोकेऽपि शब्दप्रामाण्यस्य वक्त्रपेक्षाभावेन वेदप्रामाण्यसिद्धयर्थं कर्तृकल्पनमनावश्यकम्। शाक्यादिवद् अप्रामाण्ये कल्पयितव्ये एव कर्तृकल्पना युक्ता। यच्चोक्तमाप्तप्रणीतत्वेन बालोन्मत्तादिवाक्यवदप्रामाण्यमेवेति चेन्न, प्रामाण्यस्वतस्त्वसिद्धेः। न च तर्हि पौरुषेयेऽपि वाक्ये प्रमाणान्तरापेक्षाऽनपेक्षणीयेति वाच्यम्, तथात्वेऽप्रमाणमूलतया दुष्टमूलत्वेन प्रामाण्यापवादापातात्। वेदे त्वपौरुषेयत्वेनाप्रमाणमूलत्वाशङ्काया अभावेन तदयोगात्। वेदे प्रमाणान्तरमूलाभावो भूषणमेव, न दूषणम्, प्रमाणान्तरविषयत्वेनानधिगतगन्तृत्वाभावेनानुवादकत्वापत्तेः।

अभाव का बोध होता है और तब अबाध रूप में स्वतः प्रामाण्य अवस्थित रहता है। जहाँ पर साक्षात् विपर्यय बोधक ज्ञान से शुक्ति प्रभृति वस्तु का रजतादि के रूप में अन्यथा बोध होता है और जहाँ पर दोष ज्ञान से पीत शंख आदि का अन्यथा बोध होता है, दोनों ही स्थलों में ज्ञान की अयथार्थता में दोष ही कारण है। दोषों के अभाव में उक्त दोनों प्रकार के अयथार्थ बोध नहीं होते, अतः यहाँ पर स्वाभाविक प्रामाण्य के अपवाद की प्रवृत्ति नहीं होती। अपवाद के अभाव में प्रत्यक्ष आदि के समान पौरुषेय वाक्य भी ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं। अतः इसकी प्रमाणता नष्ट नहीं होती। इस तरह से जब पौरुषेय वाक्य की स्वतः प्रमाणता सिद्ध है, तो फिर अपौरुषेय वेद की स्वतः प्रमाणता तो सुतरां सिद्ध हो जायगी।

प्रश्न उठता है कि यदि दोषाभाव का ज्ञान गुण ज्ञान के अधीन है तो फिर वही स्थिति आ उपस्थित हुई, अर्थात् प्रमाण का परतस्त्व ही सिद्ध हुआ, तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि प्रामाण्य के अवधारण में गुणों की कारणता ज्ञातता के आधार पर होने से अनवस्था की यद्यपि संभावना रहती है, तो भी दोषाभाव तो सत्ता मात्र से उपकारी होता है, अतः यहाँ पर अनवस्था की प्रसक्ति नहीं होगी। गुणों के द्वारा निराकृत दोष औत्सर्गिक प्रामाण्य का बाध नहीं करते, तब अनवस्था क्यों होगी? वेद में तो कोई वक्ता नहीं है, अतः यहाँ पर अपवाद का अभाव बड़ी सरलता से ज्ञात हो जाता है, इसलिये वेद में वक्ता के अभाव के कारण अप्रामाण्य का अभाव अत्यन्त सरलता से समझ में आ सकता है। इसलिये वहाँ स्वाभाविक प्रामाण्य के बाध की शंका ही नहीं होती।

इस तरह जब कि लोक में भी शब्द के प्रामाण्य में गुणवान् वक्ता की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु उसमें स्वाभाविक प्रामाण्य है, फिर वेद में उसके प्रामाण्य की सिद्धि के लिये कर्ता की कल्पना सुतरां अनावश्यक है। बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार स्वाभाविक अप्रामाण्य सिद्ध करने के लिये ही कर्ता की कल्पना उचित हो सकती है। यह कहना कि आप्त प्रणीत न होने के कारण बालक अथवा उन्मत्त की बातों की तरह वेद-वाक्य भी अप्रमाण है, उचित नहीं है, क्योंकि वेद की स्वतः प्रमाणता सिद्ध की जा चुकी है। प्रश्न—तब तो पुरुष के वाक्य में भी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये? नहीं, क्योंकि अप्रमाणमूलक पौरुषेय वाक्य में दोषप्रयुक्त प्रामाण्य के अपवाद की प्रवृत्ति हो जायगी, अतः उसके प्रामाण्य के लिये प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति अपेक्षित हैं। वेद वाक्य तो अपौरुषेय है, अतः वहाँ अप्रामाण्य मूलक शंका के न रहने से दोषप्रयुक्त प्रामाण्य के अपवाद की प्रवृत्ति नहीं होगी। वेद में प्रमाणान्तर की अप्रवृत्ति उसके लिये भूषण ही है, दूषण नहीं। यदि यहाँ पर प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति मानी जाय तो वेद की अज्ञात अर्थ की ज्ञापकता के अभाव में अनुवादकता माननी पड़ेगी। अर्थात् वेद जिस विषय का प्रतिपादन करते हैं, उनका ज्ञान यदि वेद से भिन्न किसी प्रमाण से मान लें तो वेद वेद से भिन्न प्रमाण द्वारा प्रतिपादित विषय के अनुवादक-मात्र हो जायँगे, क्योंकि वे अन्य प्रमाणों से अज्ञात विषय का ज्ञापन ऐसी अवस्था में नहीं करेंगे।

ननु प्रत्यक्षादीनां पौरुषेयवाक्यानां च प्रमाणान्तरसंवादनिबन्धनमेव प्रामाण्यम्, अतो वेदस्यापि तथात्वमेवेति, चेन्न। प्रमाणान्तरसंमतिरूपसंवादस्य प्रामाण्यविरोधित्वेन तद्धेतुत्वानुपपत्तेः। यत्रैकस्मिन्नर्थेऽनेकप्रमाणसन्निपातस्तत्र तेषामन्योन्यनिरपेक्षार्थावबोधहेतुत्वेन तुल्यानामेव प्रामाण्यम्, न समुच्चितानाम्। अतः प्रमाणान्तरमूलत्वेनानुवादत्वापत्त्या नो संवादाधीनं प्रामाण्यम्।

ननु चैकमेव वस्तु दूराद् दृष्ट्वाऽपि पुनः प्रामित्सयैव प्रत्यासीदन्तो दृश्यन्ते। तदेतत्पूर्वस्य नैरपेक्ष्ये नोपपद्यते। अतः संवादापेक्षमेव प्रामाण्यमिति चेन्न, अप्रमितिविशेषप्रमित्सयैव प्रत्यासत्त्युपपत्तेः। तदुक्तम्—

> यत्रापि स्यात्परिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैः पुनः।
> नूनं तत्रापि पूर्वेण सोऽर्थो नावधृतस्तथा॥

यदि हि उत्तरोत्तरप्रमाणसंवादेन पूर्वपूर्वप्रमाणानां प्रामाण्यं भवेत्, तदानवस्थान्न क्वचिद् व्यवस्था स्यात्।

ननु च विषयज्ञानस्यार्थक्रियाज्ञानाधीनं प्रामाण्यम्, तच्च स्वत एवेति नानवस्था। तदुक्तं धर्मकीर्तिना—

"प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।"

नैयायिकैरप्युक्तम्—'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्।' (वा० भा० प्रथमसूत्रावतरणिका) फलज्ञानं न परीक्ष्यते, पिपासोस्तोयज्ञानेन प्रवृत्तिः, ततस्तोयप्राप्तिः, प्राप्तस्य पानम्, पानेन पिपासोपशान्तिः, सा च न परीक्ष्यते, अपरीक्षितस्यापि फलस्येष्टत्वादिति चेन्न; विषयज्ञानार्थक्रियाज्ञानयोर्विशेषाभावात्। तथा च यद्येकस्य स्वतः प्रामाण्यं तर्हि विषयज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्ये कः प्रद्वेषः? किञ्च, यदि संवादाधीनं प्रामाण्यं भवेत्, तदा श्रोत्रजन्यबुद्धे-

प्रश्न उठता है कि जब प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाणों की और पुरुष के वाक्यों की प्रामाणिकता प्रमाणान्तर से ही है, तब वेदों का प्रामाण्य भी प्रमाणान्तर के संवाद से ही क्यों नहीं माना जायगा? इसका उत्तर यह है कि संवाद का अर्थ है प्रमाणान्तर से संमति यह संमति स्वतः प्रामाण्य की विरोधिनी है, क्योंकि यहाँ अनधिगतार्थ बोधकता (अज्ञात विषय की ज्ञापकता) नहीं रहेगी। अतः यह प्रामाण्य में कारण नहीं बन सकती। जहाँ पर एक ही अर्थ में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है, वहाँ पर ये अन्योन्यनिरपेक्ष होकर स्वतन्त्र एक-एक ही अर्थ के अवबोध में कारण होते हैं, सब मिलकर नहीं। फिर तो अन्य प्रमाणमूलक होने से वेद उन प्रमाणों के विषयों के अनुवादक मात्र रह जायेंगे। इसलिये वेद का प्रामाण्य संवादमूलक नहीं है।

अरे भाई, व्यक्ति एक ही वस्तु को दूर से देखता है और पुनः पास में आकर उसको पहचानना चाहता है। यह बात पूर्वज्ञान-निष्ठ प्रामाण्य की निरपेक्षता में नहीं हो सकती, इसलिए प्रामाण्य में संवाद की अपेक्षा माननी पड़ेगी, अर्थात् प्रामाण्य में परतस्त्व ही रहेगा। नहीं, दूर से देखने पर जो ठीक से प्रतीति नहीं हुई, उसको समझने के लिए ही व्यक्ति पास में आकर देखता है। जैसा कि कहा गया है—"जहाँ पर पूर्व परिच्छिन्न प्रमिति का उत्तरवर्ती प्रमाणों से पुनः परिच्छेद होता है, वहाँ पर निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि पहली प्रमिति से वस्तु का ठीक से परिज्ञान नहीं हुआ है।" यदि उत्तर उत्तरवर्ती प्रमाण के संवाद से पूर्व, पूर्व के प्रमाणों का प्रामाण्य माना जाय, तो अनवस्था दोष के कारण प्रामाण्य की व्यवस्था ही डाँवाडोल हो जायगी।

बौद्ध दार्शनिक कहता है कि विषय के ज्ञान का प्रामाण्य अर्थक्रिया ज्ञान के अधीन है। अर्थक्रिया ज्ञान स्वतः प्रामाण्य है, उसके लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं, यह बताया जा चुका है। इसलिए अनवस्था नहीं होगी। जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है—"अर्थक्रिया के आधार पर अवस्थित अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।" नैयायिकों का भी कहना है कि—"प्रमाण से अर्थ की अवगति होने पर ही प्रवृत्ति होती है, अतः प्रमाण की सार्थकता है।" फल ज्ञान की परीक्षा नहीं की जाती। प्यासा व्यक्ति पानी को जानकर प्रवृत्त होता है, पानी मिलने पर पी लेता है और उसकी प्यास बुझ जाती है। प्यास बुझी या नहीं, यह परीक्षा का विषय नहीं है, क्योंकि बिना परीक्षा किये ही उसको तृप्ति का अनुभव अपने आप हो जाता है। यह पूरी बात गलत है, क्योंकि विषय के ज्ञान और अर्थक्रिया के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। ऐसी अवस्था में यदि एक का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, तो फिर विषय ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य

रप्रामाण्यमेव स्यात्, प्रमाणान्तरासङ्गतेः। यद्यन्येन श्रोत्रजन्यज्ञानेन संवादसिद्धिः, तर्हि तादृशसंवादस्तु वेदेऽपि सम्भवत्येव, शतकृत्वः समुच्चारणजन्यनानाज्ञानानां संवादसंभवात्। साधनान्तरजन्यबुद्धिसंवादाभावस्तूभयत्र समान एव। तथा च गुणसंवादार्थक्रियाज्ञानादीनामपेक्षाभावात् स्वत एव प्रामाण्यं ज्ञानस्य।

वेद-प्रामाण्यम्

यत्तूक्तं क्वचिदाप्ताप्रणीतस्य वाक्यस्य प्रामाण्यं न दृष्टमिति वेदस्यापि तत्कथमिति। तन्न, अनुमानसाध्ये विषय एव दृष्टान्तापेक्षत्वेऽपि प्रामाण्यस्यानुमानानपेक्षत्वेन दृष्टान्तानपेक्षणात्। प्रामाण्यस्यानुमानापेक्षत्वे तस्याप्येवं तस्याऽप्येवमित्यनवस्था प्रसज्येत। प्रामाण्यस्यानुमानसाध्यत्वे सर्वेषामपि प्रमाणानां प्रामाण्यस्य तथात्वापत्तेश्च।

ननु प्रामाण्यस्यान्यानपेक्षत्वे स्वतस्त्वे च प्रत्यक्षादिप्रमाणमुत्पद्यमानमेव प्रमाणमित्येव गृह्येत। न च तत्तदाऽऽत्मानं गृह्णाति। न चागृहीतप्रामाण्येन व्यवहारसिद्धिरिति चेन्न, आत्मग्रहणमन्तरेव सत्तामात्रेण स्वकार्यक्षमत्वात् प्रमाणेनार्थंप्रतिपत्तावन्यानपेक्षणात्। तन्मात्रनिबन्धनस्य व्यवहारस्यापि तत एव निष्पत्तेश्च। नैरपेक्ष्येण कृतकार्यस्य तत्सत्यां जिज्ञासायां पश्चात् प्रत्ययान्तरैरवबोधात्। ज्ञानस्य ज्ञायमानत्वं न तत्प्रामाण्योपयोगि। कथं तदज्ञाने तत्प्रामाण्यग्रहणमिति चेद् इत्थम्—नहि ज्ञानसंबन्धित्वेन प्रामाण्यं गृह्यते, किन्तु विषये तथात्वमेव तद्विज्ञानस्य प्रामाण्यम्। विषयतथात्वनिबन्धनाद् ज्ञाने प्रमाणबुद्धिशब्दयोः। तच्चाज्ञानादेव ज्ञानात् स्वत एव गृहीतमित्यनर्थकं प्रामाणान्तरम्। अप्रमाणं तु न स्वयमप्रामाण्यं स्वतो गमयति, तस्यापि स्वरूपेणैव स्वानुरूपार्थग्राहकत्वात्। रजतज्ञानं हि शुक्तिशकलं रजतमित्येव गृह्णाति। न पुनर्नेदं

में आपको क्या आपत्ति हो सकती है? अपि च यदि प्रामाण्य संवाद के अधीन है, तो श्रोत्र से उत्पन्न ज्ञान को अप्रमाण ही मानना पड़ेगा, क्योंकि अन्य प्रमाण से उसका संवाद नहीं हो सकता। यदि दूसरे श्रोत्रजन्य ज्ञान से संवाद की सिद्धि आप मानें तो इस प्रकार का संवाद वेद में भी तो है, सैकड़ों बार के उच्चारण से उत्पन्न ज्ञानों में संवाद सम्भव है। अन्य साधन से उत्पन्न ज्ञान का संवाद तो दोनों ही पक्षों में नहीं है। इस प्रकार गुण के संवाद, अर्थक्रिया के ज्ञान आदि की अपेक्षा न रहने से ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य ही अभीष्ट है।

वेद की प्रामाणिकता

यह कहा गया है कि लोक में आप्त के द्वारा अप्रयुक्त वाक्य को प्रमाण नहीं माना जाता, तो वेद वाक्य को कैसे प्रमाण माना जायगा? इसका यही समाधान है कि अनुमान के द्वारा सिद्ध किये जाने वाले विषय के लिए दृष्टान्त की आवश्यकता हो सकती है। प्रामाण्य के लिये तो अनुमान की अपेक्षा नहीं है, अतः यहाँ पर दृष्टान्त की भी आवश्यकता नहीं है। यदि प्रामाण्य की सिद्धि अनुमान से मानी जाय तो इसमें अनवस्था दोष होगा। दूसरी आपत्ति यह भी होगी कि यदि प्रामाण्य की सिद्धि अनुमान से मानी जाती है, तो फिर सभी प्रमाणों का प्रामाण्य अनुमान से सिद्ध हो सकेगा।

प्रामाण्य यदि अन्य निरपेक्ष और स्वतःसिद्ध है, तो जब प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाणों की उत्पत्ति होती है, उसी समय उसका प्रमाण रूप से ग्रहण होना चाहिए, किन्तु उत्पत्ति के समय प्रत्यक्षादि प्रमाण अपने प्रामाण्य का ग्रहण करते नहीं और जब प्रामाण्य का ग्रहण नहीं करते तो उससे व्यवहार की सिद्धि कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि अपने प्रामाण्य को ग्रहण किये बिना ही सत्ता मात्र से वह व्यवहार निष्पादन में समर्थ हैं, क्योंकि अर्थ की अधिगति में प्रमाण किसी की अपेक्षा नहीं रखता। और प्रामाण्य प्रयुक्त व्यवहार की निष्पत्ति भी उसकी सत्तामात्र से बन जायगी। निरपेक्ष रूप से कार्य कर चुकने के बाद यदि जिज्ञासा उठती है, तो बाद में अन्य प्रत्ययों से प्रामाण्य की अधिगति होती है। ज्ञान के भी ज्ञान का प्रामाण्य के लिये कोई उपयोग नहीं है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि ज्ञान की ज्ञातता को बिना जाने उसमें प्रामाण्य का ग्रहण कैसे होगा? तो इसका उत्तर यह है कि प्रामाण्य का सम्बन्ध ज्ञान के साथ न रहकर विषय के साथ रहता है। विषय की यथार्थता ही ज्ञान का प्रामाण्य है। यह ज्ञान प्रमाण है, इस वाक्य में प्रमाण और ज्ञान शब्द विषय की यथार्थता के अधीन है। यह तो अज्ञात ज्ञान से अपने आप जान लिया जाता है। अतः इसके लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अप्रमाण ज्ञान में अपना अप्रामाण्य स्वतः गृहीत नहीं होता, क्योंकि अप्रमाण ज्ञान भी स्वभावतः अपने अनुरूप

रजतमिति, तेनाप्रमाणज्ञानमपि स्वतः प्रामाण्यमेवात्मनोऽविद्यमानमपि गृह्णत्तन्निबन्धनं तद्व्यवहारमपि प्रवर्तयति । अत एव तत्राप्रामाण्यग्रहणाय व्यवहारनिवृत्तये च परापेक्षाऽस्त्येव । यतोऽर्थान्यथात्वरूपमप्रामाण्यं ज्ञानस्यार्थतथात्ववन्न स्वतो गृह्यते ।

नन्वेवं वेदस्यापि परत एव प्रामाण्यमनुमानादिभिरर्थान्यथात्वबोधसम्भवादिति चेन्न, अर्थान्यथात्वकारणदोषबुद्धेरेवाप्रामाण्यकारणत्वेन तदतिरिक्तानुमानादीनामनपेक्षणात् । न च तद्बुद्धेः प्रामाण्याय कारणान्तरापेक्षा, बुद्धेः प्रामाण्यस्वतस्त्वप्रतिपादितत्वात् । यत्रापि ज्ञानमिथ्यात्वं परेभ्योऽवगम्यते, तत्र पूर्वोक्तकारणद्वयमेव वक्तव्यम्, न यत्किञ्चित्साधर्म्यमात्रम् । न चानुमानेन चोदनादिवेदार्थान्यथाभावः परिकल्पयितुं शक्यते । अनुमानस्यागमविरुद्धत्वेनाभासमानयोगक्षेमत्वात् । न चानुमानेन बाधादागमस्यैव मिथ्यात्वमिति वाच्यम्, अन्योन्याश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि—सिद्धे मिथ्यात्वेऽनुमानम्, तस्मिंश्च सति बाधमिथ्यात्वमित्यन्योन्याश्रयः । न च यथाऽनुमानादन्यत् बाधकं नास्ति, तथैवागमादन्यत् साधकमपि आगमार्थस्य नास्तीति कथं वेदार्थसद्भावोऽपीति वाच्यम्, भावानवबोधात् । नानुमानसद्भावमङ्गीकृत्यैव बाधकान्तराभावादागमार्थमिथ्यात्वसिद्धिरुच्यते, किन्त्वनुमानमेव नोदेतीत्युच्यते । साधकस्त्वागमो विद्यत एव । न चैकेन मानेन गृहीतस्यान्यैरगृहीतत्वेनाभावो भवति । तथात्वे जिह्वादिगृहीतानां नेत्राद्यगृहीतत्वे रसादीनामभावापत्तेः । तदुक्तम्—

न चान्यैरग्रहेऽर्थस्य स्यादभावो रसादिवत् ।
तेषां जिह्वादिभिर्यस्मान्नियमो ग्रहणेऽस्ति हि ।। (यो. सू. वा. ९१)

अर्थ का ही ग्रहण करता है । जैसे कि मिथ्या रजत ज्ञान शुक्ति के टुकड़े को चाँदी का टुकड़ा ही जानता हैं । उस समय उसको यह ज्ञान नहीं होता कि यह चाँदी नहीं, सीप है । इसलिए अप्रमाण ज्ञान भी अपने आप में अविद्यमान भी स्वतः प्रामाण्य को ग्रहण करता हुआ तदधीन–चाँदी के लेने के लिए दौड़ाता है । इसलिए मिथ्या ज्ञान में अप्रामाण्य के ग्रहण के लिए और तत्प्रयुक्त व्यवहार की निवृत्ति के लिए दूसरे (बाध ज्ञान) की अपेक्षा है ही । इसीलिए अर्थ का अन्यथा बोध कराने वाले अप्रामाणिक ज्ञान में अप्रामाण्य की अवगति यथार्थ अर्थ के बोधक प्रामाण्य के समान स्वतः नहीं जानी जा सकती ।

यहाँ पर शंका उठ सकती है कि इस तरह से तो वेद का प्रामाण्य भी परतः ही मानना चाहिए, क्योंकि यहाँ पर अनुमान आदि प्रमाण के आधार पर वेदजन्य ज्ञान को अयथार्थ सिद्ध किया जाता है । इसका सीधा सा उत्तर है कि अर्थ का अन्यथात्व और कारणगत दोष बुद्धि ही अप्रामाण्य का कारण बनती है । अतः इसमें अनुमानादि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । वेद जन्य बुद्धि के प्रामाण्य के लिये किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि यह बताया जा चुका है कि ज्ञान स्वतः प्रमाण है । जहाँ पर अन्य प्रमाणों के आधार पर ज्ञान का मिथ्यात्व अवगत होता है, वहाँ पर भी पूर्व प्रतिपादित अर्थ की अन्यथात्व और कारणगत दोष ज्ञान ही ये दो ही कारण बताने पड़ेंगे । यत्किंचित् साधर्म्य को इसमें कारण नहीं माना जा सकता । अनुमान से विधिप्रभृति वेद वाक्यों से अवगत अर्थ का अन्यथाभाव परिकल्पित नहीं किया जा सकता । अनुमान यदि वेद के विरुद्ध है, तो उसकी सत्ता ही संदिग्ध हो जायगी । यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि अनुमान से ही आगम का बाध क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा । जैसे कि वेद के मिथ्यात्व के सिद्ध होने पर अनुमान प्रवृत्त होगा और अनुमान के प्रवृत्त होने पर बाध के कारण वेद का मिथ्यात्व सिद्ध होगा । यह कथन भी गलत है कि जैसे अनुमान से भिन्न कोई बाधक नहीं है, उसी तरह से आगम से भिन्न अन्य कोई प्रमाण आगम प्रतिपादित अर्थ का साधक भी तो नहीं है । ऐसी परिस्थिति में वेदार्थकी सत्ता ही संदिग्ध हो जायगी । किन्तु यहाँ पूर्वपक्षी ने हमारे कथन का भाव ही ठीक से नहीं समझा है । हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि केवल अनुमान को मानकर उसी के आधार पर बाधकान्तर न होने पर भी हम आगम को मिथ्या सिद्ध करते हो, हमारा केवल इतना ही कहना है कि ऐसे स्थलों में अनुमान की उत्पत्ति ही नहीं होती । वेद के प्रामाण्य का साधक तो आगम वचन उपलब्ध ही है । ऐसा तो होता नहीं कि जो वस्तु एक प्रमाण से गृहीत हो, उसका प्रमाणान्तर से ग्रहण न होने पर अभाव मान लिया जाय । यदि हम ऐसा मानने लगें तो, जिह्वा प्रभृति से गृहीत रसादि वस्तु का नेत्र प्रभृति से ग्रहण न होने पर अभाव मानना पड़ जायगा । जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है—

ननु चोदनाप्रामाण्यमसिद्धमिति कुतस्त्योऽनुमानबाध इति। तन्न, त्वन्मते चोदनाप्रामाण्यासिद्धावपि वैदिकानां तत्सिद्धेर्निष्प्रत्यूहत्वात्। तवापि वेदादसंदिग्धाविपर्यस्तार्थबुद्धेर्निष्पन्नत्वेन प्रामाण्यासिद्धेरभावाच्च द्वेषादसिद्धयुक्त्याऽपि न तदप्रामाण्यम्। न चात्मेच्छाद्वेषादिभिरप्रामाण्यं वक्तुं युक्तम्, अग्निदाहादिदुःखप्रत्यक्षस्याप्रामाण्यापादनासंभवात्। अभिलषितस्य ज्ञानस्याभिलाषाविषयत्वमात्रे प्रामाण्यानुपपत्तेश्च। तस्मादालोकवद् वेदेन सर्वसाधारण्येनासंदिग्धाविपर्यस्तार्थावबाधजननात् स्वाभाविकमेव प्रामाण्यम्।

यदुक्तम् 'वेदार्थो दुर्बोधः, लोके प्रमाणान्तरपरिच्छेद्यत्वाद्वाक्यार्थस्य तदवगमोपायत्वं शब्दानां योजयितुं शक्यते। वेदार्थस्त्वतीन्द्रियः। न च रागादिमतां तद्दर्शनकौशलमस्ति। अत एव तद्दर्शिनां वृद्धव्यवहारादिना व्युत्पत्तिरपि न सम्भवति। न च वेदे 'वृद्धिरादैजि' ति पाणिनिरिव हस्तः, करः, पाणिरिति, अभिधानमालाकार इव एषोऽस्य मानकस्य शब्दस्यार्थ इत्युपदेशोऽस्ति। तदुक्तं धर्मकीर्तिना—

स्वयं रागादिमानर्थं वेति चेत्तस्य नान्यतः।
न वेदयति वेदोऽपि वेदार्थस्य कुतो गतिः ?॥

यदि निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन तदर्थकल्पना क्रियते, तर्हि नानामतित्वादुपदेश्यानामनेकार्थत्वाच्च नाम्नामुपसर्गनिपातानाञ्च न नियतः कश्चनार्थः, अन्यथा तत्कल्पनासम्भवाच्च। तदप्युक्तं तेनैव 'तेनाग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः।'

"अन्य इन्द्रियों से ग्रहण न होने पर रसादि का अभाव नहीं मान लिया जाता, क्योंकि यह नियम देखा गया है कि रसादि का ग्रहण निश्चित रूप से जिह्वा प्रभृति से ही होता है"।

प्रश्न है कि वेद का प्रामाण्य ही जब सिद्ध नहीं है तो उससे अनुमान का बाध कैसे होगा? इसका उत्तर यही है कि आपके मत में वेद का प्रामाण्य भले ही सिद्ध न हो, किन्तु वैदिकों की दृष्टि से वेदों का प्रामाण्य निर्बाध रूप से सिद्ध है। आपको भी वेद से असंदिग्ध और अविपरीत ज्ञान की प्राप्ति होती है तो फिर उसमें प्रामाण्य की सिद्धि क्यों न होगी। द्वेषवश दी गई गलत युक्तियों से वह अप्रमाण नहीं हो सकता। अपने में विद्यमान इच्छा, द्वेष आदि के कारण वेद में अप्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता? आग से जल जाने पर व्यक्ति को जो दुःख की प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है, उसको अन्य व्यक्ति अप्रमाण नहीं सिद्ध कर सकता। इच्छा के विषयीभूत ज्ञान का सभी इच्छा के विषयों में प्रामाण्य तो बन हो नहीं सकता। इसलिये जैसे प्रकाश में व्यक्ति को असंदिग्ध और अविपरीत अर्थ का ज्ञान होता है, उसी प्रकार वेद से भी सर्वसाधारण को सब प्रकार के संशयों से रहित और विपर्यय (विपरीत ज्ञान) से रहित ज्ञान ही स्वभावतः होता है, अतः उसका प्रामाण्य भी स्वाभाविक ही है।

कहा जाता है कि वेद का अर्थ समझना बड़ा कठिन है। लौकिक वाक्यों का अर्थ अन्य प्रमाणों से भी परीक्षित हो सकता है, अतः शब्दों के द्वारा भी उनका अवगम हो सकता है। वेद प्रतिपादित अर्थ तो अतीन्द्रिय है। राग-द्वेष प्रभृति दोषों से युक्त पुरुष में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वेद प्रतिपादित अर्थ का साक्षात्कार कर सके। इसीलिये वृद्ध व्यवहार आदि से भी यहाँ पर व्युत्पत्ति (तत्तत् शब्दों की तत्तत् अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति का ज्ञान) में सहायता नहीं मिल सकती। पाणिनि ने जैसे "वृद्धिरादैज्" इस सूत्र में वृद्धि पद को परिभाषित किया है, अथवा जैसे कोई कोशकार हस्त, कर, पाणि प्रभृति शब्दों की पर्यायता बताता है, उस तरह की कोई व्यवस्था वेद में शब्दों का अर्थ समझने की है नहीं। जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है—

"रागादिमान् पुरुष स्वयं वेदार्थ को जान लेता है, यह संभव नहीं है। वेद भी अपने अर्थ को नहीं बताता, ऐसी परिस्थिति में वेदार्थ की क्या गति होगी? अर्थात् उसको कैसे समझा जा सकेगा"।

यदि निगम, निरुक्त, व्याकरण की सहायता से उसका अर्थ किया जाता है तो जिनको वेदार्थ समझाना है, उनकी बुद्धि भाँति भाँति की है, शब्द भी अनेकार्थक हैं, नाम, उपसर्ग और निपात इनका कोई निश्चित अर्थ भी नहीं होता, इनके अर्थ के ज्ञान के लिये दूसरे किसी प्रकार या साधन की कल्पना भी संभव नहीं है और विपरीत अर्थ की भी कल्पना की जा सकती है, जैसा कि धर्मकीर्ति ने ही कहा है कि—"स्वर्ग की कामना वाला व्यक्ति अग्निहोत्र करें, इस वाक्य से यह अर्थ क्यों नहीं निकलेगा कि कुत्ते का मांस खाय",

इति श्रुतौ। खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थं इत्यत्र का प्रमा ॥' इति, तदपि तुच्छम्, य एव लौकिकाः शब्दास्तदर्थाश्च त एव वैदिकाः शब्दास्तदर्थाश्चेति सिद्धान्तानभिज्ञानात्। तथाहि नाभिनवाः केचन वैदिकाः शब्दाः, वाक्यरचनामात्रं तु वेदे भिद्यते। वेदश्च तदर्थश्च तदवगमश्च तदुपायश्च तदनुष्ठानञ्च नाद्यत्वे प्रवृत्तानि, किन्तु मीमांसकानां मते तान्यनादीनि, नैयायिकादीनां मते तु सर्गात्प्रभृतिप्रवृत्तानि, कस्तेष्वद्य पर्यनुयोगावसरः? तेन पूर्वोक्तपारम्पर्यसहकृतेषु निरुक्तव्याकरणमीमांसादिशास्त्रेषु सत्सु कुतो वेदार्थावगमे विप्रतिपत्तिरपि।

रागादिमानपि 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति वाक्यादग्निहोत्राख्यं कर्म स्वर्गसाधनमिति जानात्येव। द्वेषादपि नान्यथार्थं प्रत्येतुं कश्चनापि शक्नोति। धर्मकीर्तिना तु 'खादेच्छ्वमांसम्' इत्याद्यपभाषणेन वेदनिन्दैव कृता। तत्पातकेनैव चीनादिदेशीयेषु बौद्धेषु श्वमांसाशित्वं जातमिति। तस्मात्—

शक्तिग्रहादिभिस्तैस्तैर्बोधोपायैः सुनिश्चितैः। लोके यथा तथा वेदे शब्दार्थावगतिः सदा॥
रागादिमानपि प्राज्ञः शब्दार्थं वेद निश्चितम्। द्वेषादपि विरुद्धार्थं न कर्तुं प्रभवेत्ततः॥
पारम्पर्यसमायातमर्थं त्यक्त्वा प्रमादतः। वेदनिन्दा कृता तेन बौद्धास्ते कुक्कुरादिनः॥
पारम्पर्यसमुच्छित्त्या ह्यन्यथार्थप्रसाधनम्। यदीष्टं प्रभवेत्तेषां बुद्धमन्त्रोऽपि गालिदः॥

यदपि च 'यदि रागादिराहित्येन जैमिन्यादीनां वेदार्थज्ञता तदा बुद्धादीनां रागादिराहित्येन सर्वज्ञता किं न स्यात्? यदि बुद्धादिषु रागादिराहित्यं न सम्भवति तदा जैमिन्यादिषु तत्कथं सम्भाव्येत?' तदपि न रागादिसत्त्वेऽपि वेदार्थज्ञत्वसम्भवात्। नहि रागादयः कम्बलादिवदावरका विज्ञानस्य, किन्तु तदाक्षिप्तमना विविधविषयतृष्णापरिप्लुतो न शक्नोति

यह पूरा कथन कोरी बकवास है, वक्ता ने इस बात को ठीक से नहीं समझा है कि जो लौकिक शब्द और अर्थ हैं वैदिक शब्द और अर्थ उनसे भिन्न नहीं है। वैदिक शब्दों में कोई नवीनता नहीं है। वेद में केवल वाक्य रचना में थोड़ा अन्तर हो जाता है। वेद, उसका अर्थ, उसका ज्ञान उसको जानने के उपाय और उनका अनुष्ठान ये सब आज नहीं प्रवृत्त हुए है, किन्तु मीमांसकों के मत से ये सब अनादि काल से प्रवृत्त हैं। नैयायिक इनको सर्ग के आरम्भ काल से ईश्वर के द्वारा प्रवृत्त मानते हैं। इन पर शंका उठाने का आज अवसर ही कहाँ है। इसलिये पूर्वोक्त परम्परा के साथ निरुक्त, व्याकरण मीमांसा प्रभृति शास्त्रों की परम्परा के रहते वेदार्थ की अवगति (ज्ञान) में विप्रतिपत्ति (संशय) का प्रसंग ही कहा है? रागादिमान् व्यक्ति भी "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्यों से अग्निहोत्र नामक कर्म स्वर्ग का साधन है, यह जान ही लेता है। द्वेषवश भी कोई यह नहीं जान सकता कि इसका अर्थ यह नहीं है। धर्मकीर्ति ने 'कुत्ते का मांस खाय' ऐसा दुर्वचन कहकर केवल वेद की निन्दा की है। उसी का यह परिणाम है कि चीन प्रभृति देशों में बौद्ध कुत्ते, गधे आदि का मांस भी खाने लगे हैं और कीड़े-मकोड़े, भुनगें आदि को तलकर, चटनी अचार आदि बनाकर भी खा जाते हैं। इसलिये—

"लोक में जैसे किस शब्द की किस अर्थ में शक्ति है, इस बात के जानने के व्याकरण प्रभृति सुनिश्चित उपायों से शब्दों के अर्थ की अवगति होती है, उसी प्रकार वेद में भी होती ही है। रागादि से युक्त विद्वान् भी इन निश्चित उपायों से अर्थ को जान लेता है और द्वेषवश भी कोई यह नहीं कह सकता कि इसका यह अर्थ न होकर कोई दूसरा अर्थ है। प्रमाद वश परम्परा प्राप्त अर्थ को छोड़कर बौद्धों ने वेद की निन्दा की, उसका आज परिणाम यह है कि वे आजकल वास्तव में कुत्ते का मांस खाने लगे हैं। परम्परा को न मानकर यदि उनको मनमाना अर्थ करना ही अभीष्ट हो तो इस पद्धति से बुद्ध मन्त्र को भी किसी गाली का पर्यायवाची मानने में क्या बाधा होगी"।

यह जो कहा गया है कि रागादि से विमुक्त होने के कारण जैसे आप जैमिनि प्रभृति को वेदार्थ का ज्ञाता मानते हैं, उसी तरह रागादि से रहित होने से बुद्ध आदि को भी सर्वज्ञ क्यों न माना जाय? यदि बुद्ध प्रभृति में रागादि का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता तो वह जैमिनि प्रभृति में कैसे सिद्ध हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि रागादि के रहते भी वेदार्थ के ज्ञान में कोई बाधा नहीं है। रागादि दोष कम्बल की तरह विज्ञान को ढक नहीं देते, किन्तु इन दोषों से मन के विक्षिप्त हो जाने पर विविध विषय तृष्णा में डूबा

भावयितुमिति भावनादरमात्र एव रागादिविरहोपयोगः। वेदार्थज्ञानस्य वेदप्रमाणमूलत्वेन सम्भवेऽपि सर्वज्ञानस्य प्रमाणाभावान्न सम्भवः। शब्दार्थज्ञानाय शब्द एवापेक्षितो न भावनादिः, अन्यथा भावनाविधिज्ञानस्यापि भावनापेक्षायामन्योन्योन्याश्रयादयो दोषा अपरिहार्या एव स्युः। तेन रागादिमतोऽतीन्द्रियेऽर्थे प्रत्यक्षासम्भवेऽपि वाक्यार्थज्ञाने बाधासम्भवात्।

बुद्धादिवचनानामप्रामाण्यम्

नन्वेवं बौद्धवाक्यादपि ज्ञानोत्पत्तेस्तस्यापि वेदवत् प्रामाण्यमिति चेन्न। अतीन्द्रियेऽर्थे पुरुषस्य दर्शनाशक्त्या भ्रान्तिविप्रलम्भमूलतया तद्वाक्यस्य दुष्टत्वेनौत्सर्गिकस्यापि प्रामाण्यस्य तत्रापवादात्। वेदस्य त्वपौरुषेयत्वात् तत्राप्रामाण्यशङ्काऽपि नोदेति। न च वेदस्य किमिति कर्त्ता नाङ्गीक्रियत इति वाच्यम्, कल्पनागौरवात्। तथापि—सम्यक्त्ववादिनो वेदानां प्रामाण्याय महाजनपरिग्रहं वर्णयन्ति। अन्येष्वागमानाम्। तदिदं सर्वमप्रमाणमेव। नैतत्सर्वं मीमांसकैः कल्प्यते वेदप्रामाण्याय।

"न दृष्टादधिकं किञ्चिददृष्टं परिकल्प्यते।"

हुआ मन ठीक भावना नहीं कर सकता, अतः रागादि के अभाव का प्रयोजन केवल भावना में आदर बुद्धि उत्पन्न करना मात्र है। वेद प्रमाण मूलक होने से वेदार्थ का ज्ञान हो भी सकता है, किन्तु सर्व विषयों का ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं जिससे सर्व विषय का ज्ञान हो जाय। शब्दार्थ के ज्ञान के लिये शब्द ही अपेक्षित है, भावनादि नहीं। अन्यथा[1] भावना विधि के ज्ञान में भी भावना को अपेक्षा मानने पर अन्योन्याश्रय प्रभृति दोषों का परिहार करना कठिन हो जायगा। इससे अन्त में यही मानना पड़ेगा कि रागादि से युक्त पुरुष को अतीन्द्रिय अर्थ का भले ही प्रत्यक्ष न हो, किन्तु वाक्यार्थ के ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा नहीं उठ सकती।

बुद्ध आदि के वचनों की अप्रामाणिकता

इस प्रकार से तो बौद्ध वाक्य से भी ज्ञान की उत्पत्ति होती ही है, तब उसको भी वेद के समान प्रमाण क्यों न माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अतीन्द्रिय वस्तुओं को पुरुष देख नहीं सकता, अतः ऐसी वस्तुओं से सम्बद्ध पुरुष के वाक्यों में भ्रान्ति अथवा ठगी आदि दोषों की संभावना रहने से स्वाभाविक प्रामाण्य बाधित हो जाता है। वेद तो अपौरुषेय है, अतः वहाँ भ्रम, विप्रलम्भ आदि न होने के कारण अप्रामाण्य की शंका हो ही नहीं सकती। वेद का कोई कर्त्ता आप क्यों नहीं मानते? वेद का कर्ता मानने में अनेक कल्पना करनी होगी इससे दोष होगा। कुछ लोग वेद को प्रमाण इसलिये मानते हैं कि बड़े-बड़े महापुरुषों ने इसको माना है। अन्य लोगों का कहना है कि हमारे आगम ग्रन्थों को भी महापुरुषों ने माना है, अतः वे प्रमाण हैं। ये सब बातें अप्रमाण हैं। वेद के प्रामाण्य के लिये मीमांसक महाजन परिग्रह आदि को नहीं मानते।" दृष्ट से अधिक अदृष्ट की कल्पना करना उचित नहीं है"।

---

१. एक भावना विधि के ज्ञान के लिये दूसरी भावना की जरूरत होगी तो दूसरी के लिये भी किसी तीसरी की जरूरत होगी या नहीं? यदि कहो कि तीसरी की जरूरत नहीं होगी किन्तु दूसरी भावना का ज्ञान पहली भावना करा देगी, तो पहली से दूसरी का ज्ञान होने पर पहली भावना का ज्ञान होगा और उन पहली भावना का ज्ञान दूसरी भावना के बिना नहीं हो सकता। इसलिये एक दूसरे के अधीन एक दूसरे का ज्ञान. यह अन्योन्याश्रय होगा। यदि कहो कि पहली का दूसरी से और दूसरी का तीसरे से तो तीसरी के ज्ञान के लिये चौथी मानोगे या पहली के अधीन उसका ज्ञान मानोगे? यदि चौथी न मानकर पहली से मानोगे तो तीसरी का पहली से, पहली का दूसरी से, दूसरी का तीसरी से और तीसरी का फिर पहली से, पहली का दूसरी से, दूसरी का तीसरी से यह चक्कर होगा। अगर तीसरी का पहली से न मानकर चौथी से मानोगे, तो चौथी का पाचवीं से और पाँचवें का छठी से इस तरह से अनवस्था हो जायगी। इन सब दोषों को दूर करने के लिये पहली का यदि पहली से ही ज्ञान मानें तो अन्याश्रयदोष होगा।

अपौरुषेयत्वेन नित्यनिर्दोषस्यासंदिग्धाविपर्यस्ताबाधितज्ञानजनकस्य वेदस्याप्रामाण्यशङ्कायाः नास्त्यवकाशः। दोषसंशयात् प्रामाण्यसंशयः, दोषनिश्चयाच्चाप्रामाण्यनिश्चयः। यथा चक्षुरादीनां प्रमाजनकत्वं स्वाभाविकम्, तथैव शब्दस्यापि स्वाभाविकमेव तत्। अत एव 'स्वर्गकामो यजेत' इति वेदवाक्येन विदितपदतदर्थशाब्दन्यायसतत्त्वस्य यागात् स्वर्गो भवतीत्यसंदिग्धमेव गम्यते। भवति स्वर्गो न वा? न भवत्येवेति संशयविपर्ययादिकमनेन न भवत्येव। तदुक्तं शबरस्वामिना-"यो हि जनित्वा प्रध्वंसते नैतदेवमिति स मिथ्याप्रत्ययः। न चैष कालान्तरे पुरुषान्तरेऽवस्थान्तरे देशान्तरे वा विपर्येति।"

ननु तर्हि बुद्धादिवाक्यस्यापि प्रमाजनकत्वस्वाभाव्याद् भवतु प्रामाण्यमिति चेन्न। तस्य पुरुषबुद्धिप्रभवत्वेन पुरुषाश्रितभ्रमविप्रलम्भादिदोषसद्भावसम्भवेन अलौकिकेऽर्थेऽप्रामाण्यात्। आप्तवचनस्य सम्भवत्प्रमाणमूलकस्य च वाक्यस्य प्रामाण्येऽपि अतथाभूतस्याप्रामाण्यनिश्चयात्।

नन्वेवं सम्यङ्मूलसापेक्षत्वेन प्रामाण्यस्य गुणापेक्षत्वमेवेति न प्रामाण्यस्वतस्त्वसिद्धिरिति चेन्न, अपवादभूताप्रामाण्यनिवृत्यर्थमेव गुणद्वारा दोषाभाववर्णनात्। अनाप्तेऽनृतवादिनि शक्येऽर्थे यद्यपि प्रमातृत्वशक्तिर्भवति, तथाप्यनाश्वासात् तत्राप्रामाण्यबुद्धिर्भवति। एवं सत्यवादिन्यपि अशक्येऽर्थे प्रमातुं शक्तिर्नास्तीति हेतोरप्रामाण्यम्। अप्रामाण्यञ्चात्र मूलदोषादेव। न ह्यतीन्द्रियेऽर्थेऽपौरुषेयवैदिकवाक्यमन्तरेणावगतिः सम्भवति। तथा च 'स्वर्गकामश्चैत्यं वन्देत,' 'सर्वं शून्यम्' इत्यादीनि बौद्धवाक्यान्यसम्भवमूलकत्वेनाप्रमाणान्येव। यच्चोपदेष्टृत्वेन मन्वादिवद् वक्तव्यार्थज्ञानवत्त्वं बुद्धा-

अपौरुषेय होने से नित्य निर्दोष, असंदिग्ध, अविपरीत, अबाधित ज्ञान का जनक होने के कारण वेद में अप्रामाण्य की आशंका के लिये कोई अवसर नहीं है। दोष की आशंका होने पर प्रामाण्य में संशय उठ सकता है और दोष का निश्चय हो जाने पर अप्रामाण्य निश्चित हो जाता है। जैसे चक्षुरादि इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूप से प्रमा (यथार्थ ज्ञान) को ही पैदा करती हैं, उसी प्रकार शब्द से भी स्वाभाविक रूप से यथार्थ ज्ञान ही उत्पन्न होता है। इसीलिये "स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे) इस वेद वाक्य से उस व्यक्ति को यज्ञ करने से स्वर्ग होता है, यह अर्थ असंदिग्ध रूप से ज्ञात हो जाता है, जो कि पद, पदार्थ और उनके सम्बन्ध के ज्ञान को ठीक प्रकार से जानता है। 'इससे स्वर्ग होता है या नहीं', यह संशय अथवा 'इससे स्वर्ग नहीं होता', इस प्रकार का विपरीत ज्ञान इससे नहीं होता। जैसा कि शबर स्वामी ने कहा है—"जो ज्ञान उत्पन्न होने के बाद नष्ट हो जाता है, अर्थात् बाधित हो जाता है कि यह ऐसा नहीं है, उसको मिथ्याज्ञान कहा जाता है। वेद वाक्य से जन्य ज्ञान कालान्तर, पुरुषान्तर, अवस्थान्तर अथवा देशान्तर में बाधित नहीं होता"।

प्रश्न उठता है कि इस परिस्थिति में तो बुद्ध प्रभृति के वाक्य भी स्वाभाविक रूप से प्रमा (ज्ञान) को पैदा करते हैं तो उनका प्रामाण्य क्यों नहीं माना जायगा? इसका उत्तर यही है कि बुद्ध प्रभृति के ये वाक्य पुरुष बुद्धि से पैदा हुए हैं, अतः इनमें पुरुष में वर्तमान भ्रम, विप्रलिप्सा आदि दोषों की संभावना होने से अलौकिक अर्थ में ये प्रमाण नहीं माने जा सकते। आप्त के वचन में और जिन वाक्यों के विषय में यह ज्ञात हो जाता है कि इनकी उत्पत्ति सम्यक् प्रमाण मूलक है, तो उनमें प्रामाण्य की अवगति होने पर भी जो वाक्य ऐसे नहीं हैं, उनमें अप्रामाण्य का निश्चय हो जाता है।

इस पर यह आपत्ति उठ सकती है कि यदि वाक्य का प्रामाण्य उसकी सम्यक् प्रमाणमूलकता की अपेक्षा रखता है तो इसको गुण की सदा ही अपेक्षा होने से प्रामाण्य का स्वतस्त्व कैसे बनेगा? उत्तर यह है कि अपवादस्वरूप अप्रामाण्य की निवृत्ति के लिये ही दोषाभाव का निरूपण किया जाता है और वह होता है गुणों के द्वारा। अनाप्त, असत्यवादी व्यक्ति के द्वारा उच्चरित वाक्यों में शक्यार्थ में यद्यपि प्रमातृत्व शक्ति विद्यमान है, तो भी अविश्वास के कारण वहाँ पर अप्रामाण्य बुद्धि होती है। इसी तरह सत्यवादी के वाक्य में अशक्य अर्थ को समझाने की शक्ति नहीं है, अतः वह उस अर्थ में अप्रमाण माना जाता है। कारणगत दोष के कारण ही दोनों स्थलों में अप्रामाण्य अभिप्रेत है। अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से न जाने जा सकने वाले) अर्थ की अवगति (ज्ञान) अपौरुषेय वैदिक वाक्य के बिना नहीं हो सकती। इस प्रकार "स्वर्ग की कामना वाला चैत्य की वन्दना करे", "सब कुछ शून्य है" इस तरह के बौद्ध वचन सम्यक् प्रमाण मूलक न होने से अप्रमाण हैं। मनु प्रभृति स्मृतिशास्त्रों के उपदेष्टाओं को जैसे अपने वक्तव्यार्थ का ज्ञान था,

दिष्वपि कल्पनीयमित्युक्तम्, तन्न; बालोन्मत्तादीनामपि तद्दर्शनेन, व्यामोहमूलकत्वेनाप्युपदेष्टृत्वसम्भवेन बुद्धोक्तेः प्रामाण्यायोगात्। मन्वादीनां वेदमनुसृत्यातीन्द्रियार्थोपदेष्टृत्वसम्भवेऽपि वेदमपलपती बुद्धादेस्तदसम्भवात्।

यत्तु बुद्धादेः सर्वज्ञत्वेन अतीन्द्रियार्थोपदेष्टृत्वं सम्भवतीत्युक्तम्, तदप्यकिञ्चित्करम्; षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञश्चेन्न विरोधः। यज्जातीयैः प्रमाणैर्यज्जातीयार्थदर्शनं भवति, तद्भवत्येव। एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञतासमर्थने चक्षुषा रसादिप्रतिपत्तिरपि प्रसज्येत।

यत्तु योगजसामर्थ्येन साम्प्रतिकयन्त्रादिसाचिव्येन च सर्वज्ञता समर्थ्यते, तदपि तुच्छम्; सामर्थ्यातिशयस्य स्वविषय एव कार्यातिशयकरत्वेनाविषये तदयोगात्। तदुक्तं भट्टपादैः—

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥ (चो. सू. वा. ११४) इति।

योगजादिसामर्थ्यैरपि न रूपे श्रोत्रप्रवृत्तिर्भवति, किन्तु व्यवहितविप्रकृष्टदेशस्थशब्दादेः श्रवणं सम्भवति, चक्षुषा च दूरस्थसूक्ष्मरूपादिदर्शनं सम्पद्यते। अत एवाद्यत्वेऽपि प्रमातृभेदेन सातिशयं प्रत्यक्षमुपलभ्यते। केचिदतिदूरमतिसूक्ष्मञ्च पश्यन्ति। ज्ञानमपि लौकिकं शास्त्रीयं च सातिशयं दृश्यते। एतेन कस्यचिद् बुद्धादेर्ज्ञानमत्यन्तातिशयितं सर्वविषयकमपि कथं न भवेदित्यपास्तम्। स्वविषये दूरसूक्ष्मादिदर्शन एव सामर्थ्यातिशय उपयुज्यते, न तदतिलङ्घने। न ह्यतिशयितमपि श्रोत्रं रूपे प्रवर्तते, नेत्रादयो वा शब्दे प्रवर्तन्त इति पार्थसारथिमिश्राः।

उसी प्रकार बुद्ध प्रभृति में क्यों नहीं माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि बालक और उन्मत्त आदि में भी अपने वक्तव्यार्थ का ज्ञान होता है, तो भी इनके वचन व्यामोहमूलक हैं, अतः उनको जैसे प्रमाण नहीं माना जाता, वही स्थिति बुद्ध प्रभृति के वचनों की भी है, अर्थात् उनका भी उपदेशकत्व व्यामोहमूलक हो सकता है। मनु प्रभृति के उपदेश तो वेद का अनुसरण करते हैं, अतः ये अतीन्द्रिय अर्थ का भी उपदेश कर सकते हैं। किन्तु वेद का अपलाप करने वाले बुद्ध प्रभृति के वचन अतीन्द्रिय अर्थ में प्रमाण नहीं माने जा सकते।

बुद्ध प्रभृति सर्वज्ञ हैं, अतः वे अतीन्द्रिय अर्थ के उपदेष्टा हो सकते हैं, यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि हमने छः प्रमाण मान रक्खे हैं। इन सबसे यदि उनकी सर्वज्ञता सिद्ध होती हो तो हमको कोई विरोध नहीं है। जिस तरह के प्रमाणों से जिस तरह के अर्थ का दर्शन होता है, वह होता ही है। एक प्रमाण से सर्वज्ञता का समर्थन मानने पर चक्षु से भी रस आदि का ज्ञान हो सकता है, किन्तु होता नहीं।

यह जो कहा जाता है कि योगज सामर्थ्य से अथवा आधुनिक यन्त्रों की सहायता से सर्वज्ञता का समर्थन हो सकता है, यह भी व्यर्थ की बात है, क्योंकि किसी भी करण में सामर्थ्य का आधिक्य अपने विषय में ही कार्य की अतिशयिता का संपादक होता है, वह अविषय में प्रवृत्त नहीं होता। जैसा कि भट्ट कुमारिल ने कहा है—"जहाँ पर भी अतिशय का दर्शन होता है, वह अपने स्वार्थ (अपने विषय) का उल्लंघन नहीं करता। दूर की वस्तु और सूक्ष्म वस्तुस्वरूप को देखने का दृष्टि का तरतम भाव होता है, इस कार्य में श्रोत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती"। योगजसामर्थ्य से भी रूप के ग्रहण में श्रोत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु व्यवहित अथवा विप्रकृष्ट देश में स्थित शब्द का ही ग्रहण उससे हो सकता है और चक्षु से दूर स्थित और सूक्ष्म रूप का ही दर्शन (दूरबीन आदि से) हो सकता है। इसीलिये आजकल के यन्त्रों की सहायता से प्रमाता के भेद के अनुसार प्रत्यक्ष में अतिशयिता देखी जाती है। इनकी सहायता से कुछ लोग बहुत दूर की और अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु को भी देख सकते हैं। लौकिक और शास्त्रीय ज्ञान में भी अतिशय देखने को मिलता है। इस कथन से किसी का यह कहना कि बुद्ध प्रभृति का ज्ञान अत्यन्त विशिष्ट सर्वविषयक क्यों नहीं हो सकता, खण्डित हो जाता है। अपने विषय में दूर, सूक्ष्म आदि के दर्शन मे ही सामर्थ्य का अतिशय उपयोगी हो सकता है, इस नियम के उल्लंघन में नहीं। अतिशय शक्तिसंपन्न श्रोत्ररूप दर्शन में प्रवृत्त नहीं हो सकता और न अतिशय शक्ति संपन्न नेत्र की ही प्रवृत्ति शब्द के श्रवण में हो सकती है, यह पार्थ सारथि मिश्र का कहना है।

यत्तूक्तं प्रत्यक्षस्य न विषयनियमोऽस्ति, रूपवतां घटादीनामरूपवतां रूपादीनां दूरसूक्ष्माणाञ्च प्रत्यक्षदर्शनादिति बुद्धादेः सर्वविषयज्ञानवत्त्वं कुतो न स्यादिति तन्न; प्रत्यक्षस्य वर्तमानविषयत्वनियमात्। ततश्च भविष्यति धर्मे प्रत्यक्षस्य न प्रवृत्तिर्नितरां सर्वविषयेषु। ज्ञानस्याप्यस्ति विषयनियमः, यत्रास्य कारणं सम्भवति, तत्रैव प्रवर्तते, नान्यत्र। ज्ञानकारणमिन्द्रियलिङ्गादि। इन्द्रियं वर्तमानविषयमिति तज्जन्यं ज्ञानमपि वर्तमानविषयमेव। न तत् धर्माधर्मेषु नापि सर्वार्थेषु प्रवर्तते। लिङ्गादिरहिततयाऽनुमानमपि न प्रवर्तते। अतो नानुमानादिभिरपि सर्वज्ञत्वसिद्धिः।

लौकायतिकैस्तु सर्वज्ञत्वकल्पनावदेव अपौरुषेयत्वकल्पनाऽपि निष्प्रामाणिकैवोच्यते। तैरेवोच्यते—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
निराकरणवच्छक्त्या न चासीदिति कल्पना॥

'अतीतः कालः सर्वज्ञशून्यः, कालत्वादद्यत्ववत्।' न वाऽऽगमो बुद्धादिसर्वज्ञत्वसिद्धौ प्रमाणम्। सिद्धे सर्वज्ञे तदागमस्य प्रामाण्यम्, तत्प्रामाण्ये च सर्वज्ञत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयात्। पुरुषान्तरप्रणीतस्य तु मूलान्तरासम्भवात् न सर्वज्ञसद्भावे प्रामाण्यम्।

यत्तूक्तम्—"नित्यागमगम्यः सर्वज्ञः" इति तन्न, तदभावात्। न च 'यः सर्वज्ञः, सर्ववित्' इति नित्यागमोऽस्त्ये-

यह जो कहा गया है कि प्रत्यक्ष का विषय नियत नहीं है, क्योंकि उससे रूपवान् घटादि का और अरूपवान् रूपादि का तथा दूरवर्ती एवं सूक्ष्म विषयों का भी ग्रहण होता है, अतः बुद्ध प्रभृति की सर्वविषयक ज्ञानवत्ता अर्थात् सर्वज्ञता क्यों न सिद्ध होगी? यह बात एकदम निराधार है। प्रत्यक्ष का यह नियम है कि वह वर्तमान वस्तु का ही ग्रहण करता है। इसलिये भविष्य में होने वाले धर्म में उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। सर्वविषयों में तो इसकी प्रवृत्ति सुतरां नहीं होगी। ज्ञान में भी विषय का नियम वर्तमान है। जहाँ इसका कारण हो सकता है, वहीं उसकी प्रवृत्ति होती है, अन्यत्र नहीं। इन्द्रिय, लिंग आदि ज्ञान के कारण हैं। इनमें इन्द्रिय वर्तमान विषय की ही ग्राहक हो सकती है, अतः इन्द्रियजन्य ज्ञान भी वर्तमान विषय का ही होगा। धर्म, अधर्म में एवं सर्व अर्थों में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। लिंगादि के अभाव में अनुमान भी धर्माधर्मादि में तथा सर्वार्थ में प्रवृत्त नहीं हो सकता, इसलिये अनुमान आदि से भी सर्वज्ञता नहीं सिद्ध हो सकती।

लोकायतिक अर्थात् चार्वाक दर्शन के अनुयायी तो सर्वज्ञत्व की कल्पना के समान वेद के अपौरुषेयत्व की कल्पना को भी प्रमाण नहीं मानते। उनका कहना है कि—"अभी हमको कोई सर्वज्ञ नहीं दिखाई देता, अतः पहले भी सर्वज्ञ कोई नहीं था, यह कल्पना बड़ी सरलता से की जा सकती है। इसमें अनुमान भी हो सकता है। जैसे कि—"अतीत काल सर्वज्ञ से शून्य था, काल होने के कारण, वर्तमान के समान"। अर्थात् आज का काल भी काल है और पहले का काल भी काल ही था। फिर जब वर्तमान काल में कोई सर्वज्ञ नहीं है तो पूर्व काल में भी कोई सर्वज्ञ नहीं था, यह बात अनुमान से सिद्ध हो जायगी। आगम के प्रमाण पर भी बुद्ध प्रभृति की सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि बुद्ध की सर्वज्ञता सिद्ध हो जाने पर ही उनके शास्त्र प्रमाण माने जायेंगे और शास्त्र के प्रामाण्य के आधार पर बुद्ध की सर्वज्ञता सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार यह बात[1] अन्योन्याश्रय दोष से दूषित हो जायगी। पुरुषान्तर से प्रणीत शास्त्र का कोई आधार न होने से वह भी सर्वज्ञ के सद्भाव में प्रमाण नहीं हो सकता। अर्थात् दूसरे पुरुष के बनाये हुए ग्रन्थ से बुद्ध को सर्वज्ञ कहें, तो दूसरे पुरुष के ग्रन्थ का भी कोई मूल न होने से वही अप्रमाण है।

यह कहना कि सर्वज्ञ नित्य आगम (वेद) से जाना जाता है, गलत बात है, क्योंकि ऐसा है नहीं। "जो सामान्यतया सर्वज्ञ है, वही विशेषतया प्रतिपदोक्त प्रत्येक पदार्थ को सबको जानता है" यह नित्य आगम इसमें प्रमाण इसलिये नहीं है कि यह अर्थवाद

१. अन्योन्याश्रय वाक्य निरर्थक होते हैं। उनसे किसी बात की सिद्धि नहीं होती। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि यह मोटर किसकी है? उत्तर देनेवाले ने कहा कि जिसका यह मकान है। यह मकान किसका है? तो कह दिया कि जिसकी यह मोटर है। यहाँ मोटर के मालिक का ज्ञान मकान के मालिक के ज्ञान के अधीन और मकान के मालिक का ज्ञान मोटर के मालिक के ज्ञान के अधीन है। यहाँ पर अन्योन्याश्रय होने से यह वाक्य व्यर्थ है।

वेति वाच्यम्; तस्यार्थवादरूपत्वेन तत्र तात्पर्याभावात्। बुद्धादिसर्वज्ञत्वबोधपरत्वेऽनित्यबोधकत्वेनागमस्याप्यनित्यत्वापत्तेः। किञ्च, यद्यागमनित्यत्वमिष्यते, तर्हि सर्वज्ञकल्पना व्यर्थैव। येन नित्येनागमेन सर्वज्ञो बोद्ध्यते, तेनैव धर्माधर्मबोधो भवतु, किं सर्वज्ञकल्पनया, यतः सर्वज्ञत्वेनाभिमता बुद्धादयोऽधर्ममेव प्रतिपादयन्ति।

कैश्चित्तु इन्द्रियार्थसंबन्धविषये सर्वं क्षणिकं संस्कृतमित्यादि सत्यवचनं दृष्ट्वा श्रद्धेयेऽर्थे धर्मे चैत्यवन्दनादिवाक्यमपि तद्वचनात्प्रमाणमित्युच्यते। तदुक्तम्—

कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते। दूरं पश्यतु मा वाऽसौ तत्त्वमिष्टं तु पश्यति ।। इति।

तदप्यपेशलम्; क्षणिकादिवाक्यस्यापि बाधसिद्धचा चैत्यवन्दनादिवाक्यस्य सुतरां बाधोपपत्तेः। वस्तुतस्तु 'चैत्यवन्दनादिबुद्धवाक्यम्, अप्रमाणम्, अलौकिकार्थत्वे सति पुंवाक्यत्वात्, उन्मत्तवाक्यवत्' इत्यनुमानेन बुद्धवाक्यानां प्रामाण्याभावः सिद्धचति।

यत्तूक्तं बुद्धेनैव सर्वज्ञोऽस्मीत्युक्तमिति। तदप्यसत्; बुद्धोऽसर्वज्ञ इत्यन्यैरुक्तत्वात्। वस्तुतस्तु एवमनृतमुद्धतञ्च बुद्धो वदतीति न सम्भाव्येत। यत्तु बुद्धः सर्वज्ञ इत्यस्ति लौकिकानामविच्छिन्ना स्मृतिः, तेन तदानीन्तनैर्बुद्धस्य सर्वज्ञत्वं प्रमितिमिति कल्प्यत इति। तदपि तुच्छम्; विप्रलिप्सया बुद्धेनागमः प्रणीत इति पुराणादिस्मृतिविगानात्। सर्वज्ञत्वस्मरणस्य चासम्भवन्मूलत्वात् शिष्टैरपरिग्रहाच्च। न च बुद्धस्य सर्वज्ञत्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति। सर्वविषयज्ञानरहितैस्तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। यदि तु बुद्धस्य सर्वज्ञत्वज्ञानार्थमन्योऽपि सर्वज्ञः कल्प्यते, ततस्तेनैव प्रकारेणान्यान्यसर्वज्ञकल्पनायामनवस्थापातात्। तदुक्तम्—

वाक्य है, अतः उसका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। यह आगम यदि बुद्ध प्रभृति की सर्वज्ञता का बोधक माना जाय तो अनित्य वस्तु का बोधक आगम भी अनित्य ही माना जायगा। आगम को यदि आप नित्य मानते हैं तो फिर सर्वज्ञ की कल्पना व्यर्थ ही है, क्योंकि जिस नित्य आगम से सर्वज्ञ का बोध होता है, उसीसे धर्म और अधर्म आदि का भी बोध हो जायगा, तब सर्वज्ञ कल्पना की क्या आवश्यकता है? क्योंकि सर्वज्ञ के रूप में स्वीकृत बुद्ध प्रभृति केवल अधर्म का ही प्रतिपादन करते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से परिज्ञान विषयों में यह सारा संसार क्षणिक है, संस्कृत है, इस तरह की सही बातें सुनकर बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट चैत्य वन्दन प्रभृति विषयों में भी श्रद्धा उत्पन्न होती है, अतः बुद्ध का वचन भी प्रामाण्य में कारण माना जायगा। जैसा कि कहा गया है—"उस सर्वज्ञ को संसार में कितने कीट पतंगे हैं, इसका यदि ज्ञान है तो उस ज्ञान का हमारे लिये क्या उपयोग है? वह (बुद्ध) दूर की वस्तु को देखे अथवा न देखे, किन्तु हमारे लिये जो कल्याणकारी वस्तु है, उसको वे अवश्य देखते हैं"। यह उक्ति भी गलत है, क्योंकि क्षणिकत्व के प्रतिपादक वाक्यों का ही जब बाध हो जायगा तो फिर चैत्यवन्दन प्रभृति वाक्यों का बाध तो सहज ही हो जायगा। वस्तुतस्तु चैत्यवन्दन प्रभृति बुद्धवाक्य अप्रमाण हैं, क्योंकि यहाँ पर पुरुष के द्वारा अलौकिक अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, जैसे कि कोई उन्मत्त मनमाना प्रलाप करता हो, इस अनुमान से बुद्ध वाक्यों की अप्रमाणता सिद्ध होती है।

यह कहना कि बुद्ध ने स्वयं ही कहा है कि मैं सर्वज्ञ हूँ, गलत बात है, क्योंकि दूसरों का कहना है कि बुद्ध सर्वज्ञ नहीं है। वास्तव में बुद्ध ऐसी गलत और उद्दंडता से भरी बात कहेंगे, ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती। यह कहना कि बुद्ध सर्वज्ञ है, यह बात लोक में अविच्छिन्न स्मृति परम्परा से प्रचलित है, इससे ऐसा अनुमान होता है कि उस समय के व्यक्तियों ने बुद्ध की सर्वज्ञता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया था, यह भी तुच्छ बात है। प्रजा को ठगने के लिये बुद्ध ने नये शास्त्र की रचना की, इस प्रकार की उक्तियाँ पुराणादि स्मृति ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। बुद्ध के सर्वज्ञत्व की परम्परा का मूल सही नहीं है और शिष्टजनों ने इसको स्वीकार भी नहीं किया है। बुद्ध के सर्वज्ञ होने में कोई प्रमाण नहीं है। जिनको सभी विषयों का ज्ञान नहीं है, वे सर्वज्ञ को जान भी नहीं सकते। बुद्ध की सर्वज्ञता को जानने वाले किसी अन्य सर्वज्ञ की यदि कल्पना करनी है तो उसी पद्धति से उसकी सर्वज्ञता के ज्ञान के लिये भी एक और सर्वज्ञ की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रकार अनवस्था दोष की आपत्ति होगी। जैसा कि कहा गया है—

य एवं स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते।
सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च येनैव स्यान्न तं प्रति।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेन वाक्यवत्॥ (चो. सू. वा. १३५,१३६)

किञ्च, रागद्वेषादिरहितो निर्व्यापारः शून्यनिष्ठो बुद्ध आसीदिति बुद्धैरभिप्रेयते। तादृशस्य प्रक्षीणरागद्वेषस्य बुद्धस्य लाभपूजाख्यातिरागनिमित्तं स्वयूथ्यनिमित्तं वा न सम्भवत्यागमप्रणयनम्। निर्व्यापारस्य च तस्य निर्विकल्पेन प्रत्यक्षेण विश्वं प्रत्यक्षयतः विकल्पमूलिका देशनाऽपि न सम्भवत्येवेति तदन्यप्रणीत एव बौद्धागमः।

यत्तु तत्सान्निध्यमात्रतश्चिन्तामणेरेव कुड्यादिभ्योऽपि देशना निःसरन्तीति। तत्तु श्रद्धाजडस्यैव शोभते। कुड्यादिनिःसृतासु देशनासु बुद्धप्रणीतत्वानिर्णयेन प्रामाण्यासम्भवात्। विप्रलम्भकैः पिशाचादिभिरपि विप्रलम्भार्थं तादृक् देशनाप्रकाशसम्भवात्।

यत्तूक्तम् "स्वभावादेव तत्तदिन्द्रियाद्यनपेक्षमेव पुरुषः सर्वं वेत्ति। देहावृतस्तु इन्द्रियादिद्वारेण किञ्चिदेव जानाति। विगलितदेहस्य तु स्वाभाविकं सार्वज्ञमभिव्यज्यते" इति। तदप्यपेशलम्; इन्द्रियाद्यनपेक्षस्य जीवस्य सूक्ष्मातीतादिसर्वविषयं ज्ञानं भवतीत्यत्र तदागममन्तरान्यस्य प्रमाणस्यासत्त्वात्। तदागमस्य प्रमाणत्वे सर्वज्ञत्वसिद्धिः, सर्वज्ञत्वसिद्धौ तदागमप्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयः। अपि च विगलितशरीरस्याशरीरस्य ताल्वादिरहितस्य कथमागमप्रणयनम्? सशरीरस्यासर्वज्ञत्वेन तत्प्रणीतागमस्य च कथं प्रामाण्यम्? यदि तादृक् कश्चन मुक्तः सर्वज्ञोऽद्यत्वे दृश्येत, ततोऽन्योऽपि सम्भाव्येत।

"जो व्यक्ति स्वयं असर्वज्ञ है, वह सर्वज्ञ को नहीं जान सकता। जिस असर्वज्ञ ने सर्वज्ञ के रूप में किसी को नहीं जाना है तो उसके प्रति उस असर्वज्ञ के वाक्य उसी प्रकार प्रमाण नहीं हो सकते, जैसे कि वे वाक्य प्रमाण नहीं माने जाते, जिनके कि मूल वक्ता का कोई ज्ञान नहीं है"।

बुद्ध के शिष्य ऐसा मानते हैं कि बुद्ध राग, द्वेष आदि से रहित थे, सब प्रकार के व्यापारों से मुक्त थे और शून्यनिष्ठ थे। ऐसे बुद्ध जो राग, द्वेष आदि से रहित थे, उन्होंने फिर लाभ, पूजा, प्रसिद्धि, राग आदि में अनुरक्त होकर केवल अपने अनुयायियों के लिये शास्त्र की रचना क्यों की? फिर जब वे सभी प्रकार के व्यापारों से निर्लिप्त थे, तो शास्त्र रचनारूपी व्यापार कहाँ से आया? वे निर्विकल्प समाधि में निरत थे तो विकल्प मूलक उपदेश कहाँ से आया? अतः यह निश्चित है कि बौद्धागमों की रचना किसी दूसरे ने ही की है, बुद्ध ने नहीं।

यह कहना कि चिन्तामणि के समान बुद्ध की सन्निधि मात्र से दीवाल भी शास्त्र का उपदेश करने लगती थी, केवल अतिशय श्रद्धा के कारण जिसकी बुद्धि जड़ हो गई है, उसी के लिये शोभा की बात हो सकती है। दीवाल से निकली देशना में यह बुद्ध द्वारा प्रणीत है, ऐसा निश्चय न होने से प्रामाण्य का निश्चय भी नहीं हो सकता। जनता को ठगने के लिये इस प्रकार की देशना पिशाच प्रभृति के द्वारा और ठगों के द्वारा भी दी जा सकती है।

यह जो कहा गया है कि पुरुष स्वभाव से ही उन उन इन्द्रियों की सहायता के बिना ही सब कुछ जानता है। वह जब देह से आवृत हो जाता है तो इन्द्रियों की सहायता से कुछ थोड़ी सी वस्तुओं को जान पाता है। पुनः जब वह इस देह से मुक्त हो जाता है तो उसकी स्वाभाविक सर्वज्ञता अभिव्यक्त हो जाती है"। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीव को इन्द्रिय प्रभृति की अपेक्षा के बिना सूक्ष्म, अतीत, अनागत आदि सभी विषयों का ज्ञान होता है, इसमें बौद्ध आगम के सिवाय और कोई प्रमाण नहीं है। उनके आगम के प्रामाण्य के सिद्ध होने पर सर्वज्ञ की सिद्धि होगी और सर्वज्ञ की सिद्धि होने पर उनके आगम का प्रामाण्य सिद्ध होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। दूसरी बात यह है कि शरीर के विगलित हो जाने पर शरीर के अभाव में तालु प्रभृति स्थानों के सुतरां अभाव होने के कारण आगम का प्रणयन कैसे होगा? यदि इस प्रकार का कोई मुक्त सर्वज्ञ आजकल दिखाई दे तो हम तत्सदृश किसी अन्य की संभावना कर सकते हैं।

एवमेव प्रजापतेः प्रथमेनार्षज्ञानेनैव वेदोऽवबुद्धो भवतीत्यपि न विचारसहम्; अनुच्चरितशब्दज्ञानमपि सर्वज्ञज्ञानवत् धर्माधर्मविज्ञानवच्च सकारणमेव; तत्रापि तेन कृतो वा नित्यसिद्ध एव प्राप्तो वेत्यनाश्वासस्यैवाप्रामाण्यकारणत्वसम्भवात्। न च तद्वचनात् विश्रम्भसम्भवः; अद्यत्ववत् तदानीमपि पुरुषाणामनृतवादित्वसम्भवात्। अयमागमप्रतिभासः स्वप्नादिवत् आकस्मिको निर्निमित्तश्चाप्रमाणश्च भवतीत्यविश्रम्भ एव। अस्मिन् पक्षे बह्वन्यदृष्टानि कल्पनीयानि। अनुच्चारितशब्दग्रहणसामर्थ्यवतोऽसाधारणपुरुषस्य कल्पनम्। तथैवागमनित्यतां कल्पयित्वा जन्मान्तरानुभवनिबन्धनं तत्स्मरणकल्पनं गौरवास्पदम्। कथं हि द्विपरार्द्धपरिमितं प्रलयकालमतीत्य एतावान् ग्रन्थराशिः मात्रियाऽपि अन्यूनानतिरिक्तः स्मर्तुं शक्येतापि? यदि चैवं नित्यागमस्य जन्मान्तरानुभवजन्यस्मरणविषयत्वं सम्भवति, तर्हि बुद्धादेर्धर्मविषयस्मृत्यभ्युपगमे को विरोधः? यद्यनुच्चरितशब्दग्रहणं सम्भवति, तर्हि धर्माधर्माद्यर्थग्रहणे का बाधा।

यत्तूच्यते शब्दस्यैन्द्रियकत्वाद् ग्राह्यत्वाद् ग्राह्यत्वम्, धर्माधर्मादिस्त्वतीन्द्रियत्वाद् अग्राह्यत्वमिति तन्न; अनुच्चरितशब्दस्यापि अतीन्द्रियत्वात्। अपि च, धर्माधर्मादिग्रहणवादिनां नये पुमान् स्वतन्त्र एवाभिप्रेतः। अतः तत्प्रत्ययाद् अर्थनिश्चयो युक्तः। नित्यागमग्रहणवादिनां तु प्रजापत्यादिपुरुषा धर्माधर्मग्रहणेऽपि वेदपरतन्त्राः। स्व स्वरूपसिद्धयेऽपि तत्परतन्त्र इति न कस्यचित्स्वातन्त्र्यम्।

न च पूर्वमीमांसकनयेऽपि पूर्वपूर्वपुरुषाधीनमुत्तरोत्तरपुरुषाणां वेदस्वरूपनिर्द्धारणमिति समानमेव पारतन्त्र्यमिति वाच्यम्, भावानवबोधात्। तथाहि—एकपुरुषाधीनत्वे कृतकत्वाशङ्कया यथावद् दृष्टो विप्लवो वा जात इति संशयाद् न

इसी तरह प्रजापति के प्रथम आर्ष ज्ञान से ही वेद जान लिया जाता है, यह बात भी तर्कसंमत नहीं है। अनुच्चरित शब्द का ज्ञान भी सर्वज्ञ के ज्ञान की तरह और धर्म-अधर्म के ज्ञान की तरह सकारण है, वहाँ पर भी प्रजापति ने इसको बनाया अथवा नित्यसिद्ध को प्राप्त किया, इसका निश्चय न होने से उसमें अप्रामाण्य की काफी सामग्री विद्यमान है। प्रजापति के वचन से भी उसमें विश्वास नहीं हो सकता, क्योंकि आज की तरह उस समय भी पुरुषों के असत्यभाषी होने की संभावना है। यह आगम का जैसा प्रतीत हो रहा बोद्धागम स्वप्न आदि के समान आकस्मिक, बिना निमित्त का और अप्रमाण भी है, अतः इसमें विश्वास नहीं किया जा सकता। इसके पक्ष में अनेक अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ती है। पहले अनुच्चरित शब्द को ग्रहण करने की सामर्थ्य वाले किसी असाधारण पुरुष की कल्पना, इसी तरह आगम के नित्यत्व की कल्पना करके जन्मान्तर के अनुभव से होने वाले स्मरण की कल्पना करने में स्पष्ट ही गौरव है। यह कैसे हो सकता है कि दो परार्ध परिमित प्रलय काल के बीत जाने पर इतनी बड़ी ग्रन्थ राशि को बिना एक मात्रा की भी न्यूनता अथवा अधिकता के कोई स्मरण कर सकता हो? यदि इस तरह से नित्य आगम जन्मान्तर के अनुभव से उत्पन्न स्मृति का विषय हो सकता है, तो बुद्ध प्रभृति की धर्म विषयक स्मृति को मानने में क्या विरोध हो सकता है? यदि अनुच्चरित शब्द का ग्रहण हो सकता है तो धर्म-अधर्म प्रभृति अर्थों के ग्रहण में क्या बाधा हो सकती है?

यह कहा जाता है कि "शब्द तो इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होता है, अतः इसका ग्रहण माना जा सकता है, धर्म-अधर्म आदि तो अतीन्द्रिय हैं, अतः इनकी ग्राह्यता सम्भव नहीं हो सकती" यह बात भी गलत है, क्योंकि अनुच्चरित शब्द भी अतीन्द्रिय है। दूसरी बात—धर्म-अधर्म आदि की ग्राह्यता मानने वालों (बौद्धों) के पक्ष में पुरुष स्वतन्त्र माना गया है। अर्थात् बौद्धों के मत में बुद्ध सर्वज्ञ है, अतः उसको धर्माधर्मादि के ज्ञान में किसी की अपेक्षा न रहने से वह इस विषय में स्वतन्त्र है। इसलिये पुरुष के ज्ञान से अर्थ का निश्चय करना ठीक हो सकता है। नित्य आगम (वेद) से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान मानने वालों के पक्ष में तो प्रजापति आदि पुरुष भी धर्म और अधर्म आदि के ज्ञान में वेद के पराधीन हैं अर्थात् वेद से ही धर्म और अधर्म का ज्ञान इन्हें भी होता है। प्रजापति आदि अपने स्वरूप की सिद्धि में भी वेद के परतन्त्र हैं, अर्थात् वेद से ही प्रजापति के स्वरूप की भी सिद्धि होती है, वेद के बिना नहीं। अतः वैदिकों के मत में कोई भी पुरुष स्वतन्त्र नहीं है।

इस प्रकार से तो पूर्व मीमांसा के मत में भी परवर्ती पुरुष पूर्ववर्ती पुरुष के प्रमाण पर ही वेद के स्वरूप का निर्धारण करता है। इस तरह से मीमांसा और बौद्ध दोनों सिद्धान्तों में परतन्त्रता समान रूप से विद्यमान है। तब वेदों में ही क्या विशेषता हुई? किन्तु ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि आपने मीमांसक मत का अभिप्राय ही ठीक से नहीं समझा है। वेद के स्वरूप का निर्धारण यदि एक पुरुष के अधीन माना जाता है, तो उसमें कृत्रिमता की आशंका होने से उसने ठीक से किसी विषय को देखा है अथवा इसमें कुछ व्युत्क्रम हो

स्वातन्त्र्येणागमस्य प्रामाण्यं सम्भवति। अनेकपुरुषस्थले तु नैष दोषः; जन्मान्तरानुभूतस्य दीर्घकालव्यवहितत्वेन स्मर्तुमशक्यत्वेन कृत्वैव वेदं श्रद्धार्थं स्मृतमुपदिशतीति शङ्कया तत्राविश्रम्भः। एकस्मिन्नेव जन्मनि बहुशोऽनुभूय स्मर्यमाणे तु नायमपि दोष इति न स्वातन्त्र्यहानिः। एकस्य प्रतिभाने तु कृतकत्वाशङ्कया संभवत्येव पारतन्त्र्यम्। अत एव सम्प्रदाये बहवः पुमांसोऽभिप्रेयन्ते। ततो यथा वेदानां कर्ता कश्चन नास्ति, तथैवैकः कश्चन सम्प्रदायप्रवर्तकोऽपि नास्ति; तथात्वे कृतकत्वसंशयापत्तेः, तत्तदन्यकुरानबाइविलादिग्रन्थानुयायिभिरपि ग्रन्थकर्तुः सम्प्रदायप्रवर्तकत्वमेवोच्यत इति तदवैलक्षण्यमेव वेदस्य स्यात्। बहुषु पुरुषेषु सम्प्रदायस्याद्यत्ववत् पूर्वकालेऽपि विद्यमानत्वेन न शङ्कावकाशः। यथाद्यत्वे सर्वे पूर्वपूर्वपुरुषेभ्यो वेदमधीयाना दृश्यन्ते, न कर्तारः, कालान्तरेऽपि तथात्वाङ्गीकारेण न दृष्टहानिर्न वाऽदृष्टकल्पना, कर्तुस्तद्दोषाणां चासत्त्वात् स्वाभाविकमेव वेदानां प्रामाण्यम्। तत एवानुमानिकबाधोऽपि आभाससमानयोगक्षेम एव।

यत्तूपदेशित्वान्यथानुपपत्त्या मन्वादिवद् बुद्धादेरपि ज्ञानवत्त्वोपपत्तिरिति। तदप्यकिञ्चित्करम्, बालोन्मत्तादौ व्यभिचारात्। वेदान् ज्ञात्वोपदेशश्चेत्; सिद्धसाधनमेव, मन्वादेस्तथात्वाभ्युपगमात्। बुद्धोपदेशस्य च वेदरसिद्धत्वान्न तत्र वेदजन्यज्ञानवत्त्वमप्यभ्युपगन्तुं शक्यते। पुरुषवचनादर्थनिश्चये जातेऽपि प्रत्यक्षादिनिश्चयवत् मूलदोषावगमे बाध्यत एवेति तदप्रामाण्यम्। वेदस्यानपेक्षितत्वेन स्वत एव प्रामाण्यम्। पुरुषस्तु अन्यथा संविदानोऽप्यन्यथा विवक्षति, अत एव पौरुषेयवचनात् तन्मूलप्रत्ययो नावधारयितुं शक्यः।

गया है, इस प्रकार का संशय उठ सकता है, अतः ऐसे स्थलों में आगम का स्वतन्त्र रूप से प्रामाण्य सम्भव न होगा। किन्तु जहाँ पर अनेक पुरुष द्रष्टा के रूप में विद्यमान हैं, वहाँ पर इस प्रकार की आपत्ति नहीं उठ सकती। उठ सकती है—जन्मान्तर में अनुभूत विषय का एक लम्बे समय के व्यवधान के कारण स्मरण कर पाना कठिन है। इस पर भी श्रद्धा को जगाने के लिये कह दिया गया है कि प्रजापति प्रभृति वेद को स्मरण कर उसका उपदेश देते हैं, इस प्रकार की आशंका होने पर वेद में विश्वास ही नहीं रहेगा। एक ही जन्म में अनेक बार के अनुभव के आधार पर स्मृत विषय में तो यह दोष नहीं रहेगा, फलतः यहाँ पर व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की हानि भी नहीं होगी। एक ही व्यक्ति को प्रतिभान होता है, ऐसा मानने पर कृत्रिमता की आशंका के कारण पारतन्त्र्य की सम्भावना बनी रहती है। इसीलिये संप्रदाय में अनेक व्यक्तियों को मान्यता दी गई है। इसलिये जैसे कोई एक व्यक्ति वेद का कर्त्ता नहीं माना जाता, उसी तरह कोई एक व्यक्ति सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी नहीं माना जाता। क्योंकि एक व्यक्ति के साथ कृतकत्व की आशंका जुड़ी रहती है। ऐसा मानने पर तो वेद की कुरान, बाइविल आदि से कोई विलक्षणता नहीं मानी जा पाती, क्योंकि इन ग्रन्थों के अनुयायी भी इनके रचयिता को सम्प्रदाय का प्रवर्तक मान सकते हैं। आज की तरह पहले भी किसी सम्प्रदाय की विद्यमानता अनेक व्यक्तियों में मानी जाती है, तो उस परिस्थिति में इसमें कृत्रिमता आदि की शंका का कोई अवसर नहीं रह जाता। जैसे आजकल सभी व्यक्ति अपने पूर्ववर्ती पुरुष से वेद का अध्ययन करते देखे गये हैं, उसके कर्ता नहीं, उसी प्रकार कालान्तर में भी इसी बात को न मानने पर न तो दृष्ट वस्तु का विरोध ही होता है और न कोई अदृष्ट की कल्पना ही करनी पड़ती है। वेद का कोई कर्ता नहीं है, अतः कर्ता में विद्यमान भ्रम-प्रमादादि दोषों के भी न रहने से वेद का प्रामाण्य स्वभावतः सिद्ध है। इसीलिये अनुमान के द्वारा वेद के प्रामाण्य का खण्डन प्रमाणाभास से प्रामाणिक वस्तु के खण्डन के समान ही व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

यह कहना कि मनु प्रभृति के समान बुद्ध आदि को भी ज्ञानवान् मानना पड़ेगा, अन्यथा वे उपदेष्टा कैसे हो सकते हैं? यह बात भी तुच्छ है, क्योंकि बालक, उन्मत्त आदि में इसका व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात् बालक, उन्मत्त आदि भी उपदेश तो करने ही लगते हैं। बुद्ध ने वेद को जानकर उपदेश दिया, यह कहना सिद्ध-साधन दोष है, क्योंकि मनु प्रभृति के विषय में यह माना ही जाता है कि वे वेद को जानकर के ही तदनुसार धर्म का उपदेश करते हैं। बुद्ध का उपदेश तो वेद से सिद्ध नहीं है, अतः बुद्ध को वेदजन्य ज्ञान था, ऐसा नहीं माना जा सकता। पुरुष का वचन होने से उसमें अर्थ का निश्चय तो हो जायगा, किन्तु कारणगत दोष के ज्ञान से जैसे प्रत्यक्षादि निश्चय बाधित होता है, वैसे ही पुरुषगत दोष के ज्ञान से उसका वचन भी बाधित होकर अप्रमाण हो जायगा। वेद किसी भी अपेक्षा से शून्य है, अतः उसका स्वतः प्रामाण्य है। पुरुष तो जानता कुछ है, कहना कुछ और ही चाहता है। इसीलिये पौरुषेय वचन से उसके मूल प्रमाण की अवगति होना कठिन है।

वाक्यरचनायां ज्ञानापेक्षया विवक्षा प्रत्यासन्ना भवति। भ्रान्तस्य त्वन्यविवक्षायामन्यद्वाक्यं दृश्यते। तथा च यदि वाक्यानुरूपविवक्षाऽपि निश्चेतुं न पार्यते, तदा वाक्यानुरूपं ज्ञानकल्पनं तु दूरापास्तम्। ततो यथाविवक्षं यथाज्ञानं वाक्यं प्रवर्तत इति वक्तुं न शक्यते, तथाप्याप्तवाक्येषु वक्तृज्ञानपूर्वकत्वं निश्चेतुं शक्यते। ततोऽन्यत्र भ्रमविप्लवादिसम्भवः। तथा च पौरुषेयवाक्यानां सामान्येन मूलज्ञानावधारणशक्तिर्भवति, अनाप्तवाक्यानां तदशक्तिश्च[1] तत एव केषाञ्चित्प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्चान्येषाम्।

ननु तर्हि कथं वाचकत्वविरहिताद् वाक्यात् तज्ज्ञानमवगम्यत इति चेन्न, ज्ञानावधारणस्यानुमानिकत्वेन बाधाभावात्। पदपदार्थरचनाधीना हि वाक्यार्थप्रत्ययाः। उक्तरचना च विवक्षाधीना। सा च ज्ञानाधीना। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेतदवगम्यते।

यद्यपि पौरुषेयवाक्यादर्थनिश्चयो भवति, तथापि तत्प्रामाण्यं वक्तृज्ञानमुखेनैव भवति। तत एवाप्तोक्तकारी पर्यनुयुक्तः सन् आप्तमेव निर्दिशति। न चैवमर्थमनवबोधयतः शब्दस्य वाचकत्वमेव न स्यात्, न चानवगतबोधकत्वानां लोके वेदे वा बोधकत्वं सम्भवति, ततो वेदप्रामाण्यमपि दुर्घटमिति वाच्यम्, वक्तृज्ञानान्तरितत्वेन शब्दानामुदासीनत्वात्, वक्तृज्ञानस्यैव तत्र प्रामाण्यप्रयोजकत्वात्। वाक्यात् पूर्वमर्थप्रतीतौ सत्यामपि तत्प्रतिष्ठया वक्तृज्ञानान्तरितत्वात् यावत्तन्नावगतं भवेत्, तावदुत्पन्नस्यापि निश्चयस्यासत्समत्वात् शब्दा उदासीना इव भवन्ति। वक्तृज्ञानेऽवधारिते तु शब्दैः पूर्वसञ्जातमप्यर्थे प्रामाण्यं पुनः प्रतिष्ठाप्यते। वाक्यस्य पुरुषबुद्धिप्रभवत्वेन तद्दोषेण दोषसम्भवात् संशयो जायते। मूलज्ञानस्य सम्यक्त्वे तु संशयनिवृत्तौ निश्चयः प्रतिष्ठितो भवति। यद्यपि वक्तृज्ञानमर्थज्ञानगम्यमेवेत्यर्थज्ञानं वक्तृज्ञानात् पूर्वमेव भवति, तथापि

वाक्य की रचना में ज्ञान की अपेक्षा कहने की इच्छा अधिक समीप है। भ्रान्त व्यक्ति में देखा गया है कि वह कहना कुछ चाहता है और बोलता कुछ और ही है। इस तरह वाक्य के अनुरूप विवक्षा का निश्चय होना भी जब कठिन है, तब वाक्य के अनुरूप ज्ञान की कल्पना तो बहुत दूर की बात है। अतः विवक्षा और ज्ञान के अनुसार वाक्य की प्रवृत्ति होती है, यह नहीं कहा जा सकता। तो भी आप्त प्रयुक्त वाक्यों में वक्ता को उस विषय का ज्ञान है, इसका निश्चय किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अनाप्त वाक्यों में भ्रम, विपर्यय आदि की सम्भावना रहती है। इस प्रकार पौरुषेय वाक्यों में सामान्य रूप से मूल ज्ञान के अवधारण की शक्ति रहती है, अनाप्त वाक्यों में यह नहीं रहती। इसीलिये कुछ वाक्य प्रमाणयुक्त होते हैं और कुछ नहीं।

प्रश्न उठता है कि 'जब वाक्य वाचक नहीं होते तो उनसे अर्थ की अवगति कैसे होगी ? उत्तर है कि अनुमान के द्वारा ज्ञान के अवधारण में कोई बाधा नहीं है। वाक्यार्थ का ज्ञान पद और पदार्थ के ज्ञान के अधीन होता है। वाक्य की रचना विवक्षा के अधीन है और विवक्षा ज्ञान के अधीन है। अन्वय और व्यतिरेक से इसका ज्ञान होता है।

यद्यपि पौरुषेय वाक्य से अर्थ का निश्चय होता है, तो भी उसका प्रामाण्य वक्ता के ज्ञान के अनुसार ही होता है। इसीलिए आप्त पुरुष की आज्ञा का पालन करने वाला व्यक्ति पूछने पर उस आप्त पुरुष का ही हवाला देता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि अर्थ का ज्ञान न कराने वाले शब्द की वाचकता नहीं बन सकती और न यही कहा जा सकता है कि जिन शब्दों की बोधकता सिद्ध नहीं हुई है, ऐसे शब्दों की बोधकता लोक अथवा वेद में भी सिद्ध नहीं हो सकती, फलतः वेद का प्रामाण्य सिद्ध होना बड़ा कठिन है, क्योंकि शब्द वक्ता के ज्ञान से अन्तरित होकर उदासीन हो जाते हैं। वक्ता का ज्ञान ही इनमें प्रामाण्य का प्रयोजक है, अर्थात् वक्ता की आप्तता—अनाप्तता के आधार पर ही इनमें प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय होता है। वाक्य से पहले ही अर्थ की प्रतीति हो सकती है, किन्तु उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् प्रामाण्य वक्ता के ज्ञान के बाद ही होगी, अतः जब तक इस प्रामाणिक वक्ता की अवगति नहीं हो जाती, तब तक उत्पन्न हुआ निश्चय भी अनिश्चय के समान ही है, अतः इस अवस्था में शब्द उदासीन ही रहते हैं। वक्ता के ज्ञान के निश्चित हो जाने पर तो शब्दों के द्वारा पहले से उत्पन्न अर्थ के प्रामाण्य की पुनः प्रतिष्ठा होती है। वाक्य पुरुष की बुद्धि से प्रसूत होते हैं, अतः बुद्धिगत दोष से वाक्य में भी दोष की सम्भावना बनी रहने से संशय उठ खड़ा हो जाता है। मूल ज्ञान यदि सही है, तो संशय की

१. वाचकता पदों में ही मानी जाती है और पदजन्य पदार्थोपस्थिति से वाक्यार्थ का बोध होता है।

तत्प्रामाण्यनिर्णये वक्तृज्ञानस्यैव पूर्वभावित्वम्। एवं पौरुषेयेषु वाक्येषु पुरुषबुद्धिनिमित्तत्वाद् अप्रामाण्यं युज्यते। वेदे तु वक्तुरभावाद् वक्तृबुद्ध्यनपेक्षत्वात् स्वत एव प्रामाण्यम्।

यत्तु अनाप्तवचनवद् वचनत्वेन वेदस्याप्यप्रामाण्यं शङ्क्येत, तदपि न क्षोदक्षमम्, लौकिकवाक्यस्याप्रामाण्यं दोषनिमित्तं न वाक्यत्वहेतुकम्। प्रत्यक्षस्य भूतार्थविषयकत्वेन भव्यस्य धर्मादेर्न तद्विषयत्वसम्भवः। इन्द्रियाद्यगम्यभूत-भविष्यदाद्यर्थबोधकत्वं शब्दस्यैव सम्भवति। तदुक्तम्—

"अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" (चो० सू० वा ६) इति।

ननु वेदो यदि पौरुषेयस्तर्हि प्रत्यक्षाद्यनवगतधर्मादिबोधकत्वेनासम्भवन्मूलकत्वेन बुद्धादिवाक्यवत् तस्याप्यप्रामाण्य-मेव। अपौरुषेयश्चेत् प्रामाण्यहेतुभूताप्तोच्चरितत्वाभावेन सुतरां तस्याप्रामाण्यमिति चेन्न, ज्ञानस्य प्रामाण्यस्वतस्त्वाभ्युपगमेन प्रामाण्यकारणानपेक्षत्वेनापौरुषेयत्वे दोषाभावात्। अप्रामाण्यं तु कारणाधीनम्। तच्च ज्ञानानुत्पत्तिः, उत्पन्नस्य ज्ञानस्य संशयाद्यात्मकता, उत्तरकाले बाधकप्रत्ययान्तरोत्पत्तिः, करणे दोषवत्ताज्ञानञ्च। प्रकृते वेदस्य कर्तृस्मरणाभावादियुक्तिभि-रपौरुषेयत्वसिद्ध्या न कारणदोषज्ञानं शक्यशङ्कम्, "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादिवाक्यैरग्निहोत्रहोमात् स्वर्गो भवतीति ज्ञानमुत्पद्यत एव। न चैभिः संशयाद्यात्मकं ज्ञानमुत्पद्यते। अग्निहोत्रहोमात् स्वर्गो न भवतीति बाधकज्ञानमपि कस्यापि न भवत्येव। अग्निहोत्रहोमात् स्वर्गो न भवतीति नहि केनापि प्रमातुं शक्यते। येन प्रमाणेन लौकिकसाध्यसाधन-भावो ज्ञायते, तेनैव तदभावोऽपि। नहि चक्षुरन्तरा रूपाभावो ज्ञायते। तथा चाप्रामाण्यकारणत्वेन सम्भावितेष्विह कस्यापि अनुपलम्भादप्रामाण्यशङ्काया दूरापास्तत्वात् स्वतः सिद्धं प्रामाण्यमनपोहितमेव स्थितं भवति।

निवृत्ति हो जाने पर निश्चय की प्रतिष्ठा हो जाती है। यद्यपि वक्ता का ज्ञान अर्थ के ज्ञान से ही जाना जाता है, इसलिए अर्थ का ज्ञान वक्ता के ज्ञान से पहले ही होता है, तो भी उसके प्रामाण्य के निश्चय में वक्ता का ज्ञान ही पहले मानना पड़ता है। इस तरह पौरुषेय वाक्यों में पुरुष की बुद्धि के ही निमित्त होने से उसमें अप्रामाण्य की कल्पना उचित है। वेद में तो वक्ता के न होने से वक्ता की बुद्धि की अपेक्षा के अभाव में स्वतः प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं है।

वेद भी तो वाक्यसमूहात्मक ही है, अतः उसमें भी अनाप्त व्यक्ति के वाक्यों की तरह अप्रामाण्य की शंका उठ सकती है, यह कथन भी तर्क के सामने नहीं टिक सकता, लौकिक वाक्य का अप्रामाण्य दोष के कारण होता है, उसमें वाक्यत्व हेतु नहीं है। निष्पन्न अर्थ का ही प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः निष्पाद्य धर्मादि प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो सकते। इन्द्रिय आदि से अगम्य भूत, भविष्य आदि विषयों का बोध शब्द से ही हो सकता है। जैसा कि कहा गया है—"अत्यन्त अविद्यमान अर्थ का भी ज्ञान शब्द के द्वारा हो सकता है।"

प्रश्न उठता है कि यदि वेद पौरुषेय है, तो प्रत्यक्षादि से अनवगत धर्मादि की बोधकता में वह प्रमाण नहीं हो सकता, अतः बुद्ध आदि के वाक्यों की तरह उसको भी प्रमाण नहीं माना जायगा। यदि वेद अपौरुषेय है, तो उसके आप्त द्वारा उच्चरित न होने के कारण वह निश्चित ही अप्रमाण मान लिया जायगा, क्योंकि आप्त द्वारा उच्चरित शब्द ही प्रमाण होता है। इसका उत्तर यह है कि ज्ञान को स्वतः प्रमाण माना गया है, अतः अपौरुषेय वाक्य में प्रामाण्य के कारण की अपेक्षा न होने से यहाँ कोई दोष नहीं है। अप्रामाण्य का ज्ञान तो कारण के अधीन है। ज्ञान की अनुत्पत्ति, उत्पन्न ज्ञान की संशय-विपर्ययात्मकता, उत्तर काल में अन्य बाधक ज्ञान की उत्पत्ति, करण में दोषयुक्तता का ज्ञान—ज्ञान के अप्रामाण्य में ये चार कारण होते हैं। प्रकृत स्थल में वेद के कर्ता की किसी को स्मृति नहीं है, अतः इस तरह की युक्तियों के सहारे वेद की अपौरुषेयता के सिद्ध हो जाने पर कारणगत दोष ज्ञान की आशंका ही नहीं उठ सकती। "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इस तरह के वाक्यों से अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इस तरह का ज्ञान उत्पन्न होता ही है। इससे संशयात्मक ज्ञान नहीं होता और न बाधक ज्ञान ही होता है कि अग्निहोत्र से स्वर्ग नहीं होता। अग्नि-होत्र करने से स्वर्ग नहीं होता, इस प्रकार का ज्ञान किसी को हो नहीं सकता। जिस प्रमाण से लौकिक साध्य-साधन भाव का ज्ञान होता है, उसीसे उसके अभाव का भी ज्ञान होता है। बिना चक्षु के कोई रूप के अभाव को जान नहीं सकता। इस तरह अप्रामाण्य के जितने भी संभावित कारण हैं, उनमें से किसी की भी उपलब्धि यहाँ (वेद में) नहीं होती, अतः अप्रामाण्य की शंका का यहाँ कोई प्रसंग न होने से वेद वाक्यों का प्रामाण्य किसी भी तरह से अपोदित (बाधित) नहीं होगा।

ननु यथा चक्षुषो रूपोपलम्भहेतुत्वं रूपोपलम्भेन कार्येण सिद्ध्यति, एवं मनुबुद्धादेरुपदेशित्वरूपकार्येण वेदमन्तरापि धर्माधर्मज्ञानवत्त्वसिद्धिरिति चेन्न, वैदुष्योपदेशित्वयोः व्याप्त्यसिद्धेः। तथाहि—बालोन्मत्तादिष्वनवगतार्थेष्वप्युपदेशित्वं दृश्यत इति व्यभिचारः। मन्वादिवैदिकानां तु वैदिकार्थज्ञानपूर्वकत्वेनैवोपदेष्टृत्वमिति सिद्धसाधनम्।

वेदानामपौरुषेयत्वम्

यत्तु सामान्यतो दृष्टं वितथमुपलभ्य वाक्यत्वसाम्येन वेदस्यापि वैतथ्यं शङ्क्यते, तदज्ञानविजृम्भितम्; वाक्यत्वस्याप्रामाण्याप्रयोजकत्वात्। पौरुषेयवाक्यस्य तु पुरुषाश्रितदोषादिभिरेवाप्रामाण्यम्, न वाक्यत्वप्रयुक्तम्। वेदे तु संशयविपर्ययाजनकत्वात् बोधकत्वात् बाधकाभावाच्चानधिगतासंदिग्धाबाधितार्थविषयज्ञानजनकत्वदर्शनेन अप्रामाण्यकारणाभावात् स्वाभाविकं प्रामाण्यमेव।

ननु 'वेदाः पौरुषेया वाक्यकदम्बरूपत्वात्, महाभारतादिवत्' इत्याद्यनुमानैर्वेदानां पौरुषेयत्वमेवेति चेन्न, स्मर्यमाणकर्तृकत्वस्योपाधित्वात्। पौरुषेयमहाभारतादिवाक्यं स्मर्यमाणकर्तृकमेव। न च तथा वेदे तत्साधयितुं शक्यते।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे चक्षुरादि इन्द्रियों की रूप के ग्रहण की कारणता रूप के उपलम्भ रूपी कार्य से सिद्ध होती है, उसी तरह से मनु, बुद्ध आदि में भी उपदेशकर्तृत्व रूप कार्य को देखकर वेद के बिना भी धर्म-अधर्म आदि के ज्ञानवत्त्व रूप कारण की सिद्धि क्यों नहीं हो जायगी ? तो इसका उत्तर यह है कि वैदुष्य और उपदेशित्व इन दोनों की व्याप्ति नहीं बन सकती, क्योंकि बालक, उन्मत्त आदि में उपदेश करने की प्रवृत्ति देखी जाती है, जब कि वहाँ वैदुष्य का अभाव रहता है। इस प्रकार उक्त दोनों बातें साथ-साथ नहीं रहती, इनका व्यभिचार मानना पड़ेगा। मनु प्रभृति वैदिकमत के अनुयायी तो वैदिक अर्थ को जानकर ही उपदेश करते हैं, अतः उनमें वैदुष्य विद्यमान है ही उसको पुनः अनुमान से सिद्ध करना सिद्ध साधन दोष होगा।

वेदों की अपौरुषेयता

सामान्यतः वाक्यों के मिथ्यात्व को देखकर समान न्याय से वेद वाक्य में भी मिथ्यात्व की शंका करना तो अपने अज्ञान को ही प्रकट करना है, क्योंकि वाक्यत्व हेतु अप्रामाण्य का प्रयोजक नहीं है। पौरुषेय वाक्यों का अप्रामाण्य पुरुषाश्रित दोषों के कारण होता है, उसमें वाक्यत्व की कारणता नहीं बनती। वेदवाक्यों में तो संशय-विपर्यय आदि की जनकता अविद्यमान है, ये किसी न किसी अर्थ के बोधक हैं, इनका कोई बाधक ज्ञान नहीं है और ये अनधिगत, असंदिग्ध, अबाधित अर्थ के ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, अतः अप्रामाण्य के प्रवर्तक किसी भी कारण की यहाँ प्रवृत्ति न होने के कारण इनका स्वाभाविक प्रामाण्य माना जाता है।

यह कहना कि "वेद पौरुषेय है, वाक्य कदम्बरूप होने से, महाभारत आदि ग्रन्थों के समान" इस तरह के अनुमानों से वेदों को पौरुषेय ही मानना पड़ेगा, इसलिये गलत है कि उक्त अनुमान में स्मर्यमाणकर्तृकता उपाधि है। महाभारत प्रभृति ग्रन्थ पौरुषेय हैं तो इनके कर्ता की स्मृति भी विद्यमान है। वेद में इस प्रकार का कर्ता किसी की भी स्मृति में नहीं है, अतः उक्त सोपाधिक अनुमान[1] वेद की पौरुषेयता को सिद्ध नहीं कर सकता।

---

१. जो साध्य का व्यापक हो और हेतु का अव्यापक हो, उसे उपाधि कहते हैं। जैसे कोई अनुमान करे कि इस अंगीठी में धुआँ है, क्योंकि यहाँ अग्नि है, जहाँ अग्नि होती है, वहाँ धुआँ होता है, किन्तु यह अनुमान गलत है, क्योंकि इस अनुमान में—आर्द्रेन्धनसंयोग (गीले ईंधन का संयोग) उपाधि है। अग्नि से धुंआ को सिद्ध करने में धुंआ होगा साध्य और अग्नि होगा साधन। पर अग्निरूप साधन से धुंआरूप साध्य की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि आर्द्रेन्धन-संयोग उपाधि लग जायगी। जहाँ-जहाँ धुंआ रहता है, वहाँ-वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग अवश्य रहता है, इसलिये आर्द्रेन्धन संयोग साध्य धुआँ का व्यापक हुआ और जहाँ-जहाँ अग्नि रहती है, वहाँ-वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग रह भी सकता है और नहीं भी। गीली लकड़ियाँ, गीले कंडे या कोयले आदि का अग्नि के साथ तो आर्द्रेन्धन-संयोग रह जायगा, किन्तु सूखी लकड़ी, सूखे कोयले या कण्डों के साथ अथवा प्राइमस, गैस आदि की अग्नि के साथ आर्द्रेन्धन-संयोग नहीं रहता, अतः आर्द्रेन्धनसंयोग धुआँरूपी साध्य को सिद्ध करनेवाले अनुमान के साधन रूप हेतु का अव्यापक हो गया। अर्थात् अग्नि के साथ सब जगह नहीं रहा। इसलिये अग्नि से धुआँ की सिद्धि करनेवाला अनुमान सोपाधिक हो गया। वेद के पौरुषेयत्व को सिद्ध करनेवाले अनुमान में वाक्यत्व हेतु है और पौरुषेयत्व साध्य है। इसलिये यह

नन्ववश्यं वाक्यानि केनचित्प्रणीतानि, तथैव शब्दानामर्थैः सम्बन्धोऽपि सकर्तृक एवाभ्युपेय इति चेन्न, कर्तुरनुपलम्भात्। यदि स्यात् कर्ता, प्रत्यक्षादिप्रमाणैरुपलभ्येत। यद्दर्शनयोग्यमुपलम्भसामग्रीसत्त्वेऽपि नोपलभ्यते, तन्नास्त्येवेति मन्तव्यम्; यथा—शशशृङ्गादिकम्। न च चिरवृत्तत्वात् कर्ता नोपलभ्यते, नासत्त्वादिति वाच्यम्, तथात्वेऽपि तत्स्मरणस्यावश्यकत्वात्। नहि चिरवृत्तोऽपि न स्मर्यते। तथा च वेदकर्तुः स्मरणाभावान्नास्त्येव कश्चिद्वेदकर्तेति प्रतीयते।

ननु क्वचिदरण्यादिप्रदेशेषु कूपारामादीनां मुक्तकश्लोकानाञ्च सन्तोऽपि कर्तारो न स्मर्यन्ते, तथेहापि समयव्यवहारयोः कर्त्रस्मरणमुपपन्नमिति। तदसारम्, देशोत्साद-कुलोत्साद-सम्प्रदायविच्छेदादिभिः पूर्वोक्तकर्तॄणामस्मरणोपपत्तावप्यध्ययनाध्यापनतदर्थानुष्ठानशब्दार्थव्यवहारपारम्पर्यस्याविच्छेदेऽपि कर्तृविस्मरणानुपपत्तेः। अत एव प्रयोगः—"वेदा अपौरुषेयाः, सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवत्, व्यतिरेके भारतवत् इति।"

न च घटकर्तृकुलालस्मरणवत् वेदतत्पदार्थसम्बन्धकर्तृस्मरणे व्यवहर्तॄणां निष्प्रयोजनेइति कर्तृविस्मरणमुपपद्यत एवेति वाच्यम्, वैषम्यात्। तथाहि—निष्प्रयोजनत्वात् कुलालविस्मरणमुपपद्यते, न तु तथा वेदकर्त्रादिस्मरणं निष्प्रयोजनं

"वाक्य किसी न किसी के बनाये हुए ही हो सकते हैं, इसी तरह से शब्दों का अर्थों के साथ संबन्ध भी किसी के द्वारा स्थापित ही मानना पड़ेगा" यह कथन भी इसलिये गलत है कि वेद में कोई कर्ता उपलब्ध नहीं है। यदि कोई कर्ता होता तो उसकी प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाणों में से किसी न किसी से उपलब्धि होती। जिसकी किसी न किसी प्रमाण से उपलब्धि हो सकती है, उसकी यदि पूरी सामग्री की विद्यमानता में भी उपलब्धि नहीं होती तो समझ लेना चाहिये कि उस वस्तु की सत्ता नहीं है, जैसा कि खरगोश की सींग। "बहुत समय बीत जाने के कारण वेद का कोई कर्ता स्मृति में नहीं रह गया है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसका कोई रचयिता ही नहीं है", आप की यह उक्ति भी इसलिये उचित नहीं है कि यदि ऐसा होता तो उसकी स्मृति अवश्य बनी रहती। समय अधिक बीत गया है तो इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि उसकी स्मृति भी नहीं रहेगी। अतः यही मानना उचित है कि वेद के कर्ता के रूप में किसी के नाम की स्मृति विद्यमान नहीं है, अतः वेद का कोई कर्ता है ही नहीं।

यह कहना भी सारहीन है कि "जैसे किसी घने जंगल में किसी के बनाये कुएँ अथवा उपवन का तथा मुक्तक श्लोकों का कोई कर्ता रहते हुए भी उसकी स्मृति नहीं रह जाती, उसी तरह से वेद के संबन्ध में भी समय और व्यवहार में कर्ता की स्मृति का न रहना बन सकता है", क्योंकि कूप, उपवन, मुक्तकश्लोक आदि में देश, कुल, सम्प्रदाय आदि के विनष्ट हो जाने से कर्ता की स्मृति नष्ट हो जाती है[१] किन्तु वेद में तो ऐसा नहीं है। यहाँ पर तो अध्ययन-अध्यापन की परम्परा, वैदिक यागादि के अनुष्ठान की परम्परा, और शब्द एवं अर्थ के व्यवहार की परम्परा समाप्त नहीं हुई है, तो फिर कर्ता की स्मृति कैसे नष्ट हो सकती है? इसके समर्थन में यह अनुमान दिया जा सकता है—वेद अपौरुषेय है, इसके सम्प्रदाय का विच्छेद न होने पर भी इसके कर्ता की कोई स्मृति विद्यमान न होने से, आत्मा की तरह, यह अन्वय का उदाहरण हुआ। इसका व्यतिरेक में उदाहरण महाभारत होगा। वेद के विपरीत महाभारत का कर्ता स्मृतिपथ में विद्यमान है, अतः वह पौरुषेय माना जायगा। आत्मा सम्प्रदाय विच्छेद न होने पर भी कर्ता के स्मरण से रहित है, इसी लिये वह किसी पुरुष का बनाया हुआ नहीं है, इसी तरह वेद भी किसी पुरुष का बनाया हुआ नहीं है।

प्रश्न उठता है कि जैसे घट प्रभृति से व्यवहार चलाने वाले व्यक्ति के लिये इस घड़े का बनाने वाला कुम्हार कौन है? यह जानना व्यर्थ है, उसी तरह वेद के पद-पदार्थ का कर्ता कौन है? इसको भी जानने का कोई प्रयोजन न होने से कर्ता की विस्मृति हो सकती है, तो इसका उत्तर यह है कि उक्त दोनों बातों में कुछ अन्तर है। कोई प्रयोजन न होने से कुम्हार के नाम की विस्मृति तो हो सकती

अनुमान गलत है, क्योंकि इस अनुमान में भी स्मर्यमाणकर्तृकत्व, अर्थात् कर्ता का स्मरण गोचर होना उपाधि लग जायगी। जहाँ-जहाँ पौरुषेयत्व (पुरुषकर्तृकता) रूप साध्य रहता है, वहाँ-वहाँ स्मर्यमाणकर्तृकत्व है, जैसे रामायण, महाभारत आदि में पुरुष निर्मितत्व भी है और वाल्मीकि, व्यास आदि कर्ता का स्मरण भी है। इसलिए यह साध्य पौरुषेयत्व का व्यापक हो गया और साधन वाक्यत्व रूप हेतु का अव्यापक हो गया, क्योंकि रामायणादि में कर्ता का स्मरण होने पर भी वेद में कर्ता का स्मरण नहीं है। अतः सोपाधिक अग्नि साधन से साध्य धुआँ की जैसे सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसे ही सोपाधिक वाक्यत्व हेतु से वेद में पुरुषकर्तृकरूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

व्यवहाराणां तदधीनत्वात्। नहि पाणिनेर्विस्मरणे आदैचां वृद्धिशब्देन व्यवहारः सम्भवति। तथा च यः पदपदार्थसम्बन्धं करोति, यश्च वेदं निर्माय तदध्ययनाध्यापनतदर्थयागोपासनज्ञानादिव्यवहारं प्रवर्तयति, न तस्य विस्मरणे व्यवहारः सम्भवति। वाक्यार्थप्रतिपत्तिस्तदर्थानुष्ठानञ्च वाक्यकर्तुः तदाप्तत्वस्य च स्मरणमन्तरा न सम्भवतः, अनाप्तवाक्यात्तददर्शनात्। यागादेः स्वर्गादिसाधनतायाः प्रमाणान्तरागोचरत्वात्। कर्तरि विश्रम्भादेव सर्वे वेदार्थयागाद्यनुष्ठाने प्रवर्तेरन्निति कथं कर्ता विस्मर्येत ? तेनावश्यस्मर्तव्यत्वे सत्यस्मर्यमाणः स्वस्याभावमेवावगमयिष्यति। पाणिनिभिन्नस्य पाणिनिमताननुसारिणो वा वृद्धिशब्दव्यवहारतो न केचिदादैचोऽवगच्छन्ति। यथा वाऽपिङ्गलस्य पिङ्गलाननुसारिणो वा मकारव्यवहारतो न केचित् सर्वगुरुत्रिकं प्रतिपद्यन्ते। किन्तु वृद्धिरादैजिति वृद्धिसंज्ञाकर्तुः पाणिनेर्वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धमिति व्यवहारतो वृद्धिशब्देनादैचो जानन्ति। एवमेव 'सर्वगुरुर्मः' इति मगणसम्बन्धकर्तुः पिङ्गलाचार्यस्य व्यवहारतः सर्वगुरुत्रिकं प्रतिपद्यन्ते, तथैव वेदवाक्यादर्थप्रतिपत्तृभिरवश्यं पदपदार्थसम्बन्धकर्ता तादृशपदकदम्बात्मकवेदवाक्यकर्ता चैक एव, स चाप्त इति ते स्मर्तव्याः, न च स्मर्यन्ते।

समयव्यवहारयोरेककर्तृकत्वविस्मरणे च नार्थनिश्चयः। प्रकृते च विनापि कर्तृस्मरणं वेदवाक्यादर्थनिश्चयस्य प्रसिद्धत्वान्न कश्चिद् वेदकर्ता सिद्ध्यति। यदि कथञ्चिद् विस्मरणमुपपद्येतापि, तथापि प्रमाणमन्तरेण न कर्तृनिर्णयः कर्तुं शक्यः। केवलस्यानुपलम्भस्य वस्त्वभावासाधकत्वेऽपि प्रमाणाभावसहकृतस्य शशविषाणादिवत् तथात्वे बाधकाभावात्। ये पौरुषेयतां समर्थयन्ते, तेऽपि परम्परया कर्तृविशेषस्मरणं वक्तुं न शक्नुवन्ति। सामान्यतो दृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमतं

है, किन्तु वेद के कर्ता का विस्मरण निष्प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि लौकिक और वैदिक सारे व्यवहार उसी के अधीन हैं। पाणिनि का विस्मरण हो जाने पर आत् और ऐच् वर्णों को वृद्धि संज्ञा का व्यवहार संभव नहीं है। इसी प्रकार जो पद-पदार्थ के सम्बन्ध का विधान करता है और जो वेद की रचना करके उसके अध्ययन-अध्यापन तथा उसके द्वारा संपादित होने वाले याग, उपासना आदि व्यवहारों को प्रचलित करता है; उसका विस्मरण हो जाने पर ये सब व्यवहार भी नहीं चल सकते। वाक्य से अर्थ का ज्ञान और तदनुसार प्रयोजन का अनुष्ठान तब तक संभव नहीं हो सकता, जब तक कि उसके कर्ता की और उसकी आप्तता की स्मृति न हो, अनाप्त वाक्य से अर्थ की यथार्थ अवगति और तदनुसार प्रयोजन की निष्पत्ति नहीं होती। यागादि की स्वर्गादि की साधनता अन्य प्रमाणों से नहीं जानी जा सकती। कर्ता में विश्वास होने पर ही वेदार्थ प्रतिपादित यागादि में सब कोई की प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसी अवस्था में कर्ता का विस्मरण कैसे हो सकता है ? इस प्रकार जिसका स्मरण अवश्य बना रहना चाहिये, उसकी स्मृति के अभाव में यही मानना उचित है कि इसका कोई कर्ता है नहीं। पाणिनि से भिन्न अथवा पाणिनि के मत का अनुसरण न करने वाले व्यक्ति के व्यवहार से कोई व्यक्ति वृद्धि शब्द के व्यवहार से आत् और ऐच् को नहीं जानते, जैसे कि पिंगल से भिन्न अथवा पिंगल के मत का अनुसरण न करने वाले व्यक्ति के व्यवहार से कोई भी मकार से सभी गुरु अक्षरों वाला गण गृहीत होता है, इसको नहीं जान सकता। किन्तु "वृद्धिरादैज्" इस सूत्र से वृद्धि संज्ञा करने वाले पाणिनि के "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्" इस सूत्र में वृद्धि पद से आत् और ऐच् का ग्रहण होता है, यह जान लेना हैं और 'सर्वगुरुर्मः इस सूत्र से मगण का स्वरूप बनाने वाले पिंगलाचार्य के व्यवहार से तीन अक्षरों के गुरु होने पर मगण की स्थिति मान लेना है, उसी तरह से वेद वाक्य से जिनको अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, उनको अवश्य ही पद-पदार्थ के संबन्ध का कर्ता और इस प्रकार के पद-समूहात्मक वेद वाक्यों का कर्ता एक ही है, तथा वह आप्त है, इस प्रकार की स्मृति अवश्य होनी चाहिये, किन्तु वेद के संबन्ध में वह होती नहीं, अतः वेद अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष का रचा हुआ नहीं है, ऐसा ही मानना पड़ेगा।

समय (पारिभाषिक शब्द के अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति) और व्यवहार का एक ही कर्ता है, इसका जब विस्मरण हो जाता है तो अर्थ का निश्चय नहीं होता। प्रकृत (वेद) में बिना कर्ता की स्मृति के भी वेदवाक्य से अर्थ का निश्चय होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि वेद का कोई कर्ता नहीं है। यदि किसी प्रकार से कर्ता की विस्मृति उपपन्न हो भी सकती हो, तो बिना प्रमाण के कर्ता का निश्चय नहीं किया जा सकता। केवल अनुपलम्भ वस्तु के अभाव का साधक भले ही न हो, किन्तु जब उसमें प्रमाणाभाव सहायक हो जाता है, तो शश के विषाण के समान वह वस्तु के अभाव का साधक हो ही जाता है। उसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। जो वेद की पौरुषेयता का समर्थन करते हैं, वे भी परम्परा से किसी विशेष कर्ता की स्मृति उनको हो, ऐसा नहीं बता सकते।

कञ्चन कर्तारं साधयन्ति। केचिदीश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, केचित् प्रजापतिम्, अपरे अग्न्यादीन् देवान्। मन्वादिवत् स्मर्यमाणे वेदकर्तरि नैतादृशी विप्रतिपत्तिर्युज्यते।

स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणात् कर्त्रभाव एवाध्यवसीयते। "ब्रह्म स्वयम्भु" (तै. आ. २।९), "वाचा विरूपनित्यया" (ऋ. सं. ८।७५।६), "अनादिनिधना नित्य वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा" (म. भा. शा. प. २३२।३५), "अत एव च नित्यत्वम्" (ब्र. सू. १।३।२९) इत्यादिश्रुतिस्मृत्यनुसारेण वेदानां नित्यत्वावगमाच्च कर्त्रभावोऽध्यवसीयते। अत एव "तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे "अग्नेर्ऋग्वेद" इत्यादिवचनानां तु सम्प्रदायप्रवर्तकबोधपरत्वमेव, न तु कर्तृबोधकत्वम्। 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इति श्रुत्यनुरोधात्। चतुर्मुखस्य विधातापीश्वरो न वेदान् विदधाति, किन्तु विद्यमानानेव ब्रह्मणो हृदि प्रहिणोति।

अपि च, को वेदकर्ता भवेत्? कश्चिन्मनुष्यो वा योगी वा, ईश्वरो वा? नाद्यः, मनुष्येषु धर्मादिज्ञानस्य वेदजन्यत्वादेव तत्कर्तृत्वासम्भवात् न द्वितीयः, धर्माधर्मादिज्ञानं योगिनो बाह्येन्द्रियजन्यं मनोजन्यं वा? नाद्यः; धर्माधर्मादेर्बाह्येन्द्रियायोग्यत्वात्। न द्वितीयोऽपि, आत्मनस्तद्योग्यगुणातिरिक्तज्ञानजनने मनसोऽसामर्थ्यात्। धर्माधर्मयोरात्मगुणत्वेऽप्ययोग्यत्वान्न मनोविषयत्वं सम्भवति। अपि च, योगिनो योगजसामर्थ्यमपि निर्हेतुकं सहेतुकं वा? तत्र न प्रथमः 'सर्वेषामपि तथात्वापातात्। नाप्यन्त्यः, योगादिलक्षणधर्मस्य हेतुत्वे ततः प्राक् तज्ज्ञानमावश्यकमेवेति तद्धेतोर्वेदस्य प्राक्तसिद्धत्वस्याभ्युपेयत्वात्।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान से कर्ता का अनुमान करके वे स्वाभिमत किसी कर्ता को सिद्ध करते हैं। कुछ लोग ईश्वर को, दूसरे हिरण्यगर्भ को, कोई प्रजापति को और अन्य लोग अग्नि प्रभृति देवताओं को वेद का कर्ता मानते हैं। किन्तु निश्चित रूप से मनु, वाल्मीकि, व्यास आदि मनुष्यरचित मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों के कर्ताओं के संबंध में ऐसा मतभेद नहीं है।

कर्ता की स्मृति अवश्य रहनी चाहिये, किन्तु है नहीं, इससे यही निश्चय करना उचित है कि वेदों का कोई कर्ता नहीं है। "ब्रह्म स्वयम्भु" इत्यादि श्रुति, स्मृति और सूत्रों के प्रमाण पर वेदों की नित्यता अवगत होती है, इससे यह निश्चित होता है कि वेदों का कोई कर्ता नहीं है। इसीलिये "उस यज्ञ से ऋक्, साम की उत्पत्ति हुई", "अग्नि से ऋग्वेद हुआ; इस तरह के वचन केवल सम्प्रदाय की प्रवृत्ति का बोध कराते हैं, इनमें वेदों के कर्ता का निर्देश नहीं है।" जो पहले ब्रह्मा की रचना करता है और बाद में उसको वेद का उपदेश देता है" इस श्रुति के अनुसार चतुर्मुख ब्रह्मा के विधाता ईश्वर भी वेद की रचना नहीं करते, किन्तु विद्यमान वेदों को ही ब्रह्मा के हृदय में भेजते हैं।

दूसरी बात—आप यह बताइये कि वेद का कर्ता कौन है? कोई मनुष्य है, योगी है, अथवा ईश्वर? मनुष्य वेद का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्यों को धर्मादि का ज्ञान वेद से ही होता है, अतः वह उसका कर्ता कैसे हो सकता है? योगी भी वेद का कर्ता नही हो सकता। योगी को धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से होगा या मन से? यह बाह्य इन्द्रियों से नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से सम्भव नहीं हो सकता। मन से भी इनका ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि आत्मा के योग्य गुणों से अतिरिक्त अन्य विषयों में ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य मन में नहीं है। धर्म और अधर्म यद्यपि आत्मा के गुण हैं, तो भी वे अयोग्य[1] होने से मन के विषय नहीं हो सकते। दूसरी बात यह भी है कि योगी का योगज सामर्थ्य निर्हेतुक है या सहेतुक? वह निर्हेतुक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर तो यह किसी को भी हो सकता है। सहेतुक भी नहीं हो सकता, क्योंकि योगादि लक्षण धर्म के हेतु होने पर उससे पहले उसका ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान वेद से ही संभव है, यह स्वभावतः मानना पड़ेगा।

---

१. तात्पर्य यह है कि बाहर की अथवा अन्दर की इन्द्रियों से प्रत्यक्ष के योग्य वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। चक्षुरिन्द्रिय से रूप का ही प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वही प्रत्यक्ष के योग्य है। इसी तरह अन्तःकरण मन से भी सुख-दुःख का प्रत्यक्ष भले ही हो जाय, क्योंकि वे प्रत्यक्ष के योग्य हैं, किन्तु धर्म-अधर्म आत्मा आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि वे प्रत्यक्ष के योग्य हैं ही नहीं।

नापि तृतीयः, वेदादीश्वरसिद्धिः, ईश्वरश्च वेदानां प्रणेता इत्यन्योन्याश्रयात्। बौद्धादयस्तु बुद्धादीनां सर्वज्ञत्वं प्रसाध्य तदभिप्रायानुसारीणि बौद्धाद्यागमवाक्यान्येव धर्ममूलत्वेनाभ्युपयन्ति।

ख्यातिविचारः

अख्यातिवादरीत्या बाध्यप्रत्ययो न भवत्येव, बाधार्थानिरूपणात्। तथाहि—यदि नाश एव बाधः, स न तेषामेव, बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विरोधः सकलबोधसाधारणत्वात्। अथ सहानवस्थानम्, तदपि समानम्, अबाधितानामपि ज्ञानानां सहावस्थानासम्भवात्। अथ संस्कारोच्छेदो बाधः, सोऽपि तथाविधः, सम्यक् प्रत्ययजनितसंस्कारस्याप्युच्छेददर्शनात्। विषयापहारो बाध इत्यपि न, प्रतिभासस्त्वेन विषयापहारासम्भवात्। नहि बाधकज्ञानेन पूर्वप्रतिभानापलापः। तदभावग्रहोऽपि न बाधः, तस्य कालान्तरभावित्वे मुद्गरदलितघटाभावग्राहिणोऽपि विज्ञानस्य बाधकत्वप्रसङ्गात्। तात्कालिकत्वे तु प्रत्ययद्वयसमर्पितद्वितययोगाद् उभयात्मकमेव तद्वस्तु। किं कस्य बाधकम्? फलापहारोऽपि न बाधः, ज्ञानस्य प्रमाणफलस्योत्पन्नत्वेनापरिहरणीयत्वात्। नहि यदुत्पन्नं तदनुत्पन्नं वदति बाधकः। दानादिफलापहारो बाध इत्यपि न, तस्य पुरुषेच्छाधीनत्वेन प्रमाणफलत्वाभावात्।

किञ्च, बाध्यबाधकभावः समानविषययोर्भवति भिन्नविषययोर्वा? नाद्यः, धारावाहिज्ञानेष्वदृष्टत्वात्। नान्त्यः, घटकुड्योपलम्भयोस्तदभावात्। यदि पूर्वज्ञानेन गृहीतादर्थाद्भिन्नोऽर्थ उत्तरेण ज्ञानेन गृह्यते, तदापि न बाधसिद्धिः। किञ्च,

ईश्वर भी वेद का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वेद से ईश्वर की सिद्धि होगी और ईश्वर वेदों का प्रणेता होगा, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। बौद्ध प्रभृति तो बुद्ध आदि की सर्वज्ञता सिद्ध करके उनके अभिप्राय का अनुसरण करने वाले बौद्धादि आगमों के वाक्यों को ही धर्म का मूल मानते हैं।

ख्याति विचार

अख्यातिवाद अर्थात् भ्रम को न मानने वाले प्रभाकर के मत में बाध्य ज्ञान होता ही नहीं है, क्योंकि उनके मत से बाध के स्वरूप का निरूपण ही नहीं किया जा सकता। जैसे—यदि नाश को ही बाध कहा जाय तो इस प्रकार एक बुद्धि से दूसरी बुद्धि का नाश तो सभी ज्ञानों में सामान्य रूप से विद्यमान है, केवल बाधस्थल में ही नहीं। यदि बाध का अर्थ यह किया जाय कि ये बाध के साथ में नहीं रह सकते, तो यह आपत्ति भी सभी ज्ञानों में समान रूप से विद्यमान है, क्योंकि अबाधित ज्ञान भी एक साथ नहीं रहते। अब यदि यह कहा जाय कि संस्कार के उच्छेद (नाश) को बाध कहते हैं, तो उसकी भी वही स्थिति है, सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न संस्कार का भी उच्छेद देखा ही जाता है। विषय के अपहार को भी बाध नहीं कह सकते, एक बार प्रतिभासित विषय का अपलाप असंभव है, बाधक ज्ञान से उससे पहले प्रतिभास ज्ञान का अपलाप नहीं किया जा सकता। पूर्व गृहीत वस्तु के अभाव का बोधक ज्ञान भी बाध नहीं कहलाता, क्योंकि यह बाध यदि कालान्तर में होने वाला है तो मुद्गर के आघात से फूटे हुए घड़े के अभाव को देखने वाला विज्ञान भी पूर्व ज्ञान का बाधक माना जाने लगेगा। अब यदि बाध तत्काल भावी है तो दो ज्ञानों से दो प्रकार के स्वरूप की अवगति होने से वस्तु की उभयात्मकता माननी पड़ेगी ऐसी अवस्था में कौन किसका बाधक होगा। फल का अपहार भी बाध नहीं कहलाता, प्रमाण के फल के रूप में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। जो उत्पन्न है, बाधक ज्ञान उसको अनुत्पन्न नहीं कह सकता। रजतादि के दानादि फल का अपहार भी बाध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो पुरुष की इच्छा के अधीन है, अतः प्रमाण का फल नहीं हो सकता।

आप यह बताइये कि बाध्यबाधकभाव समानविषयक ज्ञानों में होता है या भिन्न विषयक? प्रथम पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि समानविषयक धारावाहिक ज्ञान में बाध्यबाधकभाव नहीं होता। दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि एक ज्ञान से घट और दूसरे से कुड्य (दीवाल) की उपलब्धि होने पर भी बाध्यबाधकभाव नहीं होता। यदि पूर्वज्ञान से गृहीत अर्थ से भिन्न अर्थ

प्राप्तप्रतिष्ठे पूर्वस्मिन् प्रत्यये पश्चाद्भावी प्रत्यय एव दुर्बलत्वाद् बाधितुं योग्यः। न चैवं दृश्यते, तस्मान्न बाध्यं ज्ञानं भवतीति न तद् दृष्टान्तेन साधर्म्यनिबन्धनः संशयः, तदभावात् संवादाद्यनपेक्षणान्न परतः प्रामाण्यमिति।

ननु तर्हि शुक्तिरजतादिग्राहिणो विपरीतप्रत्यया अबाधिता एवेति चेन्न, विपरीतग्राहिप्रमाणासिद्ध्या तदसिद्धेः। न चेन्द्रियं विपरीतग्राहकम्, तथात्वे सर्वदा तदुत्पादप्रसङ्गात्। न च दोषदुष्टं तत्तथा स्वकार्यकरणे क्षीणशक्तिकत्वात्। दोषाणां कार्यप्रतिबन्धकत्वमेव भवति न विलक्षणकार्यकारित्वम्, तथात्वे दुष्टेभ्यः शालिबीजेभ्यो यवाङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात्। किन्तु-शुक्तिरजतस्थले ग्रहणस्मरणरूपं प्रत्ययद्वयमेव विवेकाग्रहणाद् विपरीतप्रत्ययत्वेनाख्यायते। अत एवाननुभूतरजतस्यानुद्बुद्ध-

उत्तर ज्ञान से उपलब्ध होता है, तब भी बाध नहीं सिद्ध हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि जब पहले ज्ञान ने प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली, तब उसके बाद होनेवाला भावी ज्ञान ही दुर्बल होने से बाधयोग्य हो सकता है। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इससे मानना पड़ेगा कि ज्ञान बाध्य नहीं होता। फलतः उसको दृष्टान्त मानकर साधर्म्य से होने वाला संशय नहीं होगा और संशय के न होने से संवादादि की अपेक्षा के अभाव में परतः प्रामाण्य भी नहीं होगा।

तब तो शुक्ति में रजतादि का ग्रहण करनेवाले विपरीत ज्ञान का भी बाध नहीं होगा? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि विपरीत वस्तु के ग्राहक प्रमाण की सिद्धि न हो पाने से विपरीत ग्रहण की संभावना ही नहीं है। इन्द्रियाँ विपरीत ज्ञान की ग्राहिका नहीं होतीं, क्योंकि ऐसा मानने पर सदा विपरीत ज्ञान की उत्पत्ति का प्रसंग आ सकता है। इन्द्रियाँ सदा विद्यमान हैं। दोष से दुष्ट इन्द्रियों से भी यह नहीं होगा, क्योंकि इन्द्रियाँ अपना कार्य करने के बाद अन्य विषय में असमर्थ हो जाती हैं। दोष कार्य के प्रतिबन्धक ही होते हैं, वे किसी विलक्षण कार्य को नहीं कर सकते। यदि दोष विलक्षण कार्य के जनक माने जाँय तो दोष ग्रस्त शालि के बीजों से यव के अंकुर की उत्पत्ति का प्रसंग हो जायगा। किन्तु जहाँ पर शुक्ति में रजत का ज्ञान होता है, ऐसे स्थलों में ग्रहण और स्मरण रूप दो ज्ञान दोनों ज्ञानों के विवेक अर्थात् भेद का ज्ञान न होने से विपरीत ज्ञान के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं। इसीलिये जिसने रजत का अनुभव नहीं किया है, उसको रजत का संस्कार भी उद्बुद्ध नहीं होगा। फलतः उसको शुक्ति में यह रजत है, ऐसा ज्ञान भी नहीं होगा। स्मरण भी दोष के कारण तत्ताविशिष्ट नहीं होता, अर्थात् इस स्मृति में केवल चाँदी ही प्रतिभासित होती है, उससे सम्बद्ध तत्ता अर्थात् यह वही दुकान आदि में रक्खी चाँदी है, इसका प्रमोष हो जाता है। इससे सामने रक्खी हुई चमकीली वस्तु रूप धर्मी का प्रतिभास भूत जो 'इदम्' अनुभव है, उसकी भी तत्ता के प्रमोष हो जाने के कारण यह रजत है, इस स्मरण का विवेक न हो पाने से यह रजत है, इस प्रकार का ज्ञान अख्याति[1] ही कहलाता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थल में 'इदम्'

१. एकदेशी मीमांसक आचार्य प्रभाकर और रामानुज के मत में सब ज्ञान सत्य हो हैं, भ्रम होता ही नहीं। यदि कहो कि फिर रज्जु में होनेवाले सर्प के ज्ञान को भी क्या भ्रम न कह कर सत्य ही कहेंगे? तो उत्तर हाँ में होगा। उन लोगों का यह कहना है कि 'यह साँप है' यह एक ज्ञान नहीं है, किन्तु 'यह' इतना एक ज्ञान है और 'साँप है' यह दूसरा ज्ञान है। सामने पड़ी वस्तु का 'यह' इस रूप में जो ज्ञान हो रहा है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है और 'रजतम्' (चाँदी) यह दूसरा ज्ञान स्मरण रूप है। दोनों ज्ञान भी भिन्न हैं। एक है प्रत्यक्ष ज्ञान और दूसरा है स्मरण ज्ञान। सामने पड़ी हुई वस्तु का 'यह' इस रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है और साथ ही चाँदी का स्मरण के रूप में ज्ञान हो रहा है। विशेषता यह है कि स्मरण ज्ञान में पूर्वानुभूत 'यह' जो अंश रहता है, वह यहाँ दोष के कारण नष्ट हो गया है और प्रत्यक्ष ज्ञान का भी यह अंश दोष के कारण नष्ट हो गया है। इसलिये दोनों ज्ञानों के भेद का और दोनों प्रत्यक्ष और स्मरण रूप ज्ञानों के दो भिन्न-भिन्न, सामने पड़ी हुई वस्तु और बाजार में रक्खी हुई चाँदी, इन दोनों विषयों का दोष के कारण ज्ञान नहीं रहता। इसीलिये दोनों ज्ञानों को मिलाकर समझनेवाला एक ज्ञान समझ लेता है और दोनों ज्ञानों के दो भिन्न-भिन्न विषय सामने पड़ी हुई वस्तु और बाजार में पड़ी हुई चाँदी को एक समझ करके व्यवहार करता है और लेने के लिए भी दौड़ पड़ता है। वास्तव में यहाँ दो वस्तुओं के दो भिन्न-भिन्न ज्ञान हैं और ज्ञान के दो विषय भी भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु अन्धकार आदि दोषों के कारण ज्ञान और विषय का भेद न समझ कर व्यवहार और प्रवृत्ति करता है। यही अख्यातिवादी प्रभाकर, रामानुज आदि का मत है।

संस्कारस्य न 'रजत'मिति ज्ञानं भवति । स्मरणमपि दोषवशात् प्रमुष्टतत्ताकं भवति । तेन पुरोवस्थिति भास्वराकारधर्मिप्रतिभासरूपस्येदमनुभवस्य प्रमुष्टतत्ताकस्य रजतमिति स्मरणस्य विवेकाग्रहणादिदं रजतमित्यख्यातिरेवोच्यते।

विपरीतख्यातौ रजतमन्यदेशकालस्थमत्रालम्बनम् ? शुक्तिका वा निगूहिताकारा सती परिगृहीतरजताकारा ? अथवाऽन्यदालम्बनम् अन्यदाभातीति ? अत्र प्रकारत्रयमेव सम्भवति । प्रथमे असत्ख्यातिरेव,असतो रजतस्य प्रतिभासात् देशकालान्तरे सतोऽप्यत्र तदसत्त्वात् । यदि देशकालौ सन्तावेव भासेते, तदा न भ्रान्तिः । यद्यसन्तौ तदा कथमालम्बनतामुपगतौ ? यदि स्मृत्यारूढं रजतमत्र स्फुरति तदापि तस्य कोऽर्थः, ? स्मृतिरपि ज्ञानमेव । तदपि कथमनालम्बनं स्फुरति ? स्मृतेरनर्थजत्वं रूपमेवेति चेत्तदापि तया कथमिह रजतं सन्निधापयितुं शक्यम् ? तस्मादसन्निहितावलम्बना विपरीतख्यातिरसत्ख्यातिरेव । द्वितीयोऽपि पक्षो निर्मूल एव, यदि रजतप्रतीतिस्तर्हि कथं शुक्तिरालम्बनम् ? बाधकप्रत्ययादेवमिति चेन्न, ज्ञानान्तरेणास्य विषयव्यवस्थापनात् । तस्माद्यदेव चकास्ति तदेवास्य विषयः । शुक्तिस्तु निगूहिततनुरित्यपि न युक्तम्, तथात्वे विषयत्वानुपपत्तेः । न च सन्निधानेनालम्बनता, तथात्वे तत्रत्यभूप्रदेशस्यालम्बनतापत्तेः । तेन यस्यां बुद्धौ योऽवभासते स एव तद्विषयः । न अन्यद् भाति, अन्यदालम्बनम् । यदि रजतमेव बुद्धिग्राह्यम्, तच्चासच्चेत् तदासत्ख्यातिरपि नोपपद्यते ।

तथाहि—किमेकान्तासतः पदार्थस्य प्रथनमाहोस्विद् देशान्तरादौ विद्यमानस्यैव ? उत्तरस्मिन् पक्षे विपरीतख्यातिरेव, अन्यथाख्यातिवादिभिरपि तत्र तत्सत्त्वानभ्युपगमात् । प्रथमोऽपि पक्षो न युक्तः, खपुष्पादेरपि प्रतिभासप्रसङ्गात् । वासनावशात्तथा भवतीति चेन्न, अर्थमन्तरेण वासनाया अप्यनुपपत्तेः, अर्थानुभवजनितस्य संस्कारस्यैव वासनात्वात् ।

रूप से प्रतिभासित हो रही शुक्ति का अनुभव तो दब जाता है और पूर्वानुभूत 'रजत' की स्मृति जाग उठती है । इस प्रकार यहाँ पर अनुभव और स्मृति के धर्मों के प्रमोष के कारण इनमें परस्पर विवेक के अग्रहण के कारण, एक ही प्रतीति होती है । यह वास्तविक ही है, अतः इसमें किसी प्रकार की नवीन प्रतीति न होने से यह अख्याति कहलाता है ।

विपरीत ख्याति में अन्य देश और काल में स्थित रजत यहाँ आलम्बन होती है, अथवा शुक्तिका का ही अपना आकार छिप जाता है और रजत का आकार गृहीत हो जाता है, अथवा आलम्बन है कुछ दूसरा ही और प्रतीत कुछ दूसरा ही होता है, ये तीन ही प्रकार हो सकते हैं । प्रथम प्रकार में असत्ख्याति माननी पड़ेगी, क्योंकि अविद्यमान रजत का आपने ज्ञान मान लिया । देशान्तर और कालान्तर में वह भले ही हो, किन्तु यहाँ तो वह है नहीं । यदि सत् देश और काल की प्रतीति होती है तब तो भ्रान्ति नहीं मानी जायगी, किन्तु यदि देश और काल की सत्ता नहीं है तो वे आलम्बन कैसे होंगे ? यदि स्मृति में आयी हुई रजत का यहाँ ज्ञान होता है तो इसका क्या मतलब हुआ ? स्मृति भी तो ज्ञान ही है । बिना आलम्बन के स्मृति का स्फुरण भी कैसे हो सकता है । स्मृति का तो यह स्वरूप ही है कि वह बिना अर्थ की उपस्थिति के भी होती है, तो ऐसी अवस्था में भी उस स्मृति से यहाँ रजत कैसे लाई जा सकती है ? इसलिये जिसका आलम्बन संनिहित नहीं है, इस प्रकार की विपरीत ख्याति का असत्ख्याति में ही संनिवेश होगा । दूसरा पक्ष भी निर्मूल है, यदि रजत की प्रतीति (ज्ञान) हो रही है, तो उसका आलम्बन (आधार) शुक्ति कैसे हो सकती है ? बाधक प्रत्यय से इसका ज्ञान होता है, तो यह कथन भी इसलिये ठीक नहीं है कि दूसरे ज्ञान से इसकी विषय-व्यवस्था हो जाती है । इसलिये जो प्रतीत हो रहा है, वही उसका विषय है । शुक्ति का स्वरूप यहाँ छिपा हुआ है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर वह किसी ज्ञान का विषय न हो सकेगा । संनिधान होने पर वह ज्ञान का आलम्बन बन सकेगा, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर शुक्तिरजतादि स्थल में स्थित भूप्रदेश भी आलम्बन हो जायगा । संनिहित तो वह भी है । इसलिये जिस बुद्धि में जिसका आभास होता है, वही उसका विषय हो सकता है । आभास किसी दूसरे का हो और आलम्बन कोई दूसरा हो, यह संभव नहीं हो सकता । यदि रजत ही बुद्धि का विषय है और वह यदि असत् है, तब तो असत्ख्याति की भी आपत्ति नहीं हो सकती ।

जैसे कि ऐसे स्थलों में एकदम से असत् पदार्थ का ज्ञान होता है, या देशान्तर कालान्तर में स्थित पदार्थ का ही ? दूसरे पक्ष में विपरीत ख्याति होती है । अन्यथाख्याति को मानने वाले भी वहाँ पर उस पदार्थ की सत्ता नहीं मानते । प्रथम पक्ष इसलिये उचित नहीं है कि ऐसा मानने पर आकाशपुष्प की भी प्रतीति माननी पड़ जायगी । वासना के कारण ऐसा हो सकता है, यह भी नहीं कह

१२

सा कथमसदर्थप्रतिभासहेतुः स्यात् । असत्त्वाविशेषेऽपि किमिति रजतप्रतीतिं जनयति ? खपुष्पप्रतीतिं न जनयति ? अतः पक्षत्रयासम्भवाद् विपरीतख्यातिरपि न सम्भवति ।

यत्तु—'विज्ञानमेवात्मनात्मानं गृह्णाति बाह्यार्थानुपपत्तेः, इत्यात्मख्यातिरेव', तदपि न, तथात्वे 'अहं रजतमिति' प्रतीत्यापत्तेः । यदन्तर्ज्ञेयं तद्बहिर्वदवभासते । तथात्वे विपरीतख्यातिरेव भवेदियमपि बहिर्बुद्धेरभावादसत्ख्यातिर्वक्तुं शक्या । अत्र सर्वत्र स्मृत्युपस्थापितं रजतं भाति । तेन रजतस्मृतिरपरिहार्या । तत्रांशप्रमोषोऽपि सर्वैरनुभूयते । तदुक्तम्—'तस्मात्प्रमुषितामेनां स्मृतिमिच्छन्ति तार्किकाः । अभ्यस्ते विषये लिङ्गप्रतिबन्धां स्मृतिं यथा ॥ एवं सतीयमख्यातिरिष्यते सर्ववादिभिः । तथा प्रकटयद्भिस्तु पीतं प्राभाकरैर्यशः ॥'

ननु रजतमिति स्मृतेः स्वरूपोल्लेखो मा भूत्, इदमित्यत्र पुरोऽवस्थितधर्मिप्रतिभासात् कथमख्यातिरिति चेदुच्यते, न पुरोऽवस्थितो धर्मी शुक्तिकेयमिति स्पष्टतया गृह्यते, तथाऽभ्युपगमे भ्रमाभावप्रसङ्गात्, किन्तु तेजस्वितादिविपरीतं धर्मिमात्रमवभासते । धर्मसारूप्याच्च तदानीं रजतं स्मर्यते । ते एते ग्रहणस्मरणे विविक्ते अपि विविक्ततया न गृह्येते इति विवेकाग्रहणमख्यातिरुच्यते, न तु सर्वथा अप्रतिपत्तिरेवाख्यातिः । ग्रहणस्मरणयोर्वैयधिकरण्येनाग्रहणेन यत्र सामानाधिकरण्यं तत्र सामानाधिकरण्यव्यवहारः । न तु यदेवेदं तदेव रजतमिति सामानाधिकरण्येन ग्रहणं भवति, तथात्वे विपरीतख्यातिरेव स्यात् । वैयधिकरण्यानुपग्रहादेव रजतार्थिप्रवृत्तिर्भवति ।

सकते, क्योंकि किसी वस्तु की वासना भी उस वस्तु के विना उत्पन्न नहीं होगी । अर्थ के अनुभव से उत्पन्न संस्कार ही तो वासना कहलाते हैं । यह वासना असत् अर्थ के प्रतिभास में कैसे कारण हो सकती है ? समान रूप से सत्ता का अभाव रहने पर भी वह रजत प्रतीति को तो पैदा करती है, किन्तु आकाशपुष्प की प्रतीति को नहीं पैदा करती, इसमें क्या कारण है ? इस प्रकार तीनों ही पक्षों के न बन पाने से विपरीत ख्याति की उपपत्ति नहीं की जा सकती ।

यह कहना कि विज्ञान ही अपने से अपने को ग्रहण करता है, क्योंकि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती । इस प्रकार आत्म ख्याति ही माननी चाहिये, तो यह भी उचित नहीं है । ऐसा मानने पर तो मैं रजत हूँ, इस तरह की प्रतीति (ज्ञान) होने लगेगी । जिसका भीतर ज्ञान होना चाहिये वह बाहरी वस्तु की तरह प्रतीत होता है, इस तरह से तो यहाँ पर विपरीत ख्याति ही हुई और यह प्रतीति भी बाह्य स्थित किसी बुद्धि के अभाव में असत्ख्याति ही कही जायगी । ऐसे सभी स्थलों में स्मृति से उपस्थापित रजत का भान होता है । इससे रजत स्मृति को कोई रोक नहीं सकता और यहाँ पर सभी जानते हैं कि इस स्मृति के साथ तत्तांश (पूर्वानुभूत अंश) का बोध छूट जाता है । जैसा कि कहा गया है—"इसलिये तार्किक जनों का यह मानना है कि इस स्मृति में तत्तांश का प्रमोष हो जाता है, जैसे कि अभ्यस्त विषय में लिंग से प्रतिबद्ध स्मृति का प्रमोष हो जाता है । ऐसी अवस्था में सभी वादी इसको अख्याति ही मानेंगे । किन्तु इस सिद्धान्त को प्रकट करने का सारा श्रेय प्राभाकरों (प्रभाकर तथा उसके अनुयायी मीमांसकों) को मिला है" ।

प्रश्न उठता है कि रजत की स्मृति के समय उसके स्वरूप का उल्लेख भले ही न हो, 'इदम्' इस तरह से सामने स्थित धर्मी का जब प्रतिभास हो रहा है, उस अवस्था में अख्याति कैसे मानी जा सकती है ? तो इसका उत्तर यह है कि सामने स्थित धर्मी का 'यह शुक्ति है' इस तरह से स्पष्ट प्रतिभास नहीं होता, यदि ऐसा माने तब तो भ्रम होगा ही नहीं । किन्तु रजत की तरह ही चमक-दमक वाले धर्मी मात्र का उस समय भान होता है और धर्म में समानता होने से उस समय रजत की स्मृति जाग उठती है । इस प्रकार से यहाँ पर ग्रहण (प्रत्यक्ष) और स्मरण ये दो भिन्न-भिन्न ज्ञान है, किन्तु इन दोनों की भिन्नता की प्रतीति नहीं होती । इस प्रकार यह विवेक का अग्रहण ही यहाँ पर अख्याति कहलाती है, सर्वदा अप्रतीति को अख्याति नहीं कहा जाता । ग्रहण (प्रत्यक्ष) और स्मरण की जब वैयधिकरण्य से प्रतीति नहीं होती तो यह भी एक प्रकार का सामानाधिकरण्य ही हुआ, अतः यहाँ पर सामानाधिकरण्य का सा व्यवहार होता है । जो यह है, वही रजत है, इस तरह से सामानाधिकरण्य से प्रतीति नहीं होती, यदि ऐसी प्रतीति होती तो विपरीत ख्याति हो सकती थी । वैयधिकरण्य का बोध नहीं होता, इसीलिये रजतार्थी पुरुष की ऐसे स्थलों में प्रवृत्ति भी देखी जाती है ।

नन्वेवं नेदं रजतमिति पूर्वावगतरजतप्रतिषेधबोधितबाधप्रत्ययस्य का गतिरिति चेन्न, प्रागगृहीतविवेकप्रख्यात्यतिरिक्तस्य रजतबाधस्याननुभवात्। स्वप्ने तु स्मृतिरेव स्मृतित्वेन न गृह्यते। न च सदृशदर्शनमन्तरा कथं स्मृतिः? निद्राकषायितान्तःकरणस्यापि स्मृतिकारणत्वाभ्युपगमात्। द्विचन्द्रादौ वृत्तिरेव तिमिरादिना द्विधा भवति। तदुक्तम्—'न सर्वत्र स्मृतेरेव प्रमोषोऽभ्युपगम्यते। किन्त्वख्यातिरतश्चासौ कथञ्चित् कस्यचित् क्वचित्॥ भवत्यनुभवस्मृत्योर्विवेकाग्रहणं क्वचित्। क्वचित्तु स्मर्यमाणस्य तथात्वेनानुपग्रहः। द्विधा कृता क्वचिद् वृत्तिर्नेत्रस्य तिमिरादिना॥ नहि ग्रहीतुमैक्येन शक्नोति शिशिरत्विषम्। क्वचिद्रसनसम्पृक्ते पित्ते तिक्तत्ववेदनात्॥ परिच्छेत्तुं न शक्नोति माधुर्यं शर्करागतम्। गृह्णाति यत्तु तिक्तत्वं वस्तुतः पित्तवर्ति तत्॥ तथा तु न विजानाति निगिरन्नेष शर्कराम्। तदेवं सति सर्वत्र सम्यगग्रहणं भ्रमः॥ न मिथ्याप्रत्ययः कश्चिदस्ति शङ्कानिबन्धनम्। अजातमिथ्याशङ्कश्च न संवादमपेक्षते॥ तस्मान्न कश्चित् परतः प्रामाण्यमधिगच्छति। एवं स्वतः प्रमाणत्वे सिद्धे वेदेऽपि सा गतिः॥ अपवादद्वयाभावो वक्तव्यश्चात्र पूर्ववत्॥'

न्यायमञ्जरीकाराः सर्वमेतत् सङ्कलय्य प्रतिक्षिपन्ति—प्रत्यभिज्ञावदेकत्वेनैव संवेद्यमानत्वान्नेदं रजतमिति द्वे ज्ञाने। यदिदमग्रतः स्थितं तद्रजतमिति सत्यरजतप्रतीतिः। किञ्च, नात्रानुभूततया रजतं प्रकाशते, किन्त्वनुभूयमानतया। अनुभूतताग्रहणं स्मरणमुच्यते नानुभूयमानताग्रहणम्। स्वप्रकाशा च संवित्तिरिति भवद्दर्शनम्। तत्रैषा संवित् स्मरणात्मना भासते

पुनः प्रश्न उठता है कि इस तरह से तो यह रजत नहीं हैं, ऐसे पहले रजत रूप से उस ज्ञान के निषेध का बोध कराने वाले बाधक ज्ञान की क्या गति होगी? उत्तर यह है कि ऐसे स्थलों में पहले जो विवेक (भेद) का अग्रहण (अज्ञान) है, वही हट कर बाद में विवेक के ग्रहण होने से दोनों ज्ञान पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त रजत ज्ञान के बाधक ज्ञान नाम की कोई चीज नहीं है। स्वप्न में तो स्मृति का भी स्मृति के रूप में ज्ञान नहीं होता। स्वप्नावस्था में सदृश दर्शन के बिना स्मृति कैसे होगी? यह प्रश्न गलत है, क्योंकि निद्रा-कषायित चित्त से भी स्मृति की उत्पत्ति मानी गई है। जहाँ पर दो चन्द्र का ज्ञान होता है, ऐसे स्थलों में चक्षु की वृत्ति ही तिमिरादि दोष के कारण दो भागों में बट जाती है। जैसा कि कहा गया है—"सभी स्थानों पर केवल स्मृति का प्रमोष ही नहीं माना जाता, किन्तु अख्याति माननी पड़ती है। इसीसे किसी को किसी प्रकार से कभी कभी अनुभव और स्मृति में विवेक करने की बुद्धि नहीं रह जाती और कहीं कहीं स्मर्यमाण वस्तु का उसी रूप में बोध नहीं हो पाता। कहीं पर नेत्र की वृत्ति ही तिमिर प्रभृति दोषों के कारण दो भागों में बट जाती है तो वह एक ही चन्द्रमा को दो देखने लगती हैं। कहीं पर जिह्वा से संपृक्त पित्त के कारण तिक्तता ज्ञान की अभिवृद्धि होने पर शर्करा खण्ड के माधुर्य को भी ग्रहण नहीं कर पाती। वह शर्करा में भी जो तीतेपन का अनुभव करती है, वह वस्तुतः पित्त में वर्तमान है, किन्तु वह ऐसा नहीं समझ पाती और शर्कराखण्ड को निगलते समय वह उसी को तीता समझ लेती है। इस प्रकार सभी भ्रमस्थलों में यह बात निश्चित है कि वह वस्तु को ठीक समझ नहीं पाता है। इन स्थलों में कहीं पर भी मिथ्याज्ञान नहीं होता, जिससे कि किसी प्रकार की शंका उठ सकती हो। जब व्यक्ति को मिथ्या आशंका नहीं उठेगी तो उसको अपने अपने ज्ञान के संवाद के लिये अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। इस तरह से कोई भी व्यक्ति परतः प्रामाण्य की अवगति नही करता, प्रामाण्य की अवगति उसको स्वतः हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में वेद का भी स्वतः सिद्ध प्रामाण्य मानना पड़ेगा। स्वतः प्रामाण्य स्वाभाविक है, इसमें परवर्ती बाध ज्ञान और विपरीत ज्ञान ही अपवाद माने जा सकते हैं, जैसा कि पहले बताया जा चुका है।"

न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने उपर्युक्त प्राभाकर मत को संक्षेप में बताकर उसका इस प्रकार खण्डन किया है—प्रत्यभिज्ञा स्थल में जैसे ज्ञान एक ही माना जाता है, उसी प्रकार 'इदं रजतम्' यहाँ पर भी एक ही ज्ञान है दो नहीं। यह जो आगे वस्तु दिखायी देती है, वह रजत है, यह सत्य रजत की प्रतीति होती है। यहाँ पर भूतकाल में अनुभूत हुई वस्तु की तरह रजत का स्मरण रूप से भान नहीं होता, किन्तु वर्तमान समय में प्रतीत हो रही वस्तु की तरह अनुभव रूप में ही होता है। अनुभूतत्वरूप से वस्तु का ज्ञान ही स्मरण होता है, अनुभूयमानत्व रूप से नहीं। आपके मत में संवित्ति स्वयं प्रकाशित होती है। ऐसी अवस्था में यह संवित् यदि स्मरण के रूप में भासित होती है, तो उसमें प्रमोष कैसा? और यदि अनुभव के रूप में प्रकाशित होती है, तो यहाँ पर विपरीत

चेत् कः प्रमोषार्थः ? अनुभवात्मना चेद्विपरीतख्यातिरेव। संविन्मात्ररूपेण प्रकाशत इत्यपि न युक्तम्, रजतस्यापि तत्रोल्लेखात्। न चेयमप्रतिपत्तिरेव, मदमूर्छादिदशाविसदृशस्वप्रकाशसंवेदनानुभवात्। यथेदमंशे स्वप्रकाशवेदनं तथैव रजतांशेऽपि। द्वयोश्चांशयोः समाने संवेदने कथमेकस्य प्रत्यक्षता, अपरस्य स्मृतिविषयतेति कल्पयितुं शक्यते। ततश्च कथं विभागः ? इदमित्यत्र किं भाति ? यदि शुक्तिः सकलस्वगतविशेषविशिष्टा भाति, तदा तद्दर्शने सति रजतस्मरणस्य क्वावसरः ? सादृश्यनिबन्धने स्मरणे सत्यपि कुतोऽविवेकः ? यदि त्विदमिति प्रत्यये धर्मिमात्रं भाति न शुक्तिशकलम्, तदा तु सामान्यधर्मग्रहणवशाद् विरुद्धसंस्कारोपनिबन्धनविरुद्धविशेषस्मरणकारणकमिदं रजतमिति सामान्योपक्रमे विशेषपर्यवसानं ज्ञानम्, यदिदं तद्रजतमिति सामानाधिकरण्यावमर्शात्। रजतानुभवाभिमानेनैव रजतार्थिप्रवृत्तिरपि भवति।

ननु ग्रहणस्मरणयोर्विवेकाग्रहात् प्रवृत्तिरित्युक्तम्, इति चेन्न, रजतज्ञानमन्तरा विवेकाग्रहमात्राद् रजतार्थिप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। यथा धर्मकीर्तिर्दृश्यविकल्पावेकीकृत्य प्रवर्तत इति वक्ति, तदनुकरणमात्रमिदम्। तत्र यथा यावद् दृश्यं गृहीतमिति न जातः प्रत्ययस्तावत्कथं दृश्यार्थिनः प्रवृत्तिः ? तथैव प्रकृतेऽपि वक्तुं शक्यते। तस्मादस्ति रजतग्रहणं न स्मरणप्रमोषमात्रम्। यद्यपि रजतगतविशेषस्मरणमन्यथाख्यातिवादिभिरप्युपेयते, तथापि पुरोऽवस्थिते धर्मिण्यूर्ध्वत्वादिसाधारणधर्मग्रहणात् स्थाणुपुरुषगतविशेषाग्रहणाद् उभयविशेषस्मृतेः संशयो भवति, एवमिहापि तेजस्वितादिसामान्यधर्मग्रहणाद् विशेषाग्रहणाद् रजतविशेषस्मृतेश्च तस्मिन् धर्मिणि रजतप्रत्ययो भवति विपर्ययात्मकः। संशये ह्युभयत्र विशेषस्मरणमिति विशेषः। अत एवा-

ख्याति माननी पड़ेगी। केवल संवित् के रूप में प्रकाशित होती है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि साथ में रजत का भी उल्लेख विद्यमान है। यह प्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि यहाँपर मद, मूर्च्छा प्रभृति दशाओं से विलक्षण स्वप्रकाश संवेदन जैसे 'इदम्' अंश में स्वप्रकाश संवेदन होता है, का अनुभव होता है, उसी तरह से 'रजत' अंश में भी होता है। जब दोनों ही अंशों का संवेदन समान है, तो एक प्रत्यक्ष का विषय और दूसरा स्मृति का विषय कैसे हो सकता है ? एक ही समान संवेदन के दो विभाग कैसे हो सकते हैं ? 'इदम्' यहाँ पर किसका भान होता है ? यदि अपनी सारी विशेषताओं के साथ शुक्तिका का भान होता है, तो उसके रहते रजत के स्मरण का अवसर ही कहाँ है ? सादृश्य प्रयुक्त स्मरण हो भी सकता है, किन्तु स्मृति और अनुभव में विवेक के अग्रहण का प्रसंग ही कहाँ है ? यदि यह कहा जाय कि 'इदम्' इस प्रत्यय में धर्मी मात्र का ग्रहण होता है, शुक्ति शकल का नहीं, तब तो यह मानना पड़ेगा कि सामान्य धर्म का ग्रहण कर पाने से विरुद्ध संस्कारों से उत्पन्न हुई विशेष प्रकार की विरुद्ध स्मृति के कारण 'यह रजत है, इस तरह से उपक्रम दशा में सामान्य ज्ञान का भी उपसंहार में विशेष ज्ञान में पर्यवसान हो गया है, क्योंकि जो यह है, वह रजत है, इस तरह से सामानाधिकरण्य का परामर्श देखा जाता है। मुझे रजत का अनुभव हुआ है, इस प्रकार के अभिमान से ही रजतार्थी पुरुष की वहाँ प्रवृत्ति भी होती है।

हले यह जो कहा गया है कि ग्रहण (प्रत्यक्ष) और स्मरण का विवेक न होने से प्रवृत्ति होती है, यह बात गलत है, क्योंकि रजत के ज्ञान के बिना केवल विवेक के ग्रहण के न होने से रजतार्थी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। धर्मकीर्ति का कहना है कि दृश्य और विकल्प प्रत्यय को एक में मिलाने पर ही प्रवृत्ति होती है, प्रभाकर का उक्त कथन धर्मकीर्ति का अनुकरण मात्र है। विचित्रता यह है कि एक दूसरे का अनुकरण करके भी दोनों एक ख्याति न मानकर भिन्न-भिन्न अख्याति और आत्मख्याति मानते हैं। वहाँ पर जैसे जब तक केवल दृश्य का ग्रहण होता है, तब तक ज्ञान नहीं होता तो उसको देखने की प्रवृत्ति कैसे होगी, उसी तरह से प्रकृत स्थल में भी कहा जा सकता है। इसलिए यहाँ रजत का भी ग्रहण होता है, अतः स्मृति का प्रमोष मात्र नहीं माना जा सकता। यद्यपि ऐसे स्थलों में अन्यथा ख्याति को मानने वाले भी रजतगत विशेषता की स्मृति मानते हैं, तो भी जैसे सामने विद्यमान धर्मी में ऊर्ध्वत्व आदि साधारण धर्मों के ग्रहण से और स्थाणु अथवा पुरुषगत विशेषत धर्मो का ग्रहण (ज्ञान) न होने से और दोनों के विशेष धर्मों की एक साथ स्मृति होने से सन्देह होता है, उसी प्रकार से यहाँ पर भी चमचमाहट जैसे सामान्य धर्म के ज्ञान होने से, विशेष धर्मों का ज्ञान न होने से और रजत विशेष की स्मृति के कारण उस धर्मी में विपर्ययात्मक रजत ज्ञान हो जाता है। इन दोनों में इतना ही अन्तर है कि संशय स्थल में दोनों स्थलों की विशेषताओं का स्मरण होता है और विपर्यय में केवल एक की ही विशेषता का स्मरण होता है। इसीलिये जिसको

गृहीतरजतस्येदं ज्ञानं नोपपद्यते, सदृशाग्रहणे वा निशीथादौ, न त्वेतावता स्मरणमात्रम्, स्मरणजन्यस्य विपर्ययप्रत्ययस्यापि संवेदनात्।

यत्तु विपर्ययावगतेः कारणं विकल्पितम्, तदपि न किञ्चित्, 'कार्यं चेदवगम्येत किं कारणपरीक्षया। कार्यं चेन्नावगम्येत किं कारणपरीक्षया॥' इति। कार्याकस्मिकतानुपपत्तेः कारणं कल्प्यताम्। क्लृप्तं च दोषसहितमिन्द्रियम्, यथा संस्कारसहकारि तत् प्रत्यभिज्ञायाम्।

यद्यपि दुष्टाः शालयो न यवाङ्कुरं जनयन्ति, तथापि दावदग्धाद्वेत्रबीजात् कदलीकाण्डप्ररोहदर्शनात्, भस्मकदोषदुष्टस्योदर्यवह्नेर्बह्वन्नपचनसामर्थ्यदर्शनाच्च दुष्टमिन्द्रियं विपरीतप्रत्ययजनकमित्युपपद्यते। तस्माद् दोषकलुषिता दिन्द्रियात् पुरोऽवस्थितधर्मिगतत्रिकोणत्वादिविशेषावमर्शकौशलशून्यात् सामान्यधर्मसहचरितपदार्थान्तर्गतविशेषस्मरणोपकृताद् भवति विपरीतप्रत्ययः। सम्यग्ज्ञानापेक्षया तद् दुष्टमुच्यते। स्वकार्ये विपर्ययज्ञाने तु कारणमेव तन्न दुष्टम्।

किञ्च, नेदं रजतमिति बाधकं ज्ञानं पूर्वानुभवविषयीकृतरजतनिषेधमवगमयदेवोत्पद्यते। यदहमद्राक्षं तद्रजतं न भवतीति। प्रसक्तस्य चायं निषेधः। अननुभूतमप्रसक्तमिति प्रतिषिध्यमानं रजतमिव कनकमपि किमिति न प्रतिषिध्यते? यत्तु अनुभवस्मरणविवेकप्रतिपादकं बाधकज्ञानमिति, तन्न, तथाननुभवात्। नहि यदविविक्तं तद्विविक्तमिति बाधकज्ञानमिति

पहले से रजत का ज्ञान नहीं होता है, उसको इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता और रात्रि में जब सादृश्य का ग्रहण नहीं होता, तब भी इस तरह का ज्ञान नही होता। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल स्मरण मात्र है, क्योंकि साथ में स्मरण से उत्पन्न विपरीत प्रत्यय का भी ज्ञान होता है।

पहले विपर्यय की अवगति कैसे होगी, इस प्रसंग में जो कारणों का विकल्प दिखलाया गया है, वह भी कुछ सिद्ध नहीं कर पाता। क्योंकि—"कार्य की यदि अवगति होती है तो उसके कारण की परीक्षा करना व्यर्थ है और यदि कार्य की अवगति नहीं होती, तब भी कारण की परीक्षा व्यर्थ है"। कार्य आकस्मिक रूप से न हो जाय, इसलिए कारण की कल्पना करनी पड़ती है और यहाँ पर विपर्यय कार्य की उत्पत्ति में दोष सहित इन्द्रियों का कारण माना गया है, जैसा कि 'प्रत्यभिज्ञा[1] में संस्कार सहकृत इन्द्रियों को कारण माना जाता है।

यद्यपि दुष्ट शालि, यव आदि अंकुर को नहीं पैदा करते, तो भी दावानल मे जले दुष्ट वेत्र के बीज से कदली समूह निकल आता है और भस्मक रोग से दुष्ट उदर की वह्नि ढेर सारे खाये गये अन्न को पचा डालती है, उसी तरह से दुष्ट इन्द्रियों से विपरीत ज्ञान पैदा हो जाता है। इसलिये दोष से कलुषित इन्द्रिय से सामने विद्यमान धर्मीगत त्रिकोणत्वादि विशेष धर्मों का परामर्श न होने से और सामान्य धर्म के साथ दूसरे पदार्थों में विद्यमान विशेष धर्मों का स्मरण हो जाने से विपरीत ज्ञान हो जाता है। इसलिए सम्यग् ज्ञान की अपेक्षा से यह दोष से दुष्ट कहलाता है, किन्तु अपने कार्य विपरीत ज्ञान का तो वह कारण ही है, दोषग्रस्त नहीं।

अपि च, यह रजत नहीं है, यह परवर्ती बाधक ज्ञान पूर्व ज्ञान में विषयीभूत रजत निषेध का ज्ञान कराते हुए ही पैदा होता है कि जो मैंने देखा, वह रजत नहीं है। यह निषेध पूर्व प्रसक्त का किया गया है। अननुभूत और अप्रसक्त का भी यदि निषेध होने लगे तो रजत के समान ही कनक का भी निषेध क्यों नहीं हो सकता? यह कहना कि अनुभव और स्मरण का विवेक बाधक ज्ञान से होता है, यह भी गलत है, क्योंकि ऐसा अनुभव नहीं होता। बाधक ज्ञान भी हो और वह अविविक्त का विवेक भी कर सके, ऐसा संभव नहीं है। स्वप्न में जिसका कभी अनुभव नहीं किया है, ऐसे अपने शिर के कट जाने जैसी बातों की स्मृति कैसे होती है? जन्मान्तर में इसका

१. पहले भिन्न देश-काल में देखी हुई वस्तु के पुनः भिन्न देश-काल में देखे जाने को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। जैसे किसी ने कुछ वर्ष पहले किसी मित्र को मथुरा में देखा। फिर उसी मित्र को कुछ वर्ष बाद काशी में देखने पर कहा कि यह वही मेरा मित्र है। दार्शनिक इसी को तत्ता—इदन्ता—अवगाही ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। तत्ता अर्थात् पूर्वानुभूतता और इदन्ता अर्थात् एतत् देश-कालानुभव विषयता। यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि पूर्व के देश और काल तथा इस समय के देश और काल में भेद होने पर भी व्यक्ति में अभेद ही है। जैन दार्शनिक इसको स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।

च व्याख्यायते। स्वप्ने स्वशिरश्छेदादेरत्यन्तमननुभूतस्य कथं स्मृतिः सम्भवति? जन्मान्तरे तदनुभूतमित्यपि निःसारम्, कदाचिदेव तत्स्मर्यते न सर्वदा विशेषहेतोरभावात्। असन्न प्रतिभातीति सत्यम्, अननुभूतमपि मयान्येनानुभविष्यते। परानुभूतमपि सदिति वक्तुं शक्यते। परानुभूते तु स्मरणं न घटते। अत्र नावयोः समानयोगक्षेमत्वम्।

किञ्च, स्वप्नस्मृतेः स्मृतित्वेनाग्रहणे केन रूपेण ग्रहणम्? रूपान्तरेण ग्रहणे विपरीतख्यातिः। सर्वात्मना त्वग्रहणे स्वप्नसुषुप्तयोरविशेषप्रसङ्गः। अनुभवप्रत्ययश्च स्वप्ने वेद्यते न स्मरणानुल्लेखमात्रमिति स्मृतिप्रमोषसमर्थनं युक्तम्। एवं द्विचन्द्रादिप्रत्ययेष्वपि सुषिरभिन्ना नयनवृत्तिरेकत्वं माग्रहीत्, परन्तु भ्रान्तं द्वित्वानुभवं क्व प्रच्छादयामः। ननु चक्षुर्वृत्तिगतं द्वित्वं तद्गतत्वेन यत्तस्याग्रहणं तदेव भ्रमः। नैतदेवम्, नेत्रवृत्तेः सर्वत्र परोक्षत्वात्। 'किमेकचन्द्रबोधेऽपि वृत्त्येकत्वं प्रतीयते। इयं ह्यगृह्यमाणैव चक्षुर्वृत्तिः प्रकाशिका॥' एवं चैकचन्द्रग्रहणेऽपि वृत्त्येकत्वाग्रहणादख्यातिरेव भवेत्। एवं तिक्तशर्करादिप्रत्ययेष्वपि शर्करायां तिक्तबुद्धिरख्यातिवादे न शक्यसमर्थना। तदप्युक्तम्—'मोहात्पित्तगतत्वेन तिक्तता चेन्न गृह्यते। मा ग्राहि शर्करायां तु किं कृता तिक्ततामतिः॥' पित्तं त्विन्द्रियगतमगृह्यमाणमपि तिमिरवद् भ्रमं जनयति।

किञ्चैवमख्यात्यभ्युपगमेऽपि संशयो भवत्येव। 'रजतेऽनुभवः किं स्यादतः प्रमुषिता स्मृतिः। द्वैविध्यदर्शनादेवं भवेत्तत्रापि संशयः॥' तस्मादेवमख्यातिसमाश्रयणेन्न वेदस्य स्वतः प्रामाण्यं प्रसाध्य शून्यतादिनिरासो न कर्तुं शक्यः। निर्दग्धपित्रादावनर्थजा स्मृतिरभ्युपेयत इति तामेव दृष्टान्तीकृत्य सर्वत्रार्थशून्यत्वं साधयितुं शक्यम्। तस्मादन्यथाख्यातिरेव युज्यते।

अनुभव किया है, यह कथन भी निःसार है, क्योंकि जन्मान्तर में अनुभूत वस्तु का कभी कदाचित् ही स्मरण होता है, सदा नहीं, क्योंकि इसका विशेष हेतु उपलब्ध नहीं होता। असत् वस्तु का भान नहीं होता, यह तो सही है, किन्तु जो वस्तु अननुभूत है, उसका तो अनुभव मैं अथवा कोई अन्य व्यक्ति कर ही सकते हैं। परानुभूत वस्तु भी सत् हो सकती है, किन्तु परानुभूत वस्तु का स्मरण संभव नहीं। यहाँ आकर हमारे और आपके दृष्टिकोण में अन्तर पड़ जाता है।

स्वप्न की स्मृति का यदि स्मृति के रूप में ग्रहण नहीं होगा तो फिर किस रूप में होगा? यदि किसी भिन्न रूप में ग्रहण होगा, तो यह तो विपरीतख्याति ही हुई। स्वप्न स्मृति का सर्वात्मना अग्रहण मानने पर स्वप्न और सुषुप्ति में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। स्वप्न में स्मरण का अनुल्लेख मात्र ही नहीं रहता, किन्तु अनुभव की प्रतीति भी होती है। इस तरह से स्मृति के प्रमोष का किसी प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता। इसी तरह द्विचन्द्र की प्रतीति में भी दो नयन गोलकों में विभक्त हुई नयन की वृत्ति एकत्व का ग्रहण भले ही न करे, परन्तु यह दो चन्द्रमा वाला अनुभव कोरा भ्रम है, इसको कैसे छिपा सकते हैं? यह कहना कि द्वित्व यहाँ पर चक्षु की दो वृत्तियों के कारण है, वृत्तिगत द्वित्व को चन्द्रगत मान लेना ही भ्रम का कारण है, तो यह भी उचित नहीं माना जा सकता, क्योंकि नेत्र वृत्ति तो सदा परोक्ष है। अतः वह भ्रम में कारण नहीं हो सकती। "क्या जहाँ एक चन्द्र का ज्ञान होता है, वहाँ वृत्ति का एकत्व गृहीत होता है? वस्तुतः चक्षु की वृत्ति परोक्ष है, अतः बिना ही इस वृत्ति के ग्रहण के चक्षु-वृत्ति विषय को प्रकाशित करती है"। इस प्रकार एक चन्द्र ग्रहण स्थल में वृत्ति के एकत्व को गृहीत न होने के कारण भ्रान्ति ही माननी होगी। इसी तरह से तिक्त शर्करा[1] आदि प्रत्ययों में भी शर्करा में तिक्तता की प्रतीति का समर्थन अख्यातिवाद से न हो सकेगा। जैसा कि कहा गया है—"अज्ञानवश पित्तगत तिक्तता का अनुभव नहीं होता है तो न हो, किन्तु शर्करा में जो तिक्तता का अनुभव हो रहा है, उसका क्या कारण है"। अतः यहीं मानना पड़ेगा कि अगृह्यमाण इन्द्रियगत पित्त ही यहाँ पर तिमिर के समान भ्रम का कारण है।

अख्याति को मान लेने पर भी संशय होता है। "रजत का अनुभव होता है या यहाँ पर स्मृति का प्रमोष है? इस प्रकार की द्विविधा के कारण यहाँ पर भी संशय होता ही है"। अतः अख्याति का सहारा लेकर वेद की स्वतः प्रमाणता को सिद्ध कर शून्यता प्रभृति बौद्ध सिद्धान्तों का निरास नहीं किया जा सकता, क्योंकि मृत पिता के जला दिये जाने पर पिता आदि के न रहते हुए भी पिता आदि का स्मरण तो जैसे होता है, वैसे ही विश्व के सर्व विषयक ज्ञानों की विषय के बिना ही सिद्धि की जा सकती है। अतः बौद्ध मत का खण्डन कठिन हो जायगा। इसलिए अन्यथा ख्याति ही मानना उचित है। यहाँ

१. जिसे कामला रोग हो जाता है, उसे शक्कर कड़वी लगती है।

तत्र रजतमालम्बनम्। तदेव तत्र स्फुरति। न चैवमसत्ख्यातिरेवापतति, देशान्तरादौ रजतस्य विद्यमानत्वात्। असत्ख्यातौ तु रजतमत्यन्तमसदेव—'तत्रैकान्तासतोऽर्थस्य किं देशान्तरचिन्तया। किं कुर्मस्तादृशस्यैव वस्तुनः ख्यातिदर्शनात्॥ यस्तु देशान्तरे ह्यर्थो नास्ति कालान्तरेऽपि वा। न तस्य ग्रहणं दृष्टं गगनेन्दीवरादिवत्॥' इति। अयमेव द्वयोरसत्त्वयोर्विशेषो यदेकस्य ग्रहणं दृष्टं नापरस्य।

यदुक्तम्—तत्रासतोऽर्थस्य कथं ज्ञानजनकत्वमजनकस्य कथं प्रतिभासः? इति, तदपि समाहितमेव। सदृशपदार्थदर्शनोद्भूतस्मृत्युपस्थापितस्य रजतस्यात्र प्रतिभासनम्। न चास्योपस्थापनं पशोरिव रज्ज्वा संयम्य ढौकनम्, अपि तु हृदये परिस्फुरतोऽर्थस्य वहिरवभासनम्। न चैतावतेयमख्यातिरसत्ख्यातिर्वा, विज्ञानाद् विच्छेदप्रतीतेः, अत्यन्तासदर्थप्रतिभासाभावाच्च। तेन शुक्तिकैव प्रच्छादितस्वाकारा परिगृहीतपराकारा भाति।

ननु कथं रजतज्ञाने शुक्तिका भातीति चेन्न, भावानवबोधात्। शुक्तिकेति वस्तुस्थितिः कथ्यते। पुरोऽवस्थितं धर्मिमात्रं भास्वररूपादिसादृश्योपजनितरजतविशेषस्मरणं प्रतिभाति, यदेतत्पुरः किमपि वर्तते तद्रजतमित्यनुभवात्। वस्तुस्थित्या तु शुक्तिरेव त्रिकोणत्वादिविशेषग्रहणाभावाद् निगूहितनिजाकारा रजतविशेषस्मरणाच्च परिगृहीतरजताकारा। तदेतद्विषयेन्द्रियदोषप्रभवेषु शुक्तिकारजत-मृगतृष्णिका-गन्धर्वनगर-रज्जुसर्प-द्विचन्द्र-शङ्खशर्करापीततिक्तावभासादिषु मनोदोषमूलकेषु मिथ्याप्रत्ययेषु तु निरालम्बनेषु स्मृत्युल्लिखिताकारोऽवभासते।

अन्यदालम्बनमन्यश्च प्रतिभातीति पक्षोऽप्यस्ति। न चात्र सन्निहितस्यालम्बनत्वम्, येन भूप्रदेशस्यापि तदापत्तिः।

पर यह रजत आलम्बन है, उसी का वहाँ भान होता है। इस तरह से तो असत्ख्याति ही माननी पड़ेगी? नहीं, क्योंकि देशान्तर में रजत विद्यमान है। असत्ख्याति में तो रजत का अत्यन्त अभाव है। "ऐसी परिस्थिति में जिस वस्तु का नितान्त अभाव है, उसके सम्बन्ध में देशान्तर की चिन्ता करना व्यर्थ है कि वह किसी दूसरे स्थान में होगी। यदि ऐसी वस्तु की ख्याति होती है तो उसका हम क्या कर सकते हैं? जो वस्तु देशान्तर अथवा कालान्तर में भी विद्यमान नहीं है, उसी का ग्रहण नहीं होता, जैसा कि आकाश के कमल का अनुभव नहीं होता"। इन दोनों प्रकार की असत्ताओं में इतना ही अन्तर है कि एक का ग्रहण (ज्ञान) होता है और दूसरी का नहीं।

यह जो कहा गया है कि असत् अर्थ ज्ञान का जनक कैसे हो सकता है? और जो जनक नहीं है, उसका प्रतिभास कैसे होगा? इसका भी समाधान कर दिया गया है कि यहाँ पर सदृश पदार्थ के देखने से उत्पन्न स्मृति से उपस्थापित रजत का प्रतिभास होता है। यह उपस्थापन पशु को रस्सी से बांधकर ले जाने के समान न होकर हृदय में स्फुटित अर्थ को बाहर प्रकाशित कर देना है। केवल इतने से से यह अख्याति या असत्ख्याति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इसकी प्रतीति विज्ञान से पृथक् ही होती है। यहाँ पर अत्यन्त असत् वस्तु का प्रतिभास भी तो नहीं होता। इस प्रकार ऐसे स्थलों में शुक्तिका का अपना आकार छिप जाता है और दूसरे का आकार प्रतिभासित होने लगता है।

रजत ज्ञान में शुक्तिका का भान कैसे हो सकता है? इस तरह का विना पूरी बात समझे ही उठा दिया जाता है। शुक्ति तो वस्तुस्थिति का कथन है। ऐसे स्थलों में सामने अवस्थित धर्मी मात्र के चमकीलेपन के सादृश्य को देखकर रजतविशेष के रूप में स्मृति होने लगती है। यह सामने जो कुछ है, वह रजत है, ऐसा अनुभव वहाँ होता है। वास्तव में तो शुक्ति ही अपनी त्रिकोणत्व आदि विशेषताओं का परिग्रह न हो पाने के कारण अपने आकार के छिप जाने से और इसी अवसर पर रजत विशेष की स्मृति के जाग उठने के कारण रजतरूप में गृहीत होने लगती है। विषय और इन्द्रियगत दोषों से उत्पन्न शुक्तिकारजत, मृगतृष्णिका, गन्धर्वनगर, रज्जुसर्प, द्विचन्द्र, पीतशंख, तिक्तशर्करा आदि आभासात्मक मिथ्या ज्ञानों में इसी प्रकार से मन के दोष के कारण निरालम्बन स्मृति आकारों की प्रतीति होती रहती है।

एक पक्ष यह भी यह है—आलम्बन कुछ दूसरा ही है और मालूम कुछ दूसरा ही होता है। यहाँ पर सन्निहित की आलम्बनता नहीं मानी जाती, जिससे कि भूप्रदेश की भी आलम्बनता की आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ता। आलम्बन की अजनकता भी

न वालम्बनस्याजनकत्वम्, येन चक्षुरादौ तत्प्रसक्तिः। किन्त्विदमित्यङ्गुल्या निर्दिश्यमानं कर्मतया यज्ज्ञानस्य जनकं तदालम्बनमित्युच्यमाने न दूषणमेव।

केशोण्ड्रकज्ञानेऽपि किञ्चित्तिमिरं रोमराजिरिव नयनधाम्नोर्मध्य एवास्ते। तेन द्विधाकृतो नयनरश्मिर्द्वित्वेन चन्द्रमसं गृह्णाति। किञ्चित्तु विवरवदन्तरान्तरा तिष्ठति। तेन विरलप्रसृता नयनरश्मयः सूक्ष्माः सूर्यांशुभिराहन्यमानाः केशकूर्चाकारा भवन्ति। तत्र तदेवालम्वनम्, अनुदितेऽस्तमिते सवितरि केशोण्ड्रकप्रत्ययानुपलम्भात्। गन्धर्वनगराकारे तु पाण्डुरत्विषो गृहाट्टालिकाद्याकारा जलदा एवालम्बनम्। स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमेऽपि रजतानुभवसमर्थनमन्तरा न बुद्धिर्विश्राम्यति। तस्माद्विपरीतख्यातिरेव।

विषयापहार एव बाधः। तत्रापि विषयस्य प्रतिभातत्वं न परिह्रियते, किन्तु प्रतिभातस्यासत्त्वं ख्याप्यते, पूर्वावगतबाधकप्रत्ययोत्पादात्। यन्मया तदा रजतमिति गृहीतं न तद्रजतमिति, अन्यदेव तत्। एतेन स्वकालनियतत्वाद् ज्ञानानां कथमुत्तरस्य ज्ञानस्य पूर्वज्ञानोत्पादकालावच्छिन्नतद्विषयाभावग्रहणसामर्थ्यमित्यपि समाहितं भवति, तथा प्रत्ययोत्पादात्। न भग्नघटवदिदानीं तन्नास्तिताऽनुभूयते, अपि तु तदैव तदसदिति प्रतीतिः। यथा च न वर्तमानैकनिष्ठा एव विषयप्रतीतयस्तथा क्षणभङ्गनिरासे वक्ष्यामः।

अथवा फलापहार एव बाधः। हानादिबुद्धीनां प्रमाणफलत्वं भवत्येव। तदपहरणादपि प्रमाणं बाधितं भवति। एकस्मिन् विषये विरुद्धाकारग्राहिणोर्ज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावाभ्युपगमात् समानासमानविषयविकल्पोऽपि न युक्तः। चित्रादि-

नहीं मानी जाती, जिससे कि चक्षुरादि में आलम्बनता की प्रसक्ति नहीं होती। किन्तु अंगुली से 'यह है' इस तरह से निर्दिश्यमान जो वस्तु ज्ञान की कर्मतया जनक है, वह आलम्बन है, ऐसा कहने पर कोई दोष नहीं आवेगा।

केशोण्ड्रक ज्ञान में भी कुछ अन्धकार सा केशसमूह के समान नयन गोलकों के बीच में प्रतीत होने लगता है। इससे नयन रश्मि दो भागों में बटकर दो चन्द्रमा देखने लगती है। कुछ अन्धकार विवर के समान चक्षु के बीच-बीच में रह जाता है। इससे नयन की सूक्ष्म रश्मियाँ ठीक से फैल नहीं पाती और वे सूर्य की किरणों से टकराकर केश के समूह के समान प्रतीत होने लगती है। केशोण्ड्रक ज्ञान में यही आलम्बन है। क्योंकि जब सूर्य का उदय नहीं हुआ है, अथवा जब सूर्यास्त हो जाता है, तब इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। गन्धर्वनगर का आकार ग्रहण करने में तो पाण्डुरछवि वाले गृह, अट्टालिका आदि का आकार लिये हुए बादल ही आलम्बन होते हैं। इसे स्मृति प्रमोष माने तब भी रजत के अनुभव का समर्थन किये बिना बुद्धिविश्राम नहीं लेती। इसलिये विपरीत ख्याति को ही मानना पड़ेगा।

विषय के अपहार को ही बाध कहते हैं। यहाँ पर भी विषय के प्रतिभान का परिहार नहीं किया जाता, किन्तु यह बताया जाता है कि जिसकी प्रतीति हो रही है, उसकी सत्ता नहीं है। क्योंकि यहाँ पर पूर्व में जो कुछ ज्ञात हुआ है, उसका बाधक प्रत्यय (ज्ञान) उत्पन्न हो जाता है कि जिसको मैंने पहले रजत के रूप में जाना था, वह रजत न होकर कुछ दूसरी ही वस्तु है। ऐसा मानने से इसका भी समाधान हो जाता है कि ज्ञानों की अपने-अपने काल में नियतता मानने पर उत्तरवर्ती ज्ञान की पूर्व ज्ञान के उत्पाद काल से अवच्छिन्न विषय के अभाव को ग्रहण करने की सामर्थ्य कहाँ से आवेगी, क्योंकि हमको इस तरह की प्रतीति होती है। फूटे हुए घड़े के समान हमको अभी उसका अभाव नहीं प्रतीत होता, किन्तु प्रतीति यह होती है कि उसी समय वह प्रतीति गलत थी। विषय की प्रतीति केवल वर्तमान काल में ही नहीं होती, इस बात को हम विस्तार से क्षणभङ्ग का खण्डन करते समय बतावेंगे।

अथवा फलापहार को ही बाध कह सकते हैं। हान, उपादान आदि बुद्धियाँ प्रमाण का फल होती हैं। उनके अपहरण से भी प्रमाण बाधित हो जाता है। एक ही विषय में दो विरुद्ध आकारों के ग्रहण करने वाले ज्ञानों में बाध्य-बाधक भाव की विद्यमानता के कारण समान और असमान विषयक विकल्प उचित नहीं माना जा सकता। चित्र-प्रत्यय में पूर्वज्ञान का उपमर्द नहीं होता, अतः बाध्यबाधकभाव नहीं बनता। जिसने पहले प्रतिष्ठा पाई है, ऐसा पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञान का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि

प्रत्यये तु पूर्वज्ञानोपमर्दाभावान्न बाध्यबाधकभावः। प्राप्तप्रतिष्ठमपि पूर्वज्ञानं न बाधकं विषयसहायत्वात् प्रमाणान्तरानुगृह्यमाणत्वाच्चोत्तरज्ञानस्यैव प्राबल्यात्। स चायं बाधप्रत्ययो विपरीतख्यातौ सङ्गच्छते।

अत्रौपनिषदास्तु विषयस्यापरोक्षावभासहेतुत्वेन विषयमन्तरापरोक्षावभासानुपपत्त्या स्मर्यमाणस्य रजतस्य परोक्षदेशकालावस्थायित्वेनात्र तदभावान्न तद्धेतुत्वं सम्भवति। परमार्थसतो बाध्यत्वानुपपत्त्या चानिर्वचनीयरजतस्यैव शुक्तिरजतप्रतीतौ विषयत्वम्। तत्र रजतं तदाकारवृत्तिश्चेत्युभयमप्यनिर्वचनीयम्। शुक्तीदमंशाकारवृत्त्यनावृतशुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठायाः शुक्तित्वविषयिण्या अविद्यायाः संस्कारसादृश्यादिसध्रीचीनाया रजताकारेण परिणामः। वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठायास्तादृश्या अविद्याया रजतवृत्त्यात्मना परिणामः। नेदं रजतमिति बाधकज्ञानेन सकारणयोरुभयोर्निवृत्तिरेव बाधः। अत एव सविषयं रजतज्ञानं बाध्यते। तत्रेदं रजतमिति प्रतीतिः शुक्तित्वाज्ञानवशात् तदाश्रयशुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यात्मना रजतमवगाहते। तेनैव तस्य भ्रमत्वम्। तस्य नेदं रजतमिति रजतात्मताया इदमो रजतस्य बाधो भवति। बाध्यत्वं नाम शुक्तित्वसाक्षात्कारेण रजतकारणाविद्यायाः स्वरूपतः समूलस्य रजतस्य वा स्वरूपहानिः। प्रतीतिदशायां सदित्यपरोक्षतया प्रतीयमानं नासत्। व्यवहारदशायामेव शुक्तित्वज्ञानबाध्यत्वान्न स्वरूपतः सदिति सदसद्विलक्षणम्।

यदुक्तम्--नेदं रजतमिति प्रत्ययो निषेधत्येव रजतम्, न विद्यमानरजतस्यालौकिकत्वमवद्योतयत इति तन्न, पूर्वोक्तयुक्त्याऽलौकिकत्वस्यार्थसिद्धत्वात्। यदुक्तम्—'अगृह्यमाणे तु रजताख्येऽन्यधर्मिणि कथं तद्धर्मत्वेन लौकिकत्वं गृह्यते? रजताभावग्रहणे तु नैष दोषः, भावतदभावयोर्धर्मधर्मिभावाभावात्। स्मर्यमाणप्रतियोग्यवच्छिन्नो हि अभावो गृह्यते।

उत्तर ज्ञान का एक तो विषय सहायक है, दूसरे प्रमाणान्तर से भी उसका समर्थन होता है, अतः उत्तर ज्ञान ही यहाँ पर पूर्व ज्ञान की अपेक्षा प्रबल सिद्ध होता है। इस प्रकार यह बाध का ज्ञान विपरीत ख्याति में संगत हो सकता है।

वेदान्तियों का कहना है कि प्रत्यक्ष प्रतीति (ज्ञान) में विषय की विद्यमानता को कारण माना जाता है, अतः विषय के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं बन सकता। स्मर्यमाण रजत की तो परोक्ष देश और काल में अवस्थिति है, अतः यहाँ पर उसका अभाव होने से वह रजत के ज्ञान का कारण नहीं बन सकता। जो वस्तु परमार्थसत् हो, उसका बाध नहीं हो सकता, अतः अनिर्वचनीय रजत को ही शुक्ति में रजत-प्रतीति का विषय मानना चाहिये। यहाँ रजत और रजताकार वृत्ति ये दोनों ही अनिर्वचनीय हैं। शुक्ति इदमंशाकार वृत्ति से अनावृत है, अतः शुक्ति से अवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ शुक्तित्व को अपना विषय बनाने वाली अविद्या का संस्कार सादृश्य आदि के सहयोग से रजत के रूप में परिणाम हो जाता है और वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अज्ञान का रजताकार वृत्ति के रूप में परिणाम हो जाता है। यह रजत नहीं है, इस प्रकार के ज्ञान से अनिर्वचनीयता के कारण उत्पन्न हुई उक्त दोनों प्रकार की प्रतीतियों की निवृत्ति को ही बाध कहते हैं। इसीलिये यहाँ पर विषय सहित रजत ज्ञान का बाध होता है। यहाँ पर 'इदं रजतम्' यह प्रतीति शुक्तित्व का ज्ञान न होने के कारण शुक्तित्व के आश्रयभूत शुक्ति से अवच्छिन्न चैतन्य के रूप में रजत का ज्ञान करा देती है। इसीलिये यह ज्ञान भ्रमात्मक माना जाता है। 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार के ज्ञान से इदं रूपेण गृहीत रजत का बाध हो जाता है। बाध का अर्थ यह है कि शुक्तित्व का प्रत्यक्ष हो जाने से रजत ज्ञान को पैदा करने वाले अज्ञान का नाश अथवा स्वरूपतः अज्ञान सहित रजत के स्वरूप का नाश हो जाना। जिस समय ज्ञान हो रहा है, उस समय विद्यमान है, इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाले को असत् नहीं कहा जा सकता। व्यवहार दशा में ही शुक्ति का ज्ञान हो जाने पर उसी रजत का बाध हो जाता है, अतः इसको स्वरूपतः सत् भी नहीं कह सकते। फिर तो सत् और असत् दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय ही कहना पड़ेगा।

यह कहना—'यह रजत नहीं है' यह प्रत्यय (ज्ञान) रजत का निषेध करता है, विद्यमान रजत की अलौकिकता को नहीं बताता", इसलिये गलत है कि अभी ऊपर बताई गई युक्ति से उसकी अलौकिकता सिद्ध हो चुकी है। पुनः यह शंका उठाना कि "रजत रूप अन्य धर्मी का बिना ग्रहण हुए उसके धर्म के रूप में अलौकिक रजत का ग्रहण कैसे होगा? रजत के अभाव के ग्रहण में यह दोष नहीं आता, क्योंकि भाव और अभाव का धर्म-धर्मी भाव नहीं होता। स्मर्यमाण प्रतियोगी के साथ ही अभाव का ग्रहण होता है। इसलिये यहाँ पर 'रजत नहीं है' यही निषेध का अर्थ होगा, 'वह रजत अलीक है' यह अर्थ किसी प्रकार नहीं हो सकता", इसलिए गलत है

तस्मादत्र नास्त्येव रजतमित्येव निषेधार्थः, न पुनरलीकं तदस्ति' इति। तन्न, वस्तुसत्तामन्तरेणापरोक्षप्रतीत्यसम्भवेन तदन्यथानुपपत्त्या तत्र रजतसत्त्वस्याभ्युपगन्तव्यत्वेन व्यवहार एव शुक्तित्वसाक्षात्कारेण तद्बाधदर्शनाच्च तत्रानिर्वचनीयत्वपर्यवसानेन दोषाभावात्। अत एव पारमार्थिकत्वेन रजतं नास्तीति निषेधस्वरूपं पर्यवस्यति, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतिषेधस्यापि सम्मतत्वात्। अत एव नाबाधितरजतज्ञानगम्यत्वं रजतलक्षणम्, प्रतिभासकालाबाध्यत्वे शुक्तिरजतादौ व्यभिचारः। त्रिकालाबाध्यत्वे तु नाल्पज्ञस्य तद्ग्रहः। भेदोऽप्ययं व्यवहारे बाध्यत्वाबाध्यत्वाभ्यामेव। घटादिकं व्यवहारकाले न बाध्यते, शुक्तिरजतादिकं तु बाध्यते। ब्रह्मसाक्षात्कारमन्तरा यस्य न बाधः स व्यवहारः। स्वप्नाङ्गनालिङ्गनकूटकार्षापणादीनां ब्रह्मज्ञानमन्तरापि प्रबोधादिना बाधो भवत्येव।

यदुक्तम्—'यदि चेदमलौकिकमनिर्वचनीयं रजतं तत्किमर्थं तत्र प्रवृत्तिः? लौकिकत्वेन गृहीत्वेति चेत्, सैवेयं तपस्विनी विपरीतख्यातिरायाता। ख्यात्यन्तरवादिनां सुदूरमपि गत्वाऽन्यथावभासोऽवश्यमाश्रयणीयः। कल्प्यमानमिदमनिर्वचनीयं नानिर्वचनीयतया प्रतीयते, तथात्वे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। अन्यस्यान्यथाभानविरहे प्रतीतिप्रवृत्तिबाधभ्रमत्वानामनुपपत्तेः। तथा चानिर्वचनीयं पारमार्थिकरजतात्मना प्रतीयत इति मन्तव्यम्।' तदपि न युक्तम्, अन्यथाख्यात्या शुक्तिरजत प्रतीतिनिर्वाहे तयैव मृद्घटादिप्रतीतिनिर्वाहसम्भवेन घटादिकार्योत्पत्तिस्वीकारस्यापि वैयर्थ्यापातात्। शुक्तिर्यथा रजतात्मना प्रतीयते, तथैव मृदेव घटाकारेण भासत इति तुल्यत्वात्। नहि शुक्तिव्यतिरेकेण रूप्य मव मृद्व्यति रेकेण घटोऽस्ति, कार्यमिथ्यात्ववादिनस्तदिष्टत्वेऽपि कार्यसत्यत्ववादिनस्तदनिष्टत्वात्। न च मृदेव घटात्मना न भाति, किन्तु मृदि घटो जायत

कि वस्तु की सत्ता के बिना अपरोक्ष प्रतीति नहीं हो सकती, अतः इसकी उपपत्ति के लिए वहाँ पर रजत की सत्ता माननी पड़ेगी, किन्तु व्यवहार दशा में ही शुक्तित्व का साक्षात्कार हो जाने पर उसका बाध भी देखा जाता है, ऐसी परिस्थिति में उस रजत को अनिर्वचनीय मान लेने पर ही इस दोष से छुटकारा मिल सकता है। इसीलिये पारमार्थिक रूप में रजत नहीं है, यही निषेध का रूप बनता है। व्यधिकरण धर्म से अवच्छिन्न प्रतिषेध भी शास्त्रसंमत है। इसीलिये रजत का लक्षण 'अबाधित रजत ज्ञान से गृहीत होने वाला' यह नहीं है, क्योंकि शुक्तिरजतादि ज्ञान में जब कि रजत का प्रतिभास हो रहा है, यह लक्षण संगत नहीं होगा। यदि त्रिकालाबाध्यत्व लक्षण में जोड़ा जाय तो अल्पज्ञ को कैसे मालूम होगा कि यह त्रिकालाबाधित है। व्यवहार दशा में इनमें बाध्यत्व और अबाध्यत्व के कारण से ही भेद है। घटादि का व्यवहारदशा में बाध नहीं होता, किन्तु शुक्तिरजतादि का बाध होता है। ब्रह्म के साक्षात्कार के बिना जिसका बाध नहीं होता, वह व्यवहार कहलाता है। स्वप्न में स्त्री का आलिंगन, खोटी मुद्रा आदि का, ब्रह्म ज्ञान के बिना ही, जाग जाने पर अथवा ठीक से मालूम हो जाने पर बाध देखा जाता है।

यह जो कहा गया है कि "यदि यह अलौकिक, अनिर्वचनीय रजत है तो उसके लिये प्रवृत्ति क्यों होती है? अलौकिक वस्तु को लौकिक रूप में ग्रहण कर लेता है, अतः प्रवृत्ति होती है, ऐसा मान लेने पर तो आपको उस बेचारी विपरीत ख्याति की ही शरण में आना पड़ा। अन्य ख्यातियों के मानने वालों को भी आगे चलकर अन्यथा अवभास (अन्य वस्तु का अन्य रूप से ज्ञान, अर्थात् शुक्ति का रजत के रूप में ज्ञान) अवश्य मानना पड़ता है। जिस अनिर्वचनीय की आपने कल्पना की है, इसकी अनिर्वचनीय रूप में प्रतीति (ज्ञान) नहीं होती, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रवृत्ति ही नहीं होगी। वस्तु दूसरी ही है और भान (ज्ञान) दूसरी ही वस्तु का हो रहा है, इसको माने बिना प्रतीति, प्रवृत्ति, बाध, भ्रम इनमें से किसी की भी उपपत्ति आप नहीं कर सकते। इसलिये यही मानना पड़ेगा कि यहाँ पर अनिर्वचनीय रजत का पारमार्थिक रजत के रूप में भान होता है"। यह पूरा कथन अयुक्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो अन्यथाख्याति से ही शुक्तिरजत प्रतीति का निर्वाह करने पर उसी प्रतीति से मृद्घट प्रतीति का भी निर्वाह हो सकता है, फलतः घटादि कार्य की उत्पत्ति मानना भी व्यर्थ ही है। शुक्ति का जैसे रजत रूप से भान होता है, उसी तरह से मिट्टी ही तो घट के रूप में भासित हो रही है। इनमें अन्तर कहा है? ये दोनों ही प्रतीतियाँ समान हैं। जैसे यहाँ पर शुक्ति के अतिरिक्त रजत की सत्ता नहीं है, उसी तरह से मिट्टी के अतिरिक्त घट की भी सत्ता नहीं है। कार्य को मिथ्या मानने वाले के मत में इस बात में कोई आपत्ति न होने पर भी कार्य को सत्य मानने वाले इसको कभी नहीं मान सकते।" मिट्टी ही घट के रूप में भासित नहीं होती, किन्तु मिट्टी में घट पैदा होता है, इस प्रकार इनमें अन्तर है", यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि हम इसी तरह से यह कह सकते हैं कि शुक्ति ही

इति वैषम्यमिति वाच्यम्, तथाऽसति शुक्तिरेव रजतरूपेण न भासते, किन्तु तत्र रजतं जातमित्यपि तुल्यत्वात्। न च मृदि घटोत्पत्तौ दण्डचक्रसलिलकुलालादिकारणसामग्रीसत्त्वेन तदुपपत्तावपि रजतोत्पत्तिसामग्र्यभावान्न तदुत्पत्तिः सम्भवतीति वाच्यम्, तत्रापि रजतसंस्कारचाकचिक्याविद्यादिकारणसामग्रीसत्त्वात्। न च घटः सन्नित्येव प्रतीयत इति वाच्यम्, शुक्तिरजतस्यापि प्रतीतिसमये तथात्वानपायात्, असतः प्रतीत्यनुपपत्तेः। न चानिर्वचनीयमित्येव प्रत्येतव्यम्, न तु सदिति वाच्यम्, प्रतीतिसमये तस्यानिर्वचनीयत्वाभावात्। नहि घटोऽपि स्वोत्पत्तेः प्राक् स्वनाशात् पश्चाच्चासन्नपि स्वकालेऽसन्निति प्रतीयते।

यदुक्तम्—प्रतीतिकाले सत्त्वादन्यकालेऽसत्त्वाच्च सदिति असदिति च यन्निर्वक्तुं शक्यते, तच्छुक्तिरजतं नानिर्वचनीयम्, घटवत्' इति, तन्न, सतो बाधायोगादसतः प्रतीत्ययोगाच्च। प्रतीयमानस्य बाध्यमानस्य च निर्वचनीयत्वानपायात्। प्रतीतिकालेऽपि शुक्तिव्यतिरेकेण रजतं नास्त्येव, यथा मृद्व्यतिरेकेण घटः। तथा च सदिति न वक्तुं शक्यते, नाप्यसदिति, प्रतीयमानत्वात्। तस्मात्तदुभयमपि निर्वक्तुमशक्यत्वाद् अनिर्वचनीयमेव। न च घटादिर्निर्वचनीय एवेति वाच्यम्, सिद्धान्तरीत्या तस्यापि मिथ्यात्वेनानिर्वाच्यत्वात्। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा. उ. ६।१।४) इति श्रुतेः। शुक्तिरजताद्रजतस्य वैलक्षण्याय व्यावहारिकसत्यत्वं हि रजते कल्पितम्, पारमार्थिकसत्यत्वं तूभयत्रापि नास्ति, इत्युभयं मिथ्यैव।

रजत रूप से नहीं भासित होती, किन्तु शुक्ति में रजत उत्पन्न हो जाती है। यह कहना कि मिट्टी से घट की उत्पत्ति होने में दण्ड, चक्र, जल, कुम्हार आदि कारण सामग्री की अपेक्षा रहती है, मृत्तिका से घट का पैदा होना युक्तियुक्त माना जा सकता है, किन्तु (शुक्ति से) रजत की उत्पत्ति में तो कोई सामग्री है नहीं, तब उसे युक्तियुक्त कैसे माना जा सकता है? तो इसका उत्तर यही है कि वहाँ भी (शुक्ति रजत ज्ञान में भी) रजत का संस्कार, चाकचिक्य, अविद्या आदि कारण सामग्री विद्यमान है। इस कथन का भी कोई अर्थ नहीं है कि घट की सद्रूपेण प्रतीति होती है, क्योंकि शुक्तिरजत की भी प्रतीति की वेला में सद्रूपता हटती नहीं। अर्थात् उसका सद्रूप से ही ज्ञान होता है। क्योंकि असद्वस्तु (खरगोश के सींग) की प्रतीति हो ही नहीं सकती। इसको अनिर्वचनीय कहना चाहिए, सत् नहीं, ऐसा भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतीति (ज्ञान) के समय में वह अनिर्वचनीय नहीं है। यह रजत नहीं है, ऐसे निषेध के ज्ञान होने पर ही उसकी अनिर्वचनीयता का निश्चय होगा। घट भी अपनी उत्पत्ति से पहले और अपने नाश के बाद असत् है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि वह वर्तमान काल में भी असत् रूप से प्रतीत हो।

पुनः यह कहा गया है कि "प्रतीतिकाल में विद्यमान होने से और अन्यकाल में अविद्यमान होने से जो सत् और असत् रूप में देखा जा सकता है, वह शुक्ति-रजत ज्ञान घट के समान ही अनिर्वचनीय नहीं हो सकता" (क्योंकि उसका निर्वचन इस रूप से किया जा सकता है), यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत् वस्तु का बाध नहीं होता और जो वस्तु असत् है, उसकी प्रतीति (ज्ञान) नहीं होती। जिसका ज्ञान भी हो और बाध भी हो वह अनिर्वचनीय ही होता है। प्रतीतिकाल में भी शुक्ति से भिन्न रजत की उस प्रकार की सत्ता नहीं है, जैसी कि मिट्टी से पृथक् घट की भी होती है। इसलिये इसको सत् नहीं कह सकते। प्रतीत होती है, अतः इसको असत् भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार शुक्ति-रजत की दोनों ही तरह से निरुक्ति (निर्वचन, विश्लेषण, लक्षण) नहीं बनती, फलतः अनिर्वचनीयता ही माननी पड़ेगी। शुक्तिरजत निर्वचनीय न हो, घटादि तो निर्वचनीय है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सिद्धान्ततः घट के भी मिथ्या होने से वह भी अनिर्वाच्य ही है। छान्दोग्य श्रुति में बताया गया है कि "मृत्तिका ही सत्य है, घट, शराब, (कसोरा) उदंचन (घड़ा) आदि नाम केवल वाणी से विकार है", अर्थात् मुँह से बोलने मात्र के लिये हैं। अर्थात् मृत्तिका के ये नाना प्रकार के विकार नाना नामों से कहे जाते हैं, अतः मृत्तिका ही सत्य है और सब उसके विकार हैं। शुक्तिरजत से वास्तविक रजत के भेद के लिए रजत में व्यावहारिक सत्ता कल्पित की जाती है। पारमार्थिक सत्ता तो दोनों ही जगह नहीं है, इसलिए ये दोनों ही रजत मिथ्या हैं।

१. वस्तु मात्र के अनिर्वचनीय होने पर भी 'प्रमाणं स्वात्मनिश्चयात्' के आधार से घट, पट आदि व्यावहारिक सत्यता से निर्वचनीय बन जाते हैं।

न च शुक्तौ रजतमुत्पद्यत इति मतेऽप्यन्यस्यान्यथाभानमवर्जनीयमिति, तन्मित उत्पन्नरजतस्यैव रजताकारेण भानम्, न तु शुक्तेरित्यन्यस्यान्यथाभानाभावात्। न च शुक्तावुत्पन्नमपरमार्थरजतं ततु परमार्थरजतरूपेण भातीति कृत्वाऽस्त्येवान्यस्यान्यथाभानमिति वाच्यम्, परमार्थापरमार्थयोस्तयोराकारभेदाभावात्, आकारभेदे भ्रमोत्पत्तेरभावात्। न च तथापि परमार्थरजतमिवापरमार्थरजतं भातीति कुतो नान्यथाख्यातिरिति वाच्यम्, शुक्तिकायां परमार्थरजतसदृशं रजतमुत्पन्नं सत् परमार्थरजतसदृशाकारेणैव भातीति तदप्रसङ्गात्। अत एव परमार्थरजतबुद्धया प्रवृत्त्युपपत्तिः। तस्याश्च बुद्धेरतस्मिंस्तद्बुद्धित्वेन भ्रान्तित्वोपपत्तिः। न च शुक्तेरेव परमार्थरजतसदृशत्वात् तदेव परमार्थरजतसदृशाकारेण भातीति किमनिर्वचनीयतत्कल्पनयेति वाच्यम्, नीलपृष्ठत्रिकोणत्वादिरूपरजतविसदृशाकारस्यापि तत्र सत्त्वात्।

न च तदंशस्याभानात् सदृशाकारस्यैव भानाद् रजतसदृश एव शुक्त्यंशो रजताकारेण भातीति वाच्यम्, शुक्तिरजतयोः सादृश्यस्य सत्त्वाद् अत्रैवमुच्यतां नाम, गगननीलान्धकारपिशाचभ्रमादिषु तदभावन्नैवं वक्तुं शक्यम्। तथा च गगनान्धकारादपरमार्थनीलपिशाचादयः परमार्थनीलपिशाचादिसदृशा उत्पन्ना इत्यभ्युपेयम्। तथा तादृश्येव व्यवस्थान्यत्रापि विज्ञेया, तेन परमार्थरजतसदृशमपरमार्थरजतं शुक्तावुत्पन्नमेवेति नान्यस्यान्यथाभानम्। यद्वा शुक्तौ दोषवशादुत्पन्नं सद्रजतमित्येव भाति, न तु परमार्थरजतमिति, नाप्यपरमार्थरजतमिति, भ्रमसमये पुरुषस्य परमार्थापरमार्थविचाराभावात्। ततो रजतस्य रजतत्वेनैव ख्यातत्वान्नान्यथाख्यातिः। एतद्रजतबुद्धेर्भ्रान्तित्वं तु शुक्तिज्ञानबाध्यत्वादेव, न त्वतस्मिंस्तद्बुद्धित्वात्, रजत एव रजतबुद्धिरित्युक्तत्वात्।

"शुक्ति में रजत उत्पन्न होती है, इस मत में भी तो अन्य वस्तु का अन्यथा भान अनिवार्य रूप से मानना ही पड़ेगा' यह कहना तो इसलिए गलत है कि उस मत में उत्पन्न रजत का ही रजत के रूप में भान होता है, सीप का नहीं, अतः अन्य वस्तु का अन्यथा भान यहाँ नहीं होता। शुक्ति में उत्पन्न रजत वास्तविक नहीं है, किन्तु यहाँ पर तो उसका परमार्थ रजत के रूप में भान होता है, इस तरह से अन्य वस्तु का अन्यथा भान है ही, यह कथन भी इसलिए गलत है कि परमार्थ और अपरमार्थ रजत में कोई आकार का भेद नहीं है, यदि आकार का भेद माना जाय तो भ्रम की उत्पत्ति ही नहीं होगी। इतने पर भी यह कहना कि "परमार्थ रजत की ही तरह यदि अपरमार्थ रजत की भी प्रतीति होती है, तो अन्यथा ख्याति क्यों न होगी", इसलिए गलत है कि शुक्तिका में परमार्थ रजत के समान रजत उत्पन्न होकर परमार्थ रजत के रूप में ही प्रतीति होती है, इसलिए अन्यथाख्याति का कोई प्रसंग ही नहीं उठता। इसीलिए परमार्थ (वास्तविक) रजत की बुद्धि के कारण उसको उठाने की प्रवृत्ति होती है और यह बुद्धि, जो रजत नहीं है, उसमें रजत (चाँदी) बुद्धि को उत्पन्न कराने के कारण, भ्रान्तिमूलक मानी जाती है। परमार्थ रजत के सदृश होने से वह शुक्ति ही परमार्थ रजत के रूप में प्रतीत होती है, ऐसी स्थिति में अनिर्वचनीय की कल्पना की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि नीलपृष्ठ, त्रिकोणत्व प्रभृति रजत के विसदृश आकार भी तो वहाँ वर्तमान हैं।

"ऐसे स्थलों में नीलपृष्ठ, त्रिकोणत्व आदि शुक्तिगत अंशों का भान नहीं होता, अतः रजत सदृश आकार का ही भान होने से शुक्ति का रजत सदृश अंश ही रजत के आकार में प्रतीत होता है", यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्ति और रजत में सादृश्य होने से ऐसा आप भले ही कर ले, किन्तु आकाशवर्ती घने काले अन्धकार में जहाँ पिशाच का भ्रम होता है, वहाँ ऐसा सादृश्य न होने से आप उक्त बात नहीं कह सकते। अतः यह मानना पड़ेगा कि आकाशवर्ती अन्धकार से अलीक नीलपिशाच आदि (राक्षस आदि) की परमार्थ नीलपिशाच आदि के समान उत्पत्ति होती है। इसी तरह की व्यवस्था अन्यत्र भी माननी पड़ेगी। इस प्रकार परमार्थ रजत के सदृश अपरमार्थ रजत शुक्ति में उत्पन्न हुआ है, ऐसा मानने से अन्य का अन्यथा भान नहीं होगा। अथवा शुक्ति में दोष के कारण उत्पन्न हुई रजत की सत्तामात्र का भान होता है यह रजत परमार्थ (सत्य) है या अपरमार्थ (असत्य), इसका नहीं, क्योंकि जब पुरुष भ्रम में रहता है, उस समय उसको परमार्थ (सत्य) और अपरमार्थ (असत्य) का विचार नहीं हो सकता। इसलिये रजत के रूप में ही भान होने से अन्यथाख्याति नहीं होगी। यह रजत बुद्धि भ्रान्त है, इसका ज्ञान शुक्ति के होने से रजत ज्ञान का बाध होने से होता है, अवस्तु में वस्तु के ज्ञान के कारण नहीं, क्योंकि यह बताया जा चुका है कि यहाँ पर रजत में ही रजत बुद्धि है।

वस्तुतस्तु अन्यस्यान्यथाभानं नामान्यरूपेण स्थितस्यान्यरूपेण भानम्, तच्च रूपभेदप्रयुक्तमेव न तु धर्मभेदप्रयुक्तम्। रूपं नाम स्वरूपं धर्मस्तु स्वभाव इति विवेकः। तथा च कूटरजतस्य सत्यरजतरूपेण भानमिव शुक्तिरजतस्यापि सत्यरजतरूपेण भानं नान्यथाख्यातिः, रूपभेदाभावात्। अत एव नेदं सत्यरजतमिति शतवारमुपदिष्टमपि कूटरजतं सत्यरजतरूपं न परित्यजति। तेन यदेव सत्यरजतरूपं तदेव कूटरजतस्यापि। यदि रूपभेदाभावेऽपि धर्मभेदे सत्यन्यथाख्यातिरवर्जनीयेत्याग्रहस्तदा विशेषणगतमेव तदन्यथाभानं न विशेष्यगतमिति कृत्वा विशेष्यरूपभाने नान्यथाख्यातिः। अत एव दुष्टपुरुषे शिष्टपुरुष इति ज्ञानं भ्रम इत्युक्तौ पुरुषे पुरुषज्ञानं भ्रमो न भवति, किन्तु दुष्टे शिष्टज्ञानमेव भ्रमः। तस्मादपरमार्थरजतस्य परमार्थरजतात्मनाख्यातत्वेऽपि रजतमेव रजतात्मना ख्यातमिति कृत्वा नान्यथाख्यातिसिद्धिः।

एतेनापरमार्थरजतबुद्धिविषयस्य शुक्त्युत्पन्नरजतस्य परमार्थरजतबुद्धिविषयत्वेन भानमन्यथाभानमित्यपि परास्तम्, तत्रापि स्वभावभेदे सत्यपि स्वरूपभेदाभावात्। अपि चापरमार्थरजतं परमार्थरजतरूपेण भातीत्यस्य को वार्थः? किं पुरोगतपरमार्थरजतरूपेण तद् भाति, उतापणस्थपरमार्थरजतरूपेण भाति? नाद्यः, परमार्थरजतस्य पुरोगतत्वाभावात्। नान्त्यः, आपणस्थेन चक्षुषः सन्निकर्षाभावात्। न च दोषवशात् सन्निकर्षः सम्भवति, दोषशतादपि परोक्षस्य सन्निकर्षा-

वास्तव में तो अन्य वस्तु के अन्य रूप से ज्ञान का मतलब है कि अन्य रूप से स्थित वस्तु का अन्य रूप से ज्ञान। यह ज्ञान रूप के भेद से ही होता है, धर्म के भेद से नहीं। रूप केवल वस्तु के स्वरूप को कहते हैं और धर्म तो उसका स्वभाव है, यही दोनों में अन्तर है। इस तरह से खोटी चाँदी की जैसे सत्य रजत के रूप में ज्ञान होता है, उसी तरह सीप में चाँदी का ज्ञान भी सत्य रूप से ही होता है, अन्य किसी रूप से नहीं। इसको अन्यथा ख्याति[1] नहीं कह सकते, क्योंकि रूप भेद यहाँ है ही नहीं। इसीलिये यह सत्य रजत नहीं है, इस तरह से सैंकड़ों बार समझाने पर भी कूटरजत सत्यरजत के स्वरूप को नहीं छोड़ती। इससे यही प्रतीत होता है कि कूट रजत और सत्य रजत का स्वरूप एक है। यदि स्वरूप भेद के न रहने पर भी धर्म के भेद के कारण अन्यथाख्याति को कोई रोक नहीं सकता ऐसा आपका आग्रह है, तो वह अन्यथाभान विशेषणगत ही हैं, विशेष्यगत नहीं। अतः विशेष्य के स्वरूप के भान में अन्यथाख्याति नहीं होगी। इसीलिये 'दुष्ट पुरुष में शिष्ट पुरुष का ज्ञान भ्रम है, ऐसा कहने पर पुरुष में पुरुष का ज्ञान भ्रम नहीं होता, किन्तु दुष्ट में शिष्ट की प्रतीति (ज्ञान) ही भ्रम होगी। इसलिये अपरमार्थ (अवास्तविक) रजत का परमार्थ (वास्तविक) रजत के रूप में ज्ञान होने पर भी रजत ही रजत के स्वरूप में प्रसिद्ध हो रही है, इसलिये अन्यथाख्याति की सिद्धि नहीं होगी।

इसी युक्ति से यह कथन भी खण्डित हो जाता है कि अपरमार्थ रजत बुद्धि विषयक शुक्ति में ही परमार्थ रजत के रूप में उत्पन्न रजत को विशेष बनाने वाले ज्ञान को अन्यथाख्याति (अन्य में अन्य का ज्ञान मानना ही पड़ेगा, क्योंकि उन स्थानों में भी स्वभाव के भेद के रहने पर भी स्वरूप का भेद नहीं होता। दूसरी बात आप यह बताइये कि अपरमार्थ रजत परमार्थ रजत के रूप में प्रतीत होता है, इसका क्या अर्थ है? क्या सामने विद्यमान परमार्थ रजत के रूप में वह प्रतीत होता है, अथवा दुकान में रक्खी वास्तविक चाँदी के रूप में? पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि परमार्थ रजत सामने विद्यमान नहीं है, दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि

---

१. चाँदी का चाँदी के रूप में ही ज्ञान होता है। सीप का चाँदी के रूप में ज्ञान नहीं होता। यदि सीप का चाँदी के रूप में ज्ञान हो जाय तो लेने क्यों दौड़ेगा? जब सीप और चाँदी के भेद का ज्ञान हो जायगा, तब तो सत्य ज्ञान ही हो जायगा। तब उसको लेने नहीं दौड़ेगा, अतः यह मानना पड़ेगा कि तत्काल अज्ञान, चाकचिक्य आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली बाजार की व्यावहारिक चाँदी से विलक्षण (अनिर्वचनीय) तत्काल उत्पन्न होने वाली चाँदी में ही चाँदी का ज्ञान होता है। सीप का चाँदी के रूप में ज्ञान नहीं होता। अतः न्यायशास्त्र के अनुसार अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान (अन्यथाख्याति) भ्रम ज्ञान में कारण नहीं मानी जा सकती।

२. दुष्ट पुरुष में शिष्ट का जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ पुरुष तो पुरुष ही है, केवल उसमें दुष्ट पुरुष नहीं है, ऐसा ज्ञान न होकर यह शिष्ट पुरुष है, ऐसा ज्ञान होता है। इस ज्ञान में पुरुष का भेद नहीं है, किन्तु पुरुष के शिष्ट और दुष्ट इन दो विशेषणों में ही भेद का ज्ञान होता है। विशेष्य पुरुष तो वही है। उसमें केवल विशेषण शिष्ट और दुष्ट का ज्ञान है। शिष्ट पुरुष और दुष्ट पुरुष इन दोनों ज्ञानों में विशेष्य पुरुष है और विशेषण शिष्ट तथा दुष्ट हैं।

सम्भवात्। यदि तु अपरमार्थरजतं परमार्थरजतमिव भातीत्युच्यते, तर्हि परमार्थरजतसादृश्यमपरमार्थरजतस्यास्त्येवेति कथ मन्यथाख्यातिसिद्धिः ? न चैवं शुक्तिरेव रजतमिव भातीति वक्तव्यम्, शुक्तिबोधाभावात्। सति तु तद्बोधे न भ्रमः। न चैवं परमार्थापरमार्थभेदबोधोऽपि तदानीं नास्त्येवेत्यपरमार्थरजतं परमार्थरजतमिव भातीति प्रतीतिरपि न सम्भवतीति वाच्यम्, इष्टापत्तेः। सिद्धान्ते परमार्थरजतमिवापरमार्थरजतं भातीति नाभ्युपगम्यते, किन्तु भ्रमसमये शुक्तावुदितं रजतमेव 'इदं रजतम्' इति भातीत्युच्यते, अतोऽत्र न तदाशङ्कनीयम्।

एतेनेदं रजतमिति भ्रमस्थले शुक्ती रजतमिव भातीति वादः परास्तः, तथा सतीदं रजतसदृशमित्येव प्रतीतेर्भवितव्यत्वात्। यदुक्तम्—शुक्तौ रजतसादृश्यमस्त्येव दोषवशात्तदप्रतीतिः, तत इदं रजतमिति प्रतीतिः, दोषभावे त्विदं रजतसदृशमित्येव प्रतीयेतेति, तन्न, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—दोषवशात् सादृश्यस्याप्रतीतावपि शुक्तेः प्रतीतिरस्ति न वा ? आद्ये भ्रमानुदयप्रसङ्गः, नहि बाधके शुक्तिज्ञाने रजतज्ञानसम्भवः। नान्त्यः, इदंपदस्य निर्विषयत्वापत्तेः। तस्मादिदंप्रयोगविषयतया शुक्तावपूर्वं रजतमुत्पन्नमित्यभ्युपगन्तव्यम्।

नन्वनिर्वचनीयेन रजतेन चक्षुःसन्निकर्षाभावात् कथमिदं रजतमिति प्रतीतिः ? न च सन्निकर्षः सम्भवति, प्रतीतेः प्राक् प्रातिभासिकस्य विषयस्यैवाभावात्, विषयप्रत्यययोः समसमयत्वादिति चेन्न, संस्कारादिसध्रीचीनाया अविद्याया एव रजताद्यर्थाध्यासाकारेण तज्ज्ञानाध्यासाकारेण परिणामाभ्युपगमेन भ्रमस्थले विषयेन्द्रियसन्निकर्षानपेक्षणात्। न चैवं चक्षुषो

दुकान में रखी रजत से चक्षु का संनिकर्ष नहीं है। दोष के कारण संनिकर्ष हो जायगा, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि सैकड़ों दोष मिलकर भी अप्रत्यक्ष वस्तु से संनिकर्ष (सम्बन्ध) नहीं स्थापित कर सकते। आप यदि यह कहें कि अवास्तविक रजत का वास्तविक रजत की तरह भान होता है, तो परमार्थ रजत से समानता अपरमार्थ रजत की है ही, तो इस अवस्था में अन्यथाख्याति कैसे सिद्ध होगी ? यह भी नहीं कह सकते कि शुक्ति का ही रजत की तरह भान होता है, क्योंकि वहाँ पर शुक्ति का ज्ञान होता ही नहीं। यदि सीप का ही ज्ञान हो जाय तो भ्रम ही कैसे होगा। इस तरह से तो वहाँ परमार्थ और अपरमार्थ के भेद का ज्ञान भी नहीं है तो फिर अपरमार्थ रजत का परमार्थ रजत की तरह ज्ञान होता है, इस प्रकार का ज्ञान भी कैसे बनेगा ? इस प्रश्न का उत्तर हम इष्टापत्ति के रूप में देते हैं, अर्थात् यह आपत्ति हमको स्वीकार है। इस प्रकार का ज्ञान नहीं बनता इस आपत्ति को हम भी मान लेते हैं। हमारे मत में यह नहीं माना जाता कि परमार्थ रजत की भाँति अपरमार्थ रजत का भान होता है, किन्तु भ्रम के समय शुक्ति में उत्पन्न हुआ रजत ही यह रजत है, इस रूप में प्रतीत होता है, यही हमारा कहना है, (उसकी वास्तविकता-अवास्तविकता का उस समय ज्ञान नहीं होता), इसलिये यहाँ पर उक्त आशंका नहीं उठती।

ऊपर की बात से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि 'यह रजत है' इस भ्रम स्थल में शुक्ति का रजत की भाँति ज्ञान होता है। ऐसा मानने पर यह रजत के सदृश है, यही प्रतीति होनी चाहिये। कहा जाता है कि शुक्ति में रजत से समानता विद्यमान ही है, दोष के कारण उसकी प्रतीति नहीं होती। इसलिये यह रजत है इस तरह की प्रतीति होती है। दोष के रहने पर तो 'यह रजत के सदृश है' ऐसा ही होगा, यह कथन भी गलत है, क्योंकि इस पक्ष में भी आगे दिये विकल्प का कोई उत्तर नहीं बनता। जैसे कि दोष के कारण सादृश्य की प्रतीति न होने पर भी शुक्ति की प्रतीति होती है या नहीं ? प्रथम पक्ष में यदि शुक्ति की प्रतीति होती है तो भ्रम का उदय ही नहीं होगा, शुक्ति का ज्ञान रहते उसमें रजत का ज्ञान कैसे हो सकता है। दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा। क्योंकि उस अवस्था में 'इदं' पद का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि 'इदं' पद का प्रयोग होने से उसके विषय के रूप में अपूर्व (दुकान की चाँदी से विलक्षण तत्काल पैदा हुई प्रातिभासिक सत्ता वाली) रजत की उत्पत्ति हुई है।

प्रश्न उठता है कि अनिर्वचनीय रजत से चक्षु का संनिकर्ष तो होता नहीं, फिर 'यह रजत है' यह प्रतीति कैसे होती है। संनिकर्ष हो भी नहीं सकता, क्योंकि प्रतीति से पहले प्रातिभासिक विषय की सत्ता ही नहीं है और विषय तथा ज्ञान का समसामयिक (एक समय में) होना जरूरी है। इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि संस्कार आदि की सहायता से अविद्या (सीप का अज्ञान) ही रजत आदि विषयों के (अध्यास के) रूप में और उनके ज्ञानाध्यास के रूप में परिणत हो जाती है, अतः भ्रमस्थल में विषय के साथ इन्द्रिय के संनि-

वैयर्थ्यम् पुरोवर्तिवस्तुसामान्यज्ञानार्थं तदावश्यकत्वात्, अन्यथा तादृग्भ्रमस्यैवासम्भवात्। अत एव नान्धस्येदं रजतमिति भ्रमसम्भवः।

तदेवमनिर्वचनीयख्यातिवादे रजतस्यैव रजतात्मनाभानात् ज्ञान्यथाभानम्, किन्तु शुक्त्यध्यस्तरजतविषयप्रत्ययत्वादिदं रजतमिति प्रत्ययस्याध्यासत्वम्। सत्ख्यातिमतेऽपि सत एव रजतस्य रजताकारेण भानमिष्यते। आत्मख्यातिमतेऽपि आन्तरत्ववाह्यत्वप्रयुक्ते स्वभावभेदे सत्यपि रजतस्यैव रजतात्मना भानम्। असत्ख्यातिमते सत्त्वासत्त्वप्रयुक्तस्वभावभेदे सत्यपि रजतस्यैव रजतात्मना भानम्। अख्यातिमते तु स्मर्यमाणं रजतमेव भ्रमे विषयो भवति। ज्ञानमेवार्थस्वरूपेण भातीति विज्ञानवादिनः।

नन्वात्मख्यातिमते ज्ञानमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्त्या पश्यन्तीति कथमन्यस्यान्यथाभानमपलप्यत इति चेन्न, आन्तरस्य रजतस्य रजताद्याकारः स्वाभाविक एव, तस्य वाह्यत्वमेव भ्रान्तिसिद्धमिति नान्यथा भानमत्रापि। पाराशर्यमते तु वस्तुतो ब्रह्मैव भ्रान्त्या जगद्रूपेण भातीत्यस्य ब्रह्मण्यज्ञानादुत्पन्नं जगदेव इदं जगदिति प्रतीतिविषयो भवतीत्येवार्थः। ज्ञान-

कर्ष की अपेक्षा नहीं रहती। तब तो नेत्र की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी? यह बात गलत है, क्योंकि सामने विद्यमान वस्तु के सामान्यरूप से ग्रहण के लिये उसकी आवश्यकता है। यदि वस्तु का सामान्य रूप से ग्रहण नहीं होता तो इस तरह से तो भ्रम उत्पन्न ही नहीं होगा। इसीलिये अन्धे को 'यह रजत है' इस तरह का भ्रम नहीं होता।

इस तरह से अनिर्वचनीय ख्याति को मानने पर चाँदी का ही चाँदी के रूप में भान होता है, अतः अन्य का अन्य के रूप में ज्ञानवाली अन्यथाख्याति नहीं मानी जा सकती, किन्तु शुक्ति में अध्यस्त रजत को विषय बनाने के कारण 'यह रजत है' यह ज्ञान अध्यास माना जाता है। सत्ख्याति को मानने वाले भी सत्स्वभाव रजत का ही रजताकार से भान मानते हैं। आत्मख्याति मानने वाले भी आन्तरता और बाह्यता प्रयुक्त (अन्दर और बाहर के) स्वभाव के भेद के रहने पर भी रजत का ही रजत के रूप में भान मानते हैं। असत्ख्यातिवादी का कहना है कि सत्त्व और असत्त्व के कारण स्वभाव का भेद होने पर भी रजत का ही रजत के रूप में भान होता है। अख्यातिवादी के मत में तो स्मर्यमाण रजत ही भ्रम का विषय होता है। ज्ञान ही अर्थ के रूप मे प्रतीत होता है, यह विज्ञानवादी[1] योगाचार बौद्ध का कहना है।

आत्मख्यातिवादी के मत में ज्ञान ही अर्थ के रूप में भ्रान्ति से दिखाई पड़ता है, इस परिस्थिति में अन्य वस्तु के अन्यथा भान का अपलाप कैसे किया जा सकता है? इसका उत्तर यही है कि आन्तर रजत का रजतादि आकार स्वाभाविक ही है। उसकी बाह्य प्रतीति ही भ्रान्ति है। इस तरह से यहाँ पर भी अन्यथा भान नहीं बनता। बादरायण (वेदव्यास) के मत में तो वस्तुतः ब्रह्म ही भ्रान्ति से जगत् के रूप में प्रतीत होने लगता है। इस तरह से ब्रह्म में अज्ञानवश उत्पन्न हुआ जगत् ही 'यह जगत् है' इस तरह से ज्ञान का विषय बन जाता है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से अर्थस्वरूप जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः अज्ञान से ही उसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। अन्यथा "एकमेवाद्वितीयम्"[2] (वह एक ही है, कोई दूसरा नहीं है) इस श्रुति से विरोध हो जायगा। इस तरह से

१. विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के मत में संसार के सभी पदार्थों (शब्द के वाच्य घट-पट आदि गोल-मटोल छेद वाले समस्त जगत् की वस्तुओं) का अपना कोई रूप है ही नहीं, केवल क्षणिक विज्ञान ही है। उस क्षणिक विज्ञान में ही सारे संसार की घट-पट आदि वस्तुओं का ज्ञान होता है। वस्तुओं का कोई अपना रूप है ही नहीं। सारे संसार की वस्तुएँ ज्ञान में ही आरोपित हैं।

२. एक इसलिये कहा कि उसमें स्वगत भेद नहीं है। वृक्ष का अपनी शाखा, पत्र, पुष्प आदि से भेद स्वगत भेद कहलाता है। ऐसा स्वगत भेद ब्रह्म में नहीं है। यह एक पद का तात्पर्य है। दूसरे पद 'एव' का तात्पर्य यह है कि उसमें स्वजातीय भेद (जातिगत भेद) भी नहीं है। आम के पेड़ का दाडिम (अनार) के पेड़ से भेद सजातीय भेद कहलाता है। यह भेद भी वहाँ नहीं है। इसीलिये 'एक' कहने के बाद भी 'एव' और कहना पड़ा। उसका तात्पर्य इसमें है कि ब्रह्म में सजातीय भेद भी नहीं हैं, । अत एव 'एक' कहने के बाद भी 'एव' कहना व्यर्थ नहीं, सार्थक है। उसके आगे भी वेद मन्त्र में आये हुए तीसरे 'अद्वितीय' पद का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में विजातीय भेद भी नहीं है। घड़े से कपड़े का भेद विजा-

स्वरूपाद् ब्रह्मणोऽर्थरूपस्य जगत उत्पत्त्यसम्भवादज्ञानादेव तदुदयो मन्तव्यः। अन्यथा 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति श्रुतिविरोधः। न च तर्हि नास्त्येव जगदिति मन्तव्यम्, अविद्यादशायां प्रतीयमानस्यात्यन्तापलापासम्भवात्। न च सिद्धान्तरीत्या जगतः सर्वथाऽसत्त्वमेवेति वाच्यम्, प्रबोधदशामधिकृत्यैव तथात्वात्।

नन्वनिर्वचनीयरजतोत्पत्तेः कारणाभावात्तदनुपपत्तिः, न च तत्प्रतीतिस्तज्जन्मकारणम्, तस्यास्तद्विषयत्वेन तदुत्पत्तेः प्रागात्मलाभायोगात्। निर्विषया जाता प्रतीतिस्तदुत्पाद्य तदेव विषयीकरोतीत्यपि न सम्भवति, वृत्तेर्विरम्य व्यापारायोगात्। न चेन्द्रियगतो दोषस्तत्कारणम्, तस्य पुरुषाश्रयत्वेनार्थगतकार्योत्पादकत्वायोगात्। नापीन्द्रियाणि, तेषां ज्ञानकारणत्वात्। नापि दुष्टानीन्द्रियाणि, तेषामपि स्वकार्ये ज्ञान एव विशेषकरत्वमिति चेदत्रोच्यते—इदं रजतमिति प्रतीत्या प्रतीतिसमसमयस्य रजतस्य सिद्धिरेव न तूत्पत्तिः। न ह्यप्रतीतं रजतमस्ति, तस्य प्रतिभासमात्रशरीरत्वात्। यद्यपि सत्यरजतमपि तथाभूतमेव, तथापि लोकानुभवसिद्धं स्थिरत्वमुपेत्य शुक्तिरजतस्य तथात्वमुच्यते। कारणं तु तस्याऽविद्यैव। काचकामलादिदूषितलोचनस्य पुरोवर्तिद्रव्यसंयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा च काचिदन्तःकरणवृत्तिरुदेति। तस्यां वृत्तौ इदमवच्छिन्न-

तो यही मान लिया जाय कि जगत् है ही नहीं, सो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अज्ञान की अवस्था में प्रतीत हो रही वस्तु का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। सिद्धान्त में जगत् का सर्वथा अभाव है ही, फिर निषेध क्यों नहीं किया जा सकता? इसका उत्तर यह है कि ज्ञान की अवस्था में ही वेदान्ती के मत से जैसे सीप का ज्ञान होने पर ही रजत ज्ञान मिथ्या है, सीप के ज्ञान के पहले तो वह सच्चा ही है, ऐसे ही ब्रह्मज्ञान की अवस्था में ही जगत् मिथ्या है, उससे पहले तो रजतज्ञान की तरह वह भी सत्य ही है।

प्रश्न उठता है कि अनिर्वचनीय (व्यावहारिक दुकान में पड़ी चाँदी से विलक्षण, ज्ञान होते समय जो सत्य सी लगती है और सीप का ज्ञान होने के बाद उसका बाध होता है, ऐसी चाँदी का ज्ञान) रजत की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है तो वह उत्पन्न ही कैसे हो सकती है? उसकी प्रतीति को ही उसकी उत्पत्ति में कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रतीति तो रजत विषयक ही है, अतः जब तक रजत उत्पन्न नहीं हो जाती, तब तक उस ज्ञान का स्वरूप ही क्या बनेगा? ज्ञान का पहले कोई विषय नहीं रहता, बाद में उत्पन्न होकर वह उसी विषय का ज्ञान करेगी तो, यह भी संभव नहीं है, क्योंकि एक ही वृत्ति रुक रुक कर अनेक काम नहीं करती। इन्द्रियगत दोष को भी उसमें कारण नहीं मान सकते, क्योंकि पुरुषाश्रित दोष अर्थगत कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ है। इन्द्रियाँ भी इसमें कारण नहीं हो सकती, क्योंकि वे तो ज्ञान की कारण होती हैं। दुष्ट इन्द्रियाँ भी यहाँ कारण नहीं होंगी, क्योंकि वे भी अपने कार्य ज्ञान में ही किसी विशेषता का आधान कर सकती है, किसी नई चीज को नहीं पैदा कर सकती। इसका समाधान यह है कि 'यह रजत है' इस ज्ञान से उसी समय उत्पन्न होने वाले रजत की सिद्धि तो हो सकती है, किन्तु उत्पत्ति नहीं। बिना प्रतीति के रजत की स्थिति नहीं रहेगी, क्योंकि प्रतिभास (ज्ञान) ही उसका स्वरूप (शरीर) है। यद्यपि सत्य रजत की भी ऐसी ही स्थिति है, तो भी लोकानुभव से सिद्ध स्थिरता को मानकर शुक्तिरजत की वैसी ही स्थिति मानी जाती है। इसका कारण अविद्या ही है। काचकामलादि रोगों से दूषित नेत्र वाले व्यक्ति को सामने विद्यमान वस्तु को देखने पर यह कोई चमकीली वस्तु है, इस तरह की अन्तःकरण की वृत्ति रजत आकारवाली पैदा होती है। इस वृत्ति में 'इदम्' से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रतिबिम्ब गिरता है। यह वृत्ति जब बाहर निकलती है, तब 'इदम्'[१] से अवच्छिन्न चैतन्य और वृत्ति से अवच्छिन्न प्रमातृ चैतन्य एक हो जाते हैं। अर्थात् घटावच्छिन्न

तीय भेद कहा जाता है। ऐसा विजातीय भेद भी ब्रह्म में नहीं है। इसीलिये 'एक' के बाद 'एव' कहने पर भी 'अद्वितीय' पद की सार्थकता है। मन्त्र का एक भी पद व्यर्थ नहीं है, क्योंकि तीन पदों से तीन प्रकार के भेद का अभाव ब्रह्म में बतलाया गया है।

१. घट रूप विषयावच्छिन्न चैतन्य प्रमेय चैतन्य है। प्रमा (ज्ञान) के विषय को प्रमेय चैतन्य कहते हैं। ज्ञान का विषय घट है। इसलिये घटावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमेय चैतन्य है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य है। वही ज्ञान का कर्ता है। ज्ञान के कर्ता को ही प्रमाता कहते हैं। अतः अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता है। अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण चैतन्य है। प्रमा (ज्ञान) के साधन को प्रमाण कहते हैं। ज्ञान का साधन अन्तःकरण की वृत्ति ही

चैतन्यं प्रतिबिम्बते। वृत्तेश्च बहिर्निर्गमनेन इदमवच्छिन्नचैतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नप्रमातृचैतन्यं चाभिन्नं भवति। ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्त्याकाराविद्या चाकचिक्यादिसादृश्यसन्दर्शनसमुद्बोधितरजतसंस्कारसध्रीचीना काचकामलादिदोषसमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते।

यदुक्तम्—अनादिभावरूपाज्ञानस्य स्वरूपानादित्वात् तत्कार्यमपि प्रागेव स्यादिति, तन्न, तूलाज्ञानस्यैव तत्कारणत्वात्। यदुक्तम्—अपूर्वमनिर्वचनीयमिदं वस्तु कथं रजतशब्दबुद्धिभ्यां विषयीक्रियते, रजतसादृश्यादिति चेन्न, तर्हि तत्सदृशमित्येव प्रतीतिशब्दौ स्याताम्। रजतादियोगाच्चेत्, सा किं परमार्थभूता अपरमार्थभूता वा? आद्ये तस्या अपरमार्थान्वयायोगः, द्वितीये परमार्थान्वयायोगः। अपरमार्थेन परमार्थबुद्धिशब्दयोर्निर्वाहकत्वायोगश्चेति। तदपि न, शुक्तौ हि अनिर्वचनीयं रजतमेव जातम्, न घटादीति कृत्वा तस्य जातस्य रजतशब्दबुद्धिभ्यामेव विषयीकृतत्वम्। न च रजतस्य जातत्वे कथमनि-

चैतन्य वहाँ है ही, घटाकार अन्तःकरण की वृत्ति के साथ वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य भी वहाँ पहुँच जाता है। वृत्ति के साथ ही अन्तःकरण के भी वहाँ (घटस्थल में ही) पहुँच जाने के कारण तीनों चैतन्य एक हो जाते हैं। चैतन्य के बिना अन्तःकरण, वृत्ति और विषय, इन तीनों की जड़ता के कारण ज्ञान करा हो नहीं सकते। अतः चेतन का प्रतिबिम्ब मानना अत्यावश्यक है। यह वेदान्ती का व्यावहारिक मत अत्यन्त सत्य है। इसके बाद प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न विषय चैतन्य में स्थित शुक्ति के आकार की अविद्या, (अर्थात् वृत्ति के द्वारा अन्तःकरण से अभिन्न रजतावच्छिन्न चैतन्य में रहने वाला जो सीप का अज्ञान) चाकचिक्य (चमचमाहट) आदि सादृश्य को देखकर उद्बोधित हुए रजत के संस्कार के साथ होकर काचकामलादि दोषों के कारण रजतरूप अर्थ के आकार में और रजतज्ञानाभास आकार में परिणत हो जाती है।

यह कहा गया है कि अनादि भावरूप अज्ञान स्वरूपतः अनादि हैं, अतः इसका कार्य भी पहले से ही होना चाहिये, यह उक्ति इसलिए गलत है कि तूलाज्ञान[1] ही इसका कारण है, मूलाज्ञान नहीं। पुनः कहा गया है कि "अपूर्व और अनिर्वचनीय रूप में उत्पन्न होने वाली यह वस्तु रजत शब्द और रजत ज्ञान का विषय कैसे बन जायगी? रजत के सादृश्य के कारण ऐसा होता है, यदि आप यह कहें तो फिर 'रजत सदृश यह है' ऐसी ही प्रतीति और शब्द व्यवहार होने चाहिये। रजत आदि जाति के योग से भी ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ पर यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वह जाति परमार्थ (सत्य) है या अपरमार्थ (असत्य)? यदि यह सत्य है तो इसका मिथ्या से सम्बन्ध कैसे होगा? यदि मिथ्या है तो उसका सद्रूप ज्ञान के साथ कैसे सम्बन्ध होगा? अपरमार्थ वस्तु परमार्थ बुद्धि और शब्द का निर्वाहक भी नहीं हो सकता", यह पूरा कथन भी गलत ही है, क्योंकि शुक्ति में अनिर्वचनीय रजत ही उत्पन्न होती है, घटादि नहीं। इस परिस्थिति में उत्पन्न हुई उस रजत का रजत शब्द और ज्ञान से ही विषय-विषयीभाव सम्बन्ध बनता है। अर्थात्

है। अन्तःकरण की घट आदि आकार वाली वृत्तियाँ ही हैं। इसलिये वृत्त्यवच्छिन्न, अर्थात् वृत्ति जिसकी उपाधि है, ऐसा चैतन्य ही है। प्रमाता से अवच्छिन्न (प्रमात्रवच्छिन्न) प्रमाण से अवच्छिन्न और प्रमेय से अवच्छिन्न यहाँ प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय को चैतन्य की उपाधि समझना चाहिये, विशेषण नहीं। विशेषण और उपाधि में यह भेद है कि विशेषण सदा साथ रहता है, जैसे नील घट में नील विशेषण घट के साथ ही रहता है। किन्तु उपाधि सदा साथ न रहने पर भी विशेष्य का अन्य से भेद बता देती है. जैसे लाल स्फटिक, यहाँ 'लाल' स्फटिक की उपाधि है, विशेषण नहीं, क्योंकि वह घड़े में नीलिमा की तरह सदा साथ तो नहीं रहती, किन्तु नीलभिन्न घड़े से नीले घड़े का भेद 'नील' विशेषण बताता है, ऐसे लाल जपा पुष्प सफेद जपा पुष्प से लाल जपा पुष्प का भेद तो बता देती है, किन्तु नील घड़े की तरह लाल जप पुष्प आदि उपाधि सदा साथ नहीं रहती। जब तक रहती है, तभी तक स्फटिक में लाल रूप भेद का ज्ञान कराती है। यह विशेषण से इसकी विलक्षणता है। उपलक्षण इन दोनों से भिन्न है। विशेषण और उपाधि तो वर्तमान काल में ही अन्य वस्तु से भेद का ज्ञान करा सकती हैं, किन्तु उपलक्षण से वर्तमान न होने पर भी अन्य से भेद का ज्ञान करा देता है। जैसे कौए वाले घर का ज्ञान कौए के उड़ जाने पर भी बुद्धिमान पुरुष को हो जाता है। विशेषण नील और उपाधि जपा-पुष्प आदि लाल वस्तु दोनों रहने पर ही अन्य से भेद का ज्ञान कराती है, किन्तु उपलक्षण अविद्यमान रहने पर भी भेद का ज्ञान करा देता है।

१. अनादि भाव रूपा अविद्या समस्त संसार की कारण जो अविद्या, अर्थात् ब्रह्मविषयक अज्ञान, उसे मूल अविद्या कहते हैं और उससे उत्पन्न होने वाले जो संसार के भिन्न-भिन्न विषयों के अज्ञान, उन्हें तूलाविद्या कहते हैं।

वंचनीयत्वमिति वाच्यम्, जातस्य रजतस्यैवानिर्वचनीयत्वात्। न चानिर्वाच्यस्य कथं रजतशब्दवाच्यत्वम्, रजतशब्दवाच्यत्वेऽपि सदसद्विलक्षणत्वेनानिर्वचनीयत्वेनानिर्वचनीयत्वोपपत्तेः। न च तद्रजतमिति कुतो ज्ञायते, रजतस्यैवानुभूयमानत्वात्। न च तत्र कथं रजतबुद्धिर्जातेति वाच्यम्, तथा घटे घटबुद्धिस्तद्वत्। न च घटे घटत्वजातिपदवाच्योऽनुगताकारः कम्बुग्रीवादिलक्षणोऽस्तीति वाच्यम्, रजतेऽपि चाकचिक्याद्यनुगताकारोऽस्त्येव। न चैवं तत्रापि परमार्थापरमार्थरूपपूर्वोक्तविकल्पप्रसरः, अपरमार्थत्वाङ्गीकारेण दोषायोगात्। न च तस्याः परमार्थायोग इति वाच्यम्, इष्टापत्तेः।

वस्तुतस्तु सर्वत्रानुगतः कश्चिदाकारो नास्त्येव, प्रतिघटमाकारभेदात्। अस्मिन् घटे य आकारः स न घटान्तरे, किन्तु ततोऽन्य एव। तद्घटनिष्ठाकारस्य तद्भिन्नघटनिष्ठत्वायोगात्। एवञ्च सति शुक्तिरजतनिष्ठ आकारः शुक्तिरजतवन्मिथ्यैवेति न तस्य परमार्थान्वययोगः। परमार्थरजतनिष्ठाकारस्य वा न शुक्तिरजतान्वययोगः, शुक्तिरजतनिष्ठाकारस्य वा न शुक्तिरजतान्तरान्वययोग इति नानुपपत्तिः। जात्यभ्युपगमेऽपि शुक्तिरजतजातिरपरमार्थैव, शुक्तिरजतान्वययोगिन्येव। परमार्थरजतान्वयवती तु परमार्थजातिरेव (व्यावहारिकाभिप्रायेणैवात्र परमार्थशब्दप्रयोगः)। न च तर्हि कथमपरमार्थे रजते परमार्थरजतबुद्धिशब्दयोर्निर्वाह इति वाच्यम्, भ्रान्त्या निर्वाहसम्भवात्। अथवा शुक्त्युत्पन्ने रजतेऽपि शुक्तिगतः पारमार्थ्यांशः प्रतिभासते।

यदुक्तम्—अपरमार्थभूतजातेर्न परमार्थशब्दबुद्धिनिर्वाहकत्वमिति, तन्न, जातेरपारमार्थ्ये सति तद्विषयबुद्धिशब्दयोरप्यपारमार्थ्यमेवेति कृत्वाऽपरमार्थभूतजातेरपरमार्थभूतबुद्धिशब्दनिर्वाहकत्वं भवत्येव। न च बुद्धिशब्दयोर्बाधकादर्शनात्

वह रजत शब्द से ही कहा जाता है और रजत ज्ञान का ही विषय भी बनता है। रजत यदि उत्पन्न हुई है तो वह अनिर्वचनीय कैसे होगी ? इसका उत्तर यही है कि रजत अनिर्वचनीय रूप में ही उत्पन्न होती है। रजत जब अनिर्वाच्य है तो उसमें रजतशब्दवाच्यता भी कैसे होगी ? इस तरह से होगी कि यद्यपि वह रजतशब्दवाच्य है, तो भी सत् और असत् से विलक्षण होने से अनिर्वचनीय भी है। तब उसका रजत के रूप में ज्ञान कैसे होता है ? ऐसे होता है कि वह रजत के रूप में ही अनुभव का विषय बनती है। उसमें रजत बुद्धि कैसे उत्पन्न हुई ? जैसे घट में घटबुद्धि उत्पन्न होती है, उसी तरह से रजत में भी रजतबुद्धि उत्पन्न होती है। घट में जैसे घटत्वजातिपदवाच्य अनुगत आकार वाला कम्बुग्रीवादि लक्षण विद्यमान है, उसी तरह से चाकचिक्यादि लक्षण अनुगताकार यहाँ पर भी विद्यमान है। तब तो यहाँ पर भी ऊपर जाति के विषय में आये गये विकल्प की प्रवृत्ति होगी ? नहीं, यहाँ उक्त विकल्प का अवसर इसलिये नहीं होगा कि यहाँ पर अनिर्वचनीय रजत को अपरमार्थ माना है। तब तो उसका परमार्थ से योग कैसे होगा ? उत्तर में इस आपत्ति को हम स्वीकार करते हैं, अर्थात् अनिर्वचनीय रजत का परमार्थ से योग न होना तो हमारे मत में मान्य ही है।

वास्तव में सर्वत्र अनुगत आकार भी हमको मान्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक घट में आकार का भेद विद्यमान ही है। एक घट में जो आकार है, वह दूसरे घट में नहीं है, किन्तु उससे भिन्न ही है। एक घट में जो आकार रहता है, वह दूसरे घट में कैसे रह सकता है ? इस परिस्थिति में शुक्तिरजत में विद्यमान आकार भी शुक्ति में प्रतीत हो रही रजत के समान ही मिथ्या है, अतः उसका परमार्थ से अन्वय होगा ही नहीं। परमार्थ रजतनिष्ठ आकार का शुक्तिरजतनिष्ठ आकार से अथवा एक शुक्तिरजतनिष्ठ आकार का दूसरे शुक्तिरजतनिष्ठ आकार से भी कोई अन्वय (सम्बन्ध) नहीं होगा, अतः यहाँ पर कोई अनुपपत्ति नहीं है। जाति को यदि स्वीकार कर भी लिया जाय, तो भी शुक्तिरजतनिष्ठ जाति अपारमार्थिक ही मानी जायगी और उसका केवल शुक्ति में ज्ञात हो रही रजत से ही सम्बन्ध होगा। परमार्थ रजत से संयुक्त जाति भी परमार्थ मानी जायगी (यहाँ पर परमार्थ पद का प्रयोग व्यावहारिक सत्ता में किया गया है)। तब अपरमार्थ रजत में परमार्थ रजत शब्द और बुद्धि का निर्वाह कैसे सम्भव होगा ? भ्रान्ति के द्वारा यह सब कुछ संभव हो सकेगा। अथवा शुक्ति में उत्पन्न हुए रजत में भी शुक्तिगत पारमार्थिक अंश प्रतीत हो रहा है, ऐसा माना जा सकता है।

यदि कहो कि अपरमार्थभूत जाति परमार्थ शब्द और परमार्थ बुद्धि की नियामिका नहीं मानी जा सकती, सो गलत है, क्योंकि जाति के अपरमार्थ होने पर तद्विषयक बुद्धि और शब्द भी अपारमार्थिक ही माने जायेंगे। ऐसी अवस्था में अपरमार्थ जाति अपरमार्थ शब्द और बुद्धि की नियामिका क्यों न हो जायगी ? यह कहना है कि बुद्धि और शब्द का बाध नहीं होता, अतः इनको अपर-

पारमार्थ्यमेवेति वाच्यम्, नेदं रजतमिति ज्ञानेन शुक्तिरजतस्येव तद्विषयकबुद्धिशब्दयोरपि बाधितत्वात्। नहि बुद्धिमात्रं परमार्थम्, किन्तु सत्यवस्तुविषयैव बुद्धिः परमार्था, असत्यवस्तुविषया तु साऽपरमार्थैव, अन्यथा भ्रमप्रमयोः साङ्कर्यप्रसङ्गात्। न च विषयबाधादेव भ्रमाननुवृत्तिः, निर्विषयत्वादेव भ्रमस्यापि बाधात्। तस्माद्रजतवत्तद्बुद्धिशब्दावप्यपरमार्थाविव। रजतं च दोषवशादुत्पन्नमित्युक्तमेव।

केचित्तु यथार्थं सर्वविज्ञानमित्युक्त्वा सर्वस्य सर्वात्मत्वात् त्रिवृत्करणश्रवणाच्च—

समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः। महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमित्यादिना ततः॥
त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वादिति तेनाभिधाभिदा। सोमाभावे पूतिकाया ग्रहणं श्रुतिचोदितम्॥
सोमावयवसद्भावादिति न्यायविदो विदुः। रूप्यादिसदृशश्चायं शुक्त्यादिरुपलभ्यते॥
अतस्तस्यात्र सद्भावः प्रतीतेरिति निश्चितः। कदाचिच्चक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः॥
रजतांशो गृहीतोऽत्र रजतार्थी प्रवर्तते। दोषहानौ तु शुक्त्यंशे गृहीते तन्निवर्तते॥
अतो यथार्थरूप्यस्य विज्ञानं शुक्तिकादिषु। बाध्यबाधकभावस्तु भूयस्त्वेनोपपद्यते॥ इति।

तन्न, शुक्तौ रजतावयवानां सत्त्वे दाहादौ तदुपलम्भप्रसङ्गात्। यद्यपि शुक्तेस्त्रिवृत्कृतभूतत्रयकार्यत्वात् तत्र भूतत्रयावयवाः सन्ति, तथापि न तावतैव सर्वस्य सर्वात्मत्वम्, अत एव न तस्या घटपटशुनककनकभृङ्गभृङ्गारहस्त्युष्ट्राद्यात्मत्वं वक्तुं शक्यम्, न वा सर्वात्मत्वप्रयुक्ततच्छब्दवाच्यत्वम्, विरोधात्। तथाहि—शुक्तौ शुक्त्यवयवा रजतावयवा वा सन्ति ?

मार्थिक नहीं कह सकते, सो ऐसी बात नहीं है। 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञान से शुक्तिरजत के समान तद्विषयक शब्द और बुद्धि का भी बाध होता ही है। केवल बुद्धि परमार्थ नहीं है, किन्तु सत्य वस्तु को ग्रहण करने वाली बुद्धि ही परमार्थ है, असत्य वस्तु को ग्रहण करने वाली बुद्धि अपरमार्थ ही मानी जायगी, क्योंकि ऐसा न मानने पर भ्रम और प्रमा में सांकर्य होने लगेगा। यह कहना संभव नहीं है कि विषय का बाध हो जाने से भ्रम की अनुवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि भ्रम का कोई विषय न रहने से ही भ्रम का बाध भी हो जाता है। इसलिए रजत के समान ही रजत बुद्धि और रजत शब्द भी अपरमार्थ हो माने जायेंगे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शुक्ति में रजत की उत्पत्ति दोष के कारण होती है।

कुछ लोग (रामानुजाचार्य) सब ज्ञान यथार्थ है, ऐसा कह कर और यह बता कर कि जगत् के सभी पदार्थ सर्वात्मक है, इसमें त्रिवृत्करण श्रुति को भी प्रमाण मानते हैं। महत् से लेकर पंच महाभूत पर्यन्त सभी तत्व परस्पर संयुक्त होकर और परस्पर आश्रित होकर अण्ड का उत्पादन करते हैं, इत्यादि वाक्यों से विष्णुपुराण में यही बात कही गई है कि त्रिवृत्करण प्रक्रिया (अथवा पंचीकरण प्रक्रिया से भी) में किसी एक भूत का आधिक्य होने के कारण नाम भेद की प्रवृत्ति होती है। सोम के अभाव में पूतिका का ग्रहण श्रुति में बताया गया है। इस पर शास्त्र में विचार किया गया है कि यह विधान इसलिये किया गया है कि पूतिका में सोम के अवयव विद्यमान हैं, क्योंकि पंचीकरण न्याय से सब में सबकी विद्यमानता है। हमको रजत के सदृश शुक्ति की उपलब्धि होती है। इससे यह मानना चाहिये कि शुक्ति में भी रजत का अंश विद्यमान है। इसीलिये कभी ऐसा भी होता है कि दोषवश हमको बिना शुक्ति के अंश का भान हुए केवल रजत के अंश का ही भान होने लगे। ऐसी अवस्था में रजत को चाहने वाले की उसको उठा लेने के लिये प्रवृत्ति भी हो जाती है। दोष के हट जाने पर जब शुक्ति का अंश गृहीत हो जाता है तो वह पूर्व व्यापार से निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार यही मानना उचित है कि शुक्तिरजत स्थल में भी यथार्थ रजत का ही भान होता है। ऐसे स्थलों में बाध्य-बाधकभाव की भूयस्त्व से उत्पत्ति माननी पड़ेगी, अर्थात् शुक्ति को अपनी विशेषताओं का बोध होगा, तब तो रजत प्रतीति का बाध होजायगा, अन्यथा नहीं।

उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्ति में यदि रजत के अवयव हैं तो उसको जलाने पर रजत के अवयवों की उपलब्धि होनी चाहिये। यद्यपि शुक्ति त्रिवृत्कृत तीनों भूतों का कार्य है, अतः तीनों भूतों के अवयव उसमें विद्यमान हैं, तो भी इतने से सब वस्तुएँ सर्वात्मक नहीं मानी जा सकतीं। इसीलिये शुक्ति को हम घट, पट, कुत्ता, सुवर्ण, भौंरा, भृङ्गार पात्र (गुलाबदान, इत्रदान) हाथी, ऊँट आदि नामों से नहीं कह सकते और न ही सब सब स्वरूप होने के कारण सब वस्तु सब शब्दों से कही ही जा सकती है, क्योंकि इनमें

पटावयवाः कनकावयवाः शुनकाद्यवयवा वा सन्ति ? आद्ये शुक्तौ शुक्त्यवयवानां रजतावयवानां च सत्त्वेऽपि पटाद्यवयवानामभावेन सर्वात्मत्वासिद्धेः। द्वितीये शुक्तौ रजतप्रतीतिवत् तत्र घटपटादिप्रतीतिरपि स्यात्।

यत्तूक्तं—रजतावयवानां बाहुल्यात् तत्प्रतीतिः, घटाद्यवयवानामल्पत्वान्न तत्प्रतीतिरिति, तन्न, इदं रजतमिति प्रतीतिबलात् तत्र रजतावयवानां कल्पनेऽपि घटपटादिप्रतीत्यभावे तत्कल्पनायां बीजाभावेन कल्पनानुपपत्तेः। तथा च क्वसर्वात्मत्वम्। किञ्च, रजतावयवैः शुक्तेरवयवित्वे शुक्त्यवयवा नैव स्युः। न च शुक्त्यवयवैर्बहुभिरल्पैरल्पतरैरल्पतमैश्चान्यावयवैः शुक्तेरवयवित्वसिद्धिरिति वाच्यम्, अवयवसमुदायसंयोगात् प्रागवयविन एवासिद्ध्या कथं शुक्त्यवयवसिद्धिः ? शुक्तेरवयवा हि शुक्त्यवयवाः। न च शुक्तिरूपा अवयवाः शुक्त्यवयवा इत्यवयवानामेव शुक्तिपदवाच्यत्वम्, तादृशावयवबाहुल्याच्चैकस्यावयविनः शुक्तिरिति व्यपदेश इति वाच्यम्, तथात्वे शुक्तिरूपावयवानां शुक्तिशब्दवाच्यत्वमेव स्यात्, न रजतादिशब्दवाच्यत्वमिति कथं सर्वस्य सर्वशब्दवाच्यत्वसिद्धिः ? कथञ्च शुक्तिरूपावयवविषयकं रजतरूपावयवज्ञानं यथार्थं स्यात् ? किञ्च, शुक्तौ चूर्णितायां शुक्त्यणव इव रजताणवोऽप्युपलभ्येरन्। न चाल्पत्वात्तेषामनुपलब्धिः, अल्पत्वेनाप्युपलब्धौ बाधाभावात्, अवश्यं तदुपलब्धिसम्भवात्।

न च शुक्तिचूर्णगतानां शुक्त्यणूनां रजताणूनां चातिसादृश्याद्विवेकेनानुपलम्भः, अविवेकेन तु तदुपलम्भोऽस्त्येवेति वाच्यम्, तर्हि शुक्तिचूर्णपुञ्जे कनकावयवास्ताम्रावयवाश्च सन्तीति तेषां वा सादृश्यादुपलम्भः किं नासीत् ? न च यथार्थं सर्वविज्ञानमिति प्रतिज्ञां विहाय शुक्तौ रूप्यविज्ञानमेव यथार्थम्, शुक्तौ रूप्यावयवसत्त्वे शुक्ते रूप्यात्मत्वादित्युच्यत इति वाच्यम्, तथा

परस्पर विरोध है। आप यह बताइये कि शुक्ति में शुक्ति के अवयव हैं कि रजत के अवयव ? अथवा पट के अवयव, कनक के अवयव या शुनक (कुत्ता आदि) के अवयव हैं ? प्रथम पक्ष में शुक्ति में शुक्ति के अवयव और रजत के अवयवों के रहते हुए भी पटादि के अवयवों के न रहने से सबकी सब रूपता नहीं बनी। द्वितीय पक्ष में शुक्ति में जैसे रजत की प्रतीति होने लगती है, उसी तरह से घट-पटादि के रूप में भी उसकी प्रतीति होनी चाहिये।

शुक्तिरजत में रजत के अवयवों के आधिक्य के कारण रजत की प्रतीति होती है, घटादि के अवयवों की अल्पता के कारण उनकी प्रतीति नहीं होती, यह कहना ठीक नहीं है, 'यह रजत है' इस प्रतीति के बल से शुक्ति में यद्यपि रजत के अवयवों की कल्पना की जा सकती है, किन्तु वहाँ पर घट-पटादि की प्रतीति तो होती नहीं। फलतः घट-पटादि के अवयवों की कल्पना करने में कोई कारण विद्यमान नहीं है तो उसकी कल्पना कैसे होगी ? इस प्रकार सब वस्तुओं की सब रूपता कहाँ बनी ? अपि च, रजत के अवयव हो यदि शुक्ति के अवयव हैं तो फिर शुक्ति के अपने अवयव है नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि शुक्ति के अपने अवयव अधिक हैं और अन्य पदार्थों के अवयव स्वल्प, स्वल्पतर, स्वल्पतम हैं और दोनों मिलकर अवयवी रूप शुक्ति की निर्मिति करते हैं, क्योंकि अवयव समुदाय के संयोग से पहले अवयवी बन नहीं सकता, तो उनको शुक्ति के अवयव कैसे कहेंगे ? क्योंकि अवयवी तो अभी नहीं बना। शुक्ति के बन जाने के बाद ही उसके अवयव शुक्ति के अवयव कहे जा सकते हैं, इस तरह से अवयव ही शुक्ति पद से अभिहित होते हैं। ऐसे अवयवों के बाहुल्य के कारण एक अवयवी को शुक्ति नाम से कहा जाता है, यह कथन भी गलत है, क्योंकि ऐसा मानने पर शुक्ति रूप अवयव शुक्ति शब्द के ही वाच्य होंगे, रजतादि शब्दों के वाच्य नहीं। इस परिस्थिति में भी सभी पदार्थों की सर्व शब्द वाच्यता कहाँ बनी ? तथा शुक्ति रूप अवयवों का रजत रूप अवयवों के रूप में ज्ञान यथार्थ भी कैसे माना जायगा। दूसरा दोष यह भी आवेगा कि शुक्ति का चूर्ण बना देने पर जैसे शुक्ति के अणु उपलब्ध होते हैं, उसी तरह से उसमें रजत के अणु भी उपलब्ध होने चाहिये। रजत के अणु थोड़े हैं, अतः उनकी उपलब्धि नहीं होती, इस बात को कोई नहीं मान सकता, क्योंकि यदि थोड़े हैं तो थोड़ी मात्रा में ही वे मिलने तो चाहिये।

शुक्तिचूर्णगत शुक्ति के अणु और रजत के अणु में अत्यन्त समानता होने से भेदज्ञान नहीं हो पाता, विवेक के अभाव में उनकी पृथक्-पृथक् उपलब्धि भी नहीं होती, किन्तु अभिन्न रूप से तो इनकी उपलब्धि होती ही है, यदि ऐसा आप कहें तो शुक्ति के चूर्ण के ढेर में सुवर्ण के अवयव और ताम्र के अवयव भी तो हैं, उनकी उपलब्धि भी सादृश्य के कारण क्यों नहीं हुई, क्योंकि आप तो सब में सब का होना मानते हैं। यदि आप यह कहें कि हम 'सब ज्ञान सत्य हैं' इस प्रतिज्ञा को छोड़कर 'शुक्ति में रजत विज्ञान ही सत्य है,

सति-दाहाद्युपायेन शुक्तिसमुदायात् सकाशात् रजतार्थी रजतं प्राप्नुयादेवेति कृत्वा शुक्तिज्ञानतत्प्रवृत्तिबाधो न स्यात्, किं कनकाणुप्रचुरं मधुपिष्टं परित्यजन्ति कनकार्थिनः? शुक्ताविदं रजतमित्यस्य यथार्थत्वेनेदं रजतमित्यस्यायथार्थत्वं मन्तव्यम्। तथा च कथं सर्वविज्ञानं यथार्थं स्यात्?

यदुक्तम्—शुक्तिगतं रजतभागं गृहीत्वा इदं रजतमिति ज्ञानं यथार्थम्, शुक्तिभागं गृहीत्वा नेदं रजतमिति यथार्थमिति तन्न, शुक्तिसाक्षात्कारानन्तरं शुक्तिगतं रजतांशं गृहीत्वा रजतमित्येव किं न प्रतीयात्, नेदं रजतमिति नियमेन किमिति प्रतीयात्। न च रजतांशस्याग्रहणादिति वाच्यम्, अनिपुणं चक्षुषि न्यस्तेऽपि यस्य ग्रहणमासीत्तस्य कथं सुनिपुणं चक्षुषः प्रणिधानेऽपि ग्रहणं न भवेत्? हठाद्दर्शनाविषयोऽपि मण्यादिगतः सूक्ष्मोऽर्थश्चक्षुःप्रणिधानात् प्रतिभाति। न च शुक्त्यादौ रजतादिसद्भावः श्रुतिबोधित इति वाच्यम्, तादृशश्रुतिवचनानुपलम्भात्, त्रिवृत्करणप्रतिपादनमात्रेण तदसिद्धेः।

यदुक्तम्—यद्यत् सदृशं तत्तदेकदेशभागिति, तन्न, अन्यद्रव्यस्यान्यद्रव्यैकदेशभाक्त्वायोगात्। नह्यन्यद्रव्यैकदेशस्ततो विच्छिन्नो भूत्वाऽपरद्रव्यं भजत इति कल्पयितुं शक्यम्। न च रजतैकदेशसमवेतैव शुक्तिर्जातेति वाच्यम्, एवं शुक्त्येकदेश-समवेतमेव रजतं जातमिति वक्तव्यत्वात्। तथाभ्युपगमेऽपि न निर्वाहः, तथात्वे शुक्त्युदयात् प्राग् रजतं शुक्त्येकदेशभाङ् न भवति, रजतोदयात् प्राक् शुक्तिश्च रजतैकदेशभाङ् न भवतीति मन्तव्यत्वात्। न चेष्टापत्तिः, तथात्वे आदौ शुक्ति-रजतयोः परस्परैकदेशरहितत्वं वक्तव्यम्। न चान्यतरस्य निर्धारणम्। न च द्वयमप्यनादि, जन्यत्वात्, न च द्वयमपि युगपदेव जातमिति वक्तुं शक्यम्, शुक्तिसमवेतं सद्रजतं रजतसमवेता च सती शुक्तिर्युगपदेव जज्ञाते इत्युक्तौ समवेतयोः

क्योंकि शुक्ति में रजत के अवयव होने से यह रजतात्मक है' ऐसा अनुमान करेंगे तो ऐसी अवस्था में दाहादि उपाय से शुक्ति समुदाय में से रजतार्थी को रजत मिलनी ही चाहिये तब शुक्ति का ज्ञान हो जाने पर रजतार्थी की प्रवृत्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं आनी चाहिये। सुवर्ण चाहने वाला व्यक्ति क्या सुवर्ण के कणों से भरे हुए मधुमक्खी के छत्ते को छोड़ देता है? शुक्ति में 'यह रजत है' इस ज्ञान को यथार्थ मानने पर 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञान को अयथार्थ मानना पड़ेगा। इस तरह से भी 'सब ज्ञान यथार्थ है, यह कहाँ सिद्ध हुआ?

कहा गया है कि शुक्तिगत रजत भाग को ग्रहण करने के कारण 'यह रजत है' इस ज्ञान की सत्यता है और शुक्ति भाग को ग्रहण करने के कारण यह रजत नहीं है' इस ज्ञान की भी सत्यता सिद्ध होती है, यह गलत बात है, क्योंकि शुक्ति का साक्षात्कार होने के बाद भी शुक्तिगत रजत के अंश को ग्रहण करने के कारण 'यह रजत है' ऐसी ही प्रतीति क्यों नहीं होती, 'यह रजत नहीं है' इस तरह की निश्चित प्रतीति क्यों होती है। यह कहना गलत है कि उस समय रजत अंश का ग्रहण वर्तमान नहीं रहता, क्योंकि आप यह बताइये कि लापरवाही से दृष्टि डाल देने से भी जो वस्तु पहले दिखाई देती थी, अब पूरी सावधानी से चक्षु को एकाग्र करने पर भी क्यों नहीं दिखाई देती। एकाएक दिखाई न देनेवाली भी हीरा-जवाहरात आदि की सूक्ष्म विशेषताएँ सावधानी से देखने पर दिखाई देने लगती हैं। यह कहना भी गलत है कि शुक्ति आदि में रजत का सद्भाव श्रुति से प्रतिपादित है, क्योंकि इस तरह की कोई श्रुति उपलब्ध नहीं है। केवल त्रिवृत्करण श्रुति से यह बात सिद्ध नहीं हो सकती।

यह कहना भी गलत है कि जो जिसके समान है, उसको उसका एक देश होना चाहिये, क्योंकि एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का भाग नहीं हो सकता। हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि एक द्रव्य का कोई अवयव उससे अलग होकर दूसरे द्रव्य से एकाकार हो जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि रजत के एक अंश से समवेत होकर ही शुक्ति उत्पन्न होती है, इस तरह से तो यह भी कहा जा सकता है कि शुक्ति के एक अंश से समवेत होकर के ही रजत उत्पन्न हुई है। इतना मान लेने पर भी आपकी अभिमत बात नहीं बन सकेगी, क्योंकि ऐसी अवस्था में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शुक्ति की उत्पत्ति से पहले रजत शुक्ति का एक देश नहीं बन सकती और रजत की उत्पत्ति के पहले शुक्ति रजत का एक अंश नहीं बन सकती। इस आपत्ति को यदि आप स्वीकार करते हैं तो उसमें दोष यह आवेगा कि प्रारम्भ में शुक्ति और रजत को एक दूसरे के अंश से रहित मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में इनके स्वरूप का निर्धारण नहीं हो सकेगा। इन दोनों को अनादि नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों पैदा होने वाले हैं। दोनों की साथ ही उत्पत्ति

शुक्तिरजतयोरुदयात्प्राग् असमवेतयोस्तयोः सत्त्वमभ्युपेयम्। न चेष्टापत्तिः, तदानीं शुक्तिरजतभ्रमस्य निर्विषयत्वापत्तेः, असमवेतयोः शुक्तिरजतयोः समवायकर्तुरदर्शनाच्च।

नहि पृथिव्यादिभूतत्रयस्य त्रिवृत्करणमिव शुक्तिरजतयोर्द्विवृत्करणमपि क्वचिच्छ्रूयते स्मर्यते वा दृश्यते वा, येन शुक्तौ शुक्त्यंशाधिक्योपलम्भः, रजते च रजतांशाधिक्योपलम्भः स्वीक्रियेत। शुक्तौ रजतांशाल्पत्वोपलम्भः, रजते शुक्त्यंशाल्पत्वोपलम्भश्च न वक्तुं शक्यते। तस्माद्यद्यत्सदृशं तत्तदेकदेशभागित्यप्यसङ्गतमेव, किन्तु यद्यत्सदृशं तत्तदवयवसदृशावयवविशिष्टमित्येव तु युक्तम्, अन्यथा शुक्तिकावयवरजतावयवयोर्मिथः सादृश्यञ्च न स्यात्। अवयवेऽनवस्थादोषाद् अवयवानङ्गीकारेण रजतावयवे शुक्त्यवयवैकदेशस्थितिः शुक्त्यवयवे रजतावयवैकदेशस्थितिश्च नास्ति।

यदुक्तम्—शुक्तिगतास्तैजसाणव एव रूप्यावयवाः, तदपि न, रूप्यस्यापि त्रिवृत्कृतभूतकार्यत्वेन तैजसाणव एव रूप्यावयवा इति वक्तुमशक्यत्वात्। नहि रूप्यं केवलं तैजसम् न च शुक्तिगतं चाकचिक्यं शुक्तौ रूप्यांशसद्भावप्रयुक्तम्, तथात्वे रूप्यगतं चाकचिक्यं किमंशसद्भावप्रयुक्तम्? न च स्वाभाविकं तत्। यदि स्वाभाविकं तदा शुक्तेरपि तत्स्वाभाविकमेव किं न स्यात्? यदि तत्र तैजसांशप्रयुक्तमुच्यते, तर्हि तथैव शुक्तावपि तैजसांशप्रयुक्तमेव तद्भवेत्। तत्र किं रूप्यसद्भावकल्पनेन? यदुक्तम्—शुक्तौ भूयस्त्वप्रयुक्तः शुक्तिव्यपदेश इति, तदपि न, व्यपदेशासिद्धेः। तथाहि—शुक्त्यंशस्य कथं शुक्त्यंश इति नाम? न च शुक्त्यंशत्वादेवेति वाच्यम्, अंशिद्रव्यस्य शुक्तिरिति नाम्नि सिद्धे हि तदंशस्य शुक्त्यंशत्वमिति

होती है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शुक्ति से समवेत रजत और रजत से समवेत शुक्ति की एक साथ उत्पत्ति होती है, ऐसा कहने पर यह मानना पड़ेगा कि शुक्ति और रजत की उत्पत्ति से पहले इनकी स्थिति असमवेत अवस्था में विद्यमान थी। इस आपत्ति को स्वीकार कर लेने पर शुक्ति में रजत का भ्रम नहीं बनेगा। साथ ही असमवेत अवस्था में विद्यमान शुक्ति और रजत को समवाय सम्बन्ध से जोड़ने वाली कोई वस्तु भी तो हमें उपलब्ध नहीं होती।

पृथिवी आदि तीन भूतों को जोड़ने वाली त्रिवृत्करण श्रुति के समान शुक्ति और रजत को समवेत करने वाली कोई द्विवृत्करण श्रुति या स्मृति ही उपलब्ध है और न प्रत्यक्ष में ऐसा दिखाई ही पड़ता है, जिससे कि शुक्ति में शुक्ति के अंश का आधिक्य और रजत में रजत के अंश का आधिक्य प्रामाणिक रूप में माना जाय। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शुक्ति में रजत के कुछ अंश की और रजत में शुक्ति के कुछ अंश की उपलब्धि होती है। इसलिये जो जिसके समान है, वह उसका एक देश है, ऐसा मानना असंगत है, किन्तु इतना ही कहा जा सकता है कि जो जिसके समान है, वह उसके समान अवयवों से विशिष्ट है। ऐसा न मानने पर शुक्ति और रजत के अवयवों की परस्पर समानता नहीं बन पावेगी। अनवस्था दोष से बचने के लिये अवयव में अवयवान्तर नहीं माने जाते, अतः रजत के अवयव के एक देश में शुक्ति के अवयव की स्थिति और शुक्ति के अवयव के एक देश में रजत के अवयव की स्थिति भी नहीं मानी जा सकती।

यह कहना भी गलत है कि शुक्तिगत तैजस अणु ही रजत के अवयव हैं, क्योंकि रजत भी तो त्रिवृत्कृत भूतों का ही कार्य है, ऐसी अवस्था में केवल तैजस परमाणु ही रजत के अवयव हैं, ऐसा कहना संभव नहीं। रजत केवल तैजस द्रव्य नहीं है। शुक्तिगत चाकचिक्य से यह सिद्ध होता है कि शुक्ति में रजत का अंश विद्यमान है, यह कथन भी गलत है, क्योंकि ऐसा मानने पर आप यह बताइये कि रजतगत चाकचिक्य किसके अंश के कारण है? वह स्वाभाविक नहीं हो सकता, क्योंकि रजत में उसे स्वाभाविक मानना है तो फिर शुक्ति में भी उसको स्वाभाविक क्यों नहीं माना जायगा? यदि रजत में चाकचिक्य तैजस अंश के कारण माना जाता हो तो वह शुक्ति में भी तैजस अंश के कारण ही मान लिया जायगा, फिर वहाँ रजत की विद्यमानता की कल्पना करने से क्या लाभ है? यह कहना भी गलत है कि शुक्ति के अंश के आधिक्य के कारण इस वस्तु का नाम शुक्ति है, क्योंकि इस तरह से तो अभिधान की सिद्धि ही न हो सकेगी। आप यह बताइये कि शुक्ति के अंश को यह शुक्ति का अंश है, ऐसा क्यों कहा जाता है? यदि आप कहें कि यह शुक्ति का अंश है, इसीलिये इसको ऐसा कहा जाता है, तो इसका क्या जवाब है कि अंशी द्रव्य का यह शुक्ति है, ऐसा नाम प्रसिद्ध हो जाने के बाद ही तो उनके अंश को शुक्ति का अंश कहेंगे, वह

वक्तुं शक्यते। तदेव तु न सिद्धम्। अंशिद्रव्यस्य शुक्त्यंशभूयस्त्वे सिद्धे शुक्तिव्यपदेशसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तदंशस्य शुक्त्यंशत्व-सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयात्।

यदप्युक्तम्—'शुक्तिरजतज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावः शुक्तिभूयस्त्वसाकल्यवैकल्यग्रहप्रयुक्तो न तु मिथ्यार्थसत्यार्थ-विषयत्वनिबन्धनः' इति, तदपि न किञ्चित्, शुक्तौ शुक्त्यंशभूयस्त्वात् शुक्तिरिति ज्ञानं बाधकम्, रजतांशस्वल्पत्वाद् रजत-मिति ज्ञानं बाध्यमिति वक्तुं न शक्यते, बहुषु ताम्रखण्डेषु एकस्यां रूपिकायां सत्यामपीयं रूपिकेति ज्ञानस्य ताम्रखण्ड-ज्ञानेन बाधादर्शनात्, ज्ञानमात्रं सत्यमित्यभ्युपगच्छता ज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तस्मात् सत्यार्थविषय-ज्ञानेन मिथ्यार्थविषयज्ञानं विषयेण सहैव बाध्यत इत्येव स्वीकार्यम्।

यत्तु केचिदाहुः—साधारणाकारग्रहणभेदाग्रहदोषादृष्टानि सर्वैरुपेयन्ते। शुक्त्यादिषु प्रतीयमानानामवयवानां रजताद्यवयवत्वं सम्प्रतिपन्नरजताद्यवयवत्वसुसदृशाकारत्वमेव, न तु रजतादिभ्य आनीय निवेशितत्वम्। एवमेव पूतिकादिषु प्रतीयमानानां सोमलताद्यवयवानामपि सोमाद्यवयत्वं नाम सम्प्रतिपन्नसोमलताद्यवयवसौसादृश्यमेव। तच्च स्फुटतरप्रतीति-सिद्धमबाधितं च। नहि शुक्तिशकलपूतिकादिषु रजतसोमादिसौसादृश्यं नास्तीति बाधकप्रत्यय उदेति। शुक्त्यवयवेषु शुक्तित्वंतद्व्यवहारावुपपन्नौ, तत्र विरुद्धजात्यन्वयाभावात्। तदपि न सत्ख्यातिं साधयति, सादृश्यप्रत्ययस्य प्रवर्तकत्वा-भावात्, रजतसदृशमिदमिति ज्ञानेन न रजतार्थिनः प्रवृत्तिः सम्भवति।

यच्चोक्तम्—'नेदं रजतमित्यत्र नञर्थः शुक्तित्वमेव। यदाकारग्रहणेन पूर्वप्रतिपन्नायाः प्रवृत्तेर्निवृत्तेर्वा निवारणं स एवाकारो नञर्थः। स चाकारः प्रतियोगिसापेक्षो नेदं रजतमित्यादिशब्दैस्तदनपेक्षैः शुक्त्यादिशब्दैश्च व्यवह्रियते।'

नाम ही तो अभी प्रसिद्ध नहीं हुआ है, क्योंकि अंशी द्रव्य में शुक्ति के अंशों का आधिक्य देखकर 'शुक्ति' नाम से उसको अभिहित किया जायगा और शुक्ति द्रव्य के सिद्ध हो जाने पर ही शुक्ति के अंशों की सिद्धि हो सकती है। इस प्रकार यहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित हो जायगा।

यदि कहो कि शुक्ति और रजत ज्ञान का बाध्यबाधकभाव शुक्ति के अंश के बहुतायत को संपूर्ण रूप से और कम रूप से जान लेने के कारण ही है। विषय की सत्यता और मिथ्यात्व के कारण नहीं, पर यह भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि शुक्ति में शुक्ति के अंश के बाहुल्य के कारण शुक्तिज्ञान बाधक है और रजत के अंशों की स्वल्पता के कारण रजत ज्ञान बाध्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक रुपये में तांबे के अनेक टुकड़े होने पर भी ताम्रखण्ड का ज्ञान रुपये के ज्ञान में बाधक नहीं बनता। फिर आप तो सभी ज्ञानों को सत्य मानते हैं, ऐसी अवस्था में दो ज्ञानों का परस्पर बाध्यबाधकभाव ही नहीं रह जायगा। इसलिये यही मानना उचित है कि सत्य-विषयक ज्ञान से मिथ्याविषयक ज्ञान का बाध होता है और साथ ही मिथ्याविषय का भी बाध हो जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि ऐसे स्थलों में साधारण आकार का तो ज्ञान होता है, किन्तु उनके भेद का ठीक से ज्ञान नहीं हो पाता, चाकचिक्यादि दोष और अदृष्ट भी यहाँ कारण है, ऐसा सबका मानना है। शुक्ति प्रभृति में प्रतीयमान अवयवों की रजतादि के अवयवों के रूप में प्रतीति वादी और प्रतिवादी उभयसंमत रजत के अवयवों की अत्यन्त समानता के कारण होती है, रजतादि से लाकर उनको शुक्ति में निवेशित नहीं किया जाता। इसी तरह से पूतिका (अमर बेल) प्रभृति में प्रतीयमान सोमलता आदि के अवयवों की सोमावयवता भी स्वीकृत सोमालता के अवयवों की अत्यन्त समानता के कारण ही मानी जाती है। स्पष्ट प्रतीतियों से भी इसकी सिद्धि होती है और उसका बाद में बाध भी नहीं होता। शुक्तिशकल, पूतिका प्रभृति में रजत, सोमलता आदि से अत्यन्त समानता न हो, ऐसा बाधक प्रत्यय बाद में नहीं होता। शुक्ति के अवयवों में शुक्तित्व सामान्य और शुक्ति निष्पाद्य व्यवहार संपन्न होते देखे गये हैं, क्योंकि यहाँ पर विरुद्ध जाति से इसका सम्बन्ध नहीं होता। यह पूरा कथन भी सत्ख्याति को नहीं सिद्ध कर सकता, क्योंकि सादृश्य ज्ञान को प्रवर्तक नहीं माना जाता। यह रजत के सदृश है, इस ज्ञान से रजत को चाहने वाले व्यक्ति की वहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

यह कथन भी गलत है कि "यह रजत नहीं है" यहाँ पर नञ् का अर्थ शुक्तित्व है। जिस आकार के ग्रहण से पूर्व प्रतिपन्न प्रवृत्ति या निवृत्ति का निवारण होता है, वही आकार नञ् का अर्थ है। यह आकार प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है, अतः 'यह रजत नहीं

इति, तत्रोच्यते, किं नञः शुक्तित्वमर्थः ? किं वा नेदं रजतमिति वाक्यास्थनञः ? अथवा नेदं रजतमिति पदत्रयात्मकवाक्यस्य ? नाद्यः, न घट इत्यादावपि शुक्तिर्घट इत्याद्यर्थापत्तेः । न द्वितीयः, नेदं रजतमिति वाक्यस्य इदं रजतं शुक्तिरित्यर्थापत्तेः । न चेष्टापत्तिः । इयं शुक्तिरिति पुरोवर्तिद्रव्यमेव शुक्तित्वेन प्रतिपद्यते पुरुषो न रजतं शुक्तित्वेन, तथा सति शुक्तौ रजतज्ञानस्येव रजते शुक्तिज्ञानस्याप्ययथार्थत्वापत्तेः । न च रजतत्वेन प्रतिभातमिदं वस्तु शुक्तिरेवेति तदर्थं इति वाच्यम्, तद्रजतत्वेन प्रतिभातं वस्तु किं रजतं शुक्तिर्वा ? आद्ये, नेदं रजतमित्यस्यैव भ्रमत्वं स्यात् । द्वितीयेऽन्यथाख्यातिमतप्रवेशः, शुक्तिरेव रजतत्वेन ख्यातेत्यभ्युपगमात् ।

न तृतीयः, वाक्यार्थज्ञानस्य पदार्थज्ञानपूर्वकत्वात् पदत्रयस्य प्रातिस्विकोऽर्थो वाच्यः, किं नञ्पदस्य सादृश्यमर्थोऽन्यो वा ? अन्यत्वमल्पत्वविरोधित्वमप्राशस्त्यमभावो वार्थः ? नाद्याश्चत्वारः, रजतसादृश्यं रजतादन्यद् रजतादल्पं रजतविरोधि वा शुक्तिरेवेति नियमाभावे शुक्तित्वरूपवाक्यार्थासिद्धेः । नान्त्यौ द्वौ, त्वन्मतेऽभावानभ्युपगमात्, अप्राशस्त्यस्यापि प्राशस्त्याभावरूपत्वाच्च ।

नन्विदंशब्दस्य शुक्तित्वमर्थः, नञः सादृश्यमर्थः । तथा चेदं न रजतमिति वाक्यस्य रजतसदृशी शुक्तिरर्थः । तथा च रजताभेदेनेतः प्राग् य आसीच्छुक्तिग्रहस्तस्य बाधोऽनेनेति चेन्न, नञर्थः शुक्तित्वमेवेति स्ववचनविरोधात् । इदंपदं च पुरोवर्तिवस्तुसामान्यवाचि, न शुक्तिरूपवस्तुविशेषवाचि । नहि शुक्तिर्न रजतमिति वाक्यप्रयोगो येनोक्तार्थलाभः स्यात् । तेन शुक्तिं दृष्ट्वा भ्रान्त्या रजतं मन्यमानस्य भ्रान्तिनिवृत्तये नेदं रजतं किन्तु शुक्तिरेवेति शुक्तिपदघटिताप्तप्रयुक्तवाक्यश्रवणादेव

है' इत्यादि शब्दों से अथवा केवल शुक्ति प्रभृति शब्दों से इसका व्यवहार होता है", क्योंकि इस पर हम पूछते हैं कि नञ् मात्र का अर्थ शुक्तित्व है, या 'नेदं रजतम्' इस वाक्य में स्थित नञ् का अथवा 'नेदं रजतम्' इस पदत्रयात्मक वाक्य का ? इनमें पहला पक्ष इसलिये मान्य नहीं हो सकता कि 'न घटः' इत्यादि वाक्य का भी शुक्ति घट है यह अर्थ होने लगेगा । द्वितीय पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि 'नेदं रजतम्' इसी वाक्य का 'यह रजत शुक्ति है' ऐसा अर्थ होने लगेगा । इस आपत्ति को आप स्वीकार भी नहीं कर सकते, क्योंकि यह शुक्ति है; इस तरह से सामने विद्यमान द्रव्य को ही पुरुष शुक्ति के रूप में देखता है, वह रजत को शुक्ति के रूप में नहीं देखता । ऐसी परिस्थिति में यदि आपका कथन मान लिया जाय तो शुक्ति में रजत के ज्ञान के समान रजत में शुक्ति का ज्ञान भी अयथार्थ हो जायगा । यह कहना भी ठीक नहीं है कि रजतत्व के रूप में प्रतीत हो रही यह वस्तु शुक्ति है, ऐसा उसका अर्थ करेंगे । क्योंकि इसमें यह विकल्प उठाया जा सकता है कि वह रजतत्व के रूप में प्रतीत हो रही वस्तु रजत है या शुक्ति ? प्रथम पक्ष मानने पर 'यह रजत नहीं है' इस प्रतीति को ही भ्रम मानना पड़ेगा । द्वितीय पक्ष में अन्यथाख्याति को मानना पड़ेगा, क्योंकि तब आप मान लेंगे कि शुक्ति ही रजत के रूप में प्रतीत होने लगी है ।

'नेदं रजतम्' इस पदत्रयात्मक वाक्य का अर्थ शुक्तित्व है, यह तृतीय पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थ के बाद ही हो सकता है, अतः पहले तीनों पदों का पृथक् पृथक् अर्थ बताना पड़ेगा । नञ् पद का सादृश्य अर्थ है या कोई अन्य ? अन्यत्व, अल्पत्व, विरोधित्व, अप्राशस्त्य और अभाव इसमें से नञ् का कौन सा अर्थ है ? इनमें से प्रथम चार पक्ष नहीं बनेंगे, रजतसादृश्य, रजतभिन्नता, रजताल्पता और रजतविरोधिता शुक्ति में ही है, इस नियम के अभाव में शुक्तित्वरूप वाक्यार्थ सिद्ध नहीं हो सकेगा । अन्तिम दो पक्ष भी नहीं माने जा सकते, क्योंकि आप अभाव को नहीं मानते । अप्राशस्त्य भी प्राशस्त्य का अभाव स्वरूप ही है ।

यह कहना भी गलत है कि "इदं शब्द का अर्थ शुक्ति है, नञ् का अर्थ सादृश्य है । इस तरह से 'यह रजत नहीं है' इस वाक्य का अर्थ यह होगा कि शुक्ति रजत के सदृश है । अतः इससे पहले रजत से अभिन्न रूप से जो शुक्ति का बोध हो रहा था, उसका इससे बाध होता है", क्योंकि शुक्तित्व ही नञ् का अर्थ है, अपनी ही इस बात से उक्त वाक्य का विरोध होगा । 'इदम्' पद सामने विद्यमान वस्तुसामान्य का वाचक है, शुक्तिरजत रूप विशेष वस्तु का वाची नहीं है । शुक्ति रजत नहीं है, ऐसा वाक्य प्रयोग तो होता नहीं, जिससे कि उक्त अर्थ का लाभ हो । इससे शुक्ति को देखकर भ्रान्ति से उसको रजत मानने वाले व्यक्ति की भ्रान्ति की निवृत्ति के लिये 'यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्ति है' इस तरह के शुक्तिपद से युक्त आप्त मनुष्य के द्वारा प्रयुक्त वाक्य को सुन कर ही सामने विद्य-

पुरोवर्तिनि रजतभ्रान्तिनिवृत्तिपूर्वकशुक्तिप्रमोदयः। यदा तु चक्षुःप्रणिधानादिना स्वयमेव शुक्तिरिति प्रतिपद्यते भ्रान्तः, तदापि नेदं रजतमिति न प्रतिपद्यते, किं तर्हि नेदं रजतं किन्तु शुक्तिरित्येव प्रतिपद्यते। तस्मात् प्रतियोगिसापेक्षैर्नेदं रजतमित्यादिशब्दैः शुक्त्यादयो व्यवह्रियन्त इति न युक्तम्, रजतस्य सत्त्वेन नेदं रजतमिति वाक्यस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वाभावाच्च। तस्मान्नञः शुक्तित्वं नार्थः।

यत्तु सत्ख्यातिमतरीत्या स्वाप्नाः पदार्था अपि परमेशसृष्टा इति तन्न, 'पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्। आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिल्लयं याति पुरत्रयं च॥' (कैव. उ. १४) इति श्रुतेर्जीवस्यैव तत्सृष्टिकर्तृत्वश्रवणात्, यावदज्ञानमेव जीवेशादिद्वैतप्रतिपत्तेः। 'यथार्थेन विना पुंसो मृषैवार्थविपर्ययः। प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकम्॥' इति बादरायणोक्तेश्च। नहि स्वप्नदृष्टवस्तु यथार्थं मन्यते लोकः।

यदप्युक्तम्—'पीतः शङ्ख इति ज्ञानमपि यथार्थमेव, नयनवर्तिपित्तसम्भिन्ना नायनरश्मयः शङ्खेन संयुज्यन्ते। तत्र पित्तगतपीतिमाऽभिभूतशुक्लिमा न गृह्यते, अतः सुवर्णानुलिप्तशङ्खवत् पीतः शङ्ख इति प्रतीयते। पित्तद्रव्यं तद्गतपीतिमा चातिसौक्ष्म्यात् पार्श्वस्थैर्न गृह्यते। पित्तोपहतेन तु स्वनयननिष्क्रान्ततयाऽतिसामीप्याद् द्वे अपि गृह्येते। तद्ग्रहणसंस्कारसचिवैर्नायनरश्मिभिर्दूरस्थमपि गृह्यते' इति, तदपि न, शङ्खस्य सुवर्णानुलिप्तस्येव पीतत्वेऽन्यैरपि पार्श्वस्थैस्तद्ग्रहप्रसङ्गात्। न चातिसौक्ष्म्यात्तदग्रहः, तथाविधस्यातिसूक्ष्मस्य पीतिम्नः शङ्खगतशुक्लिमाऽभिभावकत्वानुपपत्तेः। किन्तु शङ्खप्रतिफलितनायनरश्मीनां नयनगतपित्तद्रव्यपीतिमग्रहणेन तदुपपत्तिः। एवं रक्तः स्फटिकमणिरिति ज्ञानमपि जपाकुसुमसन्निधानरूपदोष-

मान वस्तु में रजत भ्रान्ति की निवृत्ति होकर शुक्ति के यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जब सावधानी से अवलोकन कर भ्रान्त व्यक्ति स्वयं ही यह जान लेता है कि यह शुक्ति है, तब भी 'यह रजत नहीं है' किन्तु शुक्ति ही है, यही ज्ञान होता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि प्रतियोगी की अपेक्षा रखने वाले, 'यह रजत नहीं है' इस तरह के शब्दों से शुक्ति प्रभृति का व्यवहार होता है। रजत की विद्यमानता में 'यह रजत नहीं है' इस वाक्य की प्रतियोगी सापेक्षता बनेगी भी नहीं। इसलिये नञ् का अर्थ शुक्तित्व नहीं किया जा सकता।

सत्ख्यातिवादी के अनुसार स्वप्न के पदार्थ भी परमेश्वर रचित है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि—"यह जीवात्मा तीन लोकों में अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में नाना प्रकार की क्रीडा करता है। उसी से यह नाना प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई है। इसका आधार आनन्द स्वरूप अखण्ड ज्ञान ही है। आत्मा के इसी स्वरूप में और सारे प्रपंच लीन हो जाते हैं" इस कैवल्य उपनिषद् के वचन के अनुसार जीव को ही स्वप्न की सृष्टि का कर्ता माना गया है। जब तक अज्ञान की स्थिति रहती है, तभी तक जीव-परमेश इत्यादि रूप में द्वैत की प्रतीति मानी जाती है। बादरायण ने भी इस विषय में कहा है कि "यथार्थ बोध के अभाव में पुरुष को झूठमूठ ही विषयों का विपरीत ज्ञान होने लगता है, जैसे कि स्वप्न में व्यक्ति अपने ही शिर को काटता हुआ देखता है"। स्वप्न में देखी गई वस्तु को लोक में कोई यथार्थ नहीं मानता।

"शंख पीला है, यह ज्ञान भी सच्चा ही है, नेत्र में विद्यमान पित्त से मिली हुई नेत्र की किरणें शंख से संयुक्त हो जाती है। इस दशा में पित्तगत पीलेपन के कारण शंख की सफेदी नहीं दिखाई देती, अतः मानों शंख पर सुवर्ण पोत दिया गया हो, इस तरह से शंख पीला नजर आता है। पित्त द्रव्य और उसमें विद्यमान पीतिमा अति सूक्ष्म होती हैं, अतः पास वाले व्यक्ति को वह नहीं दिखाई देती, किन्तु जो व्यक्ति पित्त से पीडित है उसको तो अपने नेत्र से निकलने के कारण अत्यन्त समीप होने से पित्त और पीतिमा दोनों का ही ज्ञान होता है। इस ज्ञान के संस्कार से संयुक्त नेत्र की रश्मियाँ दूरस्थ वस्तु में भी उनका ज्ञान कर लेती है" यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि शंख में यदि सुवर्ण से पोती गई वस्तु के समान पीलेपन की प्रतीति होती है तो वह पास में बैठे हुए अन्य व्यक्ति को भी दिखाई पड़नी चाहिये। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः नहीं दिखाई पड़ती, यह कहना भी गलत है, क्योंकि यदि वह इतनी सूक्ष्म है तो फिर उस पीतिमा से शंख में विद्यमान सफेदी कैसे दबाई जा सकती है। ऐसे स्थलों में होता यह है कि शंख में प्रतिफलित हो रही नेत्र की किरणें नेत्रगत पित्तद्रव्य और पीतिमा का ग्रहण करती है, उसी से वह पीला मालूम पड़ता है। इसी तरह से स्फटिक मणि लाल है, यह

प्रयुक्तत्वाद् भ्रमात्मकमेव, यथा जिह्वादोषप्रयुक्तो गुडे तिक्तताऽवभासः। दोषजन्यज्ञानस्यायथार्थत्वात् प्रमाणजन्यानुभवसिद्धस्यैव यथार्थत्वात्।

यदुक्तम्—'तेजःपृथिव्योरपि अम्बुनो विद्यमानत्वेनेन्द्रियदोषेण केवलस्याम्बुनः ग्रहणान्मरुमरीचिषु जलज्ञानं यथार्थम्' इति, तदपि न किञ्चित्, त्रिवृत्करणसिद्धे तेजसि वह्न्यादौ जलांशसत्त्वेऽपि साधारणैरुपलब्धुमशक्यत्वात्। तस्मान्मरीचिसम्पृक्तमरुभूमौ जलज्ञानं मिथ्यैव। एवमलातस्य द्रुततरगमनेऽपि तत्तद्देशं विहायान्यदेशं गतमलातमिति कृत्वा नैकदा सर्वदेशसंयोगः, चक्रस्येव तस्य सर्वदेशसंयोगासंभवात्। एवं प्राच्यां दिशि पश्चिमा दिग्वर्तत इत्यपि कल्पनामात्रम्। दिङ्मोहदिग्भ्रमादिशब्दैः प्रख्यातभ्रमस्यापि यथार्थत्वसाधनमपि साहसमेव। एवं ग्रीवास्थमुखस्य दर्पणगतत्वे सव्यदक्षिणभागयोर्दक्षिणसव्यभागत्वेन चान्यथाग्रहणात् प्रतिविम्बप्रतीतिरपि भ्रमात्मिकैव।

यदुक्तम्–'द्विचन्द्रज्ञानादावप्यङ्गुल्यवष्टम्भतिमिरादिर्नायनतेजोगतिभेदेन सामग्रीभेदात् सामग्रीद्वयमन्योन्यनिरपेक्षं चन्द्रग्रहणद्वयहेतुर्भवति। तत्रैका सामग्री स्वदेशविशिष्टं चन्द्रं गृह्णाति, द्वितीया तु किञ्चिद् वक्रगतिचन्द्रसमीपदेशग्रहणपूर्वकं चन्द्रं स्वदेशावियुक्तं गृह्णाति। तदेवं सामग्रीद्वये युगपद्देशद्वयविशिष्टचन्द्रग्रहणे ग्रहणभेदेन ग्राह्याकारभेदाद् एकत्वग्रहणाभावाच्च द्वौ चन्द्राविति प्रतीतिविशेषः। देशान्तरस्य तद्विशेषणत्वं देशान्तरस्यागृहीतस्वदेशचन्द्रस्य च निरन्तरग्रहणेन भवति। तत्र सामग्रीद्वित्वं पारमार्थिकम्। ग्रहणद्वित्वेन चन्द्रस्यैव ग्राह्याकारद्वित्वं च पारमार्थिकम्। विशेषणद्वयविशिष्टचन्द्रग्रहणद्वयस्यैक एव चन्द्रो ग्राह्य इति ग्रहणे प्रत्यभिज्ञानवत् केवलचक्षुषः सामर्थ्याभावात् चाक्षुषं ज्ञानं तथैवावतिष्ठते। द्वयोश्चक्षुषोरेकसामग्र्यन्तर्गतत्वेऽपि तिमिरादिदोषभिन्नं चाक्षुषं तेजः सामग्रीद्वयं भवतीति कार्यभेदो भवति। 'अपगते तु

ज्ञान भी जपाकुसुम के साम्निध्य रूप दोष पैदा होने के कारण भ्रम रूप माना जाता है। जैसे कि जिह्वा के दोष के कारण गुड़ तीता मालूम होने लगता है। अतः यही मानना उचित है कि दोष के कारण जिस किसी ज्ञान की उत्पत्ति हो, उसको मिथ्या कहते हैं, क्योंकि प्रमाण से उत्पन्न हुए अनुभव से परीक्षित ज्ञान ही सत्य होता है।

"तेज और पृथिवी में भी जल विद्यमान है, अतः इन्द्रिय के दोष के कारण जब केवल जल का ग्रहण होने लगता है, तेज और पृथ्वी का नहीं, अतः मृग मरीचिका में होनेवाला जल ज्ञान भी सत्य है" यह कथन भी गलत है, क्योंकि त्रिवृत्करण पद्धति से सिद्ध तेज, वह्नि प्रभृति पदार्थों में यद्यपि जल का अंश भी विद्यमान है, किन्तु साधारण जन उसको देख नहीं सकता। इसलिये सूर्य किरणों से संयुक्त मरुभूमि में जल की प्रतीति मिथ्या ही मानी जायगी। इसी तरह से अलात चक्र (लुकारी) अर्थात् आग से जलती हुई वस्तु को यदि तेजी से गोलाई में घुमाया जायगा तो इस अवस्था में एक देश को छोड़ देने के बाद ही अलात दूसरे देश में जायगा, इस तरह से एक साथ सभी स्थानों से सम्बन्ध नहीं होता। अतः उसकी चक्र के रूप में प्रतीति भ्रान्त है। इसी तरह से पूर्व दिशा में पश्चिम दिशा विद्यमान है, यह कथन भी केवल कल्पनामात्र है। दिङ्मोह, दिग्भ्रम आदि शब्दों की सहायता से प्रख्यात भ्रम को यथार्थ सिद्ध करना भी दुःसाहस ही माना जायगा। इसी तरह प्रतिविम्ब ज्ञान को भी भ्रमात्मक ही मान जायगा, क्योंकि यहाँ पर ग्रीवा पर विद्यमान मुख जब दर्पण में दिखाई पड़ता है, तो उसका बाँया भाग दाहिनी तरफ और दाहिना भाग बाँई तरफ दिखाई पड़ने लगता है। इसलिये वह सत्य न होकर मिथ्या ही है।

कहा जाता है कि द्विचन्द्र ज्ञान आदि में भी अंगुली आदि से आँखों को दबाने के कारण आंखों में अँधेरा सा छा जाता है और उसके कारण आँखों की रोशनी की गति में भिन्नता आ जाती है। इस गतिभेद रूपी सामग्री की भिन्नता के कारण एक दूसरे की अपेक्षा न रखने वाली दो सामग्रियां दो चन्द्रज्ञान की कारण होती हैं। इनमें से एक सामग्री अपने स्थान में ही चन्द्रमा को देखती है और दूसरी सामग्री कुछ तिरछी जाकर चन्द्रमा के समीपवर्ती प्रदेश को ग्रहण कर बाद में अपने स्थान में स्थित चन्द्रमा को देखती है। इस तरह से दो तरह की सामग्री से एक साथ दो स्थानों पर चन्द्रमा को देखने के कारण, ज्ञान के आकार में भेद होने के कारण, ज्ञान के विषय के आकार में भी भेद हो जाने के एकत्व का ग्रहण नहीं होता, फलतः दो चन्द्रमा हैं, इस तरह की विशेष प्रकार की प्रतीति होने लगती है। इनमें दोनों ही तरह की सामग्री वास्तविक है, क्योंकि देशान्तर का चन्द्रमा से सम्बन्ध उसके साथ अपने स्थान में स्थित चन्द्रमा का

दोषे स्वदेशविशिष्टचन्द्रस्यैकग्रहणवेद्यत्वादेकश्चन्द्र इति भवति प्रत्ययः। दोषकृतं तु सामग्रीद्वित्वं ग्रहणद्वित्वं ग्राह्याकारद्वित्वं च, तेन द्विचन्द्रादिज्ञानं यथार्थमेव' इति। तन्न, कारणजन्यत्ववर्णनेऽपि तस्य भ्रमत्वाभावासिद्धेः। ज्ञानकारणतयाऽभिमत-तत्कारणसामग्र्यतिरिक्तदोषरूपं कारणजन्यं ज्ञानं भ्रम इत्युक्तेः। तेन द्विचन्द्रज्ञानादेर्दोषसहकृतकारणसामग्रीजन्यत्वेन भ्रमत्वमेव। यावद् व्यवहारं योऽर्थः सत्यः, तद्विषयं ज्ञानं यथार्थमित्युच्यते। चन्द्रद्वित्वादिकं तु प्रतीतिकाल एव सत्यमिव भवति, नहि यावद् व्यवहारं रज्जुसर्प-शुक्तिरजत-द्विचन्द्र-स्वप्नरथादीनामनुवृत्तिः। भ्रमेऽपगते मया दृष्टं द्विचन्द्रादिकं मिथ्यैवेति लोको जानाति। नहि शुक्तिरजत-स्वप्नरथादयः सत्या इति भवति कस्यचित् प्रत्ययः। दोषकृतस्यापारमार्थिकत्वमेव। पारमार्थिकत्वं तु स्वाभाविकस्यैव। दोषकृतत्वेन सामग्रीद्वित्वस्यापारमार्थिकत्वे ग्रहणद्वित्वं ग्राह्याकारद्वित्वमप्यपार-मार्थिकमेव। न च दोषस्य तिमिररोगादेः सत्यत्वे तत्कृतस्य सर्वस्य सत्यत्वमेवेति वाच्यम्, अविद्यादशायां सत्यत्वेऽपि परमार्थ-सत्यत्वानभ्युपगमात्।

किञ्च, तिमिरादेर्दोषत्वमेव कुतः? यथार्थज्ञानजनकत्वप्रयुक्तम्, अयथार्थज्ञानप्रयुक्तं वा? आद्ये तिमिरादेः स्वतो दोषत्वाभावेन तन्निवृत्त्यर्थमौषधसेवनादिप्रवृत्त्यनापातात्। वितिमिरनेत्र एकं चन्द्रं पश्यति, तिमिरनेत्रस्तु तद्द्वयं पश्यतीति स एव स्पृहणीयः स्यात्। न द्वितीयः, यथार्थज्ञानजनकत्वस्य दोषत्वे कालात्ययापदिष्टता। तस्मादयथार्थज्ञानजनकत्वप्रयुक्तमेव। न च चन्द्रद्वित्वादिज्ञानं सत्यमिति वाच्यम्, चन्द्रद्वित्वस्य प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वात्। न च देशद्वयविशिष्टत्वेनैकोऽपि चन्द्रो

ग्रहण न होने पर भी नैरन्तर्य के ग्रहण के कारण होता है। इस प्रकार ज्ञान के भेद के कारण एक ही चन्द्रमा के दो आकारों का ज्ञान भी पारमार्थिक ही है। प्रत्यभिज्ञा में तो यह सामर्थ्य है कि वह पहले देखी हुई वस्तु और वर्तमान में देखी जा रही वस्तु के अभेद का ज्ञान करा देती है, किन्तु द्विचन्द्र जैसे स्थल में विद्यमान सामग्री में यह शक्ति नहीं है, अतः वहाँ एक ही चन्द्रमा है, इस बात का ज्ञान न होकर दो चन्द्रमा है, इस तरह का ज्ञान होता है। दोनों चक्षु यद्यपि एक ही सामग्री के अन्तर्गत संचालित होते हैं, किन्तु तिमिर प्रभृति दोषों से दो भिन्न मार्गों में विभक्त हुई नेत्र की किरणें दो कार्यों को पैदा कर देती हैं। दोष के हट जाने पर अपने स्थान पर स्थित चन्द्रमा की प्रतीति एक ही सामग्री से होती है, अतः चन्द्रमा एक ही है, यह ज्ञान होने लगता है। दो सामग्री का होना, दो ज्ञानों का होना और विषयों के आकार का भी दो होना यहाँ स्पष्ट है, इसलिए एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा का ज्ञान भी सत्य ही मानना चाहिये। यह पूरा कथन गलत है। यद्यपि आपने द्विचन्द्र प्रतीति की कार्यकारण प्रक्रिया को बड़े विस्तार से बताया है, किन्तु इससे यह भ्रम नहीं है, ऐसा सिद्ध नहीं हो पाता। वस्तुतः भ्रम का लक्षण यह है कि वह ज्ञान के कारण रूप में स्वीकृत सामग्री से भिन्न दोष रूप कारण सामग्री से पैदा होता है। इसलिए द्विचन्द्र प्रभृति ज्ञान दोषसहकृत कारण सामग्री से उत्पन्न होने के कारण भ्रमात्मक ही माने जायँगे। व्यवहार के निष्पन्न हो जाने तक जो वस्तु सत्य है, तद्विषयक ज्ञान को ही यथार्थ माना जाता है। दो चन्द्रमा का ज्ञान तो ज्ञान काल में सत्य सा लगता है। सम्पूर्ण व्यवहार कालपर्यन्त रज्जुसर्प, शुक्तिरजत, द्विचन्द्र, स्वप्नरथ आदि की अनुवृत्ति नहीं चलती। भ्रम के दूर हो जाने पर मैंने अभी जो दो चन्द्रमाओं को देखा था, वह मिथ्या प्रतीति थी, ऐसा सभी जान जाते हैं। किसी को भी ऐसी प्रतीति नहीं होती कि शुक्तिरजत, स्वप्नरथ आदि सत्य हैं। दोष के कारण जिसकी सत्ता है, उसको अपारमार्थिक (मिथ्या) ही माना जायगा। स्वाभाविक वस्तु ही पारमार्थिक (सत्य) मानी जा सकती है। दो तरह की सामग्री के दोषों सिद्ध हो जाने के कारण ज्ञान के दो आकार और उसके विषय के दो आकार आदि सभी मिथ्या ही हैं। तिमिर प्रभृति इन्द्रिय दोष तो सत्य है, अतः इनकी सत्यता के रहते इनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को सत्य ही मानना पड़ेगा, ऐसा आप नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्या दशा में ये भले ही सत्य हों, किन्तु इनकी वास्तविक सत्यता नहीं मानी जाती।

आप यह बताइये कि तिमिर प्रभृति को दोष क्यों कहा जाता है? ये सत्य ज्ञान कराते हैं, इसीलिए अथवा ये मिथ्या ज्ञान कराते हैं, इसलिये। यदि सत्य ज्ञान कराने के कारण तो वे स्वयं तो दोष है नहीं, तब उन्हें मिटाने के लिए औषध सेवन में प्रवृत्ति कैसे होगी? जिस व्यक्ति को तिमिर रोग नहीं है, वह तो एक ही चन्द्रमा देखता है, किन्तु तिमिर नेत्र वाला व्यक्ति दो चन्द्रमा देखता है,

द्वेधा भवतीति वाच्यम्, तथात्वे सञ्चारवशादनन्तदेशसम्बन्धे तदानन्त्यप्रसङ्गात्। न च युगपद्देशद्वयसम्बन्धेन चन्द्रद्वित्वमिति वाच्यम्, एकस्य युगपद्देशद्वयवैशिष्ट्यासम्भवात्। न च सामग्रीभेदाच्चन्द्रदेशभेद इति वाच्यम्, चक्षुर्गतसामग्रीद्वित्वस्य गगनगतचन्द्रभेदाप्रयोजकत्वात्। एतेनैका सामग्री चन्द्रं स्वदेशविशिष्टं गृह्णाति, द्वितीया तु स्वदेशवियुक्तमित्यपि प्रत्युक्तम्, एकस्यैव चन्द्रस्यैकस्मिन्नेव क्षणे स्वदेशविशिष्टत्वस्वदेशनियुक्तत्वयोरयोगात्।

किञ्च, या स्वदेशवियुक्तं चन्द्रं गृह्णाति सा किं देशान्तरविशिष्टं गृह्णाति, उत निर्देशमेव? आद्ये कथमन्यदेशविशिष्टस्यान्यदेशविशिष्टत्वेन ग्रहणम्? द्वितीये कथं निराधाराधेयग्रहणम्? कथं वा देशं विना चन्द्रस्य सत्त्वम्? तस्यादेकस्य चन्द्रस्य चन्द्रद्वयत्वेन स्वदेशविशिष्टचन्द्रस्य चन्द्रद्वयत्वेन स्वदेशविशिष्टस्य स्वदेशवियुक्तत्वेनान्यदेशविशिष्टत्वेन च ग्रहणमयथार्थम्। अत एव तस्यैकश्चन्द्र इति ज्ञानबाध्यत्वम्। तेनाबाधितार्थविषयज्ञानमेव यथार्थम्। सर्वथाऽबाध्यत्वेन ब्रह्मज्ञानस्य मुख्यं यथार्थत्वम्, घटादिज्ञानानां तु यावद् व्यवहाराबाध्यत्वेन यथार्थज्ञानत्वव्यवहारः।

नन्वन्यथाख्यातित्वेन निर्वाहे सम्भवत्यनिर्वचनीयख्यात्यभ्युपगमो व्यर्थ एवेति चेन्न, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति भ्रमप्रमासाधारणम् अन्यथाख्यातिवादिभिर्लक्षणमुक्तम्। तथा च वल्मीकादिगतस्य गृहाङ्गणगतदेवदत्तचक्षु-

इस तरह से तो तिमिर नेत्र वाला व्यक्ति ही स्पृहणीय माना जायगा। यथार्थ ज्ञान के जनक को दोष मानने में कालात्ययापदिष्ट[1] नामक हेत्वाभास होगा। इसलिये दोष की व्याख्या अयथार्थ ज्ञान की जनकता के रूप में ही की जा सकती है, अर्थात् दोष मिथ्या ज्ञान पैदा कराने वाले ही होते हैं। द्विचन्द्रादि ज्ञान को हम सत्य नहीं मान सकते, क्योंकि दो चन्द्रमा का ज्ञान प्रत्यक्ष, आगम प्रभृति सब प्रमाणों के विरुद्ध है। दो देशों से संयुक्त होने से भी एक ही चन्द्रमा की दो तरह की स्थिति भी नहीं मानी जा सकती। ऐसा मानने पर तो अनन्त चन्द्रमाओं की स्थिति माननी पड़ेगी, क्योंकि चन्द्रमा के संचरण के समय उसका अनन्त देशों से सम्बन्ध होता है। एक साथ दो देशों से संबन्ध होने से ऐसी प्रतीति होती है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक वस्तु का एक साथ दो देशों से सम्बन्ध नहीं हो सकता। सामग्री के भेद से भी चन्द्र का देशभेद स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि चक्षु में विद्यमान दो सामग्रियाँ आकाश में विद्यमान चन्द्रमा में भेद का ज्ञान नहीं करा सकती। इसी से इस उक्ति का भी खण्डन हो जाता है कि एक सामग्री चन्द्रमा को अपने देश के साथ देखती है और दूसरी सामग्री उस देश से वियुक्त चन्द्रमा को देखती है, क्योंकि एक चन्द्रमा का एक ही क्षण में अपने देश संयोग और वियोग एक साथ संभव नहीं हो सकता।

जो सामग्री अपने देश से वियुक्त चन्द्र का ग्रहण करती है, वह क्या देशान्तर से विशिष्ट चन्द्र का ग्रहण करती है, अथवा देश रहित चन्द्र का? प्रथम पक्ष में यदि वह अन्य देशविशिष्ट का ग्रहण करती है तो उससे भिन्न विशेषणदेश से विशिष्ट का ग्रहण कैसे करेगी? दूसरे पक्ष में बिना आधार के आधेय का ग्रहण कैसे होगा? बिना देश के चन्द्र की स्थिति कहाँ रहेगी? इसलिए एक चन्द्रमा की दो चन्द्र के रूप में प्रतीति, स्वदेश विशिष्ट चन्द्र की स्वदेश से वियुक्त होकर तथा अन्य देश से संयुक्त होकर हो रही प्रतीति मानना बिलकुल गलत है। इसीलिए चन्द्रमा एक ही है, इस ज्ञान से पहले ज्ञान का बाध हो जाता है। अबाधित वस्तु विषयक ज्ञान को ही यथार्थ कहा जाता है। ब्रह्म ज्ञान का कभी बाध नहीं होता, अतः मुख्य यथार्थ ज्ञान यही है। घटादि ज्ञान का भी व्यवहार दशा में बाध नहीं होता, अतः इनमें भी पारमार्थिक अवस्था को छोड़कर यथार्थ ज्ञान का व्यवहार होता है।

अन्यथाख्याति मानने से भी इस तरह के व्यवहार की निष्पत्ति हो सकती है, ऐसी अवस्था में अनिर्वचनीय ख्याति को मानने से क्या फायदा है? इसका उत्तर यह है कि अन्यथाख्यातिवादी इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं।

---

१. जिस अनुमान के पक्ष में आप जो साध्य सिद्ध करना चाहते हैं, उस साध्य का अभाव यदि दूसरे प्रमाणों से सिद्ध हो जाय तो उस अनुमान को कालात्ययापदिष्ट अथवा बाधित कहा जाता है। जैसे 'मनुष्य का मूत्र पवित्र है, मूत्र होने के कारण, गोमूत्र की तरह' इस अनुमान में मनुष्य मूत्र पक्ष है और उसमें पवित्रता साध्य। इसलिये मूत्रत्व हेतु से यद्यपि उसकी पवित्रता सिद्ध हो सकती है, किन्तु मनुष्य मूत्र में साध्य पवित्रता का शास्त्ररूप दूसरे प्रमाण से बाध हो जाता है, अतः अनुमान बाधित या कालात्ययापदिष्ट कहलाता है। प्रकृत में यथार्थ ज्ञान के जनक को दोष मानने में यही बाधा है कि दोष कभी यथार्थ ज्ञान नहीं कराते, किन्तु मिथ्या ज्ञान ही कराते हैं।

रिन्द्रियस्य सन्निकर्षाभावेन रज्जौ सर्पोऽयमिति भ्रमोत्पत्त्यसम्भवात्। न तत्र सर्प आसीदिति प्रत्ययस्य लौकिकपारमार्थिकत्वावच्छिन्नसर्पो विषयः, न तु प्रातिभासिकः सर्पः। प्रातिभासिके सर्पे व्यावहारिकसर्पबुद्धिस्तु अतस्मिंस्तद्बुद्धित्वाद् भ्रान्तिरेव। रज्जुसर्पप्रत्ययस्य तु रज्ज्वध्यस्तसर्प एव विषयः, न केवलं रज्जुः, नापि देशान्तरस्थः सर्पः। तस्मादन्यत्र सतोऽन्यत्र ख्यातत्वासम्भवेन नान्यथाख्यातिसिद्धिः। तस्मादनिर्वचनीयख्यातिरेव।

न च दोषवशाद् व्यवहितेनाप्यर्थेनेन्द्रियसम्बन्ध इति वाच्यम्, दोषशतादपि चक्षुरिन्द्रियस्यापुरोवर्तिविषयसंयोगायोगात् तत्कल्पनस्यानुभवविरुद्धत्वात्। न च यथा दोषवशाद्रज्जौ सर्पोदयस्तथैव संयोगोऽपि भवत्विति वाच्यम्, दोशवशाल्लौकिकसर्पोदयस्यासम्भावितत्वेऽपि मिथ्यासर्पोदयस्य सम्भावितत्वात्। यथा निद्रादोषवशादात्मनि प्रातिभासिका रथगजादय उत्पद्यन्ते, तथैवेहापि तन्मन्तव्यम्। न च तत्राप्यन्यथाख्यातिरेवेति वाच्यम्, 'रथान् रथयोगान् पथः सृजते' (बृ. उ. ४।३।१०) इति श्रुतिविरोधात्।

न चाख्यातिमते तदुपपत्तिः। स्मर्यमाणानुभूयमानयोः सर्परज्ज्वोर्भेदाग्रहात् सर्पप्रतीतिः, तद्भेदग्रहात्तु सर्पबाध इति तन्मतम्। तच्च निर्युक्तिकम्, रज्ज्वनुभवे सर्पभ्रमस्यानुदयप्रसङ्गात्। आन्तरस्य स्मर्यमाणस्य बाह्यस्य दृश्यमानस्य चाभेदग्रहायोगाद् रज्जुसर्पद्वये पुरोवर्तिनि सति तत्र रज्ज्वां सर्पाभेदग्रहः सर्पे रज्ज्वभेदग्रहश्च साम्यात् सम्भवेत्।

नापि यथार्थख्यातिमते तदुपपत्तिः। 'रज्ज्वां सन्नेव सर्पः प्रतीयते रज्जुप्राचुर्यात् सर्पबाधः' इति, तदपि न, रज्ज्वां पूर्वं जातस्य सर्पभ्रमस्य पश्चाज्जातेन दण्डभ्रमेणापि बाधदर्शनात्। रज्ज्वां रज्जुप्राचुर्यस्य दण्डादिलेशस्य च सत्त्वादर्शनात्।

यह लक्षण भ्रम और प्रमा दोनों में ही घटित होता है। इस लक्षण को मान लेने पर बिल में बैठे हुए सर्प के साथ देवदत्त की चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष तो है नहीं, तब रज्जु में सर्प का भ्रम कैसे होगा? वहाँ पर सर्प नहीं था, इस परवर्ती प्रत्यय का विषय लौकिक पारमार्थिकता से युक्त सर्प ही है, प्रातिभासिक सर्प नहीं। प्रातिभासिक सर्प में व्यावहारिक सर्प की बुद्धि अन्य में अन्य की बुद्धि होने से भ्रान्ति ही मानी जायगी। रज्जुसर्प ज्ञान का विषय रज्जु में अध्यस्त सर्प को ही मानना पड़ेगा। इसका विषय न केवल रज्जु है और न बिल में रहने वाला सर्प ही। इसलिए जो अन्यत्र अर्थात् बिल आदि में विद्यमान है, उसकी अन्यत्र अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों के समक्ष ख्याति नहीं हो सकती, इस तरह से अन्यथाख्याति नहीं बनती। फलतः आपको अनिर्वचनीय ख्याति को ही मानना पड़ेगा।

दोष के कारण व्यवहित विषय से भी इन्द्रिय के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि सैकड़ों दोष मिलकर के भी चक्षुरिन्द्रिय का उस विषय से सम्बन्ध नहीं बना सकते, जो कि सामने नहीं है। इस तरह की कल्पना अनुभव के भी विरुद्ध है। आप यह भी नहीं कह सकते कि जैसे दोष के कारण रज्जु में सर्प का उदय हो जाता है, उसी तरह से संयोग भी हो जायगा, क्योंकि दोष के कारण लौकिक व्यावहारिक सर्प की कल्पना नहीं की जा सकती, प्रातिभासिक सर्प की ही की जा सकती है, अतः व्यावहारिक विषयेन्द्रिय संनिकर्ष की कल्पना नहीं की जा सकती। जैसे निद्रा दोष के कारण स्वप्नावस्था में आत्मा में प्रातिभासिक रथ-गज आदि की उत्पत्ति मान ली जाती है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। स्वप्न में भी अन्यथाख्याति ही क्यों न मानी जाय, तो इसका उत्तर है कि श्रुति स्वयं ही प्रतिपादित करती है कि "उस अवस्था में द्रष्टा रथ, अश्व, मार्ग आदि की सृष्टि करता है"।

अख्यातिवाद में भी इस श्रुति की उपपत्ति नहीं बनती। उनका यह मानना है कि स्मर्यमाण सर्प और अनुभूयमान रज्जु में भेद न कर पाने के कारण रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। इनका जब अलग-अलग ग्रहण होने लगता है तो सर्प का बाध हो जाता है। इस कथन का कोई आधार नहीं है, क्योंकि अब रज्जु का अनुभव हो रहा है तो उस अवस्था में सर्प का भ्रम कैसे पैदा हो सकता है? स्मर्यमाण वस्तु तो भीतर है और दिखाई पड़ रही वस्तु बाहर, इन दोनों का अभेद बोध हो भी कैसे सकता है? रज्जु और सर्प दोनों जब सामने दिखाई पड़ें, तभी रज्जु में सर्प का और सर्प में रज्जु का अभेदग्रह समानता के कारण संभव हो सकता है।

यथार्थख्यातिवादी के मत में भी इसकी उपपत्ति नहीं होती। उनका कहना है कि रज्जु में सत्य सर्प की ही प्रतीति होती है। रज्जु के अंशों की प्राचुर्येण प्रतीति होने पर सर्प का बाध हो जाता है। इससे भी बात बनती नहीं, क्योंकि रज्जु में पहले जो सर्प का भ्रम हुआ, उसका बाद में पैदा हुए दंड के भ्रम से भी बाध देखा जाता है। रज्जु में रज्जु के अंशों का प्राचुर्य और दंड में दंड के अंश की

नहि रज्जौ चिरं चक्षुषि प्रणिहितेऽपि दण्डसर्पादिलेशसाक्षात्कारः सम्भवति, रज्ज्वारम्भकाणां तन्तूनामेव साक्षात्कारो भवति।

असत्ख्यातिमतमपि नोपपद्यते, शशशृङ्गवदत्यन्तासतः ख्यात्ययोगात्। नाप्यात्मख्यातिमतम्, तद्रीत्या आन्तर एव सर्पो दोषवशाद् बाह्य इव प्रतिभाति, तदप्यसङ्गतम्, वल्मीकादिस्थस्य सर्पस्यान्तरत्वे प्रमाणाभावात्। यदि वासनामयो हृदयस्थ एव सर्पो बाह्यत्वादवभासते, तर्हि बाह्यरज्ज्वपेक्षा व्यर्थैवेति तदभावेऽपि सर्पभ्रमः स्यात्। न च बाह्यरज्जुदर्शन-सहकृत एवान्तरः सर्पो बाह्यवदवभासते, तद्दर्शने सर्पभ्रमस्यैवानुदयप्रसङ्गात्। न चान्तरं विज्ञानमेव बहिः सर्पवदवभासत इति वाच्यम्, सर्पवदेवेति नियमासङ्गतेः। तन्मते सर्वस्यैवान्तरत्वेन बाह्यार्थस्यैवाभावात्। सिद्धान्ते तु न बाह्यापलापः, किन्तु तन्मिथ्यात्वमेव।

वस्तुतस्तु असत्ख्यात्यात्मख्यातिवादिनो बाह्यानपहाय अख्यात्यन्यथाख्यातिसत्ख्यात्यनिर्वचनीयख्यातिवादिनः सर्वेऽपि वेदानां प्रामाण्यमूरीकुर्वन्ति। सर्वेऽप्यास्तिका आदरणीयाः।

प्रामाण्यस्वतस्त्वविचारः

'द्वे विद्ये वेदितव्ये'''परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' (मुण्डक० १।१।३-४) 'पुराण-न्याय-मीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥' (याज्ञ० स्मृ० १।३), 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती। विद्याश्चतस्र एवैता लोकसंस्थितिहेतवः॥' (का० २।२) अत्र सर्वत्र विद्याशब्दस्य ग्रन्थपरत्वं विज्ञायते। श्रुतावकारान्तो वेदशब्द आद्युदात्तः, अन्तोदात्तश्चेति द्विधोपलभ्यते। प्रथमः शब्दराशिपरः, अपरः

अल्पता का दर्शन नहीं होता। रज्जु को बहुत देरतक सावधानी से देखने पर भी उसमें दण्ड-सर्प आदि के लवलेश का भी साक्षात्कार नहीं होता, वहाँ पर रज्जु के बनावट में लगे तन्तुओं की ही प्रतीति सूक्ष्म निरीक्षण करने पर होती है।

असत्ख्याति को माननेवालों का मत भी सही नहीं है, क्योंकि खरहे की सींग की तरह अत्यन्त असत् पदार्थ की ख्याति (ज्ञान) हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार आत्मख्याति मानने वालों का मत भी गलत है। उनके मत से आन्तर सर्प ही दोष के कारण बाहर वाला सा प्रतीत होने लगता है। यह भी असंगत बात है। बिल में बैठे हुए सर्प की स्थिति विज्ञान में है, ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। यदि हृदय में विद्यमान वासनामय सर्प की ही बाहर प्रतीति होती है तो फिर इसकी प्रतीति में रज्जु की अपेक्षा रखना व्यर्थ है, यदि ऐसा मान लिया जाता है तो रज्जु के अभाव में भी सर्प का भ्रम होना चाहिए। यह कहना भी गलत है कि बाह्य रज्जु के दर्शन के सहयोग से ही आन्तर ज्ञान में विद्यमान सर्प की बाह्य सत्ता के रूप में प्रतीति होती है, क्योंकि बाह्य रज्जु का यदि दर्शन हो गया तो सर्प का भ्रम पैदा ही कहाँ होगा? आन्तर विज्ञान ही बाहर सर्प के समान प्रतीति होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आप यह बताइये कि उसकी सर्प की सी प्रतीति क्यों होती है? इसकी संगति बैठाने के लिए किस नियम का सहारा लिया जाता है? बौद्ध विज्ञानवादी के मत में सब कुछ आन्तर विज्ञान का ही विकास है, बाह्य अर्थ का कोई अस्तित्व है ही नहीं। वेदान्ती के मत में बाह्य वस्तु का अपलाप नहीं किया जाता, केवल इतना ही माना जाता है कि यह सब कुछ मिथ्या है।

वास्तव में तो असत्ख्याति और आत्मख्याति मानने वाले शून्यवादी और विज्ञानवादी वेदबाह्य बौद्धों के अतिरिक्त अख्याति, अन्यथाख्याति, सत्ख्याति और अनिर्वचनीयख्याति को मानने वाले सभी दार्शनिक वेदों का प्रामाण्य मानते हैं। अतः ये सभी आस्तिक होने के कारण आदरणीय हैं।

स्वतः प्रामाण्य की परीक्षा

"दो प्रकार की विद्या जाननी चाहिये—परा और अपरा। इनमें अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इतिहास-पुराण आदि हैं" इस मुण्डक वचन में तथा—"पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छः अंगों सहित चार वेद, ये विद्या और धर्म के चतुर्दश स्थान हैं", "आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और शाश्वत (सभी कालों में स्थिर रहने वाली) दण्डनीति इन चार विद्याओं से लोक की स्थिति बनती है" इन सब वचनों में विद्या शब्द ग्रन्थपरक प्रतीत होता है। श्रुति में अकारान्त वेदशब्द आद्युदात्त

कुशमुष्टिपरः। अनयोर्द्वयोर्वेदशब्दयोराद्युदात्तान्तोदात्तयोः सिद्ध्यर्थमेव पाणिनिनाऽपि उञ्छादिगणे वृषादिगणे च वेदशब्दद्वयं पठितम्।

कुशमुष्टिवाचको रूढः, तत्रावयवव्युत्पत्तेरसंभवात्। ग्रन्थराशिवाचकस्तु योगरूढः, केवलयौगिकस्वीकारे ज्ञानेऽतिप्रसङ्गात्। अत एवालौकिकमर्थं यो वेदयति स वेद इति वेदलक्षणमुक्तमाचार्यैः।

पाश्चात्यैस्तु खिष्टजन्मतस्त्रिसहस्रवत्सरपूर्वकाल एव वेदप्रादुर्भावकालो मन्यते, तच्च निष्प्रमाणमेव। यतः—इतो वर्षसहस्रद्वितयात्पूर्वं भगवान् पतञ्जलिरासीत्। ततोऽपि प्राचीनो जैमिनिः। ततोऽपि प्राचीनतमः काशकृत्स्निः। काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी (पा० ४।१।१) इति महाभाष्येणावगम्यते। कात्यायनेनापि स्वग्रन्थे सद्यस्त्वं काशकृत्स्निरित्युक्तम्। पाणिनिकालः खिष्टजन्मतः पूर्वं सप्तमी शताब्दीति पाश्चात्यैरङ्गीकृतम्। सत्यव्रतसामश्रमिणा च निरुक्तालोचने कलेरष्टम्यामेव शताब्द्यां खिष्टजन्मतः प्राक् चतुर्विंशतिशताब्द्यामिममार्यावर्तभूमिं भूषयामास पाणिनिरिति बहुभिः प्रमाणैः साधितम्। सर्वथापि काशकृत्स्निर्वर्षसहस्रत्रितयात्प्राग् भूमिमिमामलञ्चकार। तेन च वेदानामपौरुषेयत्वं साधितमेव भवेत्। यदि तेन वेदकर्ता श्रुतः स्यात्तदाऽवश्यं तेन तन्निर्देशः कृतः स्यात्। यदि ततो वर्षसहस्रात्पूर्वमपि वेदा रचिता अभविष्यन्, तदा कथं नाम नास्मरिष्यन् तदानीन्तनाः। को नाम महान् प्रतिबन्ध एषामासीत् स्वपूर्वकालिकेतिहासपरिज्ञाने, येन ते तमपरिज्ञाय वेदेऽपौरुषेयत्वं साधयन्ति, 'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (१।१।२९ जै०) इत्यत्र।

ननु पौरुषेयत्वस्य दौर्बल्यहेतुत्वाङ्गीकारेणापौरुषेयत्वसाधनाय कर्ताऽपह्नूयत इति चेन्न, भागवतादिपौरुषेयग्रन्थेष्वप्यादरातिशयदर्शनात्।

और अन्तोदात्त इस तरह से दो प्रकार का मिलता है। प्रथम का अर्थ शब्दराशि और दूसरे का कुशमुष्टि अर्थ है। इन आद्युदात्त और अन्तोदात्त दोनों वेद शब्दों के लिए पाणिनि ने भी उञ्छादिगण और वृषादिगण में दो वेद शब्द पढ़े हैं।

इनमें से कुशमुष्टिवाचक वेद शब्द रूढ है, क्योंकि यहाँ पर अवयवों की व्युत्पत्ति के आधार पर यह अर्थ नहीं निकल सकता। ग्रन्थराशि का वाचक वेद शब्द योगरूढ माना जायगा, क्योंकि केवल यौगिक अर्थ करने पर इसका अर्थ ज्ञान भी हो सकता है, अतः अतिप्रसंग दोष की आपत्ति होगी। अर्थात् केवल ज्ञान को वेद मानने पर घट-पटादि का ज्ञान भी वेद हो जायगा। इसीलिए आचार्यों ने वेद का लक्षण "जो अलौकिक अर्थ को बताता है" यह किया है।

पाश्चात्य विद्वान् ईशा के जन्म से तीन हजार वर्ष पहले वेद का प्रादुर्भाव मानते हैं। इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी यह गलत है, क्योंकि आज से दो हजार वर्ष पहले भगवान् पतंजलि हुए। जैमिनि इनसे भी पहले हुए थे और जैमिनि से भी पहले आचार्य काशकृत्स्नि हो चुके थे, यह बात पातंजल महाभाष्य (४।१।१) से ज्ञात होती है। कात्यायन भी अपने वार्तिक ग्रन्थ में इनको स्मरण करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं कि पाणिनि का समय ईशा पूर्व सातवीं शताब्दी है। निरुक्तालोचन में सत्यव्रत सामश्रमी ने तो कलियुग की आठवीं शताब्दी अर्थात् ईशा के जन्म के पूर्व चौबीसवीं शताब्दी में पाणिनि ने इस आर्यावर्त भूमि को अलंकृत किया था, इस बात को अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है। किसी भी तरह से यह मानना ही पड़ेगा कि आचार्य काशकृत्स्नि तीन हजार वर्ष पहले हुए थे। इससे वेदों की अपौरुषेयता ही सिद्ध होती है। यदि कोई वेद का कर्ता उस समय सुना गया होता तो उसका निर्देश आचार्य काशकृत्स्नि प्रभृति ने अपने ग्रन्थ में अवश्य किया होता। यदि उनसे एक हजार वर्ष पहले भी वेदों की रचना हुई होती तो उस समय विद्यमान मनुष्यों को उसकी स्मृति क्यों न रहती? अपने पूर्व काल के इतिहास को जानने में इनके सामने ऐसी कौन सी बड़ी बाधा थी कि जिससे वे वेद के कर्ता को नहीं जान पाये और वेद की अपौरुषेयता सिद्ध करने लगे, जैसा कि "उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्" (१।१।२९) इत्यादि जैमिनि सूत्र में किया गया है।

आप यदि यह कहें कि वेदों को पौरुषेय बताने पर उनके प्रामाण्य में दुर्बलता की आशंका के भय से उनको अपौरुषेय सिद्ध करने के लिए कर्ता को छिपाया जाता है, तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि भागवत प्रभृति पौरुषेय ग्रन्थों में भी अतिशय आदरबुद्धि देखी जाती है और उनके कर्ता को छिपाया भी नहीं जाता।

सर्वोऽप्युत्सर्गः सापवाद इति नहि लौकिकशब्दसन्दर्भस्य पुरुषकृतत्वे वैदिकशब्दराशिनाऽपि तथैव भाव्यमिति समस्ति नियमः। प्रमाणेनोपलम्भाल्लौकिकशब्दराशीनां सकर्तृकता निश्चीयते। वैदिकेषु तु प्रयत्नेनान्विच्छन्तोऽपि न वेदकर्तारं ज्ञानगोचरतामापादयितुं शक्नुमः। न प्रमाणेनानधिगतोऽर्थः स्वमनीषया कल्पयितुं शक्यते। अतो वाक्यस्य सकर्तृकत्वे उत्सर्गसिद्धेऽपि वैदिकशब्दे तदपोद्यते।

यत्तु व्यासपैलादीनां वेदविभागकर्तृत्वमितिहासपुराणयोः श्रूयते, तदेकतयाऽवस्थितानां तेषां विभागे प्रपाठकानुवाकादीनां पौर्वापर्यसन्निवेशकरणमात्रे पर्य्यवस्यति, न तु पदान्यथाकरणे मन्त्रान्यथाकरणे वा तेषामासीदधिकारः, यद्येतेषामन्यथाकरणेऽधिकारोऽभविष्यत्तर्हि शास्त्रादिवाधितत्वाद्धेतोस्तदसमीचीनमभविष्यत्। यथा—

गोमयं पायसं गव्यत्वात् क्षीरवत्, नरशिरःकपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खवत्, स्वस्त्री अगम्या स्त्रीत्वात् परस्त्रीवत्—इत्याद्यनुमानाभासान्यप्रमाणानि। साध्यहेत्वोर्व्याप्तिसम्वन्धस्य दृढतमत्वेन हेत्वाभासरहितान्येवानुमानानि ग्राह्याणि। पूर्वमीमांसकास्तु यत्र साध्यसत्त्वमूलकमेव हेतुसत्त्वं तत्रैव शुद्धानुमितिः, यथा धूमधूमध्वजयोः। अतादृशस्थले व्याप्तिरेव न भवति। पूर्वोक्तानुमानाभासेषु क्वापि न हेतुसत्त्वं साध्यसत्त्वप्रयुक्तम्। कार्यकारणभावश्च क्वचिदप्राप्तप्रापको योगलक्षणः, क्वचित् प्राप्तपालकक्षेमरूपः। अप्राप्तशरीरस्य प्रापको मातापित्रादिः, प्राप्तपालकं त्वाहारादिकम्। प्रकृते गव्यत्वस्य सत्त्वे पायससत्त्वमुभयथापि न कारणं भवति।

सभी सामान्य नियमों का कहीं न कहीं विशेष नियम अर्थात् अपवाद मिल जाता है, इस न्याय के अनुसार शब्दसन्दर्भ पुरुषकृत है, यह सामान्य नियम लौकिक काव्य में तो लागू होगा, किन्तु वैदिक शब्दराशि को पुरुषकृत सिद्ध करने में वह समर्थ नहीं हो सकेगा, क्योंकि लौकिक शब्दराशि की सकर्तृकता का निश्चय अन्य प्रमाणों के आधार पर किया जाता है, इसके विपरीत वेद में प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण करने पर भी किसी वेद के कर्ता का ज्ञान हम नहीं कर पाते। जो वस्तु प्रमाणों से ज्ञात नहीं होती, उसकी हम अपने मन से कल्पना नहीं कर सकते। इसलिए वाक्य की सकर्तृकता यद्यपि सामान्य नियम से सिद्ध है, किन्तु वेद वाक्यों में इसका बाध हो जाता है।

इतिहास-पुराण में व्यास, पैल प्रभृति महर्षियों ने वेद का विभाग किया, ऐसा सुना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि पहले वेद एक अविभक्त रूप से विद्यमान था। इन महर्षियों ने उसका विभाग किया, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि इनका प्रपाठक, अनुवाक आदि रूप से पौर्वापर्य संनिवेश मात्र किया। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इससे उनको किसी पद अथवा मन्त्र को बनाने का या बदलने का अधिकार मिल गया, क्योंकि यह बात उन शास्त्र वचनों से बाधित है, जिनमें बताया गया है कि पूर्व कल्प की आनुपूर्वी के अनुसार ही उत्तर कल्प की वेद की आनुपूर्वी रहती है, उसमें एक भी वर्ण अथवा मात्रा का परिवर्तन नहीं होता।

गोबर-खीर है, क्योंकि यह दूध की तरह गाय से प्राप्त हुआ है, मनुष्य की खोपड़ी शुद्ध है, क्योंकि यह शंख की तरह हो प्राणी का अंग है, अपनी स्त्री भी गम्य नहीं है, क्योंकि वह पर स्त्री के समान स्त्री है—ये सब अनुमानाभास हैं। साध्य और हेतु का जहाँ व्याप्ति सम्बन्ध अत्यन्त दृढ हो चुका है, ऐसे हेत्वाभास रहित अनुमान ही प्रमाण रूप से गृहीत हो सकते हैं। पूर्व मीमांसकों का तो कहना है कि जहाँ पर साध्य की सत्ता के आधार पर हेतु की सत्ता रहती है, वहीं शुद्ध अनुमिति होती है। जैसे कि धूम के द्वारा वह्नि की अनुमिति। उक्त प्रकार की स्थिति न हो तो वहाँ व्याप्ति ही नहीं बनती। ऊपर बताये अनुमानाभासों में कहीं भी साध्यसत्त्व प्रयुक्त हेतुसत्त्व नहीं है। कार्यकारणभाव कहीं योग और कहीं क्षेम के रूप में रहता है। अप्राप्त की प्राप्ति योग और प्राप्त की रक्षा क्षेम कहलाती है। अप्राप्त शरीर की प्राप्ति में माता-पिता की स्थिति योग के रूप में और आहार की स्थिति प्राप्त शरीर के प्रतिपालक (क्षेम) के रूप में है। उपर्युक्त गलत अनुमानों में गव्यत्व प्रभृति की सत्ता में पायसत्व प्रभृति की योग-क्षेम रूप उभयविध कारणता नहीं बनती। अर्थात् पायसत्व गव्यत्व की न तो उत्पत्ति में ही कारण है और न उसकी रक्षा में ही[1]। इसी प्रकार शुचित्व, अगम्यत्व आदि की सिद्धि शास्त्रवचन से होती है, इसमें प्राण्यङ्गत्व, स्त्रीत्व आदि की योगक्षेमता नहीं बनती।

१. जैसे अग्नि ही धूप की उत्पत्ति में कारण है और उसकी रक्षा में भी। इसीलिए अग्नि (साध्य) को सिद्ध करने में धूम हेतु बन सकता है। किन्तु गव्यत्व, पायसत्व में ऐसा नहीं है। यदि पायसत्व ही गव्यत्व की उत्पत्ति में अग्नि के धूम की उत्पत्ति में कारण की तरह कारण हो और पायसत्व ही गव्यत्व की रक्षा में भी कारण हो, तभी गव्यत्व हेतु से पायसत्व की सिद्धि हो सकती है, किन्तु ऐसा है नहीं। इसी तरह दूसरे अनुमानाभासों में भी समझना चाहिये।

पौरुषेयत्वानुमानेऽपि सैव दशा। न पौरुषेयत्वं येन केनचिदुच्चार्यमाणत्वमेव, तथात्वे रघुवंशादेरप्यस्मदुच्चार्यमाणत्वेनास्मत्प्रणीतत्वापत्तेः। किन्त्वाद्योच्चरितत्वेनैव पौरुषेयत्वम्। उच्चारणे आद्यत्वञ्च स्वसजातीयोच्चारणानपेक्षत्वमेव। तथा च स्वसजातीयोच्चारणनिरपेक्षोच्चारणविषयत्वमेव पौरुषेयत्वम्। तत्सापेक्षोच्चारणविषयत्वं चापौरुषेयत्वम्। आकाङ्क्षा-योग्यता-संनिधिमत्पदकदम्बत्वमेव वाक्यत्वम्। एवंविधस्य विशिष्टपदसमूहत्वरूपहेतोरस्तित्वं पदसमूहोच्चारयितुः कस्यचित्पुरुषस्यासत्त्वे न सम्भवतीति स्वीक्रियते, परन्तूच्चारणस्य सजातीयोच्चारणनिरपेक्षत्वं तादृशहेत्वस्तित्वे कारणमिति न वक्तुं शक्यते। तादृशं निरपेक्षोच्चारणं विनाऽप्यध्याप्यमाने रघुवंशादिकाव्ये वाक्यत्वस्य दर्शनेन पूर्वोक्तनिरपेक्षोच्चारणं विनाऽप्युपपद्यमानवाक्यत्वं प्रति निरपेक्षोच्चारणस्य कारणत्वाभावस्यैव सिद्धेः। यद्विनाऽपि यदुत्पद्यते न तत्तत्कारणम्। रासभं विनोपपद्यमानस्य घटस्य रासभो न कारणम्। साध्यास्तित्वप्रयुक्तहेत्वस्तित्वस्य वक्तुमशक्यत्वेन व्याप्तेरदृढतया शिथिलमूलं पौरुषेयत्वानुमानम्। एवं साध्यास्तित्वहेत्वस्तित्वयोर्मध्ये प्रयोज्यप्रयोजकभावशून्यान्येव पौरुषेयत्वानुमानानि। अपौरुषेयत्वानुमानं तु निर्दुष्टमेव। विधिनिषेधयोः कस्तावदर्थं इति विचार्य्यमाणे प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतज्ञानविषयः कश्चिदित्यविवादमेव।

विधिवाक्यार्थविचारः

नव्यास्तार्किकास्तु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टकृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाधनत्वरूप एव विध्यर्थ इति साधयन्ति। प्राचीनतार्किकास्तु आप्ताभिप्राय एव विध्यर्थः। यद्यपि बलदवनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टकृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाधनत्वज्ञानमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिं प्रति कारणमित्यत्र न विवादः, तथाप्याप्ताभिप्रायज्ञानस्यापि परम्परया प्रवृत्तिकारणत्वमस्त्येव।

पौरुषेयत्व के अनुमान की भी यही स्थिति है। जिस किसी के द्वारा उच्चारित होना ही पौरुषेयत्व का प्रयोजक नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर रघुवंश प्रभृति ग्रन्थों का जब हम उच्चारण करते हैं तो वे भी हमारे द्वारा प्रणीत हैं, ऐसी आपत्ति होने लगेगी। किन्तु उस कृति का प्रथम उच्चारण जिसने किया है, वही उसका प्रणेता माना जाता है। उच्चारण की प्राथमिकता का तात्पर्य यह है कि वह अपने सजातीय उच्चारण से निरपेक्ष होता है। इस तरह पौरुषेयत्व का अभिप्राय यह हुआ कि उसका विषय स्वसजातीय उच्चारण से निरपेक्ष उच्चारण है। इसके विपरीत जो उच्चारण स्वसजातीय उच्चारण की अपेक्षा रखता है, वह अपौरुषेय है। आकांक्षा, योग्यता और संनिधि से युक्त पदसमूह को ही वाक्य कहा जाता है। इस तरह के विशिष्ट पदसमूह रूप हेतु का अस्तित्व इस पदसमूह के उच्चारयिता पुरुष के अभाव में नहीं बन सकता, ऐसा माना जाता है, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उच्चारण की सजातीय उच्चारण से निरपेक्षता उस तरह के योगक्षेमात्मक हेतु के अस्तित्व में कारण है। इस तरह के निरपेक्ष उच्चारण के बिना भी जब रघुवंश प्रभृति काव्यों को पढ़ाया जाता है, तो उसमें वाक्यत्व की प्रतीति होती ही है। अतः पूर्वोक्त निरपेक्ष उच्चारण के बिना ही वाक्यत्व बन जाता है, अतः उसके निरपेक्ष उच्चारण को वाक्य का कारण नहीं माना जा सकता। जिसके बिना भी जो हो सकता है, वह उसका कारण नहीं होता। घट रासभ (गदहा) के बिना भी बन जाता है, अतः घट के प्रति रासभ की कारणता नहीं मानी जाती। प्रकृत स्थल में साध्य के अस्तित्व से प्रयुक्त हेतु के अस्तित्व की सिद्धि नहीं की जा सकती, अतः दृढ़ व्याप्ति नहीं बन पाती, फलतः पौरुषेयत्व के अनुमान का आधार शिथिल है। इस तरह से साध्य और हेतु के अस्तित्व के बीच में पौरुषयत्व अनुमान में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव नहीं बन पाता। अपौरुषेयत्व अनुमान तो निर्दुष्ट है, क्योंकि विधि और निषेध का अर्थ क्या है? इस प्रश्न पर विचार करते समय प्रवृत्ति और निवृत्ति का कारणभूत कोई ज्ञानविषय ही निर्विवाद रूप से विधि और और निषेध का अर्थ होता है, यह निर्विवाद है।

विधिवाक्यों के अर्थ का विचार

नव्य तार्किकों के मत के अनुसार विधि का अर्थ 'बलवान् अनिष्ट का अनुत्पादक और अपने प्रयत्न से साध्य अपने इष्ट का साधक ही है, अर्थात् जिसको करने से कोई बलवान् अनिष्ट न होकर किसी अभीष्ट वस्तु की सिद्धि हो और जो अपने प्रयत्न से साध्य भी हो, वही विधिवाक्य का अर्थ है। प्राचीन तार्किक आप्त व्यक्ति के अभिप्राय को ही विधि का अर्थ मानते हैं। यद्यपि यह बात ठीक है कि बलवान् अनिष्ट का अनुत्पादक और अपने प्रयत्न से साध्य तथा अपने इष्ट की साधनता का ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रवृत्ति के

अत एव स्वाध्यायमधीष्वेति श्रुत्वा सुधीर्बालकः—अध्ययनं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टमदीयकृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्ट-साधनत्ववत्, मत्कर्तव्यतया मदीयाप्ताभिप्रायविषयत्वात्, यत्र यत्र च यत्कर्तव्यतया यदीयाप्ताभिप्रायविषयत्वं तत्र तत्र तदीय-बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वविशिष्टकृतिसाध्यत्वमिति व्याप्तेः। भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादिदोषराहित्य-मेवाप्तत्वम्। तेन भ्रान्ताज्ञायां न व्यभिचारः। तेन पठने कार्ये विशिष्टेष्टसाधनत्वमनुमिनोति बालकः, पठने च प्रवर्तत इति विशिष्टेष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वे निर्विवादेऽपि पूर्वोक्तानुमितिरूपे तादृशज्ञाने हेतुभूतं ज्ञानं (हेतुज्ञानं) पूर्वोक्तरीत्या आप्ताभिप्रायज्ञानमेव भवति। तच्च पूर्वोक्तानुमितिद्वारा प्रवृत्तिं प्रति कारणमिति परम्परया प्रवृत्तिकारणीभूततादृशाप्ता-भिप्रायज्ञानविषयीभूतः पूर्वोक्ताभिप्रायोऽपि प्रवृत्तिहेतुज्ञानविषय एवेति कृत्वा विध्यर्थो भवति। अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वेन पूर्वोक्तस्थले आप्ताभिप्रायस्य विध्यर्थत्वाभ्युपगमे तद्बलेन इष्टसाधनत्वादिकं न तार्किकाभिप्रेतानुमानबलेन लब्धुं शक्यत इत्यनन्यलभ्यमेव।

नव्यरीत्या तु आप्ताभिप्रायरूपोऽर्थः कथमपि लब्धुं न शक्यः, विशिष्टेष्टसाधनत्वहेतुना आप्ताभिप्रेतत्वस्यानुमातु-मशक्यत्वात्, बहूनां कार्याणां स्वयमेवेष्टसाधनत्वमनुमाय तत्र प्रवृत्तिसम्भवात्, आप्ताभिप्रायस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वात्, तत्रेष्ट-साधनत्वादेराप्ताभिप्रायेण सहानैकान्त्याच्च। तथा च आप्ताभिप्रायरूपोऽर्थोऽनन्यलभ्यः। तेन स एव विध्यर्थः। स चाप्ता-भिप्रायः प्रवृत्तिहेतुत्वात् 'प्रवर्तना' इत्युच्यते, कार्यस्य प्रवृत्तेः कारणत्वाद् भावना चोच्यते। वाचकत्वसम्बन्धेन शब्द-

प्रति कारण है, इसमें कोई विवाद नहीं है, तो भी आप्त के अभिप्राय का ज्ञान भी परम्परा से प्रवृत्ति के प्रति कारण होता ही है। इसी लिए 'वेद पढ़ो' आप्त पुरुष की इस बात को सुनकर समझदार बालक इस प्रकार का अनुमान करता है कि वेद का अध्ययन मेरे लिए बलवान् अनिष्ट का हेतु नहीं है, मेरे प्रयत्न से साध्य है और मेरे इष्ट का भी साधन है, क्योंकि मेरे शुभ चिन्तक प्रामाणिक व्यक्ति ने मुझे इसको करने के लिए कहा है, जहाँ जहाँ पर जिस व्यक्ति के कर्तव्य के रूप में उस व्यक्ति के शुभचिन्तक व्यक्ति ने इस तरह की किसी बात को करने का निर्देश दिया है, वहाँ वहाँ पर वह बात उस उस व्यक्ति के लिए बिना किसी बलवान् अनिष्ट को पैदा किये उसकी अभीष्ट वस्तु की सिद्धि में ही कारण हुई है। आप्त पुरुष का लक्षण यही है कि वह भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (ठगने की इच्छा), करणापाटव (इन्द्रियों की दुर्बलता) आदि दोषों से रहित हो। इससे भ्रान्त व्यक्ति की आज्ञा आप्त वचन नहीं कही जायगी। इसी तरह से बालक अध्ययन करने से मेरे विशिष्ट इष्ट की सिद्धि होगी, ऐसा अनुमान से जान लेता है, तदनन्तर वह अध्ययन में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार विशिष्ट इष्ट-साधनता का ज्ञान निर्विवाद रूप से यद्यपि प्रवृत्ति का कारण है, तो भी पूर्वोक्त अनुमिति में हेतुभूत ज्ञान पूर्वोक्त पद्धति से आप्त के अभिप्राय का ज्ञान ही माना जायगा। वही पूर्वोक्त अनुमिति के द्वारा प्रवृति के प्रति कारण है। इसलिए परम्परा से प्रवृत्ति का कारणीभूत आप्त के अभिप्राय को जानने वाले बालक के ज्ञान का विषय भी प्रवृत्ति के कारणभूत का ही विषय है, अतः वह भी विध्यर्थ माना जाता है। यह माना जाता है कि शब्दार्थ अनन्यलभ्य ही होता है, अर्थात् विधिवाक्य वही कहा जा सकता है, जिसकी कि किसी अन्य प्रमाणों से प्राप्ति न हो। इस नियम के अनुसार पूर्वोक्त स्थल में आप्त के अभिप्राय को यदि विध्यर्थ माना जाता है तो यह ठीक ही है, क्योंकि तार्किक के अभिमत अनुमान आदि से इष्टसाधनता का ज्ञान वहाँ नहीं हो सकता, अतः अनन्यलभ्य होने से आप्ता-भिप्राय की ही विध्यर्थता मानी जायगी, क्योंकि उसी के आधार पर वह उसमें इष्टसाधनता का ज्ञान करता है।

नव्य नैयायिक की पद्धति से तो आप्ताभिप्राय रूप अर्थ का ज्ञान किसी भी तरह से नहीं हो सकता, क्योंकि विशिष्ट इष्टसाध-नता रूप हेतु से आप्ताभिप्रेतत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। स्वयं ही बहुत से कार्यों की इष्टसाधनता का अनुमान कर वहाँ प्रवृत्ति मानी जा सकती है, जहाँ पर कि आप्त के अभिप्राय का पता नहीं लग सकता। इस प्रकार यहाँ पर इष्टसाधनता की आप्ताभिप्राय के साथ अनैकान्तिकता है, अर्थात् नियत साहचर्य नहीं है। इस प्रकार आप्ताभिप्राय रूप अर्थ ही अनन्यलभ्य है। इसलिए उसी को विध्यर्थ माना जा सकता है। यह आप्त का अभिप्राय प्रवृत्ति का हेतु है, अतः प्रवर्तना कहलाता है, यह कार्य की प्रवृत्ति का कारण बनकर भावना कहलाता है। वाचकत्व सम्बन्ध से यह भावना शब्द में रहती है, अतः इसको शाब्दी भावना कहते हैं। 'विधिनिमन्त्रणा०' इत्यादि पाणिनि सूत्रों से लिङ्, लोट्, तव्य, तव्यत् इत्यादि प्रत्ययों की भावना रूप अर्थ में शक्ति का ज्ञान होता है। लोक में 'गुरु मुझे

निष्ठत्वात् शाब्दी भावनेत्युच्यते, विधिनिमन्त्रणामन्त्रणेत्यादिसूत्रे तत्रैव शक्तिग्रहात्। लोके गुरुर्मां प्रवर्तयतीति व्यवहारवद् गुरूच्चरितलिङ्मां प्रवर्तयतीत्यपि व्यवहारो दृश्यते। तेन गुरौ लिङि तद्युक्ते वाक्ये तदावेदकपुरुषान्तरे च प्रवर्तकत्वमनुगतम्, तेन प्रवर्तनावत्त्वमेव वाच्यम्। गुरौ समवायेनान्येषां तु तदभिधायकत्वतद्वाचकघटितत्वतद्वाचकोच्चारयितृत्वसम्बन्धैः प्रवर्तनावत्त्वं भवति। सम्बन्धाननुगमस्तु एको घट एकं रूपमित्यादि व्यवहारयोः समवायसामानाधिकरण्याभ्यां तार्किकैरङ्गीकृतत्वान्न दोषाय। न च पुरुषाभिप्रायस्य प्रवर्तकत्वेऽपि लिङादीनां तदसिद्धत्वमिति वाच्यम्, 'निद्रालोकमिच्छामि' इति कुम्भकर्णवरप्रार्थनावाक्ये कुम्भकर्णाशयविपरीतायाः शब्दगतप्रवर्तनाया अङ्गीकृतत्वात्। प्रतिज्ञावाक्यराजशासनवाक्यादीनां लौकिकप्रवर्तनाबोधकत्वं च लोके प्रसिद्धमेव। तादृशाभिप्रायराहित्येऽपि प्रतिज्ञावाक्यपारतन्त्र्येण त्रैलोक्यत्यागे हि बलिप्रवृत्तिर्दृष्टैव। तादृशशाब्दीभावनायाः कार्य्यभूता पुरुषप्रवृत्तिस्तु 'अर्थयते कामयते फलम्' इति व्युत्पत्याऽर्थयितृपुरुषनिष्ठत्वादार्थीभावनेति व्यवह्रियते।

सेयमार्थी भावना मध्यवर्तीष्टसाधनत्वाद्यनुमितिजन्येति पूर्वोक्तशब्दभावनया सह तस्याः स्वज्ञानाधीनानुमितिजन्यत्वरूपः परम्परासम्बन्धोऽपि तार्किकैरुपेयत एव। तथा च सर्वत्र विधिवाक्यस्थले विध्यर्थभूतायामार्थभावनानां विध्यर्थभूताया शाब्दभावनाया अन्वयो भवतीति स्वीकारेण सर्वस्माद्विधिवाक्यादार्थभावना पूर्वोक्तसम्बन्धेन शाब्दभावनावती इत्येवान्वयबोधो भवति।

पाकादेरन्वयव्यतिरेकाभ्यामिष्टसाधनत्वानुमानेन पाकमनुष्ठाय भोजने प्रवृत्तं देवदत्तं यदि कश्चन 'त्वं पच' इति वदेत् तदा स लोके उपहास्यो भवति। तदेतन्नव्यरीत्या न सम्भवति। पाकः इष्टसाधनमिति तन्मतरीत्या विध्यर्थो भवति।

प्रवृत्त कराते हैं' इस व्यवहार की भाँति 'गुरु के द्वारा उच्चरित भावनावाचक लिङ् लकार मुझे प्रवृत्त कराता है' इस प्रकार का भी व्यवहार देखा जाता है। इस प्रकार गुरु में, लिङ् में, लिङ्युक्त वाक्य में और उसको बताने वाले दूसरे पुरुष में भी प्रवर्तकत्व की स्थिति अनुगत है। इसलिये इन सब में प्रवर्तना माननी पड़ेगी। यह प्रवर्तना गुरु में समवाय सम्बन्ध से और अन्य स्थलों में तदभिधायकत्व, तद्वाचक-घटितत्व और तद्वाचकोच्चारयितृत्व सम्बन्ध से रहेगी। अर्थात् लिङ् में अभिधायक सम्बन्ध से, लिङ्युक्त वाक्य में वाचक-घटितत्व सम्बन्ध से और उस वाक्य के उच्चारण करने वाले पुरुष में वाचक वाक्य के उच्चारयिता के सम्बन्ध से रहेगी। एक ही प्रकार के सम्बन्ध का अनुगम न होना कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'एको घटः, एकं रूपम्' इत्यादि व्यवहारों की निष्पत्ति समवाय और सामानाधिकरण्य इन दो सम्बन्धों से तार्किक भी मानते हैं। पुरुष के अभिप्राय में प्रवर्तकता मानी जा सकती है, लिङादि में प्रवर्तकता किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती, यह कहना गलत है, क्योंकि 'निद्रालोकमिच्छामि' इस कुम्भकर्ण के वरप्राप्ति के अभिप्राय से कहे गये वाक्य में कुम्भकर्ण के आशय से विपरीत शब्दगत प्रवर्तना स्वीकृत है। प्रतिज्ञावाक्य, राज्यशासन के वाक्य आदि से लोक में लौकिक प्रवर्तना प्रसिद्ध ही है। बलि के द्वारा त्रिलोकी के राज्य के त्याग में प्रवृत्ति तो प्रतिज्ञा के पराधीन होने से ही हुई। अतः वहाँ पूर्वोक्त अभिप्राय के न रहने पर भी कोई अनौचित्य नहीं है। इस तरह की शाब्दी भावना से पैदा होने वाली पुरुष की प्रवृत्ति तो आर्थी भावना कहलाती है। क्योंकि वह फल को चाहने वाले पुरुष में रहती है।

यह आर्थी भावना अर्थात् पुरुष प्रवृत्ति मध्यवर्ती इष्टसाधनत्वादि अनुमिति से उत्पन्न होकर शाब्दी भावना से सम्बद्ध होती है। तार्किकों ने इस प्रकार सम्बन्ध कराने वाले परंपरा सम्बन्ध को भी स्वीकार किया। यह परम्परा सम्बन्ध स्वज्ञानाधीनानुमितिजन्यत्व-रूप ही है। अर्थात्–विधि को सुनकर सभी पुरुष–'यह मेरी प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार वाला है' ऐसा जानकर प्रवृत्ति के विषय में इष्ट साधनत्व आदि का अनुमान कर प्रवृत्त होता है। अतः प्रवृत्ति का कारण इष्टसाधनत्व ज्ञान हुआ। स्वइष्ट साधनत्व, तज्ज्ञानाधीना अनुमिति 'इदं मदिष्टसाधनम्'। इस अनुमिति से जन्य है प्रवृत्ति अर्थात् आर्थी भावना। एवं च इस सम्बन्ध से आर्थी भावना शाब्दी भावना से विशिष्ट बन जाती है।

अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा पाक आदि की इष्टसाधनता को जानकर भोजन बनाकर खाने में प्रवृत्त देवदत्त को यदि कोई कहे कि 'तुम खाना बनाओ' तो उसकी लोक में हँसी ही होगी। नव्य मत से यह परिहास संभव न होगा, क्योंकि उनके मत में विधि का

तत्रोपहास्यता नोपपद्यते। मीमांसकरीत्या तूपपद्यते, यत्रार्थभावनारूपा पाके प्रवृत्तिः स्वयमेव पाकादेरिष्टसाधनतामनुमाय सम्पन्ना, न विधिवाक्यश्रवणानन्तरमाप्ताभिप्रायरूपशाब्दीभावनामवगम्य तद्विषयत्वेन हेतुना पाकादेरिष्टसाधनत्वमनुमाय सम्पन्ना। प्रकृतस्थले पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनायाः प्रकृतविधिवाक्यावगम्यमानशाब्दभावनया सह स्वज्ञानाधीनानुमितिजन्यत्व-सम्बन्धो नाणुमात्रेणापीति कृत्वा मीमांसकरीत्या शाब्दबोधेऽङ्गीक्रियमाणे पूर्वोक्तविधिवाक्यात् शब्दस्वाभाव्याल्लभ्यमाना पूर्वोक्तसम्बन्धेन शाब्दभावनावती आर्थभावना इत्ययमर्थो मिथ्याभूत एवेति वक्तुरनृतवादितयोपहास्यत्वमेवेति तस्मादन्वय-व्यतिरेकाद्यनगतार्थत्वेन मीमांसकाभिमत एव विध्यर्थः।

तथा च "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (श० ११।५।६।३) इत्यध्ययनविधिरुक्तविधविध्यर्थज्ञानमन्तरेण क्रियमाणं धर्मानुष्ठानं विफलमेवेति वदन् मीमांसकानां मन्वादीनामद्ययावदनुवर्तमानधर्मानुष्ठानहेतुरित्यनुमितिं तद्धेतुभूतमुक्तप्रवर्तनाज्ञानं वाऽनाहार्य्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितनिश्चयरूपं गमयतीति मीमांसकैः प्रत्यक्षानुमानप्रामाण्यवादिनां शैली धर्ममूलविचारे परि-पाल्यते। तथा च "स्वर्गकामो यजेत" (ता० ब्रा० १६।३।३) इति वाक्ये यागः स्वर्गसाधनम्, स्वर्गकामकर्तव्यतया आप्त-प्रवर्तनाविषयत्वादिति मन्वादिभिः क्रियमाणायामनुमितौ पक्षादिकं स्पष्टमेव। तत्र कीदृशं हेतुस्वरूपं पुरस्कृत्यानुमितिः क्रियते स्म इति विचारे हेतुज्ञानमनुमितेः प्राणास्तदत्र प्रवर्तनाविषयत्वहेतुकानुमाने त्रैविध्यं लोके दरीदृश्यते।

अर्थ 'पाक इष्ट का साधन है' यह होता है। यहाँ पर उपहास्यता नहीं बन सकेगी, क्योंकि खाना पकाना इष्ट का साधन तो है ही। फिर उसका उपहास कैसा? मीमांसक के मत में यह परिहास ठीक हो जाता है, क्योंकि यहाँ पर आर्थी भावना रूप पाक में प्रवृत्ति स्वयं ही पाक आदि को इष्टसाधनता का अनुमान करके होती है, विधिवाक्य को सुनने के बाद आप्ताभिप्राय रूप शाब्दी भावना की अवगति के बाद इसी को हेतु बनाकर पाक आदि की इष्टसाधनता का अनुमान करके नहीं। प्रकृत स्थल में पुरुष प्रवृत्ति रूप आर्थी भावना का प्रकृत विधि वाक्य से ज्ञात हो रही शाब्दी भावना के साथ स्वज्ञानाधीन अनुमिति जन्यत्वरूप सम्बन्ध अणुमात्र भी नहीं है, क्योंकि विधिवाक्य श्रवण के पूर्व ही देवदत्त पाक में इष्टसाधनत्व ज्ञान से प्रवृत्त हो गया है। अतः मीमांसक पद्धति से शाब्दबोध मानने पर पूर्वोक्त विधि वाक्य से शब्द से स्वभावतः उपलब्ध हो रही पूर्वोक्त सम्बन्ध से युक्त शाब्दी भावना वाली आर्थी भावना है, इस प्रकार का अर्थ गलत है। यहाँ पर वक्ता गलत बात कह रहा है। अतः उपहास्य होता है। इस प्रकार विधि का मीमांसक संमत अर्थ ही सही है। जहाँ अन्वय-व्यतिरेक आदि से इष्टसाधनता का ज्ञान हो जाता है, वहाँ विधि मान्य ही नहीं है, क्योंकि अत्यन्त अप्राप्ति में ही विधि की प्रवृत्ति होती है।

इसी प्रकार 'स्वाध्याय का अध्ययन करना चाहिए' इस विधि वाक्य से उक्त प्रकार के विध्यर्थ को बिना जाने किया गया धार्मिक अनुष्ठान व्यर्थ है, ऐसी प्रतीति तो होती ही है, साथ में ही यह भी मालूम होता है कि मीमांसकों और मनु प्रभृति के द्वारा प्रति-पादित धर्मानुष्ठान का आज तक चला आ रहा कारण भी यह विधि वाक्य ही है। इस प्रकार इस हेतु वाक्य से अनुमिति और उसके कारणभूत प्रवर्तना ज्ञान को यह अनाहार्य अप्रामाण्य ज्ञान से असंपृक्त होने के कारण निश्चयात्मक मानता है। मीमांसक गण धर्म के के सम्बन्ध में विचार करते समय प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को स्वीकार करने वाले दार्शनिकों की तर्क पद्धति को ही मान्यता देते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि स्वाध्यायाध्ययन विधि के पूर्वोक्त विध्यर्थ ज्ञान के बिना आचर्यमाण धर्मानुष्ठान निष्फल ही है, ऐसा कहते हुए मीमांसक एवं मनु आदि महर्षियों में आज तक प्रचलित धर्मानुष्ठानं का कारण है और पूर्वोक्त अनुमिति एवं उसके हेतु-भूत पूर्वोक्त प्रवर्तना ज्ञान को अवगमन कराता है, जो कि अनाहार्य और अप्रामाण्य ज्ञान से असंपृक्त होकर निश्चय रूप है, इस प्रकार मीमांसक धर्म के मूल विचार में उस शैली का परिपालन करते हैं, जिसको प्रत्यक्ष और अनुमान प्रामाण्यवादियों ने अपनाया है। अत एव 'स्वर्ग याग की इच्छा वाला पुरुष यज्ञ करे' इस वाक्य में याग स्वर्ग का साधन है, क्योंकि स्वर्गकाम व्यक्ति के कर्तव्य के रूप में आप्त प्रवर्तना का विषय है, इस प्रकार मनु प्रभृति के द्वारा किये गये अनुमान में पक्ष आदि स्पष्ट हैं। वे लोग किस प्रकार के हेतु के स्वरूप का सहारा लेकर अनुमिति करते थे, इस पर विचार किया जाता है, तो मालूम होता है कि अनुमिति में हेतु का ज्ञान ही मुख्य आधार है। प्रवर्तना विषयक हेतु के अनुमान में लोक में तीन प्रकार देखने को मिलते हैं।

प्रभुशक्तिसमृद्धराजाज्ञारूपप्रवर्तनाविषयत्वहेतुना] इष्टानिष्टसाधनत्वे अनुमाय लोको नियमितो राजशासनेषु। तत्र हि हेतुतावच्छेदककोटौ राजा, तस्य प्रभुशक्तिसमृद्धिश्चेति द्वयं वर्तमानतयाऽनुभूयमानमपेक्ष्यते। तदुक्तं भारविणा—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः॥

अत्र हेतुतावच्छेदककोटौ प्रवर्तकपुरुषनिष्ठप्रभुशक्तिरवश्यं ज्ञातव्या भवति। अयमेव प्रभुसंमित उपदेशः।

द्वितीयस्तु - अनुमेयगतेष्टसाधनानिष्टसाधनत्वविषयकप्रमात्मकज्ञानवत्पुरुषसमवेतप्रवर्तनाविषयत्वहेतुकानुमितिस्थले दृश्यते। यथा लौकिकाप्तोच्चरितवाक्येषु। अत्र हेतुतावच्छेदककोटौ प्रवर्तकपुरुषस्यानुमेयेष्टसाधनत्वविषयकयथार्थज्ञानवत्त्वमवश्यं ज्ञातव्यं भवति। केवलप्रवर्तनाविषयत्वं च तादृशस्थले प्रवर्तकस्य तादृशयथार्थज्ञानवत्त्वानिश्चयेऽप्रयोजकत्वशङ्काकवलितशिथिलमूलमेव भवति। 'बुद्ध-मुहम्मद-यीशु' इत्यादिप्रणीतधर्मेष्वयमेव प्रकार आदृतः।

तृतीयस्तु वैदिकवाक्ये एवादृतः, अनादिसिद्धसजातीयोच्चारणसापेक्षोच्चारणकानुपूर्वीसम्बन्धिप्रवर्तनाविषयत्वेन हेतुना हि यागादौ स्वर्गादिसाधनत्वमनुमीयते। मन्वादिभिः क्रियमाणायां धर्मानुष्ठानमूलभूतानुमितौ तृतीय एव प्रकारः। मन्वादयश्च प्रथितप्रभावा ऐतिहासिकैरप्यभ्युपेयन्ते। तेऽपि कर्तारं न स्मरन्ति, किन्तु 'प्रजापतिना वेदशब्देभ्यः सृष्टिः कृता' इत्यपि वर्णयन्ति—"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्" इति।

उपदेशसहकृतश्रावणप्रत्यक्षेणैव षड्जत्वादिविवेको जायते। तेन तत्समाहारात्मको गान्धर्ववेदोऽपि परम्परामूलक एव। एवमायुर्वेदस्यापि संवादबाहुल्येन प्रामाण्यमेव, आवापोद्वापयोगानामानन्त्येन नान्वयव्यतिरेकमूलकं तज्ज्ञानं सम्भवति,

प्रभुशक्ति से समृद्ध राजा की आज्ञारूप प्रवर्तना वाक्य में यह इष्ट का साधन है या अनिष्ट का, इसका अनुमान कर लोक राजशासन से नियमित होता है, अर्थात् मैं राजाज्ञा का पालन करूँ, इसी में मेरा हित है, ऐसा जानकर ही लोक उसका पालन करते हैं। यहाँ पर इस राजाज्ञा के साथ राजा और उसकी समृद्ध प्रभुशक्ति इन दोनों की भी अनुभूति साथ में ही रहनी चाहिए। जैसा कि भारवि ने कहा है—"अपराधी को कभी क्षमा न करने वाले और शरणागत की रक्षा करने वाले राजा के वश में प्रजा स्वयं हो जाती है। जिस राजा में प्रभुशक्ति की समृद्धि का विकास नहीं हुआ है, उसके साथ न तो मित्रता करने से कोई लाभ है और न उसके शत्रु हो जाने से ही किसी को डर रहता है"। इससे प्रतीत होता है कि प्रवर्तना वाक्य के साथ प्रवर्तक पुरुष में विद्यमान प्रभुशक्ति का ज्ञान अवश्य रहता है। इसी को प्रभुसंमित उपदेश कहते हैं।

दूसरा प्रकार अनुमेय गत इष्ट साधनता अनिष्ट साधनता विषयक प्रमात्मक ज्ञान वाले पुरुष में रहने वाली प्रवर्तना को विषय बनाने वाले हेतु से जहाँ अनुमिति होती है, वहाँ देखा जाता है। जैसे कि लौकिक आप्त पुरुष के उच्चरित वाक्यों में। यहाँ पर हेतुतावच्छेदक कोटि में अर्थात् हेतु की नियामकता में प्रवर्तक पुरुष अनुमेय इष्टसाधनताविषयक यथार्थ ज्ञान वाला है, ऐसा अवश्य जानना पड़ता है। ऐसे स्थलों में यदि यह निश्चय नहीं हो पाता कि प्रवर्तक पुरुष यथार्थ ज्ञान वाला है या नहीं, तो अप्रयोजक शंका से कवलित हो जाने के कारण उस आप्त वाक्य की प्रवर्तना का मूल शिथिल हो जाता है। बुद्ध, मुहम्मद, यीशु प्रभृति के द्वारा उपदिष्ट धर्मों के सम्बन्ध में इस दूसरे प्रकार को ही स्वीकार किया गया है।

वैदिक वाक्यों के लिये तृतीय प्रकार माना जाता है। यहाँ पर याग आदि की स्वर्गसाधनता इसलिए मानी जाती है कि अनादि सिद्ध सजातीय उच्चारण की अपेक्षा रखने वाले उच्चारण की आनुपूर्वी से सम्बद्ध प्रवर्तना इन वेद वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित होती है। मनु प्रभृति के द्वारा की गई धर्मानुष्ठान की प्रमाणभूत अनुमिति में यह तृतीय प्रकार ही देखा जाता है। मनु प्रभृति अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति रहे हैं, यह बात आजकल के ऐतिहासिक भी मानते हैं। उनको भी वेद के कर्ता की स्मृति नहीं है। वे तो कहते हैं कि "प्रजापति ने वैदिक शब्दों की सहायता से ही सृष्टि की"। यह भी कहा जाता है कि—"सम्पूर्ण वेद का अध्ययन गुरु परम्परा के सहारे ही आगे बढ़ता है"।

षड्ज, ऋषभ आदि संगीत के स्वरों का विवेकज्ञान भी श्रावण प्रत्यक्ष के साथ किसी संगीतज्ञ के उपदेश के सहयोग पर ही निर्भर है। अतः इस ज्ञान को अपने में समेटने वाले गान्धर्व वेद का ज्ञान भी गुरु परम्परा पर ही आधृत है। इसी प्रकार आयुर्वेद का

विषादौ तथा करणेऽनर्थप्रसङ्गात् । तक्रकरकादीनामुष्णत्वशीतत्वे तु आगमगम्ये एव, विरुद्धसंयोगानां परिगणनदर्शनाच्च तदेव सिद्धयति । कुमारभृत्यादिकमपि प्रत्यक्षादिनाऽवगम्यमेव । पाश्चात्यचिकित्सापद्धतिरप्यायुर्वेदमूलिकैव । मन्त्रग्रामादिबहुलो धनुर्वेदोऽपि तथाभूतगुरूपदेशपूर्वक एव कार्य्यकारी आसीदितीतिहासादवगम्यते । अर्थशास्त्रेऽपि प्रधानतया विविच्यमानस्वत्वं दायभागकृन्मते शास्त्रैकगम्यम् । मिताक्षराकृन्मते प्रत्यक्षमपि शास्त्रीयोपायैरभिव्यङ्ग्यमिति तदपि न शास्त्रानपेक्षम् । अर्थशास्त्रप्रतिपाद्यो न्यायोऽपि शास्त्रोपदिष्टपरिपालनव्यवस्थारूपः शास्त्रसापेक्ष एव । महाभारते ब्रह्मणाऽर्थशास्त्रं प्रणीतमितीतिहासो विद्यते, तेन तदपि वेदमूलकम् । तथा च वेदानां मनुष्यबुद्धयनधीनत्वमपौरुषेयत्वं च सिद्धयति । वेदा अपि स्वात्मानमपौरुषेयतया प्रकाशयन्ति "पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः" (तै० ब्रा० ३।१२।९।२), "वाचा विरूपनित्यया" (ऋ० सं० ८।७५।६) इत्यादिभिः । "यत्साक्षादपरोक्षात्" (बृ० उ० ३।४।१) इत्यादि श्रुतिपादितमपरोक्षमपि ब्रह्मतत्त्वम्—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥" (श्वे०६।२३) गुरूपदेशगम्यमेवेति वदति । "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० ३।९।२६) "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति वदन् गुरोरपि ब्रह्मज्ञानं वेदाधीनमेवेति ब्रह्मज्ञानमेव सर्ववेदतात्पर्य्यविषय इति वदन् सकलमेव वेदमपौरुषेयं वदति, "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (कठो० १।२।१५) इति श्रुतेः । शौचाशौचयोः शब्दैकमूलकत्वेन तत्राप्यपौरुषेयत्व-

प्रामाण्य भी रोगनिवृत्ति के संवाद बाहुल्य को देखकर ही होता है । औषधियों के एक दूसरे में संयोग-वियोग[1] तो अनन्त हैं । इसलिए आयुर्वेद का प्रामाण्य अन्वय-व्यतिरेक मूलक नहीं हो सकता, क्योंकि एक औषध में विष मिलाने से लाभ हुआ, अतः दूसरी में भी विष मिला दिया जायगा तो अनर्थ ही होगा । मट्ठा और बरफ परिपाक में शीतवीर्य हैं या उष्णवीर्य, इनका ज्ञान शास्त्र से ही होता है । विरुद्ध स्वभाव के द्रव्यों के संयोग शास्त्रों में परिगणित हैं, इससे भी उक्त बात सिद्ध होती है । आयुर्वेद की कौमारभृत्य शाखा का ज्ञान भी प्रत्यक्ष से संभव नहीं है । पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति का आधार भी आयुर्वेद शास्त्र ही है । धनुर्वेद, जिसमें कि अनेक प्रकार के मन्त्रों की सहायता ली जाती है, तदभिज्ञ गुरु के उपदेश से प्राप्त होने पर ही सफल हो पाता है, इतिहास-पुराण आदि से यह ज्ञात होता है । दायभागकार के मत में अर्थशास्त्र का प्रधान विवेच्य विषय स्वत्व है, इसका ज्ञान केवल शास्त्र से ही हो सकता है । मिताक्षराकार के मत में यह स्वत्व यद्यपि प्रत्यक्ष है, तो भी शास्त्रीय उपायों से अभिव्यक्त होने के कारण शास्त्र से अनपेक्ष किसी प्रकार नहीं माना जा सकता । अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य न्याय भी है, यह एक प्रकार के शास्त्र के द्वारा उपदिष्ट प्रजा के परिपालन, अर्थात् रक्षा की एक व्यवस्था है, अतः यहाँ पर भी शास्त्र की अपेक्षा है ही । महाभारत में बताया गया है कि ब्रह्मा ने राजशास्त्र (नीतिशास्त्र = अर्थशास्त्र) की रचना की, इसलिये यह भी वेदमूलक ही है । इस प्रकार इन सब शास्त्रों के आधारभूत वेदों की अपौरुषेयता इसलिये सिद्ध हो जाती है कि इनकी रचना केवल मनुष्य की बुद्धि से नहीं हुई है ।

स्वयं वेदों में भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनसे कि इनकी अपौरुषेयता सिद्ध होती है । "इन वेदों का उपदेश पूर्वजों ने अपने पूर्वजों से पाया है", "इस निर्विकार नित्य वाणी से" इत्यादि अनेक श्रुतियाँ इसी विषय का प्रतिपादन करती हैं । "जो साक्षात् अपरोक्ष है, वह ब्रह्म है" इस श्रुति में प्रतिपादित अपरोक्ष ब्रह्मतत्त्व भी "जिस व्यक्ति की देवता में भक्ति है और देवता के ही समान गुरु में भी भक्ति है, उसी महात्मा को उपनिषत् प्रतिपादित उक्त अर्थों का यथार्थ प्रकाश मिलता है" इस श्रुति के अनुसार गुरु के उपदेश से ही ज्ञान होता है । "मैं उस उपनिषत्प्रतिपाद्य पुरुष के विषय में पूछता हूँ", "उस बृहत् ब्रह्म को अवेदज्ञ नहीं जान पाता" इन श्रुतियों से ज्ञात होता है कि गुरु को भी वेदों के द्वारा ही ब्रह्म का ज्ञान होता है । यह ब्रह्मज्ञान ही सारे वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य है, ऐसा कहने से ज्ञात होता है कि यह सारा वेद अपौरुषेय है, "सारे वेद इस ब्रह्मपद का ही विवेचन करते हैं" यहाँ पर यही बात कही

---

1. आवाप अर्थात् किस ओषधी में कितनी मात्रा में किस-किस ओषधी को मिलाने से क्या लाभ होगा और उद्वाप अर्थात् किस ओषधी में कितनी मात्रा में कितने अंश को निकाल देने से क्या लाभ होगा, इस पद्धति का ज्ञान आयुर्वेद शास्त्र से होता है ।

मेव सिद्धयति। वेदाध्ययनसामान्यादिति विहितवेदाध्ययनं ग्राह्यम्। सूर्य्यमण्डलस्याप्रक्षयो वेदप्रतिपादिताहुतिमूलकः, "वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य्यः" (तै० ब्रा० ३।१२।९।१) इति मन्त्रवर्णात्। "ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः" (तै० ब्रा० ३।१२।९।१) "वाचा विरूपनित्यया" (ऋ० सं० ८।७५।६), "ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यनार्षत्" (तै० आ० २।९) इत्यादिभिरप्यपौरुषेयत्वमेव।

प्रामाण्यं त्वर्थगतसत्यत्वमेव। तच्च वेदान्तिमते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतिसिद्धसत्यस्वरूपब्रह्मतादात्म्यवत्तयैव, ज्ञानमात्रे विषयस्य भानाभ्युपगमात्। स्वतः सिद्धमेव स्वतो ग्राह्यमित्युच्यते। भट्टमते तु कालसिद्धत्वमेव सत्यत्वम्। सत्यत्वं स्वतः सिद्धम्, "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते" इति तदुक्तेः। ज्ञानमात्रस्वप्रकाशतावादिप्रभाकरमते ज्ञानविषयत्वरूपं सत्यत्वम्, ज्ञानमात्रस्यैतद्रीत्या यथार्थत्वात्। अतो रजतभ्रमे सत्यतादात्म्यस्य स्वभावतः स्फुरणादेव रजतार्थिप्रवृत्तिः। पश्चाद्बाधकज्ञाने दुष्टकरणजन्यत्वशङ्कायां वा प्रातिभासिकरजतादौ मिथ्यात्वग्रहात् पूर्वगृहीतं प्रामाण्यमपोद्यते। एवं च प्राप्ताप्राप्तविवेके क्रियमाणे मिथ्यात्वेनाज्ञायमानरजतविषयज्ञानस्यैव शुक्तिरजतादिस्थले प्रवृत्तिहेतुत्वमिति पर्य्यवसिते मिथ्यात्वेनाज्ञायमानत्वमेव प्रवृत्तिप्रयोजकमर्थगतं सत्यत्वं यत्पूर्वमासीत्, तदेव कारणदोषबाधकज्ञानादिसम्भवे प्रातिभासिकरजताद्विलुप्यति। भूतले घटानयनानन्तरं घटाभावस्येव मिथ्यात्वेन ज्ञायमानतादशायां तेन रूपेणाज्ञायमानतारूपस्य तदभावसमशीलार्थसत्यत्वस्यापि विलोपे न विप्रतिपत्तिः।

नैयायिका अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितस्य शुक्तिरजतज्ञानस्य प्रवर्तकत्वं मन्यन्ते। प्रयोजककोटिप्रविष्टं तत्र ज्ञानगतमप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितत्वं वेदान्तिसम्मतेन मिथ्यात्वेनाज्ञायमानत्वरूपेणार्थगतसत्यत्वेन समानमेव। तथा च बाधक-

गई है। धर्मशास्त्र प्रतिपादित शौच, अशौच आदि भी केवल शास्त्रमूलक हैं, अतः इनकी भी अपौरुषेयता सिद्ध होती है। "वेदाध्ययनसामान्यात्" यहाँ पर विहित वेदाध्ययन गृहीत होता है। सूर्यमण्डल का जो कभी क्षय नहीं होता, इसका कारण वेदप्रतिपादित आहुतियाँ हैं। "सूर्य सदा तीनों वेदों के साथ चलता है" यह वैदिक मन्त्र इसमें प्रमाण है। "ऋग्भ्यो जातं", "वाचा विरूप०", "ब्रह्म स्वयं०" इत्यादि श्रुतियाँ भी वेदों की अपौरुषेयता को ही सिद्ध करती हैं।

अर्थगत सत्यता को ही प्रामाण्य कहा जाता है। "सत्यं ज्ञान०" इत्यादि श्रुति से सिद्ध सत्य स्वरूप ब्रह्म के साथ तादात्म्य होने से ही वेदान्ती ज्ञानमात्र में अर्थगत सत्यता का ज्ञान मानते हैं। इसलिये इनके मत से प्रामाण्य स्वतःसिद्ध एवं स्वतोग्राह्य है। कुमारिल भट्ट के मत में सत्यत्व की सिद्धि काल के अधीन है, अतः यहाँ पर भी सत्यत्व स्वतः सिद्ध है, क्योंकि कुमारिल का कहना है कि "ऐसी कोई भी प्रतीति नहीं है, जिसमें कि काल न भासित होता हो।" ज्ञानमात्र को स्वप्रकाश मानने वाले प्रभाकर के मत में ज्ञान का विषयमात्र सत्य है, क्योंकि इनके मत में सभी ज्ञान यथार्थ हैं। इसलिये शुक्ति में रजत का भ्रम होने पर सत्य के तादात्म्य का स्वभावतः स्फुरण होने से ही रजतार्थी की प्रवृत्ति होती है। बाद में बाधक ज्ञान होने पर अथवा यह शंका होने पर कि कहीं यह ज्ञान दुष्ट कारणों से तो उत्पन्न नहीं हो गया है, प्रातिभासिक रजतप्रतीति के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाने पर पूर्वगृहीत प्रामाण्य हट जाता है। इस तरह से रजत की प्राप्ति होती है कि नहीं, इस विवेक के आधार पर जिस रजतविषयक ज्ञान में मिथ्यात्व की प्रतीति नहीं होती, वही प्रतीति शुक्तिरजत स्थल में भी प्रवृत्ति का कारण बनती है, ऐसा मान लेने पर मिथ्यात्वरूप से अज्ञात अर्थगत प्रवृत्ति का प्रयोजक जो सत्यत्व पहले था, वही कारणदोष, बाधकज्ञान आदि के होने पर प्रातिभासिक रजत से लुप्त हो जाता है, यह मानना पड़ेगा। भूतल पर घट ले आने के बाद जैसे घटाभाव नहीं रहता, उसी तरह से रजत की मिथ्याप्रतीति होने पर रजत रूप में ज्ञान न होने वाले पदार्थ का स्वभाव उसके अभाव के सदृश ही मानना पड़ेगा, अतः घटाभाव के समान ही उसकी सत्यता का भी विलोप हो हो जायगा, इसमें कोई विवाद नहीं है।

नैयायिक अप्रामाण्य ज्ञान से असंपृक्त शुक्तिरजत ज्ञान को प्रवर्तक मानते हैं, अर्थात् जब तक शुक्तिरजत ज्ञान अप्रमाण नहीं है, ऐसी बुद्धि होती है, तभी तक प्रवृत्ति होती है। इसलिये प्रवृत्ति में शुक्तिरजत के ज्ञान के साथ अप्रामाण्य ज्ञान का न होना ही प्रवृत्ति कराने वाला है। यहाँ नैयायिक का मत वेदान्ती के समान ही है, क्योंकि जैसे नैयायिक शुक्तिरजत ज्ञान को अप्रामाण्य ज्ञान से अछूता कहता है, वैसे ही वेदान्ती मिथ्यारूप से अज्ञायमान कहता है। मिथ्यारूप से नहीं जाना गया, इसलिये उस ज्ञान के अर्थ में

ज्ञानकारणदोषज्ञानादिभिर्नैयायिकमतेऽपि प्रवृत्तिप्रयोजकीभूताप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितत्वस्यापवादो निरपवाद एव। तथा च प्रामाण्यपरतस्त्ववादिभिर्नैयायिकैः स्वतःप्रामाण्यपक्षे उद्भाव्यमानं दूषणं व्यर्थमेव।

वेदान्तिरीत्या साक्षिप्रत्यक्षग्राह्यत्वात् संशयविपर्ययाद्यविषयत्वम्। नैयायिकमते तु प्रतियोगिस्मरणयोग्यानुपलब्धि-सहकृतमनोजन्यप्रत्यक्षविषयत्वसम्भवस्थले मनोग्राह्यत्वम्, असम्भवस्थलेऽपि संशयविपर्ययाद्यविषयत्वमेव। ज्ञानाज्ञानविषयत्व-सन्देहं प्रति ज्ञानाज्ञानयोः स्वरूपत एव हि तन्मते प्रतिबन्धकत्वम्। तदुक्तम्—"नहि जानन्नेव न जानामीति प्रत्येति" इति। अत्र जानन्निति अजानन्नित्यस्याप्युपलक्षणम्, न जानामीति च जानामीत्यस्याप्युपलक्षणम्, अनुभवतौल्यात्। भट्टमतेऽप्ययमेव न्यायः। तथा च सर्वमतेन मिथ्यात्वेनाज्ञायमानत्वस्य प्रवृत्तिप्रयोजकप्रामाण्यस्यासंदिग्धत्वरूपस्वतःसिद्धत्वेऽविप्रति-पत्तिरेव।

नहि त्रिकालाबाधितत्वरूपं व्यावहारिकसत्यत्वं वा सर्वथाऽबाध्यरूपं वा परमार्थिकसत्यत्वं वा उत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा स्वतः सिद्धमिति वेदान्तिनो भाट्टाः प्राभाकरा वा वदन्ति, तस्यातीन्द्रियकालत्रयघटितत्वेन वेदान्तिरीत्या साक्षिभास्यत्वा-सम्भवात्, तदन्यरीत्याऽसंदिग्धत्वासम्भवाच्च परतस्त्वस्यैव तैरङ्गीकारात्। एवं च तदभाववति तदप्रकारकत्वरूपप्रमात्वस्य ज्ञानगतस्य प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वरूपवेदान्तिमतसिद्धार्थगतसत्यत्वसमशीलस्य परतस्त्वं नैयायिकैरुच्य-मानं नापराधः, तद्विषये उभयोरपि समानत्वात्। तथा चोभयमतरीत्या तदनुमेयमेव, न साक्षिमात्रभास्यम्। तदनुमितिस्तु

सत्यता है ही। इस तरह से बाधकज्ञान, कारणगत दोष आदि के द्वारा नैयायिक के मत में भी प्रवृत्ति के प्रयोजक अप्रामाण्य ज्ञान से अछूतेपन का बाध अपने आप हो जाता है, अतः प्रामाण्य का परतस्त्व मानने वाले नैयायिक का स्वतः प्रामाण्य के पक्ष में दोष का उद्भावन करना व्यर्थ है।

वेदान्ती के मत में प्रामाण्य के साक्षी के प्रत्यय से गृहीत होने से उसमें संशय, विपर्यय आदि की संभावना नहीं रहती। नैयायिक के मत में तो प्रतियोगी[1] स्मरण और योग्यानुपलब्धि सहकृत मन से उत्पन्न प्रत्यक्ष की संभावना स्थल में मनोग्राह्यता मानी जाती है और जहाँ इसकी संभावना नहीं रहती वहाँ पर भी संशय-विपर्यय आदि की विषयता नहीं बनती, क्योंकि नैयायिकों के मत में ज्ञान और अज्ञान विषयक सन्देह के प्रति ज्ञान और अज्ञान स्वयं ही प्रतिबन्धक माने जाते हैं। जैसा कि कहा गया है—"जानते हुए ही नहीं जानता हूँ ऐसा बोध नहीं होता"। यहाँ पर जानन् पद 'अजानन्' का उपलक्षण है और इसी प्रकार 'न जानामि' भी 'जानामि' का उपलक्षण है, क्योंकि इस प्रकार का अनुभव दोनों में समान है, अर्थात् जैसे जानते हुए 'नहीं जानता' ऐसा ज्ञान नहीं होता, वैसे ही न जानते हुए 'जानता हूँ' ऐसा ज्ञान भी नहीं होगा। कुमारिल भट्ट के मत में भी यही रीति है। अतः सभी के मत से मिथ्यारूप से न जाने गये प्रवृत्ति के प्रयोजक प्रामाण्य का सन्देहरहित रूप स्वतः सिद्ध है, इसमें किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है।

वेदान्ती, मीमांसकों में भाट्ट एवं प्राभाकर ऐसा नहीं कहते हैं कि प्रामाण्य की उत्पत्ति या ज्ञप्ति में तीनों कालों में अबाधित रहना व्यावहारिक सत्यता अथवा सर्वथा अबाधित रहना पारमार्थिक सत्यता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि वेदान्तियों की रीति से वह अतीन्द्रिय कालत्रय घटित होने से साक्षिभास्य नहीं है (साक्षिभास्यता के लिए कालत्रय घटित होना आवश्यक नहीं है)। मीमांसक मत की रीति से प्रामाण्य में असंदिग्धता का संभव न होने से परतस्त्व ही स्वीकृत किया जाता है। असन्दिग्धता का अभाव संवादि प्रवृत्ति जनकत्व हेतु से निराकृत होने पर यह असन्दिग्ध है तो प्रमाण है। इस प्रकार प्रामाण्य का परतस्त्व ही सिद्ध होता है। जैसा कि तद्वति तत्प्रकारक ज्ञान प्रमा है, उसी प्रकार तदभाववति तदप्रकारक ज्ञान भी प्रमा है। इससे असंदिग्धता का संभव निराकृत हो जाने पर प्रामाण्य गृहीत होता है। अतः ज्ञानगत इस प्रकार के प्रमात्व को परतस्त्व व्यवहार करना नैयायिकों का उचित ही है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रमात्व काल-त्रय निषेध का प्रतियोगी नहीं है, अर्थात् कालत्रय-निषेध का प्रमात्व प्रतियोगी तब बन सकता है जब कि बाध या सन्देह होकर यह ज्ञान प्रमा नहीं, ऐसा निषेध मिलता हो। जैसा कि वेदान्तियों के मत में सर्वथा अबाध्यत्व रूपी पारमार्थिक सत्यता (अर्थात् सिद्ध अर्थगत

---

१. जो वस्तु बाहर मिल सकती हो, किन्तु मिल न रही हो और उसका स्मरण हो रहा हो, साथ ही मन से उसका अनुभव संभव हो, वह मानसिक ज्ञान का विषय बनती है, ऐसा नैयायिक मानते हैं।

संवादिप्रवृत्तिजनकत्वादिभिरुभयमतेऽपि कर्तव्येव। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्यजन्यबोधे ऐहिकदेहानुभोग्यपारलौकिक-सुखसाधनताविषयकसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वस्य हेतोर्ज्ञानं कस्यापि न सम्भवतीति तादृशबोधस्य त्रिकालाबाध्यवस्तुविषयकत्वं कथमनुमेयमित्यंशो विमर्शनीयः।

संवादिप्रवृत्तिविषयत्वेन हेतुना त्रिकालाबाधितविषयकत्वरूपं प्रामाण्यमनुमीयत इति वदतां नैयायिकानामेकमात्रे-णानेनैव हेतुना त्रिकालाबाध्यवस्तुविषयकत्वमनुमेयमिति नाशयः, 'इयं पृथिवी' इति ज्ञाने हि प्रामाण्यं गन्धवद्विशेष्यकत्वे सति पृथिवीत्वप्रकारकत्वेन हेतुनाऽप्यनुमीयत इति हि ते वदन्ति। तथा च संवादिप्रवृत्तिजनकत्वं प्रामाण्यानुमितौ हेतुरिति तेषामभिधानं यथासम्भवमन्येषामपि हेतूनामुपलक्षणमित्येव तेषामाशयः। अतः स्वर्गकामादिवाक्यजन्यज्ञानसाधारण्येन व्यावहारिकसत्यत्वानुमानहेतवः के वा सम्भवन्तीति विमृश्यते।

तत्र नैयायिकमते ज्ञानसामान्य एव विशिष्टविषयकत्वं नाम अग्रे विवक्ष्यमाणस्वरूपप्रामाण्यचिह्नं स्वतो ग्राह्यं स्वीकृतमस्ति। यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं तत्त्वं हेत्वाभासत्वम्। पर्वतो वह्निमान् धूमादिति सद्धेतुस्थले 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' इति प्रमात्मकज्ञानमादायानुमितिप्रतिबन्धकीभूततादृशज्ञानविषयत्वस्य प्रमाविषयीभूते पर्वतादौ सत्त्वा-दतिव्याप्तिमाशङ्क्य यद्विषयत्वव्यापिका प्रकृतानुमितिप्रतिबन्धकता तत्त्वं हेत्वाभासत्वमिति परिष्कारेणातिव्याप्तिपरिहारः। पर्वतविषयकत्वस्य पर्वतो वह्न्यभाववानिति यत्किञ्चिज्ज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वेऽपि पर्वतविषयकाणां बहूनां ज्ञानानां पर्वतो वह्निमान्, पर्वतो धूमवान्, पर्वतः पाषाणमयः—इत्यादीनामनुमित्यप्रतिबन्धकत्वेन लक्षणे यत्पदोपादेयपर्वतविषयकत्वं तादृशबहुज्ञानसाधारणं प्रति अस्तु, इति प्रतिबन्धकतायास्तादृशबहुज्ञानव्याप्तेर्व्यापकत्वासम्भवात्।

सत्यता) है, उसी के समान यह भी है। इसी से नैयायिकों का ज्ञानगत प्रामाण्य में परतस्त्व कहना अपराध नहीं है। जब कि 'यह ज्ञान भूत भविष्यद् वर्तमान कालों में अबाधित विषयक प्रामाण्य वाला है अथवा सर्वथा अबाधित विषयक प्रामाण्य वाला है' सिद्ध करने के लिए संवादिप्रवृत्तिजनकत्व को हेतु मानना अनिवार्य है, तब दोनों की समानता आती ही है। अतः दोनों के मत में यह अनुमेय ही है, साक्षिभास्य नहीं है। इस प्रकार की पद्धति स्वर्गकाम आदि वेद वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान में नहीं हो सकती है, क्योंकि यागजन्य स्वर्ग आदि फल अलौकिक हैं, इस शरीर से वे उपभोग करने की स्थिति में नहीं है। पारलौकिक सुख साधन के विषय में संवादिप्रवृत्तिजनकत्व हेतु का ज्ञान असंभव है। अतः वेदवाक्यजन्य बोध में कालत्रयाबाध्यवस्तुविषयकत्व (अर्थात् यह ज्ञान तीनों कालों में अबाध्य=बाधित नहीं होने वाले वस्तु को विषय बनाता है) कैसे अनुमेय हो सकता है? यह अंश विमर्शनीय है।

नैयायिकों का यह आशय नहीं है कि ज्ञानगत प्रामाण्य का अनुमान एकमात्र संवादिप्रवृत्तिजनकत्व हेतु से ही करना है। स्थल के अनुसार वह हेतु भिन्न भी है। जैसा कि 'यह पृथ्वी है' ज्ञान में हेत्वन्तर से ही प्रामाण्य अनुमित है। गन्धवत्ता को विशेष्य रखते हुए पृथिवीत्व विशेषण हो, इस हेतु से प्रामाण्य का अनुमान है। इसी प्रकार वाक्यजन्य ज्ञान में प्रामाण्य 'आप्तोच्चरित्व' हेतु से अनुमित होता है। अतः प्रामाण्य की अनुमिति में संवादिप्रवृत्तिजनकत्व हेतु अन्य हेतुओं का भी उपलक्षक है। अब यह विमर्श करना आवश्यक है कि स्वर्गकाम वाक्य से उत्पन्न ज्ञान में वह साधारण हेतु कौन है, जो व्यावहारिक सत्यता का अनुमान कर सकेगा।

नैयायिकों ने सभी प्रकार के ज्ञानों में चाहे प्रत्यक्ष से हो अथवा अनुमिति हो या शब्द हो, सब जगह प्रामाण्य का एक चिह्न माना है जो 'विशिष्टविषयकत्व' कहलाता है। इस अनुमितिजन्य ज्ञान में विशिष्टविषयकत्वरूप प्रामाण्य चिह्न की सिद्धि के लिए निष्कृष्ट हेत्वाभास लक्षण का मूल में पूज्य स्वामी जी ने विस्तृत रूप से विचार किया है। हेत्वाभास सामान्य का यह लक्षण है—'यद्रूप-विशिष्टविषयकत्वेनानुमितितत्कारणान्यतरप्रतिबन्धकत्वं तत्त्वं हेत्वाभासत्वम्'। इस लक्षण के द्वारा निष्कर्ष निकलता है कि सभी यथार्थ ज्ञानों में शुद्ध विषय के अतिरिक्त अन्य भी विषय विशेषण रूप से अनुभूयमान हैं। अतः ज्ञानमात्र विशिष्टविषयक सिद्ध होता है। एक दो उदाहरणों में विशिष्टविषयकत्व दिखाया जाता है—'पर्वत वह्निमान् है' इस अनुमिति में 'पर्वत वह्निविरहित है' ऐसा यत्किञ्चिज्ज्ञान होने पर वह अनुमिति का प्रतिबन्धक हो जाता है, किन्तु पर्वत को विषय रखनेवाले 'पर्वत पाषाणमय है'

पुनश्च—ह्रदो वह्निमान् धूमादित्यादिस्थले साध्याभाववत्पक्षरूपबाधहेत्वाभासस्य वह्न्यभाववद्ह्रदादेर्यत्पदेनोपादाने "विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते" इति न्यायेन तादृशह्रदविषयकत्वस्य शुद्धह्रदविषयकेषु ह्रदो जलवान् मीनवान् शैवालवान् इत्यादिषु बहुषु ज्ञानेषु विद्यमानतया, अनुमितिप्रतिबन्धकत्वस्य च पूर्वोक्तरीत्यैव तादृशबहुज्ञानावृत्तित्वेनाव्यापकतया यद्विषयत्वव्यापिका प्रकृतानुमितिप्रतिबन्धकता नास्तीति लक्षणानुपपत्तिमाशङ्क्य यद्विषयत्वपदेन विशिष्टविषयकत्वमेव लक्षणे विवक्षितम्। गूढार्थतत्त्वालोकक्रोडपत्रिकायां सर्वनैयायिकसम्मतोऽयमर्थ उक्तः। अस्ति च यथार्थज्ञानमात्रे शुद्धविषयत्वादन्यद्विशिष्टविषयकत्वमनुभूयमानम्। 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' इति ज्ञानानन्तरं 'वह्न्यभाववद्ह्रदमहं जानामि' इति पूर्वोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यवमृश्यते। तदेव विशिष्टविषयतायां प्रमाणम्। तथाहि—पर्वतो वह्न्यभाववानिति भ्रमानन्तरं तस्य भ्रमत्वाज्ञानदशायां यद्यपि 'वह्न्यभाववन्तं पर्वतमहं जानामि' इति प्रत्यवमर्शो यथार्थज्ञानपरामर्शेन तुल्य एव, तथापि भ्रमत्वे ज्ञाते तादृशपरामर्शो न भवत्येव, पर्वतं वह्न्यभाववत्तया जानामीत्येव वदन्ति लौकिकाः। तेन विशिष्टविषयकत्वपरामर्शो भ्रमत्वाज्ञानदशायामेव जायते। अन्यथा तु न भवति। भ्रमत्वाज्ञानरूपदोषवशाद् वह्न्यभाववत्पर्वतमहं जानामीत्याकारको विशिष्टविषयकत्वावगाही परामर्शो दोषजन्यत्वाद् भ्रमरूप एव। 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' इत्यादि यथार्थज्ञानेषु तु वह्न्यभाववद्ह्रदमहं जानामीति परामर्शस्याबाधाद् विशिष्टविषयकत्वसिद्धिर्निष्प्रत्यूहेति।

'अजमहं जानामि' इति विशिष्टविषयकेऽपि धूर्तत्रयवाक्यैर्दुर्बलविषयेऽप्रामाण्यमुत्पाद्यते। तत्र यथा गृहीतमपि विशिष्टविषयकत्वं ज्ञानगतमप्रामाण्यं ज्ञानेऽतितिरोहितं भवति, न पुनर्नास्त्येवेति, तादृशज्ञानस्य यथार्थत्वे विशिष्टविषयकत्वानपायात्; निर्दुष्टकरणजन्यतया यथार्थज्ञानमात्रस्य विशिष्टविषयकत्वमस्तीति।

तथा च ज्ञानप्रामाण्यस्थलेऽपि पूर्वोक्तरीत्या तत्तन्मतानुसारेण सत्तादात्म्यकालसम्बन्धित्वादिसत्यत्वविशिष्टविषयकत्वं ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यत्वम्, मिथ्यात्वेनाज्ञायमानविषयकत्वं च दोषज्ञानाभावबाधकज्ञानाभावप्रयोज्यमित्युभयं तत्प्रवृत्तिप्रयोजकमिति रीत्या पूर्वोक्ताभावज्ञानद्वयसहकृतज्ञानसामान्यसामग्रीजन्यज्ञानत्वे तद्विषयत्वव्याप्तिरुत्सर्गरूपा। तदुक्तं भट्टपादैः—

'पर्वत धूमवाला है' इत्यादि ज्ञान पूर्वोक्त अनुमिति के प्रतिबन्धक नहीं हैं, अतः अनुमिति का विषय पर्वत पूर्वोक्त अनेक ज्ञानों का साधारण विषय हो जाने से यत्किञ्चिज्ज्ञान के द्वारा अनेक ज्ञानों की व्यावृत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् यत्किञ्चिज्ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। इस प्रकार हेत्वाभास में अतिव्याप्ति का परिहार बन जाता है।

इसी प्रकार जहाँ पक्ष साध्याभाववान् होने से बाध हेत्वाभास है, जैसा कि 'तालाव वह्निवाला है, धूम होने से' यहाँ तालाव वह्नि से विरहित है, ऐसा ज्ञान होकर 'वह्नि से विरहित तालाब का मैं अनुभव करता हूँ' इस प्रकार परामर्श होता है तो यही ज्ञान के विशिष्ट विषयकत्व में प्रमाण है। यही प्रामाण्य का चिह्न है।

बकरे के साथ जाते हुए व्यक्ति को 'बकरे को मैं जानता हूँ' ऐसा विशिष्ट विषयक ज्ञान होने पर भी कई धूर्तों के अनेक वाक्यों से अपने ज्ञान में सूक्ष्म रूप से अप्रामाण्य बुद्धि रहती ही है। यह ज्ञान भी विशिष्ट विषयक ही है। इस तरह से यह सिद्ध होता है कि यथार्थ ज्ञानों में शुद्ध विषय से अतिरिक्त अन्य भी विषय विशेषण रूप से अनुभूयमान हैं।

इसी प्रकार वेद वाक्य द्वारा उत्पन्न यथार्थ ज्ञान भी अप्रामाण्य शंका से कवलित होने पर सफल नहीं बनता है तो मिथ्यारूप से अज्ञायमान होते हुए भी अर्थगत सत्यता को मानने पर वह अप्रामाण्य शंका का अपवाद बन जाता है। प्रामाण्य के विशिष्टविषयकत्व में यही चिह्न है। नैयायिकों की रीति से विशिष्टविषयकत्व रूप प्रमाचिह्न ज्ञानगत अप्रामाण्य शंका का अपवाद बन जाता है। अतः ज्ञानगत प्रामाण्य स्थल में भी पूर्वोक्त रीति से अर्थगत सत्तादात्म्य कालसम्बन्धित्वादि सत्यता आदि विशिष्ट विषयकता ज्ञान सामान्य सामग्री प्रयोज्य है, एवं मिथ्या रूप से अज्ञायमान विषयकता दोषज्ञानाभाव तथा बाधक ज्ञानाभाव प्रयोज्य है। अर्थात् जहाँ जहाँ ज्ञान सामान्य सामग्री है वहाँ वहाँ अर्थगत पूर्वोक्त सत्यता विशिष्टविषयकता है, एवं जहाँ जहाँ दोष ज्ञानाभाव तथा बाधक ज्ञानाभाव है, वहाँ वहाँ मिथ्या रूप से अज्ञायमानविषयकता रहेगी। इस प्रकार ये दोनों प्रामाण्य की प्रवृत्ति के प्रयोजक हैं। इसरीति से दोषज्ञानाभाव एवं

तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता । अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥ (चो० सू. वा. ५३)

त्रिकालाबाध्यवस्तुविषयकत्वस्य प्रमात्वस्य सिद्धिरपि प्रोक्तयुक्त्यैव सिद्ध्यति । तथाहि—मिथ्यात्वेनाज्ञायमानवस्तुविषयकत्वस्य पूर्वोक्तरीत्या सिद्धौ विशिष्टविषयकत्वरूपं न्यायसम्मतमपि प्रामाण्यचिह्नं व्यज्यते, विशिष्टविषयत्वस्य तादृशप्रमात्वव्याप्यतायामव्यवस्थापितत्वात् । अनभ्यासदशायां 'इदं ज्ञानं प्रमा न वा' इति संशयानुपपत्तिः, प्रामाण्यस्य स्वतोग्राह्यत्वोक्तेः । सत्त्वेऽपि विशिष्टविषयत्वरूपप्रामाण्यचिह्नस्य स्वतोग्राह्यत्वे कस्याप्यविवादात् । अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानमात्रे प्रत्यवमृश्यमाणस्य तस्य चिह्नस्य त्रिकालाबाध्यवस्तुविषयत्वानुमापकत्वेऽविवाद एव । सर्वेषां तादृशविशिष्टविषयत्वेऽनुभूयमानेऽपि यदि दैवाद् व्याप्तिसंस्कारस्यानुद्बोधः, तदा तत्कल्पितस्य चिह्नस्यापि प्रामाण्यानुमित्यपर्याप्ततया अनभ्यासदशायाम् 'इदं ज्ञानं प्रमा न वा' इति संशयोत्पत्तिः ।

बाधनिश्चयः कारणदोषनिश्चयश्च प्रामाण्यापवादकारणम् । श्रुतिजन्ये तत्प्रयोज्ये वा यागादिनिष्ठस्वर्गसाधनताज्ञाने पूर्वोक्तापवादकयोरभावात् प्रामाण्यमेव । प्रतियोगिग्रहणसमर्थस्यैव तदभावबोधकत्वस्य रसाभावादेश्चक्षुरादिक्रियाग्राह्यत्वोपपत्तये वक्तव्यत्वेन यागनिष्ठस्वर्गसाधनत्वाग्राहिणः प्रत्यक्षप्रमाणस्य तदभावबोधकताया वक्तुमशक्यत्वात् । एवं प्रत्यक्षमूलकानुमानादीनामपि तदभावसाधकत्वासम्भवः । दोषज्ञानमपि निश्चयात्मकं श्रुतिजन्ये बोधे न सम्भवत्येव । तज्जन्यबोधस्य भ्रमस्थले निश्चित एव भ्रमात्मकं निश्चितकार्यं प्रत्यन्वयव्यतिरेकादिना कल्प्यमानस्य कारणविशेषस्य भ्रमजनकत्वरूपदोषत्वं निश्चेतव्यम् । भ्रमस्यासंप्रतिपत्तौ कुतस्त्या दोषजन्यत्वनिश्चितिः ? दुष्टकरणजन्यत्वनिश्चयस्तु तर्कविरुद्ध एव ।

बाधकज्ञानाभाव विशिष्ट ज्ञानसामान्य सामग्री से उत्पन्न ज्ञान में तद्विषयकत्व व्याप्ति उत्सर्ग सिद्ध है । इसी बात को भट्टपाद ने 'तस्माद् बोधात्मकत्वेन' इत्यादि कारिका से कहा है ।

तीनों काल में बाधित न होनेवाली वस्तु के ज्ञान की सत्यता की सिद्धि भी इसी युक्ति से होती है । जैसे कि पूर्वोक्त रीति से मिथ्यात्व रूप से अप्रतीयमान वस्तु विषयक ज्ञान की सिद्धि होने पर न्यायसंमत विशिष्ट विषयकत्व रूप प्रामाण्य का चिह्न अभिव्यक्त हो जाता है, क्योंकि उस प्रकार की विशिष्टविषयता उस प्रकार की प्रमात्व की व्याप्ति के लिये अव्यवस्थापित है । अनभ्यास-दशा में 'यह ज्ञान प्रमा है या नहीं ?' इस तरह के संशय की उपपत्ति नहीं बनती, क्योंकि प्रामाण्य की स्वतःग्राह्यता बताई गई है। विशिष्टविषयता रूप प्रामाण्य चिह्न की स्वतःग्राह्यता में किसी प्रकार का विवाद दार्शनिकों में नहीं है । अप्रामाण्य ज्ञान से अछूते ज्ञानमात्र से उस चिह्न का परामर्श होने के कारण त्रिकाल में बाधित न होनेवाली वस्तु के अनुमान कराने में कोई विवाद नहीं है । सभी को इस प्रकार का विशिष्टविषयक अनुभव होते हुए भी यदि किसी आकस्मिक कारण से व्याप्ति के संस्कार न जगें तो उससे कल्पित विशेषचिह्न भी प्रामाणिक अनुमान के लिये अपर्याप्त होने के कारण अनभ्यास दशा में 'यह ज्ञान प्रमा है या नहीं ?' इस प्रकार का संशय उत्पन्न हो सकता है ।

बाध का निश्चय और कारण में दोष का निश्चय प्रामाण्य के अपवाद के कारण हैं । वेदवाक्य से होने वाले 'यागादि स्वर्ग के साधन हैं' इस ज्ञान में पूर्वोक्त दोनों अपवादों के अभाव के कारण बाध न होने से तथा कारण दोष का निश्चय न होने से प्रमाण ही है । इसके अभाव का भी ज्ञान रसना से भिन्न नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, अतः यह नियम मानना आवश्यक है कि जिस विषय का ज्ञान जो इन्द्रिय कराती है, वही इन्द्रिय उसके अभाव का भी ज्ञान कराती है । इस नियम के अनुसार क्योंकि 'याग स्वर्ग का साधन है' इस बात का ज्ञान किसी भी इन्द्रिय द्वारा होनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होता, अतः 'याग स्वर्ग का साधन नहीं है' इस बात का ज्ञान भी किसी भी इन्द्रिय द्वारा होनेवाले प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ उसी विषय के अभाव का ज्ञान करा सकती हैं, जिस विषय का स्वयं ज्ञान करा सकती हो । इसी तरह से प्रत्यक्षमूलक अनुमान आदि प्रमाणों से भी उसका अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता । निश्चयात्मक दोषज्ञान भी वेदवाक्यों से होनेवाले ज्ञान में सम्भव नहीं है । वेदवाक्य से होनेवाले ज्ञान का भ्रम स्थल निश्चित हो जाने पर ही अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा कल्पित किसी कारण विशेष को भ्रम का जनक मानकर दोष कहना पड़ेगा, किन्तु जब भ्रम की कहीं प्रतीति नहीं होगी, तो उसके आधार पर दोषजन्यता का निश्चय कैसे हो सकता है ? वेदवाक्य से होनेवाला ज्ञान दूषित इन्द्रियों से हुआ है, यह निश्चय तो तर्कविरुद्ध ही है ।

दोषजन्यत्वसंशयोऽपि द्विविधः—परिगणितदोषजन्यत्वरूप एकः, तद्भिन्नोऽन्यः। तत्र प्रत्यक्षजातीये ज्ञाने दूरत्वादिरूपाः, अनुमानजातीये पञ्चविधहेत्वाभासरूपाः, शाब्दबोधे भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवरूपचतुर्णामन्यतमवत्पुरुषोच्चरितत्वरूपा दोषाः शास्त्रज्ञैः परिगणिता एव। तत्रापौरुषेये वेदे वक्तुरेवाभावात् तादृशदोषा न सन्त्येव। तदेतत्कामसूत्रस्य व्याख्यायां जयमङ्गलायां बौद्धैरप्यङ्गीकृतम्—"दोषाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु युज्यते। वेदे वक्तुरभावात्तु दोषशङ्कैव नास्ति नः॥' कथञ्चिद्दोषकल्पनया दोषजन्यत्वसंशये तु सकलप्रामाण्यव्यवहारोच्छेद एव स्यात्। इमानि पदानि वाक्यतात्पर्य्यविषयीभूतार्थबोधेच्छयोच्चरितानि, अनाप्तानुच्चरितत्वे सत्याकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बत्वात्—इत्याद्यनुमानेन तात्पर्य्यविषये वेदानां प्रामाण्यस्याव्याहतत्वात्।

वैशेषिका अर्थबोधमात्रस्यानुमितावन्तर्भावं वदन्ति। तद्रीत्या वैदिकलिङ् प्रवर्तनानुमितीच्छयोच्चरितः, अनाप्तानुच्चरितसतात्पर्य्यकलिङ्त्वात्, लौकिकप्रवर्तनाबोधकलिङ्वत्। तेनेष्टसाधनत्वानुमितिहेतुभूतप्रवर्तनाप्यनुमानेनैव सिद्धयति। वैदिकलिङ्धर्मकानुमितौ साध्यमानेच्छा तु अध्यापकपरम्परेच्छैव तादृशी सम्भवति। हेत्वाभासशून्यहेतोरनुमीयमानार्थविपरीतार्थसाधकानुमितेर्भ्रमत्वनियमोऽङ्गीकृतः। तदुक्तम्—"अथवा तत्त्वनिर्णयः साध्यवत्ताज्ञाने प्रमात्वनिर्णयः, अदुष्टकारणजन्यत्वज्ञानादेव ज्ञानस्य प्रामाण्यम्।" व्यवहारेऽपि गुणवतां साक्षिणामलाभस्थले दोषवत्तयाऽनिश्चितानामपि साक्षिणां परिग्रहो भवत्येव। गुणवत्साक्षिस्थलेऽपि गुणवत्त्वेन निर्दोषत्वमनुमायैव साक्षिणः साक्ष्यं गृह्यते। तेन निर्दुष्टकरणजन्यत्वमेव साक्ष्यस्य प्रमात्वे चिह्नम्। अदुष्टहेतोरसाधकत्वशङ्कायामनुमानप्रामाण्यस्योच्छेदः।

दोषों के कारण उत्पन्न होनेवाला संशय भी दो प्रकार का है—परिगणित दोषों से उत्पन्न पहला तथा दूसरा उससे भिन्न। इनमें से प्रत्यक्ष ज्ञान में दूरत्व प्रभृति, अनुमान में पाँच प्रकार के हेत्वाभास प्रभृति, शाब्दबोध में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव (इन्द्रियों की गड़बड़ी)—इनमें से किसी एक दोष से युक्त पुरुष का उच्चारण—ये ही दोष शास्त्रकारों ने गिनाये हैं। अपौरुषेय वेद में वक्ता के अभाव में ये दोष नहीं हैं। कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला में बौद्धों ने भी इस बात को माना है—"दोष हैं या नहीं? यह बात पुरुष के वाक्यों में ही विचारणीय हो सकती है। वेद में तो वक्ता (रचयिता) का अभाव है, अतः वहाँ पर हमें दोष की शंका हो नहीं है"। किसी प्रकार दोष की कल्पना करके दोषजन्यता का संशय यदि आप उठाते हैं, तो इस परिस्थिति में सारे प्रामाणिक व्यवहारों का ही उच्छेद हो जायगा, क्योंकि इस प्रकार का संशय तो कहीं भी उठाया जा सकता है। "ये पद वाक्य के तात्पर्य को समझाने वाले अर्थ का बोध कराने की इच्छा से बोले गये हैं, क्योंकि ये अनाप्त पुरुष के कहे हुए नहीं है और आकांक्षा, योग्यता आदि से युक्त है" इस अनुमान से तात्पर्यविषयक वेदों का प्रामाण्य अव्याहत रूप से सिद्ध होता है।

वैशेषिक, शाब्दबोध मात्र का अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं। उनके मत से "वैदिक लिङ् प्रवर्तना का अनुमान करने की इच्छा से उच्चरित है, क्योंकि यह अनाप्त के द्वारा उच्चरित नहीं है और इसमें तात्पर्य भी विद्यमान है, जैसा कि लोक में उच्चरित लिङ् प्रवर्तना की अनुमिति कराता है", इस अनुमान के आधार पर अनुमिति की कारणभूत प्रवर्तना भी अनुमान से ही ज्ञात होती है। वैदिक लिङ् लकार को अपना विषय बनाने वाले अनुमान में साध्यमान इच्छा अध्यापक-परम्परा की इच्छा से ही संचालित होती है। हेत्वाभास से रहित हेतु भी यदि अनुमेय अर्थ से विपरीत अर्थ को बताता है तो वह अनुमान भ्रमात्मक माना जाता है। जैसा कि कहा गया है—"अथवा साध्यवत्ता ज्ञान में प्रमात्व का निश्चय ही तत्त्वनिर्णय कहलाता है। अदुष्ट कारणों से उत्पन्न ज्ञान से ज्ञान के प्रामाण्य की अवगति होती है"। लोक व्यवहार में भी यह देखा गया है कि जहाँ गुणवान् साक्षी नहीं मिल पाते तो वहाँ पर उन साक्षियों को भी ले लिया जाता है, जिनमें कि किसी प्रकार का दोषारोपण नहीं हुवा है। गुणवान् साक्षी के मिलने पर भी उसकी गुणवत्ता के कारण यह निर्दोष है, ऐसा अनुमान कर लेने के बाद ही उसकी साक्षी ली जाती है। अतः निर्दुष्ट करणजन्यता ही साक्ष्य की प्रमाणवत्ता की पहचान है। दोषरहित हेतु में भी यह हेतु अनुमान का साधक नहीं है, ऐसी शंका होने पर अनुमान का प्रामाण्य ही समाप्त हो जायगा।

ज्ञानस्यापरिपूर्णत्वमेव भ्रमत्वम्। सर्वाणि ज्ञानानि यथार्थानीति प्राभाकरं मतम्। तादृशमपरिपूर्णं ज्ञानं भ्रम-सामान्ये कारणमिति ख्यात्यन्तरवादिनां मतम्। अपरिपूर्णत्वकल्पनाऽपि क्वचिदुपाधौ कोटेस्त्रैकालिकनिषेधस्य तद्व्याप्यस्य वा प्रमाणान्तरप्रतीतत्व एवोपपद्यते। वैदिकवाक्यजन्ययागादिनिष्ठस्वर्गसाधनत्वादिबोधस्थले च तज्ज्ञातुमशक्यमेव। तथा च यागादेः स्वर्गसाधनत्वज्ञानेऽपरिपूर्णत्वस्य निश्चेतुमशक्यत्वात् प्रमात्वमेव।

यत्तूच्यते—'भावरूपस्याज्ञानस्य भ्रमसामान्यहेतुत्वमिति वेदान्तिमते प्रमाणसिद्धस्यैवाज्ञानविषयत्वं स्वीकृत्य तस्याधिष्ठानस्य सर्वथाऽप्रामाणिकत्वेन यथार्थाज्ञानाविषयत्वेन तदज्ञानस्य भ्रमहेतुत्वं वक्तुमशक्यमेवेति तादृशस्थले ज्ञानस्यापरिपूर्णत्वं न शक्यशङ्कम्' इति, तन्न, ब्रह्मणः स्वतःसिद्धत्वेन प्रमाणसिद्धत्वासम्भवात्।

अधिष्ठानसामान्यज्ञानस्याध्यासहेतुत्वं दृष्टम्। तच्च ज्ञानं नयनतो मनसः स्वतो वेत्यन्यदेतत्। तथाप्यदुष्टकरणजन्यस्य भ्रमत्वशङ्कैव न भवति। 'अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम्' इति। अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभासत्वमितिवद् यागादिस्वर्गसाधनत्वबोधप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वमेव शाब्दबोधस्याप्रमात्वम्। 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इति। आहार्य्यशाब्दबोधस्य शाब्दबोधप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वरूपदोषलक्षणस्यासम्भवेऽपि यद्विषयकनिश्चयोत्तरानाहार्य्यमानसज्ञाने विरोधिविषयताप्रयुक्तः पक्षे साध्यवैशिष्ट्यावगाहित्वस्य तद्व्याप्यहेतुवैशिष्ट्यावगाहित्वस्य च द्वयोर्व्यतिरेकस्तत्त्वं हेत्वाभासलक्षणमितिवद् यद्विषयनिश्चयोत्तरानाहार्य्यमानसज्ञाने शाब्दबोधविषयत्वस्य तत्कारणज्ञानविषयविषयकत्वस्य च द्वयोर्व्यतिरेकस्तत्त्वं शब्ददोषत्वमिति शब्ददोषत्वलक्षणस्य तत्र सत्त्वात्।

ज्ञान की अपरिपूर्णता ही भ्रम कहलाती है। प्रभाकर के मत में सभी ज्ञान यथार्थ हैं। अन्य ख्यातियों को मानने वाले दार्शनिकों का मत है कि इस प्रकार का अपरिपूर्ण ज्ञान भ्रम सामान्य में कारण होता है। ज्ञान में अपरिपूर्णता की कल्पना भी किसी उपाधि में किसी कोटि के त्रैकालिक निषेध अथवा उसके किसी अंश की प्रमाणान्तर से प्रतीति होने पर ही होती है। वैदिक वाक्य से होने वाले 'यागादि स्वर्ग के साधन हैं' इत्यादि ज्ञानों में पूर्वोक्त दोषों की सम्भावना नहीं हो सकती। इसलिये यागादि की स्वर्गसाधनता के ज्ञान में अपरिपूर्णता का निश्चय किसी प्रकार नहीं किया जा सकता, फलतः 'यज्ञ स्वर्ग के साधन हैं' यह ज्ञान और उसके ज्ञान को कराने वाले वेदवाक्य प्रमाण ही हैं।

इस प्रकार की शंका उठाई जाती है कि भावरूप अज्ञान ही वेदान्ती के मत में भ्रम सामान्य का कारण है, अतः प्रमाण से सिद्ध वस्तु को ही अज्ञान का विषय मानकर उसके अधिष्ठान के सर्वथा अप्रामाणिक होने के कारण वह यथार्थ ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यह भावरूप अज्ञान भ्रम का कारण कैसे माना जा सकता है ? फलतः ऐसे स्थलों में ज्ञान की अपरिपूर्णता की शंका उठेगी ही नहीं। किन्तु ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि ब्रह्म तो स्वतः सिद्ध है, अतः उसको प्रमाणसिद्ध नहीं माना जा सकता।

अधिष्ठानसामान्य का ज्ञान अध्यास में कारण माना जाता है। अर्थात् जिस वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम हो, उन दोनों वस्तुओं के समान रूप का ज्ञान होने पर विशेष रूप का अज्ञान होने पर भ्रम होता है। यह ज्ञान आँख से होता है, मन से होता है, अथवा स्वतः होता है, यह दूसरी बात है, तो भी अदुष्ट कारण से उत्पन्न होने से उसमें भ्रम की शंका नहीं होती। "बाध न होने से ही प्रमा का स्वतः प्रामाण्य निश्चित हो जाता है"। हेत्वाभास उसको कहते हैं, जो अनुमान में रुकावट डालने वाले यथार्थ ज्ञान का विषय हो। इसी प्रकार वैदिक शब्दों से होने वाले ज्ञान को भी मिथ्या तब कह सकते हैं, जब 'यज्ञ स्वर्ग का साधन नहीं हैं' ऐसा सत्य ज्ञान हो जाय। यह माना गया है कि "खरगोश के सींग तीन काल में भी असम्भव हैं, तथापि 'खरगोश के सींग' इन शब्दों के उच्चारण मात्र से कुछ देर के लिये उस अर्थ की प्रतीति होने लगती है"। इस नियम के अनुसार यद्यपि शब्द से होने वाले कल्पित ज्ञान में शाब्दबोध के प्रतिबन्धक यथार्थ ज्ञानविषयक दोष के लक्षण की सम्भावना नहीं है, तो भी—"जिस विषय के निश्चय के बाद अनाहार्य मानस ज्ञान में विरोधी विषयता के कारण पक्ष में साध्य की विशिष्टता और साध्य के व्याप्य हेतु की विशिष्टता के अवगाही ज्ञान का अभाव हो जाता है"। हेत्वाभास के इस लक्षण के अनुसार ही जब शब्द दोष का भी यह लक्षण किया जाता है कि "जिस विषय के निश्चय के बाद आहार्य मानस ज्ञान में शब्द बोध की विषयता और उसके कारण ज्ञान की विषयता—इन दोनों का व्यतिरेक रहता है" तो इस शब्द दोष के लक्षण की उपस्थिति वहाँ है ही।

नैयायिकमीमांसकास्तु कर्कोटकप्रेरितनलक्रियमाणसंख्यानान्तर्गतदशेतिवाक्यस्थले घटादन्य इत्यादिवाक्यस्थले चानुमितावन्तर्भावयितुमयोग्यस्यापि शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वात्, तस्य च व्याप्तिपक्षधर्मताद्यननुसंधानदशायामाकाङ्क्षायोग्यताद्यनुसंधानमात्रेण जायमानतया सामग्रीसम्पादने लाघवात् स एव बोधोऽध्ययनविधितात्पर्य्यविषयीभूतवेदवाक्येभ्यो भवति। "त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति" इति। नातिकामानुसारेण वर्तनमिति चार्वाकानामपि धर्मः—

स्वर्गानन्त्याय धर्मोऽयं सर्वेषां वर्णिलिङ्गिनाम्। अस्याभावे तु लोकोऽयं संकरान्नाशमाप्नुयात्॥ (२।३३)

इति कामन्दकनीतिसारे।

किं स्यात्परत्रेत्याशङ्का कार्य्ये यस्मिन्न जायते। न चार्थघ्नं सुखं चेति शिष्टास्तत्र व्यवस्थिताः॥

सर्वज्ञताविचारः

बौद्धैर्जैनैश्च बुद्धस्य महावीरस्य च सर्वज्ञतां प्रसाध्य पौरुषेयवेदमन्तरापि सर्वज्ञवचनाद् धर्माधर्मज्ञानं साध्यते।

नैयायिकों और मीमांसकों का कहना है कि [1]कर्कोटक के कहने पर नल द्वारा की गई गिनती के बीच में उच्चरित दस संख्या के बोधक वाक्य में और 'यह घट से भिन्न है' इत्यादि वाक्य स्थल में जो शाब्दबोध होता है, उसका अनुमिति में किसी भी प्रकार से अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, यह अनुभव से सिद्ध है। यहाँ पर व्याप्ति, पक्षधर्मता आदि का अनुसन्धान न होने पर भी आकांक्षा, योग्यता आदि के अनुसन्धान मात्र से शाब्दबोध होता है। इस प्रकार शाब्दबोध की सामग्री के सम्पादन में लाघव है। इसी प्रकार का ज्ञान अध्ययनविधि के तात्पर्य को अपना विषय बनाने वाले वेद वाक्यों से भी होता है। "वेदत्रयी से रक्षित होने से ही यह लोक सब प्रकार की उन्नति की ओर बढ़ता है और किसी कष्ट की अनुभूति नहीं करता"। नास्तिक शिरोमणि चार्वाक ने भी इसको धर्म के रूप में स्वीकार किया है कि कामनाओं का अत्यन्त अनुवर्तन नहीं करना चाहिये। "इस धर्म का पालन सभी वर्णों, आश्रमों और सम्प्रदायों के अनुयायियों को करना चाहिये। इससे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है: इसका पालन न करने पर संकर के कारण इस लोक का नाश हो सकता है"। नीतिसार में भी कहा गया है—"जिस कार्य को करने पर यह शंका न हो कि बाद में इसका क्या परिणाम होगा, जिससे किसी प्रकार की अर्थ की हानि न हो और जो सुख का सम्पादक हो, ऐसे ही कार्यों में शिष्ट जनों की प्रवृत्ति देखी गई है"।

सर्वज्ञता संबन्धी विचार

बौद्ध और जैन मत वाले बुद्ध और महावीर को सर्वज्ञ मानकर अपौरुषेय वेदवाक्यों के बिना भी सर्वज्ञ के वचन से धर्म और अधर्म का ज्ञान हो सकता है, ऐसा सिद्ध करना चाहते हैं।

---

१. राजा नल जुए में हार कर राज्य को छोड़ जंगल में चले गये। दमयन्ती हमारे साथ रहेगी तो कष्ट पावेगी, यह सोचकर वे उसे भी छोड़कर चले गये। रास्ते में उन्हें आग में जलता हुआ एक नाग मिला। उस नाग ने कहा कि मुझे अपने सिर पर रखकर आग से बाहर निकाल दो। बाहर निकाल देने पर नाग ने कहा कि एक से दस तक की संख्या बोलते हुए दस कदम चलो और मुझे छोड़ दो। नल ने एक एक कदम चलते हुए एक, दो, तीन बोलना शुरु किया। नौ बोलने के बाद, नौ की संख्या का वाचक 'नव' शब्द पूरा होने के बाद, ज्यों ही नल ने दस की संख्या का वाचक 'दश' शब्द कहा, त्यों ही नाग ने उसके शिर पर डस लिया। यहाँ यह समझना चाहिये कि संस्कृत में 'दस' संख्या के वाचक 'दश' शब्द का अर्थ जैसे दस संख्या होता है, वैसे ही 'डस लो' यह भी होता है। इसीलिये नाग ने डस लिया। यहाँ 'दश' इस शब्द के कहने में नल का तात्पर्य तो दस संख्या में ही था, किन्तु कर्कोटक नामक नाग ने संख्यारूप अर्थ न लेकर क्रिया रूप अर्थ को लेकर डस लिया। प्रकृत में शब्द के दोनों अर्थ शाब्दिक अनुभव से ही हो सकते हैं, न कि अनुमान से। इसलिये शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न है, यह न्यायशास्त्रज्ञों का मत है।

यदुक्तम्—सर्वज्ञता साधयितुं न शक्येति, स्ववचनविरोधस्यात्राप्यविशिष्टत्वात्। 'सर्वज्ञोऽसर्वज्ञ इति ब्रुवतः स्ववचनविरोधोऽपरिहार्यः स्यात्। किञ्च, सर्वज्ञस्य प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम्? 'तद्विपरीतम्? वक्तृत्वमात्रं वा? प्रथमेऽसिद्धो हेतुः, भगवतस्तथाभूतवक्तृत्वासम्भवात्। द्वितीये विरुद्धो हेतुः, दृष्टेष्टाविरुद्धार्थवक्तृत्वस्य तत्परिज्ञाने सत्येव सम्भवात्। तृतीयेऽनैकान्तिकता, वक्तृत्वमात्रस्य सर्वज्ञत्वेन विरोधाभावात्। एतेन सुगतधर्मिपक्षोऽपि व्याख्यातः। असत्त्वादिसाध्यापेक्षया अनुपलम्भादिसाधनापेक्षया उक्तदोषानुषङ्गात्। किञ्च, सुगतस्य सर्वज्ञताप्रतिषेधेऽन्येषां तदापत्तिः, विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वात्। अथ सर्वपुरुषान् पक्षीकृत्य वक्तृत्वादेरसर्वज्ञता प्रसिसाधयिषितेति, तन्न, पक्षस्य संदिग्धसाध्यवत्त्वेन तस्य च विपक्षाद् व्यतिरेकासिद्धौ सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तितयाऽसर्वज्ञताप्रसाधकत्वानुपपत्तेः। यत्तु रथ्यापुरुषादावसर्वज्ञत्वे सत्येव वक्तृत्वादेरुपलम्भात् सर्वज्ञे च कदाचिदप्यनुपलम्भात् ततो व्यतिरेकसिद्धिः, तदपि न, सर्वात्मसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यासिद्धानैकान्तिकत्वप्रतिपादनात्।

ननु सर्वज्ञस्य कस्यचिदभावात् सिद्धान्ततो वक्तृत्वादेर्व्यतिरेकसिद्धिः, कुतः पुनस्तदभावसिद्धिः? अत एव, अन्यतो वा? अत एव चेत्, चक्रकप्रसङ्गः। तथाहि—वक्तृत्वादेः सर्वज्ञत्वाभावसिद्धिः, ततोऽस्य व्यतिरेकसिद्धिः, तत्सिद्धौ चास्य असर्वज्ञत्वेन व्याप्तिः। अथान्यतस्तदास्य वैयर्थ्यम्। न चान्यत्तदभावग्राहकं प्रमाणमस्ति। अनुलम्भोऽप्यस्तीति चेन्न, अस्य सर्वात्मसम्बन्धिनोऽसिद्धानैकान्तिकत्वे तदभावसाधकत्वानुपपत्तेः। यद्यनुपलम्भमात्रेण तदभावसिद्धिः साध्यते, तदापि तदभावज्ञस्याप्यतोऽभावः किन्न साध्येत? यदि च सत्त्वपुरुषत्वाद्यविशेषेऽपि कश्चिद् वेदार्थज्ञः सर्वज्ञाभावज्ञः, तदा तद्वदेव सर्वज्ञोऽपि किन्न स्यात्।

ये लोग सर्वज्ञता सम्बन्धी शंका इस प्रकार उठाते हैं—"सर्वज्ञता किसी प्रकार सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि अपने ही वचन का विरोध यहाँ पर विद्यमान है। सर्वज्ञ असर्वज्ञ है, इस कथन में स्पष्ट ही अपने वचन का विरोध है। आप यह बताइये कि सर्वज्ञ के न होने में प्रमाण विरुद्ध बात कहने वाले को हेतु कहेंगे या प्रमाण सिद्ध बात कहने वाले को, अथवा केवल वक्ता मात्र को? प्रथम पक्ष में इसलिये हेतु असिद्ध हो जायगा कि भगवान् प्रमाण विरुद्ध बात नहीं कह सकते। द्वितीय हेतु इसलिये विरुद्ध पड़ेगा कि दृष्ट, इष्ट, अविरुद्ध बात तभी कही जा सकती हैं, जब कि उसका ठीक से परिज्ञान हो जाय। तृतीय पक्ष मानने पर हेतु में अनैकान्तिक व्यभिचारी हेत्वाभास दोष होगा, क्योंकि केवल वक्तृत्व का सर्वज्ञत्व के कोई विरोध नहीं है। इसी पद्धति से बुद्ध को सर्वज्ञ मानने वालों का पक्ष भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि 'कोई सर्वज्ञ नहीं है' इसको सिद्ध करने के लिये 'क्योंकि उपलब्ध नहीं होता' इस हेतु से असर्वज्ञता ही सिद्ध होती है। अर्थात् सर्वज्ञ कोई होता तो, वह जरूर कभी किसी को मिलता, पर सर्वज्ञ नहीं मिलता, इसीसे सर्वज्ञ कोई नहीं है, यह सिद्ध हो जाता है। सुगत सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा सिद्ध करने पर यह आपत्ति होगी कि तब कोई अन्य सर्वज्ञ है, क्योंकि विशेष का निषेध करने पर सामान्य में उसका रहना आवश्यक हो जाता है। अब यदि सभी पुरुषों को पक्ष मान कर वक्तृत्वादि हेतुओं से असर्वज्ञता सिद्ध करना चाहते हैं, तो इस परिस्थिति में पक्ष में साध्य की स्थिति संदिग्ध रहने से उसकी विपक्ष से व्यावृत्ति सिद्ध न हो सकेगी, फलतः उसकी विपक्ष की व्यावृत्ति के संदिग्ध होने के कारण असर्वज्ञता की साधकता नहीं बन सकेगी। राह चलते असर्वज्ञ व्यक्ति में ही वक्तृत्व आदि की उपलब्धि होती है, सर्वज्ञ व्यक्ति में वह कभी उपलब्धि नहीं होती, अतः व्यतिरेक सिद्ध हो जायगा, किन्तु यह कथन इसलिये गलत है कि सभी व्यक्तियों से संबद्ध अनुपलम्भ कभी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कहीं उसकी उपलब्धि होती है, कहीं नहीं।

किसी सर्वज्ञ के अभाव में सिद्धान्ततः वक्तृत्वादि के व्यतिरेक की ही सिद्धि होगी, इससे सर्वज्ञता का अभाव कहाँ सिद्ध हुआ? क्या इसकी सिद्धि इसी से होती है अथवा इसमें कोई अन्य कारण है? यदि इसी से तो यहाँ चक्रक दोष होगा। जैसे वक्तृत्वादि से सर्वज्ञता के अभाव की सिद्धि, तब व्यतिरेक की सिद्धि और व्यतिरेक के सिद्ध होने पर उसकी असर्वज्ञता से व्याप्ति। यदि असर्वज्ञता की सिद्धि किसी अन्य हेतु से होती है तो हेतु व्यर्थ हो जायगा। सर्वज्ञता के अभाव को बताने वाला और कोई प्रमाण है भी नहीं। अनुपलम्भ (न मिलना) इसमें प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी असिद्धानैकान्तिकता अभी बताई जा चुकी है, अतः वह सर्वज्ञता के अभाव को नहीं सिद्ध कर सकता। यदि अनुपलम्भ (न मिलने) मात्र से उसका अभाव सिद्ध किया जा सकता है, तब तो उसके अभाव को जानने वाले का भी अभाव क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता। यदि सत्त्व, पुरुषत्व आदि के रहते कोई वेद के अर्थ को जानने वाला सर्वज्ञ के अभाव को जानता है, तो उसी रीति से वह सर्वज्ञ को जानने वाला भी क्यों नहीं हो जायगा।

ननु तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चिदनुपलब्धेरित्ययुक्तमुक्तम्, दृश्यानुपलम्भस्यैव प्रमाणत्वोपपत्तेः। न चायं दृश्यानुपलम्भोऽर्वाग्दृशः परचेतसोऽदृश्यत्वादिति चेन्न, तथात्वे, सर्वज्ञत्व-वेदकर्तृत्व-निषेधेऽपि तदनुपलम्भस्याप्रामाणिकत्वापत्तेः। नाप्यर्थापत्तिः, तदभावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्य कस्यचिदर्थस्यासम्भवात्। वेदप्रामाण्यं च सर्वज्ञे सत्येवोपपद्यते।

नाप्युपमानं तद्बाधकम्, तत्खलु उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सति गोगवयवत् सादृश्यालम्बनमुदेति, नान्यथा। न चाशेषपुरुषाः सर्वज्ञश्च केनचिद् दृष्टाः, येनाशेषपुरुषवत् सर्वज्ञः सर्वज्ञवद्वाऽशेषपुरुषा इत्युपमानं स्यात्। तद्दृष्टौ तस्यैव सर्वज्ञत्वसम्भवः। तेन—"नरान् दृष्ट्वा त्वसर्वज्ञान् सर्वानेवाधुनातनान्। तत्सादृश्योपमानेन शेषाऽसार्वज्ञसाधनम्॥" इत्यप्यपास्तम्।

किञ्च, सर्वज्ञस्याशेषप्रमातृशरीरसंस्थानतया विलक्षणशरीरसंस्थानतया वोपमेयता स्यात्? इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षेणार्थपरिच्छेदकतया खरविषाणवज्जीवरूपतया वा? नाद्यः, सर्वज्ञाबाधकत्वात्, शरीरसंस्थानस्य सर्वज्ञतानभ्युपगमात्। आत्मनस्तु शरीरवैलक्षण्यमेव। तत्कथं तद्वैलक्षण्येनात्मनोऽसर्वज्ञता स्यात्? न द्वितीयः, यतो हि स्मर्यमाणमेव वस्तु पुरोवर्तिपदार्थसादृश्योपाधि सादृश्यं वा। तेन विशेषितमुपमानस्य प्रमेयम्। स्मरणञ्चानुभूतविषय एव प्रवर्तते, नान्यत्र। न चाशेषपुरुषास्तद्वर्तीनि चेतांसि केनचिदल्पज्ञेनानुभूतानि, ततः कथं स्मरणम्? नाप्यनुभूतानां तेषां सर्वज्ञत्वसाधारणः कश्चिद्धर्मो निश्चेतुं शक्यः, यद्वशादहमिव सर्वदा सर्वे पुरुषाः प्रतिनियतमर्थमिन्द्रियैः पश्यन्ति, सर्वपुरुषवद्वाऽहमित्यसर्वज्ञतयोपमीयेरन्।

'सर्वज्ञता के अभाव को तत्त्वतः जानने वाला कोई नहीं है, क्योंकि वैसा कोई मिलता नहीं' यह बात भी गलत है, क्योंकि 'दृश्यानुपलब्धि' (दिखाई देने की संभावना होने पर न मिलना) ही प्रमाण माना गया है। यह दृश्यानुपलब्धि पामर जन को नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरे का चित्त अदृश्य होता है, किन्तु ऐसा मानने पर सर्वज्ञत्व, वेदकर्तृत्व आदि के निषेध में भी दृश्यानुपलब्धि की अप्रामाणिकता माननी पड़ जायगी। अर्थापत्ति भी इसमें प्रमाण नहीं हो सकती, क्योंकि छहों प्रमाणों से परिज्ञात ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो कि सर्वज्ञता के अभाव के बिना उपपन्न न हो सकती हो। वेद की प्रामाणिकता तो सर्वज्ञ की सिद्धि पर ही निर्भर है।

उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञता का बाधक नहीं है। उपमान प्रमाण की तब प्रवृत्ति होती है, जब कि उपमान और उपमेय के प्रत्यक्ष होने पर गो और गवय के सादृश्य की अनुभूति हो, अन्यथा नहीं। सभी पुरुषों और सर्वज्ञ को तो किसी ने देखा नहीं है, जिससे कि सर्वज्ञ भी सभी असर्वज्ञ पुरुषों के समान है, अथवा सर्वज्ञ के समान सभी पुरुष हैं, इस प्रकार की उपमिति हो। यदि किसी ने इस साहश्य को देखा है, तो फिर वही सर्वज्ञ हो जायगा। इससे इस उद्धरण का भी खण्डन हो जाता है—"आजकल के सभी व्यक्तियों को असर्वज्ञ देखकर उन्हीं के सादृश्य से उपमिति के द्वारा बाकी सभी व्यक्तियों की भी असर्वज्ञता सिद्ध की जा सकती है"।

आप यह भी बताइये कि "सर्वज्ञ की उपमेयता सभी सामान्य प्राणियों के सदृश शरीर के अवयव होने के कारण है या विलक्षण शरीर वाले अवयवों के कारण? तथा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से अर्थ की परिच्छेदकता (निश्चयात्मकता) के कारण है या शशशृंग के समान जीवरूप होने से? इनमें पहला पक्ष सर्वज्ञता में बाधक नहीं है। शरीर-संस्थान में सर्वज्ञता पायी भी नहीं जाती। आत्मा शरीर से विलक्षण है ही। तब शरीर के वैलक्षण्य से आत्मा की असर्वज्ञता कैसे होगी? द्वितीय पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि स्मर्यमाण वस्तु ही सामने विद्यमान पदार्थ की सादृश्योपाधि अथवा सादृश्य है। उपमान का विषय इसी से संबद्ध रहता है और वही उपमान प्रमाण का प्रमेय है। स्मृति की प्रवृत्ति पूर्व अनुभूत विषय में ही होती है, अन्यत्र नहीं। सभी पुरुषों की और तदन्तर्गत चित्तों की अनुभूति किसी अल्पज्ञ पुरुष को हो नहीं सकती। ऐसी स्थिति में स्मृति कैसे होगी? यदि अनुभव किसी प्रकार मान भी लिया जाय तो किसी ऐसे साधारण धर्म की निश्चित कल्पना कठिन है, जो कि सभी असर्वज्ञों में उपलब्ध हो सकता हो, जिससे कि असर्वज्ञता की इस प्रकार उपमिति की जा सके कि मेरे समान ही सभी पुरुष सदा इन्द्रियों से ही प्रतिनियत (निश्चित) विषयों का ग्रहण करते हैं, अथवा सभी पुरुषों के समान मैं भी इन्द्रियों से ही प्रतिनियत (निश्चित) विषयों का ग्रहण करता हूँ।

यदपि सत्त्वादिकं क्वचिदल्पज्ञे दृष्टम्, तदपि नासर्वज्ञत्व एव साधारणम्, सर्वज्ञत्वेऽपि सत्वाद्यविरोधात्। अन्यथा सर्वपुरुषाणामवेदार्थज्ञत्वं मूर्खत्वादिवोपमीयेत। यथा वा न कश्चिद् बालिश इति गवये सत्त्वादिधर्मदर्शनाद् घटादीनामपि गवयसादृश्यापत्तेः। एतेन खरविषाणवत् सर्वज्ञः सर्वज्ञवद्वा खरविषाणमिति नीरूपतया सर्वज्ञत्वस्योपमेयता प्रत्युक्ता।

नाप्यगमो बाधकः, स हि नापौरुषेयस्तस्य प्रतिषेत्स्यमानत्वात्। पौरुषेयोऽपि किं सर्वज्ञप्रणीत उत तदभावविधातृ-पुरुषप्रणीतः, अन्यप्रणीतो वा ? न प्रथमः, तद्विरोधात्। द्वितीयपक्षेऽपि तत्प्रणेता सकलज्ञविकलं सर्वं जगत् प्रतिपद्यते न वा ? यदि प्रथमः, तत्प्रणेतुरेव सर्वज्ञत्वापातात्। न प्रतिपद्यते चेन्न प्रमाणम्। अन्यप्रणीतपक्षेऽप्येतदेव दूषणम्।

नाप्यभावः प्रमाणम्, तस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। अस्तु तावत्। तथापि प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरूपमेतद्भवदिष्टम्। तन्निवृत्तिः प्रसज्यप्रतिषेधरूपा पर्युदासरूपा वा ? नाद्यः, प्रसज्यप्रतिषेधपक्षे तस्यार्थपरिच्छित्तिहेतुत्वानुपपत्तिः, नीरूपत्वात्। यथा नीरूपं तन्न तथा यथा गगनेन्दीवरम्। परिच्छित्तिहेतुत्वं हि भावधर्मः। स कथं सर्वथा तुच्छस्वभावस्य स्यात्, विरोधात्। तदभावाच्च कथं प्रमाणता ? परिच्छित्तौ साधकतमस्य प्रमाणाभावरूपत्वाच्चाभावस्य तद्व्यपदेशानुपपत्तिः। यो यदभावः, स तद्व्यपदेशं नार्हति, यथा ब्राह्मणाभावो ब्राह्मणव्यपदेशम्। प्रत्यक्षादिप्रमाणाभावश्चाभावः प्रमाणं कथम् ?

पर्युदासपक्षेऽपि प्रमाणपञ्चकाभावशब्दाभिधेयं भावान्तरं वाच्यम्। तच्च प्रमाणपञ्चकविमुक्तात्मा तदन्यज्ञानं वा ? प्रथमे किं सर्वथा प्रमाणपञ्चकेन विमुक्त आत्मा, निषेध्यविषयकप्रमाणपञ्चकेन वा ? यदि सर्वथा, कथं सर्वज्ञाभाव-

सत्त्वादि धर्म की स्थिति अल्पज्ञ में देखी गई है। यह धर्म केवल असर्वज्ञ में ही रहता हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ में भी सत्त्व की स्थिति में कोई विरोध नहीं है। अन्यथा मूर्ख के समान सभी पुरुषों में वेदार्थ की अनभिज्ञता की भी उपमान से सिद्धि होने लगेगी। अथवा यदि कोई मूर्ख नहीं है तो गवय में सत्त्वादि धर्म के देखने से घटादि को भी गवय से समानता होने लगेगी। इससे शशश्रृंग के सदृश सर्वज्ञ हैं अथवा सर्वज्ञ के सदृश शशश्रृंग है, यहाँ पर सर्वज्ञत्व की उपमेयता उसके नीरूप होने से खण्डित हो जाती है।

आगम भी इसमें बाधक नहीं हो सकता। आगम की अपौरुषेयता का खण्डन किया जायगा। पौरुषेय आगम के पक्ष में भी तीन विकल्प हैं—१. क्या वह सर्वज्ञ प्रणीत है, २. अथवा सर्वज्ञता का अभाव बताने वाले पुरुष के द्वारा प्रणीत है, या ३. किसी अन्य के द्वारा ? इसमें प्रथम पक्ष नहीं बनेगा, क्योंकि इसमें प्रतिज्ञा का ही विरोध हो जायगा, अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत आगम के द्वारा सर्वज्ञ का निषेध हास्यास्पद होगा। द्वितीय पक्ष में उसका प्रणेता सर्वज्ञ से रहित सारे जगत् को देखता है, या नहीं ? यदि देखता है, तो उसका प्रणेता सर्वज्ञ हो गया। यदि नहीं देखता, तो उसका कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। किसी अन्य को आगम का प्रणेता मानने में भी यही दोष होगा।

अभाव से भी सर्वज्ञ का न होना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव का खण्डन किया जायगा। थोड़ी देर के लिए उसको प्रमाण मान भी लिया जाय, तो भी इसका स्वरूप आपको प्रमाणपञ्चक (पाँच प्रमाणों) से भिन्न को निवृत्ति ही अभिप्रेत है। पर यह निवृत्ति प्रसज्य-प्रतिषेध रूप है या पर्युदास रूप ? यदि इसको प्रसज्य-प्रतिषेध रूप माना जाय, तो इस अभाव प्रमाण के नीरूप होने से उसमें विषय को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं होगी। जो नीरूप होता है, उसमें किसी की हेतुता नहीं बनती, जैसे आकाश-कमल। किसी बात का निश्चय करना-कराना यह भाव पदार्थ का धर्म है, सर्वथा तुच्छ स्वभाव वाले पदार्थ में यह कैसे रह सकता है ? इस परिच्छित्ति (निश्चय) के अभाव में वह प्रमाण कैसे हो सकता है ? क्योंकि परिच्छित्ति, अर्थात् प्रमा का साधकतम ही प्रमाण माना जाता है। अभाव तो प्रमाणाभाव रूप है, अतः उसको प्रमाण कैसे कह सकते हैं ? जो जिसका अभाव है, वह उस नाम से नहीं कहा जा सकता, जैसे किसी अब्राह्मण को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता, तब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अभाव स्वरूप अभाव को प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ?

यदि अभाव को पर्युदास रूप माना जाय तो प्रत्यक्षादि प्रमाण पंचक के अभाव शब्द से अभिधेय किसी भावान्तर को बताना पड़ेगा। वह प्रमाण-पंचक से अपरिच्छेद्य स्वभाव वाला है या उससे भिन्न ज्ञानस्वरूप ? प्रथम पक्ष में उसका स्वरूप सामान्यतः प्रमाण-पंचक से सर्वथा अपरिच्छेद्य है या निषेध्यविषयक प्रमाणपंचक से ? यदि सर्वथा अपरिच्छेद्य है, तो उसकी सर्वज्ञाभाव परिच्छेदकता भी

१८

परिच्छेदकत्वम्, प्रमाणमन्तरा तदनुपपत्तेः। अन्यथा प्रमाणकल्पनानैरर्थ्यात्। द्वितीये किं भवदीय आत्मा सर्वज्ञविषये प्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तत्वात् तदभावं साधयेत् सर्वस्य वा? तत्राद्यपक्षो न युक्तः, परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात्। द्वितीयोऽप्ययुक्तः, सर्वस्य तद्विषये तद्विनिर्मुक्तत्वस्याल्पज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वात्। नापि तदन्यज्ञानपक्षः, यतो निषेध्यात् सर्वज्ञत्वादन्यत् किञ्चिज्ज्ञत्वं तद्विषयं ज्ञानं तदन्यज्ञानम्, तदपि क्वचित् कस्यचित् सर्वज्ञत्वाभावं साधयेत्? सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य वा? प्रथमे सिद्धसाध्यता, द्वितीयस्तु श्रद्धामात्रगम्यः। कालत्रये त्रिलोकीस्थितप्राणिनां साक्षात्करणे तत्र किञ्चिज्ज्ञत्वप्रतिपत्तेरनुपपत्तितः सर्वत्र सर्वदा सर्वस्यासर्वज्ञत्वसिद्धेरसिद्धेः। अतीतादिकालादिगतं वस्तु स्वेन स्वेन रूपेणैव भासते तस्य।

न च तर्हि अवर्तमानतया प्रतिभासस्य प्रत्यक्षता न युक्तेति वाच्यम्, सन्निहितदेशकालतयाऽर्थप्रतिभासस्य प्रत्यक्षलक्षणानभ्युपगमात्। स्वोत्सङ्गस्थबालकशरीरे व्यवहारादिलिङ्गतो जीवसद्भावावभासस्यापि प्रत्यक्षताप्रसङ्गात्, किं तर्हि परिस्फुटतयार्थप्रतिभासस्यैव तथात्वात्। स चेदतीतादेरप्यर्थस्यास्ति कुतो न तत्प्रत्यक्षता। यथा चेन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षस्य देशविप्रकृष्टार्थग्रहणेऽपि परिस्फुटप्रतिभासत्वं न विरुद्ध्यते, तथातीन्द्रियप्रत्यक्षस्य कालविप्रकृष्टार्थग्रहणेऽपि।

न चैवमतीतादेर्वर्तमानतापत्तिः, वर्तमानार्थग्रहणग्राह्यत्वादिति वाच्यम्, दूरदेशार्थस्य अदूरदेशार्थग्रहणग्राह्यत्वाद् अदूरदेशार्थवद् अदूरदेशता प्राप्तेः। एतेनेदमिदानीमिह सद् इत्यस्यां संविदि वस्तुसत्तावत् तत्प्राक्प्रध्वंसाभावौ प्रतिभासेते न वेत्यपास्तम्।

कैसे बनेगी, अर्थात् वह 'सर्वज्ञ कोई नहीं है' ऐसा निश्चय भी कैसे करा सकेगा, क्योंकि बिना प्रमाण के यह हो नहीं सकती। अन्यथा प्रमाण की कल्पना ही व्यर्थ हो जायेगी। द्वितीय पक्ष में आपको आत्मा सर्वज्ञ के विषय में प्रमाणपंचक से विनिर्मुक्त होने से सर्वज्ञाभाव की सिद्धि करेगी या सबकी? इसमें पहला इसलिये ठीक नहीं है कि यह हेतु परचित्तवर्ती विशेषताओं के कारण अनैकान्तिक है। द्वितीय पक्ष भी इस लिए ठीक नहीं है कि यदि सभी का यह विषय है तो उससे विनिर्मुक्त की अल्पज्ञता का ज्ञान नहीं हो सकेगा। निषेध के विषय प्रमाणपंचक से भिन्न ज्ञानस्वरूप भी पर्युदास नहीं हो सकता, क्योंकि निषेध्य सर्वज्ञत्व से अन्य है किञ्चिज्ज्ञत्व, तद्विषयक ज्ञान है तदन्यज्ञान। यह भी कहीं किसी की सर्वज्ञता के अभाव को सिद्ध करेगा या सर्वत्र सदा सबकी? प्रथम पक्ष में सिद्धसाध्यता दोष होगा, क्योंकि सबको सर्वज्ञ तो हम भी नहीं मानते। द्वितीय पक्ष केवल श्रद्धा का विषय है। तीनों कालों में तीनों लोकों में वर्तमान प्राणियों का साक्षात्कार होने पर उसमें किञ्चिज्ज्ञत्व की प्रतिपत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि तब सर्वत्र सदा सबकी असर्वज्ञता की सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि उसको तो अतीत आदि कालगत सभी वस्तुओं का अपने अपने रूप में भान हो रहा है।

'जब वस्तु वर्तमान नहीं है तो भ्रमादि में उसके प्रतिभास की प्रत्यक्षता कैसे मानी जा सकती है'? यह उक्ति इसलिये ठीक नहीं है कि प्रत्यक्ष का लक्षण यह नहीं माना जाता कि 'दैशिक और कालिक सम्बन्ध से वस्तु का वहाँ रहना आवश्यक हो', क्योंकि ऐसा मानने पर अपनी गोद में बैठे बालक के शरीर में उसके खेल-कूद आदि व्यवहारों को देखकर जीवन की विद्यमानता की प्रतीति प्रत्यक्ष का विषय माना जाने लगेगा, अनुमान का नहीं, किन्तु है वह अनुमान का ही विषय। इसलिए स्पष्ट रूप से अर्थ की प्रतीति को ही प्रत्यक्ष का कारण माना जाता है। यदि यह परिस्फुट प्रतीति अतीत आदि अर्थों की भी है तो उसको भी प्रत्यक्ष क्यों नहीं कहना होगा? इन्द्रिय से उत्पन्न प्रत्यक्ष जैसे दूर देश में स्थित वस्तु की भी स्पष्ट प्रतीति कराता है, उसी तरह से अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा अतीत आदि काल की दृष्टि से दूर वस्तु का भी प्रत्यक्ष कराने में विरोध नहीं होना चाहिये।

इस पर यह आपत्ति उठ सकती है कि 'ऐसा मानने पर तो अतीत आदि वस्तु की वर्तमानता माननी पड़ेगी, क्योंकि उसकी प्रतीति वर्तमान अर्थ के ग्राहक साधनों से ही होती है', किन्तु यह इसलिए उचित नहीं है कि दूर देश में स्थित वस्तु का ग्रहण पास में स्थित वस्तु के ग्राहक प्रमाण से ही होता है, तो क्या इससे दूर देशस्थ वस्तु की अदूरदेशिता हो जाती है? जब यह नहीं होता तो उसी पद्धति से अतीत आदि वस्तु की भी वर्तमानता क्यों होगी? इसी युक्ति से 'इस समय इसकी सत्ता है' इस प्रतीति में वस्तु की सत्ता के समान उसके प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का ग्रहण होता है या नहीं? इस शंका का भी समाधान हो जाता है, क्योंकि कालिक सम्बन्ध से इनके प्रतिभास को मानने में कोई बाधा नहीं है।

यथैव हीन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षे यद्देशविशिष्टं वस्तु नीलरूपमनीलं वा भावरूपमभावरूपं वा तद्देशविशिष्टतयैव प्रतिभासते, तद्वत् सर्वज्ञज्ञानेऽपि यद्देशकालान्तरविशिष्टं यद्वस्तु भावरूपमभावरूपं वा तद्देशकालविशिष्टतयैव प्रतिभासते। कथं तर्हि युगपज्जन्ममरणादिव्यपदेशप्रसङ्गः ? प्रतिनियतार्थस्वरूपा प्रतिपत्तिर्वा ? यतः सर्वज्ञतास्य सुव्यवस्थिता न स्यात्। भविष्यत्कालस्य हि वस्तुस्वभावस्य वर्तमानवस्तुस्वभावतया प्रतीतौ युगपज्जन्ममरणादिव्यपदेशप्रसङ्गः स्यात्, न पुनर्यथाकालं तत्प्रतीतौ। तस्मान्नेदमप्यशेषविदो बाधकम्। अतः सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमशेषज्ञसद्भावसाधकम्।

तदेतत्सर्वमविचारितरमणीयम्, सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य हेतोर्हेत्वाभाससमानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि— यद्युक्तहेतोः सर्वज्ञस्य सिद्धिस्तदा तद्वदेव सर्वशक्तिमतोऽपि सिद्धिः स्यात्। यथा सर्वज्ञस्य सर्वार्थप्रतिपादकशास्त्रनिर्मातृत्वम्, तथैव सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतः सर्वार्थनिर्मातृत्वमपि सम्भवत्येव। यथा प्रमाणराहित्येऽपि बाधकप्रमाणासद्भावात् सर्वज्ञः सिद्ध्यति, तथैव सर्वशक्तिरपि। यथा पुरुषाणां ग्रहणस्वभावत्वं तथा कर्तृत्वस्वभावत्वमपि। आवरणापाये यथा सार्वज्ञ्यं संभवति तथैव सर्वशक्तिमत्त्वमपि। नानात्वकल्पने गौरवापत्त्या लाघवादेक एव हि स कल्पनीयः। तथा चेश्वरवादाभ्युपगमापत्तिः स्यात्। तत एव जैनमन्दिरेषु सकामानामपि सर्वज्ञपूजनादि सङ्गच्छते, कामपूरयितृत्वाभावे तदनुपपत्तेः। तस्मादनित्यानेकसर्वज्ञाभ्युपगमापेक्षया नित्यैकसर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वर एवाभ्युपगम्यताम्। उक्तरीत्यैव तत्रापि प्रमाणषट्कं न बाधकं सम्भवति। तथा सति नैयायिकादिसहकारलाभोऽपि सेत्स्यसि।

जैसे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में किसी देश से विशिष्ट वस्तु का ही नीलरूप से अथवा अनीलरूप से, भावरूप से या अभावरूप से भान होता है, उसी तरह से सर्वज्ञ के ज्ञान में भी जो वस्तु जिस देश और काल से विशिष्ट है, वह भावरूप हो या अभावरूप, उसकी उसी प्रकार से प्रतीति होती है। पुनः शंका उठती है कि ऐसी अवस्था में सर्वज्ञ में एक साथ ही जन्म और मृत्यु की आपत्ति होगी और उसको प्रतिनियत अर्थ विषयिणी प्रतीति भी कैसे होगी ? इन आपत्तियों के रहते उसकी सर्वज्ञता नहीं सिद्ध हो सकती। इसका उत्तर यह है कि भविष्यकाल की वस्तु की वर्तमान कालिक वस्तु के समान प्रतीति हो, तब तो एक साथ जन्म और मृत्यु वाली आपत्ति उठ सकती है, किन्तु यदि उसी भविष्यत्कालीन वस्तु के रूप में ही प्रतीति होती है तो यह आपत्ति नहीं होगी। इसलिये यह सर्वज्ञता में बाधक नहीं हो सकती। अतः मानना पड़ेगा कि सर्वज्ञता के बाधक प्रमाण का सुनिश्चित अभाव है, अर्थात् किसी बाधक प्रमाण के न रहने से सर्वज्ञता की सिद्धि सुनिश्चित है।

किन्तु ये सारी बातें तभी तक अच्छी लगती हैं, जब तक कि इन पर कुछ विचार नहीं किया जाता। आपने सर्वज्ञता की सिद्धि के लिये 'सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्व' हेतु दिया है। वस्तुतः यह हेतु न होकर हेत्वाभास है। जैसे कि—यदि इस हेतु से सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाय तो फिर इसीसे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की भी सिद्धि हो जायगी। जैसे सर्वज्ञ को सर्वार्थ प्रतिपादक शास्त्र का निर्माता माना जाता है, उसी भाँति सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सभी पदार्थों का निर्माता भी सिद्ध हो जायगा। जैसे बिना प्रमाण के भी बाधक प्रमाण के अभाव से ही सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है, उसी तरह से सर्वशक्ति परमेश्वर भी सिद्ध हो जायगा। जैसे सभी पुरुष स्वभाव से ही ज्ञानवान् हैं, उसी तरह से सभी पुरुष कर्तृस्वभाव वाले भी हैं। आवरण के हट जाने पर जैसे सर्वज्ञता की अभिव्यक्ति हो जाती है, उसी न्याय से सर्वशक्तिमत्ता की भी अभिव्यक्ति हो जायगी। अनेक सर्वज्ञों की कल्पना की अपेक्षा एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कल्पना में लाघव है। इस तरह से तो आपको ईश्वरवाद ही मानना पड़ जायगा। ऐसा मानने पर ही जैन मन्दिरों में की गई सर्वज्ञ की सकाम पूजा की भी उपपत्ति बन जाती है, क्योंकि सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। कामना पूर्ति के बिना पूजा किस काम की ? इसलिये अनेक, अनित्य, सर्वज्ञ मानने के स्थान पर एक, नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर को मानना ही ठीक है। आपकी बताई पद्धति से ही उसमें छहों प्रमाणों में से कोई भी बाधक नहीं होगा और आपको इसमें नैयायिक प्रभृति दार्शनिकों का भी सहयोग मिलेगा।

यदि दृष्टस्वभावातिक्रमेण सर्वज्ञः सिद्धयति, तदा सर्वशक्तिमत्त्वमपि कुतो न सिद्धयेत् ? सर्वकर्तृत्वस्येव सर्वार्थप्रतिपादकशास्त्रनिर्मातृत्वस्यापि लोकोत्तरत्वाविशेषात् । किञ्च, यदि प्रमाणाभावरूपतया अभावस्य प्रमाणत्वव्यपदेशानुपपत्त्या तस्यार्थपरिच्छित्तिहेतुत्वं नोपपद्यते, तदा सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वस्यापि नाशेषज्ञसाधनत्वं संभवति, तस्यापि सुनिश्चितबाधकप्रमाणासत्त्वानतिरेकेणाभावरूपत्वात् । तदयं स्वपादयोः कुठाराघातः ।

किञ्च, बाधकप्रमाणं त्वयैव न ज्ञायते, सर्वैर्वा ? नाद्यः, बुद्धिदोषादपि तत्सम्भवात् । नान्त्यः, असर्वज्ञेन तज्ज्ञातुमशक्यत्वात् । किञ्च, बाधकप्रमाणाभावेन सर्वज्ञः साध्यते प्रमाणेन वा ? नान्त्यः, तस्यैवोपन्यसनीयत्वात् । नाद्यः, अभावस्य त्वया प्रमाणत्वानभ्युपगमात् । अपि च, बाधकप्रमाणाभावेन सर्वेषां सार्वज्ञ्यं किं न स्यात् ? न चाहमज्ञ इति बाधकप्रत्यक्षेण तद्विरोध इति वाच्यम्, तेन त्वदसार्वज्ञ्यसिद्धावप्यन्यस्य तदयोगात् । न ह्यन्यस्याज्ञानमन्येन ज्ञातुं शक्यते । न चानुमानेन तज्ज्ञानम्, तेनैव तर्हि त्वदभिमतसर्वज्ञस्यापि तत्सिद्धेः । त्वदुक्तयुक्त्या एकस्यैव सर्वज्ञस्य सिद्धिर्बहूनां वा ? नाद्यः, विशेषहेत्वभावात् । नान्त्यः, बुद्धार्हतोः सर्वज्ञयोर्विरोधानुपपत्तेः । बुद्धोपदेशस्य सर्वार्थप्रतिपादकत्वाभावान्न सार्वज्ञ्यमिति तन्न, महावीरोपदेशस्य सर्वार्थप्रतिपादकत्वे शपथमन्तरेण मानाभावात् । अपि चैवं सप्तमरस-गगनेन्दीवरादावप्युक्तहेतोः सत्त्वेन तत्सत्त्वापत्तिः । नैवात्राप्याश्रयासिद्धिः, त्वन्मतरीत्या प्रमाणाप्रमाणसाधारणशाब्दप्रतीतिरूपविकल्पप्रसादात्तस्यापि सिद्धौ बाधाभावात् । नापि स्वरूपासिद्धयादिकम्, तद्बाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभवात् । न च प्रत्यक्षं बाधकम्, तेन कदाचित् क्वचित्तदभावसिद्धावपि सर्वत्र सर्वदा तदभावासिद्धेः । नार्वाग्दृक्प्रत्यक्षं सर्वदेशकालादिकं गाहते । सर्वज्ञसिद्धेस्त्व-

यदि दृष्ट स्वभाव के विरुद्ध सर्वज्ञ सिद्ध हो सकता है, तो फिर सर्वशक्तिमान् क्यों नहीं सिद्ध हो सकता ? सर्वकर्तृत्व के समान ही सर्वार्थ प्रतिपादक शास्त्र का निर्माण भी तो लोकोत्तर कार्य ही है । 'प्रमाणाभाव रूप हो जाने से अभाव प्रमाण ही नहीं है', तो उससे अर्थ की परिच्छित्ति कैसे मानी जा सकती है ? यदि आप ऐसा मानते हैं, तो इस अवस्था में आपका 'सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्व' यह हेतु भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं कर पायगा, क्योंकि 'सुनिश्चित बाधक प्रमाणासत्व' (सुनिश्चित बाधक प्रमाण का न होना) भी तो अभाव से अतिरिक्त नहीं है । इस प्रकार अभाव को प्रमाण न मानकर आप खुद ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जा रहे हैं ।

आप यह बताइये कि 'बाधक प्रमाण को केवल आप नहीं जानते या उसको कोई भी नहीं जानता' ? 'आप नहीं जानते' यह बात तो आपकी बुद्धि के दोष के कारण भी हो सकती है । कोई भी नहीं जानता, इस बात को असर्वज्ञ नहीं जान सकता, अर्थात् सर्वज्ञ व्यक्ति ही यह कह सकता है कि बाधक प्रमाण को कोई नहीं जानता । सर्वज्ञ की सिद्धि अभी हुई नहीं है, तो असर्वज्ञ यह कैसे बता सकता है कि इसमें किसी भी व्यक्ति को बाधक प्रमाण का ज्ञान नहीं है । आप यह भी बताइये कि बाधक प्रमाण के अभाव से आप सर्वज्ञ को सिद्ध करते हैं या प्रमाण से । अन्तिम पक्ष इसलिये नहीं मान्य है कि प्रमाण का उपन्यास करना तो अभी बाकी ही है । प्रथम पक्ष भी आपके अभाव को प्रमाण न मानने के कारण सही नहीं हो सकता । फिर बाधक प्रमाण के अभाव में सभी सर्वज्ञ क्यों न मान लिये जांय ? मैं अज्ञानी हूँ, इस बाधक प्रत्यक्ष के कारण यह सम्भव नहीं होगा, यह उक्ति भी गलत है, क्योंकि इससे आपकी ही असर्वज्ञता सिद्ध होती है, दूसरे के सर्वज्ञ होने में यह बाधक नहीं हो सकती । दूसरे व्यक्ति के अज्ञान को दूसरा नहीं जानता । अनुमान से इसका ज्ञान मानने पर आपकी अनभिमत सर्वज्ञता की सिद्धि भी उसीसे हो जायगी । आपकी युक्ति से एक ही सर्वज्ञ की सिद्धि होती है या अनेक की ? एक की सिद्धि मानने में कोई विशेष कारण नहीं दिया गया है । अनेक सर्वज्ञों की सिद्धि मानने पर बुद्ध और महावीर इन दो सर्वज्ञों में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिये । बुद्धोपदिष्ट शास्त्र सर्वार्थ का प्रतिपादक नहीं है, अतः वे सर्वज्ञ नहीं माने जा सकते, तो महावीर का उपदेश सर्वार्थ का प्रतिपादक है, इसमें भी आपके हठ के सिवाय और कोई प्रमाण नहीं हो सकता । ऐसा मानने पर सप्तम रस, आकाश-कमल आदि में भी उक्त हेतु की सत्ता होने से इनको भी सत् मानना पड़ जायगा । यहाँ पर आश्रय की असिद्धि भी नहीं होती, क्योंकि आपके मत के अनुसार प्रमाण और अप्रमाण में समान रूप से रहने वाले शाब्द प्रतीति रूप विकल्प की कृपा से उसकी सिद्धि हो जायगी । स्वरूपासिद्धि भी नहीं होगी, क्योंकि उसका बाधक प्रमाण कोई उपलब्ध नहीं है । प्रत्यक्ष उसमें बाधक नहीं होगा, उससे किसी समय कहीं उसका अभाव सिद्ध हो सकता है, सर्वत्र सर्वदा नहीं । अल्पज्ञ का प्रत्यक्ष समस्त देश और काल का अवगाहन नहीं कर सकता और सर्वज्ञ की सिद्धि तो अभी बाकी ही है । आपकी बताई पद्धति से

द्याप्यभावात्। भवदुक्तरीत्यैवास्मिन् पक्षेऽपि प्रत्यक्षस्य विषयं प्रत्यकारणत्वादव्यापकत्वाच्च न प्रत्यक्षनिवृत्तौ सप्तमरसादि-निवृत्तिप्रसङ्गः।

कार्यानुपलब्धिरपि न कारणमात्रस्याभावसाधिका, प्रतिबद्धसामर्थ्यस्य कारणस्य सत्त्वेऽपि कार्यानुपलब्धेरुपपन्नत्वात्। वन्ध्यस्याकारणस्य च वस्तुतः सम्भवाच्च। किं बहुना, भवदुक्तरीत्यैव प्रत्यक्षं न सप्तमरसादिबाधकम्। प्रत्यक्षनिवृत्त्यर्थाभावयोर्व्याप्यव्यापकभावासिद्धया न प्रत्यक्षनिवृत्त्या तदभावः सिद्धयति। किञ्च, त्वत्प्रत्यक्षनिवृत्त्या सप्तमरसाभावः सिद्धयति, सर्वप्रत्यक्षनिवृत्त्या वा? नाद्यः, सत्यप्यर्थे देशादिव्यवधानेऽपि तत्सम्भवात्। न द्वितीयः, सर्वज्ञमन्तरेण तज्ज्ञानासम्भवात्। नाप्यनुमानं तद्बाधकम्, भवदुक्तरीत्यैव धर्मिसाध्ये साधनानां स्वरूपासिद्धेः। सप्तमरसादिर्धर्मी अन्यो वा? नान्त्यः, अन्यस्य धर्मित्वे तत्रैवासत्त्वादिकं साध्यम्। सप्तमरसादेः सत्त्वे न तद्बाधकम्। आद्येऽपि सन् वा, असन् वा? नान्त्यः, धर्मित्वस्य भावधर्मत्वात्। नाद्यः, व्याघातात्। साध्यमपि किम्? असत्त्वमन्यद्वा? नान्त्यः, तेन तत्सत्त्ववादिनः क्षतेरभावात्। नाद्यः, साध्यत्वस्यापि भावधर्मत्वात्, असतसाध्यत्वानुपपत्तेः।

साधनं यद्यनुपलम्भस्तदापि स किं स्वसम्बन्धी सर्वसम्बन्धी वा? स्वसम्बन्धी चेत् सोऽपि निर्विशेषणः, उपलब्धिलक्षणविशेषणो वा? नाद्यः, परचित्तविशेषादिभिरनैकान्त्यात्। नान्त्यः, तस्य कदाचित्कदाचित्सत्त्वोपलम्भाविनाभावित्वेन सर्वथा असत उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वासम्भवात्। एतेन सर्वसम्बन्धिपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः, सर्वसम्बन्ध्यनुपलम्भस्यासर्वविदा

ही इस पक्ष में भी प्रत्यक्ष विषय के प्रति कारण नहीं हो सकता, वह व्यापक भी नहीं है, अतः प्रत्यक्ष न होने पर सप्तम रस आदि असत् पदार्थों की निवृत्ति कदापि सिद्ध न हो सकेगी।

कार्य की अनुपलब्धि (न मिलना) भी कारणमात्र के अभाव को नहीं सिद्ध कर सकती, क्योंकि कारण में रहने वाले सामर्थ्य में बाधा उपस्थित हो जाने पर भी कार्य की अनुपलब्धि (पैदा न होना) देखी गयी है। ऐसी भी सम्भावना रहती है कि वन्ध्य कारण से कार्य की उत्पत्ति ही न हो और कोई कार्य बिना ही कारण के हो जाय। आपकी पद्धति से ही प्रत्यक्ष सप्तम रस की सत्ता में बाधक नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष की निवृत्ति और अर्थाभाव की व्याप्यव्यापकता सिद्ध नहीं है, अतः प्रत्यक्ष की निवृत्ति से अर्थ का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता। फिर आप यह बताइये कि आपके प्रत्यक्ष की निवृत्ति से सप्तम रस रूप अर्थ का अभाव सिद्ध होता है या सभी के प्रत्यक्ष की निवृत्ति से? पहला पक्ष इसलिए नहीं बनेगा कि अर्थ के रहते भी देश आदि से व्यवधान होने पर अस्मदादि प्रत्यक्ष की निवृत्ति देखी गई है। द्वितीय पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि सर्वज्ञ के सिवा सर्वप्रत्यक्ष की निवृत्ति को कोई जान नहीं सकता। अनुमान भी उसमें बाधक नहीं होगा, क्योंकि आपकी पद्धति से ही धर्मी में साध्य की सिद्धि मानने पर साधन स्वरूपासिद्ध हो जाते हैं। यह (धर्मी) पक्ष यहाँ पर सप्तम रस आदि हैं, या उनसे भिन्न? अन्तिम पक्ष मानने पर उसी में असत्व आदि की सिद्धि करनी पड़ेगी। यह सप्तम रस आदि की सिद्धि में बाधक नहीं हो सकता। सप्तम रस आदि को ही यदि धर्मी माना जाता है तो यह सत् है या असत्? यह असत् नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मी सत्स्वभाव ही होता है। इसको सत् मानने पर व्याघात दोष होगा। यहाँ पर साध्य भी क्या होगा? असत्व या कोई अन्य? अन्तिम पक्ष मानने पर उसकी सत्ता को मानने वाले के पक्ष में कोई क्षति नहीं है। यह असत्स्वभाव नहीं हो सकता, क्योंकि साध्य भी तो भाव का ही धर्म है, असत् कभी साध्य नहीं होता।

यदि अनुपलम्भ को साधन अर्थात् हेतु मानते हैं, तो आप यह बताइये कि यह अनुपलम्भ स्वसम्बन्धी है या सर्वसम्बन्धी? यदि स्वसम्बन्धी है, तो वह निर्विशेषण है, या उपलब्धि लक्षण विशेषण से युक्त है? प्रथम पक्ष में परचित्त विशेषण के द्वारा हेतु में अनैकान्तिकता (व्यभिचार) आ जायगी। अन्तिम पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि वह कभी-कभी सत्व की उपलब्धि के साथ अनिवार्यतः जुड़ा रहता है? सर्वथा असत् पदार्थ की उपलब्धिलक्षण प्राप्ति कभी बन नहीं सकती। इसी से अनुपलम्भ की सर्वसम्बन्धिता का भी खण्डन हो जाता है। सर्वसम्बन्धी अनुपलम्भ को सर्वज्ञ के सिवाय कोई जान भी नहीं सकता। उसे आप मानते

ज्ञातुमशक्यत्वात्। कार्यानुपलम्भोऽपि एकस्यैव, सर्वेषां वा ? न प्रथमः, एकानुपलम्भस्य तदसाधकत्वात्। न चरमः, असर्वविदा तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। कारणानुपलम्भस्यापीयमेव गतिः।

सप्तमे नभसि चतुःशृङ्गः पुरुषोऽस्तीति प्रतिज्ञा नहि बाधकप्रमाणाभावादेव सिद्धयति, लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः, मानाधीना मेयसिद्धिरित्यादिप्रामाणिकप्रसिद्धेर्जागरूकत्वात्।

यदुक्तम्—'ज्ञानावरणादिकर्मप्रक्षयस्यानुमानादिनोपलम्भसम्भवेन कारणसत्त्वेन सर्वज्ञसिद्धिः सम्भवति' इति। तन्न, त्वन्मते कर्मणां प्रपञ्चस्य च मिथ्यात्वाभावेन सम्यग्दर्शनज्ञानादिनिवर्त्यत्वासम्भवात्। न हि सत्यं वस्तु ज्ञाननिवर्त्यं दृष्टम्। नापि तपआदिभिस्तन्निवृत्तिः सम्भवति, पापानां विरुद्धकर्मणां निवृत्तावपि पुण्यानामविरोधित्वेन तन्निवर्त्यत्वाभावात्। किञ्च, सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणां कर्मक्षयहेतुत्वज्ञानमपि सर्वज्ञताधीनमेव। तथा च सर्वज्ञतायास्तपःसापेक्षत्वं तपःप्रवृत्तेश्च सर्वज्ञतासापेक्षत्वमित्यन्योन्याश्रयता। न च तत्सन्तानस्यानादित्वेन तत्समाधानम्, बीजाङ्कुरादीनामिव कार्यकारणभावासिद्धेस्तत्परम्परायाश्चान्धपरम्परात्वात्।

किञ्च, जैनैः प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानमित्यादिरीत्या इन्द्रियानपेक्षं प्रतिबन्धकापाये आत्ममात्रनिबन्धनं स्वविषये निःशेषतो विशदमवधिमनःपर्ययकेवलाख्यज्ञानमेव मुख्यतः प्रत्यक्षमभ्युपेतम्। तच्च खण्डितमेव भट्टपादैः—

एवं यैः केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्॥
नर्ते तदागमात् सिद्धयेन्न च तेनागमो विना। दृष्टान्तोऽपि न तस्यान्यो नृषु कश्चित् प्रवर्तते॥ इति।

नहीं। कार्य का अनुपलम्भ भी एक को ही होगा या सबको ? एक की अनुपलब्धि से कार्य का अनुपलम्भ नहीं सिद्ध हो सकता और सर्व का अनुपलम्भ विना सर्वज्ञ के जाना नहीं जा सकता। कारणानुपलम्भ की भी यही स्थिति होगी।

सातवें आसमान पर चार सींग वाला आदमी रहता है, यह प्रतिज्ञा केवल बाधक प्रमाण के अभाव में नहीं सिद्ध हो जाती, क्योंकि वस्तु की सिद्धि लक्षण और प्रमाण से होती है, प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है, इस तरह की प्रामाणिकों की प्रसिद्ध उक्तियाँ इस विषय में जागरूक हैं।

यह कहना 'ज्ञान के आवरक (ढक देनेवाले, रुकावट पैदा करनेवाले, रोक देनेवाले) कर्म के क्षय की उपलब्धि अनुमान से जानी जा सकती है, अतः कारण के विद्यमान होने से सर्वज्ञ की सिद्धि हो सकेगी', इसलिये नहीं बन सकता कि—आपके मत में कर्म और प्रपञ्च मिथ्या नहीं हैं, अतः उनकी निवृत्ति सम्यग्दर्शन आदि ज्ञानों से नहीं हो सकती। अन्य वस्तु की ज्ञान से निवृत्ति कहीं नहीं देखी गई। तप आदि से भी उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विरोधी कर्म होने से पाप की निवृत्ति भले ही हो जाय, पुण्य कर्म तो विरोधी नहीं है, अतः उनकी निवृत्ति हो नहीं सकती। फिर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की कर्म क्षय की कारणता का ज्ञान भी तो सर्वज्ञ के ही अधीन है। इस प्रकार सर्वज्ञता को तप आदि की और तप के लिये प्रवृत्ति को सर्वज्ञता की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष भी होगा। सन्तान (परम्परा) की अनादिता से इसका समाधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि बीजांकुर न्याय से इसमें कार्यकारणभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता और अन्धपरम्परा से कोई यथार्थ वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती।

जैन दार्शनिक 'प्रत्यक्ष विशद ज्ञान है' इत्यादि उद्धरणों के आधार पर इन्द्रियों की अपेक्षा के विना, प्रतिबन्धक के हट जाने पर केवल आत्मा के अधीन, पूरी तरह से स्पष्ट अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान को ही मुख्यतः प्रत्यक्ष मानते हैं। उसका खण्डन भट्ट कुमारिल ने इस प्रकार किया है—

"इसी प्रकार जो जैन दार्शनिक बिना इन्द्रिय की अपेक्षा के जीव में सूक्ष्म, अतीतादि वस्तुविषयक केवल ज्ञान की परिकल्पना करते हैं, वह बिना आगम के सिद्ध नहीं हो सकता और इस प्रकार के ज्ञान के बिना आगम की भी सिद्धि नहीं हो सकती। लोक में इस प्रकार का कोई दृष्टान्त भी देखने में नहीं आता।"

यद्यप्यनादित्वमाश्रित्यान्योन्याश्रयवारणाय प्रयतितमकलङ्केन—

एवं यत्केवलं ज्ञानमनुमानविजृम्भितम्। नर्ते तदागमात् सिद्धचेन्न च तेन विनागमः॥

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः। प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रवन्धोऽनादिरिष्यते॥ इति।

अर्थादागमोपदिष्टसम्यग्दर्शनाद्यभ्यासमन्तरा केवलं ज्ञानं न सिद्धयति, न च केवलज्ञानमन्तरेणागमसिद्धिः, तथापि सर्वज्ञागमसन्तानस्यानादित्वात्तत्सिद्धिरिति, परमेतन्न सङ्गतम्, यतो यत्र बीजाङ्कुरादीनां कार्यकारणभावः प्रत्यक्षसिद्धस्तत्रैवानादिकल्पना परस्पराश्रयदोषव्यापादिनी भवति, नान्यत्र। यत्र तु क्वचिदपि कार्यकारणभावो न सिद्धयेत्तत्र नेयं कल्पना साधीयसी। पूर्वपूर्वागमानाश्रित्योत्तरोत्तरसर्वज्ञानां सिद्धिः, पूर्वपूर्वसर्वज्ञांश्चाश्रित्योत्तरोत्तरागमानां सिद्धिः। वीजादङ्कुरस्योत्पत्तिः प्रत्यक्षेण दृश्यते, अङ्कुराच्च वीजानामुत्पत्तिस्तथैव दृश्यते। न चैवमागमवलात् सर्वज्ञो भवन् दृश्यते, न च सर्वज्ञादुत्पद्यमानश्चागमो दृश्यते।

अन्यदपि भट्टपादैरुक्तम्—'सर्वज्ञोऽसाविति ह्येवं तत्कालेऽनुवुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम्॥ कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव। य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुद्धयते॥ सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च येनैव स्यान्न तं प्रति। तद्वाक्यानां प्रमात्वं स्यान्मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत्॥ रागादिरहिते चास्मिन्निर्व्यापारे व्यवस्थिते। देशनान्यप्रणीतैव स्यादृते प्रत्यवेक्षणात्॥ सान्निध्यमात्रतस्तस्य पुंसश्चिन्तामणेरिव। निःसरन्ति यथाकामं कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः॥ एवमाद्युच्यमानन्तु श्रद्दधानस्य शोभते। कुड्यादिनिःसृतत्वाच्च नाश्वासो देशनासु नः। किन्तु वुद्धप्रणीताः स्युः किमु कैश्चिद् दुरात्मभिः। अदृश्यैर्विप्रलम्भार्थं पिशाचादिभिरीरिताः। नित्यागमाववोधोऽपि प्रत्याख्येयोऽनया दिशा। नहि तत्रापि विस्रम्भो दृष्टोऽनेन-

यद्यपि यहाँ अनादिता का सहारा लेकर अन्योन्याश्रय दोष को दूर करने का जैन दार्शनिक 'अकलंक' ने प्रयत्न किया है। जैसा कि—"एवं यत्केवलं ज्ञानम्" इत्यादि दो श्लोकों में कहा गया है। इसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि आगम के द्वारा उपदिष्ट सम्यग्दर्शन आदि के अभ्यास के बिना केवल ज्ञान नहीं सिद्ध हो सकता और केवल ज्ञान के बिना आगम की सिद्धि नहीं हो सकती, तो भी सर्वज्ञ प्रणीत आगम सन्तान की अनादिता के कारण केवल ज्ञान की सिद्धि मानी जा सकती है। किन्तु अकलंक का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ पर बीज और अंकुर का कार्यकारणभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रसिद्ध है, वहीं पर अनादि परम्परा अन्योन्याश्रय दोष का परिहार कर पाती है, अन्यत्र नहीं। जहाँ पर किसी प्रकार कार्यकारणभाव नहीं सिद्ध होता, वहाँ पर यह कल्पना ठीक नहीं मानी जा सकती, क्योंकि पूर्व पूर्व के आगमों का सहारा लेकर उत्तर उत्तर के सर्वज्ञों की सिद्धि होगी और पूर्व पूर्व के सर्वज्ञों के सहारे से उत्तरकाल के आगमों की सिद्धि माननी पड़ेगी। किन्तु जैसे बीज से अंकुर की उत्पत्ति और अंकुर से बीज की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, उसी प्रकार से आगम से सर्वज्ञ की और सर्वज्ञ से आगम की उत्पत्ति कहीं देखी नहीं गई है।

भट्ट कुमारिल ने इस विषय की और भी विवेचना की है। जैसे—"तत्काल जो यह अनुभव करना चाहते हैं कि यह सर्वज्ञ है, उनको उस सर्वज्ञ का ज्ञान और सब ज्ञेय पदार्थों का विज्ञान न होने पर कैसे सर्वज्ञ का ज्ञान हो सकता है। इस तरह से अनेक सर्वज्ञों की कल्पना करनी पड़ेगी; जो सर्वज्ञ न होगा, वह सर्वज्ञ को न जान पायगा और जब सर्वज्ञ का ज्ञान न हुआ तो उसके लिए उसके वचन भी उसी प्रकार प्रमाण नहीं होंगे, जैसे कि वे वाक्य प्रमाण नहीं होते, जिनके कि मूल वक्ता का ज्ञान न हो। जब कि यह सर्वज्ञ राग आदि से रहित है, तो उसका कुछ कर्तव्य न रहने से वह निर्व्यापार रहेगा। अर्थात् कुछ भी करेगा नहीं, फिर शास्त्र कैसे बनायेगा? ऐसी परिस्थिति में देशना (ज्ञानोपदेश) अन्य प्रणीत ही मानी जायगी, वह तो मात्र पर्यवेक्षक रहेगा। यह कहा जाता है कि चिन्तामणि से जैसे विचार करते ही वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसी तरह से सर्वज्ञ पुरुष के सांनिध्यमात्र से दीवाल से भी शास्त्रोपदेश निकलने लगते हैं। यह बात केवल अन्ध श्रद्धालु व्यक्ति ही मान सकते हैं। दीवाल से निकले शास्त्रोपदेश में हम विश्वास नहीं कर सकते कि ये बुद्ध के द्वारा ही उपदिष्ट हैं या अदृश्य, दुष्ट पिशाच आदि ने प्रवंचना के लिये इनको कह दिया है। इसी पद्धति से आगम की नित्यता को मानने वाले जैनों का मत भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि वहाँ भी यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि यह नित्य है या

कृतोऽथवा ॥ सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानृतवादिनः । यथाद्यत्वे न विस्रम्भस्तथातीतार्थकीर्तने ॥" इति । (चो० सू० वा० १३४-१४०, १४३-१४४) ।

किञ्चेहानुमाने कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः, तत्सर्वज्ञत्वमिति वा प्रतिज्ञायाः सिद्धावपि नेष्टसिद्धिः, अभिमतस्य तदसिद्धेः । बुद्धस्य सर्वज्ञत्वसिद्ध्या आर्हतागमस्य प्रामाण्यासिद्धेः । जिनस्य महावीरस्य वा सर्वज्ञत्वसिद्धौ न बौद्धागमप्रामाण्यं सिद्ध्यति । यो मार्गजिज्ञासया ग्रामं प्रविशञ्छ्वभिस्तर्ज्यते स सर्वज्ञ इत्युपहासास्पदमिति रीत्या परस्परव्याघाताच्च तदसिद्धिः । बौद्धैर्जिनस्य सार्वज्ञ्यं खण्ड्यते, जैनैश्च बुद्धस्य तन्निरस्यते । न चोभयोरपि सार्वज्ञ्यं वक्तुं शक्यम्, परस्परविरोधात् । बुद्धः सर्वज्ञो न कपिलकणादगोतमादयः, जिनः सर्वज्ञो न बुद्धव्यासजैमिन्यादय इति को वक्तुं क्षमः, तत्तदनुयायिमतेन सर्वेषामेव सार्वज्ञ्यानपायात् । सर्वमतेन तु न कस्यापि सार्वज्ञ्यम् । समेषां सार्वज्ञ्ये परस्परविरोधो न स्यात्, वस्तुनि विकल्पासम्भवात् । अत एवोच्यते—"नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञस्तत्सर्वज्ञत्वमित्यपि । साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञान्यूनमेव तत् ॥ सिषाधयिषितो योऽर्थः सोऽनयानाभिधीयते । यत्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥ यदीयागमसत्यत्वसिद्ध्यै सर्वज्ञतोच्यते । न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥ यावद् बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा । यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥ अन्यस्मिन्नहि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता । सामानाधिकरण्ये हि तयोरङ्गाङ्गिता भवेत् ॥" इति ।

किञ्चार्हतानां मते न ज्ञानादर्थान्तरमात्मा, पूर्वोत्तरचिद्वर्तिनोऽनुस्यूतचैतन्यस्यैवात्मत्वात् । प्रतिनियतार्थावभासिज्ञानेषु अहमहमिकतया प्रतिप्राणि भासमानमन्वितं चिद्रूपमेवात्मतत्त्वमिति तदभ्युपगमात् । तस्य च परिणामिनित्यता

किसी का बनाया हुआ । प्रायः पुरुष असत्यभाषी होते हैं, जैसे आज उनकी बात पर विश्वास नहीं किया जाता, वैसे ही उनकी बीती बातों पर भी विश्वास करना कठिन है ।"

अनुमान के द्वारा सर्वज्ञ या सर्वज्ञत्व प्रतिज्ञा की सिद्धि हो जाने पर भी आपके अभिमत की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि बुद्ध की सर्वज्ञता की सिद्धि होने पर जैनागमों का प्रामाण्य न सिद्ध हो सकेगा और जिन अथवा महावीर की सर्वज्ञता की सिद्धि होने पर बौद्ध आगमों का प्रामाण्य नहीं सिद्ध होगा । इस प्रकार परस्पर व्याघात के कारण कोई सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकेगा । यह सर्वज्ञता का उपहास नहीं तो और क्या है कि सर्वज्ञ पुरुष मार्ग की जिज्ञासा से गाँव में जाता है और वहाँ पर कुत्ते उसको देखकर भौंकने लगते हैं। बौद्ध जिन की सर्वज्ञता का खण्डन करते हैं और जैन बुद्ध की सर्वज्ञता का। परस्पर विरोध के कारण कोई भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता । यह कौन कह सकता है कि बुद्ध सर्वज्ञ हैं, कपिल कणाद, गौतम नहीं । जिन सर्वज्ञ हैं, बुद्ध, व्यास, जैमिनि नहीं । उन उनके अनुयायियों में अनुसार सभी सर्वज्ञ हैं । सर्व मत से कोई भी सर्वज्ञ नहीं हैं । यदि सभी सर्वज्ञ हों, तो उनमें परस्पर विरोध नहीं रहेगा, क्योंकि वस्तु का स्वभाव तो एक ही होता है । इसीलिये यह कहा जाता है—

"कोई पुरुष सर्वज्ञ है, इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर उसकी सर्वज्ञता की सिद्धि के लिये जो साधन प्रयुक्त किया जाता है, वह प्रतिज्ञा की अपेक्षा निर्बल होने के कारण प्रतिज्ञा को सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि इससे जो अर्थ सिद्ध किया जा सकता है, उसको प्रतिज्ञा नहीं कहते और जो अर्थ कहा जाता है, उसको सिद्ध करने का कोई प्रयोजन नहीं है । जिस आगम की सत्यता की सिद्धि के लिये सर्वज्ञता सिद्ध की जाती है, उसकी सिद्धि सामान्य रूप से सर्वज्ञ की सिद्धि होने पर नहीं हो सकती । जब तक बुद्ध की सर्वज्ञता सिद्ध न होगी, तब तक उसका वचन मिथ्या ही माना जायगा । चाहे जिस व्यक्ति में सर्वज्ञता की सिद्धि होने से बुद्ध का वचन कैसे प्रमाण हो जायगा ? अन्य व्यक्ति के सर्वज्ञ सिद्ध होने से अन्य व्यक्ति का वचन सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि सर्वज्ञ और वचन का सामानाधिकरण्य होने से, अर्थात् दोनों एक व्यक्ति में रहने से यह हो सकता है ।"

जैन दार्शनिकों के मत में आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं हैं । पूर्व और उत्तर वर्ती चित्ति (ज्ञान) से अन्वित चैतन्य ही उनके मत में आत्मा है । प्रतिनियत (अपने-अपने रूप से निश्चित) अर्थ वस्तु के आभासक (बताने वाला) ज्ञानों में अहम् रूप से (यह ज्ञान मैं ही हूँ, इस रूप से) प्रत्येक प्राणी में भासित हो रहा चिद्रूप ही आत्मतत्त्व उनके मत में माना गया है । इस प्रकार वे परिणामी नित्यता को

तैरुपेयते। मध्यमपरिमाणा असंख्यातावयवाश्च जीवास्तैरुपेयन्ते। तेषामनावृतत्वेऽपि सर्वसम्बन्धाभावात् कथं सर्वभासकत्वम् ? सम्बन्धाभावेऽपि प्रकाशकत्वेऽविशेषादावृतानामपि कुतः सार्वज्ञ्यं न स्यात् ?

यदप्युक्तम्—'धर्माद्यविशेषार्थप्रतिपादकस्यागमस्य तत्कार्यस्योपलभ्यमानत्वेन कार्यानुपलम्भोऽपि न वक्तुं शक्यः' इति, तदपि न, तदागमस्याशेषार्थप्रतिपादकत्वासम्प्रतिपत्तेः। बौद्धा बुद्धागमस्याशेषार्थप्रतिपादकत्वं जैना जिनागमस्य च तथात्वं वदन्ति, परस्परविरोधादेकस्यापि तदसिद्धेः। तेनापौरुषेयवेदस्याशेषार्थप्रतिपादकत्वं युक्तम्।

यदुक्तम्—गुणवद्वक्तृकत्वेनैव तत्प्रामाण्यमिति, तदपि न, अनाप्ताप्रणीतत्वेन तत्प्रामाण्योपपत्तौ गुणवद्वक्तृकत्वस्यानपेक्षणात्।

यदुक्तम्—'सर्वज्ञत्वस्य व्यापकं सर्वार्थसाक्षात्कारित्वम्, तदप्यनुमानेन प्रसिद्ध्यति। तथाहि—कश्चिदात्मा सकलार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिवन्धप्रत्ययत्वात्, यथा अपगततिमिरादिप्रतिवन्ध लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि। न तावदयं विशेषणासिद्धो हेतुः, आगमद्वारेणाशेषार्थग्रहणस्वभावत्वस्यात्मनि प्रसिद्धत्वात्। नापि विशेष्यासिद्धो हेतुः, प्रक्षीणप्रतिवन्धप्रत्ययत्वस्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। तस्माद् व्यापकानुपलम्भादपि न सर्वज्ञाभावसिद्धिरिति,' तन्न, सर्वार्थग्रहणस्वभावत्वासिद्ध्या विशेष्यासिद्धेः। न चागमेन तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, तदागमप्रामाण्यासम्प्रतिपत्तेः। अन्यथा तेनैव सर्वज्ञसिद्धिरपि स्यात्, किमनुमानेन ? विशेष्यासिद्धिरपि, भावकर्मादिभावरूपप्रतिवन्धकानां सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां निवृत्त्यसंभवात्। न च कायक्लेशरूपेण तपसा तत्सम्भवः, तस्य सर्वकर्मनिवर्तकत्वासम्भवात्। बौद्धरीत्या कायक्लेशस्य कर्मफलतया नारकादिकायसन्तापवन्न कर्मक्षयहेतुत्वम्। अथ तपःकर्मशक्तीनां सङ्करेण क्षयकरणशीलं तप इति, तदपि न, एकरूपादपि

मानते हैं। मध्यम परिणाम वाले असंख्य जीवों की सत्ता मानते हैं। वे यद्यपि अनावृत हैं, अर्थात् ढँके हैं, दबे या ज्ञान शून्य नहीं हैं, तब भी उनका सबके साथ सम्बन्ध तो है नहीं, फिर उनमें सर्वभासकता कैसे रह सकती है ? सम्बन्ध के अभाव में भी यदि प्रकाशता मानी जाय, तो समान रूप से आवृत जीवों की भी सर्वज्ञता में कौन बाधक होगा ?

"आगम का कार्य है धर्मादि अशेष अर्थों का प्रतिपादन, इसकी उपलब्धि होने से कार्यानुपलम्भ वाली आपत्ति नहीं दी जा सकती।" यह कथन भी इसलिये गलत है कि ये आगम धर्मादि अशेष कार्यों का प्रतिपादन करते हैं, ऐसी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि बौद्ध बौद्धागम को सब विषयों के प्रतिपादक और जैन जिनागम को वैसे अशेषार्थ प्रतिपादक मानते हैं। परस्पर विरोध के कारण दोनों में से एक भी प्रमाण नहीं हो सकता। इसलिये अपौरुषेय वेद की ही अशेषार्थ प्रतिपादकता मानी जा सकती है।

यह कहना भी गलत है कि 'वेद का प्रामाण्य तभी माना जा सकता है, जब कि उसका कोई गुणवान् वक्ता माना जाय।' क्योंकि अनाप्त द्वारा प्रणीत न होना ही उसके प्रामाण्य के लिए पर्याप्त है, फलतः उसके लिए गुणवान् वक्ता की आवश्यकता नहीं है।

यह कहा जाता है कि "सर्वार्थसाक्षात्कारित्व सर्वज्ञत्व का व्यापक है, यह अनुमान से सिद्ध होता है। जैसे कि कोई आत्मा सकलार्थ साक्षात्कारी है, क्योंकि उसका ऐसा स्वभाव है और साथ ही उसके सब प्रतिबन्धक प्रत्ययों का क्षय हो चुका है, जैसे अन्धकार प्रभृति प्रतिवन्धों के हट जाने पर लोचनविज्ञान रूप का साक्षात्कार करता है। यह हेतु विशेषणसिद्ध नहीं है, क्योंकि आगम के द्वारा आत्मा का अशेषार्थ ग्रहण स्वभाव प्रसिद्ध है। यह हेतु 'विशेष्यासिद्ध भी नहीं होगा, क्योंकि यह आगे सिद्ध किया जा रहा है कि आत्मा का ज्ञान सभी प्रतिवन्धों से रहित है। इस प्रकार व्यापकानुपलब्धि के द्वारा भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता", किन्तु यह कथन इसलिये गलत है कि आत्मा की सर्वार्थग्रहणस्वभावता सिद्ध नहीं होती, अतः विशेष्यासिद्धि का परिहार नहीं हो सकता। आगम से विशेष्य की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि उनके आगम का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है, अन्यथा उनके शास्त्र के अनुसार तो सर्वज्ञ की सिद्धि हो ही गई, फिर अनुमान की क्या आवश्यकता है। फिर भी विशेष्यसिद्धि तो वर्तमान ही रहेगी, क्योंकि भावरूप कर्म आदि प्रतिबन्धकों की निवृत्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि से नहीं हो सकती। कायक्लेशरूप तप से भी उनकी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि तप सभी कर्मों का निवर्तक नहीं हो सकता। बौद्ध मत में कायक्लेश कर्म का फल है, फलतः वह नारकादि कायसन्ताप के समान कर्मक्षय का हेतु नहीं हो सकता। यदि आप ऐसा मानें कि 'तप और कर्म की शक्तियों के सांकर्य के कारण तप कर्मक्षय का कारण हो जायगा', तो यह भी नहीं संभव है, क्योंकि ऐसा मानने पर एक समानरूप वाले विचित्र शक्तियों वाले कर्म का क्षय होने लगेगा।

चित्रशक्तिकस्य कर्मणः क्षयोपपत्तेः। वस्तुतस्तु प्रमाणाभावान्न तपसः कर्मक्षयहेतुत्वम्। न च तत्रागमप्रामाण्यम्, तत्प्रामाण्यस्य सर्वज्ञसिद्धयायत्तत्वात्।

यदपि धर्मकीर्त्तिना जल्पितम्–'निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः। न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥ सर्वेषां सविपक्षत्वान्निर्ह्रासातिशयाश्रिताः। सात्मीभावात्तदभ्यासाद्धीयेरन्नास्रवाः क्वचित्॥' (प्र. वा. ३।२२१–२२२)। दोषा हि निर्ह्रासातिशयधर्माणः, सर्वेषां विपक्षवत्त्वात्। ते हि विकल्पप्रभवाः, सत्यर्प्युपादाने कस्यचिन्मनोगुणस्याभ्यासादपकर्षिणः, तत्पाटवे निरन्वयविनाशधर्माणः स्युः, ज्वालादिवत्। यथा ज्वालादयः प्रतिपक्षस्योदकादेरुत्कर्षे सत्यत्यन्तविनाशधर्माण-स्तद्वत्। तथा च प्रयोगः—ये यदुपधानादपकर्षिणस्ते तदत्यन्तवृद्धौ तदभिभवान्निरन्वयविनाशधर्माणः, यथा ज्वालादयः सलिलाभिवृद्धौ। नैरात्म्यदर्शनेन च सर्वेषां दोषाणां निवृत्तिः, सत्कायदर्शनस्यैवाविद्यात्वात्। तत एव स्नेहस्ततश्च द्वेषः। सत्कायदर्शनजन्मनां दोषाणां तत्प्रतिपक्षनैरात्म्यदर्शनाभ्यासात् प्रहाणं भवत्येवेति।

तदपि निःसारम्, नैरात्म्यदर्शनस्याविद्यारूपत्वेन निरुपद्रवभूतार्थत्वानुपपत्तेः, नैरात्म्यस्य मोहमूलत्वात्। किञ्च, क्षणभङ्गपक्षे बन्धमोक्षव्यवस्थाया वैयधिकरण्येनैकाधिकरण्यानुपपत्तेः। बौद्धमते बद्धोऽन्यः क्षणः, साधनानुष्ठानमन्यस्मिन् क्षणे, तत्फलं चान्यत्रैव, क्षणस्यास्थापितया न्निर्विकल्पतया च व्यापारासम्भवात्। सन्तानस्यापि सन्तान्यनतिरिक्ततया तत्रापि तदनुपपत्तिरेव। किञ्च, निरन्वयविनश्वरत्वपक्षे नैरात्म्यदर्शनाभ्यासोऽपि नोपपद्यते, रागाद्युपरमस्य विनाश-रूपत्वात्। विनाशस्य निर्हेतुकत्वेनायत्नसिद्धत्वमेवेति तदर्थमनुष्ठानादिप्रयासो व्यर्थ एव। किञ्च, तेनाभ्यासेन रागादि-

वस्तुतः तप की कर्मक्षय की हेतुता में कोई प्रमाण नहीं है। आगम भी इसमें प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि इस आगम का प्रामाण्य तो सर्वज्ञ की सिद्धि के अधीन है।

धर्मकीर्ति ने भी जो यह कहा है कि—"दोष रहित सिद्ध वस्तुविषयक ज्ञान का विपर्यय से बाध विपरीत प्रयत्नों के रहते भी नहीं होता, क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) का यह स्वभाव है कि वह वस्तुस्वभाव की ओर ही स्वभावतः प्रवृत्त होती है। सभी रागादि आस्रवों का कभी न कभी विनाश अवश्य हो जाता है, क्योंकि ये सभी उपचयापचय (बढ़ना-घटना) स्वभाव वाले हैं और इनके विपक्ष में चित्तसन्तान निरन्तर क्रियाशील है"। इस उक्ति के अनुसार दोष सदा अत्यन्त ह्रासमय स्वभाव के हैं, क्योंकि इनका विपक्ष प्रबल स्वभाव का है। दोषों की उत्पत्ति विकल्प से होती है। योग्य उपादान में मनोगुणों के विकास होने पर ये दोष क्षीण हो जाते हैं और इसी अभ्यास में पटुता आने पर उनका निरन्वय विनाश अग्निज्वाला के समान हो जाता है। अग्निज्वाला के प्रतिपक्षी जल के आधिक्य होने पर जैसे अग्निज्वाला एक दम शान्त हो जाती है, उसी प्रकार मनोगुणों का अत्यन्त विकास होने पर ये दोष भी पूरी तरह से नष्ट हो जाते हैं। अनुमान का स्वरूप इस प्रकार का होगा—जो (दोष) जिस (गुण) के आने से दब जाते हैं, वे उसका उत्कर्ष होने पर उससे अभिभूत होकर पूरी तरह से नष्ट हो जाते हैं, जैसे जल की अधिकता में ज्वाला का अत्यन्त विनाश हो जाता है। नैरात्म्य दर्शन से सभी दोषों की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि सत्कायदृष्टि, सत्वदृष्टि को ही अविद्या माना गया है। इस सत्कायदर्शन के कारण ही आत्मीय में स्नेह और पर में द्वेष बुद्धि उत्पन्न होती है। सत्वदृष्टि के कारण उत्पन्न दोषों का प्रहाण उसकी प्रतिपक्षभूत नैरात्म्यदृष्टि के अभ्यास से अवश्य हो जायगा"।

किन्तु यह पूरा कथन निःसार है, नैरात्म्य दर्शन अविद्या रूप अर्थात् अज्ञान रूप होने के कारण वह कभी भी सत्स्वरूप नहीं हो सकता, अतः वह दोष रहित सिद्ध वस्तु विषयक ज्ञान (निरुपद्रवभूतार्थस्वभाव) हो ही नहीं सकता, क्योंकि नैरात्म्य के मूल में मोह रूपी अज्ञान विद्यमान है। क्षणभंगवाद में बन्ध-मोक्ष व्यवस्था का सामानाधिकरण्य (एक साथ होना) कभी नहीं बन सकता, क्योंकि सभी वस्तुओं की क्षणभंगिता के कारण जहाँ बन्ध है वहाँ मोक्ष की स्थिति बन ही नहीं सकती। बौद्धमत में बद्ध क्षण भिन्न है, साधन का अनुष्ठान किसी दूसरे क्षण में है और उसका फल कहीं अन्यत्र ही। क्षण तो अस्थायी है, निर्विकल्प है, अतः एक में ही ये सब व्यापार नहीं हो सकते। सन्तान भी सन्तानी से अतिरिक्त है, अतः वहाँ भी यह संभव नहीं हो सकता। जब आप निरन्वय विनाश मानते हैं तो नैरात्म्य दर्शन का अभ्यास भी टिक न सकेगा। रागादि की उपरति विनाश स्वभाव ही है। विनाश तो निर्हेतुक है, अतः उसके लिये यत्न की अपेक्षा न रहने से किसी प्रकार का अनुष्ठानादि का प्रयत्न व्यर्थ ही है। आप यह बताइये कि 'उस अभ्यास

चित्तक्षणस्य नाशः क्रियते, भाविनो वाऽनुत्पादः, निरास्रवचित्तसन्तत्युत्पादो वा ? नाद्यः, भवन्मते विनाशस्य निर्हेतुकतया कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात्। नापि द्वितीयः, उत्पादाभावस्यैवानुत्पादत्वेनाभावरूपस्योत्पादासम्भवात्, तथात्वेऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। तत्छक्तिक्षययापि प्रयासो नोपपद्यते, क्षयस्याभावरूपत्वात्। एतेन सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थोऽपि प्रयासोऽनुपपन्न एव। तदुच्छेदानुत्पादयोरभावरूपत्वेन कुतश्चिदात्मलाभासम्भवात्। किञ्च, सिद्धे वास्तवे सन्ताने तदुच्छेदाद्यर्थप्रयासो युक्तः, क्षणातिरिक्तस्य तस्य भवतानभ्युपगमात्; सन्तानिनिषेधे तन्निषेधस्य सिद्धत्वात्। अन्त्यज्ञानस्य ज्ञानान्तराकर्तृत्वे सन्तानोच्छेदो भवति। तच्च कुतो न करोति ? सत्त्वात् तदुत्पादे शक्तत्वाद्वा ? शक्तमपि सहकारिणामभावान्नोत्पादयतीति न सङ्गतम्, तदभावस्याप्रतिबन्धकत्वात्। तेन हि प्रतिबन्धो भावस्योत्पत्तेः, उत्पादकत्वस्य वा ? नाद्यः, त्वन्मते कारणान्तराभावस्याभावरूपतया सकलशक्तिविरहस्वभावाभावस्य नोत्पत्तिं प्रतिबध्नाति, शशविषाणवत्। न द्वितीयोऽपि, यत उत्पादकत्वस्य प्रतिबन्धः कार्योत्पादकपदार्थसत्तापहारः, सोऽपि शशविषाणप्रख्ये दुर्घटः। अन्त्यचित्तक्षणस्यार्थक्रियाकारित्वाभावेऽवस्तुत्वम्, ततस्तज्जनकस्यापीत्यशेषचित्तसन्तानस्यैवावस्तुत्वम्।

यदुक्तम्—'स्वसन्तानवर्तिनोऽज्ञानक्षणस्याजनकत्वेऽपि योगिज्ञानस्य जननान्नाशेषस्य तत्सन्तानस्यावस्तुत्वम्। यदा सर्वज्ञस्तमन्त्यक्षणं जानाति, तदा सोऽन्त्यः क्षणो योगिज्ञानस्य सहचारितया तदुत्पादको भवति, नाकारणं विषय इति सिद्धान्तादिति', तन्न, रसादेरेककालस्य रूपादेरव्यभिचार्यनुमानाभावप्रसङ्गात्। एकसामग्र्यधीनत्वे रूपरसयोर्नियमेन कार्यद्वयारम्भकत्वेऽन्यत्रापि कार्यद्वयारम्भकत्वं स्यात्, योगिज्ञानान्त्यक्षणयोरेकसामग्र्यधीनत्वाविशेषात्।

से आप १ रागादि चित्त क्षण का नाश करते हैं, २ भावी क्षण के उत्पाद को रोकते हैं, या ३ निरास्रव चिन्तसन्तति का उत्पादन करते हैं' ? पहला पक्ष इसलिये मान्य नहीं होगा कि आपके मत में विनाश के निर्हेतुक होने से उसकी किसी से उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। द्वितीय पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि उत्पत्ति का अभाव ही तो अनुत्पाद है और अभाव किसी की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकता। फिर ऐसा मानने पर आपके सिद्धान्त की हानि हो जायगी। उसकी शक्ति के क्षय के लिये भी प्रयास की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि क्षय अभाव रूप है। इसीलिये सन्तान के उच्छेद अथवा अनुत्पाद के लिये भी प्रयास की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उच्छेद (नाश) और अनुत्पाद (पैदा न होना) भी अभाव रूप ही हैं, अतः इनसे कभी स्वरूपलाभ नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि वास्तविक सन्तान की सिद्धि होने पर ही उसके उच्छेद आदि के लिये प्रयास हो सकता है। आप सन्तान को भी क्षण से अतिरिक्त नहीं मानते। सन्तानी का जब निषेध हो गया तो सन्तान का निषेध तो स्वतः सिद्ध है। अन्त्य ज्ञान जब ज्ञानान्तर को पैदा नहीं करता तो सन्तान का उच्छेद माना जाता है। यह अन्त्य ज्ञान सत्त्व और उत्पाद सामर्थ्य के रहते भी क्यों ज्ञानान्तर को पैदा नहीं करता। 'समर्थ है, किन्तु सहकारी के अभाव में वह ज्ञानान्तर को उत्पन्न नहीं करता', यह कथन भी संगत नहीं, क्योंकि अभाव की प्रतिबन्धकता मान्य नहीं है। वह (सहकारी का अभाव) अभाव की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक होगा या उसकी उत्पादकता में ? प्रथम पक्ष इसलिये मान्य नहीं होगा कि आप के मत में कारणान्तराभाव अभाव रूप हैं, अतः वह सकल शक्ति विरह स्वभाव के अभाव की उत्पत्ति में शशविषाण की तरह प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष भी इसलिये मान्य नहीं होगा कि उत्पादकता के प्रतिबन्ध की निवृत्ति उस समय हो जाती है जब कि उसमें कार्योत्पादक पदार्थ की सत्ता देखी गई हो। शशविषाण के तुल्य उस अभाव में उत्पादकता की प्रतिबन्धकता का मिलना कठिन है। अन्त्य चित्त क्षण में अर्थक्रियाकारिता के न रहने पर वह अवस्तु मान लिया जायगा और ऐसा होने पर इसके जनक ज्ञान को भी अवस्तु मानना पड़ेगा, फलतः सारी चिन्तसन्तति ही अवस्तुभूत (तथ्यहीन) सिद्ध हो जायगी।

इस पर कहा जाता है कि "अपने सन्तान में विद्यमान अज्ञान क्षण के स्वयं कारण न होने पर भी योगिज्ञान से उसमें अर्थक्रियाकारिता होती है, अतः पूरे सन्तान की अवस्तुता न होगी। जब सर्वज्ञ उस अन्त्य क्षण को जान लेता है, उस समय वह अन्त्य क्षण योगिज्ञान की सहायता से उसका उत्पादक होता है। ऐसी मान्यता है कि 'बिना कारण के कोई विषय नहीं होता', किन्तु यह उक्ति भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर रसादि के साथ रूपादि की एककालता में अव्यभिचारी अनुमान नहीं होने पावेगा। एक सामग्री के अधीन रूप और रस की, नियमतः दो कार्यों की आरम्भकता मानने पर अन्यत्र भी इस प्रकार की कार्यद्वयारम्भकता माननी पड़ेगी, क्योंकि योगिज्ञान और अन्त्य क्षण की एक सामग्री की अधीनता उसी प्रकार की है।

अयमाशयः—बौद्धमते द्वितीयक्षणवर्तिनो रसस्य प्रथमक्षणवर्ती रस उपादानम्, प्रथमक्षणवर्ति रूपं च सहकारि। प्रथमक्षणवर्ति रूपं सजातीयं द्वितीयक्षणवर्ति रूपं जनयित्वैव विजातीये द्वितीयक्षणवर्तिनि सहकारि भवति। तथा च यदि अन्त्यो ज्ञानक्षणः सजातीयं ज्ञानक्षणान्तरमनुत्पाद्यैव विजातीये सन्तानान्तरवर्तिनि योगिज्ञाने आलम्बनतया सहकारी भवेत्, तदा पूर्वक्षणवर्ति रूपमपि सजातीयं रूपक्षणान्तरमजनयित्वैव विजातीये द्वितीयक्षणवर्तिनि रसे सहकारि स्यात्। तथा च द्वितीयक्षणवर्तिरसाद् रूपानुमानं न स्यात्। यदि चान्त्यक्षणस्य भिन्नसन्तानकार्यजननसामर्थ्यं न स्यात्, तदार्थक्रियाकारित्वाभावेनासत्त्वमेव स्यात्। तस्यापि सत्त्वेऽर्थक्रियारहितस्याक्षणिकस्यापि कुतः सत्त्वं न स्यात्? निरास्रवचित्तसन्तत्युत्पत्तिलक्षणा सा तत्प्रयाससाध्येति पक्षेऽपि तस्याः सत्त्वे क्षणिकत्वम्, असत्त्वे साध्यत्वानुपपत्तिः। सान्वयचित्तसन्तानेऽभ्युपगम्यमानेऽपसिद्धान्तः, निरन्वये च बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिः। यदि सन्तानं परमार्थसत्, तदा नामान्तरेणात्मैव स्वीकृतः स्यात्, अपरमार्थसत्त्वे तत्र बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिः। न च रागादिदोषाणां कम्बलादिवज्ज्ञानावरकत्वमिति प्रोक्तमेव, सत्यपि रागादौ घटादिज्ञानदर्शनात्। चित्तविक्षेपजनकत्वेन भावनाप्रतिबन्धकत्वेनैव तदपसारणं युक्तम्। भावनायास्तज्जन्यसाक्षात्कारस्य च विधुरपरिभावितकामिनीसाक्षात्कारवद् मिथ्यात्वमेवेति न भूतार्थविषयत्वम्। अपि च ज्ञानमन्तरा भावना, सार्वज्ञ्यमन्तरा धर्मादिज्ञानम्, सति ज्ञाने तद्भावनया सार्वज्ञ्यमित्यादि परस्पराश्रयत्वमपि। सति ज्ञाने भावनानैरर्थक्यम्। न च मिथ्याज्ञानभावनया सम्यग्ज्ञानं संभवति। नैरात्म्यभावना मिथ्याज्ञानभावनैवेति न तयाऽविद्यानिवृत्तिः सम्भवति, न वा रागादिदोषनिवृत्तिः, ब्रह्मज्ञानस्यैवाविद्यानिवर्तकत्वात्, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (वा. सं. ३१-१८) इति श्रुतेः। मिथ्याज्ञाननिवृत्तिं विना प्रतिपक्षभावनयापि निःशेषसर्गादिनिवृत्तिर्न सम्भवति, किन्तु यथा क्रोधेन कामाभिभवोऽपि सातिशय एव,

इस कथन का अभिप्राय यह कि बौद्ध मत में द्वितीय क्षणवर्ती रस का प्रथम क्षणवर्ती रस उपादान है और प्रथम क्षणवर्ती रूप सहकारी है। प्रथम क्षणवर्ती रूप सजातीय विजातीय क्षणवर्ती रूप को उत्पन्न करके ही विजातीय द्वितीय क्षणवर्ती रस का सहकारी होता है, किन्तु इस परिस्थिति में अन्त्य ज्ञान क्षण सजातीय अन्य ज्ञानक्षण को बिना पैदा किये ही विजातीय सन्तानान्तरवर्ती योगिज्ञान में आलम्बन रूप से सहकारी होगा तो पूर्व क्षणवर्ती रूप भी अन्य सजातीय रूपक्षण को बिना पैदा किये ही विजातीय द्वितीय क्षणवर्ती रस का सहकारी हो जायगा, तब द्वितीय क्षणवर्ती रस से रूप का अनुमान नहीं होगा। यदि अन्त्य क्षण की भिन्न सन्तान को पैदा करने की सामर्थ्य नहीं मानी जाती तो अर्थक्रियाकारिता के अभाव में उसकी असत्ता माननी पड़ेगी। इस पर भी यदि उसकी सत्ता मानी जाती है तो अर्थक्रिया से रहित अक्षणिक की सत्ता क्यों न मानी जाय? यदि यह माना जाय कि अर्थक्रिया यहाँ पर निरास्रव चित्तसन्तति की उत्पत्ति के रूप में विद्यमान है, जो कि उसके प्रयास से ही साध्य होती है, तो इस पक्ष में भी यदि उसकी सत्ता मानी जाती है तो वह भी क्षणिक होगी और यदि असत्त्व मानते हैं तो वह साध्य नहीं हो सकती। सान्वय चित्तसन्तान को मानने पर आपको अपने सिद्धान्त के विपरीत गलत सिद्धान्त मानना पड़ेगा और चित्तसन्तान की निरन्वयता में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पावेगी। यदि आप सन्तान को परमार्थसत् मानें तो यह अन्य नाम से आत्मा को ही मानना हुआ। यदि वह अपरमार्थसत् है तो उसकी बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था कैसे होगी। यह कहा जा चुका है कि रागादि दोष कम्बल आदि जैसे किसी वस्तु को ढंग लेते हैं, उसी तरह ज्ञान के आवरक नहीं होते, क्योंकि रागादि के रहते भी घट आदि का ज्ञान होता ही है। ये चित्त में विक्षेप पैदा करके भावना में विघ्न डालते हैं, इसलिये इनको हटाया जाता है। भावना और उससे पैदा हुआ दृष्ट का साक्षात्कार विधुर के द्वारा भावित कामिनी साक्षात्कार के समान ही मिथ्या है, अतः उसका विषय वास्तविक नहीं होता। दूसरी बात ज्ञान के बाद भावना, सर्वज्ञता के बाद धर्मादि का ज्ञान, ज्ञान होने पर उसकी भावना से सर्वज्ञता, इस प्रकार इनकी परस्पराश्रयता है। जो महान् दोष है। यदि ज्ञान हो गया तो फिर भावना व्यर्थ है। मिथ्या ज्ञान की भावना से सम्यग्ज्ञान हो भी नहीं सकता। नैरात्म्यभावना मिथ्याज्ञान की ही भावना है, अतः इससे अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती और न रागादि दोषों की ही निवृत्ति हो सकती है। अविद्या आदि की निवृत्ति तो 'उस ब्रह्म को जानकर ही मनुष्य मृत्यु को जीतकर अमरता की ओर बढ़ता है" इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म ज्ञान से ही होती है। मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के बिना प्रतिपक्ष की भावना से भी सारी सृष्टि की निवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु क्रोध से जैसे कुछ देर के लिये काम दब जाता है, उसी

तथैव नैरात्म्यादिप्रतिपक्षभावनयापि तदभिभव एव नात्यन्तविनाशः, 'नान्यः पन्था' (वा. सं. ३१-१८) इतिश्रुतेः। सलिलाभिवृद्धावपि ज्वालादीनामभिभव एव न विनाशः, पुनरप्युद्भवदर्शनात्।

एवं विरुद्धविधेरपि सर्वज्ञाभावः सिद्धयत्येव। विमतोऽसर्वज्ञः, जीवत्वान्नरत्वाद्वा, अस्मदादिवत्। तादृशैरेवानुमानैः सर्वज्ञत्वव्यापकसर्वसाक्षात्कारित्वविरुद्धस्य तदसाक्षात्कारित्वस्य नियतार्थसाक्षात्कारित्वस्य वा सिद्धयापि सर्वज्ञत्वाभावसिद्धिर्भवत्येव। न चात्मविशेषे तद्व्यापकसिद्धिः सम्भवति, तस्य खण्डितत्वात्। एवं मूलभूतवेदरूपागमप्रामाण्याभ्युपगममन्तरा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामसिद्धिः। न च सर्वज्ञनिर्मितेनागमेन तत्सिद्धिः सर्वज्ञताया अद्याप्यसिद्धेः। न च ज्ञानेन सत्यभूतानां कर्मणां प्रक्षयः, ज्ञानस्य ज्ञापकत्वात्। ज्ञापकमेव प्रमाणम्, न त्वकृतकर्तृ प्रमाणम्। न च कायक्लेशैरनन्तानां सञ्चितकर्मणां प्रक्षयः सम्भवति, प्रमाणाभावात्। पुण्यानां पुण्यात्मकेन तपसा विरोधाभावादपि तदप्रक्षयः। एवं कर्माप्रक्षयसिद्धया कारणविरुद्धविधिनापि सर्वज्ञत्वाभावः सिद्धयति।

तद्विरुद्धकार्यविधिरपि सर्वत्राभावसाधकः। भवदभिमतसर्वज्ञनिर्मिते आगमे आत्मनां मध्यमपरिमाणवत्त्वं नित्यत्वं सावयवत्वं चोक्तम्। तदेतत्सर्वज्ञत्वेन विरुद्धस्याल्पज्ञत्वस्यैव कार्यम्। न चैतच्छक्यसमर्थनम्, घटादीनां तथाभूतानामनित्यत्वदर्शनात्।

वक्तृत्वादिकमपि सर्वज्ञत्वाभावसाधकम्। न च तदसत्त्वाभ्युपगमे वक्तृत्वादिधर्मोपेतत्वानुपपत्तिः, व्यामोहादपि तत्सम्भवात्। 'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥' इति रीत्या

तरह से नैरात्म्य प्रभृति प्रतिपक्ष की भावना से भी उनका केवल अभिभव मात्र ही होता है, आत्यन्तिक विनाश नहीं। इसके लिये श्रुति प्रतिपादित मार्ग के सिवाय 'अन्य कोई मार्ग नहीं है।' पानी की अधिकता हो जाने पर भी ज्वाला केवल दब जाती है, वह सर्वथा नष्ट नहीं होती, क्योंकि समय पाकर वह फिर भभक उठती है।

इसी प्रकार विरुद्ध विधि से भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो ही जाता है। विवादास्पद व्यक्ति असर्वज्ञ है (सब कुछ जानने वाला नहीं है)। क्योंकि वह हमारी ही तरह मनुष्य है, अथवा जीव है। इसी तरह के अनुमानों से सर्वज्ञत्व के व्यापक सर्वसाक्षात्कारित्व (सबका प्रत्यक्ष ज्ञान करने वाला होना) के विरुद्ध असर्वसाक्षात्कारित्व अथवा नियतार्थसाक्षात्कारित्व (निश्चित वस्तु विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान वाला होना) की सिद्धि होने से भी सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि हो जाती है। किसी विशेष आत्मा में भी सर्वज्ञत्व के व्यापक सर्वसाक्षात्कारित्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसका खण्डन किया जा चुका है। इसी तरह मूलभूत वेदरूप आगम के प्रामाण्य को पाये बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की सिद्धि भी नहीं हो सकती। सर्वज्ञ निर्मित आगम से इनकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वज्ञता तो अभी भी सिद्ध नहीं हुई है। ज्ञान से सत्यस्वरूप कर्मों का क्षय भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान केवल ज्ञापक होता है। अर्थात् वस्तु का ज्ञान मात्र कराने वाला होता है। अविद्यमान वस्तु को पैदा करने वाला नहीं। जो कुछ करता नहीं है, केवल ज्ञान मात्र कराता है उसको प्रमाण नहीं माना जाता। काय क्लेश से अनन्त संचित कर्मों का क्षय बिना प्रमाण के नहीं हो सकता। पुण्यात्मक तप से पुण्य कर्मों का कोई विरोध न होने से भी उन पुण्य कर्मों का नाश तप से नहीं होगा। इस तरह से कर्मों के प्रक्षय के सिद्ध न होने से कारण विरुद्ध विधि से भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है।

सर्वज्ञ के स्वरूप के विरुद्ध कार्यविधि भी सर्वज्ञ के अभाव में साधक है। आपके द्वारा स्वीकृत सर्वज्ञ (महावीर) के द्वारा निर्मित आगम में आत्मा को मध्यम परिणाम वाला, नित्य और सावयव माना है। यह कथन सर्वज्ञ के विपरीत किसी अल्पज्ञ का ही हो सकता है। इसका समर्थन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये सब लक्षण घटादि में भी विद्यमान है, किन्तु वे नित्य नहीं माने जा सकते। जो वस्तु परिणामवाली अथवा अपरिमाणवाली हो, साथ ही जो वस्तु अवयव वाली भी हो, वह भी क्या कभी नित्य हो सकती है?

वक्तृत्व आदि हेतु भी सर्वज्ञत्व के अभाव के साधक हैं, क्योंकि सर्वज्ञत्व के अभाव में भी वक्तृत्वादि धर्म की सत्ता मानी ही जा सकती है। आजकल के मनुष्य सर्वज्ञ न होते हुए भी वक्ता हैं ही। व्यामोह के लिये भी यह सब कुछ सम्भव है। 'बिना कामना

वचनादिलक्षणं चेष्टितं नाकामस्य सम्भवति। कामे सति न रागाद्यभावनिबन्धनं सार्वज्ञ्यं शक्यसमर्थनम्। एतेन 'सर्वज्ञस्यासत्ता न साधयितुं शक्या, नाप्यसर्वज्ञता, स्ववचनविरोधात्' इत्यादिकमपास्तम्, निरुक्तरीत्या विमतस्यासर्वज्ञतायाः सर्वज्ञस्यासत्तायाश्च साधने बाधाभावात्। एतेन प्रमाणविरुद्धवक्तृत्वं हेतुत्वेन विवक्षितं तद्विपरीतं वा, वक्तृत्वमात्रं वेत्याद्यपास्तम्, सर्वथापि तत्सम्भवस्योक्तत्वात्।

यदुक्तम्—'भगवतस्तथाभूतार्थवक्तृत्वासम्भव' इति, तदपि श्रद्धामात्रम्, सर्वज्ञत्वाभावेन भगवत्त्वासम्भवात्। ज्ञानपूर्वकवक्तृत्वस्यापि कामचेष्टितत्वेन सर्वज्ञे तदभावात्सदसम्भवः। ज्ञानिनां परमेश्वरस्य च सत्यपि ज्ञाने मायाविद्यावत्त्वेन कामाभासमूलकं वचनादिचेष्टितं न विरुद्ध्यते, व्यवहारकाले पश्वादिभिश्चाविशेषादिति सिद्धान्तात्। नहि सुगतादिसर्वज्ञताप्रतिषेधेऽन्येषां विधिरवश्यंभावी, नायं सर्प इति प्रतिषेधस्य क्वचित् सर्पविधानापर्यवसायित्वात्। न च तत्रापि विधिपर्यवसानम्, तस्य वक्तृतात्पर्याविषयत्वात्। न च सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तितया वक्तृत्वं तदसाधकम्, वचनस्य काममूलकत्वसिद्ध्यैव तदभाववति तद्व्यावृत्तिसिद्धेः, सर्वज्ञे कामाभावस्य त्वयाऽपीष्यमाणत्वात्।

किञ्च, सर्वज्ञज्ञानार्थं सर्वज्ञापेक्षायां सत्यामपि न सर्वज्ञाभावज्ञानार्थं सर्वज्ञापेक्षा, पूर्वोक्तैरनुमानैरसर्वज्ञस्यापि तज्ज्ञानसंभवात्। अनुपलम्भेनापि सर्वज्ञाभावज्ञानं भवत्येव। यदि स्यात्प्रमाणपञ्चकैरुपलभ्येत, नोपलभ्यतेऽतस्तदभावसिद्धिः।

के इस जगत् में कहीं भी कोई क्रिया नहीं देखी जाती, यह प्राणी जो कुछ भी करता है, वह सब कामना के अधीन होकर ही करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वचनादि लक्षण चेष्टा निष्काम व्यक्ति में नहीं हो सकती। इस प्रकार जब कामना सिद्ध हो जाती है तो इसके रहते रागादि के अभाव से बँधी हुई सर्वज्ञता का समर्थन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। इस प्रतिपादन से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि 'सर्वज्ञ की असत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती और न ही असर्वज्ञता ही सिद्ध की जा सकती है, क्योंकि ऐसा करने पर अपने ही वचन से विरोध होगा'। कारण, ऊपर यह बताया जा चुका है कि विवादास्पद व्यक्ति की असर्वज्ञता और सर्वज्ञ की असत्ता को सिद्ध करने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार उक्त प्रतिपादन से इसका भी खण्डन हो जाता है कि 'यहाँ हेतु के रूप में प्रमाण विरुद्ध वक्तृत्व विवक्षित है या उससे विपरीत, अथवा केवल वक्तृत्व विवक्षित है ?', क्योंकि इनमें से कोई भी पक्ष माना जाय, वह उक्त सिद्धि में बाधक नहीं हो सकता, यह कहा जा चुका है।

यह कहना केवल अपनी अन्धश्रद्धा को ही व्यक्त कर सकता है कि 'भगवान् कोई गलत बात नहीं कह सकते', क्योंकि सर्वज्ञत्व के अभाव में भगवत्त्व की ही सिद्धि कैसे हो सकेगी ? ज्ञानपूर्वक वक्तृत्व भी बिना कामना के हो नहीं सकता और सर्वज्ञ में कामना का जब अभाव है तो उसमें वक्तृत्व कैसे सम्भव हो सकता है। ज्ञानी और ईश्वर में तो ज्ञान के रहते भी माया और अविद्या या विद्या के कारण कामाभास (कल्पित कामना) मूलक वचनादि चेष्टा की विद्यमानता में कोई बाधा नहीं होगी। वेदान्त सिद्धान्त में यह माना गया है कि व्यवहार काल में ज्ञानी और पशु दोनों ही समान रूप से व्यवहार करते हैं। सुगतादि की सर्वज्ञता का निषेध कर देने से कहीं अन्यत्र सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं मानी जा सकती। 'यह सर्प नहीं है' यह निषेध कहीं भी सर्प का विधान करता नहीं देखा गया है। वक्ता के तात्पर्य का विषय न होने से ऐसे स्थलों में वाक्यों की विधि में तात्पर्य नहीं मानी जाती। यह कहना कि 'वक्तृत्व हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति संदिग्ध है, अतः उससे सर्वज्ञ की असत्ता अथवा असर्वज्ञता की सिद्धि नहीं की जा सकती', इसलिये असत्य है कि वचन की काममूलकता की सिद्धि से ही सभी प्रकार की कामनाओं से रहित सर्वज्ञ में वक्तृत्व की व्यावृत्ति (वक्तृत्व का न होना) सिद्ध ही है, क्योंकि सर्वज्ञ में कामना का अभाव आपके मत में भी स्वीकृत है।

सर्वज्ञ के ज्ञान के लिये सर्वज्ञ की अपेक्षा होने पर भी, सर्वज्ञ के अभाव (न होने) के ज्ञान के लिये सर्वज्ञ की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त अनुमानों से असर्वज्ञ को भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान हो ही सकता है। अनुपलम्भ से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान होता ही है। यदि सर्वज्ञ हो तो उसकी उपलब्धि पाँचों प्रमाणों से होनी चाहिये, वह इनमें से किसी भी प्रमाण से उपलब्ध नहीं है, अतः उसका अभाव है। एक का अनुपलम्भ उसके अभाव का साधक है या सब का ? इस तरह के विकल्पों की भी प्रवृत्ति यहाँ नहीं होगी, क्योंकि ऐसे विकल्पों से तो सप्तम रस की भी सत्ता सिद्ध हो सकती है, यह हम पहले बता चुके हैं। अस्मदादि के

न चैकस्य सर्वस्य वा तदनुपलम्भस्तदभावसाधक इत्यादिविकल्पः सम्भवति, तथात्वे सप्तमरसस्यापि सत्त्वसिद्धिः स्यादिति प्रागुक्तत्वात्। अस्मदाद्युपलम्भवत् सर्वानुपलम्भस्याप्यनुमातुं शक्यत्वात्।

यदुक्तम् 'सर्वज्ञवद्वेदार्थज्ञोऽपि न कश्चित् सम्भवतीति, तदुपहासास्पदम्, विदितपदतदर्थशाब्दन्यायतत्त्वज्ञस्य वेदवाक्यार्थश्रवणे तदवबोधस्य दर्शनेन वेदार्थज्ञाभावसाधनस्य कालात्ययापदिष्टत्वात्। यदि चक्षुषा रूपप्रतिपत्तिर्भवति, तदा शब्देन शब्दार्थप्रतिपत्तिः किन्न स्यात्? न तथा सर्वज्ञसाधकं प्रमाणं किमप्युपलभ्यते।

अत एव यदि चानुपलम्भमात्रेणातीन्द्रियार्थदर्शिनोऽभावः साध्येत, तदा सर्वज्ञाभावतत्त्वज्ञस्याप्यतोऽभावः किन्न साध्येत, विशेषाभावादित्यपास्तम्, विशेषाभावस्यासिद्धेः। तथा हि—यथा कश्चिद् घटमुपलभमानोऽपि वदेद् नाहं घटमुपलभे, तथैव सर्वज्ञबाधकप्रमाणसद्भावं साधकप्रमाणाभावं चोपस्थापयन्नुपलभमानोऽपि वदसि नाहं सर्वज्ञाभावतत्त्वज्ञमुपलभे।

एतेन 'न वै जैमिनिरन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः, सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादेः, रथ्यापुरुषवत्' इत्यनुमानमप्याभासप्रायमेव, सत्त्वादीनां तदभावतत्त्वज्ञानेन विरोधाभावात्, सर्वज्ञो नास्तीत्यपि रथ्यापुरुषोऽपि जानात्येवेति सिद्धान्तस्य साध्यवैकल्यात्। वेदार्थज्ञोऽपि न भवति कश्चिदिति कथनमपि दुराग्रहमूलकमेव, चक्षुषा जायमानस्य रूपज्ञानस्येव वेदवाक्यैर्जायमानस्यार्थज्ञानस्यापलापायोगात्। "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इति वाक्यश्रवणेनापि स्वर्गाग्निहोत्रयोः साध्यसाधनभावो न प्रतीयत इति वदतो धाष्ट्र्यमेव, स्वानुभवस्यापलापात्।

अनुपलम्भ की तरह सर्वानुपलम्भ का भी अनुमान किया ही जा सकता है, अर्थात् हम लोगों को सर्वज्ञ कोई व्यक्ति दिखायी नहीं देता, अतः सभी को वह नहीं दिखायी देता, यह अनुमान सहज है।

यह कहना कि 'सर्वज्ञ की तरह वेदार्थज्ञ (वेद के अर्थ का ज्ञाता) भी कोई सिद्ध नहीं हो सकेगा', एक हास्यास्पद बात होगी, क्योंकि जिसको पद और पदार्थ का ज्ञान है और जो शाब्द न्याय (शब्द से अर्थ का ज्ञान होने के प्रकार) की पूरी प्रक्रिया को जानता है, उसको वेद के वाक्यों के सुनते ही वेदार्थ की प्रतीति देखी गई है, अतः वेदार्थज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाले हेतु प्रत्यक्ष विरोधी होने से कालात्ययापदिष्ट नामक हेत्वाभास से ग्रस्त ही माने जायेंगे। यदि चक्षु से रूप की प्रतिपत्ति होती है तो शब्द से शब्दार्थ की प्रतिपत्ति क्यों नहीं होगी? सर्वज्ञ को सिद्ध करने में तो इस प्रकार का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

इसी पद्धति से यह कथन भी खण्डित हो जाता है कि 'यदि अनुपलम्भ मात्र से अतीन्द्रियार्थदर्शी का अभाव सिद्ध किया जाता है तो सर्वज्ञ के अभाव के तत्त्वज्ञ का अभाव भी इससे क्यों न सिद्ध हो जायगा, जब कि विशेषाभाव समान रूप से विद्यमान है', क्योंकि विशेषाभाव की ही सिद्धि न होने पावेगी। जैसे कि कोई घट को देखते हुए भी कहे कि मैं घट नहीं देख रहा हूँ, उसी तरह से तुम सर्वज्ञ के बाधक प्रमाण को उपस्थापित और साधक प्रमाण को न उपस्थापित करते हुए भी कहते हो कि मैं सर्वज्ञ के अभाव के तत्त्वज्ञ को नहीं जानता।

इसी तरह से 'जैमिनि अथवा अन्य कोई आचार्य सर्वज्ञाभाव के तत्त्वज्ञ नहीं हो सकते, क्योंकि वे भी राह चलते व्यक्ति की तरह सत्व, पुरुषत्व, वक्तृत्व आदि से युक्त हैं', इस अनुमान का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि सत्त्व आदि हेतु का सर्वज्ञ के अभाव के तत्त्वज्ञान से कोई विरोध नहीं है। सर्वज्ञ नहीं है, इस बात को राह चलता व्यक्ति भी जानता है, अतः सर्वज्ञ के साधक हेतु को आप साध्यविकल मानते हैं, उसी तरह से वेदार्थज्ञ भी कोई नहीं है, अतः वेदार्थज्ञ साधक हेतु भी साध्यविकल होगा, यह कथन भी कोरा दुराग्रह है। चक्षु से जैसे रूप ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी तरह से वेद वाक्यों से उत्पन्न अर्थज्ञान का किसी भी प्रकार से अपलाप नहीं किया जा सकता। 'स्वर्ग की कामना वाला व्यक्ति अग्निहोत्र करे' इस वेद वाक्य के सुनने पर स्वर्ग और अग्निहोत्र का साध्य-साधनभाव प्रतीत नहीं होता, यह कथन धृष्टतापूर्ण ही कहा जायगा, क्योंकि ऐसा कहने वाला व्यक्ति अपने अनुभव का भी अपलाप करना चाहता है। वेदार्थज्ञत्व और सर्वज्ञत्व का कोई साम्य भी नहीं है, क्योंकि दोनों में यह वैषम्य है कि एक में प्रमाण है और दूसरे में नहीं। चक्षु जैसे स्वयं रूप ज्ञान में साधन है, उसी तरह से वेद स्वयं वेदार्थ के ज्ञान में साधन है। इस तरह का सर्वसाक्षात्कार रूप सर्वज्ञत्व का साधक कोई प्रमाण उपलब्ध न होने से महान् विषमता के रहते भी इनमें साम्य बताना धृष्टता ही मानी जायगी।

नहि वेदार्थज्ञत्वसर्वज्ञत्वयोः साम्यम्, प्रमाणसत्त्वासत्त्वाभ्यां वैषम्यात्। रूपज्ञानसाधनस्य चक्षुष इव वेदार्थज्ञान-साधनस्य वेदस्य सत्त्वात्। न तथा सर्वसाक्षात्कारस्य साधनं प्रमाणमुपलभ्यत इति सत्यपि महति वैषम्यहेतौ साम्योक्ति-धार्ष्ट्यमूलिकैव।

एतेन तदभावतत्त्वज्ञाभावसाधनेऽनुपलम्भमप्रमाणयन् मीमांसकः सर्वज्ञवेदकर्त्रादिरभावसाधने तं कुतः प्रमाणयेदि-त्यप्यचोद्यमेव, पूर्वोक्तवैषम्यात्। सर्वज्ञो वेदकर्ता च न प्रमाणसिद्धः। तद्बाधकानि प्रमाणानि च सन्ति। न तथा सर्वज्ञा-भावतत्त्वज्ञो वेदार्थज्ञो वा, प्रमाणसिद्धत्वात्। अत एव न जैमिन्यादेरतिशयः साध्यते, येन तद्दृष्टान्तेन सर्वज्ञसिद्धिः स्यात्। सर्वज्ञानां मतभेदानुपपत्त्या अर्थापत्त्यापि सर्वज्ञाभावसिद्धिः। जीवानां सावयवत्वसर्वप्रमाणविप्रतिसिद्धानेकान्तप्रतिपादकत्व-मपि सर्वज्ञस्य नोपपद्यत इति तेनापि तदसर्वज्ञता सिद्ध्यति। तदुक्तं धर्मकीर्त्तिना—

एतेनैव यदह्रीकाः किमप्यश्लीलमाकुलम्। प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात्॥
सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः। चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥
अथास्त्यतिशयः कश्चिद्येन भेदेन वर्तते। स एव दधि सोऽन्यत्र नास्तीत्यनुभयं परम्॥ इति।

(प्र. वा. ३।१८१-१८४)

एवमेव स्यात्सर्वज्ञः, स्यादसर्वज्ञः, स्यादनेकान्तवादो दुष्टः, स्याददुष्ट इत्यादिसंभवात्।

यदप्युक्तम्—'सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतस्तथा। तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते॥ तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः। चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति॥" इति, तदपि असत्, "यदि वस्तुबलादेव भेदा-

इसी तरह से 'सर्वज्ञाभाव तत्त्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने में यदि मीमांसक अनुपलम्भ को प्रमाण नहीं मानता तो वह सर्वज्ञ वेदकर्ता के अभाव को सिद्ध करने में उसको कैसे प्रमाण रूप से उद्धृत कर सकता है' ? इस प्रश्न का भी उत्तर हो जाता है, क्योंकि दोनों में भिन्नता है, सर्वज्ञ और वेदकर्ता प्रमाण से सिद्ध नहीं है और उनके बाधक प्रमाण भी उपलब्ध हैं। यही स्थिति सर्वज्ञाभाव के तत्वज्ञ की और वेदार्थज्ञ की नहीं है, क्योंकि ये प्रमाण से सिद्ध हैं। इसलिये हमारे मत में जैमिनि प्रभृति से कोई अतिशय की सिद्धि नहीं की जाती, जिससे कि उनके उदाहरण से सर्वज्ञ की सिद्धि हो सके। सर्वज्ञों में मतभेद नहीं हो सकता, इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव ही सिद्ध होता है। जीवों की आत्मा की सावयवता और सभी प्रमाणों से प्रतिषिद्ध अनेकान्तता का प्रतिपादन सर्वज्ञ कभी नहीं कर सकते, अतः ऐसी बातों के कहने से भी उनकी सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है। इसीलिये धर्मकीर्ति ने कहा है—

"इस प्रकार सांख्य मत के निराकरण से ही दिगम्बर का अनेकान्त वाद भी निराकृत हो जाता है, क्योंकि प्रमाणों से एकान्त की सिद्धि संभव है। यहाँ पर दिगम्बरों को निर्लज्ज इसलिये कहा गया है 'कि वे वस्त्र नहीं पहनते।" उनकी उक्ति को अश्लील और प्रलाप इसलिये कहा गया है कि वे अनेकान्तवाद के सहारे यह सिद्ध करते हैं कि ऊंट और दही में कोई अन्तर इसलिये नहीं है कि दोनों वस्तु हैं और अन्तर हो भी सकता है, क्योंकि दोनों की अपनी-अपनी विशेषता है। इस पर धर्मकीर्ति द्वितीय श्लोक में आक्षेप करते हैं कि "यदि सब वस्तुओं की उभयरूपता, स्वपररूपता मान ली जाय और दही दही ही है, उष्ट्र नहीं और उष्ट्र उष्ट्र ही है, दही नहीं, इस विशेषता का निराकरण कर दिया जाय तो 'दही खाओ' ऐसा कहने पर वह ऊंट को खाने के लिये क्यों नहीं दौड़ पड़ता।" यदि आप यह मानें कि इन दोनों पदार्थों में ऐसी विशेषता है कि जिससे इन दोनों में परस्पर भेद व्यवहार होता है कि दही में हो दही की प्रतीति होती है उष्ट्र में नहीं, तो इस प्रकार से तो वस्तु उभय स्वरूप होकर एक दूसरे से भिन्न ही सिद्ध होगी।

इसी तरह से अनेकान्तवाद को मानने पर सर्वज्ञ होगा भी, नहीं भी होगा, अनेकान्तवाद सदोष है और नहीं भी है; इस प्रकार की आपत्तियाँ भी स्वयं उसके विरुद्ध ही पड़ेगी।

उक्त आक्षेप का दिगम्बरों ने यह उत्तर दिया है कि—"सुगत बुद्ध ने भी मृगयोनि में जन्म लिया है और यह मृग पुनः सुगत हो गया है, ऐसा होने पर भी जैसे वन्द्य सुगत ही है, मृग तो खाद्य है; उसी तरह से वस्तु के स्वभाव के अनुसार ही व्यवस्था होने से 'दधि खाओ' ऐसा कहने पर वह ऊंट की तरफ क्यों दौड़ेगा", पर यह उत्तर भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि वस्तु के स्वभाव के अनुसार ही भेद

भेदव्यवस्थितिः। कुतोऽनेकान्तता सिद्धिर्यतो ह्येकान्ततागता ॥ मृगदेहो न सुगतः सुगतो न मृगस्तथा। देहयोरेव खाद्यत्व-पूज्यत्वे नात्मनस्तु ते ॥" इति।

एतेन—'नरान् दृष्ट्वा त्वसर्वज्ञान् सर्वानिवाधुनातनान्। तत्सादृश्योपमानेन शेषासर्वज्ञसाधनम् ॥' इत्युपमानमपि सर्वज्ञाभावसाधनम्। नोपमानार्थमशेषपुरुषदर्शनमपेक्षितम्, सर्वगोगवयदर्शनाभावेऽपि कतिचिद्गवादिव्यक्तिग्रहणे गोसदृशो गवय इति ज्ञानसंभवात्। अन्यथाऽसर्वज्ञस्योपमानव्यवहारलोपप्रसङ्गः। किञ्चाशेषज्ञस्य शरीरसंस्थानमशेषप्रमातृशरीरसंस्थान-साधारणं तद्विलक्षणं वेति विकल्पोऽपि निरर्थकः, जीविनरोपमेयत्वस्यैव विवक्षितत्वेन तददोषात्। जीवत्वेनापि सादृश्याद् अस्मदादिवत् सर्वस्यासर्वज्ञत्वं साधयितुं शक्यते। प्रत्यक्षादिभिरनुभूयमानजीवानां सादृश्यं विज्ञायते। न चैवं सर्वपुरु-षाणामवेदार्थज्ञत्वं मूर्खत्वादिकं चापि तद्वदेवोपमीयेतेति वाच्यम्, बहुषु पुरुषेषु वेदार्थज्ञत्वविद्वत्वादिदर्शनेन नरत्वादिना सर्वत्र तदसिद्धेः। न चैवं सर्वज्ञत्वादिकं क्वचिद् दृश्यते। पौरुषेया अपौरुषेयाश्चागमा अपि धर्मब्रह्मणोर्वेदैकसमधिगम्यत्व-बोधनेन जीवानामसार्वज्ञ्यं बोधयन्ति। न च कार्यपरत्वमेव वेदानाम्, फलवन्निश्चितार्थविबोधकत्वेन तेषां प्रामाण्याभ्युपगमेन बाधाभावात्। बौद्धानां रीत्या सर्वज्ञबुद्धप्रणीतागमेन महावीरस्यासार्वज्ञ्यम्, आर्हतानां रीत्या बुद्धस्याप्यसर्वज्ञत्वसिद्धिः। योग्यानुपलब्ध्याऽपि सर्वज्ञत्वाभावसिद्धिः। न चानुपलब्धेरप्रामाण्यम्, श्लोकवार्त्तिकादौ तत्प्रामाण्यस्य समर्थनात्। प्रसज्यप्रति-षेधोऽपि न तुच्छस्वभावः, 'इह भूतले घटाभावः' इति प्रतीत्या देशकालसम्बन्धावगमात्। न च सर्वज्ञोऽयोग्यः, अस्मदादि-वत्तस्यापि योग्यत्वात्। न चातीतत्वेनायोग्यः, प्रमीयमाणत्वाभावेनातीतत्वकल्पनाया निराधारत्वात्। तेनैव चान्योपलम्भोऽपि न शक्यसमर्थनः।

और अभेद की व्यवस्था होती है, तो उस अवस्था में अनेकान्त की सिद्धि कैसे होगी, क्योंकि इस पद्धति से तो एकान्तता आगई। जैसे मृगदेह सुगत नहीं हैं और सुगत मृगदेह नहीं है, उसी तरह से खाद्यत्व और पूज्यत्व बुद्धि देहगत होती है, आत्मगत नहीं।

इसी तरह से "आजकल के सभी मनुष्यों को असर्वज्ञ देख कर उन्हीं के सादृश्य के आधार पर उपमान प्रमाण से भी शेष सभी पुरुषों की असर्वज्ञता सिद्ध की जा सकती है।" उपमान के लिये सभी पुरुषों का दर्शन अपेक्षित नहीं है, सभी गो और गवय के न देखने पर भी कुछ को देख लेने पर भी गवय गाय के सदृश है, इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। अन्यथा असर्वज्ञ के लिये उपमान प्रमाण के द्वारा व्यवहार चलाना असंभव हो जायगा। इसी तरह से सर्वज्ञ का शरीर संस्थान बाकी के जीवों की तरह ही है या उससे भिन्न? इस प्रकार का विकल्प भी निरर्थक है, क्योंकि यहाँ पर जीवित मनुष्य की उपमेयता के ही विवक्षित होने से कोई दोष नहीं है। जीवत्व के सादृश्य से भी हमारी ही तरह से सबकी असर्वज्ञता सिद्ध की जा सकती है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुभूयमान जीवों में सादृश्य प्रतीत होता है। यदि आप यह कहें कि इस तरह से तो सभी पुरुषों की अवेदार्थकता और मूर्खता की भी उपमिति हो सकती है, तो यह बात गलत है, क्योंकि वेदार्थकता और विद्वत्ता अनेक पुरुषों में देखी गई है, अतः नरत्व सादृश्य से सर्वत्र आपकी बात सिद्ध नहीं हो सकती। इस तरह से सर्वज्ञता तो कहीं देखी नहीं जाती। पौरुषेय और अपौरुषेय आगम (शास्त्र) भी धर्म और ब्रह्म की एकमात्र वेदगम्यता को ही बताते हैं, अतः इससे भी जीवों की असर्वज्ञता की ही प्रतीति होती है। वेद केवल विधिपरक ही नहीं है, फलयुक्त निश्चित अर्थ के अवबोधक के रूप में भी उनका प्रामाण्य माना गया है। बौद्धों के मत से सर्वज्ञ बुद्ध प्रणीत आगम से महावीर की असर्वज्ञता और जैनों के मत से बुद्ध की असर्वज्ञता सिद्ध होती है। योग्यानुपलब्धि (मिलने योग्य होने पर भी न मिलना) से भी सर्वज्ञत्व का अभाव ही सिद्ध होता है। अनुपलब्धि को अप्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि श्लोकवार्त्तिक प्रभृति ग्रन्थों द्वारा उसके प्रामाण्य का समर्थन किया जा चुका है। प्रसज्यप्रतिषेध भी व्यर्थ नहीं माना जाता, क्योंकि 'यहाँ घट नहीं है' इस प्रतीति से देश और काल का सम्बन्ध भी ज्ञात होता है। सर्वज्ञ अयोग्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि हमारी तरह वह भी प्रत्यक्ष योग्य है ही। अतीत होने से वह अयोग्य नहीं हो जायगा, क्योंकि जब तक उसकी प्रमिति (प्रमाण से सिद्धि) नहीं होती, तब तक ऐसी वस्तु की अतीतता की कल्पना भी निराधार है, इसी से अन्य सर्वज्ञ की उपलब्धि का समर्थन भी नहीं किया जा सकता।

यदप्युक्तम्—'अतीतकालादिपरिगतं वस्तु स्वेन स्वेन रूपेणैव भासते। अवर्तमानतया प्रतिभासमानस्यापि नाप्रत्यक्षता युक्ता, परिस्फुटतयाऽर्थप्रतिभासस्यैव प्रत्यक्षत्वात्' इति तन्न, स्फुटप्रतिभासस्य प्रयोजकानिरूपणात्। लोके प्रकाशरूपस्य प्रकाशसंसृष्टस्य वा स्फुटप्रतिभासः प्रसिद्धः, अतीतानागतानामिदानीमसत्त्वेन तत्सम्बन्धासम्भवात् कुतः स्फुटप्रतिभासः ?

यदुक्तम्—'सन्निहितदेशकालतयाऽर्थप्रतिभासस्य प्रत्यक्षत्वे स्वोत्सङ्गस्थबालकशरीरे व्यवहारादिलिङ्गतो जीवसद्भावाभासस्यापि प्रत्यक्षतापत्तिः स्यात्' इति, तत्तुच्छम्, सन्निहितदेशकालस्थस्यापि तस्येन्द्रियसम्बन्धाभावेनान्तःकरणासम्बन्धात् प्रमातृचैतन्यसंसर्गासम्पत्तेः। प्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्यैव विषयप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात्। स्वोत्सङ्गस्थबालकस्येन्द्रियसंसृष्टत्वेऽपि तदन्तर्गतस्य जीवस्येन्द्रियसंसर्गासम्भवाद् जीवात्मनः स्वमनोग्राह्यत्वेऽप्यन्यमनसोऽवेद्यत्वान्न प्रत्यक्षता। तथा च कथमतीतादेः स्फुटप्रतिभासोऽपि।

अत एव 'यथा इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षस्य देशविप्रकृष्टार्थग्रहणेऽपि परिस्फुटप्रतिभासत्वं न विरुध्यते, तथातीतप्रत्यक्षस्य कालविप्रकृष्टार्थग्रहणेऽपि' इत्यपि निरस्तम्। सर्वत्रेन्द्रियप्रत्यक्षे इन्द्रियप्रणालिकयाऽन्तःकरणविषयोः संसर्गेणोपाधिद्वयस्यैकत्र स्थित्योपहितद्वयाभेदेन प्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावेन विषयप्रत्यक्षता, वृत्त्यवच्छिन्नविषयावच्छिन्नचैतन्ययोरभेदेन ज्ञानस्य प्रत्यक्षतेति नियमस्याव्यभिचारात्। अतीतस्य त्वसत्त्वात् किं केन संसृज्येतेति वैषम्यात्। विप्रकृष्टदेशस्थस्य ग्रहणेऽपि विप्रकृष्टकालस्थस्य कुतो न ग्रहणमिति तदर्थमिन्द्रियस्वभावः पर्यनुयुज्यताम्। दूरदेशस्थस्य चक्षुरादीन्द्रियप्रणालिकया

यह कहा गया है कि 'अतीतादि काल की वस्तु का मान अतीतादि रूप में ही होता है, उनकी अतीतादि रूप में प्रतीति अप्रत्यक्ष नहीं कही जा सकती, क्योंकि परिस्फुट रूप में अर्थ का प्रतिभास ही प्रत्यक्ष कहलाता है', किन्तु यह उक्ति इसलिये गलत है कि यहाँ पर स्फुट प्रतिभास का प्रयोजक क्या है, इसको नहीं बताया गया। लोक में प्रकाश स्वरूप अथवा प्रकाश से संसृष्ट वस्तु का ही स्फुट प्रतिभास प्रसिद्ध है। अतीत, अनागत वस्तु की तो अभी सत्ता नहीं है, ऐसी परिस्थिति में उसका प्रकाश से संबन्ध न होने से स्फुट प्रतिभास कैसे होगा ?

इस पर यह आपत्ति की गयी थी कि "देश और काल के सांनिध्य में ही अर्थ की प्रतिभासता (ज्ञान) को यदि प्रत्यक्ष माना जायगा तो गोदी में बैठे बालक के शरीर में व्यवहारादि हेतु को देखकर आत्मा के सद्भाव के आभास को भी, जो अनुमान का विषय है। प्रत्यक्ष मानना पड़ जायगा", किन्तु यह आपत्ति भी तुच्छ है, क्योंकि देश और काल की संनिधि के रहते भी जीव के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध न होने से अन्तःकरण से भी उसका सम्बन्ध नहीं होगा और इस प्रकार प्रमातृचैतन्य से उसका संसर्ग नही होने पावेगा। विषय का प्रत्यक्ष तभी माना जाता है, जब कि प्रमातृचैतन्य की सत्ता से अतिरिक्त अन्य सत्ता का अभाव हो। अपनी गोद में बैठे बालक के शरीर के साथ यद्यपि इन्द्रिय का संसर्ग है, तो भी बालक के शरीर के भीतर विद्यमान जीव के साथ इन्द्रियों का संपर्क न होने से, जीवात्मा के स्वमनोग्राह्य होने पर भी बालकशरीरगत मन की अवेद्यता के कारण, प्रत्यक्षता नहीं होती। इस परिस्थिति में अतीतादि का स्फुट प्रतिभास कैसे माना जा सकता है ?

इससे इस बातका भी खण्डन हो जाता है कि "जैसे इन्द्रियों से उत्पन्न प्रत्यक्ष दूर देश स्थित वस्तु के स्पष्ट ग्रहण में समर्थ है, उसी तरह से वह अतीतादि काल की दृष्टि से विप्रकृष्ट वस्तु के ग्रहण में क्यों नहीं समर्थ होगा ?", क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष में सर्वत्र इन्द्रिय प्रणाली से अन्तःकरण और विषय का संपर्ग (संबंध) होता है। इस प्रकार दोनों उपाधियों की एकत्र स्थिति होने से इनके अभेद बोध के कारण प्रमातृचैतन्य की सत्ता के अतिरिक्त अन्य सत्ता के अभाव हो जाने पर विषय की प्रत्यक्षता मानी जाती है और वृत्त्यवच्छिन्न तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य के अभेद से ज्ञान की प्रत्यक्षता होती है। यह नियम प्रत्यक्ष स्थल में सर्वत्र मान्य है। अतीत वस्तु की तो वर्तमान में सत्ता है नहीं, तब उसके साथ किसका संसर्ग होगा ? प्रश्न होता है कि विप्रकृष्ट देश में स्थित वस्तु के ग्रहण (ज्ञान) को जब आप मान्य करते हैं तो विप्रकृष्ट काल में स्थित वस्तु का ग्रहण (ज्ञान) क्यों नहीं मानते ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इसके लिये उलाहना आप इन्द्रियों के स्वभाव को दीजिये कि दूर देश में स्थित वस्तु का चक्षुरादि इन्द्रिय प्रणाली द्वारा संबन्ध

सम्बन्धः सम्भवति, न विप्रकृष्टकालस्थस्य । रूपादिषु रूपस्यैव ग्राहकत्वेन तैजसत्वाच्चक्षुषस्तेजसो दूरगमनदर्शनेन दूरस्थस्य ग्रहणमिति पूर्वमुक्तमेव ।

एवमेव सर्वस्य युगपत् प्रत्यक्षतायां सत्तावत् तत्प्राक्प्रध्वंसाभावयोः प्रतिभानं तन्मूलकञ्च युगपद्वस्तुजन्य-प्रागभावप्रध्वंसाभावव्यपदेशश्चापरिहार्य्यः ।

यदुक्तम्—'इन्द्रियप्रत्यक्षे यद्देशविशिष्टं वस्तु नीलरूपमनीलरूपं वा भावरूपमभावरूपं वा तत्तद्देशविशिष्टतयैव प्रतिभासते, तद्वत् सर्वज्ञज्ञानेऽपि भासते' इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्, सर्वज्ञज्ञानस्येन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षानुसारित्वे तद्वदेव वर्तमान-मात्रग्राहकत्वमेव कुतो न स्यात् ? तदननुसारित्वे तु युगपज्जन्ममरणव्यपदेशः । अंशेन तदनुसरणमननुसरणं चांशान्तरेणार्धं-जरतीयमनुहरति । वस्तुतस्तु योगजादिसामर्थ्येनापि न वस्तुधर्मातिक्रमणं भवति । तदुक्तम्—'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोतवृत्तिता ॥' (चो. सू. वा. ११४) । दृष्टस्वभावातिक्रमेऽतिप्रसङ्गात् । अत एवातीतादिकालस्य वस्तुस्वभावस्य परोक्षतया वर्तमानवस्तुस्वभावतया प्रतीतेरनौचित्येन न तदापरोक्ष्यम् । अन्यथा युगपज्जन्ममरणादिव्यपदेशप्रसङ्गः प्रतिनियतार्थस्वरूपा प्रतीतिश्च स्यातामेव । ततश्चानैकान्तवादिनां सर्वस्यानैकान्तिकत्वे तत्सर्वज्ञस्य तदागमतत्प्रतिपादितसिद्धान्तानां चानैकान्तिकत्वमेव स्यात् ।

एवं यथा जिनबुद्धादीनां सर्वज्ञत्वातीन्द्रियदर्शित्वसिद्धिर्दुर्घटा, तथैवार्षत्वेनैश्वरत्वेन वा वेदस्यापौरुषेयत्वं मन्य-मानानामपि सिद्धान्ते ऋषीणामतीन्द्रियदर्शित्वसर्वज्ञत्वादिकं न घटत इत्यप्युक्तमेव ।

क्यों होता है, विप्रकृष्ट काल में स्थित वस्तु का सम्बन्ध क्यों नहीं होता । यह पहले ही कहा गया है कि चक्षु तैजस इन्द्रिय है और वही रूपादि की ग्राहक है । तेज जैसे दूर तक चला जाता है, उसी तरह से चक्षुरिन्द्रिय भी दूर तक जाकर वहाँ स्थित वस्तु का ग्रहण कर सकती है ।

इसी तरह से सबकी युगपत् प्रत्यक्षता मानने में संज्ञा के समान उसके प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की प्रतीति और तन्मूलक एक साथ वस्तु का जन्म तथा उनका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के नाम से सम्बन्ध भी अपरिहार्य हो जायगा ।

यह जो कहा गया है कि—"इन्द्रिय प्रत्यक्ष में जिस देश से विशिष्ट वस्तु नीलरूप अथवा अनीलरूप में, भावरूप अथवा अभावरूप में प्रतीत होती है, उसके साथ देश का सम्बन्ध रहता है, उसी तरह से सर्वज्ञ के ज्ञान में भी इसका भान होता है ।" किन्तु वह भी असंगत है, क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान यदि इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष का अनुसरण करता है, तो वह उसकी तरह केवल वर्तमान का ही ग्राहक क्यों नहीं होगा ? अब यदि वह उसका अनुसरण नहीं करता तो एक साथ जन्म और मृत्यु का व्यवहार होने लगेगा । एक अंश में उसका अनुसरण और दूसरे अंश में अननुसरण में अर्धजरतीय न्याय वाली आपत्ति होगी । योगज सामर्थ्य भी वस्तु के स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकता । भर्तृहरि ने कहा भी है कि—"जहाँ कहीं भी अतिशय देखा जाता है, उसमें स्वार्थ का उल्लंघन कहीं भी नहीं होता । चक्षु में दूर स्थित वस्तु को अथवा सूक्ष्म वस्तु को देखने का सामर्थ्य है, इसका मतलब यह नहीं है कि वह रूप को छोड़कर कान के विषय श्रवण में प्रवृत्त हो जायगी ।" दृष्ट स्वभाव का अतिक्रम मानने में अतिव्याप्ति दोष हो जायगा । इसीलिये अतीतादि काल में स्थित वस्तु के स्वभाव की परोक्षता के कारण उसकी प्रतीति वर्तमान वस्तु की तरह नहीं मानी जा सकती, अतः उसकी प्रत्यक्षता नहीं सिद्ध होगी । अन्यथा एक साथ जन्म और मरण के व्यवहार की प्रसक्ति और प्रतिनियत स्वभाव वाले अर्थ की प्रतीति भी होगी ही । इस तरह से अनेकान्तवादी के मत में सबकी अनेकान्तता के कारण उनके द्वारा प्रसाधित सर्वज्ञ तथा उसके द्वारा उपदिष्ट आगमों की और उनके सिद्धान्तों की भी अनेकान्तता माननी पड़ेगी ।

इसी तरह से जैसे जिन, बुद्ध प्रभृति की सर्वज्ञता, अतीन्द्रियदर्शिता आदि की सिद्धि नहीं हो सकती, वैसे ही आर्ष होने के कारण अथवा ईश्वरोपदिष्ट होने के कारण जो वेद को अपौरुषेय मानते हैं, इनके मत में भी ऋषियों की अतीन्द्रियदर्शिता, सर्वज्ञता आदि की सिद्धि नहीं होगी, यह हम कह चुके हैं ।

यदप्युक्तमीश्वरप्रसादादृषीणां सार्वज्ञ्यादिकं सिद्ध्यतीति, तदप्ययुक्तम्, ईश्वरतत्प्रसादतत्प्राप्तिसाधनज्ञानार्थं वेदप्रामाण्यस्याङ्गीकरणीयत्वात्। अङ्गीकृते तस्मिन्न स्वातन्त्र्येण वेदप्रामाण्यार्थमतीन्द्रियार्थदर्शित्वादिकल्पनमावश्यकम्। स्वातन्त्र्येणापौरुषेयवेदप्रामाण्याभ्युपगमे वेदतदाश्रितयुक्तिभिः सार्वज्ञ्यादिसिद्धिस्तु न वार्यते। सर्वार्थप्रतिपादकवेदनिर्मातृत्वेन वेदकारस्य सर्वज्ञत्वे जिनादीनामपि सर्वज्ञत्वं सिद्ध्यत्येव, तदनुयायिभिस्तन्निर्मितागमानामपि सर्वार्थप्रतिपादकत्वाभ्युपगमात्। न चानुमानेनेश्वरसाधनम्, तत एव तत्प्रसादादिसिद्धिरिति वक्तुं शक्यते, तर्काणामप्रतिष्ठानात्।

परमेश्वरसिद्धौ सन्त्यनुमानप्रयोगाः—'क्षित्यङ्कुरादिकं बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वाद्घटवत्', 'भूतभौतिकानि स्वोपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानवज्जन्यानि, कार्यत्वे सति विलक्षणत्वात्, शय्याप्रासादादिवत्', 'महद्भूतचतुष्टयमुपलब्धिपूर्वकं सावयवत्वात् कार्यत्वात्', 'शरीरानपेक्षोत्पत्तिकं बुद्धिमत्पूर्वकं कारणवत्त्वात्', प्रधानपरमाणुकर्माणि प्राक्प्रवृत्तेर्बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्तन्ते, अचेतनत्वाद् वास्यादिवत्', 'धर्माधर्मौ बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितौ, कारणत्वात्, वास्यादिवत्'। न चासिद्धो हेतुः, सावयवत्वेन क्षित्यादेः कार्यत्वप्रसिद्धेः। 'पृथिव्यादिकं कार्यं सावयवत्वाद्घटवत्'। नापि विरुद्धो हेतुः, घटादौ प्रसिद्धत्वात्। न व्यभिचारी, निश्चितसाध्याभाववद्भ्य आत्मादिभ्यो व्यावर्तमानत्वात्। न वा बाधः, प्रत्यक्षागमाभ्यामबाधितत्वात्। नापि प्रकरणसमः, प्रकरणचिन्ताप्रकर्षस्य हेत्वन्तरस्यासंभवात्। तदनेन जगन्निर्माणसमर्थः सर्वज्ञत्वादिविशिष्टः परमेश्वरः सिद्ध्यति। न च सर्वज्ञः सर्वकर्ता नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नवानशरीरो साध्यश्चेद् दृष्टान्तः साध्यविकलः, दृष्टान्तदृष्टधर्मवैपरीत्यसाधने तु विरुद्धो हेतुः स्यादिति वाच्यम्, आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च साध्यसाधनयोर्विशेषेण व्याप्त्यसंभवेनानुमानोच्छेदापत्त्या सामान्ये-

---

यह कहना "ईश्वर की कृपा से ऋषियों को सर्वज्ञता आदि की प्राप्ति हो जाती है" इसलिये गलत है कि ईश्वर, उसकी कृपा, उसकी प्राप्ति के साधनों की जानकारी के लिये वेद का प्रामाण्य मानना पड़ेगा। ईश्वर को मान लेने पर वेद का स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं बन पावेगा, अतः ईश्वर में अतीन्द्रियार्थदर्शित्व, सर्वज्ञत्व आदि की कल्पना आवश्यक हो जायगी। यदि अपौरुषेय वेद का स्वतन्त्र प्रामाण्य माना जाता है, तो वेद और वेदाश्रित युक्तियों से सर्वज्ञता की सिद्धि हो सकती है। सर्वार्थप्रतिपादक वेद का निर्माण करने के कारण वेदकार की यदि सर्वज्ञता मानी जाती है, तो जिन प्रभृति की भी सर्वज्ञता सिद्ध हो ही जायगी। क्योंकि जिन प्रभृति के अनुयायी इनके द्वारा निर्मित आगमों को सर्वार्थप्रतिपादक मानते ही हैं। अनुमान से भी ईश्वर और उसके प्रसाद आदि की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि तर्क अप्रतिष्ठित होता है।

परमेश्वर की सिद्धि में ये अनुमान है—"पर्वत, नदी, पृथ्वी, अंकुर प्रभृति पदार्थ किसी बुद्धिमान् के रचे हुए हैं, क्योंकि इनकी रचना घट प्रभृति के समान हुई है; भूत और भौतिक पदार्थों की रचना इनके उपादान का साक्षात् ज्ञान रखने वाले व्यक्ति के द्वारा रचे गये हैं, क्योंकि यह सब शय्या, प्रासाद आदि की तरह विलक्षण कार्य हैं; महान् भूतचतुष्टय की उपलब्धि किसी को है, क्योंकि वे सावयव कार्य है; शरीरानपेक्ष उत्पत्ति वाला यह जगत् किसी बुद्धिमान् व्यक्ति का बनाया हुआ है, क्योंकि वह सकारणक है। प्रधान, परमाणु और कर्म आदि अपनी प्रवृत्ति से पहले किसी बुद्धिमान् कारण से अधिष्ठित रहते हैं, क्योंकि ये कुल्हाड़ी आदि की तरह अचेतन हैं; धर्म और अधर्म बुद्धिमान् कारण से अधिष्ठित हैं, क्योंकि ये कुल्हाड़ी सरीखे अचेतन हैं" इत्यादि। यहाँ पर हेतु असिद्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि पृथ्वी आदि में सावयवता के कारण कार्यत्व प्रसिद्ध है, जैसे कि पृथिवी आदि कार्य हैं, क्योंकि यह भी घट की तरह सावयव है। हेतु में विरुद्ध दोष भी नहीं है, क्योंकि घटादि में सावयवत्व प्रसिद्ध है। हेतु व्यभिचारी भी नहीं है, क्योंकि निश्चित साध्याभाववान् आत्मादि में यह नहीं रहता। हेतु का बाध भी नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम से यह बाधित नहीं है। प्रकरणसम नामक हेत्वाभास भी यह नहीं होगा, क्योंकि प्रकरणचिन्ता के प्रकर्ष को बनाने वाले दूसरे हेतु की यहां संभावना नहीं है। इस प्रकार इन अनुमानों से जगत् के निर्माण में समर्थ सर्वज्ञादि गुणों से युक्त ईश्वर की सिद्धि हो जायगी। यदि यह कहा जाय कि सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, नित्य ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नवान् अशरीर ईश्वर को साध्य मानने पर दृष्टान्त साध्यविकल रहेगा और दृष्टान्तदृष्ट धर्म की विपरीतता के साधन में हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जायगा", तो इसका उत्तर यह है कि अनन्त्य और व्यभिचार के कारण साध्य और साधन की विशेष रूप से व्याप्ति न बनने के कारण अनुमान का ही उच्छेद न हो जाय, इसके लिये व्याप्ति का निश्चय सामान्य रूप से ही किया जाता

नैव व्याप्तिनिश्चयात्। ततश्च बुद्धिमत्कर्तृत्वमात्रेण कार्यत्वस्य व्याप्तिग्रहो न शरीरित्वादिना, शरीरस्य कर्तृत्वसामग्र्यामप्रवेशात्, तद्व्यतिरेकेणापि ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नवत्त्वेन स्वशरीरप्रेरणे कर्तृत्वोपलम्भात्। वह्निपैङ्गल्यस्येव शरीरसाहचर्य्येऽपि तदकारणत्वात्। अत एव शरीरस्य सत्त्वेऽपि ज्ञानादीनामभावे कुलालादेः कारणत्वाभावः। अखिलकार्यव्रातः कर्तृत्वादेवास्य सिद्धयति। उपादाननिमित्तसम्प्रदानाद्यनभिज्ञस्य कर्तृत्वासंभवात्। तदीयज्ञानादयो नित्याश्च, कुलालादिज्ञानविलक्षणत्वात्। नहि साध्यदृष्टान्तधर्मिणोः सर्वथा साम्यमावश्यकम्, सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। अनेककर्तॄणामप्येकाधिष्ठातृनियमितानां प्रवृत्तिदर्शनात् क्षित्यादिकर्तुरेकत्वं च सिद्धयति।

न चैवमीश्वरस्य ज्ञानेच्छादीनाञ्चैकरूपत्वे नित्यत्वे च सति कार्याणां कादाचित्कत्वं वैचित्र्यञ्च नोपपद्यत इति वाच्यम्, कादाचित्कविचित्रसहकारिलाभेन तद्विरोधाभावात्। नन्वेवं बुद्धिमत्कर्तृकत्वे क्षित्यादेर्जीर्णकूपप्रासादादिवत् कृतबुद्धिरुपजायेत, न च जायते। तेन दृष्टान्तदृष्टस्य हेतोर्धर्मिण्यभावादसिद्धत्वमिति चेन्न, प्रामाणिकानां कृतबुद्धेरुत्पद्यमानत्वादेव कार्य्यत्वस्य बुद्धिमत्कर्तृकत्वेन प्रतिपन्नाविनाभावस्य क्षित्यादौ प्रसिद्धेः। खातप्रपूरितायां भुवि अक्रियादर्शिनः कृतबुद्धेरुदयाभावाच्च। न च तथाप्यकृष्टप्रभवैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारः, कर्तारमनपेक्ष्य स्वसामग्रीतस्तेषामुत्पत्तिदर्शनादिति वाच्यम्, तेषां पक्षकुक्षिप्रवेशात्। न चानुपलब्धेः कर्त्रभाव इति वाच्यम्, योग्यानुपलब्धेरेवाभावसाधकत्वात्। क्षित्यादिकर्तुरदृश्यत्वेनायोग्यत्वादनुपलब्धेरभावासाधकत्वात्। न च शरीराजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वं सिद्धयति, हेतोरप्रयोजकत्वात्। असिद्धिवारकस्यापि व्यभिचारावारकत्वेन हेतोर्व्यर्थविशेषणत्वाच्च। न च कारुणिकस्य वैषम्यनैर्घृण्यापत्त्या दुःखबहुलरचनायां ....

है। अतः बुद्धिमत्कर्तृत्व मात्र से कार्यत्व की व्याप्ति गृहीत हो जाती है, उसके साथ शरीरित्व गृहीत नहीं होता, क्योंकि कर्तृत्व की सामग्री में शरीर की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि बिना शरीर के भी ज्ञान, चिकीर्षा, और प्रयत्न से कार्य की उपलब्धि हो जाती है। वह्नि का पिंगल वर्ण उसके शरीर के साथ रहते हुए भी दाहकता में कारण नहीं होता। इसीलिये शरीर के रहते हुए भी ज्ञानादि के अभाव में कुलालादि की कारणता नहीं बनती। यह सारा जगत् ईश्वर की कर्तृता के कारण ही सिद्ध होता है। उपादान, निमित्त, सम्प्रदान आदि की जिसको जानकारी नहीं है, वह कर्ता नहीं हो सकता। ईश्वर के ज्ञान प्रभृति नित्य होते हैं, क्योंकि इसका ज्ञान कुलाल (कुम्हार) आदि से विलक्षण होता है। साध्य और दृष्टान्तधर्मी का सर्वथा साम्य आवश्यक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो कोई भी अनुमान नहीं बन पायेगा। एक अधिष्ठाता की देख रेख में अनेक व्यक्तियों की प्रवृत्ति देखी गई है, अतः क्षिति प्रभृति का एक ही कर्ता है, यह सिद्ध हो जाता है।

ईश्वर और उसके ज्ञान, इच्छा प्रभृति गुण यदि एकरूप और नित्य है तो कार्यों का कदाचित् होना और विचित्र रूप धारण करना कैसे संभव हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी किसी समय विचित्र-विचित्र सहकारी आदि कारण की प्राप्ति के कारण ऐसा हो सकता है। पुनः प्रश्न उठता है कि यदि क्षित्यादि की बुद्धिमत्कर्तृकता मानी जाती है तो उसमें भी जीर्णकूप और प्रासाद की तरह कृतकता बुद्धि होनी चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिये दृष्टान्त में दृष्ट हेतु की धर्मी में सत्ता न रहने से यह असिद्ध नामक हेत्वाभास होगा? तो इसका भी उत्तर यह है कि प्रामाणिकों को उसमें कृतकता बुद्धि होती ही है, इसीलिये बुद्धिमत्कर्तृकता से जिसका अविनाभाव ज्ञान है, ऐसा कार्यत्व पृथिवी आदि में भी प्रसिद्ध है ही। खोद कर पुनः भर दी गई जमीन में जिसको इसका ज्ञान नहीं है, उसको कृतक बुद्धि उदित नहीं होती। यदि यह पूछा जाय कि बिना बोये पैदा हुए वृक्षादि से इस हेतु का व्यभिचार होगा, क्योंकि वहाँ पर बिना कर्ता के ही अपनी बीजादि सामग्री से उनकी उत्पत्ति होती है, तो इसका यह उत्तर है कि यह सब क्षित्यादि पक्ष के रूपमें अभिप्रेत हैं, उसी में संनिविष्ट हैं। केवल अनुपलब्धि से कर्ता का अभाव सिद्ध नहीं होता, किन्तु वह योग्यानुपलब्धि के कारण माना जाता है। क्षित्यादि का कर्ता जो अदृश्य है, अतः अयोग्य होने से अनुपलब्धि यहाँ पर अभाव की साधक नहीं हो सकती। शरीराजन्यत्व हेतु से भी कर्त्रजन्यत्व नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि यह हेतु प्रयोजक नहीं होगा और असिद्धि का वारक होने पर भी व्यभिचार का वारक न होने से इसे हेतु का विशेषण देना व्यर्थ होगा। कारुणिक परमात्मा पर वैषम्य और नैर्घृण्य (निर्दयता) की आपत्ति आने से यह दु:खबहुल जगत् की रचना में क्यों प्रवृत्त होगा? इस आपत्ति का निवारण इस प्रकार हो जाता है कि ईश्वर विश्वनिर्माण में धर्म

प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, धर्माधर्मसव्यपेक्षस्य विश्वनिर्मातृत्वे तदनुपपत्तेः। प्राणिमोक्षार्थं भगवतः प्रवृत्तिः, धर्माधर्मप्रक्षयाच्च मुक्तिरिति भोगापवर्गार्थं विश्वनिर्माणोपपत्तिः।

न च धर्माधर्माभ्यामेव कार्योत्पत्तिरस्तु, तयोश्चेतनानधिष्ठितयोः कार्योत्पादकत्वानुपपत्तेः। न च जीवाधिष्ठितयोस्तदुपपत्तिः, तस्याल्पज्ञत्वेनादृष्टपरमाण्वादिज्ञानाभावात्।

अत्र आर्हता बौद्धाश्च प्रत्यवतिष्ठन्ते। न च कार्यत्वादिभिर्हेतुभिः सर्वज्ञो विश्वकर्ता सिद्धयति, कार्यत्वानिरूपणात्। किं तत्सावयवत्वम्, प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवायः, कृतमिति प्रत्ययविषयत्वम्, विकारित्वं वा? सावयवत्वमपि किमवयवेषु वर्तमानत्वम्, तैरारभ्यमाणत्वम्, प्रदेशवत्त्वम्, सावयव इति बुद्धिविषयत्वं वा? न प्रथमः, अवयवसामान्येऽतिव्याप्तेः। यतस्य नित्यत्वे सत्यवयवेषु वर्तमानत्वात्। द्वितीयं तु साध्याविशिष्टम्, क्षित्यादेः कार्यत्वस्येवावयवारभ्यमाणत्वस्याप्यसिद्धेः। प्रदेशवत्त्वमप्याकाशेऽतिव्याप्तम्। चतुर्थमपि तत्रैवातिव्याप्तम्। न च सावयवघटादिसंयोगाद्घटाकाशः पटाकाश इत्यादौ औपचारिकमेव तद्ज्ञानमिति वाच्यम्, निरवयवत्वे व्यापित्वविरोधात् परमाणुवत्। न प्रथमद्वितीयः, तत्सम्बन्धस्य समवायाख्यस्य नित्यत्वे कार्यलक्षणत्वायोगात्। तल्लक्षणत्वे कार्यस्यापि क्षित्यादेर्नित्यत्वानुषङ्गात्। तथा च न बुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धिः। कृतमिति प्रत्ययविषयत्वमपि न कार्यत्वम्, खननादिना कृतमाकाशमित्याकाशेऽपि तत्संभवात्। विकारित्वस्य कार्यत्वे परमेश्वरस्यापि तत्प्रसङ्गः, सतो वस्तुनोऽन्यथाभावित्वस्यैव विकारित्वात्।

किञ्च, लोके कादाचित्कं वस्तु कार्यत्वेन प्रसिद्धम्, जगतस्तु वियदादिवत्सदैव सत्त्वमिति कुतः कार्यत्वम्? यदि तदन्तर्गततरुतृणादीनां कार्यत्वेन तस्यापि कार्यत्वं भवेत्तदा तु महेश्वराकाशाद्यन्तर्गतानां बुद्ध्यादीनां परमाण्वन्तर्गतानां

और अधर्म की अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होता है। ईश्वर की प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी की मुक्ति के लिये होती है, धर्म और अधर्म के क्षय से ही मुक्ति प्राप्त होती है, अतः भोग और मोक्ष के लिये विश्वनिर्माण का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

केवल धर्म और अधर्म से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यदि ये चेतन से प्रेरित न हों तो इनमें कार्यों की उत्पत्ति की सामर्थ्य नहीं आती। जीव से प्रेरित होकर के भी ये कार्य को नहीं पैदा कर सकते, क्योंकि जीव अल्पज्ञ है, उसको अदृष्ट, परमाणु इत्यादि का ज्ञान नहीं हो सकता।

इस पर जैन और बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि कार्यत्व प्रभृति हेतुओं से सर्वज्ञ विश्वकर्ता की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि कार्यत्व क्या है? इस प्रश्न का ही अभी समाधान नहीं हुआ है। कार्यत्व १–सावयवत्व को कहते हैं? या २–पहले अविद्यमान वस्तु के अपने कारण की सत्ता से समवाय को कहते हैं? अथवा ३–'बनाया गया' इस ज्ञान के विषय को कहते हैं? अथवा ४–विकारित्व को कहते हैं? सावयवत्व का अर्थ भी क्या १–अवयवों में वर्तमानता है? २–अवयवों से आरम्भमाणता है? ३–प्रदेशवत्ता है? या ४–सावयवबुद्धिविषयता है? प्रथम पक्ष में अवयव सामान्य में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह नित्य भी है और अवयवों में वर्तमान भी है। द्वितीय पक्ष में साध्याविशिष्ट दोष होगा, क्योंकि क्षित्यादि में कार्यत्व के समान अवयवारम्भमाणता भी सिद्ध नहीं है। तृतीय पक्ष प्रदेशवत्ता आकाश में अतिव्याप्त है। चतुर्थ पक्ष भी आकाश में ही अतिव्याप्त है। यदि आप यह कहें कि सावयव घटादि के संयोग से घटाकाश, पटाकाश इत्यादि में औपचारिक ज्ञान होता है, तो ऐसा मानने पर निरवयवता के कारण परमाणु के समान आकाश में व्यापित्व धर्म का अभाव मानना पड़ जायगा। यह तो हुआ प्रथम विकल्प के चार पक्षों का खण्डन, प्रथम विकल्प का द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय संबन्ध की नित्यता के कारण उसमें कार्य के लक्षण की संगति नहीं बैठेगी। यदि उसका लक्षण मान लिया जाता है, तो क्षित्यादि की कार्यता भी नित्य माननी पड़ेगी। कृत प्रत्यय की विषयता (किये गये ज्ञान का विषय होना) वाला कार्यत्व का तृतीय पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि ऐसा मानने पर खननादि क्रिया से आकाश में भी कृतकता बुद्धि होने लगेगी। अब यदि चतुर्थ पक्ष विकारित्व को कार्यत्व माना जाय तो परमेश्वर में भी इसका प्रसंग होने लगेगा, क्योंकि सत् वस्तु का अन्यथाभाव हो तो विकार कहलाता है।

कदाचित् देखी जाने वाली वस्तु को ही लोक में कार्य कहते हैं, जगत् की तो आकाशादि की भाँति सदा सत्ता है, अतः यह कार्य कैसे हो सकता है? यदि तदन्तःपाती तरु, तृण आदि की कार्यता के कारण जगत् को भी कार्य माना जाय तो महेश्वर के अन्तर्गत

पाकजरूपादीनां कार्यत्वेन महेश्वरादेरपि कार्यत्वापत्तिः स्यात्। तथा चास्यापि बुद्धिमद्धेतुकत्वम्। तथा चानवस्था अपसिद्धान्तश्च स्याताम्। कथञ्चित् कार्यत्वसिद्धावपि कार्यमात्रस्य हेतुत्वे तस्य कारणमात्रेणाविनाभावसिद्धेस्तन्मात्रस्यैवानुमानम्, न बुद्धिमतः। तथा च सिद्धसाधनादिकम्।

ननु यथाग्निमात्रस्य धूममात्रादनुमानं तथैव कार्यमात्राद् बुद्धिमत्कारणमात्रस्यानुमानम्, कथमत्र विरुद्धत्वादिकमिति चेन्न, कार्यमात्रस्य कारणमात्रेणैव प्रतिबन्धस्य प्रतिपन्नत्वेन तदधीनत्वादनुमानस्य बुद्धिमत्कर्तुरनुमानासंभवात्। वस्तुतस्तु धूममात्रमपि नाग्निमात्रस्य गमकम्, अपनीतवह्न्यपवरकधूमेन व्यभिचारात्। किन्त्वच्छिन्नमूलोर्ध्वलेखाद्याकारविशिष्ट एव। तथैव कार्यमपि कृतबुद्ध्युत्पादकमेव बुद्धिमतो गमकं न सर्वम्, सारूप्यमात्रेण गमकत्वे बाष्पादेरप्यग्निगमकत्वप्रसङ्गात्। महेश्वरं प्रत्यात्मत्वादेः संसारित्वाल्पज्ञत्वजगदकर्तृत्वानुमापकत्वाच्च वस्तुत्वादेः परमाणुवज्जगदबुद्धिमत्पूर्वकत्वप्रयोजकत्वप्रसङ्गश्च स्यात्।

ततो बाष्पधूमसंस्थानयोः कथञ्चित्साम्येऽपि तथा कश्चिद्विशेषोऽभ्युपेयः, येन धूमोऽग्निं गमयति न बाष्पादिः, तथा क्षित्यादीतरकार्यत्वसंस्थानयोरपि। यदि तु कार्यत्वविशेषो (कार्यत्वे सति विलक्षणत्वादिकम्) हेतुः, यश्च बुद्धिमत्कर्त्रन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनावसितस्य क्षित्यादावभावादसिद्धिरेव, भावे वा जीर्णकूपादिवदक्रियादर्शिनोऽपि क्षित्यादौ कृतबुद्ध्युदयप्रसङ्गः। समारोपान्नेति चेत्सोऽप्युभयत्राविशेषात् किन्न स्यात्, कर्तुरुभयत्रातीन्द्रियत्वाविशेषात्।

विद्यमान बुद्धयादि की तथा परमाणु के अन्तर्गत पाकज रूपादि की कार्यता के कारण महेश्वर, परमाणु आदि की भी कार्यता सिद्ध होने लगेगी। इस प्रकार महेश्वर और परमाणु की भी बुद्धिमत्कर्तृकता माननी पड़ जायगी। इससे अनवस्था तो होगी ही और यह बात सिद्धान्त विरुद्ध भी होगी। किसी प्रकार कार्यत्व की सिद्धि यदि हो भी जाय तो कार्यमात्र की हेतुता के कारण उसका केवल कारणमात्र से अविनाभाव सिद्ध होगा, फलतः कारणतामात्र का अनुमान हो सकता है, बुद्धिमत्कारणता का नहीं। इस प्रकार सिद्धसाधन आदि दोषों की उद्भावना भी होगी।

प्रश्न उठता है कि जैसे अग्निमात्र का धूममात्र से अनुमान होता है, उसी तरह से कार्यमात्र से बुद्धिमत्कारणमात्र का अनुमान हो जायगा तो यहाँ पर विरुद्धत्वादि दोषों की प्रसक्ति क्यों होगी ? इसका उत्तर यह है कि कार्यमात्र का कारणमात्र से ही प्रतिबन्ध स्वीकृत है, अतः अनुमान से केवल कारण की ही सिद्धि हो सकती है, बुद्धिमत्कर्तृकता की नहीं। वास्तव में तो धूममात्र भी अग्निमात्र का ज्ञापक नहीं हो सकता, क्योंकि किसी कमरे से अँगीठी आदि में सुलगती हुई अग्नि को हटा देने पर भी वहाँ पर धूआँ भरा रहता है, उस धूम से अग्नि का अनुमान करने पर स्पष्ट ही व्यभिचार है। जिस धूम की मूल उत्पत्ति स्थान से लेकर ऊपर तक एक अविच्छिन्न रेखा अनुस्यूत दिखाई पड़ती है, ऐसे ही धूम से वह्नि का सही अनुमान होता है, उसी तरह से कार्यत्व हेतु भी कृत बुद्धि की उत्पत्ति के साथ ही बुद्धिमत्कर्तृकता को सिद्ध करता है। सारूप्य मात्र में ज्ञापकता मानने पर वाष्प (भाप) प्रभृति से भी अग्नि का अनुमान मानना पड़ जायगा। इसी तरह से महेश्वर के प्रति आत्मत्व आदि हेतु से संसारित्व, अल्पज्ञत्व, जगदकर्तृत्व आदि का भी अनुमान मानना पड़ेगा और वस्तुत्व आदि हेतु से परमाणु के समान जगत् की भी अबुद्धिमत्पूर्वकता की प्रयोजकता की प्रसक्ति हो जायगी।

अतः वाष्प और धूमसंस्थान में किसी तरह की समानता रहने पर भी उनमें कुछ वैशिष्ट्य भी माना जाता है, जिससे कि धूम से अग्नि का अनुमान होता है, वाष्प से नहीं, उसी तरह से क्षित्यादि का इतर कार्यसंस्थान से वैशिष्ट्य माना जायगा। यदि कार्यत्व विशेष अर्थात् कार्यत्व का वैलक्षण्य इसमें हेतु माना जाय तो यदि वह बुद्धिमत्कर्तृकता के साथ अन्वय-व्यतिरेक से अनुस्यूत है, तो उसके क्षित्यादि में न रहने से असिद्धि होगी और यदि है तो जीर्ण कूप आदि के समान उनकी रचना को न देखने वाला भी जैसे कृतकता का अनुमान कर लेता है, उसी तरह से क्षित्यादि में कृत बुद्धि का उदय हो जायगा। यदि आप कहें कि समारोप के कारण ऐसा नहीं होगा, तो कर्ता तो दोनों ही जगह नहीं दिखाई देता, फिर दोनों ही जगह साम्य रहने पर यह समारोप दोनों ही जगह समान रूप से क्यों न मान लिया जाय।

यदुक्तमस्त्येव प्रामाणिकस्य कृतबुद्धिरिति तन्न, प्रमातुरनेनैव प्रमाणेन प्रामाणिकत्वेऽन्योन्याश्रयः। तथाहि—सिद्धविशेषणाद्धेतोरस्योत्थानं तदुत्थाने विशेषणसिद्धिः। अनुमानान्तरेण तत्त्वे तु तस्यापि सविशेषणादेव हेतोरुत्थानम्। तत्राप्यनुमानान्तराद्विशेषणासिद्धावनवस्था। प्रमानुमानात्तत्सिद्धावन्योन्याश्रयः। अनुग्राहिकाया युक्तेरभावादागमोऽपि प्रामाणिकत्वं न साधयति। तदननुगृहीतस्यापि तस्य साधकत्वेऽतिप्रसङ्गः। उक्तयुक्तेश्चावर्तने चक्रकप्रसङ्गः। अक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वलक्षणकार्यत्वानुमानस्य सिद्धौ तेनागमस्यानुग्रहः, तदनुग्रहाच्च प्रमातुः प्रामाणिकत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कृतबुद्ध्युत्पादकत्वलक्षणकार्यत्वानुमानसिद्धिः। नापि केनचित् स्रष्ट्रा जगत् सृष्टमिति लोकप्रतीत्या प्रामाणिकत्वसिद्धिः, अस्या निर्मूलत्वात्। 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इति प्रतीतिवद् वेदे मीमांसकस्याकृत्रिमत्वप्रसिद्धिवच्च नेदमनुमानमस्या मूलमन्योऽन्याश्रयात्। नाप्यागमोऽस्या मूलम्, प्रमाणभूतागममूलत्वसिद्धौ ह्यस्याः प्रामाण्यम्, प्रामाण्ये चास्याः प्रमातुः प्रामाणिकत्वम्, तेन च कृतबुद्ध्युत्पादककार्यत्वानुमानात् सातिशयपुरुषसिद्ध्या तन्निमित्तत्वेनागमस्य प्रामाण्यम् इत्यन्योन्याश्रयः। तथा च क्षित्यादेः कृत्रिमत्वप्रसिद्धिर्लोकप्रवादपरम्परायाता न प्रमाणबलप्रभवा।

ननु कृतकस्य न कृतबुद्ध्युत्पादकनियमः। खातप्रपूरितायां भूमौ कृत्रिममणिमुक्ताफलादावक्रियादर्शिनस्तदभावादिति चेन्न, तत्राकृत्रिमभूभागादिसंस्थानसारूप्यस्य कृतबुद्ध्यनुत्पादकस्य हेतोः सद्भावेन तदुपपत्तावपि क्षित्यादौ तदनुपपत्तेः। न च पृथिव्यादावप्यकृत्रिमसंस्थानसारूप्यं सम्भवति, अकृत्रिमसंस्थानस्य भवताऽनभ्युपगमात्, अभ्युपगमे चापसिद्धान्तः। जीर्णकूपादौ दृष्टः कर्तृककूपादिसजातीयत्वलक्षणो विशेषो भवताऽप्यभ्युपगम्य इति कथं नासिद्धो हेतुः? सिद्धावपि विरुद्धो

यह कहना भी ठीक नहीं है कि 'प्रामाणिक को दोनों ही जगह कृतक बुद्धि होती है', क्योंकि प्रमाता यदि इसी प्रमाण से प्रामाणिक है तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसे कि सिद्ध विशेषण हेतु से इसका उत्थान होगा और उसके उत्थान होने पर विशेषण की सिद्धि होगी। अनुमानान्तर से ऐसा मानने पर तो उसका भी विशेषण हेतु से ही उत्थान होगा। वहाँ पर भी अनुमानान्तर से विशेषण की सिद्धि मानने पर अनवस्था होगी और प्रथम अनुमान से उसकी सिद्धि मानने पर अन्योन्याश्रय होगा। सहायक युक्ति के अभाव में आगम भी प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर सकता। बिना युक्ति की सहायता के आगम को साधक मानने में अतिप्रसक्ति होगी। उक्त युक्ति की आवृत्ति करने पर चक्रक दोष होगा। जैसे कि क्रिया को न देखने वाले व्यक्ति में भी 'कृत' बुद्धि की उत्पादकता को बताने वाले कार्यत्वानुमान की सिद्धि होने पर उससे आगम का अनुग्रह, उस अनुग्रह से प्रमाता की प्रामाणिकता की सिद्धि और इस प्रामाणिकता की सिद्धि से फिर कृत बुद्धि की उत्पादकता लक्षण कार्यत्वानुमान की सिद्धि। किसी स्रष्टा ने जगत् को बनाया है, इस तरह की लोकप्रतीति से भी इसमें प्रामाणिकता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि ऐसी प्रतीति निर्मूल है। 'यह जगत् कभी भी जैसा आज है, इसके विपरीत नहीं था' इस प्रतीति की तरह और वेद के विषय में मीमांसक की अकृत्रिमता की प्रसिद्धि की तरह, यही अनुमान इसका साधक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय दोष होगा। आगम से भी यह प्रतीति सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि प्रमाणभूत आगम की सिद्धि होने पर इस प्रतीति का प्रामाण्य होगा और इसके प्रामाण्य के सिद्ध हो जाने पर प्रमाण की प्रामाणिकता सिद्ध होगी और उससे कृत बुद्धि के उत्पादक कार्यत्व के अनुमान से सातिशय पुरुष की सिद्धि होने पर तन्निर्मित आगम का प्रामाण्य माना जायगा, इस तरह से यह सब चक्रक या अन्योन्याश्रय दोष से दूषित होंगे। क्षित्यादि के कार्यत्व की प्रसिद्धि लोक प्रवाद से ही सिद्ध हो पाती है, इसमें कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं हो पाता।

प्रश्न उठता है कि "कृतकत्व हेतु में भी कृतक बुद्धि के उत्पादन की सामर्थ्य नियमित रूप से नहीं मिलती, क्योंकि खोद कर पुनः भर दी गई भूमि में और कृत्रिम मणि, मुक्ता प्रभृति में कृतक बुद्धि नहीं होती", इसका उत्तर यह है कि इन स्थलों में अकृत्रिम भूभाग आदि का सादृश्य कृतक बुद्धि का बाधक होता है, किन्तु क्षित्यादि में जहाँ कि ऐसी स्थिति नहीं है, कृतकत्व हेतु से उनका कार्यत्व सिद्ध हो ही जाता है। पृथिव्यादि में भी अकृत्रिम संस्थान का सादृश्य संभव नहीं है, क्योंकि अकृत्रिम संस्थान को आप मानते नहीं, यदि आप माने तो उसमें आपको गलत सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ेगा? जीर्ण कूप प्रभृति में दृष्ट कृत कूप आदि के सदृश वैशिष्ट्य आपको मानना पड़ेगा, इस प्रकार हेतु असिद्ध क्यों न होगा? किसी प्रकार यह सिद्ध हो भी जाय तो हेतु विरुद्ध होगा,

हेतुः, घटादिवत् सशरीरस्यैव बुद्धिमतः प्रसाधनात्। न चैवं सकलानुमानोच्छेदः, सर्वत्र विरुद्धत्वोपपत्तेरिति वाच्यम्, धूमादिना वह्न्याद्यनुमाने महानसेतरसाधारणस्याग्न्यादेः प्रतिपत्तिसम्भवात्। अत्राप्येवं बुद्धिमत्सामान्यप्रसिद्धेर्न विरुद्धत्वमित्यप्ययुक्तम्, दृश्यविशेषाधारस्यैव तत्सामान्यस्यातः प्रसिद्धेः। नादृश्यविशेषाधारस्य प्रसिद्धिः, तस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः, खरविषाणाधारतत्सामान्यव्यत्। हेतुव्यापकत्वेनाप्रतिपन्नस्य गम्यत्वे च अभासुररूपोष्णस्पर्शवतोऽप्यग्नेः धूमात् प्रतीतिः स्यात्। ततः कार्यकारणभावविवेकवता यादृशात् कारणाद्यादृशं कार्यमुपलब्धं तादृशादेव तादृशमनुमातव्यम्। यथा यावद्धर्मकाद्वह्नेर्यावद्धर्मकस्य धूमस्योत्पत्तिः सुदृढप्रमाणात् प्रतिपन्ना तादृशादेव धूमात्तादृशस्यैवाग्नेरनुमानम्। न च प्रासादादिकार्यवत् क्षित्यादिकार्येष्वप्यतिशयतारतम्यप्रतीतेस्तत्कर्तुरतिशयत्वसिद्धिः स्यात्, तद्वदस्मादृशस्यैव कर्तुरतिशयवतः सिद्धिप्रसङ्गात्। क्षित्यादिनिर्माणे तस्यासामर्थ्यादन्यादृशोऽसौ सिद्ध्यतीत्यप्ययुक्तम्, तत्र कर्त्रभावस्यैव प्रसङ्गात्। अन्यादृशस्य कर्तुर्हेतुव्यापकत्वेन कदाचिदप्यप्रसिद्धेः। अव्यापकस्य गम्यत्वे व्यापकमगम्यमव्यापकं तु गम्यमित्यापत्तेश्च।

ननु परिशेषात् कार्यत्वव्यापकत्वेनोपादानादिनिखिलकारकसामर्थ्यज्ञानाद्यतिशयवान् कर्तृविशेषः साध्यते, तदनभिज्ञस्य कर्तृत्वासम्भवात्, अन्यथा सर्वस्य सर्वकर्तृत्वप्रसङ्गः स्यात्। न चास्मदादेः क्षित्याद्यशेषकारकसामर्थ्यावगमोऽस्ति, परमाण्वादेरतीन्द्रियत्वात्। ततोऽशेषकारकप्रयोक्तृत्वलक्षणं कर्तृत्वं तस्य सिद्ध्येत् तच्छक्तिपरिज्ञानाद्यतिशयपूर्वकत्वमेव सिद्ध्यतीति चेन्न, प्रयोक्तृत्वस्य शक्तिपरिज्ञानाविनाभावासिद्धेः, सुप्तप्रमत्ताद्यवस्थायां वागादिहेतूनां ताल्वादीनाञ्च शक्तिपरिज्ञानाभावेऽपि प्रयोक्तृत्वोपलम्भात्। सत्यपि तदविनाभावे न समस्तकारशक्तिविज्ञानं सिद्ध्यति, सूत्रधारादीनां धर्माद्यपरिज्ञानेऽपि

क्योंकि घटादि कर्ता के समान इस हेतु से शरीर वाले बुद्धिमान् की ही सिद्धि होगी। इस तरह से तो सारे अनुमानों का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि सर्वत्र विरुद्ध हेत्वाभास की उपपत्ति की जा सकती है? इसका उत्तर यह है कि धूमादि से वह्नि प्रभृति का अनुमान करने में महानस से भिन्न साधारण वह्नि की प्रतिपत्ति संभव है, इसलिये सकल अनुमान के उच्छेद का प्रसंग नहीं उठेगा। अन्य स्थलों में भी इसी तरह से बुद्धिमत्सामान्य की प्रसिद्धि होने से विरुद्ध हेत्वाभास नहीं होगा, यह कथन भी गलत है, क्योंकि इससे दृश्यविशेष के आधारभूत बुद्धिमत्सामान्य की ही सिद्धि हो सकेगी। अदृश्यविशेष आधार की सिद्धि स्वप्न में भी नहीं हो सकती, जैसे कि खरहे की सींग के आधारभूत सामान्य की सिद्धि नहीं होती। हेतु की व्यापकता बिना जाने यदि उसको ज्ञापक माना जाय तो अभासुर रूप और उष्ण स्पर्श वाली अग्नि की भी धूम से प्रतीति होने लगेगी। इसलिये कार्य-कारणभाव के विवेक वाले व्यक्ति को जिस प्रकार के कारण से जिस तरह के कार्य की प्रतीति होती है, उसी तरह के कारण से उस कार्य का अनुमान करना चाहिये। जैसे कि जिस तरह के चिह्न वाले वह्नि से जिस तरह के धूम की उत्पत्ति प्रमाण से ज्ञात हो, उसी तरह के धूम से उसी तरह की वह्नि का अनुमान होगा। इसी तरह से प्रासादादि कार्य के समान क्षित्यादि में कार्यता का अतिशय तारतम्य तो है नहीं, जिससे कि क्षित्यादि के कर्ता की अतिशयता सिद्ध हो, क्योंकि इससे तो हमारे जैसा ही कोई कर्ता क्षित्यादि का भी सिद्ध होगा। 'अस्मादृश का क्षित्यादि के निर्माण में सामर्थ्य न होने से वह अन्यादृश सिद्ध होगा', यह कथन भी गलत है, क्योंकि इस परिस्थिति में तो कर्ता का अभाव ही सिद्ध होगा, क्योंकि अन्यादृश कर्ता की हेतु से व्यापकता कदापि सिद्ध न हो सकेगी। अव्यापक की गम्यता मानने पर व्यापक अगम्य और अव्यापक गम्य होने लगेगा।

पुनः शंका उठती है कि "परिशेष अनुमान से कार्यत्व के व्यापक उपादानादि निखिल कारक सामर्थ्य के ज्ञान से युक्त सातिशय कर्ता सिद्ध हो जायगा, क्योंकि जो इनको नहीं जानता, वह कर्ता नहीं हो सकता। अन्यथा सभी व्यक्ति सभी कार्यों के कर्ता बन सकते हैं। हम लोगों को क्षित्यादि के सारे कारक सामर्थ्य का तो ज्ञान होता नहीं, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं। इसलिये अशेष कारक के प्रयोक्ता के रूप में जब कर्तृत्व सिद्ध होगा तो वह अपने साथ उनकी सामर्थ्य की अवगति रूप अतिशयता से युक्त ही सिद्ध होगा"। इस शंका का उत्तर यह है कि प्रयोक्तृत्व का और शक्तिपरिज्ञान का अविनाभाव सिद्ध नहीं है, क्योंकि सुप्त अथवा प्रमत्त व्यक्ति में वागादि के कारण भूत कण्ठ-तालु आदि का व्यापार शक्ति के परिज्ञान के बिना भी देखा गया है। इनका अविनाभाव सिद्ध हो भी जाय तब भी समस्त कारक शक्ति का विज्ञान नहीं सिद्ध हो पाता, क्योंकि धर्मादि के परिज्ञान के बिना भी सूत्रधार प्रभृति की प्रासादादि

प्रासादादौ कारकप्रयोक्तृत्वोपलम्भात्। यथा च प्रारब्धकार्यानिष्पत्तेः सूत्रधारादीनां धर्माद्यशेषकारकापरिज्ञानम्, तथेश्वरस्यापि तदस्तु, प्रारब्धाङ्कुरादिकार्यानिष्पत्तेस्तत्राप्यविशेषात्। तत्परिज्ञानेऽप्युपभोक्तुरदृष्टवशात्तया तद्विधानं सूत्रधारादावप्यस्तु। प्रतीतिविरोधोऽप्युभयत्राविशिष्टः।

एकस्याखिलकारकाधिष्ठातृत्वानुपपत्तिश्च, अनेकस्याप्यनेककारकाधिष्ठातृत्वदर्शनात्। नहि सर्वमेकेनैव कर्तव्यमेकनियमितैरनेकैर्वेति नियमोऽस्ति, अनेकधा कार्यकर्तृत्वोपलम्भात्। क्वचिदेकेन कुविन्देनैकं वस्त्रादिकं क्रियते, क्वचिदेकेन कुम्भकारेणानेकं घटशरावादिकं क्रियते, अनेकश्चानेकेन घटपटमुकुटशकटादि कुलालादिना, क्वचिदनेकेनाप्येकं यथा उद्देहिकाभिर्वल्मीकम्। न च तासां कश्चिदेकोऽधिष्ठाता। न च प्रासादादिकार्येऽपि स्थपत्यादीनामेकसूत्रधाराधिष्ठितानामेव प्रवृत्तिः, प्रतिनियताभिप्रायाणामेकसूत्रधारानधिष्ठितानामपि प्रवृत्त्यविरोधात्। यद्येकसूत्रधाराधिष्ठितानां स्थपत्यादीनां प्रवृत्त्युपलम्भेन महेश्वरैकाधिष्ठातृत्वं कल्प्यते, तदाऽनेकोद्देहिकानामेकेनानधिष्ठितानां प्रवृत्त्युपलम्भात् तेनानधिष्ठितस्यापि कारणकल्पस्य प्रवृत्तिः किन्न स्यात्, उभयप्रतीत्योः प्रामाण्याविशेषात्।

अकृष्टप्रभवैस्तरुतृणादिभिर्व्यभिचारी चायं हेतुः, तत्र घटादीनां बुद्धिमत्पूर्वकत्वेऽप्यकृष्टप्रभवतरुतृणादीनां तत्पूर्वकत्वस्यादर्शनेन तथैवाभ्युपगन्तव्यत्वात्। उभयोरपि प्रतीत्योः प्रामाणिकत्वाविशेषात्। तेषां पक्षीकरणादव्यभिचारे 'स श्यामः, तत्पुत्रत्वादितरपुत्रवत्' इत्यादेरपि गमकत्वप्रसङ्गान्न कश्चिद् व्यभिचारी हेतुः स्यात्। व्यभिचारविषयस्य सर्वत्रापि पक्षीकर्तुं शक्यत्वात्। ईश्वरबुद्ध्यादिभिश्च व्यभिचारः, तेषां कार्यत्वे सत्यपि समवायिकारणादीश्वराद्भिन्नबुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वा-

के निर्माण में प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे प्रारम्भ किये गये कार्य को पूरा न होने पर सूत्रधार आदि को धर्मादि अशेष कारक चक्र का परिज्ञान नहीं होता, उसी तरह से ईश्वर में भी यह माना जा सकता है। प्रारब्ध अंकुरादि से कार्य की अनिष्पत्ति यहाँ भी देखी ही जाती है। अशेष कारक चक्र का परिज्ञान मानने पर भी उपभोक्ता के अदृष्ट के कारण सूत्रधार (मिस्तरी) आदि में भी उसका विधान माना जा सकता है। प्रतीति का विरोध तो दोनों स्थलों में समान है।

एक की अखिल कारक की अधिष्ठातृता भी सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि अनेक व्यक्ति भी अनेक कारण चक्र के अधिष्ठाता होते हैं। सब कुछ एक व्यक्ति ही करेगा अथवा एक व्यक्ति के द्वारा नियन्त्रित होकर ही अनेक व्यक्ति करेंगे, ऐसा कोई नियम नहीं है। कार्य की निष्पत्ति के अनेक प्रकार हैं। कहीं एक ही जुलाहा वस्त्र बुनता है, कहीं एक ही कुम्हार घट-शराव आदि में से किसी एक वस्तु को और कहीं अनेक व्यक्ति मिलकर घट, पट, मुकुट, शकट आदि अनेक कार्यों की निष्पत्ति करते हैं। कहीं अनेक दीमक मिलकर एक बाँबी बनाते हैं। इनका कोई एक अधिष्ठाता नहीं होता। प्रासाद आदि के निर्माण में भी एक सूत्रधार के अधीन ही सब स्थपति (मिस्तरी) काम करते हों, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रासाद आदि की पूरी रूप-रेखा को ध्यान में बैठा लेने के बाद बिना सूत्रधार की सहायता के भी प्रत्येक स्थपति अपने अपने कार्य में लग जायगा। यदि एक सूत्रकार से अधिष्ठित स्थपतियों की प्रवृत्ति के अनुसार एक ईश्वर की आप कल्पना करना चाहते हैं, तो फिर बिना किसी एक अधिष्ठाता के बाँबी को बनाने में लगी हुई दीमकों के उदाहरण से आप एक से अनधिष्ठित कारणकलाप की प्रवृत्ति की कल्पना भी क्यों नहीं करते, क्योंकि उक्त दोनों ही प्रकार के अनुभव प्रामाणिक हैं।

उक्त हेतु का बिना खेत जोते, बिना बोये अपने आप पैदा होने वाले वृक्ष, तृण आदि में व्यभिचार भी होगा, यहाँ पर घटादि की बुद्धिमत्पूर्वकता के रहते भी बिना उगाये लगे हुए वृक्ष-लतादि में बुद्धिमत्पूर्वकता के न रहने से कार्य की अबुद्धिमत्पूर्वकता भी माननी पड़ेगी, क्योंकि दोनों ही अनुभव प्रामाणिक हैं। दोनों अनुभवों को पक्ष बनाकर यदि व्यभिचार का रक्षण किया जाता है तो 'वह श्याम है, क्योंकि इतर के पुत्र के समान वह भी उसका पुत्र है' इत्यादि अनुमानों को भी साध्य के साधक मानना पड़ेगा। फिर तो व्यभिचारी हेतु कोई होगा ही नहीं, क्योंकि सर्वत्र व्यभिचार के विषय को पक्ष बनाया जा सकता है। ईश्वर की बुद्धि आदि में भी हेतु व्यभिचरित होगा, क्योंकि ईश्वर की बुद्धि आदि भी कार्य हैं, किन्तु अपने समवायीकारण (जिसमें वह रहती है) ईश्वर से भिन्न कोई बुद्धिमान् कर्ता उसका नहीं है, किन्तु घटादि दृष्टान्त में बुद्धिमत्पूर्वकता के साथ समवायिकारण से भिन्न

भावात्, दृष्टान्ते घटादौ बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्ववत् समवायिकारणाद्व्यतिरिक्तबुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वेनापि व्याप्तिः कार्यत्वस्य प्रतिपन्ना, तदभ्युपगमे चानवस्था। न चैकस्यैव समवायिनिमित्तकारणत्वं युक्तम्, घटादौ तथानुपलम्भात्। तत्रानुपलब्धस्यापि कल्पने क्षित्यादेरबुद्धिमद्धेतुकत्वं किन्न कल्प्येत, अविशेषात्।

किञ्च, वन्यतृणादौ कर्त्रभावस्य प्रत्यक्षेणैवोपलम्भादग्नेरनुष्णत्वे साध्ये द्रव्यत्ववद् बाधितश्चायं हेतुः। न च दृश्यस्यैवानुपलम्भेनाभावः सिद्ध्यति नान्यस्य, अन्यथाऽऽकाशादेरप्यभावः स्यात्। न चायं दृश्य इत्यनुपलम्भेऽपि न तदभावः सिद्ध्यतीति वाच्यम्, कुतश्चित्प्रमाणात् सद्भावे सिद्धेऽदृश्यत्वेनानुपलम्भस्तत्सद्भावश्चास्मादेवानुमानादन्यतो वा? प्रथमे चक्रकम्, अतः सद्भावे सिद्धेऽदृश्यत्वेनानुपलम्भः, तत्सिद्धौ च बाधाभावः, ततश्चास्मात् तत्सद्भावसिद्धिः। न द्वितीयः, तत्सद्भावावेदकप्रमाणान्तरस्याभावात्। तत्सद्भावेऽपि किमदृश्यत्वे देहाभावः कारणम्, विद्यादिप्रभावो जातिविशेषो वा? न शरीराभावोऽशरीरस्य कार्यकर्तृत्वानुपपत्तेः। तथाहि—नेश्वरः क्षित्यादिकर्ता, अशरीरत्वात् मुक्तात्मवत्।

ननु शरीरं न कर्तृशरीरे प्रविशति, तदभावेऽपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रयत्वमात्रेण स्वशरीरप्रेरणे कर्तृत्वोपलम्भादिति, तदसत्, शरीरसम्बन्धेनैव तत्प्रेरणोपलम्भात्। तत्सम्बन्धो हि आत्मनः सशरीरत्वम्, तस्मिन् सत्येव स्वशरीरेऽन्यत्र वा कार्यकर्तृत्वोपलब्धेः। शरीराभावे मुक्तात्मवज्ज्ञानाश्रयत्वमप्यसम्भाव्यम्, तदुत्पत्तौ देहस्य निमित्तकारणत्वात्। तदभावेऽपि तदुत्पत्तौ मुक्तात्मनोऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गः। बुद्धिमन्निमित्ताभावेऽपि क्षित्याद्युत्पत्तिप्रसङ्गः स्यात्। नित्यत्वात्तेषामदोषोऽयमित्यपि न युक्तम्, ज्ञानादीनां नित्यत्वेन कदाचिदप्यप्रतीतेः। 'ईश्वरज्ञानादयो न नित्याः, ज्ञानादित्वात्, अस्मदादिज्ञानवत्'

बुद्धिमान् कर्ता घटादि कार्य का देखा गया है। यदि ईश्वर बुद्धि में भी इसको माना जाय तो अनवस्था दोष होगा। एक ही वस्तु समवायी और निमित्त दोनों नहीं हो सकते। घटादि में ऐसा नहीं देखा जाता। यदि अनुपलब्ध की भी कल्पना करली है तो क्षित्यादि की अबुद्धिमद्धेतुता ही आप क्यों नहीं मान लेते, क्योंकि इन दोनों में कोई फरक तो है नहीं।

वन्य तृणादि में कर्ता का अभाव प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः यह हेतु उसी तरह से बाधित माना जायगा, जैसा कि अग्नि की अनुष्णता सिद्ध करने के लिये दिया गया द्रव्यत्व हेतु। यदि कहो कि 'दृश्य वस्तु का ही अनुपलम्भ से अभाव सिद्ध किया जा सकता है, अदृश्य का नहीं, क्योंकि ऐसा न मानने पर आकाशादि का भी अभाव सिद्ध हो जायगा। ईश्वर दृश्य तो है नहीं, अतः उसके अनुपलम्भ मात्र से अभाव सिद्ध नहीं हो सकता'। किन्तु इस पर हम पूछते हैं कि किसी प्रमाण से वस्तु का सद्भाव सिद्ध हो जाने पर उसकी अदृश्यता को देखकर अनुपलब्धि और दृश्य होने पर सद्भाव इसी अनुमान से सिद्ध होगा या इससे भिन्न से? प्रथम पक्ष में चक्रक दोष होगा, क्योंकि इससे सद्भाव सिद्ध होने पर अदृश्य होने के कारण अनुपलम्भ, उसकी सिद्धि होने पर बाध का अभाव और तब इससे उसके सद्भाव की सिद्धि। द्वितीय पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि उसके सद्भाव को बताने वाला दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। दूसरा प्रमाण मान भी लिया जाय तो अदृश्यत्व में देहाभाव कारण है, विद्यादि का प्रभाव, अथवा जातिविशेष? शरीराभाव कारण नहीं होगा, क्योंकि अशरीर व्यक्ति किसी कार्य को नहीं कर सकता। जैसे कि—ईश्वर क्षित्यादि का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि मुक्तात्मा की तरह वह भी शरीर से रहित है।

'कर्ता के साथ शरीर को नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि शरीर के बिना भी ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि के आश्रयमात्र से अपने शरीर की प्रेरणा करने पर कर्तृत्व का उपलम्भ होता है'। किन्तु यह कथन इसलिये गलत है कि शरीर का सम्बन्ध होने पर ही ज्ञान, इच्छा आदि की प्रेरणा होती है। इनका सम्बन्ध ही आत्मा की सशरीरता को सिद्ध करता है। इनके रहते ही अपने शरीर में अथवा अन्यत्र कार्य-कर्तृत्व की उपलब्धि होती है। शरीर के अभाव में मुक्तात्मा की तरह ज्ञानाश्रयता भी नहीं सिद्ध होगी, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति में देह निमित्तकारण है। शरीर के अभाव में भी ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर मुक्तात्मा में भी ज्ञान की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जायगी? इसी तरह से बुद्धिमान् निमित्त के अभाव में भी क्षित्यादि की उत्पत्ति माननी पड़ जायगी। 'ईश्वरगत ज्ञानादि की नित्यता के कारण उनमें यह दोष नहीं आवेगा' यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि इनको नित्य मान लिया जायगा तो इनकी प्रतीति कभी नहीं होगी। ईश्वर के ज्ञानादि गुण नित्य नहीं हैं, क्योंकि वे हमारे ज्ञानादि के

इत्यनुमानविरोधाच्च। तेषां दृष्टस्वभावातिक्रमे भूरुहादीनामपि स स्यात्, अविशेषात्। ततो ज्ञानादीनां शरीरसम्पाद्यत्वमेवाभ्युपगन्तव्यम्। तत्कथमकिञ्चित्करं शरीरम् ?

यदुक्तम्—'सहचारमात्रेण कारणत्वे वह्निपैङ्गल्यस्यापि धूमं प्रति कारणता प्रसज्येतेति तन्न, पैङ्गल्यमात्रस्य धूमकारणत्वानुक्तेः, हरितालादौ तत्सद्भावेऽपि धूमानुत्पत्तेः। वह्निविशेषितस्य तद्धेतुत्वे तु न किञ्चिद्विरोधः। यथैवेन्धनसम्बद्धो वह्निर्धूमोत्पादकः, नान्यः, तथैव वह्निविशेषितं पैङ्गल्यं तन्निबन्धनं नान्यत्। विद्यादिप्रभावस्य चादृश्यत्वहेतुत्वे कदाचिदसौ दृश्येतापि, विद्याभृतां तन्त्रादिमताञ्च शाश्वतिकादृश्यत्वाभावात्। इतरविद्याभृद्भ्यो वैलक्षण्ये स्वभावातिक्रमेष्टौ जगतोऽपीतरकार्यवैलक्षण्येन तदतिक्रमेष्टिः किन्न स्यात् ? पिशाचादिवज्जातिविशेषोऽदृश्यत्वे हेतुरित्यपि न युक्तम्, एकस्य जातिविशेषाभावात्, अनेकनिष्ठत्वात्तस्याः।

किञ्च, सत्तामात्रेण, ज्ञानवत्त्वेन, ज्ञानेच्छावत्त्वेन, तत्पूर्वकव्यापारेण, ऐश्वर्येण वा क्षित्यादेः कारणं स्यात् ? नाद्यः, कुलालादेरपि तत्प्रसङ्गात्, सत्तामात्रस्य तत्राप्यविशेषात्। द्वितीये योगिनामपि तत्प्रसङ्गः। न च योगिनां तथाभूतमशेषार्थज्ञानं नास्ति, तेनायमदोष इति वाच्यम्, कुत एतदित्यसिद्धेः, सर्वकर्तृत्वाच्चेदन्योन्याश्रयः। सर्वज्ञत्वसिद्धौ सर्वकर्तृत्वसिद्धिः, सर्वकर्तृत्वाच्च सर्वज्ञत्वसिद्धिः। तृतीयपक्षोऽप्यसङ्गतः, अशरीरस्य ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वप्रतिषेधात्। व्यापारवत्त्वमपि अशरीरस्यासंभाव्यम्। व्यापारोऽपि कायकृतः वाक्कृतो वा ? तदुभयमपि नाशरीरे संभवति। न चैवं कस्यचित् प्रतीतिर्भवति वचनतः कायेन वाऽहमीश्वरप्रेरितः। व्यापारश्च क्रिया। सा चास्य दुर्घटा। तथाहि—निर्व्यापार ईश्वरः, सर्वगतत्वात्,

सदृश ही हैं, इस अनुमान से विरोध भी होगा। यदि इनमें दृष्ट स्वभाव का अतिक्रम माना जाय तो वह वृक्षादि में क्यों न माना जायगा ? क्योंकि दोनों ही समान है। इसलिये ज्ञानादि की शरीर-संपाद्यता ही माननी पड़ेगी। अतः शरीर को अकिञ्चित्कर कैसे कहा जा सकता है ?

यह जो कहा गया है कि 'सहचार मात्र से कारणता मानने पर अग्नि का पीलापन भी धूम के प्रति कारण होने लगेगा', इसलिये गलत है कि केवल पीलापन मात्र की धूम के प्रति कारणता नहीं बन सकती, क्योंकि हरताल आदि में पीलेपन के रहते भी धूम उत्पन्न नहीं होता। वह्नि विशेषित पैंगल्य (पीलापन) को धूम का कारण मानने में कोई विरोध नहीं है। जैसे इन्धन से सम्बद्ध वह्नि धूम का उत्पादक है, अन्य नहीं, इसी तरह से वह्नि से विशेषित पैंगल्य धूम का कारण होगा, अन्य नहीं। विद्यादि के प्रभाव को यदि अदृश्यता का कारण माना जाय तो कदाचित् वह दृश्य भी हो सकता है, क्योंकि विद्याओं को धारण करने वाले और शास्त्रज्ञ व्यक्तियों की शाश्वत् अदृश्यता नहीं रहती। इतर विद्याधारियों से वैलक्षण्य में यदि स्वभाव का अतिक्रम माना जाता है, तो जगत् की भी इतर कार्यों से विलक्षणता के कारण कार्यत्व से अतिक्रम क्यों न माना जायगा ? पिशाचादि की तरह जातिविशेष को यदि अदृश्यता में कारण माना जाता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक व्यक्ति में जाति नहीं रहती। जाति तो अनेक में ही रहती है।

फिर आप यह बताइये कि ईश्वर क्षित्यादि का कारण केवल सत्तामात्र से होता है, ज्ञानवत्ता से, ज्ञानेच्छावत्ता से, ज्ञानेच्छापूर्वक व्यापार से, अथवा ऐश्वर्य से ? पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि सत्तामात्र से तो कुलालादि भी क्षित्यादि के कारण हो सकते हैं, क्योंकि सत्ता उनमें भी समान रूप से विद्यमान हैं हो। ज्ञानवत्ता को कारण मानने पर योगियों में भी क्षित्यादिकर्तृकता होगी। 'योगियों में इस तरह का अशेषार्थ का ज्ञान नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस बात को सिद्ध करने वाला कोई सिद्ध हेतु नहीं है। यदि इसे सर्वकर्तृत्व हेतु में दें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि सर्वज्ञत्व की सिद्धि होने पर सर्वकर्तृत्व की और सर्वकर्तृत्व की सिद्धि होने पर सर्वज्ञत्व की सिद्धि होगी। तृतीय पक्ष भी असंगत है, क्योंकि अशरीर के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि का खण्डन किया जा चुका है। चतुर्थ हेतु व्यापारवत्त्व' भी अशरीर में नहीं बनता। व्यापार भी शरीरकृत है या वाणीकृत ? ये दोनों ही अशरीर (शरीर रहित) नहीं बनते। इस तरह का किसी को अनुभव भी नहीं होता कि 'मैं वचन से अथवा शरीर से ईश्वर के द्वारा प्रेरित हूँ'। क्रिया का ही नाम व्यापार है और वह अशरीर में बन सकती नहीं। इन अनुमानों से भी यही सिद्ध होता है कि ईश्वर निर्व्यापार है, क्योंकि वह आकाश की भाँति सर्वगत है, यदि इसको सक्रिय माना जाय तो इसकी अवस्था में परिवर्तन होने से इसमें अनित्यत्व आ जायगा, क्योंकि जो अवस्था से विचलित नहीं होता,

आकाशवत्। सक्रियत्वे चास्यास्तादवस्थ्यादनित्यतापत्तिः, स्वावस्थातोऽविचरद्रूपस्यैवार्थनित्यैकरूपत्वोपपत्तेः। न च परमाणुभिर्व्यभिचारः, तेषामपि परिणामानित्यत्वस्येष्टेः। ईश्वरस्यापि तद्वत्तदिष्टौ अपरबुद्धिमद्धेतुकत्वानुषङ्गादनवस्था। अन्यथा तेनैव कार्यत्वादेर्व्यभिचारः। प्रतिकार्यं चास्य एकदेशेन सर्वात्मना वा व्यापारः? एकदेशेन चेद्यावन्ति कार्याणि तावद्भिरेव ईश्वरावयवैर्भाव्यमिति निरंशप्रतिज्ञा भज्येत। सर्वात्मना व्यापारे यावन्ति कार्य्याणि तावद्धा ईश्वरस्य भेदप्रसङ्गः। किञ्चासौ येनैकेन स्वभावेनैकं कार्यं करोति तेनैव तत्स्थित्यादिकमपि कार्य्यान्तरञ्च, स्वभावान्तरेण वा? यदि तेनैव तदा स्थित्युत्पत्त्यादीनां कार्यान्तराणाञ्च क्रमः वैचित्र्यञ्च न स्यात्, स्वभावभेदे वाऽनित्यत्वम्।

ऐश्वर्यमपि ज्ञातृत्वं कर्तृत्वमन्यद्वा स्यात्? प्रथमेऽपि ज्ञातृत्वमात्रं सर्वज्ञातृत्वं वा? आद्ये ज्ञातैवासौ नेश्वरः, ज्ञातृत्वस्येश्वरत्वाप्रयोजकत्वात्। द्वितीयेऽपि सर्वज्ञत्वमेव नैश्वर्यम्, सुगतादिवत्। यदि कर्तृत्वं तर्हि कुलालादीनामपि तत्प्रसङ्गः स्यात्। नाप्यन्यत्, इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेणान्यस्यैश्वर्यनिबन्धनस्येश्वरेऽभावात्। अथ तयोरेव तन्निबन्धनत्वमिष्यते? नन्वत्रापि ताभ्यां क्रोडीकृतं सर्वं किञ्चिद् वा? सर्वस्य क्रोडीकारे युगपत् सर्वमुत्पद्येत। किञ्चिच्चेत्तर्हि इच्छाप्रयत्नविषयस्य क्रमिकत्वे कथमेकरूपत्वं तयोः स्यात्? किञ्चेष्यमाणार्थावच्छेदेन इच्छोत्पद्यते, न चोत्तरकालभाव्यात्ममनःसंयोगजज्ञानविषयाकारं विना तत्र नियतविषयमात्मानमप्यसौ स्वीकर्तुं समर्थः।

किञ्चास्य सिसृक्षासंजिहीर्षे युगपद्भवतः क्रमेण वा? युगपद्भावे सृष्टिसंहारयोर्यौगपद्यप्रसङ्गः। क्रमेण तद्भावे कारणं वाच्यम्। कारणापेक्षायां नित्यत्वक्षतिः। अथ नित्यमप्यिच्छाप्रयत्नादिकं विचित्रसहकारिसन्निधानात् कार्यवैचित्र्यं

उसी को नित्य कहा जा सकता है। इस हेतु का परमाणु में व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि परमाणु में परिणामानित्यता ही मानी जाती है। ईश्वर में भी परिणामानित्यता मानने पर अपर बुद्धिमद्धेतुकता के साथ उसका सम्बन्ध होने से अनवस्था होने लगेगी। अन्यथा इसीसे कार्यत्व आदि का व्यभिचार होगा। आप यह भी बताइये कि 'प्रत्येक कार्य के साथ इसका व्यापार एक देश से होगा या सर्वांश से?' यदि एक देश से व्यापार होता है तो जितने कार्य हों, उतने ही ईश्वर के अंश होने चाहिये और ऐसा होने पर ईश्वर की निरंशता भंग हो जायगी। सर्वांश से व्यापार मानने पर जितने कार्य हैं, तदनुसार ही ईश्वर भी अनेक मानने पड़ेंगे। फिर यह भी बताइये कि ईश्वर जिस एक स्वभाव से एक कार्य करता है, उसीसे स्थित्यादि कार्यान्तर भी करता है या कार्यान्तर के लिये स्वभावान्तर की आवश्यकता पड़ती है? यदि एक ही स्वभाव से करता है तो स्थिति, उत्पत्ति आदि की कार्यान्तरता, उनका क्रम और वैचित्र्य नहीं बन पावेगा। यदि स्वभाव का भेद माना जाता है, तो ईश्वर में अनित्यता आ जायगी।

ईश्वर का ऐश्वर्य भी क्या ज्ञातृत्व है, कर्तृत्व है या और कुछ? ज्ञातृत्व (ज्ञाता होना) भी केवल ज्ञातृता है या सर्वज्ञातृत्व? प्रथम पक्ष में वह ज्ञाता ही होगा, ईश्वर नहीं, क्योंकि ज्ञातृत्व ईश्वरत्व का साधक नहीं है। द्वितीय पक्ष में भी सुगतादि की तरह सर्वज्ञत्व ही सिद्ध होगा, ईश्वरत्व नहीं। यदि कर्तृत्व (कर्ता होना) ही ऐश्वर्य माना जाता है तो कुलाल आदि में भी इसकी आपत्ति होगी। इससे भिन्न ऐश्वर्य का निमित्त नहीं होगा, क्योंकि इच्छा, प्रयत्न आदि से भिन्न अन्य कोई (कारण) ईश्वर में ऐश्वर्य का कारण नहीं बन सकता। अब यदि इन्हीं को इसका कारण माना जाता है तो यह बताइये कि इनसे सब कुछ सिद्ध हो जाता है या कुछ ही? यदि सब कुछ हो सकता है, तो सबकी उत्पत्ति एक साथ होने लगेगी। यदि सब कुछ की ही सिद्धि होती है तो इच्छा, प्रयत्न आदि की क्रमिकता के कारण उनमें एकरूपता कैसे रहेगी? ऐसा भी देखा गया है कि दिखायी देने वाले विषय के अनुरोध से इच्छा उत्पन्न होती है, किन्तु उत्तर काल में होने वाले आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न ज्ञान के विषय के आकार के बिना वहाँ नियतविषयक आत्मा को भी स्वीकार करने में समर्थ नहीं होता।

यह भी बताइये कि इसकी सिसृक्षा (पैदा करने की इच्छा) और संजिहीर्षा (संहार की इच्छा) एक साथ होती है या क्रम से? एक साथ मानने पर सृष्टि और संहार एक साथ होने लगेंगे। क्रम से होने में कारण बताना पड़ेगा। कारक की अपेक्षा मानने पर ईश्वर की नित्यता नष्ट हो जायगी। अब यदि यह कहा जाय कि नित्य होते हुए भी इच्छा, प्रयत्न आदि विचित्र सहकारी कारणों के संनिधान के कारण कार्य में वैचित्र्य होता है तो इस पर भी यह पूँछा जा सकता है कि ये सहकारी उसके अधीन हैं या नहीं? यदि वे

विदधाति, अथापि ते सहकारिणोऽतदायत्तास्तदायत्ता वा ? प्रथमे तैरेव कार्यत्वादेर्व्यभिचारः। तदायत्तत्वे तदैव ते कुतो न स्युः ? तद्धेतूनामभावादिति चेत्तेऽपि तदायत्तास्तद्विपरीता वा ? इत्यादिदूषणमेव। ते सहकारिण उपकारका न वा ? अनुपकारकत्वे कथं सहकारिणः, अतिप्रसङ्गात्। उपकारकत्वेऽस्य परिणामित्वम्, तत्कृतोपकारस्याऽनर्थान्तरत्वात्। अर्थान्तरत्वे तस्येति व्यपदेशो न स्यात्। तेनाप्युपकारान्तरकरणेऽनवस्था।

किञ्चेश्वरस्य जगन्निर्माणे यथारुचि प्रवृत्तिः, कर्मपारतन्त्र्येण, करुणया, धर्मादिप्रयोजनोद्देशेन, कीडया, निग्रहानुग्रहविधानार्थं वा, स्वभावतो वा ? प्रथमे कदाचिदन्यादृश्यपि सृष्टिः स्यात्। कर्मपारतन्त्र्ये स्वातन्त्र्यहानिः। यदि करुणया, तर्हि सर्वानप्यभ्युदयेन युञ्ज्यात्, न च कश्चिद्दुःखी स्यात्। यच्चाभ्युदयकामनयैव तानि तानि कर्माण्यनुभावयतीति, तदपि प्रक्षालिताशुचिमोदकत्यागन्यामनुहरति। यदपि पूर्वार्जितैः कर्मभिरेव वशीकृता जीवा दुःखिनो भवन्ति, तर्हि तस्य कः पुरुषकारः ? कर्मणामुपभोगेनैव प्रक्षयोपपत्तेः। अदृष्टापेक्षस्य कर्तृत्वे किं तत्कल्पनया ? कल्पितोऽपि तदधीनश्चेद् जगदेव तदधीनमस्तु, किमन्तर्गडुना तेन ? अथ धर्मादिप्रयोजनमुद्दिश्यायं प्रवर्तते, कथमसौ कृतकृत्यः ? क्रीडासद्भावे कथं वीतरागता ? परपुरुषश्चेश्वरो बालग्रहिलवत् क्रीडतीति चित्रम् ? निग्रहानुग्रहप्रदत्वेऽपि कथं वीतरागद्वेषता ? अथ स्वभावतोऽसौ प्रवर्तते, यथा आदित्यः प्रकाशस्वभावत्वात् प्रकाशयति, तर्हि चैतन्यस्य सतोऽप्यकिञ्चित्करत्वाज्जगतोऽचेतनस्यापि स्वभावतः प्रवृत्ति-

अधीन नहीं है तो इसीसे कार्यत्व आदि हेतु व्यभिचरित हो जायंगे। यदि वे ईश्वर के अधीन हैं तो उसी समय वे क्यों नहीं हो जाते। यदि यह कहा जाय कि उस समय उनके हेतु की अविद्यमानता के कारण ऐसा नहीं होता, तो फिर यह बताइये कि वे हेतु भी ईश्वर के अधीन हैं या नहीं ? दोनों ही पक्षों में उक्त दोष ही पुनः उपस्थित होंगे। ये सहकारी भी कोई आकार वाले हैं या नहीं ? यदि आकारी नहीं हैं, तो भी उनको सहकारी मानने पर अतिप्रसंग होगा। उपकारक मानने पर उसमें परिणामिता माननी पड़ेगी, क्योंकि उनके द्वारा कृत उपकार भी उससे भिन्न अर्थ तो है नहीं। यदि उसको भिन्न विषयक माना जाता है तो उसका अभिन्न रूप से व्यपदेश कैसे होगा ? यदि यह कहा जाय कि वह भी दूसरे उपकार को करेगा तो इसमें अनवस्था दोष होगा।

यह भी प्रश्न उठता है कि ईश्वर की जगत् के निर्माण में प्रवृत्ति अपनी रुचि के अनुसार होती है ? कर्म की परतन्त्रता के कारण होती है ? करुणा से ? धर्मादि प्रयोजनों के उद्देश्य से ? क्रीडा से ? निग्रह और अनुग्रह करने के लिये होती है ? या स्वभाव से ही होती है ? रुचि के अनुसार सृष्टि मानने पर कभी भिन्न प्रकार की भी सृष्टि होनी चाहिये। कर्म की परतन्त्रता के कारण ईश्वर की सृष्टि में प्रवृत्ति मानने पर ईश्वर में स्वातन्त्र्य की हानि होगी। यदि करुणा से प्रेरित होकर ईश्वर सृष्टि करता है तो वह सबको अभ्युदय से ही संयुक्त करेगा, तब कोई दुःखी नहीं रहेगा। यह कहना कि अभ्युदय की कामना से ही वह जीव को सब तरह के कर्मों का अनुभव कराता है, तो यह कथन अपवित्र मोदक को पहले धोना और बाद में उसके त्यागने के समान है। यदि पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार जीव दुःखी होते हैं, ऐसा माना जाय, तो फिर इसमें ईश्वर का क्या पुरुषार्थ हुआ ? जब कि कर्मों का क्षय उपभोग से ही होना है। जीवों के अदृष्ट की अपेक्षा रखकर ही यदि ईश्वर में कर्तृत्व है तो फिर ईश्वर की कल्पना से क्या लाभ ? ईश्वर की कल्पना के बाद भी यदि वह अदृष्ट के अधीन ही है तो फिर यह जगत् अदृष्ट के अधीन ही क्यों न पैदा हुआ मान लिया जाय ? बीच में निरर्थक ईश्वर को स्वीकार करने से क्या लाभ ? अब यदि यह कहा जाय कि 'धर्मादि प्रयोजन के उद्देश्य से ईश्वर जगत् की सृष्टि में प्रवृत्त होता है', तो फिर उसको कृतकृत्य कैसे कहा जा सकता है ? यदि वह क्रीडा करना चाहता है तो वीतराग कैसे कहलायगा ? 'परम पुरुष ईश्वर बालक की तरह क्रीडा में आग्रह रखता है, यह भी एक विचित्र ही कल्पना है। यदि निग्रह और अनुग्रह के लिये वह सृष्टि करता है, तो उसको राग और द्वेष से रहित कैसे कहा जा सकता है ? यदि यह कहा जाय कि 'सृष्टि करना उसका स्वभाव है, जैसे सूर्य का यह स्वभाव है कि वह सब वस्तुओं को प्रकाशित करता है', तो ईश्वर में चैतन्य की सत्ता के रहते भी जब उसका कोई उपयोग नहीं है, तो इस स्थिति में अचेतन जगत् की ही स्वभावतः प्रवृत्ति क्यों न मान ली जाय ? उसके अधिष्ठाता की कल्पना से क्या लाभ ? 'अचेतन की स्वभावतः प्रवृत्ति मानने पर देश, काल आदि का नियम कैसे बनेगा और कार्य के निष्पन्न हो जाने के बाद भी उसकी प्रवृत्ति क्यों नहीं होगी ?' इस

रस्तु, किमधिष्ठातृकल्पनया ? कथमचेतनस्य देशादिनियमः ? कथञ्च निष्पन्नेऽपि वा कार्य्ये प्रवृत्तिर्न स्यादित्यन्यत्रापि समानम्, नित्यादिस्वभावस्येश्वरस्यापि तद्दोषप्रतिपादनात्।

बुद्धिमत्त्वञ्चास्य अनित्यया बुद्धया नित्यया वा ? न नित्यया, तस्या अनुमाने बाधप्रतिपादनात्। नानित्यया, तस्याः कारणानिरूपणात्। तथाहि—इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्, समाधिविशेषात्, तदुत्थधर्ममाहात्म्यात्, अनुध्यानमात्राद्वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः, अशरीरस्यान्तःकरणाद्यभावात्, मुक्तात्मवत्। उत्पत्तौ च न सर्वज्ञता, तज्जनितज्ञानस्य नियतविषयत्वात्। अचेतनाश्चक्षुरादयः केनचिदधिष्ठितास्तज्ज्ञानं जनयन्ति, अनधिष्ठिता वा ? यदि प्रथमस्तदा जगदप्यनधिष्ठिताः परमाणवो जनयन्तु, किमधिष्ठातृकल्पनया ? अथाधिष्ठितास्तदापि तेनैवाधिष्ठात्रन्तरेण वा ? अधिष्ठात्रन्तरेण चेत्, अनवस्था। तेनैव चेत्, चक्रकम्। तथाहि ज्ञाताः सन्तस्ते प्रेर्य्यन्ते, प्रेरिताश्च ज्ञानं जनयन्ति, जनितज्ञाना ज्ञाता भवन्ति। समाधिविशेषोऽनुध्यानञ्च ज्ञानविशेष एव, तस्याद्याप्यसिद्धेः। कथं स्वस्मादेव स्वस्योत्पत्तिः ? अत एव तदुत्थधर्मस्यापि न सिद्धिः, अशरीरस्य मुक्तात्मवत् समाधिविशेषादिकं न सम्भवति। अथ नित्यानित्यबुद्धिविशेषानपेक्ष्यबुद्धिसामान्येन तत्र तद्वत्ता, तदप्यसारम्, द्वितीयविशेषस्यासम्भवात्, अनित्यस्यैव ज्ञानस्य दर्शनात्।

कथञ्चिद्बुद्धिमत्त्वेऽपि शास्त्राणां प्रमाणेतरव्यवस्थाविलोपः। सर्वं शास्त्रं प्रमाणमेव स्यात्, ईश्वरप्रणीतत्वात्, तत्प्रणीतप्रसिद्धशास्त्रवत्। प्रतिवाद्यादिव्यवस्थालोपश्च, सर्वेषामीश्वरादेशविधायित्वात्। आदेशविधायिनाञ्च प्रतिलोमाचरणविरोधात्। संसारविलोपश्च। ईश्वरव्यापारात् पूर्वं तनुकरणाद्यभावतः सकलात्मगुणानां बुद्धयादीनामप्यभावाद् मुक्तैव

तरह की आपत्तियाँ समान रूप से दोनों ही जगह उठ सकती हैं, क्योंकि नित्यादि स्वभाव परमेश्वर में भी ये ही दोष समान रूप से प्रतिपादित किये जा सकते हैं।

ईश्वर का बुद्धिमत्त्व भी अनित्य बुद्धि के कारण होगा या नित्य बुद्धि के कारण ? नित्य बुद्धि से नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान के द्वारा नित्य बुद्धि का बाध सिद्ध किया जा चुका है। अनित्य बुद्धि से भी बुद्धिमत्त्व ईश्वर में सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं बताया गया है। जैसे कि यह अनित्य बुद्धि ईश्वर में इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से होगी, समाधि विशेष से, ईश्वर से उत्पन्न धर्म विशेष से, अथवा केवल ईश्वर के अनुध्यान मात्र से ? इनमें पहला पक्ष इसलिये अयुक्त है कि अशरीर ईश्वर में मुक्तात्मा के समान ही अन्तःकरण का ही अभाव है ? फिर बुद्धि कहाँ से आयेगी। उत्पत्ति मानने पर ईश्वर में सर्वज्ञता नहीं बन पायेगी, क्योंकि उत्पन्न ज्ञान का विषय तो नियत है। आप यह भी बताइये कि सचेतन चक्षुरादि इन्द्रियाँ किसी से अधिष्ठित होकर ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, या अनधिष्ठित ? यदि अनधिष्ठित होकर ही ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, तो अनधिष्ठित परमाणु ही जगत् की सृष्टि क्यों नहीं कर देते। फिर वहाँ भी अधिष्ठाता की कल्पना से क्या लाभ ? अब यदि अधिष्ठित होकर इन्द्रियाँ ज्ञान को उत्पन्न करती हैं तो वह अधिष्ठाता ईश्वर ही है, या उससे भिन्न ? उससे भिन्न अधिष्ठाता मानने पर अनवस्था होगी। उसी को अधिष्ठाता मानने पर चक्रक दोष होगा। जैसे कि ज्ञात होने पर वे प्रेरित होते हैं, प्रेरित होकर ज्ञान को पैदा करते हैं, ज्ञान के उत्पन्न होने पर वे ज्ञात होते हैं और ज्ञात होने पर वे प्रेरित होते हैं। समाधि विशेष और अनुध्यान भी ज्ञान का एक प्रकार ही है और उस ज्ञान ही को तो अभी सिद्ध करना है। अपने से ही अपनी उत्पत्ति भी कैसे होगी ? इसीलिये ईश्वर से उत्पन्न धर्म की भी सिद्धि नहीं होगी। अशरीर ईश्वर में मुक्तात्मा के समान ही समाधि आदि अवस्थाओं की उत्पत्ति संभव नहीं है। अब यदि यह माना जाय कि नित्य और अनित्य बुद्धिविशेष की अपेक्षा के बिना ही सामान्य बुद्धि से ईश्वर में बुद्धिमत्व माना जायगा, तो यह भी सारहीन बात है, क्योंकि बुद्धि में नित्यता रूप वैशिष्टच की संभावना ही नहीं है, वह तो सदा अनित्य ही रहती है।

किसी प्रकार ईश्वर में बुद्धिमत्व मान भी लिया जाय तो शास्त्रों की प्रामाण्य और अप्रामाण्य व्यवस्था का लोप हो जायगा। उस अवस्था में सभी शास्त्रों को प्रमाण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि ये सभी ईश्वर-प्रणीत हैं, जैसे कि वेदादि प्रसिद्ध शास्त्र ईश्वर के द्वारा प्रणीत हैं। ऐसा मानने पर प्रतिवादी शास्त्र कोई नहीं रह जायगा, क्योंकि सभी ईश्वर के आदेश का अनुसरण करते हैं। जो ईश्वर के आदेश का अनुसरण करते हैं, वे विपरीत आचरण कैसे कर सकते हैं ? ऐसा मानने से संसार के ही लोप की आपत्ति भी उठेगी, क्योंकि

सर्वेषाम्। संसारविधाने प्रवृत्तोऽसौ तदभावं विदधातीति महती प्रेक्षापूर्वकारिता ! ततो योगोपकल्पितस्येश्वरस्य जगज्जनकत्वासम्भवान्नातः सर्वज्ञतासिद्धिः।

अत्र नैयायिकादयो नैतत्क्षमन्ते। तथाहि क्षित्यादिकार्य्यं तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकं, कार्यत्वात्, घटादिवदिति सामान्यतोदृष्टमनुमानं प्रभवत्येव सर्वज्ञपरमेश्वरसाधने। ननु कार्यत्वमसिद्धमित्युक्तमिति चेन्न, सन्निवेशविशिष्टस्य कार्यत्वे बाधाभावात्। प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यत्वम्। पृथिव्येकदेशस्य पर्वतादेः प्रागभावदर्शनेन पृथिव्यादेरपि प्रागभावो निश्चेतुं शक्यते। अवस्थावत्त्वं विकारित्वञ्च कार्यत्वं सम्भवति। न चेश्वरे तदतिव्याप्तम्, कूटस्थस्य तस्य सर्वावस्थासर्वविकारातीतत्वात्। न च कर्तृत्वमपि विकार एवेति वाच्यम्, नित्यज्ञानात्मसङ्कल्पमात्रेणैव तत्कर्तृत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। अयस्कान्तादीनां निर्विकारत्वेऽपि लौहप्रवर्तकत्वादिदर्शनेन परमेश्वरेऽपि तथात्वकल्पने बाधाभावात्। विनश्वरत्वमपि कार्यत्वलक्षणम्। न च क्षित्यादौ तदसिद्धम्, तदेकदेशस्य विनाशदर्शनेन क्षित्यादीनामपि तदनुमानसम्भवात्।

अपि च न चार्वाकः क्षित्यादीनां कार्यत्वासिद्धिं वक्तुं शक्नोति। यो वेदरचनाया इतररचनाविलक्षणाया अपि कार्यत्वमुपगच्छति, स क्षित्यादीनां कार्यत्वं कथमपह्नोतुं शक्नोति।

मीमांसकोऽपि नैवं वक्तुं शक्नोति, यतः सोऽप्येवमाह—'येषामप्यनवगतोत्पत्तीनां रूपमुपलभ्यते तन्तुव्यतिषक्तजनितोऽयं पटः, तद्व्यतिसङ्गविमोचनात् तन्तुविनाशाद्वा निनङ्क्ष्यतीति कल्प्येत, एवमवयवसंयोगनिर्वर्त्यमानवपुषः क्षिति-

ईश्वर के व्यापार से पहले शरीर, इन्द्रिय आदि के अभाव में सभी बुद्धि आदि आत्मगुणों की भी सत्ता न रहने से सारा जगत् मुक्त ही माना जायगा। इस प्रकार संसार की रचना में प्रवृत्त हुआ ईश्वर उसके अभाव में ही कारण बनता है, यह ईश्वर की अच्छी बुद्धिमत्ता, प्रेक्षापूर्वकारिता सिद्ध हुई ! इसलिये योगशास्त्र के द्वारा उपकल्पित ईश्वर जगत् का कारण नहीं सिद्ध हो सकता, फलतः उसमें सर्वज्ञता भी सिद्ध न होगी।

किन्तु उक्त प्रतिपादन से नैयायिक आदि दार्शनिक सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'पृथिवी आदि कार्य, उनकी उत्पत्ति के प्रकार, प्रयोजन आदि से अभिज्ञ कर्ता के द्वारा ही निष्पन्न हुआ है, क्योंकि यह भी घटादि के समान ही कार्य है' यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान सर्वज्ञ परमेश्वर की सिद्धि में समर्थ है। पहले यह जो कहा गया है कि 'कार्यत्व हेतु असिद्ध है', वह इसलिये गलत है कि संनिवेशविशिष्ट की कार्यता में कोई बाधक हेतु नहीं है। प्रागभाव का प्रतियोगी कार्य कहलाता है। पृथिवी के एकदेश पर्वतादि के प्रागभाव को देखकर पृथिव्यादि के प्रागभाव का भी निश्चय किया जा सकता है। अवयवत्व और विकारित्व कार्य में रहते हैं। कार्य के ये लक्षण ईश्वर में नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर तो कूटस्थ है, वह सभी अवस्थाओं और विकारों से अतीत है। कर्तृत्व को भी विकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि नित्यज्ञानात्मक संकल्पमात्र से ईश्वर की कर्तृता का प्रतिपादन किया जाने वाला है। लौह के आकर्षण करने में अयस्कान्त (चुम्बक) मणि में जैसे कोई विकार नहीं होता, उसी तरह से परमेश्वर में भी कर्तृत्व व्यापार के रहते भी क्यों कोई विकार होगा ? विनश्वरता भी कार्य का लक्षण है। यह लक्षण क्षित्यादि में असिद्ध नहीं है, क्योंकि (भूकम्प आदि से) क्षित्यादि के एक देश के विनाश को देखकर पूरी पृथ्वी के विनाश का भी अनुमान किया जा सकता है।

दूसरी बात यह भी है कि चार्वाक प्रभृति दार्शनिक यह नहीं सिद्ध कर सकते कि क्षित्यादि में कार्यता की सिद्धि किसी प्रकार से नहीं हो सकती। अन्य रचनाओं से विलक्षण वेद की रचना को जब वह कार्य मानता है, तो वह क्षित्यादि को कार्य मानने से कैसे मुकर सकता है ?

मीमांसक भी इस बात को सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि उनका कहना है कि क्षित्यादि की उत्पत्ति यद्यपि अवगत नहीं है, तो भी उनके स्वरूप की अवगति हमको है ही। इस परिस्थिति में यह पट तन्तुओं के ताने-बाने से बना है, इस ताने-बाने को तोड़ देने से अथवा तन्तु के विनाश से जैसे पट का विनाश हो जाता है, उसी तरह से अवयवसंयोग के अलग होने पर क्षित्यादि के

धरादेरपि नाशसंप्रत्ययः सम्भवत्येव। दृश्यते च क्वचिद्विनाशप्रतीतिः। प्रावृषेण्यजलधारासारनिर्लुठित एव पर्वतैकदेशो पर्वतखण्डः पतित इति। वस्तुगतयोश्च कार्यत्वविनाशित्वयोः समव्याप्तिकता वार्त्तिककृताऽप्युक्तैव—

तेन यत्राप्युभौ धर्मौ व्याप्यव्यापकसम्मतौ।
तत्रापि व्याप्यतैव स्यादङ्गं न व्यापिता मितौ॥' (श्लो० वा० अनु० ९)

तस्माद्विनाशित्वेनापि कार्यत्वानुमानात्तन्मतेऽपि न कार्यत्वमसिद्धम्।

नापि बौद्धस्तदसिद्धिं वक्तुं शक्नोति, यतस्तन्मते नित्यो नाम पदार्थः प्रणयकेलिष्वपि न विषह्यते। नाप्यार्हतस्तन्मतेऽपि, कूटस्थनित्यतानभ्युपगमात्। अत एव स आत्मनोऽपि परिणामित्वमभ्युपैति। परिणामिनित्यत्वस्य कार्यत्वाविरोधात् सन्निवेशविशिष्टत्वस्य प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानत्वान्न तत्र विप्रतिपत्तिः।

यदुक्तं कादाचित्कं वस्तु लोके कार्यत्वेन प्रसिद्धमित्यादि, तदपि न सङ्गतम्, जगदेकदेशस्य सृष्टिप्रलयादिदर्शनेन जगतोऽपि तदनुमानेन तस्यापि कादाचित्कत्वानपायात्। महेश्वरान्तर्गतबुद्ध्यादीनां कार्यत्वेन महेश्वरस्य कार्यत्वानुमानं तु दूरापास्तम्, तद्बुद्ध्यादीनामपि नित्यत्वाभ्युपगमात्। न च पाकजरूपादीनां परमाण्वेकदेशत्वम्, परमाणूनां प्रदेशवत्त्वानभ्युपगमात्।

ईश्वरसिद्धौ नैयायिकादिरीत्याऽनुमानानि

नन्वीश्वरे न बहिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्, तस्य रूपादिशून्यत्वेनातीन्द्रियत्वात्। न वान्तरं प्रत्यक्षम्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्। न चेश्वरस्यात्मत्वान्मनसा स्वात्मप्रत्यक्षवदेव तत्प्रत्यक्षं भवत्विति वाच्यम्, आत्ममानसप्रत्यक्षं प्रति परात्मकवृत्ति-

भी विनाश का अनुमान हम कर ही सकते हैं। इस विनाश की प्रतीति कभी कभी हमको होती भी है। वर्षा की बाढ़ के थपेड़ों से पर्वत के किसी एक देश के लुढ़क पड़ने पर कहा जाता है कि यह पर्वत खण्ड लुढ़क पड़ा। यह बात वार्तिककार ने भी स्वीकार की है कि सभी वस्तुओं में कार्यत्व और विनाशित्व समान रूप से रहते हैं—"इसलिये जहाँ पर दोनों धर्म व्याप्य और व्यापक रूप में अंगीकृत हैं, वहाँ पर भी अंग की व्याप्यता ही सिद्ध होगी, अनुमिति की व्यापकता नहीं'। इस प्रकार विनाशित्व हेतु से भी कार्यत्व का अनुमान हो सकता है, अतः मीमांसक के मत में भी कार्यत्व असिद्ध नहीं है।

बौद्ध भी कार्यत्व को असिद्ध नहीं कह सकता, क्योंकि उनके मत में तो प्रणय-केलि में भी कोई नित्य पदार्थ नहीं सहन किया जा सकता। जैन भी कार्यत्व को असिद्ध नहीं मान सकते, क्योंकि वे कूटस्थ नित्यता को स्वीकार करते ही नहीं। इसीलिये जैन दार्शनिक आत्मा को भी परिणामी मानते हैं। परिणामी नित्यता का कार्यत्व से कोई विरोध नहीं है और क्षित्यादि का संनिवेश, अवयव संस्थान प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः यहाँ पर इनकी कार्यता को मानने में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है?

यह कहा गया है कि 'लोक में जिसकी कदाचित् प्रसिद्धि होती है, उसी वस्तु की कार्यता मानी जाती है' इत्यादि। किन्तु यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि जगत् के एकदेश में सृष्टि, प्रलय आदि की जब प्रतीति होती है तो उसी अनुमान से जगत् के भी सृष्टि और प्रलय के सिद्ध हो जाने से जगत् की भी कादाचित्कता सिद्ध है ही। महेश्वर में रहने वाली बुद्धि की कार्यता के कारण महेश्वर की कार्यता का अनुमान करना बहुत दूर की बात है, क्योंकि महेश्वर के बुद्धि आदि गुणों की भी नित्यता ही मान्य है। पाकज रूप आदि की परमाणुगत एकदेशता भी मान्य नहीं है, क्योंकि परमाणुओं की प्रदेशवत्ता को हम स्वीकार नहीं करते।

ईश्वर की सिद्धि में नैयायिकों के अनुमान

ईश्वर विषयक पूर्वपक्ष का आरम्भ इस प्रकार होता है कि—ईश्वर में 'बाह्य अर्थात् इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर रूप आदि से रहित होने के कारण अतीन्द्रिय है। उसमें आन्तर प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं हो सकता, अर्थात् मन से भी ईश्वर का

१. रूपवान् वस्तु का ज्ञान ही नेत्रों से हो सकता है। स्पर्श अथवा स्पर्शवान् वस्तु का ज्ञान त्वगिन्द्रिय से हो सकता है। रस और रसवान् वस्तु का ज्ञान रसनेन्द्रिय से हो सकता है। गन्ध का ज्ञान ही नासिका से हो सकता है। शब्द का

विजातीयमनःसंयोगत्वेन मनसः कारणत्वाभ्युपगमात् । अन्यथा परेण मनसा परात्मप्रत्यक्षत्वापत्तेः । नाप्यनुमानं तत्र क्रमते । ईश्वरस्याप्रत्यक्षतया तस्य केनचिल्लिङ्गेन सहचारदर्शनाभावेन व्याप्तिग्रहासम्भवात् । नापि तत्रागमः प्रमाणम्, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—स किं नित्योऽनित्यो वागमस्तद्गमकः ? नाद्यः, नैयायिकादिभिस्तदनङ्गीकारात् । नान्त्यः, ईश्वरसिद्धौ तदुक्तत्वेन वेदप्रामाण्यम्, तत्प्रामाण्येन चेश्वरसिद्धिरिति परस्पराश्रयत्वापातात् । वेदानामीश्वरनिर्मितत्वेन गुणवद्वक्तृकत्वेन प्रामाण्यस्य वक्तव्यतयेश्वरसन्देहेन तत्प्रामाण्यस्यापि सन्दिग्धत्वाच्च । नाप्युपमानम्, तत्तुल्यस्याभावेन सादृश्यज्ञानासम्भवात् । तस्मान्नेश्वरः प्रमाणसिद्ध इति चेन्न, 'विमतं भूधरसागरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्' इत्याद्यनुमानानां तत्र प्रामाण्यसम्भवात् । न च हेत्वसिद्धिः, सावयवत्वेन तत्सिद्धेः ।

प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि मन की विषय के प्रति प्रवृत्ति इन्द्रियों के माध्यम से ही होती है । मन इन्द्रियों के द्वारा ही बाहर की वस्तुओं का ज्ञान करता है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर तो आत्मा ही है, अतः मन से मन के ही प्रत्यक्ष ज्ञान के समान और आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह ही ईश्वर का भी प्रत्यक्ष हो जायगा, क्योंकि आत्मा के मन से होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान में अपने से भिन्न रूप में न रहने वाला विजातीय मन का संयोग ही कारण माना जाता है । मन की कारणता भी मनः संयोग रूप से ही है, क्योंकि ऐसा न माना जाय तो दूसरे के मन से दूसरे की आत्मा के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । अनुमान से ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर के प्रत्यक्ष न होने से उसका किसी लिंग हेतु से सहचार दर्शन न हो पाने से [1]व्याप्तिग्रह नहीं बन सकता । आगम (शब्दशास्त्र) भी इसमें प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि आगे किये जाने वाले विकल्प का हमारे पास कोई उत्तर नहीं है । जैसे कि जो आगम (शास्त्र) ईश्वर में प्रमाण है, वह नित्य है या अनित्य ? प्रथम पक्ष कि आगम नित्य है, इसलिये नहीं बनेगा कि नैयायिक प्रभृति दार्शनिकों को आगम की नित्यता स्वीकार नहीं है । अनित्य आगम पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि ईश्वर की सिद्धि होने पर ही ईश्वरोक्त होने के कारण आगम का प्रामाण्य माना जा सकेगा और तब प्रामाणिक (शास्त्र) के प्रामाण्य से ईश्वर की सिद्धि होगी । यहाँ इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होता है । वेदों को ईश्वर निर्मित मानने पर भी गुणवान् वक्ता की भी शब्द के प्रामाण्य के प्रति कारणता माननी ही पड़ेगी । इस स्थिति में ईश्वर के सन्देह रहने पर तन्निर्मित वेद का प्रामाण्य भी संदिग्ध ही रहेगा । उपमान भी ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर के तुल्य अन्य किसी व्यक्ति का अभाव होने से सादृश्य का ज्ञान ही संभव नहीं है । इसलिये ईश्वर प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता ।इस विस्तृत पूर्वपक्ष का संक्षिप्त समाधान यह है कि 'विवादास्पद भूधर, सागर आदि सकर्तृक हैं, क्योंकि ये भी घट के समान

ज्ञान ही श्रोत्र । (कान) से हो सकता है । ईश्वर तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन सबसे रहित है, अतः किसी भी इन्द्रिय से ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता ।

१. अनुमान ज्ञान का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान से बार बार धुआ और अग्नि को साथ ही साथ देखते हैं, तब यह निश्चय होता है कि जहाँ-जहाँ धुआ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य रहती है । अग्नि के बिना धुआ नहीं रहता । यदि धुआँ अग्नि के बिना भी रहता हो, तो जहाँ तालाब आदि में अग्नि नहीं है, वहाँ भी धुआ मिलना चाहिये । अतः धुआ अग्नि के साथ ही रहता है, उसे छोड़कर नहीं । इस बात का निश्चय हो जाने पर जहाँ-जहाँ धुआँ है (अविच्छिन्न मूल); वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है, जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धुआ भी नहीं है; यह भी निश्चय हो जाता है । शास्त्रों में इसी को व्याप्ति ज्ञान कहते हैं । यह अनुमान का मूल है । इसके बिना अनुमान नहीं हो सकता । अनुमान के मूल इस व्याप्ति ज्ञान का मूल प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि जब धुआ और अग्नि को एक साथ प्रत्यक्ष देखेंगे, तभी तो ऐसा निश्चय होगा । अनुमान से ईश्वर को जानने के लिये अनुमान का मूल व्याप्ति ज्ञान चाहिये । व्याप्ति ज्ञान में जिसको सिद्ध करना है, उस साध्य अग्नि आदि के साथ उसके साधक धुआँ आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान चाहिये । वह भी बार बार । ईश्वर की अनुमान से सिद्धि करें तो ईश्वर रूप साध्य और उसके साधन किसी हेतु का पहले बार बार एक साथ देखना आवश्यक है, किन्तु यह सर्वथा असंभव है । इसलिये ईश्वर का अनुमान से ज्ञान नहीं हो सकता ।

ननु सावयवत्वं किमवयवसंयोगित्वम् (१), अवयवसमवायित्वम् (२), अवयवजन्यत्वम् (३), समवेतद्रव्यत्वम् (४), सावयवबुद्धिविषयत्वं वा (५)। तत्र न प्रथमः, आकाशादावनैकान्त्यात्। न द्वितीयः, सामान्यादौ व्यभिचारात्। न तृतीयः, साध्याविशिष्टत्वात्। न चतुर्थः, विकल्पासहत्वात्। तस्य समवायसम्बन्धमात्रवद् द्रव्यत्वे गगनादौ व्यभिचारः, तस्यापि गुणादिसमवायवत्त्वद्रव्यत्वयोः सम्भवात्, समवेतद्रव्यत्वे साध्याविशिष्टत्वात्, अन्यसमवेतत्वेऽप्यन्यपदार्थेष्ववयवेषु समवायस्य साधनीयत्वात्। एवं सावयवत्वा निरुक्त्या सावयवत्वेन कार्यत्वासिद्धचा हेत्वसिद्धिध्रौव्यादिति चेन्न, समवेतद्रव्यत्वस्य सावयवत्वोपपत्त्या सावयवत्वेन क्रियावत्त्वेनावान्तरमहत्त्वेन वा कार्यत्वानुमानस्य सुकरत्वेन हेतुसिद्धेर्निष्प्रत्यूहत्वात्। न च विरुद्धो हेतुः, साध्यविपर्ययव्याप्तेरभावात्। नाप्यनैकान्तिकः, पक्षादन्यत्र वृत्तेरदर्शनात्। न वा कालात्ययापदिष्टः, वाधकानुपलम्भात् नापि। सत्प्रतिपक्षः, तत्प्रतिभटादर्शनात्।

ननु भूधरसागरादिकमकर्तृकम्, शरीराजन्यत्वात्, गगनवद् इत्यस्त्येव सत्प्रतिपक्षानुमानमिति चेन्न, अप्रयोजकत्वात्। तथाहि—शरीराजन्यत्वं यदि कर्त्रजन्यत्वव्यभिचारि स्यात् तर्हि किं स्यादिति व्यभिचारशङ्कानिवर्तकतर्काभावेन

कार्य हैं' इस तरह के अनुमानों से ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है। यहाँ पर कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि भूधर आदि की सावयवता के कारण उनकी कार्यता माननी ही पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ अवयव वाले होते हैं, वे सब पैदा होने वाले ही होते हैं और पैदा होने वाले पदार्थों का कोई न कोई कर्ता भी अवश्य होता है। पर्वत, समुद्र, सूर्य, चन्द्र आदि संपूर्ण विश्व के वे पदार्थ, जिनका बनाने वाला कोई है या नहीं ऐसा संदेह होता है, निश्चित ही अवयव वाले हैं और अवयव वाले होने के कारण किसी के बनाये हुए भी हैं। जगत् में तो उनका कोई बनाने वाला है नहीं, अतः ईश्वर ही उनका बनाने वाला है, यह सिद्ध हो गया।

पूर्वपक्षी शंका करता है कि यह सावयवत्व क्या है? यह अवयवसंयोगित्व है, अवयवसमवायित्व है, अवयवजन्यत्व है, समवेतद्रव्यत्व है अथवा सावयवबुद्धिविषयत्व है? इनमें से प्रथम अवयवसंयोगित्व को सावयवत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा होने पर हेतु व्यभिचार दोष से दूषित हो जायगा। आकाश अवयवों से रहित है, अतः उसे कार्य भी नहीं कहा जा सकता और जब वह कार्य नहीं हैं, तो उसे ईश्वरनिर्मित भी नहीं कहा जा सकता। अवयवसमवायित्व भी सावयवत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सामान्यादि में व्यभिचार होगा। सामान्यादि में कार्यता के अभाव में भी अवयवसमवायित्व हेतु रहता है। अवयवजन्यत्व भी सावयवत्व नहीं कहला सकता, क्योंकि यह हेतु साध्य (कार्यत्व) के समान ही है। समवेतद्रव्यत्व को भी सावयवत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ पर भी आगे दिये गये विकल्प का कोई उत्तर नहीं बनता। समवेतद्रव्यत्व से यदि केवल समवाय सम्बन्ध वाले द्रव्य को लिया जाय तो गगनादि में व्यभिचार होगा, क्योंकि आकाश में भी शब्द गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है और द्रव्यत्व भी, अतः वह समवाय वाला द्रव्य तो हो गया, किन्तु उसमें कार्यत्व आप नहीं मानते। इसलिये व्यभिचार होगा। अब यदि केवल समवेत द्रव्य का इससे ग्रहण किया जाता है तो वह भी साध्य के समान ही हो जायगा, क्योंकि अन्य में समवेत होने पर भी अन्य पदार्थ के रूप में कल्पित अवयवों में समवाय को अभी सिद्ध करना ही पड़ेगा। सावयवबुद्धिविषयता भी सावयवत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि जैन दार्शनिकों के द्वारा स्वीकृत आत्मा सावयव बुद्धि का विषय तो है, किन्तु उसमें कार्यत्व नहीं माना जाता। अतः व्यभिचार होगा। इस प्रकार सावयवत्व की व्याख्या न हो पाने से सावयवत्व हेतु से कार्यत्व की सिद्धि भी निश्चित ही नहीं होगी, तब हेतु की असिद्धि को आप कैसे रोक सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि समवेतद्रव्यत्व से सावयवत्व की उपपत्ति बन सकती है, अतः सावयवत्व, क्रियावत्व अथवा अवान्तर महत्त्व आदि से कार्यत्व का अनुमान सरलता से हो जाने से हेतु की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है। यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि साध्य से उलटी इसकी व्याप्ति नहीं है। अनैकान्तिक (व्यभिचारी) भी नहीं है, क्योंकि पक्ष के सिवाय अन्यत्र इसकी स्थिति नहीं हैं। यह कालात्ययापदिष्ट (बाधित) भी नहीं है, क्योंकि इसका कोई बाधक उपलब्ध नहीं होता। यह हेतु सत्प्रतिपक्ष भी नहीं है, क्योंकि इसका कोई प्रतिपक्षी हेतु परिदृष्ट नहीं है।

पूर्वपक्षी का यह कहना कि 'भूधर, सागर प्रभृति अकृत्रिम है, क्योंकि आकाश आदि की तरह ये भी शरीर से उत्पन्न नहीं हुए हैं, इस तरह से आपके अनुमान का हेतु सत्प्रतिपक्ष है', यह कथन इसलिये गलत है कि यह अप्रयोजक है। अर्थात् अनुकूल तर्क

व्याप्त्यनिश्चयेन तस्याकिञ्चित्करत्वात्। अजन्यत्वस्यैवाकर्तृकत्वसाधनसमर्थतया शरीरविशेषणस्य व्यर्थत्वाच्च। न चाजन्यत्वमेवास्तु विशेषणत्वमिति वाच्यम्, व्यभिचारावारकस्य विशेषणत्वासिद्धेः।

ननु यत्र यत्र सकर्तृकत्वं तत्र तत्र शरीरजन्यत्वमिति शरीरजन्यत्वस्य साध्यव्यापकत्वेन कार्यत्वाधिकरणे भूधर-सागराङ्कुरादौ तदभावेन साधनाव्यापकत्वाच्च कार्यत्वहेतोरस्तु सोपाधिकत्वमिति चेन्न, साधकानुमानेऽनुकूलतर्कसम्भवेन कार्यत्वहेतोः सोपाधिकत्वासम्भवात्। यद्यकर्तृकं स्यात्तदा कार्यमपि न स्यात्। नहि कारणकलापमवधीर्य कार्यं सम्भवति, सर्वस्यैव कारणचक्रस्य कर्तृविशेषोपहितमर्यादत्वात्। कर्तृत्वं चेतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकप्रयोक्तृत्वलक्षणं ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नाधारत्वमेव। तथा च कर्तृत्वव्यावृत्तेस्तदुपहितसमस्तकारकव्यावृत्तावकारणककार्योत्पादप्रसङ्गः। नहि समवधायकं ज्ञानादिमन्तं कर्तारमन्तरेण मृद्दण्डचक्रचीवरादयस्तन्तुतुरीवेमादयो वा स्वयमेव समवहिता भूत्वा घटं पटं वोत्पादयितुं प्रभवन्ति। तस्माद्यद्यकर्तृकं स्यात् तदा कार्यमेव न स्यात्। कार्यं कर्तृजन्यमिति तु प्रत्यक्षसिद्धम्। अतोऽनुकूलतर्केण व्याप्तिनिश्चये भूधरादावपि सकर्तृकत्वस्य साध्यस्य सत्त्वेन तत्र शरीरजन्यत्वस्यासत्त्वेन साध्याव्यापकत्वेनोपाधित्वासम्भवात्। तदुक्तमुदयनाचार्येण—

अनुकूलेन तर्केण सनाथे सति साधने। साध्यव्यापकताभङ्गात् पक्षे नोपाधिसम्भवः॥ इति।

(व्यभिचार शंका के निवर्तक) से रहित है, क्योंकि शरीराजन्यत्व यदि कर्त्रजन्यत्व का व्यभिचारी हो जाय, अर्थात् शरीर से पैदा न होने वाला भी किसी से पैदा होनेवाला मान लिया जाय, तो इसमें क्या आपत्ति होगी? इस व्यभिचार शंका का परिहार करनेवाले तर्क के अभाव में शरीराजन्यत्व की कर्त्रजन्यत्व से व्याप्ति का निश्चय न हो पाने से उक्त सत्प्रतिपक्ष अनुमान अकिञ्चित्कर ही माना जायगा। केवल अजन्यत्व ही अकर्तृकत्व के साधन में समर्थ है तो फिर उसके विशेषण के रूप में शरीर को जोड़ना व्यर्थ है। पूर्वपक्षी यदि कहे कि अच्छा है तब केवल अजन्यत्व हेतु से ही भूधरादि की अकार्यता सिद्ध हो जायगी, तो इसका उत्तर यह है कि इस हेतु में असिद्ध हेत्वाभास है, अर्थात् भूधरादि की अजन्यता किसी हेतु से सिद्ध नहीं है। असिद्धि के निवारण के लिये ही शरीर विशेषण के रूप में जोड़ा जाता है, तो यह कथन भी इसलिये गलत है कि जो व्यभिचार का निवारक नहीं हो सकता, उसकी विशेषणता सिद्ध नहीं की जा सकती।

पुनः प्रश्न उठता है कि जहाँ जहाँ सकर्तृकता है, वहाँ वहाँ शरीरजन्यता रहती है, अर्थात् जो पैदा होने वाली वस्तु है, वह शरीर से ही पैदा होती है, अतः यह हेतु साध्य में व्यापक है, किन्तु कार्यत्व के अधिकरण भूधर, सागर, अंकुर प्रभृति में शरीरजन्यता के न रहने से वह साधन (हेतु) में व्यापक नहीं है, अतः कार्यत्व हेतु सोपाधिक क्यों न माना जाय? इसका उत्तर यह है कि साधक अनुमान में अनुकूल तर्क के रहने के कारण कार्यत्व हेतु को सोपाधिक नहीं कहा जा सकता। वह तर्क यह है कि यदि ये अकर्तृक हैं तो कार्य भी नहीं होंगे। कारण कलाप की उपेक्षा करके कोई कार्य नहीं हो सकता। कारण समूह की यह मर्यादा है कि कोई न कोई कर्ता वहाँ अवश्य रहता है। अन्य कोई कारक कर्ता का प्रयोजक नहीं माना जाता, कर्ता ही सकल कारकचक्र का प्रयोजक है, क्योंकि इसी में ज्ञान, चिकीर्षा (करने की इच्छा), प्रयत्न आदि देखे जाते हैं। इस तरह से जहाँ से कर्तृत्व की व्यावृत्ति मान ली गई हो उससे सम्बद्ध सकल कारकचक्र की भी व्यावृत्ति हो जाने से वहाँ पर बिना कारण के ही कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। ऐसा देखा नहीं जाता कि सावधान ज्ञानादिमान् कर्ता के बिना मृद्, दण्ड, चक्र, चीवर प्रभृति अथवा तुरी, वेमा प्रभृति स्वयं ही मिलकर घट, पट आदि कार्यों को उत्पन्न करते हों। इसलिये कर्ता के न मानने पर वह कार्य भी नहीं होगा। कार्य कर्ता से ही होता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अतः अनुकूल तर्क से व्याप्ति का निश्चय हो जाने पर भूधर प्रभृति में भी सकर्तृत्व रूप साध्य की सत्ता होने से और शरीरजन्यत्व की सत्ता न होने से यहाँ साध्य में अव्यापकता के कारण उपाधि बनती ही नहीं। जैसा कि आचार्य उदयन ने कहा है—

"अनुकूल अर्थात् व्यभिचार शंका के निवर्तक तर्क से समर्थित हेतु के द्वारा साध्य व्यापकता का भंग हो जाने के कारण पक्ष में उपाधि की किसी भी प्रकार की संभावना नहीं है।"

एतेन—'अङ्कुरादौ सकर्तृकत्वरूपसाध्यसन्देहेन साध्यव्यापकत्वसंशयेऽपि शरीरजन्यत्वस्य सन्दिग्धोपाधित्वं दुर्वारमेव। न चोपाधिसन्देहरहितो व्यभिचारसन्देहः, स च न प्रतिबन्धकः सन्दिग्धसाध्यस्यैव पक्षत्वादिति वाच्यम्, पक्ष-तत्समयोर्व्यभिचारसंशयस्यापि प्रतिबन्धकत्वात्। अत एवानुकूलतर्कविरहदशायां पक्षेतरत्वं सन्दिग्धोपाधिरित्युक्तिः शिष्टानाम्' इत्यपि परास्तम्, पूर्वोक्तरीत्या कार्यत्वेन कर्तृत्वेनानुकूलतर्कसत्त्वेन कार्यत्वस्य हेतोः सकर्तृकत्वसाध्यव्याप्यत्वनिश्चयेन साध्य-व्याप्याव्यापकत्वेनोपाधौ साध्याव्यापकत्वनिश्चयात्।

अथवा भूधरादिकं कर्त्रजन्यं शरीराजन्यत्वादाकाशवदित्युपाध्यभावात् साध्याभावानुमाने प्रागभावाप्रतियोगित्व-स्योपाधित्वेन साध्याभावासाधकत्वेन न प्रकृतानुमानस्यानुपाधिकत्वभङ्गः। यत्राकाशादौ कर्त्रजन्यं तत्र प्रागभावाप्रतियोगि-त्वम्, यत्राङ्कुरादौ शरीराजन्यत्वं तत्र न प्रागभावाप्रतियोगित्वमिति स्पष्टं सोपाधिकत्वं तस्य। न च यदीश्वरः कर्ता स्यात्तर्हि शरीरी स्यादित्यादिप्रतिकूलतर्कोऽप्यस्त्येवेति वाच्यम्, तत्सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातात्। आगमादेरीश्वरसिद्धौ तद्विरोधादेव प्रतिकूलतर्कनिराकरणम्। तदसिद्धौ तु आश्रयासिद्धेस्तस्याकिञ्चित्करत्वम्।

कैश्चित्तु—अङ्कुरः कृतिजन्यः कार्यत्वाद्घटवदित्यनुमानेन पक्षतावच्छेदेन, पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन वा साध्यसाधने न क्वापि दोषः। सर्गाद्यकालिद्व्यणुकप्रयोजनकं कर्म प्रयत्नजन्यं कर्मत्वाद् गुरुत्ववत्। पतनाभावः पतनप्रति-बन्धकप्रयत्नप्रयुक्तः, धृतित्वात्, पक्षिपतनाभाववत्। ब्रह्माण्डनाशः प्रयत्नजन्यः, नाशत्वात्, घटनाशवत्।

उक्त प्रतिपादन से यह उक्ति भी परास्त हो जाती है कि 'अंकुरादि में सकर्तृत्व रूप साध्य के संदिग्ध रहने से साध्य की व्यापकता में भी सन्देह हो जाने पर शरीरजन्यत्व की संदिग्ध उपाधिता को कौन रोक सकता है? व्यभिचार का सन्देह उपाधि के सन्देह से रहित है, अतः वह प्रतिबन्धक नहीं होगा, क्योंकि संदिग्ध साध्य को ही पक्ष बनाया जायगा, यह कहना भी इसलिये गलत है कि पक्ष और सपक्ष में व्यभिचार का संशय भी प्रतिबन्धक हो जाता है। इसलिये अनुकूल तर्क के न रहने पर पक्षेतरता की संदिग्धो-पाधिता शिष्ट जनों के द्वारा प्रतिपादित है' क्योंकि पूर्वोक्त रीति से कार्यत्व और कर्तृता के रूप में अनुकूल तर्क की सत्ता के कारण कार्यत्व हेतु की सकर्तृकता रूप साध्य की व्याप्यता का निश्चय हो जाने से साध्य के व्याप्य में अव्यापकता के कारण उपाधि में साध्य की अव्यापकता का निश्चय नहीं हो सकेगा।

अथवा भूधर आदि कर्तृजन्य नहीं है, क्योंकि आकाश आदि की तरह शरीर से अजन्य है, इस अनुमान में उपाधि के अभाव के कारण उससे साध्य के अभाव का अनुमान करने पर प्रागभावाप्रतियोगिता की उपाधिता के कारण साध्याभाव की साधकता नहीं बन सकती, अतः प्रकृत अनुमान की अनुपाधिता भंग हो जायगी। आकाशादि में जहाँ कर्मजन्यता है, वहाँ पर प्रागभावाप्रतियोगिता भी है, अंकुरादि में जहाँ शरीराजन्यता है, वहाँ पर प्रागभाव की अप्रतियोगिता नहीं है। अतः इसमें सोपाधिता स्पष्ट है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि 'यदि ईश्वर कर्ता हो तो उसको भी शरीरी होना चाहिये, इत्यादि प्रतिकूल तर्क की भी तो सत्ता है ही', क्योंकि यह तर्क ईश्वर की सिद्धि और असिद्धि के विकल्प से व्याहत हो जाता है। आगम से ईश्वर की सिद्धि हो जाने पर आगम के विरोध के कारण ही प्रतिकूल तर्क का निराकरण हो जायगा। अब यदि ईश्वर सिद्ध नहीं है, तो आश्रयासिद्धि के कारण उक्त तर्क व्यर्थ हो जायगा।

कुछ लोगों का कहना कि अंकुर कृतिजन्य है, क्योंकि यह भी घट के समान कार्य है, इस अनुमान से पक्षतावच्छेदकावच्छेदक जितने पक्ष हैं, उन सभी में से अथवा पक्षतावच्छेदक की सामानाधिकरण्यता (अर्थात् किसी भी एक पक्ष में अथवा कुछ पक्षों में) से साध्य को सिद्ध करने में कहीं भी दोष नहीं आवेगा। निम्न अनुमानों से भी यही प्रतिपादित होता है। सर्ग के आदि काल में स्थित द्वयणुक का प्रयोजक कर्म प्रयत्न पूर्वक हुआ है, क्योंकि गुरुत्व के समान वह भी कर्म है, पतन का अभाव पतन के प्रतिबन्धक प्रयत्न के कारण है, क्योंकि पक्षी के पतन के अभाव की तरह यह भी धृति (स्थिति) पर आधृत है, ब्रह्माण्ड का नाश प्रयत्न जन्य है, क्योंकि घटनाश की तरह ही यह भी नाश है।

क्षितेः पक्षत्वे तु क्षितित्वावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसाधने परमाणौ बाधः, क्षितित्वसामानाधिकरण्येन तत्त्वे तु घटादौ सिद्धसाधनम्, अङ्कुरस्य पक्षत्वे तूभयथापि न दोषः, क्वाप्यङ्कुरे नित्यत्वस्य जीवीयकृतिजन्यत्वस्य चाभावात्। अत्रानुकूलतर्कस्वरूपं तु यदि कार्यत्वं कृतिजन्यत्वव्यभिचारि स्यात् तदा कृतिजन्यत्वावच्छेदकं न स्यादिति। न च प्रकृतानुकूलतर्कः किं प्रमाणक इति वाच्यम्, कृतित्वेन कार्यत्वेन च कार्यकारणभावस्यैव प्रमाणत्वात्।

अत्र यद्यपि कार्यं प्रति कर्ता कारणमिति स्वीकारे कर्तृत्वं कारणतावच्छेदकम्। तच्च कृतिमत्त्वम्। कृतिमत्त्वञ्च कृतिरेव। सा च नानेति गौरवम्, कृतेः कारणत्वे तु कृतित्वस्य कारणतावच्छेदकत्वम्। तच्च नानाकृतिष्वेकमेवेति लाघवात् कृतेः कारणतास्वीकारः। सा च कृतिर्यत्किञ्चिदात्मसमवेता, कृतित्वादस्मदादिकृतिवद् इत्यनुमानेन तादृशकृत्याश्रयीभूतः कश्चिदात्मा सिद्धयति। स च नास्मदादिरितीश्वरः सिद्धयति। तथापि नित्यायाः परमेश्वरीयकृतेर्जगज्जनकत्वे तदुत्पादिन्याश्चिकीर्षायास्तदुत्पादनोपयोगिनो ज्ञानस्यानावश्यकत्वेनासिद्धया सार्वज्ञासिद्धयापत्त्या कर्तुरेव कारणत्वाङ्गीकारो युक्तः। न च गौरवम्, फलमुखगौरवस्यादोषाधायकत्वात्।

दिनकरदृष्ट्या तु कार्यं विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नकृतिनिष्ठजनकतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यताशालि, प्रागभावप्रतियोगित्वाद् इत्येवानुमानम्। न च ध्वंसे पक्षतावच्छेदकजन्यताश्रये विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नकृतिनिष्ठजनकतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यत्वस्याभावेन बाध इति वाच्यम्, ध्वंसव्यावृत्तसत्त्वविशिष्टजन्यत्वस्य पक्षतावच्छेदकत्वोप-

ईश्वर को सिद्ध करने वाले यदि पृथ्वी को पक्ष बनाकर उसमें ईश्वरकर्तृत्व सिद्ध करें, जहाँ-जहाँ पृथिवीत्व है, वहाँ-वहाँ सब जगह यदि ईश्वरकर्तृत्व सिद्ध करें, तो पृथिवी के परमाणु में पृथिवीत्व तो है, किन्तु नैयायिक के मत से परमाणु के नित्य होने से उनमें ईश्वरकर्तृत्व रूप साध्य नहीं है, अतः बाध होगा। यदि पृथिवीत्व जहाँ है वैसे दो पार्थिव पदार्थ में ईश्वरकर्तृत्व रूप साध्य की सिद्धि करे, तो पार्थिव घटादि में पहले से ही वह सिद्ध है। इसलिये सिद्धसाधन दोष होगा। अंकुर को पक्ष बनाकर उसी में कर्तृजन्यत्व रूप साध्य की सिद्धि करना चाहिये, क्योंकि कोई भी अंकुर नित्य नहीं है और न ही जीव की कृति से जन्य है। यहाँ अनुकूल तर्क का रूप यह होगा कि यदि कार्यत्व कृतिजन्यत्व का व्यभिचारी हो तो वह कृतिजन्यता का अवच्छेदक होगा। प्रकृत अनुकूल तर्क में क्या प्रमाण है? इस प्रश्न के उत्तर में कृतित्व और कार्यत्व के कार्यकारणभाव को ही प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। अर्थात् जो कार्य होता है। वह किसी न किसी की कृति होता ही है। जैसे कि घटादि कार्य हैं, वे कुम्भकार की कृति हैं।

यहाँ पर यद्यपि कार्य के प्रति कर्ता को कारण मानने पर कर्तृत्व को कारणता का अवच्छेदक (नियामक विशेषण) मानना पड़ेगा और यह कर्तृत्व होगा क्रियाशीलता। कृतिशीलता प्रयत्नरूप कृति ही है और वह है भिन्न-भिन्न प्रकार की। इसलिये इसको कारणतावच्छेदक मानने में गौरव होगा, क्योंकि कारणता के नियामक अनेक हो गये। इसके अपेक्षा कार्य के प्रति केवल कृति की कारणता मानने पर इस पक्ष में कारणता का अवच्छेदक कृतित्व ही होगा। यह कृतित्व नाना कृतियों (भिन्न-भिन्न क्रियाओं) में क्रियात्व रूप से एक ही है, इसको मानने में लाघव होगा, अतः कृति को ही कारण मानना चाहिये। यह कृति (प्रयत्न) किसी न किसी आत्मा (जीव) में समवाय सम्बन्ध से रहती है, क्योंकि यह भी अस्मदादि की कृति की तरह की ही कृति है, इस अनुमान से तादृश कृति का आश्रयीभूत कोई आत्मा सिद्ध हो जाता है। वह आत्मा हम नहीं हो सकते, इस प्रकार ईश्वर सिद्ध तो हो जाता है, किन्तु ईश्वर की नित्य कृति में जगत की कारणता मानने से उस कृति की उत्पादिका चिकीर्षा और उस चिकीर्षा के उत्पादन में सहायक ज्ञान की आवश्यकता न होने के कारण चिकीर्षा और ज्ञान की सिद्ध न होने से सर्वज्ञ की सिद्धि न होना, यह बहुत बड़ी आपत्ति होगी, अतः कृति को कारण न मान कर कर्ता को ही कारण मानना उचित है। इसमें गौरव दोष नहीं होगा, क्योंकि फलोन्मुख गौरव को दोष कोटि में नहीं रक्खा गया है।

दिनकर के मत में अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है—कार्य विशेष्यता सम्बन्ध से अवच्छिन्न कृतिनिष्ठ जनकता से निरूपित समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न जन्यता से युक्त है, क्योंकि यह प्रागभाव का प्रतियोगी है। यह कहना कि उक्त अनुमान ध्वंस में बाधित हो जायगा, क्योंकि ध्वंस यद्यपि पक्षतावच्छेदक जन्यता का आश्रय है, तो भी उसमें विशेष्यता सम्बन्ध से अवच्छिन्न कृतिनिष्ठ जनकता से निरूपित समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न जन्यता का अभाव है। अर्थात् दण्ड के मारने से जो घड़े का नाश होता है, उसमें कार्यत्व तो है, किन्तु विशेष्यता सम्बन्ध से किसी व्यक्ति के प्रयत्न में रहने वाली जो जनकता, उस जनकता से निरूपित समवाय

गमेनादोषात्। न चैवमपि प्रागभावप्रतियोगिनि ध्वंसे हेतुसत्त्वेऽपि साध्याभावाद् व्यभिचार इति वाच्यम्, हेतावपि सत्त्व-वैशिष्ट्यस्य विशेषणेन तद्वारणात्। जन्यत्वमात्रस्य पक्षतावच्छेदकत्वे कृतिजन्यत्वमात्रस्य साध्यत्वे तु हेतावपि सत्त्व-वैशिष्ट्यं नोपादेयम्, एवञ्च ध्वंसेऽपीश्वरीयकृतिजन्यत्वस्य निराबाधतया कार्यमात्रे कृतिजन्यत्वोपपत्तिः। न चैवं हविरादि-गोचरास्मदीयकृतिजन्यत्वमादाय सिद्धसाधनतेति वाच्यम्, अदृष्टाद्वारकत्वे सतीति कृतिजन्यतायां विशेषणीयत्वात्।

न च स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिजन्यमित्येव साध्यं कुतो न स्यादिति वाच्यम्, कार्यमात्रं प्रति कृतेरेवान्वयव्यतिरेकतया हेतुत्वे कृतिजनकयोर्ज्ञानचिकीर्षयोरन्यथासिद्धत्वेनैतत्त्रितयजन्यत्वस्य तत्र बाधात्। दृष्टान्तपक्ष-साधारणस्य स्वत्वस्यैकस्याभावेन तद्घटितस्वोपादानेत्यादिसाध्यस्यासम्भवात्। कृतित्वापेक्षयोपादानगोचरकृतित्वस्य गौरवेण जनकतानवच्छेदकत्वाच्च। ननु चैवं नित्यकृतिमदीश्वरसिद्धावपि तत्र नित्यज्ञानेच्छयोरसिद्धिः। न च कृत्या तथानुमानं सम्भवति, नित्यायाः कृतेः कारणानपेक्षत्वेन तदयोगादिति चेन्न, जानाति, इच्छति, अथ करोतीति रीत्या जनकृत्या जीवेषु ज्ञानेच्छयोरनुमानेन सिद्धेः। परमेश्वरे तु 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इति श्रुत्वा ज्ञानेच्छयोः सिद्धत्वात्।

अन्ये तु विनिगमनाविरहात् कृतित्वेन कृतेरिव ज्ञानत्वेनेच्छात्वेन च ज्ञानेच्छयोरपि हेतुत्वाङ्गीकारेण ज्ञानजन्यत्वे-च्छाजन्यत्वयोरपि साध्यत्वमङ्गीकुर्वन्ति।

सम्बन्ध वाली जन्यता का अभाव है, क्योंकि नैयायिक के मत में अभाव स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। अतः घट के नाश में जनकता से निरूपित समवाय सम्बन्ध से विशिष्ट जन्यता नहीं है। यह उक्ति इस लिये गलत है कि उक्त अनुमान में इस दोष की निवृत्ति के लिये ध्वंस से भिन्न सत्त्वविशिष्ट जन्यता को पक्षतावच्छेदक माना जायगा, अर्थात् पक्षता का नियामक माना जाता है। इतने पर भी प्रागभाव के प्रतियोगी ध्वंस (घट के विनाश) में हेतु के रहने से प्रागभाव प्रतियोगित्व रूप हेतु तो है, किन्तु पूर्वोक्त साध्य नहीं है, इसलिये व्यभिचार हो सकता है, किन्तु उसका परिहार इस प्रकार हो जायगा कि हेतु में भी सत्त्व के सम्बन्ध को विशेषण के रूप में जोड़ दिया जायगा। जन्यत्वमात्र की पक्षतावच्छेदकता में और कृतिजन्यत्वमात्र की साधना में हेतु में सत्त्व के वैशिष्ट्य की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् केवल पैदा होने वाली वस्तु को किसी के प्रयत्न से पैदा होनेवाली मानने पर ध्वंस (विनाश) भी ईश्वर के प्रयत्न से ही होता है, इसलिये कार्यमात्र प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं, इस बात के सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं है। हम लोगों के प्रयत्न से बनाये जाने वाले यज्ञ के होम द्रव्यों में हमारे प्रयत्न से पैदा होना पहले से सिद्ध ही है, इसलिये सिद्धसाधनता दोष कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रयत्न से जन्य रूपी साध्य में परलोक में होने वाले फलों का जो द्वार न हो, ऐसा विशेषण देने से यज्ञ के हविर्द्रव्य में उन फलों का द्वार होने से सिद्धसाधनता नहीं रहेगी।

वस्तु के उपादान कारण का प्रत्यक्ष ज्ञान उसको बनाने की इच्छा और अपने प्रयत्न से बनने वाले को ही साध्य क्यों न कहा जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कार्यमात्र के प्रति प्रयत्न की ही अन्वय और व्यतिरेक से कारणता सिद्ध होती है, कृति के जनक ज्ञान और चिकीर्षा की कारणता अन्यथासिद्ध है, अतः तीनों से जन्यता वहाँ बाधित हो जाती है। दृष्टान्त और पक्ष में समान रूप से विद्यमान स्वत्व की एकता के अभाव में तद्घटित स्वोपादान इत्यादि साध्य की स्थिति ही नहीं बनती। केवल प्रयत्न को कारण न मानकर उपादान विषयक प्रयत्न को कारण मानने में गौरव भी होगा, अतः उपादान विषय घटित प्रयत्न में रहने वाले धर्म कृतित्व को जनकता (कारणता) का नियामक नहीं माना जा सकता। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि ऐसा मानने पर नित्य कृति से युक्त ईश्वर की सिद्धि हो जाने पर भी उसमें नित्य ज्ञान और नित्य इच्छा की सिद्धि तो नहीं हो सकेगी। कृति से भी उनका अनुमान नहीं होगा, क्योंकि नित्य कृति कारण की अपेक्षा नहीं रखती, अतः उसका ज्ञान और इच्छा से कोई योग नहीं बनेगा। इसका उत्तर यह है कि 'व्यक्ति पहले जानता है, बाद में इच्छा करता है, तब किसी कार्य में प्रवृत्त होता है' इस साधारण नियम के अनुसार जहाँ पर जन्य कृति हैं, उन जीवों में ज्ञान और इच्छा की भी सिद्धि अनुमान से हो जाती है। परमेश्वर में 'वह सर्वज्ञ है, सर्ववित् है' इस श्रुति के प्रमाण से ज्ञान और इच्छा की सिद्धि होती है।

अन्य विद्वान् विनिगमक के अभाव में कृतित्व हेतु से कृति की तरह ज्ञानत्व और इच्छात्व से ज्ञान और इच्छा की भी हेतुता मानते हैं और ज्ञानजन्यत्व तथा इच्छाजन्यता को साधना कोटि में रखते हैं।

प्राञ्चस्तु—कर्तृजन्यत्वसाधनेन तदन्तर्भावितनित्यज्ञानेच्छाकृतीनां सिद्धया न प्रमाणान्तरमन्वेषणीयम्। फलमुखं गौरवं न दोषावहमित्युक्तमेव।

ननु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभावोऽनुकूलतर्क उक्तस्तत्र किं मानमिति चेन्न, अन्वयव्यतिरेकयोस्तत्र मानत्वात्। न चान्वयव्यतिरेकाभ्यां घटत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति कुलालादित्वेनैव हेतुत्वादेतादृशकार्यकारणभावे मानाभाव इति वाच्यम्, घटत्वपटत्वादिभेदेनानन्तकार्यकारणभावकल्पनापेक्षया कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कर्तृत्वेन हेतुत्वकल्पनस्यौचित्यात्। 'यद्विशेषयोः कार्यकारणभावोऽसति बाधके तत्सामान्ययोरपि' इति न्यायेन कार्यत्वकर्तृत्वाभ्यां सामान्यकार्यकारणभावस्यावश्यकत्वात्। न च स न्यायोऽपि निर्मूल इति वाच्यम्, तस्य लाघवमूलकत्वात्। तथाहि—कार्यत्वावच्छिन्नाभावे तत्र कर्त्रभावकूटस्य प्रयोजकत्वे गौरवम्। कर्तृत्वावच्छिन्नाभावस्यैकस्य प्रयोजकत्वे लाघवमिति। न च स कर्तृत्वावच्छिन्नस्य कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कारणतानवच्छेदकत्वेऽपि लाघवादेव कर्तृत्वावच्छिन्नाभावस्यैकस्यैव कार्यसामान्याभावप्रयोजकत्वं कल्पनीयमिति वाच्यम्, कारणतावच्छेकधर्मावच्छिन्नाभावस्यैव कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नाभावप्रयोजकतानियमात्।

केचित्तु—घटत्वावच्छिन्नं प्रति कर्तुः कारणतया सर्गाद्यकालिकं घटादिकं पक्षीकृत्य घटत्वादिहेतुना सकर्तृकत्वसाधने जीवानां बाधादीश्वरसिद्धिं वदन्ति।

यत्तु कैश्चित्—घटादिकुलालादिचेष्टयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति चेष्टात्वादिना हेतुत्वादङ्कुराद्युत्पत्तेः पूर्वं चेष्टानुरोधेनेश्वरस्य नित्यशरीरमपि सिद्धयतीत्युच्यते, तन्न, तादृगन्वयव्यतिरेकाभ्यां क्रियात्वेनैव हेतुत्वात्, चेष्टात्वेन हेतुत्वे मानाभावात्।

प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि कर्तृजन्यत्व की साध्यता में नित्य ज्ञान, इच्छा और कृति का भी अन्तर्भाव रहता है, अतः इनकी सिद्धि के लिये अलग से प्रमाण खोजने को जरूरत नहीं है। फलोन्मुख गौरव दोष नहीं माना जाता, यह कहा जा चुका है।

कर्तृत्व और कार्यत्व में कार्यकारणभाव अनुकूल तर्क है, इसमें क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अन्वय और व्यतिरेक ही इसमें प्रमाण हैं। अन्वय और व्यतिरेक से तो घटत्वावच्छिन्न के प्रति कुलालत्वादि की हेतुता बनती है, अतः इस तरह का कार्यकारणभाव उसमें प्रमाण नहीं हो सकता। इसका उत्तर यही है कि घटत्व-पटत्व, आदि के भेद से अनन्त कार्यकारण की कल्पना करने की अपेक्षा कार्यत्वावच्छिन्न के प्रति कर्तृत्व के रूप में हेतुत्व की कल्पना ही उचित मानी जायगी, अर्थात् घट का कर्ता कुम्भकार, पट का कर्ता जुलाहा, मकान का कर्ता राजमिस्त्री, इस तरह भिन्न-भिन्न कार्यों के भिन्न-भिन्न कर्ता मानने की अपेक्षा कार्यमात्र का कर्ता होता ही है, ऐसा मानने में ही सरलता है। 'दो विशिष्ट वस्तुओं का कार्यकारणभाव नियम बाधक के अभाव में समान रूप से भी माना जाता है' इस न्याय के अनुसार कार्यत्व और कर्तृत्व में सामान्य कार्यकारणभाव आवश्यक रूप से मानना पड़ता है। इस न्याय को निर्मूल नहीं कह सकते, क्योंकि लाघव ही इसका मूल है। जैसा कि कार्यत्वावच्छिन्न के अभाव में सभी कर्ताओं के अभाव को प्रयोजक मानने में गौरव होगा और केवल एक कर्तृत्वावच्छिन्न के अभाव को प्रयोजक मानने में लाघव होगा। कर्तृत्वावच्छिन्न की कार्यत्वावच्छिन्न के प्रति कारणतावच्छेदकता न होने पर भी लाघव वश एकमात्र कर्तृत्वावछिन्न के अभाव की ही कार्यसामान्य की अभावप्रयोजकता क्यों न कल्पित कर ली जाय? इसका उत्तर यह है कि कारणतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न अभाव की ही कार्यत्वावच्छेदक से अवच्छिन्न अभाव की प्रयोजकता नियमतः मानी जाती है, अन्य की नहीं।

कुछ लोग घटत्वावच्छिन्न के प्रति कर्ता की कारणता को देख कर सृष्टि के आदि काल के घट को पक्ष बनाकर घटत्वादि हेतु से सकर्तृत्व को सिद्ध करने पर वहाँ पर कर्ता के रूप में जीवों का बाध देखकर ईश्वर की सिद्धि करते हैं। तात्पर्य यह है कि कल्प के बाद होने वाली सृष्टि के प्रारम्भ में भी घटादि तो जरूर पैदा हुए, उनको पैदा करने वाला भी कोई चाहिये। जीव उस समय उनको पैदा नहीं कर सकते, अतः ईश्वर ही उनका पैदा करने वाला है। इस तरह से ईश्वर सिद्ध हो जाता है।

इसके साथ कुछ लोगों का यह कहना है कि घटादि और कुलालादि की चेष्टाएं अन्वय और व्यतिरेक से कार्यत्वावच्छिन्न के प्रति चेष्टात्व आदि के रूप में हेतु है, अतः अंकुरादि की उत्पत्ति के पहले चेष्टा को मानने के कारण ईश्वर के नित्य शरीर की भी सिद्धि

अन्ये तु—चेष्टात्वेन हेतुत्वादीश्वरनित्यशरीरसिद्धावपि न क्षतिः, परमाणूनां तच्छरीरत्वे बाधाभावात्। तथा चेश्वरकृतिजन्यचेष्टावद्भिः परमाणुरूपशरीरैस्तत्तत्कार्याणामुत्पत्तिः। न चान्त्यावयवित्वे सति चेष्टावत्त्वमिति तत्र शरीरलक्षणासम्भवात् कथं शरीरत्वमिति वाच्यम्, सत्यन्तस्य शरीरलक्षणेऽप्रवेशेन तन्निर्वाहात्। न चानन्तपरमाणूनां शरीरत्वकल्पने गौरवाल्लाघवेन तस्यातिरिक्तत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, तच्छरीरस्य महत्त्वेऽभग्नस्य पाषाणादौ प्रवेशासम्भवेन पाषाणान्तर्वर्तिभेकशरीरोत्पादकतानुपपत्तेः, अणुत्वे दूरस्थकर्मोत्पादकत्वानुपपत्तेरिति वदन्ति।

परे तु—'कार्यत्वेनानित्यत्वानुमाने घटादिषु लिङ्गस्य रूपसाहचर्यं दृष्टमिति तद्विशिष्टस्यैव तस्य वक्तव्यत्वे रूपाभाववति वायावनित्यत्वासिद्धिः। तत्सिद्धौ वा रूपस्यापि सिद्धिः स्यात्। न च तद्युक्तम्, प्रत्यक्षबाधात्। यदि तु साहचर्यमात्रं न प्रयोजकं किन्तु व्याप्तिरेव प्रयोजिका, सा च कार्यत्वानित्यत्वयोरेवेति वायावपि तत्सिद्धौ रूपासिद्धिश्चेति, तर्हि प्रकृतेऽपि कर्तृत्वप्रयोजकं ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वमेव। शरीरित्वस्य तु साहचर्यमात्रमिति नेश्वरे शरीरित्वसिद्धिः। अन्यथा दृष्टान्तीयाशेषधर्मसिद्धिः पक्षे स्यात्। तथा च घटदृष्टान्तेन जलेऽनित्यत्वसाधने पृथ्वीत्वादिकमपि सिद्ध्येत्। अपि च चेष्टामन्तरा प्रयत्नमात्रेण कुलालादेः कार्यकरणे सामर्थ्याभावेन चेष्टाश्रयस्य सहकारित्वं भवतु नाम, प्रयत्नमात्रेणैव सर्वकरणसमर्थस्य परमेश्वरस्य कुतस्तदपेक्षा? परिच्छिन्नापरिच्छिन्नपक्षोक्तदूषणप्रसङ्गोऽपि' इति।

हो जायगी, क्योंकि शरीर के बिना चेष्टा नहीं हो सकता। किन्तु यह बात गलत है, क्योंकि उक्त अन्वय और व्यतिरेक क्रियात्वरूप से ही हेतु की सिद्धि कर सकते हैं, इनकी चेष्टात्वेन हेतुता में कोई प्रमाण नहीं है।

अन्य आचार्यों का कहना है कि चेष्टात्वेन हेतु मानकर ईश्वर के नित्य शरीर की सिद्धि होने पर भी सिद्धान्त की कोई हानि नहीं है, क्योंकि परमाणुओं को ईश्वर का शरीर मान लेने में कोई बाधा नहीं है। इस तरह से ईश्वर की कृति (प्रयत्न) से उसके परमाणुरूप शरीर में चेष्टा होने पर उन उन कार्यों की उत्पत्ति मानी जायगी। अन्त्यावयवी की चेष्टावत्ता ही शरीर का लक्षण माना जाता है, यह लक्षण इसमें नहीं घटता तो परमाणुओं को ईश्वर का शरीर कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि परमाणुओं में तो चेष्टा है नहीं, और जिसमें चेष्टा हो तथा जो अन्त्यावयवी हो, उसी को शरीर कहते हैं। इसका उत्तर यही है कि केवल चेष्टावत्त्व ही शरीर का लक्षण माना जाता है, उसमें 'अन्त्यावयवी' को नहीं जोड़ा जाता। अनन्त परमाणुओं की शरीरत्व कल्पना में गौरव होने से लाघव के कारण इनसे अतिरिक्त ही किसी एक वस्तु की शरीरता सिद्ध होती है, यह उक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर का महत्त्व परिमाण मानने पर बिना टूटे उसका पाषाणादि में प्रवेश हो नहीं सकता, इस परिस्थिति में पाषाण के भीतर रहने वाले मेढक के शरीर की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है? अणु परिमाण मानने पर दूरस्थ कर्म को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं हो सकती।

दूसरे विद्वानों का कहना है कि कार्यत्व से अनित्यत्व का अनुमान करने पर घटादि में लिंग का रूपसाहचर्य देखा जाता है, अतः रूपविशिष्ट कार्य की अनुमिति मानने पर रूपाभाववान् वायु में अनित्यता की सिद्धि नहीं होगी। अनित्यता की सिद्धि मानने पर रूप की भी सिद्धि उसमें माननी पड़ेगी। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ पर स्पष्ट ही प्रत्यक्ष का बाध है। साहचर्य मात्र की प्रयोजकता नहीं मानी जाती, किन्तु व्याप्ति की ही प्रयोजकता मानी जाती है। वह व्याप्ति केवल कार्यत्व और अनित्यत्व की ही है, अतः वायु में भी अनित्यत्व की सिद्धि हो जायगी और रूप की सिद्धि नहीं होगी। ऐसा कहने पर तो प्रकृत स्थल में भी कर्तृत्व का प्रयोजक ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नवत्त्व ही है, अर्थात् ज्ञानवान्, इच्छावान् और प्रयत्नवान् ही कर्ता हो सकता है। शरीरित्व का केवल साहचर्य मात्र है, अतः ईश्वर में शरीरित्व की सिद्धि नहीं होगी। अन्यथा दृष्टान्त के समो धर्मों की सिद्धि पक्ष में माननी पड़ेगी। इस तरह से घट के दृष्टान्त से जल में अनित्यता सिद्ध करने पर उसमें पृथिवीत्व आदि धर्मों की भी सिद्धि होने लगेगी। दूसरी बात यह है कि चेष्टा के बिना प्रयत्नमात्र से कुम्हार आदि की कार्य करने की सामर्थ्य नहीं देखी जाती, अतः वहाँ पर चेष्टाश्रय शरीर की सहकारिता मानी जा सकती है, किन्तु प्रयत्नमात्र से सब कुछ कर सकने में समर्थ परमेश्वर को शरीर की अपेक्षा क्यों रहेगी? परिच्छिन्नता और अपरिच्छिन्नता के पक्ष में उठाये गये दोष भी यहाँ प्रसक्त होंगे।

अपरे तु—'ज्ञानादिमत्त्वस्येव सशरीरत्वस्यापि कुलालादिषु दृष्टत्वादशरीरेषु मुक्तात्मसु कर्तृत्वादर्शनाच्च परेशस्य कर्तृत्वेन सशरीरत्वमवश्यमङ्गीकर्तव्यम्, लोके तथा दर्शनात्। अन्यथा ज्ञानादिमत्त्वमपि न सिद्ध्येत्। यदि तु समर्थत्वादीश्वरस्य चेष्टामन्तरापि कर्तृत्वसिद्धिः, तदा चिकीर्षाप्रयत्नावन्तरापि ज्ञानमात्रेणैव तत्सिद्ध्यापत्तिः, परिच्छिन्नापरिच्छिन्नपक्षोक्तदूषणमपि न स्यात्। अन्यथानुपपत्तिबलात् सिद्ध्यत् शरीरं यावताऽनुपपत्तिपरिहारस्तावद्रूपमेव सिद्ध्यति, पक्षधर्मताबलादपरिच्छिन्ननित्यशरीरस्यैव सिद्धिश्च। परिच्छेदानित्यत्वाद्यनुपपत्तयस्तु शरीरसिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याहता एव। सिद्धौ साधकमानविरुद्धत्वात्, असिद्धावाश्रयासिद्धेश्च तासामाभाससमानयोगक्षेमत्वात्। अन्यथा ज्ञानस्याप्यनित्यत्वनियमेनेश्वरज्ञानस्याप्यनित्यत्वापत्तेः' इत्यपि वदन्ति।

यदपि—'ईश्वरस्य कर्तृत्वेन शरीरित्वसाधने ईश्वरसिद्धावाश्रयासिद्धिः, तत्सिद्धौ च धर्मिग्राहकमानेनाशरीरत्वस्यैव सिद्धत्वेन तद्बाधः' इति, तन्न, धर्मिग्राहकमानस्य शरीरत्वासाधकत्वात्। न च कार्यलिङ्गकमनुमानमेव धर्मिग्राहकं तेन कर्ता परं सिद्ध्यति, नान्यदिति वाच्यम्, कर्तृत्वनिर्वाहकानां ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामिव सशरीरत्वस्यापि तत एव सिद्धेः। लोके तथा ज्ञानेच्छाप्रयत्नवतामेव कर्तृत्वं दृष्टं न तद्रहितानाम्, शरीरस्यापि तत्समानयोगक्षेमत्वेन ज्ञानेच्छाप्रयत्नशरीरवतामेव लोके कर्तृत्वदर्शनेन तद्वत एवेश्वरस्यापि सिद्धेः।

ननु तर्हि महत्त्वेनोद्भूतरूपत्वेन च चाक्षुषत्वमपि स्यादिति चेन्न, लौकिकप्रत्यक्षाविषयत्वेन तददोषात्। देवादीनामिन्द्रादीनां विग्रहवतामप्यचाक्षुषत्वश्रवणात्। तथा च देवदेवस्य परमेश्वरस्य सुतरामचाक्षुषत्वोपपत्तिः, शङ्कानां तत्सिद्ध्यु-

अन्य आचार्य यह कहते हैं कि कुम्हार आदि ज्ञान, इच्छा वाले होने के साथ-साथ शरीर वाले भी देखे गये हैं और बिना शरीर वाले मुक्त जीव कर्ता नहीं देखे जाते। अतः परमेश्वर को कर्ता मानने पर शरीर वाला भी अवश्य मानना पड़ेगा। लोक में यही देखा जाता है। अन्यथा ईश्वर की ज्ञानादिमत्ता भी नहीं सिद्ध हो सकेगी। यदि समर्थ होने से ईश्वर में बिना चेष्टा के भी कर्तृत्व की सिद्धि मानी जाती है, तो चिकीर्षा और प्रयत्न के बिना भी ज्ञानमात्र में ही उसमें कर्तृत्व की सिद्धि हो सकेगी। इस तरह से परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न पक्ष में कहे गये दूषण भी यहाँ नहीं होंगे। अन्यथानुपपत्ति के बल से शरीर की उसी रूप में सिद्धि हो सकती है, जिससे कि अनुपपत्ति का परिहार हो सके। पक्षधर्मता के बल से भी अपरिच्छिन्न नित्य शरीर की ही सिद्धि होगी। परिच्छेद की अनित्यता आदि की अनुपपत्तियाँ शरीर की सिद्धि और असिद्धि से ही बाधित हो जाती हैं, क्योंकि शरीर की सिद्धि साधक प्रमाण के विरुद्ध पड़ेगी और असिद्धि में आश्रयासिद्धि के कारण उनकी आभास (मिथ्या ज्ञान) की सी स्थिति माननी पड़ेगी। अन्यथा ज्ञान की भी अनित्यता का नियम मान लेने पर ईश्वर के ज्ञान में भी अनित्यता की आपत्ति होने लगेगी।

"ईश्वर में कर्तृत्व के कारण शरीरित्व की सिद्धि करने में ईश्वर ही सिद्ध न हो सकेगा, फलतः आश्रयासिद्धि होगी, यदि ईश्वर की सिद्धि हो जाती है तो धर्मी के ग्राहक प्रमाण से वह सशरीर ही सिद्ध होगा, अतः बाध नामक हेत्वाभास होगा" यह कथन इसलिये गलत है कि धर्मी का ग्राहक प्रमाण उसको सशरीर सिद्ध न कर सकेगा। कार्यलिङ्गक अनुमान ही धर्मी का ग्राहक होता है, अन्य नहीं, इससे केवल कर्ता की सिद्धि अवश्य हो जाती है, अन्य किसी की नहीं, यह कथन भी इसलिये गलत है कि कर्तृत्व के निर्वाहक ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न की ही तरह सशरीरत्व की सिद्धि भी उसी से हो जायगी। लोक में जैसे ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नवान् व्यक्ति में ही कर्तृत्व देखा जाता है, इनसे रहित में नहीं, उसी तरह से शरीर की भी स्थिति इन्हीं की तरह की है, अतः ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न से युक्त शरीरवाले व्यक्ति में ही लोक में कर्तृत्व के देखे जाने से ईश्वर में भी ये सब मानने पड़ेंगे।

इस तरह से तो ईश्वर का शरीर भी उद्भूत रूप वाला और महत् परिमाण वाला ही होगा, फिर तो वह आँख से दिखाई भी देना चाहिये, ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि ईश्वर लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। इन्द्र आदि देवता शरीर वाले हैं, तब भी वे हम लोगों को आँखों से नहीं दिखाई देते। इस तरह से देवताओं के भी देव परमेश्वर का आँखों से न दिखाई देना तो सुतरां सिद्ध हो जायगा। ईश्वर की शरीरादि विषयक शंकाएँ उसकी सिद्धि के उपरान्त ही उठाई गई है, अतः ईश्वर की शरीरता की सिद्धि

त्तरकालिकत्वेन तत्सिद्धयनवसरपराहतत्वाच्च । नन्वङ्कुरादौ शरीरिणः कर्तुरनुपलम्भेन कार्यस्य शरीरिकर्तृपूर्वकत्वनियमो न सिद्धयतीति चेन्न, तत्रापि पूर्वोक्तयुक्तिभिः शरीरिकर्तृकत्वस्यैवानुमीयमानत्वेनादोषात् ।

'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।' (श्रीमद्भग० १३ । १३)

इति शास्त्रेणापि परमेशशरीरसिद्धेश्च ।

यद्यपि सावयवत्वेन कार्यत्वं कार्यत्वेन चानित्यत्वानुमानं शरीरमात्रस्य सम्भवति । सावयवत्वस्य कार्यत्वाप्रयोजकत्वे जगतोऽप्यकार्यत्वापत्त्या कार्यत्वेन च हेतुना प्रपञ्चस्य सकर्तृकत्वासिद्धया परमेशसिद्धिरपि दुर्लभैव स्यात् । परमेशशरीरस्यापरिच्छिन्नत्वोक्त्या व्यापकत्वेनान्यानवकाशप्रसङ्गः । स्थानानवरोधकत्वे तु सावयवत्वानुपपत्तिः । व्यापकत्वे महत्त्वे च सत्युद्भूतरूपादिमत्त्वेऽपि चक्षुराद्यग्राह्यत्वमपि निर्युक्तिकमेव । पार्थिवरूपस्यानित्यत्वेऽपि कारणगतत्वेन पायसपरमाणुरूपस्य नित्यत्ववत्कारणगतेन परमेशज्ञानस्य नित्यत्वमुपपद्यते, न तथा शरीरस्य नित्यत्वव्यापकतयोः किञ्चित्प्रमाणमुपलभ्यते । नहि धर्मिग्राहकमानबलादेव सर्वं सिद्धयति, तथात्वे ज्ञाननित्यत्वादेः पर्यनुयोगानुपपत्तेः । ईश्वरस्य सत्यसङ्कल्पत्वेन ज्ञानादीनामात्मसङ्कल्पबलादेवं सर्वसिद्धेस्तदर्थं शरीरत्वकल्पनं निर्मूलमेव । जीवानां शरीरावच्छेदेनैव ज्ञानेच्छादीनामुत्पत्तिनियमाच्छरीरमावश्यकम् । ईश्वरस्य तु ज्ञानेच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वसिद्धौ तैरेव कार्योत्पत्तौ कृतमस्य शरीरग्रहणेन । "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० उ० ३।१९), "अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्" (वा० सं०४०।८) इत्यादिमन्त्रैस्तन्निषेधात् । शुद्धमिति कारणशरीरनिषेधः । अकायमिति सूक्ष्मशरीरनिषेधः । अव्रणमस्नाविरमिति स्थूलशरीरनिषेधः । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० उ० २।१।२) इति च सूक्ष्मशरीरनिषेधः ।

में इनकी उपस्थिति बिना अवसर के दी गई है, अतः वे सर्वथा अयुक्त हैं । अंकुरादि के शरीर वाले कर्ता नहीं मिलते, इसलिये शरीर वाला किसी कार्य का कर्ता होता है, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती । किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि हम पहले ही अनेक युक्तियों से शरीर वाला कर्ता ही अनुमान के द्वारा सिद्ध कर चुके हैं । "वह भगवान् सभी ओर से हाथ-पैर वाला है और उसके चारों तरफ आँख, शिर और मुँह हैं" इस भगवद्गीता के वचन से भी परमेश्वर के शरीर की सिद्धि हो जाती है ।

यद्यपि शरीरमात्र के लिये सावयवत्व से कार्यत्व का और कार्यत्व से अनित्यत्व का अनुमान हो सकता है, सावयवत्व को कार्यत्व का प्रयोजक न मानने पर जगत् की भी अकार्यता को मानना पड़ जायगा और तब कार्यत्व हेतु से प्रपंच की सकर्तृकता की सिद्धि न होने पर परमेश्वर की सिद्धि भी कठिन हो जायगी । इसका उत्तर यह है कि परमेश्वर के शरीर को अपरिच्छिन्न मानने से उसकी व्यापकता के कारण दूसरी किसी शंका के लिये अवसर ही नहीं रहेगा, यदि यह कहा जाय कि ईश्वर का शरीर स्थान को नहीं घेरता तो उसकी सावयवता कैसे मानी जा सकती है । जब यह व्यापक है, महत्त्व विशिष्ट है और उद्भूत रूपादि से भी युक्त है, तब उसको चक्षुरादि से अग्राह्य कहना भी युक्तिहीन ही है । पार्थिव रूप के अनित्य होने पर भी कारणगत जलीय परमाणु रूप की नित्यता के समान कारणगत परमेश्वर के ज्ञान की नित्यता भी मानी जा सकती है, इस तरह से शरीर की नित्यता और व्यापकता में कोई प्रमाण नहीं है । धर्मी के ग्राहक प्रमाण के बल से ही सब कुछ सिद्ध नहीं हो जाता । ऐसी अवस्था में तो ज्ञान की नित्यता की आपत्ति भी स्वीकार कर लेनी पड़ेगी । ईश्वर तो सत्य संकल्प है । वह अपने संकल्प के बल से ही ज्ञानादि सभी गुणों की सिद्धि कर सकते हैं तो उनके लिये शरीर की कल्पना करना व्यर्थ है । जीव में शरीर के रहने पर ही ज्ञान, इच्छा आदि की उत्पत्ति होती है, अतः उनके लिये शरीर आवश्यक है । ईश्वर के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि की नित्यता की सिद्धि हो जाने पर उन्हीं से जगत् रूपी कार्य की सिद्धि हो जाने से इसके शरीर-ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । "वह परमेश्वर बिना पैर के भी दौड़ता है, बिना हाथ के भी ग्रहण करता है, बिना आँख के भी देखता है और कान न रहने पर भी सुनता है", "उस शुद्ध, पापों से अस्पृष्ट, शरीर से रहित, विकारहीन, कूटस्थ भगवान् का ध्यान करो" इत्यादि मन्त्र परमेश्वर के शरीर का निषेध करते हैं । यहाँ पर द्वितीय श्रुति में स्थित शुद्ध पद कारण शरीर का निषेध करता है, अकाय पद सूक्ष्म शरीर का और अव्रण तथा अस्नाविर पद स्थूल शरीर के निषेधक हैं । "वह परमेश्वर प्राण और मन से रहित है, अत एव शुद्ध है" यह मुण्डक श्रुति भी परमेश्वर के सूक्ष्म शरीर का निषेध करती है ।

न चोक्तप्रमाणानां प्राकृतशरीरनिषेध एव तात्पर्यमिति वाच्यम्, तथात्वे व्रणादेरपि प्राकृतस्यैव निषेधापत्तेः।

"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते" (श्वे० उ० ६।८) इत्येनापि स्थूलसूक्ष्मशरीरयोर्निषेधः। न च सूक्ष्मशरीराभावेऽपि स्थूलदेह उपपद्यते, दृष्टविरोधात्। न च लोकदृष्ट्यनुसारेण तत्साधने तद्विरोधोपेक्षा युज्यते, अर्धजरतीयन्यायापत्तेः। देहादिरहितस्यापि तस्य कार्यक्षमत्वश्रवणेनापि न परेशस्य शरीराद्यपेक्षा, "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० उ० ३।१९) इति श्रुतेः। न च "सर्वतः पाणिपादं तत्" (श्वे० उ० ३।१६; श्रीमद्भग० १३।१३) इति श्रुतिस्मृतिविरोधः, समष्टिस्थूलप्रपञ्चाभिमानिनो विराट्स्वरूपस्य व्यष्टिपाणिपादादिभिरेव पाणिपादादिमत्त्वोपपत्त्या पूर्वोक्तश्रुतिविरुद्धदेहेन्द्रियादिकल्पनानुपपत्तेरिति यद्यपि लपितुं युक्तम्, तथापि "ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये" (केन० उ० ३।१); "नमो हिरण्यबाहवे" (वा० सं० १६।१७); "नमोऽस्तु नीलग्रीवाय" (वा० सं० १६।८); "हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः" (छा० उ० १।६।६); "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इत्यादिमन्त्र-ब्राह्मण-ब्रह्मसूत्रतदनुगुणपुराणेतिहासवचनैश्च परमेश्वरस्य दिव्यशरीरसिद्धिर्भवत्येव। हिरण्यश्मश्रुत्वहिरण्यकेशत्वविशिष्टस्य ज्योतिर्मयस्येशशरीरस्य यथा सूर्यमण्डलस्थत्वं तथैव दक्षिणाक्षिस्थत्वमपि तत्रैव (छान्दोग्ये) उक्तमेवेत्यनितरसाधारण्यमपि तस्य सिद्ध्यत्येव।

वाल्मीकिरीत्या वाल्मीकीयरामायणेन श्रीरामस्य सदेहस्यैव साकेतगमनं सिद्ध्यति। तथाहि—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः। विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥ इति।

(वा० रा० उ० का० ११०।१२)

एवं श्रीकृष्णस्योत्तरागर्भस्थपरीक्षितरक्षणार्थमुत्तरागर्भप्रवेशः श्रीमद्भागवतेनैव सिद्ध्यति। तथाहि—

यह नहीं कहा जा सकता कि इन श्रुतियों में परमेश्वर के प्राकृत शरीर का निषेध किया गया है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर निषेध भी प्राकृत व्रण आदि का ही मानना पड़ेगा, जो कि सिद्धान्ततः ठीक नहीं है।

"उस परमेश्वर में कार्य और करण की स्थिति नहीं है" इस श्वेताश्वतर श्रुति से भी परमेश में स्थूल और सूक्ष्म शरीर का निषेध सिद्ध होता है। सूक्ष्म शरीर के अभाव में स्थूल देह उत्पन्न ही नहीं हो सकता। लोक दृष्टि के अनुसार किसी वस्तु की सिद्धि करने पर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि कहीं पर लोकदृष्टि को प्रमाण मानना और कहीं पर नहीं, यह तो अर्धजरतीय[1] न्याय का अनुसरण हुआ। 'अपाणिपादः' इत्यादि अभी हाल में उद्धृत श्रुतियों के अनुसार जब देहादि से रहित होने पर भी परमेश्वर सब कार्य करने में समर्थ है, तो उसको शरीर की अपेक्षा नहीं रहेगी। ऐसा मानने पर "वह परमात्मा सब ओर से हाथ-पैर वाला है" इस श्वेताश्वतर श्रुति और गीता वचन का विरोध भी नहीं होगा, क्योंकि समष्टिगत स्थूल प्रपंच के अभिमानी विराट् स्वरूप की व्यष्टिगत हाथ-पैर वाले शरीर की सत्ता मान ली जायगी तो उक्त श्रुति के विरुद्ध देह, इन्द्रिय आदि की कल्पना की उपपत्ति नहीं होगी, यह सब कहा जा सकता है; तो भी ऊपर मूल में उद्धृत मन्त्र, ब्राह्मण, ब्रह्मसूत्र के वचनों से तथा तदनुसारी पुराण, इतिहास आदि के वचनों से भी परमेश्वर के दिव्य शरीर की सिद्धि हो ही जाती है। हिरण्यश्मश्रु, हिरण्यकेश आदि से युक्त ज्योतिर्मय ईश्वर शरीर की जैसे सूर्यमण्डल में स्थिति है, उसी तरह उसकी स्थिति दक्षिण नेत्र में भी छान्दोग्य श्रुति में ही प्रतिपादित है, अतः उसकी असामान्य विशेषता भी सिद्ध हो जाती है। वाल्मीकि रामायण में वाल्मीकि ने श्रीराम का सदेह साकेत गमन वर्णित किया है—"पितामह क वचन को सुनकर महामति श्रीराम ने कुछ सोचा और उसके बाद अपने भाई के साथ वे सशरीर वैष्णव तेज में प्रविष्ट हो गये"। इसी तरह से श्रीमद्भागवत से भी उत्तरा के गर्भ में स्थित परीक्षित की रक्षा के लिये भगवान् श्रीकृष्ण का उत्तरा के गर्भ में प्रवेश सिद्ध होता है। जैसे कि—"भगवान् श्रीकृष्ण ने मेरी माता के उनके शरण में जाने पर चक्र धारण करके मेरे (परीक्षित के) उस शरीर की रक्षा की, जो कि अश्वत्थामा के अस्त्रों से क्षत-विक्षत हो चुका था और जो कौरव एवं पाण्डव वंश

१. कोई व्यक्ति आधी मुर्गी अंडा देने के लिये बचा ले और आधी खाने के लिये रख ले, ऐसा हो नहीं सकता। इसी प्रकार लोक में देखी हुई आधी बात माने और आधी न माने, यह हो नहीं सकता।

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानवीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिगत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः॥ (श्री० भा० १०।१।६)

तथा च पाषाणस्तम्भान्नृसिंहस्याविर्भावः। तथाहि—

'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥ (श्री० भा० ७।८।१८)

विष्णुशिवादिरूपाणाञ्च सर्वत्रैवोपासकभक्तानामनुभवो जायते। दर्शनञ्च तेषां भक्त्यतिशयेनाद्यापि सम्पद्यते। वैकुण्ठ-गोलोकसाकेतकैलासमणिद्वीपादिषु सपरिकरस्य सशरीरस्य भगवतोऽवस्थानं शास्त्रेषु वर्णितमेव। हनुमतो गरुडस्य च वज्रसंहननशरीरत्वं वज्राप्रतिहतत्वञ्च रामायणभारतादिषु स्पष्टमेव। योगतन्त्रादिशास्त्रेषु निर्माणकायानां सिद्धानामपि वर्णनं दृश्यते। रसराजसेवनेनापि जरामरणराहित्यं गोविन्दभगवत्पादीयरसहृदयतन्त्रे रसेश्वरदर्शने च स्पष्टमेव। देवानामिन्द्रादीनामपि मनुष्याद्यपेक्षयाऽमरत्वं श्रूयते। "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" (श० ब्रा० २।६।३।१), "अपाम सोमममृता अभूम" (ऋ० ८।४८।३) इत्यादिश्रुतिभिर्देवानाममृतत्वमणिमादिशक्तिमत्त्वं युगपदनेकेषु ज्योतिष्टोमादियज्ञेषु सन्निधानञ्च सम्पद्यते। लौहमयकुड्यादिव्यवहितेऽपि देशेऽनायासेन सन्निधानसम्भवात् सर्वसाधारणशरीरापेक्षया तच्छरीराणां वैलक्षण्यसिद्धिः। भूरादिस्वर्लोकान्तानां प्रलयेऽपि भृग्वादीनां महर्लोकनिवासिनामवस्थानं ब्रह्मलोकस्य प्रलयकालपर्यन्तावस्थायित्वं श्रूयते, तदाऽनन्तब्रह्माण्डाधिपतेर्भगवतो देवदेवस्य सर्वेश्वरस्यात्तलीलाविग्रहस्य तदीयलोकस्य सपरिकरस्य नित्यत्वे कुतः शङ्कावकाशोऽपि? व्यासस्य कृपया सञ्जयस्यापि स्थूल-सूक्ष्म-सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टदर्शित्वं जातम्, किमुत व्यासस्याणिमादियोगसिद्धस्य?

का एकमात्र बीज बचा था।" भागवत में ही पत्थर के खंभे से नृसिंह भगवान् के प्रादुर्भाव का भी वर्णन है। जैसे कि—"अपने सेवक (प्रह्लाद) की वाणी को सत्य सिद्ध करने के लिये और सभी प्राणियों में अपनी व्याप्ति को बताने के लिये उस सभा में वर्तमान स्तम्भ में से ऐसा अनोखा रूप धारण किये भगवान् प्रकट हुए, जो कि न तो पूरा मृग का रूप था और न मनुष्य का ही।" अर्थात् आधा मनुष्य का आधा सिंह का शरीर भगवान् ने धारण किया।

इसी तरह के विष्णु, शिव आदि के अनेक रूपों का अनुभव उनके भक्तों को होता है। भक्तिभाव की उत्कृष्टता में उनका दर्शन भी होता है। वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलास मणिद्वीप प्रभृति में अपने भृत्यवर्ग के साथ सशरीर भगवान् का निवास शास्त्रों में वर्णित ही है। हनुमान् और गरुड़ का वज्र के समान दृढ और वज्र से भी नष्ट न होने वाला शरीर रामायण, महाभारत आदि में स्पष्ट वर्णित है। योग और तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में अनेक शरीर निर्माण कर लेने वाले सिद्धों का भी वर्णन मिलता है। रसराज पारद के सेवन से शरीर में जरा और मृत्यु का अभाव गोविन्द भगवत्पाद के रसहृदयतन्त्र नामक ग्रन्थ में तथा रसेश्वर दर्शन (सर्वदर्शनसंग्रह स्थित) में भी प्रदर्शित है। इन्द्र आदि का तथा अन्य देवताओं का शरीर भी श्रुतियों में मनुष्य देह की अपेक्षा अमर पाया गया है। "चातुर्मास्य यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले का पुण्य अक्षय होता है", "हम सोम पीकर अमर हो जाँय" इत्यादि श्रुतियों से प्रतीत होता है कि देवता गण मृत्यु से अतीत अणिमादि सिद्धियों से अनेक शरीर बनाकर सम्पन्न हो जाते हैं और ये ज्योतिष्टोम प्रभृति अनेक अनुष्ठानों में एक साथ ही उपस्थित हो सकते हैं। लोह की बनी हुई दीवाल जैसे व्यवहित प्रदेश में भी इनका देह अनायास पहुँच सकता है। अतः सर्व साधारण शरीर की अपेक्षा इनके शरीर में विलक्षणता माननी ही पड़ती है। भू से लेकर स्वर्गलोक पर्यन्त लोकों के लय हो जाने पर भी भृगु आदि महर्लोक निवासी महर्षियों की और ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों की अवस्थिति प्रलय काल पर्यन्त मानी गई है, ऐसी अवस्था में अनन्त ब्रह्माण्डों के अधिपति भगवान्, देवों के देव, सर्वेश्वर के लीलाविग्रह की और उसके सपरिकर लीलालोक की नित्यता में शंका को अवसर भी कहाँ है? व्यास की कृपा से जब संजय भी स्थूल, सूक्ष्म, सन्निकृष्ट, (समीप), विप्रकृष्ट (दूर) वस्तु को देखने में समर्थ हो गये, तो अणिमादि सिद्धियों से युक्त व्यास जैसे महात्माओं के विषय में क्या सन्देह हो सकता है?

"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छा० उ० ८।१।६)। यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यमिति तर्कसहकृतयाऽनया श्रुत्या देवादिप्राप्यस्यामृतत्वस्यापेक्षिकत्वेऽकर्मफलस्य स्वेच्छामयस्य भगवद्विग्रहस्य तद्धामादेश्चानापेक्षिकमेवामृतत्वादिकं मन्तव्यम्। सावयवत्वेन कार्यत्वं तेन चानित्यत्वानुमानं शास्त्रविरुद्धत्वादाभाससमानयोगक्षेममेव। अत एव नरशिरःकपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खशुक्तिकादिवत्; नरमूत्रं पवित्रम्, मूत्रत्वात्, गोमूत्रवत्; परस्त्री गम्या, स्त्रीत्वात् स्वस्त्रीवत्—इत्याद्यनुमानानि यथा शास्त्रविरुद्धत्वादप्रमाणानि तथैवेश्वरविग्रहाणामनित्यत्वादिसाधकानुमानमपि,

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

(म० भा० भी० प० ५।१२)

इत्यादिपुराणवचनेभ्यः। न च पूर्वोक्तनिरवयवाकायत्वादिबोधकवचनविरोधः, रूपभेदेन तदुपपत्तेः। यथा—"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च" (बृ० उ० २।३।१) इति श्रुत्या ब्रह्मणो मूर्तामूर्तभेदेन रूपद्वैविध्यं ज्ञायते, तथैव परमेश्वरस्य निर्गुणनिराकारसगुणनिराकार-सगुणसाकारभेदेन रूपत्रयव्यवस्थाप्युपपद्यते। जीवस्यापि स्वतोऽदेहस्यैव देहवत्त्वं कर्ममूलकं भवति, 'अशरीरं वाव सन्तं नैनं प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० उ० ८।१२।१) इत्यादिश्रुतेः। तथैव परमेश्वरस्य स्वतोऽशेषविशेषातीतस्य निर्गुणत्वे निराकारत्वे च सत्यप्यचिन्त्यानिर्वाच्यया दिव्यशक्त्या अनन्तकल्याणगुणाकरत्वमनन्तकोटिकन्दर्पदर्पदलनपटुतमश्रीविग्रहवत्त्वञ्च नानुपपन्नम्। भगवत्स्वरूपसत्त्वापेक्षया किञ्चिन्न्यूनसत्ताकत्वेन समानसत्ताकत्वाभावेनाद्वितीयत्वादिकमपि भगवतो न विरुद्ध्यते। यथा 'राजराजः, साक्षान्मन्मथमन्मथः, सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यः अग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः'

"जैसे यहाँ पर कर्मों से संचित इस लोक का सुख क्षीण हो जाता है, उसी तरह पुण्य से संचित परलोक के सुख का भी क्षय हो जाता है" यह श्रुति 'जो जो कृतक है, वह वह अनित्य है' इस तर्क के सहारे देवादि के द्वारा अमृतत्व की आपेक्षिकता को बताती हुई स्वेच्छामय भगवद्विग्रह और उसके धाम के कर्मसापेक्षता के अभाव में उनकी निरपेक्ष अमृतता का प्रतिपादन करती है। सावयवत्व से कार्यत्व का और कार्यत्व से अनित्यत्व का अनुमान शास्त्रविरुद्ध होने से आभास के समान ही माना जायगा। इसीलिये "मनुष्य का कपाल पवित्र है, क्योंकि शंख, शुक्ति आदि की तरह वह भी प्राणी का अंग है", "मनुष्य का मूत्र पवित्र है, क्योंकि वह भी गोमूत्र की तरह मूत्र है", "परस्त्री गम्य है, क्योंकि वह भी अपनी स्त्री के समान स्त्री है" इस तरह के अनुमान जैसे शास्त्र-विरुद्ध होने से प्रामाणिक नहीं माने जाते, उसी तरह ईश्वर के शरीर को अनित्य बताने वाले अनुमान भी प्रामाणिक नहीं माने जा सकते।

"जो भाव अचिन्त्य लौकिक दृष्टि से समझ में न आने वाले हैं, उनको तर्क से समझने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। जो स्वभाव प्रकृति से परे हैं, उसी को अचिन्त्य कहा जाता है" इत्यादि पुराण वचन इसी बात को सिद्ध करते हैं। इस तरह से परमेश्वर के निरवयवत्व और अशरीरत्व की प्रतिपादक पूर्वोद्धृत श्रुतियों का विरोध इसलिये नहीं होगा कि स्वरूप भेद से उन दोनों तरह की श्रुतियों का उपपादन किया जा सकेगा। जैसे कि "ब्रह्म के दो रूप हैं, एक मूर्त और दूसरा अमूर्त" इस श्रुति में ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त ये दो रूप बताये गये हैं, उसी तरह से परमेश्वर के निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार इन त्रिविध रूपों की व्यवस्था मानी जाती है। जीव भी स्वतः देह से रहित ही है, किन्तु कर्मों के कारण उसका देह से सम्बन्ध हो जाता है, "जब इसका शरीर से सम्बन्ध का भान छूट जाता है, तब इसको सुख और दुःख विकृत नहीं कर पाते" यह श्रुति इसमें प्रमाण है। इसी तरह से परमेश्वर के स्वतः समस्त विशेषणों से अतीत होने के कारण निर्गुण-निराकार होने पर भी अचिन्त्य, अनिर्वाच्य दिव्य शक्ति के कारण अनन्त कल्याण गुणों के खजाने और अनन्त कोटि कामदेवों के दर्प को दलन करने में समर्थ श्रीविग्रह (शरीर) मानने में कोई बाधा नहीं होगी। भगवान् के स्वरूप की सत्ता की अपेक्षा किसी दूसरे की सत्ता कुछ न्यून ही होगी। अतः समान सत्ता के अभाव में भगवान् के अद्वितीयत्व में कोई विरोध नहीं उठ पायेगा। जैसे 'राजाओं का राजा', 'साक्षात् मन्मथ का भी मन्मथ' (कामदेव के मन को भी अपने सौन्दर्य से मथित कर देने वाला), "वह प्रभु सूर्य का भी सूर्य और अग्नि का भी अग्नि और स्वामियों का भी स्वामी है" इत्यादि प्रयोग देखे जाते हैं, उसी तरह से "सत्य का भी सत्य" इत्यादि प्रयोगों को देखकर सत्य का भेद मान लिया जाता है और सत्य का भी सत्य परमार्थसत्

इत्यादयः प्रयोगा दृश्यन्ते, तथैव 'सत्यस्य सत्यम्' इत्यादिप्रयोगदर्शनेन सत्त्वभेदाभ्युपगमेन सत्यसत्यस्य परमार्थसतोऽद्वैतस्य भगवतोऽद्वितीयत्वमेव। यत्तु तत्र तत्र भगवच्छरीराणामुत्पत्तिर्दृश्यते, तद्भावाविर्भावाभिप्रायेणैव वेदितव्यम्,

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्। तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा। उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याऽप्यभिधीयते॥
इति मार्कण्डेयपुराणोक्तेः। (अ० ८१-श्लो० ४७।४८)

यथा शीतयोगेन जलस्यैव हिमकरकादिरूपत्वं भवति, तथैव दिव्यलीलाशक्त्या सच्चिदानन्दघनस्यैव श्रीकृष्णादिरूपेण प्राकट्यम्। तथा सङ्घर्षवशादव्यक्तस्याग्नेर्दाहकत्वप्रकाशकत्वविशिष्टाग्निरूपेण व्यक्तिः, तथैव जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलस्य भगवत एव भक्तानुग्रहवशात् तत्तद्विग्रहवत्त्वेन प्रादुर्भावः।

सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहितां मनोमयीं भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥
(श्रीमद्भागवत० १०।१२।३९)

तत्रैव—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः। अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥ इति।
(श्रीमद्भागवत० १०।१३।५४)

अत्र प्रथमश्लोकेऽघासुरवदनप्रविष्टस्य भगवतो नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमायत्वमुक्तम्। द्वितीये तु ब्रह्मणाऽनुभूयमानानां वत्सवत्सपादिरूपेणाभिव्यज्यमानभगवत्स्वरूपाणां सत्यज्ञानानन्तानन्दघनत्वमुक्तम्।

यदुक्तम्—'निराकारस्य साकारदेहो नोपपद्यते' इति, तन्मन्दम्, निराकाराणामेव जीवानां देहवत्त्वदर्शनात्। न्यायवैशेषिक-सांख्य-योगादिमते व्यापकानां निराकाराणां ज्ञानवतां ज्ञानरूपाणां वा निराकारत्वमेव। शैववैष्णवानामणुरूपाणां चित्कणानामपि निराकारत्वमेव। तथैव निराकारस्य देहवत्त्वं न नोपपद्यते। किञ्च, सृष्टिरेवे साकारा निराकारा-

अद्वैत भगवान् को अद्वितीय माना जाता है। कहीं-कहीं पर जो भगवान् के शरीरों की उत्पत्ति देखी गई है, वह केवल आविर्भाव (प्राकट्य) के अभिप्राय से है, जैसा कि मार्कण्डेय पुराण के इस वचन में कहा गया है—"सारे जगत् की प्रतिरूप वह भगवती नित्य है उसी से यह सारा जगत् व्याप्त है। तो भी वह अनेक प्रकार से प्रकट होती है, उसको तुम मुझसे सुनो। जब वह भगवती देवों के कार्यों को पूरा करने के लिये प्रकट होती है, तब लोक में वह उत्पन्न हुई, ऐसा कहा जाता है, यद्यपि वह है नित्य ही।"

जैसे शीत के योग से जल ही हिम (बर्फ), करका (ओला) आदि का रूप धर लेता है, उसी तरह से दिव्य लीलाशक्ति से सच्चिदानन्दघन ईश्वर ही श्रीकृष्ण आदि के रूप में प्रकट होते हैं। जैसे लकड़ियों को आपस में रगड़ने से दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि गुणों से युक्त अग्नि की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की लीला करने वाले भगवान् ही भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि का रूप धारण कर प्रकट होते हैं।

श्रीमद्भागवत के दो श्लोक इस प्रसंग में ऊपर मूल में उद्धृत किये गये हैं। प्रथम श्लोक में अघासुर के मुँह में प्रविष्ट भगवान् को मायातीत बताया गया है, क्योंकि उनको नित्य आत्मसुख की अनुभूति बनी रहती है। दूसरे श्लोक में ब्रह्मा के द्वारा देखे जा रहे गोवत्स, गोप आदि के रूप में अभिव्यक्त भगवत्स्वरूपों की सत्य, ज्ञान, अनन्त आनन्दघनता बताई गई है।

निराकार का साकार देह नहीं हो सकता, यह कहना इसलिये गलत है कि निराकार जीवों का देह प्रत्यक्ष सिद्ध है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग आदि सभी दार्शनिकों के मत में व्यापक, निराकार, ज्ञानवान् अथवा ज्ञानस्वरूप आत्मा निराकार ही माना गया है। शैव और वैष्णवों के मत में अणुरूप चिदात्मा भी निराकार ही है। उसी तरह निराकार की देहवत्ता क्यों न उपपन्न हो सकेगी? दूसरी बात यह साकार सृष्टि भी तो निराकार से ही पैदा होती है। गन्धरहित जल से गन्ध वाली पृथिवी, नीरस अग्नि से रसवान् जल

देवोत्पद्यते। निर्गन्धं जलम्, गन्धवती पृथिवी भवति, नीरसं- तेजः, सरसं जलं भवति नीरूपो वायू रूपवत्तेजो भवति, निःस्पर्शमाकाशं स्पर्शवान् वायुर्भवति। "अजायमानो वहुधा विजायते" (वा० सं० ३१।१९) इति श्रुतेश्च। किञ्च, येन तेषां तेषां जीवानां कर्मवशादनन्तानि शरीराणि निर्माणं प्रदीयन्ते, तेन स्वशरीरं निर्मातुं न पार्यत इति का वाचोयुक्तिः ?

ननु परमेश्वरस्य जगन्निर्माणे प्रवृत्तिः स्वार्था परार्था वा ? नाद्यः; अवाप्तसमस्तकामस्य तदनुपपत्तेः। न द्वितीयः, करुणया परार्थप्रवृत्तौ सुखिनामेव प्राणिनां सृष्टिप्रसङ्गात्। दुःखशबलानां निर्माणे करुणाविरोधात्। स्वार्थनैरपेक्ष्येण परदुःख-प्रहाणेच्छाया एव कारुण्यादिति चेन्न, सृज्यमानप्राणिकृतसुकृतदुष्कृतपरिपाकविशेषात् सकरुणस्यापि विषमसृष्टिनिर्माणे प्रवृत्ति-सम्भवात्। न चैवं स्वातन्त्र्यभङ्गापत्तिः स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवतीति न्यायेन तन्निर्वाहात्।

श्रुतिप्रमाणकत्वेऽपि नान्योन्याश्रयता, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—उत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा परस्पराश्रयः ? नाद्यः, आगमस्येश्वराधीनोत्पत्तिकत्वेऽपि परमेश्वरस्य नित्यत्वेनोत्पत्तेरनुपपत्तेः। न द्वितीयः, परमेश्वरस्यागमाधीनज्ञप्तिकत्वेऽपि तस्यान्यतोऽवगमात्।

तस्माद् अङ्कुर-तनु-भुवनादीनां कर्तृत्वादेव भगवतः सर्वज्ञत्वं सर्वकरणसमर्थत्वं च विज्ञायते। यथान्तर्भावित-प्रभावितान एव दीपः प्रादुर्भवति, तथैवान्तर्भावितसर्वज्ञत्व एव विश्वकर्ता परमेश्वरः सिद्ध्यति। घटकर्तृकुलालादयो यथो-पादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजनाभिज्ञा भवन्ति, तथैव परमाणुचतुष्टयक्षेत्रज्ञतत्समवायिधर्मादिविज्ञ एव विश्वकर्ता परमेश्वरः।

होता है, रूपरहित वायु से रूपवान् तेज होता है, स्पर्शरहित आकाश से स्पर्शवान् वायु पैदा हो जाता है। "यह अजन्मा परमात्मा ही अनेक रूपों में पैदा होता है" यह श्रुति का भी स्पष्ट कथन है। यह बात भी है कि जो ईश्वर उन उन जीवों के कर्म के अनुसार अनन्त शरीरों का निर्माण कर उन जीवों को प्रदान करता है, क्या वह अपने शरीर के निर्माण में समर्थ नहीं हो सकता ? क्या आपका ऐसा कथन उचित होगा ?

प्रश्न है कि परमेश्वर की जगत् के निर्माण में प्रवृत्ति स्वार्थ के लिये है या परार्थ के लिये ? परमेश्वर को सब कुछ प्राप्त है, अतः उसकी स्वार्थ के लिये प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परार्थ से भी प्रवृत्ति नहीं होगी, करुणा से यदि वह प्रवृत्त हुआ है तो उसको सुखी प्राणियों की ही सृष्टि करना चाहिये। दुःखमिश्रित जीवों के निर्माण में करुणा कहाँ रही ? बिना स्वार्थ की अपेक्षा के दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा ही तो करुणा कहलाती है। इसका उत्तर यह है—सृज्यमान प्राणियों के सुकृत और दुष्कृत कर्मों के परिपाक (फलोन्मुख=फल देने के लिये तत्पर) के कारण कारुणिक होते हुए भी परमेश्वर को विषम सृष्टि का निर्माण करना पड़ता है। इस तरह से तो परमेश्वर की स्वतन्त्रता भंग हो जायगी ? इसका उत्तर है कि अपना ही अंग अपना व्यवधानकारक नहीं माना जाता, अर्थात् ये सुकृत-दुष्कृत भगवान् के ही अंग हैं, इसलिये उनके बीच में आने पर भी परमेश्वर की स्वतन्त्रता किसी प्रकार से भी भंग नहीं होती।

श्रुति को परमेश्वर की सत्ता में प्रमाण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं होगा, क्योंकि आगे दिये जाने वाले विकल्प का यहाँ कोई उत्तर नहीं है। जैसे कि यह परस्पराश्रय दोष उत्पत्ति में होगा या ज्ञप्ति में ? यह उत्पत्ति में नहीं होगा, क्योंकि आगम की उत्पत्ति ईश्वराधीन मानने पर परमेश्वर की नित्यता के कारण उपपत्ति नहीं बनेगी। द्वितीय पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि परमेश्वर की आगमाधीन ज्ञप्ति होने पर भी अनुमान आदि अन्य द्वारों से भी वह हो सकती है।

इसलिये अंकुर, शरीर, भुवन (चतुर्दश लोक) आदि के कर्ता होने के कारण ही भगवान् सर्वज्ञ हैं और सभी पदार्थों की रचना करने में समर्थ भी हैं, यह समझना सरल है। जैसे अपने भीतर के प्रकाशपुंज को प्रकट करता हुआ ही दीपक जलता है, उसी तरह से अपने भीतर वर्तमान सर्वज्ञता की अभिव्यक्ति से ही परमेश्वर विश्वकर्ता के रूप में प्रकट होते हैं। घट के कर्ता कुलालादि जैसे उपादान, उपकरण, सम्प्रदान, प्रयोजन आदि से परिचित रहते हैं, उसी तरह से चार प्रकार के परमाणु, क्षेत्रज्ञ (जीव) और उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाले धर्म, अधर्म आदि की जानकारी रहने से ही परमेश्वर को इस विश्व का कर्ता माना जाता है।

ननु विश्वस्य सर्वज्ञपूर्वकत्वासाधने दृष्टान्तासिद्धया व्याप्तिग्रहासिद्धिः, विज्ञातृपूर्वकत्वसाधने तु सिद्धसाधनता। किञ्च, बालोन्मत्तादयो न स्वकार्याणामपि प्रयोजनादिवेदिनः, निरभिप्रायाणामेव तेषां प्रवृत्तेर्दर्शनात्। बुद्धिमत्पूर्वकत्वं तु विश्वस्यानीश्वरवादिनो मीमांसका अपि मन्यन्ते। तेषामपि कार्यजातस्य कर्मजत्वात्, कर्मणाञ्च जीवकारणत्वोपपत्तेः। असर्वज्ञपूर्वकत्वेनैव घटादावुत्पत्तिमत्त्वस्य व्याप्त्युपलब्ध्या विरुद्धता चेति कथमन्तर्भावितसर्वज्ञत्वविश्वकर्तृसिद्धिरिति चेन्न, उपलब्धिमत्पूर्वकत्वविषयत्वेऽप्यनुमानस्य तद्विशेषसर्वज्ञपूर्वकत्वविषयसिद्धिसम्भवात्। न च कथमन्यविषयकानुमानेनान्यसिद्धिरिति वाच्यम्, सामान्यमात्रव्याप्तावप्यन्तर्भावितविशेषस्यैव सामान्यस्य पक्षधर्मतावशेन साध्यधर्मिण्यनुमानात्, इतरथा सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। अत एव वह्न्यनुमानमपि न वह्निसामान्यमात्रविषयम्, तस्य प्रागेव सिद्धत्वात्। नापि तद्विशिष्टपर्वतविषयम्, वह्नित्वसामान्यस्य तत्सम्बन्धाभावेन तद्विशेषणत्वानुपपत्तेः। तथात्वे गोत्वसमवायाद् यथा शावलेयादयो गावो भवन्ति, तथैव वह्नित्वसमवायात् पर्वतोऽपि वह्निः प्रसज्येत। यदि तु वह्नित्वेन पर्वतस्य संयुक्तसमवायसम्बन्धोऽस्तीत्युच्येत, तदा तु नाप्रतिपन्नपर्वतसंयुक्तवह्निविशेषसम्बन्धः शक्यज्ञान इति वह्निविशेषस्याप्यनुमानमायातमेव। एवमेवेन्द्रियानुमानेऽपि ज्ञेयम्।

यद्यपि लोके नेन्द्रियकरणिका काचित् क्रियोपलभ्यते, छिदादयस्तु कुठारादिसाधना एव। रूपाद्युपलब्धिलक्षणास्तु क्रिया न कुठारादिसाधनाः सम्भवन्ति, तथापि क्रियात्वसामान्यस्य करणमात्राधीनत्वव्याप्त्या पक्षधर्मतावशादिन्द्रियलक्षणकरणविशेषः सिद्ध्यति। तथैव प्रकृते बुद्धिमत्पूर्वकत्वकार्यत्वसामान्यव्याप्त्या सर्वज्ञपूर्वकत्वविशेषसिद्धिः। अन्यथा सामान्यस्यापि

प्रश्न होता है कि जगत् सर्वज्ञ ईश्वर से ही रचा जाता है, ऐसे यदि विश्व की सर्वज्ञपूर्वकता सिद्ध की जाती है और उसको अनुमान से सिद्ध करना हो तो उसमें दृष्टान्त न मिलने से व्याप्तिग्रह सिद्ध नहीं होगा, इस दोष को दूर करने के लिये यदि विश्व का जानकार द्वारा रचना सिद्ध करना है तो सिद्धसाधनता होगी। दूसरी बात बालक, उन्मत्त आदि अपने कार्य का भी प्रयोजन नहीं जानते, क्योंकि बिना किसी अभिप्राय के ही उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अनीश्वरवादी मीमांसक भी विश्व की रचना बुद्धिपूर्वक ही मानते हैं। उनके मत में भी कोई भी कार्य किसी क्रिया से ही होगा और कर्मों का कारण कोई जीव ही हो सकता है। घटादि में उत्पत्तिमत्त्व की व्याप्ति असर्वज्ञपूर्वकत्व के साथ ही मिलती है, अतः सर्वज्ञता के साथ व्याप्ति विरुद्ध हेत्वाभास से ग्रस्त है, ऐसी अवस्था में सर्वज्ञता विश्वकर्ता की सिद्धि कैसे होगी? इसका उत्तर इस प्रकार है—अनुमान के विषय की उपलब्धि से व्याप्ति बन पाने पर भी उपलब्धि विशेष रूप सर्वज्ञता की सिद्धि हो सकती है। अर्थात् अनुमान से तो हम उपलब्धिमान् कर्ता की ही सिद्धि करेंगे, किन्तु बिना विशेष के कोई सामान्य होता नहीं। इसलिये सर्वज्ञरूप विशेष की सिद्धि स्वतः हो जायगी। सामान्य विषयक अनुमान से विशेष साध्य की सिद्धि कैसे होगी? उत्तर है कि सामान्य मात्र की व्याप्ति में भी विशेषों से युक्त सामान्य की ही पक्षधर्मता मानी जाती है, अतः साध्य धर्मी में सामान्य के साथ विशेष का भी अनुमान से ज्ञान हो सकता है। ऐसा न मानने पर सभी अनुमान उच्छिन्न हो जायेंगे। इसलिये वह्नि का अनुमान भी केवल सामान्यमात्र विषयक नहीं होगा, क्योंकि वह तो पहले से ही सिद्ध है। वह्निविशिष्ट पर्वत भी उसका विषय नहीं है, क्योंकि वह्नित्व सामान्य से उसका सम्बन्ध न होने से वह पर्वत का विशेषण न बन सकेगा। यदि ऐसा मान लिया जाय तो जैसे गोत्व के सम्बन्ध से काली-पीली आदि सभी गायें होती हैं, उसी तरह से वह्नित्व सामान्य के सम्बन्ध से पर्वत भी वह्नि माना जाना लगेगा। यदि यह कहा जाय कि वह्नित्व का पर्वत से संयुक्तसमवाय संबन्ध है, तो इस परिस्थिति में जब तक पर्वत के साथ वह्नि विशेष का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होगा, तब तक इसका ज्ञान नहीं हो सकता, फलतः वह्नि विशेष का अनुमान हो ही गया। इसी तरह से इन्द्रिय के अनुमान के विषयक में भी समझना चाहिये।

यद्यपि लोक में साक्षात् इन्द्रियों से कोई क्रिया नहीं देखी जाती, छेदन क्रिया कुठार (कुल्हाड़ी) से होती है। रूपादि की ज्ञान रूप क्रियाएँ कुठार से नहीं होती, तो भी जहाँ-जहाँ क्रिया होती है, वहाँ वहाँ उनका कोई असाधारण कारण होता ही है, इस नियम से पक्षधर्मता के बल से इन्द्रियस्वरूप असाधारण कारण की सिद्धि होती है। इसी तरह जितने कार्य होते हैं वे किसी बुद्धिमान् के द्वारा ही होते हैं, इस सामान्य नियम से ही जगत् के कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर रूप विशेष कर्ता की सिद्धि हो जायगी। अन्यथा व्यापक रूप में अभिमत सामान्य की भी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि विशेष रहित सामान्य

व्यापकाभिमतस्याप्यसिद्धिः, निर्विशेषस्य तस्यासम्भवात्। न चान्यो विशेषस्तत्र सम्भवति, अदृष्टादिविशेषानभिज्ञस्यासर्वज्ञस्याधिष्ठानत्वानुपपत्तेः। न च साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुत्कर्षापकर्षानुयोगो युक्तः, सर्वानुमानसाधारण्येनानुमानमात्रप्रामाण्यप्रतिषेधहेतुत्वात्। न च सकलक्षेत्रज्ञसमवायिधर्माधर्मज्ञानकारणाभावेन कथमीश्वरस्य तज्ज्ञानमुत्पद्यत इति वाच्यम्, तज्ज्ञानप्रयत्नचिकीर्षायां नित्यत्वाभ्युपगमेन कारणापेक्षाऽयोगात्। लोकेऽनित्यस्यैव ज्ञानस्य दर्शनात् कथं नित्यज्ञानाभ्युपगम इति चेत्, तर्हि जलादिपरमाणवोऽपि न रूपादिमन्तः प्रसज्येरन्, पार्थिवानां रूपादीनां कारणानामुपलब्धेः, जलादिषु च तेषामकार्यत्वात्। हिमकरकादौ रूपादिदर्शनात् कार्यद्रव्यगतानाञ्च तेषां कारणगुणक्रमेण भावाज्जलीयानामपि परमाणूनां रूपादिमत्ता ज्ञायते। सदा कारणतया च तद्गतानि रूपादीनि नित्यानीति चेत्, तर्हीहापि कार्यत्वेनाचेतनोपादानत्वेन वा समस्तज्ञानानुमानात्, तस्य च कारणतया नित्यत्वसिद्धेः समानत्वात्।

न चैवमपि संयोगसमवायसम्बन्धाभावात् परमेश्वरः कथं परपुरुषसमवेतौ धर्माधर्मावधितिष्ठतीति वाच्यम्, संयुक्तसंयोगिसमवायसम्बन्धे तदाधिष्ठातृत्वसम्भवेनादोषात्। न च तादृक्सम्बन्धे मानाभाव इति वाच्यम्, 'ईश्वरः क्षेत्रज्ञसंयुक्तः, मूर्तद्रव्यसंयोगित्वात्, यथा घटः' इत्यनुमानस्यैव तत्र मानत्वात्। यथा मूर्तद्रव्यसंयोगी घटः क्षेत्रज्ञसंयुक्तो भवति, तथैव मूर्तद्रव्यपृथिव्यादिपरमाणुचतुष्टयप्रयोजकत्वादीश्वरस्यापि मूर्तद्रव्यसंयोगित्वेन क्षेत्रज्ञसंयोगिसमवायसम्बन्धेनेश्वरः परात्मसमवेतौ धर्माधर्मावधितिष्ठति। संयोगोऽप्यन्यतरोभयकर्मसंयोगानां तत्कारणानामभावादजन्य एव। धर्माधर्मयोश्च

कहीं भी मिलता ही नहीं। दूसरी कोई विशेषता वहाँ बन नहीं सकती, अदृष्ट (धर्माधर्म) आदि विशेषताओं से अनभिज्ञ असर्वज्ञ, उनका अधिष्ठान नहीं हो सकता। यह कहना गलत है कि साध्य और दृष्टान्त में धर्म के भेद के कारण उत्कर्ष और अपकर्ष का विचार हो सकता है, क्योंकि यह बात सभी अनुमानों में सामान्य रूप से लागू होती है, अतः सभी अनुमानों के प्रामाण्य का निषेध होने लगेगा। यह पूछना भी गलत है कि सकल क्षेत्रज्ञ में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले धर्म और अधर्म के ज्ञान का कोई कारण न होने से ईश्वर को सबके धर्माधर्म का ज्ञान कैसे होगा? क्योंकि ईश्वर के ज्ञान, प्रयत्न, चिकीर्षा नित्य माने जाते हैं, अतः उनके लिये कारण की खोज अनावश्यक है। लोक में तो ज्ञान अनित्य ही देखा जाता है, तब नित्य ज्ञान की स्वीकृति कैसे मानी जा सकती है? इसका उत्तर यह है कि ऐसा मानने पर तो जलादि के परमाणु भी रूपादि से युक्त न बन सकेंगे, क्योंकि पार्थिव परमाणु ही पृथ्वी के रूपादि के कारण हैं, वे जलादि में अपने कार्य को नहीं पैदा कर सकते। जल से पैदा होने वाले बर्फ, ओले प्रभृति में रूपादि देखे जाते हैं और कार्य द्रव्य में इनकी स्थिति कारण में स्थिति के आधार पर ही हो सकती है, इस अनुमान से जलीय परमाणु में भी रूपादि का ज्ञान होता है। यदि जलादि परमाणुगत रूपादि में सदैव कारणता विद्यमान है, इसलिये उनमें रहने वाले रूपादि नित्य हैं, तो उसी तरह से यहाँ भी कार्यत्व हेतु से अथवा अचेतनोपादानत्व हेतु से समस्त ज्ञान का अनुमान कर लेना सरल होगा और कारण होने से उसकी नित्यता भी स्वतः सिद्ध हो जायगी।

इतने पर भी ईश्वर दूसरे जीवों में रहने वाले को बिना जाने कैसे आधार बनाता है? क्योंकि दूसरों की आत्मा में रहने वाले धर्म-अधर्म का ईश्वर के साथ संयोग, समवाय आदि कोई सम्बन्ध तो है नहीं, ऐसी शंका नहीं करना चाहिये। कारण—संयुक्त संयोगी समवाय सम्बन्ध दूसरों की आत्मा में रहने वाले धर्मों के साथ ईश्वर है ही। उन्हीं को आधार बनाकर ईश्वर के फल देने में कोई दोष नहीं है। यदि कहो कि इस तरह के सम्बन्ध में क्या प्रमाण है, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि घट जैसे रूपवान् द्रव्य का संयोगी है वैसे ही ईश्वर भी रूपवान् द्रव्य का संयोगी होने के कारण जीव से भी संयुक्त है ही। यह अनुमान ही उसमें प्रमाण है। जिस रूपवान् द्रव्य के साथ संयोग वाला घड़ा जीव से संयुक्त है, वैसे ही रूपवान् द्रव्य पृथिवी आदि चार परमाणुओं का प्रयोजक होने के कारण ईश्वर भी रूपवान् द्रव्य का संयोगी है। अतः रूपवान् द्रव्य संयोगी होने के कारण घड़े में जैसे जीव का संयोगी सिद्ध है, वैसे ही रूपवान् द्रव्य संयोगी होने के कारण ईश्वर में भी जीव का संयोग सिद्ध हो ही जायगा। तब परमाणु से संयुक्त ईश्वर, ईश्वर से संयुक्त जीव, उस जीव में (समवाय सम्बन्ध से) रहने वाले धर्माधर्म, इस प्रकार ईश्वर का संयुक्तसंयोगी समवाय सम्बन्ध से जीव में रहने वाले धर्माधर्म के साथ भी सम्बन्ध हो ही गया, अतः उन्हें जानकर उनके आधार पर विविध प्रकार के सुख-दुःख वाले जीवों को ईश्वर पैदा करता है, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है। संयोग भी एक दूसरे और दोनों के कर्मों के संयोगों का और उनके कारण न होने से यहाँ पैदा होने वाला न

कार्यारम्भाभिमुख्येनैव प्रवृत्तिः। सा च देशकालादिवदीश्वरप्रयत्नमप्यपेक्षते। न च स्वधर्मागृहीतानां परमाणूनां परसमवेतधर्माधर्मयोश्च कथमीश्वरः प्रेरक इति वाच्यम्, स्वधर्मानुपगृहीतस्य विषयस्य विषविद्याविदेव परेशेन तत्प्रेरणसम्भवात्। ज्ञानादीनां नित्यत्वेन शरीरनैरपेक्ष्येणैव सर्वकार्यकरणसामर्थ्यमपि तेन सूपपादम्। तन्मात्रादेव परमाण्वदृष्टादीनां प्रवृत्तौ तनुभूरुहादिकार्योपपत्तेः।

ननु नेश्वरः कर्ता, प्रयोजनाभावात्, अनित्यमीश्वरविज्ञानं विज्ञानत्वात्—इत्यादिप्रत्यनुमानानि बाधकानीति चेन्न, धर्मिप्रसिद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां विरोधादाश्रयासिद्धेः। न च बुद्धिमत्कर्तृकत्वमन्तराऽप्यज्ञातरूपाणामिन्द्रियमनसां विज्ञानोत्पत्तिं प्रति जनकत्वाद् वत्सविवृद्धिनिमित्ततयाऽचेतनस्य क्षीरस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तेः, प्रयत्नमन्तरा वनविटपिनामुत्पाददर्शनाच्च व्यभिचार इति वाच्यम्, तेषां पक्षकुक्षिनिक्षेपेणादोषात्। न च शशशृङ्गस्येवानुपलब्धिविरोधान्नेश्वरसिद्धिरिति वाच्यम्, अपरोक्षदर्शनानर्हतया परेशस्य तदविरोधात्। अन्यथा सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गः। शशीयशृङ्गस्य तु गवादिगतस्येव दर्शनानर्हस्यानुपलब्धिनिराकृतस्य साधनानर्हत्वमेव। न च पक्षेण व्यभिचारः तस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। 'नित्येतरत्सर्वं सर्वज्ञपूर्वकम्, उत्पत्तिमत्त्वात्, अचेतनोपादानत्वाच्च, यन्नैवं तन्नैवं यथा परमाण्वादि' इत्यनुमानेनापि परेशसिद्धिः।

यदि चेतनानधिष्ठितानि यत्र क्वचन स्थितानि कारणानि कार्यं जनयेयुः, तदा न देशकालप्रतिनियतकार्यमुपलभ्येत। हेतुसमवधानसापेक्षतया न प्रत्येकं कारणैर्जन्यत इति चेत्, तदर्थमेव समवधायकस्य चेतनास्यानिवार्यतया सिद्धेः।

मान कर स्वाभाविक ही मानना पड़ेगा। धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति कार्यारम्भ की अभिमुखता के लिये ही होती है। देश और काल की तरह इसमें भी ईश्वर के प्रयत्न की अपेक्षा रहती है। अपने धर्म के रूप से अज्ञात परमाणु और दूसरों में रहने वाले धर्माधर्म का ईश्वर कैसे प्रेरक हो सकता है? उत्तर है कि विषविद्या का जानने वाला (सपेरा) जैसे अपने धर्म के रूप से अगृहीत विष का प्रेरक होता है उसी तरह से परमेश्वर में भी यह संभव है। ज्ञानादि की नित्यता के कारण ही ईश्वर शरीर निरपेक्ष रह कर ही सभी कार्यों को करने में समर्थ है। इतने से ही परमाणु, अदृष्ट आदि की प्रवर्तकता के कारण शरीर, वृक्ष आदि कार्यों की उत्पत्ति संभव हो सकेगी।

ईश्वरकर्ता नहीं है; क्योंकि संसार के बनाने में उसका कोई प्रयोजन नहीं है, ईश्वर का विज्ञान अनित्य है, क्योंकि वह भी विज्ञान है, इस तरह के विपरीत अनुमान ईश्वर के कर्तृत्व और ज्ञान के अनित्यत्व में बाधक होंगे, यह कहना भी इसलिये ठीक नहीं है कि उक्त अनुमानों में धर्मी को प्रसिद्ध मानने पर विरोध तथा अप्रसिद्ध मानने पर आश्रयासिद्धि होगी। बुद्धिमान् कर्ता के बिना भी अज्ञात स्वरूप वाले इन्द्रिय एवं मन विज्ञान की उत्पत्ति में कारण होते हैं, बछड़े की वृद्धि के लिये अचेतन क्षीर (दूध) की भी स्वतन्त्र प्रवृत्ति होती है, प्रयत्न के बिना भी वन के वृक्षों की उत्पत्ति देखी जाती है, अतः आपके अनुमान में व्यभिचार दोष होगा" यह कथन भी इसलिये ठीक नहीं है कि ये सब पक्ष के पेट में ही समाविष्ट है। अर्थात् इनको भी पक्ष मान कर इनमें भी हम ईश्वरकर्तृकत्व रूप साध्य की सिद्धि करते हैं। शशशृंग के समान ईश्वर का अभाव न मानने पर अनुपलब्धि प्रमाण का विरोध होगा, यह कथन भी गलत है, क्योंकि परमेश्वर को हम प्रत्यक्ष देख नहीं सकते, अतः यहाँ पर अनुपलब्धि का विरोध नहीं होगा। अन्यथा सभी अनुमान उच्छिन्न हो जायेंगे। शशशृंग (खरगोश के सींग) की तो अनुपलब्धि इसलिये मान ली जाती है कि यदि वह होता तो गाय आदि के सींग के समान उपलब्ध होता, अतः शशशृंग के दृष्टान्त से हम ईश्वर का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते। पक्ष के साथ व्यभिचार भी नहीं है, क्योंकि पक्ष तो सर्वत्र बन सकता है। नित्य पदार्थ के अतिरिक्त सभी पदार्थ सर्वज्ञ से उत्पन्न हुए है, क्योंकि वे उत्पत्ति वाले हैं और अचेतन उपादान कारण वाले हैं, जो उत्पत्ति वाले और अचेतन उपादान वाले नहीं है वे उत्पत्ति वाले भी नहीं है, जैसे कि परमाणु इस अनुमान से भी परमेश्वर की सिद्धि होती है।

यदि चेतन से अनधिष्ठित जहाँ कहीं स्थित कारण कार्य को पैदा करने लगे तो देश और काल की व्यवस्था कार्य के साथ नहीं रहने पावेगी। कारण को कार्य की उत्पत्ति के लिये हेतु के सान्निध्य की अपेक्षा रहती है। इसीलिये चाहे जो कार्य चाहे जिस कारण से अथवा चाहे जिस देश-काल में उत्पन्न नहीं होता, ऐसा मान लेने पर तो चेतन का सांनिध्य मानना भी अनिवार्य रूप से

न च कादाचित्कादृष्टपरिपाकवशात् तदुपपत्तिः, तस्याचेतनत्वेन समवधायकत्वासम्भवात्। न च तत्र तत्रावस्थितानि दण्ड-चक्र-चीवर-मृत्तिकादीन्यदृष्टवशादेव कुलालनैरपेक्ष्येण सन्निधीयन्ते, सन्निहितानि वा कार्यस्येशते।

अत्र मीमांसका अन्ये च प्रत्यवतिष्ठन्ते—उपादानादिज्ञोऽपि कुम्भकारः कुम्भचिकीर्षुर्भवति कदाचिदन्यदा न भवति। चिकीर्षुरप्यलसतयाऽयतमानो न करोति कुम्भमिति ज्ञानेच्छाकृतिसमुदायजन्यः कार्योत्पादः कथं ज्ञानमात्राद् भवति? तथात्वे केवलादग्नेरपि धूमोत्पत्तिः स्यात्। न च लोकोत्तरस्येशस्य ज्ञानमसहायमेव सर्वक्षमम्, तथात्वे स्वरूपातिशयस्यैव ज्ञानानपेक्षस्यापि विश्वोत्पादकत्वसम्भवेन ज्ञानस्यापि नैरर्थक्यप्रसङ्गात्। न च तथापि नासहायादेकस्मात् किञ्चित् कार्यमुत्पद्यत इति वाच्यम्, धर्माधर्मपरमाणूनां साहाय्यसद्भावात्। न चाविज्ञाता न प्रवर्तन्त इति ज्ञानापेक्षापि भवत्विति वाच्यम्, तत्र हेत्वभावात्। कुम्भादिकार्येषु तथा दर्शनादिति चेत्, तर्हि तद्वदेव चिकीर्षाप्रयत्नयोरप्यपेक्षणीयत्वापातात्। तत्रापि ज्ञानं चिकीर्षाविशेषे, चिकीर्षा च प्रयत्नभेद उपयुज्यते, प्रयत्नापरपर्यायायाः कृतेरेव साक्षात्कार्योदयहेतुत्वात्। नहि वह्निमन्तरेण तुषक्षेपफूत्कारमात्रेण सिद्ध्यत्योदनः। यदि तावप्यङ्गीक्रियेते, तदापि तौ नित्यावनित्यौ वा? नित्यौ चेत्कृतमस्य ज्ञानेन चिकीर्षाप्रयत्नोत्पादानुपयोगिना, तयोर्नित्यतया स्वोत्पादनानपेक्षणाद् ज्ञानस्य साक्षात्कार्यानङ्गत्वाच्च। चिकीर्षापि निरर्थिकैव, निष्पादितक्रिये कर्मण्यविशेषायिन्याः साधनत्वायोगात्। यद्यनित्यौ तौ तदापि कारणं वाच्यम्। न च परेशनित्यज्ञानमेव तन्मूलमिति वाच्यम्, आत्ममनःसंयोगविशेषासमवायिकारणयोश्चिकीर्षाप्रयत्नयोस्तदन्तरा ज्ञानमात्रादुत्पत्तौ तण्डुलमन्तरापि मण्डोत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च मुक्तात्ममनोभिः संयोगा अपि सन्त्येवेति तैश्चिकीर्षाप्रयत्नप्रचयो जन्यते तत्तत्कार्यानुकूल इति वाच्यम्, विकल्पानुपपत्तेः। अनधिष्ठितानां तेषां संयोगानां चिकीर्षाप्रयत्नजनने तैरेव व्यभि-

आवश्यक हो जाता है। अकस्मात् अदृष्ट के परिपाक से भी उसकी उत्पत्ति मान लेना युक्तियुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि अचेतन अदृष्ट कभी समवधायक नहीं हो सकता। अलग अलग पड़ी हुई दण्ड, चक्र, चीवर, मृत्तिका प्रभृति सामग्री केवल अदृष्ट के कारण बिना कुम्भकार की सहायता के इकट्ठी नहीं हो जाती और संनिहित रहने पर भी कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती।

यहाँ पर मीमांसक, सांख्य, बौद्ध, जैन आदि ईश्वर को न मानने वाले दार्शनिकों का कहना है कि पूरी साधन सामग्री की पूरी तरह जानकारी रखता हुआ भी कि कुम्हार कभी घट बनाना चाहता है, कभी नहीं। बनाने की इच्छा होते हुए भी कभी आलस्यवश घट नहीं बनाता। अतः कार्य की उत्पत्ति में ज्ञान, इच्छा और कृति की सामूहिक कारणता है, केवल ज्ञान से यह कैसे उत्पन्न हो सकता है? केवल ज्ञान से ही घड़े की उत्पत्ति मान लेने पर तो केवल अग्नि से भी धूम की उत्पत्ति होगी, गीले इन्धन की आवश्यकता नहीं रहेगी। यह कहना कि ईश्वर लोकोत्तर है, उसका ज्ञान ही बिना किसी की सहायता के सब कुछ करने में समर्थ है, ऐसा मानने पर तो ज्ञान की भी अपेक्षा के बिना यह स्वरूपातिशय से ही विश्व की उत्पत्ति में समर्थ हो जायगा, ऐसी अवस्था में ज्ञान की भी क्या आवश्यकता है? क्योंकि लोकोत्तर विशिष्ट स्वरूप वाले ईश्वर से ही सब कुछ पैदा हो ही जायगा। बिना सहायकों के कोई भी अकेला कुछ कर नहीं सकता, यदि आप ऐसा कहें तो उस अवस्था में धर्म, अधर्म और परमाणुओं को सहायक माना जा सकता है! बिना ज्ञान के प्रवृत्ति न होने से ज्ञान की भी अपेक्षा रहेगी, किन्तु आपके इस कथन में कोई कारण नहीं दिखलाया गया है। कुम्भादि कार्यों में देखा गया है कि ज्ञान के आधार पर ही उसमें कुम्भकार की प्रवृत्ति होती है, तो इसी तरह से ज्ञान के समान चिकीर्षा और प्रयत्न भी लोक में अपेक्षित रहते हैं। इनमें भी ज्ञान का चिकीर्षा विशेष में और चिकीर्षा का प्रयत्न भेद के रूप में व्याख्यान हो सकता है, कार्य की सिद्धि में तो सीधा उपयोग प्रयत्न शब्द से कही जाने वाली कृति का ही होता है। बिना वह्नि के चूल्हे में तुष डालने और फूक मारने से भात नहीं पक जाता। यदि चिकीर्षा और प्रयत्न को भी अंगीकार किया जाता है, तो यह बताना पड़ेगा कि ये नित्य हैं या अनित्य? यदि ये नित्य है तो चिकीर्षा और प्रयत्न के उत्पादन में अनुपयोगी ज्ञान की अपेक्षा ही क्या है, क्योंकि चिकीर्षा और प्रयत्न के नित्य होने से अपनी उत्पत्ति में वे किसी की अपेक्षा न रखेंगे। ज्ञान साक्षात् किसी कार्य का अंग होता नहीं। इन दोनों में भी चिकीर्षा निरर्थक हैं, क्योंकि क्रिया के द्वारा निष्पादित कार्य में यह कोई विशेषता नहीं ला सकती। इसलिये उसे कारण मानना ठीक नहीं। यदि ये दोनों अनित्य हैं। अर्थात् पैदा होने वाली है, तो इनका कारण बताना पड़ेगा। परमेश्वर का नित्य ज्ञान इनका कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि चिकीर्षा और प्रयत्न दोनों आत्मा और मन के संयोगविशेष रूप असमवायि करण से ही पैदा होते हैं, इस संयोग के बिना ध्यानमात्र से इनकी

चारः, अधिष्ठितानां तत्त्वेऽधिष्ठानार्थं प्रयत्नान्तरापेक्षा, तदर्थञ्च चिकीर्षान्तरजन्मनान्येन प्रयत्नेनाधिष्ठानमपेक्षितम्। तथा चानवस्थानम्। न च चिकीर्षाप्रयत्नप्रवाहस्यानादित्वान्नोनवस्थादोष इति वाच्यम्, जगदुपसञ्जिहीर्षोः परमेश्वरस्य क्षेत्रज्ञेषु प्रतिबन्धनिवृत्तेर्धर्माधर्मनिचयेषूपरते जगति च परमाण्ववस्थामापन्ने निर्व्यापारस्य कियन्तं कालं स्थित्वा पुनरपि जगच्चिकीर्षोरपेक्षितयोश्चिकीर्षाप्रयत्नयोः कथमुत्पत्तिः ? न तदानीं चिकीर्षान्तरं प्रयत्नान्तरं वास्ति, येन मनसां तत्संयोगानामधिष्ठानं स्यात्। न च सवितृप्रकाशवदीश्वरस्य ज्ञानमात्रमिच्छामात्रं प्रयत्नमात्रं वा तत्तद्भावभेदोपधानात्तद्विषयं भवतीति युक्तम्, परस्पराश्रयत्वात्। तत्तद्भावोपधाने तत्तद्विषयत्वं तत्तद्विषयत्वे च सति तत्तदुपधानम्। उपधीयमानानधिष्ठाने तदुपधानस्य कार्यस्यानुत्पादः, तस्य चाधिष्ठानादुत्पत्तेः। नहि पक्षधर्मताबलाद्विचारासहो विशेषो धर्मिण्युपसंह्रियते। नहि स्वयमनुपपद्यमानमन्यस्योपपादनायालम्।

न चासति विशेषे कथमानुमानिकस्य सामान्यस्य सिद्धिरिति वाच्यम्, असम्भावितं तादृशं विशेषमास्थाय क्षित्यादौ बुद्धिमत्कर्तृकत्वसामान्यस्याप्यसिद्धेः। न चैवं सर्वानुमानोच्छेदः, सम्भवद्विशेषविषयत्वादितरेषाम्। नहि पर्वतवह्निविशेषोऽनुद्भूतरूपस्पर्शो वा तेजसो रूपोपलब्धिसाधनं न सम्भवति, कारणानां विचित्ररूपसंस्थानसामर्थ्यानां तत्र तत्रोपलब्धेः।

अपि च त एवाचेतनोपादाना उत्पत्तिमन्तो बुद्धिमत्पूर्वका भवन्ति, ये बुद्धिमदन्वयव्यतिरेकानुविधायिभावभावाः प्रमाणेनोपलब्धाः, यथा शय्याप्रासादादयः। न तनुभुवनादयः, तथाऽनुपलम्भात्। न च घटादेस्तथोपलम्भाद् गगनादेरनुत्पत्ति-

उत्पत्ति मानने पर चावल के बिना भी मांड पैदा होने लगेगा। मुक्त आत्माओं के मन से संयोग मानकर उससे चिकीर्षा और प्रयत्न की उत्पत्ति यदि मानी जाय, तो आगे दिये विकल्प का कोई उत्तर न बन सकेगा। उक्त संयोग बिना किसी अधिष्ठान के यदि चिकीर्षा और प्रयत्न को उत्पन्न करते हैं तो उन्हीं से व्यभिचार होगा। अब यदि अधिष्ठान होकर उनको उत्पन्न करते हैं, तो अधिष्ठान के लिये दूसरे प्रयत्न की अपेक्षा होगी और उसके लिये चिकीर्षा के बाद पैदा होने वाले अन्य प्रयत्न के अधिष्ठान की अपेक्षा होगी। इस तरह से अनवस्था हो जायगी। चिकीर्षा और प्रयत्न के प्रवाह को अनादि मानकर इसका परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि परमेश्वर को जब जगत् का संहार करने की इच्छा होती है, तब धर्म और अधर्म के व्यापार के उपरत हो जाने से जीवों के प्रतिबन्ध निवृत्त हो जाते हैं और जगत् परमाणु अवस्था में स्थिर हो जाता है। उस समय कुछ समय के लिये निर्व्यापार रूप में स्थित परमेश्वर की जब पुनः जगत् के निर्माण की इच्छा होती है, तो चिकीर्षा और प्रयत्न की उत्पत्ति कैसे होगी ? उस समय कोई दूसरी चिकीर्षा अथवा प्रयत्न तो है नहीं, जिससे कि मन का और उसके संयोगों का अधिष्ठान बन सके। सूर्य के प्रकाश के समान ईश्वर का ज्ञानमात्र, इच्छामात्र अथवा प्रयत्नमात्र उन-उन भावों में उदित होकर उन-उन विषयों के रूप में परिणत हो जाते हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ पर भी परस्पराश्रय दोष होगा, क्योंकि उस-उस भाव के उपधान होने पर तत्तद्विषयकत्व और उस-उस विषय के होने पर तत्तदुपधान माना जायगा। उपधीयमान के अधिष्ठान न होने पर तदुपहित कार्य का उत्पाद नहीं होगा, क्योंकि उसकी उत्पत्ति अधिष्ठान से ही होती है। पक्षधर्मता के बल से समझ में न आनेवाली कोई विशेषता धर्मी में नहीं सिद्ध की जा सकती। जो स्वयं ही युक्तियुक्त नहीं है, वह दूसरे को युक्तियुक्त कैसे सिद्ध कर सकता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि विशेष के अभाव में आनुमानिक सामान्य की सिद्धि कैसे की जा सकती है, क्योंकि ऐसा मानने पर इसी तरह के किसी असंभावित विशेष का आश्रय लेकर क्षित्यादि के बुद्धिमत्कर्तृकत्व रूपी सामान्य की भी असिद्धि हो जायगी। इस तरह से सभी अनुमानों का उच्छेद भी नहीं होगा, क्योंकि उनके लिये विशेष विषय की संभावना बनी रहेगी। पर्वत में विद्यमान वह्निविशेष रूप और स्पर्श के अनुकूल होने पर भी तेज के रूप की उपलब्धि का साधन न हो, ऐसी बात नहीं है। कारणों की विचित्ररूपता, विचित्रसंस्थान और विचित्र सामर्थ्य भिन्न-भिन्न स्थलों में सर्वत्र पाई जाती है।

एक बात यह भी है कि वे ही अचेतन उपादान कारण अपनी उत्पत्ति में बुद्धिमत्त्व की अपेक्षा रखते हैं, जिनका कि अन्वय और व्यतिरेक बुद्धिमत्त्व के साथ बनता है, जैसे कि शय्या, प्रासाद आदि। तनु, भुवन आदि के विषय में ऐसा नहीं देखा जाता। उत्पत्तिमान घटादि में यह अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है और अनुत्पत्तिमान् गगनादि में नहीं देखा जाता, उत्पत्तिमत्त्व घटादि और

मतस्तथानुपलम्भाद् उत्पत्तिमत्त्वस्य घटादौ तन्वादौ च तुल्यत्वात् तथात्वमिति वाच्यम्, मृद्विकारस्य घटादेर्मनुष्यकार्यत्वोपलब्धावपि शक्रमूर्ध्नस्तदसिद्धिवत्तन्वादेस्तदसिद्धेः। यथा मृद्विकारत्वसंस्थानयोः समानत्वेऽपि मनुष्यनिर्माणान्वयव्यतिरेकानुविधानादर्शनान्न शक्रमूर्ध्नो मनुष्यकार्य्यत्वम्, तथैव तन्वादेर्बुद्धिमदन्वयव्यतिरेकानुविधायिभावाभावादर्शनान्न बुद्धिमत्पूर्वकत्वसिद्धिः। न चैवं योऽसौ धूमविशेषो वह्निभावाभावानुविधायिभावाभाव उपलब्धः, स सर्वो वह्निपूर्वोऽनु न गिरिशिखरवर्ती तथेति कथं ततो वह्न्यनुमानम्, सामान्यविषयत्वे तु कार्यकारणभावावधारणस्येहापि साम्यमेवेति वाच्यम्, तथात्वे शक्रमूर्ध्नोऽपि मनुष्यकार्यत्वापत्तेः। यदि तु मनुष्यकार्यघटादिभ्यः शक्रमूर्ध्नो विशेषसम्भवान्न तथात्वम्, तदा तु प्रासादादिभ्यस्तनुभुवनादीनामपि वैशेष्यमस्त्येवेति समानम्। नन्वेवं धूमविशेषाणां वह्न्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिनां पर्वतधूमात् स्वरूपेण विशेषः, हेतुसमवधानं त्वदृष्टविशेषात् सम्भवत्येव, ततश्च कार्यनियमसिद्धेः। न खलु नियतप्रकारसामर्थ्येभ्यः कारणेभ्यः कार्यमनियमेनोत्पत्तुमर्हति। अन्यथा कर्तृचैतन्येऽप्ययं दुर्वारः प्रसङ्गः, तस्यापि कारणसामर्थ्यानुरोधेन नियोजकत्वात्। न च चेतनमन्तरेण कुम्भादिकारणानि न प्रवर्तन्त इति पृथिव्यादिकारणैरपि न प्रवर्तितव्यम्। कुम्भादिकारणापेक्षया त्वयापि तनुभुवनादिकारणस्य वैलक्षण्याभ्युपगमात्। तथा तनुपृथिव्यादिकारणानि देहवतः प्रयत्नं नापेक्षन्ते स्वप्रवृत्तिं प्रति, तथैव चेतनप्रयत्नमपि नापेक्षिष्यन्ते, किन्त्वदृष्टपरिपाकवत् क्षेत्रज्ञसंयोगादेव प्रवर्त्स्यन्तीति किं तदभिज्ञेश्वरकल्पनया?

तनुभुवनादिषूत्पत्तिमत्त्वमात्रं त्वप्रयोजकम्, विशेषप्रयुक्तत्वाद्युपजीवित्येन स्वाभाविकप्रतिबन्धत्वे (अनौपाधिकसम्बन्ध)-वैकल्यात्। तादृक्सम्बन्धतश्च हेतोरनुमानाङ्गत्वम्, अन्यथोपाध्यायदर्शनादेरपि शिष्याद्यनुमापकत्वापातात्।

तनु (शरीर) आदि में समान है, अतः सभी स्थानों पर बुद्धिमत्त्व की अपेक्षा रहेगी ही ऐसी बात नहीं है, क्योंकि मिट्टी से बनने वाले घटादि में मनुष्य की कार्यता यद्यपि उपलब्ध होती है, तो भी इन्द्र के मस्तक के समान तनु आदि में भी मनुष्य की कार्यता सिद्ध नहीं की जा सकती। जैसे कि मिट्टी का विकार और इन्द्र का संस्थान समान ही है, किन्तु शक्र (इन्द्र) के शिर के साथ मनुष्य के निर्माण का अन्वय-व्यतिरेक नहीं देखा जाता, इसलिये वह मनुष्य का कार्य नहीं हो सकता, उसी तरह से तनु आदि के साथ बुद्धिमान् मनुष्य का अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन पाता, इसलिये इनकी भी बुद्धिमत्पूर्वकता नहीं सिद्ध की जा सकती। प्रश्न है कि ऐसा मानने पर यह जो धूमविशेष वह्नि के रहने पर ही रहने वाला और वह्नि के न रहने पर न रहने वाले स्वभाव वाला पाया जाता है, वही रसोई आदि का धूम वह्निपूर्वक, अर्थात् अग्नि से पैदा होने वाला और सदा उसी के साथ रहने वाला भले ही मान लिया जाय, किन्तु पर्वत शिखरवर्ती धूम तो इस तरह का नहीं है, अतः उससे वह्नि का अनुमान कैसे होगा? यदि इसको सामान्य विषयक माना जाय तो कार्यकारणभाव का निश्चय यहाँ भी समान रूप से हो सकता है। उत्तर है कि ऐसा मानने पर इन्द्र के शिर की भी मनुष्यकार्यता सिद्ध की जा सकती है, अर्थात् इन्द्र के शिर को भी मनुष्य बना लेगा। यदि मनुष्य के कार्य घटादि की अपेक्षा इन्द्र के मस्तक में विशेषता होने से ऐसा नहीं हो सकता, तो इसका उत्तर है कि ऐसी अवस्था में प्रासादादि से भी तो तनु, भुवन आदि की विशेषता है ही। वह्नि के साथ देखे गये अन्वय-व्यतिरेक वाले धूमविशेषों की पर्वत स्थित धूम से इस तरह की विशेषणता सिद्ध नहीं है, हेतु का समवधान तो अदृष्ट के कारण हो ही सकता है, इससे कार्य-नियम भी सिद्ध हो जायगा। ऐसा नहीं हो सकता कि नियत प्रकार के सामर्थ्य वाले कारणों से कार्य अनियत रूप से उत्पन्न हो। अन्यथा कर्ता के चैतन्य में भी यह अव्यवस्था अनिवार्य हो जायगी, क्योंकि उसका भी नियमन कारण की सामर्थ्य के अनुसार होने लगेगा। ऐसा नहीं माना जा सकता कि चेतन के बिना कुम्भादि के कारण प्रवृत्त नहीं होते हैं, तो पृथिवी आदि के कारणों की भी प्रवृत्ति बिना चेतन के नहीं होनी चाहिये। आपने भी कुम्भादि के कारणों की अपेक्षा तनु-भुवनादि के कारणों में वैलक्षण्य माना है। जैसे तनु, पृथिवी प्रभृति के कारण अपने प्रवृत्ति के लिये देहवान् के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखते, उसी तरह से चेतन के प्रयत्न की भी उनको अपेक्षा नहीं रहेगी। किन्तु अदृष्ट के परिपाक के कारण क्षेत्रज्ञ का संयोग होने पर उनकी प्रवृत्ति हो जायगी। इस प्रकार यहाँ पर अदृष्टादि के ज्ञाता सर्वज्ञ ईश्वर की कल्पना क्यों की जाय?

तनु, भुवन आदि में केवल उत्पत्तिमत्त्व की प्रयोजकता नहीं मानी जा सकती, अर्थात् उत्पत्तिमान् होने के कारण ही चेतनकर्तृता नहीं मानी जाती, क्योंकि इसमें विशेष प्रयुक्तत्व जैसी उपाधि की सापेक्षता के कारण स्वाभाविक प्रतिबन्ध, अर्थात् अनौपाधिक

किञ्च, नहि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते, न च प्राप्तनिखिलप्रापणीयस्य जगन्निर्माणे प्रयोजनं सम्भवति। न च क्रीडया प्रवृत्तिः, क्रीडासाध्यसुखस्यापि प्राप्तत्वात्। न च कारुण्येन प्रवृत्तिः, सुखमयलोकसर्जनप्रसङ्गात्। दुःखमयी सृष्टिस्तु बाहुल्येनोपलभ्यते। न च धर्माधर्मसहायस्य निर्माणवैचित्र्यं युक्तम्, अधर्मस्य जगद्दुःखादिहेतोः कारुणिकाधिष्ठानानुपपत्तेः, अनधिष्ठितस्य च कार्यकरणे हेतोर्व्यभिचारात्। न च वैराग्योत्पादनद्वारा दुःखानुभवोऽपवर्गोपयोगीति परहितकाम्ययैव तदीयमधर्ममधितिष्ठतीति वाच्यम्, ईश्वराधीनत्वाद् दुःखोत्पादस्य तस्य तत्र वैमुख्येन तदनुत्पादे तदत्यन्तविमोक्षलक्षणस्यापवर्गस्य फलतः प्राप्तेः। न च स्वभावादेव तत्प्रवृत्तिः, प्रेक्षावत्त्वव्याघातात् तत्प्रणीतागमेष्वनाश्वासापातात्। तदेवं तरुगिरिसागरादीनां प्रेक्षापूर्वप्रासादादिसन्निवेशवैलक्षण्येऽपि यद्यपि सन्निवेशमात्रसामान्यात् चैतन्यमात्रसिद्धिः स्यात्, दुःखोत्तरसर्गदर्शनात् स्वार्थे परार्थे चासति न प्रेक्षावानीश्वरः सिद्ध्यति। प्रेक्षावदीश्वरसिद्धावपि कुतस्त्वं तदेकत्वमपि, घटरथादीनामेकबुद्धिमत्कर्तृकत्वाभावदर्शनात्। न चेश्वरकर्तृकत्वेन तनुभुवनादीनामेककर्तृकत्वमिति वाच्यम्, तस्यापि साध्यत्वात्। प्रासादादौ बहूनां स्थपत्यादीनां कर्तृत्वोपलम्भान्नैकस्य विश्वनिर्मातृत्वमपि, बहूनामपि विश्वनिर्मातृत्वे मिथो वैमत्यसम्भावनाया दुष्परिहरत्वात्।

किञ्च, घटादौ कुलालादिः कर्ता, तन्वादावीश्वरः कर्तेति दृष्टान्तसाध्ययोरनेककर्तृकत्वस्य दर्शनान्नोत्पत्तिमत्त्वमात्रेणेश्वरः सिद्ध्यति।

सम्बन्ध नहीं बनता। अनौपाधिक सम्बन्ध से युक्त हेतु ही अनुमान का अंग होता है, अन्यथा उपाध्याय को देखकर शिष्य का भी अनुमान होने लगेगा।

दूसरी बात यह है कि बिना प्रयोजन के अज्ञानी मनुष्य भी किसी काम में नहीं लगता। ईश्वर को सब कुछ प्राप्त है, उसका जगत् के निर्माण में क्या प्रयोजन हो सकता है? क्रीडा के लिये भी प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि क्रीडा से जो सुख मिलने वाला है, वह भी तो उसको प्राप्त ही है। कारुण्य (दया) से भी प्रवृत्ति नहीं मानी जायगी, क्योंकि तब उसको केवल सुखमय जगत् का ही निर्माण करना चाहिये। सृष्टि में तो दुःख ही अधिक देखा जाता है। धर्म और अधर्म की सहायता से भी इस निर्माण के वैचित्र्य को नहीं माना जा सकता, क्योंकि सारे जगत् के दुःख आदि का कारण अधर्म कारुणिक परमात्मा का सहायक कैसे हो सकता है? यदि वह भगवान् से सम्बद्ध नहीं है तो वह सृष्टि की रचना में समर्थ भी नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वैराग्य को उत्पन्न करने में समर्थ होने के कारण दुःख का अनुभव अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति में सहायक होता है, इस तरह से दूसरे के हित की अभिलाषा से ही ईश्वर जीव के अधर्म का सहारा लेता है, क्योंकि दुःख की उत्पत्ति ईश्वर के अधीन है, यदि वह उनसे विमुख रहे तो उसकी उत्पत्ति नहीं होगी, फलतः जीव को दुःख से अत्यन्त छुटकारा अपने आप मिल जायगा, अर्थात् उसको स्वभावतः मुक्ति प्राप्त हो जायगी। ईश्वर की प्रवृत्ति स्वभाववश भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर ईश्वर की बुद्धिमत्ता पर ही आँच आ जायगी और ईश्वर प्रणीत शास्त्र में भी विश्वास नहीं रहेगा। इस प्रकार वृक्ष, पर्वत, सागर आदि से बुद्धिमत्ता पूर्वक बनाये गये प्रासादादि से विलक्षणता रहने पर भी यद्यपि संनिवेश मात्र की समानता के कारण चैतन्यमात्र की ही सिद्धि होने पावेगी, सृष्टि की दुःख बहुलता के कारण स्वार्थ और परार्थ दोनों के अभाव में ईश्वर बुद्धिमान् न सिद्ध हो सकेगा, यदि वह किसी प्रकार बुद्धिमान् सिद्ध हो भी जाय तो भी वह एक है, यह कहाँ से सिद्ध होगा? क्योंकि घट, रथ आदि लौकिक पदार्थों को कोई एक बुद्धिमान् व्यक्ति ही बनाता हो, ऐसा नहीं देखा जाता। ईश्वर के द्वारा निर्मित न होने के कारण तनु, भुवन आदि का एक ही कर्ता माना जायगा, इस बात को आपको सिद्ध करना पड़ेगा। प्रासाद आदि में अनेक कारीगरों के कर्तृत्व के समान विश्व के निर्माता भी अनेक ही होंगे, एक नहीं। यदि बहुत से ईश्वर विश्व के निर्माता माने जायँगे, तो उनमें परस्पर मतभेद की सम्भावना दूर नहीं की जा सकती।

दूसरी बात यह भी है कि घटादि का कर्ता कुलालादि है और तनु प्रभृति का कर्ता ईश्वर है, यहाँ पर दृष्टान्त और साध्य में अनेक कर्तृकता देखी गई है, अतः केवल उत्पत्तिमात्र से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

अन्ये तु क्षित्यादिषु सावयवत्वेन कार्यत्वमपि नानुमातुं शक्यम्, अशक्यक्रियत्वात्, अशक्योपादानविज्ञानत्वात्, महाभूतशब्दवाच्यत्वाच्च, आकाशवत्। यदि चाकाशे निरवयवत्वस्यानुकूलतर्कस्य सत्त्वेन क्षित्यादिवाय्वन्तेषु तदभावेनोक्तहेतूनामप्रयोजकत्वमिति, तदापि कार्यत्वेन बुद्धिमत्कर्तृकत्वमात्रसिद्ध्या तादृशक्षेत्रज्ञानामेव कर्तृत्वसिद्धिरिति हेतोरर्थान्तरत्वेन नेशसिद्धिः। न च क्षेत्रज्ञेषु पृथिव्याद्युपादानगोचरापरोक्षज्ञानवत्त्वस्याशक्यवचनतया पक्षधर्मताबलादीश्वरसिद्धिरिति वाच्यम्, विवादाध्यासितं क्षित्यादिकं स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानादिमदनेककर्तृपूर्वकम्, कार्यत्वात्, विचित्रसन्निवेशसार्वभौमसदनवद् इत्यनेककर्तृकत्वसिद्ध्या पक्षधर्मताया दुर्बलत्वात्। भूधरसागरादीनां कार्याणामनेकत्वात् सर्वेषामेकदैकेन निर्मितत्वे प्रमाणस्याभावात्। पृथग्भूतेषु कार्येषु कालभेदकर्तृभेदयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वेन बाधाच्च। न च जीवानां तादृशसामर्थ्यादर्शनेन तद्बाधादीश्वरसिद्धिः, पूर्वमशक्तानामपि पश्चाच्छक्तिबलेन सामर्थ्यदर्शनात्। पुण्यविशेषचयेन तादृशकार्यकर्तृत्वस्यापि सम्भवाच्च। अत एव भूरुहभूधरादयो बुद्धिमदेककर्तृकाः कार्यत्वात् घटवदित्यनुमानेन नैककर्तृकत्वसिद्धिः, तत्सर्वं नैककर्तृकं कार्यत्वाद् घटस्तम्भादिसमूहवद् इति प्रत्यनुमानसम्भवात्। भूभूधरादिनिष्ठं कार्यत्वं न बुद्धिमदेककर्तृसाधकं समूहनिष्ठत्वाद् घटस्तम्भादिसमूहनिष्ठकार्यत्ववदित्यनुमानान्तराच्च।

किञ्च, वनभूरुहादिगतं कार्यत्वं युगपदुत्पद्यमानं सर्वगतं वा? क्रमिकोत्पद्यमानसर्वगतं वा? आद्ये आश्रयासिद्धिः, द्वितीये विरुद्धता। नापि जगदेकचेतनाधीनमचेतनारब्धत्वाद्, नीरोगस्वशरीरवत्, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमिदमेकचेतनाधीन-

अन्य दार्शनिकों का कहना है कि पृथिवी प्रभृति में सावयवत्व हेतु से कार्यत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसकी रचना अशक्य है, इनके उपादान का ज्ञान कर पाना भी अशक्य है और आकाश की तरह पृथ्वी भी महाभूत शब्द से कही जाती है। यदि आकाश की नित्यता में निरवयवत्व रूप अनुकूल तर्क के रहने से और पृथिवी से लेकर वायु पर्यन्त में उनके अभाव के कारण उक्त हेतु अप्रयोजक माना जाय, तो भी कर्तृत्व हेतु से केवल बुद्धिमान् कर्ता ही सिद्ध होगा, और ऐसे अनेक बुद्धिमान् जीव ही पृथिवी आदि के कर्ता सिद्ध होंगे। केवल इतना ही सिद्ध करके कार्यत्व हेतु ढीला पड़ जायगा, अतः वह ईश्वर की सिद्धि नहीं कर सकेगा। जीवों में पृथिवी प्रभृति के उपादान कारण विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्ता को कह पाना कठिन है, अतः पक्षधर्मता के बल से ईश्वर की सिद्धि हो जायगी, सो बात भी नहीं है, क्योंकि विवादास्पद क्षित्यादि अपने उपादान कारण विषयक अपरोक्ष ज्ञान वाले अनेक कर्ताओं की रचना हैं, क्योंकि यह भी विचित्र आकृति वाले सार्वभौम राजा के महल के समान अनेक कर्ताओं के ही कार्य हो सकते हैं, इस अनुमान से अनेक कर्ताओं के सिद्ध हो जाने पर पक्षधर्मता ईश्वर की कल्पना में दुर्बल हो जायगी। पर्वत, सागर आदि अनेकों कार्य हैं, इन सबको एक समय में किसी एक व्यक्ति ने बनाया, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अलग अलग कार्य की उत्पत्ति में कालभेद और कर्तृभेद प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः इससे उक्त अनुमान का बाध भी होगा। जीवों में इस तरह की सामर्थ्य न होने से आपका अनुमान भी तो बाधित होकर ईश्वर की सिद्धि में ही सहायक होगा, सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि पहले अशक्त होने पर भी बाद में शक्ति संचित कर लेने पर सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। पुण्यविशेष का संचय होने पर इस प्रकार के कार्य कर सकने की सामर्थ्य सम्भव है भी। इसीलिये वृक्ष, पर्वत आदि किसी एक बुद्धिमान् की कृति है, क्योंकि ये भी घटादि की तरह कार्य हैं, इस अनुमान से भी एक कर्ता की सिद्धि नहीं होगी, यह सब एक कर्ता की कृति नहीं है, क्योंकि ये भी घट समूह या स्तम्भसमूह के समान कार्य हैं, इस विरोधी अनुमान की भी तो उपस्थिति हो सकती है। इसके साथ ही यह दूसरा अनुमान भी उपस्थित है कि पृथ्वी, पर्वत आदि कार्य किसी एक बुद्धिमान् की कृति नहीं हो सकते, क्योंकि ये घटसमूह और स्तम्भसमूह के समान अनेक बुद्धिमानों के कार्य हो सकते हैं।

फिर आप यह बताइये कि वन, वृक्ष आदि में स्थित कार्यत्व एक साथ उत्पन्न होकर सर्वगत होता है या क्रमिक रूप से उत्पन्न होकर सर्वगत होता है? पहले पक्ष में आश्रयासिद्धि और दूसरे में विरुद्धहेत्वाभास होगा। यह जगत् एक चेतन के अधीन है, क्योंकि यह अपने नीरोग शरीर के समान अचेतन से उत्पन्न हुआ है, यह अनुमान भी हमारे द्वारा उठाये गये विकल्प को सहन नहीं कर सकता। जैसे कि यह एक चेतनताधीनता क्या है? यदि एक चेतन के अधीन इसकी उत्पत्ति मानी जाय तो नीरोग शरीर की

त्वम्, एकचेतनायत्तोत्पत्तिकत्वमिति चेन्न, नीरोगस्यापि शरीरस्य पितृपुत्राद्यनेकादृष्टजन्यत्वेन तदुत्पत्तिस्थित्योस्तदधीनत्वेनैकचेतनाधीनत्वाभावात्, तथा दृष्टान्ते साध्यवैकल्येन हेतोरसाधारणत्वापातात्।

किञ्च, शरीरस्थितिरपि किं स्वावयवसमवेता उत प्राणनम्, आद्ये अवयवाधीनत्वान्न चेतनापेक्षा, घटादिवत्। द्वितीये क्षित्यादीनां शरीरत्वाभावेन पक्षेऽसम्भव इति पक्षसपक्षानुगतस्थित्यनुपलम्भः। ईश्वरो न कर्ता, अशरीरवत्त्वात्, मुक्तवत्। एवमत्यन्तापरिदृष्टेश्वराख्यपुरुषस्य तस्मिन् सामर्थ्यविशेषस्य च कल्पने गौरवात्। जीवानामेव तपोयोगयागादिलब्धसामर्थ्यानां कर्तृत्वेन कल्पनं लघीय इत्यचेतनारब्धत्वलिङ्गकानुमानेनापि नेश्वरसिद्धिः। किञ्च, यदि नित्येतरसर्वमेवेश्वरकर्तृकं ततो घटादीनामपीश्वरकर्तृकत्वेन पक्षनिक्षेपाद् दृष्टान्ताभावः। न च व्यतिरेकिणि हेतौ दृष्टान्ताभावो न दूषणमिति वाच्यम्, कादाचित्कादृष्टपरिपाकवशादेव देशकालादिप्रतिनियतकार्योत्पादोपपत्त्या व्यतिरेकाव्यभिचारानिश्चयात्।

किञ्चैवं कुलालादिकर्तृकेऽपि घटादौ तावतैवोपपाद्यमानोत्पादेऽपि यदीश्वरोऽधिष्ठातुं परिकल्प्यते, तदा सर्वस्य द्विकर्तृकत्वेन तद्दृष्टान्तेनैवेश्वरमधिष्ठातुमीश्वरान्तरमपि परिकल्प्येतेत्यनवस्थाप्रसङ्गः। यद्यनवस्थाभयाद् द्वितीयानुमानं न युक्तम्, तर्ह्येकानुमानमपि मा भूदनवस्थाप्रसङ्गस्योभयत्र तुल्यत्वात्; अदृष्टविशेषादेवोपपत्तेः। यदि न द्विकर्तृका घटादयः किन्तु सर्वमेकैककर्तृकमेव, तदा न सर्वज्ञत्वसिद्धिः। सर्वकार्याणामेकस्य कर्तृत्वेऽज्ञस्य तत्त्वानुपपत्त्या सर्वज्ञता स्यात्। रथाद्यवयवा नानातक्षनिर्मिता अपि दृश्यन्ते जगति प्रायेणोपकार्योपकारकाः। अत एव यत् परस्परोपकार्योपकारकत्वेन स्थितं तदेककर्तृकं दृष्टम्, यथा रथावयवा दृष्टास्तथा तनुभुवनानीत्यपास्तम्, नानातक्षपूर्वकत्वस्यापि दर्शनेन व्यभिचारात्।

भी उत्पत्ति पिता, पुत्र आदि के अनेकों अदृष्टों से होती है, इस परिस्थिति में उसकी उत्पत्ति और स्थिति उन अनेक अदृष्टों के अधीन होने से वहाँ पर भी एकचेतनाधीनता के न रहने से दृष्टान्त की साध्यविकलता के कारण हेतु में असाधारणत्व रूप हेत्वाभास उपस्थित हो जायगा।

अपि च, इस शरीर की स्थिति भी अपने अवयवों से समवेत है या केवल प्राण व्यापार मात्र है? प्रथम पक्ष में शरीर की स्थिति के अवयवाधीन होने से उसको घटादि के समान चेतन की अपेक्षा नहीं रहेगी। द्वितीय पक्ष में पृथिवी प्रभृति का शरीर न होने से पक्ष में असम्भव रूप दोष के कारण हेतु का पक्षसत्त्व और सपक्षसत्त्व नहीं बनेगा। ईश्वर कर्ता नहीं है, क्योंकि वह मुक्तात्मा की तरह अशरीर है। इस प्रकार कभी न देखे गये ईश्वररूपी पुरुष की और उसमें सामर्थ्यातिशय की कल्पना में गौरव दोष है। तप, योग, यज्ञ आदि के अनुष्ठान से सामर्थ्यातिशय प्राप्त जीव को जगत् का कर्ता मान लेने में लाघव है। इसी तरह से अचेतनारब्धरूपी लिंग द्वारा अनुमान करके भी ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता। नित्य पदार्थ के अतिरिक्त सब कुछ ईश्वर का ही बनाया हुआ है, ऐसा मानने पर घटादि का कर्ता भी ईश्वर है, इस प्रकार पक्ष में सबका अन्तर्भाव हो जाने से कोई दृष्टान्त नहीं मिलेगा। व्यतिरेक हेतु में दृष्टान्त का न रहना कोई दूषण नहीं माना जाता, तो भी किसी समय अचानक अदृष्ट का परिपाक हो जाने पर देश और काल के सुव्यवस्थित नियम के अनुसार कार्य की उत्पत्ति का उपपादन किया जा सकता है, अतः व्यतिरेक के अव्यभिचार का निश्चय ही नहीं हो सकता।

कुम्भकार आदि के बनाये घटादि की उत्पत्ति का उपपादन स्वतन्त्र रूप से भी हो सकता है, इसके उपरान्त भी यदि ईश्वर को वहाँ पर अधिष्ठाता माना जाता है, तो सभी पदार्थों के दो कर्ता माने जायँगे। इसी दृष्टान्त से एक ईश्वर के बनाये कार्यों का भी दूसरा ईश्वर अधिष्ठाता के रूप में मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होगा। यदि अनवस्था के भय से दूसरा अनुमान ठीक नहीं माना जाता तो फिर पहला अनुमान भी क्यों उचित माना जाय, अनवस्था दोष तो दोनों ही में समान रूप से उपस्थित है। इसकी उत्पत्ति अदृष्टविशेष से ही की जा सकती है। यदि घटादि की द्विकर्तृकता नहीं मानी जाती, किन्तु सभी पदार्थ एककर्तृक ही माने जाते हैं, तो इस अवस्था में सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं होगी। सभी कार्यों की एककर्तृकता मानने पर ही अन्त में उसकी सम्भावना न रहने से सर्वज्ञता की सिद्धि होती है। लोक में अनेक कारीगरों के बनाये हुए रथ आदि के हिस्से परस्पर एक दूसरे के उपकारक होते हैं। इसीलिये जो परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव से स्थित है, वह एककर्तृक के रूप में देखा गया है, जैसे कि रथ के अवयव, उसी तरह से तनु, भुवन आदि भी एककर्तृक है, इस अनुमान का खण्डन हो जाता है, क्योंकि अनेक कारीगरों के बनाये अवयवों से भी रथ का निर्माण देखा गया है।

किञ्च, क्लेशकर्मविपाकाशयापरामृष्टस्य कर्माशयाभावे शरीरेन्द्रियसंयोगो बुद्धिरैश्वर्यञ्च न सम्भवति, प्रमाण-प्रतिक्षिप्तत्वाद् वह्न्यभावे धूमस्येव कर्माशयाभावे तत्कार्यशरीराद्यनुपपत्तेः। कारणमन्तरेणापि कार्योत्पत्तौ सर्वज्ञमीश्वर-मन्तरेण तथैव सन्निवेशवतस्तनुभुवनादेरप्युत्पत्तिसिद्धेः।

यदि परेशज्ञानादेरपि कर्माशयपूर्वकत्वमुपेयते, तदापि येन कर्माशयेनास्य ज्ञानादयो जनयितव्याः। सोऽविज्ञातोऽन-धिष्ठितश्च न शरीरेन्द्रियज्ञानादिजननसमर्थः। न च तज्जन्येनैव शरीरादिना तज्ज्ञानं तदधिष्ठानञ्च सम्भवति, परस्पराश्रय-प्रसङ्गात्। नापि प्राग्भवीयेन शरीरान्तरादिना तत् सम्भवति, जन्मसमये तस्यातिवृत्तत्वात्। न चेश्वरान्तरमुपेयते, तदुपगमेऽपि तत्रापि दुर्वारः स एव प्रसङ्गः।

नन्वत एव हेत्वभावे कार्याभावादेव परेशानुमानम्, अन्यथा कर्माशयाभावे ज्ञानादिकं न स्यादिति दूषणमपि किमालम्बनं स्यात्? विशेषो वा वक्तव्यो येन दूषणं स्यान्न साधनमिति चेन्न, प्रत्यक्षविलक्षणानामप्रत्ययपूर्वकाणां क्षित्यादि-सन्निवेशानां दर्शनात्। न च तत्रापि नित्यसर्वविषयबुद्धिपूर्वकत्वमनुमेयमिति वाच्यम्, दर्शननैरपेक्ष्येण जायमानस्य प्रत्यक्ष-स्यादृष्टचरत्रैलोक्यविलक्षणस्वलक्षणवस्तुगोचरत्वेऽप्यनुमानस्य व्याप्त्यपेक्षिततया व्याप्तेश्च पूर्वदर्शनाधीनतया दृष्टविलक्षण-गोचरत्वासम्भवेन दृष्टसालक्षण्येनैवानुमानात्। तथा च यथादर्शनमनित्या शरीरात्ममनःसंयोगहेतुरसर्वविषयैव बुद्धिरनुमीयते, तथाविधाया एवास्मदादावुपलम्भात्। वह्न्याद्यनुमानेषु तु नायं प्रसङ्गः, गिरिशिखरवर्तिनो वह्नेर्महानसादिदृष्टवह्नि-विलक्षणत्वाभावात्। न च देशभेदस्तद्वैलक्षण्यप्रयोजकः, अन्यत्वात्।

फिर ईश्वर तो आपका अविद्या प्रभृति क्लेशों से रहित है, शुक्ल-कृष्ण आदि कर्मों से भी रहित है, उनके विपाक और आशय से भी रहित है। इनसे रहित होने से न उसके शरीर है और न इन्द्रिय संयोग ही। फिर उसमें बुद्धि और ऐश्वर्य भी कहाँ से आवेगा। क्योंकि अग्नि के अभाव में प्रमाण बाधित होने के कारण जैसे धूम की कोई सत्ता नहीं रह सकती, उसी तरह से कर्म और आशय के अभाव में उनके कार्य शरीरादि की सत्ता नहीं मानी जा सकती। कारण के बिना भी कार्य की उत्पत्ति मानने पर सर्वज्ञ ईश्वर के बिना भी उसी तरह से शरीर, भुवन प्रभृति का यह सारा ढाँचा भी उठ खड़ा हो सकता है।

यदि ईश्वर के ज्ञान आदि भी कर्माशय मूलक माने जाते हैं, तो जिस कर्माशय से इसके ज्ञानादि उत्पन्न होते हैं, वह अविज्ञात अथवा अनधिष्ठित रूप से शरीर, इन्द्रिय, ज्ञान प्रभृति की उत्पत्ति में समर्थ नहीं हो सकता। कर्माशय से उत्पन्न शरीरादि से ही उसका ज्ञान और अधिष्ठान नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस तरह से अन्योन्याश्रय दोष होगा। पूर्व जन्म के शरीरादि से भी वह नहीं माना जा सकता, क्योंकि नये जन्म के समय उनकी कोई अनुभूति नहीं रहती। दूसरा ईश्वर माना नहीं जाता। यदि मान भी लिया जाय तो, जो दोष ऊपर दिये गये हैं, वे ही दूसरे ईश्वर में भी आयेंगे और उनका निवारण कठिन होगा।

अरे भाई, इसीलिये तो हेतु के अभाव में कार्य की असंभावना को देखकर जगत् रूप कार्य की सिद्धि ईश्वर रूप कारण के बिना न हो सकने से ही परमेश्वर की अनुमिति की जाती है, अन्यथा कर्माशय के अभाव में ज्ञानादि नहीं हो सकेंगे, इस दूषण का भी क्या आधार होगा? अथवा आपको कोई ऐसी विशेषता बतानी पड़ेगी कि जिसके कारण दूषण की स्थिति तो हो सके, किन्तु ईश्वर की सिद्धि न हो पावे। इसका उत्तर यह है कि यह बात तो प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि हम देखते हैं कि पृथ्वी आदि के अवयवसंनिवेश विलक्षण हैं और अज्ञान-पूर्वक भी है। यदि कहो कि उनमें भी नित्य सर्वविषयक ज्ञानवान् ईश्वरपूर्वकत्व का अनुमान करेंगे, तो दृष्टि शक्ति की बिना अपेक्षा के उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष यद्यपि कभी न देखी गई त्रैलोक्य में विलक्षण स्वलक्षण वस्तु को देखने में समर्थ है, तो भी अनुमान तो व्याप्ति की अपेक्षा रखता है और व्याप्ति पूर्वदर्शन के आधार पर ही बनती है, अतः वह कभी भी दृष्ट पदार्थ से विलक्षण का ज्ञान नहीं करा सकता, अतः अनुमान की प्रवृत्ति दृष्ट पदार्थ के अनुसार ही होगी। इस प्रकार जैसा कि देखा जाता है शरीर, आत्मा और मन के संयोग ही है हेतु जिसके, ऐसे असर्वज्ञ जीव के ज्ञान का ही अनुमान किया जा सकता है, जो कि हम लोगों में स्पष्ट विद्यमान है। वह्निप्रवृत्ति के अनुमान में इस तरह की कोई बात नहीं है, क्योंकि पर्वत के शिखर पर वर्तमान वह्नि का महानस (रसोईघर) आदि में देखी गई वह्नि से कोई वैलक्षण्य नहीं है। देशके भेद को विलक्षणता का कारण नहीं जाना जा सकता, क्योंकि देश वह्नि से पृथक् वस्तु है।

न चैवमपि दण्डादिकरणसालक्षण्याभावाद्रूपादिपरिच्छित्तिकरणानामिन्द्रियाणामनुमानं न स्यादिति वाच्यम्, तेषामनुमानागोचरत्वेऽपि रूपादिपरिच्छित्त्यन्यथानुपपत्त्याऽर्थापत्तिगोचरत्वात्। तस्याः सम्बन्धदर्शननिरपेक्षतया दृष्टसालक्षण्यानपेक्षणात्। न चैवं बुद्धिमत्पूर्वकत्वेऽप्यर्थापत्तिरन्यथानुपपद्यमानस्य कस्यचिददर्शनात्। तनुभुवनादेश्चादृष्टवत् क्षेत्रज्ञपरमाणुसंयोगादुपपत्तेरिति तत्रोच्यते—अस्ति तावत् परमेश्वरः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिशास्त्रतदनुगुणानुमानसिद्धः, समेषां प्रमाणानां तत्रैव पर्यवसानात्। अज्ञातज्ञापकत्वेनैव सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यसिद्धेः। न च ब्रह्मातिरिक्तमज्ञातं सम्भवति, तस्याऽस्वप्रकाशस्य सत्त्वस्फूर्त्योरप्रसक्तत्वेनावरणकृत्यासम्भवात्। तस्मात्तत्तदवच्छिन्नचितामेव तत्तत्प्रमाणवेद्यत्वेन तेषाञ्चानवच्छिन्नचिदभिन्नत्वेन सर्वेषां प्रमाणानां ब्रह्मणि पर्यवसानस्य सम्भवदुक्तिकत्वात्। 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' (ऋ० सं० १०।८१।३), 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (ऋ० सं० १०।९०।२), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१), 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० उ० ६।२।३), 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २।१), 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क० उ० २।२।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (श्रीमद्भग० १५।१५) इत्यादिश्रुतिस्मृत्यादयस्तत्र प्रमाणम्। न च तेषामप्रामाण्यम्, अपौरुषेयत्वेन प्रामाण्यस्वतस्त्वस्य प्रसाधितत्वात्। 'धर्मं जैमिनिरत एव' (ब्र० सू० ३।२।४०) इति सूत्रेण पूर्वमीमांसकमतमुपस्थाप्य, 'पूर्वं तु बादरायणो हेतूपदेशात्' (ब्र० सू० ३।२।४१), 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र० सू० ३।२।३८) इति सूत्राभ्यां निराकृत्य, बादरायणेन परमेश्वरादेव कर्मफलसिद्धिरुपपादिता।

न केवलात् कर्मणोऽपूर्वाद् वा क्षेत्रज्ञाद् वा कर्मफलमुपपद्यते, जडत्वाल्पज्ञत्वादिभ्यस्तेषां तदहेतुत्वात्, किन्तु कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद् वा परमेश्वरादेव फलसिद्धिरुपपद्यते, 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति, तं यमेभ्य उन्निनीषते' (कौ० ब्रा० उ० ३।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

प्रश्न है कि इतने पर भी रूपादि ज्ञान के निश्चय के साधन इन्द्रियों की अपेक्षा घटादि के असाधारण कारण दण्डादि में कोई समानता न होने से इन्द्रियों की अनुमिति नहीं हो सकती यह बात सही है, तथापि अनुमिति का विषय न होने पर भी, रूपादि का निश्चयात्मक ज्ञान बिना इन्द्रियों के नहीं हो सकता, अतः अर्थापत्ति प्रमाण से उनको सिद्ध किया जा सकेगा। अर्थापत्ति में सम्बन्ध की पूर्व प्रतीति आवश्यक नहीं है, अतः दृष्ट पदार्थ की समानता की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। बुद्धिमत्पूर्वकत्व को तो अर्थापत्ति से सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहाँ पर ऐसी वस्तु नहीं है, जो कि बुद्धिमत्पूर्वकत्व के बिना अनुपपन्न हो रही हो। शरीर, भुवन आदि की उपपत्ति अदृष्ट की सहायता से जीव एवं परमाणु के संयोग से हो सकती है। इसके उत्तर में हमारा कहना है कि ईश्वर न केवल श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण प्रभृति शास्त्रों से ही, किन्तु अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध है, क्योंकि सारे प्रमाणों की परिसमाप्ति परमात्मा में ही होती है। अज्ञात वस्तु की ज्ञापकता में ही सभी प्रमाणों का प्रामाण्य माना जा सकता है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अज्ञात नहीं हो सकती, उसको अस्वप्रकाश मानने पर उसमें सत्ता और स्फूर्ति भी नहीं मानी जा सकती, ऐसी अवस्था में आवरण रूपी कार्य भी कैसे हो सकता है? इसलिये अवच्छिन्न चैतन्यों की प्रतीति ही भिन्न-भिन्न प्रमाणों से होगी और उन अवच्छिन्न चैतन्यों की अनवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्नता है, अतः अन्ततः सभी प्रमाणों का पर्यवसान ब्रह्म में ही होगा, ऐसा कहा जा सकता है। "यह अकेला परमात्मा आकाश और पृथ्वी को बनाकर विद्यमान हैं", "यह सारा जगत् उस परम पुरुष का ही स्वरूप है", "हे सौम्य! प्रारम्भ में यह सत् (ब्रह्म) ही था, वह अकेला था, कोई दूसरा नहीं था", "उसने इच्छा की कि मैं प्रजा के रूप में बहुत हो जाऊँ, तब उसने तेज की सृष्टि की", "इस आत्मा से आकाश की सृष्टि हुई", "सभी वेद उस सुप्रसिद्ध परमात्मा के पद (स्थान) का वर्णन करते हैं", "सारे वेदों से मैं ही जानने योग्य हूँ" इस तरह के श्रुति और स्मृतियों के अनेक वचन इसमें प्रमाण हैं। इनको अप्रामाणिक नहीं सिद्ध किया जा सकता। अपौरुषेयता के आधार पर इनका प्रामाण्य भलीभाँति व्यवस्थापित किया जा चुका है। ब्रह्मसूत्र में "धर्मंजैमिनि०" इत्यादि सूत्र से पूर्वमीमांसक के पक्ष को उपस्थापित करके बाद में "पूर्वं तु०", "फलमत०" इत्यादि दो सूत्रों से बादरायण ने उनका खण्डन किया है और यह सिद्ध किया है कि परमेश्वर के कारण ही कर्म के फलों की सिद्धि होती है।

केवल कर्म केवल अपूर्व अथवा केवल जीव कर्मों से फल को देने में समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि ये जड़ हैं या अल्पज्ञ हैं, अतः ये फल की उत्पत्ति में कारण हो नहीं सकते, इसलिए कर्म अथवा अपूर्व की सहायता से परमेश्वर ही कर्मों का फल देने में समर्थ हो

सर्ववेदान्तेषु सहेतुकाः सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते। तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्तत्तत्कर्माभिरूपाः प्रजाः सृजति। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० उ० २।४।५) इति श्रुत्या श्रुतस्यार्थस्य व्यवस्थापनाय दार्ढ्याय च युक्तय आदृता एव। 'मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः',

वुद्धयारोहाय तर्कश्चेदपेक्ष्येत यदा तदा। स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्॥

(पञ्चदशी ६।३०)

इत्यादिशिष्टोक्तेश्च। 'दृष्टानुसारिणी कल्पना नान्यथा, न जातु मृत्पिण्डादयः कुम्भकाराद्यनधिष्ठिताः कुम्भाद्यारम्भाय विभवन्तो दृष्टाः' इति वाचस्पतिमिश्राः। न च विद्युत्पवनादिभिरप्रयत्नपूर्वकमपि कार्यं सिद्धयत्येवेति वाच्यम्, तेषामपि पक्षकुक्षिनिःक्षिप्तत्वेनाव्यभिचारात्।

न च क्षेत्रज्ञस्याधिष्ठानं सम्भवति, कर्मस्वरूपसामान्यविनियोगादिविशेषविज्ञानशून्यस्य तस्य तदनुपपत्तेः। न च जीवानां प्रातिस्विकैकजन्मगतानामपि कर्मणां ज्ञानं सम्भवति, किमुतानन्तानन्तजीवानां तत्तदनन्तजन्मान्तरीयाणां कर्मणाम्। ज्ञानेऽपि न फलदानसामर्थ्यम्, अल्पशक्तित्वात्। शक्तिमत्त्वे स्वातन्त्र्ये वा शुभकर्मणां शुभान्येव फलानि जनयेयुर्नाशुभानामशुभानि फलानि। तस्मादेव कर्मफलव्यवस्थोपपत्तये तादृश ईश्वर एवापेक्षितो योऽनन्तानन्तानां ब्रह्माण्डानां तद्गतानां जीवानां तत्तदनन्तानन्तजन्मनां तत्तत्कर्मणां तत्फलानाञ्च सम्यग्विज्ञाता कर्मफलदानसमर्थश्च स्यात्। अत एव नेश्वरसाधकानुमानानामर्थान्तरत्वं सिद्धसाधनत्वं वा। सर्वज्ञं सर्वशक्ति परमेश्वरमन्तरेण कर्मफलव्यवस्थाजगन्निर्माणादिकार्यासिद्धेः।

सकता हैं। "यही परमात्मा जीव से भले काम करवाता है, जिसको कि इस लोक से ऊपर के लोकों में पहुँचाना चाहता हैं" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

सभी वेदान्त ग्रन्थों में सहेतुक सृष्टियों का प्रतिपादन हुआ है। ईश्वर कर्मों के फल को देता है, इसका यही अभिप्राय है कि वह उन-उन कर्मों के अनुरूप प्रजा को सृष्टि करता है। "ब्रह्म के विषय में सुनना चाहिये, मनन करना चाहिये और निदिध्यासन करना चाहिये" इस श्रुति में सुने गये ब्रह्म रूप अर्थ की दृढ़ता के लिये और व्यवस्था के लिये युक्तियों का स्वागत किया गया है। "भाँति भाँति की युक्तियों से इसको समझना चाहिये, मनन करना चाहिये", "जब कभी आपको किसी विषय को अपनी बुद्धि में ठीक से बैठाने के लिये तर्क की आवश्यकता पड़े तो अपनी अनुभव शक्ति के आधार पर उसकी सहायता ले सकते हैं, किन्तु कुतर्क का सहारा कभी न लेना चाहिये" "इस तरह की शिष्टजनों की युक्तियाँ भी इस विषय में देखी गई हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है कि—"कल्पना लोकपरिदृष्ट नियमों के आधार पर ही होनी चाहिये, अन्यथा नहीं। ऐसा नहीं देखा जाता कि मृत्पिण्ड प्रभृति सामग्रियाँ बिना कुम्भकार प्रभृति के स्वयं ही घड़ा बनाने में समर्थ हो जाती हों।" ऐसा नहीं कह सकते कि बिजली का पंखा बिना प्रयत्न के ही हवा देता है, क्योंकि यहाँ पर भी किसी न किसी प्रकार का प्रयत्न विद्यमान है, इस बात को सिद्ध करने के लिये हम इसको भी पक्ष की कोटि में ही मानेंगे, अतः किसी प्रकार का दोष नहीं उपस्थित हो सकता।

कर्म अथवा अपूर्व का अधिष्ठाता जीव को नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह कर्म के स्वरूप, उसकी सामान्य अथवा विशेष अवस्थिति को समझ पाने में असमर्थ है। जीवों को तो अपने किसी एक जन्म के कर्मों का भी ज्ञान ठीक से नहीं हो पाता, तब अनन्त जीवों के अनन्तानन्त जन्मों के अनन्तानन्त कर्मों का ज्ञान उसको किस तरह हो सकता है। ज्ञान हो जाने पर वह उनके फल को देने में नहीं समर्थ हो सकता, क्योंकि उसकी शक्ति थोड़ी है। उसको शक्तिमान् और स्वतन्त्र माना जाय तो वह शुभ कर्मों के शुभ फलों को ही देगा, अशुभ कर्मों के अशुभ फलों को नहीं। इसलिये सभी प्रकार के कर्मों के सभी प्रकार के फलों की उपपत्ति सिद्ध करने के लिये ऐसे ईश्वर की अपेक्षा है, जो कि अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड, उनमें रहनेवाले सभी जीव, उन जीवों के अनन्त जन्म, कर्म और फल—इन सबको भलीभाँति जानता हो और उनके फलों को देने में समर्थ हो। इसीलिये ईश्वर के साधक अनुमानों में अर्थान्तरता अथवा सिद्धसाधनता दोष नहीं आ पाता, क्योंकि सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, परमेश्वर को स्वीकार किये बिना कर्मों के फलों की व्यवस्था और जगन्निर्माण प्रभृति कार्यों की सिद्धि नहीं हो सकती।

न च लोकोत्तरोऽपि तादृशः परमेश्वरोऽसम्भवदुक्तिकः, श्रुतिस्मृतिपुराणसिद्धत्वेनापलापानर्हत्वात्। न चेश्वरप्रतिपादकवचनानामुपासनादिविधिशेषत्वेनातत्परत्वमिति वक्तुं शक्यम्, द्वारिभूतमहावाक्यार्थाविरोधे द्वारभूतस्यावान्तरतात्पर्यस्य प्रामाणिकत्वे वाधाभावात्।

न च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वेनानर्थक्यमतदर्थानाम्' इति न्यायेन क्रियापरत्वमेव वेदानामिति वाच्यम्, सर्ववेदानां ब्रह्मण्येव तात्पर्यावधारणान्न क्रियापरत्वेनैव प्रामाण्यमप्रयोजकत्वात्। फलवन्निश्चितार्थावबोधकत्वेन प्रामाण्ये कर्मबोधकवाक्यानामिव सिद्धब्रह्मबोधकश्रुतीनामपि प्रामाण्यमेव। 'न सर्पायाङ्गुलिं दद्यात्', 'ज्वरितः पथ्यमश्नीयात्' इति प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधकवाक्यानामिव नायं सर्पो रज्जुरेषेति सिद्धवस्तुबोधकवाक्यानामपि हितशासनपरत्वाविशेषात्।

न चान्यपरैरेव वाक्यैस्तद्बोधनम्, अनन्यपरैरीशावास्यादिमन्त्रैः, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिवाक्यैरपि च तद्बोधनात्। कर्मबोधकवाक्यानामपि परमेश्वराराधनविधायकत्वेन परमेश्वर एव महातात्पर्यम्।

लौकिकश्चेश्वरो वल्युपहरण-परिचरण-प्रणामाञ्जलिकरण-स्तुतिमयीभिरतिश्रद्धागर्भाभिर्भक्तिभिः संराधितः प्रसन्नः सेवकाय तदनुरूपं फलं प्रयच्छति, विरोधितश्चापक्रियाभिरशुभाय भवति यथा, तथैवेश्वरोऽपि स्वस्वकर्मभिराराधितः फलं प्रयच्छतीति सुश्लिष्टम्।

यथा विनष्टं कर्म न फलं प्रसूत इति दृष्टविरोधादपूर्वं कल्प्यते, तथैव देवपूजात्मको यागो देवताप्रसादमन्तरा फलं न प्रयच्छतीत्यपि दृष्टविरुद्धमेव। नहि राजपूजात्मकमाराधनं राजानमप्रसाद्य फलाय कल्पते, तथैवेश्वराराधनलक्षणं यागादि-

इस प्रकार के लोकोत्तर ईश्वर को हम असंभव कोटि में नहीं रख सकते, क्योंकि यह श्रुति, स्मृति और पुराणों से सिद्ध है, अतः उसका अपवाद नहीं किया जा सकता। ईश्वर के प्रतिपादक वचन उपासना विधि के अंग हैं, अतः उनकी स्वतन्त्र ईश्वर प्रतिपादकता नहीं बन सकती, इस शंका का उत्तर यह है कि मुख्य महावाक्यार्थ के अविरोध से गौण अवान्तर तात्पर्य की प्रामाणिकता में भी कोई बाधा उपस्थित नहीं हो पाती।

"वेदशास्त्र का उपदेश कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने के लिए है, अतः जो वाक्य क्रियार्थक नहीं है, वे अनर्थक हैं" इस मीमांसा सूत्र के अनुसार केवल क्रियापरत्व ही वेदों का मान्य होगा, किन्तु अन्ततः सभी वेदों का सही तात्पर्य ब्रह्म के प्रतिपादन में ही है। केवल क्रियापरत्वेन वेदों के प्रामाण्य में कोई अनुकूल तर्क नहीं है। वेदवाक्य निश्चित फल के अवबोधक हैं, ऐसा मानने से कर्मकाण्ड के बोधक वाक्यों की तरह सिद्ध ब्रह्म के बोधक श्रुति वाक्यों का प्रामाण्य मान्य होगा। "सर्प के मुँह में अंगुली न डाले", "ज्वर आने पर व्यक्ति पथ्य सेवन करे" इस तरह के प्रवृत्ति और निवृत्ति बोधक वाक्यों की तरह "यह सर्प नहीं है, रज्जु है" इस तरह से सिद्ध वस्तु के बोधक वाक्यों की भी हित वस्तु का उपदेश करने के कारण प्रामाणिकता मानी जाती है।

अन्यपरक वाक्यों से ही उनका बोध हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अनन्यपरक "ईशावास्य०" इत्यादि वाक्यों से और "यतो वा इमानि" इत्यादि औपनिषद वाक्यों से भी उनका बोध होता ही है। कर्मबोधक वाक्यों का भी सही तात्पर्य परमेश्वर में ही है, क्योंकि वे अन्ततः परमेश्वर की आवश्यकता के ही विधायक हैं।

लौकिक परमेश्वर (राजा) कर देने, सेवा करने, हाथ जोड़कर प्रणाम करने और अत्यन्त विनय और श्रद्धापूर्वक स्तुति और आराधना करने से प्रसन्न होकर सेवक को जो वह चाहता है, तदनुरूप फल देता है और विरोध करने पर क्रुद्ध होकर उसको हानि पहुँचाता है, उसी तरह से ईश्वर भी अपने-अपने शुभ-अशुभ कर्मों से आराधित होकर व्यक्ति को तदनुरूप फल देता है, इसमें कोई सन्देह की बात ही नहीं है।

जैसे नष्ट हुई क्रिया किसी फल को नहीं दे पाती, अतः इस लौकिक नियम का विरोध न हो, इसलिये अपूर्व की कल्पना करनी पड़ती है, उसी तरह से देवपूजात्मक याग भी देवता की कृपा के बिना कैसे फल दे सकेगा. इस प्रकार की दृष्टविरुद्ध बात को यहाँ भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब हम राजा की पूजा करते हैं, तो जब तक हम उसको प्रसन्न नहीं कर लेते, तब तक हमको

कर्मापि परमेश्वरप्रपत्तिमन्तरा न फलाय कल्पते। तथा चापूर्वमन्तरापि स्थायिनो देवताप्रसादात् फलोत्पत्तिरुपपद्यते। एवमशुभैः कर्मभिस्तद्विरोधनमिति ततोऽनिष्टफलमिति श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धमेव। शुभाशुभकर्मानुरोधेन तदनुरूपं फलं प्रयच्छति। तेन परेशे वैषम्यनैर्घृण्यादयोऽपि न वक्तुं शक्यन्ते, साध्वसाधुभेदेन निग्रहानुग्रहकारिणि राजनि तथा दर्शनात्।

न चेश्वरस्य सृष्टिपराङ्मुखत्वे सर्वदुःखनिवृत्तिलक्षणस्यापवर्गस्य सिद्धिः सम्भवति, सृष्टिमन्तरा ज्ञानसामग्र्यलाभेन तत्त्वज्ञानानुत्पत्तेः। तदन्तराऽनाद्यविद्याकामकर्मवासनानां बाधानुपपत्त्या तदसम्भवात्।

यथा परमापूर्वे कर्तव्य उत्पत्त्यपूर्वाणामङ्गापूर्वाणाञ्चोपयोगो भवति, तथैव प्रधानाराधनेऽङ्गोपाङ्गदेवताराधनानामपि समस्त्युपयोगः। यथा वा स्वाम्याराधने तदमात्यप्रणयिजनानामाराधनमुपयुज्यते तद्वत्।

परमेश्वरस्य सर्वकारणत्वेन स्वसंसृष्टसर्वावभासकत्वेन सर्वज्ञत्वमपि। कार्यानुकूलज्ञानवत्त्वमेव खलु ब्रह्मणः कर्तृत्वम्, सत्यसङ्कल्पस्येक्षणात्मकसङ्कल्पेनैव सर्वकार्योपपत्तेः। 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' (मु० उ० १।१।९) इति श्रुतेः,

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥

इत्यभियुक्तोक्तेश्च। हेतुसमवधायकत्वेनापीश्वरसिद्धिः।

न च कादाचित्कादृष्टपरिपाकात् तदुत्पत्तिः, तस्याचेतनस्य तत्समवधायकत्वानुपपत्तेः। यदुक्तम्---'प्रपञ्चस्य सर्वज्ञपूर्वकत्वं न सिद्ध्यति, तेन हेतोर्व्याप्त्यसिद्धेः, दृष्टान्तस्य च साध्यवैकल्यात्, शय्याप्रासादादौ कार्यत्वस्यासर्वज्ञपूर्वकत्वेनैव व्याप्त्यु-

उसका फल नहीं मिलता, इसी प्रकार जब हम ईश्वराराधन रूप यागादि कर्म करते हैं, तो परमेश्वर को बिना माने उसका फल हमको कैसे मिल सकता है। इस तरह से अपूर्व के न मानने पर भी देवता के स्थायी प्रसाद के कारण हमको फल की उपलब्धि हो सकती है। इसी तरह से अशुभ कर्मों से उसको रुष्ट करने पर अनिष्ट फल भी मिल सकता है। यह बात श्रुति, स्मृति, पुराणादि में प्रसिद्ध है। शुभ और अशुभ कर्मों के अनुरूप ईश्वर फल प्रदान करता है, अतः परमेश्वर में विषमता, निर्दयता आदि के आरोप नहीं लगाये जा सकते। लौकिक ईश्वर में भी यह देखा गया है कि वह साधु पुरुष पर अनुग्रह करता है और दुष्ट पुरुष को दण्ड देता है।

ईश्वर के सृष्टि से पराङ्मुख हो जाने पर सब प्रकार के दुःखों के निवृत्ति रूप मोक्ष की सिद्धि अपने आप हो जायगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि बिना सृष्टि के ज्ञान की सामग्री के अभाव में तत्त्वज्ञान उत्पन्न ही नहीं होने पावेगा। तत्त्वज्ञान के बिना अनादि अविद्या के कारण नाना प्रकार की इच्छाओं और कर्मवासनाओं का बाध न हो पाने से मोक्ष की सिद्धि कथमपि संभव न होगी।

जैसे परमापूर्व की उत्पत्ति में उत्पत्त्यपूर्व और अंगापूर्वों की अपेक्षा रहती है, उसी तरह से प्रधान की आराधना में अंग और उपांग देवताओं की आराधना का भी उपयोग है। जैसे कि राजा की आराधना में उसके मन्त्री और नजदीकी आदमियों को प्रसन्न रखना आवश्यक हो जाता है।

परमेश्वर सबका कारण है, अपनी संबद्धता के कारण ही वह सब पदार्थों को जानता है, अतः उसको हम सर्वज्ञ भी मान सकते हैं। ब्रह्म के कर्तृत्व का तात्पर्य इतना ही है कि उस उस कार्य के अनुकूल सामग्री का ज्ञान उसको है, क्योंकि वह सत्यसंकल्प है, अतः उसके ईक्षणात्मक संकल्प से ही सभी कार्यों की सिद्धि हो जायगी। "वह परमात्मा सामान्यतः सबको जानता है और विशेष रूप से भी सबको जानता है, ज्ञान ही इसका तप है" यह श्रुति इसमें प्रमाण है। "ईश्वर, परमात्मा के निःश्वास से वेद का प्रादुर्भाव हुआ, इसके संकल्प मात्र से पंच भूतों की सृष्टि हुई, इसकी मन्द मुसकान से ही यह चराचर जगत् पैदा हुआ और इसके सो जाने पर महाप्रलय हो जाता है" भामतीकार वाचस्पति मिश्र की यह उक्ति भी उक्त अर्थ में प्रमाण है। ईश्वर की सिद्धि कारण सामग्री को संजोने वाले के रूप में भी माननी पड़ती है।

अचानक संपन्न हुए अदृष्ट के परिपाक से इस जगत् की सृष्टि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अचेतन अदृष्ट साधन-सामग्री को किसी प्रकार नहीं जुटा सकता। ऐसा कहा जाता है कि "प्रपञ्च की सर्वज्ञपूर्वकता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि उसके साथ हेतु की व्याप्ति नहीं बन सकेगी और ऐसा कोई दृष्टान्त भी नहीं है, जिसमें कि सर्वज्ञत्व देखा गया हो। इसके विपरीत शय्या, प्रासाद आदि में

पलब्धेश्च। न चोपलब्धिमत्पूर्वकत्वस्य सामान्यस्य साधनविषयत्वेऽपि तद्विशेषस्य सर्वज्ञत्वपूर्वकत्वस्य विशेषस्य सिद्धिरिति वाच्यम्, साधनागृहीतव्याप्तिकस्य विशेषस्य तदसिद्धेरिति', तन्मन्दम्, सामान्यमात्रव्याप्तावप्यन्तर्भावितविशेषस्यैव सामान्यस्य पक्षधर्मतावशेन सिद्धेर्निष्प्रत्यूहत्वात्। अत एव क्रियात्वसामान्यस्य करणमात्रव्याप्तत्वेऽपि पक्षधर्मतावशादिन्द्रियलक्षणकरण-विशेषसिद्धिर्भवति। अत एव न दृष्टसलक्षणस्यैव साध्यस्य सिद्धिरनुमानेन भवतीति नियमः, इन्द्रियानुमाने दृष्टविलक्षणसाध्य-सिद्धेरिष्टत्वात्। न च रूपपरिच्छित्त्यन्यथानुपपत्त्याऽर्थापत्तिप्रमाणेनैवेन्द्रियलक्षणकरणसिद्धिर्नानुमानेनेति वाच्यम्, सर्वज्ञत्वसिद्धा-वपि तथैव वक्तुं शक्यत्वात्। अचिन्त्यरचनारूपस्य विश्वस्य सर्वज्ञपूर्वकत्वाभावेऽनुपपत्तेः सत्त्वात्।

न चादृष्टवत्क्षेत्रज्ञपरमाणुसंयोगाद् भूधर-सागर-गगन-चन्द्र-सूर्य-ग्रहोपग्रहादिनिष्पत्तिः सम्भवति, चेतनानधिष्ठितस्या-पूर्वस्य तदुपपादकत्वासम्भवात्। न च क्षेत्रज्ञाधिष्ठानेन तदुपपत्तिः, तस्याल्पज्ञस्याधिष्ठातृत्वानुपपत्तेः।

यद्यपि सिद्धान्तेऽपि कर्मणां विश्ववैलक्षण्यहेतुत्वमिष्यते, तथापि ब्रह्मान्तरा तन्मात्रेण कार्यासिद्धेः। नह्यग्निमन्तरा तुषप्रक्षेपफूत्कारमात्रेण धूमोत्पत्तिरिति त्वयाप्युक्तत्वात्। न चासर्वज्ञो विचारासहः, सर्वकारणस्य सर्वज्ञत्वे बाधकाभावात्। न च ज्ञानस्यापि कार्यत्वेन ज्ञानान्तरापेक्षायामनवस्थेति वाच्यम्, पार्थिवपरमाणूनां नित्यरूपवत्त्वस्येव सदा कारणगततया परेशज्ञाननित्यत्वस्य सदा कारणगतत्वेन साधितत्वात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', (तै० उ० २।१।१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० उ० ३।९।२८) इति श्रुत्यादिभिर्ब्रह्मणो नित्यविज्ञानरूपत्वेन स्वसंसृष्टसर्वावभासकतया तत्सर्वज्ञत्वेऽपि बाधाभावात्।

कार्यत्व के साथ असर्वज्ञपूर्वकत्व की ही व्याप्ति देखी गई है। उपलब्धिमत्पूर्वकत्व सामान्य की ही सिद्धि करके सामान्यमुखेन सर्वज्ञत्वपूर्वकत्व रूपी विशेष की भी सिद्धि की जा सकती है, किन्तु विशेष की साधक के साथ व्याप्ति के परिगृहीत न होने पर यह भी संभव नहीं हो सकता" किन्तु यह उक्ति बड़ी दुर्बल है, क्योंकि सामान्य मात्र की व्याप्ति में विशेष सदा विद्यमान रहता है, अतः सविशेष सामान्य की सिद्धि पक्षधर्मता के आधार पर बिना किसी विघ्न-बाधा के हो सकेगी। करणमात्र के साथ क्रियात्व सामान्य की प्राप्ति रहने पर भी पक्ष-धर्मता के बल से इन्द्रियलक्षण करण विशेष की सिद्धि हो पाती है। इसीलिए अनुमान से दृष्ट पदार्थ के अनुरूप साध्य की ही सिद्धि हो ऐसा नियम नहीं माना जाता, क्योंकि इन्द्रियों की सिद्धि के निमित्त किये गये अनुमान में दृष्ट विलक्षण पदार्थ की सिद्धि मानी जाती है। रूप का ज्ञान इन्द्रियों की स्वीकृति के बिना नहीं बन पावेगा, अतः इन्द्रियों की सिद्धि अर्थाप्रत्ति प्रमाण से होती है, न कि अनुमान से, यदि ऐसा कहा जाय तो सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिये भी हम अर्थापत्ति प्रमाण ही रख सकते हैं, क्योंकि अचिन्त्य रचना और रूप वाले इस जगत् की उत्पत्ति बिना सर्वज्ञ ईश्वर को माने हो ही नहीं सकती।

धर्माधर्म वाले जीवों के साथ परमाणुओं के योग से पर्वत, सागर, आकाश, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, उपग्रह, आदि की उत्पत्ति कथमपि संभव नहीं हो सकती, क्योंकि चेतन से अनधिष्ठित अदृष्ट इनको नहीं उत्पन्न कर सकता और जीव इनका अधिष्ठान इसलिये नहीं हो सकता कि वह अल्पज्ञ है।

यद्यपि सिद्धान्ततः कर्मों को विश्व की विलक्षणता में कारण माना जाता है, तो भी बिना ब्रह्म के केवल कर्मों से यह सब कार्य नहीं संपन्न हो सकता। आपने भी यह माना है कि अग्नि के बिना तुष डालने अथवा फूंक मारने से धूम की उत्पत्ति नहीं होती। यह बात नहीं है कि तर्क से सर्वज्ञ को न सिद्ध किया जा सके, क्योंकि इस पूरे विश्व के कारण के रूप में ईश्वर को सर्वज्ञ मानने से कोई बाधा नहीं है। ज्ञान भी तो कार्य है, इसके लिये ज्ञानान्तर मानने पर अनवस्था दोष होगा? इसका समाधान यह है कि यह सिद्ध किया जा चुका है कि पार्थिव परमाणुगत नित्यरूपवत्ता जैसे सदा कारण में विद्यमान रहती है, उसी भाँति परमेश्वर के ज्ञान में विद्यमान नित्यता भी सदा कारण में विद्यमान मानी जाती है, "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है", "ब्रह्म विज्ञानमय आनन्दमय है" इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को नित्य विज्ञान रूप ही मानती हैं, अतः स्वसंबन्धी सबका प्रकाशक होने के कारण उसे सर्वज्ञ मानने में कोई बाधा नहीं है।

न च ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नसमुदायजन्मा कार्योत्पादो न ज्ञानमात्रात् सम्भवति, केवलाद् वह्नेरार्द्रेन्धनाद् वा धूमोत्पत्त्यदर्शनात्। अत एवोपादानज्ञोऽपि कुम्भकारः कुम्भमचिकीर्षुश्चिकीर्षुर्वा तदुपादानादिष्वलक्षतयाऽप्रवर्तमानः कुम्भारम्भाय साफल्यं नाधिगच्छतीति वाच्यम्, कुम्भकारस्य सत्यसङ्कल्पत्वाभावेन तथात्वेऽपि सत्यसङ्कल्पस्य ज्ञानमात्रात् सृष्ट्युत्पत्तौ बाधाभावात्। परमेश्वरीयज्ञानलक्षणात् तपस एव श्रुतिषु प्रपञ्चसृष्टिश्रवणाच्च।

न च तर्हि ज्ञाननैरपेक्ष्येण स्वरूपातिशयादेव सृष्टिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, ज्ञानस्यैव तत्स्वरूपत्वात्, न्यायरीत्यापि नित्यज्ञानवत्त्वेन तस्य ज्ञानवत्त्वस्वाभाव्यात्। विश्ववैलक्षण्योपपत्तये वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषपरिहाराय च धर्माधर्मादिसाहाय्यमपि तत्रापेक्षितमेव। बुद्ध्यारोहाय दृष्टानुसारिणी कल्पना नान्यथेत्युक्तत्वात्। कुम्भाद्युपायेष्विवात्रापि चेतनाधिष्ठितैरेव प्रकृतिपरमाणुधर्माधर्मादिभिर्विश्वसृष्टिरिति श्लिष्टतरम्।

ननु तर्हि तद्वदेव चिकीर्षाप्रयत्नावप्यास्थेयौ, तत्रापि ज्ञानं चिकीर्षाविशेष उपयुज्यते, स च प्रयत्नभेद इति प्रयत्नहेतुभेद एव साक्षात्कार्योदये हेतुः। यदि तावपि परमेश्वरे स्वीक्रियेते, तदापि तौ नित्यौ, अनित्यौ वा? प्रथमे ज्ञानस्य चिकीर्षाप्रयत्नोत्पादानुपयोगित्वेन नैरर्थक्यापातात्, तस्य स्वतः कार्योत्पादाङ्गत्वात्। एवं प्रयत्ननित्यत्वाभ्युपगतौ चिकीर्षाभ्युपगमस्यापि नैरर्थक्यमेव। अन्ते तस्य कारणं वक्तव्यम्। न ज्ञानमात्रं तत्कारणं सम्भवति, आत्ममनःसंयोगविशेषासमवायिकारणयोरिच्छाप्रयत्नयोस्तद्धेतुत्वेऽतण्डुलादपि मुण्डोत्पत्तिप्रसङ्गादिति चेन्न, परमेश्वरीयज्ञानेच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वाभ्युपगमे दोषाभावात्। न च ज्ञानेच्छयोर्नैरर्थक्यमिति वाच्यम्, ज्ञानमन्तरा कर्मफलदातृत्वानुपपत्त्या तदभ्युपगमस्यानिवार्यत्वात्।

कार्य की उत्पत्ति ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न के समुदाय से होती है, केवल ज्ञान से नहीं। केवल वह्नि से अथवा केवल गीली लकड़ी के होने पर भी धूम की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। इसीलिये घट-निर्माण की पूरी सामग्री का जानकार कुम्हार जब घड़ा बनाना नहीं चाहता अथवा बनाना चाहता हो तब भी उसकी साधन-सामग्री को नहीं जुटाता तो वह घड़ा बनाने में सफल नहीं हो सकता। इस शंका का समाधान यह है कि कुम्हार सत्य संकल्प नहीं है, अतः उसके संबन्ध में ऐसी बात कही जा सकती है, किन्तु सत्यसंकल्प परमेश्वर तो केवल ज्ञान से ही सृष्टि की उत्पत्ति में समर्थ है, इसमें कोई बाधा नहीं है। परमेश्वर के ज्ञान रूप तप से ही इस सृष्टि का उत्पादन हुआ है, यह बात श्रुतियों में भी प्रतिपादित है।

ऐसी अवस्था में फिर ज्ञान की भी क्या आवश्यकता है, परमेश्वर के विशिष्ट स्वरूप से ही सृष्टि क्यों न मान ली जाय? इसका उत्तर यह है कि ज्ञान ही तो परमेश्वर का विशिष्ट स्वरूप है। न्यायशास्त्र की युक्ति से भी उसमें नित्य ज्ञान की उपस्थिति के कारण उसका ज्ञानवान् स्वभाव सिद्ध है। विश्व की विलक्षणता सिद्ध होने के लिये और ईश्वर में वैषम्य, नैर्घृण्य दोष के परिहार के लिये वहाँ पर धर्म-अधर्म के साहचर्य की भी अपेक्षा है ही। यह कहा जा चुका है कि दृष्ट पदार्थ के अनुसार ही कल्पना करनी पड़ती है, जिससे कि बात समझ में आ सके, इसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। घटादि के उपायों के साथ जैसे चेतन का अधिष्ठान लगा हुआ है, उसी तरह से प्रकृति, परमाणु, धर्म, अधर्म आदि के साथ भी चेतन का अधिष्ठान मानने पर ही सृष्टि होगी, यह बात बड़ी सरलता से समझ में आ सकती है।

जब ज्ञान को ईश्वर के लिये आवश्यक मानते हैं तो फिर चिकीर्षा और प्रयत्न को भी मानना पड़ेगा। इनमें भी चिकीर्षा विशेष के लिये ज्ञान का उपयोग है और यह चिकीर्षा एक प्रकार का प्रयत्न ही है। इस प्रकार प्रयत्न ही कार्य की उत्पत्ति में साक्षात् हेतु होगा। यदि परमेश्वर में आप प्रयत्न और चिकीर्षा को भी स्वीकार करते हैं, तो वे वहाँ नित्य हैं या अनित्य? यदि ये नित्य हैं, तो ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न के उत्पाद में अनुपयोगी होने से निरर्थक हो जायँगे, क्योंकि वे स्वतः ही सब कार्यों को उत्पन्न कर लेंगे। इसी प्रकार प्रयत्न को नित्य मानने पर चिकीर्षा को मानना निरर्थक हो जायगा। अन्त में उसका कारण बनना पड़ेगा। केवल ज्ञान उसका कारण नहीं हो सकता। आत्ममनःसंयोग विशेष रूप असमवायि कारण वाले इच्छा और प्रयत्न को इसका कारण मानने पर बिना चावल के भी मांड की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यह पूरा पूर्वपक्ष इसलिये गलत है कि परमेश्वर के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न को नित्य मानने में कोई दोष नहीं है। ज्ञान और इच्छा की निरर्थकता इसलिये नहीं होगी कि ज्ञान के बिना ईश्वर कर्म के फलों को न दे

ज्ञानेच्छाकृतीनां नित्यत्वेऽपि कार्यापेक्षया ज्ञानेच्छाकृतीनां क्रमेणैवोपयोगाच्च। न चैषां नित्यत्वे सृष्टेर्नित्यत्वापत्त्या प्रलयासिद्धिरिति वाच्यम्, सृष्टेरनित्यधर्माधर्मनिमित्तकत्वेन नित्यत्वानुपपत्तेः। वेदान्तरीत्या तु यथा प्रसुप्तस्य स्वापाव्यवहितप्राक्कालिकाद् एतावत्कालानन्तरे मया प्रबोद्धव्यमित्येवमात्मकात् सङ्कल्पाद् निद्राभङ्गज्ञानोदयौ भवतः, तथैव प्रलयाव्यवहितप्राक्कालिकपरमेश्वरीयसङ्कल्पादेव गुणवैषम्यधर्माधर्मफलाभिमुख्याभ्यां परमेश्वरीयज्ञानेच्छाकृतिभिर्विश्वसृष्टिर्जायते। एतेन 'प्रलयान्ते मनांसि तत्संयोगाश्च किमनधिष्ठितानि चिकीर्षाप्रयत्नौ प्रसुवते अधिष्ठितानि वा? आद्ये तैरेव हेतुव्यभिचारः, अन्ते तदधिष्ठानार्थं प्रयत्नान्तरापेक्षा, तथा चानवस्था। न च तत्प्रवाहानादित्वेन तत्समाधानं सम्भवति, प्रलये प्रवाहविच्छेदात्' इत्यपि निरस्तं वेदितव्यम्, सङ्कल्पसंस्कारस्य तदानीमप्यविच्छेदात्, नित्यत्वपक्षे तादृग्दोषस्य निरालम्बनत्वाच्च।

अदृष्टविशेषाद्धेतुसमवधानानुपपत्त्यैव कुड्यादिभ्यः शक्रमूर्धादिरिव शय्याप्रासादादिभ्यस्तनुभुवनादीनां वैलक्षण्येऽपि न बुद्धिमत्कर्तृकत्वव्यभिचारः, कार्यत्वस्याविशेष्यात्। यथा कुड्यादिवैलक्षण्येनैव शक्रमूर्धादेर्मनुष्यकार्यत्वाभावेऽपि नाकार्यत्वम्, तथैव तनुभुवनादेर्जीवकार्यत्वाभावेऽपि नाकार्यत्वम्, सावयवत्वेन कार्यत्वस्य निश्चयात्। अत एव यथा शक्रमूर्धादेर्मनुष्यविलक्षणकर्तृमत्त्वं तथैव तन्वादेर्जीवविलक्षणसर्वज्ञपरमेशकर्तृत्वं सिद्धयति।

न च यथा देहवत्प्रयत्नमन्तरेण घटादिकारणेष्वप्रवर्तमानेष्वपि पृथिव्यादिकारणानि न देहवतः प्रयत्नमपेक्षन्ते स्वप्रवृत्तिं प्रति, तथैव चेतनमात्रमपि नापेक्षिष्यन्ते। किन्त्वदृष्टपरिपाकवत् क्षेत्रज्ञसंयोगादेव प्रवर्त्स्यन्तीति किं तदभिज्ञेनेति

पावेगा, अतः इसमें ज्ञान की सत्ता अनिवार्य रूप से माननी पड़ेगी। ईश्वरीय ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के नित्य होने पर भी कार्य की अपेक्षा के अनुसार उनका क्रमिक उपयोग ही होगा। ईश्वर में ज्ञान, इच्छा और कृति की नित्यता मानने पर सृष्टि भी नित्य माननी पड़ेगी, तब प्रलय कैसे सिद्ध हो पावेगा? इसका उत्तर है कि सृष्टि के निमित्त धर्माधर्मादि अनित्य हैं, अतः सृष्टि की नित्यता किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती। वेदान्त की पद्धति से तो जैसे सोये हुए व्यक्ति के शयन करने से अव्यवहित पूर्व किये गये अपने इस संकल्प के अनुसार कि मुझे तनी देर के बाद उठ जाना है, निद्रा का भंग और ज्ञान का उदय होता है, उसी प्रकार प्रलय के अव्यवहित पूर्व काल में किये गये परमेश्वर के संकल्प के अनुसार ही गुणों का वैषम्य और धर्माधर्म के फलाभिमुख होने पर परमेश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के बल से विश्व की नूतन सृष्टि होती है। ऐसा मानने से इस शंका का भी समाधान हो जाता है कि "प्रलय के अन्त में मन और उनके संयोग बिना अधिष्ठान के ही चिकीर्षा और प्रयत्न को पैदा करते हैं या उनका कोई अधिष्ठान होता है? अनधिष्ठित होने पर उनसे हेतु का व्यभिचार मानना पड़ेगा। अन्त में उसके अधिष्ठान के लिये दूसरा प्रयत्न मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। प्रवाह की अनादिता को मान कर भी इसका समाधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रलय में प्रवाह भी विच्छिन्न हो जाता है", क्योंकि संकल्प का संस्कार तो प्रलयावस्था में भी अविच्छिन्न रहता है। चिकीर्षा और प्रयत्न को जब नित्य मान लिया जाता है, तो इस प्रकार के दोषों की कोई संभावना ही नहीं रह जाती।

यद्यपि अदृष्ट विशेष से हेतु का अनुसन्धान न होने के कारण ही जैसे भित्ति प्रभृति से इन्द्र के शिर प्रभृति दैवी अंश भिन्न है, इसी तरह से शय्या, प्रासाद प्रभृति से भी तनु, भुवन प्रभृति पदार्थ विलक्षण है, तथापि इन सब में कहीं पर भी बुद्धिमत्कर्तृकत्व हेतु का व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि सभी में कार्यत्व हेतु समान रूप से विद्यमान है। जैसे भित्ति प्रभृति से विलक्षण होने के कारण इन्द्र के शिर प्रभृति पदार्थों के मनुष्य कृत न होने पर भी वे किसी के भी बनाये हुए नहीं है, ऐसा तो नहीं ही कहा जा सकता, उसी तरह से तनु, भुवन प्रभृति के जीवकर्तृक न होने पर भी उनमें कार्यत्व का अभाव नहीं है, क्योंकि सावयवत्व हेतु से उनमें कार्यत्व की सिद्धि हो जाती है। इसीलिये जैसे इन्द्र के शिर प्रभृति पदार्थों की मनुष्यकृत कार्यों से विलक्षणता है, उसी तरह से शरीर प्रभृति पदार्थों की भी जीवविलक्षण सर्वज्ञ परमेश्वरकर्तृकता सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न है कि शरीरधारी के प्रयत्न के बिना घटादि की कारण सामग्री की प्रवृत्ति यद्यपि नहीं होती, तथापि पृथिवी प्रभृति की कारण सामग्री को किसी देहधारी की भी अपेक्षा नहीं रहती, इसी पद्धति से उसको किसी चेतन की भी अपेक्षा नहीं रहेगी, किन्तु अदृष्ट के कारण जीव के संयोग से ही इस सामग्री की प्रवृत्ति हो जायगी, ऐसी अवस्था में तदभिज्ञ ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है? उत्तर

वाच्यम्, क्षेत्रज्ञादृष्टादीनां जडत्वाल्पज्ञत्वाभ्यां समवधायकत्वानुपपत्त्या तत्प्रतिक्षिप्तत्वात्। कुम्भकारादिजीवानां शरीरावच्छेदेनैव ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामुत्पत्तिनियमेन शरीरापेक्षत्वेऽपि परमेशवर्तिनीनां ज्ञानेच्छाकृतीनां नित्यत्वेन शरीरानपेक्षणात्। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० उ० ३।२९) इति शरीरानपेक्षस्य तस्य कर्तृत्वश्रवणाच्च। परमेश्वरस्यापि शरीरग्रहणसम्भवाच्चोत्पत्तिमत्त्वस्याप्रयोकत्वमपि प्रतिक्षिप्तमेव। नित्येतरत्सर्वं सर्वज्ञपूर्वकम्, अचेतनोपादानत्वादुत्पत्तिमत्त्वाच्च, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा परमाण्वादीत्यपि प्रयोगो निर्दुष्ट एव।

नन्वेवं सर्वस्य द्विकर्तृत्वेन तस्यापीश्वरकर्तृत्वं तस्याप्येवमित्यनवस्थानाद् घटादीनामपि पक्षकुक्षिनिक्षेपाद् दृष्टान्ताभावापत्तिश्च स्यात्, न च व्यतिरेको हेतुः सम्भवति, कादाचित्कादृष्टपरिपाकादेव देशकालादिनियतकार्योत्पादोपपत्त्या व्यतिरेकाव्यभिचारस्यानिश्चयादिति चेन्न, नित्ये परमेश्वरे सकर्तृकत्वप्रयोजकानामुत्पत्तिमत्त्वादिहेतूनामभावेन तददोषात्। अत एव नित्येतरत् सर्वं पक्षतयोपात्तम्। दृष्टान्ताभावोऽपि न दूषणम्, व्यतिरेकिणि हेतौ तदनपेक्षणात्। न चादृष्टपरिपाकात् कार्योत्पादोपपत्त्या व्यतिरेकाव्यभिचारानिश्चयोऽपि, समवधायकचेतनकर्तारमन्तराऽदृष्टमात्रात् कार्योत्पादासम्भवस्यासकृदावेदितत्वात्। अत एवैकेश्वरानुमाने नानवस्थाप्रसङ्गोऽपि, एकेनैव तेन कार्योत्पत्त्युपपत्त्या परमेश्वरान्तरकल्पनाया अप्रसङ्गात्।

ननु बुद्धिशरीरादीनां कर्माशयमूलकत्वेनेश्वरे तदभावात् कथं ज्ञानचिकीर्षादिसम्भवः? तस्यापि कर्माशयाभ्युपगमे येन कर्माशयेनास्य ज्ञानेच्छाशरीरादयो जनयितव्याः, सोऽविज्ञातोऽनधिष्ठितश्च चक्षुरादिजननाय न पर्याप्तः। न च तज्जन्येन

है कि यह पहले ही कहा जा चुका है कि जीव की अल्पज्ञता और अदृष्ट की जड़ता के कारण वे कारण सामग्री को जुटा नहीं सकते। कुम्भकार प्रभृति जीव शरीरधारी हैं, अतः वे उसी रूप में ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न के आश्रय हो सकते हैं, अतः यहाँ पर यद्यपि शरीर की अपेक्षा माननी ही पड़ेगी, किन्तु परमेश्वर में विद्यमान ज्ञान, इच्छा और कृति तो नित्य हैं, अतः इनके लिये शरीर की कोई आवश्यकता नहीं है।

"वह बिना पैर के दौड़ता है, बिना हाथ के ग्रहण करता है, बिना आँख के देखता है और कान के बिना ही सुनता है" इस श्वेताश्वतर श्रुति में ईश्वर का शरीरानपेक्ष कर्तृत्व सुना जाता है। परमेश्वर भी कभी शरीर ग्रहण कर ही सकता है, इसीलिये उत्पत्तिमत्त्व की अप्रयोजकता का खण्डन किया गया है। नित्य से भिन्न सभी पदार्थ सर्वज्ञकृत हैं, क्योंकि इनके अधीन अचेतन है और ये अचेतन उपादान से उत्पन्न होते हैं, जो पदार्थ अचेतनोपादान नहीं है, वे सर्वज्ञकृत भी नहीं हैं, जैसे कि परमाणु प्रभृति नित्य पदार्थ, इस निर्दुष्ट अनुमान से भी उक्त बात सिद्ध होती है।

पुनः प्रश्न उठता है कि इस तरह से सभी पदार्थों के दो कर्ता हुए तो परमेश्वर का भी कोई कर्ता होगा और फिर उस कर्ता का भी दूसरा कोई कर्ता, इस तरह से अनवस्था होगी। दूसरी बात घट प्रभृति भी तो पक्षकोटि में ही निविष्ट है, अतः यहाँ कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलेगा। व्यतिरेकी हेतु भी यहाँ नहीं हो सकता, क्योंकि धर्माधर्म के आकस्मिक परिपाक से ही नियत देश-काल आदि से युक्त कार्य की उत्पत्ति बन जायगी, ऐसी अवस्था में व्यतिरेक के अव्यभिचार का निश्चय कैसे होगा? उत्तर है कि नित्य परमेश्वर में सकर्तृकत्व के प्रयोजक उत्पत्तिमत्त्व प्रभृति हेतुओं का अभाव है, अतः आपके द्वारा बताया दोष यहाँ नहीं लागू होगा। इसीलिये नित्य से भिन्न सभी पदार्थ पक्ष के रूप में गृहीत होते हैं। दृष्टान्त का अभाव भी यहाँ दूषण नहीं है, क्योंकि व्यतिरेकी हेतु में दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं मानी जाती। अदृष्ट के परिपाक से कार्य की उत्पत्ति बन जाने से व्यतिरेक के अव्यभिचार का निश्चय भी नहीं होगा। इस आपत्ति के सम्बन्ध में हम बार-बार कह चुके हैं कि किसी चेतन संयोजक के बिना केवल अदृष्ट से कभी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी लिये जब कि अनुमान से एक ईश्वर सिद्ध होगा तो अनवस्था का भी कोई प्रसंग नहीं आवेगा, क्योंकि जब एक ईश्वर से भी सभी कार्यों की उत्पत्ति हो सकती है, तो फिर दूसरे ईश्वर की कल्पना क्यों की जायगी?

यह आक्षेप किया गया था कि "बुद्धि, शरीर प्रभृति पदार्थों का कारण कर्माशय है, ईश्वर में कर्माशय है नहीं, ऐसी अवस्था में उसमें ज्ञान, चिकीर्षा प्रभृति की उत्पत्ति कैसे होगी? यदि ईश्वर में भी कर्माशय माना जाता है तो जिस कर्माशय से ईश्वर के ज्ञान, इच्छा, शरीर प्रभृति उत्पन्न होंगे, वह अविज्ञात और अनधिष्ठित होकर चक्षु प्रभृति की उत्पत्ति में समर्थ नहीं हो सकता।

शरीरादिना तत्सम्भवः, अन्योन्याश्रयात्। न च प्राग्भवीयशरीरान्तरादिना तदुपपत्तिः, जन्यसमये तस्यातिवृत्तित्वात्, इत्यादि तुच्छम्, जन्यज्ञानादीनां कर्माशयापेक्षत्वेऽपि नित्यानां तदनपेक्षणात्। कर्माशयपूर्वकत्वं ज्ञानादीनां त्वनभ्युपगमपराहतमेव। नित्या सर्वविषया बुद्धिस्तु साधितैव।

यदुक्तम्—'परमेश्वरस्य प्राप्ताखिलप्रापणीयस्य प्राप्तव्याभावादत एव क्रीडासाध्यसुखस्यापि प्राप्तत्वान्न क्रीडार्थमपि प्रवृत्तिः। नापि कारुण्येन परार्थं प्रवृत्तिः, सुखमयस्यैव लोकस्य सृष्टिप्रसङ्गात्' इति, तदप्यसङ्गतम्, धर्माधर्मसापेक्षस्य परमेश्वरस्य विचित्रप्रपञ्चनिर्माणे बाधानुपपत्तेः। न च दुःखहेतोरधर्मस्य कारुण्येनाधिष्ठानं नोपपद्यत इति वाच्यम्, तस्यापि पापक्षयवैराग्यादिजननाद्युपायतया कारुण्येन तदधिष्ठानोपपत्तेः। न च दुखोत्पादस्येश्वराधीनतया तस्य तत्र वैमुख्येन तदनुत्पादे तदत्यन्तविमोक्षरूपस्यापवर्गस्यानायाससिद्धत्वात् कृतं कारुण्येन परार्थप्रवृत्त्येति वाच्यम्, सृष्टिमन्तरा तत्त्वसाक्षात्कारानुपपत्तेः। तत्त्वसाक्षात्कारमन्तराऽनाद्यविद्याकामकर्मलक्षणबन्धनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दावाप्तिलक्षणो मोक्षो न सिद्ध्यति, 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (वा० सं० ३१।१८ तथा श्वे० उ० ६।१५, ३।८) इति श्रुतिविरोधात्।

तत्त्वसाक्षात्कारस्तु वेदान्तश्रवणादिसाधनमन्तरा नोत्पद्यते, श्रवणादिकञ्च देहादिसृष्टिमन्तरा नोपपद्यत इति कुतः सृष्टिमन्तरा तद्वैमुख्यमात्रेण मोक्षसिद्धिः? एतेन नेश्वरः कर्ता, प्रयोजनाभावात्, अनित्यमीश्वरज्ञानं ज्ञानत्वात्—इत्यादीनि प्रत्यनुमानानि निरस्तानि वेदितव्यानि, सृष्टिप्रयोजनस्योक्तत्वात्, ज्ञाननित्यत्वस्य साधितत्वात्, ईश्वरस्य च तज्ज्ञानस्य च धर्मिणोऽप्रसिद्धौ हेतोराश्रयासिद्धत्वात्, प्रसिद्धौ धर्मिग्राहकविरोधाच्च।

कर्माशय जन्य शरीर से भी इनकी उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होगा। पूर्व जन्म के शरीरान्तर से इसकी उत्पत्ति नहीं बनेगी, क्योंकि नूतन जन्म के समय उसकी निवृत्ति हुई रहती है''। वस्तुतः इस कथन में कुछ सार नहीं है, क्योंकि जन्य ज्ञानादि के लिये ही कर्माशय की अपेक्षा रहती है, नित्य ज्ञान, इच्छादि के लिये इनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञानादि की कर्माशय मूलकता को हम स्वीकार नहीं करते। सर्वविषयक नित्य ज्ञान की सिद्धि की जा चुकी है।

यह भी कहा गया है कि ''परमेश्वर को सब कुछ प्राप्तव्य प्राप्त है, उसको कुछ नई वस्तु पाना नहीं है। इसीलिये क्रीडा से प्राप्त होने वाला सुख भी उसको प्राप्त है, तब उसकी प्रवृत्ति क्रीडा के लिये भी नहीं होगी। दूसरे के ऊपर करुणा से उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि करुणा होने पर तो वह सारी सृष्टि सुखमय ही क्यों न बनावेगा''। इस कथन को भी हम असंगत मानते हैं, क्योंकि धर्माधर्म की सहायता से परमेश्वर के इस विचित्र प्रपंच के निर्माण में कोई बाधा नहीं है। करुणामय परमात्मा दुःख के हेतु अधर्म का अधिष्ठाता कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह दुःख भी पाप के क्षय और वैराग्य आदि की उत्पत्ति में सहायक होता है, अतः इसका सहारा भी भगवान् करुणावश मानव के कल्याण के लिये ही लेता है। आप यह नहीं कह सकते कि ''दुःख की उत्पत्ति ईश्वर के अधीन है, वह ईश्वर दुःख से विमुख हो जाय तो उसकी उत्पत्ति ही नहीं होगी और दुःख का अत्यन्त विनाश ही तो अपवर्ग कहलाता है, तो इस प्रकार यह अपवर्ग जीव के लिये अनायास सिद्ध हो जायगा, ऐसी अवस्था में करुणावश ईश्वर की जीव के अपवर्ग के ज्ञान के लिये प्रवृत्ति मानना व्यर्थ है'', क्योंकि बिना सृष्टि के तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता और तत्त्व के साक्षात्कार के बिना अनादि अविद्या और नाना प्रकार की इच्छाओं एवं कर्मों के बन्धन से जीव छुटकारा नहीं पा सकता, इनकी निवृत्ति के बिना परम आनन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष सिद्ध ही नहीं हो सकता। ऐसा न मानने पर ''ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती'', ''उस ब्रह्म को जानकर ही मनुष्य अमृत पद (मोक्ष) को प्राप्त करता है'' इत्यादि श्रुतियों का विरोध होगा।

तत्त्व का साक्षात्कार वेदान्त श्रवण प्रभृति साधनों के बिना नहीं हो सकता और श्रवण-मनन आदि कार्य देहादि की सृष्टि के बिना नहीं होंगे, तब केवल सृष्टि से विमुख होने से ही मोक्ष की सिद्धि कैसे हो सकती है? इस प्रतिपादन से ''ईश्वर कर्ता नहीं है, क्योंकि सृष्टि करने में उसका कोई प्रयोजन नहीं है'', ''ईश्वर का ज्ञान अनित्य है, क्योंकि जीव के ज्ञान की तरह वह भी ज्ञान ही है'', इस तरह के विरोधी अनुमान निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि सृष्टि का प्रयोजन बताया जा चुका है और ज्ञान की नित्यता को भी सिद्ध कर दिया गया है। ईश्वर के और उसके ज्ञान के प्रसंग में यदि धर्मी को अप्रसिद्ध माना जाता है, तो हेतु आश्रयासिद्धि नामक हेत्वाभास से दुष्ट होगा और प्रसिद्ध मानने पर धर्मिग्राहक प्रमाण से विरोध होगा।

यदुक्तम् 'क्षित्यादिषु सावयवत्वेन कार्यत्वानुमानमपि न सम्भवति, क्षित्यादिकमकार्यम्, अशक्यक्रियत्वाद् अशक्योपादानविज्ञानत्वाद् महाभूतशब्दवाच्यत्वाच्चेत्याद्यनुमानैः सत्प्रतिपक्षितत्वादिति', तदपि न क्षोदक्षमम्, आभाससमानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि—कुतोऽशक्यक्रियत्वादिकं ज्ञायते ? जीवेषु तददर्शनादिति चेत्, तदपि मन्दम्, नहि यदस्मदादिषु न दृष्टं तदन्यत्रापि न सम्भवति। नुहीदानीं सार्वभौमः सम्राड् नोपलभ्यत इति तत्सत्त्वमन्यदापि बाधमर्हति। स्मर्यन्ते पुराणादिषु तादृक्सम्राजश्चेदत्रापि स्मरणं समानमेव। प्रजापतिविश्वामित्रादयः स्मर्यन्ते विचित्रशक्तिमन्तः, अत्रापि पुण्यविशेषोपचयेनातिशयता दृष्टेति सम्भावनया जीवानामपि विशेषकार्यकर्तृत्वानुमानाच्च।

किञ्च, नहि सिद्धं साध्यते, तस्य सिद्धत्वादेव। यस्योत्पत्तिर्दृष्टा न तस्य कार्यत्वं साधनीयम्, यस्य न दृष्टा तस्यैव साध्यते सा। कार्यत्वसिद्धयैव तेनैव धर्मिग्राहकमानेन तदनुगुणा शक्तिर्ज्ञानं चापि सिद्धयत्येव। तृतीयहेतुस्त्वप्रयोजकः, अनुकूलतर्काभावात्। सावयवत्वकार्यत्वयोस्तु घटादिषु दृष्टः कार्यकारणभाव एव व्याप्तिसाधकः।

सातिशयानां परिमाणानां परममहत्त्वस्याकाशेऽणुत्वस्य परमाणौ काष्ठाप्राप्तिर्दृष्टा। विज्ञानञ्च लोके एक-द्वि-बहुविषयतया सातिशयं दृष्टमिति तदपि क्वचित् काष्ठां प्राप्तम्। विदितसमस्तवेदितव्ये परमेश्वरे तत्काष्ठाप्राप्तिर्युक्ता, "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" (१।२५) इति पातञ्जलसूत्रात्।

पूर्वपक्षी ने यह भी कहा है कि "सावयवत्व हेतु से पृथिवी प्रभृति में कार्यत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि पृथ्वी प्रभृति कार्य नहीं है, क्योंकि इनको बना पाना अशक्य है, इनकी साधन-सामग्री को जान पाना भी कठिन है और ये महाभूत शब्द के वाच्य हैं, इत्यादि विरोधी अनुमानों से कार्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास से दुष्ट है", यह कथन भी आगे दिये गये तर्कों का उत्तर देने में असमर्थ है, क्योंकि आपके दिये गये सभी अनुमान तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, इसलिये तर्काभास है, अर्थात् वे मिथ्याज्ञान की तरह तभी तक टिक पाते हैं, जब तक कि सम्यक् तर्कों से सही स्थिति ज्ञात नहीं हो जाती। आप यह बताइये कि सृष्टि क्यों नहीं रची जा सकती ? जीव पहाड़, नदी, समुद्र आदि नहीं बना सकते, इसलिये इनका बनाया जाना सम्भव नहीं है। यह कथन बड़ा दुर्बल है, क्योंकि जो हममें नहीं देखा जाता, वह अन्यत्र भी नहीं है, ऐसा आप कैसे कह सकते हैं। आजकल कोई सार्वभौम सम्राट् नहीं है, इसका मतलब यह नहीं है कि ऐसा सम्राट् कभी था ही नहीं। पुराणों में यदि इस तरह के सम्राटों की स्मृति सुरक्षित है, तो हमारा प्रतिपादित सिद्धान्त भी उन्हीं पुराणों में सुरक्षित मिलेगा। प्रजापति, विश्वामित्र प्रभृति की विचित्र शक्तियों का वर्णन वहाँ मिलता है। अन्य जीवों में भी पुण्य विशेष की वृद्धि होने पर इस प्रकार का विशेष सामर्थ्य देखा जाता है, इस अवस्था में अन्य जीवों में भी विशेष कार्य को करने की सामर्थ्य की सिद्धि अनुमान द्वारा हो ही सकती है।

अपि च, सिद्ध को नहीं साधा जाता, क्योंकि वह तो सिद्ध ही है। जिसकी उत्पत्ति देखी जाती है, उसमें कार्यत्व को सिद्ध नहीं करना है। जिसकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती, उसी में कार्यत्व को सिद्ध करना है। जब कार्यत्व की सिद्धि हो गई तो उसी धर्मी के ग्राहक प्रमाण से तदनुरूप शक्ति और ज्ञान की भी सिद्धि हो जायगी, अर्थात् कार्य की विचित्रता देखकर उसके बनाने वाले की भी विचित्र शक्ति और असाधारण ज्ञान की सिद्धि हो ही जायगी। आपका तृतीय हेतु अभीष्ट सिद्धि में असमर्थ है, क्योंकि उसकी सहायता के लिये कोई अनुकूल तर्क नहीं है। आकाश आदि महाभूत होते हुए भी पैदा होने वाले भी हों, इसमें क्या बाधा है ? सावयवत्व (अवयव वाला) और कार्यत्व (पैदा होने वाला) में तो व्याप्ति की सिद्धि घटादि में देखे गये कार्यकारणभाव के आधार पर हो जायगी।

परिमाणों की सातिशयता का जब हम विचार करते हैं, तो आकाश में परम महत्त्व की और परमाणु में अणुत्व की अन्तिम स्थिति हमको दिखाई देती है। यही स्थिति लोक में विज्ञान की है, किसी को एक विषय का किसी को दो या तीन विषय का ज्ञान है। इस ज्ञान की भी पराकाष्ठा कहीं होनी चाहिये। जिसको समस्त ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान है, ऐसे परमेश्वर में ही ज्ञान की पराकाष्ठा मानना उचित होगा, "उस ईश्वर में सर्वविषयक निरतिशय ज्ञान की स्थिति है" यह पातंजल (योग) सूत्र इस विषय में प्रमाण है।

ननु यतः परं नास्ति सा काष्ठा, तदा भवतु तत्प्राप्तिः, न च तया सर्वविषयत्वप्राप्तिः, भूयिष्ठविषयत्वे तु नेष्टसिद्धिः। यथा पार्थिवान्तरापेक्षया पार्थिवगोलस्य बहुतराकाशव्याप्तित्वेऽपि न सर्वव्यापिता। 'यतः परं न सम्भाव्यते सा काष्ठा' इत्यपि न सम्भवति, सातिशयानां घटादिकार्यद्रव्याणां परासम्भावनीयातिशायित्वादर्शनात्, अन्यथैकेनैव स्पर्शवता सर्वव्याप्त्या तादृशान्यानवकाशप्रसङ्गात्। यच्चसाधारणगुणस्यैवायं धर्म इति, तदपि न युक्तम्, मनुष्य-वात-हरिण-हरि-पतत्रिणां प्रयत्नविशेषाद् दूरान्तिकप्राप्तिदर्शनेनासम्भावनीयपरातिशयस्य विशेषस्यादर्शनेन व्यभिचारात्। निरवशेषगन्तव्यदेशप्राप्त्या हि निरतिशयः प्रयत्नो भवेत्। गन्तव्यस्य नभसोऽनन्ततया कथं तत्सम्भवेत्?

किञ्च, परममहत्त्वस्य पर्य्यवसानमाकाशे गदितम्। यदि तत्परिमितम्, ततः कुतस्तस्यासम्भाव्यपरावस्थत्वम्? यद्यानन्त्यमेवाकाशस्य न परिमितत्वम्, तदापि किमानन्त्यम्? यदि परिच्छेदाभाव एवानन्त्यम्, तद्वदेवेश्वरज्ञानस्याप्यानन्त्यम्, सैव च काष्ठाप्राप्तिरिति, तदपि न युक्तम्, तस्यात्मीयज्ञानस्य साकल्येनापरिज्ञानेऽल्पज्ञत्वापत्तिः। ज्ञाने वा कथमानन्त्यम्? परिच्छेदनान्तरीयकेणेयत्तावधारणेनापास्तत्वादिति।

तत्रोच्यते—असाधारण्ये गुणत्वे सति सातिशयानां काष्ठाप्राप्तिरित्युक्तौ दोषाभावात्। न च प्रयत्नविशेषादन्तिकदूरप्राप्तौ काष्ठा-प्राप्तिरिति वाच्यम्, सर्वातिशायिपरेशप्रयत्नस्य काष्ठाप्राप्तेरिष्टत्वात्। "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (ऋ० सं० १०।९०।३), "अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" (ऋ० सं० १०।९०।१) इत्यादिश्रुतिभिः परमेश्वरस्य

प्रश्न है कि काष्ठा उसको कहा जाता है, जिसके आगे कुछ न हो, इस लक्षण में काष्ठा प्राप्ति मानी जा सकती है, किन्तु इससे सभी विषयों की प्राप्ति तो होगी नहीं, इस प्राप्ति को अधिकतर विषयों तक ले जाय तो उससे भी इष्ट सिद्धि नहीं होगी। जैसे कि अन्य पार्थिव पदार्थों की अपेक्षा भूगोल सर्वाधिक व्यापी तो है, किन्तु उसे सर्वव्यापक नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात काष्ठा का अभी बताया लक्षण भी नहीं बन पाता, क्योंकि न्यूनाधिकता वाले और पैदा होने वाले घटादि द्रव्यों का सर्वाधिक अतिशय वाला रूप कोई दिखाई नहीं देता, जिससे अधिक रूप की संभावना की ही न जा सके। अर्थात् छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा घड़ा देखकर ही यह तो कभी कहा ही नहीं जा सकता कि इससे बड़ा घड़ा हो ही नहीं सकता, या छोटा घड़ा हो ही नहीं सकता—अन्यथा एक स्पर्शवान् द्रव्य के ही सर्वत्र व्याप्त हो जाने पर उसी तरह के अन्य द्रव्य के लिये कोई अवकाश नहीं रह जायगा। यदि असाधारण गुण का ही यह स्वभाव माना जाय तो यह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि मनुष्य, पवन, हरिण, बन्दर और पक्षी भाँति भाँति के प्रयत्नों से दूर और पास की वस्तुओं के पास पहुँचते हैं, इनमें परम अतिशय की संभावना वाली विशेषता नहीं देखी जाती, अतः इनमें व्यभिचार होगा। सम्पूर्ण गन्तव्य देश की प्राप्ति होने पर ही प्रयत्न की निरतिशयता मानी जायगी। यह गन्तव्य आकाश के अनन्त होने से कैसे संभव हो सकती है?

अभी आकाश में परम महत्त्व का पर्यवसान बताया गया है। यदि वह परिमित है तो उसकी परावस्था असंभव कैसे हो सकती है? यदि आकाश अनन्त ही है तो वह परिमित नहीं हो सकता। फिर यह भी बताइये कि परिमित आनन्त्य क्या है? यदि परिमाण के अभाव को अनन्तता कहते हैं, तो उसी तरह से ईश्वर के ज्ञान में भी आनन्त्य माना जायगा और यही काष्ठा प्राप्ति भी होगी। यह कथन भी इसलिये ठीक नहीं होगा कि ईश्वर को अपने ज्ञान का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान है या नहीं? यदि नहीं तो उसको अल्पज्ञ मानना पड़ेगा और यदि ज्ञान है तो फिर उसका ज्ञान अनन्त नहीं रहा। ईश्वर के ज्ञान की सीमा हो गई, बिना सीमा हुए सम्पूर्ण ज्ञान हो नहीं सकता, इस रीति से ईश्वर के ज्ञान की अनन्तता भी खण्डित हो ही जाती है।

इन सब शंकाओं का उत्तर यह है—गुण की असाधारणता में सातिशय पदार्थों की काष्ठा-प्राप्ति होती है, ऐसा मानने पर कोई दोष नहीं होगा। प्रयत्न विशेष से पास और दूर की वस्तु की प्राप्ति को काष्ठा-प्राप्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हमको केवल सर्वातिशायी परमेश्वर के प्रयत्न की ही काष्ठा-प्राप्ति अभिप्रेत है। "इस परमेश्वर का एक अंश यह सारा जगत् है, और इसके अमृत स्वभाव के तीन अंश दिव्यलोक में हैं", "यह परमात्मा दशांगुल रूप धारण कर इस जगत् में छाये हुए हैं" इस प्रकार की श्रुतियाँ परमेश्वर को सारे प्रपंच से ऊपर जब कहती है, तो उससे परमेश्वर के प्रयत्न की निरतिशयता का भी समर्थन हो जाता है। इस तरह

सर्वप्रपञ्चातिक्रान्तत्वेन तत्र प्रयत्ननिरतिशयत्वस्याप्युपपत्तेः। न चैवमीश्वरस्याल्पज्ञत्वप्रसङ्गः, अनन्तस्यानन्तत्वेन ज्ञाने सर्वज्ञत्वानपायात्। तत्रेयत्तावधारणस्यैव भ्रान्तिमूलकत्वेनाल्पज्ञत्वप्रयोजकत्वाच्च।

यदुक्तम्—'विवादाध्यासितमनेककर्तृकं कार्यत्वात्, विचित्रसन्निवेशसार्वभौमसदनवदिति जगतोऽनेककर्तृकत्वज्ञान-सिद्धया पक्षधर्मताया दौर्बल्येन सर्वज्ञसर्वकर्तुरेकस्येश्वरस्यासिद्धिः' इति तदपि तुच्छम्, अस्मदादिषु पृथिव्यादिनिर्माणानुगुण-सामर्थ्याद्यभावदर्शनादनुमानेन तादृक्सामर्थ्यवतां साधनेऽनेकतादृक्कल्पनापेक्षया तादृगेवेश्वरकल्पनायां लाघवादन्यत्र गौरवाच्च। पुण्यविशेषैस्तद्वतां साधनेऽनेकेश्वरपक्षोक्तदोषाश्च प्रसज्येरन्।

एतेन भूभूधरादिनिष्ठं कार्यत्वं न बुद्धिमदेककर्तृकत्वसाधकम्, समूहनिष्ठत्वात्, घट-पट-स्तम्भादिसमूहनिष्ठकार्यत्व-वदित्यपास्तम्, एकस्याप्यनेकवस्तुसमूहकार्यकरणसामर्थ्यदर्शनेन हेतोर्व्यभिचारित्वाच्च।

यदुक्तम्—'क्षित्यादिगतं कार्यत्वं युगपदुत्पद्यमानसर्वगतं क्रमिकोत्पद्यमानसर्वगतं वा? आद्ये आश्रयासिद्धिः, द्वितीये विरोध इति, तदपि तुच्छम्, तदुभयसाधारणस्य हेतुत्वे बाधाभावात्।

जगदेकचेतनाधीनम्, अचेतनारब्धत्वात्, नीरोगस्वशरीरवत्। एकचेतनाधीनोत्पत्तिस्थितिकत्वमेवैकचेतनाधीनत्व-मित्यनेनापीश्वरसिद्धिः सम्भवति। न च नीरोगस्यापि शरीरस्य पितृ-पुत्राद्यनेकचेतनादृष्टजन्यत्वेन तदुत्पत्तिस्थित्योस्तद-धीनत्वेनैकचेतनाधीनत्वाभावेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमिति वाच्यम्, तत्रादृष्टाद्वारकत्वे सतीति हेतोर्विशेषणीयत्वेन दोषाभावात्।

से ईश्वर अल्पज्ञ नहीं हो जायगा, क्योंकि अनन्त की अनन्तता के कारण इसके ज्ञान में सर्वज्ञता रहेगी ही। इसमें इयत्ता का अवधारण भ्रान्ति के कारण ही हो सकता है और वही अल्पज्ञता का भी प्रयोजक हो सकता है।

यह अनुमान किया गया था कि—"विवाद के विषय पृथिवी सागर, पर्वत प्रभृति पदार्थों के अनेक कर्ता हैं, क्योंकि विचित्र रूप-रंग वाले सार्वभौम राजा के महल की तरह ही ये भी कार्य हैं। जब जगत् के अनेक कर्ताओं की सिद्धि इस अनुमान से हो गई तो उस अवस्था में पक्षधर्मता के दुर्बल पड़ जाने से सर्वज्ञ, सर्वकर्ता एक ईश्वर की सिद्धि नहीं हो पावेगा", यह कथन भी इसलिये बहुत हलका है कि हम लोगों में पृथिवी प्रभृति के निर्माण के अनुरूप ज्ञान और सामर्थ्य का अभाव है, अतः इस तरह के सामर्थ्य वाले ईश्वर की सिद्धि अनुमान से ही होगी। जब अनुमान से सिद्धि होगी तो इस तरह की सामर्थ्य वाले एक ईश्वर को मानने में ही लाघव है। तब एतादृश सामर्थ्य वाले अनेक ईश्वरों की कल्पना क्यों की जाय, क्योंकि ऐसा करने में गौरव होगा। पुण्यविशेष से पुण्यवानों की सिद्धि करने में भी वे ही दोष उपस्थित होंगे, जो कि अनेक ईश्वर को मानने वाले के पक्ष में हैं।

उक्त प्रतिपादन से इस बात का खण्डन हो जाता है कि "पृथ्वी, पर्वत आदि किसी एक बुद्धिमान् के द्वारा बनाये गये कार्य नहीं हैं, घट, पट, स्तम्भ आदि सामूहिक कार्यों के निर्माता अनेक देखे गये हैं, एक नहीं, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी आदि भी सामूहिक कार्य ही हैं, अतः इनके भी निर्माता अनेक ही होने चाहिये", क्योंकि एक व्यक्ति भी अनेक वस्तुओं के समूह रूप कार्य को उत्पन्न करते देखे गये हैं, इसलिये आप का हेतु व्यभिचारी भी है।

यह जो आप ने कहा है कि "पृथिवी आदि कार्य सब एक साथ उत्पन्न होने वाले हैं, अथवा सब क्रमशः उत्पन्न होने वाले हैं? प्रथम पक्ष में आश्रयासिद्धि और दूसरे पक्ष में विरोध होगा", किन्तु वह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि कार्यत्व युगपत् (एक साथ) उत्पद्यमान और क्रमिक रूप से उत्पद्यमान सभी कार्यों में विद्यमान हैं, अतः इसमें कोई दोष नहीं है।

यह जगत् एक चेतन के अधीन है, क्योंकि अचेतन से आरब्ध है, जैसे कि अपना नीरोग शरीर। एक चेतनाधीन उत्पत्ति और स्थिति को ही एक चेतनाधीन पद से कहा जाता है, अतः इस अनुमान से भी ईश्वर की सिद्धि हो जायगी। नीरोग शरीर पिता, पुत्र आदि अनेक चेतन प्राणियों के अदृष्ट से उत्पन्न होता है, अतः उसकी उत्पत्ति और स्थिति इन अनेक चेतनों के अधीन है, एक चेतन के अधीन नहीं, इस तरह से यद्यपि दृष्टान्त में साध्यविकलता दोष उपस्थित होगा, किन्तु हेतु में 'अदृष्टाद्वारकता' यह विशेषण जोड़ देने से इस दोष का परिहार हो जायगा, क्योंकि यहाँ पर पिता पुत्र प्रभृति चेतनों की उपादानता अदृष्ट के द्वारा ही है और ईश्वर के द्वारा उत्पन्न होने वाले जगत् में ऐसा नहीं है।

एवमेव शरीरस्थितिः किं स्वावयवसमवेता, उत प्राणनम् ? आद्येऽवयवाधीनत्वान्न चेतनापेक्षा, घटादिवत्। द्वितीये क्षित्यादीनां शरीरत्वाभावेन पक्षेऽसम्भव इति पक्षसपक्षानुगतस्थित्यनुपलम्भ इत्यपि निरस्तम्, तदधीनसत्तास्फूर्तिमत्त्वस्यैव चेतनाधीनस्थितिपदार्थत्वेनाव्यभिचारात्।

यदुक्तम्—'अशरीरत्वादीश्वरो न कर्ता, मुक्तात्मवदिति प्रत्यनुमानेन तद्बाधः' इति, तन्न, ज्ञानविशेषराहित्यस्योपाधित्वेन तस्याकिञ्चित्करत्वात्। तपोयोगादिलब्धसामर्थ्यानामनेकेषां जीवानां विश्वकर्तृत्वकल्पनापेक्षयैकेश्वरकल्पनायां लाघवमुक्तमेव, अनेकेषां स्वातन्त्र्येण कर्तृत्वे वैमत्यावश्यम्भावित्वेन कार्यानुत्पादप्रसङ्गात्।

धर्मजनितत्वेन हीश्वरत्वस्य य एवं तादृग्धर्मवान्, स एवेश्वरः स्यात्, तद्वशाच्चेश्वरबहुत्वप्रसक्तेः। तत्र चैकस्यैश्वर्येणान्येषामैश्वर्ये समे न्यूने वा नोपपत्तिः। न्यूनत्वे यदेवातिशयि तदेवैश्वर्यं स्यात्, इतरेषां तु भाक्तमेवैश्वर्यं स्यात्। साम्येऽप्यविरोधेन सम्भूयेशितृत्वे परिषद् इव न कस्यापीश्वरत्वम्, सम्भूयेशितृत्वात्। प्रत्येकमीशत्वे तेषु केनचिदेवेशतायाः कृतत्वात्, अन्येषां नैरर्थक्यात्। स्वतन्त्राणां बहूनामेकाभिप्रायासम्भवेन विरुद्धाभिप्रायत्वे न कस्यचित् कार्यस्योत्पादः। उत्पादे च परस्परविरुद्धस्वभावं जगदुपलभ्येत।

वस्तुतस्तु मीमांसकानामपि नेश्वरस्य तत्सर्वज्ञतायाश्च खण्डने तात्पर्यम्, किन्त्वनुमानस्वातन्त्र्यखण्डन एव। अत एवोत्तरमीमांसकैः—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० उ० ३।९।२६), "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (तै० ब्रा०

इसी तरह से अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहने को ही शरीर की स्थिति कहते हैं या श्वास-प्रश्वास लेने को ? प्रथम पक्ष में शरीर की स्थिति की अवयवाधीनता होने से उसमें घटादि की तरह चेतन की आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि घट अपने अवयवों में रहने के लिये चेतन की अपेक्षा नहीं रखता, ऐसे ही शरीर भी अपने अवयवों में रहेगा। उसे चेतन की क्या आवश्यकता है ? द्वितीय पक्ष में पृथिवी आदि में शरीर ही नहीं है, इसलिये पक्ष में हेतु असंभव हो जायगा, अतः कौन पक्ष है और कौन सपक्ष (दृष्टान्त) है, इस बात का पता नहीं लग पावेगा। इस शंका का समाधान भी इस प्रकार हो जाता है कि 'चेतनाधीन स्थिति' इस पद का अर्थ ही है तदधीन सत्ता और स्फूर्ति, अतः यहाँ पर उक्त दोष नहीं प्रसक्त होंगे। अर्थात् जिसकी सत्ता चेतन के अधीन हो और जिसकी स्फूर्ति चेतन के अधीन हो, उसी को चेतनाधीन स्थिति वाला पदार्थ कहा जाता है।

यह भी कहा गया है कि 'शरीर रहित होने से ईश्वर कर्ता नहीं है, जैसे कि मुक्तात्मा' इस विपरीत अनुमान से ईश्वर का कर्तृत्व बाधित हो जायगा'', किन्तु इस अनुमान में ज्ञान विशेष राहित्य उपाधि है, अतः यह सोपाधिक अनुमान किसी काम का नहीं है। तप, योग आदि से सामर्थ्यातिशय प्राप्त अनेक जीवों की अपेक्षा एक ईश्वर को विश्व का कर्ता मानने में लाघव है। एक बात और भी यह है कि अनेक जीव यदि स्वतन्त्र रूप से कर्ता माने जायँगे, तो उनमें मतभेद का होना अवश्यंभावी है, ऐसी अवस्था में कोई कार्य उत्पन्न ही न हो सकेगा।

ईश्वरत्व धर्म से उत्पन्न होता है, अतः जो ईश्वरत्व धर्म से युक्त है, वही ईश्वर है, इस ईश्वरत्व धर्म के कारण ईश्वर की अनेकता की आपत्ति उठ सकती है, एक ऐश्वर्य से ही दूसरों का ऐश्वर्य मानने पर उनकी समता और न्यूनता की उत्पत्ति नहीं बनेगी, क्योंकि न्यूनता में जिसमें सर्वाधिक ऐश्वर्य होगा, वही ईश्वर होगा, अन्यत्र ईश्वरत्व लाक्षणिक माना जायगा। समान ऐश्वर्य मानने पर भी बिना विरोध के सब का मिलकर ऐश्वर्य उसी प्रकार का माना जायगा, जैसा कि परिषद् का स्वरूप रहता है, इसमें कोई भी ईश्वर नहीं होता, क्योंकि सभी मिलकर समान स्तर पर किसी निर्णय पर पहुँचते हैं। प्रत्येक का ईशित्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें से कोई एक ही अध्यक्ष का कार्य करता है, ऐसी अवस्था में अन्यत्र ईशित्व निरर्थक हो जायगा। स्वतन्त्र अनेक व्यक्तियों के एक अभिप्राय के न रहने के कारण यदि वे विरुद्ध अभिप्राय वाले हैं, तो कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकेगा और यदि उत्पन्न भी होगा तो परस्पर विरोधी स्वभाव वाला ही जगत् बन पावेगा।

वास्तव में तो मीमांसकों का तात्पर्य ईश्वर के खण्डन में अथवा उसकी सर्वज्ञता के खण्डन में नहीं है, किन्तु वे खण्डन करते हैं केवल अनुमान के स्वतन्त्र प्रामाण्य का। इसी लिये अनुमान सिद्ध ईश्वर का खण्डन करने पर भी वेदों से सिद्ध ईश्वर का खण्डन वे नहीं करते। उत्तर मीमांसक (वेदान्ती) के मत में "मैं उस उपनिषदों से ही जाने जा सकने वाले पुरुष (ब्रह्म) के विषय में पूछता हूँ", "वेद को

३।१२।९।७), "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १।१।३) इत्यादिश्रुतिसूत्राद्यनुसारेण धर्मस्येव ब्रह्मणोऽपि वेदैकसमधिगम्यत्वमुपेयते। वेदार्थस्योपपत्तये बुद्धयारोहाय च "मन्तव्यः" (बृ० उ० २।४।५) इति श्रुत्यविरुद्धानुमानानि युक्तिरूपेणोपादीयन्ते।

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्। उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता॥(न्या० कु० १।३)

इत्युदयनाचार्योक्तेः।

नैयायिकादिभिरीश्वरोक्तत्वेन वेदस्य प्रामाण्यमुपेयते। तस्य च वेदोक्तत्वेन सिद्धावन्योन्याश्रयत्वापत्त्या स्वातन्त्र्येणानुमानप्रामाण्यमुच्यते, तच्च न युक्तम्, तथात्वेऽन्यैरपि वेदविरोधिभिर्बौद्धजैनखृष्टीयमोहम्मदमतानुयायिभिः स्वस्वसम्प्रदायानुगतग्रन्थकारस्यापि परमेश्वरत्वं सर्वज्ञत्वादिकं च साधयितुं शक्यत एवेति तैरविशेषापत्तिरेव वेदस्य स्यात्। तथा च वेदप्रामाण्यस्वातन्त्र्यं भज्येत। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे० उ० ६।१८)

इति श्रुत्या तु चतुर्मुखस्य ब्रह्मणो निर्मात्रा परमेश्वरेणापि वेदा न निर्मीयन्ते, किन्तु प्रवाहरूपेण नित्यसिद्धा वेदा ब्रह्मणो हृदि प्रहीयन्ते।

तत्र नैयायिकादिरीत्या परमेश्वरापरपर्य्यायस्य ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वमेव, नोपादानत्वमपि। वेदान्तरीत्या तु तस्यैवोपादानत्वमपि, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (तै० उ० ३।१) इति जनिकर्तुः प्रकृतेर्ब्रह्मण उपादानत्वमपि स्पष्टमुक्तम्, अभिसंविशन्तीति ब्रह्मण एव प्रपञ्चलयाधिकरणत्वोक्तेः। नहि निमित्त-

शास्त्र से ही उस ब्रह्म की अवगति हो सकती है और शास्त्रों (वेदों) का निर्माता ब्रह्म
न जानने वाला उस ब्रह्म को कहीं जान पाता", "शास्त्र से ही उस ब्रह्म की अवगति हो सकती है और शास्त्रों (वेदों) का निर्माता ब्रह्म
ही है" इत्यादि श्रुतियों और ब्रह्मसूत्र के अनुसार धर्म की भाँति ब्रह्म भी केवल वेद से ही जाना जा सकता है, वेदार्थ के उपपादन के
लिये और उसको समझने के लिये ही "उसका मनन करना चाहिये" ऐसी श्रुतियों के आधार पर वेदाविरोधी अनुमानों को युक्ति के
रूप में स्वीकार किया जाता है। इसी बात को उदयन ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"ईश्वर विषयक यह न्यायचर्चा श्रुति में 'मनन' के
नाम से अभिहित है। श्रवण के बाद इसका स्थान है। यह मनन ईश्वर की उपासना ही है"।

नैयायिक प्रभृति वेदों का प्रामाण्य इसलिये मानते हैं कि वे ईश्वर के द्वारा निर्मित हैं। अब यदि ईश्वर की सिद्धि वेद से मानी
जाय तो परस्पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, अतः नैयायिक ईश्वर की सिद्धि में अनुमान को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मानते हैं। यह ठीक नहीं
है, क्योंकि ऐसा मानने पर बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों के अनुयायी वेदविरोधी अपने अपने संप्रदाय के ग्रन्थकारों को भी
परमेश्वर कह सकते हैं और उन्हें सर्वज्ञ भी सिद्ध करने में समर्थ हो जायेंगे, तब उनसे वेद की क्या विशेषता रह जायगी। इस तरह से तो
वेद का स्वतन्त्र प्रामाण्य नष्ट हो जायगा। "वह परमेश्वर पहले ब्रह्मा की सृष्टि करता है और तब उसको वेद का उपदेश देता है" इस
श्रुति से यह नहीं सिद्ध होता कि चतुर्मुख ब्रह्मा का स्रष्टा परमेश्वर वेदों का भी निर्माण करता है, किन्तु इससे इतना ही प्रतीत होता है
कि वह प्रवाह रूप से नित्यसिद्ध वेदों को ब्रह्मा के हृदय में पहुँचा देता है।

यहाँ पर नैयायिक प्रभृति की पद्धति से परमेश्वर, अर्थात् ब्रह्म की निमित्तकारणता ही बनती है, उपादानकारणता नहीं।
वेदान्त की पद्धति में तो ब्रह्म उपादानकारण (कार्य को पैदा करने वाली सामग्री भी) है, "जिससे ये सारे संसार के प्राणी पैदा होते हैं,
जिसकी सहायता से उत्पन्न होकर जीते हैं और प्रलयावस्था में उसी में लीन हो जाते है (वही ब्रह्म है)" इस श्रुति में ब्रह्म की
उपादानकारणता स्पष्ट प्रतिपादित है, क्योंकि उत्पत्ति करने वाले को ही यहाँ पर प्रकृति (उपादानकारण) भी माना गया है। 'अभिसंवि-
सन्ति' इस पद से ब्रह्म को ही प्रपंच के लय का अधिकरण माना गया है। कुलालादि, जो कि निमित्त कारण मात्र हैं, कभी भी घट प्रभृति
पदार्थों के विलयन के अधिकरण नहीं हो सकते, अर्थात् घटादि पदार्थों के नष्ट हो जाने पर उनका कुम्भकार आदि में लय नहीं होता, किन्तु
वे अपने उपादान पृथिवी (मिट्टी) प्रभृति में ही लीन होते हैं। इसलिये "प्रकृतिश्च" प्रभृति वेदान्तसूत्र ब्रह्म को ही प्रकृति (उपादान
कारण) और 'च' शब्द से निमित्त (कारण) भी मानता है। यह वेदान्त दर्शन संमत ईश्वर अपने श्वास-प्रश्वास की तरह बिना बुद्धि,

मात्रस्य कुलालादेर्घटादिलयाधिकरणत्वं सम्भवति। अत एव बादरायणं सूत्रम्—"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" प्रकृतिश्चकाराद् निमित्तञ्च ब्रह्मैवेति वक्ति। वेदान्तिसम्मत ईश्वरो निःश्वसितमिव बुद्धिप्रयत्नविशेषानपेक्षमकृत्रिमं वेदं निःश्वासन्यायेन कल्पादावाविर्भावयति, "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" (बृ० उ० २।४।१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

शब्दस्य प्रामाण्यम्

यदुक्तं वस्तुसम्बन्धाभावाच्छब्दस्यार्थबोधनमशक्यमेव, तथाहिं किं शब्दार्थयोः तादात्म्यलक्षणः, तदुत्पत्तिस्वभावो वा सम्बन्धः संभवति। नाद्यः, भिन्नदेशत्वेन तयोः प्रतीयमानत्वात्, मुखे हि शब्दो भूमावर्थश्च प्रतीयेते। तत्तादात्म्ये क्षुरमोदकाद्युच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणादिप्रसङ्गः स्यात्। नान्त्यः, अङ्गुल्यग्रे करिशतमिति शब्दानामर्थाभावेऽप्युत्पत्तिदर्शनात्, स्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वाच्च नार्थप्रभवत्वं युक्तं तेषाम्। तेनार्थासंस्पर्शित्वात् शब्दा न बाह्येऽर्थेऽवबोधं जनयन्ति, न वा प्रामाण्यभाजो भवन्ति। तदुक्तम्—

वचसां प्रतिबन्धो वा को बाह्येष्वपि वस्तुषु। प्रतिपादयेतां तानि येनैषां स्यात्प्रमाणता॥
भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो नैकात्म्यं न तदुद्भवः। व्यभिचारान्न चान्यस्य युज्यते व्यभिचारिता॥
विकल्पवासनोद्भूताः समारोपितगोचराः। जायन्ते बुद्धयस्तत्र केवलं नार्थगोचराः॥ इति।

प्रयत्न आदि विशेष सामग्री की सहायता के अकृत्रिम वेद को कल्प के प्रारंभ में प्रकट करता है, "इस महान् भूत ब्रह्म के ऋग्वेद प्रभृति वेद निश्वास हैं" इस श्रुति से यही प्रतीत होता है, अर्थात् किसी भी व्यक्ति को श्वास लेने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता और न ही श्वास लेने में बुद्धि का ही उपयोग करना पड़ता है, क्योंकि श्वास बिना बुद्धि के उपयोग और बिना प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से ही प्रकट होते रहते हैं। ठीक इसी तरह से भगवान् भी बिना किसी प्रयत्न के बिना बुद्धि के उपयोग के स्वाभाविक रूप से ही सृष्टि के प्रारम्भ में पहली सृष्टि में जैसे स्वर, वर्ण (व्यंजन) और आनुपूर्वी वाले वेद थे, वैसे ही स्वर, वर्ण और आनुपूर्वी वाले वेदों को स्वाभाविक रूप से ही प्रकट कर देता है। इसलिये भगवान् भी वेदों का रचयिता नहीं है, यह भी कहा जा सकता है, क्योंकि किसी ग्रन्थ की रचना करने वाला उसकी रचना के लिये प्रयत्न भी करता है और बुद्धि का उपयोग भी। बिना प्रयत्न और बुद्धि के रचना करने वाला नहीं कहा जा सकता। भगवान् बिना प्रयत्न और बिना बुद्धि के उपयोग के ही वेदों का ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को करा देता है, इसलिये वेदों की अपौरुषेयता वेदान्ती मानते हैं।

शब्द का प्रामाण्य

यह जो कहा गया है कि 'वस्तु के साथ शब्द का सम्बन्ध न होने से उससे अर्थ का बोध होना संभव ही नहीं है, क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ 'तादात्म्य' सम्बन्ध होगा या 'तदुत्पत्तिस्वभाव' (शब्द से उत्पत्ति वाला स्वभाव) सम्बन्ध होगा? शब्द और अर्थ की भिन्न-भिन्न देश में स्थिति होने से उनका 'तादात्म्य' सम्बन्ध तो हो नहीं सकता। शब्द की स्थिति मुख में होती हैं और अर्थ (वस्तु) की स्थिति भूमि पर रहती है, ऐसी परिस्थिति में भी उन दोनों का यदि तादात्म्य माना जाय तो क्षुर (छुरी), मोदक (लड्डू) शब्दों का उच्चारण किये जाने पर मुख का पाटन (विदारण), तथा पूरण (भर जाना) होने लगेगा। अतः शब्द और अर्थ दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। उसी तरह शब्द और अर्थ दोनों में 'तदुत्पत्तिस्वभाव' सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'अङ्गुल्यग्रे करिशतम्' (उंगली के सिरे पर सौ हाथी) कहने से समझ में आता है कि वस्तु के न रहने पर भी शब्दों की उत्पत्ति में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है। शब्दों की उत्पत्ति तो तत्तत् स्थानों में इन्द्रिय-प्रयत्न से होती है, न कि अर्थ से। इसलिये शब्दों का अर्थ से साथ कोई सम्बन्ध न होने से बाह्य देश में स्थित अर्थ का ज्ञान शब्दों के द्वारा नहीं हो सकता और न ही शब्द प्रमाण माना जा सकता है। इसी अभिप्राय को "वचसां प्रतिबन्धो वा" से "नार्थगोचराः" तक के पद्यों से बताया गया है।

ननु चात्रापि पुरुषदोषाणामेष महिमा न शब्दानामिति चेन्न, दोषवतोऽपि मूकादिपुरुषस्यानुच्चारितशब्दस्येदृश-विप्लवोत्पादनपाटवासंभवात्। किञ्चासत्यपि पुरुषहृदयकालुष्ये प्रयुज्यमानान्यर्थग्राहिवाक्यानि विप्लवभावं जनयन्त्येव। शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृपुरुषदोषाणाम्। किञ्च बाधकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मिथ्याज्ञानं जनयत्येव नेन्द्रियवदुदास्ते। यद्यपि चक्षुरादीनामप्यलीककचकूर्चकादिप्रतीतिकारणत्वमस्ति, तथापि न तेषामर्थासंस्पर्शित्वम्। तेषां तिमिरादिदोषकलु-षितानां तथाविधभ्रमकारणत्वं न स्वतः। विभ्रमेषु नेदं रजतमिति बाधबुद्धौ जातायां विभ्रमो निवर्तते। शब्दस्तु शतकृत्वोऽपि बाध्यमानोऽपि विकल्पमयथार्थं जनयत्येव। तस्मात्—"विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः। तेषामन्योन्यसम्बन्धे नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यमी॥' इति, तन्न, नद्यास्तीरे फलानि सन्तीत्याप्तवाक्यात्प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्त्याऽतिरस्कृतबाह्यार्थयथार्थ-प्रत्ययार्थासंस्पर्शित्वासिद्धेः। अत एव शब्दार्थयोः सम्बन्धाभावोऽपि निरस्तः। शब्दोऽर्थेन संबद्ध एव तं प्रकाशयति, प्रति-नियतप्रत्ययहेतुत्वात्, चक्षुर्वत्। यद्वा शाब्दप्रत्ययः संबद्धाभ्यामर्थशब्दाभ्यां जन्यते, प्रतिनियतप्रत्ययत्वात्, दण्डीत्यादिप्रत्ययवत्। ननु तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धस्य निराकृतत्वात् कथं सम्बन्धतासिद्धिरिति चेन्न, तदभावेऽपि प्रतिपाद्यप्रतिपादकलक्षण-सम्बन्धस्य सत्त्वात्। न च तदभावे सोऽपि कथमिति वाच्यम्, चक्षूरूपयोस्तदभावेऽपि तद्दर्शनात्। चक्षूरूपयोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिः संयोगो वा बौद्धैरभ्युपेयते, प्रतीतिविरोधानुषङ्गात्, अप्राप्यकारित्वक्षतिप्रसङ्गाच्च। न च तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि रूप-

यदि यह कहें कि 'यह पुरुषदोष का ही प्रभाव है, शब्दों का नहीं'। तो यह कहना ठीक न होगा, क्योंकि दोषयुक्त गूंगे पुरुषों के अनुच्चारित शब्द (संकेत) में उस प्रकार के विप्लवोत्पादन (व्यभिचार) की पटुता का होना संभव नहीं। दूसरी बात यह है कि पुरुष के हृदय में किसी प्रकार का कालुष्य न रहने पर भी यथावत् प्रयोग किये जाने वाले अर्थग्राहक वाक्य विप्लव को पैदा करते ही हैं, वह तो शब्दों का स्वभाव है, बोलने वाले पुरुष के दोष उसमें कारण नहीं है। यह भी कह सकते हैं कि बाधक ज्ञान (ऐसा नहीं है) के होने पर भी शब्द, मिथ्याज्ञान को पैदा करते ही हैं, इन्द्रिय की तरह उदासीन (क्रियाशून्य) नहीं रहते। हाँ, चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी अलीक (मिथ्या) कच-कूर्चकादि (केशोण्डुक = बालों का समूह आदि) की प्रतीति कराती हैं, तथापि उनका अर्थ (वस्तु) से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उन्हें तो तिमिरादि दोष से कलुषित होने के कारण उस प्रकार के भ्रम होने में कारण माना गया है, भ्रम प्रतीति कराने में वे स्वयं कारण नहीं हैं। जहाँ भ्रम ज्ञान होता है, वहाँ 'नेदं रजतम्' इस प्रकार बाध ज्ञान होते ही भ्रम ज्ञान निवृत्त हो जाता है। किन्तु शब्द तो सैकड़ों बार बाधित होते रहने पर भी अवयवार्थभूत विकल्पज्ञान को पैदा करता ही रहता है। इसलिये कहना होगा कि शब्द और विकल्प दोनों परस्पर एक दूसरे के उत्पादक (कारण) हैं, अतः शब्दों का अर्थ (वस्तु) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यह सब कहना उचित नहीं है, क्योंकि किसी आप्त के मुख से 'नदी के तट पर फल हैं' इस वाक्य को सुनकर प्रवृत्त हुए पुरुष को अर्थ-प्राप्ति हो जाने से बाह्य पदार्थ की यथार्थ रूप से प्रतीति (ज्ञान) होने में कोई सन्देह नहीं रहता। अतः शब्द और अर्थ दोनों में सम्बन्ध नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है? इसी से शब्द और अर्थ दोनों के परस्पर सम्बन्ध नहीं है, इस बात का भी खण्डन हो जाता है। चक्षु की तरह शब्द भी अर्थ से सम्बन्धित होकर ही उसे प्रकाशित करता है, क्योंकि वह व्यवस्थित ज्ञान कराने का साधन है। अथवा शब्द से होने वाला ज्ञान परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित अर्थ और शब्द के द्वारा ही हुआ करता है, क्योंकि वह भी व्यवस्थित ज्ञान का हेतु होता है। अर्थात् उन-उन निश्चित शब्दों से ही उन-उन निश्चित अर्थों का ज्ञान होता है। जैसे दण्डी कहने से दण्डविशिष्ट पुरुष की ही प्रतीति हो पाती है। अर्थात् दण्ड और पुरुष दोनों के संयोग सम्बन्ध होने पर और दण्ड, पुरुष तथा उनके संयोग का ज्ञान होने पर ही दण्डी (दण्डधारी) पुरुष इस प्रकार का ज्ञान होता है, ठीक वैसे ही शब्द, अर्थ और उनका परस्पर सम्बन्ध इन तीनों का ज्ञान होने पर ही शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है। यदि कहें कि तादात्म्य-तदुत्पत्ति-रूप सम्बन्ध का निराकरण कर देने से सम्बन्ध सिद्धि कैसे हो सकेगी, तो यह कथन संगत नहीं है। तादात्म्य तदुत्पत्ति-रूप सम्बन्ध के न रहने पर भी प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-रूप सम्बन्ध तो रहता ही हैं। यदि कहें कि तादात्म्य-तदुत्पत्ति सम्बन्ध के अभाव में यह प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध भी कैसे बनेगा? तो यह कहना ठीक नहीं। तादात्म्य-तदुत्पत्ति सम्बन्ध के न रहने पर भी चक्षु और रूप में ग्राह्य-ग्राहक भाव सम्बन्ध देखा जाता है। लेकिन बौद्ध बतावें कि वह कौन सा सम्बन्ध है? क्या वह तादात्म्य, तदुत्पत्ति अथवा संयोग है? इनमें से किसी सम्बन्ध को मान लेने पर प्रतीति-विरोध तथा अप्राप्यकारित्व के सिद्धान्त का भंग हो जायगा। तादात्म्य-तदुत्पत्ति के अभाव में रूप

प्रकाशनप्रयोजकसन्निकर्षादिलक्षणसम्बन्धस्याप्यसंभवः, श्रोत्रादिवच्चक्षुषोऽपि रूपाप्रकाशत्वप्रसङ्गात्। न चार्थस्यापि शब्दवाचकत्वं किं न स्यात्, प्रतिनियतशक्तित्वाद्भावानाम्, ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकताशक्तिवच्छब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिरपि नियता। किञ्च, चक्षूरूपयोर्घटप्रदीपयोर्यथा प्रकाश्यप्रकाशकभावप्रतिनियमस्तथैव प्रकृतेऽपि बोध्यम्।

ननु तादृशसम्बन्धरूपयोग्यतावशाद् यदि शब्दोऽर्थं प्रतिपादयेत्तदाऽगृहीतसंगतिकस्य भूभवनसंबन्धोत्थितस्यापि प्रतिपादकत्वमस्तु विशेषाभावादिति चेन्न, गृहीतव्याप्तिसम्बन्ध एव धूमो धूमध्वजं गमयति। येनैव पुरुषेण साध्यसाधनयोरविनाभावो गृहीतः, तं प्रत्येव साधनं साध्यस्य गमकमिति; तथैव येनैव शब्दार्थयोः सम्बन्धो गृहीतः, तं प्रत्येव शब्दोऽर्थस्य वाचक इत्यभ्युपगमे विरोधाभावात्। यत्तूक्तं संकेतः पुरुषेच्छाकृतः, न तदिच्छया वस्तुव्यवस्था युक्ता। अतोऽर्थोऽपि वाचकः स्यादेव, पुरुषेच्छाया निरङ्कुशत्वात्। तदपि न, यतो धूमधूमध्वजयोर्यथा नैसर्गिकोऽविनाभावः सम्बन्धः, तद्व्युत्पादने तु भूयोदर्शनादिनिमित्तमास्थीयते, तथैव शब्दार्थयोरपि स्वाभाविक एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्त्यात्मा सम्बन्धः, तद्व्युत्पत्तये तु संकेतः समाश्रीयते। कार्यशक्तिव्यतिक्रमे चक्षूरूपादीनामपि प्रकाश्यप्रकाशकशक्तिव्यतिक्रमप्रसक्तिः स्यात्, चक्षुःप्रदीपादीनां प्रकाश्यत्वं रूपघटादीनां प्रकाशकत्वं च स्यात्। न च तत्र प्रतीतिविरोधः, तस्यात्रापि सत्त्वात्। अत एवोक्तं जैमिनिना—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (मी० सू० १।१।५) नैयायिकादिमते ईश्वरकृतः संकेतः सर्गात्प्रभृति प्रलयपर्य्यन्तमनुवर्तते। मीमांसकरीत्या तु नित्यसिद्ध एव सः। वृद्धव्यवहारादिभिस्तद्व्युत्पत्तिस्तु सर्वत्र समानैव।

को प्रकाशित करने वाले सन्निकर्षादि सम्बन्ध भी नहीं बनेंगे, यह कहना ठीक नहीं, ऐसा होने पर श्रोत्र की तरह चक्षुरिन्द्रिय को भी रूप का अप्रकाशक कहना होगा। दोनों में सम्बन्ध होने पर अर्थ भी शब्द का वाचक क्यों नहीं होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में अपनी-अपनी शक्ति नियत होती है। ज्ञान और ज्ञेय (ज्ञान के विषय) में ज्ञाप्यज्ञापकता शक्ति की तरह शब्द और अर्थ में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक शक्ति भी निश्चित रूप से रहती है। दूसरी बात यह है कि चक्षु और रूप में तथा घट और प्रदीप में जैसे प्रकाश्य प्रकाशक भाव व्यवस्थित रहता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ में भी समझ लेना चाहिये।

यदि केवल सम्बन्ध-रूप योग्यता के बल पर ही शब्द के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन मान लिया जाय तो अज्ञात सम्बन्ध वाले भू (पृथिवी) शब्द से भवन (मकान) रूप अर्थ का भी ज्ञान होना चाहिये और 'पृथिवी वाचक भू शब्द भवन रूप अर्थ का भी वाचक हो जाना चाहिये, क्योंकि पृथिवी से भवन का सम्बन्ध तो है ही। किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जैसे व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त किए हुए व्यक्ति को ही धूम से धूमध्वज (वह्नि) का ज्ञान हो पाता है, जिस व्यक्ति ने साध्य-साधन दोनों में अविनाभाव (व्याप्ति सम्बन्ध) ज्ञात किया है, उसी व्यक्ति के लिए साधन (हेतु) साध्य (अग्नि) का बोधक हो सकता है, ठीक उसी तरह जिस व्यक्ति ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध जान लिया हो उसी व्यक्ति के लिए वह शब्द अर्थ का वाचक हो पाता है—ऐसा मानने पर कोई विरोध नहीं होगा। यह जो कहा गया है कि संकेत पुरुष ने अपनी इच्छा से किया है, किन्तु किसी पुरुष इच्छा के अनुसार वस्तु की व्यवस्था करना तो ठीक नहीं। इसलिए अर्थ भी शब्द का वाचक हो ही सकता है, क्योंकि पुरुष की इच्छा पर कोई अंकुश नहीं लगा सकता, पर यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि धूम और धूमध्वज (अग्नि) का अविनाभाव सम्बन्ध अवश्य स्वाभाविक होता है, लेकिन उस सम्बन्ध के स्वरूप को बनाने में तो भूयोदर्शनादि (बार-बार धूम और अग्नि के दर्शन) को कारण मानना पड़ता है; उसी तरह शब्द और अर्थ का भी प्रतिपाद्य-प्रतिपादक शक्ति रूप सम्बन्ध स्वाभाविक ही है, लेकिन उसके ज्ञान के लिए संकेत को स्वीकार करना पड़ता है। कार्य की शक्ति में व्यतिक्रम होने पर चक्षु और रूप में प्रकाश्यप्रकाशक शक्ति का व्यतिक्रम होने लगेगा। चक्षु और प्रदीप आदि में प्रकाश्यत्व तथा रूप और घट आदि में प्रकाशकत्व मानने का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि कहें कि ऐसा मानने पर प्रतीति का विरोध होगा तो वह विरोध यहाँ पर भी बैठा ही है। इसीलिए जैमिनि ने कहा है कि—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक होता है)। नैयायिकादि विद्वानों के मत में ईश्वर का संकेत सृष्टि से लेकर प्रलय तक चलता रहता है, किन्तु मीमांसकों की रीति के अनुसार वह संकेत नित्यसिद्ध ही है। उसका ज्ञान व्याकरण, कोश, वृद्ध व्यवहार आदि उपायों से होता है, यह तो सभी मतवादी मानते हैं।

यदप्युक्तं 'शब्दस्य औत्पत्तिकी शक्तिः किमेकार्थप्रत्यायनेऽनेकार्थप्रत्यायने वा ? प्रथमे संकेतशतैरपि ततोऽर्थान्तरे धूमादनग्निवत् प्रतीत्यनापत्तिः। द्वितीये युगपदनेकार्थप्रतीतिप्रसङ्गः। प्रतिनियतेऽर्थे प्रतीतिश्च न स्यात्' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, सर्वे सर्वार्थवाचका इति रीत्या सर्वशब्दानां सर्वार्थवाचकत्वेऽपि वाधाभावात्।

सर्वाकारपरिच्छेद्यशक्तेऽर्थे वाचकेऽपि वा। सर्वाकारार्थविज्ञानसमर्थे नियमः कृतः॥

(मी० श्लो० प्र०, श्लो० २२८)

सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् क्वचिद्देशे केनचिदर्थेन व्यवहारः। अत एव चानधिगतसम्बन्धे श्रुते सति संदेहो भवति, कमर्थं प्रत्याययितुमनेन शब्दः प्रयुक्तः स्यादिति न्यायमञ्जरीकारः। न चैवमपि युगपत् सर्वार्थप्रतिपत्तिप्रसक्तिः, प्रतिनियतेऽर्थे ततोऽप्रतिपत्तिश्च स्याताम्, प्रतिनियतसङ्केतवशात् तेषां प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः। अत एवैकस्यापि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः संकेतोऽनुभूयते। मालवादौ कर्कटिकाशब्दस्य फलविशेषे गुर्जरादौ तु योन्याम्। चौरशब्दस्य द्राविडेषु तण्डुलादावन्यत्र तु तस्करे प्रसिद्धिः। यवशब्द आर्यैर्दीर्घशूके प्रयुज्यते म्लेच्छैस्तु प्रियङ्गौ। रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुषः प्रत्यासन्ने तिमिरवशादसन्निहिते दूरतिमिरवशाच्च न प्रकाशकत्वम्, विशिष्टाञ्जनादिवशाद् अन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिवशाच्च पीतरूपाभावेऽपि शंखे पीतज्ञानजनकत्वं दृश्यते। ततो यथानेकरूपप्रकाशनयोग्यस्यापि चक्षुषो दूरतिमिरादिवशात् प्रतिनियतदूररूपादिज्ञानजनकत्वम्, तथैवानेकार्थप्रत्यायनसमर्थस्यापि शब्दस्य प्रतिनियतसंकेतवशात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वमविरुद्धम्। योगसिद्धानां सर्वशब्दानां सर्वार्थवाचकत्वं तु सर्वदोषराहित्यादुपपद्यते। तदुक्तम्—'समयापेक्षणं चेह तत्क्षयोपशमं विना। तत्कर्तृत्वेनासचलं योगिनां तु न विद्यते॥ सर्ववाचकभावत्वाच्छब्दानां चित्रशक्तितः। वाच्यस्य च तथान्यत्र नागोऽपि समयेऽपि हि॥' इति।

यह जो कहा गया है कि शब्द की स्वाभाविक शक्ति एक अर्थ का ज्ञान कराने में है, अथवा अनेक अर्थ का ज्ञान कराने में ? प्रथम पक्ष में सैकड़ों संकेतों से भी दूसरे अर्थ का ज्ञान वैसे ही नहीं होगा, जैसे धूम से अग्नि से भिन्न अन्य किसी वस्तु का ज्ञान होता ही नहीं। द्वितीय पक्ष में 'युगपत् (एक साथ) अनेक अर्थों का ज्ञान होने लगेगा। फलतः सुनिश्चित अर्थ का ज्ञान नहीं हो पावेगा। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। 'समस्त शब्द समस्त अर्थों के वाचक होते हैं' इस रीति के अनुसार संसार के सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होते हैं, ऐसा मान लेने भी कोई बाधा नहीं है। कहा भी है—समस्त शब्दों में समस्त अर्थों के बोधन का सामर्थ्य होने से किसी देश में किसी अर्थ का व्यवहार प्रचलित होता है। इसी कारण अज्ञात सम्बन्ध के सुनाई देने पर मन में सन्देह पैदा हो जाता है कि किस अर्थ को बतलाने के लिये इस व्यक्ति ने शब्द प्रयोग किया होगा—ऐसा न्यायमञ्जरीकार ने बतलाया है। ऐसी परिस्थिति में भी समस्त अर्थों की एक साथ प्रतिपत्ति (ज्ञान) होने का प्रसङ्ग और निश्चित अर्थ का ज्ञान न होने में भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी, क्योंकि निश्चित अर्थ में संकेत होने के कारण वे शब्द निश्चित अर्थ के ही वाचक हो सकते हैं। इसीलिये किसी एक शब्द का भी भिन्न-भिन्न अर्थविषयक निश्चित संकेत देशादि भेद के कारण अनुभव में आता है। जैसे मालव आदि देश में 'कर्कटिका' शब्द फलविशेष में प्रसिद्ध है, और गुर्जरादि देशों में वही कर्कटिका शब्द योनि अर्थ में प्रयुक्त है। 'चौर' शब्द का द्रविड़ देश में चावल के अर्थ में संकेत पाया जाता है, किन्तु अन्य देशों में चोर के अर्थ में उसकी प्रसिद्धि है। आर्य लोग यव (जौ) शब्द का प्रयोग दीर्घशूक (लम्बी नोक वाली सींक वाला अनाज) में करते हैं, किन्तु म्लेच्छ लोग प्रियंगु (कंगनी) में करते हैं। रूप का प्रकाशन करने की योग्यता चक्षु में रहने पर भी अन्धकार के कारण समीपवर्ती वस्तु को वह प्रकाशित नहीं कर पाता, उसी तरह दूर स्थित वस्तु को दूरी और तिमिर (नेत्र का दोष और अन्धकार) के कारण चक्षु उसे प्रकाशित नहीं कर पाता। किन्तु अञ्जन आदि उपाय विशेषों से अन्धकार में स्थित वस्तु का भी ज्ञान करा देता है। काचकामलादि रोगों के कारण पीतरूप के न रहने पर भी शंख में पीतिमा का ज्ञान हो जाता है। जैसे नाना रूपों के प्रकाशन की योग्यता चक्षु में रहने पर भी वह प्रतिनियत (सुनिश्चित) दूर स्थित रूपादि का ज्ञान करा देता है, उसी तरह अनेक अर्थों का बोधन कराने का सामर्थ्य शब्द में रहने पर भी सुनिश्चित अर्थ में उसका संकेत होने के कारण उसके सुनिश्चित अर्थ के प्रतिपादक होने में कोई बाधा नहीं है। योगियों के लिये तो समस्त शब्द समस्त

ननु चक्षुर्यथा योग्यतालक्षणसम्बन्धेन संकेतानपेक्षमेवार्थप्रतीतिं जनयति, तथैव शब्दोऽपि संकेतानपेक्षः किमित्यर्थावगतिं न जनयतीति चेन्न, शब्दस्य ज्ञापकतया तत्सापेक्षस्यैवार्थावगतिजनकत्वोपपत्तेः। यज्ज्ञापकं तत्प्रतिपन्नसम्बन्धमेव प्रतीतिं जनयति, यथा धूमादि स्वयं प्रतीयमानमप्रतीतार्थप्रतीतिहेतुर्ज्ञापकमुच्यते। चक्षुरादीनां कारकत्वात् सम्बन्धग्रहानपेक्षमपि प्रतीत्युत्पादकत्वं संभवति। शक्तिस्तु यथा रूपप्रकाशने चक्षुषस्तथैव स्वार्थप्रत्यायने शब्दस्येति।

शब्दस्यार्थासंस्पर्शित्वं त्वनाप्तपुरुषदोषवशात्। तथा चानाप्तप्रणीतस्य तस्यार्थासंस्पर्शित्वेऽपि न शब्दमात्रस्य तथात्वम्। अन्यथा काचादिदोषदुष्टचक्षुःप्रभवप्रत्यक्षस्यार्थासंस्पर्शित्वे गुणवच्चक्षुःप्रभवस्यापि प्रत्यक्षस्य तथात्वं स्यात्।

यदुक्तम्—आप्तप्रणीतादप्यङ्गुल्यादिवाक्यादर्थासंस्पर्शिज्ञानमुत्पद्यत एव, तेन शब्दस्यैवैष महिमा न वक्तृदोषाणामिति, तदपि न, आप्तानामेवंविधवाक्योच्चारणचापलासंभवात्। यत्तु आप्तोक्तमपि किञ्चिदनुशास्ति मा भवान् अङ्गुलिकोटौ हस्तिशतमास्ते इत्येवमभूतार्थवादीति, तन्न, तत्रेति करणावच्छिन्नस्य दृष्टान्ततया शब्दपरत्वेनोपादानात्।

प्रतिषेधैकवाक्यतया यथार्थत्वमेव, अर्थपरत्वे तु निषेधवाक्यतैव न स्यात्। तस्मादाप्तवाक्यानामयथार्थत्वाभावान्न स्वतोऽर्थासंस्पर्शित्वमर्थस्य, किन्तु पुरुषदोषानुषङ्गकृतमेव तत्।

अर्थों के वाचक हो सकते हैं, क्योंकि योगी दोष शून्य होता है। कहा भी है—"समयापेक्षणं चेह तद् क्षयोप..................नागोऽपि समयेऽपि हि ॥" (शा० वा० ६६२।६।४)

यदि कहा जाय कि जैसे चक्षु संकेत की सहायता के बिना केवल योग्यतारूप सम्बन्ध से ही अर्थ की प्रतीति करा देता है, वैसे ही शब्द भी संकेत की अपेक्षा किये बिना ही अर्थ का बोधन करा देगा, किन्तु ऐसी आशंका करना ठीक नहीं, क्योंकि शब्द ज्ञापक हेतु होने के कारण, संकेत की सहायता पाकर ही अर्थ का ज्ञान करा पाता है। जो ज्ञापक हेतु होता है, वह संकेत ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को ही अर्थप्रतीति करा पाता है। जैसे—स्वयं प्रतीयमान होनेवाला धूम आदि पदार्थ, प्रतीत न हुए पदार्थ (अग्नि) की प्रतीति कराता है, इसलिये उसे ज्ञापक हेतु कहा जाता है। चक्षुरादि तो कारक हेतु होने से सम्बन्धग्रह (संकेत ज्ञान) की अपेक्षा बिना किये ही अर्थज्ञानजनक हो सकते हैं। रूप के प्रकाशन में जैसे चक्षु की शक्ति है, वैसे ही स्वार्थ का बोधन कराने में शब्द की शक्ति रहती है।

शब्द का अर्थ से सम्बन्ध न हो पाना तो अनाप्त पुरुष के दोष के कारण है। अतः अनाप्त पुरुष के द्वारा उच्चरित शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध न रहने में शब्द का कोई दोष नहीं है। यदि ऐसा न मानें तो काचादि दोषों से युक्त चक्षु के द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान (भ्रम रूप) का (=सर्प, चाँदी, शंख का पीलापन आदि) अर्थ के साथ सम्बन्ध न होने से सब दोषों से रहित शुद्ध गुणवान् नेत्र से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान का भी (सत्य ज्ञान का) क्या अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होगा।

यह जो कहा है कि आप्त के द्वारा उच्चारित 'अंगुली की नोक पर सौ हाथी हैं' ऐसे वाक्य से अर्थ का सम्बन्ध न होने पर भी ज्ञान उत्पन्न होता ही है, अतः शब्द की ही यह महिमा है, न कि वक्ता के दोषों की। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आप्त पुरुष उक्त प्रकार के वाक्यों के बोलने की चंचलता नहीं कर सकते। यह भी जो कहा गया है कि आप्त भी किसी को उपदेश देता है कि अंगुली के अग्र भाग पर सौ हाथी हैं, इस प्रकार की बात मत बोलो। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त के रूप में 'तत्र' शब्द से इन्द्रियावच्छिन्न का शब्द के रूप में ही उपादान किया है।

निषेध वाक्य के साथ एकवाक्यता होने से यथार्थता ही है। अर्थपरक मानने पर तो निषेध वाक्य का स्वरूप ही नहीं बन पावेगा। इसलिए आप्त वाक्यों में अयथार्थता (मिथ्यात्व) के न होने से शब्द में स्वतः अर्थसम्बन्धशून्यता नहीं है। अर्थ से सम्बन्धशून्यता तो पुरुष दोष के कारण आनुषंगिक ही समझनी चाहिए।

यदुक्तमाप्तैरेवंविधवाक्यप्रयोगेऽपि संदिग्धो व्यतिरेकः, किं शब्दाभावादविप्लवः, वक्तृदोषाभावाद्वा? तदप्यविचारितरमणीयम्, अनुच्चारितशब्दस्यापि दोषवतः पुरुषस्य हस्तसंज्ञादिना प्रतारकत्वदर्शनात्। तदुक्तम्—'अनुच्चारितशब्दोऽपि पुरुषो विप्रलम्भकः। हस्तसंज्ञाद्युपायेन जनयत्येव विप्लवम् ॥' (न्यायमञ्जरी)।

न च हस्तसंज्ञादिना शब्दानुमानं ततोऽयथार्थप्रत्ययः, तथा प्रतीत्यभावात्। नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्तीति वाक्यादुत्पन्ने ज्ञाने नदीतीरमनुसरन्नप्राप्तफलस्तदुपदेष्टारमेवाक्षिपति—दुरात्मना तेन विप्रलब्धोऽस्मि, न शब्दम्। प्राप्तफलश्च तं पुरुषमेव श्लाघते—साधुना तेनोपदिष्टम्। तस्मात् पुरुषदोषान्वयानुविधानात्तदभावकृत एवाविप्लवः। आप्तेषु तूष्णीमासीनेषु तु भ्रमानुत्पाद इति न संदिग्धो व्यतिरेकः। तेन पुरुषदोषनिबन्धन एव शब्दाद्विप्लवो न स्वरूपकृतः।

ननु दोषवतो गुणवतो वा पुरुषस्य शब्दोच्चारणमात्र एव व्यापारः, अर्थप्रतिपत्तिस्तु शब्दनिबन्धनैवेति विभ्रमोत्पादे शब्दस्यैव व्यापारो न वक्तृदोषाणामिति चेन्न, तथात्वे गुणवद्वक्तृकान्नदीतीरे फलानि सन्तीति वाक्यात् सत्यप्रत्ययोदयेऽपि शब्दस्यैव व्यापारो मन्तव्यः, गुणवद्वक्तुरुच्चारणमात्रे चरितार्थत्वात्। दीपवत्प्रकाशकत्वमेव शब्दस्य स्वरूपमुक्तं न यथार्थत्वमयथार्थत्वं वा। विपरीतेऽप्यर्थे दीपस्य प्रकाशत्वानतिवृत्तेः। प्रदीपे व्युत्पत्तिनिरपेक्षमेव प्रकाशकत्वम्, शब्दे तु तदपेक्षमेवेत्यप्युक्तमेव। वक्तृदोषगुणाधीने तु तस्य यथार्थायथार्थत्वे। अत एवाङ्गुल्यादिवाक्ये बाधितेऽपि पुनः-पुनरुच्चार्यमाणे भवति विभ्रमः। प्रकाशत्वरूपानपायान्नैष शब्दस्य दोषः। विपर्ययज्ञानोत्पत्तेर्यद्भिः सह तद्भावभावित्वमवगम्यते, तावतां

यह जो कहा गया है कि आप्त पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले इस प्रकार के वाक्य प्रयोग में भी व्यतिरेक का सन्देह होगा कि क्या शब्द के अभाव के कारण अविप्लव है अथवा वक्ता के दोषाभाव के कारण अविप्लव है? किन्तु इस प्रकार से विकल्प करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दोच्चारण न करने पर भी दूषित पुरुष के हस्तादि संकेतों से भी प्रतारणा होती दिखाई पड़ती है। कहा भी है—बिना बोले भी वञ्चक पुरुष हस्तादि के द्वारा संकेत करके विप्लव (अनर्थ) कर ही देता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि हस्तादि के संकेत से (न्यायमञ्जरी) शब्द का अनुमान किया जाता है और उससे मिथ्या ज्ञान होता है, क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती। 'नदी के किनारे पाँच फल हैं' इस वाक्य से जब अर्थज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह पुरुष नदी के किनारे पहुँचता है, किन्तु वहाँ फल नहीं पाता, तब उस वाक्य के उच्चारणकर्त्ता को ही बुरा-भला कहने लगता है कि उस दुष्ट ने मुझे ठगा। उसके शब्दों को बुरा-भला नहीं कहता। यदि वहाँ पहुँचकर फलों को प्राप्त करता है तो उस उच्चारयिता पुरुष की ही प्रशंसा करता है कि उस सज्जन ने ठीक बात बताई। अतः विप्लव पुरुष के दोष का ही अनुसरण करता है, पुरुष में दोष न रहने पर अविप्लव रहता है। इसलिये पुरुषदोषाभावकृत ही अविप्लव (अनर्थ) है। आप्त पुरुष के मौन रहने पर तो भ्रम उत्पन्न नहीं होता इसलिये व्यतिरेक में कोई सन्देह नहीं है, अतः शब्द से होने वाला विप्लव (अनर्थ) शब्दकृत न होकर पुरुषदोषमूलक ही होता है।

यदि यह कहें कि दोष वाले अथवा गुण वाले पुरुष का काम तो केवल शब्द का उच्चारण करना है, अर्थ ज्ञान तो शब्द पर ही निर्भर रहता है, इसलिये विभ्रम (भ्रमात्मक ज्ञान) के पैदा होने में शब्द ही कारण है, वक्ता के दोष नहीं। किन्तु यह कहना ठीक नहीं। उस परिस्थिति में भी गुणवान् वक्ता के द्वारा कहे गये 'नदी के तीर पर फल हैं'—इस वाक्य से यथार्थ प्रतीति (ज्ञान) के होने में भी शब्द का ही व्यापार मानना होगा, क्योंकि गुणवान् वक्ता का व्यापार तो केवल उच्चारण में ही चरितार्थ हो जाता है। दीपक की तरह प्रकाशमात्र ही शब्द का स्वरूप बतलाया गया है। यथार्थत्व अथवा अयथार्थत्व उसका स्वरूप नहीं। विपरीत अर्थ की उपलब्धि होने पर भी दीपक का प्रकाशलक्षण स्वरूप नष्ट नहीं होता। दीपक की प्रकाशकता व्युत्पत्ति (ज्ञान) निरपेक्ष ही होती है, किन्तु शब्द की प्रकाशकता ज्ञानसापेक्ष होती है, यह भी कहा जा चुका है। शब्द की यथार्थता तथा अयथार्थता तो वक्ता के गुणदोष के अधीन होती है। इसीलिये अङ्गुल्यादि वाक्य के बाधित होने पर भी पुनः-पुनः उच्चारण किये जाने पर भ्रम हो ही जाता है। प्रकाशत्वरूप के नष्ट न हो पाने से शब्द का दोष नहीं माना जा सकता। जिन कारणों के साथ तद्भावभावित्व विपर्यय ज्ञानोत्पत्ति में पाया जाता है, उन कारणों का व्यापार उसमें मानना होगा। शब्दोच्चारण सर्वत्र समान रूप से रहने पर भी अनाप्त के सम्बन्ध के बिना भ्रम ज्ञान की

तत्र व्यापारो मन्तव्यः। विभ्रमोत्पत्तिः सर्वत्र शब्दोच्चारणे सत्यप्यनाप्तसंसर्गं विना न दृश्यते। तेन शब्दवदनाप्ताभिप्रायस्यापि तत्र व्यापारः। तत एवोक्तम्—'पदार्थानां तु संसर्गमसमीक्ष्य प्रजल्पतः। वक्तुरेव प्रमादोऽयं न शब्दोऽत्रापराध्यति॥'

यदुक्तं नेन्द्रियवदुदास्ते शब्दः, तदप्यकिञ्चित्करम्, बाधकप्रत्ययप्रवृत्तावपीन्द्रियस्य चन्द्रद्वयविषयमिथ्याज्ञानजनकत्वदर्शनात्। न च बाधकप्रत्ययोत्पत्ताविन्द्रियं द्विचन्द्रादिज्ञानं न जनयतीति वाक्यम्, प्रतीतिविरोधात्। तस्मात्प्रमाणं शब्दः, अर्थोपलब्धिहेतुत्वात्, प्रत्यक्षादिवत्। स्वपक्षसाधनपरपक्षबाधनसमर्थत्वाच्च सम्यग्ज्ञानवत्। एवमेव सकलतत्त्वविप्रतिपत्तिनिवृत्तिनिमित्तत्वादपि प्रमाणं शब्दः, योगिज्ञानवत्। शब्दमन्तरा देशकालस्वभावविप्रकृष्टाखिलार्थानां विप्रतिपत्तिनिवृत्तिर्न संभवत्येव, तदुपायान्तरासंभवात्। न लिङ्गमुपायान्तरम्। देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थप्रतिबद्धस्य लिङ्गस्याप्रतिपत्तेः। तेन शब्दस्यैव तत्र प्रामाण्यं मन्तव्यम्।

वेदानामपौरुषेयत्वम्

वेदा अपौरुषेयाः, सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्, आत्मवत्, यन्नैवम्, तन्नैवं यथा महाभारतादि। यदुक्तं 'प्रलये सम्प्रदायविच्छेदोऽवश्यंभावी' इति, तदपि तुच्छम्, पूर्वमीमांसकरीत्या प्रलयानङ्गीकारात्। वेदान्तिरीत्या प्रलयाङ्गीकारेऽपि परमेश्वरे विशिष्टकर्मोपासनादिसंस्कारवत्सु हिरण्यगर्भादिषु सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन प्राक्कल्पीयवेदानुपूर्वीं स्मरत्सु सम्प्रदायाविच्छेदोपपत्तेः।

उत्पत्ति नहीं दिखाई पड़ती। इसलिये शब्द की तरह अनाप्ताभिप्राय का भी उसमें व्यापार है, यह कहना होगा। इसी अभिप्राय से यह कहा गया है—"पदार्थानान्तु संसर्ग···············न शब्दोऽत्रापराध्यति॥" अर्थात् पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर ध्यान दिये बिना ही बकवास करने वाले अनाप्त वक्ता के दोष को ही वस्तु के भ्रम में कारण मानना चाहिये, उसमें शब्द का कोई दोष नहीं है।

यह जो कहा गया है कि 'इन्द्रिय की तरह शब्द उदासीन नहीं रहता'—वह भी अकिञ्चित्कर ही है, क्योंकि बाधक ज्ञान होते रहने पर भी चन्द्रद्वयविषयक मिथ्या ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय से होता दिखाई देता है। यह नहीं कह सकते कि बाधक ज्ञान के उत्पन्न होने पर चक्षुरिन्द्रिय से द्विचन्द्रविषयक ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पायेगा। क्योंकि अनुभव (प्रत्यक्ष ज्ञान) का अपलाप करना ठीक नहीं। देखने वाला जानता है कि चन्द्रमा एक ही है, दो नहीं। फिर भी उसे साफ-साफ दो चन्द्रमा दिखाई पड़ते हैं। अतः यही कहना होगा कि प्रत्यक्ष के तुल्य वस्तु का ज्ञान कराने में कारण होने से शब्द भी प्रमाण है। जैसे सम्यग् ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) अपने पक्ष की सिद्धि और दूसरे के पक्ष का बाध करने में समर्थ होने से सत्य ज्ञान की तरह शब्द भी प्रमाण है, उसी तरह योगिज्ञान की तरह शब्द को भी विप्रतिपत्ति की निवृत्ति करने में निमित्त रहने के कारण उसे प्रमाण मानना ही होगा। शब्द के विना तो देश, काल, स्वभाव, विप्रकृष्ट (दूर) आदि समस्त पदार्थों के सम्बन्ध में सन्देह की निवृत्ति हो नहीं सकती, उसे दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। यदि लिंग (हेतु) अर्थात् अनुमान को विप्रतिपत्ति-निरास का उपाय कहें तो, वह ठीक न होगा, क्योंकि देश-काल-स्वभाव से विप्रकृष्ट अर्थ के साथ संबद्ध (व्याप्त) कोई लिङ्ग (हेतु) नहीं है। अतः ऐसी परिस्थिति में शब्द का ही प्रामाण्य स्वीकार कर लेना चाहिये।

वेदों की अपौरुषेयता

वेद अपौरुषेय हैं, सम्प्रदाय के अविच्छिन्न रहने पर भी उसके कर्ता का स्मरण नहीं होता है, जैसे आत्मा के कर्ता का स्मरण नही होता। ऐसी स्थिति जहाँ नहीं रहती, वहाँ अपौरुषेयता भी नहीं मानी जाती, जैसे महाभारत आदि की।

प्रलय में सम्प्रदाय विच्छेद का होना अवश्यंभावी है—यह जो कहा गया है, वह भी निःसार है, क्योंकि पूर्वमीमांसकों के सम्प्रदाय के अनुसार प्रलय का होना मान्य नहीं है। और वेदान्त सम्प्रदाय के अनुसार प्रलय को मान लेने पर भी परमेश्वर की विशिष्ट कर्मोपासनादि जन्य संस्कार वाले हिरण्यगर्भ आदि में सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय से गत कल्प के वेदों की आनुपूर्वी का स्मरण हो आने से वेदाध्ययन के अविच्छिन्न सम्प्रदाय की उपपत्ति बन जाती है।

यदुक्तम्—'किमिदमस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्? अप्रमीयमाणकर्तृकत्वमाहोस्वित् स्मरणागोचरकर्तृकत्वम्? नाद्यः, 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (वा० सं० ३१।७), 'त्रयो वेदा अजायन्त' इत्यादिभिर्विरोधात्। नापि द्वितीयः, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमेकेनास्मरणं विवक्षितम्, उत सर्वास्मरणम्? नाद्यः, मुक्तकश्लोकादावनैकान्तिकत्वात्। न द्वितीयः, सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञविज्ञानागोचरत्वात्' इति, तदपि निःसारम्, 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६), 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० उ० ६।१८) इत्यादिवेदनित्यत्वप्रतिपादकवचनानां विरोधादुत्पत्तिबोधकवचनानां कल्पादौ सम्प्रदायप्रवर्तनपरत्वेनादोषात्। 'वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्' (ऋ० सं० ८।७५।६) इत्यग्निस्तुतिपरत्वेऽपि न नित्यत्वापलापः सम्भवति, भूतार्थवादत्वेन स्वार्थेऽप्यवान्तरतात्पर्याविरोधात्।

यदुक्तम्—'यो ब्रह्माणम्' (श्वे० उ० ६।१८) इत्यस्य पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वयोः साधारण्यम्, स्वयं निर्मायापि प्रदानसम्भवादिति, तदपि तुच्छम्, ब्रह्मणोऽनिर्मात्रा वेदा निर्मीयन्ते इत्यनुक्त्वा तद्धृदि प्रहीयन्ते इत्युक्त्या तेषां नित्यत्वस्यैव सिद्धेः। न चानाप्तप्रणीतत्वेनाप्तप्रणीतत्वमनुमातुं शक्यम्, आत्माकाशादौ व्यभिचारात्। उच्चारणरूपस्याप्तप्रणयनस्य वेदेऽङ्गीकारेऽपि प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वरूपस्य तस्यानङ्गीकाराच्च।

न चैवं बौद्धाद्यागमेष्वपौरुषेयत्वापत्तिः, मानान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वस्य तैः स्वयमेवाङ्गीकारात्। अत एवाप्रमीयमाणस्वतन्त्रकर्तृकत्वम्, अस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्, स्मरणागोचरकर्तृकत्वमिति सर्वमपि सम्यक्। एकेनास्मरणम्, सर्वेण वाऽ-

यह जो कहा है कि—'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' कहने से क्या तात्पर्य है? क्या अप्रमीयमाणकर्तृकत्व, अर्थात् कर्त्ता का ज्ञान न हो पाना अथवा कर्ता का स्मरण न हो पाना? इन दो विकल्पों में प्रथम विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे", 'त्रयो वेदा अजायन्त' इत्यादि वाक्यों से ईश्वर वेद का कर्ता स्पष्ट मालूम होता है। इसलिए वेद वचनों को विरोध होगा दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, उसमें भी अनेक विकल्प खड़े हो जाते हैं, जैसे—किसी एक को कर्ता का स्मरण न हो पाना अथवा सभी को उसका स्मरण न हो पाना? इन दो पक्षों में से प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि मुक्तक श्लोकादि में व्यभिचार होगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सभी के विस्मरण का ज्ञान असर्वज्ञ को कैसे हो सकता है? किन्तु यह कथन भी सारहीन है। यदि 'वाचा विरूपनित्यया, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इत्यादि वेद की नित्यता के प्रतिपादक वाक्यों से विरोध उपस्थित होता है, तो उत्पत्ति बोधक वाक्यों को कल्प के आरंभ में सम्प्रदाय प्रवर्तनपरक स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं होगा। 'वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्'—इस वचन के अग्निस्तुतिपरक होने पर भी वेद की नित्यता में कोई हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि भूतार्थवाद होनेके कारण स्वार्थ में भी अवान्तर तात्पर्य है।

यह जो कहा गया है कि 'यो ब्रह्माणं' इत्यादि वाक्यों की उभय-पक्ष में (पौरुषेय-अपौरुषेय) समानता है, क्योंकि स्वयं निर्माण करके भी दूसरे को प्रदान किया जाना संभव हो सकता है। किन्तु यह कथन भी निःसार है, क्योंकि ब्रह्मा का निर्माण न करने वाले परमेश्वर के द्वारा वेदों का निर्माण किया जाता है, ऐसा न कहकर के श्रुति से 'ब्रह्मा का निर्माण करने वाला परमेश्वर ब्रह्मा के हृदय में वेदों को प्रकट करता है' इस उक्ति से तो वेदों की नित्यता ही सिद्ध हो जाती है। अनाप्त के द्वारा प्रणीत न होने से उनके आप्त-प्रणीत होने का अनुमान भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा, आकाश आदि में व्यभिचार होगा। आप्त के द्वारा उच्चारण किया जाना ही वेदों का प्रणयन करना है, यदि यह मान लिया जाय तब भी अन्यान्य प्रमाणों से अर्थोपलब्धि कर वेदों की रचना किया जाना किसी को स्वीकार नहीं है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि बौद्ध, जैन आदि के शास्त्र भी अपौरुषेय हैं। उन्होंने स्वयं ही यह तथ्य स्वीकार कर लिया है कि प्रमाणान्तरों से अर्थोपलब्धि कर उनके आगमों की रचना की गई है। अतः अपौरुषेयत्व की परिभाषा करते हुए जो कहा गया है कि 'अप्रमीयमाणस्वतन्त्रकर्तृकत्व, अथवा अस्मर्यमाणकर्तृकत्व, या स्मरणागोचरकर्तृकत्व इत्यादि सभी (अपौरुषेयत्व के) लक्षण समुचित हैं। यह जो विकल्प किया गया था कि किसी एक के द्वारा अस्मरण या सभी के द्वारा अस्मरण, वह भी अकिञ्चित्कर है। अन्यथा सप्तम रस के अभाव की सिद्धि में भी वह विकल्प (एक के द्वारा सप्तम रस की प्रमिति नहीं होती, या सभी के द्वारा नहीं होती) किया जा सकेगा।

स्मरणमिति विकल्पस्त्वकिञ्चित्करः, तथात्वे एकेन सप्तमरसो न प्रमीयते सर्वैर्वेति सप्तमरसाभावसिद्धावपि तथैव विकल्पसम्भवात् । तस्मादवश्यस्मर्तव्ये सति व्यवहर्तॄणां वेदकर्तुरस्मरणमेव वेदानामस्मर्यमाणकर्तृकत्वमिति मन्तव्यम् ।

यदुक्तम्—अस्मर्य्यमाणकर्तृत्वं कर्तुः स्मरणाभावः/ अकर्तृकत्वं वा ? नाद्यः, वैयधिकरण्यात् । स्मरणाभाव आत्मनि भवति, अपौरुषेयत्वं तु वेदे इति तन्न, अस्मर्य्यमाणकर्तृकत्वस्य वेदे सत्त्वेन वैयधिकरण्याभावात् । न चायं हेतुरसिद्धः, स्मरणानुपलब्ध्या स्मरणाभावसिद्धौ बाधाभावात् । यदुक्तं किमेकस्य स्मरणाभाव उत सर्वस्य ? प्रथमे कस्यचित् स्मरणाभावः सर्वत्र सुलभ इति पौरुषेयग्रन्थानाप्यपौरुषेयत्वापत्तिः, अन्ते सर्वज्ञातिरिक्तस्य तादृग्ज्ञानासंभव इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, सप्तमरसस्याप्यभावासिद्धेः । सप्तमो रसः किमेकेनाप्रमित उत सर्वैः ? प्रथमे व्यभिचारः, द्वितीये ज्ञातुः सार्वज्ञ्यापत्तिः । यदुक्तमसिद्धोऽयं हेतुर्यतो वेदे परमेश्वरः कर्ता श्रूयते, जैनाः कालासुरं वेदकर्तारं मन्यन्ते, बौद्धाश्चैवमनेकान् कर्तॄन् वदन्ति, तदपि न क्षोदक्षमम्, वेदविरोधिनां तादृक्कथनस्य द्वेषमूलकत्वेनाप्रामाण्यात् । परमेश्वरकर्तृकत्वबोधकस्य वेदस्याप्रामाण्याभावेऽपि 'वाचा विरूपनित्ययेति' वैदिकवाक्यविरोधेन सम्प्रदायप्रवर्तकबोधन एव तात्पर्यात् । एतेन—

यथा प्रजापतीर्वेदे तत्र तत्र प्रशस्यते । भारतेऽपि तथा व्यासस्तत्र तत्र प्रशस्यते ॥
अथ प्रणेता वेदस्य न दृष्टः केनचित्क्वचित् । द्वैपायनोऽपि किं दृष्टो भवत्पितृपितामहैः ॥
सर्वेषामविगीता चेत् स्मृतिः सत्यवतीसुते । प्रजापतिरपि स्रष्टा लोके सर्वत्र गीयते ॥

इत्यादिकमपास्तम्, 'वाचा विरूपनित्ययेति' श्रुतिविरोधेन प्रजापतेरपि सम्प्रदायप्रवर्तकत्वप्रतिपादने स्मृतेस्तात्पर्य्यस्योक्तत्वात् ।

तत एव क्वचिदीश्वरस्य क्वचित्प्रजापतेः क्वचिदग्निवाय्वादित्यानामुत्पादकत्वं श्रूयते । न ह्येकस्यानेककर्तृकत्वं प्रामाणिकम् । अपि चैवं विवेकविकलजनप्रवादविप्रलब्धो भ्राम्यति । इह स्वल्पमपि कर्म पित्रा मात्रा वोदिश्यमानं तद्वचन-

इसलिए वैदिक-लौकिक व्यवहार चतुर लोगों को अवश्य स्मरणीय व्यक्ति का (कर्ता का) स्मरण न हो पाना ही वेदों का अस्मर्यमाणकर्तृकत्व है, यही स्वीकार करना होगा ।

यह जो कहा गया था कि अस्मर्यमाणकर्तृकत्व से क्या कर्ता के स्मरण का अभाव अथवा कर्ता का ही अभाव समझा जाता है ? कर्ता के स्मरण का अभाव तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैसा कहने पर वैयधिकरण्य होगा, अर्थात् स्मरण का अभाव आत्मा में रहेगा और अपौरुषेयत्व तो वेद में रहेगा, किन्तु यह मन्तव्य ठीक नहीं है; क्योंकि अस्मर्यमाणकर्तृकत्व तो वेद में होने से वैयधिकरण्य नहीं होगा । 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इस हेतु को असिद्ध नहीं कहा जा सकता । यदि यह हेतु असिद्धि दोष से युक्त रहता तो उससे वेद की अपौरुषेयता सिद्ध न हो पाती । यहाँ तो केवल वेदकर्ता (वेदरचयिता) के स्मरण की उपलब्धि न होने से कर्ता के स्मरण का अभाव तो निर्बाध रूप से सिद्ध हो ही जाता है । यह जो कहा गया था कि किसी एक को कर्ता का स्मरण नहीं बन पाता या सभी को ? प्रथम पक्ष में किसी एक को स्मरण न हो पाना तो सर्वत्र ही सुलभ हो सकता है, तब तो पौरुषेय ग्रन्थों को भी अपौरुषेय कहना पड़ेगा । दूसरे पक्ष में सर्वज्ञ के अतिरिक्त उस प्रकार का ज्ञान होना असम्भव है । किन्तु ये दोनों विकल्प भी अकिञ्चित्कर ही है, क्योंकि इन विकल्पों से सप्तम रस का भी अभाव सिद्ध नहीं हो सकता । वहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या सप्तम रस को किसी एक ने जाना या सभी ने ? प्रथम पक्ष में व्यभिचार दोष होगा । द्वितीय पक्ष में ज्ञाता को सर्वज्ञ कहना पड़ेगा ।

यह जो कहा था कि उपर्युक्त हेतु (अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्) असिद्ध है, क्योंकि वेद में कर्ता के रूप में परमेश्वर सुनाई पड़ता है और जैन लोग कालासुर को वेद का कर्ता मानते हैं, तथा बौद्ध लोग अनेक कर्ताओं को कहते हैं । किन्तु यह वक्तव्य विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतर पाता, क्योंकि वेदविरोधियों के इस प्रकार के कथन द्वेषमूलक होने से प्रमाण नहीं माने जा सकते । परमेश्वर को कर्ता के रूप में बोधन करने वाले वेद का अप्रामाण्य न होने पर भी 'वाचा विरूपनित्यया' इस वैदिक वाक्य के साथ विरोध होगा, फलतः परमेश्वरकर्तृकत्व बोधकवाक्य का तात्पर्य सम्प्रदाय प्रवर्तक के बोधन करने में ही समझना चाहिए ।

इस कथन से 'जिस प्रकार वेद में जहाँ तहाँ प्रजापति की प्रशंसा की जाती है, तथा महाभारत में भी जहाँ तहाँ व्यास की प्रशंसा की जाती हैं, किन्तु जैसे वेद का रचयिता कभी किसी ने भी नहीं देखा, तो क्या आपके पिता-पितामह आदि ने

प्रत्ययादनुष्ठीयते। तदयमियाननेकक्लेशवित्तव्ययादिनिर्वर्त्यो वैदिकः कर्मकलाप एवमेव तदुपदेशिनमाप्तमस्मृत्वैव क्रियत इति महान् प्रमादः। उच्चावचककविरचितजरत्पुस्तकलिखितकाव्यवदस्मर्य्यमाणकर्तृकेण वेदेन व्यवहारानुत्पत्तेरवश्यस्मरणीयस्तत्र कर्ता स्यात्। न च कदाचन वेदेषु व्यवहारविच्छेदः सम्भाव्यते, येन तत्कृतं जरत्कूपारम्भादिष्विव कर्त्रस्मरणं स्यात्। तस्मादवश्यं कर्ता स्मर्य्येत। न च संस्मर्य्यते। स्मृतिर्हि तदनुभवमूलिकैव भवति, न च कर्त्रनुभवः कस्यचिज्जातः। अशरीरस्य कर्तुर्दर्शनयोग्यत्वमपि न सम्भवति।

सशरीरत्वपक्षे वा पुरुषः कोऽपि तादृशः। तदानीं दृश्यमानोऽपि वेदं कुर्वन्न दृश्यते॥
अधीयमाने दृष्टेऽस्मिंस्तदा संशेरते जनाः। किमेष रचयेद्वेदमुत वान्यकृतं पठेत्॥
यत्कृतं वा पठेदेष तस्मिन्नपि हि संशयः। भङ्ग्या चेदमनादित्वमुन्मीलदिव दृश्यते॥
असत्यादिप्रमाणे च कर्तृतानुभवं प्रति। स्मृतिः प्रवन्धसिद्धापि स्पृशत्यन्धपरम्पराम्॥

योगिभिः सा गृहीतेत्यपि न व्यवहारकोटिमाटीकते, वादव्यवहारे योगजज्ञानस्यानभ्युपगमात्। वेदात् कर्त्रवबोधे तु स्पष्टमन्योऽन्यासंश्रयम्।

एतेन—यदुक्तं स्मर्य्यमाणकर्तृत्वास्मर्य्यमाणकर्तृकत्वयोः कार्य्यधर्मत्वेन कृतकत्वमेव सिद्धयति वेदस्य। तथा चानुमानम्—वेदः कृतकः, अस्मर्य्यमाणकर्तृकत्वात्, जीर्णकूपारम्भादिवदित्यप्यपास्तम्, स्मर्य्यमाणकर्तृकत्वाभावेन नित्यत्वसिद्धौ बाधाभावात्, आत्मवत्। नित्यत्वबोधिका श्रुतिरप्यनुकूलैव, अप्रमीयमाणकर्तृकत्वेनाकृत्रिमत्वस्यैव सिद्धेः। उत्तरमीमांसक-

भी क्या द्वैपायन को देखा है? सत्यवतीपुत्र व्यास का स्मरण यदि सबको अच्छी तरह से है, तो उसी तरह सर्वत्र स्रष्टा प्रजापति का भी स्मरण लोगों को है। इत्यादि—मन्तव्य का खण्डन हो जाता है। 'वाचा विरूपनित्यया' इस श्रुति के साथ विरोध उपस्थित होने से प्रजापति को भी सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानने में ही स्मृति का तात्पर्य बतलाया गया है। ईश्वर, प्रजापति आदि वेद के कर्ता न होकर केवल सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं, ऐसा मान लेने से ही श्रुति में कहीं ईश्वर, कहीं प्रजापति कहीं अग्नि, कहीं वायु तो कहीं आदित्य को वेद का कर्ता कहना संगत हो सकता है। अन्यथा एक वस्तु का कर्ता अनेक को कहना असंगत ही होगा। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार से विचारशक्तिहीन लोगों के प्रवाद से ठगा गया आदमी भटकता रहता है। लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि अल्प-स्वल्प कार्य भी पिता या माता के द्वारा बताया हुआ यदि हो तो उनके वाक्य पर श्रद्धा-विश्वास होने से उसे किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में अनेक क्लेश तथा विपुल धन-व्यय से सम्पन्न होने वाले इस महान् वैदिक कर्मकलाप को क्या उसके उपदेशक आप्त का स्मरण किये बिना ही किया जाता है? यदि कर्ता को बिना जाने ही इस वैदिक कर्मकलाप को किया जाता है, तो महान् प्रमाद ही कहना चाहिए। छोटे-मोटे किसी कवि के द्वारा रचित जीर्ण-शीर्ण पुस्तक में लिखित काव्य की तरह अस्मर्यमाणकर्तृक (अज्ञातकर्तृक) वेद से व्यवहार चल नहीं सकता, इसलिये उसके कर्ता का ज्ञान (स्मरण) तो अवश्य रखना ही होगा। वेद की परम्परा का कभी विच्छेद हुआ हो, सो वह संभव नहीं, यदि कदाचित् परम्परा का विच्छेद होता तो जीर्णकूपारंभादि की तरह उसके कर्ता का विस्मरण संभव हो भी सकता था, किन्तु ऐसी बात तो है नहीं। अतः वेद के कर्ता का स्मरण अवश्य होना ही चाहिये था, किन्तु नहीं हो रहा है। स्मरण (स्मृति) न होने का कारण यह है कि वह तो अनुभव-मूलक ही होता है और अनुभव आजतक किसी को भी नहीं हुआ, क्योंकि अशरीर (शरीररहित) कर्ता का दर्शन हो सके यह संभव भी नहीं है। "यदि उसे सशरीर माना जाय तो कोई भी वैसा पुरुष उस समय दिखाई देने पर भी वेद की रचना करता हुआ नहीं दिखलाई पड़ा। हाँ, अध्ययन करता हुआ अवश्य दिखाई दिया। तब लोगों को सन्देह होने लगता है—क्या इसके रचे हुए वेद हैं, या किसी के रचे हुए को यह पढ़ रहा है? यदि यह रचे हुए को पढ़ रहा है, तो उसमें भी सन्देह होता है। वेद वाक्यों की भंगिमा से (प्रकार से) तो इसका अनादित्व (अनादिता) ही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। कर्ता के होने में यदि कोई प्रमाण देने का साहस करे तो वह असत्य ही होगा। प्रवन्ध को देखकर यदि कर्तृस्मरण कहा जाय तो वह अन्धपरम्परा का अनुवर्तन करेगा। योगियों को उसके कर्ता के स्मरण होने की बात कहना तो व्यावहारिक नहीं होगी। वाद-विवाद के चलते योगज ज्ञान (योगियों का ज्ञान) को स्वीकार नहीं किया जाता। यदि यह कहा जाय कि वेद से उसके कर्ता का ज्ञान होता है, तो अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। अतः जो यह कहा गया था कि—स्मर्यमाणकर्तृकत्व और अस्मर्यमाणकर्तृकत्व दोनों के कार्य के धर्म होने से वेदों की कृतकता ही सिद्ध होती है। इसी को बताने के लिए अनुमान भी किया गया था कि 'वेद कृतक हैं, क्योंकि वे अस्मर्यमाणकर्तृक

मतरीत्या परमेश्वरोत्पन्नत्वेऽपि निःश्वासवद् बुद्धिप्रयत्नानपेक्षत्वेन प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वनिरपेक्षोच्चरितत्व-प्रथमोच्चरितत्वादिरूपसकर्तृकत्वासिद्धावपौरुषेयत्वसिद्धेः।

वेदः कृतक इत्याद्यनुमानं व्यभिचारादिदुष्टम्। अस्मर्य्यमाणकर्तृकत्वमप्रमीयमाणकर्तृकत्वं वा आत्मनि विद्यते। तत्र च कृतकत्वं नास्ति। अत एवास्मर्य्यमाणकर्तृकत्वस्याकर्तृकत्वं नार्थः, अप्रसिद्धत्वात्। प्रसिद्धौ वा साध्याविशिष्टत्वमित्याद्यपास्तम्, तावताप्यपौरुषेयत्वसिद्धेर्निष्प्रत्यूहत्वात्। तथाहि—अप्रमीयमाणकर्तृकत्वेनाकर्तृकत्वं तेन चापौरुषेयत्वसिद्धिः।

वेदः पौरुषः, रचनावत्त्वादित्यादिसत्प्रतिपक्षोऽपि निराधारः, रचनावत्त्वस्याद्याप्यसिद्धेः। उत्तरमीमांसकरीत्याऽपि प्रथमोच्चरितत्वाभावेन रचनावत्त्वासिद्धेः। नहीदानीन्तनानां कालिदासीयकाव्योच्चारणेन रचना सिंद्धयति।

यदुक्तम्—'प्रमाणान्तरविषयभाञ्जि वैदिकानि वाक्यानि आप्तोक्तानि, वाक्यत्वे सति प्रमाणत्वात्, पित्रादिवाक्यवत्' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, स्मर्य्यमाणकर्तृकत्वस्योपाधित्वात्, प्रमाणवाक्येषु वेदेषु स्मर्य्यमाणकर्तृकत्वभावात्। अस्योपाधेर्भारतादौ साध्यव्यापकत्वे सति वेदेषु साधनाव्यापकत्वात्। अपि च, प्रमाणान्तरविषयभाञ्जि वेदवाक्यानीति पक्षोऽप्यसिद्धः, वेदार्थस्य तदतिरिक्तप्रमाणाविषयत्वात्। नहि यागस्वर्गयोः कार्य्यकारणभावः केनाप्यवगन्तुं शक्यः, प्रत्यक्षानुमानागोचरत्वात्। अत एवाज्ञातज्ञापकत्वेन वेदानां प्रामाण्यमुक्तम्—

हैं, जीर्णकूपारम्भादि के समान'—वह सब ऊपर किये गये ऊहापोह से निरस्त हो गया। कर्ता का स्मरण किसी को भी न हो पाने से वेदों की नित्यता आत्मा की तरह निर्बाध रूप से सिद्ध हो जाती है। अप्रमीयमाणकर्तृक (कर्ता के अज्ञात रहने से) होने से उसकी अकृत्रिमता ही सिद्ध होती है, अतः उसके नित्यत्व का ज्ञान करानेवाली श्रुति भी उसके अनुकूल ही पड़ती है। उत्तर मीमांसकों की पद्धति के अनुसार वेदों को परमेश्वर से उत्पन्न मानने पर भी श्वास-उच्छ्वास की तरह बुद्धि-प्रयत्न की अपेक्षा बिना किये तथा अन्यान्य प्रमाणों से पदार्थों को जानकर की जानेवाली रचना और निरपेक्षोच्चारणविषयत्व एवं प्रथमोच्चारण विषयत्व रूप सकर्तृकत्व की सिद्धि न हो पाने से वेदों का अपौरुषेयत्व ही सिद्ध हो जाता है[1]।

वेद किसी का बनाया हुआ है, इत्यादि अनुमान जो किया था, वह व्यभिचारादि दोष से दूषित है। अस्मर्यमाणकर्तृत्व (कर्ता का स्मरण जिसमें नहीं हो पाता) अथवा अप्रमीयमाणकर्तृकत्व (जिसमें कर्ता का अनुभव नहीं हो पाता) आत्मा में है, किन्तु वहाँ कृतकत्व नहीं है। इसीलिए अप्रसिद्ध होने से अस्मर्यमाणकर्तृकत्व का अर्थ अकर्तृकत्व नहीं है। यदि प्रसिद्ध भी मान लें तो साध्याविशिष्टत्व का होना आदि बातों का निरसन हो जाता है। उससे भी अपौरुषेयत्व की सिद्धि निर्बाध रूप से हो जाती है। अतः अप्रमीयमाणकर्तृकत्व के कहने से अकर्तृकत्व समक्ष में आता है और उससे अपौरुषेयत्व की सिद्धि हो जाती है।

'वेदः पौरुषः, रचनावत्त्वात्'—वेद पौरुषेय है, रचित होने के कारण, इत्यादि सत्प्रतिपक्ष भी निराधार है, क्योंकि अभी तक उसका रचित होना सिद्ध नहीं हो पाया है। उत्तर मीमांसकों की पद्धति के अनुसार भी प्रथमोच्चरितत्व न होने से रचनावत्त्व सिद्ध नहीं है। कालिदास के काव्य का कोई आधुनिक व्यक्ति उच्चारण करे तो क्या वह उच्चारण करने वाले की रचना कही जा सकती है?

'प्रमाणान्तर के विषय होने वाले वैदिक वाक्य आप्तोक्त हैं, क्योंकि पिता-माता आदि के वाक्य की तरह वे वाक्य भी प्रमाण हैं'—अर्थात् पिता आदि के वाक्य प्रमाण होने के कारण जैसे आप्त वाक्य है, इसी तरह वैदिक वाक्य भी प्रमाण होने के कारण किसी आप्त के कहे हुए वाक्य हैं, वह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्मर्यमाणकर्तृकत्व वहाँ उपाधि है। प्रमाणभूत वेदवाक्यों में स्मर्यमाणकर्तृकत्व

१. अर्थात् जो किसी व्यक्तिविशेष की रचना होती है, वह स्वाभाविक नहीं होती, अपि तु प्रयत्न की भी अपेक्षा रखती है और बुद्धि की अपेक्षा भी रखती है। साथ ही दूसरे प्रमाणों से विषय का ज्ञान प्राप्त करके ही पुरुष के द्वारा कोई ग्रन्थ रचा जाता है। पुरुष के द्वारा रचे गये वाक्यों का उच्चारण वैसे ही पुराने वाक्यों के उच्चारण की अपेक्षा नहीं रखता और वे वाक्य सर्वप्रथम उच्चरित होते हैं। किन्तु वेद-वाक्य तो बुद्धि और प्रयत्न की अपेक्षा के बिना ही स्वाभाविक रूप से श्वास-निश्वास की तरह प्रकट होते हैं। उनके विषयों का दूसरे प्रमाणों से ज्ञान भी नहीं होता और वे वाक्य अपने सदृश वैसे ही पुराने उच्चारण की अपेक्षा भी रखते हैं। तथा वे वाक्य सर्वप्रथम उच्चरित भी नहीं है। इसलिये वेद के वाक्यों का कोई कर्ता नहीं है, अतः वे अपौरुषेय ही सिद्ध हो जाते हैं।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥ इति।

एतेन वेदरचनायाः कर्तृपूर्वरचनाविलक्षणत्वादिति प्रतिपादनमपि युक्तम्।

यदुक्तम्—'किमिदं वैलक्षण्यम्, दुर्भणत्वं दुःश्रवणत्वं लौकव्याकरणप्रसिद्धशब्दवैलक्षण्यं वा' इत्याद्यप्यपास्तम्, प्रमाणान्तरागोचरत्वस्यैव वैलक्षण्यात्। लौकिकानि वाक्यानि प्रत्यक्षानुमानमूलकानि, आर्षाणि प्रत्यक्षानुमानवेदमूलकानि भवन्ति। वेदवाक्यानि तु नान्यमूलकानि भवन्ति। यथा शब्दस्पर्शरूपादीनि श्रोत्रादिमात्रविषयकाणि, यथा चक्षुषैव रूपमुपलभ्यते नान्येन श्रोत्रादिना, अथ च निर्दोषेणावलोकादिसहकारिसहकृतेन चक्षुषा रूपमुपलभ्यत एव, न नोपलभ्यते, इत्ययोगान्ययोगव्यवच्छेदकेनैव कारकद्वयेनासाधारणः सम्बन्धो निर्धार्य्यते। तथैव धर्मब्रह्मणी वेदैकसमधिगम्ये वेदेनैवोपलभ्येते। अधिकारिपुरुषैरुपक्रमोपसंहारादिभिर्लिङ्गैर्विचार्य्यमाणैर्वेदैरुपलभ्येते एव। दुर्भणत्वादिकमपि सम्यगेव, गुरुमुखैकवेद्यत्वात्। गुरोर्मुखादनुश्रूयते, अत एवानुश्रवत्वं वेदस्य। पुरुषमात्रस्य तादृशसामर्थ्याभावेनापौरुषेयत्वाभ्युपगमात्। अत एव 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्' इति निःश्वासन्यायेन पुरुषबुद्धिप्रयत्नानपेक्षत्वेनाकृत्रिमत्वावगमात्। वेदाः पौरुषेयाः, वाक्यत्वात् रचनात्वाच्च, महाभारतादिवाक्यवदिति प्रत्यनुमानं तु स्मर्यमाणकर्तृकत्वेन सोपाधिकमित्युक्तमेव। यदुक्तं रचनात्वादस्मर्य्यमाणकर्तृकत्वाच्चेत्यनयोः कतरदप्रयोजकमिति प्रश्ने रचनात्वमेव

की प्रतीति नहीं हो पाती। महाभारत आदि में उक्त उपाधि साध्य (आप्तवाक्यत्व) की व्यापक रहने पर भी वेद में साधन (हेतु) की अव्यापक हो जाती है। दूसरी बात यह है कि 'अन्य प्रमाणों के विषय वेदवाक्य' यह पक्ष (कथन) भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वेदार्थ (यज्ञ से स्वर्ग होता है, इत्यादि) वेद से ही जाना जा सकता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं। यज्ञ से स्वर्ग होता है, इस बात को कोई भी वेद के सिवाय प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से नहीं जान सकता। इसलिये वेद अन्य प्रमाणों से नहीं जाने जा सकने वाले विषयों का ज्ञान कराने वाला होने के कारण ही प्रमाण माना गया है। मनु ने कहा भी है—'प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा जो उपाय नहीं जाना जाता, उस उपाय को वेद के द्वारा ही लोग जान पाते हैं। यही वेद का वेदत्व है।' अतः वेद की रचना अन्य किसी कर्ता के रचना की अपेक्षा विलक्षण है—यह कथन उचित ही है।

यह जो कहा गया है कि अन्य सकर्तृक रचनाओं की अपेक्षा क्या वेद की रचना में दुर्भणत्व, दुःश्रवणत्व, अथवा लोक प्रसिद्ध तथा व्याकरण प्रसिद्ध शब्दों की दृष्टि से वैलक्षण्य है? वह भी ठीक नहीं है। वहाँ तो केवल प्रमाणान्तर का विषय न हो पाना ही उनकी विलक्षणता है। लौकिक वाक्य प्रत्यक्षानुमानमूलक होते हैं। आर्ष वाक्य प्रत्यक्ष, अनुमान और वेदमूलक होते हैं, किन्तु वेदवाक्य अन्यःमूलक नहीं होते। जैसे शब्द, स्पर्श, रूप आदि केवल श्रोत्रादि इन्द्रियों के ही विषय होते हैं, चक्षु से ही रूप की उपलब्धि होती है, श्रोत्रादि अन्य इन्द्रियों से नहीं। तथा प्रकाश आदि की सहायता पाकर दोष रहित नेत्रों से रूप की उपलब्धि होती ही है, नहीं होती है, यह कोई नहीं कह सकता। इसी रीति से अन्ययोग तथा इन अयोगव्यवच्छेदक इन दो एवकारों के द्वारा उस उस इन्द्रिय और उस उस विषय के असाधारण सम्बन्ध का निर्धारण किया जाता है। उसी प्रकार एकमात्र वेद से समक्ष में आने वाले धर्म और ब्रह्म का ज्ञान वेद से ही हो सकता है। उपक्रम-उपसंहारादि षड्विध लिङ्गों के माध्यम से अधिकारी पुरुषों के द्वारा विचार किये जाने वाले वेदों से धर्म और ब्रह्म का ज्ञान होता ही है। गुरुमुख से ही वेद्य होने के कारण उनका दुर्भणत्व रहना उचित ही है। इसीलिये उनकी रचना में मनुष्यमात्र का सामर्थ्य न होने से उन्हें अपौरुषेय माना गया है, उसी कारण वेदों को अनुश्रव कहा जाता है। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्' इस निःश्वास न्याय से (श्वास-प्रश्वास की तरह) पुरुषबुद्धि और प्रयत्न की अपेक्षा न होने से उन्हें अकृत्रिम माना गया है। यह तो हम पहिले ही बता चुके हैं कि 'वेदाः पौरुषेयाः, वाक्यत्वात्, रचनात्वाच्च, महाभारतादिवाक्यवत्'—वेदों में वाक्य और रचना की उपलब्धि होने से महाभारत के वाक्यों की तरह उनके पौरुषेयता का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु उस अनुमान में स्मर्यमाणकर्तृकत्व की उपाधि रहने से वह सोपाधिक अनुमान है। यह जो कहा गया है कि 'रचनात्वात् और अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इन दो हेतुओं में से कौन-सा प्रयोजक और कौन-सा अप्रयोजक है? यह प्रश्न करने पर 'रचनात्व' को ही प्रयोजक और उससे अन्य सभी को अप्रयोजक बताया है। पुरुष के बिना अक्षरों का विन्यास कहीं भी देखा नहीं गया है। किसी सभ्य के द्वारा न सुना गया है और न देखा

प्रयोजकम्, तदितरच्चाप्रयोजकम्। नहि पुरुषमन्तरेण क्वचिदक्षरविन्यासो दृष्टः। भो भगवन्तः! सभ्याः, क्वेदं दृष्टं क्व च श्रुतं लोके यद्वाक्येषु पदानां रचना नैसर्गिकी भवति। 'यदि स्वाभाविकी वेदे पदानां रचना भवेत्। पटेऽपि हन्त तन्तूनां कथं नैसर्गिकी न सा ॥,' 'शन्नो देवीरभिष्टये', 'नारायणं नमस्कृत्य', 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इति रचनात्वे क्वचित्कर्तृपूर्वकत्वमपरत्र तद्विपर्य्यय इति महान् व्यामोहः। एवं धूमोऽपि कश्चिदग्निमान् अनग्निकश्च कश्चित्, तदपि तुच्छम्, रचनात्वस्यैवासिद्धेः। लोके प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य वाक्यादिरचना दृश्यते। न चेह तथा सम्भवति, वेदार्थस्य प्रमाणान्तरागोचरत्वात्। पूर्वपूर्वानुपूर्वीसव्यपेक्षोच्चारणंतु न रचना सम्भवति, तथात्वे रघुवंशस्य तथोच्चारयितृत्वेनास्मद्रचितत्वापातात्। प्रथमोच्चारणस्यास्यैव रचनात्वे तु वेदे तदभाव एव।

अपि च, यथा घटादीनां सशरीरकर्तृकत्वेऽपि न तथात्वमङ्कुरादौ साधयितुं शक्यते प्रत्यक्षविरोधादेव, तथैव लौकिकवाक्येषु पुरुषपूर्वकत्वे सत्यपि वेदे न तथात्वं साधयितुं शक्यते, निःश्वसितत्वनित्यत्वादिश्रवणविरोधात्। उच्चारणं पुरुषकर्तृकमिति तूभयत्र समानम्। नैरपेक्ष्येण पूर्वानुपूर्वीसापेक्षतया वेत्यत्रैव वैमत्यम्। पूर्वं निष्प्रमाणमुत्तरं तु सप्रमाणमित्युक्तमेव। न च पौरुषेयत्वानुमानं तत्र मानम्, तस्योच्चारणमात्रगतार्थत्वात्, वाचा विरूपनित्ययेति वेदवाक्येनैवान्यादृशरचनाया बाधाच्च। अतः कुमारसंभवादिवाक्यतुल्यत्वं वेदवाक्यस्येति कथनमास्तिकस्य न शोभते। शब्दत्वे सत्तासामान्ये तुल्येऽपि पौरुषेयत्वेऽपि तुल्यता न वक्तुं शक्या वेदविरोधादेव। तदुक्तम्—'ननु याः कालिदासादिरचनाः कर्तृपूर्विकाः। ताभ्यो विलक्षणैवेयं रचना भाति वैदिकी ॥ इहाध्ययनवेलायां रूपादेव प्रतीयते। अकृत्रिमत्वं वेदस्य भेदैस्तैस्तैरनन्यगैः ॥ नामाख्यातोपसर्गादिप्रयोगगतयो नवाः। स्तुतिनिन्दापुराकल्पपरकृत्यादिनीतयः ॥ शाखान्तरोक्तसापेक्षविक्षिप्तार्थो-

ही गया है कि लौकिक वाक्यों में पदों की रचना नैसर्गिक होती है। यदि वैदिक पद-रचना को स्वाभाविक माना जाय तो पट में भी तन्तुओं की रचना को नैसर्गिक क्यों न मान लिया जाय। 'शन्नो देवीरभिष्टये', 'नारायणं नमस्कृत्य, 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि रचनाओं में किसी को सकर्तृक और किसी को अकर्तृक मानना महान् व्यामोह होगा, जैसे किसी धूम को अग्निमान् और किसी धूम को अनग्निमान् कह देना। किन्तु यह सब निरर्गल प्रलाप है, क्योंकि वेदों को किसी की रचना कहना ही सिद्ध नहीं हो पा रहा है। लोक-व्यवहार में देखते हैं कि दूसरे प्रमाणों से विषयों का ज्ञान प्राप्त करके वाक्य आदि की रचना की जाती है, वैसा तो वेद में होना सम्भव ही नहीं, क्योंकि वेदार्थ तो अन्य प्रमाणों का विषय हो नहीं है। पूर्व-पूर्वतन आनुपूर्वी की अपेक्षा करके उच्चारण किये जाने को रचना नहीं कह सकते, अन्यथा रघुवंश का उच्चारण करने मात्र से ही वह अपनी रचना कही जा सकेगी। यदि प्रथम उच्चारण को ही रचना कहें तो संसार अनादि होने से वेद का प्रथम उच्चारण है ही नहीं।

दूसरी बात यह है कि जैसे घटादिकों में शरीर वाले कर्ता के रहने पर भी प्रत्यक्ष से विरुद्ध होने के कारण अंकुरादिकों में उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसी तरह लौकिक वाक्यों में पुरुषपूर्वकत्व रहने पर भी वेद में वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वेदों को निःश्वास रूप तथा नित्य कहा है। उच्चारण का पुरुषकर्तृक होना तो दोनों पक्षों में तुल्य है। मतभेद तो केवल उनके उच्चारण में पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्षता या पूर्वानुपूर्वीसापेक्षता के विषय में है। जिसके समाधान में बता चुके हैं कि प्रथम पक्ष तो निष्प्रमाणक है और द्वितीय पक्ष सप्रमाण है। यदि कहें कि वेद के पौरुषेयत्व का अनुमान ही उसकी निरपेक्षता में प्रमाण है, तो यह कहना उचित न होगा, क्योंकि वह अनुमान तो उसके केवल उच्चारण में ही गतार्थ हो जाता है। 'वाचा विरूपनित्यया' इस वेदवाक्य से ही दूसरी तरह की (पुरानी आनुपूर्वी से भिन्न आनुपूर्वी वाली रचना) रचना का बाध हो जाता है। अतः कुमारसम्भवादि काव्य के वाक्यों के समान वेद के वाक्य हैं, यह कह देना आस्तिक को शोभा नहीं देता। शब्दत्व रूप जाति के तुल्य रहने पर भी, वैसी तुल्यता वेदविरोध होने के कारण पौरुषेयत्व में नहीं बताई जा सकती। कहा भी है कि—कालिदास प्रभृति के काव्यों की रचना उनके द्वारा की गई है, किन्तु वेद की रचना उससे विलक्षण है। वेद पढ़ते समय ही उसके स्वरूप से वह किसी का बनाया हुआ नहीं है, यह मालूम हो जाता है, क्योंकि वेद वाक्यों में जो विशेषताएँ हैं, वे अन्यत्र नहीं हैं। नाम (संज्ञा), आख्यात (क्रियावाचक शब्द), उपसर्ग (तु च वा इत्यादि) इत्यादि की वेद में नवीन पद्धति से जैसी स्थिति है, वैसी लौकिक वाक्यों में नहीं है। स्तुति, निन्दा (तत्परक अर्थवाद), पुराकल्प (घटनाएँ), परकृति आदि का वर्णन भी वेद के जैसा लोक में नहीं है। एक ही प्रयोग में

पवर्णनम् । इत्यादयो न दृश्यन्ते लौकिके सन्निवन्धने ।। तेनाध्येतृगणाः सर्वे रूपाद्वेदादकृत्रिमम् । मन्यन्ते एव लोके तु पीतं मीमांसकैर्यशः ।। वेदा न पठिता यैस्तु त्वादृशैः कुण्ठबुद्धिभिः । कार्य्यत्वं ब्रुवते तेऽस्य रचनासाम्यमोहिताः ।। इति ।'

यदुक्तम्—मीमांसका यशः पिवन्तु पयो वा पिवन्तु ब्राह्मीघृतं वा पिवन्तु वेदस्तु पुरुषप्रणीत एव । 'यथा घटादि-संस्थानाद्भिन्नमप्यचलादिषु । संस्थानं कर्तृमत् सिद्धं वेदेऽपि रचना तथा ।।' इति, तदपि दत्तोत्तरम्, उच्चारणस्य कर्तृमत्वेऽपि स्वतन्त्रोच्चारणत्वासिद्धेः । तत्र रचनात्वस्यातन्त्रत्वात् । यत्तु विलक्षणाया रचनाया उपपत्तये विलक्षणः कर्तानुमेय इति, तथात्वे कर्तृत्वमपि सम्प्रदायप्रवर्तकत्वरूपमेवाभ्युपेयताम् । अत एव 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० उ० ६।१८) इत्यत्र ब्रह्मणोऽपि विधात्रा ब्रह्मणो हृदि वेदाः प्रहिता न विहिताः । विद्यमानानामेव प्रेषणमविद्य-मानानां विधानम् । नित्यत्वबोधकश्रुतिरप्यत्रानुकूला ।

यदुक्तम्—'अमृतेनेव संसिक्ताश्चन्दनेनेव चर्चिताः । चन्द्रांशुभिरिवोद्धृष्टा कालिदासस्य सूक्तयः ।।' इत्येवमादिरीत्या प्रतिकाव्यं च तानि तानि वैचित्र्याणि दृश्यन्ते' इति, तदपि तुच्छम्, प्रमाणान्तराविषयत्वादिना पूर्वापेक्षयाऽपि वैलक्षण्यात् । 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।।' (पा० शि० ५२) इत्यादिवैलक्षण्यं नान्यत्र वर्णयितुं शक्यते । बवरः प्रावाहणिरकामयत, कुसुरविन्द औद्दालकिरकामयत इत्यादीनां तु समाधानं श्रुतिसामान्यमात्रमित्यादिना स्पष्टं मीमांसायामुक्तमेव । यद्यादिमन्तो वहवोऽर्था वेदादवगम्यन्ते इत्यनादित्वं नास्ति वेदस्य, तर्हि नैयायिकाभिमतसर्गादिकालिकत्वमपि वेदस्य न सिद्धयति, पारीक्षित-जनमेजयादिवर्णन-

अनेक शाखा में न कहे हुए अपेक्षित अर्थ का दूसरी शाखा से लिया जाना भी वेद की ही विशेषता है । ये सब बातें लौकिक रचनाओं में नहीं देखी जाती । इसलिये सारे पढ़नेवाले पढ़ते समय वेद के स्वरूप से ही उसे अकृत्रिम (किसी का बनाया हुआ नहीं) समझ लेते हैं । इतना स्पष्ट वेद का अपौरुषेयत्व होने पर भी मीमांसकों ने केवल यश पा लिया । किन्तु तुम जैसे (धर्मकीर्ति बौद्ध) कुण्ठित बुद्धि वालों ने वेद कभी पढ़े नहीं, वे ही वेद और लौकिक वाक्यों की रचना में समानता के आभास से मोहित होकर वेद को किसी का बनाया हुआ बताते हैं ।

यह जो कहा गया है कि मीमांसक लोग चाहे यश पीयें या जल पीयें अथवा ब्राह्मी घृत का पान करें, वेद पुरुष-प्रणीत ही हैं । जैसे घटादि पदार्थों के अवयव संस्थान की अपेक्षा अचल (पर्वत) आदि पदार्थों का संस्थान (रचना) विभिन्न रहने पर भी किसी कर्ता के द्वारा ही उसका होना माना जाता है, उसी प्रकार विलक्षण रचना वाले वेदों को भी किसी का बनाया हुआ ही मानना चाहिये, किन्तु इसका उत्तर दिया जा चुका है । उच्चारण किसी कर्ता के द्वारा किये जाने पर भी वेद का उच्चारण स्वतन्त्र उच्चारण नहीं हो सकता, अर्थात् उसके उच्चारण करने में कर्ता को स्वतन्त्रता नहीं है । यह जो कहा गया है कि वेद की विलक्षण रचना की उपपत्ति के लिये वैसे ही विलक्षण कर्ता का अनुमान कर लिया जाय । ऐसा अनुमान कर के यदि विलक्षण रचना की उपपत्ति करने को उद्यत हैं तो कर्तृत्व को भी सम्प्रदायप्रवर्तकत्व के रूप में स्वीकार कीजिये, क्या हानि है ? ऐसा स्वीकार करने के कारण ही 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' ब्रह्मा के निर्माण करने वाले ईश्वर ने ब्रह्मा के हृदय में वेदों को स्थापित (प्रहित) किया, न कि वेदों को बनाया (विहित) किया, क्योंकि जो वस्तु विद्यमान होती है, उसी का प्रेषण (स्थापन) किया जाता है, अविद्यमान वस्तुओं का स्थापन नहीं किया जाता, उसका विधान (निर्माण) किया जाता है । नित्यत्वबोधक श्रुति भी इस पक्ष में अनुकूल है ।

यह जो कहा है कि 'कालिदास की सुन्दर उक्तियाँ ऐसी हैं मानों अमृत से सींची गई हो, चन्दन से चर्चित हों, चन्द्रमा से की किरणों से लाई गई हों' इत्यादि सूक्ति के अनुसार प्रत्येक काव्य में कुछ न कुछ वैचित्र्य (विलक्षणता) दिखाई पड़ती है, किन्तु इस कथन में भी कोई सार नहीं है, क्योंकि दूसरे प्रमाण का विषय न हो सकने से वेदों की विलक्षणता सबसे अधिक है । "स्वर अथवा एक भी वर्ण से हीन होने पर वैदिक ग्रन्थों का प्रयोग मिथ्या हो जाता है और जिस अर्थ के लिये उसका प्रयोग किया जाता है, उसे प्रकट नहीं करता । वही शब्द वज्र बनकर यजमान का नाश करता है । जैसे स्वर में त्रुटि होने के कारण 'इन्द्रशत्रु' शब्द ने वृत्रासुर का नाश कर दिया" इत्यादि विलक्षणता वेद के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं बताई जा सकती । 'बबरः प्रावाहणिरकामयत, कुसुरविन्दः औद्दालकिरकामयत' इत्यादि वाक्यों से होनेवाली शंकाओं का समाधान तो "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" इत्यादि सूत्रोक्ति से मीमांसा में

दर्शनात्। यदि सर्वज्ञेश्वरस्य भूतभविष्यद्वर्तमानवर्णनं नासंगतं तर्हि प्रकृतेऽपि तत्सममेव। तदुक्तमेव मनुना—'भूतं भवद्भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति' (१२।९७) इति।

एतेन यदुक्तं सिद्धमपि वेदे कर्तृविस्मरणमप्रयोजकमन्यथासिद्धत्वात् वेदकरणकालस्यातिदवीयस्त्वात् तत्प्रणेतुश्च पुंसः सकलपुरुषविलक्षणत्वात् नियतशरीरपरिग्रहाभावादिदंतयास्य पाणिनिपिङ्गलादिवत् स्मरणं नास्ति। न तु स नास्त्येवानुमानागमाभ्यां तदवगमादिति, तन्न, दत्तोत्तरत्वात्। बहुक्लेशायासादिसाध्यवैदिककर्मोपासनादिव्यवहारस्य कर्तृस्मरणमन्तराऽसिद्धयाऽपौरुषेयत्वमन्तराऽन्यथाऽसिद्धेः। परमेश्वरस्य पुरुषत्वेऽपि यथा सकलपुरुषविलक्षणत्वमभ्युपगम्यते, तथैव वेदस्य पदवाक्यकदम्बात्मकत्वे सत्यपि सकलग्रन्थविलक्षणत्वं कुतो नोपेयते, अनुमानागमयोस्तत्रापि सत्त्वात्। यदि तु नियतशरीरपरिग्रहाभावेऽपि परमेश्वरस्य वेदकर्तृत्वं तर्हि पुरुषमन्तरा कुतो न वेदस्याकृत्रिमत्वमभ्युपगम्यते, नित्यत्वनिःश्वसितत्वादिश्रुत्यनुरोधात्। यदि त्वचिन्त्यमहिमत्वादीश्वरस्य तथात्वं तर्हि वेदस्यापि तथात्वमेवावगम्यताम्।

यदुक्तम्—'कर्तुरस्मरणे सति सुतरां वेदार्थानुष्ठानं प्रेक्षावतां शिथिलीभवेत्' इति, तदेतदपि निःसारम्, पौरुषेयेष्वेव वाक्येषु तथात्वेऽविश्रम्भात्, प्रामाण्यस्वतस्त्वाभ्युपगमेनापौरुषेये पुरुषाश्रितभ्रमप्रमादादिदोषासम्भवेन बाधाभावेन चाप्रामाण्यशङ्कानुदयात्। एवमस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य सत्प्रतिपक्षत्वेन पौरुषेयत्वानुमानं प्रतिहन्यते। स्वातन्त्र्येणापि चानेन हेतुना

स्पष्ट किया गया है। यदि यह कहना हो कि वेद में अनेक सादि (उत्पत्तिमान्) पदार्थों का वर्णन उपलब्ध होता है, अतः वेदों को अनादि नहीं कहा जा सकता, तो वेदों की नैयायिकसम्मत सृष्ट्याद्यादिकालिकता भी, अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों की रचना भी सिद्ध नहीं हो सकेगी, क्योंकि वेदों में परीक्षित, जनमेजय आदि राजाओं का भी वर्णन उपलब्ध होता है। यदि यह कहें कि ईश्वर के सर्वज्ञ होने से उसके द्वारा भूत-भविष्यत्-वर्तमान तीनों कालों का वर्णन असंगत नहीं है, तो अपौरुषेय पक्ष में भी यही समाधान है। मनु ने इसी बात को कहा भी है—"भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति" (वर्तमान, भूत और भविष्य सब कुछ वेद से ही सिद्ध होता है)।

यह जो कहा गया था कि अन्यथासिद्ध होने से कर्ता का विस्मरण वेद की अपौरुषेयता सिद्ध करने में असमर्थ है, क्योंकि वेदरचना का काल सुदूर पूर्ववर्त्ती है और वेदों का रचयिता पुरुष समस्त पुरुषों से विलक्षण है। उसका नियत-शरीर-परिग्रह न होने से पाणिनि, पिङ्गलादि महर्षियों की तरह स्पष्ट रूप से यह ही वेदों का कर्ता है, ऐसा स्मरण नहीं हो पाता है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वेद का कोई कर्ता ही नहीं है, क्योंकि वेदों के कर्ता का ज्ञान अनुमान आगमादि प्रमाणों से हो जाता है। किन्तु यह कथन भी समुचित नहीं है। इस कथन का उत्तर पूर्व दे चुके हैं। अनल्पक्लेश तथा अनेक आयासादि से होने वाला वैदिक कर्मोपासनादि व्यवहार कर्ता के स्मरण हुए बिना भी चल रहा है, उसका कारण एकमात्र वेद की अपौरुषेयता ही है। यदि अपौरुषेयता वेदों की न होती तो उपर्युक्त व्यवहार अबाधित रूप से न चलता। अन्य पुरुषों की तरह परमेश्वर भी पुरुष है, तथापि उसमें सकलपुरुषविलक्षणता जैसे स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार वेद में पद और वाक्य के समूह के रहने पर भी अन्य समस्त ग्रन्थों की अपेक्षा अनुमान, आगमादि प्रमाणों के बल पर उसमें भी विलक्षणता क्यों नहीं स्वीकार की जाती? यदि नियत शरीर परिग्रह न रहने पर भी परमेश्वर में वेदकर्तृता मानते हो तो पुरुष के बिना वेद को अकृत्रिम (अपौरुषेय) क्यों नहीं मान लेते? अकृत्रिम मानने में नित्यत्व, निःश्वसितत्व प्रतिपादक श्रुतियाँ भी अनुकूल पड़ती हैं। यदि यह कहें कि ईश्वर की महिमा अचिन्त्य होने से सब कुछ संभव है, तो वेदों की महिमा को भी अचिन्त्य मान लिया जाय।

यह जो कहा था कि कर्ता का स्मरण न रहने पर वेदार्थ के अनुष्ठान में विचारशील लोग अत्यन्त शिथिलता करेंगे, किन्तु यह सोचना निःसार है। उक्त प्रकार की विचारधारा पौरुषेय वाक्यों में ही अविश्वास के कारण हुआ करती है। वेदों का स्वतः प्रामाण्य होने से उसकी अपौरुषेयता अक्षुण्ण है, तब पुरुषों में रहने वाले भ्रम-प्रमादादि दोषों का वेदों में हो पाना संभव ही नहीं। उनके संभव न रहने पर कभी भी उनका अर्थ बाधित हो ही नहीं सकता, तब वेदों के अप्रामाण्य की आवश्यकता कैसे उठ सकती है? वेद के पुरुषनिर्मितत्व का अनुमान कराने वाले हेतु को अपौरुषेय सिद्ध करने वाला अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु मिथ्या सिद्ध कर देता है और स्वतन्त्र रूप से भी यह हेतु अपौरुषेय वेद की अपौरुषेयता सिद्ध कर देता है। यह जो कहा गया था कि—यह तो एक प्रकार

अपौरुषेयत्वं सिद्धयति । यदुक्तमनेन प्रकारेणानुपलब्धिरेवोच्यते सा चानुपपन्ना मानेन कर्तुरुपलम्भादिति, तन्न, पौरुषेयत्वानुमानस्य सोपाधिकत्वेन तदसाधकत्वस्योक्तत्वात् । यदुक्तमनुपलब्धौ सिद्धायामनुमाननिरासः, अनुमाननिरासे च सत्यनुपलब्धिसिद्धिरित्यन्योऽन्याश्रयत्वमिति, तदपि निःसारम्, अस्मर्यमाणकर्तृकत्वहेतुबलेन कर्त्रभावसिद्धेरनुमाननिरासानधीनत्वात् । अन्यथा तत्रापि पौरुषेयत्वानुमाने तथैव दोषो भविष्यति । यथा तव प्रतिबन्धमहिम्ना प्रामाण्यसिद्धिः, नानुपलब्धिसिद्धिनिरासाधीनं प्रामाण्यं तथैवेहापि ज्ञेयम् । अपि च, वेदस्य पौरुषेयत्वं ब्रुवाणेन तत्र प्रमाणं वक्तव्यम् । पौरुषेयत्वानुमानन्तु स्मर्य्यमाणकर्तृकत्वेनोपाधिना दूषितमिति निर्दोषप्रमाणानुपलब्ध्या कर्त्रभावो व्यवतिष्ठते ।

एतेन 'पटादिरचनां दृष्ट्वा तस्य चेतसाऽनुमीयते । वेदेऽपि रचनां दृष्ट्वा कर्तृत्वं तस्य गम्यताम् ॥' नित्यपि निरस्तम्, उच्चारणस्यानुपूर्वीनिर्माणस्य सकर्तृकत्वसाधने सिद्धसाधनम् । प्रथमोच्चारणस्य पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्षानुपूर्वीनिर्माणस्य च साधने हेत्वसिद्धेः । एतेन 'प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा श्रुतिरन्या विधीयते' इति वचनमपि व्याख्यातम् । 'उच्चारणं वा कर्तृत्वमानुपूर्व्याश्च वा कृतिः । सिद्धसाधनता चैवमन्यत्रातिप्रसङ्गता ॥' अपि च, शरीरपरिग्रहमन्तरेणोपदेशस्य कर्तुमशक्यत्वाद् यदीश्वरः शरीरं गृह्णीयात्तदा व्यासादिवदवश्यं स्मर्य्येत । यथा रावणकंसादिवधार्थंगृहीतरामकृष्णदेहः परमेश्वरः स्मर्य्यते, तथैव वेदोपदेशार्थमपि गृहीतशरीरः परमेश्वरः कथं न स्मर्य्यते । अपि च, पृथिव्यादिनिर्मातृत्वेनेश्वरसामान्यमेव सिद्धयति, वेदकारस्त्वी-

से अनुपलब्धि ही बताई जा रही है, पर वह बन नहीं पाती, क्योंकि प्रमाण के बल पर कर्ता की उपलब्धि होती है, अर्थात् वेदों का कर्ता प्रमाण से सिद्ध हो रहा है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारा वह प्रमाण पौरुषेयत्व का अनुमान ही है और वह सोपाधिक ही है, अतः उससे पौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी। यह जो कहा था कि अनुपलब्धि के सिद्ध होने पर अनुमान का निरास और अनुमान का निरास होने पर अनुपलब्धि की सिद्धि होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा, किन्तु यह कथन भी निःसार है, क्योंकि 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' हेतु के बल पर कर्ता का अभाव सिद्ध हो जाता है, यहाँ अनुमान-निरास के अधीन न होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। अन्यथा तुम्हारे पौरुषेयत्वानुमान में भी वैसा ही अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा। जैसे तुम्हारे यहाँ प्रतिबन्ध (व्याप्ति) की महिमा से प्रामाण्य की सिद्धि हो जाती है। प्रामाण्य की सिद्धि अनुपलब्धि के निरास के अधीन नहीं है। वैसे ही यहाँ पर भी प्रामाण्य की सिद्धि समझ लेना चाहिये। दूसरी बात यह है कि वेद का पौरुषेयत्व बताने वाले को उसकी पौरुषेयता का प्रमाण बताना होगा। पौरुषेयत्व साधक अनुमान तो 'स्मर्यमाणकर्तृकत्व' रूप उपाधि से दूषित हो जाता है। अतः निर्दोष प्रमाण की उपलब्धि न हो पाने से कर्ता का अभाव ही सुस्थिर रहा।

उपर्युक्त सन्दर्भ से पूर्वपक्षी का जो कहना था कि—'लोक-व्यवहार में पट रचना (दरी, साड़ी आदि) को देखकर उसके कर्ता का अनुमान जैसे किया जाता है, वैसे ही वेद की रचना को देखकर उसके कर्ता का भी अनुमान कर लेना चाहिये।'—वह भी निरस्त हो गया। उच्चारण की आनुपूर्वी के निर्माण का सकर्तृकत्व यदि साधा जाय तो सिद्धसाधन ही होगा। प्रथमोच्चारण, जो पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्ष है, उसकी आनुपूर्वी निर्माण को यदि साधा जाय तो हेत्वसिद्धि होगी। इस सन्दर्भ से—'प्रत्येक मन्वन्तर में अन्य अन्य श्रुति का निर्माण होता है' इस कथन का भी उपपादन हो गया। दूसरी बात यह भी है कि शरीर धारण किये बिना उपदेश कर पाना सम्भव न होने से यदि ईश्वर शरीर धारण करे तो व्यास आदि की तरह अवश्य उसका भी स्मरण होगा। जैसे—रावण, कंस आदि राक्षसों के वध के लिये राम, कृष्ण के रूप में शरीर धारण किये हुए परमेश्वर की याद सभी कोई करता रहता है, वैसे ही वेद का उपदेश देने के लिये भी शरीर धारण करने वाले परमेश्वर की याद क्यों नहीं की जायगी? अपि च, पृथिवी आदि के निर्माता के रूप में सामान्य ईश्वर की ही सिद्धि हो पाती है। वेदकार (वेद-निर्माता) तो कोई विशेष ही होना चाहिये, उसकी सिद्धि कैसे हो पायगी? भिन्न भिन्न मत वालों के द्वारा बाइबिल, कुरान आदि के उपदेशकों को ही ईश्वर के रूप में बताया जाता है। ऐसी स्थिति में वेदकार को ही ईश्वर कहना, बाइबिलकार को नहीं, इसमें क्या हेतु है? वेद के द्वारा ईश्वर की सिद्धि और ईश्वर की सिद्धि होने पर उससे निर्मित होने के कारण वेद के प्रामाण्य की

श्वरविशेषः। स कथं सेत्स्यति तत्तदनुयायिभिस्तु वाइबिलकुरानोपदेशका एवेश्वरत्वेन साध्यन्ते। तत्र वेदकार ईश्वरो न वाइविलकारादय इत्यत्र को हेतुः? वेदेनेश्वरसिद्धिस्तत्सिद्धौ तन्निर्मितत्वेन वेदप्रामाण्यसिद्धिरित्यन्योऽन्याश्रयत्वमनुमानेन तत्सिद्धिस्तु पूर्वं प्रत्याख्यातैव।

एवं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वादित्यपि साधु। यथेदानींतना पित्रादिपूर्वकास्तथैव पूर्वे पित्रादयोऽपि पित्रादिपूर्वकाः। तथैव सर्वं वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमेव। अत एव वेदस्यानुश्रवेत्यन्वर्थं नाम। गुरोर्मुखादनुश्रूयते इत्यनुश्रवः। गुरोर्मुखादनुश्रूयते एव परं न केनापि क्रियते। यदुक्तं कर्तृपूर्वकेऽप्यध्ययने वेदाध्ययनत्वस्य सत्त्वाद्विपक्षेण विरुद्धं विशेषणं विपक्षाद्धेतुं व्यावर्तयति, नान्यत् अतिप्रसङ्गात्। न च वेदविशेषणकर्तृपूर्वकत्वलक्षणविपक्षेण विरुद्धम्। भारताध्ययनवद् वेदाध्ययनस्य सकर्तृकत्वेऽप्यविरोधादिति, तन्न, वेदेति विशेषणस्यानैकान्तिकत्ववारकत्वात्, कर्तृपूर्वकेऽध्ययनेऽध्ययनत्वस्य सत्त्वेऽपि वेदाध्ययनत्वाभावात्। अपि च, विषमोऽयमुपन्यासः, नहि सर्वं भारताध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकम्, कर्तृकस्य प्रथमभारताध्ययनस्य गुर्वध्ययनपूर्वकत्वाभावात्। वेदस्य त्वकर्तृपूर्वकत्वादेव सर्वमप्यध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमेवेति वेदविशेषणं विपक्षविरुद्धमेव।

अपोहनिराकरणम्

ननु य एव शब्दाः सत्यर्थे दृष्टाः, ते तदभावेऽपि दृश्यन्ते। अतोऽर्थाभावेऽपि शब्दानामुपलम्भाद् विधिद्वारेणार्थाभिधायकत्वानुपपत्त्याऽन्यापोहमात्राभिधायकत्वमेव तेषां युक्तम्। तदुक्तम्—'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तुविधिनोच्यते' इति। अन्यच्च—'अतीताऽजातयोर्वापि न च स्यादनृतार्थता। वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया इमे॥' (प्रमाणवा० ३।२०७)

सिद्धि—यह अन्योन्याश्रय दोष होता है, उसको बचाने के लिये यदि अनुमान प्रमाण से ईश्वर को सिद्ध किया जाय, तो उसका प्रत्याख्यान (खण्डन) पहले ही किया जा चुका है।

अतः 'सभी वेदाध्ययन, गुर्वध्ययन पूर्वक है, वेदाध्ययन होने से' यह अनुमान उचित ही है। जैसे आजकल के लोग पिता से पैदा होते हैं, वैसे ही पहले के लोग भी अपने अपने पिता से ही पैदा हुए, ठीक ऐसे ही समस्त वेदाध्ययन गुर्वध्ययनपूर्वक ही है। इसी कारण वेद का दूसरा नाम 'अनुश्रव' होना सार्थक है। क्योंकि गुरु के मुख से केवल सुना ही जाता है, बनाया नहीं जाता, इसलिये उसे (वेद को) अनुश्रव कहते हैं। यह जो कहा गया था कि 'कर्तृपूर्वक अध्ययन में भी वेदाध्ययनत्व के होने से विपक्ष के विरुद्ध विशेषण विपक्ष से हेतु की ही व्यावृत्ति करेगा, अन्य की नहीं। अन्य की भी व्यावृत्ति करेगा तो अतिप्रसंग होगा। वेद का विशेषण—कर्तृपूर्वकत्व लक्षण विपक्ष से विरुद्ध नहीं है, भारताध्ययन की तरह वेदाध्ययन को सकर्तृक मानने पर भी कोई विरोध नहीं है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'वेद' यह विशेषण अनैकान्तिकत्व (व्यभिचार) का वारण कर देता है। कर्तृपूर्वक अध्ययन में अध्ययनत्व के रहने पर भी वेदाध्ययनत्व उसमें नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि दृष्टान्त (भारताध्ययन) का जो उपन्यास किया गया है, वह विषम है, क्योंकि समस्त भारताध्ययन गुर्वध्ययनपूर्वक नहीं है, क्योंकि व्यासकर्तृक प्रथम भारताध्ययन में गुर्वध्ययनपूर्वकत्व नहीं है।' रचयिता अपनी रचना को स्वयं ही पढ़ता है, उसे पढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती। वेद में कर्तृपूर्वकत्व न होने से ही समस्त अध्ययन गुर्वध्ययनपूर्वक ही है। इसलिये 'वेद' विशेषण विपक्ष के विरुद्ध ही है।

अपोह का निराकरण

शंका—जो शब्द किसी वस्तु के रहने पर देखे गये हैं, वे ही शब्द वस्तु के न रहने पर भी दिखाई देते हैं। अतः वस्तु (अर्थ) के अभाव में भी शब्दों की उपलब्धि होने से विधि के द्वारा शब्दों में अर्थ की वाचकता (अभिधायकत्व) अनुपपन्न है, अतः शब्दों में जो अर्थाभिधायकत्व (अर्थवाचकत्व) है, उसे 'अन्यापोह' ही समझना चाहिये। किसी ने कहा भी है—"विधि वाचक शब्द के द्वारा वस्तु नहीं बताई जाती, किन्तु शब्द और लिङ्ग से अपोह मात्र की प्रतीति कराई जाती है"। "किसी भी शब्द की अनृतार्थता (मिथ्या अर्थ) नहीं है, चाहे वह अतीत अर्थ या अनुत्पन्न अर्थ को भी बतावे।"—[प्र० वा० ३।२०७]।

तत्रापोहो बाह्यतया आरोपितः, आकारोऽपोह्यतेऽनेनेति। यद्वा अपोह्यतेऽस्मिन्नित्यपोहः स्वलक्षणम्। तस्मान्न विकल्पानां स्वरूपेण बाह्यो ग्राह्योऽपि त्वाकारेण सहैकीकृत एव बाह्यो विषयः। स चापोहोऽपोह्यतेऽन्यदनेनेत्यपोहः, अपोह्यतेऽस्मादन्यद्विजातीयमिति कृत्वा। तत्र प्रमाणमनुमानम्—यथा यद्यत्र प्रतिभाति तत्तस्य विषयः, यथेन्द्रिये प्रत्यये सुस्पष्टप्रतिभासमानवपुरर्थात्मा नीलादिस्तद्विषयः। शब्दलिङ्गप्रभवप्रत्यययोस्तु बहिरर्थरहितं स्वरूपमात्रं विषयः, तत्र स्वरूपमात्रस्यैव प्रतिभानत्वात्। न चार्थसंस्पर्शिता स्वरूपमात्रावभासित्वं च शाब्दानुमानप्रत्यययोरद्याप्यसिद्धमिति वाच्यम्, विकल्पानुपपत्त्या तत्सिद्धेः। तथाहि शाब्दप्रत्ययस्य को विषयः? स्वलक्षणस्वभावः, सामान्यस्वरूपो वा? नाद्यः, स्वलक्षणे संकेताभावेन तत्र शब्दानामप्रवृत्तिः। तदुक्तम्—'शब्दाः संकेतितं प्राहुर्व्यवहाराय स स्मृतः। तदा स्वलक्षणं नास्ति संकेतस्तेन बन्धनम्॥' (प्र० वा०)। स्वलक्षणस्य क्षणभङ्गुरत्वेन कालान्तरे तेनैव रूपेणानुगमो नास्ति। व्यवहारार्थं समयः क्रियते। तेन यस्यैव संकेतव्यवहारः कालव्यापकत्वं भवेत् तत्रैव समयो व्यवहर्तॄणां युक्तः। स्वलक्षणस्य क्षणिकत्वेनातथात्वान्न तत्र समयः। 'देशकालक्रियाशक्तिप्रतिभासादिभेदतः। तस्मात् संकेतदृष्टोऽर्थो व्यवहारे न दृश्यते॥ न चागृहीतसंकेतो बोध्येतान्य इव ध्वनेः।' परमाण्वाकारतया क्षणिकतया च निरंशतया च न देशकालान्तरव्याप्तिः स्वलक्षणस्य। किञ्च, अस्येदमभिधानमिति यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्धः प्रतिभाति, न तत्र प्रतिनियतेन्द्रियविषययोः शब्दार्थस्वलक्षणयोः प्रतिभासः। न तत्राप्रतिभासमानयोस्तयोः सम्बन्धकारणं संभवति, अतिप्रसङ्गात्। यथा गोशब्दतदर्थयोः सम्बन्धज्ञानेऽप्रतिभासमानयोरश्वतदर्थयोस्तेन ज्ञानेन

अपोह उसे कहते हैं, जिसका बाह्य रूप से आरोप किया जाय। इसकी 'आकारः अपोह्यते अनेन' यह व्युत्पत्ति है। अथवा 'अपोह्यते अस्मिन् इति अपोहः' जिसमें आरोप किया जाता है, अर्थात् 'स्वलक्षण'। इसलिये विकल्प ज्ञानों का विषय (ग्राह्य) स्वरूपतः बाह्य पदार्थ (वस्तु) नहीं है। अपि तु ज्ञान के आकार के साथ एकीकृत बौद्ध पदार्थ ही विकल्प ज्ञानों का विषय है। जो बाह्य विषय है, वह अपोह है। 'अपोह्यते अन्यत् अनेन इति अपोहः'—अर्थात् 'अपोह्यते अस्मात् अन्यत् विजातीयम्' जिससे भिन्न विजातीय वस्तु का अपोहन (निरास) किया जाता है, उसे अपोह कहते हैं। इसे बताने वाला प्रमाण अनुमान ही है। जैसे—जिसका जहाँ प्रतिभान (प्रतीति) होता है, वही उसका विषय होता है। जैसे—ऐन्द्रिय ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) में स्पष्टतया भासमान वस्तु का स्वरूप नील, पीत आदि, उस ज्ञान के विषय होते हैं। शब्द तथा लिङ्ग से उत्पन्न ज्ञान के तो अर्थ रहित केवल स्वरूपमात्र ही बाह्य विषय है, क्योंकि वहाँ (बाहर) केवल स्वरूप का ही ज्ञान होता है। शब्द तथा अनुमान प्रमाण से उत्पन्न हुए ज्ञान में ज्ञान के स्वरूप मात्र का भान होना और उसका वस्तु के साथ सम्बन्ध न होना अभी भी असिद्ध ही है, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि आगे के विकल्प की अनुपपत्ति से वह सिद्ध ही है। वह विकल्प इस प्रकार है—शब्द से होने वाले ज्ञान का विषय क्या है? ज्ञान का अपना विशेष स्वभाव या सामान्य स्वरूप? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि स्वलक्षण (विशेष स्वभाव) में संकेत न होने से उसको बताने में शब्द की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। कहा भी है—"शब्द संकेतित अर्थ को बताते हैं, क्योंकि व्यवहार के लिये ही संकेत की आवश्यकता पड़ती है। स्वलक्षण में शब्द का संकेत न होने से वह उससे (शब्द से) बंधा हुआ नहीं है।" स्वलक्षण पदार्थ क्षणभंगुर होने से कालान्तर में उसी रूप से उसका अनुगम नहीं होता। अतः व्यवहार सम्पादन के लिये संकेत किया जाता है। जिसका व्यवहार स्थिर होगा, उसी में व्यावहारिकों का संकेत करना उचित होगा, किन्तु स्वलक्षण तो क्षणिक है, स्थिर नहीं है, अतः उसमें शब्द का संकेत (समय) भी नहीं है। स्वलक्षण पदार्थ, भावाकार, क्षणिक और निरवयव होने से देशान्तर, कालान्तर के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि जिस ज्ञान में 'इसका यह वाचक है' इस प्रकार का सम्बन्ध भासित होता है, वहाँ पर तत्तत् इन्द्रिय के विषय होने वाले शब्द और स्वलक्षण रूप अर्थ (वस्तु) का आभास (ज्ञान) नहीं होता और न ही वहाँ प्रतिभासित न होने वाले उन दोनों ज्ञान के साथ संबन्ध होना ही संभव है, अन्यथा अतिप्रसंग (अव्यवस्था) होगा। जैसे गोशब्द और उसके अर्थ दोनों के सम्बन्ध ज्ञान में भासित न होने वाले (अप्रतिभासमान) अश्व और उसके अर्थ का उस ज्ञान के साथ सम्बन्ध नहीं किया जाता, उसी तरह अर्थ के साथ सम्बन्ध न कर पाने वाला शब्द उस अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता। अन्यथा अतिप्रसंग होगा। स्वलक्षण को शाब्दज्ञान का विषय मानने पर इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान की तरह स्पष्ट प्रतिभास का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु प्रतीतिविरोध के कारण वैसा इष्ट नहीं है। कहा भी है—इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का विषय होने वाली वस्तु भिन्न है और शब्द से होने वाले ज्ञान का विषय होने वाली वस्तु

न सम्बन्धकरणं भवति, तद्वत्। न चार्थेनाकृतसम्बन्धः शब्दोऽर्थं प्रत्याययति, अतिप्रसङ्गात्। शाब्दप्रत्ययस्य स्वलक्षणविषयत्वे इन्द्रियप्रभवप्रत्ययवत् स्पष्टप्रतिभासप्रसङ्गः स्यात्। न चैवमिष्टम्, प्रतीतिविरोधात्। तदप्युक्तम्—'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः। शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते॥' अन्यदेव स्वलक्षणमिन्द्रियग्राह्यम्, अन्यच्च सामान्यलक्षणं शब्दगोचरः। प्रध्वस्तनेत्रोऽपि शब्दात्प्रत्येति, परन्तु न प्रत्यक्षमीक्षते। समानविषयत्वेऽनन्धस्येवान्धस्यापि शब्दादपरोक्षैव प्रतीतिः स्यात्। तथात्वे चेन्द्रियाग्निसम्बन्धादिव दाहशब्दादपि दाहानुभवः स्यात्। यद्वा शब्दादन्धोऽपि घटादि प्रत्येति परन्तु चक्षुष्मानिव प्रत्यक्षं नेक्षते। 'अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते। अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते॥' (वाक्यपदीये ४२५)। यदि शब्देन दाहाद्यर्थः प्रत्याय्येत तदा सन्निधापितोऽस्मै तामर्थक्रियां कथं न कुर्य्यात्। अग्निसम्बन्धाद्दग्धो दाहमन्यथाऽनुभवति। दाहशब्देन दाहमन्यथाऽवगच्छति। ततश्च शब्दार्थयोर्नास्त्येव कश्चन सम्बन्धः। इति वाक्यपदीयकारिकार्थः। न चैकस्य रूपद्वयं संभवति, येनास्पष्टं वस्तुगतरूपमेव शाब्दबोधे भासेत, एकस्य द्वित्वविरोधात्। तथा च स्वलक्षणं न शब्दप्रत्ययविषयः, शब्दप्रत्ययेऽप्रतिभासमानत्वात्। यो हि यत्कृते प्रत्यये न भासते न स तस्यार्थः, यथा रूपजनिते प्रत्यये रसः। न च भासते शाब्दबोधे स्वलक्षणम्। तस्यान्न तत्तस्य विषयः। वस्तुविषयत्वे च शब्दानां मतभेदेनार्थभेदाभिधायित्वानुपपत्तिः। तदुक्तम्—'परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना। न स्यात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु॥' इति। तस्मान्न स्वलक्षणः शाब्दबोधविषयः।

नापि सामान्यस्वभावोऽन्त्यः पक्षः सम्भवति, वास्तवस्य सामान्यस्यैवाभावात्। तदभावश्च, शशविषाणवदनर्थक्रियाकारित्वात्। नहि जातिर्वह्निदाहादौ क्वचिदपि प्रत्युपस्थाप्यते। शब्दं क्वचिन्नियुञ्जानः प्रेक्षावान् इष्टानिष्टाप्तिप्रतिषेधलक्षणं

भिन्न, क्योंकि अन्धे को भी शब्द से तो ज्ञान हो जाता है, किन्तु प्रत्यक्ष देख नहीं पाता। ऐन्द्रियक ज्ञान तथा शब्द ज्ञान का विषय एक (समान) मान लेने पर चक्षुष्मान् की तरह अन्ध व्यक्ति को भी शब्द से प्रत्यक्ष प्रतीति ही होगी, तब इन्द्रिय और अग्नि के सम्बन्ध से दाहानुभव की तरह दाह शब्द से भी दाह का अनुभव होने लगेगा। अथवा शब्द से अन्धे व्यक्ति को भी घट आदि पदार्थ की प्रतीति होती है, किन्तु चक्षुष्मान् की तरह प्रत्यक्ष से वह नहीं देख पाता। वाक्यपदीयकार कहते हैं—"अन्यथैवाऽग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते। अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते॥"—(वा० प० ४२५) यदि शब्द से दाहादि अर्थ का बोध होगा तो उसके सन्निहित कराने पर उससे अर्थक्रिया क्यों नहीं हो पाती? अग्नि के सम्बन्ध से दग्ध हुआ व्यक्ति कुछ दूसरे ही प्रकार की जलन का अनुभव करता है, किन्तु दाह शब्द से एक दूसरे ही प्रकार के दाह को जानता है। अर्थात् वास्तव में जलने से कैसा दुःख होता है, यह तो आग से जलने वाला ही जानता है। उसके साथ सहानुभूति रखने वाला कहता है—आप जल गये, आपको बड़ा कष्ट हो रहा है। पर इन शब्दों से जलने वाले को जैसा दुःख हो रहा है, वैसे दुःख का पता थोड़े ही चलता है। तात्पर्य यह है कि शब्द का अर्थ के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यह वाक्यपदीय की कारिका का अर्थ है। एक पदार्थ के दो रूप होना सम्भव नहीं, जिससे शाब्द बोध में वस्तु का अस्पष्ट रूप ही भासित हो। क्योंकि एक का द्वित्व के साथ विरोध रहता है। अतः स्वलक्षण (विशेषस्वरूप वाली) वस्तु शब्द से होनेवाले ज्ञान (प्रत्यय) का विषय नहीं होती, क्योंकि शाब्द प्रत्यय (शब्दजनित ज्ञान) में उसका प्रतिभास नहीं होता। जिसके ज्ञान में जो भासित नहीं होता, वह उसका अर्थ (विषय) नहीं होता। जैसे—रूप ज्ञान में रस का भास नहीं होता, अतः रूप ज्ञान का विषय रस कभी नहीं होता। उसी तरह शब्दजनित ज्ञान (शाब्द बोध) में स्वलक्षण भासित नहीं होता, अतः वह उसका (शब्दजन्य ज्ञान का) विषय नहीं हो सकता। स्वलक्षण रूप वस्तु को शब्द ज्ञान का विषय मानने पर मतभेद से शब्दों में अर्थभेदाभिधायित्व (विभिन्न अर्थों का वाचकत्व) सिद्ध न हो सकेगा। यही बात इस श्लोक में कही गई है—"परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना। न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु॥" अतः स्वलक्षण वस्तु को शब्द बोध का विषय नहीं कहना चाहिये।

सामान्य स्वभाव (सामान्य रूप) वाला दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं, क्योंकि सच पूछा जाय तो 'सामान्य' नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। शशविषाण की तरह अर्थक्रियाकारी न होने से, उसका (सामान्य का) अभाव ही समझना चाहिये। वह्नि दाह आदि के करने में जाति (वह्नि की जाति वह्नित्व) को कभी भी उपस्थित नहीं किया जाता, अर्थात् जलाने की क्रिया में अग्नि (वह्नि)

किञ्चित्फलमवश्यमीहते । तस्मादन्यापोहगोचरा एव शब्दाः । जातिव्यक्त्योरिव ज्ञानतदाकारयोरपि न शाब्दबोधगोचरत्वम्, तयोरपि ज्ञानरूपेण स्वलक्षणत्वेन संकेताविषयतया शब्दगोचरतानुपपत्तेः । किन्तु स एव ज्ञानाकारो दृश्यविकल्पावेकीकृत्य बहीरूपतयाध्यस्तपूर्वजातिव्यक्तिज्ञानतदाकारापेक्षयार्धपञ्चमाकारोऽन्यापोहः । बाह्यत्वं हि तस्यार्धाकारः । अर्थत्वं तु दृश्यस्य सत्यत्वाद्विकल्पस्यासत्यत्वात् । दृश्योऽर्थः स्वलक्षणम्, विकल्पोऽर्थः सामान्यप्रतिभासः । तावेकीकृत्य स्वलक्षणमेवेदं विकल्पबुद्ध्या विषयीक्रियते ।

अपोहश्च निषेधः । स द्विविधः--पर्य्युदासः, प्रसज्यश्च । प्रथमः सदृग्ग्राही, द्वितीयस्तु निषेधकृत् । सादृश्यञ्च तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मत्वम् । प्रकारान्तरेण—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥' पर्य्युदासोऽपि बुद्ध्यात्मा अर्थात्मेति द्विविधः । तथा बुद्ध्यात्मा बुद्धिप्रतिभासः, अर्थेष्वनुगतैकरूपत्वेनाध्यवसितः । अर्थात्मा अर्थस्वभावविजातीयकालाननुवृत्तमर्थस्वलक्षणम् ।

यथा हरीतक्यादयो बहवोऽन्तरेणापि सामान्यमेकं ज्वरादिशमनलक्षणं कार्य्यं कुर्वन्ति, तथैव शाबलेयादयोऽप्यर्थाः सत्यपि भेदे प्रकृत्या एकाकारप्रत्यवमर्शस्य हेतवो भविष्यन्तीत्यन्तरेणापि वस्तुभूतं सामान्यं तानर्थानाश्रित्य तदनुभवबलेन यदुत्पन्नं विकल्पज्ञानं तत्र यदर्थाकारतयाऽर्थप्रतिबिम्बकमर्थाभासो भाति तादात्म्येन तत्रान्यापोहः । तच्च बुद्ध्यात्मनोऽपोहस्य विशेषलक्षणम् । अर्थात् स्वभावतः परस्परविलक्षणानर्थानेकार्थकारितया समानहेतुत्वेनाश्रित्य यदेकप्रत्यवमर्शरूपमर्थप्रति-

की ही आवश्यकता होती है, अग्नित्व जाति की नहीं । बुद्धिमान् व्यक्ति जब कभी शब्द का प्रयोग करता है तब वह इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार (प्रतिषेध) रूप किसी फल को अवश्य चाहता है । अतः शब्द का विषय तो अन्य का अपोह (अन्यापोह) करना ही है । जाति तथा व्यक्ति की तरह ज्ञान और उसके आकार में भी शाब्द बोध (शाब्द ज्ञान) की विषयता नहीं है, क्योंकि वे (ज्ञान और उसका आकार) भी स्वलक्षण होने से ज्ञान रूप हैं, अतः उनमें संकेत (विषयता) न होने से शब्द-गोचरता उत्पन्न नहीं हो सकती । किन्तु दृश्य और विकल्प दोनों को एक-कर बाह्य रूप के आकार में आरोपित (अध्यस्त) पूर्व जाति-व्यक्ति का ज्ञान और उनके आकार की अपेक्षया अर्धपञ्चमाकार वाला जो ज्ञानाकार है, वही अन्यापोह है । उस (ज्ञान) का अर्ध आकार तो बाहर दिखाई पड़ता है । इसे आधा इसलिये कहते हैं कि उसका (ज्ञान का) जो दृश्य अंश है, उसमें सत्यता है, और जो विकल्प (कल्पित) अंश है, उसमें असत्यता है । दृश्य रहने वाला जो अर्ध भाग है वह तो 'स्वलक्षण' है और विकल्प रूप (कल्पित) जो अर्ध भाग है, वह सामान्य प्रतिभास (सामान्य=जाति के रूप में ज्ञात) है । उन दोनों को मिलाकर एक कर दिया जाता है । दोनों के एक हो जाने से वह स्वलक्षण वस्तु ही पुनः ज्यों को त्यों रहती है और वही विकल्प बुद्धि (ज्ञान) का विषय कहलाती है ।

अपोह का अर्थ है निषेध, उसके दो भेद हैं—एक पर्युदास और दूसरा प्रसज्य (प्रतिषेध) उनमें प्रथम पर्युदास तो सदृग्ग्राही (सदृश को ग्रहण करने वाला) होता है और दूसरा प्रसज्य निषेधक (निषेध=प्रतिषेध करने वाला) होता है । सादृश्य की परिभाषा इस प्रकार है—'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्'—परस्पर भिन्न दो पदार्थों में से एक में दूसरे के अनेक धर्म रहना ही सादृश्य है । इसी प्रसज्य को दूसरे प्रकार से भी बताया जाता है—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥' उपर्युक्त छह अर्थ नञ् के बताये जाते हैं । पर्युदास भी दो प्रकार का होता है—एक बुद्ध्यात्मा और दूसरा अर्थात्मा । उनमें बुद्ध्यात्मा बुद्धि प्रतिभास है, जो पदार्थों में अनुगत एक रूप से अध्यवसित है । अर्थात्मा अर्थस्वभाव है, जो विजातीय काल में अनुवृत्त न होनेवाला अर्थ स्वलक्षण है ।

हरीतकी (हर्रे) आदि बहुत सी ओषधियाँ बिना किसी सामान्य के जैसे ज्वर आदि रोगों को दूर कर देती है, उसी तरह शाबलेयादि अर्थों में भेद होने पर भी वे स्वभावतः ही एकाकार प्रत्यवमर्श (ज्ञान) के हेतु, वस्तुभूत सामान्य के बिना भी हो सकेंगे । उन पदार्थों का आश्रय कर उनके अनुभव के बल पर उत्पन्न होनेवाले विकल्प ज्ञान में जिस अर्थ के आकार से अर्थ प्रतिबिम्ब वाला अर्थाभास प्रतीत होता है, वहाँ तादात्म्य से अन्यापोह होता है । यही बुद्ध्यात्मा रूप अपोह का विशेष लक्षण है । सामान्य एक है, जो ज्वरादिशमन रूप कार्य है । अर्थात् स्वभावतः परस्पर विलक्षण पदार्थों की एकार्थ क्रिया सम्पादक होने से समान हेतुत्वेन

विम्बस्वभावं ज्ञानमुत्पन्नं तस्य अपोह इति संज्ञा। वस्तुभागच्छायो विकल्पेनोल्लिख्यमानो वाह्यत्वेनाभिमन्यमानो विकल्पाकारः स्वाकारविपरीताकारोन्मूलकोऽपोहः, अपोह्यतेऽनेनेति—विकल्पवर्त्याकाराभेदेन स्वयं प्रतिभासमानत्वात्। अपोह्यतेऽन्यस्मात् इति व्युपत्त्या अन्यापोहः। अयं मुख्यतया अन्यापोहशब्दवाच्यः। हेतुत्रितयेन तु औपचारिकोऽपोहस्त्रिविधः करणे कार्य्यधर्मारोपात्, कार्ये कारणधर्माध्यासात्, विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणेन सहैक्याध्यवसायाद्वा। यथोक्तान्यापोहेन कारणेनान्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिरूपं कार्य्यं जायते। तेन कारणत्वेन कार्य्यधर्मोऽन्यव्यावृत्तिरन्यापोहे समारोप्यते। क्वचित्तु कार्य्ये कारणधर्म आरोप्यते। अन्यासंसृष्टं स्वलक्षणं कारणम्। तदनुभवेन हि एकप्रत्यवमर्शकोऽन्यापोहो जन्यते। अपि चात्र कारणभूते स्वलक्षणोऽन्यव्यावृत्तिः, तस्याः कार्य्यभूते प्रत्यवमर्शे उपचारः। एवमेव विजातीयव्यावृत्तेन स्वलक्षणेन सह प्रत्यवमर्शभासिनो रूपस्यैकत्वेनावध्यासितत्वाच्चापोहनिरूपणं भवति। तदेवं त्रिविधः—पर्य्युदासप्रसज्यप्रतिषेधरूपस्त्वपोहः। गौरयं अगौर्न भवतीति व्यावृत्तिमात्रपर्य्यवसायी। एवमुक्तप्रकारोऽन्यापोहस्यैव शब्दो वाचकः।

वाच्यवाचकभावोऽपि कार्यकारणभावात्मक एव नान्यः। वुद्धिनिष्ठप्रतिविम्बस्य शब्दप्रभवत्वे शब्दवाच्यत्वम्, प्रतिविम्बकारणत्वेन च शब्दस्य वाचकत्वम्। यदुक्तम्—

'तत्रायं प्रथमः शब्दैरपोहः प्रतिपद्यते। वाह्यार्थध्वयसायिन्या वुद्धेः शब्दात् समुद्भवात्॥'

यदेव शाब्दवोधे भासेत स एव शब्दार्थो युक्तः। न चात्र प्रसज्यप्रतिषेधो ज्ञायते, न चापीन्द्रियज्ञानतास्वलक्षणप्रतिभासः, किन्तु वाह्यार्थविषयिणी शाव्दी वुद्धिर्जायते। तेन तदेवार्थप्रतिविम्वकं शाब्दे ज्ञाने साक्षादात्मतया प्रतिभासनात् शव्दार्थः। एवं प्रतीतिविलक्षणोऽपोहः साक्षात् शब्दजन्यत्वान्मुख्यः शब्दार्थः, शेषयोस्तु गौणशब्दार्थत्वम्।

मानकर जो एक प्रत्यवमर्श रूप अर्थप्रतिबिम्ब रूप ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसे अपोह नाम दिया गया है। वस्तु के एक भाग के समान जिसका विकल्प से उल्लेख किया जाता है, बाह्यरूप में जो समझा जाता है, विकल्प के आकार वाला, अपने आकार के विपरीत आकार का उन्मूलन करने वाला जो होता है उसको अपोह कहते हैं। क्योंकि 'अपोह्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति से विकल्पवर्ती आकार के साथ अभिन्न होकर स्वयं भासित होता है। 'अपोह्यते अन्यस्मात्' इस व्युत्पत्ति से ज्ञात होने वाला यह अन्यापोह ही मुख्यतः 'अन्यापोह' शब्द का वाच्य अर्थ है। किन्तु तीन हेतुओं से औपचारिक अपोह के तीन प्रकार होते हैं—पहिला—'कारण में कार्य धर्म का आरोप होने से, दूसरा—कार्य में कारण धर्मों का अध्यास होने से, तीसरा—विजातीय व्यावृत्त स्वलक्षण के साथ ऐक्य का अध्यवसाय होने से। ऊपर बताये हुए अन्यापोह रूप कारण से अन्य (से) व्यावृत्त हुई वस्तु की प्राप्ति रूप कार्य किया जाता है। उस कारण अन्य व्यावृत्ति रूप कार्य धर्म का आरोप 'कारण' रूप से अन्यापोह पर किया जाता है। किन्तु कहीं-कहीं कार्य पर कारण धर्म का आरोप हुआ करता है। क्योंकि अन्य से असंसृष्ट स्वलक्षण रूप कारण के अनुभव से एक ज्ञान कराने वाला अन्यापोह पैदा होता है। यहाँ पर कारणभूत स्वलक्षण में अन्यव्यावृत्ति हुआ करती है, उसका कार्यभूत ज्ञान में उपचार हुआ करता है, अर्थात् गौण प्रयोग होता है। उसी प्रकार विजातीय से व्यावृत्त स्वलक्षण के साथ ज्ञान में भासित होने वाले रूप का एकत्वेन अध्यवसाय होने से अपोह का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार से वह त्रिविध है। पर्य्युदास, प्रसज्य प्रतिषेध रूप अपोह तो 'गौरयं अगौर्न भवति'—यह गौ, अगौ नहीं है, इस प्रकार केवल व्यावृत्ति में ही पर्यवसित होता है। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि शब्द अन्यापोह का ही वाचक होता है।

वाच्य-वाचक भाव भी कार्य-कारणभाव रूप ही है, अन्य नहीं। बुद्धिनिष्ठ प्रतिबिम्ब शब्द से उत्पन्न होने पर शब्द वाच्य कहा जाता है। प्रतिबिम्ब का कारण होने से वह शब्द का वाचक नहीं। कहा भी है—"तत्रायं प्रथमः शब्दैरपोहः प्रतिपद्यते। बाह्यार्थाध्यवसायिन्या बुद्धेः शब्दाद् समुद्भवात्॥" शब्द बोध में जिसका भान होगा, उसी को शब्द का अर्थ कहना उचित है। यहाँ प्रसज्य प्रतिषेध नहीं है और न इन्द्रिय से ज्ञात होने वाला स्वलक्षण प्रतिभास ही है, किन्तु बाह्यार्थ को विषय करने वाला शाब्द ज्ञान होता है। इसलिये वही प्रतिबिम्बित अर्थ शाब्द ज्ञान में साक्षात् आत्मतया प्रतिभासित होने से शब्द का अर्थ है। इस प्रकार की विलक्षण प्रतीति में अपोह साक्षात् शब्द जन्य होने से वही शब्द का मुख्य अर्थ है। अवशिष्ट अन्य दो को शब्द का गौण अर्थ समझा जाता है।

अत्रोच्यते—यदुक्तम् 'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्याम्' इत्यादिना, तदसमीचीनम्, अपोहस्य निष्प्रमाणकत्वेन तदनुपपत्तेः। न तावत् प्रत्यक्षेण तत्सिद्धिः, प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वात्। नाप्यनुमानेन, तत्संबद्धलिङ्गाभावात्। 'साक्षादाकार एतस्मिन्नेवञ्च प्रतिपादिते। प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते॥ न तदात्मा परात्मेति सम्बन्धे सति वस्तुभिः। व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽर्थादिव भवत्यतः॥ तेनायमपि शब्दस्य स्वार्थं इत्युपचर्य्यते'। यः गवादिप्रतिबिम्बस्यात्मा स परस्य अश्वादिप्रतिबिम्बस्य स्वभावो न भवतीति कृत्वा व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽपि भवति। तेन प्रसज्यलक्षणापोहस्य नान्तरीयकतया प्रतीतेर्गौणशब्दार्थत्वम्। एवं शब्दस्य वस्तुनि पारम्पर्य्येण कार्यकारणभावसम्बन्धः। प्रथमं यथावस्थितस्य वस्तुनोऽनुभवः, ततो विवक्षा, ततस्ताल्वादिस्पन्दः, ततः शब्द इत्येवं परम्परया शब्दस्य बाह्यैरग्न्यादिभिरर्थैः सम्बन्धे सति विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगमः। अतो द्विविधोऽपि प्रसज्यप्रतिषेधः, अन्यव्यावृत्तवस्त्वात्मा चापोहशब्दार्थः, अपोह्येऽविनाभाविलिङ्गाभावात्। असन्निवृत्त्याऽगोनिवृत्त्याऽविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गं न विद्यते। बौद्धमते तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्ध एवाविनाभावः। न चान्यव्यवच्छेदरूपस्यापोहस्य केनचित् तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा घटते।

यदप्युक्तम्—अतीनागतार्थानां शब्दानां नद्यास्तीरे मोदकाः सन्तीत्यादिशब्दानां चार्थाभावेऽपि बोधकत्वदर्शनात् कथमर्थेन सम्बन्धसिद्धिरिति, तन्न, अनाप्तप्रणीतशब्दानामेवार्थसम्बन्धाभ्युपगमात्। कुत्रचित् शब्दानां क्वचिदर्थव्यभिचारदर्शनेन सर्वत्र तथा कल्पयितुमशक्यत्वात्। अन्यथा मरुमरीचिषु तोयावभासिनः प्रत्यक्षस्याप्रामाण्योपलम्भेन तोये तोयनिर्भा-

इस पर उत्तर दिया जा रहा है—'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्याम्' इत्यादि वचनों से जो कहा गया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि अपोह के मानने में कोई प्रमाण नहीं है, अतः उसकी सिद्धि किसी प्रकार भी होना सम्भव नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण से अपोह की सिद्धि हो नहीं सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय तो स्वलक्षण (वस्तु का विशेष स्वरूप) हुआ करता है। अनुमान से भी हो नहीं सकती, क्योंकि उससे (स्वलक्षण से) सम्बद्ध कोई लिङ्ग (हेतु) नहीं है। यही बात इन श्लोकों में कही गई है—"साक्षादाकार एतस्मिन्नेवञ्च प्रतिपादिते। प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते॥ न तदात्मा परात्मेति सम्बन्धे सति वस्तुभिः। व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽप्यर्थादिव भवत्यतः॥ तेनायमपि शब्दस्य स्वार्थं इत्युपचर्यते॥" जो गवादिप्रतिबिम्ब का आत्मा (स्वरूप=बिम्ब) है, वह अश्व आदि अन्य के प्रतिबिम्ब का स्वरूप (स्वभाव) नहीं होता, इस कारण व्यावृत्त वस्तु का ज्ञान भी हो जाता है। उससे प्रसज्य-लक्षण (स्वरूप) अपोह की नान्तरीयकतया (निश्चित) प्रतीति हो जाती है, अतः उसे शब्द का गौण अर्थ कहा गया है। इस प्रकार शब्द का वस्तु के साथ जो कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है, वह परम्परा से है, साक्षात् नहीं। पहिले यथावस्थित वस्तु का अनुभव, उसके बाद उसको कहने की इच्छा, उसके अनन्तर कण्ठ, तालु आदि में हलचल, तदनन्तर शब्द—इस प्रकार परम्परा से शब्द का अग्नि आदि बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने पर विजातीय से व्यावृत्त हुई वस्तु का ज्ञान भी अर्थापत्ति प्रमाण से हो जाता है। अतः दोनों प्रकार का प्रसज्य प्रतिषेध भी अन्य व्यावृत्त वस्तु रूप ही है और वही अपोह शब्द का अर्थ है। अपोह में अविनाभावी (नित्य) रूप से सम्बद्ध किसी लिङ्ग (हेतु) के न होने से, अर्थात् असन्निवृत्ति यानी अगोनिवृत्ति (गोभिन्न पदार्थों से निवृत्ति) के साथ नित्य (अविनाभूत) सम्बद्ध कोई लिङ्ग (हेतु) नहीं है। बौद्धों के मत में तादात्म्य-तदुत्पत्ति सम्बन्ध ही अविनाभाव है। अतः अन्य व्यवच्छेद रूप अपोह का किसी के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध संगत नहीं हो सकता।

यह जो कहा था कि अतीत-अनागत अर्थ वाले शब्दों का 'नद्यास्तीरे मोदकाः सन्ति'—नदी के तट पर मोदक (लड्डू) हैं—इत्यादि शब्दों से अर्थ के न रहने पर भी ज्ञान होता है, तब अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? किन्तु यह आशंका ठीक नहीं है। उन्हीं शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध माना गया है, जो शब्द अनाप्त-प्रणीत न हों, अर्थात् आप्त-प्रणीत शब्दों का ही अर्थ के साथ सम्बन्ध रहता है। कहीं क्वचित् किसी शब्द का अर्थ के साथ व्यभिचार देखकर (सम्बन्ध न देखकर) सर्वत्र ही शब्दार्थ का व्यभिचार समझ लेना उचित नहीं है। अन्यथा मरुमरीचिस्थलों में जल का आभास कराने वाले प्रत्यक्ष को अप्रमाण मान लेने पर वास्तविक जल में जल का ज्ञान कराने वाले प्रत्यक्ष को भी अप्रमाण मानना होगा। मरुमरीचिस्थल में बाधक होने से प्रत्यक्ष को अप्रमाण माना जाता है, यदि ऐसा कहो तो जल में जल का ज्ञान होने में भी वैसा ही बाधक उपस्थित हो सकता

सनेऽपि प्रत्यक्षस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। मरीचिषु बाधकसद्भावादप्रामाण्यं नैतस्येति चेदत्रापि तत्समानत्वात्। एतेन 'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्' इत्यादिकञ्चापास्तम्। अन्धस्य चक्षुष्मतश्चाभिन्नेऽपि विषये प्रतिभासभेदोपपत्तेः। दृश्यते हि पादपादौ विषयाभेदेऽपि दूरासन्नदेशादिसामग्रीविशेषवशात् प्रतिभासभेदविषयता। तथैव शाब्दप्रत्यक्षबोधयोरभिन्नविषयत्वेऽपि शब्देन्द्रियादिसामग्रीभेदात् स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदो न विरुद्धयते। तस्मात् 'शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते' इत्यादिकथनं निरर्थकमेव।

यदप्युक्तं कार्य्यकारणभावान्नातिरिक्तो वाच्यवाचकभाव इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, शब्दबुद्धिप्रतिबिम्बयोः कार्य्यकारणभावप्रतिषेधात्। किञ्च, यदि कार्य्यकारणभावे एव वाच्यवाचकभावस्तदा श्रोत्रज्ञाने भासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य कारणत्वात् तस्य वाचकोऽप्यस्तु। यथा शब्दो विकल्पस्य कारणं तथा परम्परया स्वलक्षणमपि कारणं भवति तदपि वाचकं भवेत्। तेनाबाधितप्रत्यये यद्यथा प्रतीयते तत्तथैव मन्तव्यम्। अबाधे शाब्दे प्रत्यये सामान्यविशेषात्मकतया बाह्यं घटादिकं प्रतिभासमानत्वात्तत्तथाभूतमेव मन्तव्यम्। अत एव मीमांसकैरपि जातिव्यक्त्यात्मकः एव शब्दार्थोऽभिप्रेतः। 'आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्' (१।३।३३) अत्र आक्रियते व्यक्तिरनयेति व्युत्पत्त्या जातिरेवाकृतिरभिप्रेता। तदुक्तं भट्टपादैः—

जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते यया। सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम्॥
तन्निमित्तञ्च यत्किञ्चित् सामान्यं शब्दगोचरम्। सामान्यमाकृतिर्जातिः शक्तिर्वा सोऽभिधीयताम्॥

यद्येकमेव वस्त्वनेकाकारं तर्हि तादृगेव शब्दोऽभिदधत्सामान्यमात्राभिधायी न स्यात्। न च कश्चिच्छब्दस्तादृशमर्थं भाषितुं शक्नोति। 'सामान्यांशानपोद्धृत्य पदं सर्वं प्रवर्त्तते' गोशब्दोच्चारणे व्यक्तयोऽभिधेयाः स्युः, ततश्चित्रखण्डमुण्डादि-

है, दोनों में स्थिति समान है। अतः 'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्' इत्यादि का निरास हो गया। अन्ध और आँख वाले व्यक्तियों के ज्ञानों के विषय में भेद न रहने पर भी उनके ज्ञान में भेद रहता ही है। हम देखते हैं कि वृक्षादि विषय के एक रहने पर भी दूर देश तथा समीप देश आदि सामग्री विशेष के कारण ज्ञान का भेद हो जाता है, उसी तरह शब्द ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान दोनों का अभिन्न विषय (एक विषय) रहने पर भी शब्द, इन्द्रिय आदि सामग्री के भेद से स्पष्ट ज्ञान तथा अस्पष्ट ज्ञान रूप ज्ञान के मानने में कोई विरोध नहीं है। अतः यह कथन निरर्थक है कि अन्धे को शब्द से तो ज्ञान हो जाता है, किन्तु वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि अन्धे को शब्द से जो ज्ञान होगा, वह अस्पष्ट होगा और आँख वाले को जो ज्ञान होगा, वह स्पष्ट होगा यही उन दोनों ज्ञानों में भेद है।

यह जो कहा था कि—कार्य-कारणभाव से अतिरिक्त वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध नहीं है, वह भी निःसार है। क्योंकि शब्द और बुद्धिप्रतिबिम्ब में कार्य-कारणभाव नहीं होता। दूसरी बात यह है कि यदि कार्य-कारणभाव जहाँ हो, वहीं वाच्यवाचकभाव रहेगा तो श्रोत्र ज्ञान में भासित होने वाला शब्द, अपने ज्ञान का कारण होने से, उसे उसका (ज्ञान का) वाचक भी कहना होगा। जैसे शब्द, विकल्प (ज्ञान) का कारण होता है, वैसे ही परम्परा से स्वलक्षण भी उसका कारक होता है। तब उसे भी (स्वलक्षण को भी) वाचक कहा जाय। अबाधित प्रत्यय में जो जैसा प्रतीत हो उसे वैसा ही मानना होगा। बाधरहित शाब्द ज्ञान में सामान्य विशेषण से बाह्य घटादि पदार्थों का ज्ञान होने से उन्हें वैसा ही समझ लेना चाहिये। इसीलिये मीमांसकों ने भी जाति (व्यक्तित्व) रूप ही शब्द का अर्थ माना है। "आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्"—(१।३।३३) यहाँ पर 'आक्रियते व्यक्तिः अनया' इस व्युत्पत्ति से जाति ही आकृति शब्द से उन्हें अभिप्रेत है। इसी बात को कुमारिल भट्ट इन श्लोकों से कहते हैं—

जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते यया। सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम्॥
तन्निमित्तञ्च यत्किञ्चित् सामान्यं शब्दगोचरम्। सामान्यमाकृतिर्जातिः शक्तिर्वा सोऽभिधीयताम्॥

जाति को ही आकृति कहते हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति (द्रव्य) का निरूपण किया जाता है। पृथक्-पृथक् पिण्डों (व्यक्तियों) में जो एकाकार बुद्धि का—कारण है, वही सामान्य (जाति) है। एकाकार बुद्धि को पैदा करने में निमित्तभूत जो सामान्य है, वह चाहे जाति कही जाय, चाहे आकृति कही जाय, चाहे शक्ति कही जाय, है सब एक ही, उसे शब्द का वाच्य मानने में किसी का वैमत्य नहीं है, विवाद तो केवल उसके स्वरूप में है। मीमांसकों के मतमें वह स्वरूप सामान्य, आकृति, जाति या शक्ति शब्द से बताया जाता है।

विशेषस्वरूपग्रहणाद्विचित्रा बुद्धिः स्यात्, न तथा बुद्धिर्भवति, किन्त्वेकाकारैव तु बुद्धिरुत्पद्यते। तेनाकृतिरेव शब्दार्थः। तेनैव गामानयेत्युक्ते सामान्ययुक्तां काञ्चिदेव व्यक्तिमानयति। व्यक्तिवाचकत्वे तु सर्वासां युगपदभिहितत्वादशेषानयनं भवेत्। या वा अभिधेया सैवानेया स्यात्। सामान्यग्रहणे तु पश्चाद्व्यक्तयः प्रतीयन्ते, आकृतिप्रत्ययस्य निमित्तान्तराभावात्। व्यक्तिप्रत्यये च पूर्वप्रतीतसामान्यनिमित्तत्वाज्जातिरेव शब्दार्थः। शास्त्रदीपिकाकारश्च—

आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां शक्त्यनेकत्वदोषतः। सन्देहाच्चरमज्ञानाच्चित्रबुद्धेरभावतः॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेकरूपप्रतीतितः। आकृतेः प्रथमज्ञानात्तस्या एवाभिधेयता॥
व्यक्त्याकृत्योरभेदाच्च व्यवहारोपयोगिता। लिङ्गसङ्ख्यादिसम्बन्धसामानाधिकरण्यधीः॥
सर्वं समञ्जसं ह्येतद्वस्त्वनेकान्तवादिनः।

वाक्यपदीयकारश्च—'सम्बन्धिभेदात् सत्तैवाभिद्यमाना गवादिषु। जातिः संप्रोच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः॥' अत एव सर्वत्र वस्तुबुद्धिरनुवृत्तिव्यावृत्त्यात्मकत्वेन द्वयात्मिकैव भवति। केवलविशेषात्मकत्वे सामान्यप्रतीतेर्निरालम्बत्वमेव स्यात्। नहि मरुमरीचिनिचयनीरप्रतीतिवत् सामान्यप्रत्ययोपमर्देन विशेषप्रतीतिर्न वा विशेषप्रत्ययबाधेन सामान्यप्रतीतिर्भवति। किन्त्वविरोधेन युगपदेवोभयप्रतीत्युदयो जायते। यदुक्तं सौगतैः—पूर्वापराननुस्यूतस्वलक्षणमात्रग्राहिप्रत्यक्षेण सामान्यं न गृह्यते, समानेषु गृहीतेषु तद्वृत्तिसाधारणरूपमवधार्य

यदि एक ही वस्तु अनेक आकार की है, तो शब्द, उसे उसी तरह बतावेगा, तब वह केवल सामान्य का अभिधायक (वाचक) न होगा। कोई भी शब्द उस प्रकार के अर्थ को नहीं बता सकता। "सामान्यांशानपोद्धृत्य पदं सर्वं प्रवर्तते" तब गोशब्द का उच्चारण करने पर उससे व्यक्ति अभिधेय (वाच्य) होगी। चित्र, खण्ड, मुण्ड आदि विशेष स्वरूपों का ग्रहण होने से विचित्र बुद्धि (ज्ञान) होने लगेगा, किन्तु वैसा होता नहीं, बल्कि एकाकार बुद्धि ही उत्पन्न होती है। अतः शब्द का अर्थ आकृति ही है। इसी कारण 'गाम् आनय'—गाय ले आओ—कहने पर सामान्य (जाति) से युक्त किसी एक व्यक्ति को ले आता है। लेकिन शब्द का अर्थ व्यक्ति मानने पर सभी व्यक्तियां युगपत् (एक साथ) अभिहित होने के कारण समस्त व्यक्तियों को लाना होगा, अथवा जो व्यक्तिविशेष अभिधेय (वाच्य) हुआ हो उसी को लाना होगा। किन्तु सामान्य (जाति) की प्रतीति होने के पश्चात् व्यक्तियों की प्रतीति होती है। आकृति की प्रतीति होने में किसी अन्य निमित्त के न होने से और व्यक्ति की प्रतीति में पूर्व प्रतीत हुआ सामान्य ही निमित्त बन जाने से शब्द का अर्थ जाति ही है। शास्त्रदीपिकाकार श्रीपार्थसारथी मिश्र भी इसी बात को इन श्लोकों में कहते हैं—

आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां शक्त्यनेकत्वदोषतः। सन्देहाच्चरमज्ञानाच्चित्रबुद्धेरभावतः॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेकरूपप्रतीतितः। आकृतेः प्रथमज्ञानात्तस्या एवाभिधेयता॥
व्यक्त्याकृत्योरभेदाच्च व्यवहारोपयोगिता। लिङ्गसंख्यादिसम्बन्धसामानाधिकरण्यधीः॥
सर्वं समञ्जसं ह्येतद् वस्त्वनेकान्तवादिनः।

वाक्यपदीयकार कहते हैं कि सम्बन्धि के भेद से भिन्न न होने वाली सत्ता को ही गो आदि में जाति शब्द से कहा जाता है, उसमें सभी शब्द व्यवस्थित हैं—

सम्बन्धिभेदात् सत्तैवाभिद्यमाना गवादिषु। जातिः सम्प्रोच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः॥

इसी कारण सर्वत्र वस्तुविषयक ज्ञान अनुवृत्ति तथा व्यावृत्ति रूप से दो प्रकार का ही होता है। केवल विशेषात्मक (विशेषरूप) मानने पर सामान्य ज्ञान (प्रतीति) निराश्रय ही हो जायगा। मरुमरीचिकासमूह में जलज्ञान के समान सामान्य प्रत्यय (ज्ञान) का उपमर्द (बाध) कर विशेष ज्ञान (प्रतीति) नहीं होता और न विशेष प्रत्यय (ज्ञान) का बाधकरके सामान्य ज्ञान (प्रतीति) होता है, किन्तु किसी का भी विरोध बिना किये एक साथ ही उभय प्रतीतियों (दोनों ज्ञानों) का उदय (उत्पत्ति) होता है। जैसा कि बौद्धों ने कहा है—पूर्वापराननुस्यूतस्वलक्षणमात्रग्राही प्रत्यक्ष से सामान्य का ग्रहण नहीं किया जाता। समान पदार्थों का ग्रहण करने पर तद्वृत्ति साधारण रूप का अवधारण कर सामान्य का ग्रहण किया जा सकता है, अतः सामान्य ज्ञान सापेक्ष है, किन्तु प्रथम दृष्टिपात मात्र से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान तो निरपेक्ष होता है, अतः वह कैसे उसका ग्रहण करा सकेगा। उसके पश्चात् होने वाले संस्पर्शशून्य विकल्प ज्ञानों के द्वारा सामान्य का ज्ञान होने पर भी उसकी सत्ता को वास्तविक नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार अनुमान तथा शब्द से भी सामान्य (जाति)

सामान्यं ग्रहीतुं शक्यत इति सापेक्षं तत्स्वरूपग्रहणम्, प्रथमाक्षिसन्निपातसमुद्गतं प्रत्यक्षं ज्ञानं तु निरपेक्षं कथं तद्ग्रहणाय प्रभवेत्। तत्पृष्ठभौविभिर्वस्तुसंस्पर्शशून्यैर्विकल्पैस्तु गृहीतस्यापि सामान्यस्य न परमार्थसत्त्वं सम्भवति। एवमनुमानं शब्दश्च न तत्साधयितुं शक्नुतः, तयोर्विकल्पविषयत्वेन वस्त्वग्राहकत्वात्। तेन न व्यक्तिभिन्नं सामान्यं सम्भवति। करतलगतानि बिल्वादीनि फलानि यथोपलभ्यन्ते, न तथा जातिव्यक्त्योर्भेदोऽवलोक्यते। यद्यतो व्यतिरिक्तं तत्तस्मिन्नगृह्यमाणेऽपि गृह्यते, घटादिव पटः। न च व्यक्तावनुपलभ्यमानायां जातिरुपलभ्यते, तेन तन्न ततो भिद्यते। यत्तु तद्वृत्तित्वात् सामान्यस्य तदग्रहेऽनुपलब्धिरिति तन्न, वृत्त्यनुपपत्तेरेव। तथाहि—सामान्यं प्रतिपिण्डं कार्त्स्न्येन भवत्येकदेशेन वा ? प्रथमे पिण्डान्तरेऽनुपलब्धिप्रसङ्गः। द्वितीये क्वचिदपि सामग्र्येण तदनुपलब्धिः, निरवयत्वेन तदंशानुपपत्तिश्च। एवं प्रत्येकं समाप्तस्य पुनरुत्पत्तिं विनाऽन्यत्र सामान्यस्य न सम्भवः। न चैव वृत्तिः क्वचिदस्ति। यदपि व्यक्तिषु सामान्यसमवायात्मिका वृत्तिरिष्यते, सापि चिन्त्या। यदुक्तम्—अयुतसिद्धानामाधार्य्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवाय इति, तद्विप्रतिषिद्धम्। अयुतसिद्धता च सम्बन्धश्चेति विप्रतिषिद्धयते। पृथक् सिद्धानि कुण्डवदरादीन्येव सम्बध्यन्ते। अयुतसिद्धे तु वस्तुनी तदेकत्वात् केन किं सम्बध्येत। द्रव्यगुणयोरपि तादृक्सम्बन्धवर्णनं तादृगेव, रूपादिभ्यो भिन्नत्वेन गुणिनोऽदर्शनात्। एवमेव नित्यानां परमाणूनां पृथग्गतिमत्त्वेऽयुतसिद्धिः, अनित्यानां तु युताश्रयिसमवायित्वम्। विभूनामाकाशादीनां तु सम्बन्धो नास्त्येवेत्यद्यापि निःसारम्, यतो नानात्वेन सिद्धिर्निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा युतसिद्धिरुच्यते। तद्विपर्य्ययादैक्येन सिद्धिरयुतसिद्धिरुच्यते। सत्यैक्ये सम्बन्धो दुर्वच एव। तदुक्तं भट्टैः—'नानिष्पन्नस्य निष्पत्तौ युतसिद्धता। परमाण्वाकाशयोः परमाणुकालयोश्च सम्बन्धो मन्यते, नाकाशकालयोरिति च स्वगोष्ठीनिष्ठप्रक्रियामात्रम्।'

की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि दोनों प्रमाण विकल्पविषयक होने से वस्तु के ग्राहक नहीं हैं। अतः व्यक्ति से भिन्न सामान्य—नामकी किसी वस्तु का होना संभव नहीं है। हथेली पर जैसे बेलफल आदि वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं, उस प्रकार से जाति-व्यक्ति का भेद देखने में नहीं आता। जो जिससे भिन्न होता है, वह उसके ग्रहण न किये जाने पर भी गृहीत होता है, जैसे पट घट से भिन्न है, अतः घट के ग्रहण न किये जाने पर भी पट का ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु व्यक्ति की उपलब्धि न होने पर जाति की उपलब्धि नहीं होती, अतः जाति को व्यक्ति से भिन्न नहीं कह सकते। यह जो कहा गया था कि व्यक्ति का ग्रहण न किये जाने पर व्यक्तिवृत्ति सामान्य का ग्रहण नहीं हो सकेगा। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्य का व्यक्तिवृत्ति होना उपपन्न नहीं हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य का जो वृत्तित्व है, वह व्यक्ति में पूर्णतया है अथवा व्यक्ति में एक देश से (अंशतः) है ? यदि प्रथम पक्ष माना जाय तो अन्य व्यक्ति (पिण्डान्तर) में उसकी अनुपलब्धि का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि द्वितीय पक्ष माना जाय तो कहीं पर भी समग्रतया उसकी उपलब्धि नहीं होगी। तथा सामान्य तो निरवयव है, अतः उसका अंश होना उपपन्न नहीं हो सकता। उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में (सम्पूर्णतया रहने से) समाप्त हुए सामान्य की दूसरी व्यक्ति में वृत्ति तभी हो सकती है, जब उसकी पुनः उत्पत्ति हो। किन्तु उसकी ऐसी वृत्ति कहीं भी नहीं है। यद्यपि व्यक्तियों में सामान्य की समवायात्मिका वृत्ति कही जाती है, किन्तु वह चिन्तनीय है। यह जो कहा था कि आधार्याधारभूत अयुतसिद्ध पदार्थों का इहप्रत्ययहेतुभूत सम्बन्ध समवाय होता है। किन्तु यह तो परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि एक ओर अयुतसिद्धता कहना और दूसरी ओर उसका सम्बन्ध बताना यह कैसे हो सकता है ? अतः वह विरुद्ध है। परस्पर पृथक् रहनेवाले कुण्ड-बदर जैसे पदार्थों का ही सम्बन्ध होता है। अयुतसिद्ध दो वस्तुएँ तो एक ही समझी जाती हैं, तब कौन किससे सम्बद्ध होगा ? द्रव्य-गुण का समवाय सम्बन्ध कहना भी पूर्वोक्त दोषों से दूषित है, क्योंकि रूपादि गुणों से गुणी (द्रव्य) का अलग होना नहीं देखा गया है। उसी प्रकार नित्य परमाणुओं को पृथक् गतिमान् मानने पर वे अयुतसिद्धि होंगे और अनित्य पदार्थों का युताश्रयित्व रूप समवायित्व होगा और आकाशादि विभुपदार्थों का सम्बन्ध तो होता ही नहीं। वैशेषिकों का यह कथन अद्यापि निःसार है, क्योंकि वैशेषिक लोग नानात्वेन पदार्थों की सिद्धि, निष्पत्ति, अथवा ज्ञप्ति को युतसिद्धि कहते हैं। उसके विपरीत ऐक्येन (एकरूप में) सिद्धि को अयुतसिद्धि कहते हैं। अतः ऐक्य रहने पर सम्बन्ध कहना असंभव ही है। भट्टपाद ने कहा है—'अनिष्पन्न की निष्पत्ति में युतसिद्धता नहीं होती। परमाणु और आकाश का तथा परमाणु और काल का सम्बन्ध माना जाता है, लेकिन आकाश और काल का सम्बन्ध नहीं माना जाता। यह सब वैशेषिकों की अपने घर की कल्पनाएँ' हैं।

केचित्तु रूपरूपित्वलक्षणं जातिव्यक्त्योः सम्बन्धमाचक्षते, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—रूपशब्दः शुक्लादिबोधकः, आकारबोधकः, स्वभाववचनो वा। प्रथमे पवनमनःप्रभृतिद्रव्याणां गुणकर्मणां च जातिहीनता स्यात्। द्वितीये निरवयवानां गुणादीनां निःसामान्यतापत्तिः। तृतीये जातिव्यक्त्योरव्यतिरेकापत्तिः स्यात्। तदुक्तम्—'अवभाति हि भेदेन स्वभावो न स्वभाविनः' इति। अपि च, रूपं वस्त्वेव वस्तुधर्मो वा वस्त्वन्तरं वा? नान्त्यः, तथाऽप्रतिभानात्। वस्तुधर्मोऽपि न वस्तुव्यतिरेकेण भाति, अव्यतिरेके सम्बन्धरूपतानुपपत्तिः।

किञ्चेयं जातिः सर्वसर्वगता पिण्डसर्वगता वा? प्रथमे कर्कादावपि गोबुद्ध्यापत्तिः, गजादिषूष्ट्रबुद्धिरपि स्यात्। तथा सति पदार्थसाङ्कर्यमेव स्यात्। यदि तु व्यक्तिसामर्थ्यनियमान्न साङ्कर्यम्, कर्कादिपिण्डानां गोत्वादिव्यञ्जकत्वाभावात्। तदा खण्डमुण्डादिपिण्डानामप्यनंशगोत्वव्यञ्जकत्वानुपपत्तिः। तस्मात् सर्वगतत्वे सर्वत्रैव प्रतीयेत सर्वगतत्वं वा जह्यात्, पिण्डदेशग्रहणे नियामकाभावात्। किञ्च, पिण्डस्य दीपवद्व्यञ्जकत्वे तद्देशस्थतासिद्धिः। पिण्डसर्वगतत्वे यद्यप्येतानि दूषणानि नोन्मिषन्ति, तथापि सद्यो जातायां गवि गोत्वानुभवानापत्तिः। अजाते पिण्डे जातिर्न भवति, जाते च भवति, न चान्यतः सा संक्रामति, निष्क्रियत्वात्। पूर्वपिण्डं च नोज्झति, न चांशैर्वर्तते, निरंशत्वात्; इत्यादिकमप्यपास्तम्, अनुवृत्तिबुद्धिनिरालम्बतापत्तेः। न च भ्रान्तिरेव सा, बाधाभावेन दृढप्रत्ययत्वात्। नह्यत्र मरुमरीचिनिचयनीरप्रतीतिवत् सामान्यप्रत्ययबाधेन विशेषप्रत्ययो जायते, न वा विशेषबाधेन सामान्यप्रत्ययः, किन्त्वविरोधेन युगपदुभयाभासः। तेन यदि सौगतवत् स्वलक्षणमेव वस्तु स्यात्तदा तन्नोपपद्येत। यदि वेदान्तिवत् सामान्यात्मकमेव वस्तु स्यात्तदा व्यावृत्तिबुद्धिर्न स्यात्।

कुछ लोग विकल्प की उपपत्ति न हो पाने से जाति-व्यक्ति में रूप-रूपित्वलक्षण सम्बन्ध कहते हैं। उसी का उपपादन करते हैं—रूप शब्द, शुक्ल आदि का बोधक है या आकार का बोधक है, या स्वभाव का वाचक है? प्रथम पक्ष में पवन, मन आदि द्रव्य तथा गुण और कर्मों में जातिहीनता का प्रसंग आवेगा। दूसरे पक्ष में निरवयव गुणादि में निःसामान्यता होगी और तीसरे पक्ष में जातिव्यक्ति दोनों में अभेदापत्ति होगी। कहा भी है—"अवभाति हि भेदेन स्वभावो न स्वभाविनः"। स्वभावी से स्वभाव की भेदेन अर्थात् पृथक् प्रतीति नहीं होती। दूसरी बात यह है कि रूप वस्तु ही है या वस्तु का धर्म है, या वस्त्वन्तर, यानी अलग एक पृथक् वस्तु है? अलग से एक पृथक् वस्तु के रूप में 'रूप' की प्रतीति न होने के कारण अन्तिम पक्ष ठीक नहीं है। द्वितीय पक्ष वस्तु-धर्म कहें तो वस्तु से अलग उसकी प्रतीति नहीं होती, अलग प्रतीति न होनेपर सम्बन्धरूपता नहीं बन पाती। प्रथम पक्ष में भी यही दोष है।

किञ्च, यह जाति, समस्त पदार्थों में व्याप्त है या किसी एक पदार्थ में व्याप्त है? प्रथम पक्ष में केंकडे (कर्क) में भी गोबुद्धि होगी, हाथी (गज) में उष्ट्र (ऊँट) बुद्धि होगी। वैसा होने पर पदार्थसाङ्कर्य ही होगा। यदि यह कहा जाय कि व्यक्तिसामर्थ्य के नियम से साङ्कर्य नहीं हो सकेगा, अतः कर्क आदि पदार्थ गोत्व के अभिव्यञ्जक नहीं होंगे। तब खण्ड मुण्ड आदि व्यक्ति विशेष भी अनंश गोत्व के व्यंजक नहीं बन पायेंगे। एवञ्च सर्वगतत्व पक्ष में सर्वत्र ही या तो प्रतीति होगी या अपने सर्वगतत्व का त्याग करेगी। पिण्डदेश (व्यक्तिविशेष) के ग्रहण करने के पक्ष में कोई नियामक नहीं है। किञ्च, पिण्ड को दीपक की तरह व्यञ्जक यदि माने तो पिण्डदेशस्थता (अर्थात् पिण्डसर्वगतत्व) सिद्ध हो सकेगी। पिण्डसर्वगतत्व पक्ष में यद्यपि ये दूषण उपस्थित नहीं हो पाते, तथापि सद्योजात गौ में गोत्व का अनुभव नहीं हो सकेगा। अनुत्पन्न पिण्ड में जाति नहीं होती, उत्पन्न पिण्ड में ही जाति होती है। वह (जाति) निष्क्रिय होने में एक से दूसरी जगह संक्रमण नहीं करती, पूर्वपिण्ड का त्याग नहीं करती, निरंश (निरवयव) होने से वह अंशतः भी नहीं रहती, इत्यादि दूषणों का भी निरसन हुआ। उसे न मानने पर अनुवृत्ति बुद्धि को निरालम्ब (आधारहीन) कहना होगा। उसे भ्रान्ति भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका बाध न होने से उसमें दृढ़ प्रत्यय होता है। यहाँ पर मरुमरीचिसमूह में नीर (जल) की प्रतीति की तरह सामान्य प्रत्यय (ज्ञान) का बाध होकर विशेष प्रत्यय (ज्ञान) नहीं होता और न ही विशेष प्रत्यय (ज्ञान) का बाध होकर सामान्य प्रत्यय होता है, किन्तु अविरोधेन युगपत् दोनों का आभास होता है। अतः यदि सौगत (बौद्धों) की तरह स्वलक्षण ही वस्तु हो, तब वह उपपन्न न होगा और यदि वेदान्तियों की तरह सामान्यात्मक ही वस्तु हो, तब व्यावृत्तिबुद्धि न होगी।

यदुक्तम्—तदेव सामान्यं स एव विशेषः, तदेवैकं तदेव नाना, तदेव नित्यमनित्यम्, तदेवास्ति नेति, दृष्टं चादृष्टमिति, तन्न युक्तम्, विरोधात्। ननु दृष्टत्वान्न विरोध इति चेन्न, अदृष्टत्वात्, नेत्रधीर्नानुवृत्तग्राहिणीत्युक्तत्वात्। विचित्रविकल्पवासनोपप्लुतबुद्धयस्तथा पश्यन्ति। तस्मात् स्वलक्षणं वस्तुनो रूपं सामान्यं तु कल्पनामयम्। न नेति प्रत्ययादेव बाध्यत्वमिथ्यात्वादिकं निश्चीयते, किन्तु परीक्षया युक्तिविशरणेनापि मिथ्यात्वादिकं प्रतिपत्तव्यम्। न चैकः सकलवस्तुनिर्विकल्पकगोचरो भवति, व्यक्त्यन्तरानुसन्धानमन्तराऽनुवृत्तिबुद्धयनुपपत्तेः। एकार्थक्रियाकारित्वेन सामान्यव्यवहारस्तूक्त एव। सत्तादिसामान्यानि निःसामान्यानीत्यभ्युपगम्यते परैरपि। यथा तत्र औपाधिकोऽनुगतप्रत्ययस्तथा प्रकृतेऽपि बोध्यम्।

यदुक्तम्—'यदेव वाहदाहादिकार्यमेकेन जन्यते। गोपिण्डेन तदेवान्यैरिति तेष्वनुवृत्तिधीः॥' ननु प्रतिव्यक्ति कार्यं भिन्नमेवेति चेत्तथापि कर्कादिकार्याद्यथा शावलेयादिकार्यस्य भिन्नत्वं तथा खण्डकार्यस्य मुण्डकार्य्याद्भिन्नता नोपलभ्यते। यद्वा दर्शनमेव तयोरेकं कार्य्यम्। ननु दर्शनमपि प्रतिव्यक्ति भिन्नमेवेति चेन्न, स्वपृष्ठभाविप्रत्यवमर्शैक्यात्तदेकत्वोक्तेः सामञ्जस्यात्। तथा च गौरिति प्रत्यवमर्शस्तु खण्डमुण्डादिष्वेक एव भवति। तदुक्तम्—'एकप्रत्यवमर्शस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी। एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामपि भिन्नता॥'

ननु सामान्याभ्युपगममन्तरा सम्बन्धग्रहणाधीनजन्मनोः शब्दानुमानयोः कथं प्रवृत्तिः ? न च व्यक्तिषु सम्बन्धग्रहस्तासामानन्त्यात्। न चैकस्यामेव व्यक्तौ सम्बन्धग्रहः, व्यक्त्यन्तरेषु शब्दाप्रवृत्त्यापातात्। न चागृहीतसम्बन्धे शब्दलिङ्गे

यह जो कहा था कि वही सामान्य है और विशेष भी वही है, वही एक है और अनेक भी वही है, वही नित्य है और अनित्य भी वही है, वही है और नहीं भी, इसे देखा है और उसे कभी देखा नहीं है, इस प्रकार कहना परस्पर विरुद्ध होने से उचित नहीं है। यदि कह दें कि दृष्ट होने से विरोध नहीं है, तो वह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि ऐसा कहीं देखा नहीं गया। चाक्षुष ज्ञान (प्रत्यक्ष) अनुवृत्त का ग्राहक नहीं होता, यह कह चुके हैं। विचित्र-विकल्प वासनाओं से पूर्ण बुद्धिवाले लोग वैसा देखा करते हैं। अतः वस्तु का स्वरूप तो स्वलक्षण ही है और सामान्य कल्पनामय है। केवल 'न' इस ज्ञान से ही बाध्यत्व, मिथ्यात्व आदि का निश्चय नहीं किया जाता, किन्तु परीक्षा के द्वारा या युक्ति के कुण्ठित होने से भी मिथ्यात्व आदि का ज्ञान हो जाता है। व्यक्त्यन्तर का अनुसन्धान किये बिना अनुवृत्ति-बुद्धि न हो पाने से कोई एक वस्तु संपूर्णतया निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं होती। सामान्य व्यवहार एक अर्थक्रियाकारी होने से होता है, यह पहले बता चुके हैं। सत्तादि सामान्य का निःसामान्य (सामान्य शून्य) होना परपक्षियों ने भी स्वीकार किया है। सत्ता में सत्ता का न रहना और जाति में जाति का न रहना आदि सिद्धान्त सर्वसम्मत है। जैसे वहाँ औपाधिक अनुगत-प्रत्यय होता है, वैसा प्रकृत में भी (जातिवादी के यहाँ भी) समझ लेना चाहिये। कहा भी है—

'यदेव वाहदाहादिकार्यमेकेन जन्यते। गोपिण्डेन तदेवान्यैरिति तेष्वनुवृत्तिधीः॥

अर्थात् एक बैल जैसे भार वहन करता है, वैसे ही दूसरा बैल भी; एक अग्नि जैसे जलाने का काम करती है, वैसे ही दूसरी भी। इसीलिये चाहे जैसी अग्नि हो उसमें अग्नि अग्नि ऐसा एक रूप से अनुवृत्त ज्ञान होता है, ऐसे ही बैल आदि में समझना चाहिये। यदि कहें कि प्रत्येक व्यक्ति का कार्य तो भिन्न ही होता है, तथापि जैसे कर्कादि के कार्य से शावलेयादि के कार्य की भिन्नता होती है, वैसे खण्ड गौ के कार्य से मुण्ड गौ के कार्य की भिन्नता नहीं उपलब्ध होती। अथवा उन दोनों का दर्शन ही एक कार्य है। यदि कहें कि दर्शन भी प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न-भिन्न होता है, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि दर्शन के पश्चात् होने वाला प्रत्यवमर्श एक सा होता है। इसलिये उन दोनों का दर्शनरूप कार्य एक ही बताया गया है। क्योंकि खण्ड-मुण्डादि गौओं में 'गौः' इस तरह का प्रत्यवमर्श एकाकार ही होता है। कहा भी है—

"एकप्रत्यवमर्शस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी। एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामपि भिन्नता॥"

सामान्य (जाति) को माने बिना सम्बन्धज्ञान से ही होने वाले शब्द और अनुमान की प्रवृत्ति कैसे होगी? व्यक्तियों के अनन्त होने से उनमें सम्बन्धज्ञान हो नहीं सकता। किसी एक व्यक्ति में ही सम्बन्धज्ञान नहीं माना जा सकता, क्योंकि अन्य व्यक्ति में गो आदि शब्द की प्रवृत्ति नहीं होगी। सम्बन्धग्रह न रहने पर उसका ज्ञान शब्द तथा लिङ्ग (हेतु) से नहीं होता। यह कथन भी ठीक

प्रतीतिमुत्पादयत इति चेन्न, शब्दानुमानयोर्विकल्पविषयत्वेन विकल्पस्य चावस्तुविषयत्वेन तददोषात्। ननु विकल्पानामपि कश्चिदनुगतो विषयोऽभ्युपेयः, अन्यथा तयोरुच्छेद एव स्यादिति चेन्न, अपोहस्यानुगतस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः। वस्तुभूतस्य सामान्यस्यासत्त्वेऽप्यतद्रूपपरावृत्तिस्वभावमबहिर्गति बहिस्थमिव किञ्चित् कल्पनामयं सामान्यमालम्ब्यैव शब्दानुमाने प्रवर्तेते। तदेवापोहादिशब्दितं सर्वविकल्पानां वाचां च भूमिः। तदुक्तम्—

अतद्रूपपरावृत्ति स्वभावमबहिर्गतम्। बहिस्थमिव सामान्यमालम्ब्येत विकल्पकः॥
या च भूमिर्विकल्पानां स एव विषयो गिराम्। अत एव हि शब्दार्थमन्यापोहं प्रचक्षते॥

स्वलक्षणस्यार्थस्य प्रत्यक्षमात्रग्राह्यत्वेन न तद्विकल्पग्राह्यम्। तदप्युक्तम्—

एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्। कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते॥

तेन भ्रमनिमित्तसमारोपिताकारनिषेधायैव तेषां प्रवृत्तिर्वाच्या। यथा रूपसाधर्म्यात् समारोपितरजताकारनिवृत्तये शुक्तौ नेदं रजतमिति प्रमान्तरं प्रवर्तते, तथैव शावलेयादिस्वलक्षणे निर्विकल्पेन सर्वात्मना परिच्छिन्ने कुतश्चिन्निमित्तात् कल्पितमगोरूपमेव व्यवच्छिन्दन्ति विकल्पाः—अगौर्न भवतीति, न तु गोरिति गोस्वलक्षणग्रहणे तेषां व्यापारः, तस्य प्रागेव गृहीतत्वात्।

यदुच्यते—विविधविशेषणोपप्लुतस्य वस्तुनः किञ्चिद्विशेषणं प्रत्यक्षेण गृहीतं किञ्चिद्विकल्पैर्गृह्यत इति चेन्न, तथाभूतस्यापि वस्तुनस्तद्विशेषणोपकारशक्तिव्यतिरिक्तात्मनोऽनुपलम्भेन तदभेदे तद्विशेषणोपकार्यस्यवस्तुस्वरूपग्रहणवेलायामेव गृहीतत्वात्तच्चित्रग्रहणासिद्धेर्विकल्पान्तराणामानर्थक्यात्। तदुक्तमेव—'नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे। सर्वात्मनोपकार्य्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः॥' तेनापोहविषया एव शब्दा इति।

नहीं, क्योंकि शब्द और अनुमान विकल्प विषयक होते हैं और विकल्प अवस्तुविषयक होता है, इसलिये कोई दोष नहीं है। यदि कहें कि विकल्पों का भी कोई अनुगत विषय मानना चाहिये, अन्यथा शब्द और अनुमान का उच्छेद ही हो जायगा। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुगत अपोह ही उसका विषय है। वस्तुभूत सामान्य के न होने पर भी अतद्रूप परावृत्तिस्वभाव तथा बहिर्गति रहित बाह्य वस्तु की तरह किसी कल्पनामय सामान्य का आलम्बन करके ही शब्द और अनुमान प्रवृत्त होते हैं। उसी को अपोह शब्द से कहा जाता है, जो समस्त विकल्प और वाणी (शब्दों) का विषय है। यही बात इन दो श्लोकों में कही गई है—

अतद्रूपपरावृत्तिस्वभावमबहिर्गतम्। बहिस्थमिव सामान्यमालम्ब्येत विकल्पकः॥
या च भूमिर्विकल्पानां स एव विषयो गिराम्। अत एव हि शब्दार्थमन्यापोहं प्रचक्षते॥

स्वलक्षण पदार्थ तो केवल प्रत्यक्षग्राह्य होने से विकल्प का विषय नहीं है। कहा भी है—

एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्। कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते॥

इसलिये भ्रम के कारण आरोपित आकार के निषेध के लिये ही उनकी प्रवृत्ति कहनी चाहिये। जैसे रूपसादृश्य के कारण आरोपित रजताकार की निवृत्ति के लिये शुक्ति में यह रजत नहीं है (शुक्तौ नेदं रजतम्) यह प्रमान्तर (दूसरा ज्ञान) प्रवृत्त होता है, उसी तरह शावलेयादि स्वलक्षण (व्यक्ति) जो निर्विकल्पक के द्वारा सर्वात्मना निश्चत रूप से ज्ञात है, उसमें किसी कारण से कल्पित अगोरूप (गो से भिन्नरूप) का ही निरास विकल्प किया करते हैं। अर्थात् 'गाय से भिन्न नहीं हो' इस प्रकार से निरास करते हैं। स्वलक्षण गोव्यक्ति के ग्रहण में उनका व्यापार नहीं होता, क्योंकि उसका ग्रहण तो पहिले ही हो चुका होता है।

यह जो कहा था कि अनेक प्रकार के विशेषणों से विशिष्ट वस्तु के किंचित् विशेषण प्रत्यक्ष से गृहीत होते हैं और कुछ विशेषण विकल्पों से गृहीत होते हैं। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। (वस्तु के) विशेषणोपकार शक्ति से व्यतिरिक्त उस प्रकार का वस्तु के अनुपलम्भ से उसका (वस्तु का) अभेद प्रतीत होता है। तब वह अपने विशेषणों से उपकृत होता है, क्योंकि वस्तु के स्वरूप का ग्रहण करते समय ही उसका ग्रहण किया जाता है। जिससे चित्र (विलक्षणता का) ग्रहण नहीं होता, अतः उसके लिये विकल्पान्तरों को स्वीकार करना व्यर्थ है। कहा भी है—

तत्रोच्यते—कोऽयमपोहो नाम ? अभावश्चेत्, न स घटवत् स्वातन्त्र्येणोपलभ्यते, तस्यान्याश्रितत्वेनैवोपलम्भात्। कश्च तदाश्रयः ? स्वलक्षणमेव तदाश्रय इति चेन्न, तस्य विकल्पानाश्रयत्वाभ्युपगमविरोधात्। न वा शाबलेयत्वादिकमवान्तर-सामान्यं तदाश्रयः, यतो हि तद् अशाबलेयनिवृत्तेराश्रयतां प्रतिपद्यते। नहि अशाबलेयो न भवतीति गौः, किन्तु शाबलेय इत्येव भवति। शाबलेयव्यावृत्तिर्हि गोष्वपि बाहुलेयादिष्वस्ति। अत एव अशाबलेयस्यापोहो शाबलेयो भवति, न गौः, अशाबलेयव्यावृत्तेर्बाहुलेयादिषु गोष्वपि सत्त्वात्।

ननु शाबलेयादिस्वलक्षणसमुदायोऽगोव्यावृत्तेराश्रय इति, चेन्न, समुदायिव्यतिरेकेण समुदायानुपलम्भात्, समुदायिनाञ्च स्वलक्षणानां देशकालादिभेदेनानन्त्याद्वर्गीकरणं न संभवति। तेन सोऽपि न तदाश्रयः। तस्मात् सर्वसाधारणं प्रतिपिण्डं पर्याप्तं किमप्यन्यदेवागोव्यावृत्तेराश्रयो वक्तव्यः। तच्च गोत्वमेव।

प्रकारान्तरेणापोहनिरासः

यदुक्तम्—स्वलक्षणमेव वस्तु न सामान्यलक्षणम्, तस्य विकल्पत्वात्। पूर्वं वस्तुनो रूपमितरत् कल्पनामयम्। येष्वनुगतं तत्सामान्यं तेषु बुद्ध्यानुसन्धीयमानेषु तद्वृत्तिसामान्यग्रहणसम्भवान्न चानुसन्धानसामर्थ्यं बुद्धेरस्ति। 'अत एव न ते सम्यगक्षज-ज्ञानवेदिनः। अभेदवृत्तिप्रत्यक्षमाहुरद्वैतवाञ्छया॥' तस्माद्भेदविषयत्वात्प्रत्यक्षस्य न तद्गतं सामान्यं गृह्यते। न च जातिलक्षणे सामान्येऽपह्नुतेऽनुगतप्रत्ययस्य निरालम्बनत्वमिति वाच्यम्, तस्य विकल्पमात्रत्वात्। विकल्पाश्च तात्पर्याधीनजन्मानः। यथा

"नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे। सर्वात्मनोपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः॥

अतः शब्दों का विषय अपोह ही है।

किन्तु यह पूरा बौद्धों का मत अत्यन्त असंगत है। इन्हें यह पूछा जा सकता है कि यह अपोह कौन वस्तु है ? यदि उसे अभाव कहें तो वह घट की तरह स्वतन्त्ररूप से उपलब्ध नहीं होता, उसकी उपलब्धि अन्याश्रित होकर ही होती है। तब उसका आश्रय कौन है ? यदि स्वलक्षण को ही उसका आश्रय कहें तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'वह (स्वलक्षण) विकल्प का आश्रय नहीं होता' आपके इस सिद्धान्त से विरोध होगा। उसी तरह शाबलेयत्व आदि अवान्तर सामान्य को भी उसका आश्रय नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा कहने से अशाबलेय की निवृत्ति ही उसका आश्रय हो जायगी, लेकिन गौ अशाबलेय नहीं होती, ऐसी बात नहीं है, बल्कि शाबलेय गौ है इस प्रकार कहा जाता है। शाबलेय से व्यावृत्ति बाहुलेय गौ आदि में भी होती है। इसीलिये अशाबलेय का अपोह शाबलेय होता है, गाय (गौ) नहीं, क्योंकि बाहुलेय आदि गौओं में भी अशाबलेय की व्यावृत्ति रहती है।

यदि कहें कि अगोव्यावृत्ति का आश्रय शाबलेयादि स्वलक्षण समुदाय है, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि समुदायी से पृथक् समुदाय की उपलब्धि नहीं होती और समुदायी स्वलक्षणों का देशभेद तथा कालभेद के कारण आनन्त्य होने से वर्गीकरण होना भी संभव नहीं। इसलिये वह उसका आश्रय नहीं हो सकता। अतः सर्वसाधारण तथा प्रतिव्यक्ति में पर्याप्त होनेवाले किसी अन्य को ही अगोव्यावृत्ति का आश्रय कहना होगा, वह गो ही हो सकता है।

दूसरे प्रकार से अपोह का खण्डन

यह जो कहा था कि स्वलक्षण ही वस्तु है, सामान्यलक्षण नहीं, क्योंकि वह तो विकल्परूप है (वस्तु रूप नहीं है)। स्वलक्षण ही वस्तु का रूप है और दूसरा सामान्यलक्षण तो कल्पनामय है। वह सामान्य जिनमें अनुस्यूत (अनुगत) होता है, बुद्धि के द्वारा उनका अनुसन्धान किये जाने पर उनमें रहने वाले सामान्य का ग्रहण करना सम्भव नहीं होता, क्योंकि बुद्धि में अनुसन्धान करने का सामर्थ्य नहीं है। कहा भी है—

अत एव न ते सम्यगक्षजज्ञानवेदिनः। अभेदवृत्तिप्रत्यक्षमाहुरद्वैतवाञ्छया॥

अतः प्रत्यक्ष भेदविषयक होता है। इस कारण उसमें रहने वाले सामान्य का ग्रहण नहीं होता। जातिरूप सामान्य के न मानने पर गो, गो, गो, गो इस रूप से अनुगत प्रत्यय प्रत्येक गाय में होने वाला एकाकार ज्ञान किस आधार पर होगा, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह विकल्पमात्र है, अर्थात् वस्तुरहित ज्ञानमात्र है। विकल्प की सत्ता तो तात्पर्य पर निर्भर होती है। जैसे पर सत्ता अपर

सत्तादिपरापरेषु विविधसामान्येषु सामान्यान्तरं नाभ्युपेयत इति निःसामान्यानि तानि । औपाधिक एवैष्वनुगतविकल्पः । न च तर्हि गवादिषु कमुपाधिमवलम्ब्यानुगतप्रत्यय इति वाच्यम्, एकार्थक्रियाकारित्वस्योपाधेरेव च तत्र सत्त्वात् । तदुक्तम्—'यदेव वाहदोहादि कार्यमेकेन जन्यते । गोपिण्डेन तदेवान्यैरिति तेष्वनुवृत्तिधीः ॥' ननु प्रतिव्यक्ति कार्यं भिन्नमेवेति सत्यम्, भेदबुद्धिभयात्तदेकमित्युपचर्यते । 'कर्कादिकार्यभिन्नत्वं यथा ह्येतस्य दृश्यते । न तथा खण्डकार्याणां मुण्डकार्याद्विभिन्नता ॥' ननु खण्डमुण्डयोः कार्यमपि नाभिन्नमिति चेन्न, दर्शनलक्षणस्य कार्यस्यैकत्वात् । ननु दर्शनमपि प्रतिव्यक्ति भिन्नम्, सत्यम्, तथापि स्वपृष्ठभाविपरामर्शैक्यात् तदेकत्वव्यपदेशात् । यथा खण्डमुण्डादिपिण्डदर्शनेऽपि गौरित्येव परामर्श इति तदेकत्वम् । तस्मान्न सामान्यं किञ्चिद्वस्तुतत्त्वम् ।

ननु सामान्येऽनङ्गीक्रियमाणे सम्बन्धग्रहणाधीनजन्मनोः शब्दानुमानयोः कथं प्रवृत्तिः ? व्यक्तीनामानन्त्येन तासु सर्वासु सम्बन्धग्रहणासम्भवः, कस्याञ्चित्तद्ग्रहेऽप्यन्यत्र तत्प्रवृत्त्यसम्भवः । न चागृहीतसम्बन्धे शब्दलिङ्गे तत्प्रतीतिमुत्पादयितुं शक्नुतः, इति चेन्न, प्रत्यक्षविषये स्वलक्षणे शब्दानुमानयोरप्रवृत्तेः । तदुक्तम्—'विकल्पविषये वृत्तिरिष्टा शब्दानुमानयोः । अवस्तुविषयाश्चैते विकल्पा इति वर्णितम् ॥' ननु विकल्पविषयोऽपि कश्चिदनुगतोऽङ्गीकर्तव्यः, अन्यथा शब्दानुमाने निरालम्बने स्यातामिति चेत्, शृणु, अपोहस्यैव तदालम्बनतासम्भवात् । सोऽपि न वास्तवः । 'अतद्रूपपरावृत्तिस्वभाव-

सत्ता आदि अनेक प्रकार की सत्ता-जातियों में कोई दूसरी सत्ता-जाति नहीं मानी जाती, क्योंकि जाति में जाति नहीं रहती, यह सिद्धान्त है। अतः पर, अपर आदि सत्ताओं में जो सत्ता, सत्ता, सत्ता इस प्रकार का एक रूपज्ञान होता है, वह उपाधि के कारण ही होता है। यह वास्तव में है विकल्प ही। तब गो आदि पदार्थों में किस उपाधि से वह अनुगत प्रत्यय होता है? यदि कोई पूछे तो उसका उत्तर सरल है कि एकार्थक्रियाकारित्व रूप उपाधि वहाँ होने से वह अनुगत प्रत्यय वहाँ हुआ करता है। यही बात इस श्लोक में भी कही गई है—

यदेव वाहदोहादिकार्यमेकेन जन्यते । गोपिण्डेन तदेवान्यैरिति तेष्वनुवृत्तिधीः ॥

यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना अपना कार्य भिन्न-भिन्न ही होता है, किन्तु भेद-बुद्धि के भय से उसे एक कह दिया जाता है। कहा भी है—

कर्कादिकार्यभिन्नत्वं यथा ह्येतस्य दृश्यते । न तथा खण्डकार्याणां मुण्डकार्याद्विभिन्नता ॥

इस पर भी यदि कहें कि खण्ड-मुण्ड आदि का कार्य भी अभिन्न नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि दर्शन रूप कार्य की एकता दिखाई पड़ती है। इस पर भी यदि कहें कि प्रत्येक व्यक्ति का दर्शन भी भिन्न-भिन्न होता है, किन्तु उसके पश्चात् होनेवाला परामर्श भिन्न-भिन्न न होकर एक होता है, इसलिये दर्शनरूप कार्य को एक कहा गया है। जैसे खण्ड-मुण्डादि व्यक्तियों को देखने पर भी उनमें 'गौः'=गाय इस प्रकार का ही एक सा परामर्श होता है, इसलिये दर्शन और परामर्श यह सब एक ही है, भिन्न भिन्न नहीं। अतः सामान्य नाम की कोई वास्तविक वस्तु नहीं है।

सामान्य को स्वीकार न करने पर सम्बन्धज्ञान पर निर्भर रहने वाले शब्द और अनुमान प्रमाणों की प्रवृत्ति कैसे होगी? व्यक्तियों की असंख्यता के कारण उन सब में सम्बन्ध ग्रहण का होना सम्भव नहीं। यदि किसी एक व्यक्ति में सम्बन्ध ग्रहण हो भी जाय, तो उससे भिन्न दूसरी व्यक्ति में शब्द प्रवृत्ति होना असम्भव होगा। शब्द ग्रहण बिना किये ही शब्द या अनुमान (लिङ्ग) उसकी (व्यक्ति की) प्रतीति नहीं करा सकते। किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष के विषय स्वलक्षण में शब्द और अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। कहा भी है—

विकल्पविषये वृत्तिरिष्टा शब्दानुमानयोः । अवस्तुविषयाश्चैते विकल्पा इति वर्णितम् ॥

यदि कहें कि सर्वत्र अनुगत रहने वाले किसी विकल्प विषय को भी मान लिया जाय, अन्यथा शब्द और अनुमान तो निरालम्बन हो जायेंगे। यह कथन ठीक नहीं होगा, क्योंकि उनके आलम्बन रूप में अपोह को ही मान लिया जा सकता है। किन्तु वह भी वास्तविक नहीं है। कहा भी है—

मवहिर्गतम् । वहिःस्थमिव सामान्यमालम्ब्येत विकल्पकः ॥ या च भूमिर्विकल्पानां स एव विषयो गिराम् । अत एव हि शब्दार्थ-मन्यासिद्धं प्रचक्षते ॥' विकल्पाऽपि न वस्तुस्पृशः । कुतः—'एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् । कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥' इति । तस्माद् भ्रान्तिनिमित्तसमारोपिताकारान्तरनिषेधायैव प्रमाणान्तरप्रवृत्तिरिति मन्तव्यम् । यथा भास्वररूपसाधर्म्यारोपितरूप्याकारनिषेधाय शुक्तौ नेदं रूप्यमिति प्रमान्तरम्, तथैव शावलेयादिस्वलक्षणे निर्विकल्पेन सर्वात्मना गृहीते कुतश्चिन्निमित्तादारोपिता गोरूपमेव व्यवच्छिन्दन्ति विकल्पा अगौर्न भवति । न गोः स्वलक्षणग्रहणे तेषां व्यापारः, निर्विकल्पेन प्रागेव गृहीतत्वात् । न चानेकविशेषणविशिष्टस्यार्थस्य विकल्पैस्तान्येव गृह्यन्त इति वाच्यम्, विशेषणोपकारशक्तिव्यतिरिक्तानां विशेषणानामनुपलम्भेन तदभेदे सति तद्विशेषणोपकार्यवस्तुस्वरूपग्रहदशायामेव गृहीतत्वात् चित्रग्रहणासिद्धेर्न विकल्पसार्थक्यम् । तदुक्तम्—'नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे । सर्वात्मनोपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः ॥' इति ।

तस्माद्भेदविषयाः शब्दा विकल्पाश्चेति तन्न, भट्टपादैर्बहुधाऽपोहस्य निरस्तत्वात् । तथा हि—कोऽयमपोहो नाम ? व्यावृत्तिरभावो वा ? नान्त्यः, तस्य घटादिवत् स्वातन्त्र्येणावगमासम्भवेनाश्रयादितन्त्रत्वावगमात् । न च तस्य स्वलक्षणमाश्रयः, तस्य विकल्पानास्पदत्वात् । नाप्यवान्तरसामान्यमपोहाश्रयः, बौद्धैः सामान्यानभ्युपगमात् । अभ्युपगमेऽपि शावलेयत्वादेस्तदाश्रयत्वं वक्तव्यम्, तच्च नोपपद्यते । शावलेयत्वादि अशावलेयनिवृत्तेराश्रयतां प्रतिपद्यते । नह्येवमुपपद्यते—अशावलेयो न भवतीति

अतद्रूपपरावृत्तिस्वभावमवहिर्गतम् । वहिःस्थमिव सामान्यमालम्ब्येत विकल्पकः ॥
या च भूमिर्विकल्पानां स एव विषयो गिराम् । अत एव हि शब्दार्थमन्यासिद्धं प्रचक्षते ॥

विकल्पों का वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं रहता । क्योंकि—

एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् । कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥"

अर्थात् वस्तु का यदि एक ही कोई स्वभाव हो, तब तो उसका एक बार प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने पर ऐसा कौन सा स्वभाव या भाग बाकी रह गया, जिसकी प्रमाणों से परीक्षा करनी पड़े । इसलिये भ्रान्ति के कारण आरोपित किये गये आकारान्तर के निषेध करने के लिये ही प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति समझनी चाहिये । जैसे भास्वर (चमकीले) रूप के सादृश्य से आरोपित चाँदी के आकार के निषेध के लिये ही सीप में 'नेदं रूप्यम्' यह चाँदी नहीं है, ऐसा प्रमान्तर (दूसरा ज्ञान) होता है । उसी प्रकार निर्विकल्प के द्वारा सर्वात्मना शावलेयादि स्वलक्षण के गृहीत किये जाने पर विकल्प किसी कारणवश आरोपित गोभिन्न रूप का ही 'गोभिन्न नहीं है' इस प्रकार से निश्चय कराते हैं, 'गो है' इस तरह से नहीं । क्योंकि उनका (विकल्पों का) व्यापार स्वलक्षण के ग्रहण करने में नहीं है, क्योंकि वह तो निर्विकल्प के द्वारा पहिले ही जाना जा चुका है । यदि कहें कि अनेक विशेषणों से विशिष्ट वस्तु के विकल्पों से उन्हीं का (स्वलक्षणों का ही) ग्रहण होता है, तो वह ठीक न होगा । विशेषणों की उपकार शक्ति से अतिरिक्त विशेषणों की उपलब्धि न होने से दोनों का (उपकारशक्ति और विशेषण) अभेद मानना होगा, तब उपकार्यभूत वस्तु के स्वरूप ग्रहण की दशा में ही, अर्थात् वस्तुस्वरूप के ज्ञान काल में ही विशेषणों का भी ज्ञान हो जाता है । अतः चित्र ग्रहण के न हो सकने से विकल्प की कोई सार्थकता प्रतीत नहीं होती । यही बात इस श्लोक से भी कही गई है—

नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे । सर्वात्मनोपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः ॥

इसलिये शब्द और विकल्प दोनों का विषय एक नहीं, किन्तु भिन्न भिन्न ही है । किन्तु बौद्धों की इस बकवास का कुमारिल ने बहुशः खण्डन किया है । वह इस तरहसे है—यह अपोह क्या है ? व्यावृत्तिरूप है या अभावरूप है ? अभावरूप तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि घट-पटादि की तरह स्वतन्त्र रूप से उसका ज्ञान नहीं हो पाता, वह तो किसी न किसी के आश्रित होकर ही ज्ञात हो पाता है । अर्थात् वह किसी आश्रय के ही अधीन रहता है । उसका आश्रय स्वलक्षण तो हो नहीं सकता, क्योंकि स्वलक्षण कभी विकल्प के योग्य नहीं होता । अवान्तर जाति को भी अपोह का आश्रय नहीं कह सकते, क्योंकि बौद्ध जाति मानते ही नहीं है । अगर स्वीकार कर भी लें तो शावलेयत्वादि को ही उसका (अभाव का) आश्रय कहना होगा । किन्तु वह नहीं बन पाता, क्योंकि शावलेयत्वादि में अशावलेय

गौः, किन्तु शावलेय इति। शावलेयव्यावृत्तिर्बाहुलेयादिषु गोष्वपि दृश्यते। शावलेयादिस्वलक्षणसमुदायो गोव्यावृत्तेराश्रय इत्यपि नोपपद्यते, समुदायिव्यतिरेकेण तस्यानुपलम्भात्। समुदायिनां स्वलक्षणानां देशकालभेदेन आनन्त्यान्न तेषां वर्गीकरणसम्भवः, ततो न समुदायस्तदाश्रयः। तस्मात् सर्वसाधारणं प्रतिपिण्डं परिसमाप्तं किमप्यगोव्यावृत्तेरधिकरणमभ्युपेयम्। तदेव च गोत्वम्। तदभ्युपगमे किमपोहकल्पनायासेन? अपि च, गोत्वस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वेऽभ्युपगमेऽगौर्न भवतीति गौरवगन्तुं शक्यते। तदनभ्युपगमे तु गोव्यक्तिविशेषस्य गोव्यक्त्यन्तरेष्वपि व्यावृत्तिरस्त्येवेति न व्यवहारसम्भवः। अपि च, अश्वादयो बौद्धमते विधिरूपतया नोपलभ्यन्ते, किन्तु अन्यव्यवच्छेदेनैवेति तेषामपि व्यवच्छेदग्रहणे सैव वार्तेति नेदानीं विकल्पैः क्वचिदपोहो विषयीकर्तुं शक्यते, निर्विकल्पेन च न कश्चिद् व्यवहार इति व्यवहारलोपप्रसङ्ग एव स्यात्। किञ्चैवं सर्वेऽपि शावलेयादिशब्दा अपोहवाचिन एव चेत्तदा पर्यायवाचका एव भवेयुः। अपोहभेदाददोष इति चेन्न, अपोहानां भेदाभावात्। भिद्यमानत्वे वा स्वलक्षणवदेषां वस्तुत्वप्रसक्तिः। न चैवं मीमांसकपक्षेऽपि सामान्यमात्रवाचित्वाविशेषात् पर्यायार्थतादोषः समान इति वाच्यम्, सामान्यानां विधिरूपत्वात् परस्परं संहितस्वभावतया नानात्वावगमात्। अपोहस्तु अभावमात्ररूपाविशेषान्न परस्परं भिद्यते। ननु कर्कादिशावलेयाद्याधारभेदाद् अपोहभेद इति चेन्न, तेषामाधारत्वानुपपत्तेरुक्तत्वात्। आधारभेदेन तद्भेदाभ्युपगमे प्रतिस्वलक्षणमपोहतद्भेदप्रसङ्गः। ततश्च कुतोऽस्य सामान्यात्मता? यदपि चापोह्यभेदेनापोहभेदमवधार्य पर्यायता पराक्रियते, तदपि निःसारम्, अपोह्यभेदाद्भेदो न पर्यायत्वविरोधी तस्य भाक्तत्वात्। न चापोह्यभेदादपोहस्य मुख्यो भेदः। सम्भावितसंसर्गैराधारैरपि यो न भेत्तुं शक्यः स विप्रकृष्टतरैरसंसृष्टैरतिवाह्यैः कथं भिद्येत। तदभ्युपगमेऽपि

की निवृत्ति की आश्रयता हुआ करती है। अशावलेय नहीं है, इस कारण वह गौ है, ऐसा नहीं माना जाता, किन्तु वह शावलेय है, इसलिये गाय है। शावलेय की व्यावृत्ति बाहुलेयादि गौ में भी दिखाई देती है। गोव्यावृत्ति का आश्रय हम शावलेयादि स्वलक्षण समुदाय को भी नहीं कह सकते, क्योंकि समुदायी से पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं होती। देश तथा कालभेद से स्वलक्षण व्यक्ति अनन्त है, इसलिये उनका वर्गीकरण होना सम्भव नहीं। इसलिये समुदाय को उसका आश्रय नहीं कह सकते। अतः अगोव्यावृत्ति का कोई ऐसा अधिकरण स्वीकार करना होगा जो प्रत्येक व्यक्ति में परिसमाप्त और सर्वसाधारण हो। उसी को तो गोत्व जाति कहते हैं। उसके स्वीकार कर लेने पर अपोह की कल्पना करने का प्रयास व्यर्थ है। दूसरी बात यह है कि गोत्व को प्रतियोगितावच्छेदक मान लेने पर 'अगौर्न भवति' कहने से 'गो' का बोध हो सकता है और न मानने पर गो-व्यक्ति विशेष की अन्यान्य गोव्यक्तियों में भी व्यावृत्ति हो ही जाती है, जिससे व्यवहार नहीं चल सकता। दूसरी बात यह है कि बौद्धों के मत में अश्व (घोड़ा) आदि पदार्थ घोड़ा आदि पदार्थ के रूप में नहीं जाने जाते, किन्तु घोड़ा से भिन्न नहीं है, इस रूप में जाने जाते हैं। अतः उसके भी भेद के ज्ञान में ऊपर वाले सभी दोष आ जायँगे। इसलिये विकल्प का विषय अपोह को मानना कभी संगत नहीं हो सकता। निर्विकल्प से तो कोई व्यवहार होगा नहीं, अतः बौद्धसंमत अन्यापोह को शब्दार्थ मानने पर व्यवहार का लोप हो हो जायगा। दूसरी बात यह है कि यदि सभी शावलेयादि शब्द अपोहवाची ही हों तो वे पर्यायवाचक ही होंगे। यदि कहा जाय कि अपोहभेद से पर्यायवाचक नहीं कहलायेंगे तो वह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि अपोहों का भेद नहीं हुआ करता। अगर उनमें भेद माना जाय तो स्वलक्षण की तरह उन्हें वस्तु कहना होगा। मीमांसकों के पक्ष में भी सभी शब्दों के जातिवाचक होने से वहाँ भी पर्यायवाचकता का दोष आ जायगा, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जातियाँ वस्तुरूप हैं, अतः वे परस्पर एक दूसरे से भिन्न स्वतन्त्र स्वभाव वाली होने के कारण उनमें भेद का ज्ञान होना सहज है। किन्तु अपोह केवल अभावरूप होने से उनमें परस्पर भेद नहीं रहता। इसलिये वे परस्पर समान हैं, उनमें भेद कैसा? कर्कादि शावलेयादि आधारों के भेद से अपोहों का भेद हो जायगा, यह कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि कर्कादि शावलेयादि भेद के आधार बन नहीं सकते। आधारभेद से अपोहभेद मानने पर प्रत्येक स्वलक्षण में अपोह और उसका भेद मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में उसकी सामान्यरूपता कैसे हो सकती है? यह जो कहना है कि जिसके भेद का निषेध करना है, उसमें रहने वाले भेद को आधार मान कर अपोह का भेद मानने से पर्यायवाचकता न होगी, सो भी निःसार है, क्योंकि अपोह्यभेद से अपोह का भेद तो लाक्षणिक होने से वह पर्यायवाचकता का विरोधी नहीं है और अपोह्य (जिसके भेद का निषेध करना है) भेद से अपोह का मुख्य भेद नहीं हो सकता।

यद्यपोह्यभेदादपोहभिन्नत्वं तर्हि तदभेदात्तदभिन्नत्वेनापि भाव्यम्। ततश्चान्यापोहेन व्यवस्थाप्यमानयोर्गवाश्वयोरगावोऽनश्वाश्च हस्त्यादयोऽपोह्यास्तुल्या भूयांसो वा भवन्ति। असाधारणस्तु एको गौरश्वे गवि चाश्वोऽतिरिच्यते। तत्रापोह्यभेदाद् गवाश्वयोर्भेदेऽपि भूयसामपोह्यानामभेदाद्भेदो भवतु। ततश्च विप्रतिषिद्धधर्मस्य समवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्वमित्यभेद एव न्याय्यो भवेत्। यदि च साधारणत्वादश्वापोह्य एव गोऽपोहेन व्यवस्थाप्य इष्यते स तर्हि सिंहादावप्यस्तीति सोऽपीदानीं गौर्भवेत्। अथाश्वादिविशेषोद्घोषरहितम् अगोरूपं व्यवच्छेद्यमुच्यते तत्प्रत्येकं ग्रहीतुमशक्यम्, आनन्त्यात्। वर्गीकरणकारणञ्च नास्त्येव किञ्चित्। नहि सर्वेषामगवामश्वादीनाञ्चैकदेशकालत्वं सम्भवति।

यदि गोप्रतिषेध एव वर्गीकरणहेतुरिष्यते, हन्त तर्हि गौः पूर्वसिद्धः स्वीकार्यः, यत्प्रतिषेधेनागावः प्रतीयेरन्। पूर्वसिद्धे गवि लब्धे किमगोभिः किं वा तदपोहेन? न च गोस्वलक्षणं पूर्वसिद्धमस्त्येवेति वाच्यम्, तेन व्यवहारासम्भवात्। गोसामान्ये तु पूर्वसिद्धे मुधाऽपोहसाधनायासः। यदि गोसामान्यमगोप्रतिषेधेन सिद्ध्यति, तदा त्वगोनिषेधेन गोसिद्धिर्गोसिद्ध्या चागोनिषेधसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वमेव। तथा चापोहस्य दुर्निरूपत्वेन नापोह्यभेदात्तद्भेदसिद्धिः। किञ्चाश्वादयः सामान्यरूपेणापोह्येरन् विशेषात्मना वा? नान्त्यस्तदनङ्गत्वादवाच्यत्वाच्च। सामान्यात्मना तु तेषामप्यपोहरूपत्वादभावात्मत्वम्, कथञ्चाभावस्यैवाभावः क्रियते? करणे च प्रतिषेधद्वययोगाद् विधिरेव पर्यवस्यति। तथा च विधिरूपशब्दार्थोऽपि अपोह्यात्मनस्तुरगादेर्योऽपोह्यः स तस्माद्विलक्षणोऽन्यथा वा? वैलक्षण्ये तस्य भावात्मतैव स्यात्। अवैलक्षण्ये तु यादृश एवापोह्यस्तादृश एव तदपोह इति गौरप्यगौः स्यात्।

सम्भावित सम्बन्ध वाले आधारों से भी जिसका भेद होना संभव नहीं, उसका भेद विप्रकृष्ट (दूर) असंसृष्ट (असंबद्ध) एवं अतिबाह्य (अत्यन्त बाहरी) पदार्थों से कैसे हो सकता है ? यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि अपोह्यभेद से अपोह का भेद हो जाता है, तो उसकी अभिन्नता से उसकी अभिन्नता भी होनी चाहिये।। उस परिस्थिति में अन्य के अपोह से व्यवस्थित किये जाने वाले गो, अश्व के अगो, अनश्व जैसे हस्ती आदि अपोह्य हैं, वे सब या तो तुल्य या अधिक हो जायेंगे। असाधारण अर्थात् एक गोविशेष अश्वों के और एक अश्वविशेष गायों के अतिरिक्त हो सकता है। यहाँ पर अपोह्य भेद से गाय एवं अश्व का भेद होने पर भी अनेक अपोह्यों का अभेद होने से उनका भी अभेद हो जायगा। तब 'विप्रतिषिद्धधर्मस्य समवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्वम्' (जहाँ निषिद्ध धर्म इकट्ठे हो जाय, वहाँ बहुत से समान धर्म हो जायेंगे) इस न्याय के अनुसार अभेद मानना ही उचित होगा। यदि साधारण होने से गो के अपोह से अश्व को अपोह्य रूप में ही व्यवस्थापित करना इष्ट है तो वह अपोह सिंह आदि में भी होने से सिंह को भी गो कहना होगा। यदि यह कहें कि अश्व आदि विशेष के उद्घोष से रहित अगोरूप व्यवच्छेद्य है, तो उसके अनन्त होने से प्रत्येक के द्वारा उसका ग्रहण किया जाना सम्भव नहीं। वर्गीकरण करने का कारण कुछ है ही नहीं, क्योंकि समस्त अगो और अश्व आदि की समानदेशतात था एककालता संभव हो ही नहीं सकती।

यदि गोप्रतिषेध को ही वर्गीकरण हेतु माना जाय, तो गो को पूर्वसिद्ध मानना होगा, जिसके प्रतिषेध से अगो (गो से भिन्न) की प्रतीति हो सके। पूर्वसिद्ध गो के उपलब्ध रहने पर अगो (गो भिन्न) से या उस अपोह से क्या लाभ ? यदि यह कहा जाय कि स्वलक्षण गो पूर्वसिद्ध है ही, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि उससे व्यवहार कर पाना संभव नहीं। गोसामान्य (गोत्व जाति) के पूर्व सिद्ध रहने पर अपोह के साधने का प्रयास करना तो व्यर्थ ही है। यदि गोसामान्य अगोप्रतिषेध से सिद्ध होता हो, तब तो अगोनिषेध से गोसिद्धि और गोसिद्धि से अगो का निषेध इस प्रकार अन्योन्याश्रय ही होगा। अतः अपोह का निरूपण कर पाना संभव न होने से अपोह्य भेद से उसका भेद नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि अश्वादिकों का अपोह सामान्यरूप से होगा या विशेष रूप से ? अन्तिम पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि विशेष रूप उसका अंग नहीं है और न उसका वाच्य ही है। सामान्य रूप से कहें तो वे सामान्य रूप भी अपोह रूप ही हैं, इसलिये वे अभाव रूप हैं। ऐसी स्थिति में अभाव का ही अभाव कैसे किया जायगा ? यदि अभाव का अभाव करें तो दो प्रतिषेध किये जाने से उसका पर्यवसान विधि में ही होगा। एवं च, विधिरूप शब्दार्थ भी अपोह्यरूप तुरगादि का जो अपोह्य होगा, वह उससे विलक्षण होगा या अविलक्षण ? विलक्षण मानने पर उसे भावरूप ही कहना पड़ेगा। विलक्षण न मानने पर तो जैसा अपोह्य है, वैसा ही उसका अपोह भी होगा, तब तो गो भी गो से भिन्न हो जायगा।

किञ्चापोहस्य शब्दार्थत्वे नीलमुत्पलमित्यादौ विशेषणविशेष्यभावसामानाधिकरण्यादिव्यवहारा लुप्येरन्, द्वयोरपोहयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्त्यनुपपत्तेः। न चैकः कश्चिदर्थोऽस्ति यत्र तयोर्वृत्तिः, स्वलक्षणस्याशब्दार्थत्वादन्यस्य चासम्भवात्। न च वृत्तिरपि काचिदस्ति। सज्ज्ञेयादिशब्दानामपोहनिरूपणासंभवान्नापोहवाचित्वम्। न ह्यसदज्ञेयं वा किञ्चिदवगतं यद् व्यवच्छिद्येत। ज्ञातञ्चेत्सदेव। तज्ज्ञेयञ्च। तथा च कथं सच्छब्देन सदेव ज्ञेयशब्देन च ज्ञेयमेवापोह्येत। अज्ञातं तु नितरामनपोह्यम्। कल्पितं तु तद्वक्तुमशक्यम्। कल्पनयैव सत्त्वाज्ज्ञेयत्वादपोहशब्दस्य किं वाच्यमिति चिन्त्यम्। अनपोहो न भवतीत्यपोहः। कश्चायमनपोहः? कथं वासौ न भवति? अभवद्वा किमवशिष्यते? इति सर्वमवाचकम्।

प्रतिषेधवाचिनां नञादिशब्दानामपि दुर्निरूपोऽर्थः। अत्र न भवतीति नेति कोऽर्थः? उपसर्गनिपातानाञ्च कथमपोहविषयत्वम्? पचतीत्याद्याख्यातशब्दानाञ्चापोहो दुरुपपादः। नाम्नामेव जातिशब्दानामपोहविषयत्वमिष्यते। अन्येषां बाह्यार्थवाचित्वे जातिशब्देषु कः प्रद्वेषः? निरालम्बनत्वे ज्ञानांशावलम्बनत्वे वा जातिशब्दानामपि तदेवास्तु किमपोहवादप्रमादेन? 'यथैव प्रतिभामात्रं वाक्यार्थं उपकल्पितः। पदार्थोऽपि तथैवास्तु किमपोहाग्रहेण वः॥ अपोहोऽभावरूपश्चेदाश्रयस्तस्य प्रोच्यताम्। व्यक्तेः स्वलक्षणत्वेन विकल्पाश्रयता कुतः॥ नाप्यवान्तरसामान्यस्याश्रयत्वं हि सम्भवि। मुण्डत्वादिनिषेधस्य गोष्वपि प्रथनात् स्फुटम्॥ समुदायेऽप्यवृत्तित्वं समुदायानिरूपणात्। समूहिनामनन्तत्वात् तद्वर्गीकृत्य सम्भवः॥ ततो गोत्वादिसामान्यं व्यावृत्तिवृत्तये स्फुटम्। उपेयं चेन्मुधापोहप्रवादपरिकल्पनम्॥ यथापोहस्य स्वापोह्यसापेक्षत्वं यथैव हि। गवाद्यपोह्यजातस्याप्यपोहत्वेन सुस्फुटम्॥ तदपेक्षित्वमेव स्याद्विकल्पानां स्वभावतः। विषयापह्नुतिर्ज्ञेया बौद्धवादे ध्रुवैव हि॥ समेषामेव शब्दानामपोहविषयत्वतः। पर्यायताऽनिवार्या स्याद्वैलक्षण्ये तु वस्तुता॥ कर्त्राद्याधारभेदेन तद्भेद-

दूसरी बात यह है कि शब्द का अर्थ अपोह मानने पर 'नीलमुत्पलम्' इत्यादि में विशेषण-विशेष्य भाव तथा सामानाधिकरण्य आदि व्यवहारों का लोप हो जायगा। क्योंकि दो अपोहों (भेद या अभाव) का एक पदार्थ में रहना संभव नहीं। ऐसा कोई एक पदार्थ नहीं है, जिसमें दो अपोह (भेद या अभाव) रह सकें, क्योंकि स्वलक्षण तो शब्द का अर्थ नहीं है और उसके अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ संभव नहीं। इनमें कोई वृत्ति (शक्ति = लक्षणा या व्यंजना) भी नहीं है। अपोह का निरूपण करना असंभव होने से सत्, ज्ञेय आदि शब्द अपोह के वाचक नहीं हैं। असत् या अज्ञेय कोई ज्ञात नहीं, जिसका व्यवच्छेद किया जाय। यदि वह ज्ञात है तो वह सत् ही है और ज्ञेय भी है। तब कैसे भला सच्छब्द से सत् का ही और ज्ञेय शब्द से ज्ञेय का ही अपोह न किया जायेगा। यदि अज्ञात कहें तो अत्यन्त ही अनपोह्य होगा। यदि कल्पित कहें तो उसका अपोहन करना संभव ही नहीं। क्योंकि उसकी सत्ता और ज्ञेयत्व कल्पित होने के कारण ही अपोह शब्द का वाच्य (अर्थ) कुछ नहीं रहेगा और वह चिन्ता का विषय बन जायगा। यदि कहें कि 'अनपोहो न भवतीत्यपोहः जिसका अपोहन नहीं होता, वह अपोह है। तब प्रश्न हो सकता है कि यह अनपोह क्या वस्तु है? और वह कैसे नहीं होता और न होने पर क्या अवशिष्ट रहता है? इस प्रकार सभी शब्द अवाचक बन जायेंगे।

इस पक्ष में निषेध वाचक न, नहीं आदि शब्दों के अर्थ का निरूपण करना भी कठिन है 'अत्र न भवतीति न' यहाँ नहीं है ऐसा नहीं, इसका क्या अर्थ है। उपसर्ग और निपातों में अपोहविषयता किस प्रकार आती है? पचति (पकाता है, इत्यादि क्रियावाचक) आदि आख्यात शब्दों के अपोह का उपपादन करना संभव नहीं। इस पर यदि कहें कि जातिवाचक संज्ञा-शब्दों में ही अपोहविषयता हमें इष्ट है, तो पूछा जा सकता है कि अन्य शब्दों को बाह्यार्थवाचक मान लेने पर जातिवाचक शब्दों में ही आपका क्या द्वेष है कि उन्हें जातिवाचक नहीं मानते। यदि कहें कि बाह्यार्थवाचक अन्य शब्दों में निरालम्बनता या ज्ञानांशावलम्बनता होती है, तो जातिवाचक शब्दों में भी उसे क्यों न माना जाय? अपोहवाद मानने का प्रमाद क्यों किया जाय? इसी बात को श्लोकवार्तिककार ने यों कहा है—जैसे केवल प्रतिभा (ज्ञान) को ही वाक्यार्थ मानते हैं, वैसे ही केवल ज्ञान को ही पदार्थ क्यों न मानें? फिर अपोह को मानने का आग्रह व्यर्थ है। अपोह यदि अभावरूप है तो उसका आश्रय क्या है? व्यक्ति तो स्वलक्षण है, इसलिये वह वस्तुशून्य विकल्परूप ज्ञान का आश्रय कैसे हो सकता है? अवान्तर सामान्य अर्थात् जाति भी उसका आश्रय नहीं हो सकती, क्योंकि मुण्डत्व आदि के निषेध से गौ का भी निषेध होने लगेगा। समुदाय में भी उसकी वृत्ति नहीं रह सकती, क्योंकि समुदाय का निरूपण नहीं किया जा

स्याप्यसिद्धितः ॥ यदप्यपोह्यभेदेन पर्यायत्वं निरस्यते। भाक्तत्वेन न तद्युक्तं मुख्यभेदनिरासतः ॥ वैलक्षण्यमपोह्यानां स्यादपोहस्य भेदकृत्। तदप्यसम्यगेव स्यात् कुतो नैक्यं तदैक्यतः ॥ गोस्तु सिद्धौ निषेधः स्याद् गोसिद्धिस्तु निषेधतः। यदि स्यात्पूर्वसिद्धं हि गोत्वं नान्यदपेक्षितम् ॥ अगोनिषेधः साध्यश्चेत् ततोऽन्योन्याश्रयः स्फुटः। सामान्येनात्मनापोह्या यद्यश्वाद्यास्ततो भवेत् ॥ तेषामपोहरूपत्वान्निषेधस्यैव निर्णुदिः। अपि चैवं निषेधस्य निषेधे स्याद्विधिः स्फुटः ॥'

यदप्युक्तम्—'अपोहो यदि भावात्मा बहिरभ्युपगम्येत ततो भावत्कं वाग्जालं प्रसरेत, न त्वसौ तथा, किन्त्वान्तरो ज्ञानात्मा सौगतानामपोहः सम्मतः' इति, तदप्यसम्यक्, तन्मते सर्वस्यैवान्तरत्वेन बाह्यव्यवहारविलोपप्रसङ्गात्। यदि काल्पनिकं बाह्यरूपमादाय व्यवहार इष्यते, तर्हि बाह्यव्यवहारानुरोधेन साधकबाधकयुक्त्योऽप्यभ्युपेया एव। न तत्रापि बौद्धस्य स्थितिर्यतः स नान्तरं न बाह्यं किन्तु ज्ञानार्थाभ्यां भिन्नमेवापोहं मनुते। तस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमाद् मिथ्याभूतं काल्पनिकं वस्तु विकल्पोपरञ्जकं किञ्चिदाकारमात्रमुपगच्छति। न च तदपि सम्यक्, बाह्यार्थाभाव उपरञ्जकत्वस्याप्यसम्भवात्।

यदप्युक्तम्—व्यावृत्तं हि वस्तु दर्शनानां विषयः, तच्च स्प्रष्टुमक्षमा विकल्पाः। अथ तच्छायामवलम्बमाना विकल्पा व्यावृत्तस्याग्रहणाद् व्यावृत्तिविषया इत्युच्यन्ते, तदपि तुच्छम्, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—व्यावृत्तेर्वस्तुत्वे पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तिरवस्तुत्वे खपुष्पादिवद्विकल्पविषयत्वानुपपत्तिः। किञ्च, व्यावृत्तितद्वतोरभेदाद्व्यावृत्तिः स्वलक्षणम्, यच्च व्यावृत्तं तदेकमेवेति व्यावृत्तिग्राहिभिर्विकल्पैर्व्यावृत्तमपि कुतो न गृहीतं स्यात्।

सकता। समूह वाले अनन्त होने के कारण उनका वर्गीकरण भी नहीं हो सकता। इसलिये यदि गोत्व आदि जाति को ही अन्य की व्यावृत्ति करने के लिये पद का अर्थ माना जाय तो अपोह की कल्पना का झंझट व्यर्थ है। जैसे अपोह को, वह जिसकी व्यावृत्ति करता है, उसकी अपेक्षा है, वैसे ही अपोह्य गो आदि को भी अपोह होने के कारण अपोह्य की आवश्यकता होगी, क्योंकि आपके मत में तो सब शब्दों का अर्थ अन्यापोह ही है। विकल्प का यह स्वभाव है कि वह अवश्य किसी का निषेध करेगा। इसलिये बौद्ध मत में विषय का ही लोप हो जायगा और सभी शब्द अपोहवाचक होने के कारण एक दूसरे के पर्याय हो जायंगे। यदि अन्यापोह में भी परस्पर भेद रूप विलक्षणता मानेंगे तो उसकी वस्तुरूपता सिद्ध हो जायगी। कर्क आदि आधार के भेद से अन्यापोह का भेद मानें तो आधार ही पहले सिद्ध करना पड़ेगा, किन्तु वही आपके मत में सिद्ध नहीं होता। अन्यापोह के द्वारा जिस वस्तु को जिससे भिन्न बनाना है, उसके भेद से भेद मानें तो वह इसलिये ठीक नहीं है कि वह भेद गौण होगा, मुख्य नहीं। अपोहों के विलक्षण होने के कारण भेद मानें तो उसकी एकता के कारण एकता ही फिर क्यों न मानी जाय। गोपदार्थ की सिद्धि होने पर उसके निषेध की सिद्धि होगी और निषेध की सिद्धि होने पर गोपदार्थ की सिद्धि होगी, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि आपके मत में गोभिन्न का निषेध ही गो शब्द का अर्थ है। यदि सामान्य रूप से अश्व आदि का निषेध कहें तो अश्व आदि भी तो आपके मत में अश्वभिन्न के निषेधस्वरूप अपोह ही हैं, इसलिये अपोह का ही निषेध हो जायगा। दूसरी बात यह है कि निषेध का निषेध होने पर विधि की सिद्धि हो जायगी, क्योंकि घटाभाव का अभाव घटस्वरूप ही है।

यह जो कहा था 'अपोह यदि भावरूप है तो बाहर उसकी उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु यह कहना तो तुम्हारा केवल वाग्जाल है। अपोह को जैसा तुम बता रहे हो वैसा वह है नहीं, वह तो आन्तर ज्ञानरूप है। जैसा कि सौगत (बौद्ध) लोग कहते हैं, किन्तु वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उनके मत में सभी कुछ आन्तर होने से बाह्य व्यवहार का लोप ही हो जायगा। यदि काल्पनिक बाह्यरूप मानकर व्यवहार मानें तो बाह्य व्यवहार के अनुरोध से साधक-बाधक युक्तियों को भी मानना होगा। किन्तु इस पक्ष में भी बौद्ध टिक नहीं सकता, क्योंकि वह न आन्तर और न बाह्य ही, बल्कि ज्ञान और अर्थ से पृथक् ही अपोह को मानता है। किन्तु उसमें भी मिथ्यात्व का अभ्युपगम होने से मिथ्याभूत काल्पनिक वस्तु ही विकल्प की उपरंजक किसी आकार भर को पा लेती है। लेकिन यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि बाह्यार्थाभाव में उपरंजकता का होना संभव नहीं।

यह जो कहा था कि व्यावृत्त हुई वस्तु ज्ञान का विषय होती है, उसे स्पर्श करने में भी विकल्प समर्थ नहीं हो पाते। उसी की छाया मात्र का अवलम्ब करने वाले विकल्प व्यावृत्त वस्तु का ग्रहण न कर पाने से व्यावृत्ति विषय कहलाते हैं। किन्तु वह भी सारहीन है। क्योंकि विकल्प की उपपत्ति नहीं हो पाती। उसी का उपपादन करते हैं—व्यावृत्ति को वस्तुरूप मानते हैं तो पूर्वोक्त दोषों का निरसन नहीं होगा और यदि उसे वस्तुरूप नहीं मानते हैं, तो आकाश-पुष्प के समान वह विकल्प का विषय नहीं हो सकेगी।

यदप्युक्तम्—व्यावृत्तिर्न पारमार्थिकी, किन्तु कश्चिद् आरोपिताकारः, तदप्यकिञ्चित्करम्, प्रमाणग्राह्यस्य मिथ्यात्वे स्वलक्षणानामपि तथात्वप्रसङ्गात्। न च विकल्पानां तास्त्येव प्रामाण्यमिति वाच्यम्, निर्विकल्पकदर्शनानामपि कुतो नाप्रामाण्यमिति चोद्यप्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। अपि चारोपिताकारस्य प्रामाणिकत्वे वस्तुत्वप्रसङ्गः, अप्रामाणिकत्वे कुतः प्रामाणिकव्यवहारगोचरत्वम्। अत एव व्यावृत्तग्रहणे यद् व्यावृत्तं येन यतश्च व्यावृत्तमिति त्रितयस्यापि ग्रहणमनिवार्यम्, प्रतियोग्यादिग्रहणमन्तरा व्यावृत्तेर्ग्रहणासम्भवात्।

यदुक्तम्—यदि हि व्यावृत्तं गृह्णीम इत्येवनुल्लेखो भवेद् व्यवहर्तॄणाम्, तदैवं पर्यनुयोगः स्यादिति, तदप्यपेशलम्, तथात्वे व्यावृत्तं स्वलक्षणं गृह्यत इति बौद्धवाक्यस्यापार्थकत्वापत्तेः। अपि च येन विकल्पेन व्यावृत्तिर्गृह्यते व्यावृत्तं न गृह्यते, येन निर्विकल्पेन स्वलक्षणं गृह्यते तेन व्यावृत्तिर्न गृह्यत इति कथं विकल्पैर्व्यावृत्तवस्तूपकारस्तदन्तरा तदप्रतीतेः। प्रतियोगिप्रतीतौ विकल्पविषयत्वे तेषामपि मिथ्यात्वापत्तिः। किञ्चैवं व्यावृत्तेरवस्तुत्वे स्वलक्षणानामव्यावृत्तिः स्वाभाविकीति वक्तव्यम्। तथा च स्वलक्षणनानात्वसिद्धान्तव्याकोपः स्यात्। अपि च व्यावृत्तिप्रतीतौ तत्प्रतियोगिनां स्वलक्षणानां प्रतीत्यापत्तिः।

यदुक्तम्—अपि चारोपिताकारविषया विकल्पाश्चेत् व्यावृत्तिविषयत्ववाचोयुक्तिरनन्वितैव। दर्शनपृष्ठभाविभिर्गौरित्यादिविकल्पैरतत्कार्यपरावृत्त आकार उल्लिख्यते। नहि गोविकल्पैरतत्कार्याणामश्वादीनामुल्लेखः। स्वलक्षणञ्च न स्पृश्यते।

किञ्च, व्यावृत्ति और व्यावृत्तिमान् दोनों का अभेद रहने से व्यावृत्ति स्वलक्षणरूप है, अतः वह और जो व्यावृत्त है वह, ये दोनों एक ही हैं, इसलिये व्यावृत्ति-ग्राहक विकल्पों के द्वारा व्यावृत्त का भी ग्रहण क्यों नहीं हो सकेगा?

यह जो कहा था कि व्यावृत्ति वास्तविक नहीं है, बल्कि एक आरोपित आकार है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रमाण से ग्राह्य होनेवाले पदार्थ को मिथ्या मानने पर स्वलक्षणों को भी मिथ्या कहना होगा। विकल्पों का प्रामाण्य ही नहीं है, यह भी नहीं कह सकते। अन्यथा निर्विकल्पक प्रत्यक्षों (ज्ञानों) का भी अप्रामाण्य क्यों नहीं होगा। यह प्रश्न दोनों के लिये समान रूप से होगा। दूसरी बात यह है कि आरोपित 'आकार को प्रामाणिक मान लेने पर उसे वस्तु कहना होगा और अप्रामाणिक मानने पर उसे प्रामाणिक व्यवहार का विषय कैसे कहा जायगा? अत एव व्यावृत्त (भिन्न) का ज्ञान होने पर जो व्यावृत्त हुआ जिस कारण जिससे व्यावृत्त हुआ—इस प्रकार तीनों का ग्रहण (ज्ञान) अवश्य मानना होगा। प्रतियोगी आदि का ग्रहण किये विना व्यावृत्ति (भेद) का ग्रहण (ज्ञान) होना सम्भव नहीं।

यह जो कहा था कि हम व्यावृत्ति का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार व्यवहार कर्ताओं का यदि उल्लेख हो, तब तो उस प्रकार प्रश्न किया जा सकता है, किन्तु वैसा उल्लेख तो है नहीं। इसलिये ऊपर कहे गये दोष हमारे मत में नहीं है। यह कथन भी सुन्दर नही, क्योंकि 'व्यावृत्त को स्वलक्षण के रूप में ग्रहण किया जाता है'—यह बौद्धों का वाक्य व्यर्थ होगा। दूसरी बात यह है कि जिस विकल्प के द्वारा व्यावृत्ति (भेद) का ग्रहण (ज्ञान) किया जाता है और व्यावृत्त (भिन्न) का ग्रहण नहीं किया जाता, तथा जिस निर्विकल्प के द्वारा स्वलक्षण का ग्रहण किया जाता है और व्यावृत्ति का ग्रहण नहीं किया जाता, तब विकल्पों के द्वारा व्यावृत्त वस्तु पर उपकार कैसे किया जा सकेगा? उसके बिना उसकी प्रतीति होना सम्भव नहीं। प्रतियोगिप्रतीति (ज्ञान) को विकल्प का विषय मानने पर उन्हें भी मिथ्या कहना होगा। किञ्च, इस प्रकार व्यावृत्ति को वस्तुरूप न मानने पर स्वलक्षणों की अव्यावृत्ति को स्वाभाविक कहना होगा। तब स्वलक्षणों को नाना मानने के सिद्धान्त के साथ विरोध होगा। दूसरी बात यह है कि व्यावृत्ति की प्रतीति होने पर उसके प्रतियोगी स्वलक्षणों की भी प्रतीति माननी होगी।

यह जो कहा था कि विकल्पों को आरोपित आकार विषय वाले यदि कहें तो उनके व्यावृत्तिविषय होने की बात असम्बद्ध ही रहेगी। दर्शन के अनन्तर होने वाले 'गौः' आदि विकल्पों से अतत्कार्य परावृत्त आकार का उल्लेख किया जाता है। गोविकल्पों के द्वारा अतत्कार्यभूत अश्वादि का उल्लेख नहीं किया जाता और न स्वलक्षण का स्पर्श तक किया जाता है। सामान्य जो वस्तुभूत है, वह तो बौद्ध के मत में है ही नहीं। इसलिये विकल्पों का विषय अतत्कार्यपरावृत्ति हो बच जाता है। इस प्रकार विकल्पों का अपोहविषयत्व युक्ति से सिद्ध किया जा सकता है, ज्ञान की दृष्टि से नहीं। किन्तु यह भी उचित नहीं। गवादि विकल्पों का

सामान्यञ्च वस्तुभूतं नास्त्येव। तस्मादतत्कार्यपरावृत्तिविषयत्वमेव विकल्पानामवतिष्ठत। इत्येवं युक्त्या तेषामपोहविषयत्वमुच्यते न प्रतिपत्तित ,इति, ' तदेतदप्यसाम्प्रतम्, गवादिविकल्पानां गवादिसामान्यविषयत्वोपपत्तावतत्कार्यपरावृत्ताकारविषयत्वानुपपत्तेस्तथा प्रतीतेश्च।

यच्चोक्तं सामान्यं न वास्तवम्, तदप्यसङ्गतम्, अपोहस्याप्यवस्तुत्वाविशेषात्। वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वे सिद्धे यथा निर्विकल्पेन स्वलक्षणस्य भानं तथैव सविकल्पकेन सामान्यात्मनो भानम्। न चैकस्य प्रामाण्यमपरस्याप्रामाण्यमित्यत्र शपथमन्तरा प्रमाणं किञ्चित्। यदुक्तं निर्विकल्पेन सर्वात्मना परिच्छिन्नं वस्तु परिछिन्दन्ति। विकल्पान्तराणि व्यर्थान्येवेति, तदप्यकिञ्चित्करम्, वैफल्यस्यासत्त्वाप्रयोजकत्वात्। नहि विगतपिपासस्य हिमकरपटलमफलमिति तदेव रजतमिति कल्प्यते। शब्दानां विकल्पानां च विषये इष्यमाणे पूर्वोक्तदूषणान्यनिवार्याण्येव। किञ्च, अतत्कार्यपरावृत्तमिव सजातीयव्यावृत्तमपि दृश्यस्वरूपम्, तत्र दृश्यव्यावृत्तिः स्वलक्षणं चान्यत्। न चैकतरोल्लेखननियमहेतुरस्ति।

यदप्युक्तम्—निश्चयात्मानो निर्विकल्पाः। सजातीयविजातीयव्यावृत्ताकारोल्लेखे च सर्वात्मना तन्निश्चयाद् विकल्पान्तराणां शब्दान्तराणाञ्च प्रवृत्तिः स्यात्। तथा च गौरिति शब्दादुत्पद्यमानो विजातीयव्यावृत्ताकारोल्लेखीव विकल्पः संवेद्यते, न सजातीयव्यावृत्ताकारोल्लेखी। तुल्यविषयाश्च विकल्पैः शब्दा इत्यन्यापोहविषया उच्यन्ते। सोऽयमारोपिताकारो न बहिरारोपितत्वादेव नान्तोऽबोधरूपत्वात्। यतश्चासौ न किञ्चिदेव। न किञ्चिदपि भवन्नपोह इति फलत उपचर्यते। अतश्च बाह्यमभावात्मकमपोहमाश्रित्य दूषणोपन्यासे व्यर्थं कण्ठशोषणम्।

किञ्च, विकल्पभूमिरर्थो विकल्पान्तरसन्निधापितभावाभावाक्षेपी नियतरूपो बाह्यसदृशश्च प्रतीयते। न चेदं रूपत्रयमपि बाह्ये वस्तुनि युज्यते। बाह्यस्य हि वस्तुनः स्वरूपेणावगतस्य न विकल्पान्तरोपनीतभावः सम्बन्ध उपपद्यते,

विषय गवादि सामान्य जब सिद्ध हो जाता है, तब अतत्कार्यपरावृत्ताकार उसका विषय नहीं हो सकता और वैसा अनुभव भी होता है। अर्थात् 'गौ' आदि शब्दों से 'गौ' आदि वस्तुओं का ही ज्ञान होता है, न कि गोभिन्न से भिन्न का।

यह जो कहा गया है कि 'सामान्य' वस्तुतः है नहीं, यह कहना भी संगत न होगा, क्योंकि अपोह भी वैसा ही है, वह भी वस्तुभूत नहीं है। कोई भी वस्तु सामान्यविशेषरूप हुआ करती है। जैसे स्वलक्षण की प्रतीति निर्विकल्पक के रूप में होती है, वैसे ही सामान्यरूप वस्तु की प्रतीति सविकल्पक के रूप में होती है। इनमें एक को प्रमाण तथा दूसरे को अप्रमाण मानने में शपथ के सिवा अन्य कोई प्रमाण नहीं। यह जो कहा है कि निर्विकल्प के द्वारा सर्वात्मना परिच्छिन्न वस्तु को ही सब लोग जानते हैं, अतः दूसरे सविकल्पक को मानना व्यर्थ ही है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यर्थ हो जाना कोई वस्तु के असत्त्व में प्रयोजक नहीं होता है। जिसको पिपासा नहीं है, ऐसे व्यक्ति के लिये हिमकण पटल व्यर्थ हैं, इसलिये उस हिमकण पटल को कोई चाँदी नहीं कहने लगता। शब्द और विकल्पों के विषयों की ओर ध्यान देने पर पूर्वोक्त दूषणों को हटाया नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि अतत्कार्यपरावृत्त की तरह सजातीयव्यावृत्त भी दृश्यस्वरूप है, अतः दृश्यव्यावृत्ति और स्वलक्षण भिन्न भिन्न वस्तु हैं। उनमें से किसी एक का उल्लेख करने के नियम में कोई कारण नहीं है।

यह जो कहा था कि 'निर्विकल्प निश्चयात्मक होते हैं, सजातीय, विजातीय, व्यावृत्ताकारों के उल्लेख करने में सर्वथा उनका निश्चय हो जाने से अन्य विकल्पों की तथा अन्य शब्दों की भी प्रवृत्ति होगी। तथा च 'गौः' इस शब्द से उत्पन्न होने वाला विजातीय व्यावृत्ताकारोल्लेखी की तरह विकल्प ज्ञात होता है, सजातीय व्यावृत्ताकारोल्लेखी के रूप में नहीं। विकल्पों के कारण सभी शब्द तुल्यविषयक होते हैं, इसलिये उन्हें अन्यापोह विषय कहते हैं। यह वह आरोपित आकार है, जो बाहर आरोपित न होने के कारण ही अबोध रूप होने से यद्यपि कुछ नहीं है, किन्तु कुछ न होते हुए भी फलतः गौण रूप से अपोह कहा जाता है। इसलिये अपोह को बाह्य अभाव रूप मानकर दोष देना व्यर्थ ही अपने कण्ठ को सुखाना है।

दूसरी बात यह है कि विकल्प का आश्रय पदार्थ दूसरे विकल्प के द्वारा संनिहित किये जाने वाले भाव और अभाव की अपेक्षा रखता है और उसका स्वरूप निश्चित है। इसीलिये बाह्य पदार्थ के समान यह प्रतीत होता है। किन्तु यह तीनों ही रूप

वैयर्थ्यात्। नाप्यभावसम्बन्धो विप्रतिषेधात्। नियतरूपता च विकल्पविषयस्य 'गौरेव नाश्वः' इत्येवमवगम्यमानो वस्त्वन्तर-व्यवच्छेदमन्तरेण नावकल्पत इति बलाद्व्यवच्छेदविषयत्वम्। अन्यथा नियतपरिच्छेदासम्भवान्नियतरूपं वस्तु न गृह्यते। एवं बाह्यवस्तुविषयत्वे च निरस्ते विकल्पानामेकस्यार्थस्वभावस्येति न्यायेन पौनरुक्त्यादबाह्यविषयत्वं न्याय्यम्। अबाह्यान्तरारोपितरूपं तच्च बाह्यवदवभासते। न च व्यावृत्तिच्छायमपहाय बाह्यारोपितयोः सादृश्यमन्यदस्तीति व्यावृत्तिविषया एव विकल्पाः फलतो भवन्ति। यद्यपि विधिरूपेण गौरश्व इति तेषां प्रवृत्तिः, तथापि नीतिविदोऽन्यापोहविषयानेव तान् व्यवस्थापयन्ति।

अथवा विकल्पप्रतिबिम्बकं ज्ञानकारमात्रकमेव तदबाह्यमपि विचित्रवासनाभेदोपहितरूपभेदं बाह्यवदवभासमानं लोकयात्रां बिभर्ति। व्यावृत्तिच्छायायोगाच्च तदपोह इति व्यवह्रियते। ननूभयथापि वस्तुविषयत्वाभावे विकल्पानां कथं वस्तुनि व्यवहाराः? न च दर्शनमात्रादेव तत्सम्भवति, दृष्टेऽपि तृणादौ प्रवृत्त्यभावात्। अर्थित्वं तु प्रवृत्तेः कारणमिति चेन्न, प्रवृत्तेर्दृश्यविकल्पयोरेकीकरणनिबन्धनत्वात्। तथाहि—दृश्यदर्शनानन्तरमुत्पन्ने विकल्पे विकल्पं तेन प्रतिपद्यते प्रमाता। दर्शनानन्तरविप्रलब्धस्तु दृश्यमेव गृहीतं मन्यते, तदभिमानेन च प्रवर्तत इति दृश्यविकल्पयोर्भेदाग्रहणमेवैकीकरणम्। न पुनर्भिन्नयोरभेदाध्यवसायः। दृश्याद्भिन्नस्य विकल्पस्य शुक्तेरिव रजतस्य निर्देष्टुमशक्यत्वाद्भेदाध्यवसाये चोभयाभावात्। न

वस्तु में हो नहीं सकते, क्योंकि बाह्य वस्तु का स्वरूप से ज्ञान मान लिया जाय तो उसका दूसरे विकल्पों के द्वारा प्राप्त होने वाला भावरूप सम्बन्ध मानना व्यर्थ होगा और अभाव के साथ सम्बन्ध तो भाव और अभाव के परस्पर विरोधी होने के कारण ही नहीं हो सकता। गाय ही है, घोड़ा नहीं, ऐसा निश्चय ही विकल्प का विषय है, वह दूसरी वस्तु के निषेध के बिना हो नहीं सकता। इसीलिये हम शब्द से होने वाले विकल्प ज्ञान का विषय व्यवच्छेद अर्थात् अपोह को मानते है, क्योंकि उसके बिना वस्तु का निश्चय ही नहीं हो सकता। इस प्रकार जब शब्दजन्य ज्ञान बाह्य वस्तु के विषय हो ही नहीं सकते. तो उन्हें एकार्थस्वभाव मानने पर पुनरुक्ति होने के कारण बाह्य वस्तु विषयक नहीं ही मानना चाहिये। उसका आन्तरिक रूप भी आरोपित ही है और वही बाह्य रूप से भासित होता है, दिखाई पड़ता है। व्यावृत्ति अर्थात् अन्य के भेद की छाया को छोड़कर बाह्य और आरोपित दोनों का कोई दूसरा सादृश्य बन नहीं सकता, इसलिये फलतः शब्दजन्य विकल्परूप ज्ञानों का विषय व्यावृत्ति अर्थात् तदितरनिवृत्ति ही है। यद्यपि गौ, अश्व इत्यादि भावरूप से उनकी प्रवृत्ति होती है, तो भी प्रवृत्ति के तत्त्व को जानने वाले उन्हें अन्यापोहविषयक ही मानते हैं।

अथवा बाहर दिखाई देने वाली वस्तुएँ भी विकल्प में प्रतिबिम्बित ज्ञान की आकार मात्र ही हैं। किन्तु अनेक प्रकार के संस्कारों के भेद से वे कल्पित रूप बनकर बाह्य वस्तु के समान मालूम पड़ने लगती है और इसी से सारे संसार का व्यवहार चलता है। व्यावृत्ति (भेद) की छाया के साथ सम्बन्ध होने के कारण उसी को हम बौद्ध 'अपोह' कहते हैं। इस मत में न अन्दर की वस्तु सत्य है और न बाहर की। फिर शब्दजन्य ज्ञानरूप विकल्पों से वस्तुओं में व्यवहार कैसे होगा? यदि कहें कि दिखाई देने मात्र से व्यवहार बन जायगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि तिनके आदि के दिखाई देने पर भी प्रवृत्ति नहीं होती। वस्तु की इच्छा के कारण प्रवृत्ति हो जायगी, इत्यादि शंकाएँ व्यर्थ हैं, क्योंकि प्रवृत्ति जो होती है, वह दिखाई देने वाली वस्तु और शब्द से उत्पन्न ज्ञान की एकता के कारण होती है। जैसे दिखाई देने वाली वस्तु के दिखाई पड़ने के बाद ज्ञान का कर्ता विकल्प करता है, निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करता। दूसरे ज्ञान से वंचित होने पर दृश्य को भी ज्ञान मान लेता है और उसी के अभिमान से प्रवृत्ति करता है। यह दृश्य और विकल्प के भेद का अज्ञान ही एकीकरण है, न कि वस्तुतः दो भिन्न वस्तुओं का अभेद निश्चय। क्योंकि दृश्य से भिन्न विकल्परूप रजत (चाँदी) का सीप की तरह निर्देश नहीं किया जा सकता और भेद का निश्चय हो जाने पर दोनों का ही अभाव हो जाने से वस्तु का दर्शन, भेद के निश्चय का उपाय नहीं है। भेद दर्शन विकल्प का विषय न होने के कारण विकल्परूप भी नहीं है, क्योंकि वह दृश्य का विषय नहीं है। इसलिये भेद के निश्चय से प्रवृत्ति होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्राप्ति भी अर्थक्रिया कराने वाली दृश्य वस्तु की ही होती है, क्योंकि परम्परा से वही उसका मूल है। कार्य की निरन्तरता, दृश्य का अज्ञान, फिर विकल्प, फिर प्रवृत्ति यही क्रम देखा जाता है। मूल में रहने वाली वस्तु को जानकर प्रवृत्ति व्यक्ति उस वस्तु को पा लेता है। जैसे तिजोरी में रखी हुई मणि की फैली हुई कान्ति को ताले के छेद में से निकलती हुई देखकर, इसमें मणि है, इस ज्ञान से प्रवृत्त पुरुष मणि को पा लेता है, किन्तु

भेदाध्यवसाये दर्शनमुपायः। विकल्पाविषयत्वान्न विकल्पो दृश्याविषयत्वात्। तस्माद्भेदानध्यवसायादेव प्रवृत्तिः। प्राप्तिरपि दृश्यस्यैवार्थक्रियाकारिणो वस्तुनः पारम्पर्येण तन्मूलत्वात्। कार्यप्रबन्धस्य दृश्यादर्शनम्। ततो विकल्पः। ततः प्रवृत्तिः।

अर्थं हि मूलवर्तिनमुपलभ्य प्रवर्तमानस्तमाप्नोति। अपवरकनिहितमणिप्रसृतायां कुञ्चिकाविवरनिर्गतायामिव प्रभायां मणिबुद्धया प्रवर्तमानः। यत्र तु मूलेऽप्यर्थो नास्ति तत्र व्यामोहात्प्रवर्तमानो विप्रलभ्यते। एवञ्च बाह्यवस्तुसंस्पर्श-शून्येष्वपि विकल्पेषु समुल्लसितेषु बाह्योऽर्थो मया प्रतिपन्नः, तत्र चाहं प्रवृत्तः, स च मया प्राप्त इत्यभिमन्यमानो भवति लौकिकानाम्, न त्वयमर्थाध्यवसायो मुख्यः। तदेतद् अज्ञानविजृम्भितम्, बाह्यान्तररहितस्य व्यवहारविषयत्वासम्भवात्। तदुक्तम्—'विकल्पो नाम बोधात्मा स च स्वच्छः स्वभावतः। नासावितरसम्पर्कादृते कलुषतामियात्॥ नूनमभ्युपगन्तव्यं किञ्चिदस्योपरञ्जकम्। आन्तरं वासनारूपं बाह्यं वा किमपि स्फुटम्॥ यत्पुनर्विद्यते नान्तर्न बहिस्तेन रज्यते। विज्ञान-मिति मायैषा महती धूर्तनिर्मिता॥ विषया एवं बुद्धीनामाञ्जस्येनोपरञ्जकाः। वासनाविषयज्ञानजन्यत्वान्न तथोदिताः॥' देशान्तरस्थितेन केनचिदर्थेन बुद्धयो रज्यन्ते। एकान्तासता तु केनचिदारोपितेन तदुपरञ्जनमसम्भवमेव। न च सर्वथाऽ-सन्नाकार आरोपयितुं शक्यते।

यदप्युक्तम्—दर्शनपृष्ठभाविनो विकल्पा व्यावृत्तं स्प्रष्टुमसमर्था इति व्यावृत्तिमात्रमवलम्बन्ते, तदपि न क्षोदक्षमम्, दृश्यस्य सजातीयविजातीयव्यावृत्तत्वादुभयव्यावृत्तिस्पर्शप्रसङ्गात्। यदुक्तम्—उभयावमर्शे सत्येषां पौनरुक्त्यानर्थक्यमिति, तदप्यसङ्गतम्, आनर्थक्येऽपि प्रमाणगोचरस्यापह्नवासम्भवात्। अर्थान्तरावलम्बनेऽपि व्यावृत्तिमंशतोऽवलम्बमाना अंशतो नेति

जहाँ मूल में ही मणि नहीं है, वहाँ मोह (अज्ञान) के कारण प्रवृत्त होने वाला वंचित होता है। ठीक इसी तरह बाह्य वस्तु के सम्बन्ध से सर्वथा शून्य शब्दजन्य ज्ञान के उल्लसित हो जाने पर मुझे बाहरी वस्तु का ज्ञान हुआ, मैं उसे लेने चला और वह मुझे मिल गई, ऐसा अभिमानमात्र लौकिक मनुष्य कर लेता है। वास्तव में यह निश्चय ठीक नहीं। यह बौद्धों का मत है।

वास्तव में यह सब अज्ञान का मायाजाल है, क्योंकि बाहर की वस्तुओं से ही व्यवहार होता है, बिना उसके व्यवहार होना सम्भव ही नहीं। वहीं भट्टपाद कुमारिल ने कहा है कि शब्द से होने वाले विकल्प रूप ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही हैं और वे स्वभाव से ही अत्यन्त स्वच्छ हैं। वे कारणदोष अथवा बाध ज्ञान के बिना मिथ्या नहीं माने जा सकते। अतः संस्कार रूप किसी अन्दर की वस्तु को अथवा बाहर की वस्तु को अन्य ज्ञानों का उपरंजक मानना ही होगा। इसके विरुद्ध बौद्धों का अभिमत क्षणिक विज्ञान, जो वास्तव में न बाहर ही हो और न भीतर ही, वह शब्दजन्य ज्ञान को अपने रंग से कैसे रंग सकता हैं। अतः धूर्त बौद्धों के द्वारा विज्ञानवाद का झूठा मायाजाल फैलाया गया है। वास्तव में बाहर के व्यावहारिक विषय ही अपने ज्ञानों को अपने रंग से रंग सकते हैं। वासनायें (संस्कार) भी ज्ञान को अपने रंग से नहीं रंग सकती, क्योंकि वे (वासना या संस्कार) भी बेचारी विषय से ही पैदा होने वाली हैं। विषय से पैदा होने वाली वासनाओं को ज्ञान की उपरंजक मानने की अपेक्षा तो विषयों को ही ज्ञान के उपरंजक मान लेना अच्छा है। भिन्न देश में स्थित किसी वस्तु को तो ज्ञान का उपरंजक माना भी जा सकता है, किन्तु सर्वथा असत् और आरोपित विज्ञान को या आकार को उपरंजक मानना खरगोश के सींग के समान ही होगा। भला सर्वथा असत् आकार का भी कहीं आरोप हो सकता है ?

यह जो कहा गया था कि दर्शन के बाद होने वाले विकल्प भिन्न वस्तु का स्पर्श नहीं कर सकते, इसलिये केवल भेद को हम (बौद्ध) शब्दजन्य ज्ञान का आलम्बन मानते हैं। तो भी विचार की दृष्टि से ठीक नहीं, क्योंकि दृश्य केवल विजातीय से ही भिन्न नहीं, अपितु सजातीय से भी भिन्न है। इसलिए गौ गौ से भी भिन्न होने लगेगी, जैसे वह विजातीय अन्य से भिन्न है। यदि कहो कि दोनों के भेद का स्पर्श करने पर पुनरुक्ति व्यर्थ होगी, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यर्थ होने पर भी जो वस्तु प्रमाण का विषय है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। दूसरी किसी वस्तु को उसका आलम्बन मानने पर भेद एक का आलम्बन करता है और दूसरे का नहीं, यह कहना युक्तिसंगत न होगा। यही बात 'सजातीय विजातीय' आदि ऊपर मूल में उद्धृत श्लोक से कही है। सजातीय, विजातीय भेद का परामर्श कर लेने पर तो प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह शब्द ज्ञान भी प्रत्यक्ष के समान ही हो जायेंगे। और यदि जाति नहीं है, तो जाति के

न युक्तम् । तदुक्तम्—'सजातीयविजातीयव्यावृत्त्योर्न च भिन्नता । यतोऽन्यतरसंस्पर्शो विकल्पे न प्रकल्पते ॥' सजातीयविजातीयव्यावृत्तिपरामर्शे तु दर्शनवदसाधारणग्राहिणो विकल्पा दर्शनाविशेषा एव । किञ्च, सामान्याभावे सामान्यनिबन्धग्रहणादिव्यवहाराच्छब्दानुमानविलोप एव स्यात् । व्यावृत्तिरपि बाह्या चेत्पूर्वोक्तदूषणानि । आन्तरत्वे तु न तया विकल्पोपरागः कर्तुं शक्यते । नान्तर्न बहिरिति तु निःसारमेव । तादृगपि किञ्चिदस्ति न किञ्चिद्वा ? न किञ्चिदिति चेन्न तेन विकल्पानुरञ्जनम्, अत्यन्तासतः शशविषाणादेर्व्यवहारविषयत्वासम्भवात् । किञ्चिच्चेदवश्यमन्तर्बहिर्वा तेन भवितव्यम् ।

यदप्युक्तम्—बाह्ये वस्तुनि शब्दान्तरोपनीयमानभावाभावसम्बन्धौ न युज्येते इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, सर्वस्य गौरित्यादिशब्दजनितप्रत्ययस्यास्तित्वाद्यनपेक्ष्य सामान्यमात्रविषयत्वेन तददोषात् । तत एवाकाङ्क्षानिराकरणायास्तिनास्तीति पदान्तरं प्रयुज्यमानं सम्बद्धयते । अत एव च नियतरूपिना निश्चितनिजरूपे वस्तुनि वस्त्वन्तरस्य व्यवच्छेदसम्बन्ध इष्यते । एवं घटो घट एव न पटः, नैतावता तदपोह्य एव प्रत्ययः ।

किञ्च, जात्यादेर्बाह्यार्थस्य शब्दार्थस्यासत्त्वादपोहोऽङ्गीक्रियते प्रतीतिवलाद्वा ? प्रतीतिरपोहविषया बौद्धैरङ्गीकृतैव । नापि जात्यादेरसत्त्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नबाधसंदेहरहितप्रत्ययगम्यत्वात् । स्वलक्षणवद् आद्यं निर्विकल्पमेव चाक्षुषादिज्ञानमर्थसंस्पर्शी नोत्तरमिति न राजाज्ञास्ति । प्राथमिकेनापि व्यावृत्तमेव वस्तुनो रूपं ज्ञायते, नानुवृत्तं सामान्यमित्यत्रापि न किमपि प्रमाणम् ।

द्विविधस्तावत् शब्दः—पदात्मा वाक्यात्मा च । तत्र वाक्यमनवगतसम्बन्धमेव वाक्यार्थमवगमयति, अभिनवविरचितश्लोकश्रवणे सति पदसंस्कृतमतीनां तदर्थावगमदर्शनात् । तेन सम्बन्धावगममूलप्रवृत्तिनाऽनुमानेन न

ज्ञान के आधार पर होने वाले शब्द और अनुमान प्रमाण का तो लोप ही हो जायगा । भेदरूप व्यावृत्ति को यदि बाह्य माने तो उसमें कई दोष दिये जा चुके हैं । यदि उसे आन्तर मानें तो उसके द्वारा विकल्प (शाब्द ज्ञान) अपने रंग में कैसे रंगे जा सकेंगे । बाहर और भीतर दोनों जगह न मानना तो निःसार ही है, क्योंकि वैसा कुछ है भी, या है ही नहीं । यदि है ही नहीं तो उसके द्वारा विकल्पों का रंगा जाना न बनेगा । खरगोश के सींग की तरह अत्यन्त असत् भी क्या कभी व्यवहार का विषय हो सकता है ? यदि कुछ है तो वह जरूर अन्दर या बाहर भी होगा ही ।

बाह्य वस्तु में दूसरे शब्दों के द्वारा लाये जाने वाले भाव और अभाव के सम्बन्ध नहीं बन सकते, यह भी आपका कथन व्यर्थ है, क्योंकि गौ, घट इत्यादि शब्दों से उत्पन्न होने वाले सभी ज्ञान अस्तित्व आदि की अपेक्षा न रखकर ही जातिमात्र के विषय उन्हें मानने में कोई दोष नहीं है । इसीलिये गौ, घट इत्यादि शब्दों से होने वाले ज्ञान के बाद उत्पन्न होने वाली आकांक्षा को शान्त करने के लिए 'है या नहीं' ऐसे अन्य पद संबद्ध होते हैं । इसीलिये उनका स्वरूप भी निश्चित मानना पड़ेगा । किसी निश्चित स्वरूप वाली वस्तु का ही दूसरे के साथ भेद बताया जा सकता है । घड़ा घड़ा ही है, कपड़ा नहीं, ऐसा कहने से घड़े आदि का कपड़े आदि से निश्चित भिन्न स्वरूप मालूम पड़ता है, केवल आपका अभीष्ट अपोह्य नहीं ।

दूसरी बात यह है कि आप जाति, व्यक्ति आदि बाहरी पदार्थ (शब्द के अर्थ) न होने के कारण अपोह स्वीकार करते हैं अथवा प्रतीति के बल से ? बुद्ध के अनुयायी अपोह की प्रतीति भले ही मान लें, किन्तु जाति, व्यक्ति आदि पदार्थों का अभाव नहीं मान सकते, क्योंकि उनका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा वस्तुओं का सम्बन्ध होने पर अवश्य होता है और न उसमें किसी प्रकार का सन्देह होता है, न ही उसका बाध होता है । अतः स्वलक्षण की तरह उसका मानना अनिवार्य है । पहले चक्षु आदि से होने वाला निर्विकल्पक ज्ञान ही वस्तुओं के साथ संबन्ध रखता है । बाद में होने वाले ज्ञानों का वस्तुओं से कोई संबन्ध नहीं होता, यह कोई राजाज्ञा नहीं है । पहले होने वाले ज्ञान से भी अन्य से भिन्न वस्तु का रूप ही जाना जाता है, न कि सब व्यक्तियों में रहने वाली जाति, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है ।

शब्द दो तरह के होते हैं—पद और वाक्य । इन दोनों में वाक्य पदार्थों के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही अपने अर्थ का ज्ञान कराता है । नये बनाये गये श्लोक के सुनने पर जिन लोगों को पदों के अर्थों का ज्ञान है, वे ही उस श्लोक को ठीक ठीक समझ पाते हैं । किन्तु केवल सम्बन्ध ज्ञान मूलक प्रवृत्ति वाले अनुमान और शब्द को समान मानने की तो संभावना ही नहीं हो सकती । इसलिए वाक्यार्थ

शब्दस्य साम्यसंभावना। पदस्य तु यद्यपि सम्बन्धादिगमसापेक्षत्वम्, तथापि सामग्रीभेदाद्विषयभेदाच्च तस्याप्यनुमानाद्भिन्नत्वम्। तद्धर्ममात्रं पदस्यार्थ इति व्यक्तमन्यत्र। अनुमानन्तु वाक्यार्थविषयम्। पर्वतेऽग्निः, अग्निमांश्च पर्वत इति ततः प्रतीतेः। यद्यपि गोमान् औपगवः कुम्भकार इति पदान्यपि वाक्यार्थवृत्तीनि सन्तीति वक्तुं शक्यम्, तथापि गोमान् क इत्याकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः पदत्वमेव तत्र मन्तव्यम्।

किञ्च, शब्दानुमानयोर्विषयाभेदः सामान्यमात्रगोचरतया तद्धर्ममात्रविषयतया सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया वा? प्रथमे किं सामान्यं, सकलव्यक्त्यनुस्यूतं नित्यत्वैकत्वादिधर्मोपेतमन्यव्यावृत्तिरूपं वा? न प्रथमः, बौद्धानामनभिमतत्वात्। न द्वितीयोऽपि, अन्यापोहमात्रविषयत्वस्यान्यत्र निराकृतत्वात्, नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वे सौगतस्य मीमांसकमतप्रवेशापत्तेः। विषयतया तयोरभेदे प्रत्यक्षस्याप्यनुमानत्वप्रसङ्गः। सकलप्रमाणानां सामान्यविशेषात्मकार्थविषयत्वप्रतिपादनात्। सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वेनापि शब्दस्यानुमानत्वं प्रत्याख्यातम्। प्रत्यक्षस्यापि सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वेनानुमानत्वप्रसङ्गात्। यदि तु प्रत्यक्षे सामग्रीभेदाद्भेदस्तर्हि अत्रापि सामग्रीभेदो विद्यते एव। अभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वमप्यसिद्धमेव, शब्दे पक्षधर्मत्वाद्यसिद्धेः। किञ्च, पर्वतादिविशेष्यप्रतिपत्तिपूर्विका वह्न्यादिविशेषणावगतिर्लिङ्गादुत्पद्यते। पदात्तु विशेषणावगतिपूर्विका विशेष्यावगतिरिति विषयभेदश्च।

यदुक्तम्—यथानुमाने धर्मविशिष्टो धर्मी साध्य एवमिहार्थविशिष्टः शब्दः साध्यो भवतु, मैवम्, शब्दस्य हेतुत्वात्। न च हेतुरेव पक्षो भवितुमर्हति। ननु यथा वह्निमानयं धूमः, धूमत्वात्, महानसधूमवदित्युक्तमेव। अग्निविशिष्टस्य पर्वतस्य

रूप शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता। पद से अर्थ का ज्ञान होने में ही पद-पदार्थ के संबन्ध के ज्ञान की अपेक्षा तो है, किन्तु अनुमान की सामग्री और पदार्थ ज्ञान की सामग्री में जमीन-आसमान का भेद होने के कारण पदार्थ ज्ञान भी अनुमान ज्ञान से भिन्न ही है। पद का अर्थ केवल 'गोत्वादि जाति विशिष्ट गौ' इतना ही है, इस बात को हम दूसरी जगह स्पष्ट कर चुके हैं। अनुमान तो वाक्यार्थ विषयक ज्ञान है, न कि केवल पदार्थविषयक, क्योंकि अनुमान से 'पर्वत में अग्नि है' ऐसा ज्ञान होता है, अथवा 'पर्वत अग्नि वाला है' ऐसा। यद्यपि गोमान्, (गाय रखता है), औपगवः (जिसके साथ गाय है), कुम्भकारः (घड़ा बनाने वाला) इत्यादि पद भी वाक्यार्थ वाले हैं, ऐसा कह सकते हैं, किन्तु गाय वाला कौन है, ऐसी जिज्ञासा बनी ही रहती है। इसलिये पूर्वोक्त वाक्यार्थ जैसे प्रतीत होने वाले पदों को भी केवल पद ही मानना पड़ेगा।

फिर शब्द और अनुमान दोनों को एक ही मानने वाले वैशेषिक और बौद्धों को यह बताना पड़ेगा कि शब्द और अनुमान के विषय की एकता केवल जातिमात्रविषयक होने के कारण है, जातिविशिष्ट व्यक्तिमात्रविषयक होने के कारण है, अथवा संबद्ध अर्थ के ज्ञान कराने वाले होने के कारण? पहले पक्ष में भी संपूर्ण व्यक्तियों में मणियों में सूत की तरह अनुगत नित्यत्व, एकत्व आदि धर्मों से युक्त है या केवल अन्य व्यावृत्ति रूप? पहला पक्ष तो बौद्धों को कभी स्वीकार न होगा। उनके दूसरे पक्ष अन्यापोह का खूब खण्डन किया जा चुका है। प्रथम पक्ष को मानने पर बौद्ध मीमांसक मतवादी हो जायेंगे। दूसरा पक्ष—विषय के कारण अनुमान और शब्द ज्ञान को एक मानने पर तो प्रत्यक्ष भी अनुमान ही हो जायगा, क्योंकि सभी प्रमाणसामान्य विशेषविषयक होते हैं, ऐसा प्रतिपादन किया जा चुका है। तीसरा पक्ष—संबद्ध अर्थ के ज्ञान कराने वाले होने के कारण शब्द से अर्थ का ज्ञान अनुमान ही है, इसका भी खण्डन किया जा चुका है। क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष ज्ञान ही संबद्ध अर्थ का ज्ञान कराने वाला होने के कारण अनुमान होने लगेगा। यदि सामग्री भिन्न होने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान को भिन्न कहें, तो शब्दार्थ ज्ञान और अनुमान की सामग्री भी भिन्न ही है, अतः वे दोनों एक नहीं हो सकते। दोनों की सामग्री एक ही है, यह तो सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि शब्द में पक्षधर्मत्व आदि की सिद्धि असंभव है। दूसरे 'पर्वत अग्नि वाला है' इस अनुमान ज्ञान में पर्वत का विशेष रूप से और अग्नि का विशेषण रूप से ज्ञान धूमरूप हेतु से उत्पन्न होता है, किन्तु शब्द से तो पहले घटत्व आदि विशेषण का ज्ञान और बाद में घट आदि विशेष का ज्ञान होता है। इसलिये दोनों की सामग्री में भेद स्पष्ट ही है।

'अनुमान में जैसे धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है, ऐसे ही यहाँ भी अर्थविशिष्ट शब्द को साध्य क्यों न मान लें'? आपका यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि शब्द तो अर्थज्ञान का हेतु है। फिर उसे पक्ष कैसे माना जा सकता है? अनुमान में हेतु और पक्ष दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं, हेतु ही पक्ष नहीं हो सकता। पर्वत का यह धुंआ अग्नि वाला है, रसोई घर के धुएं की तरह, इस प्रकार अग्नि से युक्त पर्वत के धूम को धर्मी बनाकर उसकी अनुमानगम्यता वैशेषिकों ने कल्पित की है। इसी रीति से गो

धूमं धर्मीकृत्यानुमेयता तार्किकैः कल्पिता। एवं गोशब्द एवार्थवत्त्वेन साध्यता गोशब्दत्वादित्यादिसामान्यस्य हेतुत्वमस्तु, तदप्यसंगतम्, विकल्पासहत्वात्। तथाहि शब्दस्य धर्मिणोऽर्थविशिष्टत्वं साध्यते, किं वा प्रत्यायनशक्तिविशिष्टत्वम्, आहोस्वित् अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं वा साध्यम्? न तावदर्थविशिष्टत्वं साध्यं संभवति, शैलज्वलनयोरिव शब्दार्थयोर्धर्मधर्मिभावासंभवात्। विभिन्नदेशयोः सह्यविन्ध्ययोरिव शब्दार्थयोर्नाश्रयाश्रयिभावः संभवति। तेन न धर्मधर्मिभावः। यदप्यर्थविशिष्टत्वेन शब्दस्यार्थविशिष्टतेति, तदप्ययुक्तम्, तत्प्रतीतिजननमन्तरेण तद्विषयत्वानुपपत्तेः। यदि प्रतीतिः सिद्धा स्यात् तदा किं तद्विषयत्वद्वारकेण तद्धर्मत्वेन। अपि च, नार्थविशिष्टं शब्दं कश्चिदवालिशोऽपि मन्यते, शब्दात्पृथगेवार्थस्य प्रसिद्धत्वात्। तद्विषयत्वमूलं तद्धर्मित्वं तत्पूर्वकार्थप्रतीतिमूलं तद्विषयत्वं तदेवमन्योन्याश्रयत्वम्। तस्मान्नार्थविशिष्टः शब्दः साध्यो न वा अर्थप्रत्यायनशक्तिविशिष्टः साध्यः, तदर्थितया शब्दप्रयोगाभावात्। तदुक्तम्—'न शक्तिसिद्धये शब्दः कथ्यते श्रूयतेऽपि वा। अर्थगत्यर्थमेवामुं शृण्वन्ति च वदन्ति च॥' न चात्रार्थप्रतीतिविशिष्टः शब्दः पक्षतामनुभवितुं शक्नोति, सिद्धचसिद्धिविकल्पानुपपत्तेः। 'असिद्धयापि तद्वत्त्वं शब्दस्यार्थधिया कथम्। सिद्धायां तत्प्रतीतौ तु किमन्यदनुमीयते॥' अर्थधियोऽसिद्धौ कथमर्थप्रतीतिविशिष्टः शब्दः स्यात्, सिद्धौ किमर्थं तद्विशिष्टानुमानम्। न चैवं वह्न्यादावपि समानो विकल्प इति वाच्यम्, वैषम्यात्। तथाहि न चाग्निर्धूमेन जन्यते, किन्तु गम्यते। इयं त्वर्थप्रतीतिर्जन्यते शब्देनेत्यत्रैव तद्विकल्पप्रसरः। तस्मात्त्रिधाऽपि न शब्दस्य पक्षत्वम्।

किञ्च, गोशब्दे धर्मिणि गत्वादिसामान्यात्मकस्य हेतोर्ग्रहणम्, ततो व्याप्तिस्मरणम्, ततः परामर्शः, ततोऽर्थप्रतीतिरिति कालद्राघीयस्त्वाद्धर्मी तिरोहितो भवति, न पर्वतवदवस्थितिस्तस्य, किन्तूच्चरितप्रध्वंसित्वमेव शब्दस्य। न च शब्दमर्थवत्त्वेन

शब्द को ही अर्थवान् रूप से साध्य कहें और गोशब्दत्व को हेतु कहें तो क्या हानि है? ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि आप शब्द-रूप धर्मी में अर्थविशिष्टत्व को साध्य मानेंगे, अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति से विशिष्ट को साध्य मानेंगे, या अर्थविशिष्ट को साध्य मानेंगे? अर्थविशिष्ट को तो साध्य नहीं मान सकते, क्योंकि अनुमान में पर्वत और अग्नि का जैसा धर्मधर्मीभाव है, वैसा शब्द और अर्थ में धर्मधर्मीभाव बन नहीं सकता। दो भिन्न देशों में रहने वाले विन्ध्याचल और हिमालय जैसे एक दूसरे के आश्रय और आश्रित नहीं बन सकते, ऐसे ही भिन्न-भिन्न देश में रहने वाले शब्द और अर्थ भी एक दूसरे के आश्रय और आश्रित नहीं बन सकते। इसीलिये इन दोनों का धर्मधर्मीभाव भी नहीं बन सकता। अर्थ से सम्बद्ध होने के कारण शब्द अर्थ से विशिष्ट है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ का ज्ञान कराये बिना शब्द को अर्थविषयक नहीं माना जा सकता। यदि ज्ञान सिद्ध ही हो जाय तो फिर शब्द को अर्थधर्मवाला अथवा अर्थविषयक द्वार वाला मानने की आवश्यकता ही क्या है? फिर कोई भी बुद्धिमान् शब्द को अर्थ विशिष्ट नहीं मानता, क्योंकि संसार में (घट-पट आदि) शब्दों से उनके अर्थ सर्वथा भिन्न रूप से प्रसिद्ध हैं। तद्विषयत्व का ज्ञान होने पर तद्धर्मित्व का ज्ञान होगा, तद्धर्मित्व का ज्ञान होने पर अर्थ का ज्ञान होगा, अर्थ का ज्ञान होने पर शब्द को तद्विषयक माना जायगा, तब कहीं तद्धर्मित्व का ज्ञान होगा, यहाँ अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट ही है। इसलिये अर्थविशिष्ट शब्द साध्य नहीं हो सकता और न अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति से विशिष्ट शब्द ही साध्य हो सकता है, क्योंकि शब्द का प्रयोग केवल अर्थ के ज्ञान के लिये किया जाता है, न कि अर्थ से विशिष्ट शब्द के ज्ञान के लिये और न ही अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति से विशिष्ट शब्द है, इसका ज्ञान कराने के लिये। इसी बात को भट्ट कुमारिल ने ऊपर के श्लोकों में (न शक्तिसिद्धये इत्यादि) स्पष्ट किया है। अर्थज्ञानविशिष्ट शब्द यहाँ पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि सिद्धि और असिद्धि दोनों पक्षों में दोष हैं। असिद्धि मानने पर शब्द अर्थज्ञानवाला नहीं हो सकता और शब्द से अर्थ के ज्ञान की सिद्धि हो जाने पर तो अनुमान करना व्यर्थ है। शब्द से अर्थ का ज्ञान न होने पर शब्द अर्थ के ज्ञान से विशिष्ट कैसे हो सकता है, अतः इन दोनों पक्षों में दोष है ही। यही दोष धूम से अग्नि के ज्ञान रूप अनुमान में तो नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ तो शब्द से अर्थ का ज्ञान पैदा होता है, किन्तु अनुमान में धूम से अग्नि पैदा नहीं होती, केवल उसका ज्ञान हो जाता है। इसलिये तीनों ही प्रकार से शब्द को पक्ष मान कर उसका अनुमान में अन्तर्भाव करना ठीक नहीं।

दूसरी बात यह है कि शब्द ज्ञान को अनुमान मानने पर पहले गो शब्द का ज्ञान, फिर उसकी धर्मिता का ज्ञान, फिर गत्वादि जाति रूप हेतु का ज्ञान, फिर व्याप्ति का स्मरण, फिर परामर्श, उसके बाद कहीं अर्थ का ज्ञान होगा, किन्तु क्या इतने लम्बे

लोकः प्रत्येति, किन्तु शब्दात् पृथगेवार्थमिति न सर्वथा शब्दः पक्षः, धर्मविशिष्टस्य धर्मिणः साध्यस्येहासम्भवात्। शब्द-लिङ्गयोर्महान् विषयभेदः। पक्षधर्मान्वियादिरूपसापेक्षमनुमानम्। शब्दे तु न तानि सन्ति। तथा च सामग्रीभेदः।

तथा च शब्दस्य पक्षत्वप्रतिक्षेपान्न तद्धर्मतया गत्वादिसामान्यस्य लिङ्गता। न चार्थस्य धर्मित्वम्, यतः सौगतैः शब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिरूपो वा सम्बन्धो नाभ्युपेयते। नह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा, इति तद्वचनविरोधात्। न चार्थेनासम्बद्धोऽपि शब्दस्तस्य धर्मः, अतिप्रसङ्गात्। सिद्ध्यसिद्धिविकल्पानुपपत्तेश्च। न च तद्धर्मत्वं शब्दस्य शक्यते वक्तुम्, तत्र वृत्त्यभावात्। प्रतीतिजनकत्वेन तद्धर्मतायामुच्यमानायां पूर्ववदितरेतराश्रयत्वम्। किञ्च, तत्प्रतीतिहेतुत्वेनार्थस्य तद्धर्मत्वे चक्षुरादेरपि पक्षधर्मतासिद्धेस्तत्प्रभवाऽपि प्रतीतिरानुमानिक्येव स्यात्। यद्यर्थधर्मतया शब्दस्य पक्षधर्मत्वं भवेत् तदानवगत-धूमाग्निसम्बन्धोऽपि यथा धूमस्य पर्वतधर्मतां गृह्णात्येव, तथाऽनवगतशब्दार्थसम्बन्धोऽप्यर्थधर्मतां शब्दस्य गृह्णीयात्। न च गृह्णातीत्यतो नास्ति पक्षधर्मत्वं शब्दस्येति। अन्वयव्यतिरेकावपि तस्य दुरुपपादौ, देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात्। नहि यत्र देशे शब्दस्तत्रार्थः। मुखे शब्दमुपलभामहे भूमावर्थम्, कर्णाकाशे शब्दमिति वा। यत्र काले शब्दस्तत्रार्थ इत्यपि न घटते। ननु युधिष्ठिराद्यर्थाभावेऽपि तद्बुद्ध्योरन्वयो ग्रहीष्यते, विकल्पानुपपत्तेः। किमर्थबुद्धावुत्पन्नायामन्वयो गृह्यते

समय तक शब्द रूप धर्मी बैठा रहेगा ? वह तो प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में स्थित होकर तीसरे ही क्षण में नष्ट हो जायगा (क्योंकि नैयायिक और वैशेषिक शब्द की स्थिति तीन क्षण तक ही मानते हैं)। पर्वत की तरह वह सदा विद्यमान रहने वाला तो है नहीं। किन्तु उच्चारण के साथ ही नष्ट हो जाने वाला है। फिर नष्ट हो जाने वाले पक्ष में अनुमान कैसे हो सकता है? क्या पर्वत में धुंआ दिखाई देने के साथ ही पर्वत के नष्ट हो जाने पर भी उसमें अग्नि का अनुमान हो सकता है ? फिर लोक में शब्द को अ से विशिष्ट स्वरूप वाला नहीं माना जाता, किन्तु शब्द भिन्न है, उसका अर्थ भिन्न है और शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है, ऐसी ही लोक में प्रसिद्धि है। अतः शब्द को पक्ष कभी नहीं बनाया जा सकता और न ही उसमें धर्म से विशिष्ट धर्मी को साध्य बनाया जा सकता है। अर्थ के ज्ञान के कारण शब्द और अनुमान के कारण धूम आदि हेतु में जमीन-आसमान का विषय-भेद है। अनुमान में पक्ष, पक्षधर्मता, पक्ष-धर्मता का अन्वय आदि की अपेक्षा होती है, शब्द ज्ञान में तो इनकी कोई जरूरत नहीं है। अतः दोनों की सामग्री में भेद स्पष्ट है।

शब्द पक्ष नहीं हो सकता, इसका निरूपण हो जाने से शब्द में रहने वाली कत्व, खत्व, गत्व आदि जाति को हेतु भी नहीं बनाया जा सकता और न ही अर्थ को धर्मी ही माना जा सकता है, क्योंकि बुद्ध के मत में शब्द और अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं माना जाता और तदुत्पत्ति रूप सम्बन्ध भी नहीं माना जाता। बुद्ध ने स्वयं कहा है कि न तो शब्द में अर्थ रहते हैं और न ही वे अर्थ स्वरूप हैं। अतः उनकी उक्ति का विरोध उनके अनुयायी कैसे सहन कर सकते हैं ? अर्थ से असम्बद्ध शब्द को भी अर्थ का धर्म मानने पर तो अनर्थ हो जायगा, क्योंकि तब तो चाहे जो चाहे जिसका धर्म बन जायगा। शब्द से अर्थ के ज्ञान की सिद्धि होती है या नहीं, इन दोनों पक्षों में दोष पहले देख चुके हैं। उनका विवरण करना भी कठिन हो जायगा। शब्द को अर्थ का धर्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि शब्द अर्थ में नहीं रहता। अर्थ का ज्ञान कराता है, इसलिये अर्थ का धर्म शब्द है, ऐसा कहने पर तो पहले की तरह अन्योन्या-श्रय होगा। फिर तो प्रत्यक्ष भी अनुमान हो जायगा, क्योंकि घटादि रूप अर्थ का ज्ञान कराने के कारण नेत्र आदि में भी पक्षधर्मता की सिद्धि हो जायगी। यदि अर्थ का धर्म होने के कारण शब्द में पक्षधर्मता मान ली जाय तो जैसे धूम और अग्नि के सम्बन्ध को न जानने वाला व्यक्ति भी धूम पर्वत रूप पक्ष में है, इस बात को तो जान ही जाता है, ऐसे ही शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को न जानने वाला व्यक्ति भी शब्द रूपपक्ष में अर्थ धर्मता रूप पक्ष को जान ही जायगा, किन्तु जानता तो नहीं। इसलिये शब्द में पक्षधर्मता किसी तरह से सिद्ध नहीं की जा सकती। फिर जहाँ अग्नि होती है, वहाँ धूम होता है, जहाँ अग्नि नहीं रहती, वहाँ धूम नहीं रहता, इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक भी शब्द और अर्थ में नहीं बन सकता, क्योंकि शब्द जहाँ नहीं हैं, वहाँ भी अर्थ करते हैं और अर्थ जहाँ नहीं है, वहाँ भी शब्द रहते हैं। दोनों एक जगह तो रह ही नहीं सकते, क्योंकि शब्द मुह में है और उसका अर्थ वस्तु भूमि पर। अथवा शब्द है कान में रहने वाले आकाश में और अर्थ है भूमि पर रहने वाले आकाश में। जिस काल में शब्द हो, उसी काल में अर्थ रहें, यह भी कोई जरूरी नहीं, क्योंकि शब्द से भिन्न काल में अर्थ रूप वस्तु और वस्तु से भिन्न काल में शब्द देखे जाते हैं। युधिष्ठिर आदि शब्दों के अर्थ इस समय न होने पर भी उनका ज्ञान तो है, इसलिये शब्द का अर्थ ज्ञान के साथ अन्वय (सम्बन्ध) जान लेंगे, ऐसा कहना भी ठीक

अनुत्पन्नायां वा ? अनुत्पन्नायां तु स्वरूपासत्त्वात् कुतोऽन्वयग्रहणम्। उत्पन्नायां तु अर्थबुद्धौ किमन्वयग्रहणेनेति नैष्फल्यम्। तत्पूर्वकत्वे तु पूर्ववदितरेतराश्रयत्वम्। एतेन व्यतिरेकग्रहणमपि व्याख्यातम्।

यदप्युक्तम्—यो हि शब्दो यत्रार्थे दृष्टः स तस्य वाचकः, यत्र न दृष्टो न तस्य वाचक इत्यादि, तदप्ययुक्तम्, तथाविधान्वयव्यतिरेकमात्रेण शाब्दस्यानुमानत्वासिद्धेः। तन्मात्रस्य प्रत्यक्षेऽपि सत्त्वेन तत्रापि तत्प्रसङ्गात्। यत्र हि घटसद्भावोऽस्ति तत्र तत्प्रत्यक्षम्, यत्र तु स नास्ति तत्र तन्नास्तीति तुल्यत्वात्। यदपि सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वाच्छब्दस्यानुमानत्वमिति, तदप्यनुपपन्नम्, अननुमानेऽपि संशयोपमानादावस्य सद्भावेनानैकान्तिकत्वात्। नन्वावापोद्वापद्वारेण शब्दार्थसम्बन्धे निश्चीयमाने उपयुज्येते एवान्वयव्यतिरेकौ। यथोक्तम्—'तत्र योऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसौ' इति चेत्, सत्यम्, किन्तु समयबलेन सिद्धायामर्थबुद्धौ समयनियमार्थमन्वयव्यतिरेकौ, शब्देनान्वयव्यतिरेककृता च धूमादेरिव ततोऽर्थबुद्धिः। "धूमादिभ्यः प्रतीतिश्च नैवावगतिपूर्विका। इहावगतिपूर्वैव शब्दादुत्पद्यते गतिः॥ स्थविरव्यवहारे हि बालः शब्दात् कुतश्चन। दृष्ट्वाऽर्थमवगच्छन्तं स्वयमप्यवगच्छति॥ तत्राप्येवम् अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इति, शक्तिरूपः सम्बन्धः प्रतिपत्तव्य इति लिङ्गलिङ्गिनोरविनाभावः सम्बन्धः, ततोऽन्यश्च शब्दार्थयोः शक्तिनामा वाच्यवाचकभावसम्बन्धः। एवं विषयभेदात् सामग्रीभेदाच्च प्रत्यक्षवदनुमानादन्य एव शब्दः।

शाक्यैस्तु आप्तवादित्वाविसंवादित्वयोर्व्याप्तिदर्शनाद् अनुमानाच्छब्दस्याभेद उच्यते। शब्दार्थयोः सम्बन्धः पुरुषापेक्षः, धूमाग्न्योर्देशापेक्षः, चन्द्रोदयसमुद्रवृद्ध्योश्च कालापेक्ष इति। तदेतदपि भट्टपादैर्निरस्तमेव। आप्तवादत्वानादरेण पदार्थेभ्यो

नहीं, क्योंकि अर्थ का ज्ञान होने पर अन्वय का ज्ञान होगा अथवा बिना हो अर्थज्ञान के ? अर्थज्ञान के बिना तो जो वस्तु है ही नहीं, उसके साथ सम्बन्ध का ज्ञान कैसे हो सकता है। अर्थ का ज्ञान होने पर सम्बन्ध का ज्ञान होगा, ऐसा कहना तो सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि जब अर्थ का ज्ञान हो ही गया तो सम्बन्ध के ज्ञान की जरूरत ही क्या है ? सम्बन्ध ज्ञान पूर्वक ही अर्थ का ज्ञान होता है, ऐसा कहने से तो पहले की तरह अन्योन्याश्रय होगा। इस प्रकार अनुमान के ज्ञान के कारण व्याप्ति के ज्ञान के एक अंश अन्वय रूप सम्बन्ध का खण्डन हो जाने से व्यतिरेक रूप दूसरे सम्बन्ध का भी खण्डन समझ लेना चाहिये।

'जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त देखा गया, वह शब्द उस अर्थ का वाचक है, जिस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता, उस अर्थ का वाचक नहीं है। इस तरह अन्वय-व्यतिरेक बन जायेंगे' इत्यादि आपका कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि केवल इतने से अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा शाब्द ज्ञान का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं बन सकता। इतना अन्वय-व्यतिरेक तो प्रत्यक्ष ज्ञान में भी विद्यमान है। फिर क्या उसे भी अनुमान ही मानोगे ? जहाँ घड़ा है, वहीं उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जहाँ घड़ा नहीं है, वहाँ उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, इतना अन्वय-व्यतिरेक तो प्रत्यक्ष में भी विद्यमान ही है। यदि कहो कि 'शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के निश्चय में आवाप और उद्वाप के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक का उपयोग भी है ही, जैसा कि जो शब्द जिस अर्थ के साथ संबद्ध है, वह उस शब्द का अर्थ है, तो यह बात ठीक है, किन्तु संकेत ज्ञान के बल से अर्थ ज्ञान के सिद्ध हो जाने पर संकेत ज्ञान के लिये अन्वय-व्यतिरेक है और शब्द से अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा धूमादि से अग्नि आदि के ज्ञान की तरह यदि शब्द से अर्थ का ज्ञान हो तो शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है, किन्तु ऐसा है नहीं। जैसा कि भट्टपाद कुमारिल ने कहा है—धूम आदि हेतु से अग्नि का ज्ञान संकेतज्ञानपूर्वक नहीं, किन्तु शब्द से सम्बन्धज्ञानपूर्वक ही अर्थ का ज्ञान होता है। उत्तम वृद्ध और मध्यम वृद्ध के व्यवहार से समीप में खड़ा बालक मध्यम वृद्ध को अर्थ का ज्ञान होते देखकर स्वयं भी अर्थ का ज्ञान कर लेता है। फिर यहाँ इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिये, ऐसी शब्द में अर्थ को ज्ञान कराने वाली शक्ति रूप सम्बन्ध का ज्ञान होता है, किन्तु अनुमान में तो हेतु धूम साध्य अग्नि के बिना नहीं रहता, यह अविनाभाव सम्बन्ध शब्दार्थ शक्ति रूप सम्बन्ध से भिन्न है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वाच्यवाचक सम्बन्ध कहते हैं और अनुमान के सम्बन्ध को अविनाभाव या व्याप्तिरूप सम्बन्ध कहते हैं। इसलिये शब्द और अनुमान के विषय में भेद होने से सामग्री के भेद के आधार पर प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे अनुमान ज्ञान से भिन्न है, ऐसे ही शब्द ज्ञान भी अनुमान ज्ञान से भिन्न ही है।

बौद्धों के मत में यथार्थ वक्ता और अविसंवादी ज्ञान की व्याप्ति देखने से अनुमान और शब्द को अभिन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि शब्द और अर्थ का संबन्ध पुरुषापेक्षी तथा समुद्र की वृद्धि का सम्बन्ध कालापेक्षी है। इन सब बातों का भी भट्टपाद कुमारिल

वाक्यार्थबोधे जातेऽप्रामाण्यशङ्कानिवर्तनमात्रमाप्तवादत्वेन क्रियते, न च ततो बुद्धयुत्पत्तिः। आप्तवादत्वेन सत्यत्वानुमानेऽपि वाक्यार्थस्यानुमानता नायाति। ननु बुद्धयुत्पत्तिरप्याप्तवादत्वलिङ्गाद्भविष्यति, तथाहि आप्तस्य गोपदरचनमर्थान्तरसास्नादिमद्बुद्धिपूर्वकम्, सा चार्थव्याप्ता तज्ज्ञानं जनयतीति न शब्दस्यानुमानभिन्नतेति चेन्न, वैषम्यात्। पक्षसत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वरूपत्रिलक्षणलिङ्गजन्या हि धीरनुमानम्। न चेयं तज्जन्या। पदार्थैरेव गृहीतसम्बन्धैरियं जन्यत इति प्रमाणान्तरमेव। तदुक्तम्—'अन्यदेव हि सत्यत्वमाप्तवादत्व हेतुकम्। वाक्यार्थश्चान्य एवेह ज्ञातः पूर्वतरं च सः॥ ततश्चेदाप्तवादेन सत्यत्वमनुमीयते। वाक्यार्थप्रत्ययस्यात्र कथं स्यादनुमानता॥ जन्मतुल्यं हि बुद्धीनामाप्तानाप्तगिरां श्रुतौ। जन्माधिकोपयोगी च नानुमायां त्रिलक्षणः॥' इति।

न च प्रामाण्यनिश्चयाद्विना प्रतिभामात्रं तदिति वाच्यम्, शब्दार्थसम्प्रत्ययस्यानुभवसिद्धत्वात्। विवक्षाविषयत्वानुमानमपि न संगतम्, विवक्षाया अवाच्यत्वात्। तदप्युक्तम्—'शब्दादुच्चरिताच्च वाच्यविषया तावत्समुत्पद्यते, संवित्तिस्तदनन्तरं तु गमयेत्कामं विवक्षामसौ' इति। किञ्च, अनिच्छतामप्यपशब्दादिभाषणसद्भावात्, वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावान्न विवक्षायामेव शब्दाः प्रमाणम्। एतेन तदभिन्नविषयत्वतदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वरूपहेतोः पूर्वोक्तनीत्याऽसिद्धत्वाच्छब्दोऽनुमानान्न भिद्यत इत्यनुमानमपास्तमेव। शब्दो नानुमानं तद्भिन्नविषयत्वात् तद्भिन्नसामग्रीसम्बन्धित्वात् प्रत्यक्षवत्, शब्दो नानुमानं पुरुषैर्यथेष्टनियुज्यमानस्यार्थप्रतीतिहेतु त्वात्। नानुमानं तथा यथा कृतकत्वादि, तथा च शब्दः,

ने खण्डन किया ही है, क्योंकि पदार्थों से वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाने पर उसमें जब अप्रामाण्य की शंका होती है, तब आप्तवाद उसका अप्रामाण्य शंका का निराकरणमात्र करता है। अतः आप्तवाद शब्द से अर्थ का ज्ञान कराने में कारण नहीं है। आप्तवाद से सत्यत्व का मान भले ही हो जाय, किन्तु वाक्यार्थ का अनुमान नहीं हो सकता। आप्तवाद रूप लिंग से अर्थज्ञान का अनुमान भी हो जायगा, जैसे आप्तपुरुष का जो गोपद उच्चारण है, वह सास्नादिमान् गोरूप वस्तु के ज्ञान के साथ है और वह ज्ञान वस्तु के बिना नहीं हो सकता। इसलिये वह वस्तु का ज्ञान करा देता है। अतः शब्द को अनुमान से भिन्न मानने की जरूरत नहीं, किन्तु आपका यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में बहुत भेद है। पक्षसत्त्व, अबाधितत्व, असत्प्रतिपक्षितत्व रूप तीन लक्षण वाले हेतु से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं। शब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान तो ऐसा नहीं है, क्योंकि वह तो केवल पद-पदार्थ सम्बन्ध के जानने मात्र से उत्पन्न हो जाता है। इसलिये शब्द अनुमान से भिन्न प्रमाण है। इसी बात को इन श्लोकों में भी कहा गया है—आप्तवाद के कारण होने वाला सत्यत्व का ज्ञान भिन्न है और पद-पदार्थ से होने वाला शब्दार्थज्ञान भिन्न। आप्तवाद से सत्यत्व का अनुमान करने मात्र से वाक्यार्थ के ज्ञान को अनुमान नहीं कह सकते। आप्त और अनाप्त का वाक्य सुनने पर केवल सत्यता और असत्यता का ज्ञान होता है। अनुमान में तो उससे अधिक पूर्वोक्त तीन प्रकार के हेतु का ज्ञान भी आवश्यक है।

प्रामाण्य के निश्चय के बिना शब्दजन्य ज्ञान केवल बुद्धि का विलास है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि शब्द से अर्थ का ज्ञान सबके अनुभव से सिद्ध है। उसे कथन की इच्छाविषयक अनुमान कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि कथन की इच्छा शब्द की वाच्य नहीं हो सकती। भट्टपाद कुमारिल ने कहा है कि शब्द के उच्चारण होने से उसके अर्थ का ज्ञान होता है। उसके बाद भले ही वह वक्ता की इच्छा का ज्ञान करा दे। दूसरी बात यह है कि बिना इच्छा के भी कभी मुख से अपशब्द निकल जाते हैं और इच्छा रहने पर भी मन्द बुद्धि वाले शास्त्रीय अर्थ को अपने शब्दों में नहीं प्रकट कर पाते। अतः शब्द अर्थ के ज्ञान में ही प्रमाण हैं, वक्ता की इच्छा में नहीं, क्योंकि यह तो अर्थज्ञान के द्वारा जानी जाती है। इसी से इस अनुमान का भी खण्डन हो गया कि शब्द अनुमान से भिन्न नहीं है, अनुमान से अभिन्न विषय होने के कारण और अनुमान अभिन्न सामग्री से युक्त होने के कारण। इसके विरोधी अनुमान भी देखो—शब्द अनुमान नहीं है, अनुमान से भिन्न विषय होने के कारण और अनुमान से भिन्न सामग्री से सम्बद्ध होने के कारण, प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह। शब्द अनुमान नहीं है, पुरुषों के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार नियुक्त पुरुष को अर्थ ज्ञान कराने वाला होने के कारण। अनुमान तो ऐसा कर नहीं सकता। पुरुष के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण भी शब्द अनुमान नहीं हो सकता। यदि कहो कि यह दृष्टान्त हेतु से अभिन्न ही हो गया, सो ठीक नहीं, क्योंकि पुरुषों के द्वारा नियुक्त व्यक्ति को साध्य की प्रतीति का जनक होने से। कृतकत्व नित्यत्व की सिद्धि की इच्छा से प्रयुक्त होने पर भी नित्यत्व का ज्ञान नहीं करा सकता और धूमत्व जन्मादि की सिद्धि की इच्छा से प्रयुक्त होने पर

तस्मान्नानुमानम् । न च साधनाव्यतिरेकोऽयं दृष्टान्तः, तैर्नियुज्यमानस्यास्य साध्यप्रतीतिजनकत्वात् । नहि कृतकत्वं नित्यत्वसिषाधयिषया धूमत्वादिकं वा जन्मादिसिषाधयिषया प्रयुज्यमानं तत्प्रतीतिहेतुः, अन्यथा न कश्चिद्विरुद्धो हेतुः स्यात् । प्रत्यक्षादौ व्यभिचारात्तु सम्बद्धार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमपि निरस्तमेव । अनुमानं दृष्टान्तापेक्षी शब्दस्तदनपेक्षीत्यपि भेदः । अभ्यस्तविषयेऽपि दृष्टापेक्ष्येवानुमानम् । यदुक्तमर्थासंस्पर्शित्वमेव शब्दस्य प्रामाण्याभाव इति, तदप्ययुक्तम्, अर्थसंस्पर्शित्वमेव शब्दस्य स्वभाव इत्यवगमात् । नद्यास्तीरे फलानि सन्तीत्यदुष्टपुरुषभाषिताद्वाक्यादतिरस्कृतबाह्यार्थविषयस्य यथार्थप्रत्ययस्योत्पत्तेः, ततः प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः । न चेयमर्थप्राप्तिरर्थशून्यादपि शब्दविकल्पात् पारम्पर्येण मणिप्रभामणिबुद्धिवदवकल्पते ।

यदुक्तम्--अङ्गुल्यग्रे करिणां शतमिति स्वभावः शब्दानामर्थासंस्पर्शित्वम् । 'विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः । तेषामन्योन्यसम्बन्धे नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि ॥' इत्यादि, तदप्यकिञ्चित्करम्, गुणवतामेवंविधवाक्योच्चारणचापलाभावात् । यदुक्तम्--आप्तोऽपि कश्चिदनुशास्ति मा भवानभूतार्थवाक्यं वादीः--अङ्गुलिकोटौ करिणां शतमास्ते इति, तन्न, तत्रेति कर्णाविच्छिन्नस्य दृष्टान्ततया शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैकवाक्यतया यथार्थत्वमेव, सार्थपरत्वे तु निषेधैकवाक्यतैव न स्यात् । तस्मादाप्तवाक्यानामयथार्थत्वाभावान्न स्वतोऽर्थासंस्पर्शिनः शब्दाः । पुरुषदोषानुषङ्गकृत एवायं विकल्पः ।

नन्वाप्तैरेवंविधवाक्याप्रयोगेऽपि संदिग्धव्यतिरेकः किं शब्दाभावादयथार्थप्रत्ययानुत्पाद उत वक्तृदोषाभावादिति ? नैतदेवम्--'अनुच्चरितशब्दोऽपि पुरुषो विप्रलम्भकः । हस्तसंज्ञाद्युपायेन जनयत्येव विप्लवम् ॥' न च हस्तसंज्ञादिना

भी जन्मादि की सिद्धि नहीं करा सकता, अन्यथा संसार में कोई विरुद्ध हेतु ही नहीं रह जायगा । सम्बद्ध अर्थ के ज्ञान का हेतु होने के कारण शब्द अनुमान ही है । इसका भी खण्डन प्रत्यक्ष आदि में व्यभिचार होने से किया जा चुका है, अर्थात् सम्बन्धित वस्तु का ज्ञान कराने वाला तो प्रत्यक्ष भी है, किन्तु वह अनुमान नहीं है, यह स्पष्ट है । अनुमान दृष्टान्त की अपेक्षा रखता है, शब्द उसकी अपेक्षा नहीं रखता, इस बात से भी शब्द और अनुमान का भेद स्पष्ट है । अभ्यस्त विषय में भी अनुमान दृष्टान्त की अपेक्षा रखता ही है । 'अर्थ' से सम्बन्ध न होने पर शब्द प्रमाण ही न होगा' यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शब्द का स्वभाव ही है अर्थ से सम्बद्ध होना । नदी के तीर पर फल हैं, ऐसे दोष रहित पुरुष के द्वारा कहे गये वाक्य से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता ही है और वह ज्ञान बाह्य अर्थ का तिरस्कार करने वाला भी नहीं है, क्योंकि ऐसे वाक्य को सुनकर नदी के तीर पर जाने वाले व्यक्ति को फल मिल जाते हैं । यह फल की प्राप्ति मणि की कान्ति से मणि के ज्ञान की तरह अर्थ शून्य शब्द रूप विकल्प से परम्परा के द्वारा नहीं मानी जा सकती ।

यह कहना कि 'अंगुली के अग्रभाग में सो हाथी है, इत्यादि वाक्यों से पता चलता है कि वस्तु रूप अर्थ के साथ सम्बन्ध न रखना तो शब्द का स्वभाव ही है । शब्द केवल अत्यन्त असत् अर्थ स्वरूप विकल्प के जनक हैं और वे विकल्प ही शब्दों के जनक हैं । दोनों के परस्पर सम्बन्ध से ही शब्द अर्थ (वस्तु) का स्पर्श मात्र करते हैं', सर्वथा गलत है, क्योंकि गुणी पुरुष ऐसे वाक्यों का उच्चारण करने की चपलता करते ही नहीं । कहीं-कहीं विश्वस्त पुरुष भी अपने शिष्यों को ऐसा उपदेश देते देखे गये हैं कि 'तुम कभी असंभव अर्थवाले अंगुली के अग्रभाग में सैकड़ों हाथियों की कतारें हैं, ऐसे वाक्यों का प्रयोग मत करना' । किन्तु यहाँ उपदेश देने वाले के द्वारा प्रयुक्त अंगुली के अग्रभाग में सैकड़ों हाथियों की कतारें हैं, यह वाक्य असंबद्ध अर्थ वाले वाक्य के दृष्टान्त के रूप में प्रयुक्त किया गया है । इसलिये वह अर्थ परक है ही नहीं किन्तु केवल शब्दपरक है । 'ऐसे निरर्थक वाक्यों का प्रयोग नहीं करना' इस निषेध वाचक वाक्य के साथ ही 'अंगुली के अग्रभाग में' इत्यादि वाक्य की एकवाक्यता होने से वह स्वार्थपरक है ही नहीं । स्वार्थपरक होने पर तो उसकी उक्त निषेध वाक्य के साथ एकवाक्यता ही न होगी । इसलिये विश्वस्त सत्यवादी व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त वाक्य कभी भी अयथार्थ, अर्थात् मिथ्या हो ही नहीं सकते, फिर वे 'अर्थ' के साथ सम्बन्ध रखने वाले नहीं हैं' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? अतः शब्दों में कहीं कदाचित् जो अपने अर्थ के साथ असंबन्ध रूप विकल्प देखा जाता है, वह पुरुषगत दोष के सम्बन्ध के कारण ही है, स्वभाव से नहीं ।

'आप्त पुरुषों के द्वारा ऐसे वाक्यों का प्रयोग न होने पर भी निम्न लिखित व्यतिरेक व्यभिचार का संदेह तो हो ही जायगा कि क्या शब्द के अभाव से मिथ्याज्ञान नहीं होता, अथवा वक्ता में दोषों के न रहने से' ? यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वंचक पुरुष

शब्दानुमानं तत्कृतश्च विप्लव इति वाच्यम्, तथाऽप्रतीतेः। नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वाक्यादुत्पन्ने ज्ञाने नदीतीरमनुसरन्ननासादितफलः प्रवृत्तबोधकप्रत्ययः पुरुषमेवाधिक्षिपति,। धिक् हा तेन दुरात्मना प्रतारितोऽस्मि, न शब्दम्। प्राप्तफलश्च पुमांसमेव श्लाघते। पुरुषदोषान्वयानुविधानात्तदभावकृत एव आप्तेषु तूष्णीमासीनेषु विभ्रमानुत्पाद इति न संदिग्धो व्यतिरेकः। पुरुषदोषकृत एव शब्दाद्विप्लवो न स्वरूपनिवन्धनः। ननु पुरुषस्य दोषवतो गुणवतो वा शब्दोच्चारणमात्र एव व्यापारः। ततः परंतु कार्यं शब्दायत्तमेवेति तत्स्वरूपकृत एवायं विभ्रम इति चेत्, तर्हि गुणवति वक्तरि सति सरित्तस्तीरे फलानि सन्तीति सम्यक्प्रत्ययेऽपि शब्दस्यैव व्यापारात्पुरुषस्योच्चारणमात्रे चरितार्थत्वान्नैकान्ततः शब्दस्यार्थासंस्पर्शित्वस्वभावः। अपि च, दीपवत् प्रकाशत्वमात्रमेव शब्दस्य स्वरूपम्। न यथार्थत्वमयथार्थत्वं वा, 'विपरीतेऽप्यर्थे दीपस्य प्रकाशत्वानतिवृत्तेः। इयांस्तु विशेषः—प्रदीपे व्युत्पत्तिनिरपेक्षमेव प्रकाशत्वं शब्दे तु व्युत्पत्त्यपेक्षम्। प्रकाशात्मनस्तु शब्दस्य वक्तृगुणदोषाधीने यथार्थत्वायथार्थत्वे। एवम् अङ्गुल्यग्रे करिणां शतमित्यादिवचसि बाधितेऽपि पुनःपुनरुच्चार्यमाणे भवति विभ्रमः, प्रकाशकत्वतद्रूपानपायात्। न त्वेष शब्दस्य दोषः। तदुक्तम्—

पदार्थानां तु संसर्गमसमीक्ष्य प्रजल्पतः। वक्तुरेव प्रमादोऽयं न शब्दोऽत्रापराध्यति॥

प्रमाणान्तरदर्शनमत्र बाध्यते। न पुनर्हस्तियूथशतमिति शाब्दोऽन्वयः। पुरुषः स्वदर्शनं शब्देन परेषां प्रकाशयति। तत्र तद्दर्शनं चेद् दुष्टं दुष्टः शाब्दः प्रत्ययः, अदुष्टं चेददुष्ट इति निर्दुष्टस्य निर्दुष्टं दर्शनं दोषवतो दुष्टमित्यदृष्ट्वाऽपि

शब्द का उच्चारण न करने पर भी हाथ, आँख आदि के इशारे से किसी को ठग कर उपद्रव तो मचा ही सकता है। हाथ आदि के इशारे से शब्द का अनुमान होगा और उस शब्द से ही ठगना आदि उपद्रव खड़े होंगे, यह भी कहना असंगत है, क्योंकि वैसा अनुभव नहीं है। नदी के तीर पर फल हैं, ऐसे वाक्य से ज्ञान के उत्पन्न होने पर जब मनुष्य नदी के तीर पर जाता है और उसे फल नहीं मिलते, तब बाधक ज्ञान के उत्पन्न होने पर वह उन शब्दों को बुरा-भला न कह कर शब्दों के प्रयोग करने वाले पुरुष को ही बुरा-भला कहता है—हाय हाय, उस दुष्ट ने मुझे ठगा और यदि उसे फल मिल जाते हैं, तो वह शब्दों की प्रशंसा न कर पुरुष की ही प्रशंसा करता है। अतः पुरुषगत दोष होने पर ही शब्द में दोष आते हैं और न उनके न रहने पर जब विश्वस्त पुरुष चुप रहते हैं, तो भ्रम की उत्पत्ति ही नहीं होती। फिर आपने जो व्यतिरेक व्यभिचार का सन्देह किया, उसका अवसर ही नहीं है। अतः शब्द से होने वाला उपद्रव पुरुषों के दोषों के कारण ही होता है, न कि शब्द का वह स्वरूप है। 'पुरुष चाहे गुणवान् हो चाहे दोषी, वह तो केवल शब्द का उच्चारण करने वाला है, उसके आगे होने वाला भला-बुरा काम तो शब्द के ही अधीन है। इसलिये भ्रम आदि उपद्रव शब्द के स्वभाव से ही होते हैं' ऐसी शंका भी करना ठीक नहीं, क्योंकि वक्ता यदि गुणवान् हो और उसके 'नदी के तीर पर फल हैं' ऐसा कहने से सत्य ज्ञान हो, तब भी पुरुष तो केवल शब्द का उच्चारण करके ही रह गया। उसके बाद पुरुष को जो फल की प्राप्ति हुई, वह तो पहले कहे हुए आपके सिद्धान्त से शब्दों से ही हुई। इसलिये शब्द अर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले स्वभाव के नहीं हैं, यह आपका सिद्धान्त ही झूठा हो जायगा। वास्तव में तो दीपक का स्वभाव जैसे केवल वस्तु का प्रकाश मात्र करना है, ऐसे ही शब्द का स्वभाव भी केवल अर्थ का प्रकाश मात्र करना है। उसके सच्चे-झूठेपन को बताना जैसे दीपक का स्वभाव नहीं है, वैसे ही शब्द का भी स्वभाव अर्थ के सच्चे-झूठेपन को बताना नहीं है, क्योंकि कहीं कहीं विपरीत वस्तु का प्रकाश भी दीपक से होता है, किन्तु उसके प्रकाश में कोई फरक नहीं पड़ता। इतना भेद जरूर है कि दीपक प्रकाश में व्युत्पत्ति की अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु शब्द अपने अर्थ का ज्ञान कराने में शब्दार्थ सम्बन्ध ज्ञान की अपेक्षा रखता है। प्रकाश स्वरूप शब्द में यथार्थत्व अथवा अयथार्थत्व (सत्यत्व-मिथ्यात्व) वक्ता के गुण और दोषों के अधीन है। इसलिये 'अंगुली के अग्रभाग में सैंकड़ों हाथी हैं' इत्यादि वाक्य के बाधित होने पर भी बार-बार उसके उच्चारण करने से विभ्रम हो ही जाता है, क्योंकि शब्द का स्वभाव है अर्थ का प्रकाशन करना। किन्तु यह शब्द का दोष न होकर वक्ता का ही दोष है। जैसा कि ऊपर के श्लोक में कहा गया है—'शब्द और उनके अर्थों के सम्बन्ध को जानकर बकवास करने वाला व्यक्ति कुछ भी अंट-संट कहे, उसमें शब्द बेचारे का क्या दोष, यह तो वक्ता का ही प्रमाद है।'

प्रमाणान्तर दर्शन का ही बाध होता है, हस्तियूथ शत का बाध नहीं होता, क्योंकि वह तो शब्दपरक है। पुरुष अपने ज्ञान अथवा दर्शन को दूसरे के लिये शब्द से प्रकट करता है। प्रकट करने वाले का ज्ञान अथवा दर्शन दोषयुक्त है, तो उसके शब्दों

यदुपदिश्यते सोऽपि बुद्धिदोष एव। तस्मात्पुरुषगतगुणदोषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तत्कृते एव शब्दे यथार्थत्वायथार्थत्वे। तदुक्तम्—'तथ्यमपि भवति वितथमपि भवति'।

तेनाभिधातृदौरात्म्यकृतेयमयथार्थता। प्रत्ययस्येति शब्दानां नार्थासंस्पर्शिता स्वतः॥

अत एव शब्दो न प्रमाणम्, अर्थासम्बन्धित्वादित्याद्यनुमानमप्यपास्तम्, अर्थासंस्पर्शित्वासिद्धेः, पूर्वोक्तरीत्या शब्दस्य यथार्थज्ञानजनकत्वसिद्धेः।

न चात्र शब्दार्थयोः कुण्डबदरयोरिव संयोगसम्बन्धः, न वा तन्तुपटयोरिव समवायात्मा सम्बन्धोऽभ्युपेयते, न वा तन्मूलकोऽन्यः संश्लेषलक्षणः सम्बन्धोऽभ्युपेयते, येन क्षुरमोदकाद्युच्चारणे मुखपाटनपूरणादिप्रसक्तिः स्यात्। न वा कार्यकारण-निमित्तनैमित्तकाश्रयाश्रयिभावादयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धा अभ्युपगम्यन्ते, तथापि न नास्ति शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, प्रत्यय-नियमहेतुत्वात्। धूमादिवद् अविनाभावोऽपि नात्र सम्बन्धस्तथात्वे तस्यानुमानमात्रत्वापत्तेः। किन्तु समयरूप एव सम्बन्धः। समयश्चाभिधानाभिधेयनियमनियोग एव।

यदुक्तम्—पुरुषकृतः संकेतः। न च पुरुषेच्छया वस्तुनियमोऽवकल्पते, तदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वात्। अर्थोऽपि किमिति वाचको न भवतीति, तन्न, वैषम्यात्। यथा दहनमनिच्छन्नपि धूमान्न न प्रत्येति, जलमिच्छन्नपि न ततः प्रतिपद्यते।

से होने वाला ज्ञान भी वैसा ही है। यदि वह दोष रहित है, तो ऐसे पुरुष के शब्द से होने वाला ज्ञान भी दोष रहित होगा। जो पुरुष स्वयं दोष रहित है, उसका दर्शन या ज्ञान भी दोष रहित ही होगा और दोष वाले का दोष से संयुक्त। यदि कोई पुरुष बिना देखे, बिना सुने या बिना जाने कुछ कहता है, तो यह भी उसकी बुद्धि का दोष ही है। अतः शब्द में यथार्थत्व और अयथार्थत्व (सत्यत्व-मिथ्यात्व) पुरुष के गुण और दोषों के कारण ही होते हैं, क्योंकि यह देखा गया है कि पुरुष में गुण होने पर उसके शब्द सत्य होते हैं और दोष होने पर मिथ्या। यही बात 'तथ्यमपि भवति वितथमपि भवति' इस वाक्य से कही गई है। इसलिये वक्ता के दुष्टस्वभाव के होने के कारण ही शब्द से होने वाला ज्ञान मिथ्या होता है, न कि शब्द स्वयं अर्थ के साथ असम्बद्ध होने से। उन्हीं युक्तियों से अर्थ के सम्बन्ध से रहित होने के कारण शब्द प्रमाण नहीं है, इत्यादि अनुमानों का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि शब्द का अर्थ से सम्बन्ध न होना कोई सिद्ध नहीं कर सकता। पूर्वोक्त रीति से शब्द तो शक्य ज्ञान का जनक है, यही सिद्ध होता है।

इतना और समझ लेना चाहिये कि यहाँ शब्द और अर्थ का जो सम्बन्ध है, वह कुण्ड और बेरी (वृक्ष) के संयोग सम्बन्ध की तरह संयोग रूप नहीं है और न ही धागे और कपड़े के समवाय सम्बन्ध की तरह समवाय रूप है। समवाय सम्बन्ध मूलक संश्लेष लक्षण सम्बन्ध भी शब्द और अर्थ में नहीं माना गया है। इसीलिये छुरी, लड्डू आदि शब्दों के उच्चारण करने पर मुख कट नहीं जाता और न वह लड्डू से भर जाता है। संयोग आदि सम्बन्ध मानने पर तो वैसी आपत्ति हो सकती है। कार्यकारणभाव, निमित्तनैमित्तिकभाव, आश्रयाश्रयिभाव आदि सम्बन्ध भी शब्द और अर्थ में नहीं माने जाते, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं। अर्थ का ज्ञान अवश्य कराने वाला है, इसलिये धूम और अग्नि की तरह अविनाभाव सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि वैसा मानने से तो अनुमान में ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा। अतः शब्द और अर्थ का समय रूप सम्बन्ध है। वाचक शब्द और उससे वाच्य अर्थ का नियमित नियोग ही समय रूप सम्बन्ध कहलाता है।

'शब्दों का अर्थों में संकेत तो पुरुष के द्वारा किया गया है और पुरुष की इच्छा से वस्तु नियमित नहीं की जा सकती, क्योंकि पुरुष की इच्छाएँ निरंकुश होती है, अतः अर्थ को भी क्यों न वाचक मान लें'? ऐसी शंका उचित नहीं हैं, क्योंकि जैसे इच्छा न होते हुए भी धूम का ज्ञान होने पर अग्नि का ज्ञान न हो, ऐसा नहीं हो सकता, किन्तु अग्नि का ज्ञान होता ही हैं। ठीक इसके विरुद्ध पानी को चाहने पर भी मरुमरीचिका में (मृगतृष्णा) वह नहीं मिलता। यही इनमें विषमता है। इसलिये धूम और अग्नि

तत्र धूमाग्न्योर्नैसर्गिक एवाविनाभावः सम्बन्धः। ज्ञप्तये तु भूयोदर्शनादिनिमित्तमाश्रीयते। एवमेव शब्दार्थयोः सांसिद्धिकः शक्त्यात्मा सम्बन्धः। तद्व्युत्पत्तये तु वृद्धव्यवहारप्रसिद्धिसमाश्रयणम्, चक्षुरादिवत्। न च स्वाभाविके सम्बन्धे सति दीपादिवत् किं तद्व्युत्पत्त्यपेक्षणेनेति वाच्यम्, शब्दस्य ज्ञापकत्वात्। यथा ज्ञापकस्य धूमादेः सम्बन्धग्रहसापेक्षं स्वज्ञाप्यज्ञापकत्वं तथैव शब्दस्यापि प्रत्येतव्यम्। चक्षुरादीनां तु कारकत्वात्स्वार्थसम्बन्धग्रहणानपेक्षाणां युक्तं ज्ञानोत्पादकत्वम्। स्वयं हि प्रतीयमानः प्रतीतार्थप्रतीतिहेतुर्ज्ञापकमुच्यते। तद्रूपमात्रं शब्दादेर्धूमादेश्च विद्यते, न चक्षुरादेः। अतः शब्दः प्रतिपन्नसम्बन्धमर्थं गमयति। तद्योग्यतादयश्च प्रत्यक्षसामग्र्यन्तर्गतत्वान्न व्युत्पत्त्यपेक्षा भवन्ति। दीपादेरिव रूपप्रकाशिनी शब्दस्यार्थावभासिनी शक्तिर्व्युत्पत्त्यपेक्षैवेति मीमांसकाः। नैयायिकादिमतरीत्या तु समयरूप एव सम्बन्धः। तस्य चेश्वरेच्छाकृतत्वान्नाव्यवस्थादिकम्।

यदप्युक्तम्—अभिधानाभिधेयनियमनियोगरूपः समयो ज्ञानरूप एव न ततोऽर्थान्तरम्। ज्ञानं चात्मनि वर्तते न शब्दार्थयोरिति न तयोः सम्बन्धः। किञ्च, समयः क्रियमाणः प्रत्युच्चारणं वा क्रियते प्रतिपुरुषं वा, प्रतिपुरुषसर्गादौ वा सकृदीश्वरेणेति। प्रत्युच्चारणं प्राक्तन एव क्रियते नूतनो वा? नवस्य क्रियमाणस्य कथमर्थप्रत्यायनसामर्थ्यम्। तदवगतौ किं तत्करणेन। पूर्वकृतस्य कृतत्वादेव पुनः करणमनुपपन्नम्। एकस्य वस्तुनो ज्ञप्तिरसकृदावर्तते नोत्पत्तिः। प्रतिपुरुषमपि सम्बन्धो

का अविनाभाव सम्बन्ध (अग्नि के बिना धूम का न रहना) स्वाभाविक है, किन्तु स्वाभाविक होते हुए भी इस सम्बन्ध का ज्ञान धूम और अग्नि को बार बार एक साथ देखने से ही होता है। इसी तरह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी शक्ति स्वरूप स्वाभाविक ही है, किन्तु उसे जानने के लिये वृद्ध व्यवहार, प्रसिद्धि, कोश इत्यादि का सहारा लेना पड़ता हैं, नेत्र आदि की तरह। अर्थात् चक्षु आदि यद्यपि स्वभावतः रूप आदि के प्रकाशक हैं, किन्तु स्वभावतः प्रकाशक होते हुए भी वे रूप के साथ अपने सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं, इसी तरह से शब्द भी स्वभावतः अर्थ के प्रकाशक होने पर भी सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। 'स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर तो बिना उसके ज्ञान के ही दीपक आदि जैसे ज्ञान करा देते हैं, वैसे ही शब्द भी बिना सम्बन्ध के ज्ञान के अर्थ का ज्ञान क्यों नहीं करा देते'? ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि शब्द ज्ञापक हैं, कारक नहीं। जैसे धूम अग्नि का ज्ञान मात्र करा देने के कारण ज्ञापक है, अग्नि का कारक नहीं; ऐसे ही शब्द भी अर्थ का ज्ञान मात्र करा देने के कारण ज्ञापक है, कारक नहीं। ज्ञापक जिसका ज्ञान कराता है, उसके साथ सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा अवश्य रखता है, बिना सम्बन्ध को जाने ज्ञापक शब्द अथवा धूम आदि अपने ज्ञाप्य अर्थ और अग्नि आदि का ज्ञान करा हो नहीं सकते। इससे ठीक उलटे चक्षु, दीपक आदि जो कारक हैं, अर्थात् ज्ञान के उत्पादक हैं, वे तो अपने साथ वस्तु का सम्बन्ध होते ही उनका ज्ञान करा देते हैं, शब्द और धूम की तरह अर्थ और अग्नि के सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा करके नहीं बैठे रहते। ज्ञापक उसे कहते हैं, जो स्वयं ज्ञात होकर ही दूसरी वस्तु का ज्ञान करावे। ऐसा स्वरूप धूम और शब्द आदि का है, चक्षुरादि का नहीं। इसीलिये शब्द अपने साथ अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर ही अर्थ का ज्ञान कराता है। योग्यता, आकांक्षा आदि तो प्रत्यक्ष की सामग्री के ही अन्तर्गत है। इसलिये अपने ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखते। मीमांसकों का मत है कि दीपक आदि के रूप आदि को प्रकाशित करने वाली शक्ति के समान ही शब्द में भी अर्थ का प्रकाश करने की शक्ति है, किन्तु वह व्युत्पत्ति (सम्बन्ध-ज्ञान) की अपेक्षा रखती है। नैयायिकों के मत में तो समय रूप ही सम्बन्ध है और वह ईश्वर की इच्छा से हुआ है। अतः कोई अव्यवस्था न होगी। तात्पर्य यह है कि मीमांसक के मत में शब्द शक्ति स्वाभाविक है और नैयायिक के मत में वह ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न है।

वाचक शब्द और वाच्य अर्थ का नियम-नियोग रूप समय अर्थात् सम्बन्ध भी तो ज्ञान रूप ही है, उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं। ज्ञान रहता है आत्मा में। न वह शब्द में रहता है और न अर्थ में ही। फिर शब्द और अर्थ में न रह कर आत्मा में रहने वाले ज्ञान रूप सम्बन्ध को शब्द और अर्थ का-सम्बन्ध कैसे कहते हैं? दूसरी बात यह है कि यह सम्बन्ध क्या प्रत्येक उच्चारण के साथ किया जाता है? या प्रत्येक पुरुष के उच्चारण के साथ किया जाता है? अथवा प्रत्येक पुरुष की उत्पत्ति के आदि में किया जाता है, किं वा ईश्वर के द्वारा एक ही बार किया जाता है? प्रत्येक उच्चारण में भी पुराना ही सम्बन्ध (संकेत) किया जाता है या नया? यदि नया किया जाता है, तो उसमें अर्थ का ज्ञान कराने की सामर्थ्य कहाँ से आई? यदि उसका ज्ञान हो गया तो फिर नये सम्बन्ध की आवश्यकता क्या है? यदि पुराना

भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियते ? भेदपक्षे कथमेकार्थसंज्ञानम् । गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थः केशरादिमांश्चाश्वशब्दस्य । अभेदपक्षेऽपि सर्वत्र कृतस्य करणायोगाद् ज्ञानमेव सम्बन्धस्य करणम् । सर्गादावपि सकृत् सम्बन्धकरणमयुक्तम्, तथाविधकालासम्भवादेव । नहि शब्दार्थविरहितः कश्चित्काल उपपद्यते । तस्मान्नित्यस्य सम्बन्धस्य लोकतो व्युत्पत्तिः, न पुनः करणम् । व्युत्पत्तिपक्षे न करणपक्षाभिमता दोषाः समायान्ति, प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । प्रत्यक्षं हीदमुपलभ्यते स्वार्थे व्यवहरमाणानां वृद्धानामुपशृण्वन्तो बालास्ततस्ततः शब्दात्तं तमर्थं प्रतिपद्यन्ते, तेऽपि वृद्धा बाल्यावस्थायां स्वपूर्वजेभ्यो वृद्धेभ्यस्तथैवावगतवन्तः । तेऽप्यन्येभ्य इत्यनादिपारम्पर्य्यमेव ।

नैयायिकादिमतरीत्या समय एव सम्बन्ध इत्युक्तमेव, क्रमविशेषोपकृतगत्वौत्वादिसामान्यसम्बन्धो हि यस्य भवति स वाचकत्वे योग्यः । इतरस्तु वाच्यत्वे । यथा द्रव्यत्वाद्यविशेषेऽपि वीरणत्वादिसामान्यवतां पटनिष्पत्तौ सामर्थ्यं नेतरेषाम् । केचित्तु संकेतशक्तियोग्यतावशाच्छब्दबोधकत्वमिति, प्रतिनियतशक्तित्वाद्भावानाम् । योग्यता हि शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः, ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत्, चक्षूरूपयोर्घटप्रदीपयोश्च योग्यतातोऽन्यस्य कार्य्यकारणप्रतिबन्धस्य तत्प्रतिनियम-

ही संकेत प्रत्येक उच्चारण में किया जाता है तो जो एक बार किया जा चुका, उसको पुनः फिर से करना व्यर्थ है । जो किया जा चुका, उसको फिर से कर भी कैसे सकते हैं ? एक वस्तु के ज्ञान को तो दोहराया जा सकता हैं, किन्तु उसकी पैदाइश को तो नहीं दोहराया जा सकता । प्रति पुरुष सम्बन्ध करना माने तब भी प्रत्येक पुरुष के साथ वह सम्बन्ध भिन्न होगा कि अभिन्न ? यदि भिन्न, तो भिन्न सम्बन्ध से सब पुरुषों को एक शब्द के एक अर्थ का ज्ञान कैसे होगा ? जैसे गो शब्द से सास्नादिमान् एक ही अर्थ का ज्ञान और अश्व शब्द से गर्दन पर केसर वाले चौपाये रूप अर्थ का ज्ञान । यदि प्रत्येक पुरुष में सम्बन्ध अभिन्न ही मानें तो एक बार करने से ही काम चल जायगा, बार बार करने की क्या आवश्यकता है ? और जो किया जा चुका, उसे फिर कैसे करेंगे ? ज्ञान कराने का नाम ही तो सम्बन्ध कराना है । सृष्टि के प्रारम्भ में भी एक ही बार सम्बन्ध का करना नहीं बन सकता, क्योंकि वैसा कोई काम होना सम्भव नहीं । क्या कोई ऐसा काल हो सकता है, जहाँ शब्द और अर्थ न हों । इन सब शंकाओं का सीधा सा एक ही जवाब है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है, वह किया जाता ही नहीं । इसलिये किये जाने के पक्ष में आने वाले दोष अपने आप हट गये । इतना जरूर है कि उस नित्य सम्बन्ध का ज्ञान (व्युत्पत्ति) लोक व्यवहार आदि से होता है । अतः पूर्वोक्त दोषों का अवसर ही नहीं । इसमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है । हम देखते हैं कि उत्तम वृद्ध और मध्यम वृद्ध के व्यवहार को देखने-सुनने वाले जिज्ञासु बालक उनसे व्यवहार से पहले सम्पूर्ण वाक्य की वाक्यार्थ में शक्ति को जान लेते हैं, फिर अन्य अन्य वाक्यों में नवीन और प्राचीन शब्दों के आवाप और उद्वाप को देख-सुनकर उन उन शब्दों की उन उन नियत अर्थों में शक्ति को जान लेते हैं । इसी तरह बच्चों के सामने व्यवहार करने वाले वृद्ध भी जब बच्चे होते हैं, तो वे अपने से बड़ों के व्यवहार से और वे बड़े भी अपने से बड़ों के व्यवहार से शब्दों में रहने वाली अर्थ का ज्ञान कराने की अनादि, नित्य शक्ति को परम्परा से जान लेते हैं ।

नैयायिक आदि के मत के अनुसार यह कह चुके हैं कि समय ही सम्बन्ध है । गो अथवा घट आदि शब्दों में आये हुए जो ग औ विसर्ग (:) आदि में रहने वाली गत्व आदि जाति ही आनुपूर्वी रूप क्रम विशेष से युक्त होकर ग आदि अक्षरों के साथ सम्बन्ध करती है, वही गो आदि शब्द वाचक बनने के योग्य हैं, शेष वाच्यत्व के । जैसे द्रव्यत्व सभी द्रव्यों में समान होने पर भी तन्तुत्व जाति वाले (धागे) कपड़े को पैदा करने का सामर्थ्य रखते हैं, अन्य नहीं; ठीक वैसे ही क्रम विशेष से युक्त गत्व आदि जाति का सम्बन्ध जिनसे हो, वे ही वाचकत्व के योग्य होते हैं । कुछ लोगों का तो कहना है कि संकेत रूप शक्ति की योग्यता के कारण शब्द में बोधकता है, क्योंकि संसार के सभी पदार्थों में भिन्न भिन्न प्रकार की शक्ति नियत रहती है । शब्द और अर्थ में जो योग्यता है, वह प्रतिपाद्य-प्रतिपादक शक्ति ही है । जैसे ज्ञान और उससे जानने योग्य घट आदि में ज्ञाप्यज्ञापक शक्ति, अर्थात् ज्ञाप्य को ज्ञापन करने की शक्ति रहती है, वैसे ही शब्द और अर्थ से प्रतिपाद्य को प्रतिपादन करने की शक्ति का नाम ही योग्यता है । क्योंकि ज्ञापक (ज्ञान कराने वाला) चक्षु तथा ज्ञाप्य (जिसका ज्ञान कराया जाता है) रूप में एवं ज्ञाप्य घट तथा ज्ञापक प्रदीप में योग्यता से भिन्न किसी अन्य को कार्यकारणभाव के नियामक हेतु के रूप में माना ही नहीं जा सकता । जितनी बार सुनने से यह वाचक शब्द है और यह उसका वाच्य अर्थ है, ऐसा मालूम होगा अथवा यह संज्ञा है और यह संज्ञी है, ऐसा मालूम होगा, उतनी ही बार

हेतोरभावात्। यावत्कृत्वः श्रुतेनेयं संज्ञा अयं संज्ञीत्यवगम्यते तावत्कृत्वः श्रुतादर्थावगमः। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धो हि समयः। ईश्वरीयसंकेताभ्युपगमेन न निरङ्कुशेच्छाप्रभवत्वादव्यवस्था। तावताऽपि गवाश्वादिशब्दानां नियतविषयत्वोपपत्तेः। यदुक्तं समयस्य ज्ञानात्मकत्वादात्मनि वृत्तिर्न शब्दार्थयोरिति, तन्न, तदाश्रयत्वाभावेऽपि ज्ञानस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः। सर्गादौ सकृदेव समयकरणमिति नैयायिकमतम्।

स्वाभाविकः शक्तिरूपः सम्बन्ध इति मीमांसकमतम्। अत एव प्रत्युच्चारणं प्रतिपुरुषं वा समयकरणमित्यादिविकल्पानामनवकाश एव। अत एव न सर्वशब्दानां यदृच्छाशब्दतुल्यत्वम्। केषाञ्चित्त्वद्यत्वे संकेतकरणात्त एव यदृच्छाशब्दाः। शब्दार्थसम्बन्धव्यवहारो मीमांसकमतेऽनादिः, नैयायिकमते सर्गात्प्रभृति। अद्यत्वे तु शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तौ समान एव उभयोरपि पन्थाः। मीमांसकमतरीत्या सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् क्वचिद्देशे केनचिदर्थेन व्यवहारः। अत एव चानवगतसम्बन्धे शब्दे श्रुते सति संदेहो भवति कमर्थं प्रत्याययितुमनेनायं शब्दः प्रयुक्तः। प्रतिनियतसंकेतवशात्तु प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वम्।

एकस्यापि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः संकेतः। यथा कर्कटिकाशब्दो मालवकादौ फलविशेषे गुर्जरादौ तु योन्याम्। रूपनिरूपितचक्षुषः प्रकाशशक्तिरिव शब्दस्यार्थप्रकाशशक्तिः सम्बन्ध इत्यपि समर्थितमेव। न च तेन संकेतनैरपेक्ष्येणापि बोधकत्वं स्यादिति, उक्तोत्तरत्वात्। न च पुरुषेच्छाकृतसंकेतस्य निरङ्कुशत्वादर्थो वाचको भवतु, संकेतस्य सहजयोग्यता-

सुने गये शब्द के अर्थ से वस्तु का ज्ञान होगा। संज्ञासंज्ञीभाव का नाम ही समय है। उसे ईश्वर कृत मान लेने से अव्यवस्था नहीं होगी, क्योंकि वह पुरुष को निरंकुश इच्छा से नहीं पैदा होता। इतने मात्र से गौ, अश्व आदि शब्द अपने अपने निश्चित अर्थ रूप विषय वाले बन जाते हैं। 'समय ज्ञान रूप होने से आत्मा में रहेगा, शब्द और अर्थ में नहीं' यह भी आपका कथन ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान भले ही आत्मा में रहे, शब्द और अर्थ में न रहे, किन्तु ज्ञान के विषय तो शब्द और अर्थ ही हैं। इसलिये विषयता सम्बन्ध से वह शब्द और अर्थ में भी रह ही जायगा। सृष्टि के आदि में एक ही बार भगवान् शब्दों के संकेत का ज्ञान करा देते हैं, यह न्यायशास्त्र का मत है।

मीमांसकों का मत है कि शक्तिरूप संबन्ध स्वाभाविक ही है। उसका करने-कराने वाला कोई नहीं है। इसीलिए प्रति उच्चारण प्रति पुरुष पूर्वोक्त विकल्पों का यहाँ कोई अवकाश नहीं और इसीलिए सब शब्द यदृच्छा शब्दों के समान भी नहीं है। अर्थ के साथ संबन्ध का विचार किये बिना चाहे जिसका चाहे जो नाम अपनी इच्छा से रख दिया जाता है तो उसे यदृच्छा शब्द कहते हैं। जैसे आजकल के लोगों के द्वारा रक्खे गये अपने बच्चों के पप्पू, सप्पू, गप्पू आदि नाम। इसीलिये जिन शब्दों का आजकल के लोग जिन अर्थों में संकेत कर देते हैं, वे ही यदृच्छा शब्द है, अन्य नहीं। मीमांसक के मत में शब्दार्थ-सम्बन्ध व्यवहार अनादि है। नैयायिक के मत में वह सृष्टि के प्रारंभ में ईश्वर के द्वारा किया गया है। इस मतभेद से वर्तमान में होनेवाले शब्द और अर्थ के संबन्ध के ज्ञान में कोई फरक नहीं पड़ता, क्योंकि इस संबन्ध में दोनों की रीति समान ही है। मामांसक की रीति से सभी शब्द सभी अर्थों का ज्ञान कराने की शक्ति से युक्त हैं। इसलिये कुछ देशों में कुछ शब्दों का जो अर्थ है, अन्य देशों मे इन्हीं शब्दों का अर्थ भिन्न रूप से व्यवहार में आता है। इसोलिये अज्ञात सम्बन्ध वाले शब्द के सुनने पर यह संदेह होता है कि किस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये इस व्यक्ति ने इस शब्द का प्रयोग किया? निश्चित संकेत के कारण ही निश्चित अर्थ की प्रतीति होती है। एक ही शब्द का देश के भेद से भिन्न-भिन्न अर्थों में संकेत निश्चित होता है। जैसे कर्कटिका शब्द मालवा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि में 'ककड़ी' नामक फलरूप अर्थ में प्रयुक्त होता है और वही गुजरात, महाराष्ट्र आदि दक्षिण के देशों में योनिरूप अर्थ में।

रूप से संबद्ध चक्षु में जैसे रूप को प्रकाशित करने की शक्ति है, वैसे ही शब्द में अर्थ को प्रकाशित करने की शक्ति है। इस शक्ति का ही नाम संबन्ध है, जिसका समर्थन किया जा चुका है। इसके ज्ञान के बिना शब्द अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता, यह उत्तर भी स्पष्ट है। 'पुरुष को इच्छा से होने वाले संकेत निरंकुश होते हैं, इसलिए अर्थ ही वाचक क्यों न मान लिया जाय'? यह कहना तो बच्चों की सी बात होगी, क्योंकि संकेत का मूल स्वाभाविक योग्यता है। जैसे धूम और अग्नि का अविनाभाव संबन्ध स्वाभाविक योग्यता

निबन्धनत्वात्, धूमाग्निवत्। यथा धूमाग्न्योरविनाभावः सम्बन्धः, तद्व्युत्पत्तये तु भूयोदर्शनादिनिमित्तमाश्रीयते, तथा शब्दार्थयोः स्वाभाविकः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्त्यात्मा सम्बन्धः, तद्व्युत्पत्तये संकेतः समाश्रीयते। सांसिद्धिकार्थशक्तिव्यतिक्रमे च चक्षुरादीनामपि प्रकाश्यप्रकाशशक्तिव्यतिक्रमः स्यात्। चक्षुःप्रकाशादीनां प्रकाश्यत्वं घटादीनाञ्च प्रकाशकत्वं स्यात्। यद्यत्र प्रतीतिविरोधान्न तथाभ्युपगमस्तर्हि प्रतीतिविरोधस्यात्रापि सत्त्वात्।

केषाञ्चिन्मतरीत्या शब्दब्रह्मणो विवर्तत्वात्तादात्म्यसम्बन्ध एव शब्दार्थयोः। तावताऽपि क्षुरमोदकादिशब्दोच्चारणेन न मुखपाटनपूरणाद्यापत्तिः, संयोगादिसम्बन्धस्यैव तन्नियामकत्वात्। न च शब्देन मुखस्य संयोगादिकम्। न चाभेदे संयोगादिकमपि कथं न स्यात्, तयोरनिर्वचनीयभेदस्याऽपि सत्त्वात्। यथा मृत्तिकया घटाभेदेऽपि घटेनैव जलानयनादिकं संपाद्यते, न मृत्तिकया, तथैव शब्दार्थयोरभेदेऽपि क्षुरमोदकाद्यर्थैरेव मुखपाटनपूरणादिकं न क्षुरमोदकादिशब्दैः। ननु शब्दार्थयोरभेदे किं मानम्? ओमितीदं सर्वमिति श्रुतेरेव मानत्वात्, 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥' इत्याप्तोक्तेः। आकाशादिप्रपञ्चस्य शब्दतन्मात्रकार्य्यत्वाच्च सर्वस्य शब्दकार्य्यत्वम्। सच्चिदानन्दमहाब्धौ अभिधानात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुकूलशक्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य विवर्तः प्रणवः। अभिधेयात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुकूलशक्त्यवच्छिन्न-चैतन्यस्य विवर्तोऽव्यक्तेश्वरः। यथा प्रणवविकारः सर्वो वाङ्मयप्रपञ्चः, तथैवाव्यक्तेश्वरविकारोऽर्थमयः प्रपञ्चः। अभि-

मूलक है, किन्तु उसे समझने के लिए जैसे बार बार धूम और अग्नि का एक साथ देखना निमित्त माना जाता है, ठीक वैसे ही शब्द और अर्थ का प्रतिपाद्यप्रतिपादक शक्तिस्वरूप संबन्ध यद्यपि स्वाभाविक है, किन्तु उसे समझने के लिये समय अथवा संकेत रूप निमित्त का सहारा लेना पड़ता है। वस्तुओं की स्वाभाविक शक्ति को उलट देने पर तो नेत्र आदि में भी प्रकाश्य-प्रकाशक शक्ति का क्रम उलटा हो जायगा। फिर तो नेत्र और प्रकाश आदि ही प्रकाश्य बन जायँगे और घट आदि उनके प्रकाशक! यदि अनुभव के विरोध से घट आदि तथा नेत्र और प्रकाश आदि में ऐसा उलट-फेर नहीं माना जा सकता, तो शब्द और अर्थ में भी उलट-पलट कर शब्द को वाच्य और अर्थ को वाचक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुभव का विरोध जैसा वहाँ है, वैसा यहाँ भी है ही।

कुछ लोगों के मत में शब्द-ब्रह्म का विवर्त ही सारा संसार है। अवास्तविक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं, जैसे सीप का चाँदी के रूप में परिवर्तित होना और रस्सी का साँप के रूप में परिवर्तित होना। व्याकरण आदि शास्त्रों के रचयिताओं का यह मत है कि यह सारा संसार अथवा संसार की सारी वस्तुएँ शब्दरूप ब्रह्म के ही विवर्त हैं। अतः शब्द और अर्थ का तादात्म्य संबन्ध ही है। इतने पर भी छुरी, लड्डू आदि शब्दों के मुँह से निकलने पर मुँह कट नहीं जाता या लड्डू से भर नहीं जाता, क्योंकि कटना, भरना आदि तो छुरी, लड्डू आदि के संयोग से ही होता है और अर्थ से अभिन्न होने पर भी शब्द का मुँह से संयोग तो है नहीं। 'अभेद होने पर भी संयोग नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है'? तो इसका उत्तर यह है कि तादात्म्य संबन्ध में अभेद होते हुए भी अनिर्वचनीय भेद भी रहता है, अतः मिट्टी से घट का तादात्म्य रूप अभेद होने पर भी अनिर्वचनीय भेद भी है। इसीलिये घड़े से ही जलपान आदि क्रियाएँ की जा सकती हैं, मिट्टी से नहीं। उसी प्रकार शब्द और अर्थ का अभेद होने पर भी अर्थ (वस्तु) स्वरूप छुरी, लड्डू आदि वस्तुओं से ही मुँह का कटना-भरना आदि हो सकता है, केवल शब्दों से नहीं। शब्द और अर्थ के अभेद में 'ॐ इतीदं सर्वम्' (यह सारा संसार प्रणव रूप ही है) यह वेदमन्त्र प्रमाण है। वाक्यपदीयकार श्रीभर्तृहरि भी कहते हैं—'अनादि, अनन्त, विकार से रहित शब्दतत्त्व ही परब्रह्म है, उसी से यह सारा जगत् विवर्तरूप में पैदा होता है'। वेदान्ती और सांख्य के मत में भी स्थूल आकाश आदि प्रपंच शब्दतन्मात्रा से पैदा होते हैं, अतः वे शब्द के कार्य हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप महासमुद्र में वाचक शब्द स्वरूप प्रपंच (संसार) को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त चैतन्य का विवर्त ही ॐ कार है। इसी तरह वाच्यार्थ स्वरूप संसार की संपूर्ण वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त चैतन्य का विवर्त ही अव्यक्त ईश्वर है। जैसे शब्दात्मक समस्त वाङ्मय प्रपंच प्रणव का विकार है, वैसे ही अर्थमय जगत् के सब पदार्थ अव्यक्त ईश्वर के विकार हैं। वाचक शब्द रूप विकार प्रणव से भिन्न नहीं हैं। यह बात 'अकारो वै सर्वा वाक्' इस वेद मन्त्र से सिद्ध है। इसी तरह से वाच्यार्थ वस्तुरूप प्रपंच अव्यक्त ईश्वर से भिन्न नहीं है, यह बात भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वेदमन्त्र से सिद्ध है। जो जिससे अभिन्न से अभिन्न होता है, वह

धानात्मविकारप्रपञ्चः प्रणवमात्र एव, 'अकारो वै सर्वा वाक्' इति श्रुतेः। तथैवाभिधेयात्मकः प्रपञ्चोऽव्यक्तेश्वर एव, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुतेः। तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमेन शब्दार्थयोरभेद एव।

तथापि यथा मृद्घटयोर्जीवेश्वरयोश्च वस्तुतोऽभेदेऽपि व्यावहारिको भेदो व्यवहारव्यवस्थापकोऽभ्युपेयते, तथैव शब्दार्थयोरपि। लघुमञ्जूषाकारस्तु संकेतः पदपदार्थयोरितराध्यासरूप इति महाभाष्यरीत्या पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः, वाच्यवाचकभावापरपर्यायं परम्परया तद्ग्राहकं चेतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम्। अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा शक्तिर्नैयायिकाभिमता। स एव भेदरूपः संकेतः। अभेदरूपं च वैयाकरणाभिमतम्, तथापि पाणिन्यादिस्मार्तसंकेतस्यैव वाचकतानियामकत्वम्, न त्वाधुनिकस्येत्यादि। आधुनिकसंकेतस्थले द्वादशेऽह्नि क्रियमाणनामस्थले लक्षणैव। तत्र गोविन्दादिगुणाद्यारोपेण च बोधः।

केचित्तु पदपदार्थयोर्बोधबोधकभावनियामिका शक्तिरेव सम्बन्धस्तत्रापि कार्यजनकत्वे सम्बन्धस्यैव नियामकत्वम्। दीपगतप्रकाशकत्वशक्तावपि सम्बन्धे सत्येव वस्तुप्रकाशकत्वं नान्यथेति दृष्टत्वात्। उपकार्योपकारकयोरुपकारस्वभावः सम्बन्धो यत्रासीत्तत्रैव कार्यं दृष्ट्वा शक्तिरूपो धर्मोऽनुमीयते। तेनासौ शक्तीनामपि शक्तिर्गुणानामपि गुणः। तादात्म्यं चात्र तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्, अभेदस्याध्यस्तत्वाच्च न तयोर्विरोधः। भेदस्योद्भूतत्वविवक्षया तस्य वाचकः प्रणव इति षष्ठी, अभेदविवक्षया च ओमित्यक्षरं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यम्। अयमध्यास आदिव्यवहारकृदीश्वरकृत एव। यथावस्थित एव पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते। अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्रः। तदुक्तं हरिणा—'इन्द्रियाणां

प्रत्यय से भी अभिन्न होता है। इस नियम से शब्द और अर्थ अभिन्न ही हैं। जैसे पृथ्वी से अभिन्न मिट्टी से अभिन्न घड़ा पृथ्वी से भी अभिन्न ही है।

जीव और ईश्वर का तथा मृत्तिका और घट का जैसे वास्तव में अभेद होने पर भी व्यवहार की व्यवस्था चलाने के लिए व्यावहारिक भेद भी माना जाता है, इसी प्रकार शब्द और अर्थ में भी व्यवहार की व्यवस्था के लिए भेद मानना ही पड़ता है। लघुमंजूषाकार नागेश भट्ट तो संकेत को पद और पदार्थ का परस्पर अध्यास रूप ही मानते हैं। महाभाष्यकार की रीति से पद और पदार्थ का वाच्यवाचकभाव नामक स्वतन्त्र संबन्ध ही शक्ति है और उसका ग्राहक परस्पर अध्यासमूलक तादात्म्य है। नैयायिक के मत में इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिए, ऐसी ईश्वर की इच्छा ही शक्ति है, वही भेदरूप संकेत है। व्याकरण शास्त्रकार इसे अभेदरूप मानते हैं और महर्षि पाणिनि आदि द्वारा निर्दिष्ट संकेत को ही वाचकता का नियामक मानते हैं। आज कल के लोगों द्वारा निर्मित संकेत को वाचकता का नियामक नहीं मानते। आज कल के लोगों द्वारा जिन शब्दों का जिन अर्थों में संकेत किया जाता है, उन शब्दों की उन अर्थों में लक्षणा ही वे मानते हैं। नामकरण में भी वे लक्षणा ही मानते हैं। गोविन्द आदि के गुणों का आरोप करने से वे अर्थ का ज्ञान मानते हैं।

कुछ लोगों के मत में शब्द और अर्थ की बोध (ज्ञान)-बोधक (ज्ञान कराने वाला)-भाव की नियामिका शक्ति ही संबन्ध है। शब्द से अर्थ के ज्ञान में वे भी संबन्ध को ही नियामक मानते हैं, क्योंकि वस्तु के साथ संबन्ध होने पर ही दीपक की प्रकाशिका शक्ति वस्तु का प्रकाश करती है। उपकार्य और उपकारक का उपकार-स्वभाव जहाँ होता है, वहीं कार्य को देखकर उसकी कारणभूत शक्ति का अनुमान किया जाता है। इसलिए यह शक्तियों की भी शक्ति है और गुणों का भी गुण है। यहां भिन्न होने पर भी अभेद से ज्ञायमान रूप तादात्म्य भी है। भेद और अभेद का विरोध होने पर भी अभेद यहाँ अवास्तविक है, अतः विरोध नहीं है। भेद को प्रधान रूप से कहने की इच्छा से 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस योगसूत्र में भेदबोधक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है। अभेद को प्रधान बताने की इच्छा से 'ॐ इत्यक्षरं ब्रह्म' यहाँ समान विभक्ति है। यह अभ्यास प्रत्येक सृष्टि के प्रारंभ में व्यवहार का उपदेश करने वाले ईश्वर के द्वारा ही किया गया है। पिता-पुत्र का पहले से विद्यमान संबन्ध ही जैसे यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है, इस संकेत से बताया जाता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। भर्तृहरि ने कहा है कि 'इन्द्रियों की अपने विषय का ज्ञान कराने में जैसे अनादि काल से योग्यता है, इसी प्रकार शब्दों की अपने अर्थों का ज्ञान कराने में भी अनादि योग्यता है। किन्तु उस योग्यता का ज्ञान योग्यतारूप संबन्ध से ही होता है, जैसे संबन्धीवाचक माता, पिता आदि शब्द से ही संबन्ध का ज्ञान होता है और उसका ज्ञान कार्य को देखकर कारण के अनुमान से

स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा। अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥ सम्बन्धिशब्दे सम्बन्धो योग्यतां प्रति योग्यता। समयाद्योग्यता संविन्मातापित्रादियोगवत्॥ सति प्रत्ययहेतुत्वे सम्बन्धे उपपद्यते। शब्दस्यार्थे यतस्तस्मात् सम्बन्धोऽस्तीति गम्यते॥' इति। अस्मिन्मते भेदाभेदोपपादनाद् घटादिशब्दे न बहुधारणाद्यापत्तिः, न वा अग्न्यादिशब्दोच्चारणे मुखदाहापत्तिः, न वा अर्थे वर्णमालाद्यनुभवापत्तिः। यथा शुक्तेः रजतत्वावभासः, तन्मूलकं इदंपदार्थरजतपदार्थयोस्तादात्म्यम्, तथा पदपदार्थयोरपि अयं घट इति तादात्म्यमध्यासमूलकमेव, न वास्तविकमित्युक्तत्वात्। कः शब्दः कोऽर्थ इति प्रश्ने घट इत्ययं शब्दः घट इत्ययमर्थ इत्येवाकारोत्तरदर्शनात्तयोरध्यासः। अत एव पदं श्रुतं पदार्थं शृणु अर्थं वदेत्यादिव्यवहाराः। बौद्ध एवार्थः पदमपि बौद्धमिति मते तयोरभेद एव—'विप्र पृथिव्यादि चित्तस्थं न बहिस्थं कदाचन। स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवानुभूयते॥' न चैतावता बौद्धमतप्रवेशस्तेनारोपितसत्त्वस्याप्यनङ्गीकारादात्मनोऽप्यनित्यत्वाभ्युपगमाच्च। अभिधानाभिधेयरूपा बुद्धिर्हृदयाकाशप्रतिष्ठिता परबोधनेच्छया पुरुषेणोदीर्य्यमाणा कण्ठादिषु वर्णभावमापद्यते। न च बौद्धे दाहादिशक्तिमत्त्वम्। अस्यायमर्थोऽस्यार्थस्येदं पदमित्यादौ षष्ठ्यनुपपत्त्या स्वाभाविकयोगाङ्गीकारः, असम्बद्धानां घटपटादीनामेवं व्यवहाराभावात्।

समयः संकेत इति चाप्तोपदेशवृद्धव्यवहारपर्य्यायौ। अत एव सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः। कः पुनः समयः? अस्येदं नामधेयमित्यादिनियोगरूपः। नियोगश्चाप्तोपदेश एव। ईश्वरसंकेत एव शक्तिरिति नैयायिकाः। अयमेतच्छब्दोऽत्रास्य शक्तिरित्यस्य संकेतानापत्तेः, ईदृशसंकेतस्य लोके दर्शनेन तादृशेश्वरसंकेतस्याप्यनुभवात्। न्यायवाचस्पत्ये उक्तम्—'सर्गादि-

होता है। इसलिये शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवश्य है, यह जान लिया जाता है। भेदाभेद संबन्ध मान लेने से इस मत में घट शब्द कहने पर मुख में बहुत कुछ भर जाने की आपत्ति नहीं और न ही अग्नि आदि शब्द के उच्चारण में मुखदाह की आपत्ति होगी। घटादिरूप वस्तु में 'घ् अ ट् अ' इस वर्णमाला के अनुभव की भी आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि जैसे सीप का रजत के रूप में ज्ञान और उसका कारण सामने दिखाई देने वाली वस्तु के साथ अभेदरूप तादात्म्य हैं, इसी तरह शब्द और उसके अर्थ का भी 'यह घड़ा है' इस रूप में जो तादात्म्य मालूम पड़ता है, वह अध्यासमूलक ही है, वास्तविक नहीं, यह पहले कह चुके हैं। शब्द क्या है? ऐसा पूछने पर भी उत्तर मिलता है घड़ा। यह वस्तु क्या है? यह पूछने पर भी उत्तर मिलता है घड़ा। इस प्रकार एक ही आकार वाले उत्तर से अध्यास में प्रमाण मिल जाता है। इसलिये 'शब्द सुना, अर्थ सुनो, अर्थ कहो' यह व्यवहार अध्यास के बिना बन ही नहीं सकते, क्योंकि बाह्य वस्तु रूप अर्थ का उच्चारण या कथन तो सर्वथा असंभव है। 'बुद्धि में विद्यमान ही शब्द है और अर्थ भी बुद्धिस्थ ही है, बाहर नहीं' इस मत में दोनों का सुतरां अभेद है। जैसा कि प्रपंचसार में कहा है—'पृथिवी आदि सब पदार्थ अपने मन में ही है, बाहर नहीं। स्वप्न में, भ्रम में और मद में इसका अनुभव सभी को होता है'। ऐसा मानने पर भी हम बौद्ध नहीं बन जायँगे, क्योंकि उनके मत में आरोपित की सत्यता नहीं मानी जाती और वे आत्मा को भी अनित्य मानते हैं। उनके विरुद्ध हम आरोपित बाह्य प्रपंच की व्यावहारिक सत्ता मानते हैं और आत्मा की नित्यता। वाचकवाच्य रूप हृदयरूपी आकाश में रहनेवाली बुद्धि दूसरों को ज्ञान कराने की इच्छा से पुरुष के हृदय में से उठकर कण्ठ, तालु आदि स्थानों में आकर वर्णमाला बन जाती है। बुद्धिस्थ पदार्थ में तो जलाने आदि की शक्ति है नहीं। 'इस शब्द का यह अर्थ है, इस अर्थ का वाचक यह शब्द है' इत्यादि वाक्यों में संबन्धवाचक षष्ठी विभक्ति नहीं बन सकती। इसलिए स्वाभाविक संबन्ध स्वीकार किया है, क्योंकि संबन्ध रहित घट-पट आदि में ऐसा व्यवहार नहीं होता।

समय और संकेत ये दोनों शब्द आप्त उपदेश और वृद्ध व्यवहार के पर्यायवाचक हैं। इसीलिये कहा जाता है कि शब्द से होने वाला अर्थ का ज्ञान सामयिक अर्थात् आप्त उपदेश अथवा वृद्ध व्यवहार के द्वारा होता है। समय क्या है? इस व्यक्ति या वस्तु का यह नाम है, इत्यादि नियोग को ही समय कहते हैं। वह नियोग आप्त का उपदेश ही है। वही यदि ईश्वर के संकेत के रूप में हो, तो उसे शक्ति कहते हैं। यह न्यायशास्त्र का मत है। यह अमुक शब्द है, इसकी इस अर्थ में शक्ति है, ऐसा संकेत बन नहीं सकता, किन्तु लोक में यह संकेत देखा जाता है, इसलिये उस संकेत का ईश्वर के संकेत के रूप में ही अनुभव मानना पड़ेगा। न्यायवार्तिक की तात्पर्य टीका में आचार्य वाचस्पति ने कहा है कि प्रत्येक सृष्टि के प्रारंभ में होने वाले देवता और महर्षियों को

भुवां महर्षिदेवतानामीश्वरेण साक्षादेव कृतः संकेतः, तद्व्यवहाराच्चास्मदादीनामपि सुग्रहस्तत्संकेतः'। योगवाचस्पत्ये च 'सर्वे शब्दाः सर्वाभिधानसमर्थाः। ईश्वरसंकेतस्तु प्रकाशकः। अत एव च नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः। सर्वैरर्थैः सर्वार्थसम्बन्धश्च योगगम्य एव'। युक्तं चैतत्, एकस्यैव स्फोटस्य शब्दब्रह्मरूपस्य सर्वशब्दतदर्थोभयोपादानत्वेनोभयरूपतया उभयोरपि तत्कार्य्ययोरुभयरूपत्वात्।

'क्रियाशक्तिप्रधानायाः शब्दशब्दार्थकारणम्। प्रकृतेर्बिन्दुरूपिण्याः शब्दब्रह्माऽभवत्पुरा ॥' श्रुतिश्च—'सूक्ष्मामर्थनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम्। तामन्ये विदुरन्यामिव च नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम्॥' तत्तद्रूपेणाभिव्यक्तामन्यामिव भेदवतीमिवात्मनि चित्ते तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थेन शुद्धेनापि ब्रह्मणाऽध्यासिकं तादात्म्यम्, यद्वा शब्दादिविशिष्टबोधः, अखण्डार्थस्तु मानसबोधविषयः। तादात्म्यमूलकस्य सम्बन्धत्वेऽर्थभेदात्तत्तादात्म्यापन्नशब्देषु भेदौचित्यादर्थभेदाच्छब्दभेदः। समानाकारत्वमात्रेण तु एकोऽयं शब्दो नानार्थ इति व्यवहारः। अन्ये तु एकस्मिन्नेव फले रूपरसगन्धादीनां भिन्नानां तादात्म्यवद् एकत्रैव शब्देऽनेकार्थनिरूपितान्यनेकानि तादात्म्यानि। परे तु निरूपकभेदेऽपि तादात्म्यमेकमेवेत्याहुः।

ननु सर्वेषां शब्दानां सर्वार्थवाचकत्वे लक्षणोच्छेदः स्यादिति चेन्न; योगिनां तथात्वज्ञानेऽप्यस्मदादीनां तदभावात्। परमेश्वरस्याबुद्धिपूर्विकायां सृष्टौ मायापुरुषौ भवतः। अबुद्धिरविद्यालीला 'यदेकलो न शक्नोति रन्तुं स्वयं चर प्रभो। तदिच्छा-

ईश्वर ने साक्षात् संकेत के द्वारा शब्दों का अर्थ बताया और उनके व्यवहार से परम्परा के द्वारा उस संकेत का हम लोगों को भी आसानी से ज्ञान हो गया। योगभाष्य की तत्त्ववैशारदी टीका में तो आचार्य वाचस्पति ने कहा है कि सभी शब्द सभी अर्थों का प्रतिपादन करने में समर्थ हैं। ईश्वर का संकेत तो केवल प्रकाशक है। इसलिये शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य है। सब अर्थों के साथ सम्बन्ध का ज्ञान योगाभ्यास से ही हो सकता है। यही बात युक्तियुक्त भी है। एक ही शब्दब्रह्मस्वरूप स्फोट सब शब्दों और उनके अर्थों का उपादान कारण है। इसीलिये वही शब्द रूप भी है और अर्थ रूप भी। इसलिये उस शब्दब्रह्मरूप स्फोट से व्यक्त होने वाले शब्द और अर्थ दोनों स्फोट रूप ही हैं, जैसे घट आदि कार्य अपने उपादान कारण मृत्तिका रूप ही है।

क्रियाशक्ति प्रधान बिन्दुरूपा प्रकृति ही शब्द और उसके अर्थ का कारण है। उसी बिन्दु रूप प्रकृति से पहले शब्दब्रह्म प्रकट होता है। वेद मन्त्र भी कहता है कि 'अर्थ से अभिन्न स्वरूप वाली अत्यन्त सूक्ष्म वाणी ही नाना रूप से प्रकट होती है। उसे लौकिक लोग भिन्न-भिन्न रूप से जानते हैं। वास्तव में अपने स्वरूप में प्रविष्ट उसके वास्तविक रूप को जानने वाले विरले ही हैं। लोग तो उसे भिन्न-भिन्न रूप वाली ही समझते हैं'। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतिवाक्य भी शब्दस्वरूप है। शुद्ध ब्रह्म हो उनका अखण्ड अर्थ है और उन वाक्यों का अपने अर्थ के साथ कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है। अथवा उस अर्थ का ज्ञान शब्द विशिष्ट है, अखण्ड अर्थ का ज्ञान तो अन्तःकरण की वृत्ति का विषय है। तादात्म्यमूलक सम्बन्ध मानने से अर्थ भिन्न हो जाते हैं, इसलिये अर्थ से अभिन्न शब्दों में भी भेद मानना उचित है। इसीलिये अर्थ भिन्न होने से शब्द भिन्न होते हैं, यह सिद्धान्त माना गया है। यह एक ही शब्द अनेक अर्थ वाला है, इस व्यवहार को समान आकार होने के कारण ही मानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि 'सैन्धव' इत्यादि शब्द 'नमक', 'घोड़ा' आदि भिन्न अर्थों के होने से स्वयं भी भिन्न-भिन्न होकर के ही भिन्न-भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु उनका 'सैन्धव' यह आकार एक सा होने से समझते हैं कि एक ही शब्द के अनेक अर्थ हैं। दूसरे लोगों का मत है कि एक ही फल में जैसे भिन्न-भिन्न अनेक रूप, रस, गन्ध आदि का तादात्म्य है, वैसे ही एक ही शब्द में अनेक अर्थों के अनेक तादात्म्य हैं। वास्तविक सिद्धान्त यह है कि भेद का निरूपण करने वाले अर्थों और रूप, रस, गन्ध आदि के भिन्न-भिन्न होने पर भी उनका तादात्म्य तो एक ही है।

'यदि सब शब्द सभी अर्थों के वाचक हैं तो लक्षणा, व्यंजना आदि वृत्तियों को मानना व्यर्थ हो जायेगा', ऐसी शंका नहीं करना, क्योंकि योगियों को ही सब शब्दों से सब अर्थों का ज्ञान हो सकता है, हम लोगों को नहीं। इसलिये लक्षणा, व्यंजना मानना अनावश्यक नहीं है। परमेश्वर की अबुद्धिपूर्वक सृष्टि में जीव और माया होते हैं। अबुद्धि का तात्पर्य यहाँ अज्ञान की लीला से है। कहा भी है कि—'हे स्वयं विचरण करने वाले प्रभु! आप अकेले रमण नहीं कर सकते, इसलिये आपकी जो इच्छा उत्पन्न हुई, वही

तव योत्पन्ना सैषा शक्तिरभूत्तव ॥ त्वमेको द्वित्वमापन्नः शिवशक्तिप्रभेदतः ।' ततः परमेश्वरात् सिसृक्षात्मिका मायावृत्तिर्जाता, ततो बिन्दुरूपं त्रिगुणमव्यक्तं जायते । इदमेव शक्तितत्त्वम् । तस्य बिन्दोरचिदंशो बीजम्, चिदचिन्मिश्रोंऽशो नादः, चिदंशो बिन्दुः । अचिच्छब्देन शब्दार्थोभयसंस्काररूपा अविद्योच्यते, 'सच्चिदानन्दविभवात् सकलात्परमेश्वरात् । आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥ परशक्तिमयः साक्षात्त्रिधासौ भिद्यते पुनः । बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिता ॥' इति । यदप्युक्तम्—नेन्द्रियवदुदासते शब्दाः, अतोऽर्थास्पर्शिन इत्यादि, तदप्यकिञ्चित्करम्, बाधकप्रत्ययप्रवृत्तावपीन्द्रियस्य चन्द्रद्वयविषयमिथ्याज्ञानजनकत्वप्रतीतेः । न च तत्प्रवृत्तौ तत्तद्विषयं विज्ञानं नोत्पादयतीति वक्तुं शक्यते, प्रतीतिविरोधात् ।

तदप्युक्तं विकल्पयोनयः शब्दाः, तदप्यकिञ्चित्करम्, सविकल्पकत्वासिद्धौ तन्निराकरणात्, विकल्पनिर्वचनानुपपत्तेः । तथाहि केयं विकल्पना—अभिलापवत्प्रतिभासनिश्चयः, जात्याद्युल्लेखः, स्पष्टाकारता, अर्थसन्निधिनिरपेक्षता, अनक्षप्रभवता, धर्मान्तरारोपो वा ? नाद्यः, प्रतिभासस्याभिलापवत्त्वानुपपत्तेः । तद्धि तत्स्वभावत्वात् तद्धेतुत्वाद्वा ? न प्रथमः, चेतनाचेतनयोर्जलानलयोरिव विरुद्धधर्माध्यसितत्वेन तादात्म्यासम्भवात् । न द्वितीयः, तद्धि तज्जन्यत्वम्, तज्जनकत्वम्, उभयं वा ? प्रथमे श्रोत्रज्ञानस्याविकल्पकत्वानापत्तेः, तस्याभिलापप्रभवतया तद्वत्त्वप्रसङ्गात् । द्वितीये प्रकृतिप्रत्ययादिप्रत्यक्षे सविकल्पकत्वापत्तिः । उभयपक्षेऽपि उभयपक्षदोषापत्तिः, एकत्रोभयरूपताविरोधाच्च । एवमभिलापवत्प्रतिभासस्य कल्पनालक्षणत्वानुपपत्तेः । अथ निश्चयः कल्पनोच्यते । तथात्वे प्रत्यक्षस्यापि तद्रहितत्वाभावेनाप्रामाण्यापत्तेः, प्रमाणस्यानिश्चयात्मकत्वानुपपत्तेः । प्रत्यक्षं

आपकी शक्ति है । इस प्रकार आप एक ही शिव और शक्ति रूप से दो हो गये' । फिर परमेश्वर से सृष्टि को उत्पन्न करने की इच्छा स्वरूप माया की वृत्ति उत्पन्न हुई, उस माया-वृत्ति से सत्त्व, रज और तम गुण वाला बिन्दु रूप अव्यक्त पैदा हुआ । यही शक्ति तत्त्व है । उसी बिन्दु का अचेतन अंश बीज है और चेतन-अचेतन मिश्रित अंश नाद है । केवल चेतन अंश बिन्दु है । यहाँ अचेतन शब्द का तात्पर्य शब्द अर्थ संस्कार रूप अविद्या (अज्ञान) है । सत्, चित् आनन्द हैं वैभव जिसके, ऐसे कला सहित परमेश्वर से पुनः पहले शक्ति का प्राकट्य होता है, शक्ति से नाद का और नाद से बिन्दु का प्राकट्य होता है । कहा भी है कि—'वह परशक्तिस्वरूप तत्त्व पुनः तीन प्रकार के भेद को प्राप्त होता है । बिन्दु, नाद और बीज ये तीन उसके भेद हैं ।

'शब्द तो इन्द्रियों की तरह टिकते नहीं, इसलिए वे अर्थों से संबंध नहीं कर सकते' इत्यादि आपका कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि बाधक ज्ञान की प्रवृत्ति होने पर भी इन्द्रियाँ 'दो चन्द्रमा हैं' ऐसा ज्ञान करा ही देती हैं । बाधक ज्ञान के रहते इन्द्रियाँ मिथ्या-ज्ञान पैदा करा सकती ही नहीं, यह कहना तो अनुभव से सर्वथा विरुद्ध होगा । बौद्धों का यह कहना भी व्यर्थ है कि—'शब्द केवल विकल्पात्मक ज्ञान (अर्थ से असंबद्ध) के जनक हैं', क्योंकि इसका खण्डन सविकल्प की असिद्धि के प्रकरण में किया जा चुका है । फिर विकल्प का निर्वचन (लक्षण) भी आप नहीं कर सकते । क्या शब्द सहित ज्ञान के निश्चय को विकल्प कहते है ? जाति आदि का उद्देश्य जिसमें हो उसे विकल्प कहते हैं ? आकार की स्पष्टता को विकल्प कहते हैं ? वस्तु के संनिहित होने की अपेक्षा के न होने को विकल्प कहते हैं ? इन्द्रियों से उत्पन्न न होने को विकल्प कहते हैं ? अथवा स्वतन्त्र किसी दूसरे धर्म के आरोप को ? पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि केवल आभास शब्दवान् नहीं हो सकता । उसे शब्दवान् अपने स्वभाव के कारण कहेंगे या शब्दहेतुक होने के कारण ? स्वभाव के कारण तो कह नहीं सकते, क्योंकि जल और अग्नि की तरह विरुद्ध धर्मवाले चेतन और अचेतन का (प्रकाश और आभास का) एक स्वभाव नहीं हो सकता, शब्दहेतुक होने से भी क्या वह शब्द से जन्य है या शब्द का जनक है ? अथवा जन्य भी है और जनक भी ? केवल जन्य कहें तो श्रोत्रज्ञान निर्विकल्पक नहीं बनेगा, क्योंकि वह शब्द से जन्य है, इसलिए सविकल्पक हो जायगा । केवल जनक कहें तो प्रकृति-प्रत्यय आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान भी सविकल्पक हो जायगा । जन्य-जनक दोनों कहें तो दोनों पक्षों के दोष सिर पर चढ जायँगे । विरुद्ध होने के कारण एक ही में दोनों रूप बन भी नहीं सकते । इस प्रकार अभिलाप वाले आभास की कल्पना लक्षण से कोसों दूर है । यदि केवल निश्चय को ही विकल्प कहें तो प्रत्यक्ष ज्ञान भी निश्चय रूप विकल्प से रहित होने के कारण अप्रामाणिक हो जायगा, क्योंकि प्रमाण निश्चय रूप ही होता है, अनिश्चय रूप नहीं । निम्नलिखित अनुमान से भी यही बात सिद्ध होती है—प्रत्यक्ष ज्ञान (पक्ष), अपने अर्थ का निश्चय कराने वाला है (साध्य), प्रमाण होने से (हेतु), अनुमान ज्ञान की तरह (दृष्टान्त) । जो स्वयं अनिश्चित स्वरूप है, वह अपने अर्थ

स्वार्थनिश्चायकम्, प्रमाणत्वादनुमानवत्। यत्स्वयमनिश्चितरूपमर्थानिश्चायकञ्च तन्न प्रमाणम्, यथा पुरुषान्तरज्ञानं संशयादिकञ्च। संशयादेः, अन्यं प्रति पुरुषान्तरज्ञानस्य च न निश्चायकत्वमस्ति, संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन प्रकर्षेण मीयतेऽर्थो येन तस्यैव प्रमाणत्वोपपत्तेः। निर्विकल्पकस्य चोक्तलक्षणाभावाद्व्यवहारानुपयोगित्वाच्च प्रामाण्यमेव न सम्भवति। 'प्रामाण्यव्यवहारेण' (प्र० वा०) इति व्यवहाराङ्गत्वेनैव प्रमाणचिन्ताप्रवृत्तेः। न चाविकल्पस्य प्रवृत्त्यादिव्यवहारसाधकत्वम्, स्वार्थानिश्चायकत्वात्।

यदुक्तम्—व्यतिरिक्तविकल्पोत्पादकत्वेनाविकल्पप्रत्यक्षप्रत्ययस्यापि प्रवर्तकत्वमाश्रीयते, तदप्यकिञ्चित्करम्, तस्याविदितस्वरूपस्य सन्निकर्षादविशेषप्रसङ्गात्, तथात्वे तस्यैव प्रवर्तकत्वापत्तेश्च। न च चेतनाचेतनत्वकृतो विशेषः, निर्विकल्पप्रत्यक्षस्यापि चेतनत्वाप्रसिद्धेः। परनिरपेक्षतया स्वरूपोपदर्शकं हि चेतनमुच्यते। न च स्वप्नेऽपि तत्तथास्वरूपमुपदर्शयति। कथं तर्हि तच्चेतनम्? कथं च तत् सन्निकर्षाद्विशेष्येत? व्यवसायात्मकत्वमनिच्छता निर्व्यापारस्याननुभूयमानस्वरूपस्य नास्य सन्निकर्षाद्विशेषता। ननु पश्यामीति विकल्प एव तद्व्यापारः? तथात्वे व्यवसायात्मकत्वप्रसङ्गात्। न च व्यापारिणो व्यापारो भिन्नोऽभ्युपेयते बौद्धैः, तस्य तत्स्वभावत्वात्। यदि तु कार्य्यत्वात्तद्भिन्नता, तर्हि कथं तद्व्यापारः। नहि पुत्रः पितुर्व्यापार उच्यते। किञ्च, यदि निर्विकल्पकप्रत्यक्षे व्यवसायात्मकता न स्यात्तर्हि तत्प्रभवे विकल्पेऽपि कुतोऽयं स्यात्। स हि बोधरूपतया विलक्षणसामग्रीप्रभवतया वा व्यवसायस्वभावतां स्वीकुर्य्यात्। यदि बोधरूपतया तदा प्रत्यक्षमपि तत्कृतो न स्वीकुर्य्यात्। यदुक्तं बोधाविशेषेऽपि यस्य साक्षादर्थे ग्रहणव्यापारस्तन्न निश्चिनोति, यस्य तु तद्व्यापारोपजीवित्वमसौ निश्चिनोतीति, तत्तु असेः कोशस्य तीक्ष्णताव्यपदेशमनुहरति। विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वञ्चाप्यनयोर्भेदे

का भी निश्चय नहीं कराता और वह प्रमाण भी नहीं होता, जैसे दूसरे पुरुष का ज्ञान और संशय आदि। संशय आदि अन्य पुरुष के प्रति निश्चय नहीं कराते और दूसरे पुरुष का ज्ञान भी अपने से भिन्न पुरुष को निश्चय नहीं कराता। संशय प्रभृति से भिन्न स्वरूप वाले निश्चयात्मक ज्ञान (प्रकृष्ट) को करानेवाले को ही प्रमाण कह सकते हैं। निर्विकल्पक ज्ञान में तो यह लक्षण घटता नहीं। वह व्यवहार में उपयोगी भी नहीं है। इसलिए वह प्रमाण भी नहीं हो सकता। आपके ही अनुयायी प्रखर बौद्ध धर्मकीर्ति ने स्वयं कहा है कि व्यवहार का अंग होने के कारण ही प्रमाण से व्यवहार होता है और इसीलिये प्रमाण के विचार में प्रवृत्ति होती है। किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान तो प्रवृत्ति आदि व्यवहार का साधक नहीं है, क्योंकि वह स्वार्थ का निश्चय ही नहीं कराता।

'अतिरिक्त विकल्प का उत्पादक होने के कारण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रवृत्ति कराता है' यह कथन भी गलत है, क्योंकि वैसे ज्ञान का स्वरूप विदित न होने से वह संनिकर्ष के समान ही है। अतः संनिकर्ष के समान निर्विकल्पक ज्ञान को प्रवर्तक मानें तो संनिकर्ष को ही प्रवर्तक क्यों न मानें? यह आपत्ति बनी रहेगी। 'दोनों में चेतनता और अचेतनता के कारण भेद है' यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान की चेतन के रूप में प्रसिद्धि नहीं है। दूसरे की अपेक्षा न रखकर अपने स्वरूप का दिग्दर्शन कराने वाला ही चेतन कहा जाता है। निर्विकल्पक ज्ञान तो स्वप्न में भी ऐसे स्वरूप को प्रकट नहीं करता, फिर उसे चेतन कैसे कह सकते हैं? और संनिकर्ष से उसकी विशेषता (भेद) भी कैसे सिद्ध की जा सकती है? आप उसे निश्चयात्मक नहीं मानते, अतः अनुभव शून्य स्वरूप वाले सब प्रकार के व्यापार से रहित निर्विकल्पक ज्ञान का संनिकर्ष से भेद सिद्ध हो ही नहीं सकता। 'देख रहा हूँ' यह विकल्प ही उसका व्यापार है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो वह निश्चयात्मक हो जायगा। व्यापारी से भिन्न व्यापार भी आप (बौद्ध) मानते नहीं, क्योंकि आपके मत में व्यापार और व्यापारी दोनों समान स्वभाव के हैं। यदि कार्य होने से उसे संनिकर्ष से भिन्न मानें तो वह उसका व्यापार कैसे हो सकता है? पुत्र को पिता का व्यापार कोई नहीं मानता। फिर यदि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चयात्मक नहीं है, तो उससे उत्पन्न होनेवाला सविकल्पक भी निश्चयात्मक कैसे हो जायगा? सविकल्पक ज्ञान को ज्ञानस्वरूप होने के कारण निश्चयात्मक मानोगे? अथवा विलक्षण सामग्री से उत्पन्न होने के कारण? यदि ज्ञान स्वरूप होने के कारण, तो शब्द रूप विकल्प ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही हो जायगा। 'दोनों में ज्ञानरूपता समान होने पर भी जो साक्षात् अर्थ का ज्ञान कराता है, वह निश्चयात्मक नहीं है और जो उसके व्यापार के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराता है, वह निश्चयात्मक है' यह आपका उत्तर भी तलवार की म्यान को तीखी बनाने के समान है। सविकल्पक ज्ञान विलक्षण सामग्री से होता है, इसलिये निश्चयात्मक है, यह तो तब कहा जा सकता है, जब दोनों का भेद सिद्ध हो जाय, किन्तु निर्विकल्प और सविकल्प का भेद

सिद्धे सिद्ध्यति, न च विकल्पव्यतिरेकेणाविकल्पस्वरूपं स्वप्नेऽपि सिद्ध्यति। एकमेव ह्येदं स्वार्थव्यवसायात्मकमिन्द्रियसामग्रीतः समुत्पन्नविज्ञानमनुभूयते। न तत्र स्वरूपभेदः सामग्रीभेदो वा कश्चित्कदाचित् कस्यचित्प्रतिभाति सौगतादन्यत्र। किञ्च, यद्येवं तर्हि बुद्धिचैतन्ययोर्भेदं वर्णयन् सांख्यः कथं प्रतिक्षिप्येत, विकल्पाविकल्पयोरप्रतिपन्नस्वरूपयोरप्यभ्युपगमात्। कथं न तयोरपि भेदसिद्धिः स्यात्, तयोरेकत्वेनाध्यवसायात्। भेदाप्रतिपत्तिरुभयोरपि समानैव। उभयोर्भेदेन स्वरूपसंवित्तौ सत्यामन्यस्यान्यत्राध्यारोपात्। एकत्वाध्यवसायोऽपि युक्तः, अग्निर्माणकवत्। न च तथा विकल्पाविकल्पयोः क्वचित्स्वरूपसंवित्तिरिति।

एकत्वाध्यवसायश्चानयोरन्यतरस्मात् स्वतो वा स्यात्? प्रथमे विकल्पादविकल्पाद्वा? नान्त्यः, तस्य परामर्शशून्यतया एकत्वाध्यवसायासमर्थत्वात्। न प्रथमः, तस्य निर्विकल्पाविषयत्वात्। यद् यद्विषयं न भवति न तत्तस्य केनचिदेकतामध्यवस्यति। यथा घटविषयं विज्ञानं परमाण्वविषयत्वान्न तस्य घटादिना एकत्वमध्यवस्यति। विकल्पज्ञानस्य निर्विकल्पविषयत्वे विकल्पस्यापि स्वलक्षणविषयत्वं स्यात्। अन्यतश्चेत् पूर्वज्ञानादुत्तरज्ञानादन्वितरूपात् प्रतिपत्तुर्वा तदेकत्वाध्यवसायः? न प्रथमः, तस्य तत्काले प्रध्वस्तत्वात्। न द्वितीयः, तत्काले तयोरभावात्। अत एव तद्द्वयस्यापि निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा सतो न तदेकत्वाऽध्यवसायहेतुत्वमुभयत्रोभयदोषानुषङ्गात्। नाप्यन्वितरूपात् प्रतिपत्तुस्तद् युक्तम्, तस्य सौगतैरनभ्युपगमात्। ततः प्रतीतितो वस्तुव्यवस्थामभ्युपगच्छता एकमेवानुभवप्रसिद्धस्वार्थव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं प्रत्येतव्यम्। स्वपरपरिच्छित्तेः सकलव्यवहारिणाञ्च तन्मुखापेक्षित्वात्। तस्यैवाविकल्पकमिति नामान्तरकरणे तु नानिष्टम्, संज्ञा-

आप स्वप्न में भी सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि इन्द्रिय रूपी सामग्री से उत्पन्न अपने अर्थ का निश्चय कराने वाला एक ही तो ज्ञान अनुभव में आता है। उसमें आपका अभिमत निर्विकल्प-सविकल्प भेद आज तक कभी किसी के अनुभव में नहीं आया। केवल बुद्ध के अनुयायियों का यह हठ मात्र है। फिर ज्ञान में ही दो प्रकार के भेद मानने वाले बौद्ध ज्ञान और चैतन्य में भेद मानने वाले सांख्यों के ऊपर आक्षेप कैसे कर सकते हैं? आश्चर्य है कि जिनके स्वरूप का ही निश्चय नहीं, ऐसे निर्विकल्प-सविकल्प भेद एक ही ज्ञान में बौद्ध मानते हैं और ज्ञान एवं चेतन (जिनका कि स्वरूप अनुभव सिद्ध भिन्न है) में भेद मानने वाले सांख्यों से बेकार अड़ते हैं! दो वस्तुओं के भिन्न स्वरूप का ज्ञान हो जानेपर ही एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप करके उन दोनों वस्तुओं के अभेद का निश्चय करना ठीक हो सकता है, जैसे अग्नि और तेजस्वी बालक इन दोनों का भिन्न स्वरूप जानने वाला ही बालक को अग्नि के समान तेजस्वी देखकर उसे अग्नि ही कह देता है। लोक प्रसिद्धि में किसी बच्चे को जब लोगियां मिरचा कहते हैं, तब यह बात और स्पष्ट हो जाती है। किन्तु इस प्रकार बौद्धों के अभिमत निर्विकल्प-सविकल्प ज्ञानों के भिन्न स्वरूप का ज्ञान तो आज तक किसी को हुआ नहीं।

निर्विकल्प और सविकल्पक ज्ञान एक हैं, ऐसा निश्चय भी एक का दूसरे के द्वारा होगा या अपने आप ही? यदि दूसरे के द्वारा तो निर्विकल्प के द्वारा सविकल्प के अभेद का निश्चय होगा या सविकल्प के द्वारा निर्विकल्प का? यदि निर्विकल्प से सविकल्प के अभेद का निश्चय होगा, ऐसा कहो तो यह सर्वथा असंभव है, क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान तो परामर्श से शून्य होने के कारण दूसरे के साथ अभेद का ज्ञान करा देने में सर्वथा असमर्थ हैं। यदि सविकल्प से कहो तो वह सविकल्पक है, इसलिए विकल्प से रहित को अपना विषय बना ही नहीं सकता। तब उसके अभेद का निश्चय कैसे करा सकता है? जिसका जो विषय ही नहीं है, वह उससे अभेद का निश्चय कैसे कर सकता है? जैसे घटविषयक विज्ञान परमाणु विषयक न होने से परमाणु के साथ एकता को निश्चय नहीं कराता। सविकल्प ज्ञान को निर्विकल्प विषयक मानने पर तो सविकल्प भी निर्विकल्प ज्ञानों की तरह स्वलक्षण विषयक ही हो जायँगे। यदि अन्य के द्वारा अभेद निश्चय मानें तो उत्तर ज्ञान से संबद्ध पूर्व ज्ञान से उत्तर ज्ञान का अभेद मानेंगे? अथवा ज्ञान के कर्ता से उसका अभेद मानेंगे? उत्तर ज्ञान से अन्वित (संबद्ध) पूर्व ज्ञान से नहीं मान सकते, क्योंकि उत्तर ज्ञान के समय पूर्व ज्ञान नष्ट हो गया। यदि ज्ञाता से अभेद मानेंगे तो उस समय दोनों ज्ञान हैं नहीं, इसलिए निर्विकल्प-सविकल्प दोनों के ही न रहने से उनके एकत्व का निश्चय कैसे हो सकता है? ऐसे ही दोनों का अभेद निश्चय दोनों के द्वारा भी हो नहीं सकता, क्योंकि दोनों एक साथ नहीं रहेंगे। संबद्ध ज्ञाता के द्वारा भी अभेद का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि बौद्धों के मत में वह है ही नहीं। इसलिए अनुभव बताता है कि एक ही प्रसिद्ध अपने अर्थ का निश्चय कराने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान मानना चाहिये, क्योंकि अनुभव से ही वस्तु की व्यवस्था सर्वसंमत है। सब लोगों के व्यवहार इसी के मुखापेक्षी

भेदस्यार्थाप्रसाधकत्वात्। नापि जात्याद्युल्लेखः कल्पना, जात्यादीनां विशेषणविशेष्यभूतानां व्यावहारिकप्रमाणसतां व्यामोहविच्छेदेनाध्यवसायात् कल्पनात्वानुपपत्तेः।

यदुक्तम्—यद् यदर्थसाक्षात्करणाय प्रवृत्तं ज्ञानं तत्स्वरूपव्यतिरिक्तविशेषणविशेष्याकारतत्संयोजनास्वभाव-कल्पनाकारं न भवति, यथा रूपाद्याकारप्रवृत्तचक्षुरादिज्ञानमविषयीकृतगन्धादिविशेषणयोजनाकारं न भवति, तथा च सर्वं स्वविषयप्रवृत्तं ज्ञानमिति, तदपि तुच्छम्, विशेषणविशेष्याकारस्यानिरूपणात्। प्रतिबिम्बमुल्लेखो वा सः? प्रतिबिम्ब-श्चेत्तन्निषेधस्य सिद्धसाध्यत्वात्, ज्ञाने प्रतिबिम्बप्रतिषेधस्येष्टत्वात्, सकलज्ञानानां स्वतो निराकारत्वाभ्युपगमात्। अथोल्लेखः, न तत्प्रतिषेधो युक्तः, प्रमाणस्य यथावस्थितस्वरूपद्योतकत्वात्। तत्स्वरूपञ्च जात्यादिविशिष्टं शुक्लः चरति इत्यादिप्रत्ययात्प्रसिद्ध-मेव। न खलु प्रतीयमानस्यापलापो युक्तः, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। अथ अस्पष्टाकारता विकल्पस्वरूपम्, तच्चास्य विकल्पत्वा-देव सिद्धचति। यत्सविकल्पं ज्ञानं तत् स्पष्टं यथानुमानं तथा चेदं विवादापन्नं ज्ञानम्, तदेतदपि न युक्तम्, निर्विकल्पकत्व-सविकल्पकत्वाभ्यां ज्ञानानां स्पष्टत्वास्पष्टत्वयोरसिद्धेः। स्वसामग्रीविशेषादेव तेषां तत्प्रसिद्धेः। अन्यथा प्रत्ययत्वात् प्रत्यक्षमपि कथं नानुमानवदस्पष्टं न स्यात्। स्पष्टाकारत्वेन सविकल्पत्वं तत्त्वेन च स्पष्टाकारत्वमित्यन्योऽन्याश्रयत्वाच्च। किञ्चा-स्पष्टता विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वादेव, एकत्वपरामर्शित्वाद्वा, परोक्षाकारोल्लेखित्वाद्वा? नाद्यौ, वस्तुरूपस्यास्पष्टत्वा-हेतुत्वात्। वस्तुस्वरूपं विशेषणविशिष्टत्वादिकमिति तन्नास्पष्टत्वहेतुः। नान्त्यः, परोक्षाकारोल्लेखित्वस्य तद्धेतुत्वेऽप्य-परोक्षेऽर्थे तदनुपपत्तेः। नाप्यर्थसंनिधिनिरपेक्षता विकल्पः, पुरोवर्तिन्यर्थे सत्येवेदन्तया प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तेः। यदि संनिहितार्थ-

है। अपना और दूसरे का निश्चय भी इसी से होता है। यदि आप इसी का पर्यायवाचक निर्विकल्पक नाम रख दें तो कोई हानि नहीं, क्योंकि केवल नाम का भेद, अर्थात् एक ही वस्तु के अनेक नाम होना वस्तु रूप अर्थ का साधक नहीं है। जाति आदि के उल्लेख को भी कल्पना नहीं माना जा सकता, क्योंकि जाति आदि में तो व्यावहारिक प्रमाण विद्यमान है और वे ही विशेष्यभूत हैं और उनके द्वारा ही व्यामोह का विच्छेद (नाश=समाप्ति) होता है, इसलिये वे निश्चयात्मक है, फिर वे कल्पना कैसे हो सकते हैं?

'जो ज्ञान जिस अर्थ के साक्षात्कार के लिये प्रवृत्त है, वह अपने स्वरूप ज्ञान से भिन्न विशेषण-विशेष्य आकार वाला और विशेषण एवं विशेष्यों को जोड़ने के स्वभाववाली कल्पना रूप आकार वाला नहीं होता। जैसे रूप आदि आकार में चक्षु आदि से होने वाला ज्ञान गन्ध, स्पर्श आदि ज्ञानविषयक नहीं होता, अर्थात् गन्धादि विशेषणों के साथ संबद्ध आकारवाला नहीं होता। इस नियम से सभी ज्ञान पहले निर्विकल्प केवल ज्ञानमात्र स्वविषयक होते हैं।' आपका यह पूरा कथन निःसार है, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञानवादी विशेषण और विशेष्य के आकार का निरूपण कर ही नहीं सकता। क्या प्रतिबिम्ब विशेषण-विशेष्य का आधार है? या उल्लेख? यदि प्रतिबिम्ब हो तो उसका निषेध स्वतः सिद्ध है। फिर उसे साध्य बनाकर सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है? ज्ञान में प्रतिबिम्ब का निषेध तो आप को भी इष्ट है, क्योंकि आपके मत में ज्ञान को निराकार माना गया है। यदि उल्लेख विशेषण और विशेष्य का आकार, तो उसका निषेध करना अनुचित है, क्योंकि प्रमाण वस्तु के वास्तविक स्वरूप का द्योतक होता है और संसार की सभी वस्तुओं का स्वरूप व्यावहारिक जाति, गुण आदि से विशिष्ट ही है 'शुक्ल गुण वाला व्यक्ति चल रहा है' इत्यादि वाक्यों से मनुष्य, पशु आदि जाति विशिष्ट और शुक्ल आदि गुण विशिष्ट व्यक्ति के चलने, चरने आदि का ज्ञान होता है, यह बात जगत् में प्रसिद्ध है। जिसका अनुभव हो रहा है, उसका सर्वथा अपलाप करना क्या ठीक है? ऐसा होने पर तो संसार में सभी जगह अविश्वास होने लगेगा। वह अनर्थ का कारण होगा। अब यदि अस्पष्ट आकार होना ही विकल्प का स्वरूप कहो, सो तो इसके विकल्प रूप होने से ही स्वतः सिद्ध है। 'जो सविकल्प ज्ञान होता है वह स्पष्ट होता है, जैसे अनुमान, विवाद का विषय विकल्प ज्ञान भी वैसा ही है' यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि केवल सविकल्प और निर्विकल्प होने मात्र से ज्ञान की स्पष्टता या अस्पष्टता नहीं सिद्ध होती, प्रत्युत स्पष्टता-अस्पष्टता तो ज्ञान की सामग्री विशेष से सिद्ध होती है। ज्ञान को स्वरूप से ही स्पष्ट या अस्पष्ट माने तो प्रत्यक्ष को भी अनुमान की तरह अस्पष्ट क्यों न मान लें? फिर स्पष्टाकार होने से सविकल्प और सविकल्प होने से स्पष्टाकार, यह अन्योन्याश्रय दोष भी इस पक्ष में है।

तयाप्रत्यक्षता, तदा कस्यापि प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। नाप्यनक्षप्रभवत्वं विकल्पलक्षणम्, अक्षान्वयव्यतिरेकान्वयानुविधायित्वेन सविकल्पस्यैवाक्षप्रभवत्वात्। अर्थसाक्षात्कारिणश्चाक्षप्रभवत्वं भवति। न चाविकल्पस्यार्थसाक्षात्कारित्वम्, खपुष्पवत्तस्य स्वरूपेणाप्यप्रसिद्धत्वात्। नापि धर्मान्तरारोपो विकल्पः, विकल्पानुपपत्तेः। विकल्पे निर्विकल्पस्य धर्म आरोप्यते, अन्यस्य वा ? आद्ये तस्य को धर्मः ? वैशद्यञ्चेत्, तस्य तद्धर्माधारतयाप्यसिद्धेः। नहि वन्ध्यापुत्रस्य वैशद्यं क्वचिदारोप्यते। अक्षव्यापारप्रभवं वैशद्यं तु व्यवसायात्मके सविकल्पे प्रत्यक्षे युक्तमेव। नान्यस्य धर्मारोपोऽप्रसक्तत्वात्।

नहि सर्वत्र विकल्पः परोक्ष एवार्थे प्रवर्तते, वर्तमाने पुरोवर्तिन्यर्थे स्पष्टाकारोल्लेखमुखेन तत्प्रवृत्तिप्रतीतेः। नाप्यर्थसन्निधिनिरपेक्षता तल्लक्षणम्, पुरोवर्तिन्यर्थे सत्येवास्येदन्तया प्रवृत्तेः। नहीदृशो विकल्पोऽसन्निहितेऽर्थे संभवति। यद्येवं सन्निहितार्थलक्षणत्वेऽप्यप्रत्यक्षता स्यात्ततो न किञ्चिदपि प्रत्यक्षं स्यात्। नाप्यनक्षप्रभवत्वं तत्, अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, अक्षप्रभवत्वस्यैवात्रावसायात्। नहि निर्विकल्पमक्षव्यापारानन्तरमनुभूयते। अर्थसाक्षात्कारिणश्चास्याक्षप्रभवत्वं भवति। न चाविकल्पस्यार्थसाक्षात्कारित्वं संभवति, स्वरूपेणाप्यस्याप्रसिद्धत्वात्। यत्स्वरूपेणाप्रसिद्धं न तद् अर्थसाक्षात्कारि, यथा वन्ध्यासुतज्ञानम्, तथा चेदमविकल्पकत्वाभिमतं विज्ञानम्। धर्मान्तरारोपोऽपि न तल्लक्षणम्,

ज्ञान की अस्पष्टता विशेषण से विशिष्ट अर्थ का ज्ञान कराने के कारण मानोगे या एकत्व के परामर्शी होने के कारण ? अथवा परोक्ष आकार का उल्लेख्य करने वाला होने के कारण ? पहले दो पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि वस्तु का रूप अस्पष्टता का कारण नहीं होता, क्योंकि वस्तु का स्वरूप विशेषण से विशिष्ट ही होता है, फिर वह अस्पष्टता का कारण कैसे हो सकता है ? वह तो स्पष्टता का ही कारण होता है। परोक्ष आकार का उल्लेख करने वाला होने से भी (अन्तिम तीसरा पक्ष) स्पष्टता का हेतु नहीं हो सकता। परोक्ष आकार का उल्लेख करने वाला यदि हो, तो वैसा मान भी सकते हैं, किन्तु यह तो प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसमें परोक्ष आकार के उल्लेख का प्रश्न ही कैसा ? वस्तुरूप अर्थ के सांनिध्य की अपेक्षा न रखने को भी विकल्प नहीं कह सकते, क्योंकि सामने दिखाई देने वाले वस्तुरूप अर्थ के होने पर ही 'यह घड़ा है' इस रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। यदि वस्तुरूप अर्थ की संनिधि को ही अप्रत्यक्ष कहें तो संसार में कोई भी ज्ञान प्रत्यक्ष न हो सकेगा। इन्द्रिय से उत्पन्न न होना विकल्प का लक्षण नहीं बन सकता, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान इन्द्रियों के संबद्ध से होता है और संबद्ध न होने से नहीं होता। इस लिये वह तो इन्द्रिय-जन्य ही है। अर्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने वाला होने से यह सविकल्प ज्ञान तो इन्द्रियों से ही पैदा होता है। निर्विकल्पक, स्वलक्षण केवल ज्ञान को विषय करने वाला बौद्धों का अभिमत ज्ञान तो अर्थ (वस्तु) का प्रत्यक्ष कराने वाला हो ही नहीं सकता, क्योंकि आकाश के पुष्प की तरह उसका स्वरूप ही अभी तक नहीं सिद्ध हुआ। धर्मान्तर के आरोप को भी विकल्प नहीं कर सकते, क्योंकि विकल्प में निर्विकल्प के धर्म का आरोप करोगे या निर्विकल्प में विकल्प के ? प्रथम पक्ष में उसके किस धर्म का आरोप करोगे ? यदि स्पष्टता का, तो वह धर्म का आधार है, यह बात प्रसिद्ध नहीं है। क्या कोई वन्ध्यापुत्र की स्पष्टता का कहीं आरोप करता है ? इन्द्रियों के व्यापार के होने वाली स्पष्टता तो निश्चयात्मक, सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में युक्तिसंगत ही है। अन्य के धर्म का आरोप बन ही नहीं सकता, क्योंकि उसका कोई प्रसंग ही नहीं।

विकल्प की सदा परोक्ष विषय में ही प्रवृत्ति हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वर्तमान काल में सामने रक्खी वस्तु में उसके आकार को स्पष्ट करते हुए विकल्प की प्रवृत्ति देखी जाती है। उसका लक्षण अर्थसंनिधि से निरपेक्षता भी नहीं होगा, क्योंकि सामने वस्तु के विद्यमान रहने पर ही इसकी इदन्तया प्रवृत्ति देखी जाती है। इस तरह का विकल्प वस्तु के असंनिहित रहने पर नहीं होता। यदि वस्तु के संनिहित रहने पर भी उसका प्रत्यक्ष न हो तो फिर कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होगी ही नहीं। विकल्प की उत्पत्ति इन्द्रियों से नहीं होती, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका इन्द्रियों के साथ ही अन्वय और व्यतिरेक है, अर्थात् इन्द्रियों के रहने पर ही उसकी उत्पत्ति होती है और उनके न रहने पर नहीं होती। अतः अन्त में यही मानना पड़ता है कि विकल्प इन्द्रियों से ही उत्पन्न होता है। इन्द्रियों के व्यापार के प्रारम्भ होने के बाद निर्विकल्प की अनुभूति नहीं होती। अर्थ का साक्षात्कार करने वाला विकल्प इन्द्रियों से ही उत्पन्न होता है। निर्विकल्प प्रत्यय अर्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वयं स्वरूप से असिद्ध है। जो स्वरूप से असिद्ध होता है वह अर्थ (विषय) का साक्षात्कारी नहीं होता, जैसे कि वन्ध्या के पुत्र का ज्ञान। यह निर्विकल्पक ज्ञान भी उसी तरह का है। धर्मान्तर का आरोप भी विकल्प का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि यह

तदनिरूपणात्। विकल्पे कस्य धर्मान्तरमारोप्यते? निर्विकल्पस्य चेत्, किं तत्? वैशद्यञ्चेत् वन्ध्यासुतसम्बन्धि तत् तत्रारोप्यते इत्यपि किं न स्यात्? तस्य तद्धर्माधारतयाऽप्रसिद्धेः कथं तत् तत्रारोप्यते? न खलु वन्ध्यासुतवदेव निर्विकल्पमप्यनन्यमनसो विस्फारिताक्षस्य तद्धर्माधारतया कदाचिदपि प्रसिद्धम्। अक्षव्यापारप्रभवं वैशद्याध्यासितं स्वार्थसाक्षात्कारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

यथा च विद्यमानभ्रात्रोः सम्बन्धः संकेतेन बोध्यते, तथैवौत्पत्तिक एव सम्बन्धः संकेतेन बोध्यते। किञ्च, सर्वे शब्दा यद्यपि सर्वार्थवाचकाः, तथापि योगिनामेव तदवगतिरन्येषां तु संकेतेनैव तद्बोधः। देशभेदेन व्यवस्थाऽपि संकेतभेदवशादेव। ईश्वरस्यान्यस्य वा संकेतकरणायापि केचित्प्रतिपन्नसम्बन्धाः शब्दा अभ्युपेयाः। न च हस्तचेष्टादिभिस्तद्बोधसंभवः, शब्दार्थानामानन्त्यात्, हस्तादिचेष्टानां चात्यन्तपरिमितत्वात्। ईश्वरेणाऽपि सम्बन्धं कुर्वताऽवश्यं केनचिच्छब्देन सम्बन्धः कर्तव्यः। तस्य केन कृतः? शब्दान्तरेण चेत्? तस्यापि केन कृतस्तस्यापि केनेति न कश्चिदवधिः। तस्मादवश्यं सम्बन्धं कुर्वता व्यवहारसिद्धाः केचिदकृतसम्बन्धाः शब्दा अभ्युपगन्तव्याः। ईश्वरे नायं दोषस्तत्कौशलस्य विकल्पानास्पदत्वादित्याद्युक्तिस्त्वन्यत्र निराकृतैव।

धूमो यथा विदित एव वह्निं बोधयति, तथैव विदितसम्बन्ध एव शब्दोऽर्थं बोधयतीत्याद्युक्तमेव। अत एव संकेतो व्यक्त एव संबन्धोऽर्थप्रकाशकः। यदुक्तम्—'कथमेकस्य नित्यैकरूपता, व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसङ्गात्। नित्यैकरूपं वस्तु यदि व्यक्तं तदा सर्वदा व्यक्तमेव स्यात्' इति, तदपि फल्गु, धूमस्य ज्ञातत्वाज्ञातत्वाभ्यां प्रकाशकत्वाप्रकाशकत्वयोः

धर्मान्तर आरोप क्या है, इसको समझाया नहीं जा सकता। यदि यह कहा जाय कि विकल्प में निर्विकल्पक के धर्म का आरोप किया जाता है, तो आप बताइये कि वह धर्म क्या है? यदि आप कहें कि यह धर्म वैशद्य है, तो वन्ध्यासुत सम्बन्धी धर्म के वैशद्य का आरोप वहाँ किया जाता है, ऐसा भी क्यों न मान लिया जाय। यह विकल्प निर्विकल्पक धर्मों के आधार के रूप में प्रसिद्ध नहीं है, तो ये धर्म उसमें कैसे आरोपित किये जा सकते हैं। क्योंकि वन्ध्यासुत के समान ही निर्विकल्पक भी एकाग्रचित्त खुली आखों वाले व्यक्ति को कभी दिखाई नहीं देता। इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होने वाला, स्पष्ट भासित होने वाला, अपने विषय का साक्षात्कार कराने वाला, निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है।

जैसे कि सामने खड़े दो भाइयों का परस्पर सम्बन्ध संकेत से जाना जाता है, उसी तरह से शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध भी संकेत से ही ज्ञात होता है। यद्यपि सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हैं, तो भी योगियों को ही उनकी अवगति (ज्ञान) होती है। अन्य व्यक्तियों को तो संकेत से ही उसका बोध होता है। देश के भेद से शब्दों के अर्थ के भेद की व्यवस्था भी संकेत के भेद के कारण ही होती है। संकेत का निर्देश करने वाला ईश्वर हो या कोई दूसरा, इसके लिये भी ऐसे शब्दों को स्वीकार करना ही पड़ेगा, जिनका कि सम्बन्ध पहले से ज्ञात हो। हस्त चेष्टा आदि से इसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ तो अनन्त है तथा हस्त चेष्टा प्रभृति के संकेत अत्यन्त सीमित हैं। ईश्वर भी जब संकेत का निर्देश करते हैं तो उनको भी किसी न किसी शब्द का सहारा लेना ही पड़ेगा। इस शब्द का संकेत किसने किया? यदि शब्दान्तर से यह किया गया है उस शब्दान्तर का संकेत भी किसने किया और उस बाद वाले का संकेत भी किसने किया? इस तरह से इस प्रश्न परम्परा का कहीं विराम नहीं होगा। इसलिये जो भी संकेत का निर्देश करेगा, उसको व्यवहार सिद्ध कुछ अकृतसम्बन्ध नित्य शब्दों को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। ईश्वर में यह दोष नहीं है, क्योंकि उसकी कुशलता विकल्प व्यापार से निर्मुक्त है, इस तरह की उक्तियों का खण्डन अन्यत्र कर दिया गया है।

धूम जैसे विदित होकर ही वह्नि का ज्ञान कराता है, उसी तरह से विदित सम्बन्ध शब्द ही अर्थ का प्रतिपादक होता है, यह बात भी बताई जा चुकी है। इसीलिये संकेत में अभिव्यक्त सम्बन्ध ही अर्थ का प्रकाशक होता है। यह जो कहा गया है कि—'एक वस्तु कैसे सदा एक रूप हो सकती है? कभी व्यक्त रहती है कभी अव्यक्त, इस तरह से उसमें एकरूपता नहीं रह पाती। सदा एकरूप वस्तु यदि व्यक्त है तो उसको सदा व्यक्त रहना चाहिये', यह कथन भी निःसार है, क्योंकि धूम जैसे ज्ञात अथवा अज्ञात होकर यद्यपि वह्नि

सतोरपि स्वरूपभेदाभाववदिहापि तत्संभवात्। यदुक्तम्--संकेतः पुरुषाश्रयः, स च अतीन्द्रियज्ञानविकलतया अन्यथाऽपि वेदे संकेतं कुर्यादिति, तन्न, पारम्पर्य्यादिना सम्बन्धबोधस्योक्तत्वात्। यदैकोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसंकेताय प्रतिपादयति--गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेति, तदा पार्श्वस्थोऽन्योऽव्युत्पन्नसंकेतः शब्दार्थौ प्रत्यक्षेण प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयचेष्टोपलम्भादनुमानतो गवादिविषयां प्रतिपत्तिं पद्यते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य तत्र वाचिकां शक्तिं परिकल्पयति। एवं वृद्धव्यवहारैराप्तोपदेशैर्व्याकरणोपमानादिभिश्च तत्प्रबोधः संभवति।

यद्यप्युक्तं जैनैर्नित्यसम्बन्धवशात् शब्दः एकार्थनियतः, अनेकार्थनियतो वा? प्रथमेऽपि एकदेशेन सर्वात्मना वा? सर्वात्मनैकार्थनियमेऽर्थान्तरे वेदात्प्रतिपत्तिर्न स्यात्, ततश्चास्याज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम्। चौरशब्दो वा नित्यसम्बन्धात् तस्करे रूढः कथं दाक्षिणात्यैः ओदने प्रयुज्यते। अथैकदेशेनासौ तन्नियतः, स किमेकदेशः अभिमतैकार्थनियतः, अनभिमतैकार्थनियतः? अन्ते मिथ्यात्वलक्षणं वेदस्याप्रामाण्यं भवेत्। अथाभिमतैकार्थनियतः, सोऽपि किं पुरुषात् स्वभावाद्वा? प्रथमपक्षेऽपौरुषेयत्वसमर्थने प्रयासो व्यर्थः। पुरुषो हि रागाद्यन्धत्वात् प्रतिक्षिप्यते। तस्माच्चेद् वेदैकदेशेऽर्थनियमं प्रतिपद्येत, किमपौरुषेयत्वेन? स्वाभिमतैकार्थनियमे तु भावनाभेदानुपपत्तिः। अनेकार्थनियतत्वे तु वेदस्य सकलार्थसाधारणार्थत्वात् कथमिष्टव्यक्तावेव समयकारः समयं कुर्यात्।

यदपि चोक्तं सौगतैः--'अर्थोऽयं नायमर्थो न इति शब्दा वदन्ति न। कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिसंयुताः॥ स एकस्तत्त्वविन्नान्य इति भेदश्च किं कृतः। तद्वत् पुंस्त्वे कथमपि ज्ञानी कश्चित् कथं न वः॥' (प्र० वा० ३।३१४-१५)। न

का प्रकाशक अथवा अप्रकाशक होता है, तो भी उसके स्वरूप में कोई भेद नहीं पड़ता, उसी तरह से यहाँ पर भी समझना चाहिये। यह जो कहा गया है कि 'संकेत पुरुषाश्रित है। यह पुरुषाश्रित संकेत अतीन्द्रिय ज्ञान से रहित है, अतः वेद में अन्यथा भी संकेत कर सकता है' यह भी गलत है, क्योंकि यह बताया जा चुका है कि सम्बन्ध का बोध परम्परा प्रभृति से होता है। जब एक व्यक्ति प्रतिपन्न संकेत वाले दूसरे व्यक्ति को कहता है कि 'सफेद गाय को डण्डे से हाँक कर ले आओ' उस समय पास में खड़ा अव्युत्पन्न संकेत वाला दूसरा व्यक्ति शब्द और अर्थ की प्रत्यक्षतः प्रतीति करता है और श्रोता को उसकी चेष्टाओं को देखकर अनुमान के द्वारा गवादि विषयिणी प्रतीति होती है। यह प्रतीति शब्द के बिना नहीं होती, अतः उसी से शब्द में वाचिका शक्ति परिकल्पित होती हैं। इस प्रकार वृद्ध व्यवहार, आप्त उपदेश, व्याकरण और उपमान प्रभृति से उसका ज्ञान होता है।

इस पर जैन दार्शनिक शंका उठाते हैं कि आपके कथनानुसार जब शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है, तो उसके कारण शब्द एक अर्थ के साथ अपना नियत सम्बन्ध रखता है या अनेक अर्थों के साथ? जब वह एक अर्थ के साथ नियत माना जाता है तो उस पक्ष में भी वह एकदेशेन उससे सम्बद्ध रहता है या सर्वात्मना? यदि वह सर्वात्मना एक अर्थ के साथ नियमतः सम्बद्ध रहता है तो अर्थान्तर की प्रतिपत्ति वेद से न हो सकेगी। इस तरह से यहाँ पर अज्ञानलक्षण अप्रामाण्य दोष उठ खड़ा होगा। फिर शब्द जब अपने सम्बन्ध की नित्यता के आधार पर तस्कर अर्थ में रूढ है तो उसी शब्द को दाक्षिणात्य जन ओदन के अर्थ में कैसे प्रयुक्त कर सकते हैं? अब यदि यह माना जाय कि वैदिक शब्द एक देश से एक अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध रखता है, तो इस पक्ष में भी यह विकल्प उठता है कि वह एक देश अभिमत एक अर्थ से नियत सम्बन्ध रखता है या अनभिमत? यदि वह अनभिमत अर्थ से सम्बन्ध रखता है तो वेद में मिथ्यार्थबोधकता के आधार पर अप्रामाण्य दोष की आपत्ति आवेगी। अब यदि यह माना जाय कि वह अभिमत एक अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध रखता है, तो यहाँ पर भी बताना पड़ेगा कि ऐसा वक्ता पुरुष के कारण होता है या यह शब्द का स्वभाव ही है? पुरुष के कारण ऐसा मानने पर उसकी अपौरुषेयता को सिद्ध करने का सारा प्रयास व्यर्थ हो जायगा। पुरुष राग से अन्धा हो जाता है, अतः उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। उस पुरुष से यदि वेद के एकदेश में अर्थ का नियम जाना जाता है, तो फिर अपौरुषेयता कहाँ रह गई? स्वाभिमत अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध मानने पर भावना भेद की उपपत्ति न हो सकेगी। यदि इसका अनेक अर्थों से नियत सम्बन्ध माने तो वेद का सकल अर्थों के साथ साधारण सम्बन्ध होने से इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति ही किस प्रकार संकेतकर्ता के संकेत के अनुसार हो सकेगी?

इसी तरह बौद्ध दार्शनिक भी कहते हैं कि हमारा यह अर्थ है, यह अर्थ नहीं है, इस तरह से शब्द स्वयं नहीं बोलते। पुरुष ही अर्थ की कल्पना करता है और यह रागादि से अवलिप्त रहता है। इन पुरुषों में जैमिनि जैसा कोई एक ही तत्त्ववित् है और अन्य

वैदिकाः शब्दाः– 'एत भवन्तो ब्राह्मणा अस्माकमयमर्थो ग्राह्यो नान्यः' इत्येवं क्रोशन्ति। अनभिव्यक्तार्थविशेषसंसर्गा एव श्रुतिपथमापतन्ति। तत्र कश्चिदेकमन्योऽपरमर्थं कल्पयति। न च कश्चित् शब्दस्वभावः प्रतिनियतः, येनैकार्थानुक्रिया नापरस्य, किन्तु समयवशात् तं तमाविशन्तो दृश्यन्ते। यत्तु कुतश्चन बुद्धीन्द्रियाभ्यासानामतिशयाद् जैमिन्यादिरेव वेत्ति नापरः, तस्य कुतोऽयमतिशयः? तथान्योऽपि देशकालस्वभावविप्रकृष्टानामर्थानां द्रष्टापि नासंभवी, यतो नहि तत्प्रतिज्ञेयसाधनानि यानि जैमिन्यादिकं न विषयीकुर्वन्ति। संभवेऽपि यथायमस्य विशेषः, तथान्यस्यापि स्यादित्यनभिनिवेश एव युक्तः। 'यस्य प्रमाणसंवादि वचनं सोऽर्थविद्यदि। नह्यत्यन्तपरोक्षेषु प्रमाणस्यास्ति संभवः॥' (३।३१६)। तथा सति प्रमाणान्तराप्रवृत्तावागमात् केवलादप्रतिपत्तिरेव स्यात्। यद्यागमप्रवृत्तिः प्रत्यक्षादिकमपेक्षते, तदाऽतीन्द्रियेषु स्वर्गाद्यर्थेषु नागमप्रवृत्तिः स्यात्। 'यस्य प्रमाणसंवादिवचनं तत्कृतं वचः। स आगम इति प्राप्तं निरर्थाऽपौरुषेयता॥' (३।३१७)। 'यद्यत्यन्तपरोक्षेऽर्थेऽनागमज्ञानसंभवः। अतीन्द्रियार्थवित् कश्चिदस्तीत्यभिमतं भवेत्॥' (३।३१९)। यदि परोक्षेऽर्थे आगमानपेक्षं ज्ञानयाथातथ्यमिष्यते, तदा पुरुषाः सन्त्यतीन्द्रियदृश इतीष्टं स्यात्। प्रत्यक्षेणातीन्द्रियस्यादर्शने प्रत्यक्षाप्रवृत्तेः कारणात् प्रत्यक्षपूर्वकाणामनुमानादीनामप्यतीन्द्रियेष्वप्रवृत्तिरेव। 'स्वयं रागादिमान्नार्थं वेत्ति वेदस्य नान्यतः। न वेदयति वेदोऽपि वेदार्थस्य कुतो गतिः॥' (३।३१९)। तदयमपरिज्ञातार्थः शब्दगडुरेव शल्यभूतोऽसदृशरशनायूपनिबद्धो दुरुद्धरः दुःखमासादयति। 'तेनाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ। खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा'॥ (३।३२०)। क्वचिदप्यर्थे प्रत्यासत्तिरहितस्याग्नौ घृतादिक्षेपादन्योऽप्यर्थो न भवेदित्यत्र का प्रमा।

पुरुष नहीं, ऐसी भेदबुद्धि का क्या आधार माना जा सकता है? जैमिनि के समान ही अन्य दार्शनिक आचार्यों में भी पुंस्त्व के समान रूप से रहते हुए वे ज्ञानी क्यों नहीं माने जा सकते? वैदिक ब्राह्मणों के इस कथन को कोई नहीं सुनता कि इसको इस शब्द का यही अर्थ मानना चाहिये, दूसरा नहीं। किसी अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति के बिना ही शब्द सुनाई पड़ते हैं। उस दशा में कोई एक अर्थ की कल्पना करता है, दूसरा दूसरे अर्थ की। शब्द स्वभावतः किसी अर्थ से सम्बद्ध नहीं रहता, जिससे कि एक ही अर्थ का बोध हो, दूसरे का नहीं। किन्तु संकेत के अनुसार उस उस अर्थ का बोध कराता है। आप कहते हैं बुद्धि और इन्द्रियों के अतिशय अभ्यास के कारण परिशुद्ध स्वभाव जैमिनि प्रभृति ही इसको जान सकते हैं, दूसरे नहीं? तो इस पर हम पूछते हैं कि उसमें यह अतिशय (विशेषता) कहाँ से आता है? उन्हीं की पद्धति से अन्य व्यक्ति भी देश, काल और स्वभाव आदि से विप्रकृष्ट अर्थ के द्रष्टा नहीं हो सकेंगे, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? अन्य दार्शनिकों के द्वारा परिदृष्ट ऐसे अनेक विषय हैं, जिनका कि ज्ञान जैमिनि को नहीं हैं। यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि जैमिनि को इनका भी ज्ञान था तो उन्हीं की तरह दूसरे को भी इन सब का ज्ञान हो सकता है, यही मानना उचित है। अब यदि आप यह कहें कि जिसका वचन अन्य प्रमाणों से पुष्ट होता हो वही तत्त्वविद् माना जा सकता है तो आप यह बताइये कि अत्यन्त परोक्ष अर्थ में प्रमाण की प्रवृत्ति कैसे संभव हो सकती है? ऐसे परोक्ष विषयों में जब प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति नहीं होगी तो आगम (शास्त्र) से भी उनका ज्ञान नहीं ही हो सकता। यदि आगम की प्रवृत्ति प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा रखती है, तो इस अवस्था में अतीन्द्रिय स्वर्गादि अर्थों में आगम की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। इस तरह से अन्त में यहीं मानना पड़ेगा कि जिस व्यक्ति का वचन अन्य प्रमाणों से संपुष्ट हो जाता है, उस व्यक्ति के उपदेश को ही आगम कहते हैं। इस दशा में अपौरुषेयता व्यर्थ हो जाती है। यदि अत्यन्त परोक्ष स्वर्गादि अर्थ के विषय में जैमिनि प्रभृति को आगम निरपेक्ष यथार्थ ज्ञान हो सकता है, तब तो अतीन्द्रिय अर्थ का द्रष्टा कोई पुरुष माना जा सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति अतीन्द्रिय अर्थ में नहीं होती। इसी कारण से प्रत्यक्ष के आधार पर प्रवृत्त होने वाले अनुमानादि की भी प्रवृत्ति अतीन्द्रिय अर्थों में नहीं होगी। इस प्रकार जब कोई अतीन्द्रिय अर्थ का द्रष्टा नहीं है तो रागादिमान् पुरुष वेद के अर्थ को स्वयं कैसे जानेगा? दूसरा भी कोई जनाने वाला नहीं है और न वेद ही अपने अर्थ को बता पाता है। ऐसी अवस्था में वेदार्थ का ज्ञान कैसे होगा? इस तरह से यह अपरिज्ञात अर्थ वाला शब्द व्यर्थ में विघ्न रूप में उपस्थित हो जाता है। मीमांसकों ने मजबूत डोरी से अपने को यज्ञ के खंभे से बांध लिया है, इससे छुटकारा पाना कठिन है। इस परिस्थिति में 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वैदिक वाक्य का अर्थ 'कुत्ते का मांस खाय' यह नहीं होगा, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? जब कोई भी अर्थ सामने नहीं है, उस अवस्था में 'अग्नि में घृत का प्रक्षेप करे' इससे भिन्न अर्थ भी उसका न होगा, ऐसा कैसे प्रामाणिक रूप से जाना जा सकता है?

अत्रोच्यते—य एव लौकिकाः शब्दास्त एवं वैदिका इति रीत्या यथा लौकिकैः शब्दैरर्थबोधस्तथैव वैदिकानामपि शब्दानां स्वार्थबोधे बाधाभावात्। शब्दार्थसम्बन्धस्यौत्पत्तिकत्वेऽपि सर्वशब्दानां सर्वार्थवाचकत्वेऽपि योगिव्यतिरिक्तानां संकेतव्यक्तस्यैवार्थबोधकत्वेनादोषात्।

यदुक्तम्—किं ह्यस्यापौरुषेयतया, यतो हि समयादर्थप्रतिपत्तिः, स पौरुषेयो वितथोऽपि स्यात्, तदप्यकिञ्चित्करम्, समयस्यापि वृद्धपरम्परया प्राप्तत्वेन पौरुषेयत्वाभावात्। अनादिवृद्धव्यवहारतदुपजीव्यार्षप्रमाणैरेव लौकिकानां शब्दानामिव वैदिकानामनेकार्थनियतत्वेऽपि न दोषः। लोकव्यवहारसिद्धये वाक्यार्थप्रतिपत्तये य उपायः, स एव वेदेऽपि निर्धारणीयः।

तदुक्तम्—यश्चैष लोकव्यवहारसिद्धः प्रादर्शि वाक्यार्थमितावुपायः, स एव वेदेऽप्यवधारणीयः। तत्रापि तान्येव पदानि तेऽर्थाः। अपि च, सर्गात्प्रभृति प्रवृत्तोऽयं वेदविदां व्यवहारः। ततश्च नाभिनवा वैदिकाः शब्दाः। दीर्घप्रबन्धप्रवृत्तादद्य यावद् व्युत्पद्यामहे, व्युत्पाद्यमानाश्च तं तमर्थं प्रतिपद्यामहे। अपि च, यथा वेदा अनादिभूताः, शब्दतदर्थसम्बन्धस्तदर्थावगमोपायाश्चानादिभूता एव। अपि च, यथा महाभाष्ये सूत्रानुकारिवाक्यानि तद्व्याख्यानानि चोपलभ्यन्ते, तथैव वेदेऽपि मन्त्रब्राह्मणात्मके व्याख्येयानि व्याख्यानभूतानि च वाक्यानि सन्ति। अनाद्यविच्छिन्नसम्प्रदायपारम्पर्येण यथा वेदा अधीयन्ते, तथैव वेदार्था अप्यधीयन्ते। पारम्पर्यप्राप्त एवार्थो व्याकरणमीमांसादिशास्त्रैर्गम्यते। जीवत्सु चैतेषूपायेषु वेदार्थो नावगम्यत इति मुधा भाषणम्। यथा लोके वाक्याद्वाक्यार्थोऽवगम्यते, तथैव वेदवाक्येभ्योऽपि वेदार्थो गम्यते। न चात्र रागादिमत्ता बाधिका,

इन सब बातों का समाधान हम इस तरह से कहते हैं—जो लौकिक शब्द हैं, वे ही वैदिक भी हैं। इसलिये जैसे लौकिक शब्दों से अर्थ का बोध होता है, उसी तरह से वैदिक शब्दों से भी अर्थ का ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध यद्यपि स्वाभाविक और नित्य है और यह भी ठीक है कि सभी शब्द सभी अर्थों के बोधक हैं, तो भी योगी से अतिरिक्त व्यक्तियों को संकेत के द्वारा अर्थ के अभिव्यक्त होने पर ही उसका बोध हो सकता है, ऐसा मान लेने पर उक्त दोषों में से किसी की भी संभावना नहीं होती।

यह आक्षेप किया गया है कि इसकी अपौरुषेयता का क्या लाभ है, जब कि इसका ज्ञान समय (संकेत) से ही होना है, क्योंकि यह संकेत तो पौरुषेय है, मिथ्या भी हो सकता है। यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि समय (संकेत) भी वृद्धपरम्परा से चला आ रहा है, अतः इसको भी पौरुषेय नहीं कहा जा सकता। अनादि वृद्ध-व्यवहार के सहारे चलने वाले आर्ष प्रमाणों के आधार पर ही लौकिक शब्दों के समान ही वैदिक शब्दों की भी अनेकार्थता में कोई दोष नहीं है। लोक व्यवहार की सिद्धि के लिये जिस उपाय से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, उसी का सहारा वेद में भी लिया जाना चाहिये।

जैसा कि कहा गया है—यह जो वाक्यार्थ की प्रमिति में लोक व्यवहार की सिद्धि को उपाय के रूप में माना गया है, उसी का अवलम्बन वेद में भी करना चाहिये, क्योंकि वेद में भी वे ही पद और अर्थ विद्यमान हैं, जो कि लोक में हैं। वेदज्ञों का इस तरह का व्यवहार सर्ग के प्रारंभ से ही प्रवृत्त है। इसलिये वैदिक शब्द कोई नये नहीं है। निरन्तर प्रवाह रूप से चले आ रहे इन शब्दों से आज तक हम उनकी व्युत्पत्ति को जानकर उनके अर्थ की अवगति करते चले आ रहे हैं। जैसे वेद अनादि हैं, उसी तरह से शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध भी अनादि हैं, उनके अर्थ के ज्ञान के उपाय भी अनादि हैं। जैसे व्याकरण महाभाष्य में सूत्रों का अनुकरण करने वाले और उनकी व्याख्या प्रस्तुत करने वाले वाक्य भी उपलब्ध हैं, उसी तरह से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद में भी व्याख्येय और व्याख्यानभूत दोनों तरह के वाक्य विद्यमान हैं। अनादि, अविच्छिन्न, सम्प्रदाय परम्परा से जैसे वेदों का अध्ययन होता है, उसी तरह से वेदार्थ का भी होता है। परम्परा से प्राप्त अर्थ की ही व्याकरण, मीमांसा आदि शास्त्रों से पुष्टि होती है। इन उपायों की विद्यमानता में यह कहना कि वेदार्थ की अधिगति नहीं होती, व्यर्थ की बकवास है। जैसे लोक में एक वाक्य से दूसरे वाक्य के अर्थ का बोध होता है, उसी तरह से वेदवाक्यों से वेद वाक्यों से भी वेद के अर्थ की अवगति होती है। इसमें रागादिमत्ता बाधिका नहीं हो सकती। रागा-

रागादिमतः प्रत्यक्षमतीन्द्रियेऽर्थे मा प्रवर्तिष्ट, रागादिमानग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति वाक्यादप्यग्निहोत्राख्यं कर्म स्वर्गसाधनं नावगच्छेदिति न वक्तुं शक्नोति कश्चिदपि, स्वात्मानुभवविरोधात्।

यदुक्तमतीन्द्रियेऽर्थे नियता कुतो व्युत्पत्तिरिति, तदपि न किञ्चित्, वेदवत्तद्व्यवहारस्य तदर्थावगमोपायस्य चानादित्वेन सुचिरप्ररूढत्वात्। वेदश्चार्थश्च तदवगमश्च तदुपायश्च तदनुष्ठानञ्च नाद्यत्वे प्रवृत्तानि, नैयायिकादिमतरीत्या जगत्सर्गात्प्रभृति प्रवृत्तानि, मीमांसकानां रीत्या त्वनादीन्येवेति न तेषु पर्य्यनुयोगावसरः।

खादेच्छ्ववमांसमित्याद्यपभाषणेन केवलमवीचिकेसरकुटुम्बिनमात्मानं कर्तुं वेदनिन्दैव कृता मन्दमतिना, नाभिनवं दूषणमुत्प्रेक्षितमिति साधूक्तं न्यायमञ्जरीकारैर्जयन्तभट्टैः।

स्वाध्यायाध्ययनसमये यादृशमेव शब्दं यथोचितमात्रानुस्वारस्वरादिरूपसमुत्थितमुच्चारयत्याचार्य्यः, तादृशमेव शिष्यः प्रत्युच्चारयति, प्रमाद्यन्तं वा गुरुरेवानुशास्ति। आयथावदुच्चारसामर्थ्योपजनं तावन्न मुञ्चति, शिक्षयति। सोऽपि शिष्यो यदा गुरुर्भवति तदा स्वशिष्यं तथैव शिक्षयिष्यति। आचार्य्यो यदा शैशवे शिष्य आसीत् तदान्येन गुरुणा शिक्षितोऽभूत्, सोऽपि तदन्येन, सोऽपि तदन्येनेत्यनादित्वं जैमिनीये पक्षे, आसर्गान्नैयायिकपक्षे।

लोके नास्तिकस्यापि विदितपदतदर्थतत्सम्बन्धस्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' (शां० ब्रा० १८।१४) इत्यादिवाक्येभ्योऽर्थप्रतिपत्तिर्भवत्येव। तदपलापस्तु स्वात्मानुभवापलाप एव। स्वर्गाग्निहोत्रयोः कार्यकारणभावस्यातीन्द्रियत्वाद् बाधोऽपि नानुभूयते। पुरुषसंस्पर्शादप्रामाण्यशङ्कापि स्यात्। तदभावात्तु प्रामाण्यस्वतस्त्वमनपोदितमेव तिष्ठति।

दिमान् व्यक्ति की प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर अतीन्द्रिय अर्थों में प्रवृत्ति मले ही न हो, किन्तु वह व्यक्ति 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' जैसे वैदिक वाक्यों से 'अग्निहोत्र नामक कर्म स्वर्ग का साधन है' इतना मी नहीं जान पायगा, ऐसी बात कोई कह नहीं सकता। यह कथन अपने अनुभव के भी विपरीत ही पड़ेगा।

यह कहना कि अतीन्द्रिय अर्थ की निश्चित प्रतिपत्ति (ज्ञान) कैसे हो सकती है? यह प्रश्न भी गलत है, क्योंकि वेद के समान ही वेद पर आधारित व्यवहार और उसके अर्थ की अवगति का उपाय अनादि काल से चला आ रहा है, यह बात सबके मन में घर कर चुकी है। वेद, उसका अर्थ, उसकी अवगति, अवगति का उपाय और उसका अनुष्ठान आज नहीं प्रवृत्त हुआ है। नैयायिक दृष्टि के अनुसार इसकी प्रवृत्ति सर्ग के आरम्भ से हुई है और मीमांसकों के मत से ये सब अनादि काल से प्रवृत्त हैं। इसलिये इनमें किसी प्रकार की शंका उठाने का कोई अवसर नहीं है।

'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वाक्यों का 'कुत्ते का मांस खावे' ऐसा अर्थ क्यों न होगा, इस तरह का अपभाषण करके मन्दमती धर्मकीर्ति ने 'अपने को केवल अवीचि नरक का निवासी बनाने के लिये वेद की निन्दा की है, उसने कोई नया दूषण नहीं खोज निकाला हैं, न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने यह ठीक ही कहा है।

वेद का अध्यापन करते समय यथोचित मात्रा, अनुस्वार, स्वर आदि से संयुक्त जिस तरह के शब्द को आचार्य बोलता है, उसी तरह के शब्द का उच्चारण शिष्य भी करता है। यदि शिष्य उच्चारण में कोई गलती करता है, तो आचार्य उसको पुनः समझाता है। जब तक शिष्य ठीक उच्चारण नहीं करता, तब तक उसको आचार्य छोड़ता नहीं, सिखाता ही रहता है। इस तरह से अनुशिष्ट शिष्य जब आचार्य हो जाता है, तो वह भी अपने शिष्य को इसी तरह सिखाता है। आचार्य बचपन में जब शिष्य था, तब उसने दूसरे गुरु से इसी तरह शिक्षा प्राप्त की थी और वह मी जब विद्यार्थी था तो उसने भी उससे पहले के आचार्य से शिक्षा प्राप्त की की। इस तरह से जैमिनीय मीमांसकों के पक्ष में यह अध्ययन अनादि परम्परा से चला आ रहा है और नैयायिकों के मत से इस सृष्टि के आरम्भ से यह अध्ययन परम्परा प्रचलित है।

लोक में किसी भी व्यक्ति को, जिसको कि पद, पदार्थ और उनके सम्बन्ध का ज्ञान है, 'अग्निहोत्रं' इत्यादि वाक्यों से अर्थ का ज्ञान होता है। इसका अपलाप अपने अनुभव को ही नकारने के समान है। स्वर्ग और अग्निहोत्र का कार्यकारणभाव अतीन्द्रिय है, अतः इसका बाध भी प्रत्यक्षतः नहीं प्रतीत हो सकता। इसके साथ पुरुष का किसी तरह का संस्पर्श हो तो अप्रामाण्य

ब्रह्मचर्य्यव्रतगुरुशुश्रूषाशमदमादिनियमपूर्वकसम्प्रदायपारम्पर्येण वेदार्थविगमस्तु वीर्य्यवत्तरो भवति। तदर्थमेव 'तेजस्वि नावधीतमस्तु' (तै० उ० शा० पा०), 'सह वीर्य्यं करवावहै' (तै० उ० शा० पा०), 'छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च' (श्री० भा० म० पु० १०।४५।४८) इत्यादीनि श्रवणानि स्मरणानि। तदर्थमेव 'तन्वं विसस्रे' (ऋ० सं० १०।७१।४) इत्यादिवेदवाक्यैरेवेदं गम्यते यद्विशिष्टानां कृते सुवासा युवतीव श्रुतिः स्वार्थं विवृणुते। 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' (श्वे० उ० ६।२३), 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥' (क० १।२।२२), 'तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यार्षत्' (तै० आ० २।९) इत्यादिवचनैस्तपसा चित्तैकाग्र्येण योगजवीर्य्येणापि वेदार्थविगमः श्रूयते। तदर्थविरोधिनां वाक्यार्थविगतावपि वीर्य्यवत्तापि न तादृशी वेदविरोधित्वादेव।

अपि च यैरार्हतैः शाब्दव्यवहारस्यानादित्वमुपेयते, जगतो निर्मूलनाशलक्षणः प्रलयः, असतश्चात्मलाभलक्षणा सृष्टिश्च नाभ्युपेयते, योग्यतालक्षणसम्बन्धवशाच्च श्रुतस्यार्थप्रतिपादकत्वमुच्यते, सम्बन्धस्य च समयवशादभिव्यक्तिरुच्यते, तेषां सम्बन्धनित्यत्वखण्डनं स्वमताभिनिवेशमात्रम्। नित्यसम्बन्धस्याभिव्यक्तौ हि लाघवमेव, शब्दस्य तदर्थभूतसामान्यस्य च नित्यत्वेन सम्बन्धनित्यत्वे बाधाभावात्। अत एव—'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः। सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥' (वा० प० १-२३) इति वचनमपि सम्यगेव।

की आशंका भी उठ सकती है, किन्तु पुरुष संसर्ग का जहाँ नितान्त अभाव है, वहाँ पर उसकी स्वतः प्रमाणता में कोई बाधा नहीं उठ सकती।

ब्रह्मचर्य के व्रत का पालन करना, गुरु की सेवा करना, शम दम आदि नियमों के अनुसार अपने जीवन को ढालना और इस तरह से साम्प्रदायिक गुरु परम्परा के आधार पर वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने से वह अधिक शक्तिशाली होता है। इसीलिये 'हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम (आचार्य और शिष्य) साथ ही उस तेज को प्राप्त करें, इस लोक और परलोक में हमारे वेद और उसका ज्ञान सदा ताज़ा बने रहें इस तरह के श्रुति और स्मृति के वचन उपलब्ध होते हैं। इसीलिये 'तन्वं विसस्रे' इत्यादि वेद वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है' कि सुन्दर वस्त्र पहने युवती के समान श्रुति विशिष्ट व्यक्तियों के सामने अपने अभिप्राय को व्यक्त कर देती है। 'जिस व्यक्ति की परमात्मा में तथा गुरु में परम भक्ति है, उसी महात्मा को वेद और उपनिषदों में प्रतिपादित अर्थ स्पष्ट होते हैं', इस आत्मस्वरूप की अधिगति न तो प्रवचनों से हो सकती है, न अपनी बुद्धि से और न बहुत सुनने से हो होती है। यह तो स्वयं जिसका वरण कर लेता है, उसी के सामने अपने स्वरूप को स्पष्ट रूप से रखता है', 'तपस्या करते हुए महर्षियों को स्वयंभू अनादि वेद और वेदार्थ स्वतः प्रकट हुआ' इत्यादि (आशय वाले) श्रुति वाक्यों से ज्ञात होता है कि तप, चित्त की एकाग्रता और योगज सामर्थ्य से भी वेदार्थ का ज्ञान होता है। वेदार्थ के विरोधी वाक्यों से वाक्यार्थ की अवगति तो होगी, किन्तु वेद विरोधी होने के कारण ही उनमें वह सामर्थ्य नहीं आ सकती।

जैन दार्शनिक शब्द व्यवहार की अनादिता को तो मानते हैं, किन्तु वे जगत् के निर्मूल नाश स्वरूप प्रलय को और अविद्यमान वस्तु के स्वरूपलाभ रूप सृष्टि को नहीं मानते। उनका कहना है कि योग्यता लक्षण सम्बन्ध के कारण श्रुत शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है और इस सम्बन्ध को अभिव्यक्ति समय (संकेत) के कारण होती है। इस परिस्थिति में उनका शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता का खण्डन केवल अपने मत का दुराग्रह[1] मात्र है, क्योंकि नित्य सम्बन्ध की अभिव्यक्ति मानने में लाघव ही है। शब्द और शब्दार्थ स्वरूप सामान्य दोनों नित्य हैं, अतः इनके सम्बन्ध की नित्यता में कोई बाधा नहीं उपस्थित हो रही है। इसीलिये वाक्यपदीयकार का

१. वास्तव में जैन दार्शनिक शब्दार्थ व्यवहार के सम्बन्ध में मीमांसकों का अनुकरण करते हैं और इसीलिये वे उनकी तरह जगत् की उत्पत्ति और विनाश न मानने का ढोंग भी रचते हैं। योग्यतारूप सम्बन्ध से शब्द के अर्थ का ज्ञान मानना और उस सम्बन्ध का संकेत के द्वारा ज्ञान मान कर भी सम्बन्ध को नित्य न मानना, यह स्पष्ट ही उनके अनुकरण तथा अपने मत के दुराग्रह को स्पष्ट करता है।

यदुक्तम्—नित्यस्य वस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वं नोपपद्यते, तदपि न, सहकारिवशान्नित्यस्य स्थायिनोऽपि कार्य्यकारित्वे बाधाभावात्। कार्य्यस्यानित्यत्वेऽपि तत्सामान्यनित्यत्वेन कार्येऽर्थे चोदनायाः प्रामाण्यकथनमपि नासङ्गतम्। अपि च, कुरानवायविलादिग्रन्थानामपि मर्माणि शब्दतदर्थानुष्ठानपरायणानां यथा सुव्यक्तानि, न तथाऽन्येषाम्।

यदुक्तम्—'तद्वयाख्याता अतीन्द्रियार्थद्रष्टा तद्विपरीतो वा? प्रथमपक्षे अतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्रतिषेधविरोधः, धर्मादौ चास्य प्रामाण्योपपत्तेः, धर्मे चोदनैव प्रमाणमित्यवधारणानुपपत्तिश्च। तद्विपरीतश्चेत्तर्हि कथं यथार्थप्रतिपत्तिः, अयथार्थाभिधानाशङ्कया तदनुपपत्तेः' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, वाक्यार्थबोधेऽतीन्द्रियार्थदर्शनस्यानुपयोगात्। पारम्पर्येणाधीतवेदतदर्थानामतीन्द्रियार्थदर्शनरहितानामपि तपसा निष्कल्मषाणां वेदतदर्थावबोधतदर्थानुष्ठानपरायणानां वेदतात्पर्य्यविदां व्याख्यातृत्वोपपत्तेः। अत एव वशिष्ठमनुव्यासादीनामृषीणां वेदोक्तकर्मोपासनादिनिष्ठानां जनसामान्यापेक्षया विशिष्टज्ञानवतामपि वेदव्याख्यातृत्वोपपत्तिः।

यदुक्तम्—'मन्वादीनां सातिशयप्रज्ञत्वं तेषां स्वतः वेदार्थाभ्यासात्, अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा स्यात्? स्वतश्चेत्, सर्वस्य स्यादविशेषात्। वेदार्थाभ्यासाच्चेत्, तत्त्वेऽपि ज्ञातस्य वा अज्ञातस्य वा अभ्यासः स्यात्? नाज्ञातस्यातिप्रसङ्गात्। ज्ञातस्य चेत्कुतस्तज्ज्ञप्तिः? स्वतोऽन्यतो वा? स्वतश्चेत् अन्योन्याश्रयः। सति हि वेदार्थाभ्यासे स्वतस्तत्परिज्ञानम्,

यह कथन बिलकुल सही है कि—'सूत्रों के और सानुवन्ध भाष्य ग्रन्थों के प्रणेता महर्षियों ने शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को भी नित्य माना है'।

कहा जाता है कि 'वस्तु को नित्य मानने पर उसकी क्रमशः और एक साथ अर्थक्रिया करने की सामर्थ्य की उपपत्ति नहीं बन पाती'। किन्तु यह कथन गलत है, क्योंकि नित्य अत एव स्थायी वस्तु में भी सहकारी कारण की सहायता से इसकी उपपत्ति हो सकती है। कार्य के अनित्य होने पर भी उसमें रहने वाली जाति की नित्यता के आधार पर कार्य अर्थ के प्रति भी विधिवाक्य की प्रमाणता में कोई असंगति नहीं उठ सकती। कुरान, बाइबिल आदि अन्य धर्मों के ग्रन्थों का मर्म भी उन्हीं को ठीक से समझ में आता है, जो कि उनके अभ्यास में निरन्तर लगे रहते हैं, अन्य व्यक्तियों को नहीं।

यह भी शंका उठाई गई थी कि 'वेदार्थ का व्याख्याता अतीन्द्रिय अर्थ का द्रष्टा है या नहीं? प्रथम पक्ष मानने पर अतीन्द्रियार्थ दर्शी के निषेधक वाक्यों से विरोध होगा और धर्म-अधर्म आदि के विषय में भी जब अतीन्द्रियार्थ दर्शी को प्रमाण मान लिया जायगा, तो धर्म में केवल विधिवाक्य ही प्रमाण हो सकते हैं, यह नियम नहीं बन सकेगा। यदि वेदार्थ का व्याख्याता अतीन्द्रिय अर्थ का द्रष्टा नहीं है, तो उसकी प्रतीति यथार्थ कैसे मानी जा सकती है, क्योंकि इस शंका के कारण कि कहीं यह अयथार्थ वस्तु का तो प्रतिपादन नहीं कर रहा है, उसके उपदेश के प्रति आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता'। किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि वाक्यार्थ के ज्ञान के लिये अतीन्द्रिय अर्थ के दर्शन का कोई उपयोग नहीं है। परम्परा से जिन्होंने वेद का और उसके अर्थ का अध्ययन किया है, वे अतीन्द्रिय अर्थों के द्रष्टा भले ही न हों, किन्तु तप के बल से निष्कलुष जीवन वाले और वेद, वेदार्थ की अवगति एवं उसके अनुष्ठान में निरन्तर लगे हुए ऐसे महानुभावों को वेद का तात्पर्य समझ में आ ही सकता है और वे उसकी व्याख्या कर ही सकते हैं। इसीलिये वसिष्ठ, मनु, व्यास सरीखे ऋषिगण जनसामान्य की अपेक्षा अधिक तत्परता से वेदोक्त कर्म और उपासना आदि में लगे रहते हैं, अतः विशेष रूप से वेदार्थ की अवगति होने से वेदार्थ के व्याख्याता के रूप में इनकी प्रसिद्धि उचित ही है।

पूछा जाता है कि 'मनु प्रभृति की सातिशयप्रज्ञता उनको स्वतः प्राप्त होती है या वेदाध्ययन और उसके अर्थ ज्ञान के अभ्यास से प्राप्त होती है? अदृष्ट के कारण यह उनमें आती है, अथवा ब्रह्मा से उनको उपदेश प्राप्त होता है? यदि मन्वादि को स्वतः यह प्राप्त होती है तो अन्य व्यक्तियों को क्यों नहीं प्राप्त होगी, मन्वादि में और उनमें कोई विशेषता तो है नहीं। वेदार्थ के अभ्यास से यदि यह प्राप्त होती है तो यह अभ्यास ज्ञात का होगा या अज्ञात का? अज्ञात का अभ्यास नहीं हो सकता। अब यदि ज्ञात का माने तो यह ज्ञप्ति (ज्ञान) उनको कैसे हुई? स्वतः हुई या दूसरे की सहायता से यदि स्वतः हुई तो यहाँ पर ज्ञप्ति (ज्ञान) और अभ्यास को अन्योन्या-

तस्मिंश्च सति तदर्थाभ्यास इत्यन्योन्याश्रयः। अन्यतस्तर्हि तस्यापि तत्परिज्ञानमन्यतः। अतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमेऽन्ध-परम्परातो यथार्थनिर्णयानुपपत्तिः। अदृष्टमपि न प्रज्ञातिशयसाधकम्, तस्यात्मान्तरेऽपि सद्भावात्। न च तथाविधमदृष्टं मन्वादावेव संभवति, नान्यत्र। कुतस्तत्रैव संभवः? वेदार्थानुष्ठानविशेषाच्चेत् तर्हि ज्ञातस्याज्ञातस्य वा वेदार्थस्या-नुष्ठानात्? अज्ञातस्य चेदतिप्रसङ्गः, ज्ञातस्य चेच्चक्रकापत्तिः। सिद्धे हि वेदार्थज्ञानातिशये तदर्थानुष्ठानविशेषसिद्धिः, तत्सिद्धौ चादृष्टविशेषसिद्धिः, ततश्च ज्ञानातिशयसिद्धिः, ततस्तज्ज्ञानातिशयसिद्धिः। ब्रह्मणोऽपि वेदार्थज्ञाने सिद्धे सति ततो मन्वादेस्तदर्थपरिज्ञानातिशयः। तच्चास्य कुतः सिद्धम्? धर्मविशेषाच्चेत्, स एव चक्रकप्रसङ्गः। ततोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽ-नभ्युपगमे वेदार्थप्रतिपत्तेरनुपपत्तिरेव' इत्यादि।

तदपि तुच्छम्, अनादिसिद्धपारम्पर्येण गुरोरध्ययनेन वेदार्थज्ञानम्, तेन तदर्थानुष्ठानम्, ततो विशिष्टज्ञानसंभवे बाधाभावात्, गुरोर्मुखादनुश्रवणेनैव तस्यानुश्रवेति नामप्रसिद्धेरुक्तत्वात्। न चान्योन्याश्रयादिकं गुरुपारम्पर्येण वेदार्थावगमे बाधाभावात्। न चेयमन्धपरम्परा, शाब्दव्यवहारस्यानादिपरम्पराया जैनैरप्यभ्युपगमात्। सर्वैरपि गुरुपारम्पर्यस्य शिक्षणादौ स्वीकारात्। त्वद्रीत्या कस्मिंश्चिद्वस्तुनि सामान्यज्ञानं लोकतो भवति, तदाश्रित्यैवाभ्यासविशेषे सति सार्वज्ञ्यसाधनज्ञानम्, ततस्तदनुष्ठानम्, ततः सार्वज्ञ्यम्। अत्र तु सार्वज्ञ्याभावेऽप्यपौरुषेयवेदेन प्रज्ञातिशयसाधनज्ञानं संभवत्येव, गुरुपारम्पर्येण लोकतो वा विदितपदतदर्थस्य वाक्यश्रवणेनैव वाक्यार्थज्ञानं संभवत्येव, तदर्थं प्रज्ञातिशयस्यानपेक्षणात्।

श्रयता माननी पड़ेगी। वेदार्थ के अभ्यास के आधार पर स्वतः ज्ञप्ति होगी और ज्ञप्ति के आधार पर वेदार्थ का अभ्यास होगा। यदि ज्ञप्ति अन्यतः होती है तो उसका परिज्ञान भी अन्य से होगा। इस प्रकार अतीन्द्रिय अर्थ के द्रष्टा को जब तक नहीं मानते, इस तरह की अन्ध-परम्परा के कारण कोई यथार्थ वस्तु का निर्णय न हो सकेगा। अदृष्ट भी प्रज्ञा (बुद्धि) की अतिशयिता को नहीं सिद्ध कर सकता, क्योंकि अदृष्ट भी समान रूप से सभी आत्माओं में विद्यमान है। यदि यह कहा जाय कि इस तरह का अदृष्ट मन्वादि में ही रह सकता है, अन्यत्र नहीं तो आप बताइये कि ऐसा क्यों होगा? वेदार्थ के अनुष्ठान विशेष से ऐसा होगा तो आप यह बताइये कि यह ज्ञात है इसलिए होगा या अज्ञात रहने पर भी। वेदार्थ के अनुष्ठान से यदि अज्ञात होने पर भी होगा तो इसमें अतिप्रसंग दोष आयेगा और ज्ञात होने के कारण होगा तो उसमें चक्रक दोष की आपत्ति होगी, क्योंकि वेदार्थज्ञान की अतिशयिता सिद्ध होने पर वेदार्थ के अनुष्ठान विशेष की सिद्धि होगी, इसके सिद्ध होने पर अदृष्टविशेष की सिद्धि होगी और अदृष्टविशेष की सिद्धि होने पर ज्ञानातिशय की सिद्धि होगी, तब मन्वादि के ज्ञानातिशय की सिद्धि हो पावेगी। अब यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मा को वेदार्थ ज्ञान सिद्ध है, अतः उससे मन्वादि को वेदार्थ ज्ञान की अतिशयिता प्राप्त होती है, तो इस पर भी हमारा प्रश्न है कि ब्रह्मा को यह वेदार्थ ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ? यदि माना जाय कि धर्म विशेष के कारण ऐसा होता है तो पूर्वोक्त चक्रक प्रसंग यहां पर भी आवेगा। अतः अतीन्द्रियार्थदर्शी के न मानने पर वेदार्थ की प्रतिपत्ति किसी भी प्रकार से उपपन्न नहीं हो पाती'।

किन्तु यह सारा कथन वागाडम्बर मात्र है। अनादि सिद्ध परम्परा से चले आ रहे गुरुपूर्वक अध्ययन से वेदार्थ का ज्ञान, तब उसका अनुष्ठान करने पर विशिष्ट ज्ञान के होने में कोई बाधा नहीं है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वेद का एक नाम अनुश्रव इसीलिये प्रसिद्ध है कि इसका श्रवण गुरुमुख से उच्चरित होने के बाद होता है। अन्योन्याश्रय प्रभृति दोष भी यहाँ नहीं उठाये जा सकते, क्योंकि गुरुपरम्परा से वेदार्थ की अवगति में कोई बाधा नहीं है। इसको अन्धपरम्परा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वयं जैन दार्शनिकों ने भी शब्द व्यवहार की अनादि परम्परा को माना है। शिक्षण पद्धति में गुरुपरम्परा को सब कोई स्वीकार करते हैं। आपकी पद्धति से किसी वस्तु का सामान्य ज्ञान लोक-व्यवहार से प्राप्त होता है। उसी के सहारे गहरा अभ्यास करने पर सर्वज्ञता के साधक ज्ञान की अधिगति होती है और इस ज्ञान के निरन्तर अनुष्ठान से अन्त में सर्वज्ञता की अभिव्यक्ति होती है। हमारे मत से सर्वज्ञता के अभाव में भी अपौरुषेय वेद से प्रज्ञातिशयिता के साधक ज्ञान की अधिगति होती है। गुरुपरम्परा अथवा लोक से जिसको पद और पदार्थ का ज्ञान हो चुका है, उसकी वाक्य के सुनने से ही वाक्यार्थ की अधिगति हो ही जाती है। इसके लिये प्रज्ञा की अतिशय की कोई अपेक्षा नहीं रहती।

अपि च, वैदिकैस्तु नित्यसिद्धः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमानीश्वरोऽप्यभ्युपगम्यते। तदनुग्रहेणापि प्रज्ञातिशयः संभवत्येव, ईश्वरत्वस्य स्वतः सिद्धेः। बौद्धैर्जैनैस्तु स्वतःसिद्धः सर्वज्ञः सर्वेश्वरो वा नाभ्युपेयते। तैस्तु साधनसिद्धमतीन्द्रियार्थदर्शित्वमभ्युपेयते। तत्रैव साधनज्ञानार्थं सार्वज्ञ्यमतीन्द्रियार्थदर्शित्वञ्चापेक्षितम्। अपौरुषेयशास्त्रे स्वतःसिद्धमैश्वर्यं चाभ्युपेयते। न च स्वतः सार्वज्ञ्यं सर्वस्य स्यात्, सर्वस्य जगत्कारणत्वाभावेन तदसंभवात्। नहि चेतनस्य यत्संभवस्तदचेतनस्यापि संभवति। तथैवेश्वरनिष्ठगुणानामनीश्वरेऽपि न संभवः, स्वभावस्यापर्य्यनुयोज्यत्वात्। स्वभावस्य कर्मणां वा जगत्कारणत्वाभ्युपगमापेक्षया चेतनस्येश्वरस्य जगत्कारणत्वाभ्युपगमः समञ्जस एव। अनीश्वराणां तु साधनानुष्ठानादेव प्रज्ञातिशयः, साधनज्ञानं त्वपौरुषेयाद्वेदादेव। अपौरुषेयस्य वेदस्य तदर्थज्ञानस्य तदर्थानुष्ठानस्याविच्छिन्नपारम्पर्य्येणोपलब्धिः। क्वचिन्मन्त्रात्मकस्य वेदस्य ब्राह्मणात्मकेन वेदेनार्थोऽपि व्याक्रियते। 'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्योऽभिवर्षतु॥' (वा० सं० २२।२२) इत्यादीनां शुक्लयाजुषमन्त्राणां शतपथे स्पष्टं विवरणं दृश्यते। व्याकरणनिरुक्तकल्पसूत्रमीमांसोपकृताभिः पारम्पर्य्येण प्राप्ताभिः पद्धतिभिश्चानुष्ठानोपयोगी वेदार्थः सम्यग्ज्ञातुं शक्यत एव।

अपि च, यदि लोकतो विदितपदतदर्थशाब्दन्यायस्य वाक्येभ्यो वाक्यार्थावगतिर्न भवेत्, तदा जैनबौद्धाद्यागमानामपि नार्थावगमः स्यात्, तत्सम्प्रदायविरुद्धो वार्थः परिकल्पितः स्यात्, तदा श्वमांसं भक्षयेदिति बुद्धोक्तीनामप्यर्थः किं न स्यात्। अपि च, बुद्धवाक्यैरेव जगन्नित्यत्वमपि किं न स्यात्।

यदुक्तम्—'पौरुषेयवाक्यानां पुरुषैरेवाभिप्रायप्रकाशनं संभवति, नापौरुषेयेषु वाक्येष्वेवं संभवति, तत्राभिप्रायप्रकाशकस्य पुरुषस्यासंभवात्' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, यतोऽभिप्रायवाक्यस्यापि विपरीतार्थबोधः कथं न स्यात्। तस्मादकामेनापि

एक बात और है, वैदिक विद्वान् नित्यसिद्ध, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर को भी मानते हैं। उसकी कृपा से प्रज्ञा का अतिशय प्राप्त हो ही सकता है। ईश्वर का ईश्वरत्व स्वतः सिद्ध है, किन्तु बौद्ध और जैन तो स्वतः सिद्ध, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर को नहीं मानते। उनका मानना है कि यह सर्वज्ञता, अतीन्द्रियार्थदर्शिता साधनों से सिद्ध होती है। उन्हीं के मत में साधनों के ज्ञान के लिये सर्वज्ञता और अतीन्द्रियार्थ दर्शिता की अपेक्षा हो सकती है। शास्त्रों की अपौरुषेयता मानने वाले हम लोगों के मत में ऐश्वर्य भी स्वतः सिद्ध माना जाता है। यह सर्वज्ञता स्वतः प्राप्त होती है, तो भी सर्वसामान्य में इसका आविर्भाव नहीं हो सकता। सामान्य जन जगत् को उत्पन्न नहीं करते तो उनमें सर्वज्ञता क्यों रहेगी? चेतन के लिये जो संभव हो वह अचेतन में कैसे संभव हो सकता है। इसी तरह से ईश्वर में विद्यमान गुण अनीश्वर में नहीं रह सकते। किसी वस्तु के स्वभाव को प्रश्नों के आधार पर बदला नहीं जा सकता। स्वभाव अथवा कर्म को जगत् का कारण मानने की अपेक्षा चेतन ईश्वर को जगत् का कारण मानना अधिक सही है। ईश्वर से भिन्न प्राणियों का प्रज्ञातिशय साधन का अनुष्ठान करने से अभिव्यक्त होता है और इसके साधन का ज्ञान अपौरुषेय वेद से ही होता है। अपौरुषेय वेद, वेदार्थ का ज्ञान और वेदार्थ का अनुष्ठान, इन सबकी उपलब्धि अविच्छिन्न परम्परा से होती है। कभी मन्त्रात्मक वेद की ब्राह्मणभागात्मक वेद से व्याख्या भी की जाती है। 'आब्रह्मन्' इत्यादि शुक्लयजुर्वेद के मन्त्रों की शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट व्याख्या की गई है। व्याकरण, निरुक्त, कल्पसूत्र, मीमांसा प्रभृति शास्त्रों की सहायता से और परम्परा प्राप्त पद्धतियों से भी अनुष्ठान के लिए उपयोगी वेदार्थ का सही ज्ञान हो सकता है।

यदि लोक से पद, पदार्थ और शब्द न्याय को ठीक से समझे हुए व्यक्ति के वाक्य को सुनकर वाक्यार्थ की अवगति नहीं होगी तो बौद्ध और जैन आगमों की भी अर्थावगति न हो पावेगी, अथवा उनके सम्प्रदाय से विरुद्ध अर्थ की भी कल्पना की जा सकती है। ऐसी अवस्था में बुद्ध की उक्तियों का भी यह अर्थ क्यों नहीं हो जायगा कि कुत्ते का मांस खाना चाहिये। बुद्ध के वाक्यों से ही जगत् की नित्यता भी क्यों न सिद्ध हो जायगी?

कहा जाता है कि 'पौरुषेय वाक्यों का अभिप्राय पुरुष ही समझाते हैं, अपौरुषेय वाक्यों में ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ पर अभिप्राय के प्रकाशक पुरुष की स्थिति नहीं है'। किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि उक्त अभिप्रायबोधक वाक्यों की भी विपरीत अर्थ की बोधकता को कौन रोक सकता है? इसलिए न चाहते हुए भी वाक्यों से ही पद, पदार्थ और शाब्दन्याय के अभिज्ञ व्यक्ति को

वाक्यैरपि विदितपदतदर्थशाब्दन्यायस्य यथाभूतवाक्यार्थबोधोऽभ्युपेयः। अपौरुषेयेऽपि वेदे—"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये ॥" इत्युपक्रमोपसंहारादिभिः षड्विधैर्लिङ्गैस्तात्पर्य्यनिर्धारणसम्भवात्। न च पुरुषाभिप्रायलक्षणं तात्पर्य्यमपौरुषेये वेदे न सम्भवत्येवेति वाच्यम्, प्रयोजनवदर्थस्यैव तात्पर्य्यशब्दार्थत्वात्। तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसीत्यादौ तत्प्राधान्यस्यैव तात्पर्य्यपदार्थत्वोक्तिः। पौरुषेये तत्प्रतीतीच्छयोच्चरित्ववदपौरुषेये पौरुषेये च तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वरूपं तात्पर्य्यं सम्भवत्येव। वेदे तदेतदपौरुषेयापौरुषेयसाधारणेषु सर्वेष्वेव वाक्येषु सम्भवत्येव।

यदुक्तम्—लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेऽप्यनेकार्थत्वव्यवस्थितिः, अन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितस्यार्थस्य नियमयितुमशक्तिरिति। न च प्रकरणादिभ्यस्तन्नियमस्तेषामप्यनेकधा प्रवृत्तेः, त्रिःसन्धानादिवत्। यदि च लौकिकेनाग्न्यादिशब्देनाविशिष्टत्वाद् वैदिकस्यार्थस्य प्रतिपत्तिस्तर्हि पौरुषेयोऽप्यसौ कथं न स्यात्। लौकिकस्य हि अग्न्यादिशब्दस्यार्थवत्त्वं

वाक्यार्थ का बोध होता है, यह मानना पड़ेगा। अपौरुषेय वेद में भी [1]'उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति रूप षड्विध लिङ्ग से तात्पर्य का निर्णय होता है। तात्पर्य तो पुरुष के अभिप्राय को ही कहते हैं। अपौरुषेय वेद में यह कैसे रह सकता है? इसका उत्तर है कि सप्रयोजन अर्थ ही तात्पर्य शब्द का अर्थ है। यह वेद में भी विद्यमान है। [2]'अतत्प्रधान से तत्प्रधान बलवान् होते हैं' यहाँ पर यह स्वीकार किया गया है कि तत्प्रधान ही तात्पर्य पद का अर्थ होता है। पौरुषेय वाक्य में जैसे तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्व रूप तात्पर्य माना जाता है, उसी तरह से अपौरुषेय वाक्य में भी उससे भिन्न की प्रतीति के लिए अनुच्चरितत्व रूप तात्पर्य रह ही सकता है। इस तरह से तात्पर्य का यह लक्षण अपौरुषेय और पौरुषेय सभी वाक्यों में साधारण रूप से विद्यमान रहता है।

पुनः आक्षेप किया जाता है कि लौकिक और वैदिक पदों को एक मानने पर भी इनका अर्थ एक ही नहीं माना जा सकता, तदन्य का परिहार कर जब हम अर्थ की व्याख्या करने लगते हैं, उस समय उसको किसी एक अर्थ में नियमित कर पाना कठिन है। प्रकरण प्रभृति से भी अर्थ को नियमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि तीन बार के लक्ष्यानुसन्धान की तरह प्रकरण आदि की भी अनेक रूप से प्रवृत्ति हो सकती है। यदि लौकिक अग्नि प्रभृति शब्दों से वैदिक अर्थ की भी प्रतीति इसलिये होती है कि लौकिक और वैदिक शब्द समान है, तो उसी आधार पर वे पौरुषेय भी क्यों न माने जाय? क्योंकि लौकिक अग्नि प्रभृति शब्दों की अर्थवत्ता पौरुषेयत्व से

---

१. किसी भी ग्रन्थ या प्रकरण का तात्पर्य जानने के लिए यह आवश्यक है कि उस ग्रन्थ और प्रकरण के प्रारंभ में क्या कहा गया है और उसके अन्त में भी वही बात कही गई है, जो उसके आरंभ में कही गई है। साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि आरंभ और अन्त में कहे गये विषय को ही प्रसंगवश बार-बार दोहराया गया है। यह विषय ऐसा है, जिसका ज्ञान अन्य साधन से नहीं हो सकता और उस विषय के ज्ञान से फल का होना भी निश्चित है। उसी विषय का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए उस विषय और उसके ज्ञान से होने वाले फल की श्रेष्ठता को बताने वाला कोई प्राचीन इतिहास भी है और साथ ही बार-बार अनेक सुदृढ़ तर्कों से उसी विषय की पुष्टि भी की गई है। इन छः प्रकार के हेतुओं से किसी भी ग्रन्थ या विषय का तात्पर्य क्या है? यह बात बुद्धिमान् लोग आसानी से समझ सकते हैं।

२. किसी मित्र से कोई दूसरा मित्र किसी के यहाँ भोजन करने का आग्रह कर रहा है। ठीक उसी समय उसका कोई अत्यन्त हितैषी मित्र कहता है—'जहर क्यों नहीं खा लेते'। यहाँ भोजन करने वाले मित्र के वाक्य का तात्पर्य केवल भोजन कर भूख मिटाने में हैं, किन्तु 'जहर खाओ' ऐसा कहने वाले मित्र के वाक्य का तात्पर्य जहर खाने में नहीं, किन्तु जिसके यहाँ भोजन करना चाहते हो, वह तुम्हारा शत्रु है, उसके घर भोजन करना जहर खाने के समान है, अतः उसके यहाँ भोजन नहीं करना चाहिए, इस बात को दृढ़ता के साथ कहने में हैं, अतः यह भोजननिषेधपरक वाक्य भोजनपरक वाक्य की अपेक्षा बलवान् है। वेदादि शास्त्रों में भी कई ऐसे वाक्य हैं, जिनका तात्पर्य स्वार्थ में है और कई ऐसे वाक्य हैं, जिनका तात्पर्य स्वार्थ में न होकर अन्य लाक्षणिक अर्थ के प्रतिपादन में हैं। उन स्वार्थभिन्न लाक्षणिक अर्थपरक वाक्यों से स्वार्थपरक वाक्य बलवान् होते हैं। जैसे 'आदित्यो यूपः, यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्य स्वार्थपरक न होकर केवल प्रशंसापरक हैं। इनकी अपेक्षा स्वार्थपरक 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वाक्य बलवान् हैं।

पौरुषेयत्वेन व्याप्तम्। तत्रायं वैदिकोऽग्निशब्दः कथं पौरुषेयत्वं परित्यज्य तदर्थमेव ग्रहीतुं शक्नोति, उभयमपि गृह्णीयाज्जह्याद्वेति तन्न, समानचोद्यत्वात्। प्रकरणादिभिर्वाक्यार्थानिर्धारणे पौरुषेयेष्वपि वाक्येषु तदापत्तिः समानैव। आगमनिर्मातॄणां स्वाभिप्रायप्रकाशकवाक्येष्वप्यर्थभेदाशङ्काया अपरिहार्य्यत्वात्। तदानीं तदभिप्रायप्रकाशनेऽपि तद्देशकाले तत्तदनुयायिभिरन्यथार्थप्रकाशनसम्भवात्। यदि सादिग्रन्थानामपि पारम्पर्य्येणैव तदभिप्रायवेदनं सम्भवति, तदा त्वनादिग्रन्थानामपि पारम्पर्येण तात्पर्य्यावगमः सुलभ एव। तस्मात्—

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्य्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्य सन्निधिस्तथा॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इति संसर्गादिभिरुपक्रमादिभिश्च तात्पर्य्यनिर्णय एवोचितः। यदुक्तम्—लौकिकस्याग्निशब्दस्यार्थवत्त्वं पौरुषेयत्वेन व्याप्तमिति, तन्न, पौरुषेयापौरुषेयसाधारणस्य शब्दस्यार्थवत्त्वे बाधाभावेन पौरुषेयत्वस्याप्रयोजकत्वात्।

यदुक्तम्—लौकिकवैदिकशब्दयोः स्वरूपाविशेषेऽपि संकेतग्रहणसव्यपेक्षत्वेनार्थप्रतिपादकत्वेन अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाश्रवणे समानेऽपि को विशेष इति, तदपि न किञ्चित्, अपौरुषेयवेदराश्यन्तर्गतत्वादेवापौरुषेयत्वं तद्भिन्नत्वात्तु पौरुषेयत्वमितरस्य सुवचत्वात्। किं च यद्यपि लौकिकानां वैदिकानां समेषामपि वर्णानां नित्यत्वमपौरुषेयत्वं च समानमेव, तथापि पौर्वापर्य्यलक्षणाया आनुपूर्व्या निर्माणे पुरुषस्य स्वातन्त्र्यम्। यत्र पुरुषस्वातन्त्र्यं तत्र पौरुषेयत्वं यत्र पुरुषस्वातन्त्र्यं नास्ति तत्रैवापौरुषेयत्वम्। आनुपूर्वीविशेषविशिष्टानां वर्णानामेव पदत्वं वाक्यत्वञ्च। पौरुषेयेषु पुरुषाश्रितदोषाशङ्का भवत्यन्यत्र

नियमित है। इस परिस्थिति में वैदिक अग्नि शब्द लौकिक अग्नि शब्द के पौरुषेयत्व को छोड़कर केवल उसके अर्थ से कैसे संबद्ध हो सकता है। वह या तो इन दोनों को ग्रहण करेगा या दोनों को छोड़ देगा। आपका यह पूरा कथन इसलिये ठीक नहीं है कि यह आपत्ति समान रूप से आपके पक्ष में भी विद्यमान है। प्रकरणादि से जब वाक्यार्थ का निर्धारण नहीं हो पाता, उस अवस्था में पौरुषेय वाक्यों में भी यह आपत्ति समान रूप से उपस्थित होती है। शास्त्र निर्माताओं के अपने अभिप्राय के प्रकाशक वाक्यों में भी अर्थभेद की आशंका का परिहार नहीं किया जा सकता। शास्त्रकार की विद्यमानता में उसके अभिप्राय का प्रकाशन भले ही हो, किन्तु भिन्न देश-काल में उनके अनुयायियों के द्वारा अन्यथा अर्थ का प्रतिपादन किया जा सकता है। यदि सादि ग्रन्थों का अभिप्राय आप परम्परा से प्राप्त ही मानते हैं, तो फिर अनादि ग्रन्थों का अभिप्राय भी इसी तरह से परम्परा से बड़ी सरलता से समझा जा सकता है, इसमें आपको क्या आपत्ति हो सकती है?

इसलिये 'संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, शब्दान्तर की संनिधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, और स्वर इनकी सहायता से जहाँ पर शब्दार्थ संदिग्ध रहता है, वहाँ पर विशेष अर्थ की स्मृति होती है' इत्यादि प्रमाण वचनों के आधार पर संसर्ग प्रभृति से तथा उपक्रम प्रभृति से तात्पर्य का निर्णय करना ही ठीक है। 'लौकिक अग्नि शब्द की अर्थवत्ता पौरुषेयत्व से व्याप्त है' यह कथन इसलिये ठीक नहीं है कि पौरुषेय और अपौरुषेय साधारणतया सभी शब्दों के अर्थवान् होने में कोई बाधा नहीं है, अतः पौरुषेयत्व को इसमें प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

पूछा जाता है कि लौकिक और वैदिक शब्दों का जब स्वरूप समान ही है, तब संकेत ग्रहण की सहायता से अर्थ की प्रतिपादकता में और अनुच्चरित दशा में अन्य पुरुष द्वारा अश्रवण की भी समानता में इनमें भेदक विशेषता क्या मानी जायगी? इस कथन में भी कुछ दम नहीं है, क्योंकि इसका बड़ी सरलता से यह उत्तर दिया जा सकता है कि अपौरुषेय वेदराशि के अन्तर्गत शब्द अपौरुषेय हैं और इससे भिन्न शब्द पौरुषेय। यद्यपि लौकिक और वैदिक सभी वर्ण समान रूप से नित्य और अपौरुषेय हैं, तो भी उनमें से किन्हीं वर्णों का पहले होना और किन्हीं का बाद में होना, इस तरह की आनुपूर्वी के निर्माण में पुरुष स्वतन्त्र है। जहाँ पर पुरुष स्वतन्त्र है, वहीं पर पौरुषेयता मानी जायगी और जहाँ पर पुरुष स्वतन्त्र नहीं है, वहीं पर अपौरुषेयता। आनुपूर्वी विशेष से युक्त वर्ण ही पद और वाक्य कहलाते हैं। पौरुषेय पद एवं वाक्यों में ही पुरुष में विद्यमान दोषों की आशंका हो सकती है, अन्यत्र ये दोष छूने को भी नहीं मिल सकते। पुराने और नये कूप, प्रासाद प्रभृति में यद्यपि कोई विशेषता नहीं है, तो भी पौरुषेय वाक्यों

तु तत्स्पर्शोऽपि नास्त्येव, जीर्णकूपप्रासादादीनामभिनवकूपाद्यविशिष्टत्वेऽपि पौरुषेयेषु निरपेक्षोच्चरितत्वं प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वमपौरुषेयेषु तद्भिन्नत्वमिति विशेषस्य सद्भावात्। अवश्यस्मरणीयत्वे सति स्मरणागोचरकर्तृकत्वेन वेदेऽपौरुषेयत्वसिद्धेः। जीर्णकूपादौ त्ववश्यस्मरणीयत्वाभावेन तदभावात्। लोकप्रत्यायनाभिप्रायो यथा लोकः संकेतप्रसिद्धिं पालयति, वेदोऽपि तथैव लोकप्रसिद्धैरेव शब्दैरुपदिशतीत्युक्तमेव। उपक्रमादिभिर्वेदतात्पर्य्यनिर्णय इत्यप्युक्तमेव।

यदुक्तम्—न्यायमेव पालयन्तः पण्डिता हेयोपादेयसाश्रयार्थे प्रवर्तन्ते, तदपि निःसारमेव, न्यायस्याव्यवस्थितत्वात्, युक्तेरप्रतिष्ठानात्। अत एव आर्हताः सौगता अन्ये च बाह्या विरुद्धान् न्यायानाश्रित्य विरुद्धान्मार्गानाश्रयन्ते। अपि च, बौद्धानामपि मन्त्रलोकादिविषयाणि वचनानि युक्तिगम्यानि यदि संभावनीयवचनत्वेन केषाञ्चित्तथाभूतान्यपि वाक्यान्यादरणीयानि तदा वैदिकानामृषीणां भावितात्मनां वेदव्याख्यानानि कथन्नादरणीयानि। अपि च, प्रत्यक्षादिनाऽविसंवादेनागमप्रामाण्ये तस्य प्रत्यक्षादिनेव गतार्थता। बौद्धजातकादिग्रन्थानां तथात्वेऽप्रामाण्यमेव। अपौरुषेयाणां तु वेदानामर्थज्ञानं लोकात्सम्प्रदायात्तदविरुद्धाया युक्तेश्चोक्तमेव।

'प्रसिद्धो लोकवादश्चेत्तत्र कोऽतीन्द्रियार्थदृक्। अनेकार्थेषु शब्देषु येनार्थोऽयं विवेचितः॥' (प्र० वा० ३।३२१)

इति, तदप्यपास्तम्, लोकतो विदितपदतदर्थशाब्दन्यायस्यापौरुषेयाद्वेदादर्थावगमदर्शनात्। तत्रातीन्द्रियार्थबोधकाद्वाक्यात्परोक्षबोधः, बाधसंदेहाभावात्तु प्रामाण्यमेव। यथा चापौरुषेयस्य पारम्पर्येण स्वरूपलाभस्तथैवार्थलाभोऽपि। नहि वाक्यादतीन्द्रियार्थपरोक्षज्ञानेऽतीन्द्रियार्थदर्शनमपेक्ष्यते।

और अपौरुषेय वाक्यों में यह अन्तर है कि पौरुषेय वाक्यों का उच्चारण पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्ष होता है और उनकी रचना अन्य प्रमाण से अर्थ का निश्चय कर लेने के बाद की जाती है, किन्तु अपौरुषेय वाक्यों में यह बात नहीं है। वेद के कर्ता का स्मरण अवश्य रहना चाहिये, तिस पर भी न तो उसके कर्ता का स्मरण ही विद्यमान है और न कोई कर्ता के रूप में प्रतीत ही हो रहा है, अतः वेद की अपौरुषेयता सिद्ध होती है। जीर्ण कूप आदि के कर्ता का स्मरण इसलिये नहीं बच रहता कि उसको लोग स्मरण योग्य नहीं मानते। अन्य व्यक्तियों को समझाने के अभिप्राय से जैसे लोक संकेत प्रसिद्धि का पालन करते हैं, उसी तरह से वेद भी लोक प्रसिद्ध शब्दों से ही उपदेश करता है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। वेद के तात्पर्य का निर्णय उपक्रम प्रभृति के सहारे होता है, यह भी कहा जा चुका है।

कहा जाता है कि 'समझदार व्यक्ति उचित नियम का पालन करते हुए ही हेय, उपादेय अथवा उपेक्षा लक्षण प्रयोजन में प्रवृत्त होते हैं'। किन्तु यह बात भी निःसार है, क्योंकि कोई भी न्याय व्यवस्थित नहीं होता, कोई भी युक्ति सदा प्रतिष्ठित नहीं रहती। इसीलिये जैन, बौद्ध अथवा अन्य वेदबाह्य दार्शनिक परस्पर विरोधी तर्कों के सहारे अपने-अपने मार्ग की स्थापना करते हैं। बौद्धों के भी मन्त्र और लोकादि विषयक वचन युक्तिगम्यता के आधार पर विश्वसनीय होने से जब कुछ लोगों के लिये आदरणीय हो सकते हैं, तो तपःपूत वेद की व्याख्या करने वाले वैदिक ऋषियों के वचन कैसे आदरणीय नहीं होंगे? प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अविरुद्ध आगम ही यदि प्रमाण माने जायेंगे तो फिर उनकी आवश्यकता ही क्या है? ऐसे आगमों की गतार्थता उन प्रमाणों से ही हो जायगी। बौद्ध जातक आदि ग्रन्थों की प्रामाणिकता इसीलिये नहीं मानी जाती। अपौरुषेय वेदों का अर्थज्ञान लोक से, सम्प्रदाय से और वेदाविरोधिनी युक्तियों से भी हो जाता है। 'लोक व्यवहार जब प्रसिद्धि के आधार पर ही चलता है तो यहाँ पर वह अतीन्द्रिय अर्थों का द्रष्टा कौन है? जिसके कि कहने पर अनेकार्थ शब्दों में यहाँ पर यही अर्थ होगा, इसका निर्णय हो सकता है'। यह कथन भी निःसार है, क्योंकि लोकव्यवहार से पद, पदार्थ की शब्दव्युत्पत्ति जिसको ज्ञात है, उसको अपौरुषेय वेद से भी अर्थावगति हो जाती है। यहाँ पर अतीन्द्रिय अर्थ के बोधक वाक्य से परोक्ष अर्थ का बोध होता है और बाध, सन्देह आदि के अभाव में इसका प्रामाण्य सुनिश्चित हो जाता है। जैसे अपौरुषेय वेद के स्वरूप का ज्ञान परम्परा से होता है, उसी तरह से उसके अर्थ का ज्ञान भी हो जाता है, क्योंकि वाक्य से जब अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान होता है, उस अवस्था में अतीन्द्रिय अर्थ का दर्शन भी हो, यह आवश्यक नहीं है।

लोकेऽपि विद्यमानस्यैव पितापुत्रादिसम्बन्धस्योपदेशेन ज्ञानं भवत्येव। नहि निरङ्कुशोत्प्रेक्षामन्तरेणानाश्वासकारणं किञ्चिल्लभ्यते—

उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि बाधकम्। स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत्॥

यदि सम्प्रदायाविच्छेदावगतं वेदतद्व्याख्यानमिति पक्षे व्याख्यानस्य शब्दात्मकत्वे तुल्यः पर्य्यनुयोगस्तदा पौरुषेयेऽप्यागमे तादवस्थ्यं दुर्वारमित्युक्तमेव।

यदुक्तं पुरुषो हि स्वयं समितानां शब्दानामर्थं शृङ्गग्राहिकयाऽपि तावद् बुधं बोधयतीत्यस्ति पौरुषेयाणामर्थावगतावुपायः, अपौरुषेयस्तु शब्दो नैवं करोति, न चास्य कश्चित् क्वचित् सम्बन्धनियमं ज्ञातुमीश इत्यप्रतिपत्तिरेव तदर्थस्येति, तदपि चर्वितचर्वणमेव, तत्राप्युपदेशस्य शब्दात्मकत्वे दोषस्य तादवस्थ्यात्। कस्यचित्तथा बोधनेऽपि सर्वत्र तदसंभवेन लोकव्यवहारादेव शब्दार्थावगमस्य सुस्थत्वात्।

यदप्युक्तम्—वेदस्तद्व्याख्यानं वा पुरुषेणोपदिश्यमानमनष्टसम्प्रदायमेवानुवर्तत इत्यत्रापि समयः शरणम्, आगमभ्रंशकारिणामाहोपुरुषिकया तत्तद्दर्शनविद्वेषेण वा तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय धूर्तव्यसनेनान्यतो वा कुतश्चित् कारणादन्यथा रचनासंभवात्। श्रूयते सांख्यनाशकमाधवेन सांख्यसिद्धान्तस्यान्यथा रचनं कृतम्, महायानविद्विष्टानां महायानप्रतिरूपकसूत्रान्तररचनं तत्प्रतिपन्नखलीकरणायेति। तदप्यकिञ्चित्करम्, 'उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि बाधकम्। स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत्॥' इत्यादिना दत्तोत्तरत्वात्।

लोक में भी पिता-पुत्र आदि के पहले से विद्यमान सम्बन्ध की ही प्रतीति किसी के कहने से होती है। निरंकुश कल्पना के सिवाय और कोई कारण अविश्वास का नहीं दिखाई पड़ता। 'जो व्यक्ति मोहवश जबरदस्ती सब जगह बाधक की कल्पना करने लगता है, अपने संशयालु स्वभाव के कारण ही वह सभी व्यवहारों में असफल हो जाता है'। यदि आप कहें कि सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता के आधार पर वेद और उसके व्याख्यान की अवगति होती है, ऐसा मानने पर व्याख्यान भी शब्दात्मक है, अतः यही समस्या समान रूप से वहाँ भी उपस्थित होती है, तो इसका उत्तर यह है कि पौरुषेय आगम में भी इस आक्षेप की प्रवृत्ति अनिवार्य रूप से उपस्थित होगी।

इसका उत्तर दिया जाता है कि पुरुष अपने द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का अर्थ समझदार व्यक्ति को उसी तरह से समझा देगा, जैसे कि हर एक गाय का सींग पकड़ कर उसका नाम बताया जाता है। इस तरह से पौरुषेय शब्दों का अर्थ समझने के लिये तो उपाय है, किन्तु अपौरुषेय शब्द में यह बात नहीं है। कोई भी व्यक्ति किसी भी अपौरुषेय शब्द का किसी नियत अर्थ के साथ सम्बन्ध है, ऐसा जानने में समर्थ नहीं है, अतः इसके अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकेगा। यह उत्तर भी चर्वित चर्वण मात्र है, क्योंकि पौरुषेय वाक्यों में भी उपदेश शब्द के सहारे ही होगा, अतः वहाँ पर भी यह दोष विद्यमान ही रहेगा। किसी एक व्यक्ति को शृंग ग्राहिकया समझाया भी जा सकता है, किन्तु सभी के लिये ऐसा कर पाना कठिन है, अतः सर्वत्र लोक-व्यवहार से ही शब्दार्थ का ज्ञान होता है, यही मानना उचित है।

पुनः कहा जाता है कि 'वेद और वेद व्याख्यान गुरुपरम्परा से उपदिश्यमान होकर अविच्छिन्न परम्परा को चालू रखता है, इस बात की सिद्धि भी समय (संकेत) के सहारे ही हो सकती है। शास्त्रों को नष्ट कर देने में अभिनिवेश पूर्वक लगे हुए व्यक्तियों के द्वारा अथवा किसी एक दर्शन से द्वेष के कारण उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की हंसी उड़ाने के लिये, धूर्तता के कारण अथवा किसी अन्य कारण से भी व्यक्ति अन्यथा शास्त्रों की रचना कर सकता है। यह सुना जाता है कि सांख्य दर्शन को नष्ट कर देने पर तुले हुए माधव नामक विद्वान् ने सांख्य सिद्धान्तों को ही उलट-पलट दिया। महायान संप्रदाय से द्वेष रखने वाले लोगों ने महायान सूत्रों का अनुकरण करने वाले अन्य सूत्र ग्रन्थों की रचना कर दी, इसीलिये कि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को मलिन कर दिया जाय' यह सब कथन भी अकिंचित्कर है। इसका उत्तर 'उत्प्रेक्षेत' इत्यादि श्लोक के आधार पर अभी अभी दिया जा चुका है।

यदुक्तं पुरुषो रागादिभिरुपप्लुतोऽनृतमपि ब्रूयादिति नास्य वचनं प्रमाणम्, तदिहापि किन्न प्रत्यवेक्ष्यते। स एवोपदिशन्नुपप्लवाद् वेदं वेदार्थं वाऽन्यथाप्युपदिदेश। श्रूयन्ते हि कैश्चित्पुरुषैरुत्सन्नोद्धृतानि शाखान्तराणि, इदानीमपि कानिचिद् विरलाध्येतृकाणि। ते स्वल्पाध्येतारो न समारोप्योपदिशन्ति इत्यत्र किं प्रमाणम्? तद्वत् प्रचुराध्येतृकाणामपि कस्मिश्चित् काले कथञ्चित् संहारसंभवात्, पुनः संभावितपुरुषप्रत्ययात् प्रचुरपोषणसंभवाच्च। तेषाञ्च पुनः प्रचारयितॄणां पुरुषाणां कदाचिदधीतविस्मृताध्ययनानाम् अन्येषां संभावनाभ्रंशमयादिनाऽन्यथोपदेशसंभवात्, तत्प्रत्ययाच्च तद्भक्तानामविचारेण प्रतिपत्तेः। बहुष्वप्यध्येतृषु संभाविताात् पुरुषाद् बहुलं प्रतिपत्तिदर्शनात्, ततोऽपि कथञ्चिद्विप्रलम्भसंभवात्। किञ्च, परिमितव्याख्यातृपुरुषपरम्परा श्रूयते। तत्र कश्चिद् विद्विष्टाज्ञधूर्तानामन्यतमः स्यादित्यनाश्वासः। तदेतदपि निराधारमेव दोषकल्पनम्, दोषप्रवणचित्तत्वात्। तदुक्तम्—

न चात्रातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः। दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते॥

(मी० श्लो० वा०, जिज्ञासासूत्र-४)

चित्तसत्त्वं सर्वार्थविभासनशीलं तमःसमावृतत्वात्तु परिमितं प्रकाशते, जन्मजन्मान्तरेषु धर्मानुष्ठानात्तु प्रकाशावरणं क्षीयते। ततो ज्ञानापेक्षया ज्ञेयतत्त्वान्येवाल्पानि भवन्ति। धर्मज्ञानं चापास्तसमस्तपुंदोषेभ्योऽपौरुषेयवेदवाक्येभ्य एव सम्पद्यते, नान्यथाऽन्योन्याश्रयत्वात्। धर्मानुष्ठानेन सार्वज्ञ्यम्, सार्वज्ञ्येन च धर्मज्ञानम्। मूलाभावेन पूर्वपूर्वसर्वज्ञोपदिष्ट-

कहा जाता है कि 'पुरुष राग-द्वेष आदि से भरा हुआ है, वह झूठ भी बोल सकता है, अतः उसका वचन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यही बात वेद के उपदेश के विषय में भी क्यों नहीं हो सकती? वह गुरु ही उपदेश करते समय किसी भी कारण से वेद और वेदार्थ का भी अन्यथा उपदेश कर सकता है। यह सुना जाता है कि किन्हीं महानुभावों ने उत्सन्न शाखाओं का पुनः उद्धार किया। आज कल भी देखा जाता है कि कुछ शाखाओं का अध्ययन विरल हो गया है। इस तरह की शाखाओं के अध्येतागण कुछ अपनी बात जोड़कर इनका उपदेश नहीं करते, इसमें क्या प्रमाण है? जिन शाखाओं के अध्येता आजकल प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, किसी समय हो सकता है उनका भी प्रचार लुप्त हो गया हो, क्योंकि यह संभावना की जा सकती है कि किसी प्रख्यात पुरुष की विश्वस्तता के आधार पर उनकी बाद में पर्याप्त मात्रा में रक्षा की गई हो। इन शाखाओं के पुनः प्रचारक पुरुषों को कदाचित् अधीन विषय का विस्मरण हो गया हो और उन विनष्ट अंशों का वे मनमाना उपदेश करके वंचना भी कर सकते हों, इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उस व्यक्ति पर विश्वास के कारण ही उसके भक्तगण उस विषय पर बिना विचार किये ही उसको स्वीकार कर सकते हैं। किसी प्रसिद्ध व्यक्ति के पास जब बहुत से अध्येता हो जाते हैं, तब उनकी योग्यता के अनुसार भी उनमें प्रतिपत्ति का भेद हो जाता है। इससे भी किसी प्रकार सही परम्परा का विच्छेद और वंचना की संभावना हो सकती है। वेदार्थ के व्याख्याताओं की परम्परा अत्यन्त परिमित सुनी जाती है। इनमें से कोई द्वेषग्रस्त, अज्ञ अथवा धूर्त नहीं होगा, इस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है।' यह सारी दोष-कल्पना अत्यन्त निराधार है, यह सब कहने वाले का चित्त केवल दोष को देखने में ही लग गया है। इसीलिये भट्ट कुमारिल ने कहा है कि—"व्यक्ति को अपने मन को दोषों को देखने में ही ज्यादा नहीं लगा देना चाहिये, क्योंकि जब व्यक्ति का मन दूसरे के दोषों को खोजने में लग जाता है, तो उसको जो दोष वहाँ नहीं हैं, उनका भी प्रतिभास होने लगता है।'

सत्त्वगुणविशिष्ट चित्त सभी अर्थों को प्रकाशित करने में समर्थ है। जब यह तमोगुण से समावृत हो जाता है तो परिमित वस्तु का ही प्रकाश कर सकता है। जन्म-जन्मातरों के धार्मिक अनुष्ठानों से चित्त के इस तमोगुणरूपी आवरण का नाश हो जाता है। उस समय ऐसे योगी के सामने ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय तत्त्वों की ही कमी रहती है। इस धर्म का ज्ञान समस्त पुरुष दोषों से रहित, अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही हो सकता है। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष आवेगा कि धर्म के अनुष्ठान से सर्वज्ञता होगी और सर्वज्ञता के आधार पर धर्म का ज्ञान होगा। मूल के अभाव में पूर्व-पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुष्ठान से उत्तरोत्तर व्यक्ति में सर्वज्ञता मानने में भी अनवस्था दोष होगा। बीजाङ्कुरन्याय से इस अनवस्था को व्यवस्थित नहीं किया जा सकता, क्योंकि बीजाङ्कुर स्थल में तो उनका कार्यकारण-

धर्मानुष्ठानेनोत्तरोत्तरसार्वज्ञमित्यप्यनवस्थैव। न च बीजाङ्कुरादाविव व्यवस्था, तत्र कार्य्यकारणभावस्य दृष्टत्वात्। प्रकृते तु एकोऽपि सर्वज्ञो न क्वापि दृश्यते, अपरिमितसर्वज्ञकथा तु दूरोत्सारिता।

वशिष्ठमनुव्यासादिभिः सर्वज्ञैर्वेदस्य चेश्वरात्मत्वमनादित्वञ्चोच्यते, 'वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः' (श्री० भा० म० पु० ११।३।४३), 'वेदो नारायणः साक्षात्' (श्री० भा० म० ६।१।४०), 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' (म० भा० शा० प० २१०।१९) इत्यादिवचनेभ्योऽनाद्यविच्छिन्नपारम्पर्येण प्राप्तस्य वेदस्य देवैर्ऋषिभिश्च रक्षणं क्रियते। सर्वेश्वरेणापि वेदतत्सम्प्रदायस्य रक्षणार्थं विष्णुशिवरामकृष्णादिरूपेणावतीर्य्यते—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(श्री० भ० गी० ४।७-८)

इति भगवदुक्तेः। तदेवमनेकेषूपायेषु वेदतत्सम्प्रदायरक्षणार्थं जीवत्सु सम्प्रदायनाशकल्पनं निर्मूलमेव। जनसाधारणेष्वेव कदाचिदुच्छिन्नाध्येतृकाणि विरलाध्येतृकाणि वा भवन्ति शाखान्तराणि, देवेषु महर्षिषु प्रजापतिषु अन्ततः परमेश्वरे तत्सम्प्रदायाविच्छेदस्य सर्वदैव विद्यमानत्वात्। अत एव तपश्चर्य्यया याज्ञवल्क्येनादित्यात् शुक्लयजूंषि लब्धानीति वायुपुराणादौ प्रसिद्धम्।

किञ्च, एवं साम्प्रदायिकैः शिष्टैर्ऋषिभिर्देवैरीश्वरेण च तद्रक्षणजागरूकैः सुरक्षितस्यापि वेदस्य यदि सम्प्रदायविच्छेदशङ्कापिशाची लब्धप्रसरा, तथा बौद्धार्हतादिग्रन्थानां स्वरूपरक्षणं कथं संभाव्यते।

लङ्कावतारचर्चितस्य बुद्धस्य, गौतमबुद्धस्य, जिनस्य त एवोपदेशा अन्ये वा? द्विष्टैरन्यथा वा कृताः? अद्यत्वे तद्व्याख्यानान्यन्यथा वा न क्रियन्त इत्यत्र किं प्रमाणम्? तस्माद् वेदतदर्थाध्ययनतदर्थानुष्ठाने बद्धश्रद्धावतां मनुष्यदेवर्षिवराणां परमेश्वरस्य च जागरूकत्वान्मुधा तद्विच्छेदाशङ्का।

भाव परिदृष्ट है। प्रकृत स्थल में तो हमको एक भी सर्वज्ञ नहीं दिखाई पड़ता, अपरिमित सर्वज्ञोंको मानने की बात तो बहुत दूर की है।

वसिष्ठ, मनु, व्यास प्रभृति सर्वज्ञ ऋषिगण वेद को ईश्वरस्वरूप और अनादि मानते हैं। 'वेद ईश्वरस्वरूप है, अत एव इसको ठीक तरह से समझ पाने में विद्वान् लोग भी गलती कर जाते हैं', 'वेद साक्षात् नारायणस्वरूप हैं', 'अनादि, अनश्वर, नित्य यह स्वयम्भू द्वारा उच्चरित वाणी ही वेद है' इत्यादि वचनों से यह ज्ञात होता है कि अनादि, अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त वेदों की रक्षा देवता एवं ऋषिगण करते हैं। सर्वेश्वर भी वेद और उसके संप्रदाय की रक्षा के लिये विष्णु, शिव, राम, कृष्ण आदि के रूप में अवतार ग्रहण करते हैं। गीता में भगवान् ने कहा है कि—'जब जब धर्म की हानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब मैं अवतार ग्रहण करता हूँ। मैं सज्जनों की रक्षा के लिये, दुष्ट जनों के विनाश के लिये और धर्म की स्थापना करने के लिये प्रत्येक युग में अवतरित होता हूँ।' इस तरह से वेद और उसके संप्रदाय की रक्षा के लिये अनेक उपाय हैं, इस परिस्थिति में संप्रदाय के नष्ट हो जाने की कल्पना सर्वथा निर्मूल है। जन साधारण में ही किसी समय किसी शाखा के अध्येताओं का सर्वथा उच्छेद अथवा उनकी विरलता होती है। देवगण, महर्षिगण, प्रजापति और अन्ततः परमेश्वर में इस वैदिक संप्रदाय की अविच्छिन्नता सदा विद्यमान रहती है। इसीलिये वायु-पुराण आदि में यह प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्य ने तपस्या करके आदित्य (सूर्य) से शुक्ल यजुर्वेद को प्राप्त किया था।

इस तरह से साम्प्रदायिक शिष्टजन, ऋषिगण, देवगण और स्वयं ईश्वर के भी वेद की रक्षा के लिये जागरूक रहने पर भी यदि सम्प्रदाय के विच्छेद होने की शंका रूपी पिशाची को अवसर आप देते हैं, तो बौद्ध, जैन आदि संप्रदायों के ग्रन्थों की स्वरूप-रक्षा की बात ही कैसे मानी जा सकती है?

लंकावतार में चर्चित बुद्ध, गौतम बुद्ध और जिन के वे ही उपदेश हैं या उनसे भिन्न? अथवा विद्वेषियों ने उनको विकृत कर दिया है? आजकल उनकी व्याख्या अन्यथा नहीं की जाती, इसमें क्या प्रमाण है? इस लिये वेद और वेदार्थ के अध्ययन और अनुष्ठान में श्रद्धावान् मनुष्य, देव और ऋषिश्रेष्ठों के और परमेश्वर के भी जागरूक रहते हुए उनके विच्छेद की आशंका करना व्यर्थ है।

पौरुषेयापौरुषेयेषु सर्वेष्वेव वाक्येषु प्रसिद्धिमनुसृत्यैवार्थनिर्धारणमित्युत्सर्गः। क्वचित्तु श्रुत्यादिबलाद-प्रसिद्धार्थस्यापि ग्रहणं भवत्येव। विषं भुङ्क्ष्वेति लौकिके वाक्येऽपि तात्पर्यविरोधेन प्रसिद्धार्थपरित्यागः क्रियते। 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (मै० सं० ३।२।४) इत्यत्रापि इन्द्रपरस्यापि मन्त्रस्य गार्हपत्यपरत्वमिष्यते।

यदुक्तम्—स्वर्गोर्वश्यादिशब्दानां रूढार्थवाचकानां प्रसिद्धार्थमुत्सृज्य मीमांसकोऽप्यन्यथैवार्थं करोति। मनुष्यातिशायिपुरुषनिकेतोऽतिमानवसुखाधिष्ठानो नानोपकरणः स्वर्गः, तन्निवासिन्यप्सरा उर्वशीति लोकप्रवादः। तमनादृत्य मनुष्येष्वेव निरतिशया प्रीतिः स्वर्गः, उर्वशी चारणिः पात्री वेत्याद्यर्थः क्रियते। पुनः कथमग्निहोत्रादि-शब्दान्तरेष्वर्थनिर्णये प्रसिद्धिं प्रमाणयेत्। तदप्ययुक्तम्, प्रसिद्धार्थग्रहणे प्रमाणविरोधेऽन्यार्थग्रहणस्यौचित्यात्।

यदुक्तमतीन्द्रिये स्वर्गादौ प्रत्यक्षानुमानप्रवृत्त्यभावेन विरोधासिद्धिः, अग्निहोत्रादिशब्दान्तरेऽप्यविरोधस्य दुरन्वयः, अग्निहोत्रात् स्वर्गावाप्तिरपि विरुद्धैव। विरोधाविरोधौ च बाधकसाधकप्रमाणवृत्ती। तौ चात्यक्षे नाभिमते। तत्कथं तद्वशात् प्रतीतिरिति, तदपि तुच्छम्। स्वर्गोर्वश्यादिशब्दानां यथाप्रसिद्धार्थकत्वेऽपि वह्निशब्दस्य योषिदादा-विवार्थान्तरे गौण्या वृत्त्या प्रयोगे बाधाभावात्। विरोधाविरोधयोः साधकबाधकप्रमाणवृत्तित्वेऽपि न प्रत्यक्षानुमानमात्र-वृत्तित्वम्, आगमस्यापि प्रमाणत्वाविशेषात्। अत एवाग्निहोत्रस्वर्गावाप्त्योः कार्य्यकारणभावस्य प्रत्यक्षानुमाना-गम्यत्वेऽपि निरुक्तवचनगम्यत्वेनाविरुद्धत्वात्।

पौरुषेय और अपौरुषेय सभी वाक्यों में प्रसिद्धि का अनुसरण करके ही अर्थ का निर्धारण सामान्यतः किया जाता है। कहीं कहीं श्रुति आदि के प्रमाण से अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण भी होता है। 'विष खाओ' इस लौकिक वाक्य में तात्पर्य का विरोध होने से प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग किया जाता है। इसी तरह से 'ऐन्द्रचा गार्हं०' यहाँ पर इन्द्रपरक मन्त्र को गार्हपत्य अग्नि की स्तुति में विनियुक्त माना जाता है।

कहा जाता है कि स्वर्ग, उर्वशी प्रभृति रूढार्थ वाचक शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ कर मीमांसक दूसरा ही अर्थ करते हैं। लोक में यह प्रसिद्ध है कि स्वर्ग लोकोत्तर पुरुषों (देवताओं) के निवास का स्थान है। यह अतिमानव सुख के उपकरणों से भरा हुआ है और उसमें निवास करने वाली अप्सरा उर्वशी कहलाती है। इस प्रसिद्ध अर्थ का अनादर करके मीमांसक इनका अर्थ करते हैं कि मनुष्यलोक में विद्यमान निरतिशय सुख को ही स्वर्ग कहते हैं और अरणि ही उर्वशी है, अथवा उर्वशी एक पात्र है। ऐसा प्रसिद्धार्थ के विपरीत अर्थ करने वाला मीमांसक अग्निहोत्र प्रभृति अन्य शब्दों के लिये प्रसिद्धि को ही कैसे प्रमाण कह सकता है? किन्तु यह पूरा कथन अयुक्त है, क्योंकि जब प्रसिद्ध अर्थ प्रमाण विरुद्ध पड़ता हो तो उसका दूसरा प्रमाणाविरुद्ध अर्थ ग्रहण किया जाय, यह उचित ही है।

यह भी कहा गया है कि अतीन्द्रिय स्वर्गादि में प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रवृत्ति न होने से विरोध की सिद्धि नहीं होगी। अग्निहोत्र प्रभृति शब्दान्तरों में भी अविरोध का अन्वय कठिन है। अग्निहोत्र से स्वर्ग की प्राप्ति भी विरुद्ध है। विरोध की बाधक प्रमाण में और अविरोध की साधक प्रमाण में वृत्ति रहती है। ये बाधक और साधक प्रमाण अतीन्द्रिय नहीं माने जा सकते। जब वे अतीन्द्रियविषयक नहीं माने जा सकते तो उनसे अतीन्द्रिय विषय की प्रतीति कैसे होगी? यह कथन भी निःसार है, क्योंकि स्वर्ग, उर्वशी प्रभृति शब्दों के यद्यपि यथाप्रसिद्ध अर्थ हैं, तो भी वह्नि शब्द जैसे गौणी वृत्ति से योषित् (स्त्री) के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी तरह से इनका भी गौणी वृत्ति से अर्थान्तर करने में कोई बाधा नहीं है। विरोध और अविरोध यद्यपि बाधक और साधक प्रमाणों में रहते हैं, किन्तु इनकी वृत्ति केवल प्रत्यक्ष और अनुमान में ही नहीं रहती, क्योंकि आगम भी इन्हीं की तरह एक प्रमाण है। इसीलिये अग्निहोत्र और स्वर्गप्राप्ति का कार्यकारणभाव प्रत्यक्ष और अनुमान से यद्यपि सिद्ध नहीं होता, तो भी आगम वचन से सिद्ध है, अतः यहाँ पर कोई विरोध नहीं है।

न केवलस्वर्गोर्वश्यादिशब्देषु प्रत्यक्षानुमानविरोधेनार्थान्तराश्रयत्वम्, किन्तु शब्दतात्पर्यानुरोधेनापि तत्त्वमस्यादौ वाच्यार्थभागत्यागलक्षणाश्रयणम्। अन्यत्र यथाप्रसिद्धार्थग्रहणमिष्टमेव। यथा 'अग्निर्वै योषा' इत्यत्राग्निगताहुत्यधिकरणत्वस्याग्रहणेऽपि तदितरत्र प्रसिद्धग्रहणमपीष्टमेव। अपौरुषेय आगमस्तस्य प्रवादादर्थसिद्धिस्तत्र पुनर्विरोधचिन्तायामनाश्वास आगमे स्यात्, इत्यपि यत्किञ्चित्, विदितशाब्दन्यायस्य तथात्वेऽपि विरोधाभावात्। आनुपूर्व्या निर्माणे पुरुषस्य स्वातन्त्र्याभावेन वेदापौरुषेयत्वम्। शब्दार्थव्यवहारस्य लोकवेदयोरवैशेष्यं त्विष्टमेव, पौरुषेयेष्वपि वाक्येषु तादृग्विरोधाविरोधविचारदर्शनात्। विषं भुङ्क्ष्वेति पौरुषेयमेव वाक्यम्। तत्रापि प्रसिद्धार्थपरित्यागेन लक्षणाश्रयणमिष्टमेव। तात्पर्य्यान्यथानुपपत्त्या लोकेऽपि लाक्षणिकस्यार्थस्य ग्रहणदर्शनेन क्वचिदप्रसिद्धार्थग्रहणेऽपि न सर्वत्र तथात्वप्रसङ्गः।

यदुक्तम्—प्रदेशान्तरेषु तथार्थस्य वचनेऽपि तस्यार्थापरिज्ञानात् प्रदेशान्तरेषु विरुद्धार्थकल्पनाया अनिवार्य्यतेति दुःसंस्कारमूलकमर्थकल्पनमिति, तदपि न, मन्ये तेनैव संस्कारेण चीनादिप्रदेशेषु बौद्धैः श्वमांसभक्षणं क्रियते। अन्यथा को ह्यनुन्मत्तो 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यस्य श्वमांसभक्षणमित्यर्थं विजानीयात्। विशेषतस्तद्व्याख्यायां प्रदेशान्तरे विद्यमानायामपि। लौकिकवैदिकशब्दयोरवैशेष्यमुक्तमेव। यदि हि क्वचिद्विदितार्थोऽपौरुषेयः शब्दराशिः स्यात्, ततोऽर्थप्रतीतिः स्यात्। ते तु बाहुल्येऽप्यन्धाः सर्वं इति यथेष्टं प्रणीयन्ते। तस्मात् 'शब्दान्तरेषु तादृक्षु तादृश्येवास्तु कल्पना' (प्र० वा० ३।३२२) इत्याद्युक्तिरप्यनाघ्रातशाब्दन्यायस्यैव शोभते।

'केवल स्वर्ग, उर्वशी प्रभृति शब्दों में ही प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध होने से अर्थान्तर का आश्रय नहीं किया जाता, किन्तु शब्दों के तात्पर्य के अनुरोध से भी 'तत्त्वमसि' प्रभृति वाक्यों में वाच्यार्थ के एक भाग का त्याग कर लक्षणा से अर्थ किया जाता है। सामान्य स्थलों में प्रसिद्धि के अनुसार ही अर्थग्रहण अभीष्ट है। जैसे कि 'योषित् (स्त्री) अग्नि है' यहाँ पर अग्निगत आहुति की अधिकरणता का ग्रहण नहीं किया जाता। अन्यत्र प्रसिद्धि का ग्रहण भी अभीष्ट है। आगम अपौरुषेय है। "परम्परा के अनुसार इसका अर्थ किया जाता है। यहाँ पर यदि विरोध की उद्भावना की जाय तो आगम में किसी का विश्वास नहीं रह जायगा", किन्तु यह पूरा कथन निःसार है। शब्द-बोध व्यवस्था के जानकार व्यक्ति के लिये ऐसे स्थलों में कोई विरोध की प्रतीति नहीं होती। वेद की आनुपूर्वी के निर्माण में पुरुष स्वतन्त्र नहीं है, इसी लिये वेद को अपौरुषेय कहा जाता है। यह तो माना ही जाता है कि लोक और वेद में शब्द और अर्थ का व्यवहार एक सा है। पौरुषेय वाक्यों में भी साधक और बाधक प्रमाणों के आधार पर विरोध और अविरोध प्रतीत होता है। 'विष खाओ' यह वाक्य लौकिक ही है। यहाँ पर भी प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग कर लक्षणा का सहारा लेना पड़ता है। तात्पर्य की अन्यथा उपपत्ति न हो सकेगी, इसके लिये लोक में भी कहीं-कहीं लक्षणा का सहारा लेना पड़ता है, अतः कहीं पर अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करने पर भी सर्वत्र ऐसा ही किया जाय, यह जरूरी नहीं है।

पुनः शंका की जाती है कि 'प्रदेशान्तर में अप्रसिद्ध अर्थ को यदि हम समझाना चाहें, तो भी वहाँ के व्यक्तियों के लिये उस अर्थ के अज्ञात होने से वहाँ पर उसका विरुद्ध अर्थ अनिवार्य रूप से कल्पित किया जाता है। इस तरह से यहाँ की अर्थ कल्पना गलत संस्कारों के आधार पर होगी।' किन्तु यह शंका भी ठीक नहीं है। मालूम पड़ता है इसी तरह के गलत संस्कारों के कारण चीन प्रभृति प्रदेशों में बौद्ध कुत्ते का मांस भी खाते हैं। अन्यथा ऐसा कौन समझदार व्यक्ति है जो कि 'अग्निहोत्र करे' इस वाक्य का 'कुत्ते का मांस खाय' यह अर्थ समझेगा, विशेषतः उस अवस्था में, जब कि इसकी व्याख्या प्रदेशान्तर में विद्यमान है। लौकिक और वैदिक शब्दों में परस्पर कोई विशेषता नहीं होती, यह कहा जा चुका है। इसी तरह से 'यदि कोई विदित अर्थ वाला अपौरुषेय शब्दराशि हो तो उससे अर्थ की प्रतीति हो सकती है। यहाँ तो अन्धपरम्परा चालू है। ढेर सारे अन्धे भी मनमाने ढंग से हाँके जा सकते हैं। इसलिये 'इस तरह के वैदिक शब्दों के अर्थ की कल्पना भी मनमाने ढंग से की जा सकती है', इस तरह की उक्तियाँ शाब्दबोध व्यवस्था को न जानने वाले के लिये ही शोभा की बात हो सकती है।

यदुक्तम् 'प्रसिद्धिश्च नृणां वादः प्रमाणं स च नेष्यते। ततश्च भूयोऽर्थगतिः किमेतद् द्विष्ठकामितम् ॥' (प्र० वा० ३।३२३)। कस्यचिदपि सम्यक् प्रतिपत्तेरभावे वाहुल्यमर्थवद् भवति, पारसीकमातृमिथ्याचारवत्। तेषामेव वचनात् पुनः परोक्षार्थप्रतिपत्तिरिति कथं वदेत्। युगपद् द्वेष्यं कामितञ्च स्यात्। तदेतदपि सिद्धान्ताज्ञानविजृम्भितम्, अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति प्रामाण्यपरतस्त्ववादिबौद्धस्यैव नये तदापत्तिः। प्रामाण्यस्वतस्त्ववादिनां मते तु प्रमाणमात्रस्य प्रामाण्यं स्वतः, अप्रामाण्यमेव परत इति पौरुषेयवाक्यानामपि प्रामाण्यस्वतस्त्वमेव। पुरुषाश्रितभ्रम-प्रमादादिभिस्त्वप्रामाण्यशङ्का भवति। आप्तत्वनिर्णये प्रामाण्यस्वतस्त्वमनपनोदितमेव सुस्थं भवति। वस्तुस्थिति-मनुरुध्य आनुपूर्वीनिर्माणे पुरुषस्वातन्त्र्याभावेनैवापौरुषेयत्वमित्यवोचाम। शक्तिग्रहादिकं च वृद्धव्यवहारानुरोधेने-त्यप्ययुक्तमेव। अत एव—'अर्थे प्रसिद्धिमुल्लङ्घ्य कल्पनेन निबन्धनम्' (प्र० वा० ३।३२३) इति सम्यगेव, प्रसिद्धे-रप्रमाणत्वोक्तेः प्रतिक्षिप्तत्वात्। एतेन प्रसिद्धिमप्रमाणयतस्तन्मुखेन प्रतीतिर्यत् किञ्चन ग्रहणमित्यप्यपास्तम्, प्रसिद्धि-परित्यागे व्यवहारलोपप्रसङ्गात्।

यदुक्तं प्राप्तिप्रतिषेधात् तुल्या स्वपरविकल्पयोरुभयोरुभयथापि वत्तिरिति कः प्रसिद्धावनुरोधः, तदपि निःसारम्, प्रसिद्धे शाब्दबोधमूलत्वोक्तेः, सति संभवे तत्पालनमनिवार्यमेव।

यदुक्तं न प्रसिद्धेरेकार्थनिश्चयः शब्दानाम्, तत एव शङ्कोत्पत्तेः। नानार्था हि शब्दा दृश्यन्ते लोके। लोकवादश्च प्रतीतिः। ततो नियमो न युक्तः—

कहा गया है कि—'मनुष्यों में प्रवाद परम्परा (जनश्रुति) भी प्रसिद्ध है, किन्तु उसको प्रमाण नहीं माना जाता। तब फिर इससे अर्थ का निश्चय कैसे हो सकता है। एक ही वस्तु से द्वेष भी हो और प्रेम भी हो, ऐसा कैसे हो सकता है?' किसी को किसी बात का जब सही ज्ञान नहीं होता तो इस परिस्थिति में पारसीक की माता के मिथ्याचार के समान बाहुल्य के आधार पर अर्थ का निश्चय होता है। उन्हीं के कहने से फिर परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति कैसे होगी? यह तो एक साथ द्वेष और प्रेम करने के समान हुआ।' किन्तु यह कथन भी सिद्धान्त को ठीक से समझ न पाने के कारण है। इस तरह की आपत्ति बौद्ध मत पर आ सकती है, क्योंकि बौद्ध अप्रामाण्य का स्वतस्त्व और प्रामाण्य का परतस्त्व मानते हैं। प्रामाण्य का स्वतस्त्व मानने वालों के मत में तो प्रमाण मात्र का प्रामाण्य स्वतः होता है, अप्रामाण्य में ही परतस्त्व माना जाता है। अतः इस मत में पौरुषेय वाक्यों का प्रामाण्य स्वतः ही होता है। पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद आदि को देख करके ही अप्रामाण्य की आशंका उठती है। वक्ता की आप्तता का निश्चय हो जाने पर प्रामाण्य का स्वतस्त्व बरकरार रहता है। यह हमने बार-बार कहा है कि वस्तु स्थिति को देखकर आनुपूर्वी के निर्माण में जहाँ तक वेद का प्रश्न है, पुरुष स्वतन्त्र नहीं है, इसीलिये वेद की अपौरुषेयता मानी जाती है। शक्तिग्रह भी वृद्धव्यवहार के सहारे होता है, यह बताया जा चुका है। इसीलिये—'प्रसिद्ध अर्थ का उल्लंघन करके मनमानी कल्पना में कोई हेतु नहीं है', यह कथन ठीक ही है, क्योंकि प्रसिद्धि के अप्रामाण्य का परिहार किया जा चुका है। इससे इस बात का खण्डन हो जाता है कि प्रसिद्धि को अप्रामाणिक मानने वाला जो चाहे समझ सकता है, क्योंकि प्रसिद्धि का परित्याग कर देने पर सारे व्यवहार के ही लोप का प्रसंग उठ खड़ा होगा।

कहा जाता है कि 'प्रसिद्धि के अनुसार जो अर्थ प्राप्त है, उसका प्रतिषेध कर देने पर वादी और प्रतिवादी दोनों के उक्त दोनों विकल्पों की साधक अथवा बाधक वृत्ति एक सी रहेगी, तब प्रसिद्धि के प्रति इतना आग्रह क्यों है।' किन्तु यह कथन भी निःसार है, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि प्रसिद्धि ही शाब्दबोध का आधार है। इसलिये यथासंभव इसका पालन अवश्य करना चाहिये।

पुनः कहा जाता है कि 'प्रसिद्धि के आधार पर शब्दों का कोई एक अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोक में एक शब्द के अनेक अर्थ प्रसिद्ध हैं। ऐसी अवस्था में इस शंका का उठना स्वाभाविक है कि यह शब्द उन प्रसिद्ध अर्थों में यहाँ

उत्पादिता प्रसिद्ध्यैव शङ्का शब्दार्थनिश्चये ।
यस्मान्नानार्थवृत्तित्वं शब्दानां तत्र दृश्यते ।। (प्र० वा० ३।३२५)

इति, तदपि चर्वितचर्वणमेव, शब्दानां सर्वार्थवाचकत्वेऽपि व्याकरणकोशादिभिर्नियतवृत्तित्वस्योक्तत्वात् । नानार्थानामपि प्रकरणादिभिरेकार्थ्यनिर्णयस्योक्तत्वाच्च ।

यदपि नियामकाभावाद् नानाशक्तेः शब्दस्यापि तादर्थ्यादर्थान्तरवृत्तित्वाशङ्काऽवश्यंभाविनी, ततश्चाविदितार्थविभागेषु शब्देष्वेकमर्थमलग्नसंयोगं निष्प्रमाणकं निश्चित्य व्याचक्षाणो जैमिनिस्तद्व्याजेन स्वमतमेव वक्ति, न वेदमतम् । वचनव्यापारशून्ये वेदे वेदार्थप्रकाशनव्यापारसमारोपेण तद्वचनमसंगतमेव ।

एष स्थाणुरयं मार्ग इति वक्तीति कश्चन । अन्यः स्वयं ब्रवीमीति तयोर्भेदः परीक्ष्यताम् ।।
सर्वत्र योग्यस्यैकार्थद्योतने नियमः कुतः । (प्र० वा० ३२६-३२७)

वैदिकानां शब्दानामेकार्थनियमाभ्युपगमेऽप्यतोन्द्रिया अर्थाः केनचिद् ज्ञातुमशक्या एव, अतोन्द्रियदृक्पुरुषानभ्युपगमात् । विवक्षया प्रणीते वचनेऽर्थनियमसंभवेऽपि वेदेऽपौरुषेये तदसंभवेनार्थनियमसंभव एव ।

विवक्षानियमे हेतुः संकेतस्तत्प्रकाशनः । अपौरुषेये सा नास्ति तस्य सैकार्थता कुतः ।।
स्वभावनियमेऽन्यत्र न योज्येत तथा पुनः । यथेष्टं न नियुज्येत संकेतश्च निरर्थकः ।।
यत्र स्वातन्त्र्यमिच्छाया नियमो नाम तत्र कः । द्योतयेत् तेन संकेतो नेष्टामेवास्य योग्यताम् ।।
(प्र० वा० ३।३२९-३३१)

पर किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । लोकप्रवाद के अनुसार एक शब्द से अनेक प्रतीतियाँ होती हैं । इनको नियमित कैसे किया जा सकता है—शब्दार्थ के निश्चय के प्रसंग में प्रसिद्धि ही शंका की उत्पादिका बन जाती है, क्योंकि उस प्रसिद्धि के अनुसार शब्दों की नाना अर्थों में वृत्ति सिद्ध होती है ।' किन्तु यह पूरा कथन भी पिष्टपेषण मात्र है । यह कहा जा चुका है कि सभी शब्द यद्यपि सभी अर्थों के वाचक हैं, तो भी व्याकरण, कोश प्रभृति से उनकी प्रवृत्ति नियत अर्थ में ही होती है । यह भी कहा जा चुका है कि प्रकरण आदि से नानार्थ शब्दों की भी एकार्थता का निर्णय किया जाता है ।

यह भी कहा जाता है कि 'नाना अर्थों को प्रकट करने में समर्थ शब्द की शक्ति का जब कोई नियामक नहीं है, तब उसकी दूसरे अर्थों में वृत्ति की शंका अवश्य उठ सकती है । ऐसी अवस्था में अविदित अर्थ विभाग वाले शब्दों के एक अर्थ को अप्रचलित होने के आधार पर अप्रमाण मान कर उसकी अपनी व्याख्या उपस्थित करने पर जैमिनि आचार्य इस बहाने से अपने मत का प्रतिपादन करते हैं, वेद के मत का नहीं । वचन व्यापार से शून्य वेद में वेदार्थ के प्रकाशन के व्यापार को आरोपित करना असंगत ही है । 'यह स्थाणु है, यह मार्ग है ऐसा कोई कहता है' इस कथन में और 'ऐसा मैं कहता हूँ' इस दोनों में भेद स्पष्ट है । जिस शब्द की सर्वत्र वृत्ति है, यह एक ही अर्थ को प्रकाशित करेगा, ऐसा नियम कैसे बनाया जा सकता है । वैदिक शब्दों की एकार्थता का नियम मान भी लिया जाय, तो भी अतीन्द्रिय अर्थों को कोई कैसे जान सकता है, क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों का द्रष्टा कोई पुरुष स्वीकार नहीं किया जाता । किसी तात्पर्य को अभिव्यक्त करने के लिए उच्चरित वचन में अर्थ का नियमन हो भी सकता है, किन्तु अपौरुषेय वेद में वक्ता के अभाव में यह भी नहीं हो सकता । विवक्षा शब्दार्थ के नियमन में कारण होती है और संकेत इसको प्रकाशित करता है । यह विवक्षा अपौरुषेय वेद में नहीं हो सकती, तब उसका एकार्थ में नियमन कैसे हो सकता है ? यदि स्वभाव से ही इसका नियमन माना जाय तो फिर इसकी अन्यत्र भिन्न अर्थ में प्रतीति नहीं होने पायेगी और जब इसकी इच्छा के अनुसार अर्थबोधकता नहीं रहेगी तो संकेत की उपयोगिता ही क्या रह जायगी ? जहाँ इच्छा का स्वातन्त्र्य है, वहाँ पर नियम की क्या उपयोगिता है ? ऐसी परिस्थिति में संकेत इसकी दृष्टयोग्यता को नहीं द्योतित कर सकेगा' ।

तदेतत् सर्वमपार्थकमेव, शब्दानां नानार्थत्वेऽपि संकेतेन प्रतिनियतार्थत्वोपपत्तेः, संकेतसचिवयोग्यतावशात् तत्प्रतिपादकत्वस्य समर्थितत्वात् । तथात्वेऽपि नेच्छाया निरङ्कुशत्वेनाव्यवस्था, संकेतस्य सहजयोग्यतानिवन्धनत्वात् । धूमाग्निवत् सांसिद्धिकार्थशक्तिव्यतिक्रमे चक्षुरादीनामपि प्रकाश्यप्रकाशकशक्तिव्यतिक्रमः स्यात् । शब्दार्थयोः स्वाभाविक-सम्बन्धस्य व्यक्तये संकेतः समाश्रीयते, देशभेदेनार्थभेदस्याप्यन्यत्रोक्तत्वात् । संकेतनियमोऽप्यादिष्ट एवोभयत्र । अत एव न पौरुषेयेऽपि यथेष्टं नियोगः, व्यवहारलोपप्रसङ्गात् । प्रयोक्तृप्रतिपत्तिपारम्पर्यप्रसिद्ध एवार्थे व्यवहारिभिः प्रयुज्यते शब्दः । अन्यथाऽन्योन्यानवबोधप्रसक्तिप्रयुक्तव्यवहृतिव्याहतिरेव स्यात् ।

यद्यप्यनधिगताबाधितार्थविषयज्ञानत्वेनैव प्रामाण्यं प्रमाणानां भवति, प्रत्यक्षानुमानानधिगतार्थगन्तृत्वेनैव वेदानां प्रामाण्यमिति 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादिवाक्यानामनुवादकत्वे नास्मिन्नंशेऽप्रामाण्यमेव, तस्मात् जैमिनि-मतरूपेण अवितथानि वेदवाक्यानि, वेदैकदेशत्वात्, यथाग्निर्हिमस्य भेषजमित्यादिवाक्यमित्युपस्थापनमसंगतमेव,

रसवत्तुल्यरूपत्वादेकभाण्डे च पाकवत्। शेषवद् व्यभिचारित्वात् क्षिप्तं न्यायविदेदृशम्। (प्र०वा०३।३३२)

इत्यादिना। यथा तुल्यरूपतयाऽनास्वादितानामपि फलानामास्वादितफलेन तुल्यरससाधनम्, यथा च एकस्थाल्यन्तर्गमात् पक्वतण्डुलवददृष्टतण्डुलानामपि पाकसाधनम्, तदेतच्छेषवदनुमानं प्रमाणसमुच्चये दिङ्नागेन क्षिप्तं व्यभिचारमुद्भावयता, तच्चासंगतमेव । अग्निर्हिमस्य भेषजमित्यस्य मीमांसकरीत्याऽनुवादकत्वेन स्वार्थे प्रामाण्यासंभवात् ।

किन्तु धर्मकीर्ति का यह पूरा कथन निरर्थक है, क्योंकि यद्यपि शब्द नानार्थक हैं, तो भी संकेत के अनुसार इनका अर्थ प्रतिनियत (निश्चित) हो जाता है। संकेत की सहायता से योग्यता के आधार पर ही शब्द की निश्चित अर्थप्रतिपादकता का समर्थन किया जा सकता है। ऐसा होने पर भी इच्छा की स्वतन्त्रता के आधार पर अव्यवस्था नहीं होने पाती, क्योंकि संकेत ही सहज योग्यता का कारण होता है। स्वाभाविक अर्थ शक्ति का व्यतिक्रम मानने पर धूम और अग्नि के समान चक्षुरादि की भी प्रकाश्य-प्रकाशक शक्ति का व्यतिक्रम होने लगेगा। शब्द और अर्थ के स्वाभाविक संबन्ध को भी अभिव्यक्ति के लिए संकेत का सहारा लिया जाता है। देशभेद से भी अर्थभेद होता है, यह बात अन्यत्र बताई जा चुकी है। संकेत का नियम भी वेद और लोक में निश्चित है। इसीलिए पौरुषेय वाक्यों का भी इच्छानुसार स्वतन्त्र अर्थ में विनियोग नहीं हो सकता, क्योंकि इस तरह से तो सारा व्यवहार लुप्त हो सकता है। प्रयोक्ता और प्रतिपत्ता इन दोनों की परम्परा में प्रसिद्ध अर्थ में ही शब्द का प्रयोग व्यवहर्ता करता है; अन्यथा एक दूसरे के समक्ष में न आने के कारण सारा शब्द-व्यवहार ही गड़बड़ा जायगा।

यद्यपि अनधिगत, अबाधित अर्थविषयक ज्ञान होने से ही प्रमाणों का प्रामाण्य माना जाता है और प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से अनधिगत (नहीं जाना जा सकने वाला) अर्थ का ज्ञान कराने के कारण ही वेदों का प्रामाण्य है, इसलिए 'अग्नि हिम (शीत) की दवा है' इत्यादि वेदवाक्य तो प्रसिद्ध (सिद्ध) अर्थ का अनुवाद मात्र करने वाले होने के कारण अप्रमाण ही होंगे। अतः जैमिनि के मत से ही वेद वाक्य मिथ्या है, क्योंकि 'अग्नि हिम की दवा है' यह वाक्य भी वेद का एक अंश हो तो है। इसी बात को दिङ्नाग ने शेषवत् अनुमान से उठाया है। अनुमान का स्वरूप है—एक फल का स्वाद लेकर उसी रूप वाले दूसरे फलों को बिना स्वाद लिए भी आस्वादित फल के तुल्य रस वाला मान लेना और एक थाली में पड़े हुए पके चाँवलों को देखकर बिना देखे हुए चाँवलों को भी पके हुए मान लेना। किन्तु स्वयं दिङ्नाग ने ही प्रमाणसमुच्चय में व्यभिचार की उद्भावना करके इस प्रकार के शेषवत् अनुमान का खण्डन भी किया है। वास्तव में प्रमाणवार्त्तिककार धर्मकीर्ति और दिङ्नाग दोनों का ही कथन असंगत है, क्योंकि मीमांसकों के मत में 'अग्नि हिम का भेषज (दवा) है' यह वाक्य प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ का अनुवादक होने के कारण स्वार्थ में प्रमाण ही नहीं हो सकता।

यच्च स्वाभिमतागमप्रामाण्यं बौद्धैरप्युच्यते, तत्रैकदेशाविसंवादनमागमलक्षणम्, तच्च नात्यन्तप्रसिद्धैक-विषयसत्यताश्रयमपि तु तदेवागमलक्षणम्, योऽर्वाग्दर्शनेन प्रमाणतः शक्यपरिच्छेदः। तदुक्तम्—

एकदेशाविसंवादिरूपमागमलक्षणम्। (प्र० स०)

नायं पुरुषोऽनाश्रित्यागमप्रमाणमासितुं समर्थः। (प्र० वा०)

एवं शक्यविचारस्य विषयस्य यथास्वं प्रमाणेन विधिप्रतिषेधसिद्धौ नान्तरीयकताभावेऽपि शब्दानामर्थेषु च संशयितस्य प्रवृत्तिः, तत्र कदाचिदविसंवादसंभवात्। न त्वन्यत्र दृष्टप्रमाणोपरोधस्य पुरुषस्य प्रवृत्तिः, योऽग्निर्हिमस्य भेषजमिति वह्नेः शीतप्रतिघातसामर्थ्यस्याभिधानं सत्यार्थं प्रदर्श्य सर्वं सत्यार्थमाह शास्त्रम्। शक्यपरिच्छेदेऽपि विषये प्रमाणविरोधाद् वहुतरमयुक्तमपि। 'नित्यस्य पुंसः कर्तृत्वं नित्यान् भावानतीन्द्रियान्। ऐन्द्रियान् विषमं हेतुं भावानां विषमां स्थितिम्॥ निर्वृत्तिं च प्रमाणाभ्यामन्यद्वा व्यस्तगोचरम्। विरुद्धमागमापेक्षेणानुमानेन वा वदन्॥ विरोधमसमाधाय शास्त्रार्थं च प्रदर्श्य सः। सत्यार्थं प्रतिजानानो जयेद्धाष्टर्येन वन्धकीम्॥' (प्र० वा० ३।३३३-३३६) अप्रच्युतानुत्पन्नपूर्वापररूपः पुमान् क्रमेण कर्मणां कर्मफलानां च भोक्ता, समवायिकारणाधिष्ठानभावादित्याह वेदः। तच्चायुक्तमेव। नित्यत्वंच भावानामक्षणिकत्वं च वस्तुधर्मातिक्रमात्। अप्रत्यक्षाण्येव सामान्यादीनि प्रत्यक्षाणि। जन्मस्थितिर्निवृत्तिश्च विषयाः। पदार्थानामनाधेयविशेषस्य प्रागकर्तुः परापेक्षया जनकत्वम्। निष्पत्ते-रकार्य्यरूपस्याश्रयवशेन स्थानम्, कारणाच्च विनाशः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रसिद्धिविपर्ययमागमाश्रयेण चानुमानेन

स्वाभिमत आगम का प्रामाण्य हम बौद्ध भी मानते हैं। यहां पर आगम का लक्षण यह है कि वह एक देश में भी विसंवादी नहीं होता। अत्यन्त प्रसिद्ध एक विषय की सत्यता इसका आधार नहीं है, किन्तु आगम का लक्षण यह है कि जिसका प्रामाण्य स्थूल बुद्धि वाले की भी समझ में आ जाय। जैसा कि कहा गया है—'आगम का लक्षण एक देश में अविसंवादि होना ही है', 'यह पुरुष आगम-प्रामाण्य का सहारा लिये विना रह नहीं सकता।' इस तरह से जिस विषय का विचार हो सकता है, उसकी प्रमाण के द्वारा विधि और प्रतिषेध की सिद्धि हो जाने पर नान्तरीयकता के अभाव में भी शब्दों की अर्थों में संशयित प्रवृत्ति हो सकती है। इस दशा में कभी अविसंवाद भी संभव है। इष्ट प्रमाण से रुकावट हो जाने पर पुरुष की प्रवृत्ति अन्यत्र नहीं होगी। ऐसी अवस्था में जो व्यक्ति 'अग्नि हिम की दवा है' इस वाक्य से वह्नि में शीत को भगा देने का सामर्थ्य है, इस सत्य उदाहरण के आधार पर सारे शास्त्र को सत्य सिद्ध करना चाहता है, यह उचित नहीं है, क्योंकि जहां पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से वस्तु का परिच्छेद (निश्चय) किया जा सकता है, ऐसे स्थलों में भी शास्त्रों के प्रमाण विरुद्ध अनेक वचन मिल जाते हैं। 'वेदशास्त्र नित्य पुरुष ईश्वर को जगत् का कर्ता मानते हैं, दिक्, काल, आकाश आदि अर्थक्रियाहीन भावों की सत्ता मानते हैं, गुण, कर्म, सामान्य आदि प्रत्यक्ष प्रमाणों को अतीन्द्रिय सिद्ध करते हैं, भावों की पहले जनकता नहीं मानते और निष्पन्न भावों की स्थिति आश्रयाधीन मानते हैं, स्वतः अनश्वर भावों का विनाश ईश्वराधीन मानते हैं, अन्य वस्तुओं के विषय में भी वहां पर ऐसी अनेक बातें हैं, जिनका कि प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से विरोध पड़ता है। आगमापेक्षी अर्थात् आगम सिद्ध त्रिरूप लिङ्गक अनुमान के विरुद्ध अग्निहोत्र, स्नान आदि की पापनाशकता और पुण्यजनकता मानते हैं। इस तरह की अनेक विरुद्ध बातों का प्रतिपादन करते हुए और प्रामाणिक आक्षेपों का बिना समाधान किये और उस पर बिना शास्त्रचर्चा किये अपनी ही बात को सच ठहराना चाहते हैं, वे अपनी धृष्टता से कुलटा स्त्री को भी जीत लेते हैं।' वेद का कहना है कि समवायी कारणों का अधिष्ठाता होने से पुरुष ही क्रमशः कर्म और कर्म के फलों का भोक्ता है। पुरुष का पहला रूप नष्ट नहीं होता और दूसरा रूप पैदा नहीं होता। वेद का यह कथन गलत ही है। भावों की नित्यता और अक्षणिकता वस्तुओं के स्वभाव के विपरीत है। अप्रत्यक्ष भी जाति आदि प्रत्यक्ष ही है। पदार्थों के जन्म, स्थिति और निवृत्ति ये विषय हैं। ईश्वर में किसी विशेषता का आधान नहीं हो सकता। पहले वह न होते हुए भी धर्माधर्म की अपेक्षा से कर्ता है। निष्पत्ति अकार्य रूप है, इसकी स्थिति आश्रय के आधार पर होती है और कारण के

बाधितमग्निहोत्रादेः पापशोधनसामर्थ्यादिकम्। तस्यैवंवादिनो वेदस्य साधिशरीरे प्रमाणविरोधमप्रतिसमाधाय सम्बन्धानुगुणोपायपुरुषार्थाभिधानानि च शास्त्रवचनानि प्रदर्श्य अत्यन्तप्रसिद्धविषयसत्याभिधानमात्रेण प्रज्ञाप्रकर्षदुरवगाहगहने निरत्ययतां भावयितुकामो वन्धकीमपि विजयते। कार्चिद् वन्धकी स्वयं स्वामिना विप्रतिपत्तिस्थाने दृष्टोपालब्धा। सा तम्प्रत्युवाच—पश्यत पुरुषस्य वैपरीत्यमपि। धर्मपत्न्याः पतिव्रतायाः प्रत्ययमकृत्वाऽत्मीययोर्नेत्राभिधानयो (र्जल) बुद्बुदयोः, प्रत्ययं करोति। जरत्करणेन ग्राम्यकाष्ठहारकेण प्रार्थिताऽपि न सङ्गता। रूपगुणानुरागेण किल मुख्यमन्त्रिदारकं कामयेऽहम्। तथैव वह्नेः शीतप्रतीकारवचनेन दृष्टप्रमाणविरोधस्यात्यन्तपरोक्षेऽर्थेऽपि संवादानुमानम्। दृष्टव्यभिचारायाः पत्न्या इव दृष्टव्यभिचारायाः श्रुतेः (वेदस्या)पि वचनं तद्वदेव।

सिद्धयेत् प्रमाणं यद्येवमप्रमाणमथेह किम्। नह्येतन्नास्ति सत्यार्थं पुरुषे वहुभाषिणि॥
वस्तुभिर्नागमास्तेन कथञ्चिन्नान्तरीयकाः। प्रतिपत्तुर्न सिद्धयन्ति कुतस्तेभ्योऽर्थनिश्चयः॥
(प्र० वा० ३।३३६-३४०)

इत्यादिकं वचनं बौद्धविदुषो धर्मकीर्तेर्दुःसाहसमेवाभिव्यनक्ति, चक्षुःश्रोत्रादीनां रूपशब्दादाविव धर्मब्रह्मादौ वेदस्य स्वातन्त्र्येण प्रामाण्याभ्युपगमात्। नहि स्वभावः पर्य्यनुयोक्तुं शक्यः—अग्निः कथमुष्णः, जलं च कथं शीतम्? शाब्दव्यवहारश्चाबालगोपालहालिकात् सर्वसम्प्रतिपन्नः। तदपलापस्तु मे मुखे जिह्वा नास्तीतिवद् व्याहतमेव, शाब्द-

आधार पर विनाश होता है। अग्निहोत्र आदि पाप के शोधन करने में समर्थ हैं। अनुमान से बाधित होने पर और प्रत्यक्ष तथा अनुमान की प्रसिद्धि के विपरीत होने पर भी शास्त्रों के द्वारा यह बात सिद्ध है। इस तरह की बातों का प्रतिपादन करने वाले वेदों पर जो आपत्ति उठाई जाती है, उसकी प्रमाणविरुद्धता का समाधान न करके संवन्ध के अनुगुण उपाय, पुरुषार्थ और अभिधान आदि को शास्त्र का धर्म बताकर अत्यन्त प्रसिद्ध विषयों के आधार पर शास्त्र की सत्यता का प्रतिपादन कर, बुद्धि के उत्कर्ष के बिना जिनका समाधान नहीं मिल सकता, ऐसी परिस्थिति में उससे मागने वाला वैदिक मीमांसक अपनी धृष्टता से कुलटा स्त्री को भी जीत लेता है। कोई कुलटा स्त्री गलत काम करते हुए अपने पति के द्वारा रंगे हाथ पकड़ ली जाती है और डाटी जाने पर पति को ही उलटा डाटते हुए कहती है कि इस आदमी को देखिये, इसकी बुद्धि मारी गई है। मेरी जैसी पतिव्रता धर्मपत्नी की बात का विश्वास न कर यह जल के बुलबुलों के समान अस्थिर अपने नेत्रगोलक पर विश्वास करता है। बूढ़े, खूंसट गाँव के लकड़हारे के बहुत लुभाने पर भी मैंने उसकी बात नहीं मानी। खाली मुख्य मन्त्री के लड़के के रूप और गुण पर मुग्ध होकर मैं उसको चाहने लगी हूँ। कुलटा के इस वचन की जो कीमत है, वही बात इस अनुमान पर लागू होती है, जिसके आधार पर कि वह्नि के शीतप्रतीकारक प्रत्यक्ष प्रसिद्ध अर्थ के आधार पर दृष्ट प्रमाणों से अत्यन्त विरुद्ध अर्थों को भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। व्यभिचार में प्रवृत्त पत्नी के वचनों की तरह व्यभिचार दोष से ग्रस्त इन श्रुतिवचनों की भी कोई कीमत नहीं हो सकती। यदि इस तरह के वचन भी प्रामाणिक माने जाने लगेंगे, तो फिर यहाँ अप्रामाणिक रह ही क्या जायगा? सदा असत्य भाषण करने वाले व्यक्ति की कोई एक दो बातें सच भी हो सकती हैं, उसी के आधार पर उसको सत्यवादी नहीं सिद्ध किया जा सकता। वक्ता में विद्यमान ध्वनि वस्तुओं का स्वभाव अथवा कार्य भी नहीं हो सकती। वस्तुओं का स्वभाव दूसरे धर्मों में नहीं रह सकता, अथवा न कोई कार्य ही अन्य वस्तुओं से हो सकता है। कार्य और स्वभाव से अतिरिक्त भाव की परस्पर अव्यभिचारिता नहीं रह सकती। यदि यह माना जाय कि वाचक शब्दों की प्रवृत्ति अभिधेय को देखकर तदनुसार होती है, अतः परम्परया उसमें कार्यता आ जायगी, तो आप यह बताइये कि यह शब्द की प्रवृत्ति एक वस्तु में परस्पर विरोधी अर्थों में कैसे हो सकेगी? अतः वस्तुओं के साथ आगमों का अविनाभाव संबन्ध किसी भी तरह से नहीं सिद्ध किया जा सकता, तब उनसे अर्थ का निश्चय कैसे होगा?

ये सारी बातें धर्मकीर्ति के दुःसाहस को ही प्रकट करती हैं। रूप, शब्द आदि के प्रत्यक्ष में जैसे चक्षु-श्रोत्र आदि का स्वतन्त्र प्रामाण्य है, उसी तरह से धर्म, ब्रह्म आदि के विषय में वेद का भी स्वतन्त्र प्रामाण्य माना जाता है। किसी वस्तु के स्वभाव के विषय में प्रश्न नहीं किया जा सकता कि अग्नि गरम क्यों होती है और जल ठंडा क्यों होता है? शब्द व्यवहार को अबोध बालक और

व्यवहाराभावे तदपलापस्याप्यसंभवात्। पौरुषेयत्वेन तु पुरुषाश्रितभ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिभिरप्रामाण्यमपि शब्दे शङ्क्येत। तदभावात्तु सुतरां तदनाशङ्कनीयम्। स्थालीपुलाकन्यायेन च दृष्टफलानां वाक्यानामिवान्येषामपि बुद्ध्यारोहणं शक्यमेव, प्रामाण्यस्वतस्त्वाभ्युपगमेन प्रामाण्यस्यान्यानायत्तत्वात्।

यदुक्तं दृष्टविरोधेन तदप्रामाण्यम्, तत्तुच्छम्, प्रामाण्यबलाबलविवेकानवधारणात्। तथाहि किं प्रत्यक्षमन्येन मानेन न बाध्यते, बाध्यते वा? नाद्यः, त्वन्मते घटादिस्थायित्वप्रत्यक्षस्य क्षणिकत्वानुमानेन बाधदर्शनात्। शुक्तौ रजतज्ञानस्य च नेदं रजतमिति बाधदर्शनात्। चन्द्रसूर्य्यप्रादेशिकत्वस्यानुमानागमाभ्यां बाधाच्च। किञ्च, प्रत्यक्षानुमानानवगतार्थबोधने वेदस्य प्रवृत्तिः। आगमप्रामाण्यस्य सर्वतो बलवत्त्वेन दृष्टादिविरोधस्याकिञ्चित्करत्वाच्च। अपि च बौद्धादिजातकेषु जडमूर्त्यादिकर्तृका बुद्धप्रणतिरुक्ता। सा च प्रत्यक्षविरुद्धैव। लङ्कावतारसूत्रेषु प्रत्यक्षविरुद्धाश्चमत्कृतयो वर्णिताः सन्ति। न चागमबोध्येऽर्थे प्रत्यक्षानुमानप्रवृत्तिरिति भिन्नविषयत्वेन कुतो विरोधः। नहि श्रोत्राधिगतस्य शब्दस्य नेत्रानवगतत्वं दूषणम्, तथैव वाक्यबोधितस्याग्निहोत्रहोमस्वर्गकार्यकारणभावस्य न प्रत्यक्षादिविषयत्वम्। न च तदभावः प्रत्यक्षादिना दृश्यते। 'न खलु क्षणभङ्गित्वे भावानामक्षजा मतिः। न भूमिरनुमानस्य विकल्पनियतस्थितेः॥ स्मरणप्रत्यभिज्ञाने प्रत्युत स्थैर्य्यसाधके। एवञ्च वञ्चनामात्रमाशुनाशित्वदेशना॥' इति।

यदप्युच्यते—नाशं प्रत्यनपेक्षत्वात् क्षणिकाः पदार्था इति, तदपि यत्किञ्चित्, दण्डादिव्यापारान्वय-

हलवाहे से लेकर सभी लोग समान रूप से जानते हैं। उसका अपलाप (झुठलाना) यह कहने के समान है कि मेरे मुँह में जीभ नहीं है। शब्द का प्रयोग किये बिना इस तरह का अपलाप भी नहीं किया जा सकता। शब्द व्यवहार की पौरुषेयता के मानने पर पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों के कारण शब्द में भी अप्रामाण्य दोष आ सकता है। वेद में तो पुरुष के अभाव में दोष भी नहीं उठेंगे। स्थालीपुलाक न्याय से दृष्टफल वाक्यों के प्रमाण पर अदृष्ट फल वाक्यों का भी प्रामाण्य सरलता से समझा जा सकता है। हम प्रामाण्य का स्वतस्त्व मानते हैं, अतः वेद का प्रामाण्य भी पराधीन नहीं हो सकता।

दृष्ट विरोध के आधार पर वेद का अप्रामाण्य सिद्ध करना भी व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा कहने वाले प्रामाण्य के बलाबल के भेद का ठीक से निश्चय नहीं कर पाते। आप यह बताइये कि प्रत्यक्ष का अन्य प्रमाण से बाध होता है या नहीं? अन्तिम पक्ष आपके मत में नहीं बन सकता, क्योंकि आप घट आदि की स्थायिता के प्रत्यक्ष का उसकी क्षणिकता को सिद्ध करने वाले अनुमान से बाध मानते हैं। शुक्ति में हुए रजत ज्ञान का 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञान से बाध सभी मानते हैं। चन्द्र, सूर्य आदि छोटे आकार वाले हैं, यह प्रत्यक्ष ज्ञान का बाध अनुमान और आगम दोनों से होता है। वेद की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष और अनुमान से अनधिगत (अज्ञात) वस्तु के बोध के लिये होती है। आगम का प्रामाण्य ही सर्वाधिक बलशाली है, अतः उसके सामने दृष्ट आदि के विरोध का कोई मूल्य नहीं है। बौद्ध जातक कथाओं में भी बताया गया है कि जड़ पदार्थ भी भगवान् बुद्ध की प्रणति करते थे। क्या यह बात प्रत्यक्ष-विरुद्ध नहीं है? लङ्कावतार सूत्र में इस तरह के प्रत्यक्ष-विरुद्ध अनेक चमत्कारों का वर्णन मिलता है। आगम से बोधित होने वाले विषय में प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती। इस तरह से इनका विषय भिन्न होने से परस्पर विरोध का प्रसंग ही कहाँ उठता है? श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने वाले शब्द का ज्ञान यदि नेत्रेन्द्रिय से नहीं होता, तो इसको कोई दूषण नहीं मानता, उसी तरह से वेदवाक्य से बोधित होने वाली अग्निहोत्र होम की स्वर्गरूप कार्य की कारणता का भी बोध प्रत्यक्षादि प्रमाणों से न हो, इसमें भी कोई दोष नहीं होगा। उसका अभाव प्रत्यक्ष आदि से नहीं सिद्ध किया जा सकता। जगत् के सभी पदार्थों की क्षणिकता प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर नहीं सिद्ध की जा सकती। अनुमान की प्रवृत्ति नियमतः विकल्प विषयों में ही होती है, अतः यहाँ पर उसकी भी पहुँच नहीं हो सकती। इसके विपरीत स्मृति और प्रत्यभिज्ञा इन भावों की स्थिरता के सिद्ध करने में ही सहायक होते हैं। इस तरह से पदार्थों की क्षणिकता का उपदेश प्रवंचनामात्र है।

यह कहना भी गलत है कि नाश के लिए किसी की अपेक्षा न रहने से सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि यह सिद्ध किया जा सकता है कि घट आदि के अभाव रूप कार्य का भी दण्ड आदि के प्रहार के साथ अन्वय-व्यतिरेकात्मक संबन्ध है, अर्थात् घटादि का नाश भी

व्यतिरेकानुविधायिनस्तत्कार्य्यस्य घटाद्यभावस्य साधयितुं शक्यत्वात्। प्रध्वंसाभावश्च विनाशः। नश्वरानश्वरादि-विकल्पास्तु न साधवः—

'सामग्र्यधीनः प्रध्वंसो भावानामात्मलाभवत्' इति।

मुद्‌गरादिसामग्र्या घटस्य किं क्रियते, मृत्पिण्डदण्डसामग्र्या किमस्य क्रियते? आत्मलाभ इति चेदनया-प्यात्माह्वानं करिष्यते। ननु नश्वरत्वेन तत्कारणं सुलमनश्वरत्वे त्वशक्तमिति चेदुत्पत्तावपि भवनस्वभावश्चेद् घटः स्वत एव भवति हि दण्डसामग्र्या, अभवनस्वभावस्तु कर्तुमशक्यः, खरविषाणवदिति कारकव्यापारे कार्यत्वदर्शनाद-पर्यनुयोग एवेति चेद्विनाशेऽपि समः, उत्पत्तिवद्विनाशस्यापि कारकान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। 'तस्मादुत्पन्नमात्रस्य विनाशो नास्ति वस्तुतः। अविनाशकसद्भावादवस्थानमिति स्थितम्॥ यदि लब्धस्वरूपोऽपि न नष्टः प्रथमे क्षणे। हेत्वन्तराद्विनाशोऽस्य न स्वरूपनिबन्धनः॥' इति।

ननु सापेक्षाणां भावानां नावश्यं भाविता भवेदिति घटस्य विनाशहेतुर्नोपनिपतेदपि कदाचिदित्येवमसौ किं नित्य एव भवतु, यदि घटो नित्यो भवेत्तदा दुष्प्रतरोऽयं दोष इति, नैष दोषः, सावयवस्य साश्रयस्य कार्य्यस्य नूनमवयवविभागादाश्रयविनाशाद्वा भवितव्यमेव विनाशेनेति न तन्नित्यत्वावसरः। अपि चानिमेषदृष्टेरत्रुटितसत्ताक-स्तम्भादिपदार्थग्राहिप्रत्यक्षमुपपद्यते।

निरपेक्ष न होकर दण्डा आदि के प्रहार की अपेक्षा रखता है। प्रध्वंसाभाव ही विनाश कहलाता है। अनश्वर, नश्वर आदि के विषय में उठाये जाने वाले विकल्प सही नहीं हैं। 'पदार्थों की सत्ता जैसे सकारणक होती है, उसी तरह से उसका प्रध्वंस भी सामग्री की सहायता से ही होता है'।

प्रश्न होता है कि मुद्‌गर आदि सामग्री से घट का क्या किया जाता है? तो इसके पहले आप यह बताइये कि मिट्टी के पिण्ड, दण्ड प्रभृति से घट का क्या किया जाता है? यदि आप कहें कि ये उसके स्वरूप लाभ में सहायक होते हैं, तो मुद्‌गर आदि सामग्री से उसके स्वरूप की हानि होगी। पुनः प्रश्न उठता है कि नश्वर पदार्थों के लिए यह कहा जा सकता है, किन्तु अनश्वर पदार्थों में यह हो नहीं सकता, अतः उत्पत्ति अवस्था में भी यदि घट का यह स्वरूप ही है, तो वह दण्ड आदि सामग्री से स्वतः हो जायगा और यदि अवयव स्वभाव है, तो उस सामग्री की सहायता से भी उसको पैदा नहीं किया जा सकता। जैसे कि खरगोश के सींग को किसी भी तरह से पैदा नहीं किया जा सकता। इस तरह से कारक व्यापार के अनश्वर कार्यत्व की सिद्धि को देखकर इसमें कोई आक्षेप संभव नहीं हो सकता, तो इसका उत्तर यह है कि यही बात पदार्थों के विनाश के प्रति भी लागू होती है, क्योंकि उत्पत्ति के समान विनाश में भी कारक व्यापार का अन्वय-व्यतिरेक विद्यमान है। इसलिए उत्पन्न मात्र सभी पदार्थों का विनाश वस्तुतः नहीं होता। अनेक अविनाशी पदार्थ देखे जाते हैं, अतः इनकी स्थिति माननी ही पड़ती है। यदि कोई पदार्थ स्वरूप लाभ के बाद प्रथम क्षण में नष्ट नहीं हुआ, तो बाद में उसके विनाश का कारण किसी अन्य पदार्थ को ही मानना पड़ेगा, उसका स्वरूपतः स्वाभाविक विनाश नहीं माना जा सकता।

प्रश्न है कि 'भावों की संज्ञा हेतु-सापेक्ष है, अतः यह जरूरी नहीं है कि वे सदा विद्यमान रहें ही, इसी तरह से यह भी हो सकता है कि घटादि के विनाश के कारण मुद्‌गरादि का कभी उनसे संपर्क ही न हो, तो क्या वह इस स्थिति में नित्य माना जायगा? यदि हम घट को भी नित्य मान लेते हैं, तो फिर इस संसार से छुटकारा पाना बड़ा कठिन हो जायगा'। पर इसका उत्तर यह है कि कार्य जब सावयव और साश्रय है, तो उसका अवयवों के विभाग से अथवा आश्रय के विनाश से विनाश अवश्य ही होगा, तब उनकी नित्यता की आपत्ति का कोई अवसर नहीं रह जायगा। दूसरी बात अपलक नेत्रों से देखने वाले व्यक्ति को निरन्तर अत्रुटित सत्ता वाले स्तम्भादि पदार्थों का ज्ञान कराने वाला प्रत्यक्ष होता ही है।

यच्चोक्तमतीतानागतक्षणयोरसन्निहितत्वेन प्रत्यक्षग्राह्यताऽनुपपत्तेर्वर्तमानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात् तत्काल-ग्राहिणा प्रत्यक्षेण क्षणिकत्वं गृहीतं भवतीति, तदपि निःसारम्, अतीतानागताग्रहणेऽपि वर्तमान एव कियान् कालोऽनिमेषदर्शनस्येति चिन्त्यमाने निमेषकृतस्यापि दर्शनविच्छेदस्यानवकाशात्। यावद् दर्शनं न विच्छिन्नं तावद्वर्तमानः काल इति तद् ग्रहणे स्थैर्यस्यैव ग्रहणेन क्षणभङ्गभङ्गात्।

ननु तावानसौ कालः स क्षणसमुदायो न क्षणः। क्षणश्चैक एव वर्तमानो भवति। न ततः पूर्वापरौ क्षणा-वतीतानागतौ भवतः। तयोश्च न ग्रहणमित्युक्तमिति चेन्न, भावानवबोधात्। तथाहि सिद्धे क्षणिकत्वे एव शक्यते वक्तुम्, न तत्साधनावसरे। कालो ह्येको नित्यो विभुश्चेति सिद्धान्ते न क्षणसमुदायात्मा कालः। कालस्य तु भेदाः क्रियोपजन-विनाशाद्युपनिबन्धनाः कल्पन्ते, तस्मादनिमेषदृष्टेर्दर्शनविच्छेदानुपग्रहात्तावानेकः कालः। स वर्तमान एव।

यदुक्तं कालो नाम न कश्चित् पारमार्थिकः। पदार्थ एव परिदृश्यमानो वर्तमानादिव्यवहारहेतुः। स च न चिरमनुभूयत इति क्षणिक उच्यते। तथाप्यनिमेषदृष्टिनाऽऽदृष्टिविच्छेदादविच्छिन्नसत्ताकस्यैव पदार्थस्य दृश्यमानत्वेन क्षणिकत्वासिद्धेः।

ननु ज्ञानं त्वन्मतेऽपि न स्थिरम्, तथा च प्रथमे ज्ञाने क्षीणे केन सोऽर्थो ग्रहीष्यते? ज्ञानान्तरेण चेत्? स एवेत्यत्र को निश्चयः? तदपि न, धारावाहिकस्थले ज्ञानस्यापि स्थैर्याभ्युपगमात्। अथवा नहि विषयप्रतिभासकाले

बौद्ध पक्ष से पुनः शंका उठाई जाती है कि 'अतीत और अनागत क्षण सन्निहित नहीं हैं, अतः उनका ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होता। वर्तमान क्षण अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः उसका उसी क्षण में प्रत्यक्ष क्षणिक रूप में ही हो सकता है'। किन्तु यह कथन भी निःसार है, क्योंकि अतीत और अनागत क्षणों का ज्ञान न होने पर भी निर्निमेष दर्शन का वर्तमान काल हो कितना है? ऐसा विचार करने पर एक निमेष के लिए भी दर्शन के विच्छेद का अवसर नहीं है। जब तक दर्शन का विच्छेद नहीं होगा, तब तक वर्तमान काल की ही सत्ता रहेगी और उसके ज्ञान से स्थिरता का ही ज्ञान होगा। अतः क्षणभंग का सिद्धान्त स्वयं ही नष्ट हो जायगा।

इस पर बौद्ध पक्ष का कहना है कि 'इतना पूरा काल क्षणसमुदाय कहलाता है, एक क्षण नहीं। एक ही क्षण वर्तमान कहलाता है। उसके पूर्व का क्षण अतीत और अपर क्षण अनागत कहलाता है। इन अतीत और अनागत क्षणों का ग्रहण (ज्ञान) नहीं होगा'। किन्तु यह पूरा कथन हमारे अभिप्राय को ठीक से न समझ पाने के कारण है, क्योंकि क्षणिकता की सिद्धि हो जाने पर ही आप ऐसा कह सकते हैं, उसकी सिद्धि तो अभी करना है। अतः क्षणिकत्व को सिद्ध करते समय आप ऐसा कैसे कह सकते हैं? काल एक, नित्य और विभु है, इस सिद्धान्त में उसको क्षणों का समुदायस्वरूप नहीं माना जाता। क्रियाओं की उत्पत्ति और विनाश के आधार पर काल के अनेक भेद कल्पित कर लिए जाते हैं। इसलिए अनिमेष दृष्टि वाले व्यक्ति के दर्शन का विच्छेद न होने से उतना काम एक ही माना जायगा और यह वर्तमान काल ही कहा जायगा।

बौद्धों का कहना है कि काल कोई पारमार्थिक पदार्थ नहीं है। पदार्थ ही परिदृश्यमान प्रभृति के भेद से वर्तमान आदि के व्यवहार का कारण होता है। इसकी प्रतीति चिरकाल तक नहीं होती, इसलिए यह क्षणिक कहा जाता है। किन्तु यह कथन इसलिए गलत है कि अनिमेष दृष्टि वाले व्यक्ति को दृष्टि विच्छेद पर्यन्त अविच्छिन्न सत्ता वाले एक ही पदार्थ की प्रतीति होती है, अतः उसको क्षणिक नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध प्रश्न करता है कि ज्ञान आपके मत में स्थिर नहीं है। तब प्रथम ज्ञान के क्षीण हो जाने पर उसके अर्थ (विषय) का ग्रहण कौन करेगा? यदि ज्ञानान्तर से उसका ग्रहण होगा तो वही विषय है, इसका निश्चय कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि धारावाहिक ज्ञान स्थल में ज्ञान को भी स्थिर माना जाता है। अथवा विषय के ज्ञान के समय ज्ञान का तो भान होता नहीं,

ज्ञानमवभासत इत्यर्थं एवाविच्छिन्नसत्ताको गृह्यते, ज्ञानं तु वर्तमानकालमप्यतीतानागतकालग्राहि भवति, स्मरणमिव प्रातिभमिव च भूतभविष्यद्दृष्ट्यनुमानमिव च।

ननु चेन्द्रियव्यापारोऽपि न क्षणान्तरस्थायीति तस्मिन्नसति कुतोऽस्य विगतकालग्रहणमिति चेन्न, विषयग्रहणे सन्निकर्षरूपव्यापारस्य स्थिरत्वात्। एवं दर्शनादर्शने एव भावाभावावित्यपि न युक्तम्, परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावानुपपत्तेः। बाध्यबाधकभावश्च ज्ञानानां क्वचिद्दृष्टः। स च न स्यात्, सर्वथा क्षणिकत्वे पूर्वावगतरजतादिविषयग्राहिणो ज्ञानस्य गृहीतमुद्गरदलितघटाभाववद् बाधकत्वानुपपत्तेः। पूर्वदृष्टस्य स्मरणम्, स्मृतस्य कस्यचित् प्रत्यभिज्ञानम्, प्रत्यभिज्ञातस्य गृहादेरर्धकृतस्य समापनमित्यादयो व्यवहाराः क्षणभङ्गवादे विप्रलुप्येरन्। न च सन्तानमाश्रित्य तच्छक्यसमर्थनम्, संतानिनोऽभिन्नत्वे तस्यापि क्षणिकत्वाविशेषात्, भिन्नत्वेऽपि सत्त्वे क्षणिकत्वापत्तिः, असत्त्वे व्यवहारानुपपत्तिः। अपि च, बौद्धमते बन्धकीवचनमपि सत्यमेव। तथाहि—

इदानीमेव सञ्जाता नवीनैव सुरूपिणी। साध्वी पतिव्रता चाहं क्षणभङ्गनये सदा॥
दृष्टा च योत्पथस्था हि सा सद्यः प्रलयङ्गता। तयोरेकत्वभ्रान्तिर्हि वचनान्मे व्यपोह्यताम्॥
तत एव हि बौद्धानां वज्रयानानुयायिनाम्। चित्तरत्नस्य संक्षोभवारणार्थं स्त्रियो वृताः॥

न्यायमञ्जरीकारैरप्युक्तम्—

किन्त्व नाङ्गीकरोसि त्वमात्मानं पारलौकिकम्। उपैषि परलोकं च किमिदं ते बकव्रतम्॥

इसलिये अविच्छिन्न सत्ता वाले विषय का ही ज्ञान होता है। ज्ञान तो वर्तमान काल में रहता हुआ भी अतीत और अनागत काल का भी ग्राहक होता है, जैसे कि स्मरण, प्रातिभ ज्ञान और भूत-भविष्यद् दृष्टि, अनुमान आदि ज्ञान वर्तमान काल में भी अनागत और अतीत काल को अपना विषय बनाते हैं।

प्रश्न उठता है कि इन्द्रिय-व्यापार भी तो क्षणान्तर में नहीं रहता। उसके न रहने पर इससे काल की निरन्तरता का ग्रहण कैसे होगा? उत्तर है कि विषय के ज्ञान के समय संनिकर्ष रूप व्यापार स्थिर माना जाता है। इसी तरह दर्शन और अदर्शन को ही हम भाव और अभाव मानें, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव नहीं बन सकता। ज्ञानों में परस्पर बाध्यबाधक भाव भी देखा जाता है। ज्ञान की क्षणिकता में यह भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि ज्ञान यदि सर्वथा क्षणिक है; तो पूर्वविगत रजतादि विषय के ग्राहक ज्ञान का उत्तर ज्ञान से बाध न होगा, क्योंकि ये दोनों ज्ञान परस्पर भिन्न हैं, अतः यहाँ पर घट ज्ञान और मुग्दर को हाथ में लेकर घट को फोड़ देने पर उत्पन्न हुए घटाभाव ज्ञान की तरह बाध्य-बाधकभाव नहीं बन पावेगा, अर्थात् घट के रहते घट का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान का दण्ड से घट तोड़े जाने पर जो घट के अभाव का ज्ञान हुआ, इससे बाध नहीं होता। इसी तरह रजत ज्ञान का भी उसको क्षणिक मानने पर बाध नहीं होगा। पूर्व-दृष्ट पदार्थ का स्मरण होता है, स्मृत पदार्थों में से कुछ की यह वही है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, प्रत्यभिज्ञात गृहादि यदि अधूरे हैं तो उनको पूरा किया जाता है, इस तरह के सारे व्यवहार क्षणभंगवाद को मानने पर विलुप्त हो जायेंगे। क्षणसन्तान को आधार बनाकर भी इनका समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि सन्तानी यदि इस क्षणसन्तान से अभिन्न है तो वह भी तो समान रूप से क्षणिक ही होगा। यदि सन्तानी क्षणसन्तान से भिन्न है, तो उसका सत्त्व मानने पर क्षणिकता की आपत्ति उठेगी और असत्त्व मानने पर व्यवहार नहीं बन सकेगा।

इस बौद्ध क्षणिकवाद को मानने पर कुलटा (व्यभिचारिणी) का वचन भी सत्य मानना पड़ेगा, क्योंकि वह कहेगी कि 'मैं जो आप से बात कर रही हूँ, यह तो मेरा नवीन जन्म है। मैं सुरूप हूँ, साध्वी हूँ, पतिव्रता हूँ। आपने जिस गलत रास्ते पर जाने वाली को देखा था, वह तो उसी समय नष्ट हो गई। इन दोनों को एक समझने की आपकी भ्रान्ति मेरे इस कथन से मिट जानी चाहिये। इसीलिये वज्रयान के अनुयायी बौद्धों ने चित्तरत्न के संक्षोभ की शान्ति के लिये स्त्रियों को स्वीकार किया था'।

न्यायमञ्जरीकार भट्टजयन्त ने भी कहा है कि—"आप पारलौकिक आत्मा को तो स्वीकार नहीं करते, किन्तु परलोक को मानते हैं। आपका यह मत बकव्रत (बगुला भगती) के पालन की तरह है। चैत्यवन्दन रूप कर्म का करने वाला सन्तानी तो कोई

कर्मसन्तानिनाऽन्येन यत्कृतं चैत्यवन्दनम् । ततोऽद्य फलमन्येन भुज्यतेऽकृतकर्मणा ।।
न वा निवृत्तिरप्येति चैत्यवन्दनकर्मणा । ज्ञानक्षणेन चैकेन किञ्चित् कर्म समाप्यते ।।
कार्य्यकारणभावश्च त्वदुक्तः स च दूषितः । अन्यत्रैव हि कर्म स्यादन्यत्रैव च तत्फलम् ।।
न च सन्तानभोगाय कश्चित् कर्मानुतिष्ठति । फलमस्मान्ममैव स्यादिति सर्वः प्रवर्तते ।।
गर्भादौ प्रथमं ज्ञानं विज्ञानान्तरपूर्वकम् । ज्ञानत्वादित्ययं हेतुरप्रयोजक इष्यते ।।
मूर्च्छाद्यनन्तरोद्भूतज्ञानैश्च व्यभिचार्य्ययम् । मूर्च्छितस्यापि विज्ञानमस्तीत्येतत्तु कौतुकम् ।।
नह्यर्थावगतेरन्यद्रूपं ज्ञानस्य किञ्चन । मूर्च्छादिषु कुतस्तत्स्यात्कुतो वा कललादिषु ।।
कललादिदशायां वा यदि विज्ञानमिष्यते । मातापितृस्थयोरस्ति शुक्रशोणितयोरपि ।।
ततश्चैकत्र सन्ताने चैतन्यद्वयमापतेत् । चेतनानां वहुत्वं वा दम्पत्योर्बहुपुत्रयोः ।।
न चैष नियमो लोके सदृशात् सदृशोद्भवः । वृश्चिकादेः समुत्पादो गोमयादपि दृश्यते ।।
शरीरान्तरसंचारचातुर्य्यं च धियां कथम् । ज्वालादिवन्न मूर्तत्वं न च व्यापकतात्मवत् ।।
आतिवाहिकदेहेन नीयन्ते चेद्भवान्तरम् । नन्वातिवाहिकेऽप्यासां कथं संचारसंभवः ।।
प्रदेशान्तरसंचारो ज्ञानानां भवतः कथम् । नह्येषां भूतधर्मत्वं न स्वतो गतिशक्तिता ।।
न च जात्यादिवद्वृत्तिर्न च व्यापकतात्मवत् । एवं यदैव निष्क्रान्तो विहारकुहराद्भवान् ।।
तदा कष्टी भवेद्देहो ज्ञानसंक्रान्तिसंभवात् । (न्या० म०, भा० २, पृ० ३७-३८)

दूसरा था। वह तो मर गया और आज उसके फल को भोगने वाला कोई दूसरा ही है, जिसने चैत्यवन्दन नहीं किया। ऐसी अवस्था में चैत्यवन्दन रूप कर्म से उस सन्तानी को जिसको कि उसका फल नहीं भोगना है। निर्वाण भी प्राप्त नहीं ही होगा। ज्ञान के एक क्षण से भी क्या कोई कर्म समाप्त हो सकता है ? तब आपके बताये कार्यकारणभाव की उपपत्ति कैसे हो सकेगी, जिसमें कि हम दोष बता चुके हैं, यदि कर्म कोई दूसरा करेगा और उसका फल किसी दूसरे को मिलेगा, तो इस प्रकार सन्तान के भोग के लिये तो कोई कर्म नहीं करता। इसका फल मुझे ही मिलेगा, यही सोचकर सब कोई कर्म में प्रवृत्त होते हैं। गर्भ आदि में पहला ज्ञान विज्ञानान्तर से उत्पन्न होता है, क्योंकि वह ज्ञान है, इस अनुमान में हेतु को प्रयोजकता अर्थात् अनुकूल तर्कयुक्तता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि मूर्छा प्रभृति अवस्था के बाद में उत्पन्न ज्ञान में उक्त हेतु का व्यभिचार स्पष्ट है। मूर्छित व्यक्ति में भी ज्ञान रहता है, यह कथन केवल (आश्चर्य) का ही विषय हो सकता है। अर्थ का ज्ञान कराने के सिवाय ज्ञान का और कोई रूप नहीं माना जाता। यह स्थिति न तो मूर्छा प्रभृति अवस्थाओं में ही रहती है और न कललादि गर्भावस्था में हो। यदि आप कललादि दशा में भी ज्ञान मानें तो माता-पिता में विद्यमान शुक्र और शोणित में भी उसको मानना पड़ेगा और इस तरह से एक सन्तान में दो चैतन्य माने जायेंगे। अथवा अनेक पुत्रों वाले दम्पती में अनेक चैतन्य माने जायेंगे। सदृश से सदृश को उत्पत्ति का नियम भी लोक में सर्वत्र नहीं देखा जाता, क्योंकि कभी-कभी गोमय (गोबर) से भी बिच्छू पैदा होते देखे गये हैं। आप इसका भी उत्तर दीजिये कि एक शरीर में स्थित विज्ञान का शरीरान्तर में संचार कराने की चतुराई ज्ञानों में कहाँ से आई ? क्योंकि यह ज्ञान न ज्वालादि की तरह मूर्त है और न आत्मादि को तरह व्यापक हो है। जन्मान्तर में यह ज्ञान शरीरान्तर में आतिवाहिक देह के द्वारा ले जाया जाता है, तो इस बात का आप उत्तर दीजिये कि यह ज्ञान आतिवाहिक देह में भी किस प्रकार जा सकता है ? आपके मत से ज्ञान का प्रदेशान्तर में संचार भी कैसे होगा ? ज्ञान भूत पदार्थों का धर्म नहीं है और न इनमें स्वतः गतिशक्ति ही है। इनकी जाति प्रभृति धर्मों की तरह अन्य कहीं वृत्ति भी नहीं मानते और न इनकी आप आत्मादि की तरह व्यापकता ही मानते हैं। इस तरह से जब आप विज्ञान से बाहर निकलेंगे, तभी आप में ज्ञान की संक्रान्ति होने पर आपका शरीर कष्ट में पड़ जायगा'। अर्थात् ज्ञान की संक्रान्ति मानने पर आपके शरीर में भूत-प्रेत आदि भी घुसकर तंग करने लगेंगे।

वेदाप्रामाण्याक्षेपनिरासः

किञ्चानृतव्याघातादिदोषैरप्रामाण्यमाशङ्कय समाहितं च मीमांसान्यायभाष्यादिषु। संक्षेपेण तु किञ्चिदुच्यते—

यदुक्तं शास्त्रस्य शरीरसंभवैरेवानृतव्याघातादिभिर्वेदस्य प्रामाण्यं नोपपद्यते। तथाहि—'चित्रया यजेत पशुकामः', 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इति श्रूयते। न चेष्टिसंपत्त्यनन्तरं पश्वादिफलं दृश्यते। यत् कालं मर्दनं तत्कालं मर्दनसुखमित्यादि समनन्तरफलानि कर्माणि दृष्टानि। पश्वाद्यभावपरितप्तोऽधिकार्य्यपि सद्यः फलं कामयते। कालान्तरे कर्मणः प्रध्वस्तत्वात् कुतः फलम्। सति फलानुत्पादकत्वे कुतोऽसतस्तत्। सेवादिरूपे दृष्टे कारणान्तरे सति को नामादृष्टं कारणं कल्पयेत्। तेन प्रत्यक्षादिप्रमाणपरिच्छेदयोग्यार्थोपदेशत्वे सत्यपि तत्संवादशून्यत्वाद् विप्रलम्भकवाक्यवदप्रामाण्यमेव चित्रादिचोदनानाम्। तद्वदेव वेदैकदेशत्वादग्निहोत्रादिचोदनानामपि मिथ्यात्वमेव। 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इत्यादावपि चित्रादिवदसंवादेनाप्रामाण्यमेव। एवं प्रमीते यजमाने पात्रचयाख्यं कर्म परिदृश्यते 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' इति प्राह वेदः। तत्रैष इति निर्देशो नात्मनि संभवति, तस्य परोक्षत्वात्, स्फ्यकपालादीनां तत्सम्बन्धाभावाच्च। कायस्त्वेष इति निर्दिश्यते। स च न स्वर्गं याति, तद्भस्मीभावदर्शनात्। एवं विसंवादेन च वेदस्याप्रामाण्यम्। एवं व्याघातोऽपि दृश्यते, उदितानुदितादिहोमविधानतन्निन्दार्थवादेन निषेधश्च। एवं त्रिः

वेदाप्रामाण्य के आक्षेपों का निराकरण

अनृत, व्याघात आदि दोषों की उद्भावना कर वेद में अप्रामाण्य की आशंका का समाधान मीमांसा दर्शन एवं न्यायभाष्य आदि में किया गया है। संक्षेप में उसका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है।

शास्त्र के स्वरूप में ही अनृत, व्याघात आदि दोष देखने को मिलते हैं। इनके रहते वेद का प्रामाण्य कैसे माना जा सकता है? जैसे कि 'पशु की कामना वाला व्यक्ति चित्रा नामक यज्ञ करे', 'पुत्र की कामना वाला व्यक्ति पुत्रेष्टि यज्ञ करे' ऐसा वेदों में कहा जाता है, किन्तु इनका अनुष्ठान कर लेने पर भी पशु, पुत्र आदि फलों की प्राप्ति नहीं होती। लोक में यह देखा जाता है कि जब तक शरीर पर तेल मालिश की जाती है, तब तक उससे होने वाले सुख की प्रतीति होती है। इस तरह से किसी भी कार्य का फल तुरन्त मिलता है। पशु प्रभृति के अभाव से दुःखी व्यक्ति भी इसी तरह से यागादि से तत्काल फल की प्राप्ति चाहता है। कालान्तर में तो कर्म नष्ट हो जायगा, तब उससे फल की क्या आशा की जाय? कर्म की विद्यमानता में जब उससे फल की प्राप्ति नहीं हुई तो उसके न रहने पर फल की आशा दुराशा मात्र है। ऐसी अवस्था में इनकी प्राप्ति के लिये सेवादि रूप दृष्ट उपायों के रहते क्यों कोई अदृष्ट कारण यागादि में प्रवृत्त होगा? इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जिनकी प्रतीति हो सकती है, ऐसी बातों का उपदेश करने वाली श्रुति का जब उनसे संवाद (ताल-मेल) नहीं होता तो 'चित्रा याग' प्रभृति का उपदेश करने वाली श्रुति किसी ठग के वचनों की तरह ही अप्रमाण क्यों न मानी जायगी? इसी उदाहरण के आधार पर वेद में अन्यत्र उपदिष्ट अग्निहोत्र प्रभृति यागों का उपदेश करने वाले श्रुतिवाक्य भी मिथ्या ही मान लिये जायेंगे। 'पुत्र की कामना वाला व्यक्ति पुत्रेष्टि यज्ञ करे' इस तरह के वाक्य भी चित्रादि यागों की तरह ही संवादक (तालमेल वाले) न होने से अप्रमाण माने जायेंगे। इसी तरह से यजमान के मर जाने पर 'पात्रचयन' नामक कर्म किया जाता है। 'यह यज्ञायुधी यजमान शीघ्र ही स्वर्गलोक को प्राप्त करता है' यह वेद का कथन है। यहाँ पर 'एष' पद से आत्मा का निर्देश नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो परोक्ष है और उसका स्फ्य, कपाल प्रभृति यज्ञ के पात्रों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः 'एष' पद से शरीर का ही निर्देश माना जायगा। वह शरीर स्वर्ग में नहीं जाता, वह तो यहीं भस्म हो जाता है। इस तरह की अनेक असंगतियों के कारण वेदों का अप्रामाण्य सिद्ध होता है। इसी तरह से वेद के वचनों में परस्पर विरोध भी देखा जाता है। उदित, अनुदित आदि कालों में होम के विधायक वाक्य मिलते हैं और साथ ही इनकी निन्दा करने वाले अर्थवाद वाक्यों से इनके निषेध की भी प्रतीति (ज्ञान) होती है। इसी तरह से 'पहली और अन्तिम ऋचा का तीन बार उच्चारण करे' इत्यादि वाक्यों में पुनरुक्ति दोष भी स्पष्ट है, क्योंकि एक बार के उच्चारण

प्रथमां त्रिरुत्तमामिति पौनरुक्त्यं च। तदेतत् 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इति न्यायसूत्रकारैरेव सूचितम्। 'न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्' इति समाधानं च तैरेव सूचितम्।

अत्रानृतत्वेनाप्रामाण्यमुक्तम्। तत्र च हेतुः फलादर्शनम्। तच्चानैकान्तिकम्। अन्यथापि फलादर्शनोपपत्तिः। वेदस्यासत्यार्थत्वात् कर्तृत्वादिवैगुण्याद्वा। ननु न कदाचित् समनन्तरमेव फलोपलब्धिरिति तदनृतत्वमेवादर्शनकारणमिति तन्न, अविगुणायां कारीर्यां सत्यां वृष्टेर्दर्शनात्। न च तत्काकतालीयम्, आगमेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्कारणत्वनिर्णयात्। पुत्रपश्वादिफलं तु नभसस्तदानीमेव वृष्टिरिव न निपतितुमर्हति। स्त्रीपुंसंयोगादिकारणान्तरसापेक्षत्वात्। तदुत्तरकाले पुत्रादिप्राप्तिस्तु भवत्येव। ननु दृष्टमेव तत्रापि कारणमस्तु। दृष्टे सत्यप्यदर्शनेन चित्राद्यनन्तरं दर्शनात् तत्कारणत्वनिश्चयात्। तदुक्तम्—

सेवाध्ययनकृष्यादिसाम्येऽपि फलभेदतः। वक्तुं न युक्ता तत्प्राप्तिरिष्टिकारणमात्रगा॥

यत्राविगुणेऽपि कर्मणि प्रयुज्यमाने कालान्तरेऽपि पुत्रपश्वादिफलं न दृश्यते, तत्रापि किमपि तीव्रं प्रतिबन्धकं कल्पनीयम्। किञ्च, चित्रातः पशवो भवन्तीत्येतावान् शास्त्रार्थः। आनन्तर्ये न किमपि प्रमाणम्। तदेवमानन्तर्यविषयः प्रत्यक्षाविसंवाद एव। चित्रादिचोदना त्वनिर्दिष्टकालविशेषविषया न तेन बाध्यते। तदुक्तम्—

आनन्तर्य्याद्यविसंवादो नाविशेषप्रवर्तिनीम्। चोदनां बाधितुं शक्तः स्फुटाद्विषयभेदतः॥

से ही जब काम चल जायगा तो फिर उसका तीन बार उच्चारण करने में क्या लाभ है? आज कल के लोग वेद को प्रमाण न मानने के लिए जो तर्क देते हैं, वे सब तर्क ऊपर की बातों से न्यायसूत्रकार ने ही स्पष्ट कर दिए हैं। साथ ही स्वयं उन्होंने ही इन सब तर्कों का समाधान भी निम्न प्रकार से दिया है—

यहाँ पर अनृत (मिथ्या) होने के कारण वेद वाक्यों को अप्रमाण माना है और उनके मिथ्या होने में वैदिक कर्मों से फलों की प्राप्ति न होने को ही कारण बताया है। किन्तु यह कारण व्यभिचारी होने से वेद के अप्रामाण्य की सिद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि कर्म से फल के न मिलने में तो अनेक कारण हो सकते हैं। आप ही बताइये कि वेद मिथ्या है, इसलिए फल नहीं मिलता या कर्म करने में दोषों के रहने से फल नहीं मिलता? यदि कहें कि कर्म के तुरन्त बाद कभी भी फल नहीं मिलता, इसलिए वेद असत्य ही है, तो यह बहुत ठीक नहीं है, क्योंकि विधि-विधान पूर्वक सही रीति से किए गये कारीरी नामक यज्ञ के बाद तुरन्त वर्षा रूपी फल देखा जाता है। इसको काकतालीय (आकस्मिक) नहीं कह सकते, क्योंकि आगम के आधार पर अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा इनकी परस्पर कार्य-कारणता सिद्ध होती है। अन्य यागों के अनुष्ठान से उपलब्ध होने वाले पुत्र, पशु आदि फल वृष्टि की तरह तत्काल ही आकाश से नहीं बरस सकते। वहाँ पर स्त्री-पुरुष संयोग प्रभृति कारणान्तरों की भी अपेक्षा रहती है। इसके बाद तो पशु-पुत्रादि फल की प्राप्ति होती ही है। यहाँ पर केवल दृष्ट को ही कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि दृष्ट कारण की विद्यमानता में भी पशु-पुत्रादि की प्राप्ति नहीं होती और चित्रादि याग के अनन्तर इनकी अविगति होती है। इसलिए चित्रादि यज्ञ ही पशु-पुत्रादि के कारण है, ऐसा निश्चय हो जाना सरल है। जैसा कि कहा गया है—'अनेक व्यक्ति एक ही पद्धति से सेवा, अध्ययन और कृषि प्रभृति कार्यों को करते हैं, किन्तु उनका फल एक दूसरे से विलक्षण मिलता है; कभी मिलता है, कभी नहीं भी मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि फलों को प्राप्ति केवल दृष्ट कारण से नहीं होती, किन्तु केवल यज्ञादि के अनुष्ठान से ही होती है।'

जहाँ यज्ञादि कर्म में कोई वैगुण्य गड़बड़ न होने पर भी कालान्तर में पुत्र, पशु प्रभृति फल को प्राप्ति नहीं होती, वहाँ पर भी कोई प्रबल प्रतिबन्धक की कल्पना की जानी चाहिये। अपि च, चित्रा याग (यज्ञ) से पशु प्राप्त होते हैं, शास्त्र का मात्र इतना ही कथन है। आनन्तर्य (यज्ञ के तत्काल बाद ही फल हो) में कोई प्रमाण नहीं है। आनन्तर्य का विषय प्रत्यक्ष का अविसंवाद ही होता है। चित्रादि याग के प्रतिपादक विधि वाक्य निर्दिष्ट काल विशेष विषयक हैं, इसलिये प्रत्यक्ष तत्काल फल न होने पर भी उनका बाध नहीं होता। जैसा कि कहा गया है—'अविशेष रूप से प्रवृत्त होने वाली श्रुति का बाध बाद में उसका फल से विसंवाद होने पर भी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता, क्योंकि इन दोनों का विषय परस्पर सर्वथा भिन्न है।'

न च चित्रादेरनन्तरफलत्वम्, विधिफलानां क्रियाफलतुल्यत्वानुपपत्तेः। विधिफलमन्यत् क्रियाफलं चान्यत्। कृष्यादौ भूमिपाटवादि क्रियाफलम्, सस्यसंपत्तिस्तु विधिफलम्। वार्त्ताविद्यायां वृद्धोपदेशे वा कृषिविधिरस्ति। अन्वयव्यतिरेको वा विधिस्थानीयौ। लोकेऽपि वेतनकामः पचतीत्यादौ पाकक्रियाफलमोदनः, विधिफलं तु वेतनम्। क्रियानन्तरफलभावित्वं क्रियाफलानामेव नियमः, विधिफलानां वेतनादीनां नास्ति कालनियमः। तथैवेष्टावपि हविर्विकारादिक्रियाकार्यं सद्यो भवति, सेवादिफलं त्वनियतकालमेव भवति। अत एव—'ग्रामकामो महीपालं सेवेतेत्येवमादिषु। लौकिकेषु विधिष्वस्ति न कालनियमः फले॥' आयुर्वेदोपदिष्टानामप्योषधिविधीनां न क्रियावत्सद्यः फलं भवति, किन्तु कालापेक्षमेवेति न विधीनां फलानन्तर्ये किञ्चित्प्रमाणम्।

यदुक्तम्—'पशुपुत्रादिविरहतप्यमानमानसस्तदधिकारो सद्यः फलं कामयते,' इति, तत्तु पुरुषेच्छामात्रम्। चित्रादिचोदनातः फलस्यैहिकत्वं सिद्ध्यति, न सद्यः फलत्वम्। सन्ति वैदिकफलान्यपि कालान्तरसव्यपेक्षाणि—'ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्य्यं विप्रस्य पञ्चमे' इति। न चात्र पञ्चमवर्षे उपवीतमात्रस्य ब्रह्मवर्चसः सम्पद्यते। एवं वीर्य्यकामस्येत्यादावपि। कालान्तरे तु भवत्येव। तथा च विधिफलमानन्तर्य्याभावान्न तद् विसंवादो दोषाय। यत्र कालान्तरेऽपि फलादर्शनं तत्र क्रियावैगुण्यकर्मान्तरप्रतिबन्धादिकारणं ज्ञातव्यम्। केचित्त्विह फलाभावे जन्मान्तरे तत्फलमिति। तत्र कारीर्य्यादिक-

चित्रादि यज्ञ तात्कालिक फल वाले नहीं है, क्योंकि विधि फल और क्रिया फल दोनों समान नहीं हो सकते। विधि का फल भिन्न होता है और क्रिया का फल भिन्न। कृषि प्रभृति कर्मों में भूमि को ठीक करना क्रियाफल और सस्य संपत्ति विधिफल कहलाता है। वार्ता (वाणिज्य) विद्या अथवा वृद्धजनों के उपदेश में कृषि विधि मानी जाती है अथवा अन्वय-व्यतिरेक को ही यहाँ विधि रूप माना जा सकता है। लोक में भी 'वेतन की कामना वाला रसोई बनाता है' यहाँ पर पाक क्रिया का फल ओदन है और विधि फल वेतन। क्रिया फल का ही यह नियम है कि क्रिया के बाद फल की प्राप्ति अवश्य हो, वेतनादि विधि फल में समय का नियम नहीं है, क्योंकि वेतन देरी से भी मिल सकता है। सामान्य रूप से भी एक महीना काम करने के बाद तनखाह मिलती है। इसी तरह से इष्टि मन्त्र में भी हवि के विकार आदि क्रिया रूप फल तो तुरन्त होते हैं, किन्तु विधि रूप फल का काल नियत नहीं है। इसी तरह से सेवा प्रभृति के फलों का भी काल नियत नहीं रहता। अत एव—'ग्राम की कामना वाला व्यक्ति राजा की सेवा करे' इस तरह के लौकिक विधि वाक्यों में फल की प्राप्ति में समय का कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। आयुर्वेद में उपदिष्ट ओषधियों का भी क्रिया फल की तरह तत्काल कोई फल देखने को नहीं मिलता, किन्तु वह काल सापेक्ष रहता है, इसी तरह से वैदिक विधि वाक्यों के भी तत्काल फल मिलने में कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कोई कहे कि 'पशु, पुत्र आदि के अभाव में दुःखी अधिकारी व्यक्ति चित्रा प्रभृति यागों के अनुष्ठान के तुरन्त बाद फल चाहता है', तो इसका उत्तर है कि यह केवल उसकी इच्छा हो सकती है, किन्तु चित्रा प्रभृति के प्रतिपादक विधि-वाक्यों से उनके फल की ऐहिकता मात्र सिद्ध होती है। अर्थात् इस लोक में होने वाले वे फल हैं। वहाँ यह नहीं कहा गया है कि इनका फल तत्काल मिलता है। इस तरह के अन्य अनेक वैदिक फल हैं, जो कि कालसापेक्ष हैं। 'ब्रह्मवर्चस की कामना वाले बालक का यज्ञोपवीत पाँचवें वर्ष में करे' यहाँ पर पाँचवें वर्ष में उपनयन कर देने मात्र से वटुक में ब्रह्मतेज का आविर्भाव नहीं हो जाता। इसी तरह से वीर्य की कामना से किये गये क्षत्रिय के उपनयन संस्कार के विषय में भी समझना चाहिये। कालान्तर में तो इन फलों की उपलब्धि होती ही है। इस तरह से विधि-फल का अर्थ आनन्तर्य नहीं है, अतः यदि कहीं पर उसका विसंवाद देखा भी जाय तो वह दोषावह नहीं माना जायगा। यदि कालान्तर में भी फल का दर्शन न हो तो वहाँ पर समझना चाहिये कि या तो कार्य में कोई दोष रह गया है अथवा अनुष्ठान का कोई प्रबल प्रतिबन्धक अदृष्ट या प्रारब्ध विद्यमान है। कुछ लोगों का कहना है कि ऐसे कार्यों का यदि इस जन्म में फल नहीं मिलता तो जन्मान्तर (दूसरे जन्म) में वह मिलता है। इन कर्मों में भी कारीरी याग प्रभृति ऐहिक फल वाले कार्यों का फल तत्काल मिलता है। क्योंकि ऐसे वाक्य उपलब्ध हैं कि—'कारीरी याग करते समय यदि पानी बरसने लगे तो उसी

मैहिकमासन्नफलम्, यदि वर्षा स्यात् तावत्येवेष्टिं समापयेत्, यदि वर्षेच्छ्वोभूते जुहुयात्, ज्योतिष्टोमादिकं त्वामुष्मिकफलम्। चित्रादिकं त्वनियतफलम्, तत्फलस्येहामुत्र वा संभवात्।

यदप्युक्तम्—कालान्तरे कर्माभावात् कुतः फलमिति, तदपि तुच्छम्, अपूर्वसंस्कारादिरूपेण कर्मणां स्थायित्वाभ्युपगमात्। तच्च मीमांसकदृष्टयाऽपूर्वः, नैयायिकदृष्टया तु कर्मजन्यः संस्काराख्यो गुण एव। तदुक्तम्—'यथेन्द्रियार्थसंयोगादात्मनो बुद्धिसंभवः। तथा यागादिकर्मभ्यस्तस्य संस्कारसंभवः॥ बुद्धिस्तु भङ्गुरा तस्य संस्कारस्तु फलावधिः।' यथा तस्य स्मृतिबीजत्वं तथैव फलसंयोगबीजत्वम्। 'स यागदानहोमादिजन्यो धर्मगिरोच्यते। ब्रह्महत्यादिजन्यस्तु सोऽधर्म इति कथ्यते॥'

यदुक्तम्—स्वर्गयागान्तरालवर्तिनः स्थिरस्य निराधारस्य निष्प्रमाणकत्वमिति, तन्न, स्वर्गकामो यजेतेति वचनस्यैव तत्र प्रमाणत्वात्। यावता विना यन्नोपपद्यते तस्याक्षेपलभ्यत्वात्। न च निराश्रयत्वम्, यजमानस्यैव तदाश्रयत्वोपपत्तेः। स च प्रसिद्धस्मृतिबीजभूतसंस्कारादिभिन्नत्वादपूर्वादृष्टादिशब्दव्यपदेश्योऽपि भवत्येव। स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयादित्यादि श्रुतस्य साध्यसाधनभावस्यानुपपत्त्या श्रुतार्थापत्त्या तज्जन्यजनकत्वविशिष्टतज्जन्यत्वरूपः परिकल्प्यते। यागादेर्धर्मत्वपक्षेऽपि मध्येऽपूर्वं कार्यकारणभावनिर्वाहकत्वेनेष्टमेव। स एव यज्ञायुधीत्यत्रापि शरीराभेदोपचारादात्मैव निर्दिष्टः। तस्य च स्वर्गगमनं भवत्येव। स्वर्गोपभोग एव च यथा शरीरादियोगवियोगौ जन्ममरणे,

समय इष्टि (यज्ञ) को समाप्त कर दें' अथवा 'यदि कारीरी याग करते समय पानी बरसने लगे तो बाकी कार्य को दूसरे दिन पूरा करें'। ज्योतिष्टोम आदि का फल परलोक में ही मिलता है। चित्रा प्रभृति याग का फल नियत नहीं होता, उनका फल इसी लोक में मिल सकता है और ऐसा भी हो सकता है कि वह दूसरे जन्म में प्राप्त हो।

अभी अभी कहा गया है कि—'कालान्तर में तो कर्म नष्ट हो जाता है, तब उससे फल की क्या आशा की जाय', किन्तु यह बड़ी तुच्छ शंका है, क्योंकि अपूर्व, संस्कार आदि के रूप में कर्मों की स्थायिता मानी गई है। इसको मीमांसा दर्शन में अपूर्व और न्याय दर्शन में कर्मजन्य संस्कार नामक गुण कहा जाता है। वह यज्ञादि कर्म की समाप्ति से लेकर फल की उत्पत्ति पर्यन्त स्थिर रहता है। जैसा कि कहा गया है—'जैसे इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से आत्मा में ज्ञान नामक गुण की उत्पत्ति होती है, उसी तरह से यागादि कर्मों के करने से आत्मा में संस्कार नामक गुण की उत्पत्ति मानी जाती है। यहाँ पर ज्ञान तो क्षणभंगुर होता है (नैयायिक, बौद्ध आदि के मत में), किन्तु यह संस्कार फल-प्राप्ति पर्यन्त रहता है। जैसे संस्कार स्मृति का कारण होता है, उसी तरह से वह फल के संयोग का भी कारण होता है। यह संस्कार जब यज्ञ, दान, होम आदि से उत्पन्न होता है, तो उसको 'धर्म' कहते हैं और जब इसकी उत्पत्ति ब्रह्महत्या प्रभृति से होती है तो वह 'अधर्म' नाम से कहा जाता है।

कहा जाता है कि याग और स्वर्ग के बीच में स्थिर एवं निराधार संस्कार अथवा अपूर्व की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु यह बात गलत है, क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वचन ही उसमें प्रमाण हैं। जिसके बिना जिसकी उत्पत्ति न बन सकती हो, उसकी उपपत्ति आक्षेप से होती है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वर्ग की उपपत्ति बिना अदृष्ट के नहीं हो सकती, अतः अर्थापत्ति प्रमाण से अदृष्ट की सिद्धि होगी। यह अदृष्ट निराधार नहीं रहेगा, क्योंकि यजमान उस अदृष्ट का आधार हो सकता है। स्मृति के कारण रूप से प्रसिद्ध संस्कार आदि से भिन्न होने के कारण ही यह अदृष्ट, अपूर्व आदि नामों से कहा जाता है। 'स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र याग करे' इत्यादि विधि वाक्यों में सुने गये साध्यसाधनभाव की अनुपपत्ति को देख कर श्रुतार्थापत्ति प्रमाण के आधार पर अग्निहोत्र आदि से उत्पन्न होने वाले स्वर्ग का जनक (पैदा करने वाला) और अग्निहोत्र आदि से जन्य (पैदा होने वाला) अदृष्ट की परिकल्पना की जाती है। यागादि को ही धर्म मानने पर भी कार्यकारणभाव के निर्वाह के लिये बीच में अपूर्व मानना ही पड़ता है। 'यज्ञायुधी' इत्यादि श्रुतिवचनों में भी शरीर के साथ अभेद का उपचार कर आत्मा (जीव) का ही निर्देश किया गया है। वह स्वर्ग को जाता ही है। स्वर्ग का उपभोग करते समय ही इसका यथायोग्य शरीरादि से संयोग और वियोग होता है और इसी को जन्म-मरण

न तु व्यापिनः परिस्पन्दात्मिका क्रियोपपद्यते। ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नसमवायश्च तस्य कर्तृत्वम्। यज्ञायुधसम्बन्धोऽपि स्वस्वामिभावादिस्तस्यैव व्यापकत्वाविशेषेऽपि व्यवस्थयैवोपपद्यते।

उदितानुदितकालहवनविधावपि न व्याघातः, तत्रानुष्ठानभेदेन कालत्रितयचोदनात्। 'यो यस्य चोदितः कालो लङ्घनीयो न तेन सः। ततश्चान्यतमं कालमभ्युपेत्यैनमुज्झतः॥ निन्देति न विरोधोऽत्र कश्चिद् विधिनिषेधयोः।' पौनरुक्त्यमपि न दोषः, सप्रयोजनत्वात्। 'इदमहं पञ्चदशारेण वज्रेणापवाधे योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः'। एकादश सामिधेन्य ऋचः पठ्यन्ते, तत्राभ्यासद्वारा पाञ्चदश्यं कर्तव्यम्। स चाभ्यासोऽनियमेन प्राप्तो वचनेन नियम्यते—'त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमाम्'। तस्मात् सप्रयोजनत्वान्न पौनरुक्त्यदोषः। तदप्युक्तम्—'अभ्यासे पौनरुक्त्यञ्च कार्य्यार्थित्वाददूषणम्। सम्पाद्यं पाञ्चदश्यं हि सामिधेनीषु चोदितम्॥' इति।

अन्येऽपि वेदशास्त्रस्य स्वदेहजा दोषाः परिकल्पिताः, मुनिभिर्निराकृताश्च। तथाहि—'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं तस्य यदश्रु व्यशीर्य्यत्तद्रजतम्', 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्तामग्नौ प्रागृह्णात् ततोऽजस्तूपर उदगात्', 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' इत्याद्यर्थवादानां यथाश्रुतार्थत्वयुक्तेभ्यः कार्य्यरूपार्थोपदेशपरिकल्पनमथवा लिङ्गादियुक्तवाक्यान्तरप्रतिपाद्यमानकार्य्यरूपार्थौपयिकत्वमिति सर्वथा प्रमाद एव। स्वरूपपरत्वे प्रमाणान्तरविरुद्धार्थपरत्वेनाप्रामाण्यमेव, रोदन-वपोत्खेदन-दिङ्मोहादेरर्थस्य तथात्वे निश्चयाभावात्। 'स्तेनं मनोऽनृत-

कहते हैं। इसके सिवाय व्यापी आत्मा में कोई परिस्पन्दात्मिका क्रिया नहीं बन सकती। इस आत्मा का कर्तृत्व यही है कि उसमें ज्ञान, चिकीर्षा (कर्म करने की इच्छा) और प्रयत्न का समवाय हो जाता है। उसका यज्ञायुध से संबन्ध स्वस्वामिभावरूप है, आत्मा के व्यापक होने पर भी इसकी व्यवस्था संभव हो सकती है।

उदित, अनुदित आदि कालों में हवन की विधि में भी परस्पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वहाँ पर अनुष्ठान के भेद से तीनों कालों की पृथक् विधियाँ हैं। इसीलिये—'जिसके लिये जिस काल का विधान किया गया है, उसको उस काल का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। अतः किसी एक काल को स्वीकार कर वाद में जो उसको छोड़ देता है, उसी की यहाँ निन्दा की गई है। अतः यहाँ पर विधि और निषेध का कोई विरोध नहीं है'। इसी तरह से पुनरुक्ति में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसका भी प्रयोजन वहीं वनाया गया है। 'जो हमसे द्वेष करता है अथवा जिससे हम द्वेष करते हैं, उसको पन्द्रह अराओं वाले इस वाणी रूपी वज्र से हम मार डालते हैं' इस प्रकरण में ग्यारह सामिधेनी ऋचाएँ पढ़ी गई हैं। इनकी पन्द्रह संख्या कुछ ऋचाओं की आवृत्ति करने से ही हो सकती है। अनियमित रूप से प्राप्त इस अभ्यास (बार-बार पाठ) को नियमित कर देने के लिये ही यह कहा गया है कि—'प्रथम और अन्तिम ऋचाओं का उच्चारण तीन तीन बार करें'। इस तरह से यहाँ पर ऋचाओं की आवृत्ति का प्रयोजन है। अतः यहाँ पर पुनरुक्ति दोष नहीं माना जायगा। जैसा कि कहा गया है—'एक ही मन्त्र की आवृत्ति के द्वारा पुनरुक्ति का प्रयोजन विद्यमान है। अतः इसका दूषण की कोटि में समावेश नहीं होगा। यहाँ पर सामिधेनी ऋचाओं की पन्द्रह संख्या वनानी है। इस लिये प्रथम और अन्तिम मन्त्र की आवृत्ति करने में पुनरुक्ति दोष न हो कर उक्त प्रयोजन की सिद्धि होती है'।

वेद शास्त्र में विद्यमान वाक्यों में अन्य भी स्वरूपगत अनेक दोषों की उद्भावना की गई है और मुनियों ने उनका निराकरण भी किया है। जैसे कि—'उसने रुदन किया, रुदन करने से उसको रुद्र कहा गया, रुदन करने से उसके जो अश्रु गिरे, उनसे रजत (चांदी) की उत्पत्ति हुई', 'प्रजापति ने अपनी वपा (चर्वी) उखाड़ ली और उसको अग्नि में डाल दिया, इससे तूपर (सन्तानोत्पादन की शक्ति से रहित) अज की उत्पत्ति हुई', 'देवता देवयजन में दीक्षित होने पर दिशाओं को न जान सके' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों का यथाश्रुत अर्थ के आधार पर विनियोग किया जाय अथवा लिंग प्रभृति से युक्त वाक्यान्तर की सहायता से विनियोग किया जाय? यह प्रश्न उपस्थित होता है। यदि इनका यथाश्रुत अर्थ लिया जाय तो उसका प्रमाणान्तर से विरोध होने से इनमें अप्रामाण्य की आपत्ति होगी, क्योंकि रोदन, वपोत्खेदन, दिङ्मोह-आदि अर्थों से उक्त वाक्यों के निश्चित संबन्ध का निर्णय होना

वादिनी वाग्' इत्येवंजातीयकानां प्रमाणान्तरविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वमेव । नहि निसर्गतोऽनृतवादिनी वाक् स्तेनं वा मनो भवति । 'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिस्तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' इति च प्रत्यक्षविरुद्धम्, नक्तंदिनं द्वयोरपि प्रत्यक्षेण ग्रहणात् । एवम्—'एतन्न विद्मो यदि ब्राह्मणाः स्मो अब्राह्मणा वा' इति ब्राह्मणजातेरुपदेशसहकृत-प्रत्यक्षगम्यत्वाद् विरुद्ध एव । 'को हि तद्वेद यदमुष्मिंल्लोके अस्ति वा न वा' इति शास्त्रविरोधोऽप्यस्ति, शास्त्रे स्वर्गादिफलानां ज्योतिष्टोमादिकर्मणामुपदेशात् । गर्गत्रिरात्रब्राह्मणमधिकृत्य श्रूयते—'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' । न च शोभते मुखमिति प्रत्यक्षविरोधः । 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति, पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकान् जयति, तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते यश्चैव वेद' । यदि पूर्णाहुत्यैव सर्वकामाप्तिः, पशुबन्धयागेनैव सर्वलोकजयः, अश्वमेधवेदनेनैव तत्फलावाप्तिः, किमर्थं कर्मोपदेशः ? उपदिष्टान्यपि तानि बहुव्ययक्लेशसाध्यानि व्यर्थानि भवेयुः, लघुनोपायेन तत्फलप्राप्तिश्रवणात् । 'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' इति वेदे चयननिषेध एव पर्य्यवस्यति । दिवि चान्तरिक्षे प्राप्तिरेव नास्ति, किं तन्निषेधेन । पृथिवीचयननिषेधार्थं यद्वाक्यं तदर्थमेव मन्तव्यम्, अपृथिव्यधिकरणस्य चयनस्यानुपपत्तेः । 'यजमानः प्रस्तरः', 'आदित्यो यूपः' इत्यादिप्रत्यक्षविरुद्धार्थाभिधायिनामर्थ-वादानां किं तात्पर्य्यम् ?

न चैवंजातीयकेभ्यः कार्यपरिकल्पनं शक्यम्—रुद्रो रुरोद तेनान्येनापि रोदितव्यमिति । प्रियवियोगात् सर्वो रोदिति न विधिना । प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्, तथैवान्योऽपि वपामुदखिदेदित्यपि न संभवति । तथात्वे मरण-

कठिन है । 'मन चोर है, वाणी झूठ बोलती है' इस तरह के वाक्य तो स्पष्ट ही प्रमाणान्तर से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । स्वभावतः मन चोर नहीं होता, अथवा वाणी झूठ नहीं बोलती । इसी तरह से 'दिन में अग्नि का धुआँ ही देखा जाता है, लपट नहीं और रात्रि में अग्नि की लपट ही दिखाई देती है, धूम नहीं' यह वाक्य तो स्पष्ट ही प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि रात में भी और दिन में भी धूम और अर्चि (ज्वाला) दोनों प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । इसी तरह से 'यह हम नहीं जानते कि ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण' यह वचन भी वृद्धोपदेश से जब ब्राह्मण जाति प्रत्यक्षगम्य है, तो उसके विरुद्ध हो पड़ेगा । 'यह कौन जानता है कि परलोक है या नहीं' इस वाक्य का शास्त्र से भी विरोध है, क्योंकि शास्त्र में स्वर्गादि फल वाले ज्योतिष्टोमादि कर्मों का उपदेश देखा जाता है । गर्गत्रिरात्र ब्राह्मण के अधिकार में वेद कहता है कि—'जो इसको जानता है, उसका मुख सुशोभित होता है', किन्तु उस समय मुख की शोभा देखने को नहीं मिलती, अतः यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है । 'पूर्णाहुति से सभी कामनाओं की प्राप्ति होती है, पशुबन्ध का यजन करने वाला सब लोकों को जीत लेता है, जो व्यक्ति अश्वमेध यज्ञ करता है अथवा इसकी विधि को जानता है, वह मृत्यु, पाप और ब्रह्म-हत्या से छुटकारा पा जाता है' । यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि पूर्णाहुति से ही सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, पशुबन्ध याग से ही सब लोकों पर विजय प्राप्त हो जाती है और अश्वमेध का ज्ञान होने मात्र से उसके फल की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर अन्य कर्मों के उपदेश का प्रयोजन ही क्या रह जाता है ? बहुत सा धन व्यय करने पर अनेक कष्टों को झेलकर किये जाने वाले ऐसे कर्मों का उपदेश तब व्यर्थ हो जायगा, जब कि अन्य छोटे उपायों से भी उन फलों की प्राप्ति हो सकती है । 'पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक में अग्नि का चयन नहीं करना चाहिये' इस वेद वाक्य से अग्निचयन के निषेध का निश्चय होता है । किन्तु अन्तरिक्ष और स्वर्ग में चयन की जब प्राप्ति ही नहीं है, तब उसका निषेध व्यर्थ ही है । इसलिये पृथिवी पर किये जाने वाले चयन का निषेधक ही यह वाक्य माना जायगा, क्योंकि पृथिवी से भिन्न स्थल में अग्नि का चयन बनता ही नहीं । 'यजमान प्रस्तर है, यूप आदित्य है' इस तरह से प्रत्यक्ष विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक अर्थवादों का क्या तात्पर्य हो सकता है ?

इस तरह के वाक्यों से किसी विधि की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि 'रुद्र रो रहा था, इसलिये दूसरे को भी रोना चाहिये ।' प्रिय का वियोग होने से ही कोई रोता है, विधिवाक्य को देखकर नहीं । 'प्रजापति ने जैसे अपनी वपा (चर्बी) उखाड़ ली, उसी तरह से अन्य व्यक्ति को भी अपनी वपा उखाड़ लेनी चाहिये' यह भी संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से उसकी मृत्यु

संभवात्। कस्य वपाहोमेन समनन्तरमेव अजः पशुस्तूपर उद्गच्छति। एवं देवा दिशो नाज्ञासिषुरित्यादिनापि दिङ्मोहो नोपदेशेन संभावयितुं शक्यः। न वा वाक्यान्तरविहितकार्य्यौपयिकत्वमेषां संभवति, 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति, अग्नये प्रजापतये सायं जुहोति' इति द्रव्यदेवतादिविधानवत्तदुपयोगिद्रव्यदेवतादिविधानद्वारकत्वासंभवात्। न चैभिः 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इतिवदितिकर्तव्यता दृष्टा अदृष्टा वोपदिश्यते। न च प्ररोचनार्था एवैते एवंकाम इदं कुर्यादिति, यो न प्रवर्तते प्ररोचनयाऽपि किं तस्य ? तदेवं वेदैकदेशस्यार्थवादस्याप्रमाणत्वेन सर्वस्यापि तथात्वमिति।

तदेतत् प्रतिविधीयते। 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्यादिनाचार्य्यैरेव समाहितत्वात्। विध्यर्थस्तावकत्वेनास्ति तेषां विध्युद्देशेनैकवाक्यता। यद्यपि च द्रव्यदेवतेतिकर्तव्यताविधानद्वारकमङ्गविधिवदर्थवादवाक्यानां कार्यौपयिकत्वं नास्ति, तथापि प्रतीत्यङ्गत्वं न निवार्य्यते। अत एव प्रामाण्योपयोगित्वमाचक्षते, न प्रमेयोपयोगित्वम्। केवलविधिपदश्रवणे न तदाद्रियते। तर्कविधिविभक्तेः शक्तिरवसीदति। वामुत्तम्भनात्यर्थवादजनितप्राशस्त्यप्रत्ययः, 'सर्वजिता यजेत' इतिविधौ न तथा श्रद्धातिशयो भवति, यथा 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमयजन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेन सर्वं जयति' इत्यर्थवादेन। लोकेऽपि गौरियं क्रेतव्येत्युक्तौ न तथा प्रवृत्तिर्भवति, यथैषा बहुस्निग्धक्षीरा सुशीला सापत्या अमृतप्रजेति प्राशस्त्यवचनेन भवति। अत एव यथा क्वचिदार्थवादिको विधिः कल्प्यते, तथैवाश्रुतार्थवादकेऽपि विधौ तत्कल्पनम्।

ही हो जायगी। यह कहाँ देखा गया है कि वपा के होम के बाद ही अज नामक तूपर पशु की उत्पत्ति होती हो। इसी तरह से 'देवताओं को दिशा का ज्ञान नहीं रहा' इत्यादि वाक्यों के उपदेश से दिङ्मोह (दिशा भ्रम) की संभावना नहीं पैदा हो सकती। वाक्यान्तर से विहित कार्यों में भी इनकी कोई उपयोगिता नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ पर 'दही से हवन करता है, दूध से हवन करता है, अग्नि और प्रजापति के लिये सायंकाल हवन करता है' इत्यादि वाक्यों की तरह द्रव्य और देवता आदि के विधान के उपयुक्त कोई बात नहीं दिखाई पड़ती। यहाँ पर 'व्रीहि का प्रोक्षण करता है' इत्यादि वाक्यों की तरह दृष्ट अथवा अदृष्ट इतिकर्तव्यता (क्रिया) का उपदेश नहीं किया गया है। प्ररोचना (लुभाना) के लिये भी इनका कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि 'जो ऐसा चाहता है, उसको इसका अनुष्ठान करना चाहिये' इस तरह के विधि वाक्यों से जो प्राप्त नहीं होता, उसकी प्रवृत्ति प्रशंसापरक वाक्यों से कैसे होगी ? इस तरह से वेद के एकदेशभूत अर्थवाद वाक्य जब प्रमाण नहीं है, तो पूरे वेदभाग का प्रामाण्य भी किस तरह से सिद्ध किया जा सकेगा।

इन सब शंकाओं का समाधान अब प्रस्तुत किया जाता है। आचार्य जैमिनि ने 'विधिना त्वेक०' इत्यादि सूत्र में बताया है कि विधि वाक्यों के द्वारा उपदिष्ट यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा करने में इन पूर्वोक्त सब अर्थवाद वाक्यों का तात्पर्य है, इसलिये 'ये सब कर्म श्रेष्ठ होने के कारण अवश्य करने चाहिये' इस प्रकार विधि वाक्य के साथ एकवाक्यता हो जायगी, यद्यपि यज्ञ में उपयोगी द्रव्य, इन्द्र, अग्नि आदि देवता और इतिकर्तव्यता (यज्ञ में होने वाली विधिविधान युक्त सम्पूर्ण क्रियाएँ) के विधायक अङ्ग विधि वाक्यों की तरह अर्थवाद वाक्यों की कार्य के प्रति उपयोगिता नहीं है, तो भी इनकी प्रतीत्यङ्गता (यज्ञादि विधि की अवश्यकर्तव्यता के ज्ञान में उपयोगिता) का निषेध नहीं किया जा सकता। इसीलिये इनकी प्रामाण्य में ही उपयोगिता मानी जाती है, प्रमेय में नहीं। केवल विधिपद के श्रवण से उस पर विचार नहीं जमता। विरोधी तर्क विधि वाक्यों की शक्ति को क्षीण कर देता है। अर्थवाद वाक्यों से उत्पन्न होने वाला विधि की श्रेष्ठता का ज्ञान विश्वास पैदा करा है, किन्तु उससे 'सर्वजित् याग का अनुष्ठान करे' इस विधि वाक्य में श्रद्धा का आधिक्य नहीं होता, जैसा कि 'इस सर्वजित् याग का अनुष्ठान देवताओं ने सब कामनाओं की पूर्ति के लिये और अपने सब शत्रुओं को जीत लेने के लिये किया था। जो इसका अनुष्ठान करता है, उसको सब कुछ प्राप्त हो जाता है, उसकी सर्वत्र विजय होती है' इस अर्थवाद वाक्य को सुनकर होता है। लोक में भी 'यह गाय खरीदने लायक है' इस वाक्य से उस तरह की प्रवृत्ति नहीं होती, जैसी कि 'यह बहुत सारा चिकनाई से भरा दूध देती है, बहुत सीधी है और बच्चे वाली है। अभी तक इसका कोई बछड़ा मरा नहीं है' इस प्रशंसा से भरे वाक्य को सुनकर होती है। इसी लिये जैसे अर्थवाद वाक्य के आधार पर विधि वाक्य की कल्पना की जाती है, उसी तरह से जिस विधि से संबद्ध अर्थवाद वाक्य नहीं मिलता, वहाँ पर अर्थवाद वाक्य की भी कल्पना की जाती है।

सोऽरोदीदित्यस्यापि बर्हिषि रजतं न देयमिति विध्यङ्गत्वैव। रुद्ररोदनेन तदश्रुप्रभवस्य रजतस्य दानेन पुरास्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवतीति रजतमदत्वा सुवर्णादिकमेव देयमिति निष्कर्षः। एवमेव 'प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत' इत्यस्य विधेः शेषः 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यर्थवादोऽपि वपाहोममाहात्म्यबोधनपरः। एवम् 'आदित्यः प्रापणीयश्चरुः' इत्यस्य विधेः शेषो 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजान्' इत्यर्थवादः। इत्थं व्यामोहानामादित्यश्चरुर्नाशयिता, यथा दिङ्मोहस्यादित्यः। एवं तत्र तत्रार्थवादानां विधिशेषत्वम्।

यदुक्तम्—'रुद्ररुदिताद् रजतोत्पत्तिर्वपाहोमाच्च तूपरोत्पत्तिरित्यसत्यार्थबोधकत्वेनाप्रामाण्यं वेदानाम्' इति, तन्न, प्रतिपाद्यस्यार्थस्य सत्यत्वात्। नात्र यथाश्रुतोऽर्थः प्रतिपाद्यः, वृत्तान्तज्ञानस्याप्रवर्तकत्वेनानुपयोगात्। प्ररोचना-द्वेषयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्यङ्गत्वेन तयोरेवार्थवादप्रतिपाद्यत्वात्। ननु तथापि रुद्रे रोदनवचनमतथाभूते रजतेऽश्रुप्रभवत्वोक्ति-मिथ्यैवेति चेन्न, गुणवादमात्रत्वेन तददोषात्। श्वेतवर्णसाम्यादिना रोदनप्रभवं रजतमिति निन्दितुमुच्यते। एवं पशुयागे वपाहोमप्रशंसायै प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिददिति वृत्तान्तं योजनीयम्। प्रजापतिना वपाहोमाय प्राणसंकट-मविगणय्य स्वात्मवपैवोद्धृता। एवमादित्यचरुप्रशंसायै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्निति। नैयायिकैस्त्वनेक-पुरुषातिशयवादित्वाद्यथाश्रुतेऽप्यर्थे प्रामाण्यं स्वीक्रियते। उत्तरमीमांसकैरपि प्रमाणान्तरासिद्धे प्रमाणान्तराविरुद्धे ऽर्थवादानां स्वार्थे यथाश्रुतेऽपि प्रामाण्यमुच्यते।

'सोऽरोदीत्०' इस अर्थवाद वाक्य की 'बर्हिहोम के अवसर पर रजत का दान नहीं करना चाहिये' इस निषेधक विधि वाक्य से एकवाक्यता है। रुद्र के रोने से निकले हुए आंसुओं से रजत की उत्पत्ति हुई है। उसका दान करने से यजमान के घर में भी सालभर के भीतर ही रोना पड़ जाता है, इसीलिये रजत का दान न कर सुवर्णादि का ही दान करना चाहिये, यह बात उक्त अर्थवाद वाक्य से निष्कर्ष के रूप में फलित होती है। इसी तरह से 'प्राजापत्य०' इत्यादि विधि वाक्य का शेषभूत 'प्रजापति०' इत्यादि अर्थवाद वाक्य है। इससे वपा होम की विशिष्टता का ज्ञान होता है। इसी तरह से 'आदित्यः०' इत्यादि विधि का अंगभूत 'देवा वै०' इत्यादि अर्थवाद वाक्य है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे आदित्य के रहते दिशा ज्ञान में भ्रम की कोई संभावना नहीं रहती, उसी तरह से आदित्य को उद्दिष्ट कर किया गया चरु भी दिशाओं के भ्रम का नाशक होता है। इस तरह से सभी स्थलों में अर्थवाद वाक्यों का विधि वाक्यों के साथ अंगांगिभाव सिद्ध होता है।

यह भी आक्षेप किया जाता है कि रुद्र के रोने से रजत की उत्पत्ति हुई और वपा के होम से तूपर की उत्पत्ति हुई, इस तरह से असत्य बातों का प्रतिपादन करने के कारण वेदों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। किन्तु यह कथन भी गलत है, क्योंकि उसका प्रतिपाद्य अर्थ सत्य ही है। यहाँ पर जैसा सुना जाता है, वह अर्थ प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि केवल वृत्तान्त के ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती, अतः इस अर्थ का कोई उपयोग नहीं है। प्ररोचना और द्वेष—ये ही प्रवृत्ति और निवृत्ति के अंग हैं, अतः स्तुति और निन्दा के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति कराना अर्थवाद वाक्यों का प्रतिपाद्य है। प्रश्न है कि इतने पर भी रुद्र के विषय में रोने की बात और खान से उत्पन्न होने वाली रजत की आँसू से उत्पत्ति एक असत्य बात है। इसका उत्तर यह है कि यह वाक्य केवल गौण अर्थ को बताता है, यथाश्रुत अर्थ में इसकी प्रवृत्ति न होने से इसमें कोई दोष नहीं है। श्वेत वर्ण आदि की समानता को देखकर उसकी निन्दा करने के लिये कहा जाता है कि रजत की उत्पत्ति रोदन से हुई है। इसी तरह से पशुयज्ञ में वपा होम की प्रशंसा में 'प्रजापति ने अपनी वपा उखाड़ कर उसको अग्नि में समर्पित कर दिया' इस कथा का विनियोग समझना चाहिये। प्रजापति ने अपने प्राणों की भी परवाह किये बिना वपा होम के लिये अपनी वपा को ही निकाल लिया। इसी तरह से आदित्यनिमित्तक चरु की प्रशंसा के लिये यह बात बताई गई है कि देवगण जब यज्ञ का अनुष्ठान करने लगे तो उनको दिशाओं का ज्ञान नहीं रहा, इसके लिये उन्होंने आदित्य चरु का हवन किया। ऐसे स्थलों में नैयायिक अनेक पुरुषों में अतिशय की कल्पना करने के पक्ष में हैं, अतः उनके मत से यथाश्रुत अर्थ में भी प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि उनके मत में सामान्य पुरुषों की अपेक्षा विशिष्ट पुरुषों में विलक्षण सामर्थ्य होती है। वे अपने सामर्थ्य से असंभव को भी संभव बना सकते हैं। उत्तर मीमांसक तो प्रमाणान्तर से असिद्ध और प्रमाणान्तर से अविरुद्ध अर्थ में अर्थवाद वाक्यों का स्वार्थ में यथाश्रुत अर्थ में भी प्रामाण्य मानते हैं।

'स्तेनं मनः' इत्यादिकं तु गौणार्थकमेव। प्रच्छन्नतया स्तेनं मन उच्यते। बाहुल्याभिप्रायेणानृतवादिनी वाक्। 'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यादिकं तु दूरभूयस्त्वाभिप्रायेण होमदेवतास्तुतये प्रोच्यते। एवं प्रवरानुमन्त्रण-प्रशंसार्थं ब्राह्मणत्वे संशय इव दर्शितः। अब्राह्मणोऽपि यजमानः प्रवरानुमन्त्रणेन ब्राह्मणः स्यादिति। 'को ह वै तद्वेद' इत्यादिकं तु 'दिक्षु अतीकाशान् करोति' इत्यतीकाशनिर्माणेन धूमादिकष्टनिवारणरूपस्य दृष्टफलस्य प्रशंसार्थं परलोक-संशीतिः प्रदर्शिता। 'शोभते मुखम्' इत्यपि विद्याप्रशंसा। शिष्यैरुद्वीक्ष्यमाणत्वात् शोभते इत्युक्तिः। 'सर्वान् कामानवा-प्नोति' इत्यपि प्रकृतापेक्षम्। एवमश्वमेधस्तुत्यर्थमश्वमेधाध्ययनस्यापि फलवचनम्। 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' इति' स्तुत्यर्थतया दिव्यन्तरिक्षे पृथिव्यां चयनं निषिद्धम्। अनुपहितहिरण्यायां पृथिव्यां नाग्निश्चेतव्य इति तु निर्गलितार्थः। 'आदित्यो यूपः' इत्यत्र तेजस्वित्वगुणयोगाद्यूपस्यादित्यरूपता प्रोच्यते। एवं तत्कार्य्यकारित्वाद्यजमानः प्रस्तर उच्यते, गौण्या वृत्त्या सिंहो देवदत्त इत्यादि लोकेऽपि व्यवहारदर्शनात्। एवमेवैन्द्र्या गार्हपत्योपस्थानम्। एवमन्येऽपि यथायथं योज्याः।

क्वचित्तु—अर्थवादेनैव कश्चिदंशः पूर्य्यते। 'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यत्राश्रूयमाणाधि-कारस्य रात्रिसत्रस्य विधेयांशोऽर्थवादादेव लभ्यते। प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमासीरन्निति वाक्यार्थः। क्वचिद्विधि-वाक्यार्थसंदेहेऽर्थवादरूपाद्वाक्यशेषान्निश्चीयते। यथा 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' इत्यत्राञ्जनद्रव्ये घृततैलवसादिभेदेन संदिह्यमाने 'तेजो वै घृतम्' इत्यर्थवादाद् घृतेनाक्ता शर्करा उपधेया इति गम्यते। एवमेव 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्

'स्तेनं मनः' इत्यादि वाक्य गौण अर्थ वाले हैं। चोर जैसे बहुत छिप कर रहता है, उसी तरह से मन भी छिपा हुआ रहता है। बाहुल्य के अभिप्राय से यह कहा जाता है कि वाणी अनृतवादिनी होती है। 'दिन में अग्नि का धूम ही दिखाई देता है' इस तरह के वचनों का अभिप्राय यह है कि दूरी और बहुतायत के आधार पर होमदेवता की स्तुति की जाय। इसी तरह से प्रवरा-नुमन्त्रण की प्रशंसा के लिये ब्राह्मणत्व में संशय सा दिखाया जाता है। यजमान यदि ब्राह्मण नहीं है, तो भी वह प्रवरानुमन्त्रण (यज्ञ की विशेष क्रिया) से ब्राह्मण जैसा हो जाता है। 'को ह वै तद्वेद' इत्यादि वाक्यों में 'दिक्षु अती०' इत्यादि वाक्यों के आधार पर अतीकाश (यज्ञ की विशेष क्रिया) के निर्माण से धूमादि से कष्ट की निवृत्तिरूप दृष्ट फल की प्रशंसा के लिये परलोक में संशय दिखाया गया है। 'इसका मुँह शोभित होता है' ऐसे स्थलों में भी विद्या की प्रशंसा की जाती है। शिष्य उसके मुँह की तरफ टकटकी लगाये देखते रहते हैं, अतः 'शोभते' यह उक्ति उचित ही है। 'पूर्णाहुति से सब कामनाओं को पा जाता है' यहाँ पर भी प्रकृत में जो उपस्थित है, उसी का ग्रहण होता है। इसी तरह से अश्वमेध याग की स्तुति के लिये अश्वमेध याग के प्रकरण के अध्ययन का भी वही फल बताया गया है। सुवर्ण को रख कर चयन करना चाहिये, इस बात को बताने के लिये स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथिवी में चयन का निषेध किया गया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि पृथिवी पर सुवर्ण को बिना रखे उस पर अग्नि चयन नहीं करना चाहिये। 'आदित्यो यूपः' इस वाक्य में तेजस्विता गुण के संपर्क के आधार पर यूप को आदित्य कहा गया है। इसी तरह से प्रस्तर का कार्य करने से यजमान में प्रस्तरत्व का आरोप किया जाता है। गौणी वृत्ति से लोक व्यवहार में भी देवदत्त सिंह है, इस तरह का प्रयोग देखा जाता है। इसी तरह से ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थापन गौणी वृत्ति से ही किया जाता है। देदीप्यमान होने के कारण अग्नि ही वहाँ इन्द्र शब्द से कही जाती है। इसी तरह से अन्य वचनों का भी यथायोग्य समाधान सर्वत्र मिल जाता है।

कहीं-कहीं अर्थवाद वाक्य से ही किसी अंश की पूर्ति कर दी जाती है। जैसे कि 'प्रतितिष्ठन्ति' इत्यादि अर्थवादों से प्रतिष्ठा के लिये किये जाने वाले राज्युपस्थान (रात्रिसत्र) का अधिकारी और उसका प्रवर्तक वाक्य कौन है, इसका निर्णय होता है। 'प्रतिष्ठा की कामना वाले व्यक्ति रात्रिसत्र का अनुष्ठान करें' इस तरह का विधि वाक्य उक्त अर्थवाद वाक्य के सहारे ही कल्पित कर लिया जाता है। कहीं पर विधि वाक्य के अर्थ में संदेह हो जाने पर उसका समाधान भी अर्थवाद के सहारे किया जाता है। जैसे कि 'अक्त (चिकनी) शर्करा को रखता है' यहाँ पर घृत, तैल अथवा चर्बी में से किस द्रव्य से चिकनी करके शर्करा (कंकरीट या बालू) को रखे, ऐसा संदेह उपस्थित होने पर 'तेजो वै घृतम्' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों के सहारे घृत से अक्त शर्करा का उपनिधान विहित

तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' इत्यत्रापि 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत् स जलोदरेण गृहीतोऽभवत्' इत्यर्थवादेन यावतोऽश्वान् प्रतिग्राहयेदित्यर्थो निर्णीयते ।

मन्त्राप्रामाण्यशङ्का

एवमेव मन्त्रा अर्थप्रकाशनद्वारेण विध्यर्थोपयुक्ता उच्चारणमात्रेण वा ? अविवक्षितार्थत्वे तु मन्त्राणामप्रतिपादकत्वलक्षणमप्रामाण्यं शङ्क्यते । यद्यर्थप्रकाशनोपकारिणो मन्त्रा भवेयुस्तदा तु सामर्थ्यादेव पुरोडाशप्रथने विनियोगो ज्ञास्यते । तथा 'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इति विनियोगो व्यर्थं एव भवेत् । साक्षः पुरुषः परेण नीयमानत्वादेवाक्षिभ्यां न पश्यतीति गम्यते । तेनोच्चारणान्मन्त्राणामदृष्टं भवति । वाक्यक्रमनियमाच्चाविवक्षितार्था मन्त्रा इति गम्यते । यद्यर्थप्रतिपादनेनोपकुर्य्युस्तदा नियतक्रमाश्रयणं व्यर्थमेव स्यात्, क्रमान्तरेणापि तदर्थावगमसंपत्तेः ।

'चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्याना-विवेश ।।' इत्यस्य मन्त्रस्य निरर्थकतैव, चतुःशृङ्गादियुक्तसत्त्वस्याप्रसिद्धेः । न चैवंविधं किञ्चिद्यज्ञसाधकं भवति । 'ओषधे त्रायस्व' इति मन्त्रेणाचेतनः प्रार्थ्यते, 'शृणोत ग्रावाणः' इति च । 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इति च विप्रतिषिद्धवर्णनम् 'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः, सृण्येव जर्फरी तुर्फरीतू, इन्द्रः सोमस्य कर्कं' इत्यादिमन्त्राणामर्थ एव न ज्ञायते । तत उच्चारणमात्रेणैव मन्त्रा उपयोगिनः ।

माना जाता है । इसी तरह से 'जितने अश्वों का ग्रहण करे उतने ही वारुण चतुष्कपालों का निर्वपन भी करे' इस विधि वाक्य में 'प्रजापति ने वरुण के लिये केवल अश्व को उपस्थित किया तो उसको जलोदर हो गया' इस अर्थवाद वाक्य के सहारे 'जितने अश्वों को वरुण की भेंट चढ़ावे' यह अर्थ किया जाता है ।

मन्त्रों के प्रामाण्य पर आक्षेप

इसी तरह से यह प्रश्न भी उठता है कि मन्त्रों का विध्यर्थ के प्रति उपयोग अर्थप्रकाशन द्वारा होता है, अथवा केवल उच्चारण मात्र से ? यदि उनमें अर्थ की विवक्षा नहीं मानी जायगी, तो किसी नये अर्थ को प्रतिपादकता के अभाव में उनका प्रामाण्य कैसे माना जा सकेगा और यदि वे अर्थ के प्रकाशन द्वारा विध्यर्थ के लिये उपयोगी है, तो अर्थ (द्रव्य-देवता इत्यादि) सामर्थ्य से ही पुरोडाश के प्रथन में विनियोग के ज्ञात हो जाने पर 'उरु प्रथस्वेति०' इस तरह के विनियोग को बताने वाले वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे । आँख वाले आदमी को यदि कोई दूसरा व्यक्ति हाथ पकड़ कर ले जा रहा है, तो इससे ज्ञात हो जायगा कि उसको आँखों से दिखाई नहीं पड़ता । इसी तरह से यहाँ भी मानना पड़ेगा कि विनियोजक वाक्यों के आधारभूत मन्त्रों के उच्चारण से ही अदृष्ट होता है, उनका कोई अर्थ नहीं होता । वेदों में वाक्य का क्रम भी नियत है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि मन्त्रों का अर्थ विवक्षित नहीं है । यदि अर्थ के प्रतिपादन द्वारा भी इनमें उपकार माना जाय, तो उस अवस्था में वाक्यविन्यास में एक निश्चित क्रम का ही उपयोग करना व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि अर्थ का ज्ञान तो क्रम की भिन्नता में भी संभव हो सकता है ।

'चत्वारि शृङ्गाः' इत्यादि मन्त्रों का क्या अर्थ हो सकता है । चार सींग, तीन पैर, दो सिर, सात हाथ वाला कोई व्यक्ति कहीं प्रसिद्ध नहीं है । इस तरह की कोई वस्तु यज्ञ की साधक नहीं हो सकती । 'ओषधे त्रायस्व' (हे औषधियों, मेरी रक्षा करो) 'शृणोत ग्रावाणः' (पत्थरों सुनो) इत्यादि स्थलों में अचेतन ओषधी और पत्थर की प्रार्थना की जाती है । 'अदिति ही स्वर्ग और अन्तरिक्ष है' यह वर्णन परस्पर विरोधी है । 'सृण्येव जर्फरी तुर्फरीतू', 'इन्द्रः सोमस्य कर्कः' इत्यादि मन्त्रों का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता । इसलिये यही मानना उचित है कि मन्त्रों का उपयोग केवल उनके उच्चारण में है, उनके अर्थ के ज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं है ।

अत्रापि ऋषिभिः समाहितमेव। तथाहि—शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिसंस्कृतमतीनां 'वर्हिर्देवसदनं दामि' इति-मन्त्रश्रवणे तदर्थप्रतीतिर्भवत्येव। व्युत्पत्तिरपि न नास्ति, य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिका त एव तेषामर्था इत्यभ्युपगमात्। न तथाप्यविवक्षितार्था मन्त्राः ग्रहैकत्ववदिति युक्तम्। अविवक्षाहेत्वभावात्, तत्र तु वचनान्तर-विज्ञातसंख्यत्वात्, सोमावसेकनिर्वहणस्य सम्मार्गकार्य्यस्य सर्वग्रहसाधारणत्वात्, 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' इत्यत्र विभक्तेः कर्मकारकसमर्पणमात्रेणापि चरितार्थत्वाद् युक्तमेकत्वस्याविवक्षणम्। 'वर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादौ तु क्रतूपयोगिद्रव्यादि-प्रकाशनम्। विध्यपेक्षितत्वान्मन्त्रेण स्मृतं कर्म करोति। तथा क्रियमाणमभ्युदयकारीति कुतोऽविवक्षितार्थता?

'पावमानीं जपेत्' इति जपविधानादेव पवमानीमन्त्राणां जपार्थता। तत्रापि तज्जपस्तदर्थभावनन्यायेन भावनायामर्थज्ञानोपयोगः। यदपि तदर्थविनियोगादविवक्षितार्थतोक्तेति तदपि तुच्छम्, तथात्वेऽपि मन्त्रात् प्रतीय-मानस्यार्थस्य त्यागायोगात्।

श्रुत्यभावे सत्येव लैङ्गिको विनियोग आद्रियते। मन्त्रैरेव द्रव्यदेवते स्मर्तव्ये इति नियमसार्थक्यार्थञ्च मन्त्रा अविवक्षितार्थाः। 'यज्ञपतिमेव तत्प्रथयति तद्यज्ञपतिं यजमानमेव प्रजया पशुभिः प्रथयति' इति। क्वचित्तु गुणार्थ-विधानम्। यथा 'तां चतुर्भिरादत्ते'। एवमेव वेदानामनादित्वान्नियतक्रमानुल्लङ्घनम्। नैयायिकरीत्याऽपि परमेश्वरप्रणीते वेदे नाध्येतॄणामन्यथाकरणे सामर्थ्यम्।

इन सब शंकाओं का समाधान भी ऋषियों ने किया है। जैसे कि शब्द, अर्थ और उनके संबन्ध की व्युत्पत्ति को जानने वाले व्यक्ति को 'बर्हिर्देवसदन' इत्यादि मन्त्रों को सुनने पर उनके अर्थ का ज्ञान हो ही जाता है। व्युत्पत्ति न हो सकती हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह माना गया है कि जो लौकिक शब्द हैं, वे ही वैदिक शब्द भी हैं और वे ही उनके अर्थ भी हैं। इस परिस्थिति में ग्रह पात्र के एकत्व की तरह मन्त्रों का अर्थ भी अविवक्षित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ पर अर्थ की अविवक्षा का कोई हेतु नहीं दिखाई पड़ता। ग्रह पात्र के प्रकरण में तो वचनान्तर से बहुत्व संख्या प्राप्त है, क्योंकि संमार्जन रूप कार्य सभी ग्रह नामक पात्रों में सामान्यतः प्राप्त है। अतः 'ग्रहं संमार्ष्टि' यह वाक्य विभक्ति अर्थात् कर्म कारक को बताने मात्र से ही चरितार्थ हो सकता है, ऐसी अवस्था में यहाँ पर एकत्व की अविवक्षा उचित हो मानी जायगी। 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादि स्थलों में यज्ञ के उपयोगी बर्हि आदि द्रव्यों का प्रकाशन मन्त्र के द्वारा होता है। विधि के लिए यह आवश्यक है कि मन्त्रों के उच्चारण के द्वारा वस्तु का स्मरण करके ही किसी कर्म को पूरा करे। ऐसा करने पर ही वह अभ्युदयकारी होगा। ऐसी स्थिति में मन्त्रों के अर्थ की अविवक्षा कैसे मान्य हो सकती है?

'पावमानीं जपेत्' इस वाक्य से जप का विधान होने से ही पावमानी मन्त्रों का जप में विनियोग होता है। यहां पर भी 'मन्त्र के जप के साथ उसके अर्थ की भावना भी की जाय' इस योगसूत्र के अनुसार भावना के लिए अर्थज्ञान का उपयोग ठीक ही है। अर्थ के विनियोजक अन्य वाक्यों को देखकर मन्त्रों में अर्थ विवक्षित नहीं है, ऐसा कहना गलत है, क्योंकि उस अवस्था में भी मन्त्र से जो अर्थ प्रतीत होता है, उसको छोड़ा नहीं जा सकता।

श्रुति वाक्य के अभाव में ही लिङ्ग रूप प्रमाण से विनियोग माना जाता है। मन्त्रों का अर्थ विवक्षित है, ऐसा मानने पर ही 'यज्ञ में द्रव्य और देवता का मन्त्रों से ही स्मरण करना चाहिये' यह नियम सार्थक होगा। 'यज्ञपतिं प्रथयति' इस मन्त्र का अर्थ ब्राह्मण में इस प्रकार किया गया है कि वह यज्ञपति अर्थात् यजमान को प्रजा और पशुओं से समृद्ध कर देता है। 'तां चतुर्भिरादत्ते' इत्यादि स्थलों में गौणार्थ का भी विधान मिलता है। वेदों की नियत आनुपूर्वी का उल्लंघन इसलिए नहीं किया जाता कि वे अनादि काल से जिस तरह से चले आ रहे हैं, उस आनुपूर्वी की रक्षा करना है। नैयायिकों के मत से भी परमेश्वर प्रणीत वेद में अध्येताओं को उसकी आनुपूर्वी को बदल देने का कोई अधिकार नहीं है।

'चत्वारि शृङ्गाः' इत्यत्र तु गुणवादेन यज्ञस्य संस्तवः। कामान् वर्षतीति वृषभो यज्ञः। स्तोत्रशस्त्रप्रयोग-वाहुल्याद्रोरवीति शब्दायमानो महोदेवो मर्त्यानाविवेश मनुष्यकर्तृकत्वेन यज्ञः स्तूयते स्तुतो भवति। चत्वारो वेदाः शृङ्गाः, त्रीणि सवनानि त्रयः पादाः, दम्पती यजमानौ द्वे शीर्षे, सप्तच्छन्दांसि सप्तहस्तासः, मन्त्रब्राह्मणकल्पैस्त्रिधा वद्धो वृषभो यज्ञो भवति। 'ओषधे त्रायस्व' इति स्तुत्यर्थं चेतनावत्प्रयोगः। प्रातरनुवाकस्तुतये 'शृणोत ग्रावाणः' इति मन्त्रे इत्थं नामैष प्रातरनुवाकः यशस्यो यदचेतना ग्रावाणोऽपि शृणुयुः। अदितिर्द्यौरित्यपि गुणवादः, यथा लोके 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादिकम्। एवमर्थानवगमोऽपि प्रमादमूलक एव, नात्र मन्त्रापराधः। यद्यपि क्वचिदंशे लौकिकवैदिक-शब्दयोः संस्कारभेदेन भेदो भवति, तथाप्यैक्यं प्रत्यभिज्ञायत एव।

लोकप्रसिद्धिविप्रतिषेधे शास्त्रवित्प्रसिद्धिराद्रियते। यथा—यवमयश्चरुर्वाराही उपानहौ वैतसे कटे प्राजापत्यांश्चिनोतीति यव-वराह-वेतसशब्दा दीर्घशूक-शूकर-वञ्जुलकेषु शिष्टप्रसिद्धा नियम्यन्ते, न प्रियङ्गु-काक-जम्बूषु। यत्र तु शिष्टप्रसिद्धिर्नास्ति तत्र म्लेच्छप्रसिद्धेरपि शब्दव्युत्पत्तिराश्रीयते। यथा पिक-नेम-तामरसशब्देषु। यत्र म्लेच्छप्रसिद्धिरपि नास्ति, तत्र निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पनीयः। तेनाश्विनसूक्तप्रक्रमाज्जरण-मरणनिमित्तौ 'जर्फरी तुर्फरीतू' इति द्विवचनान्तरूपौ शब्दावश्विनोर्वाचकौ। एवमन्येऽपि मन्त्राः शिष्टैर्व्याख्याता एव।

एवमेव नामधेयाश्रयेणाप्याक्षेपः। तथाहि—'उद्भिदा यजेत', 'चित्रया यजेत पशुकामः', 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः', 'श्येनेनाभिचरन् यजेत्', 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'। किमेते गुणविधयः, कर्मनामधेयानि वा ?

'चत्वारि शृङ्गाः' इस श्रुति में गुणवाद के आधार पर यज्ञ की स्तुति की गई है। यह मनोवांछित कामनाओं की वर्षा करता है, अतः यज्ञ को भी यहाँ पर वृषभ शब्द से कहा गया है। इसमें स्तोत्र और शस्त्रों को बार-बार बोला जाता है, इसलिये शब्दायमान यह महान् देव (यज्ञ) मनुष्यों के द्वारा संस्तुत होता है। अर्थात् वृषभ जैसे खूब जोर-जोर से शब्द करता है, वैसे ही यज्ञ में भी स्तोत्रों और शस्त्रों का शब्द होता रहता है। चार वेद ही इस यज्ञ रूपी वृषभ के चार सींग हैं, तीन सवन (प्रातः, माध्यन्दिन और सायं सवन) इसके तीन पैर हैं, यजमान दम्पती (पति-पत्नी) इसके दो शिर हैं, सात छन्द सात हाथ हैं, यह कामनाओं की वर्षा करने वाला वृषभ यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण और कल्पसूत्र रूपी तीन साधनों से बाँधा जाता है, संपन्न किया जाता है। 'ओषधे त्रायस्व' यहाँ पर ओषधी की स्तुति के लिए उसमें चेतनता का आरोप करके प्रयोग किया गया है। 'शृणोत ग्रावाणः' यहाँ पर प्रातरनुवाक की स्तुति अभिप्रेत है। यह प्रातरनुवाक इतना प्रशस्य है कि अचेतन पत्थर भी इसको सुनते हैं। 'अदितिर्द्यौ' इत्यादि वाक्य भी गुणवाद के ही बोधक हैं, जैसे कि लोक में भगवान् के प्रति कहा जाता है कि 'तुम्हीं मेरी माता हो तुम्हीं मेरे पिता हो' गीता का यह श्लोक लोक में प्रसिद्ध है, ऐसे ही अदिति को भी सब कुछ बताना युक्तिसंगत ही है। किसी को किसी मन्त्र के अर्थ का बोध नहीं होता, तो इसमें उसका प्रमाद ही कारण है, इसमें मन्त्र का कोई अपराध नहीं। यद्यपि कहीं-कहीं लौकिक एवं वैदिक शब्दों में संस्कार के भेद के आधार पर भेद होता है, किन्तु उनकी एकता की प्रत्यभिज्ञा (निश्चय) भी साथ में हो ही जाती है।

लोक प्रसिद्धि से विरोध होने पर शास्त्रज्ञों की प्रसिद्धि का आदर किया जाता है। जैसे कि 'यवमय०' इत्यादि वाक्य में यव, वराह और वेतस शब्दों का शिष्ट प्रसिद्ध दीर्घशूक, शूकर और वञ्जुल (वेंत) क्रमशः इन अर्थों में नियमन होता है, लोक प्रसिद्ध प्रियङ्गु, काक और जम्बू—इन अर्थों में नहीं। जहाँ पर शिष्ट प्रसिद्धि भी नहीं मिलती, वहाँ पर म्लेच्छ-प्रसिद्धि से भी शब्द व्युत्पत्ति स्वीकार की जाती है। जैसा कि पिक, नेम, तामरस प्रभृति शब्दों के विषय में म्लेच्छ प्रसिद्धि के अनुसार ही इनका अर्थ स्वीकार किया गया है। जहाँ पर म्लेच्छ प्रसिद्धि भी नहीं है, ऐसे स्थानों में निगम, निरुक्त, व्याकरण के आधार पर धातु से अर्थ की परिकल्पना की जाती है। इसी पद्धति से विचार करने पर आश्विन सूक्त के प्रसंग में आये मन्त्र में विद्यमान 'जर्फरी (गन्तारौ) तुर्फरीतू(हन्तारौ)' ये द्विवचनान्त शब्द भी जरण-मरण के निमित्त देवतायुगल अश्विनीकुमारों के वाचक हैं। इसी पद्धति से शिष्ट जनों ने अन्य मन्त्रों की भी व्याख्या की है।

इसी प्रकार यज्ञों के नाम को लेकर भी आक्षेप किया जाता है। जैसे कि 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि वाक्यों में उद्भिद्, चित्रा, अग्निहोत्र, श्येन, वाजपेय प्रभृति शब्द गुणविधि के वाचक हैं, या ये किसी कर्म (यज्ञ) के नाम हैं? यहाँ पर संज्ञा और संज्ञी

नात्र संज्ञासंज्ञिसम्बन्धो विधीयते। योगेन केनचित् प्रवर्तमानं नामधेयमवगम्यते। उद्भेदनमनेन पशूनां क्रियते इत्युद्भिदिति। दधिमधुघृतधाना उदकं तत्संसृष्टं प्राजापत्यमिति नानाविधविचित्रद्रव्यसाध्यत्वाच्चित्रा। अग्नये होत्रमस्मिन्निति अग्निहोत्रम्। 'यथैव श्येनो निपत्यादत्ते एवमनेन द्विषन्तं भ्रातृव्यमादत्ते' इत्यर्थवादात् श्येनो यागः। वाजमन्नं पीयतेऽस्मिन्निति वाजपेयो यागः।

यदप्युच्यते—काम्यमानः स्वर्गः कथं क्रियया सम्बद्धचते ? यदि हि चन्दनं स्वर्गः षोडशवर्षा अङ्गना वा ? चन्दनाङ्गनादिद्रव्यसामानाधिकरण्यप्रयोगाद् द्रव्यबोधकः स्वर्गशब्दः। द्रव्याणां कर्मसम्बन्धे गुणत्वेनाभिसम्बन्ध इति दध्यादिवत् साधनत्वेन स्वर्गं उपकरोति क्रियाम्। कामनापि द्रव्याहरणाङ्गत्वात्तदुपकारिणी। यत्तया द्रव्यमानेतुं यतत इति दृष्टोपकारित्वम्, तदपि न समञ्जसम्, स्वर्गशब्दस्य द्रव्यवाचित्वाभावेन प्रीतिवचनत्वात्। तदेव चन्दनं शीतातुरेण न स्वर्गः, ग्रीष्मोपहतेन स्वर्ग इति व्यपदिश्यते, सैवाङ्गना सुरतार्थिना स्वर्गः, विरतायां तत्तृषि न स्वर्गं उच्यते। तदेवमेष स्वर्गशब्दः प्रीतिं न व्यभिचरति, द्रव्यं तु व्यभिचरति। एवमद्रव्यत्वात् स्वर्गस्य न क्रियाङ्गत्वम्, तथापि निरतिशयसुखप्रतीत्यन्यथानुपपत्तितः परिकल्पितः कनकगिरिशिखरादिर्देशः स्वर्गः। सुतरां तस्य न क्रियासाधनत्वमवकल्प्यते, दध्यादिवद् उपादातुमशक्यत्वात्।

'समुद्रं मनो ध्यायेत्' इत्यदृष्टद्वारापि स्वर्गकामनोपकारिणी, इत्यपि क्लिष्टकल्पनमेव, प्रीतिर्हि निरतिशयः स्वर्गः। प्रीतेश्च नान्यार्थत्वं युक्तम्। प्रीत्यर्थमन्यन्नान्यार्था प्रीतिः। तस्मान्न यागाय स्वर्गः, किन्तु स्वर्गाय

के संबन्ध का विधान नहीं है। यौगिक व्युत्पत्ति के आधार पर यह ज्ञात होता है कि ये शब्द कर्म के नाम के बोधक हैं। उद्भिद् याग से पशुओं का उद्भेदन किया जाता है। प्राजापत्य हवि के दधि, मधु, घृत, धाना और जल के संमिश्रण से तैयार होने से नाना प्रकार के द्रव्यों से बनने वाली यह हवि विचित्र है, अतः उस हवि से होने वाले यज्ञ का 'चित्रा' नाम भी ठीक ही है। अग्निहोत्र में अग्नि के लिए हवन किया जाता है। 'जैसे बाज पक्षी झपट्टा मारकर अपने शिकार को पकड़ लेता है, उसी तरह से श्येन याग की सहायता से यजमान भी अपने विरोधी शत्रु को धर दबोचता है' इस अर्थवाद वाक्य के सहारे 'श्येन' यह याग का नाम सिद्ध होता है। याग का नाम वाजपेय इसलिए है कि इसमें वाज अर्थात् अन्न का पान किया जाता है।

पुनः शंका उठाई जाती है कि 'स्वर्ग तो काम्यमान है, इसका क्रिया से संबन्ध कैसे होता है? चन्दन ही स्वर्ग है अथवा षोडशी रमणी ही स्वर्ग है? चन्दन, अंगना प्रभृति द्रव्यों के साथ ही सदा स्वर्ग जुड़ा हुआ है, अतः यह द्रव्यवाचक शब्द है? द्रव्यों का कर्म में संबन्ध गुण के आधार पर होता है, अतः दही आदि द्रव्यों की तरह क्रियाएं भी स्वर्ग के साधन में उपयोगी होंगी। कामना भी द्रव्य के लाने में अंग होने के कारण उसकी उपकारक है, क्योंकि कामना से ही द्रव्य लाने का प्रयत्न करता है। इस तरह से स्वर्ग की इष्टोपकारिता ही मानी जायगी, अदृष्टोपकारिता नहीं।' किन्तु यह शंका भी सही नहीं है। स्वर्ग शब्द द्रव्यवाची न होकर प्रीति का बोधक है। एक ही चन्दन शीतातुर के लिये स्वर्ग नहीं है और जो गर्मी से व्याकुल है, उसके लिये स्वर्ग है। एक ही स्त्री रति की कामना वाले के लिये स्वर्ग और स्पृहारहित व्यक्ति के लिये स्वर्ग नहीं है। इस तरह से यह स्वर्ग शब्द प्रीति से कभी व्यभिचरित नहीं होता, द्रव्य से इसका व्यभिचार होता रहता है। द्रव्य न होने से ही स्वर्ग किसी क्रिया का अंग नहीं हो सकता, तो भी निरतिशय सुख प्रतीति की अन्यथा उत्पत्ति न होगी, इसलिये सुमेरु पर्वत के शिखर आदि स्थानों में स्वर्ग की कल्पना करते हैं। इसकी क्रिया साधनता किसी भी तरह से कल्पित नहीं की जा सकती, क्योंकि दधि प्रभृति द्रव्यों की तरह इसका उपादान (ग्रहण) संभव नहीं।

'समुद्रं मनो ध्यायेत्' मन को ही समुद्र समझकर ध्यान करे, इत्यादि स्थलों में स्वर्ग की कामना अदृष्ट के द्वारा उपकारक होगी, यह भी एक क्लिष्ट कल्पना है। निरतिशय प्रीति ही स्वर्ग है। इस प्रीति का अन्य कोई प्रयोजन हो नहीं सकता। प्रीति के लिये ही अन्य सब कुछ है, प्रीति किसी अन्य के लिये नहीं है। इसलिये याग के लिये स्वर्ग नहीं है, किन्तु स्वर्ग के लिये

याग इत्येव युक्तम्। तथा च क्रियासाधनानुपदेशान्न कर्तृसमर्पणेन स्वर्गकामपदं समन्वेति। कथं तर्ह्यस्यान्वयः? अधिकारिवाचित्वेनेति।

न च प्रत्यक्षं प्रबलम्, किन्तु निश्चितप्रामाण्यमेव तत्तथा। न चागमविरोधे सति प्रामाण्यं निश्चितम्, आगमविरोधादनुमानविरोधाच्च, भाविबाधाभावानिर्णयाच्च। ननु प्रत्यक्षमेव प्रबलमनुमानागमबाधकम्। नानुमानागमौ तद्बाधकौ। प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तद्विरोधाभावेन तयोः प्रामाण्यं तयोः प्रामाण्ये च तद्विरोधात् प्रत्यक्षाप्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयात्। नहि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्येऽप्येवमन्योन्याश्रयस्तस्यानपेक्षत्वादिति चेन्न, चन्द्रतारकादिपरिमाणप्रत्यक्षेऽनुमानागमविरोधेन तस्याप्रामाण्यदर्शनात्। ततश्च प्रत्यक्षेणाऽपि स्वप्रामाण्येतराविरोधस्यापेक्षणीयत्वात्। ततश्चात्राप्यन्योन्याश्रयस्तुल्य एव। परस्परविरोधेन प्रामाण्यसन्देहे सत्यनाप्ताप्रणीतत्वादिना प्रमाजनकत्वव्याप्तेर्वेदप्रामाण्यनिश्चये जाते तेन स्वतः संभावितदोषस्य प्रत्यक्षस्य बाधान्न वैदिकमतेऽन्योन्याश्रयः। अन्यथा देहात्मैक्यप्रत्यक्षबुद्ध्या बाधाद्देहभिन्नत्वमप्यात्मनो नानुमानागमाभ्यां सिद्ध्येत्।

ननु चानुमानागमापेक्षया प्रत्यक्षस्य जात्यैव प्राबल्यम्। तत एवौष्ण्यप्रत्यक्षेण वह्निशैत्यानुमितिप्रतिबन्धः। न चोपजीव्यत्वनिबन्धनं तत्र प्रत्यक्षस्य बाधकत्वम्, धर्म्यादिश्चक्षुषैव सिद्धेस्त्वचोऽनुपजीव्यत्वात्। किञ्च, अनुमाद्यगृहीतरेखोपरेखादिग्राहकत्वादनुमाद्यनुवर्तितदिङ्मोहादिनिवर्तकत्वाच्च प्रत्यक्षस्यैव प्राबल्यमिति चेन्न,

याग है, यही उचित पक्ष है। इस तरह से क्रिया के साधन का उपदेश न होने से कर्ता के समर्पण द्वारा स्वर्गकाम पद का अन्वय नहीं होता। तब इसका अन्वय किस तरह से होगा? इस तरह से होगा कि स्वर्गकाम पद अधिकारी व्यक्ति का बोधक है।

अन्य प्रमाणों की अपेक्षा सर्वत्र प्रत्यक्ष प्रबल नहीं है, किन्तु जिस प्रत्यक्ष का प्रामाण्य निश्चित है, वही दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल होता है। आगम प्रमाण से विरोध होने पर तो प्रत्यक्ष का प्रामाण्य निश्चित नहीं होता, क्योंकि आगम और अनुमान दोनों से उसका विरोध पड़ता है, साथ ही इसका भी कोई निश्चय नहीं हो पाता कि आगे कोई बाधक प्रमाण नहीं आ उपस्थित होगा। प्रश्न है कि 'प्रत्यक्ष ही प्रबल है। इससे अनुमान और आगम का ही बाध होगा। अनुमान और आगम प्रत्यक्ष प्रमाण के बाधक कभी नहीं हो सकते। प्रत्यक्ष के अप्रमाण होने पर उससे विरोधाभाव के कारण अनुमान और आगम का प्रामाण्य होगा और अनुमान तथा आमग के प्रमाण होने पर इनसे विरोध के कारण प्रत्यक्ष अप्रमाण होगा, इस तरह से यहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष भी उपस्थित होगा। प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने पर इस अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रत्यक्ष का प्रामाण्य तो दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं रखता।' इस शंका का उत्तर यह है कि चन्द्रमा, तारे आदि का जो परिमाण प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात होता है, वह अनुमान और आगम प्रमाण से ज्ञात उनके परिमाण के विरुद्ध है। ऐसे स्थलों से प्रत्यक्ष का अप्रामाण्य स्पष्ट है। अतः प्रत्यक्ष को ही अपने प्रामाण्य के लिये दूसरे प्रमाणों से अविरोध की अपेक्षा रहती है। ऐसी अवस्था में अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति यहाँ पर भी होगी। प्रमाण में परस्पर विरोध होने पर उनका प्रामाण्य संदिग्ध हो उठता है। ऐसी अवस्था में वेद के विषय में, अनाप्त व्यक्ति की यह कृति नहीं है, इतने मात्र से उसकी प्रमाजनकता के साथ प्राप्ति बन जाने पर प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। इस निश्चय ज्ञान के आधार पर, स्वतः जिसमें दोष की उद्भावना होती रहती है, ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रामाण्य का बाध हो जाने से वैदिक मत में उक्त अन्योन्याश्रय दोष नहीं रह पाता। अन्यथा प्रत्यक्ष के द्वारा देह और आत्मा की एकता की प्रतीति के आधार पर इनके भेद की प्रतीति के बाध के कारण अभाव और अनुमान से देह और आत्मा की भिन्नता न सिद्ध हो सकेगी।

पुनः प्रश्न होता है कि 'अनुमान और आगम की अपेक्षा प्रत्यक्ष का स्वभावतः प्राबल्य रहता है। इसलिये उष्णता की प्रत्यक्ष प्रतीति के आधार पर वह्नि की शीतलता का अनुमान बाधित हो जाता है। अन्य प्रमाणों का उपजीव्य होने से प्रत्यक्ष वहाँ बाधक नहीं होता, क्योंकि धर्मों की सिद्धि जब चक्षु इन्द्रिय से ही हो जायगी, तब त्वगिन्द्रिय उसकी उपजीव्य नहीं हो सकती। अपि च, अनुमान आदि से अगृहीत रेखा, उपरेखा आदि का ग्राहक होने से और अनुमानादि से न निवृत्त होने वाले दिङ्मोह प्रभृति का निवर्तक होने से प्रत्यक्ष ही प्रबल होता है।' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि त्वाच प्रत्यक्ष (त्वगिन्द्रिय से होने वाला स्पर्श का

त्वाचप्रत्यक्षस्याप्युपजीव्यत्वेन शैत्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वसंभवात् । चक्षुरादिना धर्मिग्रहेऽपि त्वचं विना साध्यप्रसिद्धेरसंभवात् । तथा च न प्रत्यक्षस्य जात्या प्राबल्ये किमपि मानम् ।

तदगृहीतग्राहित्वमपि न प्राबल्ये हेतुः, प्रत्यक्षाद्यगृहीतधर्मादिग्राहकत्वेन परोक्षप्रमाणस्यैव प्राबल्यापत्तेः । न वानुमानाद्यनुवर्तितदिङ्मोहादिनिवर्तकत्वेन प्राबल्यम्, तावता वैधर्म्यमात्रसिद्धेः । न च तावतेतरप्रमाणापेक्षया प्राबल्यम् । अन्यथा त्वाचप्रत्यक्षानिवर्तितवंशोरगभ्रमनिवर्तकत्वाच्चक्षुषोऽपि त्वगपेक्षया प्राबल्यं स्यात् । ततश्च चित्रनिम्नोन्नतज्ञानस्य चाक्षुषस्य तद्विरोधित्वाचज्ञानाद् बाधो न स्यात् । आगमस्य सर्वतः प्राबल्ये स्मृतिरपि—'प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु स्मृतम्' इति । 'तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव । न तलं विद्यते व्योम्नि न खद्योतो हुताशनः ।। तस्मात्प्रत्यक्षदृष्टेऽपि युक्तमर्थे परीक्षितुम् । परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न धर्मात्परिहीयते ।।' इति नारदस्मृतौ प्रत्यक्षदृष्टस्यापि प्रत्यक्षमविश्वस्य प्रमाणोपदेशादिभिः परीक्षणीयत्वोक्तेः ।

न च नभसो नैल्यप्रत्यक्षं नभसः शब्दैकगुणत्वप्रतिपादकमागममन्तरा प्रत्यक्षेणापवदितुं शक्यम् । न च नभसि समीपे नैल्यानुपलम्भाद् दूरे तद्धीर्दूरत्वादिदोषजन्येति निश्चयेन तद्बाध इति वाच्यम्, दूरे नैल्यदर्शनेन समीपे तदनुपलम्भस्तुहिनावगुण्ठनानुपलम्भवत्सामीप्यदोषजन्य इत्यस्यापि संभवात्, अनुभवबलान्नभोनैल्यमव्याप्यवृत्तीत्युपपत्तेश्च । न च दूरस्थस्य पुंसो यत्र भूसन्निहिते वियत्प्रदेशे नैल्यधीस्तत्रैव गतस्य नैल्यबुद्धेरभावप्रत्यक्षेण बाध इति

प्रत्यक्ष ज्ञान) की भी उपजीव्यता के आधार पर उससे शैत्यानुमिति की प्रतिबन्धकता हो सकती है । चक्षुरादि इन्द्रियों से धर्मों का ग्रहण होने पर भी त्वगिन्द्रिय के बिना उष्णता की सिद्धि नहीं हो सकती । इस तरह से प्रत्यक्ष की स्वभावतः प्रबलता में कोई प्रमाण नहीं है ।

प्रत्यक्ष की अगृहीतग्राहिता (अज्ञात-ज्ञापकता) भी उसके प्राबल्य में कारण नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्षादि से अगृहीत धर्मादि के ग्राहक होने से परोक्ष (शास्त्र आदि) प्रमाण ही इस तरह से प्रबल हो जायगा । अनुमानादि से निवृत्त न होने वाले दिङ्मोहादि की निवर्तकता के कारण भी प्रत्यक्ष की प्रबलता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि इससे वैधर्म्य (धर्मभेद) मात्र की सिद्धि होती है । केवल इतने से ही इतर प्रमाण की अपेक्षा यह प्रबल नहीं माना जा सकता । अन्यथा त्वाच प्रत्यक्ष से निवृत्त न होने वाले बांस के दण्ड में उत्पन्न हुए सर्प के भ्रम को दूर कर देने के कारण त्वगिन्द्रिय की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय का भी प्राबल्य स्वीकार करना पड़ेगा । तब चाक्षुष चित्र ज्ञान, निम्नोन्नत ज्ञान आदि का इनके विरोधी ज्ञानों से बाध नहीं होगा । आगम सभी प्रमाणों में प्रबल होता है, यह बात स्मृति से भी सिद्ध होती है—'प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनों में स्वभावतः आगम ही प्रबल होता है' । 'आकाश चिपटा मालूम होता है और जुगनू आग की तरह चमकता है । वास्तव में आकाश में तल की सत्ता नहीं है और न जुगनू ही आग है । इस लिये प्रत्यक्ष दृष्ट अर्थ की भी परीक्षा करनी चाहिये । परीक्षा करके वस्तुओं का स्वरूप निरूपण करने वाला व्यक्ति धर्म से कभी परिच्युत नहीं होता' । इस प्रकार नारद स्मृति में प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु के प्रत्यक्ष पर भी विश्वास न कर अन्य प्रमाण, अर्थात् उपदेश प्रभृति से उसकी परीक्षा करने को कहा गया है ।

आकाश में प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत हो रही नीलिमा का बाध किसी दूसरे प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, जब तक कि आगम प्रमाण से यह ज्ञात न हो जाय कि शब्द के सिवाय आकाश में कोई अन्य गुण की सत्ता नहीं है । आकाश के समीप रहने पर उसमें नीलिमा की प्रतीति नहीं होती और दूर होने पर उसकी प्रतीति होती है । अतः यह गलत प्रतीति दूरत्व प्रभृति दोषों के कारण होती है, ऐसा निश्चय होने पर उसका बाध हो जायगा, इस कथन के विरोध में हम यह भी कह सकते हैं कि आकाश में दूर से नीलिमा दिखाई पड़ती है, वही सही है । इसके विपरीत पास में नीलिमा इसलिये नहीं दिखाई पड़ती कि बर्फ की चादर से वह छिप जाती है । अनुभव के बल से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि आकाश की नीलिमा, उसका अव्याप्य वृत्ति (सर्वत्र न रहने वाला) गुण है, अतः कहीं उसकी उपलब्धि होती है और कहीं नहीं । दूर देश स्थित पुरुष को जिस भू-प्रदेश से संनिहित आकाश में नीलिमा की प्रतीति होती है, वहाँ जाने पर नीलिमा के अभाव को देखकर उसका बाध प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जायगा, यह कथन भी गलत है, क्योंकि वहाँ पर यह भी

वाच्यम्, उपरिस्थितस्यैव नैल्यस्याभ्रनक्षत्रादेरिव दूरत्वदोषाद्भूमन्निधानावभास इत्यस्याप्युपपत्तेः। पृथिव्यादिसंकीर्णतया प्रतीयमानानां गन्धादीनाम् 'उपलभ्याप्सु चेद् गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणाः। पृथिव्यामेव तद्विद्यादपो वायुञ्च संश्रितम्।।' इत्यादिभिरागमैरेव व्यवस्थाया वक्तव्यत्वेन प्रत्यक्षादागमप्राबल्यस्य निर्विशङ्कत्वात्।

सूतसंहितायामपि—'अतीन्द्रियार्थविज्ञाने मानं नः श्रुतिरेव हि। श्रुत्यैकगम्ये सूक्ष्मार्थे स तर्कः किं करिष्यति।। श्रुतिः सनातनी शंभोरभिव्यक्ता न संशयः। शंकरेण प्रणीतेयमित्याहुरपरे जनाः। अभिव्यक्तिमपेक्ष्यैव प्रणीतेत्युच्यते शिवः।।' इति।

वस्तुतो मानान्तराविषयत्वेन मानान्तरस्यागमबाध्यत्वं न युक्तम्, किन्तु यत्र हि द्वयोर्मानयोः प्रसक्तं तत्र तयोर्बाध्यबाधकभावः। अत एव 'क्वचित्प्रत्यक्षतः प्राप्तमनुमानागमबाधितम्' इत्यपरीक्षितप्रामाण्यप्रत्यक्षविषयम्। स्वविषयशूराणि प्रमाणानि। 'एतद्धि मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुस्तस्मादाचक्षाणमाहुरद्रागिति। स यद्यदर्शमित्याह तस्मा एव श्रद्दधति' इत्यैतरेयके, 'द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति। य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्धधति' इति च वाजसनेयके चक्षुरादीनां बलवत्त्वमुक्तम्, तदपि परीक्षितप्रामाण्यकचक्षुरादीनां मानान्तरादपरीक्षित-प्रामाण्यकाद् बलवत्त्वमिति ज्ञातव्यम्।

यदप्युक्तम्—प्रत्यक्षस्यासञ्जातविरोधित्वादुपक्रमन्यायेन प्राबल्यम्। यथा 'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेदस्तस्मादित्युपक्रमस्य ऋग्वेदादिपदानुसारेण 'उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्नेति'

माना जा सकता है कि वास्तव में आकाश की नीलिमा भी मेघ, नक्षत्र आदि की तरह ऊपर ही रहती है, किन्तु दूरत्व दोष के कारण वह पृथ्वी से लगी हुई सी प्रतीत होती है। पृथिवी प्रभृति पदार्थों में संकीर्णतया प्रतीयमान गन्धादि गुणों के विषय में—'जल में गन्ध की उपलब्धि होने पर कोई नासमझ व्यक्ति यह समझे कि पृथिवी की तरह वह जल और वायु में भी रहता है' इत्यादि प्रतिपादन द्वारा आगम ही इस विषय को व्यवस्थित कर सकते हैं, अतः प्रत्यक्ष से आगम प्रमाण की प्रबलता में कोई सन्देह अथवा शंका नहीं रह जाती।

सूतसंहिता में भी प्रतिपादित किया गया है कि—'अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने में एकमात्र श्रुति (वेद) ही प्रमाण है। सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान एकमात्र श्रुति के सहारे ही हो सकता है। इसमें तर्क क्या सहायता कर सकता है? यह सनातन श्रुति शिव से आविर्भूत हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसका शंकर ने प्रणयन किया ऐसा कुछ लोगों का कथन है। यहाँ पर शिव से जो शास्त्र का प्राकट्य हुआ उसी को शिव ने प्रणीत किया, ऐसा कह दिया जाता है।'

वस्तुतः अन्य प्रमाण का विषय न होने से ही अन्य प्रमाणों का वेद शास्त्र से बाध होता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं, किन्तु कहना यह चाहिये कि जहाँ एक ही विषय में दो प्रमाणों का प्रसंग प्राप्त है, वहीं पर उनका बाध्यबाधक भाव भी माना जा सकता है। अत एव कहीं-कहीं प्रत्यक्ष से अनुमान और आगम के बाध का प्रसंग होता है, किन्तु यह बात भी प्रत्यक्ष के प्रमाण की परीक्षा न होने के कारण है। प्रत्येक प्रमाण अपने विषय में प्रबल होता है। 'मनुष्यों में सत्य को प्रतिष्ठा चक्षु के रूप में होती है। इसी लिये बात की सचाई के लिये कहा जाता है कि इसने स्वयं देखा है। जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि मैंने स्वयं देखा है, तभी उसकी बात का विश्वास किया जाता है' यह बात ऐतरेय ब्राह्मण में कही गई है। वाजसनेय ब्राह्मण में भी—'दो व्यक्ति विवाद करते हुए उपस्थित होते हैं कि मैंने इस चीज को देखा है, मैंने इस चीज को सुना है। इनमें से जो व्यक्ति कहता है कि मैंने देखा है, उसी की बात को माना जाता है' इस तरह से चक्षुरादि की बलवत्ता का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ पर भी जिनका प्रामाण्य अन्य प्रमाणों से परीक्षित है, ऐसे ही चाक्षुष ज्ञान की उनसे बलवत्ता प्रतिपादित है, जिनका कि प्रामाण्य अन्य प्रमाणों से परीक्षित नहीं है।

यह भी कहा गया है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोधी प्रमाण अभी उपस्थित नहीं हुआ है, अतः उपक्रम न्याय से उसका प्राबल्य होगा। जैसे कि 'अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद प्रकट हुए' इस तरह से उपक्रम (प्रारम्भिक) वाक्य में स्थित 'ऋग्वेद आदि के पदों के अनुसार संपूर्ण ऋग्वेद में आये हुए पदों का उच्च स्वर से, सम्पूर्ण यजुर्वेद में आये हुए पदों का चुपचाप

विधिवाक्यस्थानि ऋगादिमन्त्रवचनान्यपि पदानि ऋग्वेदादिपराणि स्वीक्रियन्ते । यथा वा 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' इत्युपक्रमानुरोधेन 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्' इत्यस्य प्रतिग्राहयेदित्यर्थः क्रियते । तदुक्तम्—'असञ्जातविरोधित्वादर्थवादो यथा श्रुतः । आस्थेयस्तद्विरुद्धस्य विध्युद्देशस्य लक्षणः ॥' इति, तन्न, तत्रैकवाक्यस्य परस्परसापेक्षपदत्वेनोभयोः साम्ये सत्युपक्रमस्थवेदपदानुरोधेनोपसंहारस्थर्गादिपदानां मन्त्रमात्रवाचिनां कृत्स्नवेदपरत्वे निर्णीतेऽपि प्रकृते उभयोः साम्याभावेन तन्न्यायानवतारात्, गृहीतप्रमाणभावश्रुत्यपेक्षया भ्रमविलक्षणत्वेनानिश्चितस्य प्रत्यक्षस्य न्यूनबलत्वात् । अन्यथा 'इदं रजतम्' इति भ्रमेऽपि 'इयं शुक्तिः' इत्याप्तोपदेशापेक्षया प्राबल्यं स्यात् । नापि लिङ्गाच्छ्रुतेरिव शीघ्रमन्थरगामित्वेन प्रत्यक्षस्य प्राबल्यम् । तदुक्तम्—प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम् । शीघ्रमन्थरगामित्वात्तथैव श्रुतिलिङ्गयोः ॥' इति, परीक्षितस्य मन्थरगामिनोऽपि प्राबल्यात् ।

न च 'यदाहवनीये जुहोति' इत्यस्मात् 'अश्वस्य पदे जुहोति' इत्यस्य विशेषविषयत्वेन प्राबल्यवत् 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति द्वैतनिषेधकश्रुत्यपेक्षया घटादिसत्त्वग्राहिणः प्रत्यक्षस्य प्राबल्यं स्यादिति वाच्यम्, सामान्यविशेषन्यायस्य निश्चितप्रमाणाभावोभयविषयत्वात् । अन्यथाऽयं गौरश्व इत्यस्यापि गौरश्वो न भवतीत्यादितः प्राबल्यं भवेत् । न चैवं निरवकाशेन प्रत्यक्षेण वृत्त्यन्तरेणानेकार्थत्वेन वा विषयान्तरपरत्वेन सावकाशस्यागमस्य संकोचः स्यादिति वाच्यम्, तात्पर्य्यलिङ्गैरुपक्रमादिभिः प्रपञ्चनिषेधपरत्वेऽवधृते श्रुतेरपि निरवकाशत्वात् । प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकद्वैत-

और सम्पूर्ण सामवेद में आये पदों का उच्च स्वर से उच्चारण किया जाय' इस विधि वाक्य में स्थित पदों का तात्पर्य ऋग्वेद आदि पदों में रहने से सम्पूर्ण ऋग्वेद आदि का प्रत्यायक होता है । अथवा 'प्रजापति वारुण अश्व को लाये' यहाँ पर उपक्रम (प्रारम्भ) के अनुरोध से 'जितने अश्वों का ग्रहण करे' इस वाक्य का अर्थ 'ग्रहण करावे' यह किया जाता है । जैसा कि कहा गया है—'जब तक उसका विरोध नहीं पैदा होता, तब तक अर्थवाद वाक्य का अर्थ जैसे का तैसा मानना चाहिए और उसकी विरोधी विधि के उद्देश्य के स्वरूप की कल्पना करनी चाहिए' ।

यह पूरा कथन भी गलत है, क्योंकि उक्त वेद वाक्यों में एक वाक्य में विद्यमान पदों की परस्पर सापेक्षता के कारण साम्य रहने से उपक्रम वाक्य में स्थित वेद पद के अनुरोध से उपसंहार में विद्यमान ऋगादि मन्त्रवाची पदों की भी संपूर्ण वेदबोधकता निर्णीत होती है, किन्तु प्रकृत स्थल में उपक्रम-उपसंहार में समानता के न होने से उक्त न्याय की प्रवृत्ति नहीं होगी । जिसके प्रामाण्य को प्रतीति हो चुकी है, ऐसे श्रुतिवाक्य की अपेक्षा, जिसकी भ्रम ज्ञान से विलक्षणता अभी निश्चित नहीं हुई है, ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण का बल सदा न्यून ही रहेगा । अन्यथा 'यह रजत है' यह भ्रमात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान भी 'यह शुक्ति है' इस आप्त वचन की अपेक्षा प्रबल हो जायगा । शीघ्रगामी श्रुति (दूसरे की सहायता के बिना स्वतः प्रवृत्त शब्द आदि प्रमाण) मन्थर गति वाले लिंग प्रमाण से जैसे प्रबल होती है, उसी तरह से शीघ्रगामी प्रत्यक्ष मन्थर गति वाले अनुमानादि की अपेक्षा प्रबल होगा । जैसा कि कहा गया है—'जैसे लोक में प्रत्यक्ष और अनुमान के कारण का विचार उनकी शीघ्र और मन्थर गति के आधार पर होता है, उसी तरह से श्रुति और लिंग के विषय में भी जानना चाहिए' । किन्तु यह कथन भी गलत है, क्योंकि जिसका प्रामाण्य परीक्षित है, ऐसे प्रमाण की गति मन्थर होने पर भी प्रबलता मानी ही जाती है ।

पुनः प्रश्न होता है कि 'जैसे आहवनीय अग्नि में हवन करता है' इस वाक्य की अपेक्षा 'अश्व के पद (स्थान = घुड़साल) में हवन करता है' इस विशेषविषयक वाक्य का प्राबल्य है, उसी तरह से 'यहाँ पर अनेकता की कुछ भी स्थिति नहीं है' इस द्वैत का निषेध करने वाली श्रुति की अपेक्षा घटादि की सत्ता को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष अधिक प्रबल माना जायगा' । किन्तु यह कथन भी गलत है, क्योंकि सामान्य विशेष न्याय की प्रवृत्ति वहीं होती है, जहाँ पर कि उभय वस्तुओं का प्रामाण्य समान रूप से निश्चित हो । अन्यथा यह 'गाय घोड़ा है' इस ज्ञान का 'गाय घोड़ा नहीं हो सकती' इस यथार्थ ज्ञान से प्राबल्य मानना पड़ जायगा । इस तरह के निरवकाश प्रत्यक्ष प्रमाण से अथवा अनेकार्थक वृत्त्यन्तर से विषयान्तर की बोधकता के आधार पर सावकाश आगम का संकोच मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि उपक्रम प्रभृति तात्पर्यबोधक लिङ्गों के आधार पर श्रुति की प्रपंच निषेधपरकता के निश्चित हो जाने पर श्रुति निरवकाश सिद्ध हो जायगी, क्योंकि प्रत्यक्ष व्यावहारिक द्वैतविषयक होने के कारण सावकाश ही है ।

विषयतया सावकाशत्वात्। किञ्च, यथा 'अहं मनुष्यः' इति प्रत्यक्षस्य, 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इति श्रुतेश्च तात्त्विकप्रामाण्यानुपपत्त्या कस्यचिद्व्यावहारिकं कस्यचित्तात्त्विकं प्रामाण्यमभ्युपेयम्, अत्यन्ताप्रामाण्यस्यान्याय्यत्वात्। तत्राद्वैतश्रुतेर्व्यावहारिकप्रामाण्यासंभवेन तात्त्विकं प्रामाण्यं प्रत्यक्षादेस्तु व्यावहारिकं प्रामाण्यमुपेयम्।

अत एवारम्भणशब्दादिभ्यः प्रत्यक्षादिविषयस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वावबोधेन नाद्वैतश्रुतेः प्रत्यक्षादिविरोधः। न च घटः सन्निति प्रत्यक्षविरोधान्न श्रुतियुक्तिभिः प्रपञ्चमिथ्यात्वबोधः संभवतीति वाच्यम्, अधिष्ठानत्वे घटाद्यनुगतस्य सन्मात्रस्यैव ग्राह्यत्वे प्रत्यक्षस्य श्रुत्यनुगुणत्वात्। न चैवं सत् सदित्येव प्रत्यक्षं स्यात्, न तु घटः सन्नित्येवं प्रत्यक्षमिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायीति वाच्यम्, भ्रमेष्वधिष्ठानांशरूपस्येदमंशस्येव प्रत्यक्षेण सद्रूपस्यैव ग्रहणेनेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरपि तत्रैवोपक्षीणतया रजतादिप्रतीतिवद् घटादिप्रतीतेर्भ्रान्तिरूपत्वाभ्युपगमात्। न च तद्वदिह बाधाभावात्तथाभ्युपगमो निर्मूल इति वाच्यम्, बाधादर्शनेऽपि देशकालव्यवहितवस्तुवद्घटादिभेदवस्तुनः प्रतिभासायोग्यत्वस्यैव तत्र मूलत्वात्। तथाहि—इन्द्रियव्यापारानन्तरं घटादिः सर्वतो व्यावृत्तत्वेनैव प्रतीयते, तत्र घटादिभेदे संशयविपर्य्ययादर्शनात्। यत्रापि स्थाण्वादौ पुरुषत्वादिसंशयस्तत्रापि तद्व्यतिरिक्तेभ्यो भेदाऽसंदिग्धविपर्य्यस्तत्वात् प्रकाशत एव। भेदस्य च प्रतियोगिसहोपलम्भनियमवतो न प्रत्यक्षेण ग्रहणं संभवति, देशकालव्यवधानेनासन्निकृष्टानामपि प्रतियोगिनां संभवात्।

भेदज्ञानं प्रतियोग्यंशे संस्कारापेक्षणात् स्मृतिरूपमस्तु, प्रत्यभिज्ञानमिव तत्तांश इति चेन्न, तत्रापि

अपि च, 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रत्यक्ष ज्ञान का और 'आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापी और नित्य है' इस श्रुति का, दोनों का तात्त्विक प्रामाण्य नहीं माना जा सकता, फलतः किसी का व्यावहारिक और किसी का तात्त्विक प्रामाण्य मानना ही पड़ेगा, इनमें से किसी को एकदम अप्रमाण मान लेना गलत होगा। यहाँ पर अद्वैत श्रुति का व्यावहारिक प्रामाण्य संभव नहीं, अतः उसका तात्त्विक प्रामाण्य और प्रत्यक्षादि प्रमाण का व्यावहारिक प्रामाण्य माना जाना चाहिये।

इसीलिये वेदान्तसूत्र में श्रुति प्रतिपादित आरम्भण प्रभृति शब्दों से प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीत हो रहे जगत् के मिथ्यात्व का बोध करा देने से अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से किसी तरह का विरोध नहीं होता। आप यह नहीं कह सकते कि 'घट विद्यमान है' इस तरह की प्रत्यक्ष प्रतीति से विरुद्ध होने से श्रुति और युक्तियों से प्रपंच का मिथ्यात्व नहीं सिद्ध किया जा सकता', क्योंकि अधिष्ठान ब्रह्म में विद्यमान सत्ता ही घटादि में भी अनुगत रहती है, अतः प्रत्यक्ष यहाँ पर श्रुति प्रतिपादित अर्थ का ही प्रतिपादन करता है। प्रश्न उठता है कि तब तो केवल 'सत् सत्' इस तरह की प्रतीति होनी चाहिये, 'घट सत् है' इस तरह की नहीं, जिसका कि इन्द्रियों के साथ अन्वय और व्यतिरेक विद्यमान है? इसका उत्तर यह है कि भ्रम स्थल में जैसे अधिष्ठान के एक अंश के इदमात्मक रूप की ही प्रतीति होती है, उसी तरह से प्रत्यक्ष से भी अधिष्ठान के सद्रूप की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार वहाँ पर प्रतीयमान अन्वय व्यतिरेक का व्यापार भी सद्रूप के ग्रहण में ही उपक्षीण हो जाता है, तो भी उक्त भ्रम स्थल में रजतादि प्रतीति की तरह यहाँ पर घटादि प्रतीति भी भ्रान्त ही मानी जाती है। पुनः प्रश्न होता है कि रजत प्रतीति का तो बाद में बाध देखा जाता है, उस तरह का बाध घटादि स्थल में कहाँ है? उसके अभाव में घटादि प्रतीति को भ्रमात्मक मानना निराधार है। इसका उत्तर यह है कि बाध प्रतीति न होने पर भी इसका मूल कारण यह है कि देश, काल प्रभृति से व्यवहित वस्तु की तरह घटादि भेद वस्तु का प्रतिभास भी नहीं स्वीकार किया जाता। जैसे कि इन्द्रियों के व्यापार के बाद घटादि की प्रतीति अन्य पदार्थों की प्रतीति से विलक्षण हो होती है। अन्य पदार्थों से घटादि की भिन्नता में कोई संदेह या विपरीत ज्ञान नहीं होता। जहाँ पर स्थाणु प्रभृति में पुरुष प्रभृति पदार्थो का संशय होता है, वहाँ पर भी उनसे भिन्न पदार्थों से उसके भेद की प्रतीति में कोई संदेह या विपर्यय नहीं उठता। भेद की प्रतीति सदा प्रतियोगी की प्रतीति के साथ ही होती है, इस नियम के अनुसार उसकी प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होती, क्योंकि देश, काल आदि के व्यवधान के कारण असंनिकृष्ट प्रतियोगी की भी सत्ता हो सकती है।

प्रश्न उठता है कि 'भेद ज्ञान प्रतियोगीरूप अंश की प्रतीति में संस्कार की अपेक्षा रखता है, अतः इसको स्मृति रूप मान लिया जाय, जैसे कि प्रत्यभिज्ञान (यह वही है, ऐसा ज्ञान) में तत्तांश को स्मृतिरूप ही माना जाता है। उत्तर है कि ऐसा होने पर

भेदगतप्रतियोगिवैशिष्ट्यांशे तदभावात्। न चानुमित्याऽपि तत्संभवः, भेदज्ञानं विनाऽनुमित्यसंभवेनान्योन्याश्रयापत्तेः। अस्तु तर्हि भेदांश इव प्रतियोगिवैशिष्ट्यांशेऽपि प्रत्यक्षत्वमिति चेन्न, प्रतियोगिनोऽप्रत्यक्षत्वे तद्वैशिष्ट्यप्रत्यक्षायोगात्। सम्बन्धिद्वयप्रत्यक्षं विना संबन्धप्रत्यक्षासंभवात्। तस्मात् प्रत्यक्षायोग्यस्य प्रतियोगिनो भ्रान्तिरूप एव प्रतिभास इति तदेकवृत्तिवेद्यत्वनियतस्य भेदस्य तद्विशिष्टस्य घटादेश्च भ्रमैकविषयत्वात् प्रत्यक्षं निर्विशेषब्रह्मसिद्ध्यनुकूलमेव।

घटादेरैन्द्रियकत्वेऽपि सन् घट इत्यधिष्ठानसत्तानुवेध इति न विरोधः। न च तर्हि नीलो घट इत्यप्यधिष्ठाननैल्यानुवेधोऽस्त्विति वाच्यम्, श्रुत्या सद्रूपस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमुक्तमिति तदनुवेधेन घटः सन्निति प्रतीत्युपपत्तौ तद्भिन्नघटादिसत्ताकल्पने गौरवात्, तस्य च रूपादिहीनत्वेन नैल्यादिकं घटादावेव कल्प्यत इति वैषम्यात्। केषाञ्चिन्मतरीत्या तु प्रत्यक्षस्य घटादिसत्त्वग्राहित्वेऽपि पराग्विषयस्य प्रत्यक्षादेस्तत्त्वावेदकत्वलक्षणप्रामाण्याभावेन तस्याद्वैतश्रुतेरबाधकत्वात्। अनधिगतगन्तृत्वं हि प्रमाणानां प्रामाण्यम्। न च घटादेरज्ञातत्वम्, जडे आवरणकृत्याभावेनाज्ञानविषयत्वासंभवात्। स्वप्रकाशं ब्रह्मैव ज्ञानविषयः, तत्रावरणमन्तरा नास्ति न भातीत्यावरणानुपपत्तेः। तत्रैवाज्ञानविषयत्वं तत्त्वावेदकत्वलक्षणं श्रुतेः प्रामाण्यञ्च। श्रुतिरपि तस्यैव द्रष्टव्यत्वं वक्ति—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इति। नात्र दर्शनं विहितम्, प्रमाणपरतन्त्रस्य विध्यगोचरत्वात्। किन्तु दर्शनार्ह आत्मा इत्येवार्थः। तस्यैवाज्ञातत्वात् प्रमेयत्वं नान्यस्येति नियम्यते।

भी भेद ज्ञान के प्रतियोगी के विशिष्टांश की प्रतीति में स्मृति नहीं मानी जा सकती। अनुमिति से भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि भेदज्ञान के बिना अनुमिति नहीं हो सकती, अतः अनुमिति से भेद ज्ञान की प्रतीति मानने पर अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। अच्छा तब भेदांश की तरह प्रतियोगी विशिष्ट अंश को प्रतीति को भी प्रत्यक्ष ही क्यों न मान लिया जाय ? इसका उत्तर है कि प्रतियोगी का जब प्रत्यक्ष नहीं होगा तो प्रतियोगी के विशिष्ट अंश का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? जब तक दोनों संबन्धियों की प्रतीति नहीं होगी, तब तक उन दोनों में विद्यमान संबन्ध की प्रतीति कैसे हो सकती है ? इसलिये प्रतियोगी के प्रत्यक्ष के अयोग्य रहने से उसका प्रतीयमान प्रतिभास भ्रान्ति रूप ही माना जायगा, अतः केवल प्रतियोगी में रहने पर ही जिसका बोध हो सकता है, ऐसे भेद की और उस भेद से विशिष्ट घटादि की प्रतीति भ्रमात्मक ही मानी जा सकती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण भी निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि में ही अधिक अनुकूल है।

घटादि पदार्थों का ज्ञान यद्यपि इन्द्रियों से ही होता है, तो भी 'सन् घटः' इस प्रतीति में अधिष्ठान ब्रह्म की ही सत्ता अनुकूल है। इस तरह से यहाँ पर कोई विरोध नहीं है। शंका की जाती है कि तब तो इसी तरह से 'नीलो घटः' इस प्रतीति में भी अधिष्ठान स्थित नीलवर्ण की अनुस्यूतता माननी पड़ेगी। इसका उत्तर यह है कि श्रुति के द्वारा सद्रूप ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण माना गया है, अतः ब्रह्मगत सद्रूपता की अनुवृत्ति होने से ही 'घटः सन्' इस ज्ञान की उपपत्ति हो जाने पर उस ब्रह्म से भिन्न नई घटादि की सत्ता की कल्पना करने में केवल गौरव ही होगा। इससे भिन्न नील वर्ण की कल्पना तो केवल घटादि में ही की जा सकती है, क्योंकि ब्रह्म तो रूपादि गुणों से रहित है। किन्हीं के मत से प्रत्यक्ष प्रमाण के घटादि की सत्ता के ग्राहक होने पर भी बाह्य वस्तुओं का ग्राहक होने से तात्त्विक पदार्थों को ग्रहण करने की सामर्थ्य के अभाव में वह अद्वैत श्रुति का बाधक किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता। प्रमाणों का प्रामाण्य यही है कि वे अनधिगत (अज्ञात) वस्तु का ज्ञान कराते हैं। घटादि पदार्थ अज्ञात नहीं है। जड पदार्थ में आवरण का कृत्य न होने से वे अज्ञान के विषय नहीं हो सकते। स्वयं प्रकाश ब्रह्म ही ज्ञान का विषय है। इसमें आवरण माने बिना 'नहीं है, नहीं प्रतीत होता है' इस तरह की आवरण की प्रतीति नहीं हो सकती। यहीं पर श्रुति की अज्ञातज्ञापकता के आधार पर तात्त्विक पदार्थ का ज्ञान होने से प्रामाण्य माना जाता है। श्रुति भी 'आत्मा वा अरे' इत्यादि वाक्यों से उस ब्रह्म की द्रष्टव्यता का प्रतिपादन करती है। यहाँ पर ब्रह्मदर्शन की विधि नहीं है, क्योंकि प्रमाणपरतन्त्र वस्तु विधि का विषय नहीं होती। किन्तु उक्त श्रुति से यही ज्ञात होता है कि यह आत्मा दर्शन के योग्य है। वही अज्ञात होने से प्रमेय है, अन्य नहीं। इसीका नियमन उक्त वाक्य का मुख्य प्रयोजन है।

केचित्तु घटादिसत्त्वग्राहिणः प्रत्यक्षस्य प्रामाण्ये ब्रह्मप्रमाणतुल्यत्वावगमेऽपि तद्ग्राह्यं सत्त्वं सत्ता जाति-रूपं वा? इहेदानीं घट इति प्रतीतेस्तत्तद्देशकालसम्बन्धरूपं वा ? तच्च मिथ्यात्वेन न विरुद्धचते। मिथ्यात्ववादिनाऽपि घटादेः स्वरूपं देशकालसम्बन्धो जात्यादिकञ्च नापलप्यते, तेषांमवाध्यत्वात्। न चावाध्यत्वेन प्रत्यक्षग्राह्यस्य सत्यत्वमेवास्तु, तथात्वेऽपि प्रत्यक्षेण त्रिकालावाध्यत्वासिद्धेः।

केश्चित्तु राजराजादिशब्दवत् 'सत्यस्य सत्यम्' इति श्रुत्यां सर्वथाऽवाध्यत्वं किञ्चित् कालमवाध्यत्व-मिति रीत्या सत्यत्वे तारतम्यमुपेयते। ततश्च प्रत्यक्षग्राह्यं घटादिसत्यत्वं यावद् ब्रह्मज्ञानमवाध्यत्वेनेति न द्वैतमिथ्यात्व-श्रुतिविरोधः।

केचित्तु श्रुतिप्रत्यक्षयोः प्रपञ्चसत्यत्वमिथ्यात्वग्राहिणोर्विरोधेऽपि दोषशङ्काकलङ्कितात् प्रथमप्रवृत्तात् प्रत्यक्षान्निर्दोषत्वादपच्छेदन्यायेन परत्वाच्च श्रुतेः प्राबल्यमुच्यते।

नन्वागमस्य प्रत्यक्षाद् वलीयस्त्वे 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादौ प्रत्यक्षाविरोधाय कुतो गौणी वृत्तिरास्थीयत इति चेन्न, तात्पर्यवत्याः श्रुतेरेव प्रत्यक्षाद् वलवत्त्वाभ्युपगमात्, मन्त्रार्थवादानाञ्च स्तुतिद्वारभूतेऽर्थे वाक्यार्थद्वारभूते पदार्थ इव तात्पर्य्याभावात्। परमतात्पर्य्याभावेऽप्यवान्तरतात्पर्य्यवत्त्वेनैव प्रमाणान्तराविरुद्धं देवताविग्रहादिकं तेभ्यः

कुछ लोगों के मत के अनुसार घटादि की सत्ता के ग्राहक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य ब्रह्म के ग्राहक श्रुति के तुल्य ही है। इससे गृहीत होने वाला सत्त्व सत्ता जाति के रूप में हो या 'इस समय यहाँ पर घट है' इस तरह से देश-काल के सम्बन्ध के रूप से हो, किन्तु उसका मिथ्यात्व से कोई विरोध नहीं पड़ता, क्योंकि मिथ्यात्ववादी भी घटादि के स्वरूप, उसके देश-काल से संबन्ध और उसमें रहने वाली जाति प्रभृति का अपलाप (निषेध) नहीं करता, क्योंकि उनका वाध नही होता। जब इनका वाध नहीं होता तो प्रत्यक्षग्राहक वस्तु की भी सत्यता ही क्यों न मानी जाय ? यह इसलिए नहीं मानी जाती कि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष प्रमाण से वस्तु की तीनों कालों में अवाध्यता की सिद्धि नहीं होती।

कुछ लोग 'राजराज' (राजाओं का राजा) आदि शब्दों की तरह 'सत्य का सत्य' इस श्रुति के आधार पर 'सर्वथा अवाध्य' तथा 'किंचित् काल के लिए अवाध्य' इस तरह से वस्तु की सत्यता में भी तारतम्य मानते हैं। अर्थात् ब्रह्म सर्वदा अवाध्य है और घटादि कुछ काल तक अवाध्य है। इस मत के अनुसार भी प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहोत (ज्ञात) हो रही घटादि की सत्यता ब्रह्म-ज्ञान होने तक वाधित नहीं होती, इस तरह से द्वैत को मिथ्या कहने वाली श्रुति से इसका कोई विरोध नहीं होगा।

अन्य विद्वानों का कहना है कि श्रुति और प्रत्यक्ष से क्रमशः यद्यपि प्रपंच के मिथ्यात्व और सत्यता का ज्ञान होता है और इस तरह से इन दोनों में परस्पर विरोध भी है, तो भी प्रथम प्रवृत्त होने पर भी दोष की शंका से ग्रस्त प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा निर्दोष होने से श्रुति का ही प्राबल्य अपच्छेद न्याय से सिद्ध होता है।

शंका उठती है कि यदि आगम प्रत्यक्ष से बलवान् है तो फिर 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि स्थानों में प्रत्यक्ष से अविरोध की स्थापना के लिए गौणी वृत्ति का सहारा क्यों लिया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि तात्पर्यवती श्रुति हो प्रत्यक्ष से बलवती मानी जाती है। मन्त्रों और अर्थवाद वाक्यों का तात्पर्य स्तुतिद्वारभूत अर्थ में नहीं होता, जैसा कि वाक्यार्थद्वारभूत में पदार्थ का तात्पर्य नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थ के ज्ञान के द्वारा होता है, किन्तु पदार्थ के ज्ञान में वाक्य का तात्पर्य नहीं होता, क्योंकि पदार्थ में भी वाक्य का तात्पर्य मानने पर 'घड़ा नहीं है' इस वाक्य का तात्पर्य घड़े में भी मानना पड़ेगा। पर इस वाक्य का तात्पर्य घड़े के नहीं होने में ही माना जाता है, घड़े में नहीं। इसी तरह से वेद में आये हुए मन्त्रों और अर्थवादों का तात्पर्य केवल विधि या निषेध की स्तुति अथवा निन्दा में ही माना जाता है, न कि मन्त्र और अर्थवाद में आये हुए यजमान, प्रस्तर आदि पदार्थों में, जिनके द्वारा कि स्तुति और निन्दा का ज्ञान होता है। परम तात्पर्य के न होने पर भी अवान्तर तात्पर्य होने से दूसरे प्रमाणों से अविरुद्ध देवताओं के शरीर आदि की सिद्धि उन मन्त्रों और अर्थवादों से होती है। जिन वाक्यों का तात्पर्य स्वार्थ में नहीं, ऐसे आगम वाक्यों में तो प्रत्यक्ष हो प्रबल होता है, अतः उस प्रत्यक्ष प्रमाण से अविरोध का निवारण करने

सिद्धयत्येव। अतत्परेभ्यस्त्वागमवाक्येभ्यः प्रत्यक्षस्यैव प्राबल्यमिति तदविरोधाय गौणी वृत्तिराश्रीयते। अद्वैतश्रुतिस्तूपक्रमादिभिस्तात्पर्य्यवतीति प्राबल्यमेव तस्याः।

केचित्तु निर्दोषत्वात् परत्वाच्च श्रुतिमात्रस्यैव प्रत्यक्षात् प्राबल्यमित्युत्सर्गः। श्रुतिबाधितस्यापि प्रत्यक्षस्य निर्विषयत्वायोगात् तत्त्वावेदनात् प्रच्याव्यार्थक्रियासमर्थव्यावहारिकविषयसमर्पणेन समर्थनं संभवति। अत एव नेदं रजतमिति बाधितमपि शुक्तिरजतप्रत्यक्षं पुरो देशेऽनिर्वचनीयरजताभ्युपगमेन समर्थ्यते। अत एव यजमान-प्रस्तर-भेदग्राहिणः प्रत्यक्षस्य प्रातिभासिकविषयत्वाभ्युपगमेनोपपादनायोगात् 'यजमानः प्रस्तरः' इति श्रुतिबाध्यत्वे सर्वथा निर्विषयत्वं स्यादिति तत्परिहारायोत्सर्गमपोह्य श्रुतावेव गौणी वृत्तिराश्रीयते।

अद्वैतश्रुतिप्रत्यक्षयोस्तु तात्त्विकव्यावहारिकविषयोपगमेनोपपादनं संभवति। न तथेहसंभवः, ब्रह्मातिरिक्तस्य सकलप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेन तात्त्विकत्वासंभवात्। एवमल्पज्ञत्वादिविशिष्टत्वं पदार्थस्य सर्वज्ञत्वाभोक्तृत्वविशिष्टब्रह्माभेदबोधनेऽसर्वज्ञत्वभोक्तृत्वादिप्रत्यक्षं निरालम्बनं स्यादिति तत्परिहाराय भागत्यागलक्षणयाऽहङ्कारशबलितस्याल्पज्ञत्वभोक्तृत्वादि परित्यज्य तन्निष्कृष्टस्य शुद्धस्योदासीनब्रह्मरूपत्वं बोध्यते। 'कृष्णलं श्रपयेत्' इत्यादावपि प्रत्यक्षस्य निर्विषयत्वपरिहारायोष्णीकरणे लक्षणा। अथवा 'कृष्णलं श्रपयेत्' इत्यत्र न प्रत्यक्षानुरोधेन लक्षणा, किन्त्वनुष्ठानाशक्त्या, रूपरसविपरिवृत्तिलक्षणस्य मुख्यश्रपणस्य कर्तुमशक्यत्वात्। एवमेव सोमक्रयणकयाग इव तदभिन्नो यागो नानुष्ठातुं शक्यत इति 'सोमेन यजेत' इत्यत्रापि सोमवता यागेनेति मत्वर्थलक्षणा। न चानुष्ठेयत्वाभिमतस्य प्रत्यक्षा-

के लिए श्रुति वाक्य में गौणी वृत्ति का सहारा लिया जाता है, अर्थात् गौण अर्थ किए जाते हैं। अद्वैत श्रुति का उपक्रम प्रभृति लिङ्गों से स्वार्थ में तात्पर्य ज्ञात है, अतः वह प्रत्यक्ष आदि अन्य सब प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल है।

कुछ विचारकों के मत से निर्दोष होने के कारण और बाद में प्रवृत्त होने से भी केवल श्रुति वाक्य का ही प्रत्यक्ष से प्राबल्य माना जाता है, यह सामान्य नियम है, किन्तु श्रुति से बाधित प्रत्यक्ष भी निर्विषय नहीं हो सकता, अतः उसको तत्त्वावेदक प्रमाण की कोटि से नीचे उतार कर अर्थक्रियासमर्थ व्यावहारिक विषय का प्रत्यायक मानकर उसके प्रामाण्य का भी समर्थन किया जा सकता है। इसीलिए यह रजत नहीं है, इस ज्ञान से बाधित होने वाले शुक्तिरजत के प्रत्यक्ष स्थल में सामने दिखाई पड़ रहे प्रदेश में अनिर्वचनीय रजत की सत्ता मानकर उसका समर्थन किया जाता है। इसीलिए यजमान और प्रस्तर का भेद देखने वाले प्रत्यक्ष को प्रातिभासिक विषय का ग्राहक मानने पर उसकी उपपत्ति नहीं बन सकती और 'यजमानः प्रस्तरः' इस श्रुति से उसका बाध मान लेने पर वह सर्वदा निर्विषय हो जायगा। इसलिए उसकी निर्विषयता के परिहार के लिए उक्त सामान्य नियम को न मानकर श्रुति में ही गौणी वृत्ति का सहारा लिया जाता है।

अद्वैत श्रुति और प्रत्यक्ष प्रमाण की तात्त्विक और व्यावहारिक विषय की प्रतिपादकता के आधार पर दोनों का प्रामाण्य सिद्ध किया जा सकता है। यजमान-प्रस्तर स्थल में यह संभव नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त सकल प्रपञ्च के मिथ्यात्व के कारण इसकी भी तात्त्विकता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इसी तरह से अल्पज्ञत्वंपदार्थ (जीव) का सर्वज्ञ अभोक्ता ब्रह्म के साथ अभेद मानने पर असर्वज्ञ, भोक्ता आदि का ज्ञान कराने वाला प्रत्यक्ष निराधार हो जायगा, अतः इस दोष के परिहार के लिये भागत्यागलक्षणा से अहंकार से सराबोर जीव की अल्पज्ञता, भोक्तृता को छोड़कर उसके वास्तविक शुद्ध स्वरूप में उदासीन ब्रह्मरूपता का बोध होता है। 'कृष्णलं श्रपयेत्' (सोने के चावलों को पकावे) जैसे श्रुति वाक्यों में भी प्रत्यक्ष की निर्विषयता का परिहार करने के लिये श्रपण की तपाने में लक्षणा की जाती है, क्योंकि सोने के चावलों को पकाया तो नहीं जा सकता, गरम किया जा सकता है। अथवा उक्त वाक्य में प्रत्यक्ष के अनुरोध पर लक्षणा न कर अधिष्ठान की अशक्ति के कारण यह की जाती है, क्योंकि मुख्य श्रपण में तो रूप-रस का परिवर्तन होता है, वह कृष्णल में संभव नहीं है, अतः श्रपण (पकाना) की तपाने में लक्षणा उचित है। इसी तरह से सोमरूप ओषधी या लता यज्ञ का साधन तो हो सकती है, किन्तु वह स्वयं यहाँ स्वरूप धाकर कर अनुष्ठान में तो नहीं आ सकती। इसलिये 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में सोमपद की सोमवान् में लक्षणा की जाती है। यदि कहें कि अनुष्ठेयत्वेन

विरोध एवानुष्ठानाशक्तिरिति शब्दान्तरेण व्यवह्रियत इति वाच्यम्, शशिमण्डलं कान्तिमत् कुर्यादिति प्रत्यक्षाविरोधेऽप्यनुष्ठानाशक्तिदर्शनेन तस्यास्ततो भिन्नत्वात्।

न च स्वरूपेण निषेधे कथं प्रपञ्चस्यात्मलाभः ? निषेधस्य प्रतियोग्यप्रतिक्षेपकत्वे व्याघातादिति वाच्यम्, शुक्तावपीदं रजतम्, नेदं रजतमिति प्रतीतिद्वयानुरोधेनाधिष्ठानगताध्यस्ताभावस्य बाधपर्यन्तानुवृत्तिकासद्विलक्षणप्रतियोगिस्वरूपसहिष्णुत्वाभ्युपगमात्। एतेन प्रपञ्चस्य स्वरूपेण निषेधे शशशृङ्गसमत्वमेवेत्यपि निरस्तम्, ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यस्वरूपाङ्गीकारेण वैषम्यात्। न चाध्यस्तस्याधिष्ठाने स्वरूपेण निषेधेऽन्यत्र तस्य स्वरूपेण निषेधः स्वतः सिद्ध इति तस्य सर्वदेशकालसम्बन्धनिषेधप्रतियोगित्वापत्त्याऽसत्त्वं दुर्वारम्, तदेव च शशशृङ्गसाधारणमसत्त्वमिति वाच्यम्, असतः सर्वदेशकालनिषेधप्रतियोगित्वमुपगच्छतस्तस्य तथात्वे प्रत्यक्षस्य सर्वदेशकालयोः प्रत्यक्षीकरणायोगेन आगमस्यापि तादृशस्यानुपलम्भेन प्रमाणयितुमशक्यत्वात्। तत्रानुमानं प्रमाणयितव्यम्। तत्र च सद्व्यावृत्तं लिङ्गं वाच्यम्, तथा च प्रथमप्रतीतस्य तस्यैवासत्त्वनिर्वचनोपपत्तेः।

अन्यैस्तु 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुतेः सत्यत्वेन प्रपञ्चनिषेधे एव तात्पर्यं न स्वरूपेण, निषेधस्य स्वरूपाप्रतिक्षेपकत्वे तस्य तन्निषेधायोगात्, तत्प्रतिक्षेपकत्वे प्रत्यक्षविरोधात्। न च सत्यत्वस्यापि सन् घट इत्यादिप्रत्यक्षसिद्धत्वान्न तेनापि रूपेण निषेधो युक्त इति वाच्यम्, प्रत्यक्षस्य श्रुत्यविरोधाय सत्यत्वाभासरूपव्यावहारिकसत्यत्वविषयत्वोपपत्तेः। न च पारमार्थिकसत्यत्वस्य ब्रह्मगतस्य प्रपञ्चे प्रसक्त्यभावेन प्रपञ्चनिषेधानुपपत्तिः,

अभिमत का प्रत्यक्ष विरोध ही 'अनुष्ठान की अशक्ति' इस शब्दान्तर से कहा जाता है। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'शशिमण्डल को कान्तिमान् बनावे' इस वाक्य का प्रत्यक्ष से विरोध न होने पर भी वहाँ पर अनुष्ठान की अशक्ति देखी जाती है, अतः अनुष्ठान की अशक्ति और प्रत्यक्ष विरोध ये दोनों वस्तुए परस्पर भिन्न ही हैं।

स्वरूपतः प्रपञ्च का निषेध हो जाने पर प्रपंच का स्वरूप ही कैसे बनेगा ? क्योंकि निषेध यदि प्रतियोगी का निषेध न करे तो उसका स्वरूप ही व्याहत हो जायगा। इसका उत्तर यह है कि शुक्ति में यह रजत है, यह रजत नहीं है, इन दोनों प्रतीतियों के अनुरोध से अधिष्ठान शुक्ति आदि में अध्यस्त रजत आदि के अभाव की बाध पर्यन्त अनुवृत्ति मानो जाती हैं, जो कि असत् से विलक्षण प्रतियोगी के स्वरूप को सहन करने वाली होती है। इस तरह से 'प्रपंच का स्वरूप से निषेध मानने पर उसकी शशशृंग से समानता हो जायगी' इस आपत्ति का भी निवारण हो जाता है, क्योंकि शशशृंग में और प्रपंच के निषेध में अन्तर यह है कि प्रपंच के स्वरूप की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान से होती है, जब कि शशशृंग का कोई स्वरूप ही नहीं होता। प्रश्न है कि जब अध्यस्त जगत् की अपने अधिष्ठान (ब्रह्म) में ही स्वरूपतः सत्ता नहीं है, तब अन्यत्र उसकी स्वरूप से स्थिति स्वतः निवृत्त हो गई, इसलिये सभी देशों और कालों से उसके संबन्ध के निषिद्ध हो जाने से उसकी असत्ता का निवारण कैसे किया जा सकता है ? और यह असत्ता शशशृंग की असत्ता के सदृश ही तो है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जो व्यक्ति असत्ता को समस्त देश-काल निषेध की प्रतियोगिनी मानता है, उसके मत को यदि मान लिया जाय तो प्रत्यक्ष तो समस्त देश-काल के पदार्थों को प्रत्यक्ष कराने वाला कोई मिलता नहीं और वैसा कोई शास्त्रवचन भी नहीं मिलता, अतः इन दोनों प्रमाणों के न होने से अनुमान के द्वारा ही इस बात को प्रमाणित करना होगा। इस अनुमान में दो आवृत्ति वाले हेतु को प्रदर्शित करना पड़ेगा। इस तरह से प्रथम प्रतीत लिंग की असत्ता को उपपत्ति बन सकेगी।

अन्य विचारकों के अनुसार 'नेह नानास्ति' इस श्रुति का तात्पर्य प्रपंच की सत्यता के निषेध में ही है, उसके स्वरूप का भी निषेध यहाँ नहीं किया गया है। स्वरूप का निषेध स्वरूप को प्रतिक्षेपकता के अभाव में उसका निषेधक नहीं हो सकता। यदि उसको स्वरूप का प्रतिक्षेपक माना जाय तो प्रत्यक्ष से विरोध होगा। प्रश्न होता है कि तब तो सत्यत्व की सिद्धि भी 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है, उसका भी स्वरूपेण प्रतिषेध ठीक नहीं है, तो इसका उत्तर यह है प्रत्यक्ष का श्रुति से अविरोध सिद्ध करने के लिये सत्यत्वाभास रूप व्यावहारिक सत्यता को प्रत्यक्ष का विषय मानना ही पड़ेगा। ब्रह्मगत पारमार्थिक सत्यता की

यथा हि शुक्तौ रजताभासप्रतीतिरेव सत्यरजतप्रसक्तिरिति तन्निषेधः। अत एव नेदं रजतं किन्तु तत्, नेयं मदीया गौः किन्तु सैव, नात्र चैत्रः किन्तु गृहे इति निषिद्धयमानस्यान्यत्र सत्त्वमवगम्यते। एवं सत्यत्वाभासप्रतीतिरेव सत्यत्वप्रसक्तिरिति तन्निषेधोपपत्तिः। अत एव वर्णस्वरूपपदयोग्यतादिस्वरूपोपमर्दशङ्काभावान्नोपजीव्यविरोधः।

अन्यैश्च सत्तात्रैविध्यमनुपगम्याधिष्ठानब्रह्मगतपारमार्थिकसत्तानुवेधादेव घटादिसत्त्वाभिमानोपपत्त्या सत्त्वाभासकल्पनं निष्प्रमाणकमुच्यते। एवञ्च प्रपञ्चे सत्यत्वप्रतीत्यभावेन तत्तादात्म्यापन्ने ब्रह्मणि तत्प्रतीतेरेवाविवेकेन प्रपञ्चे तत्प्रसक्त्युपपत्तेश्च सत्यत्वेन प्रपञ्चनिषेधे नोपजीव्यविरोधः, न वाऽप्रसक्तनिषेधता।

न च ब्रह्मगतपारमार्थिकसत्तातिरिक्तप्रपञ्चसत्त्वाऽनुपगमे व्यवहितसत्यरजतातिरेकेण शुक्तौ रजताभासोत्पत्तिः किमर्थमुपेयत इति वाच्यम्, व्यवहितासन्निकृष्टस्यापरोक्ष्यासंभवात्, तन्निर्वाहाय तदुपगमात्।

न च द्वैतग्राहिप्रत्यक्षतदुपजीव्यनुमानकर्मकाण्डसगुणोपासनावाक्यादिरूपबहुप्रमाणाबाधायाद्वैतवाक्यस्य प्रतीतार्थबाधः किं न स्यात्? बहुप्रमाणविरोधे चैकस्याप्रामाण्यं दृष्टं शुक्तिरजतादिज्ञाने इति वाच्यम्, देहात्मैक्ये प्रत्यक्षानुमानशब्दाभासादिसत्त्वेऽपि देहात्मभेदबोधकस्यानन्यपरत्वेन प्राबल्यवदत्राप्यनन्यपरत्वेनाद्वैतश्रुतेः प्राबल्यात्, विद्याविद्याभेदेन विरोधाभावाच्च।

प्रपंच में प्रसक्ति न होने से प्रपंच का निषेध नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जैसे शुक्ति में रजताभास की प्रतीति ही सत्य रजत के रूप में ज्ञात होने लगती है, अतः उसका निषेध हो जाता है. इसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये। इसीलिये यह रजत नहीं है, किन्तु वह है, यह मेरी गाय नहीं है, किन्तु वह है; चैत्र यहाँ नहीं है, किन्तु घर में हैं; इत्यादि स्थलों में निषिध्यमान वस्तु की अन्यत्र सत्ता मानी जाती है। इस तरह से सत्यत्वाभास की प्रतीति में ही सत्यत्व की प्रसक्ति होने से उसका निषेध हो सकता है। इसीलिये वर्ण स्वरूप, पद, योग्यता आदि के स्वरूप के उपमर्द की शंका न होने से उपजीव्य का विरोध नहीं होगा, अर्थात् वेदान्तियों के मत से वर्ण स्वरूप, पद, योग्यता आदि का सर्वथा अभाव नहीं माना जाता, किन्तु इन सबकी व्यावहारिक सत्यता मानी जाती है। इसलिये ऐसा नहीं कह सकते कि जिन उपनिषदों के वाक्यों से जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान होता है, उन वाक्यों के वर्ण, पद आदि हैं ही नहीं, तो ज्ञान कैसे होगा?

अन्य विद्वान् कहते हैं कि त्रिविध सत्ता को न मानकर अधिष्ठान ब्रह्मगत पारमार्थिक सत्ता ही घटादि में आ गई, ऐसा लगता है। इसी से घटादि की सत्ता के अभिमान की उपपत्ति हो जायगी। अतः प्रातिभासिक या व्यावहारिक पृथक् सत्ता की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। इस पक्ष में प्रपंच में सत्यत्व की प्रतीति के अभाव में प्रपंच से तादात्म्य प्राप्त ब्रह्म की प्रतीति का ही अज्ञान के कारण प्रपंच में आरोप हो जाने से सत्यत्व के रूप में प्रपंच का निषेध करने पर भी न तो उपजीव्य का विरोध ही होता है और न अप्रसक्त का निषेध ही।

प्रश्न उठता है कि ब्रह्मगत पारमार्थिक सत्ता के अलावा प्रपंच की भी सत्ता न मानने पर व्यवहित सत्य रजत के अतिरिक्त शुक्ति में रजताभास की उत्पत्ति किस लिये मानी जाती है? इसका उत्तर यह है कि व्यवहित और असंनिकृष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष संभव नहीं है, अतः उसके निर्वाह के लिये रजताभास की उत्पत्ति मानी जाती है।

पुनः प्रश्न होता है कि द्वैत के ग्राहक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षोपजीवी अनुमान, कर्मकाण्ड, सगुणोपासना आदि के प्रतिपादक शास्त्र, इन अनेक प्रमाणों से विरोध न हो, इसके लिये अद्वैत श्रुति से प्रतीत होने वाले अर्थ का ही बाध क्यों न मान लिया जाय? अनेक प्रमाणों से विरोध होने पर एक का अप्रामाण्य अभिप्रेत रहता है, जैसा कि शुक्तिरजत ज्ञान में। इसका समाधान यह है कि देह और आत्मा की एकता में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दाभास आदि प्रमाणों के रहते हुए भी देह और आत्मा के भेद के बोधक शास्त्रवाक्य अनन्यपरक होने से प्रबल होते हैं, उसी तरह से यहाँ पर भी अनेक विरोधी प्रमाणों के रहते हुए भी अनन्यपरक अद्वैत श्रुति ही प्रबल होती है। इन प्रमाणों में विद्या और अविद्या के भेद से अन्ततः परस्पर कोई विरोध नहीं रह जाता।

ननु तथाप्युपजीव्यत्वेन प्रत्यक्षस्य प्रावल्यम् । उपजीव्यत्वञ्चानुमानागमापेक्षिताशेषार्थग्राहकतया क्वचित् साक्षात् क्वचित्परम्परया । अपेक्षितैकदेशग्राहिणामप्युपजीव्यत्वं दृष्टं तद्विरुद्धग्रहणेन तेन वाधश्च । यथा घटविभुत्वानुमाने पक्षग्राहिणाक्ष्णा, नरशिरःशुचित्वानुमाने साध्यग्राहकेणागमेन, मनोवैभवानुमाने ज्ञानसमवाय्याधारत्वहेतुग्राहकेणानुमानेन, किं पुनर्वक्तव्यमपेक्षिताशेषग्राहिणा प्रत्यक्षेण स्वविरुद्धग्राहकस्य वाधविषये चक्षुरादेः शब्दतज्जन्यज्ञानप्रामाण्याद्यग्राहित्वेऽपि तद्ग्राहिश्रोत्रसाक्ष्यादिसजातीयत्वेनोपजीव्यत्वम् । दृष्टं च नरशिरःकपालाशुचित्वबोधकागमस्य तच्छुचित्वानुमानोपजीव्यशुचित्वागमसजातीयत्वेन तदनुमानाप्रावल्यम् । न चेन्द्रियमपि स्वज्ञानार्थमनुमानमुपजीवतीति सम एवोपजीव्योपजीवकभावः, अज्ञातकरणतया ज्ञानजननार्थमनुमानानपेक्षणात् । अनुमानागमादिभिस्तु ज्ञानजननार्थमेव तदपेक्षणादिति विशेषादिति चेन्न, उपजीव्याविरोधात् । तथाहि—यत्स्वरूपमुपजीव्यते तन्न वाध्यते, वाध्यते चेत्तात्त्विकत्वाकारः, स च नोपजीव्यते, कारणत्वे तस्याप्रवेशात् । 'पूर्वसम्वन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नो । हेतुतत्त्ववहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा' ।। यद्यपेक्षितग्राहित्वमात्रेणोपजीव्यत्वम्, तेन च वाधकत्वं तदापेक्षितप्रतियोगिग्राहकत्वेन इदं रजतमिति भ्रमस्य वाधोपजीव्यत्वात् कथं तद्विरुद्धा नेदं रजतमिति वाधवुद्धिरुदियात् ? यदि च निषेध्यार्थसमर्थकत्वे प्रतियोगिज्ञानत्वेन तस्योपजीव्यत्वेऽपि तत्प्रामाण्यं नोपजीव्यम्, प्रतियोगिप्रमात्वेनाभावज्ञानजनकतागौरवात्, प्रतियोगिभ्रमादप्यभावज्ञानदर्शनात्, किन्तु तज्ज्ञानत्वेनैव, लाघवात् । अतस्तद्विरुद्धज्ञानं भवत्येवेति । तर्हि प्रकृतेऽपि तुल्यमिदम्—पक्षज्ञानत्वादिना कारणता न तत्प्रमात्वादिना ।

प्रश्न उठता है कि 'इस अवस्था में भी उपजीव्य होने से प्रत्यक्ष को ही प्रबल माना जायगा । प्रत्यक्ष उपजीव्य इसलिये है कि वही अनुमान और आगम के लिये अपेक्षित समग्र सामग्री को समर्पित करता है । यह सामग्री कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से सहायक होती है । अपेक्षित वस्तु के एकदेश को ग्रहण करने वाले प्रमाण की भी उपजीव्यता और उसके विरुद्ध प्रतीत होने पर उसका बाध देखा जाता है । जैसे कि घट के विभुत्व के अनुमान का चक्षुरिन्द्रिय से, मनुष्य के शिर के कपाल की पवित्रता के विषय में शास्त्र से, मन की विभुता को सिद्ध करने वाले अनुमान का ज्ञान की समवायिकारणता के आधार के ग्राहक अनुमान से, अधिक क्या कहा जाय, अपेक्षित समस्त वस्तुओं के ग्राहक प्रत्यक्ष से अपने विरोधी अर्थ के ग्राहक प्रमाण के विषय का बाध होता है । इन समस्त उदाहरणों में चक्षुरादि से शब्द और शब्दजन्य ज्ञान के प्रामाण्य के ग्राहक न होने पर भी इनके ग्राहक श्रोत्र के साक्षी और चक्षु के साक्षी की सजातीयता के आधार पर उपजीव्यता मानी जाती है । यह देखा गया है कि मनुष्य के शिर के कपाल की अशुचिता के बोधक आगम को उसके शुचित्व को सिद्ध करने वाले अनुमान को उपजीव्य मान कर प्रवृत्त शास्त्र की सजातीयता के आधार पर उस अनुमान का प्रावल्य नहीं होता । 'इन्द्रिय भी अपने ज्ञान के लिये अनुमान का सहारा लेती हैं, इस तरह से इनका उपजीव्य-उपजीवकभाव समान है', ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनका ज्ञान न होने पर भी जब इनसे ज्ञान होता है, उस समय इनको अनुमान की सहायता की जरूरत नहीं पड़ती । इसके विपरीत अनुमान, आगम प्रभृति को ज्ञान की उत्पत्ति में भी प्रत्यक्ष की सहायता लेनी पड़ती हैं । किन्तु इन सब प्रश्नों का उत्तर यह है कि यहाँ पर उपजीव्य के विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है । प्रत्यक्ष के जिस स्वरूप का सहारा लिया जाता है, उसका बाध नहीं होता । किन्तु प्रत्यक्ष के तात्त्विक स्वरूप का ही बाध होता है, जो कि उपजीव्य नहीं है, अर्थात् प्रत्यक्ष से केवल घट आदि का ज्ञान होता है, घटादि की तात्त्विकता का ज्ञान नहीं होता । अद्वैत श्रुतियाँ केवल तात्त्विकता का ही निषेध करती हैं, क्योंकि तात्त्विकता का शब्दजन्य ज्ञान की कारणता कोटि में प्रवेश नहीं होता । 'पूर्व सम्बन्ध का नियम ही हेतु है । यह बात आप हम दोनों को समान रूप से मान्य है । इस प्रसंग में हेतुत्व के निर्णय में असहायक सत्त्व और असत्त्व की चर्चा उठाना व्यर्थ है' । यदि अपेक्षितग्राहित्व मात्र से उपजीव्यता मानी जाती है और उसी के आधार पर इतर प्रमाण की बाधकता मानी जाती है, तो इस परिस्थिति में अपेक्षित प्रतियोगी के ग्राहक के रूप में बाध के लिये उपजीव्य 'यह रजत है' इस भ्रमात्मक ज्ञान के विरुद्ध 'यह रजत नहीं है' इस बाध बुद्धि का उदय कैसे होगा ? यदि आप कहें कि 'निषेध्य अर्थ के समर्थक के रूप में प्रतियोगी ज्ञान की उपजीव्यता के रहते हुए भी उसके प्रामाण्य की उपजीव्यता अपेक्षित नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी प्रमा के रूप में अभाव ज्ञान की जनकता मानने में गौरव होगा । प्रतियोगी के भ्रम से भी अभाव का ज्ञान होता है, किन्तु यहाँ पर प्रतियोगी के ज्ञानमात्र में ही लाघव

ननु यत्प्रामाण्यं स्वरूपसिद्धयर्थमपवादनिरासार्थं यत्प्रामाण्यमुपजीवति, तत्तस्योपजीव्यम्। यथा स्मृतेरनुभवः। न च रजतभ्रमस्तथेति चेत्तर्हि व्याप्तिधियोऽपि नानुमित्युपजीव्यत्वम्, लिङ्गाभासादपि वह्निमति वह्निप्रमादर्शनात्। ननु च येन विना यस्योत्थानं नास्ति तत्तस्योपजीव्यम्। तथा च रजतभ्रमस्योपजीव्यत्वमस्त्येव न तु प्राबल्यम्। नह्युपजीव्यत्वमात्रेण प्राबल्यम्, किन्तु परीक्षिततया। परीक्षा च सजातीयज्ञानान्तरविजातीयप्रवृत्तिसंवादविसंवादाभावरूपा। न च तौ रजतभ्रमे स्तः। प्रकृते चाक्षस्य परीक्षितत्वेन प्राबल्यम्। अस्ति हि सन् घट इति विशेषदर्शनजन्यज्ञानानन्तरं घटार्थक्रियाप्रत्यक्षे क्लृप्तदूरादिदोषाभावाच्च विसंवादाभावः। एवमेव जीवेशाभेदश्रुतौ निषेध्यार्थकभेदश्रुतिः साक्षिप्रत्यक्षं चादोषत्वात् परीक्षितमिति तदपि न बाध्यम्। दोषाभावादिज्ञानरूपपरीक्षायामप्यनाश्वासे वेदे पौरुषेयत्वाभावज्ञाने त्वदुक्तानुमाने च योग्यानुपलब्ध्यादिना हेत्वाभासादिराहित्यज्ञाने च ब्रह्ममीमांसायाः प्रत्यधिकरणं सिद्धान्त्यभिमतार्थे उपक्रमाद्यानुगुण्यज्ञाने चानाश्वासः स्यादिति, प्रमाणतदाभासव्यवस्था च न स्यादिति चेन्न, परीक्षा हि प्रवृत्तिसंवादविसंवादाभावदोषाभावादिरूपा। तथा च स्वसमानदेशकालीनविषयाबाध्यत्वं प्रामाण्यस्य व्यवस्थाप्यते, धूमेन स्वसमानदेशकालीनवह्निरिव। तथा च व्यवहारदशामात्राबाध्यत्वं देहात्मैक्यसाधारणं परीक्षितप्रमाणे व्यवस्थितमिति कथमत्यन्ताबाध्यत्वाभावग्राहकानुमानागमयोः प्रवृत्तिर्न स्यात्? तस्माद्विश्वासप्रमाणतदाभासव्यवस्था जीवेशभेदादिकं च व्यावहारिकमुपपन्नमेव। तथा च नेह नानास्ति किञ्चनेति सर्वजगन्मिथ्यात्वबोधकस्यागमस्याबाध एव।

है। इससे विरोधी ज्ञान के होने में कोई बाधा नहीं है'। इस पर हमारा कहना है कि प्रकृत में भी तो यही परिस्थिति है। घटविभुत्वादि के अनुमान में चक्षु प्रभृति की पक्ष ज्ञान मात्र से कारणता मानी जाती है, उनका प्रमात्व का ज्ञान अपेक्षित नहीं है।

प्रश्न है कि 'जिसका प्रामाण्य अपने स्वरूप की सिद्धि के लिये और अपवाद के निरास के लिए जिसके प्रामाण्य का सहारा लेता है, वह उसका उपजीव्य माना जाता है। जैसे कि स्मृति का उपजीव्य अनुभव है। रजत भ्रम की यह स्थिति नहीं है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा मानने पर व्याप्ति ज्ञान भी अनुमिति का उपजीव्य न रहेगा, क्योंकि लिंगाभास से भी वह्निमान् स्थल में वह्नि प्रमा का उदय हो सकता है। 'जिसके बिना जिसका उत्थान नहीं हो सकता, वही उसका उपजीव्य है' इस परिभाषा के अनुसार रजत भ्रम की उपजीव्यता तो है, किन्तु उसका प्राबल्य नहीं। केवल उपजीव्य होने से ही प्रबल नहीं हो जाता, किन्तु इसके लिए परीक्षा अपेक्षित है। परीक्षा सजातीय ज्ञानान्तर से संवाद और विजातीय प्रवृत्ति से विसंवाद के आधार पर होती है। रजतभ्रम स्थल में ये दोनों स्थितियाँ नहीं है। प्रकृत स्थल में इन्द्रिय का प्रामाण्य परीक्षित है, अतः यह प्रबल है। 'घट विद्यमान है' इस विशेष दर्शन से उत्पन्न ज्ञान के अनन्तर घट से जलाहरणादि अर्थक्रिया संपन्न होती देखी जाती है। प्रत्यक्ष के बाधक दोष दूरत्व, विप्रकृष्टत्व आदि के अभाव में यहाँ पर अर्थक्रिया का विसंवाद भी देखने को नहीं मिलता। इसी तरह से जीव और ईश्वर का अभेद बताने वाली श्रुति में अभेद का निषेध करने वाली भेद श्रुति और साक्षी का प्रत्यक्ष इन दोनों की अदोषता परीक्षित है, अतः इनका भी बाध नहीं हो सकता। दोषाभाव के ज्ञान की परीक्षा में भी यदि विश्वास न किया जाय तो वेद में पौरुषेयत्व के अभाव के ज्ञान में आपके कहे गये अनुमान में योग्यानुपलब्धि प्रभृति से हेत्वाभास प्रभृति के अभाव के ज्ञान में और ब्रह्ममीमांसा के प्रत्येक अधिकरण में सिद्धान्ती के अभिमत अर्थ में उपक्रम आदि से अनुगुणता के ज्ञान में भी विश्वास नहीं होता। इस परिस्थिति में क्या प्रमाण है और क्या प्रमाणाभास इसकी व्यवस्था न हो पावेगी'। किन्तु यह पूरा प्रतिपादन गलत है, क्योंकि परीक्षा प्रवृत्ति का संवाद विसंवाद का अभाव और दोषाभाव रूप है। इससे अपने समान देश और काल के विषय से बाधित न होने पर ज्ञान का प्रामाण्य माना जाता है, जैसे कि धूम की सहायता से स्वसमान देश और काल में वह्नि की सिद्धि की जाती है। ऐसी अवस्था में देहात्मैक्य की व्यवहार दशा मात्र में अबाध्यता सभी तरह से प्रमाण द्वारा परीक्षित है, तो इससे अत्यन्त अबाध्यता के अभाव को ग्रहण करने के लिये अनुमान और आगम की प्रवृत्ति क्यों न होगी? इसलिये विश्वास, प्रमाण, प्रमाणाभास की व्यवस्था और जीव तथा परमात्मा के भेद की व्यावहारिता की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं है। इसी तरह से 'नेह नानास्ति' इस श्रुति के आधार पर सारे जगत् के मिथ्यात्व के बोधक आगम का भी बोध नहीं होगा।

ननु प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तत्सिद्धस्य व्याप्त्यादेर्बाधेनानुमेयादेस्तत्प्रामाण्यस्य च बाधः, अनुमेयादेर्व्याप्त्यादिना अनुमितिप्रामाण्यादिना च समानयोगक्षेमत्वात्। अन्यथाध्यासिकव्याप्त्यादिमता वाष्पाध्यस्तधूमेन तात्त्विको व्यावहारिको वाग्निः, व्यावहारिकव्याप्त्यादिमता धूमेन तात्त्विकोऽग्निर्व्यावहारिकेण वाधेन विरुद्धधर्माधिकरणत्वेन च विश्वस्य जीवेशभेदस्य च तात्त्विकं सत्त्वं सिद्ध्येदिति चेन्न, तावताऽपि व्याप्त्या समानसत्ताकमनुमेयादिकं सिद्ध्यत्वित्यापत्तेः फलितोऽर्थः। स चास्माकमिष्ट एव। ब्रह्माभिन्नं क्वचिदप्यत्यन्तावाध्यं न सिद्धम्। वस्तुतस्तु नानुमेयादेर्व्याप्त्यादिना समानसत्ताकत्वनियमोऽप्यस्ति। व्यभिचारिणाऽपि लिङ्गेन साध्यवति पक्षेऽनुमितिप्रमादर्शनात्। ध्वनिधर्मह्रस्वत्वदीर्घत्वादिविशिष्टत्वेन मिथ्याभूतैरपि नित्यैर्विभुभिर्वर्णैः सत्या शाब्दप्रमितिः क्रियत इति मीमांसकैरभ्युपगमात्, गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे तात्त्विकव्याप्त्यादिमताऽपि पृथिवीत्वेनातात्त्विकगन्धानुमितिदर्शनात्, प्रतिविम्बेन च विम्बानुमितिदर्शनात्।

एतेन 'शब्देऽपि योग्यतासमसत्ताकेन शब्दार्थेन भाव्यम्, योग्यतावाक्यार्थयोः समानसत्ताकत्वनियमादिति कथं योग्यतावाधेऽपि वेदान्तवाक्यार्थोऽवाधितः स्यात्' इत्यपि परास्तम्, वेदान्तवाक्येऽखण्डार्थरूपवाक्यार्थवाधरूपाया योग्यताया अप्यवाधात्। न च ज्ञानप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वे विषयस्यापि मिथ्यात्वं शुक्तिरूप्यज्ञाने दृष्टमिति प्रकृतेऽपि ज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे विषयस्यापि मिथ्यात्वं स्यादिति वाच्यम्, प्रामाण्यमिथ्यात्वस्य विषयमिथ्यात्वाप्रयोजकत्वात्। अनुमानेनापि प्रत्यक्षं वाध्यते, अत एव नभसो नैल्यप्रत्यक्षं नभोनीरूपत्वानुमानापेक्षया दुर्बलं वाध्यमेव। न चैवं प्रत्यक्षस्यानुमानवाध्यत्वे वह्न्यौष्ण्यप्रत्यक्षं शैत्यानुमानस्य, स्थायित्वप्रत्यभिज्ञानं क्षणिकत्वानुमानस्य च बाधकं

प्रश्न है कि 'यदि प्रत्यक्ष का प्रामाण्य नहीं माना जायगा तो उसके द्वारा सिद्ध व्याप्ति आदि का भी बाध हो जाने से अनुमेय अग्नि आदि का और उनके प्रामाण्य का भी बाध होगा, क्योंकि दोनों जगह अनुमेय अग्नि आदि को व्याप्ति आदि से और अनुमिति के प्रामाण्य आदि से समान ही बाधाबाध की स्थिति है। अन्यथा आध्यासिक (काल्पनिक) व्याप्ति वाले बाष्प में अध्यस्त (कल्पित) धूम से तात्त्विक अथवा व्यावहारिक अग्नि का और व्यावहारिक व्याप्ति वाले धूम से तात्त्विक अग्नि का बाध न होने से विरुद्ध धर्मों की अधिकरणता के आधार पर विश्व और जीवेश के भेद की भी तात्त्विक सत्ता सिद्ध हो जायगी।' आपकी इस आपत्ति का यदि यह अभिप्राय है कि व्याप्ति आदि के समान सत्ता वाले अनुमेयादि की सिद्धि हो सकेगी, तो यह हमको इष्ट है। ब्रह्मभिन्न कोई भी वस्तु कभी भी अत्यन्त अबाध्य नहीं सिद्ध की जा सकती। वास्तव में तो अनुमेय आदि का व्याप्ति आदि की समान सत्ता के विधान का भी कोई नियम नहीं है। व्यभिचारी हेतु से भी साध्यवान् पक्ष में अनुमिति प्रमा होती देखी जाती है। मीमांसक यह मानते हैं कि ध्वनि में रहने वाले ह्रस्व, दीर्घ प्रभृति धर्मों से युक्त होने से झूठे सरीखे लगने वाले भी वास्तव में नित्य और विभु (व्यापक) वर्णों से सत्य शब्दजन्य ज्ञान होता है। इसी तरह से गन्ध के प्रागभाव से विशिष्ट घट में तात्त्विक व्याप्ति वाले पृथिवीत्व से अतात्त्विक गन्ध की अनुमिति होती है और प्रतिबिम्ब से बिम्ब का भी अनुमान होता है।

उक्त प्रतिपादन से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि—'शब्द में भी योग्यता के समान सत्ता वाले शब्दार्थ को ही मान्यता मिलनी चाहिये, क्योंकि योग्यता और वाक्यार्थ की समान सत्ता का नियम है। ऐसी परिस्थिति में योग्यता का बाध हो जाने पर वेदान्त वाक्यों का अर्थ अबाधित कैसे रह सकता है', क्योंकि वेदान्त वाक्यों में अखण्डार्थ रूप वाक्यार्थ के बाधित न होने से तदनुरूप योग्यता का भी बाध नहीं होता। ज्ञान के प्रामाण्य के मिथ्या सिद्ध हो जाने पर विषय को भी मिथ्या मान लिया जाता है, यह बात शुक्तिरजत ज्ञान में देखी गई है। तदनुरूप ही यहाँ पर भी ज्ञान के प्रामाण्य के मिथ्यात्व के सिद्ध हो जाने पर विषय भी मिथ्या क्यों न मान लिया जायगा? इसका उत्तर यह है कि प्रामाण्य का मिथ्यात्व विषय के मिथ्यात्व में प्रयोजक नहीं माना जाता। अनुमान से भी प्रत्यक्ष का बाध होता है। इसीलिये आकाश की नीलिमा का प्रत्यक्ष आकाश की नीरूपता के साधक अनुमान से दुर्बल होने से बाधित हो जाता है। इस पर यह शंका नहीं उठाई जा सकती कि—'यदि इस तरह से प्रत्यक्ष का अनुमान से बाध

न स्यात्, प्रत्युतानुमानमेव तयोर्बाधकं स्यादिति वाच्यम्, अर्थक्रियासंवादेन श्रुत्यनुग्रहेण च तत्र प्रत्यक्षयोः प्राबल्येनानुमानबाधकत्वात्, अपरीक्षितप्रत्यक्षस्य परीक्षितानुमानापेक्षया दुर्बलत्वाभ्युपगमात् ।

नन्वेवं पशुत्वेन शशादावपि शृङ्गानुमानं स्यात्, लाघवात् । पशुत्वमेव शृङ्गवत्त्वे तन्त्रम्, न तु तद्विशेषगोत्वादिकम्, अननुगतत्वेन गौरवात्, तथा चैतत्तर्कसध्रीचीनत्वेन प्रत्यक्षापेक्षयाऽनुमानस्य प्राबल्यम् । अनुकूलतर्कसाचिव्यमेवाऽनुमाने बलम् । सर्वत्र येन केनचित्सामान्यधर्मेण सर्वत्र यत्किञ्चिदनुमेयम्, लाघवतर्कसाचिव्यस्य सत्त्वात् । तावतैव प्रत्यक्षबाधेन व्यवहारव्यवस्था विलुप्यते । अनुमानेऽत्र प्रत्यक्षबाधातिरिक्तदोषस्यासत्त्वादिति चेन्न, अयोग्यशृङ्गादिसाधने प्रत्यक्षबाधस्यासंभवेन तत्र व्याप्तिग्राहकतर्केष्वाभासत्वस्य त्वयापि वक्तव्यत्वेन व्यवस्थाया उभयसमाधेयत्वात्, तर्काभाससध्रीचीनस्यानुमानस्य प्रमाणत्वानभ्युपगमात् । यदुक्तम्—शृङ्गस्य योग्यत्वनियमे तत्र प्रत्यक्षबाधेनैवोपपत्तिर्वर्णनीयेति, तन्न, शृङ्गत्वेन योग्यत्वनिश्चयासंभवात्, देवगवि शृङ्गस्य अस्मदादिचक्षुरयोग्यस्य सत्त्वात् । अश्वादौ शृङ्गसंदेहदशायामयोग्यानुमित्यापत्तिः । शशे शृङ्गसाधने प्रत्यक्षबाधासंभवेन व्याप्तिग्राहकतर्केषु आभासत्वसमर्थनस्यैवावश्यकत्वात् प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वे न काचिदनुपपत्तिः । बौद्धैरपि नित्यस्य क्रमाक्रमाभ्यां कार्य्यकारित्वानुपपत्त्या सत्त्वेन च क्षणिकत्वमनुमीयते ।

परीक्षितप्रमाणभावेनागमेनापि प्रत्यक्षं बाध्यते । ननु प्रत्यक्षं यदि शब्दबाध्यं स्यात् तदा जैमिनिना 'तस्माद्धूम एवाग्निर्दिवा ददृशे नार्चिः', 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इत्याद्यर्थवादेषु दृष्टविरोधेनाप्रामाण्ये प्राप्ते

माना जायगा तो वह्नि को शीत सिद्ध करने वाला अनुमान वह्नि की उष्णता के प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होगा और स्थायित्व की प्रत्यभिज्ञा क्षणिकता के अनुमान का बाध न कर सकेगी । इसके विपरीत अनुमान ही उनका बाधक हो जायगा', क्योंकि उक्त दोनों स्थलों पर अर्थक्रिया के संवाद के आधार पर और श्रुतिप्रमाण की सहायता से भी प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञा का प्राबल्य है, अतः उनसे अनुमान का ही बाध होगा । यह बात सभी वादी-प्रतिवादी मानते हैं कि अपरीक्षित प्रत्यक्ष परीक्षित अनुमान की अपेक्षा दुर्बल होता है ।

प्रश्न उठता है कि 'इस तरह से पशुत्व हेतु से खरगोश में भी शृंग का अनुमान होना चाहिये, क्योंकि इसी में लाघव है । पशुत्व ही शृंगवत्त्व का प्रयोजक माना जाना चाहिये, पशु विशेष में स्थित गोत्वादि नहीं, क्योंकि गोत्वादि की पशु मात्र में अननुगतता के कारण ऐसा मानने में गौरव होगा । ठीक इसी तरह के तर्क के सहारे प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान का भी प्राबल्य सिद्ध हो जायगा । अनुमान का बल यही है कि उसको अनुकूल तर्क का सहारा मिलता है । सभी जगह जिस किसी सामान्य धर्म के सहारे से ही किसी वस्तु का अनुमान किया जाता है, लाघव और तर्क इसमें सहायक होते हैं । इतने से यदि प्रत्यक्ष का बाध होता है, तो उससे व्यवहार की व्यवस्था में कोई बाधा नहीं आवेगी । इस अनुमान में प्रत्यक्ष का बाध करने के अतिरिक्त अन्य कोई दोष है नहीं । पर इसका समाधान यह है कि अयोग्य शृङ्गादि को सिद्ध करने में प्रत्यक्ष का बाध ही नहीं हो सकता, अतः वहाँ पर व्याप्तिग्राहक तर्कों में तर्काभास भी कुछ हो सकते हैं, इस बात को आपको भी मानना पड़ेगा । तब उक्त स्थलों में क्या व्यवस्था होगी ? इसका उत्तर समान रूप से आपको भी देना पड़ेगा । तर्काभास के सहारे खड़े हुए अनुमान का प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जा सकता । 'शृङ्ग होने की योग्यता पशु में ही तो होती है और वह योग्यता तभी संभव है, जब प्रत्यक्ष का बाध हो जाय' यह कहना भी बिलकुल ठीक नहीं, क्योंकि केवल सींग होने से ही पशुत्व की योग्यता का निश्चय नहीं होता । कामधेनु का सींग हमारे चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और सींग को ही पशुत्व की योग्यता के निश्चय में हेतु मानने पर घोड़े-गधे आदि में पशुत्व का केवल सन्देह नहीं होगा, अपितु ये पशु नहीं है ऐसा निश्चय ही होने लगेगा । क्योंकि खरगोश के सींग को सिद्ध करने में प्रत्यक्ष का बाध न होने से व्याप्तिग्राहक तर्कों में आभासत्व का समर्थन ही आवश्यक होगा । अतः प्रत्यक्ष को अनुमान से बाध्य मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है । बौद्ध दार्शनिक भी नित्य पदार्थ मानने पर उसकी आनुपूर्वी के अनुसार कार्यकारिता नहीं बन सकती, इसीलिये सभी पदार्थों में सत्त्व के आधार पर क्षणिकत्व का अनुमान करते हैं ।

इसी तरह से जिसका प्रामाण्य परीक्षित है, उस आगम से भी प्रत्यक्ष का बाध होता है । शंका उठती है कि 'यदि प्रत्यक्ष शब्द से बाधित होता है, तो फिर जैमिनि आचार्य ने 'तस्माद्धूम', 'अदितिर्द्यौ' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में इस विरोध के

'गुणवादस्तु गुणादप्रतिषेधः स्यात्' इत्यादिना गौणार्थता नोच्येत, 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादेश्च गौणार्थता नोच्येत। वेदान्तिभिश्च प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वंपदयोर्लक्षणाश्रीयते, श्रुतिविरोधे प्रत्यक्षस्यैव प्रामाण्यसंभवात्। न च तात्पर्य्यलिङ्गादीनामुपक्रमादीनामत्र सत्त्वान्नाद्वैतश्रुतीनाममुख्यार्थत्वमिति वाच्यम्, 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादावपूर्वत्वाद्येकैकलिङ्गस्य तात्पर्य्यग्राहकस्य विद्यमानत्वात्। एकैकलिङ्गस्य तात्पर्य्यनिर्णायकत्वे लिङ्गान्तरमनुपपादकमेव। यथाऽद्वैतिमते प्रत्यक्षसिद्धभेदे श्रुतिरनुवादिका भवति, लिङ्गबाहुल्यानपेक्षणादिति चेन्न, वाक्यशेषप्रमाणान्तरसंवादार्थक्रियादिपरीक्षापरीक्षितस्य प्रत्यक्षस्य प्राबल्येन व्यवहारदशायामेवैतद्विरुद्धार्थग्राहिणो 'धूम एवाग्निर्दिवा ददृशे', 'अदितिर्द्यौः', 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादेस्तद्विरोधेनामुख्यार्थत्वेऽप्यद्वैतागमस्य परीक्षितप्रमाणविरोधाभावेन मुख्यार्थत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षादेः परीक्षया व्यावहारिकप्रामाण्यमात्रं सिद्धयति। तच्च नाद्वैतागमेन बाध्यते। किन्तु तात्त्विकं प्रामाण्यमेव बाध्यते। तत्तु परीक्षया न सिद्धमतो न विरोधः। 'धूम एवाग्नेः' इत्यादेस्तु मुख्यार्थत्वे प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकमपि प्रामाण्यं बाध्यते, अतस्तत्रामुख्यार्थत्वमेव।

यदुक्तम्—प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वंपदयोर्लक्षणाश्रीयत इति, तन्न, षड्विधलिङ्गैर्गतिसामान्येन चाखण्डमेवावधार्य्य विषयीभूताखण्डार्थप्रतीतिनिर्वाहाय लक्षणाङ्गीकरणात्। तात्पर्यविषयीभूतान्वयनिर्वाहाय लक्षणाश्रयणस्य सर्वत्र दर्शनात्। न च लाक्षणिकस्यार्थस्यामुख्यार्थत्वमेवेति वाच्यम्, विकल्पानुपपत्तेः। किममुख्यार्थत्वं प्रतीयमानार्थपरित्यागेनार्थान्तरपरत्वमशक्यार्थत्वं वा ? नाद्यः, सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानस्यैक्यस्यात्यागात्। नान्त्यः, जहदजह-

आधार पर अप्रामाण्य की शंका उठाकर 'गुणवादस्तु' इत्यादि सूत्र से उनकी गौणार्थता क्यों सिद्ध की ? 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्य भी तब गौणार्थक क्यों माने जाय ? वेदान्ती भी प्रत्यक्ष से विरोध न हो, इसलिये 'तत् त्वं' पदों में लक्षणा स्वीकार करते हैं। यह तभी उचित है, जब कि श्रुति के विरोध में प्रत्यक्ष का ही प्रामाण्य स्वीकार्य हो। उपक्रमादि तात्पर्य लिंगों की उपस्थिति के कारण यहाँ पर अद्वैत श्रुति की गौणार्थता नहीं मानी जायगी, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि स्थलों में भी तो अपूर्वादि एक न एक तात्पर्य लिंग विद्यमान ही हैं, तब यहाँ पर भी गौणार्थता क्यों मानी जाय। एक एक लिंग की तात्पर्य निर्णायकता की विद्यमानता में लिंगान्तर को अनुवादक मात्र माना जाता है। जैसे कि अद्वैतवादी के मत में भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है, श्रुति यहाँ पर केवल अनुवादक मानी जाती है। इसमें कारण यही है कि तात्पर्य के निर्णय में अनेक लिंगों की अपेक्षा नहीं रहती। इन सबका समाधान यह है कि वाक्यशेष, प्रमाणान्तर संवाद, अर्थ क्रिया प्रभृति से परीक्षित प्रत्यक्ष ही प्रबल होता है। व्यवहार दशा में ही जब इस प्रत्यक्ष से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाली 'धूम एवाग्नि', 'अदितिर्द्यौ' इस तरह की श्रुतियाँ मिलती हैं, तो उनका इस प्रत्यक्ष से विरोध न हो, इसलिये गौणार्थ कर लेने से उसका विरोध नहीं होता। इसके विपरीत अद्वैत श्रुति की मुख्यार्थता इस लिये बनी रहती है कि व्यावहारिक दशा में परीक्षित प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का वह उसी दशा में विरोध न कर तात्त्विक दशा में करती है। परीक्षा के द्वारा प्रत्यक्षादि का व्यावहारिक दशा में ही प्रामाण्य सिद्ध होता है। अद्वैत श्रुति उसका बाध नहीं करती, किन्तु इनके तात्त्विक प्रामाण्य का ही बाध करती है। यह तात्त्विक प्रामाण्य प्रत्यक्ष द्वारा परीक्षा से सिद्ध नहीं है, इसलिये इसका विरोध नहीं होता। 'धूम एव' इत्यादि वाक्यों की भी मुख्यार्थता मानने पर तो प्रत्यक्षादि को व्यावहारिक प्रामाण्य भी बाधित हो जाता है, अतः इनकी गौणार्थता ही मानी जाती है।

अभी आपने कहा है कि 'तत् त्वं' इन दोनों पदों में श्रुति में लक्षणा इसलिये की जाती है कि इनका प्रत्यक्ष से विरोध न हो, यह बात गलत है, क्योंकि उक्त स्थान पर षड्विध लिंग और तात्पर्य निर्णय की सामान्य पद्धति के आधार पर अखण्ड अर्थ की अवधारणा करके विषयीभूत अखण्डार्थ की प्रतीति के भी निर्वाह के लिये लक्षणा अङ्गीकार की जाती है। तात्पर्य विषयीभूत अर्थ के साथ सम्बन्ध का निर्वाह करने के लिये सभी जगह इसी तरह से लक्षणा का सहारा लिया जाता है। लाक्षणिक अर्थ सदा गौण ही हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उस दशा में इस विकल्प का कोई उत्तर नहीं बन पावेगा कि क्या अमुख्यार्थ में प्रतीयमान अर्थ का परित्याग कर अर्थान्तर की कल्पना करनी पड़ती है या वह अशक्यार्थ कहलाता है ? इनमें पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि सामानाधिकरण्य से

ल्लक्षणाश्रयेण शक्यैकदेशपरित्यागेऽपि सोऽयं देवदत्त इत्यादि वाक्य इव शक्यैकदेशस्यान्वयाभ्युपगमात्। विशेषणबाधेन विशेष्यमात्रान्वयस्यैवात्र लक्षणाशब्देन व्यपदेशात्। तदुक्तमाचार्य्यैः—'प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वादमुख्यार्थमद्वैतवाक्यं त्वनन्यशेषत्वान्मुख्यार्थम्' इति।

यदुक्तमपूर्वत्वाद्येकैकलिङ्गेनापि 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादिवाक्यानामपि स्वार्थपरत्वमिति, तन्न, उपक्रमादिस्वरूपविचारेण तदसंभवात्। तथाहि—उपक्रमोपसंहारयोरेकार्थनिष्ठत्वमभ्यासार्थवादौ चेति त्रयं शब्दगतम्। अज्ञातत्वरूपमपूर्वत्वं फलवत्त्वमबाधितत्वरूपोपपत्तिश्चेति षट् तात्पर्य्यग्राहकाणि लिङ्गानि तत्रत्यप्रामाण्यशरीरनिर्वाहकत्वादावश्यकानि। निष्फलार्थे प्रत्यक्षादेः प्रामाण्येऽपि श्रुतेस्तदसंभवात्। फलवदर्थज्ञानमुद्दिश्याध्ययनसंस्कृतश्रुतीनां विनियोगेन निष्फलार्थे तात्पर्य्याभावनिश्चयात्। यद्यपि तात्पर्य्याविषयेऽपि प्राशस्त्याप्राशस्त्यधीद्वारीभूते वाक्यार्थेऽपि प्रामाण्यम्, तेन भूतार्थवादिनोऽर्थवादादेः प्रामाण्यमिष्यते, तथापि तादृशप्रमामुद्दिश्योक्तविनियोगस्तादृशप्रमायाः फलवदर्थविषयकत्वनियमात्, अर्थवादादेश्च प्राशस्त्यादिरूपार्थप्रमामुद्दिश्यैव विनियोगात् तादृशप्रमाकरणत्वं फलवत्त्वघटितमेव बोध्यम्। आद्यत्रये त्वर्थवादस्य विधेयप्राशस्त्य-निषेध्याप्राशस्त्यधीद्वारा विधिनिषेधवाक्ययोः प्रमाजनकतायामावश्यकत्वम्, इतरयोस्तु विरुद्धार्थद्वये तात्पर्य्यसंशये सति यत्रोपक्रमादिकं तत्रैव तात्पर्य्यनिश्चयेन तदुपयोगित्वम्। तथा चापूर्वत्वाद्येकैकमात्रेण न तात्पर्य्यनिश्चयसंभवः।

नन्वन्यशेषत्वानन्यशेषत्वे न मुख्यार्थत्वामुख्यार्थत्वयोः प्रयोजके, किन्तु मानान्तरविरोधाविरोधावेव। अन्यशेषेऽपि मानान्तरविरोधे 'इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरा' इति लोके, 'सोऽरोदीत्' इति वेदे च प्रस्तरादिवाक्यवद-

प्रतीयमान ऐक्य का त्याग नहीं किया जा सकता और अन्तिम पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि यहाँ पर जहदजहल्लक्षणा (भागत्याग) मानी जाती है, अतः उसमें शब्दार्थ के एकदेश का त्याग कर देने पर भी 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञा वाक्य की तरह शब्दार्थ के एकदेश से अन्वय (सम्बन्ध) बना ही रहता है। विशेषण का बाधकर केवल विशेष्य के साथ अन्वय (सम्बन्ध) रहना ही यहाँ लक्षणा शब्द का अर्थ है। जैसा कि आचार्य ने कहा है—'प्रस्तरादि वाक्य अर्थवाद रूप होने से वे विधि के अङ्ग हो जाते हैं, अतः मुख्यार्थ वाले नहीं हैं, किन्तु अद्वैत वाक्य तो किसी अन्य विधि के अङ्ग नहीं है, अतः इनकी मुख्यार्थता ही मानी जायगी'।

'अपूर्वत्व आदि एक-एक लिंग से भी 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्यों का भी स्वार्थ में तात्पर्य बन सकेगा', यह बात भी गलत है, क्योंकि उपक्रम आदि के स्वरूप पर विचार करने से यह असंभव लगता है। जैसे कि उपक्रम और उपसंहार में एकार्थनिष्ठता, अभ्यास और अर्थवाद ये तीन शब्दगत धर्म हैं। अज्ञातत्वरूप अपूर्वता, फलवत्त्व और अबाधितत्व रूप उपपत्ति, इनको भी मिलाकर ये छः तात्पर्य के ग्राहक लिंग उनके प्रामाण्य के पोषक हैं, अतः इन सबकी आवश्यकता है। निष्फल अर्थ में प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य भले ही हो, श्रुति की प्रवृत्ति निष्फल अर्थ में नहीं हो सकती। अध्ययन संस्कार से संस्कृत श्रुतियों का विनियोग फलवान् अर्थ ज्ञान को उद्देश्य बनाकर ही होता है, अतः निष्फल अर्थ में उनका तात्पर्य निश्चित रूप से नहीं रहता। यद्यपि तात्पर्य के अविषय प्राशस्त्य और अप्राशस्त्य बुद्धि के जनक वाक्यार्थ का भी प्रामाण्य माना जाता है और इस तरह से भूतार्थ के बोधक अर्थवाद आदि वाक्यों का भी प्रामाण्य माना जाता है, तो भी जिस तरह की प्रमा को उद्दिष्ट करके विनियोग होता है, वैसी ही प्रमा फलवदर्थविषयिणी होती है, ऐसा नियम है। अर्थवाद आदि वाक्यों का प्राशस्त्य आदि अर्थ की प्रमा के उद्देश्य से ही विनियोग होता है, अतः ऐसी प्रमा की करणता फलबल के आधार पर ही घटित हो सकती है। उक्त प्राथमिक शब्दगत तीन धर्मों में से अर्थवाद की आवश्यकता विधेय की प्रशंसा और निषेध्य की निन्दा के ज्ञान के द्वारा विधि और निषेध वाक्य की प्रमा की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है। एकार्थनिष्ठता और अभ्यास की आवश्यकता उस समय पड़ती है, जब कि दो विरोधी अर्थों के उपस्थित हो जाने पर वाक्य का तात्पर्य संशयग्रस्त हो जाता हो, तब जहाँ पर उपक्रमादि की स्थिति हो, वहीं पर इनकी सहायता से तात्पर्य का निश्चय किया जाय, यही उनकी उपयोगिता है। इस तरह से केवल एक एक अपूर्वत्व आदि के सहारे से तात्पर्य का निश्चय संभव नहीं।

प्रश्न उठता है कि अन्यशेषत्व और अनन्यशेषत्व मुख्यार्थत्व और अमुख्यार्थत्व के प्रयोजक कारण नहीं हो सकते, किन्तु अन्य प्रमाण से विरोध और अविरोध ही इनके प्रयोजक हैं। अन्यशेष वाक्य की भी मानान्तर से विरोध होने पर 'सोऽरोदीत्'

मुख्यवृत्तेरनाश्रयणात् । अनन्यशेषेऽपि 'सोमेन यजेत' इत्यादौ वैयधिकरण्येनान्वये विरुद्धत्रिकद्वयापत्त्या सामानाधिकरण्येनान्वये प्रत्यक्षाविरोधाय मत्वर्थलक्षणाश्रीयते । विचारविधायके—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सूत्रे, 'तद्विजिज्ञासस्व' इति श्रुतौ च मानान्तरविरोधेन विध्यन्वयाय जिज्ञासाशब्देन विचारलक्षणायाः, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादौ चामुख्यार्थतायाः स्वीकृतत्वात्, सर्वस्यापि वेदान्तवाक्यस्यावाच्ये ब्रह्मणि लक्षणाया इष्टत्वेनामुख्यार्थत्वनिषेधायोगाच्चान्वयानुपपत्तेस्तात्पर्य्यानुपपत्तेर्वा लक्षणाबीजस्य विध्यविधिसाधारणत्वाच्च । तस्मान्न प्रत्यक्षं शब्दवाच्यमिति चेन्न, भावानवबोधात् । तात्पर्य्यविषयीभूतार्थबोधकत्वमेवामुख्यार्थत्वं न लाक्षणिकत्वमात्रम् । 'सोमेन यजेत' इत्यादिविशिष्टविधेर्विशेषणे तात्पर्य्याभावान्मत्वर्थलक्षणायामपि स्वार्थापरित्यागान्नामुख्यार्थत्वम् । जिज्ञासापदेऽपि सन्प्रत्ययस्य विचारे जहल्लक्षणाभ्युपगमेऽपि शक्यार्थपरित्यागेऽपि विधितात्पर्य्यनिर्वाहान्नामुख्यार्थत्वम् । नहि वाक्यार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या पदमात्रे लक्षणायामपि वाक्यस्यामुख्यार्थत्वम्, प्रतीतार्थस्यानन्यशेषत्वेन मुख्यत्वात् ।

यत्र तु प्रतीत एवार्थोऽन्यशेषत्वेन कल्प्यते, तत्र वाक्यस्यामुख्यार्थत्वमेव । अन्यद्धि पदतात्पर्य्यमन्यच्च वाक्यतात्पर्य्यम्, सैन्धवमानय गङ्गायां वसन्तीत्यादौ वाक्यतात्पर्य्यैक्येऽपि पदतात्पर्य्यभेदात् । विषं भुङ्क्ष्वेत्यादौ पदतात्पर्य्याभेदेऽपि वाक्यतात्पर्य्यभेदात् । विषभोजनमिष्टसाधनमित्येकं वाक्यस्य तात्पर्य्यम् । यदि शत्रोरन्नं भुज्यते

इस वैदिक वाक्य में और 'यजमानः प्रस्तरः' इस वाक्य में जैसे गौणार्थक वृत्ति मानी जाती है, वैसे 'यह गाय खरीदने लायक है, क्योंकि बहुत दूध देती है' इस लौकिक वाक्य में गौणार्थ में वृत्ति नहीं मानी जाती । इसी तरह से 'सोमेन यजेत' इत्यादि अनन्यशेष वाक्य में भी वैयधिकरण्येन अन्वय करने पर विरोधी त्रिकद्वय की आपत्ति उठ खड़ी होने से सामानाधिकरण्य से अन्वय किया जाता है और उस समय प्रत्यक्ष का विरोध न हो इसलिये मत्वर्थलक्षणा का सहारा लिया जाता है । विचार के प्रवर्तक 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस वेदान्तसूत्र में और 'उसको जानो' इस श्रुति में मानान्तर से विरोध होने के कारण विधि के अन्वय के लिये जिज्ञासा पद की विचार में लक्षणा और 'यह सब कुछ ब्रह्म है' यहाँ पर अमुख्यार्थता स्वीकार की जाती है । समस्त वेदान्त वाक्यों की अवाच्य ब्रह्म में लक्षणा अभीष्ट है, अतः अमुख्यार्थता का निषेध नहीं किया जा सकता । अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति होने पर ही लक्षणा का सहारा लिया जाता है, यह बात विधि वाक्य तथा तदितर वाक्यों के लिये समान रूप से लागू होती है । इसलिये शब्द कभी प्रत्यक्ष रूप से वाच्य नहीं होता ।' इसका उत्तर इस प्रकार से दिया जाता है कि प्रश्नकर्ता ने हमारे अभिप्राय को ठीक से नहीं समझा है । हमारा कहना यह है कि केवल लाक्षणिक होना ही अमुख्यार्थता नहीं है, किन्तु तात्पर्य का विषय जो न हो ऐसे अर्थ के बोधक वाक्य को ही अमुख्यार्थ कहते हैं । 'सोमेन यजेत' (सोम विशिष्ट यज्ञ करो) इत्यादि विशिष्ट विधियों का विशेषण में तात्पर्य नहीं है, अतः मत्वर्थ में लक्षणा होने पर भी स्वार्थ का परित्याग नहीं करना पड़ता, इसलिये वे मुख्यार्थ ही हैं, गौणार्थ नहीं । जिज्ञासा पद में सन् प्रत्यय की विचार में जहल्लक्षणा मानने पर भी और शब्दार्थ का परित्याग कर देने पर भी विधि के तात्पर्य का निर्वाह बना रहता है, अतः यहाँ पर भी गौणार्थता नहीं मानी जाती । वाक्यार्थ की अन्यथा प्रतीति न हो, इसके लिये पदमात्र में लक्षणा मानने पर भी वाक्य की गौणार्थता नहीं हो जाती, क्योंकि उससे प्रतीत हो रहा अर्थ किसी अन्य वाक्य का शेषभूत नहीं है, अतः वह गौण न होकर मुख्य अर्थ ही होगा ।

किन्तु जहाँ प्रतीत होने वाला अर्थ अन्य का अंग बन जाता है, वहीं पर वाक्य की अमुख्यार्थता मानी जाती है । पद और वाक्य का तात्पर्य अलग-अलग होता है । 'सैन्धवमानय' (सैन्धव = घोड़ा या नमक), 'गङ्गायां वसन्ति' इत्यादि स्थलों में वाक्य के तात्पर्य की एकता में भी पदों का तात्पर्य भिन्न रहता है । तात्पर्य यह है कि 'सैन्धव लाओ' इस वाक्य का तात्पर्य तो प्रसङ्ग वश 'घोड़ा लाओ' या 'नमक लाओ' ऐसा एक ही होगा, किन्तु सैन्धव पद का तात्पर्य घोड़ा और नमक दोनों में होगा । इसी तरह 'गङ्गा में रहते हैं' इस वाक्य का तात्पर्य तो गङ्गा के किनारे रहते हैं, यह एक ही होगा । किन्तु 'गङ्गा' इस पद के तात्पर्य गङ्गा और गङ्गा-तीर ये दो होंगे । इसी तरह से 'विषं भुङ्क्ष्व' यहाँ पर भी पदों के तात्पर्य के एक रहने पर भी वाक्य का तात्पर्य भिन्न होता

तद् विषं भुङ्क्ष्वेति वाक्यार्थधीद्वारा शत्रोरन्नभोजनमनिष्टसाधनमित्यपरं तात्पर्य्यम्। इयं गोः क्रय्या वहुक्षीरे-त्याद्यप्यवश्यं क्रेतव्येति विधिशेषत्वेन, प्राशस्त्यलक्षणकत्वात्। एवमेव 'सोऽरोदीत्' इत्यस्यापि 'वर्हिषि रजतं न देयम्' इति रजतनिन्दाद्वारा हिरण्यं दक्षिणेति तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वमेव। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यस्यापि 'शान्त उपासीत' इति शमविधिशेषत्वेन नामुख्यार्थता। अत एव मानान्तरविरोध एव लक्षणेत्यपास्तमेव, इयं गौः क्रय्येति प्राशस्त्यलक्षणायां व्यभिचारात्। वस्तुतः परमतात्पर्य्यविषयीभूतार्थप्रतीतिनिर्वाहायैव सर्वार्थवादेषु लक्षणा।

एतावांस्तु विशेषः—विधिप्राशस्त्ये लक्षणातः प्रागर्थवादवाक्यार्थज्ञानम्, तस्य प्रमाणान्तरविरोधे वाध एव। यथा 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादौ। अत एव तत्र गुणवादमात्रम्। प्रमाणान्तरप्राप्तौ त्वनुवादमात्रम्, यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'। अत एव तदुभयत्राप्यवाधिताज्ञातज्ञापकत्वरूपप्रामाण्यानिर्वाहादप्रामाण्यम्। यत्र तु प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधौ न स्तस्तत्र प्रामाण्यशरीरनिर्वाहाद् भूतार्थवादत्वम्। यथा 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्'। सर्वमेतद्देवताधिकरणे स्पष्टम्।

नन्वादित्यो यूप इत्यादौ वाक्यार्थप्रतीत्यर्थमेव लक्षणाङ्गीकारादमुख्यार्थत्वं न स्यादिति चेन्न, आदित्य-सदृशो यूप इत्यर्थपर्य्यवसाने तथात्वेऽपि गुणवृत्त्या प्रतीतस्यापि वाक्यार्थस्य 'यूपे पशुं वध्नाति' इति विधिशेषत्वेन तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वमस्त्येव, तेनैवामुख्यत्वम्। प्रतिहर्त्रुद्गात्रपच्छेदयोस्तु कुत्रचित् प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य सावकाशत्वाद्

है। वाक्य का एक तात्पर्य यह है कि विष भरा भोजन करने से इष्ट की सिद्धि होगी। इसका दूसरा तात्पर्य यह है कि यदि तुमको शत्रु का अन्न खाना है, तो इससे अच्छा है कि तुम विष खा लो। यहाँ पर उक्त वाक्य से यह समझाया जाता है कि शत्रु का अन्न खाना विषमय भोजन के समान अनिष्टकारी है। 'यह गाय खरीदने लायक है' इत्यादि लौकिक वाक्यों का भी तात्पर्य उसके अवश्य खरीद लेने में है, क्योंकि प्राशस्त्यबोधकता के कारण इसकी विधिविशेषता सिद्ध होती है। इसी तरह से 'सोऽरोदीत्' यहाँ पर भी 'बर्हि के द्वारा संपाद्य यज्ञ में रजत दक्षिणा नहीं देनी चाहिये' इस विधि वाक्य के शेष के रूप में रजत की निन्दा सुवर्ण की दक्षिणा की श्रेष्ठता को लक्षित करती है। 'यह सब कुछ ब्रह्म है' यहाँ पर भी 'शान्त उपासीत' इस शम प्रतिपादक विधिवाक्य की शेषता के आधार पर अमुख्यार्थता नहीं बनती। इसलिये प्रमाणान्तर से विरोध होने पर ही लक्षणा होगी, सिद्धान्ततः इस बात को नहीं स्वीकार किया जाता, क्योंकि 'इयं गौः क्रय्या' इत्यादि स्थलों में मानान्तर का विरोध न होने पर भी उसकी प्रशस्तता को बतलाने के लिये लक्षणा मानी जाती है। अतः आपके मत का व्यभिचार स्पष्ट है। वस्तुतः परम तात्पर्य विषयक अर्थ प्रतीति के निर्वाह के लिये ही सभी अर्थवादों में लक्षणा मानी जाती है।

केवल इतना ही अन्तर है—विधि की प्रशंसा में लक्षणा से पहले अर्थवाक्य वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होता है। इसका प्रमाणान्तर से विरोध होने पर बाध हो जाता है। जैसे कि 'प्रजापतिरात्मनो' इस तरह के अर्थवाद वाक्यों में देखा जाता है। इसीलिये यहाँ पर गुणविधि मात्र मानी जाती है। प्रमाणान्तर से प्राप्ति होने पर केवल अनुवाद माना जाता है, जैसे कि 'अग्नि हिम की दवा है' यहाँ पर। उक्त दोनों ही स्थलों में अबाधित और अज्ञात की ज्ञापकता वाले प्रामाण्य का निर्वाह न होने से ये वाक्य स्वार्थ में अप्रमाण माने जायेंगे। जहाँ पर प्रमाणान्तर से प्राप्ति अथवा विरोध इन दोनों की स्थिति नहीं है, वहाँ पर प्रामाण्य का निर्वाह बने रहने से भूतार्थवादता मानी जाती है, जैसे कि 'इन्द्र ने वृत्र के मारने के लिये वज्र उठाया'। ये सारे विषय देवताधिकरण में स्पष्ट है।

प्रश्न उठता है कि 'आदित्यो यूपः' इत्यादि स्थलों में वाक्यार्थ की प्रतीति के लिये ही लक्षणा मानी जाती है, अतः इनकी गौणार्थता नहीं मानी जानी चाहिये। इसका उत्तर यह है कि 'यूप आदित्य के सदृश चमकीला है' इस अर्थ में उक्त वाक्य का पर्यवसान होने पर आपकी बात सही हो सकती है, किन्तु गुणवृत्ति से प्रतीत वाक्यार्थ की 'यूप में पशु को बाँधता है' इस विधि वाक्य के साथ अंगांगिता के कारण यूप की प्रशस्तता के बोधन में लक्षणा भी साथ में है ही। इसीलिये उसकी गौणार्थता मानी जायगी। प्रतिहर्ता और उद्गाता के अपच्छेदों में कहीं पर प्रतिहर्ता के अपच्छेद की सावकाशता के आधार पर एक प्रयोग में दोनों

एकप्रयोग एव विरोधवच्च प्रत्यक्षागमयोरपि प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकप्रामाण्यसावकाशत्वस्य .तात्त्विकत्वांशे विरोधस्य तुल्यत्वान्नोक्तन्यायवैषम्यम्, प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं श्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यमिति तत्परत्वस्य सिद्धत्वात्।

शब्दप्रामाण्ये धर्मकीर्तिचोद्यनिरसनम्

यदुक्तम्—'संकेतकाले सङ्केतयितुर्यत्र नियोक्तुमिच्छा तया यथेष्टं शब्दानां प्रवृत्तिः सिद्धचति। निसर्गसिद्धेष्विच्छावशात् प्रतिपादनायोगादनर्थका एव शब्दाः। पुरुषसंस्कारादेव त्वर्थवन्तः। पुरुषसङ्केतवशादेव च शब्दानां पौरुषेयता, न पुरुषोत्पत्त्या तत एव विप्रलम्भात्। पुरुषादुत्पन्नोऽपि यथाभावं सङ्केतितो न विप्रलम्भको भवति शब्दः। यथा निमेषोन्मेषादिरनर्थकोऽपि यथाभावं पुरुषेण समितो न विप्रलम्भकस्तद्वत्। तस्मादपौरुषेये निवर्तमानः पुरुषः स्वकृतसमयसम्भवामर्थप्रतिभामपि निवर्तयति। तत्कुतः पुरुषनिवृत्त्या सत्यार्थता' इति, तन्न, प्रसिद्धसङ्केतेन व्यवहारोपपत्तेः। तथाहि—नहीदानीन्तनो वक्तृश्रोतृव्यवहारः प्रातिस्विकसङ्केतमूलकः, तथात्वे परस्परानवबोधापत्तेः। वक्तृश्रोतृसम्मतसङ्केतेनैव तु शब्दार्थप्रतिपत्तिर्दृश्यते। नहि कृतकेनैव सङ्केतेन शब्दार्थप्रतिपत्तिरिति राजाज्ञाऽस्ति। ज्ञातेन सङ्केतेनार्थप्रतिपत्तिरिति तु दृश्यते। सङ्केतः कृतकोऽकृतको वेत्यनाग्रहोऽप्रयोजकत्वात्। सङ्केतज्ञानमन्तरा त्वानर्थक्यमनुभूयते। न तु तत्कृतकत्वज्ञानमर्थाववोध उपयुज्यतेऽप्रयोजकत्वादेव। अत एव पुरुषो निवर्तमानोऽपि नार्थप्रतिभां निवर्तयति, अनादिप्रसिद्धसङ्केतज्ञानेनैवार्थप्रतिभासम्भवात्। वृद्धवाक्यैस्तद्व्यवहारैश्च

का प्रामाण्य नहीं माना जाता, उसी तरह से प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण में भी प्रत्यक्ष के व्यावहारिक प्रामाण्य में सावकाश होने से तात्त्विक अंश में इनका विरोध उक्त न्याय के समान ही है। यहाँ पर प्रत्यक्ष आदि का व्यावहारिक प्रामाण्य और श्रुति का तात्त्विक प्रामाण्य मानने में तत्परत्व की सिद्धि हो जाती है।

शब्द प्रामाण्य पर धर्मकीर्ति के आक्षेपों का खण्डन

संकेत काल में वक्ता जिस अर्थ की प्रतीति कराने को इच्छा से शब्द का प्रयोग करता हो, उस अर्थ का हो वह शब्द बोधक होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शब्दों की प्रवृत्ति यथेष्ट हो जाती है। यदि यह बात स्वभावतः सिद्ध मानी जाय तो उसके इच्छाधीन न रहने से किसी में अर्थ के प्रतिपादन में उनकी उपयुक्तता न होने से वे अनर्थक हो जायँगे। शब्द पुरुष के संस्कार के कारण ही अर्थवान् होते हैं। पुरुष के संकेत के अधीन होने से ही शब्दों की पौरुषेयता मानी जाती है, पुरुष से उनकी उत्पत्ति के कारण नहीं, क्योंकि उनमें विप्रलम्भकता तभी आती है, जब कि वे पुरुष से उत्पन्न हों। पुरुष से उत्पन्न हो कर भी अभिप्राय के अनुसार संकेतित शब्द विप्रलम्भक नहीं होता। जैसे कि निमेष और उन्मेष यद्यपि अनर्थक हैं, किन्तु जब वे पुरुष के अभिप्राय से जुड़ जाते हैं तो उनकी सार्थकता मानी जाती है। इसलिये शब्द की अपौरुषेयता से निवृत्त हुआ पुरुष अपने संकेत से उत्पन्न हो रही प्रतिभा से निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार पुरुष की निवृत्ति हो जाने से शब्द को सत्यार्थता कैसे रह जायगी। किन्तु इस प्रतिपादन में कोई सार नहीं है, क्योंकि प्रसिद्ध संकेत से ही व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है। जैसे कि इस समय के वक्ता और श्रोता का व्यवहार व्यक्तिगत संकेत पर अवलंबित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर परस्पर एक दूसरे को अर्थावगति नहीं होने पावेगी। वक्ता और श्रोता दोनों के द्वारा स्वीकृत संकेत से हो शब्द से अर्थ को प्रतीति होती है। कृतक संकेत से ही शब्दार्थ को प्रतीति हो, ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है। परिज्ञात संकेत से अर्थप्रतिप्रति होती है, ऐसा अवश्य देखा गया है। यह संकेत कृतक है या अकृतक, इसमें कोई आग्रह नहीं रहता, क्योंकि इसमें कोई अनुकूल तर्क नहीं है। संकेत ज्ञान के बिना तो आनर्थक्य का अनुभव अवश्य होता है। इसकी कृतकता के ज्ञान का उपयोग भी अर्थावबोध में नहीं होता, क्योंकि इसमें भी कोई अनुकूल तर्क नहीं है। इसीलिये पुरुष के संकेत के निवृत्त होने पर भी अर्थज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि अनादि काल से प्रसिद्ध चले आ रहे संकेत ज्ञान से ही अर्थ का ज्ञान हो जाता है। वृद्धों के वाक्यों से और उनके व्यवहारों से संकेत का ज्ञान होता है, क्योंकि संकेत को अवगति (ज्ञान) के वे ही कारण हैं। संकेत कारण भी अर्थावगति में प्रयोजक नहीं है, क्योंकि अस्मदादि में ऐसा नहीं देखा जाता। वृद्धों ने अपने पूर्व वृद्धों से संकेत का उपदेश सुनकर

सङ्केतोपदेशः, तस्यैव तदवगतिहेतुत्वात्। न तु सङ्केतकरणमपि तत्प्रयोजकमस्मदादिष्वदर्शनात्। ते च वृद्धाः स्वपूर्ववृद्धेभ्यः सङ्केतोपदेशं श्रुत्वोपदिष्टवन्त इत्यनादिवृद्धव्यवहारेणौत्पत्तिकसङ्केतोपदेशेनोपपत्तौ सङ्केतकरण-पूर्वकोपदेशकल्पनाया निष्प्रमाणत्वात्। न च निसर्गसिद्धेष्विच्छावशात् प्रतिपादनायोग इति वाच्यम्, अनिसर्ग-सिद्धेषु सुतरां तदसम्भवात्। यथा मालाकारः स्वानिर्मितान्येव पुष्पाण्याचित्य स्वेच्छया नानाविधानि पुष्पभूषणानि रचयति, तथैवौत्पत्तिकसङ्केतविशिष्टानि पदान्यादाय स्वेच्छया वाक्यप्रयोगे बाधानापत्तेः। यथेदानीन्तनैस्तत्तदर्थसङ्केत-विशिष्टानि स्वनिर्मितान्येव पदान्यादाय स्वेच्छया वाक्यानि निर्मीयन्ते, तथैवान्यदापि स्वेच्छयार्थप्रतिपादने बाधाभावात्। एतेन—'अर्थज्ञापनहेतुर्हि सङ्केतः पुरुषाश्रयः। गिरामपौरुषेयत्वेऽप्यतो मिथ्यात्वसम्भवः॥' (प्र० वा० ३।२२७) इति धर्मकीर्त्युक्तमपास्तम्, सङ्केतस्यापि पुरुषानाश्रयत्वात्।

अर्थज्ञापनहेतोर्हि सङ्केतस्यापि नित्यतः। तद्द्वारा चापि वेदस्य निर्दोषत्वं न भज्यते॥
वर्णानाञ्च पदानाञ्च शक्तेरौत्पत्तिकत्वतः। नित्यं निर्दोषता वेदे गिरामप्यकृतत्वतः॥

अत एव किं ह्यपौरुषेयतया, यतो हि समयादर्थप्रतिपत्तिः, स च पौरुषेयो वितथोऽपि स्यात्, तेन शीलसाधनं स्वर्गवचनमन्यथासमयेन विपर्यासयेत्, तेनायथार्थप्रकाशनस्यापि सम्भवादित्यपि परास्तम्, सङ्केतस्यापि पौरुषेय-त्वानभ्युपगमात्। तदुक्तम्—'शब्दार्थानादितां मुक्त्वा सम्बन्धो नादिकारणम्। अस्ति नान्यदतो वेदे सम्बन्धादिर्न विद्यते॥' इति।

स च सम्बन्धस्त्रिप्रमाणकः। तथाहि—प्रयोजकवृद्धेन प्रयोज्यवृद्धस्यार्थप्रतिपत्तये गामानयेत्यादि-वाक्ये प्रयुज्यमाने व्युत्पित्सुः पार्श्वस्थं प्रयोक्तारं वाचकं वाच्यं च प्रत्यक्षेण प्रत्येति। प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्त्या श्रोतुर्वाच्यार्थ-

उपदेश दिया, इस प्रकार वृद्ध-व्यवहार से औत्पत्तिक (स्वाभाविक = नित्य) संकेत के उपदेश द्वारा अर्थ का ज्ञान सिद्ध हो जाने से संकेत करणपूर्वक उपदेश की कल्पना निष्प्रमाण हो जायगी। निसर्गसिद्ध संकेत का इच्छानुसार वस्तु के प्रतिपादन में उपयोग नहीं हो सकता, यह कहना गलत है, क्योंकि अस्वाभाविक शब्दों में ऐसा प्रतिपादन सुतरां असंभव हो जायगा। जैसे मालाकार अपने द्वारा अनिर्मित पुष्पों को चुनकर उनसे अपनी इच्छा के अनुसार नाना प्रकार के पुष्पों के आभूषण बनाता है, उसी तरह से औत्पत्तिक (स्वाभाविक) संकेत विशिष्ट पदों को लेकर स्वेच्छया नानार्थ प्रतिपादक वाक्यों के प्रयोग में कोई बाधा नहीं है। जैसे आजकल के लोग अपने से अनिर्मित उन अर्थों के संकेत से युक्त पदों से ही स्वेच्छया वाक्य बना लेते हैं, उसी तरह से अन्य समय में भी स्वेच्छया वाक्य निर्माण में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। इसीलिये धर्मकीर्ति (बौद्ध दार्शनिक) की यह उक्ति व्यर्थ हो जाती है कि—'अर्थ के प्रतिपादन में कारणभूत संकेत पुरुषाश्रित हैं, अतः वेद वाक्यों के अपौरुषेय मानने पर वे मिथ्या हो जायगें, क्योंकि यहाँ संकेत पुरुषाश्रित नहीं रहेंगे'। यही बात निम्न श्लोकों में प्रतिपादित है—

'अर्थ की अवगति में कारणभूत संकेत की पारम्परिक नित्यता के कारण वेद की निर्दोषता में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। वर्णों और पदों में रहने वाली शक्ति की स्वाभाविकता नित्य निर्दुष्ट है क्योंकि वेदवाणी नित्य हैं'।

इसीलिये 'अपौरुषेयता से क्या होना-जाना है, क्योंकि अर्थ की प्रतिपत्ति तो संकेत से ही होती है और यह संकेत पौरुषेय है, अत एव मिथ्या भी हो सकता है। इससे शीलसाधन से स्वर्ग की प्राप्ति का प्रतिपादक वचन विपरीत संकेत से विरुद्धार्थक भी हो सकता है, क्योंकि वह अयथार्थ अर्थ का भी प्रकाशन कर सकता है' इस तरह की उक्तियों का भी समाधान हो जाता है, क्योंकि हम संकेत को भी पौरुषेय नहीं मानते। जैसा कि कहा गया है—'शब्द और अर्थ की अनादिता को छोड़कर उनके सम्बन्ध का कोई अन्य कारण नहीं है, अतः वेद में सम्बन्ध भी आदि नहीं है, अर्थात् अनादि है'।

इस संबन्ध की सिद्धि तीन प्रमाणों से होती है। ये तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति। जैसे कि प्रयोजक वृद्ध प्रयोज्य वृद्ध को अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) कराने के लिये 'गाय लाओ' इस तरह के वाक्यों का प्रयोग करता है, तब व्युत्पत्ति की अभि-लाषा वाला (बालक आदि) अपने पास में प्रयोक्ता और प्रयोज्य (गाय लाने की आज्ञा देने वाला और आज्ञा का पालन करने वाला) तथा वाचक और वाच्य (गाय लाओ वाक्य और लाना क्रिया) को प्रत्यक्ष देखता है। प्रयोज्य वृद्ध की प्रवृत्ति से श्रोता के वाच्यार्थ की प्रतीति का

प्रतिपत्तिमनुमिनोति। तदर्थंप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दार्थाश्रितां वाच्यवाचकशक्तिं चार्थापत्त्याऽवगच्छति। तदुक्तम्—'शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति। श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया॥ अन्यथानुपपत्त्या च बुद्ध्येच्छक्तिं द्वयाश्रिताम्। अर्थापत्त्या च बुद्ध्येत सम्बन्धस्त्रिप्रमाणकः॥' इति।

अत्राह धर्मकीर्तिः—'सम्बन्धापौरुषेयत्वे स्यात्प्रतीतिरसंविदः' (प्र० वा० ३।२२८) अर्थात् शब्दार्थयोः सम्बन्धस्यापौरुषेयत्वे संकेतसंविद्विधुरस्याप्यर्थप्रतीतिः स्यात्। यदि त्वकृतसम्बन्धा एव शब्दा न तेष्वर्थेषु पुरुषैरन्यथा विपर्य्यस्यन्ते तर्हि किं सङ्केतेन? स हि सम्बन्धो यतोऽर्थप्रतीतिः। ततो निसर्गसिद्धसम्बन्धात् शब्दादर्थं प्रतिपद्यमानः समयं नापेक्षेत। अपेक्षते च सङ्केतम्। तस्मान्न शब्दानामर्थेन सहापौरुषेयः सम्बन्धो राजचिह्नादिवत्' इति। अत्रोच्यते—निसर्गसिद्धस्यापि सम्बन्धस्याभिव्यक्त्यै वृद्धव्यवहारोपदेशाद्यपेक्षोपपत्तेः। तथाहि विद्यमानोऽपि सम्बन्धो नानभिव्यक्तोऽर्थ-प्रतीतिहेतुरिति वृद्धव्यवहाराद्यभिव्यक्तोऽर्थं प्रत्याययति। न च प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या सम्बन्धकल्पना, प्रतीत्यभावे कथं सम्बन्ध इति वाच्यम्, पूर्वंपूर्वंप्रयोक्तृतोऽर्थप्रतीतेर्दृष्टत्वेन तदभावासिद्धेः। तदुक्तम्—'ज्ञापकत्वाद्धि सम्बन्धः स्वात्मज्ञान-मपेक्षते। तेनासौ विद्यमानोऽपि नागृहीतः प्रकाशकः॥ सर्वेषामभिव्यक्तानां पूर्वंपूर्वंप्रयोक्तृतः। सिद्धः सम्बन्ध इत्येवं सम्बन्धादिर्न विद्यते॥' इति।

ननु 'सङ्केतात्तदभिव्यक्तावसमर्थान्यकल्पना॥' इति धर्मकीर्तिरीत्या सङ्केतेनैवार्थवोधोपपत्तौ सम्बन्ध-कल्पना व्यर्थैवेति चेन्न, सम्बन्धोपदेशातिरिक्तस्य सङ्केतस्यानभ्युपगमात्। सम्बन्धोपदेशातिरिक्तस्य सङ्केतस्यार्थप्रतिपत्तौ

अनुमान करता है। यह अर्थप्रतिपत्ति विना शब्दार्थ की अवगति के नहीं होती, अतः अर्थापत्ति प्रमाण से वह शब्द और अर्थनिष्ठ वाच्य-वाचक शक्ति को जानता है। जैसा कि कहा गया है—'व्युत्पित्सु वाचक शब्द, वृद्ध एवं अर्थ इन तीनों को पहले प्रत्यक्ष प्रमाण से जानता है। इसके बाद वह चेष्टामूलक अनुमान से श्रोता की अर्थावगति को जानता है। यह अर्थावगति शब्द और अर्थ के संबन्ध को माने विना नहीं हो सकती, अतः अर्थापत्ति से वह उनमें संबन्धरूप शक्ति की कल्पना करता है और इस तरह से इन तीन प्रमाणों से वह शब्द, अर्थ और उनके परस्पर संबन्ध को जानने में समर्थ होता है'। इस बात को पहले टिप्पणी में विस्तार से समझाया जा चुका है।

इस पर धर्मकीर्ति का कहना है कि—'यदि शब्द और अर्थ के संबन्ध को अपौरुषेय माना जायगा, तो संकेत ज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति को भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। यदि अर्थ के साथ विना संबन्ध की स्थापना के भी उन अर्थों से शब्दों का विपरीत प्रयोग मनुष्यों द्वारा संभावित न हो तो संकेत की भी इस परिस्थिति में क्या आवश्यकता है? वह संबन्ध जिससे कि अर्थ की प्रतीति होती है, अपनी स्वभावसिद्धता के कारण शब्द से अर्थ की प्रतीति कराते समय संकेत की अपेक्षा न रखता हो, ऐसी बात नहीं है। इसलिये राजचिह्न की तरह शब्दों का अर्थ के साथ अपौरुषेय संबन्ध नहीं माना जा सकता'। इसका उत्तर यह है कि निसर्गसिद्ध संबन्ध की भी अभिव्यक्ति के लिये वृद्ध-व्यवहार, उपदेश आदि की आवश्यकता मानी जाती है, क्योंकि संबन्ध के विद्यमान रहने पर भी, जब तक यह अभिव्यक्त नहीं होता, तब तक अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये वृद्ध-व्यवहार की आवश्यकता है। प्रतीति की अन्यथा उपपत्ति नहीं होगी, अतः प्रतीति की उपपत्ति के लिये संबन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। यह प्रतीति ही जब नहीं है, तो फिर संबन्ध कहाँ से आवेगा? इसका उत्तर यह है कि पूर्व-पूर्व के प्रयोक्ता के आधार पर प्रतीति की अनुभूति परिदृष्ट है, अतः प्रतीति का अभाव किसी प्रकार सिद्ध नहीं होगा। इसी बात को निम्न कारिकाओं में भी कहा गया है—'संबन्ध ज्ञापक है, अतः उसको अपने ज्ञान की अपेक्षा रहती है। यद्यपि वह विद्यमान रहता है, तब भी वह संबन्ध जब तक ज्ञात नहीं होता, तब तक वह अर्थ का प्रकाश नहीं करता। सभी अभिव्यक्त अर्थों की प्रतीति पूर्व-पूर्व प्रयोक्ता के व्यवहार से होती है और इस प्रकार शब्दार्थसंबन्ध की सिद्धि अनादि काल से चली आती है, अतः इस संबन्ध की सादिता में कोई प्रमाण नहीं है'।

प्रश्न उठता है कि 'यदि संकेत से विद्यमान संबन्ध की अभिव्यक्ति मानी जाती है, तो उस परिस्थिति में संकेत से भिन्न संबन्ध की कल्पना व्यर्थ है' धर्मकीर्ति की इस उक्ति के अनुसार संकेत से ही अर्थावगति के हो जाने पर संबन्ध की कल्पना व्यर्थ

अनुपयोगाच्च । स चोपदेशो व्यवहारेण, अस्माच्छब्दादयमर्थो वोद्धव्य इति वाक्येन, अन्यथा वेत्यन्यदेतत् । सम्बन्धरूपश्चेत्संकेतः सोऽप्युपदेशादिना विज्ञात एवार्थप्रकाशकः । तदुक्तमपि—'शक्तिरेव हि सम्बन्धो भेदश्चास्या न दृश्यते । सा हि कार्यानुमेयत्वात्तद्भेदमनुवर्तते ।।' इति ।

एतेन नायोग्ये समयः समर्थः, योग्यता सम्बन्धश्चेत्तत्किं तया शब्दः सम्बन्धीऽस्तु, समर्थं हि रूपं शब्दस्य योग्यता, कार्यकरणयोग्यतावत् । सा चेदर्थान्तरं किं शब्दस्येति शब्दयोग्यतयोः सम्बन्धो वाच्यः, अन्यथा शब्दस्य योग्यता न सिद्ध्येत् । यद्यर्थान्तरभूतायां योग्यतायां शब्दजन्य उपकारो भवतीति शब्दस्य योग्यतेत्युच्यते, इति चेन्न, योग्यताया नित्यनिरतिशयत्वात् । तथात्वे वा शब्दकृतस्य उपकारस्य योग्यतया कः सम्बन्ध इत्यपि वाच्यम् ? अथ तत्राप्युपकारे योग्यतयाऽन्य उपकारः क्रियते, तदा तत्राप्युपकारे यथोक्तविधिनाऽपरापरस्योपकारस्य कल्पनायामतिप्रसङ्गात्, अनवस्थानाच्च । किञ्च, व्यतिरिक्तां योग्यतामुपकुर्वाणः शब्दः स्वरूपेणैवोपकरोति पररूपेण वा ? पररूपेण चेत्, शब्दस्यानुपकारकत्वप्रसङ्गात्, तदा च प्रतीतिजननयोग्यः शब्दस्वभाव एव किं नेष्यते ? किं पारम्पर्येण ? तस्मान्न योगता सम्बन्धः । न च सार्थप्रतीतिहेतुः, समवायादेवार्थप्रतीतेरित्याद्यपास्तम् ।

वाच्यवाचकसम्बन्धो वा शक्तिर्वा संकेतो वा शब्दनिष्ठस्वार्थबोधयोग्यता वा शब्दान्तरनिर्देशो वा यः कोऽपि वा शब्दधर्मोऽभ्युपेतव्यः, स ज्ञात एव बोधे सहकारी भवतीति तज्ज्ञानस्यैवोपदेशादिरपेक्ष्यते, न तु तत्करणमप्य-

होगी । इसका उत्तर यह है कि संबन्ध का उपदेश ही संकेत माना जाता है, इसके अतिरिक्त संकेत की सत्ता नहीं मानी जाती । संबन्ध के उपदेश के अतिरिक्त संकेत का अर्थ की प्रतीति में कोई उपयोग भी नहीं है । वह उपदेश व्यवहार से हो या 'इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिये' इस वाक्य से हो अथवा किसी अन्य मार्ग व्याकरण, कोश आदि से हो, यह दूसरी बात है । यह संकेत संबन्धस्वरूप हो, तब भी उपदेश आदि से ज्ञात होकर ही अर्थ का प्रकाशक हो सकता है । यही बात इस कारिका में कही गई है— 'संबन्ध शब्द की शक्ति ही है और इसमें भेद का दर्शन नहीं होता। यह शब्द की शक्ति कार्य से अनुमित होती है और इस प्रकार कार्यगत भेद की उसमें भी अनुस्यूति हो जाती है' ।

उक्त प्रतिपादन से इस बात का खण्डन हो जाता है कि अयोग्य के प्रतिपादन में समय (संकेत) समर्थ नहीं हो सकता, यदि योग्यता ही संबन्ध है तो क्या उससे शब्द का संबन्ध होगा ? शब्द का समर्थरूप ही योग्यता कहलाता है, जैसे कि कार्य करने की सामर्थ्य होती है । यदि यह अर्थान्तर है तो उसका शब्द के साथ क्या संबन्ध है, यह बताना पड़ेगा । अन्यथा 'शब्द की योग्यता' यह वाक्य संगत न हो सकेगा । यदि यह माना जाय कि अर्थान्तरभूत योग्यता में शब्द से किसी उपकार की उत्पत्ति होती है, अतः यह शब्द की योग्यता मानी जाती है, तो यह गलत होगा, क्योंकि योग्यता नित्य और निरतिशय होती है । यदि आपकी ही बात मान ली जाय तो शब्द के द्वारा किये गये उपकार का योग्यता से क्या संबन्ध है, यह बताना पड़ेगा । यदि यह कहा जाय कि उस उपकार में भी योग्यता से अन्य उपकार की निष्पत्ति होती है, तो उस उपकार में भी उक्त विधि से दूसरे उपकार की स्थिति माननी पड़ेगी और इस प्रकार एक के लिये दूसरे उपकार की कल्पना करने में अतिप्रसंग और अनवस्था भी होगी । यह भी प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अपने से व्यतिरिक्त योग्यता का उपकार शब्द अपने स्वरूप से ही करता है, अथवा पररूप से ? यदि वह पररूप से उपकार करता है तो इस परिस्थिति में शब्द की उपकारता नहीं बनेगी । ऐसी अवस्था में शब्द के स्वभाव को ही प्रतीतिजनन योग्य क्यों न माना जाय ? इसमें परम्परा को क्यों बीच में लाया जाय । इसलिये योग्यता न कोई संबन्ध है और न वह शब्दार्थ की प्रतीति का हेतु ही है, क्योंकि समवाय संबन्ध से ही अर्थ की प्रतीति बन सकेगी, इत्यादि पूर्वपक्षी का प्रतिपादन निरस्त हो जाता है ।

वाच्यवाचक संबन्ध, शक्ति, संकेत, शब्दनिष्ठ स्वार्थबोध योग्यता अथवा शब्दान्तर निर्देश इन सब में से किसी एक को शब्द का धर्म मानना ही पड़ेगा, वह ज्ञात होकर ही शाब्दबोध (शब्द से अर्थ का ज्ञान) में सहायक होता है, इसलिये उसके ज्ञान के लिये

पेक्षितमित्यपौरुषेयत्वमेव तस्य। न च तत्र धर्मधर्मिभावातिरिक्तः सम्बन्धोऽन्वेष्टव्यो निष्प्रयोजनत्वात्। अतो नानवस्थानादिकमपि। अन्यथा बौद्धपक्षेऽपि तथैव पर्यनुयोगस्य सम्भवात्।

यत्तूक्तम्—'अस्यार्थस्यायं शब्दो वाचक इत्यर्थकथनमेव बौद्धमते संकेतः। स च पुरुषवृत्तिर्न शब्दार्थवृत्तिः, अश्वधर्मस्य गवीव पुरुषधर्मस्य शब्दार्थयोरनुपपत्तेः' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, संकेतस्य शब्दार्थसम्पृक्तत्वेन तदनुपकारकत्वापातात्। उपकारकत्वे वाऽसम्बद्धत्वाविशेषादतिप्रसङ्गाच्च।

यत्तूक्तम्—'भिन्नानां सिद्धानां भावानां नोपश्लेषः (अत्र प्रमाणवार्त्तिके मूले टीकायाञ्च रूपश्लेष इति पाठस्तु प्रामादिक एव), सम्बन्धेऽभेदप्रसङ्गात्। न वा पारतन्त्र्यलक्षणः सम्बन्धः, सिद्धे पारतन्त्र्यायोगात्। न वा परस्परापेक्षालक्षणः सम्बन्धः, सिद्धस्य सर्वनिरपेक्षत्वात्' इति, तन्न, बौद्धमते कस्यापि भावस्य स्वतःसिद्धत्वनिरपेक्षत्वयोरसिद्धेः। कार्याणां भिन्नत्वसिद्धत्वयोः सतोरपि कारणाधीनस्थितिगतिप्रवृत्तिमत्त्वेन निरपेक्षत्वादर्शनात्। परस्परभिन्नयोः सिद्धयोरपि रज्जुघटयोरुपश्लेषलक्षणे सम्बन्धे सत्यप्यभेदादर्शनात्। शब्दार्थयोः सम्बन्धाभावे कथञ्च शब्दादर्थप्रतीतिः? कथञ्च शाब्दज्ञानस्यानुमानेऽन्तर्भावोपपादनम्? समयश्चापि तदा किं प्रयोजनः? यदपि च तदाख्यानं समयस्ततः प्रत्यायकत्वसिद्धिः सम्बन्धाख्यानात्, न तु सम्बन्धस्तदप्यस्थाने, सम्बन्धस्यात्यन्तासत्त्वे तदाख्यानवैयर्थ्यात्।

यदप्युक्तम्—अर्थविशेषसमीहा प्रेरिता वाक्, अत इदम् (प्रतिपादनाभिप्रायादिदं वचनमागतमिति) विदुषः स्वनिदानावभासितमर्थं सूचयति। तेनाभिप्रायलक्षणाया बुद्धेर्वाग्विज्ञप्तेश्च जन्यजनकलक्षणः सम्बन्धस्ततः

ही उपदेश आदि की अपेक्षा रहती है। इसमें उसके कारण (उत्पादन) की अपेक्षा नहीं रहती, अतः शब्द का यह धर्म अपौरुषेय (अनादि) माना जा सकता है। यहाँ पर धर्मधर्मीभाव के अतिरिक्त अन्य किसी संबन्ध का अन्वेषण नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होने वाला है। इसीलिये अनवस्था आदि दोष भी नहीं उठेंगे। अन्यथा बौद्ध पक्ष में भी इसी तरह की आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं।

यह कहा जाता है कि 'बौद्ध मत में इस अर्थ का यह शब्द वाचक है, इस तरह से अर्थ का कथन ही संकेत माना जाता है। यह पुरुष में रहता है, शब्द और अर्थ में नहीं। जैसे अश्व का धर्म गाय में नहीं रहता, उसी तरह से पुरुष का धर्म शब्द और अर्थ में कैसे रह सकता है'? यह कथन भी जब तक इस पर विचार नहीं किया जाता है तभी तक सुन्दर प्रतीत होता है, क्योंकि यदि संकेत का शब्दार्थ से कोई संबन्ध नहीं, तो उससे उनका कुछ उपकार कैसे होगा। अब यदि उपकारक मानते हैं तो बिना संपर्क के ही उपकारिता की स्थिति में अतिप्रसक्ति दोष आवेगा।

यह भी कहा जाता है कि 'विभिन्न सिद्ध भावों में परस्पर उपश्लेष लक्षण, (यहाँ प्रमाणवार्त्तिक मूल एवं टीका में 'रूपश्लेष' यह पाठ दिया गया है, वह प्रामादिक है) संबन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें अभेद की आपत्ति उठेगी। पारतन्त्र्य लक्षण संबन्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि सिद्ध वस्तु में पारतन्त्र्य नहीं माना जा सकता। परस्पर अपेक्षा लक्षण संबन्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि सिद्ध वस्तु सर्वनिरपेक्ष होती है'। यह कथन भी इसलिये गलत है कि बौद्ध मत में किसी भी भाव की स्वतः सिद्धता और निरपेक्षता ही सिद्ध नहीं की जा सकती। कार्यों की भिन्नता और सिद्धता को मानने पर भी उनकी स्थिति, गति और प्रवृत्ति कारण के अधीन रहती है, अतः उनमें निरपेक्षता नहीं देखी जाती। परस्पर भिन्न एवं सिद्ध रज्जु और घट इन दो वस्तुओं में उपश्लेष (संयोग) लक्षण संबन्ध के रहते हुए भी अभेद नहीं देखा जाता। शब्द और अर्थ में यदि कोई संबन्ध नहीं है तो शब्द से अर्थ की प्रतीति (ज्ञान) कैसे होती है? शाब्द ज्ञान का अनुमान में अन्तर्भाव भी कैसे हो सकेगा, क्योंकि अनुमान तो संबन्धमूलक है और समय (संकेत) को मानने का भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? यह कहना कि अर्थ के आख्यान को ही समय कहा जाता है और संबन्ध के आख्यान से ही शब्द में प्रत्यायकत्व की सिद्धि होगी। इस प्रकार यहाँ पर संबन्ध की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सब भी बिना प्रसंग की ही उक्ति मानी जायगी, क्योंकि जब संबन्ध का अत्यन्त अभाव है तो उसके आख्यान का प्रयोजन ही क्या है?

यह भी कहा जाता है कि 'अर्थविशेष को बताने की इच्छा से प्रेरित वाणी इस शब्द से इस अभिप्राय की अभिव्यक्ति होती है (प्रतिपादन के अभिप्राय से यह वचन आया है), ऐसा जानने वाले व्यक्ति को अपने कारण अभिव्यक्त हो रहे अर्थ की प्रतीति

शब्दादर्थप्रतिपत्तिरविनाभावादिति, तदपि निरर्गलम्, यस्य कस्यापि सम्बन्धस्य गले पतितत्वात्। तदिदं घट्टकुटी-प्रभातायितम्, शब्दादनन्तरमर्थप्रतीतेः। शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकत्वलक्षणस्यैव सम्बन्धस्य लाघवेन स्वीकार्यत्वात्। एतेन पदादर्थप्रतीतिर्यद्यप्यनुमानम्, वाक्यात्त्वर्थप्रतीतिः प्रमाणान्तरम्, सम्बन्धाग्रहान्नात्राविनाभाव उपयोगोऽस्त्यपि सम्यगेव। यत्तु नाविनाभावमन्तरेण वाच्यवाचकभावसम्भव इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, वाक्यवाक्यार्थयोर्वाच्य-वाचकभावानभ्युपगमात्, पदजन्यपदार्थबोधस्यैव वाक्यार्थबोधजनकत्वात्। इदं पदमेतदर्थसमीहया प्रयुज्यत इति पदपदार्थयोः सम्बन्धग्रहेऽपि पदसन्दर्भात्मकस्य वाक्यस्यापूर्वत्वान्न तस्यार्थेन ततः पूर्वं सम्बन्धग्रह इति कथं तेन वाक्यार्थानुमानम्? यत्तूक्तम्—उपचारेण समयस्य सम्बन्धाख्यानात् सम्बन्धव्यपदेशः, न तु पुनः स एव मुख्यः सम्बन्ध इति, तदपि निरालम्बनम्, सम्बन्धस्यौपचारिकत्वे तेनार्थबोधस्याप्यौपचारिकत्वापातात्।

एतेन समयः प्रतिमर्त्यं प्रत्युच्चारणं वा सृष्ट्यादौ केनचित् पृथक् सकृदेव वा कृत इत्यपि वक्तव्यम्। नाद्यः, तथाऽदर्शनात्, गौरवाच्च। नान्त्यः, सृष्टिकर्तुरीश्वरस्य बौद्धमतेऽनङ्गीकारात्, अन्यस्य सर्वपदतदर्थविदः सर्वोपदेश-क्षमस्याप्यनभ्युपगमात्, प्रमाणानुपलम्भाच्च, पदतदर्थसम्बन्धज्ञानविधुराणां पदैः सम्बन्धोपदेशासम्भवाच्च। नाप्यभिनयैस्तत्सम्भवः, अनन्तानामर्थानां मुखनेत्रनिकोचहस्तविक्षेपादिलक्षणैरभिनयैरपि तदसम्भवाच्च।

कराती है। इससे यह प्रतीत होता है कि अभिप्रायलक्षण बुद्धि और वाणी की विज्ञप्ति में जन्यजनकभाव लक्षण संबन्ध है। इससे अविनाभावेन अर्थ की प्रतीति हो जाती है' यह कथन भी अनर्गल है, क्योंकि इस तरह से तो कोई न कोई संबन्ध जरूर गले पड़ ही जायगा। इस प्रकार यह प्रतिपादन 'घट्टकुटीप्रभात न्याय का उदाहरण बन जायगा। शब्द के उच्चारण के बाद ही अर्थ की प्रतीति होती है, अतः शब्द और अर्थ का वाच्यवाचक लक्षण संबन्ध ही स्वीकार किया जाय, इसी में लाघव है। इसीलिये 'पद से अर्थ की प्रतीति यद्यपि अनुमान के अन्तर्गत आ जाती है, किन्तु वाक्य से अर्थ की प्रतीति को प्रमाणान्तर ही मानना पड़ेगा, यहाँ पर संबन्ध का ग्रहण नहीं हो पाता, अतः अविनाभाव का यहाँ उपयोग नहीं हो सकता' यह कथन ठीक ही है। अविनाभाव के विना वाच्यवाचकभाव नहीं बन सकता, यह कथन इसलिये गलत है कि वाक्य और वाक्यार्थ का वाच्यवाचकभाव माना ही नहीं जाता। किन्तु पद से होने वाला पदार्थ का ज्ञान ही वाच्यार्थ के ज्ञान का कारण होता है। यह पद इस अर्थ को बोधित करने की इच्छा से प्रयुक्त हुआ है, यह तरह से पद और पदार्थ का संबन्ध गृहीत हो जाने पर भी पदसमूह रूप वाक्य की अपूर्वता के कारण वाक्य के साथ इससे पहले संबन्ध का ग्रहण नहीं होगा तो उससे वाक्यार्थ का अनुमान कैसे हो सकता है? इसलिए शब्द प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं कर सकते। उपचार (लक्षणा) से समय को संबन्ध कह दिया जाता है, वस्तुतः वह मुख्य संबन्ध नहीं होता' यह कथन भी निराधार है, क्योंकि यदि संबन्ध को औपचारिक माना जायगा तो उससे हुए अर्थबोध की भी औपचारिता ही मानी जायगी।

समय को मानने वाले को यह भी बताना पड़ेगा कि प्रत्येक मनुष्य के प्रत्येक उच्चारण के लिए समय का विधान पृथक्-पृथक् किया गया या सृष्टि के आदि में किसी ने एक बार ही इसका विधान कर दिया? इसमें पहला पक्ष इसलिए नहीं बनेगा कि ऐसा देखा नहीं गया है, ऐसा मानने में गौरव भी है। अन्तिम पक्ष इसलिए नहीं बनेगा कि बौद्ध मत में सृष्टि कर्ता ईश्वर को माना नहीं गया है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति भी ऐसा नहीं माना गया है कि जिसको सभी पदों और उनके अर्थों का ज्ञान हो और जो सभी प्राणियों को इनका उपदेश करने में समर्थ हो। इस तरह के व्यक्ति की सत्ता में कोई प्रमाण भी नहीं है। पद और पदार्थ के संबन्ध के ज्ञान से शून्य व्यक्ति पदों से संबन्ध का उपदेश कर भी नहीं सकते। अभिनय से भी ऐसा संभव नहीं हो सकता, क्योंकि अनन्त अर्थों का प्रतिपादन मुख और नेत्र के संकोच अथवा हाथ की विभिन्न क्रियाओं के अभिनय से कभी संभव नहीं होगा।

---

१. टोल टैक्स बचाने के लिये कोई व्यक्ति दिन भर स्टेशन अथवा मोटर स्टैण्ड पर ही पड़ा रहा। रात में वह इसलिये निकला कि अब कोई देखेगा नहीं, टैक्स नहीं देना पड़ेगा। किन्तु रात्रि के अन्धेरे के कारण वह रास्ता भूल गया और रात भर भटकते-भटकते सबेरा होने पर वह ठीक चौकी चुंगी पर ही पहुँच गया। इसी तरह संबन्ध से पिण्ड छुड़ाने के लिये आपने इतनी उखाड़-पछाड़ की, किन्तु संबन्ध गले पड़ ही गया। घट्टकुटी = चौकी चुंगी।

यत्तु तत्र धर्मकीर्तिः—

सर्वेषां सविपक्षत्वान्निर्ह्रासातिशयाश्रिताः । सात्मीभावात्तदभ्यासाद्धीयेरन्नाश्रवाः क्वचित् ।। (प्र० वा० ३।२२१)

यद्यपि प्रहीणाश्रवो दुर्ज्ञानः, दोषा हि निर्ह्रासातिशयधर्माणो विपक्षाभिभवोत्कर्षापकर्षं साधयन्ति, ज्वालादिवत् । ते हि विकल्पप्रभवाः, सत्यप्युपादाने कस्यचिन्मनोगुणस्याभ्यासादपकर्षिणः, तत्पाटवे निरन्वयविनाशधर्माणः स्युः, ज्वालादिवदेव । यथा ज्वालादयः प्रतिपक्षस्योदकादेरुत्कर्षे सत्यत्यन्तविनाशधर्माणस्तद्वत् । ये यदुपधानादपकर्षिणस्ते तदत्यन्तवृद्धौ तदभिभवान्निरन्वयविनाशधर्माणः । तद्यथा ज्वालादयः सलिलाभिवृद्धौ । नैरात्म्यदर्शनोपधानाच्चापकर्षधर्माणो दोषा इति स्वभावहेतुः । ततो निर्दोषोऽपि भवत्येव कश्चित् पुरुषधौरेयः । न च दोषविपक्षसात्मत्वेन प्रज्वलितवह्निसात्कलमाङ्कुरवन्निर्दोषताया अवस्थानमप्यसंभवीति कार्यक्षमत्वं तु दूरापेतमिति वाच्यम्, अदोषात् । तत्रेदमुत्तरम्—

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः । न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ।। (प्र० वा० ३।२२२)

अयमर्थः—निरुपद्रवभूतार्थविषयस्य विपर्ययैः सोपद्रवाभूतार्थस्वभावैर्दोषैर्न बाधनम्, सात्मीभूतमपि मार्गमभिभूय न दोषाणामुत्पत्तिः संभवति, दोषप्रतिपक्षभूते गुणवति नैरात्म्यमार्गे बुद्धेः पक्षपाततो मानातिशयात् प्रतिपक्ष एव यत्नाधानात् ।

अहं ममेति पश्यत आत्मीयत्वेनाभीष्टविषये स्नेहः, ततो द्वेषादिः, आत्मात्मीयानुपरोधिन्युपरोधप्रतिघातिनि तददर्शनात् । तस्मात् समानजातीयाभ्यासजमात्मदर्शनमात्मीयग्रहं प्रसूते, तौ च तत्स्नेहम् स द्वेषादीनि । तदुक्तम्—

इस पर धर्मकीर्ति कहते हैं कि—'सभी राग आदि आस्रव (धर्माधर्म) प्रति पक्ष की सत्ता के कारण अतिशय उपचयोन्मुख तथा अपचयोन्मुख होते रहते हैं। प्रतिपक्ष के सम्यग् अभ्यास से किसी चित्तसन्तान में ये आस्रव सर्वथा समाप्त भी हो सकते हैं'। यद्यपि इस तरह के प्रहीण आस्रव वाले व्यक्ति को पहचानना कठिन है, क्योंकि दोष अतिशय-ह्रास धर्मा जब होते हैं, अर्थात् कभी वे कम हो जाते हैं, और कभी बढ़ जाते हैं, तो वे अग्नि को ज्वाला के समान विपक्ष के अभिभव के उत्कर्ष और अपकर्ष के ही साधक होते हैं। क्योंकि ये दोष विकल्पों से पैदा होते हैं। उपादान के रहते हुए भी किसी विशेष मन में गुणों के अभ्यास से ये दोष अपकर्ष को प्राप्त करते हैं और अभ्यास में पटुत्व आ जाने के कारण इनका निरन्वय विनाश भी हो जाता है। जैसे कि अग्नि की ज्वाला अपने प्रतिपक्षी जल आदि पदार्थों की अधिकता होने पर अत्यन्त शान्त हो जाती है। जो वस्तु जिस वस्तु की संनिधि पाकर अपकर्ष की ओर बढ़ती है, वह उसकी अत्यन्त वृद्धि हो जाने पर अभिभूत होकर निरन्वय विनाश को प्राप्त करती है, जैसे कि सलिल की अभिवृद्धि होने पर ज्वाला का निरन्वय विनाश हो जाता है। नैरात्म्य दर्शन के अभ्यास से इसी तरह स्वाभाविक रूप से दोष भी निरन्वय विनाश को प्राप्त करते हैं, अतः ऐसा कोई पुरुषश्रेष्ठ भी हो सकता है, जिसमें कि दोषों का सर्वथा प्रक्षय (अभाव) हो गया है। यदि उक्त प्रतिपादन में यह आपत्ति उठाई जाय कि दोषों का विपक्ष से सात्मीभाव हो जाने पर प्रज्वलित वह्नि से भस्म हुए कलमांकुर (धान के पौधे) की तरह निर्दोषता की कहीं स्थिति हो नहीं होगी, उसका कार्यक्षय होना तो बहुत दूर की बात है, तो यह आपत्ति दोषावह नहीं है। इसका उत्तर ऊपर कारिका में दिया गया है। इस कारिका का अभिप्राय यह है कि दोषों से असंस्पृष्ट सिद्ध वस्तु विषयक ज्ञान का दोष सहित असिद्ध स्वभाव वाले विपर्ययों से बाध नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि निरुपद्रव भूतार्थविषयक ज्ञान का ही पक्षपात करती है। एक बार जिसको रज्जु में सर्प के भ्रम की निवृत्ति हो गई, वह पुनः उस भ्रम में नहीं पड़ता। इसी तरह से दोषों से अनुपद्रुत स्वाभाविक मार्ग के एक बार खुल जाने पर पुनः दोषों की उत्पत्ति और उससे सात्मीभाव का अभिभव नहीं हो सकता, क्योंकि दोषों के प्रतिपक्षी गुणवान् नैरात्म्य मार्ग की तरफ बुद्धि का पक्षपात रहता है, अर्थात् बुद्धि इस मार्ग का अधिक संमान करती है, इस स्वाभाविक मार्ग की ओर ही झुकती है, वह दोषों के परिहाण (नाश) की ओर ही अधिक प्रयत्नशील रहती है।

यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस तरह का विचार करने वाले व्यक्ति को आत्मीय रूप से अभिमत वस्तु में स्नेह और अनभीष्ट वस्तु में द्वेष बुद्धि उत्पन्न होती है और जिसको यह आत्मा और आत्मीय दृष्टि बाधित नहीं करती, उसमें ये राग-द्वेष भी नहीं रहते। इसलिए समानजातीय अभ्यास से उत्पन्न आत्मदर्शन आत्मीय आग्रह को उत्पन्न करता है और इनसे स्नेह-द्वेष आदि की सृष्टि

सर्वासां दोषजातीनां जातिः सत्कायदर्शनात् । साऽविद्या तत्र तत् स्नेहस्तस्माद् द्वेषादिसंभवः ।। (प्र०वा० ३।२२३)

एवं सत्कायदर्शनजन्मनां दोषाणां तत्प्रतिपक्षनैरात्म्यदर्शनाभ्यासात् प्रहाणं भवति । प्रक्षीणदोषस्य तथागतस्य लोकदुःखकातरस्योपदेश एवागम इति, तन्न, नैरात्म्यदर्शनाभ्यासस्य दोषक्षयहेतुत्वज्ञानेन नैरात्म्यदर्शनाभ्यासे प्रवृत्तिः, नैरात्म्यदर्शनाभ्यासपरिपाके च दोषक्षयात्तज्ज्ञानोपपत्तिरित्यन्योन्याश्रयात् । अर्थात् धर्मानुष्ठानेन दोषक्षयात् सार्वज्ञ्यलाभः, सार्वज्ञ्यलाभे च धर्मज्ञानमिति स्फुटोऽन्योन्याश्रयः । तथागतस्य मार्गलाभात् पूर्वमेव दोषक्षयोऽपेक्षित इति तद्धेतुत्वेनान्यस्यैव कस्यचिद्धर्मस्याभ्युपेतव्यत्वेनानादेर्वैदिकस्यैव धर्मस्य तद्धेतुत्वमभ्युपेतव्यम् । तथा च तदुपजीव्यस्य सार्वज्ञ्यस्य न तद्विरोधिमार्गभासकत्वं संभवत्युपजीव्यविरोधादेव ।

अपि च, आत्मा आत्मीयश्च कश्चन न विद्यते, सर्वं क्षणिकं सर्वं शून्यमित्यादिदर्शनमेव नैरात्म्यदर्शनम् । तच्च न दोषापनोदकम्, आत्मोच्छेदवादिनामपि तथात्वप्रसङ्गात् । विपरीतमेव तु दृश्यते । प्रवदन्ति खलु चार्वाकाः—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

इदानीन्तनास्तु हत्वा हत्वा सुरां पिबेदित्यपि वदन्ति । नित्यस्यैवात्मनः स्वर्गनरकादिसम्बन्धः सम्भाव्यते, तत एव स्वर्गादिजनके धर्मे प्रीतिः, नरकादिजनकेऽधर्मे विरतिः सम्भाव्यते । स्वाभाविको विषयेष्वभिष्वङ्ग आत्मपुरुषार्थप्रतिबन्धकत्वेन । तन्निरसनाय प्रयत्यते । नास्ति चेदात्मा कस्य पुरुषार्थोऽभिप्रेतः ? दुःखनिवृत्तिरपि कस्याभिप्रेता ? क्षणिकस्य किमुद्दिश्य विषयसुखतदभिष्वङ्गनिरसने प्रवृत्तिः स्यात् ?

होती है । जैसा कि इस कारिका में कहा गया है—'सभी प्रकार के दोषों का जन्म सत्कायदर्शन अर्थात् आत्मा-आत्मीय अभिनिवेश से होता है । यह सत्कायदर्शन ही अविद्या कहलाती है । इससे आत्मीय में स्नेह तथा विपरीत में द्वेष बुद्धि उत्पन्न होती है' । इस सत्कायदर्शन से उत्पन्न हुए दोषों का नाश सत्कायदर्शन के प्रतिपक्षभूत नैरात्म्यदर्शन के अभ्यास से होता है । इस तरह से प्रक्षीण दोष वाले लोगों के दुःख से कातर भगवान् तथागत के उपदेश ही आगम है । धर्मकीर्ति का उपर्युक्त पूरा प्रतिपादन गलत है, क्योंकि नैरात्म्यदर्शन के अभ्यास से दोषों का क्षय होता है, ऐसा ज्ञान होने पर नैरात्म्यदर्शन के अभ्यास में प्रवृत्ति होगी और नैरात्म्यदर्शन के अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर दोषों का ज्ञान हो जाने पर उक्त ज्ञान की उत्पत्ति होगी, इस प्रकार यहाँ पर परस्पराश्रय दोष उपस्थित है । अर्थात् धर्मानुष्ठान से दोषों के क्षीण होने पर सर्वज्ञता का लाभ होगा और सर्वज्ञता का लाभ होने पर धर्म का ज्ञान होगा, यहाँ स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय दोष है । तथागत बुद्ध के मार्गलाभ से पहले ही दोषों का क्षय अपेक्षित है, अतः इस दोषक्षय के कारण के रूप में उक्त धर्म से भिन्न किसी अन्य धर्म को ही कारण मानना पड़ेगा और यह अनादिसिद्ध वैदिक धर्म ही हो सकता है । इस तरह वैदिक धर्म को अपना आश्रय मानने वाली तथागत में वर्तमान सर्वज्ञता वेदविरोधी मार्ग की प्रकाशक कभी नहीं बन सकती, क्योंकि इसमें उपजीव्य विरोध की आपत्ति उठ खड़ी होगी ।

उक्त सिद्धान्त को मानने में एक दूसरी आपत्ति भी है । सब कुछ क्षणिक है, सब कुछ शून्य है, इस तरह की दृष्टि ही नैरात्म्यदर्शन कही जाती है । इसके अनुसार आत्मा और आत्मीय यह कुछ भी नहीं है । तब यह दोषों के परिहारक कैसे हो सकते हैं । यदि ऐसा मान लिया जाय तो आत्मा का सर्वथा उच्छेद (अभाव) मानने वाले चार्वाकों में भी नैरात्म्यदर्शन के आधार पर दोषों का प्रहाण मानना चाहिए, किन्तु चार्वाक की दृष्टि इसके विपरीत ही देखने को मिलती है । उनका कहना है कि—'जब तक जीना है सुखपूर्वक जीना चाहिए, भले ही ऋण करके भी घी पीने को मिले । देह जब भस्म हो जायगा तो फिर उसको लौटकर थोड़े ही आना है' । आजकल के नये चार्वाकों का तो कहना है कि किसी को मारकर और लूट करके भी शराब पीनी चाहिए । अतः नित्य आत्मा को मानने पर ही उसका स्वर्ग, नरक आदि से संबन्ध संभव हो सकता है और ऐसा मानने पर ही स्वर्ग आदि के जनक धर्म में प्रीति एवं नरक आदि के जनक अधर्म से विरति (वैराग्य = निवृत्ति) हो सकती है । नाना प्रकार के विषयों में मन का लगाव स्वाभाविक है और यह आत्मा को पुरुषार्थ की प्राप्ति से रोकता है । मन की इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही प्रयत्न अपेक्षित रहता है । यदि आत्मा ही नहीं है तो यह पुरुषार्थ किसके लिए किया जाता है और किसकी दुःखनिवृत्ति अपेक्षित है ? यदि इसको क्षणिक माना जाय तो किस उद्देश्य से विषय सुखों से इसके लगाव को रोकने की प्रवृत्ति होगी ? क्योंकि यह तो स्वयं ही क्षणिक होने से अपने आप नष्ट हो जायगा ।

अपि च, कस्यचित्सर्वज्ञत्वसंभवेऽपि विशेषानिर्णय एव। तत्तदनुयायिसंमतसर्वज्ञत्वं तु समेषां संप्रदाय-प्रवर्तकानाम्। सर्वसंमतं तु न कस्यचिदपि। समेषां सार्वज्ञ्ये विप्रतिपत्तयो न भवेयुः। दृश्यन्ते च तास्तेषु।

किञ्च, निरुपद्रवभूतार्थस्वभावत्वं ज्ञानस्य सत्तत्त्ववादिनां स्यादपि, सर्वं क्षणिकं सर्वं शून्यमिति नैरात्म्य-वादिनां तु नैरात्म्यस्याभावपर्यवसायिनः कुतो भूतत्वं कुतस्तरां ज्ञानस्य भूतार्थस्वभावत्वं कुतस्तमां निरुपद्रवभूतार्थ-स्वभावत्वम्। तस्मादपौरुषेयत्वेन मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यैव प्रामाण्यमिति मन्तव्यम्।

तत्र यथार्थप्रतिपादकत्वं शब्दस्य निसर्गसिद्धः स्वभावः। अयथार्थप्रतिपादकत्वं त्वौपाधिकम्। यथाऽऽलोकादिसहकारिसहकृतस्य चक्षुषो रूपाद्यवभासकत्वम्, तथैव विदितपदतदर्थशाब्दन्यायसतत्त्वपुरुषापेक्षस्य शब्दस्यापि स्वार्थाववोधकत्वम्। तत्र पौरुषेयेषु शब्देषु वक्त्रधीनदोषोद्भवसंभवेऽपि तदभावादपौरुषेयेषु स्वत एव प्रामाण्यम्।

तत एव बाधकारणदोषज्ञानाभावान्नाप्रामाण्यशङ्कापि। वेदादर्थावगतेरेव नानुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यमपि शक्यशङ्कम्, संशयाप्रतिभासनात्। नापि संशयलक्षणस्याप्रामाण्यस्य संभावना। तदुक्तम्—

तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी। वेदे तेनाप्रमाणत्वं नाशङ्कामपि गच्छति॥

यत्तूक्तं प्रमाणान्तरसंवादाभावान्न वेदप्रामाण्यम्, तन्न, तस्यालङ्कारत्वेनादोषात्। अनधिगतगन्तृत्वेन खलु प्रमाणानां प्रमाणत्वम्, अन्यथाऽनुवादकत्वेनाप्रामाण्यापातात्। तथापि नान्यप्रमाणैर्वेदार्थस्याग्रहेणाप्रामाण्यम्,

दूसरी बात यह है कि कोई एक सर्वज्ञ हो भी सकता है, किन्तु व्यक्तिविशेष की सर्वज्ञता का निर्णय होना कठिन है। सभी सम्प्रदायों के प्रवर्तक महापुरुषों को उनके अनुयायी सर्वज्ञ मानते हैं। सर्वसंमत सर्वज्ञता किसी में नहीं है। यदि सभी सर्वज्ञ माने जायें तो इनसे परस्पर विरुद्ध बातें नहीं होनी चाहिए, किन्तु सभी सर्वज्ञ एक दूसरे से सर्वथा विपरीत बातों का उपदेश देते देखे गये हैं।

अपि च, सत्तत्त्ववादी दार्शनिकों के मत में ज्ञान की निरुपद्रुत वास्तविक स्वभावता मानी जा सकती है। सब कुछ क्षणिक है, सब कुछ शून्य है, इस तरह के नैरात्म्यवाद को मानने वाले बौद्ध दार्शनिकों के मत में वास्तविकता, ज्ञान की वास्तविक वस्तुस्वभावता और निरुपद्रुत वास्तविक स्वभावता का प्रसंग ही कहाँ उठ सकता है, क्योंकि नैरात्म्यदर्शन का अभाव में ही तो पर्यवसाय होता है। अतः मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय वेद को ही प्रमाण माना जा सकता है।

शब्द की यथार्थ प्रतिपादकता उसका निसर्गसिद्ध स्वभाव है। उसकी अयथार्थ प्रतिपादकता औपाधिक है। जैसे प्रकाश प्रभृति सहकारी कारणों से संयुक्त चक्षु रूप आदि का अवभासक (ज्ञान कराने वाला) होता है, उसी तरह से शब्द भी अपने अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ है, जब कि पुरुष को पद, पदार्थ, शाब्दन्याय आदि का भली भांति ज्ञान हो। अर्थात् अर्थ के प्रकाशन में ये शब्द के उसी प्रकार से सहायक होते हैं, जैसे कि रूप आदि के प्रकाशन में प्रकाश चक्षु का सहायक होता है। पौरुषेय शब्दों में वक्तृनिष्ठ दोषों के उत्पन्न हो जाने की संभावना रहती है, अपौरुषेय वेद में इनका सर्वथा अभाव है, अतः वेद का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

इसीलिए वेद में बाध के कारण दोषज्ञान के सर्वथा अभाव रहने से अप्रामाण्य की आशंका भी नहीं उठेगी। वेद से अर्थों का ज्ञान हो जायगा, इसीलिए अनुत्पत्ति रूप अप्रामाण्य को भी वहाँ प्रसक्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ संशय उत्पन्न ही नहीं होगा, अतः संशयप्रयुक्त अप्रामाण्य की भी संभावना नहीं करेगी। यही बात इस कारिका में कही गई है—

'वेद में सभी प्रकार के अपवादों, आक्षेपों का परिहार बड़ी सरलता से इसलिए हो जायगा कि इसका कोई वक्ता नहीं है। वक्ता के अभाव के कारण ही इसमें वक्तृनिष्ठ दोषों का परिहार स्वतः हो जाता है। इसी कारण से वेद में अप्रामाण्य की कोई आशंका

रसस्य रसनैकग्राह्यस्येव तदुपपत्तेः। तदुक्तम्—

न चान्यैरग्रहेऽर्थस्य स्यादभावो रसादिवत्। तद्धियैवार्थबोधश्चेत्तादृग्धर्मे भविष्यति ॥

ममासिद्धमितीदं चेद्वेदाज्ज्ञातेऽवबोधने। वक्तुं न द्वेषमात्रेण युज्यते सत्यवादिना ॥ इति।

अत्र धर्मकीर्तिः—

गिरां सत्यत्वहेतूनां गुणानां पुरुषाश्रयाद्। अपौरुषेयं मिथ्यार्थं किन्नेत्यन्ये प्रचक्षते ॥ (प्र० वा० ३।२२६)

गिरां सत्यत्वहेतूनां गुणानां पुरुषाश्रयत्वेनापौरुषेयेषु वाक्येषु पुरुषनिवृत्त्या गुणनिवृत्तेस्तत्कार्य्यस्य सत्यत्वस्यापि निवृत्तिरिति तदभिमानः। अथवा पुरुषनिवृत्त्या सत्यार्थत्वमिथ्यार्थत्वयोर्निवृत्त्याऽऽनर्थक्यादनुत्पत्तिलक्षणमेवाप्रामाण्यम्।

यथा रागादिमान् मृषावादी दृष्टस्तथा दयाधर्मादिमान् सत्यवाक्। तेन यथा वचनस्य पुरुषाश्रयान्मिथ्यार्थता तथा सत्यार्थतापि। नहि शब्दाः स्वतोऽर्थवन्तः, समयसापेक्षत्वात्। समये तदिच्छाप्रणयनात्, निसर्गसिद्धेष्विच्छावशात् प्रतिपादनात्, तेन पुरुषसंस्कारादर्थवन्तः स्युः। संस्कार्य्यतैव चैषां पौरुषेयता, नोत्पत्तिः। तत एवार्थविप्रलम्भात्। उत्पन्नोऽप्यन्यथा समितो नोपरोधी। यथा शब्दादन्यः पुरुषधर्म उन्मेषनिमेषादिः स्वतोऽनर्थकोऽपि यथाभावं पुरुषेण समितो न विप्रलम्भकस्तद्वत्।

नहीं उठ सकती'। यह कहना भी गलत है कि किसी अन्य प्रमाण से वेद प्रतिपादित सिद्धान्तों की पुष्टि न हो पाने से वे अप्रमाण हैं, क्योंकि यही तो वेद का वैशिष्ट्य है। वेद के लिए यह दूषण न होकर भूषण है कि वेद प्रतिपादित सिद्धान्तों तक अन्य प्रमाण पहुँच ही नहीं पाते। प्रमाणों की प्रमाणता इसी में है कि वे सर्वथा नवीन, पूर्वकाल में अन्य किसी प्रमाण से अनधिगत (अज्ञात) वस्तु की अधिगति (ज्ञान) करावें। ऐसा न होने पर वे अनुवादकमात्र, अत एव अप्रमाण मान लिए जायेंगे। अतः अन्य प्रमाणों से वेदार्थ के अधिगत न होने पर भी उनमें अप्रमाणता नहीं आयेगी। रस जैसे केवल रसनेन्द्रिय से गृहीत होता है, उसी तरह से वेदार्थ भी केवल वेद से ही अधिगत होता है, इसमें क्या आपत्ति हो सकती है। यही बात निम्न कारिकाओं में भी कही गई है—

'अन्य प्रमाणों से वेदार्थ की प्रतिपत्ति नहीं है तो इससे उसका अभाव नहीं मान लिया जायगा। इसकी उपपत्ति उसी प्रकार की जा सकती है, जैसे कि रस की अन्य प्रमाणों से प्रतिपत्ति न होने पर भी केवल रसनेन्द्रिय से भी उसकी उपपत्ति मानी जाती है। वेद से ही शब्दार्थ की उपपत्ति मान लेने से धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान भी उसी से हो सकेगा। यदि आप कहें कि हम इसको नहीं मानते तो आपका यह कथन केवल द्वेष प्रयुक्त है, क्योंकि वेद से जब आपको भी शब्दार्थ का ज्ञान होता है तो आपकी इस तरह की उक्ति सही नहीं मानी जा सकती'।

इस पर धर्मकीर्ति का कहना है कि—'वाणी की सत्यता के कारण पुरुषाश्रित दया, धर्म आदि गुण हैं, अतः अपौरुषेय वाक्यों में इनका अभाव होने से वेदवाक्य मिथ्या वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा बौद्धों का कहना है'। वाणी की सत्यता के कारणभूत गुण पुरुष में रहते हैं। अपौरुषेय वाक्यों में पुरुष की निवृत्ति के साथ गुण भी जब निरस्त हो जाते हैं तो उनके कार्य सत्यता की भी निवृत्ति हो ही जायगी, ऐसा बौद्धों का कहना है। अथवा पुरुष की निवृत्ति के साथ ही सत्यार्थत्व और मिथ्यार्थत्व दोनों की निवृत्ति हो जाने से अब कोई प्रयोजन नहीं बचता, अतः अपौरुषेय वाक्यों की अनर्थकता के कारण अनुत्पत्ति लक्षण अप्रामाण्य वेद में माना जायगा।

जैसे राग आदि से युक्त व्यक्ति मिथ्यावादी देखा जाता है, उसी तरह से दया, धर्म आदि से युक्त व्यक्ति सत्यवादी देखा जाता है। अतः वाणी की मिथ्यार्थता की तरह सत्यार्थता भी देखी गई है और वह पुरुषाश्रित ही है। शब्द स्वयं अर्थ वाले नहीं होते, क्योंकि उनको समय (संकेत) की अपेक्षा रहती है। समय में पुरुष की इच्छा का अनुसरण करना पड़ता है, अर्थात् स्वभावसिद्ध शब्दों का पुरुष की इच्छा के अधीन प्रयोग होता है, अतः पुरुष के संस्कार से ही शब्द अर्थवान् होते हैं। शब्दों की यह संस्कार्यता ही पौरुषेयता कहलाती है, उत्पत्ति नहीं। शब्दों की उत्पत्ति मानने से ही उनमें विप्रलम्भकता आ सकती है। उत्पन्न होने पर भी यदि वह अन्य प्रमाण से सिद्ध है तो वह शब्द विप्रलम्भक नहीं होगा। जैसे शब्द से भिन्न उन्मेष, निमेष आदि पुरुष धर्म स्वतः अनर्थक होते हुए भी पुरुष के अभिप्राय से संयुक्त होकर विप्रलम्भक नहीं होते, उसी तरह से यहां भी समझना चाहिये।

तदेतदपेशलम्, पौरुषेयापौरुषेयसाधारणस्य वाक्यस्यार्थबोधकत्वोपपत्तौ तत्र पौरुषेयत्वस्य अप्रयोजकत्वात्, गौरवाच्च। नहि वाक्यं पौरुषेयत्वज्ञानसापेक्षमर्थाववोधकं तद्धीनानामप्यर्थाववोधदर्शनात्। यदप्युक्तं न शब्दाः प्रकृत्यार्थवन्तः, समयात् ततोऽर्थख्यातेरिति, तदप्यकिञ्चित्करम्, प्रकाशसापेक्षस्येन्द्रियस्येव संकेतसापेक्षस्य तस्य बोधकत्वेऽपि तत्प्रामाण्यानपायात्।

यत्तूक्तम्—प्रदीपेन्द्रिययोः प्रत्येकमभावेऽप्यर्थप्रकाशकत्वाभावात् तत्रान्योऽन्यापेक्षत्वं युक्तम्, नैवं शब्दसंकेतयोस्तत्र संकेतमात्रेणैवार्थप्रतीतेरुत्पत्तेरिति, तदप्यविचारितरमणीयम्, निराश्रयस्य संकेतस्य बोधकत्वानुपपत्तेः। अस्माच्छब्दादयमर्थो बोधव्य इति सङ्केतस्य शब्दनिष्ठत्वात्। अभिप्रायविशेषस्यापि तस्य निर्विशेषत्वानुपपत्त्या शब्दसापेक्षत्वानपायात्।

यदपि च वर्णानामवाचकरूपत्वं प्रत्येकं समस्तानाञ्चावाचकत्वात्। वर्णरूपश्च वेद इति कथमतोऽर्थज्ञानमिति, तत्तुच्छम्, पूर्वपूर्ववर्णाहितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रत्यायकत्वे बाधाभावेन वर्णात्मकस्यापि वेदस्य प्रत्यायकत्वोपपत्तेः। तस्माद्यथा चक्षुरादीनां स्वभावतः स्वविषयप्रत्यायकत्वम्, तथैव शब्दस्याऽपि तदव्याहतम्। सहकारिसापेक्षता तूभयत्र समानैव। अत एवाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादिवाक्येष्वग्निहोत्रादेः स्वर्गादिसाधनत्वं प्रतीयत एवेत्यनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यमित्यसंगतमेव।

यत्तूक्तम्—केवलं प्रतीतिर्ह्यप्रतीतेर्बाधिका, न तु मिथ्यात्वस्य, तस्यापि प्रतीतेः। तेन किमेभिर्वाक्यैरग्निहोत्रादिः स्वर्गसाधनानुपाय एवोपायतया प्रदर्श्यतेऽथोपाय एवेति मिथ्यात्वाशङ्का न निवर्तते, बाधकप्रमाणाभावात्, पौरुषेयत्वस्य

यह पूरा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वाक्य पौरुषेय हो या अपौरुषेय उससे अर्थ का बोध जब हो सकता है, तो उसमें पौरुषेयत्व को प्रयोजक नहीं माना जा सकता, ऐसा मानने में गौरव भी है। वाक्य को अर्थ का बोध कराते समय पौरुषेयत्व ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि उसके बिना भी उससे अर्थ का बोध हो जाता है। यह कहना कि शब्द स्वभावतः अर्थवान् नहीं होते, किन्तु समय (संकेत) के अनुसार उनसे अर्थ की प्रतीति होती है, इसलिए व्यर्थ है कि जैसे इन्द्रिय प्रकाश की सहायता से अर्थ का प्रकाश करते हुए भी अप्रमाण नहीं मानी जाती, उसी तरह से शब्द संकेत की सहायता से अर्थ का प्रकाश करते हुए भी अप्रमाण नहीं माना जायगा।

यह कहा गया है कि प्रदीप और इन्द्रिय में से किसी एक की अनुपस्थिति में अर्थ का प्रकाश नहीं होता, अतः यहाँ पर एक को दूसरे की अपेक्षा उचित है। इस तरह की स्थिति शब्द और संकेत की नहीं है, क्योंकि वहाँ पर केवल संकेत से ही अर्थ की प्रतीति हो सकेगी। यह कहना भी इसलिए अविचारित रमणीय है कि शब्दरूप आश्रय से रहित संकेत की बोधकता किसी प्रकार से भी नहीं बन सकती। इस शब्द से इस अर्थ को जानना चाहिए, इस तरह का संकेत शब्दों में ही तो रहता है। पुरुष में रहने वाले इस अभिप्राय विशेष को संकेत मानने पर भी वह निर्विशेष नहीं माना जा सकता, अतः इसकी शब्द सापेक्षता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

यह भी कहा गया है कि वर्णों की वाचकता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वर्ण प्रत्येक या समस्त किसी भी रूप में वाचक नहीं हो सकते। वेद भी वर्णरूप ही है, इसलिए उससे अर्थज्ञान कैसे होगा? यह प्रश्न भी बहुत ही निम्न कोटि का है, क्योंकि पूर्व पूर्व वर्णों के द्वारा स्थापित संस्कारों के साथ विद्यमान अन्तिम वर्ण अर्थ का प्रत्यायक निराबाध रूप से होता है, अतः वर्णात्मक वेद की अर्थप्रत्यायकता में कोई बाधा नहीं है। इसलिए जैसे चक्षुरादि इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने विषय का ज्ञान कराती हैं, उसी तरह से शब्द की भी अर्थबोधकता में कोई बाधा नहीं है। सहकारी की अपेक्षा दोनों ही स्थलों में समान रूप से विद्यमान है। इसलिए 'स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे' इत्यादि वाक्यों से अग्निहोत्र की स्वर्गसाधनता प्रतीत होती है, अतः यहाँ पर अनुत्पत्ति लक्षण अप्रामाण्य की आपत्ति उठाना असंगत ही है।

यह कहना कि 'केवल प्रतीति अप्रतीति की ही बाधक हो सकती है, यह मिथ्यात्व का बाध नहीं कर सकती, क्योंकि मिथ्यात्व भी एक प्रकार की प्रतीति ही है। अतः वेद वाक्यों से अग्निहोत्र आदि कर्म स्वर्ग आदि के उपाय न होते हुए भी प्रतिपादित

मिथ्यार्थत्वे विरोधाभावाच्चेति, तदप्युपहासास्पदम्, कारणदोषबाधकज्ञानाभावेन प्रतीतेरप्रामाण्यशङ्कानुदयेनानपोदितस्य स्वतः प्रामाण्यस्यावस्थानात्। मिथ्यार्थत्वशङ्का बाधकप्रमाणसद्भावात् कारणदोषज्ञानाद्वा वक्तव्या। बाधकप्रमाणसद्भावश्चेत् स एव प्रदर्श्यताम्। अतीन्द्रियेऽर्थे न स दर्शयितुं शक्यः। कारणदोषास्तु पौरुषेय एव सम्भवन्ति, अपौरुषेये तु कारणाभावादेव निराश्रया दोषा कथं स्युः। अत एव विरोधाभावोक्तिरप्यसमञ्जसा। प्रमाणानां प्रामाण्यस्वतस्त्वाभ्युपगमेनानपेक्षमेव वेदानां प्रामाण्यमिति तद्विरुद्धमिथ्यार्थत्वशङ्कायाः कुतो न निवृत्तिः ?

यच्चोक्तमपौरुषेयाणां ज्योत्स्नादीनां शुक्लवस्त्रादौ पीतज्ञानहेतुत्वदर्शनेनापौरुषेयाणां वितथज्ञानहेतुत्वं दृष्टमेवेति तन्न, तत्र ज्योत्स्नादित्वेनेव ज्योत्स्नादीनां शुक्लवस्त्रादौ पीतभ्रमहेतुत्वं नापौरुषेयत्वेन, तस्यातन्त्रत्वात्। अन्यथाकाशस्यापि तद्धेतुत्वं स्यात्। नापि ज्योत्स्नादीनामपौरुषेयत्वम्, ज्योत्स्नादीनामपि परमेशनिर्मितत्वेन पौरुषेयत्वानपायात्। न चैवं वेदेऽपि तदिति शङ्कनीयम्, तस्य नित्यत्वात्। क्वचिदीश्वरकर्तृकत्वस्मरणं तु प्रतिकल्पं सम्प्रदायप्रवर्तकत्वमात्रेण तदुपक्षीणत्वात्। 'अनादिनिधना नित्या', 'वाचा विरूपनित्यया' इति श्रुतिस्मृत्यादीनां जागरूकत्वात्। वेदानाञ्च नापौरुषेयत्वेन प्रामाण्यम्, प्रामाण्यस्वतस्त्वाभ्युपगमात्। तत्र कारणदोषशङ्काया निराकरण एवापौरुषेयत्वस्योपयोगात्। ज्योत्स्नादीनां तु प्रामाण्यमपि नास्ति, कुतस्तरां तत्स्वतस्त्वसंभावनापि। कल्पादावीश्वरेणापि सूक्ष्मरूपेणावस्थितानां तेषां संप्रदायः प्रवर्त्यते, पूर्वोच्चारणापेक्षोच्चरितत्वानपायात्, स्वतन्त्रोच्चरितत्वे प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वे वा मानाभावात्।

हो रहे हैं, अथवा वस्तुतः ये स्वर्गादि के उपाय हैं, इस प्रकार की उनमें मिथ्यात्व की आशंका होने पर उसकी निवृत्ति नहीं हो पाती, क्योंकि इस तरह की आशंका के बाधक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। पौरुषेयत्व और मिथ्यार्थत्व में कोई विरोध भी नहीं हैं'। किन्तु यह कथन भी इसलिए उपहासास्पद है कि कारण दोष और बाधक ज्ञान के अभाव में प्रतीति के अप्रामाण्य की आशंका की उत्पत्ति ही नहीं होती, अतः उक्त वेद वाक्यों का स्वाभाविक स्वतः प्रामाण्य कोई हटा नहीं सकता, प्रत्युत वह ज्यों का त्यों बना रहता है। मिथ्यार्थत्व की आशंका तभी रह सकती है, जब कि बाधक प्रमाण उपस्थित हो, अथवा कारण में किसी दोष की प्रतीति होती हो। यदि आपके पास कोई बाधक प्रमाण हो तो उसको बताइये। अतीन्द्रिय अर्थ में आप दोष दिखा ही नहीं सकते, क्योंकि उसमें आपके प्रत्यक्ष आदि प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो सकते। कारण दोष शब्द को पौरुषेय मानने में ही उठ सकते हैं, अपौरुषेय शब्द का जब कोई कारण ही नहीं है, तब कारणनिष्ठ दोष बिना आधार के कहाँ रहेंगे? इसीलिये पौरुषेयत्व और मिथ्यार्थत्व में विरोधाभाव बताना भी असमंजस है। प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध माना गया है, अतः वेदों का प्रामाण्य किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता, ऐसी परिस्थिति में प्रामाण्य के विपरीत मिथ्यार्थत्व की आशंका की निवृत्ति क्यों नहीं मानी जायगी ?

यह भी कहा गया है कि अपौरुषेय ज्योत्स्ना (चाँदनी) प्रभृति पदार्थ शुक्ल वस्त्र में पीत ज्ञानरूप भ्रमात्मक ज्ञान के कारण बनते देखे जाते हैं, अतः अपौरुषेय पदार्थ भी मिथ्याज्ञान के हेतु हो सकते हैं। यह कथन भी इसलिए गलत है कि ज्योत्स्ना प्रभृति पदार्थ अपने स्वरूप से ही शुक्ल वस्त्र में पीत वस्त्र के भ्रमात्मक ज्ञान के निमित्त बनते हैं, उसमें अपौरुषेयत्व की प्रयोजकता (कारणता) नहीं मानी जा सकती। अन्यथा आकाश को भी उस भ्रमात्मक ज्ञान का हेतु मानना पड़ जायगा। दूसरी बात ज्योत्स्ना प्रभृति पदार्थ अपौरुषेय हैं भी नहीं, क्योंकि ये ईश्वर के द्वारा निर्मित हैं, अतः पौरुषेय ही हैं। इसी उदाहरण से वेद को भी पौरुषेय नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि वेद नित्य हैं। कहीं-कहीं ऐसा सुना जाता है कि वेद ईश्वर के द्वारा निर्मित है, किन्तु उसका यही अभिप्राय है कि प्रत्येक कल्प में ईश्वर पूर्वकल्प के वेदों का स्मरण कर इस कल्प में भी वैदिक सम्प्रदाय की प्रवृत्तिमात्र कराता है। 'यह वेदवाणी अनादि, अनन्त और नित्य है', 'अनादि वेदवाणी से स्तुति करो' इत्यादि श्रुति और स्मृतिवचन इसी बात का प्रतिपादन करते हैं। सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः माना गया है, अतः वेदों का प्रामाण्य उसकी अपौरुषेयता के कारण ही है। यहाँ पर अपौरुषेयता का उपयोग इतना ही है कि इससे कारणगत दोष की आशंका निराकृत हो सके। ज्योत्स्ना प्रभृति पदार्थों का तो प्रामाण्य भी नहीं है, तब प्रामाण्य स्वतस्त्व की बात ही कहाँ उठती है। कल्प के प्रारम्भ में ईश्वर भी सूक्ष्म रूप से अवस्थित वेदों के सम्प्रदाय को ही प्रवृत्त कराते हैं, क्योंकि पूर्व कल्प के उच्चारण में और इस कल्प के उच्चारण में रंचमात्र भी अन्तर नहीं रहता। ईश्वर

यदप्युक्तम्—रसादिज्ञानानां तृप्त्यादिकार्य्याविसंवादादेव प्रथमं प्रामाण्यनिश्चयः, अन्यदा त्वभ्यासादिना स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयो युक्त इति न मिथ्यात्वशङ्का। वेदे तु नैव कदाचिदप्यविसंवादः प्रतिपन्न इति कथमन्यदापि स्वतः प्रामाण्यनिश्चयः। तेन सत्यपि विज्ञाने प्रतिभादेरिव हि स्वातन्त्र्यान्न प्रमाणत्वमिति, तदतीव तुच्छम्, तृप्त्यादिकार्यस्य रसगन्धादिमद्द्रव्यसाधारण्यप्रयुक्तत्वेन रसज्ञानप्रामाण्यं प्रत्यप्रयोजकत्वात्। सर्पदष्टस्य निम्बादिमाधुर्य्यभ्रमेणापि तृप्तिः संभवति। इदानीन्तनतत्तद्द्रव्यसारमयसूक्ष्मगुटिकादिभी रसादिनैरपेक्ष्येणैव तृप्तिर्भवत्येवेति न तृप्तिकार्य्येण रसज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयः। रसज्ञानस्याभ्यासादिना प्रामाण्यं चेदत्रापि तस्य तुल्यत्वात्। वेदवाक्यैर्वेदार्थज्ञानस्याभ्यासस्तु सुलभ एव। स्वतः प्रामाण्यभावानां रसज्ञानानां बाधकारणदोषज्ञानाभावादेव चाप्रामाण्यशङ्कापवादः। यदि सर्वमेव ज्ञानं स्वविषयतथात्वावधारणाय स्पष्टमसमर्थं ज्ञानान्तरमपेक्षेत, ततः कारणसंवादक्रियाज्ञानान्यपि स्वविषयभूतगुणावधारणे परमपेक्षेरन्। अपरमपि तथेति न कश्चिदर्थो जन्मसहस्रेणाप्यध्यवसीयेतेति प्रामाण्यमेवोत्सीदेत्।

नन्वर्थक्रियाज्ञानं स्वतः प्रमाणमिति चेन्न, विशेषाभावात्। न चाव्यभिचारो विशेषस्वप्नावस्थायामसत्यप्युदकाहरणेऽर्थक्रियाविज्ञानदर्शनात्। न च सुखज्ञानमेवार्थक्रिया. तच्चाव्यभिचार्य्येव, नासति सुखे सुखज्ञानं भवति, तथापि न तेन पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यनिर्णयः, अप्रामाणेनापि प्रियासंगमविज्ञानेन स्वप्नावस्थायां सुखदर्शनात्, रेतश्च्युत्यादिकार्यकरत्वदर्शनाच्च, तस्मात् स्वत एव प्रामाण्यं ज्ञानानाम्। अर्थान्यथात्वकारणदोषाभ्यां तदपोद्यते।

इस कल्प में स्वतन्त्र रूप से, पूर्व कल्प के उच्चारण को बिना अपेक्षा किये वेदों की रचना करता है, अथवा प्रमाणान्तर से वेदार्थ को जानकर तब वेद की रचना करता है, इस बात में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

यह भी कहा जाता है कि 'रस आदि ज्ञान पहले तभी प्रमाण माने जाते हैं, जब कि उनसे तृप्ति आदि कार्य का विसंवाद न हो, अर्थात् रस आदि ज्ञान के बाद नियमतः तृप्ति आदि प्रयोजनों की सिद्धि होती हो। बाद में अभ्यास आदि से स्वतः प्रामाण्य का निश्चय हो सकता है, तब मिथ्यात्व की शंका उसमें नहीं रहेगी। वेद में तो अविसंवाद कभी भी प्रतीत नहीं हो सकता, तब वहाँ पर बाद में स्वतः प्रामाण्य का निश्चय कैसे हो सकता है। विज्ञान माने जाने पर भी जैसे प्रतिभा प्रभृति को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं माना जाता, उसी तरह वेद को भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मान सकते'। किन्तु यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि तृप्ति आदि कार्य रस गन्धादि से युक्त द्रव्यों द्वारा समान रूप से प्रयुक्त है, अतः वह रस ज्ञान के प्रामाण्य के प्रयोजक नहीं हैं। सर्पदष्ट व्यक्ति को निम्बादि वृक्ष में भी माधुर्य भ्रम से तृप्ति होती है। आजकल उन-उन द्रव्यों के सार तत्त्व को लेकर बनाई गई छोटी-छोटी गोलियों से बिना रस के भी तृप्ति होती देखी गई है, अतः तृप्ति कार्य से रस ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नहीं हो सकता। रस ज्ञान का प्रामाण्य अभ्यास आदि से होगा, तो वही स्थिति यहाँ पर भी मान ली जायगी। वैदिक वाक्यों से वेदार्थ का ज्ञान और उसका अभ्यास सुलभ है। स्वतः प्रामाण्य रूप में अंगीकृत रसादि ज्ञानों का बाध के कारणभूत दोष ज्ञान का अभाव रहने पर ही अप्रामाण्य शंका का निवारण हो सकता है। यदि सभी ज्ञान अपने विषय की यथार्थता के अवधारण के लिए स्वयं असमर्थ होकर ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखे तो कारण संवाद क्रियाज्ञान भी अपने विषयीभूत गुणों के अवधारण के लिए दूसरे की अपेक्षा रक्खेंगे, उनको भी दूसरे की अपेक्षा रहेगी, इस तरह से सैकड़ों जन्मों में भी कोई अर्थ सिद्ध न हो सकेगा और इस तरह से प्रामाण्य हो उत्सन्न हो जायगा।

अर्थक्रिया ज्ञान को भी स्वतः प्रमाण नहीं मान सकते, क्योंकि उसमें ऐसी कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती। यह विशेषता अर्थक्रिया का अव्यभिचार नहीं मानी जा सकती, क्योंकि स्वप्नावस्था में जलाहरण क्रिया के बिना भी तृप्ति रूप प्रयोजन की सिद्धि देखी जाती है। वहाँ पर मुख्य ज्ञान को ही अर्थक्रिया मानेंगे, वह वहाँ अव्यभिचरित रूप से विद्यमान है, सुख के न रहने पर भी सुखज्ञान नहीं हो सकता, यह आप कह सकते हैं, किन्तु इससे भी पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नहीं होगा, क्योंकि स्वप्नावस्था में अप्रामाणिक प्रियासंगम के विज्ञान से भी सुखलाभ होता है और वीर्यक्षरण आदि अर्थक्रिया भी देखी जाती है। इसलिए ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः ही मानना पड़ेगा। अर्थ की अन्यथा स्थिति होने पर अथवा किसी कारणगत दोष के द्वारा ही वह प्रामाण्य अपनोदित (हट) हो सकता है।

यदप्युक्तम्—चोदनार्थज्ञानस्याविद्यमानोपलम्भनरूपत्वाद् मिथ्यात्वम्, कार्यार्थे वेदस्य प्रामाण्यमिष्यते, स चानुष्ठेय एवेति भावित्वेनाविद्यमानत्वान्न चोदनाकालभावी। तस्मादविद्यमानोपलम्भनत्वान्मिथ्यात्वमिति, तदप्यज्ञान-विजृम्भितम्, अतीतानागतज्ञानानामविद्यमानविषयकत्वेऽपि यथा प्रामाण्यमव्याहतं तथैव चोदनार्थज्ञानस्याविद्यमान-विषयकत्वेऽपि प्रामाण्यानपायात्। अपरोक्षज्ञानस्यैव वर्तमानविषयत्वनियमात्। वस्तुतस्तु फलवन्निश्चितार्थावबोधक-त्वेन कार्य्यार्थस्येव सिद्धार्थकस्यापि वेदस्य प्रामाण्याभ्युपगमेन तददोषात्।

यदप्युक्तम्—लोकवेदयोर्वर्णाः पदानि चाभिन्नान्येव, वाक्यभेदस्तु केवलमिष्यते, लोके च पदानामर्थः संकेत-वशाद् गृह्यते, तेन वैदिकपदानामपि पौरुषेय एवार्थः। एवं लौकिकपदार्थद्वारेण वैदिकवाक्यार्थावगम इति पौरुषेय एवा-सौ लौकिकवाक्यवत्। लोके च पदान्यनेकार्थानीति वैदिकवाक्यस्याप्यनेकार्थत्वसंभवाद् विपरीतार्थाशङ्का न निवर्तते, तदप्यकिञ्चित्करम्, वर्णानां पदानाञ्च नित्यत्वेन पदपदार्थसम्बन्धस्य चौत्पत्तिकत्वाभ्युपगमेन पदपदार्थसम्बन्धस्याप्य-पौरुषेयत्वेन तददोषात्।

त्रेधा हि पुरुषानुप्रवेशः संभवति—पदपदार्थसम्बन्धद्वारेण, वाक्यवाक्यार्थसम्बन्धद्वारेण, ग्रन्थस्यैव वा भारतादिवत् पौरुषेयत्वेन। वेदे न तत्त्रयमप्यस्ति। पदपदार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वमेव मीमांसायामौत्पत्तिकशब्देनोक्तम्।

शब्दादनन्तरमर्थप्रतीतेः प्रत्याय्यप्रत्यायकत्वलक्षणः संज्ञासंज्ञिलक्षणो वा सम्बन्धः शब्दार्थयोरौत्पत्तिक एव। न चात्र शब्दादभिप्रायानुमानम्, अभिप्रायशून्यैरपि स्वापाद्यवस्थायां परवशप्रयुक्तैरपि शब्दैरर्थप्रतिदर्शनात्। अत एव

यह भी कहा गया है कि 'विधि वाक्य के द्वारा अविद्यमान अर्थ के ज्ञान की उपलब्धि होती है, अतः यह मिथ्या है। कार्यार्थ में ही वेद का प्रामाण्य माना जाता है। उसका अभी अनुष्ठान करना है, अतः यह भावी है, अभी विद्यमान नहीं है। इसलिए वह विधिवाक्य रूप उपदेश काल में नहीं रह सकता। इस प्रकार अविद्यमान का उपलम्भक वैदिक विधिवाक्य मिथ्या है'। किन्तु यह कथन भी वक्ता के अज्ञान को ही उजागर करता है। अतीत और अनागत विषयक विज्ञान जैसे विषय की अविद्यमानता में भी अव्याहत रूप से प्रमाण माना जाता है, उसी तरह से विधिवाक्य प्रतिपादित अर्थज्ञान का प्रामाण्य भी विषय की अविद्यमानता में व्याहत नहीं होगा। विषय की वर्तमानता का नियम केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए ही है। वस्तुतः फलयुक्त निश्चित अर्थ के अवबोधक होने के कारण कार्यार्थक वेद वाक्यों की तरह सिद्धार्थक वेद वाक्यों का भी प्रामाण्य स्वीकृत है और इस तरह से आपके उठाये दोष की वहाँ प्रसक्ति ही नहीं होगी।

यह भी कहा गया है कि 'लोक और वेद में वर्ण और पद एक ही हैं, केवल वाक्यों का भेद माना जा सकता है। लोक में पदों का अर्थ संकेत से गृहीत (ज्ञात) होता है। इससे वैदिक पदों का भी अर्थ पौरुषेय ही माना जायगा। इसी तरह से लौकिक पदार्थ के द्वारा ही वैदिक वाक्यों को भी अर्थ का ज्ञान होने से लौकिक वाक्य की तरह वैदिक वाक्य भी पौरुषेय ही माने जायेंगे। लोक में पदों के अनेक अर्थ होते हैं, उसी न्याय से जब वैदिक पदों के भी अनेक अर्थ होंगे तो इस परिस्थिति में विपरीत अर्थ की भी संभावना बनी रहेगी'। किन्तु इस कथन में भी कुछ दम नहीं है, क्योंकि वर्णों और पदों की नित्यता मानी जाती है और पद एवं पदार्थों का संबन्ध औत्पत्तिक (स्वाभाविक) माना जाता है, इस परिस्थिति में पद एवं पदार्थ का संबन्ध भी अपौरुषेय होगा, फलतः आपकी दी हुई आपत्तियों का यहाँ प्रसंग ही नहीं है।

इस प्रसंग में तीन तरह से पुरुष का प्रवेश (संबन्ध) हो सकता है—पद और पदार्थ के संबन्ध के द्वारा, वाक्य और वाक्यार्थ के संबन्ध के द्वारा अथवा महाभारत प्रभृति ग्रन्थों की तरह ग्रन्थ निर्माण के द्वारा। वेद में इन तीनों में से कोई भी प्रकार लागू नहीं होगा। पद और पदार्थ की नित्यता को ही मीमांसा में 'औत्पत्तिक' शब्द से कहा गया है।

शब्द के उच्चारण के बाद अर्थ की प्रतीति होती है, अतः प्रत्याय्यप्रत्यायक स्वरूप अथवा संज्ञा-संज्ञी लक्षण संबन्ध शब्द और अर्थ में नित्य ही माना जायगा। यहाँ पर शब्द से अभिप्राय का अनुमान नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभिप्राय से शून्य स्वप्नावस्था प्रभृति में परवशता में प्रयुक्त शब्दों से भी अर्थ की प्रतिपत्ति देखी जाती है। इसीलिए पौरुषेय हो या अपौरुषेय, अर्थानभिज्ञ

पौरुषेयमपौरुषेयं वा अनर्थज्ञैरपि प्रयुज्यमानं व्युत्पन्नानामर्थबुद्धिं जनयत्येव। यथा नेत्रस्यालोकः सहकारी तथैव अयं शब्दोऽस्य संज्ञेति ज्ञानं शब्दस्यापि सहकारि, तेनाव्युत्पन्नानां न वाक्यार्थबोधो भवति।

ननु सम्बन्धः पौरुषेय एव, अस्येयं संज्ञेति सम्बन्धस्य पुरुषकृतत्वादिति चेन्न, संकेतस्योपदेशगम्यत्वेऽपि पुरुषकृतत्वानिर्णयात्। पारम्पर्योपदेशलब्धस्याप्युपदेशसंभवात्। तस्माद् यत्र संकेतस्य प्रमाणेन पौरुषेयत्वं निर्णीयते तत्र पौरुषेयत्वेऽपि यत्र प्रमाणं नोपलभ्यते तत्रौत्पत्तिकत्वमेव संकेतस्येति मन्तव्यम्। अशक्यश्च सर्वशब्दानां सम्बन्धकरणम्। यदि कश्चिदपि शब्दः केनाऽप्यर्थेन स्वतः सम्बद्धो न भवेत्तदा सम्बन्धो न कर्तुं शक्यते।

शब्दस्वरूपविचारः

ननु कः शब्द इति चेद् वर्णा एवेत्यवेहि। न च नैकाक्षरविज्ञानादर्थबुद्धिरुपपद्यते, क्रमवर्तित्वाच्च साहित्यमपि नोपपद्यत इति वाच्यम्, आग्नेयादीनामिव क्रमवर्तित्वेऽपि संहत्य कार्य्यकारित्वेन संस्कारद्वारा साहित्योपपत्तेः। यथाग्नेयादीनां शास्त्रेण साहित्यकारित्वावगमात् स्वरूपतस्तदसंभवादपूर्वं द्वारं कल्प्यते, तथैव वर्णानामेकैकशोऽभिधानादर्शनात् सकलोच्चारणे चावगमात् संहत्यकारित्वे निश्चिते स्वरूपेणासंभवात् संस्कारकल्पनं युक्तम्, तद्वदेव चैककर्तृकत्वं क्रमविशेषश्चाद्रियते विपर्य्ययेणार्थाभिधानादर्शनात्। तदेतत्सर्वं शास्त्रदीपिकादौ स्पष्टम्।

यतः सम्बन्धं कुर्वता केनचिद्वाक्येनैव स कर्तव्यः, सास्नादिमान् गौरित्यादिना। न चाविदितपदपदार्थसम्बन्धः संकेतयिताऽर्थप्रतिपादकत्वेनाप्रसिद्धं सास्नादिशब्दं शक्नोत्युच्चारयितुम्। हस्तसंज्ञादयोऽपि न तत्र समर्थाः,

व्यक्तियों के द्वारा उच्चरित शब्दों से भी व्युत्पन्न व्यक्तियों को अर्थ का ज्ञान होता ही है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय का सहकारी आलोक है, उसी तरह से यह शब्द इसकी संज्ञा है, इस तरह का ज्ञान शब्द का भी सहकारी है, अतः अव्युत्पन्न व्यक्ति (शब्दार्थ संबन्ध को न जानने वाला) को वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता।

यह कहना कि संबन्ध तो पौरुषेय ही हो सकता है, क्योंकि 'यह इसकी संज्ञा है' इस तरह का संबन्ध पुरुषकृत है; इसलिए गलत है कि संकेत यद्यपि उपदेश से हो जाना जा सकता है, किन्तु यह पुरुषकृत है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यह उपदेश परम्परा से भी प्राप्त हो सकता है। अतः जहाँ प्रमाण के द्वारा संकेत की पौरुषेयता निर्णीत होती है, वहीं उसको पौरुषेय कह सकते हैं। जहाँ प्रमाण उपलब्ध नहीं है, वहाँ संबन्ध को नित्य ही माना जायगा। सभी शब्दों को अर्थ से संबद्ध करना किसी भी व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। यदि कोई भी शब्द किसी अर्थ से स्वतः संबद्ध नहीं होता, तो उसको किसी अर्थ के साथ संबद्ध किया भी नहीं जा सकता।

शब्द के स्वरूप का विचार

शब्द क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में आप समझिए कि वर्ण ही शब्द है। आप कह सकते हैं कि एक अक्षर के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता और वर्णों की क्रमिकता के कारण उनमें सामूहिक बुद्धि भी उत्पन्न नहीं हो सकती; तो इसका उत्तर यह है कि मुख्य कर्म का संपादन जैसे उसके अंगभूत आग्नेयादि यागों की क्रमिकता के कारण ही पूर्ण होता है, उसी तरह से वर्णों में भी उसके द्वारा साहित्य संस्कार द्वारा साहित्य हो सकता है। जैसे आग्नेयादि अंग कर्मों की साहित्यकारिता शास्त्र के द्वारा अवगत होती है, किन्तु स्वरूपतः ऐसा असंभव देखकर अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा द्वार के रूप में यहाँ पर अपूर्व की कल्पना की जाती है, उसी तरह से एक एक वर्ण से किसी अर्थ की अवगति न देखकर और सभी वर्णों के उच्चरित हो जाने के बाद अर्थावगति देखकर इनकी सहकारिता की अवगति हो जाने पर जब उसकी स्वरूपतः संभावना नहीं रहती तो अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा संस्कार की कल्पना करना उचित ही है। किसी विशेष यागादि कर्म में उसकी एककर्तृकता और क्रमविशेष का जैसे आदर किया जाता है, उसी तरह से यहाँ पर भी माना जाता है, क्योंकि इसके विपरीत होने पर वह अर्थ का अभिधान नहीं कर सकता। ये सब बातें शास्त्रदीपिका प्रभृति ग्रन्थों में स्पष्टतया प्रतिपादित हैं।

जिसको शब्दार्थ का संबन्ध प्रतिपादित करना है, उसको वह 'सास्नादिमान् गौ है' इस तरह के वाक्यों से ही बताना होगा। वह संकेतकर्ता, जिसको कि पद और पदार्थ का संबन्ध विदित नहीं है, अर्थ प्रतिपादन में असमर्थ सास्ना प्रभृति शब्दों का

प्रतिपादकत्वासिद्धेः, परिमितत्वाच्च। परिमिताश्च हस्तादिचेष्टाः शब्दाश्चापरिमिताः। नन्वेवमप्रसिद्धसम्बन्धस्योपदेशोऽपि नोपपद्यते, यद्यपि वक्तुः प्रसिद्धसम्बन्धत्वात् सम्बन्धकथनाय वाक्योच्चारणं संभवति, श्रोतारस्तु अप्रसिद्धसमस्तपदार्था वालाः कथं वाक्येन सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते। तस्मात् सम्बन्धकरणवदुपदेशोऽपि नोपपद्यत इति चेन्न, कर्तुरिवोपदेष्टुरशक्तेरभावात्, उपायसंभवात्। प्रतिपत्तारस्त्वप्रसिद्धशब्दार्था अपि वृद्धेभ्यः सम्बन्धं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्त एव। वृद्धव्यवहारेणापि व्युत्पित्सवो वालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते। यदा गामानयेति प्रयोजकवृद्धोक्त्या प्रयोज्यवृद्धः सास्नादिमन्तमानयति, तदा व्युत्पित्सुर्वालोऽवगच्छति यदयमेतद्वाक्यश्रवणानन्तरमेतस्मिन्नर्थे प्रवर्तते, तस्मादस्माद्वाक्यादयमर्थो प्रत्यायितः। पश्चाद् गां वधान, अश्वमानयेत्यावापोद्वापादिभिः पदपदार्थसम्बन्धं प्रत्येति, नात्र सम्वद्धुरावश्यकता।

यद्यपि पदपदार्थसम्बन्धस्यापौरुषेयत्वाद् वृद्धव्यवहारादेवार्थावगतिः सिद्धयति, तथापि वाक्यार्थरूपे धर्मे संकेतापेक्षत्वान्न किञ्चिन्मूलं संभवतीत्यप्रामाण्यमेव धर्मे चोदनायाः। प्रत्येकं पदेभ्यो वाक्यार्थप्रतीतिर्दृश्यते। न च पदानां वाक्यार्थविशेषैः संवन्धग्रहणमस्ति। अनन्तत्वाद्वाक्यार्थानामपि तन्न संभवति। वेदार्थस्य च प्रमाणान्तरागोचरत्वात्तेन सम्बन्धग्रहणमपि न संभवति। पदार्थानाञ्च वाक्यार्थसाधारणत्वात् प्रत्येकं न वाक्यार्थप्रतिपादनमुपपद्यते। अगृहीतसम्बन्धत्वादेव च पदसंघातवाक्यपदार्थानामपि न प्रत्यायकत्वम्। न चागृहीतसम्बन्धः शब्दोऽर्थं प्रत्याययति वालानामप्रतीतेः। प्रतीतौ व्युत्पत्तिवैयर्थ्याच्च। यद्यपि पदमज्ञातसम्बन्धं न प्रत्यायकं तथापि पदसंघातो वा पूर्वपूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितो वाक्यान्त्यवर्णो वा निरवयवो वाक्यस्फोटः सम्बन्धग्रहणानपेक्ष एव वा वाक्यार्थं

उच्चारण नहीं कर सकता। हाथ के इशारे आदि भी उसमें समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि एक तो वे भी अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते, दूसरे वे परिमित हैं। हाथ, आँख आदि की चेष्टायें परिमित हैं और शब्द अपरिमित हैं। इस पर शंका उठ सकती है कि संबन्ध के अप्रसिद्ध रहने पर उसका उपदेश भी नहीं हो सकता। यद्यपि वक्ता को संबन्ध की प्रसिद्धि होने पर उस प्रसिद्ध संबन्ध के कथन के लिए वाक्य के उच्चारण की संभावना रह सकती है, किन्तु उस वाक्य के श्रोतागण वालक हैं, जिनको कि सभी पदार्थ अभी अप्रसिद्ध हैं, वे शब्दार्थ का वाक्य के साथ सम्बन्ध कैसे जोड़ पावेंगे। इसलिए सम्बन्ध के समान उपदेश भी नहीं हो पावेगा। इस शंका का उत्तर यह है कि कर्ता के समान उपदेष्टा में शक्ति का अभाव नहीं माना गया है। शब्दार्थ सम्बन्ध का कर्ता कोई नहीं हो सकता, किन्तु उनका उपदेश अनेक उपायों से किया जा सकता है। वह जिज्ञासु भी जिसको कि शब्दार्थ अप्रसिद्ध है, वृद्ध व्यक्तियों से शब्दार्थ संबन्ध की जानकारी प्राप्त करता देखा गया है। वृद्धों के व्यवहार से भी जिज्ञासु बालक शब्दार्थ संबन्ध को जान लेते हैं। जैसे कि जब कोई बड़ा आदमी अपने से छोटे व्यक्ति को कहता है कि गाय ले आओ, तो वह गाय ले आता है। यह देखकर शब्दों के अर्थों की जिज्ञासा में लगा हुआ बालक जान लेता है कि उत्तम वृद्ध व्यक्ति के 'गाय ले आओ' ऐसा कहने पर मध्यम वृद्ध व्यक्ति गाय ले आया। अतः इस वाक्य से ही उसको इस अर्थ का ज्ञान हुआ। बाद में यह व्युत्पित्सु बालक जब उत्तम वृद्ध के दूसरे वाक्य को सुनता है कि गाय को बाँध दो और घोड़ा ले आओ, तो वह आवाप और उद्वाप की पद्धति से, अर्थात् किस वाक्य में किस शब्द के रहने पर कौन सी वस्तु लाया और किसको छोड़ दिया गया, इसकी सही जानकारी कर लेने पर गौ, अश्व आदि पदों और क्रियाओं का उन उन अर्थों के साथ सही संबन्ध समझ लेता है। इस प्रसंग में पद और पदार्थ के संबन्ध को जोड़ने वाले व्यक्ति की आवश्यकता नहीं रहती।

यद्यपि पद और पदार्थ के संबन्ध के अपौरुषेय होने से वृद्ध व्यवहार से ही अर्थ का ज्ञान होगा, तो भी वाक्यार्थ रूप धर्म में संकेत की अपेक्षा रहने से इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण के अभाव में विधि वाक्यों का धर्म के प्रति कोई प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। प्रत्येक पद से वाक्यार्थ की प्रतीति देखी जाती है, किन्तु उनका वाक्यविशेषों से संबन्ध गृहीत नहीं होता। वाक्यार्थों की अनन्तता के कारण यह हो भी नहीं सकता। वेदार्थ अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है, अतः उसके साथ ही संबन्ध ग्रहण नहीं हो सकता। पदार्थ वाक्यार्थ साधारण है, अतः प्रत्येक वाक्यार्थ का वे प्रतिपादन नहीं कर सकते। संबन्ध के गृहीत न होने के कारण ही पदसंघात रूप वाक्यों और पदार्थों की भी प्रतिपादकता नहीं मानी जा सकती। जब तक संबन्ध का ग्रहण नहीं होता, तब तक शब्द अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता। यह वस्तु वालकों में अवश्य देखी जाती है। यदि ज्ञान हो जाय तो जिज्ञासा व्यर्थ हो जायगी। यद्यपि संबन्ध के अज्ञात रहने पर पद प्रत्यायक नहीं हो सकता, तो भी पदसंघात अथवा पूर्व पूर्व वर्णों से उत्पन्न

प्रत्याययिष्यतीति चेन्न, अव्युत्पन्नानामपि तत्प्रसङ्गात्। पदार्थवेदनमपि तदङ्गमिति न वाच्यम्, यदि पदेभ्योऽर्थान्तरभूतं वाक्यपदार्थव्यतिरिक्तं च वाक्यार्थं साक्षादेव वाचकतया प्रतिपादयति, तदा पदार्थवेदनस्य तत्रानुपयोगात् पदार्थव्युत्पत्तिरप्यनर्थिकैव। न च पदार्थाद् वाक्यार्थावगतिः, असंबन्धात्।

ननु पदार्थवाक्यार्थयोः सामान्यविशेषत्वात् सामान्यविशेष्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्त्येवेति चेत्, सत्यम्, सामान्यस्य सर्वविशेषसाधारणत्वेन नियतविशेषावगत्यसिद्धेः। तेन गामानयेति पदावगतमानयनसामान्यं विशेषक्षेपोन्मुखमपि न गोरेवानयनमाक्षिपेत्। ततश्च न गोरेवानयनं प्रतीयेत। न चाकाङ्क्षासंनिधियोग्यत्वैर्नियमः, सत्स्वपि तेष्वदर्शनात्। तत एव प्रत्यक्षेण गामुपलभ्य कस्येयमिति प्रतिपित्समाने न संनिहितमपि स्वामिनमध्यवस्यति। तस्माद्वाक्यार्थः सांकेतिक इति निर्मूलमेव। न च वेदे संकेतयिताऽस्ति, कथं तत्प्रामाण्यम्। तदेतन्न विचारचारु, पदार्थैर्वाक्यार्थावगतिसंभवात्। दीर्घतमेषु वाक्येषु विस्मृतपूर्वपदानामपि वाक्यार्थावगतिर्हि दृश्यते।

धर्मकीर्तिप्रभृतिकुचोद्यनिरासः

मीमांसकादिरीत्या जातिवाचकत्वेन शब्दानां सम्बन्धिनां नित्यत्वेन संश्लेषस्य नित्यत्वमव्याहतमेव। व्यक्तीनां लक्षणया बोधेन विशेषान्तरव्युदासोऽपि नानुपपन्नः। 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यस्य वाच्यार्थात्सर्वथा भिन्नः शत्रुगृहभोजननिवृत्तिरूपोऽर्थोऽभिप्रेयते। व्यक्तिपर्यवसायिनामपि वैदिकानां शब्दानां जातिबोधकत्वाद्वा तत्र पर्यवसानात्।

संस्कार के साथ विद्यमान वाक्यान्तर्गत अन्तिम वर्ण या निरवयव वाक्यस्फोट बिना संबन्ध की अपेक्षा रखे ही वाक्यार्थ का बोध करा सकता है, यह कथन भी संभव कोटि के नहीं आ सकता, क्योंकि तब अव्युत्पन्न (शब्दार्थ संबन्ध को न जानने वाला) व्यक्ति को भी यह होने लगेगा। पदार्थ की जानकारी इसके लिये आवश्यक अंग नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यदि पद से अर्थान्तर भूत वाक्य पदार्थ से अतिरिक्त वाक्यार्थ को साक्षात् वाचक रूप में प्रतिपादित करता है, तो इस अवस्था में पदार्थ ज्ञान की आवश्यकता न होने से पदार्थ की व्युत्पत्ति व्यर्थ मानी जायगी और पदार्थ से वाक्यार्थ की अवगति होती भी नहीं है, क्योंकि उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।

'पदार्थ और वाक्यार्थ की समानता और विशेषता के आधार पर इनका सामान्य विशेष रूप सम्बन्ध बन सकता है', यह आपका कहना सही हो सकता है, किन्तु सामान्य सभी विशेषों के लिए समान है, अतः किसी नियत (निश्चित) विशेष से ही उसका ज्ञान नहीं हो सकता। अतः 'गाय लाओ' इस पद से अवगत आनयन सामान्य यद्यपि विशेष का आक्षेप करने में समर्थ है, किन्तु वहाँ केवल 'गौ' का ही आक्षेप नहीं कर पावेगा और इस अवस्था में गौ के आनयन की प्रतीति नहीं होगी। आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता से भी यह सम्भव नहीं होगा, क्योंकि इसके रहते भी नियमतः प्रतीति होती है, ऐसा नहीं देखा जाता। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से गाय को जानकर भी यह किसकी है? इसको जानने की जब आकांक्षा होती है, तब भी पास में ही खड़े उसके स्वामी को हम नहीं जान पाते। अतः वाक्यार्थ सांकेतिक है, यह कथन सर्वथा निराधार है। वेद में तो कोई संकेतयिता है नहीं, तब वह प्रमाण कैसे हो सकता है'? ऊपर का यह सारा कथन विचार करने पर गलत मालूम पड़ता है, क्योंकि पदार्थों से वाक्यार्थ की अवगति हो सकती है। बड़े-बड़े वाक्यों में पूर्व पदों की विस्मृति हो जाने पर भी वाक्यार्थ का ज्ञान होता देखा गया है।

धर्मकीर्ति प्रभृति के आक्षेपों का निराकरण

शब्द जाति के वाचक हैं, अतः संबन्धी की नित्यता के कारण उनका संबन्ध भी नित्य ही बिना बाधा के माना जायगा। व्यक्तियों का लक्षणा से बोध हो जाने से विशेषान्तर का व्युदास भी संभव हो सकेगा। 'विष खाओ' इस वाक्य में वाक्यार्थ से सर्वथा भिन्न 'शत्रु के घर में भोजन न करना' यह अर्थ अभिप्रेत रहता है। व्यक्ति के बोधक वैदिक शब्द भी अन्ततः जाति की

कल्पभेदेन व्यक्तिभेदोपपत्तौ तत्र जात्युपपत्तेश्च। किञ्च, प्राड्विवाकादिपदानि यथा न व्यक्तिविशेषबोधकानि, किन्तु स्थानविशेषबोधकानि। यदा ये व्यक्तिविशेषास्तत्र स्थिता भवेयुस्तेऽपि तत्पदैरेव बोध्यन्ते। तत्र व्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि न तत्स्थानानामनित्यत्वम्। एवमेव वशिष्ठादिव्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि वशिष्ठत्वजातीनां तत्स्थानानां वा नित्यत्वम्। एवमेवेतिवृत्ताभासान्यपि कानिचिद्वचनानि सुखाववोधार्थाख्यायिकाभात्रपर्यवसायीनि न वस्तुवृत्तसापेक्षाणि, तथैव लोके दर्शनात्। अत एव न घटनारूपस्यार्थस्याप्यनित्यत्वेन शब्दानां तत्संश्लेषाणां चाऽनित्यत्वं शक्यशङ्कम्, तत्र शब्दानां स्वारस्यस्याभावात्। 'विषं भुङ्क्ष्वे'तिवत्। अत एवाश्रयविनाशे सम्बन्धविनाशात् स शब्दः पूर्वेण न योज्यतेऽसम्बन्धिनो यतः। तत्रोत्पन्नाश्च भावा अवाच्याः स्युरसम्बन्धिनो यतः।

किञ्च, यद्यविनाभावेन शब्दादर्थप्रतीतिस्तदा वाचकत्वेनार्थप्रतिपादनं स्यात्, धूमस्येवाग्निप्रतिपादनम्। अत एव तत्र धूमेनाग्निमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायः। शाब्दबोधे तु वाक्याद्वाक्यार्थं प्रत्येमीत्यनुव्यवसायः (वे०परि० द्र०)। यदि च शब्दार्थयोः समयेनाविनाभावाख्यानात् समयः सम्बन्ध उच्यते, तदाग्निधूमयोरपि समयः स्यात्। यत्तूक्तमिममर्थमकृतसमयेनापि शब्देन प्रतिपादयामीत्येवमर्थस्य वाच्यत्वं शब्दस्य वाचकत्वमारोप्यार्थप्रतिपादनाभिप्राये यदा शब्दं प्रयुङ्क्ते तदा शब्दस्य वाचकत्वोपपत्तिरिति तदपि कुशकाशावलम्बनम्, अबाधितव्यवहारस्यारोपायोगात्। अपि च, अर्थप्रतिपादनाभिप्रायेण वर्णा जन्यन्ते, न च वाचका वर्णा इष्यन्त इति वदतो व्याहतिः। यदि वक्तॄणां श्रोतॄणां च वर्णेष्वेव वाचकत्वाभिमानाद्वाचकानां वर्णानामुत्पत्तिरुच्यते, तदा वक्तृश्रोत्रभिप्रायेणैव वाच्यवाचकभावोऽप्यभ्युपेतव्यः। न च मूढं प्रति तथात्वाभ्युपगमेऽपि न सर्वमेव कार्यकारणभावाख्यानं समयः, तेन धूमादौ न सम्बन्धः

बोधकता में ही पर्यवसित होते हैं। कल्पभेद से व्यक्ति के भेद की उपपत्ति बनती है, अतः वहाँ जाति मानी ही जा सकती है। दूसरी बात प्राड्विवाक (वकील, जज आदि) प्रभृति पद जैसे व्यक्तिवाचक नहीं हैं, किन्तु स्थानविशेष के बोधक हैं। जब कोई व्यक्तिविशेष उन पदों पर आसीन रहता है, तो वह भी उन्हीं पदों से बोधित होता है। यहाँ पर व्यक्ति के अनित्य रहने पर भी वे स्थान अनित्य नहीं हैं। इसी तरह से वसिष्ठ प्रभृति व्यक्तियों के अनित्य रहने पर भी वसिष्ठत्व जाति अथवा उनका स्थान नित्य ही हैं। इसी तरह से इतिहास के समान प्रतीत हो रहे कुछ वचन भी सरलता से किसी विषय को समझाने के लिए रची गई कहानी के समान हैं, अतः ये वास्तविक इतिहास को नहीं बताते, लोक में ऐसा ही देखा भी गया है। इसीलिए घटना रूप अर्थ की अनित्यता के कारण भी शब्द अथवा उनके संबन्धों की अनित्यता की शंका नहीं की जा सकनी। उनमें शब्दों का स्वारस्य उसी प्रकार नहीं हैं, जैसे कि 'विष खाओ' इस वाक्य का अपने सीधे अर्थ में तात्पर्य नहीं है। इसीलिए आश्रय के विनाश से संबन्ध के भी विनष्ट हो जाने पर वह शब्द पूर्व पदार्थों से युक्त नहीं होता, क्योंकि तब उनका संबन्ध नहीं रहता। इसी तरह से नये उत्पन्न हुए भावों से भी उसकी वाचकता नहीं बनेगी, क्योंकि ये भी उससे संबद्ध नहीं हैं।

अपि च, यदि शब्द से अविनाभावेन अर्थ की प्रतीति मानी जायगी तो वाचकत्वेन अर्थ का प्रतिपादन मानना पड़ेगा, जैसा कि धूम से अग्नि का ज्ञान होता है। इसी लिये वहाँ पर 'धूम से अग्नि का अनुमान करता हूँ' यह अनुव्यवसाय (ज्ञानविषयक ज्ञान) होता है। शाब्दबोध में तो 'वाक्य से वाक्यार्थ को जानता हूँ' यह अनुव्यवसाय होता है (वेदान्तपरिभाषा द्रष्टव्य)। यदि शब्द और अर्थ का समय (संकेत) से अविनाभाव बताया जाता है, अतः समय को संबन्ध माना जाता है, तो इस परिस्थिति में अग्नि और धूम का भी समय रूप संबन्ध माना जा सकेगा। यह कहा जाता है कि इस अर्थ को बिना समय के शब्द से भी प्रतिपादित करता हूँ, इस तरह से अर्थ में वाच्यता और शब्द में वाचकता का आरोप करके अर्थ का प्रतिपादन करने के अभिप्राय से जब शब्द का उच्चारण करता है, तब शब्द की वाचकता उपपन्न हो जाती है। किन्तु यह बात भी नदी की बाढ़ में बहते व्यक्ति के कुश और काश को पकड़ने के समान है, क्योंकि अबाधित व्यवहार को आरोप नहीं कह सकते। दूसरी बात आप कहते हैं कि अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये वर्ण उत्पन्न होते हैं और दूसरी तरफ उनको आप वाचक नहीं मानते। यह आपकी बात परस्पर विरुद्ध है। यदि वक्ता और श्रोता को वर्णों में ही वाचकता के अभिमान के कारण उनकी उत्पत्ति मानी जाती है, तो वक्ता और श्रोता के अभिप्राय के अनुसार ही उनमें वाच्यवाचकभाव भी मानना चाहिये। यह कहना कि मूढमति को बताया गया कार्यकारणभाव ही समय कहलावेगा,

समय इति वाच्यम्, सर्वसम्प्रतिपन्नव्यवहारस्य मोहमूलकत्वानुपपत्तेः। यदि चैकत्र कार्यकारणभावाख्यानं समयस्तदा धूमादौ कथं न तत्प्रसक्तिरिति पर्यनुयोगोऽपरिहृत एव।

किञ्च, स सम्बन्धः प्रत्येकं भिद्यते न वा ? नान्त्यः, तथात्वे सम्बन्धस्यैकत्वेऽकृतकत्वमेव स्यात्। नाद्यः, भेदबुद्ध्यापातात्। न चेष्टापत्तिः, वक्तृश्रोतृधियो भेदे व्यवहारासम्भवात्। वक्ता पूर्वदृष्टं सम्बन्धं श्रोतुः करोति चेत्तदा न तस्य पूर्वदृष्टत्वम्। तदुक्तम्—'प्रत्येकं स च सम्बन्धो भिद्येतैकोऽथवा भवेत्। एकत्वे कृतको न स्याद्भिन्नश्चेद्भेदधीर्भवेत्। वक्तृश्रोतृधियो भेदाद्व्यवहारश्च दुष्यति। वक्तुरन्यो हि सम्बन्धो बुद्धौ श्रोतुस्तथापरः।। श्रोतुश्च कर्तुं सम्बन्धं वक्ता कं प्रतिपद्यते। पूर्वदृष्टो हि यस्तेन तं श्रोतुर्न करोत्यसौ।। यं करोति नवं सोऽपि न दृष्टः प्रतिपादकः।।'

यदुक्तम्—'यद्यपि सङ्केतव्यवहारकालयोः शब्दार्थसम्बन्धस्य भेदस्तथापि सादृश्यादेकत्वाध्यवसायेन लोकस्य प्रवृत्तिः। अत एव यमेव शब्दार्थसम्बन्धं पूर्वप्रतिपन्नं वक्ता प्रतिपादयति, तमेव श्रोता प्रतिपद्यते। न च तेषामनादिता, प्रत्यभिज्ञाया अप्रमाणत्वात्' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, बौद्धमते क्षणभङ्गुरस्य द्रष्टुः पूर्वापरक्षणवर्तिनोस्तदिदमर्थयोर्ग्रहणासम्भवेन तेनेदं सदृशमिति सादृश्यग्रहणासम्भवेन तन्मूलस्यैक्याध्यवसायस्याप्यसम्भवात्। प्रत्यभिज्ञायाश्च बाधाभावेन तदप्रामाण्यस्य वक्तुमशक्यत्वेन प्रत्यभिज्ञासिद्धस्य सम्बन्धैक्यस्यापलापासम्भवात्। अत एव वाच्यवाचकसम्बन्धानां भिन्नानामप्येकत्वाध्यवसायेन लोकप्रवृत्तिरित्यपास्तम्, भिन्नानामेकत्वाध्यवसाया-

अन्य नहीं। अतः धूमादि का संबन्ध समय नहीं कहलावेगा, तो यह कथन इसलिये अनुचित है कि सभी व्यक्तियों के द्वारा एक रूप में स्वीकृत व्यवहार को मोहमूलक नहीं माना जा सकता। यदि एक जगह कार्यकारण का आख्यान समय कहलावेगा तो धूमादि में भी उसकी प्रसक्ति क्यों नहीं होगी, इस शंका का समाधान अभी नहीं हुआ है।

यहाँ यह भी शंका उठती है कि वह संबन्ध प्रत्येक के लिये एक ही है या भिन्न-भिन्न ? अन्तिम पक्ष आपके लिये इसलिये ठीक नहीं होगा कि तब संबन्ध की एकता के कारण वह नित्य माना जायगा। प्रथम पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि उसमें भेद-बुद्धि की आपत्ति उठेगी। यह आपत्ति सिद्धान्त के अनुकूल इसलिये नहीं बैठेगी कि वक्ता और श्रोता की बुद्धि में भेद रहने पर व्यवहार ही नहीं बन पावेगा। वक्ता पूर्व दृष्ट संबन्ध को श्रोता को बताता है तो ये दोनों संबन्ध एक ही हुए और यदि नये संबन्ध को बताता है तो वह पूर्वदृष्ट नहीं हुआ। निम्न कारिकाओं में इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है—'वह संबन्ध प्रत्येक में भिन्न है या अभिन्न ? एक मानने में वह कृतक न हो सकेगा और यदि भिन्न मानते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न बुद्धियों का जन्म होगा। इस प्रकार वक्ता और श्रोता की बुद्धि में भेद रहने से व्यवहार में भी भेद रहने से वह दुष्ट हो जायगा, क्योंकि तब वक्ता की बुद्धि में अन्य संबन्ध रहेगा और श्रोता की बुद्धि में अन्य। श्रोता में शब्द का संबन्ध कराने के लिये वक्ता किस संबन्ध का सहारा लेगा ? जो उसने पहले देखा है, उसका संबन्ध यह श्रोता को नहीं करा सकता और यदि नये संबन्ध को करता है तो वह उसका दृष्ट नहीं है और जो दृष्ट नहीं है, यह संबन्ध का प्रतिपादन नहीं कर सकता।'

यह कहा गया है कि—'यद्यपि संकेतगत व्यवहार और काल की दृष्टि से शब्दार्थसंबन्ध की भिन्नता रहती है, तो भी सादृश्य के कारण उसको एक ही मानकर लोक व्यवहार चलता रहता है। इसीलिये पूर्व प्रतिपन्न जिस शब्दार्थसंबन्ध को वक्ता प्रतिपादित करता है उसी को श्रोता जानता है। यह अनादि नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण नहीं माना जाता।' किन्तु तर्क की कसौटी पर यह कथन भी ठीक नहीं उतरता। बौद्ध मत में द्रष्टा क्षणभंगुर है, अतः वह पूर्व और पर क्षणों में विद्यमान 'वह' और 'यह' इन दो पदार्थों को ग्रहण नहीं कर सकता। तब वह 'यह इसके सदृश है' इस तरह से सादृश्य का भी ग्रहण नहीं कर पावेगा। इसीलिये सादृश्यमूलक शब्दार्थसंबन्ध की एकता का निश्चय करना भी उसके लिये असंभव है। प्रत्यभिज्ञा बाधित नहीं होती, अतः उसको अप्रमाण नहीं माना जा सकता। प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध संबन्ध की एकता का अपलाप भी नहीं हो सकता। इसीलिये वाच्यवाचक संबन्ध की भिन्नता के रहते हुए भी उनमें एकत्व का निश्चय होने से लोक में प्रवृत्ति होती है, इस उक्ति का भी खण्डन हो जाता है,

सम्भवेनैकत्वाध्यवसायस्य तात्त्विकत्वेन सम्बन्धस्यौत्पत्तिकत्वसिद्धेर्निष्प्रत्यूहत्वात्। तदुक्तं धर्मकीर्तिनापि—'अस्तु वान्य एव नित्यः सम्बन्धः' इति।

यदपि 'गिरामेकार्थनियमे न स्यादर्थान्तरे गतिः' (प्र० वा० ३।२२९) इति। नहि तेन सम्बन्धेनासम्बद्धेऽथ प्रतीतिर्युक्ता, तस्य वैकल्यात्। दृष्टश्चेच्छावशात्कृतसमयः सर्वः सर्वस्य दीपकः। अनेकार्थाभिसम्बन्धे विरुद्धव्यक्ति-सम्मतः। यदि दृष्टविरोधपरिहाराय सर्वे सर्वस्य वाचका अभ्युपेयन्ते तदाभीष्टाद्विरुद्धार्थव्यक्तिरपि भवेत्। तथात्वे सर्वः सर्वसाधनः स्यात् सङ्करात् न्यायस्य समानत्वात्। कार्यकारणतायाः प्रतिनियतत्वात्। प्रतिनियतसाधनेऽभिमते स्वर्गादौ साधनत्वेनाग्निहोत्रादेरेव बोधनं भवति विपरीतस्यैव वेत्यनिर्णयात्। समेषां शब्दानां सर्वसाधारणस्य वाचकत्वेन विशिष्टसाध्यसाधनत्वेनाभिमत एवार्थे व्यक्तिं समयकारः करोतीति कुत एतत्। एवमनियतः शब्दः क्वचिदर्थे नियमं पुरुषसङ्केतात् प्रतिपद्यते। स च पुरुषो विरुद्धेऽप्यर्थे सङ्केतं कुर्यात्। न केवलं विरुद्धव्यक्तिसम्भवस्तथा चापौरुषेयत्वकल्पना व्यर्थैव। यतो यादृशाः शब्दाः पौरुषेया अभिमताः पुरुषैः क्वचिद्विवक्षितेऽर्थे प्रयुक्ताः सङ्कीर्यन्ते-ऽनिष्टाभिधायकत्वसम्भावनया, तादृशा एवापौरुषेयत्वेनाभिमता अपि शब्दाः सर्वसाधारणाः सन्तः क्वचिदर्थे तैः पुरुषैः समयेन यथेष्टं विनियमिताः, पुंसां तत्त्वापरिज्ञानात्। तत्राप्यनिष्टेनासङ्कीर्णस्येष्टार्थस्यैव विज्ञानं न सम्भवत्येव। अथ वैदिकाः शब्दाः प्रकृत्यैवं नियता अभिमतेऽर्थे, ततो न पुरुषसंस्कारकृतो दोष इति चेत्तथात्वे नोप-

क्योंकि भिन्न वस्तुओं में एकत्व का निश्चय कथमपि संभव नहीं हो सकता, अतः एकत्व का अध्यवसाय वास्तविक मानना पड़ेगा। इस प्रकार शब्दार्थसंबन्ध की नित्यता में कोई विघ्न-बाधा नहीं उपस्थित हो सकती। अन्त में धर्मकीर्ति ने भी शब्द और अर्थ का लौकिक समय से भिन्न नित्य संबन्ध ही माना है।

यह भी कहा गया है कि—'शब्दों की नियमतः नियत अर्थों की वाचकता मानने पर उससे भिन्न अर्थ में उनकी प्रवृत्ति नहीं होगी, तब उससे असंबद्ध नये अर्थ में उसकी प्रवृत्ति व्यर्थ मानी जायगी, किन्तु यह देखा गया है कि इच्छानुसार संकेत कर व्यक्ति सभी शब्दों से सभी अर्थों को प्रकाशित करता है। अनेक अर्थों से उसका संबन्ध मानने पर परस्पर विरोधी अर्थों को उपस्थिति होने लगेगी। यदि दृष्ट विरोध के परिहार के लिये सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक माने जाते हैं तो इस परिस्थिति में इच्छित अर्थ के विपरीत अर्थ की उपस्थिति की आपत्ति कैसे रुक सकेगी। इस परिस्थिति में संकरता के कारण सभी शब्द सभी अर्थों के प्रतिपादक मानने पड़ेंगे, क्योंकि न्याय तो सर्वत्र समान रूप से प्रवृत्त होता है। कार्यकारणभाव निश्चित होता है। अभिमत स्वर्गादि के कुछ निश्चित साधन माने जाते हैं। उक्त प्रतिपादन के अनुसार तो यह सन्देह उपस्थित हो जायगा कि अग्निहोत्रादि स्वर्ग के साधन हैं या नहीं? अथवा यह भी हो सकता है कि अग्निहोत्रादि स्वर्ग के साधन नहीं है। सभी शब्द जब सर्व साधारण के वाचक हैं तो समय संकेत निश्चित करने वाला व्यक्ति किसी विशिष्ट साध्य-साधन के वाच्यवाचक के रूप में अभिमत अर्थ में यह संकेत करता है, ऐसा कैसे सिद्ध हो सकेगा। इस तरह से अनियत शब्द पुरुष के संकेत के अनुसार किसी अर्थ में नियमतः प्रवृत्त होता है। वह पुरुष विरुद्ध अर्थ में भी संकेत कर सकता है। तब केवल विरोधी अर्थ की ही प्रतीति नहीं होगी, किन्तु साथ में अपौरुषेय कल्पना भी व्यर्थ हो जायगी। क्योंकि जिस तरह के शब्द पौरुषेय माने जाते हैं, उनका यदि कोई पुरुष विवक्षित अर्थ में प्रयोग करता है, वे संकीर्ण हो जाते हैं, क्योंकि वे अनिष्ट अर्थ के अभिधायक न हों, ऐसी शंका बना रहती है। इसी तरह से अपौरुषेय रूप में माने गये शब्द भी सर्वसाधारण होकर किसी अर्थ में उन पुरुषों के द्वारा संकेवित होकर यथेष्ट विनियुक्त हो सकते हैं, क्योंकि वे उनका वास्तविक अर्थ तो ठीक से नहीं समझते। वहाँ पर भी अनिष्ट से असंकीर्ण दृष्टार्थ का ज्ञान संभव नहीं हो सकता। अब यदि यह माना जाय कि वैदिक शब्द स्वभावतः अभिमत अर्थ में नियत रहते हैं इसलिये इनमें पुरुषसंस्कार के द्वारा आने वाले दोष नहीं रहेंगे तो ऐसी अवस्था में उनके उपदेश की आवश्यकता नहीं रहेगी, किन्तु ऐसा है नहीं, स्वतः अर्थ की प्रतीति उनसे नहीं होगी, अतः वहाँ पर भी उनके उपदेश की अपेक्षा रहती ही है। अन्यथा संकेत के द्वारा वहाँ पर अर्थ का प्रकाश नहीं होगा और व्याख्या में विकल्प की भी आपत्ति आवेगी। जब विकल्प की संभावना रहेगी

देशमपेक्षेरन्, अपेक्षन्ते च, स्वतस्तेभ्योऽर्थप्रतीतेरभावात्। अन्यथा सङ्केतेन च न प्रकाशयेयुः। व्याख्याविकल्पश्च न स्यात्। शक्यविकल्पे वैदिकवाक्ये व्याख्यातॄणामुपदेशस्येच्छाविसंवाददर्शनाद् व्यर्थेवापौरुषेयतेति।

तदप्याकाशमुष्टिहननकल्पम्, तात्पर्यानवबोधात्। तथाहि—यथा भूतानां साधारण्येन सर्वभौतिककारणत्वेऽपि कार्यकारणता प्रतिनियता, तद्वत्तत्तत्पदघटकतया सर्ववर्णानां सर्वार्थवाचकत्वेऽप्यनादिसिद्धसंकेतवशात्तत्तत्पदानां तत्तद्विशिष्टार्थवाचकत्वमपि नियतमेव। ते च सङ्केता उपदेष्टृत्वेन पुरुषापेक्षा अपि न कर्तृत्वेन तदपेक्षा इत्यसकृदावेदितम्। अपौरुषेये वेदे पुरुषस्वातन्त्र्यं निराक्रियते न तु पुरुषसम्बन्धमात्रम्, सम्प्रदायपारम्पर्याश्रयत्वेन तदपेक्षणात्। तदुक्तम्—'यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता'। अत एव न सम्बन्धवैकल्पम्, तस्य विशिष्टार्थबोधनेन सार्थकत्वात्।

यत्तूक्तम्—'दृष्टश्चेच्छावशात् कृतसमयः सर्वः शब्दः सर्वस्य दीपकः, नियताश्चेदन्यथासङ्केतेन न प्रकाशयेयुः' इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, तथा सङ्केतस्यापवादत्वेनोत्सर्गेऽतन्त्रत्वात्। यथेन्द्राग्न्यादयः शब्दाः कैश्चिदिच्छावशान्मनुष्यादिव्यक्तिविशेषेषु सङ्केतिता अपि वेदार्थनिर्णयावसरे ते न गृह्यन्ते, यथा वा वृद्धिशब्देन पाणिनीयव्याकरणव्यवहृतावादैचोर्ग्रहणेऽपि नायुर्वेदादिशास्त्रेषु तद्ग्रहणम्, यथा वा सर्वज्ञशब्देन बौद्धग्रन्थेषु तथागतस्य बोधेऽपि नान्यत्र तद्ग्रहणम्, एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम्। व्याख्याविकल्पश्च क्वचित्तात्पर्यभेदमूलकः क्वचित्तदनवबोधमूलकः। यथा बुद्धवाक्येष्वपि व्याख्याभेदेऽपि न तन्मुख्यतात्पर्यपरिहाणिस्तथैवान्यत्रापि। यथा सर्वत्र शासनेषु संविधानवाक्यानां न्यायवादिकृतव्याख्याभेदेऽपि न्यायाधीशैर्मुख्यतात्पर्यान्वेषणाय यत्यते, तथैव व्याख्याभेदे सत्यपि वेदसम्मतै-

तो वैदिक वाक्यों में व्याख्याताओं की इच्छा के अनुसार अर्थों की विसंवादिता भी रहेगी और ऐसी अवस्था में उनको अपौरुषेय मानने से क्या लाभ है ?

यह सारा उपक्रम आकाश में मुष्टिका प्रहार के समान है, क्योंकि आपने पूरे प्रकरण का तात्पर्य ही ठीक से नहीं समझा है। जैसे पंच महाभूत साधारण रूप से सभी भौतिक पदार्थों के कारण हैं, तो भी उनका कार्यकारणभाव निश्चित है, इसी तरह उस उस पद में विद्यमान रहकर सभी वर्ण सभी अर्थों के वाचक रहते हुए भी अनादिसिद्ध संकेत की सहायता से उन उन विशिष्ट अर्थों के ही प्रतिपादक होते हैं, यह भी निश्चित ही है। ये संकेत उपदेष्टा के रूप में यद्यपि पुरुष की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु वह पुरुष उनका निर्माता नहीं है, यह हम अनेक बार कह चुके हैं। अपौरुषेय वेद में पुरुष की स्वतन्त्रता का निषेध किया जाता है, पूरी तरह से पुरुष के संबन्ध को अस्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि संप्रदाय की परम्परा के वाहक के रूप में उसको स्वीकार किया जाता है। निम्न श्लोकार्ध में यही बात कही गई है—'हमारे मत में पुरुष को स्वतन्त्रता का ही प्रयत्नपूर्वक निषेध किया जाता है।' इसीलिये संबन्ध की निष्फलता नहीं मानी जाती, क्योंकि वह विशिष्ट अर्थ के बोधक के रूप में अपनी सार्थकता सिद्ध करता है।

यह आक्षेप किया गया है कि—'इच्छा के अनुसार संकेत करने पर सभी शब्द सभी अर्थों के प्रकाशक देखे जाते हैं, यदि ये नियत हों तो अन्यथा संकेत करने पर उनसे अर्थ का प्रकाश नहीं होना चाहिये।' यह आक्षेप भी आक्षेप्ता के अज्ञान को ही प्रकाशित करता है। इस तरह का संकेत अपवाद माना जाता है, उसकी सामान्य स्थल में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे इन्द्र, अग्नि प्रभृति शब्दों को कुछ लोग अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्यादि व्यक्तियों में संकेतित कर देते हैं, किन्तु वेदार्थ का निर्णय करते समय उन अर्थों को नहीं गृहीत किया जाता, अथवा जैसे वृद्धि शब्द से पाणिनि व्याकरण में आत् और ऐच् के लिये व्यवहार होते हुए भी यही अर्थ आयुर्वेद आदि शास्त्रों में नहीं गृहीत होता, अथवा जैसे सर्वज्ञ शब्द बौद्ध ग्रन्थों में तथागत का बोधक होते हुए भी अन्यत्र इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता, इसी तरह अन्यत्र भी मानना चाहिये। व्याख्याओं का विकल्प कहीं पर तात्पर्य के भेद के कारण और कहीं पर उसको ठीक से न समझ पाने के कारण होता है। जैसे बुद्ध के वाक्यों में ही व्याख्या के भेद के रहते हुए भी मुख्य तात्पर्य की कोई हानि नहीं होती, उसी तरह से अन्यत्र भी समझना चाहिये। जैसे सभी शासनों के संविधानों में उनके वाक्यों की न्यायवादी गण विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित करते हैं, किन्तु न्यायाधीश उनका मुख्य तात्पर्य कहाँ है, इसको जानने का प्रयत्न करते हैं, उसी तरह

रार्षैरुपायैर्वेदतात्पर्यनिर्धारणाय यत्न आस्थीयते, न तु व्याख्याभेदेन तत्स्वरूपापलापो युक्तः। अपि चेच्छावशात्कृतसमयः शब्दः सर्वस्य दीपक इति क्व दृष्टम्? इच्छावशात् सर्वस्य सर्वदीपकत्वे येषां केषाञ्चिच्छब्दानां समूहनेऽपि कश्चिद् ग्रन्थनिर्माणे कृती भवेत्, वाग्वैचित्र्यविन्यासस्य विलोपापत्तिश्च स्यात्। प्रातिस्विकसङ्केतेन वाग्व्याहारेऽन्योन्यवार्तानभिज्ञ एव सर्वः स्यात्। यत्र संस्कृतभिन्नप्राकृतापभ्रष्टादिपदवाक्यादिषु कश्चन स्थिरो नियमो नास्ति, तत्रापि पदवाक्यशुद्ध्यशुद्धिक्रियाकारकतत्सङ्केतादिनिर्णयस्तदात्वकसमाजायत्तः, न प्रातिस्विकेहया, तथात्वे व्यवहारलोपप्रसङ्गात्। संस्कृतपदवाक्यादोनान्तु शुद्ध्यशुद्ध्यादिनिर्णयः पाणिन्याद्यृषिसूत्राद्यायत्तः। अत एव परावरदृशामृषीणां लक्ष्यचक्षुष्कत्वेऽपि सर्वसाधारणस्य लक्षणैकचक्षुष्कत्वमेव। अत एव धर्मकीर्त्यादिबौद्धानामपि संस्कृतव्याकरणनियमानुवर्तित्वमेव दृश्यते। न तु स्वेच्छया कृतसङ्केतैः शब्दैस्तेऽपि व्यवहरन्ति। तदनभ्युपगन्तॄणामपि पररीत्यैव परो बोधनीय इति तदनुसारित्वम्। ततो न सङ्केते कस्यचित् स्वाच्छन्द्यम्। स च सङ्केतो नैयायिकादिमतरीत्येश्वरकृतत्वात्पौरुषेयोऽपि व्यवस्थितः। मीमांसकमतरीत्या अपौरुषेयोऽनादिपारम्पर्येण व्यवस्थितः। अन्यत्र तत्तत्पुरुषकृतोऽपि तादात्विकसमाजायत्तव्यवस्थः। अस्थिरपदवाक्यव्याकरणादिनियमत्वादेव कियच्चिच्छतकप्राचीनस्य हिन्दीभाषामयस्यापि पृथ्वीराजरासोग्रन्थस्यार्थोऽद्यत्वे दुरूहः। स्थिरनियमत्वादेव संस्कृतभाषामयस्य वाल्मीकीयरामायणस्यानेकलक्षाब्दप्राचीनस्याप्यर्थोऽद्यत्वे सुगमः।

सङ्केतस्य कृतकत्वेऽकृतकत्वे वा वृद्धव्यवहारादिभिरेवावगमः, तदुक्तम्—'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥'

से व्याख्याभेद के रहने पर भी वेदसंमत आर्ष उपायों की सहायता से वेद का तात्पर्य निर्धारण करने के लिये यत्न किया ही जाता है, व्याख्या भेद को देखकर उसके स्वरूप का ही अपलाप करना उचित नहीं है। आप यह बताइये कि इच्छा के अनुसार संकेतित शब्द सभी अर्थों का प्रकाशक है, यह बात आपने कहां देखी है। इच्छा के अधीन सभी शब्दों की सभी अर्थों की प्रकाशकता मान ली जाय तो कुछ शब्दों को समक्ष करके ही कोई व्यक्ति ग्रन्थ का निर्माण करने में समर्थ हो जायगा और वाणी का विचित्र विन्यास सर्वथा लुप्त हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति के अपने संकेत को मान्यता मिलने पर वाणी के व्यवहार से एक दूसरे की बात समझना भी कठिन हो जायगा। संस्कृत से भिन्न प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के पद, वाक्य आदि में कोई स्थिर नियम नहीं है, वहाँ पर भी पद और वाक्यों की शुद्धि और अशुद्धि तथा क्रिया, कारक आदि के संकेत का निश्चय तदानीन्तन समाज के अधीन रहता है, अपनी मनमानी नहीं चलती, क्योंकि ऐसा मानने पर व्यवहार ही विलुप्त हो जायगा। संस्कृत भाषा के पद, वाक्य आदि की शुद्धि-अशुद्धि का निर्णय तो पाणिन प्रभृति ऋषियों के सूत्रादि के अधीन है। इसीलिये परावर द्रष्टा ऋषिगणों की दृष्टि लक्ष्यप्रधान और सर्व साधारण की दृष्टि लक्षणप्रधान मानी जाती है। इसीलिये धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध दार्शनिक भी संस्कृत व्याकरण के नियमों का पालन करते देखे जाते हैं। वे भी अपना मनमाना संकेत करके शब्दों का व्यवहार नहीं करते। जो इस बात को नहीं मानते, उनको भी दूसरे की पद्धति से ही दूसरे को समझाना पड़ता है, अतः उनको भी इसी नियम का अनुसरण करना पड़ेगा। इसलिये संकेत में कहीं भी स्वच्छन्दता नहीं बरती जा सकती। वह संकेत नैयायिक आदि दार्शनिकों की दृष्टि में ईश्वर कृत होने से पौरुषेय होने पर भी व्यवस्थित है, किन्तु मीमांसकों के मत से अपौरुषेय होते हुए भी आदि परम्परा से व्यवस्थित है। अन्यत्र तत्तत् पुरुषकृत भी यह माना जाता है, किन्तु उसकी व्यवस्था उस समय के समाज के अधीन है, व्यक्ति के नहीं। पद, वाक्य आदि की रचना के व्याकरण गत नियमों की अस्थिरता के कारण ही कुछ ही शताब्दी पहले बनाये गये पृथ्वीराजरासो नामक हिन्दी ग्रन्थ का अर्थ समझ पाना कठिन हो गया है। व्याकरणगत नियमों को स्थिरता के कारण ही अनेकों लाख वर्ष पूर्व बनायी गयी वाल्मीकि रामायण का अर्थ आज भी सरलता से समझा जा सकता है।

संकेत की कृतकता और अकृतकता का ज्ञान वृद्ध व्यवहार प्रभृति से ही हो सकता है। जैसा कि कहा गया है—'शब्दों की शक्ति किस अर्थ में है इसका ज्ञान व्याकरण से, उपमान से, कोश से, आप्त जनों के वाक्य से और व्यवहार से होता है। वृद्धों का कहना है कि अर्थ के ज्ञान में वाक्यशेष, व्याख्याएँ और सिद्धपद का सान्निध्य भी कारण हैं'।

यत्र सैन्धवादिशब्देषु प्रमाणैरनेकेष्वर्थेषु शक्तिग्रहो भवति, तत्र प्रकरणादिभिस्तन्निर्धारणं भवति। 'गिरां नानार्थसम्बन्धेष्वविरोधो व्यवस्थया। व्याकृतिव्यवहाराभ्यां क्वचित्प्रकरणादितः॥' इति।

यदप्युक्तम्—न शब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः, यतो बाह्या अर्थाः शब्दस्य न रूपं नापि शब्दोऽर्थानाम्, येनाभिन्नात्मतया व्यवस्थाभेदेऽपि कृतकानित्यवदविनाभाविता स्यात्। वाच्यश्च हेतुर्भिन्नानां सम्बन्धस्य व्यवस्थितेः। तदुत्पत्तिलक्षणोऽपि सम्बन्धो न सम्भवति, यतो वैदिकाः शब्दा न विवक्षाजन्मानोऽभ्युपेयन्ते, नित्यत्वस्वीकारात्। नाप्यजन्मानः सन्तो विवक्षाव्यङ्ग्याः, नित्यत्वहानेः। नापि बाह्यार्थायत्ताः, नित्यत्वादेव। ततश्च बाह्येऽर्थे तादात्म्य-तदुत्पत्तिभ्यां प्रतिनियमासम्भवात् प्रतिनियमसंसाध्यं तदन्वयं (बाह्यार्थसद्भावं) शब्दाः कथं साधयेयुः? न चार्थायत्ततायाः साधकं किमपि। तदुक्तम्—'असंस्कार्यतया पुंभिः सर्वथा स्यान्निरर्थता। संस्कारोपगमे मुख्यं गजस्नानमिदं (स्नाननिभं) भवेत्॥' (प्र० वा० ३।२३१) इति, तदपि पिष्टपेषणम्, शब्दादनन्तरमर्थप्रतीतेः, शब्देनार्थस्य वाच्यवाचक-सम्बन्धस्योक्तत्वात्, तादात्म्यतदुत्पत्त्यादिसम्बन्धाभावेऽपि चक्षुरादीनां रूपादिप्रकाशकत्वदर्शनेन तादृक्सम्बन्धस्य तदतन्त्रत्वात्, वैयाकरणमतरीत्या सर्वस्यैव प्रपञ्चस्यानादिनिधनशब्दब्रह्मप्रभवत्वेन तादात्म्यसम्बन्धोपपत्तेश्च। तदुक्तम्—'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥' (वा० ब्र० १)। वेदान्त-मतरीत्या सर्वस्यैव कार्यस्य विज्ञानपूर्वकत्वेन विज्ञानस्य शब्दानुविद्धत्वेन प्रणाड्या सर्वस्यैव शब्दपूर्वकत्वमिति तदुत्पत्ति-

सैन्धवादि शब्दों में जहाँ पर इन प्रमाणों से अनेक अर्थों की अवगति होती है, वहाँ पर प्रकरण के अनुसार अर्थ का निर्धारण किया जाता है। निम्न श्लोक में यही बात कही गई है—'शब्दों का जब अनेक अर्थों से सम्बन्ध एक साथ उपस्थित होता है, इस परिस्थिति में उनके विरोध का परिहार करने के लिये व्यवस्था करनी पड़ती है। यह व्यवस्था व्याख्यानों के द्वारा, व्यवहार के द्वारा और कहीं-कहीं प्रकरण द्वारा भी संपन्न होती है'।

यह भी कहा गया है कि—'शब्द और अर्थ का तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थ बाह्य है, उनकी शब्दस्वरूपता नहीं हो सकती और न शब्द ही अर्थस्वरूप हो सकता है। यदि ये अभिन्न हों तो व्यवस्था के भेद में भी कृतक और अनित्य की तरह इनका भी अविनाभाव माना जा सके। भिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध का कारण बताना पड़ेगा। शब्द और अर्थ में उत्पत्ति लक्षण सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैदिक शब्दों की विवक्षाधीन उत्पत्ति नहीं मानी जाती, वे तो नित्य हैं। उनकी उत्पत्ति न मानकर यदि विवक्षाधीन व्यङ्ग्यता मानी जाय, तो भी नित्यत्व की हानि हो जायगी। नित्य होने से ही ये बाह्य अर्थ के अधीन भी नहीं माने जा सकते। इस प्रकार से बाह्य अर्थ के साथ इनकी तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति से भी प्रतिनियतता न होने से प्रतिनियम से ही सिद्ध होने वाले बाह्य अर्थ के साथ सद्भाव रूप अन्वय को शब्द कैसे सिद्ध कर पावेंगे? शब्द की अर्थायत्तता को सिद्ध करने वाले कोई प्रमाण हैं नहीं। इसी बात को निम्न कारिका में संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है—'यदि शब्दों की संकेत निरपेक्ष स्वतः वाचकता मानी जाती है तो पुरुषों के द्वारा संकेत द्वारा नियम्य न होने के कारण शब्दों की सर्वथा निरर्थकता हो जायगी। यदि इस दोष से छुटकारा पाने के लिये संस्कार (संकेत) माना जाता है तो फिर यह गजस्नान के तुल्य हो जायगा। अर्थात् हाथी जैसे स्नान करके अपने कीचड़ को हटाता है और फिर कीचड़ से ही अपने शरीर को सान लेता है, उसी तरह से शब्दार्थ सम्बन्ध की अपौरुषेयता मान कर भी संकेत के लिये पुरुष की अपेक्षा मानने पर पौरुषेयता आ ही जायगी'। यह सब केवल पिष्टपेषण मात्र है, क्योंकि शब्द के उच्चारण के बाद अर्थ की प्रतीति होती है, अतः शब्द और अर्थ का वाच्यवाचक लक्षण सम्बन्ध माना जाता है। तादात्म्य, तदुत्पत्ति आदि सम्बन्धों के न रहने पर भी चक्षुरादि की रूपादि प्रकाशकता देखी जाती है, अतः उक्त सम्बन्धों की आवश्यकता सर्वत्र नहीं मानी जाती। वैयाकरण की पद्धति से यह सारा प्रपञ्च अनादिनिधन शब्दब्रह्म से ही उत्पन्न है, अतः शब्द का अर्थ से तादात्म्य सम्बन्ध उनके मत के अनुसार बन भी सकता है। जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है—'अनादि अनन्त, अक्षर (अविकारी) शब्दरूप ब्रह्म ही अर्थ रूप से विवर्तित होता है और उसी से जगत् की यह सारी प्रक्रिया चलती है'। वेदान्त मत के अनुसार भी सभी कार्य-जगत् विज्ञान का विवर्त है और यह विज्ञान शब्द से ही अनुविद्ध है, अतः इस प्रक्रिया में भी परम्परया सभी कुछ शब्द-

लक्षणस्यापि सम्वन्धस्योपपत्तिः। स्वप्रकाशचितोऽवाध्यत्वेन सदभिन्नत्वं सतश्च स्वप्रकाशत्वेन चिदभिन्नत्वं शब्दार्थयो-श्चित्सद्विवर्तत्वेन तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमेनाप्युभयोस्तादात्म्यं सम्भवति। अत एव ब्रह्मैवेदं सर्वमिति श्रुत्युद्घोषः।

यद्वा विकाराणामधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावेन नाममात्रत्वाभिधानादर्थस्य नामानतिरिक्तत्वसिद्धि-रिति रीत्यापि सम्वन्धग्रहग्रहिलः सन्तोषणीयः। वैदिकानां शब्दानां तत्सङ्केतानाञ्च नित्यत्वेऽपि व्यवहारपारम्पर्यो-पदेशादिभिः संकेतग्रहेण स्वार्थवोधकत्वानपायेन सार्थक्यमेव। नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। वैदिकैः शब्दैर्नास्तिकानामपि भवत्येवार्थवोधस्ततो नैरर्थक्योक्तिरपार्थैव। 'असंस्कार्यतयाऽप्यस्य पुंभिः स्यात्सार्थकता किल। नित्यसिद्धेऽपि सम्वन्धे पारम्पर्यप्रकाशतः॥'

यदपि जल्पितम्—'शब्दार्थसम्वन्धो नित्योऽनित्यो वा? द्वितीयेऽप्याकुञ्चनादिवत्पुरुषेच्छावृत्तिरङ्कुरादिव-त्तदवृत्तिर्वा? द्वितीयान्त्यपक्षेऽपुरुषायत्तत्वे पुरुषाणां यथाभिप्रायं देशादीनामन्यथात्वेन तेन शब्देन प्रतिपादनं न स्यात्। प्रतिपादनेच्छायां सत्यामप्यनायत्तस्य पर्वतादिवन्नियोक्तुमशक्यत्वात्। न चैतदिष्टमेव, देशादिपरावृत्त्या यथाभिप्रायं प्रयोगदर्शनात्। नित्यत्वेऽप्ययमेव दोषः, तस्य स्थिरस्यान्यथाऽयोगादाकाशवत्समं सर्वस्मिन्नवस्थान इष्टे प्रतिनियमा-भावात्ततो विशेषप्रतिपत्तिर्न स्यादिति पूर्ववत्प्रसङ्गः। पुरुषेच्छावृत्तौ च सम्वन्धस्य पौरुषेयत्वापातात्' इत्यादि, तदपि चर्वितचर्वणम्, शब्दार्थसम्वन्धस्य नित्यत्वे दोषाभावात्। तथाहि—नहि सम्वन्धस्य करणमिष्यते, किन्तूपदेश

पूर्वक ही सृष्ट है, अतः यहाँ पर भी तदुत्पत्ति लक्षण सम्बन्ध को उपपत्ति (सिद्धि) हो जाती है। चित् (ज्ञान) स्वप्रकाश है। यह अवाध्य है, अतः सत् से अभिन्न है। सत् भी स्वप्रकाश है, अतः वह चित् से अभिन्न है। शब्द और अर्थ चित् और सत् के ही विवर्त हैं, अतः जिस वस्तु का उससे अभिन्न वस्तु के साथ अभेद है तो उस वस्तु के साथ भी अभेद आवश्यक होगा, इस नियम के अनुसार शब्द और अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध भी वन सकेगा। इसीलिये श्रुति का यह उल्लेख है कि सव कुछ ब्रह्म ही है।

अथवा विकारों की सत्ता उनके अधिष्ठानों की सत्ता से अतिरिक्त (भिन्न) नहीं होती, अतः अर्थ की सत्ता नाममात्र की है, अर्थात् वे नाम (शब्द) से अतिरिक्त नहीं हैं, इस तरह से भी सम्बन्ध ग्रहण पर जोर देने वाले बौद्ध को समझा कर संतुष्ट किया जा सकता है। वैदिक शब्दों की और उनके संकेतों की नित्यता के रहते हुए भी व्यवहार, परम्परा और उपदेश आदि के द्वारा संकेत का ग्रहण होता ही है, इस तरह से उनकी स्वार्थवाधकता के कारण सार्थकता बनी रहती है। कोई वस्तु किसी यथार्थरूप में देखी जाती है तो उसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं खड़ी की जा सकती। वैदिक शब्दों से नास्तिकों को भी अर्थ का बोध होता ही है। इस परिस्थिति में उनको अनर्थक बताना व्यर्थ की वात है। इसी वात को निम्न कारिका में यों कहकर धर्मकीर्ति की कारिका का उत्तर दिया गया है—'वैदिक वाक्यों की पुरुषसंकेत निरपेक्षता, असंस्कार्यता के रहने पर भी सार्थकता यों मानी जायगी कि शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्य सिद्ध रहने पर भी उसका व्यवहार की परम्परा से प्रकाश होता ही है'।

यह भी कहा गया है कि—'शब्दार्थसम्बन्ध नित्य है या अनित्य? यदि अनित्य है तो आकुंचन प्रभृति के समान वह पुरुष की इच्छा का अनुसरण करता है अथवा अंकुरादि के समान इच्छा के अधीन नहीं है? यदि वह अंकुर के समान इच्छा के अधीन नहीं है तो उसके पुरुष के अधीन न होने से पुरुष के अभिप्राय के अनुसार देशादि की अन्यथा स्थिति की दशा में उस शब्द से अर्थ का प्रतिपादन न होगा। प्रतिपादन की इच्छा के रहने पर भी जो उसके अधीन नहीं है, उसकी पर्वतादि की भाँति नियोजकता नहीं सिद्ध हो सकती। इसमें दृष्टापत्ति नहीं दिखाई जा सकती, क्योंकि देशादि के परिवर्तन के साथ अपने अभिप्राय के अनुसार शब्द का प्रयोग देखा जाता है। शब्दार्थ की नित्यता में भी ये ही दोष रहेंगे। नित्य शब्द स्थिर है, इनका अनित्य अस्थिर सम्बन्ध नहीं हो सकता। आकाश के समान सर्वत्र समान रूप से अवस्थिति मानने पर किसी नियम के अभाव में उससे किसी विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति न होने पर पूर्व की आपत्ति बनी रहेगी। यदि उसको पुरुष की इच्छा के अधीन माना जाता है तो उसमें पौरुषेयता की आपत्ति होगी, इत्यादि' यह सब चर्वित चर्वण मात्र है, क्योंकि शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता में कोई दोष नहीं उठता। यहाँ पर सम्बन्ध को उत्पन्न

एवेत्यवोचाम। नित्यशक्तैः शब्दैरेव देशादीनामन्यथात्वेनापि प्रतिपादनसम्भवात्। यथा नियतैर्नित्यैरेव वर्णैर्विशिष्टपौर्वापर्यविशिष्टैरनन्तपदभावापन्नैरनन्तपदार्थबोधस्तथैव विचित्रपौर्वापर्यविशिष्टैर्वाक्यभावापन्नैस्तैरेव विशिष्टाभिप्रायबोधसम्भवात्। नहि तदर्थं नव्यसम्बन्धकरणमपेक्षितम्, नव्यैरेव पदतत्सम्बन्धैर्व्यवहृतौ परस्परवार्तानभिज्ञतैव सर्वस्य प्रसज्येत। क्वचिन्नव्यपदतत्सम्बन्धकरणप्रचारणादिभिर्महतानेहसा तथा व्यवहारस्त्वपवाद एव। तथापि सम्बन्धोपदेशार्थं सिद्धसम्बन्धपदानामेव प्रयोगोऽनिवार्योऽन्यथा तदसम्भवात्। यथा लौकिकवाक्यानामनित्यत्वे पौरुषेयत्वे च सत्यपि न तद्दृष्टान्तेन वेदवाक्यानां तथात्वम्, तथैव केषाञ्चित्पदसम्बन्धादीनां पौरुषेयत्वाभ्युपगतावपि न पदसम्बन्धनित्यत्वपक्षहानिः। अविच्छिन्नपारम्पर्यविशिष्टस्यास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्यापौरुषेयत्वसाधकस्योभयत्र जागरूकत्वात्।

ननु 'सम्बन्धिनामनित्यत्वान्न सम्बन्धेऽस्ति नित्यता' (प्र० वा० ३।२३२) इति रीत्या सम्बन्धिनां वाच्यार्थानामनित्यत्वेन तदाश्रितस्य सुतरामनित्यता, यदि जातेर्नित्याया वाच्यत्वाददोष इति चेन्न, तद्वचने प्रयोजनाभावात्, सर्वत्र च जातेरसंभवादयोगः। ऐच्छिकेषु व्यक्तिवाचिषु देवदत्तादिशब्देषु च जातेरयोगश्च। सर्वदा जातिचोदने (जातिबोधके शब्देऽभ्युपगम्यमाने) विशेषान्तरव्युदासेन प्रवृत्त्ययोगाच्च न जात्यभिधानं सङ्गच्छते। दृश्यते च गामानयेत्युक्तावन्यस्वामिकगोव्युदासेन गोविशेषस्यानयनं प्रति प्रवृत्तिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकिणो भावाभाववतो भावस्यैव सम्बन्धो वाच्यः। स च कारणान्वयव्यतिरेकिणो भावाभाववतः कार्यस्य जन्यजनकभाव एव भिन्नानां सम्बन्धः।

नहीं करना है, केवल उसका उपदेश करना है, यह बात हम पहले ही कह चुके हैं। नित्य शक्तिसम्पन्न शब्द ही देशादि के भेद के रहने पर भी अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ हो सकते हैं। जैसे नियत नित्य वर्ण ही विशिष्ट पौर्वापर्य प्रणाली से अनुस्यूत कर दिये जाने पर अनन्त पदों के रूप में परिवर्तित होकर अनन्त पदार्थों का बोध कराते हैं, उसी तरह से विचित्र पौर्वापर्य से युक्त होकर विशिष्ट वाक्यों के रूप में भी वे ही विशिष्ट अभिप्राय के बोधक हो सकते हैं। इसके लिये नये सम्बन्ध की कल्पना नहीं करनी पड़ती। यदि पदों और उनके सम्बन्धों की परस्पर नवीनता मानी जायगी तो व्यवहार में कोई भी किसी की भी बात समझ न सकेगा। कहीं-कहीं नये पद बनाकर उनके सम्बन्धकी कल्पना कर प्रचार के द्वारा बहुत समय बीतने पर व्यवहार चलाया जाता है, किन्तु ये अपवाद मात्र हैं। इस परिस्थिति में भी संबन्ध के उपदेश के लिये ऐसे ही पदों का प्रयोग अनिवार्य रूप से किया जाता है, जिनका कि सम्बन्ध पहले से सिद्ध है, अन्यथा उनसे उपदेश भी सम्भव नहीं हो सकता। जैसे लौकिक वाक्यों की अनित्यता और पौरुषेयता के दृष्टान्त से वैदिक वाक्यों की अनित्यता और पौरुषेयता नहीं सिद्ध की जा सकती, उसी तरह से कुछ पदों के सम्बन्धादि की पौरुषेयता की स्थिति में भी पद सम्बन्ध के नित्यत्व पक्ष की कोई हानि नहीं होती, क्योंकि इन दोनों ही स्थलों में अविच्छिन्न परम्परा से विशिष्ट अस्मर्यमाण कर्तृकत्व रूप हेतु अपौरुषेयत्व का साधक समान रूप से विद्यमान है।

प्रश्न है कि 'जब संबन्धी ही अनित्य है तो उसका संबन्ध नित्य कैसे हो सकता है?' अर्थात् संबन्धी वाच्यार्थ की अनित्यता के रहते तदाश्रित की अनित्यता अपने आप सिद्ध हो जायगी। यदि नित्य जाति को वाच्य मान कर इस दोष का परिहार किया जाय तो इसमें हमको कोई तुक नहीं दिखाई देता। सर्वत्र जाति रहती भी नहीं है, अतः सर्वत्र उससे संबन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। ऐच्छिक व्यक्तिवाची देवदत्त प्रभृति शब्दों में जाति मानी भी नहीं जाती। सर्वदा शब्द की जातिबोधकता मानने पर विशेषान्तर का परिहार कर दिये जाने से व्यक्ति की भिन्नता में शब्द की प्रवृत्ति न हो सकेगी, अतः शब्द की सर्वत्र जातिबोधकता नहीं बन सकती। हम देखते हैं कि 'गाय लाओ' ऐसा कहने पर अन्य व्यक्ति की गाय को छोड़ कर उसी विशेष व्यक्ति की गाय लाई जाती है। इसलिये भावाभावस्वरूप अन्वयव्यतिरेकी का भाव से ही सम्बन्ध मानना पड़ेगा और वहाँ पर अन्वय-व्यतिरेकी को कारण तथा भावाभाव को कार्य मानकर इनकी परस्पर भिन्नता के कारण जन्यजनकभाव सम्बन्ध मानना पड़ेगा। अर्थ के रहने पर ही शब्द का प्रयोग देखा जाता है, अर्थ के न रहने पर शब्द का प्रयोग भी नहीं होता, अतः इस भावाभाव को लेकर ही उनसे असंपृक्त अर्थ की प्रतीति शब्दार्थ की व्यवहार भावना से पुरुष को होती है, इस प्रकार यह सम्बन्ध पौरुषेय ही रहता है।' इसका समाधान यह है कि लाघव के कारण जाति की ही वाच्यता स्वीकार करने योग्य है। यह जाति नित्य है, अतः इसके नाश का

अर्थे सति शब्दस्य प्रयोगादसति चाप्रयोगात्तावेव भावाभावावाश्रित्यासंसृष्टावपि शब्दार्थैर्व्यवहारभावनातः पुरुषस्य जात इति पौरुषेयः संश्लेष इति चेन्न, लाघवानुरोधेन जातेरेव वाच्यत्वाभ्युपगमेन तस्याश्च नित्यत्वेनोक्तचोद्यानवकाशात्। न च तदसिद्धिः, अनुगतप्रतीतिविषयत्वेन तत्सिद्धेः।

'अपि प्रवर्तेत पुमान् विज्ञायार्थक्रियाक्षमान्। तत्साधनायेत्यर्थेषु संयोज्यन्तेऽभिधायकाः ॥' (प्र०वा०३।९३) अर्थक्रियायोग्यत्वाद् जातिप्रत्याख्यानमप्यनवधानमूलम्, प्रमाणसिद्धस्यापलापानर्हत्वात्। यत्तु नहि जातिर्बहिर्दोहादौ क्वचिदपि प्रत्युपस्थिता न वा तादृशप्रकरणाभावे लोकव्यवहारेषु प्रयोगः, तदप्यकिञ्चित्करम्, स्वलक्षणस्यापि तद्विषयत्वात्। तदुक्तमेव—'शब्दाः सङ्केतितं प्राहुर्व्यवहाराय स स्मृतः। तदा स्वलक्षणं नास्ति सङ्केतस्तेन तत्र न ॥'(प्र०वा०३।९२)। प्राक् स्वलक्षणे कृतसङ्केतः शब्दः पश्चाद् योज्यत इति न युक्तम्, तस्य व्यक्तेर्देशकालभेदेष्वनास्कन्दात्। तथा च व्यक्तेरशक्यचोदनत्वाज्जातिरेष्टव्या। न चापोहस्य वाच्यत्वेन निर्वाहः, नीरूपत्वादपोहस्य बाह्यार्थप्रतीतेरसम्भवात्। न च ज्ञानांशे शब्दनिवेशो युक्तोऽनर्थक्रियाकारित्वात्। यद्यर्थक्रियाकारित्वेन प्रतिभासनात्तथात्वम्, तदा त्वनुगतप्रतीतिविषयत्वेन जातेरपि प्रतिभास इति कुतो नाभ्युपेयते। न वा ज्ञानांशस्यापोहस्य स्वलक्षणत्वात् शब्दवाच्यत्वं सम्भवति।

अत्राहुः—बाह्याभिन्नस्तावत् स्वांशो विकल्पे प्रतिभासत एव। न तावदस्य विकल्पग्राह्यत्वात्प्रतिभासः, सर्वात्मना निश्चयप्रसङ्गादनभ्युपगमाच्च। नापि विकल्पेन बाह्यात्मतयाऽध्यवसाय एवास्य ग्रहणम्। यथावस्थितेन स्वरूपेणाग्रहणादग्रहणे च कथं तत्र प्रतिभासः? ज्ञानस्वलक्षणत्वे तु स्वांशस्य संवित्स्वभावत्वात्प्रतिभासो युक्तः,

अवसर ही नहीं है। जाति की सिद्धि उसकी अनुगत प्रतीतिविषयता के कारण हो जाती है। अर्थात् अनेक भिन्न-भिन्न गौ आदि व्यक्तियों में 'गौ गौ गौ' ऐसा एक अनुगत शब्द का प्रयोग और वैसा ही ज्ञान बिना एक जाति माने बन नहीं सकता, क्योंकि व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये वे एक अनुगत शब्द और ज्ञान के विषय नहीं बन सकते, अतः अनेक भिन्न व्यक्तियों में रहने वाली एक जाति को ही उस एक शब्द और ज्ञान का विषय मानना पड़ेगा।

प्रमाणवार्तिक की इस कारिका के आधार पर कि 'अर्थक्रिया में समर्थ शब्दों से ही पुरुष की प्रवृत्ति होती है, इस अर्थ-क्रिया की सामर्थ्य की सिद्धि के लिये ही शब्दों को संकेतों से जोड़ा जाता है, जाति में अर्थक्रिया सामर्थ्य के न रहने से उसका प्रत्याख्यान किया जाता है' यह उक्ति भी वक्ता की असावधानी की ही सूचक है, क्योंकि प्रमाण से सिद्ध जातिरूप वस्तु का अपलाप नहीं किया जा सकता। 'जाति—वहन क्रिया या दोहन क्रिया आदि में बाहर कहीं दिखाई नहीं देती और बिना प्रकरण के लोक व्यवहार में भी उसका प्रयोग नहीं देखा जाता' यह कथन भी एक दम व्यर्थ है, क्योंकि आपका स्वलक्षण भी न तो क्रिया में उपस्थित होता है और न व्यवहार में ही। जैसा कि श्लोकवार्तिक में कहा गया है—'शब्द संकेतित अर्थ को व्यक्त करते हैं और यह संकेत व्यवहार सम्पादन के लिये किया जाता है। उस समय स्वलक्षण की स्थिति नहीं रहती, अतः स्वलक्षण में संकेत नहीं हो सकता।' पहले स्वलक्षण में संकेत कर दिया जाता है, बाद में वह व्यवहार से संबद्ध होता है, यह भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि देश और काल के भेद में उस संकेत से अर्थ की व्यक्ति संभव नहीं होती। इस प्रकार व्यक्ति के साथ शब्द संकेत को नहीं जोड़ा जा सकता, अतः जाति को मानना आवश्यक है। अन्यापोह को शब्द का वाच्य मान कर भी इस व्यवहार की निष्पत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि अपोह नीरूप (रूप रहित) है, उससे बाह्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। ज्ञानांश में शब्द का निवेश इसलिये नहीं किया जा सकता कि वह अर्थ-क्रियाकारी नहीं होता। यदि ज्ञान का प्रतिभास आप अर्थक्रियाकारी के रूप में मानते हैं, तो अनुगत प्रतीति के रूप में जाति का प्रतिभास मानने में आपको क्या परेशानी है? आपके मत में यह भी आपत्ति है कि ज्ञानांश अपोह भी तो स्वलक्षण है, वह शब्दवाच्य कैसे हो सकता है?

इस पर बौद्धों का कहना है कि विकल्प (शब्द जन्य ज्ञान) में बाह्य अर्थ से अभिन्न अपने अंश का भान होता ही है। यह प्रतिभास (भान) विकल्प ग्राह्य होने से नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर सर्वात्मना निश्चय हो जायगा और ऐसा माना नहीं गया है। विकल्प से बाह्यार्थ के रूप में निश्चय ही इसका ग्रहण नहीं माना जाता, क्योंकि उसका यथावस्थित रूप से ग्रहण नहीं होता और जब ग्रहण नहीं होता तो उसका प्रतिभास कैसे हो सकता है? ज्ञान की स्वलक्षणता में तो स्वांश संवित्स्वभाव है, अतः उसका प्रतिभास हो

तेनाविद्यारूपस्य स्वांशस्य विकल्पस्य च यदि ज्ञानस्वलक्षणत्वं नेष्यते तदा प्रतिभास एव न स्यात्। एवमज्ञानरूपेण च विकल्पेन कथं स्वांशस्य परिच्छेदोऽस्य ज्ञानधर्मत्वात्। तस्माज्ज्ञानस्वलक्षणत्वादेव स्वांशस्य विकल्पे प्रतिभासः। स वाह्याभिन्नो विकल्पविषयो व्यवस्थाप्यते, तस्य संविदितरूपस्य वाह्याभेदेन विकल्पेनाध्यवसीयमानत्वात्। अत एव विकल्पः सामान्यविषय उच्यते, न स्वलक्षणविषयोऽर्थस्वांशयोरेकस्यापि स्वरूपेणाग्रहणात्। तेन स्वांशस्य ज्ञानस्वलक्षणस्यापि वाह्यात्मतयाऽध्यस्तस्य सामान्यरूपत्वम्। तदप्युक्तम्—'ज्ञानरूपतयार्थत्वे सामान्ये चेत्प्रसज्यते। तथेष्टत्वादपोह्यार्थरूपत्वेन समानता॥' (प्र० वा० २।९।१०) इति, तदेतत्सर्वमविचारितरमणीयमेव, ज्ञानस्य निरंशत्वेन तत्रान्तरवाह्यभेदासम्भवात्। तथाहि—न तावज्ज्ञाने स्वलक्षणे वाह्यभिन्नस्य स्वांशस्य प्रतीतिर्युक्ता, स्वलक्षणस्य वाह्यार्थशून्यत्वेन तत्र वाह्यार्थप्रतीतेर्विरुद्धत्वात्। यदि विकल्पेन तत्र वाह्यार्थाध्यवसाय उच्येत, तत्रापि वक्तव्यम्—किमनभिधेयस्य ज्ञानाकारस्य तद्विपरीतवाह्यार्थरूपेणाध्यवसायस्तद्रूपतया निष्पादनम्, अथवा तत्सम्बन्धनमाहोस्विदारोपणम्? नाद्यः, अन्यस्यान्यरूपेण निष्पादनासम्भवात्। नहि शिल्पिसहस्राण्यपि घटं पटयितुमीशते। ततश्चान्तरं ज्ञानाकारस्य वाह्याकारतया निष्पादनमसम्भवमेव। न द्वितीयः, आन्तरस्य वाह्यसम्बन्धनासम्भवात्, वाह्यस्याभावाच्च। तथात्वेऽपि वाह्यमस्तीति व्यवहारो न स्यात्, स्याच्च वाह्यमान्तरेण संयुक्तमिति व्यवहारः। समारोपणमपि गृह्यमाणे वाह्येऽगृह्यमाणे वा? प्रथमेऽपि विकल्पात्मकज्ञानेन गृह्यमाणे तत्क्षणोत्पन्नेन विकल्पज्ञानेन वा गृह्यमाणे? गृह्यमाणमपि स्वलक्षणं सामान्यरूपं वा? न स्वलक्षणं विकल्पग्राह्यं संभवति, अभिलापसंसर्गयोग्यस्यैव विकल्पग्राह्यत्वात्, स्वलक्षणस्य तदसम्भवात्। तदुक्तम्—'अशक्यसमपोह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक्।

सकता है। इसलिये यदि अविद्यारूप स्वांश और विकल्प की ज्ञानस्वलक्षणता नहीं मानी जाती तो उसका प्रतिभास ही नहीं होगा। इसी तरह से अज्ञानरूप विकल्प से स्वांश का परिच्छेद कैसे हो सकता है, क्योंकि परिच्छेद (निश्चय) तो ज्ञान का धर्म है। इसलिये ज्ञान की स्वलक्षणता के कारण ही स्वांश का विकल्प में प्रतिभास होता है। वह वाह्य से अभिन्न और विकल्प का विषय माना जाता है, क्योंकि वह संविदित रूप वाह्य वस्तु से अभिन्न विकल्प के रूप में प्रतीत होता है। इसीलिये विकल्प को सामान्यविषयक कहा जाता है, स्वलक्षणविषयक नहीं, क्योंकि अर्थ और स्वांश इन दोनों में से एक भी अपने स्वरूप में गृहीत नहीं होता। इसलिये स्वांश के ज्ञानस्वलक्षण होने पर भी वाह्यार्थ रूप में अध्यस्ततया प्रतीति होने से सामान्यरूपता आ जाती है। जैसा कि इस कारिका में कहा गया है—'विकल्प बुद्धि से प्रतिभासित होने वाले केशादि सामान्य में ज्ञानरूपता के कारण यदि स्वलक्षणता मानी जाती है तो इसी पद्धति से सामान्य की भी स्वलक्षणता दृष्टापत्ति के रूप में मानी जा सकती है।' किन्तु यह सब अविचारित रमणीय बात है, क्योंकि ज्ञान निरंश (अंश रहित) होता है, अतः उसमें (आन्तर) और वाह्य भेद नहीं होते। जैसे कि स्वलक्षण ज्ञान में वाह्याभिन्न स्वांश की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वलक्षण वाह्यार्थ से शून्य है, इसलिये उसमें वाक्यार्थ की प्रतीति होना स्वरूप विरुद्ध है। यदि विकल्प से उसमें वाह्यार्थ का आरोप किया जाता है तो आपको इस प्रश्न का उत्तर देना पड़ेगा कि क्या अनभिधेय ज्ञानाकार का उसके विपरीत वाह्यार्थ रूप में अध्यवसाय उसकी वाह्यार्थ रूप में निष्पत्ति है या उससे संबन्धित कर देना अथवा उसका आरोप कर देना है? इसमें प्रथम पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि अन्य का अन्य के रूप में निष्पादन संभव नहीं है। हजारों शिल्पी मिलकर भी घट को पट नहीं बना सकते। इसी प्रकार आन्तर ज्ञानाकार को वाह्याकार के रूप में कभी नहीं बनाया जा सकता। द्वितीय पक्ष भी नहीं बनेगा। क्योंकि आन्तर पदार्थ को वाह्य से संबद्ध नहीं किया जा सकता और वाह्य वस्तु आपके मत में कुछ है भी नहीं। ऐसा यदि मान भी लिया जाय तो उसके साथ यह वाह्य है, ऐसा व्यवहार न होकर वाह्य वस्तु आन्तर वस्तु से संबद्ध है, ऐसा व्यवहार होगा। यदि समारोप माना जाय तो यह बताना पड़ेगा कि यह समारोप वाह्य के गृहीत होने से होता है या गृहीत न होने पर भी? प्रथम पक्ष में भी पुनः प्रश्न होगा कि विकल्पात्मक ज्ञान से गृहीत होने पर ऐसा होगा या तत्क्षण उत्पन्न अविकल्पात्मक ज्ञान से गृहीत होने पर? यह गृह्यमाण भी स्वलक्षण है या सामान्यरूप? स्वलक्षण विकल्प ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि अभिलाप (नाम) के संसर्ग से युक्त वस्तु का ही विकल्प से ग्रहण होता है और स्वलक्षण में यह संभव नहीं है। जैसा कि इस कारिका में कहा गया है—'जिसका

तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणो ॥' विकल्पप्रत्ययः संसर्गग्रहयोग्यजातिविशिष्टवस्त्वेव गृह्णाति, स्वलक्षणस्यानन्तत्वान्न तत्र शक्तिग्रहसम्भवः। अत एव सामान्यरूपमपि न ग्रहीतुं शक्यम्, व्यक्तिग्रहमन्तरा तत्सामान्यस्यापि ग्रहणासम्भवात्।

यत्तु तत्समयोद्भूतनिर्विकल्पप्रत्ययेन गृह्यमाणे वाह्ये विकल्पप्रत्ययेन स्वाकार आरोप्यते, तदपि न क्षोदक्षमम्। सर्वस्यापोहरूपत्वमपि नोपपन्नम्। नीलत्वस्यानीलत्वव्यावृत्तिरूपत्वेऽपि नीलत्वप्रसिद्धिरपि वक्तव्या, अप्रसिद्धप्रतियोगिकाया व्यावृत्तेरसंभवात्। तदसिद्धो तद्व्यावृत्तिरप्यसिद्धैव। तत्सिद्धौ कृतं तदपोहपर्यन्तानुधावनेन, तथाऽदर्शनात्। तथाहि नान्यप्रत्ययभासितेऽधिष्ठानेऽन्येनारोप्यते। इदं रजतमिति ज्ञानेन स्वभासित एव पुरोवर्तिनि रजतमारोप्यते नान्यज्ञानेन भासिते। तथैव विकल्पेन स्वभासित एव गृह्यमाणे वाह्ये स्वाकार आरोपयितुं शक्यते, न निर्विकल्पप्रत्ययोद्भासिते। यदि त्वगृह्यमाणत्वेऽपि वाह्यस्य गृह्यमाणस्वलक्षणेनान्तरेण भेदाग्रहात्तत्र प्रवृत्तिः, तदा तु सर्वस्यैव तेन भेदाग्रहात्सर्वत्रैव प्रवृत्तिः स्यात्। अतो ज्ञानाकारस्य वाह्यवस्तुरूपेणारोपो न सम्भवत्येव। एवमेव वासनापरिप्रापितकल्पितज्ञानाकारस्य वाह्यरूपेणारोप इत्यपि न समञ्जसम्, ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वे वाह्याद् भेदप्रसिद्धेः।

यत्तूक्तम्—स्वांशस्य ज्ञानस्वलक्षणत्वे संवित्स्वभावत्वात्प्रतिभासो युक्तः, तदपि न समीचीनम्, वाह्याकारज्ञानस्वलक्षणत्वासम्भवात्। तथात्वे ज्ञानस्वलक्षणस्येव वाह्यस्यापि वस्तुत्वप्रसङ्गात्। तथा च न वाह्यापलापः सम्भवति, स्वांशस्य ज्ञानस्वलक्षणत्वेऽविद्यारूपत्वानुपपत्तिश्च।

समपोहन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता, वह स्वसंवित् सुखादि प्रतीति से पृथक् नहीं हो सकती, अतः इस स्वसंवित्ति का कभी भी अभिलाप (नाम आदि) से संसर्ग नहीं हो सकता।' विकल्प प्रत्यय सदा संसर्ग ग्रहण के योग्य जाति से विशिष्ट वस्तु का ही ग्रहण कर सकता है। स्वलक्षण अनन्त हैं, अतः स्वलक्षण में कभी भी शक्तिग्रह नहीं हो सकता। इसीलिये केवल सामान्य रूप का भी ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति के ग्रहण के बिना व्यक्तिनिष्ठ जाति का ग्रहण सम्भव नहीं होता।

यह कथन भी तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता कि तत्काल उत्पन्न प्रत्यय (ज्ञान) से वाह्य वस्तु के गृह्यमाण आकार में विकल्प प्रत्यय (ज्ञान) अपने आकार को आरोपित कर देता है, क्योंकि सभी पदार्थों की अपोहरूपता भी सिद्ध नहीं की जा सकती। नीलत्व यद्यपि अनीलत्व की व्यावृत्ति करता है, किन्तु नीलत्व की भी कोई स्थिति माननी ही पड़ेगी, क्योंकि अप्रसिद्ध प्रतियोगिक व्यावृत्ति नहीं बन सकती। प्रतियोगी की सिद्धि नहीं होती तो उसकी व्यावृत्ति भी कैसे सिद्ध होगी ? यदि प्रतियोगी सिद्ध हो जाता है तो फिर अपोह तक की दौड़ लगाना व्यर्थ है। ऐसा देखा भी नहीं जाता। जैसे कि अन्य प्रत्ययों से भासित अधिष्ठान में उससे भिन्न प्रत्यय का आरोप नहीं हो सकता। 'यह रजत है' इस ज्ञान से प्रतिभासित सामने वर्तमान वस्तु में ही रजत का आरोप होता है, इसके लिये अन्य ज्ञान से भासित होने वाले में रजत का आरोप नहीं होता। इसी तरह से विकल्प से अपने से प्रतिभासित पूर्व गृह्यमाण बाह्य वस्तु में ही अपने आकार का आरोप किया जा सकता है, निर्विकल्प प्रत्यय से भासित वस्तु में नहीं। यदि आप मानें कि बाह्य के गृहीत होने पर भी उसकी गृह्यमाण स्वलक्षण स्वरूप आन्तर ज्ञान से भेद का ज्ञान न होने के कारण उसमें प्रवृत्ति होती है, तब तो सभी पदार्थों से उसका भेद का ज्ञान न होने के कारण सर्वत्र प्रवृत्ति आप मानेंगे ? अतः कहीं भी ज्ञानाकार का बाह्य वस्तु के रूप में आरोप नहीं हो सकता। इसी तरह से वासना से परिकल्पित ज्ञानाकार का बाह्य वस्तु के रूप में आरोप होता है, यह कथन भी सही नहीं है, क्योंकि ज्ञान स्वप्रकाश है और उसका बाह्य वस्तुओं से भेद स्पष्ट सिद्ध है।

यह जो कहा गया है कि स्वांश के ज्ञान स्वलक्षणरूप होने से वह संवित्स्वभाव स्वरूप है, अतः उसका ज्ञान होना ठीक ही है, किन्तु यह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि बाह्याकार कभी ज्ञान स्वलक्षण स्वरूप नहीं हो सकता। यदि ऐसा माना जाय तो ज्ञानस्वलक्षण की तरह बाह्य पदार्थों को भी आपको वास्तविक मानना पड़ जायगा। किसी भी तरह से बाह्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। स्वांश के ज्ञानस्वलक्षण होने पर भी उसकी अविद्यारूपता भी तो नहीं बन सकेगी।

यत्तूक्तम्—अविद्यारूपस्वांशस्य विकल्पस्य च यदि ज्ञानस्वलक्षणत्वं नेष्यते तदा प्रतिभास एव न स्यादिति, तदप्यस्थाने भ्रमः, बाह्यस्य ज्ञानभिन्नत्वेन ज्ञानविषयतया प्रतिभासोपपत्तेः। विकल्पस्य च साक्षिभास्यत्वात्। एतेन ज्ञानस्वलक्षणत्वादेव स्वांशस्य विकल्पे प्रतिभासः, स बाह्याभिन्नो विकल्पविषयो व्यवस्थाप्यते, इत्यप्यपास्तम्, विकल्पाविषयस्य विकल्पे प्रतिभासासम्भवात्। यदप्युक्तम्—तस्य संविदितरूपस्यैव बाह्याभेदेन विकल्पेनाध्यवसीयमानत्वादिति, तदपि तुच्छम्, संविदितरूपस्य बाह्येनाभेदासम्भवात्। नहि संविदितरूपस्य प्रमितस्य रजतस्य पुरोवर्तिनाऽभेदः सम्भवति, अधिष्ठानारोप्ययोः संविदितयोरारोपासम्भवात्।

व्यक्तीनामानन्त्यात्तत्र शक्तिग्रहोऽसंभवः। एकस्यां व्यक्तौ शक्तिग्रहे सत्यपि न सर्वत्र तद्ग्रहः। जातौ तु शक्तिग्रहे तद्वतीषु व्यक्तिष्वपि तद्ग्रहः संभवत्येव, लाघवात्। न च शब्दाबोधिते सम्बन्धे सत्यपि कथं व्यक्तिषु प्रवृत्तिः, नहि कश्चिद् दण्डं छिन्धीत्युक्ते दण्डिनं छिनत्तीति वाच्यम्, अपोहेऽपि तत्तुल्यत्वात्। नहि नीलत्वोक्त्या नीलत्वबोधेनानीलत्वव्यावृत्तिर्बोध्यते। तथैवात्रापि जातिबोधेन तदविनाभूताया व्यक्तेरपि बोधः समायात्येव। जातौ वाहदोहादीनामसम्भवाद् व्यक्तिषु प्रवृत्तिर्भवत्येव। न च तथात्वे वक्तुरसम्बद्धप्रलापित्वमेवेति वाच्यम्, नीलत्वोक्त्याऽपोहरूपस्य ज्ञानस्यैव बोधेऽप्यसम्बद्धप्रलापित्वापातात्। अत्र तु तात्पर्यानुपपत्त्या लक्षणयापि व्यक्तिबोधसम्भवेन बाधानुपपत्तेः।

ननु नार्थान्तरचोदनेऽर्थान्तरं लक्ष्यते, बलीवर्ददोहचोदनावदिति चेन्न, तत्परत्वातत्परत्वभेदेनोभयत्र वैलक्षण्योपपत्तेः। गामानयेत्युक्त्या जातिमात्रस्य नयनानुपपत्त्या तत्सम्बद्धाया व्यक्तेरानयने तात्पर्यं विज्ञायते। नैवं बलीवर्दं

शङ्का उठाई जाती है कि अविद्यारूप स्वांश और विकल्प की यदि ज्ञानस्वलक्षणता नहीं मानी जाती तो प्रतिभास (भान) की उपपत्ति नहीं हो सकेगी, यह भी अनुचित स्थल में भ्रम की तरह है, क्योंकि बाह्य वस्तु ज्ञान से भिन्न है, अतः ज्ञानविषयतया उसके प्रतिभास की उपपत्ति सम्भव हो सकती है। विकल्प साक्षी के द्वारा भासित होता है। इसी समाधान से इस बात का भी उत्तर हो जाता है कि ज्ञान के स्वलक्षण होने से ही स्वांश का विकल्प में प्रतिभास होता है और वह बाह्याभिन्न विकल्प का विषय बनता है, क्योंकि जो विकल्प का विषय नहीं है, उसका विकल्प में प्रतिभास कैसे हो सकता है? यह कथन भी निराधार है कि संविदित रूप आन्तर ज्ञान का ही विकल्प के द्वारा बाह्य वस्तु से अभिन्न रूप में निश्चय होता है, क्योंकि संविदित रूप की बाह्य वस्तु से अभिन्नता नहीं बन सकती। संविदित रूपतया रूप में गृहीत रजत का पुरोवर्ती शुक्ति द्रव्य से अभेद नहीं हो सकता, क्योंकि अधिष्ठान और आरोप्य यदि सही रूप में विदित हो गये हैं तो ऐसी स्थिति में आरोप (भ्रम आदि) की संभावना नहीं हो सकती।

व्यक्ति अनन्त हैं, अतः उनमें शक्तिग्रह नहीं हो सकता। एक व्यक्ति में शक्तिग्रह हो जाने पर भी सर्वत्र वह सम्भव नहीं है। यदि जाति में शक्तिग्रह मान लिया जाता है तो जाति वाले व्यक्ति में भी उसका ग्रहण सरलता से हो जायगा। यह शंका उठाना भी ठीक नहीं है कि व्यक्ति के साथ सम्बद्ध रहने पर भी शब्द तो जातिवाचक है, अतः वे व्यक्ति का बोध कराते नहीं। फिर व्यक्ति में प्रवृत्ति कैसे होगी? क्योंकि कोई भी व्यक्ति 'लकड़ी को छोलो' ऐसा कहने पर लकड़ी वाले को नहीं छोलने लगता। प्रत्युत लकड़ी को ही छीलता है। इसी तरह जाति में सङ्केत होने पर भी जाति विशिष्ट व्यक्ति में ही प्रवृत्ति होती है। फिर पूर्वोक्त दोष अन्यापोह को शब्द का वाच्य मानने वाले के यहाँ भी ज्यों का त्यों बना रहता है। हमारे यहाँ तो दण्ड को छीलो या काटो इत्यादि व्यवहार से हो भी जाता है, किन्तु उनके यहाँ तो हो ही नहीं सकता। नीलत्व के उच्चारण करने से नीलत्व का बोध होने के साथ ही अनीलत्व से व्यावृत्ति का भी बोध होता है, उसी तरह से यहाँ पर भी जाति का बोध होने पर तदविनाभूत व्यक्ति का भी बोध हो जाता है। जाति में वाहन, दोहन आदि क्रियाएँ नहीं हो सकती, अतः उनकी प्रवृत्ति स्वभावतः व्यक्ति की ओर होती है। ऐसा मानने पर क्या वक्ता असम्बद्ध प्रलापी माना जायगा? तब तो नीलत्व के उच्चारण करने पर अपोह रूप ज्ञान का बोध मानने वाला भी असम्बद्ध प्रलापी क्यों न माना जायगा? हमारे मत में तो तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर लक्षणा से भी व्यक्ति का बोध होने में कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न है कि अर्थान्तर (भिन्न अर्थ = जाति) के वाचक शब्दों से अर्थान्तर (व्यक्ति) कैसे लक्षित हो सकता है? कोई बैल को दुहने की बात करे तो वहाँ लक्षणा से क्या सहायता मिल सकती है? उत्तर है कि तत्परत्व और अतत्परत्व के कारण इन दोनों

दोग्घीत्युक्त्या स्त्रियां प्रवर्तते, अपि तु वक्तारमसम्बद्धप्रलापिनमेव वेत्ति, तत्र तात्पर्यासम्भवात्। न चैवं गङ्गायां घोष इत्यादिवाक्यस्यासंवद्धप्रलापत्वं वक्तुं शक्यम्, लक्षणादिवृत्तीनां शाब्दिकैरभ्युपगमात्। नहि दण्डं छिन्धीत्युक्ते दण्डिनश्छेद्यत्वापत्तिः, तत्र यथाश्रुतार्थे वाधाभावात्। अन्यत्र शब्दस्वारस्याभावाच्च। नहि गङ्गायां घोष इत्यत्रेव गङ्गायां मत्स्य इत्यत्रापि तीरे लक्षणा, तत्रान्वयानुपपत्त्यादिलक्षणावीजस्याभावात्। ननु व्यक्तौ शब्दः कथं न योज्यते ? किं व्यवधिनेति चेन्न, व्यक्तीनामनन्त्येन शक्तिग्रहासम्भवस्योक्तत्वात्। न चेदं जातिपक्षेऽपि समानम्, कतिचिद्व्यक्तिसम्बन्धेन जातौ शक्तिग्रहे जाते तज्जातिद्वारैव सर्वव्यक्तीनां वोधसम्भवात्। इदमेव लक्षणस्यापि प्रयोजनं भवति। व्यक्तिशः पदार्थानां वोधनं न सम्भवति, लक्षणेन तु संभवति। तत एव वैयाकरणानामन्येषाञ्च तैथिकानां लक्षणे प्रवृत्तिः। नहि सर्वेषां लक्ष्याणां निर्देशः सम्भवति, लक्षणनिर्देशेन तु तल्लक्षितानां सर्वेषामपि वोधः सम्भवत्येव। 'अनन्तत्वात्तु लक्ष्याणां नान्तं यान्ति महर्षयः। लक्षणेन तु सर्वेषां पारं यान्ति विपश्चितः॥'

यत्तूक्तं जातेर्व्यक्तिसहितासहितावस्थयोरविशेषाद् विशेषेणार्थक्रियाक्षमस्य विशेषस्याक्षेपो निर्मूल इति, तन्न, गामानय गां दोग्घीति व्यवहारान्यथानुपपत्त्याऽर्थक्रियाक्षमस्यार्थस्याक्षेपे वाधाभावात्। यदप्युक्तं न जातितद्वतोः कश्चित्सम्बन्ध इति, तदपि न, समवायसम्बन्धस्याभ्युपगमात्। वेदान्तरीत्या तादात्म्यसम्बन्धस्य च सम्भवात्। न च वेदान्तमते सामान्यानभ्युपगम इति वाच्यम्, भावानववोधात्। तथाहि—त्वतलादिवेद्यसत्ताद्रव्यत्वादिजातेर्भावपर्यवसायित्वेन

स्थलों में जमीन-आसमान का अन्तर है। 'गाय लाओ' ऐसा कहने पर जातिमात्र का आनयन नहीं हो सकता, अतः तत्सम्बद्ध व्यक्ति के आनयन में तात्पर्य मान लिया जाता है, किन्तु किसी के यह कहने पर कि 'बैल को दुहो' व्यक्ति गाय के दुहने में उसका तात्पर्य न जानकर वक्ता को ही असम्बद्ध प्रलापी मान लेता है, क्योंकि उक्त वाक्य का गोदोहन में तात्पर्य नहीं होगा। किन्तु 'गंगा में घोष है' इस तरह के वाक्य उक्त वाक्य की तरह असम्बद्ध प्रलाप नहीं माने जाते, क्योंकि शाब्दिकों ने लक्षणा प्रभृति वृत्तियों को स्वीकार किया है। 'दण्ड को छोलो' ऐसा कहने पर दण्डी के छेद की आपत्ति नहीं बन सकती, क्योंकि यथाश्रुत अर्थ में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती और इन शब्दों का स्वारस्य किसी अन्य अर्थ के प्रतिपादन में है भी नहीं। 'गंगा में घोष है' इस वाक्य की तरह 'गंगा में मत्स्य है' इस वाक्य की भी तीर में लक्षणा नहीं होती, क्योंकि यहाँ पर अन्वयानुपपत्ति प्रभृति लक्षणा के बीज नहीं है। प्रश्न उठता है कि तब शब्द को सीधे व्यक्ति से क्यों नहीं जोड़ा जाता, बीच में जाति का व्यवधान मानने से क्या फायदा है ? इसका उत्तर दिया जा चुका है कि व्यक्ति अनन्त हैं, अतः उनमें शक्तिग्रह असंभव है। जाति को मानने पर भी यही दोष उपस्थित होता हो, सो बात नहीं है, क्योंकि कहीं पर किसी एक व्यक्ति से सम्बद्ध जाति में एक बार शक्ति का ज्ञान हो जाने पर उस जाति के द्वारा ही सभी व्यक्तियों का बोध (ज्ञान) संभव हो सकेगा। प्रत्येक वस्तु के लक्षण का भी यही प्रयोजन है। व्यक्तिशः पदार्थों का बोध नहीं होता, किन्तु अपने लक्षण से यह हो सकता है। इसीलिये वैयाकरण एवं अन्य शास्त्रकार लक्षण के लिये प्रवृत्त होते हैं। सभी लक्ष्यों का निर्देश नहीं किया जा सकता, किन्तु लक्षण का निर्देश कर देने पर उस लक्षण से लक्षित सभी लक्ष्यों का बोध सम्भव हो जाता है। निम्न श्लोक में यही बात कही गई है—'लक्ष्य अनन्त हैं, अतः उनका अन्त महर्षिगण भी नहीं पा सकते। इसी लिये विपश्चिद् गण (विद्वान् लोग) लक्षणों के सहारे इनके पार को पाते हैं'।

यह कहना कि जाति की व्यक्ति से युक्त और वियुक्त दोनों अवस्थाएँ समान रूप से विद्यमान रहती हैं, अतः उससे केवल अर्थक्रिया समर्थ विशेष का ही विशेषेण आक्षेप होगा, ऐसा कथन निर्मूल है। यह शंका इसलिये गलत है कि 'गाय लाओ', 'गाय दुहो' आदि व्यवहार अर्थक्रिया में समर्थ व्यक्ति का आक्षेप किये विना नहीं बन सकेगा। अतः अर्थक्रिया में समर्थव्यक्ति का आक्षेप से ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है। जाति और जातिविशिष्ट व्यक्ति का कोई संबन्ध नहीं है, यह कहना भी गलत है, क्योंकि इन दोनों में समवाय संबन्ध माना जाता है। वेदान्तमत से इनमें तादात्म्य संबन्ध है। वेदान्त मत में भी सामान्य नहीं माना गया है, यह उक्ति उसका तात्पर्य समझ न पाने के कारण है। जैसे कि त्व, तल् आदि प्रत्ययों से वेद्य सत्ता द्रव्यत्व आदि जाति भाव-

कार्याणां भावस्य चान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणपर्यवसायित्वेन कार्याकारेणावस्थिते कारण एव कार्यभावस्य पर्यवसानम्। एवञ्च घटत्वस्य घटाकारेणावस्थितायां मृदि पर्यवसानम्, मृत्त्वस्य मृदाकारेणावस्थिते जले, जलत्वस्य जलाकारेण परिणते तेजसि, तेजस्त्वस्य तेजोरूपेणावस्थिते वायौ, वायुत्वस्याकाशे, तस्याहमि, तस्य च महति, तस्याव्यक्ते, तस्य च सति। तदुक्तम्—'सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः। तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥' भवति कार्याकारेण परिणामं प्राप्नुवति, कारण इत्यर्थः। अत एव परापरजातिषु व्याप्यव्यापकभावोऽपि सङ्गच्छते। परसामान्यरूपायाः सत्तायाः परत्वेन व्यापकत्वमेव, नापरत्वं व्याप्यत्वं वा तस्याः, सर्वकारणरूपत्वात्। घटादौ सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वानां परत्वापरत्वेन व्याप्यव्यापकत्वञ्च स्पष्टमेव। कार्यस्य नानात्वेन कारणस्यैकस्य तत्समवेतत्वमपि सङ्गच्छते। तथा च परापरसामान्यस्य कारणपर्यवसायित्वेन तदनतिरिक्तत्वमेवेत्यत्रैव वेदान्तिनां तात्पर्यम्। अत एव अन्योऽन्यं जन्यजनकत्वेनानुपकारात्ततो लक्षणमप्ययुक्तमित्याद्यनुपपन्नम्, समवायादिसम्बन्धस्य तत्र वक्तुं शक्यत्वात्। अपि च, यथा बौद्धमते व्यावृत्तेर्वाच्यत्वेऽपि व्यावृत्तिविशिष्टोऽर्थो बोध्यते तथैव मीमांसकनये जातेर्वाच्यत्वेऽपि जातिविशिष्टोऽर्थो बोध्यताम्। यथा केवलाया जातेर्नार्थक्रियाकारित्वं तथैव केवलाया व्यावृत्तेरपि। तथा च सर्वाण्यपि बौद्धकुचोद्यानि तदभिमतव्यावृत्तावपि प्रसरन्त्येव।

यदुक्तम्—जातिमपि ह्यभ्युपगच्छताऽवश्यं वस्तून्यभ्युपगन्तव्यानि, तदभावेऽस्या अभावप्रसङ्गात्। भावानां भेदाभावे चानेककार्यसमवेताया जातेरभावाच्च। तदप्यकिञ्चित्करम्, अनुक्तोपालम्भात्। तथाहि—क एवं ब्रूते वस्तूनि

पर्यवसायिनी होती है। कार्यों का और भाव का अन्वय-व्यतिरेक होने से कारण में पर्यवसान होता है, अतः कार्य के आकार में अवस्थित कार्यभाव का कारण में ही पर्यवसान माना जाता है। इस पद्धति से घटत्व का घटाकारेण अवस्थित मिट्टी में पर्यवसान होता है, मृत्त्व का मृदाकारेण अवस्थित जल में, जल का जलाकारेण अवस्थित तेज में, तेज का तेजोरूपेण अवस्थित वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का अहंकार में, अहंकार का महत्तत्त्व में और महतत्त्व का अव्यक्त प्रकृति में एवं अव्यक्त का सत् में पर्यवसान होता है। जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है—'सभी वस्तुओं का भावरूप 'भू' धातु के अर्थ में विद्यमान रहता है और उस 'भू' धातु के भावरूप अर्थ का आश्रय भी भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, अतः ऐसी कौन वस्तु हो सकती है, जो कि भगवत्स्वरूप न हो, कोई बताये तो सही?' यहाँ पर 'भवति' यह पद सप्तमी का एक वचन है, इसका अर्थ है कि—'कार्याकार से परिणाम को प्राप्त होने वाले कारण में'। इसीलिये पर और अपर जाति में व्याप्यव्यापकभाव बन सकता है। पर सामान्य रूप सत्ता सदा परत्वेन अवस्थित रहती है, अतः यह सदा व्यापक है। वह कभी भी अपरत्व या व्याप्यत्व कोटि में नहीं आ सकती, क्योंकि यह सत्ता सभी की कारणभूत है, किसी का कार्य नहीं। घटादि में तो सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व आदि का परत्व और अपरत्व प्रयुक्त व्याप्यव्यापकभाव स्पष्ट ही प्रतीत होता है। कार्य नाना हैं, एक कारण में वे समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, ऐसा मानना सही है। इस तरह से वेदान्तियों का तात्पर्य इतना ही है कि परस्पर सामान्य का कारण में पर्यवसान होने से वे कारण से अतिरिक्त (भिन्न) नहीं हैं, किन्तु अभिन्न ही हैं। इसी लिये इनकी अन्योन्य जन्यजनकता के कारण कोई उपकार न हो पाने से इनका लक्षण भी नहीं बन सकता' यह शंका भी निर्मूल हो जाती है, क्योंकि इनमें समवाय, तादात्म्य आदि सम्बन्ध बताये जा सकते हैं। दूसरी बात यह है कि जैसे बौद्ध मत में व्यावृत्ति की वाच्यता रहने पर भी व्यावृत्ति से विशिष्ट अर्थ बोधित होता है, उसी तरह से मीमांसक के मत में जाति की वाच्यता होने पर भी जातिविशिष्ट अर्थ की बोधकता क्यों नहीं मानी जा सकती? जैसे केवल जाति में अर्थक्रियाकारिता नहीं बन सकती, उसी तरह से केवल व्यावृत्ति में भी यह नहीं बनती। इसी लिये बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा उठाये गये सभी कुबोध उनके द्वारा अंगीकृत व्यावृत्ति (अपोह) में भी उठ खड़े होते हैं।

यह भी कहा गया है कि 'जाति को मानने पर उसके साथ वस्तुओं की सत्ता को भी अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि वस्तुओं के अभाव में जाति कहाँ रहेगी? इन वस्तुओं में यदि भेद नहीं माना जायगा तो अनेक वस्तुओं में रहने वाली जाति को

न सन्ति, तद्भेदा वा न सन्ति। शब्दवाच्यानि वस्तूनि व्यावृत्तयो वा शब्दार्था इत्यभ्युपगमेन निर्वाह इत्येव तु ब्रूमः। नापि नित्यायाः कारणात्मिकाया जातेर्व्यक्तीनामभावेऽभावो व्यक्तीनामभिव्यञ्जकत्वात्। नहि कार्याणामभावेऽपि कारणाभावः। न च वेदान्तिमते जातेरस्वीकार इति वाच्यम्, परमार्थतो जातेरनङ्गीकारेऽप्यनिर्वचनीयाया जाते-र्व्यावृत्तेरिवाङ्गीकारात्। व्यावृत्तिरपि न प्रमाणसिद्धा। न च सर्वाण्येव वस्तूनि व्यावृत्ताकारेणैवोपलभ्यन्त इति वाच्यम्, तस्या उपलब्धेर्भ्रमरूपत्वात्। तथाहि—घटो व्यावृत्तरूपेणोपलभ्यः। कस्माद् व्यावृत्त इत्यपेक्षायां स्वेतरेभ्यः सर्वेभ्य एव व्यावृत्त इति वक्तव्यम्। तथा च व्यावृत्तिप्रतियोगिसकलवस्तूनां प्रतियोगिविधया ज्ञानमावश्यकम्। न च सकलवस्तुज्ञानमसर्वज्ञस्य संभवति। तथा प्रतियोगिज्ञानं भ्रमात्मकमेव। तस्मिन् ज्ञाने भासमानत्वाद् व्यावृत्ति-स्तदनुयोगी घटश्च भ्रमविषयत्वेनानिर्वचनीय एव। अत एव एकस्माद्भेदस्तदन्येषामभेदस्तद्विशिष्टेषु प्रतिपत्तिरस्तु, इत्यपास्तम्, उक्तरीत्या सामान्यप्रतिपत्तेर्जात्यालम्बनतया निष्प्रत्यूहत्वेन कार्याणां तदालम्बनतानुपपत्तेः। व्यावृत्तिरूपे ज्ञानरूपे वाऽपोहेऽर्थक्रियानुपपत्तिस्तु स्थवीयस्येव।

यदुक्तम्—शब्दं प्रयुञ्जानोऽनिष्टपरिहारेण प्रवर्ततायमित्यभिप्रायेण प्रयुङ्क्ते, तत्र चान्यत्र च प्रवृत्त्यनु-ज्ञायामभिधानग्रहणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अन्यव्यावृत्त्यनभिधाने चैकचोदनादरादवचनमेव स्यात्। तस्मादवश्यं व्यवच्छेदोऽ-ऽभ्युपेयः। स च तदन्येष्वभिन्नश्चेज्जातिधर्मोऽप्यस्ति। तं नियतचोदनं जात्यर्थंप्रसाधनं परित्यज्यार्थान्तरकल्पनमनर्थ-निर्बन्ध एव, यथाकल्पनमस्यायोगात्। तदन्यपरिहारेण प्रवर्ततेति च ध्वनिरुच्यते। तेन तेभ्योऽस्याव्यवच्छेदः। कथञ्च स

आपत्ति न हो सकेगी।' यह शंका भी हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकती, क्योंकि यह जो हमने नहीं कहा है, उस पर उपालम्भ है। यह कौन कहता है कि वस्तुएँ नहीं है और उनके भेद नहीं है, हम केवल इतना ही कहते हैं कि शब्दवाच्य वस्तुएँ हैं, अथवा व्यावृत्तियाँ है, केवल इतना मानने से लोक व्यवहार का निर्वाह नहीं होगा। नित्य कारणात्मक जाति का व्यक्तियों के अभाव के रहने पर अभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यक्तियाँ उसकी केवल अभिव्यंजक होती है। कार्य के अभाव होने पर कारण का अभाव कहीं नहीं माना जाता। वेदान्ती के मत में जाति को स्वीकार नहीं किया गया है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि परमार्थतः यद्यपि वहाँ पर जाति को स्वीकार नहीं किया गया है, तथापि व्यावृत्ति की तरह ही अनिर्वचनीय जाति को तो माना ही गया है। व्यावृत्ति भी प्रमाण सिद्ध नहीं है। सभी वस्तुएँ व्यावृत्त आकार में ही उपलब्ध होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस तरह की उपलब्धि भ्रमात्मक है। जैसे कि घट को व्यावृत्त रूप में उपलब्ध करना है। वह किससे व्यावृत्त है? इस प्रकार के प्रश्न के होने पर अपने से भिन्न सभी पदार्थों से व्यावृत्त है, यही उत्तर देना पड़ेगा। यहाँ पर व्यावृत्ति के प्रतियोगीभूत सकल वस्तुओं का प्रतियोगी के रूप में ज्ञान आवश्यक है। इन सकल वस्तुओं का ज्ञान असर्वज्ञ को नहीं हो सकता। यह प्रतियोगी का ज्ञान भी भ्रमात्मक ही है। उस ज्ञान में भासमान व्यावृत्ति और उसका अनुयोगी घट भी भ्रम का ही विषय है, अतः इसकी अनिर्वचनीयता ही मानी जायगी। इसीलिये एक से भेद होगा और तदन्य से अभेद होगा और तद्विशिष्ट में प्रतिपत्ति मान ली जायगी, यह कथन भी खंडित हो जाता है, क्योंकि उक्त पद्धति से सामान्य की प्रतिपत्ति निर्बाध रूप से जाति का ही अवलम्बन करती है, अतः कार्यों का आलम्बन अपोह नहीं बन सकता। व्यावृत्तिरूप अथवा ज्ञानरूप अपोह में अर्थक्रिया नहीं बन सकती, यह तो बड़ी मोटी बात है।

यह भी कहा गया है कि 'शब्द का प्रयोग करने वाला इस अभिप्राय से उसका प्रयोग करता है कि व्यक्ति अनिष्ट का परिहार करते हुए किसी कार्य में प्रवृत्त हो। यदि दृष्टानिष्ट सभी स्थलों में प्रवृत्ति की अनुज्ञा दी जाय तो अभिधान का ग्रहण ही व्यर्थ हो जायगा। अन्य की व्यावृत्ति को यदि अभिहित नहीं करना है तो एक ही उपदेश से काम चल जाने पर वचनान्तर की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इसलिये व्यवच्छेद को अवश्य मानना पड़ेगा। यदि वह तदन्य से अभिन्न है तो वह जाति का धर्म भी होगा। इस प्रकार से नियतबोधकता वाले तात्पर्य प्रसाधक व्यवच्छेद को छोड़कर अर्थान्तर की कल्पना करना व्यर्थ ही है। कल्पना के अनुसार उसका योग होता भी नहीं। तदन्य (घटभिन्न) का परिहार करके प्रवृत्त हो, यही ध्वनि अर्थात् अभिप्राय कहलाता है। अतः

इति, तन्न, शब्दानां प्रातिस्विकस्वार्थबोधनद्वारैव व्यावृत्तिबोधसम्भवात्। नीलादीनि विशेषणानि हि स्वार्थबोधनद्वारैव तदितरव्यवच्छेदकानि दृष्टानि। तथा च व्यावृत्तिबोधात्प्राक् स्वार्थबोध आवश्यकः। व्यक्तिषु शक्तिग्रहासम्भवेन जातिद्वारैव तद्बोधनमुचितम्। व्यावृत्तिस्त्वार्थिकी। न सा शब्दवाच्या। अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्। अत एव नियताभ्युपगमं नियतचोदनं व्यावृत्त्यर्थसाधनं सामान्यं परित्यज्यान्यार्थकल्पनमेवानर्थनिबन्धः। जातिर्न प्रवृत्तियोग्या चेत्सुतरां व्यावृत्तिरपि न तद्योग्या। व्यावृत्तिविशिष्टोऽर्थो योग्यश्चेज्जातिविशिष्टोऽर्थस्तु सुतरां योग्यः।

अभिधालक्षणाभ्यामभिधयैव जातितद्वतोः शब्दार्थत्वेऽभ्युपगम्यमाने न मनागपि दोषः। न च व्यावृत्तितद्वतोरेव कुतो न शब्दार्थत्वमिति वाच्यम्, तस्या अवस्तुत्वात्। न च जातिरप्यवस्त्वेवेति वाच्यम्, तस्या अनुगतशब्दबुद्धिगोचरत्वेन वस्तुत्वसाधनात्। कारणरूपत्वेनापि वस्तुत्वपर्यवसानात्। न चाभावरूपाया व्यावृत्तेः सद्भावः शक्यसमर्थनः, व्याघातात्।

यदप्युक्तम्—शाब्दप्रत्ययो वस्तुग्राही, स विभ्रमवशादकारकेऽपि कारकाध्यवसायी। तत् (साध्य) प्रतिबन्धे सति वस्तुसंवादः स्याद् वस्तूत्पत्त्या, नान्यथा, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, वस्तूत्पत्त्याऽभ्रान्तित्वसिद्धेः। ननु मणिप्रभायां मणिभ्रान्तिसंवाददर्शनमिवात्रापि स्यादिति चेन्न, तस्याः काकतालीयत्वेनातन्त्रत्वात्। यथा प्रातिभज्ञानस्य क्वचित्संवादित्वेऽपि न प्रामाण्यकोटौ निवेशस्तथैवेहापि बोध्यम्।

अपि च, यदा वितथप्रतिभासिनोऽपि शब्दप्रत्ययस्य बौद्धमते व्यवहाराङ्गत्वं तदा जातिबोधकस्य जातिविशिष्टव्यक्तिबोधकस्य तस्य व्यवहाराङ्गत्वे का बाधा? यदि बौद्धमतेऽत्यन्तासतोऽपि बाह्यार्थस्यार्थक्रियाक्षमत्वं

उन पदार्थों से इस जाति का जब व्यवच्छेद है तब वह उसके साथ कैसे रह सकती है।' इसका उत्तर इस प्रकार है कि शब्द अपने नियत अर्थ का ज्ञान कराते हुए ही व्यावृत्ति का भी बोध करा सकते हैं, क्योंकि घट के नील आदि विशेषण स्वार्थबोधन द्वारा ही तदितर (नील भिन्न) से भिन्न का ज्ञान कराने वाले देखे जाते हैं। इसलिये व्यावृत्ति के बोध से पहले स्वार्थ का बोध आवश्यक है। व्यक्तियों में शक्तिग्रह नहीं हो सकता, अतः जाति के द्वारा ही उनका बोधन उचित है। व्यावृत्ति अर्थतः सिद्ध है, अतः वह शब्द की वाच्य नहीं है, क्योंकि शब्दार्थ अनन्यलभ्य होता है। इसीलिये नियत अभ्युपगम और नियत उपदेश वाले व्यावृत्तिरूपी प्रयोजन के साधन भूत सामान्य जाति को छोड़कर अर्थान्तर की कल्पना करना अनर्थ का ही कारण हो सकता है। जाति यदि प्रवृत्तियोग्य नहीं है तो व्यावृत्ति तो जाति की अपेक्षा भी इसके लिये अधिक अयोग्य है। व्यावृत्ति से विशिष्ट अर्थ योग्य है तो जाति से विशिष्ट अर्थ तो उससे भी अधिक योग्य है।

अभिधा और लक्षणा से और केवल अभिधा से भी जाति और तद्वान् को शब्दार्थ मानने में लेशमात्र भी दोष नहीं है। व्यावृत्ति और तद्वान् ही शब्द के अर्थ इसलिये नहीं हो सकते कि ये वस्तुभूत नहीं है। जाति को तो अवस्तु नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि वह अनुगत शब्दजन्य ज्ञान की विषय है, अतः उसमें वस्तुत्व की सिद्धि हो जाती है और कारणरूप होने से भी जाति में वस्तुत्व की सिद्धि होती है। व्यावृत्ति तो अभावरूप है, इसका सद्भाव किसी भी कीमत पर समर्थित नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा करने में स्पष्ट व्याघात है।

यह भी कहा गया है कि 'शाब्द प्रत्यय (शब्दजन्य ज्ञान) वस्तु का ग्रहण करता है। विभ्रम अवस्था में वह अकारक में भी कारक का अध्यवसाय पैदा कर देता है। विभ्रम में प्रतिबन्ध लगने पर ही वस्तु का सही परिज्ञान होने से वस्तु का संवाद हो सकता है, अन्यथा नहीं,' किन्तु यह कथन भी बाढ में कुश-काश का सहारा लेने की तरह है, क्योंकि इस परिस्थिति में वस्तु को बाद में उत्पत्ति होने से भ्रान्ति की सत्ता सिद्ध हो जाती है। मणिप्रभा में मणि की भ्रान्ति की तरह यहाँ पर संवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि काकतालीय न्याय से यथाकथंचित् निष्पन्न वस्तु को प्रमाण नहीं माना जाता। जैसे प्रातिभ ज्ञान का कहीं संवाद हो जाने पर भी उसको प्रमाण कोटि में नहीं रक्खा जाता, उसी तरह यहाँ पर भी समझना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि जब बौद्ध मत में मिथ्या प्रतिभासित होने वाले शाब्द प्रत्यय (शब्दजन्य ज्ञान) को व्यवहार का अङ्ग मान सकते हैं, तो जातिबोधक और जातिविशिष्ट व्यक्तिबोधक शाब्द प्रत्यय (शब्द से होने वाले ज्ञान) को व्यवहार का अंग

तदा कारणात्मिकाया जातेस्तद्विशिष्टस्यार्थस्यार्थक्रियाक्षमत्वं कथं न स्यात्? किञ्च, शाब्दप्रत्ययस्य यदि वितथप्रतिभासत्वं तर्हि चाक्षुषादिप्रत्यक्षस्य कुतो न वितथप्रतिभासत्वम्? तदा भ्रान्तिप्रमाभेद एव किंमूलकः? किञ्च, यथानुमितेः परोक्षापरोक्षदेशकालसाधारणवस्तुविषयकत्वं तथैव शाब्दप्रत्ययस्येति कुतः शाब्दप्रत्ययस्यैव वितथप्रतिभासित्वम्? यदपि सामान्यस्यार्थक्रियायोग्यत्वादप्रवृत्तिस्तस्मिन्नन्यत्रापि प्रवृत्तावतिप्रसङ्गः (गोशब्दादश्वादौ प्रवृत्तिः) स्यादिति। तदपि पिष्टपेषणम्, लक्षणावृत्त्या सामान्यवाचिशब्दानां व्यक्तिबोधवैशेष्यस्योक्तत्वात्। एतेन स्वलक्षणस्यानन्त्येनाशक्यसम्बन्धत्वेन सामान्यलक्षणस्यानर्थक्रियाकारित्वेन संभिन्नाभासा बुद्धिरर्थक्रियाकारिण्यां व्यक्तौ पर्यवस्यति, श्लिष्टाभासाया भ्रान्ताया बुद्धेः स्वसामान्यलक्षणयोरेकस्याप्यग्रहणात्। भ्रान्ताया बुद्धेः प्रवृत्त्यभ्युपगमेनापोहवाद एवास्थीयतामिति निरस्तम्, विशिष्टबुद्धेः सर्वस्याऽपि भ्रान्तत्वापत्तेः। नहि विशिष्टबुद्धावेकस्याग्रहणेऽपि भ्रान्तत्वमुपैति कश्चिदप्यजडः। अपि च, बाधाभावात्कुतो भ्रान्तत्वं शाब्दप्रत्ययस्याध्यवसातुं शक्यते?

भिन्नास्वपि व्यक्तिषु सामान्यस्यान्वयादेव सैवैषेति प्रत्यभिज्ञाप्युपपद्यते। कारणस्यान्वयादेव कार्येषु संवेयं मृदिति प्रत्यभिज्ञा स्पष्टैव। यदुक्तं वस्तुभेदेऽपि सदृशादिक्रियया चक्षुरादिवत्प्रत्यभिज्ञानमुपपद्यत इति, तदपि तुच्छम्, बौद्धमते क्षणिकस्य ग्रहीतुः सादृश्यग्रहणासम्भवात्। न च विभ्रमवशात्सर्वमुपपद्यते, बाधाभावेन तदनुपपत्तेः। अत एव सम्बन्धिविनाशेऽर्थान्तरेऽभावः, अर्थानामवाच्यता वा मा भूदिति कृत्वोत्पन्नोत्पन्नोऽर्थः सम्बन्धवान् यद्युत्पद्येत सम्बन्ध उत्पन्नोऽपि न शब्दे स्यात्, तेनासम्बन्धिस्वभावस्य स्वभावविपर्ययमन्तरेण तद्भावायोगादर्थेन सहोत्पन्नस्याप्यतः

मानने में क्या बाधा है? यदि बौद्ध मत में अत्यन्त असत् बाह्यार्थ अर्थक्रिया में समर्थ है तो कारणात्मक जाति और जातिविशिष्ट अर्थ की अर्थक्रियाक्षमता क्यों न होगी? किञ्च, यदि शाब्द प्रत्यय को मिथ्या प्रतिभास माना जाय तो फिर चाक्षुषादि प्रत्यक्षों की प्रतिभासता क्यों न मानी जायगी? तब भ्रान्ति और प्रमा के भेद में ही क्या मूल रह जायगा? अपि च, जैसे अनुमिति परोक्ष और अपरोक्ष देश और कार्य में स्थित सभी साधारण वस्तुओं को अपना विषय बनाती है, उसी तरह का तो शाब्द प्रत्यय भी है तब शाब्द प्रत्यय (शब्दजन्य ज्ञान) को ही मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? यदि सामान्य (जाति) को अर्थक्रिया के साथ जोड़ा नहीं जा सकता। इसलिये प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि उससे सामान्य से भिन्न में प्रवृत्ति मानोगे तो भी शब्द से अश्वादि में भी प्रवृत्ति हो जायेगी, किन्तु यह तर्क केवल पिष्टपेषण है, क्योंकि हम यह पहले ही बता चुके हैं कि ऐसे अवसरों पर लक्षणा वृत्ति के द्वारा सामान्यवाची शब्दों से व्यक्तिविशेष का ही बोध होता है। इस उत्तर से इस बात का भी उत्तर हो जाता है कि 'स्वलक्षण की अनन्तता के कारण उसके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता और सामान्य अर्थक्रियाकारी है नहीं। अतः संभिन्नाभास बुद्धि (सम्मिलिताकार का ज्ञान) अर्थक्रियाकारिणी व्यक्ति में पर्यवसित हो जाती है। आभास से संश्लिष्ट भ्रान्त बुद्धि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण में से किसी को भी नहीं ग्रहण कर सकती, अतः इस भ्रान्त बुद्धि की प्रवृत्ति मानने की अपेक्षा यही उचित है कि अपोहवाद का सहारा लिया जाय', क्योंकि ऐसा मानने पर सभी विशिष्ट बुद्धियों को भ्रान्त मानना पड़ जायगा। विशिष्ट बुद्धि में किसी एक वस्तु का ग्रहण न होने पर कोई अज्ञ व्यक्ति भी उसको भ्रान्त नहीं मानता। जब बाध नहीं होता तो उस परिस्थिति में शाब्द प्रत्यय को निश्चित रूप से भ्रान्त कहा भी कैसे जा सकता है?

भिन्न व्यक्तियों में भी सामान्य अन्वित रहता है, इसीलिये 'यह वही है' यह प्रत्यभिज्ञा बनती है। कारण का अन्वय होने से ही कार्य में 'यह वही मिट्टी है' इस तरह की स्पष्ट प्रत्यभिज्ञा होती है। इस प्रत्यभिज्ञा प्रतीति के समर्थन के लिये बौद्धों का यह कहना गलत है कि वस्तु के भेद के रहने पर भी सादृश्य के कारण यह चाक्षुष प्रतीति ही है, क्योंकि उनके मत में क्षणिक ग्रहीता सादृश्य का ग्रहण न कर सकेगा। विभ्रम के कारण सब कुछ संभव है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि बाध के अभाव में इस प्रतीति को विभ्रमात्मक नहीं माना जा सकता। इसीलिये 'सम्बन्धी के विनष्ट हो जाने पर अर्थान्तर का अभाव अथवा अर्थों की अवाच्यता न हो जाय, इसके लिये उत्पन्न अर्थ को उससे सम्बद्ध अवस्था में ही उत्पन्न माना जाता है, इस तरह से यह उत्पन्न सम्बन्ध शब्द में नहीं होगा और असंबन्धी स्वभाव के शब्द का उससे सम्बन्ध स्वभाव का विपर्यय माने बिना नहीं बन सकता, अतः

सिद्धस्यानुपकारिणि शब्देऽसमाश्रयत्वाच्चेत्याद्यपास्तम्, शब्दस्यार्थेनौत्पत्तिकसम्बन्धस्योक्तत्वेनोक्तविकल्पानवकाशात्। शब्दस्य तद्वाच्याया जातेश्च नित्यत्वाभ्युपगमात्, व्यक्तेश्चाक्षेपलभ्यत्वेन वाच्यत्वानभ्युपगमाच्च। अत एव तस्यापि (शब्दस्यापि) तदुत्पत्तिसहकारित्वे समर्थस्य नित्योत्पादनप्रसङ्गः। अनपेक्षत्वान्नित्यस्य शब्दस्य सहकारिभिरनुपकारात्। अथ स्वतः सामर्थ्यम्, सहकारिभिरपि सामर्थ्यं नोपजायते, इत्याद्यपास्तम्, नित्यसमर्थस्यापि शब्दस्यालोकसापेक्षस्य चक्षुष इव सङ्केतज्ञानसापेक्षस्य प्रत्यायकत्वे बाधाभावात्। न च नित्यस्यानुपकाररूपप्रकाशकत्वम्, चक्षुषो नित्यस्यापि आलोकोपकारदर्शनात्।

यदप्युक्तम्—भावश्लेषापेक्षी पुरुषभावनाप्रतिभासी तदपेक्षालक्षणः सम्बन्धः। तत्र पुरुषो नित्यानामपि स्वभावमपरावर्तयन् कुतश्चित्स्वयमुत्प्रेक्ष्य घटयेदिति। न च तावता ते च्यवनधर्माणः, तदप्यकिञ्चित्करम्, सम्बन्धस्य नित्यत्वेन दत्तोत्तरत्वात्। वस्तुतद्धर्माणां समानसत्ताकत्वेन सम्बन्धस्य पुरुषभावनाप्रतिभासित्वानुपपत्तेः। परमार्थ-सद्ब्रह्मापेक्षया वस्तुनोऽपि तथात्वेन तत्समानयोगक्षेमत्वात्, क्षणभङ्गवादिनये वस्तुनित्यत्वासम्भवाच्च।

यदप्युक्तम्—'नित्यत्वादाश्रयापायेऽप्यनाशो यदि सम्मतः। नित्येष्वाश्रयसामर्थ्यं किं येनेष्टः स आश्रयः॥' (प्र० वा० ३।२३४)। यदि जातिर्हि नित्या तर्हि कृतस्य करणाभावात् कारकानपेक्षत्वात्किमाश्रयत्वेनाभिमतानां व्यक्तीनां कृत्यमिति, तत्तुच्छम्, जातितत्सम्बन्धव्यञ्जकत्वेनाश्रयस्य कारकत्वानपायात्। यदप्युक्तम्—'ज्ञानोत्पादन-हेतूनां सहकारिणां सम्बन्धात् तदुत्पादनयोग्यत्वेन घटादिज्ञानोत्पत्तिरेव घटाभिव्यक्तिः, अन्यथाऽनपेक्ष्य तदुपकारं

अर्थ के साथ उत्पन्न अन्यतः सिद्ध सम्बन्ध की उसके अनुपकारक शब्द में स्थिति नहीं मानी जा सकती' इस कथन का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि हमारे मत में शब्द का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध अङ्गीकृत है, अतः उक्त आपत्ति हमारे मत में उठ ही नहीं सकती। शब्द और तद्वाच्य जाति हमारे मत में नित्य है। व्यक्ति आक्षेप से बोधित होती है, अतः इसमें वाच्यता नहीं मानी जाती। इसीलिये 'शब्द को भी यदि अर्थ की सम्बद्धता में सहकारी की अपेक्षा नहीं है, ऐसा मानें तो समर्थ का नित्य उत्पादन मानना पड़ जायगा, क्योंकि 'अनपेक्ष' पद के अर्थ नित्य शब्द को सहकारी की अपेक्षा नहीं है, यही हो सकता है। इसके विपरीत यदि उसको स्वतः समर्थ मानें तो सहकारी के कारण उसमें किसी प्रकार की सहायता न प्राप्त हो सकेगी' इस आक्षेप का भी समाधान हो जाता है, क्योंकि शब्द यद्यपि नित्य एवं समर्थ है, तो भी चक्षु को जैसे आलोक की अपेक्षा रहती है, उसी तरह से शब्द को भी सङ्केत ज्ञान की सहायता से प्रत्यायक (अर्थबोधक) मानने में कोई बाधा नहीं है। नित्य वस्तु सदा बिना किसी की सहायता के हो प्रकाशित होती हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह देखा गया है कि चक्षुरिन्द्रिय नित्य है, तब भी उसको आलोक की सहायता की अपेक्षा रहती है।

यह भी कहा गया है कि—'सम्बन्ध भाव के संश्लेप की अपेक्षा रखता है, पुरुष की भावना के अनुसार उसका प्रतिभास होता है, अतः उसको पुरुष की अपेक्षा है। वह पुरुष नित्य स्वभाव में भी बिना कोई परिवर्तन किये अपनी उत्प्रेक्षा के अनुसार उनको कहीं जोड़ देगा। इतने से वे नित्य शब्द च्यवनधर्मा अनित्य स्वभाव नहीं हो जायेंगे'। किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, इसका उत्तर सम्बन्ध की नित्यता के आधार पर दिया जा चुका है। वस्तु और उसके धर्म दोनों समान सत्ता वाले हैं, अतः सम्बन्ध का पुरुष भावना के अनुसार प्रतिभास सम्भव नहीं हो सकता। परमार्थ सद्ब्रह्म की अपेक्षा से वस्तु की भी परमार्थता होने से इनका योगक्षेम समान है और क्षणभंगवादी के मत में वस्तु की नित्यता संभव नहीं।

यह भी कहा गया है कि—'संबन्ध के नित्य होने से आश्रय अर्थात् वाच्य के न रहने पर भी यदि जाति के समान उसका अनाश माना जाता है, तो नित्य जाति, सम्बन्ध आदि में आश्रय (वाच्य-वाचक) आदि का क्या सामर्थ्य अर्थात् उपकारक धर्म माना जायगा, जिसके कारण कि उनको आश्रय माना जाता है। यदि जाति नित्य है, तब बनी हुई वस्तु को बनाया नहीं जाता। अतः कारक (साधन) की आवश्यकता नहीं है तो आश्रय रूप से अभिमत व्यक्तियों का कार्य क्या रह जायगा?' किन्तु यह अति साधारण शंका है, क्योंकि जाति और उसके संबन्ध की अभिव्यंजकता के कारण आश्रय की कारकता में कोई बाधा नहीं आती। आगे यह भी कहा गया है कि—'ज्ञान के उत्पादक कारणों की सहायता से तदुत्पादन योग्य घटादि ज्ञान की उत्पत्ति ही तो घटाभिव्यक्ति

ज्ञानजननप्रसङ्गात्। नित्यानां जात्यादीनां त्वविकारित्वेन व्यञ्जकैर्नोत्पत्तिः संभाव्यत इति कुतस्तदभिव्यक्तिकल्पनापि। प्रागसमर्थस्य व्यङ्ग्यस्य सामर्थ्यकारिणः प्रदीपादेर्जनकत्वमेव, सामर्थ्यस्य व्यङ्ग्याभिन्नत्वेन तदात्मकत्वात्। अर्थान्तरत्वेऽनुपकारकत्वमेव। प्रदोपादिकृतादर्थान्तरभूतात्सामर्थ्याज्ज्ञानोत्पत्तौ सामर्थ्यमेव गृह्येत। घटादीनां स्वविषयज्ञानाजनकानां नित्यमग्रहणप्रसङ्गः स्यात्। इष्यते च घटादीनां ग्रहणम्। आलोकानपेक्षघटादिग्रहणप्रसङ्गश्च स्यात्। प्रदीपादिभिर्व्यतिरिक्तस्य सामर्थ्यस्य करणाद् घटादीनां न कश्चिदुपकारो जायते। अनुपकारकत्वादालोकानपेक्षा स्पष्टैव। तस्माद् व्यङ्ग्याः स्वविषयज्ञानजनने परमपेक्षमाणाः स्वभावातिशयं स्वीकुर्वन्ति। तेन ते जन्या एव, ज्ञेयरूपासादनात्। ज्ञानवशेन कार्यातिशयवाचिना शब्देन विशेषख्यात्यर्थव्यङ्ग्या इत्युच्यन्ते। जातिसम्बन्धादयस्तु नित्यत्वान्नोपकार्यन्ते। अतोऽनुपकारिणा नैव व्यङ्ग्या इति वक्तुं शक्यन्ते, तदपि न साधु, प्रदीपादिजनितव्यक्तिविषयत्वेनैव रूपादीनां व्यङ्ग्यत्वोपपत्तौ व्यक्तेः प्राक् प्रसिद्धरूपादीनां प्रदीपादिकार्यत्वानुपपत्तेः। न च तावतानुपकारकत्वं प्रदीपादेः, रूपाद्यनुपकारकत्वेऽपि तत्प्रकाशोपकारकत्वे वाधाभावात्। काष्ठावादीनामग्निविद्युदादिव्यञ्जकत्वस्य सर्वसम्मतत्वेऽपि तत्कार्यत्वासम्प्रतिपत्तेः। रेडियोयन्त्रस्य दूरस्थशब्दव्यञ्जकत्वेऽपि न तत्कारणत्वाभ्युपगतिः। शुक्रशोणिततत्परिणाममस्तिष्कादीनां चैतन्यव्यञ्जकत्वेऽपि न तेषां तत्कारणत्वं न वा चैतन्यस्य तत्कार्यत्वं वौद्धैरप्यभ्युपेयते। अन्यथा वौद्धानामपि जडवादित्वापत्तिः स्यात्। तथैव व्यक्तीनां जातिव्यक्तौ हेतुत्वेऽपि जातेस्तत्कार्यत्वानुपपत्तिः। स्वविषयज्ञानजननं प्रति व्यङ्ग्याः परमपेक्षमाणा अपि तज्जनितं प्रकाशमूरीकुर्वाणा अपि न स्वरूपनिष्पत्तौ

कहलाती है। अन्यथा बिना उनकी उपकारकता के ही ज्ञान की उत्पत्ति होने लगेगी। जाति प्रभृति नित्य पदार्थों की अविकारिता के कारण व्यंजकों से भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, तब सम्बन्ध की अभिव्यक्ति की कल्पना कैसे की जा सकती है? पहले असमर्थ व्यंग्य में सामर्थ्य का आधान करने वाले प्रदीपादि की जनकता ही मानी जाती है, क्योंकि सामर्थ्य व्यंग्य से अभिन्न है, अतः तत्स्वरूप ही है। यदि वह अर्थान्तर (भिन्न वस्तु) है तो उसकी उपकारकता नहीं बनेगी। प्रदीपादि कृत अर्थान्तरभूत सामर्थ्य से ज्ञान की उत्पत्ति होने पर सामर्थ्य का ही ग्रहण होगा। घटादि पदार्थों का, जो कि स्वविषयक ज्ञान के जनक हैं, उस अवस्था में नियमतः अग्रहण होने लगेगा। घटादि का ग्रहण तो हमको इष्ट है। उस परिस्थिति में बिना ही आलोक की अपेक्षा के घटादि के ग्रहण का प्रसंग आ उपस्थित होगा। प्रदीपादि से एक अतिरिक्त सामर्थ्य की उत्पत्ति होने से घटादि का कोई उपकार न हो सकेगा। अनुपकारक होने से ही आलोक की अपेक्षा भी नहीं है, यह स्पष्ट है। इसलिये व्यङ्ग्य स्वविषयक ज्ञान की उत्पत्ति में दूसरे की अपेक्षा रखने के कारण स्वभाव की अतिशयिता को स्वीकार करते हैं। इसलिये वे जन्य ही हैं, क्योंकि वे ज्ञेय को रूप देते हैं। ज्ञान के कारण कार्यातिशय के वाचक शब्द विशेष ख्याति स्वरूप अर्थ व्यंग्य माने जाते हैं। जाति, सम्बन्ध आदि की नित्यता के कारण ये किसी से उपकृत नहीं होते, इसलिये अनुपकारिता के कारण ये व्यंग्य है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।' यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रदीपादि से होने वाली अभिव्यक्ति की विषयता के कारण ही रूपादि की व्यंग्यता मानी जाती है, अतः इस अभिव्यक्ति से पहले ही प्रसिद्ध रूपादि को प्रदीपादि का कार्य नहीं माना जा सकता। इसका मतलब यह नहीं है कि प्रदीपादि उपकारक नहीं हैं। ये रूपादि के उपकारक न होते हुए भी उनके प्रकाशन में तो सहायक (उपकारक) हैं ही, इसमें कोई बाधा नहीं है। काष्ठ, जल आदि अग्नि, विद्युत् आदि के सर्वसम्मति से अभिव्यंजक हैं, किन्तु ये उनके कार्य नहीं हैं। रेडियो यन्त्र दूर स्थित शब्द का अभिव्यंजक होते हुए भी उसका कारण नहीं माना जाता। शुक्र और शोणित के परिणाम भूत मस्तिष्क आदि के चैतन्याभिव्यंजक होने पर भी ये उसके कारण नहीं होते। बौद्ध भी चैतन्य को उनका कार्य नहीं मानते। अन्यथा बौद्ध भी जड़वादी हो जायेंगे। इसी तरह से व्यक्तियाँ जाति की अभिव्यक्ति में हेतु होते हुए भी वे जाति की कारण नहीं हैं। स्वविषयक ज्ञान की उत्पत्ति के प्रति व्यंग्य होने के लिये दूसरे की अपेक्षा रखते हुए भी और तज्जनित प्रकाश को स्वीकार करते हुए भी पदार्थ अपने स्वरूप की निष्पत्ति में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, क्योंकि उनकी स्थिति प्रकाश से पूर्व भी विद्यमान रहती है। स्वरूप में और स्वरूप के प्रकाश में अभेद नहीं माना जा सकता, ऐसा मानने पर उनका विषय-विषयीभाव सम्बन्ध न बन सकेगा और प्रकाश से पहले स्वरूप का अभाव भी मान लेना पड़ेगा।

परमपेक्षन्ते, प्रकाशात्पूर्वमेव तन्निष्पत्तेः। न वा स्वरूपप्रकाशयोरभेदः, तथात्वे विषयविषयित्वानुपपत्तेः। प्रकाशात् प्राक् स्वरूपाभावप्रसङ्गाच्च। अत एव कार्यत्वव्यङ्ग्यत्वशब्दभेदोऽप्युपपद्यते। मुख्यवृत्तेरुपपत्तौ उपचाराश्रयणस्यान्याय्यत्वात्। 'ज्ञानोत्पादनहेतूनां ज्ञापकत्वमिहाक्षतम्। न तेन ज्ञेयहेतुत्वं ज्ञापकानां प्रसिद्धितः।। तथात्वे भूतवादित्वं ध्रुवं बौद्धस्य चापतेत्। कार्यव्यङ्ग्यत्वयोरैक्ये चितः स्याद् भूतकार्यता।।'

ननु सम्बन्धो यदि वस्तुभूतस्तदा नियमेन शब्दार्थाभ्यां भेदाभेदौ नातिवर्तेते, सम्बन्धिभ्यां सम्बन्धस्य भिन्नत्वे शब्दार्थसम्बन्धत्रितयावलम्बनत्वेन चित्रबुद्धिता स्यात्। न च भेदाभेदपक्षव्यतिरिक्तः पक्षः सम्भवति, अतद्भूतस्य रूपस्यान्यत्वाव्यतिक्रमात्। तस्य च सम्बन्धस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वे सति स्वबुद्धौ सम्बन्धिविवेकेनार्थान्तरेण रूपेणाप्रतिभासमानत्वात् कथं सत्त्वम्? यद्यतो भेदेन नोपलभ्यते तत्ततो नान्यत्। यद्यद् दृश्यं सन्नोपलभ्यते तन्नास्त्येवेति। यदि चाविवेके सत्यदर्शने च विवेकः सत्ता च परिकल्प्येते, तदा विवेकाभावयोर्व्यवस्थितेरभावप्रसङ्गः। ननु चेन्द्रियादिवदतीन्द्रियत्वेन सम्बन्धस्य विवेकः सत्ता च न प्रतिभासेते, इति चेन्न, ततोऽप्रतिभासप्रसङ्गात्। अप्रसिद्धस्याज्ञापकत्वात्। येन यस्य सम्बन्धो न गृह्यते न तद्द्वारेण तत्प्रतीतिः। सन्निधिमात्रेण ज्ञापनेऽव्युत्पन्नानामपि स्यात्। नानुमानात्प्रतिपत्तिः, लिङ्गाभावात्। नार्थप्रतीतिर्लिङ्गम्, दृष्टान्तासिद्धेः। अर्थप्रतीतेः सम्बन्धकार्यतायाः क्वचिदसम्प्रतिपत्तेः। तत्रापि दृष्टान्तत्वेनोपनीते सम्बन्धस्यातीन्द्रियत्वेन कारणेन साधनानपेक्षणात्। न चास्ति साधनम्, तत्रापि दृष्टान्तासिद्धेः। न चेन्द्रियादिषु तुल्यम्, तेषामन्यथानुमानात्। ज्ञानं कार्यभूतं प्रत्यक्षं केषुचिदालोकादिषु सत्स्वन्वयवत्, निमीलिताद्यवस्थासु व्यतिरेकवत्, उन्मीलिताद्यवस्थासु समन्वयवच्च। तदेवंभूतं कार्यं येषु सत्सु अभवद् दृष्टं तन्मात्रादसंभवं तद्व्यतिरेका-

इसीलिये कार्यत्व और व्यङ्ग्यत्व इन दो भिन्न शब्दों का प्रयोग भी युक्तियुक्त हो सकता है। जब तक मुख्य वृत्ति की उत्पत्ति हो सकती हो उस परिस्थिति में उपचार, लक्षणा वृत्ति का सहारा लेना उचित नहीं माना जाता। यही बात निम्न कारिकाओं में इस प्रकार प्रतिपादित है—'ज्ञान के उत्पादक हेतुओं की ज्ञापकता बिना किसी विघ्न-बाधा के उपपन्न होती है, किन्तु इससे ज्ञापक पदार्थों की ज्ञेय पदार्थों की कारणता प्रसिद्धि के अनुसार नहीं मानी जा सकती। ऐसा मानने पर निश्चय ही बौद्ध जडवादी हो जायगा, क्योंकि कार्यत्व और व्यङ्ग्यत्व की एकता में चैतन्य को पंच महाभूतों का कार्य मानना पड़ जायगा।'

प्रश्न उठता है कि यदि सम्बन्ध वस्तुभूत है तो उसका नियमतः शब्द और अर्थ से भेद और अभेद विद्यमान ही रहेगा। सम्बन्धी यदि सम्बन्ध से सर्वथा भिन्न है तो उसके शब्द, अर्थ और सम्बन्ध ये तीन वस्तु आलम्बन होने के कारण वह चित्र ज्ञान रूप ही होगा। भेदाभेद से अतिरिक्त और कोई पक्ष बन ही नहीं पाता, क्योंकि अतद्भूत रूप अन्य रूप को कभी छोड़ ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध को यदि चक्षुर्ग्राह्य माना जाय तो अपनी बुद्धि में सम्बन्धी से अतिरिक्त अर्थान्तर के रूप में प्रतिभासित होने से उसकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है? जो जिससे भिन्न रूप में प्रतीत नहीं होता, वह उससे भिन्न नहीं हो सकता। जो दृश्य होते हुए भी उपलब्ध नहीं होता, वह नहीं ही है। यदि अविवेक (भेदज्ञान का अभाव) और अदर्शन के रहते भी विवेक (भेद) और सत्ता मान ली जाय तो विवेक और अभाव की कोई व्यवस्था ही न हो सकेगी। 'इन्द्रियादि की तरह उसके अतीन्द्रिय होने से सम्बन्ध का विवेक और उसकी सत्ता नहीं प्रतिभासित होती' यह कहना इसलिये गलत है कि इस परिस्थिति में उनका प्रतिभास ही नहीं बन पावेगा, क्योंकि अप्रसिद्ध वस्तु की ज्ञापकता नहीं मानी जाती। जिसके कारण जिस पदार्थ का सम्बन्ध गृहीत नहीं होता, उसी की सहायता से उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है। सन्निधि मात्र से ज्ञापकता मानने पर अव्युत्पन्न व्यक्ति में भी ज्ञापकता माननी पड़ जायगी। लिङ्ग के अभाव में अनुमान से भी प्रतीति नहीं हो सकती। दृष्टान्त न मिलने के कारण अर्थ प्रतीति को भी लिंग (हेतु) नहीं बनाया जा सकता। अर्थप्रतीति सम्बन्ध का कार्य है, ऐसा कहीं भी माना नहीं जाता। यहाँ पर भी दृष्टान्त को ले आने पर सम्बन्ध की अतीन्द्रियता के कारण उसमें साधन की अपेक्षा नहीं रहेगी। साधन कोई है भी नहीं, क्योंकि यहाँ पर भी कोई दृष्टान्त सिद्ध नहीं है। इन्द्रिय प्रभृति में यह दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उनकी प्रतीति अनुमान द्वारा अन्य पद्धति से हो जाती है। कार्यभूत प्रत्यक्षादि ज्ञान कुछ आलोकादि सहायक पदार्थों के रहते होता है, चक्षु की निमीलन अवस्था में यह नहीं होता, चक्षु के उन्मीलन करने पर यह पुनः होने लगता है, इस

पेक्षां चात्मनः साधयति। ततः कार्यद्वारेणेन्द्रियसिद्धिः। कारणान्तरवैकल्यासम्भविनश्चाङ्कुरादयोऽत्र दृष्टान्ताः। नैवं सम्बन्धस्य, सम्बन्धासिद्धौ तत्कार्यस्यैव ज्ञानाभावात्। नहि शब्दरूपमर्थो वा लिङ्गम्। तयोः सर्वस्य शब्दस्य सर्वस्मिन्नर्थे वाचकत्वेन सर्वस्यार्थस्य सर्वस्मिन् शब्दे वाच्यत्वेन च योग्यत्वात्। अर्थविशेषप्रतीतिसमाश्रयस्य सम्बन्धस्यानियतशब्दार्थाभ्यामप्रत्यायनात्।

शब्दार्थानां सम्बन्धेन संवन्धविशेषस्यासिद्धौ सम्बन्धविशेषप्रतीतिरयुक्तैव। न सम्बन्धविशेषमन्तरेण शब्दात् सम्बन्धविशेषप्रतीतिरिति सम्बन्धप्रतीतावनिमित्तायां सम्बन्धविशेषप्रतीतिप्रतिनियमवदर्थप्रतिपादनमपि शब्दानामनिमित्तं किन्नेष्यते? ततश्चाविशेषेण शब्दः सर्वसम्बन्धं गमयेत्, तदा चाविशेषेण सर्वस्य व्युत्पन्नस्याव्युत्पन्नस्य चार्थप्रतीतिः स्यात्। यथोक्तरीत्या सम्बन्धसिद्धचार्थप्रतीतेः कश्चित्सम्प्रदायं नापेक्षेत। सम्प्रदायसहितस्यैव लिङ्गत्वमिति चेत्, तर्हि किं सम्बन्धेन? केवलः शब्दः सम्प्रदायापेक्षोऽर्थज्ञापनं किन्न कुर्यात्? स च यदभिप्रायैः प्रयुज्यमानो दृष्टोऽन्यथा न दृष्टः। दर्शनादर्शनाभ्यां धूमादिवत्प्रतीतिं जनयतीत्यविनाभावाख्यः सम्बन्धः। न चात्रान्यस्य वस्तुभूतस्य सम्बन्धस्य सामर्थ्यं पश्यामः। सम्बन्धिस्यामभेदे तावेव न सम्बन्धो नाम कश्चित्। नापि तत्त्वान्यत्वरहितः कश्चित्पक्षः। भेदाभेदौ मुक्त्वा वस्तुतो नान्या गतिः। 'भिन्नत्वाद्वस्तुरूपस्य सम्बन्धः कल्पनाकृतः' (प्रा० वा० ३।२३८)। नहि श्लेषलक्षणः सम्बन्धिनोः सम्बन्धोऽश्लिष्टेषु सम्भवति। यदि सम्बन्धिभिन्नमर्थान्तरं तत्, तर्हि कथं पराधीनं भवेत्? सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वेनेष्यत एव तत्परायत्तता। अनपेक्षत्वेन स्वतन्त्रश्चेन्न सम्बन्धः स्यात्, तथात्वे पदार्थान्तरमेव

प्रकार का यह कार्य उन पदार्थों के रहते भी यदि नहीं होता तो इतने से इसकी असंभावना और अपनी व्यतिरेक की अपेक्षा को सिद्ध करता है। अतः कार्य के द्वारा इन्द्रिय की सिद्धि हो जाती है। कारणान्तर का अभाव होने पर असंभव उत्पत्ति वाले अंकुरादि यहाँ पर दृष्टान्त रूप में रखे जा सकते हैं। इस तरह की स्थिति सम्बन्ध को नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध की सिद्धि न होने पर उसके कार्य का ही ज्ञान नहीं होगा। इसमें शब्द के स्वरूप अथवा अर्थ को लिंग नहीं माना जा सकता, क्योंकि शब्दरूप और अर्थ सभी शब्दों के सभी अर्थों में वाचक रूप से विद्यमान है, अतः सभी अर्थ सभी शब्दों में वाच्यरूप से ही रहने योग्य हो सकते हैं। अर्थ विशेष की प्रतीति कराने वाले सम्बन्ध की प्रतीति अनियत शब्द और अर्थ द्वारा नहीं कराई जा सकती।

'शब्दार्थों के सामान्य सम्बन्ध से सम्बन्ध-विशेष की सिद्धि न होने पर सम्बन्ध-विशेष को प्रतीति मानना गलत है। सम्बन्ध-विशेष के बिना शब्द से सम्बन्ध-विशेष की प्रतीति नहीं हो सकती, अतः वह सम्बन्ध की प्रतीति में भी निमित्त नहीं होती, इतने पर भी यदि आप सम्बन्ध-विशेष की प्रतीति में कोई नियम मानते हैं तो फिर शब्दों की अर्थप्रतिपादकता को भी अनिमित्त (निष्कारण) क्यों नहीं मान लेते? इस तरह से बिना विशेषता के शब्द सभी सम्बन्धों का गमक हो जायगा और इस अवस्था में व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न सभी को समान रूप से अर्थप्रतीति होने लगेगी। उक्त रीति से सम्बन्ध की सिद्धि मानने पर अर्थप्रतीति के लिये कोई भी किसी भी परम्परा की अपेक्षा न रखेगा। यदि सम्प्रदाय (परम्परा) सहित शब्द की ही सिद्धता मानी जाती है तो बीच में सम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है? केवल शब्द ही परम्परा के सहारे अर्थ का ज्ञापन क्यों न करे? उसका प्रयोग अभिप्राय के अनुसार ही होता है, अन्यथा नहीं। धूम जैसे दर्शन और अदर्शन से अग्नि की प्रतीति और अप्रतीति कराता है, उसी तरह की स्थिति यहाँ पर भी होने से उसका अविनाभाव सम्बन्ध बनता है। यहाँ पर वस्तुभूत अन्य सम्बन्ध को सामर्थ्य नहीं दिखाई पड़ती। दो सम्बन्धी यदि अभिन्न हैं तो इनके बीच में सम्बन्ध को कोई सत्ता नहीं हो सकती। तत्त्व और अन्यत्व के सिवाय और कोई पक्ष होता नहीं। भेद और अभेद को छोड़कर वस्तुतः अन्य कोई गति नहीं है। वस्तुरूप दो सम्बन्धियों के भिन्न होने से उनका सम्बन्ध कल्पना कृत ही माना जाता है, वास्तविक नहीं। संश्लेष लक्षण सम्बन्ध दो सम्बन्धियों के अश्लिष्ट (असंयुक्त) रहने पर नहीं हो सकता। यदि इन सम्बन्धियों से भिन्न यह अर्थान्तर (दूसरी वस्तु) है तो यह पराधीन कैसे हो सकता है? सम्बन्ध के दो वस्तुओं में रहने के कारण उसमें परायत्तता मानी ही जाती है। यदि अनपेक्षत्वेन वह स्वतन्त्र माना जाय तो यह सम्बन्ध ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में वह

तत्स्यात् । नह्यशिलष्टेन पदार्थान्तरेण सम्बन्धेन सम्बन्धिनोः श्लेषः । शिलष्टेन शिलष्टौ स्यातामिति चेत्तदपि न, तस्यैव ताभ्यां श्लेषासिद्धेः । यद्यर्थान्तरेण तयोः श्लेषस्तदातिप्रसङ्गो विशेषणाभावादिति चेन्न, शक्तिरूपस्यातीन्द्रियस्याप्तोपदेशवृद्धव्यवहारगम्यस्य सम्बन्धस्याभ्युपगमे बाधाभावात् । अत एव नाप्रसिद्धस्य ज्ञापकत्वप्रसङ्गः, वृद्धव्यवहारादिना तत्प्रसिद्धेः सत्त्वात् । न च तत्सत्त्वे मानाभावः, शब्दादर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेरेव तत्र मानत्वात् । न च सम्बन्धरहितस्य सम्प्रदायसापेक्षस्य शब्दस्यैव बोधकत्वमस्त्विति वाच्यम्, उपदेशसम्प्रदायस्य सम्बन्धविषयकत्वेन तदुपेक्षणासम्भवात् । एतेन नहि शब्दार्थयोः कुण्डबदरयोरिव संयोगस्वभावस्तन्तुपटयोरिव समवायात्मा वा सम्बन्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते । तन्मूलत्वात् सम्बन्धान्तराण्यपि न सम्भवन्ति । मुखे शब्दोपलब्धिर्भूमावर्थोपलब्धिश्च । नापि शब्दस्यार्थेन सम्बन्धोऽनुमातुं शक्यते, क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखपाटनपूरणानुपलम्भाच्छब्ददेशेऽर्थासम्भवात् । न चार्थदेशेऽपि शब्दः सम्भवति । स्थानकरणप्रयत्नानां शब्दहेतूनां घटाद्यर्थदेशेऽनुपलम्भादित्याद्यपास्तम्, अनभ्युपगमपराहतत्वात् । नहि संयोगादिसंश्लेषलक्षणः सम्बन्धोऽभ्युपेयते, शक्तिरूपसम्बन्धाभ्युपगमे चोक्तदोषानवकाशात् । 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।' (वा० प० १।१) इति रीत्या कैश्चित्तु कार्यकारणभावलक्षणस्तन्मूलकस्तादात्म्यलक्षणो वा शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽभ्युपेयते । तत्र ब्रह्मण इव कारणस्य शब्दस्य सौक्ष्म्यातिशयेन

पदार्थान्तर ही होगा । अश्लिष्ट पदार्थान्तर के सम्बन्ध से दूसरे सम्बन्धियों का संश्लेष नहीं हो सकता । इन दो पदार्थों के श्लिष्ट होने पर ही संश्लेष हो सकेगा । यह बात भी इसलिये नहीं कही जा सकती कि उन दो सम्बन्धियों से ही उस सम्बन्ध का संश्लेष नहीं बन पावेगा । यदि अर्थान्तर से सम्बन्धियों का संश्लेष होता है तो इसमें अतिप्रसङ्ग हो जायगा, क्योंकि यह उनका विशेषण नहीं है' । बौद्ध कृत ऊपर का यह पूरा प्रतिपादन गलत है, क्योंकि शक्तिस्वरूप अतीन्द्रिय है । आप्त उपदेश अथवा वृद्ध-व्यवहार आदि से जानने योग्य सम्बन्ध के मानने में कोई बाधा नहीं है । वृद्ध व्यवहार आदि से इसकी प्रसिद्धि रहती है, अतः यहाँ पर अप्रसिद्ध की ज्ञापकता की आपत्ति भी नहीं उठ सकती । इसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि सम्बन्ध के बिना शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये यहाँ पर अर्थापत्ति ही प्रमाण है । सम्बन्ध रहित सम्प्रदाय सापेक्ष शब्द को ही अर्थ का बोधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि उपदेशात्मक सम्प्रदाय को भी सम्बन्ध की अपेक्षा रहती है, अतः उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । इस कथन से ही—'शब्द और अर्थ का कुण्ड और बदर की तरह का संयोग, अथवा तन्तु और पट का समवाय लक्षण संबन्ध प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता । अन्य सम्बन्ध भी संयोग और समवाय के आधार पर ही स्थापित होते हैं, अतः इनके अभाव में वे सुतरां नहीं होंगे । शब्द की उपलब्धि मुख में और अर्थ की उपलब्धि भूमि में होती है, अतः इनका कोई सम्बन्ध हो भी नहीं सकता । शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध अनुमान द्वारा भी नहीं सिद्ध किया जा सकता । छुरा और लड्डू शब्द के उच्चारण से मुखपाटन अथवा पूरण नहीं होता, अतः सिद्ध है कि शब्द के प्रदेश में अर्थ की स्थिति नहीं है । अर्थ के प्रदेश में भी शब्द की स्थिति नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि शब्दों के हेतु स्थान, करण, प्रयत्न आदि की स्थिति घटादि प्रदेश में उपलब्ध नहीं होती' । इस प्रतिपादन का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि शब्दार्थ स्थल में हम आपके बताये सम्बन्धों को मानते ही नहीं । हम यहाँ पर संयोगादि संश्लेषलक्षण सम्बन्ध को नहीं मानते । हमारे द्वारा अभ्युपगत शक्तिलक्षण सम्बन्ध में उक्त आपत्तियों को प्रवृत्ति ही नहीं होती । कुछ लोग शब्द और अर्थ का कार्यकारणभाव लक्षण अथवा तन्मूलक तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध मानते हैं, क्योंकि वाक्यपदीय से इस श्लोक में शब्द और अर्थ का कार्यकारण भाव इस प्रकार प्रतिपादित है—'यह जो अनादि निधन ब्रह्मलक्षण अक्षर शब्द तत्त्व है, वही अर्थ के रूप में विवर्तित होता है, जिससे कि इस जगत् की सारी प्रक्रिया चलती है' । इस पक्ष में ब्रह्म की तरह ही जगत् के कारणभूत शब्द की अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण क्षुर, मोदक शब्दों के अर्थभूत कार्य पाटन, पूरणादि की उपलब्धि का परिहार संभव नहीं हो सकता, अर्थात् जब शब्द से ही अर्थ की उत्पत्ति मानी जाती है तो क्षुर, मोदक आदि शब्दों के मुख से उच्चारण करने पर यहाँ पर उक्त अर्थों की भी उपस्थिति रहने से पाटन, पूरण आदि कार्य मुँह में होने ही चाहिये । इस दोष का परिहार इस पक्ष में भी इस तरह से किया जा सकता है कि जैसे कारणभूत तन्तु में अङ्ग को ढकना, शीत को दूर करना आदि की क्षमता न रहने पर भी उनके कार्य पट में यह क्षमता उपलब्ध होती है, अतः

क्षुरमोदकाद्यर्थकार्यपाटनपूरणाद्यनुपलम्भो नोपपद्यते, तन्त्वादिष्वङ्गप्रावरणशीतापनयनादिकार्यक्षमत्वाभावेऽपि पटे तदुपलम्भेन कार्यकारणयोरनिर्वचनीयवैलक्षण्याभ्युपगमे दोषासत्त्वात्।

यदप्युक्तम्—भेदाभेदौ मुक्त्वा वस्तुनो नान्या गतिः सम्भवति, तदप्यकिञ्चित्करम्, सदसद्भेदाभेदविलक्षणस्य कार्यजातस्यैवानिर्वचनीयत्वसिद्धेः। तथाहि—स्थिरो भावः क्रमवत्सहकारिसमवधानात् क्रमेण कार्याणि करोति। सहकारिभिराधीयमानोऽस्योपकारो न भिन्नो नाभिन्नः, किन्त्वनिर्वाच्य एव। अनिर्वाच्याच्च तस्मादनिर्वाच्यमेव कार्यं जायते। न च 'वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्येव तयोः फलम्। चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः।।' इत्युक्तदिशा खतुल्यस्य कूटस्थस्याकारणत्वमेवेति वाच्यम्, भुजङ्गस्य रज्ज्वा इव कूटस्थस्यापि कार्योपादानत्वे बाधाभावात्। बौद्धैरनिच्छद्भिरपि चैषा गतिरुपाश्रयणीया। तथाहि तैः सर्वतो विलक्षणानि वस्तून्यास्थीयन्ते। तन्मते बीजजातीयेभ्योऽङ्कुरजातीयान्येव कार्याणि न क्रमेलकजातीयानि। किमत्र व्यक्त्योः कार्यकारणभावः सामान्ययोः सामान्योपहितयोर्वा? न प्रथमोऽतिप्रसङ्गात्। व्यक्तित्वे वैलक्षण्ये चाविशेषे कुतो बीजादङ्कुरस्यैवोत्पत्तिः, न क्रमेलकस्य? न द्वितीयः, बीजाङ्कुरत्वयोर्वस्तुसत्त्वेऽपराद्धान्तापत्तेः। नहि बौद्धैः सामान्यं वस्तु सदभ्युपेयते। अवस्तुनोरपि सामान्ययोः कार्यकारणभावाभ्युपगमेऽर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वापातादपरोऽप्यपराद्धान्तः। यदि त्ववस्तुसामान्योपहितानां व्यक्तीनां कार्यकारणभावोऽभ्युपेयते, तर्हि तद्वदेवावस्तुभूतोपकारोपहितात्स्थिरात् कार्योत्पत्तिः कुतो नोपेयते। न चोपधानमन्तरेण व्यक्तीनां कार्यकारणभावः सम्भवति, कार्यहेतुकानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। न च सामान्योपाधिमन्तराप्यनुमानं प्रवर्तते, व्यक्तीनामानन्त्येन व्याप्तिग्रहायोगात्। तथाविधस्योपकारस्य सदसद्भेदाभेदविलक्षणत्वेनानिर्वाच्य-

कार्य और कारण में कुछ अनिर्वचनीय विलक्षणता माननी ही पड़ती है। इसलिये आपके बताये किसी दोष की इस पक्ष में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती।

यह जो कहा गया है कि—'भेद और अभेद को छोड़कर वस्तु की दूसरी कोई गति नहीं हो सकती', वह भी गलत है, क्योंकि सदसत्, भेदाभेद आदि से विलक्षण सम्पूर्ण कार्यों की अनिर्वचनीयता सिद्ध की जाती है। जैसे कि स्थिर भाव (वस्तु) क्रमयुक्त सहकारी के समवधान (सहयोग) से क्रम से कार्य करता है। सहकारी कारणों के द्वारा किया जाने वाला इसका उपकार न तो इससे भिन्न है और न अभिन्न ही, किन्तु वह अनिर्वाच्य होता है। उस अनिर्वाच्य कारण से कार्य भी अनिर्वाच्य ही होता है। यहाँ शङ्का उठती है कि 'वर्षा और आतप से आकाश का क्या बनने-बिगड़ने वाला है, इसका प्रभाव तो चमड़े पर ही पड़ता है। यदि ब्रह्म को भी चर्म के समान माना जायगा तो वह अनित्य हो जायगा और आकाश के तुल्य मानने पर उससे कुछ फल मिलने वाला नहीं है' इस कारिका के अनुसार आकाशतुल्य कूटस्थ ब्रह्म किसी का कारण नहीं हो सकता। यह कथन भी बिलकुल बेतुका है, क्योंकि रज्जु से सर्प की तरह कूटस्थ से भी कार्य की उत्पत्ति में, रज्जु और कूटस्थ की उपादानता में कोई बाधा नहीं है। बौद्धों को न चाहते हुए भी इस बात को मानना पड़ेगा, क्योंकि वे वस्तुओं का स्वरूप सब दार्शनिकों से अत्यन्त विलक्षण मानते हैं। उनके मत में बीजजातीय वस्तुओं से अंकुरादिजातीय कार्य ही पैदा होते हैं, क्रमेलक (ऊंट) जातीय नहीं। यहाँ पर दो व्यक्तियों का कार्यकारणभाव सामान्य का है या सामान्य से उपहित का है? पहले पक्ष में अतिप्रसङ्ग दोष होगा, क्योंकि व्यक्तित्व और वैलक्षण्य की समानता रहने पर बीज से अंकुर की ही उत्पत्ति क्यों होगी, उष्ट्र की उत्पत्ति क्यों न होगी? इसमें कोई गमक नहीं है। द्वितीय पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि बीज और अंकुर की वस्तुसत्ता मानने पर बौद्ध सिद्धान्त गलत हो जायगा। बौद्ध सामान्य को वस्तुसत् नहीं मानते। अवस्तुभूत दो सामान्यों का कार्यकारणभाव मानने पर अर्थक्रियाकारिता के कारण इनमें भी सत्त्व की स्थिति रहने से बौद्ध को यह दूसरी भी बात (अपने सिद्धान्त से विरुद्ध) माननी पड़ जायगी। यदि अवस्तुभूत सामान्य से उपहित व्यक्तियों का कार्यकारणभाव माना जाता है तो उसी तरह से अवस्तुभूत उपकार से उपहित स्थिर वस्तु से भी कार्य की उत्पत्ति क्यों न मान ली जाय? उपधान के बिना तो व्यक्तियों का कार्यकारणभाव नहीं बन सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्यहेतुक अनुमान उच्छिन्न हो जायगा। सामान्य जाति के बिना अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि व्यक्ति तो अनन्त हैं, उनके साथ व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता। इस प्रकार का उपकार सदसत्,

त्वमेव। न च तर्हि धूमादिवत्प्रत्ययनियमहेतुत्वेन शब्दार्थयोरविनाभावसम्बन्धोऽस्तु, तथात्वे शब्दस्यानुमानत्वापातात्। न चाभिधानाभिधेयनियमनियोगसमय एव सम्बन्धोऽस्तु, तस्य पुरुषसङ्केतरूपस्याव्याहतप्रसरत्वेन तदयोगात्। वस्तुनियमस्य पुरुषेच्छानधीनत्वात्, पुरुषेच्छयार्थस्यापि वाचकत्वप्रसङ्गात्। नहि दहनमनिच्छन्नपि पुरुषः धूमादग्निं न प्रत्येति, जलं वा तत इच्छन्नपि प्रत्येति। तस्माच्छक्त्यात्मक एव शब्दार्थयोर्नैसर्गिकः सम्बन्धः। तत्र यथा धूमाग्न्योरविनाभावस्य नैसर्गिकत्वेऽपि ज्ञप्तये भूयोदर्शनादिनिमित्तमिष्यते, तथैव तद्व्युत्पत्तये वृद्धव्यवहारप्रसिद्धिसमाश्रयणम्। नन्वेवं सम्बन्धस्यौत्पत्तिकत्वे दीपादिवद् व्युत्पत्त्यनपेक्षैवोचितेति चेन्न, शब्दस्य ज्ञापकत्वात्। यथा धूमादेः सम्बन्धग्रहणसापेक्षस्यैव स्वज्ञाप्यत्वम्, तथैव व्युत्पत्तिसापेक्षस्यैव शब्दस्यापि स्वज्ञापकत्वम्। योग्यतादयस्तु प्रत्यक्षाद्यन्तर्गताः।

अभिधानाभिधेयनियमनियोगरूपः समयोऽपि ज्ञानरूप एव नार्थान्तरम्। ज्ञानं चात्मन्येव भवति न शब्दार्थयोरिति न तयोः सम्बन्धः। किञ्च, समयः क्रियमाणः प्रत्युच्चारणं वा क्रियते प्रतिपुरुषं वा? सर्गादौ सकृदीश्वरेण वा प्रत्युच्चारणं प्रागिव क्रियते नूतनो वा? नवस्य क्रियमाणस्य कथमर्थप्रत्यायनसामर्थ्यम्, तदवगतौ वा किं तत्करणेन? पुरुषेच्छैव हि नियामिकेति चेन्न, प्रतिपुरुषमिच्छाया भिन्नत्वात्। पूर्वकृतसंकेतादर्थप्रत्यायनं चेत्, तदा कृतत्वादेव कृतस्य करणमनुपपन्नम्। एकस्य वस्तुनो ज्ञप्तिरेवासकृदावर्तते नोत्पत्तिः। प्रतिपुरुषमपि सम्बन्धो भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियते? भेदपक्षे कथमेकार्थसंज्ञानं सास्नादिमान् गोशब्दस्यार्थः? अभेदे कृतस्य करणाज्ज्ञानमेव सम्बन्धस्य, न करणम्। शब्दार्थसम्बन्धरहितकालस्यासम्भवादेव सर्गादावपि तत्करणमसङ्गतम्। तस्मान्नित्यस्यैव सम्बन्धस्य लोकतो व्युत्पत्तिः,

भेदाभेद आदि से विलक्षण है, अतः वह अनिर्वाच्य ही हो सकता है। 'धूम जैसे अग्नि का ज्ञान कराता है, वैसे ही शब्द अर्थ का ज्ञान कराता है। इसलिये उनका अविनाभाव सम्बन्ध ही क्यों न मान लिया जाय' यह कहना इसलिये ठीक नहीं है कि फिर तो शब्द प्रमाण की अनुमान से अभिन्नता हो जायगी। अभिधान-अभिधेय के नियम का उपदेश ही सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह तो पुरुष सङ्केत रूप है, अतः उसकी सर्वत्र अव्याहत प्रवृत्ति होती है, उसको नियोग में ही सीमित नहीं रख सकते। वस्तु का नियम पुरुष की इच्छा का अनुवर्तन नहीं करता, पुरुष की इच्छा होने पर क्या अर्थ को भी वाचक बनाया जा सकता है? अग्नि को न चाहता हुआ भी व्यक्ति धूम से अग्नि को जान ही लेता है और चाहते हुए भी धूम से जल को नहीं जान पाता। इसलिये शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध शक्त्यात्मक ही है। धूम और अग्नि का अविनाभाव स्वाभाविक है, तो भी उनकी ज्ञप्ति के लिये भूयोदर्शन (बार-बार देखना) प्रभृति निमित्त माने जाते हैं, उसी तरह से शक्त्यात्मक स्वाभाविक सम्बन्ध की व्युत्पत्ति के लिये भी वृद्ध-व्यवहार, प्रसिद्धि आदि का सहारा लिया जाता है। सम्बन्ध यदि स्वाभाविक है तो दीपादि की तरह उसको भी व्युत्पत्ति आदि की अपेक्षा नहीं रहनी चाहिये, यह बात हम नहीं कह सकते, क्योंकि शब्द केवल ज्ञापक होते हैं। जैसे धूमादि से व्याप्तिरूपी सम्बन्ध का ग्रहण होने पर ही अग्नि प्रभृति का ज्ञान होता है, उसी तरह से व्युत्पत्तिसापेक्ष शब्द की ही अपने अर्थ में ज्ञापकता मानी जाती है। इसके सहायक योग्यता प्रभृति का तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

'अभिधानाभिधेय नियम नियोग रूप समय भी ज्ञानरूप ही है, इससे भिन्न नहीं। ज्ञान आत्मा में ही होता है, शब्द और अर्थ में नहीं, अतः वह ज्ञान शब्द और अर्थ का संबन्ध नहीं हो सकता। अपि च, समय प्रति उच्चारण किया जाता है या प्रति पुरुष? अथवा सर्ग के आदि में ईश्वर एक ही बार प्रति उच्चारण पूर्ववत् संकेत करता है या नवीन? यदि नवीन करना है तो उससे अर्थावगति कैसे हो सकती है और यदि अर्थावगति किसी प्रकार होती है तो उसमें क्या पुरुष की इच्छा ही नियामिका है?' इस पर हमारा उत्तर है कि प्रति पुरुष इच्छा भिन्न होती हैं, अतः इच्छा इसमें नियामिका नहीं हो सकती। पूर्व कृत संकेत से अर्थप्रतीति मानने पर भी आपत्ति यह है कि यह तो कृत वस्तु से ही कृत का करण हुआ, जो कि अनुचित है। एक वस्तु की ज्ञप्ति की ही पुनः पुनः आवृत्ति होती है, उत्पत्ति की नहीं। प्रति पुरुष भी संबन्ध भिन्न रहता है या अभिन्न? भेद पक्ष में एक अर्थ का ज्ञान कैसे होता है कि यह सास्नादिमान् गौ शब्द का अर्थ है? अभेद पक्ष में कृत का ही करण हुआ, इसमें संबन्ध का ज्ञान ही होगा, शब्दार्थ संबन्ध से रहित काल की असंभाव्यता के कारण सर्गादिकाल में भी उसकी करणता नहीं बन सकती। इसलिये नित्य सिद्ध संबन्ध का ही

न करणम्। व्युत्पत्तिपक्षे नैते दोषाः सम्भवन्ति, प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। वृद्धानां स्वार्थे व्यवहरमाणानामुपशृण्वन्तो बालास्ततस्ततः शब्दात्तं तमर्थं प्रतियन्ति। ते वृद्धा अपि स्ववृद्धेभ्यस्तथैव प्रतियन्तीति प्रत्यक्षमेव। पूर्वमीमांसकनये संसारस्यानादित्वान्न प्राथम्यं कस्यचित्। वेदान्तिनये सृष्टिप्रलयाङ्गीकारेऽपि वीजाङ्कुरन्यायेन सृष्टिप्रलयपरम्पराया अपि अनादित्वमेव। सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन सर्गादौ ब्रह्मप्रजापत्यादीनां पूर्वसृष्टिशब्दार्थसम्बन्धानां स्मरणमुपपद्यत एव।

नैसर्गिकशक्तिशून्यसमयमात्रशरणः शब्दश्च नाक्षिनिकोचहस्तसंज्ञादिभ्यो भिद्यते। तथा च स कशाङ्कुश-प्रतोदाभिघातस्थानीय एव भविष्यति। तथा च शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे, लौकिकोऽयं व्यपदेशो वाधित एव भवि-ष्यति। किञ्च, समयपक्षे यदृच्छाशब्दतुल्यत्वमेव सर्वशब्दानां भविष्यति, तेन गवाश्वादिशब्दानां नियतविषयत्वं च न स्यात्।

यदप्युक्तम्—क्वचिद्देशान्तरप्रसिद्धमर्थमुत्सृज्य ततोऽर्थान्तरे प्रयुज्यते। यथा तस्करवचनश्चौरशब्दः क्वचि-दोदने प्रयुज्यते। तदेष समयपक्ष एव युज्यते, नित्ये सम्बन्धे तदर्थव्यभिचारो न युक्तः, तदपि मन्दम्, सर्वशब्दानां सर्वार्थ-प्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात्। क्वचिद्देशे केनचिदर्थेन व्यवहारः। अत एव चानवगतसम्बन्धे श्रुते सति सन्देहोऽपि भवति कोऽर्थोऽस्य शब्दस्येति। आर्षदेशप्रसिद्ध एव शब्दानामर्थो युक्तः, तत्राविच्छिन्नपारम्पर्यस्य सत्त्वात्। तस्मादकृत्रिम एव शब्दार्थसम्बन्धः।

लोक व्यवहार से ज्ञान होता है। वह किया नहीं जाता, अतः किये जाने के पक्ष में उठाई गई सारी शंकाएँ व्यर्थ हैं। व्युत्पत्ति (ज्ञान मात्र) मानने में उक्त दोषों का प्रसार नहीं होता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। वृद्ध जन जब अपने व्यवहार में लगे रहते हैं तो उनकी बातें सुनकर बालक उस उस शब्द से उस उस अर्थ को जान लेते हैं। वे वृद्ध भी अपने पूर्ववर्ती वृद्धों से इसको जानते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। पूर्व मीमांसक के मत में संसार अनादि है, अतः इसमें किसी की प्राथमिकता नहीं मानी जाती। वेदान्ती के मत में सृष्टि और प्रलय को यद्यपि स्वीकार किया गया है, किन्तु बीजांकुर न्याय से सृष्टि और प्रलय की परम्परा भी अनादि है। सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय से सर्गादि काल में ब्रह्मा, प्रजापति आदि को पूर्व सृष्टि में स्थित शब्दार्थसंबन्ध का स्मरण होता है। इसलिये यही पक्ष युक्तियुक्त है।

'नैसर्गिक शक्ति से शून्य, केवल समय (संकेत) के सहारे जीने वाला यह शब्द आँख और हाथ के इशारे से अधिक भिन्न नहीं है, उसको अंकुश और चाबुक के आघात के समान ही समझना चाहिये, अर्थात् जैसे चाबुक आदि से घोड़े, हाथी और बैल को प्रेरित किया जाता है, उसी तरह से ये शब्द भी अर्थों को प्रेरित करने वाले माने जायेंगे।' किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'मैं शब्द से अर्थ को जानता हूँ' यह लौकिक व्यपदेश बाधित हो जायगा। आपके कहे हुए केवल समय को मानने पर यह भी दोष आ उपस्थित होगा कि सभी शब्द यदृच्छा शब्दों के तुल्य हो जायेंगे, इस परिस्थिति में गो, अश्व प्रभृति शब्द नियत विषय के ही बोधक नहीं रह जायेंगे।

यह भी कहा गया है कि 'कहीं पर देशान्तर में प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर उससे भिन्न अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे कि तस्करवाची चौर शब्द से कहीं पर ओदन (भात) का बोध होता है। यह बात समय को मानने पर ही संभव हो सकती है। नित्य संबन्ध को मानने पर उसका अर्थ से व्यभिचार नहीं होना चाहिये।' किन्तु यह कथन भी बड़ा कमजोर है, क्योंकि सभी शब्द सभी अर्थों को बताने में समर्थ हैं। किसी देश में किसी एक अर्थ से व्यवहार होता है और दूसरे में दूसरे अर्थ से। इसीलिये अनवगत (अज्ञात) संबन्ध वाले शब्द को सुनने पर संदेह हो जाता है कि इस शब्द का अर्थ क्या है? शब्दों का आर्ष देश में प्रसिद्ध अर्थ ही उचित माना जाता है, क्योंकि वहीं पर इसकी अविच्छिन्न परम्परा वर्तमान है। इसलिये शब्दार्थ का संबन्ध अकृत्रिम (स्वाभाविक) ही माना जाता है।

यदुक्तम्—शब्दवदर्थवच्च तृतीयस्य सम्बन्धस्य न प्रतीतिरिति, शक्तिरूपस्य सम्बन्धस्य साधितत्वात् । न च स्वरूपसहकारिव्यतिरिक्तात्मां शक्तिर्नास्त्येवेति वाच्यम्, शक्तेः कार्यगम्यत्वेनापलापानर्हत्वात् । 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इति श्रुतेश्च । ननु शक्तिकल्पनेऽपि समयोऽपरिहार्यः, समयमन्तरेणार्थप्रतिपत्तेरसिद्धेः । सिद्धे च समये तत एवार्थसिद्धेः किं नित्यसम्बन्धाश्रयणेनेति चेन्न, नैसर्गिकशक्तिव्युत्पत्तिव्यतिरेकेण समयानपेक्षणात्, समयस्यासङ्गतत्वाच्च ।

यदप्युक्तम्—शक्त्यभावेऽपि शब्दस्यैव वाचकत्वे योग्यतेति न पुरुषेच्छाया अव्याहतप्रसरत्वेन वाच्यवाचकयोर्व्यत्यय इति, तदपि मन्दम्, शक्त्यतिरिक्ताया योग्यताया असिद्धेः । न च यथा द्रव्यत्वाद्यविशेषेऽपि वीरणत्वादिसामान्यवतां पटनिष्पत्तौ न शक्तिस्तथैव क्रमविशेषोपकृतस्य गत्वौत्वादिसामान्ययोगस्य वाचकत्वे इतरस्य तु वाच्यत्वे योग्यतेति वाच्यम्, योग्यतायाः पुरुषेच्छानधीनत्वेन वैषम्यात् । वस्तुगतवैशेष्यमन्तरा तन्तुपटमृद्घटादीनामपि कार्यकारणभावानुपपत्तेश्च । वस्तुगतयोग्यताङ्गीकारे वस्तुशक्तिरभ्युपगतैव । वीजेऽङ्कुरोत्पादनयोग्यतैव बीजगताङ्कुरोत्पादिनी शक्तिरभ्युपेयते ।

यदुक्तम्—न तयोरविनाभावे धूमाग्न्योरिव सम्बन्धः । तत्र सम्बन्धः धूमोऽग्निं विना न भवतीति प्रतीयमान एव प्रतीयते । इह पुनरयमस्मात्प्रतीयत इत्येतावदेव व्युत्पत्तिपर्यवसानम् । अत एवावगतिपूर्विकैवावगतिरिहेत्यनुमानाच्छब्दस्य भेदः । प्रकाशकत्वमपि शब्दस्य समयप्रसादादेवोपनतं न स्वाभाविकमित्यादि, तदपि तुच्छम्, तथात्वेऽप्यक्षिनिकोचहस्तसंज्ञादिभ्यः शब्दस्य विशेषानवगमात् । शब्दशक्त्यनभ्युपगमे शब्दादर्थं प्रतिपद्यामह इति प्रतीतेरनुपपत्तेश्च, समयादर्थं

यह कहना भी गलत है कि 'शब्द और अर्थ की तरह तृतीय पदार्थ के रूप में हमको संबन्ध की प्रतीति नहीं होती', क्योंकि यह संबन्ध शक्तिरूप है, इसको सिद्ध किया जा चुका है। स्वरूप और सहकारी के अतिरिक्त शक्ति कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा आप नहीं कह सकते, क्योंकि शक्ति का ज्ञान उससे होने वाले कार्यों से होता है, इसलिये उसका अपलाप किसी भी तरह से नहीं किया जा सकता । 'इस परमात्मा की परा शक्ति नाना रूपों में सुनी जाती है' यह श्रुति वचन भी इसमें प्रमाण है । प्रश्न है कि शक्ति की कल्पना कर लेने पर भी समय को तो मानना ही पड़ेगा, क्योंकि बिना समय के अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं हो सकती । समय के सिद्ध हो जाने पर उसी से जब अर्थ की सिद्धि हो सकती है तो नित्य संबन्ध को मानने की क्या आवश्यकता है ? उत्तर है कि नैसर्गिक शक्ति और व्युत्पत्ति के अतिरिक्त समय नाम की कोई वस्तु नहीं है । समय एक असंगत कल्पनामात्र है ।

यह भी कहा गया है कि 'शक्ति को न मानने पर भी शब्द में ही वाचकत्व की योग्यता है, अतः पुरुष की अपनी मनमानी इच्छा के अनुसार वाच्यवाचक भाव में परिवर्तन नहीं होगा', किन्तु यह भी बड़ी कमजोर उक्ति है, क्योंकि शक्ति से भिन्न कोई योग्यता सिद्ध नहीं की जा सकती । जैसे समान रूप से द्रव्यत्व रहने पर वीरणत्व (तृणत्व) सामान्य वाले द्रव्यों से पट की निष्पत्ति नहीं होती, उसी तरह से क्रम विशेष से उपकृत गत्व, औत्व आदि सामान्य योग के वाचकत्व में और अर्थ के वाच्यत्व में योग्यता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि योग्यता पुरुष की इच्छा के अधीन नहीं है, इतना ही यहाँ अन्तर है । वस्तुगत वैशिष्ट्य के बिना तन्तु-पट, मिट्टी-घट आदि का भी कार्यकारणभाव नहीं बन सकता, इस परिस्थिति में वस्तुगत योग्यता को स्वीकार करने पर वस्तु की शक्ति मान ही ली जाती है । बीज में अंकुर के उत्पादन की योग्यता ही तो बीजगत अंकुरोत्पादन शक्ति मानी जाती है ।

यह भी कहा गया है कि—'शब्द और अर्थ का अविनाभाव माने बिना धूम और अग्नि की तरह उनका संबन्ध ही नहीं बनेगा । धूम अग्नि के बिना नहीं होता, अतः यहाँ पर संबन्ध पहले से ही प्रतीयमान है । शब्दार्थ स्थल में यह अर्थ इस शब्द से प्रतीत होता है, इतने में ही व्युत्पत्ति का पर्यवसान हो जाता है । इसीलिये यहाँ पर अवगतिपूर्विका अवगति (ज्ञानपूर्वक ज्ञान) होने से इसका अनुमान से भेद हो जाता है । शब्द की प्रकाशकता भी समय के प्रसाद से ही आती है, वह स्वाभाविक नहीं है' यह भी बड़ी गलत बात है, क्योंकि इतना मान लेने पर भी, शब्द की अक्षिनिकोच (आँख का इशारा) और हाथ के इशारे से अधिक कोई विशेषता नहीं ज्ञात होती । शब्दशक्ति न मानने पर शब्द से अर्थ को जानते हैं, इस तरह की प्रतीति के स्थान पर समय से अर्थ को जानते हैं, इस तरह

प्रतिपद्यामह इति प्रतीत्यापत्तेश्च। अवगतिपूर्वकत्वस्य लिङ्गपरामर्शजन्यानुमितेरिव सङ्केतग्रहपूर्वके शाब्दबोधेऽप्यनपायादिति न तेन शब्दानुमानयोर्भेदसिद्धिः। सिद्धान्ते शाब्दबोधे आकाङ्क्षायोग्यतासत्तितात्पर्यज्ञानानामपि कारणत्वेनानुमानाद् व्यवच्छेदः। तात्पर्यज्ञानस्यानुमितौ सर्वथानुपयोगः। तस्यानुमितित्वावच्छेदेनाहेतुत्वम्। व्याप्तिज्ञानाभावेऽपि सत्स्वाकाङ्क्षादिषु संसर्गज्ञानस्यानुभवसिद्धत्वान्नानुमानरूपता शब्दस्य। आलोकादिसापेक्षस्य चक्षुषो रूपप्रकाशकत्वमिव व्युत्पत्तिसापेक्षस्य शब्दस्य स्वार्थप्रकाशकत्वमपि स्वाभाविकमेव। अत एव सांसिद्धिके हि तथात्वे भ्रमित्वादिप्रयुक्तादन्यतो वा यतः कुतश्चिदभिनवापि दीपादिना शब्दादर्थप्रतीतिः स्यादित्याद्यपास्तम्, स्वभावस्य फलबलकल्प्यत्वात्। नहि दीपस्यापि सर्वथा निरपेक्षत्वम्, चक्षुरादिसापेक्षत्वात्। उक्तं च धूमादेर्व्याप्तिग्रहसापेक्षस्येव शब्दस्यापि सम्बन्धग्रहसापेक्षस्यैव प्रत्यायकत्वम्।

यदप्युक्तम्—'धूमादेः प्रत्यायकत्वं न स्वाभाविकम्, धूमध्वजाविनाभावित्वं तु तस्य निजं बलम्। तस्मिन्नगृहीते प्रतीतिरेव न जायत इति युक्तं तद्ग्रहणं प्रतीत्यर्थम्, इह तु प्रतीतिशक्तिरेव स्वाभाविकी मीमांसकैरभ्युपेयत इति वैषम्यम्। स्वाभाविकी शक्तिश्चेत्किं व्युत्पत्त्यपेक्षणेनेति, तदसङ्गतम्, उभयोः प्रत्यायकत्वाविशेषात्। यथा चक्षुषो रूपप्रकाशशक्तौ स्वाभाविक्यां सत्यामप्यालोकाद्यपेक्षा, दीपस्य च चक्षुराद्यपेक्षा, तथैव शब्दस्य स्वार्थबोधिन्यां शक्तौ नैसर्गिक्यामपि व्युत्पत्त्यपेक्षा। यावत्कृत्वः श्रुतेनेयं संज्ञाऽयं संज्ञीत्यवगम्यते, तावत्कृतः श्रुतादर्थावगम इति न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः क्रियते, किन्तु सिद्ध एवोपदिश्यते। ज्ञानस्यैवावृत्तिर्न वस्तूत्पत्तिरित्युक्तमेव।

की प्रतीति की आपत्ति होगी। लिङ्ग के परामर्श से उत्पन्न अनुमिति के समान संकेत ग्रहण पूर्वक होने वाले शाब्दबोध में भी अवगति पूर्वकत्व के नियमतः रहने से शब्द और अनुमान में कोई भेद नहीं रह जायगा। हमारे मत में तो शाब्दबोध में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य ज्ञान की भी कारणता होने से इसकी अनुमान से भिन्नता हो जाती है। तात्पर्य ज्ञान का अनुमिति में कोई उपयोग नहीं है। वह तो अनुमान मात्र में हेतु भी नहीं है। व्याप्ति ज्ञान के न रहने पर भी आकांक्षा प्रभृति के रहने पर संसर्ग ज्ञान हो जाता है, यह बात अनुभव सिद्ध है, इसलिये शब्द अनुमान रूप नहीं है। आलोकादि सापेक्ष चक्षु की रूपप्रकाशकता के समान व्युत्पत्ति सापेक्ष शब्द की स्वार्थप्रकाशकता भी स्वाभाविक है। इसीसे इस शङ्का का भी समाधान हो जाता है कि 'दीपक जैसे विना किसी की सहायता के वस्तु को प्रकाशित करता है, उसी तरह से शब्दार्थ सम्बन्ध की स्वाभाविकता में भ्रमत्वादि से प्रयुक्त अथवा जिस किसी नये शब्द से भी अर्थ की प्रतीति होनी ही चाहिये', क्योंकि किसी भी वस्तु के स्वभाव की कल्पना फल के आधार पर ही की जाती है। दीपक भी सर्वथा निरपेक्ष वस्तु का प्रकाशक न होकर चक्षुरादि की अपेक्षा रखता ही है। यह हम पहले ही कह आये हैं कि व्याप्ति ग्रहण सापेक्ष धूम जैसे अग्नि का प्रत्यायक है, उसी तरह से शब्द भी सम्बन्ध ग्रहण सापेक्ष ही अर्थ का प्रत्यायक है।

यह भी कहा गया है कि—'धूमादि की प्रत्यायकता स्वाभाविक नहीं है, किन्तु उनकी धूमध्वज (अग्नि) की अविनाभाविता तो निजी बल है, उस निज बल रूप अविनाभाव के ज्ञान के विना धूम से अग्नि की प्रतीति ही नहीं होगी, इसलिये अग्नि की प्रतीति के लिये उस अविनाभाव का ज्ञान आवश्यक है, किन्तु यहाँ पर तो मीमांसक प्रतीति (शक्ति) को स्वाभाविक मानते हैं, यह दोनों स्थलों में विषमता है। यदि शक्ति स्वाभाविक है तो फिर व्युत्पत्ति की क्या आवश्यकता है' यह भी उक्ति असङ्गत है, क्योंकि प्रत्यायकता (ज्ञापकता) दोनों में समान है। जैसे चक्षु में रूप को प्रकाशित करने की शक्ति स्वाभाविक है, तो भी उसको आलोकादि की अपेक्षा रहती है और आलोकादि को भी चक्षुरादि की अपेक्षा है, उसी तरह से शब्द की स्वार्थबोधक शक्ति के स्वाभाविक होने पर भी व्युत्पत्ति की अपेक्षा रहती है। जितनी बार सुनने के बाद यह संज्ञा है, यह संज्ञी है, इसका ज्ञान होता है, उतनी ही बार सुने गये शब्द से अर्थ की अवगति (ज्ञान) होती है। इस तरह से संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध बनाया नहीं जाता, किन्तु सिद्ध सम्बन्ध का उपदेश भर किया जाता है। ज्ञान की ही बार-बार आवृत्ति हो सकती है, वस्तु की उत्पत्ति बार-बार नहीं होती, यह बात पहले कही जा चुकी है।

यदप्युक्तम्—ज्ञानात्मकस्य शब्दार्थसमयस्य विषयत्वेन तदाश्रयत्वाभावेऽपि सम्बन्धोपपत्तिरिति, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, संसर्ग्यनाश्रितस्यापि सम्बन्धस्य संसृष्टत्वप्रयोजकत्वे समूहालम्बनज्ञानविषयत्वेनासंसर्गिणामपि संसृष्टत्वप्रसङ्गात्। यच्चोक्तं नैसर्गिकशक्तिपक्षेऽपि शक्तेरर्थं प्रतिपद्यामह इति प्रतीत्यापत्तिः समैवेति, तदप्ययुक्तम्, वैषम्यात्। यथा वीजादङ्कुरो जायत इत्यस्य शक्ताद् वीजादङ्कुरो जायत इत्येवार्थस्तथैव शब्दादर्थं प्रत्येमीत्यस्यापि शक्ताच्छब्दादर्थं प्रत्येमीत्येवार्थः। अपि च, गृहीतसम्वन्धस्य शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वमुभयप्रतिपन्नम्। तत्र कृतेति विशेषणं नापेक्षणीयम्, अप्रयोजकत्वाद् गौरवावहत्वाच्च।

यदप्युक्तम्—'धूमे हि व्याप्तिपूर्वत्वं शब्दे समयपूर्वता। नानयोस्तदपेक्षायां कारणत्वं विहन्यते॥' इति, तदपि मन्दम्, शक्तेः संज्ञासंज्ञिसम्वन्धस्य संकेतस्य समयस्य वाऽभ्युपगमेऽपि तज्ज्ञानमेवापेक्षितम्, न करणमित्युक्तत्वात्। 'यथा व्याप्तिग्रहापेक्षो धूमो वह्निं प्रवोधयेत्। तथा शक्तिग्रहापेक्षः शब्दः स्वार्थं प्रमापयेत्॥ कृतत्वमकृतत्वं वाप्य-प्रयोजकहेतुना। नापेक्ष्यं गौरवाच्चैव हेतुहेतुत्वतः स्फुटम्॥'

यदप्युक्तम्—लौकिको व्यपदेशः समयपक्षसाक्षितां भजते। देवदत्तेनोक्तममुतः शब्दादमुमर्थं प्रतिपद्यस्व। अतश्चैवं देशान्तरे सङ्केतवशेन तत एवार्थान्तरप्रतीतिरपि सङ्गच्छते, तदपि न सम्यक्, तादृग्व्यपदेशेन सम्वन्धो बोध्यते न क्रियते, न्यायमते सम्वन्धस्य सर्गादावेव कृतत्वात्। देशान्तरेऽर्थान्तरप्रतीतेः प्रामाणिकत्वेऽर्थान्तर-सम्वन्धोऽभ्युपेयः, अप्रामाणिकत्वे शक्तिभ्रमेणापि प्रतीतिसम्भवः।

ननु शब्दस्वरूपाच्छक्तीनां भेदे भेदेनावभासप्रसङ्गः, अभेदे चैकस्माच्छब्दादनन्यत्वात्परस्परमव्यतिरेकस्तासां स्यादिति चेन्न, शक्तीनां शक्तिमतः शब्दाद् भेदेऽप्यतीन्द्रियत्वेन चक्षुरादीन्द्रियादिवदनवभासोपपत्तेः। न च

यह जो कहा गया है कि—'ज्ञानात्मक शब्दार्थ समय को विषय मानने पर उसके आश्रय के अभाव में सम्बन्ध की उपपत्ति नहीं बन सकती' यह उक्ति भी कुशकाश के अवलम्बन की तरह है, क्योंकि सम्बन्धियों में न रहने वाले को भी सम्बद्ध कराने वाला मान लेने पर समूहालम्बन ज्ञान विषयक होने के कारण असम्बद्ध पदार्थ भी परस्पर संबद्ध होने लगेंगे। यह कहना भी गलत है कि नैसर्गिक शक्ति मानने वाले के पक्ष में भी शक्ति से अर्थ जानते हैं, ऐसी प्रतीति की आपत्ति समान रूप से होगी, क्योंकि इन दोनों में भिन्नता विद्यमान है। जैसे 'बीज से अंकुर पैदा हुआ' इस वाक्य का 'समर्थ बीज से अंकुर पैदा हुआ' यह अर्थ होता है, उसी तरह से शब्द से अर्थ जानता हूँ, इसका भी अर्थ यही होगा कि समर्थ शब्द से अर्थ को जानता हूँ। अपि च, गृहीत सम्बन्ध शब्द की अर्थप्रत्यायकता उभयवादी संमत है, इसमें 'कृत' विशेषण लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह अप्रयोजक भी है और गौरवास्पद भी।

यह जो कहा गया है कि—'धूम में व्याप्तिपूर्वकता की और शब्द में समयपूर्वकता की अपेक्षा रहने पर भी दोनों की कारणता बिगड़ती नहीं। यह कथन भी गलत है, क्योंकि हम बता चुके हैं कि शक्ति का संज्ञासंज्ञी सम्बन्ध, सङ्केत या समय मानने पर भी केवल उसके ज्ञान की ही अपेक्षा है, करणता की नहीं। 'जैसे व्याप्तिग्रह की अपेक्षा रखता हुआ भी धूम वह्नि की प्रतीति कराता है, उसी तरह से शक्तिग्रह की अपेक्षा वाला शब्द अपने अर्थ का भी बोधक होगा। इसमें कृतकत्व अथवा अकृतकत्व की प्रयोजकता नहीं मानी जाती, क्योंकि इनमें हेतुहेतुभाव मानने में स्पष्ट ही गौरव है'।

यह जो कहा गया है कि—'लौकिक पक्ष समय पक्ष को ही बल देता है। देवदत्त कहता है कि तुम इस शब्द से इस अर्थ को जानो, तदनुसार शब्दार्थ जाना जाता है। इस तरह से देशान्तर में दूसरे अर्थ में संकेत रहने से उसी शब्द से अर्थान्तर की प्रतीति सङ्गत होती है। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह की उक्तियों से सम्बन्ध का बोध होता है, उत्पत्ति नहीं। न्याय-दर्शन के मत से यह सम्बन्ध ईश्वर के द्वारा सर्ग के प्रारम्भ में ही स्थापित हो चुका है। देशान्तर में अर्थान्तर की प्रतीति यदि प्रामाणिक है तो उसी शब्द का वहाँ पर अर्थान्तर से सम्बन्ध मानना पड़ेगा और यदि वह अप्रामाणिक है तो उस अवस्था में शक्ति के भ्रम से भी अन्य अर्थ की प्रतीति सम्भव हो सकती है।

प्रश्न उठता है कि शब्द के स्वरूप से यदि शक्ति भिन्न है तो उसकी अलग से प्रतीति होनी चाहिये और यदि अभिन्न है तो जो शक्ति एक शब्द में है वही दूसरे में भी है, अतः उनका परस्पर अभेद मानना पड़ेगा। उत्तर है कि शक्ति का शक्तिमान् शब्द से भेद

तत्सत्त्वे मानाभाव इति वाच्यम्, कार्यानुमेयत्वेन तददोषात्। कार्यभेदेन शक्तिभेदेऽपि वाधाभावात्। न चान्यथानुपपत्तिः, स्वतः शक्त्यावसत्यां पुरुषेच्छाधीनसङ्केतादिभिरुपपादने पुरुषेच्छाया अव्याहतप्रसरत्वेनातिप्रसङ्गात्। न च सर्वशक्तियोगे सर्वार्थप्रत्ययप्रसङ्ग इति वाच्यम्, व्याकरणकोशाप्तवाक्यव्यवहारादीनां नियामकत्वेन तददोषात्। न चैभिः सम्बन्धः क्रियते, किं तर्हि नित्यसिद्धस्यैवोपदेशः। शब्दश्रवणे सर्वार्थविषयसन्देहदर्शनात् सर्वत्र तस्य शक्तिः कल्प्यते। ननु स शक्तिकृतः सन्देहः किं गत्वादिवर्णनिवन्धनः? तथा च गत्वादिजातिमतां वर्णानामर्थे वाचकत्वमवगतम्। अमी तज्जातियोगिनो वर्णाः कस्यार्थस्य वाचकाः स्युरिति सन्देह इति चेन्न, स्वार्थवोधजननानुकूलशक्तिमत्त्वस्यैव वाचकत्वेन सन्देहमूलत्वस्य शक्तिपर्यवसानात्।

वस्तुतः स एव शब्दस्यार्थो यत्रैनमार्याः प्रयुञ्जते, न म्लेच्छजनप्रसिद्ध इति। ननु चात्र शपथमन्तरेण किं प्रमाणम्? म्लेच्छदेशेऽपि तदर्थप्रत्ययो जायत एव। न च स प्रत्ययो वाध्यते, न वा सन्दिग्धो जायते। आर्यप्रसिद्धिर्बाधिकेति चेदार्यप्रसिद्धेरपि म्लेच्छप्रसिद्धिः कथं न वाधिका। अक्षादिवच्च विकल्पमानार्थोपपत्तेः। व्यवस्थितविषय एव विकल्पः। पिकनेमतामरसादिशब्दानां च भवद्भिः म्लेच्छप्रयोगादर्थनिश्चय आश्रित एव। अवेष्टयधिकरणे राजशब्द आन्ध्रप्रसिद्धेऽर्थे वर्णित एव मीमांसकैरपि। तथाप्यत्र यवादिशब्दादिष्विव वैदिकवाक्यशेषानुग्रहाभावाच्छिष्टपरिगृहीतस्मृत्यनुग्रहादान्ध्रप्रयोग एवार्यप्रयोगाद् वलीयानित्युक्तम्। तत्र गुणवचनब्राह्मणादिशब्देभ्यः कर्मणि ष्यञ् इति पाणिनिना गुणवचनेभ्यः शुक्लादिशब्देभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च ष्यञ्प्रत्ययस्मरणाद्राज्ञः क्षत्रियस्य

होते हुए भी उसकी अतीन्द्रियता के कारण ही चक्षुरादि की तरह प्रत्यक्ष बोध नहीं होता। उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा हम नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी कार्यानुयेयता मानने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है। कार्यभेद से शक्ति का भेद मानने में भी कोई वाधा नहीं है। अन्य पद्धति से उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती। शक्ति यदि स्वतः विद्यमान नहीं है और पुरुष की इच्छा के अधीन संकेत प्रभृति से उसकी उपपत्ति की जाती है तो पुरुष की इच्छा का प्रसार तो अव्याहत है, तदनुसार उसका कहीं भी संकेत हो सकेगा और ऐसी स्थिति में अनियमित अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। आपके मत में भी तो सभी शक्तियों से शब्द के संयुक्त रहने से सर्वार्थ प्रतीति की आपत्ति उठती है? उत्तर है कि व्याकरण, कोष, आप्त वाक्य, व्यवहार आदि शब्द से नियमित अर्थज्ञान के नियामक हैं, अतः हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं है। इनसे भी संबन्ध वनाया नहीं जाता है, किन्तु नित्य सिद्ध संबन्ध का केवल उपदेश किया जाता है। शब्द को सुनते ही उसके सभी अर्थों की विषयता का सन्देह उठता है, अतः उसकी सर्वत्र शक्ति है, ऐसा मान ही लिया जाता है। शंका उठती है कि यह शक्तिकृत सन्देह क्या गत्वादि वर्णों के कारण है? क्योंकि गत्वादि जातिमान् वर्णों की वाचकता अर्थ में जानी जाती है। ये उस जाति से संयुक्त वर्ण किस अर्थ के वाचक हैं, क्या यही सन्देह का आधार है? उत्तर है कि अपने अर्थ का ज्ञान कराने के अनुकूल शक्ति वाले वर्णों में ही वाचकता मानी जाती है, अतः अन्ततः सन्देह का मूल शक्ति में ही पर्यवसित होता है।

'वस्तुतः शब्द का अर्थ वही है, जिस अर्थ में कि आर्यजन इसका प्रयोग करते हैं। शब्द का अर्थ वह नहीं है, जो कि म्लेच्छ जनों में प्रसिद्ध है।' प्रश्न है कि आपके इस प्रतिज्ञा वाक्य में अपनी प्रतिज्ञा के सिवाय प्रमाण क्या है? म्लेच्छ देश में उन शब्दों से उन अर्थों का बोध (ज्ञान) होता ही है। न तो वह प्रत्यय बाधित होता है और न उसमें कोई संदेह ही रहता है। यदि आप इसमें आर्य प्रसिद्धि को बाधक मानें तो हम म्लेच्छ प्रसिद्धि को ही आर्य प्रसिद्धि में बाधक क्यों न मान लें? 'अक्ष' प्रभृति शब्दों की तरह यहाँ पर विकल्प भी हो सकता है। विकल्प का सहारा दोनों विषयों के व्यवस्थित होने पर ही लिया जाता है। आपने भी पिक, नेम, तामरस आदि शब्दों की म्लेच्छ प्रसिद्धि के अनुसार अर्थावगति मानी है। अवेष्टयधिकरण में मीमांसकों ने आन्ध्र प्रसिद्ध अर्थ में 'राज' शब्द का प्रयोग किया है।' किन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर यवादि शब्दों की तरह वैदिक वाक्यशेष का सहारा न होने से केवल शिष्ट परिगृहीत स्मृति की सहायता से आन्ध्र प्रयोग ही आर्य प्रयोग से बलवान् मान लिया गया है। यहाँ पर 'गुणवचन' इत्यादि पाणिनि सूत्र से गुणवाची शुक्लादि शब्दों से और ब्राह्मणादि शब्दों से ष्यञ् प्रत्यय का विधान होने से राजा अर्थात्

कर्म राज्यमिति साधितम्। तेन पाणिनिस्मृत्यनुगृहीतान्ध्रप्रसिद्धा राजशब्दस्य क्षत्रियजातिरर्थोऽवधार्यते, न केवलयाऽऽन्ध्रप्रसिद्धया। केवला म्लेच्छप्रसिद्धिस्तु शास्त्रसहितानामार्याणां प्रसिद्धया बाध्यत एव। स्वरवर्णादिभ्रंशे प्रत्यवायमनुसन्दधानानामार्याणां प्रसिद्धेराप्तिमूलत्वेन प्राबल्यम्। गवादिविषयेऽपभ्रंशभूतं गाव्यादिशब्दं प्रयुञ्जानानां म्लेच्छानां प्रसिद्धेरनाप्तिमूलत्वेन दौर्बल्यमेव। तदुक्तं परिमलकृता—'राजशब्दस्योभयत्र प्रयोगसाम्येन विनिगमनाविरहादर्थद्वयसत्त्वेऽपि राजसूयवाच्यक्षत्रिय एवार्थो ग्राह्यः। सप्रतियोगिकौपाधिकधर्मरूपपालकत्वाद्यपेक्षया निष्प्रतियोगिकाखण्डरूपधर्मक्षत्रियजातेर्लघुत्वेनासति बाधके लघुप्रवृत्तिनिमित्तार्थकग्रहणौचित्यात्। वस्तुतस्तु श्रुतिस्मृतिप्रयोगवैयाकरणव्यवहाराणामुभयत्र साम्येऽपि क्षत्रियेष्वेव राजशब्दस्य शक्तिः, तेषु क्षत्रियत्वजातेरिव बालकेष्वनुगतानुप्रसक्तशक्यतावच्छेदकरूपाभावात्। तथाहि न पालनमात्रं निमित्तं सर्वसाधारण्यप्रसङ्गात्। युक्तदारधनादिविषयमन्ततः स्वशरीरविषयं पालनमविशेषेण सर्वेषामेव भवति। नापि जनपदपरिपालनं निमित्तम्, राज्ञा नियुक्ते तत्तत्पदाधिकारिणि सत्यपि जनपदपालने निमित्ते राजपदप्रयोगादर्शनात्। नापि स्वतन्त्रपालनं निमित्तं सम्राजा देशविशेषे राजभावेनाभिषिक्ते स्वातन्त्र्याभावेऽपि तत्पदप्रयोगात्। मृगराजपक्षिराजादिशब्देषु पालकत्वं विनापि श्रैष्ठ्यमात्रेण प्रयोगदर्शनाच्च। तस्मादनुगतानतिप्रसक्तजातिनिमित्तकः क्षत्रियार्थ एव राजशब्दः, क्षत्रियेषु प्रायेण पालकत्वस्य तत्कृतस्य श्रैष्ठ्यस्य सद्भावात्। क्वचित्पालके क्वचिच्छ्रेष्ठे च राजशब्दस्य निरूढा लक्षणैव। म्लेच्छप्रसिद्धेरार्यप्रसिद्धिबाधकत्वे म्लेच्छधर्मबोधकग्रन्थानामप्यार्यवेदादिग्रन्थबाधकत्वमुपेतव्यम्, युक्त्याभासस्योभयत्र समत्वात्। अविच्छिन्नपारम्पर्यस्य वेदादिषु वैशिष्ट्यमिति चेन्न, शब्दव्यवहारप्रसिद्धावपि तद्वैशिष्ट्यस्य सत्त्वात्।

क्षत्रिय का कर्म इस व्युत्पत्ति में 'राज्य' शब्द साधित है। इस तरह से पणिनि की स्मृति से अनुगृहीत आन्ध्र प्रसिद्धि के अनुसार राज शब्द का अर्थ क्षत्रिय जाति निर्धारित किया जाता है, केवल आन्ध्र प्रसिद्धि से नहीं। केवल म्लेच्छ प्रसिद्धि तो शास्त्रों से और आर्यों की प्रसिद्धि से भी बाधित हो जाती है। स्वर, वर्ण आदि के छूट पाने पर भी प्रत्यवाय बताने वाले आर्यों की प्रसिद्धि आप्तिमूलक होने से प्रबल है। 'गो' के लिये 'गावी' आदि अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग करने वाले म्लेच्छों की प्रसिद्धि में आप्तमूलकता न होने के कारण दौर्बल्य है। जैसा कि परिमलकार ने कहा है—'राज शब्द का दोनों ही अर्थों में समान रूप से प्रयोग होने पर भी राजसूय वाक्य में 'क्षत्रिय' ही अर्थ गृहीत होता है, क्योंकि धर्म के अनुसार प्रजा का पालन करने वाला, इस सप्रतियोगिक उपाधि की स्थिति वाले राजा की अपेक्षा से निष्प्रतियोगिक अखण्ड क्षत्रिय जाति की बोधकता में लाघव होने से और किसी बाधक के अभाव में लाघव में शब्दों की प्रवृत्ति-निमित्त मानने से यहाँ पर 'राज' पद को क्षत्रिय का ही बोधक मानना उचित है। वस्तुतस्तु श्रुति, स्मृति, प्रयोग और वैयाकरणों के व्यवहार उभय अर्थों में समान रूप से विद्यमान रहने पर भी राज शब्द की शक्ति क्षत्रिय में ही मानी जाती है। क्षत्रियों में ही क्षत्रियत्व जाति अनुगत है, केवल पालक राजा में नियमतः इसकी अनुप्रसक्ति नहीं देखी जाती। केवल पालन मात्र ही उसका निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि इस तरह से सभी में इस शब्द की पालकता के आधार पर प्रवृत्ति होने लगेगी। पुत्र, पत्नी, धन आदि का अन्ततः अपने शरीर के लिये ही उपयोग है, किन्तु पालन समान रूप से सबका किया जाता है। जनपद परिपालन भी इसमें निमित्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि राजा के द्वारा नियुक्त उस उस पद के अधिकारियों में भी जनपद पालन रूप निमित्त के रहते भी राज पद का प्रयोग नहीं होता। स्वतन्त्र रूप से पालन करना भी इसमें निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि सम्राट् द्वारा देश विशेष में राजा के रूप में अभिषिक्त व्यक्ति में स्वतन्त्रता के अभाव में भी राजपद का प्रयोग होता है। मृगराज, पक्षिराज आदि पदों में बिना पालकता के भी श्रेष्ठता मात्र के कारण इस पद का प्रयोग देखा जाता है। इसलिये अनुगत और अनतिप्रसक्त जातिनिमित्तक क्षत्रिय अर्थ हो 'राज' पद का उचित है। क्षत्रियों में प्रायः पालकत्व और पालकत्व प्रयुक्त श्रेष्ठत्व रहता है। कहीं पालक में और कहीं श्रेष्ठ में इसका प्रयोग अनादि तात्पर्यवती निरूढा लक्षणा के द्वारा ही होता है। जैसे सरसों, नारियल, बादाम आदि से बने हुए स्निग्ध तरल द्रव्य में तैल शब्द का प्रयोग। तात्पर्य यह है कि तैल शब्द का वास्तविक अर्थ तो तिलों से निकलने वाला स्निग्ध पदार्थ ही है। किन्तु तिलों से भिन्न सरसों आदि से निकले हुए स्निग्ध तरल पदार्थों में भी जो तैल शब्द का प्रयोग होता है, वह अनादि काल से चली आने वाली निरूढा लक्षणा से ही होता है। म्लेच्छ प्रसिद्धि को यदि आर्य प्रसिद्धि की बाधिका माना जाय तो म्लेच्छ धर्म के प्रतिपादक

यदुक्तम्—'सर्गादौ सकृदेव समयकरणम्, अत एव न सर्वशब्दानां यादृच्छिकशब्दतुल्यत्वम्। केषाञ्चिदेव शब्दानामस्मदादिभिरद्यत्वे सङ्केतकरणात्। त एव यदृच्छाशब्दा उच्यन्ते। तदत्रोच्यते—यथा सर्गादिकृतस्य सम्बन्धस्यैवाद्यत्वे व्याकरणकोषाप्तवाक्यवृद्धव्यवहारादिभिर्व्युत्पत्तिस्तथैवानादिसम्बन्धपक्षेऽप्युपपत्तिः। अनादिसम्बन्धस्यैव सर्गादौ ईश्वरेणोपदेशसम्भवात्। अयमस्य बालक इति व्युत्पत्तिरपि सम्बन्धपर्यवसायिनी, वाच्यवाचकभावस्य सम्बन्धमन्तराऽनुपपत्तेः। ईश्वरेण सर्गादौ सम्बन्धः क्रियत इत्यभ्युपगच्छताऽप्यन्ततः सम्बन्धोऽभ्युपेयत एव। तथा च कथं सम्बन्धमन्तरा वाचकत्वोपपत्तिः ? अत्यन्तासतः करणायोगात्सन्नेव शक्त्यात्मकः सम्बन्ध ईश्वरेण क्रियते, उपदिश्यते वेत्याग्रहस्य निस्तत्त्वत्वात्। किञ्च, सम्बन्धं कुर्वता परमेश्वरेणापि केनचिच्छब्देनैव सम्बन्धः कर्तव्यः, निराकारस्याभिनयाद्यसम्भवात्साकारस्य तत्सम्भवेऽप्यनन्तशब्दार्थसम्बन्धानामभिनयादिभिर्व्यञ्जनासम्भवात्। यदि तस्य शब्दस्य सम्बन्धोऽन्येन शब्देन करिष्यते, तदा तस्याप्यन्येन तस्याप्यन्येनेत्यनवस्थानमेव। तस्मादीश्वरेणापि सम्बन्धं कुर्वता वृद्धव्यवहारसिद्धाः केचिदकृतसम्बन्धा एव शब्दा अभ्युपगन्तव्याः। ते च सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन स्मर्तव्याः, सर्वज्ञेनानुभवितव्या वा। तथा च सम्बन्धस्यानादित्वमेव सिद्ध्यति।

यदत्रोक्तम्—'अस्त्रमायुष्मता ज्ञातं विषयस्तु न लक्षितः। अस्मदादिषु दोषोऽयमीश्वरे तु न युज्यते॥ नानाकर्मफलस्थानमिच्छयैवेदृशं जगत्। स्रष्टुं प्रभवतस्तस्य कौशलं को विकल्पयेत्॥' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, ईश्वरसृष्टेः सर्वथा लोकसिद्धन्यायविरुद्धत्वे तत्सिद्धौ घटादिकार्यदृष्टान्तोपादानानुपपत्तेः। सावयवत्वेन पृथिव्यादीनां

ग्रन्थों के द्वारा आर्य धर्म के वेदादि ग्रन्थों का भी बाध मानना पड़ जायगा, क्योंकि युक्त्याभास (गलत तर्क) दोनों जगह एक सा ही है। अविच्छिन्न परम्परा को वेदादि की विशिष्टता नहीं बताया जा सकता, क्योंकि शब्द व्यवहार की प्रसिद्धि में भी तो वही विशेषता विद्यमान है।

यह जो कहा गया है कि 'सर्ग के आदि में एक बार ही समय का विधान किया जाता है। इसीलिये सभी शब्दों को हम यादृच्छिक शब्दों की कोटि में नहीं रख सकते। आजकल हम कुछ ही शब्दों का संकेत करते हैं, अतः ऐसे शब्द ही यदृच्छा शब्द कहे जाते हैं।' इसका समाधान इस प्रकार है कि जैसे सृष्टि के आरम्भ में किये गये संबन्ध की ही आज व्याकरण, कोष, आप्तवाक्य, वृद्ध व्यवहार आदि से व्युत्पत्ति होती है, उसी तरह से संबन्ध को अनादि मानने पर भी उसकी उपपत्ति होगी, क्योंकि ईश्वर सृष्टि के आरंभ में अनादि संबन्ध का ही उपदेश करता है। 'यह इसका बालक है' इस वाक्य की व्युत्पत्ति का भी पर्यवसान संबन्ध में ही होता है, क्योंकि वाच्यवाचकभाव बिना संबन्ध के नहीं बन सकता। जो यह मानता है कि ईश्वर सृष्टि के प्रारंभ में संबन्ध की रचना करता है, उसको भी अन्ततः संबन्ध मानना ही पड़ता है। इस तरह से संबन्ध के बिना वाचकत्व की उपपत्ति कैसे हो सकती है ? अत्यन्त असत् पदार्थ की रचना नहीं हो सकती, अतः पहले से विद्यमान शक्त्यात्मक संबन्ध की ही ईश्वर रचना करता है, अथवा उपदेश करता है, इस बात पर जोर देने से क्या फायदा है ? अपि च, संबन्ध को बनाते समय परमेश्वर किसी शब्द की सहायता से ही ऐसा करेगा। ईश्वर को निराकार मानने पर उसमें अभिनय आदि से समझाने की कल्पना नहीं की जा सकती और यदि साकार मानते हैं, तो भी अनन्त शब्दों, अर्थों और संबन्धों की अभिव्यक्ति अभिनय के सहारे कैसे की जा सकती है ? यदि एक शब्द का संबन्ध की अन्य शब्द से किया जाय तो दूसरे शब्द का तीसरे से तीसरे का चौथे से इस प्रकार से अनवस्था दोष होगा। इसलिये ईश्वर को भी शब्दार्थ संबन्ध की रचना करते समय वह वृद्ध व्यवहार से सिद्ध कुछ अकृतक संबन्ध वाले शब्दों का सहारा लेना पड़ेगा। इनका सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय से स्मरण अथवा ईश्वर में सर्वज्ञता के आधार पर अनुभव मानना पड़ेगा। इस तरह से संबन्ध की अनादिता ही सिद्ध होती है।

इसका यह उत्तर दिया जाता है कि—'आपने अस्त्र की तो शिक्षा प्राप्त कर ली, किन्तु उसका प्रयोग कहाँ पर किस तरह किया जाता है, यह नहीं जान पाये। आपका किया गया दोष हम पर लागू हो सकता है, ईश्वर में यूहीं। नाना कर्म, नाना फल, नाना स्थान वाले इस जगत् की स्वेच्छा से रचना करने वाला परमेश्वर है, उसकी सामर्थ्य में क्या शंका उठाई जा सकती हैं'। किन्तु

कार्यत्वं प्रसाध्य तद्वदेव तेषामपि ज्ञानेच्छाकृतिमज्जन्यत्वेन तद्वानीश्वरोऽनुमीयते नैयायिकैः। तेन लोकसिद्धन्यायसिद्धस्येश्वरस्य तद्विरोधित्वे उपजीव्यविरोध एव। अत एव सावयवमेव पृथिव्यादि परमेश्वरेण क्रियते, न तु निरवयवाः परमाण्वाकाशादयः। अन्यथा परमाण्वादिनिर्माणेऽपि तस्य कौशलं को विकल्पयेत्। 'सम्यगस्त्रं प्रयुक्तं हि लक्ष्यं विद्धचत्यसंशयम्। कर्तृत्वे कृतिमत्त्वं चेदीश्वरस्याप्यपेक्षितम्॥ यदा चेश्वरसंसिद्धौ लोकन्यायोऽनपोदितः। तदा शब्दार्थसम्बन्धे कुतः शब्दानपेक्षता॥ उपपत्तिविहीनं चेदपि सिद्धचेन्महेश्वरान्। तदा निरंशखाण्वादेरुत्पत्तिः स्याद् ध्रुवं ततः॥' इति।

यदप्युक्तम्—'अङ्गुल्यग्रेण निर्दिश्य कञ्चिदर्थः पुरः स्थितम्। व्युत्पादयन्तो दृश्यन्ते बालानस्मद्विधा अपि॥' तस्मादीश्वरविरचितसम्बन्धाधिगमोपायभूतवृद्धव्यवहारलब्धतद्व्युत्पत्तिसापेक्षः शब्दोऽर्थमवगमयतीति, तदप्यकिञ्चित्करम्, सन्निकृष्टविप्रकृष्टस्थूलसूक्ष्मविविधानन्तपदार्थानामीश्वरं प्रत्यपरोक्षत्वेऽपि व्युत्पादनीयानन्तपुरुषान् प्रति अपरोक्षत्वासम्भवेनाङ्गुल्यग्रेण निर्दिश्य सम्बन्धबोधनासम्भवात्। तस्मान्नैसर्गिकसम्बन्धव्युत्पत्तिसापेक्षस्य शब्दस्यार्थबोधकत्वमेव। वस्तुभूतसम्बन्धाभावे समयबलेनार्थबोधकत्वे हस्तसंज्ञाद्यविशेषत्वापत्तेः। 'शब्दार्थानामनन्तत्वात्संकेतस्य परिच्छितेः। शब्दाच्चाकृतसंकेतात्संकेतो नोपपद्यते॥ संकेतापेक्षशब्दाच्च बोधनेऽप्यनवस्थितिः। अङ्गुल्यग्रेण निर्देशो न च संकेतसाधकः॥ परोक्षखातिगानां चाप्यर्थानामिह सम्भवात्।'

यह उत्तर भी अविचारित रमणीय है, यदि ईश्वर कृत सृष्टि सर्वथा लोकसिद्ध न्याय से विरुद्ध होती है, तो उसकी सिद्धि के लिये घटादि कार्य को दृष्टान्त के रूप में नहीं दिखाया जा सकता। पृथिवी प्रभृति की सावयवता के आधार पर ही कार्यता को सिद्ध करके उनकी भी ज्ञान, इच्छा और कृतिजन्यता को मान कर नैयायिक ईश्वर की सिद्धि करते हैं। अतः लोकसिद्ध न्याय का यदि ईश्वर में विरोध माना जाय तो यह तो उपजीव्य विरोध ही होगा। इसीलिये ईश्वर सावयव पृथिव्यादि की ही रचना करता है, निरवयव परमाणु, आकाश आदि की नहीं। अन्यथा ईश्वर में परमाणु आदि को निर्माण की कुशलता को भी कौन चुनौती दे सकता है? इसीलिये हमारा कहना है कि—'अस्त्र का सही तरीके से अभ्यास करने पर वह अवश्य लक्ष्य का वेध करता है। कर्तृत्व के लिये कृतिमत्त्व की यदि ईश्वर में अपेक्षा है, तो उस परिस्थिति में ईश्वर की सिद्धि के लिये लौकिक न्याय का ही अनुसरण करना पड़ेगा। फलतः शब्दार्थ के सम्बन्ध के लिये ही वह शब्दानपेक्ष नहीं रह सकता। यदि महेश्वर से हम बिना किसी उपपत्ति के, कार्यकारणभाव आदि की परम्परा के बिना ही जगत् की उत्पत्ति मानें तो इस परिस्थिति में निरवयव आकाश, परमाणु आदि की भी उत्पत्ति क्यों न मानी जाय'।

यह भी कहा गया है कि—'हमारे जैसे लोग भी बच्चों को सामने विद्यमान किसी वस्तु को अंगुली से दिखाकर समझाते हुए देखे जाते हैं, अतः ईश्वर विरचित सम्बन्ध को जानने के लिये सहायक वृद्ध व्यवहार से शब्द की व्युत्पत्ति जानकर उसके अर्थ को व्यक्ति जान पाता है'। यह कथन भी कुछ नहीं है, क्योंकि पास के और दूर के, स्थूल और सूक्ष्म विविध प्रकार के अनन्त पदार्थ ईश्वर के लिये भले ही प्रत्यक्ष हों, किन्तु व्युत्पादनीय अनन्त पुरुषों को ये प्रत्यक्ष नहीं हो सकते, अतः इनको अंगुली के इशारे से ईश्वर नहीं समझा सकता। इसलिये शब्द में सम्बन्ध की व्युत्पत्ति स्वाभाविक ही माननी पड़ेगी। उसी के सहारे शब्द अर्थ का बोधक हो सकता है। वस्तुभूत सम्बन्ध को न मानने पर केवल समय के सहारे शब्द की अर्थबोधकता मानने पर हाथ, आँख आदि के इशारों से इसका कोई अन्तर नहीं रह जायगा। इसी बात को संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है—'शब्द और अर्थों की अनन्तता के कारण सङ्केत की परिच्छित्ति के न हो पाने से शब्द बिना संकेत के ही रह जाते हैं और इस प्रकार के शब्दों से संकेत का बोध नहीं हो सकता। इसके लिये दूसरे सङ्केतसापेक्ष शब्द की बोधकता मानने पर अनवस्था दोष होगा। अंगुली से दिखा करके भी संकेत का निर्देश नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहाँ पर अनेक पदार्थ अतीन्द्रिय हैं। जो वस्तु परोक्ष है, उसका अंगुली से निर्देश कैसे हो सकता है'।

यदप्युक्तम्—'वाचको वचनाङ्गेनातद्वान् स्यात्, सन्तोऽपि वर्णा अवाचकाः। तस्मान्न तत्र वाच्यवाचकभावसम्बन्धो वर्तते, तद्वृत्तौ स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। 'वर्णा निरर्थकाः सन्तः पदादिपरिकल्पिताः। अवस्तुनि कथं वृत्तिः सम्बन्धस्यास्य वस्तुनः॥' (प्र० वा० ३।२३८) इति, तन्न, क्रमविशेषेणैकप्रयोक्तृप्रयुक्तानां वर्णानां वाचकत्वे तत्रैव सम्बन्धसत्त्वे दोषाभावात्। तदुक्तम्—'यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने। वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥ तेषान्तु गुणभूतानामर्थप्रत्यायनं प्रति। साहित्यमेककर्त्रादि क्रमश्चापि विवक्षितः॥' एके—'कर्त्रैकत्वनिमित्ते च क्रमे सति नियामकम्। प्रयुञ्जानस्य यत्पूर्ववृद्धेभ्यः क्रमदर्शनम्॥ युगपद्दृष्टसामर्थ्यान्नैव शक्ताः क्रमे यथा। भावास्तथा क्रमे शक्ता यौगपद्येन शक्नुयुः॥ अवश्यम्भाविनी नित्यं प्रत्यासत्तिश्च कस्यचित्। न तावता व्यपेतत्वादितरेषामनङ्गता॥ यथा विसर्जनीयस्य व्यवधाने न शक्तता। तथैव शक्तिरन्येषामानन्तर्ये न विद्यते॥ न च यत्रैकशोऽशक्ति(स्तत्र) सर्वेषामप्यशक्तता। रथाङ्गानि हि दृश्यन्ते शक्तानि वहनादिषु॥' तस्मात् 'क्रमादिमत्सु वर्णेषु वाचकत्वं व्यवस्थितम्। तेषु सम्बन्धवृत्तौ च न दोषः स्यान्मनागपि॥'

नन्वयुगपदुत्पादरूपस्य क्रमस्यानर्थान्तरत्वेनाभेदकत्वात् तद्रूपस्य क्रमान्तरेऽप्यविशेषात्। न च क्रमोऽयुगपदुत्पन्नयोरेकस्य धर्मः, एकप्रतीतौ क्रमस्याप्रतीतेः। न चोभयधर्मः, एककालमुभयस्यासत्त्वात्। न चासतो धर्मः सम्भवति। तस्यान्न वर्णातिरिक्तः क्रमः। न च वर्णाः क्रमेणार्थाधिगमनिमित्तं सम्भवन्ति, प्रत्येकमर्थप्रतिपादकत्वात्, साहित्यासम्भवात्। नियमक्रमवर्तिनामयौगपद्येन सम्भूयकारित्वानुपपत्तेश्चेति चेन्न, प्रत्ययोपाधिकस्य क्रमस्य तत्प्रयुक्तवृद्धव्यव-

यह जो कहा गया है कि—'वाचक वर्ण भी वचन के अङ्ग होने के कारण अवाचक हो जाता है, वर्णों की सत्ता रहते भी वे वाचक नहीं रहते। इसलिये इनमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। रहने पर उनके स्वरूप की ही हानि हो जायगी। वर्णों की सत्ता मानने पर भी जब वे अपनी अवाचकता के कारण निरर्थक हो जाते हैं तो उनको पद-वाक्यादि में परिकल्पित ही मानना पड़ता है। इस तरह से वस्तुभूत सम्बन्ध को अवस्तुभूत वर्णों में वृत्ति कैसे मानी जा सकती है' । इसका उत्तर यह है कि एक विशेष प्रकार के क्रम से प्रयोक्ता द्वारा उच्चारित वर्णों में वाचकता विद्यमान है, अतः वहाँ पर सम्बन्ध की सत्ता में कोई बाधा नहीं रहती। जैसा कि कहा गया है—'जिस अर्थ के प्रतिपादन के लिये जितने और जिस प्रकार के वर्णों की सामर्थ्य ज्ञात है, वे उसी तरह से उन अर्थों के अवबोधक होते हैं' । उन सभी गुणभूत वर्णों का अर्थप्रत्यायन में साहित्य और उच्चारयिता का उचित क्रम भी अपेक्षित माना जाता है। वर्णों की क्रमिक आनुपूर्वी के उच्चारण में उच्चारण के कर्ता की एकता भी आवश्यक मानी जाती है। उस क्रमिक आनुपूर्वी का बोध व्यक्ति को अपने पहले के वृद्धों के व्यवहार से होता है। जिन पदार्थों की एक साथ कार्य करने का सामर्थ्य देखी गई है, वे जैसे क्रमिक रूप से कार्य नहीं कर सकते, उसी तरह से क्रमिक सामर्थ्य वाले पदार्थ भी युगपत् कार्य करने में असमर्थ रहते हैं। किसी न किसी पदार्थ की प्रत्यासत्ति तो सदा ही बनी रहती है, एतावता अप्रत्यासन्न पदार्थ की अनङ्गता नहीं मान ली जाती। जैसे अलग रहने पर विसर्जनीय किसी अर्थ को नहीं बना सकता, उसी तरह से शक्ति भी नियत वर्णों के क्रम में ही रहती है, अन्य में नहीं रहती। इससे यह नहीं मान लिया जाता है कि जहाँ एक में शक्ति नहीं है, वहाँ सब में भी शक्ति नहीं है। रथ के अङ्ग अलग-अलग रहने पर अशक्त रहते हुए भी जब उनको जोड़ दिया जाता है तो वे वाहन के रूप में कार्य करने लगते हैं। अपने शरीर के अङ्गों में भी यही बात है। उनको यदि तोड़कर अलग-अलग कर दिया जाय तो एक-एक में कोई शक्ति नहीं रहेगी। वे ही जब सब क्रमशः जुट जायेंगे तो उनमें सब शक्ति आ जायगी। इसलिये क्रमादि से युक्त वर्णों की वाचकता में किसी प्रकार की बाधा नहीं है और इनमें सम्बन्ध को विद्यमान मानने में दोष का लवलेश भी नहीं दिखाया जा सकता।

प्रश्न होता है कि एक साथ उत्पन्न न होना ही तो क्रम कहलाता है, वह कोई दूसरी वस्तु थोड़े ही है जो भेद करा दे। इसलिये एक क्रम दूसरे क्रम से समान ही है। फिर वह भिन्न अर्थ का बोध कैसे करायेगा ? यह क्रम एक साथ उत्पन्न न होने वाले अनेक में ही रह सकता है, इसलिये एक का धर्म नहीं हो सकता। क्योंकि जब एक की प्रतीति होती है तो उस अवस्था में क्रम की प्रतीति न हो सकेगी। इसको दोनों का धर्म नहीं मान सकते, क्योंकि एक काल में दोनों नहीं रहते। इसको असत् वस्तु का धर्म नहीं

हारस्य चानुभवसिद्धत्वात्। लोके क्रमभाविनामपि समस्तानां कार्यकारिणामनेकशो दर्शनात्। यथा युगपद्भाविनस्त्रयो ग्रावाण एकामुखां धारयन्तो दृश्यन्ते, तथा क्रमभाविनोऽपि समस्ता ग्रासा एकां तृप्तिमुत्पादयन्तो दृश्यन्ते। हीयमानेषु कतिपयेष्वपि ग्रासेषु न भवति तादृशी तृप्तिः। एवं गमनक्रियाक्षणानां समस्तानां ग्रामप्राप्तिहेतुत्वं यथा दृष्टं तथैव क्रमभाविनामपि वर्णानामर्थप्रत्यायकत्वम्। तत्र पूर्वे वर्णा अतीता अप्युपकरिष्यन्ति, चरमवर्णस्तु वर्तमानः। इतोदृश एव कल्पितक्रियाक्षणसमूहवर्णसमूहोऽर्थप्रत्यायकः। पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रत्यायकत्वे बाधाभावात्।

ननूत्पन्नध्वंसित्वमेव वर्णानामिति चेन्न, त एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानमिति चेन्न, तस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः। किञ्च, प्रत्यभिज्ञानस्य सादृश्यनिबन्धनत्वं बलवद्बाधकोपनिपाताद्वा क्वचित्केशदीपसरितादिषु व्यभिचारदर्शनाद्वा? नाद्यः, बलवद्बाधकप्रत्ययाभावात्। न द्वितीयः, क्वचिद् व्यभिचारदर्शनेन तदुत्प्रेक्षायां व्यवहारलोपप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—'उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि बाधनम्। स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत्॥' न च प्रत्यभिज्ञानं गत्वादिजातिविषयं न गादिव्यक्तिविषयम्। तासां प्रतिनरं भेदोपलम्भात्, शब्दभेदोपलम्भाच्च वक्तृभेदोऽनुमीयत इति वाच्यम्, प्रत्युच्चारणं वर्णव्यक्तीनामेव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। अत एव द्विर्गोशब्द उच्चारित इति व्यपदेशो भवति, न द्वौ गोशब्दाविति। न च यद्यपि 'कृतं कान्तस्य तन्वङ्ग्या त्रिरपाङ्गविलोकनम्। चतुरालिङ्गनं

माना जा सकता। इसलिये वर्ण से अतिरिक्त कोई क्रम नहीं माना जा सकता। स्वयं वर्ण क्रम से अर्थ की अधिगति के निमित्त नहीं हो सकते, क्योंकि वे अलग-अलग रहते हुए व्यक्तिशः अर्थ के प्रतिपादन नहीं होते। उनका साहित्य (एक साथ होना) भी नहीं बन सकता और न नियतक्रम से उनकी स्थिति के कारण युगपत्संभूय (परस्पर मिलकर) कार्य करने की सामर्थ्य ही उनमें विद्यमान है'। इसका उत्तर यह है कि ज्ञानरूप उपाधि वाला क्रम और क्रम में होने वाला लोक-व्यवहार अनुभव सिद्ध है। लोक में क्रमभावी पदार्थों की भी कार्य करने की पद्धति अनेक प्रकार की देखी जाती है। जैसे एक साथ रहने वाले तीन पत्थर एक बटुली को अपने ऊपर धारण करते हैं, उसी तरह से क्रम से खाये गये समस्त ग्रास भी एक तृप्ति रूप कार्य को पूरा करते हैं। ग्रास कुछ कम हो जाने पर पूरी तृप्ति नहीं होती। इसी तरह से गमन-क्रिया का प्रत्येक क्षण जैसे ग्राम प्राप्ति रूप एक फल का कारण होता है, यह सभी का अनुभव है, उसी तरह से क्रमभावी वर्णों की भी अर्थ की प्रतीति की सामर्थ्य मानी जाती है। यहाँ पर पूर्व वर्ण यद्यपि अतीत हो गये हैं, तो भी उनमें पूर्व पदक्रमों की ग्राम प्राप्ति की सहायकता के समान परोक्ष सहायता मानी जायगी, क्योंकि चलते समय जितने कदम चल चुके, वे तो समाप्त हो गये, किन्तु उनके क्रम ही ग्रामप्राप्ति रूप फल को देते हैं। इसी तरह से नष्ट हुए वर्ण भी क्रम के द्वारा अर्थज्ञान रूप फल को दे देते हैं। अन्तिम पदक्रम की ग्रामप्रापकता के समान अन्तिम वर्ण वर्तमान रूप में इसका प्रत्यक्ष प्रत्यायक होगा। इस तरह से कल्पित क्रिया क्षण का समूह रूप वर्णसमूह अर्थ का प्रत्यायक होगा। पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार सहित विद्यमान अन्तिम वर्ण को अर्थ का बोधक मानने में कोई बाधा नहीं है।

वास्तव में वर्णों की उत्पत्ति और नाश भी नहीं माना जा सकता। ये वही वर्ण हैं, इस तरह की प्रत्यभिज्ञा अनुभवसिद्ध है। इस प्रत्यभिज्ञा में सादृश्य को कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस प्रत्यभिज्ञा का किसी अन्य प्रमाण से बाध नहीं होता। प्रत्यभिज्ञा की सादृश्यमूलकता को आप किसी बलवान् बाधक की उपस्थिति के कारण मानते हैं अथवा केश, दीप, सरिता आदि में कहीं व्यभिचार को देखकर? किसी बलवान् बाधक प्रत्यय की उपलब्धि न होने से प्रथम पक्ष नहीं बन पाता। द्वितीय पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि किसी एक जगह व्यभिचार के होने पर सभी जगह दोष की कल्पना कर लेने से तो सारे संसार के व्यवहार का ही लोप हो जायगा। जैसा कि कहा गया है—'जो व्यक्ति अज्ञानवश दोष की अविद्यमानता में भी उसकी कल्पना कर लेता है, वह व्यक्ति सभी व्यवहारों में अपनी संशयालुता के कारण कहीं का नहीं रहता, नष्ट ही हो जाता है।' यह कहना भी उचित नहीं है कि 'प्रत्यभिज्ञा-गत्वादि जाति की होती है, 'ग' आदि वर्णव्यक्तियों की नहीं, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य इनका उच्चारण भिन्न-भिन्न तरीके से करता है। शब्द के उच्चारण को सुनकर ही हम भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का अनुमान कर लेते हैं', क्योंकि प्रत्येक उच्चारण में प्रत्यभिज्ञा वर्णव्यक्ति की ही होती है। इसीलिये एक ही 'गौ' शब्द का दो बार उच्चारण किया ऐसा व्यवहार होता है, न कि दो

गाढमष्टकृत्वश्च चुम्बनम् ॥' इति भेदेऽपि कृत्वसुच्प्रयोगः। 'कविना सदनुप्रासे निवद्धेऽक्षरडम्बरे। गकारा वहवो दृष्टा इति व्यवहरन्ति च ॥' शतकृत्वस्तित्तिरीमुपायुङ्क्त देवदत्त इत्यादिषु जात्यभिप्रायेणैवाभ्यास इति वाच्यम्, तत्रापि दशवारं गकारमुच्चारितवानित्येकस्यैव गकारस्योच्चारणेष्वेवावृत्तिप्रतीतेः। एवं वर्णविषये प्रत्यभिज्ञाने निश्चिते संयोगविभागव्यङ्ग्यत्वेन वर्णानामभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तको वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्तः। अत एव 'गकारव्यक्तयो भिन्ना शावलेयादिपिण्डवत्। क्व नाम भवता दृष्टा येनासां जातिमिच्छसि ॥ शिशौ पठति वृद्धे वा स्त्रीजने वा शुकेऽपि वा। वक्तृभेदं प्रपद्यन्ते न वर्णव्यक्तिभिन्नताम् ॥' तथा देवदत्तः पठति, यज्ञदत्तः पठतीत्युच्चारयितृभेद एव प्रतीयते, न गविशेषं पठतीत्युच्चार्यमाणभेदो भाति, 'एककर्तृप्रयोगेऽपि तस्यैवोच्चारणं पुनः। गङ्गागगनगर्गादौ न रूपान्तरदर्शनम् ॥' इति। अपि चाभ्युपगतेऽपि गत्वादिसामान्ये तस्य द्रुतादिभेदप्रतिभासे सत्यपि न भिन्नत्वमूरीकार्यम्। औपाधिक एव तस्मिन् भेदप्रत्ययः समर्थनीयः। सोऽयं गव्यक्तावेव कथं न वर्ण्यते? तस्या एकत्वादेकप्रत्ययः, भेदभ्रमस्तु व्यञ्जकाधीनः। तदुक्तम्—'तेन यत्प्रार्थ्यते जातेस्तद्वर्णादेव लप्स्यते। व्यक्तिलभ्यं तु नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा ॥' इति चेन्न, उदात्तादीनां व्यञ्जकधर्मत्वेन वर्णधर्मत्वायोगात्।

ननूदात्तानुदात्तादिविरुद्धधर्मसंसर्गित्वेन गवाश्वादिवन्नानात्वमेव गकारादीनाम्, व्यञ्जकत्वेनाभिमतानां वायूनामश्रावणत्वेऽपि तद्धर्माणां श्रावणत्वे वाधाभावात्। अत एव गन्धरसशब्दगोचराणां घ्राणादीनां पृथिव्याद्यगोचरता यथोपपद्यते, तथैवोदात्तादिगोचरस्य श्रोत्रस्य व्यञ्जकवाय्वगोचरतापपद्यत एव। यथैकस्यैव मुखस्य मणिकृपाण-

'गो' शब्द उच्चारित किये गये, ऐसा प्रश्न उठता है कि 'तन्वंगी ने अपने प्रिय को तीन बार तिरछी निगाहों से देखा, चार बार गाढ़ आलिंगन किया और आठ बार चुम्बन लिया' यहाँ पर भेद के रहते भी कृत्वसुच् प्रत्यय का प्रयोग होता है। 'कवि ने अक्षरों के आडम्बर से भरे अनुप्रास की जब रचना की तो उसमें अनेक गकारों का प्रयोग किया, ऐसा व्यवहार देखा है।' 'देवदत्त ने सौ बार तित्तिरी का उपयोग किया' इत्यादि स्थलों में जाति के अभिप्राय से ही अभ्यास (वार-बार प्रयोग) का विधान देखा जाता है।' इसका उत्तर यह है कि दस बार गकार का उच्चारण किया, इस तरह से एक ही गकार की उच्चारण में वार-बार आवृत्ति होती है, ऐसा प्रतीत होता है। इस तरह जब प्रत्यभिज्ञा निश्चय रूप से वर्णविषयक ही होती है, तो उसकी संयोग और विभाग से हुई व्यंग्यता को देखकर अभिव्यंजक के वैचित्र्य के अनुसार वर्णविषयक विचित्र की प्रतीति मानी जा सकती है, इस वैचित्र्य प्रतीति में स्वरूप निमित्त नहीं है। इसीलिये कहा गया है कि—'जैसे काली, पीली गायें भिन्न-भिन्न देखी जाती हैं, उसी तरह से गकारादि वर्ण व्यक्तियों को आपने कहाँ भिन्न देखा है, जिससे कि इनमें आप प्रत्यभिज्ञा को जातिविषयक मान सकें। बच्चा पढ़ता हो या वृद्ध, स्त्रीजन पढ़ता हो या शुक, इसमें वक्ता के भेद की तो प्रतीति होती है, किन्तु वर्ण व्यक्तियों के भेद की प्रतीति नहीं होती।' इसी तरह से देवदत्त पढ़ता है, यज्ञदत्त पढता है, यहाँ पर भी उच्चारयिता के भेद की ही प्रतीति होती है, किन्तु 'ग' विशेष को पढता है, इस तरह से उच्चार्यमाण वर्ण का भेद नहीं प्रतीत होता। 'एक कर्ता के द्वारा किये गये गङ्गा, गगन, गर्ग आदि विभिन्न पदों के उच्चारण में भी एक ही गकार का उच्चारण होता है, इनमें उसका भिन्न स्वरूप नहीं देखा जाता।' गत्वादि सामान्य को यदि मान भी लिया जाय और द्रुत, विलंबित आदि के कारण उसमें भेद-प्रतिभास माना भी जाय तो भी इनका भेद नहीं माना जा सकता। यह प्रतीत हो रहा भेद-प्रतिभास औपाधिक ही माना जायगा। ग व्यक्ति में ही वह भेद क्यों न माना जाय? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ग व्यक्ति की एकता के कारण एक प्रत्यय (ज्ञान) ही उचित है। उसमें भेद की भ्रान्त प्रतीति का कारण तो व्यंजक भेद होता है। जैसा कि कहा गया है—'जो बात आप गत्वादि जाति को मानकर सिद्ध करना चाहते हैं, वह वर्ण व्यक्ति से ही प्राप्त हो जायगी। विभिन्न उच्चारणों में भी एक ही गादि वर्णव्यक्ति का लाभ होता है, अतः गत्वादि जाति-बुद्धि व्यर्थ है।'

प्रश्न है कि 'उदात्त, अनुदात्त आदि विरुद्ध धर्म वाले होने से गकारादि व्यक्तियों का गो, अश्व आदि व्यक्तियों की तरह नानात्व (भेद) ही मानना उचित है', इसका उत्तर है कि उदात्तादि को वर्णों के धर्म न मानकर व्यंजक ध्वनि के धर्म माना जाता है, वायु यद्यपि श्रावण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, किन्तु उनके धर्म उदात्त आदि की प्रत्यक्षता में वाधा नहीं है। इसीलिये जैसे

दर्पणाद्युपधानवशान्नानादेशपरिमाणसंस्थानभेदविभ्रमः, एवमेकस्यापि वर्णस्य व्यञ्जकध्वनिनिबन्धनतो नानाविरुद्धधर्मसंसर्गविभ्रमो न स्वाभाविकः। अथवा ध्वनिभेदेन तत्समाधिः। तस्यानुनासिकत्वादिभेदभिन्नस्य गादिव्यक्तिवत् प्रत्यभिज्ञानाभावात्। ध्वनिश्च वर्णात्मकः शब्दः शब्दातिरिक्तो वा श्रावण एव। तदुक्तं भगवत्पूज्यपादैः—यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति स ध्वनिः। तन्निबन्धना एवोदात्तादिभेदाः। अन्यथा प्रत्यभिज्ञायमानानां वर्णानां निर्भेदत्वेन संयोगविभागानामप्रत्यक्षत्वेन तत्कृतविशेषा वर्णेष्वध्यवसातुं न शक्यन्त इति निरालम्बना एवोदात्तादिप्रत्ययाः स्युः। सर्वथापि प्रत्यभिज्ञायमानानां वर्णानामुदात्तादिभेदेनापि न भेदोऽध्यवसातुं शक्यः, अन्यस्य भेदेनाभिद्यमानस्य भेदासम्भवात्। नहि व्यक्तिभेदेन जातिभेदोऽवकल्पते। न च क्रमः खपुष्पवदलीकः, तस्य पदविशेषप्रतिपत्तिहेतुत्वात्। अत एव 'जारा' 'राजा' 'पिक' 'कपि' इत्यादिषु वर्णानामितरत्र साम्येऽपि यथाक्रमानुरोधिन्यः पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धावारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोहन्ति। 'यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने। वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥'

क्रमभेदः स्फुटतरं चकास्ति। तथा च नाक्रमविपरीतक्रमप्रयुक्तानामविशेषः स्मृतिबुद्धावेकस्यां वर्णानां क्रमप्रयुक्तानाम्। तदप्युक्तम्—'यदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः। क्रमन्यूनातिरिक्तत्वस्वरवाक्यस्वरस्मृतीः॥' यद्यपि नित्यानां विभूनां वर्णानां क्रमो न सम्भवति, तथापि व्यञ्जकध्वनिप्रत्ययाद्युपाधिकः क्रमो नापह्नोतुं शक्यः, तत्तदर्थप्रत्ययहेतुत्वेन क्रमप्रयुक्तपदप्रत्ययस्य वौद्धैरप्यभ्युपगमात्। एकस्यां स्मृतौ वर्णानां प्रथनपौर्वा-

गन्ध, रस, शब्द आदि का ज्ञान करानेवाली घ्राणादि इन्द्रियां पृथिवी आदि का ज्ञान नहीं करातीं, उसी तरह से उदात्तादि का ज्ञान कराने वाला श्रोत्र उनके व्यंजक वायु का ज्ञान नहीं ही कराता। जैसे एक ही मुख का मणि, तलवार, दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब पड़ने पर नाना प्रकार के देश, परिमाण और आकार की मिथ्या प्रतीति होती है, इसी तरह से एक ही वर्ण की व्यंजक ध्वनि के कारण नाना प्रकार के विरुद्ध धर्मों के संसर्ग की मिथ्या प्रतीति होती है, वह स्वाभाविक नहीं है। अथवा ध्वनि के भेद को मान करके भी उसका समाधान किया जा सकता है, अर्थात् गकारादि व्यक्तियों में भेद की प्रतीति ध्वनिभेदकृत है, वस्तुतः व्यक्ति भिन्न नहीं है। क्योंकि अनुनासिक आदि के भेद से भिन्न ध्वनि की गादि व्यक्ति की तरह 'यह वही है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। ध्वनि को अवर्णात्मक शब्द मानें या शब्द से भिन्न मानें, है वह श्रवणेन्द्रियगोचर ही। जैसा कि भगवत्पाद शंकराचार्य ने कहा है—ध्वनि उसको कहते हैं, जिसके दूर से सुनाई देने पर वर्णों की स्पष्ट प्रतीति नहीं होने पाती और जैसे-जैसे वह समीप आती जाती है वर्णों में पटुत्व, मृदुत्व आदि धर्मों की भी प्रतीति स्पष्ट होने लगती है। उदात्तादि के भेद इस ध्वनि के कारण ही होते हैं। अन्यथा प्रत्यभिज्ञायमान वर्णों में भेद न होने से और संयोग-विभागादि के प्रत्यक्ष न होने से तत्कृत विशेषों का वर्णों में निश्चय न हो पाने से उदात्तादि की प्रतीति निराधार हो जायगी। प्रत्यभिज्ञायमान वर्णों का उदात्तादि के भेद से भी भेद का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य के भेद से अभिद्यमान में भेद की प्रतीति कैसे मानी जा सकती है। व्यक्ति के भेद से जाति का भेद नहीं मान लिया जाता। क्रम आकाश कुसुम के समान अलीक नहीं है, क्योंकि उससे पद विशेष की प्रतीति होती है। इसीलिये जारा, पिक आदि शब्द से राजा, कपि आदि शब्दों में वर्ण की समानता रहने पर भी जैसे क्रम से चलने वाली चीटियों में ही पंक्ति की बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी तरह से क्रम के अनुरोध से ही वर्णों में विभिन्न पदों की बुद्धि होती है। 'जितने जिस तरह के जो वर्ण जिस अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ हैं, वे उसी क्रम से उस अर्थ के बोधक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं'।

क्रम के भेद से स्वरूप का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः अक्रम से अथवा विपरीत क्रम से प्रयुक्त वर्णों की एक स्मृति बुद्धि में क्रम प्रयुक्त वर्णों से समानता नहीं मानी जा सकती। जैसा कि कहा गया है—'क्रम की न्यूनता-अतिरिक्तता के अनुसार स्वर, वाक्य स्वर आदि की स्मृति को विद्वद्गण वर्ण के भेद के अनुसार भिन्न अर्थ के बोधक के रूप में स्वीकार करते हैं'। यद्यपि नित्य और विभु वर्णों में कोई क्रम नहीं हो सकता, तो भी व्यंजक ध्वनि और प्रत्यय आदि के आधार पर औपाधिक क्रम की प्रतीति को

पर्यरूपः क्रमः स्फुटतरः। यथा गुणा गुणिभ्यो न भिन्नाः, नाभिन्नाः, न वा भिन्नाभिन्नाः, किन्त्वनिर्वाच्याः, एवं क्रमोऽप्यनिर्वाच्यो भविष्यति। यथा वा धव-खदिर-पलाशादिभ्यो वनस्यानर्थान्तरत्वेऽपि एकप्रत्ययालम्बनतया धवादिप्रत्ययालम्बनेभ्यो वैलक्षण्यम्, तथेहापि बोध्यम्।

यदुक्तम्—अन्त्यस्य हि वर्णस्य वर्णान्तरसहितस्य वा नार्थप्रतीतिहेतुत्वं सम्भवति। न च ते यदा सन्तस्तदा व्याप्रियन्तेऽर्थप्रतीतौ, प्रत्येकमसमर्थत्वात्; नाप्यन्त्यवर्णकालेऽसत्त्वादिति चेन्न, पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रत्यायकत्वे बाधकाभावस्योक्तत्वात्। न चेदमनुपपन्नम्, इष्टत्वादेव। अत एव नहि प्रवृत्ता पूर्ववर्णोपलब्धिरन्त्यं वर्णं भेत्तुमर्हति, असत्त्वादित्यप्यपास्तम्; वर्णानां नित्यत्वेनासत्त्वासम्भवात्। वर्णाभिव्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि तत्संस्काराणां सत्त्वात्। यदप्युक्तम्—रथाङ्गानां विशेषोत्पत्तौ सत्यां साहित्यावस्थायां वहनादौ सामर्थ्यमन्यथा प्रत्येकवत् सामस्त्येऽपि सामर्थ्यं न स्यात्, तदप्यसमीचीनम्, अत्रापि पूर्वपूर्ववर्णानुभवाहितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य पदविशेषभावस्योपपत्तेः। क्रमभाविनामपि गमनादिक्रियाक्षणानां सम्भूयार्थक्रियाकारित्वस्योक्तत्वात्। यदप्युक्तम्—न च परस्परं वर्णानां कार्यकारणभावो येन पूर्वे वर्णाः पारम्पर्येणार्थप्रतीतौ शक्ताः स्युः, नापि पूर्णवर्णजनितसंस्कारसहितस्यान्त्यस्य वर्णस्यार्थप्रतीतिहेतुत्वात् पूर्ववर्णानां पारम्पर्येण सामर्थ्यम्, वर्णानुभवसंस्कारस्यावर्णेष्वेव स्मृतिहेतुत्वात्। नहि गवाहितसंस्कारोऽश्वे स्मरणमुपकल्पयति, तदप्यकिञ्चित्करम्, अनुभवविरोधात्। तथाहि—अर्थप्रत्ययात्पूर्व-

अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बौद्ध दार्शनिक भी क्रम प्रयुक्त पद-प्रतीति को उस अर्थ के प्रत्यायक के रूप में मानते हैं। एक स्मृति में वर्णों का ताना-बाना पूर्वापर क्रम से स्पष्ट प्रतीत होता है। जैसे गुण गुणी से भिन्न नहीं हैं, न अभिन्न ही हैं और न भिन्नाभिन्न उभयात्मक हैं, किन्तु अनिर्वाच्य हैं, उसी तरह से क्रम को भी हम अनिर्वाच्य मान लेंगे। अथवा जैसे धव, खदिर, पलाश आदि से वन के भिन्न न रहने पर भी एक प्रत्यय के आलम्बन धव आदि की प्रतीति से समूहालम्बनात्मक वन प्रतीति को विलक्षण माना जाता है, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये।

शङ्का उठती है कि वर्णान्तर सहित अन्त्य वर्ण की अर्थप्रतीति बोधकता सम्भव नहीं हो सकती। जब उनकी स्थिति रहती है, तब वे अर्थप्रत्यायकता में नियोजित नहीं होते, क्योंकि प्रत्येक वर्ण में यह सामर्थ्य है ही नहीं। अन्तिम वर्ण के समय उनकी सत्ता के अभाव में नियोजन कैसे सम्भव हो सकता है? किन्तु इस शङ्का का समाधान हम पहले ही कर चुके हैं कि पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण का सम्पर्क विद्यमान है, अतः अन्तिम वर्ण की अर्थप्रत्यायकता में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। ऐसा देखा जाता है, अतः इसमें किसी प्रकार को अनुपपत्ति नहीं मानी जा सकती। इसलिये इस शङ्का का भी समाधान हो जाता है कि—'पूर्व वर्ण की उपलब्धि चल कर अन्तिम वर्ण तक नहीं पहुँच सकती, क्योंकि तब वह विद्यमान नहीं है'। क्योंकि इसमें कारण यह है कि वर्ण नित्य हैं, अतः उनका कभी अभाव नहीं माना जा सकता। वर्णाभिव्यक्ति के अनित्य रहने पर भी उसके संस्कार तो विद्यमान रहते ही हैं। इस प्रसङ्ग में पहले शङ्का उठाई गयी थी कि—'रथ के अवयवों की रथरूपी एक विशेष में सब अङ्गों का साहित्य हो जाने पर ही जैसे उसमें वाहनादि का सामर्थ्य रहता है, प्रत्येक अवयव के अलग-अलग रहने पर या सभी अवयवों के एक साथ एक जगह पड़े रहने पर भी उस विशेष रथरूपी आकार की निष्पत्ति न होने पर यह सामर्थ्य नहीं रहती'। इसका समाधान यह है कि यहाँ पर भी पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभवों से स्थापित संस्कारों के साथ विद्यमान अन्तिम वर्ण में रथ की तरह पद विशेष की स्थिति मानी जा सकती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि गमन प्रभृति क्रिया क्षणों में क्रमभाविता के रहते भी मिलकर के ग्रामादिप्रापकता रूप प्रयोजन की सिद्धि मानी जाती है। यह भी शङ्का उठाई गई थी कि 'वर्णों का परस्पर कार्यकारण भाव नहीं है, जिससे कि पूर्व वर्ण परम्परा से अर्थ की प्रतीति में समर्थ हों। पूर्व वर्णजनित संस्कार के साथ साथ अन्तिम वर्ण की अर्थ की प्रतीति में कारणता मानी गई है, अतः पूर्व वर्णों की परम्परा से भी उसमें सामर्थ्य नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वर्णानुभव जनित संस्कार अवर्णों में ही स्मृति का कारण हो सकता है। गौ के लिये स्थापित हुआ संस्कार अश्व की स्मृति नहीं करा सकता'। यह कथन अकिंचित्कर है, क्योंकि इसमें स्पष्ट ही अनुभव का विरोध है। क्योंकि अर्थ के ज्ञान के पूर्व इतने वर्ण एक स्मृति में आरूढ

मेतावन्तो वर्णा एकस्मृतिसमारोहिणो विभान्त्येव। तत्प्रथानन्तरञ्च वृद्धस्यार्थधीरपि स्पष्टमुदेति। एकधीहेतुत्वेन चैकपदत्वमपि तेषां स्पष्टमाभाति।

यदप्युक्तम्—संकेताभावेऽर्थप्रतीतेरभावात्संकेतश्च सामान्यविषयो न वर्णस्वलक्षणविषय इति कथं वर्णाः क्रमविशेषेण वाचकाः, तदप्यसमीचीनम्, पूर्ववर्णाहितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य बोधकत्वदर्शनेन तत्रैव संकेतनिश्चयात्। क्षणभङ्गवादिनां वर्णस्वलक्षणेषु सङ्केतासम्भवेऽपि वर्णनित्यत्ववादिनामन्येषां च तददोषात्। यदप्युक्तम्—'केवलस्य वर्णस्यार्थाप्रतिपादकत्वे संस्कारसहितस्यापि तन्न स्यात्, विशेषानुपपत्तेः। तत्कथं कश्चित्साक्षादर्थप्रतिपादने समर्थः कश्चित्पारम्पर्येण' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, संस्काररहित्यसाहित्याभ्यां विशेषोपपत्तेः। 'इत्थं क्रमगृहीतानां युगपद्या ह्यवस्थितिः। ततः सा कारणं नः स्यान्नित्यमर्थधियं प्रति॥' क्रमप्रतिपन्नानां वर्णानां नित्यत्वाद् व्यापित्वाच्च। याऽऽकाशदेशे युगपदवस्थितिः, सैवार्थप्रतीतिं प्रति निमित्तमित्यदोषः।

यदुक्तम्—प्रतीयमानो हि शब्दार्थं प्रतिपादयति न सन्निधिमात्रेण, सर्वपदार्थप्रतिपादनप्रसङ्गात्। न चैककर्तृकाणां यौगपद्यं प्रतिभासते, नापि नित्यत्वं व्यापित्वं च युज्यत इति, तदप्यसारम्, एककर्तृकक्रमोपलक्षितानां नित्यानां विभूनां यौगपद्येन स्थितानां वर्णानां बोधकत्वे बाधाभावात्। सर्वक्रमोपलक्षित्वाभावादेव न सर्वार्थप्रतिपादनप्रसङ्गः। नित्यत्वं व्यापकत्वं चान्यत्र प्रसाधितम्। एवं वर्णविषयं यद्विज्ञानं तदेवार्थप्रतीतिजनकमित्यपि सम्यक्। तदुक्तम्—'यद्वा प्रत्यक्षतः पूर्वं क्रमाज्ञानेषु यत्परम्। समस्तवर्णविज्ञानं तदर्थज्ञानकारणम्॥ तत्र ज्ञाने च वर्णानां यौगपद्यं प्रतीयते। नावश्यं यौगपद्येन प्रत्यक्षस्थेन तद्भवेत्॥' इति। यदप्युक्तम्—'क्रमो हि प्रयोक्तृप्रयुक्तो न यौगपद्यम्, प्रयोक्तृ-

होते देखे गये हैं। इनकी स्पष्ट प्रतीति हो जाने पर वृद्ध को भी अर्थ का ज्ञान स्पष्ट रूप से उत्पन्न होता है और इस एक पदार्थ बुद्धि को पैदा करने के कारण ही उसमें एकपदता की प्रतीति भी स्पष्ट होती है।

यह शंका भी समीचीन नहीं है कि—'संकेत के अभाव में अर्थ की प्रतीति नहीं होती। यह संकेत सामान्यविषयक होता है, वर्ण स्वलक्षणविषयक नहीं, तब वर्ण क्रमविशेष के आधार पर वाचक कैसे माने जा सकते हैं' क्योंकि, पूर्व वर्ण से आहित संस्कारों के साथ विद्यमान अन्तिम वर्ण में बोधकता देखी जाती है, अतः उसी में संकेत का निश्चय माना जाता है। वर्णों के स्वलक्षण में संकेत क्षणभंगवादी बौद्धों के मत में भले ही संभव न हो, किन्तु वर्णों को नित्य मानने वाले तथा अन्य दार्शनिकों के मत में यह दोष नहीं हो सकता है। यह कथन भी व्यर्थ ही है कि 'केवल वर्ण यदि अर्थ का प्रतिपादक नहीं है तो संस्कारों के साथ भी वह इसमें समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई नई विशेषता नहीं आ जाती है। ऐसी अवस्था में कोई साक्षात् और कोई परम्परा से अर्थ का प्रतिपादक कैसे माना जा सकता है', क्योंकि इसमें संस्कार राहित्य और संस्कार साहित्य इन्हीं के आधार पर परस्पर विशेषता मानी जायगी! 'इस तरह से क्रम से गृहीत वर्णों की जो युगपत् अवस्थिति है, वही हमारे मत से नित्य अर्थबुद्धि के प्रति कारण होती है।' अर्थात् वर्णों की नित्यता और व्यापिता के आधार पर आकाश देश में युगपत् अवस्थिति के रहते भी जो उनकी क्रम से प्रतीति होती है, वहीं अर्थ की प्रतीति में कारण है, इस प्रकार से इस मत में कोई दोष अवशिष्ट नहीं रह जाता।

यह भी कहा गया है कि 'जो स्वयं प्रतीयमान है, वही शब्दार्थ का प्रतिपादन करता है, केवल संनिधिमात्र से ऐसा माना जाय तो सभी पदार्थों के प्रतिपादन का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। एककर्तृक कार्यों का न तो यौगपद्य ही होता है और न उनको नित्य तथा व्यापी ही कहा जा सकता है।' यह उक्ति भी सारहीन है, क्योंकि एककर्तृक क्रम से उपलक्षित नित्य और विभु (व्यापक) तथा एक साथ क्रमशः विद्यमान वर्णों को अर्थ का बोधक मानने में कोई बाधा नहीं है। सर्वार्थ प्रतिपादन का प्रसंग इसलिये नहीं होगा कि वे सब प्रकार के क्रमों से उपलक्षित नहीं हैं। इनका नित्यत्व और विभुत्व अन्यत्र सिद्ध किया जा चुका है। इसी तरह से यह कथन भी ठीक ही है कि 'वर्ण विषयक विज्ञान ही शब्दार्थ ज्ञान के कारण है। जैसा कि कहा गया है—'अथवा प्रत्यक्ष से पहले क्रम का ज्ञान न होने पर भी बाद में जो समस्त वर्णविषयक विज्ञान होता है, वही अर्थज्ञान में कारण होता है। उस ज्ञान में वर्ण का यौगपद्य प्रतीत होता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्यक्ष में यौगपद्य की विद्यमानता रहने पर ही वह होता हो।' यह

प्रयुक्तावस्थेभ्यश्च वर्णेभ्योऽर्थप्रतीतिर्न यौगपद्यादर्थप्रतीतिः स्यात्, सक्रमाणां च वर्णानां यौगपद्येन ग्रहणे भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। न च तेषां यौगपद्यमस्ति, नित्यत्वायोगात्' इति, तत्तुच्छम्, वर्णव्यक्तिक्रमोपलक्षितानां वर्णानां यौगपद्योपपत्तेः, प्रत्यभिज्ञादिभिर्वर्णनित्यत्वसिद्धेश्च।

प्रतिपदमन्त्यो वर्णो यया बुद्धया गृह्यते सा सन्निहितासन्निहितवर्णविषयत्वेन, स्मरणप्रत्यक्षरूपाभ्यामुभयरूपेति चित्रवर्णां तां केचित्प्राहुः। 'चित्ररूपां च तां बुद्धिं सदसद्वर्णगोचराम्। केचिदाहुर्यथा वर्णो गृह्यतेऽन्त्यः पदे पदे ॥' (स्फो० ११)। यदत्रोक्तम्—एकस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूपविरोधादिति, तन्न युक्तम्, न च प्रत्यक्षमेकं सदसद्वर्णविषयम्, अभावविषयत्वविरोधात्। नापि स्मृतिरूपम्, सन्निहितविषयत्वेनानिष्टत्वात्। अत एव पदादिग्राहकज्ञानं कल्पितविषयं स्यादिति, तदपि तुच्छम्, सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाज्ञानवत्पदज्ञानस्यापि सन्निहितासन्निहितविषयकत्वे बाधाभावात्। अन्यत्तु अनभ्युपगमपराहतम्। एवम्—'अन्त्यवर्णे हि विज्ञाने सर्वसंस्कारकारितम्। स्मरणं यौगपद्येन सर्वेष्वन्ये प्रचक्षते ॥' कथं क्रमेणानुभूतानां युगपत्स्मरणमिति चेत्, आह—'सर्वेषु चैवमर्थेषु मानसं सर्ववादिनाम्। इष्टं समुच्चयज्ञानं क्रमज्ञानेषु सत्स्वपि ॥ तेन श्रोत्रमनोभ्यां च क्रमाद्वर्णेषु यद्यपि। पूर्वज्ञानं परस्तात्तु युगपत्स्मरणं भवेत् ॥' (स्फो० ११३।७)। 'तदा रूढास्ततो वर्णा न दूरेऽर्थाववोधनात्। शब्दादर्थमतिस्तेन लौकिकैरभिधीयते ॥' इत्यपि सम्यगेव।

यदप्युक्तम्—एककर्तृप्रयुक्तानामेवार्थप्रतिपादकत्वेनायुगपद्वर्तिनामेवार्थप्रतिपादकत्वम्, न च स्मरणविषयाणां वर्णान्तरयौगपद्यमध्यवसीयते, नियतक्रमाणामेव स्मर्यमाणत्वात्। नापि प्रत्यक्षवत्स्मृत्या वर्णस्वलक्षणग्रहणम्, स्पष्टप्रति-

भी कहा जाता है कि—'क्रम तो प्रयोक्ता के द्वारा प्रयुक्त होता है, किन्तु यौगपद्य नहीं। प्रयोक्ता के द्वारा प्रयुक्त अवस्था वाले वर्णों से ही अर्थ की प्रतीति होती है, वर्णों के यौगपद्य से नहीं। क्रम सहित वर्णों का यौगपद्य (एक साथ) ग्रहण भ्रान्त ही माना जायगा। इनका यौगपद्य हो भी नहीं सकता, क्योंकि वे नित्य नहीं हैं', किन्तु यह कथन भी निर्बल है, क्योंकि वर्ण व्यक्ति के क्रम से उपलक्षित वर्णों का यौगपद्य माना हो जा सकता है और प्रत्यभिज्ञा प्रभृति से उनकी नित्यता में भी कोई बाधा नहीं है।

प्रत्येक पद का अन्तिम वर्ण जिस बुद्धि से गृहीत होता है, वह संनिहित और असंनिहित वर्णविषयक होने से स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों रूपों वाली है, अतः ऐसी बुद्धि को कुछ दार्शनिक चित्र वर्ण वाली कहते हैं, जैसा कि इस कारिका में प्रतिपादित है—'उस सदसत् वर्णविषयिणी बुद्धि को कुछ आचार्य चित्ररूपा बताते हैं, क्योंकि यहाँ पर प्रत्येक पद में अन्तिम वर्ण ही प्रत्यक्षतः गृहीत होता है।' यहाँ पर भी शंका उठाई गई थी कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष परस्पर विरोधी हैं, अतः इनकी एक ज्ञान में स्थिति नहीं रह सकती। एक ही प्रत्यक्ष सत् और असत् दोनो तरह के वर्णों को अपना विषय नहीं बना सकेगा, क्योंकि भाव और अभाव दोनों का परस्पर विरोध है। यह स्मृति रूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संनिहितविषयक ज्ञान को स्मृति मानने पर अनिष्ट होगा। अतः पदादि का ग्राहक ज्ञान कल्पित विषय का ही मानना पड़ेगा।' इसका समाधान यह है—'यह वह देवदत्त है' इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान का विषय जैसे संनिहित और असंनिहित दोनों के मेल से बनता है, उसी तरह से पद ज्ञान के विषय में भी उसके संनिहित और असंनिहित रहने पर क्या आपत्ति उठ सकती है? इससे भिन्न स्वरूप को हम मानते नहीं। इसी तरह से—'अन्त्य वर्णविषयक विज्ञान में सभी वर्णों के संस्कारों के आधार पर सभी में यौगपद्येन स्मरण की बात कुछ दार्शनिक मानते हैं।' क्रम से अनुभूत का यौगपद्येन (एक साथ) स्मरण कैसे होता है? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि—'इस तरह के अर्थों में सभी वादियों के मत के अनुसार मानसिक समुच्चय (सामूहिक) ज्ञान इष्ट है, यद्यपि वहाँ पर क्रम ज्ञान की भी स्थिति रहती है। अतः श्रोत्रेन्द्रिय और मन के द्वारा पहले यद्यपि अनुभूति क्रम से होती है, किन्तु बाद में उसका समूहालम्बनात्मक स्मरण माना जाता है', 'फिर वर्ण स्मृति में आरूढ हो जाते हैं। इसलिये वे अर्थज्ञान से दूर नहीं रहते। शब्द से अर्थ के ज्ञान की यही प्रक्रिया लोगों को अभीष्ट है' यह कथन भी सही ही है।

यहाँ पर शंका उठाई जाती है कि 'एक कर्ता के द्वारा प्रयुक्त वर्णों की ही अर्थप्रतिपादकता मानी जाती है, अतः अयुगपत् विद्यमान वर्णों की ही अर्थप्रतिपादकता जानी जायगी। स्मरणविषयक वर्णों में यौगपद्य का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि

भासाभावात्, एकस्य स्पष्टास्पष्टानेकाकारायोगाच्च। तस्मात् केवलस्मरणे नास्पष्टस्वभावानां वर्णानां स्वाकाररूपाणां वाह्यवर्णाभेदेनाध्यवसायाद् वाह्यवर्णानां वाचकत्वमुच्यते। अवाह्येषु वर्णेषु वाह्यवर्णाध्यवसायेन पदादि परिकल्पितमित्यस्माभिर्वौद्धैरिष्यत इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, गमनक्रियाक्षणानामिव ग्रामप्राप्तौ ग्रासानामिव तृप्तौ वर्णानामर्थवोधजनकत्वे वाधाभावस्योक्तत्वात्। क्रमोपलब्धेष्वपि वर्णेषु मानसमनुव्यवसायरूपमखिलवर्णविषयं सङ्कलनाज्ञानं जायत इत्यप्युक्तमेव। दृश्यते च विनश्वरेष्वपि क्रमानुभूतेषु युगपदनुव्यवसायो मानसः। शतमाम्राणि भक्षितवानहम्। न चायं प्रत्ययो नास्ति, सन्दिग्धो वा, वाध्यते वा। अनभ्युपगम्यमाने चेदृशे समुच्चयज्ञाने तन्निवन्धना भूयो व्यवहारा उत्सीदेयुः। स चायं संकलनाप्रत्ययः स्मर्यमाणानुभूयमानप्राक्तनान्त्यवर्णविषयतया सदसद्वर्णगोचरश्चित्ररूपोऽभ्युपेयते। अथवाऽन्त्यवर्णेऽपि तिरोहिते भवन्नसदगोचर एव वा सोऽप्यर्थप्रतीतिहेतुरेक एव।

ननु सङ्कलनाप्रत्ययेऽपि ते वर्णा यदि क्रमेणावभासन्ते, तदासावपि पूर्वोत्पन्नैकैकवुद्धिनिर्विशेष एव स्यादिति तदुपारूढा अपि वर्णा नार्थप्रतीतिहेतवो भवेयुः, यदि त्वेकसुमनस्तवकाकारावभासी स प्रत्ययः, तदा तस्मिन् क्रमानवगमाद्विपरीतक्रमा अपि वर्णा अर्थप्रतीतिकारिणो भवेयुरिति चेदत्रोच्यते, विशिष्टानुपूर्वीकवर्णसमूहानुभवसमनन्तरभावी सङ्कलनाप्रत्ययोऽर्थप्रतीतिहेतुर्न स्तवकाकारपरिच्छेदो न वा विपरीतक्रमाशङ्कनम्, यदनन्तरजन्मायं समुच्चयप्रत्ययः। ताश्च तद्विशिष्टक्रमावभासिन्य एव पूर्वभाविन्यो वर्णवुद्धय इति कुतो वैपरीत्यविकल्पः। तस्मात्प्रथमावगमनियतानुपूर्वीकास्ते तदनन्तरभाविसमस्तावभासिसङ्कलनाप्रत्ययोपारूढा वर्णा अर्थप्रतीतिकारिण इति

नियत क्रम से ही उनका स्मरण होता है। प्रत्यक्ष के समान स्मृति से वर्णों के स्वलक्षण का ग्रहण भी नहीं होता, क्योंकि स्मृति में स्पष्ट प्रतिभास नहीं रहता। एक ही में स्पष्ट, अस्पष्ट आदि अनेक आकार नहीं माने जा सकते। इसीलिये केवल स्मरण के सहारे अस्पष्ट स्वभाव वाले वर्णों का स्वाकाररूप वाह्य वर्णों से अभेद प्रतीत होता है, अतः वाह्य वर्णों की ही वाचकता हम मानते हैं। अवाह्य वर्णों में वाह्य वर्णों का अध्यवसाय होने से ही पदादि की परिकल्पना होती है, यही हमारी वौद्ध दार्शनिकों की मान्यता है।' किन्तु यह वात अविचारित रमणीय है, क्योंकि गमन क्रिया के सभी क्षण ग्राम प्राप्ति रूप फल में सहायक हैं, भोजन का प्रत्येक ग्रास तृप्ति में कारण है, उसी तरह से प्रत्येक वर्ण की भी अर्थवोधकता में कोई वाधा नहीं है, यह वात कही जा चुकी है। क्रम से उपलब्ध हुए वर्णों में भी मानस अनुव्यवसाय रूप अखिल वर्णविषयक संकलनात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, यह भी कहा जा चुका है। क्रमानुभूत विनश्वर पदार्थों में भी एक साथ मानस अनुव्यवसाय देखा जाता है कि क्रमशः एक-एक करके सौ आम खाने वाला भी कहता है कि मैंने एक साथ सौ आम खा लिये। लोगों को यह भी कहते देखा हो गया है कि मैंने एक साथ सौ लड्डू खा लिये। ऐसा अनुभव न होता हो, ऐसी वात नहीं है। न उसको संदिग्ध ही कहा जा सकता है और न उसका वाध ही होता है। इस तरह के समुच्चय ज्ञान को न मानने पर इनके आधार पर होने वाले अनेकों व्यवहार समाप्त हो जायेंगे। यह संकलनात्मक ज्ञान क्रमशः स्मर्यमाण और अनुभूयमान प्राक्तन और अन्त्य वर्णविषयक है। इस तरह से विद्यमान और अविद्यमान विषयक होने से चित्ररूप कहलाता है। अथवा अन्त्य वर्ण के भी तिरोहित हो जाने पर केवल असद् विषयक होते हुए भी वह अकेला ही अर्थप्रतीति का कारण होता है।

प्रश्न है कि संकलनात्मक (सामूहिक) ज्ञान में भी वर्ण यदि क्रम से भासित होते हैं तो वह संकलनात्मक ज्ञान भी पूर्वोत्पन्न एक-एक वर्ण की वुद्धि से पृथक् प्रकार का न होकर उसके समान ही होगा। इस प्रकार उस संकलनात्मक ज्ञान में सभी वर्णों का समावेश हो जाने पर भी वे अर्थप्रतीति के कारण नहीं होंगे। यदि इनका एक पुष्प के गुच्छे के समान एकाकार अवभास माना जाता है तो उसमें क्रम की अवगति न होने से उनका विपरीत क्रम से उच्चारण होने पर अर्थप्रतीति की कारणता की आपत्ति उठेगी ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि विशिष्ट आनुपूर्वी वाले वर्ण समूह के अनुभव के वाद होने वाला संकलनात्मक ज्ञान अर्थ प्रतीति का कारण माना जाता है, अतः यहाँ पर न तो स्तवकाकार (पुष्पों का गुच्छा) प्रत्यय हो होता है और न विपरीत क्रम की आशंका ही उठ सकती है। वह समुच्चय प्रत्यय जिनके वाद पैदा होता है, वे वर्ण वुद्धियाँ पहले पैदा होते समय एक विशिष्ट क्रम का अवभास कराती हैं, ऐसी अवस्था में उनके विपरीत क्रम की कल्पना का अवसर ही कहां है। इसलिये जिन वर्णों की पहले से नियत

न दोषः। यदप्युक्तम्—'संस्कारस्य नार्थप्रतीतिजनकत्वम्, दृष्टपूर्वस्मृतावेव तस्य व्यापारः, तदप्यकिञ्चित्करम्, अप्रयोजनकत्वात्। संस्कारेण स्मृतिरेव कर्तव्येति नहि राजाज्ञाऽस्ति। ननु पट्वभ्यासादरप्रत्ययगृहीतेष्वर्थेषु यदात्मनः स्मरणकारणं संस्कारः, सा च स्मृत्यैव कार्येण कल्प्यमाना शक्तिः। न च शक्तिरूपस्य संस्कारस्य शक्त्यन्तरमर्थ-प्रतीतिजन्मनि सम्भवति, येनैव कार्येण स कल्प्यते शक्तिस्तदपहाय किं कार्यान्तरं कुर्यात्? स्मरणहेतोश्च संस्कारस्य प्रसवकारणमनुभवः। अनुभवहेतोश्चास्य नूतनचरितस्य संस्कारस्य जन्मनिमित्तमेव नोत्पश्यामः। तस्मान्नासावर्थ-प्रतीतिहेतुर्भवतीति चेन्न, वर्णानुभवसंस्कृतमतेरर्थप्रतीतिदर्शनात्। नहि स्मरणशक्तिः संस्कारः, किन्त्वन्तःकरणगुणो वासनाख्यः। स च स्मृतिमिव अर्थप्रतीतिमपि जनयितुं शक्नोत्येव। सर्वत्र दर्शनमेव प्रमाणं स्मरणजननदर्शनेन यथा तज्ज-ननकौशलं कल्प्यते, तथैवानुभवजननदर्शनेन तदपि कल्प्यताम्। दृश्यन्ते च वर्णाश्च तदनुभवाश्च व्यतीताः। अन्यत्स्फो-टादिकं शब्दतत्त्वं नानुभूयते, अस्ति चार्थप्रतीतिर्नासौ निष्करणिका, करणव्यतिरेकेणानुद्भवन्ती करणमाक्षिपति। यदस्याः करणं संस्कार इति स्मृतिरिवार्थप्रतीतिरपि तत्कार्यत्वात्तदनुमापिका भवत्येव। कुतः स उदेतीत्यचोद्यमेतत्। अनुभवकारणस्य तस्य प्रसिद्धत्वात्। अथवा संस्कारेण स्मृतिरेव भवतु, संस्कारात्पूर्ववर्णेषु स्मरणमन्त्यवर्णे च श्रोत्रेन्द्रियानुभव इति स्मर्यमाणानुभूयमानवर्णकरणकोऽर्थप्रत्ययः।

नन्वनुभवक्रमाहितसंस्कारसामर्थ्येन स्मृतयोऽपि क्रमभाविन्यो भवेयुरिति चेन्न, नानावर्णविषयैः क्रमभाविभि-रनुभवैः क्रमोपचयात्मा पुटपाकैरिव कार्तस्वरस्यैक एवात्मनः संस्कारस्तादृगुपधीयते, येन सर्वानेव वर्णानसौ सकृत्

आनुपूर्वी जानी गई, वे ही उसके बाद सामूहिक रूप से भासित होने वाले ज्ञान में आरूढ़ होकर अर्थ का ज्ञान कराते हैं, इसलिये कोई दोष नहीं दिया जा सकता। कहा गया है कि—'संस्कार की अर्थप्रतीतिजनकता नहीं मानी जा सकती, उसका व्यापार केवल पहले देखे गये पदार्थ की स्मृति तक ही सीमित है।' किन्तु यह कथन किसी बात को सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि संस्कार से केवल स्मृति ही होगी, ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है। इस पर शंका उठाई जाती है कि 'आदरपूर्वक, मनोयोग पूर्वक भलीभांति किये गये अभ्यास से उत्पन्न प्रत्यय के द्वारा गृहीत अर्थों में जो उनके स्मरण का कारण होता है, उसको संस्कार कहते हैं। यह एक प्रकार की स्मृति रूप कार्य से ही कल्पित की गई शक्ति है। स्वयं शक्ति रूप संस्कार में अर्थप्रतीति की जनक दूसरी शक्ति नहीं मानी जा सकती। जिस कार्य से उस संस्कार रूप शक्ति की कल्पना की जाती है, उसको छोड़कर वह दूसरे कार्य को कैसे करेगी? इस स्मरण के कारण संस्कार को पैदा करने वाला अनुभव है। इस अनुभव के कारण आपके कहे अनोखे स्वभाव वाले संस्कार का जन्म कैसे होता है, यह हम नहीं जान पाते। इसलिये यह अर्थप्रतीति में कारण नहीं हो सकता।' इसका समाधान इस तरह से है कि वर्णों के अनुभव से जिसकी बुद्धि संस्कृत हो गई है, उसी को अर्थ का ज्ञान होते देखा गया है। स्मरण शक्ति को संस्कार नहीं कहा जाता, किन्तु अन्तःकरण के वासना नामक गुण को संस्कार कहते हैं। यह स्मृति की तरह अर्थप्रतीति को भी पैदा कर ही सकता है। सर्वत्र प्रत्यक्ष दर्शन को ही प्रमाण माना जाता है। उसमें स्मरण की जनकता देखकर जैसे स्मरण को पैदा करने का कौशल माना जाता है, उसी तरह से अनुभव की जनकता को देखकर उसमें अनुभव के जनन का कौशल भी आप मानिये। यह देखा जाता है कि वर्ण और उनके अनुभव व्यतीत हो जाते हैं और कोई नया स्फोट जैसा शब्दतत्त्व अनुभूत नहीं होता। इतने पर भी अर्थ की प्रतीति तो होती है, वह बिना कारण के नहीं हो सकती। जब बिना कारण के नहीं हो सकती तो वह कारण का आक्षेप करती है और यह कारण संस्कार ही हो सकता है। इस तरह से स्मृति के समान अर्थप्रतीति भी उस संस्कार का ही कार्य है, अतः उसके अनुमान में यह भी सहायक है। यह संस्कार कहाँ से उत्पन्न होता है, यह पूछना व्यर्थ है। क्योंकि अनुभव के कार्य के रूप में वह प्रसिद्ध ही है। अथवा संस्कार से भले ही केवल स्मृति की ही उत्पत्ति मानी जाय, तो भी संस्कार से पूर्व वर्णों में स्मरण और अन्तिम वर्ण का श्रोत्रेन्द्रिय से अनुभव, इस तरह से स्मर्यमाण और अनुभूयमान वर्णों के सहारे अर्थ की प्रतीति होती है।

इस पर शङ्का उठाई जाती है कि इस तरह से तो अनुभव के क्रम से स्थापित संस्कार के सहारे स्मृति भी उसी क्रम से होनी चाहिये। उत्तर है कि जैसे पुटपाक से सुवर्ण का गुणोपचय रूप संस्कार होता है, उसी तरह से नाना वर्णविषयक क्रमशः

स्मरतीत्यभ्युपगमेन दोषाभावात् । यदुक्तम्—'संस्कारात्संस्कारान्तरोत्पत्तिरसिद्धेति चेन्न, स्वाध्यायाध्ययने सिद्धत्वात् । उच्चारणक्रियायाः क्षणिकत्वात् ' तदाहिते संस्कारान्तरकारिणि संस्कारेऽनिष्यमाणेऽन्त्यमुच्चारणं प्रथमोच्चारणान्न विशिष्येत, ततः पुरुषायुषेणापि नानुवाक एक आमुखीक्रियेत ।

यदप्युक्तम्—'न वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यद्धि विद्यते । वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न विद्यते ।।' तदप्यपास्तम्, पूर्वोक्तयुक्त्या वर्णसमूहात्मकस्य पदस्य पदसमूहात्मकस्य वाक्यस्य च सिद्धेः ।

यदपि वैयाकरणमतनिराकरणप्रसङ्गेनोक्तम्—पदादिकं न किञ्चित्, व्यतिरेकाव्यतिरेकयोर्विरोधात् । व्यतिरेके भेदेनोपलम्भः स्याद् दृश्यस्यादृश्यत्वेऽप्यवाचकत्वमगृहीतस्य वाचकत्वायोगात् । अव्यतिरेके वर्णवदेवावाचकत्वप्रसङ्गः । तस्मादिन्द्रियविज्ञानविशेषानुबन्धिसभागवासनोपादानविकल्पप्रतिभासविभ्रमं पदमेकावभासि मिथ्यैव, एकानेकत्वयोरयोगात् । अनेकया बुद्धया क्रमेण ग्रहणायोगात् । न तदेकया, ग्राह्यवर्णानुक्रमेण ग्रहणात् । वर्णक्रमानुभवपृष्ठभावि मनोविज्ञानं तान् वर्णान् पदादिरूपतयैकस्वभावानध्यवस्यति, तस्मात् पदादिपरिकल्पितं मिथ्यैव । ननु भिन्नानामेव वर्णानामनुभवात् कथमेकपदाद्यवभासो विकल्प उत्पद्येत, उत्पद्यते च । तस्माद्वर्णेष्वेकपदाद्यनुभवेन भाव्यमिति चेन्न, अन्यथाप्युपपत्तेः । तथाहि—प्रतिपादको हि सङ्केतकाले वर्णक्रममेकपदादिरूपतया प्रतिपन्नमेव परं प्रत्येकमिदं पदादीति सङ्केतयति । तदा च परस्यापि तत्र वर्णक्रमे एकपदाध्यारोपिका बुद्धिरुत्पद्यते । तस्य चैकपदाद्यारोपितैका-

होने वाले अनुभवों से भी आत्मा में क्रमोपचयरूप ऐसा संस्कार स्थापित होता है, जिससे कि वह सभी वर्णों को एक साथ स्मरण कराता है । ऐसा मानने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है । हम ऐसा नहीं कह सकते कि एक संस्कार से दूसरे संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वेदाध्ययन में यह सिद्ध है । उच्चारण क्रिया क्षणिक होती है, अतः प्रत्येक उच्चारण क्रिया से स्थापित संस्कार में यदि संस्कारान्तर की उत्पत्ति न मानें तो यहाँ पर अन्तिम उच्चारण और प्रथम उच्चारण में कोई अन्तर नहीं रह जायगा और इस तरह से तो पुरुष की पूरी आयु बीत जाने पर भी वेद का एक अनुवाक भी कण्ठस्थ न हो सकेगा ।

उक्त प्रतिपादन से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि—'वर्ण के अतिरिक्त पद की कोई स्थिति नहीं है और वाक्य भी वर्ण और पद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है', क्योंकि पूर्वोक्त उक्तियों के आधार पर वर्णसमूहात्मक पद और पदसमूहात्मक वाक्य की सिद्धि हो जाती है ।

वैयाकरणों के मत के खण्डन के अवसर पर कहा गया है कि पदादि कुछ नहीं है, क्योंकि इनकी वर्णों से भिन्न अथवा अभिन्न भी उपलब्धि मानने पर विरोध उपस्थित हो जाता है । यदि ये वर्णों से भिन्न हैं तो उनकी अलग से प्रतीति होनी चाहिये । दृश्य होते हुए भी इस प्रतीति को अदृश्य मानने पर उसमें वाचकता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि दृश्य का ज्ञान नहीं होगा और बिना ज्ञान के उसे वाचक कैसे माना जा सकता है ? यदि इनको वर्ण से अभिन्न मानते हैं तो वर्ण के समान ही ये भी अवाचक माने जायेंगे । इसलिये ऐन्द्रियक (इन्द्रिय सम्बन्धी) विज्ञान विशेष से सम्बद्ध सभाग वासनोपादानक विकल्प से प्रतिभासित हो रहे विभ्रमात्मक पद की एकरूपता का बोध मिथ्या है, क्योंकि पद के साथ एकत्व और अनेकत्व दोनों का ही योग नहीं बन सकता । अनेक बुद्धि मानने पर उनसे क्रम से ग्रहण नहीं हो सकता । ग्राह्य वर्णों का क्रम से ग्रहण होता है, अतः यह एक बुद्धि का भी विषय नहीं हो सकता । वर्णों के क्रम का अनुभव होने पर पैदा होने वाला मनोविज्ञान उन वर्णों को पदादि के रूप में एकस्वभावतया परिकल्पित करता है, अतः ये परिकल्पित पदवाक्यादि मिथ्या ही माने जायेंगे । प्रश्न उठता है कि यदि भिन्न-भिन्न वर्णों का ही अनुभव होता है तो एक पद-वाक्यादि का अवभासक विकल्प कैसे उत्पन्न होता है ? यह उत्पन्न होता है, ऐसा देखा गया है, अतः यह मानना पड़ेगा कि वर्णों में एक पद, एक वाक्य आदि का अनुभव होता है । इसका उत्तर है कि इसकी उपपत्ति दूसरे रूप से भी हो सकती है । जैसे कि प्रतिपादक व्यक्ति संकेत काल में एक पदादि के रूप में प्रतिपन्न वर्णक्रम को ही अलग-अलग यह एक पद है, इस तरह से संकेतित करता है । इससे दूसरे व्यक्ति को भी उस वर्णक्रम में एक पद की अध्यारोपित बुद्धि उत्पन्न हो जाती है । इस एक पद की आरोपित

कारानुभवाहितसंस्कारस्य पुंसो व्यवहारकालेऽपि वर्णक्रमश्रवणादेकमिदं पदं वाक्यं वेत्येकाकारस्य विकल्पस्योत्पत्तिर्भवति। एवं पूर्वपूर्वश्रोतॄणां पूर्वपूर्ववक्तृभ्यो वर्णक्रमेष्वेवारोपेण प्रतीतिर्भवतीत्यनादित्वं पदादिव्यवहारस्य। अत एवोच्यते—अनादिभागवासनो विकल्पप्रतिभासविभ्रमः। पदं वाक्यं चैकावभासि मिथ्यैव। मिथ्यात्वं च भिन्नानां वर्णानाम्, एकपदादिरूपतया स्मरणज्ञाने प्रतिभासनात्, तावतश्चैकानेकत्वयोरविरोधेनायोगात्।

ननु गौरित्येकं पदमिति प्रत्यक्षग्राह्यमेवैकपदादीति कथं मिथ्येति, तदयुक्तम्, अनेकया वर्णक्रमग्राहिण्या बुद्ध्या क्रमेण ग्रहणायोगात्। एकत्वे ह्येकयैव सकृद् गृह्येत। एकवर्णग्रहणेऽप्यनेकबुद्धिव्यतिक्रमात् क्षणिकत्वाद् बुद्धीनाम्। क्षणस्य च परमाण्वतिक्रमकालत्वादाधिक्ये शक्यविभागस्य क्षणस्य कालपर्यवसानायोगात्। तेनैकस्य निष्कृष्टस्य वर्णस्यानेकक्षणेन निष्पत्तिः। स्मृतिरपि तत्कालैव यथानुभवं स्मरणात्। अनुभवस्मरणानुक्रमयोर्विशेषानुपलक्षणाद् नैकं पदादि। अत एव—'अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चरितं मतिः। यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम्॥ पृथक् च नोपलभ्यन्ते वर्णस्यावयवाः क्वचित्।' इत्यप्यपास्तम्, यथोक्तेन न्यायेन वर्णस्य सावयवत्वात्। न चैकया बुद्ध्या क्रमवतां वर्णभागानां ग्रहणम्, क्षणिकत्वाद् बुद्धीनाम्। नाप्यनेकमेव पदादि, अभेदप्रतिभासत्वाद् बुद्धेः। पदे वाक्ये चोच्चारिते एकमिदं पदं वाक्यमिति लोकमतिर्भवति। तेन 'शैघ्र्यादल्पान्तरत्वाच्च गोशब्दे सा भवेदपि। देवदत्तादिशब्देषु स्फुटो भेदः प्रतीयते॥' तदप्यपास्तम्, वर्णानुभवोत्तरकालमेकपदाद्यारोपिकाया बुद्धेरुपपत्तेः। पदाद्यनेकत्वस्य निषेत्स्यमानत्वात् तन्न वस्तु, एकानेकत्वायोगात्। वस्तु च सम्बन्धः, स कथं तदाश्रयः स्यात्।

आकार वाली बुद्धि से स्थापित संस्कार वाले पुरुष में भी व्यवहार करते समय वर्णों को क्रम से सुनने पर यह पद है, यह वाक्य है, इस तरह के एकाकार विकल्प की उत्पत्ति होती है। इस तरह से पूर्व पूर्व काल के श्रोताओं को उनके पूर्व पूर्व काल के वक्ताओं से वर्णक्रम में आरोपित पद-वाक्यादि की प्रतीति होती है, फलतः पदादि व्यवहार की अनादिता मानी जाती है। इसीलिये कहा जाता है कि यह सारा विकल्प रूप से प्रतिभासित हो रहा विभ्रम अनादि वासना से उत्पन्न होता है। पद और वाक्य का एकाकार प्रत्यय भी मिथ्या ही है। यह प्रतीति मिथ्या इसलिये है कि स्मरण ज्ञान में भिन्न-भिन्न वर्ण एक पद-वाक्यादि के रूप प्रतीत होते हैं। अनेक वर्ण और एक पद की, एक साथ अनेकत्व और एकत्व की अविरोध से एक स्थल पर स्थिति कैसे रह सकती है?

प्रश्न है कि 'गो' यह एक पद है, यहाँ पर एक पद की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है, इसको मिथ्या कैसे कह सकते हैं? उत्तर है कि यह प्रश्न ही गलत है, वर्ण के क्रम को ग्रहण करने वाली अनेक बुद्धि क्रम से उनका ग्रहण नहीं कर सकती। यदि वह एक है तो उसका एक बुद्धि से एक बार में ही ग्रहण (ज्ञान) होना चाहिये। बुद्धि क्षणिक मानी गई है, अतः एक वर्ण के ग्रहण में भी अनेक बुद्धियाँ बीत जाती हैं। क्षण तो परमाणु की तरह अत्यन्त सूक्ष्म है। इसको यदि इससे अधिक बड़े विभाग के रूप में माना जाय तो काल का कहीं पर्यवसान नहीं माना जा सकेगा। इसलिये एक निष्कृष्ट वर्ण की अनेक क्षण में निष्पत्ति माननी पड़ेगी। स्मृति का भी वही काल मानना पड़ेगा, क्योंकि अनुभव के अनुसार ही स्मृति मानी जाती है। अनुभव और स्मरण के इस अनुक्रम में किसी विशेष की प्रतीति न होने से पदादि की एकता नहीं मानी जा सकती। इसीलिये 'बहुत थोड़े से प्रयत्न में धीरे से उच्चरित शब्द को यदि बुद्धि ठीक से नहीं पकड़ पाती या सम्पूर्ण वर्णों को वह स्पष्ट नहीं सुन पाती तो उसको वर्णों के अवयव स्पष्ट प्रतीत नहीं हो पाते' इस कथन का खण्डन हो जाता है, क्योंकि ऊपर बताई पद्धति से वर्णों की सावयवता सिद्ध है। एक बुद्धि से क्रमवान् वर्ण के भागों का ग्रहण संभव नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धियाँ क्षणिक हैं। पदादि की अनेकता भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि पद आदि का एक रूप से ज्ञान होता है। पद अथवा वाक्य के उच्चारण करने पर यह एक पद है, यह एक वाक्य है, इस तरह से उनमें एकत्व की प्रतीति होती है। इसीलिये—'गो शब्द की लघुता के कारण उसका शीघ्र उच्चारण हो जाने से और दो वर्णों के उच्चारण में अधिक विलम्ब न लगने से उसमें एकत्व बुद्धि किसी प्रकार हो भी जाय, किन्तु देवदत्त प्रभृति बड़े शब्दों में इसका भेद स्पष्ट प्रतीत होता है' इस कथन का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि वर्णों के अनुभव (ज्ञान) के बाद के काल में एक पद का आरोप करने वाली बुद्धि (ज्ञान) हो सकती है। पदादि की अनेकता का निषेध किया जाता है, अतः ये वस्तुभूत नहीं हो सकते। इनका एकत्व और अनेकत्व से सम्बन्ध बन भी नहीं सकता। सम्बन्ध तो वास्तविक होता है। वह अवास्तविक वस्तु में कैसे रह सकता है?

अत्रोच्यते--मीमांसकनैयायिकादिमतरीत्या समाहितमेतत्, पङ्क्तिर्वनं सेना शतं सहस्रमित्यादिष्वनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वात्। अत एव वहुष्वेव वर्णेष्वेकार्थावच्छेदनिवन्धनौपचारिकी वनसेनादिवुद्धिवदेवैकत्वबुद्धिः। तदुक्तमेव भामतीकृता—'प्रत्येकवर्णानुभवजनितभावनानिचयलब्धजन्मनि निखिलवर्णावगाहिनि स्मृतिज्ञान एकस्मिन्नेव नासमानानां वर्णानां तदेकविज्ञानविषयतया नैकार्थधीहेतुतया वौपचारिकत्वमवगन्तव्यम्' इति।

वैयाकरणमतरीत्यापि एकैकवर्णप्रत्याहितसंस्कारवीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्येकविषयतया झटित्यवभासत इति रीत्या एकं वाक्यमेकं पदमिति प्रत्ययविषयतयाऽर्थाववोधकस्य स्फोटस्य सिद्धिः।

नागेशभट्टमतम्

अत्र नागेशभट्टः—'भिद्यमानात् पराद् विन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्। शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः॥' तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्तं मनोविषयः पश्यन्तीत्युच्यते। हृदयपर्यन्तमागच्छता हृदयदेशेऽभिव्यक्तं तत्तदर्थविशेषतत्तच्छब्दविशेषोल्लेखिन्या बुद्धया विषयीकृता परागम्या मध्यमेत्युच्यते। तदेवास्यपर्यन्तमागच्छता वायुना कण्ठदेशमागत्य मूर्धानमाहत्य परावृत्य तत्तत्स्थानेषु व्यक्तं वैखरी वागुच्यते। 'सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत्। ज्ञप्तिर्वभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः परम्॥ वक्त्रे विशुद्धचक्राख्ये वैखरी सा मता ततः।' तत्र मध्यमायां यो नादांशस्तस्यैव स्फोटात्मनो वाचकत्वम्, तस्य चेतनाचेतनमिश्रत्वात्। विमृश्यांशस्य वाच्यत्वं विमर्शकस्य ज्ञानस्य स्फोटत्वम्। तस्यैकैकवर्णव्यङ्ग्यत्वेऽप्यन्त्यवर्णव्यङ्ग्यस्य वोधकत्वम्। व्यञ्जकरूपप्रतिविम्बनात्

इस पूरे प्रकरण का समाधान इस तरह से है—मीमांसक, नैयायिक आदि के मत से इसका समाधान दिया जा चुका है कि पंक्ति, वन, सेना, शत, सहस्र आदि वस्तुओं का ज्ञान अनेक वस्तुविषयक होने पर भी एक पंक्ति (लाइन), एक वन, एक सेना इत्यादि रूप से एकाकार बुद्धि का विषय बनता है। इसी तरह वर्णों के अनेक होने पर भी एक अर्थ के निश्चायक होने के कारण उन्हें एक पद और एक वाक्य गौण रूप से कहा जाता है। जैसे—पंक्ति, वन, सेना, आदि में अनेक तत्त्वों के रहते हुए भी उन्हें एक-एक रूप से कहा जाता है। यही भामतीकार ने भी कहा है—'प्रत्येक वर्ण के अनुभव से पैदा हुए संस्कार समूह से उत्पन्न, अत एव निखिल वर्णों का अवगाहन करने वाले एक ही स्मृति ज्ञान में भासमान वर्णों की एक विज्ञानविषयता के कारण, अथवा अर्थ के ज्ञान के हेतु होने के कारण औपचारिक (लाक्षणिक = गौण) एकत्व जानना चाहिये।

वैयाकरणों के मत से भी एक-एक वर्णप्रत्यय (ज्ञान) से उत्पन्न संस्कार रूपी बीज में अन्त्य वर्णप्रत्यय के परिपाक हो जाने पर उसकी एक प्रत्ययविषयतया एकाएक प्रतीति होने लगती है। इस तरह से यह एक वाक्य है, एक पद है, इस तरह के प्रत्यय के रूप में अर्थवोधक स्फोट की सिद्धि होती है।

स्फोट सम्बन्धी नागेश भट्ट का मत

स्फोट के सम्बन्ध में नागेश भट्ट का कहना है कि—'भिद्यमान पर बिन्दु से अव्यक्त रूप नाद पैदा होता है। आगमों के विशारद विद्वान् इसको शब्दब्रह्म के नाम से जानते हैं'। वही नाद नाभि तक आते आते वायु के सम्पर्क से जब प्रकट होकर मन का विषय होता है तो उसको पश्यन्ती कहते हैं। हृदय देश तक आकर जब यहाँ पर यह अभिव्यक्त होकर उस उस अर्थविशेष और शब्दविशेष का उल्लेख करने वाली बुद्धि का विषय बनता है तो इसको मध्यमा कहते हैं। वही नाद जब मुँह तक आकर वहाँ पर वायु से सम्पर्कित होता है तो कण्ठ देश में आकर शिर की तरफ जाकर वहाँ से पुनः लौट आता है और उन उन कण्ठ, तालु आदि स्थानों में अभिव्यक्त होकर वैखरी वाणी के नाम से जाना जाता है। 'यह सारा जगत् पहले परावस्था में ज्ञानमात्र के रूप में विद्यमान रहता है। उसी को योगी जन परा वाणी कहते हैं। यह ज्ञान पहले पश्यन्ती और बाद में मध्यमा वाणी के रूप में परिणत होता है और जब मुँह में विशुद्धि चक्र में प्रवेश करता है तो उसको वैखरी वाणी कहते हैं'। यहाँ पर मध्यमा में जो नाद का अंश है, वही स्फोट रूप वाचक शब्द है। वह चेतन और अचेतन अंश से मिला हुआ होता है। इनमें विमृश्य अंश वाच्य और विमर्शक ज्ञान स्फोट कहलाता है। यह एक-एक वर्ण से व्यंग्य है, तो भी अन्तिम वर्ण ही व्यंग्य अर्थ का बोधक माना जाता है। व्यंजक का रूप इसमें प्रतिबिम्बित रहता

तद्रूपरूषितेव तदभिव्यक्तिः। सहस्रदीपाभिव्यक्तपटस्येवानेकजपाकुसुमाभिव्यक्तस्फटिकस्येव नानात्वाभाव इवोपाधि-नानात्वेऽपि स्फोटस्यानानात्वम्।

शब्दस्य क्षणिकत्वं क्षणस्थायित्वमित्यादौ क्षणशब्देन शब्दाधारः काल एव विवक्षितः, मुख्यक्षणस्या-प्रत्यक्षत्वात्, तदवच्छिन्नवर्णस्यापि अप्रत्यक्षत्वापाताच्च। तदेवेदमिन्द्रपदमिति प्रत्यभिज्ञया पदानामपि स्थायित्वनित्य-त्वादिकम्। वर्णपदोत्पत्त्यादिप्रतीतिस्तु तदभिव्यञ्जकनादवायूत्पत्त्यादिनिबन्धनौपाधिको भ्रान्तिरेव। न च प्रत्यभिज्ञानं तदेकजातीयबुद्धिविषयत्वेनैकबुद्धिविषयत्वेन वोपपद्यते, तज्जातीयमिदमित्यादिप्रतीत्यापत्तेः। नापि त एवेमे केशा इतिवत् तत्, एकैकबुद्धिविषयैरवयवैरेकः पट इति प्रतीत्युपपत्तौ तदतिरिक्तस्यावयविनोऽसिद्धचापत्तेः। भिन्नेषु शक्ति-ग्रहासम्भवः, गृहीतशक्तिकस्यैव बोधकत्वमिति नियमस्य सार्वभौमत्वात्। प्रविलीनसर्वजगत्कमायाविशिष्टात् परमेश्वराद् मायापुरुषयोराविर्भावः। न च मायापुरुषयोरनादित्वमेवेति वाच्यम्, 'अव्यक्तं निष्कले ब्रह्मन् ब्रह्मणि प्रविलीयते। तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम॥' इत्यादिभिस्तदुत्पत्तिप्रलयस्मरणात्। तद्द्वारैव तदुपाधिकस्य पुरुषस्यापि तदुपपत्तेः। तदुक्तं सूतसंहितायाम्—'ब्रह्मरूपात्मनस्तस्मादेतस्मात् शक्तिमिश्रितात्' इत्यादि।

ब्रह्मणि मायाया लयेऽपि न सर्वथाऽभानम्। प्रतिभासमात्रशरीरस्य मिथ्यावस्तुनोऽनवभासे तदभावस्यैवा-पत्तेः; किन्तु सुप्तेव तिष्ठति, कार्यप्रवृत्त्यभावात्। परमेश्वरस्यात्यन्तनिर्विकल्पकतया तद्बलाद् भासमानापि अभासमानप्रायैव। कालवशात् प्राप्तपरिपाकैः कर्मभिः स्वफलदानाय भगवतोऽबुद्धिपूर्विका मायापुरुषसृष्टिर्भवति। ततः परमेश्वरस्य सिसृक्षात्मिका मायावृत्तिर्जायते। तस्या मायावृत्तेस्त्रिगुणं विन्दुस्वरूपमव्यक्तं जायते। इदमेव

है। अतः व्यंजक के रूप से सम्बन्धित होकर ही वह प्रकट होता है। हजारों दीपकों से अभिव्यक्त (प्रकट) पट (वस्त्र) जैसे एक ही है, अनेक जपा कुसुमों में अभिव्यक्त स्फटिक जैसे एक ही है, वैसे ही अनेक वर्णों से अभिव्यक्त होकर भी यह एक ही है। इसमें जो भेद की प्रतीति होती है, वह उपाधि के भेद के होने के कारण होती है, अतः स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं है।

शब्द क्षणिक है, क्षण स्थायी है, इत्यादि स्थलों में क्षण शब्द से शब्द का आधार काल ही विवक्षित है, क्योंकि ऐसा न मानने पर मुख्य क्षण का प्रत्यय (ज्ञान) न होने से उसके क्षण से संबद्ध वर्ण का भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा। यह वही इन्द्र पद है, इस तरह की प्रत्यभिज्ञा के आधार पर पदों का भी स्थायित्व और नित्यत्व मान्य है। वर्ण, पद आदि की उत्पत्ति तो उसके अभिव्यंजक नादवायु की उत्पत्ति के कारण औपाधिक भ्रान्तिमात्र है। तदेकजातीय बुद्धि का विषय होने से अथवा एक बुद्धि का विषय होने से प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय (ज्ञान) की उपपत्ति नहीं बताई जा सकती, क्योंकि उस परिस्थिति में यह तज्जातीय है, इस प्रकार की प्रतीति माननी पड़ेगी। ये वही केश हैं, इस तरह की प्रतीति भी यह नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसी अवस्था में एक एक बुद्धि के विषय अवयवों से यह एक पद है, इस तरह की प्रतीति की उपपत्ति हो जाने पर तदतिरिक्त अवयवी ही असिद्ध हो जायगा। यह सार्वभौम नियम है कि विभिन्न पदों में शक्तिग्रह नहीं होता और जब तक शक्तिग्रह नहीं होता, तब तक उनमें बोधकता नहीं मानी जा सकती। जिसमें सारा जगत् छिपा हुआ है, ऐसी माया से विशिष्ट परमेश्वर से ही माया और पुरुष का आविर्भाव होता है। माया और पुरुष (जीव) की अनादिता नहीं मानी जाती, क्योंकि—'हे ब्रह्मन्, अव्यक्त निष्कल ब्रह्म में विलीन हो जाता है। हे द्विजसत्तम, उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न होता है' इत्यादि स्थलों में उनकी उत्पत्ति और प्रलय का वर्णन किया गया है। अव्यक्त के माध्यम से ही तदुपाधिक पुरुष की भी ऐसी ही स्थिति माननी पड़ेगी। जैसा कि सूतसंहिता में कहा गया है—'शक्ति से मिश्रित ब्रह्मस्वरूप इस आत्मा से अव्यक्त जीव आदि का प्राकट्य हुआ।'

ब्रह्म में माया का लय हो जाने पर भी उसका ज्ञान न होता हो सो बात नहीं है, क्योंकि प्रतिभासमात्र स्वभाव वाली मिथ्या वस्तु का यदि अवभास भी न हो तो उसका अभाव ही मानना पड़ जायगा। किन्तु यह माया उस स्थिति में सोयी हुई सी रहती है, क्योंकि उस समय वह कार्य में व्यापृत नहीं रहती। परमेश्वर तो अत्यन्त निर्विकल्पक है, अतः उसकी सहायता से इसका आभास होना न होने के बराबर है। काल के कारण कर्मों का परिपाक होने पर उनके फल देने के लिये भगवान् की अबुद्धिपूर्वक माया-पुरुष की सृष्टि में प्रवृत्ति होती है। इसके बाद परमेश्वर की सिसृक्षात्मिका (सृष्टि को उत्पन्न करने की इच्छा स्वरूपा) माया

शक्तितत्त्वम् । तस्य विन्दोरचिदंशो वीजम्, चिदचिन्मिश्रो नादः, चिदंशो विन्दुः । अचिच्छब्देनाभिधानाभिधेयसंस्कार-रूपाऽविद्या । तस्माद् विन्दोः शब्दब्रह्मरूपं वर्णादिविशेषरहितं ज्ञानप्रधानं सृष्ट्युपयोग्यवस्थाविशेषरूपं चेतनमिश्रं नादमात्रमुत्पद्यते । एतदुपादानमेव परादिशब्दैर्व्यवह्रियते । तदुक्तम्—'विन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत् । स एव श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते ।।' इति, 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' इति श्रुतेः ।

सर्वगतमप्येतत् प्राणिनां मूलाधारे संस्कृतपवनेनाभिव्यज्यते । ज्ञातार्थविवक्षया पुंसः प्रयत्नेन मूलाधारस्थ-पवनसंस्कारः । तदभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठितया निःस्पन्दं परा वागित्युच्यते । 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।' (वा० प० १।१) । 'सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् । आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्विन्दुसमुद्भवः ।। परशक्तिमयः साक्षात् त्रिधासौ भिद्यते पुनः । विन्दुर्नादो वीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः ।। विन्दुः शिवात्मको वीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः । समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ।। रौद्री विन्दोस्ततो नादात् ज्येष्ठा वीजादजायत । वामा ताभ्यः समुत्पन्ना रुद्रब्रह्मरमाभिधाः ।। सज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वह्नीन्द्वर्कस्वरूपिणः' । येन क्रमेण चित्ते संस्कारस्तेनैव क्रमेण व्यञ्जकरूपरूषितता तस्येति स्वोकारात् 'सर' 'रस' इति नानयोरविशेषः । तदुत्तरत्वग्रहश्चित्तभित्तौ देशिक एव । अयं चानन्तरत्वात् श्रोत्रग्राह्यवैखरोसंस्कृतान्तःकरणग्राह्य-व्यञ्जकरूपरूषितस्य तस्यैवार्थे सङ्केतग्रहः । अत एव घटकलशादिपर्यायाभिव्यक्ते स्फोटे गृहीतशक्तिकस्यापि पुंसोऽप्र-सिद्धपदश्रवणे नार्थवोधः । वाय्वादिपरिणामरूपा कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्या वैखरी ।

की वृत्ति उत्पन्न होती है । उस माया की वृत्ति से त्रिगुणात्मक सत्व, रज, तमोरूप विन्दुस्वरूप अव्यक्त उत्पन्न होता है । इसी को शक्ति तत्त्व कहते हैं । उस शक्ति तत्त्व का अचित् (अचैतन्य, जड़) अंश वीज, चिदचिन्मिश्रित (चैतन्य और अचैतन्य) अंश नाद और चिदंश (चैतन्य अंश) विन्दु कहलाता है । अचित् शब्द से अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) के संस्कार वाली अविद्या कही जाती है । उस विन्दु से शब्दब्रह्म स्वरूप वर्णादि विशेष रहित ज्ञानप्रधान सृष्टि के लिये उपयोगी अवस्था से युक्त चेतनमिश्रित नाद मात्र की उत्पत्ति होती है । कारण रूप यह नाद ही परा वाणी प्रभृति शब्दों से अभिहित होता है (कहा जाता है) । जैसा कि कहा गया है—'उस भिद्यमान विन्दु से अव्यक्त स्वभाव का रव अर्थात् नाद उत्पन्न होता है । इसी को वेद के विद्वान् शब्दब्रह्म के नाम से जानते हैं' । 'यह वाणी ही सारे भुवनों की सृष्टि करती है' यह श्रुति भी है ।

यह शब्द सर्वत्र व्याप्त है, तो भी प्राणियों के मूलाधार में संस्कार विशिष्ट पवन के द्वारा अभिव्यक्त (प्रकट) होता है । पुरुष जब अपने जाने हुए अर्थ को कहना चाहता है तो उस समय उसके प्रयत्न से मूलाधार स्थित पवन का संस्कार होता है । इससे अभिव्यक्त शब्दब्रह्म अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने से निस्पन्द रहता है, इसी को परा वाक् कहते हैं । 'अनादि और अनिधन (अनन्त) अक्षर (अविकारी) ब्रह्म शब्दतत्त्वात्मक है, यह जब अर्थ (वस्तु) रूप से विवर्त को प्राप्त होता है तो जगत् की यह सारी प्रक्रिया इसी से चल पड़ती है ।' 'सत्, चित्, आनन्द स्वरूप सकल परमेश्वर से पहले शक्ति, बाद में नाद और उससे विन्दु की उत्पत्ति हुई । यह परा शक्तिस्वरूप साक्षात् भगवान् पुनः तीन तरह से विभक्त होता है । उसके ये भेद बिन्दु, नाद और बीज कहलाते हैं । इनमें विन्दु शिवात्मक, बीज शक्तिस्वरूप और नाद इनका परस्पर समवाय (संवन्ध) कहलाता है । यह मत सभी आगमों (तन्त्रशास्त्र) के विशारदों का है । विन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा ये तीन शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं । और इन्हीं से रुद्र, ब्रह्मा, रमा स्वरूप ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो कि क्रमशः वह्नि, इन्दु (चन्द्र) और अर्क (सूर्य) स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती हैं' । जिस क्रम से चित्त में संस्कार उत्पन्न होता है, उसी क्रम से वह व्यंजक के रूप से संवलित होता है, ऐसा मानने से सर और रस शब्द की परस्पर समानता नहीं मानी जाती, क्योंकि सर और रस शब्दों में वर्ण एक होते हुए भी उनका क्रम भिन्न है । चित्तभूमि में इस क्रम का ज्ञान उपदेश द्वारा ही होता है । उपदेश की अवस्था के तुरन्त बाद श्रोत्रग्राह्य वैखरी वाणी से अन्तःकरण के संस्कृत होने पर उससे गृहीत (ज्ञात) हो रहे व्यंजक के रूप से संवलित होकर यह संकेत ग्रहण में समर्थ हो जाता है । इसीलिये घट, कलश आदि पर्यायवाची शब्दों से अभिव्यक्त स्फोट में पुरुष के शक्तिग्रह हो जाने पर भी अप्रसिद्ध शब्द को सुनने पर उसके अर्थ का

'अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मो वागात्मनि स्थितः। व्यक्तये स्वस्वरूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥' अनया रीत्या साधिष्ठानं सचिदाभासमन्तःकरणमेव मनोवाय्वादिद्वारा शब्दत्वेन विवर्तते। पातञ्जले व्यासभाष्ये तु वागिन्द्रियं वर्णेष्वेवार्थवत्। श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्। ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियादावुदानवायोरभिघाताज्जायमान उदानवायोराकाशस्य परमाणूनां वा परिणामभेदः। स च वर्णरूपोऽप्यवाचकत्वाद् ध्वनिरिति तद्व्याख्यातारः। यथा ज्वालारूपे ज्योतिरविच्छेदेनोत्पद्यमानं सन्ततं, तथोपाध्यायज्ञानानि भिन्नशब्दरूपतामापन्नानि संततानीति स्पष्टम्। तदुक्तमेव—'वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।' वायोः प्राणवायोः, परमाणूनां शब्दतन्मात्रारूपाणामित्यर्थः। 'अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः' इति हरिः। 'लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना। स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते ॥' इत्यपि स एव। छायातपतमांस्यपि शब्दवत्परमाणुपरिणामभूतानि। तदप्युक्तम्—'अणवः सर्वशक्तित्वात् भेदसंसर्गवृत्तयः। छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः ॥' परमाणूनां विलक्षणसम्बन्धाद् भिन्नभिन्नकार्योपपत्तिरित्यर्थः। 'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। वर्णान् जनयते ······ ॥' (पा० शि० ६।९)। पराख्यमन्तःस्थितं शब्दं वर्णत्वेनाभिव्यनक्तीति भावः। अन्तःकरणपरिणामरूपा परा वृत्तिः। साभासमन्तःकरणं मनः प्रेरयति तद्देहस्थमग्निम्।

ज्ञान नहीं होता। यहाँ चर्चित वैखरी वाणी वायु प्रभृति के परिणाम स्वरूप जो कण्ठ, तालु आदि स्थानों का अभिघात (धक्का) होता है, उससे उत्पन्न होती है।

'यह आन्तर ज्ञाता ही सूक्ष्म परा वाक् के रूप में अवस्थित रहता है। यह अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) के लिये शब्द का रूप ले लेता है' इस श्लोक में बताई पद्धति से साधिष्ठान (अधिष्ठान सहित) सचिदाभास (चेतन प्रतिबिम्ब सहित) अन्तःकरण ही मन, वायु आदि की सहायता से शब्द का रूप ले लेता है। पातंजल योगसूत्र के व्यास भाष्य में बताया गया है कि वर्णों में ही वागिन्द्रिय (वाणी) की प्रवृत्ति होती है और श्रोत्र केवल ध्वनि के परिणामों को अपना विषय बनाता है। वागिन्द्रिय आदि में उदानवायु के अभिघात (धक्के) से उत्पन्न हुआ उदान वायु का, आकाश का अथवा परमाणुओं का परिणाम विशेष ही 'ध्वनि' कहलाता है। व्यास भाष्य के व्याख्याकारों का कहना है कि यह ध्वनि वर्णरूप होते हुए भी वाचक न होने से इस नाम से अभिहित होता है। जैसे ज्वाला के रूप में ज्योति के निरन्तर उत्पन्न होने से उसकी सन्तति (लौ) कहलाती है, उसी तरह से उपाध्याय के ज्ञान से विभिन्न शब्दों की निरन्तर सृष्टि होते रहने से शब्द की भी सन्तति मानी जाती है। जैसा कि कहा गया है—'वायु, परमाणु और ज्ञान ही शब्द का रूप धारण कर लेते हैं'। यहाँ पर वायु शब्द से प्राण वायु का और परमाणु शब्द से शब्दतन्मात्रा का ग्रहण किया जाता है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का कहना है कि —'शब्द रूपी परमाणु उसी तरह से बढ़ते चले जाते हैं, जैसे नभोमण्डल में मेघों का संचय होता है'। उनका यह भी कहना है कि—'वक्ता की इच्छा के कारण उसके प्रयत्न से क्रियाशील होकर वायु विभिन्न स्थानों में टकराकर शब्द के रूप को धारण कर लेता है'। छाया, आतप, अन्धकार भी शब्द की तरह ही परमाणुओं के परिणाम है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—'इन परमाणुओं में सभी तरह की शक्ति निहित है, अतः इनका भिन्न-भिन्न स्वभाववाली वृत्तियों से सम्पर्क होने पर छाया, आतप, तम आदि शब्दों के रूप में भी परिणाम होता रहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमाणुओं के विलक्षण सम्बन्ध के कारण भिन्न-भिन्न स्वभाव के कार्यों की उत्पत्ति होती है। पाणिनि शिक्षा में भी बताया गया है कि—'आत्मा जब बुद्धि के सम्पर्क में आता है तो वह अर्थों का प्रतिपादन करने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है। मन शरीर स्थित अग्नि को झकझोरता है और इससे शरीर स्थित प्राण वायु प्रेरित होता है। वह ऊपर की तरफ उठता है और वहाँ पर शिर से टकराकर लौटता हुआ मुँह के पास पहुंचता है। यहाँ पर उसके विभिन्न स्थानों से टकराने के कारण वर्णों की उत्पत्ति होती है'। इसका अभिप्राय यह है कि परा वाणी के रूप में अन्तः स्थित शब्द को वह प्राण वायु वर्णों के रूप में अभिव्यक्त (प्रकट) करता है। परा वाणी की ही अन्तःकरण के परिमाण रूप वृत्ति होती है। उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन सहित अन्तःकरण मन को प्रेरित करता है। वह शरीर स्थित अग्नि को और यह अग्नि वायु को ऊपर ले जाकर मुखादि में ध्वनि के रूप में अभिव्यक्त कर देता है। जैसा कि इस श्लोक में प्रतिपादित है—'कर्ता पहले सभी प्रकार की

स वायुरूर्ध्वं गच्छन् मुखादिषु ध्वनिं जनयति। तदुक्तम्—'बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तन्वन्नीतिः। शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्॥' (म० भा० १।४।१०९) इति। बुद्धिविषयमेव शब्दानां पौर्वापर्यमित्यर्थः। अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रयोक्तव्यः, अस्मिंश्च शब्देऽयं तावद् वर्णः।' ततोऽयं ततोऽयमिति प्रेक्षापूर्वकारी पश्यति। महाभाष्यकृता स्वाभिप्रायोऽप्युक्तः। 'तद्यथा कश्चित् कञ्चिदुपदिशति प्राचीनं ग्रामादाम्रा इति। तस्य सर्वत्राम्रबुद्धिः प्रसक्ता। पश्चादाह—ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधाः। स तत्राम्रबुद्धया न्यग्रोधबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्धया आम्रांश्चापकृष्यमाणान् न्यग्रोधांश्चापधीयमानान्। नित्या एव स्वस्मिन् विषये आम्रा नित्याश्च न्यग्रोधाः। बुद्धिस्तस्य विपरिणम्यते।

अयं च शब्दस्तत्तत्प्राणिहृदयदेशस्थः सर्वसमष्टेर्विराड्हृदयरूपबाह्याकाशदेशस्थः। स च लाघवादेको विभुः। यथैकत्र श्वेतद्रव्ये रूपं व्यापकं तथा शब्दस्याप्याकाशव्यापकत्वम्। अत एव मीमांसामते मन्त्रातिरिक्ताया देवताया अनभ्युपगमात्। शाब्दिकमतेऽपि शब्दार्थयोरभेदो मन्त्रस्य देवतारूपत्वात्। इन्द्रशब्द एव देवता। स चेन्द्रशब्दः क्रतुशते प्रादुर्भूतो युगपत्सर्वयागेष्वङ्गं भवति। कत्वादिनाभिव्यक्तः श्रोत्रग्राह्यः पदादिरूपेण बुद्धिग्राह्यः श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्द इति महाभाष्यात्। न्यायनये तु कदम्बमुकुलवीचीतरङ्गादिन्यायेनानन्तशब्दजशब्दानां तत्प्रागभावप्रध्वंसानां च प्रत्यक्षानुपपत्त्या तत्कल्पने गौरवमेव। तन्मते यथा किञ्चिद् दूरदेशपर्यन्तमेव तदुत्पत्तिस्तथैव वैयाकरणादिमते तावद् दूरदेशपर्यन्तमेव तदभिव्यक्तिः। स्फटिकादीना-

चेष्टाओं को अपनी बुद्धि में नापता-तौलता है, बाद में वह धैर्यपूर्वक उनका विस्तार करता है। शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, ऐसा देखकर वह अपनी बुद्धि में उनके पूर्वापर क्रम को स्थापित कर लेता है' इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्दों का पौर्वापर्य क्रम बुद्धि का ही विषय है। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करना चाहिये और इस शब्द में इस वर्ण का प्रयोग होना चाहिये, तथा इनका क्रम हम इस तरह से रहना चाहिये, यह सब बात सावधानी से कार्य करने वाला व्यक्ति अपनी बुद्धि से ही सोचता है। महाभाष्यकार ने यहाँ पर अपना अभिप्राय इस तरह से बतलाया है—'जैसे कोई किसी को बताता है कि ग्राम की पश्चिम दिशा में आम्र वृक्ष विद्यमान हैं तो सुनने वाले को पश्चिम दिशा के सभी वृक्षों में आम्र बुद्धि होने लगती है। बाद में जब कहता है कि जिनमें से दूध निकलता है, तनों से जटाएँ नीचे की ओर झुकी हुई हैं और जिनके पत्ते बड़े-बड़े होते हैं, वे वृक्ष न्यग्रोध (वट = बरगद) कहलाते हैं, तो ऐसे वृक्षों में आम्रबुद्धि को हटा कर न्यग्रोध बुद्धि रखता है। इसके बाद वह स्वयं ही अपकृष्यमाण आम्रों को और अपधीयमान न्यग्रोधों को पहचान लेता है। वस्तुतः अपने विषय में आम्र और न्यग्रोध शब्द तो नित्य वर्तमान है, किन्तु मनुष्य की बुद्धि उपदेश के अनुसार बदलती रहती है।

यह शब्द उस-उस प्राणी के हृदय देश में स्थित रहता है और सर्व प्राणियों की समष्टि स्वरूप विराट् के हृदय भूत बाह्य आकाश में रहता है। लाघव के कारण इसको एक और व्यापक माना जाता है। जैसे एक श्वेत द्रव्य में सफेद रूप गुण व्यापक रूप से रहता है, उसी तरह से शब्द भी आकाशस्वरूप द्रव्य शब्द रूप गुण में व्यापक रूप से रहता है। इसीलिये मीमांसकों के मत में मन्त्र से अतिरिक्त भिन्न कोई देवताओं का रूप या आकार नहीं माना जाता। शाब्दिक के मत में भी शब्द और अर्थ में अभेद माना माना जाता है, क्योंकि मन्त्र देवता स्वरूप ही है। इन्द्र शब्द ही देवता है। यह इन्द्र शब्द ही सौ यज्ञों में प्रादुर्भूत होकर एक ही समय में एक साथ सभी यागों का अङ्ग हो जाता है। महाभाष्य में कहा गया है कि यह शब्द कत्वादि (क ख ग आदि) के रूप में अभिव्यक्त (प्रकट) श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य पद, वाक्य आदि के रूप में जाना जाने वाला है, श्रोत्र से उपलब्ध होने वाला, बुद्धि द्वारा निश्चित स्वरूप, वक्ता प्रयोग से जाज्वल्यमान आकाश का विशेष प्रदेश ही शब्द है। न्यायमत में कदम्बगोलकन्याय (कदम्ब पुष्प की कली में विद्यमान अनेक कलियों की तरह) से अथवा वीचीतरङ्ग न्याय (तरङ्ग में विद्यमान अनेक तरङ्गों की तरह) से अनन्त शब्दों से उत्पन्न हुए अनन्त शब्दों का और उनके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव आदि का प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता, अतः इनकी कल्पना में गौरव ही है। नैयायिकों के मत में जैसे कुछ दूर तक की उन शब्दों की उत्पत्ति मानी जाती है, उसी पद्धति से वैयाकरणों के मत में कुछ दूर तक ही

मुपाधिमन्तराप्युपलम्भकसामग्रीसत्त्वाद् उपलब्धिः, शब्दस्य तूपाधेरेवोपलम्भकसामग्रीत्वान्न तदन्तरोपलब्धिः। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोरूपेण श्रोत्रेण स्वसमवेतशब्दग्रहः। अस्मिन्मत आकाशदेश एव शब्दो न त्वाकाशगुणः, शब्दाधारत्वेनैवाकाशसिद्धेः। तदुक्तम्—'आधारशक्तिः प्रथमा सर्वसंयोगिनामयम्। इदमत्रेति भावानामभावानां च कल्पते ॥ व्यपदेशस्तमाकाशनिमित्तं तु प्रचक्षते। कालात्क्रिया विभज्यन्ते आकाशात्सर्वमूर्तयः। एतावानेव भेदोऽयमभेदोपनिबन्धनः ॥' (वा० प० ३।४-६) इति।,

इदं नक्षत्रचक्रमत्र तिष्ठति, अत्रैतदभावः, पृथिव्यादीनामपि परमाणुद्वारा तस्यैवाधारत्वात्। सिद्धस्वभावस्याकाशाधारत्वम्, साध्यस्वभावक्रियाविषयस्य कालाधारत्वम्। अन्ये तु नभोऽधिष्ठानकस्याहङ्कारिकधर्मविशेषस्यैव श्रोत्रत्वम्, तथैव पृथ्वीजलतेजोवाय्वधिष्ठानकान्याहङ्कारिकाण्येव अन्यान्यपीन्द्रियाणि। अत एव योगीन्द्रियाणामत्यन्तदूरदेशस्थविषयोपलब्धिजनकत्वम्, पृथिव्यादिविकाराणां तदसम्भवात्। अहङ्कारविकारस्यान्तःकरणस्य बहुदूरगमनस्यानुभवसिद्धत्वाद् नाहङ्कारविकाराणामिन्द्रियाणां तदसम्भवः। तथा च श्रोत्रमेव चित्तवृत्तिसहकृतं स्ववृत्तिपरम्परया शब्ददेशमागतं शब्दं गृह्णाति।

केचित्तु—अणूनां सर्वशक्तीनां सर्वदेशव्यापितया तेजोनभआदिपरमाणूनां विषयदेशपर्यन्तं तत्तदिन्द्रियस्य तत्तद्विषयौन्मुख्ये तत्तदिन्द्रियरूपेण परिणामात् तत्तद्देशे प्रत्यक्षम्। परं तन्मतेऽपि शब्दस्याकाशदेशत्वमेव सिद्धयति। अनन्तश्रोत्रवृत्त्यनन्तपरमाणुकल्पनापेक्षया कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नस्यैकस्य श्रोत्रस्य कल्पने लाघवमेव। शब्दस्य चैकस्य

उनकी अभिव्यक्ति मानी जाती है। स्फटिकादि की उपलम्भक सामग्री की विद्यमानता में बिना उपाधि के भी उपलब्धि होती है, किन्तु शब्द में तो उपाधि ही उपलम्भक सामग्री है, अतः बिना उपाधि के शब्द की उपलब्धि (ज्ञान) नहीं हो सकती। कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न (सम्बद्ध) आकाशरूप श्रोत्रेन्द्रिय से अपने में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान शब्द को ग्रहण होता है। इस मत में आकाश देश में शब्द केवल विद्यमान रहता है, वह आकाश का गुण नहीं है। शब्द के आधार के रूप में आकाश की सिद्धि होती है। जैसा कि कहा गया है—'यह आकाश सभी संयोगी पदार्थों की आधार शक्ति है। इसी में यह पदार्थ यहाँ इस आकाश प्रदेश में है, इस तरह से इसी में न केवल भावों की, किन्तु अभावों के भी निवास की कल्पना होती है। यह सब आकाश के कारण होता है। काल से क्रियाओं का विभाग होता है और आकाश से सभी मूर्त पदार्थों का, आकार वाली वस्तुओं का। इन दोनों का यह इतना सा भेद भी अभेदमूलक ही है।

यह नक्षत्रचक्र यहाँ विद्यमान है, यहाँ पर इसका अभाव है, यह सब व्यवहार आकाश में ही कल्पित होता है। परमाणु के द्वारा पृथिव्यादि का भी आकाश ही आधार है। सिद्धस्वभाव वस्तु आकाश में रहती है और साध्य (निर्माणाधीन) स्वभाव वाली क्रिया के विषय की काल में स्थित रहती है। अन्य दार्शनिकों के मत से नभ (आकाश) जिसका अधिष्ठान है, ऐसा आहङ्कारिक धर्म विशेष ही श्रोत्र है। इसी तरह से पृथ्वी, जल, तेज और वायु की अधिष्ठानभूत अन्य इन्द्रियाँ भी आहंकारिक ही हैं। इसीलिये योगी जनों की इन्द्रियाँ अत्यन्त दूर देश स्थिति वस्तु का भी ग्रहण कर लेती हैं, यदि इनको पृथिवी प्रभृति का विकार माना जाय तो यह सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी गति दूर तक नहीं हो सकती है। आहङ्कारिक अन्तःकरण बहुत दूर तक चला जाता है, यह बात अनुभव सिद्ध है। उसी तरह से इन्द्रियों को भी अहङ्कार के विकार मानने पर यह असम्भव नहीं है। इस तरह से श्रोत्र ही चित्त की वृत्ति के साथ अपनी वृत्ति परम्परा को मिलाकर व्यापक आकाश के रूप में शब्द की अभिव्यक्ति के स्थान पर रहता हुआ शब्द का ग्रहण करता है।

अन्य दार्शनिकों का कहना है कि सभी प्रकार की शक्ति से संपन्न परमाणु सर्वत्र व्याप्त हैं, अतः तेज, आकाश आदि के परमाणुओं के विषय देश पर्यन्त उस उस इन्द्रिय की अपने अपने विषय के प्रति उन्मुखता होने पर उस उस इन्द्रिय के रूप में परिणत होने से उस उस देश में उस उस इन्द्रिय के विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। किन्तु उनके मत में भी शब्द की आकाशदेशता ही सिद्ध होती है। अनन्त श्रोत्र वृत्तियाँ और अनन्त परमाणुओं की कल्पना के बजाय कर्णशष्कुली रूप उपाधि वाले एक श्रोत्र की

विभोस्तत्तद्देशव्याप्यभिव्यक्तिमतश्च तेन ग्रहणमिति तत्तद्देशवर्तित्वानुभवोऽपि न विरुद्धयते। घटाकाशमहाकाशादिवदौपाधिकं भेदमाश्रित्य जात्यादिव्यवहारोऽपि युक्त एव। अगृहीतसम्बन्धैरपि वर्णैः स्फोटव्यक्तिः, अत एवागृहीतार्थकेऽपि इदमेकं पदमित्यनुभवः।

परे तु—वर्णानां नित्यत्वविभुत्वैकत्ववत्तदवयवकपदादेरपि नित्यत्वादिकं मन्यन्ते। कण्ठताल्वाद्यभिघातस्य च तद्व्यञ्जकत्वमेव। ननु कालभेदेन तद्घटितानुपूर्व्या भेदादानन्त्यादिकमेवेति चेन्न, देशभेदेऽपि पटादीनामभेदस्येव कालभेदेऽपि तद्घटितानुपूर्व्या अभेदोपपत्तेः। यथा प्रयागवृत्तित्ववैशिष्ट्येन दृष्टस्यैव शाटकस्य काशीवृत्तित्ववैशिष्ट्येन दर्शनेऽपि तदेवेदं शाटकमिति प्रत्यभिज्ञानं जायते, तथैव कालभेदेऽपि आनुपूर्व्या अभेदो युज्यते, तदेवेदमिन्द्रपदमिति प्रत्यभिज्ञादर्शनात्। तदुक्तं हरिणा—'प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानाद् वर्णैकत्वं प्रतिष्ठितम्। वर्णात्मकं पदं तच्च तदभेदान्न भिद्यते॥' इति। दिनान्तरानुभूतेऽधुनानुभूयमानस्य सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञया तावत्कालं स्थिरत्वे सिद्धे 'तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति' इति न्यायादाशुविनाशित्वव्यतिरेके सिद्धे नित्यत्वपर्यवसानम्। सर्वदेशेषूपलम्भाद् विभुत्वं लाघवाच्चैकत्वम्। ननु चैवं नित्यत्वविभुत्वाभ्यां कथं तदव्यवहितोत्तरक्षणोत्पत्तिकत्वरूपानुपूर्वी सेत्स्यतीति चेन्न, उत्पत्त्यनवच्छिन्नस्वज्ञानाधिकरणकालोत्पत्तिकज्ञानविषयत्वस्यैवानुपूर्वीपदार्थत्वात्। तथा चोत्पत्त्यनधिकरणीभूतो यो 'घ'ज्ञानाधिकरणकालस्तत्कालोत्पत्तिकं यत् 'ट'ज्ञानं तद्विषयत्वम्। तादृशं चाव्यवहितोत्तरत्वं टादौ सुलभमेव।

कल्पना में लाघव ही है। इस मत में शब्द एक और विभु माना जाता है तथा उसकी उस उस देश में अभिव्यक्ति मानी जाती है, अतः उस उस देश में उसकी स्थिति की अनुभूति अनुभवविरुद्ध नहीं मानी जा सकती। घटाकाश, महाकाश की तरह औपाधिक भेद का आश्रय लेने पर इसमें जाति आदि के व्यवहार की भी उपपत्ति हो सकती है। संबन्ध के गृहीत न होने पर भी वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति की तरह अर्थ के गृहीत न होने पर भी यह एक पद है, इस तरह का अनुभव होता है।

अन्य विशिष्ट विचारकों का तो मत है कि वर्णों की नित्यता, विभुता (व्यापकता) और एकता की तरह वर्ण अवयव वाले पद, वाक्य आदि भी नित्य, व्यापक और एक हैं। कण्ठ, तालु आदि के अभिघात से वे केवल प्रकट होते हैं, पैदा नहीं। प्रश्न है कि जब काल के भेद से तद्घटित आनुपूर्वी का भी भेद है, तो इन शब्दों को अनन्त मानना ही ठीक है। उत्तर है कि देश का भेद रहने पर भी जैसे पटादि में भेद की प्रतीति नहीं मानी जाती, उसी तरह से काल का भेद होने पर भी तद्घटित आनुपूर्वी में अभेद बुद्धि की उपपत्ति हो सकती है। जैसे प्रयाग में किसी विशिष्टता से युक्त देखी गई साड़ी काशी में भी उसी विशेषता से संयुक्त देखी जाती है और पहचानी जाती है कि यह वही साड़ी है, उसी तरह से काल के भेद के रहने पर भी आनुपूर्वी का अभेद युक्तिसंगत है। यह यही इन्द्र पद है, इस तरह की प्रत्यभिज्ञा का स्पष्ट दर्शन होता है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—'प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा के आधार पर वर्ण की एकता सिद्ध होती है। पद भी वर्णात्मक ही है, अतः उससे अभिन्न होने से यह भी वर्ण की तरह एक ही है, भिन्न नहीं।' कई दिनों पहले अनुभव में आ चुकी वस्तु के फिर कई दिनों बाद अनुभव में आने पर यह वही है, इस प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के बल पर इतने समय तक यदि स्थिरता सिद्ध हो गई तो फिर 'इतने समय तक स्थिर रूप में सिद्ध पदार्थ को बाद में कौन नष्ट कर सकता है' इस न्याय के अनुसार क्षणमात्र में नष्ट हो जाने वाली वस्तुओं से भेद के सिद्ध हो जाने पर अन्त में उन्हें नित्य ही मानना पड़ेगा। सभी देशों में उपलब्धि होने से इसमें विभुता (व्यापकता) और लाघव के कारण एकता की भी सिद्धि हो जायगी। यहाँ पर शंका उठती है कि इस तरह से नित्यता और विभुता के रहते अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पन्न होने वाली आनुपूर्वी किस तरह से संभव हो सकेगी। इस शंका का समाधान यह है कि आनुपूर्वी पद का अर्थ केवल यह है कि वह अपनी उत्पत्ति से अनवच्छिन्न अपने ज्ञान के अधिकरणभूत काल में उत्पन्न ज्ञान का उसी क्रम से विषय होती है। जैसे कि उत्पत्ति जिसकी नहीं होती ऐसे 'घ' के ज्ञान का अधिकरण (आश्रय) जो काल, उसी काल में उत्पन्न होने वाला जो 'ट' का ज्ञान, वही उस आनुपूर्वी का विषय है। इस तरह की अव्यवहित उत्तरकालता 'ट' आदि में सुलभ होती है।

ननु ज्ञानस्य तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वेनानित्यत्वाद् ज्ञानानामानन्त्येनानुपूर्व्या अप्यानन्त्यमेवेति चेन्न, धारावाहिकज्ञानस्थले ज्ञानस्य दीर्घकालस्थायित्ववद् आनुपूर्वीघटकवर्णविषयकज्ञानानामपि चरमवर्णज्ञानक्षण-पर्यन्तस्थायित्वाभ्युपगमेनादोषात् । न चैवमपि स्वविरोधिज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तमेव ज्ञानस्य स्थितत्वेनानित्यतया आनुपूर्व्याः पुनरप्यानन्त्यं प्रसक्तम् । ऊर्ध्वाधःस्थानभेदेऽपि संस्थानाभेदवद् ज्ञानस्याप्यानुपूर्वीभेदकत्वाभावात् । शब्दबुद्धि-कर्मणां क्षणिकत्वं तु नाभ्युपेयते । ननु योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरोत्पन्नविशेषगुणनाश्यत्वमिति तार्किकमतरीत्या शब्दबुद्धिकर्मणां क्षणिकत्वमेवेति चेन्न, इदानीं जानामि, इदानीमुच्चारिता वर्णा इत्यादिव्यवहारस्य तेषां क्षणिकत्वेऽनुपपत्तेः । क्षणस्यातीन्द्रियतया इदानीं ज्ञानासम्भवात् । यथा द्वित्वप्रत्यक्षानुरोधेनापेक्षाबुद्धेः क्षणत्रयावस्थायित्वं वैशेषिकैरभ्युपेयते, तथैवोक्तव्यवहारानुरोधेन शब्दबुद्ध्यादीनां ततोऽप्यधिकक्षणस्थायित्वाभ्युपगमे दोषाभावात् । यावता समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसम्पद्येत स कालः क्षण इति पातञ्जलभाष्यम् । 'रवेः स्पन्दः क्षणस्तस्य नानाक्षणविशिष्टता । क्रमो नानाविधोपाधिसम्बन्धः परिकीर्तितः ॥'

शब्दस्योत्पत्तिमत्त्वे भेदोत्पत्त्योः समनियतत्वेनोत्पत्तिसत्त्वे भेदस्यापि सत्त्वेन सोऽयं ककार इति प्रत्यभिज्ञा नोपपद्यते । न च प्रत्यभिज्ञायाः कत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभावो विषयः, द्वयोर्घटयोः सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञापत्तेः । वर्णव्यक्तिविषयकत्वे बाधाभावाच्च । न च ककार उत्पन्न इति प्रतीतिर्बाधः, श्यामो नष्टो रक्त उत्पन्न इति प्रतीते रूप-

प्रश्न है कि ज्ञान तो पहले क्षण में पैदा होकर दूसरे क्षण में रहकर तीसरे में नष्ट हो जाता है, अतः वह अनित्य है, इस परिस्थिति में ज्ञान की अनन्तता के कारण उनकी आनुपूर्वी भी अनन्त ही माननी पड़ेगी । इसका उत्तर यह है कि धारावाहिक ज्ञान में ज्ञान की जैसे दीर्घकालस्थायिता मानी जाती है, उसी तरह से आनुपूर्वी के घटक वर्णविषयक ज्ञानों की भी चरम वर्णज्ञानक्षण पर्यन्त स्थायिता मानने पर उक्त आपत्ति का परिहार हो जायगा । 'इस तरह से भी अपने से विरोधी ज्ञान की उत्पत्ति तक ही ज्ञान की स्थिरता मानी जा सकती है, विरोधी ज्ञान की उत्पत्ति होने पर पूर्व ज्ञान के निवृत्त हो जाने से वह अनित्य ही माना जायगा और इस प्रकार पुनः आनुपूर्वी के आनन्त्य की आपत्ति उठ खड़ी होगी ।' इसका समाधान इस तरह से किया जाता है कि ऊपर और नीचे के आकार में भेद रहने पर जैसे संस्थान (आकार) में भेद नहीं माना जाता, उसी तरह से ज्ञान भी आनुपूर्वी का भेदक नहीं माना जाता । शब्द, बुद्धि (ज्ञान) और कर्म की क्षणिकता को हम नहीं मानते । प्रश्न है कि नैयायिक की पद्धति से योग्य से विभु पदार्थ के विशेष गुण अपने बाद उत्पन्न होने वाले विशेष गुण के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं, अतः शब्द, बुद्धि और क्रिया की क्षणिकता ही माननी पड़ेगी । किन्तु यह प्रश्न ठीक नहीं, क्योंकि मैं अभी जानता हूँ, मैंने अभी वर्णों का उच्चारण किया, इत्यादि व्यवहार उनको क्षणिक मानने पर संभव न हो सकेंगे, क्योंकि क्षण तो कालरूप होने से अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से नहीं जाना जाता) है, उसका अभी इस रूप से कैसे ज्ञान हो सकता है ? जैसे द्वित्व (दो वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान) प्रत्यक्ष की उपपत्ति के लिये वैशेषिक अपेक्षा बुद्धि (यह एक है, यह एक है, यह एक एक मिलकर दो है, इसको अपेक्षा बुद्धि कहते हैं) को तीन क्षण तक स्थायी मान लेते है, उसी तरह से उक्त व्यवहारों की उपपत्ति के लिये शब्द, बुद्धि और कर्म की उससे भी अधिक क्षण तक स्थायी मानने में कोई दोष नहीं है । पातंजल महाभाष्य का कहना है कि—'जितने समय में परमाणु चलकर पूर्व देश को छोड़ दे और उत्तर देश को प्राप्त कर ले, उसका नाम 'क्षण' है । अन्यत्र 'रवि का स्पन्द (हलचल) क्षण कहलाता है । वह नाना क्षणों से विशिष्ट होता है और उससे नाना प्रकार के क्रम बनते हैं । यह सब औपाधिक संबन्ध से होता है ।'

शब्द की यदि उत्पत्ति मानी जाय तो उत्पत्ति और भेद तो सदा साथ रहते हैं, अतः उनमें भेद भी मानना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में 'यह वही ककार है, यह वही कविता है' इस तरह को प्रत्यभिज्ञा कैसे बन सकती है ? उक्त प्रत्यभिज्ञा का विषय कत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले भेद के अभाव को माना जाय, तो दो घटों में भी यह वही घट है, यह प्रत्यभिज्ञा होने लगेगी । क्योंकि घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले भेद का तो वहाँ भी अभाव है ही । तात्पर्य यह है कि दो घड़े यद्यपि परस्पर भिन्न हैं, किन्तु उनमें रहने वाली घटत्व जाति तो एक ही है । इसलिये वहाँ दोनों में से किसी में भी घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता वाला भेद नहीं है । अतः उनमें एकता प्रतीत होने लगेगी और यह वही ककार है, इस प्रत्यभिज्ञा को कत्व जातिविषयक न मानकर 'क' आदि व्यक्ति विषयक

गतोत्पत्तिविनाशारोपेण स्वाश्रयसमवायित्वसम्बन्धेन सत्त्वाद्वोपपत्तिवद्ध्वनिनिष्ठोत्पत्तेराक्षेपेण स्वाश्रयध्वनिव्यङ्ग्यत्व-रूपपरम्परासम्बन्धेनोपपत्तेः। न च वर्णोच्चारणस्थले ध्वन्यनुत्पत्तिरिति वाच्यम्, तत्तत्स्थाने जिह्वाया ईषदन्तरपाते वर्णानुपलब्धेर्ध्वन्युपलब्धेश्चानुभवेन हसितरुदितादौ जिह्वाभिघातवायुकण्ठसंयोगादेस्तज्जनकत्वस्यावश्यकत्वेन वर्णोत्पत्तौ ध्वन्युत्पत्त्यनङ्गीकारे प्रतिवध्यप्रतिवन्धकभावकल्पनागौरवेण तत्सत्त्वावश्यकत्वात्। अत एव बहुषु शब्दमुच्चारयत्सु महाध्वनिः श्रूयते।

केचित्तु स एवायं शङ्खध्वनिरिति प्रत्यभिज्ञानुरोधेन ध्वनीनामपि नित्यत्वमुपयन्ति। तन्मते ध्वनिज्ञानकारणी-भूतवायुसंयोगनिष्ठमुत्पत्तिविनाशादिकं तत्रारोप्यते। अथवा वर्णे स्वाश्रयव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन ज्ञायते। शब्दं कुरु इत्यादिव्यवहारोऽपि तथैव। उच्चारयेत्येव तदर्थो वा। वस्तुतो लोहितः स्फटिक इतिवदत्राप्यारोप एव, रसो रूपवान् इत्याद्यप्रतीत्या परम्परासम्बन्धस्य विशिष्टबुद्ध्यनियामकत्वात्। अत एवोदात्तादिकमपि तन्निष्ठमेव तत्रारोप्यते। तेन न तद्भेदादपि वर्णानां भेदः। प्रागनुपलभ्यमानत्वे सत्युपलभ्यमानत्वरूपेणोत्पन्नविनष्टसादृश्येन तत्रोत्पत्त्याद्यारोपः। प्रागसत्त्वे सति सत्त्वरूपाया उत्पत्तेर्वर्णेष्वननुभवात्। कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्याभिव्यक्तिमत्त्वमेव वर्णानामुच्चारितत्वम्। कण्ठताल्वादिभेदेनैव स्त्रीशुकादिभेदप्रतीतिः। तज्जन्यतावच्छेदकवैजात्यं ध्वनिनिष्ठं वायु-संयोगनिष्ठं वा वर्णेष्वारोप्यते। तारत्वाद्यपि तन्निष्ठमेव।

मानने में कोई बाधा भी नहीं है। ककार उत्पन्न हुआ, इस प्रतीति (ज्ञान) को उसमें बाधक नहीं मान सकते, क्योंकि जैसे श्याम घट नष्ट हो गया और रक्त घट उत्पन्न हो गया, इस प्रतीति की उपपत्ति रूपगत उत्पत्ति और विनाश का आरोप घट में कर की जाती है, अथवा स्वाश्रयसमवायित्व संवन्ध से उसमें उत्पत्ति और विनाश का आरोप कर की जाती है, उसी तरह से ध्वनि में विद्यमान उत्पत्ति का आरोप करके अथवा स्वाश्रय ध्वनि व्यंग्य रूप परम्परा संबन्ध से शब्दों में भी उत्पत्ति का आरोप मानना उचित हो सकता है। वर्ण के उच्चारण के स्थल में भी ध्वनि की उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा हम नहीं मान सकते, क्योंकि उस उस स्थान से जिह्वा के थोड़ा भी हट जाने पर वर्ण की उपलब्धि नहीं होती, तो भी ध्वनि की उपलब्धि होती है, यह बात अनुभव से सिद्ध है। हसित, रुदित आदि में जिह्वा का अभिघात, वायु और कण्ठ के संयोग आदि को ध्वनि का जनक मानना आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में वर्ण की उत्पत्ति के साथ ध्वनि की उत्पत्ति न मानने पर प्रतिवध्य-प्रतिवन्धक भाव की कल्पना करनी पड़ेगी और ऐसा करने में गौरव होगा। इस गौरव के परिहार के लिये वर्णोत्पत्ति स्थल में ध्वनि की सत्ता मान लेने में ही लाघव है। इसीलिये अनेक व्यक्तियों को एक साथ शब्द का उच्चारण करने पर महाध्वनि सुनाई पड़ती है।

कुछ लोग यह वही शंख ध्वनि है, इस प्रत्यभिज्ञा के बल पर ध्वनि को भी नित्य मानते हैं। उनके मत से ध्वनि ज्ञान के कारणीभूत वायु के संयोग में विद्यमान उत्पत्ति और विनाश का उसमें (ध्वनि में) आरोप किया जाता है, अथवा वर्ण में स्वाश्रय-व्यंग्यव्यंग्यत्व रूप परम्परा संबन्ध से उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान होता है। अर्थात् वर्णों के आश्रय कण्ठ-तालु आदि से व्यंग्य जो ध्वनि उनसे व्यंग्य, इस परम्परा रूप संबन्ध से ज्ञान होता है। 'शब्द करो' इस व्यवहार की उपपत्ति भी इसी तरह से हो जाती है, अथवा उसका अर्थ 'उच्चारण करो' यह होता है। वस्तुतः स्फटिक में लौहित्य के आरोप की भाँति यहाँ पर भी उत्पत्ति और विनाश के आरोप से ही व्यवहार चलता है। रस रूपवान् है, इस तरह की प्रतीति नहीं होती, अतः परम्परा संबन्ध को विशिष्ट बुद्धि का नियामक नहीं माना जाता। इसीलिये ध्वनिनिष्ठ उदात्तत्व आदि का ही वर्णों में आरोप किया जाता है, अतः उदात्तत्वादि के भेद से भी वर्णों का भेद नहीं होता। पहले जो धर्म उपलब्ध नहीं होता वह बाद में उपलब्ध होता है, यही उसका उत्पत्ति और विनाश से सादृश्य है। वर्णों में तो वास्तव में उत्पत्ति विनाश नहीं होता, किन्तु उत्पत्ति के सदृश पहले अनुपलब्धि और बाद में उपलब्धि रूप सादृश्य से उनमें उत्पत्ति आदि का आरोप होता है। पहले जिसकी सत्ता नहीं है, किन्तु बाद में जो सत्ता में आता हो, इस तरह की उत्पत्ति वर्णों में उपलब्ध नहीं हो सकती। वर्णों के उच्चारण का तात्पर्य इतना ही है कि उनकी कण्ठ, तालु आदि के अभिघात से अभिव्यक्ति होती है। कण्ठ, तालु आदि के भेद से ही स्त्री, शुक आदि के उच्चारण में भेद की प्रतीति होती है। उन स्त्री-शुक आदि के कण्ठ-तालु आदि से उत्पन्न ध्वनिनिष्ठ अथवा वायुसंयोगनिष्ठ वैजात्य (जातिभेद) ही वर्णों में आरोपित किया जाता है। तारत्वादि धर्म भी ध्वनिनिष्ठ ही होते हैं।

महाभाष्यकारस्तु शुक-सारिका-नवनार्याद्युच्चारणव्यङ्ग्येषु तत्तदुच्चारितत्वानुमापकानि वैजात्यान्यपि वर्णनिष्ठानि विजातीयवायुसंयोगव्यङ्ग्यान्येव। तारत्वादिगुणाश्रयत्वेन शब्दस्य गुणत्वं विभुत्वे सत्याकाशाश्रितत्वेन गुणत्वं च उच्चनीचस्यानवस्थितत्वात्। तदेव कञ्चित्प्रत्युच्चैर्भवति, कञ्चित्प्रति नीचैर्भवति। ननु वर्णस्य तारत्वादेश्च नित्यत्वे उदात्तत्वानुदात्तत्वयोर्विरोधो नोपपद्यत इति चेन्न, येन वायुसंयोगेन यं प्रति तारत्वं व्यज्यते तं प्रति मन्दत्वाव्यञ्जनमूलकस्य विरोधस्योपपत्तेः। उत्पत्तिवादिनां कण्ठाद्यभिघातोत्पन्नस्यैकस्यैव केनचित् मन्दत्वेन केनचित्तारत्वेन ग्रहणे किं बीजमिति चिन्त्यमेव। न च नित्यत्वे वायुसंयोगादेः ककारादिप्रत्यक्षत्वं कार्यतावच्छेदकमुत्पत्तिवादिनां कत्वादिकमेवेति लाघवमिति वाच्यम्, अनन्तप्रागभावप्रध्वंसादिकल्पनापेक्षया तस्य लघुत्वात्। प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नविषयतया कत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वाच्च। न चैवं घटाद्यपि नित्यं स्यात्, तत्रापि कपालसंयोगादिकं व्यञ्जकं भविष्यति, वर्णवदत्र तदग्रहविपरीतग्रहयोरभावेनोत्पत्तिप्रतीतेः। अर्थाद् घटे उत्पत्त्यग्रहस्य सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञया नित्यत्वग्रहस्य चाभावेन तदुत्पत्तेरभ्रमत्वमेव। कुलालव्यापारानन्तरमनुभूयमानस्य तद्व्यापारतः प्राग् अनुभूतेन घटेन नाभेदप्रत्यभिज्ञानम्। अत्र तु कण्ठताल्वादिव्यापारानन्तरमनुभूयमानस्य ततः प्रागनुभूतेनाभेदप्रत्यभिज्ञानमेवेति विशेषः।

वैयाकरणानामौपनिषदानां च नित्यत्वं सम्पाद्य कालोत्पत्तिकत्वं प्रलयकालनाश्यत्वं च, उभयत्रोपाधिपरामर्शमन्तरेणाविभाव्यमानभेदत्वात्। विलक्षणानामपि शब्दस्पर्शादिसंविदां घटमठाकाशादिप्रतीतीनामेकविषयत्वं

महाभाष्यकार के मत के अनुसार तो शुक-सारिका (तोता-मैना), नवयुवती इत्यादि के उच्चारणों से व्यंग्य होने वाले उच्चारणों की विजातीयता के अनुमापक धर्म वर्णनिष्ठ हो हैं, जो कि विजातीय वायु संयोग से व्यक्त होते हैं। इनके उच्च-नीच भाव के अनवस्थित होने से ही तारत्वादि गुणों की आश्रयता के कारण अथवा विभुत्व के रहते भी आकाश के आश्रित रहने से शब्द को भी गुण ही माना जाता है। एक ही शब्द किसी के लिये ऊँचा और किसी के लिये धीमा हो जाता है। प्रश्न है कि वर्ण और तारत्वादि ध्वनिधर्म यदि नित्य हैं, तो उदात्त-अनुदात्त आदि में परस्पर विरोध की प्रतीत कैसे सम्भव होगी? उत्तर है कि जिस वायु संयोग से जिसमें तारत्व की अभिव्यक्ति होती है, उसमें मन्दत्व की अभिव्यक्ति न होने से परस्पर विरोध की प्रतीति सम्भव हो सकेगी। उत्पत्तिवादी के ही मत में यह विचारणीय प्रश्न उठ खड़ा होता है कि एक ही कण्ठ के अभिघात से उत्पन्न स्वर की किसी को मन्द रूप से और दूसरे को तार रूप से प्रतीति (ज्ञान) किस कारण से होती है? 'वर्णों के नित्य मानने पर तो वायु संयोगादि को ककारादि के प्रत्यक्ष में कारण और ककार आदि के प्रत्यक्ष को कार्य मानना पड़ेगा। प्रत्यक्ष अनेक हैं. इसलिये गौरव होगा और उत्पत्तिवादी के मत में तो उत्पन्न होने वाले 'क-ख' व्यक्ति को कार्य और कत्व-खत्व आदि एक जाति को उसका अवच्छेदक मानने में साधक होगा'। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अनन्त वर्णों के अनन्त प्रागभाव और अनन्त प्रध्वंसाभावों की कल्पना की अपेक्षा उनको नित्य मानने में ही लाघव है। फिर कार्यतावच्छेदक तो प्रत्यक्षावच्छिन्न विषय होने के कारण कत्व ही है। इस तरह से तो घटादि भी नित्य हो जायेंगे, क्योंकि वहाँ पर भी कपाल संयोगादि की घटव्यंजकता मान ली जायगी? उत्तर है कि वर्णों की तरह यहाँ पर भी तदग्रह और विपरीतग्रह की प्रतीति नहीं होती, अतः घटादि की उत्पत्ति ही मानी जाती हैं। अर्थात् घट में उत्पत्ति का अग्रहण अथवा यह वही है, इस तरह की प्रत्यभिज्ञा से नित्यत्व का ग्रहण नहीं होता। इसलिये घट की उत्पत्ति की प्रतीति भ्रमात्मक या किसी उपाधि से नहीं मानी जा सकती। कुलाल (कुम्हार) के व्यापार (क्रिया) के अनन्तर अनुभूयमान घटस्वरूप की उसके व्यापार से पहले विद्यमान घटस्वरूप से अभेद की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, अर्थात् 'यह वही है' ऐसा अभेद ज्ञान नहीं होता। इसके विपरीत वर्णों के प्रसंग में कण्ठ-तालु आदि के व्यापार के अनन्तर अनुभूयमान और इससे पहले प्रतीत हुए वर्णों के स्वरूप की अभेदेन प्रत्यभिज्ञा (यह वही है, ऐसा ज्ञान) होती है, यही दोनों में अन्तर है।

वैयाकरणों और वेदान्तियों के मत में शब्द को नित्य ही माना जाता, तो भी सृष्टिकाल में उत्पत्ति और प्रलयकाल में इसके नाश की प्रतीति भी मानी जाती है। दोनों ही मतों में इसकी उपपत्ति उपाधि के परामर्श के बिना भेद की प्रतीति न होने के

दृश्यते, तेनैव संविदाकाशादीनामैक्यं सिद्धयति। प्रतिकरणभेदं भिन्नस्वभावत्वं न शब्दगतम्, किन्तु ध्वनीनामेव भिन्नस्वभावत्वप्रतीतिः। शब्दे त्वौपाधिकमेव स्वभावभेदभानम्। अत एवोच्चारणभेदेन ध्वनिभेदः प्रतीयते, न शब्दभेदः। अत एवोक्तमेव—'शिशौ पठति वृद्धे वा स्त्रीजने वा शुकेऽपि वा। वक्तृभेदं प्रपद्यन्ते न वर्णव्यक्तिभिन्नताम् ॥' गर्गः पठति, शुकः पठतीत्यादौ पठितृभेद एव प्रतीयते, न चामुं मन्त्रविशेषं पठतीति प्रतीतिः। 'एककर्तृप्रयोगेऽपि तस्यैवौच्चारणं पुनः। गङ्गा-गगन-गर्गादौ न रूपान्तरदर्शनम् ॥ द्रुतादिभेदबोधोऽपि नादभेदनिबन्धनः। न व्यक्तिभेदबोधोऽपि शावलेयादिभेदवत् ॥' द्रुतं श्लोकमृचं वोच्चारयति वक्तरि नाडिकाया नव पलानि स्रवन्ति, तस्या एव मध्यमायां वृत्तौ द्वादशपलानि स्रवन्ति, विलम्बितायां तु वृत्तौ षोडश पलानि स्रवन्ति। भेरीमाहत्य तच्छब्दं शृण्वन् कश्चित् विंशतिपदानि गच्छति, कश्चित् त्रिंशत्, कश्चिच्चत्वारिंशत्, स्फोटश्च तावान् भवति। ध्वनिकृतोपलब्धिकालवृद्धिः। तदुक्तं हरिणा—'वर्णानां ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते। वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः पुनरेष्यति ॥' इति।

'यदुक्तं क्षणिकत्वेन ध्वनीनामपवर्गिणाम्। क्षणे तुरीयेऽसत्त्वाच्च प्रत्यभिज्ञा सुदुर्घटा ॥ तदयुक्तं यतो ज्ञानध्वन्यादिदीर्घकालता। विज्ञायते प्रमाणेन न ततस्तदपह्नवः ॥ यतो ह्यपेक्षाबुद्धया या जायते द्वित्वधीः पुनः। सापि नैवोपपद्येत क्षणिकत्वेन हेतुना ॥'

प्राकृतध्वनिवैकृतध्वनिभेदेन वैयाकरणैः ध्वनिर्द्वैविध्यमूरीक्रियते। प्राकृतध्वनिना स्फोटाभिव्यक्त्यनन्तरं स्फोटमभिव्यज्य पुनः पुनरविच्छेदेन दीर्घकालमुपलभ्यमानो ध्वनिर्वैकृतः। तमेव स्फोटमयं द्रुतमुच्चारितवान् अयं विल-

आधार पर की जाती है। परस्पर विलक्षण भी शब्द, स्पर्श आदि के ज्ञान और घटाकाश, पटाकाश आदि के ज्ञान एकविषयक देखे जाते हैं। इसी से संवित् (ज्ञान) और आकाशादि की एकता सिद्ध होती है। करण के भेद से भिन्नता की प्रतीति शब्द का धर्म न होकर ध्वनि का धर्म है। शब्द में स्वभाव भेद की प्रतीति औपाधिक है। इसलिये उच्चारण का भेद होने पर ध्वनि में भेद की प्रतीति होती है, शब्द में नहीं। इसीलिये कहा गया है कि—'शिशु पढ़ता हो या वृद्ध, कोई स्त्री पढ़ती हो या शुक, सर्वत्र वक्ता के भेद की ही प्रतीति होती है, वर्णव्यक्ति के भेद की प्रतीति नहीं'। गर्ग पढता है, शुक पढता है, यहाँ पर पाठक के भेद की ही प्रतीति ज्ञात होती है, पढे जाने वाले मन्त्र के भेद का ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत बच्चे का पढ़ा हुआ श्लोक ही तोता पढ़ता है, ऐसा अभेद ज्ञान ही होता है। 'गंगा, गगन, गर्ग आदि पदों में एक ही व्यक्ति के द्वारा उच्चारित गकारादि वर्णों में एक ही गकारादि व्यक्ति का उच्चारण होता है. इनमें स्वरूप भेद नहीं दिखाई देता। इनमें द्रुत-विलम्बित के रूप में जो भेदबोध होता है, वह भी नाद के भेद के कारण होता है, इसीलिये शावलेयादि गो व्यक्ति की तरह वह वर्णव्यक्ति के भेद का बोधक नहीं हो सकता'। कोई वक्ता किसी ऋचा अथवा श्लोक का द्रुत वृत्ति से उच्चारण करता है तो उसमें सुषुम्ना नाडी के नौ पल (बिन्दु) खर्च होते हैं तो मध्यमा वृत्ति से उच्चारण करने पर बारह और विलम्बित वृत्ति से उच्चारण करने में सोलह पल (बिन्दु) खर्च होते हैं। ढोल बजाकर उसके शब्द को सुनता हुआ कोई बीस डग भरता है, कोई तीस और कोई चालीस। स्फोट की स्थिति यद्यपि समान है. तो भी ध्वनि के आधार पर उसकी उपलब्धि में कालवृद्धि हो जाती है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—'वर्णों के ग्रहण में प्राकृत ध्वनि सहायक माना जाता है और वृत्ति के भेद के ग्रहण में वैकृत ध्वनि सहायक माना जाता है।'

'यह कहा जाता है कि ध्वनियाँ क्षणिक होती हैं, अतः बीती हुई ध्वनियों की चतुर्थ क्षण में सत्ता न रहने से प्रत्यभिज्ञा नहीं बन सकेगी। किन्तु यह कथन इसलिये अयुक्त है कि ज्ञान, ध्वनि आदि की दीर्घकाल तक स्थिति प्रमाणों द्वारा जानी जाती है। इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर इसी क्षणिकत्व हेतु के कारण द्वित्व बुद्धि के प्रति अपेक्षा बुद्धि की भी कारणता न बन सकेगी'।

वैयाकरण प्राकृत और वैकृत के भेद से दो तरह की ध्वनियाँ मानते हैं। प्राकृत ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। स्फोट रूप शब्द की अभिव्यक्ति के बाद पुनः पुनः अविच्छिन्न रूप से दीर्घ काल तक उपलब्ध होने वाली ध्वनि वैकृत कहलाती है। इसी वैकृत ध्वनि के आधार पर यह व्यवहार चलता है कि इसने स्फोट (शब्द) का द्रुत उच्चारण किया और इसने विलम्बित। वृत्ति के

म्बितम्। वृत्तिभेदेऽपि स्फोटे भेदाभावः। वर्णमुच्चारयति वक्तरि ब्रह्माण्डसम्बद्धा सुषुम्ना नाडी अमृतविन्दुस्राविणी भवतीति योगिप्रसिद्धिः। द्रुतमुच्चारणे पूर्वोक्तनाड्या नवविन्दवः स्रवन्ति, मध्यमायां वृत्तौ द्वादश, विलम्बितायां षोडश।

शब्दनित्यत्वादेवानेककर्तृकोच्चारणविषयेऽप्येकमिदं घटपदमिति प्रत्ययः। 'एक इन्द्रशब्दोऽनेकेषु क्रतुष्वाविर्भवति' इति सरूपसूत्रे भाष्यम्। न चेयमेकत्वबुद्धिर्वर्णविषया, तेषामनेकत्वात्। वनराश्याद्यपि वस्त्वन्तरमेव, नैयायिकादिमतेऽवयवातिरेकेणावयविनोऽङ्गीकारात्। तेन न तन्मते वर्णसमूहविषयैकत्वबुद्धिः। न चैकार्थधीहेतुत्वेनैकत्वम्, तेनैकत्वमेकत्वेन चैकार्थधीहेतुता इत्यन्योन्याश्रयापत्तेः। अर्थाववोधाभावेऽप्येकपदमित्यप्रसिद्धार्थपदश्रवणे दर्शनात्। एकबुद्धिविषयत्वेन पदैकत्वमित्यपि न युक्तम्, सर्वोच्चारणविषयेन्द्रशब्दानामेकज्ञानविषयत्वाभावात्। नाप्येकजातीयबुद्धिविषयत्वम्, विषयैक्ये बुद्धीनामेकजातीयत्वं तदेकजातीयत्वे विषयैक्यमिति परस्पराश्रयात्। किञ्च, एकः पट इति व्यवहारस्याप्येकबुद्धिविषयतन्तुसमूहेनैवोपपत्तौ तत्राप्यतिरिक्तावयव्यसिद्धिः। यदि तत्रैक इति व्यवहारात् तत्सिद्धिः, तर्हि अत्रापि तथा समम्। एकस्येन्द्रशब्दस्य एकजातीय इति वार्थः, तत्कल्पनापेक्षया तदेकत्वस्यौचित्यात्। अन्यथा घटत्वजात्यैक्येन दशसु घटेषु एको घट इति प्रतीत्यापत्तेः। एकजातीय इन्द्रशब्द इत्यव्यवहाराच्च। तच्च पदं प्रकृतिप्रत्ययविभागवत्। प्रकृत्यादिकमपि नित्यमेव, अथवाऽखण्डमेव। अन्यथा वर्णानामपि ऋकारादिषु रेफ-लकारेकारोकारादिविभागानामप्यनुभवसिद्धत्वात्। भागवत्त्वे भागानामिव सभागत्वे परमाणुतुल्यानामवशेषः स्यात्। तथा च घटादीनामवयवसमुदायरूपत्वे या दुरवस्था सैवात्रापि स्यात्। पदपदार्थ-

भेद के रहते भी स्फोट (शब्द) में भेद नहीं होता। वक्ता जब वर्णों का उच्चारण करता है तो उस समय ब्रह्माण्ड से संबद्ध उसकी सुषुम्ना नाडी से अमृत बिन्दु का स्राव होने लगता है, यह बात योगिसम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। द्रुत वृत्ति से उच्चारण करने पर पूर्वोक्त नाडी से नौ बिन्दु स्रवित होते हैं, मध्यमा वृत्ति से बारह और विलम्बित वृत्ति से सोलह बिन्दु स्रवित होते हैं।

शब्द की नित्यता के कारण ही अनेक व्यक्तियों के द्वारा उच्चारित होने पर भी यह घट पद एक है, इस तरह की प्रतीति होती है। सरूप सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि एक ही इन्द्र शब्द अनेक यज्ञों में आविर्भूत होता है। यह एकत्व बुद्धि वर्ण विषयिणी नहीं हो सकती, क्योंकि वे अनेक हैं। वन, राशि आदि भी वस्त्वन्तर हैं। नैयायिकों के मत में अवयवों से भिन्न अवयवी की स्थिति मानी गई है। अतः उनके मत में वर्णसमूहात्मक एकत्व की प्रतीति नहीं हो सकती। एक अर्थ का ज्ञान कराने के कारण भी इनमें एकत्व बुद्धि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उनमें एकार्थधीहेतुता के कारण एकत्व का बोध होगा और एकत्व का बोध होने पर एकार्थधीहेतुता होगी, इस तरह से यह अन्योन्याश्रय दोष होगा। अप्रसिद्ध अर्थ वाले पद के सुनने पर अर्थ की अवगति न होने पर भी यह एक पद है, ऐसी प्रतीति हो जाती है, अतः यहाँ पर व्यभिचार भी है। एक बुद्धि का विषय होने से एक पद हो सो भी बात नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वोच्चारण विषयक इन्द्र शब्द एक ज्ञान का विषय नहीं होता। एकजातीय बुद्धिविषयत्व भी एकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि विषय का ऐक्य होने पर बुद्धियों की एकजातीयता और बुद्धियों की एकजातीयता के आधार पर विषय का ऐक्य, इस तरह से यहाँ पर परस्पराश्रयता दोष विद्यमान है। दूसरा दोष यह आवेगा कि ऐसा मानने पर 'यह एक पट (वस्त्र) है' इस तरह के व्यवहार की उपपत्ति भी एक बुद्धिविषयक तन्तु (धागे) समूह से ही हो सकेगी, तब अलग से अवयवों से भिन्न अवयवी मानने की नैयायिक को क्या आवश्यकता है? यदि वहाँ पर यह एक है, इस व्यवहार के आधार पर अवयवी की सिद्धि करता है, तो यहाँ पर भी उसी पद्धति से एकत्व बुद्धि हो सकेगी। एक इन्द्र शब्द एकजातीय है, ऐसा अर्थ करने की अपेक्षा उसमें एकत्व मान लेना ही ठीक है। अन्यथा घटत्व जाति की एकता के आधार पर दस घड़ों में एक घट की प्रतीति की आपत्ति उठेगी। इन्द्र शब्द एकजातीय है, इस प्रकार का व्यवहार देखा भी नहीं गया है। यह पद प्रकृति और प्रत्यय में विभक्त है। ये भी नित्य ही हैं, अथवा अखण्ड हैं। अथवा वर्णों में भी विभाग पड़ जायगा, क्योंकि ऋकारादि वर्णों में रेफ, लकार, इकार, उकार प्रभृति विभाग अनुभव सिद्ध हैं। अनेक विभागों वाला पदार्थ जैसे अपने भागों के ऊपर निर्भर रहता है, उसी तरह से पद, वर्णादि के भी सभाग मानने पर वे भी परमाणुतुल्य अपने अवशेषों के अधीन स्थिति वाले हो जायेंगे। इस तरह से घटादि की अवयवसमुदायता मानने पर जो दुरवस्था

व्यवहारभङ्गश्च, सावयवत्वे नित्यताभङ्गश्च। वाक्यमपि पदविभागरहितमखण्डमेव। यदि तु वर्णेऽवयवानामभावेऽपि तत्तदुच्चारणविशेषव्यङ्ग्यतत्तद्वर्णसमानाकारक्रमिकध्वनिविशेषोपरागोपाधिवशात् तदवभासः, तदा पदे वर्णावभासस्य वाक्ये पदावभासस्याप्येवमेवोपपत्तेः।

स्फोटस्वरूपविचारः

वर्णानां सामस्त्येन व्यस्ततया वा वाचकत्वं न सम्भवति, शब्दादुच्चारितादर्थावगतिश्च भवति, न चेयमकरणिका सम्भवति। तदस्याः कारणं स्फोटः कार्यानुमानेन परिशेषानुमानेनार्थापत्त्या वा सिद्धचति। स चैको निरवयवो नित्य एको निष्क्रमकः।

ननु चेयमर्थप्रतीतिर्वर्णेषु भवत्सु भवन्ती तेष्वभवत्सु चाभवन्ती तानुत्सृज्य कथं स्फोटकार्यतामुपपादयतीति चेन्न, तद्भावभावित्वस्यान्यथासिद्धत्वात्। स्फोटव्यञ्जकत्वेनार्थप्रतीतेर्वर्णानन्तर्यस्यान्यथासिद्धिः। वर्णाभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थप्रतिपत्तिमादधाति वर्णेष्वपि तत्प्रतीतिहेतुत्वभ्रमः। अबाधितासन्दिग्धपदबुद्धेः पदस्फोटस्तथाविधाया वाक्यबुद्धेश्च वाक्यस्फोटः। यथा पदस्यावयवाः परमार्थतो न सन्ति तथैव वाक्यस्यावयवा अपि न सन्ति। अवयवकल्पनायां यथा वाक्यस्यावयवाः पदानि पदस्यावयवा वर्णा एवं वर्णानामप्यवयवैर्भाव्यम्, एवं तदवयवानामप्यवयवैर्भाव्यमित्यनवस्थैव। यदि तु वर्णेऽवयवकल्पनातो विरम्यते तद्वाक्य एव कुतो न विरम्यते। एकघटनाकारा वाक्यार्थबुद्धिस्तथाविधाद्वाक्यादेवोत्पत्तुमर्हति, वृद्धव्यवहारेऽपि वाक्यमेव प्रयुज्यते न पदम्, तस्य व्यवहारानङ्गत्वात्। अवयवप्रतिभासस्तु भ्रममात्रम्। अर्थोऽपि वाक्यस्यैक एव नरसिंहाकारः। जात्यन्तरं हि नरसिंहो न नरार्थो न सिंहार्थः। एवं पदार्थेभ्योऽन्य

होती है, वही स्थिति वर्ण, पद आदि की भी होगी। सावयवता मानने से पद-पदार्थ आदि के व्यवहार के लोप के साथ नित्यता का भी क्षति हो जायगी। वाक्य भी पद के विभाग से रहित अखण्ड ही है। वर्णों में अवयवों के अभाव के रहने पर भी यदि उस उस उच्चारण की विशेषता के आधार पर अभिव्यक्त उस उस वर्ण की समानाकार क्रमिक ध्वनि की विशेषता रूप उपाधि से उपरक्त होने से उनमें अवयवों का अवभास मान लिया जाता है, तो उसी पद्धति से पद में वर्णाविभास (वर्णों का भेद ज्ञान) की और वाक्य में पदावभास (पदों का भेद ज्ञान) की प्रतीति भी उपपन्न हो सकती है।

स्फोट के स्वरूप पर विचार

वर्ण समस्त रूप से अथवा व्यस्त रूप से वाचक नहीं हो सकते, किन्तु शब्द के उच्चारण के बाद अर्थ की अवगति होती है। यह बिना कारण के नहीं हो सकती। इस अर्थावगति का कारण स्फोट है, यह बात कार्यानुमिति से, परिशेषानुमान से अथवा अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होती है। यह स्फोट एक, निरवयव, नित्य और क्रमरहित है।

प्रश्न है कि यह अर्थप्रतीति वर्णों के रहने से होती है और न रहने से नहीं होती, तो इन वर्णों को छोड़कर अर्थप्रतीति रूप कार्य से स्फोट का अनुमान आप कैसे करते हैं? उत्तर है कि तद्भावभाविता के कारण वर्णों की अर्थप्रतीतिजनकता अन्यथासिद्ध है। अर्थप्रतीति स्फोट की व्यंजक है। इसमें वर्णों का आनन्तर्य अन्यथासिद्ध है। वर्णों से अभिव्यक्त स्फोट अर्थप्रतीति कराता है, इसलिये वर्णों में भी अर्थप्रतीति को हेतुता का भ्रम होता है। अबाधित, असन्दिग्ध पदबुद्धि से पदस्फोट और इसी तरह की वाक्य-बुद्धि से वाक्यस्फोट होता है। जैसे परमार्थतः पद के अवयव नहीं हैं, उसी तरह से वाक्य के भी अवयव नहीं होते। अवयव को कल्पना करने पर जैसे वाक्य के अवयव पद और पद के अवयव वर्ण हैं, उसी तरह से वर्णों के भी अवयव मानने पड़ेंगे। इसी तरह से उनके अवयवों के भी अवयव मानने पर अनवस्था होगी। यदि वर्णों में अवयव कल्पना का विराम मान लिया जाता है तो वह विराम वाक्य में ही क्यों नहीं मान लिया जाता। एक अनुस्यूत घटना के रूप में वाक्यार्थ बुद्धि इस प्रकार के वाक्य से ही हो सकती है। वृद्ध व्यवहार में भी वाक्य ही प्रयुक्त होते हैं, पद नहीं; क्योंकि पद व्यवहार के अंग नहीं होते। इनमें अवयव की प्रतीति भ्रममात्र है। अर्थ भी वाक्य का एक ही तरह का नृसिंह सदृश आकृति वाला होता है। नरसिंह एक भिन्न ही जाति है, जो कि न तो मनुष्य है

एव वाक्यार्थः, पानकादिवत् । यथा पानकं शर्करानागकेसरमरीच्यादिभ्योऽर्थान्तरम्, यथा वा सिन्दूरहरिताललाक्षादिभ्योऽर्थान्तरं चित्रम् । प्रकृतिप्रत्ययांशवदसत्पदार्थपरिकल्पनं वाक्यार्थोपगमोपायतयाश्रीयते, न त्वर्थस्तदीयः । असत्यमपि सत्योपायतां प्रतिपद्यमानं दृश्यते । अलीका दंशादयः सत्यमरणकारणं भवन्ति, लिप्यक्षराणि चासत्यान्यपि सत्यार्थमादधति ।

अपि च, पारमार्थिकत्वे नियतमसंवादिरूपं प्रतीयते, विसंवादि तु नामाख्यातसाधारणवर्णसन्निवेशदर्शनान्न नियतं तेषां रूपम्, अतः काल्पनिकमेव तत्, न वास्तवम् । कालेन दन्तिनागा इत्यत्र कीदृशः पदविभाग इति न निश्चीयते, अर्थद्वयोपपत्तेः । किं कालेन कृष्णेन दन्तिना अगास्त्वम्, अथवा काले समये नदन्ति नागाः करिणः फणिनः । तस्मादनियमान्न पदतदर्थविभागः ।

ननु यथा पदेषु वर्णा न सन्ति, वाक्येषु पदानि न सन्ति, तथैव महावाक्येष्ववान्तरवाक्यानि न सन्ति, प्रकरणापेक्षया तान्यपि न सन्ति, शास्त्रापेक्षया प्रकरणान्यपि न सन्ति, ततोऽविभागमेकमेवाद्वयमापतति । उच्यते—परमार्थतस्तु शब्दब्रह्मैवेदमद्वयमनाद्यविद्यावासनोपप्लवमानभेदं विवर्तते । न तु तद्विभक्तं वाच्यमपि किञ्चिदस्ति । विवर्ततया काल्पनिक एव वाच्यवाचकविभागोऽभिधीयते । तदुक्तम्—'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥' अवबोधस्य वाग्रूपता चेदपगच्छेत् तदा प्रकाशो न प्रकाशेत 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥' परापश्यन्तीमध्यमावैखरीभेदेन तदेव व्यवस्थितम् ।

और न सिंह ही । इसी तरह से वाक्यार्थ भी पदार्थों से भिन्न ही है, जैसे कि पानक होता है । जैसे पानक (शर्बत) शर्करा, नागकेसर, मरीच आदि सबसे भिन्न स्वाद का होता है अथवा सिन्दूर, हरताल, लाक्षा आदि सबसे भिन्न चित्र वर्ण रहता है, यद्यपि ये सब बनते हैं उन्हीं पदार्थों से । अंश में जैसे असत् अर्थ की कल्पना की जाती है, वैसे ही पदार्थ में भी यह कल्पना वाक्यार्थ को जानने के लिये उपाय के रूप में की जाती है । वास्तव में पद, प्रत्यय, प्रकृति आदि का कोई अर्थ नहीं हैं । सत्य तक पहुँचने के लिये असत्य का भी सहारा दिया जाता है । मिथ्या सर्पदंश भी सत्य मृत्यु का कारण कभी-कभी हो जाता है । लिपि के अक्षर असत्य हैं, तो भी उनसे सत्य अर्थ की प्रतीति होती है ।

अपि च, यदि यह पारमार्थिक है तो उसकी नियमतः अविसंवादी रूप से प्रतीति होनी चाहिये । किन्तु यह तो विसंवादी है, क्योंकि नाम और आख्यात में (शब्द और धातु में) समान वर्णों का संनिवेश देखा जाता है, अतः इनका रूप नियत न होकर काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं । 'कालेन दन्तिनागाः' यहाँ पर कैसा पद विभाग है, इसका निश्चय नहीं हो पाता, क्योंकि यहां पर दो तरह के अर्थों की प्रतीति होती है कि कालेन अर्थात् कृष्ण वर्ण के हाथी से तुम गये अथवा (काले नदन्ति नागाः) समय पर नाग अर्थात् हाथी अथवा सर्प नाद करते हैं (चिंघाड़ते हैं, या फुँफकारते हैं) । अतः ऐसे स्थलों पर पदार्थ की संदिग्धता के कारण उसकी नियतोपस्थिति न होने से पद और पदार्थ का विभाग अवास्तविक है ।

प्रश्न है कि जैसे पदों में वर्ण नहीं है और वाक्यों में पद नहीं हैं, उसी तरह से महावाक्यों में अवान्तर वाक्य भी नहीं रहेंगे और प्रकरण की अपेक्षा से महावाक्य और शास्त्र की अपेक्षा से प्रकरण की कोई स्थिति नहीं रहेगी । ऐसी स्थिति में अविभागात्मक एक अद्वय तत्त्व ही बच रहेगा । इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि परमार्थतः अद्वय, अनादि एक शब्दब्रह्म ही अविद्या की वासना से उपद्रुत होकर नाना रूपों में बदल जाता है । इससे भिन्न किसी वाच्य की अलग से कोई स्थिति नहीं है । शब्दब्रह्म ही वाच्यवाचक रूप में बदल जाता है, अतः यह वाच्यवाचक विभाग काल्पनिक ही माना जाता है । जैसा कि कहा गया है—'इस संसार से यदि वाणी का उत्क्रमण हो जाय, जो कि ज्ञान का शाश्वत स्रोत है, तो प्रकाश भी प्रकाशित न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का परामर्श वाणी से ही होता है ।' ज्ञान में से यदि वाग्रूपता निकल जाय तो प्रकाश भी प्रकाशित न हो सकेगा । 'लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो कि बिना शब्द के अनुगम के हो सकता हो । सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही भासित होता है ।' यह शब्द ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के भेद से विभक्त होता है । स्थान, करण, प्रयत्न के क्रम से जिसका आकार अभिव्यक्त होता है, ऐसी वर्ण

स्थानकरणप्रयत्नक्रमव्यज्यमानाकारवर्णसमुदायात्मिका या वाक् सा वैखरी। विखरो देहेन्द्रियादिसंघातस्तत्र भवा वैखरी। 'स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥' याऽन्तःसङ्कल्प्यमानक्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णरूपा अभिव्यक्तिरहिता वाक् सा मध्यमा। 'केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥' या तु ग्राह्यभेदक्रमादिरहिता स्वप्रकाशसंविद्रूपा वाक् सा पश्यन्ती। 'अविभागात् पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥' योगिगम्यविभागवती पश्यन्ती अविभागसंविद्रूपा परा वागित्युच्यते। तस्माल्लोके वर्णपदपूर्वकव्यवहाराभावाद् वाक्यप्रयोगपूर्वकव्यवहारदर्शनाच्च तस्य चावयवावयविव्यवस्थानुपपत्तेर्निर्विभागमेतद्वाचकम्, तस्य च वाच्योऽर्थः।

एतेन पूर्वोक्ता धर्मकीर्तिसमुत्थापिता दुस्तर्काः पराहताः। अविद्यादशायां वर्णपदादिविभागसत्त्वेऽपि विद्यादशायां तदपोदनात्। एकं वाक्यमेकं पदमित्यबाधितासन्दिग्धदृढप्रतीतेरेव स्फोटे मानत्वात्। स्फुटयते व्यज्यते वर्णावयवैर्वर्णैः पदैरवान्तरवाक्यैरिति वा स्फोट इति व्युत्पत्त्या वर्ण-पद-वाक्य-स्फोटाः सिद्ध्यन्ति। स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति वा पदार्थवाक्यार्थव्यञ्जकत्वेन पदवाक्यस्फोटाः सिद्ध्यन्ति। ननु चैकत्वानेकत्वयोरयोग उक्त इति चेन्न, गजपदातितुरगा इति सेना इति च, धवखदिरपलाशा इति वनमिति चैकत्वानेकत्वव्यवहारस्य भूयो दर्शनात्। एवं पदपदार्थयोरुभयोरपि सत्त्वे तदाश्रितः सम्बन्धोऽप्यौत्पत्तिक एव। अत एवाश्रयणीयस्यायोगादेवमनाश्रितः स्यात्। तथा चासम्बन्ध इत्याद्यपास्तम्, आश्रयणीयस्य साधितत्वात्।

समुदायात्मक वाणी वैखरी कहलाती है। देह, इन्द्रिय आदि के संघात को विखर कहते हैं। इसमें उत्पन्न होने से यह वैखरी कही जाती है—'विभिन्न स्थानों में वायु के टकराव से वर्णादि का परिवर्तित रूप धारण करने पर प्रयोक्ता की प्राणवृत्ति के प्रयत्न से वैखरी वाणी अभिव्यक्त होती है।' अन्तःकरण में संकल्प के सहारे जिसके क्रम की अभिव्यक्ति होती है और जिसके वर्णों की निजी श्रोत्रेन्द्रिय से प्रतीति की जा सकती है, जिसका स्वरूप अभिव्यक्त नहीं होता, उसको मध्यमा वाणी कहते हैं—'केवल बुद्धि के उपादान से ही जिसमें क्रमरूपता का आभास होता है, वह मध्यमा वाक् प्राणवृत्ति से ऊपर विद्यमान रहती है।' जो वाणी ग्राह्य भेद से और क्रमभेद से रहित हो केवल स्वयंप्रकाश संविद्रूप है, उसको पश्यन्ती कहते हैं—'पश्यन्ती में किसी भी विभाग की स्थिति न रहने से, सब तरह से सभी प्रकार के क्रमों को अपने में समेट कर अन्दर स्वयं सतत प्रकाशित हो रही यही सूक्ष्म वाणी पश्यन्ती कहलाती है।' पश्यन्ती वाणी में भी योगिजन विभाग का दर्शन कर सकते हैं, किन्तु परा वाणी अविभाग संविद्रूप होती है। इसलिये लोक में वर्ण-पद पूर्वक व्यवहार नहीं होता, केवल वाक्य का प्रयोग करके ही सारा व्यवहार चलाया जाता है तथा वाक्य में अवयव और अवयवी की व्यवस्था नहीं हो पाती, अतः वाक्य निर्विभागावस्था में ही वाचक माना जाता है और अर्थ इसका वाच्य होता है।

ऐसा मानने से धर्मकीर्ति के द्वारा उठायी गयी पूर्व वर्णित सभी गलत युक्तियों का समाधान हो जाता है। अविद्या दशा (अज्ञान) में वर्ण-पद आदि का विभाग रहते हुए भी विद्या (ज्ञान) दशा में यह सब नष्ट हो जाता है। एक वाक्य है, एक पद है, इस तरह की अबाधित असंदिग्ध दृढ प्रतीति ही स्फोट में प्रमाण है। वर्णों के अवयवों से, वर्णों से, पदों से अथवा अवान्तर वाक्यों से जो स्फुट होता है, अर्थात् व्यक्त (प्रकट) होता है, उसे स्फोट कहते हैं। इसी व्युत्पत्ति से वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट सिद्ध होते हैं। अथवा अर्थ जिनसे स्फुट होता है, वह भी स्फोट है। इस व्युत्पत्ति से भी अपने अर्थों के व्यंजक होने से पदस्फोट और वाक्यस्फोट की सिद्धि होती है। प्रश्न है कि पहले हम कह चुके हैं कि एकत्व और अनेकत्व की एक साथ स्थिति नहीं रह सकती। इस प्रश्न का उत्तर भी पहले ही दिया जा चुका है कि गज, पदाति (पैदल) और तुरग (घोड़ा) के रूप में अनेकता को और सेना के रूप में एकता की प्रतीति होती है। इसी तरह से धव, खदिर और पलाश के रूप में अनेकता की और वन के रूप में एकता की प्रतीति संसार में खूब होती है। इसी तरह से अन्य अनेक वस्तुओं में एकत्व और अनेकत्व का एक साथ व्यवहार प्रायः देखा जाता है। इस तरह से पद और पदार्थ दोनों की सत्ता रहने से तदाश्रित सम्बन्ध भी स्वाभाविक ही माना जायगा। इसीलिये आश्रयणीय के न होने से यह अनाश्रित ही रहेगा। तब उसका सम्बन्ध किस प्रकार बनेगा, इस शङ्का का भी समाधान हो जाता है, क्योंकि आश्रयणीय की सिद्धि की जा चुकी है।

वेदानामपौरुषेयत्वम्

यदप्युक्तम्—'तदभिप्रायस्य प्रयोगादुत्पन्नोऽभिव्यक्तोऽर्थप्रतिपादनाव्यभिचारीति शब्दस्यार्थप्रतिपादनाभिप्रायकार्यत्वम्। एवं पौरुषेय एव शब्दार्थयोः सम्बन्धस्ततोऽपौरुषेयत्वकल्पना व्यर्थैवेति, तदप्यविचारितरमणीयम्, अमुकस्यार्थस्य प्रतिपादनायामुकः शब्दः प्रयोक्तव्य इति वृद्धव्यवहारादिभिः शिक्षितैर्व तथा प्रयोगात्। अशिक्षितस्य तथाऽदर्शनात्। शिक्षणं चौत्पत्तिकस्यैवाञ्जस्येनावकल्पते। ईश्वरकर्तृकस्तदुपदेश एव युक्तः।

यदप्युक्तम्—'अपौरुषेयतापीष्टा कर्तॄणामस्मृतेः किल। सन्त्यस्याप्यनुवक्तार इति धिग्व्यापकं तमः॥' (प्र० वा० ३।२४०)। सौगता मन्त्राणां कर्तॄन्नष्टकवामदेवविश्वामित्रादीन् स्मरन्ति। काणादाश्च हिरण्यगर्भं स्मरन्ति, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, तथात्वे विप्रतिपत्त्यनापत्तेः। सौगतकाणादानां कर्तृविशेषविषये वैमत्यं न भवेद्यदि निश्चितः कश्चिद्बौद्धागमानामिव वेदानामपि कर्ता स्यात्। वेदा अपि क्वचिदीश्वरं क्वचित् प्रजापतिं क्वचिद्धिरण्यगर्भं क्वचिदग्न्यादीन् कर्तॄनामनन्तीव। तत्र सम्प्रदायप्रवर्तकत्वमेव कर्तृत्वमिति स्पष्टमेव। 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' इति मन्त्रेण ब्रह्मनिर्मात्रापि वेदा न निर्मीयन्ते, किन्तु नित्यसिद्धा एव वेदा ब्रह्मणो हृदि प्रहीयन्ते (प्रेष्यन्ते)। तत एव ब्रह्माणं विदधाति, वेदान् प्रहिणोत्येव, न विदधाति। तदेवमवश्यस्मर्तव्यत्वे सति कर्तुरस्मरणादपौरुषेयत्वमेवायाति। सौगतास्तु पौरुषेयत्वेन बौद्धाद्यागमसाधारण्यख्यापनाय वेदानामपि कर्तॄन् मिथ्यैव स्मरन्ति। काणादास्तु वाक्यत्वहेतुना विश्वस्रष्टारं हिरण्यगर्भमेव कर्तारमनुमिन्वन्ति। तत्र चास्मर्यमाणकर्तृत्वमुपाधिः।

वेदों की अपौरुषेयता

कहा गया है कि—'वक्ता के अभिप्राय के अनुसार शब्द का प्रयोग होता है, उससे उत्पन्न अर्थात् अभिव्यक्त होने के कारण यह अर्थ के प्रतिपादन में कभी व्यभिचरित नहीं हो सकता, अतः इसका यह अभिप्राय हुआ कि शब्द का प्रयोग वक्ता की इच्छा के अनुसार अर्थ के प्रतिपादन के लिये किया जाता है। इस तरह से शब्दार्थ का सम्बन्ध पौरुषेय ही है, तब अपौरुषेयत्व की कल्पना व्यर्थ है'। किन्तु यह उक्ति भी अविचारित रमणीय है। अमुक अर्थ के प्रतिपादन के लिये अमुक शब्द का प्रयोग करना चाहिये, वृद्ध व्यवहार आदि से इसको समझ करके ही इस प्रकार का प्रयोग होता है। अशिक्षित व्यक्ति अपने अभिप्राय को ठीक से नहीं व्यक्त कर पाता। शिक्षा उसी अवस्था में सरलता से प्राप्त की जा सकती है, जब कि शब्दार्थ-सम्बन्ध को स्वाभाविक माना जाय। यह तभी हो सकता है, जब कि इस स्वाभाविक सम्बन्ध का उपदेष्टा ईश्वर को माना जाय।

यह भी कहा गया है कि—'वेदों की अपौरुषेयता इसलिये मानी जाती है कि उसका कोई कर्ता हमारी स्मृति में नहीं है, किन्तु यह कथन अयुक्त है, क्योंकि वेदों के कर्ता को बताने वाले अभी विद्यमान हैं, ऐसी परिस्थिति में भी वेदों के कर्ता की स्मृति न मानना एक व्यापक अज्ञान के सिवाय क्या कहा जा सकता है'। इसका अभिप्राय यह है कि बौद्ध अष्टक, वामदेव, विश्वामित्र प्रभृति को वेदों का कर्ता बताते हैं और कणाद-दर्शन के अनुयायी हिरण्यगर्भ को वेदों का कर्ता बताते हैं। यह बात कुश-काश का सहारा लेने के समान है, क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो इस विषय में परस्पर विप्रतिपत्ति (मतभेद) नहीं होनी चाहिये थी। यदि बौद्ध ग्रन्थों की तरह वेदों का भी कोई कर्ता होता तो सौगत (बौद्ध) और काणादों (वैशेषिक) में परस्पर इसके विषय में मतभेद नहीं होना चाहिये था। अर्थात् जैसे बौद्ध शास्त्रों के कर्ता निश्चित हैं, अतः उनमें मतभेद नहीं, ऐसे ही यदि वेदों का भी कर्ता कोई निश्चित हो तो उसमें मतभेद न होना चाहिये था। वेद स्वयं भी कहीं ईश्वर को, कहीं प्रजापति को, कहीं हिरण्यगर्भ और कहीं अग्नि प्रभृति को वेदों के कर्ता के रूप में मानते हैं। इन सब स्थलों में कर्तृत्व का अर्थ केवल सम्प्रदाय-प्रवर्तकत्व है, यह बात स्पष्ट है।' जो पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और बाद में उसको वेदों का उपदेश देता है' इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा को उत्पन्न करने वाला भी वेदों का निर्माण नहीं करता, किन्तु नित्यसिद्ध वेदों का ही वह ब्रह्मा के हृदय में संचार करा देता है। इसीलिये यहाँ पर ब्रह्मा के लिये विदधाति (बनाता है) क्रिया का और वेदों के लिये प्रहिणोति (भेजता है) क्रिया का प्रयोग किया गया है। इस तरह से जिसका स्मरण अवश्य रहना चाहिये, उसकी स्मृति न रहने से वेदों को अपौरुषेय ही मानना पड़ेगा। सौगत (बौद्ध) तो बौद्धागमों की तरह वेदों की भी साधारण स्थिति बताने की गरज से झूठ-मूठ ही वेदों के कर्ता की स्मृति मानते हैं। वैशेषिक भी वाक्यत्व रूप हेतु से विश्व के स्रष्टा हिरण्यगर्भ को ही वेदों का भी कर्ता मान लेते हैं, किन्तु उनके हेतु में स्मर्यमाणकर्तृत्व रूप उपाधि के रहने से वह सद्धेतु नहीं

ननु चैवं कुमारसम्भवादिष्वात्मानमन्यं वा कर्तारं व्यपदिशन्तः कालिदासादयोऽपि मिथ्यावादित्वेन प्रतिक्षेप्तुं शक्या इति कस्यापि पौरुषेयत्वं न स्यात्तथा चाभ्युपगमबाधः। यदि कुमारसम्भवादौ पौरुषेयत्वमिष्टं तदा वेदेऽपि कथं न तदिष्यते। न च वेदेऽपौरुषेयत्वमिष्टमिति वाच्यम्, आगमोपादाननिमित्ताया परीक्षायाः प्रागपौरुषेयो वेद इति कुत इष्टिः। वेदस्यापौरुषेयत्वे कर्तुरस्मरणं प्रमाणमुक्तम्, तत्र चोक्तो दोष इति चेन्न, कुमारसम्भवादौ सकर्तृकत्वे विप्रतिपत्त्यभावात्, प्रकृते च तरसत्त्वाद्वैषम्यसिद्धेः। अत एव प्रमीयमाणकर्तृत्वेन कुमारसम्भवादौ पौरुषेयत्वम्, वेदे त्वप्रमीयमाणकर्तृकत्वेनाविच्छिन्नपारम्पर्येण वाऽपौरुषेयत्वम्। लोके यथा वितथावितथवादिनां विवेको भवति, नहि वितथवादिदृष्टान्तेनावितथवादिनोऽपि वितथवादिनो भवेयुः। कुमारसम्भवादौ ग्रन्थे कर्तुर्नामोल्लेखेन तच्छिष्यादिपारम्पर्येणाविप्रतिपत्त्या च कालिदासादीनां कर्तृत्वं सिद्ध्यति। वेदे कर्तृनामोल्लेखाभावात्, पारम्पर्येण चाविप्रतिपत्त्या कर्तुरस्मरणात्, 'वाचा विरूपनित्यया' इति नित्यत्वश्रवणाच्चापौरुषेयत्वम्।

किञ्च, कुमारसम्भवादीनां सकर्तृकत्वे न कश्चिदपि विप्रतिपद्यते। वेदानां सकर्तृकत्वे तु बुद्धात्प्राचामपि विरोधः। वेद एव तन्नित्यत्वघोषः। ब्रह्मविधात्रापि तदनिर्माणमुक्तम्। मनुः पुराणञ्च वेदवाचमनादिनिधनां वक्ति—'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' इति। व्यासोऽपि 'अत एव च नित्यत्वम्' इति वेदस्य नित्यत्वमभिप्रैति। भगवद्गीतायाञ्च छन्दोन्वितवेदविशिष्टसंसारवृक्षस्याव्ययत्वमुक्तम्। नैवं कुमारसम्भवादिसम्बन्धे वक्तुं शक्यत इति विषमोपन्यासः। कुतोऽस्येयमिष्टिरप्रामाणिका स्यात्। यत्किञ्चिन्नहि सिद्धं सत्साधनमपेक्षते, येन पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वचिन्तयात्मानं दुःखयतीत्यादि सर्वमत्र धर्मकीर्तेरस्थाने प्रलापः। उक्तरीत्याऽपौरुषेयत्वस्य प्रामाणिकत्वात्।

रहता। यहाँ पर प्रश्न उठाया जाता है कि इस तरह से तो कुमारसम्भव प्रभृति ग्रन्थों का जो अपने को या अन्य किसी को कर्ता बताते हैं, उन कालिदास प्रभृति को भी मिथ्यावादी कहना पड़ेगा, इस तरह से तो किसी की ग्रंथ की पौरुषेयता सिद्ध न हो सकेगी, जो कि स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध बात होगी। यदि कुमारसम्भव प्रभृति ग्रंथों की पौरुषेयता इष्ट है तो वह वेदों में क्यों नहीं मानी जाती। वेदों की अपौरुषेयता ही इष्ट है, यह बात तब तक नहीं ठीक मानी जा सकती, जब तक कि आगम आदि के सहारे इसकी ठीक से परीक्षा नहीं कर ली जाती। वेद की अपौरुषेयता में कर्ता की अस्मृति को प्रमाण माना जाता है और इसमें उक्त दोष विद्यमान है। इसका उत्तर यह है कि कुमारसंभव आदि के कर्ता में किसी को भी किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति (मतभेद) नहीं है, किन्तु वेदों के कर्ता के विषय में वह है, अतः इन दोनों में अन्तर है। इसीलिये कर्ता का ज्ञान होने से कुमारसंभव आदि की पौरुषेयता और कर्ता का ज्ञान न होने से अविच्छिन्न परम्परा के आधार पर वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध हो जाती है। लोक में मिथ्यावादी से सत्यवादी का विवेक किया जाता है, मिथ्यावादी के दृष्टान्त से सत्यवादी को मिथ्यावादी नहीं माना जाता। कुमारसंभव आदि में ग्रन्थ के कर्ता के नाम का उल्लेख रहने से और उनके शिष्य आदि की परम्परा में वैमत्य के न रहने से भी कालिदास प्रभृति की कर्तृता सिद्ध हो जाती है। वेद में तो कर्ता के नाम का उल्लेख है नहीं और न परम्परा से बिना विप्रतिप्रत्ति के उसका कोई कर्ता भी स्मृति में विद्यमान है, अतः 'वाचा विरूपनित्यया' इत्यादि श्रुति वचनों के आधार पर उनकी अपौरुषेयता ही सिद्ध होती है।

कुमारसंभव आदि के कर्ता के विषय में कोई विवाद नहीं करता। वेदों का कर्ता मानने के विषय में बुद्ध से प्राचीन शास्त्रों में भी विरोध है। वेद में स्वयं ही उसके नित्यत्व की घोषणा की गई है। ब्रह्मा के निर्माता ने भी वेदों की रचना नहीं की है। मनुस्मृति और पुराण वेदवाणी को अनादिनिधन मानते हैं। 'वेद के रूप में स्वयम्भू ब्रह्मा ने अनादिनिधन नित्य वाणी को उद्भावित किया'। 'अत एव च नित्यत्वम्' इस वेदान्त सूत्र में व्यास भगवान् वेद की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं। भगवद्गीता में छन्दों से संयुक्त वेदविशिष्ट संसार वृक्ष को अविनाशी माना है। इस तरह की बात कुमारसंभव प्रभृति ग्रन्थों के विषय में नहीं कही जाती, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विषमता है। तब वेदों की अपौरुषेयता की दृष्टि अप्रामाणिक कैसे हो सकती है? 'जब जो कुछ मन में आया उसको सिद्ध करने के लिये साधन नहीं जुटाये जा सकते, तब फिर क्यों पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व की चिन्ता से आत्मा को दुःखी किया जाय' इस तरह की इस प्रसंग में दी गई धर्मकीर्ति की युक्तियाँ असमय के प्रलाप के सिवाय और क्या कहीं जा सकती हैं? क्योंकि उक्त पद्धति से वेदों की अपौरुषेयता प्रमाणों से सिद्ध की जा सकती है।

एतेन पौरुषेयाणामनेकेषां चिरकालातीतकर्तृकाणां कर्तुरस्मरणमस्ति, तथा वेदवाक्येष्वपि कर्तुरस्मरणमित्याद्य-पास्तम्, सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृत्वस्य वेदादन्यत्रादर्शनात्। कर्तुराप्तत्वज्ञानेनैव तत्तद्ग्रन्थोक्तबह्वायाससाध्येषु कर्मोपासनाद्यनुष्ठानेषु प्रवृत्तिः सम्भवति। तथा सत्यवश्यस्मर्तव्यः कर्ता। वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानादौ परमायास-साध्येऽपि शिष्टानामविच्छिन्नपारम्पर्येण प्रवृत्तिर्दृश्यते। अतोऽत्रापि यदि कर्ता स्यात्तदावश्यस्मर्तव्यः स्यात्। न च स्मर्यतेऽतोऽपौरुषेयत्वमेव वेदस्य ज्ञातव्यम्। कश्चित्तु कर्तुरस्मरणं दीर्घकालव्यवधानात् संभाव्यम्, मन्वादिभिः कर्तुरस्मरणे-नापौरुषेयत्वं वदति, तत्तु न किञ्चित्, स्मृतिकृत्कर्तृस्मरणविलोपस्यापि संभवात्। वेदशाखाः स्मृतयश्चानेका लुप्ता एवेति। तस्माद् यथा गोघटादिशब्दानां संप्रदायविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृत्वेन नित्यत्वमपौरुषेयत्वम्, तथैव वेदानामपि मन्तव्यम्।

यदप्युक्तम्—दृश्यन्ते च विच्छिन्नक्रियाङ्गसम्प्रदायाः कृतकाश्च यत्नवन्त उपलभ्यन्ते, नियमाभावादिति, तदप्यस्थाने विभ्रमः, सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकतायाः पौरुषेयवाक्येष्वभावात्। यत्र मुक्तकश्लोकादावस्मर्यं-माणकर्तृकता दृश्यते, तत्राविच्छिन्नपारम्पर्यं नास्ति। यत्र बौद्धाद्यागमेषु सम्प्रदायपारम्पर्यं तत्र स्मर्यमाणकर्तृकताप्यस्ति। अविच्छिन्नसम्प्रदायपारम्पर्यमस्मर्यमाणकर्तृकत्वञ्च वेद एवेति तत्रापौरुषेयत्वमेव।

यदप्युक्तमन्यत्राप्युपलम्भानुपलम्भस्य परोपदेशादप्रत्ययाद् अनुपलम्भस्यानिश्चयाहेतुत्वात् स्वयंकृतानामप्यप-ह्नोतृदर्शनाद् निष्ठागमनस्याशक्यत्वान्नापौरुषेयत्वमिति, तदप्ययुक्तम्, तथाऽदर्शनात्। दृश्यन्ते च साधारणस्यापि

उक्त प्रतिपादन से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि 'अनेक पौरुषेय ग्रन्थों के भी कर्ताओं को हुए बहुत समय बीत जाने पर उनकी स्मृति नहीं रह जाती, इसी तरह की अस्मृति वेद वाक्यों के विषय में है', क्योंकि संप्रदाय का विच्छेद न होने पर भी कर्ता की अस्मृति वेदों के सिवाय अन्यत्र नहीं देखी जाती। कर्ता की आप्तता का ज्ञान होने पर ही उन उन ग्रन्थों में प्रतिपादित बड़े परिश्रम से संपन्न होने वाले याग आदि कर्मों के और उपासना आदि के अनुष्ठान में प्रवृत्ति हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में कर्ता की स्मृति अवश्य रहनी चाहिये। वेद के अध्ययन, उसके अर्थ के ज्ञान और तत्प्रतिपादित अनुष्ठान आदि में कठिन परिश्रम होने पर भी शिष्ट जनों की अविच्छिन्न परम्परा से प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिये यहाँ पर भी यदि इनका कोई कर्ता है तो उसकी स्मृति अवश्य रहनी चाहिये थी। ऐसी कोई स्मृति है नहीं, अतः वेदों की अपौरुषेयता ही मान्य हो सकती है। कुछ लोगों का कहना है कि दीर्घकाल का व्यवधान होने से भी कर्ता की अस्मृति हो जाती है, इसलिये मनु प्रभृति को भी वेदों के कर्ता की स्मृति नहीं थी, अतः वेदों की अपौरुषेयता मानी जाती है। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृतिकार में भी स्मरण का विलोप माना जा सकता है। वेदों की अनेक शाखाएँ और अनेक स्मृतियाँ लुप्त हो गई हैं। इसलिये जैसे गो, घट प्रभृति शब्दों को सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता और कर्ता की स्मृति न रहने के आधार पर नित्यता और अपौरुषेयता मानी जाती है, उसी तरह से वेदों के विषय में भी मानना चाहिये।

कहा जाता है कि क्रिया के अंगभूत संप्रदायों का विच्छेद देखा जाता है। वे किसी के द्वारा निर्मित हैं और उनके लिये भी प्रयत्न करते हुए लोगों को देखा गया है, अतः अविच्छिन्न संप्रदाय में ही प्रयत्न हो ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु यह कथन भी बिना अवसर का भ्रममात्र है, क्योंकि सम्प्रदाय के अविच्छिन्न रहते हुए भी कर्ता की स्मृति न हो, ऐसी बात पौरुषेय वाक्यों के विषय में नहीं कही जा सकती। मुक्तक श्लोकों में उनके कर्ताओं की स्मृति इसलिये नहीं रहती कि वहाँ पर परम्परा विच्छिन्न हो जाती है। बौद्ध आदि के आगमों की सम्प्रदाय परम्परा अविच्छिन्न है तो वहाँ पर कर्ता की स्मृति भी विद्यमान है। इनके विपरीत अविच्छिन्न संम्प्रदाय-परम्परा के रहते हुए भी कर्ता की अस्मृति केवल वेद में ही है, अतः वेदों को अपौरुषेय ही मानना पड़ेगा।

यह भी कहा गया है कि 'वेदों से अन्यत्र भी कर्ता की उपलब्धि और अनुपलब्धि का निश्चय दूसरे के उपदेश से या अज्ञान से भी हो सकती है, अर्थात् उपलब्धि उपदेश से और अनुपलब्धि अज्ञान से हो सकती है। इसलिये अनुपलब्धि को कर्ता के अभाव के निश्चय का हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि अपने बनाये ग्रन्थ में भी नाम को छिपाने की प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः किसी

ग्रन्थस्य लेखकत्वेन स्वनामप्रख्यापकाः। विविधविद्यास्थानोपबृंहितस्य वेदस्य कर्ता स्वनामापह्नोतोति वालभाषितम्। कुतूहलितया स तथा करोतीत्यत्र बहूक्तमुदयनाचार्येण। 'अवश्यस्मरणीयस्य कर्तुरस्मरणं तथाऽधीत्यनुष्ठानसान्तत्यं पौरुषेयत्ववाधकम्॥ तस्मादपौरुषेयत्वं स्थितं वेदेष्वनाविलम्। कुशकाशोपमा व्यर्था धर्मकीर्तेश्च युक्तयः॥' एतेन 'यथाऽयमन्यतोऽश्रुत्वा नेमं वर्णपदक्रमम्। वक्तुं समर्थः पुरुषस्तथान्योऽपीति कश्चन॥' (प्र० वा० ३।२४१) इत्यस्यापि पूर्वोक्तमेवोत्तरम्। कुमारसम्भवादीनां कर्तृषु विवादादर्शनात्, ब्रह्मप्रद्वेषमात्रेण धर्मकीर्तिना तथाभिधानात्। वेदानामनाद्यविच्छिन्नपारम्पर्यस्य वेदैरुक्तत्वात्, मनुवशिष्ठव्यासादिसम्मतत्वाच्च। मोहादजातवाधनस्यापि कल्पने सर्वव्यवहारविच्छेदः स्यात्। तदुक्तम्—'उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि वाधनम्। स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत्'॥ ततः 'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा॥' इति सम्यगेव।

यदुक्तम्—'अन्यो वा रचितो ग्रन्थः सम्प्रदायादृते परैः। इष्टः कोऽभिहितो येन सोऽप्येवं नानुमीयते॥ एकेन रचितो ग्रन्थः सम्प्रदायादृते कोऽभिहितो दृष्टः, ततः सोऽप्यपौरुषेयः किन्नानुमीयते। नहि योपदेशमन्तरेण वेदं पठितुं शक्त इत्यपौरुषेयत्वं वेदवाक्यानामिष्टम्। सा चानुपदेशपाठाशक्तिरन्यत्रापि तुल्येति तदपि तुच्छम्, अप्रमीयमाणकर्तृकत्वादेव बुद्धादिभ्यो वेदा अतिप्राचीना इत्याधुनिकैरितिवृत्तिज्ञैरप्युपेयते। तत्र वेदे वेदस्य नित्यत्वं ब्रह्मनिर्मात्रा परमेश्वरेण तद्धृदि नित्यसिद्धा एव वेदाः प्रेष्यन्ते, न ते निर्मीयन्ते इति पूर्वमुक्तमेव। मन्वादिभिश्च वेदनित्यत्वं स्मर्यते।

निश्चय पर पहुँच पाना बड़ा कठिन हो जाता है, ऐसी अवस्था में किसी की अपौरुषेयता का निश्चय नहीं हो सकता।' यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता। साधारण ग्रन्थ लिखने वाला भी उसके लेखक के रूप में अपने नाम को प्रसिद्ध कराना चाहता है। विविध विद्यास्थानों से उपबृंहित वेदों का कर्ता अपने नाम को छिपायेगा, यह कहना बचकानापन ही कहा जा सकता है। कुतूहल पैदा करने के लिये वह ऐसा करता है? इसके उत्तर में उदयनाचार्य ने बहुत कुछ कहा है—'अवश्य स्मरणीय होते हुए भी कर्ता की अस्मृति और अध्ययनाध्यापन की सतत परम्परा वेदों की पौरुषेयता में बाधक है, वेदों की अपौरुषेयता बिना किसी विघ्न बाधा के स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है। धर्मकीर्ति की सारी युक्तियाँ नदी की बाढ़ में कुश-काश का सहारा लेने के समान व्यर्थ हैं।' अतः वेदों को पढ़ते समय आज का बालक बिना उपाध्याय की सहायता से उनको नहीं पढ़ सकता और उपाध्याय की सहायता मिल जाने पर पढ़ पाता है, ऐसा किसी मीमांसक का कहना है' इस तरह के धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक स्थित वचनों का भी यही उत्तर है। कुमारसंभव प्रभृति के कर्ताओं के विषय में कोई विवाद नहीं है। मात्र ब्राह्मणद्वेष के कारण धर्मकीर्ति इस तरह की बात करते हैं। वेदों की अनादि एवं अविच्छिन्न परम्परा का ज्ञान वेदों से ही होता है और मनु, वसिष्ठ, व्यास प्रभृति ने इसको माना भी है। किसी बाधक प्रमाण के न रहने पर भी अज्ञानवश उसकी कल्पना करने पर सारे लोक व्यवहार के ही उच्छेद की संभावना होने लगेगी। जैसा कि कहा गया है—'जो व्यक्ति किसी बाधक प्रमाण के न रहने पर भी अज्ञानवश उसकी कल्पना करने लगता है, ऐसे व्यक्ति की सभी व्यवहारों के प्रति संशयालु प्रवृत्ति होने से कोई स्थिति नहीं रह जाती।' इसलिये यह कहना ठीक ही है कि—'वेद का सारा अध्ययन गुरु-परम्परा से ही किया जा सकता है, जैसा कि आजकल देखा जाता है, अतः वेदाध्ययन की यही सामान्य स्थिति सदा के लिये मान्य है।'

यह भी कहा गया है कि—'वेद के अतिरिक्त किसी व्यक्ति के बनाये ग्रन्थों का अर्थ भी बिना किसी के समझाये कहाँ समझ में आता है, तो क्या इससे उस ग्रन्थ की भी अपौरुषेयता मान्य होगी।' एक व्यक्ति के रचित ग्रन्थ का भी अर्थ बिना संप्रदाय अर्थात् उपदेश परम्परा के कहाँ अभिहित होता है, तब उसको भी आप अपौरुषेय क्यों नहीं मानते? दूसरे के उपदेश के बिना कोई वेद को पढ़ नहीं सकता, अतः आप वेद वाक्यों को अपौरुषेय मानते हैं। यह बिना उपदेश के न पढ़ पाने की स्थिति अन्य ग्रन्थों की भी समान रूप से है।' किन्तु यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि वेदों की अपौरुषेयता का आधार प्रमाणों के द्वारा भी उसके कर्ता को सिद्ध न कर सकना है। वेद बुद्ध प्रभृति से अत्यन्त प्राचीन हैं, इस बात को आज कल के इतिहासज्ञ भी मानते हैं। वेदों में उनकी नित्यता प्रतिपादित है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रह्मा के निर्माता परमेश्वर ने उसके हृदय में नित्यसिद्ध वेदों को ही

न चैवं सति दुरभिसन्धिभिरन्यैरन्यग्रन्थेषु वेदसाधारण्यख्यापनाय यदपौरुषेयत्वमुच्यते, तद्वैदिकानुकरणमेव। यत्र समानविषया बहुषु ग्रन्थेषूपलभ्यन्ते, तेषां सर्वेषां मूलं सर्वप्राचीनग्रन्थ एव। ततोऽन्येषां तदनुकरणमेव, यथा गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्तस्याविर्भावको न्यूटन एव। तदनन्तरं तमेवं सिद्धान्तं विभिन्नया रीत्या यद्यपि सहस्रशो वैज्ञानिका वदन्तु, तथापि सिद्धान्ताविष्कारकस्तु न्यूटन एवान्ये तु तदनुकर्तार एव। तथैवापौरुषेयत्ववादिनो भवन्त्वनेके, परन्तु मूलभूतास्तु वैदिका एवान्ये तु तदनुकर्तार एव। असकृदुक्तमेतद्यत्कस्यचिल्लेखस्यापि लेखको महता समारोहेण विविधैरुपादिभिः स्वीयं नाम तत्र ग्रन्थे योजयति। वेदस्यापि यदि कश्चित्कर्ता भवेत्तदावश्यं तेन स्वनाम निर्देष्टव्यं भवेत्। अपि च, ग्रन्थ-निर्दिष्टोपायानामनुष्ठाने ग्रन्थकर्तुराप्तत्वज्ञानेनैव प्रवृत्तिर्भवति जनानां नान्यथा। तेन वेदैकगम्यानामनल्पायाससाध्यानां कर्मोपासनादीनामनुष्ठानेऽनादिनाऽनेहसा ब्रह्मविष्णुरुद्रप्रजापतिमनुवशिष्ठतुल्यानामपरिगणितानां शिष्टानां प्रवृत्तिरद्य यावदुपलभ्यते। तादृशस्य परममहत्त्वपूर्णस्य परमशिष्टैरनादिकालादाद्रियमाणस्य कोटिकोटिसंख्याकैर्जनैरनुस्रियमाणस्य वेदस्य कर्ता यदि भवेदवश्यं स्मर्तव्यः स्यात्। अवश्यस्मर्तव्यत्वे सत्यपि यस्य स्मरणं न भवेत्स नास्त्येवेति प्रत्येतव्यम्। वेदवाक्यैस्तदनुयायिभिः शिष्टैस्तु वेदस्य नित्यत्वमनादित्वञ्च प्रोच्यते। तेनापौरुषेयत्वं वेदस्याभ्युपेयते, न तु व्यस-नितया। कोऽप्यन्यो ग्रन्थो यो वेदवन्महत्त्वपूर्णो वशिष्ठादितुल्यैः शिष्टैश्चानादिकालादादृतो यदेकगम्ये साधने कोटिकोटि-जनानां प्रवृत्तिर्भवेदथ च तस्य कर्ता न स्मर्यते, यस्यानादित्वं नित्यत्वञ्च प्रामाणिकैरुक्तं भवेत्, न कोऽपि वेदादन्यस्तादृशो ग्रन्थ इति मुधैव कुमारसम्भवादीनां वेदसाधारण्यसाधने धर्मकीर्तेः प्रयासः। कुमारसम्भवादीनां प्रसिद्धाः कालिदासादयः

संचारित किया। वेद को मनु प्रभृति भी नित्य ही मानते हैं। इस परिस्थिति में पुस्तकों के आधार पर कुछ लोग अन्य ग्रन्थों को भी वेद के समकक्ष सिद्ध करने की दुरभिसन्धि से उनको अपौरुषेय सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु यह प्रवृत्ति वैदिकों का अनुकरणमात्र हैं। जहाँ पर बहुत से ग्रन्थों में समान विषयों का प्रतिपादन देखा जाता है, उनमें सबका मूल वही माना जाता है, जो कि सबसे प्राचीन हो। उससे भिन्न दूसरा ग्रन्थ उनका अनुकरणमात्र माना जायगा। जैसे कि—[1]गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का आविष्कारक न्यूटन को ही माना जाता है। उसके बाद इसी सिद्धान्त को अन्य सहस्रों विद्वानों ने भले ही तरह-तरह से प्रतिपादित किया हो, किन्तु इस सिद्धान्त का आविष्कारक तो न्यूटन को ही माना जायगा, अन्य सभी विद्वान् उसका अनुकरण करने वाले ही कहे जायँगे। इसी तरह से अपौरुषेयतावादी भले ही अनेक हो जाय, परन्तु उनके लिये प्रमाणभूत वैदिक ही है, अन्य सब उनके अनुकर्ता हैं। यह बात हमने बार-बार कही है कि किसी छोटे से लेख का लेखक भी बड़े समारोह के साथ अनेक उपाधियों से विभूषित करके अपने नाम को जोड़ता है। वेद का भी यदि कोई कर्ता होता तो उसके साथ उसने भी अपना नाम जोड़ा होता। दूसरी बात यह भी है कि ग्रन्थ में निर्दिष्ट उपायों के प्रति व्यक्ति की प्रवृत्ति तभी होती है, जब कि उस ग्रन्थ के कर्ता की आप्तता का निश्चय हो जाय, अन्यथा नहीं। वेदों के द्वारा प्रतिपादित कठिन आयाससाध्य कर्मों और उपासना आदि के प्रति अनादि काल से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, प्रजापति, मनु, वसिष्ठ तुल्य अपरिगणित शिष्टों की प्रवृत्ति आज तक निरन्तर देखी जा रही है। इस तरह के परम महत्त्वपूर्ण, परम शिष्टों के द्वारा अनादि काल से आदर के पात्र, कोटि-कोटि संख्या के मनुष्यों से अनुसृत वेदों का यदि कोई कर्ता होता, तो उसको इनकी स्मृति में अवश्य ही स्थान मिलता। इस तरह के अवश्य स्मरणीय कर्ता की भी यदि स्मृति नहीं है, तो उसकी कोई सत्ता नहीं है, यही मानना पड़ेगा। वेद वाक्य और उनके अनुयायी शिष्टगण वेद को नित्य और अनादि मानते हैं। इसीलिये वे वेद की अपौरुषेयता मानते हैं। किसी बात को बिना प्रमाण के यों ही मान लेने की उनकी कोई आदत (व्यसन) नहीं है। ऐसा वह कौन सा ग्रन्थ है, जो कि वेद के समान महत्त्वपूर्ण और वशिष्ठ आदि के सदृश शिष्ट जनों से अनादि काल से आदृत हो, जिसके द्वारा प्रतिपादित साधनों में कोटि-कोटि संख्या की जनता प्रवृत्ति हो और इसके उपरान्त भी उसके कर्ता की स्मृति विद्यमान न हो तथा जिसकी अनादिता और नित्यता प्रामाणिक जनों के द्वारा भी प्रतिपादित हो? वेदों के अतिरिक्त अन्य कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं हो सकता। इस तरह से धर्मकीर्ति का कुमारसंभव प्रभृति ग्रन्थों की वेदों से समानता सिद्ध करने का सारा प्रयास व्यर्थ है। कुमारसंभव प्रभृति ग्रन्थों के कर्ता

---

१. आधुनिक गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त यद्यपि सर आइजक न्यूटन द्वारा आविष्कृत माना जाता है, तथापि भास्कराचार्य प्रभृति ज्योतिष के विद्वानों द्वारा रचित सिद्धान्तशिरोमणि आदि ग्रन्थों में पृथ्वी में आकर्षण शक्ति की विद्यमानता स्पष्ट रूप से बताई गई है।

कर्तारः स्मिर्यन्त एव । तद्ग्रन्थेऽपि नानादित्वोक्तिः । न वा शिष्टैस्तदनादित्वमुच्यते । यैरपि हिब्रू-अरबीभाषामयधर्म-ग्रन्थानुयायिभिरिदानीं वेदवदेव स्वसम्प्रदायाभिमतधर्मग्रन्थानामीश्वरज्ञानमयत्वादिकं वक्तुमारब्धम्, तेषामपि तद्वैदिकसिद्धान्तानुकरणमेव । अधिकं तु वेदस्वरूपविमर्शे द्रष्टव्यम् ।

'अन्यः कस्तादृशो ग्रन्थो वेदवद्यस्य मान्यता । अनादिनिधनं नित्यं यं शिष्टाः सम्प्रचक्षते ॥ पारम्पर्यमविच्छिन्नं यदधीतेः प्रवर्तते । कोटिकोटिजने यस्य चेशवत्पूज्यता किल ॥ प्रमीयते च नो कर्ता स्वनित्यत्वञ्च वक्ति यः । वेदोक्तं शान्तिपुष्टयादि ह्यायुर्वेदोऽपि मन्यते । प्राप्तप्रामाण्यभावोऽपि तत्त्वनिष्ठाश्च कापिलाः । योगाः पातञ्जलाश्चापि काणादा गौतमास्तथा ॥ जैमिनीयाः पाणिनीया नैरुक्ता बादरायणाः । शिक्षाकल्पेषु निष्णाताः पौराणाश्चैतिहासिकाः । रामायणप्रवक्तारो वाल्मीकास्तान्त्रिकास्तथा ॥ बहुमानञ्च वेदानां प्रामाण्यं प्रवदन्ति हि । कोऽयं तथाविधो ग्रन्थो यस्य कर्ता न निश्चितः ॥'

यदपि धर्मकीर्तिना जल्पितम्—'यज्जातीयो यतः सिद्धः सोऽविशिष्टोऽग्निकाष्ठवत् । अदृष्टहेतुरप्यन्योऽविशिष्टः सम्प्रतीयते ॥' (प्र० वा० ३।२४३) । अदृष्टहेतवोऽपि भावास्तदन्यैः स्वभावाभेदमनुभवन्तस्तथाविधाः समनुमीयन्ते । यथा काष्ठादेको वह्निर्दृष्टस्तत्समानस्वभावाऽपरोऽपि तत्समानस्वभावोऽदृष्टहेतुरपि प्रतीयते । तथा च लौकिकेन शब्देन समानधर्मा वैदिकोऽपि शब्दो लौकिकवत्पुरुषहेतुकः स्यान्न वा कश्चिदपि तथा भवेत् । अथ हेतुरूपस्य पुरुषस्य निवृत्तावपि तद्रूपं (पौरुषेयं) वैदिकेषु शब्देषु न निवृत्तं भवेत्तदा कार्यधर्मव्यतिक्रमः स्यात् । ततः पुरुषान्न किञ्चिद्वाक्यं स्यादिति न कश्चिच्छब्दः पौरुषेयत्वेन वचनीयः स्यात् । रूपविशेषो वा वैदिकाच्छब्दाद्दर्शनीयो य एनं हेतुमनु-

कालिदास प्रभृति प्रसिद्ध हैं और इनकी स्मृति भी है। इन ग्रन्थों में भी इनको अनादि नहीं माना गया है। शिष्टजन भी इनको अनादि नहीं मानते। आजकल हिब्रू अरबी आदि भाषाओं में लिखे गये धर्म ग्रन्थों के अनुयायीगण वेद के समान ही अपने संप्रदाय के अभिमत धर्मग्रन्थों में ईश्वर का ज्ञान सुरक्षित है, ऐसा कहने लगे हैं। ये लोग भी उक्त वैदिक सिद्धान्त का ही अनुकरण करते हैं। इस विषय पर अधिक विस्तार से विचार हमारे 'वेदस्वरूप विमर्श' नामक ग्रन्थ में किया गया है, जो कि वहीं देखा जा सकता है।

'अन्य वह कौन सा ग्रन्थ है, जिसकी कि वेद के समान मान्यता हो, जिसको कि शिष्टजन अनादिनिधन एवं नित्य मानते हों, जिसकी अध्ययन परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तमान हो, कोटि-कोटि जन जिसको परमेश्वर के तुल्य पूजनीय मानते हों, जिसके कर्ता की कोई प्रसिद्धि नहीं हो, जो स्वयं अपने को नित्य कहता हो। आयुर्वेद भी शान्ति, पुष्टि प्रभृति वेदोक्त क्रियाकलापों को मान्यता देता है, जिसका प्रामाण्य सभी तरह से स्वतः सिद्ध है और जिसको तत्त्वनिष्ठ कापिल (सांख्य), पातंजल योग, काणाद, गौतम, जैमिनीय, पाणिनीय, नैरुक्त, बादरायण मत के अनुयायी तथा शिक्षा एवं कल्प सूत्रों में निष्णात विद्वान्, पौराणिक, ऐतिहासिक, रामायण के प्रवक्ता वाल्मीकि और तान्त्रिक भी बहुत आदर के साथ सर्वोत्कृष्ट प्रमाण मानते हों, वेद के अतिरिक्त वह कौन सा ग्रन्थ है, जिसका कि कोई कर्ता निश्चित नहीं है।'

धर्मकीर्ति ने यह भी कहा है कि—'अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा जिस हेतु से जो पदार्थ जिस जाति का प्रतीत होता है, वह तज्जातीय अविशिष्ट अन्य हेतु के न देखे जाने पर भी उसी तरह का मालूम पड़ता है। जैसा कि देखा जाता है कि अग्नि काष्ठ से पैदा होती है, अतः काष्ठ के न दिखाई देने पर भी अग्नि को देखकर काष्ठ का अनुमान हो जाता है'। स्वभाव की अभिन्नता को देखकर व्यक्ति ऐसे भावों की भी कल्पना कर लेते हैं, जिनके कि कारण को नहीं देखा गया है। जैसे कि काष्ठ को उत्पन्न हुए वह्नि को देखकर व्यक्ति उसी स्वभाव के वह्नि को यह किससे उत्पन्न हुआ, इसकी प्रतीति न होने पर भी जान लेता है कि यह भी वह्नि काष्ठ से ही उत्पन्न हुआ है। इसी तरह से लौकिक शब्द के सदृश ही वैदिक शब्द भी है। लौकिक शब्द जब पुरुषहेतुक है, तो वैदिक शब्द भी उसी तरह का होगा, अथवा ये दोनों ही पुरुषहेतुक न होंगे। हेतुरूप पुरुष की निवृत्ति होने पर भी उसका पौरुषेय रूप यदि वैदिक शब्दों में निवृत्त नहीं होगा तो कार्य के धर्मों में व्यतिक्रम हो जायगा। उस अवस्था में पुरुष से कोई भी वाक्य जन्य नहीं माना जायगा और इस तरह से किसी भी शब्द को पौरुषेय न कह सकेंगे। अथवा ऐसा कोई रूपविशेष वैदिक शब्द से उत्पन्न हुआ दिखाना पड़ेगा, जो कि

विदध्यात्। न च लौकिकवैदिकशब्दानां स्वभावभेदोऽस्ति, हेतुस्वभावस्य निवृत्तावपि वस्तूनामभेदे संभेद आकस्मिकः स्यादिति न क्वचिन्निवर्तेत। तस्याद्यत्स्वभावजन्मा यो दृष्टः सोऽन्यत्राऽप्रविभज्यमानो यतो दृष्टस्तत्कार्यतामग्नीन्धन-स्वात्मना न निवर्तते। वैदिकलौकिकवाक्यानां तुल्यरूपत्वे पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वभेदः किं कृतः? पुरुषकृत आकस्मिको वा? पुरुषान्तरेणापि वैदिकेषु वाक्येषु लौकिकवाक्यतुल्यत्वरूपविशेषो दृश्यते। तस्मात् दृष्टहेतुना कार्येणापृथक्क्रियमाणः तत्कार्यतां यातो दृष्टः स्वात्मना न निवर्तते। यथा दृष्टेनेन्धनकारणेनाग्निनाऽभेदमनुभवन्नदृष्टकारणोऽप्यग्निर्यथेन्धन-कार्यतां नातिवर्तते तद्वत्, इत्येतदपि न समीचीनम्, तुल्यरूपत्वेऽपि लोके विशेषदर्शनात्। तथाहि-यथा वाक्यानां पौरुषे-यत्वाविशेषेऽप्याप्तानाप्तोक्तत्वेन प्रामाण्याप्रामाण्यभेदः, तथैव वाक्यत्वाविशेषेऽपि स्मर्यमाणकर्तृकत्वास्मर्यमाणकर्तृकत्वाभ्यां पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वविशेष उपपद्यते। यथा घटाङ्कुरयोः सावयवत्वेन कार्यत्वतौल्येऽपि पौरुषेयत्वभेदोऽभ्युपेयते, तथैव लौकिकवैदिकवाक्येषु वाक्यत्वसाम्येऽपि निरपेक्षसापेक्षोच्चरितत्वेन पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वभेदः। वाक्यत्वेन पुरुषोच्चरितत्वमनुमातव्यम्, न प्रथमोच्चरितत्वं निरपेक्षोच्चरितत्वं वा, अप्रयोजकत्वात्। अपि च, वर्णात्मकस्य शब्दस्य नित्यत्वेन यज्जातीयो यतो जात इति स्वरूपासिद्धो हेतुः, तस्माद्धर्मकीर्तिप्रलपितं यत्किञ्चित। 'यज्जातीयो यतः सिद्ध इति प्रकृतबाधितम्। यतः शब्दस्य नित्यत्वमितरत्र प्रसाधितम्॥ पुरुषोच्चरितं वाक्यमित्यस्मिन्नियमेऽपि हि। निरपेक्षे च सापेक्षे प्रथमेऽप्रथमे तथा॥ न बाधा दृश्यते काचिदुभयत्र समो हि सः।'

यदप्युक्तम्—'तत्राऽप्रदर्श्य ये भेदं कार्यसामान्यदर्शनात्। हेतवः प्रवितन्यन्ते सर्वे ते व्यभिचारिणः। (प्र० वा० ३।२४४)। 'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा॥ अतीतानागतौ

इसको हेतु बनावे। इस तरह का स्वभावभेद लौकिक एवं वैदिक शब्दों में देखा तो नहीं जाता। हेतु के स्वभाव की निवृत्ति हो जाने पर भी यदि वस्तुओं की अभिन्नता मानी जाती हैं, तो वह भेद आकस्मिक ही माना जायगा और ऐसी अवस्था में वह कहीं निवृत्त न हो, ऐसा भी संभव हो सकता है। इसलिये जो जिस तरह के स्वभाव से उत्पन्न देखा जाता है, यह अन्यत्र भी जिससे अलग स्वभाव का प्रतीत नहीं होता, वहाँ पर भी अग्नि और इन्धन के रूप में उसकी कार्यता से निवृत्त नहीं होता। वैदिक और लौकिक वाक्य भी जब अन्य स्वभाव के हैं तो इनमें पौरुषेयता और अपौरुषेयता का भेद किस कारण से होगा? यह पुरुषकृत है या आकस्मिक? दूसरा पुरुष भी वैदिक वाक्यों में लौकिक वाक्यों से तुल्यरूपता ही देखता है। इसलिये जिसका हेतु नहीं देखा गया, ऐसे कार्य से अपृथक् क्रियमाण वस्तु भी दृष्टहेतुक कार्य के हेतु से उत्पन्न होने वाला ही माना जायगा। वह अपने इस स्वभाव को छोड़ता नहीं। जैसे कि इन्धन रूप कारण से उत्पन्न होते देखा गया अग्नि अन्यत्र उससे उत्पन्न हुआ है, ऐसा न दिखाई देने पर भी इन्धन की कार्यता से निवृत्त नहीं होता, उसी तरह से लौकिक-वैदिक वाक्यों में पौरुषेयता की निवृत्ति नहीं हो सकती'। ऊपर का यह पूरा प्रतिपादन समीचीन नहीं है। तुल्यरूपता के रहते हुए भी लोक में भेद देखा जाता है। जैसे कि वाक्यों में समानरूप से पौरुषेयता के रहते भी आप्तोक्त और अनाप्तोक्त होने के कारण प्रामाण्य और अप्रामाण्य का भेद रहता है, उसी तरह से वाक्यत्व हेतु की समानता के रहते हुए भी स्मर्यमाणकर्तृकत्व और अस्मर्यमाणकर्तृकत्व के भेद से उसमें पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व की विशेषता रह सकती है। जैसे घट और अंकुर में सावयवता के आधार पर कार्यता के समानरूप से रहने पर भी उनमें पौरुषेयता और अपौरुषेयता मानी जाती है, उसी तरह से लौकिक और वैदिक वाक्यों में वाक्यत्व रूप सामान्य धर्म के रहते हुए भी निरपेक्ष और सापेक्ष उच्चारण के आधार पर पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व का भेद होता ही है। वाक्यत्व हेतु से केवल पुरुषोच्चरितत्व मात्र का अनुमान हो सकता है, प्रथमोच्चरितत्व अथवा निरपेक्षोच्चरितत्व का नहीं, क्योंकि हेतु की प्रयोजकता पुरुषोच्चरितत्व को ही सिद्ध कर समाप्त हो जाती है। अपि च, वर्णात्मक शब्द तो नित्य है, अतः 'जिस जाति वाला जिससे पैदा होता है' यह प्रमाणवार्तिक में उद्धृत हेतु स्वरूप से ही असिद्ध हैं। इस तरह से धर्मकीर्ति का यह सारा प्रलाप निराधार है। 'यज्जातीय पदार्थ जिससे सिद्ध होता है' इत्यादि तर्क प्रकृत में बाधित है, क्योंकि शब्द की नित्यता अन्यत्र सिद्ध की जा चुकी है। वाक्य पुरुष के द्वारा ही उच्चरित होता है, ऐसा नियम मान लेने पर भी उसकी निरपेक्षता और सापेक्षता में तथा उसकी प्राथमिकता और अप्राथमिकता में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती, क्योंकि वाक्यत्व हेतु इन दोनों ही अवस्थाओं में समानरूप से विद्यमान है।

धर्मकीर्ति ने यह भी कहा है कि—'कार्य के स्वभाव भेद को बिना दिखाये सामान्य दर्शन के आधार पर जो हेतु दिये जाते हैं, वे सब व्यभिचारी हैं'। 'वेद का सारा अध्ययन गुरुपरम्परा के आधार पर ही होता है, जैसा कि आजकल होता है। इसलिये

कालौ वेदकारविवर्जितौ। कालत्वात्तद्यथा कालो वर्तमानः समीक्ष्यते ।। ब्रह्मादयो न वेदानां कर्तार इति गम्यताम्। पुरुषत्वादिहेतुभ्यस्तद्यथा प्रकृता नराः ।।' सर्वे चैते हेतवोऽनैकान्तिकाः। यथान्योऽपि पथिककृताग्निरदृष्टहेतुत्वाज्ज्वालान्तरपूर्वको न काष्ठनिर्मथनपूर्वकपथिकाग्निवत्, ज्वालेतरजन्मनोर्बाध्यबाधकभावे ज्वालाप्रभवत्वमन्यथापि स्यात्, तथा च ज्वालापूर्वक एवाग्निरिति न नियन्तुं शक्यते, अरणिनिर्मन्थनप्रभवस्याप्यग्नेर्दर्शनात्। पथिकाग्निर्ज्वालाप्रभवः स्यान्न सर्वोऽप्यग्निः, विशेषप्रतिक्षेपस्य कर्तुमशक्यत्वात्। तथैव नैकस्य परपूर्वकमध्ययनमन्यस्यापि तथाभावं साधयति। वेदे क्रियाशक्तिरहितस्य गुर्वध्ययनपूर्वकं दृष्टं यद्यपि तथा हिरण्यगर्भादीनां न तथा च नियमः, तेषां परपूर्वकत्वमन्तरेणापि स्वयमुपरचय्याध्ययनसम्भवात्, तदपि चर्वितचर्वणमेव, वेदक्रियाशक्तेरसिद्धत्वात्। वह्नेर्ज्वालापूर्वकत्वं निर्मथनपूर्वकत्वञ्च दृष्टमेव, नैवं वेदस्य स्वयमुपरचय्याध्ययनं दृष्टमिति वैषम्याच्च।

यच्च कथं विशेषस्य सम्भवो यावता तेषामप्यशक्तिरेवेदानीन्तनपुरुषवदित्याक्षिप्योक्तम्—शक्त्योर्न किञ्चिद्विरोधदर्शनमस्ति, तस्मान्न विरुद्धविध्यनुपलब्धिप्रयोगो गमकः, नह्यतीन्द्रियेषु सहानवस्थानलक्षणस्य विरोधस्य प्रतीतिरित्युक्तम्, नापि परस्परप्रतिषेधस्थितिलक्षणस्य विरोधस्य प्रतीतिः, शक्त्यशक्त्योः पुरुषापुरुषत्वयोस्तथात्वेऽपि शक्तिपुरुषयोस्तदभावात्। यदि पुरुषाः शक्ता इदानीन्तना अपि स्युरित्यपि दुःसाध्यम्, यत्रैकस्याशक्तिस्तत्र सर्वपुरुषाणामप्यशक्तिरित्यपि व्यभिचारी, भारतादिष्वपीदानीन्तनानामशक्तावपि कस्यचिच्छक्तिसिद्धिरित्यादि जल्पितम्,

पूर्वकाल में भी वेद का अध्ययन इसी तरह गुरु-परम्परा से ही होता था। अतीत और अनागत काल में भी वेद का कोई कर्ता नहीं माना जाता, जैसा कि आजकल नहीं माना जाता, यहाँ पर निर्दिष्ट कालत्व हेतु सर्वत्र विद्यमान है। ब्रह्मा प्रभृति भी वेदों के कर्ता नहीं हो सकते, जैसे कि प्राकृत जन उसके कर्ता नहीं हैं। यहाँ पर पुरुषत्व हेतु दोनों में विद्यमान हैं। ऊपर दिये गये ये तीनों हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हैं। जैसा कि यह हेतु अनैकान्तिक होता है कि पथिक कृत अन्य अग्नि को भी वह किससे पैदा हुई, इसको बिना देखे ही यह सिद्ध कर देना कि यह ज्वालान्तरपूर्वक ही है, काष्ठनिर्मथन पूर्वक नहीं, जैसे कि इस पथिक के द्वारा जलाई अग्नि ज्वालान्तर पूर्वक है। ज्वालान्तरजन्य अग्नियों में बाध्यबाधकभाव की उपस्थिति होने पर ज्वालाप्रभवत्व अन्य पद्धति से भी हो सकता है, अतः ज्वालापूर्वक ही अग्नि है, यह नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि अरणि के निर्मथन से भी अग्नि की उत्पत्ति होती है। इस तरह से रास्ते चलते पथिक के द्वारा सुलगाई अग्नि ज्वालान्तरप्रभव हो सकती है, किन्तु इससे सभी तरह की अग्नि ज्वालाप्रभव (जलती हुई अग्नि की ज्वाला से सुलगाई गई दूसरी अग्नि) ही होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसी तरह से एक जगह गुरुपरम्परा से देखा गया अध्ययन सर्वत्र गुरुपरम्परा को ही अनिवार्य रूप से सिद्ध नहीं कर सकता। वेद में जिनकी निर्माण की सामर्थ्य नहीं है, उनमें भले ही गुरु-परम्परा से अध्ययन मान लिया जाय, किन्तु हिरण्यगर्भ प्रभृति के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे गुरु-परम्परा के बिना भी स्वयं वेदों का निर्माण कर अध्ययन कर सकते हैं'। यह सब कथन चर्वितचर्वण मात्र है, क्योंकि इनमें भी वेद के निर्माण की सामर्थ्य किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। वह्नि की ज्वालापूर्वकता और निर्मथनपूर्वकता दोनों दृष्ट है, इसी तरह से वेद की स्वयं रचना करके अध्ययन करने की बात किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। इस तरह से दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में वैषम्य भी विद्यमान है।

'हिरण्यगर्भ प्रभृति में किसी प्रकार की विशेषता कैसे आ सकती है, क्योंकि आजकल के पुरुषों की तरह उनमें भी वेद के निर्माण की सामर्थ्य नहीं आ सकती' इस तरह के आक्षेप को उपस्थित करके यह जो कहा गया है कि—'शक्तियों में कोई विरोध नहीं देखा जाता। इसलिये अविरुद्ध विधि से अनुपलब्धि का तर्क यहाँ गमक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों में सहानवस्थान लक्षण विरोध की प्रतीति नहीं हो सकती।' साथ ही यह भी कहा गया है कि—परस्पर प्रतिषेध रूप से रहने वाले विरोध की भी प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि शक्ति और अशक्ति, पुरुषत्व और अपुरुषत्व की ऐसी स्थिति रहने पर भी शक्ति और पुरुष में इस स्थिति का अभाव है। यदि पहले के पुरुष समर्थ हैं तो आज के भी समर्थ होने चाहिये, इसको सिद्ध कर पाना भी कठिन है। जहाँ पर एक पुरुष असमर्थ है, वहाँ अन्य पुरुष भी समर्थ न होंगे, यह बात गलत भी है। महाभारत प्रभृति की रचना में इदानीन्तन पुरुष के असमर्थ होने पर भी किसी की शक्ति सिद्ध ही है।' किन्तु यह सब कथन भी उत्तरदाता के भाव को न समझने का ही परिणाम है।

तदपि तुच्छम्, भावानवबोधात्। तथाहि—नह्यत्र पुरुषोच्चरितत्वमात्रेण पौरुषेयत्वं तद्भिन्नमपौरुषेयत्वमभिप्रेतम्, तादृशस्य पौरुषेयत्वस्य वेदेऽप्यभिमतत्वात्, किन्तु प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वमेव पौरुषेयत्वम्। तदेव निरपेक्षोच्चरितत्वं प्रथमोच्चरितत्वञ्च, तद्भिन्नमपौरुषेयत्वम्। तथाग्निहोत्रादिस्वर्गादिकार्यकारणभावो वेदार्थः प्रत्यक्षानुमानागम्यः। तत्र प्रत्यक्षानुमानशरणेन स कार्यकारणभावो नतरां गम्यः, नतमाञ्च प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तमुपलभ्य वेदरचयितृत्वं कस्यचिदुपपद्यते। न च कस्यचित्प्रत्यक्षानुमानाभ्यामगम्योऽपि धर्मो वेदार्थः कस्यचिद्धिरण्यगर्भादेः पुरुषधौरेयस्य गम्यो भविष्यतीति वाच्यम्, प्रत्यक्षादीनां नियतविषयत्वात्। यथा नेत्रस्य रूपमेव विषयो न गन्धः, घ्राणस्य गन्ध एव विषयो न रूपं यथैतत्पुरुषसामान्यस्य तथैव पुरुषविशेषस्यापि योगजादिसामर्थ्येन दूरसूक्ष्मादिदृष्टावेव वैशेष्यं न विषयातिक्रमणम्। नह्येवं कल्पयितुं शक्यते यद्यप्यपीदानीं घ्राणेन रूपं नोपलभ्यते, तथापि कदाचिद्विशिष्टैर्घ्राणेनापि रूपमुपलभ्यते। 'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्। दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ तु न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥' इत्युक्तेः। तेन रूपादिहीनत्वान्न धर्मे प्रत्यक्षप्रवृत्तिः, लिङ्गाभावान्नानुमानस्यात एवाज्ञातज्ञातकत्वेन तत्र वेदादिशास्त्रस्य प्रामाण्यम्, न च तर्हि भारतादीनामपि धर्मब्रह्मबोधकत्वेन कथं व्यासादीनां तत्कर्तृत्वमपि घटेतेति वाच्यम्, व्यासादीनां प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपौरुषेयैर्मन्त्रब्राह्मणात्मकैर्वेदैस्तदविरुद्धैरार्षैर्विज्ञानैश्च तांस्तानर्थानुपलभ्य भारतादिनिर्मातृत्वसम्भवात्। यद्येवमेव पूर्वतनान् वेदाननुसृत्योत्तरोत्तरवेदनिर्माणमभ्युपेयते, तदा यद्यानुपूर्वीपरिवर्तनं तदा तद्व्याख्यानमेव न वेदनिर्माणम्। यद्यानुपूर्व्या अपरिवर्तनं तदा तदेव—'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्'

हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि केवल पुरुष से उच्चरित ही पौरुषेय और तद्भिन्न अपौरुषेय कहलायगा, क्योंकि इस तरह की पुरुषोच्चरितत्व रूप पौरुषेयता तो हम वेद में भी मानते हैं, किन्तु प्रमाणान्तर से वस्तु को जान कर रचना करना पौरुषेयता कहलाती है, इससे भिन्न अपौरुषेयता है। इसीको निरपेक्षोच्चरितत्व और प्रथमोच्चरितत्व के नाम से भी जाना जाता है। इसी तरह से अग्निहोत्र-स्वर्गादि का कार्यकारणभाव बतानेवाला वेदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमानगम्य नहीं है। केवल प्रत्यक्ष और अनुमान का सहारा लेने वाले व्यक्ति को इस कार्यकारणभाव की प्रतीति कभी नहीं हो सकती और इस परिस्थिति में प्रत्यक्ष और अनुमान से उस अर्थ को जानकर वेद की रचना कर सकना तो किसी के भी लिये बड़ी दूर की बात है। किसी साधारण व्यक्ति के लिये प्रत्यक्ष और अनुमानगम्य न होते हुए भी वेदार्थ रूपी धर्म हिरण्यगर्भ प्रभृति पुरुषधौरेयों के प्रत्यक्षानुमान से गम्य हो सकेगा, ऐसा भी नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यक्षादि के विषय नियत हैं। जैसे नेत्र का विषय रूप ही है, गन्ध नहीं; घ्राण का गन्ध विषय ही है, रूप नहीं; यह नियम जैसे सामान्य पुरुष के लिये लागू होता है, उसी तरह से विशेष पुरुष के लिये भी लागू है। योगज सामर्थ्य से भी दूर-सूक्ष्मादि दृष्टि में ही वैशिष्ट्य आ जाता है, इससे भी इन्द्रियों के विषय नहीं बदल जाते। हम ऐसी कल्पना नहीं कर सकते कि यद्यपि इस समय घ्राणेन्द्रिय से रूप उपलब्ध नहीं होता तो भी किसी समय कोई विशिष्ट व्यक्ति घ्राण से भी रूप को देख सकता है। 'जिस किसी इन्द्रिय में यदि कभी कोई वैशिष्ट्य आ भी जाता हो तो उससे वह अपने विषय का उल्लंघन नहीं कर सकती। चक्षु में दूर की वस्तु को और सूक्ष्म वस्तु को देखने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह कान की तरह सुनने भी लगे।' धर्म रूपादि से रहित है, अतः उसमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न होगी, लिंग के अभाव में अनुमान भी प्रवृत्त न होगा। इसी लिये अज्ञात धर्म के ज्ञापक के रूप में वेद आदि शास्त्र ही वहाँ पर प्रमाण के रूप में प्रवृत्त होंगे। प्रश्न है कि भारत आदि ग्रन्थ भी तो धर्म और ब्रह्म के बोधक हैं, तो इनके निर्माण में व्यास आदि को कैसे समर्थ माना जा सकेगा? उत्तर है कि व्यास आदि प्रत्यक्ष और अनुमान से अपौरुषेय मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद से और इनसे अविरुद्ध आर्ष विज्ञान से उन उन अर्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, अतः उनमें भारत आदि के निर्माण की सामर्थ्य मानी जाती है। यदि इसी तरह से पूर्वतन वेदों का अनुसरण कर उत्तरोत्तर वेदों का निर्माण माना जाय तो इसमें आनुपूर्वी में परिवर्तन आ जायगा। ऐसी अवस्था में बाद का वेद निर्माण वेद व्याख्यान मात्र रह जायगा, वेद का निर्माण नहीं। यदि आनुपूर्वी में परिवर्तन नहीं माना जाता तो आपको हमारी इस उक्ति को ही सही मानना पड़ेगा कि--'वेद का सारा अध्ययन गुरु परम्परा के आधार पर होता है।'

एतेन स्वभावभेदस्य दर्शितत्वात्। तस्मात् कारणानि विवेचयता अर्थेषु तदतत्प्रभवेषु स्वभावभेदो दर्शनीय इत्यपि समाहितमेव।

यदुक्तम्—नात्र लौकिकवैदिकवाक्ययोः स्वभावनानात्वं पश्यामः, असति च तस्मिन् सामान्यस्य तुल्यरूपस्यैवादर्शनात्। पौरुषेयत्वमपौरुषेयत्वं वा व्यवस्थापनतत्स्वभावसम्बन्धिना व्यभिचारः संभाव्यत एवेत्यादि, तदपि प्रतिक्षिप्तम्, वर्णक्रमलक्षणस्य तुल्यत्वेऽपि वैदिकवाक्येष्ववश्यस्मर्तव्यत्वे सत्यप्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वपुरुषबुद्ध्यगम्यधर्माधर्मप्रतिपादकत्वायिच्छिन्नपारम्पर्यानादित्वादिस्वभावभेदस्य सिद्धत्वात्।

यदपि वेदावेदयोस्तत्त्वलक्षणोऽस्ति विशेष इत्याशङ्क्योक्तम्, तन्न केवलमनयोर्डिण्डिक(नग्नाचार्य)-पुराणेतरयोरप्यस्ति। न च तावता स्वप्रक्रियाभेददीपनो नाम भेदो बाधते, अन्यत्रापि प्रसङ्गादिति, तदपि तुच्छम्, लक्षणभेदरहितस्य नाममात्रभेदस्य तथात्वेऽपि पूर्वोक्तलक्षणलक्षितस्य वेदस्येतरवाक्यासाधारण्यात्। तेनैव च वेदस्य पौरुषेयत्वं सिद्ध्यति।

यदप्युक्तम्—यदि तु तादृशीं रचनां पुरुषाः कर्तुं न शक्नुयुः, कृतां वा अकृतसङ्केतो विवेचयेत् तदा व्यक्तमपौरुषेयो वेदः स्यादिति, तदपि न, उक्तोत्तरत्वात्। तथाहि—प्रत्यक्षानुमानाविषयत्वाद्वेदार्थस्येति न तदर्थमुपलभ्य वाक्यरचनां पुरुषाः कर्तुः शक्नुवन्तीत्युक्तमेव। यथा वाक्यत्वाविशेषेऽपि सत्यमिथ्यात्वशुद्धाशुद्धत्वादिभेदव्यवस्था, तथैव सादित्वानादित्वापौरुषेयत्वादिभेदव्यवस्थाप्युपपद्यते।

पुरुषाणामेव मन्त्रकरणशक्तिः। अपि च, मन्त्रो नाम नान्यदेव किञ्चित्, किं तर्हि सत्यतपःप्रभाववतां समीहितार्थसाधनवचनं मन्त्रः। तदद्यत्वेऽपि पुरुषेषु दृश्यत एव, यथास्वं सत्याधिष्ठानबलाद् विषदहनादेः

इस उक्ति के द्वारा वेदाध्ययन में स्वभावभेद की स्पष्ट प्रतीति करा दी गई है। अतः आपकी इस उक्ति का भी समाधान हो जाता है कि कारणों का विवेचन करते समय कुछ अर्थ उनसे उत्पन्न होते हैं, कुछ नहीं, इसके लिये स्वभाव भेद को दिखाना पड़ेगा।

आपने यह भी कहा है कि 'हम लौकिक और वैदिक वाक्यों में स्वभाव की कोई भिन्नता नहीं देख पाते, इसके अभाव में सामान्य रूप से वाक्य को एक ही स्वभाव का होना चाहिये। पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व की व्यवस्था में स्वभाव भेद के न रहने पर परस्पर व्यभिचार की संभावना बनी रह सकती है।' इसका समाधान इस तरह से है कि वर्णों के क्रम की समानता के होने पर भी वैदिक वाक्यों में अवश्य स्मर्तव्य होने पर भी अस्मर्यमाणकर्तृकत्व, पुरुषबुद्धि के अगम्य धर्माधर्म का प्रतिपादकत्व और अविच्छिन्न परम्परा के कारण अनादित्व के रूप में लौकिक वाक्यों की अपेक्षा स्वभावभेद विद्यमान है।

'वेद और वेदभिन्न वाक्यों में तात्त्विक वैशिष्ट्य है' ऐसी आशंका उठाकर आपने कहा है कि 'केवल इनमें ही नहीं, किन्तु डिण्डक (नग्नाचार्य) के पुराण और तद्भिन्न वाक्यों में भी तात्त्विक वैशिष्ट्य है, किन्तु इतने से, अपनी प्रक्रिया में केवल भेद का प्रकाशक मात्र होने से वाक्यों में भेद नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब अन्यत्र भी भेद को स्वीकार करना पड़ेगा।' इसका समाधान यह है कि जहाँ पर केवल नाममात्र का भेद है, लक्षण का नहीं, वहाँ आपकी उक्त आपत्ति लागू हो सकती है, किन्तु वेद के विषय में पूर्वोक्त तीन लक्षणों से इतर वाक्यों से उसका वैशिष्ट्य प्रतीत होता है, अतः वह इतर वाक्यों के समान नहीं माना जा सकता। इसीसे वेद की अपौरुषेयता भी सिद्ध हो जाती है।

आपने यह भी शंका उठाई है कि 'वेद को अपौरुषेय तो तब माना जा सकता है, जब कि उस तरह की रचना को पुरुष करने में समर्थ न हों, रचना हो जाने पर भी बिना ही संकेत के उसकी व्याख्या हो सकती हो', किन्तु इसका उत्तर दिया जा चुका है। हम यह कह चुके हैं कि वेद का अर्थ प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय नहीं है, अतः उसके अर्थ को प्रत्यक्ष या अनुमान से जानकर पुरुष वाक्य की रचना में समर्थ नहीं हो सकता। जैसे समानरूप से वाक्य होते हुए भी सत्य और मिथ्या वाक्यों में, शुद्ध और अशुद्ध वाक्यों में भेद माना जाता है, उसी तरह से सादित्व-अनादित्व, अपौरुषेयत्व-पौरुषेयत्व आदि वाक्यों के भेदों की भी व्यवस्था हो सकेगी।

पुनः शंका उठाई जाती है कि 'मन्त्रों के निर्माण की शक्ति पुरुषों में देखी जाती है। अपि च, मन्त्र सत्य और तप के प्रभाव से युक्त महान् व्यक्तियों के समीहित प्रयोजन के साधक वचनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। आजकल के पुरुषों में भी यह

स्तम्भनकरणात्, शवराणाञ्च केषाञ्चिमन्त्रकरणात्, अवैदिकानाञ्च वौद्धादीनां मन्त्रकल्पानां दर्शनात्तेषां पुरुषकृतेरिति, तदप्यस्थाने, अनुक्तोपालम्भनात्। नहि मन्त्रत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वं साधयामः, किन्त्वस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिभिरित्यवोचाम। अत एव न मन्त्राणाम्, किन्तु तथाभूतानां ब्राह्मणोपनिषदामप्यपौरुषेयत्वं वेदत्वं च सिद्धयति। पौरुषेयाणामपि मन्त्राणामभ्युपगमात्। सत्यतपःप्रभाववत्त्वमपि सत्यादिधर्माचरणेनैव सम्भवति। तदपि च ज्ञात्वैव सम्भवति। ज्ञानं च प्रमाणायत्तम्। तच्च प्रमाणं प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तो वेद एव। अन्येषामाधुनिकानां ग्रन्थानां तदग्रे वेदाधमर्णत्वमेव। तेन च वेदस्योपजीव्यत्वेन तदविरोधेनैव सत्यतपःप्रभाववतामपि वचनं प्रमाणम्। वेदविरोधिनां तु श्वदृतिनिक्षिप्तकपिलाक्षीरवत्तदप्यग्राह्यमेव वैदिकैः।

यदपि तत्रापि (वौद्धादिमन्त्रकल्पेऽपि) अपौरुषेयत्वे कथमपौरुषेयं वितथम्? तत्र हि वौद्धेतरमन्त्रकल्पे हिंसामैथुनात्मदर्शनादयोऽनभ्युदयहेतवोऽन्यथा वा वर्ण्यन्ते। तत्कथं विरुद्धाभिधायिद्वयमेकत्र सत्यं स्यात्। अर्थान्तरस्य कल्पने तदन्यत्रापि तुल्यम्। तथा चार्थानिश्चयात् काचिदपि व्यक्तिर्न स्यात्। तथा चापौरुषेयत्वग्रहणमप्यनुपयोगमेवेत्यादि जल्पितम्, तदप्यज्ञानविजृम्भणम्, वौद्धादिमन्त्राणामपौरुषेयत्वानभ्युपगमेन तत्र पौरुषेयत्वस्य सर्वसम्मतत्वात्। वैदिकमन्त्राणामपौरुषेयत्वेनापास्तपुंदोषशङ्काकलङ्कत्वेन तदुक्तेरनतिशङ्कनीयत्वात्, वैधहिंसामैथुनादीनामदोषत्वाच्च। यागे धर्मयुद्धे दण्डविधाने विहिताया हिंसायाः स्वदारमैथुनस्य च धर्म्यत्वं स्पष्टमेव। सर्वथा हिंसानिवृत्त्युपदेशस्यैव परिणामोऽयं वौद्धेषु दृश्यते यत्ते सवमांसभक्षकाः संवृत्ताः। चीनजापानादिदेशीया वौद्धास्तु श्वपाकेभ्योऽपि हीनतमाः संवृत्ताः। पल्ली-मण्डूक-विट्-कृम्यादिभक्षणेऽपि ते न त्रपन्ते। मैथुननिषेधस्य परिणामो वौद्धेषु वज्रयानसम्प्रदायविकाशो

देखा जाता है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार सत्य का सहारा लेकर कुछ व्यक्ति विष, अग्नि प्रभृति का स्तम्भन कर देते हैं। कुछ शावर मन्त्रों का निर्माण भी होता ही है। अवैदिक बौद्धों के भी मन्त्रशास्त्र के ग्रन्थ मिलते हैं और वे पुरुषों की रचनाएँ हैं, यह स्पष्ट है'। किन्तु यह सब शंकाएं बिना अवसर की हैं, क्योंकि हमने यह कभी नहीं कहा कि पुरुष मन्त्र नहीं बना सकते। मन्त्र होने से हम वेद की अपौरुषेयता कहाँ मानते हैं। हमने इसके लिये अस्मर्यमाणकर्तृकत्व आदि तीन कारण अभी बताये हैं। इसीलिये केवल मन्त्रों की ही नहीं, किन्तु उक्त लक्षण से लक्षित ब्राह्मण और उपनिषद् वाक्यों में भी अपौरुषेयता और वेदत्व की सिद्धि होती है। अवैदिक मन्त्रों को पुरुष द्वारा निर्मित हम भी मानते हैं। सत्य, तप आदि का प्रभाव भी इनका आचरण करने से उत्पन्न हो सकता है और इनका आचरण इनकी ठीक जानकारी के बाद ही किया जा सकता है। जानकारी किसी प्रमाण से ही होगी। इस तरह का प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त वेद ही हो सकता है। अन्य आधुनिक ग्रन्थ इस अंश में वेदों के ही ऋणी हैं। वेद ही इन सबका उपजीव्य है, अतः सत्य, तप आदि के प्रभाव से युक्त पुरुषों का वचन वेद का अविरोधी ही होना चाहिये। जो वचन वेद के विरोधी हैं, वे वैदिकों के लिये उसी तरह से अग्राह्य हैं, जैसे कि कुत्ते के चमड़े की कुप्पी में रक्खा गया कपिला गौ का पवित्र दुग्ध भी अग्राह्य हो जाता है।

यह भी कहा गया है कि 'बौद्ध आदि के मन्त्रकल्पों को भी अपौरुषेय मान लेने पर अपौरुषेयत्व कहाँ गलत हो जाता है? बौद्धों से भिन्न मन्त्रकल्पों में हिंसा, मैथुन, और आत्मदर्शन आदि को अनभ्युदय और साथ ही अभ्युदय का भी कारण बताया जाता है। एक ही वस्तु के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी बातें कैसे सही मानी जा सकती हैं। अर्थान्तर की कल्पना अन्यत्र भी की जा सकती है। इस तरह से तो अर्थ का निश्चय न हो पाने से कुछ भी स्पष्ट न हो सकेगा। इस तरह से अपौरुषेयत्व के ग्रहण का भी कोई उपयोग नहीं है।' किन्तु यह बात भी कहने वाले के अज्ञान को ही उजागर करती है। बौद्ध आदि के मन्त्रों की अपौरुषेयता नहीं मानी गई है, क्योंकि सर्वसम्मति से वे पौरुषेय ही माने जाते हैं। वैदिक मन्त्रों को अपौरुषेयता के कारण वे समस्त पुरुष दोषों की शंका के कलंक से निर्मुक्त हैं, अतः वेदोक्ति में शङ्का का कोई अवसर ही नहीं है। वैध हिंसा और वैध मैथुन में कोई दोष नहीं है। याग में, धर्मयुद्ध में और दण्ड के विधान में विहित हिंसा और अपनी पत्नी के साथ ऋतुकाल में अथवा उसकी इच्छा होने पर किये गये मैथुन में कोई धर्म का विरोध नहीं है। सर्वथा हिंसा न करने के उपदेश का ही यह परिणाम हुआ है कि बौद्धों में सर्वत्र मांस भक्षकों का ही प्राबल्य हो गया है। चीन, जापान आदि देशों के बौद्ध तो चाण्डालों से भी निकृष्ट हो गये हैं, जो कि पल्ली (विसतुइया), मेढक और विष्ठा में पैदा हुए कीड़ों को भी खाने में लज्जा का अनुभव नहीं करते। सर्वथा मैथुन निषेध का परिणाम बौद्धों में वज्रयान सम्प्रदाय के विकास के रूप में

यत्र मैथुनमपि साधनाङ्गत्वेन गृह्यते। आत्मदर्शनस्य तु परमधर्मत्वमेव। बौद्धैस्तु मोहादेवात्मदर्शनस्यानिष्टहेतुत्वमुपेयते। यद्यपि विषादिकर्मकृतो बौद्धा अपि दृश्यन्ते, तथापि न तावता तन्मन्त्राणामपौरुषेयत्वं सिद्धयति। अपौरुषेयत्वस्य तदतन्त्रत्वात्। वैदिकानामेवाहिंसासत्यादीनां विकृतानुष्ठानेन क्वचित् कश्चित् क्षुद्राः सिद्धयस्तेषु दृश्यन्ते।

यदुक्तम्—मुद्रामण्डलध्यानैरनक्षरैः कर्माणि क्रियन्ते, न त्व तान्यपौरुषेयाणि युज्यन्ते, तेषां क्रियासम्भवे अक्षररचनापरकः प्रतीघातः। तस्मान्न किञ्चिदशक्यक्रियमेषामिति, तदपि तुच्छम्, यागादीनामिव मुद्रादीनामपि विहितत्वेन नैककार्यकरत्वात्। अक्षररचनासामान्यं नाशक्यक्रियम्, किन्तु वेदाक्षररचनाऽशक्यक्रिया, स्वातन्त्र्येण तदर्थानुपलम्भात्। कथं वेदार्थमनुपलभ्य वेदवाक्यरचना कर्तुं शक्या। वेदार्थस्तु प्रत्यक्षानुमानागम्य इत्युक्तमेव। अहिंसासत्यादिभिस्तदुपलम्भश्चेत्तेषामेव वेदमन्तरा कुतो धर्मत्वलाभः। ततो विशेषज्ञतायाः सर्वज्ञताया वा लाभाय धर्मानुष्ठानमावश्यकम्। तल्लाभाय च वेदोऽङ्गीकरणीयः। पूर्वपूर्वतरैः सर्वज्ञैरुत्तरोत्तरेभ्यो धर्मज्ञानं भवतीत्यनवस्थैव। अपि च बौद्धा आर्हताश्च सत्याहिंसादिषु बद्धादरा दृश्यन्ते, तैश्चेत्तत्त्वज्ञानं तदा कुतस्तेषां मतभेदः। तौ सत्यप्रभवौ मन्त्रकल्पौ कथं परस्परविरुद्धाविति त्वयाप्युक्तम्। यदुक्तम्—न वै सर्वत्र तौ सत्यप्रभवौ प्रभावयुक्तपुरुषप्रतिज्ञालक्षणावपि तौ स्तः। अर्थात् प्रभाववता पुरुषेण य इमां वर्णपदरचनामभ्यस्यति, तद्विधिं चानुतिष्ठति, तस्याहं यथा प्रतिज्ञातमर्थं साधयामीति या प्रतिज्ञा, तत्प्रभवावपि मन्त्रकल्पौ भवतः। स च प्रभावो मतिसिद्धिविशेषाभ्यामपि स्यादिति, तदपि न क्षोदक्षमम्, तथात्वे कस्यापि मन्त्रस्य ग्रन्थस्य वा संशयाद्यनास्कन्दितप्रामाण्यासिद्धेः। कश्च सत्यप्रभवः, कश्च तथाविधप्रतिज्ञाप्रभव

हुआ, जहाँ पर कि मैथुन को भी साधना का अङ्ग मान लिया गया! आत्मदर्शन तो परम धर्म है ही। बौद्ध आत्मदर्शन को अनिष्ट का कारण अज्ञानवश ही मानते हैं। यद्यपि विष आदि का निवारण करने वाले बौद्धों में भी देखे जाते हैं, किन्तु इतने से ही उनके मन्त्र अपौरुषेय नहीं मान लिये जायेंगे। अपौरुषेयता में इस तरह की सामर्थ्य को प्रयोजक नहीं माना जाता। वैदिक अहिंसा, सत्य आदि धर्मों के गलत तरीके से पालन करने से कहीं-कहीं कुछ क्षुद्र सिद्धियाँ उनमें दिखाई पड़ जाती हैं।

यह भी कहा गया है कि—'मुद्रा, मण्डल, ध्यान आदि के द्वारा बिना ही अक्षरों के अनेक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं, इनको अपौरुषेय नहीं कहा जा सकता, यदि इनसे क्रियायें सम्पन्न हो सकती हैं. अक्षर रचना से ही क्रिया की सम्पन्नता मानने वाले वचनों का विरोध होगा। इसलिये इनके लिये कोई कार्य अशक्य नहीं माना जा सकता'। इसका उत्तर यह है कि याग आदि की तरह मुद्रा आदि का भी विधान होने से ही वे किसी कार्य के सम्पादन में समर्थ होते हैं। सामान्य अक्षर रचना कोई असंभव वस्तु नहीं है, किन्तु वेदाक्षर की रचना अशक्य है। स्वतन्त्र रूप से इनके अर्थों को उपलब्धि नहीं होती। वेदार्थ को बिना जाने वेदवाक्यों की रचना कैसे की जा सकती है। वेदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमान से अगम्य है, यह कहा जा चुका है। अहिंसा, सत्य आदि से यदि वेदार्थ की उपलब्धि हो सकती है तो उनके बिना ही वेद की सहायता के धर्म का लाभ क्यों होता है? ऐसी अवस्था में विशेषज्ञता और सर्वज्ञता के लाभ के लिये धर्म का अनुष्ठान आवश्यक है। धर्म के लाभ के लिये वेद को स्वीकार करना भी जरूरी है। पूर्व पूर्वतर सर्वज्ञों से उत्तर उत्तर काल के सर्वज्ञों को धर्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, ऐसा मानने में अनवस्था दोष होगा। दूसरी बात बौद्ध और जैन सत्य, अहिंसा प्रभृति में बड़ा आदर प्रदर्शित करते हैं। इन्हीं से यदि इनको तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है तो इनमें परस्पर मतभेद क्यों है? सत्य से प्रसूत इनके मन्त्रकल्प परस्पर विरुद्ध क्यों हैं? यह प्रश्न आपने भी पूछा है। आपने यह भी कहा है कि ये मन्त्रकल्प सर्वत्र सत्य से प्रसूत ही नहीं हैं, क्योंकि कहीं-कहीं विशेष प्रभाव वाले व्यक्ति की प्रतिज्ञा से भी इनकी उत्पत्ति देखी जाती है। अर्थात् कोई प्रभावशाली व्यक्ति यह कहता है कि जो कोई व्यक्ति मेरी बनाई गई वर्ण-पद योजना का मेरी बताई हुई विधि से अभ्यास करता है, उसके अभीप्सित प्रयोजन को मैं पूरा कर सकता हूँ, इस तरह की प्रतिज्ञा के साथ भी अनेक मन्त्रों और कल्पों का निर्माण होता है। इस तरह का प्रभाव मति और सिद्धिविशेष के आधार पर भी हो सकता है। यह कथन भी तर्क के आगे नहीं टिक सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर किसी भी मन्त्र अथवा ग्रन्थ का संशयरहित प्रामाण्य ही सिद्ध न हो पावेगा। कौन सत्य से प्रसूत है, कौन असत्य से प्रसूत

इति निर्णये विनिगमनाभावात् । कश्च प्रभावः सत्यप्रसूतः, कश्च मतिसिद्धिविशेषाभ्यामित्यस्याप्यनिर्णयात् । अत एव तथाविधप्रभावशरणयोरपि बौद्धार्हतयोः कलहो दृश्यते ।

यदि पौरुषेया मन्त्रास्तदा सर्वेऽपि पुरुषाः किं न मन्त्रकारिणः, तत्क्रियासाधनवैकल्यात् । यदि तादृशैः सत्यतपःप्रभृतिभिर्युक्ताः स्युस्तदा कुर्वन्त्येव । यथा कश्चित्काव्यं करोतीति न सर्वः काव्यकृत् । कस्यचिदकरणे वा नैव कश्चिदपि न कुर्यादित्यादिकमपि निःसारम्, काव्यस्य प्रसिद्धलक्षणत्वात्तद्दर्शनेन तच्छक्तिः फलवलकल्प्या । मन्त्राणां मन्त्रत्वं न तथा प्रसिद्धमपि तु फलसिद्ध्या मन्त्रत्वं कल्प्यते, फलसिद्धिश्च बहुत्र व्यभिचरति । यस्यां कस्याञ्चिदपि वाक्यरचनायां दाम्भिकैर्मन्त्रत्वकल्पनात् । काकतालीयन्यायात् क्वचिदमन्त्रेभ्योऽपि फलसिद्धिर्भवति ।

यदप्युक्तम्—मन्त्रो नाम सत्यादिमत्प्रतिज्ञावचनान्नान्यत्किञ्चित् । तानि च क्वचिद् दैवपुरुषेषु दृश्यन्ते, सर्वपुरुषास्तद्रहिता इत्यप्यनिर्णयः, तत्सम्भवस्य विरोधाभावात् । न चात्यक्षजस्वभावेष्वनुपलब्धिरभावनिश्चयहेतुः । न च स्मृति-(अतीतजन्मादिस्मरणम्)-मति (परचित्तावबोधः)-प्रतिवेध (अदृष्टेषु पदार्थतत्त्वदर्शनम्)-सत्य-(अनन्यथावादित्वम्)शक्तयः सर्वत्र भाविन्यो भवन्तीति, तदपि निःसारम्, पौरुषेयाणामपि मन्त्राणां सत्त्वात् । नहि वैदिका अपौरुषेया मन्त्राः सत्यादिमत्प्रतिज्ञावचनानीत्युक्तमेव । पौरुषेयाः केचित्तथाविधा भवन्त्वित्यन्यत् । सत्यादिस्वरूपं तस्य धर्मत्वप्रभावोत्पादकत्वादिकमप्यपौरुषेयवेदतन्मूलकशास्त्रैकवेद्यम् । आंशिकसत्यादिप्रभावाणां पुरुषेषु सम्भवेऽपि तत्सामस्त्यस्येश्वरादन्यत्रासम्भवात् । परिमितज्ञानसाधनशक्तयो हि पुरुषा दृश्यन्ते । अत्यन्तादृष्टस्य

तथा कौन उस तरह की प्रतिज्ञा से प्रसूत है, इसका निर्णय किसी विनिगमक के अभाव में न हो पावेगा । कौन सा प्रभाव सत्य से प्रसूत है या मति और सिद्धि की विशेषताओं से उत्पन्न हुआ है, इसका भी निर्णय न हो पावेगा । इसीलिये इस तरह के प्रभाव को ही एक मात्र शरण मानने वाले बौद्धों और जैनों में परस्पर कलह विद्यमान रहता है ।

'यदि मन्त्र पौरुषेय हैं तो फिर सभी मनुष्य मन्त्र का निर्माण क्यों नहीं कर देते, यह इसीलिये होता है कि वे उसकी क्रिया और साधन से विरहित हैं । यदि कोई व्यक्ति सत्य, तप प्रभृति से युक्त है, वह मन्त्र के निर्माण में समर्थ होता ही है । जैसे कि यदि कोई एक व्यक्ति काव्य की रचना कर सकता है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि सभी काव्यकार हो जाते हैं अथवा किसी एक में इसकी सामर्थ्य न होने पर अन्य में भी काव्य निर्माण की सामर्थ्य न रहेगी' । आपका यह कथन भी निःसार है । काव्य के लक्षण प्रसिद्ध हैं । उनको देखकर काव्य निर्माण की शक्ति प्राप्त की जा सकती है । मन्त्रों की स्थिति ऐसी नहीं है, फल की सिद्धि हो जाने पर ही उनमें मन्त्रत्व की कल्पना की जाती है और यह फलसिद्धि अनेक स्थलों में नहीं दिखाई देती । दाम्भिक जन जिस किसी भी वाक्य रचना में मन्त्रत्व की कल्पना करते देखे जाते हैं और इस तरह के मन्त्रों से कहीं-कहीं काकतालीय न्याय से फल की प्राप्ति भी होती देखी जाती है ।

यह भी कहा गया है कि 'सत्य, तप आदि से युक्त व्यक्ति के प्रतिज्ञा वचन ही मन्त्र हैं, इसके अतिरिक्त मन्त्र और कुछ भी नहीं है । ये गुण केवल कहीं-कहीं देवताओं और कुछ विशिष्ट पुरुषों में ही रहते हैं और बाकी पुरुष इनसे रहित हैं, इसका निर्णय कर पाना बड़ा कठिन है । अन्यत्र भी ये हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध भी नहीं दिखाई पड़ता । जो पदार्थ अतीन्द्रिय स्वभाव के हैं, उनकी मात्र अनुपलब्धि अभाव के निश्चय में कारण नहीं मानी जा सकती । स्मृति (अतीत जन्मादि का स्मरण), मति (परचित्त का ज्ञान), प्रतिवेध (अदृष्ट पदार्थों में पदार्थतत्त्व का दर्शन), सत्य (अन्यथा न बोलना) जैसी शक्तियाँ सर्वत्र नहीं हुआ करती ।' किन्तु आपका यह कथन भी निःसार है, क्योंकि मन्त्र पौरुषेय भी होते हैं । वैदिक अपौरुषेय मन्त्र सत्य, तप आदि के प्रभाव से युक्त व्यक्तियों के प्रतिज्ञावचन नहीं हैं, यह बात पहले ही बताई जा चुकी है । कुछ पौरुषेय मन्त्र ऐसे होते हों यह बात दूसरी है । सत्य आदि का स्वरूप और उनमें धर्मत्व और प्रभावोत्पादकत्व आदि का ज्ञान अपौरुषेय वेद और तन्मूलक शास्त्रों से ही केवल हो सकता है । आंशिक सत्य आदि का प्रभाव पुरुषों में भी आ सकता है, किन्तु उसका सामस्त्य (संपूर्णता) ईश्वर के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं रह सकता । पुरुषों का ज्ञान और उनकी साधन शक्ति परिमित होती है । अत्यन्त अपरिदृष्ट विषय की कल्पना करने पर

परिकल्पने सप्तमरसस्यापि कल्पनाप्रसङ्गात्। केवलाया अनुपलब्धेरभावासाधकत्वेऽपि प्रमाणाभावसहकृताया अनुपलब्धेस्तत्साधकत्वे बाधाभावात्। यथेदानीं स्वातन्त्र्येण धर्मज्ञानं तन्मूलप्रभावातिशयादिकं न कस्यचिद्भवति, तथैव पूर्वमपि न कस्यचिदासीदित्यनुमातुं शक्यत्वात्। यथेदानीं नेत्रस्य शब्दो न विषयस्तथैवान्यदापीतिवत्। अपि च, रजस्तमोलेशाननुविद्धविशुद्धसत्त्वप्रधानविद्योपाधिकस्य परमेश्वरस्यैव ज्ञानशक्त्यादीनां काष्ठाप्राप्तिस्तेन तस्यैवेश्वरत्वसर्वज्ञत्वादिकम्, न तन्नानात्वं सम्भवति। विरुद्धक्रियासङ्कल्पे कस्यचिद्वैतथ्यध्रौव्येणैकस्यैव तत्त्वात्। अविशुद्धसत्त्वप्रधानाविद्योपाधिकानां जीवानामल्पज्ञत्वमेव। सर्वज्ञपरमेश्वरनिःश्वासभूतवेदोपदिष्टसत्कर्मतपोयोगोपासनादिभिरांशिकप्रभावादय एव जीवे व्यज्यन्ते। योगादिमतरीत्यापि यद्यपि चित्तसत्त्वं सर्वार्थावभासनशक्ति, तथापि तमोवृतं सत् किञ्चिदेवावभासयति। निरतिशयसार्वज्ञ्यबीजं पुरुषविशेषे परमेश्वर एव, तस्य चानादिसर्वज्ञत्वं। तदितरेषां तु तदुपदिष्टमार्गाश्रयणेनैवापेक्षिकं सार्वज्ञ्यादिकम्। सादिसार्वज्ञ्यं न स्वातन्त्र्येण, तत्साधनज्ञानस्य सर्वज्ञोपदेशसापेक्षत्वात्। तस्याप्यन्यसापेक्षत्वेऽनवस्थानमेव। अत एव पुरुषेषु तत्सम्भवस्य विरोधोऽपि युज्यते। रजस्तमोलेशानुविद्धाविद्योपाधिकानां सार्वज्ञ्यस्य रजस्तमोविरुद्धत्वात्। स्मृतिमत्यादीनां कुत्रचित्सम्भवोऽपि वेदोपदिष्टसाधनानुष्ठानसापेक्ष एव। अपि च, यदि स्वातन्त्र्येण कस्यचित् सार्वज्ञ्यमभ्युपेयम्, तदा नान्यस्य सार्वज्ञ्यादिकमिति न वक्तुं शक्यते, बहूनां सार्वज्ञ्ये परस्परविरोधो न स्यात्। दृश्यते च बौद्धानामार्हतानां यीशूमुहम्मदादीनाञ्च विरोधः।

यदप्युक्तम्—नापि सन्नपि सर्वैर्द्रष्टुं शक्यः, अत एवादृष्टस्यानपह्नवस्तदपि तुच्छम्, तथात्वेऽपि प्रमेयस्य प्रमाणसापेक्षत्वावश्यंभावित्वात्। अन्यथा शशशृङ्गादीनामप्यभ्युपेयत्वापत्तेः। एतेन नापि पुरुषेषु कस्यचिदप्यु-

कोई सप्तम रस की भी कल्पना कर सकता है। केवल अनुपलब्धि अभाव की साधिका नहीं होती, किन्तु प्रमाणाभाव के साथ मिलकर अनुपलब्धि अभाव की साधिका हो ही सकती है। जैसे कि कोई आजकल स्वतन्त्र रूप से धर्म के ज्ञान की बात कहे। उसके कथन के आधार पर किसी में भी प्रभावातिशय की उत्पत्ति नहीं दिखाई पड़ती, उसी तरह से पहले भी इस तरह की शक्ति किसी में नहीं थी, इस तरह का अनुमान किया जा सकता है। जैसे कि आजकल नेत्रेन्द्रिय का विषय शब्द नहीं है, उसी तरह से पहले भी नहीं था, इसी को उक्त बात के समर्थन के लिये दृष्टान्त रूप में रक्खा जा सकता है। अपि च, रज और तम के लेश से भी रहित विशुद्धसत्त्व प्रधान विद्योपाधिक परमेश्वर में ही ज्ञान, शक्ति आदि की पराकाष्ठा मानी जा सकती है, अतः उसी में ईश्वरत्व और सर्वज्ञत्व की सत्ता रह सकती है। परमेश्वर में नानात्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनमें परस्पर विरुद्ध क्रिया और संकल्प की उद्भावना होने पर किसी एक का वैतथ्य (मिथ्यात्व) अवश्य मानना पड़ेगा, अतः तात्त्विक रूप से ईश्वर एक ही माना जा सकता है। अविशुद्ध सत्त्व प्रधान अविद्योपाधिक जीवों को अल्पज्ञ ही माना जा सकता है। सर्वज्ञ परमेश्वर के निश्वासभूत वेदों के द्वारा उपदिष्ट सत्कर्म, तप, योग, उपासना आदि से जीव में भी आंशिक प्रभाव उत्पन्न होता है। योगदर्शन के मत से भी यद्यपि चित्तसत्त्व सभी वस्तुओं के प्रकाशन में समर्थ है, तथापि वह तमोगुण से आवृत होकर कुछ वस्तुओं को ही प्रकाशित कर पाता है। निरतिशय सर्वज्ञता केवल पुरुषविशेष परमेश्वर में ही रहती है। यह ईश्वर अनादि सर्वज्ञ है, इससे भिन्न अन्य जीवों में ईश्वर के उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करने से आपेक्षिक सर्वज्ञता, सादि सर्वज्ञता अभिव्यक्त होती है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। क्योंकि इस सर्वज्ञता के साधन का ज्ञान सर्वज्ञ के उपदेश से ही हो सकता है, यदि इसके लिये अन्य सर्वज्ञ की कल्पना की जाय तो, उसमें अनवस्था के सिवाय और कुछ हाथ न लगेगा। इसी लिये साधारण जीवों में उसकी उत्पत्ति मानने वाले मत का विरोध भी सार्थक होता है, क्योंकि रज और तम के लेश से अनुविद्ध अविद्योपाधिक जीवों में सर्वज्ञता और रज और तम की स्थिति का परस्पर विरोध रहेगा। स्मृति-मत्यादि गुणगण की कहीं उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु यहाँ पर भी वेदोपदिष्ट साधन का अनुष्ठान अपेक्षित है। यदि स्वातन्त्र्येण किसी को हम सर्वज्ञ मान लें तो फिर उसी पद्धति से दूसरे व्यक्ति में भी सार्वज्ञ्य की अभिव्यक्ति नहीं होगी, ऐसा हम नहीं कह सकते। इस तरह से जब अनेक सर्वज्ञ हो जायेंगे, तो उनमें परस्पर विरोध अवश्य उपस्थित होगा। यह विरोध बौद्धों और जैनों में, ईसाईयों और मुसलमानों में देखा भी जाता है।

त्पित्सोर्मनोगुणस्य प्रतिरोद्धास्ति, वाधकस्यादृष्टेर्वाध्यवाधकभावासिद्धेरित्यप्यपास्तम्, आविद्यकस्य तमसो वाधकस्योक्तत्वात्। तेन भट्टपादादिर्वणितसर्वज्ञादिप्रतिषेधादयोऽपि समीचीना एव।

यदुक्तम्—अतत्साधनसम्प्रदायोऽयं कथमिवान्येषां तथाभावो एवंभूतो नेति न न्यायः, नादृष्टज्ञापकमित्यपि नहि ज्ञापकानुपलम्भमात्रेण ज्ञाप्यस्याभावो न्यायः। सतामपि केषाञ्चिदर्थानां लिङ्गस्य कार्यस्यानारम्भसम्भवात्। स्वभावविप्रकर्षेण द्रष्टुमशक्यत्वात्। तदपि बालजनमोहनमेव, तत्र प्रमाणस्यावश्यं वक्तव्यत्वात्। नहि शपथमात्रेण तादृशवस्तुसत्त्वमभ्युपेतुं शक्यम्, तथात्वे प्रमाणाभावसहकृताया अनुपलब्धेर्दत्तजलाञ्जलिताप्रसङ्गात्। अत एव वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमिति न व्यभिचारि। भारताध्ययने वेदविशेषणस्याभावादेव न व्यभिचारः।

यदप्युक्तम्—कः पुनरतिशयो वेदाध्ययनस्येति चेत्, विरच्याध्ययनासम्भवादेवेत्यवेहि। अत एवान्यथाध्ययनं न शक्यते। अत एव नहि विशेषणमविरुद्धविपक्षेण सह अस्माद्धेतुं निवर्तयति, अविरुद्धयोरेकत्र सम्भवादित्यपि निरस्तम्, अविरोधस्यैवासिद्धत्वात्। वेदाध्ययने तदितराध्ययनवैलक्षण्यस्य साधितत्वात्। यथेदानीन्तनैर्न स्वतो विरच्य वेदाध्ययनं क्रियते, तथैव पूर्वतनैरपीति सिद्धमेव, प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य भारतादिवद्वेदरचनाऽसम्भवात्। अदर्शनमपि तत्साधयत्येव, केवलस्य तदसाधकत्वेऽपि प्रमाणाभावसहकृतस्यानुपलम्भस्य साधकत्वे वाधाभावस्योक्तत्वात्। अत एव विशेषणमपि नानुपात्तसमम्। अत एव यत्किञ्चिद्वेदाध्ययनं तद्वेदाध्ययनान्तरपूर्वकमिति व्याप्तिरपि सिद्ध्यत्येव, सर्वस्य तथाभावसिद्धेः।

आप यह भी कहते हैं कि 'अदृश्य वस्तु की सत्ता रहने पर भी वह दिखाई नहीं पड़ती, अतः उसका अभाव नहीं माना जा सकता।' किन्तु आपका यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि वस्तु की सत्ता विना प्रमाण के नहीं मानी जा सकती, अन्यथा शशशृंग (खरगोश के सींग) जैसे अलीक पदार्थों की भी सत्ता माननी पड़ जायगी। इसी युक्ति से आपके इस कथन का भी उत्तर हो जाता है कि 'पुरुषों के मन में उत्पन्न होने वाले गुणों को रोकने वाला कोई नहीं है, क्योंकि बाधक के अभाव में बाध्यबाधकभाव बन नहीं सकता।' इसका सीधा उत्तर यह है कि हमने ऐसे प्रसंगों में अविद्या से उत्पन्न तम को बाधक माना है। इसलिये कुमारिल भट्ट प्रभृति के द्वारा वर्णित जैन और बौद्धों की अभिमत जिन आदि की सर्वज्ञता का प्रतिषेध सर्वथा समीचीन है।

आप यह भी कहते हैं कि 'यह संप्रदाय किसी वस्तु का साधन करने वाला नहीं है। दूसरी वस्तु का कोई स्वरूप ऐसा नहीं है,यह न्याय से कैसे सिद्ध किया जा सकता है। ज्ञापक नहीं दिखाई देता, इसलिये भी ज्ञायमान के न मिलने मात्र से ज्ञाप्य का अभाव मान लेना न्यायसंगत नहीं है। अनेक सत्तावान् पदार्थ ऐसे देखे जाते हैं, जो कि किसी कार्य को नहीं पैदा करते और स्वभाव की विशिष्टता के कारण देखे भी नहीं जा सकते।' किन्तु यह बात भी नासमझ लोगों का ही मनोरंजन कर सकती है, आपको अपनी बात के समर्थन में प्रमाण अवश्य देना पड़ेगा। केवल शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करने से इस तरह की वस्तु की सत्ता नहीं मानी जा सकती, ऐसा मानने पर हमको प्रमाणाभाव सहकृत अनुपलब्धि को तिलांजलि दे देना पड़ेगा। इसी लिये वेदाध्ययन गुर्वध्ययनपूर्वक है, यहाँ पर हेतु का व्यभिचार नहीं है। भारत के अध्ययन में वेद विशेषण के न रहने से ही वहाँ पर इस लक्षण की प्रसक्ति नहीं होगी।

आपने यह भी कहा है कि 'वेदाध्ययन का वह अतिशय क्या है? इसके उत्तर में यही कहा जायगा कि इसका रचनापूर्वक अध्ययन नहीं किया जाता। इसी लिये इसका अन्यथा (गुरु के बिना) अध्ययन नहीं किया जा सकता। इसी लिये विशेषण अविरुद्ध विपक्ष से इस हेतु को नहीं निवृत्त कर सकता, क्योंकि दो अविरोधी पदार्थ एक साथ रह सकते हैं।' इसका समाधान यह है कि यह अविरोध ही तो असिद्ध है। वेद के अध्ययन से तदितर अध्ययन की विलक्षणता सिद्ध की जा चुकी है। जैसे आजकल के लोग वेदाध्ययन स्वयं रचना करके नहीं करते, उसी तरह से पहले के लोग भी बिना रचना के गुरुमुख से ही वेदाध्ययन करते थे। प्रमाणान्तर से अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर भारत आदि की रचना की गई, वैसे वेद की रचना नहीं हो सकती। अदर्शन भी अभाव को सिद्ध कर ही देता है, केवल अनुपलब्धि भले ही अभाव की साधिका न हो, किन्तु प्रमाण के न होने पर तो अनुपलब्धि वस्तु के अभाव को सिद्ध करके ही छोड़ेगी, यह कहा जा चुका है। इसी लिये विशेषण भी अनुपात्तसम नहीं है, अर्थात् विशेषण का देना न देना दोनों बराबर नहीं है। विशेषण के कारण ही जो कुछ भी आज का वेदाध्ययन है, वह उस वेदाध्ययन के पूर्ववर्ती अध्ययन से सदृश है, इस तरह की व्याप्ति बन पाती है, क्योंकि पूरी वेदाध्ययन की परम्परा वैसी ही है।

यदुक्तम्—'यादृशं तन्निमित्तं दृष्टं तत्तथैवेति स्यात्, तन्निमित्तस्य (जाड्यादिर्निमित्तस्य) परपूर्वकाध्ययनस्येदानीन्तनेषु दृष्टत्वादेव सामान्यग्रहणं हि हुताशनसिद्धौ पाण्डुद्रव्यवद् व्यभिचार्येव (अग्निसाध्ये धूमे यः पाण्डुविशेषो दृष्टस्तत्त्यागेन पाण्डुद्रव्यसामान्यमुपादीयमानमग्निसिद्धौ व्यभिचारि तद्वदित्यर्थः), तदप्यसङ्गतम्, स्वयं विरच्याध्ययनस्य वेदे बाधितत्वादेव सामान्याध्ययनहेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्। एवमेव रागादिप्रतिवचनमपि निःसारम्, प्रवृत्ते रागमूलत्वात्। तदुक्तम्—'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्। अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्॥' सम्प्रदायप्रवर्तने प्रवृत्तस्य बुद्धस्य रागमोहादयोऽनुमातुं शक्या एव। न चेश्वरेऽपि स्रष्टृत्वादिना रागादिमत्त्वम्, तस्य स्वतन्त्रत्वेन वशीकृतमायत्वात्। बुद्धादीनामपि तथाविधेश्वरत्वाङ्गीकारेऽपसिद्धान्त एवानीश्वरवादिनो बुद्धस्य। 'लोहलेख्यत्वसाध्यस्य वज्रेऽदर्शनतो यथा। पार्थिवत्वस्य हेतोर्हि व्यभिचारोऽनुभूयते॥ यथा तथेह सुज्ञेयः स्वकृताधीतिबाधतः। भेदः प्रदर्शितः सम्यग्गिरोर्लौकिकश्रौतयोः॥ इदानीन्तनलोकेषु स्वकृताधीतिविप्लवात्। पुरातना अपि तथा किं न स्युरविशेषतः॥ इत्थं सुदृढमस्माभिर्गिरां भेदे प्रदर्शिते। दीर्घजीवातुसम्पन्ना सुस्थिताऽपौरुषेयता।'

यदप्युक्तम्—'पुरुषा एव स्वयमभ्यूह्याधीयते परतो वा? तेषामव्यापृतकरणानां स्वयं शब्दा न ध्वनयन्ति येनापौरुषेयाः स्युः। तस्मात् कथञ्चिद नादित्वसिद्धावपि नापौरुषेयत्वसिद्धिः। अथानादित्वादेवापौरुषेयत्वमिष्यते चेत्तदाऽनादिप्रवृत्तस्य व्यवहारस्याप्यपौरुषेयत्वं स्यात्। तस्मात्पुरुषव्यापारेणैव शब्दानां ध्वननाल्लौकिकवाक्यवत्पौरुषेयत्वमेव वेदानामपि। 'सर्वथाऽनादिता सिद्ध्येदेवं नापुरुषाश्रयः। तस्मादपौरुषेयत्वं स्यादन्योऽप्यनराश्रयः॥' (प्र० वा०

यह भी कहा है कि 'जिसका जैसा निमित्त देखा जाता है, वह उसी तरह का होता है, जाड्यादिनिमित्त परपूर्वक अध्ययन की परम्परा आजकल के मनुष्यों में भी देखी जाती है, यह सामान्यग्रहण हुताशन (अग्नि) की सिद्धि के लिये उपात्त पाण्डु द्रव्य के समान व्यभिचारी है, अर्थात् अग्नि के साध्य धूम में जो एक विशेष प्रकार की पाण्डुता देखी जाती है, उसी के अनुकरण पर, धूमगत पाण्डुता को छोड़कर यदि पाण्डु(सफेद) द्रव्य सामान्य को हेतु के रूप में उपस्थित किया जाय तो वह व्यभिचारी होगा, उसी तरह से पूर्वापर अध्ययन की वेदाध्ययन के साथ व्याप्ति बनाने से भी दोष उपस्थित होगा।' किन्तु यह कथन भी असंगत है, स्वयं रचना करके किया जाने वाला अध्ययन वेद में बाधित है, अतः सामान्याध्ययन रूप हेतु स्वरूपासिद्ध है। इसी तरह से रागादि जन्य प्रवृत्तियों के विषय में आपका उत्तर भी सारहीन है, क्योंकि सभी प्रवृत्तियाँ राग के कारण ही होती हैं। जैसा कि कहा गया है—'यह प्राणी जो कुछ भी करता है, उसके मूल में काम, राग की ही प्रवर्तकता प्रतीत होती है। जो व्यक्ति कामनारहित है, उसकी संसार में कभी कोई चेष्टा नहीं देखी जाती।' संप्रदाय की प्रवृत्ति में लगे बुद्ध में भी राग, मोह आदि का अनुमान लगाया ही जा सकता है। इसी पद्धति से ईश्वर में भी सृष्टिकर्ता के रूप में रागादि की स्थिति मानी जा सकती है, किन्तु वह तो स्वतन्त्र है, उसने माया को अपने वश में कर लिया है, अतः उसमें राग-मोह आदि की संभावना ही कहाँ रह जाती है। यदि बुद्ध आदि को भी उसी तरह का ईश्वर मान लिया जाय तो अनीश्वरवादी बौद्ध के लिये यह तो अपसिद्धान्त की स्वीकृति हो जायगी। 'पार्थिवत्व की सिद्धि के लिये लोहलेख्यत्व हेतु का व्यभिचार जैसे वज्र में देखा जाता है, क्योंकि वह लोहलेख्य नहीं होता, किन्तु पार्थिव तो होता ही है; उसी तरह से वेदाध्ययन में भी स्वयं रचना करके अध्ययन का बाध होने से लौकिक और श्रौत वाक्यों का भेद भलीभाँति हो जाता है। आज के वेदाध्येता लोगों में स्वकृत अध्ययन का विप्लव देखकर पुरातन लोग भी इसी तरह से वेद का अध्ययन करते थे, ऐसा क्यों न माना जायगा। इस तरह से लौकिक और वैदिक वाक्यों का सुदृढ प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट भेद प्रदर्शित कर दिये जाने के बाद चिरकाल से चली आ रही वेद की अपौरुषेयता सुस्थिर हो जाती है।'

पूछा जाता है कि पुरुष अपनी समझ के अनुसार स्वयं पढ़ लेते हैं, या इसके लिये दूसरे की सहायता लेते हैं? दोनों ही परिस्थिति में जब तक वे इसके लिये अपनी इन्द्रियों को प्रेरित नहीं करेंगे, तब तक शब्द स्वयं ही उनके कान में नहीं पहुँच जायेंगे, जिससे कि उनको अपौरुषेय माना जाय। इसलिये इनकी अनादिता तो किसी तरह से सिद्ध हो भी सकती है, किन्तु अपौरुषेयता नहीं सिद्ध हो सकती। यदि अनादिता के कारण ही इनकी अपौरुषेयता मानी जाती है तो उस परिस्थिति में अनादि काल से प्रवृत्त व्यवहार को भी

३।२४५) तदपि निःसारम्, भावानवबोधात्। तथाहि—नहि पुरुषोच्चरितत्वमात्रेण पौरुषेयत्वम्, तद्भिन्नत्वमपौरुषेयत्वम्, किन्तु प्रथमोच्चरितत्वम्, तथात्वस्य वेदेऽप्यभ्युपगमात्। प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वं पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्षोच्चरितत्वमेव वा पौरुषेयत्वम्, तद्भिन्नत्वमपौरुषेयत्वमित्यसकृदवोचाम। अत एव नानादित्वमात्रेणापौरुषेयत्वं येनादिसिद्धव्यवहारेऽतिव्याप्तिः स्यात्। 'पुरुषोच्चरितत्वेन पौरुषेयत्वभागिह। नेष्टो वेदो यतोऽत्रार्थे प्रमाणान्तरशून्यता॥ आद्योच्चारणमेवेह निरपेक्षमथापि वा। प्रमाणान्तरसापेक्षमर्थज्ञानानुसारि यत्॥ तदेवेष्टं हि निर्माणं तच्च वेदे न सम्भवि।'

यदप्युक्तम्—अपि स्युरपौरुषेया यदि पुरुषाणामादिः स्यात्। तदाप्यन्यपूर्वकं न सिद्धयति, अध्यापयितुरभावात्। तत्प्रथमोऽध्येता कर्तैव स्यात्। तदयमनादिः पूर्वप्रदर्शनप्रवृत्तो डिम्भकपांसुक्रीडादिवत् पुरुषव्यवहार इति स्यान्नापौरुषेय एव। अनादित्वादपौरुषेयत्वे बहुतरमिदानीमपौरुषेयं स्यात्। तथा च 'म्लेच्छादिव्यवहाराणां नास्तिक्यवचसामपि। अनादित्वे तथा भावः पूर्वसंस्कारसन्ततेः॥' (प्र० वा० ३।२४६) म्लेच्छव्यवहारा मातृविवाहादयो मदनमहोत्सवादयश्चानादयः। नास्तिक्यवचांसि चापूर्वपरलोकक्षयवादीनि। नहि तान्यनाहितसंस्काराः प्रवर्तयन्ति, स्वप्रतिभारचितसमयानामपि यथाश्रुतार्थविकल्पसंहारेणैव प्रवृत्तेः। तत्किञ्चित्कुतश्चिदागतमित्येकस्योपदेष्टुः प्रबन्धेनाभावादपरपूर्वकमित्युच्यते। प्रागेव यथादर्शनप्रवृत्तयः सम्यङ्मिथ्याप्रवृत्तयो लोकव्यवहाराः। नन्वादिकल्पिकेष्वदृष्टव्यवहाराः पश्चात्प्रवृत्ता इष्यन्त इति चेन्न, तेषामप्यन्यसंस्काराहितानां यथाप्रत्ययं प्रबोधादिति, तदपि निःसारम्,

अपौरुषेय मानना पड़ेगा। पुरुष के व्यापार (प्रयत्न) से ही शब्दों का ध्वनन होता है, अतः लौकिक वाक्यों की तरह वैदिक वाक्यों को भी पौरुषेय ही मानना पड़ेगा। जैसा कि प्रमाणवार्तिक में कहा गया है—'इस तरह से वेदाध्ययन की अध्ययनपूर्वकता को सिद्ध करने पर भी उसकी अनादिता ही सिद्ध हो सकेगी, अपौरुषेयता नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्य अनादि लौकिक व्यवहारों को भी अपौरुषेय मानना पड़ जायगा'। यह कथन भी निःसार है, क्योंकि आपने हमारी बात का अभिप्राय ठीक से नहीं समझा। पुरुष के द्वारा उच्चरित होने और न होने मात्र से कोई पौरुषेय और अपौरुषेय नहीं हो जाता, किन्तु इसका प्रयोजक प्रथमोच्चरितत्व है। यह लक्षण केवल वेद में है। यह हम अनेक बार कह चुके हैं कि पौरुषेयत्व का प्रयोजक प्रमाणान्तर से अर्थ को जानकर की गई रचना ही है, अथवा पूर्व की आनुपूर्वी से निरपेक्ष उच्चारण को पौरुषेय माना जाता है। अपौरुषेयता के प्रयोजक इससे ठीक विपरीत हैं। इसीलिये केवल अनादिता के कारण अपौरुषेयता सिद्ध नहीं होती, जिससे कि अनादिसिद्ध व्यवहार को भी अपौरुषेय मानना पड़े। इस बात को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—'पुरुष से उच्चरित होने मात्र से वेद में पौरुषेयता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इस बात की सिद्धि के लिये प्रमाणान्तर का अभाव है। आद्य उच्चारण ही पौरुषेय है अथवा निरपेक्ष उच्चारण पौरुषेय होता है। अथवा निर्माण की परिभाषा यही है कि वह प्रमाणान्तर सापेक्ष अर्थ के ज्ञान का अनुसरण करती है। पौरुषेयता के स्वरूप को बताने वाली ये तीनों ही बातें वेद में कथमपि सम्भव नहीं'।

यह भी कहा गया है कि—'वेद अपौरुषेय तभी माने जा सकते हैं, जब कि पुरुषों की आदिता मानी जाय। ऐसा मानने पर भी वेद के अध्ययन की अन्यपूर्वकता नहीं सिद्ध होगी, क्योंकि तब कोई अध्यापयिता ही नहीं होगा। इसलिये प्रथम अध्येता को कर्ता ही मानना पड़ेगा। इस तरह से यह वेदाध्ययन उसी तरह का एक अनादि पुरुषव्यवहार माना जायगा, जैसा कि पहले के बच्चों को देखकर बाद के बच्चों को धूलिक्रीडा का व्यवहार होता है, इसको अपौरुषेय नहीं माना जा सकता। अनादिता को ही यदि अपौरुषेयता का प्रयोजक मान लिया जाय तो इस तरह के अनेक अपौरुषेय पदार्थ मानने पड़ जायेंगे। इसीलिये प्रमाणवार्तिक में कहा गया है कि—'अनादिता को ही यदि अपौरुषेयता का प्रयोजक माना जाता है तो म्लेच्छादि के व्यवहारों तथा नास्तिक वचनों को भी अपौरुषेय मानना पड़ेगा, क्योंकि इनमें भी पूर्व पूर्व संस्कारों की सन्तति विद्यमान है'। म्लेच्छ-व्यवहार (माता से विवाह करना) और मदन महोत्सव प्रभृति भी अनादि परम्परा से चले आ रहे हैं। इसी तरह से पूर्व और परलोक का अभाव मानने वाले नास्तिकों के वचन भी अनादि परम्परा से चले आ रहे हैं। संस्कारों की पूर्व परम्परा के बिना इनकी एकाएक प्रवृत्ति नहीं हो जाती। अपनी प्रतिभा

अनुक्तोपालम्भात्। तथाहि—नानादित्वमपौरुषेयत्वप्रयोजकमित्युक्तमेव। एवं यथाकथञ्चिदन्यपूर्वकत्वमपि नापौरुषेयत्वप्रयोजकम्, पूर्वोक्तव्यभिचारादेव। पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्षोच्चारणकत्वादिभिन्नत्वमेव तदित्यवोचाम। संसारस्यानादित्वात्पुरुषप्राथम्यमसिद्धमेव। सृष्ट्यादौ पुरुषप्राथम्यं भविष्यतीति चेत्, मीमांसकमते खण्डसृष्टिप्रलयाङ्गीकारेऽपि समष्टिसृष्टिप्रलयानङ्गीकारात्। उत्तरमीमांसकरीत्या स्रष्टुः परमेश्वरस्याप्यनादित्वमेव। परमेश्वरेणापि पूर्वकल्पीयामानुपूर्वीमनुस्मृत्यैवोत्तरकल्पीयानुपूर्वी पठ्यत उपदिश्यत इति सोऽपि न कर्ता किन्त्वध्येतैव। एतेन 'तादृशेऽपौरुषेयत्वे कः सिद्धेऽपि गुणो भवेत्'। (प्र० वा० ३।२४७) इत्यप्यपास्तम्, वेदे तादृशस्यापौरुषेयत्वस्यानभ्युपगमात्।

यदुक्तम्—'काममविसंवादकमित्यपौरुषेयत्वमिष्टं तद्विसंवादकानामपि केषाञ्चिदनादित्वमस्तीति किमपौरुषेयत्वेनेति, तदप्यकिञ्चित्करम्, प्रमाणानां प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाभ्युपगमात्। संवादविसंवादाभ्यां प्रामाण्याप्रामाण्यनिर्धारणे तत्परतस्त्वापत्तेः। अपौरुषेयत्वेन तु पुरुषाभावात् पुरुषाश्रितभ्रमप्रमादकरणापाटवादिपुंदोषासंपृक्ततयाऽप्रामाण्यशङ्कानुत्थानाद् बाधसंशयादर्शनाच्चानपोदितं सत्प्रामाण्यस्वतस्त्वमेव तिष्ठति। स्पष्टमेवापौरुषेयत्वस्य महत्त्वम्।

यदुक्तम्—'वेदवाक्यानामपौरुषेयत्वेऽपि 'अर्थसंस्कारभेदानां दर्शनात्संशयः पुनः' (प्र० वा० ३।२४८) तथात्वेऽपि यदि प्रतिनियतामेव तदर्थप्रतिभां जनयेत्तदा स्यादप्याश्वासनम्, यथेष्टं तु समारोपापवादाभ्यां नैरुक्तमीमांस-

से संकेतों की उद्भावना करने वाले भी यथाश्रुत अर्थ विकल्पों के सहारे से ही ऐसा करते हैं। इसमें कहीं से कुछ मिलता है और कहीं से कुछ। एक उपदेष्टा में इन सब की स्थिति नहीं रहती, इसीलिये इनकी अपरपूर्वकता मानी जाती है। प्रारम्भ से ही यह देखा जाता है कि जिसको जैसा दिखाई दिया, तदनुसार सत्य और मिथ्या लोकव्यवहार प्रवृत्त होते रहे हैं। यह कहना उचित नहीं है कि कल्प के आदि काल में जो व्यवहार नहीं देखे गये, वे बाद में प्रवृत्त माने जायेंगे, क्योंकि उनकी भी प्रवृत्ति अन्य संस्कारों से स्थापित वासनाओं के अनुसार उद्भूत होती रहती हैं' किन्तु यह सारा कथन निःसार है, क्योंकि यह हमारे ऊपर अनुक्त का उपालम्भ है। यह कहा जा चुका है कि हम अनादित्व को अपौरुषेयत्व में प्रयोजक मानते ही नहीं। फिर उसके आधार पर दोष देना मिथ्या उपालम्भ (आरोप) है। इसी तरह से यथाकथंचित् अन्यपूर्वकत्व भी अपौरुषेयता का प्रयोजक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर भी पूर्वोक्त व्यभिचार है। पूर्वानुपूर्वी निरपेक्ष उच्चारण से भिन्न ही उच्चारण अपौरुषेय कहलाता है, यह हम कह चुके हैं। संसार की अनादिता के कारण पुरुष का प्राथम्य असिद्ध है। सृष्टि के प्रारम्भ में भी पुरुष का प्राथम्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि मीमांसक के मत से खण्ड सृष्टि और खण्ड प्रलय के माने जाने पर भी समष्टि (सब पदार्थों का) सृष्टि-प्रलय नहीं माना जाता। उत्तर मीमांसक (वेदान्ती) की रीति से स्रष्टा परमेश्वर भी अनादि है। परमेश्वर भी पूर्व कल्प की आनुपूर्वी का स्मरण करके ही उत्तर कल्प की आनुपूर्वी का उपदेश करता है, इस तरह से वह भी कर्ता नहीं है, किन्तु पाठक मात्र है। इस तरह से प्रमाणवार्तिक की इस उक्ति का उत्तर हो जाता है कि 'इस तरह की अपौरुषेयता के सिद्ध हो जाने से भी क्या फायदा होने वाला है', क्योंकि वेद में आपकी बताई गई पद्धति की अपौरुषेयता न होकर उससे भिन्न प्रकार की अपौरुषेयता मानी जाती है।

यह भी कहा गया है कि—'अविसंवादकता के कारण भले ही अपौरुषेयता मानी जाय, किन्तु उसके विसंवादक वाक्यों की भी अनादिता है, इस परिस्थिति में अपौरुषेयत्व से क्या लाभ होने वाला है'। यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध माना जाता है। संवाद और विसंवाद के आधार पर प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निर्धारण करने पर प्रामाण्य के परतस्त्व की आपत्ति होगी। वेद वाक्यों को अपौरुषेय मानने पर उसका पुरुष से संपर्क न होने से पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, करणापाटव आदि पुरुष के दोषों से भी सम्पर्क न होगा। इस तरह से अप्रामाण्य की आशंका के न उठने से और बाध, संशय आदि के भी न रहने से उसका स्वतः प्रामाण्य निर्बाध रूप से विद्यमान रहता है। इस तरह से अपौरुषेयता का महत्त्व स्पष्ट है।

'वेद वाक्यों की अपौरुषेयता मान लेने पर भी प्रमाणवार्तिक में यह आपत्ति उठाई गई है कि 'वेद वाक्यों के अपने-अपने संस्कार प्रतिभा आदि के बल पर अर्थभेद व्याख्यात हैं, अतः पुनः संशय उपस्थित हो जाता है कि इनका वास्तविक अभिप्राय क्या है ?' अपौरुषेय होने पर भी वेद वाक्य यदि किसी निश्चित अर्थ की प्रतिभा को ही जन्म दें तो उससे हम उसकी अपौरुषेयता

कादयो वेदवाक्यानि विशसन्तो दृश्यन्ते। न च तेषां तेऽर्था न घटन्ते। समयप्राधान्यादर्थनिवेशस्यैकस्य वाक्यस्यानेकार्थ-विकल्पसम्भवात्, प्रकृतिप्रत्ययानामनेकार्थपाठात्। रूढेरप्यनेकान्तेनानुमतेररूढशब्दवाहुल्यात्तदर्थस्य पुरुषोपदेशापेक्षणात्, तदिच्छावृत्तेरनिर्णय एव वाक्यार्थेषु, तदप्यकिञ्चित्करम्, अनाद्यविच्छिन्नपारम्पर्येणार्थावगमे बाधाभावात्। साम्प्रदायिकैर्महर्षिभिर्वेदार्थवर्णनाच्च। क्वचित्क्वचिन्मन्त्ररूपवेदस्य व्याख्यानं ब्राह्मणरूपैर्वेदैरेव क्रियते। अत एव मन्त्रै-र्ब्राह्मणैः श्रौतैः कात्यायनाश्वलायनादिसूत्रैर्याज्ञिकादीनां पद्धतिभिर्योऽर्थः सिद्धयति स एव वेदार्थः। पारम्पर्येणैव याज्ञिका जानन्त्यनुतिष्ठन्ति च। पुराणेतिहासादिभिर्धर्मशास्त्रैश्च स एवार्थः समर्थ्यते, पूर्वोत्तरमीमांसाभ्यां स एव मीमांस्यते, व्याकरणनिरुक्तादीनामपि तदनुसार्येवोपयोगः। योगरूढयादीनामपि तात्पर्यानुसार्येवाश्रयणम्। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति रीत्योपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वत्वफलार्थवादोपपत्तिभिश्च तात्पर्यं निर्धार्यते। न च वेदे पुरुषाभावात् पुरुषाभिप्रायरूपस्य तात्पर्यस्यासम्भव एवेति वाच्यम्, सप्रयोजनबुद्धिकारणत्वस्यैव वाक्यतत्परत्वाभ्युपगमात्। तदुक्तम्—'सप्रयोजनकबुद्धिकारणं वाक्यमाहुरिह तत्परं बुधाः'। पदवाक्यतदर्थशाब्दन्यायाः केचन सर्वसम्प्रतिपन्ना एव। अन्यथा त्वदुक्तीनामपि तात्पर्यानिर्धारणादपार्थक एव ग्रन्थलेखनादिरूपस्त्वत्प्रयासोऽपि। तथा च 'अर्थसंस्कारभेदानां सत्त्वेऽप्यर्थस्य निर्णयः। तात्पर्यादस्तु तस्यापि निर्णयस्तत्प्रयोजनैः। षड्भिर्लिङ्गैर्भवेन्नित्यं वेदार्थावगमः किल॥'

यदप्युक्तम्—वर्णानां वाक्यानाञ्च नित्यत्वं न सम्भवति। 'अन्याविशेषाद्वर्णानां साधने किं फलं भवेत्' (प्र० वा० ३।२४८)। नहि लौकवेदयोर्नाना वर्णाः। भेदेऽपि च प्रत्यभिज्ञानाविशेषस्तत एकत्वासिद्धिप्रसङ्गात्, भेदानुप-

पर आश्वस्त हो सकते हैं, किन्तु इसके विपरीत अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार समारोप और अपवादों का सहारा लेकर नैरुक्त, मीमांसक प्रभृति वेद वाक्यों की कतर-ब्योंत करते देखे जाते हैं। उनके बताये अर्थ घटित न होते हों, ऐसी भी बात नहीं है। संकेत की प्रधानता मानने पर एक ही अर्थ के लिये प्रयुक्त वाक्य के अनेक अर्थ हो सकते हैं, क्योंकि प्रकृति और प्रत्यय अनेकार्थक होते हैं। रूढि भी अनियमित होने के कारण अनेक अर्थों की अनुमति दे ही देती है। फिर अरूढ शब्द भी बहुत से हैं। इनका अर्थ बिना पुरुष के उपदेश के अवगत नहीं होता और यह पुरुष की इच्छा का अनुसरण करता है, अतः ऐसी परिस्थिति में वाक्यों के अर्थ का निश्चय ही न हो पावेगा।' यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि अनादि, अविच्छिन्न परम्परा के आधार पर अर्थ की अवगति में कोई बाधा नहीं हो सकती और साम्प्रदायिक (गुरुपरम्परानुसारी) महर्षिगण वेदार्थ का वर्णन भी करते हैं। कहीं-कहीं मन्त्र रूप वेद का व्याख्यान ब्राह्मण रूप वेदों में ही किया गया है। इसलिये मन्त्र, ब्राह्मण, कात्यायन, आश्वलायन प्रभृति श्रौतसूत्र और याज्ञिक पद्धतियों से जो अर्थ सिद्ध होता है, वही वेदार्थ है। इसको याज्ञिकगण गुरुपरम्परा से ही जानते हैं और तदनुसार अनुष्ठान करते हैं। पुराण, इतिहास और धर्मशास्त्र उसी अर्थ का समर्थन करते हैं, पूर्व और उत्तर मीमांसा विचार के द्वारा उसी अर्थ की परीक्षा करती है और व्याकरण, निरुक्त आदि का उपयोग भी उसी परम्परा को समझने के लिये है। तात्पर्य के अनुसार ही शब्दों में योग, रूढि आदि का आश्रय लिया जाता है। 'शब्द जिस अभिप्राय से कहा जाता है, वही उसका अर्थ है' इस न्याय के अनुसार उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता फल, अर्थवाद और उपपत्ति के आधार पर तात्पर्य का निश्चय होता है। वेद में पुरुष नहीं है, अतः पुरुषाश्रित तात्पर्य भी कैसे रहेगा? इसका यह समाधान है कि वाक्य के तात्पर्य का अभिप्राय इतना ही माना जाता है कि वह सप्रयोजन बुद्धि का प्रेरक हो। जैसा कि कहा गया है—'तत्परः शब्दार्थः' इस नियम स्थल में वाक्य का तात्पर्य इतना ही माना जाता है कि वह सप्रयोजन बुद्धि (ज्ञान) का उत्पादक हो।' पद-वाक्य और पदार्थ-वाक्यार्थ संबन्धी कुछ न्याय सर्वसंमति से स्वीकृत हैं। अन्यथा आपकी उक्तियों का भी कोई तात्पर्य निर्धारित न होने से ग्रन्थ लेखन आदि का सारा प्रयास ही व्यर्थ हो जायगा। इसी लिये कहा गया है कि—'अर्थ और उनके संस्कारों की भिन्नता रहने पर भी अर्थ का निर्णय तात्पर्य के अनुसार हो सकेगा। इस तात्पर्य का निर्धारण भी तात्पर्य के प्रयोजक षड्विध लिंग से हो जायगा। इस तरह से वेदार्थ की अवगति में कभी भी कोई बाधा नहीं आ सकती।'

यह भी आक्षेप उठाया गया है कि 'वर्णों और वाक्यों की नित्यता नहीं मानी जा सकती[१]।' लौकिक और वैदिक वर्णों और वाक्यों में परस्पर कोई वैशिष्ट्य नहीं है, इस परिस्थिति में वर्णों की अपौरुषेयता सिद्ध करने से क्या मिलने वाला है? लोक

लक्षणाच्च वैदिकवर्णासिद्धिः, प्रत्यभिज्ञानादविप्रतिपत्तिप्रसङ्गाद् अनभ्युपगमाच्च। तेषाञ्चापौरुषेयत्वसाधने ते तुल्याः सर्वत्रेति किमनेन परिशेषितम्। तथा च सर्वो व्यवहारोऽपौरुषेयो न च सर्वोऽवितथ इति व्यर्थः परिश्रम इति, तदप्यनुक्तोपालम्भनम्, नहि वैदिकैर्लौकिकेषु वैदिकेषु च वर्णेषु भेदोऽभ्युपेयते। उभयेषामप्यपौरुषेयत्वे दोषाभावात्। वर्णानित्यत्ववादिभिर्यद्वर्णानित्यत्वेन पौरुषेयत्वेन तद्द्वारा वेदे पौरुषेयत्वं सिषाधयिषितं तदेव वर्णनित्यत्वसाधनेन प्रतिक्षिप्यते। एवं पदानामपि लौकिकानां वैदिकानां नित्यत्वेऽपि न हानिः। वाक्ये तु वैलक्षण्यं भवति। लौकिकानि वाक्यानि प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य निर्मितानीति पौरुषेयाणि, वैदिकानि त तद्भिन्नानीत्यपौरुषेयाणि। लौकिकानि पूर्वानुपूर्वीनैरपेक्ष्येणाप्युच्चार्यन्तेऽतः प्रथमोच्चारितान्यपि भवन्ति, वैदिकानि तु न तथाभूतान्यतो न तानि तन्नैरपेक्ष्येणोच्चार्यन्तेऽतो न प्रथमोच्चारितानि कदापि भवन्ति तेनापौरुषेयाणि। 'अन्याविशेषे जातेऽपि तदनित्यत्वहेतुना। वेदानित्यत्वनिर्णीतिरिह जातं निवारणम्॥'

यदप्युक्तम्—'वाक्यं न भिन्नं वर्णेभ्यो विद्यतेऽनुपलम्भनात्' (प्र० वा० ३।२४९)। नहि देवदत्तादिपदवाक्येषु दकारादिप्रतिभासं मुक्त्वाऽन्यं प्रतिभासं बुद्धेः प्रथमो द्वितीयवर्णप्रतिभासवत्, न चाप्रतिभानं ग्रहणे ग्राह्यतयेष्टमस्ति, अन्यद्वा शक्यमध्यवसातुमाकारान्तरवत्। ननु वर्णासंभवि अर्थप्रत्यायनलक्षणं कार्यं गमकमिति चेत्, स्याद्यदि तेषु वर्णेषु सत्स्वपि तत्कार्यं न स्यात्। यावान् वर्णसमुदायोऽर्थप्रतिपादनाय सङ्केतितस्तावताऽर्थप्रतीतिर्भवत्येवेति, तदप्यकिञ्चित्करम्, वनसेनादिवद्वर्णपदवाक्यादीनामभेदेऽपि भेदव्यवहारदर्शनात्। वर्णपदयोर्नित्यत्वेन तत्र

और वेद में वर्णों की भिन्नता नहीं है। यदि भेद मान भी लिया जाय तो प्रत्यभिज्ञा को अविशेषता के कारण उनमें पुनः एकत्व की सिद्धि हो जायगी, इस तरह से भेद की प्रतीति न होने से वैदिक वर्ण सिद्ध न हो सकेंगे, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के बल पर उनमें भेद की विप्रतिपत्ति समाहित हो जायगी और ऐसा माना नहीं गया है। यदि उन्हीं की अपौरुषेयता सिद्ध करनी हैं तो वे तो सर्वत्र तुल्य हैं, तब इससे आपका क्या अभिप्राय सिद्ध हुआ? इस तरह से सारा व्यवहार अपौरुषेय और यथार्थ मानना पड़ेगा और वेदार्थ की अपौरुषेयता को सिद्ध करने के लिये किया गया आपका सारा परिश्रम ही व्यर्थ जायगा।' किन्तु यह आक्षेप जिस बात को हम स्वीकार नहीं करते, उसकी कल्पना करके उठाया गया है। वैदिक गण लौकिक और वैदिक वर्णों में भेद कहाँ मानते हैं। दोनों की अपौरुषेयता में भी कोई दोष नहीं है। वर्णों के अनित्य मानने वाले वर्णों की अनित्यता के कारण पौरुषेयता मानते हैं और इसी के आधार पर वेदों की भी पौरुषेयता सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु वर्णों की नित्यता सिद्ध करके उसी का समाधान किया जाता है। इसी तरह से लौकिक और वैदिक पदों की नित्यता में भी कोई हानि नहीं हैं। वाक्यों में अवश्य विलक्षणता मानी जाती है। लौकिक वाक्य प्रमाणान्तर से अर्थ की अवगति करके बाद में बनाये जाते हैं, अतः पौरुषेय हैं और वैदिक वाक्य प्रमाणान्तर से अनवगत अर्थ के प्रतिपादक होने से लौकिक वाक्यों से भिन्न अपौरुषेय माने जाते हैं। लौकिक वाक्यों का उच्चारण पूर्व पूर्व आनुपूर्वी निरपेक्ष (पहले पहले की आनुपूर्वी की अपेक्षा रक्खे बिना हो) होता है, अतः इनका प्रथमोच्चारण भी होता है, वैदिक वाक्यों में ऐसी बात नहीं है, अतः इनका पूर्वानुपूर्वी निरपेक्ष उच्चारण नहीं होता और इसीलिये ये कभी प्रथमोच्चरित भी नहीं होते, इसीलिये ये अपौरुषेय होते हैं। इस तरह से—'लौकिक और वैदिक वर्णों की अविशेषता (समानता) के रहने पर भी, उनकी अनित्यता के कारण वेद की अनित्यता को सिद्ध करने वाले तर्कों का उचित निवारण हो जाता है'।

प्रमाणवार्त्तिक में यह भी कहा गया है कि 'वाक्य वर्ण अथवा पद से भिन्न नहीं है, क्योंकि इनके अतिरिक्त वाक्य की कोई उपलब्धि नहीं होती'। देवदत्त आदि पदों और वाक्यों में दकार आदि के प्रतिभास को छोड़कर बुद्धि में दूसरा कोई प्रतिभास नहीं होता, जैसे कि पहले द्वितीय वर्ण का प्रतिभास नहीं होता। अप्रतिभास ग्रहण (ज्ञान) में ग्राह्यता (ज्ञेय) के रूप में भी नहीं रहता और न इसके अतिरिक्त वाक्य का कोई भिन्न आकार ही दिखाई देता है। वर्णों के द्वारा संभव न हो सकने वाला अर्थ का ज्ञान भी स्वतन्त्र वाक्य का अनुमान नहीं करा सकता, क्योंकि ऐसा तब हो यदि वर्णों के रहते हुए भी अर्थ का ज्ञान न हो। जितना वर्णसमुदाय अर्थ के प्रतिपादन के लिये संकेतित है, उतने से अर्थ की अवगति (ज्ञान) होती ही है'। यह प्रतिपादन भी अकिंचित्कर है। वन, सेना आदि की तरह पद और

पुरुषस्वातन्त्र्याभावेऽपि पदसन्दर्भात्मके वाक्ये पुरुषस्वातन्त्र्यं सम्भवत्येव। प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तद्विवक्षयाऽपूर्व-वाक्यनिर्माणदर्शनात्। वेदे तु वर्णपदानामिव वाक्यानामपि नित्यत्वमेव, तत्र वेदार्थस्य प्रमाणान्तरागोचरत्वात्, प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य यथेच्छं वाक्यनिर्माणासंभवात्। अत एव 'स्वर्गकामश्चैत्यं वन्देत' इत्यादिवाक्यानामप्रामाण्य-मेव। न च वेदवत्प्रामाण्यं तस्य पौरुषेयत्वात्, सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वाभावात्।

अन्ये तु न भवत्येव वर्णेभ्योऽर्थप्रतीतिः, तेषामविशेषेऽपि पदवाक्यान्तरे सरो रस इत्यादावभावात्। न चाविशेषासिद्धिरिति वाच्यम्, प्रत्यभिज्ञानात्तत्सिद्धेः। ननु प्रत्यभिज्ञानस्य व्यभिचारो दृश्यते, लूनपुनर्जातेषु केशेषु भिन्नेष्वपि सादृश्यग्रहणाद्विप्रलब्धस्य प्रत्यभिज्ञानम्, सादृश्यग्रहणञ्च सदृशस्य स्वरूपग्रहणम्, न त्वन्यसदृशग्रहणम्, वादिप्रतिवादिसम्मतस्य प्रत्यभिज्ञाननिदर्शनस्य चाभावः। न च प्रतिपदं वर्णैकत्वग्राहकं प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञानं सम्भवति, पूर्वकालसम्बन्धित्वस्येदानीमसन्निहितत्वेनाग्रहणात्, ग्रहणे वा श्रोत्रज्ञानवत् स्पष्टप्रतिभासः स्यात्। न च भवति, तस्मान्न पूर्वकालवर्णग्राहकं प्रत्यभिज्ञानम्, दृश्यमानस्य चेदानीन्तनकालत्वात्। यश्चेदानीन्तनकालसम्बन्धी स्वभावः स कथं पूर्वकालसम्बन्धी, पूर्वापरकालयोः परस्परविरोधात्। सन्निहितविषयञ्च प्रत्यक्षमिष्यते। न च वर्णस्य सन्निधानं सम्भवति सांशत्वात्। अन्त्यवर्णभागकाले च पूर्ववर्णभागानामसत्त्वात्। तेन न वर्णेषु प्रतिपदमेकत्वग्राहकं प्रत्यक्ष-प्रत्यभिज्ञानं सम्भवति। तस्मात् स्थितमेतत् प्रतिवाक्यं भिन्ना एव वर्णास्तेषामेव भेदादर्थप्रतीतेर्भेदः।

ननु वर्णा निरर्थका इत्युक्तम्, कथं पुनस्तेषामेव भेदादर्थप्रतीतेर्भेदः? सत्यं सन्तो वर्णा निरर्थका विकल्पविषयास्तु सामान्यरूपा एव। प्रतिवाक्यं भिन्ना वर्णा वर्णस्वलक्षणाभेदेनाध्यस्ता वाचका इष्यन्ते,

वाक्यों में अभिन्नता रहने पर भी भेद-व्यवहार देखा जाता है। वर्ण और पद की नित्यता के कारण वहाँ पर पुरुष की स्वतन्त्रता न रहने पर भी पदसन्दर्भात्मक वाक्य में पुरुष की स्वतन्त्रता संभव ही है, क्योंकि वह प्रमाणान्तर से अर्थ की अवगति करके उसको जब करना चाहता है, तो वह एक नये वाक्य का निर्माण करता देखा जाता है। वेद में तो वर्ण और पद की तरह वाक्य भी नित्य हैं, क्योंकि यहाँ पर वेदार्थ की प्रमाणान्तर से अवगति नहीं होती, अतः प्रमाणान्तर से अर्थ को जानकर यथेच्छ वाक्य निर्माण की यहाँ संभावना ही नहीं रहती। इसीलिये 'स्वर्ग की कामना वाला चैत्य की वन्दना करे' इत्यादि वाक्य अप्रमाण ही माने जाते हैं। इन वाक्यों में वेद वाक्यों की तरह प्रामाण्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता के साथ अस्मर्यमाणकर्तृकता का यहाँ अभाव है।

अन्य दार्शनिकों का कहना है कि वर्णों से अर्थ की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि सर, रस आदि पदान्तर और वाक्यान्तर में उन्हीं वर्णों के रहते हुए भी अर्थ की एक सी प्रतीति नहीं होती। यहाँ पर वे ही वर्ण हैं, यह नहीं सिद्ध किया जा सकता, सो बात भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के बल से उनकी अविशेषता (समानता) सिद्ध हो जाती है। प्रश्न है कि प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य अव्यभिचरित नहीं है, क्योंकि केशों को काट लेने पर वे फिर उग आते हैं और वहाँ पर भी ये वही केश हैं, इस तरह की प्रत्यभिज्ञा होती है, जो कि गलत है। यहाँ पर व्यक्ति सादृश्य ग्रहण के कारण भ्रम में पड़ जाता है। सादृश्य ग्रहण का अर्थ है सदृश का स्वरूप ग्रहण, अन्य सदृश का स्वरूप ग्रहण नहीं। वादी और प्रतिवादी दोनों जिसमें सहमत हों, इस तरह का कोई उदाहरण प्रत्यभिज्ञा का नहीं मिलता। प्रत्येक पद में वर्णैकत्व का ग्राहक प्रत्यक्ष या प्रत्यभिज्ञान नहीं होता। पूर्वकाल के साथ संबद्ध वस्तु का इस काल में ग्रहण संभव नहीं है। यदि ग्रहण होता हो तो उसका श्रोत्र ज्ञान के समान स्पष्ट प्रतिभास होना चाहिये, ऐसा होता नहीं, इसलिये पूर्वकाल के वर्ण का ग्राहक प्रत्यभिज्ञान नहीं होता। जो दिखाई देता है, उसका इस काल से संबन्ध है। जो स्वभाव इस काल से संबद्ध है, उसका पूर्वकाल से संबन्ध कैसे हो सकता है, क्योंकि ये दोनों काल परस्पर विरोधी हैं। प्रत्यक्ष में विषय का संनिधान आवश्यक है। वर्णों की सांशता (सावयवता) के कारण उनका संनिधान नहीं बन सकता। अन्तिम वर्ण भाग के उच्चारण के समय उसके पूर्व भागों की स्थिति नहीं रहती। अतः वर्णों में प्रत्येक पद में उनकी एकता का ग्राहक न तो प्रत्यक्ष ही बन सकता है और न प्रत्यभिज्ञान ही। ऐसी परिस्थिति में यही मानना पड़ेगा कि प्रत्येक वाक्य में भिन्न-भिन्न वर्ण हैं और इनके भेद के रहने से ही अर्थ की प्रतीति भिन्न-भिन्न तरह से होती है।

प्रश्न है कि 'वर्णों को तो निरर्थक माना गया है, तब उनके भेद से अर्थ की प्रतीति का भेद कैसे हो सकेगा? यह ठीक है कि वर्ण निरर्थक हैं, ऐसा पहले कहा जा चुका है, फिर उनके भेद से अर्थ के ज्ञान में भेद कैसे होगा? वास्तव में वर्ण दो तरह के हैं, एक

तेन वर्णानां भेदादर्थप्रतीतेर्भेद इत्युच्यते। यदि तु वर्णभेदादर्थप्रतीतेर्भेदो नेष्यते, किन्तु वर्णाविशेषेऽपि वाक्यभेदात्प्रतीतिभेदः, स एव कार्यभेदः। सा चार्थप्रतीतिर्वाक्याद्भवेत्। तत्र वाक्यमतीन्द्रियम्, वर्णव्यतिरेकेण बुद्धावप्रतिभासात्। तथा च सम्बन्धाग्रहात् वाक्यात्तदप्रतीतिरेव (अत्र वर्णविशेषेऽपि वाक्याभेदादिति मूलमशुद्धम्)। सन्निधिमात्रेण जननेऽव्युत्पन्नस्यापि स्यात्। तस्मान्न वाक्यं नाम किञ्चिदर्थान्तरं वर्णेभ्यो यस्यापौरुषेयत्वं साध्येत। तदभावाद्वेदाविशिष्टवर्णापौरुषेयत्वमपि प्रथमपक्षे प्रत्युक्तमिति चेन्न, प्रमाणान्तरेण प्रत्यभिज्ञातस्य बाधानुपपत्तेः। न च लूनपुनर्जातकेशज्वालादिवत् सादृश्यनिबन्धनं प्रत्यभिज्ञानमित्युक्तमेवेति वाच्यम्, केशादिष्विवात्र बलवद्बाधकाभावात्। क्वचिद् व्यभिचारदर्शने तदुत्प्रेक्षायां सर्वव्यवहारबाधप्रसङ्गः। तदुक्तम्—'उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि बाधनम्। स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत्॥' किञ्च, सादृश्यग्रहणनिबन्धनं प्रत्यभिज्ञानमिति वदता सादृश्यग्रहणमुपपादनीयम्, तच्च नोपपद्यते, क्षणिकस्य ग्रहीतुरर्थतत्सादृश्यग्रहणासंभवात्। न च सदृशमित्येव ग्रहीतुं शक्यते, सदृशस्य भेदादिवत्प्रतियोग्यनुयोगिग्रहसापेक्षत्वात्। तथा चाबाधितप्रत्यभिज्ञानेन वर्णैकत्वसिद्धिर्निष्प्रत्यूहैव। अत एवानिदर्शनमपि सिद्धमेव। भेदप्रत्ययस्तु परोपाधिक इत्यादि प्रपञ्चितमधस्तात्, ध्वनिकृतोऽयं विशेष इत्युक्तमेव। एवं पङ्क्तिर्वनं सेना शतं सहस्रमित्यादिवद् बहुषु वर्णेष्वेवैकार्थावच्छेदेनौपचारिकी पदवाक्यादिबुद्धिः। यथा गजपदातितुरगादिषु चम्पकाशोककिंशुकादिषु केनचिदेकेनोपाधिना वनसेनादिप्रत्ययस्तथैव प्रत्येकवर्णानुभवजनितभावनानिचयलब्धजन्मनि निखिलवर्णावगाहिनि स्मृतिरूपे एकस्मिन् ज्ञाने भासमानानां वर्णानामेकज्ञान-

सत्स्वरूप और दूसरे विकल्पात्मक। इनमें से पहले निरर्थक ही हैं, किन्तु विकल्पात्मक वर्ण सामान्य स्वरूप के होते हैं। प्रत्येक वाक्य में भिन्न वर्ण वर्णों के स्वलक्षण से अभिन्न से प्रतीत होते हैं, तब उनकी वाचकता मानी जाती है। इसीलिये वर्णों के भेद से अर्थ भेद की प्रतीति की बात कही जाती है। वर्णों के भेद से यह अर्थ की प्रतीति का भेद नहीं माना जाता, किन्तु वर्णों की अविशेषता के रहते भी वाक्यभेद से प्रतीतिभेद माना जाता है, इसी को कार्यभेद कहा जाता है और यह भिन्न अर्थप्रतीति वाक्यभेद के कारण मानी जाती है, यह वाक्यभेद अतीन्द्रिय माना जाता है, क्योंकि वर्णों से भिन्न रूप में इसका बुद्धि (ज्ञान) में प्रतिभास नहीं होता। इस तरह से संबन्ध के ज्ञात न होने से वाक्य से अर्थ की प्रतीति नहीं ही बन सकेगी। (यहाँ पर बौद्ध ग्रन्थ के मूल में 'वर्णविशेषेऽपि वाक्याभेदात्' ऐसा पाठ दिया गया है, जो कि अशुद्ध है)। संनिधिमात्र से अर्थप्रतीति मानने पर अव्युत्पन्न (संकेत ज्ञान से रहित) व्यक्ति में भी इसको मानना पड़ जायगा। इस तरह से वाक्य वर्णों से अतिरिक्त कोई अर्थान्तर (भिन्न वस्तु) नहीं है, जिसकी कि अपौरुषेयता सिद्ध की जा सके। इसके अभाव में वेदाविशिष्ट वर्णों की अपौरुषेयता भी प्रथम पक्ष में न बन सकेगी'। इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से है कि प्रमाणान्तर से प्रत्यभिज्ञान का बाध नहीं हो सकता। लूनपुनर्जात (काटने के बाद फिर उगे हुए) केश की भाँति तथा ज्वाला से ज्वालान्तर की भाँति यह प्रत्यभिज्ञान सादृश्यमूलक है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि केश आदि की तरह यहाँ पर बलवान् बाधक का अभाव है। कहीं व्यभिचार देखकर सभी स्थानों में उसकी कल्पना कर लेने पर सारे व्यवहारों के विलोप का प्रसंग उठ खड़ा होगा। जैसा कि बार-बार कहा गया है—'जो व्यक्ति अज्ञानवश बाध के न रहते हुए भी उसकी कल्पना कर लेता है, ऐसा संशयात्मा व्यक्ति सभी व्यवहारों में मुँह ताकता रह जाता है और अन्त में नष्ट हो जाता है'। आप कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञान सादृश्यग्रहण निबन्धन है। आप इस सादृश्यग्रहण का उपपादन कीजिये। इसका उपपादन आप कर नहीं सकते, क्योंकि आपका क्षणिक ग्रहीता अर्थ और उसके सादृश्य दोनों को ग्रहण नहीं कर सकता। केवल सदृश का ग्रहण हो नहीं सकता, क्योंकि सदृश की प्रतीति अपने से विसदृश की प्रतियोगिनी और साथ ही सदृश की अनुयोगिनी होती है। इस तरह से अबाधित प्रत्यभिज्ञा से वर्ण की एकता की सिद्धि निष्प्रत्यूह (निर्विघ्न) हो जाती है। इसीलिये निदर्शन (दृष्टान्त) भी सिद्ध हो जाता है। भेद की प्रतीति औपाधिक है, इस बात को पहले ही विस्तार से बता दिया गया है कि यह विशेषता ध्वनि के कारण है। इसी तरह से पंक्ति, वन, सेना, शत, सहस्र इत्यादि की तरह वर्णों में भी एकार्थावच्छेदेन एक पद, एक वाक्य आदि की औपचारिक (गौण) बुद्धि बन सकती है। जैसे गज, पदाति, तुरग प्रभृति में और चम्पक, अशोक, किंशुक प्रभृति में किसी एक उपाधि से वन, सेना आदि का प्रत्यय होता है, उसी तरह से प्रत्येक वर्ण के अनुभव से जनित भावनासमूह से उत्पन्न हुए निखिल वर्णों

विषयतया वैकार्थधीहेतुतया वैकपदवाक्यत्वादिव्यवहार उपपद्यत एव। स्फोटवादिमतरीत्या तु वर्णेभ्यो व्यतिरिक्तैः पदवाक्यादिस्फोटैरेवार्थप्रतीतिसिद्धिः।

न च स्फोटस्यातीन्द्रियत्वम्, श्रौतप्रत्यये प्रतिभासमानस्य तस्य प्रत्यक्षत्वात्। न च वर्णाः प्रत्यक्षमुपलभ्यमाना अपि न प्रत्यक्षाः, कथमभासमानोऽपि स्फोटः प्रत्यक्ष इति चेदुच्यते—न ब्रूमो वर्णा न प्रत्यक्षा इति, किन्तु तेऽसन्तोऽप्युपाधिवशाद्वदनदैर्घ्यादिवदवभासन्ते। शब्दस्त्वेको निरवयवः प्रतीयते। तथा च पदमिति वाक्यमित्येकाकारप्रतीतिरस्ति। न च भिन्ना वर्णास्तस्यामालम्बनीभवन्ति। नहि सामान्यप्रत्ययो व्यक्त्यालम्बनोऽवयविप्रत्ययो वाऽवयवालम्बनो भवति। न च पदवाक्यबुद्धिरयथार्था, बाधकाभावात्। अन्यत्तु पूर्वमेव समाहितम्। 'स्फोटात्मकस्य वाक्यस्य सिद्धत्वादिह सर्वतः। वाक्यं वर्णातिरिक्तं हि तत एवाभिधीयते।। वर्णात्मताया वाक्यस्य स्वीकृतावप्यसंशयम्। वनसेनादिवत्तस्यापौरुषेयत्वमिष्यते।। नित्यानां व्यापकानाञ्च क्रमवत्त्वं न सम्भवि। वर्णानां पदवाक्यत्वनिष्पत्तिस्तेन दुर्घटा।। क्रमवत्त्वप्रसिद्ध्यर्थं वर्णव्यक्तय आश्रिताः। कण्ठताल्वादिनिष्पन्ना पौर्वापर्यं हि कालिकम्।। आनुपूर्व्यास्तु निर्माणं पौरुषेयत्वमिष्यते। स्वातन्त्र्येणान्यथान्यत् स्यादिति वेदविदो विदुः।।'

यदप्युक्तम्—'वाक्यमनेकावयवं स्यादनवयवं वा? 'अनेकाङ्गिकतात्मत्वे पृथक् तेषां निरर्थता। अतद्रूपे च तद्रूप्यं कल्पितं सिंहतादिवत्।।' (प्र० वा० ३।२४९-२५०)। अनेकावयवात्मत्वे तेषामवयवानां पृथग् नैरर्थक्यमेव। वर्णानां तथात्वे तत्समुदायात्मकस्य वाक्यस्याप्यानर्थक्यमेव। अर्थवानेवात्मा (वाचकस्वभाव) एव वाक्यम्। ते च वाक्यावयवाः स्वयमनर्थकाः। तेष्ववयवेषु स आत्मा सिंहतादिवत् कल्पित एव। तेन तस्य पौरुषेयत्वमेव, पुरुषकल्पितत्वात्।

का अवगाहन करने वाले एक स्मृति रूप ज्ञान में भासमान वर्णों का एक ज्ञान के विषय होने से अथवा एक अर्थ का ज्ञान कराने से एक पद, एक वाक्य के रूप में व्यवहार बन ही सकता है। स्फोटवादी के मत के अनुसार तो वर्णों से अतिरिक्त पदस्फोट, वाक्यस्फोट आदि से ही अर्थ की प्रतीति सिद्ध हो जाती है।

स्फोट को अतीन्द्रिय नहीं माना जाता, श्रौत प्रत्यय (शब्दजन्य ज्ञान) में प्रतिभासमान होने से वह प्रत्यक्ष माना जाता है। वर्णों की प्रत्यक्ष प्रतीति होने पर भी उनका प्रत्यक्ष नहीं माना जाता और स्फोट भासमान नहीं है, तब भी उसकी प्रत्यक्षता मानी जाती है, ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि हम यह कहाँ कहते हैं कि वर्ण प्रत्यक्ष नहीं है, हमारा केवल इतना ही कहना है कि इनकी कोई सत्ता नहीं है, तो भी उपाधि के भेद से जैसे मुँह की दर्पण आदि में दीर्घता प्रभृति विभिन्न आकारों की प्रतीति होती है, उसी तरह से वर्णों की भी औपाधिक प्रतीति होती है। शब्द तो एक और निरवयव ही प्रतीत होता है। इसीलिये यह पद है, यह वाक्य है, इस तरह की एकाकार प्रतीति होती है। इसमें भिन्न-भिन्न वर्ण आलम्बन नहीं हो सकते। सामान्य (जाति) का प्रत्यय (ज्ञान) व्यक्ति पर आलम्बित और अवयवी का प्रत्यय अवयवों पर आलम्बित नहीं माना जा सकता। पद बुद्धि (ज्ञान) और वाक्य बुद्धि अयथार्थ (मिथ्या) नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इन प्रतीतियों का अन्य कोई बाधक प्रत्यय उपलब्ध नहीं है। अन्य शंकाओं का समाधान पहले ही किया जा चुका है। संक्षेप में इस पूरे विषय को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—'इस तरह से सभी प्रकार से वाक्य की स्फोटात्मकता सिद्ध हो जाती है। इसीलिये वाक्य को वर्णों से भिन्न माना जाता है। वाक्य की वर्णात्मकता स्वीकार करने पर भी निःसन्देह वन, सेना आदि की बुद्धि की तरह उसकी अपौरुषेयता ही मानी जाती है। नित्य और व्यापक वर्णों में क्रमवत्ता नहीं रह सकती। इस तरह से वर्णों से पद और वाक्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती। इस क्रमवत्ता की सिद्धि के लिये वर्ण व्यक्ति का आश्रय लेना पड़ता है, जिनकी कि निष्पत्ति कण्ठ-तालु प्रभृति से होने के कारण उनमें कालिक पूर्वापरभाव की प्रतीति होती है। इस आनुपूर्वी के निर्माण में पौरुषेयता मानी जाती है। अन्यथा सर्वत्र स्वातन्त्र्य मानने पर सबकी अपौरुषेयता ही माननी पड़ जायगी'।

आप पूछते हैं कि 'वाक्य अनेक अवयव वाला है या निरवयव'? यदि वह अनेकावयव है तो वाक्य के उन प्रत्येक अवयवों की अर्थात् पदों की निरर्थकता माननी पड़ेगी। अब यदि आप मानें कि अवाचक रूप में वाचकत्व कल्पित है, जैसे कि माणवक (बच्चा) में सिंहता (सिंह के समान निर्भीकता) आदि कल्पित होती है, तो वाचकता में पौरुषेयता माननी पड़ जायगी'। वाक्य की अनेकावयवता में उसके अवयवों की अलग से कोई उपयोगिता न होने से निरर्थकता माननी पड़ेगी। वर्णों को इस रूप में मानने पर वर्णसमुदायात्मक

'प्रत्येकं सार्थकत्वेऽपि मिथ्यानेकत्वकल्पना। एकावयवगत्या च वाक्यार्थप्रतिपद्भवेत् ॥' (प्र० वा० ३।३५०-३५१)। परिसमाप्तार्थं हि शब्दस्वरूपं वाक्यम्, ते चावयवास्तथाविधाः पृथक् पृथगिति ते प्रत्येकं वाक्यम्। तथा च नानेकावयवं वाक्यम्। एकावयवप्रतिपत्त्या च वाक्यार्थप्रतिपत्तेरवयवान्तरापेक्षा कालक्षेपश्च न स्यात्। तस्य निष्कलात्मनः क्षणेन प्रतिपत्तेरेकज्ञानोत्पत्तौ च निःशेषद्वगमादिति, तदपि भ्रान्तिनिबन्धनम्, रत्नपरीक्षणे प्रथमातिरिक्तदर्शनानामिव वाक्यार्थवैशद्ये प्रथमातिरिक्तावयवानां प्रयोगे बाधाभावात्। तदुक्तमेव भर्तृहरिणा—सर्वेषां पृथगवयवानां सवषु प्रतिशब्दं कृत्स्नार्थपरिसमाप्तिः। तथा यदेव प्रथमं पदमुपादीयते तस्मिन् सर्वरूपार्थोपग्राहिणि नियमानुवादनिबन्धनानि पदान्तराणि विज्ञायन्ते। अत एव 'प्रत्येकं सार्थकत्वेऽपि सार्थनेकत्वकल्पना। वैशद्याय गिरां तद्वद् रात्निकानेकदृष्टिवत् ॥'

सावयवपदवाक्यादिपक्षे कश्चिदवयवः कारकविशेषस्याभिधायकोऽन्यश्च क्रियाविशेषस्याभिधायक इति वाक्यावयवानां प्रत्येकं सार्थकत्वात् सकलमित्यपि युक्तम्। ननु क्रियाविशेषान्वितस्य कारकविशेषस्याभिधानं न कर्तुं शक्यत इति चेत्, तात्पर्यशक्त्याऽन्वितप्रतीत्युपपत्तेः। समुदितैः पदैरेको वाक्यार्थः प्रत्याय्यते, स च गुणभूतेतरपदार्थसंसृष्टः कश्चित्पदार्थ एवेति किमत्र संकुलम्। अन्वितमर्थं पदानि संहृत्य सम्पादयन्ति न त्वन्वितमभिदधति। ननु किं पदानि वाक्यार्थं घटादिकं मृदादीनीव कुर्वन्तीति चेन्न, तेषां ज्ञापकत्वात्। कथं तर्हि पदानि संहृत्यकारीणि न चान्वित-

वाक्य की निरर्थकता हो जायगी। वाक्य की आत्मा अर्थवत्ता ही है, उसका वाचक स्वभाव ही है। इसके अवयव अनर्थक होते हैं। इन अवयवों में वाचकता माणवक में सिंहता की तरह कल्पित है, अतः इसको पौरुषेय ही मानना पड़ेगा, क्योंकि यह पुरुषकल्पित है। 'यदि प्रत्येक अवयव की सार्थकता मानी जाती है तो अनेक अवयवों की कल्पना मिथ्या हो जायगी, क्योंकि एक अवयव से ही अर्थ की प्रतीति हो जायगी तो अन्य अवयवों की उपयोगिता कहाँ रह जायगी और एक अवयव की अर्थ प्रतीति हो जाने से पूरे वाक्य का अर्थ-बोध मान लेना पड़ेगा, क्योंकि इस पद्धति से एक अवयव में भी वाचकता विद्यमान है'। शब्द का वह स्वरूप वाक्य कहा जाता है, जिसमें कि अर्थ की पूर्णता विद्यमान रहती है। इन अवयवों में प्रत्येक की वाचकता यदि मानते हैं तो उनमें अलग-अलग रूप से भी उक्त लक्षण की विद्यमानता के कारण वाक्यता माननी पड़ेगी। इस तरह से वाक्य की अनेकावयवता निष्पन्न न हो सकेगी, क्योंकि जब एक अवयव की प्रतीति से ही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति हो जायगी तो अवयवान्तर की कल्पना में व्यर्थ के कालक्षेप के सिवाय क्या हाथ लगने वाला है। उस निष्फल स्वरूप की प्रतिपत्ति एक ही क्षण में होने से एक ज्ञान की उत्पत्ति होते ही पूरे स्वरूप की प्रतीति हो जायगी'। किन्तु आपके ये सब प्रश्नोत्तर भी भ्रममूलक हैं, क्योंकि रत्न की परीक्षा में प्रथम क्षण के दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों की भी जैसे सार्थकता मानी जाती है, उसी तरह से वाक्यार्थ की स्पष्टता के लिये प्रत्यय से अतिरिक्त अन्य अवयवों के प्रयोग में भी कोई बाधा नहीं है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—'सभी पृथक्-पृथक् अवयवों की भी सर्वत्र प्रत्येक शब्द में कृत्स्नता (संपूर्णता) की परिसमाप्ति देखी जाती है। इसी तरह से जिस पद का प्रथम उपादान होता है, उसी में सम्पूर्ण अर्थ की ग्राहक शक्ति रहने पर भी नियम, अनुवाद आदि के रूप में पदान्तरों की भी उपयोगिता ज्ञात होती है। इसीलिये कहा गया है कि—'प्रत्येक वर्ण अथवा अवयव के ही सार्थक रहने पर भी अनेक सार्थक वर्ण या अवयवों को इसलिये स्वीकार किया जाता है कि वाणी से उच्चरित शब्द और उनके अर्थ पूर्णरूप से स्पष्ट हो सकें, जैसे रत्न का पारखी व्यक्ति एक बार देख लेने से ही यह जान जाता है कि यह हीरा, पन्ना, मोती आदि रत्न है, किन्तु फिर भी बार-बार उसको सूक्ष्म दृष्टि से भली-भाँति से परख कर ही उसकी सही कीमत आंकता है'।

'पद, वाक्य आदि की सावयवता मानने वालों के पक्ष में कोई अवयव कारकविशेष का अभिधायक और कोई क्रियाविशेष का अभिधायक होगा, इसी लिये वाक्य के अवयवों में से प्रत्येक की सार्थकता के कारण सकल (संपूर्ण) शब्द का प्रयोग भी सार्थक है।' यह कथन ठीक ही है। इस पर शंका उठ सकती है कि क्रियाविशेष से अन्वित (संबद्ध) कारणविशेष का कथन नहीं हो सकता? समाधान यह है कि तात्पर्य शक्ति से क्रिया और कारक से अन्वित की प्रतीति हो सकती है। समुदित पदों से एक वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। वह गुणभूत इतर पदार्थों से संसृष्ट कोई पदार्थ ही है, इसमें सांकर्य कहा है। सब पद मिलकर अन्वित अर्थ का संपादन करते हैं, अन्वित अर्थ का अभिधान नहीं करते। प्रश्न है कि मिट्टी से जैसे घट का निर्माण होता है, उसी तरह से क्या पद वाक्यार्थ का निर्माण करते हैं? नहीं, पद वाक्यार्थ के ज्ञापकमात्र हैं। तब फिर पदों की संहृत्यकारिता होते हुए भी उनमें अन्विताभिधान की

मभिदधतीति चेदित्थं पदान्यन्वितं प्रत्याययन्ति, नान्वितमभिदधति। नाभिधात्री शक्तिरन्वितविषया, किन्त्वन्वयव्यतिरेकावगतनिष्कृष्टस्वार्थविषयैव। तात्पर्यशक्तिस्तु तेषामन्वितावगमपर्यन्ता पर्य्यवस्यति। व्यापारस्य च तदीयस्य निराकाङ्क्षप्रत्ययोत्पादनपर्यन्तत्वात्। तदुक्तम्—'अन्यथैव प्रवर्तन्ते प्रत्यक्षादुद्भवा धियः। अर्थं पूर्णमपूर्णं वा दर्शयन्त्यः पुरः स्थितम्॥ अन्यथैव मतिः शब्दे विषयेषु विजृम्भते। प्रतिपत्तुरनाकाङ्क्षप्रत्ययोत्पादनावधिः॥ अत एव पदं लोके केवलं न प्रयुज्यते। नहि तेन निराकाङ्क्षा श्रोतुराधीयते मतिः॥' न चाभिधानव्यतिरिक्तः कोऽन्यः शब्दस्य कृत्स्नफलपर्यन्तः प्रत्यायनात्मा व्यापारः? अस्ति कश्चिद्यः सर्वैरेव संसर्गवादिभिरप्रत्याख्येयः। नहि संसर्गोऽभिधीयते, प्रतीयते च वाक्यम्। ननु संसृष्टाभिधाने सत्येव संसर्गः प्रतीयते नान्यथेति चेन्न, संहत्यकारित्वादेव संसर्गावगतिसिद्धेः। नहि संहत्यकरणमसंसृष्टञ्च कार्यं क्वचिद् दृश्यते। अपि च, प्रकृतिप्रत्ययौ परस्परापेक्षमर्थमभिदधाते। न च प्रकृत्या प्रत्ययार्थोऽभिधीयते, नियोगस्याधातुवाच्यत्वात्। न च प्रत्ययेन प्रकृत्यर्थोऽभिधीयते, यागादेर्लिङ्वाच्यत्वानुपपत्तेः। न च तौ पृथक् स्वकार्यं कुरुतः। एतेन कालक्षेपोऽपि व्याख्यातः, निरवयववाक्यवैशद्याय वर्णपदादीनामपेक्षितत्वेन तत्रैव कालक्षेपस्य सार्थक्यात्। सावयवपक्षे तु तत्सार्थक्यं स्पष्टमेव।

यदुक्तम्—'सकृच्छ्रुतौ च सर्वेषां कालभेदो न युज्यते' (प्र० वा० ३।२५१)। न च सर्वावयवानां सकृच्छ्रवणं सम्भवति, तथात्वे कालक्षेपो न स्यात्, एकावयवप्रतिपत्तिकाले सर्वेषां श्रवणात्। क्रमश्रवणे च पृथगर्थवतामेकस्मादेव तदर्थसिद्धेरन्यस्य वैयर्थ्यात्। सकृच्छ्रुतौ च पृथगर्थेषु अदृष्टसामर्थ्यानामर्थवत्ता न सिद्धयति। ननु सहितेष्ववयवेष्वर्थदर्शनादर्थप्रतीतेः पृथगप्यवयवानामर्थप्रतीतिजननसामर्थ्यमस्तीत्यतो न दोष इति चेन्न, पृथक्

सामर्थ्य क्यों नहीं मानी जाती? इसलिये नहीं मानी जाती कि पद अन्वित की प्रतीति कराते हैं, अन्वित का अभिधान नहीं करते। अभिधात्री शक्ति अन्वितविषयिणी नहीं होती, किन्तु अन्वय-व्यतिरेक से अवगत निष्कृष्ट स्वार्थविषयिणी होती है। इनकी तात्पर्य शक्ति का पर्यवसान तो संबन्धित ज्ञान पर्यन्त है, और उस तात्पर्य शक्ति का व्यापार वाक्यार्थ की निरांकाक्षता के ज्ञान के उत्पादन तक चलता है। जैसा कि कहा गया है—'प्रत्यक्ष से उत्पन्न हुई प्रतीति एक भिन्न प्रकार से प्रवृत्त होती है, क्योंकि वे अपने सामने वर्तमान पूर्ण अथवा अपूर्ण विषय का दर्शन कराती हैं। इसके विपरीत शब्द के द्वारा एक भिन्न प्रकार से ही प्रतीति कराई जाती है, जिससे कि प्रतिपत्ता (ज्ञाता) को होने वाले ज्ञान में किसी प्रकार की आकांक्षा न रह जाय। इसी लिये लोक में केवल पद का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि उससे श्रोता को आकांक्षा रहित ज्ञान नहीं होता, केवल पद के सुनने पर आकांक्षा बनी ही रह जाती है। क्या शब्द का अभिधान के स्वार्थ प्रतिपादन के अतिरिक्त कोई कृत्स्न फल को प्रत्यायकता पर्यन्त व्यापार है भी? हाँ ऐसा व्यापार है ही, जिसका कि शब्द और अर्थ का संबन्ध मानने वाला कोई भी वादी खण्डन नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि वाक्य की तो प्रतीति हो और उसका वाच्य संबन्ध न हो। प्रश्न है कि संसृष्ट का अभिधान होने पर ही संसर्ग की प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं। उत्तर है कि संहत्यकारित्व से भी संसर्ग की अवगति सिद्ध हो जाती है। कार्य मिल-जुलकर बने हों और संसृष्टता न हो, ऐसा नहीं देखा जाता। अपि च, प्रकृति और प्रत्यय एक दूसरे की अपेक्षा से अर्थ का अभिधान करते हैं। प्रकृति से प्रत्ययार्थ का अभिधान नहीं होता, क्योंकि नियोग (आज्ञा = विधि) धातु वाच्य नहीं है। इसी तरह से प्रत्यय से भी प्रकृत्यर्थ का अभिधान नहीं होता, क्योंकि प्रभा आदि लिङ्ग प्रत्यय के वाच्य नहीं हो सकते। ये दोनों अलग-अलग भी अपना काम नहीं करते। इसी से कालक्षेप के आक्षेप का भी समाधान हो जाता है। निरवयव वाक्य की विशदता (स्पष्टता) के लिये वर्ण, पद आदि अपेक्षित हैं, इसी प्रसंग में कालक्षेप की सार्थकता रहती है। सावयव पक्ष में तो उसकी सार्थकता और भी स्पष्ट है।

प्रमाणवार्तिक में ही यह भी कहा गया है कि—'यदि एक बार ही सबको सुन लें, तब तो काल का भेद मानना ठीक नहीं हो सकता' किन्तु सब अवयवों का एक साथ सुन लेना संभव नहीं है। वैसा हो तो कालक्षेप न हो, क्योंकि एक अवयव के ज्ञान काल में ही सबका श्रवण हो चुका। क्रम से श्रवण मानने पर एक के श्रवण से ही पृथक् पृथक् अर्थ वाले सबका एक से ही अर्थज्ञान हो जायगा तो अन्य अवयवों की व्यर्थता हो जायगी। सकृत् श्रवण होने पर पृथगर्थ में अदृष्ट सामर्थ्य वाले अवयवों की अर्थवत्ता नहीं सिद्ध होगी। प्रश्न है कि सभी अवयवों के साथ रहने पर अर्थ की प्रतीति (ज्ञान) होती है, अतः पृथक्-पृथक् अवयवों में भी अर्थप्रतीति

प्रत्येकं तेष्ववयवेष्वसतो रूपस्यार्थप्रतिपादनस्वभावस्य संहतेष्वसम्भवात्। केवलानामवयवानां यद्रूपं ततोऽन्यदेव समुदितानामर्थप्रतिपादनसमर्थं रूपमुपपद्यत इत्यपि न सम्भवति, अर्थान्तरस्य समर्थस्यानुत्पत्तेः।

शब्दोत्पत्तिवादिनस्तु पृथगसमर्थानामप्यवयवानामुपकारविशेषादतिशयवतां कार्यविशेषोपयोगात्, नित्यत्ववादिनस्तु प्रत्येकमवयवेषु समर्थेषु व्यर्था स्यादन्यकल्पनेत्यादिकम्, तदपि तुच्छम्, प्रत्येकं पृथक्पिठरादिधारणासमर्थानामपि ग्राव्णां समुदितानां यथा तत्सामर्थ्यम्, तथैव पृथगवयवानामसामर्थ्येऽपि समुदितानां सामर्थ्ये दोषाभावात्। यथा च रत्नतत्त्वप्रतिपत्तौ विविधानां दृष्टीनां सार्थक्यम्, तथैवानेकेषामवयवानां निश्चयवाक्यप्रतिपत्ता उपयोगः। यथा च कल्पितवर्णभावाभ्यो रेखाभ्यो वर्णप्रतिपत्तिस्तथैव कल्पितेभ्योऽवयवेभ्यो निरवयववाक्यप्रतिपत्तिरपि। 'कालभेदोऽपि तेनैव युज्यते ह्यन्यदृष्टिवत्। रत्नतत्त्वपरीक्षायां गिरो तद्वत् कथा मता॥'

यदप्युक्तम्—'एकत्वेऽपि ह्यभिन्नस्य क्रमशो गत्यसम्भवात्।' (प्र० वा० ३।२५२) कालभेद एव न युज्यते, नह्येकस्य क्रमेण प्रतिपत्तिर्युक्ता, गृहीतागृहीतयोरभेदात्, एकस्मिन् गृहीतागृहीतत्वाभावात्। क्रमेण च वाक्यप्रतिपत्तिर्दृष्टा, सर्ववाक्याध्याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्तेः। वर्णरूपासंस्पर्शिनश्चैकप्रतिभासिनश्चैकबुद्धिप्रतिभासिनः शब्दात्मनोऽप्रतिभासनात्। वर्णानुक्रमप्रतीतेस्तदविशेषेऽप्यनुक्रमकृतत्वाद् वाक्यस्यानुक्रमवती वाक्यप्रतीतिः। वर्णानुक्रमानुकारानपेक्षणे तैर्यथाकथञ्चित् प्रयुक्तैरपि यत्किञ्चित्प्रतीयते, विनापि वर्णैरनुक्रमवद्भिरक्रमस्योपयोगायोगात्, अक्रमेण व्याहर्तुमशक्यत्वात्, गत्यन्तराभावाच्चेति, तदपि स्फोटवादिभिर्निराकृतमेव,

को उत्पन्न करने की सामर्थ्य हो सकती है, इसलिये यहाँ पर कोई दोष नहीं है। यह प्रश्न इसलिये गलत है कि अलग से उन अवयवों में से प्रत्येक में अर्थप्रतिपादन रूप स्वभाव विद्यमान नहीं है, तो वह संहतों (संमिलित) में भी नहीं रह सकता। 'केवल अवयवों का जो स्वभाव है, उससे भिन्न ही स्वभाव समुदितों का माना जाता है, जिसमें कि अर्थप्रतिपादन की सामर्थ्य विद्यमान है।' यह कथन भी असंगत है, क्योंकि अवयवों से अतिरिक्त समुदाय में समर्थ अर्थान्तर की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

'शब्द की उत्पत्ति मानने वालों के मत में तो अवयवों के पृथक्-पृथक् असमर्थ रहते हुए भी उपकार विशेष से अतिशयिता आ सकती है और उसका कार्य विशेष में उपयोग हो सकता है। किन्तु शब्द को नित्य मानने वालों के मत में तो प्रत्येक अवयव यदि अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ हैं, तो उनसे भिन्न किसी पद, वाक्य, स्फोट आदि की कल्पना व्यर्थ हो रहेगी।' बौद्धों का यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि अलग अलग प्रत्येक पत्थर में पिठर (बर्तन) आदि की धारण करने की सामर्थ्य न रहने पर भी उन्हीं पत्थरों को इकट्ठे कर दिये जाने पर जैसे उनमें वह सामर्थ्य आ जाती है उसी तरह से शब्द के भी पृथक्-पृथक् अवयवों की पृथक् रूप से सामर्थ्य न होने पर भी जब वे इकट्ठे हो जाते हैं तो वह सामर्थ्य आ जाती है। जैसे रत्न की परीक्षा में विविध दृष्टियों की सार्थकता है, उसी तरह से अनेक अवयवों का निश्चित वाक्य प्रतिपत्ति (ज्ञान) में उपयोग होता है। जैसे कल्पित वर्णभाव वाली लिपिस्वरूप रेखाओं से वर्णों की प्रतिपत्ति होती है, उसी तरह से कल्पित अवयवों से निरवयव वाक्य की प्रतिपत्ति भी होती है। 'रत्न की परीक्षा में जैसे विभिन्न दृष्टियों का उपयोग होता है, उसी तरह से वाणी के विषय में कालभेद के उपयोग की भी कथा समझनी चाहिये।'

प्रमाणवार्तिक में यह भी कहा गया है कि 'अभिन्न अनवयव स्फोटरूप वाक्य की एकता मानने पर प्रथम ध्वनि से भी उसकी अभिव्यक्ति हो जाने पर क्रमशः प्रतीति न होकर एक साथ ही प्रतीति हो जायगी।' इसमें कालभेद को मानना ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु की क्रम से प्रतिपत्ति मानना ठीक नहीं। इसमें गृहीत और अगृहीत में कोई भेद नहीं रह जायगा, एक ही वस्तु में गृहीतत्व और अगृहीतत्व ये परस्पर विरोधी धर्म नहीं रह सकते। यह देखा गया है कि वाक्य की प्रतिपत्ति क्रम से होती है, क्योंकि पूरे वाक्य का अध्याहार करके श्रवण और स्मरण करने में काल के अनेक क्षणों और निमेषों का क्रम परिसमाप्त हो जाता है। वर्ण रूपों से असंसृष्ट एक प्रतिभास के रूप में और एक बुद्धि से प्रतिभासित होने वाले रूप में शब्दात्मक वाक्य का प्रतिभास नहीं माना जाता। वर्णानुक्रम की प्रतीति यद्यपि अविशेष होती है, तो भी वाक्य अनुक्रम कृत है, अतः वाक्य की प्रतीति भी अनुक्रमवती होती है। वर्णों के अनुक्रमाकार की अपेक्षा न रखने पर उनका मनमाना उपयोग करने पर भी कुछ न कुछ प्रतीत हो ही जायगा, अनुक्रमवान् वर्णों के बिना भी अक्रम का उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि बिना क्रम के बोल पाना संभव नहीं और दूसरी कोई गति नहीं

वर्णेभ्योऽर्थान्तरस्य शब्दरूपस्य वाक्यस्याभ्युपगतत्वात् । व्यञ्जकाश्च ध्वनयोऽनुक्रमवन्तो विशिष्टेनानुक्रमेण व्यञ्जयन्ति न व्युत्क्रमेण । तदुक्तम् —'यथानुपूर्वीनियमो विकारः क्षीरवोजयोः । तथैव प्रतिपत्तॄणां नियतो बुद्धिषु क्रमः ॥' तेन सरोऽस्तीति प्रयुक्त्या, रसोऽस्तीति प्रतीत्यापत्तिरप्यपाकृता । तदेकमपि व्यक्त्यनुक्रमादनुक्रमवत प्रतीयते । परमार्थतोऽनुक्रमवर्णविभागरहितमेव स्फोटात्मकं शब्दतत्त्वम् । तदुक्तमेव—'नादस्य क्रमजन्यत्वान्न पूर्वो नापरश्च सः । अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते ॥ तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु । शब्दः कालः स्वभावश्च नादभेदाद्विभिद्यते ॥' इति ।

यदुक्तम्—'क्रमवता व्यञ्जकेनाक्रमस्य व्यक्तिर्न युज्यते, व्यक्ताव्यक्तयोरेकत्र विरोधात् । अवधृतरूपादन्यस्यानवधृतं रूपान्तरमेकस्य शब्दस्य न सम्भवति, येनान्यैर्वर्णैरभिव्यज्येत, तदप्यकिञ्चित्करम्, क्रमवतीभिरनेकाभिर्दृष्टिभिरपि रत्नतत्त्वदृष्टेरेकस्याप्यभिव्यक्तिदर्शनात् । तदप्युक्तम्—प्रथमेन वर्णेनानभिव्यक्तस्यानवधारणादवधारणार्थमन्येषां वर्णानां व्यापारः । न च प्रथमेनैव वर्णेनानवधारणरूपाया व्यक्तेः सम्पत्तिरिति वाच्यम्, तत्तच्छब्दव्यक्तौ तेषां तेषां वर्णानामुपयोगस्यानुभवसिद्धत्वात् ।

एतेनावर्णभागे वाक्येऽसकलश्राविणो वाक्यगतिर्न स्यादेकस्य सकलाभावात् । सकलश्रुतिर्न वा कस्यचित्, वर्णव्यतिरिक्तस्यैकस्य वाक्यस्य शकलाभावात् । भवति च लोके कतिपयवर्णश्रवणे पूर्ववाक्यभागश्रवणप्रतीतिः । वर्णैकभागवतो वाक्यस्याभ्युपगमः स्यात् । ततः कतिपयवर्णश्रवणे पूर्ववाक्यभागश्रवणमिष्यते । वाक्यस्यैकत्वे यदि पूर्वभागश्रवणं तदा सकलश्रुतिः स्यात्, पूर्वभागाव्यतिरेकात् । अथ न सक श्रतिस्तदा न वा कस्यचिच्छ्रुतिः स्यात् । पूर्वस्यापि

है ।' इन आक्षेपों का भी स्फोटवादियों ने निराकरण कर दिया है । वे लोग वर्णों से भिन्न शब्दरूप वाक्य की सत्ता मानते हैं । व्यंजक ध्वनियाँ अनुक्रमवती होती हैं । ये एक विशिष्ट क्रम से शब्दों की अभिव्यक्ति करती हैं, मनमाने ढंग से नहीं । जैसा कि कहा गया है—'जैसे दूध और बीज के विकार के होने में आनुपूर्वी देखी जाती है, उसी तरह से शब्द से अर्थ की प्रतीति में प्रतिपत्ता की बुद्धि में एक निश्चित क्रम रहता है ।' इसी लिये 'सर' शब्द के उच्चारण करने पर 'रस' की प्रतीति नहीं होती । वह यद्यपि एक है, तो भी अभिव्यक्ति के अनुक्रम से अनुक्रमवान् प्रतीत होता है । परमार्थतः स्फोटात्मक शब्दतत्त्व अनुक्रम और वर्णों के विभाग से रहित ही है । जैसा कि कहा गया है—'नाद ही क्रम से उत्पन्न होता है, अतः शब्द में यद्यपि पूर्वापर क्रम नहीं है, तो भी अक्रम रहता हुआ भी यह क्रमवान् इसलिये प्रतीत होता है कि नाद का क्रम इस पर आरोपित किया जाता है । इसी लिये विभक्ताकार में इनकी प्रतीति होने लगती है । इस तरह से वर्ण, वाक्य और पदों में अभिन्नकालता, अक्रमता के रहते हुए भी, इनमें नाद के भेद के कारण कालभेद और स्वभाव-भेद की प्रतीति होने लगती है ।'

यह भी कहा गया है कि 'क्रमवान् व्यंजक से अक्रम अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त इन विरोधी स्वभावों की एकत्र स्थिति नहीं रह सकती । एक ही शब्द के अवधृत (निश्चित) रूप से अनवधृत (अनिश्चित) रूपान्तर की प्रतीति नहीं हो सकती, जिससे कि अन्य वर्णों से इसकी अभिव्यक्ति मानी जाय ।' यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि अनेक क्रमवती दृष्टियों से एक रत्नतत्त्व को परीक्षा होती है । जैसा कि कहा गया है—प्रथम वर्ण से अभिव्यक्त स्वरूप का अवधारण नहीं हो पाता, अतः उसके अवधारण के लिये अन्य वर्णों का व्यापार माना जाता है । प्रथम वर्ण से ही अवधारणरूप व्यक्ति (प्राकट्य) की सम्पत्ति नहीं हो पाती, इसलिये उस उस शब्द की व्यक्ति (प्राकट्य) के लिये उन उन वर्णों का उपयोग अनुभव से सिद्ध है ।

इस तरह से 'वर्ण विभाग से रहित वाक्य से समस्त वर्णों का श्रवण न करने वाले को वाक्यार्थ की अवगति नहीं हो सकती, क्योंकि एक ही सब नहीं हो जाता । अथवा सकल श्रुति किसी को भी नहीं होगी, क्योंकि वर्णों से व्यतिरिक्त एक वाक्य के टुकड़े नहीं हो सकते, किन्तु लोक में कतिपय वर्णों के श्रवण के उपरान्त वाक्य के पूर्व भाग की प्रतीति होती है । अतः वर्ण के एक भाग के रूप में भी वाक्य को स्वीकार करना पड़ेगा । इसी लिये कतिपय वर्णों के श्रवण के उपरान्त पूर्व वाक्य भाग का श्रवण मान्य है । वाक्य यदि एक है और उसके पूर्वभाग की यदि श्रुति होती है, तो उससे सकल वाक्य की श्रुति मानी जायगी, क्योंकि

भागस्य श्रुतिर्न स्यात्, वाक्यव्यतिरिक्तत्वात्, इत्यप्यपास्तम्, व्यञ्जकानां सादृश्येन वाक्येऽपि भागप्रतीत्युपपत्तेः। तदप्युक्तम्—'व्यञ्जकसादृश्याच्च वाक्ये तदात्मग्रहणाभिमानस्तेन नाश्रवणं सकलश्रवणं वा'।

यदप्युक्तम्—सकलासकलवर्णभागप्रतिपत्तिकाले निष्कलस्य वाक्यस्य श्रवणं नोपपद्यते, वर्णावर्णात्मकत्वेन व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोर्विसदृशत्वेन वर्णात्मग्रहणाभिमानो नोपपद्यते, तदपि न विचारचारु, व्यञ्जकानां व्यङ्ग्यवैरूप्येऽपि व्यङ्ग्याकारत्वोपपत्त्या तत्सारूप्यकल्पनोपपत्तेः। भास्यविलक्षणस्यापि भानस्य भास्याकारताया दर्शनात्। यथा वा बौद्धमते सादृश्यग्रहणानुपपत्तावपि सादृश्यमूलकप्रत्यभिज्ञाभ्रमस्तथैवेहापि वर्णावर्णात्मकत्वेन सारूप्याभावेऽपि व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकाकारतोपपत्तिः। समस्तवर्णसंस्कारवत्याऽन्त्यया बुद्ध्या वाक्यावधारणमित्यपि युक्तमेव। तदुक्तमपि—'यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति। आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्तिर्निरुप्यते।। प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा। ध्वनि-प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते।। नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह। आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते।'

यदुक्तम्—'तस्यावर्णरूपसंस्पर्शिनः कस्यचित्कदाचिदप्रतिपत्तिरिति, तदप्यकिञ्चित्करम्, एकं पदमेकं वाक्य-मित्येकबुद्धिविषयत्वेन तस्यानुभवसिद्धत्वात्। बौद्धमतवादापेक्षया स्फोटवादोऽपि संगत एव।

वस्तुतस्तु वर्णात्मकमेव वाक्यम्। तच्चेन्द्रियविषयमेवेत्युक्तमेव। यदपि वर्णानां क्रमेण प्रतिपत्त्या कुतोऽ-क्रममेकबुद्धिग्राह्यमिति, तदप्यपहस्तितमेव, वनसेनादिप्रत्ययवद् नानावर्णेष्वपि पदवाक्यबुद्ध्युपपत्तेरुक्तत्वात्।

वह पूर्वभाग से भिन्न नहीं है। अब यदि सकल श्रुति नहीं मानी जाती तो किसी की भी श्रुति नहीं होगी। पूर्वभाग की भी श्रुति नहीं होगी, क्योंकि तब उसको वाक्य से अतिरिक्त मानना पड़ेगा' इस कथन का भी समाधान हो जाता है, क्योंकि अभिव्यंजकों के सादृश्य के कारण वाक्य में भी भाग की प्रतीति संभव होती है। इसी बात को इस तरह से कहा गया है—'व्यंजक ध्वनि की सदृशता के कारण वाक्य में भी तदात्मता (ध्वनि के स्वरूप के ज्ञान) का अभिमान होता है, इस तरह से अश्रवण अथवा सकल श्रवण की आपत्ति का कोई प्रसंग नहीं उठता।'

'यह भी आपत्ति उठाई गई है कि सकल अथवा असकल वर्णभाग की प्रतीति के समय में निष्कल (एक अखण्ड) वाक्य की श्रुति नहीं संभव हो सकती। इसी तरह से वर्ण और अवर्ण के रूप में व्यंग्य और व्यंजक की भिन्नता के कारण वर्णात्मकता के ग्रहण का अभिमान भी उत्पन्न नहीं हो सकता।' यह कथन भी आपात रमणीय है, क्योंकि व्यंजक और व्यंग्य की विलक्षणता के रहते भी व्यंग्या-कारता की उपपत्ति की संभावना से सारूप्य (समान रूप वाले) कल्पना की उपपत्ति संभव हो सकती है। भास्य (विषय) से विलक्षण भान (ज्ञान) की भास्याकारता (विषयाकारता) देखी जाती है। अथवा जैसे बौद्धमत में सादृश्य ग्रहण (ज्ञान) की उपपत्ति न बनने पर सादृश्यमूलक प्रत्यभिज्ञा को भ्रम माना जाता है, उसी तरह यहाँ पर वर्णात्मकता और अवर्णात्मकता में सारूप्य न रहने पर भी व्यंग्य की व्यंग्याकारता उपपन्न हो सकती है। समस्त वर्णों के संस्कार से युक्त अन्तिम बुद्धि से वाक्य की अवधारणा होती है, यह भी ठीक है। ऐसा कहा भी गया है—'किसी अनुवाक या श्लोक की बार-बार आवृत्ति करने से वह कण्ठस्थ हो जाता है, प्रत्येक आवृत्ति में उस ग्रन्थ की नवीन रूप में प्रतीति नहीं होती। उसी तरह से ग्रहण (ज्ञान) के अनुगुण अनुपाख्येय (अवाच्य) प्रत्ययों के सहारे ध्वनियों से प्रकाशित होने वाले शब्द में उनके एक स्वरूप का अवधारण होता है। विभिन्न ध्वनियों से स्थापित संस्कारों के साथ विद्यमान अन्तिम ध्वनि से आवृत्ति के कारण परिपक्व बुद्धि में शब्द के उस स्वरूप का निश्चय होता है।'

यह भी आपत्ति उठाई गई है कि 'वाक्य को वर्णरूप से असंस्पृष्ट सर्वथा भिन्न मानने पर कभी किसी को उसकी अप्रतीति भी हो सकती है।' किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि यह एक पद है, एक वाक्य है, इस तरह की एक बुद्धि-विषयता के आधार पर उसकी प्रतीति अनुभव सिद्ध है। इस तरह से बौद्ध मतवाद की अपेक्षा से स्फोटवाद अधिक संगत है।

वास्तव में तो वाक्य वर्णात्मक ही है और वह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। वर्णों की प्रतीति क्रम से नहीं होती, अतः उनकी अक्रमेण एकबुद्धिग्राह्यता कैसे मानी जा सकती है? इसका भी जवाब हम दे चुके हैं कि वन और सेना बुद्धि की तरह नाना वर्णों में ही पदबुद्धि और वाक्यबुद्धि मानी जाती है। आपने जो यह कहा है कि 'अन्त्य वर्ण की प्रतिपत्ति

यदप्युक्तम्—'न चान्त्यवर्णप्रतिपत्तेरूर्ध्वमन्यमशकलं शब्दात्मानमुपलक्षयामः, तदपि सर्वजनीनानुभवापलापप्रायम्, गौरित्येकं पदं गामानयेत्येकं वाक्यम् इत्यनुभवस्य सर्वजनीनत्वात्। तत्तद्वर्णानुभवाहितसंस्कारायामन्त्यायां बुद्धौ तज्जन्यस्मृतौ वा पदवाक्यभानं स्फुटमेव। यदप्युक्तम्—'नहि स्मर्यमाणयोरपि पदवाक्ययोर्वर्णाः क्रमविशेषमन्तरा विभाव्यन्ते, अक्रमायां बुद्धौ पौर्वापर्याभावात्। पदवाक्यभेदानाञ्च तत्कृतो भेदो न स्यात्। नापि वर्णाक्रमं शब्दस्वरूपं पश्यामः' इति, तदपि तुच्छम्, क्रमोपेतानां वर्णानामर्थावबोधकत्वे बाधाभावात्, गमनक्रियाक्षणसमूहस्य ग्रामप्राप्ताविव वर्णसमूहस्यार्थावगतौ हेतुत्वोपपत्तेरुक्तत्वात्। क्रमोपलब्धेष्वपि वर्णेषु निखिलवर्णविषयस्यानुव्यवसायरूपस्य संकलनाज्ञान-स्यार्थप्रत्यायकत्वमित्यप्युक्तमेव। संकलनाप्रत्ययस्य च विशिष्टानुपूर्वीकवर्णमालानुभवसमनन्तरभावित्वेन न विपरीतक्रमाशङ्कनम्, किन्तु प्रथमावगमनियतानुपूर्वीकास्ते तदनन्तरभाविस्मरणभासिसंकलनाप्रत्ययोपारूढा वर्णा अर्थप्रत्यायकाः।

यदपि विकल्पितम्—'सति वा अनित्यं स्यान्नित्यं वा ? 'अनित्यं यत्नसम्भूतं पौरुषेयं कथं न तत्' (प्र० वा० ३।२५२)। अवश्यं ह्यनित्यं कुतश्चिद्धेतुमद्भवति, तद्वत्ताया आकस्मिकत्वे देशादिनियमो न स्यात्' इति, तदपि चर्वितचर्बणम्, वर्णशब्दादिरूपेण नित्यत्वे बाधाभावात्, वेदगतवर्णपदपौर्वापर्यादीनामनित्यत्वेऽपि तेषां नैरपेक्ष्याभावेन पुरुषास्वातन्त्र्येणापौरुषेयत्वस्य साधितत्वात्। नित्यत्वानित्यत्वादीनां पौरुषेयत्वाद्यप्रयोजकत्वात्, प्रथमोच्चरितत्वादीनां निरुक्तहेतूनामेव पौरुषेयत्वादिप्रयोजकत्वस्योक्तत्वात्। एतेन तच्च प्रयत्नप्रेरिताविगुणकरणानां दृष्टम्, अन्यथा वा न दृष्टम्, तथा कारणधर्मदर्शनात् पुरुषव्यापार एव कारणमतः पौरुषेयं स्यादित्यप्यपास्तम्, वेदवाक्योच्चारणे पुरुषव्यापार-

के बाद अन्य निर्विभाग शब्दात्मा की उपलब्धि नहीं होती', किन्तु आपकी यह बात सर्वजनीन अनुभव का अपलाप मात्र है, क्योंकि 'गौ' यह एक पद है, 'गामानय' (गाय लाओ) यह एक वाक्य है, इस तरह की प्रतीति सर्वानुभव सिद्ध है। उन उन वर्णों के अनुभव से स्थापित संस्कारों के साथ विद्यमान अन्तिम वर्ण की बुद्धि अथवा उससे उत्पन्न स्मृति में पद और वाक्य की प्रतीति स्पष्ट है। आपने जो यह कहा कि 'स्मर्यमाण पद वाक्यों में भी वर्ण क्रम विशेष के बिना नहीं भासित होते। अक्रम बुद्धि में पौर्वापर्य भाग नहीं होना चाहिये, तब पद, वाक्य भेदों में वर्णकृत भेद कैसे रह सकता है, किन्तु हम वर्णों के क्रम जहाँ न हों, ऐसा कोई शब्द का स्वरूप नहीं देख पाते।' यह भी तुच्छ बात है, क्योंकि क्रमयुक्त वर्णों के अर्थ का ज्ञान कराने वाले होने में कोई बाधा नहीं है। गमन क्रिया के क्षणों का समूह जैसे ग्राम की प्राप्ति में कारण है, उसी तरह से वर्ण समूह की भी अर्थावगति में हेतुता उपपन्न होती है। क्रमोपलब्ध वर्णों में भी निखिल वर्णविषयक अनुव्यवसाय रूप संकलनाज्ञान की अर्थप्रत्यायकता बताई जा चुकी है। यह संकलनाप्रत्यय (सामूहिक ज्ञान) विशिष्ट आनुपूर्वी वाली वर्णमाला के अनुभव के अनन्तर ही उत्पन्न होता है, अतः यहाँ पर विपरीत क्रम की आशंका नहीं है। किन्तु प्रथम अवगम में नियत आनुपूर्वी का अनुसरण करते हुए वे वर्ण उसके अनन्तर होने वाले स्मरण में भासित हो रहे संकलनाप्रत्यय में मिलकर अर्थ की प्रतीति कराते हैं।

प्रमाणवार्तिक में यह वाक्य नित्य है या अनित्य ऐसा विकल्प उपस्थित करने के बाद कहा है कि 'यदि वह अनित्य है तो वह घटादि की तरह प्रयत्न से उत्पन्न है, तब वह पौरुषेय कैसे नहीं होगा।' अनित्य का अवश्य ही कोई न कोई कारण होता है। अनित्यता को यदि आकस्मिक मान लिया जो उसमें देश आदि का नियम नहीं होगा।' यह भी चर्बित चर्वण मात्र है, क्योंकि वाक्य की वर्ण-शब्द आदि के रूप में नित्यता मानने में कोई बाधा नहीं है। वेदगत वर्ण-पद आदि की पूर्वापरता (क्रम) के अनित्य होने पर भी उनकी निरपेक्षता नहीं है और उसमें पुरुष की स्वतन्त्रता भी नहीं है, अतः उसमें अपौरुषेयता की सिद्धि की जा चुकी है। नित्यता और अनित्यता में पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व की प्रयोजकता नहीं मानी गई है। किन्तु प्रथमोच्चरित आदि कुछ हेतु ही पौरुषेयता के प्रयोजक होते हैं, यह भी कहा जा चुका है। इससे इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि—'वाक्य की उत्पत्ति अविगुण करण (निर्दोष इन्द्रिय) वालों के प्रयत्न से ही होती है, अन्यथा नहीं होती। तथा कारणधर्म दर्शन से भी यह होती है। पुरुष व्यापार ही इसमें कारण है, अतः इसकी पौरुषेयता ही होगी', क्योंकि वेद वाक्यों के उच्चारण में पुरुष व्यापार की विद्यमानता को अपौरुषेयतावादी

स्यापौरुषेयत्ववादिभिरप्यभ्युपगमात्। न चोच्चारणमात्रं कर्तृत्वमन्यकृतस्याप्युच्चारणदर्शनात्, किन्तु निरपेक्षोच्चारणम्। 'गिरां प्रयत्नसाध्यत्वे न सिद्धा पौरुषेयता। नोच्चारणं हि कर्तृत्वं यतोऽन्यत्रापि दृश्यते॥'

यदप्युक्तम्—'नित्योपलब्धिर्नित्यत्वेऽप्यनावरणसम्भवात्' (प्र० वा० ३।२५३)। अथ तच्छब्दरूपं नित्यं स्यादुपलभ्यस्वभावञ्च स्वभावस्य कदाचिन्नापैतीति नित्यमुपलभ्येत। यदि स नित्यः स्यात्, न कुतश्चिदपि ज्ञानजननसामर्थ्यात् प्रच्यवेत्, तस्य नित्यशब्दस्वभावत्वात्। नापि ज्ञानजननसामर्थ्यं शब्दादर्थान्तरम्, तस्य प्रागेव निषिद्धत्वात्' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, नित्यानामप्यभिव्यक्तिसापेक्षत्वेन कार्यकरत्वात्। यद्यपि शब्दा नित्यास्तदवबोधकत्वञ्च नित्यं तथापि कण्ठताल्वादिजन्यध्वनिभिर्व्यक्ता व्यवहारादिना गृहीतसङ्गतिका एवार्थप्रत्यायका भवन्ति नान्यथा, तेषां तथा स्वभावस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्, अभिव्यक्त्युत्पत्त्योर्भिन्नत्वाच्च। 'नित्योपलब्धिर्नो युक्ता नित्यत्वेऽप्यावृतत्वतः। तदुत्सारणमेवातः पुंव्यापारप्रयोजनम्॥'

यदप्युक्तम्—'तस्योपलम्यात्मनो न किञ्चिदुपलम्भावरणं सम्भवति। तस्य सतोऽपि तदात्मानमखण्डयतः सामर्थ्यतिरस्कारायोगात्। नहि तत्रातिशयोत्पादनासमर्थः किञ्चित्करो भवति, अकिञ्चित्करश्चावरणं सदसद्वेति विचारितप्रायम्, तदपि न क्षोदक्षमम्, स्तिमितेन वायुना नित्यस्यापि शब्दस्यावरणसम्भवात्। कुड्यादीनां घटादिष्वतिशयानुत्पादकत्वेऽव्यापादकत्वे च सामर्थ्यस्यावरकस्येष्टत्वात्।

यदप्युक्तम्—'न ब्रूमस्ते कुड्यादयः किञ्चिदतिशाययन्ति, अपि तु न सर्वघटक्षणाः सर्वस्येन्द्रियज्ञानहेतवः, परस्परसहितास्तु विषयेन्द्रियालोका एकेन विशिष्टक्षणान्तरोत्पादाद् विज्ञानहेतवः, अनुपकार्यस्यापेक्षायोगात्,

भी मानते हैं। किन्तु उच्चारणमात्र कर्तृत्व का प्रयोजक नहीं होता, क्योंकि उच्चारण अन्य कृत वाक्यों का भी होता है। कर्तृत्व का प्रयोजक निरपेक्ष उच्चारण को ही माना जाता है। 'वाणी को प्रयत्न साध्यता के आधार पर पौरुषेयता नहीं सिद्ध की जा सकती। केवल उच्चारण कर्तृत्व में प्रयोजक नहीं है, क्योंकि अन्यकृत वाक्यों का भी उच्चारण अन्य कृत देखा जाता है।' अर्थात् दूसरों के बनाये हुए वाक्यों का उच्चारण बनाने वाले से भिन्न व्यक्ति द्वारा भी किया जाता देखा गया है।

प्रमाणवार्त्तिक में ही यह भी कहा गया है कि—'वाक्य की नित्यता मानने पर उसके आवरण की संभावना न रहने से नित्य उपलब्धि होनी चाहिये।' यदि यह शब्दस्वरूप नित्य और उपलभ्य स्वभाव हो तो कभी दूर नहीं होता, अतः उसकी नित्य उपलब्धि होनी चाहिये। यदि वह नित्य है तो उसको ज्ञान की उत्पत्ति की किसी भी सामर्थ्य से च्युत नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह नित्य शब्दस्वभाव है। ज्ञानजनन सामर्थ्य शब्द से कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है, क्योंकि उसका पहले ही निषेध किया जा चुका है।' किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि नित्य पदार्थ भी अभिव्यक्ति सापेक्ष होते हैं, अतः अभिव्यक्ति के लिये वे करण सापेक्ष हो सकते हैं। यद्यपि शब्द नित्य है और उनकी अवबोधकता (अर्थज्ञापकता) भी नित्य है, तथापि कण्ठ-तालु आदि से उत्पन्न ध्वनियों से व्यक्त होने पर ही और व्यवहार प्रभृति से उनके अपने अपने अर्थ में संकेत का ज्ञान होने पर ही वे अर्थ के प्रत्यायक (ज्ञान कराने वाले) होते हैं, अन्यथा नहीं। इनका यह स्वभाव सर्वानुभव सिद्ध है। अभिव्यक्ति और उत्पत्ति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। 'शब्दों की नित्यता मानने पर भी उनकी नित्य उपलब्धि इसलिये नहीं होगी कि उनकी नित्यता आवृत रहती है। उस आवरण के हटाने मात्र के लिये पुरुष का व्यापार अपेक्षित रहता है।'

यह भी कहा गया है कि 'उपलभ्य (ज्ञान-ज्ञेय) स्वभाव शब्द की उपलब्धि पर कोई आवरण नहीं पड़ सकता, क्योंकि उसकी अखण्ड सत्ता है, उसका यह स्वभाव कैसे तिरस्कृत हो सकता है? जो उसमें अतिशय का आधान नहीं कर पाता, वह उसके वर्तमान स्वरूप का कुछ बिगाड़ भी नहीं सकता। आप आवरण को सत् माने या असत् वह अकिंचित्कर ही होता है, इस पर विचार किया जा चुका है।' किन्तु यह बात भी तर्क के सामने नहीं टिक पाती, क्योंकि वायु के बन्द हो जाने पर शब्द के नित्य होने पर भी वह आवृत हो जाता है। कुड्य (दीवाल) आदि घट आदि में अतिशय (विशेषता) के उत्पादक नहीं हैं और न वे घट को नष्ट ही कर पाते हैं, तो भी उनमें घट आदि पर आवरण डाल देने को सामर्थ्य तो विद्यमान है ही, यह आपको भी मानना पड़ेगा।'

शक्तस्वभावस्य नित्यं जननमजननं वाऽन्यस्य सर्वदा स्यादित्युक्तम्। ते च प्रतिघातिनाऽन्येनाव्यवहिता अन्योन्यस्योपकारिणः, अव्यवधानदेशयोग्यतासहकारित्वात् तेषामन्योन्यातिशयोत्पत्तेः। व्यवधाने सति हेतोरभावात् समर्थक्षणान्तरानुत्पत्ते-र्विज्ञानानुत्पत्तिः। तस्मात् पूर्वोत्पन्नस्य समर्थस्य निरोधात्, सति च कुडयेऽन्यस्योत्पित्सोः कारणाभावेनानुत्पत्तेः कार्यकारणज्ञानानुत्पत्तिरिति कुडयादय आवरणं ज्ञेयाः, न पुनः प्राक् प्रतिवन्धात्' इति, तदपि गगनरोमन्थायितम्, सति कुडयादिव्यवधाने घटादयः प्रयत्नवतापि नोपलभ्यन्तेऽसति तु लभ्यन्त इति तेन कुडयादीनामावरकत्वं तदर्थस्या-न्यथोपपादनं द्रविडप्राणायामाश्रयणं निरर्थकम्। शक्तस्यापि न नित्यकार्यजननं सहकारिसापेक्षत्वात्, न चानुपकार्यस्या-पेक्षाभावः, अनिर्वाच्यस्योपकारस्य साधितत्वात्। न वै किञ्चिदेकं जनकमिति बौद्धा अपि मन्यन्ते। अत एव रूपग्रहणे चक्षुषः प्रदीपाद्यपेक्षा। यथैव घटादिग्रहणे कुडयादिव्यवधानं बाधकम्, तदपनये सति तद्ग्रहः, तथैव स्तिमितो वायुः शब्दस्यावरणं पुरुषप्रयत्नेन तदुत्सारणे तदभिव्यक्तिः।

यदप्युक्तम्—'भावानां क्षणिकानामन्योन्योपकारोऽचिन्त्यत्वात्, हेतुप्रत्ययसामर्थ्यस्यासर्वविदा दूरवासिना-प्ययस्कान्तेनायसः समाकर्षणदर्शनादिति', तदपि घट्टकुटीप्रभातायितम्, तथैव स्तिमितवायोः शब्दस्यावरणं कण्ठताल्वा-द्यभिघाते जनितवायुविशेषेण तदुत्सारणम्, ततस्तदभिव्यक्तिरित्यस्याप्यभ्युपगन्तव्यत्वापातात्, क्षणभङ्गभङ्गस्य चोपरिष्टाद्वक्ष्यमाणत्वात्।

यह भी कहा गया है कि—'हम यह नहीं कहते हैं कि कुडय आदि घट आदि में किसी अतिशय का आधान करते हैं, हमारा तो मात्र यह कहना है कि सभी घटक्षण सभी इन्द्रिय ज्ञान के कारण नहीं होते। विषय, इन्द्रिय और आलोक परस्पर मिल कर एक विशिष्ट नये क्षण का उत्पाद करते हैं। इस तरह से वे विज्ञान के हेतु होते हैं। अनुपकारी आक्षेप नहीं किया जा सकता और समर्थ स्वभाव से अन्य वस्तु की सर्वदा नित्य उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्ति माननी पड़ेगी, यह बात पहले कही गई है। किसी प्रतिघाती पदार्थ से इनका बीच में व्यवधान नहीं होता तो ये एक दूसरे का उपकार करते हैं, क्योंकि अव्यवधान, देश और योग्यता इनकी सहायता से ही इनमें अन्योन्य अतिशय की उत्पत्ति मानी जा सकती है। व्यवधान हो जाने पर हेतु के अभाव में समर्थ नये क्षण को उत्पत्ति न होने पर विज्ञान भी उत्पन्न न होगा, क्योंकि इस व्यवधान के कारण पहले उत्पन्न समर्थ क्षण का निरोध हो जाता है। कुडय (दीवाल) के रहते अन्य उत्पन्न होने वाले ज्ञान के कारण के अभाव में उत्पत्ति नहीं होगी, इस तरह से कार्यकारण ज्ञान की उत्पत्ति न होने से कुडय आदि को आवरण मानना पड़ता है, उनको प्रतिबन्धकता को जानने से पहले नहीं।' किन्तु यह कथन भी आकाश की जुगाली करने के समान है, क्योंकि कुडय आदि का व्यवधान होने पर बहुत प्रयत्न करने पर भी घट आदि की उपलब्धि नहीं होती और उसके न रहने पर घट आदि उपलब्ध होते हैं। इस तरह से कुडय आदि की आवश्यकता स्पष्ट सिद्ध होने पर भी उसे भिन्न पद्धति से सिद्ध करने में द्रविड प्राणायाम के सिवाय और कुछ नहीं है, जो कि निरर्थक है। समर्थ कारण से भी नित्य कार्य की उत्पत्ति नहीं मानी जाती, क्योंकि उसको भी सहकारी की अपेक्षा रहती है। अनुपकार्य में भी अपेक्षा का अभाव नहीं रहता, क्योंकि सर्वत्र अनिर्वाच्य उपकार सिद्ध किया जा चुका है। सभी पदार्थों का कोई एक ही जनक हो, ऐसी बात बौद्ध भी नहीं मानते। इसी लिये रूप का ग्रहण करने में चक्षु को प्रकाश की अपेक्षा रहती है। जैसे घट आदि के ग्रहण (ज्ञान) में कुडय आदि का व्यवधान बाधक होता है, उस आवरण के हटा दिये जाने पर घट आदि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी तरह से स्तिमित (रुका हुआ) वायु शब्द का आवरक होता है, पुरुष के प्रयत्न से उस रुकावट के हटा दिये जाने पर शब्द की अभिव्यक्ति होती है।

यह भी कहा गया है कि 'क्षणिक भावों की परस्पर उपकारिता अचिन्त्य है। हेतुप्रत्यय सामर्थ्य का कुछ भी ज्ञान न रखने वाला चुम्बक दूर स्थित लोह का आकर्षण इसी पद्धति से करता है'। यह कथन भी घट्टकुटी (चौकी-चुंगी) में हुए प्रभात के समान है। क्योंकि इसी पद्धति से स्तिमित वायु से शब्द का आवरण और कण्ठ-तालु आदि के अभिघात से उत्पन्न वायु विशेष से उसका उत्सारण होने पर शब्द की अभिव्यक्ति भी मानी जा सकती है। क्षणभंगवाद का खण्डन आगे विस्तार से किया जायगा।

यच्च 'तेन यदिन्द्रियविषययोर्मध्ये स्थितं तमावरणं विज्ञानोत्पत्तिवैगुण्यतारतम्येन तदतिशाययेदपि, आवरणभेदेन शब्दादौ श्रुतिमान्द्यपाटवदर्शनात्, अन्यथाऽकिञ्चित्करस्य सन्निधानस्याप्यसन्निधानतुल्यत्वात्। तस्य शब्दस्येदमावरणमित्युपसंहारो विकल्पनिर्मित एव स्यान्न वस्त्वाश्रयः। न च समारोपानुविधायिन्योऽर्थक्रियाः। नहि माणवके दहनोपचारात् पाक आधीयते। तस्मात् सत्यामपि कल्पनायां तत्परावृत्तयो भावा यथास्वभावस्थिता एव स्युः। तस्माद् यद्यावरणेन न विशेष आधीयते तदा सत्यप्यावरणे ज्ञापयेयुरिन्द्रियादयः, न चैवम्, तस्मात्तेनाधेयविशेषास्तथा ज्ञायेरन्। न खल्वेवं नित्यानां शब्दानां कस्मिंश्चिदावरणविशेषे सत्यतिशयहानिरुत्पत्तिर्वातिशयस्य। तस्माद्यदि नित्यानां शब्दानां ज्ञानजननं स्वभावः सर्वस्य पुरुषस्य सर्वदा सर्वाणि स्वविषयाणि ज्ञानानि सकृज्जनयेयुर्न वा कदाचित् किञ्चिदपि जनयेयुरित्येकान्त एषः, तदपि न विचारचारु, स एवायं ककार इति प्रत्यभिज्ञानेन शब्दस्यैकत्वनित्यत्वसिद्धौ कण्ठताल्वाद्यभिघातेन स्तिमितवायूत्सारणेन कारणसंस्कारसिद्ध्या नित्यानामेव शब्दानामभिव्यक्तिसिद्धेः। न चार्थक्रिया परमार्थसत्यमूलिका, कूटकार्षापणादिभिरप्यर्थक्रियादर्शनात्। तच्च करणं किञ्चिदेव मरुद्भिरुपाहितसंस्कारं कञ्चिदेव शब्दं गृह्णाति। 'यथा ताल्वादिसंयोगविभागा केचिदेव नः। कस्यचिद् ग्रहणे शक्तं श्रोत्रं कुर्वन्ति संस्कृतम्॥ यथा च तेषामुत्पत्तौ सामर्थ्यनियमस्तव। तथैवैषामभिव्यक्तौ सामर्थ्यनियमो मम॥' न च सीमितसमीरणापसरणमेव करणस्य संस्कारः। स चायं तद्देशव्यवस्थितशब्दस्य तद्विषयसाधारण एव। यथा जवनिकापायप्राप्तप्रसरमीक्षणं रङ्गभूमिषु तद्देशस्थमशेषं वस्तु पश्यति, तथा प्रसरसंरोधिसमीरोत्सारणे सति श्रोत्रं तद्देशनिःशेषशब्दग्राहि भविष्यति। 'आकाशमेव श्रोत्रं तच्च निरवयवं विभु च। तस्मिन् संस्कृते सर्वे च तदेव संस्कृतकरणाः सर्वे प्राणिनः सम्पन्नाः सर्व एव शृणुयुः। विषये तु संस्क्रियमाणे

यह भी कहा गया है कि—'इन्द्रिय और विषय के मध्य में स्थित अज्ञान या अन्य कोई आवरण वैगुण्य के तारतम्य से कुछ कम-ज्यादा हो भी सकता है, किन्तु शब्द में आवरण के भेद से श्रुतिमान्द्य, श्रुतिपाटवता आदि देखे जाते हैं। अन्यथा संनिधान को अकिंचित्कर मानने में वह असंनिधान के समान हो हो जायगा। इस तरह से उस शब्द का यह आवरण है, यह उपसंहार है, ये सब बातें विकल्पप्रसूत (काल्पनिक) ही हैं, वास्तविक नहीं। अर्थक्रिया समारोप के आधार पर नहीं होती। माणवक (बालक) में दहन (अग्नि) का उपचार करने से उस पर पाकक्रिया नहीं की जाती। इसलिये कल्पना के रहने पर भी उससे असंबद्ध पदार्थ अपने स्वभाव में ही वर्तमान रहेंगे। इसलिये यदि आवरण से किसी विशेषता का आधान नहीं होता तो उस परिस्थिति में आवरण के रहते हुए भी इन्द्रियों में ज्ञापकता माननी पड़ेगी, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः उनमें विशेषता के आधान के साथ ही ज्ञापकता भी माननी पड़ेगी। इस तरह की अतिशयिता की हानि अथवा उत्पत्ति नित्य शब्दों में किसी आवरण के रहते हुए भी नहीं मानी जा सकती। इसलिये यदि नित्य शब्दों का ज्ञानजनन स्वभाव है तो वे सभी पुरुषों में सदा सर्वविषयक ज्ञानों को एक साथ पैदा करेंगे, अथवा कभी भी किसी में कोई भी ज्ञान नहीं पैदा करेंगे, इनमें से कोई एक ही बात हो सकती है'। किन्तु यह बात भी विचार करने पर अच्छी नहीं लगती, क्योंकि यह वही गकार है, इस प्रत्यभिज्ञा (ज्ञान) के आधार पर शब्द की एकता और नित्यता के सिद्ध हो जाने पर कण्ठ-तालु आदि के अभिघात से स्तिमित (रुका हुआ) वायु का उत्सारण देखकर उसमें कारण संस्कार की सिद्धि हो जाने से नित्य शब्दों की भी अभिव्यक्ति सिद्ध हो जाती है। अर्थक्रिया परमार्थसत् पदार्थ से ही होती हो, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि खोटे सिक्कों और नोटों से भी व्यवहार की निष्पत्ति देखी जाती है। यहाँ पर कोई एक शब्दों के प्राकट्य का हेतु पवन से संस्कृत हो करके किसी एक नियत शब्द को ही प्रकट करता है। जैसा कि कहा गया है—'जैसे कुछ ही तालु प्रभृति के संयोग-विभाग कुछ ही शब्दों के ग्रहण के लिये श्रोत्र इन्द्रिय को समर्थ बनाते हैं। यहाँ पर जैसे इनकी उत्पत्ति के प्रसंग में आपके यहाँ सामर्थ्य नियत है, उसी तरह से इनकी अभिव्यक्ति में हमारे यहाँ सामर्थ्य नियत है'। स्तिमित पवन का अपसारण मात्र ही करण का संस्कार नहीं है। यह संस्कार उस देश में व्यवस्थित शब्द का और उसके विषय का भी समान रूप से होता है। जैसे जवनिका (पर्दे) के हटते ही चक्षु रंगभूमि में विद्यमान समस्त देश और उसमें स्थित वस्तुओं को देख लेती है, उसी तरह से विस्तार के विरोधी (रोकने वाले) पवन के हटा दिये जाने पर श्रोत्रेन्द्रिय उस देश के समस्त शब्दों का ग्रहण कर सकती है। 'आकाश ही श्रोत्र है और वह निरवयव (अवयवों से रहित) तथा विभु (व्यापक) है। इसमें संस्कार मानने पर सभी प्राणियों के श्रोत्रों का तत्काल संस्कार हो जाने से वे सभी शब्दों को सुन सकेंगे। विषय में संस्कार मानने पर वह भी

तस्यानवयवस्य व्यापिनश्च संस्कृतत्वात् सर्वत्र श्रवणं स्यादिति मद्रेषु व्यक्तं कश्मीरेष्वपि श्रूयेत। नहि तस्याधारद्वारक-संस्कारः, आकाशवदनाश्रितत्वादिति चेन्न, समानदेशेषु समानेन्द्रियग्राह्येष्वपि नियतविशेषदर्शनेन तददोषात्। 'क्वचित्पावकसम्पर्कादर्कांशुस्पर्शतः क्वचित्। क्वचित्सलिलसंसेकाद् गन्धोऽभिव्यज्यते भुवः॥' न च स्तिमितपवनापनोदनमात्रं करणस्य संस्कारः, किन्तु प्रतिविषयं योग्यतालक्षणोऽपि संस्कारः। श्रोत्रस्याकाशरूपत्वेऽपि घटाकाशादिवदौपाधिकभेदस्य तत्राभ्युपगमे बाधाभावात्, धर्माधर्मयोश्च नियामकत्वाभ्युपगमात्। जातिवच्चास्य ग्रहणनियमो भविष्यति। 'यथा सर्वगता जातिः पिण्डदेशेऽवगृह्यते। न च कात्स्न्र्येगृहीतापि पिण्डेऽन्यत्र न दृश्यते॥ तथा सर्वगतः शब्दो नाददेशेषु गृह्यते। स कात्स्न्र्येन गृहीतोऽपि पुनरन्यत्र गृह्यते॥ पिण्डोऽभिव्यञ्जको जातेः शब्दस्य व्यञ्जको ध्वनिः। आश्रितानाश्रितत्वादिविशेषः क्वोपयुज्यते॥'

यद्यपि बौद्धैर्जातिरपलप्यते, तथापि मीमांसकैस्तत्साध्यते।

सर्वगतत्वनिरवयवत्वाविशेषात् तीव्रत्वमन्दत्वादयश्च ध्वनिधर्मा शब्दवृत्तितयाऽवभान्ति। यथा स्थूलत्वकृशत्वादयः पिण्डधर्मा जातिवृत्तित्वे क्वचिद् गृह्यन्ते, अगृहीतशावलेयादिविशेषस्य कृशा गाव इत्यादिप्रतिभासदर्शनात्।

'यद्वा न तीव्रमन्दादेर्वर्णधर्मतया ग्रहः। बुद्धिरेव तथोदेति व्यञ्जकानुविधायिनी॥ तावन्त एव ते वर्णाः प्रचयापचयस्पृशः। एवञ्चाभिभवोऽप्येषां स्वतो नास्ति परस्परम्॥ मरुद्भिरभिभूयन्ते मारुता एव दुर्बलाः। तेजोभिरिव दीप्तांशोर्दिवा दीपप्रभादयः॥' इति मीमांसकाः।

तो अनवयव और व्यापी है, अतः उसके संस्कृत होने पर सर्वत्र श्रवण होने लगेगा। इस तरह से मद्र देश में व्यक्त शब्द का कश्मीर में श्रवण मानना पड़ जायगा। उसका संस्कार आधार के द्वारा नहीं माना जा सकता, क्योंकि शब्द आकाश की तरह ही अनाश्रित है, आधारहीन है'। किन्तु यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि समान देशों की समान इन्द्रियग्राह्यता मानने पर भी नियत विशेषों का ही उनसे ग्रहण होता है, इस तरह से यहाँ पर कोई दोष नहीं आवेगा। 'यह देखा जाता है कि पृथिवी का गन्ध कहीं अग्नि के संपर्क से, कहीं सूर्य की किरणों से और कहीं सलिल (जल) के संपर्क से अभिव्यक्त होता है'। केवल स्तिमित पवन का अपनोदन मात्र ही करण का संस्कार नहीं होता, किन्तु प्रतिविषय में योग्यता लक्षण संस्कार भी माना जाता है। श्रोत्र की आकाशरूपता के रहते हुए भी वहाँ पर घटाकाश आदि की तरह औपाधिक भेद मानने में कोई बाधा नहीं है। इसमें नियामकता धर्म और अधर्म की मानी जायगी। जाति की तरह ही इनके ग्रहण का भी नियम होगा'। जैसे सर्वगत (व्यापक) जाति का पिण्ड देश में ग्रहण होता है। एक ही पिण्ड (व्यक्ति का शरीर) में संपूर्ण रूप में गृहीत होने पर भी वह जैसे दूसरे पिण्ड में भी संपूर्ण रूप से ही गृहीत होती है, उसी तरह से सर्वगत शब्द का ग्रहण ध्वनि प्रदेश में होता है। एक स्थान पर संपूर्ण रूप से गृहीत होने पर भी वह अन्यत्र भी उसी रूप में गृहीत होता है। जैसे पिण्ड जाति का अभिव्यंजक है, उसी तरह से ध्वनि शब्द का अभिव्यंजक है। यहाँ पर आश्रितता-अनाश्रितता आदि विशेषों का उपयोग कहाँ है'।

यद्यपि बौद्ध जाति का अपलाप करते हैं, जाति को नहीं मानते, तो भी वेदों को प्रमाण मानने वाले मीमांसक इसको प्रमाणों से सिद्ध करते हैं।

आकाश की तरह शब्द में भी सर्वगतता (व्यापकता) और निरवयता समान रूप से विद्यमान है। तीव्रता मन्द्रता आदि ध्वनि के ही धर्म हैं, किन्तु वे शब्द में भासित होते हैं। जैसे कि स्थूलत्व, कृशत्व आदि शरीर के धर्म भी कहीं-कहीं जाति में रहते हुए प्रतीत होने लगते हैं। शाबलेयादि विशेषताओं को जो नहीं जान पाता, उसको गायें कृश है, इस तरह की प्रतीति होती देखी जाती है।

'अथवा तीव्र-मन्द आदि का वर्ण-धर्म रूप से ज्ञान नहीं होता। किन्तु व्यंजक ध्वनि का अनुसरण करने वाली बुद्धि ही तीव्र-मन्द रूप में उदित होती है, जिसके कारण कि उतने ही वर्ण प्रचय और अपचय भाव को प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह से इनका परस्पर अभिभव भी स्वतः नहीं होता, किन्तु ये पवनगत ध्वनिधर्म यदि दुर्बल हैं, तो अपने से प्रबल पवन से अभिभूत हो जाते हैं, जैसे कि सूर्य की दीप्ति से दिन में दीपक की प्रभा (प्रकाश) अभिभूत हो जाती है' यह मीमांसकों की मान्यता है।

यदपि च—'अश्रुतिर्विकलत्वाच्च कस्यचित्सहकारिणः । काममन्यप्रतीक्षास्तु नियमस्तु विरुद्धयते ।।' (प्र० वा० ३।२५३-२५४) । नावरणेन नित्यानां शब्दानामश्रुतिः । प्रतिनियतसहकारिकृतं क्वचित् कस्यचिच्छ्रवणमिति चेन्न, ततो लभ्यस्य कार्यं उपयोगात् संकुला प्रतिपत्तिः स्यात् । तथा शब्दोऽपि यत्किञ्चिदपेक्ष्य कार्यं कुर्यात् पूर्वस्वभावनियत इति तन्न स्यात्, तस्याक्षेप्राञ्च सहकारिणः स्वभावस्य प्रतिलम्भात् । अतिशयप्रतिलम्भाभावे अपेक्षायोगात् । अथार्थान्तरभूतमुपकारं लभते, तस्य सम्बन्धाद्यभावस्योक्तत्वात् । तस्य चाज्ञेयत्वम् । यदि सम्बन्धसिद्धयर्थं सहकारिकृते उपकारे शब्दकृत उपकारः कल्प्येत, तदा तत्राप्यपरस्तत्राप्यपर इत्यनवस्थादयः। तस्य च शब्दस्याज्ञेयत्वं प्रसक्तम्, सहकारिकृतादेवोपकारादर्थान्तरभूताज्ज्ञानोत्पत्तेः । तस्मादेष शब्दो नेन्द्रियं न सन्निकर्षं नात्मानमन्यविज्ञानोत्पत्तिसमाश्रयं किञ्चित्स्वज्ञानजननेऽपेक्षते, सर्वस्य नित्ये शब्देऽनुपयोगादित्यादि बहुजल्पितम्, तदपि वृथैव कण्ठशोषणम्, अबाधितप्रत्यभिज्ञया शब्दस्य नित्यत्वसिद्धावपि सहकार्याद्यपेक्षायाः सर्वानुभवसिद्धत्वात् । बौद्धा अपि शब्दैर्व्यवहरन्ति, अन्यथा समनन्तरवाचोयुक्तेरप्ययोगात् । श्रोत्रमिन्द्रियं सन्निकर्षं शक्तिग्रहं च तेऽप्यभिलषन्ति । न च सहकारिकृताधेयातिशयाभावात्तदनपेक्षा, तद्व्यक्तौ तदपेक्षाया उक्तत्वात् । यथा सर्वंगतापि जातिः पिण्डमपेक्ष्यैव व्यज्यते, तथैवेहापि ज्ञेयम् । न चारोपितोऽप्यतिशयोऽकिञ्चित्करः, समारोपितैरपि कूटकार्षापणैरर्थक्रियादर्शनात् । विज्ञाने समारोपितैरेव वस्तुभिर्विज्ञानवादिनां सर्वोऽपि व्यवहारश्चलति ।

यदपि च 'सर्वत्रानुपलम्भः स्यात्तेषामव्यापिता यदि । सर्वेषामुपलम्भः स्याद्युगपद् व्यापिता यदि ।।' (प्र० वा० ३।२५४-२५५), तदप्यकिञ्चित्करम्, निरुक्तविकल्पस्य बौद्धं प्रत्यपि सम्भवात् । मीमांसकानां रीत्या व्यापित्वेऽपि

प्रमाणवार्त्तिक में यह भी कहा गया है कि 'शब्द यद्यपि नित्य स्वभाव ही है. किन्तु उसकी अश्रुति किसी सहकारी के वैगुण्य के कारण होती है । इस पक्ष को मानने में यह दोष है कि भले ही उसको अन्य सहकारी के उपकार की प्रतीक्षा रहे, किन्तु इससे इसकी एकस्वभावता का नियम बाधित हो जायगा' । यदि शब्द नित्यस्वभाव हैं, तो उनकी आवरण के कारण अश्रुति नहीं होनी चाहिये । यदि कहीं पर किसी शब्द का ग्रहण अत्यन्त प्रतिनियत सहकारी के कारण माना जाता है, तो इसमें दोष यह होगा कि सहकारी का उपयोग तो किसी कार्य की उत्पत्ति में होता है । यहाँ पर भी इसका उपयोग मानने पर शब्द की नित्यता-अनित्यता से मिला-जुला ज्ञान होगा । इस तरह से जब शब्द भी जिस किसी की अपेक्षा से ही कुछ कार्य करेगा, तब उसमें पूर्व स्वभाव की नियतता कैसे रहेगी ? किसी की अपेक्षा रहने से ही सहकारी के स्वभाव का प्रतिलम्भ होगा । यदि इसका अतिशय प्रतिलम्भ नहीं होता, तो उसकी अपेक्षा रखना भी व्यर्थ है । अब यदि अर्थान्तरभूत (अन्य किसी प्रकार के) उपकार को प्राप्त करता है, तो उसमें संबन्ध आदि का अभाव बताया जा चुका है और यह अज्ञेय भी है । यदि संबन्ध की सिद्धि के लिये सहकारिकृत उपकार में शब्दकृत उपकार की कल्पना की जाती है, तो वहीं दूसरा और फिर उसके लिये भी दूसरा उपकार मानने में अनवस्था होगी और इस तरह शब्द की अज्ञेयता की आपत्ति उठ खड़ी होगी, क्योंकि अर्थान्तरभूत सहकारी कृत उपकार से ही ज्ञान को उत्पत्ति होगी । इसलिये यह शब्द अपने ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय, संनिकर्ष अथवा अन्य विज्ञान की उत्पत्ति के रूप में स्वात्मस्वरूप की भी अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि नित्य शब्द के लिये इनमें से किसी की भी अपेक्षा नहीं है' । इस प्रसंग में इसी तरह की और भी बहुत सी बातें कही गई है । किन्तु यह सब वृथा कण्ठशोषण के सिवाय और कुछ नहीं है, क्योंकि अबाधित प्रत्यभिज्ञा से शब्द की नित्यता सिद्ध हो जाने पर भी उसमें सहकारी की अपेक्षा रहती है, यह बात सर्वानुभव से सिद्ध है । बौद्ध दार्शनिकों का व्यवहार भी शब्दों से ही चलता है । अन्यथा अभी कही गई बातों की भी प्रवृत्ति न हो पावेगी । श्रोत्रेन्द्रिय, संनिकर्ष और शक्तिग्रह को वे भी मानते हैं । सहकारीकृत आधेयातिशयता के अभाव में इनकी अनपेक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि इस अतिशयिता की अभिव्यक्ति में ही उसकी अपेक्षा मानी गई है । जैसे जाति सर्वगत होते हुए भी पिण्ड की अपेक्षा रखकर ही अभिव्यक्त होती है, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये । आरोपित अतिशय किसी काम का नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समारोपित खोटे सिक्कों से अर्थव्यवहार चलता देखा जाता है । स्वयं विज्ञानवादियों का सारा व्यवहार भी विज्ञान में समारोपित वस्तुओं से ही चलता है ।

येषामिन्द्रियसंस्कारस्तेषामेवोपलम्भो नान्येषामित्युक्तत्वात्। अव्यापित्वेऽप्यप्राप्तग्रहणपक्षे न दोषः। ननु तत्रापि योग्यदेशस्थितिविशेषापेक्षाऽयस्कान्तादिवत्। यथायस्कान्तस्याप्राप्ताकर्षकत्वेऽपि नायोग्यदेशस्थितलोहाकर्षणमेवमत्रापि ज्ञेयम्। अन्यथा स्पष्टश्रुतिभेदो न स्यात्। सन्ति च ताल्वादिव्यापारे सर्वत्र दूरे समीपे च तुल्यमुपलभ्येरन्निति चेन्न, बौद्धपक्षेऽप्यस्य चोद्यस्य तुल्यत्वात्। तदुक्तमेव—'येषामप्राप्त एवायं शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते। तेषामप्राप्तितुल्यत्वं दूरव्यवहितादिषु ।। 'तत्र दूरसमीपस्थग्रहणाग्रहणे समे। स्यातां न च क्रमो नापि तीव्रमन्दादिसम्भवः ।।'

यदप्युक्तम्—'यस्य स्पष्टास्पष्टप्रतिभासानि सर्वाण्येव ज्ञानान्यभ्रान्तानि, तस्यायं दोषो न बौद्धस्यास्पष्ट-प्रतिभासस्य ज्ञानस्य भ्रान्तत्वाभ्युपगमात्, अपरापरदेशोत्पत्त्या चागच्छतः शब्दस्य ग्रहणात् क्रमो गृह्यते, कर्णदेशे च तीव्रस्य शब्दस्य मन्दस्य चोत्पत्तेस्तीव्रमन्दादिसम्भव इति, तदेतत्कर्णस्पर्शे कटिचालनम्, अप्राप्तस्यापि ग्रहणे स्पष्टास्पष्ट-प्रतिभासहेतोरनिरूपणात्। न चास्पष्टप्रतिभासज्ञानानां भ्रान्तत्वाभ्युपगम एवोक्तचोद्यसमाधानम्, अन्यैरपि यथा दूरे रूपं रजोनीहारादिसंसृष्टमस्पष्टं गृह्यते, समीपे तु तदभावान् स्पष्टम्, तथा शब्दोऽपि स्पष्टास्पष्टप्रतिभासः। तदुक्तम्—'दूरासन्नादिभेदेन स्पष्टास्पष्टः प्रतीयते' इति। यदपि रजोनीहारादेः संसृष्टताग्रहणं यदि तावत् तयोः पृथक् पृथग्ग्रहणम्, तदा दूरासन्नवर्तिनोः पुरुषयोस्तुल्यो रूपप्रतिभासः स्यात्, यथावस्थितेन स्वरूपेण ग्रहणात्। अथैकत्वेन तयोर्ग्रहणं

प्रमाणवार्तिक में यह भी कहा गया है कि 'यदि शब्द अव्यापक हैं, तो उनकी सर्वत्र उपलब्धि न होगी। अब यदि व्यापक हैं, तो सभी शब्दों का एक साथ ज्ञान मानना पड़ेगा'। यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि यही विकल्प बौद्ध मत के विरुद्ध भी प्रयुक्त किया जा सकता है। मीमांसकों के मत से शब्दों के व्यापक होने पर भी जिनकी इन्द्रियों का संस्कार हो जाता है, उन्हीं में शब्द ग्रहण की शक्ति आती है, अन्यत्र नहीं। अव्यापक पक्ष में भी जिसका ग्रहण नहीं हुआ है, उसका ज्ञान न होगा, इस तरह से वहाँ पर भी कोई दोष नहीं है। प्रश्न है कि 'यहाँ पर भी अयस्कान्त (चुंबक) की तरह योग्य देश में स्थितिविशेष की अपेक्षा रहेगी। जैसे अयस्कान्त में अप्राप्त लोह के आकर्षण की सामर्थ्य है, किन्तु यह कार्य यदि लोह उसकी आकर्षण शक्ति के भीतर के प्रदेश में स्थित है, तभी वह ऐसा कर सकता है, इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। अन्यथा स्पष्ट और अस्पष्ट श्रुति का भेद नहीं रहेगा और तालु प्रभृति के व्यापार होने पर सभी जगह, वह दूर हो या समीप, एक सी शब्द की प्रतीति माननी पड़ेगी'। इसका भी उत्तर यह है कि यह प्रश्न बौद्ध पक्ष में भी समानरूप से उठाया जा सकता है। जैसा कि कहा गया है 'जिनके मत में श्रोत्र देश में अप्राप्त शब्द का भी श्रवण माना जाता है, उनकी अप्राप्ति, वह दूर अथवा व्यवहित हो या समीप, अथवा अव्यवहित एक सी है। इस परिस्थिति में दूर के और समीप के शब्दों की श्रुति समान माननी पड़ेगी। यहाँ पर किसी क्रम की और तीव्रत्व, मन्दत्व आदि की प्रतीति संभव न हो सकेगी।

यह भी कहा गया है कि—'जिसके मत में स्पष्ट प्रतिभास और अस्पष्ट प्रतिभास सभी ज्ञान यथार्थ हैं, उसी के मत में यह दोष हो सकता है। यह दोष बौद्ध मत में नहीं आ सकता, क्योंकि उनके मत में अस्पष्ट प्रतिभास वाले ज्ञान को भ्रान्त मानते हैं। एक से दूसरे देश में उत्पन्न होकर आते हुए शब्द का ग्रहण होता है, अतः उसमें क्रम का भी ग्रहण माना जाता है और कर्ण प्रदेश में तीव्र और मन्द शब्द की उत्पत्ति के आधार पर शब्द में तीव्रत्व, मन्दत्व आदि का भी बोध माना जा सकता है'। किन्तु ये सब बातें कान पकड़ने पर कटिचालन के समान हैं, क्योंकि अप्राप्त का भी यदि ग्रहण माना जाता है, तो स्पष्ट प्रतिभास और अस्पष्ट प्रतिभास का क्या कारण है? इसका कोई जवाब नहीं बन पाता। अस्पष्ट प्रतिभास वाली प्रतीतियों को भ्रान्त मान लेना ही उनका एकमात्र समाधान नहीं मान' जा सकता। जैसे धूल, नोहार (धुन्ध) आदि से भरे आकाश में दूर की वस्तु अस्पष्ट प्रतीत होती है और समीप की वस्तु स्पष्ट, उसी तरह से शब्द का भी स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास भी होता है। जैसा कि कहा गया है—'दूर और आसन्न (समीप) के भेद से शब्द की स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतीति होती हैं'। यह जो कहा जाता है कि 'रज, नोहार आदि की संसृष्टता का ग्रहण ही यदि इनका पृथक्-पृथक् ग्रहण माना जाता है, तो दूर और आसन्न प्रदेश में रहने वाले दो पुरुषों को एक सी रूप की प्रतीति होनी चाहिये, क्योंकि इनको यथावस्थित स्वरूप का ग्रहण होता है। अब यदि उनका एकत्वेन ग्रहण संसृष्टता ग्रहण है, तो फिर अस्पष्ट प्रतिभा

संसृष्टताग्रहणं कथमस्पष्टप्रतिभासं ज्ञानं भ्रान्तं न स्यात्, भिन्नानामेकत्वग्रहणात्। कथं चैकस्य रूपस्यानेकाकारप्रतिभासः। 'जातीनामाश्रयोऽन्योन्यश्चेतसा तस्य वस्तुनः। एकस्यैव कुतो रूपं भिन्नाकारावभासितात् ॥' इति, तदपि तुच्छम्।

ननु देशकालादिव्यापितास्तु 'यस्माच्छब्दस्य नित्यत्वं श्रोत्रजप्रत्यभिज्ञया। विभुत्वं च स्थितं तस्य कोऽध्यवस्येद्विपर्ययम् ॥ देशभेदेन भिन्नत्वमित्येतच्चानुमानिकम्। प्रत्यक्षस्तु स एवेति प्रत्ययस्तस्य बाधकः ॥ पर्यायेण यथा लोके भिन्नान् देशान् व्रजन्नपि। देवदत्तो न भिद्येत तथा शब्दो न भिद्यते ॥ तस्माद्या सर्वकालेषु सर्वदेशेषु चैकता। प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानप्रसिद्धा सास्य बाधिका ॥' तस्माद् व्यापिनः शब्दाः।

ननु तथापि व्यापित्वे युगपदुलम्भः स्यात्, नहि शब्दः क्वचिन्नास्तीति सर्वेऽपि शब्दाः सर्वदेशावस्थितैर्युगपदुपलभ्येरन्, योग्येन्द्रियत्वात्, विषयसन्निहितत्वाद् अनुपलम्भहेतोरभावाच्चेति चेन्न, संस्कृतस्य शब्दस्य संस्कृतेन्द्रियेणैवोपलम्भनियमात्। तदुक्तम्—'प्रयत्नमिह वो वायुः कोष्ठ्यो यातीत्यसंशयम्। कर्णव्योमनि निष्पन्ना शक्तिः श्रोत्रे नियच्छति ॥ (श्लो० वा० १२२।१२४)

यदुक्तम्—'संस्कृतस्योपलम्भे च कः संस्कर्ता विकारिणः। इन्द्रियस्य च संस्कारः शृणुयान्निखिलं च तत् ॥' (प्र० वा० ३।२५५-२५६), तदपि यत्किञ्चित्, कण्ठताल्वभिहतवायुना स्तिमितवायूत्सारणेन च शब्दस्येन्द्रियस्य च संस्कारसम्भवात्। न चानाधेयविकारस्य संस्कारायोग इति वाच्यम्, स्तिमितवायुरूपावरणापनयनस्यैव तत्संस्कारत्वात्। न च तर्हि यस्येन्द्रियसंस्कारः स युगपत्सर्वान् शब्दान् शृणुयाद् इति वाच्यम्, संस्कारप्रतिनियमेन तददोषात्।

का ग्रहण भ्रान्त नहीं होगा, क्योंकि भिन्नों का एकत्वेन ग्रहण होगा। एक रूप का अनेकाकार प्रतिभास कैसे हो सकता है'। इनमें परस्पर एक दूसरे को बौद्धिक आश्रयता मानी जाती है। ऐसी परिस्थिति में वस्तुतः एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न आकारों में प्रतीति कैसे हो सकती है। किन्तु यह कथन भी बहुत हलका है, क्योंकि ध्वनि, अभिव्यंजक आदि के भेद से स्पष्टता, अस्पष्टता आदि का उपपादन शब्द में किया जा चुका है।

शब्द को देश और काल में व्यापक मान लिया जाय, क्योंकि 'जब श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यभिज्ञा से शब्द की नित्यता और विभुता सिद्ध हो जाती है, तो इसके विपरीत अध्यवसाय (निश्चय) कैसे हो सकता है। देशभेद से शब्दभेद की प्रतीति केवल आनुमानिक है। 'यह वही है' इस तरह का प्रत्यक्षाधारित प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय उसका बाधक है। पारी पारी से अनेक भिन्न स्थानों में जाने पर भी जैसे देवदत्त व्यक्ति सर्वत्र एक ही माना जाता है, उसी तरह से शब्द की भी भिन्नता नहीं मानी जा सकती। क्योंकि शब्द में सर्व काल में और सर्व देश में जो एकता की प्रतीति प्रत्यक्ष तथा प्रत्यभिज्ञा के आधार पर होती है, वही प्रतीति शब्द में अनेकता की बाधक है। ऐसी परिस्थिति में शब्दों को व्यापक मानना ही ठीक है।'

प्रश्न है कि 'यदि ये व्यक्त हैं तो इनकी एक साथ उपलब्धि होती रहेगी, कहीं भी शब्द न हो, ऐसा नहीं हो सकता। इस तरह से सभी शब्द सभी देशों में स्थित व्यक्तियों के द्वारा एक साथ गृहीत होने चाहिये, क्योंकि इसको ग्रहण करने में समर्थ श्रोत्र इन्द्रिय विद्यमान है, विषय भी संनिहित है और इसकी अनुपलब्धि का कोई कारण भी यहाँ उपस्थित नहीं है।' इसका समाधान यह है कि संस्कृत शब्द की संस्कृत इन्द्रियों से ही उपलब्धि हो सकती है। जैसा कि कहा गया है—'आपका कोष्ठ्य वायु प्रयत्न से प्रेरित होता है, यह निःसन्देह ठीक है। श्रोत्रेन्द्रियवर्ती आकाश में ही उस शब्द को सुनने की शक्ति मानी जाती है।'

प्रमाणवार्तिक में ही जो यह कहा गया है कि—'यदि आप संस्कृत शब्द की ही उपलब्धि मानने के पक्ष में हैं, तो आप यह बताइये कि नित्य अविकारी शब्द का संस्कर्ता कौन होगा? यदि आप इन्द्रिय का संस्कार मानें तो ऐसा मानने पर वह इन्द्रिय सारे शब्द समूह को सुनने लगेगी।' किन्तु यह कथन भी कुछ नहीं है, क्योंकि कण्ठ-तालु आदि से अभिहत पवन से स्तिमित वायु के उत्सारण से शब्द और इन्द्रिय दोनों का संस्कार होता है। 'जिसमें विकार का आधान नहीं होता, उसका संस्कार भी नहीं माना जा सकता, यह कथन भी गलत है, क्योंकि स्तिमित वायुरूप आवरण का अपनयन ही वहाँ संस्कार माना जाता है। इससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि जिस इन्द्रिय का संस्कार हो गया है, वह एक साथ सभी विषयों को ग्रहण करने लगेगी, क्योंकि संस्कार की

तथाहि केनचित्संस्कृतमिन्द्रियं कस्यचिदेव ग्राहकमिति न युगपत् सर्वश्रुतिः। न चैवं संस्कारविशेषात् श्रुतिनियमेऽभ्युपगम्यमानेऽनेकशब्दसङ्घातस्य कलकलशब्दस्य श्रुतिर्न स्यात्, तत्र भिन्नस्वभावानां युगपच्छ्रवणात् स्वभावभेदाश्रयत्वाच्च भेदव्यवस्थितेरिति वाच्यम्, तत्र देशविशेषस्थितानां वहूनां कण्ठताल्वाद्यभिघातेन प्रतिनियतानामेष वहूनामेव शब्दानां समभिहारेण प्रतिवद्धानामेव कलकलशब्दत्वात्, समभिहारस्य स्पष्टग्रहणे प्रतिवन्धकत्वात्। अनेकशब्दश्रवणान्यथानुपपत्त्याऽपीन्द्रियस्यानेकसंस्कारवत्त्वकल्पनोपपत्तेश्च।

यच्च प्रयत्नाभिहतैर्वायुभिराधीयमानाः संस्कारा यदीन्द्रियादभिन्नास्तदा तेषां वहुत्वं स्यात्, भिन्नाश्चेत्कथं तर्हि तैरिन्द्रियं संस्कृतम्? तस्य संस्कार इति सम्वन्धश्च न सिद्धचति। ये च निष्पन्ने भवन्ति, ते कथं तत्स्वभावाविरुद्धधर्माध्यासादिति, तदप्यपास्तम्, लोके मलापनयनातिशयाधानादिलक्षणस्य संस्कारस्य संस्कार्य्यभिन्नत्वतत्सम्वद्धत्वादिरूपेणैवानुभवाद् निष्पन्न एव संस्कारा भवन्ति।

केचित्तु न कलकले युगपदनेकशब्दश्रवणम्, किन्तु क्रमेणैवैकः शब्दः श्रूयते। तानि च श्रवणज्ञानानि लघुवृत्तीनि तत एव क्रमेण गृह्यमाणेष्वपि सकृच्छ्रुतिर्भ्रान्तिरेव। ननु तर्हि तदा वंशादिस्वरधारागमकावयवानामप्येकीकरणात् सङ्कुलाप्रतिपत्तिः स्यात्, न त्वसंसृष्टगमकावयवानामनुक्रमवती। तस्माद् गतौ शक्तिप्रतिनियमादिन्द्रियस्यानेकात्मा कलकलो न श्रूयते, तदपि तुच्छम्, तत्र क्रमप्रतिपत्तेः सुस्पष्टत्वात्। एकत्वप्रतिपत्तिस्तत्रापि भ्रान्तिरेव।

केचित्तु—ध्वनयस्तत्र श्रूयन्ते, न वाचका वर्णात्मानः शब्दाः श्रूयन्ते। ननु ध्वनिभ्यो भिन्ना न वर्णा नाम, ध्वनिविशेषस्यैव वर्णत्वादिति, तदप्यविचारितरमणीयम्, वोधकत्वावोधकत्वाभ्यां तद्भेदस्य सुस्पष्टत्वात्। विशेषस्य विशेषिभिन्नत्वेनापि तद्भेदसिद्धिः। अभेदत्वे विशेषविशेषिभावानुपपत्तिश्च।

नियमितता के कारण इस दोष की प्रसक्ति नहीं होगी। जैसे कि—किसी वस्तु से इन्द्रिय का संस्कार होने पर वह किसी एक ही विषय की ग्राहक हो सकती है, अतः युगपत् सर्वश्रुति की आपत्ति नहीं आवेगी। प्रश्न है कि यदि इस तरह से संस्कार विशेष से श्रुति नियम माना जाता है तो अनेक शब्द संघातरूप कलकल शब्द की श्रुति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि यहाँ पर भिन्न स्वभाव के शब्दों की एक साथ श्रुति होती है और भेद की व्यवस्था स्वभाव भेद के कारण होती है। उत्तर है कि ऐसे स्थलों में देश विशेष में स्थित अनेक कण्ठ-तालु आदि के अभिधान से प्रतिनियत आकार वाले अनेक शब्दों के एक साथ उच्चारण की प्रतिवद्धता के आधार पर कल-कल शब्द उत्पन्न होता है। एक साथ उच्चरित होने से स्पष्ट ग्रहण में वाधा पड़ जाती है और यहाँ हम अनेक शब्दों के श्रवण की अन्यथानुपपत्ति के आधार पर इन्द्रिय के अनेक संस्कारों की कल्पना भी कर सकते हैं।

यह भी प्रश्न उठाया गया है कि 'प्रयत्न से अभिहृत वायु के द्वारा आधीयमान संस्कार यदि इन्द्रिय से अभिन्न हैं, तो उनकी अनेकता माननी पड़ेगी, यदि भिन्न हैं तो क्या उनसे इन्द्रिय का संस्कार हुआ? उसके संस्कार तो हैं, किन्तु उससे संबद्ध नहीं हैं, यह कैसे संभव हो सकता है। वस्तु के निष्पन्न हो जाने पर जो जो संस्कार होते हैं, ये उसके स्वभाव के अविरुद्ध धर्म के अध्यास से कैसे माने जायेंगे।' इस प्रश्न का भी उत्तर इस तरह से हो जाता है कि दोषों का दूर किया जाना और विशेषता का आधान करना इत्यादि स्वरूप वाले संस्कारों का, जिसका वे संस्कार करते हैं, उनसे अभिन्न और संबद्ध होते हुए ही अनुभव होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि कोलाहल में एक साथ अनेक शब्द नहीं सुनाई पड़ते, किन्तु क्रम से एक एक शब्द ही सुनाई पड़ता है। इनका श्रावण प्रत्यक्ष अतीव स्वल्प काल का होता है। इसलिये क्रमेण ग्रहण होने पर भी उसकी एक साथ श्रुति एक भ्रान्त प्रतीति है। प्रश्न है कि 'तव बांसुरी आदि की स्वर धारा के गमक अवयवों के एकीकरण से भी संकुल (मिली-जुली) प्रतिपत्ति होनी चाहिये, ऐसी अवस्था में गमकों की असंसृष्ट और क्रमवती प्रतीति नहीं होनी चाहिये। इसलिये गति में शक्ति का प्रतिनियम मानने पर इन्द्रिय को अनेकात्मा कोलाहल नहीं दिखाई पड़ता।' यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि दोनों ही स्थानों में क्रम की प्रतिपत्ति सुस्पष्ट है। एकता की प्रतीति तो वहाँ पर भ्रान्त ही मानी जाती है।

कुछ लोगों के मत से ऐसे स्थलों पर ध्वनियाँ ही सुनाई पड़ती हैं, वाचक वर्णात्मक शब्द नहीं। प्रश्न है कि ध्वनि से भिन्न वर्ण है ही कहाँ? ध्वनिविशेष का ही तो नाम वर्ण है। यह प्रश्न अविचारित रमणीय है, क्योंकि बोधकता और अबोधकता के

यदप्युक्तम्—'स्थितेष्वन्येषु शब्देषु श्रूयते वाचकः कथम्' (प्र० वा० ३।२५८)। न ध्वनिरतो भिन्नो रूपं सह पृथग् वा। नहि प्रत्यक्षेऽर्थे परोपदेशो गरीयान्। तदयं स्थितेष्वन्येषु व्यवहर्तृषु केवलमेव शब्दं शृण्वन् तदुपलम्भ-प्रत्ययानां सामर्थ्याभावं प्रत्येति। श्रूयमाणाच्छब्दादन्यस्य ध्वनेर्निष्पादने यदि तदुपलम्भप्रत्ययास्तदन्यनिष्पादने समर्थाः स्युः, तदा तत्साधितमुपलभ्येत, न चोपलभ्यते। न च शब्दजननस्वभावा एव शब्दोपलम्भप्रत्यया बहुषु व्याहरत्सु कलकले स्वकार्यं मुक्त्वा कार्यान्तरं ध्वनिमारभेरन्निति वाच्यम्, कारणाभेदे कार्यभेदस्यायुक्तत्वात्, कारणभेदापेक्षिणः कार्यस्याहेतुत्वप्रसङ्गादिति तन्न, ध्वनेर्वर्णव्यञ्जकत्वेन तथात्वावगमात्। यथा काष्ठादिव्यञ्जकप्रदेशेऽग्नेर्दर्शनेऽपि काष्ठादिभिन्नत्वमग्नेरभ्युपेयते, तथैव ताल्वादिजन्यध्वनिव्यङ्ग्यत्वेन वर्णानां तत्करणजन्यताप्रतीतिः। प्रत्यभिज्ञा-प्रत्ययेन वर्णानां नित्यत्वसिद्ध्या तद्भिन्नत्वसिद्धिः, ध्वनिवर्णयोरभेदे ध्वनिमात्रश्रवणेऽप्यर्थप्रतीत्यापत्तिश्च स्यात्। यदुक्तम्—'य एव वाचकाः प्रयत्ननिष्पन्नास्त एव परस्परसङ्घर्षेण ध्वन्यारम्भकास्तेन कलकले केषाञ्चिद् ध्वनिमात्र-प्रतीतिरन्येषामुभयप्रतीतिः' इति, तदपि प्रतिक्षिप्तं वेदितव्यम्, वाचकानां ध्वनीनामभेदे वर्णानां ध्वन्यारम्भकत्वानुपपत्तेः। वस्तुतस्तु समभिव्याहारस्य प्रतिबन्धकत्वेन ध्वनिव्यङ्ग्यानां वर्णानामनुपलब्धिः।

यदुक्तम्—'कथं वा शक्तिनियमाद्भिन्नध्वनिगतिर्भवेत्' (प्र० वा० ३।२५९)। तानि प्रतिनियतशक्तीनीन्द्रि-याणि प्रतिशब्दनियतान्नानारूपान् शब्दव्यञ्जकान् ध्वनीन् युगपच्छृण्वन्ति शब्दांश्च न शृण्वन्तीति शब्देष्वेषां निर्वेदः।

रूप में ध्वनि और वर्णों का भेद स्पष्ट है। अर्थात् केवल ध्वन्यात्मक शब्द से किसी अर्थ का ज्ञान नहीं होता और वर्णात्मक शब्द से ज्ञान होता है। अतः दोनों का भेद स्पष्ट है। आपकी रीति से ध्वनिविशेष को ही वर्ण मानने पर भी ध्वनि और वर्ण का भेद सिद्ध हुए बिना न रहेगा, क्योंकि विशेष स्वयं जहाँ वह विशेष होता है, उससे भिन्न है। यदि इनका अभेद माना जाय तो उस अवस्था में विशेष-विशेषीभाव भी नहीं बन सकता।

यह भी कहा गया है कि 'कलकल ध्वनि में यदि वाचक शब्द की श्रुति नहीं होती, तो एकाएक सभी लोगों के चुप हो जाने पर किसी एक शब्द की वाचकता का बोध कैसे होता है।' इसलिये यह ध्वनि इसके साथ रहे या अलग, इससे भिन्न स्वरूप नहीं है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा हो, ऐसी अवस्था में उस वस्तु के विषय में दूसरे का उपदेश अधिक वजनी नहीं माना जा सकता। यह श्रोता अन्य व्यवहर्ताओं की उपस्थिति में केवल शब्द को सुनकर उसके उपलम्भ-प्रत्ययों की सामर्थ्य के अभाव को जान लेता है। श्रूयमाण शब्द से अन्य ध्वनि की निष्पत्ति मानने पर यदि उसके उपलम्भ-प्रत्यय उससे भिन्न की निष्पत्ति में समर्थ हों, तो उनकी सिद्ध पदार्थ के रूप में उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं। प्रश्न है कि 'शब्दोपलम्भ-प्रत्यय (शब्द से होनेवाला ज्ञान) केवल शब्दजनन स्वभाव वाले ही हों, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि अनेक व्यक्तियों के एक साथ बोलने पर कलकल ध्वनि में ये अपने कार्य को छोड़कर कार्यान्तर ध्वनि को उत्पन्न करने लगते हैं। उत्तर है कि कारण का भेद न होने पर कार्य में भिन्नता मानना उचित नहीं है। कारण के भेद की अपेक्षा रखने वाला कार्य यदि बिना भेद के पैदा हो जायगा तो वह बिना हेतु के उत्पन्न हुआ है, ऐसा मानना पड़ेगा। किन्तु यह पूरा कथन इसलिये गलत है कि यहाँ पर ध्वनि वर्ण की अभिव्यंजक है, कारक नहीं। अतः कभी-कभी उसकी वर्णरूप में प्रतीति होने लगती है और वर्ण की ध्वनिरूप में प्रतीति हो जाती है। जैसे अग्नि के व्यंजक काष्ठ आदि जहाँ स्थित हो वहाँ पर अग्नि के दिखाई देने पर भी वह उनसे भिन्न मानी जाती है, उसी तरह से तालु प्रभृति स्थानों से उत्पन्न ध्वनि से अभिव्यक्त वर्णों की उस स्थान से उत्पत्ति हुई हो, ऐसी प्रतीति होने लगती है। बाद में प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय से वर्णों की नित्यता सिद्ध हो जाने पर उनकी ध्वनियों से भिन्नता सिद्ध हो जाती है। ध्वनि और वर्ण का अभेद मानने पर केवल ध्वनि के सुनने से ही अर्थ की प्रतीति की आपत्ति उठेगी। जैसा कि कहा गया है—'जो वाचक वर्ण प्रयत्न से निष्पन्न होते हैं, वे ही परस्पर संघर्ष से ध्वनि के आरंभक हो जाते हैं। इसीलिये कलकल शब्द में कुछ लोगों को केवल ध्वनिमात्र की प्रतीति होती है, तो दूसरों को दोनों तरह की प्रतीति होती है।' इसका खण्डन भी कर दिया गया है, क्योंकि वाचक वर्ण और ध्वनि का अभेद मानने पर वर्णों की ध्वनि की आरंभकता (जनकता) नहीं बन पावेगी। वस्तुतस्तु समभिव्याहार (एक साथ उच्चारण) रूप प्रतिबन्धकता के कारण ध्वनि-व्यङ्ग्य वर्णों की उपलब्धि नहीं होती।

तत्र भावशक्तिरीदृशीति शक्यं वक्तुम्, कदाचिद् बहूनां वाचकानां शब्दानां श्रवणादिति, तदपि न किञ्चित्, समभिव्याहारस्य प्रतिबन्धकत्वेन वाचकानां शब्दानामनवगमात्। वाचकाच्छब्दादर्थावगतिः, ध्वनिशागाद्वर्णव्यञ्जकान्नार्थप्रतीतिः। वर्णोऽप्येको नार्थाविबोधकः। प्रागेव वर्णव्यञ्जकोऽल्पीयान्नार्थावबोधकः, न च सहिता ध्वनयोऽर्थावबोधका भवितुमर्हन्ति, ध्वनीनां क्षणिकत्वेन साहित्यानुपपत्तेः। तेन वाचकेभ्यः शब्देभ्योऽर्थप्रतीतिर्न ध्वनिभ्यः। तेनाक्रमसत्त्वं शब्दस्य सिद्धमेव।

यदप्युक्तम्—क्रमवद्वर्णव्यतिरेकेण क्रमो नास्त्येवेति, तन्न, पौर्वापर्यलक्षणस्य क्रमस्य ध्वनिव्यङ्ग्येषु वर्णेषु साधितत्वात्। यदुक्तं वर्णस्य ध्वनिभिन्नत्वे पूर्वेण कर्मभागेनापरस्याप्रतिसन्धानाद् एकांशाच्चाप्रतीतेर्हस्तसंज्ञाशिरःकम्पादिषु समस्तरूपकर्मात्मा शब्दवदेवाभ्युपगन्तव्यः स्यादिति, तदपि न साधु, सामान्यविशेषसमस्तव्यस्ताभ्युपगमेन समस्तकर्मात्मिनस्तत्रैवान्तर्भावात्, सर्वस्य कर्मत्वाविशेषात्। न चैवं ध्वनितद्व्यङ्ग्यवर्णेषु वक्तुं शक्यम्, तयोर्वैजात्यस्य स्फुटतरमुपलम्भात्। तदुक्तं मण्डनमिश्रेण—'यदा त्रैविद्यवृद्धा हस्तसंज्ञादिविशेषानुत्क्षेपणत्वादिशब्दनिर्देश्यान् सामान्यविशेषानुपगच्छन्ति, तदा कोऽयं प्रसङ्गः, एकः कर्मात्माभ्युपगन्तव्यः' ?

यदुक्तम्—'एकमुत्क्षेपणरूपं कर्मासिद्धम्, तथा पूर्वापरमपि यदि सिद्धं भवेत् तदा तेषु बहुषूत्क्षेपणेषु प्रत्येकमुत्क्षेपणसामान्यमनुवर्तेत, तदेव तु न सिद्धम्, पूर्वापरकर्मभागानामनन्वयात्। न च विशेषणाभावे सामान्यसद्भावः,

प्रमाणवार्तिक में यह भी कहा गया है कि—'यदि इन्द्रियों के संस्कारविशेष से शब्द विशेष की उपलब्धि का नियम माना जाता है तो शक्तिनियम के आधार पर शब्दविशेष की तरह ध्वनिविशेष की ही प्रतीति होनी चाहिये, ध्वनिवैचित्र्य रूप कलकल ध्वनि की प्रतीति कैसे होगी ?' नियत शक्तिवाली इन्द्रियाँ प्रत्येक शब्द के लिये नियत नानारूप शब्दव्यंजक ध्वनियों को एक साथ सुनती हैं और शब्दों को नहीं सुनती तो यह शब्दों के लिये ही उनका वैराग्य क्यों ? यहाँ पर उसकी स्वभावशक्ति ऐसी ही है, यही कहना पड़ेगा कि वह कभी बहुत से वाचक शब्दों को भी सुनने लगती है।' यह कथन भी कुछ नहीं है, क्योंकि समभिव्याहार की प्रतिबन्धकता के कारण वाचक शब्दों की अवगति नहीं होती। वाचक शब्द से अर्थ की अवगति होती है। ध्वनि भाग केवल वर्ण का अभिव्यंजक है। इससे अर्थ की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि वह वर्ण का व्यंजक होने के कारण छोटा सा बिचारा अपनी शक्ति के क्षीण हो जाने पर अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता। वर्ण भी अकेला अर्थ का बोधक नहीं होता। सब ध्वनियाँ मिलकर भी अर्थ का बोध नहीं कराती, क्योंकि ध्वनियों की क्षणिकता के कारण उनका साहित्य (सहभाव) नहीं बन सकता। इस तरह से वाचक शब्दों से ही अर्थ की प्रतीति होती है, ध्वनियों से नहीं। इस तरह से शब्द की अक्रमवत्ता अर्थात् नित्यता सिद्ध है।

'क्रमवान् वर्ण से अतिरिक्त कोई क्रम नहीं है' यह बात भी गलत है, क्योंकि पौर्वापर्यलक्षण क्रम को ध्वनिव्यंग्य वर्णों में सिद्ध किया जा चुका है। यह भी कहा गया है कि 'वर्ण को ध्वनि से भिन्न मानने पर पूर्व कर्म भाग से अपर भाग का प्रतिसन्धान न होने से तथा एक अंश से प्रतीत न होने से हाथ के इशारे, शिर के हिलाने जैसी क्रियाओं में समस्त रूप और कर्म वाली ध्वनि भी शब्द की तरह ही मानी जानी चाहिये।' यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्य और विशेष, समस्त और व्यस्त की स्वीकृति के आधार पर समस्त क्रियाओं का उसी में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। ये सब क्रियारूप से समान हैं। इस तरह का सादृश्य ध्वनि और तद्व्यंग्य वर्णों में नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनकी भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। जैसा कि मण्डनमिश्र ने कहा है—'जब त्रैविद्यवृद्ध हस्तसंज्ञा आदि के विशेष इशारों से 'इस वस्तु को उठाओ' ऐसे शब्दों से ज्ञात होने वाले अर्थ का ज्ञान, चाहे वह सामान्य रूप हो या विशेषरूप से, कर लेते हैं, तो यह कौन सी आफत आ गई कि जिसके कारण एक कर्मात्मक स्वरूप (शब्द और इशारे) को आप मान लेने के लिये कहते हैं।'

यह शंका भी उठाई गई है कि 'एक उत्क्षेपण (ऊपर उठाना) रूप कर्म असिद्ध है, यदि इसका पहले होना और बाद में होना सिद्ध हो भी जाय तो उन बहुत से उत्क्षेपणों में से प्रत्येक में उत्क्षेपण सामान्य (जाति) की अनुवृत्ति मानी जा सके। यही तो सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व और अपर कर्म भागों का परस्पर अन्वय (संबन्ध) नहीं बनेगा। विशेषण के अभाव में सामान्य

नापि कर्मभागेषु प्रत्येकमुत्क्षेपणादिरूपतया प्रतीतिः, किं तर्हि तद्भागरूपतया, तत्कथं तेषु भागेषूत्क्षेपणत्वसामान्यमभ्युपगम्येत ? अभ्युपगमे वा एकस्मादपि कर्मभागाद् गमनादिलक्षणस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः स्यादर्थाभिधायकस्य सामान्यस्याभावात् । यथा च न कर्मभागेषु व्यतिरिक्तं कर्मात्मा तथा ध्वनिभागेष्वपि न तद्व्यतिरिक्तः शब्दात्मेति, तदपि न समीचीनम्, मृत्तिकाभागेषु मृत्तिकात्ववत्कर्मभागेषु कर्मत्वाभ्युपगमे बाधाभावात् । न चैवं ततो गमनाद्यर्थप्रतीत्यापत्तिः, तदर्थं कर्मसामस्त्यस्यापेक्षणात् । न चैवं ध्वनिसामस्त्यमात्रेण शब्दार्थप्रतीतिः, घण्टाभेरीध्वन्यादिभ्यस्तदप्रतीतेः ।

यदप्युक्तम्—'ध्वनयः सम्मता यैस्ते दोषैः कैरप्यवाचकाः । ध्वनिभिर्व्यंज्यमानेऽस्मिन् वाचकेऽपि कथं न ते ।।' (प्र० वा० ३।२५९-२६०), तदप्यकिञ्चित्करम्, वैषम्यात् । तथाहि—प्रत्येकं समुदिता वा पूर्वोक्तन्यायेन न प्रत्यायकास्तैरभिव्यक्तवर्णपदादयस्तु प्रत्यायकाः । एकेन ध्वनिना वाचकस्यानवधृतत्वादन्यान्यैरभिव्यक्तस्य संस्काराधानतारतम्यप्रबोधेनावधारणमिति ध्वनिभिर्व्यंज्यमाने वाचके कुतस्ते दोषाः ? तदुक्तं मण्डनेनैव—'नानेकावयवं वाक्यं पदं वा स्फोटवादिनाम् । एकत्वेऽपि ह्यभिन्नस्य क्रमशो दर्शिता गतिः ।।'

यदप्युक्तम्—'अभिव्यक्तिर्ज्ञानम्, तच्च न शब्दानुगमेन विना भवन्मते सिद्ध्यति । न च प्रथमध्वन्यनन्तरं वाचकनिश्चयश्चेत् कुतोऽभिव्यक्तिसिद्धिरिति, तदप्यकिञ्चित्करम्, रत्नतत्त्वाभिव्यक्तेरिव वाचकव्यक्तेरप्यनेकव्यङ्ग्यत्वेऽपि दोषाभावात् । समस्तव्यस्तध्वनीनां स्फुटास्फुटवाचकप्रतिपत्त्युपायत्वात् । अत एव यदुक्तम्—'क्रमवद्भिर्ध्वनिभागैः क्षणिकैरभिव्यक्तः शब्दात्मा वाचको भवति' इत्यपि न सम्यक् । ते ध्वनयः शब्दात्मानं न सकृत् प्रकाशयन्ति, तेषां क्रमिकत्वात् सकृदनुपस्थितत्वात् । नाप्येक एव ध्वनिभागः शब्दं व्यनक्ति, तदन्यस्य वैयर्थ्यात् । एकवर्णभागकाले च सम-

को कोई स्थिति नहीं होती । कर्म के भागों में प्रत्येक को उत्क्षेपण आदि के रूप में प्रतीति होती भी नहीं, किन्तु भागरूपतया ही प्रतीति होती है । इस तरह से उन सब भागों में उत्क्षेपणादि सामान्य (जाति) की प्रतीति कैसे हो सकती है ? यदि मान भी ली जाय तो एक ही कर्मभाग से गमनादि लक्षण अर्थ की प्रतिपत्ति हो जायगी, क्योंकि यहाँ पर अर्थाभिधायक सामान्य का अभाव है । जैसे कर्मभागों से अतिरिक्त क्रिया का स्वरूप नहीं है, उसी तरह से ध्वनि भागों में उसके अतिरिक्त शब्द का कोई स्वरूप नहीं है ।' किन्तु यह बात भी समीचीन नहीं है, क्योंकि मृत्तिका के भागों में मृत्तिकात्व की तरह कर्म के भागों में कर्मत्व सामान्य के मानने में कोई बाधा नहीं है । इतने मात्र से उससे गमनादि अर्थ की प्रतीति की आपत्ति नहीं उठ सकती, क्योंकि उसके लिये सम्पूर्ण क्रिया की अपेक्षा है । इसी तरह से संपूर्ण ध्वनियों के बाद भी शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि घण्टाध्वनि, भेरीध्वनि इत्यादि में यह सामर्थ्य नहीं है, इसलिये उनसे अर्थ की प्रतीति नहीं होती ।

प्रमाणवार्तिक में यह भी कहा गया है कि—'जिन दोषों के कारण ध्वनियों की वाचकता नहीं मानी गई, वे ही दोष ध्वनि से व्यंग्य शब्द को वाचक मानने में भी कैसे नहीं आवेंगे ?' किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि दोनों में विषमता है । जैसे कि पूर्वोक्त न्याय से ध्वनियाँ प्रत्येक अथवा समुदित रूप से प्रत्यायक नहीं हो सकती, उनसे अभिव्यक्त वर्ण-पद आदि ही प्रत्यायक हो सकते हैं । एक ध्वनि से वाचक का निश्चय नहीं हो पाता, इसलिये अन्यान्य ध्वनियों से अभिव्यक्त होने के कारण संस्कार के आधान के तारतम्य के प्रबोध (ज्ञान) के अनुसार अर्थ की अवधारणा (निश्चय) होती है । इस तरह से ध्वनियों से व्यज्यमान वाचक शब्द में ये दोष कैसे आ सकते हैं ? इस विषय में भी मण्डनमिश्र ने ही कहा है कि—'स्फोटवादियों के मत में वाक्य अथवा पद में अनेक अवयव नहीं होते । अभेद रूप से एकता के रहते हुए भी उनमें क्रमिक गति दिखाई जा चुकी है ।'

यह भी कहा गया है कि—'ज्ञान एक अभिव्यक्ति है । यह आपके मत में शब्दानुगम के बिना नहीं सिद्ध हो सकती । प्रथम ध्वनि के अनन्तर यदि वाचक का निश्चय हो जाय तो अभिव्यक्ति की सिद्धि कैसे होगी' । किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, रत्न तत्त्व की अभिव्यक्ति की तरह वाचक तत्त्व की अभिव्यक्ति भी यदि अनेकाभिव्यङ्ग्य मानी जाती हैं, तो उसमें कोई दोष नहीं है । समस्त और व्यस्त ध्वनियाँ वाचक की स्फुट और अस्फुट प्रतीति में उपाय मानी जाती हैं । इसीलिये यह जो कहा गया है कि 'क्रमवान् क्षणिक ध्वनि भागों से अभिव्यक्त शब्दात्मा वाचक होता है' वह ठीक नहीं है । इसीलिये ये ध्वनियाँ शब्दात्मक पदार्थ को एक साथ नहीं प्रकाशित करतीं । ये ध्वनियाँ क्रमशः उत्पन्न होती हैं, अतः इनकी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती और न ही एक ध्वनिभाग

स्तस्यानुपलम्भात् । तदयमप्रतिसंहृतसकलोपलम्भ उपलम्भसाकल्यसाध्यमर्थं ध्वनिवत् कथं साधयेत् ? उपलम्भसाध्येष्वर्थेषु को हि सदसतोरत्यन्तानुपलम्भे सति विशेषो न कश्चित् । यथा हि—क्षणिका ध्वनिभागा उत्तरोत्तरभागावस्थायामसत्त्वादसमस्तोपलम्भनान्न समर्थाः, तथैवाक्रमोऽपि शब्दात्मा सन्नप्यस्वीकृतसमस्तोपलम्भनो न समर्थ एव । न च सन्निधिमात्रेण साधनम्, व्यक्तिव्यपेक्षणात् । सा च सतः शब्दात्मनोऽसतश्च ध्वनिभागस्य क्रमेण भवन्ती तुल्यफलेति ध्वनिभिरशक्यसाधनम्, शब्देनापि न साधयितुं शक्यम्, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, अनेकाभिर्दृष्टिभो रत्नतत्त्वस्येवानेकैर्ध्वनिभिर्वर्णपदादितत्त्वस्याभिव्यक्तौ बाधकाभावस्योक्तत्वात् । क्षणिकत्वस्य च निराकृतत्वात् । क्रमवतीभिरपि दृष्टिभिर्यथैकरत्नतत्त्वज्ञानं न विरुद्धयते, तथैव क्रमवद्भिरपि ध्वनिभिर्ध्वनिभागैर्वा वाचकतत्त्वाभिव्यक्तिर्न विरुद्धयते । स्फोटवादिनां मते न वाचकस्यासाकल्येनोपलम्भः सम्भवति, तस्यानवयवत्वात् । न सन्निधिमात्रेण साधनमित्यप्यनुक्तोपालम्भः, स्फोटात्मनः स्फुटत्वादेव ।

'वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः' इत्यभ्युपगन्तॄणां मीमांसकानामपि मते सेनावनप्रत्ययवद् वर्णेषु पदादिप्रत्ययः स्फुट एव, ततश्च क्वानुपलम्भप्रसक्तिः ? एतेन वर्णभागाः कर्मभागा वा क्रमेण विकल्पविषया इत्यनुभवज्ञानानुक्रमानुसारिणां विकल्पानां क्रमेण विषयमुपगता यथासङ्केतमेवार्थप्रतीतिं जनयन्तीति बौद्धोक्तिरपि पराहता, विकल्पविषयाणामसत्त्वादसतां चार्थप्रतीतिजनकत्वानुपपत्तेः । 'नानात्वाच्च ध्वनीनां हि वाचकस्य त्वभेदतः । ध्वनिभिर्व्यज्यमानेऽस्मिन्न ते दोषा भवन्ति हि ॥

शब्द को अभिव्यक्त करता है, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्य भागों की व्यर्थता हो जायगी । एक वर्णभाग के काल में समस्त भागों की उपलब्धि भी नहीं होती । इसलिये ऐसी उपलब्धि, जिसमें संपूर्ण भागों का अनुसन्धान नहीं हुआ है, वह संपूर्ण भाग का अनुसन्धान वाली उपलब्धि से साध्य अर्थ को ध्वनि की तरह कैसे सिद्ध करेगी ? उपलम्भ साध्य अर्थों में सत् की और असत् (विद्यमान-अविद्यमान) की अत्यन्त अनुपलब्धि होने पर क्या विशेषता रह जायगी ? जैसे कि क्षणिक ध्वनिभाग उत्तरोत्तर भागावस्था में अपनी असत्ता के कारण संपूर्ण भागों की उपलब्धि न होने से समर्थ नहीं माने जाते, उसी तरह से अक्रमात्मा शब्दात्मक तत्त्व का अस्तित्व मानने पर भी उसकी समस्त उपलब्धि न मानने से वह भी समर्थ न होगा । कोई वस्तु सन्निधि मात्र से साधन नहीं हो जाती, उसकी अभिव्यक्ति की अपेक्षा रहती है । यह अभिव्यक्ति शब्दात्मक सत्तत्त्व के और असदात्मक ध्वनिभाग के क्रम से होती हुई समान फल देती है । इसलिये जिसकी सिद्धि ध्वनि से न होगी, उसको सिद्ध करने में शब्द की भी सामर्थ्य नहीं मानी जा सकती', किन्तु यह पूरा कथन कुशकाशावलम्बन तुल्य है, क्योंकि यह बात कई बार कही जा चुकी है कि जैसे रत्न की परीक्षा में अनेक दृष्टियों का समान उपयोग माना जाता है, उसी तरह से अनेक ध्वनियों से वर्ण, पद आदि तत्त्वों की अभिव्यक्ति में भी कोई बाधा नहीं है । क्षणिकता का हम निराकरण कर चुके हैं । क्रमवती दृष्टियों से जैसे एक रत्नतत्त्व की परीक्षा में कोई विरोध नहीं उठता, उसी तरह से क्रमवती ध्वनियों से अथवा ध्वनिभागों से वाचक तत्त्व की अभिव्यक्ति में भी कोई विरोध नहीं है । स्फोटवादी के मत में वाचक की असाकल्येन प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वह निरवयव होता है । संनिधिमात्र से कोई साधन नहीं होता, यह तो हमारे लिये अनुक्त उपालम्भ है, क्योंकि इनमें स्फोटात्मक शब्दतत्त्व स्फुट है ।

'वर्ण ही शब्द है, यह भगवान् उपवर्ष आचार्य का कहना है' इस मत को मानने वाले मीमांसकों के मत में सेना और वन की प्रतीति की तरह वर्णों में पदादि प्रत्यय स्पष्ट ही है, तब अनुपलम्भ की प्रसक्ति कहाँ होगी ? इतना मानने से 'वर्णभाग और कर्मभाग की क्रमेण विकल्पविषयता के कारण अनुभव ज्ञान के अनुक्रम के अनुसारी विकल्पों के क्रम से विषयभाव को प्राप्त होकर संकेत के अनुसार ही अर्थप्रतीति को उत्पन्न करते हैं', यह बौद्ध मत भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि विकल्प के विषय असत् होते हैं और असत् पदार्थों में अर्थ की प्रतीति की जनकता नहीं मानी जा सकती । 'ध्वनियाँ अनेक प्रकार की हैं और वाचक शब्द की अभेदता है । ध्वनियों से इसकी अभिव्यक्ति मानने पर वादियों के द्वारा उठाये गये किसी भी दोष की प्रसक्ति नहीं हो पाती' ।

वर्णानुपूर्वीचिन्ता

अत्र धर्मकीर्तिः—'वर्णानुपूर्वी वाक्यं चेन्न वर्णानामभेदतः। तेषां च न व्यवस्थानं क्रमान्तरविरोधिनः॥' (प्र० वा० ३।२६०-२६१), न वर्णव्यतिरिक्तं शब्दरूपं वाक्यमपौरुषेयम्, किन्तर्हि वर्णानुक्रमलक्षणं हि वाक्यमपौरुषेयमिति चेन्न, वर्णानामानुपूर्व्या अभेदात्। तस्यां दृश्यायां भेदेनोपलम्भः स्यात्, अदृश्यायां ततोऽप्रतिपत्तिः। अनिरूपणाच्च भेदवत्याश्चानुपूर्व्या अभावे वर्णमात्रमवशिष्टमिति पूर्वप्रसङ्गः। सा च नाकृतका, यतो वर्णाश्च न बहवः समानजातीया येन केनचिद् व्यवस्थितक्रमाः स्युर्वैदिका अन्ये च यथेष्टपरावृत्तयः, किन्तर्हि त्रैलोक्य एक एवाकारस्तथा गकारोऽपि व्यवस्थित एव स्यात्। तथा चाग्निरेव स्यात्, न गगनमिति, अकारगकारयोः पूर्वापरभावस्य व्यवस्थितत्वात्। कृतकानामपि हेतुपरिणामनियमवतामशक्यः क्रमविपर्ययः कर्तुम्। बीजाङ्कुरकाण्डादीनां हेमन्तादिलक्षणानामृतूनां शौक्रबार्हस्पत्यादिवत्सराणामपि क्रमविपर्ययो न शक्यः कर्तुम्। किं पुनरप्रचलितावस्थास्वभावानामकृतकानां कथञ्चिद् व्यवस्थितानाम्, पूर्वावस्थायास्त्यागमन्तरेणान्यथाभावायोगात्। त्यागे वा विनाशप्रसङ्गः। विशेषेण नित्यायामानुपूर्व्यामपि प्रतिपदं वर्णान्यत्वेऽपूर्वाणामुत्पादाद्वा वर्णबाहुल्यं तच्च नाभिमतं मीमांसकानामिति', तदेतन्मीमांसावृत्तान्तान-

वर्णानुपूर्वी पर विचार

इस विषय पर धर्मकीर्ति का कहना है कि 'यदि आप वर्णों की आनुपूर्वी (परिपाटी विशेष) को वाक्य कहते हैं, जिसकी कि प्रतीति सबको होती है, तो यह संभव नहीं है, क्योंकि वर्णों की भिन्नता नहीं मानी जाती, अर्थात् वर्णों के अतिरिक्त किसी आनुपूर्वी की प्रतीति नहीं होती, इसलिये वर्णों को ही वाक्य कहा जाता है। लौकिक और वैदिक वाक्यों में कोई अन्तर नहीं है, विशेष आनुपूर्वी वाले वर्ण ही वैदिक वाक्य होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। इस परिस्थिति में लौकिक वाक्यों के क्रम से वैदिक वाक्यों में क्रम के भेद की आपत्ति उठेगी'। वर्णों से अतिरिक्त शब्दरूप वाक्य अपौरुषेय नहीं होता, किन्तु वर्णानुक्रम लक्षण वाक्य ही अपौरुषेय माना जाता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वर्णानुपूर्वी में कोई भेद नहीं है। इस आनुपूर्वी को यदि दृश्य माना जाय तो उसकी भेद रूप से उपलब्धि होनी चाहिये, यदि वह अदृश्य है तो उससे किसी की उपलब्धि में सहायता नहीं मिल सकती। भेदवती आनुपूर्वी का निरूपण न होने से जब आनुपूर्वी का ही अभाव है तो वर्णमात्र ही तो बचा, यह तो पूर्व की स्थिति पर ही हम आ गये। यह आनुपूर्वी अकृतक नहीं हो सकती, क्योंकि समानजातीय बहुत से वर्ण जिस किसी प्रकार से क्रमशः व्यवस्थित होकर वैदिक कहलाते हैं और लौकिक वर्ण यथेष्ट परावृत्ति वाले हैं, ऐसा नहीं है, किन्तु जैसे त्रैलोक्य में अकार एक ही है, उसी तरह से गकार का स्वरूप भी व्यवस्थित ही होगा। यह अग्नि ही है, गगन (आकाश) नहीं, यहाँ अग्नि और गगन में अकार और गकार का पूर्वापरभाव रूप क्रम व्यवस्थित है। कृतक (पैदा होने वाले) पदार्थों में कारण के परिणाम का नियम विद्यमान है। वहाँ पर भी क्रम का विपर्यय नहीं किया जा सकता। बीज, अंकुर और काण्ड का, हेमन्त प्रभृति ऋतुओं का और [1]शौक्र, बार्हस्पत्य आदि वत्सरों का क्रम बदला नहीं जा सकता। इस परिस्थिति में जिनकी अवस्था और स्वभाव में कोई अस्थिरता नहीं आ सकती, ऐसे अकृतक (नित्य) पदार्थों में जिस रूप में वे व्यवस्थित हैं, उस पूर्वावस्था का त्याग किये बिना अन्यथाभाव की स्थिति कैसे आ सकती है? यदि वे अपनी पूर्वावस्था का त्याग करते हैं तो यह उनका विनाश ही माना जायगा। विशेषरूप से नित्य आनुपूर्वी में भी प्रत्येक पद में वर्णों की भिन्नता मानने पर अथवा अपूर्व वर्ण का उत्पाद मानने पर वर्णों का बाहुल्य मानना पड़ेगा, जो कि मीमांसकों को अभिप्रेत नहीं है'। किन्तु धर्मकीर्ति का यह

---

१ शुक्र की गति के अनुसार होने वाले वर्ष को शौक्र वर्ष कहा जा सकता है, किन्तु यह वर्ष ज्योतिष शास्त्र में कहीं नहीं माना गया, क्योंकि शुक्र की गति सूर्य, मंगल और बुध ग्रहों की गति के समान है। इसलिये सौर वर्ष (सूर्य संबन्धी) से भिन्न कोई शौक्र वर्ष नहीं हो सकता, किन्तु बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति को इस बात का ज्ञान नहीं। इसलिये उसने बार्हस्पत्य वर्ष के समान शौक्र वर्ष भी लिख दिया। बृहस्पति की गति तो सूर्य की गति से भिन्न है। सूर्य एक राशि को (और शुक्र भी) लगभग एक महीने में पार करता है, किन्तु बृहस्पति एक राशि को तेरह महीने में पार करता है। इसीलिये सौर वर्ष १२ महीने का और बार्हस्पत्य वर्ष १३ महीने का माना जाता है। शुक्र का कोई पृथक् वर्ष नहीं है।

भिज्ञानविजृम्भितम्, वर्णानां नित्यत्वेऽपि कृतकानां वर्णव्यक्तीनां कालकृतपौर्वापर्यलक्षणस्यानुक्रमस्य वर्णधर्मत्वाङ्गीकारेणादोषात्। व्यक्तीनां नानात्वेन क्रमनानात्वमपि न विरुद्धयते। पारम्पर्यप्राप्तस्यैव क्रमस्योपयोग इति तत्कार्यत्वमपि। क्रमाणां नानात्वेन तद्भेदो न विरोधावहः। आनुपूर्व्या वर्णधर्मत्वे नोक्तदोषः प्रसज्यते। व्यक्तिभेदकृतो भेदो क्रमनिष्ठो न दोषभाक्। तदुक्तम्—'धर्ममात्रमसौ तेषां न वस्त्वन्तरमिष्यते। क्रमेण ज्ञायमानाः स्युर्वर्णास्तेनाववोधकाः।। न च क्रमस्य कार्यत्वं पूर्वसिद्धपरिग्रहात्। वक्ता नहि क्रमं कश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते।। यथैवास्य परैरुक्तस्तथैवैनं विवक्षति। परोऽप्येवं सतश्चास्य सम्बन्धवदनादिता।।'

व्यक्तीनां भेदेऽपि न वस्तुतो गकारादीनां भेद इत्यपि स्फुटम्। 'देशकालप्रयोक्तॄणां भेदेऽपि च न भेदवान्। गादिवर्णो यतस्तत्र प्रत्यभिज्ञा परिस्फुटा।।' अपि च, वर्णेषु पौर्वापर्यमन्तरा पदवाक्यत्वादिकं दुर्घटमित्यकामेन सर्वैरपि तदभ्युपगन्तव्यम्। पौर्वापर्यानुभूतिरपि नापलपितुं शक्या। प्रत्यभिज्ञानाच्च वर्णानां नित्यत्वमपि स्फुटम्। तेन वर्णव्यक्तिद्वारैव तद्वक्तव्यम्। तेन न तत्र कृतकपक्षदोषाः, नित्यत्वेऽपि व्यक्तिद्वारैव पौर्वापर्योपपत्तेः। नापि कृतकपक्षदोषाः, बीजाङ्कुरादीनां यथा पौर्वापर्यं दृष्टं तथैवैषु पौर्वापर्यलक्षणस्यानुक्रमस्य भेददर्शनात्। यदपि 'अनित्यताऽव्याप्तितायां च दोषः प्रागेव कीर्तितः' (प्र० वा० ३।२६३) इति, तदनभ्युपगमादेव पराहतम्। विभुषु नित्येषु वर्णेषु देशकालकृतस्यानुक्रमस्यासम्भवादेव वर्णव्यक्तिषु कालकृतोऽनुक्रमोऽभ्युपेयते।

यदप्युक्तम्—'अनित्यध्वनिकार्यत्वात्क्रमस्यातो विनाशिता। पुरुषाधीनता चास्य तद्विवक्षावशा स्थिता।।' व्यापित्वाद्वर्णानां यौगपद्यम्। व्यापित्वविरोधी क्रमः क्रमविरोधि च व्यापित्वम्। क्रमश्चेदिष्यते व्यापित्वग्राहि

सब कथन मीमांसा सिद्धान्त को ठीक से न समझ पाने के कारण है। वर्णों के नित्य मानने पर भी पैदा होने वाली वर्णों की अभिव्यक्ति में कालकृत पौर्वापर्यलक्षण अनुक्रम को वर्णों का लाक्षणिक धर्म मान लेने से उक्त दोष का परिहार हो जायगा। अभिव्यक्तियों के भेद के कारण क्रम के नानात्व (भेद) में भी कोई विरोध नहीं उठता। परम्परा से प्राप्त क्रम का ही उपयोग होता है, अतः उसको कार्य भी कह सकते हैं। क्रमों के नानात्व के कारण इनमें भेद मानना भी विरोध का कारण नहीं बन सकता। आनुपूर्वी को वर्ण का धर्म मानने पर उक्त दोष नहीं प्रसक्त होंगे। अभिव्यक्ति के भेद से निष्पादित भेद क्रमनिष्ठ है, अतः वहाँ पर यह भी दोषावह नहीं है। जैसा कि कहा गया है—'यह आनुपूर्वी उनका धर्ममात्र मानी जाती है, इसको एक पृथक् पदार्थ नहीं माना जाता। अतः क्रमेण ज्ञानमान वर्ण अवबोधक माने जायेंगे। इस आनुपूर्वी को कार्य भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ पर केवल पूर्वसिद्ध क्रम का ही सहारा लिया जाता है। कोई भी वक्ता अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार क्रम को बना या बदल नहीं सकता। यह वक्ता अपने पूर्व पुरुषों से सुने हुए क्रम को उसी रूप में कहता है और इसी तरह से दूसरा व्यक्ति भी इसी परिपाटी को दुहराता है। अतः इस परिपाटी की सतत विद्यमानता के कारण शब्दार्थ संबन्ध के समान यह भी अनादि काल से चली आ रही है'।

व्यक्तियों के भेद के रहते भी वस्तुतः गकारादि का भेद नहीं रहता, यह स्पष्ट है। 'देश, काल और प्रयोक्ताओं का भेद रहते भी ग आदि वर्णों की भिन्नता नहीं होती, क्योंकि स्पष्ट प्रत्यभिज्ञा के आधार उनका अभेद सिद्ध होता है'। दूसरी बात वर्णों में पौर्वापर्य के विना पद, वाक्य आदि की घटना भी नहीं बन सकती, न चाहते हुए भी यह बात आपको माननी पड़ेगी। पौर्वापर्य की अनुभूति का अपलाप भी नहीं किया जा सकता। प्रत्यभिज्ञा के सहारे वर्णों की नित्यता भी स्पष्ट है। वर्ण की अभिव्यक्ति के द्वारा ही यह मानना पड़ेगा। अतः यहाँ पर अकृतक (नित्य) पक्ष में उठने वाले कोई दोष नहीं रहेंगे, क्योंकि नित्यता के रहने पर भी वहाँ पर अभिव्यक्ति के आधार पर ही पौर्वापर्य का क्रम बन सकता है। कृतक (अनित्य) पक्ष के दोष भी नहीं रहेंगे, क्योंकि बीज, अंकुर आदि में जैसे पौर्वापर्य दृष्ट है, उसी तरह से इनमें भी पौर्वापर्य लक्षण अनुक्रम के आधार पर भेद हो सकता है। इसी तरह से प्रमाणवार्तिक की यह आपत्ति का भी—'आनुपूर्वी की अनित्यता और अव्यापिता मानने पर इसकी पौरुषेयता और सर्वत्रोपलब्धि के दोष उठ खड़े होंगे, जो कि पहले ही कही जा चुकी हैं', खण्डन हो जाता है, क्योंकि अनित्यता को हमने स्वीकार ही नहीं किया है। विभु (व्यापक) और नित्य वर्णों में देशकालकृत अनुक्रम की संभावना न रहने से ही वर्णाभिव्यक्तियों में कालकृत क्रम माना जाता है।

प्रत्यभिज्ञानं भ्रान्तम्। तथा च देशकालप्रयोक्तृभेदेन वर्णानां भिन्नत्वात्कार्यत्वमिति कुतः क्रमस्यानादित्वम्? क्रमस्य तेभ्योऽनर्थान्तरत्वमप्युक्तमेव। न च क्रमः क्रमिणां धर्मः, धर्मस्यापि धर्मिणः सकाशाद्भेदात्। भेदे श्रोत्रज्ञानेऽनवभासः स्यात्, न च भवति। तस्यादयुगपदुत्पन्ना एव भावाः क्रमः; तेन प्रत्युच्चारणं वर्णानामुत्पत्तिभेदात्क्रमभेदेऽपि पूर्वदृष्ट एवायं क्रम इति प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यनिबन्धनम्। तत्कथं क्रमस्यानादित्वापौरुषेयत्वमिति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, क्रमस्यानित्यत्वेऽपि तत्र पुरुषस्वातन्त्र्याभावात्। 'क्रमस्य ध्वनिकार्यत्वेऽप्यनित्यत्वेऽपि न क्षतिः। यत पूर्वक्रमापेक्षी क्रमः सर्वत्र दृश्यते।।' अबाधितप्रत्यभिज्ञानेन वर्णानामेकत्वनित्यत्वव्यापित्वसिद्धावपि वर्णव्यक्तीनामनित्यत्वेन क्रमोपपत्तेः। तस्य च कूटस्थनित्यत्वाभावेऽपि पूर्वसापेक्षत्वेन प्रवाहनित्यत्वे बाधाभावात्। नहि पुरुषोच्चरितत्वमात्रेण पौरुषेयत्वम्, किन्तर्हि पूर्वानुपूर्वीनैरपेक्ष्येण स्वतन्त्रोच्चरितत्वमेव पौरुषेयत्वापादकम्। नहि गोघटादिशब्दानामानुपूर्वी स्वातन्त्र्येण केनचिन्निर्मीयते। वृद्धव्यवहारपारम्पर्येणैव ज्ञात्वा सर्वैर्निर्मीयते। तेनानुपूर्व्या निर्मितत्वेऽप्यपौरुषेयत्वमक्षतमेव। क्रमस्य व्यापित्वादिभिर्वैयधिकरण्येन न विरोधः।

यदप्युक्तम्—'एवमपि न वर्णानां रूपानुपूर्वी वाक्यम्, किन्तर्हि व्यक्तेः। सा यथा स्वव्यवर्णाभिव्यक्तिप्रत्ययानां कण्ठताल्वादिव्यापाराणां क्रमाद्भवन्तो क्रमोपयोगिनीति तदानुपूर्वी वाक्यमित्यपि मिथ्या, तस्यानित्येषु प्रागेव निराकृतत्वात्। व्यञ्जककृतेन साक्षाज्जननशक्त्युपधानेन ज्ञानजननासमर्थानां घटादीनां कार्यविशेष एव व्यक्तिरित्याख्यातत्वात्। 'व्यक्तिक्रमोऽपि वाक्यं न नित्यव्यक्तिनिराकृतेः' (प्र० वा० ३।२६२) इति, तदपि न सम्यक्,

यह भी कहा गया है कि—'अनित्य ध्वनि का कार्य होने से क्रम भी नाशवान् है और यह पुरुषाधीन भी है, क्योंकि इसकी विवक्षा पुरुष में भी होती है'। वर्णों को व्यापिता (व्यापक) के आधार पर उनमें यौगपद्यभाव मानना पड़ेगा। क्रम व्यापकता का विरोधी है और व्यापिता क्रम की विरोधी है। यदि क्रम माना जाता है, तो उनमें व्यापिता की ग्राहिका (बताने वाली) प्रत्यभिज्ञा को भ्रान्त मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में देश, काल और प्रयोक्ता के भेद से वर्णों की भिन्नता मानने पर उनमें कार्यता ही मानी जायगी, फिर क्रम की अनादिता कहाँ से बन सकेगी। क्रम को उनसे भिन्न वस्तु भी नहीं माना जा सकता। क्रम क्रमी का धर्म नहीं है, क्योंकि धर्म का धर्मी से भेद ही माना जाता है। इनका भेद होने से श्रोत्र ज्ञान में प्रतिभास न हो सकेगा और यह होता भी नहीं, अतः एक साथ न उत्पन्न होने वाले भाव ही क्रम कहलाते हैं। इसलिये प्रत्येक उच्चारण में वर्णों की उत्पत्ति के भेद से क्रम की भिन्नता के रहते हुए भी, यह क्रम पूर्वदृष्ट ही है, इस तरह की प्रत्यभिज्ञा सादृश्यमूलक भ्रान्ति मानी जायगी। इस तरह से क्रम की अनादिता और अपौरुषेयता कैसे मानी जा सकती है'। किन्तु यह पूरा कथन अज्ञान का प्रदर्शन मात्र है, क्योंकि क्रम के अनित्य होने पर भी उसमें पुरुष की स्वतन्त्रता नहीं है। 'क्रम को ध्वनि का कार्य और अनित्य मानने में भी हमारी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि क्रम सर्वत्र अपने पूर्ववर्ती क्रम की अपेक्षा रखता है'। अबाधित प्रत्यभिज्ञा से वर्णों की एकता, नित्यता और व्यापिता सिद्ध हो जाने पर भी वर्णाभिव्यक्ति की अनित्यता के कारण क्रम की उपपत्ति हो सकती ही है। उसकी कूटस्थ नित्यता के अभाव में भी पूर्वसापेक्षता के आधार पर प्रवाहनित्यता में कोई बाधा नहीं है। पुरुषोच्चरितत्व मात्र से कोई पौरुषेय नहीं होता, किन्तु पूर्वानुपूर्वी निरपेक्ष स्वतन्त्र उच्चारण को ही पौरुषेयत्व का प्रयोजक माना जाता है। गो, घट आदि शब्दों की आनुपूर्वी स्वतन्त्र रूप से कोई बनाई नहीं जाती, वृद्ध व्यवहार की परम्परा से ही इसको जाना जाता है। इस तरह से आनुपूर्वी का निर्माण मानने पर भी उसकी अपौरुषेयता में कोई बाधा नहीं पड़ती। क्रम का व्यापकत्व प्रभृति से वैयधिकरण्य रहने पर भी कोई विरोध नहीं है।

यह भी कहा गया है कि—'इस तरह से भी वर्ण स्वरूप आनुपूर्वी वाक्य न होकर अभिव्यक्ति स्वरूप ही हो सकता है। यह अभिव्यक्ति जैसे अपने द्वारा अभिव्यक्त वर्ण प्रत्ययों के कण्ठ, तालु प्रभृति के व्यापारों के क्रम से होती हुई जब क्रम में उपयोगी बनती है, तब यह आनुपूर्वी वाक्य कहलाती है।' यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि अनित्य पदार्थों में इसकी सत्ता का पहले ही निराकरण किया जा चुका है। व्यंजक के द्वारा किये गये साक्षात् उत्पादक शक्ति के सहयोग से ज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ घट आदि का प्राकट्य कार्य विशेष स्वरूप ही है, यह कहा जा चुका है। प्रमाणवार्तिक में ही यह भी कहा गया है कि—'अभिव्यक्ति के क्रम को भी वाक्य नहीं कह

तथा बौद्धाभिमतस्य विज्ञानात्मनोऽपि भौतिकदेहादिव्यङ्ग्यत्वेन भौतिकत्वापत्तेः। नित्यानामात्मसामान्यादीनामपि व्यक्तिसम्भवस्योक्तत्वात्। 'व्यक्तिक्रमस्य वाक्यत्वे न विरोधो मनागपि। नित्यानामपि भावानामभिव्यक्तिप्रसाधनात्॥'

यदपि—'यत्खलु रूपं यत उपलभ्यते तस्य तदुपलब्धिनान्तरीयकमेवोपलब्धिमाश्रित्य लोकः कार्यतां प्रज्ञापयति। तथा प्रयत्नोपलब्धिनान्तरीयकत्वादेव वर्णोपलब्धेर्वर्णे कार्यत्वमेव। कार्यताभ्युपगमनिबन्धने तुल्ये कुतो वर्णा न कार्यम्? 'व्यापारादेव तत्सिद्धेः करणानां च कार्यता' (प्र० वा० ३।२६३) इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, व्यभिचारात्। तथाहि—रूपोपलब्धेः प्रकाशोपलब्धिनान्तरीयकत्वेऽपि न रूपस्य प्रकाशकार्यत्वम्, रूपस्य प्रकाशात्प्राक् प्रसिद्धेः। एवं गन्धोपलब्धेर्घ्राणव्यापारोपलब्धिनान्तरीयकत्वेऽपि न गन्धस्य तत्कार्यत्वं वक्तुं शक्यम्, किन्तूपलब्धौ उपलब्धेः सत्त्वे सत्त्वादेव तत्कार्यत्वनिर्णयः। यस्मिन् सत्येव यद्भवति यस्मिन्नसति यन्न भवति तत्तस्य कार्यमित्येव तु युक्तम्। वर्णानां कण्ठताल्वादिव्यापारान्न सत्ता किन्तूपलब्धिरेव।

यदप्युक्तम्—'सा सत्ता कुतः सिद्धा येन कार्यतां साधयेत्। नह्यसिद्धायामस्यामेवं भवति, तस्मात्सत्तासिद्धिः साधनीया। सा चोपलब्धिरेवेति, तदप्यकिञ्चित्करम्, सत्तासिद्धेः प्रमाणायत्तत्वेऽपि सत्तायाः प्रमाणकार्यत्वानुपपत्तेः। अत एवानधिगतगन्तृ तन्नाकृतकर्तृ। यदि ताल्वादिव्यापारात्प्राक् शब्दस्य सत्ता न सिद्धा स्यात् तदा घटस्य प्रागसतः कुलालादिव्यापारात् परतः सिद्धिवत्स्यादपि तदधीनसिद्धित्वे तत्कार्यता, किन्तु पूर्वं गोघटादिशब्दं श्रुतवतोऽन्यदापि

सकते, क्योंकि नित्य की अभिव्यक्ति का निराकरण किया जा चुका है।' किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर बौद्धाभिमत विज्ञान स्वरूप आत्मा को भी भौतिक देह आदि से अभिव्यंग्य होने के कारण भौतिक मानना पड़ेगा। नित्य आत्मा और जाति आदि की भी अभिव्यक्ति होती है, यह बताया जा चुका है।' अभिव्यक्ति के क्रम को वाक्य मानने पर थोड़ा सा भी विरोध नहीं होगा, क्योंकि नित्य भावों की भी अभिव्यक्ति भलीभाँति सिद्ध की जा चुकी है।'

यह भी कहा गया है कि 'जो स्वरूप जहाँ से उपलब्ध होता है, उसको उपलब्धि से अविनाभूत उपलब्धि के आधार पर ही लोक कार्यता को बताता है। इस तरह से प्रयत्नपूर्वक उपलब्धि की अविनाभूत वर्णोपलब्धि को देखकर वर्ण में भी कार्यता जानी जाती है। कार्यता की स्वीकृति के लिये आवश्यक सामग्री की समानता रहने पर भी वर्णों की कार्यता कैसे नहीं मानी जायगी। कण्ठ, तालु आदि के प्रयत्न से ही वर्णों में कार्यता की सिद्धि होती है, अतः इनकी कार्यता ही मानी जायगी, व्यंग्यता नहीं।' किन्तु यह कथन भी अविचारित रमणीय है, क्योंकि आपका कार्यत्व साधक हेतु व्यभिचरित है। जैसे कि रूप की उपलब्धि प्रकाश की उपलब्धि के बिना नहीं होती, तो भी रूप प्रकाश का कार्य नहीं है, क्योंकि रूप प्रकाश के पहले ही प्रसिद्ध है। इसी तरह से गन्ध की उपलब्धि भी बिना घ्राणेन्द्रिय के व्यापार के नहीं होती, तो भी गन्ध उसका कार्य नहीं है। उपलब्धि में उपलब्धि की सत्ता होने पर सत्ता से ही उसकी कार्यता का निर्णय होता है। जिसके रहने से जो होता है, जिसके न रहने से जो नहीं होता, वही उसका कार्य होता है, यही व्याप्ति ठीक है। वर्णों की कण्ठ-तालु प्रभृति के व्यापार से सत्ता नहीं होती, किन्तु उपलब्धि ही होती है।

यह भी कहा गया है कि 'यह सत्ता कहाँ से सिद्ध होती है, जिसके आधार पर कि कार्यता सिद्ध की जाती है। इस सत्ता के असिद्ध रहते कार्यता भी सिद्ध नहीं होती। अतः सत्ता को ही पहले सिद्ध करना पड़ेगा और वह उपलब्धि ही है।' किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि सत्ता की सिद्धि के प्रमाणों के अधीन होते हुए भी सत्ता को प्रमाण का कार्य नहीं माना जा सकता। इसी लिये जो प्रमाण अनधिगत का ज्ञान कराता है, वही अकृत वस्तु का कर्ता नहीं माना जा सकता। यदि तालु प्रभृति के व्यापार से पहले शब्द की सत्ता सिद्ध न हो तो पहले असत् स्वभाव के घट की तरह कुलाल आदि के व्यापार के बाद घट की सत्ता के समान शब्द की भी सिद्धि मानी जाय, तब उसके अधीन सिद्धि रहने से उसकी कार्यता भी बन सकती है, किन्तु पहले गो, घट प्रभृति शब्दों को सुनने वाला जब बाद में भी उनको सुनता है तो यह वही गो, घट प्रभृति शब्द हैं, इस तरह की प्रत्यभिज्ञा होती है। उस

तच्छ्रवणे सोऽयं गोघटादिशब्द इति भवति प्रत्यभिज्ञा। तयान्तरालेऽपि शब्दसिद्धिरर्थापत्त्या। न च सिद्धिपूर्विका सिद्धिः कार्यतासाधनी, किन्त्वसिद्धिपूर्विकैव सिद्धिः कार्यत्वप्रज्ञापिका। प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यं तूक्तं वक्ष्यते च।

ननु तथापि तद्रूपमसिद्धमेव यत्तथाभूतविज्ञानाव्यवधानोपयोगि, यदि तथाभूतं रूपं प्राक् सिद्धं स्यात्तदा नित्यं शब्दोपलम्भः स्यादिति चेन्न, तद्रूपस्य नित्यसिद्धत्वेऽपि व्यञ्जकवैकल्येन तदनभिव्यक्तेः। ननु चैवमपि सहकारिसन्निधाने शब्दस्य या स्वज्ञाने उपयुक्ता या च प्रयत्नात्प्रागनुपयुक्तावस्था ते परस्परं विरुद्धे, कथं तयोरभेदः ? भेदे च नानात्वात् स तादृशः शब्दस्य स्वभावः कृत इति कार्य एव शब्दः स्यादिति चेन्न, ज्ञाताज्ञातत्वभेदेन ज्ञेयभेदानुपपत्तेः। नहि ज्ञातो देवदत्तोऽन्योऽज्ञातोऽन्य इति कश्चित् प्रत्येति। भेदव्यतिरेके हि तस्यैवातिशयस्य शब्दज्ञाने उपयोगसिद्धेः। कारणत्वसिद्धेस्तस्य शब्दस्याकारणत्वप्रसङ्गः। यस्यैव भावे साध्यसिद्धिस्तदेव तत्रोपयोगि नापरम्। अतिशयो ज्ञान उपयुज्यते। साक्षादतिशये तु शब्द उपयुज्यत इति परम्परया शब्दोऽपि ज्ञान उपयुज्यत इत्यपि न युक्तम्, तत्रापि तद्वत् प्रसङ्गात्। यथा विज्ञाने कर्तव्येऽर्थान्तरभूतेऽतिशये शब्दो नोपयुज्यते, तद्वदतिशयेऽपि कर्तव्येऽर्थान्तरभूतोऽतिशयः कल्पनीयः। तथा चानवस्था। ततोऽतिशयः शब्दादभिन्नः, तस्मात्तदन्यं स्वभावविषयज्ञानजननं शब्दस्वभावमतिशेत एवाव्यवहितसामर्थ्योपयोगोऽवस्थाभेद इत्यप्यपास्तम्, शब्दस्वभावस्याभेदेऽपि सहकारिसाकल्यवैकल्याभ्यां कारकाकारकत्वभेदोपपत्तेः। तथा च ताल्वादिव्यापारसापेक्षः शब्दो ज्ञानं जनयति, नान्यथा।

प्रत्यभिज्ञा से पूर्वकालिक श्रवण और वर्तमान कालिक श्रवण के बीच भी शब्द की सिद्धि अर्थापत्ति प्रमाण से होती है। सिद्धिपूर्विका सिद्धि कार्यता की साधिका नहीं हो सकती, किन्तु असिद्धिपूर्विका सिद्धि ही कार्यता की ज्ञापिका होती है। प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य सिद्ध किया जा चुका है और इसके विषय में आगे भी कहा जायगा।

प्रश्न है कि 'तो भी वह रूप असिद्ध ही है, जो कि तथाभूत विज्ञान का बिना व्यवधान के उपयोगी हो। यदि तथाभूत रूप पहले से सिद्ध होता, तो नित्य शब्द की उपलब्धि होती।' उत्तर है कि शब्द का स्वरूप यद्यपि नित्य सिद्ध है, तो भी व्यंजक के अभाव में उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। पुनः प्रश्न उठता है कि 'इस परिस्थिति में भी सहकारी का संविधान रहने पर शब्द की अपने ज्ञान में उपयोगिनी और प्रयत्न से पहले अनुपयोगिनी अवस्थाएँ हैं, वे परस्पर विरुद्ध स्थिति वाली हैं, उसका अभेद कैसे हो सकता है ? यदि भेद है, तो भेद प्रयुक्त नानात्व के कारण इस तरह का वह शब्द का स्वभाव कृतक (अनित्य) माना जायगा। इस तरह शब्द कार्य (उत्पन्न होने वाला) ही माना जायगा।' इसका उत्तर भी यह है कि ज्ञान और अज्ञान के भेद से ज्ञेय का भेद नहीं माना जा सकता। ज्ञात देवदत्त भिन्न है और वही यदि अज्ञात है वह दूसरा है, इस बात को कोई स्वीकार नहीं करता। इसी लिये भेद का व्यतिरेक रहने पर भी उसी अतिशय का शब्द ज्ञान में भी उपयोग सिद्ध हो सकता है। कारणता की सिद्धि करने पर शब्द के अपाकरण (समाप्ति) का ही प्रसंग उठ खड़ा होगा। जिसके रहने से साध्य की सिद्धि होती है, वही वहाँ उपयोगी हो सकता है, अन्य नहीं। 'अतिशय का उपयोग ज्ञान में होता है। साक्षात् अतिशय में तो शब्द का उपयोग होता है, इस तरह से परम्परा से शब्द का भी ज्ञान में उपयोग होता है', यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर भी वैसी ही प्रसक्ति हो जायगी। जैसे विज्ञान की कार्यता के समय अर्थान्तरभूत अतिशय में शब्द का उपयोग नहीं होता, उसी तरह से अतिशय की कार्यता में भी अर्थान्तरभूत अतिशय की कल्पना करनी पड़ेगी और इस तरह से अनवस्था का प्रसंग उठ खड़ा होगा। इस तरह से अतिशय को शब्द से अभिन्न ही मानना पड़ेगा। इसलिये उससे भिन्न अपने सत्ताविषयक ज्ञान को पैदा करने वाले शब्द के स्वभाव से कुछ विशेषता रखने पर ही अपने अव्यवहित सामर्थ्य का अवस्था भेद के रूप में वह उपयोग करा सकेगा' इसका भी खण्डन होता है, क्योंकि शब्द स्वभाव का भेद न रहने पर भी सहकारी के साकल्य और वैकल्य के आधार पर कारकता और अकारकता के भेद की उपपत्ति होती है। इस तरह से तालु प्रभृति के व्यापार की अपेक्षा रखने वाला शब्द ज्ञान का जनक होता है, अन्यथा नहीं।

ननु च सहकारिणामनुपकारकत्वे व्यर्था तदपेक्षा, उपकारकत्वे तस्यैव हेतुत्वमस्तु कृतं शब्देन, उपकारस्योपकार्याभिन्नत्वे उपकारस्य जन्यत्वेन तदभिन्नस्योपकार्यस्य शब्दस्यापि जन्यत्वम्, भिन्नत्वे तु कुतः शब्दस्य कारणत्वमिति चेन्न, उपकारस्योपकार्यधर्मत्वाभ्युपगमेन दोषाभावात् ।

शब्दस्य प्रत्यभिज्ञानम्

धर्मधर्मितया चोपकारतद्वतोर्भेदः । न च भेदे तस्यैव जनकत्वं तद्वतोऽजनकत्वमिति वाच्यम्, अत्यन्तभेदाप्रसिद्धेः । धर्मधर्मितया भेदः, अशक्यविवेचनत्वेन चाभेदः, बुद्धितदाकारवत् । न च यो यदर्थमेव कल्पितः स तस्यैव बाधकः, बुद्धेरर्थग्राहकत्वाभावप्रसङ्गात्, आकारस्यैव अर्थग्राहकत्वानुषङ्गात् । वेदान्तमतरीत्या स चोपकारो न भिन्नः, नाभिन्नः, किन्त्वनिर्वाच्य एव । तस्माच्च कार्यमप्यनिर्वाच्यमेव । न चैतावता स्थिरस्याशब्दस्याकारणत्वम्, तदधिष्ठानत्वेन तस्याप्यपेक्षणात् ।

न चानिर्वाच्यस्य काल्पनिकस्योपकारस्य कुतः कारणत्वम्, बौद्धैरपि काल्पनिकस्य कारणत्वाभ्युपगमात् । तन्मते सर्वाणि वस्तूनि सर्वतो विलक्षणानि स्वलक्षणानि । तत् किं कारणं बीजजातीयेभ्योऽङ्कुरजातीयान्येव जायन्ते, न क्रमेलकजातीयानि । बीजाद् बीजान्तरस्य क्रमेलकस्य वाऽत्यन्तवैलक्षण्ये न विशेषः । न च बीजाङ्कुरत्व परमार्थसती, येनैतयोर्भाविकः कार्य्यकारणभावो भवेत् । तस्मात् काल्पनिकादेव स्वलक्षणोपादानाद् बीजजातीयात्तथाविधस्यैवाङ्कुरजातीयस्योत्पत्तिः ।

प्रश्न है कि 'सहकारी यदि उपकारक नहीं है तो फिर उसकी अपेक्षा करना व्यर्थ है, यदि उपकारक है तो उसी की अर्थ के बोध के प्रति कारणता मान ली जाय, तब शब्द को मानने की क्या आवश्यकता है ? यदि उपकार उपकारी से अभिन्न है और उपकार जन्य माना जाता है तो तदभिन्न उपकारी शब्द भी जन्य ही होगा । अब यदि उपकार उपकारी से भिन्न है तो यह शब्द का कारण कैसे हो सकता है ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उपकार को उपकारी (जिसका वह उपकार करे) का धर्म माना जाता है। ऐसा मानने पर उक्त दोष का परिहार हो जाता है ।

शब्द की प्रत्यभिज्ञा

प्रश्न है कि उपकार और उपकारी का धर्मधर्मिभाव होने से भेद ही है । भेद के रहते उपकार की जनकता और उपकारी की अजनकता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इनका अत्यन्त भेद नहीं माना जा सकता । धर्म और धर्मीभाव होने से इनमें भेद है और इसका विवेचन कर पाना कठिन है, अतः इनका अभेद है, जैसा कि बुद्धि का और उसके आकार का होता है । जिसकी कल्पना किसी की सहायता के लिये होती है, वह उसका बाधक नहीं हो सकता । ऐसा मानने पर बुद्धि (ज्ञान) में अर्थग्राहकता का अभाव हो जायगा और आकार में ही अर्थग्राहकता माननी पड़ जायगी । वेदान्त की दृष्टि से यह उपकार न तो भिन्न है और न अभिन्न, किन्तु अनिर्वाच्य है । इसलिये कार्य अनिर्वाच्य ही माना जायगा । इतना मानने से स्थिर अशब्द में अकारणता नहीं आ जायगी, क्योंकि अधिष्ठाता के रूप में उसकी भी अपेक्षा रहती है ।

'अनिर्वाच्य और काल्पनिक उपकार कारण कैसे हो सकता है ?' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बौद्ध भी काल्पनिक को कारण मानते ही हैं । बौद्धों के मत में सभी वस्तुओं का सबसे विलक्षण अपना एक विशेष 'स्वलक्षण' स्वरूप होता है । तब फिर उनसे पूछा जा सकता है कि इसका क्या कारण है कि बीजजातीय से अंकुरजातीय ही पैदा होता है, ऊँटजातीय नहीं । एक बीज से दूसरे बीज की अथवा ऊँट की अत्यन्त विलक्षणता में कोई अन्तर नहीं है । वास्तव में बीज और अंकुर दोनों ही मिथ्या हैं, अतः इनका भावी कार्यकारणभाव भी नहीं होगा । इसलिये काल्पनिक स्वलक्षण कारणरूप बीजजातीय से ही काल्पनिक स्वलक्षण कार्यरूप अंकुरजातीय पदार्थ की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ।

यदपि स च शब्दस्वभावः करणव्यापारादेव सिद्ध इति सर्वकार्यतुल्यधर्मात्तस्य तादृशस्य व्यक्ताविष्यमाणायां सर्वं व्यङ्ग्यं स्यात्, न वा किञ्चिदप्यविशेषात्। तथाहि—'स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः। यथा दीपोऽन्यथा वापि को विशेषोऽस्य कारकात्॥' (प्र० वा० ३।२६३-२६४)। स्वप्रतिपत्तिद्वारेणान्यप्रतिपत्तिहेतुर्लोके व्यञ्जको भवति, यदि व्यङ्ग्यः प्राक् सिद्धः स्यात्। यद्यपि प्रदीपादिरुपलब्धियोग्यं घटक्षणं प्रागसिद्धमेव जनयति, तथापि व्यञ्जकाल्लभ्यस्य ज्ञानहेतोरतिशयस्य तत्सामग्रीप्रत्ययत्वेन प्रागसिद्धावपि समानजातीयोपादानलक्षणस्य प्राक् सिद्धत्वात्। ये पुनरसिद्धोपलम्भनाः कारका एव कुलालादिवद् घटादौ शब्दोऽपि घटादिवत् कार्य्यमेव, ताल्वादिव्यापारात् प्रागसिद्धत्वादिति, तदप्यकिञ्चित्करम्, सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञानेन शब्दस्वरूपस्यापि ताल्वादिव्यापारात् प्राक् सिद्धत्वात्।

यदप्युक्तम्—प्रथमे क्षणे शब्दग्रहणम्, द्वितीये क्षणे पूर्वगृहीतशब्दाहितसंस्कारप्रबोधः, ततः शब्दस्मरणम्, ततश्चतुर्थ क्षणे तिरोहिते तस्मिन् स एवायं घटशब्द इति प्रत्यभिज्ञानं कथं प्रत्यक्षं स्यात्, असन्निहितविषयत्वात्। नापि प्राक्प्रबुद्धसंस्कारस्य पुंसो वर्णग्राहकं प्रत्यभिज्ञानं संभवति, वर्णस्य सांशत्वात्, अन्त्यवर्णभागकाले पूर्वपूर्ववर्णभागानामसत्त्वेनान्त्यस्यापि वर्णस्यासन्निहितत्वात्। अत एव पदवाक्ययोरपि ग्राहकं प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञानं न संभवति, वर्णसमुदायत्वात्। पटादेरन्त्यवर्णकाले च पूर्वपूर्ववर्णानामसत्त्वात् सन्निहितविषयं च प्रत्यक्षमिष्यते। तस्मान्न प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञानं वर्णपदवाक्येषु तत्त्वग्राहकं भवतीति, तदप्यकिञ्चित्करम्, शब्दस्य सावयवत्वक्षणिकत्वाद्यसिद्धेः।

तन्त्वादिसंयोगापेक्षजन्यत्वं पटादीनामवबुद्धयः। तन्त्वादिनाशात्तत्संयोगनाशाच्च विनङ्क्ष्यतीत्यनित्यत्वं निश्चीयते, नैवं शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते, यद्विनाशात्तद्विनाशः स्यात्। ततोऽवयवादिसंयोगादिकारणा-

यह भी कहा गया है कि 'यह शब्दस्वभाव करण व्यापार से ही सिद्ध है, यह धर्म सभी कार्यों में समान रूप से विद्यमान है, अतः यदि इस तरह के कार्य की अभिव्यक्ति मानी जाती है, तो सभी व्यंग्य हो जायंगे अथवा कुछ भी व्यंग्य नहीं होगा, क्योंकि कार्य और व्यंग्य में परस्पर कोई विशेषता नहीं रहेगी। जैसा कि प्रमाणवार्तिक में कहा गया है—'अर्थ की पहले से विद्यमानता मानने में कारण के द्वारा उसकी प्रदीप से घट के समान अभिव्यक्ति माननी पड़ेगी। यदि व्यंग्य पहले से सिद्ध नहीं है तो उस व्यंजक की कारक हेतु से क्या विशेषता होगी'? अपनी प्रतिपत्ति के माध्यम से अन्य की प्रतिपत्ति कराने वाला लोक व्यवहार में व्यंजक कहलाता है, यदि व्यंग्य पहले से सिद्ध हो। यद्यपि प्रदीप आदि पहले से अविद्यमान उपलब्धि योग्य घटक्षण की ही उत्पत्ति करते हैं, तो भी व्यंजक से लभ्य ज्ञान के हेतु अतिशय की उसकी सामग्री के प्रत्यय से पहले असिद्धि होने पर भी समानजातीय उपादान लक्षण वहाँ पहले से सिद्ध रहते हैं। इसके विपरीत जिनका उपलम्भ पहले से असिद्ध है, ऐसे कारक घटादि पदार्थों की तरह से ही शब्द भी कार्य ही है, क्योंकि तालु प्रभृति के व्यापार से पहले वे असिद्ध होते हैं'। किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि 'यह वही गकार है' इस तरह की प्रत्यभिज्ञा से शब्द स्वरूप की सत्ता भी तालु आदि के व्यापार से पहले भी सिद्ध हो ही जाती है।

यह भी कहा गया है कि 'प्रथम क्षण में शब्द का ग्रहण (ज्ञान), द्वितीय क्षण में पूर्वगृहीत शब्दों से आहित होने वाले संस्कार का प्रबोध, तृतीय क्षण में शब्द का स्मरण और तब चतुर्थ क्षण में उसके तिरोहित हो जाने पर 'यह वही घट शब्द है' इस तरह की प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष कैसे हो सकती है, क्योंकि तब उसका विषय संनिहित नहीं है। पहले के संस्कार जिसको प्रबुद्ध हो गये हैं, ऐसे पुरुष को वर्णग्राहक प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि वर्ण अंशवाला होता है, जब अन्त्य वर्ण के भाग की स्थिति रहती है, उस समय पूर्व-पूर्व वर्ण भागों की सत्ता न रहने से अन्त्य वर्ण भी संनिहित न रहेगा। इसीलिये पद और वाक्यों का ग्राहक प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञा नहीं बन सकता, क्योंकि पद और वाक्य भी वर्णसमुदाय मात्र हैं। पद आदि के अन्त्य वर्ण के समय में भी पूर्व-पूर्व वर्णों की स्थिति नहीं रहेगी। प्रत्यक्ष तो संनिहित विषय का ही होता है। इसलिये प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाण वर्णों में, पदों में अथवा वाक्यों में 'ये वे ही हैं' ऐसा ज्ञान नहीं करा सकता'। यह कथन भी कुछ नहीं है, क्योंकि शब्द की सावयवता, क्षणिकता आदि तर्कों के द्वारा सिद्ध नहीं है।

पट आदि की अवगति तन्तु प्रभृति के संयोग की अपेक्षा के आधार पर होती है। तन्तु प्रभृति के नाश से अथवा उनके संयोग के नष्ट हो जाने पर ये पट आदि बुद्धियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। इस तरह से इनकी अनित्यता स्पष्ट है। शब्द का इस तरह का

नपेक्षत्वान्नित्यः शब्दः, श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत् । कर्मैके तत्र दर्शनादित्यनेकैः सूत्रैः शब्दस्यानित्यत्वमाशङ्क्य समेषां हेतूनामनैकान्तिकत्वमपि सूत्रकारैः प्रदर्शितम् । तत्रोच्चारणरूपप्रयत्नानन्तर्य्योपलम्भाच्छब्दस्य प्रयत्नकार्यत्वमाशङ्क्य खण्डितं वार्त्तिककारैः । प्रयत्नानन्तरं शब्दस्य दर्शनात्तदानीं तत्सत्तैव सिद्धयति, नान्यत्र तन्निषेधः सिद्धयति, तत्र प्रमाणाभावात्, कालान्तरे तत्सत्त्वस्यानिषिद्धत्वात् । दर्शनानन्तरं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञानेन प्रत्यक्षेण दृष्टत्वादन्यदापि तत्सद्भावकल्पना सिद्धयति । न च प्रागूर्ध्वमनुपलब्ध्या तदसत्त्वं सिद्धयति, वैशेषिकादिमते शब्दत्वजातेर्नित्यत्वेऽपि प्रागूर्ध्वानुपलब्धेः समानत्वात् । सांख्यमते नित्यस्यात्मचैतन्यस्य बुद्धयभिव्यक्तस्य सुषुप्त्यादावनुपलब्धेर्बुद्धिसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वानुपलब्ध्याऽपि न तदसत्त्वसिद्धिः । शाक्यमतेऽपि प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोर्व्योम्नश्चाकृतकत्वमविनाशित्वं चेष्टम् । तत्र मुद्गरपाताद्यभिव्यङ्ग्यो बुद्धिपूर्वो विनाशः प्रतिसंख्यानिरोधः । कुडयनिपाताद्यभिव्यङ्ग्योऽबुद्धिपूर्वकोऽप्रतिसंख्यानिरोधः । कृतकता हि विनाशित्वव्याप्या घटादिषु दृष्टा । तच्च विनाशित्वनिरोधाभ्यां व्यावर्तमानः स्वव्याप्यां कृतकतामपि निवर्तयति । विनाशश्च स्वाभाविकः । विनाशस्य विनाशो न दृष्टस्तेन सोऽकृत्रिमः । मुद्गरपातादिभ्यो घटात्कपालं जायते, न विनाशः । सर्वं हि कारणं सदृशकार्यजननस्वरसं विलक्षणकार्य्योपनिपाते तु विसदृशं जनयति । तेन मुद्गराभिघातोऽपि विसदृशोत्पत्तौ उपयुज्यते, न विनाशे । तेन—'मुद्गरपातेनाक्रियमाणोऽपि नाशोऽभिव्यज्यते स्फुटः । स मुद्गरप्रहारादिप्रयत्ननान्तरीयकः ।। आकाशमपि नित्यं सद्यदा भूमिजलावृतम् । व्यज्यते तदपोहेन खननोत्सेचनादिभिः ।। प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं तदा तत्रापि दृश्यते । तेनानैकान्तिको हेतुर्यदुक्तं तत्र दर्शनात् ।। अथ स्थगितमप्येतद-

कोई कारण उपलब्ध नहीं है, जिसके विनाश से इसका विनाश उपलब्ध होता हो । इस तरह से अवयवसंयोग आदि कारणकलाप की अपेक्षा न रहने से शब्द नित्य है, क्योंकि यह शब्दत्व की तरह श्रावण प्रत्यक्ष का विषय है । इस अनुमान के अतिरिक्त 'कर्मैके तत्र दर्शनात्' इस तरह के अनेक सूत्रों के द्वारा भी पूर्वपक्ष के रूप में शब्द की अनित्यता की आशंका उठाकर सभी हेतुओं की अनैकान्तिकता (व्यभिचारिता) मीमांसा सूत्रकार ने सिद्ध की है । वार्त्तिककार ने यहाँ पर उच्चारण रूप प्रयत्न के अनन्तर शब्द की उपलब्धि को देखकर उस पर प्रयत्नकार्यता का आरोप लगाकर उसका खण्डन किया है । प्रयत्न के अनन्तर शब्द का दर्शन होता है, इससे उसकी सत्ता ही सिद्ध होती है, अन्यत्र उसका निषेध नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । कालान्तर में उसकी सत्ता का निषेध भी नहीं किया गया है । दर्शन के अनन्तर 'यह वही है' इस तरह के प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रत्यक्ष से दृष्ट होने से अन्य समयों में भी उसके सद्भाव की कल्पना सिद्ध होती है । पहले की और बाद की अनुपलब्धि के आधार पर उसकी असत्ता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि वैशेषिक आदि के मत में शब्दत्व जाति के नित्य होने पर भी पहले की और बाद की अनुपलब्धि समान है । सांख्य के मत से बुद्धि में अभिव्यक्त नित्य आत्मचैतन्य की सुषुप्ति प्रभृति में उपलब्धि न होने पर भी बुद्धि के संबन्ध से पहले और बाद में भी अनुपलब्धि की समानता होने पर भी उसका असत्त्व नहीं माना जाता । बौद्ध मत में भी प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश की अकृतकता (नित्यता) और अविनाशिता मानी गई है । यहाँ पर मुद्गर के पात से अभिव्यक्त होने वाला बुद्धिपूर्वक विनाश प्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है । दीवार के गिरने आदि से अभिव्यक्त होने वाला अबुद्धि(अज्ञान)पूर्वक विनाश अप्रतिसंख्यानिरोध होता है । कृतकता विनाशित्व की व्याप्य है, अर्थात् जो पैदा होते हैं, उनका विनाश अवश्य होता है, किन्तु यहाँ कृतकत्व व्याप्य है और विनाशित्व व्यापक । यह नियम है कि व्यापक जहाँ नहीं रहता, वहाँ व्याप्य को भी नहीं रहने देता । जैसे तालाब आदि में अग्नि नहीं रहती तो धूम भी नहीं रह सकता । प्रकृत में शब्द में कृतकत्व का व्यापक विनाशित्व नहीं रहता, इसलिये वह कृतकत्व को भी नहीं रहने देगा । विनाश एक स्वाभाविक व्यापार है । विनाश का विनाश नहीं देखा जाता । इसलिये वह अकृत्रिम होता है । मुद्गर पात आदि से घट से कपाल की उत्पत्ति होती है, विनाश नहीं । सभी कारण स्वभावतः अपने सदृश कार्य की उत्पत्ति करते हैं, विलक्षण कार्य के बीच में आ जाने पर विसदृश कार्य को भी करने लगते हैं । इस तरह से मुद्गर के अभिघात का उपयोग विसदृश की उत्पत्ति में होता है, विनाश में नहीं । इसलिये मुद्गर पात से न उत्पन्न होने वाले विनाश की अभिव्यक्ति वहाँ स्पष्ट है और यह मुद्गर प्रहार प्रयत्न के बिना नहीं हो सकता । आकाश यद्यपि नित्य है, किन्तु जब उसको भूमि, जल आदि से भर दिया जाता है तो प्रयत्नपूर्वक मिट्टी, जल आदि के हटा देने पर वह पुनः अभिव्यक्त हो जाता है । यहाँ पर नित्य आकाश का भी ज्ञान प्रयत्न के अनन्तर ही देखा जाता है । इस तरह से कृतकता में

स्त्येवेत्यनुमीयते। शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यते ।। कूपपूरणयत्नेन खं तिरोधीयते यदा। आस्थानादित्ययं हेतुस्तदानैकान्तिको भवेत् ।।' यथा आकाशं नित्यमपि भूमिजलावृतं सन्नानुभूयते, खननोत्सेचनादिभिस्तदपोहनेन तु व्यज्यते, प्रयत्नानन्तर्य्येऽपि यथाकाशस्य न प्रयत्नकार्यत्वम्, तथैव कण्ठताल्वादिप्रयत्नानन्तर्य्येऽपि शब्दस्य न तत्कार्य्यत्वम्, प्रयत्ने स्थगितेऽपि यथाऽऽकाशमस्त्येव, तथैव कण्ठादिव्यापाराभावेऽपि प्रत्यभिज्ञानाच्छब्दोऽस्त्येव। कूपपूरणादियत्नेन यथा खं तिरोधीयते, तथैव प्रयत्ने स्थगिते शब्दोऽपि तिरोधीयते।

अपि च, शब्दस्य कृतकत्वं किं यत्किञ्चित्कारणजन्यत्वम्, उत यद्व्यापारान्तरमुपलभ्यते तत्कृतत्वम्? यत्किञ्चित्कारणजन्यत्वे प्रयत्नानन्तर्य्यस्य न कृतकत्वप्रयोजकता, शब्दत्वादिनाऽनैकान्तिकता च। तद्व्यापारजन्यत्वे तु मूलोदकादिभिरनैकान्तिकत्वम्, यतस्तत्र मूलोदकाद्युपलम्भस्य खननाद्यानन्तर्य्येऽपि तज्जन्यत्वाभावात्। नहि खननादिना मूलोदकादिकमुत्पद्यते, किन्तु सदेव व्यज्यते, एवमेवोच्चारणादिभिः सन्नेव शब्दो व्यज्यते, नोत्पद्यते। न चान्यस्य शब्दोत्पत्तिहेतुत्वं संभवति। न च प्रतिबन्धकाभावेऽपि प्रागूर्ध्वमनुपलम्भान्न शब्दसिद्धिः, मूलोदकादीनां तु मृत्तिकादिप्रतिबन्धोऽस्त्येवेति वाच्यम्, मृत्तिकादिभिरप्रतिबद्धानामपि मूलोदकादीनां दीपाद्यभावादनुपलम्भेन व्यभिचारात्।

यदि स्वभावादेवाप्रतिबद्धस्यापि मूलोदकादेरग्रहणं तदा बधिरादिवद् व्यञ्जकाभावाच्छब्दस्याप्यग्रहणमुपपद्यत एव। अभिव्यञ्जकाभावस्यैव प्रतिबन्धकत्वमपि सम्भवत्येवेति प्रतिबन्धकाभावे सत्यनुपलम्भादसत्त्वं न सिद्धयति। पूर्वापरासत्त्वं त्वसिद्धमेव, साधनाभावात् सत्त्वेऽप्यनुपलम्भोपपत्तेः।

दिया गया प्रयत्ननान्तरीयकत्व हेतु अनैकान्तिक हो जाता है। यदि यहाँ पर आप मानते हैं कि आकाश तो है ही, किन्तु उसको मिट्टी, जल आदि से भर दिया गया है, तो उसी तरह से प्रत्यभिज्ञान के आधार पर शब्द की भी पूर्व सत्ता क्यों न मानी जायगी। कुएं को भरने के प्रयत्न से जब आकाश तिरोहित हो जाता है, ऐसी प्रतीति होती है, तो उसका आधार वह कूपगत स्थान होता है। इस तरह से हेतु में अनैकान्तिकता नहीं आती। जैसे आकाश नित्य होते हुए भी मिट्टी, जल आदि से भर दिये जाने पर प्रतीत नहीं होता, खोदने और उत्सेचन (उलीचने) से मिट्टी और जल के हट जाने पर वह पुनः प्रतीत होने लगता है। यहाँ पर प्रयत्न के बाद उपलब्धि होने पर भी आकाश जैसे प्रयत्न का कार्य नहीं है, उसी तरह से कण्ठ, तालु प्रभृति के प्रयत्न से अभिव्यक्त होने पर भी शब्द उनका कार्य नहीं माना जा सकता। प्रयत्न के स्थगित रहने पर भी जैसे आकाश की स्थिति है ही, उसी तरह से कण्ठ आदि के व्यापार के अभाव में भी प्रत्यभिज्ञा के आधार पर शब्द की भी सत्ता रहती ही है। कूप को भरने के प्रयत्न से जैसे आकाश तिरोहित हो जाता है, उसी तरह से प्रयत्न के स्थगित हो जाने पर शब्द भी तिरोहित हो जाता है।

अपि च, यह परीक्षणीय है कि शब्द की कृतकता क्या यत्किंचित्कारणजन्य (चाहे जिस कारण से) है, अथवा जिसके व्यापार के अनन्तर वह होता है, तत्कृत है? यत्किंचित्कारणजन्यता मानने पर प्रयत्नानन्तर्य की कृतकत्व प्रयोजकता न हो सकेगी और शब्दत्व आदि के कारण इसमें अनैकान्तिकता (व्यभिचार) भी आ जावेगी। व्यापार (कण्ठ, तालु आदि प्रयत्न) में जन्यता मानने पर मूलोदक (जमीन के भीतर का पानी) आदि से अनैकान्तिकता हो जायगी, क्योंकि यहाँ पर मूलोदक आदि के उपलम्भ की खननानन्तर्यता रहने पर भी उनको खननादिजन्यता (खोदने से पैदा होना) नहीं मानी जाती। खननादि व्यापार से मूलोदकादि की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु पहले से विद्यमान मूलोदकादि की अभिव्यक्ति होती है। इसी तरह से उच्चारण आदि से विद्यमान शब्द की ही अभिव्यक्ति होती है, इनकी नई उत्पत्ति नहीं होती। इनके अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द की उत्पत्ति का कारण संभव ही नहीं। 'प्रतिबन्धक के न रहने पर भी पहले और बाद में भी शब्द की अनुपलब्धि को देखकर उसका अभाव ही क्यों न मान लिया जाय, मूलोदक आदि स्थल में तो मृत्तिका प्रभृति की प्रतिबन्धकता उपलब्ध है'। यह कथन भी इसलिये गलत है कि मृत्तिका प्रभृति से अप्रतिबद्ध मूलोदक आदि की भी उपलब्धि दोष आदि के अभाव में नहीं होती, अतः उक्त हेतु व्यभिचरित है।

यदि मूलोदक आदि में प्रतिबन्ध के न रहते हुए भी स्वभावतः अनुपलब्धि मानी जा सकती है, तो बधिर आदि को शब्द प्रभृति की भी अनुपलब्धि की व्याख्या व्यंजक के अभाव को लेकर की जा सकती है। यहाँ पर अभिव्यंजक के अभाव को ही प्रतिबन्धक माना जा सकता है, अतः प्रतिबन्धक के अभाव के रहने पर भी अनुपलब्धि के कारण असत्ता यहाँ सिद्ध नहीं हो सकती। पूर्व (पहले)

ननु व्यञ्जके सति कथं चिरं नोपलभ्यते ? साधनस्यास्थिरत्वे तदुपलम्भस्यापि मेघान्धकारशर्वर्यां विद्युज्जनितदृष्टिवदस्थिरत्वात् । यथा प्रदोपादिश्चक्षुषोऽनुग्रहद्वारा घटादेर्व्यञ्जकः, एवं श्रोत्रसंस्कारद्वारा ध्वनिः शब्दव्यञ्जकः, तथा संस्कृतेरुत्पत्ताविव फलबलकल्पशक्तिसिद्धत्वात् । न च व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः साजात्यमपेक्षितं घ्राणगन्धादाविवेति वाच्यम्, श्रोत्रशब्दयोः प्रदीपघटयोर्वैजात्येऽपि परैस्तदभ्युपगमात् । सत्तादिना तुल्यत्वे त्वत्रापि शक्यसमाधानम् ।

ननु वायुरापद्यते शब्दतामिति शिक्षाकारवचनाद् वायवीयद्रव्यविशेषः शब्दः, अतस्तदवयवसंयोगविशेष-नाशात् संभवत्येव तद्विनाश इति चेन्न, प्रख्याभावाच्चेति सूत्रेण जैमिनिना प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्येन तन्नित्यत्वसाधनेन शिक्षाकारवचनस्य शब्दव्यञ्जकध्वनिपरत्वेन नेयत्वात । तदुक्तं भाष्यकारेण शबरस्वामिनाऽपि—वायवीयश्चेच्छब्दो भवेद् वायोः संनिवेशविशेषः स्यात् । न च तान् अस्य वायवीयानवयवान् शब्दगतान् स्पृशामः । तस्मान्न वायुकारणकः ।

ननु 'वर्णाः सर्वगतत्वाद्वा न स्वतः क्रमवृत्तयः । अनित्यध्वनिकार्य्यत्वात् क्रमस्यातो विनाशिता ।। पुरुषाधीनता चास्य तद्विवक्षावशाद्भवेत् । वर्णानां निष्फला तेन नित्यता परमाणुवत् ।।' क्रमविशिष्टानामेव वर्णानां वाचकत्वम्, तेषां चानित्यत्वमेवेति चेन्न, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि किं क्रमविशिष्टा वर्णा वाचकाः ? वर्णाश्रितः क्रमो वा वाचकः? नान्त्यः, निराश्रयस्य तस्यादर्शनात् । क्रमवतां वर्णानामेव वाचकत्वं प्राधान्यात् । न क्रमस्य, सर्वपदार्थाङ्गत्वेन तस्यावगमात्, स्वतन्त्रत्वेन तस्याव्यवह्रियमाणत्वात् ।

और पर (बाद में) असत्ता तो किसी भी तरह से नहीं हो सिद्ध होगी, क्योंकि साधन के अभाव में वस्तु के रहते हुए भी उसकी उपलब्धि नहीं होती, ऐसा प्रति दिन का अनुभव है ।

'प्रश्न है कि व्यंजक के रहते हुए भी चिरकाल तक उपलब्धि क्यों नहीं होती' ? उत्तर है कि साधन के अस्थिर होने पर उसकी सहायता से होने वाले उपलम्भ में भी उसी तरह से अस्थिरता रहती है, जैसे कि मेघ के अन्धकार से भरी रात्रि में बिजली की चमक की सहायता के रहते भी दृष्टि अस्थिर होती है । जैसे प्रदीपादि चक्षु की सहायता करके घटादि का अभिव्यंजक होता है, इसी तरह से श्रोत्र के संस्कार के द्वारा ध्वनि शब्द का अभिव्यंजक माना जाता है । इस तरह का संस्कार उत्पत्ति की तरह अभिव्यक्ति में भी फल के बल से कल्पित शक्ति से सिद्ध होता है । घ्राण और गन्धादि की तरह व्यंग्य और व्यंजक में भी साजात्य की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि कई दार्शनिकों ने (आप लोगों ने भी) श्रोत्र और शब्द में प्रदीप और घट के समान वैजात्य (जातिभेद) होते हुए भी व्यंग्य-व्यंजक संबन्ध ही माना है । सत्तादि की तुल्यता के आधार पर तो यहाँ पर भी साजात्य (सजातीयता) के द्वारा समाधान किया जा सकता है ।

प्रश्न यह है कि शिक्षाकार के इस कथन के अनुसार कि वायु ही शब्द के रूप में परिणत होता है, शब्द वायवीय द्रव्यविशेष है । अतः वायु के अवयवों के संयोग विशेष के नाश के साथ शब्द का भी विनाश संभावित है ? उत्तर है कि नहीं, 'प्रख्याभावाच्च' इस सूत्र के द्वारा जैमिनि ने प्रत्यभिज्ञा के प्रमाण से शब्द की नित्यता सिद्ध की है, अतः शिक्षाकार का वचन शब्द व्यंजक ध्वनि के लिये है, ऐसा मानना उचित है । जैसा कि भाष्यकार शबर स्वामी ने कहा है—यदि शब्द को वायवीय माना जाय तो उसका वह संनिवेश विशेष होगा, किन्तु शब्द में इन वायवीय अवयवों के स्पर्श का अनुभव हम नहीं कर पाते, अतः हम शब्द को वायु का कार्य नहीं मान सकते' ।

प्रश्न है कि 'वर्ण तो सर्वगत हैं, अतः वे स्वतः क्रम वृत्ति वाले नहीं हो सकते । क्रम अनित्य ध्वनि का कार्य है, इसलिये वह विनाशी होता है । यह क्रम पुरुषाधीन भी है, क्योंकि पुरुष की विवक्षा होने पर ही यह क्रम उत्पन्न होता है । इस तरह से परमाणु की नित्यता के समान वर्णों की नित्यता सिद्ध करना मात्र व्यर्थ का प्रयास है । क्रम विशिष्ट वर्ण ही वाचक होते हैं, अतः इनकी अनित्यता ही माननी पड़ेगी ।' उत्तर है कि नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर इस विकल्प का कोई उत्तर नहीं है कि क्या क्रमविशिष्ट वर्ण ही वाचक हैं, या वर्णाश्रित क्रम वाचक है ? यहाँ पर अन्तिम पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि क्रम कभी भी निराश्रित नहीं रहता । प्रधानता के आधार पर क्रमवान् वर्णों की ही वाचकता मानी जाती है, क्रम की नहीं । क्योंकि क्रम सभी जगह किसी न किसी पदार्थ के अंग के रूप में ही अवगत (ज्ञात) होता है, स्वतन्त्र रूप से उसकी सत्ता कहीं भी नहीं है और न ऐसा व्यवहार ही होता है ।

ननु तथापि क्रमस्य पौरुषेयत्वेन वेदस्य पौरुषेयत्वमिति चेन्न, क्रमस्यापि परम्पराप्राप्तत्वेनाकौटस्थ्येऽपि नित्यत्वस्योक्तत्वात्। 'वक्ता नहि क्रमं कञ्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते। यथैवास्य परैरुक्तस्तथैवैनं विवक्षति। परोऽप्येवमत-श्चास्य सम्बन्धानादिता मता। तेनैवं व्यवहारात् स्यादकौटस्थ्येऽपि नित्यता॥ यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।' ननु वर्णानामप्येवं नित्यत्वमस्तु, तस्य पूर्वोक्तरीत्या कूटस्थनित्यत्वे बाधाभावात्, वर्णेषु नित्येषु सत्सु तानेवादाय प्रयोग विशेषेण क्रमविशेषस्य परमाणुभिरिव घटस्य निष्पादयितुं शक्यत्वात्। नित्यवर्णाभावे तदनुपपत्तेः। ध्वनिवशात् क्रम-विशेषोपपत्तिस्तूक्तैव।

केचित्तु पौर्वापर्य्यंक्रमः, चिरक्षिप्रात्मकं च दीर्घादिरूपं पूर्वापरचिरक्षिप्रप्रत्ययश्च कालावलम्बनाः, तेन ध्वनिभिर्वर्णेषु पूर्वापरभावेन व्यज्यमानः काल एव क्रमः, तस्य चैकत्वं विभुत्वं नित्यत्वञ्च। न चैकस्य नित्यस्य कुतः पूर्वापरविभक्तत्वेनावभास इति वाच्यम्, ध्वन्युपाधिवशाद्वर्णस्येवादित्यगतिक्रियोपाधिवशात् कालस्यापि पौर्वापर्य्य-प्रतीतिसंभवात्। क्षिप्रत्वं चाल्पक्रियावच्छेदात्। बहुक्रियावच्छेदाच्चिरत्वम्। तदुक्तम्—'तस्मान्न पदधर्मोऽस्ति विनाशी कश्चिदीदृशः। तेन नित्यं पदं सिद्धं वर्णनित्यत्ववादिनाम्॥' ननु च ध्वनीनां क्षणिकत्वेन तत्र वर्णाभिव्यक्तेरपि क्षणिकत्वेन कथं क्षणचतुष्टयसाध्यप्रत्यभिज्ञाविषयत्वमिति चेन्न, ध्वनीनामनित्यत्वाभ्युपगमेऽपि क्षणिकत्वानभ्युपगमात्।

ननु कोऽयं ध्वनिरिति चेदत्र भगवत्पादैः—'यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमव-तरति, प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति स ध्वनिः, तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो भेदाः, न वर्णस्वरूपभेद-

क्रम की पौरुषेयता के आधार पर भी वेद की पौरुषेयता नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि क्रम भी परम्परा प्राप्त है, अतः वेद की कूटस्थता न होने पर भी क्रमिक नित्यता मानी जाती है। 'कोई भी वक्ता वेद के विषय में अपना कोई स्वतन्त्र क्रम नहीं बना सकता, जैसा इसको इसके पूर्व पुरुषों ने बताया है, उसी क्रम से वह उसको कह सकता है। बाद वाला व्यक्ति भी उसी पद्धति का अनुसरण करेगा। इस तरह से यह परम्परा संबन्ध अनादि माना जाता है। इस परम्परा व्यवहार के आधार पर इस तरह से शब्द की कूटस्थता न होने पर भी प्रवाह नित्यता मानी जाती है। इस प्रसंग में हमको केवल बड़ी सावधानी से पुरुष की स्वतन्त्रता को ही निषिद्ध मानना पड़ता है।' वर्णों को भी इस प्रकार प्रवाह नित्य नहीं मान सकते, क्योंकि पूर्वोक्त रीति से उनको कूटस्थ नित्य मानने में कोई बाधा नहीं है। वर्णों की नित्यता के आधार पर ही उनको लेकर प्रयोग विशेष के अनुसार क्रम विशेष की रचना उसी तरह से हो सकती है, जैसे परमाणुओं से घटादि की रचना होती है। वर्णों की नित्यता के अभाव में यह संभव नहीं होगा। ध्वनि विशेष से क्रम विशेष की उत्पत्ति तो मानी ही गई है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'पूर्वापर का क्रम चिरक्षिप्र भाव (विलम्ब और शीघ्रता) ह्रस्व-दीर्घ आदि रूप और पूर्वापर का चिर-क्षिप्र प्रत्यय (विलम्ब और शीघ्रता से ज्ञान) ये सब काल पर अवलम्बित हैं। इसलिये ध्वनियों से वर्णों में पूर्वापर भाव के रूप में अभिव्यक्त होने वाला काल ही क्रम कहलाता है। यह क्रम एक है, विभु (व्यापक) है और नित्य भी है। एक और नित्य काल रूप क्रम की पूर्वापर विभाग रूप से प्रतीति (ज्ञान) उसी तरह से होती है, जैसी कि ध्वनि रूप उपाधि के कारण वर्ण की प्रतीति होती है। यहाँ पर भी काल की आदित्य (सूर्य) की गमनक्रिया रूप उपाधि के कारण काल में पौर्वापर्य क्रम की प्रतीति औपाधिक रूप से होती है। अल्प क्रिया के कारण शीघ्रता और क्रिया के आधिक्य के कारण विलम्ब होता है, यह भी ठीक है। इस विषय में कहा भी गया है—'इस तरह से पद में ऐसा कोई धर्म नहीं है, जिसको कि विनाशी माना जाय। इसलिये वर्ण की नित्यता के मानने वालों के यहाँ पद भी नित्य है।' प्रश्न है कि ध्वनियाँ क्षणिक हैं, तो उनके आधार पर होने वाली वर्णों की अभिव्यक्ति भी क्षणिक ही होगी, तब वह चार क्षणों के आधार पर निष्पन्न होने वाली प्रत्यभिज्ञा का विषय कैसे बन सकती है? इसका उत्तर यह है कि ध्वनियों को हम अनित्य तो अवश्य मानते हैं, किन्तु उनको हम क्षणिक नहीं मानते।

यह ध्वनि क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवत्पाद शंकराचार्य ने कहा है कि—'जो दूर से सुनने वाले और वर्णों के भेद ज्ञान को न समझ पाने वाले के कान में उतरती है और जैसे-जैसे वह समीप होती जाती है, वैसे-वैसे ही वर्णों में पटुता और मृदुता

निबन्धनाः, वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । नन्वनिर्धारितविशेषवर्णत्वादिसामान्यमात्रप्रत्ययो न तु वर्णातिरिक्ततदभिव्यञ्जकध्वनिप्रत्यय इति चेन्न, तस्यानुनासिकत्वादिभेदभिन्नस्य गव्यक्तिवत् प्रत्यभिज्ञानाभावात्, अप्रत्यभिज्ञायमानस्य चैकत्वाभावेन सामान्यभावानुपपत्तेः । तस्मादवर्णात्मकः शब्दः शब्दातिरिक्तो वा ध्वनिरित्येव तु युक्तम् ।

ननु च वर्णेषु सोऽयं गकार इत्यादिवद् ध्वनित्वेनाभ्युपगते कोलाहलेऽपि स एव कोलाहलः पुनरुत्थित इति प्रत्यभिज्ञानमस्त्येव । न च ध्वनौ प्रत्यभिज्ञानं तज्जातिविषयमिति तत्र वर्णे इव प्रत्यभिज्ञानं नास्तीति वाच्यम्, तुल्यरूपयोः प्रत्यभिज्ञानयोरेकं तज्जातीयविषयमन्यद् व्यक्त्यैक्यविषयमिति कल्पनायां विनिगमनाविरहात्, प्रत्यभिज्ञानावगतव्यक्त्यैक्येन जात्यप्रतिपत्तेर्वर्णे इव ध्वनावपि वक्तुं शक्यत्वादिति चेन्न, वैषम्यात् । तथाहि—यद्यपि ध्वनौ वर्णे च प्रत्यभिज्ञानस्य व्यक्त्यैक्यविषयत्वं प्रतीयते, तथापि भेर्यादिध्वन्युत्थितौ वर्णोत्पत्त्यभावात् क्वचिद् वैदिकवाक्यानुकारिणि वीणावेण्वादिध्वन्युत्पत्तौ कोलाहलवद् अस्फुटवर्णाकारप्रतीतिसत्त्वेऽपि वर्णोत्पत्तिस्थानकरणाभावेन तेषां वर्णच्छायानुकारिध्वनिमात्रतया वर्णत्वाभावात् तदसार्वत्रिकत्वाच्च भेर्यादिध्वनिषु श्रूयमाणतारत्वमन्दत्वादिभेदकधर्माणां वर्णाश्रयत्वस्य कल्पयितुमशक्यत्वादन्यथासिद्धभेदप्रत्ययानुरोधेन ध्वनौ प्रत्यभिज्ञानं तज्जातीयं पर्यवस्यति ।

वर्णोच्चारणेषु हसितरुदितपशुपक्षिरुतानुकरणशङ्खध्मानादिस्थले ध्वनिकारणत्वेन क्लृप्तस्य कण्ठवाय्वभिघातविशेषस्य सत्त्वात्, तारत्वप्राच्यत्वप्रतीच्यत्वादिश्रूयमाणधर्माणां ध्वनिधर्मत्वस्य क्लृप्तत्वात्, कोलाहलप्रत्ययस्य

आदि के भेद को जोड़ देती है, वही ध्वनि है। उदात्त आदि धर्मों का भेद भी वर्णों में ध्वनि के कारण ही होता हैं। इसमें वर्णों के स्वरूप भेद की कारणता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वर्णों की तो प्रत्येक उच्चारण में एक सी प्रतीति (प्रत्यभिज्ञा) होती है। प्रश्न उठता है कि 'जिस प्रतीति में वर्ण विशेष का निर्धारण नहीं हो पाता, वह एक सामान्य प्रत्यय माना जायगा, उसको वर्ण से भिन्न तदभिव्यंजक ध्वनि प्रत्यय कैसे कहा जा सकता है?' उत्तर है कि उसकी भिन्नता इसलिये सिद्ध होती है कि उसकी अनुनासिकत्व आदि के भेदों से भिन्न ग व्यक्ति की तरह प्रत्यभिज्ञा नहीं होती और जिसकी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती उसकी एकता के अभाव में सामान्य भाव कैसे बन सकता है। इसलिये वर्ण भिन्न शब्द को ध्वनि कहते हैं अथवा ध्वनि को शब्द से भिन्न ही माना जाय, यही उचित पक्ष है।

शंका उठती है कि 'वर्णों में यह वही गकार है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा जैसे होती है, उसी तरह से ध्वनि के एक प्रकार के रूप में स्वीकृत कोलाहल में भी तो यह उसी तरह का कोलाहल फिर हुआ, इस तरह की प्रत्यभिज्ञा नामक प्रतीति होती ही है। यहाँ पर यह भी नहीं कह सकते कि ध्वनि में यह प्रत्यभिज्ञान जातिविषयक है, अतः उसकी यह प्रत्यभिज्ञा वर्णविषयिणी प्रत्यभिज्ञा से भिन्न प्रकार की है, क्योंकि तुल्यजातीय प्रत्यभिज्ञान में से एक जातिविषयक है और दूसरा व्यक्तिविषयक, इस कल्पना में कोई विनिगमक नहीं है। प्रत्यभिज्ञा से अवगत व्यक्ति की एकता के आधार पर वर्ण की तरह ध्वनि में भी जाति की प्रतिपत्ति नहीं होती, ऐसा बड़ी सरलता से कहा जा सकता है।' इस शंका का यही समाधान है कि दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है, क्योंकि यद्यपि ध्वनि और वर्ण की प्रत्यभिज्ञा एक व्यक्ति को अपना आधार बनाती है, तो भी भेरी (ढोल) प्रभृति की ध्वनि होने पर वर्ण की उत्पत्ति नहीं होती। इसी तरह से कहीं पर वैदिक वाक्य का अनुकरण करने वाली वीणा, बांसुरी आदि की ध्वनि में कोलाहल की तरह अस्फुट वर्णाकार प्रतीति के होने पर भी वर्ण की उत्पत्ति के स्थान और करण (प्रयत्न) के अभाव में उनकी वर्ण की छाया का अनुकरण वाली ध्वनि के रूप में ही मान्यता हो सकती है, वर्ण के रूप में नहीं। यह स्थिति सार्वत्रिक है भी नहीं। अतः भेरी प्रभृति की ध्वनि में श्रूयमाण तारत्व, मन्दत्व प्रभृति भेदक (भेद कराने वाले) धर्मों को वर्णों के आश्रित नहीं माना जा सकता। इस तरह से अन्यथासिद्ध भेदप्रत्यय के अनुरोध से ध्वनि का प्रत्यभिज्ञान तज्जातीय ही सिद्ध होता है।

हसित, रुदित, पशु-पक्षियों के शब्दों का अनुकरण, शंख ध्वनि आदि स्थलों में ध्वनि के कारण के रूप में वर्णोच्चारण के स्थान-करण आदि की कारणता ही क्लृप्त है, क्योंकि वहाँ पर भी कण्ठ-तालु का अभिघात विद्यमान है। तारत्व, प्राच्यत्व, प्रतीच्यत्व (यह शब्द पूरब से आया यह पश्चिम से) आदि श्रूयमाण धर्म ध्वनि के ही धर्म हैं। कोलाहल यदि हसित, रुदित आदि के रूप में है'

हस्तिरुदितादिकोलाहलस्थले ध्वनिविषयत्वस्य क्लृप्तत्वेन जनसंघालापकोलाहलप्रत्ययस्यापि ध्वनिविषयत्वकल्पनौचित्याच्च। वर्णाभिव्यक्तिकारणैर्ध्वन्युत्पत्तेरपि कल्पनोपपत्तेर्वर्णेषु तत्प्रतीतिस्तदुपाधिकेति बाधकाभावात्। तेन वर्णेषु प्रत्यभिज्ञानस्य व्यक्त्यैक्यविषयत्वेऽपि ध्वनौ तदसंभवेन तज्जातीयविषयत्वस्यैवौचित्याद् जातिविषयत्वेऽपि किमप्यनुवृत्तं ध्वनिषु प्रत्यभिज्ञानं स्वीक्रियते। अपि च, बौद्धैः क्षणिके विज्ञाने सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यमूलकमभ्युपेयते। तेनेदं सदृशमिति सादृश्यज्ञानस्य क्षणचतुष्टयसाध्यस्य यथोपपत्तिस्तथैवात्रापि ज्ञेयम्। वस्तुतस्तु प्रबुद्धसंस्कारस्य प्रत्यभिज्ञाने तावत्क्षणानपेक्षत्वेन क्षणिकध्वन्यभिव्यक्तेऽपि वर्णे प्रत्यभिज्ञानसंभवात्। यथा प्रबुद्धसंस्कारस्य मेघान्धकारशर्वर्यां घटस्य क्षणिकानभिव्यक्तावपि सोऽयं घट इति प्रत्यभिज्ञानं भवति, तथैव ध्वन्यभिव्यक्तशब्देऽपि प्रत्यभिज्ञानम्।

अपि च, यस्मिन् विषये संस्कारप्रचयो जायते, तस्य दर्शनक्षण एव स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं भवति, तथैव प्रबुद्धसंस्काराणां क्षणिकाभिव्यक्तावपि प्रत्यभिज्ञानं संभवति। किञ्च, प्रत्यभिज्ञानानुरोधेन कारणमन्वेषणीयम्, न तु दोषसंभावनया प्रत्यभिज्ञानापलापो युक्तः। तथात्वे बह्वीनामुपलब्धीनां बाधप्रसङ्गात्। तेन यथा धारावाहिकप्रतीतिस्थलेऽनेकक्षणावस्थायिन्येकैव वृत्तिरुपेयते, तथैव शब्दप्रत्यभिज्ञादर्शनात् शब्दव्यञ्जकध्वनीनां तावत्क्षणस्थायित्वमप्यभ्युपेतव्यम्। प्रदीपे तु प्रभामण्डलस्यावयविविश्लेषमन्तरेणात्यन्तानुपपत्तेर्विश्लिष्टावयविनोऽवश्यं विनाशो विनष्टे च पूर्वस्मिन् प्रदीपे पश्चात्तनमवश्यं प्रदीपान्तरमेवेति दृढे भेदे प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यनिमित्तमवधार्य्यते। शब्दे त्ववयवाभावादवयवसामान्याभावान्न सादृश्यनिमित्तं तद्भवति। अत एव भिन्नेष्वपि लूनपुनर्जातकेशेषु तत्त्वग्रहणस्य दर्शनात् संशय एव, अतः कथं प्राक् सत्त्वकल्पनेत्यप्यपास्तम्, तत्र भेदस्य दर्शनात् प्रत्यभिज्ञानस्य बाधेऽपि प्रकृते तदसंभवात्। न च ध्वस्तो

तो वह ध्वनिविषयक है, ऐसा निश्चित है, अतः जन संघात (समूह) के परस्पर बातचीत से उत्पन्न कोलाहल प्रत्यय की भी ध्वनिविषयता ही मानना ठीक है। वर्णाभिव्यक्ति के कारणों से ध्वनि की उत्पत्ति की भी कल्पना आसानी से की जा सकती है, किन्तु वर्णों में उसकी प्रतीति को तो औपाधिक (गौण) ही मानने से कोई बाधा नहीं रह जाती। अतः वर्णों की प्रत्यभिज्ञा भी एकता के कारण ही है, किन्तु ध्वनि में ऐसा संभव नहीं। इसलिये वहाँ वह जातिविषयक ही मानी जानी चाहिये। इसके जातिविषयक होने पर भी ध्वनि में प्रत्यभिज्ञान का एक अनुवृत्त आकार माना जा सकता है। अपि च, बौद्धों ने भी क्षणिक विज्ञान में 'यह मैं हूं' इस तरह की प्रत्यभिज्ञा को सादृश्यमूलक माना है। यहाँ पर जैसे क्षण चतुष्टय साध्य 'यह उसके समान है' इस सादृश्य ज्ञान की सिद्धि की जाती है, उसी तरह से उक्त स्थल में भी समझना चाहिये। वस्तुतस्तु जिसके संस्कार प्रबुद्ध हो उठे हैं, उसके प्रत्यभिज्ञान के लिये इतने क्षणों की अपेक्षा नहीं रहती, अतः क्षणिक ध्वनि की अभिव्यक्ति के साथ ही वर्ण की प्रत्यभिज्ञा हो सकती है। जिसके संस्कार प्रबुद्ध हैं, ऐसे व्यक्ति को मेघान्धकार से आच्छन्न रात्रि में घट की क्षणिक अभिव्यक्ति के होने पर भी जैसे 'यह वही घट है' इस तरह की प्रत्यभिज्ञा होती है, ध्वनि से अभिव्यक्त शब्द में भी उसी तरह की प्रत्यभिज्ञा मानी जाती है।

जिस विषय के संस्कार गहरे जम जाते हैं, उसको देखने मात्र से 'यह वही है' इस तरह का प्रत्यभिज्ञान होता है, इसी तरह से प्रबुद्ध संस्कारों की क्षणिक अभिव्यक्ति से भी प्रत्यभिज्ञान हो सकता है। अपि च, प्रत्यभिज्ञान को देखकर उसके कारण की खोज होनी चाहिये, दोष की संभावना को देखकर उसका अपलाप कर देना उचित नहीं है। ऐसा करने पर बहुत सी उपलब्धियाँ बाधित हो जायगी। इसलिये जैसे धारावाहिक बुद्धि के प्रसंग में अनेक क्षण तक रहने वाली एक वृत्ति मानी जाती है, उसी तरह से शब्द की प्रत्यभिज्ञा को देखकर शब्द व्यंजक ध्वनियों की उतने क्षणों तक स्थायिता माननी चाहिये। प्रदीप स्थल में अवयवी के विश्लेष के बिना प्रभामण्डल कभी भी नहीं बन सकता, अतः विश्लिष्ट अवयवी का विनाश अवश्य मानना पड़ेगा। इस तरह से पूर्व प्रदीप के विनाश हो जाने पर प्रदीप में बाद में प्रदीपान्तर की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इस तरह से इनके भेद की दृढ़ प्रमाणों के आधार पर सिद्धि हो जाने पर यहाँ हुई प्रत्यभिज्ञा को सादृश्यमूलक माना जा सकता है। शब्द में तो अवयव नहीं है, अतः अवयव सामान्य के अभाव में वहाँ प्रत्यभिज्ञान में सादृश्य की निमित्तता ही नहीं बनती। इसी लिये 'काटने के बाद पुनः उग आये केशों में पूर्ववर्ती केशकलाप से भिन्नता होते हुए भी प्रत्यभिज्ञान के आधार पर एकता के दर्शन होने से संशय उठ खड़ा होता है, ऐसी अवस्था में शब्द की प्राग्वर्तिता की कल्पना कैसे हो सकती है' इसका भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि उक्त केश स्थल में स्पष्ट भेद दिखाई देने से

गकार इत्यनुभवादत्रापि प्रत्यभिज्ञानं भ्रमरूपमेवेति, सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञानुरोधेन ध्वंसानुभवस्य ध्वनिविषयत्वेनोपपत्तेः। अत एव यः पदार्थः प्रयुज्यते स प्रयोगात् प्राग् विद्यमानो यथा वास्यादि छिदायाम्, शब्दश्च परप्रत्यायनाय प्रयुज्यते, तेन प्रयोगात् प्राक् तत् सत्त्वम्। अनित्येऽपि प्रदीपादौ प्रत्यभिज्ञानं दृश्यते, क्षणिकस्यैव तस्य प्रयोगोऽपि दृश्यत इत्यपि प्रतिक्षिप्तमेव, बाधाबाधदर्शनस्य वैशेष्यात्।

यदप्युक्तम्—वर्णानां सावयवत्वेनासंनिहितवर्णभागस्य कथं प्रत्यभिज्ञानमिति, तन्न, वर्णेष्ववयवानुपलम्भेन वर्णभागानुपपत्तेः। तथाहि—न वर्णेषु सावयवत्वम्, साकल्यवैकल्याभ्यां ग्रहणाभावात्। नानुमानेन तद्ग्रहः, तैः सह कस्यचिल्लिङ्गस्य सम्बन्धाग्रहणात्। न च सामान्यतोदृष्टम्, नहि यद्यद्वस्तु तस्य तस्यावश्यमवयवैर्भाव्यम्, परमाणूनां निरवयवत्वात्। तेऽपि चेत्सावयवास्तदा तदवयवा अपि सावयवाः। ततश्चैकेन तिलेनापि सर्वं जगद्व्याप्येत, अनन्तैर्मूर्तैरवयवैरन्योऽन्यस्यावकाशमप्रयच्छद्भिरनन्तदेशव्याप्तेः। तस्मान्निरवयवाः परमाणवः शब्दाश्च। तदुक्तम्—'पृथङ् नैवोपलभ्यन्ते वर्णस्यावयवाः क्वचित्। न च वर्णेष्वनुस्यूता दृश्यन्ते तन्तुवत् पटे। तेषामनुपलब्धेश्च न ज्ञाता लिङ्गसन्ततिः। नागमस्तत्परश्चास्ति नादृष्टे चोपमा क्वचित्॥ न चाप्यनुपपत्तिः स्याद्वर्णस्यावयवैर्विना। यथान्त्यावयवानां हि विनाऽप्यवयवान्तरैः॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धश्च वर्णोऽवयववर्जितः।'

ननु द्रुतविलम्बितमध्येषूदात्तानुदात्तस्वरितेषु सानुनासिकनिरनुनासिकयोर्ह्रस्वदीर्घप्लुतेषु च प्रत्यभिज्ञायमाना जातिः किं न स्यादिति चेन्न, द्रुतादिभेदावभासस्य द्रुताद्यवस्थाभेदालम्बनत्वात्। सोऽयं गकार इति प्रत्यभि-

प्रत्यभिज्ञा का बाध माना जा सकता है, किन्तु प्रकृत स्थल में ऐसी स्थिति संभव नहीं है। यह गकार ध्वस्त (नष्ट) हो गया, इस तरह के अनुभव के आधार पर यहाँ पर भी प्रत्यभिज्ञान की भ्रमरूपता नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि 'यह वही गकार है' इस प्रत्यभिज्ञा के अनुरोध से ध्वंस के अनुभव को ध्वनि का विषयक मान लेना अधिक युक्तिसंगत है। इसलिये जिसका उपयोग दूसरे के लिये होता है, वह पहले से विद्यमान होता है, जैसे कि छेदन क्रिया के लिये उपयुक्त होने वाली कुल्हाड़ी उससे पहले से विद्यमान रहती है। उसी तरह से शब्द का प्रयोग दूसरे को समझाने के लिये ही होता है, इसलिये प्रयोग से पहले इसकी भी सत्ता माननी पड़ेगी। प्रदीप आदि की अनित्यता रहने पर भी प्रत्यभिज्ञा होती है और क्षणिकता के रहते हुए भी उसका प्रयोग वस्तु के दर्शन के लिये होता है, इस तरह की शंकाओं का समाधान भी किया जा चुका है, क्योंकि उक्त स्थलों में बाधदर्शन और उसका अभाव यह परस्पर एक दूसरे का वैलक्षण्य है।

वर्णों की सावयवता को मानकर आक्षेप किया जाता है कि 'वर्ण के जो भाग संनिहित नहीं हैं, उनकी प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकती है?' यह आक्षेप भी गलत है, क्योंकि वर्णों में अवयवों की उपलब्धि न होने से वर्णों के भाग नहीं बन सकते। जैसे कि वर्ण सावयव नहीं हैं, क्योंकि उनकी साकल्येन अथवा वैकल्येन प्रतीति नहीं होती। अनुमान से भी उनमें अवयवों की प्रतीति (ज्ञान) नहीं हो सकती, क्योंकि उनके साथ किसी लिंग का अविनाभाव संबन्ध प्रतीत नहीं होता। सामान्यतोदृष्ट अनुमान की भी यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक वस्तु के अवयव होने ही चाहिये, क्योंकि परमाणु निरवयव ही होते हैं। इनको भी यदि सावयव माना जाय तो फिर इनके अवयवों को भी सावयव मानना पड़ेगा और इस तरह से एक ही तिल से यह सारा जगत् भर जायगा। अनन्त मूर्त अवयव एक दूसरे को अवकाश नहीं दे सकते, अतः उनका अनन्त प्रदेश में फैल जाना अवश्यंभावी है। इसलिये शब्द और परमाणुओं को निरवयव ही माना जाता है। जैसा कि कहा गया है—'वर्णों के अवयव अलग से कभी भी उपलब्ध नहीं होते। पट के साथ जैसे तन्तु अनुस्यूत रहते हैं, उसी तरह से वर्णों के अवयव उनमें अनुस्यूत नहीं दिखाई पड़ते। उनकी उपलब्धि न होने से ही उनका किसी लिंग से संबन्ध भी नहीं बन पाता। वर्णों की सावयवता का बोधक कोई आगम भी नहीं है। अदृष्ट वस्तु में उपमान की भी प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थापत्ति से भी इनकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वर्ण की अवयवों के विना उपपत्ति न हो सकती हो, ऐसी कोई स्थिति नहीं है। जैसे कि अन्त्य अवयवों की उपपत्ति उनमें अवान्तर अवयवों की कल्पना के बिना भी होती है, उसी तरह से शब्द के विषय में भी समझना चाहिये। वर्ण अवयवों से रहित है, यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है।'

प्रश्न है कि 'द्रुत, विलम्बित और मध्य गति से उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के उच्चारण में और सानुनासिक-निरनुनासिक ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत के उच्चारण में प्रत्यभिज्ञायमान जाति को हम किस तरह से अस्वीकार कर सकते हैं?' उत्तर

ज्ञानस्य गकारव्यक्त्यालम्बनत्वात्। ननु गत्वादिसामान्यविषयत्वेन प्रत्यभिज्ञोपपत्तिरिति चेन्न, सामान्यासिद्धेः। यत्र धर्मिविषयो भेदो धर्मविषयश्चाभेदस्तत्रैव सामान्यस्यात्मलाभः, यथा शावलेयबाहुलेयादिषु धर्मिभेदेन भासमाने अयं गौरयं गौरिति धर्माभेदेन जातिलाभः। यत्र तु धर्मे भेदावभासो धर्मिणि चाभेदावभासस्तत्र न जातिलाभः, यथैकस्मिन्नेव देवदत्ते युवायं कृशोऽयं वृद्धोऽयमिति, तथैव द्रुतादिधर्मिविषयोऽभेदः, धर्मविषयस्तु भेदः। अनेनायमकारो द्रुतमुच्चरितोऽनेन विलम्वित इति प्रतीतिर्भवति, न त्वयमकारो द्रुतोऽयं विलम्वित इति प्रतीतिः, तस्मान्नात्र धर्मिभेदो न वा जातिः।

ननु क्रमिकत्वेन कार्श्यादीनामेकत्र समावेशसंभवेऽप्यनुनासिकादीनां यौगपद्यानेकवक्त्रुच्चारिते वर्ण समवेतानां कथमेकवर्णविषयत्वम्, एकस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वासंभवादिति चेन्न, ध्वनिधर्माणामेव सतामेषां वर्णसमारोपात्। महत्यल्पे च दर्पणे दृश्यमानेऽभिन्नेऽपि मुखे महत्त्वस्याल्पत्वस्य च विरुद्धधर्मयोः समारोपदर्शनात्। अत एव सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञायाः सादृश्यमपि न विषयः, वर्णस्य निरवयवत्वेन तत्रावयवसामान्यरूपस्य सादृश्यस्यासंभवात्। प्रत्यक्षविषयत्वाच्चापोहरूपं सामान्यमित्यपि वक्तुमशक्यम्। तदुक्तम्—'स एवेति मतेर्नापि सादश्यं न च तत् क्वचित्। विनावयवसामान्यैर्वर्णेष्ववयवा न च ॥ प्रत्यक्षविषयत्वाच्च नान्यापोहोऽपि युज्यते।'

अन्यदपि—'गकारादिषु सामान्यं शब्दत्वं कल्प्यते यथा। गोत्वं च शावलेयादौ तथैतत् किं न कल्प्यते ॥' गकारादिषु भेदप्रत्ययाद्भिन्ना व्यक्तयोऽभेदप्रत्ययाच्च सामान्यं यथाऽभ्युपेयते, तथैव द्रुतादिभेदेन भेदप्रत्ययाच्च भिन्ना

है कि यहाँ पर द्रुत आदि के रूप में वर्णों में भेद की प्रतीति द्रुत आदि अवस्था के भेद पर आधारित है। 'यह वही गकार है' इस तरह का प्रत्यभिज्ञान गकार व्यक्ति को ही अपना विषय बनाता है। इस प्रत्यभिज्ञान को गत्वादि सामान्य(जाति)विषयक इसलिये नहीं माना जा सकता कि यहाँ पर सामान्य (जाति) प्रमाण सिद्ध नहीं है। जहाँ पर धर्मी का भेद रहते हुए भी धर्मविषयक अभेद रहता है, वहीं पर सामान्य की स्थिति रहती है। जैसे शावलेय, बाहुलेय प्रभृति में धर्मी के भेद के रहते हुए भी सब जगह यह गौ है, यह गौ है, इस तरह के गौ धर्म की अभेदेन सर्वत्र प्रतीति होती है, इसलिये यहाँ पर सामान्य (गोत्व जाति) अपने आप सिद्ध हो जाता है, किन्तु जहाँ पर धर्म में भेद की प्रतीति और धर्मी में अभेद की प्रतीति रहती है, वहाँ पर जाति नहीं मानी जा सकती। जैसे कि एक ही देवदत्त में यह युवा है, यह कृश है, यह वृद्ध है, इस तरह से अनेक धर्मों की प्रतीति होती है, उसी तरह से वर्ण की द्रुतादि अवस्थाओं में भी धर्मी (वर्ण) तो वही रहता है, किन्तु उसमें जो भेद का भान होता है, वह धर्मविषयक ही है। इसी लिये इसने इस अकार का द्रुत उच्चारण किया और दूसरे ने विलम्बित उच्चारण किया, इस तरह की प्रतीति मानी जाती है, न कि यह अकार ही द्रुत है अथवा यह अकार ही विलम्बित है, इस प्रकार की। इसलिये यहाँ पर न तो धर्मी का ही भेद है और इसी कारण न यहाँ पर जाति ही मानी जा सकती है।

प्रश्न है कि 'कृशता (दुर्बलता) प्रभृति अवस्थाएं तो क्रमिक हैं, अतः उनका एक में समावेश हो सकता है, किन्तु अनुनासिक आदि का उच्चारण तो एक साथ होता है, अतः अनेक वक्ताओं के द्वारा उच्चरित वर्णों में एक साथ इनके समवेत होने से इनकी एक वर्णविषयता कैसे मानी जा सकती है, क्योंकि एक ही वस्तु में विरोधी धर्मों की स्थिति नहीं मानी जा सकती'। इसका उत्तर है कि वस्तुतः ध्वनि के इन धर्मों का ही वर्ण में समारोप कर दिया जाता है। बड़े अथवा छोटे दर्पण में प्रतिबिम्बित एक ही मुख में महत्त्व और अल्पत्व ये दो विरोधी धर्म प्रतीत होते देखे जाते हैं। इसीलिये यह वही गकार है, इस प्रत्यभिज्ञा का विषय सादृश्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि व[illegible] निरवयव हैं। इसलिये समान अवयव रूप सादृश्य यहाँ हो ही नहीं सकता। यह प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष पर आधारित है, अतः यहाँ पर अ[illegible] रूप सामान्य भी नहीं माना जा सकता। जैसा कि कहा गया है—'यह वही है' इस प्रत्यभिज्ञा का विषय सादृश्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह सादृश्य अवयव सामान्य पर आधारित है और वर्णों में जब अवयव ही नहीं होते तो अवयव सामान्य की स्थिति कैसे हो सकती है। यह प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधृत है, अतः यहाँ पर अन्यापोह रूप बौद्धाभिमत सामान्य भी नहीं रह सकता।

इसके बाद भी—'जैसे गकारादि में शब्दत्व सामान्य की कल्पना करते हैं और शावलेयादि में जैसे गोत्व की कल्पना करते हैं, उसी तरह से यहाँ पर भी सामान्य की कल्पना क्यों नहीं हो सकती'। 'गकार आदि में भेदप्रतीति के आधार पर व्यक्तिभेद

व्यक्तयः, स एवायं गकार इति भेदप्रत्ययाच्च गत्वादिकं सामान्यं मन्तव्यमित्यर्थः, इति पूर्वपक्षस्य सिद्धान्तितम्—गकारादिषु भेदप्रत्ययस्य व्यक्त्यालम्बनतेति तत्र जातिरुपेयते, द्रुतादिषु तु भेदप्रत्ययस्य व्यञ्जकध्वन्यालम्बनतया व्यक्तिभेदसिद्धिरिति न तत्र जात्यङ्गीकार इत्याह—'शाबलेयगकारादीन्निष्पन्नान् व्यक्तिरूपतः। साम्यधीर्नहि गृह्णातीयतो जातिरपोह्यते॥ न तु द्रुतादिभेदेन निष्पन्ना सम्प्रतीयते। गव्यक्त्यन्तरविच्छिन्नगव्यक्तिरपरा स्फुटा॥ तेनैकत्वेन वर्णस्य बुद्धिरेकोपजायते। विशेषबुद्धिसद्भावो भवेद् व्यञ्जकभेदतः॥' यथा गकारौकारयोः शाबलेयबाहुलेययोरभिव्यञ्जकोपाधिमन्तरेव स्फुटो व्यक्तिभेद उपलभ्यते, न तथा द्रुतविलम्बितगव्यक्त्योरभिव्यञ्जकध्वनिभेदमन्तरा स्फुटो भेद उपलभ्यते, तेनात्र वैषम्यम्।

यथा सामान्यवादिनो द्रुतादिभिः सामान्यं न भिद्यते, तथैव विशेषैर्वर्णोऽपि न भिद्यते। तदप्युक्तम्—'यथैव तव गत्वादि गम्यमानं द्रुतादिभिः। विशेषैरपि नानेकमेवं वर्णोऽपि नो भवेत्॥ त्वयापि व्यञ्जकव्यक्तिभेदाद्भेदोऽभ्युपेयते। ममापि व्यञ्जकैर्नादैर्भेदबुद्धिर्भविष्यति॥ तेन यत् प्रार्थ्यते जातेस्तद्वर्णादेव लभ्यते। व्यक्तिलभ्यं च नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा॥' तव मते व्यञ्जकव्यक्तिभेदात् सामान्ये भेदावभासः, मम तु व्यञ्जकनादभेदाद्वर्णे भेदावभासः। 'कल्पयित्वापि तत्पश्चाद्विभुत्वैकत्वनित्यताः। प्रत्येकवृत्तिता चास्य भवेयुर्महतः श्रमात्। द्वयोः सिद्धस्तु वर्णात्मा नित्यत्वादि यथैव च। कल्पितस्येष्यते तद्वत् सिद्धस्यैवाभ्युपेयताम्'॥ मम पक्षे धर्ममात्रकल्पना त्वत्पक्षे धर्मिकल्पना धर्मकल्पना चेति गौरवम्। 'प्रत्येकसमवाये च क्लेशो नैव भविष्यति। व्यञ्जनेषु च धीभेदो नैव कामं प्रवर्तते॥

की ओर अभेदप्रतीति के आधार पर सामान्य की प्रतीति मानी जाती है, उसी तरह से द्रुत आदि के भेद से भेदप्रत्यय के आधार पर व्यक्तियों का भेद और यह वही गकार है, इस अभेद प्रतीति के आधार पर गत्व आदि सामान्य (जाति) की भी सत्ता माननी चाहिये' इस तरह से पूर्वपक्ष का उत्थापन करके सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि—गकार आदि में भेद प्रतीति का आलम्बन व्यक्ति है, अतः वहाँ जाति मानी जा सकती है। द्रुत आदि में तो भेद प्रतीति का आधार व्यंजक ध्वनियाँ हैं, अतः यहाँ पर व्यक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये यहाँ पर जाति को नहीं माना जा सकता। जैसा कि कहा गया है—'शाबलेय आदि तथा गकार आदि की निष्पत्ति व्यक्ति रूप से होती है। यहाँ पर सादृश्य के अभाव में इनका ग्रहण साम्य बुद्धि से नहीं होता, इसलिये यहाँ जाति नहीं स्वीकार की जाती। इसी तरह की प्रतीति द्रुतादि भेद से निष्पन्न ध्वनियों की नहीं होती, एक ग ध्वनि के विच्छिन्न हो जाने पर दूसरी ग ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। इस तरह से वर्ण व्यक्ति की एकता के कारण वर्ण में एकत्व बुद्धि होती है, इसमें विशेष बुद्धि का सद्भाव व्यंजक के भेद से होता है'। जैसे गकार और औकार का तथा शाबलेय और बाहुलेय का भेद अभिव्यंजक उपाधि के बिना भी स्पष्ट प्रतीत होता है, उसी तरह का भेद द्रुत-विलम्बित ग व्यक्ति में अभिव्यंजक ध्वनि के भेद के बिना स्पष्ट उपलब्ध नहीं होता। इसलिये इन दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

जैसे सामान्यवादी के मत में द्रुत आदि के कारण सामान्य भिन्न नहीं होता, उसी तरह से किसी विशेषण के रहते भी वर्ण भिन्न नहीं माना जाता। जैसा कि कहा गया है—'जैसे आपके मत में गत्वादि द्रुतादि विशेषताओं से गम्यमान होता हुआ भी अनेक नहीं होता, उसी तरह से वर्ण भी अनेक नहीं होंगे। आप भी व्यंजक व्यक्ति के भेद से भेद मानते हैं, उसी तरह से हमारे मत में भी व्यंजक नाद के कारण वर्ण में भेद बुद्धि मानी जाती है। इससे जो काम जाति से लिया जाता है, वह केवल वर्ण से ही सिद्ध हो जाता है। व्यक्ति में जिन भेदों को मानें वे ही भेद ध्वनि में मानने से काम चल जाता है। इस तरह से गत्वादि सामान्य का मानना व्यर्थ है'। आपके मत में व्यंजक व्यक्ति के भेद से सामान्य में भेद की प्रतीति होती है और हमारे मत में व्यंजक नाद के भेद से वर्ण में भेद की प्रतीति मानी जाती है। आपके मत में उक्त कल्पना के बाद भी वर्णों की विभुता, एकता, नित्यता तथा प्रत्येकवृत्तिता को सिद्ध करने में बड़ा श्रम करना पड़ता है। वर्णात्मा शब्द दोनों के मत में सिद्ध है। इसमें नित्यत्वादि की जैसे आप कल्पना करते हैं, उसी तरह से उसको सिद्ध रूप में मानने में क्या बाधा है'। हमारे मत में केवल धर्ममात्र की कल्पना करनी है और आपके पक्ष में धर्मी और धर्म दोनों की कल्पना करनी पड़ेगी, इस तरह से गौरव है'। 'हमारे मत में प्रत्येक का समवाय संबन्ध मानने का क्लेश नहीं

दृश्यतेऽनुरागेण भेदो यो नाम तत्र नः। विवेकोऽस्त्येन नह्येष केवलानां प्रतीयते ।। अक्ष्वप्येवं परोपाधिर्द्रुतादिप्रत्ययो भवेत्। वर्णाश्रितत्वाद्वर्णत्वव्यञ्जनप्रत्ययो यथा ।।' व्यञ्जनेषु च धीभेदो मध्यमादिरूपो नास्ति, केवलद्रुतावभासनात्। तेन तत्र व्यक्तिभेदेऽसति निर्निबन्धनमेव सामान्यम्। तत्राऽनुरागेण भेदे सत्यपि केवलेषु तददर्शनात्, तथैवाक्ष्वपि परोपाधिका एव द्रुतादिप्रत्यया मन्तव्याः।

अविद्यमानेऽपि वस्त्वन्तराभावो दर्शयितुं न शक्यते, यथा शशविषाणे तैक्ष्ण्याभावः। तेन सपक्षस्य बाधसिद्धिर्न दोषः। यथा गत्वं गत्वाधारो न भवति, गान्यबुद्ध्यनिरूप्यत्वात्, तथैव गकारोऽत्यन्तनिष्कृष्टगत्वाधारो न गम्यते, गान्यबुद्ध्यनिरूप्यत्वात्, परकल्पितगत्ववत्। 'अवस्तुत्वेन साध्यत्वान्निषेधाद्धेतुसाध्ययोः। सपक्षेऽन्यतरासिद्धिर्न दोषायात्र जायते ।। वर्णत्वाच्चापि साध्योऽयमकारादिवदेव च। व्यतिरेकस्य चादृष्टेर्नात्र दृष्टं निवर्तते ।। गोत्वादि-वारणेऽप्येवं दृष्टबाधः स्फुटो भवेत्। नान्यथा हि मतिस्तत्र स्यात् सामान्यविशेषयोः ।। न चाप्येकत्र वस्तुत्वे भेदो व्यञ्जकभेदतः। न पिण्डव्यतिरेकेण व्यञ्जकोऽत्र ध्वनिर्यथा ।। पिण्डव्यङ्ग्यैव गोत्वादिर्नित्यं जातिः प्रतीयते। तेन भिन्नेषु पिण्डेषु जातिरेकाभ्युपेयताम् ।।'

ननु तद्द्वयं श्रोत्रं भवेत्तदा बुद्धिद्वयं भवेदपि, वायुसंयोगाद्यात्मनो नादस्य त्वश्रोत्रत्वात् कथं नादैर्विशेषधीः संभवतीति चेन्न, नादसंस्कृतश्रोत्राद्यदा शब्दप्रतीतिः स्यात्तदैव तदुपश्लेषतस्तत्प्रतीतिसंभवात्। सिद्धान्ते तु न वायु-तत्संयोगविभागात्मको नादः, किन्तु वायुगुणः। द्विविधः शब्दो वर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्च। शब्दत्वं द्वयोरनुगतम्। वर्ण-विशेषाः गकारादयः। ध्वनिविशेषाः शङ्खघोषादयः। वर्णत्वं ध्वनित्वं च शब्दत्वावान्तरसामान्यम्। यथा प्रभारूपं

है। व्यंजन वर्णों में भेद ज्ञान भले हो न हो, उनमें स्वर के मिलने से जो 'क का कि की' इस रूप में भेद दिखाई देता है उसको हम स्पष्ट समझते हैं, क्योंकि यह भेद केवल स्वर रहित 'क' इत्यादि वर्णों में नहीं दिखाई पड़ता। इसी तरह से द्रुतादि प्रत्यय की अच् वर्णों में जो प्रतीति होती है, वह भी परोपाधिक गौण ही है, जैसे व्यंजन की प्रतीति वर्णाश्रितत्व और वर्णत्व के रूप में होती हैं'। व्यंजन वर्णों में मध्यम आदि के रूप में बुद्धि-भेद नहीं रहता, क्योंकि वहाँ पर केवल द्रुत का ही आभास होता है। इस तरह से यहाँ पर व्यक्ति के भेद के न होने के कारण जाति मानने का कोई कारण नहीं हो सकता। वहाँ 'अ आ इ' इत्यादि स्वरों के मिलने से व्यंजनों में भेद हो भी सकता है, किन्तु केवल व्यंजनों में कोई भेद नहीं रहता, उसी तरह से स्वरों में भी परोपाधि के कारण ही द्रुत, विलम्बित आदि भेदों की प्रतीति होती है, ऐसा ही मानना ठीक है।

अविद्यमान वस्तु में भी दूसरी वस्तु का अभाव नहीं सिद्ध किया जा सकता, जैसे कि शशविषाण में तीक्ष्णता का अभाव। इसलिये सपक्ष में बाध की सिद्धि दोष नहीं है। जैसे गत्व गत्व का आधार नहीं होता, क्योंकि वह गकार से भिन्न बुद्धि से निरूपित नहीं होता, उसी तरह से गकार अत्यन्त निष्कृष्ट गत्व का आधार भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी गकार से भिन्न बुद्धि से निरूप्य नहीं है, जातिवादी के मत से कल्पित गत्व की तरह। 'अवस्तु की साध्यता में हेतु और साध्य का निषेध करने में सपक्ष में किसी एक की सिद्धि न होने पर भी कोई दोष नहीं माना जाता। अकार आदि की तरह ही गकार की भी वर्णता सिद्ध करनी है। व्यतिरेक के अभाव में दृष्ट की निवृत्ति नहीं मानी जा सकती। इसी तरह से गोत्व प्रभृति के वारण में भी स्पष्ट ही दृष्टबाध हो जायगा। यहाँ पर सामान्य और विशेष की दूसरे किसी प्रकार से व्यवस्था बन ही नहीं सकती। एक ही वस्तु में व्यंजक के भेद से भेद नहीं माना जा सकता, जब तक कि पिण्ड का भेद न हो। जैसे यहाँ पर व्यंजक ध्वनि के भेद से वर्ण में भेद नहीं माना जा सकता। गोत्वादि जाति की प्रतीति सदा पिण्ड से ही व्यंग्य होने पर ही होती है। इसलिये भिन्न पिण्डों में भी एक ही जाति माननी चाहिये'।

प्रश्न उठता है कि 'ध्वनि और वर्ण दोनों की यदि श्रोत्रेन्द्रिय से प्रतीति होती हो तो दो तरह की बुद्धि हो भी, वायु संयोग आदि से उत्पन्न नाद तो श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, तब इस नाद के कारण वर्णों में विशेष बुद्धि (भेद ज्ञान) की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर है कि नादों से संस्कृत श्रोत्र से जब शब्द की प्रतीति होगी, तभी उनके उपश्लेष (संबन्ध) के आधार पर वर्ण की प्रतीति हो सकती है। यह उत्तर आपके मत को मानने पर हुआ। सिद्धान्त पक्ष में नाद को वायु के संयोग और विभाग से उत्पन्न नहीं माना जाता, किन्तु इसको वायु का गुण माना जाता है। शब्द दो प्रकार का होता है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। इस तरह से

भावान्तराणां व्यञ्जकम्, तथव ध्वनिः शब्दव्यञ्जकः शब्दोपश्लिष्टः प्रतीयते, शङ्खघोषादिषु केवलोऽनुभूयते। अथवा वायवीयानां नादानामश्रोत्रत्वेऽपि नादसंस्कारानुसारेण वर्णे द्रुतादिकं ग्रहीष्यते। यथा गकारादिषु जातिव्यक्तिभेदाभ्युपगन्तुर्वैशेषिकस्य शब्दस्य निर्गुणत्वेन महत्वाल्पत्वादिगुणाभावेऽपि ध्वन्यनुसारिण्या बुद्धचा महत्त्वादिकं प्रतीयते, तथैवेहापि भविष्यति।

ननु व्यञ्जकेषु नादेष्वनवगतेषु कथं तद्धर्मप्रतीतिर्व्यङ्ग्ये ष्विति चेन्न, यथा पित्तदोषेणानवगतेनैव मधुरं तिक्तरूपेण श्वेतं पीततया गृह्यते, तथैव नादेषु श्रोत्रं प्राप्य क्षिप्रमन्यतः प्रयातेष्वपि तत्संयोगसंस्कारस्याल्पकालमवस्थानाच्छब्दोऽपि क्षण एवाविर्भूय तिरोभवद् द्रुत इति गृह्यते, मध्यमो विलम्वित इति च, तेन युक्तो व्यञ्जकधर्माणां भ्रान्त्या शब्दे समारोपः। 'अथवा ग्रहणं तेषां शब्दे वुद्धिस्तु तद्वशात्। संस्कारानुकृतेः सोऽपि महत्त्वाद्यवबुद्धचति।। मधुरं तिक्तरूपेण श्वेतं पीततया तथा। गृह्णन्ति पित्तदोषेण विषयं भ्रान्तचेतसः।। मण्डूकवशयाऽक्ताक्षा वंशानुरगबुद्धिभिः। व्यक्त्यल्पत्वमहत्त्वाभ्यां सामान्यं च तदाश्रयम्।। गृह्णन्ति यद्वदेतानि निमित्तग्रहणाद्विना। व्यञ्जकस्थमबुद्ध्वैवं व्यङ्ग्ये भ्रान्तिर्भविष्यति।।'

ननु तथापि ह्रस्वदीर्घादिभेदस्यार्थविशेषौपयिकतया कथं भ्रान्तित्वम्, तद्भ्रान्तित्वे वाष्पजनितवुद्धिवत् तन्निवन्धनार्थबुद्धिरपि भ्रान्तिः स्यात्, न च नग इति नागा इति च पदात् तरुं वा कुञ्जरं वा प्रतिपद्यमाना भ्रान्ता भवन्ति। ततः पारमार्थिक एव भेदोऽभ्युपेयः। तथा च सति तदनुवृत्तम् अत्वादिसामान्यमप्युपेयमिति चेन्न, सत्यपि

शब्दत्व दोनों में अनुस्यूत है। गकारादि वर्णविशेष कहलाते हैं और शंखघोष प्रभृति ध्वनिविशेष। इस तरह से वर्णत्व और ध्वनित्व शब्दत्व का अवान्तर सामान्य (जाति) हुआ। जैसे प्रभा का रूप भावान्तर (दूसरी वस्तुओं) का अभिव्यंजक है, उसी तरह से शब्द व्यंजक ध्वनि शब्द के साथ प्रतीत होती है, शंखघोष प्रभृति स्थल में केवल ध्वनि का ही अनुभव होता है। अथवा वायवीय नाद श्रोत्र (कान) का विषय न भी हो, तो भी नाद के संस्कार के अनुसार वर्ण में द्रुत आदि का ग्रहण हो सकेगा। जैसे गकारादि में जाति और व्यक्ति के भेद को स्वीकार करने वाले वैशेषिक के मत में शब्द की निर्गुणता के कारण महत्त्व, अल्पत्व आदि गुणों का अभाव होते हुए भी ध्वनि का अनुसरण करने वाली वुद्धि से महत्त्व आदि की प्रतीति होती है, उसी तरह से यहाँ पर भी समझना चाहिये।

प्रश्न उठता है कि 'जब तक व्यंजक नाद (ध्वनि) को अवगति नहीं होती, तब तक व्यंग्य में उनके धर्मों की प्रतीति कैसे हो सकती है?' उत्तर है कि जैसे पित्त दोष के ज्ञात न होने पर भी मधुर रस की तिक्त रस के रूप में और श्वेत शंख की पीत शंख के रूप में प्रतीति होती है, उसी तरह से नादों के भी श्रोत्र तक पहुँच कर शीघ्र ही अन्यत्र चले जाने पर भी उनके संयोग संस्कार की स्वल्प काल तक अवस्थिति रहने पर शब्द भी कुछ क्षण के लिये आविर्भूत होकर जब तिरोहित हो जाता है तो उसका ग्रहण द्रुत रूप में होता है, इसी तरह से मध्यम और विलम्बित का भी ग्रहण तदनुसार क्षण स्थिति के आधार पर होता है। इस तरह से व्यंजक धर्मों का शब्द में समारोप भ्रान्ति पर आधारित है। 'अथवा यहाँ पर नादों के ग्रहण के आधार पर ही शब्द में द्रुतादि वृत्तियाँ गृहीत होती हैं। संस्कारों के अनुकरण के आधार पर पुरुष महत्त्वादि धर्मों को जानता है। यह उसी तरह से होता है, जैसे कि पित्त के दोष से दूषित इन्द्रिय-चित्त वाला व्यक्ति भ्रान्ति से मधुर में तिक्तता का और श्वेत वस्तु में पीतता का अनुभव करने लगता है। इसी तरह से मण्डूक (मेढक) की वशा (चर्बी) का अंजन लगा लेने पर व्यक्ति को बाँस में सर्प की भ्रान्ति होने लगती है। जिस तरह से भ्रान्तचित्त वाले व्यक्ति अभिव्यक्ति की अल्पता और महत्ता के आधार पर सामान्य (जाति) की कल्पना करके बिना निमित्त के ही पदार्थों का ग्रहण करने लगते हैं, उसी तरह से व्यंजक में स्थित धर्मों का ग्रहण किये बिना ही व्यंग्य में भ्रान्ति हो जायगी।'

पुनः प्रश्न उठता है कि तो भी ह्रस्व-दीर्घ आदि का भेद अर्थविशेष की बोधकता में उपयोगी है, उसको भ्रान्त कैसे कह सकते हैं? इसको यदि भ्रान्त माना जाय तो वाष्प से उत्पन्न अग्नि बुद्धि की तरह उससे होने वाली बुद्धि को भी भ्रान्त मानना पड़ेगा, किन्तु नग तथा नाग शब्द से वृक्ष और हाथी की प्रतीति जिनको होती है, उनको कोई भी भ्रान्त नहीं कह सकता। अतः इनका भेद पारमार्थिक (वास्तविक) ही मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर इनमें अनुवृत्त अत्वादि सामान्य को भी मानना पड़ेगा।' उत्तर

भेदेऽत्वस्य दीर्घप्लुतयोरननुवृत्तेः, आत्वस्य ह्रस्वप्लुतयोरननुवृत्तेश्च। अवर्णकुलमित्यपि न जातिव्यवहारः, किन्तु वनादिवत् समुदायव्यवहार एव। सिद्धान्ते तु ह्रस्वादिभेदोऽप्युच्चारणधर्म एव वर्ण आरोप्यते। न चैवं पूर्वोक्तरीत्याऽर्थे भ्रान्तिः स्यादिति वाच्यम्, अश्वादिजवस्य पुंसां कार्य्याङ्गत्ववत् परधर्मस्य वर्णकार्य्याङ्गत्वोपपत्तेः। वृद्धपारम्पर्य्येण यादृशाच्छब्दादर्थप्रतीतिरवगता, तादृशादर्थप्रतीतेरभ्रमत्वात्। यथा च भ्रान्त्यावगतेनापि स्फटिकेनान्यरूपेण जपाकुसुमसन्निध्यनुमानं न भ्रान्तिस्तथैवेहापि ज्ञेयम्।

न च दीर्घाद्यनित्यत्वाद्वाचकानित्यत्वमानुपूर्वीवत्प्रवाहनित्यत्वेन दीर्घादीनामपि नित्यत्वोपपत्तेः। यद्यप्यकारो ह्रस्वादिरूपपरिहारेण न दृश्यते, तथापि ह्रस्वदीर्घप्लुतेषु व्यावर्तमानेषु योऽनुवर्तते स एवेति भूषणादिष्वनुवर्तमानं हेमेव ज्ञातुं शक्यते। नन्वेवं द्रुतादिह्रस्वाद्युदात्तादिभेदार्थमकारादिषु भिन्नजातीया ध्वनयोऽभ्युपेया इति चेन्न, एकस्य वर्णस्य ध्वनोनामेकजातोयत्वेऽपि तैरेव मृदुतीव्रत्वादिसमन्वितैर्द्रुतादिभेदसिद्धेः। वर्णानामभिव्यक्ताविव ध्वन्यन्तरानपेक्षणात्। युगपच्छ्रोत्रं संस्कुर्वन्तो वर्णस्वरूपं बोधयन्ति क्रमेण तु संस्कुर्वन्तो बोधमनुवर्तयन्ति। एतेन द्रुतमध्यविलम्बितावस्थायामेक एव गकारादिवर्णः। स एव गकारादिवर्णो द्रुतादिभेदभिन्नः। या या अकारप्रतीतिः सा पूर्वाकारप्रतीत्यभिन्नविषया, यथा पूर्वा अकारप्रतीतिः, उत्तराकारप्रतीतिरप्यकारप्रतीतिरिति सापि तथा स्यात्, इत्यादिरीत्याऽपि वर्णनित्यत्वसिद्धिः।

यदप्युक्तम्—स्वलक्षणयोरभेदसाधने न समर्थोऽयं हेतुः। तथाहि—किं पूर्वाकारप्रतीतिरूपत्वादिति हेतुविशेषेण तत्साध्यते, अकारप्रतीतिमात्रत्वादिति हेतुसामान्येन वा तत्साध्यते? आद्ये पूर्वाकारप्रतीतित्वासिद्धेर्हेत्वसिद्धिः।

है कि ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि भेद के रहते हुए भी अत्व की दीर्घ और प्लुत में अनुवृत्ति नहीं रहती और आत्व की ह्रस्व और प्लुत में अनुवृत्ति नहीं रहती। अवर्ण कुल के आधार पर भी जाति का व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि लोक में भी एक कुल को एक जाति का आधार नहीं माना जाता। किन्तु यहाँ पर वन प्रभृति शब्दों की तरह समुदाय का ही व्यवहार होता है। सिद्धान्ततः यहाँ पर भी ह्रस्वादि का भेद उच्चारण का ही धर्म है, इसका वर्ण में आरोप किया जाता है। ऐसा मानने पर पूर्वोक्त रीति से अर्थ में भी भ्रान्ति की आपत्ति का परिहार इस तरह से हो जायगा कि जैसे घोड़े आदि का वेग मनुष्य के कार्य का अंग हो जाता है, उसी तरह से ध्वनि, उच्चारण प्रभृति का धर्म भी वर्ण के कार्य का अंग हो जायगा। वृद्ध परम्परा के आधार पर जिस तरह के शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, उस तरह की शब्दार्थ प्रतीति भ्रमात्मक नहीं मानी जा सकती। जैसे भ्रान्ति से अवगत स्फटिक मणि से उसकी अन्यरूपता को देखकर जपाकुसुम की संनिधि का अनुमान भ्रान्त नहीं माना जाता, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये।

दीर्घादि स्वरों की अनित्यता के आधार पर भी वाचक की अनित्यता नहीं होगी, क्योंकि आनुपूर्वी के अनुसार प्रवाह नित्यता के आधार पर दीर्घादि स्वरों की भी नित्यता सिद्ध हो जायगी। यद्यपि अकार कभी ह्रस्व, दीर्घ आदि रूप को छोड़कर दिखाई नहीं देता, तो भी ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इनमें से किसी एक के न रहने पर भी जिस रूप की अनुवृत्ति होती है, उसी को अकार कहा जा सकता है, जैसे कि कटक, कुण्डलादि भूषणों की व्यावृत्ति होने पर भी सुवर्ण की सब में अनुवृत्ति रहती है। प्रश्न है कि तब 'द्रुतादि, ह्रस्वादि और उदात्तादि के भेद के लिये अकारादि में भिन्नजातीय ध्वनियाँ माननी पड़ेगी।' उत्तर है कि नहीं। एक वर्ण की ध्वनियों के एकजातीय होने पर भी उन्हीं की मृदुता, तीव्रता आदि के आधार पर द्रुतादि भेदों की सिद्धि हो जायगी, अतः जैसे वर्णों की अभिव्यक्ति के लिये दूसरी ध्वनि की अपेक्षा नहीं रहती, उसी तरह से द्रुतादि भेद की सिद्धि के लिये भी ध्वनियों में जात्यन्तर (भिन्न जाति) की अपेक्षा नहीं रहेगी। जब ये श्रोत्र का एक साथ संस्कार करती हैं तो वर्ण के स्वरूप का बोध (ज्ञान) कराती है। जब क्रम से संस्कार करती हैं तो बोध (ज्ञान) का अनुवर्तन करती हैं। इस तरह से द्रुत, मध्य, विलम्बित अवस्थाओं में एक ही गकारादि वर्ण रहता है। वही एक गकारादि वर्ण द्रुतादि के औपाधिक भेद से भिन्न सा हो जाता है। अकारादि की सभी प्रतीतियों का विषय पूर्व प्रतीत अकारादि की प्रतीतियों से अभिन्न है, जैसी कि पूर्व अकार की प्रतीति, उत्तराकार की प्रतीति भी अकार की प्रतीति है, अतः वह भी उसी तरह की होगी; इस तरह के अनुमान से भी वर्ण की नित्यता की सिद्धि हो सकती है।

उत्तराकारप्रतीतिरप्यकारप्रतीतिरेव। तत्र च पूर्वाकारप्रतीतित्वासिद्धिः। उत्तराकारप्रतीतिरूपत्वादिति विशेष-हेतुनाऽपि न तत्सिद्धिः, अनैकान्तिकत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः। न द्वितीयोऽपि, भिन्नविषयत्वेऽप्यविरोधात्। अकारप्रतीतिश्च स्यात्, भिन्नविषयाऽपि स्यात्, को विरोधः? किञ्चाकारप्रतीतित्वं यथोभयोः सामान्यम्, तथाकारविषयत्वमप्यविरुद्ध-मिति चेन्न, प्रतिसंख्यानिरोधादिनित्यबुद्ध्योरपि भवदुक्तदिशा भिन्नविषयत्वापत्त्या नित्यत्वमात्रस्यासिद्ध्यापातात्।

यदप्युक्तम्—एकविषययोश्च प्रतीत्योः पूर्वव्यवस्थितैकाकारविषययोः पूर्वोत्तरकालभाविन्योः प्रतीत्योः पूर्वापरभावः प्राक् पश्चाद्भावेन विरुद्ध्यते, संनिहितासंनिहितकारणत्वेन यथाक्रमं कार्यस्योत्पादानुत्पादात्। संनिहित-कारणत्वे च तयोर्युगपद्भावः स्यात्। अथ संनिहितेऽपि कारणे पूर्वैवाकारप्रतीतिरुत्पद्यते, नोत्तरा, तदा पश्चादपि सा न स्यात्, पूर्वापरप्रतीतिकारणसन्निधानेऽप्यनुत्पन्नस्योत्तराकारप्रतीतिविशेषस्यातत्कारणत्वात्। पूर्वाकारप्रतीति-कारणस्य तदकारणत्वात्। तस्मात् पूर्वापरभाविन्योः प्रतीत्योर्भिन्नाखिलकारणत्वमेवेति। तदपि धूलिप्रक्षेपमात्रम्, उभयोः प्रतीत्योरेकाकारस्य कारणत्वेऽपि सहकारिसन्निधानक्रमादुत्पत्तिक्रमे बाधाभावात्।

ननु चैकस्य विषयस्याभेदे शक्तस्याप्रतीक्षणात्तयोः प्रतीत्योर्युगपद्भाव एव स्यादिति चेन्न, सहकारि-सन्निधानविलम्बेन कार्यविलम्बस्यासकृदावेदितत्वात्। किञ्च, पूर्वापरकालविशिष्टविषयकत्वेन प्रतीत्योर्भेदेऽपि पूर्वापरकालोपलक्षितस्य वस्तुनोऽभेदस्य सोऽयं देवदत्त इत्यादौ सर्वानुभवसिद्धत्वादनपलपनीयोऽयमर्थः। ततश्च युक्ति-विरुद्धं पूर्वापरयोः प्रतीत्योरेकविषयत्वमिति मुधैव जल्पितम्, युक्तिसामञ्जस्यस्य दर्शितत्वात्।

इस प्रसंग में कहा गया है कि 'दो स्वलक्षणों को अभिन्न सिद्ध करने में यह हेतु समर्थ नहीं है। जैसे कि 'पूर्वाकार-प्रतीतिरूपत्वात्' इस हेतुविशेष से उसकी सिद्धि होती है या 'अकारप्रतीतिमात्रत्वात्' इस हेतु सामान्य से? प्रथम पक्ष में पूर्वाकार प्रतीति के सिद्ध न होने से हेतु ही असिद्ध हो जायगा। उत्तराकार प्रतीति भी अकार की ही प्रतीति है। यहाँ पर पूर्वाकारप्रतीतित्व की सिद्धि नहीं होगी। 'उत्तराकारप्रतीतिरूपत्वात्' इस विशेष हेतु से भी उसकी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि इसकी अनैकान्तिकता (व्यभिचारी) के कारण ही व्याप्ति की सिद्धि नहीं होगी। द्वितीय पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि इनका विषय भिन्न मानने में भी कोई विरोध नहीं है। अकार की प्रतीति भी हो और इनकी भिन्नविषयता भी हो, इसमें क्या विरोध है? अपि च, जैसे दोनों ही पक्षों में अकारप्रतीतित्व समान है, उसी तरह से अकारविषयत्व में भी उभयत्र कोई विरोध नहीं है'। यह पूरा कथन इसलिये अयुक्त है कि आपकी बताई इस पद्धति से तो प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध जैसी नित्य बुद्धियाँ भी भिन्नविषयिणी हो जायगी और इस तरह से कहीं भी नित्यत्व की सिद्धि न हो सकेगी।

यह भी कहा गया है कि 'एक विषय वाली दो प्रतीतियों की, जिनका कि आकार और विषय पहले से व्यवस्थित है, यदि पूर्वापर काल में होती है, तो इनका पूर्वापरभाव प्राक् पश्चात् भाव से विरुद्ध पड़ेगा, क्योंकि कारण की संनिधि और असनिधि के आधार पर क्रमशः कार्य का उत्पाद (उत्पत्ति) और अनुत्पाद (अनुत्पत्ति) मानना पड़ेगा। कारण की सदा संनिधि मानने पर उनकी एक साथ उत्पत्ति माननी पड़ेगी। अब यदि यह कहा जाय कि कारण के संनिहित रहने पर भी पूर्वाकार प्रतीति ही पहले उत्पन्न होती है, उत्तराकार प्रतीति नहीं, तो इस अवस्था में उसकी प्रतीति बाद में भी नहीं होनी चाहिये, क्योंकि पूर्वापर प्रतीति के कारणों की संनिधि में भी अनुत्पन्न उत्तराकार प्रतीति विशेष का वह कारण ही न हो सकेगा। पूर्वाकार प्रतीति का कारण उत्तराकार प्रतीति का कारण नहीं हो सकता। इसलिये पूर्व और अपर काल में होने वाली दो प्रतीतियों के भिन्न होते हुए भी उनको एक ही कारण से पैदा होने वाली मानना पड़ेगा'। किन्तु यह सब धूलिप्रक्षेप मात्र है, क्योंकि उभय प्रतीतियों की एकाकारता ही उसमें यद्यपि कारण अवश्य है, किन्तु सहकारी के संनिधान के क्रम से उनकी उत्पत्ति की क्रमिकता में कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न है कि 'एक ही विषय में यदि भेद नहीं है, तो समर्थ कारण किसी सहायक की प्रतीक्षा क्यों करेगा? और उक्त प्रतीतियाँ एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न हो सकेंगी'? उत्तर है कि हम यह अनेक बार बता चुके हैं कि सहकारी के संनिधान में विलम्ब होने पर कार्य की निष्पत्ति में भी विलम्ब हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि पूर्वकाल विशिष्ट और अपरकाल विशिष्ट विषयक प्रतीतियों के भेद होते हुए भी पूर्व और उत्तर काल से उपलक्षित वस्तु का अभेद 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि स्थलों में सर्वानुभव

एतेन यदुक्तम्-यत्क्रमभावि तन्नैकविषयम्, यथा चक्षुःश्रोत्रविज्ञानम्, क्रमभाविन्यौ च पूर्वोत्तरे अकारप्रतीती। एकविषयत्वमक्रमभावित्वेन व्याप्तमिति तद्विरुद्धक्रमभावित्वोपलब्ध्या चैकविषयत्वं निवर्तते, तथा च प्रत्यभिज्ञाऽनुमानबाधिता स्यादित्यप्यपास्तम्, पूर्वापरकालोपलक्षितस्याकारस्याभेदेऽपि पूर्वापरकालविशिष्टविषयकत्वेन भेदसिद्धेरिष्टत्वेन सिद्धसाधनात्, प्रत्यभिज्ञात्मकप्रत्यक्षेण चानुमानस्य बाधितार्थविषयत्वात्।

यदप्युक्तम्—स एवायमिति ज्ञानस्य पूर्वापरकालसम्बन्धिविषयत्वेन भेदविषयत्वमेव, अन्यथा पूर्वकालसम्बन्धित्वादपरकालसम्बन्धित्वस्याभेदे पूर्वांशप्रतिभासाभावप्रसङ्गाद् अयमेवेति ज्ञानं स्यात्, न स एवेति। तस्मात् प्रत्यभिज्ञाया भेदविषयत्वेन कथं प्रत्यभिज्ञातोऽनुमानबाध इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, सोऽयमिति वाक्येन भागत्यागलक्षणया तात्पर्य्यगोचरस्याभेदस्यैव बुबोधयिषितत्वात्, सोऽयं तदन्यो वेति संदिहानस्य संदेहनिवृत्तौ वाक्यस्योपयोगात्, पूर्वापरकालसम्बन्धभेदस्याविवक्षितत्वाच्च। पूर्वापरकालभेदेऽप्युभयकालान्वितस्य वस्तुतोऽभिन्नत्वात्। अत एव स एवायमित्येकानुभवः, तथाप्यतीतज्ञानगोचरताऽपरोक्षते एकाधिकरणे गृह्णन् संवेद्यते। यदि च ग्रहणस्मरणरूपं प्रत्ययद्वयम्, तथापि निरन्तरोत्पन्नाभ्यां घटस्मरणघटग्रहणाभ्यां विलक्षणमिदम्, परस्परविषयत्वेन प्रतिभासनात्। अपरोक्ष एवार्थोऽतीतज्ञानविशिष्टतया स्मृतौ प्रतिभासते, अतीतज्ञानविषयश्चापरोक्षतया प्रत्यक्षे, तदहं स्मराम्येतदिति प्रतिभासनात्। तस्मादनिमिषितदृष्टेर्यदुत्पत्तिविनाशरहितानुवृत्ताध्यवसायः स एव बाधकः क्षणभङ्गसाधकानुमानस्येत्यपि सम्यगेव।

सिद्ध है, इसलिये इस बात का अपलाप नहीं किया जा सकता। इस तरह से पूर्व और अपर प्रतीति की एकविषयता युक्ति विरुद्ध है, यह कथन व्यर्थ की बकवास है, क्योंकि ऊपर हमने इस बात को युक्तियों के सहारे भलीभाँति प्रतिपादित कर दिया है।

उक्त प्रतिपादन से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि—'जो क्रम से उत्पन्न होता है, उसका विषय एक नहीं रहता, जैसे कि क्रमभावी चक्षुर्विज्ञान और श्रोत्रविज्ञान का विषय एक नहीं होता। इसी तरह से पूर्व और अपर काल की अकार प्रतीतियाँ भी क्रमभाविनी हैं। एकविषयता व्याप्य है और अक्रमभावित्व व्यापक है। अतः अक्रमभावित्व रूप व्यापक से विरुद्ध क्रमभावित्व की उपलब्धि होने से एक विषयत्व भी निवृत्त हो जायगा। इस तरह से एकत्व की प्रतिपादक प्रत्यभिज्ञा अनुमान से बाधित हो जायगी।' क्योंकि पूर्व और अपर काल से उपलक्षित अकार में अभेद होते हुए भी पूर्व और अपर काल से विशिष्टविषयता के आधार पर भेद की सिद्धि इसको भी इष्ट ही है। अतः यह तो सिद्ध वस्तु को पुनः सिद्ध करने के समान हुआ। प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष पर आधारित है, अतः प्रत्यभिज्ञा से अनुमान ही बाधित होगा, न कि अनुमान से प्रत्यभिज्ञा।

यह जो कहा गया है कि 'यह वही है' इस ज्ञान का विषय पूर्व और अपर काल संबन्धी है, अतः 'यह वही है' यह ज्ञान भेदविषयक ही है। अन्यथा पूर्व काल संबन्धी से अपर काल संबन्धी का अभेद मानने पर पूर्वांश के प्रतिभास (ज्ञान) के अभाव का प्रसंग उठ खड़ा होगा और तब 'यही है' इस तरह का ज्ञान होगा, न कि 'यह वही है' इस प्रकार का। इस तरह से प्रत्यभिज्ञा की भिन्नविषयता के कारण उससे अनुमान का बाध कैसे होगा? 'किन्तु यह कथन भी अविचारित रमणीय है, क्योंकि 'यह वही है' इस वाक्य से भागत्यागलक्षणा से तात्पर्य गोचर (विषयक) अभेद को ही बताने की इच्छा है। यह वही है या उससे भिन्न? इस तरह का जिसको संदेह होता है, उसके संदेह की निवृत्ति में इस वाक्य का उपयोग होता है। यहां पर पूर्वकाल और अपरकाल का भेद विवक्षित नहीं है, इस तरह से पूर्वापर काल का भेद रहते हुए भी उभयकालान्वित (दोनों कालों से संबद्ध) वस्तु की एकता में कोई बाधा नहीं है। इसीलिये 'यह वही है' इस तरह का एक ही अनुभव होता है, तो भी अतीतज्ञानगोचरता और अपरोक्षता इन दोनों का एक ही अधिकरण में ग्रहण होता है। यद्यपि ग्रहण और स्मरण रूप दो ज्ञान हैं, तो भी निरन्तर उत्पन्न हो रहे घट स्मरण और घट ग्रहण (प्रत्यक्ष) इन दोनों से यह ज्ञान विलक्षण है, क्योंकि इसका विषय परस्पर दोनों से संबद्ध है। अपरोक्ष अर्थ ही अतीत ज्ञान से विशिष्ट होकर स्मृति में प्रतिभासित होता है और अतीत ज्ञान का विषय अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्ष में भासित होता है, क्योंकि 'इसको मैं उसके रूप में स्मरण करता हूँ' इस प्रकार का प्रतिभास यहाँ होता है। इस तरह से अनिमिषित दृष्टि वाले पुरुष को जो उत्पत्ति और विनाश से रहित अनुवृत्ताकार (एकाकार) अध्यवसाय (निश्चय) होता है, वही क्षणभंग के साधक अनुमान का बाधक होता है, यह कथन ठीक ही है।

यदत्रैवोक्तमुत्तरोत्तरप्रत्यक्षाणां यथाक्रममुत्तरोत्तरावस्थाभेदविषयत्वेन स एवायमिति तत्त्वारोपस्य भ्रान्तत्वमेव, प्रथमदर्शनप्रत्यक्षेऽपरोक्षावस्थाया इवातीतज्ञानविषयावस्थाया अप्रतिभासनात्। भूयोदर्शितमपीदानीन्तनेन रूपेण वस्त्व व स्थितं न प्राक्तनेन रूपेण। प्राक्तनरूपस्यानवस्थानमेव विनाशः। यथा वृद्धावस्थायां वालरूपस्य। प्राक्तनं च रूपमतीतज्ञानकर्म। इदानीन्तनं च रूपमपरोक्षमथ च बालाद्यवस्थायां दृष्टः पुरुषो वृद्धावस्थायां प्रत्यभिज्ञायत इति कथमतीतज्ञानकर्मताऽपरोक्षते एकाधिकरणे प्रतिभासेते ? कथं वा परोक्षस्वार्थोऽतीतज्ञानविशिष्टतया स्मृतौ प्रतिभासत इत्याद्युच्यते। यत्राप्यनिमिषितदृष्टेश्चिरतरकालं पश्यतोऽनुवृत्ताध्यवसायस्तत्रापीदानीन्तनप्रत्यक्षज्ञानसम्बन्धेनार्थस्यापरोक्षतोत्पद्यते। अतीतज्ञानाभावेनातीतज्ञानकर्मतायाश्चेदानीमभाव एव विनाश इति कथमुत्पत्तिविनाशरहितानुवृत्ताध्यवसायः क्षणिकत्वानुमानस्य वाधक इति, तदपि तुच्छम्, अवस्थानां भेदेऽप्यवस्थावतः कटकमुकुटकुण्डलादिषु हेम्न इवानुवृत्तस्याभेदे प्रत्यभिज्ञाया अबाधात्। विभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति समानविभक्तिकत्वे सत्येकार्थनिष्ठत्वं हि सामानाधिकरण्यं भवति। अत्यन्ताभेदाद् घटो घटः, अत्यन्तभेदाद् अश्वो महिष इति च न भवति। शाब्दबोधे वृद्धावस्थायां वालावस्थावतो यत्प्रत्यभिज्ञानं तदप्यनुवृत्तांश एव समञ्जसम्। अवस्थयोर्व्यावृत्तावप्यवस्थावतोऽनुवृत्तिदर्शनादनिमिषितदृष्टेश्चिरतरं पश्यतोऽनुवृत्ताध्यवसायेन क्षणभङ्गभङ्गस्तु स्पष्ट एव, अतीतज्ञानकर्मतायाश्चेदानीमभावेऽपि स एवायमित्यनन्यथासिद्धानुभवेनानुवृत्तिसिद्धेः।

यहीं पर पुनः यह कहा गया है कि 'उत्तरोत्तर प्रत्यक्ष ज्ञान यथाक्रम उत्तरोत्तर अवस्था के भेद को अपना विषय बनाते हैं, अतः 'यह वही है' इस तरह से प्रत्यक्ष में प्राथमिक वस्तु रूप तत्त्व का आरोप भ्रान्त ही माना जायगा। प्रथम दर्शन के प्रत्यक्ष में अपरोक्ष अवस्था की तरह अतीत ज्ञान विषयक अवस्था का प्रतिभास नहीं होता। बार बार दिखायी गयी वस्तु वर्तमान रूप से ही प्रतीत होती है, पूर्व रूप से नहीं। प्राक्तन रूप का न टिक पाना ही विनाश कहलाता है। जैसे कि वृद्धावस्था में बाल्यावस्था के रूप का विनाश हो जाता है। प्राक्तन रूप अतीत ज्ञान का विषय होता है और इदानीन्तन (वर्तमान) रूप प्रत्यक्ष ज्ञान का। बाल्य आदि अवस्था में देखे गये पुरुष की वृद्धावस्था में प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होती है। अतः अतीत ज्ञान की विषयता और प्रत्यक्षता एक ही अधिकरण में कैसे प्रतिभासित हो सकती है ? अथवा कैसे परोक्षात्मक स्वार्थ अतीत ज्ञान से विशिष्ट होकर स्मृति में प्रतिभासित होता है।' साथ ही यह भी कहा जाता है कि 'जहाँ पर अनिमेष दृष्टि से चिरकाल पर्यन्त किसी वस्तु को देखने वाले व्यक्ति में अनुवृत्ताकार (एकाकार) अध्यवसाय (अनुगत आकार का निश्चय) होता है, तो वहाँ पर भी इदानीन्तन (वर्तमान) प्रत्यक्ष ज्ञान के संबन्ध से अर्थ की अपरोक्षता उत्पन्न होती है। इस समय अतीत ज्ञान का अभाव होने से अतीत ज्ञान की विषयता का भी अभी अभाव ही, अर्थात् विनाश ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में उत्पत्ति-विनाश से रहित अनुवृत्ताध्यवसाय (अनुगत आकार का निश्चय) क्षणिकत्व के अनुमान का बाधक कैसे हो सकता है ?' किन्तु यह दोनों ही कथन सारहीन हैं, क्योंकि अवस्था के भेद के रहते हुए भी अवस्थावान् की इन सब अवस्थाओं में अनुवृत्ति उसी तरह से मानी जा सकती है, जैसे कि कटक, मुकुट, कुण्डल आदि अवस्थाओं में सुवर्ण की अनुवृत्ति रहती है। इस अनुवृत्ताकार की अनुस्यूति रहने से अभेदविषयक प्रत्यभिज्ञा बाधित नहीं हो सकती। सामानाधिकरण्य की परिभाषा यह है कि वह विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्तों का आधार होते हुए समान विभक्ति के सहारे एक अर्थ में रहता है। अत्यन्त अभेद के रहने पर भी एक घट दूसरे घट का स्थान नहीं ले लेता और अत्यन्त भेद के रहने से ही अश्व महिष नहीं हो जाता। बाल्यावस्था वाले व्यक्ति का वृद्धावस्था में जब कोई शब्द से 'यह वही है' ऐसा निश्चय कराता है, तो वह निश्चय दोनों अवस्थाओं में अनुगत अंश को अपना विषय बनावे तभी ठीक बैठ सकता है, क्योंकि अवस्थाओं की व्यावृत्ति (भेद) होने पर भी अवस्थावान् की अनुवृत्ति दिखाई देती है। इसलिये निर्निमेष दृष्टि से चिरकाल तक देखने वाला अवस्थावान् (व्यक्ति) पहले देखे गये व्यक्ति की अनुवृत्ति का ही निश्चय करता है। इसलिये क्षणभंगवाद का खण्डन भी स्पष्ट ही है। अतीत ज्ञान की कर्मता (विषयता) का अभी अभाव होने पर भी 'यह वही है' इस अनन्यथासिद्ध अर्थात् अभ्रमात्मक, यथार्थ अनुभव के आधार पर अनुवृत्ताकार की सिद्धि होती है।

यदुक्तम्—विनष्टाविनष्टयोरनन्यत्वं न सम्भवति, विरोधात्। तन्न, नाशानुभवस्यावस्थागोचरत्वेनावस्थावतोऽनुवृत्तौ बाधाभावस्योक्तत्वात्। यथा सादृश्यसामान्यगोचरता प्रत्यभिज्ञानस्य न संभवति, तदप्युक्तमेव। यदुक्तम्—स इत्यंशश्च न प्रत्यक्षोऽसन्निहितविषयत्वात्। स्मरणरूपत्वे चास्य न पूर्वदृष्टार्थग्राहित्वं स्पष्टप्रतिभासाभावात्। दृष्टार्थाध्यवसायकत्वेन तु स्मृतिरूपत्वे भ्रान्तत्वम्, स्वाकाराभेदेन दृष्टार्थाध्यवसायात्। अयमिति चांशः प्रत्यक्ष इष्यते। स्मरणप्रत्यक्षयोश्चैकत्वं विरुद्धचते। तस्मात् पूर्वज्ञानविषयत्वरहिते पुरोऽवस्थितेऽर्थे सादृश्येन पूर्वज्ञानविषयत्वमारोप्य स एवायमिति मानसं गृह्णाति। आरोपबलेन चातीतज्ञानकर्मताऽपरोक्षते एकाधिकरणे प्रतिभासेते, मरीचिकायां जलप्रत्यभिज्ञानमिव। आरोपाभावे त्वेते भिन्नाधिकरणे एव प्रतिभासेते, जलस्मरणमरीचिकाग्रहणयोरिव। तस्मान्न प्रत्यभिज्ञानं संभवति, तदप्यविचारितरमणीयम्, सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञायामतीतकालविशिष्टस्य वर्तमानकालावच्छिन्नस्यार्थस्यावभासात्। न च पूर्वापरकालौ परस्परविरोधिनौ कथमेकत्र समञ्जसाविति वाच्यम्, विशेषणयोर्भेदेऽपि विशेष्यमात्रस्याभेदसंभवात्। नहि केयूरकिरीटादीनां भेदेऽपि देवदत्तस्याभेदो न संभवति। ननु केयूरादीनामविरोध एवेति चेन्न, परस्परव्यवहारभेदे व्यवस्थितानां सर्वेषां भावानां बौद्धैर्विरोधाभ्युपगमात्।

ननु केयूरादीनां विरोधेऽपि तदवस्थानादेकदेवदत्तसम्बन्धित्वमभ्युपगन्तुं शक्यते, पूर्वापरकालयोस्तु यौगपद्यासंभवेन तदसन्निधानात् कुतस्तद्विशिष्टता विशेष्यस्येति चेन्न, सोऽयमित्येकस्मिन् तयोः प्रतीतिदर्शनात्। प्रतीत्यधीनं हि वस्तुतत्त्वनिर्णयः। अन्यथा बह्वीनां प्रतीतीनामपह्नवप्रसङ्गः। वस्तुतो नायं शब्दप्रत्यभिज्ञामात्रे विवादः,

यह कहा गया है कि 'विनष्ट और अविनष्ट इन दो विरोधी पदार्थों की अनन्यता अर्थात् एकता नहीं हो सकती।' किन्तु यह कथन गलत है, क्योंकि विनाश के अनुभव का विषय केवल अवस्था होने के कारण अवस्थावान् व्यक्ति की अनुवृत्ति में कोई बाधा नहीं है, यह कहा जा चुका है। प्रत्यभिज्ञान की सादृश्यसामान्यविषयता नहीं होती, यह बात भी कही जा चुकी है। यह भी कहा गया है कि प्रत्यभिज्ञा का 'वह' इत्याकारक अंश प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि उसका विषय असंनिहित है। इसको यदि स्मृतिरूप माना जाय तो इसमें पूर्व दृष्ट अर्थ की ग्राह्यता नहीं रहेगी, क्योंकि इसका स्पष्ट प्रतिभास नहीं होता। दृष्टार्थ का अध्यवसाय (निश्चय) है, अतः स्मृति रूप है, ऐसा मानने पर इसको भ्रान्त ज्ञान मानना पड़ेगा, क्योंकि अपने आकार से अभिन्न रूप में ही दृष्टार्थ का अध्यवसाय (निश्चय) रहता है। 'यह है' इत्याकारक अंश प्रत्यक्ष माना जाता है। स्मरण और प्रत्यक्ष की एकता परस्पर विरुद्ध है। इसलिये पूर्व ज्ञान के विषय से रहित सामने स्थित पदार्थ में सादृश्य के आधार पर पूर्वज्ञानविषयता का आरोप करके 'वह यही है' इस तरह का मानस बोध होता है। आरोप के बल से ही अतीत ज्ञान को कर्मता और अपरोक्षता ये दोनों एक ही अधिकरण में भासित होते हैं। जैसे कि मरीचिका में जल की प्रत्यभिज्ञा (निश्चय सा) होती है। जब आरोप नहीं होता तो ये दोनों भिन्न-भिन्न अधिकरणों (आश्रयों) में ही रहते हैं, जैसे कि जल की स्मृति और मरुमरीचिका का ग्रहण (प्रत्यक्ष ज्ञान)। इस तरह से प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति नहीं बन सकती।' किन्तु यह सब अविचारित रमणीय बातें हैं, क्योंकि 'वह यह है' इस प्रत्यभिज्ञा में अतीत काल विशिष्ट वस्तु की वर्तमान काल से विशिष्ट रूप में प्रतीति होती है। 'पूर्व और अपर काल परस्पर विरोधी हैं, इनकी एक जगह स्थिति कैसे हो सकती है ?' इसका समाधान यह है कि विशेषणों के भेद के रहते हुए भी विशेष्य मात्र में अभेद हो सकता है। केयूर, किरीट आदि विशेषता के भिन्न होने पर भी उनसे विशिष्ट देवदत्त अभिन्न नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रश्न है कि कटक, केयूर आदि का तो कोई विरोध है ही नहीं। उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि परस्पर व्यवहार के भेद से व्यवस्थित सभी भावों (पदार्थों) का बौद्ध मत में परस्पर विरोध ही माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि बौद्ध मत के अनुसार कटक, कुण्डल आदि में भी अर्थक्रिया की भिन्नता के आधार पर परस्पर भेद और विरोध मानना पड़ेगा।

प्रश्न है कि 'कटक, केयूर प्रभृति का परस्पर विरोध होते हुए भी एक देवदत्त में उनकी अवस्थिति मानी जा सकती है, पूर्व और अपर काल का तो यौगपद्य असंभव है, अतः उनकी परस्पर एकत्र संनिधि के अभाव में विशेष्य की तदुभयविशिष्टता कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि 'वह यह है' इस एक प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय में उन दोनों अवस्थाओं की अवस्थिति देखी जाती है।

किन्तु स्तम्भादिप्रत्यभिज्ञानसाधारणोऽयमाक्षेपः। प्रत्यभिज्ञायां द्वौ कालौ प्रतीयेते, न च तौ सन्निहिताविति चित्रम्। ननु किं भूतोऽपि काल इदानीमस्ति चेन्नैवं नासावस्तीत्युच्यते, किन्त्वासीदिति। एवमस्तीत्युच्यमानो वर्तमान एव, न भूतः।

ननु तर्हि भूतो भूतत्वादेवेदानीं नास्तीति कथं प्रतिभासत इति चेन्न; तस्य भूतत्वेन प्रतिभासे बाधाभावात्। भूतः कालो भूततया, वर्तमानो वर्तमानतया गृह्यते। अर्थस्तूभयानुगत एक एव गृह्यते। ननु भूतकालस्येदानीमभावात्तद्विषयं ज्ञानमनर्थजं स्यादिति चेन्न, तदवच्छिन्नस्य धर्मिणो ज्ञानजनकस्य सत्त्वात्। न च भूतस्यावच्छेदकत्वमपि कथमिति वाच्यम्, तथा प्रतीतेः। स एवायमिति यः पूर्वमासीत् स इदानीमप्यस्तीत्यतीतकालविशिष्टोऽर्थोऽस्यां प्रतीतौ भासते। नन्वेवमप्यसता कालेन विशेषितमर्थं कथमिन्द्रियजन्यं ज्ञानं गोचरयेदिति वाच्यम्, शतादिज्ञानेऽतीतसंख्येयानामिव प्रत्यभिज्ञायामतीतकालस्य हेतुत्वे बाधानापत्तेः। तदुक्तम्—'अन्त्यसंख्येयसंवित्तिकाले प्रागवलोकिताः। यथा शतादिज्ञानानि जनयन्ति घटादयः॥ अतीतकालसंसर्गो भवन्नेव विशेषणम्। स्तम्भादिप्रत्यभिज्ञायाः ... कारणम्॥'

नन्वत्र घटादयः सन्त्येव नातीता इति चेन्न, कपित्थेषु भक्ष्यमाणेषु शतं कपित्थानां भक्षितवान् वाहीक इति प्रतीतौ कपित्थानामवर्तमानत्वाद् यथातिक्रान्तान्यपि नवनवतिः कपित्थानि शतप्रतीतिहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते, प्रतिभासोपारूढत्वात्, तथैवातीतकालयोगोऽपि प्रतिभासमानत्वादेव प्रत्यभिज्ञाहेतुतां प्रतिपत्स्यते। शतमिति प्रत्ययस्य

वस्तु के स्वभाव का निर्णय प्रतीति (अनुभव) के अधीन होता है। अन्यथा अनेक प्रतीतियों (अनुभवों) को हमें अस्वीकार कर देना पड़ेगा। वस्तुतः यह विवाद केवल शब्द की प्रत्यभिज्ञा तक ही सीमित नहीं है, किन्तु यह आक्षेप स्तम्भ आदि की प्रत्यभिज्ञा पर भी लागू होता है। प्रत्यभिज्ञा में दो कालों की प्रतीति होती है, किन्तु वे संनिहित नहीं हैं, यह एक विचित्र ही बात हुई। तो क्या भूत काल भी अभी वर्तमान है? नहीं, हम कहाँ कहते हैं कि वह अभी है, हमारा तो कहना है कि वह था। इस तरह से अस्ति क्रिया का यहाँ वर्तमान से संबन्ध है, भूत से नहीं।

पुनः प्रश्न उठता है कि 'तब तो भूत तो व्यतीत हो चुका, वह जब अभी नहीं है, तो उसका प्रतिभास कैसे होता है'? उत्तर है कि उसका व्यतीत हो चुके काल के रूप में प्रतिभास मानने में कोई बाधा नहीं है। भूत की व्यतीत काल के रूप में और वर्तमान की विद्यमान काल के रूप में प्रतीति होती है। इन दोनों कालों में अनुगत विषय तो एक ही रहता है। भूत काल तो अभी है नहीं, अतः भूत काल विषयक ज्ञान जो अभी हो रहा है, उसकी उत्पत्ति वस्तु के अभाव से ही माननी पड़ेगी। इस शङ्का का समाधान यह है कि भूत काल से अवच्छिन्न धर्मी तो अभी अवस्थित है, अतः उसी में ज्ञानजनकता मानी जायगी। भूत काल की अवच्छेदकता कैसे हो सकती है? उत्तर है कि ऐसी ही प्रतीति होती है। 'वह यही है' इसका अभिप्राय यह है कि जो पहले था, वही अभी भी है। इस तरह से इस प्रतीति में अतीत काल से विशिष्ट अर्थ का प्रतिभास होता है। इस पर भी शङ्का उठती है कि अविद्यमान काल से विशेषित वस्तु को इन्द्रिय जन्य ज्ञान कैसे अपना विषय बना सकता है? इसका समाधान यह है कि सौ संख्या की वस्तु के ज्ञान में जैसे अतीत संख्या वाले पदार्थों की प्रतीति में अतीत काल की हेतुता में कोई बाधा नहीं होती, उसी तरह से प्रत्यभिज्ञा में भी अतीत काल की हेतुता में कोई बाधा नहीं उपस्थित होगी। जैसा कि कहा गया है—'अन्तिम संख्या वाली वस्तु की संवित्ति (ज्ञान) के समय पहले देखे गये घट आदि पदार्थ जैसे उनमें शत आदि बुद्धि के जनक हैं, उसी तरह से स्तम्भ प्रभृति की प्रत्यभिज्ञा में भी अतीत काल के संसर्ग की सत्ता विशेषण के रूप में विद्यमान रहती हुई ही कारण बनती है'।

प्रश्न है कि 'शत आदि संख्या के ज्ञान के समय घटादि तो विद्यमान ही है, अतीत नहीं, ऐसी अवस्था में उनका उदाहरण कैसे दिया जा सकता है'? उत्तर है कि जब कपित्थ खा लिये गये हैं, तब भी वाहीक (ग्रामीण) को सौ कपित्थ खा लिये हैं, इस तरह की प्रतीति होती है, यहाँ पर कपित्थों के न रहने पर भी जैसे खा लिये गये निन्यानबे कपित्थ सौवें की प्रतीति में कारण माने जाते हैं, क्योंकि क्रमिक प्रतिभास में वे विद्यमान हैं, उसी तरह से अतीत काल का योग भी प्रतिभासित होने के कारण ही प्रत्यभिज्ञा में हेतु होता

विकल्पत्वोक्तिस्तु बालिशभाषितम्, लोके सविकल्पप्रत्ययानां प्रामाण्यदर्शनात्। सामान्यसिद्धिवद् द्वित्वादिसंख्यासद्भाव-सिद्धेर्निष्प्रत्यूहत्वात्।

एतेन 'स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं किमेकमेव ज्ञानमुत स्मृत्यनुभवरूपे द्वे ज्ञाने? नाद्यस्तस्य कारणत्वानुपपत्तेः। नेन्द्रियं स इत्यंशे तस्ग्रासामर्थ्यात्। न संस्कारस्तस्यायमित्यंशेऽशक्तत्वात्। उभाभ्यां संभूयाऽपि न तन्नयितुं शक्यते, पृथक् पृथक् स्वकार्य्योत्पादने तत्कौशलस्य विज्ञातत्वात्। यथा मृत्पिण्डतन्तुनिर्वर्त्यकार्य्यान्तरं न दृश्यते, तथैवेहापि ज्ञेयम्। तस्मात् स्मर्तव्यविषया स्मृतिः, ग्राह्यगोचरानुभूतिश्चेति ज्ञानद्वयमेवेह मन्तव्यम्। नात्रैक्यपरामर्शि ज्ञानान्तरम्। यथा निरन्तरोत्पन्नेऽपि घटज्ञानपटस्मृती न तुल्यविषये, तथा सोऽयमित्येते अपि न तुल्यविषये। ज्ञानैकत्वेऽपि तद्व्यतीतकालयुक्तं वस्तु गोचरयेन्न स्मरणाद्विशेषः, अनागतविशिष्टगोचरत्वे मनोराज्यमात्रं तत्स्यात्। वर्तमानैकनिष्ठत्वे तु नैक्यसाधकत्वम्, कालत्रयपरीतत्वं तु विरोधादेवासंभवम्। परस्परपरित्यागव्यवस्थितनिजात्मनामेकत्र न समावेशः कथञ्चिदुपपद्यते। यथा नीलबोधेन नीलाभावाविनाभूतलोहिताद्यपोहिना नीलमेव निश्चीयते, तथैव तदभावाविनाभूतस्वस्वकालाद्यपोहिना वर्तमानार्थबोधेन वर्तमानग्रहणमेव भवति। पूर्वज्ञानस्येदानीमसत्त्वेन पूर्वज्ञानविशिष्टार्थग्राहित्वं प्रत्यभिज्ञाया न संभवति, अगृहीतविशेषणाया विशिष्टबुद्धेरभावात्। अर्थोपजननापायरहितवस्तुस्वरूपग्राहिणी प्रत्यभिज्ञेत्यपि न संभवति, वर्तमानैकनिष्ठतायाः प्रदर्शितत्वात्। भावानां विनाशजन्मनोर्वर्तमानो वा कालः स्यादन्यो वा, तदन्यस्तु ग्रहीतुमशक्य इत्युक्तमेव। वर्तमाने तु तदुत्पादविनाशकाले कथ्यमाने तद्ग्रहणात्त-

है। 'सौ संख्या की प्रतीति विकल्प मात्र है' ऐसा कहना बचकानापन ही माना जायगा, क्योंकि लोक में सविकल्पक प्रतीतियाँ भी प्रमाणभूत मानी जाती हैं। सामान्य की सिद्धि को तरह ही द्वित्व आदि संख्या की सत्ता की सिद्धि में भी कोई विघ्न-बाधा नहीं है।

उक्त प्रतिपादन से इस बात का खण्डन हो जाता है कि—'यह वही है' इस प्रत्यभिज्ञा में एक ही ज्ञान है, अथवा इसमें स्मृति और अनुभव रूप दो ज्ञान हैं? यहाँ पर एक ही ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उसका कोई कारण उपलब्ध नहीं है। इन्द्रिय इसलिये कारण नहीं होगा कि वह 'स' (वह) इस भूत अर्थ को ग्रहण करने में असमर्थ है और संस्कार 'अयम्' इस प्रत्यक्ष अंश को ग्रहण करने में असमर्थ है। दोनों मिलकर के भी इस ज्ञान को एक जगह नहीं ला सकते, क्योंकि इनकी कुशलता अलग-अलग कार्य निष्पादन में ही देखी गई है। जैसे 'मृत् पिण्ड और तन्तु दोनों से निष्पन्न कोई कार्यान्तर देखने को नहीं मिलता, उसी तरह से यहाँ पर भी समझना चाहिये कि उक्त दोनों ज्ञान भी किसी कार्यान्तर को पैदा नहीं कर सकते। इसलिये स्मृति की स्मर्तव्यविषयता और अनुभूति में ग्राह्यगोचरता माननी पड़ेगी। इस तरह से ये दो ज्ञान भिन्न-भिन्न ही मानने पड़ेंगे। यहाँ पर इन दोनों के ऐक्य का परामर्श करने वाला कोई एक भिन्न ज्ञान नहीं है। जैसे निरन्तर उत्पन्न होने वाले घट ज्ञान और पट स्मृति तुल्यविषयक नहीं होते, उसी तरह से वह यही है, ये दो ज्ञान भी तुल्यविषयक नहीं हो सकते। यदि यहाँ पर एक ही ज्ञान माना जाय तो भी यदि वह अतीत काल से युक्त वस्तु को अपना विषय बनावे तो उसमें और स्मृति में कोई अन्तर नहीं रहेगा। अनागत काल से विशिष्ट वस्तु को अपना विषय बनावेगा, यह तो कपोलकल्पना मात्र हो सकती है। इसको यदि केवल वर्तमानविषयक माना जाय तो फिर यहाँ पर वह और यह को एकता सिद्ध न हो सकेगी। तीनों कालों को इसका विषय मानना परस्पर विरोध के कारण सम्भव नहीं हो सकता। जिस वस्तु का जिस तरह का स्वभाव है, उसमें से परस्पर कुछ न कुछ अंश को छोड़कर वे एक जगह जुट जायं, यह कभी संभव नहीं हो सकता। जैसे नील बोध नील के अभाव से अविनाभूत लोहित आदि के बोध का अपोहन कर केवल नील वस्तु का ही निश्चायक होता है, उसी तरह से वर्तमान बोध भी वर्तमान के अभाव से अविनाभूत स्व-स्वकाल का अपोहन कर केवल वर्तमान काल का ही निश्चायक हो सकता है। पूर्व ज्ञान अभी विद्यमान नहीं है, अतः प्रत्यभिज्ञा पूर्वज्ञानविशिष्ट अर्थ का ग्रहण नहीं कर सकती। बिना विशेषण का ग्रहण किये विशिष्ट बुद्धि बन नहीं सकती। प्रत्यभिज्ञा केवल वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करती है, उपजनन स्वभाव और अपाय स्वभाव धर्मों का नहीं, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह केवल वर्तमान वस्तु का ही ग्रहण करती है, ऐसा आप कह चुके हैं। उत्पत्ति-विनाश शील पदार्थों का या तो वर्तमान काल होगा या कोई एक दूसरा। वर्तमान से भिन्न का ग्रहण नहीं हो सकता, यह पहले ही कहा जा चुका है। वर्तमान

दविनाभूतौ भावानामुत्पादविनाशावपि गृहीतौ स्याताम्। सेयं तपस्विनी स्थैर्य्यं प्रसाधयितुमागता प्रत्यभिज्ञा विनाशित्वं प्रतिष्ठाप्य गमिष्यति' इत्याद्यप्यपास्तम्, प्रत्यभिज्ञाहेतुस्वरूपतत्प्रामाण्यसिद्धौ बाधाभावात्।

तथाहि—मीमांसकमतरीत्या पूर्वानुभवजनितसंस्कारसध्रीचीनेन्द्रियजन्यत्वेन ग्रहणस्मरणरूपमेकमेव ज्ञानम्। तत्र पूर्वानुभूतोंऽशः स्मर्य्यते। स्मर्य्यमाणेन तेन सहैकत्वविशिष्टं वर्तमानं रूपं प्रत्यभिज्ञया गृह्यते। लूनपुनर्जातकेशनखादिषु प्रदीपसरित्प्रवाहादिषु च बाधकप्रयोगात् सादृश्यादिगोचरता प्रत्यभिज्ञाया युज्यते। न पुनरिह, शब्दभेदे प्रमाणाभावात्। शब्दस्य क्षणिकत्वे प्रत्यासन्नैर्गृहीतमात्रो नष्टः कथं पश्चाद्विप्रकृष्टैर्गृह्येत। इदानीं तु रेडियोयन्त्रद्वारा योजनसहस्रदूरस्थितैरपि शब्दः श्रूयते। न चैवमक्षणिकत्वेन प्रत्यासन्नानां चिरकालमनुवर्तनं स्यात्, ध्वनीनां गत्वरत्वेन चिरमनवस्थानोपपत्तेः।

अर्थप्रतिपत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या शब्दस्य नित्यत्वं तु सिद्धमेव। प्रत्युच्चारणमन्यान्यत्वे तु सम्बन्धग्रहणासंभवादगृहीतसम्बन्धस्य च प्रत्यायकत्वासंभव एव स्यात्। न चान्यस्मिन् गृहीतसम्बन्धेऽन्यः प्रत्याययति, गोशब्दे गृहीतसम्बन्धेऽगृहीतसम्बन्धस्याश्वशब्दस्याप्रत्यायकत्वात्। न च सादृश्यात् कस्मिंश्चिद् गोशब्दे गृहीतसम्बन्धेऽन्यो गोशब्दः प्रत्याययिष्यति। द्विस्त्रिर्वाऽनुपलब्धस्यान्वयव्यतिरेकासंभवेन कस्यापि सम्बन्धग्रहणासंभवेन मुख्यार्थवृत्त्यासंभवात्। प्रत्यभिज्ञया च स्थायित्वमुक्तमेव। ननु तथापि प्रत्यभिज्ञानमतिक्रान्तग्राहि चेन्द्रियार्थसन्निकर्षजश्चेति विरुद्धमिति चेन्न, प्रत्यभिज्ञायमानस्य सन्निकृष्टस्य वर्तमानत्वेन बाधाभावात्।

में ही यदि उनका उत्पाद और विनाश काल माना जाय तो वर्तमान के ग्रहण से ही उसके अविनाभूत उत्पाद और विनाश का भी ग्रहण होने लगेगा। 'इस तरह से स्थिरता को सिद्ध करने के लिये आयी (स्वीकृत) यह तपस्विनी (बेचारी) प्रत्यभिज्ञा भावों की विनाशिता का ही सिद्ध करके चली जायगी', क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के हेतु, उसके स्वरूप और प्रामाण्य की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है।

जैसे कि मीमांसकों के मत के अनुसार पूर्व अनुभव से जनित (उत्पन्न) संस्कार सहित प्रत्यक्ष और स्मरण रूप एक ही ज्ञान को इन्द्रिय जन्य प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इस ज्ञान में पूर्व अनुभूत अंश का स्मरण कराया जाता है और उस स्मर्यमाण अंश के साथ एकाकार विशिष्ट वर्तमान रूप प्रत्यभिज्ञा से गृहीत होता है। लूनपुनर्जात (कट कर फिर पैदा हुए) केश, नख आदि में तथा प्रदीप, सरित्प्रवाह आदि में बाधक प्रमाण की उपस्थिति के कारण प्रत्यभिज्ञा की इन स्थलों पर सादृश्यगोचरता (विषयता) मानना उचित है, किन्तु यहाँ पर हम ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि शब्द की भिन्नता में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं है। शब्द को यदि क्षणिक माना जाय तो पास के आदमी के उसके सुनते ही तो यह नष्ट हो गया तो फिर बाद में दूर के आदमी को वह कैसे सुनाई पड़ता है। आजकल तो रेडियो द्वारा हजारों योजन दूर बैठा आदमी उन शब्दों को सुन सकता है। 'यदि शब्द क्षणिक नहीं है तो पास के आदमी को चिरकाल तक वे सुनाई क्यों नहीं पड़ते'? इसलिये नहीं सुनाई पड़ते कि ध्वनियां नश्वर हैं, अतः वे चिरकाल तक नहीं ठहर सकती।

अर्थ बोध की अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकेगी, इस तरह से अर्थापत्ति प्रमाण से तो शब्द की नित्यता सिद्ध हो ही जाती है। प्रत्येक उच्चारण में शब्द यदि भिन्न-भिन्न माने जायेंगे तो उनका अर्थ के साथ सम्बन्ध कैसे स्थिर होगा? शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्थिर हुए बिना शब्दों को अर्थ का ज्ञान कराने वाला कैसे माना जा सकेगा? सम्बन्ध का ग्रहण किसी दूसरे शब्द के साथ हो और अर्थ का ज्ञान कोई दूसरा शब्द करावे, ऐसा नहीं हो सकता। गो शब्द के साथ जिस अर्थ का सम्बन्ध गृहीत है, उसको अगृहीत सम्बन्ध अश्व शब्द नहीं प्रतिपादित कर सकता। किसी एक गो शब्द से सम्बन्ध के गृहीत हो जाने पर सादृश्य के आधार पर अन्य गो शब्द से भी अर्थ का ज्ञान इसलिये नहीं माना जा सकता कि जब तक दो तीन बार एक साथ उपलब्ध न हो जाय तब तक अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध ठीक से नहीं जाना जा सकता। इस परिस्थिति में जबतक किसी एक जगह भी यह सम्बन्ध बार-बार देख न लिया जाय तो उसकी मुख्यार्थ में वृत्ति ही कहाँ बनेगी, जिसके आधार पर कि सादृश्य प्रतीति बन सके। प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही यह स्थायिता सिद्ध हो सकती है। प्रश्न है कि फिर भी प्रत्यभिज्ञा अतिक्रान्त का ग्रहण करती है और इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न भी होती है, ये दोनों बातें तो परस्पर विरुद्ध हैं। उत्तर है कि प्रत्यभिज्ञायमान वस्तु आँखों के सामने विद्यमान है, अतः उसका वर्तमान में यदि ग्रहण हो रहा है तो इसमें कोई बाधा नहीं आ सकती।

ननु वर्तमानकाल एवार्थोऽस्तीति चेत्, वर्तमानस्येवातीतकालस्यापि तदवच्छेदकत्वेन तददोषात्। तदवच्छिन्नश्चार्थ इदं ज्ञानमादधातीत्यर्थजमेतदिन्द्रियजमपि भवति, तद्भावाभावानुविधानात्। नन्वतीतग्राहित्वकल्पनापेक्षया प्रत्यभिज्ञाया अप्रामाण्यमेवास्त्विति चेन्न, बाधकाभावेन तदनुपपत्तेः। क्षणिकत्वसाधकानुमानं तु प्रतिक्षिप्तमेव। न च कारणदोषादेवाप्रामाण्यमस्तु, तस्याप्यसिद्धत्वात्। नन्वतीतविषयग्रहणे सामर्थ्यविरह एव दोषोऽस्त्विति चेन्न, स्वतन्त्रे काले तत्सामर्थ्यविरहेऽपि तद्ग्राह्यवर्तमानवस्तुविशेषणीभूते संस्कारसचिवस्येन्द्रियस्य तत्सामर्थ्यसत्त्वात्।

अथवा सुरभि चन्दनमिति बुद्धिवन्मानसमेव प्रत्यभिज्ञानमस्तु। यथा नेत्रगोचरे चन्दने तदविषयगन्धविशेषिते बाह्येन्द्रियद्वारकग्रहणमघटमानं मानसं ज्ञानमुपेयते, तथैवेन्द्रियसन्निकृष्टेऽतीतक्षणविशिष्टे वस्तुनि मानसमेव प्रत्यभिज्ञानम्। लूनपुनर्जातकेशनखादिषु मुण्डितशिरोदर्शनादिकमेव बाधकम्। ज्वालादावपि तैलवर्तिक्षयानुमानबाधितत्वादभ्रान्ता प्रत्यभिज्ञा। शब्दविषयिण्या विनाशबुद्धेस्तु ध्वनिविषयतैवेत्युक्तमेव।

'बौद्धराद्धान्तविध्वान्तविध्वंसनपटीयसो। प्रत्यभिज्ञा महाशक्तिर्निष्प्रत्यूहं विराजते ॥' इति।

एतेन 'शब्द उत्पद्यते, ततः स्वविषयं ज्ञानं जनयति, अजनकस्य प्रतिभासायोगात्। ततस्तेन ज्ञानेन शब्दो गृह्यते, ततः संस्कारोद्बोधस्ततः पूर्वज्ञातशब्दस्मरणम्, ततस्तत्सचिवं श्रोत्रं मनो वा प्रत्यभिज्ञानं जनयिष्यति। इतीयत्कुतोऽस्यायुरिति न्यायमञ्जरीकारोक्तिरप्यपास्ता, प्रबुद्धसंस्कारस्य शब्दप्रत्यभिज्ञाने तावत्क्षणानपेक्षत्वात्,

पुनः शंका उठती है कि 'अर्थ तो यहाँ पर वर्तमान काल में ही विद्यमान है, भूतकाल में नहीं।' उत्तर है कि वर्तमान काल की तरह भूतकाल भी उसका अवच्छेदक (विशेषण) है, अतः उक्त प्रतीति में कोई बाधा नहीं है। उन दोनों कालों से अवच्छिन्न (विशिष्ट) अर्थ इस प्रत्यभिज्ञा को जन्म देता है, इस तरह से यह ज्ञान अर्थ से और इन्द्रिय से, दोनों से उत्पन्न होता है, क्योंकि यहाँ पर उसके भाव और अभाव दोनों की स्थिति रहती है। प्रश्न होता है कि प्रत्यभिज्ञा अतीत वस्तु का ग्रहण करती है, इस कल्पना की अपेक्षा से तो उसको अप्रमाण मान लेना ही ठीक है। उत्तर है कि बाधक प्रतीति के अभाव में इसको अप्रमाण नहीं माना जा सकता। क्षणिकत्व के साधक अनुमान का तो खण्डन किया ही जा चुका है। कारण दोष के कारण भी इससे अप्रामाणिकता नहीं आ सकती, क्योंकि कोई कारण दोष यहाँ सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ पर पूर्वपक्षी का कहना है कि अतीत विषय के ग्रहण में सामर्थ्य का अभाव ही यहाँ दोष माना जायगा। तो इसका उत्तर है कि स्वतन्त्र काल में यद्यपि यह सामर्थ्य नहीं है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा ग्राह्य वर्तमान वस्तु की विशेषणीभूत अवस्था में संस्कार के साथ विद्यमान है, अतः दोष की उपस्थिति का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

अथवा 'यह चन्दन सुगन्ध युक्त है' इस बुद्धि के समान प्रत्यभिज्ञा भी एक प्रकार का मानस प्रत्यक्ष है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय के विषय चन्दन में जब चक्षुरिन्द्रिय के अविषय गन्ध से विशिष्ट चन्दन की प्रतीति होती है तो यह बाह्य इन्द्रिय के आधार पर नहीं हो सकती, अतः इसको मानस ज्ञान माना जाता है, उसी तरह से इन्द्रिय से संनिकृष्ट और अतीत क्षण से विशिष्ट वस्तु की ज्ञान रूप प्रत्यभिज्ञा को मानस ज्ञान ही मानना चाहिये। लूनपुनर्जात केश, नख आदि में मुण्डित शिर का देखना प्रभृति अन्य सत् प्रतीतियाँ बाधक के रूप में विद्यमान रहती हैं, इसलिये वहाँ ऐसा नहीं माना जा सकता। दीपक की ज्वाला इत्यादि में भी तैल और और बत्ती के जल जाने को देखकर अनुमान से यह सिद्ध हो जाता है कि ये ज्वालाएँ भिन्न-भिन्न हैं, अतः यहाँ पर हुई प्रत्यभिज्ञा को भ्रामक माना जा सकता है, किन्तु शब्दविषयक विनाश बुद्धि ध्वनि के विनाश की ग्राहिका है, शब्द के विनाश की नहीं, यह पहले ही कहा जा चुका है। अतः शब्दविषयक प्रत्यभिज्ञा को भ्रान्त नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार से बौद्ध सिद्धान्त रूपी अन्धकार को छिन्न भिन्न कर देने में सर्वथा समर्थ अत्यन्त चतुर यह प्रत्यभिज्ञा नामक महाशक्ति बिना विघ्न-बाधा के सभी दार्शनिकों के मत में विराजमान है।

उक्त प्रतिपादन से जयन्त भट्ट की इस उक्ति का भी खण्डन हो जाता है कि—'पहले शब्द उत्पन्न होता है, उसके बाद वह स्वविषयक ज्ञान को जन्म देता है, क्योंकि ज्ञान की जनकता के अभाव में उसका प्रतिभास न हो सकेगा। इसके बाद उस ज्ञान से शब्द गृहीत होता है, तब संस्कार का उद्बोध होकर पूर्व ज्ञात शब्द का स्मरण होता है। तदनन्तर स्मृति की सहायता से श्रोत्र अथवा

प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्याच्च तावत्तिरोधानमपि निषिद्धमेव। तदुक्तम्—'केश्चित्तिरोहिते भावादित्यप्रामाण्यमुच्यते। तदसत्तत्प्रतीत्येव तिरोधाननिषेधनात्॥' इति। अपि च, मेघश्यामायां शर्वर्यां क्षणिकप्रायैरपि विद्युत्प्रकाशैः घटादिप्रत्यभिज्ञानम्, तथैवाचिरस्थायिभिरपि ध्वनिभिर्व्यक्तस्य शब्दस्य प्रत्यभिज्ञानमपि युक्तमेव। तदप्युक्तम्—'यथा निशीथे रोलम्बश्यामलाम्बुदडम्बरे। प्रत्यभिज्ञायते किञ्चिदचिरद्युतिधामभिः॥ तथाविरतसंयोगविभागक्रमजन्मभिः। प्रत्यभिज्ञायते शब्दः क्षणिकैरपि मारुतैः॥' इति।

यदप्युक्तम्—शब्दे तदानीमेव विनाशप्रत्ययः संभवति, गोशब्दोऽयमश्वशब्दोऽयमिति तदभिधानविशेषोल्लेखात्। विद्युद्दृष्टवृक्षादौ नाशवित्तिर्न भवतीह तु नाशवित्तिर्भवति, तेन न तत्तुल्यतेति। तदुक्तम्—'यदप्युदितमुद्दाममेघश्यामासु रात्रिषु। साम्यं सौदामिनीधामजन्यया प्रत्यभिज्ञया॥ तदसत् कालदैर्ध्येण तदवस्थित्यसम्भवात्। विद्युद्दृष्टे च वृक्षादौ नाशसंवित्यसंभवात्॥ इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, शब्दो ध्वस्त उत्पन्नश्चेति बुद्धेर्ध्वनिविषयत्वेन शब्दोत्पत्तिनाशासंप्रतिपत्तेः। अभिव्यञ्जकध्वनेरपि त्रिचतुरक्षणस्थायित्वेन विद्युत्प्रकाशव्यङ्ग्यवृक्षादिप्रत्यभिज्ञावद् ध्वनिव्यङ्ग्यशब्दप्रत्यभिज्ञोपपत्तेः। प्रबुद्धसंस्कारस्य प्रत्यभिज्ञानं निरुपप्लवमित्यप्युक्तमेव।

अपि च, नैयायिका अपि गत्वादिसामान्यविषयत्वेन प्रत्यभिज्ञानमुपपादयन्ति। तन्मतेऽपि गव्यक्तीनां क्षणिकत्वेन नित्यस्यापि सामान्यस्य व्यक्तिव्यङ्ग्यत्वेन तदभिव्यक्तेरपि क्षणिकत्वेन कथं सामान्यप्रत्यभिज्ञानमपि।

मन प्रत्यभिज्ञा को पैदा करेगा। ऐसी परिस्थिति में इसकी इतनी लम्बी आयु कहाँ से आवेगी।' क्योंकि जिसके संस्कार प्रवुद्ध हैं, उसको शब्द को पहचानने में इतने क्षणों की अपेक्षा नहीं रहती। प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य के आधार पर इतने क्षण तक शब्द का तिरोधान माना भी नहीं जाता। जैसा कि कहा गया है—'कुछ लोगों के कथनानुसार शब्द के तिरोहित हो जाने के वाद उत्पन्न हुई प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य नहीं माना जाता। यह गलत बात है, क्योंकि उस प्रत्यभिज्ञा के आधार पर ही शब्द का तिरोभाव निषिद्ध हो जाता है।' दूसरी बात, जैसे वादलों से भरी काली रात में बिजली की क्षणिक चमक से घट आदि की प्रत्यभिज्ञा होती है, उसी तरह से थोड़ी सी देर तक ठहरने वाली ध्वनियों से अभिव्यक्त शब्द की भी प्रत्यभिज्ञा हो ही सकती है। जैसा कि कहा गया है—'जैसे रात्रि में आकाश में घने काले वादल छा जाने पर भी एक क्षण के लिये चमकने वाली विद्युत् के क्षणिक प्रकाश से वस्तु की पहचान हो जाती है, उसी तरह से निरन्तर संयोग-विभाग के क्रम से उत्पन्न होने वाली क्षणिक वायवीय ध्वनियों से शब्द की प्रत्यभिज्ञा होती है।'

यह भी कहा गया है कि 'शब्द में तो उसी समय उसके विनष्ट हो जाने की प्रतीति हो जाती है, क्योंकि यह गो शब्द है, यह अश्व शब्द है, इस तरह से यहाँ पर अभिधान विशेष का उल्लेख होता है। विद्युत् के प्रकाश में दिखाई पड़े वृक्ष आदि पदार्थों के नाश का ज्ञान नहीं होता, किन्तु शब्दों के तो विनाश की प्रतीति होती है। इसलिये दृष्टान्त, दार्ष्टान्तिक में तुल्यता नहीं है। जैसा कि कहा गया है—'घनघोर काले वादलों के छा जाने से अन्धकार भरी रात में सौदामिनी (बिजली) के प्रकाश से उत्पन्न प्रत्यभिज्ञा का शब्दजन्य प्रत्यभिज्ञा से जो साम्य बताया गया है, वह गलत है, क्योंकि बिजली से दिखाई देने वाला वृक्ष आदि के नाश का ज्ञान नहीं होता और शब्द के तो नाश का ज्ञान होता है'। किन्तु यह पूरा कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि शब्द नष्ट हो गया और उत्पन्न हो गया, इस तरह की प्रतीतियाँ ध्वनि को अपना विषय बनाती है, अतः शब्द के नाश और उत्पत्ति की संप्रतिपत्ति (उभय वादी संमत ज्ञान) इससे नहीं मानी जा सकती। शब्द की अभिव्यंजक ध्वनि भी तीन चार क्षण स्थिर रहती है, अतः विद्युत् के प्रकाश से वृक्ष आदि की पहिचान की तरह ध्वनि से व्यंग्य शब्द की भी पहचान हो सकती है। संस्कारों के प्रबुद्ध हो जाने पर प्रत्यभिज्ञा में कोई बाधा नहीं उठती, यह बताया जा चुका है।

अपि च, नैयायिक भी गत्व आदि सामान्य की विषयता के आधार पर प्रत्यभिज्ञा का उपपादन करते हैं। उनके मत में भी व्यक्तियाँ क्षणिक हैं, तो भी उनसे नित्य सामान्य (गत्व आदि जाति) की अभिव्यक्ति मानी जाती है। जब ग व्यक्ति क्षणिक है तो उससे सामान्य की अभिव्यक्ति भी क्षणिक होगी, इस स्थिति में गत्व आदि जाति की भी प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? यदि इसके लिये

यदि च तदर्थं व्यक्तेरधिकक्षणस्थायित्वं स्वीकरिष्यते, तदा व्यक्तेरेव प्रत्यभिज्ञानं कुतो नेष्यते। तथा च प्रत्यभिज्ञानस्य सादृश्यसामान्यादिविषयत्वानुपपत्त्या व्यक्तिविषयमेव तदेषितव्यम्, तद्विरोधाच्च नाशबुद्धेर्ध्वनिविषयत्वमेव।

यदप्युक्तम्—'प्रत्यभिज्ञा च सापेक्षा निरपेक्षा त्वभावधीः। तेनैवमादौ विषये प्रत्यभिज्ञैव बाध्यते॥' इति, तदपि तुच्छम्, नाशबुद्धेरपि प्रतियोग्यादिज्ञानसापेक्षत्वेन निरपेक्षत्वानुपपत्तेः। प्रत्यभिज्ञायास्तु सादृश्यसामान्यादिविषयतानुपपत्तिरुक्तैव। नहि कर्मादिप्रत्यभिज्ञाया भेददर्शनबाध्यत्वमिति सर्वत्रैव तद्दृष्टान्तेन सर्वस्याः प्रत्यभिज्ञाया बाध्यत्वम्। 'उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि बाधनम्' इति रीत्या सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्।

'शब्दोत्पत्तिविनाशित्वं व्यञ्जकोत्पत्तिध्वंसतः। प्रत्यभिज्ञा ततः शब्दे स्फुटा नित्यत्वसाधिनी॥ रोलम्बश्यामलाढचायां शर्वर्यां चपलांशुभिः। प्रत्यभिज्ञा नगादीनां यथात्रापि तथैव हि॥ विनाशप्रत्ययस्यापि ध्वन्यालम्बनता स्फुटा। प्रत्यभिज्ञा तु न तथा जातिसादृश्यगोचरा॥ गत्वादिव्यञ्जकत्वेन गादिक्षणिकव्यक्तयः। गत्वादिप्रत्यभिज्ञाया हेतवो यद्वदादृताः॥ शब्दस्य प्रत्यभिज्ञाने ध्वनयोऽपि तथा क्षमाः।' इति।

एतेन यदुक्तम्—'ध्वनिविशेष एव वर्णः, तेन द्रुतोच्चारिता ध्वनिविशेषा द्रुताः, विलम्बितोच्चारिता विलम्बिताः, मध्योच्चारिता मध्या गव्यक्तय एव न तु व्यञ्जकेभ्यो ध्वनिभ्योऽन्यो गकारो नाम; एवं ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु नैकाकारः, यतो ध्वनिविशेषो मात्राकालप्रयुज्यमानो ह्रस्वोऽकारः, तथा ध्वनिविशेषद्विमात्राकालप्रयुज्यमानो दीर्घाकारो भवति। त्रिमात्राकालप्रयुज्यमानो ध्वनिविशेष एव प्लुतो भवति। तेन ह्रस्वदीर्घप्लुतानां स्वभावभेद एव भासते, न त्वकारो भिन्नस्तेषु भासते। ध्वनिविशेषा एव मात्रादिकालमुच्चार्यमाणा यथाक्रमं ह्रस्वदीर्घप्लुताः

व्यक्ति की अधिक क्षण स्थायिता स्वीकार की जाती है, तो उस परिस्थिति में व्यक्ति की ही प्रत्यभिज्ञा क्यों नहीं मानी जाती? इस तरह से प्रत्यभिज्ञा के विषय सादृश्य, सामान्य आदि (जाति) नहीं माने जा सकते, अतः उसकी व्यक्तिविषयता ही माननी पड़ेगी और शब्द व्यक्ति को नित्यता के आधार पर नाशबुद्धि की विषयता ध्वनि में ही माननी पड़ेगी।

यह भी कहा गया है कि—'प्रत्यभिज्ञा एक सापेक्ष बुद्धि है और अभाव बुद्धि निरपेक्ष होती है। इस तरह से विषय सापेक्ष होने से पहले प्रत्यभिज्ञा का ही बोध होता है', किन्तु यह भी तुच्छ बात है, क्योंकि नाशबुद्धि को भी प्रतियोगी प्रभृति के ज्ञान की अपेक्षा रहती है, अतः उसको भी निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। दूसरी बात, हमारे मत में नाश बुद्धि को ध्वनि का विषय माना जाता है, अतः कोई दोष नहीं रहेगा। प्रत्यभिज्ञा के सादृश्य, सामान्य प्रभृति विषय नहीं हो सकते, यह पहले ही कह दिया गया है। कर्म प्रभृति की प्रत्यभिज्ञा भेददर्शन के आधार पर बाधित होती है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि सभी जगह इसी दृष्टान्त से सभी प्रत्यभिज्ञा बाधित मानी जाय। ऐसा मानने पर 'जो व्यक्ति अज्ञानवश बाधक के न रहने पर भी उसकी कल्पना करने लगता है' इस आभाणक के अनुसार इस तरह के संशयात्मा व्यक्ति को सर्वत्र अविश्वास हो जाता है।

'व्यञ्जक ध्वनि के उत्पाद और विनाश के आधार पर शब्द में भी उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति होने लगती है। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा के आधार पर शब्द में स्पष्ट ही नित्यता सिद्ध हो जाती है। घनघोर मेघाच्छन्न भंवरों जैसी अंधेरी रात्रि में बिजली की चमक के साथ ही जैसे पहाड़ आदि की पहचान हो जाती है, उसी तरह से शब्द के विषय में भी समझना चाहिये। शब्द के विनाश की प्रतीति वस्तुतः ध्वनि के नाश की उस पर आरोपित प्रतीति है। यह प्रत्यभिज्ञा जाति अथवा सादृश्य को अपना विषय नहीं बनाती। जैसे जातिवादी गत्व आदि के अभिव्यञ्जक के रूप में गकार आदि क्षणिक व्यक्तियों को गत्वादि की प्रत्यभिज्ञा में कारण मानते हैं, उसी तरह से क्षणिक ध्वनियाँ भी नित्य शब्द की प्रत्यभिज्ञा में समर्थ हो सकती हैं।'

ऊपर के प्रतिपादन से इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि 'ध्वनि विशेष ही वर्ण है। इसलिये द्रुत उच्चरित ध्वनि विशेष द्रुत, विलम्ब से उच्चरित विलम्बित और मध्य मात्रा में उच्चरित मध्य गव्यक्तियाँ ही हैं। इन व्यञ्जक ध्वनियों से भिन्न गकार नाम की कोई वस्तु नहीं है। इसी तरह से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत में एक ही अकार नहीं है, क्योंकि एक मात्रा काल में प्रयुज्यमान ध्वनि विशेष ह्रस्व अकार, दो मात्रा काल में उच्चरित ध्वनिविशेष दीर्घ तथा त्रिमात्रा काल तक प्रयुज्यमान ध्वनिविशेष ही प्लुत होता है। इस तरह से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत में स्वभावगत भेद की प्रतीति होती है। वस्तुतः उनमें अकार कोई भिन्न नहीं है, ध्वनि-

प्रतीयन्ते, इत्यप्यपास्तम्, शङ्खवीणादिध्वनिषु वर्णानुपलब्ध्या ध्वनीनामवर्णात्मकत्वोपपत्त्या वर्णभिन्नध्वनीनां वर्णव्यञ्जकत्वोपपत्तेरुक्तत्वात्, द्रुतादिभेदेऽपि गव्यक्तेरभेदस्याप्युक्तत्वाच्च। तथा—'स्वतो ह्रस्वादिभेदस्तु नित्यवादे विरुध्यते। सर्वदा यस्य सद्भावः स कथं मात्रिकः स्वयम् ॥ तस्मादुच्चारणं तस्य मात्राकालः प्रतीयताम् ॥ द्विमात्रं वा त्रिमात्रं वा न शब्दो मात्रिकः स्वयम् ॥' इत्यादिभट्टपादोक्तिः समीचीनैव।

यदप्युक्तम्—'ह्रस्वदीर्घप्लुतेष्वकारोऽकार इत्यनुयायिनोर्ज्ञानाभिधानयोरप्रवृत्त्या तेष्वनुस्यूतस्याकारस्यासिद्धिः। पूर्वोत्तरकालभाविन्योः प्रतीत्योर्नाम सा स्यादेकविषयत्वप्रतीतिर्न वस्तुतस्तथा। प्रतीतिप्रतिभासस्वभावभेदेऽपि नामसाम्यादेकविषयत्वमयुक्तमेव, घटादिष्वपि प्रसङ्गात्। तथाहि—पूर्वोत्तरयोराकारप्रतीत्योः पूर्वोत्तरतया प्रतिभासभेदः, द्रुतमध्यविलम्बितादिस्वभावभेदश्चोपलभ्यते। तथात्वेऽप्येकविषयत्वेऽभ्युपगम्यमाने नामसाम्याद्भिन्नभिन्नघटप्रतीत्योरप्येकविषयत्वं स्यात्। तथा चैकस्य घटस्य व्यापकत्वापत्तिर्दृष्टविरोधश्च। इहापि विरोध एव करणानाम्, प्रतिपुरुषं भेदेन भेदस्यैवोपलम्भात्' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, घटादिषु भेददर्शनस्यान्यथानुपपत्त्या पूर्वापरयोर्भिन्नभिन्नघटालम्बनत्वोपपत्त्या प्रकृते भेददर्शनस्य व्यञ्जकध्वनिविषयकत्वेन पूर्वापरयोरकारप्रतीत्योरेकालम्बनत्वे बाधाभावात्।

यदप्युक्तम्—'यावत्तथाभिधेयता (नामसाम्यं) अर्थाभेदेन व्याप्ता न साध्यते, तावत्संदिग्धो व्यतिरेकः। नामसाम्यं च स्याद् भेदश्चेति संभवात्। प्रतिकरणं भिन्नस्वभावः शब्दः श्रुतौ निविशमानो यदेकः साध्येत,

विशेष ही एकमात्रा आदि के काल तक उच्चार्यमाण होने पर क्रम से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगते हैं'। क्योंकि शङ्ख, वीणा प्रभृति की ध्वनियों में वर्ण की उपलब्धि नहीं होती, अतः ध्वनियाँ वर्णात्मक नहीं हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है। इस परिस्थिति में वर्णों से भिन्न ध्वनियों की वर्ण व्यञ्जकता की भी उपपत्ति हो जाती है। यह बात पहले कही जा चुकी है। इसी के साथ यह भी बताया जा चुका है कि द्रुतादि के भेद के रहते हुए भी गव्यक्ति एक ही रहती है। इसी तरह से 'शब्द की नित्यता मानने वालों के पक्ष में वर्णों में स्वतः ह्रस्व आदि भेद की प्रतीति अपने मत के विरुद्ध ही मानी जायगी। जिसका सर्वदा सद्भाव रहता है, वह स्वयं मात्रा भेद से भिन्न भिन्न प्रतीति वाला कैसे हो सकता है? इसीलिये उसके उच्चारण काल में एक मात्रा, दो मात्रा और तीन मात्रा के काल का आरोप करना चाहिये, शब्द में ये मात्राएँ नहीं रहतीं' इस तरह की भट्टपाद कुमारिल की उक्ति उचित ही है।

यह भी कहा गया है कि 'ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत में अकार की अनुवृत्ति वाले अभिधान और ज्ञान की प्रवृत्ति न होने से इनमें अनुस्यूत एक विषयत्व की प्रतीति हो भी सकती है, किन्तु वह वास्तविक नहीं हो सकती। प्रतीति और प्रतिभास के स्वभाव में भेद रहते भी केवल नाम की समानता के आधार पर एकविषयता मानना उचित नहीं है, ऐसा मानने पर घट, पट आदि में एकविषयत्व की प्रतीति माननी पड़ जायगी। जैसे कि पूर्व और उत्तरवर्ती आकार की प्रतीतियों में पूर्व और उत्तर काल में विद्यमानता के आधार पर प्रतिभास का भेद और द्रुत, मध्य, विलम्बित आदि स्वभाव का भेद उपलब्ध होता है। ऐसा होने पर भी इनकी एक विषयता मानने पर नाम की समानता के आधार पर भिन्न-भिन्न घट प्रतीतियों में भी एक विषयता की आपत्ति उठ खड़ी होगी। इस तरह से एक ही घट की सर्वत्र व्यापकता की आपत्ति तो होगी ही, यह वस्तु का जैसा स्वभाव देखा गया है, उसके विपरीत भी होगा। प्रकृत स्थल में भी एकता मानने में इन्द्रियों का विरोध आ उपस्थित होता है, क्योंकि प्रत्येक पुरुष की इन्द्रियों के भेद से इनकी भिन्न-भिन्न रूपों में ही उपलब्धि हो सकती हैं'। किन्तु यह कथन भी अकिंचित्कर है, क्योंकि घट आदि में भेद दर्शन की उपपत्ति अन्यथा न बन सकेगी, अतः पूर्व और उत्तर काल में भिन्न-भिन्न घटों की आलम्बनता मानी जा सकती है। प्रकृत स्थल में तो भेददर्शन व्यञ्जक ध्वनि को अपना विषय बनाता है, अतः पूर्व और उत्तर काल की अकार की प्रतीतियों का एक ही आलम्बन मानने में कोई बाधा नहीं है।

यह भी कहा गया है कि 'जब तक तथाभिधेयता अर्थात् नाम के साम्य की अर्थ के साथ अभेद से व्याप्ति नहीं सिद्ध की जाती, तब तक उसका व्यतिरेक (व्यभिचार) संदिग्ध ही रहेगा। यह भी हो सकता है कि नाम का साम्य भी रहे और इनमें परस्पर भेद भी रहे। प्रत्येक इन्द्रिय की भिन्नता के आधार पर भिन्न-स्वभाव वाला शब्द श्रवण (कान) में प्रवेश करने पर जब एक माना जा

तदा घटादयो तथा किं न स्युः, तत्रापि व्यञ्जकभेदेन प्रतिभासभेदस्य वक्तुं शक्यत्वात्' इति, तदप्यविचारित-रमणीयम्, संविदाकाशादिषु नामसाम्याद्भिन्नप्रतीतीनामेकविषयत्वदर्शनेन व्याप्तिनिश्चयात्।

शब्दनित्यत्वसाधनम्

सिद्धं तावद्वेदानां प्रामाण्यम्, आप्तप्रामाण्यात्। न चेदं युज्यते वेदस्य नित्यत्वाद् इत्याशङ्कायां वर्णानामनित्यत्वात् कथं तत्समुदायस्वरूपस्य वेदस्य नित्यत्वमित्याशयेन सिद्धान्तमाह—'आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च' (गो० सू० २।२।१३)। अर्थात् शब्दोऽनित्यः, आदिमत्त्वात्। आदिः कारणमस्ति यस्यासौ आदिमान्, तस्य भाव आदिमत्त्वं तस्मात् सकारणकत्वाद् इत्यर्थः। ननु कण्ठताल्वाद्यभिघातादिना व्यङ्ग्यस्य शब्दस्य युज्यत एव व्यञ्जकत्वमपेक्ष्य सकारणकत्वमत आह—ऐन्द्रियकत्वाद् इति। सामान्यवत्त्वे सति वहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षविषयत्वादित्यर्थः। न चेदमप्रयोजकम्, तत्राह—कृतकवदुपचारादिति। उपचारादर्थात् विनाशित्वात्। कृतकवदिति दृष्टान्तः। यथा घटादिकार्यमुत्पद्य विनश्यति, तथा शब्दोऽपीति न शब्दो नित्यः।

यथाश्रुते हेतूनां व्यभिचारमाशङ्क्याह—'न घटाभावसामान्यनित्यत्वात्, नित्येष्वपि अनित्यवदुपचाराच्च।' (गो० सू० २।२।१४)। नोक्ता हेतवो युक्ताः। घटाभावो हि नित्यः (प्रध्वंसाभावस्यादिमत्त्वेऽपि नित्यत्वात्) इत्यादिमत्त्वमनित्यत्वं व्यभिचरति। सामान्यस्य नित्यत्वाद् ऐन्द्रियकत्वमप्यनित्यत्वं व्यभिचरतीति भावः। नित्येष्वपि अनित्यवदुपचारो भवति, यथा घटाकाश उत्पन्नो घटाकाशो नष्ट इति। तस्मान्नेदं साधनं साध्यसाधने क्षममिति भावः।

सकता है, तो घटादि की भी यह एकता क्यों न सिद्ध हो सकेगी, क्योंकि वहां पर भी व्यञ्जक के भेद से प्रतिभास का भेद बताया जा सकता है'। किन्तु यह कथन भी अविचारित रमणीय है, क्योंकि संवित् (ज्ञान), आकाश प्रभृति में नाम की समानता के आधार पर भिन्न प्रतीतियों में एक विषयता के दर्शन होते हैं, अतः इससे व्याप्ति का निश्चय हो जायगा।

शब्द की नित्यता

इस तरह से आप्त प्रामाण्य के आधार पर वेदों का प्रामाण्य सिद्ध होता है। यहां पर आशंका होती है कि वेद तो नित्य है। इसमें आप्त पुरुष का प्रामाण्य कैसे माना जा सकता है। अतः वर्णों के अनित्य होने से वर्णसमुदाय स्वरूप वेद की भी नित्यता कैसे हो सकती है? इसी बात को 'आदिमत्त्वात्' इत्यादि न्यायसूत्र में तीन कारणों से सिद्ध किया गया है। इसका अर्थ यह है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह आदिमान् अर्थात् सकारण है। इस प्रसंग में यह उत्तर दिया जा सकता है कि कण्ठ, तालु आदि के अभिघात आदि से शब्द व्यक्त होता है, अतः इस व्यंजकता को लेकर उसकी सकारणता का समाधान किया जा सकता है, अतः पुनः शब्द में अनित्यता का अनुमापक दूसरा हेतु दिया जाता है कि शब्द ऐन्द्रियक है। इसका अर्थ यह हुआ कि शब्द में जाति होने के साथ ही साथ वहिरिन्द्रिय जन्य लौकिक प्रत्यक्ष की विषयता भी विद्यमान है, अर्थात् वह कान से सुना जाता है, इस हेतु में अप्रयोजकता के निवारण के लिये ही तीसरा हेतु दिया गया है—कृतकवदुपचारात्। उपचार का अर्थ है कि यह विनाशी है। कृतकवत् यह दृष्टान्त दिया गया है। जैसे कि घटादि कार्य उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है, उसी तरह से शब्द भी उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है, अतः शब्द को नित्य नहीं माना जा सकता।

उक्त यथाश्रुत हेतुओं में व्यभिचार की आशंका को इस सूत्र में उठाया जाता है—'न घटाभाव' इत्यादि। इसका अर्थ यह है कि उक्त तीनों हेतु ठीक नहीं है, क्योंकि घटाभाव भी नित्य होता है। (क्योंकि प्रध्वंसाभाव में आदिमत्त्व होते हुए भी नित्यत्व रहता है।) इस तरह से आदिमत्त्व और नित्यत्व की व्याप्ति नहीं बनती, फलतः इनका व्यभिचार है। इसी तरह से सामान्य नित्य भी है और ऐन्द्रियक भी है। फलतः ऐन्द्रियकत्व की और अनित्यत्व की व्याप्ति न बनकर उक्त स्थल में व्यभिचार दिखाई पड़ता है। इसी तरह से नित्य पदार्थों में भी अनित्यता का उपचरित (गौण) प्रयोग देखा जाता है, जैसे घटाकाश उत्पन्न हुआ, घटाकाश नष्ट हुआ, इत्यादि। इस तरह से ये तीनों साधन (हेतु) साध्य (अनित्यता) की सिद्धि में समर्थ नहीं है।

६०

आदिमत्त्वस्य व्यभिचारित्वं परिहरति—'तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागाद् अव्यभिचारः' (गो० सू० २।२।१५) । तत्त्वस्य पारमार्थिकस्य भाक्तस्य च नानात्वस्य (भेदस्य) विभागात् (विवेकात्) अव्यभिचारः । अर्थात् कामं ध्वंसे उत्पत्तिमत्त्वलक्षणमादिमत्त्वम्, किन्तु तत्र त्रैकालिकत्वरूपं नित्यत्वं नास्ति, उत्पत्तेः प्रागविद्यमानत्वात् । अतोऽनित्यत्वमेव । प्रध्वंसस्याविनाशित्वाद् नित्यत्वमौपचारिकम् । अतो न व्यभिचारः । अथवा आदिमत्त्वं प्रागभावावच्छिन्नसत्त्वं न च तदभावे इति न व्यभिचारः । तस्मात्सकारणकत्वात् शब्दोऽनित्यः ।

ऐन्द्रियकत्वे व्यभिचारमुद्धरति—'सन्तानानुमानविशेषणात्' (गो० सू० २।२।१६) । सन्तानस्यैकधर्मावच्छिन्नत्वेन ज्ञायमानस्येत्यर्थः । तेन सामान्यवत्त्वे सत्यैन्द्रियकत्वाद् इति ज्ञातव्यम् । तेन सामान्ये सामान्याभावाद् ऐन्द्रियकत्वेऽपि न क्षतिः । अर्थाद् नैन्द्रियकत्वमनित्यव्यभिचारीति ।

नित्येष्वप्यनित्यवदुपचारादिति तृतीयं व्यभिचारं वारयति—'कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानाद् नित्येष्वप्यव्यभिचार इति ।' (गो० सू० २।२।१७) । अर्थाद् घटाकाश उत्पन्नो घटाकाशो नष्ट इत्यादौ प्रदेशशब्देन कारणवतो द्रव्यस्याभिधानाद् आकाशे प्रादेशिकत्वव्यवहारो गौणः । न त्वाकाशमुत्पन्नं नष्टं वा । घटोत्पादस्य घटनाशस्य वाकाशे आरोपाद् गौण्या वृत्त्या तथा प्रतिपादनादिति भावः । तस्मात् शब्दस्यानित्यतापक्षः सुस्थिरः ।

इतश्चापि शब्दानित्यत्वपक्षः सुस्थिरः—'प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च' (गो० सू० २।२।१८) । इतश्च शब्दोऽनित्यः, यद्यसौ नित्यः स्यादुच्चारणात् प्रागप्युपलभ्येत, श्रोत्रसन्निकर्षस्य सत्त्वात् । ननु प्रतिबन्धकसद्भावादनुपलब्धिः सतोऽपि शब्दस्येति तत्राह—आवरणादेः प्रतिबन्धकस्यानुपलब्ध्या उच्चारणात् प्राक् शब्दाभाव-

इनमें से पहले हेतु आदिमत्त्व के व्यभिचार का परिहार इस सूत्र से किया जाता है—'तत्त्वभाक्तयो०'। इसका अर्थ यह हुआ कि पारमार्थिक और भाक्त अर्थात् गौण नानात्व के विभाग से अर्थात् इन भेदों के विवेक के आधार पर उक्त व्यभिचार का परिहार हो सकेगा । इसका अभिप्राय यह हुआ कि भले ही प्रध्वंसाभाव में उत्पत्तिमत्त्व लक्षण आदिमत्त्व रहे, किन्तु वहाँ पर त्रैकालिकत्व लक्षण नित्यत्व नहीं है, क्योंकि वह अपनी उत्पत्ति से पहले विद्यमान नहीं रहता । इसलिये प्रध्वंसाभाव को अनित्य ही माना जायगा । यह प्रध्वंसाभाव अविनाशी (विनाशरहित) है, अतः यहाँ पर औपचारिक नित्यता मानी जाती है, पारमार्थिक नहीं । इसलिये उक्त हेतु यहाँ पर व्यभिचरित नहीं होगा । अथवा आदिमत्त्व की व्याख्या यह की जायगी कि उसकी सत्ता प्रागभाव से अवच्छिन्न होनी चाहिये, प्रध्वंसाभाव में यह स्थिति नहीं है, अतः व्यभिचार नहीं होगा । इसलिये सकारण होने से शब्द अनित्य है ।

ऐन्द्रियकत्व हेतु के व्यभिचार का परिहार इस तरह से किया जाता है—'सन्तानानुमान' । जिस पदार्थ की एकधर्मावच्छेदेन प्रतीति होती है, उसको सन्तान कहा जाता है । अतः उक्त अनुमान में सन्तान को विशेषण बना देने पर उसका आकार इस तरह का हो जायगा—ऐन्द्रियकत्व हेतु सामान्यवान् होना चाहिये । अनुमान का यह आकार हो जाने से सामान्य में सामान्यवत्त्व की स्थिति न होने से उक्त व्यभिचार का परिहार हो जाता है, क्योंकि यहाँ पर केवल ऐन्द्रियकत्व है, सामान्यवत्त्व नहीं है । अर्थात् इस प्रकार से ऐन्द्रियकत्व हेतु अनित्यत्व से व्यभिचरित नहीं रह जाता है ।

'नित्येषु' इत्यादि तृतीय हेतु के व्यभिचार का परिहार करने वाला सूत्र है—'कारणद्रव्यस्य०' इत्यादि । अर्थात् घटाकाश उत्पन्न हुआ, घटाकाश नष्ट हुआ इत्यादि स्थलों में प्रदेश शब्द से कारणवान् द्रव्य का अभिधान होता है । आकाश में यह प्रादेशिकत्व व्यवहार गौण ही माना जा सकता है । आकाश न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है । अतः घटोत्पाद और घटनाश का आरोप आकाश में गौणी वृत्ति के आधार पर कर दिया जाता है । इस तरह से शब्द की अनित्यता का सिद्धान्त ही सुस्थिर है, अर्थात् ठीक है ।

शब्द की अनित्यता का पक्ष इस बात से भी पुष्ट होता है—'प्रागुच्चारणा०' । इसका अभिप्राय यह है कि शब्द इसलिये भी अनित्य है कि यदि वह नित्य होता तो उच्चारण से पहले भी उसकी उपलब्धि होती, क्योंकि श्रोत्र का संनिकर्ष तो पहले से विद्यमान है । यह कहा जा सकता है कि प्रतिबन्धक की सत्ता के कारण शब्द के विद्यमान रहते हुए भी उसकी उपलब्धि नहीं होती, इसी शंका के परिहार के अभिप्राय से यहाँ कहा गया है कि शब्द में आवरण आदि प्रतिबन्धकों की यहाँ उपलब्धि नहीं होती, अतः

निर्णयाद् अनित्य एव शब्द इति। न चानुपलब्ध्या देशान्तरगमनमनुमीयत इति वाच्यम्, अमूर्तस्य तस्य देशान्तरगमनसम्भावनाविरहात्। न चेदानीन्ध्वने शब्दस्य देशान्तरगमनं स्पष्टमवलोक्यत इति वाच्यम्, अतीन्द्रियानन्तप्रतिबन्धकल्पनायां महागौरवात्। लाघवात् शब्दानित्यत्वमेव ज्यायः।

धूलिप्रक्षेपमिव वितन्वतः कुतर्काक्रान्तस्य भ्रान्तस्य हृदयमाविष्कुर्वत् सूत्रद्वयम्—'तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः' (१९), 'अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भावान्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात्' (गो० सू० २।२।२०)। अर्थात् शब्दनित्यत्ववादी आह—यथा त्वया आवरणस्यानुपलब्ध्या तदभाव उच्यते, तथैव आवरणानुपलब्धेरनुपलम्भात् तदभावोऽर्थाद् आवरणोपलब्धिरेव स्यात्। यदि वा आवरणानुपलब्धेरनुपलम्भेऽपि नावरणानुपलब्धेरभावः, तदावरणस्यानुपलम्भादपि नावरणस्यानुपपत्तिः।

सर्वमेतत् कुचोद्यं परिहरन् सिद्धान्तमाह—'अनुपलम्भात्मकत्वाद् अनुपलब्धेरहेतुः।' (गो० सू० २।२।२१)। आवरणानुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपलब्धिरिति जात्युत्तरम् अहेतुः, नास्मन्मतप्रतिषेधनक्षमम्, आवरणानुपलब्धेरुपलम्भाभावात्मकत्वात्, तस्य च मनसैव सुग्रहत्वात् तदनुपलब्धिरसिद्धैवेति भावः।

शब्दनित्यत्ववादी शब्दनित्यत्वानुमाने सत्प्रतिपक्षमुद्भाव्याशङ्कते—'अस्पर्शत्वात्' (गो० सू० २।२।२२)। अर्थात् शब्दो नित्यः, अस्पर्शत्वात्, गगनवदित्यनुमानात् शब्दो नित्य इति भावः। सिद्धान्ती 'अस्पर्शत्वात्' इति हेतोरनैकान्तिकत्वमाह—'न कर्मानित्यत्वात्' (गो० सू० २।२।२३)। अनित्यं च कर्मास्पर्शवद् दृष्टम्। तथा चास्पर्शत्वं न शब्दनित्यत्वसाधकम्, कर्मणि व्यभिचारात्। ननु व्यभिचरितस्यापि हेतोरांशिकं साधकत्वं दृष्टम्। तद्वदेव अस्पर्शत्वहेतोः शब्दनित्यत्वसाधकत्वं किन्न स्यादित्याह—'नाणुनित्यत्वात्' (गो० सू० २।२।२४)। अर्थाद् अनैकान्तिकस्यापि हेतोः

उच्चारण से पहले शब्द के अभाव का निश्चय हो जाने से शब्द की अनित्यता ही माननी पड़ेगी। अनुपलब्धि के आधार पर शब्द की प्रदेशान्तर में गमन की अनुमिति भी नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द तो अमूर्त है, उसका प्रदेशान्तर में गमन हो ही नहीं सकता। अभी उत्पन्न हुए शब्द का देशान्तर गमन स्पष्ट प्रतीत होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि शब्द के अतीन्द्रिय अनन्त प्रतिबन्धकों की कल्पना में महा गौरव है। अतः लाघव के आधार पर शब्द की अनित्यता को मान लेना ही श्रेयस्कर है।

आँख में धूल झोंकने वाले कुतर्काक्रान्त भ्रान्त व्यक्ति के हृदय को खोलकर रख देने वाले ये दो सूत्र हैं—'तदनुपलब्धे०', 'अनुपलम्भा०' इत्यादि। अर्थात् शब्द नित्यत्ववादी का कहना है कि जैसे आप आवरण की अनुपलब्धि के आधार पर आवरण का का अभाव मानते हैं, उसी तरह से आवरण की अनुपलब्धि की भी अनुपलब्धि होने से अनुपलब्धि का ही अभाव सिद्ध हो जायगा और आवरण की उपलब्धि हो जायगी। अथवा आवरण की अनुपलब्धि के न होने से भी आवरण की अनुपलब्धि का अभाव हो जायगा। ऐसी स्थिति में आवरण के अनुपलम्भ से भी आवरण की अनुपपत्ति नहीं हो सकती।

इन सारे कुतर्कों का परिहार करते हुए सिद्धान्त पक्ष का उपपादक सूत्र यह है—'अनुपलम्भा०'। आवरण की अनुपलब्धि का अनुपलम्भ होने से आवरण की उपलब्धि होगी, यह एक प्रकार का जात्युत्तर है, अतः यह असद्धेतु हमारे मत का खण्डन करने में असमर्थ है। आवरण की अनुपलब्धि उपलम्भाभाव स्वरूप है। इसका ग्रहण मानसिक ही हो सकता है, अतः इसकी अनुपलब्धि सिद्ध नहीं की जा सकती।

शब्दनित्यत्ववादी शब्द को नित्यता के अनुमान में सत्प्रतिपक्ष हेतु को उपस्थापित करना चाहता है—'अस्पर्शत्वात्'। इसका अभिप्राय यह है कि शब्द नित्य है, क्योंकि आकाश की तरह वह भी स्पर्श से रहित है, इस अनुमान से शब्द की नित्यता सिद्ध होती है। इस पर सिद्धान्ती इस हेतु को अनैकान्तिक (व्यभिचारी) सिद्ध करता है—'न कर्मानित्यत्वात्।' इसका अर्थ यह है कि कर्म अनित्य है और स्पर्श से रहित भी है। इस तरह से अस्पर्शवत्त्व हेतु शब्द की नित्यता को सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि कर्म में अस्पर्शवत्त्व होते हुए भी नित्यता का व्यभिचार देखा जाता है। प्रश्न होता है कि व्यभिचरित हेतु में भी आंशिक साधकता देखी जाती है। उसी तरह से अस्पर्शवत्त्व हेतु भी शब्द की नित्यता का साधकता क्यों न हो? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है—'नाणुनित्यत्वात्।' अर्थात् अनैकान्तिक हेतु को भी यदि साध्य का साधक माना जायगा, तो 'परमाणु अनित्य है, क्योंकि घट की तरह

साध्यसाधकत्वेऽङ्गीक्रियमाणे परमाणुरनित्यो रूपवत्त्वाद् घटवदित्यनुमानात् परमाणोरप्यनित्यत्वापत्तिः स्यात्। 'पुनः पूर्वपक्षी शङ्कते—'सम्प्रदानात्' (गो० सू० २।२।२५)। गुरुणा शिष्याय विद्यायाः सम्प्रदानात् प्राक् शब्दस्य सत्त्वं सिद्धम्। कथं नामाविद्यमानं दीयेतेति। तथा चाहुरभियुक्ताः—'तावत् कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति' इति। तथा च शब्दो नित्य एव। एतदुत्तरं प्रवदन् सिद्धान्ती आह—'तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः। (गो० सू० २।२।२६) शिष्ये उपसन्ने गुरुरध्यापयति, यदि च शब्दो नित्यः स्यात्तदा शिष्यागमनानन्तरमध्यापनात् पूर्वमपि स उपलभ्येत। न चोपलभ्यते। अनुपलब्ध्या च तदानीं नास्ति शब्द इति। अतस्त्वदुक्तो हेतुर्न युक्त इति भावः।

पुनरपि शब्दनित्यत्ववादी प्रत्यवतिष्ठते—'अध्यापनादप्रतिषेधः' (गो० सू० २।२।२७)। शिष्यागमनानन्तरमध्यापनात् पूर्वं यः कालः सोऽन्तरालस्तत्र शब्दाभावादनित्यः शब्द इति यत्त्वयोट्टङ्कितम्, तन्न समीचीनम्। यदि अन्तराले शब्दो न स्यात् तर्हि कथङ्कारं तदध्यापनं घटेत? अनुपलब्धिस्तु विद्यमानस्यापि शब्दस्य कण्ठताल्वाद्यभिघातरूपव्यञ्जकाभावात् सङ्घटत इत्यर्थः।

सिद्धान्ती उत्तरयति—'उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः' (गो० सू० २।२।२८)। अन्यतरस्य शब्दानित्यत्वसाधकस्य अध्यापनहेतुना प्रतिषेधो न युक्तः, उभयोः पक्षयोरध्यापनस्य समानत्वात्। अध्यापनं हि गुरूच्चारणानूच्चारणम्, तच्च शब्दस्थैर्यास्थैर्यपक्षयोस्तुल्यम्। तथाहि—नह्यध्यापनं दानम्, येन स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादनार्थं तस्य स्थैर्यमावश्यकं स्यात्? किन्तु नृत्यादाविवोपदेशमात्रमध्यापनमिति भावः।

पुनरपि पूर्वपक्षी आह—'अभ्यासात्' (गो० सू० २।२।२९)। शब्दो नित्य इति शेषः। स्थिरमेवाभ्यस्यमानं दृश्यते। यथा दशकृत्वो रूपं पश्यति। अत्र रूपं स्थिरम्, तथैव 'शतकृत्वोऽनुवाकमधीते' इति प्रयोगात् शब्दस्यापि स्थैर्यं सिद्ध्यतीति भावः।

वह भी रूपवान् है' इस अनुमान से परमाणु में भी अनित्यता को आपत्ति आ जायगी। 'सम्प्रदानात्' इस सूत्र के द्वारा पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है। इसका अभिप्राय यह है कि गुरु शिष्य को विद्या पढ़ाता है, अतः इससे पहले से शब्द की सत्ता सिद्ध होती है। जो वस्तु विद्यमान नहीं है, उसका प्रदान कैसे संभव हो सकता है। जैसा कि अभियुक्तों ने कहा है—'इतनी देर तक जो स्थिर रह गया, उसको बाद में कौन नष्ट कर सकता है।' इस तरह से शब्द नित्य ही है। इसका उत्तर सिद्धान्ती इस प्रकार देता है—'तदन्तरा०।' शिष्य के आने पर गुरु पढ़ाता है। यदि शब्द नित्य है तो शिष्य के आने के बाद अध्यापन कार्य प्रारंभ होने से पहले भी उसका श्रवण होना चाहिये, किन्तु ऐसी उपलब्धि होती नहीं। अनुपलब्धि के आधार पर यह सिद्ध होता है कि उस समय शब्द नहीं रहता। इसलिये आपका दिया गया कारण (हेतु) गलत है।

शब्दनित्यत्ववादी पुनः आक्षेप करता है—'अध्यापनाद०'। शिष्य के आने के बाद और अध्यापन कार्य आरम्भ होने से पहले जो काल है, उसको अन्तराल काल कहा जाता है। इस समय किसी शब्द की स्थिति नहीं रहती, इस आधार पर आप शब्द को अनित्य मानते हैं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यदि अन्तराल (मध्य) काल में शब्द न हो तो उसका अध्यापन कैसे हो सकता है। अनुपलब्धि तो विद्यमान शब्द की भी कण्ठ, तालु आदि के अभिघात रूप व्यंजक के उस समय न रहने के कारण उचित ही मानी जा सकती है।

सिद्धान्ती इस आक्षेप का समाधान इस तरह से करते हैं—'उभयोः पक्षयोः' इसका अर्थ यह है कि अध्यापन हेतु से शब्द की अनित्यता का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द की नित्यता और अनित्यता दोनों को ही यह समान रूप से बता सकता है। अध्यापन शब्द का अर्थ है कि गुरु के उच्चारण करने के बाद उसको दोहराना। यह अनूच्चारण शब्द की स्थिरता और अस्थिरता दोनों ही स्थितियों में हो सकता है। अध्यापन कोई दान देने की चीज तो है नहीं, जिसमें अपने स्वत्व को छोड़कर उसमें परस्वत्व का आपादन करना हो और इसके लिये उसको स्थिर माना जाय, किन्तु नृत्य आदि की तरह अध्यापन भी केवल उपदेश मात्र है।

पूर्वपक्षी इस पर पुनः बोलता है—'अभ्यासात्'। अर्थात् अभ्यास के आधार पर शब्द को नित्य मानना पड़ेगा। स्थिर वस्तु का ही अभ्यास दिखाई देता है। जैसे कि दस बार रूप को देखता है, यहाँ पर रूप स्थिर वस्तु है। उसी तरह से एक अनुवाक को सौ बार पढ़ता है, इस प्रयोग के आधार पर शब्द की भी स्थिरता सिद्ध होती है।

उत्तरयति च सिद्धान्ती—'नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात्' (गो० सू० २।२।३०)। उक्तः पक्षो न युक्तः, अन्यत्वे भेदेऽपि शब्दानामध्ययनाभ्यासस्य सम्भवात्। नह्यभ्यासः स्थैर्यं साधयितुं शक्नुयादिति भावः। द्विर्जुहोति त्रिर्नृत्यतीत्यादौ भेदेऽप्यभ्यासदर्शनात्। तथा च जयन्तभट्टः—'कृतं कान्तस्य तन्वङ्ग्या त्रिः कटाक्षनिरीक्षणम्। चतुरालिङ्गनं गाढं पञ्चकृत्वश्च चुम्बनम्॥' इति।

अन्यतैव जगति नास्ति, इति कथमन्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपपत्तिरिति तटस्थस्याशङ्कामाह सूत्रकारः—'अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यत्यन्ताभावः' (गो० सू० २।२।३१)। यत्खलु वस्तु अन्यस्मादन्यदुच्यते, तत् स्वस्मादनन्यद् अभिन्नम्, यदन्यत् तत्कथमनन्यत्, भेदाभेदयोर्विरोधात्, अतः पूर्वस्मिन् सूत्रेऽन्यत्वेऽपीत्युक्तिरसङ्गतेति।

समाधत्ते—'तदभावेनास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः' (गो० सू० २।२।३२)। तदभावे अर्थादन्यत्वस्याभावेऽनन्यतापि नास्ति, तयोः सिद्धेरितरेतरापेक्षत्वात्। प्रतियोगिसत्ताधीनैवाभावसत्तेति भावः।

तर्हि शब्दस्य नित्यत्वं प्राप्तम्, तदाह सूत्रकारः—'विनाशकारणानुपलब्धेः' (गो० सू० २।२।३३)। शब्दो नित्यो विनाशकारणानुपलम्भादिति।

ननु चात्र सूत्रेऽनुपलब्धिपदेन किमभिप्रैति भवान्? अप्रत्यक्षमज्ञानं वा? यद्याद्यः पक्षस्तत्राह सूत्रकारः—'अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः' (गो० सू० २।२।३४)। अर्थाद् यदि नामाप्रत्यक्षत्वादभावसिद्धिस्तदा अश्रवणकारणस्याप्रत्यक्षत्वाद् अश्रवणं न स्यादिति सततश्रवणप्रसङ्गः। यदि द्वितीयः पक्षस्तर्हि—'उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः' (गो० सू० २।२।३५)। अर्थादनुमानादिना उपलभ्यमाने विनाशकारणे अनुपलब्धेरभावात् त्वदीयो हेतुरनपदेशः, असाधकः। शब्दो विनाशी जन्यत्वादित्यनुमानात् शब्दस्य विनाशित्वकल्पनादिति भावः।

सिद्धान्ती इसका उत्तर इस तरह से देते हैं—'नाऽन्यत्वे०'। इसका अर्थ यह है कि उक्त पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दों का अन्यत्व अर्थात् भेद रहने पर भी अध्ययन और अभ्यास हो सकता है। अभ्यास शब्द की स्थिरता को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता। दो बार हवन करता है, तीन बार नाचता है, इत्यादि स्थलों में भेद रहने पर भी हवन और नृत्य का अभ्यास देखा जाता है। जैसा कि जयन्त भट्ट ने भी यह कहा है—'तन्वङ्गी ने अपने प्रेमी को तीन बार तिरछी चितवनों से देखा, चार बार गाढ़ आलिङ्गन किया और पांच बार चुम्बन लिया'।

'जगत् में अन्यता ही नहीं है, तो अन्यता (भेद) के आधार पर अभ्यास की उपपत्ति कैसे की जा सकती है', तटस्थ व्यक्ति की इस आशङ्का को सूत्रकार इस तरह से व्यक्त करते हैं—'अन्यदन्यस्मा०'। इसका अर्थ यह है कि जो वस्तु अन्य से अन्य कही जाती है, वह अपने से अभिन्न हुई। जो अन्यत् है, वही अनन्यत् भी कैसे हो सकती है? क्योंकि भेद और अभेद का विरोध होता है। इस तरह से पूर्व सूत्र में 'अन्यत्वेऽपि' यह कथन असंगत है।

इसका समाधान इस तरह से है—'तदभावे०'। अर्थात् अन्यत्व के अभाव में अनन्यता भी नहीं रहेगी, क्योंकि इन दोनों की सिद्धि एक दूसरे की अपेक्षा के आधार पर ही सिद्ध होती हैं। अभिप्राय यह है कि अभाव की सत्ता उसके प्रतियोगी की सत्ता सिद्ध होने पर ही हो सकती है।

तब तो शब्द को नित्य मानना पड़ेगा, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—'विनाश०'। अर्थात् शब्द को इसलिये नित्य मानना चाहिये कि इसके विनाश का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता।

प्रश्न होता है कि इस सूत्र में अनुपलब्धि पद से आपका क्या अभिप्राय है? अप्रत्यक्ष अथवा अज्ञान (प्रत्यक्षभिन्न ज्ञान या सर्वथा अज्ञान)? यदि प्रत्यक्ष भिन्न ज्ञान अभिप्रेत है तो सूत्रकार का कहना है—'अश्रवण०'। अर्थात् यदि आप अप्रत्यक्ष होने से पदार्थ का अभाव सिद्ध करना चाहते हैं, तो अश्रवण का कारण प्रत्यक्ष नहीं है। इस आधार पर अश्रवण न होकर निरन्तर श्रवण का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। यदि द्वितीय पक्ष मानते हैं तो उसका उत्तर है—'उपलभ्यमाने०'। अर्थात् अनुमान प्रभृति से विनाश के कारण की उपलब्धि होने से आपका हेतु साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि वहाँ पर अनुपलब्धि का अभाव इसलिये सिद्ध हो जाता है

सिद्धान्ते सूत्रान्तरमाह महर्षिर्गोतमः—'पाणिनिमित्तप्रश्लेषात् शब्दाभावे नानुपलब्धिः' (गो० सू० २।२।३६)। अयमभिप्रायः—शब्दायमाने कांस्यादौ पाणिरूपनिमित्तस्य प्रश्लेषात् संयोगात् शब्दाभावे उपलभ्यमाने शब्दाभावकरणस्य नानुपलब्धिरिति। 'विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः' (गो० सू० २।२।३७)। यदि विनाशकारणानुपलब्ध्या शब्दस्य अवस्थानं नित्यत्वम्, तर्हि विनाशकारणानुपलब्ध्या शब्दश्रवणस्यापि नित्यत्वापत्तिरित्यर्थः।

अतः परं घण्टावादनादावनुवृत्तस्य नादस्य पाण्यादिसंयोगेन कारणस्य कम्पस्योपरमाद् उपरमो भवति। तथा च शब्दो नाकाशगणः, किन्तु वाद्यमानघण्टादिद्रव्यगुण इति यदि कश्चिदाशङ्केत तत्परिहारार्थं सूत्रमाह परमर्षिर्गोतमः—'अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः' (गो० सू० २।२।३८)। अर्थाद् आकाशाश्रितः शब्द इति यत्प्रतिषिध्यते स प्रतिषेधो न युक्तः, शब्दाश्रयस्यास्पर्शत्वात् स्पर्शरहितत्वात्। अयमभिप्रायः—शब्दाश्रयस्य सस्पर्शत्वे मूर्तत्वमव्यापकत्वं च स्यात्। तथा चानुनादादौ यदि घण्टादिस्थः शब्दः, तदा इन्द्रियाणां स्वसंयुक्तमात्रग्राहकत्वाद् अनुनादादौ घण्टादिभिः श्रोत्रसमीपमागन्तव्यम्। न च तथा दृश्यते। तस्मात् शब्दाधारो व्यापकः स्पर्शशून्य आकाशोऽभ्युपेयः। यदि शब्दो घण्टादिस्थो गृह्येत तदा शब्दसन्तानो नोपपद्येत, घण्टादिनिष्ठरूपादीनां सन्तानादर्शनात्। आकाश एव शब्दसन्तानस्योपपत्तिः। तथाहि अनुमानम्—शब्दो हि न स्पर्शवद्विशेषगुणः, विजातीयतेजःसंयोगासमवायिकारणकत्वाभाववदकारणगुणपूर्वककार्यत्वात्।

एतदेव व्युत्पादयितुं सूत्रान्तरम्—'विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे' (गो० सू० २।२।३९)। अयमभिप्रायः—रूपरसगन्धस्पर्शा यत्र द्रव्ये समवेतास्तत्र यदि तैः सह शब्दोऽपि स्यात् तर्हि तत्र विभागान्तरं नोपपद्यते। अर्थाद्

कि अनुमान आदि से उसकी उपलब्धि हो जाती है। शब्द विनाशी (पैदा होता) है, क्योंकि वह जन्य है, इस अनुमान से शब्द की विनाशिता सिद्ध हो जाती है।

अपना सिद्धान्त स्थिर करने के लिये महर्षि गोतम पुनः कहते हैं—'पाणिनिमित्त०'। इसका यह अभिप्राय है कि—कांस्य पात्र में जब आवाज होने लगती है तो उस पर हाथ लगा देने से वह आवाज बन्द हो जाती है। इसलिये शब्द के अभाव के कारण की अनुपलब्धि नहीं कह सकते। यदि विनाश के कारण की उपलब्धि के आधार पर शब्द की नित्य अवस्थिति मानी जाती हैं, तो शब्द के श्रवण के विनाश के कारण की अनुपलब्धि के आधार पर शब्द के नित्य श्रवण होते रहने की भी आपत्ति उठ खड़ी होगी।

घण्टा बजाने के बाद अनुवृत्त जो अनुरणन रूप नाद, उसके कारणीभूत कम्प के हाथ रख देने पर रुक जाने से नाद का भी उपराम (समाप्ति) हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का गुण नहीं है, किन्तु वाद्यमान घण्टा आदि द्रव्य का वह गुण है। किसी की इस आशङ्का का सूत्रकार परमर्षि गोतम इस तरह से परिहार करते हैं—'अस्पर्श०'। अर्थात् शब्द आकाशाश्रित है, इस बात का जो आप प्रतिषेध करना चाहते हैं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द का आश्रय (आकाश) स्पर्श से रहित है। इसका अभिप्राय यह है कि शब्द के आश्रय को हम यदि सस्पर्श (स्पर्श वाला) मानें तो उसको मूर्त (आकार वाला) और अव्यापक भी मानना पड़ेगा। इस परिस्थिति में अनुरणन आदि अवस्थाओं में यदि शब्द घंटादि द्रव्य में रहता है, तो इन्द्रियाँ तो स्वसंयुक्त द्रव्य मात्र को ग्रहण (ज्ञान) करती हैं, इस अवस्था में अनुरणन आदि में घंटादि को श्रोत्र के समीप आना चाहिये। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसलिये शब्द का आधार व्यापक स्पर्शशून्य आकाश को ही मानना पड़ेगा। यदि शब्द घंटादि द्रव्य में स्थित होकर ज्ञात होता हो, तब तो शब्द सन्तान की उपपत्ति ही नहीं बन सकेगी, क्योंकि घंटादि में स्थित रूपादि में इस प्रकार की सन्तति नहीं देखी जाती। आकाश में ही शब्द सन्तति की उपपत्ति बन सकती है। जैसा कि इस अनुमान से यह सिद्ध होता है—शब्द स्पर्शवान् द्रव्य का विशेष गुण नहीं हो सकता, क्योंकि वह विजातीय तेजःसंयोग रूप असमवायिकारण से पैदा नहीं होता और साथ ही अकारणगुणपूर्वक कार्य भी है।

इसी बात को समझाने के लिये यह दूसरा सूत्र है—'विभक्त्य०'। इसका यह अभिप्राय है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये गुण जिस द्रव्य में समवेत हैं, समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, वहाँ पर यदि उनके साथ शब्द भी रहे तो विभागान्तर की उपपत्ति न हो

विजातीयतेज:संयोगादेव तृणपुञ्जनिक्षिप्त आम्रादौ क्वचित् पूर्वरूपं परावर्तते रूपान्तरं चापद्यते, क्वचिद् रसपरिवर्तनम्, क्वचिद् गन्धपरिवर्तनम्, क्वचित् स्पर्शपरिवर्तनं वा जायते, न स्वतः। शङ्खादावाध्मायमाने एकस्मादेव कारणात् तारमन्द्रादिनानाशब्दा जायन्ते। पूर्वशब्दस्य परावृत्तौ परस्य च प्राप्तौ नान्यत् कारणं किमप्युपलाभमहे। तस्मात् शब्द आकाशाश्रित एव। तदेतन्नैयायिकाद्यभिमतशब्दानित्यत्वं द्रढयन् पूर्वपक्षयति तत्रभवान् जैमिनिः—

'कर्मैके तत्र दर्शनात्' (मी० सू० १।१।६)

एके नैयायिकादयः शब्दः कर्म, क्रियत इति कर्म, अर्थात् कार्यत्वात् शब्दानित्यत्वं मन्यन्ते। तत्र प्रयत्नोत्तरकाले दर्शनात् प्रयत्नजन्यत्वनिश्चयात्। न च प्रयत्नव्यङ्ग्यत्वेन तदुत्तरदर्शनमुपपद्यत इति वाच्यम्, प्रयत्नात् प्राक् शब्दसत्त्वे मानाभावात्।

इतोऽपि शब्दोऽनित्य इत्याह—

'अस्थानात्' (मी० सू० १।१।७)

उच्चारणानन्तरं ज्ञातस्य शब्दस्य चिरकालं यावत् स्थितेरनुपलम्भात्।

'करोतिशब्दात्' (मी० सू० १।१।८)

शब्दं कुरु, शब्दमकार्षीत्, शब्दं करोतीति कालत्रयेऽप्युत्पत्त्यर्थकस्य कृञः शब्दे सम्बन्धादनित्यः शब्दः।

'सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात्' (मी० सू० १।१।९)

सत्त्वान्तरे प्राण्यन्तरे उपलम्भस्य यौगपद्यात्। नानादेशस्थैर्वक्तृभिरुच्चारिताः शब्दा युगपन्नानादेशेषु उपलभ्यन्ते। न चेदं नित्यस्यैकस्य च सम्भवति। न च नित्यत्वेऽप्यनेकत्वाद् इदमुपपद्यते। नहि नित्यमेकमेवेति नियम इति वाच्यम्, प्रत्यभिज्ञा हि नित्यत्वे मानम्, यथा ह्यस्तनाह्यस्तनयोः, एवं नानावक्तृकशब्देऽपि प्रत्यभिज्ञाबलान्नित्यत्वे

सकेगी। अर्थात् विजातीय तेज के संयोग से ही घास के ढेर में दबाये गये आम्र आदि का कहीं पूर्वरूप बदल जाता है और नया रूप उत्पन्न हो जाता है, कहीं पर रस का परिवर्तन, कहीं स्पर्श का और कहीं गन्ध का परिवर्तन भी हो जाता है, यह परिवर्तन स्वतः नहीं होता। इसके विपरीत शङ्ख प्रभृति के बजाने पर एक ही कारण से तार, मन्द्र प्रभृति नाना प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर पूर्व शब्द की परावृत्ति और नये शब्द की प्राप्ति में नया कोई कारण नहीं उपलब्ध होता। इसलिये शब्द को आकाश के आश्रित मानना ही ठीक है।

नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत शब्द की इस अनित्यता को अपने पूर्वपक्ष सूत्र से दृढ़ करते हुए भगवान् जैमिनि कहते हैं—'कर्मैके०।' दार्शनिकों में से एक नैयायिक आदि शब्द को कर्म मानते हैं, अर्थात् 'जो किया जाता है' (पैदा होता है) इस व्युत्पत्ति के आधार पर शब्द को कार्य माना जाता है, कार्य होने से शब्द अनित्य होता है। यह कार्य इसलिये है कि प्रयत्न के बाद इसकी उत्पत्ति होती है। प्रयत्न से व्यंग्यता के आधार पर इसकी उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रयत्न से पहले शब्द की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है।

शब्द इसलिये भी अनित्य है—'अस्थानात्'। अर्थात् उच्चारण के अनन्तर ज्ञात शब्द की चिरकाल तक स्थिति नहीं रहती। तथा—'करोतिशब्दात्' अर्थात् शब्द करो, शब्द किया, शब्द करता है, इस तरह से तीनों कालों में उत्पत्ति अर्थ वाले कृञ् धातु का शब्द से संबन्ध होने से भी वह अनित्य है।

'सत्त्वान्तरे०' शब्द इसलिये भी अनित्य है कि इसकी दूसरे प्राणी में भी एक साथ उपलब्धि होती है। नाना देश में स्थित नाना वक्ताओं के द्वारा उच्चरित शब्द एक साथ अनेक प्रदेशों में उपलब्ध होते हैं। नित्य और एक शब्द में यह स्थिति नहीं हो सकती। प्रश्न है कि नित्य की भी अनेकता मानने से यह संभव हो सकता है, क्योंकि नित्य एक ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। इसका उत्तर यह है कि शब्द की नित्यता में प्रत्यभिज्ञा को ही प्रमाण माना जाता है, जैसे कि कल और आज के शब्द में, इसी तरह

तदैक्यमपीति नानादेशेषु युगपत्तदुपलब्धिर्विरुद्धा। ननु नह्येकान्ततः प्रत्यभिज्ञा न व्यभिचरति। तथा चोक्तं पण्डितप्रकाण्डेन जयन्तभट्टेन न्यायमञ्जर्याम्—'कृतं कान्तस्य तन्वङ्ग्या त्रिःकटाक्षनिरीक्षणम्। चतुरालिङ्गनं गाढं पञ्चकृत्वश्च चुम्बनम्'॥ इति चेन्न, यत्रालिङ्गनचुम्बनादिषु प्रथमालिङ्गनाद् द्वितीयालिङ्गनादौ भेदः प्रत्यक्षः, तत्र प्रत्यभिज्ञायां साजात्यमनुमेयम्। यत्र तु स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञा समुदेति, तत्र न साजात्यकल्पना, किन्तु एकत्वमेवावसेयम्। अतः शब्दोऽनित्यः।

'प्रकृतिविकृत्योश्च' (मी० सू० १।१।१०)

दध्यत्रेत्यादौ प्रकृतेरिकारस्य स्थाने विकृतेर्यकारस्य दर्शनात्। विक्रियमाणं हि अनित्यं भवति। तस्मादनित्यः शब्दः।

'वृद्धिश्च कर्तृभूम्नास्य' (मी० सू० १।१।११)

कर्तृभूम्ना उच्चारयितृवाहुल्येन वृद्धिः महत्त्वं दृश्यते। अवयवप्रचयकृताद् महत्त्वादवयविजननस्यानुमानम्। नह्यभिव्यङ्ग्येऽस्यार्थस्योपपत्तिः। नहि वहुभिरल्पैर्वाऽभिव्यञ्जकैरभिव्यङ्ग्योऽर्थोऽन्यथोपलभ्यते। अवयवाल्पबहुत्वाभ्यां तु जायमानो घटादिरन्यथैवोपलभ्यते। अतो घटादिवदनित्यः शब्दः।

एवं पूर्वपक्षय्योत्तरमाह तत्रभवान् जैमिनिः—

'समं तु तत्र दर्शनम्' (मी० सू० १।१।१२)

तुशब्दोऽनित्यत्वपक्षं व्यावर्तयति। यदुक्तं प्रयत्नोत्तरकाले शब्दो ज्ञायते, तस्मात् प्रयत्नजन्यता शब्दस्य निश्चीयत इति, तन्निराकरोति, तत्र प्रयत्नोत्तरकाले कार्यत्वाभिव्यङ्ग्यत्वयोरुभयोः पक्षयोर्दर्शनं शब्दज्ञानं समम्। प्रयत्नेनैव जायमानत्वात्, प्रयत्नेनैवाभिव्यङ्ग्यत्वाद्वा।

से नाना वक्ताओं के द्वारा उच्चरित शब्द में भी प्रत्यभिज्ञा के बल से नित्यता के सिद्ध होने पर उनकी एकता भी सिद्ध हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में नाना प्रदेशों में उनकी एक साथ उपलब्धि विरुद्ध पड़ेगी। पुनः प्रश्न उठता है कि ऐसी कोई बात नहीं है कि प्रत्यभिज्ञा का व्यभिचार न होता हो। पण्डित प्रकाण्ड जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में कहा है—'तन्वङ्गी ने अपने प्रिय को तीन वार तिरछी नजरों से देखा, चार वार प्रगाढ आलिंगन किया और पाँच वार चुम्बन लिया', यहाँ पर प्रत्यभिज्ञा का व्यभिचार स्पष्ट है। इसका उत्तर यह है कि जहाँ पर आलिंगन, चुम्बन प्रभृति में प्रथम आलिंगन से द्वितीय आलिंगन का भेद स्पष्ट है, वहाँ पर प्रत्यभिज्ञा का आधार एकजातीयता को माना जाना चाहिये। इसके विपरीत जहाँ पर 'यह वही गकार है' इस तरह की प्रत्यभिज्ञा का उदय होता है, वहाँ पर साजात्य की कल्पना नहीं होती, किन्तु एकत्व ही माना जाता है। अतः शब्द को अनित्य ही मानना चाहिये।

'प्रकृतिविकृत्योश्च'। इसका अभिप्राय है कि 'दध्यत्र' यहाँ पर इकार रूप प्रकृति के स्थान पर विकृतिभूत यकार का दर्शन होता है। विक्रियमाण अनित्य होता है। इसलिये शब्द भी अनित्य है।

'वृद्धिश्च कर्तृभूम्नास्य'। कर्तृभूम्ना अर्थात् उच्चारयिता के वाहुल्य में शब्द की वृद्धि, जोर की आवाज होने लगती है। यहाँ पर अवयवों के प्रचय (वृद्धि) के आधार पर अवयवी की उत्पत्ति का अनुमान होता हैं। शब्द की अभिव्यंग्यता मानने पर उक्त वात की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अभिव्यंजक वहुत से हों या थोड़े हो, उनसे अभिव्यंग्य पदार्थों में कोई अन्तर नहीं आता। अवयवों की वहुलता और अल्पता के आधार पर ही जायमान घट आदि पदार्थ छोटे या वड़े रूप में उपलब्ध होते हैं। इसलिये शब्द भी घट आदि की तरह अनित्य ही है।

इस तरह से पूर्वपक्ष करके भगवान् जैमिनि उसका उत्तर इस तरह से देते हैं—'समं तु तत्र दर्शनम्'। यहाँ पर तु शब्द अनित्यत्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। यह जो कहा गया है कि प्रयत्न करने के बाद शब्द का ज्ञान होता है, इसलिये यह निश्चय होता है कि शब्द प्रयत्न करने से उत्पन्न होता है। इसका निराकरण इस सूत्र में किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रयत्न के उत्तर काल में कार्यता और अभिव्यंग्यता दोनों ही पक्षों की उपपत्ति के आधार पर समान रूप से शब्द ज्ञात हो सकता है, क्योंकि आप प्रयत्न से जैसे शब्द की उत्पत्ति मानते हैं, उसी तरह से हम प्रयत्न से शब्द की अभिव्यक्ति मान सकते हैं।

'सतः परमदर्शनं विषयानागमात्' (मी० सू० १।१।१३)। सतः (स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञया स्थिरस्यैव) शब्दस्य अदर्शनं युक्तम्। परमित्यव्ययं युक्तमित्यर्थे। विषयानागमाद् विषयं शब्दं प्रति अभिव्यञ्जकानाम् अनागमाद् असम्बन्धात्। प्रयत्नोत्तरकालिकं शब्दस्य दर्शनं न शब्दस्य कार्यत्वं साधयति, प्रयत्नव्यङ्ग्यत्वेनापि तदुपपत्तेः। ननु कथमभिव्यङ्ग्यत्वमिति? श्रोत्रेन्द्रियसंस्कारेणेति गृहाण। श्रोत्रेन्द्रियं च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशम्। तच्च प्रतिपुरुषं भिन्नमिति नातिप्रसङ्गः। अधिष्ठानभेदाच्च संस्कारव्यवस्था।

यदुक्तमुत्पत्त्यर्थकेन करोतिना सम्वन्धात् शब्दस्यानित्यत्वमिति, तत्राह—'प्रयोगस्य परम्' (मी० सू० १।१।१४)। परमन्यत् यत्कारणमुक्तं करोतिशब्दादिति तत् प्रयोगस्य उच्चारणस्य शब्दं करोतीत्यत्र शब्दोच्चारणस्योत्पत्तिर्विवक्षितेत्यर्थः।

एकस्य नित्यस्य युगपन्नानादेशोपलम्भः कथमिति तत्राह—'आदित्यवद्यौगपद्यम्' (मी० सू० १।१।१५)। आदित्यस्यैकस्य यथा युगपद्दर्शनं तथा शब्दस्यापीत्यर्थः। सर्वगतो हि शब्दो भिन्नदेशैर्ध्वनिभिः स्वे स्वे देशेऽभिव्यज्यमानो भिन्नदेशेऽवभासते। ध्वनयो हि श्रोत्रदेशमागत्यापि शब्दं व्यञ्जयन्तः स्वोत्पत्तिदेशमिव शब्दं भासयन्तीति दर्शनवलादभ्युपगम्यते। ननु अप्राप्यकारि श्रोत्रम्, न च ध्वन्युत्पत्तिदेशाः श्रोत्रेण प्राप्यन्त इति कथं तद्विशिष्टशब्दग्रहणं श्रोत्रेणेति चेत्, श्रोत्रं हि स्वदेशावस्थितमेव शब्दं वोधयदपि न तद्विशिष्टं वोधयति, किन्तु स्वरूपेणैव। शब्दोच्चारणदिश आगता ध्वनयस्तु तया विशिष्टं शब्दं वोधयन्ति। सा च दिक् श्रोत्रप्राप्ता कालवच्छब्दविशेषणतया शक्यते श्रोत्रेण ग्रहीतुम।

'सतः परमदर्शनं०'। यह वही गकार है, इस प्रत्यभिज्ञा के आधार पर सत् अर्थात् स्थिर रूप से विद्यमान शब्द का भी अदर्शन हो सकता है। 'परम्' यह अव्यय यहाँ पर 'युक्त' (उचित) अर्थ में हुआ है। विषय अर्थात् शब्द के साथ अभिव्यंजकों के संबद्ध न होने से शब्द का दर्शन न हो यह उचित ही है। प्रयत्न के बाद जो शब्द का दर्शन होता है, उससे शब्द की कार्यता नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि प्रयत्न के द्वारा उसकी व्यंग्यता भी सिद्ध हो सकती है। प्रयत्न के द्वारा इसकी अभिव्यंग्यता कैसे मानी जा सकती है? तो उत्तर है कि श्रोत्रेन्द्रिय के संस्कार के द्वारा। श्रोत्रेन्द्रिय कर्णशष्कुली (कान का छिद्र) से अवच्छिन्न (उपहित) आकाश ही है। वह प्रत्येक पुरुष में भिन्न भिन्न है, अतः जिस श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार होगा, उसी के शब्द की अभिव्यक्ति होगी, अन्यत्र नहीं। संस्कार की व्यवस्था अधिष्ठान के भेद के अनुसार होगी, अर्थात् जिस अधिष्ठान में वर्तमान श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार होगा, उसी अधिष्ठान (आधार) के श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार होगा।

उत्पत्ति अर्थ वाले कृञ् धातु से संबन्ध होने से शब्द की अनित्यता पहले बतलाई गई थी। उसका उत्तर है—'प्रयोगस्य परम्'। अर्थात् शब्द की अनित्यता में यह जो दूसरा कारण बताया गया है कि शब्द का 'करोति' से संबन्ध है, इसका समाधान यह है कि करोति का शब्द से संबन्ध न होकर प्रयोग के साथ संबन्ध है। प्रयोग का अर्थ उच्चारण है, अतः 'शब्द करता है' इसका अर्थ होगा 'शब्द का उच्चारण करता है'। इस तरह से उक्त आपत्ति का परिहार हो जाता है।

एक नित्य शब्द की एक साथ नाना प्रदेशों में उपलब्धि कैसे होगी? इसका समाधान यह है—'आदित्यवद् यौगपद्यम्।' जैसे आदित्य एक ही है, किन्तु उसका एक साथ नाना प्रदेशों में दर्शन होता है, उसी तरह से शब्द को भी मानना चाहिये। शब्द सर्वगत है, तो भी भिन्न भिन्न देशों में वर्तमान ध्वनियों के द्वारा अपने अपने प्रदेश में अभिव्यक्त होकर भिन्न भिन्न प्रदेश में प्रतीत होने लगता है। ध्वनियाँ श्रोत्र देश में आती अवश्य हैं, किन्तु जब वे यहाँ आकर शब्द को अभिव्यक्त करती हैं, तो उस समय ऐसी प्रतीति होती है कि वह शब्द ध्वनि की उत्पत्ति के प्रदेश में अभिव्यक्त हुआ हो। प्रश्न होता है कि श्रोत्र तो अप्राप्यकारी है। वह ध्वनि की उत्पत्ति के प्रदेश में जायगा नहीं, तब उसके द्वारा ध्वनि के प्रदेश के साथ शब्द की श्रुति (श्रवण) कैसे संभव होगी? उत्तर है कि श्रोत्र अपने स्थान में स्थित रहता हुआ ही यद्यपि शब्द का बोध कराता है, तथापि उसका बोध वह सामान्य रूप से कराता है, किसी विशेषण से विशिष्ट का नहीं। शब्द का जहाँ उच्चारण हुआ, उस दिशा से आने वाली ध्वनियाँ ही उस प्रदेश से विशिष्ट शब्द का बोध कराती हैं। उस दिशा की प्राप्ति श्रोत्र को उसी तरह से होती है, जैसे कि उसका काल से संबन्ध होता है, अतः उस शब्दविशिष्ट

ध्वनयश्च क्रमेण मन्दीभवन्तः प्रत्यासन्नाद् दूरतराच्च देशादागतास्तीव्रं मन्दं मन्दतरं च शब्दं बोधयन्ति। सर्वं त्वेतत् शास्त्रदीपिकायां स्पष्टम्।

यत्तु दध्यत्रेत्यादौ प्रकृतेरिकारस्य स्थाने विकृतेर्यकारस्य दर्शनात् शब्दानित्यत्वमिति, तत्राह—'शब्दान्तरमविकारः' (मी० सू० १।१।१६)। 'दधि + अत्र' इत्यस्माद् दध्यत्रेति शब्दान्तरम्। इकारस्य न विकारो यकारः। यथा कटं चिकीर्षुर्नियमेन तृणान्यादत्ते न तथा यकारं प्रयुयुक्षुर्नियमेनेकारमुपादत्ते। तस्मान्न विक्रियते शब्दः।

यदुक्तं वक्तृबहुत्वात् शब्दमहत्त्वमिति, तत्राह—'नादवृद्धिः परा' (मी० सू० १।१।१७)। परा अन्या वृद्धिर्या उक्ता वक्तृबहुत्वात् शब्दस्य सा न शब्दस्य वृद्धिः, किन्तु नादस्य ध्वनेरेव वृद्धिः। शब्दस्यानवयवत्वेन महत्त्वानुपपत्तेः। नादवृद्धिरेव भ्रान्त्या शब्दवृद्धिः प्रतीयत इति भावः।

एवं परमतसमीक्षां विधाय स्वमतमाह भगवान् जैमिनिः—'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्' (मी० सू० १।१।१८)। तुरवधारणे। नित्य एव शब्दः स्यात्। दृश्यतेऽनेनेति दर्शनमुच्चारणम्। तस्य परं प्रत्यर्थप्रत्यायनार्थत्वात्। नह्युच्चारितस्य शब्दस्य नाशेऽन्यस्मात् शब्दजशब्दाद् अर्थप्रतीतिः सम्भवति, शक्तिग्रहाभावात्, उच्चारितात् शब्दादर्थं प्रत्येमीत्यनुभवविरोधाच्च।

इतोऽपि नित्यः शब्द इत्याह—'सर्वत्र यौगपद्यात्'। सर्वव्यक्तिषु बोधस्य यौगपद्याद् नित्यः शब्दः। गोशब्देऽभ्युच्चरिते युगपत्सर्वासां गोव्यक्तीनां प्रतीतेरानुभविकत्वेनाकृतिवचनत्वं शब्दस्याध्यवसीयते। न च जात्या अनित्यशब्दस्य सम्बन्धः कर्तुं शक्यः। नित्यत्वे तु पूर्वपूर्वप्रयोगात् स शक्यग्रह इत्यर्थः।

दिशा का बोध श्रोत्र को हो सकता है। ध्वनियाँ क्रमशः धीमी पड़ती जाती हैं, अतः पास से आई ध्वनि की तीव्र श्रुति; दूर से आई ध्वनि की मन्द श्रुति और बहुत दूर से आई ध्वनि की मन्दतर श्रुति होती है। ये सारी बातें शास्त्रदीपिका में स्पष्ट हैं।

ऊपर यह भी बताया गया था कि 'दध्यत्र' यहाँ पर प्रकृतिभूत इकार के साथ विकृतिभूत यकार का विधान होने से शब्द को अनित्य ही मानना चाहिये। इसका उत्तर है—'शब्दान्तरमविकारः' अर्थात् 'दधि-अत्र' इससे 'दध्यत्र' यह शब्द ही भिन्न है। यहाँ पर यकार इकार का विकार नहीं है। जैसे चटाई बुनने वाला व्यक्ति नियमतः उसके दिये तृणों को उपादान बनाता है, उसी तरह से यकार का प्रयोग करने वाला व्यक्ति नियमतः इकार का उपादान नहीं करता। अतः शब्द में विकार नहीं होता।

दूसरी आशङ्का यह भी उठाई गई थी कि एक ही शब्द को जब अनेक व्यक्ति बोलते हैं, तो उस समय आवाज तेज हो जाती है। इसका उत्तर है—'नादवृद्धिः परा'। अर्थात् अनेक व्यक्तियों के एक साथ एक ही शब्द के उच्चरित होने पर शब्द की वृद्धि की जो बात कही गई है, वह शब्द की वृद्धि नहीं है, किन्तु नाद अर्थात् ध्वनि की वृद्धि है। शब्द तो निरवयव है, अतः उसमें वृद्धि नहीं हो सकती। नाद की वृद्धि ही भ्रान्ति से शब्द की वृद्धि प्रतीत होती है।

इस तरह से परमत की समीक्षा करके भगवान् जैमिनि अपने मत को कहते हैं—'नित्यस्तु०'। तु शब्द यहाँ अवधारण (निश्चय) के अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् शब्द नित्य ही है। दर्शन का अर्थ उच्चारण है। शब्द का उच्चारण दूसरे को अर्थ का बोध कराने के अभिप्राय से किया जाता है। उच्चरित शब्द के नष्ट हो जाने पर अन्य शब्दजन्य शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि उसके साथ शक्तिग्रह नहीं होगा, साथ ही उच्चरित शब्द से अर्थ को जानता हूँ, इस अनुभव के साथ विरोध भी होगा।

शब्द इसलिये भी नित्य है—'सर्वत्र यौगपद्यात्'। शब्द से सभी व्यक्तियों का एक साथ (बोध) ज्ञान होता है, इसलिये भी शब्द नित्य है। गो शब्द के उच्चारण करने पर एक साथ ही सभी गो व्यक्तियों की प्रतीति हो जाती है, यह बात अनुभव से सिद्ध है; अतः शब्द को आकृतिवाचक (जाति) मानना निश्चित हो जाता है। आकृति अर्थात् जाति से अनित्य शब्द का सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता। शब्द को नित्य मानने पर पूर्व-पूर्व प्रयोग के आधार पर यह सम्बन्ध जाना जा सकता है।

इतोऽपि नित्यः शब्द इत्याह—'संख्याभावात्' (मी० सू० १।१।२०)। दशगोशब्दानुच्चारयतीति संख्याप्रतीतेरभावादपि नित्यः शब्दः। दशकृत्वो गोशब्दमुच्चारयतीत्येव प्रतीतेः।

इतोऽपि नित्यः शब्दः—'अनपेक्षत्वात्' (१।१।२१)। यथा घटादिकार्यं स्वोत्पत्तौ समवाय्यसमवायि-निमित्तकारणमपेक्षते, तन्नाशे च नश्यति; नैवं शब्दः, तस्य समवाय्यादिकारणाभावात्। तस्मान्नित्यः शब्दः।

ननु वायुकारणकः शब्दः, वायुसंयोगविभागैर्जायमानत्वात् 'वायुरापद्यते शब्दताम्' इति शिक्षाकृदुक्तेश्च। तत्राह—'प्रेक्षाभावाच्च संयोगस्य' (मी० सू० १।१।२२)। संयोगस्य वाय्ववयवसंयोगस्य प्रेक्षाभावाद् अनुपलब्धेश्च न वायुकारणकः शब्दः।

वेदसम्मतमपि शब्दस्य नित्यत्वम् इत्याह—'लिङ्गदर्शनाच्च' (मी० सू० १।१।२३)। 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इति नित्यत्वानुवादाल्लिङ्गादपि नित्यः शब्दः।

एवं वेदविरुद्धानि प्राचां सिद्धान्तानि समालोचितानि विस्तरेण। अथेतः परं दयानन्दीया ऋग्वेदभाष्य-भूमिका कणेहत्य खण्डयते।

शब्द इसलिये भी नित्य है—'संख्याभावात्'। अर्थात् दस गो शब्दों का उच्चारण करता है, यहाँ पर संख्या की प्रतीति न होने से भी शब्द नित्य है। यहाँ पर यही प्रतीत होता है कि दस बार एक ही गो शब्द का उच्चारण करता है। लोग ऐसा कहते देखे जाते हैं कि क्या बार-बार इन्हीं शब्दों का उच्चारण कर रहे हो।

शब्द इसलिये भी नित्य है—'अनपेक्षत्वात्'। अर्थात् घट आदि कार्य जैसे अपनी उत्पत्ति में समवायी, असमवायी और निमित्त कारण की अपेक्षा रखते हैं और कारण के नाश होने पर नष्ट हो जाते हैं, इस तरह की स्थिति शब्द की नहीं है, क्योंकि उसका कोई समवायी आदि कारण नहीं है। इसलिये शब्द नित्य है।

प्रश्न है कि शब्द का कारण वायु है, क्योंकि वायु के संयोग और विभाग से उसकी उत्पत्ति होती है। शिक्षाकार ने भी कहा है कि वायु ही शब्द के आकार को प्राप्त कर लेता है। इसका समाधान यह है—'प्रेक्षाभावाच्च०'। अर्थात् वायु के अवयवों के उपलब्ध न होने से वायु को शब्द का कारण नहीं माना जा सकता।

शब्द नित्य है, इस बात में वेद की भी सम्मति है। इस बात को इस सूत्र में बताया गया है—'लिङ्गदर्शनाच्च'। 'वाचा विरूपनित्यया' यह श्रुति वाणी की नित्यता और अविकारिता का प्रतिपादन करती है, इस प्रमाण से भी शब्द की नित्यता सिद्ध होती है।

इस प्रकार वेद विरोधी अनेक सिद्धान्तों की यहां विस्तार से समालोचना की गई है। अब आगे स्वामी दयानन्द विरचित ऋग्वेदभाष्यभूमिका का खण्डन किया जा रहा है।

दयानन्द-मतखण्डनम्

१. वेदोत्पत्तिविचारः

दयानन्दीय-ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां वेदोत्पत्तिविषयप्रकरणे यच्च दयानन्देन 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।।' (यजु० ३१।७) इत्यत्र तस्माद्यज्ञात् सच्चिदानन्दलक्षणात् पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् सर्वशक्तिमतः परमेश्वरात् परब्रह्मण ऋचः ऋग्वेदः, यजुर्यजुर्वेदः सामानि सामवेदः, छन्दांसि अथर्ववेदश्च जज्ञिरे चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्' (पृ० १०) इत्युक्तम्।

अत्रेदं विचारणीयम्—ऋचः सामानि यजुरिति मन्त्रवाचकान्येव पदानि न ऋग्वेदादिपराणि, तथार्थ-विधाने मानाभावात्। नहि मन्त्रा एव वेदाः, मन्त्राणां वेदत्वबोधकमन्त्रानुपलब्धेः। न च ब्राह्मणादिग्रन्थैस्तेषां वेदत्वं सिध्यति, त्वया तेषां प्रामाण्यस्वतस्त्वानभ्युपगमात्। न च 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः' (श० ब्रा० १४।५।४।१०) इत्यादिब्राह्मणवचनस्य तत्साधकत्वम्, ऋग्वेदादिसमस्तपदस्योद्देश्यविधेयभावासंभवात्। 'छन्दांसि' इत्यस्याथर्ववेद इत्यपि निर्मूलोऽर्थ इत्यन्यत्रोक्तमेव, तत्पदस्य ब्राह्मणग्रन्थवाचकत्वाच्च।

यदपि चोक्तम्—'सर्वहुत इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्याः सन्ति' (पृ० १०) इति, तदपि तुच्छम्, लिङ्गविभक्तिविपरिणामापत्तेः। न च वीजमन्तरा लिङ्गविभक्ति-विपरिणामो युक्तः। सर्वहुतपदस्य स्वयमेवोपरि सर्वपूज्यत्वसर्वोपास्यत्वरूपार्थकरणेन स्वोक्तिविरोधाच्च।

स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन

१. वेदों की उत्पत्ति पर विचार

अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति विषयक प्रकरण में दयानन्द ने 'तस्मात् यज्ञात्' इत्यादि मन्त्र का अर्थ करते हुए कहा है कि 'सत् जिसका कभी नाश नहीं होता है, चित् जो सदा ज्ञान स्वरूप है, जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सबको सुख देने वाला है, इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है; उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद, (यजुः) यजुर्वेद, (सामानि) सामवेद और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी, ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं' (पृ० ११–१२)।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि ऋचः, सामानि और यजुः ये पद मन्त्रवाचक ही हैं, ऋग्वेद आदि के बोधक नहीं, क्योंकि ऐसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। मन्त्र ही वेद नहीं हैं, क्योंकि मन्त्रों को वेद बतलाने वाला कोई मन्त्र नहीं है। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से भी उनका वेदत्व नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि आप उनको स्वतः प्रमाण नहीं मानते। 'इस महान् परमात्मा के निःश्वास से यह ऋग्वेद निकला' इत्यादि ब्राह्मण वचन से इसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ऋग्वेद आदि समस्त पद का उद्देश्यविधेयभाव संभव नहीं हो सकता। 'छन्दांसि' इस पद का अर्थ अथर्ववेद करना निराधार है, यह बात अन्यत्र बताई जा चुकी है।

'इस मन्त्र में पठित 'सर्वहुतः' पद वेदों का भी विशेषण हो सकता है, अर्थात् वेद सर्वहुत हैं, क्योंकि ये सब मनुष्यों से ग्रहण करने योग्य हैं' (पृ० १२) यह भी व्यर्थ की बात है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने के लिये लिङ्ग और विभक्ति का विपरिणाम करना पड़ेगा और बिना किसी कारण के ऐसा करना उचित नहीं होता। सर्वहुत पद का स्वयं 'ऊपर सर्व पूज्य और सबके उपास्य' ऐसा अर्थ किया है, अतः अब उससे भिन्न अर्थ करना अपना ही विरोध करना भी है।

यदुक्तम्—'वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोऽन्वितत्वात् पुनः छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयति' (पृ० १०) इति, तदपि तुच्छम्, छन्दःपदस्य वेदपरत्वेन 'छन्दांसि जज्ञिरे' इत्यनेनैव सर्ववेदोत्पत्तिसिद्धौ ऋचः सामानि यजुरित्यादिशब्दानामपि वैयर्थ्यापत्तेरपरिहार्यत्वात्। यदि विशेषरूपेण ऋगादीनामुत्पत्तिबोधनाय ऋगादिपदानि सार्थकानि, तर्हि पृथग्गायत्र्यादिछन्दसामुत्पत्तिसिद्धये छन्दांसीति पदमपि सार्थकमेव, अथर्वमन्त्राणां तु त्रिष्वेवान्तर्भावान्न पृथगुपदेशार्हता। अतश्छन्दःपदस्य ब्राह्मणग्रन्थवाचकत्वमेव युक्ततरम्।

यदपि 'जज्ञिरे अजायत' इति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम्' (पृ० १०) इति, तदपि निर्मूलम्, बीजमन्तरा उत्पत्त्यर्थिकाया जनेरनेकविद्यावत्त्वबोधनेऽशक्तेः। न च क्रियापदस्यावृत्तिरेव बीजम्, जायमानभेदात् क्रियाभेदस्योपपन्नत्वात्। अन्यथा तृतीयस्या अपि 'जज्ञिरे' इति क्रियायाः प्रयोजनं वक्तव्यमापतेत्।

यत्तु 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते (नि० १०।४२) इत्याश्रयणम्' (पृ० १० टि०), तदपि तुच्छम्, तत्राभ्यस्यमानस्य क्रियार्थस्यैव भूयस्त्वसंभवात्। नह्युत्पत्तेर्भूयस्त्वं त्वयेष्यते। विद्या तु नाभ्यस्यते, ततो न तेन वेदस्यानेकविद्यावत्त्वमभ्यासेन सिद्ध्यति।

यत्तु 'तस्मादिति पदद्वयं परमेश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम्' (पृ० १०), तदपि बालभाषितम्, सर्वं वाक्यं सावधारणं भवतीति रीत्यैकेनापि तस्मादिति पदेन परमेश्वरादेव वेदोत्पत्तिसिद्ध्या तदर्थं पदद्वयानपेक्षणात्। अन्यथा तृतीयस्यापि तस्मादित्यस्य प्रयोजनं वक्तव्यम्। वस्तुतस्त्वत्रापि जायमानभेदादेव तस्मादिति पदत्रयनिर्देशः, समानकारणत्वनिर्देशेन त्रयाणामप्यृगादीनां परमेश्वरादेवोत्पत्तिरिति नोत्पाद्यभेदेन कर्तृभेदसिद्धिरित्यर्थः।

'वेदों में सब मन्त्र गायत्री आदि छन्दों से युक्त ही हैं। फिर 'छन्दांसि' इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है, उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है' (पृ० १२) यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि छन्दस् पद का अर्थ वेद होता है, 'छन्दांसि जज्ञिरे' इतना कहने से ही सभी वेदों की उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है, ऐसी परिस्थिति में 'ऋचः, सामानि, यजुः' इत्यादि पदों की व्यर्थता निश्चित हो जायगी। यदि विशेषण रूप से ऋगादि की उत्पत्ति बतलाने के लिये इनकी सार्थकता मानी जाय, तो अलग से गायत्री प्रभृति छन्दों की उत्पत्ति की सिद्धि के लिये 'छन्दांसि' यह पद भी सार्थक है। अथर्व मन्त्रों का इन तीन में ही समावेश हो जाता है, फिरः उसमें पृथक् उपदेश की योग्यता नहीं है। अतः छन्दःपद का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थ ही ठीक है।

इसी प्रकार 'जज्ञिरे' और 'अजायत' इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त है, ऐसा माना जाता है' (पृ० १२) यह कथन भी निर्मूल है। बिना कारण के उत्पत्त्यर्थक जनि धातु 'अनेकविद्यावत्त्व' अर्थ को कहने में समर्थ नहीं हो सकती। क्रिया की आवृत्ति को इसमें कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जायमान वेदों के भेद से क्रिया का भेद होना उचित ही है, अन्यथा 'जज्ञिरे' इस तृतीय क्रिया का प्रयोजन भी आपको बताना होगा।

'शब्द का अभ्यास अर्थात् बार-बार उच्चारण करने पर उसमें से अधिक अर्थ प्रकट होता है' (पृ० १० टिप्पणी) इस निरुक्त वचन का सहारा लेना भी यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि इससे तो दुहराई गई क्रिया में ही अर्थ की अधिकता होगी, उत्पत्ति का भूयस्त्व आपको अभिप्रेत नहीं है। विद्या का यहाँ अभ्यास नहीं किया गया है, तब क्रिया के अभ्यास से वेद की अनेक विद्यावत्ता नहीं बनेगी।

'तस्मात् इत्यादि पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं, किसी मनुष्य से नहीं' (पृ० १२) यह भी बच्चों की सी बात है, 'सभी वाक्य सावधारण अर्थात् निश्चयात्मक होते हैं' इस नियम के अनुसार 'तस्मात्' इस एक पद से ही यह निर्धारित हो सकेगा कि परमेश्वर से ही वेद की उत्पत्ति होती है, तो फिर इसके लिये दूसरा 'तस्मात्' पद अनावश्यक हो जायगा। अन्यथा आपको तृतीय 'तस्मात्' पद का भी प्रयोजन बताना होगा। वास्तव में तो यहाँ पर भी जायमान वेद के भेद से 'तस्मात्' पद का तीन बार निर्देश हुआ है। समान कारण का निर्देश होने से ऋग्वेद आदि तीनों वेदों की परमेश्वर से ही उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उत्पाद्य ऋक् आदि के भेद से कर्ता में भेद नहीं होता।

यत्तु 'सर्वजगत्कर्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते नान्यत्र' (पृ० १०) इत्युक्तम्, तत्तु सत्यम्, किन्तु वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वर इति व्युत्पाद्य तदर्थं 'यज्ञो वै विष्णुः' (श० १।१।२।१३) इति वचनोद्धरणं तु न त्वदभिप्रायपोषकम्, तत्र तु यज्ञे विष्णुत्वारोपस्यैव तात्पर्यविषयत्वात्। नहि यज्ञशब्दस्य व्यापकत्वमर्थः। यजेर्देवपूजाद्यर्थकत्वात्, यज्ञेरिज्यत्वात्, यज्ञभोक्तृत्वात्, यज्ञफलदातृत्वाच्च यज्ञे विष्णुत्वारोपः। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं' (यजु० ५।१५) इदं तु विष्णोर्विक्रमणबोधकं वचनम्। तत्तु निराकारस्य नोपपद्यते, व्यापकस्य त्रेधापदनिधानानुपपत्तेः।

एवमेव 'यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥ स्कम्भं तं ब्रूहि कतमःस्विदेव सः।' अथर्व० (१०।७।२०)। यस्माद् ब्रह्मणः ऋचः ऋग्वेदः अपातक्षन् उत्पन्नोऽस्ति, यस्माद्यजुः अपाकषन् प्रादुर्भूतोऽस्ति, सामानि सामवेदः, अथर्ववेदश्च यस्मादुत्पन्नौ। एवमेव परमेश्वरस्याथर्वाङ्गिरसो मुखमिव मुख्योऽस्ति सामानि लोमानीव सन्ति यजुर्यस्य हृदयं ऋचः प्राणश्चेति रूपकालङ्कारः। यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः कतमः स्विद्देवोऽस्ति तं ब्रूहीति प्रश्नः। अस्योत्तरम्—स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं तं जानीहि सर्वाधारात् परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्ता नास्ति।' (पृ० १०-११)।

अत्र यद्युत्पत्तिरेव विवक्षिता स्यात्तदा 'अपाकषन्' इति धातुभेदप्रयोगो निरर्थक एव स्यात्, तस्मादत्रार्थान्तरमन्वेष्टव्यम्। रूपकेण त्वेवं विज्ञायते—यदा काष्ठेन स्तम्भो निर्मीयते तदा तस्य पूर्वं तक्षणादिभिः स्वरूपं निर्मीयते, पश्चादपाकषणेन चिक्कणतासंपादकेन यन्त्रेण स्तम्भः स्निग्धः सम्पाद्यते। तथैव तत्र तक्षणेनापाकषणेन च येंऽशाः पृथग्भवन्ति तेऽपि तदंशा एव, तथैव ब्रह्मतत्त्वं तत्काष्ठस्थानीयम्। ततो विशुद्धसत्त्वोपाधिक-

'सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है, अन्यत्र नहीं' (पृ० १२) यह बात तो सही है, किन्तु 'चराचर जगत् को जो व्याप्त करके रहता है, वह विष्णु है' इस प्रकार की व्युत्पत्ति कर इसके लिये 'यज्ञ ही विष्णु है' (पृ० १०) इस शतपथ श्रुति को उद्धृत करने से आपका अभिप्राय नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि वहाँ पर तो यज्ञ को ही विष्णु कहा गया है। यज्ञ शब्द का अर्थ व्यापक नहीं हो सकता। यज् धातु का अर्थ देवपूजा है, परमात्मा यज्ञ से पूजनीय है; यज्ञ का भोक्ता है और यज्ञ के फल का भी दाता है, अतः यज्ञ में विष्णु का आरोप किया जाता है। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (पृ० १०) इस श्रुति में विष्णु के तीन पदक्रमों का वर्णन किया गया है। आपके अभिप्रेत निराकार परमेश्वर में यह संभव नहीं है, क्योंकि जो सब जगह व्याप्त है, वह तीन बार पैर कैसे रखेगा।

'(यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद, (यजुः) यजुर्वेद, (सामानि) सामवेद, (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालंकार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाईं है। ये चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौन सा देव है, उसको तुम मुझसे कहो, इस प्रश्न का उत्तर है कि जो सब जगत् का धारणकर्ता परमेश्वर है, उसका नाम स्कम्भ है,' उसी को तुम वेदों का कर्ता जानो और यह भी जानो कि उसको छोड़ के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है (पृ० १२)।'

पर यहाँ यदि उत्पत्ति ही कहनी हो तो 'अपाकषन्' इस भिन्न धातु का प्रयोग निरर्थक हो जायगा, इसलिये यहाँ दूसरा अर्थ खोजना पड़ेगा। रूपक अलंकार से ऐसा मालूम होता है कि जब लकड़ी से खंभा बनाना होता है तो पहले लकड़ी को काट-छील कर खंभे का आकार बनाया जाता है। उसके बाद उसको चिकना बनाने के लिये रंदे से छीला जाता है। यहाँ पर लकड़ी के काटने और छीलने से उसके जो अंश अलग होते हैं, वे उसी के अंग माने जाते हैं, इसी तरह ब्रह्मतत्त्व यहाँ पर काष्ठ के तुल्य है। वह विशुद्ध सत्त्व को अपनी उपाधि बना कर चैतन्य स्वरूप ईश्वर सारे जगत् के आधारभूत स्तम्भ के रूप में अभिव्यक्त होता है। ऋक् और यजुः ब्रह्म के अंश हैं, क्योंकि तक्षण आदि के द्वारा उपादान का अंश ही ऋक्, यजुः आदि रूपों में अभिव्यक्त होता है। 'वेद साक्षात्

चैतन्यरूप ईश्वरः सर्वजगदाधारस्तम्भरूपेण व्यज्यते। ऋचो यजूंषि च ब्रह्मणोंऽशभूतानि, तक्षणादिभिरुपादानांशस्यैवर्गादिरूपेणाविर्भावात्। श्रीभागवतादौ नारायणस्यैव वेदरूपेणाभिव्यक्तेरुक्तत्वात्। 'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम' इति वचनात्। तत्रापि ऋचां स्थौल्यं तदपेक्षया यजुषां सौक्ष्म्यावद्योतनाय ऋचां तक्षणजन्यत्वं यजुषाञ्चापाकषणजन्यत्वमुक्तम्। वस्तुतः कूटस्थे निरवयवे तक्षणाद्यसंभवादारम्भपरिणामासम्भवेन विवर्तोपादानत्वमेव ब्रह्मणो मन्तव्यम्। तथा च ब्रह्मण एव सर्वजगदाधारपरमेश्वररूपेण तत्संचालकवेदरूपेण प्रादुर्भाव इत्येवात्र विवक्षितोऽर्थः। अभिधेयात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुगुणशक्त्यवच्छिन्नसदानन्दस्येश्वरत्वम्, अभिधानात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुगुणशक्त्यवच्छिन्नसंविदानन्दस्य प्रणवादिवेदरूपत्वम्, परमार्थतोऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षस्य स्वप्रकाशस्यापि व्यवहारभूमौ स्वस्य परमेशरूपस्य स्वेन वेदरूपेण प्रकाशनादपि स्वप्रकाशत्वमुक्तम्। तस्यैव सर्वाधारस्याथर्ववेदो मुखम्, सामानि लोमानीवात्राप्यभेद एव विवक्षितः, अंशांशिनामधिष्ठानाधिष्ठेयानामभेदपर्यवसायित्वात्। सच्चिदानन्दसमुद्रे सदानन्दसंविदानन्दौ मुख्यौ तरङ्गौ। तद्विकाराश्च तज्जन्यास्तरङ्गाः, तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वेन ब्रह्मरूपतैव विवक्षिता तेषाम्।

यदपि चोक्तम्—'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः' (श० १४।५।४।१०) इत्याकाशादपि महतः परमेश्वरस्य सकाशाद् ऋग्वेदादिचतुष्टयं निःश्वसितं निःश्वासवत् सहजतया निःसृतमिति वेदितव्यम्। यथा शरीराच्छ्वासा निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशन्ति, तथैवेश्वराद् वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः' (पृ० ११) इति, तदपि चिन्त्यम्, ऋग्यजुःसामवेदा इत्यनेनैवाभिप्रेतसिद्धौ वेदपदद्वयस्य वैयर्थ्यापत्तेः। तस्मादत्र ऋचां मन्त्राणां बाहुल्यं ऋचो वा पठितव्या विनियोज्या यस्मिन् वेदे स ऋग्वेदः,

स्वयम्भू नारायण हैं, ऐसा हम सुनते हैं' इस भगवान् के वचन में नारायण की ही वेद रूप में अभिव्यक्ति बताई गई है। ऋचाओं की स्थूलता और यजुर्मन्त्रों की सूक्ष्मता को बताने के लिये यहाँ पर ऋक् की तक्षणजन्यता और यजुः की अपाकषणजन्यता बताई गई है, अर्थात् उस ब्रह्मरूप काष्ठ के काटने से ऋग्वेद और छीलने से यजुर्वेद बना। वास्तव में कूटस्थ निरवयव ब्रह्म में तक्षण आदि क्रियायें नहीं हो सकती, अतः यहाँ उत्पत्ति का अर्थ न्याय और सांख्य संमत आरम्भ और परिणाम न मानकर वेदान्त संमत विवर्त लेना चाहिये। इस तरह ब्रह्म ही सारे जगत् के आधारभूत परमेश्वर के रूप में और वेद के रूप में दिखाई दे जाता है, जैसे सीप ही चांदी और रस्सी ही सांप दिखाई पड़ जाता है। यही अर्थ यहाँ विवक्षित है। परमेश्वर अभिधेयात्मक (अर्थ स्वरूप) अर्थात् सारे जगत् के वस्तु स्वरूप प्रपंच को उत्पन्न करने में समर्थ सारी शक्तियों से युक्त तथा सदा आनन्द स्वरूप है और वेद अभिधानात्मक उन्हीं जगत् की वस्तुओं के वाचक शब्द स्वरूप सारे प्रपंच को उत्पन्न करने में समर्थ सारी शक्तियों से युक्त संवित् (ज्ञान) आनन्द स्वरूप प्रणवमय है। ब्रह्म परमार्थतः अवेद्य होते हुए भी स्वप्रकाश होने से प्रत्यक्ष है, अतः व्यवहार में भी वह अपने परमेश्वर रूप में अर्थात् वेद रूप में प्रत्यक्ष भासित होता है। उसी सर्वाधार परमेश्वर का मुंह अथर्ववेद और लोम साम है। यहाँ भी अभेद ही कहा गया है। जिनका अंशांशिभाव, अधिष्ठानाधिष्ठेयभाव होता है, अन्ततः उनमें अभेद ही विद्यमान रहता है। सत्, चित् और आनन्द के समुद्रभूत ब्रह्म की सदानन्द और संविदानन्द ये दो मुख्य लहरें हैं। इनसे अन्य अनेक लहरें पैदा होती हैं। मुख्य लहरें ब्रह्म से अभिन्न हैं और अन्य लहरें मुख्य लहरों से अभिन्न हैं, अतः ये सब ब्रह्मस्वरूप ही मानी जाती है। पर वेदान्तसिद्धान्त शून्य स्वामी की समझ से ये बातें दूर हैं।

'(एवं वा अरेऽस्य) हे मैत्रेयि, जो आकाश आदि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है, उससे ही ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर आकर फिर भीतर को जाता है, इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते' (पृ० १२) यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऋक्, यजुः, सामवेद कहने से अभिप्रेत की सिद्धि हो जाती है तो फिर यहाँ पर तीन बार वेद पद की आवृत्ति करने से क्या फायदा? इसलिये यहाँ पर ऋग्वेद शब्द से जहाँ ऋचाओं का बाहुल्य है, अथवा ऋचाओं का जहाँ विनियोग किया गया है, उसको ऋग्वेद

यजूंषि यजुषां बाहुल्यं यजुर्मन्त्रा वा विनियोज्या यत्र स यजुर्वेदः, सामानि गेयानि साम्नां वा बाहुल्यं यस्मिन् स सामवेद इति ज्ञातव्यम्, तेन ब्राह्मणभागस्यापि प्रादुर्भाव इह विवक्षितो ज्ञेयः। ऋक्-यजुः-सामपदैस्तु नियताक्षर-पादावसाना ऋङ्मन्त्रा गीतिविशिष्टाः साममन्त्रांस्तदवशिष्टा यजुर्मन्त्रा एव विज्ञायन्ते, न तेषां वेदत्वं विज्ञायते। वेदपदेन तु मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्यैव ग्रहणात्। दयानन्देन तु ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं नोरीक्रियते। तन्निराकरणं तूपरिष्टात् करिष्यते विशेषतः। सामान्येन तु रीत्याऽनयापि निराकृतमेव।

यत्तु 'निरवयवात् परमेश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येत' इत्याशङ्क्योक्तम्—'न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्केयमुपपद्यते, मुखप्राणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात्। अन्यच्च यथा मनसि विचारणा-वसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति, तथेश्वरेऽपि मन्यताम्। योऽस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्तुं गृह्णाति, यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्तुं सामर्थ्यं नास्ति न चैवमीश्वरे। यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं तदा वेदरचने का शङ्कास्ति ? कुतो वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्ति' (पृ० १३) इति, तदपि यत्किञ्चित्, कण्ठताल्वाद्यभिघातमन्तरा शब्दोत्पादनासंभवात्। न च सर्वशक्ति-मत्त्वादेव दृष्टकार्यकारणभावापलापः संभवति, तथात्वे सर्वशक्तिमत्त्वेनैव वेदमन्तरापि तदुपदेशसंभवात्, वेदस्याप्यानर्थक्य-प्रसङ्गात्। ज्ञानेच्छाकृत्यभावेऽपि जगदुत्पत्तिसिद्धौ जगत्कारणत्वेन सर्वज्ञत्वासिद्धेश्च। न च वेदप्रामाण्यात्तथात्व-सिद्धिरिति वाच्यम्, वेदस्य परमेश्वरकारणत्व एव विप्रतिपत्तेः। न चोक्तवचनबलात्तस्य वेदकारणत्वसिद्धिः, वेदप्रामाण्यसिद्धावेव तस्यापि प्रामाण्यसिद्धेः। कथञ्चित् प्रामाण्यसिद्धावपि तस्य ज्ञापकत्वमेव न कारकत्वम्,

मानना पड़ेगा। इसी तरह जहाँ पर यजुस् का बाहुल्य हैं अथवा यजुर्मन्त्रों का जहाँ विनियोग है, वह यजुर्वेद तथा जहाँ पर साम गेय है अथवा साम गान का जहाँ बाहुल्य है, वह सामवेद यह अर्थ करना पड़ेगा, इस प्रकार ब्राह्मण भाग का भी प्रादुर्भाव यहाँ वर्णित है। केवल ऋक्, यजुः और सामपद से तो नियताक्षर और नियतपाद वाले ऋङ् मन्त्र, गीतिविशिष्ट साममन्त्र, इन दोनों से बचे यजुर्मन्त्र ही ज्ञात होते हैं। इससे ये वेद हैं, यह ज्ञात नहीं होता। वेद पद में तो मन्त्र और ब्राह्मण का समुदाय अभिप्रेत है। दयानन्द ब्राह्मणभाग को वेद नहीं मानते। इस मत का खण्डन आगे विशेष रूप से किया जायगा। सामान्य रूप से इस रीति से भी दयानन्द का खंडन हो ही जाता है।

'ईश्वर निराकार है, उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं, ऐसी आशंका कर उसका जो उत्तर दिया गया है 'परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है। उसमें ऐसी शंका करना सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राण आदि साधनों के बिना भी परमेश्वर में मुख और प्राण आदि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य सदा विद्यमान है। इसमें दृष्टान्त भी है कि मन में मुख आदि अवयव नहीं हैं, तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है, सो किसी कार्य के लिये किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता। जैसे हम लोग बिना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते, वैसा ईश्वर नहीं है। जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शंका है ? जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या की रचना ईश्वर ने की है, वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों की अत्यन्त आश्चर्यजनक रचना की है, तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता ?' (पृ० १३) इस कथन में भी कुछ दम नहीं है। कण्ठ, तालु आदि स्थानों में अभिघात के बिना शब्द की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् होने से यहाँ पर लोक में शतशः दृष्ट कार्यकारणभाव का भी अपलाप मान लेने से तो अच्छा यही मान लेना होगा कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में बिना ही वेद के उपदेश देने का सामर्थ्य मान लिया जाय, फिर तो वेदों की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। ज्ञान, इच्छा और क्रिया के अभाव में भी जगत् की उत्पत्ति मानने पर तो परमेश्वर में जगत् की कारणता और सर्वज्ञता भी नहीं बनेगी। वेद के प्रमाण से भी यह नहीं हो सकेगा, क्योंकि अभी तो वेद परमेश्वर द्वारा निर्मित है, यही विवाद का विषय है। उक्त श्रुति के प्रमाण से परमेश्वर में वेद की कारणता मान ली जायगी, यह भी संभव नहीं है, क्योंकि वेद का प्रामाण्य सिद्ध हो जाने पर ही उस वचन को भी प्रमाण माना जायगा। किसी प्रकार वेद प्रमाण है यह सिद्ध भी हो जाय, तो भी उक्त वचन ज्ञापक ही होगा, कारक नहीं। सैकड़ों बार चिल्लाने

शब्दशतैरपि घटस्य पटत्वासिद्धेः। यथा घटादीनां ज्ञानेच्छाकृतिमत्कर्तृपूर्वकत्वं दृष्टं तथैव सावयवत्वेन भूधरसागरादि-प्रपञ्चस्यापि ज्ञानेच्छाकृतिमच्चेतनकर्तृत्वं साध्यते, दृष्टानुसारेणैवादृष्टस्यापि सिद्धिसम्भवात्।

कश्चित्तु नैतावदेव किन्तु घटादीनां शरीरिकर्तृकत्वेन प्रपञ्चस्यापि शरीरिकर्तृकत्वमेव साध्यते। तथा च कण्ठताल्वाद्यभिघातमन्तरा निराकाराद् ब्रह्मणः पदवाक्यकदम्बरूपवेदस्याप्युत्पत्तिर्न सम्भाव्यते। विचारकालिक-प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं तु कण्ठताल्वाद्युच्चरितवाह्यशब्दसापेक्षं न केवलं मानसमेव, तस्य मानसभोजनस्येवा-किञ्चित्करत्वात्।

न चेश्वरोऽपि निरपेक्षो जगत्सृजति, प्रकृतिपरमाण्वदृष्टादिसापेक्षत्वात्। अन्यथा वैषम्यनैर्घृण्यदोषस्य वज्रलेपायितत्वापत्तेः। यथा पर्जन्येन धरणिजलानिलबीजादिसापेक्षेणैवाङ्कुरो जन्यते, तथैव परमेश्वरेणापि कण्ठताल्वा-दिसापेक्षेणैव वर्णा उच्चार्यन्ते। न च 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इति श्रुत्या स्पष्ट-मेवापाणिपादस्यापि तस्य द्रुतगमनवत्त्वं ग्रहीतृत्वमचक्षुषोऽपि द्रष्टृत्वमकर्णस्यापि श्रोतृत्वमुच्यते, तथैव कण्ठताल्वादि-रहितस्यापि शब्दोच्चारयितृत्वं तस्य सम्भवत्येवेति वाच्यम्, क्रियाशक्त्याश्रयस्य प्राणस्येव चेतनाधिष्ठितस्यैवाचेतनस्य पाणिपादादेः प्रवृत्त्याश्रयत्वेन ज्ञानाश्रयस्य चेतनाधिष्ठितस्यैव चक्षुःश्रोत्रादेर्ज्ञानाश्रयत्वमिति बोधन एवोक्तश्रुतेस्ता-त्पर्यात्। ब्रह्मात्मचैतन्यं विना पाणिपादादीनां चक्षुःश्रोत्रादीनां चाकिञ्चित्करत्वात् परमेश्वरस्यैव स्वतः पाणिपादादि-रहितस्यैव चक्षुःश्रोत्रादिरहितस्यैव सर्वज्ञत्वं सर्वकार्यैककरणत्वं चोक्तम्। यथा द्रुमादिबीजेषु विविधाङ्कुरनालस्कन्ध-शाखोपशाखादिपुष्पफलरसादिजननशक्तिमत्सु पर्जन्यधरणिजलानिलादिसंसर्गेणाङ्कुरादिजनकत्वम्, तथैतानि सर्वाण्यपि

पर भी घट पट नहीं बन सकता। जैसे घट आदि की रचना ज्ञान, इच्छा, क्रियापूर्वक होती है, वैसे ही सावयव होने से भूधर, सागर आदि प्रपञ्च की रचना भी ज्ञान, इच्छा, कृति (क्रिया) से युक्त चेतन द्वारा ही माननी पड़ेगी, आखिर लौकिक दृष्टान्तों से ही तो अलौकिक वस्तु को भी समझा जा सकेगा।

इतना ही नहीं, कुछ लोगों का कहना है कि जैसे घटादि पदार्थों को रचना शरीरधारी करते हैं, उसी तरह यह सारा जागतिक प्रपञ्च भी शरीर धारी का हो बनाया हुआ है। अतः कण्ठ, तालु आदि स्थानों के अभिघात के बिना निराकार ब्रह्म से पद-वाक्यसमूह रूप वेद की उत्पत्ति नहीं हो सकती। विचार के समय मन में प्रश्न और उत्तर के रूप में जो शब्द के उच्चारण की प्रतीति होती है, वह कण्ठ, तालु आदि स्थानों से उच्चरित बाह्य शब्द के ज्ञान को लेकर ही बन सकती है। मानस कल्पना का भोजन जैसे किसी का पेट नहीं भर सकता, वैसे ही वह मानस शब्द भी व्यर्थ ही है।

परमेश्वर भी प्रकृति, परमाणु, प्राणियों के पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों आदि का सहारा लेकर ही जगत् की सृष्टि करता है, बिना सहारे के नहीं। क्योंकि ऐसा न मानने पर परमेश्वर में सुखी-दुःखी अनेक प्रकार के विषम प्राणियों को उत्पन्न करने के कारण पक्षपात और निर्दयी होने के दोष को कोई दूर नहीं कर सकेगा। जैसे वर्षा का जल पृथ्वी, पवन, बोज आदि का सहारा लेकर ही अंकुर को पैदा करता है, उसी तरह परमेश्वर भी कण्ठ, तालु आदि का सहारा लेकर ही वर्णों का उच्चारण करता है। 'अपाणिपादो०' इत्यादि श्रुति में परमेश्वर को बिना हाथ-पैर के ही शीघ्र चलने वाला और ग्रहण करने वाला, बिना चक्षु के ही देखने वाला, बिना कान के सुनने वाला कहा है, उसी तरह बिना कण्ठ, तालु आदि के ही शब्दों के उच्चारण की भी सामर्थ्य उसमें क्यों न मान ली जाय, यह कहना कुछ ठीक तो लगता है, पर वास्तव में इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि क्रियाशक्ति का आश्रयभूत प्राण जैसे चेतन के द्वारा अधिष्ठित (संचालित) अचेतन हाथ-पैर आदि की प्रवृत्ति का आश्रय होता है, उसी तरह ज्ञान के आश्रयभूत चेतन के द्वारा अधिष्ठित आँख, कान आदि ही ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक हो सकते हैं। परमात्म चैतन्य के बिना हाथ-पैर आदि अथवा आँख-कान आदि कुछ नहीं कर सकते, इसीलिये परमेश्वर की बिना हाथ-पैर के और आँख-कान के सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता बताई गई है। जैसे कि वृक्ष के बीज में नाना प्रकार के अंकुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पुष्प, फल, रस आदि को पैदा करने की सामर्थ्य है, किन्तु वह वर्षा, पृथ्वी, जल, पवन आदि के संसर्ग से ही इनको पैदा करता है, वैसे ही सभी अधिष्ठान पदार्थ चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्य कर

साधिष्ठानानि चेतनाधिष्ठितान्येव कार्यकारीणीत्यधिष्ठानचेतनस्यैव सर्वकारणत्वम्। चेतनाधिष्ठितरथादीनां प्रवृत्तिदर्शनाच्चेतनाधिष्ठितानामेव कार्यकर्तृत्वं विज्ञायते, न सर्वशक्तिमानपि परमेश्वरो वीजादिमन्तराऽङ्कुरादिनिर्माणे स्वातन्त्र्येण प्रवर्तते। शुकपिकहंसमयूरादिरूपवैचित्र्यनिर्माणे विविधस्तवकपल्लवपुष्पफलतद्रसादिनिर्माणे वा यथा वीजादिशक्त्यैव परमेश्वरः प्रवर्तते, तथैव मनुष्यपश्वादिशुक्रनिष्ठशक्त्यैव मनुष्यपश्वादिश्रोत्रनेत्रमस्तिष्कबुद्धचादिनिर्माणे परमेश्वरः प्रवर्तते न स्वातन्त्र्येण। तत्तत्कार्यानुकूलाः कार्यानुमेयास्तच्छक्तयोऽपि परमेश्वरीयमहाशक्त्यंशत्वात्तदंशा एव, 'यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके। तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥' इति सप्तशतीवचनात्। यथा गोधूमवीजे गोधूमजननशक्तिर्भवति, तथैवानन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकप्रपञ्चाधिष्ठाने ब्रह्मणि प्रपञ्चोत्पादनशक्तिरपि स्वीक्रियते। तावतैव सर्वशक्ति ब्रह्मोच्यते। न तावता सर्वशक्तिमत्त्वेनैव तद्ब्रह्म वीजादिमन्तरैव तत्तत्पत्रपुष्पफलप्राण्यादिनिर्माणे प्रवर्तते।

यदपि—परमेश्वरादन्येन वेदाः कथं न निर्मिता इत्यस्याः शङ्काया अपाकरणायोक्तम्—'ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यात्, न चान्यथा' (पृ० १४) इति, तत्तु वालभाषितम्, सहस्रशो व्यभिचारदर्शनात्। अद्यत्वे ये वेदाक्षरैरत्यन्तमपरिचिताः सन्ति तैरपि संस्कृतादिविविधभाषामया ग्रन्था निर्मीयन्त एव।

यच्च—'नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति। यथेदानीं किञ्चिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति। तद्यथा कस्यचित् सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वान्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्, तेन सह सम्भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्यात्। तदा तस्य किञ्चिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति। यथा च महारण्यस्थानां

सकते हैं, अतः अधिष्ठान चैतन्य को ही सबका कारण माना जाता है। चेतन सारथी के रहने पर ही रथ चल सकता है, इसी दृष्टान्त से सब जगह चेतन की उपस्थिति में ही किसी भी कार्य की प्रवृत्ति माननी पड़ेगी। सर्व शक्तिमान् परमेश्वर बिना बीज की सहायता लिये ही स्वतन्त्र रूप से अंकुर का निर्माण नहीं करता। शुक, पिक, हंस, मयूर आदि के विचित्र स्वरूपों के निर्माण में और नाना प्रकार के स्तबक, पल्लव, पुष्प, फल तथा उनके रस के निर्माण में जैसे ईश्वर वीर्य, बीज, आदि में निहित शक्ति का सहारा लेता है, उसी तरह मनुष्य आदि के वीर्य में स्थित शक्ति की सहायता से ही मनुष्य आदि के आँख-कान, मस्तिष्क, बुद्धि आदि की रचना में वह प्रवृत्त होता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। तत् तत् कार्य को करने में समर्थ, कार्य के द्वारा जिनका अनुमान होता है, ऐसी परमेश्वर की शक्तियां परमेश्वर की महाशक्ति का एक अंश होने से उससे अनन्य ही मानी जायगी। 'हे सर्वस्वरूपे देवि, जहाँ कहीं भी सत्-असत् रूप से जो कुछ वस्तुएं हैं और उन सबकी जो शक्ति है, वह तुम्हीं हो। ऐसी अवस्था में तुम्हारी स्तुति क्या हो सकती है' सप्तशती में ब्रह्मा द्वारा की गई इस स्तुति का यही अभिप्राय है। जैसे गेहूँ के बीज में गेहूँ को पैदा करने की शक्ति विद्यमान है, उसी तरह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक इस प्रपंच के अधिष्ठानभूत ब्रह्म में इस सारे प्रपञ्च को उत्पन्न करने की शक्ति मानी जाती है। इसीलिये ब्रह्म को सर्वशक्तिमान् कहा जाता है। सर्वशक्तिमान् होने मात्र से ब्रह्म बिना बीज आदि की सहायता से पत्र, पुष्प, फल तथा जीवों के निर्माण में प्रवृत्त नहीं होता।

'परमेश्वर के सिवाय किसी अन्य मनुष्य ने वेद क्यों नहीं बना लिये ?' इस शङ्का का परिहार करने के लिये कहा गया है कि—'ईश्वर के बनाये वेदों के अध्ययन के बाद ही अन्य किसी मनुष्य को ग्रन्थ निर्माण की सामर्थ्य हो सकती है' यह बच्चों की सी बात है। इसमें अनेक बार व्यभिचार देखा जाता है। आजकल जो वेद के अक्षरों से अत्यन्त अपरिचित हैं, उनको भी संस्कृत में तथा अन्य भाषाओं में ग्रन्थ बनाते देखा जाता है।

'वेद के पढ़ने और ज्ञान के बिना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस विषय में किसी शास्त्र को पढ़ के, किसी का उपदेश सुन के और परस्पर मनुष्यों के व्यवहार को देखकर ही मनुष्यों को ज्ञान होता है। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखकर उसको अन्न और जल युक्ति से देवे, उसके साथ भाषण आदि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे,

मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत्प्रवृत्तिर्भवति, तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत् पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा' (पृ० १४) इति, तदपि न किञ्चित्, पशुपक्षिपिपीलिकादीनामपि विशिष्टज्ञानपूर्वक-प्रवृत्तिदर्शनात् । अत एव पिपीलिकाभ्यो धनसङ्ग्रहः शिक्ष्यते । मधुमक्षिकाभ्यः सारग्रहणं मनुष्यैरपि शिक्ष्यते, 'अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः । सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ।।' राजनीतिष्वपि वृक्षांश्छित्त्वा दग्ध्वे-ङ्गालनिर्मात्रपेक्षया पल्लवान् पुष्पाणि किञ्चिदपि अव्यापाद्य मधुररससङ्ग्रहपरायणाया मधुमक्षिकाया नीतिराद्रियते । युगपत्प्रवर्तमानेभ्यो निवर्तमानेभ्यः कपोतेभ्यो लोकतन्त्रनीतिः, मधुकरराजानमनुवर्तमानाभ्यो मधुमक्षिकाभ्यश्च राजतन्त्र-नीतिर्विज्ञायते । वृकादाखेटः शिक्ष्यते । अधिकादधिकमिदमेव वक्तुंशक्यते यन्मानवीयभाषाविज्ञानं वृद्धव्यवहारोपदेश-पूर्वकमेव भवति । तावतापि नेश्वरीयवेदोपदेशस्तदर्थमपेक्षितः, पूर्वजव्यवहारोपदेशादिभिरन्यथासिद्धत्वात् । त्वद्रीत्यापि पठनश्रवणव्यवहारदर्शनैर्भाषाज्ञानं सम्पद्यते । न चेश्वरस्योपदेशः सम्भवति, निराकारस्य तदसम्भवात् । कण्ठताल्वाद्य-भावेन वाक्योच्चारणेनेश्वरो नोपदेष्टुं शक्नोति । न च मनुष्याः कण्ठताल्वाद्यनुच्चरितान् शब्दान् शृण्वन्ति न वा श्रोतुं शक्नुवन्ति । न च मनुष्याः परमेश्वरं पश्यन्ति । तद्व्यवहारदर्शनन्तु नतरां पश्यन्ति । ततः परमेश्वरीयवेदोपदेशेन भाषाज्ञानमपि न सम्भवति । सन्तुष्यतु दुर्जनन्यायेन तदभ्युपगमेऽपि ग्रन्थनिर्माणे वेदाध्ययनं कारणं तदानन्तर्यं वा ? आद्यं चेद्वेदाध्ययनादेव तद्भवतीत्येव वक्तव्यम् । तदपि न सम्भवति, व्यभिचारस्य दर्शितत्वात् । न द्वितीयं कालस्य स्वतन्त्रहेतुत्वासम्भवात् । 'शास्त्रं पठित्वा, उपदेशं श्रुत्वा, व्यवहारं दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति ।' इति वाक्यस्य शुद्धिरपि चिन्त्या, 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इत्यनेन पाणिन्यनुशासनेन क्त्वाप्रत्ययविधानात् । प्रकृते च मनुष्यैककर्तृका-णां पठत्यादिधातूनां ज्ञानकर्तृकेण भवतिना सह समानकर्तृकत्वाभावाद् उपरितनप्रयोगे क्त्वाप्रत्ययस्य दुर्घटत्वात् ।

तब उसको किसी भी बात का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा । जैसे बड़े बन में रहने वाले मनुष्यों को बिना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उनकी प्रवृत्ति पशुओं की नाई होती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के बिना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति आदि सृष्टि से ही उसी प्रकार की हो जायगी, ऐसी अवस्था में फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा ही क्या है' (पृ० १४) यह कथन भी कुछ नहीं है, क्योंकि पशु, पक्षी और चींटियों तक में विशिष्ट ज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति देखने को मिलती है । इसीलिये चींटियों से धन का संग्रह करने की शिक्षा ली जाती है । मधुमक्खी से सार ग्रहण की शिक्षा मनुष्य भी लेता है । 'कुशल व्यक्ति छोटे-बड़े सभी शास्त्रों से उसी प्रकार सार ग्रहण कर ले, जैसे कि भ्रमर पुष्पों से उनका सार ले लेता है' । राजनीति में भी वृक्षों को काट कर और उनको जलाकर कोयला बनाने के बजाय पत्र, पुष्प आदि को बिना तोड़े मधुर रस को ग्रहण करने वाली मधुमक्खी की नीति का आदर किया जाता है । एक साथ उड़कर जाने वाले और लौट कर आनेवाले कबूतरों से लोकतन्त्र की पद्धति की तथा रानी मक्खी का अनुसरण करने वाली मधुमक्खियों से राजतन्त्र की पद्धति की शिक्षा मिलती है । भेड़िये से शिकार करने की शिक्षा मिलती है । ज्यादा से ज्यादा हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य को भाषा का ज्ञान वृद्धव्यवहार के माध्यम से ही होता है । इतने पर भी इसके लिये ईश्वर के वेद के उपदेश की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वेद के बिना भी यह ज्ञान अपने पूर्वजों के व्यवहार एवं उपदेश से प्राप्त हो जायगा । आपकी पद्धति से भी पठन, श्रवण और व्यवहार के दर्शन से भाषा का ज्ञान होता है । यह ज्ञान ईश्वर से नहीं मिल सकता, क्योंकि वह तो निराकार है । कण्ठ, तालु आदि स्थानों के निराकार ईश्वर में न रहने से वाक्य का उच्चारण कर उपदेश देना संभव नहीं है और न मनुष्य बिना कण्ठ, तालु से उच्चारण किये शब्दों को सुनने में ही समर्थ है । मनुष्य परमेश्वर को देखते भी नहीं । फिर उसके व्यवहार को देखने की तो बात ही नहीं उठ सकती । तब परमेश्वर द्वारा दिये गये वेद के उपदेश से भी भाषा का ज्ञान नहीं हो सकता । थोड़ी देर के लिये यदि यह मान भी लिया जाय तो यह बताइये कि ग्रन्थ की रचना में वेदाध्ययन कारण है या तदानन्तर्य ? यदि वेदाध्ययन को कारण माना जाय, इसमें अभी व्यभिचार बताया गया है । यदि आनन्तर्य को कारण माना जाय तो यह इसलिये नहीं सम्भव है कि काल स्वतन्त्र रूप से कारण नहीं होता । 'शास्त्रं पठित्वा' इत्यादि पूरा वाक्य भी अशुद्ध है । 'समानकर्तृकयो०' इस पाणिनि सूत्र के नियम के अनुसार ही क्त्वा प्रत्यय का विधान हो सकता है । प्रस्तुत स्थल में पठति आदि धातु का मनुष्य ही एक कर्ता है, इसकी ज्ञान के कर्ता भवति के साथ समान कर्तृकता नहीं बनती, अतः यहाँ क्त्वा प्रत्यय नहीं हो सकता ।

विकासवादिनस्तु विकासक्रमेणैव ज्ञानविकासोऽपि। पशवः पक्षिणश्च विविधं व्यवहरन्ति। सर्वोऽपि व्यवहारो ज्ञानपूर्वक एव भवति। भाषा अपि वन्यानां विविधा भवन्ति। न च तेषां वेदसंस्कारोऽप्यस्ति। भाषाप्यक्षिसङ्कोचादिवत् स्वाभिप्रायस्य परत्रावबोधहेतुरेव। न केवलं मनुष्याः पशवोऽपि भाषाभिर्व्यवहरन्ति। जाङ्गलिका अपि भाषावन्तो भवन्ति। पारम्पर्यं तेषामपि प्रचलत्येव। यथा पाटलादिकाण्डादिभ्यः पत्राणि पुष्पाणि फलानि रसाश्च विकाशमाप्नुवन्ति, तथैव शुक्रशोणितादिभिरेव यथा देहेन्द्रियमनोमस्तिष्कादिविकाशस्तथैव ज्ञानविज्ञानविकासोऽपि जायते। देहादिभिन्नचेतनात्मवादिनोऽपि जीवचेतनेष्वपि स्वाभाविकं ज्ञानमभ्युपगच्छन्ति। केचिज्ज्ञानगुणकमात्मानं केचिज्ज्ञानरूपमेवात्मानमभ्युपगच्छन्ति। सांख्ययोगदृष्ट्या रजस्तमोऽनभिभूतं ज्ञानं सर्वार्थविभासनशालि स्वीक्रियते। ईश्वरकारणवादिरीत्यापि सर्वकारणत्वादेवेश्वरो ज्ञानविज्ञानहेतुरपि। चक्षुषो मनःसव्यपेक्षवत् स्वाभाविकज्ञानस्योपदेशादिसव्यपेक्षत्वेऽपि स्वपित्रादिव्यवहारादिसापेक्षत्वेनैव गतार्थता।

एतेन 'नैवं वाच्यमीश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति, तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञातुमशक्यत्वात्।""यथास्मदादिभिर्विविधग्रन्थानां सकाशाद् ज्ञानं गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथैवेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षाऽवश्यं भवति। न च सृष्टिसमये पठनक्रमो ग्रन्थो वा कश्चनासीत्, नैमित्तिकज्ञाने पुरुषस्वातन्त्र्याभावात्। स्वाभाविकज्ञाने विद्याप्राप्त्यसम्भवः, स्वाभाविकज्ञानस्य चक्षुरादिवत्साधनकोटौ प्रविष्टत्वात्' (पृ० १४-१५) इत्यादिकमपास्तं वेदितव्यम्, रूपादिज्ञानस्यापि नैमित्तिकत्वाविशेषात्। व्यवहारदर्शनोपदेशश्रवणादेरवश्यापेक्षणीयत्वेऽपि स्वपित्रादिव्यवहारादिभिर्गतार्थत्वमेव। ननु सृष्ट्यादौ पित्राद्यभावात् परमेश्वरीयवेदोपदेशपूर्वकमेव तदानीन्तनानां जीवानां ज्ञानमिति चेन्न, पित्रादिवन्निराकारस्येश्वरस्य तद्व्यवहारस्योप-

विकासवादी के मत में विकास के क्रम से ही ज्ञान और विज्ञान का भी विकास होता है। पशु और पक्षी भाँति-भाँति का व्यवहार करते हैं। सारा व्यवहार ज्ञानपूर्वक ही होता है। वन्य प्राणियों की भाषा भी नाना प्रकार की होती है। इनमें वेद का संस्कार है नहीं। भाषा भी आँख के इशारे की तरह दूसरे को अपना अभिप्राय प्रदर्शित करने के लिये ही होती है। केवल मनुष्य ही नहीं, पशु भी भाषा से व्यवहार करते हैं। जंगली लोगों की भी भाषा होती ही है। उनमें भी परम्परा चलती है। जैसे पाटल आदि वृक्षों के तने से ही पत्र, पुष्प, फल और उसके रस आदि का विकास होता है, जैसे शुक्र-शोणित आदि से ही शरीर, इन्द्रिय, मन, मस्तिष्क आदि का विकास होता है, उसी तरह ज्ञान और विज्ञान का भी विकास होता है। देह आदि से भिन्न चेतन को आत्मा मानने वाले दार्शनिक जीव (चेतन) में भी स्वाभाविक ज्ञान मानते हैं। कुछ लोग ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं, तो कुछ आत्मा को ही ज्ञानरूप मानते हैं। सांख्य-योग की दृष्टि से रज और तमोगुण से अनभिभूत ज्ञान सभी वस्तुओं का प्रकाशक माना गया है। ईश्वर को ही सारे जगत् का कारण मानने वालों की दृष्टि में ज्ञान और विज्ञान का कारण भी ईश्वर ही है। चक्षु को जैसे मन की अपेक्षा है, उसी तरह स्वाभाविक ज्ञान भी विना उपदेश के नहीं हो सकता। यह बात सही है, किन्तु वह अपने पिता आदि के व्यवहार की अपेक्षा से ही गतार्थ हो जायगा।

इतना कहने से आगे की यह बात भी खण्डित हो गयी कि 'ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है, सो सब ग्रन्थों से उत्तम है, क्योंकि इसके बिना वेदों के शब्द, अर्थ और संबन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता""जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर पीछे अन्य ग्रन्थों को भी रच सकते हैं, वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सर्गारम्भ में सबको है, क्योंकि सृष्टि के आरंभ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था। मनुष्यों को निमित्त से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है और स्वाभाविक ज्ञान मात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती, क्योंकि यह स्वाभाविक ज्ञान साधन कोटि में प्रविष्ट है। जैसे मन के संयोग के बिना आँख से कुछ भी नहीं देख सकता' (पृ० १५-१६) क्योंकि रूप आदि का निमित्तजन्य ज्ञान भी स्वाभाविक ज्ञान की ही तरह साधन कोटि में ही प्रविष्ट है। व्यवहार को देखना, उपदेश का सुनना आदि की अपेक्षा अवश्य रहती है, किन्तु यह तो अपने पिता आदि के व्यवहार से ही गतार्थ हो जाती है। भाई, सृष्टि के

देशस्य च व्यवहारगोचरत्वाभावात्। नहि चक्षुराद्यगोचरस्योपदेशस्तच्छ्रवणं तद्व्यवहारदर्शनं वा सम्भवति, अत्यन्तादृष्टस्यं व्याप्तिग्रहासम्भवेनानुमानागोचरत्वात्। तस्मात् सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन विशिष्टप्रजापत्यादीनां पूर्वकल्पीयव्यवहारोपदेशादिभिर्विशिष्टज्ञानतदुपदेशेन चान्येषामपि तत्सम्भवात्। सिद्धान्ते तु योगिनां सिद्धानामपि सङ्कल्पवशात् कायनिर्माणेनोपदेशाद् योगसामर्थ्यात् सत्यसङ्कल्पाद्वाऽन्येषां हृदि स्वाभीष्टज्ञानोत्पादनात्। सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पः सर्वशक्तिर्भगवान् प्रेरणावशाद् योगिनां देवानां विशिष्टसुकृतिनां हृदि वेदानाविर्भावयितुं शक्नोत्येव।

यदपि च—'वेदोत्पादने ईश्वरस्य किं प्रयोजनमित्याक्षिप्य तत्प्रतिप्रश्नतया वेदानामनुत्पादने किं प्रयोजनमस्ति' (प० १६) इत्युक्तम्, तत्तु बालवचनम्, अनुत्पादनस्याभावरूपतया प्रश्नानर्हत्वात्। एवमेव—'ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा ? सा च स्वार्था अस्ति। सा च स्वार्था परार्था च, तस्यास्तद्विषयत्वात्, तद्यद्यस्मदर्थमीश्वरो वेदोपदेशं न कुर्यात् तदान्यपक्षे निष्फला स्यात्, इति स्वविद्याभूतवेदोपदेशेन सप्रयोजनता सम्पादिता' (पृ० १६) इत्यादि बहु निरर्थकं जल्पितम्, तदपि न मनोज्ञम्, परमेश्वरे तदीयानन्तविद्यायां च प्रमाणानुपस्थापनात्। न चानुमानं तत्र सम्भवति, तत्सम्बद्धलिङ्गादर्शनात्। न च भूतभौतिकानि स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानेच्छाकृतिमज्जन्यानि, विलक्षणकार्यत्वात्, शय्याप्रासादादिवदिति सामान्यतोदृष्टानुमानेन तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—प्रपञ्चस्य तत्तज्ज्ञानपूर्वकत्वे सिद्धसाधनता, मीमांसकैरदृष्टद्वारा प्रपञ्चस्य तत्तज्जीवज्ञानवत् कर्तृकत्वाभ्युपगमात्। यदि सर्वज्ञपूर्वकत्वं

प्रारंभ में तो पिता आदि हैं नहीं, उस समय तो परमेश्वर के द्वारा उपदिष्ट वेद से ही जीवों को ज्ञान हो सकता है, यह कथन इसलिये ठीक नहीं है कि परमेश्वर निराकार है, अतः पिता आदि की तरह उससे व्यवहार और उपदेश को ग्रहण नहीं किया जा सकता। जो नेत्र आदि का अगोचर है, उसके उपदेश को सुनने की अथवा उसके व्यवहार को देखने को संभावना हो नहीं हो सकती। अत्यन्त अदृष्ट वस्तु के साथ व्याप्ति ज्ञान नहीं बन सकता, अतः अनुमान की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये जैसे सो करके उठा व्यक्ति पहले की सारी बातें स्मरण करता है, उसी तरह विशिष्ट प्रजापति आदि ऋषि देवगण पूर्व कल्प के व्यवहार को स्मरण कर इस कल्प में भी व्यवहार और उपदेश देकर अन्य जीवों को ज्ञानवान् बनाते हैं। सिद्धान्त में योगिगण और सिद्धगण भी अपने संकल्प के प्रभाव से शरीर धारण कर उपदेश देते हैं और योग के सामर्थ्य से अथवा संकल्प की सिद्धि के कारण दूसरे जीवों के हृदय में भी ज्ञान का संचार करते हैं। सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अपनी प्रेरणा से योगियों, विशिष्ट देवताओं और पुण्यवानों के हृदय में वेदों का आविर्भाव कर ही सकता है।

इसके आगे 'वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था ?' ऐसी आशंका कर उसके बदले में 'मैं तुमसे पूछता हूँ कि वेदों के उत्पन्न न करने में उसको क्या प्रयोजन था' यह पूछना बच्चों की सी बात है, क्योंकि अनुत्पत्ति तो अभाव रूप है, उसके बारे में प्रश्न नहीं किया जा सकता। इसी तरह 'ईश्वर में अनन्त विद्या है या नहीं ? है। सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये है ? अपने ही लिये। अच्छा तो मैं आपसे पूँछता हूँ कि ईश्वर परोपकार करता है या नहीं ? ईश्वर परोपकारी है। इससे क्या आया ? इससे यह बात आई कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है, विद्या का यही गुण है। परमेश्वर अपनी विद्या का हम लोगों के लिये उपदेश न करे तो विद्या का जो गुण परोपकार करना है, वह नहीं रहेगा। इससे परमेश्वर ने अपनी वेद विद्या का हम लोगों को उपदेश कर उसकी सफलता सिद्ध की है' (पृ० १६-१७) इत्यादि बहुत अनाप-शनाप कहा है, वह भी मन में बैठने वाला नहीं है। परमेश्वर और उसकी अनन्त विद्याओं की पुष्टि के लिये कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। अनुमान की प्रवृत्ति यहाँ हो नहीं सकती, क्योंकि इससे संबद्ध कोई लिंग दिखाई नहीं देता। सब भूत-भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति इनके उपादानों का प्रत्यक्ष ज्ञान रखने वाले किसी व्यक्तिविशेष की ज्ञान, इच्छा, क्रिया की प्रणाली से ही हुई है, क्योंकि यह शय्या, प्रासाद आदि के समान ही विलक्षण कार्य है, इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी उक्त बात नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि इस स्थिति में आगे दिये तर्कों का कुछ उत्तर नहीं बनता। क्योंकि परमेश्वर को यदि प्रपंच का ज्ञान है, तो उसकी निर्मिति मात्र सिद्ध वस्तु की ही साधिका होने से सिद्धसाधनता दोष से ग्रस्त हो जायगी। मीमांसकगण इस प्रपंच को भी अदृष्ट के द्वारा उसी प्रकार उत्पन्न मानते हैं, जैसे कि जीवों में ज्ञान की

सिषाधयिषितं तदा दृष्टान्तासिद्धिः, शय्याप्रासादादीनां सर्वज्ञपूर्वकत्वाभावात्। नाप्यागमस्तत्र प्रमाणम्, तस्येदानीं साध्यकोटिप्रविष्टत्वात्, अन्योन्याश्रयत्वाच्च। वेदस्य प्रामाण्ये परमेशसिद्धिस्तत्सिद्धौ तदुक्तत्वेन वेदप्रामाण्यसिद्धिरिति। ईश्वरस्य वेदनिर्माणं न स्वार्थम्, तस्य पूर्णकामत्वात्। नापि परार्थम्, परदुःखकातरस्य करुणापरवशस्यैव परार्थप्रवृत्तिसम्भवात्। न चेश्वरस्य कातर्यं करुणापरवशत्वं वा, तस्य सर्वथा स्वतन्त्रत्वात्; कारुण्ये वा दुःखबहुलं संसारमेव न कुर्यात्। न च कर्मभिर्दुःखबहुलसंसारोत्पत्तिः, तदयोगे जडैः कर्मभिरपि दुःखबहुलं जगदुत्पादयितुमशक्यत्वात्।

यदपि च—'परमकारुणिकः पितृवत् परमेश्वरः परमकृपया वेदोपदेशमुपचक्रे। अन्यथान्धपरम्परया धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात्। यथा कृपायमाणेनेश्वरेण प्रजासुखार्थं कन्दफलतृणादिकं रचितम्, स कथं सर्वसुखप्रकाशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यां नोपदिशेत्? ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्टसर्वपदार्थप्राप्त्या यावत्सुखं विद्याप्राप्तिसुखस्य सहस्रतमांशेनापि भवति न तत्तुल्यम्' (पृ० १६) इति, तदप्यविचारचारु, स्वतन्त्रस्य करुणापराधीनत्वानुपपत्तेः। तदनुयायी युधिष्ठिरमीमांसकोऽपि वेदोत्पत्तिप्रयोजनमप्राकरणिकमसम्बद्धं च मनुते। स त्वीश्वरस्य वेदं नित्यविद्यां मनुते। तेन तदुत्पत्तिविचारः सर्वोऽपि निरर्थक एव। स तु जीवेष्वनुकम्पया तत्प्रकाशनं मन्यते। प्रकाशनेऽपि स्वार्थपरार्थादिविकल्पप्रसरादिदोषाः सन्त्येव। कन्द-मूल-फल-तृणादिवद् वेदस्यापि तद्रचितत्वे तद्वदेवानित्यत्वापत्तिरपि दुर्वारैव।

उत्पत्ति होती है। सर्वज्ञ ईश्वर इस जगत् की सृष्टि करता है, यह बात यदि आप सिद्ध करना चाहते हैं तो यहाँ पर कोई दृष्टान्त नहीं मिलेगा। शय्या, प्रासाद आदि का निर्माण तो सर्वज्ञ व्यक्ति द्वारा होता नहीं। इस विषय में आगम को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभी तो आगम की ही सत्ता की बात चल रही है। इस परिस्थिति में आगम को प्रमाण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। वेद के प्रामाण्य पर परमेश्वर की सिद्धि और परमेश्वर के द्वारा उपदिष्ट होने से वेद की सिद्धि परस्पर आश्रित हो जायगी, अर्थात् एक दूसरे के अधीन हो जायगी। जब ईश्वर सिद्ध हो जाय तो उसके द्वारा उपदिष्ट होने के कारण वेदों की प्रमाणता सिद्ध हो और वेदों की प्रमाणता सिद्ध होने पर ईश्वर सिद्ध हो। यह एक दूसरे के अधीन बातें चल नहीं सकतीं। ईश्वर पूर्णकाम है, अतः उसका वेद के निर्माण में कोई स्वार्थ नहीं है। परोपकार की दृष्टि भी उसमें नहीं हो सकती, दूसरे के दुःख से जो दुःखी हो अथवा जिसमें करुणा का संचार हो, वही दूसरे के लिये प्रवृत्त होगा। ईश्वर तो सर्वथा स्वतन्त्र है, वह दुःखी अथवा करुणामय क्यों होगा। यदि वह करुणामय होता तो इस दुःखबहुल संसार की सृष्टि ही क्यों होती। दुःखबहुल संसार की सृष्टि में कर्म को कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि बिना परमेश्वर की सहायता के जड़ कर्मों की जगत् के निर्माण में प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

यह कहना भी कि 'परमेश्वर हम लोगों का माता-पिता के समान है, वह परम कारुणिक कृपा कर वेदों का उपदेश हम लोगों के कल्याण लिये करता है। परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता तो अन्ध-परम्परा के कारण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती, उसके बिना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता। जैसे परम कृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं, वह ईश्वर सब सुखों का प्रकाश करने वाली, सब सत्य विद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता? क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं, उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है, वह सुख विद्या प्राप्ति से होने वाले सुख के हजारवें अंश के भी तुल्य नहीं हो सकता' (पृ० १७) यह बात भी बिना विचारे ही अच्छी लगती है। स्वतन्त्र परमेश्वर करुणा के अधीन हो क्यों प्रवृत्त होगा? दयानन्द के अनुयायी युधिष्ठिर मीमांसक भी वेद की उत्पत्ति के प्रयोजन को अप्राकरणिक एवं असंबद्ध मानते हैं। उनका कहना है कि वेद ईश्वर की नित्य विद्या है। इसलिये वेद की उत्पत्ति के विषय का सारा विचार निरर्थक है। उनका कहना है कि जीवों पर दया कर ईश्वर उनके लिये वेदों को प्रकाशित करता है। इस मत में भी यह प्रकाशन स्वार्थ के लिये है या परार्थ? इत्यादि दोष आवेंगे ही। कन्द, मूल, फल, घास आदि की तरह वेद की रचना मानने पर उन्हीं की तरह वेद भी अनित्य, नाशवान् हो जायगा।

यदपि—ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रसाधनानि कुतो लब्धानि वेदपुस्तकोल्लेखायेत्याशङ्क्य समाहितम्—'विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठलोष्टादिसामग्रीसाधनैश्चेश्वरेण जगद्रचितं तथैव वेदा अपि रचिताः' (पृ० १७) इति, तदप्यसम्बद्धमसङ्गतं च। किमेतावता यथा हस्तपादाद्यवयवैर्लोष्टादिभिर्विनैव परमेश्वरेण जगन्निर्मीयते, तथैव लेखनीमसीपात्रादिभिर्विनैव परमेश्वरो वेदान् लिखितवान्? यद्येवं तर्हि तत्र किं प्रमाणम्? न चेत्किमर्थं साधनैर्विना जगद्रचना दृष्टान्तरूपेणोपात्तेति? यदि मसीलेखनीपत्रादिभिर्विना स पुस्तकं लिखति तदा ज्ञानेच्छाप्रयत्नैर्विनाऽपि स प्रपञ्चमुत्पादयतु। बाढमिति चेत् 'तदैक्षत', 'सोऽकामयत' इति श्रुतिविरोधो दुष्परिहरः।

यदपि च—'पुस्तकस्था वेदास्तेनादौ नोत्पादिताः, किं तर्हि ज्ञानमध्ये प्रेरिताः। केषाम्? अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम्' (पृ० १७) इति, तदपि मन्दम्, ज्ञानमध्ये प्रेरिता इत्यसङ्गतेः। त्वद्रीत्या अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसो मनुष्या एव। जीवाश्चाणुपरिमाणा इत्यपि त्वदभ्युपगमः। ज्ञानानि च तदीयानि व्यापकानि। तत्र ज्ञानस्य निराकारत्वादमूर्तत्वात् कथं मध्यत्वनिश्चयः? पुस्तकस्थानां ज्ञानमध्ये प्रेरितानां च वेदानां को भेदः? इत्यपि निरूपणीयम्। किञ्च, त्वद्रीत्या वेदा अपि परमेश्वरीयज्ञानरूपा एवेति कथं तज्ज्ञानस्यान्यत्र सङ्क्रमणम्? निरवयवज्ञानरूपा वेदा निरवयवेष्वग्न्यादिज्ञानेषु कथं संक्रान्ताः? नहि परमेश्वरे समवायसम्बन्धेन स्थिता वेदा अन्यत्र गन्तुं प्रभवन्ति।

अपरे तु दयानन्दीयमुक्तवचनचयमभिलक्ष्य प्राहुः—वेदप्रतिपादने परमेश्वरस्य किं प्रयोजनमिति पृष्टस्तदनुत्पादने किं प्रयोजनमिति पृष्टस्य वयं न जानीम इति प्रतिवचनात्तुष्टः प्रयोजनं श्रृणुतेति प्रतिज्ञाय किमुत्तरं प्रादाद् इति विज्ञायैव विदाङ्कुर्वन्तु।

'ईश्वर ने वेद पुस्तक के लिखने के लिये लेखनी, स्याही और दवात आदि साधन कहाँ से पाये' इस आशंका का जो यह समाधान दिया गया है कि 'हाथ पैर आदि के बिना तथा काष्ठ, लोहा आदि सामग्री के बिना ईश्वर ने जगत् को क्यों कर रचा? जैसे हाथ आदि साधनों के बिना भी उसने जगत् की रचना की, उसी तरह वेदों को भी सब साधनों के बिना रचा है' यह भी असंबद्ध और असंगत है। क्या इससे आप यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जैसे हाथ-पैर आदि अवयवों के और काष्ठ-लोहा आदि साधनों के बिना भी ईश्वर जगत् की रचना करता है, उसी तरह वह लेखनी, दवात आदि साधनों के बिना भी परमेश्वर वेदों को लिखता है? यदि ऐसी बात है तो इसमें क्या प्रमाण है? यदि नहीं तो फिर बिना साधनों के जगत् की रचना को क्यों यहाँ पर दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया गया। यदि वह स्याही और दवात आदि के बिना भी पुस्तक लिख सकता है, तो ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के बिना भी वह इस जागतिक प्रपंच को क्यों न बना लेगा? यदि यह बात आप मानते हैं तो 'उसने देखा,' 'उसने इच्छा की' आदि श्रुतियों से विरोध का परिहार कैसे संभव होगा?

'वेदों को पुस्तकों में लिखकर सृष्टि के आदि में ईश्वर ने नहीं प्रकाशित किया था, किन्तु अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा के मन में ज्ञान के रूप में प्रकाशित किया था' (पृ० १८) यह कथन भी कुछ नहीं, 'ज्ञान के मध्य में प्रेरित किये' यह वाक्य ही असंगत है। आपके सिद्धान्त के अनुसार अग्नि, वायु प्रभृति मनुष्य ही हैं। आप यह भी मानते हैं कि जीव अणु परिमाण है। उनके ज्ञान व्यापक हैं। ज्ञान तो निराकार और अमूर्त है। उसके मध्य भाग का निश्चय कैसे होगा? आपको यह भी बताना पड़ेगा कि पुस्तक में स्थित वेद में और ज्ञान के मध्य में प्रेरित वेद में क्या अन्तर है? दूसरी बात यह है कि आपके मत से तो वेद ईश्वर का ज्ञान है, तब ईश्वर का यह ज्ञान दूसरे में कैसे जा सकता है। निरवयव ज्ञान रूप वेद निरवयव अग्नि आदि के ज्ञान में कैसे संक्रान्त हो सकते हैं? अवयव वाली वस्तु हो एक दूसरे में संचार कर सकती है। वेद (ज्ञान) के जब अवयव हो नहीं हैं, तो वह दूसरे, अपने ही जैसे, अवयव होन ज्ञान में कैसे जा सकता है। परमेश्वर में समवाय संबन्ध से वर्तमान वेद अन्यत्र कैसे जा सकते हैं?

दूसरे लोग दयानन्द के उक्त वचन के संबन्ध में यह कहते हैं कि वेद के उत्पादन में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है? ऐसा पूछने वाले को जब पूछा गया कि वेद के अनुत्पादन में क्या प्रयोजन है? तो उसके यह कहने पर कि हम तो नहीं जानते, तो इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर प्रश्नकर्ता को प्रयोजन सुनाने की प्रतिज्ञा करके क्या उत्तर दिया, यही यहाँ जानने की बात है।

धर्मार्थकाममोक्षसिद्धया विना परमानन्द एव न स्यादित्यपि पुरुषार्थतत्त्वानभिज्ञानमूलकमेव, विकल्पानुपपत्तेः। किं परमानन्दो मोक्षलक्षणात् पुरुषार्थाद् भिन्नोऽभिन्नो वा ? नाद्यः, मोक्षभिन्नस्य परमानन्दस्याप्रसिद्धेः। न द्वितीयः, तस्यैव तद्धेतुत्वानुपपत्तेः। किं धर्मार्थकामानामपि परमानन्दजनकत्वं किं वा तद्विशिष्टस्यैव मोक्षस्य परमानन्दजनकत्वम् ? आद्ये किं मोक्षेण, त्रिवर्गेणैव गतार्थत्वात्। न द्वितीयः, संन्यासानुपपत्तेः। वस्तुतस्तु सातिशयं सुखं कामः, निरतिशयं सुखं मोक्षः ? धर्माथौं तु तत्साधनभूतावेव। परमेश्वरस्तु आप्तसमस्तकामोऽपि प्रजानां हितकामनयैवानादिसिद्धं वेदमधिकारिभ्यः प्रयच्छति। कल्पादौ वेदस्य सम्प्रदायप्रवर्तनमेव परमेश्वराद्वेदप्रादुर्भावः। नित्यस्य तदन्यादृशाया उत्पत्तेरनुपपत्तेः। वेदाश्च न ज्ञानरूपाः, अपि तु नियतानुपूर्वीविशिष्टा अपौरुषेयशब्दराशिरूपा एव। सृष्टिप्रलयानङ्गीकर्तृपूर्वमीमांसकरीत्या स्वरूपत एव नित्याः, उत्तरमीमांसकरीत्या प्रतिकल्पं सृष्टिमारभ्य प्रलयपर्यन्तस्थायित्वेन प्रवाहनित्या एव।

यत्तु प्रमाणरूपेण 'तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः' (श० ११।५।२।३) (पृ० १८) इति, तदपि मन्दम्, श्रुतेस्त्वत्समीहितासाधकत्वात्। तथाहि—समस्ता तत्रत्या श्रुतिरित्थम्—'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्। एक एव। सोऽकामयता। स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत। स तपोऽतप्यत। तस्माच्छ्रान्तात्तेपानात् त्रयो लोका असृज्यन्त। पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः। स इमांस्त्रींल्लोकानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः। स इमानि त्रीणि ज्योतींष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः' (श० ब्रा० ११।५।८।१-३)। त्वया तु प्रजापतिरप्यग्निवायुरविभ्यो वेदानधीतवानित्युक्तम्। अग्निवायुरवयश्च मनुष्या एवेत्युक्तम्। तच्च त्वत्समुद्धृतवचनेन विरुद्धचते। प्रजापतिरन्तःकरण-

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के बिना परमानन्द की प्राप्ति ही नहीं होगी, यह कहना भी पुरुषार्थ के तत्त्व को न समझ पाने के कारण है, क्योंकि इस परिस्थिति में इस विकल्प का कोई उत्तर न बन सकेगा कि परमानन्द मोक्षस्वरूप पुरुषार्थ से भिन्न है अथवा अभिन्न ? पहला विकल्प नहीं बन सकता, अर्थात् भिन्न सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि मोक्ष से भिन्न कोई परमानन्द लोक में प्रसिद्ध नहीं है। दूसरा विकल्प भी इसलिये नहीं बन सकता, अर्थात् ज्ञान को परमानन्द से अभिन्न भी नहीं कह सकते कि वह स्वयं अपना ही कारण नहीं हो सकता। क्या धर्म, अर्थ और काम भी परमानन्द के जनक हैं, अथवा इनसे युक्त मोक्ष ही परमानन्द का जनक होगा ? पहले पक्ष में त्रिवर्ग से भी परमानन्द की अधिगति हो जाने पर मोक्ष का क्या प्रयोजन रह जायगा। द्वितीय पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि ऐसा मानने पर संन्यास की उपपत्ति नहीं बन सकेगी। वास्तव में सातिशय सुख काम और निरतिशय सुख मोक्ष कहलाता है। धर्म और अर्थ इनके साधन हैं। परमेश्वर आप्तकाम होते हुए भी प्रजा के हित की इच्छा से अनादिसिद्ध वेद को अधिकारियों को देता है। कल्प के प्रारम्भ में वेद सम्प्रदाय की प्रवृत्ति को ही परमेश्वर से वेद का प्रादुर्भाव माना जाता है। नित्य वेद की इससे भिन्न कोई उत्पत्ति नहीं बन सकती। वेद ज्ञानरूप नहीं है, किन्तु यह नियत आनुपूर्वी वाली अपौरुषेय शब्दराशि है। सृष्टि और प्रलय को न मानने वाले पूर्व मीमांसक के मत से ये वेद स्वरूपतः नित्य हैं और उत्तर मीमांसक (वेदान्ती) के मत से सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त स्थित रहने के कारण वेद प्रवाह रूप से नित्य हैं।

यहाँ पर इस शतपथ श्रुति का प्रमाण दिया है 'उनको तपाने पर तीन वेद पैदा हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद' यह भी कमजोर बात है, क्योंकि इस श्रुति से आपकी मन चाही बात नहीं सिद्ध होती। पूरी श्रुति इस प्रकार है—'इस सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति विद्यमान थे, अकेले ही। उसने इच्छा की कि मैं अनेक रूपों में पैदा होऊँ। उसने श्रम किया, तप किया। उसके थका देने वाले तप से तीनों लोकों की सृष्टि हुई। पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश। उसने इन तीनों लोकों को तपाया। उनको तपाने से अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन ज्योतियाँ पैदा हुई। उसने इन तीन ज्योतियों को तपाया, उनसे तीन वेद पैदा हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद'। आप कहते हैं कि प्रजापति ने भी अग्नि, वायु और सूर्य से वेद पढ़े और इनको आप मनुष्य मानते हैं। यह बात आपके उद्धृत इस वचन से ही विरुद्ध है : प्रजापति यहाँ सबका कारण है और वह अग्नि आदि से

भूतोऽग्न्यादिभ्यः प्राचीनः, अग्न्यादयस्तु तत उत्पन्ना अर्वाचीना इति कथं तेभ्यस्तदध्ययनं सम्भवति। श्रुत्यर्थस्तु व्याहृतिभिः सर्वप्रायश्चित्तीयहोमविधानाय व्याहृतीनां प्रशंसार्थं तासामुत्पत्तिमाख्यायिकयाह—इदं सर्वं दृश्यमानं जगत् सृष्टेः प्राक् प्रजापतिरेवासीत् कारणरूपः प्रजापतिरेवासीत्। स एक एव तदानीमासीत्। सोऽकामयत। स्यां जगद्रूपेण भवेयम्। तदर्थं प्रजायेय प्रकर्षेण स्वरूपाविरोधेन देवपितृमनुष्यादिप्रजारूपेणोत्पद्येय। सोऽश्राम्यत। स्रष्टव्यपर्यालोचनात्मकं तपः कृतवान्। तस्मात्तेपानात् तप्तवतः सकाशात् पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौरित्येते त्रयो लोका अजायन्त। स इमांस्त्रींल्लोकानभितताप सारं जिघृक्षुः पर्यालोचितवान्। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त। कानि तानीति स्पष्टतयाह—अग्निः प्रसिद्धः प्रथमः पृथिवीलोकसारः, योऽयं पवते वायुः सोऽन्तरिक्षसारः, सूर्यः प्रसिद्धो द्युलोकसारः। न मनुष्या एव त्रयाणां लोकानां सारभूताः। नापि तेषु अग्निवायुसूर्यत्वादीनि सम्भवन्ति। स प्रजापतिः पूर्वोक्तानि ज्योतींष्यभितप्तवान्। तेभ्यस्तप्तेभ्योऽग्निवायुसूर्याख्येभ्यो देवेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदोऽजायत। यथा प्रजापतौ त्रयो लोकाः कारणरूपेणासन्, तथैव त्रिषु लोकेषु तत्सारभूता अग्न्यादयस्त्रयो देवा आसन्। तथैव त्रिषु देवेषु सारभूता त्रयो वेदा आसन्। तथैव त्रिष्वपि वेदेषु सारभूतास्त्रयो व्याहृतयो भवन्ति। तास्वपि सारभूतः प्रणवो भवति। देवास्तु विशिष्टैश्वर्यशालिनो भवन्ति। विशुद्धसत्त्वेषु तेषु नित्यानां वेदानां प्रतिभानं सम्भाव्यते।

तथा च सायणः—इत्थं सत्रप्रसङ्गाद् वेदसारभूताभिर्व्याहृतिभिः सर्वप्रायश्चित्तं होमं विधास्यन् तासामुत्पत्तिमाख्यायिकया प्रतिपादयति—प्रजापतिर्वा इदमित्यादिना। इदं दृश्यमानं सर्वं जगत्, अग्रे सृष्टयादौ प्रजापतिरेवासीत्, कारणात्मना स्थित इत्यर्थः। अतः स प्रजापतिरेक एव तदानीमासीत्। नहि अनुद्भूतभौतिकात्मकं

प्राचीन हैं। अग्नि प्रभृति उसी से पैदा हुए हैं, अतः वे अर्वाचीन हैं। ऐसी अवस्था में प्रजापति ने अग्नि प्रभृति से वेद पढ़ा, यह कैसे बन सकता है। श्रुति का वास्तविक अर्थ यह है कि यहाँ पर व्याहृतियों के द्वारा सर्वप्रायश्चित्तीय होम का विधान करने के लिये व्याहृतियों की प्रशंसा करते हुए उनकी उत्पत्ति को आख्यायिका के द्वारा बताया गया है कि यह सब परिदृश्यमान जगत् सृष्टि के पहले प्रजापति भगवान् ही था, अर्थात् कारणरूप प्रजापति ही था। उस समय वह अकेला था। उसने इच्छा की कि मैं जगत् के रूप में होऊँ। इसके लिये मैं अपने स्वरूप को न छोड़ते हुए देवता, पितृगण, मनुष्य आदि प्रजा के रूप में उत्पन्न होऊँ। उसने श्रम किया, अर्थात् स्रष्टव्य पदार्थ का पर्यालोचनात्मक तप किया। उसके तप करने से पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश ये तीनों लोक पैदा हुए। उसने इन तीनों लोकों का सार संग्रह करने की इच्छा से पर्यालोचन किया। उनको तपाने से तीन ज्योतियाँ पैदा हुई। वे तीन कौन सी हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि पहला पदार्थ अग्नि के नाम से प्रसिद्ध है, यह पृथिवी लोक का सार है, यह जो प्रवहमान (बहने वाला) पवन (हवा) है, वह अन्तरिक्ष का सार है और प्रसिद्ध सूर्य आकाश लोक का सार है। केवल मनुष्य ही तीनों लोकों के सार नहीं हैं और न इनसे अग्नि, वायु और सूर्य ही पैदा होते हैं। उस प्रजापति ने पूर्वोक्त ज्योतियों को तपाया। इन तपाये गये अग्नि, वायु और सूर्य देवता से तीन वेद पैदा हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद पैदा हुआ। जैसे प्रजापति में तीनों लोक कारण रूप में विद्यमान थे, उसी तरह तीनों लोकों में सारभूत अग्नि प्रभृति तीन देवता थे, उसी प्रकार तीनों देवताओं के सारभूत तीन वेद और तीनों वेदों की सारभूत तीन व्याहृतियाँ होती हैं। इन तीनों का भी सारभूत प्रणव, ओंकार है। देवगण विशिष्ट ऐश्वर्य से युक्त हैं। विशुद्धसत्त्व गुण वाले इन देवताओं को नित्य वेदों का सदा प्रतिभान होता रहता है।

इस श्रुति का सायण कृत अर्थ इस प्रकार है—इस प्रकार सत्र (महायज्ञ का विशेष स्वरूप) के प्रसंग से वेदों की सारभूत व्याहृतियों के द्वारा सर्वप्रायश्चित होम का विधान करने के लिये आख्यायिका के द्वारा व्याहृतियों की उत्पत्ति बताई जाती है—'प्रजापतिर्वा इदम्' इत्यादि श्रुति से। यह परिदृश्यमान सारा जगत् सृष्टि के आदि में प्रजापति ही था, अर्थात् प्रजापति के रूप में कारणात्मना (कारण रूप से) अवस्थित था। अतः वह प्रजापति अकेला ही उस समय था। यह बात इसलिये कही गई है कि यह जगत्

जगदित्यवधारणाभिप्रायात्। महत्सृष्टिमाह—सोऽकामयतेत्यादिना। स्याम् जगद्रूपेण भवेयम्। तदर्थं प्रजायेय प्रकर्षेण स्वरूपाविरोधेन देवपितृमनुष्यादिप्रजारूपेणोत्पद्येयेत्यर्थः। तत्साधनमाह—सोऽश्राम्यदिति। स्रष्टव्यपर्यालोचनं तपः, तद्गवेषणहेतुकः शरीरक्लेशः श्रमः। तेपानादिति तप्तवतः सकाशादित्यर्थः। प्रथमं पृथिव्यादीनां त्रयाणां सृष्टिमाह—त्रयो लोका इति। अथैतेषां सारं जिघृक्षुः स प्रजापतिः इमानेव त्रीन् लोकानभितताप रजतसुवर्णादिलोहपिण्डवत् पुटपाकेन तप्तवानित्यर्थः। अग्न्यादयो देवास्तत उत्पन्ना इत्याह—तेभ्यस्तप्तेभ्य इति। त्रीणि ज्योतींषीत्युक्तमेवार्थं विवृणोति—अग्निरिति। योऽयमन्तरिक्षे पवते सञ्चरते स वायुर्द्वितीयं ज्योतिरित्यर्थः। अथैतेषामपि सारं जिघृक्षुस्तप्तवानित्याह—स इमानीति। तत्सकाशात् त्रयाणामुत्पत्तिमाह—तेभ्यस्तप्तेभ्य इति। तत्र कस्माद्देवात् कस्य वेदस्योत्पत्तिरिति विविनक्ति—अग्नेर्ऋग्वेद इति।

छान्दोग्येऽप्ययमर्थः स्पष्टमुक्तः—'प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्याः, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः ॥१॥ स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्। तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ॥२॥ स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्। तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहत्। भूरित्यृग्भ्यो भुव इति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥३॥' अत्रापि सारजिघृक्षया प्रजापतिर्लोकान् भूरादीन् पर्यालोचितवान् इत्येवार्थः। तेभ्योऽग्न्यादीन् देवान् रसरूपेण निश्चकर्ष। तेभ्योऽप्यभितप्तेभ्य ऋगादीन् वेदान् सारानाविर्भावितवान्। तेभ्योऽपि तप्तेभ्यो भूर्भुवःस्वरिति तिस्रो व्याहृतीः साररूपा दुदोह। तत एव 'यद्यृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयात्, ऋचमिव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टिं सन्दधाति ॥४॥ अथ यदि यजुष्टो

पञ्च महाभूतों की केवल अनुद्भूत अवस्था न मान ली जाय। 'सोऽकामयत' इत्यादि से महत् की सृष्टि बताई गई है। 'स्याम्' का अर्थ है कि मैं जगत् रूप में होऊँ। इसके लिये 'प्रजायेय', अर्थात् स्पष्ट रूप से अपने स्वरूप का विरोध न करते हुए देव, पितृगण, मनुष्य आदि प्रजा के रूप में उत्पन्न होऊँ। 'सोऽश्राम्यत्' इत्यादि से उसका साधन बताया गया है। स्रष्टव्य पदार्थ (पैदा की जाने वाली वस्तुएँ) का पर्यालोचन (विचार) तप है और उसकी खोज के लिये किया गया शारीरिक क्लेश 'श्रम' कहलाता है। 'तेपानात्' का अर्थ है कि तप करते हुए प्रजापति से 'त्रयो लोकाः' यहाँ पहले पृथिवी आदि तीन लोकों की सृष्टि बताई गई है। अब इन तीन लोकों का भी सार लेने की इच्छा से प्रजापति ने इनको तपाया, जैसे कि सोना, चांदी, लोहा आदि को पुटपाक से तपाया जाता है। 'तेभ्यस्तप्तेभ्यः' से यह कहा गया है कि ऐसा करने पर अग्नि प्रभृति देवता उत्पन्न हुए। इसी अर्थ को अग्नि प्रभृति तीन ज्योतियाँ आदि कह कर स्पष्ट किया गया है। जो अन्तरिक्ष में संचरण करता है, वह वायु द्वितीय ज्योति है। 'स इमानि' इत्यादि से यह स्पष्ट किया गया है कि उस प्रजापति ने इन तीन देवताओं का भी सार संग्रह करने के लिये उनको तपाया। 'तेभ्यस्तप्तेभ्यः' इत्यादि से इन तीनों से जो तीन वेद पैदा हुए उनको बताया गया है। 'अग्नेर्ऋग्वेदः' इत्यादि से यह बताया गया है कि किस देवता से कौन वेद पैदा हुआ ?

छान्दोग्य उपनिषद् में भी यही अर्थ स्पष्ट किया गया है—'प्रजापति ने लोकों को तपाया। उनको तपा कर उनके रस अर्थात् सार के रूप में पृथिवी से अग्नि को, अन्तरिक्ष से वायु को और आकाश से आदित्य को ग्रहण किया। इन तीनों देवताओं को भी तपाया और उनके सार के रूप में अग्नि से ऋग्वेद को, वायु से यजुर्वेद को और सूर्य से सामवेद को ग्रहण किया। प्रजापति ने इस त्रयी विद्या को भी तपाया और उसको तपाकर सार के रूप में ऋग्वेद से 'भूः' को, यजुर्वेद से 'भुवः' को तथा सामवेद से 'स्वः' को पैदा किया।' यहाँ पर भी सार संग्रह की इच्छा से प्रजापति ने भू आदि लोकों का पर्यालोचन किया, यही अर्थ है। उनसे अग्नि प्रभृति देवताओं को सार रूप से निकाला। इनको भी तपा कर ऋगादि वेदों को सार रूप में निकाला और इनको भी तपा कर भूः, भुवः, स्वः इन तीन व्याहृतियों को सार रूप में दुहा। इसी लिये आगे छान्दोग्य में कहा गया है कि—'यदि यज्ञ में ऋक् के कारण कोई त्रुटि उपस्थित हो तो 'भूः स्वाहा' इस व्याहृति से गार्हपत्य अग्नि में आहुति दे। इससे ऋचाओं के वीर्य से, उसके रस से यज्ञ की त्रुटि को दूर कर सकता है। अब यदि यजुः के कारण कोई त्रुटि आई हो, तो 'भुवः स्वाहा' इससे दक्षिणाग्नि में आहुति दे। वह यजुः के वीर्य और रस से यज्ञ की त्रुटि को दूर कर देता है। अब यदि साम के कारण यज्ञ में त्रुटि आई हो तो वह 'स्वः स्वाहा' इस

रिष्येद् भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयात्, यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टिं सन्दधाति ।।५।। अथ यदि सामतो रिष्येत् स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्, साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टिं सन्दधाति।।६।। तद्यथा लवणेन सुवर्णं सन्दध्यात्, सुवर्णेण रजतम्, रजतेन त्रपु, त्रपुणा सीसम्, सीसेन लोहम्, लोहेन दारु, दारु चर्मणा ।।७।। एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टिं सन्दधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ।।८।। (छा० ४।१७)

नह्यग्निवायुसूर्या मनुष्यरूपा एव भूरादिलोकत्रयस्य सारः सम्भवन्ति। न वा मनुष्याणां सारभूता ऋगादयो वेदाः सम्भवन्ति। तद्भूरादिलोकानामधिष्ठातृदेवा एवाग्न्यादयः। तांश्च परमेश्वरानुग्रहाद् ऐश्वर्यवशाच्च प्रलये प्रलीना नित्यसिद्धा एव वेदाः प्रतिभान्ति। मनुरप्येतमेवार्थमाह—'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ।।' (म० १।२३)।

अत्र मेधातिथिः—तिस्र एव देवता अग्निप्रभृतय इति नैरुक्ताः। सत्यप्यभिधाननानात्वे। अतस्तेन दर्शनेनोच्यते। एताभ्यस्तिसृभ्यो यज्ञसिद्ध्यर्थं यागसम्प्रदानत्वात्तासां चतुर्थी। त्रयमृग्यजुःसामलक्षणं ब्रह्म वेदाख्यं दुदोह। द्विकर्मकोऽयं धातुः। प्रधानं कर्म 'त्रयम्'। अप्रधानेन द्वितीयेन कर्मणा भवितव्यम्। न च तदस्ति। अतः पञ्चम्येवेयमिति मन्यामहे। अग्न्यादिभ्यो दुदोहाक्षारयद् अभावयत्।

कथं पुनरग्न्यादिभ्यो वर्णात्मा शब्दो मन्त्रवाक्यानि ब्राह्मणवाक्यानि च भवेयुः? किं नोपपद्यते? कः शक्तीरदृष्टा असतीर्वक्तुमर्हति? नाख्यातार्थो विकल्पयितुं युक्तः। पञ्चमी तर्हि किमर्थम्? दुहियाचीति द्वितीयया भवितव्यम्। किञ्च, दृष्टप्रमाणविरोधी प्रावृत्तोऽर्थ उच्यमानो न मनःपरितोषमाधत्ते प्रामाणिकानाम्। परिहृतो विरोधः स्वरूपपरत्वाश्रयणेनैषामागमानाम्--ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यादिति।

व्याहृति से आहवनीय अग्नि में आहुति दे। ऐसा करने से उसके साम वीर्यवान् और रसवान् होकर यज्ञ की त्रुटि को दूर कर देते हैं। जैसे लवण (क्षार) सुवर्ण को जोड़ देता है, सुवर्ण से रजत को, रजत से जस्ते को, जस्ते से सीसे को, सीसे से लोहे को, लोहे से लकड़ी को और लकड़ी को चमड़े से जोड़ा जाता है, उसी तरह इन लोकों, इन देवताओं और वेद विद्या के वीर्य से यज्ञ की त्रुटि को दूर किया जाता है। इस व्याहृति होम की विधि जानने वाला ब्रह्मा जिस यज्ञ में होता है, उसमें कोई रोग, विघ्न उपस्थित नहीं होता।

अग्नि, वायु और सूर्य यदि मनुष्य रूप ही हैं, तो ये भू आदि तीन लोकों के सार नहीं हो सकते और न ऋगादि वेद ही मनुष्यों के सार होंगे। अतः भू आदि लोकों के अग्नि आदि अधिष्ठातृ देवता हैं। इनको परमेश्वर के अनुग्रह से और अपने ऐश्वर्य के कारण प्रलयावस्था में विलीन, किन्तु नित्य सिद्ध वेदों का सृष्टि के आरंभ में प्रतिभान होता है।

'अग्नि, वायु और सूर्य से ऋक्, यजुः, साम लक्षण त्रयीमय ब्रह्म को यज्ञ की सिद्धि के लिये दुहा' मनुस्मृति के इस श्लोक में यही बात कही गई है।

मेधातिथि ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—'अग्नि प्रभृति तीन ही देवता हैं, यह निरुक्तकारों का कथन है। यद्यपि इनके नाम अनेक हैं। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि इन तीन देवताओं से यज्ञ की सिद्धि के लिये ऋक्, यजुः, साम लक्षण तीन वेद रूपी ब्रह्म को दुहा। देवता पद से चतुर्थी विभक्ति इस लिये हुई कि वे याग के सम्प्रदान हैं, अर्थात् उन्होंने ही लोक को यज्ञ का विधान दिया है। यहाँ पर दुह धातु द्विकर्मक है। 'त्रयम्' प्रधान कर्म है। कोई दूसरा अप्रधान कर्म होना चाहिये। वह यहाँ पर है नहीं। अतः यहाँ चतुर्थी न मानकर पञ्चमी ही हम मानते हैं। अग्नि प्रभृति से पैदा किया। अब प्रश्न यह है कि अग्नि प्रभृति से वर्णात्मक शब्द, मन्त्रवाक्य और ब्राह्मणवाक्य कैसे होंगे? क्या नहीं हो सकता? अदृष्ट, अविद्यमान शक्तियों के विषय में कोई क्या कह सकता है? आख्यात का भी विकल्प हम नहीं कह सकते। तब पञ्चमी किस लिये है? 'दुहि याचि' व्याकरण के इस नियम से यहाँ द्वितीया होनी चाहिये। दृष्ट प्रमाण के विरुद्ध छिपा हुआ अर्थ प्रामाणिक मनुष्यों के मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। ऋग्वेद अग्नि से, यजुर्वेद वायु से और सामवेद सूर्य से पैदा हुआ, ऐसा कहकर आगमों की स्वरूपपरता बताकर विरोध का परिहार कर दिया गया है।

अग्न्यादयोऽपि देवता ऐश्वर्यभाजो निरतिशयशक्तिश्च प्रजापतिः। तत्र का नामानुपपत्तिः। अस्मिन् दर्शने पञ्चमी अपि विवक्ष्या। अतः कारकाणि कथितानि। अत्रापादानसंज्ञेत्यपादानविवक्षायां भाष्ये समर्थितानि। अन्यदर्शने कथम्? चतुर्थी तावद्युक्तैव। अर्थवादाश्चैते। तत्र द्वितीयं कर्मात्मैव। प्रजापतिरात्मानं दुदोह। दोहनं चाध्यापनं परसंक्रान्तिसामान्येन। अथापि पञ्चमी। तत्राप्याग्नेया मन्त्रा आदावृग्वेदे—अतोऽग्नेरजायतेत्युच्यते। यजुर्वेदेऽपि 'इषे त्वोर्जे त्वा' इति, इट् अन्नम्, तन्मध्यस्थानत्वाद् वायुना वर्षदानेन क्रियते। ऊर्क् प्राणः स वायुरेव। अत आदितो वायुकार्यसम्बन्धाद् वायोरित्युपमा। अथवाध्वर्यवमार्त्विज्यम्, बहुप्रकाराश्चेष्टाश्च सर्वा वायोरित्यनेन सामान्येन वायोर्जन्म यजुर्वेदस्य। अनधिकारस्य सामग्रीत्ययोग्यत्वाद् उत्तमाध्ययनानि सामानि उत्तमस्थानश्चादित्य इति।

कुल्लूकभट्टः—'ब्रह्म ऋग्यजुःसामसंज्ञं वेदत्रयमग्निवायुरविभ्य आकृष्टवान्। सनातनं नित्यम्। वेदापौरुषेयत्वपक्ष एव मनोरभिमतः। पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः। तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष। श्रौतश्चायमर्थो न शङ्कनीयः। तथा च श्रुतिः—'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेदः' इति। आकर्षणार्थत्वाद् दुहिधातोर्नाग्निवायुरवीणाम् अकथितकर्मता, किन्त्वपादानतैव। यज्ञसिद्ध्यर्थं त्रयीसम्पाद्यत्वाद् यज्ञानामापीनस्थक्षीरवद् विद्यमानानामेव वेदानामभिव्यक्तिप्रदर्शनार्थमाकर्षणवाचको दुहिर्गौणः प्रयुक्तः।'

परमेश्वरो यथा प्रजाहितार्थं जगद्रचितवान्, तथैव तद्रक्षणार्थं यज्ञादिलक्षणधर्मप्रवर्तनाय तन्मूलभूतान् वेदान् अग्न्यादिभ्यो दुदोह प्रपूरितवानित्यर्थः। एतेनापि परमेश्वराराधनरूपत्वात् परमात्मप्राप्तिसाधनत्वात्

अग्नि प्रभृति देवता भी ऐश्वर्यशाली है और प्रजापति भी अतिशय शक्तिमान् हैं। इसमें क्या अनुपपत्ति होगी? इस पक्ष में पञ्चमी भी विवक्षित है। विवक्षा से ही कारक होते हैं। अपादान की विवक्षा में अपादान संज्ञा होती है, यह भाष्य में समर्थित है। दूसरे पक्ष में क्या होगा? चतुर्थी ठीक ही है। ये सब अर्थवाद वाक्य हैं। यहाँ पर आत्मा ही द्वितीय कर्म है। प्रजापति ने अपने को दुहा। दोहन का अभिप्राय यहाँ अध्यापन से है, क्योंकि इन दोनों ही क्रियाओं में एक स्थान में स्थित वस्तु की दूसरी जगह संक्रान्ति होती है। यहाँ पर विवक्षा के आधार पर पञ्चमी विभक्ति है। ऋग्वेद के आरम्भ में अग्नि देवता के मन्त्र हैं, अतः कहा जाता है कि ऋग्वेद अग्नि से पैदा हुआ। यजुर्वेद में भी 'इषे त्वोर्जे त्वा' यहाँ पर इट् अन्न को कहते हैं, इसकी उत्पत्ति मध्यस्थानीय वायु की सहायता से वर्षा होने पर होती है। ऊर्क् प्राण है। प्राण वायु ही है। अतः यजुर्वेद में प्रारंभ में वायु के कार्य का सम्बन्ध होने से उपमा बनती है। अथवा अध्वर्यु का पद और अनेक प्रकार की चेष्टाएं सब वायु से हो होती हैं, इसलिये यजुर्वेद का जन्म वायु से माना गया। अनधिकारी पूरी सामग्री से सम्पन्न नहीं होता, अतः साम का अध्ययन उत्तम अधिकारी के लिये है। इसीलिये उत्तम स्थानवर्ती सूर्य से साम की उत्पत्ति है'।

कुल्लूक भट्ट का अर्थ इस प्रकार है—'ब्रह्म अर्थात् ऋक्, यजुः, साम लक्षण तीनों वेदों को अग्नि, वायु और सूर्य से निकाला गया। सनातन का अर्थ नित्य है। मनु वेद को अपौरुषेय मानते हैं। पूर्व कल्प में जो वेद थे, वे ही परमेश्वर स्वरूप सर्वज्ञ ब्रह्मा की स्मृति में आ गये। उन्हीं को सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, वायु और सूर्य से खींच लिया। यह अर्थ श्रुतिसम्मत है। इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं होनी चाहिये। 'अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद पैदा हुआ' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। दुह् धातु का अर्थ यहाँ आकर्षण है, अतः यहाँ पर अग्नि, वायु, रवि की अकथित कर्मता नहीं है, किन्तु उनमें अपादान की विवक्षा है। यज्ञ की सिद्धि त्रयी द्वारा ही हो सकती है। स्तन में विद्यमान दूध की तरह विद्यमान वेदों की ही अभिव्यक्ति होती है, यह बताने के उद्देश्य से दुह् धातु का यहाँ पर आकर्षण के अर्थ में गौण प्रयोग किया है'।

परमेश्वर ने प्रजा के कल्याण के लिये जैसे जगत् की रचना की, उसी तरह प्रजा की रक्षा के लिये और यज्ञ आदि धर्म कार्य की प्रवृत्ति के लिये उसने धर्म के मूलभूत वेदों को अग्नि आदि से दुह लिया। इस प्रकार वेद से परमेश्वर की आराधना की जाती है; ये परमात्मा की प्राप्ति के साधन हैं, परमेश्वरनिष्ठ भक्त के सत्त्वशुद्धि के क्रम से प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न परमात्मा के साक्षात्कार

तन्निष्ठस्य सत्त्वशुद्धिक्रमेण प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरमात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च वेदानां बाहुल्येन यज्ञ एव मुख्योऽर्थः। साक्षाद् ब्रह्मपरस्तु मन्त्रब्राह्मणोपनिषद्रूपोऽनन्यशेषो वेदभागोऽल्पीयानेव। पारम्पर्येण तु सर्वोऽपि वेदो ब्रह्मपर एवेत्यन्यत्र विस्तरः।

यदपि—'एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः' (पृ० १८) इति, तदप्यसङ्गतम्, ईश्वरीयज्ञानरूपाणां वेदानामन्यज्ञानमध्ये प्रेरणासम्भवात्। नहि कश्चिदपि स्वकीयं समवेतं ज्ञानं विशेषतो नित्यज्ञानमन्यत्र प्रेरयितुं पारयेत्। किंरूपा च सा प्रेरणा? तत्र प्रवर्तनादिरूपायाः प्रेरणाया असम्भवात्। ज्ञानस्य च सावयवत्वं एव प्रेरणायास्तदवच्छिन्नतापि युज्यते नान्यथा।

यदपि च—'परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तम्, ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते। मैवं विज्ञायि, ज्ञानं किंप्रकारकं दत्तम्? वेदप्रकारकम्। तदीश्वरस्य वा तेषामीश्वरस्यैव, पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताश्चेत् पुनः किमर्थं शङ्का कृता? तैरेव रचिता इति निश्चयकरणार्था' (पृ० १८) इति, तदपि मन्दम्, ज्ञानस्य गवादिवन्मूर्तत्वाभावेन स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोपपादनरूपदानासम्भवात्। तस्मात्तेषु वेदविषयकज्ञानमुत्पादितमित्येव वक्तव्यम्। तदीश्वरस्य तेषां वा? ईश्वरस्यैवेत्यप्यमनोज्ञम्, यतो गौर्यस्मै दीयते तस्यैव भवति, न दातुरेव, तेन स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोपपादनात्।

पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित्तैश्च? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीता इति प्रश्नोत्तररूपं वाक्यमप्यसङ्गतम्, यदि हि वेदा ज्ञानरूपा एव तर्हि ज्ञानविषयकं ज्ञानं किमनुव्यवसायात्मकमन्यद्वा? नान्यदप्रसिद्धेः। न पूर्वम्, अनुव्यवसायस्य व्यवसायाधिकरणत्वनियमात्। किञ्च, वेदविषयके ज्ञाने किं 'इषे त्वोर्जे त्वा', 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि-

में भी कारण है। यह सब होते हुए भी इनका मुख्य प्रयोजन यज्ञ संपादन करना ही है। साक्षात् ब्रह्म का प्रतिपादक तथा इससे भिन्न जिसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, ऐसा मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद् रूप वेदभाग थोड़ा सा ही है। परम्परा से तो सारा वेद ब्रह्म का ही प्रतिपादक है, यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है।

'उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था' (पृ० १९) यह कथन भी असंगत है। वेद तो ईश्वर के ज्ञान हैं, इनका दूसरे के ज्ञान में संक्रमण नहीं हो सकता। कोई भी व्यक्ति अपने में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान ज्ञान को, विशेषतः नित्य ज्ञान को अन्यत्र संक्रमित नहीं कर सकता। वह किस प्रकार संक्रमित करेगा? प्रवर्तना रूप प्रेरणा वहाँ हो नहीं सकती। ज्ञान यदि सावयव हो तो ही उसकी प्रवृत्ति कराई जा सकती है, अन्यथा नहीं।

'ईश्वर ने उनको ज्ञान दिया और उन्होंने अपने ज्ञान से वेदों की रचना की, ऐसा मालूम होता है। यह कहना आपका उचित नहीं, क्या आप यह जानते हैं कि ईश्वर ने उनको किस प्रकार का ज्ञान दिया था? उनको वेद रूप ज्ञान दिया था तो यह ज्ञान ईश्वर का है या उनका? यदि यह ज्ञान ईश्वर का ही है तो फिर वेद ईश्वर ने बनाये या उन्होंने? जिसका ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया तो फिर यह शङ्का उठाने का क्या प्रसङ्ग आया? प्रसङ्ग इसलिये उठा कि हमको यह निश्चय करना था कि वेद ईश्वर ने ही बनाये'। यह भी दुर्बल पक्ष है। ज्ञान गाय आदि वस्तुओं की तरह मूर्त तो है नहीं कि उस पर अपने स्वत्व को छोड़कर दूसरे के स्वत्व का उपपादन कराया जा सके, अर्थात् उसका दान किया जा सके। इसलिये उनमें वेद विषयक ज्ञान का संचार किया, यही कहना पड़ेगा। वह वेद रूप ज्ञान ईश्वर का है या उनका? ईश्वर का ही है, यह कथन भी उचित नहीं। क्योंकि गाय जिसको दी जाती है, उसकी हो जाती है, दाता की नहीं। क्योंकि दाता उस पर से अपना स्वत्व छोड़कर पाने वाले का स्वत्व स्वीकार कर लेता है।

आगे 'ईश्वर ने ही वेद बनाये या उन्होंने भी? जिसका ज्ञान है उसी ने बनाये' यह प्रश्नोत्तर रूप वाक्य भी असंगत है। यदि वेद ज्ञानरूप ही है, तो यह ज्ञानविषयक ज्ञान अनुव्यवसायात्मक है या उससे भिन्न? अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से भिन्न कोई ज्ञान प्रसिद्ध नहीं है। पहला पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि व्यवसाय के बिना अनुव्यवसाय कैसे बनेगा। दूसरी बात यह कि वेदविषयक

प्रसिद्धशब्दराशिविषयतया भात्यन्यदेव वा किञ्चित् ? नान्त्यः, तस्य वेदत्वाप्रसिद्धेः। नाद्यस्तथात्वे सिद्धा एव वेदाः। किं तद्व्यतिरिक्तवेदप्रणयनम् ? एवमेव यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीता इत्यप्यसाम्प्रतम्, ईश्वरज्ञानेन तेषां प्रणेतृत्वकथनासङ्गतेः। एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिता इति स्ववचनविरोधाच्च।

यत्तु तद्द्वारा प्रकाशिता इत्यस्य ब्रह्मादीनां ज्ञानेषु वेदाः प्रकाशिता इत्यर्थः कृतः, तदपि न सङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। श्वेताश्वतरोपनिषदि साक्षात्परमेश्वरेणैव 'ब्रह्मणो वेदप्रेषणस्योक्तत्वात्। तथाहि—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥' (६।१८) इति वचनात्। प्रेरयित्वेति कथमुपसर्गयोगेऽपि ल्यपोऽभाव इति चिन्त्यम् ?

यत्तु—'चतुर्मुखेण ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम्, मैवं वाच्यम्, ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्गतत्वात् 'आप्तोपदेशः शब्दः' (१।१।७) इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात्। 'शब्द ऐतिह्यम्'। (२।२।२) इत्यादि च। 'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्तत इत्याप्तः' इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनेनोक्तेः। अतः सत्यस्यैतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य। यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टं तद् ग्राह्यं नातो विपरीतमिति, अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात्।' इति, तदप्यसम्बद्धप्रलपितम्, ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावेण मैवमिति निषेधानुपपत्तेः। प्रतीकतयैतिह्यमित्यशुद्धमेव गृहीतम्। एवमेव 'आप्तोपदेशः' इत्यत्र गोतमाचार्येणोक्तत्वादिति हेतुरुक्तः। तथा च योऽयमाप्तोक्तः शब्दो गोतमाचार्येणोक्तः स च प्रमाणमित्यायातम्। एतेन तद्भिन्नस्याप्रामाण्यमेवाङ्गी-

ज्ञान में क्या 'इषे त्वोर्जे त्वा', 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि प्रसिद्ध शब्दराशि का विषय के रूप में भान होता है, अथवा अन्य कोई दूसरी ही वस्तु का ? अन्तिम पक्ष यहाँ नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की कोई वस्तु वेद के नाम से प्रसिद्ध नहीं है। पहला पक्ष मानने पर तो वेद की सिद्धि हो ही जायगी। तब भला उससे अतिरिक्त वेद बनाने की क्या बात आई ? इसी तरह जिसका ज्ञान है, उसी ने वेद बनाये, यह कथन भी ठीक नहीं है। ईश्वर के ज्ञान होने मात्र से उनकी रचना तो हो नहीं जाती और यह वाक्य आपके पहले के इस वाक्य के भी विरुद्ध है कि उनके ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे वेदों का प्रकाश कराया। उनके द्वारा वेदों का प्रकाश कराया, इस वाक्य का ब्रह्मादि के ज्ञान में वेदों का प्रकाश कराया, यह अर्थ करना भी असङ्गत है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत श्वेताश्वतर उपनिषद् में साक्षात् परमेश्वर ही वेद के उपदेष्टा माने गये हैं। जैसे कि—'जो पहले ब्रह्मा को बनाता है और जो उसको वेद का उपदेश देता है, अपनी बुद्धि में भी प्रकाश का संचार करने वाले उस परमात्मा की शरण में मोक्ष की कामना से मैं पहुँचा हूँ'। 'प्रेरयित्वा' यहाँ पर उपसर्ग के रहने पर भी 'क्त्वा' प्रत्यय का 'ल्यप्' क्यों नहीं किया गया, यह भी विचारणीय बात है।

'चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा, ऐसे इतिहास को हम सुनते हैं। ऐसा मत कहो, क्योंकि इतिहास को शब्द प्रमाण के भीतर गिना है। 'आप्तोपदेशः', 'शब्द ऐतिह्यम्' इत्यादि न्याय-दर्शन के सूत्रों में गौतम मुनि ने कहा है कि 'सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है, उसको शब्द प्रमाण में गिनते हैं। शब्द प्रमाण से जो युक्त है, वही इतिहास मान्य है, अन्य नहीं।' इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्त का लक्षण कहा है कि जो साक्षात् सब पदार्थ विद्याओं का जानने वाला, कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी है, जिसको पूर्ण विद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है, उसको कहने की इच्छा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करने वाला है, जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करता है, उसी के अनुसार व्यवहार करता है, वही आप्त है। इस प्रकार सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है, अनृत का नहीं। सत्य प्रमाण से युक्त जो इतिहास है, वही सब मनुष्यों को ग्राह्य है। इसको विपरीत का नहीं, क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कथन का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता' (पृ० २०-२१) यह सब असंबद्ध बातें हैं। ऐतिह्य को शब्द प्रमाण के अन्तर्गत मान लेने मात्र से उक्त बात का निषेध नहीं हो जायगा। प्रतीक के रूप 'ऐतिह्मम्' इस पद का ग्रहण भी गलत है। इसी तरह 'आप्तोपदेशः' यहाँ पर 'गोतम मुनि की उक्ति होने से' यह हेतु दिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि गोतम ने जिस आप्त के द्वारा कहे गये शब्द की चर्चा की है, वह प्रमाण है। इससे यह अर्थ निकलेगा कि इससे भिन्न शब्द अप्रमाण होगा। यह बात ठीक

कृतम् । तच्च विरुद्धमेव, त्वयापि कणादादिवचनानामपि प्रामाण्याभ्युपगमात् । सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणमित्यप्यसङ्गतम्, तथात्वे प्रत्यक्षादिविषयस्य सत्यस्याप्यैतिह्यत्वापत्तेः । नानृतस्येत्यपि व्यर्थमेव, सत्यस्यैवेत्यवधारणेन गतार्थत्वात् ।

एवमेव 'यत्सत्यंप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद्ग्राह्यम्' इत्यप्यसङ्गतम्, विकल्पासहत्वात् । तत्र सत्यं प्रमाणं यस्मिन् तत्सत्यप्रमाणमिति समास आहो सत्यं च तत्प्रमाणं सत्यप्रमाणमिति वा ? नोभयमपि सङ्गतम्, अनधिगताबाधितार्थविषयज्ञानरूपायाः प्रमाया असाधारणे कारणे करणे प्रमाणेऽसत्यत्वशङ्कानुत्थानात् । यदि तु प्रमाणस्य प्रामाण्यसाधनाय प्रमाणान्तरमपेक्ष्येत, तदा वेदानामपि प्रामाण्यसाधनाय साधनमन्वेष्टव्यम्, तत्प्रामाण्यस्वतस्त्वाभ्युपगमविरोधापातश्च । प्रमाणप्रामाण्याय प्रमाणान्तराभ्युपगमे तस्यापि प्रामाण्याय प्रमाणान्तरमन्वेष्टव्यमेव । तस्याप्यन्यदित्यनवस्थापातश्च । साक्षात्कृतधर्मण आप्तस्य वचनेऽपि सन्देहे सत्येव यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टम् ऐतिह्यमित्युक्तिः सम्भवति । एवं प्रमत्तवत् प्रमाणविरुद्धं प्रलपन्नप्यन्यवचनस्य प्रमत्तगीतत्वं वदन् कथं न जिह्रेतीत्याश्चर्यमेव ।

एवमेव 'व्यासेन ऋषिभिर्वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम्, नवीनपुराणग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थ्यापत्तेः' (पृ० २०) इत्यपि निःसारम्, उत्तरांशस्य पूर्वांशेऽहेतुत्वात् । पुराणादिग्रन्थानां वैयर्थ्यापत्तिरस्तु व्यासादिरचितत्वाभावो मास्त्विति पर्यनुयोगेऽनुकूलतर्काभावेन हेतोरप्रयोजकत्वात् । किञ्च, पूर्वं त्वयैव छन्दोपदवैयर्थ्यापत्त्या छन्दःपदेनाथर्ववेदो गृहीतः । तद्वदेवात्रापि पुराणादिग्रन्थानां वैयर्थ्यापत्त्या वेदानां व्यासादिरचितत्वस्यैव सिद्धेः ।

नहीं है, क्योंकि गोतम के सिवाय कणाद प्रभृति के वचनों को आप भी प्रमाण मानते हैं । ऐतिह्य से सत्य का ही ग्रहण होता है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्षादि अधिगत सत्य घटना को भी ऐतिह्य मान लेना पड़ेगा । अनृत का नहीं, यह कथन भी व्यर्थ है, क्योंकि 'सत्य का ही' इस प्रकार अवधारण करने से भी वही अर्थ निकलेगा ।

'आप्त के द्वारा उपदिष्ट और सत्य प्रमाण से युक्त ही ऐतिह्य ग्राह्य है, यह कथन भी ठीक नहीं । आप बताइये कि यहाँ पर आपको 'सत्य जिसमें प्रमाण है' यह बहुव्रीहि समास अभिप्रेत है या जो 'सत्य भी है और प्रमाण भी' यह द्वन्द्व समास ? ये दोनों ही पक्ष नहीं बनते । अनधिगत और अबाधित वस्तुविषयिणी ज्ञानरूपा प्रमा का करणरूप असाधारण कारण प्रमाण होता है, यहाँ पर अनृत की आशंका ही निराधार है । यदि एक प्रमाण की प्रामाणिकता के लिये दूसरे प्रमाण की अपेक्षा है, तो वेदों की प्रामाणिकता के लिये भी दूसरा प्रमाण ढूंढना पड़ेगा । इस प्रकार तो स्वतः प्रमाण को मानने वाले सिद्धान्त का विरोध होगा । एक प्रमाण की प्रामाणिकता के लिये दूसरे प्रमाण की आवश्यकता मानने पर उसकी प्रामाणिकता के लिये तीसरा और उसकी भी प्रामाणिकता के लिये चौथा प्रमाण मानना पड़ेगा । इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा, अर्थात् प्रमाण की व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी । जिसने धर्म का साक्षात्कार किया है, ऐसे आप्त के वचन में भी सन्देह रहने पर ही आप्तोपदिष्ट ऐतिह्य के लिये 'सत्य प्रमाण' इस विशेषण के लगाने की आवश्यकता पड़ेगी । इस प्रकार स्वयं प्रमादी के समान बिना प्रमाण के अनाप-शनाप बोलने वाला दूसरे की उक्ति को प्रमादी की उक्ति कहते लज्जित नहीं होता, यह आश्चर्य ही है ।

इसी तरह 'व्यास जी ने और ऋषियों ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया', इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिये । जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्त आदि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्र ग्रन्थ हैं, इनमें कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य के योग्य नहीं' (पृ० २१) यह भी सारहीन बात है । यहाँ पर उत्तरांश पूर्वांश में हेतु नहीं है । पुराण प्रभृति ग्रन्थों की व्यर्थता भले ही हो, हैं वे व्यास आदि की रचनाएँ ही, ऐसा कहने पर आपकी बात को सिद्ध करने वाला कोई अनुकूल तर्क न होने से उक्त हेतु से अभिप्रेत सिद्ध नहीं होगा । दूसरी बात अभी थोड़ी देर पहले 'तस्माद् यज्ञात्' इत्यादि मन्त्र में आपने छन्द पद की व्यर्थता को देख उससे अथर्ववेद का ग्रहण किया है, उसी तरह यहाँ पर भी पुराण प्रभृति ग्रन्थों की व्यर्थता को देख उसको बचाने के लिये उनको व्यास प्रभृति ऋषि मुनियों की कृति क्यों न मान लिया जाय ।

किञ्च, 'मन्त्रकृतः', 'मन्त्रकृद्भ्यः' इत्याद्यनेकैर्मन्त्रवचनैर्ब्राह्मणवचनैश्च वेदानामृषिकर्तृकत्वमुक्तम्, त्वद्रीत्याप्यग्न्यादिभ्य ऋषिभ्यो वेदानामुत्पत्तिः श्रूयते। यथैवं 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥' (वा० सं० ३१।७), तथैवमपि—'अग्नेर्ऋग्वेदः' (श० ११।५।८।३) इत्युक्तम्, तत्र का वाचोयुक्तिर्यया परमेश्वराद्वेदोत्पत्तिरभ्युपेया, नाग्न्यादिभ्यः श्रुताप्युत्पत्तिः। सिद्धान्ते तु वेदानां नित्यत्वान्न कस्मादपि वेदानामुत्पत्तिः। सम्प्रदायप्रवर्तकत्वं तु यथैवेश्वरस्य तथैव ब्रह्मादीनामृषीणामग्न्यादीनां च सम्भवत्येव। व्यासस्यानृषित्वोक्तिस्तु दयानन्दस्य धाष्टर्यमेव। तदनुयायिनस्तु तं महर्षि मन्वते। तच्च सर्वथा निर्मूलम्।

- केचित्तु नवीनपुराणग्रन्थानामित्यत्र कर्मधारयसमासस्तु न सम्भवति, नवीनत्वपुराणत्वयोः सामानाधिकरण्याभावात्। यदि नवीननिर्मितपुराणग्रन्थानामिति मध्यमपदलोपी समास इत्युच्येत, तदपि न सम्यक्, नवीनजनकर्तृकवस्तुनः पुराणत्वाभिधानासम्भवादित्यप्याहुः।

यदपि च—'यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात्, मैवं वादि, ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात्। 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य विद्यमानत्वात्। एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्, तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्तमानत्वात्। तद्यथा—'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥' (म० १।५), 'अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः' (म० २।६) इति मनुसाक्ष्यत्वात्। अग्न्यादीनां सकाशात् ब्रह्मापि वेदाध्ययनं चक्रे, अन्येषां व्यासादीनां का कथा' (पृ० २१) इति, तदपि न मनोज्ञम्, अशुद्ध्यादिदोषबाहुल्यात्। तथाहि—तत्पदपरामृष्टस्य वेदस्य पुल्लिङ्गत्वात् तद्रचितमिति नोचितम्। न च मन्त्रसूक्ताभिप्रायेण तद्युक्तम्, ब्रह्मादिभिर्वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वादित

'मन्त्रकृतः', मन्त्रकृद्भ्यः' इत्यादि अनेक मन्त्र और ब्राह्मणों के वचनों में वेदों को ऋषियों की कृति माना गया है। आपके मत में भी अग्नि प्रभृति ऋषियों से वेदों की उत्पत्ति सुनी गई है। 'तस्माद्यज्ञात्' तथा 'अग्नेर्ऋग्वेदः' इत्यादि श्रुतियों में यही बात कही गई है। तब इसमें क्या प्रमाण है कि जिसके आधार पर परमेश्वर से वेद की उत्पत्ति मानी जाय, न कि अग्नि प्रभृति से, जिसके लिये कि उक्त श्रुतियों में स्पष्ट निर्देश है। हमारे मत में तो वेद नित्य हैं, अतः उनकी उत्पत्ति किसी से भी नहीं होती। लुप्त सम्प्रदाय की प्रवर्तकता जैसे ईश्वर में है, उसी तरह ब्रह्मा, ऋषिगण और अग्नि प्रभृति में भी मानी ही जा सकती है। व्यास को ऋषि न मानना दयानन्द की धृष्टता है। दयानन्द के अनुयायी तो दयानन्द को महर्षि मानते हैं, इसमें क्या प्रमाण है?

कुछ लोगों का कहना है कि 'नवीनपुराणग्रन्थानाम्' यहाँ पर कर्मधारय समास नहीं हो सकता, क्योंकि नवीनत्व और पुराणत्व का सामानाधिकरण्य नहीं होगा। यदि 'नवीननिर्मितपुराणग्रन्थानाम्' यह मध्यम पद लोपी समास माना जाता है, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि नवीन व्यक्ति के बनाये गये ग्रन्थ 'पुराण' नहीं कहे जा सकते।

'जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं, उन्होंने ही वेद रचे हों, ऐसा क्यों नहीं माना जाय? ऐसा मत कहो, क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है। सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है—'जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि के आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश दिया है, उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं'। इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है, क्योंकि जब मरीचि आदि ऋषि और व्यास आदि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय भी ब्रह्मा के समीप वेद वर्तमान थे। इसमें मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि—'पूर्वोक्त अग्नि, वायु, रवि और अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था'। जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यास आदि की तो कथा ही क्या हो सकती है' (पृ० २१-२२), किन्तु यह बात भी मन को रुचती नहीं, क्योंकि इसमें अशुद्धि आदि अनेक दोष हैं। जैसे कि यहाँ पर 'तत्' पद से वेद का परामर्श होता है। वेद शब्द पुल्लिंग है, अतः 'तद्रचितम्' यह उचित प्रयोग नहीं है। मन्त्र और सूक्त का यह 'तत्' पद से परामर्श होता है, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि

वक्ष्यमाणग्रन्थविरोधात्। ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्तमानत्वादित्यपि निःसारम्, तदा ब्रह्मादिभिस्तेषामधीतत्व-श्रवणादित्यस्यैव सुवचत्वात्। मनुसाक्ष्यादित्यनेनैवाभीष्टसिद्धौ साक्ष्यत्वादिति त्वल्प्रयोगानर्थक्यात्। ऋषयो मन्त्रकृत इति विरोधाच्च। त्वद्रीत्याप्यग्न्यादयश्चत्वारो मनुष्या अपि ऋषय एव। तथात्वे यदर्षीणामुत्पत्तिरपि नासीत्, इति वचनमपि तव स्वाभ्युपगमविरुद्धम्। 'यो वै ब्रह्माणम्' इत्यत्र तु 'वै' इति कपोलकल्पितम्, न श्रुतिसिद्धम्। तथा ब्रह्मणे परमेश्वरेण वेदाः प्रहिता इति विज्ञायते। तथा चाग्न्यादिद्वारा परमेश्वरेण ब्रह्मणे वेदाः प्रहिता इत्यप्यशुद्धमेव।

किञ्च, कुत एतद्विज्ञायते यदृषीणामुत्पत्तेः प्राग् ब्रह्मणा वेदा अधीताः। ब्रह्मण ऋषीणां जनकत्वादिति चेत्, तथात्वेऽग्न्यादीनामपि तज्जन्यत्वात् कुतस्तेभ्योऽपि तदध्ययनं युज्यते? तेभ्यस्तदुपपत्तावृषिभ्योऽपि कुतो न तदुपपत्तिः? अग्न्यादयोऽपि मनुष्या एव त्वयाभ्युपेयन्त इति कुतस्तेऽपि न ब्रह्मणोऽर्वाचीनास्तज्जन्याश्च। किञ्च, ब्रह्मणस्तु साक्षात् परमेश्वरजन्यत्वं विज्ञायते, 'यो ब्रह्माणं विदधाति' इति श्रुतेः। न तथाग्न्यादीनां परमेश्वरजन्यत्वं श्रूयते। 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम्' (१।२३) इति मनुवचनं तु नाग्न्यादिभ्यो ब्रह्मणो वेदाध्ययनसाधकम्, किन्त्वग्न्यादिभ्यः सारसंग्रहसाधकमेव। उपरिष्टादपि ऋगादिभ्यो भूर्भुवःस्वरिति व्याहृतिरूपस्य सारस्य सङ्कलनमुक्तम्। अग्न्यादीनां मनुष्यत्वोक्तिरपि निर्मूलैव। न च ज्ञानवत्त्वमेव मनुष्यत्वसाधकम्, देवानामपि ज्ञानवत्त्वेन व्यभिचारात्। अत एव तन्मूलश्रुतिष्वग्न्यादीनामपि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकानां साररूपेण सङ्कलनमुक्तम्। अत एव नाधीतिपठितिप्रयोगः, किन्तु दुदोहेत्येव। किञ्च, त्वदुद्धृतेन 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम्' इति वचनेन यज्ञसिद्ध्यर्थमेव वेदानामाविर्भाव उक्तः।

इसका आगे के इस वाक्य से विरोध होगा, जिसमें कि वेदों का अध्ययन और श्रवण कर लिया, ऐसा कहा गया है। ब्रह्मा आदि के पास वेद वर्तमान है, यह कथन भी निःसार है, क्योंकि उस अवस्था में यह कहना उचित था कि ब्रह्मा प्रभृति ने वेद पढ़ लिया है, ऐसा सुना जाता है। 'मनुसाक्ष्यात्' इतने मात्र से अभीष्ट अर्थ निकल आता है, तब भी यहाँ पर 'साक्ष्यत्वात्' इस त्वल् प्रत्ययान्त पद का प्रयोग करना व्यर्थ है और 'ऋषि मन्त्र के कर्ता हैं' इस वाक्य से विरोध भी होगा। आपके मत से भी अग्नि प्रभृति चार ऋषि ही हैं। ऐसी स्थिति में जब ऋषियों की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी, यह कथन आपकी अपनी बात के भी विरुद्ध पड़ेगा। 'यो वै ब्रह्माणम्' यहाँ पर 'वै' का पाठ कपोलकल्पित है, श्रुति में यह नहीं है। इसी तरह ब्रह्मा के लिये परमेश्वर ने वेद भेजे, ऐसा ज्ञात होता है। तथा अग्नि प्रभृति के द्वारा परमेश्वर ने ब्रह्मा के लिये वेद भेजे, इस तरह के प्रयोग भी अशुद्ध हैं।

यह कैसे मालूम होता है कि ऋषियों की उत्पत्ति के पहले ब्रह्मा ने वेदों का अध्ययन किया? यदि यह माना जाय कि ब्रह्मा ऋषियों का जनक है? ऐसा मानने पर तो अग्नि आदि का भी ब्रह्मा ही जनक है, तब उसमें अग्नि प्रभृति से अध्ययन किया, यह कैसे सम्भव होगा? इतने पर भी यदि अग्नि प्रभृति से वेद की उत्पत्ति मानी जाय तो ऋषियों से भी उनकी उत्पत्ति मानने में क्या बाधा है? अग्नि प्रभृति भी आपके मत से मनुष्य ही हैं, तब वे ब्रह्मा से नवीन और उन्हीं से उत्पन्न क्यों न माने जांय। 'यो ब्रह्माणम्' इस श्रुति से यह ज्ञात होता है कि परमेश्वर से ब्रह्मा की सृष्टि साक्षात् हुई। इस तरह की उत्पत्ति अग्नि प्रभृति की परमेश्वर से नहीं सुनी गई। 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम्' इत्यादि मनु वचन भी अग्नि प्रभृति से ब्रह्मा के वेदाध्ययन का साधक नहीं है, अपि तु इससे केवल यही सिद्ध होता है कि इनसे सार का संग्रह किया। इसके आगे भी ऋगादि से भूरादि तीन व्याहृतियों का सार संग्रह के रूप में ही उल्लेख है। अग्नि प्रभृति को मनुष्य मानना भी बिना प्रमाण का है। ज्ञानवान् होना ही मनुष्यत्व का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि देवता भी ज्ञानवान् हैं, किन्तु वे मनुष्य नहीं हैं। इसी लिये इससे पहले की श्रुति में अग्नि प्रभृति का भी द्युलोक प्रभृति से सार संकलन बताया गया है। इसीलिये यहाँ पर अध्ययन, पठन आदि का प्रयोग न होकर दोहन पद प्रयुक्त है। यह भी ध्यान देने की बात है कि आपके उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक में यज्ञ सम्पादन के लिये ही वेदों का आविर्भाव बताया गया है।

यत्तु—'कथं वेदः श्रुतिश्चेति द्वे नामनी ऋक्संहितादीनां जाते' इत्याशङ्क्य समाहितम्—'अर्थवशात् विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद विचारणे—एभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। तथा श्रु श्रवणे इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्तिन्प्रत्यये श्रुतिशब्दो व्युत्पाद्यते। विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति लभन्ते विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। तथाऽऽदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा श्रुतिः। न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात् कदाचित्कोऽपि वेदरचनं दृष्टवान्। कुतः? निरवयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूताः, वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम्, तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः। वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः, तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात्। अतः किं सिद्धम्, अग्निवाय्वादित्याङ्गिरोभूतमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम्' (पृ० २२) इति।

तदपि निःसारमशुद्धं च, येषु यैरिति पदाभ्यां तन्त्राणामागमानामितिहासपुराणादीनामपि ग्रहणसम्भवेन तत्रापि वेदत्वापत्तेः। त्वदभिमतेषु वेदमूलकेषु च वेदत्वापत्तेः। किञ्च, वेदेषु वेदैर्वा कास्ताः सत्यविद्या या भवन्ति याश्च सर्वे जना जानन्ति लभन्ते तथा विचारयन्ति ता अपि निरूपणीयाः। तैश्च कथं सर्वसत्यविद्याविचारः सम्पद्यते? सम्प्रति राकेट-कम्प्यूटरादिविद्या भौतिकविज्ञानानि कथं त्वया त्वदनुयायिभिर्वा नाविष्कृतानि? कतिविधा विद्या याः सत्यशब्देन विशेष्यन्ते? येषु विद्वांसो भवन्तीत्यस्य को वार्थः? विषयसप्तमी चेदधिकरणकारके इति स्वीकृतिविरोधः। किञ्च, त्वद्रीत्या वेदा अपि ज्ञानरूपाः। ज्ञानं च प्रमारूपमेव वक्तव्यम्, ओमिति चेत् प्रमारूपाणां वेदानां कथं सत्यविद्याजनकत्वमेकत्र प्रमात्वप्रमाणत्वविरोधात्। सत्यविद्याश्च प्रमारूपा वक्तव्याः। तथा चोभयप्रमाणां वैलक्षण्यमपि

'वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेद आदि संहिताओं के क्यों हुए हैं?' ऐसी आशङ्का कर उसका समाधान किया है कि अर्थ के भेद से। क्योंकि एक 'विद्' धातु ज्ञानार्थक है, दूसरा 'विद्' सत्तार्थक है, तीसरे 'विद्लृ' का लाभ अर्थ है, चौथे 'विद्' का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है। तथा 'श्रु' धातु श्रवण अर्थ में है। इससे करण कारक में 'क्तिन्' प्रत्यय के होने से 'श्रुति' शब्द सिद्ध होता है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक्संहिता आदि का नाम 'वेद' है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज तक और ब्रह्मादि से लेकर हम लोगों तक जिससे सब सत्य विद्याओं को सुनते आये हैं, इससे वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ा। क्योंकि किसी ने वेदों के बनाने वाले देहधारी को साक्षात् कभी नहीं देखा। इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और उनको सुनते-सुनाते ही आजतक सब लोग चले आते हैं। अग्नि, वायु आदित्य और अङ्गिरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे या काठ की पुतली को नचावे, इसी तरह ईश्वर ने उनको निमित्त मात्र किया था, क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु इससे यह जानना कि वेदों में जितने शब्द, अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे सब ईश्वर से ही प्रकट हैं, क्योंकि वह पूर्ण विद्या वाला है' (पृ० २२-२३)।

यह कथन भी निःसार और अशुद्ध है, क्योंकि यहाँ पर 'येषु यैः' इन दो पदों से तन्त्र, आगम, इतिहास, पुराण आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है, ऐसी दशा में इनको भी वेद मानना पड़ेगा। आप जिनको वेदमूलक मानते हैं, उनमें भी वेदत्व की आपत्ति होगी। आप यह भी बताइये कि वेदों में अथवा वेदों से वे कौन सी सत्य विद्याएँ होती है, जिनको कि सब लोग जानते हैं, पाते हैं और विचार करते हैं। उनसे सभी सत्य विद्याओं का विचार कैसे सम्भव होता है? आजकल के राकेट, कम्प्यूटर आदि की विद्याओं और भौतिक विज्ञान का आपने अथवा आपके अनुयायियों ने क्यों नहीं आविष्कार किया? वे कितनी विद्याएं हैं, जो कि सत्य शब्द से अभिहित हो सकती हैं। जिनमें विद्वान् होते हैं, इसका क्या अभिप्राय है? यदि यहाँ पर विषय में सप्तमी मानें तो इसके पहले आपने तो अधिकरण में सप्तमी मानी है, उससे विरोध होगा। आपके मत से तो वेद ज्ञानरूप हैं। ज्ञान तो प्रमारूप ही होता है। यदि इस बात को आप मानते हैं तो प्रमारूप वेदों को सत्य विद्या का जनक कैसे मानेंगे? क्योंकि प्रमात्व और प्रमाणत्व दोनों एक जगह नहीं रह सकते। सत्य विद्या भी प्रमारूप ही मानी जायगी। इस परिस्थिति में वेदरूप प्रमा और सत्य विद्या रूप प्रमा में क्या वैलक्षण्य

वक्तव्यम्, अत्यन्तसालक्षण्ये साध्यसाधनभावानुपपत्तेः। ज्ञानरूपाणां वेदानां किमधिकरणम्? परमेश्वरोऽन्यो वा? नान्यस्तस्यैव सर्वविद्यावत्त्वप्रसङ्गात्। परमेश्वर एव चेत्, तदापि सत्यविद्यायाः किमधिकरणम्? ज्ञानं वेदा वा? आद्ये वेदेष्वित्युक्तिविरोधात्। वेदेषु चेत्तदपि नोपपद्यते, ज्ञानस्य ज्ञानान्तराधिकरणत्वे मानाभावात्।

ननु वाक्यज्ञानेन वाक्यार्थज्ञानवत् परमेश्वरनिष्ठवेदात्मकज्ञानेन सत्यविद्यात्मकं ज्ञानं भविष्यतीति चेन्न, तथात्वे वेदात्मकज्ञानेन मनुष्येषु सत्यविद्योत्पत्त्यनुपपत्तेः। अन्यनिष्ठवाक्यज्ञानेनान्यनिष्ठवाक्यार्थज्ञानाभावात्। यदीश्वरीयज्ञानात्मका वेदास्तदा तेषामन्यत्र संक्रमणमन्यनिष्ठजनकत्वं च सर्वथा नोपपद्यते। किञ्चेश्वरस्य समस्तं ज्ञानं वेदो ज्ञानांशो वा? नाद्यस्तथात्वे परमेश्वरस्य भौतिकादिवेदबाह्यज्ञानाभावेनासार्वज्ञ्यापत्तिः। नान्त्यः, वेदसर्वविद्यात्वोक्तिविरोधात्। ईश्वरज्ञानरूपा वेदा निर्विषयाः सविषया वा? नाद्यः, विकल्पानुपपत्तेः। ईश्वरज्ञानमेकं व्यापकं नित्यमनेकं परिच्छिन्नमनित्यं वा? नाद्यः, वेदा इति बहुवचनानुपपत्तेः। नान्त्यः, नित्यत्वोक्तिव्याघातात्। न द्वितीयः, तज्जन्यायाः सद्विद्याया विषयेभ्यो भिन्नास्तद्विषया अभिन्ना वा? भिन्नत्वे के ते? कथं वा भिन्नविषयैर्ज्ञानैर्भिन्नविषया विद्या जन्यन्ते? कार्यकारणभावनियामकाभावादतिप्रसक्तिश्च। अभिन्नाश्चेन्नैरर्थक्यापत्तिः। नहि घटविषयया प्रमया घटप्रमाजन्यत्वेऽपि किञ्चित् प्रयोजनं सिद्धयति। तस्माद्वेदविषयकं सर्वमपि दयानन्दीयं मतमशुद्धमेव।

नियताऽनुपूर्वीकोऽपौरुषेयो मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मकशब्दराशिरेव वेदः। तस्य वर्णरूपेण नित्यत्वविशिष्टविभुत्वेऽपि वर्णानुपूर्वीविशिष्टपदवाक्यरूपेणानित्यत्वेऽपि पूर्वोच्चारणसजातीयोच्चारणानुपूर्वीकत्वेन प्रवाहरूपेण नित्यत्वम्। नित्यानां विभूनां वर्णानां देशतः कालतश्च पौर्वापर्यरूपाया आनुपूर्व्या असम्भवेनानित्यानां वर्णाभिव्यक्ती-

है, यह आपको बताना पड़ेगा। अत्यन्त सदृश वस्तुओं में साध्यसाधनभाव नहीं बनता। ज्ञानरूप वेदों का अधिकरण परमेश्वर है या कोई दूसरा? दूसरा कोई हो नहीं सकता, क्योंकि इस अवस्था में उसी को सब विद्याओं से युक्त मानना पड़ेगा। यदि परमेश्वर को ही माने तो सत्य विद्या का अधिकरण कौन होगा? ज्ञान अथवा वेद? पहले पक्ष में 'वेदेषु' इस उक्ति का विरोध होगा। यदि वेदों में अधिकरणता मानी जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि एक ज्ञान के दूसरे ज्ञान का अधिकरण होने में कोई प्रमाण नहीं है।

वाक्य ज्ञान की सहायता से जैसे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, उसी तरह परमेश्वरनिष्ठ वेदात्मक ज्ञान से सत्यविद्यात्मक ज्ञान हो सकेगा, यह भी नहीं बन सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वेदात्मक ज्ञान से मनुष्यों में सत्यविद्या की उत्पत्ति नहीं होगी। एक व्यक्ति में वर्तमान वाक्यज्ञान से दूसरे व्यक्ति को वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, तब उनका अन्यत्र संक्रमण अथवा जन्म सर्वथा नहीं हो सकता। यह भी बताना पड़ेगा कि वेद ईश्वर का समस्त ज्ञान है या उसका एक अंश? पहला पक्ष हम नहीं मान सकते, क्योंकि तब परमेश्वर को वेद बाह्य भौतिक विषयों का ज्ञान न होने से वह असर्वज्ञ अर्थात् अल्पज्ञ हो जायगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर वेद में सब विद्याएं वर्तमान हैं, आपकी इस उक्ति का विरोध होगा। ईश्वर ज्ञानरूप वेद निर्विषय हैं या सविषय? यहाँ पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि उसके मानने पर ईश्वर का ज्ञान एक, व्यापक, नित्य है या अनेक, परिच्छिन्न और अनित्य? इस विकल्प का कोई उत्तर नहीं बनता, क्योंकि पहले पक्ष में 'वेदाः' यह बहुवचन नहीं हो सकता, दूसरे पक्ष में वेद की नित्यता की उक्ति का विरोध होगा। दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं, क्योंकि वहाँ पर भी यह विकल्प नहीं बन सकेगा कि ईश्वर ज्ञान जन्य सद्विद्या के विषयों से ये विषय भिन्न हैं या अभिन्न? यदि भिन्न हैं तो वे कौन से हैं? अथवा भिन्न विषयक ज्ञानों से विभिन्न विषयक विद्या कैसे पैदा होगी? यहाँ पर कार्य-कारणभाव का नियामक हेतु न रहने से अतिप्रसंग भी होगा। यदि अभिन्न मानें तो वे फिर निरर्थक हैं। घटविषयक प्रमा से घट प्रमा के पैदा होने पर भी कुछ नवीन प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। इस तरह दयानन्द का वेदविषयक पूरा विचार गलत है।

नियत आनुपूर्वी वाला अपौरुषेय मन्त्रब्राह्मण समुदायात्मक वेदराशि ही वेद है। वर्ण के रूप में यह नित्यत्व और विभुत्व से युक्त होते हुए भी और वर्णानुपूर्वी से विशिष्ट पद-वाक्य के रूप में अनित्य होते हुए भी पूर्व उच्चारण के सदृश ही उच्चारण की आनुपूर्वी के सदा विद्यमान रहने से यह प्रवाह रूपेण नित्य है। नित्य और विभु वर्णों की देश और काल के पौर्वापर्य से होने वाली

नामेव पौर्वापर्योपपत्त्या तदनित्यत्वध्रौव्यात् । वर्णनित्यत्वेन वेदानां नित्यत्वोपपादने त्वस्मदादिवचनानामपि तन्न दुरुपपादम्, वर्णानां तत्रापि नित्यत्वानपायात् । यथा शिक्षकीयगात्रविक्षेपमनुकुर्वाणाया नर्तक्या गात्रविक्षेपो भिन्न एव, तथैवाचार्योच्चारितां वेदानुपूर्वीमनुकुर्वाणस्य शिष्यस्य वेदानुपूर्वी भिन्नैव । तथात्वेऽपि वेदानुपूर्व्या नानित्यत्वम्, सर्वासामानुपूर्वीणां नियतत्वेनैकरूप्यात् । कस्याश्चिदप्यानुपूर्व्याः प्राथम्याभावात् । पूर्वानुपूर्वीसापेक्षत्वेनास्वातन्त्र्यात् । प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वाभावाच्च । अतीतानागतेषु क्षण-विपल-पल-दण्ड-घटी-प्रहर-अहोरात्र-पक्ष-मास-वर्ष-युग-महायुग-कल्प-महाकल्पेष्वपूर्वाया वेदानुपूर्व्या उत्पत्तेरभावादनादिनिधनत्वेन वेदानां नित्यत्वम् । संस्कार-रूपेण प्रलयेऽप्यानुपूर्व्या विद्यमानत्वेनानादिनिधनत्वमप्यव्याहतमेव । ईश्वरनिष्ठाया ब्रह्माग्न्यस्मदादिनिष्ठानां चानुपूर्वीणां भिन्नत्वेऽप्येकरूपत्वेनैक्यमेव । तथा च सत्यसङ्कल्पस्य परमेश्वरस्य सङ्कल्पेन ब्रह्मादिविशिष्टेषु ऋषिष्वीशनिष्ठाया वेदानुपूर्व्याः सदृश्या आनुपूर्व्याः प्रादुर्भावनम्, सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन तत्तन्निष्ठाया एव वा वेदानुपूर्व्याः प्रादुर्भावनमेतेषु तेष्वीश्वरकर्तृकवेदप्रेषणं तद्दानं वा । तदेव च वैदिकसम्प्रदायप्रवर्तनमिति न काचिदनुपपत्तिः । वेद-श्रुत्यादिशब्दास्तु योगरूढा एव । तेन यथा कुमुदादीनां पङ्कजनिकर्तृत्वेऽपि न पङ्कजशब्दवाच्यत्वम्, तथैवान्यग्रन्थानां सत्यज्ञानजनकत्वेऽपि न वेदशब्दवाच्यतेति ।

यदुक्तम्—'कोऽपि कदाचिदपि देहधारिणः सकाशाद् वेदरचनं न दृष्टवान्' (पृ० २२) इति, तदपि तुच्छम्, निरवयवत्वात् परमेश्वरादपि वेदरचनं न कश्चित्कदाचिदपि दृष्टवानित्यस्यापि सुवचत्वात् । एको न दृष्टवान् सर्वे वा न दृष्टवन्तः ? नाद्यः, त्वत्कर्तृकभूमिकारचनस्यापि बहुभिरदृष्टत्वात् । तस्यापि निरवयवत्वादुत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

आनुपूर्वी बन नहीं सकती, यह तो अनित्य वर्णाभिव्यक्ति में ही बन सकती है, इस प्रकार निश्चय ही उसमें भी अनित्यता आ जायगी । वर्णों की नित्यता से यदि वेदों की नित्यता सिद्ध की जाती है तो हमारे वचनों की भी नित्यता सिद्ध की जा सकेगी, क्योंकि वर्णों की नित्यता तो वहाँ भी रहेगी ही । जैसे शिक्षक के शरीर की विभिन्न मुद्राओं और भंगिमाओं का अनुकरण करने वाली नर्तकी का गात्र-विक्षेप भिन्न प्रकार का ही है, उसी तरह आचार्य की उच्चारित वर्णानुपूर्वी का अनुकरण वाले शिष्य की वेदानुपूर्वी भी भिन्न है । तो भी वेद की आनुपूर्वी अनित्य नहीं है, क्योंकि इन सभी आनुपूर्वियों में निश्चित रूप से एक समानता विद्यमान है । इनमें से किसी आनुपूर्वी को प्राथमिकता नहीं दी जा सकती । प्रत्येक आनुपूर्वी पूर्व की आनुपूर्वी की अपेक्षा रखती है, इस प्रकार वह अपने में स्वतन्त्र नहीं है । इसकी रचना बिना किसी दूसरे प्रमाण की सहायता से की गई है । अतीत अथवा अनागत क्षण, विपल, पल, दण्ड, घटी, पहर, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, युग, महायुग, कल्प और महाकल्प में भी वेद की कोई अपूर्व आनुपूर्वी उत्पन्न नहीं होती, अतः अनादि-निधन वेद नित्य माने जाते हैं । प्रलय काल में भी संस्कार रूप से आनुपूर्वी विद्यमान रहती है, अतः वेदों की अनादिनिधनता पर कोई आघात नहीं आता । ईश्वरनिष्ठ तथा ब्रह्मा, अग्नि आदि में तथा अस्मदादि में विद्यमान आनुपूर्वियों के भिन्न होने पर भी इनमें एक-रूपता के रहने से एकता है । इस प्रकार सत्यसंकल्प परमेश्वर के संकल्प से ब्रह्मा प्रभृति विशिष्ट ऋषियों में ईशनिष्ठ वेदानुपूर्वी के समान आनुपूर्वी का प्रादुर्भावन, अथवा सुप्त-प्रतिबुद्धन्याय से उनमें पहले से विद्यमान वेदानुपूर्वी का प्रादुर्भावन ही यहाँ पर इनमें ईश्वरकृत वेद का प्रेषण अथवा दान कहलावेगा । यहीं वेद संप्रदाय की प्रवृत्ति कहलाती है । इस प्रकार यहाँ पर कोई दोष नहीं उपस्थित होगा । वेद, श्रुति आदि शब्द योगरूढ हैं । इससे जैसे यद्यपि कुमुद आदि भी कीचड़ से पैदा होते हैं, तो भी उनको पङ्कज नहीं कहा जाता, उसी तरह अन्य ग्रन्थों के सत्य ज्ञान जनक होने पर भी उनको वेद नहीं कहा जाता ।

'किसी ने वेदों के बताने वाले देहधारी को साक्षात् कभी नहीं देखा' यह कथन व्यर्थ है, इसके विपरीत आप यह भी कह सकते हैं कि निरवयव परमेश्वर से भी वेद की रचना होते हुए किसी ने नहीं देखी । आप यह बताइये कि एक ने नहीं देखा या किसी ने नहीं देखा ? एक ने नहीं देखा तो इससे अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि आपकी बनाई भूमिका को भी अनेक व्यक्तियों ने नहीं देखा, तो क्या वह भी वेद के समान नित्य हो जायगी ? दूसरा पक्ष भी इसलिये ठीक नहीं है कि असर्वज्ञ मनुष्यों को उसका ज्ञान

नान्त्यः, असर्वज्ञस्य तज्ज्ञानासम्भवात्। नन्वेवं सिद्धान्तेऽपि चोद्यसम्भवः? न, तत्र सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यप्रमीयमाण-कर्तृकत्वेन नित्यत्वाभ्युपगमेन रचनविषयकस्य दृष्टत्वस्यादृष्टत्वस्य वाऽतन्त्रत्वात्।

अग्न्यादयो वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण निमित्तीभूताः कृताः, तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः' (पृ० २२) इति यत्, तदप्यसाम्प्रतम्, विकल्पानुपपत्तेः। किं वेदाः परमेश्वरेण रचिता अथवा परमेश्वरीयज्ञानेनाग्न्यादिभी रचिताः? नाद्यः, तथात्वेऽग्न्यादीनां निमित्तत्वानुपपत्तेः। नान्त्यः, अध्यापकदत्तेन ज्ञानेन अध्येतृ(शिष्य)निर्मितग्रन्थानां शिष्य-कर्तृकत्वप्रसिद्धिविरोधात्। तेषां ज्ञानेन वेदानुत्पत्तेरित्युक्त्यापि परमेश्वरीयज्ञानेन वेदानामुत्पत्तिरभ्युपेतैव। तथात्वे वेदानां नित्यत्वोक्तिर्विरुद्धयत इत्युभयतः पाशारज्जुः।

'वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूतास्तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात्' (पृ० २२) इति यदुक्तम्, तदपि तुच्छम्, पूर्णविद्यावत्त्वस्यातन्त्रत्वात्। तथात्वे घटादीनामपि परमेश्वरादेव कुतो नाविर्भावः? नित्यानामात्मनामपि पूर्णविद्यावत्त्वात् परमेश्वरात् कुतो नोत्पत्तिः? नित्यत्वविरोधादिति चेदत्रापि समानमेव नित्यत्वम्। किञ्च, सर्वे शब्दाः सर्वेऽर्थाः सर्वे सम्बन्धाः पूर्णविद्यावत्त्वेन परमेश्वरादेवोत्पन्ना वैदिका एव वा? नाद्यः, प्रत्यक्षविरोधात्। दृश्यन्त एवानेके शब्दा अर्थास्तत्सम्बन्धाश्च तेभ्यस्तेभ्यः कारणेभ्य उत्पद्यमानाः परमेश्वराच्चानुत्पद्यमानाः। नान्त्यः, पूर्ण-विद्यावत्त्वव्याघातात्। लौकिकशब्दार्थसम्बन्धानां वैदिकशब्दादिभ्यो भिन्नत्वे 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० सू० १।२।३०) इति न्यायविरोधाच्च। लौकिकशब्दार्थसम्बन्धज्ञानवतां वैदिकशब्दार्थानवबोधापाताच्च। अतोऽग्न्यादिमनुष्य-देहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इत्यसिद्धमेव, प्रमाणशून्यत्वात्। नित्या एव वेदाः। परमेश्वरेणा-ग्न्यादिषु वेदानाविर्भाव्य सम्प्रदायः प्रवर्तितः। अन्यैश्चाध्यापनादिद्वारा वैदिकाध्ययनाध्यापनसम्प्रदायः प्रवर्तितः।

नहीं हो सकता। तब तो यही प्रश्न आपके सिद्धान्त पर भी लागू होगा? नहीं, क्योंकि वहाँ पर तो सम्प्रदाय का विच्छेद नहीं होता और उसके कर्ता का भी कोई यथार्थ ज्ञान नहीं है, अतः उसको नित्य माना जाता है। यहाँ पर रचना विषयक दर्शन और अदर्शन का प्रश्न उठ ही नहीं सकता।

'अग्नि आदि को ईश्वर ने वेदों के प्रकाश के लिये केवल निमित्त मात्र बनाया है' यह कथन भी असंगत है, क्योंकि इसमें आगे दिये विकल्प की उपपत्ति नहीं बनती। वेदों को परमेश्वर ने बनाया अथवा परमेश्वर के ज्ञान की सहायता से अग्नि प्रभृति ने बनाया? पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि ऐसा मानने पर अग्नि प्रभृति की निमित्तता नहीं बनेगी। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अध्यापक के दिये ज्ञान की सहायता से शिष्य के द्वारा बनाये ग्रन्थ शिष्य के ही माने जाते हैं। अग्नि प्रभृति के ज्ञान से वेदों की अनुत्पत्ति मान कर भी परमेश्वर के ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति आपने मानी ही है। इस तरह वेदों की नित्यता का विरोध उपस्थित होता है। आपके गले में इस प्रकार दोनों तरफ से रस्सी की फंदा पड़ा हुआ है।

'वेदों में जितने शब्द, अर्थ और संबन्ध हैं, वे सब ईश्वर से ही प्रकट हुए हैं, क्योंकि वह पूर्ण विद्या वाला है' यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि पूर्ण विद्यावत्त्व किसी की उत्पत्ति में हेतु नहीं हो सकता। इस प्रकार से तो घटादि का भी परमेश्वर से ही प्रादुर्भाव क्यों न माना जाय? नित्य आत्माओं में भी पूर्ण विद्यावत्त्व विद्यमान है, उनकी भी परमेश्वर से ही उत्पत्ति क्यों न मानी जाय? यदि आप कहें कि इस तरह से तो नित्यत्व का विरोध होगा तो नित्यत्व तो वेद में भी समान रूप से विद्यमान है। आप यह बताइये कि सब शब्द, सब अर्थ, सब संबन्ध पूर्ण विद्यावान् परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं अथवा वे सब वैदिक हैं? पहला पक्ष तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यह देखा गया है कि अनेक शब्द, अर्थ और उनके संबन्ध उन उन कारणों से पैदा होते हैं, परमेश्वर से नहीं। दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि इस प्रकार से परमेश्वर में पूर्ण विद्यावत्त्व का व्याघात हो जायगा। लौकिक शब्द, अर्थ और संबन्ध की वैदिक शब्दादि से भिन्नता मानने पर 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' इस मीमांसा के न्याय से विरोध भी होगा। साथ ही लौकिक शब्द, अर्थ और संबन्ध के ज्ञाता को वैदिक शब्द, अर्थ आदि का अवबोध न हो सकेगा। अतः अग्नि आदि मनुष्यों का देह धारण वाले जीव के द्वारा परमेश्वर ने वेद का प्रकाश किया, यह नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वेद नित्य ही

यच्च—'वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि' इति प्रश्नमुत्थाप्य 'एको वृन्दः षण्णवतिः कोटयोऽष्टौ लक्षाणि द्विपञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि षट्सप्तति १९६०८५२९७६ वर्षाणि व्यतीतानि । एतावन्त्येव वर्षाणि वर्तमान-कल्पसृष्टेश्च' (पृ० २३) इति कथितम्, तत्प्रमाणतया च 'ब्राह्मस्य तु क्षयाहस्य तत्प्रमाणं समासतः । एकैकशो युगानाम्' इत्यादिमनुश्लोकाः समुद्धृताः, तदेतत्सर्वमप्यसमञ्जसम्, 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः', 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० ८।७५-६) इति वेदानां नित्यत्वश्रवणाद् वेदानामुत्पत्तिकालस्यैवाभावात् । 'ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादिवचनानि तु सम्प्रदायप्रवर्तनपराणि । वर्तमानकल्पसृष्टिकालगणनाप्यशुद्धैव । सप्तसन्धीनां १२०९६००० वर्षाणां तत्र योजनेन—१९७२९४८९७६ इति शुद्धगणनोपपद्यत इति तदीयटिप्पणीकारोक्तेः । के मनवः? तावतोऽहर्गणस्य कथं मन्वन्तरसंज्ञा? कथञ्च चतुर्दशसंख्याका मनवः ? मनूनां च स्वायम्भुवस्वारोचिषादिसंज्ञाः किंमूलाः ? मनु-मन्वन्तर-ब्राह्माहोरात्रादि-कल्पनानामाश्रयणं तन्मूलभूतस्येतिहासपुराणस्योपेक्षणं चेत्यर्धकुक्कुटीन्यायानुसरणमेव । पुराणेषु मनु-मन्वन्तरकथाः प्रसिद्धा एव । मानवातिरिक्तदेवतामनङ्गीकुर्वाणस्य 'देवानां युगमुच्यते' (म० १।७१) इति वचनस्यार्थोऽपि गगनकुसुमायते । तथा—'एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते' इति देवयुगानुसारेण त्वन्निर्दिष्टसंख्यापि नोपपद्यते । ॐ तत्सद् ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षतिथि-नक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽमुकदेशेऽमुकगोत्रोऽमुकशर्माहमित्यादिसङ्कल्पोऽपि न सामाजिकेषु प्रचलति, सर्वस्यैतस्य पुराणेतिहासोपोद्वलितत्वात् । न क्वचिदपि त्वदभिमतेषु वेदेषु वेदकालो निर्दिष्टः । न च सृष्टयादौ तदुत्पत्तिरपि वेदेन साधयितुं शक्यते । नह्येकस्मिन् क्षणे महदहमादयः प्रकृतिविकृतयः षोडशविकाराश्चोत्पद्यन्ते । महदाद्युत्पत्तेः प्राक् कथमग्न्यादयः समागताः । न वा महदादिसमुत्पत्तिदिन एव तदुत्पत्तिः शक्यसमर्थना, निराधारत्वात् ।

है । परमेश्वर ने अग्नि आदि में वेदों का आविर्भाव करके सम्प्रदाय प्रवृत्त किया और दूसरे ऋषि मुनियों ने अध्यापन के द्वारा वेदों के अध्ययन अध्यापन का सम्प्रदाय चलाया ।

'वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये ?' इस प्रश्न को उठा कर 'एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नौ सो छिहत्तर अर्थात् १९६०८५२९७६ वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये' (पृ० २५) यह उत्तर दिया गया है और इसके प्रमाण में—'ब्रह्मा के दिन रात का और एक एक युग का जो प्रमाण है, उसको संक्षेप में सुनो' इत्यादि मनुस्मृति के श्लोक उद्धृत किये गये हैं, यह सब असंबद्ध है । 'पूर्व पुरुषों ने पूर्व पुरुषों को ये वचन कहे थे', 'अविकार नित्य वाणी से' इत्यादि स्थलों में वेदों को नित्य माना गया है, अतः उनका कोई उत्पत्ति काल नहीं है । 'ऋचाएँ और साम पैदा हुए' ऐसे वचन केवल सम्प्रदाय की प्रवृत्ति को सूचित करते हैं । वर्तमान कल्प की सृष्टि की काल गणना भी गलत है । सात सन्धियों के १२०९६००० वर्षों को उसमें जोड़ने पर १९७२९४८९७६ वर्षों की शुद्ध गणना बनती है, यह बात उन्हीं के टिप्पणीकार ने कही है । मनु कौन है ? इनमें अहर्गण की मन्वन्तर संज्ञा कैसे होती है ? चौदह मनु कौन से हैं ? मनुओं की स्वायम्भुव, स्वारोचिष आदि संज्ञाओं का आधार क्या है ? मनु, मन्वन्तर, ब्रह्मा के दिन-रात की कल्पना का सहारा लेना और इनके मूलभूत इतिहास-पुराण आदि की उपेक्षा करना 'आधा तीतर आधा बटेर' वाली कहावत की याद दिलाता है । पुराणों में मनु और मन्वन्तर की कथाएँ प्रसिद्ध हैं । मनुष्यों से भिन्न देवता को न मानने वाले के मत में 'देवानां युगमुच्यते' इस वाक्य का अर्थ आकाश-कुसुम हो जायगा । इसी तरह 'इन बारह हज़ार वर्षों का देवताओं का एक युग होता है' यहाँ पर देवयुग के अनुसार बताई गई गई आपकी संख्या भी उपपन्न नहीं होगी । 'ॐ तत्सत् ब्रह्मा के द्वितीय परार्ध में, वैवस्वत मन्वन्तर में, २८ वें कलियुग में, कलि के प्रथम चरण में, अमुक नाम के वर्ष में, अमुक अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र, लग्न, मुहूर्त में, अमुक स्थान में, अमुक गोत्र में, उत्पन्न मैं अमुक शर्मा' इत्यादि संकल्प वाक्य भी आर्यसमाजियों में प्रचलित नहीं हैं, क्योंकि इस पूरे संकल्पवाक्य की रचना पुराण, इतिहास के प्रमाण पर ही आधारित है । आपके अभिमत वेदों में कहीं भी वेद का समय नहीं बताया गया है । वेद से सृष्टि के आदि में उसकी उत्पत्ति की भी सिद्धि नहीं हो सकती । एक ही क्षण में महत्, अहङ्कार आदि प्रकृति-विकृतियाँ और षोडश विकार नहीं उत्पन्न हो जाते । महदादि की उत्पत्ति के पहिले अग्नि आदि कैसे आ जायेंगे । महदादि की उत्पत्ति के दिन ही उनकी उत्पत्ति हुई, निराधार होने से इस बात का समर्थन नहीं किया जा सकता ।

२—वेदनित्यत्वविचारः

यदपि च 'ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात्' (पृ० ३१) इत्युक्तम्, तदतीव तुच्छम्, ईश्वरसामर्थ्यस्य नित्यत्वेऽपि तत्कार्यस्य वेदस्य नित्यत्वायोगात्। तथात्वे सर्वस्यैव जगत ईश्वरसामर्थ्यस्य नित्यत्वेन नित्यत्वापातात्। न च वेदानामीश्वरसामर्थ्यजन्यत्वेन नित्यत्वमिति वैशेष्यम्, जगतोऽपि तदीयसामर्थ्यजन्यत्वात्। त्वदीयवाक्ये 'सकाशात्, स्वतः' इति पदद्वयं तु निरर्थकमेव, वेदानामीश्वरादुत्पत्तौ सत्यां नित्यत्वमित्यनेनैव तत्समीहितसिद्धेः। वेदो नित्यः, ईश्वरसामर्थ्यस्य नित्यत्वादिति किं केन श्लिष्यते? नह्यन्यस्य नित्यत्वेनान्यस्य नित्यत्वमतिप्रसङ्गात्। न च कार्यकारणभावोऽतिप्रसङ्गवारकः, आकाशस्य नित्यत्वेऽपि तज्ज्ञानेच्छादीनामनित्यत्वाभ्युपगमात्। नित्यप्रकृतिकार्यस्य महदादेरनित्यत्वदर्शनाच्च। येषामुत्पत्तिरिष्यते तेषां नित्यत्वकथनं वदतो व्याघातः, उत्पत्तिमतोऽनित्यत्वध्रौव्यात्। मीमांसकास्तु नोत्पत्तिमङ्गीकुर्वन्ति। वेदानां तदुत्पत्तिबोधकमन्त्रार्थवादानामन्यशेषत्वेन स्वार्थे तात्पर्याभावात्। उत्तरमीमांसकास्तु सम्प्रदायप्रवर्तनरूपामेवोत्पत्तिमूरीकुर्वन्ति। सर्वस्याप्युच्चारणस्य स्वसजातीयानुपूर्वीसव्यपेक्षत्वेन नित्यत्वमेव वेदानामङ्गीकुर्वन्ति।

यदप्युक्तम्—'न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवत्। यथा घटः कृतोऽस्ति तथा शब्दोऽपि। तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वमङ्गीकार्यम्, मैवं मन्यताम्। शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्याः, येऽस्मदादीनां वर्तन्ते ते तु कार्याः। कुतः? यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः, तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति तद्विद्यामयत्वात्। वेदानामनित्यत्वं नैव घटते' (पृ० ३१) इति, तदपि प्रमत्तप्रलपितमेव, परमात्मज्ञानस्थानां शब्दार्थसम्बन्धानां

२—वेद की नित्यता का विचार

यह कहना कि—'वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही है, क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है' (पृ० ३१), ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर की सामर्थ्य के नित्य होने पर भी यदि वेद उसका कार्य है, तो वह नित्य नहीं हो सकता, ऐसा मानने पर तो सारे जगत् के ही ईश्वर का कार्य होने से नित्यता की आपत्ति होगी। यदि यह माना जाय कि वेद ईश्वर की सामर्थ्य से पैदा होते हैं, इसलिये नित्य हैं, तो यह बात तो सारे जगत् में भी लागू है। आपके वाक्य में 'सकाशात्' और 'स्वतः' ये दो पद निरर्थक हैं, क्योंकि वेदों की ईश्वर से उत्पत्ति होती है, अतः वे नित्य हैं, इतना कहने से ही अभीष्ट अर्थ निकल आता है। वेद नित्य है, क्योंकि ईश्वर की सामर्थ्य नित्य है, इससे वेद में क्या लगेगा? एक की नित्यता से दूसरा नित्य नहीं हो सकता, इससे तो अतिप्रसङ्ग दोष आवेगा, अर्थात् जो नित्य नहीं है, वह भी नित्य होने लगेगा। कार्यकारणभाव अतिप्रसंग का वारक नहीं होगा, क्योंकि आकाश के नित्य होने पर भी तत्सम्बद्ध ज्ञान, इच्छा आदि नित्य नहीं माने जाते। नित्य प्रकृति के कार्य महदादि अनित्य देखे जाते हैं। जिनकी उत्पत्ति मानी जाती है, उनको नित्य कहना ही गलत है। जो उत्पत्तिमान् है, वह निश्चय ही अनित्य होता है। मीमांसक वेद की उत्पत्ति नहीं मानते। वेदों की उत्पत्ति को बताने वाले मन्त्र, अर्थवाद वाक्य आदि का प्रयोजन कोई दूसरा ही है, उनका अपने स्वार्थ में तात्पर्य नहीं माना जाता। उत्तर मीमांसक (वेदान्ती) सम्प्रदाय की प्रवृत्ति को ही उत्पत्ति मानते हैं। ये लोग सभी उच्चारण अपने सजातीय पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेक्षा रखते हैं, अतः इस पद्धति से वेदों की नित्यता को ही मानते हैं।

आगे कहा गया है कि—'वेदों में शब्द, छन्द, पद और वाक्यों के योग होने से वे नित्य नहीं हो सकते। जैसे बिना बनाये घड़ा नहीं बनता, इसी प्रकार से शब्दरूप वेदों को भी किसी ने बनाया होगा, क्योंकि बनाने से पहले वे नहीं थे और प्रलय में भी नहीं रहेंगे, इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं। ऐसा आपको कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है—एक नित्य दूसरा कार्य। इनमें से जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में है, वे सब नित्य हैं और जो हम लोगों की कल्पना से पदा होते हैं, वे कार्य हैं। क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है, उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है। इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही है, क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती' (पृ० ३१)। यह भी

नित्यत्वे तदुत्पत्तिसाधनप्रयासस्य वैयर्थ्यापत्तेः। यद्येवं तर्हि वेदानामुत्पत्तिकालबोधकं पूर्वं प्रकरणं कथं न विरुद्धचेत ? किं शब्दमयत्वं हेतुः शब्दानित्यत्वसाधको नास्ति ? न चेदस्मदादिशब्दानामप्यनित्यत्वं न सिद्धचेत, अस्ति चेत्कुतो वैदिकशब्दानामपि तन्न स्यात् ? यद्युत्पन्नो गकार इति प्रत्यक्षप्रतीत्या नैयायिकरीत्या वर्णानामनित्यत्वमभिप्रेयते, तदा तद्घटितवेदानामप्यनित्यत्वं सिद्धचति। यदि तु मीमांसकरीत्या स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञया कण्ठताल्वाद्यभिघातजनितध्वनिविशिष्टानां नित्यत्वमेवास्थीयते, तदा त्वस्मदादिशब्दानामपि नित्यत्वमेवेति न शब्दद्वैविध्यप्रतिपादनं समञ्जसम्। किञ्च, अस्मदादीनां शब्दाः कार्या इत्युक्त्या किं वैदिकशब्दानामकार्यत्वमिष्यते ? तथैवेति चेत् तदुत्पत्तिवचनं निरर्थकमेव स्यात्। उत्पत्तिमदकार्यं चेति विप्रतिषिद्धम्।

यत्तु 'यदृच्छाशब्दानामनित्यत्वमभिप्रेतम्' इति, तदपि न किञ्चित्, तथात्वे तद्भिन्नानां रामायणमहाभारतादिशब्दानामस्मदादिप्रयुक्तशब्दानां च नित्यत्वमेव सिद्धचति। अस्यां च स्थितौ वेदानामेव नित्यत्वसाधनं विरुद्धमेव स्यात्।

किञ्च, परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धा नित्या इत्यप्यसङ्गतम्, गोतमादिरीत्या शब्दानामाकाशाश्रयत्वेन ज्ञानाश्रयत्वानभ्युपगमात्। ज्ञान-शब्दयोरुभयोरपि गुणत्वेन गुणे गुणानङ्गीकारात्। अर्थस्यापि न ज्ञानाश्रयत्वं सम्भवति, गुणस्य द्रव्याश्रयत्वासम्भवात्। सम्बन्धस्य तु सुतरां तदनुपपत्तिः, सम्बन्धस्य सम्बन्ध्याश्रयत्वप्रसिद्धेः।

भाट्टरीत्या शब्दस्य द्रव्यत्वेऽपि शब्देना काशस्यैव विष्टम्भकाख्यः संयोगो जतुकाष्ठवदभ्युपेयते। शब्दस्य द्रव्यत्वेऽपि न ज्ञानाश्रयत्वं सम्भवति, गुणस्य द्रव्यानाश्रयादेव। यदि तु विषयतासम्बन्धेन तत्स्थत्वमिष्यते, तदपि

पागल की बकवास है, क्योंकि परमात्मा के ज्ञान में स्थित शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के नित्य होने पर उसकी उत्पत्ति की सिद्धि के लिये जो प्रयास किया, वह सब व्यर्थ हो जायगा। इस तरह से वेदों की उत्पत्ति के काल को बताने वाले पहले प्रकरण से क्या इसका विरोध नहीं होगा ? वेद के लिये 'शब्दमयत्व' हेतु क्या उसकी अनित्यता को नहीं सिद्ध कर देगा ? यदि नहीं तो हमारे द्वारा उच्चरित शब्दों की भी अनित्यता नहीं सिद्ध होगी। यदि इसी हेतु से हमारे शब्दों की अनित्यता सिद्ध होती है, तो फिर वेद शब्दों की क्यों न होगी ? यदि गकार उत्पन्न हुआ इस प्रत्यक्ष प्रतीति के अनुसार नैयायिक की पद्धति से वर्णों की अनित्यता मानी जाती है, तो उन वर्णों से घटित वेदों की भी अनित्यता सिद्ध हो जायगी। यदि मीमांसक की रीति से यह वही गकार है, इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा कण्ठ, तालु आदि स्थानों में अभिघात (टकराव) से पैदा हुई ध्वनिमय शब्दों की नित्यता मानी जाती है, तो हम लोगों के द्वारा उच्चरित शब्दों की भी नित्यता माननी पड़ेगी, इस प्रकार दो प्रकार के शब्दों का वर्णन ठीक नहीं होगा। क्या हमारे शब्द कार्य हैं, इस उक्ति से आपको वैदिक शब्दों की नित्यता अभिप्रेत है ? उत्पत्ति भी हो और कार्य भी न हो, अर्थात् नित्य भी हो, ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं।

यहाँ पर 'यदृच्छा शब्दों की अनित्यता अभिप्रेत है' (पृ० ३१ टि०) यह कथन भी उचित नहीं, ऐसा मानने पर यदृच्छा शब्द से भिन्न रामायण, महाभारत आदि के शब्द तथा हमारे द्वारा प्रयुक्त शब्द नित्य सिद्ध हो जायेंगे। इस स्थिति में केवल वेदों में ही नित्यता को सिद्ध करना विरुद्ध पड़ेगा।

परमेश्वर के ज्ञान में स्थित शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध नित्य हैं, यह बात भी असङ्गत है, क्योंकि गोतम आदि के मत से शब्द आकाश का गुण है, वह ज्ञान में आश्रित नहीं माना जा सकता। ज्ञान और शब्द दोनों गुण हैं और एक गुण में दूसरा गुण नहीं रहता। अर्थ भी ज्ञान में आश्रित नहीं होगा, क्योंकि गुण द्रव्य का आश्रय नहीं होता। जब शब्द और अर्थ ज्ञान में नहीं रहेंगे, तो फिर सम्बन्ध तो सुतरां (निश्चय ही) अपने आप वहाँ नहीं रहेगा, क्योंकि एक सम्बन्ध दूसरे सम्बन्ध का आश्रय नहीं होता।

भाट्ट मीमांसकों के मत में शब्द के द्रव्य होने पर भी उसका आकाश के साथ विष्टम्भक नाम का संयोग उसी प्रकार का माना जाता है, जैसा कि लाह का लकड़ी के साथ होता है। शब्द को द्रव्य मानने पर भी वह ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि गुण द्रव्य का आश्रय नहीं होता। यदि विषयता सम्बन्ध से शब्द में ज्ञानाश्रयत्व माना जाता है, तो यह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि

न सम्यक्, विषयतासम्बन्धस्य वृत्तिताऽनियामकत्वात्। तथात्वे वा परमेश्वरज्ञानस्य सर्वविषयकत्वेन कार्यत्वेनाभिमतानामपि नित्यत्वापत्तिः। वैदिकशब्दानां नित्यत्वं लौकिकशब्दानां च कार्यत्वमुक्तम्, कार्यत्वे न कश्चिदपि हेतुरुक्तः।

यदपि वेदानां नित्यत्वसाधनाय ज्ञानक्रिये इत्यादि ग्रन्थेन हेतुरुपक्षिप्तः, तत्र नित्य इत्यनेनैव समीहितसिद्धचा स्वभावसिद्धे अनादी इति नैरर्थक्यम्। 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते····स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च॥' (श्वे० उ० ६।८) इति श्रुत्या परमेश्वरस्य ज्ञानक्रिययोर्नित्यत्वेन शक्तित्वादेव सामर्थ्यवोध्यास्विच्छादिशक्तिष्वपि नित्यत्वं सिद्धचति। परं न शक्तिजनितेषु वेदेषु नित्यत्वं सिद्धचति, तच्छक्तिजनितप्रपञ्चेष्वपि तदापातात्। यदपि च विद्यामयत्वेन हेतुना वेदस्य नित्यत्वं सिषाधयिषितम्, तदपि निरर्थकम्, क्वचिद् व्याप्यत्वेन गृहीतस्यैव हेतोः साध्यसाधनक्षमत्वेन प्रकृते चेश्वरीयविद्यामयत्वेन कस्यचिन्नित्यत्वासम्प्रतिपत्त्या तदसिद्धेः। तथा च यथा 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्' इत्यसाधारणो हेतुस्तथैव वेदा नित्या ईश्वरीयवेदत्वाद् इति हेतोरसाधारण्याद् असाधकत्वमेव।

यदपि च—'किञ्च, भोः सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्याभावे पठनपाठनपुस्तकाभावात् कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते? अत्रोच्यते, इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थेषु घटते, तथास्मत्क्रियापक्षे घटते नेतरस्मिन्। अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे। किञ्च, न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते, तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात्। यथास्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्ति, तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च। कुतः? ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च। अत एवोक्त-

विषयता सम्बन्ध वृत्तिता का नियामक होता है। विषयता सम्बन्ध से शब्द को ज्ञानाश्रयता मानने पर परमेश्वर ज्ञान के सर्वविषयक होने से अनित्य पदार्थों की भी नित्यता माननी पड़ जायगी। वैदिक शब्दों को नित्य और लौकिक शब्दों को कार्य माना है, किन्तु इसमें कोई हेतु नहीं दिया गया।

वेदों की नित्यता की सिद्धि के लिये यह जो 'ज्ञानक्रिये' इत्यादि ग्रन्थ से हेतु दिया गया है, वहाँ 'नित्यः' इतना कहने से ही अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है, तब 'स्वभावसिद्धे' और 'अनादी' ये दोनों विशेषण निरर्थक हैं। 'उसका कोई कार्य और करण नहीं है····उसका ज्ञान, बल और क्रिया भी स्वाभाविक हैं' इस श्वेताश्वतर श्रुति के अनुसार परमेश्वर के ज्ञान और क्रिया के नित्य होने से बल, शक्ति अर्थात् सामर्थ्य शब्द से ज्ञात होने वाली इच्छा आदि शक्तियों की भी नित्यता सिद्ध होती है। किन्तु शक्ति से जनित वेदों में नित्यता नहीं बन सकती, ऐसा मानने पर उसकी शक्तियों से ही पैदा हुए इस सारे प्रपञ्च में भी नित्यता माननी पड़ेगी। इसी प्रकार विद्यामयत्व हेतु से वेद की नित्यता को सिद्ध करने की इच्छा भी निरर्थक है, क्योंकि कहीं पर व्याप्य रूप से गृहीत हेतु की ही साध्य को सिद्ध करने में क्षमता होती है। प्रकृत स्थल में ईश्वर की विद्यामयता से किसी नित्य पदार्थ की अधिगति नहीं होती, अतः वह साध्य को सिद्ध करने में अक्षम है। इस तरह जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि वह सुना जाता है, यह हेतु जैसे असाधारण है, उसी तरह वेद नित्य हैं, क्योंकि वह ईश्वर की विद्या से युक्त है, यह हेतु भी असाधारण होने से साध्य की सिद्धि में सहायक नहीं हो सकता।

आगे कहा गया है कि—'जब सब जगत् के परमाणु अलग अलग हो के कारण रूप हो जाते हैं, तब तो कार्यरूप सब स्थूल जगत् का अभाव हो जाता है। उस समय वेदों की पुस्तकों का और पठन-पाठन का भी अभाव हो जाता है, फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो? हमारा कहना है कि यह बात तो पुस्तक, पत्र, स्याही और अक्षरों की बनावट आदि के पक्ष में घटती है, तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है, वेद पक्ष में नहीं घटती, क्योंकि वेद तो शब्द, अर्थ और संबन्ध स्वरूप ही है और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम नित्य मानते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि पठन-पाठन और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्तमान रहते हैं। जैसे इस सृष्टि में शब्द, अर्थ और उनका संबन्ध विद्यमान है, उसी तरह का पहले भी था और आगे भी होगा। क्योंकि ईश्वर की विद्या नित्य है और उससे वह कभी अलग नहीं होती। इसी

मृग्वेदे—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति । अस्यायमर्थः—सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थम् । यथा पूर्वकल्पे चन्द्रादित्यरचनं तस्य ज्ञानमध्य आसीत्, तथैव तेनास्मिन् कल्पेऽपि कृतमस्तीति विज्ञायते । कुतः ? ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यम् । वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात्' (पृ० ३२) इति ।

तदप्यकिञ्चित्करम्, पूर्वोत्तरपक्षयोरुभयोरप्यनुपपन्नत्वात् । तथाहि—विभागं प्राप्तस्य जगतोऽभावेऽपि वेदस्यानित्यत्वसिद्धिरूपपूर्वपक्षानुपपत्तिः, अन्यस्याभावेऽन्यस्यानित्यत्वानुपपत्तेः । उत्तरपक्षोऽपि निःसार एव, वेदानां सर्वदा विद्यमानत्वे तदुत्पत्तिप्रतिपादनवैयर्थ्यात् । तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वादिति स्ववचनविरोधाच्च । यदि तु प्रलये स्थूलरूपेणावर्तमानानामपि वेदानां सूक्ष्मरूपेण विद्यमानत्वान्नित्यत्वमित्युच्येत, तदा तु सत्कार्यवादरीत्या सर्वस्यैव जगतः सूक्ष्मरूपेण विद्यमानत्वान्नित्यत्वेन वेदनित्यत्वे वैशेष्यानुपपत्तिः । 'अस्मत्क्रियापक्षे' इत्यत्र क्रियापदेनोत्क्षेपणापक्षेपणादिकं विवक्ष्यते, प्रयत्नापरपर्याया कृतिर्वा ? नेतरस्मिन्नित्यनेनाप्यत्यत्क्रियाभिन्नपरमेश्वरीयक्रियापक्ष इत्यर्थो युक्तः, तथा चेश्वरस्य कृता उत्क्षेपणादौ प्रयत्ने वाऽनित्यत्वाभावः साध्यः । स च न सिद्धयति, निष्प्रमाणत्वात् । 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इत्यत्र त्वीश्वरस्य कस्याश्चन स्वाभाविक्याः क्रियाया एव नित्यत्वसिद्धिः, न क्रियामात्रस्य, स्वाभाविकीति विशेषणवैयर्थ्यापातात् । कथञ्चिदीश्वरक्रियामात्रस्य नित्यत्वेऽपि न वेदानां नित्यत्वसिद्धिः, क्रियामात्रजन्यस्यानित्यत्वध्रौव्यात् । परमेश्वरीयक्रियाजन्यस्य नित्यत्वनियमे सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य तत्क्रियाजन्यत्वेन नित्यत्वापातात् । तथा च प्रमाणान्तरेण साध्याभावनिश्चयाद् बाध एव ज्ञेयः । तेन 'परमेश्वरस्य विद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं मन्यामहे' इति निर्मूलमेव । किञ्च, वादिप्रतिवाद्युभयसम्मतस्यैव हेतोः साध्यसाधकत्वं नान्यतरासिद्धस्य । वेदस्येश्वरविद्यामयत्वं तु नोभयसम्मतम्, ततः स्वरूपासिद्धिदूषणग्रस्तमप्यनुमानम् ।

लिये ऋग्वेद में कहा है कि 'परमेश्वर ने सूर्य-चन्द्र को पूर्व कल्प के समान ही बनाया ।' यहाँ सूर्य और चन्द्र का ग्रहण उपलक्षणार्थ है । इसलिये जैसे पूर्व कल्प की चन्द्र-सूर्य आदि की सृष्टि उसके ज्ञान में थी, तदनुसार ही रचना उसने इस कल्प में भी की । यही बात वेदों के शब्द, अर्थ और संबन्ध के विषय में भी जाननी चाहिये । क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उसकी वृद्धि, क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती । इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये' (पृ० ३२-३३) ।

यह कथन भी कुछ सिद्ध नहीं कर पाता, क्योंकि यहाँ पर दिये गये पूर्व और उत्तर पक्ष दोनों नहीं बनते । जैसे कि पूर्वपक्ष इस तरह से नहीं बनेगा कि प्रलयावस्था में परमाणुओं के विभक्त हो जाने पर जगत् का अभाव भले ही हो जाय, उससे वेद की अनित्यता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि सृष्टि के न रहने से वेद भी नहीं रहेंगे, यह तो कोई बात नहीं हुई । उत्तर पक्ष भी निःसार है । वेद यदि सर्वदा विद्यमान हैं तो फिर उनकी उत्पत्ति का प्रतिपादन व्यर्थ होगा । परमेश्वर ने ही अपनी विद्या से उसको रचा है, अपनी पहले कही गई बात से इस बात का विरोध भी होगा । यदि प्रलय में स्थूल रूप से विद्यमान न होते हुए भी सूक्ष्म रूप से वेद विद्यमान रहते हैं, अतः नित्य हैं, यह आपका कहना है तो क्या सत्कार्यवाद की पद्धति से सारा ही जगत् सूक्ष्म रूप से विद्यमान होने से नित्य माना जायगा ? तब तो वेद की नित्यता भी इसी प्रकार की होगी, उसमें कोई विशेषता नहीं रहेगी । 'अस्मत्क्रियापक्षे' यहाँ पर क्रिया पद से उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि क्रियाएँ अभिप्रेत हैं या प्रयत्न जिसका दूसरा नाम है, ऐसी कृति ? 'नेतरस्मिन्' यहाँ पर भी हमारी क्रिया से भिन्न परमेश्वर की क्रिया के पक्ष में, यही अर्थ उचित है । इस तरह ईश्वर की कृति उत्क्षेपणादि में अथवा प्रयत्न में अनित्यत्व का अभाव सिद्ध करना है । बिना प्रमाण के वह सिद्ध नहीं हो सकता । 'स्वाभाविकी ज्ञान०' इत्यादि श्रुति में ईश्वर की किसी स्वाभाविक क्रिया को ही नित्य माना गया है, क्रियामात्र को नहीं, अन्यथा 'स्वाभाविकी' यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा । किसी तरह ईश्वर की क्रियामात्र की नित्यता मान भी ली जाय, तो भी वेदों की नित्यता नहीं बनेगी, क्योंकि क्रियामात्र से जो होता है, वह निश्चित ही अनित्य होता है । परमेश्वर की क्रिया से उत्पन्न वस्तु को नित्य मानने पर इस सारे प्रपंच की भी, उसी की क्रिया से उत्पन्न होने के कारण, नित्यता माननी पड़ जायगी । इस प्रकार प्रमाणान्तर से साध्याभाव का निश्चय होने से यहाँ पर बाध समझना चाहिये । इस प्रकार 'ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं' यह कथन निराधार है । एक बात यह

'वेदानामीश्वरविद्यामयत्वम्' इत्यत्र विद्या शब्दरूपा ज्ञानरूपा वा? मयट्प्रत्ययश्च प्राचुर्यार्थकः स्वार्थार्थो विकारार्थको वा? शब्दार्थकाद्विद्याशब्दात् प्राचुर्यार्थके मयटि ईश्वरीयशब्दबाहुल्यविशिष्टो वेद इत्येव तदर्थः स्यात्, तथात्वे ईश्वरीयशब्दातिरिक्तशब्दवैशिष्ट्यमपि वेदे सिद्ध्यति, अन्नप्रचुरो याग इत्युक्तौ यागेऽन्नातिरिक्तघृतादिविशिष्टत्ववत्। तथा चायं सिद्धान्त एव। किञ्च, वैदिकशब्देषु कथमीश्वरीयत्वम्? उच्चारयितृत्वेन निरपेक्षानुपूर्वीनिर्मातृत्वेन वा? नाद्यः, निरवयवस्य कण्ठताल्वाद्यभावेनोच्चारयितृत्वासम्भवात्। नाप्यन्त्यः, पूर्वकल्पीयानुपूर्वीनिरपेक्षानुपूर्वीनिर्मातृत्वे तन्नित्यत्वासिद्धेः, प्रतिकल्पं वेदभेदापत्तेश्च।

यथाकथञ्चित् सर्वशक्तिमत्त्वादिना हेत्वाभासेनोच्चारणे साधितेऽपि नेष्टसिद्धिः, उच्चारणक्रियाजन्यत्वेन वेदानित्यत्वस्य दुर्वारत्वात्। स्वार्थिके मयटघप्यनित्यत्वादयो दोषा अपरिहार्या एव। विकारार्थोऽपि मयट्प्रत्ययो नोपपद्यते, नित्येषु शब्देषु विकारासम्भवात्, महाभाष्यविरोधाच्च। ईश्वरीयज्ञानरूपाया विद्याया अपि प्राचुर्यार्थे मयट्प्रत्ययो नोपपद्यते, परमेश्वरस्य स्वरूपज्ञानेनानन्त्वानुपपत्तेः। स्वरूपातिरिक्तज्ञानस्यापि न नानात्वम्, एकेनैव नित्यज्ञानेन सर्वविषयभानसिद्धौ नानात्वकल्पनाया निर्मूलत्वात्, गौरवग्रस्तत्वाच्च। ईश्वरज्ञानरूपस्य वेदस्य परमेश्वर एव समवेतत्वेनान्यत्र संक्रमासम्भवात्, ब्रह्माग्न्यादिषु वेदप्रदानोक्तिविरोधापाताच्च। अधुनोपलब्धशब्दराशिरूपाणामृगादिवेदानामवेदत्वापत्तेश्च। नह्येषामपि ज्ञानरूपत्वमेव, अप्रत्यक्षत्वापातात्। नहि ज्ञानं श्रोत्रगम्यं शब्दभिन्नत्वात्। नापि मनोजन्यमन्यज्ञानस्यान्यमनोऽगोचरत्वात्। न वा तत्र स्वार्थेऽपि मयट्प्रत्ययः, पूर्वोक्तदोषानुसङ्गात्। न च विकारेऽपि प्रत्ययो युक्तः, परमेश्वरज्ञाने विकारविरहात्। वेदप्रामाण्याद्वेदानां नित्यत्वसाधनं तु

भी है कि वादी और प्रतिवादी दोनों के द्वारा स्वीकृत हेतु से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है, एक के द्वारा स्वीकृत से नहीं। वेद की ईश्वरविद्यामयता उभयसंमत नहीं है, अतः इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि दूषण भी है।

'वेदानामीश्वरविद्यामयत्वम्' यहाँ पर विद्या शब्दरूप है या ज्ञानरूप? मयट् प्रत्यय प्राचुर्य अर्थ में होता है, यहाँ पर प्राचुर्य का अर्थ स्वार्थ ही है या विकार? शब्दार्थक विद्या शब्द से प्राचुर्यार्थक मयट् प्रत्यय के होने पर 'ईश्वरीय शब्द बाहुल्य से विशिष्ट वेद' यह अर्थ होगा। ऐसा मानने पर ईश्वरीय शब्द से अतिरिक्त शब्दों का वैशिष्ट्य भी वेद में सिद्ध होता है, जैसा कि 'प्रचुर अन्न वाला याग है' ऐसा कहने पर याग में अन्न के अतिरिक्त घृत आदि का वैशिष्ट्य भी प्रतीत होता है। आप यह बताइये कि वैदिक शब्दों की ईश्वरीयता कैसे है? वह इनका उच्चारण करता है या निर्माण? पहला पक्ष नहीं बनेगा, क्योंकि ईश्वर निरवयव है, उसके कण्ठ, तालु आदि के न रहने से वह उच्चारण नहीं कर सकता। दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि पूर्व कल्प की आनुपूर्वी से निरपेक्ष नई आनुपूर्वी के बनाने में वेद की नित्यता नहीं सिद्ध होगी और प्रत्येक कल्प का वेद भिन्न मानना पड़ेगा।

जिस किसी तरह सर्वशक्तिमत्त्व आदि हेत्वाभासों से उच्चारण सिद्ध भी कर दिया जाय तो भी आपकी इष्ट सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि उच्चारण रूप क्रिया से उत्पन्न होने के कारण वेद की अनित्यता किसी प्रकार हटाई नहीं जा सकती। स्वार्थ में मयट् करने पर भी अनित्यता आदि दोषों का परिहार नहीं हो सकता। विकार अर्थ में यहाँ पर मयट् प्रत्यय हो नहीं सकता, क्योंकि नित्य शब्दों में कोई विकार नहीं होता। फिर इस बात का महाभाष्य की उक्ति से विरोध भी होगा। ईश्वरीय ज्ञान रूप विद्या के प्राचुर्य में मयट् प्रत्यय नहीं होगा, क्योंकि परमेश्वर के स्वरूप ज्ञान में अनन्तता नहीं हो सकती। स्वरूपातिरिक्त ज्ञान भी अनन्त नहीं होंगे, क्योंकि ईश्वर के एक नित्य ज्ञान से ही सर्व विषयक ज्ञान हो जाने से नाना ज्ञान की कल्पना निरर्थक होगी और गौरव भी होगा। ईश्वर का ज्ञानरूप वेद परमेश्वर में ही समवाय संबन्ध से रहेगा, उसका अन्यत्र संक्रमण संभव नहीं। अतः ब्रह्मा, अग्नि आदि को वेद का उपदेश देने वाली उक्ति से भी विरोध होगा। इस प्रकार आज कल उपलब्ध शब्दराशि रूप ऋग्वेद आदि की अवेदता सिद्ध हो जायगी, क्योंकि ये ज्ञानरूप तो हैं नहीं। यदि इनको ज्ञानरूप माना जाय तो इनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकेगा। ज्ञान कान से नहीं सुना जा सकता, क्योंकि वह शब्द से भिन्न होता है। मन से भी इसका प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि दूसरे के ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष संभव नहीं। यहाँ पर स्वार्थ में भी मयट् प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि पहले कहे गये सभी दोष यहाँ पर भी लागू हो जायँगे। विकार में भी प्रत्यय नहीं होगा, क्योंकि

न मनोज्ञम्, वेदप्रामाण्यस्याद्यापि साधयिष्यमाणत्वात्। यथा पटुरपि नटवटुर्न स्वस्कन्धमारोढुं पारयति तथैव। न च कश्चिद् ग्रन्थः स्वेनैव स्वस्य प्रामाण्यं साधयितुं प्रभवेत्, तथात्वे मोहम्मदादिग्रन्थानामपि तथात्वापातात्। न च सूर्यस्येव स्वपरप्रकाशकत्वं वेदानामिति वक्तुं युक्तम्, तथात्वे तत्प्रामाण्ये नास्तिकानां विप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः। पूर्वोत्तरमीमांसकैर्यथा वेदानां नित्यत्वं प्रामाण्यस्वतस्त्वं साधितं तथोक्तं वक्ष्यते च।

'पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वेन वेदानामनित्यत्वं न केनाप्यभ्युपगम्यते' इति पूर्वपक्षो निरर्थक एव। यत्तु—ईश्वरज्ञाने तेषां विद्यमानत्वादित्युक्तम्, तत्तु मन्दम्, तदनिरुक्तेः। तथाहि—ईश्वरज्ञानस्य वेदैः कीदृशः सम्बन्धः? यदि विषयतासम्बन्धश्चेत्तर्हि न स नित्यत्वोपोद्बलतया सम्बन्धुं शक्नुयात्, सर्वज्ञस्य तस्य सतस्तज्ज्ञानेन सर्वस्यैव वस्तुनः सम्बन्धात्, विषयतासम्बन्धस्य नित्यत्वाप्रयोजकत्वात्। किं पूर्वं वेदानां विद्यामयत्वं प्रतिज्ञायेदानीं तद्विहाय ईश्वरज्ञानेन सह विद्यमानत्वं प्रतिपाद्यत इति कथङ्कारं पौर्वापर्यसङ्गतिः? एवमेव पूर्वं शब्दार्थसम्बन्धा एव नित्यत्वेनोक्ताः, साम्प्रतं त्वक्षरमपि नित्यमुच्यत इति कोऽभिप्रायः? किञ्च, शब्दस्याक्षरघटितत्वात् तस्य पूर्ववर्तित्वेऽपि शब्दाक्षरार्थसम्बन्धाः सन्तीति किमर्थमुक्तम्? वस्तुतस्तु 'वर्णा एव तु शब्दः' इत्याप्तोक्तरीत्या वर्णात्मका एव शब्दा इति तेषां पृथग् व्यपदेश औपचारिक एव। ईश्वरविद्याया नित्यत्वेऽपि वेदस्य कुतो नित्यत्वम्? तदभिन्नत्वाच्चेत् कथमेकत्रैव साध्यसाधनभावः? भिन्नत्वे वा कथमन्यनित्यत्वेनान्यनित्यत्वम्। किञ्चेश्वरविद्यारूपा

परमेश्वर के ज्ञान में कोई विकार नहीं हो सकता। वेद के प्रमाण से वेदों की नित्यता सिद्ध करना ठीक नहीं होगा, क्योंकि वेद का प्रामाण्य तो हमको अभी सिद्ध करना बाकी है। जैसे नट अत्यन्त कुशल होते हुए भी स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता, उसी तरह यहाँ समझना चाहिये। कोई ग्रन्थ स्वयं अपनी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं कर सकता, ऐसा मानने पर मुसलमान आदि के ग्रन्थों का भी उन्हीं के प्रमाण पर प्रामाण्य मानना पड़ेगा। सूर्य जैसे स्वयं प्रकाशित होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है, उसी तरह की प्रामाण्य की प्रकाशता वेद में नहीं मानी जा सकती, यदि ऐसा होता तो नास्तिकों को भी इसमें विवाद न होता। मीमांसकों और वेदान्तियों ने वेदों की जिस प्रकार की नित्यता और स्वतःप्रमाणता मानी है, उसका विस्तार से निरूपण किया जा चुका है और आगे भी प्रतिपादन किया जायगा।

'पठन-पाठन की पुस्तकें अनित्य होने से वेदों की अनित्यता को कोई स्वीकार नहीं करता' यह पूर्वपक्ष निरर्थक ही है। 'ईश्वर के ज्ञान में उनके विद्यमान होने से' यह कहना भी बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि अपने कथन का वे उपपादन नहीं कर सकते। पूर्वपक्षी से हम पूछते हैं कि ईश्वर ज्ञान का वेदों के साथ कैसा सम्बन्ध है? यदि ईश्वर ज्ञान का वेदों के साथ 'विषयता सम्बन्ध' कहें तो वह ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'विषयता सम्बन्ध' नित्यत्व का समर्थन करता हुआ उन दोनों को सम्बद्ध नहीं कर सकेगा। इसमें कारण यह है कि ईश्वर तो सर्वज्ञ है, तब उसके ज्ञान से सभी वस्तुओं का सम्बन्ध रहने से सभी को नित्य मानना होगा। अतः विषयता सम्बन्ध से नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् विषयता सम्बन्ध नित्यत्व का प्रयोजक नहीं है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी ने पहिले तो यह प्रतिज्ञा की कि 'वेद विद्यामय' हैं, और अब उस प्रतिज्ञा को भूलकर 'ईश्वरज्ञान के साथ वेदों के सम्बन्ध' को बताने लगे। पहिले कुछ कह गये बाद में कहीं बह गये, इस प्रकार पूर्वपक्षी का सब असंगत प्रलाप सिद्ध हो रहा है। विचारशील बुद्धिमान् व्यक्ति के कथन में पौर्वापर्य सङ्गति हुआ करती है। यहाँ उसका बिलकुल ही अभाव है। उसी प्रकार दूसरी असङ्गति देखिये—पहिले शब्दार्थ सम्बन्धों को ही नित्य बताया और बाद में अक्षर को भी नित्य कहने लगे। इस असंगत कथन से पूर्वपक्षी का कोई अभिप्राय ही व्यक्त नहीं हो रहा है। उसी प्रकार तीसरी असङ्गति—अक्षरों से शब्द निष्पन्न होते हैं, अतः अक्षरों का शब्द के पहिले रहना (पूर्ववर्तित्व) निश्चित ही है, तब 'शब्द, अक्षर, अर्थ के सम्बन्ध होते हैं' इस कथन को आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई? वास्तविकता तो यह है कि 'वर्ण ही शब्द हैं' ऐसा आप्तों ने बताया है। शब्दों के वर्णात्मक (वर्णरूप) होने से, दोनों का पृथक्-पृथक् व्यवहार करना औपचारिक समझना चाहिये। ईश्वर की विद्या नित्य रहने पर भी उससे वेद की नित्यता कैसे हो सकेगी? 'ईश्वर की विद्या और वेद दोनों का अभेद रहने से' ऐसा यदि कहें तो बताइये कि एक ही पदार्थ साध्य एवं साधन दोनों बने, यह कैसे हो सकता है। साध्यसाधनभाव तो

एव वेदा इत्यत्र प्रमाणमप्यपेक्षितम्, निष्प्रमाणस्य सत्त्वासम्भवात्। तस्माच्छब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वादितिवदाभास-समानयोगक्षेमत्वमेव विद्या-नित्यत्वहेतोः। एवमीश्वरविद्याया अव्यभिचारित्वहेतोरपि न वेदानां नित्यत्वसाधकत्वम्, पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता' इत्यस्यार्थवर्णनप्रसङ्गे यत् सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणमित्युक्तम्, तत्र कस्योपलक्षणमिति वक्तव्यमासीत्, तन्नोक्तमिति न्यूनतैव।

यच्च 'यथा पूर्वकल्पे चन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्, तथैव तेन ह्यस्मिन् कल्पेऽपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते। कुतः? ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात्। एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यम्, वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात्' (पृ० ३२) इति, तदपि निःसारम्, उक्तोत्तरत्वात्। ईश्वरज्ञाने को मध्यः कोऽन्त इति निरूपयितुमशक्यत्वात्। किञ्च, ज्ञानमध्ये सूर्यचन्द्रादिरचनं कृतमित्यत्रादिपदेन वियदनिलानलजलोर्वीघटादिकमपि गृह्यते न वा? न चेत्तेषामीश्वरज्ञानस्यादावन्तेऽन्यत्र वा रचना जातेत्यपि वक्तव्यमासीत्। तेषामपि तज्ज्ञानमध्य एव रचनया नित्यत्वमापतितं स्यात्। वियदादयः किं नेश्वरविद्यया सृष्टाः? न चेत् कथं तेषां सृष्टिः? तत एव चेत् कुतो न तेषामपि नित्यत्वम्?

रचनं तु क्रिया। क्रियाश्रयस्तु कर्मैव न कर्ता, तस्य क्रियाजनकव्यापाराश्रयत्वात्। 'ईश्वरज्ञानस्य वृद्धि-क्षय-विपर्ययाभावात्' इत्यपि न समीचीनम्, वृद्धिक्षयाद्यभावाद् इत्येवं वक्तव्यं स्यात्। तथात्वे जन्यभावानाश्रितानां जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीति षडविकाराणां निषेधोपपत्तेश्च। वृद्धिक्षययोर्विपर्ययः, वृद्धिक्षयरूपो

दो भिन्न पदार्थों में हुआ करता है, एक में नहीं। यदि ईश्वर की विद्या से वेद को भिन्न कहें तो एक के नित्य होने से दूसरे की नित्यता कैसे हो सकेगी? दूसरी बात यह भी है कि वेदों के ईश्वर के विद्यास्वरूप होने में प्रमाण देना होगा। बिना प्रमाण के कोई बात मानी नहीं जाती। अतः वेद की नित्यता में 'ईश्वरविद्यानित्यत्व' हेतु को उपस्थित करना वैसा ही होगा, जैसा कि शब्द की अनित्यता में 'चाक्षुषत्व' हेतु। अर्थात् 'चाक्षुषत्व' हेतु आश्रयासिद्ध होने से जैसे असद्धेतु है, उससे शब्द में अनित्यता सिद्ध नहीं की जा सकती, उसी तरह 'विद्यानित्यत्व' हेतु भी असद्धेतु ही है, उससे वेद की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकेगी। उसी प्रकार ईश्वरविद्यारूपी अव्यभिचरित हेतु से भी वेदों की नित्यता यदि सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाय, तो पूर्वोक्त दोष वहाँ उपस्थित हुए बिना नहीं रह सकते। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा' इसका अर्थ वर्णन करते हुए जो कहा है कि सूर्यचन्द्र का ग्रहण उपलक्षण है, वह किसका उपलक्षण है, यह बतलाना होगा। किन्तु उसे नहीं बता सके, यह न्यूनता ही कही जायेगी।

जो यह कहना है कि 'यथा पूर्वमकल्पयत् चन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्' अर्थात् पूर्वकल्प में चन्द्र आदि की रचना उसके (ईश्वर के) ज्ञान में थी, उसी प्रकार इस कल्प में भी उसने रचना की है, ऐसा समझा जा सकता है, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में कभी भी वृद्धि, क्षय तथा विपर्यय नहीं हुआ करता। अतः वेदों के विषय में भी उसी प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिये, क्योंकि उसी ने अपनी विद्या से वेदों की सृष्टि की है।' किन्तु यह कथन भी सारहीन है। क्योंकि इसका उत्तर पूर्व दिया जा चुका है। ईश्वर के ज्ञान में कौन मध्य है और कौन अन्त है, इसका निरूपण करना सम्भव नहीं। दूसरी बात यह है कि 'अपने ज्ञान के मध्य में सूर्य, चन्द्र आदि की रचना उसने की' इस वाक्य में 'आदि' पद से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा घटादिक भी ग्रहण किये जाते हैं या नहीं? यदि नहीं होते हैं, तो उनकी रचना ईश्वर ज्ञान के पहिले या अन्त में अथवा अन्यत्र कहाँ हुई है, यह भी बताना चाहिये था। उसके ज्ञान के मध्य में ही उन पदार्थों की रचना मानने पर उन पदार्थों को नित्य कहना पड़ेगा। इस पर यदि कहा जाय कि आकाशादि पदार्थ ईश्वर की विद्या के द्वारा सृष्ट नहीं हुए हैं, तो उनकी सृष्टि कैसे हुई, यह बताना पड़ेगा। यदि उसी से (ईश्वर से) हुई तो उन पदार्थों की नित्यता क्यों न मानी जाय?

रचना तो क्रियारूप है। क्रियाश्रय कर्म ही होता है, कर्ता नहीं, क्योंकि वह तो क्रियाजनक व्यापार का आश्रय हुआ करता है। 'ईश्वर के नाम में वृद्धि-क्षय तथा विपर्यय भी नहीं हुआ करते' यह कहना भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि 'वृद्धिक्षयाद्यभावात्' वृद्धि, क्षय आदि के न होने से इतना कहना ही पर्याप्त है। इस प्रकार कहने पर ही जन्यभाव से रहित पदार्थों में जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति इन छह भावविकारों का निषेध उपपन्न हो सकता है। 'वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात्' यहाँ पर वृद्धि, क्षय,

वा विपर्ययः। विपर्ययश्च कः ? भ्रमरूपो वाऽभावरूपो वा ? तत्र न परमेश्वरीयज्ञाने वृद्धिक्षययोर्भ्रमः प्रसक्तः, वृद्ध्यादीनां जन्यभावविकारत्वात्। ईश्वरज्ञानस्य त्वजन्यत्वेन तत्र तदप्रसक्तेः। नाप्यभावार्थको विपर्ययशब्दः, तथात्वे वृद्धिक्षयाभावाभावत्वोक्त्येश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयप्रसक्तेः। नापि वृद्धिक्षयरूपो विपर्ययः, वृद्धिक्षययोर्भ्रमरूपत्वस्याभावरूपत्वस्य चाप्रसिद्धेः। ईश्वरज्ञानं यथा वृद्धिक्षयादिशून्यत्वान्नित्यम्, तथैव तद्विद्यासृष्टत्वाद्वेदा अपि नित्या इति जल्पनं तु 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' इति वाक्यमेवानुहरति, तादृग्व्याप्तिग्रहासिद्धेः। नहि यन्नित्योपादानकं तन्नित्यमिति व्याप्तिः, त्वद्रीत्या नित्यप्रकृत्युपादानस्यापि जगतो नित्यत्वाभावात्। वेदान्तिरीत्या नित्यपरमेश्वरोपादानकस्य जगतोऽनित्यत्वाभ्युपगमात्। नापि यन्नित्यनिमित्तकं तन्नित्यमिति व्याप्तिः, त्वद्रीत्या नित्येश्वरनिमित्तकस्यापि जगतो नित्यत्वाभावात्। अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते। वस्तुतस्त्वत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणादिशास्त्राणां साक्षितया प्रमाणानि दीयन्ते इत्येव वक्तव्यमासीत्। ष्यञ्प्रत्यये तु साक्ष्यार्थमिति वक्तव्यं न साक्ष्यर्थमिति। तथा च वेदानां नित्यत्वे साक्ष्यार्थं व्याकरणादिशास्त्राणि प्रमाणमिति वक्तव्यम्।

यदपि च—'नित्याः शब्दाः, नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति। इदं वचनं प्रथमाह्निकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येऽस्ति। तथा 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः' इदम् 'अ इ उ ण्' इति सूत्रभाष्ये चोक्तमिति। अस्यायमर्थः—वैदिका लौकिकाः सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति। कुतः ? शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्ति, अतः। अपायो लोपो निवृत्तिरग्रहणम्, उपजन आगमो विकार आदेश एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः

विपर्यय कहने का क्या तात्पर्य है, क्या वृद्धि और क्षय दोनों का विपर्यय अथवा वृद्धिक्षय रूप विपर्यय ? इतने से ही प्रश्न की समाप्ति नहीं हो जाती। उसके अतिरिक्त अन्य प्रश्न भी हो सकते हैं। विपर्यय का स्वरूप क्या है, क्या वह भ्रमरूप है या अभावरूप ? परमेश्वर के ज्ञान में वृद्धि और क्षय का भ्रम कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वृद्धि आदि तो जन्यभाव पदार्थ के विकार हुआ करते हैं। ईश्वर का ज्ञान तो अजन्य होने से उसमें उन विकारों की प्रसक्ति हो नहीं हो सकती। विपर्यय का अर्थ अभाव भी नहीं कर सकते। अन्यथा वृद्धिक्षय को भावाभावरूप कहने से ईश्वर के ज्ञान में भी वृद्धि और क्षय प्रसक्त होने लगेंगे। वृद्धिक्षयरूप विपर्यय इस दूसरे पक्ष को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वृद्धि और क्षय में भ्रमरूपता और अभावरूपता कहीं प्रसिद्ध नहीं है। यह जो कहना है कि वृद्धि-क्षयादि से शून्य होने के कारण ईश्वर का ज्ञान जैसे नित्य माना जाता है, उसी प्रकार उसकी विद्या से उत्पन्न होने के कारण वेदों को भी नित्य कहा जा सकता है, किन्तु यह कथन तो 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' वाली उक्ति के तुल्य ही है। उपादान कारण के नित्य होने से उसका कार्य भी नित्य हो—ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है। आपकी ही रीति के अनुसार नित्य प्रकृति के जगत् का उपादान कारण रहने पर भी जगत् को नित्य नहीं माना जाता। वेदान्तियों की दृष्टि से जगत् का उपादान कारण नित्य परमेश्वर के रहने पर भी जगत् की अनित्यता ही स्वीकार की गई है। जिसका निमित्त नित्य हो उसका कार्य भी नित्य रहे, ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है। आपकी रीति के अनुसार नित्येश्वर को निमित्त मानकर उससे उत्पन्न हुए जगत् की नित्यता नहीं हो पा रही है। वेदों की नित्यता के विषय में साक्षी के रूप में व्याकरणादि शास्त्रों के प्रमाण लिखे गये हैं। ऐसा न कहकर वस्तुतः वेदों की नित्यता के विषय में व्याकरणादि शास्त्रों के प्रमाण दिये जा रहे हैं, इतना ही कहना चाहिये था। ष्यञ् प्रत्यय करने पर तो 'साक्ष्यार्थ' ऐसा कहना चाहिये, न कि 'साक्ष्यर्थम्'। तब वेदों की नित्यता के विषय में साक्ष्य देने के लिये (साक्ष्यार्थं) व्याकरणादि शास्त्र प्रमाण हैं, ऐसा कहना चाहिये।

यदपि 'नित्याः शब्दाः, नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिः वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति' यह वाक्य प्रथम आह्निक से लेकर अनेक स्थलों पर व्याकरण महाभाष्य में उपलब्ध होता है। उसी प्रकार 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः' यह उल्लेख 'अइउण्' सूत्र के भाष्य में किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि—वैदिक लौकिक सभी शब्द नित्य हैं, क्योंकि शब्दों के मध्य में कूटस्थ (विनाशरहित) अचल (अनपाय = स्थिर), अनुपजन (अविकारी) ऐसे वर्ण होते

शब्दाः' (पृ० ३३)। तदप्यविचारितरमणीयम्, तात्पर्यानवबोधात्। तथाहि—अवश्यं महाभाष्यकारैः 'शब्दा नित्याः' इति सिद्धान्तितम्, परमेतत्समुद्धृतं तु महाभाष्यवचनं पूर्वपक्षपरम्। महाभाष्ये चात्र वर्णनानात्वमभिकृत्योक्तम्—नैवं शक्यमनित्यमेवं स्यात्। नित्याः शब्दाः, नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। यदि चायं द इत्यत्र दृष्टो 'ण्ड' इत्यत्र दृश्येत, नायं कूटस्थः स्यादिति।

जातिस्फोटवादी व्यक्तिस्फोटवादिनं पर्यनुयुङ्क्ते—अनित्यत्वमेवं स्यादिति। भवता जातिस्तावन्नाभ्युपगम्यते, व्यक्तेरेकत्वनित्यत्वप्रतिज्ञानात्। तच्चैकत्वं नित्यत्वं व्यक्तेर्नोपपद्यते, दण्ड इत्युदात्तानुदात्तस्वरितभेदेन भिन्नत्वात्। नह्येकस्यैवोदात्तत्वपरित्यागेनानुदात्तत्वं युक्तम्, रूपान्तरपरिग्रहादनित्यत्वप्रसङ्गात्। तस्माद्भिन्ना एवानित्या एवाकाराः, प्रत्यभिज्ञा त्वाकृतिनिबन्धना। जातिस्फोटपक्षोऽत्र व्यवस्थित इति प्रदीपः। उद्योतेऽप्ययमेवार्थः स्फुटीकृतः। जातिस्फोटवादी वदति—तव नित्याः शब्दाः। तेषु वर्णैरविचालिभिरविकारिभिरेव भाव्यम्। न च वर्णानां कूटस्थत्वं सम्भवति 'दण्ड' इत्यत्र दकारडकारश्लिष्टाकाराणामुदात्तानुदात्तस्वरितभेदेन भेदाभ्युपगमात्। नह्येकस्मिन्नेवाकारे उदात्तत्वादिभेदः सम्भवति, विरुद्धधर्माक्रान्तानामेकत्वविरोधात्। यद्यपि सिद्धान्तेऽनुदात्तत्वादीनां ध्वनिनिष्ठत्वान्न तेन वर्णनानात्वं सिद्ध्यति, तथापि स्फटिकस्येवास्यापीतरसन्निधानेन तद्रूपपरिग्रहे कूटस्थत्वं भज्यत एवेति पूर्वपक्ष्यभिप्रायः। अनन्तवर्णवादे तु तदनित्यत्वमिष्टमेव।

हैं। 'अपाय' का अर्थ है—लोप, निवृत्ति, या अग्रहण, 'उपजन' का अर्थ है—आगम, विकार का अर्थ है—आदेश, ये जिन शब्दों में नहीं होते हैं, इसलिये शब्द को नित्य कहा जाता है। किन्तु यह कथन भी तात्पर्य का बोधक न बन पाने से तभी तक रमणीय प्रतीत होता है, जब तक उसपर विचार न किया जाय। उक्त कथन पर विचार इस प्रकार किया जा सकता है—'महाभाष्यकार ने शब्द-नित्यत्व का सिद्धान्त तो अवश्य स्वीकार किया है, किन्तु महाभाष्यकार ने महाभाष्य में जिस वचन को पूर्वपक्ष के रूप में रखा है, उसी को स्वामी दयानन्द ने सिद्धान्त समझकर अपनी भूमिका में उद्धृत कर दिया है। इस प्रसंग पर महाभाष्य में वर्ण के नानात्व को लक्ष्यकर कहा गया है कि 'यह मानना संभव नहीं, ऐसा मानने से वर्णों में अनित्यता आवेगी। शब्द तो नित्य हैं, उनमें कूटस्थ अविचलित वर्ण जो अनपाय, अनुपजन, अविकारी हैं—होते हैं। यदि यह पूर्व दिखाई देने वाला 'द' 'ण्ड' की जगह दिखलाई दे, तो उसे कूटस्थ नहीं कहा जा सकेगा।

जातिस्फोटवादी, व्यक्तिस्फोटवादी से प्रश्न करता है कि—आपने व्यक्ति को एक और नित्य बताया है, इससे प्रतीत हो रहा है कि आप जाति का स्वीकार नहीं कर रहे हैं, ऐसी परिस्थिति में आपकी व्यक्ति में 'अनित्यता' ही सिद्ध होगी। वह नित्य नहीं बन पायेगी। 'दण्ड' शब्द के कहने पर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की पृथक् पृथक् प्रतीति हुआ करती है, इसलिये व्यक्ति में एकत्व तथा नित्यत्व बन नहीं सकता। यह भी नहीं कह सकते कि एक ही व्यक्ति में उदात्त स्वर का परित्याग करने पर अनुदात्त स्वर हो जाता है, क्योंकि एक स्वरूप को छोड़कर अन्य स्वरूप को स्वीकार करने में अनित्यता तो हो ही जायगी। इसलिये यही मानना उचित है कि व्यक्ति (आकार) एक न होकर भिन्न भिन्न (अनेक) हैं और अनित्य हैं। 'वही यह व्यक्ति है' इस प्रकार से जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह जाति (आकृति) मूलक होती है। 'जातिस्फोटपक्षोऽत्र व्यवस्थितः' यहाँ = 'जातिस्फोट' ही व्यवस्थित हो सकता है—ऐसा प्रदीपकार ने कहा है। उद्योत में इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया है। जातिस्फोटवादी कहता है—आपके मत में शब्द यदि नित्य हैं, तो उन शब्दों के घटक (अवयव) वर्णों को अविचाली तथा अविकारी रहना चाहिये। लेकिन वर्णों में अविचालिता (कूटस्थता) का होना संभव नहीं, क्योंकि 'दण्ड' शब्द में संश्लिष्ट आकार वाले 'दकार, णकार, डकार' वर्णों की प्रतीति, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के भेद से भिन्न भिन्न रूप में होती है। एक ही आकार (व्यक्ति) में उदात्त, अनुदात्त आदि भिन्न भिन्न स्वरों का होना संभव नहीं, क्योंकि विरुद्ध धर्मों से आक्रान्त (व्याप्त) हुए वर्णों (व्यक्ति) में एकत्व की प्रतीति हो ही नहीं सकती। विरुद्ध धर्मों से आक्रान्त रहना और उसमें एकत्व की प्रतीति भी होना ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। पूर्वपक्षी का यह कहना है कि यद्यपि सिद्धान्ती के मत से अनुदात्तत्वादि धर्मों का होना ध्वनिनिष्ठ (ध्वनि में) माना गया है, उससे वर्णों का नानात्व (अनेकता) सिद्ध नहीं होगा, तथापि स्फटिक मणि की तरह अन्य के सन्निधान से उसके स्वरूप को स्वीकार कर लेने पर इसकी कूटस्थता तो भंग हो ही जायगी। अनन्त वर्णवादी के मत में वर्णों की अनित्यता तो इष्ट ही है।

त्वया तु पूर्वं नित्यकार्यभेदेन शब्दद्वैविध्यमुक्तम्। परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धा नित्याः, येऽस्मदादीनां वर्तन्ते ते तु कार्या इति तद्भिन्नानामनित्यत्वमुक्तम्। इह तु वैदिका लौकिकाश्च सर्वे नित्याः सन्तीत्युच्यते। यदपि तत्र कार्यत्वेन यदृच्छाशब्दाः (मनुष्यकृता नवनिर्मितशब्दाः) एव गृहीता इति विरोधपरिहार इति, तदपि न, महाभारतादिसंस्कृतशब्दानामपि परमात्मज्ञानस्थशब्दभिन्नत्वाभ्युपगमविरोधात्। महाभाष्यकारोऽपि गौरश्वो हस्तीत्यादिशब्दानां लौकिकत्वमिषे त्वादीनां च वैदिकत्वमुक्तवानिति त्वदीयग्रन्थपौर्वापर्यविरोधोऽपरिहार्य एवेति पूर्वापरविरोध एव।

यदपि च—'ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वप्यपायादयो विधीयन्ते। पुनरेतत्कथं सङ्गच्छत इत्येवं प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः—'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥' इति 'दाधाध्वदाप्' इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम्। अस्यायमर्थः—सर्वे सङ्घाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति। अर्थात् शब्दसङ्घातान्तराणां स्थानेष्वन्ये शब्दसङ्घाताः प्रयुज्यन्ते। तद्यथा—वेदपारग स् ड सु भू शप् तिप् इत्येतस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने वेदपारगोऽभवत् इतीदं समुदायान्तरं प्रयुज्यते। अस्मिन् प्रयुक्ते समुदाये गम् ड सु तिप् इत्येतेषाम् अडम् इ प इत्येतेऽपयान्तीति केषाञ्चिद् बुद्धिर्भवति। सा भ्रममूलिकैवास्तीति। कुतः? शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणात्। नैव शब्दस्य एकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारे च सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं भवति, तथात्र डागमे भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारे चैवं सङ्गतिः कार्या' (पृ० ३४) इति, तदपि पौर्वापर्यविचारवैधुर्यमूलकम्। तथाहि—तत्रागमादेशपक्षमुपक्रम्य सिद्धान्तभूतमादेशपक्षमुपसंहरन्नाह भाष्यकारः—'आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति। अनागमकानां सागमका इति। तत्कथमिति प्रश्ने तुल्यन्यायत्वादाह—'सर्वे सर्वपदादेशाः' इति। तत्रत्यभाष्यादिकं तु—'दाधाध्वदाप्' (पा० सू० १।१।२०)। आदेशवादिन आगमवादिनं प्रत्याक्षेपभाष्यम्—'युक्तं पुनर्यन्नित्येषु नाम शब्देष्वागमशासनं स्यात्, न नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यम् अनपायोपजनविकारिभिः। आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः?' आगमवादिन

पहले तो आपने नित्य और कार्य के रूप में शब्दों के दो प्रकार बताये। परमात्मा के ज्ञान में अवस्थित शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध नित्य हैं। हम लोगों के ज्ञान में हैं, वे तो कार्य हैं, इसलिये उनसे भिन्न जो होंगे वे अनित्य हैं, यह आपने कहा था। यहाँ तो वैदिक और लौकिक सभी शब्दों को नित्य बताया जा रहा है। वहाँ पर यदृच्छा शब्दों (मनुष्य कृत = नवनिर्मित शब्द) का ही 'कार्य' शब्द से ग्रहण किया गया है, इसलिये विरोध का परिहार हो जायगा, ऐसा जो कहा गया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि महाभारत आदि संस्कृत शब्द भी परमात्मा के ज्ञान में रहने वाले शब्दों से भिन्न माने गये हैं, अतः विरोध होगा। महाभाष्यकार ने भी 'गौः, अश्वः, हस्ती' इत्यादि शब्दों को लौकिक और 'इषे त्वा' आदि शब्दों को वैदिक बताया है। इसलिये आपके ग्रन्थगत पौर्वापर्य का विरोध वैसा ही बना रहा, वह दूर नहीं हो पाया।

'गणपाठ, अष्टाध्यायी, महाभाष्य में भी अपाय आदि का विधान किया गया है। वह कैसे संगत हो सकेगा? इस शंका का समाधान महाभाष्यकार करते हैं कि सभी संघात, सभी पदों के स्थान में आदेश के रूप में होते हैं। अर्थात् भिन्न भिन्न शब्द समूहों के स्थान में भिन्न भिन्न शब्द समूहों का प्रयोग किया जाता है। जैसे—'वेदपारग स् ड भू शप् तिप्' इस वाक्य समुदाय (समूह) के स्थान में 'वेदपारगोऽभवत्' इस समुदायान्तर (अन्य समूह) का प्रयोग किया जाता है। समुदायान्तर का प्रयोग किये जाने पर 'गम् ड सु तिप्' की जगह 'अम् ड इ प' ये वर्ण आ जाते हैं, ऐसा कुछ कुछ लोग समझते हैं, किन्तु उनकी यह समझ भ्रममूलक है, क्योंकि 'शब्दानामेकदेशविकारे च' उपलक्षण है। शब्द के एकदेश का अपाय (हानि), एकदेश का उपजन (वृद्धि) और एकदेश में विकार होने पर भी दाक्षीपुत्र आचार्य पाणिनि के मत में शब्दों की नित्यता बनी रहती है, उसमें किसी प्रकार की हानि नहीं होती। इसलिये प्रकृत में भी डा का आगम और भू के स्थान में 'भो' विकार हो जाने से शब्द के नित्यत्व में कोई हानि नहीं हो सकती। इस प्रकार संगति लगा लेनी चाहिये' यह कथन भी पौर्वापर्य (आगे पीछे) का विचार न कर पाने का ही सूचक है। तथाहि—वहाँ (भाष्य में) आगम, आदेश पक्ष को प्रारंभ कर सिद्धान्तभूत आदेश पक्ष का उपसंहार करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं—'आदेशास्तर्हीमे' इत्यादि।

आदेशवादिनं प्रत्याक्षेपभाष्यम्—'अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देषु आदेशाः स्युः ?' आदेशवादिनः समाधानभाष्यम्—'बाढं युक्तम्। शब्दान्तरैरिह भवितव्यम्। तत्र शब्दान्तरे शब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता।'

अत्र कैयटः—'प्रसङ्गवाची स्थानशब्दो न निवृत्तिवाची, ततश्च सन्त एव प्रयोगे नित्याः शब्दा बुद्ध्युन्मज्जननिमज्जनद्वारेण प्रतिपाद्यन्ते। आगमस्त्ववस्थितस्यापूर्वः क्रियमाणो नित्यत्वं विरुणद्धि।

अत्र नागेशः—'प्रसङ्गवाचीति। षष्ठीस्थान इत्यत्रत्यः। प्रसङ्गश्च बुद्धेरिति भावः। 'सन्त एव प्रयोगे नित्याः' इति। आदेशरूपा इत्यर्थः। बुद्ध्युन्मज्जननिमज्जने यथाक्रममादेशस्य स्थानिनश्च। भाष्ये—शब्दान्तर इति। तद्बुद्धौ प्राप्तायामित्यर्थः।

सिद्धान्तोपसंहारभाष्यम्—आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति, अनागमकानां सागमकाः। तत्कथम्? सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥' अत्र कैयटः—पदशब्देन न सुप्तिङन्तं गृह्यतेऽपि तु कार्यं प्रतिपद्यमानं प्रतीयमानप्रकृतिप्रत्ययादि तत्सर्वं पदम्। एकदेशविकारे हीति। यद्यपि सर्वविकारेऽप्यनित्यत्वं यथा पिठरस्थस्य पयसः पाकादिषु, तथापि विकाराभावप्रतिपादनपरमेतत्। बुद्धिविपरिणाममात्रं स्थान्यादेशागमागमिभावद्वारेण क्रियत इत्यर्थः।

परन्तु त्वया तु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपाया विधीयन्त इत्युच्यते। अन्यथा उत्तरपक्षेण महाभाष्येऽपायादयो भवन्तीत्यपि वक्तव्यमासीत्। तत्रापायो विनाशः। आगमस्त्ववस्थितस्यापूर्वः क्रियमाणः कश्चिद् धर्मः। कारिकास्थसर्वपदं त्ववयवकात्स्न्यर्यवाची, न पदसङ्घातवाची, 'सर्वशब्दश्चात्रावयवकात्स्न्यर्यवाची' इत्युद्योतवचनात्। 'न तु पदबहुत्वे' इति छायावचनाच्च। अत एव कारिकायां पदादेशा इत्युक्तम्, अन्यथा वाक्यस्थाने वाक्यादेशा इति स्यात्। विकारादयोऽपि पदेष्वेव भवन्ति न वाक्येषु, व्याकरणशास्त्रस्य पदशास्त्रत्वाच्च। त्वया तु पदसङ्घातरूपवाक्यस्थाने तथाविधवाक्यान्तरमेव प्रयुक्तं मन्यते।

इस प्रसंग पर कैयट—'स्थान' शब्द, प्रसंग का वाचक है, निवृत्ति का वाचक नहीं है, अतः प्रयोग में विद्यमान रहने पर ही नित्य शब्दों का बुद्धि में उन्मज्जन-निमज्जन द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। किन्तु आगम अवस्थित वर्ण के पूर्व किया जाता है। अतः वह नित्यता से विरोध रखता है।'

इसी प्रसङ्ग पर नागेश—'प्रसङ्गवाचीति।' 'षष्ठीस्थाने' यहां का और प्रसंग बुद्धि का यह अभिप्राय है। 'सन्त एव प्रयोगे नित्या' इति। 'आदेश रूप' यह अर्थ है। बुद्धि का उन्मज्जन और निमज्जन क्रमशः आदेश और स्थानी का समझना चाहिये। भाष्ये शब्दान्तरे इति। उसका ज्ञान प्राप्त होने पर, यह अर्थ है।

इस प्रसंग में कैयट—यहाँ पर 'पद' शब्द से सुप्-तिङन्त का ग्रहण नहीं करना, अपि तु प्रतिपद्यमान कार्य, प्रतीयमान प्रकृति-प्रत्यय आदि सभी का 'पद' शब्द से ग्रहण किया गया है। 'एकदेशविकारे हीति' यद्यपि सभी विकारों में अनित्यता है, जैसे—पिठरस्थ (बटलोही के) पय की पाकादि में। तथापि यह विकाराभाव प्रतिपादन परक है। स्थान्यादेश आगमागमिभाव के द्वारा बुद्धि का विपरिणाम मात्र किया जाता है।

लेकिन आपने तो यह कहा है कि गणपाठ, अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि में अपायों का विधान किया जाता है, अन्यथा उत्तरपक्ष के द्वारा महाभाष्य में अपाय आदि होते हैं, यह भी कहना चाहिये था। अपाय का अर्थ, विनाश है और आगम का अर्थ है—अवस्थित के लिये किया जाने वाला नवीन कोई धर्म विशेष। कारिकागत 'सर्व' पद का अर्थ अवयव की सम्पूर्णता है, 'पदसमुदाय' अर्थ नहीं है। इसी को उद्योतकार ने भी कहा है—'सर्वशब्दश्चात्र अवयवकात्स्न्यर्यवाची'। छायाकार ने भी 'न तु पदबहुत्वे' कहा है। इसी लिये कारिका में 'पदादेशा' कहा गया है। अन्यथा 'वाक्य' की जगह 'वाक्यादेश' कहते। विकारादि भी पदों में ही होते हैं, वाक्यों में नहीं, क्योंकि व्याकरणशास्त्र तो 'पदशास्त्र' है। आप तो पदसंघातरूप वाक्य के स्थान में उसी प्रकार के वाक्यान्तर को प्रयुक्त किया समझ रहे हैं।

'एवं केषाञ्चिद् भवति । सा भ्रममूलैवास्ति' इत्यप्यसङ्गतम्, विकल्पानुपपत्तेः । भ्रमो मूलं यस्याः सा भ्रममूला इति, भ्रमस्य मूलमिति वा तत्समासः । नाद्यः, मूलपदस्य कारणपरतया कारणस्य च कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वेनाऽपायबुद्धेः पूर्वं तत्कारणीभूतस्य भ्रमस्यावश्यं स्वीकार्यत्वापातात् । तदङ्गीकारे तस्य भ्रमरूपत्वात् कर्मसिद्धावपरबुद्धेर्निष्प्रयोजनत्वात् । न द्वितीयपक्षोऽपि, अपायबुद्धेरुत्तरवर्ति किमपि भ्रमात्मकं ज्ञानमवश्यं स्वीकर्तव्यमन्यथा बुद्धेस्तत्कारणत्वानुपपत्तेः । अत एव सा भ्रमात्मिकैवेत्येव सुवचम् ।

यच्च—भ्रममूलत्वे च तस्याः कारणत्वमुक्तम्, कुतः ? शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणादित्यादिना, तदपि न क्षोदक्षमम्, त्वदुक्तस्य हेतोर्भ्रममूलत्वस्य च साध्यस्य व्याप्तिग्रहाभावात् ।

भूमिकायाः पूर्वसंस्करणेषु शब्दस्यैकदेशाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि इति पाठ आसीत् । स चाशुद्ध एवासीत् । एकदेशविकारिणीत्यत्र शब्दस्यानन्वयापातात् । २०२४ वैक्रमाब्दसंस्करणे तं पाठमशुद्धमङ्गीकृत्य सनातनिविद्वद्धौरेयाणां परामर्शानुसारम् 'एकदेशविकारे' इति शुद्धः पाठः सन्निवेशित इति मोदास्पदम् ।

'श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्धया नितरां ग्रहीतुं योग्यः, उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यस्याकाशदेशोऽधिकरणं वर्तते स शब्दो भवतीति बोध्यम्' (पृ० ३४) इति महाभाष्यविवरणं कुर्वता त्वया स्वीयानि पूर्ववचनानि स्मर्तव्यानि । यत्र त्वया वैदिकशब्दानां परमात्मज्ञानस्थत्वं प्रदर्शितम् । किं निराकारेण शब्दानामुच्चारणं सम्भवति ? किं वा निराकारोच्चारितशब्दानां श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यतापि सम्भवति ? उच्चारणश्रवणादिक्रियायाः क्षणप्रध्वंसित्वात् । 'एकैकवर्णवर्तिनी वाक्' (१।४।१०८) इति महाभाष्यप्रामाण्यात् प्रतिवर्णं वाक्क्रिया विपरिणमते, अतस्तस्या एवानित्यत्वम्, न शब्दस्येति वर्णात्मकशब्दानां नित्यत्वेऽपि पद-वाक्य-कदम्बात्मकानां वेदानां कथं

'एवं केषाञ्चिद् भवति । सा भ्रममूलैवास्ति' यह—कथन भी असंगत है । क्योंकि 'भ्रममूला' में 'भ्रमो मूलं यस्याः सा—भ्रममूला, अथवा मूलमस्तीत्यस्यामिति मूला, भ्रमस्य मूला—भ्रममूला' इन दो प्रकार के समासों में कौन सा समास आप करेंगे ? पहिला समास तो आप कर नहीं सकेंगे, क्योंकि 'मूल' पद का अर्थ तो 'कारण' है और कारण सदा कार्य के पूर्व हुआ करता है, अतः अपायबुद्धिरूप कार्य के पूर्व ही उसके कारण रूप भ्रम को अवश्य मानना होगा । उसके मानने पर तो कार्यसिद्धि विषयक जो उत्तर ज्ञान होगा, वह निष्फल ही होगा, क्योंकि जिस कारण से वह उत्तर ज्ञान हुआ है, वह कारण तो स्वयं ही भ्रमरूप है । अतः पहिला समास तो आप कर ही नहीं सकते । अब रहा दूसरा पक्ष, उसे भी आप स्वीकार नहीं कर सकेंगे, क्योंकि अपाय बुद्धि के बाद किसी भ्रमात्मक ज्ञान को अवश्य स्वीकार करना होगा, अन्यथा कारण के बिना कार्य कैसे होगा ? अतः उस अपाय बुद्धि को भ्रमात्मक ही कहना उचित है ।

अब 'शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणात्' इत्यादि से उसमें (अपाय बुद्धि में) भ्रममूलता को कारण कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि आपके दिये हुए हेतु (भ्रममूलत्व) और साध्य की व्याप्ति का ज्ञान नहीं है । बिना व्याप्तिग्रह (व्याप्ति ज्ञान) के साध्य-साधनभाव का निश्चय नहीं किया जाता ।

भूमिका के पूर्व संस्करणों में 'शब्दस्यैकदेशाय एकदेशोपजन एकदेशविकारिणि' यह जो पाठ था, अशुद्ध ही था, क्योंकि 'एकदेशविकारिणि' में शब्द का अन्वय नहीं बैठ पाता है । किन्तु २०२४ विक्रम संवत्सर में उक्त पाठ की अशुद्धि जब समझ में आगई, तब सनातनी विद्वानों के परामर्शानुसार 'एकदेशविकारे' इस शुद्ध पाठ का सन्निवेश किया गया, यह हर्ष की बात है ।

'श्रोत्रेन्द्रिय से जिसका ज्ञान होता है, बुद्धि से जिसका ग्रहण करना अत्यन्त योग्य है, उच्चारण से जो प्रकाशित किया जाता है, जिसका अधिकरण आकाशदेश है, उसे शब्द समझना चाहिये' । इस प्रकार महाभाष्य का विवरण करते हुए आपने पहिले जिन वाक्यों को कहा था, उनका स्मरण आपको कर लेना चाहिये । जहाँ आपने वैदिक शब्दों को परमात्मा के ज्ञान में स्थित होना प्रदर्शित किया है । क्या निराकार के द्वारा शब्दों का उच्चारण करना सम्भव हो सकता है ? और क्या निराकार के द्वारा उच्चरित हुए शब्दों की श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्यता भी हो सकती है ? उच्चारण, श्रवण आदि क्रियाएं क्षणविनाशी होने से वह कभी सम्भव नहीं है । 'एकैकवर्णवर्तिनी वाक्' (१।४।१०८) इस महाभाष्य के प्रमाण से यह वाक्क्रिया प्रत्येक वर्ण के रूप में परिणत होती है, इसलिये उस वाक्क्रिया को ही

नित्यत्वं सेत्स्यति ? नित्येषु विभुषु वर्णेषु पौर्वापर्यलक्षणाया आनुपूर्व्या असम्भवेन पदवाक्याद्यसम्भवात्। शब्दानां नित्यत्वेन वेदनित्यत्वे त्वस्मदादिवाक्यानामपि नित्यत्वापत्तेः, अस्मदादिवाक्यघटितशब्दानामपि नित्यत्वानपायात्।

'यत्र खलु वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः' (पृ० ३५) इति त्वद्वचनेनापि निराकारकर्तृकोच्चारणं न सम्भवति। यदपि शब्दस्य नित्यत्वसाधनाय 'नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात' (१।१।१८) इति जैमिनिसूत्रमुद्धृत्योक्तम्—'अस्यायमर्थः—तु शब्देनानित्यत्वशङ्का निवार्यते। विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति। कस्मात् ? दर्शनस्य परार्थत्वाद् दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात् शब्दस्यानित्यत्वं नैवास्तीति' (पृ० ३६), तदपि न युक्तम्, विनाशरहितत्वादित्यस्य सूत्रासम्बद्धत्वाद् व्यर्थत्वाच्च, प्रत्यभिज्ञानेनैव नित्यत्वसिद्धेः।

ननूच्चारणजन्यः शब्दो भवति। नित्यत्वे किमर्थमुच्चारणमित्याशङ्क्य तन्निराक्रियते—नित्य एव शब्दः। उच्चारणं न शब्दस्वरूपसिद्धयर्थम्, किन्तु परप्रत्यायनायोच्चारणं क्रियते, दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वाद् इति वाक्ये सर्वत्र षष्ठ्यनुपपत्तिः। दर्शनस्योच्चारणस्य परं प्रत्यर्थबोधकत्वादित्यस्यैव युक्तत्वात्। शबरस्वामिनापि तथैव स्पष्टीकृतम्। दर्शनमुच्चारणम्, तत्परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम्। उच्चारितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात्। अतो न परार्थमुच्चार्येत। अथ न विनष्टस्ततो बहुश उपलब्धत्वादर्थावगम इति युक्तमिति।

यदुक्तम्—'शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति, अन्यथायं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञा अनित्येन शब्देन भवितुमयोग्यास्ति, नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वादिति' (पृ० ३६), तदपि न किञ्चित्, शब्दनित्यत्वस्य ज्ञाप्यज्ञापकयो-

अनित्य कहना चाहिये, शब्द को नहीं। इस रीति से वर्णात्मक शब्द को नित्य बताने पर भी उससे पदवाक्यकदम्बात्मक वेदों की नित्यता कैसे सिद्ध हो सकेगी ? क्योंकि वर्ण जब विभु और नित्य हैं, तब उनकी पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वी का होना सम्भव नहीं और जब आनुपूर्वी नहीं बनेगी तब पद-वाक्य आदि उनसे कैसे बन सकेंगे ? शब्दों की नित्यता के बल पर वेद की नित्यता को यदि कहा जाय तो हम लोगों के वाक्यों को भी नित्य कहना होगा, क्योंकि हमलोगों के वाक्यों में स्थित शब्दों की भी नित्यता है ही।

'जहाँ वाक् और क्रिया न हो वहाँ उच्चारण और श्रवण भी नहीं होते' अतः तुम्हारे कथनानुसार भी निराकार के द्वारा उच्चारण किया जाना कभी सम्भव नहीं। 'नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्'—(जै० सू० १।१।१८) इस जैमिनि सूत्र का उद्धरण देकर शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिये जो तुमने कहा है, वह भी ठीक नहीं है। उपर्युक्त सूत्र का अर्थ आपने इस प्रकार किया है—सूत्र में स्थित 'तु' शब्द से अनित्यत्व की आशङ्का का निवारण किया गया है। विनाशरहित होने से शब्द नित्य है, क्योंकि 'दर्शनस्य परार्थत्वात्'—उच्चारण का प्रयोजन ज्ञापन करना है, इसलिये शब्द कभी अनित्य नहीं है—क्योंकि 'विनाशरहितत्वात्' यह अंश सूत्र से सम्बद्ध नहीं है और व्यर्थ भी है, क्योंकि शब्द की प्रत्यभिज्ञा से ही उसकी नित्यता सिद्ध हो जाती है।

शङ्का—शब्द की उत्पत्ति तो उच्चारण से होती है। शब्द यदि नित्य होता तो उसके उच्चारण करने की आवश्यकता ही क्यों होती ? समा०—उपर्युक्त शङ्का का निराकरण 'शब्द नित्य ही है' कहकर किया गया है। शब्द का उच्चारण, शब्द स्वरूप की उत्पत्ति के लिये नहीं है, अपि तु दूसरे को बोध कराने के लिये किया जाता है। अन्यथा 'दर्शनस्य उच्चारणस्य परस्य अर्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्' आपके इस वाक्य में आपके द्वारा सर्वत्र प्रयुक्त षष्ठी विभक्ति की सङ्गति कहीं भी नहीं बन सकेगी। इतने लम्बे चौड़े भाष्य करने की अपेक्षा 'दर्शनस्य उच्चारणस्य परं प्रति अर्थबोधकत्वात्' इतना कहना ही उचित होता। इस आशय को शबरस्वामी ने भी स्पष्ट किया है—'दर्शनम् उच्चारणम्, तत् परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम्। उच्चारितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात्, अतो न परार्थमुच्चार्येत। अथ न विनष्टः, ततो बहुधा उपलब्धत्वाद् अर्थावगम इति युक्तमिति।'

यह जो आपने कहा—शब्द, अनित्य होता ही नहीं, अन्यथा 'गो' शब्द का यह अर्थ है, यह अभिज्ञा अनित्य शब्द से कैसे हो सकती है ? किन्तु शब्द के नित्य मानने पर शब्द और अर्थ में 'ज्ञाप्यज्ञापकभाव' विद्यमान रहता है, जिससे उपर्युक्त अभिज्ञा का

रुभयोरपि विद्यमानतायामतन्त्रत्वात्। ज्ञापकस्य शब्दस्य विद्यमानतायां तन्नित्यत्वस्य कारणत्वेऽपि ज्ञाप्यस्यार्थस्य सत्त्वे तस्याकारणत्वात्। अत एवातीतानागतानामपि शब्दज्ञाप्यत्वं भवति। नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकभावोऽप्युपपद्यत इत्येव वक्तव्यम्।

यच्च तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति कणादमुनिसूत्रं शब्दनित्यत्वं साधयितुमुदाजहार (पृ० ३६), तत्तूपहासास्पदमेव, वैशेषिकैर्नैयायिकैश्च शब्दानित्यत्वाभ्युपगमात्। यच्चास्यायमर्थः—तद्वचनात् तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद् धर्मस्यैव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणोक्तत्वादाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यमिति (पृ० ३६), तत्तु धाष्टर्यमेव, काणादैः शब्दानित्यत्वस्य सिद्धान्तितत्वात्। उपस्कारकृच्छङ्करमिश्ररीत्या तु तदित्यनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धिसिद्धतयेश्वरं परामृशति। यथा 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इति गोतमसूत्रे तदितिपदेनानुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते। तद्वचनात् तेनेश्वरेण वचनात् प्रणयनाद् आम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्, गुणवद्वक्तृकत्वेनैव तैर्वचनस्य प्रामाण्याभ्युपगमात्।

यद्वा तदिति सन्निहितं धर्ममेव परामृशति। तथा च तस्य धर्मस्य वचनात् प्रतिपादनादाम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्। यद्धि वाक्यं प्रामाणिकमर्थं प्रतिपादयति तत्प्रमाणमेव यत इत्यर्थः। ईश्वरस्तदाप्तत्वं च साधयिष्यते, इत्यपि शङ्करमिश्राः।

अत्रेश्वरोक्तत्वाद्वेदस्य प्रामाण्यमेव साधितम्, न वेदनित्यत्वम्, नित्यत्वबोधकपदाभावात्। न च शब्दो नित्यः, प्रामाण्यादिति प्रामाण्यहेतुनैव शब्दनित्यत्वसिद्धया वेदस्यापि परमेश्वरोक्तत्वात् प्रामाण्येन नित्यत्वं सेत्स्यतीति वाच्यम्, त्वद्रीत्या विप्रलम्भकवाक्ये हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्। पक्षे हेत्वभावस्यैव स्वरूपासिद्धत्वात्। वञ्चकवाक्यस्या-

होना सुसंगत प्रतीत होता है—वह भी ठीक नहीं है। आपको यह समझना चाहिये कि शब्द का नित्यत्व और ज्ञाप्यज्ञापकत्व ये दोनों ही विद्यमानता में प्रयोजक नहीं है। विद्यमानता में यद्यपि ज्ञापक शब्द की नित्यता कारण हो सकती है, तथापि ज्ञाप्य अर्थ की विद्यमानता में वह कारण नहीं है। इसीलिये अतीत—अनागत अर्थ भी शब्द से ज्ञाप्य हो पाते हैं। अतः 'शब्द के नित्य रहने पर ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव भी उत्पन्न हो जाता है—यही आपको कहना चाहिये।

शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिये कणादमुनि का सूत्र 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'—(क० सू०) जो आपने प्रमाण के रूप में उद्धत किया है, वह तो उपहास के ही योग्य है, क्योंकि वैशेषिक और नैयायिकों ने तो शब्द को अनित्य माना है। ऊपर जो कणाद मुनि का सूत्र और उसका अर्थ किया गया है—'तद्वचनात्' तयोः—धर्म और ईश्वर इन दोनों में से 'वचनात्' कर्तव्यरूप से धर्म का ही 'प्रतिपादनात्' ईश्वर के द्वारा कथन करने से 'आम्नायस्य' चारों वेदों को 'प्रामाण्यम्' नित्यरूप में स्वीकार सभी को करना चाहिये। इस प्रकार उद्धरण देकर उसका ऐसा अर्थ करना केवल धृष्टता (दुःसाहस) मात्र है। क्योंकि कणाद मुनि ने तो शब्द की अनित्यता का सिद्धान्त स्थिर किया है। उपस्कारकार शङ्कर मिश्र की पद्धति से भी यद्यपि यहाँ ईश्वर का कोई प्रसङ्ग नहीं है, तथापि विश्व प्रसिद्धि से ही उसकी सत्ता सदा स्थिर होने से 'तत्' शब्द के द्वारा उसी का परामर्श किया जाता है। जैसे—वेदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इस गौतम सूत्र में 'तत्' शब्द से वेद का उपक्रम न रहने पर भी उसका परामर्श किया गया है। 'तद्वचनात्'—तेन ईश्वरेण उस ईश्वर के द्वारा 'वचनात्' प्रणयन किया होने से 'आम्नायस्य' वेदस्य वेद का प्रामाण्य है। नैयायिकों ने वेदों का प्रामाण्य गुणवान् वक्ता के द्वारा रचित होने से स्वीकार किया है।

अथवा 'तत्' शब्द से समीपस्थ 'धर्म' का ही परामर्श किया गया है। उसी को बता रहे हैं—'तस्य' धर्मस्य = धर्म का 'वचनात्' प्रतिपादन किया होने से 'आम्नायस्य' वेदस्य = वेद का प्रामाण्य है। क्योंकि जो वाक्य प्रामाणिक अर्थ का प्रतिपादन करता है, वह प्रमाण ही माना जाता है, उसे कोई अप्रमाण नहीं कहता। ईश्वर और उसकी आप्तता को सिद्ध करेंगे इस प्रकार की व्याख्या भी शङ्कर मिश्र ने की है।

यहाँ पर ईश्वरोक्त होने से वेदों का प्रामाण्य ही बताया गया है, वेद का नित्यत्व नहीं; क्योंकि वहाँ नित्यत्व का बोधक कोई पद नहीं है। यदि कोई यह तर्क करे कि—'शब्दो नित्यः प्रामाण्यात्'—शब्द नित्य है, उसका प्रामाण्य होने से—तो 'प्रामाण्य' हेतु से ही शब्द की नित्यता सिद्ध हो जाती है, उसी तरह वेद भी ईश्वर के द्वारा उक्त होने से उसका प्रामाण्य होने के कारण उसकी

प्रमाणत्वेन तद्विरोधिप्रमाणत्वं तत्र न सम्भवत्येव। न च वञ्चकवाक्यगताः शब्दा अनित्या आप्तवाक्यगताश्च नित्या इति स्थापनायां किञ्चिन्मानम्। 'सतो लिङ्गाभावात्, नित्यवैधर्म्यात्, अनित्यश्चायं कारणतः, न चासिद्धं विकारात्, अभिव्यक्तौ दोषात्, संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः, लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः' (२।२।२६-३२) इमानि कणादसूत्राणि तु शब्दानित्यत्वमेव साधयन्ति। किरणावल्यादिभिरपि शब्दस्यानित्यत्वमेव साधितमितीहैवान्यत्र प्रपञ्चितम्। सत्यामप्येवं वास्तविक्यां स्थितौ दयानन्दः कणादमुनिनाम्ना शब्दनित्यत्वं साधयतीति सूत्रानभिज्ञानमूलकमेवेति मन्तव्यम्। एतस्य यत्किञ्चित्प्रलपनं साहसमात्रमेव।

यच्च 'तथा स्वकीये न्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह—'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' (२।१।६८)। अस्यायमर्थः—तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्यम्। इत्यादि' (पृ० ३७), तदपि न्यायसिद्धान्तानभिज्ञानमूलकं साहसमेव, शब्दानित्यत्ववादिनां नये नित्यानामिति विशेषानुपपत्तेः। निरुक्तसूत्रे नित्यत्वबोधकपदाभावाच्च।

यच्च 'कुत आप्तप्रामाण्यात्। धर्मात्मभिः कपटच्छलादिदोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतम्, अतः' (पृ० ३७) इति, तदप्यसङ्गतम्, आप्तैर्ब्रह्मादिभिर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतो वेदानां प्रामाण्यमिति त्वदुक्तार्थस्याशुद्धत्वात्। न च वेदानां प्रामाण्यमाप्तैरङ्गीकृतमतः, किन्त्वाप्तोपदेशत्वादेव वचनमात्रे प्रामाण्यम्। वेदाश्चाप्तोपदेशात्मका अतः प्रमाणम्। 'वेदाः प्रमाणम्, आप्तोपदेश-

नित्यता सिद्ध हो ही जायगी। किन्तु यह तर्क ठीक नहीं है। आपकी रीति से ही विप्रलंभक वाक्य में हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाता है। पक्ष पर हेतु का न रहना ही उसकी स्वरूपासिद्धि है। जिस हेतु में 'स्वरूपासिद्धि' नाम का दोष हो उस हेतु को असद्हेतु कहते हैं, उस असद्हेतु से 'साध्य' की सिद्धि नहीं हो पाती। वञ्चक के वाक्य में अप्रामाण्य (प्रमाण न) होने से उसके विरोधी 'प्रामाण्य' का उसमें रहना कभी सम्भव नहीं हो सकता। यदि यह कहे कि वञ्चक के द्वारा उच्चारण किये गये वाक्य के शब्द अनित्य हैं और आप्त के द्वारा उच्चारण किये गये वाक्य के शब्द नित्य हैं। किन्तु ऐसा सिद्धान्त बनाने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि 'सतो लिङ्गाभावात्, नित्यवैधर्म्यात्, अनित्यश्चायं कारणतः, न चाऽसिद्धं विकारात्, अभिव्यक्तौ दोषात्, संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः, लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः—(क० सू० २।२।२६-३२) ये काणाद सूत्र तो शब्द की अनित्यता को ही बताते हैं। किरणावली आदि ग्रन्थों में भी शब्द की अनित्यता को ही सिद्ध किया गया है, उसे हमने यहीं अन्यत्र बताया है। इस वास्तविक स्थिति के रहने पर भी दयानन्द स्वामी का कणाद मुनि के नाम पर शब्द की नित्यता सिद्ध करना कणाद सूत्रों की अनभिज्ञता को ही सिद्ध करता है। इस प्रकार अपसिद्धान्तों का प्रलाप करना केवल साहस ही है।

इसके अतिरिक्त जो यह कहा है—'तथा स्वकीये न्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह—'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'—(२।१।६८) इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'ईश्वरोक्त, नित्य उन वेदों का प्रामाण्य सबको स्वीकार करना चाहिये।' वह कथन भी न्याय दर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान न होने के कारण ही है। दर्शन के सिद्धान्त का ज्ञान न रखते हुए भी स्वकपोलकल्पित प्रलाप को ही किसी दर्शन के सिद्धान्त के नाम पर कह देना साहसमात्र है। शब्द को अनित्य मानने वालों के पक्ष में दयानन्दोक्त 'नित्यानाम्' इस विशेष की उपपत्ति नहीं लगेगी और उक्त गोतमसूत्र में नित्यत्व का बोधक कोई पद भी नहीं है।

जो यह कहा है—'कुत आप्तप्रामाण्यात्। धर्मात्मभिः कपटच्छलादिदोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतम्, अतः।'—'क्यों? आप्तप्रामाण्य होने से। कपट, छल आदि दोषों से रहित, धर्मात्मा, दयालु, सत्य का उपदेश करने वाले, विद्या के पारंगत, महान् योगी, ब्रह्मा आदि समस्त आप्तों के द्वारा वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है, इस कारण।' वह भी संगत नहीं है। ब्रह्मा आदि आप्तों ने वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया है, इसलिये वेदों को प्रमाण माना जाता है। इस प्रकार अर्थ करना नितान्त अशुद्ध है, क्योंकि वेदों का प्रामाण्य आप्तों ने स्वीकार नहीं किया है, किन्तु आप्तों ने उसका उपदेश किया है, उनके उपदेश करने के कारण ही उसके वचन मात्र (शब्द मात्र) प्रमाण माने गये हैं। अर्थात् वेद आप्तोपदेश रूप होने से प्रमाण कहे जाते हैं। वेद के प्रामाण्य से 'वेदाः प्रमाणम्, आप्तोपदेशत्वात्, मन्त्रायुर्वेदवत्' यह अनुमान ही

त्वात्, मन्त्रायुर्वेदवत्' इत्यनुमानमेव वेदप्रामाण्ये प्रमाणम्। तदेव स्पष्टयति वात्स्यायनो मुनिः—'आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माणः, हन्त वयमेतेभ्यो यथादर्शनं यथाभूतमुपदिशामस्त इमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमाना हेयं हास्यन्त्यधिगन्तव्यमधिगमिष्यन्ति, इत्येवमाप्तोपदेशः प्रमाणम्, एवमाप्ताः प्रमाणम्' इति। तस्मात् सूत्रभाष्योभयविरुद्धमेव दयानन्दीयं व्याख्यानम्।

यदपि च—'किंवत्, मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्, यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति, यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्त्यौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति, तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्यापि प्रामाण्यमङ्गीकार्यम्' (पृ० ३०) इति, तदप्यसङ्गतम्, यतस्त्वया सत्यत्वेन हेतुना वेदानां प्रामाण्यमित्यापादि। तथा च सत्यत्वसिद्धौ प्रामाण्यसिद्धिः, प्रामाण्यसिद्ध्या च सत्यत्वमिति कुतो नान्योन्याश्रयः? किञ्च, मन्त्राणामित्यस्य विचाराणामिति कथमर्थः? भाष्यविरोधश्च।

किञ्च, त्वद्रीत्या मन्त्रायुर्वेदवदित्युदाहरणं निरर्थकमेव। यतो मन्त्रायुर्वेदेष्वेकदेशोक्तार्थस्य प्रामाण्यदर्शनेन तद्भिन्नभागस्य स्थालीपुलाकन्यायेनैव प्रामाण्यं भवति, स्थालीगतपुलाकान्तराणामिव भागान्तरस्यापि प्रत्यक्षार्हत्वात्। न च वेदे तथा सम्भवति, वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षवद् अदृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्य प्रत्यक्षत्वासम्भवात्।

प्रमाण है। इसी आशय को वात्स्यायन मुनि ने स्पष्ट किया है।—'आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माणः। हन्त वयमेतेभ्यो यथादर्शनं यथाभूतमुपदिशामस्त इमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमाना हेयं हास्यन्ति, अधिगन्तव्यमधिगमिष्यन्ति, इत्येवमाप्तोपदेशः प्रमाणम्, एवमाप्ताः प्रमाणम्'—'आप्त' उन्हें कहा जाता है, जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार (अनुभव) किया हो, वे आप्त अपना हर्ष व्यक्त करते हुए कहते हैं—हम अपनी इन सन्तानों को अपने अनुभव के अनुसार यथाभूत (ठीक ठीक) ज्ञान का उपदेश देते हैं, इन उपदेशों को सुनकर और उसे अच्छी तरह समझकर उसमें जो त्याज्य (अग्राह्य) मालूम हो उसे त्याग दें (ग्रहण न करें) और जो ग्राह्य मालूम पड़े उसे ग्रहण करें, इस प्रकार का आप्तोपदेश प्रमाण माना जाता है, इसलिये आप्तों को प्रामाणिक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ऋषियों ने अपने उपदेश का किसी पर दबाव नहीं डाला है, किन्तु सबके समक्ष अपने अनुभव को उपस्थित कर दिया है, उसमें से अपनी सदसद्विवेकिनी बुद्धि से अच्छी तरह विचार कर जो उचित समझो, उसे अपनाओ और जिसे उचित न समझो, उसे मत अपनाओ। इस प्रकार स्पष्ट कहने वाले के अतिरिक्त और कौन दूसरा प्रामाणिक कहलाने योग्य हो सकता है। अतः दयानन्द का व्याख्यान, सूत्र तथा भाष्य दोनों के विरुद्ध होने से उसे प्रामाणिक नहीं कह सकते।

यह जो दयानन्द स्वामी ने कहा है—'किंवत्, मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्, यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति। यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्त्यौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि विभागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति, तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्यापि प्रामाण्यमङ्गीकार्यम्' इति। = वेद का प्रामाण्य किस प्रकार है? उत्तर में कहा—मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य की तरह। जैसे—सत्य पदार्थ के ज्ञान कराने वाले मंत्रों का प्रामाण्य इसलिये होता है कि उनके विचार नितान्त सत्य हैं, अथवा जैसे—आयुर्वेद के किसी विभाग में बताई गई औषधि के सेवन से रोग की निवृत्ति होती देखी जाती है, अतः उसके अतिरिक्त औषधि प्रतिपादक भाग को भी प्रामाणिक माना जाता है। उसी तरह वेदोक्त अर्थ के एकदेश के प्रत्यक्ष कर लेने से उससे भिन्न अदृष्टार्थविषय वाले वेद भाग का प्रामाण्य भी स्वीकार कर लेना चाहिये। स्वामी दयानन्द का उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि दयानन्द ने 'सत्यत्व' को हेतु बताकर वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु इस रीति से वेद का प्रामाण्य यदि सिद्ध किया जाय, तो 'अन्योन्याश्रय' दोष का सामना करना पड़ेगा, वे नहीं समझ पाये। क्योंकि—सत्यत्व के सिद्ध होने पर प्रामाण्य को सिद्ध किया जा सकेगा और प्रामाण्य के सिद्ध होने पर सत्यत्व को सिद्धि हो सकेगी। इस प्रकार 'अन्योन्याश्रय' दोष होगा। दूसरी बात यह भी है कि 'मंत्राणाम्' का अर्थ 'विचाराणाम्' अर्थात् मंत्र का विचार अर्थ कैसे हो सकता है? ऐसा अर्थ करने पर भाष्य से विरोध होगा।

किञ्च—स्वामी दयानन्द ने जो 'मंत्रायुर्वेदवत्' यह उदाहरण दिया है, वह व्यर्थ ही है। क्योंकि मंत्र तथा आयुर्वेद एकदेश में उक्त अर्थ का प्रामाण्य देखकर, उनके अन्य भाग का भी प्रामाण्य, स्थालीपुलाक न्याय से ही कहना होगा। जैसे—स्थाली के

किञ्च, त्वद्रीत्या कस्य वेदोक्तार्थस्य प्रत्यक्षता ? न च चित्रा-कारीर्यादिकर्मणां प्रत्यक्षफलकत्वेन तद्बोधकवेदभागस्य प्रत्यक्षार्थता, तेषां त्वदभिमतेषु मन्त्ररूपेषु वेदेषु विधानाभावात् । नापि कश्चिददृष्टार्थको वेदभागस्त्वन्मते, अग्निहोत्रादीनामपि वायुशुद्धिरूपदृष्टफलाङ्गीकारात् । त्वदुद्धृतं वात्स्यायनभाष्यं तु नायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नभागस्य तादृशस्य प्रामाण्यवद् वेदोक्तार्थस्य एकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वदभागस्य प्रामाण्यं वक्ति । किन्तु य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनां द्रष्टारः प्रवक्तार इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यम् । ये वेदानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, त एवायुर्वेदस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च । आयुर्वेदस्य च फलसंवादित्वेन सर्वैरभ्युपेयत एव प्रामाण्यम्, तथैव वेदानामपि प्रामाण्यमनुमेयम्, द्रष्टृ-प्रवक्तृ-सामान्यात् । मन्त्रायुर्वेदविषये यदीयवचनानां सर्वथापि प्रामाण्यं दृष्टम्, तद्दृष्ट-प्रोक्तवेदानामपि प्रामाण्यमङ्गीकार्यं द्रष्टृप्रवक्तृसामान्यात् ।

वेदानां नित्यत्वसाधनप्रसङ्गे प्रामाण्यसाधनमप्रकृतप्रक्रिया । सत्यत्वेन वेदप्रामाण्यसिद्धौ ब्रह्मादिभिः स्वीकृतत्वादेव वेदानां प्रामाण्यमित्युपक्रमोपसंहारविरोधश्च दयानन्दीयवचनेषु स्पष्ट एव ।

कतिपय पुलाक (चावल कण) के समान, उसके अन्य पुलाक भी प्रत्यक्ष करने योग्य रहते हैं, किन्तु वेदों में वैसा होना संभव नहीं, क्योंकि वेदोक्त अर्थ का एकदेश जैसा प्रत्यक्ष है, वैसे वेद का अदृष्टार्थ विषयक अन्य भाग प्रत्यक्ष होना संभव नहीं ।

किञ्च—स्वामी दयानन्द ही बतावें कि उनकी अपनी पद्धति से ही कौन सा वेदार्थ प्रत्यक्ष है ? प्रत्यक्ष फल वाली चित्रेष्टि, कारीरेष्टि के बोधक वेदार्थ की प्रत्यक्षता है, यह नहीं कह सकोगे, क्योंकि आपका वेद तो केवल 'मन्त्र रूप' है, उसमें विधियां तो होती ही नहीं । जिसमें विधियां होती हैं उस 'ब्राह्मण' भाग को आप वेद मानते नहीं । आपके मत में कोई भी वेदार्थ अदृष्ट फल तो है ही नहीं । अग्निहोत्रादि कर्मों का भी वायुशुद्धिरूप दृष्ट फल ही आपने माना है । अतः आप किसी भी वेदार्थ को अदृष्टार्थक कह नहीं सकते । आपने जो वात्स्यायन भाष्य का उद्धरण प्रस्तुत किया है, उससे भी अदृष्टार्थविषयक वेद भाग का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो पा रहा है । वात्स्यायन भाष्य का उद्धरण प्रस्तुत कर आपने यह कहा था कि आयुर्वेद के किसी भाग में कही गई औषधियों के सेवन से रोग निवृत्ति होती देखकर आयुर्वेद के उस भाग को जैसे प्रमाण माना जाता है, उसी तरह आयुर्वेद के अन्य भाग में भी प्रामाण्य मान लिया जाता है । ठीक उसी प्रकार से वेदार्थ के एकदेश के प्रत्यक्ष हो पाने से, प्रत्यक्ष न होने वाले अन्य वेदार्थ को भी प्रमाण माना जा सकता है । किन्तु आपका यह अभिमत वात्स्यायन भाष्य से सिद्ध नहीं हो पा रहा है । आपके द्वारा उद्धृत किया हुआ वात्स्यायन भाष्य तो यह कह रहा है कि जो आप्त वेदार्थों के द्रष्टा तथा प्रवक्ता हैं, वे ही आयुर्वेदादि के भी द्रष्टा और प्रवक्ता हैं, इस कारण से आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान वेद के प्रामाण्य का भी अनुमान कर लेना चाहिये । जो वेदों के द्रष्टा और प्रवक्ता हैं, वे ही आयुर्वेद के द्रष्टा और प्रवक्ता हैं । आयुर्वेद में फल संवादिता होने से अर्थात् आयुर्वेद का फल प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ने से सभी की उस आयुर्वेद में प्रमाण बुद्धि होती है, उसी तरह वेदों में भी प्रमाण बुद्धि होनी चाहिये, क्योंकि आयुर्वेद और वेद दोनों के द्रष्टा और प्रवक्ता एक ही हैं । मंत्र और आयुर्वेद के विषय में जिनके वचन (वाक्य) पूर्ण रूप से प्रमाण माने गये हैं, उसी तरह दर्शन किये गये या प्रवचन किये गये वेदों के वाक्यों को भी पूर्ण रूप से प्रमाण मानना चाहिये, क्योंकि दोनों के द्रष्टा और प्रवक्ता भिन्न भिन्न नहीं हैं, अपि तु एक ही हैं ।

स्वामी दयानन्द के प्रतिपादित वचनों में उपक्रम-उपसंहार का विरोध भी स्पष्ट दिखाई देता है । उसी तरह प्रकृत (प्रारंभ) कुछ और है, प्रतिपादन कुछ और हो है । जैसे—प्रसंग (प्रकृत) तो है वेदों के नित्यत्व को सिद्ध करने का और करने लगे प्रामाण्य का साधन, अतः यह 'अप्रकृत प्रक्रिया' नाम का दोष है, जो 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' की उक्ति को चरितार्थ कर रहा है । उपक्रम (प्रारम्भ) तो यह किया कि 'सत्यत्व' हेतु से वेदों का प्रामाण्य होता है और उपसंहार में बता रहे हैं कि ब्रह्मादिकों से स्वीकृत होने से वेदों का प्रामाण्य है, अतः स्पष्ट है कि उपक्रम कुछ है और उपसंहार कुछ और ही है । उपक्रम और उपसंहार दोनों में एकता होनी चाहिये ।

यच्चैतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितमित्युक्त्वा 'द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानमिति प्रसङ्गे नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम् (पृ० ३७) इति वात्स्यायनसिद्धान्ततयोद्धृतम्, तत्तु कपटपाटवमज्ञानविजृम्भितं वा, पूर्वपक्षवाक्यस्योत्तरपक्षत्वेनोपन्यासात्, इत्ययुक्तमिति स्थान इत्युक्तमिति विपरीतोपन्यासाच्च। तत्र हि मीमांसकमतेन वेदवाक्यानां नित्यत्वादेव 'प्रामाण्यं न त्वाप्तप्रामाण्यादित्याशङ्क्य तस्यायुक्तत्वं प्रतिपाद्य तत्रैवोत्तरग्रन्थेनोपपत्तिं प्रदर्शयति वात्स्यायनमुनिः। शब्दस्य वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं न नित्यत्वात्। नित्यत्वे हि सर्वस्यैव सर्वेण वचनाच्छब्दार्थव्यवस्थानुपपत्तिः। नानित्यत्वे वाचकत्वमिति चेन्न, अनाप्तोपदेशादर्थविसंवादोऽनुपपन्नः। नित्यत्वाद्धि शब्दः प्रमाणमिति। अनित्यः स इति चेत्, अविशेषवचनम्। अनाप्तोपदेशो लौकिको न नित्य इति कारणं वाच्यमिति। यथानियोगं चार्थस्य प्रत्यायनाय नामधेयशब्दानां लोके प्रामाण्यम्। नित्यत्वात् प्रामाण्यानुपपत्तिः। यत्रार्थे नामधेयशब्दो नियुज्यते लोके तस्य नियोगसामर्थ्यात् स प्रत्यायको भवति, न नित्यत्वात्। एवमाप्तोक्तत्वाच्छब्दस्य प्रामाण्यम्, तत्त्वादेव वेदानां प्रमाणता। वेदानां नित्यत्वं तु सम्प्रदायप्रयोगाभ्यासाविच्छेदादेव, न शब्दस्य नित्यत्वादिति।

न्यायवार्त्तिकेऽपि पौरुषेयत्वमसिद्धं नित्यत्वादिति चेत्, अथ मन्यसे नित्यानि वेदवाक्यानि नित्यत्वाच्चैषां प्रामाण्यम्, तस्मात् पौरुषेयत्वमसिद्धम्, न, असिद्धत्वात्। सिद्धे नित्यत्व एतद्युक्तम्, तत्तु न सिद्धमतो न युक्तमेतत्।

इसके अतिरिक्त और भी—इस सूत्र पर भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने भी इसी प्रकार कहा है, यह कहकर 'द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्' इस प्रसङ्ग में 'नित्यत्वाद् वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्याद् इत्युक्तम्' इस वाक्यांश को वात्स्यायन सिद्धान्त के नाम पर उद्धृत करना तो स्वामी दयानन्द का केवल कपट पाटव ही है, या उन्होंने अपना अज्ञान प्रकाशित किया है, क्योंकि पूर्वपक्ष के वाक्य को स्वामी दयानन्द ने उत्तरपक्ष समझकर उसका उपन्यास किया है। तथा वात्स्यायन सिद्धान्त के नाम पर उद्धृत किये हुए उपर्युक्त वाक्य में वस्तुतः 'इत्ययुक्तम्' है, किन्तु स्वामी दयानन्द ने वास्तविक पाठ को अपनी अज्ञता के कारण अशुद्ध समझकर 'इत्युक्तम्' लिख दिया। वात्स्यायन मुनि ने तो उस प्रसङ्ग में मीमांसकों की दृष्टि से वेद वाक्यों का प्रामाण्य तो उनके नित्य होने से ही है, आप्त की प्रामाणिकता से नहीं। इस प्रकार आशङ्का कर (मीमांसकों के कथन की अयुक्तता बताकर) अग्रिम ग्रन्थ से उसकी अयुक्तता का उपपादन वात्स्यायन मुनि ने किया है। अर्थ ज्ञान होने में शब्द को जो प्रमाण माना जाता है, वह उसके वाचक होने के कारण माना जाता है, शब्द के नित्य होने के कारण नहीं। नित्य होने के कारण यदि शब्द को प्रमाण माना जाय तो सभी अर्थ सभी शब्दों से प्रतिपादित होने के कारण किस शब्द का कौन सा अर्थ है, यह ज्ञात न हो सकेगा, तब शब्दार्थ व्यवस्था की उपपत्ति नहीं बन पायेगी। इसलिये (वाच्यवाचकभाव रूप शब्दार्थ व्यवस्था की उपपत्ति के लिये) यदि शब्द को अनित्य माना जाय, तो वह भी ठीक नहीं होगा। अर्थ की विसंवादिता अनाप्त के उपदेश (कथन) से बन ही जाती है। अतः शब्द अपनी नित्यता के कारण ही प्रमाण है। शब्द को अनित्य मानने में कोई कारण नहीं है। अनाप्तोपदेश लौकिक है, वह नित्य नहीं है, इस कथन में कोई कारण (हेतु) प्रदर्शित करना होगा, कारण प्रदर्शन के बिना प्रतिज्ञामात्र से कोई बात मानी नहीं जाती। यथानियोग अर्थ का बोध कराने के लिये संज्ञा (नामधेय) शब्दों का लोक व्यवहार में प्रामाण्य देखा जाता है। शब्द को यदि नित्य मानेंगे तो प्रामाण्य की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। जिस अर्थ में संज्ञा शब्द की नियुक्ति की जाती है, उसी का वह शब्द नियोग के कारण लोक में बोधक हुआ करता है। नित्य होने के कारण वह अर्थ का बोधक होता है, सो नहीं। इसी प्रकार आप्तोच्चरित होने से शब्द में प्रामाण्य हुआ करता है, अतः आप्तोच्चरित होने से ही वेद में भी प्रामाण्य है और वेद की नित्यता तो उसके सम्प्रदाय और उसके अनुष्ठानाभ्यास का विच्छेद न होने के कारण ही है, शब्द की नित्यता के कारण नहीं।

न्यायवार्त्तिक में भी—'पौरुषेयत्वम् असिद्धं नित्यत्वात्, इति चेत्' ऐसा प्रारम्भ करके 'सम्प्रदायाऽविच्छेदान्नित्यत्वोपचारः' कह कर उपसंहार किया है। अर्थात् वेद वाक्यों को नित्य माना गया है और उनके नित्य होने से ही उनमें प्रामाण्य रहता है, इसलिये उन्हें पौरुषेय नहीं कहा जा सकता, अर्थात् उनकी पौरुषेयता असिद्ध है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जिस 'नित्यत्व' हेतु से प्रामाण्य को सिद्ध करने की चेष्टा की जा रही है, वह हेतु ही स्वयं 'असिद्ध' है। नित्यत्व हेतु की सिद्धि जब हो जाय, तब उपर्युक्त कथन

यदि न नित्यानि कथं प्रमाणानि ? प्रमेयप्रतिपादकत्वात्, न नित्यत्वात्। उपसंहारे च सम्प्रदायाविच्छेदान्नित्यत्वोपचार इत्युक्तम्। तस्मान्न्यायरीत्या वेदानां नित्यत्वप्रतिपादनं दयानन्दस्य छद्मपूर्णंधार्ष्ट्यमेव।

यदुक्तम्—'पतञ्जलिमुनिरप्याह—'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (१।१६)। यः पूर्वेषां सृष्टयादावुत्पन्नानामग्न्यादीनां प्राचीनानामस्मदादीनां भविष्यतां च सर्वेषां गुरुः, तदुक्तत्वाद्वेदानामपि सत्यार्थवत्त्व-नित्यत्वे वेद्ये' (पृ० ३८) इति, तदपि न युक्तम्, वेदनित्यत्वप्रक्रमे ईश्वरनित्यत्वसाधनस्य प्रकरणविरुद्धत्वात्। योगशास्त्रे 'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इतीश्वरस्वरूपं तस्य निरतिशयसार्वज्ञ्यं चोपपाद्य पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदादिति तस्य सार्वकालिकत्वं सर्वगुरुत्वं चोपपादितम्। नात्र सूत्रे वेदनित्यत्वप्रतिपादन-मुक्तम्, गृणाति तत्त्वं योगं योगोपायं चेति गुरुरिति व्युत्पत्तेरेव प्रकृतोपयोगित्वात्। अत एव योगभाष्यकारेण वेदचर्चा कृता। दयानन्दोद्धृतसूत्रे 'स' 'एष' इति पदद्वयं च न सूत्राङ्गम्, तस्य सूत्रोत्थानिकारूपत्वात्।

यच्च 'एवमेव स्वकीये सांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये कपिलाचार्योऽप्याह—'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यमिति। अस्यायमर्थः—वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात् स्वतः प्रामाण्य-नित्यत्वे स्वीकार्ये' (पृ० ३८) इति, तदपि न विचारसहम्, नित्यत्वस्यासौत्रत्वात्। अत एव तत्र विज्ञानभिक्षुणोक्तम्—'नन्वेवं यथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वकत्वात् शुकवाक्यस्येव वेदानामपि प्रामाण्यं न स्यात्, तत्राह—निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। प्रामाण्याशङ्कायां सूत्रस्योत्थानात् तत्प्रतिपादन एव सूत्रसार्थक्यात्। अत्रापि वेदानां नित्यत्व-

को संगत कहा जा सकेगा, किन्तु नित्यत्व ही अभी सिद्ध नहीं हो पारहा है। अतः नित्यत्व के बल पर जो कुछ कहा गया है, वह ठीक नहीं है। यदि शब्द को नित्य न कहेंगे तो उसे प्रमाण कैसे कहा जायगा ? इसका उत्तर तो यह है कि उसे नित्य होने के कारण प्रमाण नहीं माना जाता, अपि तु प्रमेय का प्रतिपादक होने से प्रमाण माना जाता है। अविच्छिन्न सम्प्रदाय के कारण उसमें नित्यत्व का व्यवहार औपचारिक रूप से किया जाता है, ऐसा उपसंहार में कहा गया है। अतः न्यायशास्त्र की पद्धति से वेदों की नित्यता का प्रतिपादन करना तो स्वामी दयानन्द की धृष्टता तथा छद्मपूर्ण खेल ही है।

उसी तरह वेद की सत्यता और नित्यता में पतञ्जलि मुनि का जो उद्धरण दिया है, वह भी ठीक नहीं है। स्वामी दयानन्द लिखते हैं—'पतञ्जलिमुनिरप्याह—'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्'—(यो० सू० १।१६) यः जो, पूर्वेषां सृष्टयादौ उत्पन्नानाम्—सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए, अग्न्यादीनां प्राचीनानां अग्नि आदि प्राचीनों के, तथा अस्मदादीनां भविष्यतां च सर्वेषाम् आगे उत्पन्न होने वाले हम जैसे सभी का, गुरुः—गुरु है, तदुक्तत्वात् = उसके द्वारा उक्त होने से, वेदानामपि वेदों की भी, सत्यार्थ-वत्वनित्यत्वे सत्यार्थपरिपूर्णता एवं नित्यता, वेद्ये = जाननी चाहिये। उपर्युक्त उद्धरण के अनौचित्य को देखिये—स्वामी दयानन्द ने उपक्रम (प्रारम्भ) तो वेद की नित्यता के प्रतिपादन से किया है, किन्तु सिद्ध करने लगे ईश्वर की नित्यता, अतः यह प्रतिपादन प्रकरण-विरुद्ध हो गया है। योगशास्त्र में 'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः—(यो० सू०) इस सूत्र में ईश्वर का स्वरूप और उसकी निरतिशय सर्वज्ञता का उपपादन कर 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्'—इस सूत्रांश से उसकी सार्वकालिकता और सर्वगुरुता का उपपादन किया गया है। वेद की नित्यता का प्रतिपादन इस सूत्र से नहीं किया गया है। 'गृणाति तत्त्वं योगं योगोपायं चेति गुरुः' गुरु शब्द की यही व्युत्पत्ति प्रकृत में उपयुक्त है। यही कारण है कि योगभाष्यकार ने वेद की चर्चा की है। स्वामी दयानन्द ने उद्धृत किये योगसूत्र में 'स' 'एव' ये दो पद पतञ्जलि के योगसूत्र में अङ्गभूत नहीं है। वे पद तो सूत्र की उत्थानिका के रूप में हैं।

इसी प्रकार सांख्यशास्त्र की अपनी पुस्तक के पाँचवें अध्याय में कपिलाचार्य के नाम पर वेद के स्वतः प्रामाण्य और उसकी नित्यता का उल्लेख किया गया है, वह भी विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतर रहा है। स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि कपिलाचार्य ने भी कहा है—'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यमिति। इसका अर्थ यह है कि—निज शक्ति से अभिव्यक्त होने के कारण अर्थात् पुरुष में रहने वाली प्रधान शक्ति के प्रकट होने से वेदों का स्वतः प्रामाण्य और उनकी नित्यता स्वीकार करनी चाहिये'। किन्तु यह अर्थ विचार की कसौटी पर इसलिये नहीं उतर पाता कि 'नित्यत्व' का सूत्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि विज्ञानभिक्षु ने यहाँ पर इस प्रकार अवतरणिका दी है—शुकवाक्य की प्रामाणिकता यथार्थ वाक्यार्थज्ञानपूर्वक होने से जैसे नहीं मानी जाती,

प्रतिपादकं किञ्चिदपि पदं नास्त्येव । न च निजशक्त्यभिव्यक्तेस्तन्नित्यत्वसिद्धिः, सवस्यैव जगतस्तदीयनिजशक्त्य-भिव्यक्त्या त्वद्रीत्या नित्यत्वापातात् । विज्ञानभिक्षुरीत्यापि वेदानां निजा स्वाभाविकी या यथार्थज्ञानजननशक्ति-स्तस्या मन्त्रायुर्वेदादावभिव्यक्तेरुपलम्भादखिलवेदानामेवं स्वत एव प्रामाण्यं सिद्धयति, न वक्तृयथार्थज्ञानमूल-त्वादिनेत्यर्थः । तथा च न्यायसूत्रम्—'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यम्' ।

नैतावदेव नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवदिति कपिलसूत्रेऽपौरुषेयत्वान्नित्यत्वमाशङ्क्याङ्कुरादिदृष्टान्तेन नित्यत्वं प्रतिषिद्धमेव । तथा च कपिलसूत्रेण वेदनित्यत्वप्रतिपादनं प्राकृतजनप्रतारणमात्रमेव ।

'अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह—'शास्त्रयोनित्वात्' (१।१।१३) । अस्यायमर्थः—ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात् सम्भवति, यथा व्याकरणादिपाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके । किमु वक्तव्यम्' (पृ० ३९) इति । इदं वचनं शङ्कराचार्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम् । अतः किमागतम्—सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हति, तदपि न सङ्गतम्, सूत्रस्यास्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य शास्त्रस्य ब्रह्मकारणकत्वेन वेदकारणत्वेन परमेश्वरसार्वज्ञ्यसिद्धिपर्यवसायित्वेन वेदनित्यत्वा-प्रतिपादनात्, उत्पत्तिमतः कस्यापि नित्यत्वानुपपत्तेश्च ।

वैसे ही वेद वाक्य की भी प्रामाणिकता नहीं मानी जायगी, ऐसी आशङ्का होने पर सांख्यसूत्रकार ने उत्तर दिया 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्' । अर्थात् वेद के प्रामाण्य में जब आशङ्का उत्पन्न हुई, तब उस आशङ्का को दूर करने के लिये उक्त सूत्र कहा गया है, अतः वेदप्रामाण्य के प्रतिपादन में ही सूत्र की सार्थकता सिद्ध हो पाती है । यहाँ पर वेदों की नित्यता का प्रतिपादक कोई भी शब्द नहीं है और न ही निजशक्ति की अभिव्यक्ति से उसके नित्यत्व की सिद्धि हो हो पा रही है, क्योंकि समस्त जगत् ही उसकी अपनी शक्ति से ही अभिव्यक्त हुआ है, अतः आपकी पद्धति से उसे भी नित्य कहना होगा । विज्ञानभिक्षु की पद्धति से भी वेदों की अपनी स्वाभाविक जो यथार्थज्ञानजनन शक्ति, उसकी उपलब्धि मन्त्र—आयुर्वेद आदि में होने से समस्त वेदों का स्वतः प्रामाण्य, अर्थात् स्वभावतः ही प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है, वक्ता के यथार्थ ज्ञान के कारण नहीं । इसी अभिप्राय को न्यायसूत्रकार ने—'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यम्' (न्या० सू०) इस सूत्र से बताया है ।

इतना ही नहीं, कपिलाचार्य ने भी—'नाऽपौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत्' (सां० सू०) इस सूत्र से वेद के अपौरुषेय होने के कारण उसके नित्यत्व की आशङ्का कर उसका प्रतिषेध अंकुरादि के दृष्टान्त से किया है । अतः कापिलसूत्र का उद्धरण देकर वेद की नित्यता का प्रतिपादन करना साधारण लोगों की आँख में धूल झोकना है ।

इसी विषय पर अपनी पुस्तक में स्वामी दयानन्द के कृष्णद्वैपायन व्यास मुनि के वेदान्तशास्त्र का भी उद्धरण दिया है—'कृष्णद्वैपायन व्यास मुनि ने भी कहा है—'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) । स्वामी दयानन्द इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—अनेक विद्या स्थानों से उपबृंहित होने से प्रदीप की तरह समस्त अर्थों के प्रकाशक, अत एव सर्वज्ञकल्प ऋग्वेद आदि शास्त्र का एक मात्र कारण ब्रह्म ही है, क्योंकि इस प्रकार के सर्वज्ञता आदि गुणों से परिपूर्ण कहे जाने वाले ऋग्वेदादि शास्त्र का सम्भव, सर्वज्ञ के सिवा अन्य किसी से नहीं हो सकता । जो-जो विस्तृत अर्थ वाला शास्त्र जिस किसी पुरुष विशेष से किया जाता है, चाहे वह ज्ञेयविषय के एक विभाग का ही बोधक क्यों न हो, किन्तु उसका निर्माता उस बोध्य विषय से कहीं अधिक विषय का ज्ञाता होता है, जैसे व्याकरण आदि शास्त्र के निर्माता पाणिनि आदि मुनि स्वस्वनिर्मित शास्त्र से कहीं अधिक ज्ञान सम्पन्न थे, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, उसे कहने की आवश्यकता नहीं ।' ये शब्द आचार्य शंकर ने इस सूत्र की अपनी व्याख्या में कहे हैं । इससे निष्कर्ष क्या निकला ? सर्वज्ञ ईश्वर का शास्त्र भी नित्य है और समस्त अर्थ के ज्ञान से भरा हुआ है, किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है । उक्त सूत्र का तात्पर्य तो परमेश्वर की सर्वज्ञता बताने में है, क्योंकि ब्रह्म ही ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण है । अतः वेद का कारण होने से परमेश्वर में सर्वज्ञता की सिद्धि अनायास ही

यच्च 'अत एव च नित्यत्वम्' (१।३।३९) अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतः प्रामाण्यं सर्वविद्यात्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम्' (पृ० ३९)। ब्रह्मकार्यस्योत्पत्तिमतः शास्त्रस्यर्ग्वेदादेः पदवाक्यकदम्बात्मकस्य पौर्वापर्यरूपानुपूर्वीमूलकत्वेन पौर्वापर्यस्य च नित्येषु विभुषु वर्णेष्वसम्भवेन कण्ठताल्वादिजनितवर्णाभिव्यक्तीनामेव तत्सम्भवेन तासां चानित्यत्वेनानित्यत्वेऽप्यतीतानागतेषु सर्वेष्वपि कल्पेषु आनुपूर्व्याः सर्वदा ऐकरूप्यात् प्रवाहरूपेण नित्यत्वमेव।

सूत्रार्थवर्णनं त्वशुद्धमेव, पूर्वापरविरुद्धत्वात्। तत्र देवताधिकरणे देवानामिन्द्रादीनां विग्रहवत्त्वसाधनेन विग्रहवतामनित्यत्वेन वेदार्थभूतानामिन्द्रादिदेवतानामनित्यत्वेन तदर्थकशब्दानामप्यागन्तुकत्वेन शब्दार्थसम्बन्धानामौत्पत्तिकत्वासिद्धयाऽपौरुषेयत्वानुपपत्त्या प्रामाण्यस्वतस्त्वानुपपत्तिरिति शब्दे विरोधमाशङ्क्य 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (१।३।२८) इति सूत्रेण प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां वैदिकशब्देभ्यः प्रपञ्चसृष्टिमुक्त्वार्थसृष्टेः प्राग् वैदिकशब्दानां सत्तां प्रसाध्य विग्रहवतामिन्द्रादिदेवानामनित्यत्वेऽपि वैदिकशब्दानां तत्तज्जातिवाचकत्वेन वा प्राड्विवाकादिशब्दवदिन्द्रादिशब्दानां स्थानवाचकत्वेनौत्पत्तिकत्वं साधितम्। अत एव वैदिकशब्देभ्यो देवादिसृष्टिसिद्धेरेव वैदिकशब्दानां नित्यत्वमौत्पत्तिकत्वं प्रवाहरूपेण सार्वकालिकत्वमुपपादितम्। तदनाकलनादेव दयानन्दस्तु पूर्वापरविरुद्धं यत्किञ्चिदाह। नहि नित्येश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वं नित्यधर्मकत्वाच्च स्वतः प्रामाण्यं सम्भवति, निर्मितानां कार्यभूतानामानुपूर्वीविशिष्टानां नित्यत्वविरोधात्। वर्णनित्यत्वेन तथात्वे

हो जाती है। इस सूत्र के द्वारा वेद की नित्यता का प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है। उत्पत्तिमान् किसी भी वस्तु की नित्यता उपपन्न नहीं हो सकती।

'अत एव च नित्यत्वम्'—(१।३।३९) सूत्र का जो अर्थ स्वामी दयानन्द ने किया है, वह भी अशुद्ध किया है। तथाहि—'अतः' ईश्वरोक्त होने से, नित्य होने के कारण वेदों का स्वतः प्रामाण्य और उन्हें समस्त विद्यास्वरूप तथा सभी कालों में उनकी अव्यभिचारिता के कारण सभी मनुष्यों को चाहिये कि वेदों की नित्यता को स्वीकार करें। ऋग्वेदादि शास्त्र ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण उसके कार्य हैं, वे ऋग्वेदादि शास्त्र पद-वाक्य समूह रूप हैं, अतः उन्हें पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वीमूलक कहना होगा, किन्तु नित्य तथा विभु वर्णों में पौर्वापर्य का होना संभव न होने से कण्ठ, तालु आदि स्थानों से उत्पन्न होने वाले वर्णों की अभिव्यक्ति में ही उसका (पौर्वापर्य का) होना सम्भव हो सकता है। यद्यपि अभिव्यक्तियों के अनित्य होने से आनुपूर्वी की भी अनित्यता होगी, तथापि भूत-भविष्य सभी कल्पों में आनुपूर्वी की सदा सर्वदा एकरूपता होने से प्रवाह की तरह उसे नित्य ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार सूत्रार्थ करना पूर्वापरविरुद्ध होने से अशुद्ध है। सूत्रार्थ करते समय देवताधिकरण में इन्द्रादि देवताओं को शरीरधारी सिद्ध किया गया है और जो शरीरधारी होते हैं, वे अनित्य होते हैं, यह नियम है। अतः वेदार्थरूप इन्द्रादि देवताओं के अनित्य सिद्ध होने से उनके वाचक शब्दों में भी वह (अनित्यता) आ ही जायगी, तब शब्द-अर्थ के सम्बन्ध की औत्पत्तिकता (नित्यता) सिद्ध न हो सकेगी, उसके सिद्ध न हो सकने पर वेद के अपौरुषेयत्व की उपपत्ति नहीं होगी, उसके न होने पर उनका स्वतः प्रामाण्य नहीं बनेगा। इस प्रकार शब्द में विरोध की आशंका कर ब्रह्मसूत्रकार ने—'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (१।३।२८) सूत्र के द्वारा बताया कि प्रत्यक्ष और अनुमान अर्थात् श्रुति और स्मृति से यानी वैदिक शब्दों से प्रपञ्च की सृष्टि हुई है। अतः अर्थ सृष्टि के पूर्व वैदिक शब्दों की सत्ता (अस्तित्व) सिद्ध हो जाती है, उसके सिद्ध हो जाने से शरीरधारी इन्द्रादि देवताओं की अनित्यता रहने पर भी वैदिक शब्दों की तत्तज्जातिवाचकता होने से अथवा प्राड्विवाकादि शब्दों की तरह इन्द्रादि शब्दों की स्थानवाचकता होने से औत्पत्तिकता (नित्यता) को सिद्ध किया गया है। इसी कारण वैदिक शब्दों से देवादिकों की सृष्टि होने से ही वैदिक शब्दों की नित्यता (औत्पत्तिकता) प्रवाह रूप से सार्वकालिकता का उपपादन किया गया है। किन्तु इस यथार्थता का आकलन न कर सकने के कारण ही स्वामी दयानन्द ने पूर्वापर विरुद्ध जो मन में आया उसे कह डाला। वैदिक शब्दों की नित्यता नित्य ईश्वर के द्वारा उक्त होने से नहीं है और न ही उनके नित्य होने से उनका स्वतः प्रामाण्य ही है। निर्मित होने से कार्य कोटि में समझे जाने वाले आनुपूर्वी विशिष्ट वर्णों में नित्यता हो ही नहीं सकती, क्योंकि नित्यता और उत्पत्तिमत्ता दोनों में विरोध है। यदि वर्णों को नित्य माना जाय

त्वनाप्तवाक्यानामपि प्रामाण्यस्वतस्त्वापत्तेः। न च कणादगोतमादयः प्रामाण्यस्वतस्त्वमभ्युपगच्छन्ति, गुणवद्वक्तृकत्वेन तैर्न केवलं समेषामेवाप्तवाक्यानां परतः प्रामाण्यमभ्युपगम्यते, किन्तु समेषामेव प्रत्यक्षादीनां प्रमाणानां प्रामाण्यपरतस्त्वमेवाभ्युपगम्यते। पूर्वोत्तरमीमांसकानां रीत्यापि न नित्यत्वात्, किन्त्वपौरुषेयत्वेनापास्तसमस्तपुंदोषशङ्काकलङ्कपङ्कत्वादेव स्वतः सिद्धमेव प्रामाण्यमनपोदितत्वात् स्थिरं भवति, तेषां मते समेषामेव प्रमाणानां प्रामाण्यस्वतस्त्वाभ्युपगमात्। कारणदोषबाधज्ञानाच्चाप्रामाण्यनिश्चयेनाप्रामाण्यस्य परतस्त्वाभ्युपगमाच्च।

आश्चर्यमिदं यद् दयानन्देन 'यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात् सम्भवति यथा व्याकरणादिपाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञानः' इति शाङ्करभाष्यस्यार्थोऽशुद्ध एव कृत इति विदाङ्कुर्वन्तु बुधास्तत्पाण्डित्यम्। 'किन्तु वेदविस्तार के लिये किसी जीव विशेष पुरुष से अन्यशास्त्र बनाने का सम्भव होता है। जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है, उनमें विद्या के एकदेश का प्रकाश किया है। सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं।' (पृ० ४०) सर्वथापि भाष्यार्थानवबोधमूलकोऽशुद्ध एवायमर्थः। किन्तु यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषाद् भवति स पुरुषविशेषस्ततो विस्तरार्थाच्छास्त्राद् अधिकतरविज्ञानो भवति। तन्निर्मातृनिर्मितशास्त्रं यावद्विस्तरार्थज्ञानजनकं भवति, तन्निर्माता ततोऽप्यधिकज्ञानवान् भवति, स्वनिष्ठस्य सर्वस्य ज्ञानस्य वक्तुमशक्यत्वात्। यथा व्याकरणादिशास्त्रं पाणिन्यादेर्ज्ञेयस्यैकदेशार्थमपि यावदर्थविस्तरबोधकं पाणिन्यादिस्ततोऽप्यधिकविज्ञानवान् विज्ञायते, तथैव परमेश्वरोऽपि सर्वविद्यास्थानोपबृंहितवेदविस्तरार्थज्ञानादप्यधिकज्ञानवान् मन्तव्यः। अत एव वेदः सर्वार्थविद्योतितत्वात् सर्वज्ञगुणान्वितत्वाच्च सर्वज्ञकल्पः, अर्थाद् ईषदसमाप्तसर्वज्ञः, असम्पूर्णः सर्वज्ञः,

तो अनाप्त पुरुष के कहे गये वाक्य भी स्वतः प्रमाण माने जाने लगेंगे। कणाद-गोतम आदि महर्षियों ने भी प्रामाण्य के स्वतस्त्व को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने आप्त वाक्यों में परतः प्रामाण्य को माना है, क्योंकि आप्त गुणवान् वक्ता होता है, वक्ता के गुणवान् होने से उसके उच्चरित वाक्य में प्रामाण्य माना गया है। केवल आप्त वाक्यों में ही परतः प्रामाण्य स्वीकार किया गया हो ऐसी बात नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों में परतः प्रामाण्य को ही उन्होंने स्वीकार किया है। पूर्वोत्तर मीमांसकों की पद्धति से भी आप्त वाक्यों का प्रामाण्य शब्द-नित्यत्व के कारण नहीं है, अपितु वेद वाक्यों के (आप्त वाक्यों के) अपौरुषेयत्व के बल पर माना गया है, क्योंकि अपौरुषेयता के कारण रचयिता पुरुष के किसी दोष का उनमें स्पर्शमात्र भी होने की संभावना नहीं की जा सकती। मीमांसकों ने तो सभी प्रमाणों को स्वतः प्रमाण ही माना है। किन्तु जब कभी कारणगत दोष या बाधक ज्ञान हो जाय, तब उनमें अप्रामाण्य परतः होता है, यह उनका अपना सिद्धान्त है।

स्वामी दयानन्द ने शांकर भाष्य के किसी एक अंश—'यद् यद् विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् सम्भवति, यथा व्याकरणादिपाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञानः'—का अत्यन्त अशुद्ध अर्थ किया है, जिसके देखने से विद्वानों को उनके ऊटपटांग पाण्डित्य का पता चल जाता है। शांकर भाष्य के उपर्युक्त अंश का स्वामी दयानन्द अर्थ करते हैं—'किन्तु वेद विस्तार के लिए किसी जीव विशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का संभव होता है। जैसे—पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है, उनमें विद्या के एकदेश का प्रकाश किया है। सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं।' इस प्रकार का अशुद्ध अर्थ तो भाष्यार्थ न समझ सकने वाला अनपढ़ व्यक्ति ही कर सकता है। उपर्युक्त उद्धरण का वास्तविक शुद्ध अर्थ इस प्रकार होता है—जिस पुरुष विशेष के द्वारा जिस किसी विस्तृत-गभीर अर्थ के शास्त्र का निर्माण किया जाता है, तो वह पुरुष विशेष स्वयं के रचे हुए विस्तृतार्थक शास्त्र की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान् रहता है। किसी रचयिता के द्वारा रचा हुआ शास्त्र, जितना विस्तृत अर्थ का ज्ञान करावेगा, तो उसके रचयिता का ज्ञान उस शास्त्र की अपेक्षा निश्चित रूप से कहीं अधिक ही होगा, क्योंकि स्वबुद्धिस्थ समस्त ज्ञान का कथन कर पाना संभव नहीं है। जैसे व्याकरणादि शास्त्र अपने रचयिता महर्षि पाणिनि के ज्ञेयविषय के यत्किञ्चित् अंश से युक्त होने पर भी जितने विस्तृत अर्थ का बोधन करते हैं, उससे कहीं अधिक अर्थ के ज्ञाता पाणिनि हैं, यह समझ में आता है। वैसे ही परमेश्वर को भी समस्त विद्यास्थानोपबृंहित वेद से होने वाले विस्तृत अर्थ के ज्ञान से कहीं अधिक ज्ञान सम्पन्न समझना चाहिये। अतः समस्त अर्थों का

परमात्मा तु सम्पूर्णः सर्वज्ञः। अत एव हिन्दीटीकायाम्—'शङ्कराचार्येण वेदानां नित्यत्वमभ्युपगम्यैवास्य सूत्रस्यार्थः कृतः' इति यदुक्तम्, तदपि सर्वथाऽशुद्धम्, तद्रीत्या ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्यैव ब्रह्मकार्यत्वेनानित्यत्वात्। अनित्यत्वेऽपि ब्रह्मकार्यत्वेऽपि तदानुपूर्व्याः परिवर्तने ईश्वरस्याप्यस्वातन्त्र्यम्। पूर्वकल्पीयानुपूर्वीसव्यपेक्षानुपूर्वीनिर्माणकर्तृत्वेन वेदकर्तृत्वमीश्वरस्य, न निरपेक्षानुपूर्वीनिर्मातृत्वेन स्वतन्त्रोच्चारयितृत्वेन प्रथमोच्चारयितृत्वेन वा। अत एव वेदानामपौरुषेयत्वमौत्पत्तिकत्वं सार्वकालिकत्वं नित्यत्वं च।

यच्च—'वेदस्य प्रामाण्यसिद्धयर्थमन्यत्प्रमाणं न स्वीक्रियते, किन्त्वेतत्साक्षिवद्विज्ञेयम्, वेदानां स्वतः प्रमाणत्वात् सूर्यवत्। यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् संसारस्थाने महतोऽल्पांश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान् प्रकाशयति, तथा वेदोऽपि स्वयंप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीति' (पृ० ३९), तदपि बालभाषितम्, सूर्यस्यापि स्वसजातीयप्रकाशानपेक्षत्वेऽपि विजातीयमनश्चक्षुरादिप्रकाशसापेक्षत्वेन स्वप्रकाशत्वाभावात्। तथैव वेदानामप्यध्यापयित्रध्येतृसापेक्षत्वेन त्वद्रीत्याप्युत्पत्तिमत्त्वेन परमात्मसापेक्षत्वेन स्वप्रकाशत्वासम्भवात्। किञ्च, यदि वेदानां स्वतः प्रामाण्यं प्रमाणान्तरानपेक्षं तर्हि किमर्थं नित्यत्वसाधनाय त्वत्प्रयासः? किमिति बौद्धजैनादिभिरपि तत्प्रामाण्यं नाङ्गीक्रियते। विद्यमानत्वादेव यस्य संशयविपर्ययविपरीतप्रमाऽज्ञानाविषयत्वमेव हि स्वप्रकाशत्वम्। न चैतद् दृश्यते वेदे, संशयविपर्ययाज्ञानादिविषयत्वात्। नैयायिकवैशेषिकादिभिरन्येषां प्रमाणानामिव वेदानामपि परतः प्रामाण्यमास्थीयते। तत एव परमाप्तसर्वेश्वरप्रोक्तत्वेन हेतुना तैर्वेदानां प्रामाण्यमङ्गीक्रियते। त्वयापि सर्वज्ञेश्वरात्तदुत्पत्तिसाधनेन तेषां

प्रकाशक तथा सर्वज्ञता के गुण से युक्त होने के कारण वेद को सर्वज्ञकल्प ही समझना चाहिये, अर्थात् करीब करीब सर्वज्ञ यानी सर्वज्ञता की सम्पूर्णता से कुछ ही न्यून उसे स्वीकार करना ही होगा। परमात्मा तो सम्पूर्ण सर्वज्ञ है, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है। इसी लिये दयानन्द ने अपनी हिन्दी टीका में जो यह लिखा कि 'शङ्कराचार्य ने वेदों की नित्यता को स्वीकार करके ही इस सूत्र का अर्थ किया है', वह भी सर्वथा अशुद्ध ही है। उस रीति से ब्रह्मातिरिक्त सभी कुछ ब्रह्मकार्य होने से अनित्य है। अनित्य तथा ब्रह्म का कार्य होने पर भी उसकी आनुपूर्वी के परिवर्तन करने में ईश्वर भी स्वतंत्र नहीं है। ईश्वर को जो वेद कर्ता कहते हैं, वह पूर्व कल्प की आनुपूर्वी के अनुसार आनुपूर्वी निर्माण करने के कारण है। स्वतंत्रता पूर्वक आनुपूर्वी निर्माण करने के कारण, या स्वतंत्रता पूर्वक उच्चारण करने के कारण, या प्रथम उच्चारण करने के कारण नहीं। इसीलिये वेदों की अपौरुषेयता स्वाभाविक है, तथा सार्वकालिकता और नित्यता भी।

स्वामी दयानन्द का जो यह कहना है कि—वेद के प्रामाण्य की सिद्धि के लिये किसी अन्य प्रमाण का स्वीकार नहीं किया जाता, किन्तु उसे साक्षी की तरह समझना चाहिये, क्योंकि वेद तो सूर्य की तरह स्वतः प्रमाण हैं। जैसे सूर्य स्वप्रकाश होने से संसार के बड़े छोटे पर्वत से लेकर त्रसरेणु तक के सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही वेद भी स्वयंप्रकाश होता हुआ सभी विद्याओं को प्रकाशित करता है'—वह भी बालभाषित के ही समान है। स्वामीजी ने जो सूर्य का दृष्टान्त दिया है, वह ठीक नहीं है। उन्हें यह समझना चाहिये था कि सूर्य को अपने सजातीय प्रकाश की अपेक्षा न रहने पर भी विजातीय मन, चक्षु आदि के प्रकाश की अपेक्षा होती ही हैं, अतः उसे स्वप्रकाश नहीं कहा जा सकता। उसी तरह वेदों को अध्येता-अध्यापयिता की अपेक्षा रहने से और आपकी रीति से वेदों की उत्पत्ति होने के कारण उन्हें परमात्मा की अपेक्षा होने से वेदों को स्वप्रकाश कहना संभव नहीं। दूसरी बात यह है कि प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रहने से यदि वेदों का स्वतःप्रामाण्य मानते हो तो उसके नित्यत्व को क्यों सिद्ध कर रहे हो? क्या बौद्धों ने और जैनों ने वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार किया है? वेदों का स्वतः प्रामाण्य रहने से ही वे संशय, विपर्यय, विपरीत प्रमा, अज्ञान के विषय नहीं हो पाते, क्या यही उनकी स्वप्रकाशता है? तुम्हारे कथनानुसार वेद में यह सब कुछ दृष्टिगोचर नहीं हो पाता, वे तो संशय, विपर्यय, अज्ञानादि के विषय होते हैं। नैयायिक-वैशेषिक आदि ने तो अन्य प्रमाणों की तरह वेदों का भी परतः प्रामाण्य ही माना है। परतः प्रामाण्य स्वीकार करने से ही उन्होंने परमाप्त सर्वेश्वर के द्वारा वेदों के उक्त होने से उनका

परमेश्वरोत्पन्नत्वेनैव प्रामाण्यमङ्गीक्रियते। वस्तुतस्तु प्रामाण्यस्वतस्त्वपरतस्त्वकथानभिज्ञत्वादेव त्वया यत्किञ्चित् स्वोक्तिविरुद्धमपि प्रलप्यते।

यच्च—'अत एवेश्वरः स्वयं स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह' (पृ० ४०), तदपि वदतो व्याघातान्नातिरिच्यते। यतो यस्य सिद्धिकरं प्रमाणमुच्यते, न तत् स्वप्रकाशम्, तथात्वे च त्वद्रीत्या परमेश्वरोऽपि न स्वप्रकाशः किमु तदुक्तो वेदः। वस्तुतस्तु 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) इति रीत्याऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वात्प्रत्यगात्मरूपेण ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वम्, तस्यैव संशयाद्यविषयत्वात्। चार्वाकोऽपि न नाहमस्मीति प्रत्येति, न वा तत्र सन्दिग्धे विपर्येति वा। प्रमाणमात्रस्य प्रमाणान्तरापेक्षप्रामाण्ये तस्याप्येवं तस्याप्येवमित्यपेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात् प्रामाण्यस्वतस्त्वमिष्यते। तेन प्रत्यक्षानुमानयोरिव वेदस्यापि प्रामाण्यस्वतस्त्वमेव। कारणदोषबाधज्ञानाभ्यामेव प्रमाणानामप्रामाण्येन प्रामाण्यस्वतस्त्वमपोद्यते। वेदस्यापौरुषेयत्वेन कारणाभावादपास्तपुरुषाश्रितभ्रमप्रमादकरणापाटवादिदोषाशङ्काकलङ्कत्वेन प्रत्यक्षानुमानानधिगतालौकिकार्थगमकवेदार्थस्यालौकिकत्वेन तद्बाधस्यापि प्रत्यक्षानुमानागोचरत्वेन कारणदोषबाधज्ञानाभावादप्रामाण्यसंशयाद्यभावादेव वेदानां प्रामाण्यस्वतस्त्वमनपोदितमेव भवति।

यत्तु—'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥' (वा० सं० ४०।८)। अस्यायमभिप्रायः—यः पूर्वोक्तः सर्वव्यापकत्वादिविशेषणयुक्त ईश्वरोऽस्ति, स पर्यगात् परितः सर्वतो गतवान् प्राप्तवान्, एकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विना नास्ति। तज्जगत्कर्तृ शुक्रमनन्तबलवद् अकायं स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरत्रयरहितम्, अव्रणं नैवैतस्मिन् छिद्रं कर्तुं शक्नोति, परमाणुरपि

प्रामाण्य स्वीकार किया है। उसी प्रकार आपने भी वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से बताकर, तदुत्पन्न होने से ही उनका प्रामाण्य स्वीकार किया है। सच पूछा जाय तो प्रामाण्य के स्वतस्त्व या परतस्त्व की कहानी से परिचित न होने के कारण ही आपने अपने पूर्वोक्त कथन के विरुद्ध भी प्रलाप कर डाला।

उसी तरह जो आपने यह कहा है कि 'इसीलिये ईश्वर ने स्वयं प्रकाशित वेद और अपने को सिद्ध करने के लिये प्रमाण बताया है।' वह भी स्वोक्ति विरुद्ध ही है, क्योंकि जिसकी सिद्धि के लिये प्रमाण बताया जाय, वह स्वप्रकाश कैसे हो सकता है? उसे भी यदि स्वप्रकाश कहें तो तुम्हारी रीति के अनुसार तो परमेश्वर भी स्वप्रकाश नहीं हो सकेगा, तब उसका कहा हुआ वेद स्वप्रकाश कैसे हो पायगा? वस्तुतस्तु 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'—(बृह० ३।४।१) की रीति के अनुसार अवेद्य और अपरोक्ष होने से ब्रह्म को प्रत्यगात्मता के कारण स्वप्रकाशता है, क्योंकि उसके प्रति किसी को संशयादि नहीं होते। चार्वाक को भी 'नाहमस्मि—मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती और न अपने में उसे सन्देह या विपर्यय ही होता है। सभी प्रमाणों को अपना प्रामाण्य प्राप्त करने में यदि अन्य प्रमाण की अपेक्षा रहे तो प्रामाण्यप्रापक अन्य प्रमाणों को भी अपने प्रामाण्य के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा, उसी तरह उन्हें भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा, इस प्रकार की अनवस्था होने लगेगी। किन्तु इष्ट तो प्रामाण्य का स्वतस्त्व है, अतः प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों की तरह वेदों का प्रामाण्य भी स्वतः ही है। प्रामाण्य के स्वतस्त्व का विनाश उसी परिस्थिति में होता है, जब कारणदोष या बाधज्ञान हो जाय, अन्यथा नहीं। प्रमाणों का अप्रामाण्य कारणदोष या बाधज्ञान पर ही अवलम्बित है। वेद तो अपौरुषेय हैं, उनका निर्मातारूप कारण कोई नहीं है, अतः निर्माता के भ्रम, प्रमाद, करणों की अपटुता आदि दोषों की शंका करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। प्रत्यक्ष या अनुमान से गम्य न होने वाले अलौकिक अर्थ का बोधक यह वेदार्थ है, अतः वह भी अलौकिक है, इसलिये उसका बाध भी प्रत्यक्ष, अनुमानादि लौकिक प्रमाणों से न होने के कारण कारणदोष या बाधज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है। उसी कारण अप्रामाण्य का सन्देह तक न हो पाने से वेदों का स्वतःप्रामाण्य अबाधित रूप से स्थिर रहता है।

अब जो—'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥' (वा० सं० ४०।८) इस मन्त्र का यह अभिप्राय जो पहिले बता चुके हैं—सर्वव्यापकत्व आदि विशेषणों से युक्त ईश्वर है। स पर्यगात् वह चारों ओर प्राप्त हुआ, एक परमाणु भी उसके व्याप्त हुए बिना नहीं है। वह जगत्कर्ता नित्य बल सम्पन्न है, स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीन शरीरों से रहित हैं, न उसमें छिद्र ही किया जा सकता है, परमाणु भी छिद्र रहित

छेदरहितत्वादेवाक्षतम्, अस्नाविरं तन्नाडीसम्बन्धरहितत्वाद् बन्धनावरणविमुक्तम्, शुद्धं तदविद्यादोषेभ्यः सर्वदा पृथग्वर्तमानम्, अपापविद्धं नैव तत् पापयुक्तं पापकारि कदाचिद् भवति। कविः सर्वज्ञः, मनीषी यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति। परिभूः सर्वेषामुपरि विराजमानः, स्वयंभूः यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः स एव सर्वेषां पिता, नह्यस्य कश्चिद् जनकः, स्वसामर्थ्येन सदैव सदा वर्तमानोऽस्ति। एवंभूतः परमात्मा स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो निरन्तराभ्यः समाभ्यः प्रजाभ्यो याथातथ्यतो यथार्थस्वरूपेन वेदोपदेशेन अर्थान् व्यदधाद् विधत्तवान्। अर्थाद् यदा यदा सृष्टिं करोति तदा तदा प्रजाभ्यो हिताय सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति। अत एव नैव वेदानामनित्यत्वं केनापि मन्तव्यम्, तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्तमानत्वात्' (पृ० ४१) इति, तदपि कल्पनाबहुलोऽर्थस्तात्त्विकार्थशून्यः। तथाहि—अकायमित्यनेन स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितत्वसिद्धौ अव्रणमित्यस्य व्यर्थतैव, स्थूलशरीर एव व्रणादिसम्भवात्। अस्नाविरमित्यादिपदव्यर्थतैव। स्थूलशरीर एव स्नाय्वादिसम्बन्धात्। समाभ्य इत्यस्य प्रजाभ्य इति काल्पनिक एवार्थः। एवं यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन अर्थान् व्यदधाद् अर्थाद् यदा यदा सृष्टिं करोति तदा तदा सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रमुपदिशतीत्यपि वेदाक्षराद् बहिर्भूतोऽर्थः, तद्बोधकपदाभावात्।

श्रीशङ्कराचार्यसम्मतस्त्वयमस्य मन्त्रस्यार्थः—स प्रकृतः परमात्मा परितः सर्वतोऽगात्। सर्वकारणत्वात् सर्वत्र पूर्णो व्यापकः, शुक्रं दीप्तिमत्, स्वप्रकाशमिति यावत्, अकायं सूक्ष्मदेहरहितम्, अव्रणं व्रणरहितमक्षतम्, अस्नाविरं स्नावा शिरादि तद्रहितम्, एतत्पदद्वयेनार्थात् स्थूलदेहराहित्यं सूचितम्। शुद्धमविद्यालक्षणकारणदेहरहितम्। एवं परमात्मनः स्थूल-सूक्ष्म-कारणदेहशून्यत्वेऽपि भक्तानुग्रहार्थमप्राकृतदिव्यसच्चिदानन्दलक्षणं स्थूलसूक्ष्मशरीरवत्त्वमप्यस्त्येव। नन्वकायमिति विरोधादेव तदयुक्तमिति चेन्न, अनुदरी कन्येत्यादावल्पार्थत्ववत् प्रकृतेऽपि नञो

होने से ही अक्षत है, नाडियों से सम्बन्धित न होने से वह बन्धन—आवरण से विमुक्त है, अविद्यादि दोषों से सदा पृथक् रहता है और न ही वह पाप से युक्त है—अर्थात् कभी भी वह पापाचरण नहीं करता, वह सर्वज्ञ तथा सभी के मनों का साक्षी ज्ञाता है, सबके ऊपर विराजमान रहता है। जो निमित्त, उपादान, साधारण कारण तीनों से रहित है, वही सबका पिता है, उसका कोई जनक नहीं है। वह अपनी शक्ति के साथ ही सर्वदा वर्तमान रहता है। इस प्रकार का परमात्मा अपनी निरन्तर होने वाली प्रजा के लिये यथार्थ स्वरूप से वेदोपदेश के द्वारा पदार्थों का निर्माण करता है। अर्थात् जब-जब वह सृष्टि करता है, तब-तब प्रजा के हित के लिये समस्त विद्याओं से युक्त वेदशास्त्र का उपदेश वही भगवान् देता है। इस कारण कोई भी वेदों को अनित्य न समझे, क्योंकि उसकी विद्या (ज्ञान) सर्वदा एक रूप ही रहती है।'—यह कल्पना बहुल (कपोलकल्पित) अर्थ दयानन्द ने किया है, वह भी वास्तविक अर्थ नहीं है। उसीको बताते हैं—मन्त्र के 'अकायम्' पद से ही यदि स्थूल-सूक्ष्म-कारण इन तीन शरीरों से सम्बन्धशून्यता सिद्ध हो जाय तो अगला 'अव्रणम्' पद ही व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि स्थूल शरीर में ही व्रण आदि का सम्भव होता है। उसी तरह 'अस्नाविरम्' आदि पद भी व्यर्थ होगा, क्योंकि स्नायु आदि का सम्बन्ध स्थूल शरीर से ही रहता है। उसी तरह 'समाभ्यः' का अर्थ 'प्रजाभ्यः' जो किया है, वह भी इन्हीं का कपोल कल्पित अर्थ है। उसी प्रकार 'यथार्थस्वरूप से वेदोपदेश के द्वारा अर्थों का निर्माण किया, अर्थात् जब-जब सृष्टि करता है, तब-तब सर्वविद्यासमन्वित वेदशास्त्र का उपदेश करता है' यह अर्थ वेद के अक्षरों से तो निकलता नहीं है, क्योंकि उक्त अर्थ का बोध कराने वाला कोई पद नहीं है।

इस उपर्युक्त मन्त्र का श्रीशङ्कराचार्यसम्मत यह अर्थ है—'सः' प्रकृत परमात्मा 'परितः सर्वतः अगात्' सबका कारण होने से सर्वत्र पूर्ण व्यापक है, 'शुक्रम्' दीप्ति से युक्त अर्थात् स्वप्रकाश है। 'अकायम्' सूक्ष्म देह से रहित है, 'अव्रणम्' व्रण से रहित यानी अक्षत है, 'अस्नाविरम्' शिरा आदि स्नायुओं से रहित है, इन दो पदों से स्थूलदेह शून्यता सूचित की गई है। 'शुद्धम्' अविद्यालक्षण-कारण देह से रहित, इसी प्रकार परमात्मा का स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर न रहने पर भी भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दलक्षण स्थूल-सूक्ष्म शरीर तो रहता ही है। यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि 'अकायम्' से सूक्ष्मदेहरहित होना पहले बताया

भौतिकदेहनिषेधपरत्वमेव मन्तव्यम् । तत्रोदरसत्त्वप्रत्यक्षविरोधादेवाल्पार्थता गृह्यत इति चेदिहापि 'नमो हिरण्यबाहवे' 'नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः' इत्यादिश्रुतिशतविरोधादेव तथार्थस्वीकारे वाधाभावात् । दिव्यशरीरवत्त्वेन विविधलीला-परायणत्वेऽपि, अपापविद्धं धर्माधर्मविवर्जितम् । दिव्यदेहे रावणादिभिः संग्रामे विविधवाणादिक्षतव्रणवत्त्वप्रतीतावपि वस्तुतोऽव्रणम्, मायादिदर्शितव्रह्मादिवदारोपितमेव तत्सर्वम्, वस्तुतस्तस्याव्रणत्वादस्नाविरत्वादपापविद्धत्वाच्च । कविः क्रान्तदर्शी, अतीतानागतवर्तमानद्रष्टा, मनीषी मनस ईषिता प्रेरयिता (इषु प्रेरणे), 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' इति श्रुतेश्च । परिभूः परि उपरि भवतीति परिभूः, सर्वनियामकत्वात् । स्वयम्भूः येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति, स सर्वं स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः । मूले मूलाभावादमूलं मूलमिति न्यायेन सर्वमूलस्य मूलान्तरानपेक्षत्वेन कारणान्तराकाङ्क्षासिद्धेः । तथाविधः परमेश्वरो याथातथ्यतो यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादयो यथासन् तथैव सर्वेषु कल्पेषु, अर्थान् सूर्यचन्द्रादिपदार्थान् व्यदधाद् विरचितवान् । ननु सूर्यादयो नित्या एव न केनचिन्निर्मिता इत्याह— शाश्वतीभ्यः समाभ्यः, निरन्तराभ्यः समाभ्यो वर्षेभ्यः, वहुसंवत्सरकालायेत्यर्थः । 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते ।' भूतसंप्लवपर्यन्तं वहुसंवत्सरपर्यन्तावस्थायित्वमेव हि तेषाममृतत्वं शाश्वतकालावस्थायित्वम्, परमेश्वरा-दुत्पन्नत्वेन तेषामपि प्रलयध्रौव्यात् ।

यच्च—'यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोऽस्ति, तथा युक्त्यापि । तद्यथा—नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानम्, योऽस्ति स भविष्यति—इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्यम् । कुतः ? यस्य मूलं

है और अब सूक्ष्मशरीर का होना बताया जा रहा है, यह विरुद्ध कथन कैसे ? किन्तु इसका समाधान 'अनुदरी कन्या' इस प्रयोग में जैसे नञ् का अर्थ अल्प = स्वल्पता किया जाता है, उसी तरह प्रकृत में भी नञ् का तात्पर्य भौतिकदेह के निषेध में ही समझना चाहिये। यदि कहें कि 'अनुदरी कन्या' इस प्रयोग में कन्या के उदर का तो प्रत्यक्ष है। नञ् का अर्थ निषेध करने में प्रत्यक्ष के साथ विरोध होगा, इसलिये वहाँ नञ् का अर्थ अल्प किया जाता है, तो प्रकृत में भी 'नमो हिरण्यबाहवे', 'नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से विरोध होने से ही उपर्युक्त अर्थ के स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं है। दिव्य शरीर के द्वारा विविध लीला परायण रहने पर भी अपापविद्ध अर्थात् धर्माधर्म के स्पर्श से भी शून्य है, रावणादि राक्षसों से संग्राम करते समय विविध वाण आदि शस्त्रास्त्रों से दिव्य देह में व्रणों की प्रतीति होने पर भी वस्तुतः उनका देह व्रण से रहित है, माया के कारण व्रणयुक्त देह की प्रतीति हो रही है, अतः देह पर व्रण आदि सब आरोपित ही हैं। वास्तव में वह तो अव्रण, अस्नाविर तथा अपापविद्ध है। 'कविः' क्रान्तदर्शी अर्थात् अतीतानागतवर्तमान काल का द्रष्टा है, 'मनीषी' मन का ईषिता यानी प्रेरयिता = प्रेरक है (इषु प्रेरणे) 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' इस श्रुति से भी उक्त अर्थ का समर्थन हो रहा है। 'परिभूः'—परि उपरि भवतीति—ऊपर होता है, इसलिये उसे परिभूः कहते हैं, क्योंकि वह सर्वनियामक है। स्वयंभूः—जिनके ऊपर होता है, और जो ऊपर होता है वह सब स्वयं ही होता है, इसलिये उसे स्वयंभू कहते हैं। 'मूले मूलाभावात् अमूलं मूलम्'—मूल का मूल न होने से अमूल ही मूल है—इस न्याय से समस्त के मूल को किसी अन्य मूल की अपेक्षा न होने से कारणान्तर की आकांक्षा नहीं है। ऐसा परमेश्वर यथार्थरूप से, अर्थात् जैसे पूर्व कल्प में सूर्य चन्द्र आदि थे, उसी तरह सभी कल्पों में सूर्य चन्द्र आदि पदार्थों की उसने रचना की। यदि कोई यह सन्देह करे कि सूर्य-चन्द्रादि तो नित्य पदार्थ हैं, अतः उनकी रचना किसी के द्वारा नहीं हुई है। इस सन्देह का निरसन इस प्रकार होगा—शाश्वतीभ्यः समाभ्यः = निरन्तर अनेक वर्षों तक, अर्थात् अनेक संवत्सरात्मक काल के लिये। 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते।' भूतसंप्लव होने तक, अर्थात् बहु संवत्सर पर्यन्त अवस्थान ही उनका अमृतत्व है, वही उनको शाश्वतकालावस्थायिता है, क्योंकि परमेश्वर से उत्पत्ति होने के कारण उनका प्रलय होना निश्चित है।

इसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने जो यह कहा—'जैसे शास्त्रप्रमाण से वेदों की नित्यता का निश्चय होता है, उसी तरह युक्ति से भी होता है। उसी को बताते हैं, जैसे—असत् = अविद्यमान वस्तु की स्वरूप से सत्ता नहीं रहती और न विद्यमान वस्तु के

नास्ति, तस्य नैव शाखादयो भवितुमर्हन्ति, वन्ध्यापुत्रविवाहवत्। पुत्रो भवेच्चेत्तदा वन्ध्यात्वं न सिद्ध्येत, स नास्ति चेत् पुनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः ? यदीश्वरे विद्यानन्ता न भवेत् कथमुपदिशेत्, स नोपदिशेच्चेन्नैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासम्बन्धो दर्शनं च स्याताम्, निर्मूलस्य प्ररोहाभावात्। नहि निर्मूलं किञ्चिदिह दृश्यते' (पृ० ४२) इति, तदतीव स्थवीयः, त्वदुक्तरीत्या सत्कार्यवादाश्रयणेन वेदानामिव घटपटादेरपि नित्यत्वापत्तेः। नहि तदपि निर्मूलम्, सांख्यैः सत्कार्यवादिभिर्मृत्तिकायां तत्सत्ताङ्गीकारात्। घटादेरिव वेदानामपि नित्यत्वमिष्यते, पुनः किमर्थं शास्त्रतर्कप्रमाणान्वेषणायासः क्रियते, कार्यमात्रस्य स्वकारणे सत्त्वाविशेषात्।

यच्च—'यस्यानुभवस्तस्यैव संस्कारः, यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ···· सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाध्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात्' (पृ० ४२) इत्यादिना पूर्वोक्तस्यैव पिष्टपेषणं कृतम्, तस्य निराकरणमिहैवान्यत्र द्रष्टव्यम्। सिद्धान्ते मीमांसकदृष्ट्याऽनाद्यविच्छिन्नपारम्पर्येण वेदाध्ययनाध्यापनपारम्पर्यमभ्युपगम्यते। सृष्टिप्रलयाङ्गीकर्तृ ब्रह्ममीमांसकमते परमात्मैव पूर्वकल्पीयवैदिकसम्प्रदायं प्रवर्तयति। तदनुग्रहेण सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेनापि केचिदृषयः पूर्वकल्पीयं वेदं स्मरन्ति।

यदप्युक्तम्—'यन्नित्यं वस्तु वर्तते, तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति, तदाधारस्य नित्यत्वात्। नैवाधिष्ठानमन्तरा नाम-गुण-कर्मादयः स्थितिं लभन्ते, तेषां पराश्रितत्वात्। यन्नित्यं नास्ति, तस्यैतान्यपि नित्यानि न भवन्ति' (पृ० ४३) इति, तदपि प्रमाणविरुद्धं वालभाषितमेव। नित्यस्याप्यात्मनो ज्ञानादिगुणानां दार्शनिकैरनित्यत्वाभ्युपगमात्, नित्येष्वपि परमाणुषु गन्धादिगुणानामनित्यत्वाभ्युपगमाच्च। कर्मणां नित्यत्वं तु न केनाप्यङ्गीक्रियते, देहेन्द्रियमनोवुद्ध्यादिचेष्टालक्षणकर्मणां क्षणभङ्गुरत्वानुभवाच्च।

स्वरूप का लोप होता है। अतः जो है, वह अवश्य ही रहेगा—इस नियम के अनुसार वेदों की नित्यता को स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि जिसका मूल न हो उसकी शाखा आदि हो ही नहीं सकतीं, वन्ध्यापुत्र के विवाह की तरह, यदि पुत्र हो तब वन्ध्यात्व नहीं बन सकता, और यदि पुत्र न हो तो उसका विवाह कैसे सोचा जायगा ? यदि ईश्वर में अनन्त विद्या न हो तो वह कैसे उपदेश दे सकेगा ? वह यदि उपदेश न देता तो किसी भी मनुष्य का विद्या के साथ सम्बन्ध और उसका ज्ञान न हो पाता, क्योंकि निर्मूल से अंकुर नहीं होता, अतः इस लोक में कुछ भी निर्मूल नहीं दिखलाई देता।' वह तो बहुत ही थोथा प्रतीत हो रहा है। तुम्हारी कथित रीति से सत्कार्यवाद का सहारा लेने पर वेदों की तरह घटपटादिकों को भी नित्य कहना पड़ेगा। सत्कार्यवादी सांख्यों ने मृत्तिका में उसकी सत्ता स्वीकार की है, अतः उसे भी निर्मूल नहीं कहा जा सकता। घटपटादिकों की तरह ही वेदों की नित्यता को यदि मानते हो तो शास्त्र, तर्क, प्रमाणों के अन्वेषणार्थ कष्ट क्यों किया जा रहा है ? क्योंकि कार्यमात्र की अपने अपने कारण में समानरूप से सत्ता रहती ही है।

जो कहा गया है कि—'जिसका अनुभव होता है, उसी का संस्कार होता है और जिसका संस्कार होता है, उसी का स्मरण होता है ··········सृष्टि के आरंभ में ईश्वर के उपदेश और अध्यापन के बिना किसी को भी विद्या का अनुभव होना संभव न होगा'। इस कथन से पूर्वकथन का ही पिष्टपेषण मात्र किया गया है, उसका निराकरण यहीं पर अन्यत्र दिखाई देगा। मीमांसकों की दृष्टि से सिद्धान्त यह है कि वेद के अध्ययन-अध्यापन की परंपरा तो अनादि अविच्छिन्न परम्परा है। सृष्टि और प्रलय को स्वीकार करने वाले ब्रह्म मीमांसकों के मत से परमात्मा ही पूर्व कल्प के वैदिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन करता है। उसी के अनुग्रह से सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय से कतिपय ऋषियों को भी पूर्वकल्पीय वेद का स्मरण हुआ करता है।

यह जो कहा है—'जो वस्तु नित्य होती है, उसके नाम, गुण, कर्म भी नित्य होते हैं, क्योंकि उनका आधार नित्य है। नाम, गुण, कर्म आदि पराश्रित होने के कारण उनकी स्थिति अधिष्ठान के बिना नहीं हुआ करती। जो वस्तु नित्य नहीं है, उसके गुण-कर्म-नाम आदि भी नित्य नहीं हैं'—वह भी बालभाषित के समान प्रमाण विरुद्ध ही है। आत्मा नित्य वस्तु है, किन्तु उसके ज्ञानादि गुणों को दार्शनिकों ने अनित्य माना है। उसी तरह परमाणु नित्य हैं, किन्तु उनके गन्धादि गुणों को अनित्य माना गया है।

यच्च 'सदकारणवन्नित्यम्' (४।१) इति कणादसूत्रस्यार्थनिरूपणप्रसङ्गेनोक्तम्—'यत्कार्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति तदनित्यमुच्यते। तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात्। यत्तु कस्यापि कार्यं न भवति, किन्तु सदैव कारणरूपमवतिष्ठति तन्नित्यमिति' (पृ० ४४), तदपि पूर्वापरविरुद्धमेव। पूर्वं तु नासत आत्मलाभो न सत आत्महानमित्युक्तमिदानीं तद्विरुद्धं यत्कार्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं तदनित्यं तस्य प्रागुत्पत्तेरभावादित्युच्यते।

'यद्यत् संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति। कर्तापि संयोगजन्यश्चेत्तर्हि तस्याप्यन्योऽन्यः कर्तास्तीत्यागच्छेत्। तथा चानवस्था। यत्संयोगेन प्रादुर्भूतं नैव तस्य परमाण्वादीनां संयोगकारणे सामर्थ्यम्, तस्मात्तेषां सूक्ष्मत्वात्। यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति। यथा जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात् तत्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकपिण्डं करोति छिनत्ति च, तथा परमेश्वरः संयोगविभागाभ्यां पृथग्भूतो विभुरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्तुमर्हति। न चान्यथा। यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति तथेश्वरेऽपि भवेत्' (पृ० ४४) इति यदुक्तम्, तदपि निःसारम्, तथेश्वरेऽपि भवेदित्यसम्बद्धं च। आकाशात्मादीनां सूक्ष्मत्वेऽपि प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकारणे सामर्थ्यानुपलम्भेन सूक्ष्मत्वस्य तदप्रयोजकत्वात्। न चास्मदादीनां संयोगवियोगान्तर्गतत्वम्, तथात्वेऽस्मदादीनामनित्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' इत्यादिवचनशतविरोधात्। तस्माच्छास्त्रगम्यसामर्थ्यविशेषादेवेश्वरः सर्वं रचयति सूक्ष्मत्वविभुत्वादिभिः। अत एव सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद् वेदानां प्रादुर्भावेऽपि न नित्यत्वम्, सर्वस्यैव जगतस्तत्सामर्थ्येनाविर्भावात्, त्वद्रीत्या निर्मूलस्य प्ररोहासम्भवात्, जगतोऽपि परमेश्वरे सदैव वर्तमानत्वात्।

कर्मों की नित्यता तो किसी ने भी नहीं मानी है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के चेष्टा लक्षण कर्मों की क्षण विनाशिता का अनुभव तो सभी को है।

अब जो 'सदकारणवन्नित्यम्' (४।१) इस कणादसूत्र के अर्थ निरूपण प्रसंग से कहा है—'जो कार्य कारण से उत्पन्न होकर विद्यमान रहता है, उसे अनित्य कहा जाता है, क्योंकि अपनी उत्पत्ति के पूर्व उसका अभाव रहता है, किन्तु जो किसी का कार्य नहीं होता, बल्कि सदैव कारण रूप से ही रहता है, उसे नित्य समझना चाहिये'—वह भी पूर्वापर विरुद्ध ही है, क्योंकि पहले यह लिखा था कि असत् वस्तु की स्वरूपसत्ता नहीं और सत् वस्तु के स्वरूप का विनाश नहीं, अब उसके विरुद्ध लिख रहे हैं कि जो कार्य, कारण से उत्पन्न होकर विद्यमान रहे, वह अनित्य है, क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व उसका अभाव रहता है।

'जो वस्तु जिसके संयोग से जन्य होती है, उसे उसके कर्ता की अपेक्षा रहती है। यदि कर्ता भी संयोग से जन्य हो तो उसका भी अन्य कर्ता होगा। यह अर्थात् प्राप्त है, तब अनवस्था होगी। जिसके संयोग से जो प्रादुर्भूत हुआ उसमें परमाणु आदि के संयोग करने की सामर्थ्य ही नहीं है, क्योंकि उसकी अपेक्षा उनकी सूक्ष्मता है। जो अति सूक्ष्म होने से कठिन और स्थूल अयःपिण्ड में प्रविष्ट होकर उसके अवयवों को पृथक् करता है। जैसे जल भी पृथ्वी की अपेक्षा सूक्ष्म होने से उसके कणों में प्रविष्ट होकर उसका संयुक्त एक पिण्ड तैयार कर देता है और टुकड़े भी कर देता है। उसी तरह परमेश्वर संयोग-विभाग से पृथक् और व्यापक है, अतः नियम से रचना और विनाश करने में समर्थ है, अन्यथा नहीं। जैसे संयोग-वियोग के अन्तर्गत होने से हम लोगों में तथा प्रकृति-परमाणु आदि में संयोग वियोग करने का सामर्थ्य नहीं होता, वैसे ही ईश्वर में भी होगा' यह जो कहा, वह भी सारहीन है। 'उसी तरह ईश्वर में भी होगा' यह भी असम्बद्ध है। आकाश, आत्मा आदि के सूक्ष्म होने पर भी उनमें प्रकृति-परमाणु आदि के संयोग कराने का सामर्थ्य उपलब्ध न होने से स्पष्ट है कि सूक्ष्मता उसमें प्रयोजक नहीं है और न अस्मदादि भी संयोग-वियोग के अन्तर्गत हैं। अस्मदादिकों को अन्तर्गत मानने पर अनित्यता का प्रसंग आवेगा। उसे इष्टापत्ति भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' इत्यादि सैकड़ों वचनों से विरोध होगा। अतः यही कहना होगा कि शास्त्रगम्य सामर्थ्य विशेष से ही ईश्वर सबकी सूक्ष्म-विभु के रूप में रचना करता है। इसलिये सत्य सामर्थ्य सम्पन्न ईश्वर से वेदों का प्रादुर्भाव होने पर भी उनकी नित्यता नहीं कही जा सकती, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् का आविर्भाव ही उसके सामर्थ्य से हुआ है। आपकी रीति के अनुसार निर्मूल का प्ररोह संभव न होने से जगत् की सत्ता भी परमेश्वर में सदा रहती है।

३—वेदविषयविचारविषयः

तत्र वेदविषयस्य विचारो विषयो यस्य स इति बहुव्रीहिः, वेदविषयविचारस्य विषय इति षष्ठीतत्पुरुषो वा? आद्येऽन्यपदार्थः कः ? ग्रन्थः, ग्रन्थभागः, उपक्रमो वा ? नाद्यः, समग्रग्रन्थस्य वेदविषयविचाराविषयीकरणात्। तत्र वेदविषयविचारातिरिक्तप्रतिपादनस्यापि सत्त्वात्। आद्यपक्षाङ्गीकारे ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां वेदविषयविचारविषय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाग्रन्थ इत्यर्थः। अत्र केन किं श्लिष्यत इति। भूमिकायामिति सप्तम्याः कोऽर्थः ? सर्वस्यापि सप्तम्यर्थस्य भेदघटितत्वान्नात्मनि स्वस्यावस्थितिः सम्भवति, आत्माश्रयत्वात्। न द्वितीयः, ग्रन्थभागस्य विचार-विषयत्वाभावात्। सार्थकस्य वाक्यसन्दर्भस्यैव ग्रन्थत्वात्। तदीयो भागोऽपि तद्रूप एव। तस्य च प्रतिपाद्योऽर्थ एव विषयो न तद्विचारस्तद्विषयः, विचारस्य मानसक्रियारूपत्वात्। न तृतीयः, उपक्रमस्यैव तद्विषयत्व उपसंहारस्यापि तद्विषयत्वापातात्। अन्यथोपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यानुपपत्तेः। प्रकरणार्थकत्वेऽपि द्वितीयविकल्पोक्तदूषणम्। तत्पुरुषा-ङ्गीकारे द्वितीयविषयपदविन्यासो व्यर्थ एव। तस्माद्वेदविषयविचारः प्रस्तूयत इत्येव युक्तमासीत्। संवत् २०२४ संस्करणे 'अथ वेदविषयविचारः' इति पाठः परिवर्तितः।

यच्च—'चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्' (पृ० ४७) इति, तदपि न विचाररमणीयम्, वेदविषया वेदप्रतिपाद्यविषया इति तदर्थः। काण्डपदं तु प्रकरणपरम्। नहि वेदेषु विज्ञानप्रकरणं कर्मप्रकरणं ज्ञानप्रकरणं वा प्रतिपाद्यमस्ति। तस्मात् काण्डपदनिवेशो व्यर्थ एव। तस्माच्चत्वारो वेदविषया विज्ञान-कर्मो-पासना-ज्ञानभेदादित्येवोचितम्। तत्रापीदं विचारणीयं यत् 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्', 'अपरा ऋग्वेदो

३—वेद विषय विचार विषय

इस शीर्षक में भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ पर विग्रह कौन सा किया गया है, क्या 'वेदविषयस्य विचारो विषयो यस्य सः' इस प्रकार बहुव्रीहि करना चाहिये ? अथवा 'वेदविषयविचारस्य विषयः' इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष करना चाहिये ? यदि पहिला बहुव्रीहि किया जाय तो उसमें अन्य पदार्थ कौन है ? क्योंकि बहुव्रीहि में अन्य पदार्थ की प्रधानता रहती है। यहाँ अन्य पदार्थ ग्रन्थ है, या ग्रन्थ भाग है, या उपक्रम है ? अन्य पदार्थ 'ग्रन्थ' को नहीं कह सकते, क्योंकि समग्र ग्रन्थ को वेद विषय विचार का विषय नहीं किया गया है, क्योंकि उसमें वेद विषय विचार के अतिरिक्त विषय का भी प्रतिपादन किया गया है। प्रथम पक्ष को स्वीकार यदि करें तो – ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां का अर्थ होगा 'वेद विषय विचार विषय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ में, किन्तु ऐसा अर्थ होने पर किससे किसका सम्बन्ध प्रतीत होता है, अर्थात् सब असम्बद्ध ही प्रतीत हो रहा है। 'भूमिकायाम्' इस सप्तमी विभक्ति का क्या अर्थ होगा ? सप्तमी के जितने भी अर्थ होते हैं, वे सभी भेद घटित होने से अपने में अपनी अवस्थिति सम्भव ही नहीं हो सकती, क्योंकि 'आत्माश्रय' दोष होगा। द्वितीय पक्ष भी ठीक न होगा, क्योंकि ग्रन्थ का कोई एक भाग तो विचार का विषय नहीं है। सार्थक वाक्यसन्दर्भ को ही ग्रन्थ कहा जाता है। उसका एक भाग भी ग्रन्थरूप ही कहलायेगा। उसका प्रतिपाद्य अर्थ ही विषय कहलायेगा, उस अर्थ का विचार तो ग्रन्थ का विषय नहीं होगा। विचार तो मानसक्रिया रूप है। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपक्रम रहने पर उपसंहार को भी उसका विषय कहना होगा। अन्यथा उपक्रम-उपसंहार की एकरूपता नहीं बन पावेगी। 'प्रकरण' अर्थ मानने पर भी द्वितीय विकल्पोक्त दूषण प्राप्त होगा। यदि तत्पुरुष समास कहें तो दूसरे 'विषय' पद का उल्लेख करना ही व्यर्थ है। अतः 'वेदविषयविचारः प्रस्तूयते' इतना लिखना ही उचित था। संवत् २०२४ के संस्करण में 'अथ वेदविषयविचारः' ऐसा पाठ परिवर्तन किया गया है।

यह जो कहा है कि 'वेद के चार विषय हैं—विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान'। वह भी विचार की कसौटी पर नहीं उतर पा रहा है। 'वेदविषयाः' का अर्थ वेद-प्रतिपाद्यविषय' है। 'काण्ड' पद तो प्रकरणपरक है। किन्तु वेदों में विज्ञानप्रकरण, कर्मप्रकरण या ज्ञानप्रकरण नाम से कोई भी प्रतिपाद्य नहीं है। इसलिये 'काण्ड' पद का निवेश जो किया गया है, वह व्यर्थ ही है। अतः यह कहना उचित होगा कि विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान ये चार विषय वेदों के हैं। इस प्रसंगपर यह भी विचार करने योग्य

यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः', 'यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥' इत्यादिप्रसिद्धक्रमानुसारेण यथासंख्यमेव विज्ञानादिविषयप्रतिपादकत्वं मन्तव्यम्। तेन 'विज्ञानमृचां विषयः, कर्म यजुषामुपासना साम्नां ज्ञानमथर्वणो विषय इत्यायातम्' इत्यादि, तदपि न रमणीयम्, यतो ह्यत्र विज्ञानपदार्थः कः ? ज्ञानशब्दार्थश्च कः ? नामभेद एव तयोर्विषयभेदं व्यनक्ति।

ननु 'मोक्षे धीर्ज्ञानमित्याहुर्विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः' इति कोशमनुसृत्य मोक्षविषया धीरेव ज्ञानं शिल्पविषया शास्त्रविषया च धीर्विज्ञानमुच्यत इति चेन्न, तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति, तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः ? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति, ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वादिति स्वात्मवचनविरोधात्। अस्मिन् वाक्ये परमेश्वरस्यैव सर्ववेदतात्पर्यविषयतया प्राधान्योक्त्या तद्धियोऽपि प्राधान्यमुक्तम्। विषयप्राधान्याद्धियः प्राधान्यं स्वाभाविकमेव। ईश्वरधियश्च मोक्षविषयत्वाज्ज्ञानरूपत्वमेव भवतीति न तस्या विज्ञानरूपत्वम्, मोक्षविषयाया धियोऽन्यस्या एव शिल्पधियः शास्त्रधियश्च मोक्षधीत्वात्।

यच्च विज्ञानविषयस्य मुख्यत्वे तस्मिन् विज्ञानस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वाद् इत्यस्य हेतुत्वमुक्तम्, तत्तु निरर्थकमेव, साध्यासाधकत्वात्। विज्ञानस्य ब्रह्मादितृणान्तेषु पदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वम्। को वास्य वाक्यस्यार्थ इति दयानन्दस्तदनुयायिनो वा नैव निरूपयितुं शक्नुवन्ति। साक्षाद्बोधान्वयत्वादित्यपि किम् ? साक्षाद्बोधो हि प्रत्यक्षमेव भवति ? तथा च विज्ञानस्य साक्षाद्बोधान्वयत्वं साक्षाद्बोधहेतुत्वात् साक्षाद्बोधसम्बन्धित्वाद्वा ? नोभयथापि तत्सम्भवति। तथाहि—सम्बन्धिता च विषयतयैव वक्तव्या। न च स्वस्यैव विषयता सम्भवति, न वा स्वस्यैव हेतुता सम्भवति, भेदसापेक्षत्वात्। न च

है कि दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्'। 'अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः', 'यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥' इस प्रसिद्धक्रम के अनुसार वेदों के द्वारा विज्ञानादि विषयों का प्रतिपादन यथासंख्य ही समझना चाहिये। अतः ऋचाओं का विषय 'विज्ञान', यजुस् का विषय 'कर्म', सामन् का विषय 'उपासना' और अथर्वन् का 'ज्ञान' है, यह निष्कर्ष निकला।' किन्तु यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ विज्ञान शब्द का तथा ज्ञान शब्द का अर्थ क्या है ? ये दो भिन्न नाम ही उनके विषयों की भिन्नता को व्यक्त कर रहे हैं।

यदि कहें कि 'मोक्षे धीर्ज्ञानमित्याहुर्विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः' कोश के अनुसार मोक्षविषयक धी को ज्ञान और शिल्पविषयक तथा शास्त्रविषयक धी को विज्ञान कहा जाय, तो वह भी ठीक न होगा, क्योंकि पहिला जो विज्ञानविषय है, वह सबसे मुख्य है, परमेश्वर से लेकर तृण तक के पदार्थों का साक्षात् बोध कराने का उसमें सामर्थ्य है। उसमें भी ईश्वर का अनुभव मुख्य है, क्योंकि सभी वेदों का तात्पर्य उसी में है। सभी पदार्थों में ईश्वर प्रधान है, इस अपने ही पूर्वोक्त कथन से विरोध होगा। इस वाक्य में समस्त वेदों के तात्पर्य का विषय परमेश्वर के होने से ही उसकी प्रधानता है, अतः उसकी धी की भी प्रधानता कही गई है। विषय को प्रधानता होने से धी (ज्ञान) की प्रधानता का होना स्वाभाविक ही है। ईश्वरधी मोक्षविषयक होने से उसकी ज्ञानरूपता ही हो सकती है, विज्ञानरूपता नहीं। शिल्पविषया धी तथा शास्त्रविषय धी से अन्य जो मोक्षविषया धी है, वही मोक्ष धी है।

अब विज्ञानविषय की मुख्यता सिद्ध करने के लिए 'विज्ञानस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्' को हेतु बनाना निरर्थक ही है, क्योंकि उसमें साध्य को सिद्ध करने को सामर्थ्य नहीं है। 'विज्ञानस्य ब्रह्मादितृणान्तेषु पदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वम्' इस वाक्य का क्या अर्थ है ? उसे दयानन्द या उसके अनुयायी कोई भी बता नहीं सकते। 'साक्षाद्बोधान्वयत्वात्' में भी क्या साक्षाद्बोध को ही प्रत्यक्ष कहते हैं ? यदि कहते हों तो बताओ कि साक्षात् बोध का हेतु होने से साक्षाद् बोधान्वयत्व है, या साक्षात् बोध का सम्बन्धी होने से है ? दोनों दृष्टियों से वह सम्भव नहीं, क्योंकि सम्बन्धिता तो विषयता को लेकर ही कहनी होगी।

साक्षाद्बोधो ब्रह्मादितृणान्तान् सर्वान् पदार्थान् विषयीकरोति, प्रत्यक्षानुमानाविषयाणामतीन्द्रियाणामपि पदार्थानां सत्त्वात्।

यदपि च—तद्व्याख्यानरूपायां हिन्द्यां कर्मोपासनज्ञानेभ्यो यथावदुपयोगग्रहणमेव विज्ञानम्, परमेश्वरादितृणपर्यन्तपदार्थानां साक्षाद्बोधः, तेभ्यश्च यथावदुपयोगः। 'विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से ले के तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध का होना। उनसे यथावत् उपयोग का करना' (पृ० ४८) इति, तदप्यर्थशून्यं प्रमत्तप्रलपितमेव, विज्ञानशब्दस्य तथोक्तार्थत्वे प्रमाणाभावात्। तस्येति परामृष्टस्य विज्ञानस्य परमेश्वरादितृणान्तेषु पदार्थेषु कथं साक्षाद्बोधान्वयत्वम्? पदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वेऽपि विज्ञानस्य केन कथं सम्बन्धः? हिन्दीव्याख्यानमपि तदर्थं न स्पृशत्येव।

यदपि तु—'मर्यादायां पञ्चम्याश्रयणेन परमेश्वरातिरिक्ततृणपर्यन्तपदार्थज्ञानस्यैव विज्ञानत्वमुक्तम्' इति, तदपि न विचारसहम्, तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्तीति विरोधात्। न च ऋग्वेदे परमेश्वरमारभ्य तृणपर्यन्तसर्वपदार्थानां वर्णनं दृश्यते, तथात्वे न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योगायुर्वेदाधुनिकपदार्थानां विज्ञानविषयाणां गतार्थता स्यात्।

आधुनिकास्तु प्रत्यक्षेण पदार्थाननुभूय तर्केण व्यवस्थाप्य प्रयोगेण परीक्षणमेव विज्ञानं मन्यन्ते। प्रत्यक्षायितं वा ज्ञानं विज्ञानं केचिन्मन्वते। तदेतदपि शिल्पज्ञानेऽन्तर्भवति। न चैतादृशमेकमपि विज्ञानमृग्वेदे प्रतिपादितं दृश्यते, न वा त्वया कश्चिदपि मन्त्रस्तादृशव्याख्यानोपेतो दर्शितः।

यत्तु प्रमाणवचनान्युपस्थापितानि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥', 'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो. द. १।१७), 'ॐ खं ब्रह्म'

स्वनिरूपित (स्व की) विषयता का स्व में होना संभव ही नहीं, क्योंकि हेतुता शब्द भेदसापेक्ष है। साक्षात् बोध, ब्रह्मादि तृणान्त समस्त पदार्थों को विषय भी नहीं करता, क्योंकि ऐसे भी पदार्थ हैं, जो प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों के विषय नहीं हैं, अर्थात् अतीन्द्रिय हैं।

अब जो उसकी हिन्दी व्याख्या में बताया है कि 'कर्म, उपासना और ज्ञान से यथावत् उपयोग ग्रहण करना ही विज्ञान है, अर्थात् परमेश्वरादि तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षाद्बोध और उनसे यथावत् उपयोग लेने का नाम ही विज्ञान है। 'विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षात् बोध का होना उनसे यथावत् उपयोग का करना।' वह भी प्रमत्त के प्रलाप की तरह अर्थशून्य ही है। विज्ञान शब्द का जैसा अर्थ दयानन्द ने किया है, उसमें किसी प्रमाण का आधार नहीं है। 'तस्य' शब्द से परामृष्ट किये गये विज्ञान का परमेश्वरादि तृणान्त पदार्थों में साक्षात् बोधान्वय कैसे होगा? पदार्थों में साक्षात् बोधान्वय होने पर भी विज्ञान का किससे क्या सम्बन्ध होगा? किये गये अपने हिन्दी व्याख्यान से भी उस अर्थ का स्पर्श नहीं हो पा रहा है।

जो यह कहा है कि 'मर्यादा के अर्थ में पंचमी करके परमेश्वरातिरिक्त तृणपर्यन्त पदार्थ का ज्ञान ही विज्ञान है।' वह भी विचार करने पर असंगत ही प्रतीत हो रहा है। वहाँ भी ईश्वरानुभव मुख्य है—इससे विरोध होगा। न ऋग्वेद में परमेश्वर से लेकर तृणतक के समस्त पदार्थों का वर्णन उपलब्ध होता है, यदि उपलब्ध कहा जाय तो न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, आयुर्वेद तथा विज्ञान के विषय जो आधुनिक पदार्थ हैं, उनको सबको गतार्थ कहना होगा।

प्रत्यक्ष से पदार्थों का अनुभव कर और तर्क से उन्हें व्यवस्थित कर प्रयोग के द्वारा उनका परीक्षण करना ही विज्ञान है, ऐसा आधुनिक लोग कहते हैं। कुछ लोग प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत होने वाले ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। किन्तु इन लोगों का यह कथन भी शिल्पज्ञान में अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार का कोई एक भी विज्ञान ऋग्वेद में प्रतिपादित हुआ नहीं दिखाई दे रहा है और न तुमने ही उस प्रकार के व्याख्यान से युक्त किसी मन्त्र को दिखाया है।

प्रमाण रूप में जो वचन उपस्थित किये हैं, उनकी संगति अद्वैतवाद की रीति से यद्यपि हो सकती है, किन्तु दयानन्द की रीति से दयानन्द के कथन के साथ दयानन्द के द्वारा उपस्थापित वचनों की संगति नहीं बैठ रही है। यथाहि—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥', 'तस्य वाचकः प्रणवः'

(१४।८।१।१), 'ओमिति ब्रह्म' (तै. आ. ७।८)। एषामर्थः—यत्परमं पदं मोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति, तदेवोङ्कारपदवाच्यमस्ति। तस्येश्वरस्य प्रणव ओङ्कारो वाचकोऽस्ति। वाच्यश्चेश्वरः। ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति। तदेव परं ब्रह्म। सर्वे वेदा वदन्ति आमनन्ति आसमन्तादभ्यस्यन्ति मुख्यतया प्रतिपादयन्ति। तपांसि सत्यधर्मानुष्ठानानि तदभ्यासपराण्येव सन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं (ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थम्, ब्रह्मचर्यगृहस्थ-वानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति) यद् ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्न-ध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च, हे नचिकेतः! अहं यमो यदीदृशं पदमस्ति तत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि। अत्र मोक्षाख्यं पदमेवोङ्कारपदवाच्यमस्तीत्युक्तम्, ओङ्कारश्चेश्वरवाचकः, तथा च मोक्षेश्वरयोरभेदोऽप्युक्तः। तदेव च ब्रह्म-पदं सर्वे वेदा आमनन्ति आभीक्ष्ण्येन प्रतिपादयन्ति। सर्वाणि च धर्मानुष्ठानानि ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणीति तन्निर्णयः। यद्यप्यद्वैतवादरीत्या तत्सङ्गच्छते, तथापि दयानन्दीयरीत्या तदपि तद्विरुद्धमेव, मोक्षस्य ब्रह्मज्ञानफलकत्वात्। नहि ब्रह्मैव ब्रह्मज्ञानफलम्, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (वा. सं. ३१।१८) इति विरोधात्। किञ्च, मोक्षः पुरुषार्थो धर्मार्थकामवत् प्राप्यः, ब्रह्मज्ञानं तत्साधनम्, ब्रह्म तु ज्ञेयम्। दयानन्दरीत्या मोक्षोऽप्यनित्य एव, तेन मोक्षादावृत्तिस्वीकारात्। ब्रह्मण एव मोक्षत्वे तस्य नित्यत्वान्नैव साध्यत्वं सम्भवति। न च ब्रह्मणो नित्यत्वेऽपि तज्ज्ञानस्य साध्यत्वमिति वाच्यम्, तज्ज्ञानस्यानित्यत्वेनेश्वरत्वानुपपत्त्या मोक्षेश्वरयोरैक्यानुपपत्तेः। किञ्च, स्वर्गादिवत् स्वभिन्नस्यैव सतो ब्रह्मणो भोग्यत्वेन प्राप्तिरात्मत्वेन वा? नाद्यः, तथात्वे बहुभोग्यत्वेन क्षयिष्णुत्वापत्तेः। नान्त्यः, अपसिद्धान्ता-पातात्। वेदान्तिरीत्या तु—'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' इत्युक्तिदिशा ज्ञातत्वोपलक्षितः प्रत्यगभिन्नः परेश एव मोक्षः। द्वैतविशिष्टाद्वैतादिवादरीत्या तु ब्रह्मोपासनया ब्रह्मसान्निध्यादिप्राप्त्या लोकोत्तरं दिव्यं सुखमेव मोक्षो न ब्रह्मरूप एव मोक्षः। तद्रीत्या सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं प्रापणीयं ब्रह्म तात्पर्येण बोधयन्ति। सर्वाणि च तपांसि

(यो० द० १।२७) 'ॐ खं ब्रह्म'—(श० ब्रा० १४।८।१।१), 'ॐ इति ब्रह्म'—(तै० आ० ७।८) इनका अर्थ—जो परम पद—मोक्षसंज्ञक, पर ब्रह्मप्राप्तिरूप, सर्वानन्दमय, समस्त दुःखों से भिन्न है, वही ॐकार पद से वाच्य है, उस ईश्वर का वाचक प्रणव ॐकार है और उसका वाच्य ईश्वर है। यह ॐ परमेश्वर का नाम है। समस्त वेद उसी परब्रह्म का मुख्य रूप से प्रतिपादन करते हैं, सत्यादि धर्मों के अनुष्ठान उसी के अभ्यास पर हैं। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं (यहाँ ब्रह्मचर्य का ग्रहण उपलक्षणार्थ है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास इन चारों आश्रमों के समस्त आचार ब्रह्म प्राप्ति के अभ्यास में तत्पर हैं) ब्रह्म की इच्छा करने वाले विद्वान् उसी का निदिध्यासन करते हुए उपदेश देते हैं, हे नचिकेतः! मैं यम जो ऐसा पद है, उसे तुम्हें संक्षेप से बताता हूँ। यहाँ पर मोक्षाख्य पद ही ॐकार पद से वाच्य है, यह कहा गया है। यह ॐकार ईश्वर का वाचक है। निष्कर्ष यह है कि मोक्ष और ईश्वर में अभेद है। उसी ब्रह्म पद का समस्त वेद पुनः पुनः प्रतिपादन करते हैं, समस्त धर्मानुष्ठान ब्रह्म प्राप्ति के अभ्यास परक हैं, यह वेदों का निर्णय है। उक्त व्याख्यान को अद्वैतवाद की दृष्टि से उचित कह सकते हैं, किन्तु दयानन्द की पद्धति के अनुसार तो विरुद्ध ही है, क्योंकि मोक्ष तो ब्रह्म ज्ञान का फल है। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (वा० सं० ३१।१८) इस श्रुति से विरोध भी होगा। दूसरी बात यह है कि मोक्षरूप पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम की तरह प्राप्य है और ब्रह्मज्ञान उसका साधन है, ब्रह्म तो ज्ञेय है। दयानन्द की रीति के अनुसार मोक्ष भी अनित्य ही होगा।: उसने मोक्ष की आवृत्ति मानी है। ब्रह्म को ही यदि मोक्ष कहें, तो ब्रह्म के नित्य होने से वह साध्य नहीं हो सकता। ब्रह्म के नित्य रहने पर भी उसके ज्ञान को साध्य कहें, तो वह भी ठीक नहीं होगा। उसका ज्ञान अनित्य होने से ईश्वरत्व की उपपत्ति नहीं हो सकेगी, उससे मोक्ष और ईश्वर दोनों में एकता अनुपपन्न होगी। स्वर्ग आदि की तरह अपने में इसी सत् ब्रह्म की प्राप्ति भोग्यत्वेन है या आत्मत्वेन है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अनेक लोगों के द्वारा भोग्य होने से उसमें क्षयिष्णुता का प्रसंग प्राप्त होगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि अपसिद्धान्त हो जायगा। वेदान्तियों की रीति से तो 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।' के अनुसार ज्ञातत्वोपलक्षित प्रत्यगभिन्न परेश ही मोक्ष है। द्वैती, विशिष्टाद्वैती आदि वादियों की रीति से ब्रह्मो-पासना के द्वारा ब्रह्मसान्निध्य आदि की प्राप्ति से लोकोत्तर दिव्य सुख ही मोक्ष है, ब्रह्मरूप मोक्ष नहीं। उस रीति से समस्त वेद जिस

सद्धर्माचरणानि यद्बोधने पर्यवस्यन्ति, यत्पदमिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तद् ब्रह्मरूपपदमोङ्कारवाच्यं संग्रहेण ब्रवीमि। प्रणवस्तस्य वाचकः। खमाकाशमपरिच्छिन्नं ब्रह्म ओङ्कारवाच्यत्वादोङ्काररूपमेव। ओमिति ब्रह्मैव। उपासनार्थमभेदोपदेशः। अद्वैतिरीत्या तु सगुणं ब्रह्म ओङ्कारपदवाच्यम्, निर्गुणं तु लक्ष्यम्, वाचकवाच्ययोरुभयोरपि तस्मिन्नेव पर्यवसानात् प्रणवोऽपि तद्रूप एव। यत्त—'तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च' इत्युक्तम्, तत्तु निरर्थकमेव, व्यापके ब्रह्मणि सर्वेषामेवाध्यासनादुपवेशनाच्च। कथं विद्वांसस्तस्मिन्नुपविशन्तीत्यस्यानिरूपणात्।

यच्च ब्रह्मण्येव वेदानां तात्पर्यमित्यर्थे प्रमाणान्तरदर्शनायोक्तम्—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥' (मु० १।५) मुण्डके' (पृ० ४७) इति, तत्तु न प्रकृतपोषकम्, विरुद्धार्थकत्वात्। सर्वेषां वेदानां ब्रह्मणि तात्पर्यमित्यस्यार्थस्य दृढीकरणायेयं श्रुतिरुदाहृता, परमनया तु ऋग्वेदादिवेदवेदाङ्गानामपरविद्यात्वमुक्त्वाऽक्षरब्रह्मबोधिका काचिदन्या परा विद्यैव बोध्यते। तथा च कथमियं त्वदभिप्रेतार्थसाधिकेति त्वयैव विचारणीयम्।

यदपि तद्व्याख्यायामुक्तम्—'वेदेषु द्वे विद्ये वर्तेते अपरा परा च' (पृ० ४८) इति, तदप्यशुद्धम्, तत्र वेदेष्विति पदाभावात्। तदध्याहारोऽपि न युक्तः, निष्प्रमाणत्वादसङ्गतेश्च। नहि ऋग्वेदादिभ्यः केचिदन्ये वेदाः प्रसिद्धा येषु ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्येतद्रूपा अपरा विद्या, ब्रह्मबोधिका च काचित् परा विद्या स्यात्। भवेयुश्चेत् प्रदर्शनीयाः प्रमाणयितव्याश्च।

प्रापणीय पद में, अर्थात् ब्रह्म में अपना तात्पर्य बोधन करते हैं, सभी सद्धर्माचरण जिसके बोधक करने में पर्यवसित होते हैं, जिस पद की इच्छा रखने वाले ब्रह्मचर्य का व्रत पालन करते हैं, वह ब्रह्मरूप पद ओंकार का वाच्य अर्थ है, उसे संक्षेप में बताता हूँ। प्रणव उसका वाचक है। अपरिच्छिन्न आकाश ब्रह्म, ओंकार का वाच्य होने से ॐकार स्वरूप ही है। ओमिति ब्रह्मैव—ॐ ब्रह्म ही है, उपासना के लिये अभेदोपदेश है। अद्वैतियों की रीति से तो सगुण ब्रह्म ओंकार पद का वाच्य अर्थ है। निर्गुण तो लक्ष्य है, वाच्य-वाचक दोनों का ही उसी में पर्यवसान होने से प्रणव भी तद्रूप ही है। यह जो कहा था कि 'तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपदिशन्ति च।' वह तो निरर्थक ही है, व्यापक ब्रह्म में सभी का अध्यासन और उपवेशन होता है। विद्वान् लोग किस रीति से उसमें उपविष्ट होते हैं, यह निरूपण नहीं किया।

और जो 'ब्रह्म में ही वेदों का तात्पर्य है'—इस अर्थ में प्रामाणान्तर का प्रदर्शन करने के लिये मुण्डक में कहा बता रहे हो—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥' (मु० १।५-६)—वह विरुद्धार्थक होने से प्रकृत का पोषक नहीं है। सभी वेदों का ब्रह्म में तात्पर्य है, इस अर्थ का दृढीकरण करने के लिये जिस श्रुति को उदाहृत किया, उससे तो—ऋग्वेदादि वेद और उनके अंगों को अपर विद्या तथा अक्षर ब्रह्मबोधिका कोई अन्य ही परा विद्या है—बताया गया है। अतः ऊपर उदाहृत की गई श्रुति आपके अभीष्ट अर्थ की साधिका कैसे हो सकती है, इसे आप ही सोचिये।

उसकी व्याख्या में भी जो कहा—'वेदेषु द्वे विद्ये वर्तेते अपरा परा चेति' वह भी अशुद्ध है, क्योंकि वहाँ 'वेदेषु' यह पद नहीं है। कोई प्रमाण न होने से तथा संगति न बैठ पाने से उसका अध्याहार करना भी ठीक न होगा। ऋगादि वेदों के अतिरिक्त कोई अन्य वेद कहीं प्रसिद्ध नहीं हैं, जिनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, इन्हें अपरा विद्या और ब्रह्म बोधिका किसी परा विद्या को बताया गया हो। यदि हों तो आपको उन्हें प्रदर्शित करना चाहिये तथा प्रमाणित करना चाहिये।

अत्र मुण्डकोपनिषदि तु महर्षेरङ्गिरसो ब्रह्मविद्याप्राप्तिपरम्परामुक्त्वा ततो ब्रह्मविद्यामधिजिगमिषु-र्महाशालः शौनकस्तं पप्रच्छ—भगवन्! कस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ? आङ्गिरसा च शौनकं प्रति परापररूपे द्वे विद्ये वेदितव्ये इत्युक्तम्। तत्र परापरविद्ययोः पूर्वमपरा विद्योच्यते। ऋग्वेद इत्यादिना वेदवेदाङ्गरूपा अपरा विद्या प्रतिपादिता। यदि तत्रेतिपदेन सन्तुष्यतु दुर्जनन्यायेनाप्रकृतोऽपि वेदो गृह्येत, 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्', 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इत्यादिष्वप्रकृतयोरपि परमेश्वरवेदयोर्यथा ग्रहणं क्रियते, तद्वत्रापि तत्रेतिपदेन वेदग्रहणं क्रियेत, तदा कथञ्चिद् वेदेषु परापरे द्वे विद्ये वक्तुं शक्येते। परन्तु के ते ऋग्वेदादिभ्योऽपरे वेदा इति प्रश्नोऽसमाहित एव। तस्माद्विरुद्ध एवायमर्थः। वस्तुतस्तु ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयं च निःश्रेयसलक्षणं परप्राप्तिरूपं मोक्षं चोद्दिश्य द्वावेव विषयौ वेदप्रतिपाद्यौ। तत्राभ्युदयसाधनत्वेन कर्मोपासनपरा वेदवेदाङ्गरूपा अपरा विद्या, निःश्रेयससाधनत्वेन च ब्रह्मप्रतिपादनपराः केचिन्मन्त्रा उपनिषदश्च पराविद्यारूपाः। चित्तशुद्धितदेका-ग्रतासम्पादनपारम्पर्येण तु सर्वे वेदा ब्रह्मपरा एव। त्वद्रीत्या तु चत्वारो वेदविषयाः सन्तीत्यादिवाक्यैरुपपादितस्य विषयचतुष्टयस्य प्रकृतेन स्पष्ट एव विरोधः। प्रागुक्तस्यैव प्रामाण्ये मुण्डकश्रुत्यर्थबाध एव।

यदपि—'तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते' (पृ० ४८) इति, तदपि न विचारसहम्, मूलश्रुतिविरुद्धत्वात्। श्रुतौ हि—'तत्रापरा ऋग्वेदो……' इत्येवोक्तम्।

किञ्च, वेदस्य कतमो भागोऽपरविद्यारूपोऽभिप्रेयते ? येन पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेनोपकारग्रहणं क्रियते। न च त्वदुक्तरीतिमनुसरन् कश्चिदपि वेदभागो दृश्यते। पृथिवीतृणमित्युभयोपादानस्य किं प्रयोजनमिति वक्तव्यम्, पृथिवीमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तमित्यस्यैव सुवचत्वात्। यत्किञ्चन वस्त्ववधीकृत्य

यहाँ मुण्डकोपनिषद् में तो महर्षि अङ्गिरा से ब्रह्मविद्या प्राप्ति की परम्परा को बताकर उससे ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने की इच्छा से महाशाल शौनक ने उनसे पूछा, भगवन्! किसके जानने से यह सब विज्ञात हो जाता है ? तब अंगरा ने परा तथा अपरा इन दो विद्याओं को जानना चाहिये, ऐसा शौनक से कहा। उन परापर विद्याओं में पहली को अपरा विद्या कहते हैं और ऋग्वेद इत्यादि से वेद-वेदांगों को अपरा विद्या कहते हैं। यदि 'तत्र' इस पद से 'सन्तुष्यतु दुर्जन-न्याय से अप्रकृत वेद को भी ग्रहण करते हैं, जैसे—'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्', 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इत्यादि सूत्रों में अप्रकृत परमेश्वर तथा वेद का भी ग्रहण किया जाता है, उसी तरह 'तत्र' पद से यहाँ वेद का ग्रहण कर लेंगे, तब किसी तरह वेदों में परा-अपरा दो विद्याओं को बताया जा सकता है। परन्तु प्रसिद्ध ऋग्वेदादिकों के अतिरिक्त कौन से वेद हैं ? यह प्रश्न तो असमाहित ही रहा। इसलिये आपका इस प्रकार से अर्थ करना विरुद्ध ही है। वस्तुतस्तु ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय और निःश्रेयस रूप तथा परप्राप्तिरूप मोक्ष को उद्देश्य कर दो ही विषय वेदप्रतिपादित हैं। उनमें अभ्युदय के साधक के रूप में अपरा विद्या, जो कर्मोपासना तथा वेद-वेदाङ्ग रूप है, तथा निश्रेयस प्राप्ति के साधक रूप में परा विद्या, जो ब्रह्म प्रतिपादनपरक कुछ मन्त्र हैं, तथा उपनिषद हैं। चित्तशुद्धि और उसकी एकाग्रता सम्पादन परम्परा के द्वारा तो सभी वेद ब्रह्मपरक ही हैं। आपकी पद्धति से तो 'चत्वारो वेदविषयाः सन्ति' इत्यादि वाक्यों से बताये गये चार विषयों का प्रकृत के साथ विरोध स्पष्ट ही है। पूर्व कथन को ही प्रमाण मानने पर मुण्डक श्रुति के अर्थ का ही बाध हो जाता है।

यह जो कहा है कि 'तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते' इति, वह भी मूलश्रुति के विरुद्ध होने के कारण उपेक्षणीय है। श्रुति में तो 'तत्रापरा ऋग्वेदो……' इतना ही कहा है।

दूसरा कारण यह भी है कि आप वेद के किस भाग को अपरा विद्या के रूप में मान रहे हैं ? जिससे पृथिवी तृण से लेकर प्रकृति तक के पदार्थों के ज्ञान से उपकार का ग्रहण किया जा रहा है। आपकी पद्धति का अनुसरण करने पर तो कोई भी वेद का भाग नहीं दिखाई देता। पृथिवी, तृण इस प्रकार दोनों के उपादान करने का क्या प्रयोजन है ? यह बताइये। पृथिवी से लेकर

प्रकृतिपर्यन्तपदार्थविवक्षायां तु तृणमारभ्येत्येव वक्तव्यम्, ग्रहणशब्दस्यापि ज्ञानपर्यायत्वे ज्ञानेन यथावदुपकारज्ञान-मित्यर्थः स्यात्, तथा च तन्निरर्थकमेव। यतो हि तज्ज्ञानं ज्ञानाकरणकत्वाभावेन न प्रत्यक्षात्मकम्। अतोऽनुमितिरूपं शाब्दवोधरूपं वाभ्युपेयम्। नाद्यं भवितुमर्हति, व्याप्तिज्ञानादेरभावात्। न वान्त्यम्, तथात्वे नोपकारज्ञाने पृथिव्यादि-प्रकृतिपर्यन्तपदार्थज्ञानं तदुपयोगि, शाब्दवोधस्य शब्दहेतुकत्वात्। अत एवोपकारज्ञानेऽनुपयोगित्वादेव तद् द्वारीकृत्य यज्ज्ञानं शाब्दवोधं सम्पादयिष्यतीत्यपि नोपपद्यते।

किञ्च, 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातमिति श्रुत्या पराविद्याप्रतिपाद्यब्रह्मज्ञान एव सर्वविज्ञानं भवति, नापराविद्ययात्मातिरिक्ततृणादिप्रकृतिपदार्थानां ज्ञाने सम्भवति सर्वविज्ञानम्। तथा च विशेषणाभावप्रयुक्त-विशिष्टाभावमादाय लक्ष्यमात्रवृत्तित्वेन गोरेकशफत्वलक्षणवदसम्भवदोषदुष्टत्वात् सर्वथापि त्वदुक्तमपराविद्यालक्षणं लक्षणाभासमेव। यया च सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा परा, अर्थादपराया विद्यायाः सकाशादुत्कृष्टाऽस्तीति वेद्यम्। यद्यपि पराविद्या अपराविद्यायाः सकाशाद् उत्कृष्टैवास्ति, 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म' (मुण्डक० १।२।७) इत्यादिवाक्यैरपराया विद्यायास्तज्जनितस्य फलस्य चास्थिरतोक्ता। 'सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्-वरिष्ठं प्रजानाम्' इति (मुण्डक० २।२।१) ब्रह्मपर्यवसायिन्याः पराया उत्कृष्टत्वमुक्तम्। तव स्वोक्तिविरोधोऽपरिहार्य एव। त्वया तु विज्ञानस्य मुख्यत्वं प्रतिपाद्य अनुपदमेवेश्वरविषयकानुभवरूपज्ञानस्य मुख्यत्वमुक्तम्। तत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमिति वाक्यं हेतुत्वेनोपन्यस्तम्, ईश्वरस्य सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वादिति हेतुरुक्तः। यदा ऋग्वेदविषयस्य पदार्थविज्ञानस्य मुख्यत्वमुक्तं तदा परमात्मज्ञानस्य विज्ञाने कथमन्तर्भावः ? ज्ञानस्यापि विज्ञानत्वे कथं ज्ञानस्याथर्वविषयस्य भिन्नत्वमुक्तम् ? कथं चाथर्ववेदविषये ज्ञाने सर्ववेदतात्पर्यविषयता ? तथात्वे वा कथमृग्वेद-विषयस्य विज्ञानस्य सर्वेभ्यो विषयेभ्यो मुख्यत्वं युज्यते।

प्रकृति तक इतना कहना ही उचित है। जिस किसी वस्तु को अवधि बना कर प्रकृति तक के पदार्थ की विवक्षा करने पर तो तृण से आरम्भ कर इतना ही कहना चाहिये था। ग्रहण शब्द भी ज्ञान का पर्याय होने से ज्ञान से यथावत् उपकार का ज्ञान यह अर्थ होगा, जो निरर्थक ही है। क्योंकि वह ज्ञान, ज्ञानाकरणक न होने से प्रत्यक्षात्मक नहीं है। इसलिये उसे अनुमिति या शाब्दबोध रूप मानना होगा। किन्तु व्याप्तिज्ञानादि के न होने से उसे अनुमितिरूप नहीं कह सकते और न ही उसे शाब्दबोधात्मक कह सकते हैं। शाब्दबोध रूप से उपकार ज्ञान में पृथिव्यादि प्रकृति पर्यन्त पदार्थज्ञान उपयुक्त होता है, क्योंकि शाब्दबोध में शब्द ही हेतु होता है। इसलिये उपकार ज्ञान में अनुपयोगी होने से उसके माध्यम से वह ज्ञान शाब्दबोध का सम्पादन करेगा, यह बात नहीं बन पाती है।

और भी 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातमिति श्रुत्या पराविद्याप्रतिपाद्यब्रह्मविज्ञान एव सर्वविज्ञानं भवति, इस श्रुति से पराविद्या प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान में ही सर्व विज्ञान होता है, अपरा विद्या से नहीं, इस प्रकार आत्मातिरिक्त तृणादि प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के ज्ञान में सर्व विज्ञान का होना संभव है। इसलिये विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव को लेकर लक्ष्यमात्रवृत्ति होने से गोरेकशफत्व के समान असंभव दोष से दूषित होने पर तुम्हारा बताया हुआ अपरा विद्या का लक्षण सर्वथा लक्षणाभास ही है। जिससे अदृश्यादि सर्वशक्तिमद् ब्रह्म जाना जाता है, उसे परा विद्या कहते हैं, अर्थात् अपरा विद्या से वह उत्कृष्ट होती है, यह समझना चाहिये। यद्यपि परा विद्या अपरा विद्या से उत्कृष्ट ही है। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म'—(मुण्डक० १।२।७) इत्यादि वाक्यों से अपरा विद्या और उसके फल की अस्थिरता कही गई है। 'सदसद्वरेण्यं विज्ञानाद् यद्वरिष्ठं प्रजानामिति'—(मुण्डक० २।२।१) इससे ब्रह्मपर्यवसायिनी परा विद्या की उत्कृष्टता कही गई है, तथापि आपका स्वोक्तिविरोध तो अपरिहार्य हो रहा। आपने तो विज्ञान की मुख्यता बताकर उसके अनन्तर ही ईश्वरविषयक अनुभव रूप ज्ञान की मुख्यता बताई है और उसमें समस्त वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य है, इस वाक्य को हेतु के रूप में रखा है। समस्त पदार्थों की अपेक्षा ईश्वर की प्रधानता होने से, यह हेतु बताया गया है। जब ऋग्वेद के विषयभूत पदार्थ विज्ञान की मुख्यता कही गई, तब परमात्मा के ज्ञान का विज्ञान में कैसे अन्तर्भाव होगा? जब ज्ञान को भी विज्ञान कहा जाय तब अथर्व के विषयभूत ज्ञान की भिन्नता कैसे कही जा सकेगी? कैसे अथर्ववेद का विषयभूत ज्ञान समस्त वेदों के तात्पर्य का विषय बन सकेगा? ऐसी परिस्थिति में ऋग्वेद के विषयभूत विज्ञान को समस्त विषयों की अपेक्षा मुख्य बताना कैसे संगत होगा?

किञ्चेश्वरविषयकस्यानुभवस्य मुख्यत्वसिद्धौ वेदानां तात्पर्यविषयत्वं हेतुरस्ति न वा ? नाद्यस्तथात्वे 'चत्वारो वेदविषयाः' इति स्ववाक्यविरोधात्। न च सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीति वचनबलात्तद्युक्तम्, तस्य शङ्कराचार्यादिभिरन्यथार्थस्य प्रतिपादितत्वात्। यदा चत्वारो वेदविषया इति सत्यं तदा सर्ववेदतात्पर्यविषयमिति हेतुरसिद्ध एव। अत एव न पञ्चमीनिर्देश एव हेतुत्वद्योतकः, अन्यथा पर्वतनिष्ठवह्निविषयकोऽनुभवः सर्वेभ्यो मुख्यः, अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमिति ब्रुवाणः कथं त्वयापि निरोद्धव्यः ? इति भूमिकाखण्डनोक्तिर्युक्तैव। तस्मादन्त्य एव पक्षो युक्तः, साधकाभावे साध्यासिद्धेर्युक्तत्वात्। काठकमुण्डकोपनिषद्गतपूर्वोक्तवाक्यानां तु श्रीशङ्कराचार्यपादादिसम्मतोऽयमर्थः—

'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' (क० १।२।१४) इति परमतत्त्वं पृष्टवते नचिकेतसे यमस्तादृशमेव वस्तु विशेषणान्तरैरप्युपलक्षितमाह—सर्वे वेदा इति। सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं प्रापणीयमविभागेनामनन्ति प्रतिपादयन्ति। तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थान्येवेत्यर्थः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासेन्द्रियनिग्रहरूपं चरन्त्यनुतिष्ठन्ति, तत्ते तुभ्यं यज्ज्ञातुमिच्छसि संग्रहेण ब्रवीमि। ओम् इत्येतत् ॐशब्दवाच्यं तत्प्रतीकं च। आनन्दगिरिरीत्या 'सर्वे वेदा इति, वेदैकदेशा उपनिषदः। अनेनोपनिषदो ज्ञानसाधनत्वेन साक्षाद्विनियुक्ताः, तपांसि तेषां कर्माणि शुद्धिद्वारेणावगतिसाधनानि'। 'तत्रापरेति—तत्र काऽपरेत्युच्यते, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येते चत्वारो वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि। षडेषापरा विद्या। अथेदानीमियं परा विद्योच्यते। यया तद् वक्ष्यमाणविशेषणमक्षरमधिगम्यते प्राप्यते। अधिपूर्वस्य गमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात्। न च परप्राप्तेरवगमार्थस्य भेदोऽस्ति। अविद्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम्।

और भी—ईश्वर विषयक अनुभव की मुख्यता सिद्ध करने में वेदों की तात्पर्यविषयता को हेतु मानते हैं या नहीं ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'चत्वारो वेदविषयाः' इस अपने वाक्य से ही विरोध होगा। यदि कहो कि 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' इस वचन से वह उचित है, तो वह ठीक नहीं होगा, क्योंकि श्रीशंकराचार्य आदि विद्वानों ने उसका दूसरा अर्थ बताया है। जब 'चत्वारो वेदविषयाः' यह सत्य है, तब 'सर्ववेदतात्पर्यविषयम्' यह हेतु असिद्ध ही है। इसीलिये हेतुता का द्योतक केवल पञ्चमी विभक्ति का निर्देश करना नहीं माना गया है। अन्यथा पर्वत पर स्थित वह्नि के अनुभव को सबसे मुख्य और उसीमें समस्त वेदों के तात्पर्य को बताने वाले व्यक्ति को आप कैसे रोक सकेंगे ? यह भूमिका खण्डनोक्ति उचित ही है। अतः अन्त्य पक्ष ही उचित कहना होगा, साधक के अभाव में साध्य की असिद्धि का होना उचित ही है। काठक, मुण्डक उपनिषद् के पूर्वोक्त वाक्यों का अर्थ तो श्रीशंकराचार्य आदि ने इस प्रकार किया है—

'धर्म से दूर, अधर्म से दूर, कृत और अकृत से दूर, भूत और भव्य से भी दूर जिस वस्तु को तुम देखते हो, उसका मुझे उपदेश दो' इस प्रकार परम तत्त्व के विषय में पूछने वाले नचिकेता को यम ने इसी प्रकार की वस्तु का अन्य विशेषणों से संयुक्त कर उपदेश दिया कि सब वेद जिस प्रापणीय वस्तु का सम्पूर्णता से प्रतिपादन करते हैं, सारे तप भी जिसकी प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं, जिसको चाहते हुए गुरुकुलवास, इन्द्रियनिग्रह रूप ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद का मैं तुमको उपदेश संक्षेप में देता हूँ, जिसको कि तुम जानना चाहते हो। वह पद ओम् है। ॐ शब्द उसका वाच्य भी है और प्रतीक भी। आनन्दगिरि के मत में 'सर्वे वेदाः' का अर्थ सब उपनिषदें हैं, जो कि वेद का एक भाग है। इस प्रकार यहाँ पर उपनिषदों को ज्ञान का साक्षात् साधन माना गया है। तप उनके कर्म कहलाते हैं, जो कि चित्त शुद्धि के द्वारा ब्रह्म को अवगति के साधन हैं। गोपाल यतीन्द्र के मत में तत्रापरेति का अर्थ अपरा विद्या कौन सी है, यही यहाँ बताया गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चार वेद और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये छः अंग ये सब अपरा विद्या हैं। अब यह परा विद्या कही जाती है, जिससे कि उस अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जिसके कि लक्षण आगे बताये गये हैं। अधिपूर्वक गम् धातु प्रायः प्राप्ति

ननु ऋग्वेदादिबाह्या तर्हि सा कथं परा विद्या स्यान्मोक्षसाधनं च। 'या वेदबाह्याः स्मृतयः (म० स्मृ० १२।९५) इति हि स्मरन्ति। कुदृष्टित्वान्निष्फलत्वादनादेया स्यात्। उपनिषदां च ऋग्वेदादिबाह्यत्वं स्यात्। ऋग्वेदादित्वे तु पृथक्करणमनर्थकम्। अथ कथं परेति? न, वेद्यविषयविज्ञानस्य विवक्षितत्वात्। उपनिषद्वेद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशिः। वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः। शब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधिगमः सम्भवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः परा विद्येति कथनं चेति शाङ्करभाष्यम्।

यद्वा साङ्गवेदादिचतुर्दशविद्यास्थानोपलक्षितं शब्दब्रह्ममात्रमपरविद्यापदेन विवक्षितम्। तदुक्तम्—'वर्णाश्रमानुसारिकर्मोपासनानुष्ठानजनितसत्त्वशुद्धिसाधनचतुष्टयसम्पत्ति-वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनोत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कार एव परा विद्या। अपरा विद्या साधनरूपा। ब्रह्मविद्या फलरूपा। तदुक्तं श्रीमद्भागवते—'शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।' सायणीयकाण्वशाखीयभाष्यभूमिकायाम्, ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां च 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' इति मुण्डकश्रुत्यनुसारेणैव ऋगादिमन्त्राणां ब्राह्मणानां च कर्मैव विषयः, उपनिषदां ब्रह्म विषयः। यद्यप्युपनिषदामपि वेदशीर्षत्वाद् ऋग्वेदाद्यन्तःपातित्वमेव, तथापि बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेन वेदानां कर्मपरत्वं तत्र तत्र प्रसिद्धम्। अत एव 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इति जैमिनिः। 'त्रैगुण्यविषया वेदाः', 'वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः', 'नाहं वेदैर्न तपसा' (गीता), 'दृष्टवदानुश्रविकः' इति सांख्यकारिका। उपनिषदां वेदशीर्षत्वात् सर्ववेदसारत्वात्तु तद्विषये ब्रह्मणि सर्वेषामेव वेदानां तात्पर्यमित्युक्तिः। तदभिप्रायेणैव 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति',

के अर्थ में प्रयुक्त होती है। परम पद की प्राप्ति और अवगति में कोई अर्थभेद नहीं हैं, क्योंकि अविद्या का दूर होना ही पर प्राप्ति है, इसका कोई दूसरा अर्थ नहीं है।

यदि यह ऋग्वेद आदि से भिन्न है, तो यह परा विद्या और मोक्ष का साधन कैसे हो सकती है? मनुस्मृति में वेदबाह्य स्मृतियों को कुदृष्टि माना गया है। कुदृष्टि होने से ये निष्फल हैं, अनादेय हैं। इस प्रकार उपनिषद् ऋग्वेदादि से बाह्य माने जायेंगे। यदि ये ऋग्वेदादि से अभिन्न हैं, तो इनका उनसे अलग करना व्यर्थ है। तब इसको परा विद्या कैसे कहा गया? नहीं, आप समझे नहीं। यहाँ पर परा विद्या से वेदविषयक विज्ञान अभिप्रेत है। उपनिषद् रूप वेदाक्षर विषयक विज्ञान यहाँ पर परा विद्या पद से प्राधान्येन अभिप्रेत है, उपनिषद् रूप शब्दराशि नहीं। वेद शब्द से सर्वत्र शब्दराशि ही विवक्षित है। शब्दराशि की अधिगति हो जाने पर भी अन्य प्रयत्नों के बिना गुरु की अधिगति, वैराग्य आदि से अक्षर की अधिगति नहीं हो सकती, इसलिये ब्रह्मविद्या का पृथक् उपदेश किया गया है और उसको परा विद्या कहा गया है।

अथवा सांग वेद आदि चतुर्दश विद्या स्थान रूप शब्दब्रह्म मात्र ऊपर विद्या पद से विवक्षित है। कहा भी गया है कि वर्णाश्रम के अनुसार कर्म और उपासना के अनुष्ठान से उत्पन्न सत्त्वशुद्धि, साधन चतुष्टय संपत्ति, वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन से उत्पन्न ब्रह्म साक्षात्कार ही परा विद्या है। भागवत में भी कहा गया है कि—'शब्दब्रह्म में निष्णात विद्वान् यदि परब्रह्म में निष्णात नहीं होगा तो उसका सारा श्रम उसी प्रकार निष्फल है, जैसा कि बांझ गाय की सेवा करने वाले का होता है'। सायण के काण्वशाखा के भाष्य की भूमिका और ऋग्वेदभाष्यभूमिका में 'दो विद्या जाननी चाहिये' इस मुण्डक श्रुति के अनुसार ऋगादि मन्त्रों और ब्राह्मणों का कर्म ही विषय है और उपनिषदों का विषय ब्रह्म बताया है। वेद में शीर्षस्थानीय उपनिषदों का भी यद्यपि ऋग्वेद आदि में ही अन्तर्भाव है, तो भी वेदों में बाहुल्य कर्मों का ही है, अतः तदनुसार ही वेदों को कर्म प्रतिपादक मान लिया जाता है। इसीलिये जैमिनि ने पूरे आम्नाय को क्रियार्थक मानकर, जो भाग क्रिया प्रतिपादक नहीं है, उसको अनर्थक कहा है। इसके विपरीत गीता में वेदों को त्रैगुण्यविषयक, उसके अनुयायियों को वेदवाद में निरत कहा है और बताया है कि परमेश्वर वेद और तप से नहीं मिल सकता। सांख्यकारिका में भी आनुश्रविक, वेदविहित कर्मों को भी इस कर्मों के समान ही क्षय और अतिशय से युक्त माना है। उपनिषद् वेद के शीर्षस्थानीय हैं, ये सब वेदों के सार हैं, अतः उपनिषद् के विषय ब्रह्म में ही सारे वेदों का तात्पर्य बताया गया है। इसी अभिप्राय से 'सब वेद जिस पद को बताते हैं', 'सब वेदों से मैं ही वेद्य हूँ' इत्यादि वचन प्रवृत्त हुए हैं। अथवा 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यादिवचनानि। यद्वा 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यस्यायमर्थः—केचित् पारम्पर्येण केचिच्च साक्षात् सर्वे वेदा मन्त्रब्राह्मणात्मकाः, यत्पदमामनन्ति प्रतिपादयन्ति, ब्रह्मण्येव पर्यवस्यन्ति। तत्र कर्मोपासनशेषा वेदाः कर्मोपासनप्रतिपादनसत्त्वशुद्धिब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारयोग्यतासम्पादनक्रमेण ब्रह्मण्येव पर्यवस्यन्ति। कर्मोपासन-पर्यवसायिनः कर्मस्वविनियुक्ता ब्रह्मपर्यवसायिनो मन्त्रा ब्रह्मपराणि ब्राह्मणानि च साक्षादेव विधिमुखेन निषेधमुखेन च ब्रह्म प्रतिपादयन्ति।

यद्यपि वहवो मन्त्रा ब्राह्मणानि चेश्वरं प्रतिपादयन्ति, तथापि कर्मोपासनशेषत्वेन ते कर्मोपासनपरा एवोच्यन्ते। अनन्यशेषा एव वेदाः साक्षाद् ब्रह्मप्रतिपादका उच्यन्ते। अनन्यशेषाणि ब्रह्मवोधकानि वचनानि तत्प्रधानान्युच्यते। तान्यतत्प्रधानेभ्यो वलीयांसि भवन्ति। कर्मोपासनपरेभ्यो द्वैतवचनेभ्यो द्वैतसाधकप्रत्यनुमानेभ्योऽपि वलीयस्त्वात् तानि वाधित्वापि स्वार्थमावेदयन्ति। तथाभूता ईशावास्यमित्यादयो मन्त्रा अपि उपनिषत्कोटा आयान्ति, अत उपनिषत्सु ब्रह्मपराणां मन्त्राणां ब्राह्मणानां च सन्निवेशः। तथा च साक्षाद्ब्रह्मप्रतिपादका वेदाः पराविद्या-पदेनोच्यन्ते। ब्रह्मकार्यान्तर्गतद्रव्यदेवतात्मककर्मतत्फलप्रतिपादका वेदा अपराविद्यापदेनोच्यन्ते। यथा पृथिवीकार्य-पादुकाचतुष्पादिकादिषु दत्तपदा अपि भूतल एव दत्तपदा भवन्ति, तथैव ब्रह्मकार्यप्रतिपादका अपि वेदा ब्रह्मप्रतिपादका एव भवन्ति। 'नह्यन्यथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्' (वेदस्तुतौ)। जातौ शक्त्यभ्युपगमेन जातेश्च परसत्तायां जातौ पर्यवसानान्न केवलं सर्वे वेदाः, किन्तु सर्वे शब्दा अपि ब्रह्मवोधका एव। अवान्तरतात्पर्याभिप्रायेणैव कर्मोपासनपरा वेदास्त्रैगुण्यविषया अपरविद्यारूपाः। महातात्पर्याभिप्रायेण तु कर्मोपासनपरा अपि वेदा ब्रह्मप्राप्ति-योग्यतासाधकत्वेन ब्रह्मपरा एव। तेन सर्व एव वेदाः परमात्मपदपर्यवसायित्वेन ब्रह्मप्रतिपादका एव।

इस श्रुति का अर्थ यह है—'कुछ परम्परा से और कुछ साक्षात् इस प्रकार सभी मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद जिस पद को प्रतिपादित करते हैं, वह ब्रह्म ही है। इनमें से कर्मोपासना के शेषभूत वेद कर्मोपासना के प्रतिपादन, सत्त्वशुद्धि, ब्रह्म के स्वरूप के साक्षात्कार की योग्यता के सम्पादन के क्रम से ब्रह्म में पर्यवसित होते हैं और जिनका कर्मोपासना में पर्यवसान नहीं है, जो कर्म में विनियुक्त नहीं हैं, किन्तु ब्रह्म में जिनका पर्यवसान है, ऐसे मन्त्र और ब्रह्म के प्रतिपादक ब्राह्मण साक्षात् ही विधिमुख से अथवा निषेध मुख से ब्रह्म के प्रतिपादक हैं।

यद्यपि बहुत से मन्त्र और ब्राह्मण ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, तो भी कर्मोपासना के शेषभूत अर्थात् अङ्ग होने से वे कर्मोपासना के भी प्रतिपादक माने जाते हैं। जो किसी के अङ्ग नहीं हैं, वे ही वेदभाग साक्षात् ब्रह्म के प्रतिपादक हैं। जो किसी के अङ्ग नहीं हैं, ऐसे ब्रह्मवोधक वचन प्रधान माने जाते हैं। ऐसे वचन उन वचनों से प्रधान माने जाते हैं, जो कि ब्रह्म के प्रतिपादक नहीं हैं। कर्मोपासना के प्रतिपादक द्वैतवादी वचनों से और उनके सहायक अनुमानों से वलवान् होने के कारण ये उनको भी वाधित कर अपने स्वार्थ अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार के 'ईशा वास्यम्' इत्यादि माध्यन्दिन संहिता के मन्त्र भी उपनिषदों की कोटि में ही आते हैं। इसलिये उपनिषदों में ब्रह्मपरक मन्त्रों और ब्राह्मणों का सन्निवेश है। इस तरह साक्षात् ब्रह्म के प्रतिपादक वेद परा विद्या के नाम से कहे जाते हैं। यज्ञ कार्य के सम्पादन के अन्तर्गत द्रव्य, देवता और उसके फल के प्रतिपादक वेद अपरा विद्या पद से कहे जाते हैं। जैसे पृथिवी के कार्य खड़ाऊ, मोटर आदि में पैर रखने पर भी वस्तुतः उनका आधार भूतल ही होता है, उसी तरह ब्रह्म कार्य के प्रतिपादक वेद भी वस्तुतः ब्रह्म के ही प्रतिपादक माने जाते हैं। अन्यथा वेदस्तुति की यह उक्ति कैसे संगत होगी कि 'मनुष्यों के पैर पृथ्वी पर ही माने जाते हैं'। वास्तव में शब्दों की शक्ति जाति में मानी जाती है और जाति का पर सत्ता में पर्यवसान मानने से न केवल सब वेद ही, अपि तु सब शब्द भी ब्रह्म के ही बोधक हैं। अवान्तर तात्पर्य के अभिप्राय से ही कर्मोपासना के प्रतिपादक वेद त्रैगुण्य विषयक अपर विद्या के नाम से अभिहित हैं। महातात्पर्य के अभिप्राय से तो कर्मोपासना के प्रतिपादक वेद भी ब्रह्मप्राप्ति की योग्यता के संपादन में विनियुक्त होने से अन्त में ब्रह्मपरक ही हैं। इस तरह सभी वेद परमात्म-पद की प्राप्ति में पर्यवसित होने से ब्रह्म प्रतिपादक ही हैं।

इत्थं चावान्तरतात्पर्यवन्तः कर्मोपासनपराः साङ्गा वेदा अपरविद्या मन्तव्याः। अनन्यशेषा ब्रह्मप्रतिपादका वेदाः पराविद्यारूपा मन्तव्याः। अपरविद्यया ब्रह्मप्राप्तियोग्यतालाभः, परविद्यया ब्रह्मलाभः। उपेत्य प्रत्यक्-चैतन्याभिन्नपरमात्मानमधिगमय्य अविद्याग्रन्थि शातयति शिथिलयति मोक्षं गमयतीति ब्रह्मविद्यैवोपनिषदुच्यते। तज्जनकत्वात् तत्प्रतिपादकेषु मन्त्रब्राह्मणरूपेषु वेदेष्वप्युपनिषच्छब्दः प्रयुज्यते। अत एव निरुक्ते दैवतकाण्डे परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च त्रिविधा ऋच उक्ताः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पशआध्यात्मिका इत्यपि तत्रैवोक्तम्। ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः, तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रतिपादनेनैवोपक्षोणत्वादिति शङ्कराचार्येणाप्युक्तम्। ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मसु विनियुक्ता मन्त्रत्वाद् इषेत्वादिवद् इत्यनुमानं तु विनियोजकप्रमाणसत्त्वोपाधिदूषितं वेदितव्यम्।

यत्तु ब्रह्मचर्यपदमुपलक्षणं मत्वा ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानीत्यर्थः कृत इति, तन्न, पारम्पर्येण सर्वाश्रमाचरणानां ब्रह्मज्ञान उपयोगसत्त्वेऽपि ब्रह्मचर्यस्यैव तत्र साक्षादुपयोगः। अतो ब्रह्मविद्याप्राप्त्यर्थं प्रजापतिं प्रत्युपसन्नयोरिन्द्रविरोचनयोर्ब्रह्मचर्यानुष्ठानं ब्रह्मविद्याङ्गतया श्रूयते।

यत्तु विषयचतुष्टयसिद्धौ 'यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति, अथर्वभिर्जपन्ति' इति काठकब्राह्मणमुपन्यस्तम्, तत्तु न तत्पोषकम्, तस्यान्यार्थोपपत्तेः। तथाहि—एनं परमात्मानमृग्भिः शंसन्ति वर्णयन्ति, यजुर्भिस्तमेव यजन्ति, सामभिस्तमेव स्तुवन्ति, अथर्वभिस्तमेव जपन्ति—इत्येवार्थः। नहि शंसनं पदार्थविज्ञानं भवति। त्वद्रीत्यापि परमेश्वरमारभ्य तृणपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानं ततश्चोपकारग्रहणमेव विज्ञानं भवति। न चायं पदार्थः शंसतेरर्थः सम्भवति। यजनं तु कात्यायनादिप्रोक्तप्रकारेण यथाशास्त्रं तत्तद्देवतोद्देश्यकद्रव्यत्याग एव। सामभिः

अवान्तर तात्पर्य वाले कर्मोपासनापरक सांग वेद अपरा विद्या के नाम से और अनन्यशेष ब्रह्म प्रतिपादक वेद परा विद्या के नाम से जाने जाते हैं। अपरा विद्या से ब्रह्म प्राप्ति की योग्यता प्राप्त होती है, परा विद्या से ब्रह्मलाभ होता है। प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मा को प्राप्त कर, अविद्या ग्रन्थि को खोलकर मोक्ष को प्राप्त कराने वाली ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् कहलाती है। इस ब्रह्मविद्या के जनक होने से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों के लिये उपनिषद् शब्द प्रयुक्त होता है। इसीलिये निरुक्त में दैवत काण्ड में परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक इस प्रकार तीन प्रकार की ऋचाएं बताई गई हैं। इनमें परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत मन्त्रों की अधिकता है और आध्यात्मिक ऋचाएं थोड़ी सी हैं, यह भी वहीं बताया गया है। 'ईशा वास्यम्' इत्यादि मन्त्र कर्म में विनियुक्त नहीं है। ये कर्म के अङ्ग नहीं हैं, क्योंकि आत्मा की तात्त्विकता के प्रतिपादन में ही इनका तात्पर्य समाप्त हो जाता है, यह बात शङ्कराचार्य ने भी कही है। 'ईशा वास्यम्' इत्यादि मन्त्र भी कर्म में विनियुक्त है, क्योंकि ये भी 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्रों के समान मन्त्र हैं, यह अनुमान विनियोजक प्रमाणसत्त्व रूप उपाधि से दूषित जानना चाहिये।

ब्रह्मचर्य पद को उपलक्षण मान कर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम के आचरणों को, यह अर्थ किया गया है। वह ठीक नहीं है, क्योंकि परम्परा से सभी आश्रमों के आचरणों का ब्रह्मज्ञान में उपयोग रहने पर भी साक्षात् उपयोग वहाँ ब्रह्मचर्याश्रम का ही माना गया है। इसलिये ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये प्रजापति के पास गये इन्द्र और विरोचन को ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान ही ब्रह्मप्राप्ति के अंग के रूप में आवश्यक बताया गया है।

यहाँ पर चार विषयों की सिद्धि के लिये 'ऋचाओं से स्तुति करते हैं, यजुस् से यजन करते हैं, साम से स्तवन करते हैं और अथर्व से जप करते हैं' इस काठक ब्राह्मण के वचन को उपन्यस्त किया है, वह इसका पोषक नहीं हो सकता, क्योंकि उसका दूसरा भी अर्थ हो सकता है। वहाँ पर 'इस परमात्मा का ऋचाओं से वर्णन करते हैं और यजुस् से उसी का यजन करते हैं, साम से उसी की स्तुति करते हैं और अथर्व से उसी का जप करते हैं, यह अर्थ है। शंसन का अर्थ पदार्थ विज्ञान नहीं है। आपके मत से भी परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त पदार्थों का ज्ञान और उनके उपकार का ग्रहण करना विज्ञान कहलाता है। यह अर्थ शंसति धातु का नहीं

स्तुवन्तीति स्तुतिरपि वाचनिको क्रियैव। उपासना तु मानसी क्रिया भवति। एवमथर्वभिर्जपन्तीत्यनेनापि जपात्मकं कर्मैव सिद्धयति, नहि जपतेर्ज्ञानमर्थः।

वस्तुतः 'ऋग्भिः शंसन्ति' इत्यादिभिस्तु चतुर्विधानां मन्त्राणां विनियोग उक्तः केन किं कर्तव्यमिति। ऋगादीनां मन्त्रवाचकत्वात्। ऋग्वेदादयस्तु मन्त्रब्राह्मणात्मका एव। तेषां त्वनेकशाखोपबृंहितानां समेषामेव कर्मोपासनज्ञानान्येव विषयाः, सर्वेषु वेदेषु सर्वासु शाखासु विषयत्रैविध्योपलब्धेः। उपनिषदोऽपि सर्वास्वपि शाखासूपलभ्यन्ते। ऋक्सामयजुरथर्ववेदेषु कर्मणा ऋत्विजामृगादिमन्त्राणां च सर्वशाखासूपयोगः। न च शाखा वेदादन्याः, सर्वशाखासमूहस्यैव वेदत्वात्।

यत्तूक्तम्—'विराट्पुरुष-प्रजापति-हिरण्यगर्भादिनामभिः प्राकृतिकं महदण्डं तन्निर्मितं च जगद्विदित्वैव मृत्युमतिक्रामति जनः, 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।' इति श्रुतेरिति, तदपि तुच्छम्, श्रुत्यर्थानभिज्ञानात्। तथाहि—तमेवेत्यत्रैवकारेण परमात्मज्ञानस्यैव मृत्स्वतिक्रमणहेतुत्वश्रवणात्। श्रुत्यर्थस्तु मन्त्रदृगृषिर्वक्ति—अहमेनं वेदान्तवेद्यमादित्यवर्णमादित्यवत्स्वप्रकाशं महान्तं व्यापकं पूर्षु शयनात्पूर्णत्वाद्वा पुरुषं तमसोऽज्ञानतत्कार्यलक्षणात् प्रपञ्चात् परस्ताद् विराजमानम्, वेद जानामि, प्रत्यक्चैतन्याभेदेन परमात्मानं साक्षात्करोमि, तमेव यमहं वेद्मि तमेव शुद्धं प्रपञ्चातीतं परमात्मानमेव विदित्वा साधको मृत्युं तदुपलक्षितं जननमरणाविच्छेदलक्षणं संसारमतिक्रामति। नान्यस्तज्ज्ञानलक्षणाद् मार्गादन्यः कोऽपि पन्थाः संसारातितरणसाधनभूतोऽस्ति।

हो सकता। यजन का अर्थ कात्यायन प्रभृति के कहे गये प्रकार से उस देवता को उद्दिष्ट कर द्रव्य का त्याग करना है। साम से स्तुति करते हैं, यहाँ पर स्तुति भी वाणी की क्रिया है। उपासना मानसी क्रिया होती है। इसी तरह अथर्व से जपता है, इससे भी जपात्मक कर्म ही सिद्ध होता है, क्योंकि जपति धातु का ज्ञान अर्थ नहीं होता।

वस्तुतः 'ऋग्भिः शंसन्ति' इत्यादि से चार प्रकार के मन्त्रों का विनियोग बताया है कि किससे क्या करना चाहिये। ऋगादि शब्द मन्त्र के वाचक हैं। ऋग्वेदादि शब्द मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के वाचक हैं। अनेक शाखाओं में उपबृंहित इन सबका कर्म, उपासना और ज्ञान विषय हैं। सभी वेदों और शाखाओं में ये तीन विषय उपलब्ध होते हैं। उपनिषद् भी सभी शाखाओं में मिलती हैं। ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद में कर्म के साथ ऋत्विजों का और ऋगादि मन्त्रों का सभी शाखाओं में उपयोग होता है। शाखाएँ वेद से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि सभी शाखाओं के समूह का ही नाम वेद है।

यह जो कहा गया है कि 'विराट्, पुरुष, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि नाम से प्राकृतिक महदण्ड और तन्निर्मित जगत् को जान कर ही मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है, 'मैं उस महान् आदित्य वर्ण पुरुष को जानता हूँ, जो कि अन्धकार से बहुत दूर है। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है। इसके सिवाय मोक्ष प्राप्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है। यह श्रुति इसमें प्रमाण है', यह भी व्यर्थ की बात है, क्योंकि बिना श्रुति का अर्थ जाने यह कहा गया है। यहाँ पर 'तमेव' यहाँ के एवकार से परमात्मा के ज्ञान को ही मृत्यु के अतिक्रमण का एकमात्र कारण बताया गया है। श्रुति का अर्थ यह है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहता है कि मैं इस वेदान्तवेद्य, आदित्य के समान प्रकाशमान महान् अर्थात् व्यापक, अनेक शरीरों में विश्राम करने के कारण अथवा पूर्ण होने से जो पुरुष कहलाता है, जो तम अर्थात् अज्ञान और उसके कार्य प्रपञ्च से परे विराजमान है, उसको जानता हूँ, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मा का साक्षात्कार करता हूं। मैं जिसको जानता हूँ, उसी शुद्ध प्रपंचातीत परमात्मा को जानकर साधक मृत्यु को अर्थात् तदुपलक्षित जनन-मरण की अविच्छिन्न परम्परा रूप संसार को अतिक्रान्त कर जाता है। इसके ज्ञान के सिवाय अन्य कोई मार्ग संसार-सागर को पार करने का नहीं है।

यच्च 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।।' (ऋ० ८।२।७)। अस्यायमर्थः—'यद्विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य परमं प्रकृष्टानन्दस्वरूपं पदं पदनीयं सर्वोत्तमोपायैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति, तत् सूरयो विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति। कीदृशम्? आततम् आसमन्तात् ततं विस्तृतं यद्देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते। दिवि मार्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति, तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्तते। मोक्षस्य सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति' (पृ० ५०) इति, तदपि न सङ्गतम्, वेदानां ब्रह्मणि तात्पर्यमित्यर्थप्रतिपादनेऽस्य वचनस्यानुपयोगित्वात्, तादृशार्थबोधकपदाभावाच्च। न च तादृशोऽर्थो ध्वन्यत इति वाच्यम्, सूरयो ब्रह्मविद एव तत्पदमवगाहितुं क्षमा इत्यत्रैव श्रुतेस्तात्पर्यात्। अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्तीति तन्निष्कर्षोऽपि निराधार एव, अत इत्युक्ते कुत इति आकाङ्क्षा भवति। सा च हेतुस्वरूपनिरूपण एव निवर्तते। न च त्वदुक्तार्थस्य तत्र हेतुत्वं सम्भवति।

नहि देशकालवस्तुपरिच्छेदरहिते सदा सूरिवेद्य एव वेदानां तात्पर्येण भाव्यमिति राजाज्ञास्ति, तात्पर्यस्योपक्रमोपसंहारादिषड्विधलिङ्गैरेव ज्ञातुं शक्यत्वात्। त्वद्रीत्या विष्णोः परमानन्दस्वरूपं कथं पदनीयं कथं च तस्य मोक्षाख्या भवति? सर्वव्यापकस्य नित्यप्राप्तत्वे प्राप्तव्यत्वासम्भवात्। न च स्वात्मरूपतया तत्साक्षात्कार एव तत्प्राप्तिः, त्वद्रीत्या जीवस्य सदैव तद्भिन्नत्वात्। न चोपास्यतया तत्साक्षात्कार एव मोक्षः, तथात्वेऽपि तस्य मोक्षभिन्नत्वेन मोक्षरूपत्वानुपपत्तेः। साक्षात्कर्तव्यस्य परमानन्दरूपत्वेऽप्यतद्रूपस्य साक्षात्कर्तुस्ततो भिन्नत्वेन पुरुषार्थत्वासम्भवात्। किञ्च, त्वद्रीत्या वस्तुपरिच्छेदरहितं ब्रह्म नैव सम्भवति, तस्यान्योन्याभावप्रतियोगित्वात्। प्रागभावप्रध्वंसाभावप्रतियोगित्वस्य कालपरिच्छिन्नत्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य देशपरिच्छिन्नत्वेनान्योन्याभावप्रतियोगित्वस्य वस्तुपरिच्छिन्नत्वेनाभावचतुष्टयाप्रतियोगित्वस्यैव त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वं सम्भवति। तदेतदद्वैतवाद एव सङ्गच्छते, न त्वन्मते।

'तद्विष्णोः' आदि मन्त्र को उद्धृत कर उसका अर्थ बताया गया है कि विष्णु अर्थात् व्यापक परमेश्वर का परम अर्थात् प्रकृष्ट आनन्द स्वरूप पद, सर्वोत्तम उपायों से प्रापणीय मोक्ष रूपी स्थान है। उसको विद्वज्जन सदा देखते हैं। यह स्थान चारों तरफ से विस्तृत है, देश, काल, वस्तु आदि के परिच्छेद से रहित है। अतः सभी सब जगह उसको पा सकते हैं। दिन में सूर्य के प्रकाश में जैसे नेत्र की दृष्टि का विस्तार हो जाता है, उसी तरह यह ब्रह्म पद भी है। मोक्ष पद सबसे उत्कृष्ट है, अतः इसी को सब कोई देखना और प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु यह कथन भी संगत नहीं है, वेदों का ब्रह्म में तात्पर्य है, इसके प्रतिपादन में यह मन्त्र असमर्थ है। इस प्रकार के अर्थ को बताने वाला कोई पद यहाँ नहीं है। इस प्रकार का अर्थ ध्वनित होता है, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि इस मन्त्र का केवल इतना ही अर्थ है कि सूरि अर्थात् ब्रह्मवेत्तागण ही उस पद को प्राप्त करने में समर्थ हैं। इसलिये वेद विशेषेण उसी का प्रतिपादन करते हैं, यह निष्कर्ष निराधार है। 'अतः' ऐसा करने पर 'कहाँ से' ऐसी आकांक्षा होती है। वह हेतु के स्वरूप का स्पष्ट निरूपण करने पर ही निवृत्त होती है। आपका कहा गया अर्थ वहाँ पर हेतु के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता।

देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित सर्वदा विद्वानों के ही द्वारा वेद में ही वेदों का तात्पर्य होगा, यह कोई राजा की आज्ञा नहीं है, क्योंकि तात्पर्य की अवगति उपक्रम, उपसंहार आदि षड्विध लिंग से ही होती है। आपके मत से विष्णु का परमानन्द स्वरूप पद कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उसका नाम मोक्ष कैसे होगा? सर्व व्यापक पद तो नित्य प्राप्त है, उसको क्या प्राप्त करना है? स्वात्मरूपेण उसका साक्षात्कार ही प्राप्ति है, यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि आपकी दृष्टि में ईश्वर सदा जीव से भिन्न है। उपास्यतया उसका साक्षात्कार भी मोक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था में भी मोक्ष से भिन्न होने से उसकी मोक्षरूपता नहीं बन सकती। जो साक्षात् करणीय है, उसके परमानन्द रूप होने पर भी साक्षात्कर्ता के परमानन्द स्वरूप न होने से वह उससे भिन्न है, अतः यहाँ पुरुषार्थता संपन्न नहीं होगी। दूसरी बात आपके मत से वस्तु परिच्छेद से रहित ब्रह्म हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह अन्योन्याभाव का प्रतियोगी है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी काल से परिच्छिन्न होता है, अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी देश से परिच्छिन्न, और अन्योन्याभाव का प्रतियोगी वस्तु से परिच्छिन्न होता है। इन चारों अभावों का अप्रतियोगी ही त्रिविध परिच्छेद से शून्य होता है। यह बात अद्वैतवाद में ही संभव है, आपके मत में नहीं।

देशकालापरिच्छिन्नत्वात्तत्पदं ब्रह्म सर्वैः सर्वत्रोपलभ्यमित्येव त्वद्विवक्षितोऽर्थः। सोऽपि नोपपद्यते, विकल्पानुपपत्तेः। तथा चोपलब्धिः कीदृशी ? प्रत्यक्षात्मिका, प्रत्यक्षाद्यन्यतमरूपा वा ? नाद्यः, ब्रह्मस्वरूपस्यातीन्द्रियत्वात्। न च मनसा तत्प्रत्यक्षम्, 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादिश्रुतिभिस्तस्य मनोऽगोचरत्वप्रतिपादनात्। न द्वितीयः, सर्वैः सर्वत्र ब्रह्मण उपलब्धौ तद्विषयकविप्रतिपत्तिसंशीतिनास्तिक्यानुपपत्तेः। नाप्यनुमितिः सम्भवति, व्याप्तिज्ञानानुपपत्तेः। नाप्यस्ति दृश्यमानजगद्विलक्षणं ब्रह्म देशाद्यपरिच्छिन्नत्वादिति मूलोक्त एव हेतुः, जगद्वैलक्षण्ये सपक्षानुपपत्त्या व्याप्तिग्रहासम्भवात्। कालाद्यपरिच्छिन्नत्वं तु ब्रह्मणः स्वरूपमेवेति न तदुपलब्धौ तदेव हेतुः। हेतुसाध्ययोः कथं व्याप्यव्यापकभाव इत्यपि वक्तव्यम् ? तदभावेऽप्यनुमितिसम्भवे कथमनुमानप्रामाण्यव्यवस्था। सर्वस्य सर्वत्र ब्रह्मणोऽनुमितिसिद्धावपि नास्तिक्यानुपपत्तिस्तदवस्थैव। नापि शाब्दबोधात्मिकोपलब्धिः सम्भवति, वेदप्रामाण्यानभ्युपगन्तॄणां तदनुपपत्त्या सर्वस्य सर्वत्र तदुपलब्ध्यनुपपत्तेः। सर्वत्र सर्वस्य ब्रह्मोपलब्धौ मुक्तिसंसारयोरवैशेष्यापत्तेः।

किञ्च, तस्य ब्रह्मरूपस्य विभुत्वादिति किं साध्यसिद्धौ हेत्वन्तरं न वा ? न चेत्पौनरुक्त्यापत्तिः। नाद्यः, विकल्पसमुच्चयानुपपत्तेः। विकल्पे पक्षान्तरे तदहेतुत्वापत्तेः। समुच्चयेऽधिकनामकनिग्रहस्थानापत्तेः। सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते, कस्यां किमिव, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्। अत्र सादृश्यमुपलब्धिर्व्याप्तिर्वा ? आद्ये यथा दिवि विस्तृतं चक्षुरुपलभ्यते तथा सर्वैर्विस्तृतं ब्रह्म सर्वत्रोपलभ्यत इत्यर्थः स्यात्। स च न सम्भवति, चक्षुषोरतीन्द्रियत्वेनोपलम्भानुपपत्तेः। न च तद्ग्रहणायेन्द्रियान्तरकल्पनम्, अनवस्थापानात्। द्वितीये यथा दिवि चक्षुर्विस्तृतं भवति तथैव

देश, काल से अपरिच्छिन्न होने से वह ब्रह्मपद सभी के द्वारा सदा उपलभ्य है, यही आपका अभिमत है। आगे किये जाने वाले विकल्प का उत्तर न बन पाने के कारण वह ठीक नहीं है। आप यह बताइये कि यह उपलब्धि कैसी है ? केवल प्रत्यक्षात्मक ही है अथवा प्रत्यक्षादि में से कोई एक ? प्रत्यक्षात्मक नहीं होगी, क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप अतीन्द्रिय है। मन से भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा, 'वहाँ पर चक्षु वाणी और मन की गति नहीं है, इसको न हम जानते हैं और न किसी को जना सकते हैं', 'जिसको न पाकर मन के सहित वाणी लौट पड़ती हैं', 'जिसको मन से नहीं जाना जा सकता' इत्यादि श्रुतियों से उसकी मन से अगोचरता प्रतिपादित है। दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि यदि सभी सब जगह ब्रह्म की उपलब्धि कर सकते हैं, तो तद्विषयक विप्रतिपत्ति, संशय, नास्तिक्य आदि की स्थिति नहीं होनी चाहिये। अनुमिति भी नहीं होगी, क्योंकि व्याप्तिज्ञान नहीं बनेगा। दृश्यमान जगत् से ब्रह्म विलक्षण है, क्योंकि यह देश आदि से अपरिच्छिन्न है, यह मूल में कहा गया ही हेतु है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जगद्वैलक्षण्य में सपक्ष के न होने से व्याप्तिग्रह नहीं बनेगा। कालादि से अपरिच्छिन्न तो ब्रह्म का स्वरूप ही है, अतः उसकी उपलब्धि में वही हेतु नहीं होगा। हेतु और साध्य का व्याप्यव्यापक भाव कैसे बनेगा, यह भी बताना पड़ेगा। इसके अभाव में भी यदि अनुमिति संभव है, तो अनुमान के प्रामाण्य की व्यवस्था कैसे होगी ? सब जगह सबको ब्रह्म को अनुमिति सिद्ध होने पर भी नास्तिक्य क्यों बना रहता है ? यहाँ पर शाब्दबोधात्मक उपलब्धि भी नहीं बनेगी, क्योंकि जो वेद को प्रमाण नहीं मानते, उनको शाब्दबोध न होने से सबको सब जगह उसकी उपलब्धि की उपपत्ति नहीं बनेगी और यदि सबको सब जगह ब्रह्म की उपलब्धि बनती है, तो मुक्ति और संसार में विशेषता क्या रह जायगी ?

आप यह भी बताइये कि 'ब्रह्म के स्वरूप के विभु होने से' यह साध्य की सिद्धि के लिये दूसरा हेतु है या नहीं ? यदि नहीं है, तो पुनरुक्ति दोष होगा ? पहले पक्ष में विकल्प समुच्चय नहीं बनेगा। विकल्प में पक्षान्तर में वह हेतु नहीं हो सकेगा। समुच्चय में अधिक नामक निग्रहस्थान की आपत्ति आवेगी। वह पद सब जगह सबको प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है। किसमें किसके समान ? यहाँ पर सादृश्य उपलब्धि है, या व्याप्ति ? प्रथम पक्ष में जैसे आकाश में विस्तृत चक्षु उपलब्ध होता है, उसी तरह सबके द्वारा यह विस्तृत ब्रह्म सर्वत्र उपलब्ध होता है, यह अर्थ होगा। यह संभव नहीं है, क्योंकि इसकी चक्षुओं से अतीन्द्रिय होने के कारण उपलब्धि नहीं होगी। उसके ग्रहण के लिए दूसरी इन्द्रिय की कल्पना करने पर अनवस्था दोष होगा। दूसरे

ब्रह्मापि सर्वत्र विस्तृतं भवतीत्यर्थः स्यात्। सोऽपि न सम्भवति, चक्षुषो व्यापकत्वानुपगमात्। व्यापकत्वं हि यावन्मूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्, न च तदिन्द्रिये सम्भवति, मनःपरमाण्वादीनामपि प्रत्यक्षत्वापातात्।

दिवि मार्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्तते, मोक्षस्य सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात्, तदेव प्राप्तुमिच्छन्तीति सर्वथा विशृङ्खलम्। कस्य साध्यस्य साधनाय हेतूपन्यासः, कथं च प्रकरणसङ्गतिरिति तु दयानन्द एव जानातु, सामाजिका वा जानन्तु।

सायणानुसारी मन्त्रस्यायमर्थः—सूरयो विद्वांस ऋत्विगादयः, विष्णोः सम्बन्धि परमुत्कृष्टं तच्छास्त्रप्रसिद्धं पदं स्वर्गस्थानं शास्त्रदृष्टया सर्वदा पश्यन्ति। किमिव दिवीव। यथा दिवि आकाशे आततं सर्वतः प्रसृतं चक्षुर्निरोधाभावेन विशदं पश्यति तद्वत्। यद्वा वेदान्तानुसार्ययमर्थः—सूरयो ब्रह्मविदः, विष्णोः परमेश्वरस्य, स्वरूपभूतं परमुत्कृष्टं प्रपञ्चातीतं तद्वेदान्तप्रसिद्धं पदं ब्रह्मविद्भिः पदनीयं प्रापणीयं सदा प्रत्यगभिन्नतया पश्यन्ति। किमिव ? दिवि आकाशे आततं विततं विस्तृतं चक्षुर्यथा स्पष्टं पश्यति, तथैव प्रत्यगात्मरूपेण परमात्मनोऽत्यन्तापरोक्षत्वात् संशयविपर्ययादिराहित्येन विशदं पश्यन्ति, 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इति श्रुतेः। करणं तु कृतोपास्तीनामेकाग्रमनसो वेदान्तमहावाक्यमेव, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। अकृतोपास्तीनां श्रुतवेदान्तानां तु वेदान्ताभ्यासजनितसंस्कारसंस्कृतं मन एव, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्', 'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इत्यादिश्रुतिभ्यः। न च 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादिवचनविरोधः, तेषां पूर्वोक्तसंस्कारहीनमनःपरत्वात्। न चोभयत्रापि वाक्यजन्यवृत्तिविषयत्वे तादृङ्मनोजन्यवृत्तिविषयत्वे वा स्वप्रकाशत्वभङ्गः, अज्ञानापनोदकवृत्तिविषयत्वेऽपि फलव्याप्त्यविषयत्वेन स्वप्रकाशत्वोपपत्तेः।

पक्ष में जैसे आकाश में चक्षु विस्तृत होता है, उसी तरह ब्रह्म भी सर्वत्र विस्तृत होता है, यह अर्थ होगा। यह भी संभव नहीं है, क्योंकि चक्षु का व्यापकत्व किसी ने माना नहीं है। सभी मूर्त द्रव्यों से संयुक्त पदार्थ ही व्यापक माना जाता है। इन्द्रिय में यह संभव नहीं है, क्योंकि उसको व्यापक मानने पर मन, परमाणु आदि की भी प्रत्यक्षता माननी पड़ जायगी।

जैसे सूर्य का प्रकाश आवरण रहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, उसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। उस मोक्ष पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष रूप से प्रतिपादन करते हैं। यह बात भी सर्वथा अस्तव्यस्त है। यहाँ पर किस साध्य की सिद्धि के लिये हेतु का उपन्यास किया है और प्रकरण की संगति कैसे होगी? यह बात या तो दयानन्द ही समझ सकते हैं, या उनके अनुयायी ही।

सायण के अनुसार मन्त्र का अर्थ यह है—सूरि अर्थात् विद्वान् ऋत्विग्गण विष्णु संबन्धी परम उत्कृष्ट उस शास्त्र प्रसिद्ध स्वर्ग पद को शास्त्र की दृष्टि से सदा देखते हैं। कैसे? जैसे कि आकाश में चारों तरफ विस्तृत पदार्थों को चक्षु से किसी रुकावट के न रहने से स्पष्ट देखते हैं, उसी तरह से। अथवा वेदान्त के अनुसार इसका अर्थ यह होगा—सूरि अर्थात् ब्रह्मवेत्तागण विष्णु अर्थात् परमेश्वर के स्वरूपभूत, परम उत्कृष्ट, प्रपञ्चातीत उस वेदान्त प्रसिद्ध पद को, जो कि ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा ही प्राप्तव्य है, सदा प्रत्यक् तत्त्व से अभिन्न देखते हैं। कैसे? आकाश में विस्तृत चक्षु जैसे स्पष्ट देखता है, उसी तरह प्रत्यगात्म रूप से परमात्मा के अत्यन्त अपरोक्ष होने से संशय, विपर्यय आदि से रहित होकर स्पष्ट रूप से देखते हैं। 'ब्रह्म वह है, जो कि साक्षात् अपरोक्ष है' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। इसमें सहायक वेदान्त महावाक्य हैं, जो कि उपासना करके चित्त की एकाग्रता संपादन करते हैं। 'उस औपनिषद पुरुष को पूछता हूँ', 'उस ब्रह्म को अवेदवित् नहीं जान पाता' इत्यादि श्रुतियाँ इसी का प्रतिपादन करती हैं। जिन्होंने उपासना नहीं की है, किन्तु वेदान्त का श्रवण किया है, ऐसे व्यक्तियों का वेदान्त के अभ्यास से संस्कृत मन ही साधन है, 'मन से ही उसको देखना चाहिये', 'सूक्ष्मदर्शी उसको सूक्ष्म अग्र बुद्धि से देखते हैं' ये श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। 'जिसको न पाकर वाणी और मन लौट पड़ते हैं' इस वचन से उक्त वचन का विरोध इसलिये नहीं होगा कि संस्कारहीन मन के विषय में ही यह लागू होता है। ब्रह्म को वाक्यजन्य

'तत्तु समन्वयात्' (१।१।१४) इति व्याससूत्रं यद्यपि सर्ववेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयेन शास्त्रकारणं शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म वक्ति, तथापि तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं सत्प्रतिपादितमस्ति, (पृ० ५०) इत्यर्थोऽशुद्ध एव। तुशब्देन कार्यपरत्वं वेदानां व्यावर्त्य फलवन्निश्चितार्थे कार्ये सिद्धे च वेदानां प्रामाण्यसाधनेन तद्ब्रह्म जगत्कारणं शास्त्रप्रमाणकमस्ति, समन्वयात् समेषां वेदवेदान्तानां ब्रह्मण्येव समन्वयात् तत्रैव तात्पर्यादित्यर्थस्यैव युक्तत्वात्।

यदपि च 'सकलवेदस्येश्वर एव मुख्यः प्रतिपाद्यो विषयः' इत्यत्रार्थे यजुरपि किञ्चित्प्रमाणभूतमाह—तथा यजुर्वेदे प्रमाणम्—'यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥' (यजु० ८।३६) अस्यार्थः—यस्मान्नैव ब्रह्मणः सकाशात् पर उत्कृष्टः पदार्थजातः प्रादुर्भूतः परः भिन्नः कश्चिदप्यस्ति। प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति, प्रजापालकत्वात्। यः परमेश्वरः विश्वा सर्वाणि भुवनानि सर्वलोकान् आविवेश व्याप्तवानस्ति संरराणः सर्वप्राणिभ्यः अत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि प्रजया ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि सचते समवेतानि करोति, अतः स एवेश्वरः षोडशी येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन् यस्य वा तस्मात् स षोडशीत्युच्यते। अतोऽयमेव परमोऽर्थो वेदितव्यः' (पृ० ५०-५१) इति, तदपि न सङ्गतम्, अयमेव परमोऽर्थ इत्यस्य मन्त्राक्षरबाह्यत्वात्। नहि सर्वेषां वेदानां ब्रह्मण्येव तात्पर्यमित्यस्यार्थस्य सूचकं पदं मन्त्रे विद्यते। मन्त्रार्थोऽपि न सङ्गतः, 'यस्मात्पर उत्कृष्टो न प्रकटः' एतेन तत उत्कृष्टः कश्चिदप्रकटोऽस्तीति विरुद्धार्थध्वननात्। संरराण इत्यस्य क्रीडार्थस्य रमतेर्निष्पन्नत्वाद् रममाण एवार्थः, दानार्थकत्वायोगात्। प्रजया इत्यस्य सृष्टिरपि नार्थः, प्रमाणशून्यत्वात्। सृष्ट्या ज्योतिषां संयोजनमप्यसङ्गतम्, ज्योतिषामपि सृष्ट्यन्तर्गतत्वात्। प्रजापदेन सृष्टेरुक्त्या षोडशकलानामपि सृष्टिरुक्तैवेति तत्पुनर्वचनं निरर्थकमेव।

वृत्ति का अथवा मनोजन्य वृत्ति का विषय मानने पर दोनों ही परिस्थितियों में स्वप्रकाशत्व का भंग इसलिये नहीं होगा कि अज्ञान की निवारक वृत्ति के विषय होने पर भी फलव्याप्ति के विषय न बनने के कारण यहां पर स्वप्रकाशत्व की उपपत्ति बनती है।

'तत्तु समन्वयात्' यह व्याससूत्र यद्यपि सभी वेदान्तों का ब्रह्म में समन्वय होने से शास्त्र का कारण और शास्त्र प्रमाणक ब्रह्म का प्रतिपादन करता है, तो भी 'सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है' (पृ० ५२) यह अर्थ अशुद्ध ही है। तु शब्द से वेदों की कार्यपरता का व्यावर्तन करके निश्चित फल वाले कार्य और सिद्ध अर्थ में भी वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करके वह ब्रह्म शास्त्र के प्रमाण के आधार पर जगत् का कारण है, क्योंकि सभी वेद-वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में ही समन्वय अर्थात् तात्पर्य विद्यमान है, यही इसका उचित अर्थ सिद्ध होता है।

सकल वेद का ईश्वर ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, यहाँ पर प्रमाण के रूप में यजुर्वेद का उल्लेख किया गया है—'तथा यजुर्वेद में इसका प्रमाण मिलता है—यस्मान्न जात इत्यादि। इसका अर्थ यह है—जिस परब्रह्म से बढ़कर कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। प्रजापति ब्रह्मा का नाम है, क्योंकि वह प्रजा का पालक है। जो परमेश्वर सब भुवनों को व्याप्त किये हुए है, सब प्राणियों को सुख प्रदान करता हुआ अग्नि, सूर्य और विद्युत् नाम से सारे जगत् को प्रकाशित करता हुआ अन्य अप्रकाशमय सृष्टि के द्वारा भी इस जगत् को संयुक्त करता है। इसीलिये यह परमेश्वर षोडशी कहलाता है, क्योंकि इसी ने जगत् में षोडश कलाओं की रचना की है, अथवा इसमें सोलह कलाएं विद्यमान हैं। अतः इसी को परम अर्थ के रूप में जानना चाहिये' यह कथन भी संगत नहीं है, 'यही परम अर्थ है' यह बात मन्त्राक्षरों से बाहर की है। सब वेदों का ब्रह्म में ही तात्पर्य है, इस अर्थ का सूचक पद मन्त्र में नहीं है। मन्त्र का अर्थ भी संगत नहीं है, जिससे उत्कृष्ट कोई प्रकट नहीं है, ऐसा कहने से यह विरुद्ध प्रतीति भी हो सकती है कि उससे उत्कृष्ट कोई अप्रकट अर्थ विद्यमान है। क्रीडार्थक रम् धातु से निष्पन्न होने से संरराण पद का अर्थ रममाण ही होगा, दान अर्थ से इसका सम्बन्ध नहीं है। प्रजा पद का अर्थ भी बिना प्रमाण के सृष्टि नहीं होगा। सृष्टि के साथ ज्योति का संयोजन भी असंगत है, क्योंकि ज्योति भी तो सृष्टि के

सूत्रकारैरयं मन्त्रः षोडशिग्रहोपस्थाने विनियुक्तः। उपस्थायैनं यस्मान्न जात इति षोडशिग्रहमुपतिष्ठेत्। यस्मात्पुरुषात्परोऽन्यो व्यतिरिक्त उत्कृष्टो देवादिर्जातः सम्भूतो नास्ति यो विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि आविवेश अन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टवान्। प्रजापतिः उत्पन्नानां पालकः प्रजया प्रजारूपेण संरराणः सम्यक् रममाणः (प्रजापतिः परमेश्वर एव प्रजारूपेणापि प्रादुर्भवति, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति श्रुतेः) त्रीणि ज्योतींषि विषयज्ञापकानि अग्निवाय्वादित्यरूपाणि सचते सेवते। स्वतेजसा ज्योतिषां सेवनं जडज्योतिषामुज्जीवनं करोति, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः', 'प्राणस्य प्राणः', 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यः अग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः' (वाल्मीकीयरामायणे २।४४।१५) इत्यादि-वचनेभ्यः। य एवंरूपः स षोडशी षोडशकलात्मकलिङ्गशरीरोपहितः सर्वव्यवहाराश्रयो भवति। स एव षोडशिग्रह-रूपेण स्तूयते।

एवं तत्तत्कर्माङ्गरूपेणापि परमेश्वर एव स्तूयते। अत्र मन्त्रे ब्रह्मण एव सर्वोत्कृष्टता सर्वजगत्प्र-काशकता सर्वरूपता सर्वव्यवहाराश्रयता लोकोत्तरगुणविशिष्टता यद्यपि प्रतिपाद्यते, तथापि तस्यैव सर्ववेदतात्पर्यविषयताबोधकः कश्चिदपि शब्द इह नास्त्येव। माण्डूक्योपनिषदत्र प्रमाणत्वेनोपस्थापिता—'ओमित्येत-दक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' इति। एतदर्थोऽपि तत्रैवोक्तः—'ॐ इत्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम्, यन्न क्षीयते कदाचित्, यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति, तद्ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम्। अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगता वोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियते' (पृ० ५१) इति, तदपि न संगतम्, ओमित्येतद्यस्य नामास्तीत्येतस्योदक्षरत्वात्। इह चोमित्यस्याक्षरत्वं प्रतिपाद्यते। यच्चराचरं जगदश्नुते, अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैर्व्याख्यानं क्रियत इति व्याख्यानस्य किं मूलमित्यपि वक्तव्यम्, उत्तरग्रन्थासङ्गतं चैतत्। तत्र तु—इदङ्कारास्पदस्य सर्वस्य ओमित्येतदक्षररूपत्वकथनेनाभि-

ही अन्तर्गत है। इसी प्रकार प्रजा पद से सृष्टि का कथन होने से षोडश कलाओं की सृष्टि भी उक्त हो जाती है, पुनः उसका कथन निरर्थक हो जायगा।

सूत्रकारों ने इस मन्त्र को षोडशी ग्रह के उपस्थापन में विनियुक्त किया है। जिस पुरुष से बढ़कर अन्य उत्कृष्ट देवादि नहीं पैदा हुए, जो सब प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट है, वह प्रजापति उत्पन्न प्राणि मात्र का पालक है, वह प्रजा के साथ रममाण है, अर्थात् प्रजापति परमेश्वर ही प्रजा रूप में प्रादुर्भूत होता है, यह सब कुछ ब्रह्म ही है' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। यह तीन ज्योतियों को, सभी विषयों के प्रकाशक अग्नि, वायु, आदित्य को अपने तेज से उज्जीवित करता है, इसमें ये युक्तियाँ प्रमाण हैं—'जिसके तेज से दीप्त होकर सूर्य तपता है', 'यह प्राणों का प्राण है।' वाल्मीकि रामायण में भी कहा गया है कि—'वह सूर्य का भी सूर्य है, अग्नि का अग्नि और प्रभु का भी प्रभु है।' जिसका इस प्रकार का रूप रहता है, वह षोडश कलात्मक लिङ्ग शरीर से उपहित होकर सभी व्यवहारों का निर्वाहक होता है। इसी की षोडशी ग्रह के रूप में स्तुति की जाती है।

इस प्रकार उस उस कर्म के अङ्ग रूप में भी परमेश्वर की ही स्तुति की जाती है। यहाँ पर ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता, सारे जगत् की प्रकाशकता, सर्वरूपता, सब व्यवहारों की आश्रयता और लोकोत्तर गुणों से विशिष्टता बताई गई है, तो भी ब्रह्म की ही सभी वेदों की तात्पर्यविषयता का प्रतिपादक कोई शब्द यहाँ नहीं है। यहाँ पर माण्डूक्य उपनिषद् को प्रमाण के रूप में उपस्थापित किया है—'ॐ इस अक्षर का ही वेद आदि सकल शास्त्रों में व्याख्यान किया जाता है। इसका अर्थ वहाँ इस प्रकार दिया गया है—'ॐ यह जिसका नाम है, वह अक्षर है। उसका कभी नाश नहीं होता। वही चराचर जगत् में व्याप्त है, वही ब्रह्म है। इसी का वेद आदि सकल शास्त्रों में व्याख्यान मुख्यतया किया जाता है। इससे परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है और उससे पृथक् जो यह जगत् है, सो वेदों का गौण अर्थ है' (पृ० ५२)। यह भी संगत नहीं है। ॐ यह जिसका नाम है, इस अर्थ को व्यक्त करने वाली कोई शब्दावली यहाँ नहीं है। यहाँ पर ॐ की अक्षरता का प्रतिपादन है। जो चराचर जगत् को व्याप्त करता है और इसी का वेदादि सब शास्त्रों से व्याख्यान किया जाता है, इस व्याख्या का क्या आधार है, यह भी बताना पड़ेगा। आगे के ग्रन्थ से इसकी कोई संगति भी नहीं है। वहाँ पर 'इदम्' पद से बोधित होने वाले सभी पदार्थों को 'ॐ' इस पद में बोधकता मानने से अभिधान और अभिधेय

धानाभिधेययोरभेद एव विवक्षितः। अस्याक्षरस्येदं सर्वं व्याख्यानम्। ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायतया ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं व्याख्यानम्। किं तत्सर्वं यस्येदमा निर्देश इत्याकाङ्क्षायां तदेवाह—भूतं भव्यं भविष्यदिति, इत्येतत्सर्वं तस्योपव्याख्यानं प्रस्तुतं बोध्यमिति शेषः। ननु तथापि ॐ पदार्थभूतः परमात्मा कथं नात्र गृह्यते ? तस्यैवाक्षरत्वं चराचरव्यापकत्वमुपासनं च कुतो नाभ्युपेयत इति चेन्न, सर्वमोङ्कार एवेति प्रतिपादनात्। यदि ह्यत्र ओमितिपदेन परमात्मरूपोऽर्थो जिघृक्षितः स्यात् तदा ओमिति पदात् कारप्रत्ययो न स्यात्, वर्णादेव कारप्रत्ययस्य व्याकरणे विधानात्। ततो निरर्थकमशुद्धमसङ्गतं प्रकृतानुपयोग्येव माण्डूक्यवचनोद्धरणम्। अतोऽयं प्रधानविषयोऽस्तीति तदुपसंहारोऽपि पूर्वोक्तश्रुत्यननुरूप एव 'जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि' इति वाक्यमनुहरति।

यदपि 'नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति' (पृ० ५१) इति वाक्यम्, अत्र 'अग्रे' इत्यस्य कथं सम्बन्धः ? किं पूर्वकालावच्छेदेन नाप्रधाने कार्यसम्प्रत्यय इत्यर्थः ? उत प्रधानसम्मुखीनेऽप्रधाने न कार्यसम्प्रत्यय इत्यर्थः ? अथवा 'वाच्यतां समयोऽतीतः स्पष्टमग्रे भविष्यति' इतिवत् प्रधानस्य परकालावच्छेदेन नाप्रधाने कार्यसम्प्रत्यय इत्यर्थः ? नाद्यः, पूर्वकालावच्छेदेनाप्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाभावेऽपि यौगपद्येन तत्प्रसक्तेः। तत्सत्त्वे च वेदानामीश्वर एव तात्पर्यमिति त्वदभीष्टासिद्धेः। न द्वितीयोऽपि, सम्मुखीनेऽप्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाभावेऽपि साम्यस्थितावप्रधाने तदापत्तेः। नान्त्योऽपि, प्रधानस्य परकालावच्छेदेनाप्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाभावेऽपि प्रधानस्य पूर्वकालावच्छेदेनाप्रधाने कार्यसम्प्रत्ययापत्तेः। तथा च शिरस्येव कुठारापातः। तथाग्रेपदमनभिज्ञतापादकमेव वक्तुः।

प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्यय इति व्याकरणमहाभाष्यप्रामाण्यादिति (पृ० ५१) साधकहेतुत्वेनोपन्यासोऽपि वृथैव। यतो नैतन्महाभाष्यीयं वचनम्, किन्तु परिभाषैषा। यच्च 'सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे

में अभेदता ही विवक्षित है। इस अक्षर का यह सब व्याख्यान है, अर्थात् इससे ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने से, ब्रह्म के समीप होने से यह उसकी स्पष्ट व्याख्या है। यहाँ पर वह सब क्या है, जिसका कि 'इदम्' पद से निर्देश हुआ है ? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि भूत, भव्य और भविष्यत् यह सब उसके व्याख्यान के रूप में ही प्रस्तुत जानने चाहिये। तब यहाँ पर ॐ पद का अर्थ परमात्मा क्यों नहीं गृहीत होता, उसी की अक्षरता, चराचर व्यापकता और उपासना यहाँ विदित है, ऐसा क्यों नहीं माना जाता ? इसी लिये यह सब ॐकार ही है। यदि यहाँ पर ॐ पद से परमात्मा रूप अर्थ विवक्षित होता तो इस पद से कार प्रत्यय न होता। व्याकरण में वर्ण से ही कार प्रत्यय का विधान है। इस प्रकार यह माण्डूक्य उपनिषद् का उद्धरण यहाँ पर निरर्थक, अशुद्ध, असंगत और प्रकृत विषय के प्रतिपादन में अनुपयोगी भी है। यतः यह प्रधान विषयक है, अतः उसका उपसंहार भी पूर्वोक्त श्रुति के अननुरूप ही है। यह कथन 'जरद्गव कम्बल की पादुका पहन कर मंगल गाता है' इस वाक्य के समान प्रलाप मात्र कहलावेगा।

आगे 'प्रधान के आगे अप्रधान का ग्रहण नहीं होता' यहाँ पर अग्र शब्द का संबन्ध कैसे होगा ? पूर्वकालावच्छेदेन अप्रधान में कार्य नहीं होगा, यह इसका अर्थ है या प्रधान के संमुख अप्रधान में कार्य नहीं होता, यह है ? अथवा 'बांचो, अब समय बीत गया, आगे स्पष्ट होगा' इत्यादि वाक्यों के समान प्रधान के परकालावच्छेदेन उपस्थित अप्रधान में कार्य नहीं होगा ? यहाँ पर पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि पूर्वकाल में अप्रधान में कार्य न होने पर भी एक साथ कार्य हो ही सकता है और ऐसा होने पर वेदों का तात्पर्य ईश्वर में ही है, यह आपका मत सिद्ध नहीं होगा। द्वितीय पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि संमुख स्थित अप्रधान में कार्य न होने पर भी साम्यस्थिति में अप्रधान में कार्य हो ही सकेगा। अन्तिम पक्ष भी नहीं बनेगा कि प्रधान के परकालावच्छेदेन अप्रधान में कार्य न होने पर भी प्रधान के पूर्वकालावच्छेदेन अप्रधान में कार्य हो ही जायगा। इस प्रकार अपने हाथ से अपना ही शिर फोड़ना हुआ। तथा यहाँ पर 'अग्रे' पद वक्ता की अनभिज्ञता का ही सूचक है।

'प्रधान और अप्रधान के एक साथ उपस्थित होने पर प्रधान में ही कार्य होता है' यह महाभाष्य का प्रमाण है।' इस वाक्य को अभीष्ट साधक हेतु के रूप में उपस्थित करना भी व्यर्थ है, क्योंकि यह महाभाष्य का वचन न होकर परिभाषा है। 'सभी

मुख्यतात्पर्यमस्ति' (पृ० ५१) इति, तदपि न सम्यक्, द्वयोर्मुख्ययोः प्रयोजनानिरूपणात्। यदा गौणः कश्चनेश्वरे कार्यसम्प्रत्ययः स्यात्, तदैतद्व्यावृत्त्या तत्सार्थक्यसम्भवः। एकस्मिन्नेव मुख्यममुख्यं च तात्पर्यं भवतीत्यत्र प्रमाणादर्शनात्। यदपि—'तदुपदेशपुरस्सरेण त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत्कर्तव्यम्' इत्युपसंहारवचनम्, तदप्यसङ्गतम्, वचनस्य मिथोऽनन्वितत्वात् त्वदिष्टार्थानभिधायित्वात्। तथाहि 'तदुपदेशपुरस्सरेण' इति कस्य विशेषणम्? न कर्तुः, न कर्मणः, न प्रयोजनस्य, न वा क्रियाया विशेषणं सम्भवति, आद्यत्रयाणां भिन्नविभक्तिकत्वेन सम्बन्धाभावात्। क्रियाविशेषणत्वे तु नपुंसकैकवचनत्वापातात्। असम्बन्धे च न वाक्येऽर्थवत्ता। कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां सर्वैर्मनुष्यैः कर्तव्यमित्यपि न युक्तम्, प्रकरणरूपाणां काण्डानामनुष्ठानासम्भवात्। अनुष्ठानक्रियायाः काण्डाविषयत्वात्। यदपि—'अनुष्ठानस्य पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धिः, यथायोग्योपकारश्च प्रयोजनं दर्शितम्' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, तादृशफलसिद्धिव्यतिरिक्तस्य यथायोग्योपकारस्यानिरूपणात्। सर्वथापि निर्मूलमेवेदं वचनम्।

'वेदस्य द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः सर्वः क्रियामयोऽस्ति। नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने पूर्णे भवतः।' (पृ० ५३) अत्र वाक्ये कर्मकाण्डस्य महत्त्वबोधने नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने पूर्णे भवत इत्यंशस्य हेतुत्वमुक्तम्, तदपि न युक्तम्, यतो ययोर्विद्याभ्यासज्ञानयोः कर्मकाण्डमन्तरा पूर्तिर्न सम्भवति, तयोः स्वरूपानिरूपणमेव। तथाहि—विद्यापदेन ज्ञानमुच्यत उपासनं वा? नाद्यः, तथात्वे ज्ञानपदस्य नैरर्थक्यापातः। नान्त्यः, अग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधान्तकर्मकाण्डस्य त्वया वायुवृष्टिजलशुद्धा उपयोगवर्णनात्। कर्मकाण्डेन ययोः पूर्तिः, तयोः किं प्रयोजनमित्यपि नोक्तम्। किञ्च, कर्मकाण्डेन विद्याभ्यासज्ञानयोः पूर्णत्वसिद्धये यदिदं वाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वादिति वाक्यं हेतुत्वेनोपन्यस्तं तत्र

वेदों का मुख्य अर्थ ईश्वर में मुख्य तात्पर्य है' यह कथन भी ठीक नहीं है। यहाँ पर दो मुख्य शब्दों का क्या प्रयोजन है? यह बताया नहीं गया है। यदि ईश्वर में कोई गौण कार्य माना जाय तो उस अवस्था में उसकी व्यावृत्ति के लिये इसकी सार्थकता होती। एक ही में मुख्य और अमुख्य दोनों तात्पर्य रहते हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसके आगे 'उस परमेश्वर के उपदेश रूप वेदों के कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और पर लोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें' (पृ० ५३) इस प्रकार का उपसंहार वचन भी सर्वथा असंगत है, क्योंकि इनका परस्पर कोई अन्वय नहीं है और ये आपके अभीष्ट अर्थ को भी प्रकट नहीं करते। यहाँ पर 'तदुपदेशपुरस्सरेण' यह किसका विशेषण है? यह कर्ता, कर्म, प्रयोजन अथवा क्रिया का विशेषण नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें से तीन का विभक्ति के भेद के कारण सम्बन्ध नहीं बनेगा। क्रियाविशेषण मानने पर नपुंसक लिंग और एक वचन होना चाहिये। सम्बन्ध न होने पर वाक्य में अर्थवत्ता नहीं होगी। कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड सबके कर्तव्य हैं, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरणरूप काण्डों का अनुष्ठान कैसे होगा? काण्ड अनुष्ठान का विषय नहीं हो सकता। अनुष्ठान का प्रयोजन पारमार्थिक और व्यावहारिक फल की सिद्धि तथा यथायोग्य उपकारकता बताया गया है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की फलसिद्धि के अतिरिक्त यथायोग्य उपकारता का निरूपण न होने से यह कथन सर्वथा निर्मूल है।

'उनमें से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है, सो सब क्रियाप्रधान ही होता है। जिसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते' (पृ० ५३) इस वाक्य में कर्मकाण्ड का महत्त्व बताया गया है। यहाँ पर 'इसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं होते' इस अंश की हेतुता प्रतिपादित है। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस विद्याभ्यास और ज्ञान की कर्मकाण्ड के विना पूर्ति संभव नहीं है, उनका स्वरूप यहाँ नहीं बताया गया है। जैसे कि विद्यापद से यहाँ पर ज्ञान उक्त है, या उपासना? पहले पक्ष में ज्ञान पद निरर्थक हो जायगा। द्वितीय पक्ष में यह दोष होगा कि आपने तो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त पूरे कर्मकाण्ड का वायु, वृष्टि, जलशुद्धि आदि ही प्रयोजन माना है। कर्मकाण्ड से जिनकी पूर्ति होगी, उनका क्या प्रयोजन है? यह भी आपने नहीं बताया। अपि च, कर्मकाण्ड से विद्याभ्यास और ज्ञान की पूर्णता की सिद्धि के लिये, चूंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है;

कीदृशी व्याप्तिः ? हेतौ साधकता पक्षधर्मता च कथं घटेते ? कथं चायं हेतुर्विद्याभ्यासज्ञानपूर्णत्वं साधयिष्यति ? 'क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है' (पृ० ५३) इति हिन्दीव्याख्यानुसारेणापि विद्याभ्यासज्ञानयोः पूर्तौ कर्मकाण्डस्य हेतुत्वं कथं सिद्धयतीति विचारणीयमेव ।

यदपि कर्मभेदाभिधित्सयोक्तम्—'स चानेकविधोऽस्ति, परन्तु तस्यापि द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः' इति, तदपि न सम्यक्, तत्र तुचशब्दयोर्निरर्थकत्वात् । यच्च 'एकः पुरुषार्थसिद्धयर्थोऽर्थाद् य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तते' इति, तदप्यसम्बद्धमेव, प्रवर्तत इति क्रियापदस्य कर्मानिर्णयात् । तथाहि प्रवर्तत, इति क्रियायाः कः कर्ता ? यदि य एको भेदः स एव प्रवर्तते, तदापि कस्तस्याः प्रवृत्तेर्विषयः ? यदि चैको भेदो मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तत इत्यभिप्रायस्तदा भेदस्यैव मोक्षसाधकत्वमायातम् । न च तद्युक्तम्, मोक्षसाधने चेतनस्यैवाधिकारात् । अत एव ईश्वरस्तुत्यादिज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तत इति त्वयाप्युक्तम् । नह्येकस्य कर्मभेदस्य ज्ञानं सम्भवति, ज्ञानस्य चेतनधर्मत्वात् ।

किञ्च, ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेनेत्यस्या पङ्क्तेः कोऽर्थः ? द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य ज्ञानपदस्य प्रत्येकद्वन्द्वान्तर्गतपदाभिसम्वन्धेन ईश्वरज्ञानं प्रार्थनाज्ञानमुपासनाज्ञानमाज्ञापालनज्ञानं धर्मानुष्ठानज्ञानं तेनेत्यर्थः, अथवा ईश्वरस्य द्वन्द्वादौ श्रूयमाणत्वाद् ईश्वरस्तुतिः ईश्वरप्रार्थना तदुपासना तदाज्ञापालनं तद्धर्मानुष्ठानं तज्ज्ञानमित्यर्थः ? नाद्यः, स्तुतिप्रार्थनादीनां मोक्षं प्रति साधनत्वसम्भवेऽपि स्तुतिप्रार्थनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानानां तत्साधनत्वासिद्धेः । नान्त्योऽपि, अनुगतस्यैकस्य साधनत्वानिर्णयात् । न च समुच्चितानामेवेश्वरस्तुत्यादीनां मोक्षसाधनत्वम्, 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इति स्वाभ्युपगमविरोधात् । पारम्पर्यापारम्पर्याभ्यां कथञ्चिदीश्वरस्तुत्यादीनां

इस वाक्य का हेतु के रूप में जो उपन्यास किया गया है, वहाँ पर व्याप्ति का स्वरूप क्या रहेगा ? हेतु में साधकता और पक्षधर्मता कैसे घटित होगी ? और यह हेतु विद्याभ्यास और ज्ञान की पूर्णता को कैसे सिद्ध करेगा ? इनकी पूर्ति के लिये कर्मकाण्ड की कारणता कैसे सिद्ध होगी ? यह भी विचारणीय है ।

कर्म के भेदों को बताने के लिये यह जो कहा गया है कि 'यद्यपि वह अनेक प्रकार का है, किन्तु उसके दो भेद मुख्य हैं' यह भी ठीक नहीं है, यहाँ पर 'तु' और 'च' शब्द निरर्थक हैं । 'इनमें पहला पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये है, अर्थात् जो ईश्वर की स्तुति प्रार्थना, उपासना, आज्ञापालन, धर्म के अनुष्ठान और ज्ञान के द्वारा मोक्ष को प्राप्त कराता है' यह कथन भी असंबद्ध है, यहाँ पर 'प्रवर्तते' इस क्रिया का कर्ता स्पष्ट निर्दिष्ट नहीं है कि इसका कर्ता कौन है ? यदि एक भेद को ही प्रवृत्त मानें तो इसकी प्रवृत्ति का विषय क्या होगा ? यदि एक भेद मोक्ष की सिद्धि के लिये ही प्रवृत्त होता है, यह अभिप्राय है, तो इस भेद की ही मोक्षसाधकता प्राप्त हुई । यह तो ठीक नहीं है, क्योंकि चेतन को ही इस प्रकार का अधिकार हो सकता है । इसीलिये आपने भी कहा है कि ईश्वर की स्तुति इत्यादि के ज्ञान से मोक्ष को ही सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है । एक कर्मभेद को ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान तो चेतन का धर्म है ।

आप यह बताइये कि 'ईश्वरस्तुति····धर्मानुष्ठानज्ञानेन' इस पंक्ति का क्या अर्थ है ? द्वन्द्व समास के अन्त में श्रूयमाण ज्ञान पद का द्वन्द्व के अन्तर्वर्ती प्रत्येक पद से सम्बन्ध होने से ईश्वरज्ञान, स्तुतिज्ञान, प्रार्थनाज्ञान, उपासनाज्ञान, आज्ञापालनज्ञान, धर्मानुष्ठानज्ञान का ज्ञान यह अर्थ होगा अथवा ईश्वर पद के द्वन्द्व के आदि में सुने जाने से ईश्वर स्तुति, ईश्वर प्रार्थना, ईश्वर की उपासना, ईश्वर की आज्ञा का पालन, ईश्वर के धर्म का अनुष्ठान, यह अर्थ होगा ? इनमें पहला पक्ष इसलिये नहीं बनेगा कि स्तुति, प्रार्थना आदि की मोक्ष के प्रति साधनता होने पर भी इनके ज्ञान की मोक्षसाधनता संभव नहीं है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि कोई एक निश्चित साधन नहीं बताया है । स्तुति आदि सबकी मिलकर भी मोक्षसाधनता नहीं होगी, क्योंकि इसमें 'विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती' इस

मोक्षसाधनत्वेऽपि स्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानैरित्येव शुद्धम्, न स्तुतिप्रार्थनादिज्ञानेनेति। ज्ञानेनेति तृतीयाया अपि व्यापार एवार्थो वक्तव्यः। तथात्वे भेदेनेश्वरज्ञानं व्यापारीकृत्य मोक्षः साध्यत इत्यायातम्। तेन भेदस्यैव व्यापारवदसाधारणकारणत्वात् करणत्वमप्यायातम्। तदपि विरुद्धम्, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः', 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इत्यादिज्ञानकरणत्वबोधकश्रुतिवचनविरोधात्।

यच्च—'द्वितीयभेदं दर्शयति, अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्तयितुं संयोज्यते' (पृ० ५३) इति, तदप्यसङ्गतमेव, धर्मार्थकामैरेव लोकव्यवहारसिद्धिसम्भवेनार्थकामाभ्यां तदसिद्धेः। अत्रापरो धर्मभेदो यो लोकव्यवहारसिद्धये धर्मेणार्थकामौ निर्वर्तयितुं संयोज्यते, तस्मात् साधनभूतो तृतीयानिर्दिष्टो धर्मो भिन्नोऽभिन्नो वा? भिन्नश्चेत् को भेदस्तयोः? स्वरूपं लक्षणं च तयोः पृथक् पृथग् वक्तव्यम्, अभिन्नश्चेत् कथमभिन्नस्यैव कर्तृत्वं साधनत्वं च? किञ्च, स ईश्वरस्तुत्यादिलक्षण एव वा ततो भिन्नोऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तरूपो वा? नान्त्यः, तस्य वायु-वृष्टि-जलादिशुद्धिकरणार्थत्वोक्तिविरोधात्। नाद्यः, ईश्वरस्तुत्यादिभिर्लोकव्यवहारसिद्धिफलकार्थकामासिद्धेः। यदि स्तुत्यादिजन्येनादृष्टेनार्थकामावपि निर्वर्त्येते, तर्हि अग्निहोत्रादिजन्येनाप्यदृष्टेन कथं न तत्सिद्धिः? नहि स्तुत्यादिभिरेवादृष्टसिद्धिः, नाग्निहोत्रादिभिरित्यत्र किञ्चिन्मानमस्ति। न च धर्मेणैवार्थकामसिद्धिः, अभिचारादिभिरपि तत्सम्भवात्। न च तस्यापि धर्मत्वम्, तस्यानर्थरूपेण धर्मत्वासम्भवात्।

यदपि—'स यदा परमेश्वरप्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदायं श्रेष्ठफलमापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते' (पृ० ५३) इति, तदपि न विचारसहम्, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—आत्मपरमात्मप्राप्तिः संयोगः परमात्मज्ञानं वा? नाद्यः, परमात्मनो विभुत्वेन नित्यत्वेन चोभयोः संयोगस्यापि सनातनत्वात् फलत्वानुपपत्तेः। फलत्वं कार्यत्वमेव।

स्वीकृत सिद्धान्त से विरोध होगा। परम्परया किसी प्रकार इनको मोक्षसाधनता मानने पर भी 'स्तुति...ज्ञानैः' यह शुद्ध पाठ होगा। 'स्तुतिप्रार्थनादिज्ञानेन' यह पाठ ठीक नहीं है। 'ज्ञानेन' इस तृतीया का भी व्यापार ही अर्थ करना पड़ेगा। ऐसा मानने पर भिन्न रूप से ईश्वर के ज्ञान को व्यापृत कर मोक्ष सिद्ध किया जाता है, यह अर्थ होगा। इस तरह से भेद के ही व्यापार युक्त असाधारण कारण होने से करणता बनेगी। यह भी विरुद्ध है, क्योंकि 'उसी को जानकर मृत्यु को जीतता है', 'बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती' इत्यादि ज्ञान को मोक्ष के प्रति करण मानने वाली श्रुतियों से इसका विरोध है।

कर्म के द्वितीय भेद को बतलाते हुए कहा गया है कि 'दूसरा वह है, जिससे कि लोक व्यवहार की सिद्धि के लिये धर्म के द्वारा अर्थ और काम की निष्पत्ति में संयोजन होता है'। यह भी असंगत बात है, लोक व्यवहार की सिद्धि धर्म, अर्थ और काम से होती है, केवल अर्थ और काम से नहीं। यहाँ पर जो दूसरा धर्मभेद लोकव्यवहार की सिद्धि के लिये धर्म से अर्थ और काम की निष्पत्ति के लिये संयोजित किया जाता है, उससे साधनभूत तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट धर्म भिन्न है, या अभिन्न? यदि भिन्न है तो यह भेद क्या है? इसका स्वरूप और लक्षण पृथक्-पृथक् बताइये। यदि अभिन्न है तो कैसे एक में ही कर्तृता और साधनता बनेगी? आप यह भी बताइये कि वह धर्म ईश्वर स्तुति आदि लक्षण वाला ही होगा अथवा अग्निहोत्रादि अश्वमेधान्त कर्मसमूह होगा? अन्तिम पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि उसको तो आपने वायु, वृष्टि, जलादि शुद्धि का साधन माना है। पहला पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि ईश्वर स्तुति आदि से लोक व्यवहार की सिद्धि करने वाले अर्थ और काम की सिद्धि नहीं होगी। यदि स्तुति आदि से जन्य अदृष्ट से अर्थ और काम की सिद्धि हो सकती है, तो अग्निहोत्रादि जन्य अदृष्ट से उसकी सिद्धि क्यों नहीं होगी? स्तुति आदि से ही अदृष्ट की सिद्धि होगी, अग्निहोत्रादि से नहीं, इसमें कोई प्रमाण तो है नहीं। धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि अभिचार आदि कर्मों से भी तो वह सम्भव है। अभिचार आदि कर्म कभी धर्म नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ये तो अनर्थ रूप हैं।

'यह कर्म जब परमेश्वर की प्राप्तिरूप फल के उद्देश्य से किया जाता है, तो श्रेष्ठ फल को आकांक्षा के कारण निष्काम कर्म की संज्ञा को प्राप्त करता है' यह बात भी ठीक नहीं है। आप यह बताइये कि आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति संयोग है या परमात्मा का ज्ञान? परमात्मा के विभु और नित्य होने से इनके संयोग के भी सनातन होने से नया संयोग नहीं बनेगा, अतः उससे कोई नया फल भी पैदा नहीं होगा, इस प्रकार संयोग रूप विकल्प यहाँ नहीं बनता। फल तो कार्य है वह नित्य कैसे हो सकता है।

नित्यत्वं फलत्वं चेति व्याहतमेव। नान्त्यः, 'तमेव विदित्वा' इति श्रुत्या ज्ञानस्य साधनत्वप्रतिपादनविरोधात्। नहि साधनमेव फलं भवति, एकत्र साधन-फल-भावानुपपत्तेः। फलोद्देशेन क्रियमाणस्य कर्मणः कथं निष्कामत्वम्?

यच्च तत्र—'अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात्' (पृ० ५३) इति हेतुरुक्तः, सोऽपि त्वद्विरुद्ध एव। अनन्त-सुखयोगत्वे मुक्तेरनावृत्त्या तवैवापसिद्धान्तापातः परमतप्रवेशश्च स्याताम्। नहि मुक्तेरावृत्तामभ्युपगम्यमानायां मुक्तिसुखस्यानन्त्यसम्भवः। यच्च—'स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेघपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य होमः क्रियते। स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्येव भवति' इति, तदप्यविचाररमणीयमेव। किमत्र स चेत्यपरः कर्मभेदः परामृष्टः? ओमिति चेत्, कथं तस्य केनान्वयः? अग्निहोत्रादियज्ञेषु भवदुक्तगुणस्य द्रव्यस्य होमो वाय्वादिशुद्धचर्थमेव क्रियते चेत्, विधिवाक्योक्त-स्वर्ग-स्वाराज्य-पारमेष्ठ्य-पशु-ग्राम-वृष्टि-पुत्रादिफलानां का गतिः? किञ्च, वाय्वादिशुद्धिः शास्त्रोक्ता प्रत्यक्षसिद्धा वा? नाद्यः, तादृक्शास्त्राभावात्। नान्त्यः, तथात्वेऽवैदिकत्वापातात्।

यं च भोजनाच्छादनमानकलाकौशलयन्त्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्धयर्थं विधत्ते, सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति' (पृ० ५३) इत्यस्मिन् वाक्यकदम्बे यमित्यनेन सर्वनाम्ना किं परामृश्यते? न लौकिको व्यापारः, तस्याप्रकृतत्वात्, वैदिककर्मकाण्डप्रसङ्गेऽप्रसक्तत्वाच्च। नापि वैदिकव्यापारः, तद्वोधकवैदिकवाक्याभावात्। सत्त्वे वा तस्य लोकसिद्धज्ञापकत्वेनाज्ञातज्ञापकत्वाभावेनाप्रामाण्यापत्तेश्च। वस्तुतस्तु चार्वाकोच्छिष्टमेवेदं सर्वं दयानन्दीयं मतम्।

दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, 'तमेव विदित्वा' इस श्रुति से ज्ञान की साधनता प्रतिपादित है। साधन फल कैसे हो सकता है? एक ही वस्तु साधन और फल दोनों नहीं हो सकती। किसी फल को उद्दिष्ट कर किया गया कर्म निष्काम कैसे कहा जा सकता है?

वहीं पर 'उसका अनन्त सुख से योग होने से' यह हेतु दिया गया है, वह भी आपके मत से विरुद्ध अर्थ को ही सिद्ध करता है। अनन्त सुख से योग होने पर मुक्ति की आवृत्ति न हो पाने से आपका सिद्धान्त खण्डित हो जायगा और आप दूसरे के मत को मानने लगेंगे। मुक्ति की आवृत्ति मानने पर मुक्ति सुख का आनन्त्य संभव नहीं। 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जो कर्मकाण्ड है, उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है—एक सुगन्ध गुणयुक्त, जो कस्तूरी, केशर आदि हैं। दूसरा मिष्टगुण युक्त—जो कि गुड़, शहद आदि कहाते हैं। तीसरा पुष्टिकारक गुणयुक्त—जो घृत, दूध, अन्न आदि हैं। चौथा रोगनाशक गुणयुक्त—जो कि सोम लता आदि औषधि के रूप में हैं। इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार करके और यथायोग्य मिलाकर अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है, वह वायु और वृष्टि जल की शुद्धि करने वाला होता है। इससे सब जगत् को सुख होता है' (पृ० ५४), यह सब भी अविचार रमणीय है। क्या यहाँ पर दूसरा कर्मभेद अभीष्ट है? यदि हाँ, तो उसका किसके साथ कैसे सम्बन्ध होता? अग्निहोत्र आदि यज्ञों में आपके कहे गये गुण वाले द्रव्यों के होम से वायु आदि की शुद्धि ही फल रूप में अभीष्ट है, तो फिर विधि वाक्यों में बताये गये स्वर्ग, स्वाराज्य, पारमेष्ठ्य, पशु, ग्राम, वृष्टि, पुत्र आदि फलों की क्या गति होगी? आप यह भी बताइये कि वायु आदि की शुद्धि शास्त्रोक्त है या प्रत्यक्ष से सिद्ध? यह शास्त्रोक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का कोई शास्त्रवचन उपलब्ध नहीं है। प्रत्यक्ष सिद्ध भी यह नहीं हो सकती, क्योंकि तब वह वेद प्रतिपादित नहीं रहेगी।

'और जिसको भोजन, छादन, विमान आदि यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं, वह अधिकांश से कर्ता को ही सुख देने वाला होता है' (पृ० ५४) इस वाक्यसमूह में भी 'यम्' इस सर्वनाम से किसका परामर्श होता है? लौकिक व्यापार का नहीं हो सकता, क्योंकि वह अप्रकृत है और उसका वैदिक कर्मकाण्ड में कोई प्रसङ्ग भी नहीं है। वैदिक व्यापार भी नहीं होगा, क्योंकि उसको बताने वाले कोई वैदिक वाक्य नहीं है। यदि हैं तो उनके लोकसिद्ध वस्तु के ज्ञापक होने से अज्ञात के ज्ञापक न होने के कारण उनमें अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। वस्तुतस्तु यह सब दयानन्द का मत चार्वाक दर्शन का उच्छिष्ट सा प्रतीत होता है।

यदप्युक्तार्थदाढर्चाय मीमांसायाः प्रामाण्यमुक्तम्—'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्' (जै० सू० ४।३।१), 'द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्' (जै० सू० ४।३।८)। एतयोरर्थश्च विहितो यत्—'द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रितयं यज्ञकर्त्रा कर्तव्यम्, द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमगुणसम्पादनार्थं संस्कारः कर्तव्यः। यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याऽग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेच्च, तदा यः पूर्वं धूमवद्वाष्पे उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन् सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति, तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति, तथैव यज्ञाद्यो बाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति। अतश्चोक्तम्—'यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति'। जनानां समूहो जनता। तत्सुखायैव यज्ञो भवति, यस्मिन् यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति। कुतः? तस्य परार्थत्वात्। यज्ञः परोपकारायैव भवति। अत एव फलस्य श्रुतिरर्थश्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणायैव भवति, तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स क्रतुधर्मो बोध्यः। एवं क्रतुना धर्मो जायते नान्यथा' (पृ० ५४) इति। तदेतत्सर्वमपि न केवलं बालभाषितं किन्तु नास्तिक्यावहमपि, शास्त्रार्थानभिज्ञानमूलकत्वात्, वेदबाह्यनास्तिक्यप्रभावितान्तःकरणप्रसूतत्वाच्च। सूत्रार्थस्तु सर्वथाऽसङ्गत एव। यद्यपि परोपकारः कर्तव्यः, ईश्वरोपासनं च कर्तव्यमत्र नास्ति विप्रतिपत्तिस्तथापि तत्सर्वं न प्रकृतसूत्रार्थः, शाब्दन्यायबहिर्भूतत्वात्।

यथा नहीश्वर उपास्य इति शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रार्थः। यद्यपीश्वरस्तुतिर्युक्ता तथापि न सा 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति सूत्रार्थः, शाब्दन्यायविरुद्धत्वादेव। लोकप्रसिद्धपदपदार्थसमासविभक्त्यर्थ-प्रकरणार्थानुगुणो हि वाक्यार्थो भवति। त्वदीयाऽभ्यूहितार्थस्तु तद्विरुद्ध एव।

अपने मत की सिद्धि के लिये यहाँ पर पूर्व मीमांसा के दो सूत्र प्रमाण के रूप में उद्धृत किये गये हैं और उनका अर्थ इस प्रकार किया गया है—'एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार और तीसरा उनका यथावत् उपयोग करना, ये तीनों बात यज्ञ के कर्ता को अवश्य करनी चाहिये। सो पूर्वोक्त सुगन्धादि युक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है। जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्ध द्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपाकर उनमें छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुखी करता है, इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है। इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि 'जनता नाम जो मनुष्य का समूह है, उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है, वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा, उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था में सुख प्राप्त होगा।' इसलिये यज्ञ का अर्थवाद यह है कि अनर्थ दोषों को हटाकर जगत् में आनन्द को बढ़ाता है। परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य ज्ञात होनी चाहिये। इस प्रकार यज्ञ के करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है, विशेष करके यज्ञकर्ता को, अन्यथा नहीं' (पृ० ५५), यह सब भी केवल बच्चों की सी ही बात नहीं है, किन्तु इससे नास्तिकता को भी बढ़ावा मिलता है। इससे लेखक की शास्त्रों को अनभिज्ञता भी सूचित होती है और यह भी ज्ञात होता है कि ये बातें वेद बाह्य नास्तिकों से प्रभावित अन्तःकरण से निकली हैं। सूत्र का अर्थ सर्वथा असंगत है। यद्यपि परोपकार करना चाहिये और ईश्वर की उपासना भी, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, तो भी यह सब अर्थ प्रस्तुत सूत्र का नहीं है और यह शब्दों की प्रकृति के विरुद्ध भी है।

जैसे 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र का यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर की उपासना नहीं करनी चाहिये, उसी तरह ईश्वर की स्तुति करना चाहिये, यह अर्थ 'विधिना०' इत्यादि सूत्र का नहीं हो सकता, क्योंकि वह शाब्द न्याय के विरुद्ध है। लोकप्रसिद्ध पद, पदार्थ, समास, विभक्त्यर्थ और प्रकरणार्थ के अनुकूल ही वाक्य का अर्थ होता है। आपका कल्पित अर्थ इसके विरुद्ध है।

द्रव्यसंस्कारकर्मस्विति सप्तम्यन्तं पदम्। सौत्रीं श्रुतां सप्तमीमपलप्य प्रथमारूपेण तस्या विपरिणामो वलात्कार उच्छृङ्खलत्वमेव द्योतयति। कर्तव्यपदाध्याहारोऽपि निर्मूल एव। तस्माद् द्रव्यं संस्कारः कर्म च एतत्त्रितयं मनुष्येण कर्तव्यमित्यशुद्ध एवार्थः, यथाश्रुतार्थोपपत्तौ कारणमन्तराऽश्रुतार्थकल्पनाया असम्भवात्। अन्यथाऽध्याहार-विभक्तिविपरिणामादिभिस्त्वदुक्तवाक्यमपि त्वदभिमतविरुद्धार्थकमपि कल्प्येत। द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमगुणसम्पादनार्थं संस्कारः कर्तव्यः, एतद्वाक्यं तु पूर्वोक्तवाक्यविरुद्धमेव। पूर्वं द्रव्यादित्रितयस्यापि कर्तव्यतोक्ता। इह तु द्रव्याणि गृहीत्वा तेषां संस्कारः कर्तव्य इत्युच्यते। द्रव्यपदेन त्वदुक्तं सुगन्धयुक्तकस्तूरीकेसरादि, मिष्टगुणयुक्तमध्वादि, पुष्टिकारकगुणयुक्तघृतदुग्धान्नादि, रोगनाशकगुणयुक्तसोमलताद्योषध-मेव गृह्यत इति प्रकृतसूत्रे कस्य पदस्यार्थः? केन प्रमाणेन तान्येव द्रव्यपदेन गृह्यन्ते? वैदिकविधानेन तानि प्राप्यन्ते स्वाम्यूहितेनैव वा? कस्तूरिकाकेसरादिहोमः क्व विहित इत्यपि वक्तव्यम्? तानि द्रव्याणि किं मनुष्यैः कर्तुं शक्यन्ते? अन्न-दुग्ध-घृत-कस्तूरी-केसरादिकं मनुष्यैः कर्तुं शक्यते? अन्नादिकमादाय तस्माद्भोजनादि तु निर्मातुं शक्यते? कस्तूरिका-केसरादिकमादाय किञ्चिद्भक्ष्यभोज्यादिपदार्थनिर्माणे स्वातन्त्र्यं सम्भाव्यते, परमद्य यावत् तन्निर्माणे नैवास्ति मनुष्याणां स्वातन्त्र्यम्। कथञ्च तेषामन्योन्यगुणसम्पादनार्थं संस्कारः कार्यः? किमन्योन्यमपेक्ष्य कश्चित् संस्कारो विधीयते, उत मिथः सम्मिश्रणात्मक एव संस्कारः? अथवा नानाद्रव्यसम्मिश्रणेन कश्चिदपूर्व एव संस्कारोऽभीष्टः? सर्वमेतन्निर्मूलमेव।

अन्नेषु किं व्रीहियवा एवाहोस्विद् गोधूमादयोऽपि? तेषां चोत्तमगुणसम्पादनार्थं संस्कारः कथं कर्तव्यः? यथा सूपादीनां संस्कारार्थं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेत्, तथैव सूपादिवद् अन्नदुग्धसोमादिकं पाचयित्वा चमसे घृतादिकं प्रतप्य सधमे जाते तं प्रवेश्य मुखं बध्वा प्रचालयेत्?

'द्रव्य-संस्कार-कर्मसु' यह सप्तम्यन्त पद है। सूत्र में सुनी गई सप्तमी का अपलाप करके प्रथमा के रूप में विपरिणाम जबर्दस्ती और उच्छृङ्खलता को ही सूचित करता है। 'कर्तव्य' पद का अध्याहार भी निर्मूल है। इस तरह द्रव्य, संस्कार, कर्म ये तीन बातें मनुष्य को करनी चाहिये, यह अर्थ अशुद्ध ही होगा। यथाश्रुत अर्थ की उपपत्ति बनती हो तो विना कारण के अश्रुत अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। अन्यथा अध्याहार, विभक्ति परिवर्तन आदि के द्वारा आपके वाक्य का भी आपके अभिमत अर्थ से विपरीत अर्थ हो जायगा। पूर्वोक्त चार संख्या के सुगन्धि आदि गुणों से युक्त द्रव्यों को लेकर उनकी परस्पर उत्तम गुणता के संपादन के लिये संस्कार करना चाहिये, यह वाक्य भी पूर्वोक्त वाक्य के विरुद्ध है। पहले द्रव्य प्रभृति तीन पदार्थों की कर्तव्यता कही गई। अब यहाँ पर केवल द्रव्यों को लेकर उनका संस्कार करना चाहिये, यह कहा जाता है। द्रव्य पद से आपके बताये गये सुगन्ध युक्त कस्तूरी, केसर आदि का, मिष्ट गुणयुक्त मधु आदि का, पुष्टिकारक गुणयुक्त घृत, दुग्ध, अन्न आदि का, रोगनाशक गुणयुक्त सोमलता आदि ओषधी का ही ग्रहण होता है, यह प्रकृत सूत्र से कैसे निकलता है? किस प्रमाण से इन्हीं का द्रव्य पद से ग्रहण होता है? वैदिक विधान से ये प्राप्त होते हैं या अपनी कल्पना से? कस्तूरी, केसर आदि का होम कहाँ विहित है, यह भी बताना पड़ेगा। क्या इन द्रव्यों को मनुष्य बना सकता है? अन्न, दूध, घृत, कस्तूरी, केसर आदि को मनुष्य कैसे बनावेगा? अन्न आदि को लेकर उससे भोजन तो बनाया जा सकता है। कस्तूरी, केसर आदि को लेकर कुछ खाने-पीने की चीजें तो स्वतन्त्र रूप से बनाई जा सकती हैं, किन्तु आज तक उनको बना पाने की स्वतन्त्र सामर्थ्य मनुष्य में नहीं है। इनमें अन्योन्य के गुणों की सम्पत्ति के लिये संस्कार कैसे किया जायगा? क्या अन्योन्य की अपेक्षा करके कोई संस्कार किया जाता है? अथवा यह संस्कार परस्पर के संमिश्रण का होगा? अथवा अनेक द्रव्यों को मिला कर कोई अपूर्व संस्कार किया जायगा? ये सब बातें निराधार हैं।

अन्न में केवल चावल, जौ आदि का ही ग्रहण होता है या गेहूँ आदि का भी? इनकी उत्तम गुणता के सम्पादन के लिये संस्कार कैसे किया जायगा? जैसे दाल, शाक आदि के संस्कार के लिये घी को चमचे में रखकर आग में तपाकर धुआं निकलने पर उसको दाल में छौंक कर ढकने से ढक कर हिलाया जाता है, उसी तरह दाल आदि की तरह अन्न, दूध, सोम आदि को भी पकाकर चमचे में घी गरम कर उसमें से धुआं निकलने पर इनमें मिलाकर मुँह बाँध कर चलावे? क्या परस्पर उत्तम गुणों के सम्पादन के लिये

किं परस्परमुत्तमगुणसम्पादनार्थमन्योऽन्यं प्रतप्यान्योन्यस्मिन् प्रवेश्य मुखं वद्ध्वा प्रचालयेत्, सर्वमेतद् वाललीलायितमेव। चमसस्तु काष्ठमयो भवति, तत्र घृतं निक्षिप्य किमग्नौ प्रतापयितुं शक्यते? मन्ये चम्मचादिवोधनायाज्ञानादेव चमसपदं प्रयुक्तम्। किञ्च, स एव प्रकारः संस्कारस्याऽन्यो वा? यद्यन्यस्तर्हि कथम्? अतश्चोक्तमिति प्रतीकं धृत्वैतरेयपाठ उद्धृतः। यदि स एव प्रकारस्तर्हि तस्य मूलं वक्तव्यम्। संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोतीत्यर्थः किं होतृ-पदेनोपलब्ध उतान्यतः? नान्त्योऽनिरूपणात्। नाद्यः, होत्रितिसमाख्यापदं पूर्वप्रकृतमर्थं प्रशंसत् तद्वेदनं प्रशंसति, नाग्नौ द्रव्यप्रक्षेप्तारं विधत्ते। अन्यथा पाचकमानय पक्ष्यति, लावकमानय लविष्यतीति लोकव्यवहारो न स्यात्। एतदपि सूत्रस्थस्य कस्य पदस्य व्याख्यानम्? का वा सङ्गतिः सूत्रेणास्यार्थस्य?

किञ्च, यदुक्तम्—'यज्ञाद्यो वाष्पो जायते स वायुं जलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखाय भवति' इति, तदपि किंमूलकम्? वेदवचनगम्यं तर्कगम्यं वा? तर्कगम्यत्वे तस्यावैदिकत्वमेव। वेदगम्यत्वे वचनमुपस्थाप्यताम्। कथं सीमितघृतकस्तूरिकादिहोमेनापरिमितमलमूत्रचर्ममज्जामांसास्थ्यादिदौर्गन्ध्यापसारणं सम्भवति? पृथिवीजलाग्न्या-दिभिरपि स्वभावादेव तद्दौर्गन्ध्यमपाक्रियते, तदा तैरेव तत् सम्भवेत्, किमन्तर्गडुना घृतदुग्धान्नौषधादिप्रज्वालनेन? आधुनिकवैज्ञानिकव्यवस्थायां तु होमादिमन्तरापि यथा शुद्धिर्दृश्यते, तथाग्निहोत्रिणामपि गृहेषु नैव दृश्यते। 'यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति' (ऐ० ब्रा० १।२) अस्य वचनस्य जनतासुखाय यज्ञो भवतीति कथमर्थः? सुखं कस्य शब्दस्यार्थः? यस्मिन् यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्येणाग्नौ होमं करोति स यज्ञो जनतासुखाय भवतीति यदुक्तम्, तदपि यत्किञ्चिदेव, अमुना प्रकारेणेति सूचितस्य प्रकारस्यानिर्देशात्।

आपस में तपाकर आपस में मिलाकर मुँह बाँध कर चलावे? यह सब केवल बच्चों का खेल है। चमस तो काठ का बना होता है। उसमें घी डालकर क्या अग्नि पर तपाया जा सकता है? ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ चम्मच के लिये अज्ञानवश 'चमस' शब्द का प्रयोग किया गया है। आप यह बताइये कि संस्कार का यही एक प्रकार है या दूसरा भी कोई? यदि दूसरा है तो वह कैसा है? 'अतश्चोक्तम्' ऐसा कह कर ऐतरेय ब्राह्मण का वाक्य उद्धृत किया गया है। यदि वही प्रकार है, तो उसका आधार बताना पड़ेगा। संस्कृत द्रव्यों का अग्नि में होम करता है, ऐसा अर्थ होतृ पद से उपलब्ध है या कहीं अन्यत्र से? अन्तिम पक्ष नहीं होगा, क्योंकि अन्यत्र कहीं इसका निरूपण नहीं किया गया। पहला पक्ष भी इसलिये नहीं बनेगा कि होतृ पद एक समाख्या है, अतः यह पूर्व प्रकृत अर्थ की प्रशंसा करते हुए उसके ज्ञान की प्रशंसा करती है, अग्नि में द्रव्य को डालने वाले का विधान नहीं करती, अन्यथा पाचक को लाओ, वह रसोई बनावेगा; काटने वाले को लाओ, वह काटेगा; इस प्रकार का लोक व्यवहार न बनेगा। यह भी सूत्र के किस पद का अर्थ है? और इस अर्थ के साथ सूत्र की क्या संगति है?

यह जो कहा गया है कि यज्ञ से जो धुँआ उठता है, वह वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष बनाकर सारे जगत् का कल्याण करता है, इसमें क्या प्रमाण है? यह वेद के वचन से प्रतीत होता है या तर्क से? तर्कगम्य होने पर वह वैदिक नहीं माना जायगा। यदि वेदगम्य है तो वेद वचन प्रमाण के रूप में उपस्थित कीजिये। थोड़े से घी, कस्तूरी आदि पदार्थों से अपरिमित मल, मूत्र, अस्थि, चर्म, मज्जा, मांस आदि की दुर्गन्धि को कैसे दूर किया जा सकता है? पृथिवी, जल, अग्नि आदि के द्वारा जब स्वभावतः दुर्गन्ध दूर की जा सकती है तो बीच में ही व्यर्थ के घी, दूध, अन्न, ओषधी आदि के जलाने से क्या फायदा? आधुनिक वैज्ञानिक व्यवस्था में होम आदि के बिना भी जैसी शुद्धि देखी जाती है, वैसी तो अग्निहोत्रियों के घर में भी नहीं मिलती। 'यज्ञोऽपि' इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण के वचन का यह अर्थ कैसे होगा कि जनता के सुख के लिये यज्ञ होता है। सुख किस शब्द का अर्थ है? जिस यज्ञ में इस प्रकार विद्वान् पुरुष संस्कृत द्रव्य से अग्नि में हवन करता है, वह यज्ञ जनता के सुख के लिये होता है, यह कथन भी निरर्थक है। 'अमुना प्रकारेण' इससे सूचित प्रकार का यहाँ निर्देश नहीं किया गया है।

तस्य परार्थत्वाद् यज्ञः परोपकारायैव भवति, अतः फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थनिवारणाय भवति। द्रव्यसंस्कारकर्मसु कानि फलानि श्रूयन्ते, तानि च कथमनर्थनिवारणाय भवन्ति? अर्थवादशब्दस्यानर्थनिवारणमर्थः कथं ज्ञायते? नह्यर्थवदनमेवानर्थनिवारणमर्थवादवतामप्यनर्थदर्शनात्। कश्चायमनर्थः, कथं च तस्य श्रुत्या निवारणं जायते? एवमेव 'तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोद्धव्यः। एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथा' इति यत्कथनम्, किमत्र द्रव्याणां यथा संस्कार उक्तस्तथैव पुरुषाणामपि संस्कारः? तेष्वपि किं सूपादिन्यायेनैव संस्कारः कर्तव्यः? किञ्च, द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्याद् इति सूत्रार्थे पुरुषाणां संस्कारः कस्य शब्दस्यार्थः? एवं क्रतुना धर्मो जायत इत्यर्थकरणे किं बीजम्? किमत्र धर्मशब्देन चोदना-लक्षणः पुण्यविशेषोऽर्थ आहोस्विद् अङ्गरूपो धर्मः? सर्वमेतद् बालविडम्बनमनाघ्रातमीमांसागन्धस्यातिमूर्खस्यैव शोभते। आश्चर्यमिदं यदेतादृशा अपि जना महर्षिपदवाच्यतां लभन्ते। परार्थत्वादित्यपि नोपपद्यते, तत्तद्यजमानकर्तृकाणां कर्मणां यजमानार्थत्वनिर्णयात्। अत एव दक्षिणाक्रीतर्त्विक्कर्तृककर्मणामपि फलानि यजमानगामीन्येव। होमानां यज्ञाङ्गत्वं। यथाकथञ्चित् परार्थत्वे तु भोजनाच्छादनादीनामपि परार्थत्वापत्त्या परार्थपदोपादानवैयर्थ्यमेव स्यात्।

शबरस्वाम्यादिरीत्या तु क्रतुधर्मः पुरुषधर्म इत्यत्र धर्मशब्दोऽङ्गवाचक एव। परं तदनभिज्ञाय आरम्भे मिथः सम्मिश्रणात्मकसंस्कारदाढर्याय सूपसंस्कारस्योदाहरणमुपात्तम्, उपसंहारे च तथैव यज्ञाद्यो वाष्पो जायत इत्यादिग्रन्थेन वाय्वादिशुद्धिद्वारा तत्सर्वजगतः सुखकरमेवेति प्रयोजनं प्रतिपादितम्। सुगन्धेति व्याहरता 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' (५।४।१३५) इति पाणिनीयानुशासनं कथं विस्मृतमित्यप्याश्चर्यम्। किञ्च, दयानन्देन शावरभाष्यस्य प्रामाण्य-मङ्गीकृतं सत्यार्थप्रकाशे, परं शावरभाष्यविरुद्धस्तदीयः सूत्रार्थः, पूर्वापरसूत्रविरुद्धश्च।

द्रव्यादि का संस्कार परार्थ होता है, अतः यज्ञ परोपकार के लिये है। यहाँ पर फल की श्रुति करने वाला अर्थवाद अनर्थ के निवारण के लिये है। द्रव्य, संस्कार और कर्म में कितने फल सुने गये हैं? वे अनर्थ निवारण में समर्थ कैसे होते हैं? अर्थवाद शब्द का अनर्थ निवारण अर्थ कैसे होगा? अर्थवाद मात्र से अनर्थ का निवारण नहीं हो जाता, क्योंकि अर्थवाद वाक्यों के रहते हुए भी अनर्थ, विघ्न आदि देखे जाते हैं। यह अनर्थ क्या है? और इसका श्रुति से निवारण कैसे होता है? इसी तरह 'होम के लिये प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों और पुरुषों का जो संस्कार होता है, वही क्रतु का धर्म है। इस तरह क्रतु अर्थात् यज्ञ से धर्म होता है, अन्यथा नहीं' यह जो कहा गया है, यहाँ पर जैसे द्रव्यों का संस्कार कहा गया है, क्या उसी तरह का संस्कार पुरुषों का भी विहित है? इनमें भी क्या दाल वाले तरीके से ही संस्कार होता है? क्रियार्थक द्रव्यों का संस्कार क्रतु का धर्म है, ऐसा सूत्र का अर्थ करने पर पुरुषों का संस्कार किस शब्द का अर्थ होगा? इसी तरह क्रतु से धर्म होता है, ऐसा अर्थ करने में क्या कारण है? क्या यहाँ पर धर्म शब्द से चोदनालक्षण पुण्यविशेष का ग्रहण होता है, अथवा अङ्गरूप धर्म का? यह सब बालकों की सी विडम्बना है, जिनको मीमांसा की गन्ध भी नहीं लगी है, ऐसे ही व्यक्ति इस प्रकार की बात कह सकते हैं। यह आश्चर्य की ही बात है कि ऐसे भी व्यक्ति महर्षि कहे जाते हैं। 'परार्थत्वात्' यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उस उस यजमान के द्वारा किये गये कार्य उसी के लिये होते हैं, ऐसा निर्णय किया गया है। इसीलिये दक्षिणा देकर खरीदे गये ऋत्विजों के द्वारा किये गये कार्यों का फल यजमान को ही मिलता है। होम आदि यज्ञ के ही अंग हैं। जिस किसी तरह यदि इनकी परार्थता माननी है तो भोजन, छादन आदि की की परार्थता सिद्ध कर देने पर परार्थ पद का उपादान ही यहाँ व्यर्थ हो जायगा।

शबर स्वामी आदि के मत से तो क्रतु धर्म, पुरुष धर्म इत्यादि में धर्म शब्द अंग का वाचक है। इसको बिना समझे यहाँ पर प्रारम्भ में परस्पर संमिश्रणात्मक संस्कार की दृढ़ता के लिये दाल में छौंकने का उदाहरण प्रस्तुत किया और उपसंहार में इसी तरह 'यज्ञ से जो धुँआ निकलता है, इत्यादि ग्रन्थ से वायु आदि की शुद्धि के द्वारा वह सब जगत् का सुखकर है, यह प्रतिपादित किया गया। सुगन्ध शब्द का प्रयोग करते समय 'गन्ध०' इत्यदि पाणिनि के नियम को कैसे भुला दिया गया, यह भी आश्चर्य ही है। दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में शाबरभाष्य को प्रमाण माना है, किन्तु उनका किया गया अर्थ शाबरभाष्य के और पूर्व तथा उत्तरवर्ती सूत्रों के भी विरुद्ध है।

द्वादशलक्षण्यां पूर्वमीमांसायां चतुर्थोऽध्यायः प्रयोगलक्षणमुच्यते। तत्रापि प्रथमपादे फलचिन्ता कृतास्ति। अत्राष्टावधिकरणानि सन्ति। तत्रैकस्य सूत्रस्योच्छृङ्खलार्थकरणेऽपरेषां सूत्राणामसङ्गतिरेव स्यात्। अत्र सूत्राणामर्थाः सङ्गतयः प्रयोजनानि च वक्तव्यानि भवन्ति। अन्यथा तेषामानर्थक्यासङ्गतत्वाप्रयोजनत्वानि स्युः। मीमांसायां गुणप्रधानभेदेन कर्मविभागा उक्ताः। त्वदुक्तरीत्या सर्वेषामेव वैदिककर्मणां परार्थत्वेन गुणकर्मत्वमेव स्यात्। अतस्तेषां प्रधानकर्मत्वानुपपत्त्या तद्बोधकसूत्राणां वैयर्थ्यमेव स्यात्।

'तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि' (जै० सू० २।१।४)। 'व्रीहीनवहन्ति' इत्याद्याख्यातानि द्वैधं द्विप्रकाराणि क्वचिद् द्रव्यं प्रति गुणभूतानि क्वचिद् द्रव्यं प्रति प्रधानानि। 'यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्' (जै० सू० २।१।५)। यैराख्यातान्तैर्द्रव्यसंस्कारार्थत्वेन चिकीर्ष्यन्ते, तान्याख्यातान्तवाच्यानि सर्वाणि यागदानादीनि द्रव्यं प्रति प्रधानानि। यथा स्वर्गकामो यजेत, हिरण्यं ददाति। तत्र द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्, लोकतो गुणत्वेन क्लृप्तत्वात्। 'यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य द्रव्यप्रधानत्वात्' (जै० सू० २।१।६)। यैः कर्मभिर्द्रव्यं संस्कार्यत्वेन चिकीर्ष्येत तत्र धात्वर्थो गुणः प्रतीयते, तस्य धात्वर्थस्य द्रव्यप्रधानत्वात्, द्रव्यं प्रधानं यस्य तत्त्वात्। यथा व्रीहीनवहन्ति, तण्डुलान् पिनष्टि। तत्र वितुषीकरणादिदृष्टफलसम्भवान्नादृष्टफलकल्पना युक्ता। सूत्रार्थस्तु वृत्तिशावरभाष्याद्यनुसारीत्थं ज्ञातव्यः— तत्र द्रव्यसंस्कारकर्मणां क्रत्वर्थाधिकरणे द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतेरर्थवादः स्याद् इति प्रथमं सूत्रम्। द्रव्यसंस्कारकर्मसु फलश्रवणमर्थवाद एव तेन न फलविधानं युक्तम्, कुतः परार्थत्वात्, तेषां द्रव्यादीनां परार्थत्वात् क्रत्वर्थत्वात्। द्रव्यादिषु कानि फलश्रवणान्यर्थवादरूपाणीति तानि शावरभाष्ये दर्शितानि। तत्र पूर्वं द्रव्यादाहरणान्युक्तानि। 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति स च्छन्दसामेव रसेनावद्यति सरसा अस्याहुतयो भवन्ति', 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति', 'यस्याश्वत्थी उपभृद् भवति

बारह अध्याय वाली पूर्व मीमांसा का चौथा अध्याय प्रयोग लक्षण कहलाता है। वहाँ पर भी पहले पाद में फल-चिन्ता की गई है। यहाँ पर आठ अधिकरण हैं। यहाँ पर एक सूत्र का उच्छृङ्खल अर्थ करने पर दूसरे सूत्रों की भी संगति ठीक नहीं बैठेगी। इन अधिकरणों में सूत्रों के अर्थ, संगति और प्रयोजन बताये जाते हैं। अन्यथा उनका न कोई अर्थ होगा, न संगति और न प्रयोजन ही। मीमांसा में गुण-प्रधान भाव से कर्मों के विभाग कहे गये हैं। आपकी पद्धति से तो सभी वैदिक कर्मों के परार्थ होने के कारण गुणकर्मता ही होगी। इस प्रकार उनकी प्रधानकर्मता न होने से उनके बोधक सूत्र व्यर्थ हो जायँगे।

'गुण और प्रधान के भेद से वे दो प्रकार के हैं' इस सूत्र के अनुसार 'व्रीहि का अवघात करता है' इस प्रकार के कार्य दो तरह के होते हैं। कहीं पर द्रव्य के प्रति गुणभूत और कहीं प्रधानभूत। 'जितने द्रव्य चिकीर्षित नहीं हैं, वे प्रधानभूत हैं, क्योंकि यहाँ पर द्रव्य गुणभूत रहता है' इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि जिन आख्यातान्तों से संस्कार के लिये द्रव्यों का ग्रहण नहीं होता, वे आख्यातान्त वाच्य सभी यागादि द्रव्य के प्रति प्रधान होते हैं, जैसे कि स्वर्गकाम यज्ञ करे, सुवर्ण का दान करता है, इत्यादि। यहाँ पर द्रव्य गुणभूत होता है, अर्थात् लोक व्यवहार में उसकी गौणता रहती है। 'यैस्तु द्रव्य०' इत्यादि सूत्र का अर्थ यह है कि जिन कर्मों के द्वारा द्रव्य का संस्कार्य के रूप में ग्रहण होता है, वहाँ पर धात्वर्थ गौण होता है, क्योंकि वह धात्वर्थ द्रव्यप्रधान है, अर्थात् इसमें द्रव्य की प्रधानता है। जैसे कि व्रीहि का अवघात करता है, तण्डुलों को पीसता है, इत्यादि। यहाँ पर भूसी को हटाना यह दृष्ट प्रयोजन विद्यमान है, अतः यहाँ पर अदृष्ट फल की कल्पना नहीं की जाती। वृत्ति, शाबरभाष्य आदि के अनुसार सूत्रों का अर्थ यह होगा—वहाँ पर द्रव्य, संस्कार और कर्म की क्रत्वङ्गता बताने वाले अधिकरण का पहला सूत्र 'द्रव्यसंकारकर्मसु०' इत्यादि है। द्रव्य, संस्कार और कर्म में फलश्रुति अर्थवाद मात्र है, इससे फल का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब परार्थ हैं, अर्थात् ये द्रव्यादि क्रतु के लिये हैं। द्रव्यादि में कौन सी फलश्रुति अर्थवाद रूप है, यह शाबरभाष्य में बताया गया है। वहाँ पर पहले द्रव्य के उदाहरण दिये गये हैं—'जिसका खदिर का स्रुव होता है, वह छन्दों के रस से अवदान करता है, इसकी दी गई आहुतियाँ रसमय होती हैं', 'जिसकी जुहू पर्णमयी होती है, वह कभी पाप की बात नहीं सुनता', 'जिसकी अश्वत्थ की उपभृद् होती है, उसके अन्न की रक्षा स्वयं ब्रह्मा करते

ब्रह्मणैवास्यान्नमवरुन्धे', 'यस्य वैकङ्कती ध्रुवा भवति प्रत्येवास्याहुतयस्तिष्ठन्ति, सर्वाण्येवैनं रूपाणि पशूनुपतिष्ठन्ते, नास्यापरूपमात्मनो जायते' इति। तत्रैव च संस्कारफलश्रवणोदाहरणानि यथा—'यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते'। एवमेव 'केशश्मश्रु वपते', 'दतो धावते', 'नखानि निकृन्तति', 'स्नाति', 'मृता वा एषा त्वममेध्यं ह वास्यैतदात्मनि शमलं तदेवोपहते मेध्य एव मेधमेवमुपैति'।

तथैव कर्मणि फलश्रवणोदाहरणानि—'अभीषू वा एतौ यज्ञस्य यदाघारौ', 'चक्षुषी वा एतौ यज्ञस्य यदाज्यभागौ', 'यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद् यज्ञस्य क्रियते। वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै'। एवं स्रुवजुह्वादिद्रव्यसम्बन्धेन यानि फलानि श्रूयन्ते, यानि च ज्योतिष्टोमादिसंस्कारेष्वञ्जनकेशश्मश्रुवपनदन्तधावननखनिकृन्तनस्नानादिसंस्कारसम्बन्धेन फलानि श्रूयन्ते, यानि च आघाराज्यभागप्रयाजानुयाजाद्यङ्गभूतकर्मसम्बन्धेन फलानि श्रूयन्ते, तानि किं फलविधयः, उत फलार्थवादाः? फलविधेः प्रवृत्तिविशेषकरत्वात् फलविधय एव। यथा—'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्, पालाशं ब्रह्मवर्चसकामस्य, बैल्वमन्नाद्यकामस्य' इति तद्वद् इति पूर्वपक्षय्य सिद्धान्तितम्—न फलविधय एतानि फलश्रवणानि, किन्तु फलार्थवादा एव। तत्र हेतुः परार्थत्वादिति। क्रत्वर्थान्येतानि। जुहूर्हविरादिप्रदाने गुणभूता। उपभृदुपधारणे। स्रुव आज्यधारणे। अञ्जनवपनादि च यजमाने गुणभूतम्। आघाराज्यभागौ प्रयाजानुयाजाश्चाग्नेयादिषु गुणभूताः। यदि च फलेऽपि गुणभावः स्यात्, अन्यत्रोपदिष्टानामन्यत्र गुणभाव उपदिष्ट इति प्रतिज्ञायेत तर्हि, न चैतन्न्याय्यं स्यात्। परार्थता हि गुणभावः। क्रत्वर्थता चैतेषां शब्दे जुह्वा जुहोति जुह्वा होममभिनिर्वर्तयति। तस्मात् क्रत्वर्था एते न पुरुषार्थाः। एवं द्रव्यसंस्कारकर्मसु फलश्रुतिरर्थवादः परार्थत्वात् क्रत्वर्थत्वादित्येव समीचीनः सूत्रार्थः। दयानन्दीयोऽर्थस्तु सर्वथैवाशुद्धः।

ननु पुरुषमुद्दिश्य फलं न स पापं श्लोकं शृणोतीति विधीयते कथमर्थवाद इत्यत आह—'उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात्' इति। उत्पत्तेः उत्पत्तिवाक्यस्यातत्प्रधानत्वात् पुरुषप्रधानत्वाभावात् क्रत्वर्थत्वेन परार्थतैव ज्ञेया।

हैं', 'जिसकी ध्रुवा वैकङ्कत वृक्ष की होती है, उसकी आहुतियाँ सदा संमुख रहती है, पशुओं के सभी रूप इसके पास रहते हैं, इसका कभी अनिष्ट नहीं होता' इत्यादि। वहीं पर संस्कार की फलश्रुति के ये उदाहरण हैं—'जब वह आँख में अंजन लगाता है, तो शत्रु के नेत्रों को माँग लेता है।' इसी तरह 'केश और श्मश्रू का वपन करता हैं', 'नख काटता हैं', 'स्नान करता है', 'मृत पशु का चमड़ा अपवित्र होता है, यह आत्मा का कल्मष है, जब कि वह अलग हो जाता है' इत्यादि।

इसी तरह कर्म की फलश्रुति के ये उदाहरण हैं—'आघार यज्ञ की बागडोर हैं', 'आज्यभाग यज्ञ के चक्षु हैं', 'प्रयाज और अनुयाज से जो यजन किया जाता है वह यज्ञ का रक्षाकवच है'। यजमान के शत्रु के पराजय के लिये कवच का विधान है। इसी तरह स्रुव, जुहू आदि द्रव्यों के संबन्ध में जो फलश्रुति है और इसी तरह ज्योतिष्टोम आदि संस्कारों में अंजन, केशश्मश्रु का वपन, दन्तधावन, नख काटना, स्नान करना आदि संस्कार से संबद्ध जो फल सुने जाते हैं और आघार, आज्यभाग, प्रयाज-अनुयाज आदि के अंगभूत कर्मों के संबन्ध से जो फल सुने जाते हैं, वे क्या फलविधियां है या फल के अर्थवाद? ये फलविधियां ही हो सकती हैं, क्योंकि ये विशेष प्रवृत्ति कराती हैं। जैसे कि वीर्यकाम का यूप खदिर का, ब्रह्मवर्चस्वी का पलाश का और अन्न की कामना वाले का बिल्व वृक्ष का होना चाहिये, उसी तरह ऐसा पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि ये फलश्रुतियां फलविधि न होकर फलार्थवाद हैं। इसमें हेतु परार्थ है, क्योंकि इनका उपयोग क्रतु के लिये है। जुहू हवि आदि के प्रदान में गणभूत है, उपभृद् उपधारण में गुणभूत हैं, स्रुव आज्य धारण में और अंजन, वपन आदि यजमान में गुणभूत हैं। आघार, आज्यभाग, प्रयाज, अनुयाज आदि आग्नेय आदि में गुणभूत है, अर्थात् इनका विधान अग्नि संबन्धी कार्यों के लिये है। यदि फल में भी गुणभाव हो तो अन्यत्र उपदिष्ट का अन्यत्र गुणभाव उपदिष्ट है, ऐसी प्रतीति होगी, जो कि उचित नहीं है। गुणभाव परार्थ में ही होता है। शब्द से ही इनकी क्रत्वर्थता प्रतीत होती है कि जुहू से होम करना है। इसलिये ये क्रतु के लिये हैं, पुरुषार्थ के लिये नहीं। इस प्रकार परार्थ अर्थात् क्रतु के निष्पादन के लिये होने से द्रव्य, संस्कार और कर्म की फलश्रुति अर्थवाद ही मानी जायगी, यही सूत्र का सही अर्थ होगा। दयानन्द का किया अर्थ सर्वथा अशुद्ध ही माना जायगा।

तस्मात् फलार्थवाद एव युक्तः। 'द्रव्याणां क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्' इति सूत्रस्य शावरभाष्यादिसम्मतोऽर्थस्तु ज्योतिष्टोमे समामनन्ति—'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य' इति। तत्र संशयः—किमयं पुरुषधर्म उत क्रतोर्धर्मः? इति, तत्र क्रत्वर्थप्रकरणं बाधित्वा वाक्येन विनियोगात् पुरुषस्यैव धर्म इति पूर्वपक्षः। पुरुषाणां क्रियार्थानां क्रियार्थमुद्यतानां शरीरधारणार्थो बलकरणार्थश्चायं व्रतनामकः संस्कार एव। तस्मात् प्रकरणसङ्गतये क्रतुधर्म एव मन्तव्यः।

ननु 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३) इति न्यायेन प्रकरणाद्वाक्यस्य बलीयस्त्वेन वाक्यात् पुरुषधर्म इति चेत्? अत्रोच्यते—पुरुषधर्मत्वे फलं कल्पनीयं स्यात्, निष्फले पुरुषप्रवृत्त्यभावात्। क्रत्वर्थत्वे तु प्रयोगविधिनोपगृहीतत्वात् प्रधानफलेन फलवानेव भविष्यति क्रतुधर्मः। अत एव फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति मीमांसकराद्धान्तप्रसिद्धिः। तस्मात् क्रतुधर्मः स्यादिति सिद्धान्तः पक्षः। एवं पयोव्रतं राजन्यस्येत्यादिवाक्यविहितपयोयवाग्वामिक्षाद्रव्याणां क्रियार्थोद्यतानां पुरुषाणां शरीरधारणार्थो बलकरणार्थो व्रताख्यः संस्कारो न पुरुषधर्मः, किन्तु क्रतुधर्म इत्येष एव सूत्रार्थो न दयानन्दोक्तः, तथात्वेऽप्रकृत-प्रक्रियाप्रकृतपरित्यागौ प्रसज्येयाताम्।

दयानन्दीयग्रन्थानुसारेणापि तदुक्तार्थो विरुध्यते। अग्निहोत्रादेः सकामत्वनिष्कामत्वप्रतिपादनमेव प्रकृतम्। तस्यार्थस्य दाढर्यायैव अत्र मीमांसायाः प्रमाणमिति दयानन्देनोक्तम्। द्वयोरपि सूत्रयोस्तदुक्तार्थोऽपि प्रकृतोपयोगी नास्त्येव। सत्यमेवोक्तं भूमिकाभासकृता दयानन्दकौशलमधिकृत्य—'यस्य कस्य कवेर्वाक्यं यत्र कुत्रापि योजयेत्। यस्मै कस्मै प्रवक्तव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥' इति।

पुरुष को उद्दिष्ट करके 'वह पाप गति को नहीं सुनता' इस फल का विधान किया जाता है, तब यह अर्थवाद कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर 'उत्पत्तेश्चा०' इत्यादि सूत्र में दिया गया है। इसका अर्थ है कि उत्पत्ति वाक्य में पुरुष की प्रधानता न होकर क्रत्वंगता के कारण परार्थता होती है। इसलिये यहां फलार्थवाद ही उचित है। 'क्रियार्थक द्रव्यों का संस्कार क्रतु का धर्म होता है' इस सूत्र का शावरभाष्य आदि का अर्थ इस प्रकार है—ज्योतिष्टोम में पढ़ा गया है कि 'ब्राह्मण को पयोव्रती, क्षत्रिय को यवागूव्रती और वैश्य को आमिक्षाव्रती रहना चाहिये'। यहां पर संशय उठता है कि यह पुरुष का धर्म है या क्रतु का? क्रतु के प्रकरण को बाध कर वाक्य से यहां विनियोग बताया गया है, अतः यह पुरुष का धर्म होगा, यह पूर्वपक्षी का कहना है। सिद्धान्त यह है कि क्रिया के लिये उद्यत पुरुषों के शरीरधारण के लिये और बल संपादन के लिये यह व्रत नामक संस्कार विहित है। इसलिये प्रकरण की संगति के लिये इसको भी क्रतु का ही धर्म मानना चाहिये।

श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या में पूर्व की अपेक्षा पर का दौर्बल्य है, क्योंकि इनमें क्रमशः अर्थ दूर होता जाता है, इस न्याय के अनुसार प्रकरण की अपेक्षा वाक्य के बलवान् होने से वाक्य के द्वारा इसकी पुरुषधर्मता होनी चाहिये, इस शंका के उत्तर में हमारा कहना है कि यदि यहां पर इसकी पुरुषधर्मता मानी जायगी तो उसके लिये फल की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि निष्फल कार्य में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि क्रतुधर्मता मानी जाती है, तब तो प्रयोग विधि से उपगृहीत होने से क्रतुधर्म प्रधान के फल से ही फलवान् हो जायगा। इसीलिये मीमांसा का यह सिद्धान्त माना जाता है कि फलवान् की सन्निधि में उपदिष्ट अफल उसकी अंग हो जाया करता है। इसलिये सिद्धान्त पक्ष में यह क्रतु का ही धर्म होगा। इसी तरह 'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य' इत्यादि वाक्यों से विहित पय, यवागू, आमिक्षा आदि द्रव्यों का विधान क्रिया के लिये उद्यत पुरुषों के शरीर धारण और बल बनाये रखने के लिये विहित व्रत नामक संस्कार के लिये है। अतः ये भी पुरुष के धर्म न होकर क्रतु के ही धर्म हैं, यही सूत्र का अर्थ होगा, दयानन्द द्वारा किया गया नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर अप्रकृत की स्वीकृति और प्रकृत का परित्याग करना पड़ेगा।

दयानन्द के ग्रन्थ के अनुसार भी उनका अर्थ विरुद्ध पड़ता है। अग्निहोत्र आदि की सकामता और निष्कामता का यहां विचार प्रकृत है। उसी अर्थ की मजबूती के लिए यहां पर मीमांसासूत्र का प्रमाण दयानन्द ने दिया। दोनों सूत्रों का अर्थ उनका ठीक

यत्तु प्रकृतार्थपोषणाय प्रमाणमुपस्थापितम्—'यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति' (ऐ० ब्रा० १।२) जनानां समूहो जनता। तत्सुखायैव 'यज्ञो भवति' इति, तत्तुच्छम्, पौर्वापर्यविचारवैधुर्यमूलकत्वात्। तथाहि—पञ्च देवता यजति, पाङ्क्तो यज्ञः, सर्वा दिशः कल्पन्ते, कल्पते यज्ञोऽपि'। अस्य वचनस्य सायणसम्मतोऽयमर्थः—पथ्याद्यदित्यन्ताः पञ्च देवताः, पञ्चसंख्यायोगाच्च यज्ञस्य पाङ्क्तत्वं, बहुधा वक्ष्यते तत्प्रशंसार्थमेव। तत्रोक्तदेवदिशः कल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्पमाना अनु मनुष्यदिशः कल्पन्त इति सर्वा दिशः कल्पन्ते, कल्पते यज्ञोऽपि। देवताविषयाः पञ्चसंख्यायुक्ताः प्राच्याद्या ऊर्ध्वान्ता दिशोऽपि पञ्चसंख्याकाः, तेन सर्वा दिशः कल्पन्ते समर्था भवन्ति, पूर्वमज्ञाताः सत्यो विज्ञाता भवन्ति। यज्ञोऽप्यनया कल्पते स्वप्रयोजनसमर्थो भवतीति। इतः परं वेदनं प्रशंसति—'तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति' इति। अत्र प्रकरणानुसारेण जनतापदेन याज्ञिकजनसमूहो विवक्षितः। तथा च यस्यां जनतायां याज्ञिकजनसमूहे होता प्रायणीयदेवतानां वेदिता भवति, तस्यां जनतायामयं होता कल्पते स्वप्रयोजनसमर्थो भवति। अत्र यज्ञोऽपीति पूर्वेणान्वितः। जनताशब्दो याज्ञिकजनसमूहपर एव न जनसाधारणपरः, तत्तद्यजमानकर्तृकाणां यज्ञानां जनसाधारणासम्बद्धत्वात्। अग्निहोत्रादिकर्मणां वैयक्तिकत्वाद् यज्ञफलं यजमानगाम्येव भवति। ऋत्विगादीनां दक्षिणाक्रीतत्वात् तद्गाम्यपि न भवति, किमु वक्तव्यं सर्वथाप्यसम्बद्धजनगामित्वे? यथाकथञ्चित्तत्फलस्य जनतागामित्वे स्वकार्यार्थमेव प्रदीपितदीपस्य द्वारि रक्षितस्य रथ्यादिगतान्धकारनिवारकत्वेन तस्यापि परार्थत्वे स्वार्थपरार्थभेदलोपापत्तेः। यज्ञोऽपि जनतायाः सुखायैव भवतीत्यर्थस्तु सर्वथाऽशुद्धः, यज्ञस्य पूर्वान्वितत्वेन जनताया इति पदेनासम्बद्धत्वात्, तस्या इति पदस्य त्वद्रीत्या नैरर्थक्यापत्तेश्च।

नहीं है, न प्रकृत उपयोगी ही है। इसीलिये दयानन्द के कौशल को देखकर भूमिकाभास के कर्ता ने ठीक ही कहा है कि 'जिस किसी कवि के वाक्य को जहाँ कहीं जोड़ दे और जिस किसी को उसका उपदेश कर दे, कुछ न कुछ हो ही जायगा।'

प्रकृत अर्थ की पुष्टि के लिए प्रमाण दिया गया है कि 'जनता के सुख के लिये यज्ञ होता है, जहाँ पर कि विद्वान् होता रहता है। मनुष्यों के समूह को जनता कहते हैं। उसके सुख के लिये वह यज्ञ होता है', यह भी कथन तुच्छ है, क्योंकि इसमें पूर्वापर वाक्यों के विचार की झलक नहीं मिलती। इस प्रकरण में 'पञ्च देवता यजति०' इत्यादि श्रुति उद्धृत है। इसका सायण संमत अर्थ इस प्रकार है—पथ्या से अदिति पर्यन्त पाँच देवता हैं। इन पाँच से युक्त होने से यज्ञ पांक्त कहलाता है। यज्ञ की प्रशंसा के लिये ऐसा बार-बार कहा जाता है। ऐसा कहा गया है कि वहाँ पर देवताओं की दिशा की कल्पना करनी चाहिये। इनकी कल्पना करने से मनुष्यों की दिशा की कल्पना होती है। इस प्रकार सभी दिशाएं कल्पित होती हैं और यज्ञ की भी कल्पना होती है। देवताविषयक पाँच संख्या वाली प्राची प्रभृति ऊर्ध्वा पर्यन्त दिशाएँ भी पाँच होती हैं, इससे पहले से अज्ञात सारी दिशाएँ ज्ञात हो जाती हैं। इस प्रकार यज्ञ भी अपने प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ हो जाता है। इसके आगे इस ज्ञान की प्रशंसा में 'तस्यै जनतायै' इत्यादि उक्त वाक्य कहा गया है। यहाँ पर प्रकरण के अनुसार जनता पद से याज्ञिक जनसमूह विवक्षित है। अब इसका यह अर्थ हुआ कि जनता अर्थात् याज्ञिकों के समूह में होता देवताओं के स्वरूप को जानता है, वह अपने प्रयोजन के संपादन में समर्थ होता है। इस वाक्य का पूर्ववर्ती वाक्य 'यज्ञोऽपि' इस पद से सम्बद्ध है। यहाँ पर जनता शब्द का प्रयोग याज्ञिक जनों के लिये हुआ है, साधारण जनता के लिये नहीं। क्योंकि यजमानों के द्वारा किये गये यज्ञ जनसाधारण से संबद्ध नहीं हो सकते। अग्निहोत्र आदि कर्म वैयक्तिक हैं, इनका फल यजमान को ही मिलेगा। दक्षिणा से खरीदे गये होने से इनका फल जब ऋत्विगों को नहीं मिलेगा तो असंबद्ध जनता को उनका फल कैसे मिल सकता है? उनका फल किसी तरह से जनता के हित के लिये माना जाय, तो जैसे अपने कार्य के लिये जलाये दीपक को द्वार पर रख देने से गली का अन्धकार दूर हो जाता है। इसी प्रकार इसमें परार्थता के भी आ जाने पर तो स्वार्थ और परार्थ, इस रूप में किये गये भेद ही लुप्त हो जायेंगे। यज्ञ भी जनता के सुख के लिये है, यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। यज्ञ का पूर्व वाक्य से अन्वय होने से जनता पद से उसका सम्बन्ध नहीं बन सकता। आप जो अर्थ करते है उसमें 'तस्यै' यह पद निरर्थक हो जायगा। हमारे मत में तो

सिद्धान्ते तु यत्रैवं विद्वान् होता भवति यत्र यस्यां जनतायां जनसमूहे एवंप्रकारेण होता प्रायणीयदेवतानां वेदिता भवति, तस्यां जनतायां होता कल्पते स्वप्रयोजनसम्पादनसमर्थो भवतीति पूर्वपरामर्शित्वेन सार्थक्यात् साधीयसी सङ्गतिः स्यात्।

यच्च—'अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिर्वृष्टेरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा' (श० ब्रा० ५।३।५।१७)। अयमभिप्रायः—अग्नेः सकाशाद् धूमबाष्पौ जायेते, यदायमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पतिजलादिपदार्थान् प्रविश्य तान् संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक्करोति। पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्याकाशं गच्छन्ति। तत्र यावान् जलरसांशस्तावतो वाष्पसंज्ञा भवति। यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यंशो भवति। अत एवोभयभागसंयुक्तो धूम इत्युपचर्यते। पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे धूमसञ्चयो भवति। तस्मादभ्रघना जायन्ते। तेभ्यो वायुदलेभ्यो वृष्टिर्जायते। अतोऽग्नेरेवैता यवादय ओषधयो जायन्ते। ताभ्योऽन्नमन्नाद्वीर्यं वीर्याच्छरीराणि भवन्ति' (पृ० ५५) इति, तदपि विचारणीयम्, इदं प्रमाणं कस्यार्थस्य पोषणायोपस्थापितम्? प्रकरणानुसारेण तु—एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो भवतीत्यर्थपोषणायैवेति विज्ञायते। परमत्र वचने किञ्चिदपि वाक्यं पदं वा तादृशं नोपलभ्यते, येन सोऽर्थः पोष्येत।

यच्च 'अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तमित्युक्त्वा तस्यैव विषयस्य दार्ढ्याय 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (आनन्दवल्ली) 'स तपोऽतप्यत। तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति वचनान्युद्धृतानि, तान्यपि न प्रकृतपोषकाणि, तेषां विभिन्नार्थकत्वात्। यज्ञो वायुजलशुद्ध्यादिद्वारा परोपकाराय जनतासुखाय च भवति, न विध्युक्तस्वर्गादिफलायेत्यर्थस्यापि नैतैर्वचनैः सिद्धिः। तादृगर्थबोधकवाक्यैरपि न तदर्थसिद्धिः, विधिविरुद्धत्वादेव। श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणेतिन्यायेन वाक्यस्य श्रुत्यपेक्षया दुर्बलत्वात्। किमुता-

जिस जनता में इस प्रकार का प्रायणीय देवताओं को जानने वाला होता विद्यमान है, उस जनता में वह अपने प्रयोजन के सम्पादन में समर्थ होता है, इस प्रकार पूर्व पद के द्वारा उसकी ठीक संगति बैठ जाती है।

अपने उक्त कथन में 'अग्नेर्वै' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण दिया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि—'जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं, उनसे धुआं और भाप उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि वह वृक्ष, औषधि, वनस्पति तथा जलादि पदार्थों में प्रवेश करके उनको छिन्न-भिन्न कर देता है। फिर वे हलके होकर वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं। उनमें जितना जल का अंश है, वह भाप कहाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है। इन दोनों के योग का नाम धूम है। वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं, फिर वे परस्पर मिल के बादल हो के उनसे वृष्टि, वृष्टि से यव आदि औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर बनते हैं' (पृ० ५६)। यहाँ पर यह विचारणीय है कि किस अर्थ की पुष्टि के लिये यह प्रमाण दिया गया है? प्रकरण के अनुसार तो प्रतीत होता है कि यज्ञ से धर्म होता है, इस अर्थ की पुष्टि के लिये यह दिया गया है, किन्तु यहाँ पर कोई भी पद अथवा वाक्य ऐसा नहीं है, जिससे कि इस बात की पुष्टि होती हो।

आगे 'इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा गया है' ऐसा कहकर उसी विषय की दृढ़ता के लिये 'उस आत्मा से आकाश पैदा हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधी से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष पैदा हुआ। यह पुरुष अन्नरसमय है', 'उसने तप किया, तप करके उसने जाना कि अन्न ब्रह्म है। अन्न से ही ये सब प्राणी पैदा होते हैं, पैदा होकर जीते हैं और अन्न में ही विलीन हो जाते हैं' ये दो वचन उद्धृत किये गये हैं। ये भी प्रकृत विषय के पोषक नहीं हैं, क्योंकि उनका दूसरा ही अर्थ है। इन वचनों से यह भी सिद्ध नहीं होता कि यज्ञ वायु, जल आदि की शुद्धि द्वारा परोपकार के लिये, जनता के सुख के लिये होता है, विधि वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित स्वर्गादि फल के लिए नहीं। उस अर्थ के बोधक वाक्यों से भी इसकी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि वे विधिवाक्य के विरुद्ध हैं। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण आदि में प्रथम की अपेक्षा अपर के दुर्बल होने से श्रुति की अपेक्षा वाक्य दुर्बल माना जायगा। अन्य अर्थ के बोधक वाक्य विधि के विरुद्ध अर्थ की कल्पना किस

न्यार्थबोधकवाक्यैर्विधिविरुद्धार्थकल्पनम्। विधिविरुद्धश्चार्थो न प्रतिपादयितुं शक्यते। तथाहि—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिविधिवाक्यैर्यागादीनां स्वर्गफलकत्वं स्पष्टं श्रूयते। पूर्वमीमांसया तदेव च विचार्य सिद्धान्तितम्। वायुजलादिशुद्धिर्यज्ञफलं जनतोपकारो यज्ञफलमित्येतत्तु त्वत्कपोलकल्पितमेव। शतपथतैत्तिरीयादिवचनानि तु न तदर्थपोषकाणि, तेषामन्यार्थत्वात्। नान्यवाक्यानामपि तदर्थबोधकत्वम्, तादृग्वचनानामनुपलम्भाद्विधिविरोधाच्च।

तत्र शतपथश्रुतिरग्नेः प्रशंसार्थं समर्पितघृतदुग्धसोमादिहविष्कादग्नेर्धूमादिक्रमेण सर्वस्य तपोजत्वमनुवदति। नाग्निहोत्रादियज्ञस्य स्वर्गादिफलकत्वं वारयति, विधिविरोधाद्वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च। गीतायामपि—'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' (३।१४) इत्यादिभिस्तदेवोक्तम्। रूपान्तरेण मनुरपि तदेव प्रतिपादयति—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥' (३।७६)। वायुजलादिशुद्धिरेव यज्ञफलमिति केनाप्याप्तेन नोक्तम्। वृष्ट्यादिकं तु घृतदुग्धाद्याहुतीनां प्रकृतिपोषणार्थानामानुषङ्गिकमांशिकमेव फलम्, तादर्थ्येनाविधानात्। त्वद्रीत्या तु तदपि न सम्भवति, तत्तद्देशेषु होममन्तरापि प्रभूतवृष्ट्यादिदर्शनात्। साम्प्रतं तु भारतेऽपि षष्टिकोटिमितेषु जनेषु शतसंख्याका अप्याहिताग्नयो न सन्ति, कथं तद्धोमैरेव भारतेऽपि वृष्ट्यादिसम्भवः। सिद्धान्तरीत्या तु मानवदृष्ट्यगोचरा अपरिगणिता ऋषयोऽग्निहोत्रादिकमाचरन्ति। तदीयैर्होमैरेवादित्याभिज्वलने प्रकृतिसाहाय्यमाचर्यते। तदुपोद्बलितसोमार्णवप्रवाहपातेनादित्याभिज्वलनं ततः पर्जन्यस्ततो वृष्टिस्तत ओषधयः।

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इति तैत्तिरीयश्रुतिस्तु परमात्मनः सृष्टिक्रमं वर्णयति। तस्मादात्मनः प्रकृतिशक्तिविशिष्टादीक्षणचिकीर्षा(महदहङ्कारादि)क्रमेण आकाशः सम्भूतः। तस्मादाकाशाद्वायुः,

प्रयोजन से करेंगे ? जब कि विधि के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन हो ही नहीं सकता। 'स्वर्गकाम यज्ञ करे' ऐसे विधि वाक्यों से यागादि की स्वर्गफलता स्पष्ट है। पूर्वमीमांसा में पूरा विचार कर यही सिद्धान्त स्थिर किया है। वायु, जल आदि की शुद्धि, जनता का उपकार आदि यज्ञ के फल हैं, यह तो आपकी कपोलकल्पना है। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय उपनिषद् आदि के वचन आपके पक्ष के समर्थक नहीं हैं। उनका दूसरा ही अर्थ है। इनके सिवाय दूसरे कोई ऐसे वचन उपलब्ध नहीं हैं, जो कि आपकी बात को पुष्ट करते हों। विधि वाक्य से इस अर्थ का विरोध भी है।

यहाँ पर शतपथ श्रुति अग्नि की प्रशंसा के लिये घृत, दुग्ध, सोम आदि की हवि देने के बाद अग्नि से धूमादि के क्रम से पदार्थों की तपोजन्यता प्रतिपादित की गई है। इससे अग्निहोत्रादि यज्ञों की स्वर्गादि फलता का निवारण नहीं होता, क्योंकि ऐसा करना विधि के विरुद्ध होगा और इसमें वाक्यभेद नामक दोष भी आवेगा। गीता में भी—'अन्न से प्राणी पैदा होते हैं, पर्जन्य (वृष्टि) से अन्न पैदा होता है और वृष्टि यज्ञ से होती है' यहाँ पर वही बात कही गई है। 'अग्नि में विधिवत् दी गई आहुति आदित्य (सूर्य) के पास पहुंच जाती है। आदित्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा की सृष्टि होती है' इस मनुस्मृति के श्लोक में भी प्रकारान्तर से वही बात कही गई है। किसी भी आप्त पुरुष ने यह नहीं कहा कि वायु, जल आदि की शुद्धि यज्ञ का फल है। घृत, दुग्ध आदि की आहुति से प्रकृति का पोषण होता है, अतः वृष्टि आदि उसका आनुषंगिक और आंशिक फल है, क्योंकि इनके लिये आहुति का विधान नहीं है। आपके मत से तो वह भी संभव न होगा, क्योंकि अनेक देशों में विना हवन के भी भरपूर वर्षा होती है। आजकल तो भारत में भी साठ करोड़ व्यक्तियों में से सौ आदमी भी अग्निहोत्री नहीं हैं, तब इनके होम से भारत में भी वृष्टि आदि की संभावना कैसे बन सकती है ? हमारे पक्ष में तो मानव की दृष्टि से न दिखाई पड़ने वाले अपरिगणित ऋषिगण अग्निहोत्र आदि का आचरण करते हैं। उन्हीं के होम आदि से आदित्य के प्रकाश आदि के द्वारा प्रकृति की सहायता होती है। इन आहुतियों के माध्यम से सोमरूपी समुद्र के प्रवाह से आदित्य प्रकाशित होता है, उससे बादल बनते हैं, वृष्टि होती है और ओषधियां पैदा होती हैं।

'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' यह तैत्तिरीय श्रुति परमात्मा से हुई सृष्टि के क्रम को बताती है। इस आत्मा से प्रकृति की शक्ति की सहायता से ईक्षण, चिकीर्षा (महद्, अहङ्कार) आदि के क्रम से आकाश पैदा होता है। उस आकाश से वायु, वायु से अग्नि,

वायोरग्निः, अग्नेरापो जायन्ते । अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ताभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, तस्मात्पुरुषो जायते । न मनागप्यस्याः श्रुतेर्दयानन्दीयार्थसमर्थनं भवति । यथाकाशवाय्वग्नीनां होमनैरपेक्ष्येणैवोत्पत्तिः, तथैव जलपृथिव्यादीनामपि तन्नैरपेक्ष्येणैवोत्पत्तिवर्णनात्, तथैव सम्भवाच्च । मन्वादिभिः पुराणैश्चाग्नेरपामद्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तिरुक्ता । अतः शतपथप्रसङ्गे पृथिव्या उत्पत्तिमनुक्त्वैव अग्नेर्धूमो धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरित्युक्त्वाऽग्नेरेता जायन्त इत्युक्तम् । मनुना गीतया चापि तस्मिन् प्रसङ्गे पृथिव्या उत्पत्तिर्नोक्ता । तस्मात्तैत्तिरीयश्रुतिः परमेश्वरात् सृष्टिक्रमं वर्णयति, नाग्निहोत्रादिफलं वर्णयति । न सर्वं जलं पर्जन्यादेव । पर्जन्यस्यापि सौरतेजःसम्पृक्तात् समुद्रादुत्पत्तिदर्शनात्, तथैव वैज्ञानिकैरप्यभ्युपगमाच्च । सीमितहोमधूमैर्विश्वनभोव्यापिपर्जन्यमण्डलस्योत्पत्त्यसम्भवाच्च ।

सनातनरीत्या त्वाहुतेः स्वल्पांशेनापि विशिष्टादृष्टवशादंशेन देवतृप्तिरंशेन च वृष्ट्यादिकमपि संपद्यत इति देवताधिकरणप्रसङ्गे वक्ष्यते । तस्मात्स्थूलजलस्य समुद्रादन्यत्रापि जनोपयोगिजलाद्युत्पत्तय एव पर्जन्योत्पत्तिः। नैतावदेव, छान्दोग्यश्रुत्या त्वग्निहोत्राद्यनुष्ठायिनां धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकमुपगतानां चान्द्रमसशरीराणामेव स्वर्गः, पुण्यक्षये शोकतापद्रवभावानामेव पर्जन्यभावापत्तिः, तेषामेव वृष्ट्यौषधशुक्रादिक्रमेण गर्भभावापत्तिश्च स्पष्टमुक्ता । 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति श्रुतेः । सिद्धान्ते त्वग्निहोत्रादिकं प्राणिशुभाशुभकर्ममात्रस्योपलक्षणम्, कर्मसापेक्षस्यैव परमेश्वरस्य सृष्टौ प्रवृत्तेः । अन्यथा विषमसृष्टिनिर्मातुः परमेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम् । 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' (ब्र० सू० २।१।३४) इति बादरायणेन तथैव निर्णीतत्वात् । अपि च, न धूमोत्पत्तिरेव होमप्रयोजनम्, होममन्तराप्यार्द्रेन्धनसंयोगाद् भवत्येव धूमोत्पत्तिः । इदानीं तु पाषाणेङ्गालाग्नेयडीजलपेट्रोलादिभिरपि यन्त्रागारेभ्योऽपरिमितो धूमो जायते । तस्माद् वेदोक्तविधानानुसारिघृतदुग्धव्रीहियव-

अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियां, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष पैदा होता है । इस श्रुति से दयानन्द के मत का थोड़ा सा भी समर्थन नहीं होता । जैसे आकाश, वायु प्रभृति की बिना होम के ही उत्पत्ति होती है, उसी तरह जल, पृथिवी आदि की भी निरपेक्ष उत्पत्ति यहाँ कही गई है और यही सम्भव भी है । मनु आदि ने और पुराणों ने भी अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति बताई है । शतपथ ब्राह्मण में पृथिवी की उत्पत्ति को न बताकर अग्नि से धूम, धूम से बादल, बादल से वृष्टि इत्यादि कहते हुए अग्नि से ही इनकी उत्पत्ति मानी है । मनु और गीता ने भी इस प्रसङ्ग में पृथिवी की उत्पत्ति नहीं कही । इसलिये यह सिद्ध है कि तैत्तिरीय श्रुति परमेश्वर से सृष्टि के क्रम को बताती है, अग्निहोत्र के फल को नहीं बताती । सारा जल वृष्टि से ही पैदा नहीं होता । पर्जन्य की भी उत्पत्ति सूर्य के तेज से संपृक्त सागर से देखी गई है । वैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं । होम के सीमित धूम से सारे संसार के आकाश में पर्जन्य मंडल की उत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती ।

सनातनियों की पद्धति से तो आहुति के थोड़े से भी अंश से विशिष्ट अदृष्ट के कारण एक अंश से देवताओं की तृप्ति तथा दूसरे अंश से वृष्टि आदि भी हो सकती है, यह बात देवताधिकरण में कही जायगी । इसलिये स्थूल जल की समुद्र से अन्यत्र भी मनुष्यों के उपयोगी जल, अन्न आदि की उत्पत्ति के लिये ही बादलों की उत्पत्ति होती है । इतना ही नहीं, छान्दोग्य श्रुति में तो स्पष्ट बताया गया है कि अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठान करने वाले व्यक्तियों का धूमादि मार्ग से चन्द्रलोक गमन और चान्द्र शरीर प्राप्त होने पर ही स्वर्ग मिलता है । पुण्य के क्षीण हो जाने पर शोक, ताप आदि ही द्रवीभूत होकर बादल बन जाते हैं । ये ही वृष्टि, औषध, शुक्र आदि के क्रम से गर्भ के रूप में परिणत होते हैं । 'पञ्चमी आहुति में जल पुरुष के समान हो जाता है' यह श्रुति इसमें प्रमाण है । हमारे मत में तो अग्निहोत्र प्रभृति शब्द प्राणी के शुभ, अशुभ कर्ममात्र के उपलक्षक हैं, क्योंकि ईश्वर कर्म के सहारे ही सृष्टि में प्रवृत्त होता है । कर्म के बिना सृष्टि करने पर ईश्वर के विषम सृष्टि के निर्माता होने पर उसमें वैषम्य और निर्दयता के दोष की आपत्ति होगी । 'वैषम्यनैर्घृण्ये०' इत्यादि बादरायण सूत्र में यही बात कही गई है । धूम की उत्पत्ति ही होम का प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि धूम तो होम के बिना भी गीली लकड़ी को जलाने से भी हो सकता है । आजकल तो पत्थर का कोयला, डीजल, पेट्रोल आदि से भी कारखानों आदि में अपार धुँआ निकलता है । इसीलिये यही मानना उचित है कि वेदोक्त विधान के अनुसार घी, दूध, व्रीहि, यव,

सोमादिहोमजनितविशिष्टहोमैरेव स्वास्थ्यकारिजलवर्षकपर्जन्योत्पत्तिः प्रकृतेऽभिमता। तथा चाग्निहोत्रादियज्ञानां स्वर्गजनकत्वेऽप्यानुषङ्गिकं फलं स्वास्थ्यकारिजलादिप्राप्तिरूपमपि।

स तपोऽतप्यतेत्यादिरपि न प्रकृतोपयोगी। यदुक्तम्—'अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते जीवनस्य बृंहद्धेतुत्वात्, शुद्धजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिभ्यः सुखं भवति नातोऽन्यथेति (पृ० ५६), तदपि पिष्टपेषणमेव। 'स तपोऽतप्यत' इति श्रुतेस्त्वयमर्थः—भृगुर्वरुणं पितरं ब्रह्मविद्यार्थमुपससार। तेन 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इत्युक्त्वा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति ब्रह्मलक्षणमेतदुक्तम्। भृगुणा च विज्ञानलक्षणेन तपसा प्रथममन्नं ब्रह्मेति विज्ञातम्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'''इत्यादि। तपसैव च क्रमेण प्राणो ब्रह्म मनो ब्रह्म विज्ञानं ब्रह्मेति ज्ञात्वान्ते आनन्दो ब्रह्मेति विज्ञातम्। मुख्यब्रह्मज्ञान उपयोगित्वाद् अन्नादिषु गौणी ब्रह्मबुद्धिः। ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मत्वे तु घटादीनामपि ब्रह्मत्वापत्तिः। सिद्धान्ते तु सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मविवर्तत्वेन बाधसामानाधिकरण्यात् सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति श्रुतिसङ्गतिः।

यदप्युक्तम्—'तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्ति, ईश्वरकृतो जीवकृतश्च। ईश्वरेण खलु अग्निमयः सूर्यो निर्मितः सुगन्धपुष्पादिश्च। स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अपि अनिष्टगुणयोगाद् मध्यगुणौ भवतः, तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात् तज्जलवृष्टावोषध्यन्नरेतःशरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति, तन्मध्यमत्वात्। बल-बुद्धि-वीर्य-पराक्रम-धैर्य-शौर्यादयो गुणा अपि मध्यमा भवन्ति। कुतः ? यस्य यादृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्यं भवतीति दर्शनात्। अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति। कुतः ? दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्टयन्तर्भवात्। यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति। तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव

सोम आदि के होम से पैदा हुए विशिष्ट धुएँ से ही स्वास्थ्यकर जल को वर्षाने वाले बादलों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अग्निहोत्र आदि यज्ञों की स्वर्गजनकता के रहते हुए भी उनका आनुषंगिक फल स्वास्थ्यकर जल की प्राप्ति भी है।

'स तपोऽतप्यत' इत्यादि वचन भी प्रकृत विषय में सहायक नहीं है। यह जो कहा गया है कि—'अन्न को ब्रह्म कहते हैं, क्योंकि यह सभी जीवों के जीवन का मुख्य साधन है। जब होम से वायु, जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं, तभी सब जगत् को सुख होता है, अन्यथा नहीं' (पृ० ५७), यह भी मात्र पिष्टपेषण है। 'स तपोऽतप्यत' इत्यादि श्रुति का यह अर्थ है—भृगु ऋषि ब्रह्मविद्या की अधिगति के लिये अपने पिता वरुण के पास गये। 'ब्रह्म को तप से जानो' ऐसा कह कर 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि से ब्रह्म का लक्षण बताया। भृगु ने ब्रह्म का लक्षण जानकर पहले यह समझा कि अन्न ही ब्रह्म है, क्योंकि इसी से ये सब प्राणी पैदा होते हैं—इत्यादि। तप के द्वारा ही उसने क्रमशः प्राण, मन और विज्ञान को ब्रह्म जानकर अन्त में आनन्द ब्रह्म है, यह जाना। यहाँ पर मुख्य ब्रह्म के ज्ञान के उपयोगी होने से अन्नादि में गौणी ब्रह्म बुद्धि मानी गई है। यदि ब्रह्म के कार्य होने से इनको ब्रह्म माना जाय तो घट प्रभृति में भी ब्रह्मत्व की आपत्ति आवेगी। सिद्धान्त में तो सारे प्रपंच के ही ब्रह्म का विवर्त होने से बाध के साथ सामानाधिकरण्य होने से 'यह सब कुछ ब्रह्म है' इस श्रुति की संगति बैठ जायगी।

आगे कहा गया है—'सो उसकी शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है, एक तो ईश्वर का किया हुआ और दूसरा जीव का। उनमें से ईश्वर का किया यह है कि उसने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खींचता है और जो पुष्पादि का सुगन्ध है, वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है, परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम गुण वाला कर देते हैं। उस जल की वृष्टि से ओषधि, अन्न, वीर्य और शरीरादि भी मध्यम गुण वाले हो जाते हैं और उनके योग से बुद्धि, बल, पराक्रम, धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी मध्यम ही होते हैं, क्योंकि जिसका जैसा कारण होता है, उसका वैसा ही कार्य होता है। यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यों की सृष्टि से ही होता है।

कर्त्तव्यम् । यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्तव्यं नानृतमिति । यस्तामाज्ञामुल्लङ्घ्य प्रवर्तते स पापीयान् भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति । तथा यज्ञः कर्तव्य इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति । यस्तामप्युल्लङ्घयति सोऽपि पापीयान् सन् क्लेशवांश्च भवति' (पृ० ५७) इति, तदपि न विचारसहम्, ईश्वराज्ञाया असिद्धेः । त्वं मन्त्राणामेव वेदत्वमीश्वराज्ञारूपत्वं चाभ्युपैषि । न च मन्त्रेषु विधिरूपा काचिदाज्ञा समुपलभ्यते । सिद्धान्ते तु मन्त्रभागवदेव ब्राह्मणभागस्यापि वेदत्वाभ्युपगमात् सत्यं वद धर्मं चर नानृतं वदेद् यजेत जुहुयाद् इत्यादिब्राह्मणवचनानामीश्वराज्ञारूपत्वमस्त्येव । किञ्च, वायुजलादिशुद्धेरेव यागादिफलत्वे शुद्धिरेव फलं मन्त्रैर्ब्राह्मणैः सूत्रैर्मीमांसाभिश्चोच्येत । न चोच्यते तत्फलम् । किञ्च, 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्धयते । एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥' इति रीत्या प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतबोधकत्वेनैवाज्ञातज्ञापकत्वेनाप्रवृत्तप्रवर्तकत्वेन च वेदानां प्रामाण्यं सम्भवति । होमैर्वायुजलशुद्धिर्भवतीति तु त्वादृशैः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव ज्ञातुं शक्यते । ततो न भवत्येव वैदिकी तथाभूताज्ञा । ज्ञातार्थबोधकत्वेन 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इतिवदनुवादित्वेन तादृगर्थबोधकवाक्यस्य प्रामाण्यानुपपत्तेः ।

यदपि च—'यत्र खलु यावान् मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते । न चैवमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति । कुतः ? मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात् । यत्र खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुल्यं कुर्वन्ति । अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्येच्छानिमित्त एव जायते । एवं वायुवृष्टिजलदूषणकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यते, अतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्तुमर्हन्ति । मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति । मननयोगादेव मनुष्यत्वं जायते । परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिणां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टाः । तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवा-

इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों को ही उचित है । जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्म व्यवहार करने की आज्ञा दी है, मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है, वह अत्यन्त पापी होता है और ईश्वर की न्याय व्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है । वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने को आज्ञा दी है । इसको जो नहीं करता, वह भी पापी हो के दुःख का भागी होता है' (पृ० ५७-५८) । यह बात भी विचार करने पर टिक नहीं सकती, क्योंकि ईश्वर की आज्ञा सिद्ध ही नहीं होगी । आप मन्त्रों को ही वेद और ईश्वर की आज्ञा मानते हैं, किन्तु मन्त्रों में विधि रूप कोई आज्ञा उपलब्ध नहीं होती । हमारे मत में तो मन्त्र-भाग के समान ब्राह्मणभाग भी वेद के अन्तर्गत हैं, अतः सच बोलो, धर्म का आचरण करो, झूठ न बोले, यज्ञ करे, हवन करे इत्यादि ब्राह्मण वचन ईश्वर की आज्ञा के रूप में स्वीकार्य होंगे । अपि च, वायु, जल आदि की शुद्धि के ही यागादि के फल होने पर मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्र, मीमांसा आदि में शुद्धि रूप फल का ही विधान होना चाहिये, किन्तु यह कहीं कहा नहीं गया है । किं च, 'जो आप प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से प्रतीत नहीं होता, इसको वेद से जाना जाता है । इसीलिये वेद की वेदता सार्थक है' इस प्रमाण से प्रत्यक्ष और अनुमान से अनवगत का बोधक होने से, अज्ञात का ज्ञापक और अप्रवृत्त का प्रवर्तक होने से वेदों का प्रामाण्य संभव होता है । होम से वायु-जल की शुद्धि होती है, यह बात तो आपके जैसे व्यक्ति भी प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से ही जान सकते हैं । इसलिये इस प्रकार की आज्ञा वेदविहित नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह ज्ञात अर्थ की बोधक है, 'अग्नि ठंड की दवा है'. इस वाक्य के समान अनुवाद मात्र होने से इस प्रकार के अर्थ के बोधक वाक्यों को प्रमाण नहीं माना जा सकता ।

यह कहना कि—'जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं, वहां उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है । वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है । क्योंकि हस्ती आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं, इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है, सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है । इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टि जल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है, तो उसका निवारण करना भी उनको ही योग्य है । क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं, उनमें से मनुष्य ही उत्तम हैं । इससे वे ही उपकार और अनुपकार को जानने योग्य हैं । मनन नाम विचार का है, जिसके होने से ही मनुष्य नाम होता है, अन्यथा नहीं । क्योंकि ईश्वर ने

नामुत्पादितत्वात्। अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानानुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये। अतः सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्तव्यः।' (पृ० ५८) इति, तदपि निरर्थकं पिष्टपेषणं च। तथाहि—मनुष्यादिप्राणिसमुदायस्यापीश्वरसृष्टत्वात् तन्निमित्तकस्य दुर्गन्धादेरपीश्वरनिमित्तत्वानपायात्। यो हि यस्य निर्माता भवति स एव तन्निमित्तकानिवार्यपरिणामस्यापि निमित्तं भवति। न केवलं सर्वे जङ्गमा एव वृक्षादयोऽपि रात्रौ हानिकारकं वायुविशेषं मुञ्चन्ति। तथापि यथा पाटलपुष्पादिगतजन्तूनां मलनिर्मोको न पुष्पदूषणायालं भवति, कुतस्तदपेक्षया पुष्पसौगन्धस्य बाहुल्यात्, तथैव वायुजलपृथिव्यादिसमुत्पन्नानां प्राणिनिमित्तदौर्गन्ध्यादिकमप्यकिञ्चित्करमेव भवति। कुतस्तत्कारणवाय्वादीनां पावकत्वातिशयोपेतत्वात्। अत एव नहि नदीप्रवाहो जलतन्तुभिर्दूषितो भवति। न वा समुद्रः स्वगतजन्तुभिः। तथैव पृथिव्यपि स्वगतजन्तुभिर्मनुष्यादिभिर्न दूष्यते, तस्या महत्त्वातिशयेन सर्वदौर्गन्ध्यहारित्वात्। वाय्वाकाशौ तु ततोऽपि महान्तावसङ्गौ सर्वदोषहारिणौ च, तेषामपि कारणत्वात्। परमात्मा तु सर्वकारणत्वात् ततोऽपि महानसङ्गो निर्लेपः सर्वदोषहरः। तत एव न कारणभूताकाशवायुतेजोजलपृथिवीतत्परमाणूनां मनुष्यादिसमुद्भूतदौर्गन्ध्यादिभिर्दूषितत्वं मध्यमत्वं वा वक्तुं शक्यम्, समष्टिकारणस्य कार्यदोषादूषितत्वात्। अत एव तादृशैर्मध्यमैरेवाग्निजलैस्तादृशैरेव दुग्धघृतसोमादिभिस्तादृशैरेव मनुष्यैरेव देवादिपूजनं भवति। परमेश्वराय देवेभ्यश्च हविर्दीयते। परमेश्वराय विविधनैवेद्यानि च निवेद्यन्ते। विनियुक्तमन्त्रैर्भावनाभिश्च याज्ञिकैर्यज्ञसम्भारपात्रहविरादीनां लौकिकानामपि दिव्यत्वापादनं क्रियते। 'देवो भूत्वा देवान् यजेत' इति हि श्रुतिः। 'दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम्' (वा० सं० १।१३) इत्यादिमन्त्रेभ्यः। न च त्वद्रीत्या तदपि सम्भवति। त्वया तु स्मरणार्थमेव मन्त्रोच्चारणमङ्गीक्रियते। किञ्च, त्वद्रीत्या मनुष्यादिजनितदौर्गन्ध्यादिभिर्वायुजलादीनां यथा मध्यमत्वं तथैवाग्नेरपि मध्यमत्वमेव भविष्यति। तथा सति मध्यमे दौर्गन्ध्यादिदूषितेऽग्नौ होमेनापि कथं मध्यमत्वनिवृत्तिः?

मनुष्य के शरीर के परमाणु आदि के संयोगविशेष से विज्ञानोत्पत्ति के अनुकूल अवयव इस प्रकार रचे हैं कि जिनसे उनको ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य हैं, अन्य नहीं। इससे सबके उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है' (पृ० ५८)। यह भी निरर्थक पिष्टपेषण मात्र है। मनुष्य आदि समुदाय को भी ईश्वर ने ही बनाया है, अतः तन्निमित्तक दुर्गन्ध का निमित्त ईश्वर ही हुआ। जो जिसका निर्माता होता है, वही उसके निमित्त से होने वाले अनिवार्य परिणामों का भी निमित्त होता है। न केवल जीवजन्तु, रात्रि में वृक्ष भी हानिकारक गैस छोड़ते हैं। तो भी जैसे पाटल पुष्पादि में रहने वाले जन्तुओं का मल पुष्प को दूषित नहीं करता, क्योंकि उसकी अपेक्षा पुष्पगत सुगन्ध का आधिक्य है, उसी तरह वायु, जल, पृथिवी आदि में उत्पन्न प्राणिनिर्मित दुर्गन्ध कुछ हानि नहीं पहुँचा सकती, क्योंकि उसके कारणभूत वायु आदि में पवित्र करने की शक्ति अधिक है। इसीलिये नदी का प्रवाह जल के जन्तुओं से दूषित नहीं होता और समुद्र भी अपने जन्तुओं से दूषित नहीं होता। इसी तरह पृथिवी भी अपने ऊपर विद्यमान मनुष्य आदि से दूषित नहीं होगी, क्योंकि वह अपने महत्त्व से सारी दुर्गन्ध को दूर कर देगी। वायु और आकाश तो उससे भी महान् और असंग हैं। ये सभी दोषों को दूर कर देने वाले हैं, क्योंकि ये पृथिवी आदि के भी कारण हैं। परमात्मा तो इन सभी का कारण होने से सबसे महान्, असंग, निर्लेप, सब दोषों का दूर करने वाला है। इसीलिए कारणभूत आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी और इनके परमाणु मनुष्य आदि के द्वारा उत्पन्न की गई दुर्गन्ध से दूषित अत एव मध्यम नहीं कहे जा सकते, क्योंकि जो समष्टि का कारण है, वह कार्य के दोष से दूषित नहीं होता। इसलिए इस प्रकार की मध्यम अवस्था वाले अग्नि, जल आदि से और इसी तरह के घी, दूध, सोम आदि से और ऐसे ही मनुष्यों के द्वारा देवादि का पूजन होता है। परमेश्वर और देवताओं को हवि दी जाती है। परमेश्वर को विविध नैवेद्य चढ़ाए जाते हैं। विनियुक्त मन्त्रों से और भावना से याज्ञिकगण यज्ञ की सामग्री, पात्र, हवि आदि लौकिक पदार्थों में दिव्यता का आपादन करते हैं। 'स्वयं देव बनकर देवताओं का यजन करे' यह श्रुतिवचन है। 'देव सम्बन्धी कर्म के लिए आप पवित्र होइए' ऐसा मन्त्र भी है। आपकी रीति से तो यह हो नहीं सकता। आप तो केवल स्मरण के लिये मन्त्र का उपयोग मानते हैं। अपि च, आपके मत में मनुष्यादि से उत्पन्न दुर्गन्द से जैसे वायु, जल आदि की

नह्यशुद्धाग्निजलादिभिरशुद्धिनिवृत्तिः सम्भवति, मलेन मलप्रक्षालनवत्। यथा त्वया कस्तूर्यादिसुगन्धिद्रव्याणां होमेन विनाशेऽपि नात्यन्तविनाशोऽभ्युपेयते, सूक्ष्मरूपेण तेषां सत्त्वाद् विशेषादुपकारकत्वमभ्युपेयते, तथैव त्वद्रीत्यैव दौर्गन्ध्यादीनामपि नात्यन्तविनाशो भविष्यति, तथैव तेषामनुपकारकत्वमपि भविष्यत्येव तुल्यन्यायात्। धर्मशास्त्रेष्वपि यथा खनन-दहन-प्लावन-गोक्रमणादिभिः प्रसव-रक्तास्थिमलादिदूषितभूमेः शुद्धिर्विधीयते, तथैव कालातिक्रमेणापि भूमिशुद्धिरभ्युपेयते। आधुनिकैस्तु होमादिमन्तरेव भूमिजलाग्निभिरुग्रक्षारचूर्णफिनायलादिभिश्च यादृशी शुद्धिर्विधीयते, न तादृशी शुद्धिर्होमादिभिः सम्भवति। परिमितसुगन्धिद्रव्यैः प्रभूतदौर्गन्ध्याभिभवासम्भवात्। सत्यपि होमे सौगन्ध्यदौर्गन्ध्यमिश्रणमेव भविष्यति न तदत्यन्ताभावः, अग्नौ प्रक्षिप्तकस्तूर्यादेरिव दौर्गन्ध्यस्यापि त्वद्रीत्यात्यन्तविनाशासम्भवात्।

वस्तुतस्तु दयानन्दीयानि पूर्वोक्तवाक्यान्यसम्बद्धान्यशुद्ध्यादिदोषदूषितान्येव। तथाहि—'द्विविधः प्रयत्नोऽस्ति' इत्यसङ्गतमेव। यथा जीवेश्वरभेदेन प्रयत्नद्वैविध्यं तथैव जीवानामानन्त्येन प्रयत्नानन्त्यसम्भवेन द्वैविध्यासम्भवात्। ननु जीवत्वावच्छिन्नयावज्जीवकृतत्वेन जीवेश्वरभेदेन प्रयत्नद्वैविध्यमेवेति चेन्न, तथा सति प्रयत्नत्वेन रूपेण सर्वस्यापि प्रयत्नस्यैकत्वोपपत्त्या द्वैविध्यायोगात्। प्रयत्नद्वैविध्यवर्णनं व्यर्थमेव, प्रकृतेऽनुपयोगात्। ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मित इत्यत्र कर्तुरीश्वरस्यैव कारणत्ववर्णनं न कृतेः (प्रयत्नस्य), तदप्यशुद्धम्, कर्तृत्वेन कार्यमात्रं प्रति जनकत्वे मानाभावात्, गौरवपराहतत्वाच्च। कर्तुः कारणत्वे कारणतावच्छेदकं कर्तृत्वं भविष्यति। कर्तृत्वं कृतिमत्त्वमेव। कृतिमत्त्वं च कृतावेव पर्यवस्यति। तस्याश्च नानात्वेन गौरवमेव। किन्तु स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानजन्यत्वं तादृशेच्छाजन्यत्वं कृतिजन्यत्वं वा साध्यम्। तथात्वे कारणतावच्छेदकं कृतित्वमेव, तच्चैकमिति लाघवम्।

मध्यमता होती है, उसी तरह अग्नि की मध्यमता होगी। ऐसा होने पर मध्यम अग्नि के भी दुर्गन्ध दूषित हो जाने पर उस अग्नि में होम करने से भी मध्यमत्व दोष की निवृत्ति कैसे होगी? मल से जैसे मल का प्रक्षालन नहीं होता, उसी तरह अशुद्ध जल आदि से भी अशुद्धि दूर नहीं हो सकती। जैसे आप कस्तूरी आदि सुगन्ध द्रव्यों का हवन करने पर विनाश हो जाने पर भी उनका अत्यन्त विनाश नहीं मानते, सूक्ष्म रूप से उनकी विद्यमानता के कारण उनमें विशेष उपकारकता मानते हैं, उसी तरह आपकी रीति से ही दुर्गन्ध आदि का अत्यन्त विनाश नहीं होगा और उसी न्याय से इनकी विशिष्ट अनुपकारकता भी अक्षुण्ण रहेगी। धर्मशास्त्रों में भी जैसे खनन, दहन, प्लावन, गोक्रमण आदि से प्रसव, रक्त, अस्थि, मल आदि से दूषित भूमि की शुद्धि विहित है, उसी तरह काल के अतिक्रम से भी भूमि की शुद्धि मानी गई है। आधुनिक वैज्ञानिक तो होम आदि के बिना ही भूमि, जल, अग्नि से उग्र क्षार चूर्ण, फिनाइल आदि से जिस प्रकार की शुद्धि करते हैं, वैसी शुद्धि होमादि से नहीं हो सकती। परिमित सुगन्धि द्रव्य अपरिमित दुर्गन्ध को नष्ट नहीं कर सकते। होम के किये जाने पर भी दुर्गन्ध के साथ सुगन्धि का मिश्रण ही होगा। दुर्गन्ध का अत्यन्त नाश नहीं होगा, आपके मत से अग्नि में प्रक्षिप्त कस्तूरी आदि के समान ही दुर्गन्ध का भी अत्यन्त विनाश संभव नहीं है।

वास्तव में तो दयानन्द के पूर्वोक्त वाक्य न केवल असंबद्ध, अशुद्धि दोष से भी दूषित हैं। जैसे कि प्रयत्न दो तरह का है, यह कथन असंगत है। जैसे जीव और ईश्वर के भेद से प्रयत्न दो प्रकार का है, उसी तरह जीवों के अनन्त होने से प्रयत्न भी अनन्त होंगे, फलतः उनकी द्विविधता युक्त नहीं। जीवत्व से अवच्छिन्न यावत् जीवों के प्रयत्न को एक मानकर प्रयत्न की द्विविधता सिद्ध करना भी ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह से तो प्रयत्नत्व से अवच्छिन्न यावत् प्रयत्नों को एक ही मानना पड़ जायगा, जब उसके दो भेद भी नहीं बन सकेंगे। बिना प्रसंग के यहां पर प्रयत्न की द्विविधता की चर्चा व्यर्थ है। 'ईश्वर ने सूर्य को अग्निमय बनाया' यहां पर कर्ता ईश्वर को ही कारण कहा गया है, कृति (प्रयत्न) को नहीं, यह भी गलत है, क्योंकि कर्ता के रूप में कार्य मात्र की जनकता में कोई प्रमाण नहीं है और यहां पर गौरव दोष भी होगा। कर्ता को कारण मानने पर कारणता का अवच्छेदक कर्तृत्व होगा। कर्तृत्व और कृतिमत्त्व एक ही वस्तु है। कृतिमत्त्व का पर्यवसान कृति में ही होगा। कृतियां नाना प्रकार की हैं, अतः यहां गौरव

अपि च 'स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति' इति वाक्ये तत्पदार्थः कः ? इत्यपि विचारणीयम् । तत्पदस्य प्रकृतपूर्वपरामर्शित्वेन प्रत्यासत्तिन्यायेन च पूर्वप्रकृतः सुगन्धपुष्पादिरेव तत्पदार्थो मन्तव्यः । तस्य च सर्वजगद्रसाकर्षकत्वं न सम्भवत्येव, प्रमाणविरुद्धत्वात् । यदि चार्थसम्बन्धवशाद् दूरस्थोऽपि सूर्य एव तत्पदेन गृह्येत, तथापि सुगन्धपुष्पादिश्चेति पदमत्र निरर्थकमेव स्यात् । साधुत्वं चाप्यस्य चिन्त्यमेव । एवमेव तस्य सुगन्ध-दुर्गन्धाणु-योगत्वेन तज्जलवायू इष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वाद् इति वाक्येऽपि तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात् सूर्याकृष्टो रस एव तत्पदार्थो वक्तव्यः, अन्यस्यासम्भवात् । तथा च तस्य सूर्याकृष्टरसस्य सुगन्ध-दुर्गन्धाणुयोगत्वेनेत्यायातम्, तच्चात्यन्तमसङ्गतम्, सुगन्धदुर्गन्धाणुभी रसस्य योगानिरूपणात् । कोऽत्र योगः सम्भवति ? ननु सम्बन्ध एव योगः, शोभनो गन्धः सुगन्धः, दुष्टो गन्धो दुर्गन्धः, सुगन्धश्च दुर्गन्धश्च सुगन्धदुर्गन्धौ, तयोरणवः सुगन्धदुर्गन्धाणवस्तैर्योगः सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगः, तत्त्वं तेनेति न कश्चिद्दोषः' इति चेन्न, सुगन्धदुर्गन्धयोर्गुणत्वे-नाणुत्वासम्भवात् । नहि गन्धपरमाणवः कैश्चिदभ्युपेयन्ते । न च तैः रसस्य सम्बन्धः सम्भवति, रसगन्धयोः सम्बन्धा-निरूपणात् । न च शोभनो गन्धो येषां ते सुगन्धाः, दुष्टो गन्धो येषां ते दुर्गन्धा इति बहुव्रीह्याश्रयणेनासुरभिसुरभि-विशिष्टाः परमाणवः सम्भवन्त्येव । तैश्च रसस्यापि सम्बन्धः सम्भवत्येवेति वाच्यम्, तथात्वे 'गन्धस्येदुत्पूति' इत्यादि-सूत्रेण बहुव्रीहावित्वविधानविरोधात् । नहि तदानीं सुगन्धदुर्गन्धपदसाधुत्वम् ।

'तज्जलवायू अपीष्टानिष्टगुणयोगान्मध्यगुणौ भवतः' इति वाक्यस्यापि न सङ्गतिः, तज्जलेत्यत्र तच्छब्देन 'तयोर्जलवाय्वोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात्' इति त्वद्वाक्यबलेन तादृशाणुसम्बन्धग्रहणे गन्धसम्भवेन

होगा। यहां पर अपने उपादान विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान की जन्यता, तादृश इच्छाजन्यता अथवा कृतिजन्यता साध्य है। ऐसा होने पर कारणता का अवच्छेदक कृतित्व होगा। इसके एक होने से यहां लाघव है।

आप यह बताइये कि 'वह निरन्तर सारे जगत् से रसों को खींचता है' इस वाक्य में तत्पद का अर्थ क्या है ? यह भी विचारणीय है। तत्पद पूर्व प्रकृत अर्थ का परामर्शी है, इसलिये तथा प्रत्यासत्ति न्याय से भी पूर्व प्रकृत सुगन्ध युक्त पुष्पादि ही तत्पद का अर्थ मानना पड़ेगा। पुष्पादि को पूरे जगत् के रस का खींचने वाला मानना प्रमाण विरुद्ध है। यदि अर्थ से संबद्ध होने के कारण दूरस्थ सूर्य ही तत्पद से परामृष्ट हो, तब भी 'सुगन्धपुष्पादि' यह पद यहाँ पर निरर्थक हो जायगा। इसकी शुद्धता भी विचारणीय है। इसी तरह 'उसके सुगन्ध और दुर्गन्ध के अणुओं के योग से जल और वायु में भी इष्ट एवं अनिष्ट गुणों के योग से मध्य गुण वाले हो जायेंगे, क्योंकि वे सुगन्ध और दुर्गन्ध से मिश्रित हैं' इस वाक्य में भी 'तत्' शब्द के पूर्व परामर्शी होने से सूर्य के द्वारा आकृष्ट रस ही तत्पद का अर्थ होगा, क्योंकि दूसरे का उससे संबन्ध नहीं है। इससे उस सूर्य के द्वारा आकृष्ट रस का सुगन्ध और दुर्गन्ध से योग होने से, यह अर्थ हुआ। यह अर्थ अत्यन्त असंगत होगा, क्योंकि सूर्याकृष्ट रस का सुगन्ध और दुर्गन्ध के अणुओं से योग नहीं होता। यहाँ पर किस प्रकार का योग हो सकता है ? भाई संबन्ध ही योग हो जायगा। शोभन गन्ध सुगन्ध और दुष्ट गन्ध को दुर्गन्ध कहते हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध के अणुओं से योग को सुगन्धदुर्गन्धाणुयोग कहेंगे। यही उसका स्वरूप होगा। आपका यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि दुर्गन्ध और सुगन्ध ये गुण हैं। गुण होने से इनका अणुत्व से सम्बन्ध नहीं हो सकता। कोई भी गन्ध के परमाणुओं को स्वीकार नहीं करता और न गन्ध के परमाणुओं से इसका सम्बन्ध ही हो सकता है, क्योंकि रस और गन्ध का परस्पर सम्बन्ध नहीं बन सकता। जिनका शोभन गन्ध है, वे पदार्थ सुगन्ध और जिनका बुरा गन्ध है वे दुर्गन्ध, इस प्रकार बहुव्रीहि समास का सहारा लेने से सुरभि और असुरभि से विशिष्ट परमाणु हो ही सकते हैं और उनसे रस का भी सम्बन्ध हो ही सकता है, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर 'गन्धस्येदुत्पूति०' इत्यादि पाणिनि सूत्र से बहुव्रीहि में इत्व के विधान का विरोध होगा। उस अर्थ में दुर्गन्ध और सुगन्ध पद शुद्ध नहीं माने जायेंगे।

'वे जल और वायु भी सुगन्ध और दुर्गन्ध के योग से मध्यम गुण वाले हो जाते हैं' यह वाक्य भी संगत नहीं है। 'तज्जल' यहाँ पर तत् शब्द से 'उस जल और वायु के सुगन्ध-दुर्गन्ध से मिश्रित होने से' इस प्रकार के वाक्य के बल से तादृश अणु के

परमाणोः पृथिवीत्वात् पार्थिवाणुसम्बद्धौ जलानिलावित्येव बोधः। तथा च तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगत्वेनेति त्वद्ग्रन्थेन पार्थिवपरमाणोः रससमवेतत्वोक्त्या जले वायौ वा कः प्रभावस्तस्य। तच्छब्दार्थपरमाणुवृत्तिरस्येति वायौ सर्वथापि रसाभावः। जले च पार्थिवकटुकषायतिक्तादिरसविजातीयो मधुर एव रसः। एवं च तज्जलवायू मध्यगुणौ, इष्टानिष्टगुणयोगात्। न च स्वरूपासिद्धिः, पक्षे इष्टानिष्टगुणयोगत्वस्य सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वेन हेतुना सिद्धेरित्यादि-सर्वमशुद्धमेव, जले वायौ च मध्यमगुणसाधकहेतोरभावात्। तस्माज्जलानिलादिशोधनफलकमेवाग्निहोत्रादिकर्म सर्वैर्मनुष्यैः कर्तव्यमित्यनर्थकमेव, वचनानां परस्पराकाङ्क्षाराहित्येन दश दाडिमानि षडपूपा इत्यादिवाक्यवद् अपार्थकत्वात्। यद्यप्यग्निहोत्रादि कर्म सिद्धान्तेऽपीष्टमेव, तथापि वायुजलशोधनमेव न तत्फलम्, विधिप्रतिपादित-फलार्थमेव तदनुष्ठानस्येष्टत्वात्। नापि तत्सर्वैरेव कर्तव्यम्, अगृहस्थानां त्रैवर्णिकानामपत्नीकत्वेन शूद्राणां चानुपनीत-त्वेन तत्राधिकाराभावात्।

यदुक्तम्—'प्राणिनां मध्ये विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञान-भवनानुकूलावयवानामुत्पादितत्वात्' इति, तदपि सारशून्यम्, परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानोत्पादकावयवाभ्युपगमे चार्वाकमतप्रवेशापत्तेः। परमाणुभ्यस्तन्निर्मितावयवेभ्यश्च विज्ञानोत्पत्तेरास्तिकैरनभ्युपगमात्।

यदपि च—'कस्तूर्यादीनां सुरभियुक्तद्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपेण विनाशात् कथमुपकाराय यज्ञो भवितु-मर्हतीति? किन्त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमफलं जायते, पुनः किमर्थं यज्ञकरणम्' इति शङ्कायाः समाधानायोक्तम्—'नात्यन्तो विनाशः कस्यापि भवति' (पृ० ५९) इति, तदपि निरर्थकम्, तथात्वे दौर्गन्ध्यादीनामप्यविनाशापत्त्या होमस्य वायुजलशुद्ध्यादिप्रयोजनासिद्धेः।

सम्बन्ध ग्रहण करने पर गन्ध के सम्बन्ध से पार्थिव परमाणु की प्रतीति होने पर जल और वायु पार्थिव अणु से सम्बद्ध हैं, यही बोध होगा। तब उसके 'सुगन्धदुर्गन्धाणुयोगत्वेन' इस आपके वाक्य के आधार पर पार्थिव परमाणु के रस समवेत माने जाने पर जल अथवा वायु में उसका क्या प्रभाव होगा। वायु में तो सर्वथा रस का अभाव होता है और जल में पार्थिव कटु, कषाय आदि रसों से भिन्न मधुर रस है। इस प्रकार जल और वायु मध्यम गुण वाले हैं, इष्ट और अनिष्ट गुणों का योग होने से। यहाँ पर पक्ष में स्वरूपासिद्धि नहीं होगी, क्योंकि इष्टानिष्टगुणयोगत्व सुगन्ध-दुर्गन्ध मिश्रित हेतु से सिद्ध नहीं होंगे। इस प्रकार यह सारा कथन अशुद्ध है। क्योंकि जल और वायु में मध्यम गुण साधक कोई हेतु नहीं है। इसलिये जल, वायु आदि की शुद्धि के लिये अग्निहोत्र आदि कर्म सभी मनुष्यों को करने चाहिये, यह व्यर्थ की बात है। इन वचनों में परस्पर आकांक्षा का अभाव होने से 'दस अनार, छः अपूप' इत्यादि वाक्यों के समान निरर्थक हैं। यद्यपि सिद्धान्त में भी अग्निहोत्र आदि को कर्म ही माना गया है, किन्तु यहाँ पर वायु-जल आदि का शोधन इनका फल न होकर विधि प्रतिपादित स्वर्गादि फल के लिये ही इनका अनुष्ठान इष्ट है। ये कर्म सबके अनुष्ठेय भी नहीं हैं। जो गृहस्थ नहीं है, उसके पत्नी के न रहने से तथा शूद्र के अनुपनीत होने से इन कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार प्राप्त नहीं है।

यह कहना भी सार शून्य है कि—'ईश्वर ने सब प्राणियों के बीच में मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोग-विशेष इस प्रकार के रचे हैं कि जिनसे उनको ज्ञान की उत्पत्ति होती है', क्योंकि परमाणु के संयोग-विशेष से विज्ञान के उत्पादक अवयवों की सत्ता माननेपर तो चार्वाक मत में प्रवेश हो जायगा। आस्तिक जन परमाणुओं से अथवा तन्निर्मित अवयवों से विज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानते।

'सुगन्ध युक्त कस्तूरी आदि पदार्थों को अन्य द्रव्यों से मिला कर अग्नि में डालने से उनका नाश हो जाता है, फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता, किन्तु ऐसे उत्तम-उत्तम पदार्थ मनुष्यों को भोजन आदि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है, फिर यज्ञ किस लिये करना' इस शङ्का के समाधान के लिये यह जो कहा गया है कि—'किसी भी पदार्थ का अत्यन्त विनाश नहीं होता' (पृ० ५९), यह भी निरर्थक है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो दुर्गन्धि का भी अत्यन्त विनाश नहीं होगा, तब होम का वायु-जल आदि की शुद्धि का प्रयोजन कैसे सिद्ध होगा?

यदप्युक्तम्—'विनाशो हि यद् दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येत, परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते...अष्ट-विधं चेति। किञ्च, तत्—अत्राहुर्गोतमाचार्या न्यायशास्त्रे' (पृ० ५९) इति, तदपि विचारणीयम्। अत्र दर्शन-शब्देन ज्ञानमेव विवक्षितम्। 'दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते' (पृ० ६१) इति त्वयैवोक्तत्वात्। ज्ञानानां च स्वाभ्युप-गताष्टविधत्व एव गोतमाचार्यस्य साक्षित्वमुपन्यस्तं यत्, तदपि न्यायशास्त्रविरुद्धम्। तस्मिन्नर्थे गोतमसूत्रोप-न्यासस्तु धाष्टर्यमेव, तद्रीत्या प्रमाणचतुष्टयस्यैवाभ्युपगमात्। तद्वोधकानि सूत्राण्यपि चत्वार्येवोक्तानि। 'इन्द्रि-यार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' (१।१।४), 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च' (१।१।५), 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' (१।१।६), 'आप्तोपदेशः शब्दः' (१।१।७) इति।

'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्टधा प्रमाणं मन्यते' (पृ० ५९) इति। अत्रानुभूत्यात्मकस्य ज्ञानस्याष्टविधतास्वीकारे तत्साधनभूतप्रमाणानामष्टविधत्वं युक्तमिति कस्यचिन्मतं न गोतमाचार्यस्य।

यच्च प्रमाणानामष्टविधत्वसाधनाय 'न चतुष्ट्वम्—ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्' (२।२।१), 'शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः' (२।२।२) (पृ० ६०) इत्यादिसूत्राण्युपन्यस्तानीति, तदपि सूत्रार्थाज्ञानविजृम्भणमेव। सूत्रद्वयस्यास्य प्रमाणानामष्टविधत्वासाधकत्वात्, किन्तु न चतुष्ट्वमिति सूत्रेणाष्टविधत्वमाशङ्क्योत्तरसूत्रेण चतुष्ट्वस्यैव व्यवस्थापनात्। दयानन्देन शब्द ऐतिह्येति-सूत्रस्य व्याख्यानमपि न कृतम्। वस्तुतस्त्वस्य सूत्रस्यायमर्थः—शब्दे ऐतिह्यस्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्ति-सम्भवाभावानर्थान्तरभावादष्टविधत्वस्याप्रतिषेधो युक्तः। इह तु शब्दे ऐतिह्यस्यान्तर्भाव एव, अनुमाने चार्थापत्ति-सम्भवाभावानामन्तर्भाव एवास्ते, अतोऽष्टविधत्वस्य प्रतिषेध एव मन्तव्यः। अत एव—'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः

यह कथन भी विचारणीय है कि—'जो स्थूल होकर प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े, उसको हम विनाश कहते हैं। आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं? आठ प्रकार का। कौन कौन सा? इस विषय में आचार्य गोतम ने न्याय दर्शन में कहा है' (पृ० ५९-६०), क्योंकि यहाँ पर दर्शन शब्द से ज्ञान विवक्षित है। 'इनको मैं दर्शन, अर्थात् प्रमाण मानता हूँ' (पृ० ६२) यह आपका ही कथन है। अपने द्वारा स्वीकृत आठ प्रमाणों के लिये ही आपने आचार्य गोतम की साक्षी दी गई है, यह भी न्यायशास्त्र के विरुद्ध है। इस प्रसंग में न्याय सूत्रों का उपन्यास एक धृष्टता ही है। गोतम ने चार ही प्रमाण माने हैं और उनके स्वरूप का परिज्ञान कराने वाले चार सूत्र हैं, जो कि मूल में उद्धृत हैं।

'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव के भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन (प्रमाण) मानते हैं' (पृ० ६०)। यहाँ पर अनुभूति स्वरूप ज्ञान के आठ भेद मानने पर उसके साधक प्रमाण भी आठ माने जायेंगे, ऐसा मत गोतम मुनि का नहीं है।

प्रमाणों के आठ भेदों की सिद्धि के लिये जो 'न चतुष्ट्वम्' इत्यादि दो सूत्र उद्धृत किये गये हैं (पृ० ६०), सूत्रों का अर्थ न समझ पाने के कारण ऐसा हुआ है। ये दो सूत्र प्रमाणों के आठ भेदों के साधन नहीं हैं, किन्तु 'न चतुष्ट्वम्' इस सूत्र से यह शंका उठाई गई है कि प्रमाण आठ प्रकार के होते हैं, 'शब्द ऐतिह्य०' इत्यादि सूत्र से इस शंका का समाधान कर प्रमाण चार ही हैं, यही बात सिद्ध की गई है। दयानन्द ने इस सूत्र की व्याख्या भी नहीं की है। वास्तव में इस सूत्र का अर्थ यह है—शब्द से ऐतिह्य का अर्थान्तर नहीं है और अनुमान से अर्थापत्ति, संभव और अभाव अर्थान्तर नहीं है, अर्थात् शब्द और अनुमान में ही इन चारों का अन्तर्भाव हो जाता है, अतः प्रमाण की अष्टविधता का निषेध उचित है। इसी लिये प्रमाण का नाम निर्देश करने के बाद 'प्रत्यक्षा०' इत्यादि

प्रमाणानि' (१।१।३) इत्युद्दिष्टस्य प्रमाणस्य विभागवचनमपि सङ्गच्छते। 'न प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धेः' (२।१।१९) इति सूत्रे भाष्यकारोऽप्याह--'प्रत्यक्षादीनां चाविषयस्यानुपपत्तेः' इति। वार्तिककृदपि—'यदि स्यात् किञ्चिदर्थजातं प्रत्यक्षादीनामविषयः, यत्प्रत्यक्षादिभिर्न शक्यं ग्रहीतुम्, तस्य ग्रहणाय प्रमाणान्तरमुपादीयेत, तत्तु न शक्यं केनचिदुपपादयितुमिति। प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनमेवेदं सच्चासच्च सर्वविषयः' इति प्रणिजगाद। सर्वमेतदुद्दिष्ट-प्रत्यक्षादिप्रमाणविषय एव। अत एव 'न चतुष्ट्वम्' इति सूत्रावतरणिकया 'अयथार्थः प्रमाणोद्देश इति मत्वाह न चतुष्ट्वम्' इत्याह भगवान् भाष्यकारः। तस्मान्न पूर्वोक्तसूत्रद्वयेन प्रमाणाष्टकसिद्धिः।

'मातापितृभ्यां सन्तानं जायते' (पृ० ६०) इति नपुंसकलिङ्गप्रयोगोऽप्यशुद्ध एव। यत्तु नाशस्वरूप-प्रदर्शनप्रसङ्गे—'अतो नाशो बाह्येन्द्रियादर्शनमेव भवितुमर्हति' (पृ० ६१) इति यदुक्तम्, तदप्यशुद्धम्, तथात्वे बाह्येन्द्रिया-विषयाणामाकाशादीनां पार्थिवपरमाणूनां च त्वद्रीत्या नाशापत्तिप्रसङ्गात्। व्यवहितानामपि पदार्थानां चैत्रादीनां बाह्येन्द्रियाविषयत्वेन नाशप्रसङ्गाच्च। त्वद्रीत्या दर्शनादर्शनाभ्यामेव भावाभावावधारणात्।

यच्चोक्तम्—'यदा परमाणवः पृथक् पृथग् भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते, तेषामतीन्द्रियत्वात्। यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते, तदैव तद् द्रव्यं दष्टिपथमागच्छति, स्थूलस्यैन्द्रियकत्वात्। यद् द्रव्यं विभक्तं विभागानर्हं तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः। ते हि विभक्ताः सन्त आकाशे वर्तन्त एव' (पृ० ६१) इति, तदप्यसङ्गतम्, पृथग्भूताः परमाणव एव मिलिताः सन्तः स्थूलभावमापद्यन्त इत्यङ्गीकारे नास्तिकमतप्रवेशापत्तेः। महत्त्वोद्भूत-रूपवत्त्वस्य द्रव्यप्रत्यक्षे कारणत्वेन परमाणुषु तदभावाद् घटादीनामप्रत्यक्षत्वापत्तेश्च। नैयायिकादिभिस्तु परमाणु-समूहातिरिक्तोऽवयवी स्वीक्रियते। अत एवान्यत्र यद्यपि कारणगुणा एव कार्यगुणानारभन्ते, तथापि परमाण-द्व्यणुक-

सूत्र से उसके चार भेदों का बताया जाना संगत होता है। 'न प्रदीप०' इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने कहा है कि प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों के विषय की अनुपपत्ति नहीं है। वार्तिककार ने भी कहा है कि यदि कोई ऐसा विषय हो, जो कि प्रत्यक्ष आदि में गृहीत न हो तो उसके ग्रहण के लिये प्रमाणान्तर स्वीकार किया जाय। ऐसा उपपादन किसी के द्वारा संभव नहीं, क्योंकि सत् और असत् सभी विषय प्रत्यक्ष आदि से ही परिगृहीत होते हैं। यह सारा विषय उद्दिष्ट प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों का ही है। इसीलिये 'न चतुष्ट्वम्' इत्यादि सूत्र की अवतरणिका में प्रमाणों का पहले किया गया उद्देश अप्रामाणिक है, ऐसा मानकर 'न चतुष्ट्वम्' इत्यादि सूत्र कहा गया है, यह भाष्यकार का कथन है। इसलिये उक्त दो सूत्रों से आठ प्रमाण नहीं सिद्ध होंगे।

'माता-पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है' यहाँ पर सन्तान शब्द का नपुंसक लिंग में प्रयोग अशुद्ध ही है। नाश शब्द का अर्थ बताते समय का यह कथन कि 'इसलिये नाश बाह्येन्द्रिय से अदर्शन के लिये ही प्रयुक्त होता है' (पृ० ६२), इसलिये असंगत है कि ऐसा मानने पर बाह्येन्द्रिय के अविषय आकाश आदि का और परमाणुओं का आपकी रीति से नाश का प्रसंग आ जायगा। भित्ति आदि से व्यवहित पदार्थों का भी चैत्र आदि को बाह्येन्द्रियों से दर्शन नहीं होता, अतः उनका भी नाश मान लेना पड़ेगा, क्योंकि आपने तो यह मान लिया है कि दर्शन और अदर्शन से ही वस्तुओं का भाव तथा अभाव होता है।

यह कथन भी असंगत है कि 'जब परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं, तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम नाश है। जब परमाणु के संयोग से द्रव्य स्थूल अर्थात् बड़ा होता है, तब वह देखने में आता है। परमाणु उसे कहते हैं, जिसका कि विभाग फिर कभी न हो सके। ये परमाणु विभक्त अवस्था में सदा आकाश में विद्यमान रहते हैं' (पृ० ६२), क्योंकि पृथक् रूप से विद्यमान परमाणु ही मिलकर स्थूल द्रव्य हो जाते हैं, ऐसा मानने पर नास्तिक के मत में प्रवेश हो जायगा। महत्त्व और उद्भूतरूपवत्त्व द्रव्य के प्रत्यक्ष में कारण माने गये हैं। परमाणुओं में ये दोनों नहीं हैं, अतः घटादि में अप्रत्यक्षता की आपत्ति आ जायगी। नैयायिक प्रभृति तो परमाणु समूह के अतिरिक्त एक अवयवी मानते हैं। इसीलिये अन्य स्थानों में यद्यपि कारण के गुण ही कार्य के गुणों के आरंभक माने जाते हैं, तो भी परमाणु और द्व्यणुक का परिमाण कार्य में परिमाण का आरंभक नहीं माना जाता, क्योंकि ऐसा मानने पर जैसे एक बड़ी वस्तु से

परिमाणं न कार्येषु परिमाणमारभते। तथात्वे महदारब्धस्य महत्तरत्ववद् अणुपरिमाणारब्धस्य अणुतरत्वापत्तेः। अत एव च संख्याप्रचयादिपरमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादिक्रमेणावयविद्रव्येषु महत्त्वोद्भूतरूपवत्त्वं सम्भवति।

यदपि च—'तथैवाग्नौ यद् द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्तत एव। नहि तस्याभावः कदाचिद् भवति। एवं च यद्दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादिद्रव्यमस्ति, तच्चाग्नौ हुतं सद् वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति। तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महानुपकारो भवति, अतः कारणाद् यज्ञः कर्तव्य एव' (पृ० ६२) इति, तदपि निर्मूलम्, त्वद्रीत्या सुगन्धिद्रव्यस्येव दुर्गन्धिद्रव्यस्यात्यन्तनाशासम्भवात्, तन्निवारणस्यासिद्धत्वात्। प्रयागहरिद्वारादिकुम्भेषु लक्षशो जनसमूहेषु वहवो यज्ञा भवन्ति, तथाप्याधुनिकविधानेन चूर्णफिनायलादिप्रयोगमन्तरा यज्ञमात्रेण दौर्गन्ध्यं नापैत्येव। अत एवाधुनिकविधानादिमन्तरा पूर्वं विषूचिकादिजनसंहारकरोगा अपि आक्राम्यन्ति स्म, इदानीन्तने विधाने तु यज्ञादिमन्तरापि दौर्गन्ध्यमपैति, शुद्धिरारोग्यं च सर्वजनीनानुभवसिद्धम्। किञ्च, इदानीन्तनानां तादृक्सेकचूर्णधूमादिकमाविष्कृतं येन विकृतकीटाणवो मशकमक्षिकादयोऽपि नश्यन्ति, तेषां कृते वेदोपदिष्टहोमादिकं व्यर्थमेव।

यदपि च—'वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणां मध्ये सुगन्धद्रव्यरक्षणेनैतत्सेत्स्यति पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः' (पृ० ६२) इत्यस्याक्षेपस्य निराकरणायोक्तम्—'नैवं तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात्। तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशाभावात्। तत्र पुनः सुगन्ध-दुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्तमानत्वाद् आरोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति। यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्धादिद्रव्यस्य होमः क्रियते, तदाग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्नः

उत्पन्न वस्तु उससे भी बड़ी होती है, उसी तरह एक छोटी वस्तु से आरंभ वस्तु के उससे भी छोटी होने की आपत्ति होगी। इसीलिये परमाणु, द्वयणुक, त्र्यणुक आदि में संख्या की वृद्धि के आधार पर अवयवी द्रव्यों में महत्त्व और उद्भूतरूपवत्त्व माना जाता है।

इसी प्रकार यह कथन भी निर्मूल है कि—'वैसे ही जो सुगन्ध आदि से युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उसके अणु अलग-अलग होकर आकाश में रहते ही हैं, क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुतः कभी अभाव नहीं होता। इससे वह द्रव्य दुर्गन्ध आदि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है। फिर उससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है। इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये' (पृ० ६२-६३), क्योंकि आपके मत के अनुसार सुगन्धि द्रव्य के समान दुर्गन्धि से युक्त द्रव्य का भी अत्यन्त विनाश नहीं हो सकता, तब उसका निवारण कैसे होगा? प्रयाग, हरिद्वार आदि में कुम्भ मेले के अवसर पर लाखों आदमी जुटते हैं और वहाँ बहुत से यज्ञ भी होते हैं। तो भी आधुनिक पद्धति से चूना, फिनाइल आदि के प्रयोग के बिना यज्ञ मात्र से दुर्गन्धि दूर नहीं ही होती। इसीलिये आधुनिक उपायों के न किये जाने से पुराने जमाने में हैजा, प्लेग आदि महामारियों का उपद्रव होता था और आजकल की पद्धति में यज्ञादि के बिना भी दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है, शुद्धि होती है और आरोग्य प्राप्त होता है, यह बात सभी के अनुभव से सिद्ध है। आजकल के विज्ञानविदों ने छिड़कने के लिये पाउडर, तेल आदि का आविष्कार किया है, जिससे कि विष के कीटाणु, मक्खी, मच्छर आदि नष्ट हो जाते हैं। उनके लिये वेद में उपदिष्ट होम आदि का अनुष्ठान व्यर्थ है।

आगे 'जो यज्ञ से वायु और वृष्टि जल की शुद्धि करना मात्र ही प्रयोजन है, तो इसकी सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है, फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना' (पृ० ६३) इस आक्षेप के निराकरण के लिए कहा गया है कि—'यह कार्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिल के रहता है, उसको छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता और न वह ऊपर चढ़ सकता है, क्योंकि उसमें हलकापन नहीं होता। उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता, क्योंकि खाली जगह के बिना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता, फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोग-नाश आदि फल भी नहीं हो सकते। जब अग्नि उस वायु को वहाँ

उपर्याकाशं गच्छति, तस्मिन् गते सति तत्रावकाशाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति। तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वाद् आरोग्यादिकं फलमपि जायते। यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति, स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा वृष्टचाधिक्यमपि करोति। तद्द्वारौषध्यादीनामपि शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते। एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति। तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम्' (पृ० ६२-६३) इति। तदप्यसत्, उक्तोत्तरत्वात्। सुगन्धादिद्रव्यस्य होमेन तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभ्यामाकाशगमनसम्भवेऽपि दौर्गन्ध्यादेरूर्ध्वंगमने होमस्याकिञ्चित्करत्वात्। होममन्तरैवाग्निप्रज्वालनेनैव दौर्गन्ध्ययुक्तपदार्थानां भेदेन पृथक्त्वलघुत्वाभ्यामूर्ध्वंगमनसम्भवात्। लोके तु निम्बतैलादिपरिपूर्णे घटे न पाटलपटवासबिन्दुनिपातेन तद्दौर्गन्ध्यापनोदनं सम्भवति सौगन्ध्यस्याल्पत्वे।

नहि गृह एवाशुद्धो वायुर्भवति, बहिरेवाशुद्धिबाहुल्यदर्शनात्। ततश्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवतीत्यपि रिक्तं वचः। अत एव शुद्धवायुना गृहाकाशस्य पूर्णत्वादारोग्यादिकमपि फलं भविष्यतीत्यपि तथाभूतमेव। त्वद्रीत्या मनुष्यादिप्राणिसमुद्भूतदुर्गन्धस्य वायु-वृष्टि-जलदूषकत्वं भवत्येव। ततो बहिरपि कुतस्त्यः शुद्धवायुः? कुतस्तरामारोग्यफलजनकत्वम्? किञ्च, त्वद्रीत्या कस्यापि वस्तुनोऽत्यन्तं नाशो न भवति, तथा च सर्वत्र सर्वदैव सुगन्धदुर्गन्धमिश्रणमेव तिष्ठति। आश्चर्यमेतद् यत् सांख्योयसत्कार्यवादमाश्रित्य सर्वेषां वस्तूनां सार्वदिकं सत्त्वमुपेयते, तत्र चासत्कार्यवादिनैयायिकाभिमतप्रमाणान्युपस्थाप्यन्ते।

यच्च—'दूरस्थले केनचित् पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते। तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति। सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानाति। अनेन विज्ञायते यद् वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं

से हलका करके निकाल देता है, तब वहाँ शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है। इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि जो होम के परमाणुओं से युक्त शुद्ध वायु है, सो पूर्व स्थित दुर्गन्ध वायु को निकाल कर उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके रोगों का नाश करने वाला होता है और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त कराता है। जो वायु सुगन्ध आदि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होम द्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टि जल को शुद्ध कर देता है और इससे वृष्टि भी अधिक होती है, क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्न आदि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती है। ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्य प्रति अधिक सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के सिवाय दूसरे प्रकार से होना असंभव है। इससे होम का करना आवश्यक है' (पृ० ६३) यह सब भी गलत है। इसका उत्तर दिया जा चुका है। सुगन्ध आदि द्रव्य के होम से उसके अलग-अलग परमाणुओं के रूप में हलका होकर ऊपर आकाश में चढ़ जाने पर भी दुर्गन्ध के भी ऊपर चढ़ने से सारा होम करना व्यर्थ हो जायगा। होम के बिना भी अग्नि के जलाने मात्र से ही दुर्गन्धमय पदार्थों के परमाणुओं के भेदन से अलग होने पर ऊपर आकाश में गमन संभव है। लोक में तो देखा जाता है कि नींब के तैल से भरे हुए घड़े में गुलाब के अतर की एक बूँद डालने से उसकी दुर्गन्धि दूर नहीं की जा सकती।

घर में ही अशुद्ध वायु नहीं होता, घर से बाहर भी गन्दगी ज्यादा देखी जाती है। ऐसी अवस्था में चारों दिशाओं से शुद्ध वायु घर में प्रवेश करती है, यह एक व्यर्थ की बात है। इसी तरह की बात यह भी है कि शुद्ध वायु से घर के आकाश के भर जाने से हवन का फल आरोग्य लाभ भी होगा। आप भी मानते ही हैं कि मनुष्य आदि प्राणियों से उत्पन्न हुई दुर्गन्ध वायु, वृष्टि, जल आदि को दूषित करती है। तब बाहर भी शुद्ध वायु कहाँ से आवेगी? उससे आरोग्य लाभ भी कैसे होगा? आपके मत से किसी भी वस्तु का अत्यन्त विनाश नहीं होता। इस तरह से सर्वत्र सदा सुगन्ध और दुर्गन्ध का मिश्रण रहेगा। यह आश्चर्य को ही बात है कि सांख्य के सत्कार्यवाद का आश्रय लेकर सभी वस्तुओं की सार्वदिक सत्ता मानी जाती है और उसमें असत्कार्यवादी नैयायिकों के प्रमाण उपस्थापित किये जाते हैं।

यह कहना भी कि 'किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है, सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहाँ सुगन्ध वायु है।

च द्रव्यं गच्छतीति। तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति, पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगन्धो नास्तीति। परन्तु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्तमानत्वात् तैर्न विज्ञायते' (पृ० ६४) इति, तदपि न, त्वद्रीत्या दुर्गन्धस्याप्यत्यन्तनाशासम्भवाद् दुर्गन्धस्यापि वर्तमानत्वाविशेषात्। यदुक्तम्—'सुगन्धयुक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति। सोऽयं सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव' इति, तदपि शास्त्राज्ञानमूलकम्, घ्राणेन विज्ञानासम्भवात्। घ्राणेन्द्रियस्य द्रव्यग्रहणे सामर्थ्याभावात्। गन्धग्राहकमेव हि घ्राणेन्द्रियम्। वायोस्त्वगिन्द्रियगोचरत्वात्।

यच्च यज्ञे वेदपाठसमर्थनायोक्तम्—'एतस्यान्यदेव फलम्, किं हस्तेन होमः, नेत्रेण दर्शनम्, त्वचा स्पर्शनं च क्रियते यथा, तथा वाचापि मन्त्राः पठचन्ते। तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते। होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च। अन्यच्च सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्येत्युपदेशः। यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात् सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम्' (पृ० ६४) इति, तदपि यत्किञ्चित्, अप्रयोजकत्वात्। यज्ञस्य फलं वायुशुद्धिरेवोक्तम्, तच्च वेदपाठमन्तरापि सम्भवेत्, यज्ञे तदुच्चारणस्य व्यर्थत्वात्। हस्तेन होमः, नेत्रेण दर्शनमित्यादिकमपि व्यर्थमेव, फलानुपकारकत्वात्। भोजनेऽपि हस्तेन भोजनं नेत्रेण दर्शनं त्वचा स्पर्शनादिकं भवत्येव। सर्वेन्द्रियैः किञ्चित् किञ्चिदवश्यं कर्तव्यमिति विधानं न दृश्यते। ईश्वरस्तुतिप्रार्थनादिकं तु वायु-जल-शुद्धचनन्तरमेव युक्तम्।

यदुक्तम्—'नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिद्धचति, कुतः? ईश्वरोक्ताभावात्, निरतिशयसत्यविरहाच्च। यद्धि क्वचित् सत्यं तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्, यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद् बहिः'

इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्ध युक्त सूक्ष्म हो के जाता आता है। परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है, तब उसके नाक से संयोग भी छूट जाता है, फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा। परन्तु यह उनको अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है' (पृ० ६४), इसलिये उचित नहीं है कि आपके ही मत से दुर्गन्ध का भी तो अत्यन्त निवास नहीं होगा, ऐसी अवस्था में सुगन्ध के ही समान दुर्गन्ध की भी स्थिति समान रूप से रहेगी। यह कथन भी कि सुगन्ध से युक्त जो वायु है, सो होम के स्थान स दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहाँ सुगन्ध वायु है, शास्त्र के अज्ञान का ही सूचक है। ज्ञान घ्राणेन्द्रिय से नहीं हुआ करता। घ्राणेन्द्रिय द्रव्य के ग्रहण में भी समर्थ नहीं है। घ्राणेन्द्रिय केवल गन्ध को ग्रहण करता है। वायु का ग्रहण त्वगिन्द्रिय से होता है।

यज्ञ के समय किये गये वेदपाठ का समर्थन करने के लिये जो यह कहा गया है कि—'उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है। वह क्या है? जैसे हाथ से होम करते हैं, आंख से देखते हैं और त्वचा से स्पर्श करते हैं, वैसे ही वाणी से वेद मन्त्रों को भी पढ़ते हैं। उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है। होम से जो-जो फल होते हैं, उनका स्मरण भी होता है। वेद मन्त्रों के बारम्बार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं तथा वेदों की रक्षा भी होती है। ईश्वर का होना भी इससे विदित होता है। सब कार्यों के आरम्भ में ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये, यह उपदेश भी उससे मिलता है। वेद मन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में सर्वत्र उसकी प्रार्थना होती है' (पृ० ६४-६५), किन्तु इससे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वायु की शुद्धि ही यज्ञ का फल बताया गया है। यह बिना वेद पाठ के भी हो सकता है, तब उसका यज्ञ में उच्चारण करना व्यर्थ है। हाथ से होम किया जाता है, आंख से देखा जाता है, यह सब भी व्यर्थ की बात है, क्योंकि ये कोई फल का उपकार नहीं करते। भोजन करते समय भी हाथ से भोजन का ग्रहण, नेत्र से दर्शन और त्वचा से स्पर्श आदि होता ही है। सभी इन्द्रियों को कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिये, ऐसा कोई विधि वाक्य तो है नहीं। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना आदि भी वायु, जल आदि की शुद्धि हो जाने पर ही ठीक हो सकती है।

इस कथन में भी कुछ दम नहीं है कि—'अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। क्यों? ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य

(पृ० ६५) इति, तदपि न किञ्चित्, लौकिकानामपि वाचामबाधितार्थकत्वेन सत्यत्वानपायात्। अबाधितार्थत्वमेव सत्यस्य निरतिशयत्वम्, तदन्यस्य निरतिशयत्वस्यानिर्वचनात्। नहि पारमार्थिक-व्यावहारिक-प्रातिभासिकेतिवेदान्ति-सम्मतं सत्यत्रैविध्यं त्वयाऽङ्गीक्रियते। तद्रीत्यापि यज्ञादिकमपि व्यावहारिकमेव सत्यम्, शुद्धब्रह्मण एव पारमार्थिकत्वाभ्युपगमात्।

'त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः' (म० १।३) इति (पृ० ६५) मनुवचनोद्धरणं तु निरर्थकमेव, वेदस्य चातुर्वर्ण्य-चातुराश्रम्यभूतभव्यभविष्यदादिबोधकत्वेन सनातनत्वेन वैदिकानां विप्रतिपत्तेरभावात्।

यत्तु—'किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः प्रणीतादिपात्राणि कुशास्तृणानि यज्ञशाला ऋत्विजश्चेतत्सर्वं कर्तव्यम्?' इत्याशङ्क्य 'यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्सर्वं कर्तव्यं नेतरत्। तद्यथा—भूमिं खनित्वा वेदी रचनीया, तस्यां होमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद्धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति, तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोण-चतुष्कोण-गोल-श्येनाद्याकारवत्करणाद् रेखागणितमपि साध्यते, तत्र चेष्टकानामपि गणितत्वादनया गणितविद्यापि गृह्यते, एवमेवोत्तरेऽपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्येव। परन्त्वेवं प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्यात्, एवं पापं स्यादिति यदुच्यते तत्र पापनिमित्ताभावात् सा कल्पना मिथ्यैवास्ति, किन्तु खलु यज्ञसिद्धयर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति तदेव ग्राह्यम्। कुतः? तैर्विना तदसिद्धेः' (पृ० ६६) इति, तदपि तुच्छम्, दृष्टार्थतायां परिमाणाकारादिविधानस्य नैरर्थक्यापत्तेः। गणितादिशिक्षार्थं विद्यालयेषु व्यवस्थोपपत्तेश्च। पुण्यं पापं च त्वद्रीत्या होमेनापि नोत्पद्यते, दृष्टार्थताया एव सर्वकर्मणामङ्गीकारात्। प्रणीतायामपि जलानयनादिकार्योपयोगिता वर्तत एव।

होता है, वैसा अन्य का नहीं। इससे यह निश्चय हुआ कि जहाँ-जहाँ सत्य दीखता है और सुनने में आता है, वहाँ-वहाँ वेदों में से ही फैला है और जो-जो मिथ्या है, सो सो वेद से नहीं, किन्तु वह जीवों की ही कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है' (पृ० ६५), क्योंकि लौकिक वचन भी अबाधित होने पर सत्य से दूर नहीं जाते। जो विषय अबाधित है, वही निरतिशय सत्य है। इससे भिन्न निरतिशय सत्य की और कोई व्याख्या नहीं हो सकती। पारमार्थिक, व्यावहारिक, प्रातिभासिक के भेद से वेदान्ती संमत सत्य की त्रिविधता को आप मानते नहीं। उस पद्धति से भी यज्ञ को व्यावहारिक सत्यता ही है, पारमार्थिक सत्यता केवल शुद्ध ब्रह्म की मानी गई है।

'जिनमें सब सत्य विद्याओं का विधान है, उसके अर्थ को जानने वाले केवल आप ही हैं' (पृ० ६५) इत्यादि मनुस्मृति के वचनों को उद्धृत करना भी निरर्थक है, क्योंकि वेद चार वर्ण, चार आश्रम, भूत, वर्तमान, भविष्य आदि के बोधक हैं, वेदशास्त्र सनातन हैं, इसमें वैदिकों को कोई आपत्ति नहीं है।

आगे 'क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदि की रचना, प्रणीता, प्रोक्षणी, चमस आदि पात्रों की स्थापना, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का वरण करना, यह सब करना चाहिये' ऐसा प्रश्न करके 'जो-जो युक्तिसिद्ध है, आवश्यक है, सो सो ही करने के योग्य है। वेदि बनाकर उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न-भिन्न परमाणु होकर वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है। ऐसे ही वेदि में अग्नि तेज होने और होम का साकल्य इधर-उधर बिखरने से रोकने के लिये वेद अवश्य बनानी चाहिये। वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणित विद्या जानी जाती है, तथा उसमें से जो ईंटों की संख्या दी गई है, उसमें गणित विद्या समझी जाती है। इसी तरह दूसरे पदार्थों का भी कोई न कोई प्रयोजन है ही। परन्तु इस प्रकार से प्रणीता पात्र रखने से पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है, इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है। यहाँ पाप का कोई निमित्त नहीं है। किन्तु जिस प्रकार के करने में यज्ञ का कार्य अच्छा बने, वही करना आवश्यक है, अन्य नहीं' (पृ० ६६-६७) यह जो कहा गया है, यह भी सारहीन है, क्योंकि इन सबका यदि दृष्ट ही प्रयोजन माना जाय तो उस अवस्था में परिमाण, आकार आदि का विधान निरर्थक हो जायगा। गणित आदि की शिक्षा के लिये तो विद्यालयों में व्यवस्था हो जायगी। आपने सभी अनुष्ठानों का दृष्ट प्रयोजन ही माना है, ऐसी अवस्था में आपके मत से होम से पुण्य, पाप आदि की निष्पत्ति नहीं होगी। प्रणीता की भी जल आदि को ले आने में उपयोगिता है ही।

वस्तुतस्तु त्वयाप्यग्निहोत्रादिकं कर्म शुभावहमिति न वेदितुं शक्यम्, प्रमाणाभावात्। ननु तत्र प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्, तथात्वे शास्त्रवैयर्थ्यापातात्। नह्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासकारीर्यादिकर्मानुष्ठानेन तत्तत्स्वरूपफलभेदादिकमिन्द्रियैः प्रत्यक्षीकर्तुं शक्यते, होमादेः सर्वत्राविशेषात्। विधिवाक्येषु तु स्वर्गपशुपुत्रादिकं फलं तैरुत्पद्यत इति ज्ञायते ; कर्मतत्फलानां कार्यकारणभावोऽन्वयव्यतिरेकादिभिर्जन्मशतैरपि न ज्ञातुं शक्यते। अत एव नानुमानमपि तत्र प्रमाणम्, अनुमानस्यापि प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। तस्मादग्निहोत्रादिकर्मसु वैदिकाः शब्दा एव शरणमिति मन्तव्यम्। तथात्वे च प्रणीतास्थापनादावपि शास्त्रमेव प्रमाणम्। पुण्यपापयोरतीन्द्रियत्वादेव तदभावेऽपि प्रत्यक्षादयो न क्रमन्ते। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादिश्रुतिवचनैरेव श्रुतार्थापत्त्याऽदृष्टपुण्यपापादिकमपि कल्पयितुं शक्यते। कर्मणामाशुतरविनाशिनां कालान्तरभाविफलानां च कार्यकारणभावानुपपत्त्या कर्मजन्यमदृष्टं किमपि तदुपपादकं व्यापाररूपं कल्पनीयम्। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूपव्यापारस्य दण्डघटयोर्मध्ये भ्रमिरूपस्येव कल्पने बाधानुपपत्तेः। प्रणीतादिस्थापनकुशादिस्तरणादीनामपि विहितत्वाददृष्टमेव तत्र फलं कल्पनीयम्, तत्र युक्तेः प्रवेशासम्भवात्। प्रत्यक्षादीनां तत्राप्रवेश एव गुणो न दूषणम्। अन्यथा प्रत्यक्षादिगम्यत्वेऽज्ञातज्ञापकत्वाभावेनाप्रामाण्यमेव स्याद् वेदस्य ज्ञातज्ञापकत्वात्।

यद्यप्यग्निहोत्रादिकरणेनाग्निप्रज्वालनेन शीतान्धकारादिनिवृत्तिरपि भवति, तथापि न तदग्निहोत्रादिफलम्, तस्यान्यथापि सिद्धत्वात्। तथैवाग्निहोत्रहोमेन सौगन्ध्योक्त्या दौर्गन्ध्यनिवृत्तिरंशतो वायुशुद्ध्यादिकमपि

वस्तुतस्तु आप भी प्रमाण के अभाव में यह जानने में असमर्थ हैं कि अग्निहोत्र आदि कर्म सुख को देने वाले हैं। यदि कहा जाय कि इसमें तो प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, तब शास्त्र की क्या आवश्यकता रहेगी, फलतः शास्त्र व्यर्थ हो जायगा। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, कारीरी याग आदि कर्मों के अनुष्ठान से उनके विभिन्न फलों का स्वरूप इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन सबमें होम एक सा ही किया जाता है। विधि वाक्यों से ही यह मालूम होता है कि स्वर्ग, पशु, पुत्र आदि विभिन्न फल इनसे उत्पन्न होते हैं। कर्म का और उसके फल का कार्यकारणभाव संबन्ध सौ जन्म में भी अन्वय-व्यतिरेक आदि से नहीं जाना जा सकता। इसीलिये इसमें अनुमान प्रमाण भी प्रवृत्त नहीं होगा। अनुमान भी तो प्रत्यक्ष के आधार पर ही प्रवृत्त होता है। अतः अग्निहोत्र आदि कर्मों के लिये वैदिक शब्दों की ही प्रमाण के रूप में शरण लेनी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में प्रणीता के स्थापन के लिये भी शास्त्र को ही प्रमाण मानना पड़ेगा। पुण्य और पाप अतीन्द्रिय हैं, अतः इनके अभाव के बोध में भी प्रत्यक्ष आदि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। 'स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र का अनुष्ठान करे' इत्यादि श्रुति वचनों से ही श्रुतार्थापत्ति के द्वारा अदृष्ट पुण्य-पाप आदि की भी कल्पना की जा सकती है। कर्म आशु (शीघ्र) विनाशी है, फल बाद के काल में निष्पन्न होने वाला है, अतः इनका कार्यकारणभाव नहीं बन सकता, अतः इनके संबन्ध को जोड़ने वाला व्यापाररूप कर्मजन्य अदृष्ट कल्पित करना पड़ेगा। व्यापार का लक्षण यह किया जाता है कि वह जिस वस्तु से पैदा होता है, उससे पैदा होने वाली वस्तु के जन्म में भी सहायक होता है। जैसे कि दण्ड और घट के बीच में भ्रमण रूप व्यापार की कल्पना में कोई बाधा नहीं होती। भ्रमि दण्ड से उत्पन्न होती है और दण्ड से उत्पन्न होने वाले घट की उत्पत्ति में भी सहायक होती है, इसी तरह अदृष्ट रूप व्यापार कर्म से उत्पन्न होता है और वह कर्म से उत्पन्न होने वाले फल की उत्पत्ति में सहायक होता है। प्रणीता का स्थापन, कुश का आस्तरण आदि भी शास्त्र विहित हैं, अतः इनका भी फल अदृष्ट ही माना जायगा। यहाँ पर युक्ति का प्रवेश नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष आदि की जो यहाँ दाल नहीं गलती, यह उसका भूषण ही है, दूषण नहीं। यदि इसको प्रत्यक्षादिगम्य मान लिया जाय, तो इसमें अज्ञात की ज्ञापकता के अभाव में अप्रामाणिकता दोष वेद के ऊपर भी आपतित होगा। क्योंकि अदृष्ट को प्रत्यक्षादि गम्य मान लेने पर वेद की ज्ञातज्ञापकता ही होगी, अज्ञात की ज्ञापकता नहीं।

अग्निहोत्र करने के लिये जो अग्नि जलाई जाती है, उससे शीत, अन्धकार आदि की भी निवृत्ति होती है, किन्तु इनको अग्निहोत्र का फल नहीं माना जाता, क्योंकि शीत, अन्धकार आदि की निवृत्ति अन्य तरीकों से भी हो सकती है। इसी तरह अग्निहोत्र होम आदि से सुगन्धि के फैलने से दुर्गन्ध की निवृत्ति और कुछ अंशों में वायु की शुद्धि भी होती ही है, तो भी वह अग्निहोत्र का फल

भवत्येव, तथापि न तदग्निहोत्रफलम्, तस्यान्यथापि सिद्धत्वात्। कस्तूरी-केसरादिकं तु नाग्निहोत्रादौ हूयते, तस्याविहितत्वात्। घृतादीनां विहितानामेव हवनं भवति। फलं तु विधिबोधितं स्वर्गादिकमेव, तस्यैवानन्यलभ्यत्वात्। न दृष्टार्थफलत्वमग्निहोत्रादीनां कर्मणां कल्पनीयम्, वेदप्रामाण्यव्याघातात्। अत एव भट्टपादैः 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १।३।३) इत्यत्रोक्तम्—

लोकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत् कर्म विद्यते। यावत्किञ्चिददृष्टार्थं तद् दृष्टार्थं हि कुर्वते॥
वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव ते विदुः। अल्पेनापि विरोधेन विरोधं योजयन्ति ते॥

तेभ्यश्चेत् प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित्। न च कञ्चन मुञ्चेयुर्धर्ममार्गं हि ते तदा॥
प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः। नाभिद्रवन्ति ते तावत् पिशाचा वा स्वगोचरे॥

क्वचिद्दत्तेऽवकाशे हि स्वोत्प्रेक्षालब्धधामभिः। जीवितुं लभते कस्तैस्तन्मार्गपतितः स्वयम्॥
तस्माल्लोकायतस्थानां धर्मनाशनशालिनाम्। एवं मीमांसकैः कार्यं न मनोरथपूरणम्॥ इति।

मन्ये दयानन्दादीन् सामाजिकानेवाभिलक्ष्य सर्वमेतदुक्तं स्यात्।

यदपि 'यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते ?' इत्याशङ्क्योक्तम्—'याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि—'अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।' (वा० सं० १४।२०) इति, यच्चैतद् व्याख्यानम्—'अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम्, गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते, तेषां कर्मकाण्डविधेर्द्योतकत्वात्। यस्मिन् मन्त्रेऽग्निपदार्थप्रतिपादनं वर्तते, स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते। एवमेव वातः सूर्यश्चन्द्रमा वसवो रुद्रा आदित्या

नहीं हो सकता, क्योंकि ये कार्य अन्य तरीकों से भी पूरे हो सकते हैं। कस्तूरी, केसर आदि का हवन अग्निहोत्र में नहीं होता, क्योंकि ये पदार्थ यहाँ विहित नहीं हैं। घृत आदि विहित पदार्थों से ही हवन संपन्न होता है। उनका फल भी विधि से बोधित स्वर्गादि ही है, क्योंकि अनन्यलभ्य हैं, अर्थात् उसकी अवगति अन्य किसी प्रमाण से नहीं होती। अग्निहोत्र आदि कर्मों का दृष्ट फल मानने पर वेद का प्रामाण्य नष्ट हो जायगा। इसीलिये 'विरोधे त्वनपेक्षं०' इस मीमांसा सूत्र की व्याख्या करते हुए भट्ट कुमारिल ने कहा है कि—'मूर्ख लोकायतिकों का इसके सिवाय और कोई काम नहीं है कि वे जो कुछ अदृष्टार्थ हैं, उसका दृष्ट प्रयोजन बताते रहते हैं। उनके मत से वैदिक कर्मों का भी दृष्ट ही प्रयोजन है। ये लोग थोड़ी सी विरुद्ध बात को अपने पक्ष में लेकर उसका बतंगड़ बना देते हैं। यदि मीमांसक गण इनको थोड़ी सी छूट दे देंगे तो ये धर्म की किसी भी बात को अपने चंगुल से नहीं छोड़ेंगे। बन्दरों को और पिशाचों को जब तक छूट कर खेलने का अवसर नहीं मिलता, तभी तक व्यक्ति उनसे बचा रहता है। यदि इनको थोड़ा सा भी अवसर मिल गया तो ये छूट कर खेलने लगते हैं। उस समय जो इनकी दृष्टि में आता है, जो इनके रास्ते में पड़ जाता है, जो जगह इनको अपनी सूझ-बूझ भिड़ाने को मिलती है, उसके आगे किसी का जीना दूभर हो जाता है। इसलिये मीमांसकों को चाहिये कि वे देखें कि लोकायत मत में स्थित, धर्म के नाश में लगे हुए ऐसे व्यक्तियों के मनोरथ पूरे न होने पावे।' लगता है मानों दयानन्द जैसे व्यक्तियों को लक्ष्य करके ही ये बातें कही गई हों।

'यज्ञ में देवता शब्द से किसका ग्रहण होता है ?' ऐसी आशंका करके 'जो जो वेद में कहे गये हैं, उन्हींका ग्रहण होता है। इसमें 'अग्निर्देवता०' इत्यादि यजुर्वेद का मन्त्र प्रमाण है। इसके अनुसार अग्नि, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत्, विश्वेदेव, बृहस्पति, इन्द्र और वरुण ये देवता हैं।' वहाँ पर इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञ क्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेद मन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं, वे ही देवता कहलाते हैं। इन वेद मन्त्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है। इसमें यह कारण है कि जिन जिन मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द हैं, उन उन मन्त्रों का और उन उन शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है। इसी तरह से सूर्य, चन्द्र, वसु, रुद्र, आदित्य,

मरुतो विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देनोच्यन्ते। तेषां तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्, परमाप्तेश्वरेण कृतसङ्केतत्वाच्च' (पृ० ६७) इति स्वयं कृतम्, तदपि मन्दम्, 'अग्निर्देवता' इत्यादिमन्त्रपदैः प्रसिद्धाग्न्यादीन् शब्दशक्तिसमुपस्थितानुपेक्ष्य लक्षणया तद्बोधकमन्त्रपर्यन्तानुधावनस्य निर्मूलत्वात्। किञ्च, यज्ञे वेदोक्तानामेव देवानां ग्रहणं नान्यासामित्यस्मिन्नर्थे एव प्रमाणमुपस्थापनीयम्। न चास्मिन् मन्त्रे तादृशार्थं उपलभ्यते। न च भूमिकाप्रदर्शितो मन्त्रार्थो युक्तः, लाक्षणिकत्वेन तस्यापास्तत्वात्।

किञ्च, त्वद्रीत्या देवतापदैस्तत्तन्मन्त्रबोधनं व्यर्थमेव, त्वया यज्ञे वेदमन्त्रोपादानस्येश्वरस्तवनमन्त्र-रक्षणपरमात्मास्तित्वबोधादिफलकत्वेनोक्तत्वात्। किञ्च, गायत्र्यादिच्छन्दसामपरपर्याया देवताशब्दा इति वचनमपि रिक्तमेव, निर्मूलत्वात्। न च छन्दसां कर्मकाण्डादिविधिद्योतकत्वमेव तेषामग्न्यादिदेवतापरपर्यायत्वसाधकमिति वाच्यम्, त्वदुक्तहेतोरनैकान्तिकत्वेनाभाससमानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि—गायत्र्यादीनि च्छन्दांस्यग्न्यादिदेवता-ख्यानि, कर्मकाण्डादिविधिद्योतकत्वाद् इति त्वनुमानं न सम्भवति, कुतः? वेदगततत्तच्छब्देषु कर्मकाण्डविधिद्योतकत्वे सत्यप्यग्न्यादिदेवताख्यत्वाभावात्। हेतुरस्तु साध्यं मा भूत्तर्हि किं दूषणमिति पर्यनुयोगे व्यभिचारशङ्कानिवर्तक-तर्काभावेन हेतोरप्रयोजकत्वाच्च।

यत्तु—'यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते' (पृ० ६७) इति, तदपि तुच्छम्, प्रसिद्धिविरोधात्। लोके तु उष्णस्पर्शाश्रयः कश्चित् तेजस्त्वावच्छिन्नो द्रव्यात्मको वस्तुविशेषोऽग्नि-रित्युच्यते। वेदेऽपि—'अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः, अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति। 'त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते' इति शाकपूणिः। इतादक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्।

मरुत्, विश्वेदेव, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण इन शब्दों से युक्त मन्त्र देवता शब्द से कहे जाते हैं। मन्त्रों का देवता नाम इसलिये है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है, जिनमें परमात्मा ने उनको संकेतित किया है' (पृ० ६७), यह कथन भी लचर है, क्योंकि 'अग्निर्देवता' इत्यादि मन्त्र के पदों से शब्द की शक्ति से समुपस्थित प्रसिद्ध अग्नि की उपेक्षा करके लक्षणा से अग्नि आदि के के मन्त्रों तक की दौड़ लगाना बेकार हैं, निर्मूल है। यज्ञ में वेदोक्त देवताओं का ही ग्रहण होता है, दूसरे देवताओं का नहीं, इसमें भी प्रमाण बताना पड़ेगा। इस मन्त्र में तो ऐसी बात नहीं कही गई है। भूमिका में किया गया आपका अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि मुख्यार्थ के रहते लाक्षणिक अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है।

आपके मत से देवता पद से उस उस मन्त्र का बोधन भी व्यर्थ ही है, क्योंकि आपने यज्ञ में वेद मन्त्रों के पाठ का प्रयोजन ईश्वर की स्तुति, मन्त्रों की रक्षा, परमात्मा के अस्तित्व का बोध आदि बताया है। गायत्री प्रभृति छन्दों को ही देवता बताना भी बिना प्रमाण के व्यर्थ है। छन्द कर्मकाण्ड आदि की विधि को बताने वाले हैं, अतः स्वभावतः ये अग्नि प्रभृति देवताओं के ही नाम हैं, यह कथन भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि आपका कहा गया हेतु अनैकान्तिक है, इसका मिथ्या कल्पना से अधिक महत्त्व नहीं है। गायत्री प्रभृति छन्द अग्नि आदि देवता नाम वाले हैं, क्योंकि ये कर्मकाण्ड आदि विधि के द्योतक हैं, यह अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि वेदगत उन-उन शब्दों में कर्मकाण्ड की विधि की द्योतकता होते हुए भी अग्नि आदि देवता के नाम की द्योतकता नहीं है। हेतु के रहते हुए भी साध्य के न रहने पर क्या दोष है? इस प्रश्न के किये जाने पर उसका यही उत्तर है कि व्यभिचार की आशंका के निवारक तर्क के अभाव में हेतु कुछ भी सिद्ध करने में असमर्थ है।

'जिन-जिन मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द हैं, उन-उन मन्त्रों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है' यह कथन भी प्रसिद्धि के विपरीत है। लोक में उष्ण स्पर्श वाला तेजस्त्व से अवच्छिन्न द्रव्यात्मक वस्तुविशेष अग्नि शब्द का अर्थ माना गया है। वेद में भी—'अग्नि शब्द किस प्रकार निष्पन्न होता है? यह अग्रणी होता है, यज्ञ में इसका पहला स्थान होता है, यह अपने को प्रधान बनाकर बाकी सबको अपना अंग बना लेता है। स्थौलाष्ठीवि आचार्य का मत है कि यह अक्नोपन होता है, अर्थात् अग्नि किसी को क्नोपन, स्नेहन से युक्त नहीं होने देता, सब पदार्थों को रूक्ष बना देता है। शाकपूणि आचार्य का मत है कि अग्नि शब्द की निरुक्ति तीन

स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः' (नि० ७।१४) इत्यादिनैरुक्तोक्तिभिः, 'प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे। मरुद्भिरग्न आगहि' (ऋ० सं० १।१९।१) इत्यादिमन्त्रैश्च कश्चिच्चेतनो देवोऽग्निशब्दार्थो भाति। 'अग्निमीळे' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादिषु च भौतिक एवाग्निर्गृह्यते, अत्र चेतनोऽपीति केचित्, 'अग्निरप्यदितिरुच्यते' इत्येकादशे यास्कः। तत्र प्रकरणादेव तत्तदर्थो ग्राह्यः। यथा—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इति वाक्यघटितस्य मन्त्रस्य सूर्य एव देवताभिमता तवापि नाग्निरिति, एवमेव 'वातः', 'सू ः', 'चन्द्रमाः' इत्यादीनामपि ज्ञेयम्।

किञ्च, त्वयापि स्ववेदव्याख्याने प्रत्यक्षाग्न्यादय एव देवतात्वेन वर्णिताः। तथाहि पदार्थः—'अग्निः' प्रकटः पावकः (देवता) देवपथदिव्यगुणत्वात्, 'वातः' पवनः (देवता), 'सूर्यः' सविता, 'चन्द्रमाः' इन्दुः (देवता), 'वसवः' वसुसंज्ञकाः प्रसिद्धाग्न्यादयोऽष्टौ देवताः, 'रुद्राः प्राणादयः' एकादश देवताः, आदित्या द्वादश वसुरुद्रादिसंज्ञका विद्वांसश्च देवताः, मरुत इति ऋत्विङ्नाम (निघण्टु ३।१८), विश्वेदेवाः सर्वे देवा दिव्यगुणयुक्ता मनुष्याः पदार्थाश्च देवताः, बृहस्पतिः बृहतो वचनस्य ब्रह्माण्डस्य वा पालकः। अन्वयः—हे स्त्रीपुरुषाः! युष्माभिर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता सम्यग्विज्ञेयाः। भूमिकायां त्वग्न्यादिशब्दघटितमन्त्राणां देवतात्वमुक्तम्, तच्च भ्रान्तिमूलकमेव।

महीधराचार्येण तु विनियोगमनुसृत्यायं मन्त्र एवं व्याख्यातः—कर्मणि श्येनाद्याकारतया प्रकृते इष्टकाचयने तदङ्गभूतमिष्टकोपधानं कर्म त्रिभिर्मन्त्रचयैराह—माच्छन्द इत्यादिभिः। षट्त्रिंशत् छन्दस्या उपदधाति। छन्द एवोपधानो मन्त्र आसामिष्टकानामिति छन्दस्या इष्टकाः षट्त्रिंशदुपदध्यादित्यर्थः। माच्छन्द इत्यादिमन्त्र-

शब्दों से होती है। इत शब्द से, अक्त अथवा दग्ध शब्द से तथा नीत शब्द से अर्थात् इत शब्द से अकार को, अक्त अथवा दग्ध शब्द से गकार को, तथा नीत शब्द से इकार लेकर अग्नि शब्द बनता है' इस निरुक्त की उक्ति के अधार पर तथा 'प्रति त्यं' इत्यादि ऋग्वेद के मन्त्र के आधार पर कोई चेतनामय देवविशेष अग्नि शब्द का अर्थ प्रतीत होता है। 'अग्निमीळे' इत्यादि मन्त्रों में भौतिक अग्नि का ग्रहण होता है और यहाँ पर चेतन भी गृहीत होता है, ऐसा कुछ लोगों का कथन है। 'अग्नि को भी अदिति कहा जाता है' ऐसा वचन निरुक्तकार यास्क ने ग्यारहवें अध्याय में कहा है। इन स्थलों में प्रकरण के अनुसार ही अर्थ गृहीत होता है। जैसे कि 'अग्नि हिम की दवा है' इस मन्त्र में अग्नि शब्द का अर्थ सूर्य आप भी मानते हैं। इसी तरह वात, सूर्य, चन्द्रमा आदि के विषय में भी समझना चाहिये।

आपने भी अपने वेदभाष्य में प्रत्यक्ष अग्नि आदि को ही देवता माना है। जैसे कि अग्नि पद का अर्थ इस प्रकार है—अग्नि प्रकट पावक देवता को कहते हैं। इसमें दिव्य गुण विद्यमान है। वात पवन देवता है। सूर्य सविता, चन्द्रमा इन्दु देवता, वसु संज्ञक प्रसिद्ध अग्नि आदि आठ देवता, रुद्र प्राणादि ग्यारह देवता, आदित्य द्वादश और वसु, रुद्र आदि संज्ञक विद्वान् देवता, निघण्टु के अनुसार मरुत् ऋत्विक् का नाम है, विश्वेदेव सभी देव अर्थात् दिव्य गुण युक्त मनुष्य और पदार्थ देवता है, बृहस्पति महान् वचन और ब्रह्माण्ड का पालक है। इस मन्त्र का अन्वय इस प्रकार है कि हे स्त्री-पुरुषों! आप लोगों को अग्नि देवता, वात देवता, सूर्य देवता, चन्द्रमा देवता, वसु देवता, रुद्र देवता, आदित्य देवता, मरुत् देवता, विश्वेदेव देवता, बृहस्पति देवता, इन्द्र देवता, वरुण देवता का भली भांति ज्ञान करना चाहिये। भाष्य में यह अर्थ किया गया है और भूमिका में अग्नि प्रभृति शब्द घटित मन्त्रों को देवता कहा गया है। यह भ्रान्ति-मूलक ही प्रतिपादन है।

आचार्य महीधर ने विनियोग का अनुसरण कर इस मन्त्र की व्याख्या इस तरह की है—श्येन पक्षी आदि के आकार का इष्टका (इंट) चयन रूप कर्म प्रकृत है। उसका अङ्गभूत इष्टका (इंट) उपधान रूप कर्म (माच्छन्द प्रभृति) तीन मन्त्रों में प्रतिपादित है। पहले छत्तीस छन्दस्य इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। छन्द ही जिनका उपधान मन्त्र है, ऐसी इंटों का नाम छन्दस्या है, इनकी संख्या ३६ है। 'माच्छन्द' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ 'अग्निदेवता' इस मन्त्र के अर्थ के लिये उपयोगी है, अतः उसको

स्यार्थोऽग्निर्देवतेत्यादिमन्त्रोपयोगित्वादत्र समुद्धरणीयः। तथाहि—'छन्दस्या द्वादश द्वादशाप्ययेषु माच्छन्द' (का० श्रौ० १७।९।८)। अप्ययेषु पक्ष-पुच्छात्मसन्धिषु त्रिषु प्रत्येकं द्वादश छन्दस्यासंज्ञा इष्टका उपदधातीति सूत्रार्थः। षट्त्रिंशद्यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। मोयत इति मा, मितश्छादनाच्छन्दोऽयं लोकः। हे इष्टके! त्वं तद्रूपासि, 'अयं वै लोको माऽयं लोको मित इव' (श० ८।३।३।५) इति श्रुतेः। एवं च माच्छन्द इतीदमेकं यजुः। अस्य देवता लिङ्गोक्तत्वाद् मा एव, अयं लोक एवेत्यर्थः। प्रथमेष्टकोपधाने चास्य विनियोगः। द्वितीयं यजुराह—अस्माल्लोकात् प्रमीयत इति प्रमा अन्तरिक्षलोकरूपासि। 'अन्तरिक्षलोको वै प्रमा अन्तरिक्षलोको ह्यस्माल्लोकात्प्रमित इव' (श० ८।३।३।५) इति श्रुतेः। एवं च प्रमाच्छन्द इति द्वितीयं यजुः। अस्य द्वितीयेष्टकोपधाने विनियोगः। लिङ्गोक्तत्वाच्च प्रमा अन्तरिक्षलोक एव देवता। तथा च षट्त्रिंशत्संख्याकेन यजुषा षट्त्रिंशच्छन्दस्यानामिष्टकानामुपधानमस्मिन् कर्मणि वक्ष्यति। तत्र सर्वत्रोक्तप्रक्रिययैव देवताविनियोगादिनिश्चयः कार्यः।

प्रतिमा द्यौः, सा ह्यन्तरिक्षे प्रतिमिता, 'असौ वै लोकः प्रतिमैष ह्यन्तरिक्षलोके प्रमित इव (श० ८।३।३।५) इति श्रुतेः। अस्त्रीवयः अस्यते क्षिप्यत इत्यस्त्रि, अस्त्रि पतनशीलं वयोऽन्नं यस्मात्तदस्त्रिवयः। दीर्घश्छान्दसः। अस्त्रीवयः लोकत्रयरूपं छादनाच्छन्दस्तद्रूपासि। 'यदेषु लोकेषु अन्नं तदस्त्रीवयोऽथो यदेभ्यो लोकेभ्योऽन्नं स्रवति तदस्त्रीवयः' (श० ८।३।३।५) इति श्रुतेः। हे इष्टके! त्वं पङ्क्त्युष्णिग्बृहत्यनुष्टुब्विराड्गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीरूपासीत्यर्थः। इत्यनेन द्वादश छन्दस्या उपदध्यादिति। द्वादश च पृथिवीछन्द इत्यादिना। अस्यार्थः—पृथिव्यादिदेवत्यानि यानि छन्दांसि तद्रूपासि। समाः संवत्सराः। स्पष्टमन्यत्। 'यान्येतद्देवत्यानि छन्दांसि तान्येवैतदुपदधाति' (श० ८।३।३।६) इति श्रुतेः। एवं द्वादश छन्दस्या इष्टका अग्निर्देवतेत्यादिनोपदध्यात्। अग्निर्देवतेत्येकेन यजुषा

भी यहाँ बताना पड़ेगा। 'छन्दस्या द्वादश०' इस कात्यायन श्रौतसूत्र में उक्त मन्त्रों का विनियोग प्रदर्शित है कि अप्यय अर्थात् पक्ष, पुच्छ, आत्मसन्धि इन तीन स्थानों में से प्रत्येक में बारह बारह छन्दस्य संज्ञक इष्टकाओं का उपधान करना चाहिये। यहाँ पर ३६ यजुर्मन्त्र हैं। इनके देवता लिंग से प्रतीत होते हैं। जो मापा जाता है, उसको मा कहते हैं। छादन से मापे जाने के कारण यह लोक छन्द है। हे इष्टके! तुम लोक रूप हो। 'यह लोक मा है, मापा हुआ है' यह शतपथ श्रुति है। इस प्रकार 'माच्छन्दः' यह एक यजुर्मन्त्र है। इस मन्त्र का लिंगोक्त देवता मा अर्थात् यह लोक ही है। इसका विनियोग प्रथम इष्टका के उपधान में है। दूसरा यजुर्मन्त्र 'प्रमाच्छन्दः' यह है। इस लोक से मापी जाने वाली प्रमा, अर्थात् अन्तरिक्ष लोक रूप तुम हो। 'अन्तरिक्ष लोक प्रमा है, अन्तरिक्ष लोक इस लोक से प्रमित होता है' यह शतपथ का वचन है। इस प्रकार यह दूसरा यजुर्मन्त्र है। इसका विनियोग दूसरी इष्टका के उपधान में है। लिंगोक्त प्रमा अर्थात् अन्तरिक्ष लोक ही इसका देवता है। इसी तरह से छत्तीस यजुर्मन्त्रों के द्वारा छत्तीस छन्दस्य इष्टकाओं का उपधान यहाँ कहा गया है। यहाँ सब जगह ऊपर बताई गई प्रक्रिया से ही देवता, विनियोग आदि का निश्चय होता है।

प्रतिमा आकाश है। वह अन्तरिक्ष से प्रतिमित है। 'आकाश लोक प्रतिमा है, क्योंकि यह अन्तरिक्ष लोक में प्रमित है' यह शतपथ श्रुति है। 'अस्त्रीवयः' यजुर्मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—जिसका असन अर्थात् क्षेपण होता है, उसको अस्त्रि कहते हैं, अस्त्रि अर्थात् जिससे अन्न पतनशील होता है, उसको अस्त्रिवय कहा जाता है। इकार का दीर्घ छन्द के कारण हो जाता है। इस प्रकार अस्त्रीवय शब्द निष्पन्न होता है। अस्त्रीवय छन्द लोकत्रय के रूप का छादक है, इसलिये तुम भी उसी रूप वाली हो। 'जो इन लोकों में अन्न है, वह अस्त्रीवय है और इन लोकों से जो अन्न पतनशील है, वह भी अस्त्रीवय है' यह श्रुति वचन है। हे इष्टके! तुम पंक्ति, उष्णिक्, बृहती, अनुष्टुप्, विराट्, गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्द रूप हो। इस प्रकार इस प्रथम मन्त्र से बारह छन्दस्य इष्टकाओं का उपधान करे। इसी तरह 'पृथिवीच्छन्द' इत्यादि मन्त्र से बारह का उपधान करे। इसका अर्थ इस प्रकार है—पृथिवी प्रभृति देवता वाले छन्द, तद्रूप तुम हो। सम शब्द का अर्थ संवत्सर है। बाकी का अर्थ स्पष्ट है। 'जो छन्द इन देवताओं वाले हैं, तद्रूप वाली ही इन इष्टकाओं का उपधान करते हैं' यह शतपथ का वचन इसमें प्रमाण है। इसी तरह बारह छन्दस्य इष्टकाओं का उपधान 'अग्नि-

एभ्रेः, वातो देवतेति द्वितीयेन यजुषा द्वितीया, सूर्यो देवतेति तृतीया। एवं सर्वत्राग्रेऽपि। मन्त्रस्यार्थः—इष्टके! त्वमग्न्यादिरूपासि, त्वामुपदधामीति सर्वत्र शेषः। अग्न्यादीनां देवतात्वं प्रसिद्धम्। 'अग्निर्देवता वातो देवतेत्येता वै देवताश्छन्दांसि। तान्येवैतदुपदधाति' (श० ८।३।३।६) इति श्रुतेः। एवं त्रिर्द्वादशकृत्वः षट्त्रिंशत्संख्याकाश्छान्दस्या एभिर्यजुभिरुपदध्यादिति कर्माङ्गभूते उपधानकर्मण्येवैषामुक्तप्रक्रियया विनियोगः। तामेतां प्रक्रियामज्ञात्वैव दयानन्दः 'अग्न्यादिशब्दघटितमन्त्रा एव देवता' इत्युक्तवान्। यद्वा 'मीमांसका मन्त्ररूपामेव देवतां मन्यन्ते, इत्या-कर्ण्यैव तथोक्तवान्।

यच्च देवताशब्देन वेदे मन्त्रग्रहणे निरुक्तप्रमाणमाह—'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रा वेदे' (नि० १।२), 'अथातो दैवतम्—तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः—परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च' (नि० ७।१) (पृ० ६८) एतानि वाक्यानि वेदे देवताशब्दस्य मन्त्रवाचकत्वे प्रमाणरूपेणोपन्य-स्तानि। तदर्थोऽपि तत्रैवोक्तः—'कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानाञ्च सम्पत्तिः सम्पन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते। तथा च कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्षो भवति, येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपि मन्त्रो मन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्यः' (पृ० ६८) इति, तच्च 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' इत्युक्तिमेवानुहरति, सम्पत्तिशब्दस्य तादृशार्थत्वे प्रमाणाभावात्।

देवता' इस तृतीय मन्त्र से करे। 'अग्निर्देवता' इस पहले यजुर्मन्त्र से पहली का, 'वातो देवता' इस दूसरे यजुस् से दूसरी का, 'सूर्यो देवता' इस तीसरे यजुस् से तीसरी इष्टका का, इसी तरह बारहों इष्टकाओं का उपधान करे। मन्त्र का अर्थ यह हुआ—हे इष्टके! तुम अग्नि प्रभृति देवताओं के रूप वाली हो। 'तुम्हारा उपधान करता हूँ' यह वाक्य सब जगह जोड़ देना चाहिये। अग्नि प्रभृति देवता के रूप में प्रसिद्ध हैं। 'अग्नि देवता, वात देवता प्रभृति देवता वाली ये छन्दस्य इष्टकाएं हैं, इन्हीं का उपधान करते हैं' यह शतपथ श्रुति इसमें प्रमाण है। इस तरह तीन बार बारह बारह करके छत्तीस छन्दस्य इष्टकाओं का उपधान इन छत्तीस यजुर्मन्त्रों से यहाँ विहित है। इसलिये कर्म के अंगभूत उपधान कर्म में ही इन सबका उक्त प्रक्रिया से विनियोग होता है। इस पूरी प्रक्रिया को बिना जाने ही दयानन्द ने कह दिया कि अग्नि प्रभृति शब्दों से घटित मन्त्र ही देवता है। लगता है कि 'मीमांसक देवता को मन्त्र रूप मानते हैं' इस बात को बिना समझे, खाली सुन कर ही दयानन्द ने यह बात कह दी।

वेद में देवता शब्द से मन्त्र का ग्रहण होता है, इस विषय में दयानन्द ने निरुक्त का प्रमाण दिया है—'कर्म की संपन्नता करने वाला मन्त्र वेद में देवता कहलाता है', 'अब दैवत प्रकरण प्रारम्भ होता है। अग्नि प्रभृति देवपत्नी पर्यन्त जिन नामों से प्रधानतया देवताओं की स्तुति की जाती है, उनका प्रतिपादक प्रकरण दैवत कहलाता है। इसमें देवतावाचक पदों को अभिधान, व्युत्पत्ति, स्तुति, उदाहरण, निर्वचन आदि के द्वारा संक्षिप्त परीक्षा की जाती है। ऋषि जिस वस्तु की कामना से जिस देवता की स्तुति से जिस अर्थ की सिद्धि होगी, इस बात का विचार कर जिस मन्त्र का विधान करता है, वही उसका देवता होता है। ये मन्त्र तीन प्रकार के हैं—परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत तथा आध्यात्मिक' (पृ० ६८)। इन वैदिक वाक्यों में देवताशब्द मन्त्र का वाचक है, इस विषय में प्रमाण के रूप में उपस्थित किया गया है। इसका अर्थ भी वहाँ इस प्रकार किया गया है—'वेद मन्त्रों से अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सब यज्ञों की तथा शिल्पविद्या और उनके साधनों की संपत्ति अर्थात् प्राप्ति होती है और कर्मकाण्ड को लेकर मोक्ष पर्यन्त सुख मिलता है तथा परमेश्वर की प्राप्ति होती है, इसी हेतु से उनका नाम देवता है' (पृ० ६८), यह कथन भी 'मुंह है तो कहने में क्या हर्ज है कि हर्रे दस हाथ की होती है' इस उक्ति को स्मरण दिलाने वाला है। संपत्ति शब्द का इस प्रकार का अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है।

कर्मभिर्मोक्षो भवतीत्येकः पक्षोऽस्ति, परं कर्मणां क्षणभङ्गुराणां मोक्ष इति वैदिकमतमित्याश्चर्यम् । 'कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्षो भवति, येन परमेश्वरप्राप्तिश्च भवति, सोऽपि मन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्य्यं इति कस्य शब्दस्य कथमर्थः? देवताशब्देन मन्त्रो गृह्यत इति कथमनेन सूत्रेण सिद्धचतीति समाधानं तु दुःशकमेव। अग्निहोत्राश्वमेधान्तानां कर्मणां शिल्पसाधनत्वं कथमित्यपि प्रदर्शनीयमासीत् । कीदृशी शिल्पविद्या ततः प्रसरति, तैः शिल्पैः कानि वस्तूनि साध्यन्ते ।

'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' इति हि निरुक्तवाक्यम् । तदर्थस्तु मनुष्यवद्देवताभिधानम् । यथैव मनुष्या प्रयोजनेषु नामाख्यातोपसर्गनिपातैर्यथार्थमभिदधत्येवमेव देवा अपि बोधयितुं शक्नुवन्त्येव । तेऽपि हि मनुष्यवद्देवा अङ्गादियुक्ताः पौरुषविधिकैरङ्गैः कर्मभिश्च स्तूयन्त इति वक्ष्यमाणत्वात् । यदि नामाख्यातोपसर्गनिपातानामपरिहीना शक्तिर्देवानप्यभिधातुम्, अथ किमर्थं वेदे मन्त्रः समाम्नातः ? तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानमिति नैरुक्तवाक्यमप्रयोज्यमिति पूर्वपक्षमाशङ्क्य समादधाति—पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे । अर्थात् पुरुषेषु मनुष्येषु विद्याया विज्ञानस्यानित्यत्वात् पुरुषविद्यानित्यत्वात् ततो कर्मसम्पत्तिः फलेन सम्पादनमविगुणकर्मसम्पत्तिः । फलसम्पन्नमेव कर्म भविष्यतीत्येवमर्थं वेदेन मन्त्रः समाम्नात इति वाक्यशेषः । इतरथा हि पुरुषेषु विज्ञानस्यानित्यत्वाद् यथार्थं नाभिदधते देवान् नामाख्यातोपसर्गैः । अशिक्षितत्वान्मन्दशिक्षितत्वाच्च विस्मरणशीलत्वान्नामाख्यातोपसर्गानयथार्थान् प्रयुञ्जाना देवानपराध्येयुः । सर्वार्थप्रत्यक्षदृशो देवाः स्वल्पमप्यपराधं न मर्षयन्ति । ततश्च नेयुः कर्मणि । ततश्च देवताहीनं कर्माफलं सम्पद्यते । न केवलं फलासम्पत्तिः, दुरिष्टिहेतुको दोषश्च स्यात् । तस्मादेत एव नामाख्यातोपसर्गनिपाताः प्रयोगानुपरिपाट्या नियमार्थं मन्त्रत्वेन वेदे आम्नाताः ।

कुछ दार्शनिकों का मत है कि यज्ञ-यागादि कर्मों की सहायता से भी मोक्ष की अधिगति होती है, किन्तु यह कहना कि वैदिक मत में क्षणभंगुर कर्मों को मोक्ष कहा जाता है, एक आश्चर्य की ही बात है। कर्मों की सम्यक् निष्पत्ति से मोक्ष होता है। इससे परमेश्वर की भी अधिगति होती है। यह भी मन्त्र का अर्थ मानना चाहिये, यह किस शब्द का कैसे अर्थ हुआ ? देवता शब्द से मन्त्र गृहीत होता है, इस सूत्र से यह कैसे सिद्ध होता है ? इन प्रश्नों का समाधान कठिन है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त कर्म शिल्प के साधन कैसे हैं ? इसको भी बताना चाहिये था। इनसे किस प्रकार की शिल्पविद्या का प्रसार होता है और उससे क्या चीज बनती है ?

पुरुष के ज्ञान के अनित्य होने के कारण कर्म की फलसंपन्नता के लिये वेद में मन्त्रों का विधान है। जैसे मनुष्य प्रयोजन के उपस्थित होने पर नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात की सहायता से उसको अभिव्यक्त करते हैं, इसी तरह देवताओं के बोधन में भी वे समर्थ हो सकते हैं। क्योंकि पुरुष के समान ही देवताओं के भी अंग आदि की कल्पना कर उनकी स्तुति की जाती है, यह बात आगे कही गई है। यदि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात की शक्ति देवताओं को अभिहित करने में भी परिक्षीण नहीं होती तो फिर वेद में मन्त्र किस लिये पढ़े गये हैं ? अतः नाम, आख्यात आदि का मनुष्य के प्रयोजन के समान देवता के अभिधान में भी सामर्थ्य है, यह निरुक्त का वाक्य यहाँ लागू नहीं हो सकता, इस पूर्वपक्ष को उपस्थित कर समाधान किया गया है कि पुरुष के ज्ञान के अनित्य होने के कारण कर्म की सम्पन्नता के लिये वेद में मन्त्रों का विधान है। अर्थात् पुरुषों में विद्या अर्थात् विज्ञान के अनित्य होने से ही कर्मसम्पत्ति अर्थात् शास्त्रानुसारी कर्म के अनुष्ठान के द्वारा कर्म की फलसंपन्नता होगी, इसलिए वेद ने मन्त्र का समाम्नाय किया है, इतना जोड़ना पड़ेगा। अन्यथा पुरुष विज्ञान के अनित्य होने से वह नाम, आख्यात आदि से देवताओं का ठीक से प्रतिपादन नहीं कर पावेगा। मनुष्य अशिक्षित होते हैं या उनकी शिक्षा अधूरी होती है, इसके बाद भी उनका भूलने का स्वभाव होता है। अतः वे नाम, आख्यात आदि का प्रयोग करते समय देवताओं के प्रति कोई अपराध कर सकते हैं। सभी वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखने वाले देवतागण थोड़े से भी अपराध को नहीं सह सकते। अतः नाम, आख्यात आदि का गलत प्रयोग हो जाने की दशा में वे यज्ञ में उपस्थित नहीं होंगे। इस प्रकार देवता से हीन कर्म निष्फल हो जायगा। फलसंपत्ति तो इससे नहीं ही होगी, इष्टि के ठीक से निष्पन्न न होने से दोष भी होगा। इसलिये ये ही नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात प्रयोग का अनुसरण करने वाली

नहि नामादीनपहाय मन्त्राः सन्ति। नामादिचतुर्विधपदजातमेव कयाचित् प्रयोगानुपरिपाट्या मन्त्रा उच्यन्ते। अत एव पुरुषविद्याया अनित्यत्वादयथार्थंवन्नामादिपदजातप्रयोगाद् देवतानामनागमनेन कर्मणां वैगुण्यापत्तिसंभवात् कर्मणामवैगुण्येन फलवत्त्वाय वेदे मन्त्रा आम्नाताः। पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिः, अवैगुण्येन कर्मणां फलवत्त्वाय वेदे मन्त्र आम्नात इति निष्कर्षः।

कथं पुरुषविद्यायां अनित्यत्वमित्यपि दुर्गाचार्येण प्रदर्शितमेव। इह येन वाक्यविरचनानुक्रमेणार्थवस्त्वनुक्रमेण वोक्त्वा प्रेष्यते मनुष्य एवमेव ब्रूयास्त्वं देवदत्तम्। एतेनैव वाक्यविरचनक्रमेणाववुद्धमपि सन्तमर्थं न शक्नोति प्रतिपादयितुम्। अयमपि हि येन वाक्यानुक्रमेणाद्य वक्ति कश्चिदर्थं न तेनैव क्रमेण श्वो वक्तुं शक्नोति। तस्मात् पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मफलसम्पत्त्यर्थं मन्त्रो वेदे समाम्नातः।

'अथातो दैवतं तद्यानि नामानि' इत्यादिनैरुक्तवाक्यविवृत्तयेऽथेत्यनन्तरं दैवतं किमुच्यते (पृ० ६८) इति शेष इति योजयित्वोक्तं दयानन्देन, तदपि न युक्तम्, उक्तवाक्ये शङ्कानवकाशात्, प्रत्युत अथेत्यनन्तरमतो हेतोर्दैवतं प्रकरणं व्याख्यास्याम इत्येवार्थो युक्तः। हेतुस्तु सर्वशाखासु यावन्तो मन्त्रास्तेषु यानि गुणपदानि उद्देशतो लक्षणतश्च यथायथं नैघण्टुकैकपदिकयोर्द्वयोरपि प्रकरणयोर्व्याख्यातानि, संविज्ञातपदानि पुनरमूनीदानीमग्न्यादीनि देवपत्न्यन्तानि प्रधानस्तुतिभाग्देवताविषयाण्यवशिष्यन्ते। सर्वत्रापि मन्त्रेषु अत इत्येवार्थः। यद्वा अथेत्यधिकारार्थः। अत इति क्रमे हेतौ वा। प्रकरणद्वयानन्तरमिदमावश्यकम्। समाम्नायानुक्रमप्राप्तमधिकृतं वेदितव्यमित्यर्थः। दैवतमन्तरेण देवतापदार्थो न शक्यते सम्यग् विबोद्धुम्, सकलपुरुषार्थश्च तत्परिज्ञानानुबद्धः, अतो दैवतं प्रकरणं व्याख्यास्याम इति वाक्यशेषः।

पद्धति के नियमन के लिये मन्त्र के रूप में वेद में पढ़े गये हैं। नाम आदि को छोड़कर कोई मन्त्र नहीं बनता। नाम आदि चतुर्विध पद ही प्रयोग का अनुसरण करने वाली पद्धति की परिपाटी में रखने पर मन्त्र हो जाते हैं। इसीलिये पुरुष के ज्ञान के अव्यवस्थित होने से अनुचित नाम आदि के प्रयोग के कारण कर्म में देवताओं के उपस्थित न होने पर यज्ञादि कर्म में वैगुण्य की आपत्ति हो सकती है, अतः कर्म में अवैगुण्य द्वारा फलदान सामर्थ्य की अधिगति के लिये वेद में मन्त्रों का विधान किया गया है, यही इस वाक्य का निष्कर्ष है।

पुरुष विद्या की अनित्यता कैसे है? इस बात को भी दुर्गाचार्य ने समझाया है। लोक व्यवहार में अनेक वाक्यों की सहायता से और प्रतिपाद्य विषय वस्तु को ठीक से समझा कर ही कोई मनुष्य भेजा जाता है कि तुम देवदत्त से यह बात इस प्रकार कहना। किन्तु वह व्यक्ति पूरी तरह से समझे हुए उस अर्थ को मूल वक्ता के वाक्यों में उसी क्रम से नहीं वतला सकता। यह भी जिस वाक्यानुक्रम से आज किसी अर्थ को वता रहा है, उसी क्रम से वह कल नहीं बोल सकेगा। इस प्रकार पुरुष के ज्ञान के अनित्य होने से कर्मफल की संपत्ति के लिये वेद में मन्त्रों का पाठ किया गया है।

'अथातो दैवतं' इत्यादि निरुक्त वाक्य की व्याख्या के लिये 'अथ' इस पद के बाद 'दैवतं किमुच्यत इति शेषः' यह वाक्य दयानन्द ने जोड़ा है। यह ठीक नहीं है। उक्त वाक्य में शंका के लिए कोई अवकाश नहीं है। प्रत्युत अथ अर्थात् इसके बाद, इसलिये दैवत प्रकरण की व्याख्या करते हैं, यह सीधा अर्थ यहाँ उचित है। यहाँ पर हेतु पद की व्याख्या यह है कि सभी शाखाओं में जितने मन्त्र हैं, उनमें आने वाले गुण पदों की उद्देश्य और लक्षणों के द्वारा यथोचित व्याख्या नैघण्टुक और ऐकपदिक इन दो प्रकरणों में कर दी गई है, अब अग्नि से आरंभ कर देवपत्नी पर्यन्त ये संविज्ञात पद, जो कि सभी जगह मन्त्रों में प्रधान स्तुति के भाजन देवताओं के लिए प्रयुक्त होते हैं, व्याख्या के लिए बचे हैं, अतः इसी कारण से अब उनकी व्याख्या में प्रवृत्त होना चाहिये। अथवा 'अथ' पद यहाँ अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और 'अतः' पद क्रम अथवा हेतु के अर्थ में। दो प्रकरणों के बाद यह आवश्यक है कि समाम्नाय में अनुक्रम प्राप्त को अधिकृत किया जाय। बिना दैवत प्रकरण के देवता पद का अर्थ ठीक से समझ पाना कठिन है। सारा पुरुषार्थ देवता पद के जान लेने पर ही संभव है, अर्थात् देवता पद की ठीक तरह से अवगति हो जाने के उपरान्त ही किसी पुरुषार्थ की अधिगति हो सकती है, अतः दैवत प्रकरण की व्याख्या करेंगे, यह वाक्यशेष होगा।

नन्वस्य प्रकरणस्य दैवतमित्यभिधाने किं निमित्तमित्याह—यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां प्राधान्येन स्तुतिर्यासां तासां देवतानामग्न्यादिदेवपत्न्यन्तानां यानि नामानि तदेव दैवतं प्रकरणमित्याचक्षत आचार्याः । तथा च निरूढा संज्ञेयमस्मिन् प्रकरणे । मन्त्रे कथं देवता परीक्षणीया इति तत्प्रकारमाह—'सैषा दैवतोपपरीक्षा' इत्यादिग्रन्थेन ।

यत्त्वत्र 'यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा—अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे । देवान् आ सादयादिह ।।' (यजु० २२।१७) अत्राग्निशब्दो लिङ्गोऽस्ति । अत्र किं विज्ञेयं यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति । यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छन्दोऽस्ति तदेव तद्दैवतमिति वोद्धव्यम् । सैषा देवतोपपरीक्षा अतीता आगामिनी चास्ति । अत्रोच्यते—ऋषिरीश्वर एव सर्वदृग् यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तदर्थंगुणकीर्तनं कृतवानस्ति स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति । किञ्च, यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति स मन्त्रो तद्दैवतो वाच्यो भवतीति विज्ञायते । देवताभिधा ऋचो याभिर्विद्वांसः सर्वाभिर्विद्याः स्तुवन्ति प्रकाशयन्ति, ऋच स्तुताविति धात्वर्थयोगात्' (पृ० ६८) । तत्तु मूलाक्षरवाह्यत्वात् परस्परविरुद्धत्वाच्च हेयमेव । क्वचिन्मन्त्रभिन्ना तत्प्रयुक्ता देवता यद्देवतास्ते मन्त्रा भवन्तीति मन्त्रव्यतिरिक्तदेवताप्रतिपादनात् । क्वचिच्च छन्दसां देवतात्वाभिधानात् क्वचिच्च मन्त्राणां देवतात्वविधानाच्च ताः श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकाराः सन्ति । एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्था सन्तीति विज्ञेयम् । यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षत इति वाक्यं तु न देवतानिर्णायकम्, दुर्गाचार्यरीत्या तस्य प्रकरणनामबोधकत्वात् । प्राधान्येन स्तुतिर्यासामग्न्यादिदेवपत्न्यन्तानां यानि नामानि यत्र निर्णीयन्ते, तद्दैवतं प्रकरणमाचक्षते आचार्याः । प्राधान्यस्तुतिभाञ्जि यानि देवताभिधानानि तत्समुदायो दैवतं प्रकरणम्, तद्व्याख्यास्याम इति दुर्गाचार्यवचनात् । सैषा देवतोपपरीक्षा इति वाक्ये देवतोपपरीक्षाप्रतिज्ञानुपपत्तेः । नहि देवतालक्षणं ततः प्रागुपपद्यते ।

इस प्रकरण को 'दैवत' नाम से कहने का क्या निमित्त है ? जिन प्रधान देवताओं की यज्ञ-यागादि कर्मों में स्तुति की जाती है, अग्नि से लेकर देवपत्नी पर्यन्त उन प्रधान देवताओं की नामावली यहाँ होने से इस प्रकरण को आचार्य गणों ने यह नाम दिया है । इस तरह इस प्रकरण के लिये यह रूढ संज्ञा है । मन्त्र से देवता की परीक्षा किस प्रकार की जायगी ? इसके लिये 'सैषा देवतोपपरीक्षा' इत्यादि ग्रन्थ से इसकी विधि बताई गई है ।

यहाँ पर कहा जाता है कि 'जिसको प्रधान मानकर जिन देवताओं की स्तुति की जाती है, उसको 'दैवत' कहते हैं । जो मन्त्रोक्त नाम जिस अर्थ के मन्त्रों में रहते हैं, वे सब देवताओं के लिङ्ग होते हैं, जैसे कि 'अग्निं दूतं पुरो दधे' इस मन्त्र में अग्नि शब्द लिङ्ग है । इसमें क्या जानना है ? जहाँ-जहाँ देवता उक्त होती है, वहाँ-वहाँ उस लिंग का मन्त्र गृहीत होता है । अतः जिस द्रव्य के नाम के साथ जो छन्द है, वही उसका देवता जानना चाहिये । यह अतीत और आगामिनी देवता परीक्षा है । इस पर हमारा कहना यह है कि ऋषि अर्थात् ईश्वर सर्वद्रष्टा है । जिस कामना से जिस अर्थ को चाहता हुआ यह किसी अर्थ का उपदेश करता है, वह जिस कामना से जिस देवता को मन्त्रार्थ का स्वामी मानकर उसका उपदेश करने की इच्छा से स्तुति करता है, उस देवता के गुणों का कीर्तन करता है, वही मन्त्र उस देवता का हो जाता है और जिस अर्थ की प्रतीति के कारण जिस देवता की प्रतीति जिस मन्त्र से होती है, वही मन्त्र उस देवता का हो जाता है । जिनकी सहायता से विद्वद्गण विद्याओं की स्तुति करते हैं, धातु के अर्थ को सहायता से वे ही ऋचाएँ उस देवता को अभिहित करने लगती हैं' । यह अर्थ मूल अक्षरों से नहीं निकलता और परस्पर विरुद्ध भी है, इसलिये त्याज्य है । कहीं पर मन्त्रलिंग से भिन्न, अर्थात् जिस देवता के लिये मन्त्र प्रयुक्त हुए हैं, उन मन्त्रलिंग से भिन्न देवताओं के प्रतिपादन से, कहीं छन्दों को देवता बता देने से और कहीं मन्त्रों को देवता बताने से ये श्रुतियाँ तीन प्रकार की माननी पड़ती हैं । कर्मकाण्ड में ये ही देवता शब्द के अर्थ हैं । 'स्तुति में प्रयुक्त प्रधान देवताओं के नाम जहाँ पर हैं, वह दैवत प्रकरण है' यह वाक्य दुर्गाचार्य के मत से देवता के स्वरूप का निर्णायक नहीं है, वह केवल प्रकरण के नाम का बोधक है । अग्नि से लेकर देवपत्नी पर्यन्त देवताओं को प्रधानता से स्तुति होने

लक्षणप्रमाणाभ्यामेतत्परीक्षणोपपत्त्या प्रतिज्ञानन्तरमेव तदुपपत्तेः। यत्काम ऋषीत्यनेन पौनरुक्त्यापाताच्च। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। नास्य वाक्यस्य दयानन्दीयोऽर्थो युक्तः। ऋषयो मन्त्रद्रष्टार इति रीत्या मन्त्रदृशामेवर्षित्वमुपेक्ष्य परमेश्वरस्यैवर्षित्वे युक्तिविशेषानुपपत्तेः। किञ्च, परमेश्वरस्य पूर्णकामत्वेन कामानुपपत्तेश्च इममर्थमुपदिशेयमित्यपि न युक्तम्। यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन्नित्यपि, अर्थाद् यस्मिन्मन्त्रेऽर्थस्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् तदर्थगुणकीर्तनं करोति, स मन्त्रो देवताशब्दवाच्यो भवति। तच्च न संगतम्, तथात्वे मूले तद्दैवतः स मन्त्रो भवतीत्युक्तं तस्य कथं संगतिः? स मन्त्रस्तन्मन्त्रो भवतीत्येवार्थः फलितो भविष्यति। नह्येकत्रोद्देशविधेयभावः। नेदं वाक्यं मन्त्रदेवताप्रतिपादनपरम्, मन्त्रदेवतयोरभेदे स तद्दैवतो भवतीति भेदमूलको बहुव्रीहिर्निरालम्बन एव स्यात्।

किञ्च, यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यत इति छन्दोगानां वचनानुसारेण मन्त्राणामृषिच्छन्दोदैवतज्ञानमत्यावश्यकमुक्तम्। तत्र मन्त्रस्यैव देवतात्वे मन्त्रे कथं नाम देवताज्ञानं विधीयेतातो मन्त्रातिरिक्तैव देवता ज्ञातव्या। तस्मादस्य निरुक्तवाक्यस्यायमर्थो दुर्गाचार्यानुसारेण तत्सर्वं मन्त्राधिदैवतलक्षणमनुक्त्वा न शक्यते व्याख्यातुम्, मन्त्राधीनत्वात् सर्वस्यास्य। मन्त्रदेवतालक्षणाविदिधारयिषयोक्तमिदं वाक्यं निरुक्तकारेण यदर्थवस्तु कामयमान ऋषिः, यस्यां देवतायामभिष्टुतायाम्, आर्थपत्यम् अर्थपतिभावमात्मन इच्छन् अमुष्या देवतायाः प्रसादेनाहमुष्यार्थस्य पतिर्भविष्याम्येतां बुद्धिं पुरोधाय स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। एतन्मन्त्रे देवतालक्षणम्। एतेन लक्षणेन सर्वमन्त्रेषु देवता लक्ष्यते। अथवा देवताया-

से इनके नामों का निर्णय जहाँ होता है, वह प्रकरण 'दैवत' कहलाता है। प्रधानतः स्तुतियोग्य देवताओं के नामों का समुदाय जहाँ पर है, उस दैवत प्रकरण की हम व्याख्या करेंगे, यह दुर्गाचार्य का वचन है। 'सैषा देवता०' इस वाक्य में देवता के परीक्षा की प्रतिज्ञा नहीं बनती तो उससे पहले देवता का लक्षण कैसे बन सकता है? लक्षण और प्रमाण से ही यह परीक्षा हो सकती है और यह प्रतिज्ञा के बाद ही होगी। 'यत्काम ऋषि०' इस वचन के कारण यहाँ पुनरुक्ति दोष भी आवेगा। 'यत्कामः''''स मन्त्रो भवति' इस वाक्य का दयानन्द का किया हुआ अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि 'मन्त्रद्रष्टा ऋषि होते हैं' इस वचन के प्रमाण से मन्त्रद्रष्टाओं को ऋषि न मानकर परमेश्वर को ऋषि मानना युक्तियुक्त नहीं है। परमेश्वर तो पूर्णकाम है। उसको किसी प्रकार की कोई कामना नहीं हो सकती, अतः मैं इस अर्थ का उपदेश करूँ, यह इच्छा भी वहाँ नहीं हो सकती। जिस देवता के अर्थ के स्वामित्व के उपदेश की इच्छा से अर्थात् जिस मन्त्र में उसके अर्थ के स्वामित्व का उपदेश करना चाहता हो, उसके गुण का कीर्तन करने वाला वह मन्त्र देवता शब्द का वाच्य होता है, यहाँ पर भी अर्थ की सङ्गति नहीं बैठती। ऐसा अर्थ करने पर मूल के 'तद्दैवतः' इत्यादि वचन की सङ्गति कैसे बैठेगी? 'स मन्त्रः' पद का अर्थ 'तन्मन्त्र' में परिणत कर वह मन्त्र होता है, ऐसा अर्थ करना पड़ेगा। एक ही जगह उद्देश्यविधेयभाव नहीं बनता। यह वाक्य मन्त्र और देवता दोनों का प्रतिपादक नहीं है। मन्त्र और देवता का अभेद मानने पर 'स तद्दैवतो०' यहाँ पर भेदमूलक बहुव्रीहि समास व्यर्थ हो जायगा।

'जो व्यक्ति किसी मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता, ब्राह्मण को विना जाने उससे यज्ञ कराता है, अथवा उसको पढ़ाता है, तो वह मूढ हो जाता है, अथवा दुर्गति प्राप्त करता है' सामवेदियों के इस वचन के अनुसार मन्त्रों के ऋषि, छन्द और देवता का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ पर यदि मन्त्र को ही देवता माना जाय तो फिर मन्त्र में देवता के ज्ञान का विधान कैसे सम्भव होगा? इसलिये मन्त्र से अतिरिक्त ही देवता माननी पड़ेगी। इसलिये इस निरुक्त के वाक्य का यह अर्थ दुर्गाचार्य के अनुसार मन्त्र के अधिदैवत आदि अर्थों की विना व्याख्या किये नहीं किया जा सकता। मन्त्र, देवता आदि के लक्षण का अवधारण भी मन्त्र के ही अधीन है, अतः इसी का निर्णय निरुक्त के उक्त वाक्य में किया गया है कि जिस अर्थ अर्थात् वस्तु की कामना से ऋषि जिस देवता की स्तुति से अपने में अर्थपतित्व की भावना करता है, अर्थात् यह सोचता है कि अमुक देवता की स्तुति से मेरी अमुक कामना पूरी हो सकेगी, इस बुद्धि को आगे रखकर जिस देवता की स्तुति करता है, वह मन्त्र उसी देवता का होता है। यही मन्त्र में देवता का लक्षण है। इस लक्षण की सहायता से

मस्यार्थस्येयं देवता दातुं समर्था इति जानानः स्तुतिं प्रयुङ्क्ते येन मन्त्रेण सा प्राधान्यस्तुतिभाग् भवेत्तस्य मन्त्रस्य देवता भवति।

मीमांसकानामपि न मन्त्र एव देवता, किन्तु मन्त्रे यस्या देवतायाः स्तुतिर्विद्यते, सा देवता शब्दरूपैव भवति। देवतायाश्चेतनरूपता तैर्नाभ्युपेयते, तथात्वे 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्', 'आदित्यं चरुं निर्वपेत्' इत्यादौ सूर्य्यादित्ययोरैक्येन कर्मैक्यापत्तेश्च। सिद्धान्ते च कर्मभेद एवाङ्गीकृतः। स च सूर्य्यादित्यशब्दयोर्भेदमालम्ब्यैव युज्यते। अस्तु, इतः परम् अत एव 'तद्येऽनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु' इति वाक्यमुद्धृत्य मन्त्रव्यतिरिक्तां देवतामङ्गीकृत्य पूर्वाविरुद्धमेवाह दयानन्दः। तथाहि—'ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थान्न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्यत्रोच्यते' (पृ० ६९) इति भूमिकावचनम्। यदि मन्त्रव्यतिरिक्ता काचिद्देवता न स्यात्तदा कस्य लिङ्गं मन्त्रेष्वन्वेष्यते ? मन्त्रा एव देवताश्चेत्तदा ते तु स्पष्टं निर्दिष्टा एव। अनादिष्टा इत्यत्र बहुव्रीहिरपि मन्त्रदेवतयोर्भेदे सत्येवोपपद्यते। एवमेव 'यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति' (नि० ७।४) इति वाक्यस्यापीदमेव तात्पर्यं वर्णयति दयानन्दः—'यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रैव यज्ञो देवता यज्ञाङ्गं वेत्येतदेव देवताख्यमिति विज्ञायते' (पृ० ६९)। अत्राकामेनापि दयानन्देन मन्त्राभिन्नयोर्यज्ञयज्ञाङ्गयोर्देवतात्वमभ्युपेतमेव। वस्तुतः सोऽप्यशुद्ध एवार्थः। यद्देवत इति पदस्यार्थाविबोधात्। तदर्थविचारणे तु यद्देवतोद्देश्यकं यज्ञस्य विधानं यां देवतामुद्दिश्य हविः प्रक्षिप्यतेऽग्नौ सा देवता तस्य यज्ञस्य। सैव च तत्र विनियुक्तानामनादिष्टदेवतालिङ्गकानां मन्त्राणां देवता। एवमेव यज्ञाङ्गेऽपि।

सभी मन्त्रों में देवता लक्षित होती है। अथवा इस देवता में इस अर्थ को देने की सामर्थ्य है, यह जानकर स्तुति करता है। जिस मन्त्र से उस प्रधान देवता की स्तुति की जाती है, वही उस मन्त्र की देवता होती है।

मीमांसकों के मत में भी मन्त्र ही देवता नहीं होती, किन्तु मन्त्र में जिस देवता की स्तुति रहती है, वह देवता शब्दरूप ही होती है, क्योंकि वे देवता की चेतनरूपता नहीं स्वीकार करते। ऐसा मत उनका इसलिये है कि सौर्य चरु और आदित्य चरु का पृथक् निर्वापन विहित है। सूर्य और आदित्य एक ही देवता है, यदि देवता को शब्दरूप न माना जाय तो यह पृथक् विधि व्यर्थ हो जायगी। शब्दरूप देवता मानने पर सूर्य और आदित्य शब्दों के भेद के कारण शब्दात्मक देवता भी भिन्न होगी और इस प्रकार सौर्य और आदित्य के लिये पृथक्-पृथक् चरु निर्वापन की विधि सार्थक हो सकेगी। इसके आगे 'अत एव...मन्त्रास्ते' इस वाक्य को उद्धृत कर मन्त्र से भिन्न देवता स्वीकार कर दयानन्द ने हमारी बात का समर्थन ही किया है। जैसे कि जो मन्त्र अनादिष्ट देवता वाले हैं, अर्थात् जिन मन्त्रों में देवता का स्वरूप, नाम अथवा अर्थ नहीं परिदृष्ट है, उनमें देवता की परीक्षा कैसे होगी, यह भूमिका दी गई है। यदि मन्त्र से भिन्न कोई देवता न हो तो उस परिस्थिति में किसके लिंग का अन्वेषण मन्त्रों में किया जायगा ? यदि मन्त्र ही देवता है, तब तो उनका स्पष्ट निर्देश वहाँ है ही। 'अनादिष्टाः' इस पद में बहुव्रीहि भी मन्त्र और देवता का भेद मानने पर ही सम्भव हो सकता है। इसी तरह 'वह यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग जिस देवता के लिये है, वही उसका देवता है' इस निरुक्त वाक्य का भी स्वामी दयानन्द यही अभिप्राय बतलाते हैं। जहाँ पर कोई विशेषता नहीं देखी जाती, वहीं पर यज्ञ को अथवा यज्ञाङ्ग को देवता माना जाता है। यहाँ पर न चाहते हुए भी दयानन्द ने मन्त्र से भिन्न यज्ञ और यज्ञांग को देवता मान लिया है। वास्तव में तो यह अर्थ भी अशुद्ध है। 'यद् दैवतः' इस पद का अर्थ उन्होंने ठीक से नहीं समझा है। यदि उसके अर्थ का विचार किया जाता है तो अर्थ यह निकलता है कि जिस देवता के उद्देश्य से यज्ञ का विधान किया जाता है, अर्थात् जिस देवता को उद्दिष्ट कर अग्नि में हवि दी जाती है, वह उस यज्ञ को देवता है और वही उस यज्ञ में विनियुक्त उन मन्त्रों की भी देवता है, जिनका कि न तो कोई देवता ही विहित है और न जिनका कोई लिंग वहाँ मिलता है। इसी तरह यज्ञांग के विषय में भी समझना चाहिये।

यत्तु—'ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीति याज्ञिका मन्यन्ते। अत्रैवं विकल्पोऽस्ति नाराशंसा मनुष्यविषया इति निरुक्ता ब्रुवन्ति। तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति' (पृ० ६९), तदपि तुच्छम्, वाक्यार्थानवबोधात्। आश्चर्यं जिज्ञासु-महाशयोऽस्या भूमिकायास्तन्निर्मातुर्दयानन्दस्य च भूरि भूरि प्रशंसां कीदृशं चमत्कारं वीक्ष्य करोतीति न विद्मः। अत्रापि मन्त्रव्यतिरिक्ता परमेश्वररूपा देवताऽभ्युपेता। पूर्वमुक्तम् एता (ऋचः) एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्थाः सन्ति, अत्र तु याज्ञिकाः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा इति याज्ञिका मन्यन्त इत्याह।

ततः परमप्याह—'प्रायोदेवता वा, अस्ति ह्याचारो वहुलं लोके' इति निरुक्तवाक्यमादाय भूयोऽपि तमेवार्थमतिदिशन्नाह—'एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके वहुलमाचारोऽस्ति, क्वचिद्देवदैवत्यं कर्म मातृदैवत्यं विद्वद्दैवत्यं पितृदैवत्यं चैतेऽपि पूज्याः सत्कर्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकर्तृत्वमात्रं देवतात्वमस्तीति विज्ञायते' (पृ० ६९)। उपकर्तृत्वमेव मात्रादीनां देवतात्वे प्रयोजकमुक्तम्, अग्रे तु द्योतकत्वम्। नोभयोरेकत्वं प्रवृत्तिनिमित्तं संभवत्यननुगमात्। नोभयोः प्रवृत्तिनिमित्तत्वमन्यथा व्यभिचारप्रसङ्गात्।

एवं याज्ञदैवतो मन्त्र इति निरुक्तवाक्यव्याख्याने उक्तम्—'मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वा-द्याज्ञदेवता एव सन्तीति निश्चीयते' (पृ० ६९) इति, तदपि मूलविरुद्धं विसंगतं च। पूर्वं तु मन्त्रा एव देवतेत्युक्त-मिदानीं तु मन्त्राणां यज्ञदेवतात्वमुक्तम्। 'यज्ञे मन्त्रोच्चारणं किमर्थम्' इत्याशङ्क्य समाधानावसरे उक्तम्—'यथा हस्तेन होमः, नेत्रेण दर्शनम्, त्वचा स्पर्शनं च क्रियते, तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते। तत्पाठेन स्तुतिप्रार्थनो-पासनाः क्रियन्ते। होमेन किं फलमित्यस्य ज्ञानं तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणम् ईश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च सर्व-कर्मादावीश्वरप्रार्थना कार्य्येत्युपदेशः' (पृ० ६४) इति।

यह कहा जाता है कि जिन मन्त्रों का प्रयोग यज्ञ से अन्यत्र किया जाता है, उन मन्त्रों का प्रजापति अर्थात् परमेश्वर देवता होती हैं, यह याज्ञिकों का मानना है। यहाँ पर विकल्प है कि नाराशंस मन्त्रों का विषय मनुष्य है, ऐसा निरुक्तकार मानते हैं। 'तथा कामना काम देवता वाली होती है' यहाँ पर सकाम लौकिक जन जानते हैं, यह अर्थ करना भी गलत है, क्योंकि उनको वाक्य का अर्थ ही ठीक से समझ में नहीं आया है। आश्चर्य है कि जिज्ञासु महाशय इस भूमिका की और इसके लेखक दयानन्द की भूरि-भूरि प्रशंसा किस चमत्कार को देख कर करते हैं। यहाँ पर भी मन्त्र से भिन्न परमेश्वर रूप देवता मानी गई है। पहले कहा गया है कि ये मन्त्र ही कर्मकाण्ड में देवता शब्द से कहे जाते हैं और अब यहाँ कहा जाता है कि याज्ञिक मन्त्रों के देवता परमेश्वर हैं।

'प्रायोदेवता वा···लोके' इस निरुक्त की व्याख्या करते समय पुनः वही बात कही गई है कि 'इस प्रकार देवता के विकल्प के विषय में प्रायः लोक में विभिन्न आचार हैं—कहीं देवताओं के लिये कर्म किये जाते हैं, कहीं माता को देवता मानकर तथा इसी प्रकार कहीं विद्वानों को, पितृगणों को भी देवता मानकर कर्म किये जाते हैं। ये भी पूज्य हैं, सत्कर्तव्य, सत्कार करने के योग्य हैं, इससे ज्ञात होता है कि इनमें भी उपकर्तृत्व रूप देवता का लक्षण विद्यमान है'। यहाँ पर माता आदि के देवतात्व का प्रयोजक उपकार करने की प्रवृत्ति को माना है। आगे इसको प्रयोजक न मानकर द्योतक माना है। दोनों एक नहीं हो सकते तो अनुगम के अभाव में इनमें प्रवृत्ति की निमित्तता कैसे बनेगी और इस प्रकार ये व्यभिचरित हो जायेंगे।

इसी तरह 'याज्ञदैवतो मन्त्रः' इस निरुक्त वाक्य की व्याख्या में कहा गया है—'यज्ञ की सिद्धि में मुख्य कारण होने के कारण मन्त्रों का देवता यज्ञ ही है, यह मालूम पड़ता है'। यह व्याख्या भी मूल के विरुद्ध है और असंगत भी है। पहले मन्त्रों को ही देवता कहकर अब मन्त्रों का देवता यज्ञ को बताया जाता है। 'यज्ञ में मन्त्रों का उच्चारण किस लिए है?' ऐसी आशंका उपस्थित कर उसका समाधान करते हुए कहा गया है कि—'जैसे हाथ से होम, नेत्र से दर्शन, त्वगिन्द्रिय से स्पर्श किया जाता है, उसी तरह वाणी से वेद मन्त्र पढ़े जाते हैं। इस मन्त्रपाठ से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना होती है। तथा होम से जो-जो फल होते हैं, उनका स्मरण भी होता है। वेद मन्त्रों की बार-बार आवृत्ति करने से वेद मन्त्रों की रक्षा भी होती है। इससे ईश्वर का होना भी विदित होता है और ईश्वर की प्रार्थना के साथ ही सब कर्मों का आरंभ करना चाहिये, यह उपदेश भी मिलता है'।

यदि यज्ञसिद्धिर्मन्त्रोच्चारणस्य फलं स्यात्तदा तदप्युच्येत। यज्ञकाले यथान्यैरिन्द्रियैः किञ्चित् क्रियते, तथैव वाचा मन्त्रोच्चारणम्। यथान्येन्द्रियाणां यज्ञासाधकत्वं तथैव मन्त्रस्याप्यायातम्। प्रकृतोपकारकमेवाङ्गं भवति, न च मन्त्रोच्चारणं यागोपकारकमिति तद्वचनेनैव सिद्ध्यति। इदानीं तु यज्ञसिद्धये मन्त्राणां मुख्यहेतुत्वादित्युच्यते। अतो याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयत इत्यपि विसंगतम्। यज्ञ एव देवता येषां मन्त्राणामित्यर्थे याज्ञदैवतापदस्यासाधुत्वापत्तेश्च। त्वद्रीत्या पुनरुक्तता च। 'स यज्ञो वा' (पृ० ६९) इत्यत्रापि त्वया यज्ञस्यैव देवतात्वमुक्तमेव। दयानन्देन यज्ञसम्बन्धिनीनां देवतानां परिगणनमपि कृतम्। तथाहि—'गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्राः, ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाङ्गम्, प्रजापतिः, परमेश्वरः, नरः, कामः, विद्वान्, अतिथिः, माता, पिता, आचार्यश्चेति कर्मकाण्डादीन् प्रत्येता देवताः सन्ति। परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः' (पृ० ७०)। बृहद्देवतादिषु तु नैता देवता दृश्यन्ते। नवीनवैदिकस्यायमपूर्व आविष्कारः।

किञ्च, मन्त्राणां देवतात्वाङ्गीकारे कस्येमा देवता इति वक्तव्यम्। मन्त्राणामेव, उतान्यस्य ? नान्यः, कस्यान्यस्येति निर्वक्तुमशक्यत्वात्, देवतानां मन्त्रसम्बन्धप्रतिपादकवचनविरोधाच्च। आद्ये स्वात्माश्रय एव। नहि मन्त्राणां मन्त्रा एव देवता भवन्ति, अभेदे सम्बन्धानुपपत्तेः। ननु कस्यचिन्मन्त्रस्य मन्त्रस्वरूपप्रतिपादनमपि विषयो भवत्येव, तथात्वे मन्त्रस्य मन्त्रान्तरं भवत्येव देवतेति चेत्, तत्तुच्छम्, त्वदभ्युपगमविरोधात्। नहि त्वया मन्त्रस्य मन्त्रान्तरं देवता भवतीत्युच्यते। अवशिष्टनिरुक्तवचनाच्चायं दुर्गाचार्यसंमतोऽर्थः—यद्देवतः स यज्ञो यस्मिन्ननादिष्टदेवतालिङ्गा मन्त्रा विनियुज्यन्ते, तद्देवता एव ते मन्त्रा भवन्ति। यथा 'आग्नेयोऽग्निष्टोमः' इति श्रूयते। तत्र योऽनाविष्कृतलिङ्गो मन्त्रो विनियुक्तः, सोऽग्निदेवताक एव, अर्थात् संदिग्धदेवताकेषु मन्त्रेषु प्रकरणबलाद्देवता

यदि यज्ञ की सिद्धि भी मन्त्रों के उच्चारण का फल होती तो उसका भी यहाँ पर स्पष्ट निर्देश होता। यज्ञ करते समय जैसे दूसरी इन्द्रियाँ कुछ करती हैं, वैसे ही वाणी भी मन्त्र का उच्चारण करती है। जैसे इन्द्रियाँ यज्ञ की साधक नहीं हैं, आपके कथनानुसार उसी तरह मन्त्र के लिए भी मानना पड़ेगा। प्रकृत में जो उपकारक होता है, उसी को अंग कहा जाता है। यहाँ पर आपके ही कथनानुसार यह आता है कि मन्त्र का उच्चारण यज्ञ में उपकारक नहीं है। इसके विपरीत यहाँ पर यज्ञ की सिद्धि के लिए मन्त्रों को मुख्य कारण माना गया है। इसलिये 'मन्त्र यज्ञदेवता के लिए ही हैं' यह उक्ति असंगत है। 'जिन मन्त्रों का यज्ञ ही देवता है' इस अर्थ में 'याज्ञदेवता' इस पद की असाधुता भी हो जायगी। आपकी रीति से यहाँ पुनरुक्ति दोष भी होगा। 'स यज्ञो वा' यहाँ पर आपने यज्ञ को ही देवता माना है। दयानन्द ने यज्ञ सम्बन्धी देवताओं का परिगणन भी किया है। जैसे कि—'गायत्री आदि छन्दों से युक्त वैदिक मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ और उसके अंग अर्थात् साधन प्रजापति, परमेश्वर, मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य ये अपने-अपने दिव्य गुणों से ही देवता कहाते हैं। परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है'। बृहद्देवता आदि प्राचीन ग्रन्थों में ये देवता नहीं दिखाई देते। यह नवीन वैदिक देवताओं का अनोखा आविष्कार है।

मन्त्रों को यदि आप देवता मानते हैं तो ये मन्त्र किसके देवता हैं, यह आपको बताना होगा। ये मन्त्रों के ही देवता हैं या और किसी के ? यहाँ दूसरा पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि किसी अन्य देवता का निर्वचन नहीं किया गया है। देवताओं का मन्त्र के साथ संबन्ध जोड़ने वाले वचनों से इसका विरोध भी होगा। पहले पक्ष में स्वात्माश्रय दोष उपस्थित होगा। मन्त्रों के मन्त्र ही देवता नहीं हो सकते, क्योंकि अभिन्न वस्तु में संबन्ध नहीं बनता। भाई, किसी मन्त्र का विषय मन्त्र के स्वरूप का प्रतिपादन भी मान लिया जायगा, इस अवस्था में एक मन्त्र का दूसरा मन्त्र देवता हो जायगा। यह कथन भी आपके पहले स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध है। आपने कहीं भी एक मन्त्र का दूसरे मन्त्र को देवता नहीं माना है। निरुक्त की यह दुर्गाचार्य संमत व्याख्या अवश्य है। 'जो यज्ञ जिस देवता का होता है, इसमें यदि ऐसे मन्त्रों का पाठ है, जिनका कि देवता किसी लिंग से भी आदिष्ट (परिज्ञात) नहीं है, तो उस यज्ञ के देवता ही उन मन्त्रों के भी देवता होते हैं। जैसे कि 'अग्निष्टोम यज्ञ अग्नि देवता का है' यह सुना जाता है। इस प्रकरण में यदि ऐसा कोई मन्त्र पढ़ा गया है कि जिसमें किसी देवता का लिंग स्पष्ट नहीं है, तो वह मन्त्र अग्नि देवता का ही

निर्णेतव्या। यज्ञाङ्गं वा, अर्थात् प्रातःसवने यस्तादृशो मन्त्रो विनियुक्तः स आग्नेयः, माध्यन्दिने ऐन्द्रः, सायंसवने स आदित्यो मन्त्रो ज्ञातव्यः।

ननु 'उत्सन्नयज्ञो वा एषः' (मैं० सं० १।११; छा० ४।३।३ ; तैं० सं० ४।३।४) इत्यादिब्राह्मणवचनैरुत्सन्नयज्ञा अपि मन्त्राः सन्ति। तेषूत्सन्नप्रकरणप्रयोगेषु वाचस्तोमप्रयोगविनियोगकल्पेषु 'किं ब्राह्मणस्य पितरं पृच्छसि किं नु मातरं श्रुतविदस्मिन् वेद्यं स पितामहः' इत्यादिषु कथं देवतापरिज्ञानं स्यादित्याशङ्कायामाह—यज्ञादन्यत्र प्राजापत्या मन्त्रा इति याज्ञिकाः। 'अनिरुक्तो हि प्रजापतिः' (मैं० सं० ३।६।५) इति रीत्या यज्ञादन्यत्र प्रकरणादिभिर्देवताविशेषस्यानिर्णयेऽनिरुक्तः प्रजापतिरेवानिरुक्तलिङ्गानां मन्त्राणां देवतेति।

नैरुक्तास्तु—'ते नाराशंसा मन्त्रा इति मन्यन्ते। नराशंसोऽग्निर्यज्ञो वा। यज्ञ इति कात्थक्योऽग्निरिति शाकपूणिः' (नि० ८।६), 'विष्णुर्वै यज्ञः' (मैं० ४।३।७ ऐ० ३।४) इति श्रुतिभ्याम्, 'अग्निर्हि भूयिष्ठभाग् देवतानाम्' (मैं० सं० ४।३।८) सर्वदेवताश्रयणाच्च, अग्निर्वै सर्वा देवताः। यस्मिन् यज्ञे नाराशंसस्तस्मिन्नपि यज्ञेऽस्य सर्वस्य जगतो यज्ञप्रभवत्वाद्यज्ञस्य श्रैष्ठ्यं भवति। अपरिग्रहं च श्रेष्ठगामि भवति। तेन यथा यस्य क्षेत्रादिसंपत्तेर्न कश्चित् स्वामी भवति, तदन्यापरिग्रहं सद्राजगामि भवति, तस्य श्रेष्ठत्वात्। अत एवानिरुक्तलिङ्गा मन्त्रा अपि यज्ञदेवताका मन्तव्याः।

केचित्तु—यैर्नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मनुष्यस्तुतिरूप एवेति मन्यन्ते, तत्तु न युक्तम्। नहि मनुष्याणामनाविष्कृतलिङ्गैः स्तुतिरुपपद्यते। अनादिष्टमन्त्राणां दुर्बोधत्वान्मनुष्याणां चाल्पबुद्धित्वात्।

जायगा। इसका अभिप्राय यह है कि जिन मन्त्रों का देवता संदिग्ध है, उनका निर्णय प्रकरण के आधार पर करना चाहिये। अथवा यज्ञांग के अनुसार उनका निर्णय होगा। अर्थात् प्रातः सवन में यदि इस प्रकार का मन्त्र विनियुक्त हो तो उसका देवता अग्नि, माध्यन्दिन सवन में इन्द्र और सायं सवन में आदित्य होगा।

'उत्सन्नयज्ञो वा एषः' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य मन्त्रों का उत्सन्न यज्ञों में भी विनियोग बताते हैं। इस प्रकार के उत्सन्न प्रकरण के प्रयोगों में, जो कि वाचस्तोम प्रयोगों के विनियोग के तुल्य हैं, जैसे कि—'ब्राह्मण के माता-पिता के बारे में क्यों पूछते हैं, यहाँ पर शास्त्रज्ञ की पूछ होनी चाहिए, वह पितामह है' यहाँ पर देवता का परिज्ञान कैसे होगा ? इस प्रकार की आशंका कर कहा है कि—'यज्ञ से अन्यत्र प्रयुक्त मन्त्रों का देवता प्रजापति है, यह याज्ञिकों का कहना है, 'अनिरुक्तो हि प्रजापतिः' यह मन्त्र इसी बात का प्रतिपादन करता है'। इस प्रकार यज्ञ से अन्यत्र प्रकरण आदि के द्वारा किसी विशेष देवता का निर्णय न होने पर अनिरुक्त प्रजापति ही अनुक्त लिंग वाले मन्त्रों का देवता माना जायगा।

निरुक्तकारों के मत से मन्त्र नाराशंस होते हैं। नाराशंस अग्नि अथवा यज्ञ को कहा जाता है। इसमें 'कात्थक्य के मत से अग्नि और शाकपूणि के मत से यज्ञ नाराशंस हैं', 'यज्ञ विष्णु है' यह वचन भी इसमें प्रमाण है।' 'अग्नि देवताओं में बड़े भाग को ग्रहण करने वाला है' इस वचन से और अग्नि सब देवताओं का आश्रय है, अर्थात् वही सब देवताओं के पास उनके यज्ञीय हवि के प्राप्तव्य अंश को पहुँचाता है, अतः अग्नि सर्वदेवतामय है। जिस यज्ञ में नाराशंस है, उसमें भी सारे जगत् के यज्ञ से संभूत होने से यज्ञ की ही श्रेष्ठता रहती है। अपरिग्रह श्रेष्ठगामी होता है। इसलिये जैसे खेत-खलिहान आदि सम्पत्ति का कोई मालिक न हो तो वह राजा की हो जाती है, क्योंकि वह श्रेष्ठ है, उसी तरह जिन मन्त्रों का कोई देवता लिंग आदि से परिज्ञात नहीं है, वे मन्त्र यज्ञदेवता वाले होंगे।

कुछ लोगों का कहना है कि जिन मन्त्रों में मनुष्यों की प्रशंसा होती है, वे मन्त्र नाराशंस कहलाते हैं। यह ठीक नहीं है। किसी लिंग आदि प्रमाण से मनुष्यों का अवबोध हुए बिना मन्त्रों से उनकी स्तुति नहीं हो सकती, क्योंकि इस प्रकार के अनादिष्ट मन्त्रों के अर्थ की अवगति दुरूह होती है और मनुष्य अल्प बुद्धि वाला है।

'अपि वा सा कामदेवता स्यात्' अनाविष्कृतलिङ्गो मन्त्रः कामदेवतः स्यात्, गुणमयत्वात् । अन्यतमदेवताविशेषप्रख्यापकस्य पदस्याभावादन्यव्यावृत्त्यसंभवः । गुणपदानां सर्वदेवताश्रयत्वादैश्वर्य्ययोगाच्च सर्वासां देवतानाम् । अतो यथाकामं काचिदपि देवताऽनाविष्कृतलिङ्गानां कल्पयितुं शक्यते । नात्र काचित् कामाख्या देवता तेषां मन्त्राणां भवति ।

'प्रायोदेवता वा' (पृ० ६९) प्रायःशब्देनाधिकार उच्यते, यद्देवताधिकारेऽध्ययनपाठानुक्रमे योऽनाविष्कृतलिङ्गो मन्त्रो भवति, स तद्देवत इति । यथाग्न्यधिकारे वर्तमाने आग्नेय इन्द्राधिकारे चैन्द्र एव । अथवा अनृतप्रायो देवदत्त इत्युक्तेऽनृतबहुलमित्येवार्थो भवति । अतः प्रायोदेवतेत्युक्ते बहुलदेवतेति स्यात् । अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके । अस्ति हि लोके बहुलस्य भूयस्त्वेन प्रसिद्धिः । निर्दिष्टेभ्यो द्रव्येभ्यो यदवशिष्यते तत्साधारणम् । यथा कश्चिद् गृही इदं मे देवदैवत्यं द्रव्यमिदमतिथिदैवत्यमिदं पितृदैवत्यम् । तत्र निर्दिष्टेभ्यो यदन्यदवशिष्यते, तद् देवपितृमनुष्याणां साधारणम् । एवमिहाप्यादिष्टदेवतालिङ्गान्मन्त्रराशेर्योऽन्योऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गो मन्त्रराशिः स्यात्, स साधारण्याद् बहुदेवतो वैश्वदेव एव स्यात् ।

कः पुनरत्र निर्णय इत्याकाङ्क्षायामाह 'याज्ञदैवतो मन्त्रः' (पृ० ६९) । योऽनाविष्कृतलिङ्गो मन्त्रः स याज्ञो वा स्याद्दैवतो वा । 'विष्णुर्वै यज्ञः' इत्युक्तम् । विष्णुश्च द्वादशादित्येषु परिगण्यते । आदित्यश्च नैरुक्तानां द्युस्थाने समाम्नातः (निघण्टु ५।६) । तस्मादादित्यदैवतः स मन्त्रः स्यात् । अथवा दैवतः स मन्त्रः । देवता अस्मिन्निति । अवशिष्टं देवतात्वमग्नावेव 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (काठसं० १०।१) इति श्रुतेः । अपरिग्रहं च प्रधानगामीति न्यायात् ।

'अथवा वह ऋचा कामदेवता वाली होगी' अर्थात् जिस मन्त्र का देवता स्पष्ट नहीं है, वह गुण-विधि से कामदैवत हो जायगा । किसी एक विशेष देवता का स्पष्ट प्रतिपादन न होने से अन्य की व्यावृत्ति नहीं होगी, क्योंकि ऐश्वर्यशालिता आदि गुण सभी देवताओं में समान रूप से विद्यमान हैं । इसलिये जिनका देवता स्पष्ट प्रतिपादित नहीं है, ऐसे मन्त्रों की देवता अपनी इच्छा के अनुसार कल्पित की जा सकती है । कोई 'काम' नाम वाली देवता उन मन्त्रों की यहाँ नहीं बताई गई है ।

'प्रायोदेवता वा' यहाँ पर प्राय शब्द से अधिकार कहा गया है । जिस देवता के अधिकार में अध्ययन पाठ के अनुक्रम में जो मन्त्र अस्पष्ट लिंग वाला होता है, उसका विनियोग उस अधिकृत देवता में होता है । जैसे कि अग्नि के अधिकार में वर्तमान मन्त्र आग्नेय और इन्द्र के अधिकार में वर्तमान ऐन्द्र होता है । अथवा 'अनृतप्राय देवदत्त है' ऐसा कहने पर जैसे 'बहुत झूठ बोलने वाला' यह अर्थ निकलता है, इसी तरह 'प्रायोदेवता' ऐसा कहने से भी 'बहुत देवता वाला' यह अर्थ निकलता है । इसी प्रकार का व्यवहार लोक में देखा जाता है । लोक में बहुल शब्द की प्रसिद्धि भूयः अर्थ में है । निर्दिष्ट द्रव्यों में जो बच जाता है वह सर्व सामान्य हो जाता है । जैसे कोई गृहस्थ यह द्रव्य देवता के लिये है, यह अतिथि के लिये और यह पितृगण के लिये, ऐसा विभाग करता है और इसमें से जो बच जाता है वह देव, पितृ, मनुष्य साधारण हो जाता है । इसी तरह यहाँ पर भी विद्यमान मन्त्र समूह में से जिन मन्त्रों का देवता लिङ्ग आदि से स्पष्ट आदिष्ट है, तदितर अनादिष्ट देवता वाले मन्त्रों का साधारण, बहुत से देवताओं का समूहभूत 'विश्वेदेव' देवता होगा ।

यहाँ निर्णय क्या हुआ ? इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये कहा गया है कि मन्त्र यज्ञ और देवता के लिये है । जिस मन्त्र का देवता स्पष्ट नहीं है, वह यज्ञ अथवा देवता के लिये होगा । 'यज्ञ विष्णु है' यह कहा गया है । विष्णु की १२ आदित्यों में गणना होती है । निरुक्तकारों ने आदित्य को द्युस्थानीय देवता माना है । इसलिये वह मन्त्र आदित्य देवता का होगा, अथवा अवशिष्ट देवता वाला वह मन्त्र होगा । अवशिष्ट देवता अग्नि माना जाता है । काठक श्रुति में कहा गया है कि अग्नि सर्वदेवमय है । अपरिग्रह प्रधानगामी होता है, ऐसा मीमांसा का न्याय है ।

'यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति' इत्यस्यान्यदपि व्याख्यानं दुर्गाचार्येण कृतम्। यद्दैवतं प्रधानं हविः, यथा प्रकृतावैन्द्रसान्नाय्यं माहेन्द्रं वा (तै० सं० २।६), तत्संस्कारपरा इषे त्वादयः। तेनाविष्कृतदेवतालिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति माहेन्द्रा वा। यद्देवतेऽधिकारे चोदकेन मन्त्राः प्रदिश्यन्ते तद्देवता एव ते भवन्ति। यथा 'कुविदङ्ग' (ऋ० सं० १।१३१।२), इत्यस्य प्राजापत्यग्रहणे विनियोगात् प्राजापत्य एव स मन्त्रो भवति। यज्ञाङ्गं वा इत्याधाराद्यङ्गाभिप्रायेण। 'ऋषभोऽसि शाक्वरः' (मै० सं० १।१।१२) इत्यनाविष्कृतदेवतालिङ्गो मन्त्रः पूर्णं स्रुवासादनमन्त्रः, स्रौवे विनियोगात्, तस्य च प्राजापत्यत्वात् प्राजापत्यो मन्त्रोऽपि भवति।

अथान्यत्र यज्ञाद् यज्ञादन्यत्रोपाकरणब्रह्मयज्ञजपप्रायश्चित्तेषु प्रजापतिदेवताका मन्त्रा ज्ञेयाः। ननु यत्र देवतोद्देश्येनाग्नौ विहितद्रव्यनिक्षेपः कर्तव्यस्तत्रैव देवतान्वेषणमावश्यकं न सर्वत्रेति चेन्न, देवताज्ञानस्य छन्दसामयातयामत्वायानिष्टवारणाय च सर्वत्रापेक्षणीयत्वात्। 'यो ह वा अविज्ञातार्षेयछन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पतति प्र वा मीयते। यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति' इत्यार्षेयब्राह्मणवचनात्। यस्य मते मन्त्रे मन्त्रा एव देवताः, परमेश्वर एव सर्वत्र देवता, तस्य सर्वथाप्यस्य ब्राह्मणस्यासंगतिरेव। तथा चोपाकरणादिकर्मसु प्रजापतिरूपा देवताः, अनिरुक्ततासामान्यात्। अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते। पूर्वं यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते देवतानामार्थपत्यसंबन्धाद् मन्त्रदेवतालक्षणमुक्तम्। तच्चानाविष्कृतदेवताकेष्वपि मन्त्रेषु संविज्ञातदेवतापदाभावाद् देवता कल्प्यते। तत्र कामदेवता कामाधिपतिरेव देवता विज्ञेया।

'यद्दैवतः...भवन्ति' इस वाक्य की दुर्गाचार्य ने एक दूसरी भी व्याख्या की है। प्रधान हवि के अनुसार देवता होती है। जैसे प्रकृति याग में इन्द्र अथवा महेन्द्र को सानाय्य हवि दी जाती है। इसके संस्कार के लिये 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्र हैं। इनके देवता प्रदर्शक लिङ्ग स्पष्ट न होते हुए भी इनका विनियोग इन्द्र अथवा महेन्द्र के लिये होता है। जिस देवता के अधिकार में विधि के द्वारा मन्त्र आदिष्ट होते हैं, वही उनकी देवता होती है, जैसे कि 'कुविदङ्ग' इस मन्त्र का प्राजापत्य हवि के ग्रहण में विनियोग होने से वह मन्त्र प्रजापति देवता का है। 'यज्ञाङ्गं वा' यह पद आधार आदि अङ्गों के अभिप्राय से प्रयुक्त है। 'ऋषभोऽसि शाक्वरः' यह अस्पष्ट लिंग देवता वाला मन्त्र पूर्ण स्रुवासादन का भी मन्त्र है और इसमें (स्रुवसंपाद्य कर्म) विनियुक्त है। यह स्रुवासादन प्रजापति देवता के लिये किया जाता है, अतः यह मन्त्र प्रजापति देवता का भी है।

'अथान्यत्र यज्ञात्' इत्यादि का अभिप्राय है कि यज्ञ से अन्यत्र उपाकरण, ब्रह्मयज्ञ, जप, प्रायश्चित्त आदि में आने वाले मन्त्र प्रजापति देवता वाले होते हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि जहाँ पर किसी देवता को उद्दिष्ट कर अग्नि में विहित द्रव्य की आहुति देना हो, वहीं पर देवता का अन्वेषण आवश्यक है, सब जगह नहीं, क्योंकि छन्दस् अर्थात् मन्त्रों की अयातयामता अर्थात् उनके प्रभाव की अविनश्वरता के लिये और अनिष्ट के निवारण के लिये देवता के ज्ञान की आवश्यकता है। 'जो व्यक्ति मन्त्रों के ऋषि, छन्द, देवता, ब्राह्मण आदि को बिना जाने उनसे यज्ञ कराता है, अथवा उनको पढ़ाता है, वह मूढ बुद्धि हो जाता है, अनिष्ट को प्राप्त करता है, अथवा मृत्यु के मुँह में चला जाता है, इसके मन्त्र प्रभावहीन हो जाते हैं'। यह आर्षेय ब्राह्मण का वचन है। जिसके मत में मन्त्र में मन्त्र ही देवता हैं, परमेश्वर ही सब मन्त्रों के देवता हैं, वहाँ पर इस ब्राह्मण की कोई संगति नहीं बैठती। इस तरह उपाकरण आदि कर्मों में किसी देवता के न कहे जाने से प्रजापति देवता होगा। कहीं पर जो देवता नहीं है, उसकी भी देवता के समान स्तुति की जाती है। पहले 'यत्काम ऋषिः' इत्यादि से कहा गया है कि ऋषि अर्थात् मन्त्र किसी कामना का अधिपति मानकर किसी देवता की स्तुति करता है, उसी के अनुसार उस मन्त्र का देवता होता है, यह देवता का लक्षण बताया गया है। जिन मन्त्रों के देवता नहीं बताये गये हैं, वहाँ पर किसी विज्ञात देवता के अभिधायक पद के न होने से देवता की कल्पना करनी पड़ती है और वहाँ कामदेवता अर्थात् कामना की अधिपति ही देवता जाननी चाहिये।

यत्तु 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति' (नि० ७।१५), 'मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्' (नि० ७।१२) इत्यादीनां व्याख्यानावसरे निगदितम्—'यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति। दीपनाद् दीपनं प्रकाशनम्। द्योतनाद् द्योतनमुपदेशादिकं च। अत्र दानशब्देनेश्वरो विद्वांसो मनुष्याश्च देवता-संज्ञाः सन्ति। दीपनात्सूर्यादयो द्योतनाद् मातृपित्राचार्यातिथयश्च द्युस्थानाः। तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः प्राण-सूर्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः ॥ प्रकाशकान्ममपि प्रकाशकत्वात् परमेश्वर एवात्र देवोऽस्तीति विज्ञेय-मिति' (पृ० ७०), तदपि न संगतम्, यतः 'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्' (ऋ० सं० १।१।१) अस्य मन्त्रस्य व्याख्यानप्रसङ्गेऽग्निविशेषणस्य देवशब्दस्य व्याख्यानार्थं निरुक्तकारो यास्काचार्यो देवलक्षणं व्यनक्ति। तत्राग्निशब्दश्चतुर्दशे खण्डे व्याख्यातः—'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति संनम-मानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतादक्ताद्दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परस्तस्यैषेति'। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। आत्मविद् दृष्ट्या अग्निशब्दस्य परमात्मैवार्थः। याज्ञिकानां दृष्ट्या लोकवेदप्रसिद्धः कर्माङ्गभूतो देवता विशेषोऽग्निर्विवक्षितः। विशिष्टस्थानकर्मा मध्यमोत्तमाभ्यां ज्योतिर्भ्यामन्यः पार्थिवोऽग्निरिति नैरुक्तदृष्टिः, 'अग्निः पृथिवीस्थानः' इति निरुक्तवचनात्। अर्थात् पृथिव्येवास्य विशेषतः स्थानं नान्तरिक्षं न द्यौः।

तत्रात्मवित्पक्षे सर्वमभिधानमात्मार्थमेवेति सर्वा व्युत्पत्तयस्तत्र संगच्छन्ते। याज्ञिकपक्षेऽग्रणीत्वादग्निः सर्वेष्वर्थेष्वसावात्मानमग्रं नयति सर्वत्र तथोपकरोति यथाग्रं सम्पद्यते। अथवा 'अग्निर्वै देवानां सेनानीः' इति रीत्याप्यैश्वर्य्यशाली देवविशेषोऽग्निः सिद्धयति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयत इति रीत्या आहवनीयादिः प्रत्यक्षसिद्धो

'दान, दीपन और द्योतन के कारण तथा द्युस्थानीय होने से देवता कहलाता है', 'मनन से मन्त्र तथा छादन से छन्दःपद बनता है' इत्यादि निरुक्त वाक्यों की व्याख्या करते समय कहा गया है कि—'अपने स्वत्व को हटाकर दूसरे के स्वत्व की स्थापना को दान कहा गया है। दीपन का अर्थ है प्रकाशन। उपदेश आदि द्योतन पद से अभिहित होते हैं। यहाँ पर दान पद से ईश्वर, विद्वान् और देवता कहलाते हैं। दीपन पद से सूर्य प्रभृति और द्योतन पद से माता, पिता, आचार्य और अतिथि देवता कहे जाते हैं। 'द्युस्थानः' पद का अर्थ है कि द्यौ की, अर्थात् सूर्य की किरणें अथवा प्राण, सूर्य आदि जिसके निवास का स्थान है'। यह पूरा व्याख्यान असङ्गत है, क्योंकि 'अग्निमीळे०' इत्यादि मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर अग्नि पद के विशेषण देव पद की व्याख्या करने के लिये निरुक्तकार यास्काचार्य देवता का लक्षण कहते हैं। वहाँ पर चतुर्दश खण्ड में अग्नि पद की व्याख्या है। 'इसको अग्नि क्यों कहते हैं ? इसलिये कि यह अग्रणी होता है, यज्ञ में सबसे पहले इसी का विधान होता है, जहाँ इसका विधान होता है, वहाँ पर यह अन्य विनियुक्त पदार्थों को अपना अङ्ग बना लेता है, साथ ही यह अक्नोपन होता है, अर्थात् स्थूल दृष्टि वालों से स्नेह नहीं करता। शाकपूणि आचार्य के मत से अग्नि शब्द तीन आख्यातों से बनता है। अर्थात् अक्त, दग्ध और नीत पदों से अकार, गकार, और निकार का ग्रहण करके यह शब्द बनता है। 'विप्र गणों का कहना है कि वह एक ही अनेक रूप धारण करता है' इस ऋङ्मन्त्र के अनुसार आत्मविद् की दृष्टि से अग्नि शब्द का अर्थ परमात्मा है, यही अर्थ याज्ञिकों की दृष्टि से लोक और वेद में भी है। यज्ञ-याग आदि कर्मों का अङ्गभूत देवता विशेष अग्नि एक ऐसा देवता है, जिसका कि कोई विशिष्ट स्थान अथवा कर्म विवक्षित नहीं है, यह मध्यम और उत्तम ज्योति से भिन्न पार्थिव अग्नि है, यही नैरुक्त दृष्टि है। 'अग्नि पृथिवीस्थान देवता है' यह निरुक्तकार का कहना है, अर्थात् इस अग्नि का पृथिवी ही विशेष स्थान है, अन्तरिक्ष और आकाश नहीं।

इनमें आत्मविद् के पक्ष में सारे नाम आत्मा के ही अवबोधक हैं, अतः सारी व्युत्पत्तियाँ उसी दृष्टि से की जाती हैं। याज्ञिक पक्ष में यह अग्नि अग्रणी होने से सभी बातों में यजमान को आगे ले जाता है, सभी स्थानों पर ऐसी सहायता करता है कि वह आगे पहुँच जाता है। अथवा 'अग्नि देवताओं का सेनापति है' इस श्रुतिवाक्य के अनुसार ऐश्वर्यशाली देवता विशेष को अग्नि

यज्ञाग्निरेवाग्निपदार्थः । अङ्गं नयति संनममानः । यत्रायं संनमयति साधनत्वेन वैदिके लौकिके वा कर्मणि तत्रात्मानमेव प्रधानीकृत्य सर्वमन्यदात्मनोऽङ्गतां नयति । अथवा तृणे काष्ठे वा यत्र संनमयत्याश्रयति तदात्मनोऽङ्गतां नयति, आत्मसात्करोति । एतादृशोऽग्निः प्रत्यक्ष आहवनीयादिरेव । अक्नोपनं निरुक्षीकरणं निस्नेहनमपि तत्रैव संभाव्यते । एति दहति देवेभ्यो हवींषि नयति । एवंदर्थानुकूलाः सर्वा आग्नेय्य ऋचः । नहि तादृशेऽग्नौ देवशब्दस्य त्वत्कृता अर्थाः संगच्छन्ते । नहि द्युस्थानत्वं तस्य संभवति, तस्य पृथिवीस्थानत्वात् । आह्वादित्यरश्मिषु प्राणसूर्यादिषु वा तदीयं स्थानं संभवति । तेन निरुक्तविरुद्ध एव त्वदर्थः । द्योतनस्योपदेशपरत्वमपि नार्थः, द्योततेर्दीप्त्यर्थकत्वात् । नहि मनुष्या देवसंज्ञा भवन्ति, देवतानां माहाभाग्यान्मनुष्याद् वैशिष्ट्यवोधनात् । तस्माद् दुर्गाचार्योक्त एवार्थो युक्तः । देवो दानादैश्वर्यशालित्वादसौ यजमानेभ्योऽभीष्टं ददातीत्यग्निर्देवः । दीपनाद् दीपयति प्रकाशयति तेजोमयत्वात् । द्योतनात् स्वयं प्रकाशकत्वादपि देवोऽग्निः । सामान्यं हि द्यौः स्थानं देवतानां तयोस्तु कर्माधिकारस्थाने विशिष्टे पृथिव्यन्तरिक्षे । अर्थैकत्वेऽपि निर्वचनभेददर्शनार्थं वा ।

यत्तु—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' (कठ० ५।१५) इत्युक्तरीत्या परमेश्वर एवोपास्यः' (पृ० ७१) इत्युक्तम्, तदपि न, सगुणस्य तस्य परमेश्वरस्योपास्यत्वेऽपि निर्गुणस्योपास्यत्वानुपपत्तेः, मनोबुद्ध्यविषयत्वात्, 'नेदं यदिदमुपासते' (केनोपनिषदि) इति विरोधाच्च । कथं तं भान्तमनुभातीति तु नोक्तम् । शुद्धो मन्त्रार्थस्त्वेवम्—तत्र सर्वभासकभासके सच्चिदानन्दात्मके

कहा जाता है । 'यज्ञ में आगे प्रणयन होता है' इस निर्वचन के अनुसार आहवनीय आदि प्रत्यक्षसिद्ध यज्ञाग्नि ही यहाँ पर अग्नि पद का अर्थ है । 'अङ्गं नयति संनममानः' इसका अर्थ है कि जिस वैदिक अथवा लौकिक कर्म में साधन के रूप में इसका संनमन होता है, वहाँ पर यह अग्नि अन्य सारी वस्तुओं को अपना अंग बना लेता है । अथवा तृण अथवा काष्ठ में जिसको यह अपना आश्रय बनाता है, उसको अपना अंग बना लेता है, आत्मसात् कर लेता है । ऐसा अग्नि प्रत्यक्षसिद्ध आहवनीय ही हो सकता है । अक्नोपन अर्थात् स्नेहनभाव, चिक्कणता आदि को दूर कर रूक्षता (रूखापन) का संपादक भी वहीं हो सकता है । यह अग्नि ही यज्ञ में आकर हवि ग्रहण करता है और उसको देवताओं के पास ले जाता है । इस अर्थ से अनुकूलता रखने वाली सारी आग्नेय ऋचायें हैं । इस अग्नि में आपके द्वारा किये गये देव शब्द के अर्थों की संगति नहीं बैठती । वह अग्नि द्युस्थानीय नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ पर वह पृथिवीस्थानीय देवता है । आदित्यरश्मि, प्राण, सूर्य आदि में भी उसका स्थान नहीं है, इस प्रकार आपका किया गया अर्थ निरुक्त प्रतिपादित अर्थ का विरोधी है । द्योतन का अर्थ उपदेश करना भी नहीं होगा, क्योंकि द्युत् धातु का अर्थ दीप्ति है । मनुष्य कभी देवता पद से नहीं कहे जाते । देवता महाभाग्यशाली हैं, अतः उनमें मनुष्यों की अपेक्षा वैशिष्ट्य रहता है । इसलिए इस निरुक्त प्रकरण का दुर्गाचार्य का किया गया अर्थ ही ठीक है । दान के कारण देव है । अग्नि अपने ऐश्वर्य के बल से यजमान को अभीष्ट फल देता है, अतः वह देव है । दीपन के कारण भी वह देव है, तेजोमय होने से वह सब वस्तुओं को प्रकाशित करता है । द्योतन अर्थात् स्वयं प्रकाश होने से भी अग्नि देव है । देवताओं का सामान्य स्थान आकाश है, किन्तु पृथिवी और अन्तरिक्ष भी कर्म और अधिकार के संपादक होने से इनके स्थान हैं । इन सबका अर्थ अन्ततः एक ही है, किन्तु भिन्न-भिन्न निर्वचन दिखाने की दृष्टि से ये भेद किये गये हैं ।

'वहाँ पर न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारागण ही । यह विद्युत् भी वहाँ प्रकाशित नहीं होती, तो यह अग्नि कैसे प्रकाशित होगी ? उस ब्रह्म, परमात्मा के प्रकाशित होने पर ही अन्य सब कुछ प्रकाशित होता है । उसी के प्रकाश से ये सूर्य-चन्द्र आदि सब पदार्थ प्रकाश ग्रहण कर प्रकाशित होते हैं ।' इस काठक श्रुति के अनुसार परमेश्वर ही उपास्य है, यह बात कही गई है । किन्तु यह ठीक नहीं है । यद्यपि सगुण परमेश्वर की उपासना हो सकती है, किन्तु मन और बुद्धि का विषय न होने से निर्गुण की उपासना संभव नहीं । 'जिसकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्म (परमात्मा) नहीं है' इस श्रुति वचन से उक्त अर्थ का विरोध भी है । इस मन्त्र का शुद्ध अर्थ यह है—'सभी प्रकाशों के प्रकाशक सच्चिदानन्दात्मक उस ब्रह्म के विषय में सूर्य-चन्द्र आदि प्रकाश नहीं

ब्रह्माणि सूर्यादयो न भान्ति, तेषां पराग्वस्तुप्रकाशकत्वात् । तं भान्तमनु ते भान्ति । यथाऽऽलोकादौ भासमाने एव नीर्ल-पीतादीनि रूपाणि भान्ति, तथैव स्वप्रकाशरूपिणि ब्रह्माणि भासमान एव सूर्य्यादीनां भानम् । अत एवान्तरप्रकाशा-संसर्गे निद्रादौ सत्यपि सूर्ये न तद्भानं संभवति, यथा वा दर्पणे भासमान एव तद्गतप्रतिबिम्बभानं भवति, तथा चिद्रूपे दर्पणे भासमान एव प्रतिबिम्बस्थानीयाः सूर्य्यादयो भान्ति, अधिष्ठानस्फूर्त्यैव कल्पितानां स्फूर्तिमत्त्वात् ।

यत्तु 'नैतद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्' (यजु ४०।४) इत्यत्र देवशब्देन मनःषष्ठानीन्द्रियाणि गृह्यन्ते । तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थविद्योतकत्वादिति (पृ० ७१), तदपि न युक्तम्, इन्द्रियेषु हि देवगतद्योतनगुण-योगाद् गौणमेव देवत्वम्, शौर्यक्रौर्यगुणयोगाद् देवदत्तादिषु सिंहपदप्रयोगवत् । मन्त्रार्थस्तु—एतत्परमात्मतत्त्वं देवा इन्द्रियाणि नाप्नुवन् न प्रकाशयन्ति, तस्य रूपादिराहित्येन तेषामविषयत्वात् । तस्य तेभ्यः पूर्वमेव अर्शत् सर्वत्र प्राप्तत्वात् । दयानन्दस्तदीयाश्च कण्वशाखाया वेदत्वं न मन्यन्ते । 'अर्शत्' इति पाठस्तु काण्वशाखीय एव । तदभिमते वेदे तु 'अर्षत्' इत्येव पाठः । यदपि चोक्तम्—'स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनम्' इति, तदपि तुच्छम्, गुणवर्णन एव स्तौतेः प्रसिद्धत्वात् । दोषकीर्तनं तु निन्दैव भवति । अन्यथा परमेश्वरस्तुतेस्त्वयाप्यङ्गीकारात्तत्र दोषा अपि कीर्तितव्याः स्युः । न च तत्रास्ति दोषलेशोऽपि, तस्यासङ्गत्वेन नित्यनिरस्तसर्वदोषत्वात् ।

यत्तु 'परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डं प्रत्यस्ति, उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति । कस्मात्? तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते' (पृ० ७२), तदपि निःसारम् । कोऽयं नियम इत्यस्या-निरूपितत्वात् । पूर्वं तु गुणकीर्तनरूपा स्तुतिः प्रकृता ततः पूर्वं परमेश्वरस्य मुख्यदेवत्वम् । किञ्च, त्वद्रीत्या तु वायु-

कर सकते, क्योंकि ये तो बाहरी वस्तुओं के प्रकाशक हैं । उस ब्रह्म के प्रकाशित होने के बाद ही वे प्रकाशित होते हैं । जैसे आलोक के प्रकाशित होने पर ही नील, पीत आदि रूप दिखाई देते हैं, उसी तरह स्वयंप्रकाश स्वरूप ब्रह्म के प्रकाशित होने पर ही सूर्य-चन्द्र आदि का भान होगा । इसीलिए इस भीतरी प्रकाश से संपर्क न रहने के कारण ही निद्रा आदि अवस्थाओं में सूर्य के रहते हुए भी उनका भान नहीं होता । अथवा जैसे दर्पण के रहने पर ही दर्पण में वर्तमान प्रतिबिम्ब का भान होता है, उसी तरह चिद्रूप दर्पण के प्रकाशित होने पर ही प्रतिबिम्बस्थानीय सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं । अधिष्ठान की स्फूर्ति से ही तन्निष्ठ अन्य कल्पनाएँ उद्भूत हो सकती हैं ।

'सबसे आगे पहुँचे हुए इस परमात्मा तक इन्द्रियाँ नहीं पहुंच सकतीं' यहाँ पर देव शब्द से मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ परिगृहीत हैं । क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और सत्य-असत्य इत्यादि अर्थों का इनसे प्रकाश होता है ।' यह कथन भी ठीक नहीं है । इन्द्रियों में देवगत द्योतन गुण के योग से गौण देवत्व है, जैसे कि शौर्य, क्रौर्य आदि गुणों के रहने से देवदत्त आदि के लिये सिंह पद का गौण प्रयोग किया जाता है । मन्त्र का अर्थ यह है—इस परमात्मतत्त्व को देव अर्थात् इन्द्रियाँ नहीं प्रकाशित कर सकतीं । उसके रूप आदि से रहित होने से वह उन इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता । वह परमात्मा उन इन्द्रियों से पहले ही सर्वत्र व्याप्त हो जाता है । दयानन्द और उनके अनुयायी काण्व शाखा को वेद नहीं मानते । 'अर्शत्' यह पाठ काण्व शाखा का है । उनके अभिमत वेद में 'अर्षत्' यह पाठ है । यह कहना भी कि गुण और दोष का कीर्तन स्तुति है, ठीक नहीं है । स्तुति पद से केवल गुणों का वर्णन ही सर्वत्र अभिप्रेत है । दोष का वर्णन करना तो 'निन्दा' पद से अभिहित होता है । अन्यथा आपकी व्याख्या के अनुसार यहाँ यदि परमात्मा की स्तुति की गई है, तो उनके दोषों का वर्णन भी यहाँ होना चाहिये था । परमात्मा में तो उसके असंग होने से, सदा सब दोषों से रहित होने से दोष के लवलेश की भी आशंका नहीं है ।

'परन्तु यह नियम कर्मकाण्ड में ही है । इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही उपासना काण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड के निष्काम भाग में सबका इष्टदेव है, स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने योग्य है, क्योंकि वहाँ पर उसी की प्राप्ति की प्रार्थना की जाती है' यह कथन भी निःसार है । यह नियम क्या है, इसका पहले निरूपण नहीं किया गया है । पहले गुणकीर्तन रूप

जलशुद्ध्यादिरेव कर्मफलम्, न स्वर्गपशुपुत्रादिकं न वेष्टविषयभोगप्राप्तिः। अतस्तत्र (सकामकर्मकाण्डभागे, इष्टभोगप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यतु इति रिक्तं वचः। किञ्च, इष्टभोगप्राप्तिरग्निहोत्रादिकर्मणां फलम्। परमेश्वरप्रार्थनाया वा कर्मणां फलत्वे त्वदीयपूर्वोक्तिविरोधः। ईश्वरप्रार्थना फलं चेत्तदा तस्या एव फलं न सकामकर्मफलमिति सर्वथाप्यसम्बद्धमेवैतत्।

यदपि—'अत्र प्रमाणम्—माहाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। कर्मजन्मानः, आत्मजन्मानः। आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य' (नि० १।४)। कस्मिन्नर्थे इदं प्रमाणमिति तु दयानन्द एव जानीयात्। पूर्वं तु परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति। सकामे कर्मकाण्डेऽपि स एव प्रार्थ्यते। नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोऽस्तीति। प्रकृतप्रमाणभूतवचने त्वात्मनो माहाभाग्यमन्येषां देवानां तत्प्रत्यङ्गत्वम्। तेषां कर्मजन्मत्वं भक्तिजन्मत्वं तेषां रथादीनामात्मरूपत्वमुक्तम्। कथमत्र प्रमाणप्रमेयभाव इति विद्वांस एव विवेचयन्तु। अत्रात्मनो बहुधा स्तुतिरुच्यते। त्वद्रीत्या स्तुतौ दोषकीर्तनमप्यावश्यकं कथं परमेश्वरे तत्संभाव्यते।

यदपि तद्व्याख्यान उक्तम्—'सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यदेवतात्वमस्ति। कुतः? आत्मनो माहाभाग्यादर्थात् सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणत्वात्। न तस्याग्रे कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति। कुतः? सर्ववेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वत्र व्याप्त्यस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति। अस्मादन्ये ये देवा उक्ता वक्ष्यन्ते च ते सर्वे एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गानि अङ्गं अङ्गं प्रत्यञ्चन्तीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन् देशे प्रकाशिताः सन्ति। ते च कर्मणा जायन्ते, तस्मात्कर्मजन्मानः, आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च भवन्ति। अत्रैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम्। स एवाश्वा

स्तुति का प्रकरण है। उससे भी पहले परमेश्वर ही मुख्य देवता है, इसका विचार है। दूसरी बात यह है कि आपकी पद्धति से कर्मकाण्ड का फल वायु, जल आदि की शुद्धि है, स्वर्ग, पशु, पुत्र, इष्ट विषय का भोग आदि नहीं। अतः सकाम कर्मकाण्ड भाग में इष्ट भोग की प्राप्ति के लिये परमात्मा की प्रार्थना की जाती है, यह कहना व्यर्थ है। इष्ट भोग की प्राप्ति अग्निहोत्र आदि कर्मों का फल है। ईश्वर की प्रार्थना को ही यदि कर्मों का फल माना जाय तो आपके पूर्व कथन से उसका विरोध होगा। ईश्वर की प्रार्थना ही यदि फल है, तब यह उसी का फल होगा, सकाम कर्म का फल नहीं, यह बात सर्वथा असंबद्ध है।

पुनः कहा गया है कि 'माहाभाग्याद्०' इत्यादि निरुक्त वचन इसमें प्रमाण है। इसका यह अर्थ है कि—'देवता के परम ऐश्वर्यशाली होने से एक ही परमात्मा की अनेक रूपों में स्तुति की जाती है। एक परमात्मा के ही अन्य देवतागण अंग होते हैं। इनका कर्मों का फल देने के लिये और सृष्टि के सम्पादन के लिये अलग-अलग विभाग होता है। इस देव का आत्मा ही रथ होता है, आत्मा ही घोड़े, आत्मा ही आयुध और आत्मा ही बाण आदि सब कुछ होता है।' यह किस अर्थ में प्रमाण है, इसको दयानन्द ही जान सकते हैं। पहले परमेश्वर को ही इष्टदेव माना गया है। सकाम कर्मकाण्ड में भी उसी की प्रार्थना है। ईश्वर अर्थ का त्याग कहीं नहीं होता, यही वेद का अभिप्राय है। प्रकृत में जिस वचन का प्रमाण दिया जाता है, इसमें परमात्मा की परम ऐश्वर्यता और अन्य देवताओं की उसके प्रति अंगता प्रतिपादित है। उनकी कर्मजन्यता, शक्तिजन्यता और रथादि की आत्मरूपता कही गई है। इस बीच यहाँ पर प्रमाण-प्रमेयभाव कहाँ से आ गया, विद्वान् लोग ही इस पर विचार करें। यहाँ पर परमात्मा की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। आपकी पद्धति से स्तुति में दोष का कीर्तन भी आवश्यक है, भला परमेश्वर में दोष कैसे हो सकता है?

उक्त निरुक्त वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'सभी व्यवहार के उपयोगी देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये, किन्तु एक परमेश्वर की ही करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया गया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित होते हैं। इनका जन्म और कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से होता है और इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान अश्व अर्थात् शीघ्र सुखप्राप्ति का कारण, आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु और

गमनहेतवः, स आयुधं विजयावहम्, इषवो बाणा दुःखनाशका स एवास्ति । तथा चात्मैव देवस्य सर्वस्वमस्ति, अर्थात् सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताऽधिष्ठाता मङ्गलकारी वर्तते । नातः परं किञ्चिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम्' (पृ० ७२), तदप्यसंगतम् । पूर्वं तु त्वया मन्त्रा एव देवतापदवाच्या इत्युक्तम् । इदानीं तु गौणा मुख्या बहुविधा देवता अङ्गीक्रियन्ते । 'स्तूयते' इत्यस्य उपासना विहिताऽस्तीति कुतो ज्ञायते । किमीश्वरोपासनायामीश्वरदोषाणामप्युपासनं भविष्यति । अत्रान्ये देवास्तस्यात्मनः प्रत्यङ्गानि भवन्ति, इत्यपि त्वदीयपूर्वापरोक्तिविरुद्धम् । किञ्च, त्वद्रीत्या न केवलं देवा एव सर्वमपि जगत् कर्मजन्म आत्मजन्म च भवति, तत्र देवेषु को विशेषः ? त्वद्रीत्या ईश्वर एव देवानां रथाश्वादयो भवन्ति । ईश्वर आयुधेषुरूपोऽपि भवति । किञ्च, त्वद्रीत्या नहि परमेश्वर एव सर्वोपादानम्, येन तस्य तद्रूपता स्यात्, प्रकृतेरुपादानत्वाङ्गीकारात् । तथा च कथं परमेश्वरस्यैव रथाश्वादिरूपता ।

दुर्गाचार्यादिसंमतस्त्वस्य निरुक्तवाक्यस्यार्थ इत्थं ज्ञातव्यः—'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' इत्युक्तम् । यत्र स्फुटमदेवता देवतावत् स्तूयन्ते, तत्र मन्त्रदेवतालक्षणं न संघटते । यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि (निघण्टु ५।३) । एतस्मिन्नर्थेऽश्वादीनि सत्त्वानि, अक्षादीनि द्रव्याणि । अश्वादीनि नातीतमनागतं च जानन्ति, हिताहितमपि न प्रतिपद्यन्ते । तानि कथमभिष्टुतानि स्तोतुरर्थस्याधिपतित्वं करिष्यन्ति । स्तुतिनिन्दे अपि न जानन्ति । अश्वादिषु कथञ्चिद्विज्ञानवत्त्वेऽप्यक्षादिषु तदपि न संभवति । किञ्च, यथा लोके मनुष्याणामनित्यानामश्वादयोऽर्था भवन्ति, तथैव देवतानामपि चेन्द्राग्निसूर्यप्रभृतीनामुपकरणं हरिरोहिद्धरित्प्रभृतयोऽश्वाः । तस्मादुभयेषामप्युपकरणोपकर्तव्यतासामान्यान्मनुष्याश्ववदनित्यत्वमेव देवतादीनामिति शङ्कायाः समाधानार्थमुच्यते—माहाभाग्याद् देवताया एकस्त्वात्मा बहुधा स्तूयते यस्मात्तस्मात् सर्वं

इषु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्ट गुणों को छेदन करने वाला शस्त्र है, सो एक परमेश्वर ही है । क्योंकि परमेश्वर ने जिस जिसमें जितना-जितना दिव्य गुण रक्खा है, उसका उतना ही उन द्रव्यों का देवपन है, अधिक नहीं । इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सबका उत्पादन, धारण और मुक्ति को देने वाला है' (पृ० ७३) । यह सब असङ्गत है । पहले आपने मन्त्रों को ही देवता कहा है और अब गौण, मुख्य भेद से बहुविध देवता का प्रतिपादन करते हैं । 'स्तूयते' इसका अर्थ 'उपासना विहित है' यह कैसे ज्ञात हुआ ? क्या ईश्वर की उपासना में उसके दोषों की उपासना भी विहित होगी । यहाँ पर दूसरे देवता उस परमात्मा के अंग-प्रत्यंग हैं, यह कथन भी आपकी पहले और बाद की उक्तियों के विरुद्ध है । आपके मत से न केवल देवताओं का, अपि तु सारे जगत् का ही कर्मजन्म और आत्मजन्म होता है, तो फिर देवताओं में क्या विशेषता आई । आपकी व्याख्या के अनुसार ईश्वर ही देवताओं का रथ आदि होता है । ईश्वर आयुधरूप, बाणरूप भी माना गया है । आपकी पद्धति से परमेश्वर ही सबका उपादान नहीं है कि उसकी बाण आदि आयुध की उपादानता हो, प्रकृति को ही सबका उपादान माना गया है । तब फिर परमेश्वर की ही रथ, अश्व आदि स्वरूपता कैसे होगी ।

इस निरुक्त वाक्य का दुर्गाचार्य प्रभृति के द्वारा स्वीकृत अर्थ इस प्रकार होगा—जिस किसी वस्तु को चाहता हुआ ऋषि अर्थात् मन्त्र जिस देवता की स्तुति करने से उसके प्रसाद से मुझे अमुक वस्तु मिल जायगी, इस प्रकार अपने में अर्थपतित्व मानकर उसकी स्तुति करता है, वही उस मन्त्र का देवता है, यह कहा गया है । जहाँ पर यह स्पष्ट है कि यह देवता नहीं है, तो भी उसकी देवता के समान स्तुति की जाती है, वहाँ पर मन्त्र देवता वाला लक्षण सङ्गत नहीं होता, जैसे कि अश्व से लेकर ओषधि पर्यन्त नामों के विषय में कहा जा सकता है । इस प्रसङ्ग में अश्व प्रभृति प्राणियों और अक्ष प्रभृति द्रव्यों का उदाहरण है । अश्व प्रभृति अतीत और अनागत को नहीं जानते और न हित तथा अहित का ही निर्णय कर सकते हैं । इनकी स्तुति करने पर ये कैसे स्तावक को अर्थ का अधिपतित्व प्रदान करेंगे । ये स्तुति और निन्दा को भी नहीं जानते । अश्व आदि पशुओं में यह विज्ञान मान भी लिया जाय तो अक्ष आदि में वह भी नहीं है । दूसरी बात यह कि जैसे लोक में अनित्य मनुष्यों के अश्व प्रभृति विषय भी अनित्य होते हैं, उसी तरह इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि के उपकरणभूत अश्व हरि, रोहित्, हरित आदि होंगे । इसलिये उपकरण और उपकार्य गुणों की समानता के कारण मनुष्यों के अश्वों के समान ये देवताओं के अश्व भी अनित्य होंगे । इस शङ्का के समाधान के लिये कहा जाता है कि देवता के परमैश्वर्य सम्पन्न होने से एक

संगतमेव । भज्यत इति भाग ऐश्वर्यम्, महांश्चासौ भागो महाभागस्तस्य भावो माहाभाग्यम् । 'अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमेव च । ईशित्वं च वशित्वं च यत्रकामावसायिता ॥' महतैश्वर्येण भज्यते, महदेतदैश्वर्यं भजत इति वा महाभागा देवता । माहाभाग्यादेव हेतोरेकः सन् देवतात्मा बहुधा प्रकृतिविकृतिभेदेन स्तूयते । तथा च मन्त्रवर्णः—'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'. (ऋ० सं० ३।५३।८) । अत्र देवतात्मनो नानात्वमपि श्रूयते ।

देवतालक्षणं च यथालक्ष्यं प्रवर्तते । दृष्टानुविधानाच्छन्दसः । संवादसूक्तानि च कयाशुभादीनि । मरुदादिसंवादव्यपदेशाच्च देवतानानात्वव्यवस्था । न च तन्निराकरणं युक्तम् । तिस्र एव देवता····अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः । तेषां हविर्वहनरसानुप्रदानरसादानानि कर्माणि च तेषां त्रित्वं गमयन्ति । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' (ऋ० सं० १।१६४।४६) एवमादयो मन्त्रास्तेषामैकात्म्यं चाहुः । तदप्यशक्यनिराकरणम् । माहाभाग्यादेव सर्वत्र समाधानम् । तथाहि—एकस्य देवतात्मनः माहाभाग्यात् प्रकृतिरूपेणैकात्म्यम्, अप्रकृतिरूपेण नानात्वम् । चेतनाचेतनविकरणधर्मित्वादात्मानं विकुर्वतोऽस्यान्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । तथा चाग्नीन्द्रसूर्याणां परस्परापेक्षया भिन्नत्वम्, एकेनात्मना देवतात्मना महताऽनन्यत्वं च । यथा घटशरावोदञ्चनादीनां परस्परं भेदो मृदात्मना चाभेद इति तद्वत् । नहि प्रकृतिमनपेक्ष्य विकारा भवन्ति, न वाधिष्ठानमनपेक्ष्य प्रत्यधिष्ठानानि । तस्मादग्नीन्द्रसूर्या एकस्यात्मनोऽङ्गानि जातवेदोवायुभगप्रभृतीनि शकुन्यश्वप्रभृतयश्च प्रत्यङ्गानि भवन्ति । स एव महान् देवतात्मा माहाभाग्यान्निरतिशयैश्वर्यवत्त्वादग्नीन्द्रसूर्याद्यङ्गप्रत्यङ्गभावेन व्यूहमनुभवन्नेकोऽपि सन् बहुधा स्तूयते । तत्र सत्त्वानामश्वादीनां स्तवैः प्रकृतिरेव स्तूयते ।

ही आत्मा की अनेक रूपों में स्तुति की जाती है । अतः सब कुछ सही है । 'भज्यते' इस व्युत्पत्ति से भाग शब्द का अर्थ ऐश्वर्य होगा, महान् ऐश्वर्य महाभाग होगा, इस प्रकार का जिसका स्वभाव है, वह महाभाग्य कहलावेगा । अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायिता इन महान् ऐश्वर्यों में जो विभक्त है, अथवा जो इन ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है, वह देवता महाभाग कहलाता है । इसी गुण के कारण वह देवता एक होते हुए भी प्रकृति, विकृति के भेद से अनेक प्रकार से स्तुतियोग्य होता है । 'इन्द्र अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है' ऋग्वेद के इस मन्त्र में देवता के अनेक रूप भी बताये गये हैं ।

लक्ष्य के अनुसार ही लक्षण प्रवृत्त होता है । यही स्थिति देवता के लक्षण की भी है । वेद में भी लौकिक दृष्टान्त के अनुसार ही विधि विवेचित होती है । 'कयाशुभा' प्रभृति संवाद सूक्त भी इन्द्र, मरुत् आदि के नाम से व्यपदिष्ट होने से नाना देवताओं की व्यवस्था में प्रमाण हैं । इनका निराकरण नहीं किया जा सकता । तीन ही देवता हैं—अग्नि पृथिवीस्थान, वायु अथवा इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान और सूर्य द्युस्थान है । इनके हवि का वहन करना, रस को ग्रहण करना और रस को वापस करना ये तीन काम उनकी तीन संख्या के गमक हैं । 'इसको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं' इस तरह के मन्त्र उनकी एकता के प्रतिपादक हैं । इनका भी निराकरण नहीं हो सकता । देवता का पारमैश्वर्य ही इनका समाधान है, इसका यह अभिप्राय है कि एक ही देवता में पारमैश्वर्य के कारण प्रकृतिरूप से एकात्मता है और विकृति रूप से नानात्व । चेतन, अचेतन सब विकार हैं । जब एक देवता विकरणधर्मा बनकर अपने में से अन्य देवताओं को उद्भूत करता है तो वे उसके प्रत्यंग बन जाते हैं । इससे अग्नि, इन्द्र और सूर्य की परस्पर भिन्नता रहते हुए भी एक महान् देवता के रूप में अभिन्नता है । जैसे कि घट, शराव आदि का परस्पर भेद होते हुए भी इन सबके मिट्टी के बने होने से अभिन्नता है । प्रकृति की अपेक्षा के बिना विकार नहीं होते और न अधिष्ठान को छोड़कर प्रत्यधिष्ठान की ही सत्ता है । इसलिये अग्नि, इन्द्र, सूर्य एक महान् आत्मा के अङ्ग हैं और जातवेद, वायु, भग तथा शकुनि, अश्व आदि उस महान् आत्मा के प्रत्यंग होते हैं । इस प्रकार यह महान् देवतात्मा निरतिशय ऐश्वर्यशाली होने से अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि अङ्ग-प्रत्यङ्ग भाव से नानात्व का अनुभव करते हुए भी एक ही रहता है । यहाँ अश्व प्रभृति प्राणियों की स्तुति एक प्रकार से उस महान् आत्मा की ही स्तुति है ।

तत्रापि केचित् परमेश्वर एव मुख्यो देवता। केचित्तु प्राणात्मको हिरण्यगर्भ एव, 'स एव महानात्मा सत्तालक्षणस्तत्परं तद्ब्रह्म स भूतात्मा सैषा भूतप्रकृतिः' (नि० १४।३) इति वचनात्। 'कतम एको देवः स ब्रह्म इत्याचक्षते'। ब्रह्मरूपोऽप्येकदेवः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इति श्वेताश्वतरश्रुतेः। तथा च अपरब्रह्मरूपो हिरण्यगर्भ एको देवः, परब्रह्मरूपः परमात्मैको देवः। प्रकृतिभूमभी ऋषयः स्तुवन्ति। प्रक्रियन्तेऽस्यां सर्वे विकारा इति प्रकृतिः। एको देवतात्मा, तस्याः प्रकृतेर्भूमा वहुत्वम्। अनेकधा स्थावरजङ्गम-रूपेण विपरिणामः। प्रकृतेर्भूमानि वहुत्वानि यानि सत्त्वानां तैरनन्यविषयत्वं पश्यन्तः कार्यकारणयोरनन्यत्वात् कारणमहिमभिस्तान्यश्वादीन्यभिष्टुवन्ति देवात्मविदः। तद्यथा—'द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षम्' (मै० सं० २।७।२)। आत्मैव सर्वं स्थावरजङ्गममित्यवेक्ष्याश्वमेधे 'मूलेभ्यः स्वाहा शाखाभ्यः स्वाहा' (मै० सं० ३।१२।७)। तथा च तेन तेन वैशेषिकेण स्थावरजङ्गमात्मना प्रकृतेरभिन्नेनावस्थानेनावस्थितो महान् देवतात्मै-वेज्यते, अदेवताया यागानर्हत्वात्। तेन नादेवता देवतावत् स्तूयन्ते, किन्तु महान् देव एव विविधरूपेण स्तूयते, प्रकृति-सार्वनाम्यात्तदुपपत्तेः। नमनं नतिर्वा नाम, सर्वत्वेन नाम सर्वनाम, तस्य भावः सार्वनाम्यम्। यस्मान्माहाभाग्यात् प्रकृतिः सर्वत्वेन परिणता तस्मान्नैता अदेवता देवतावत् स्तूयन्ते।

यच्च—हरिरोहिद्धरितादीनामिन्द्रादीनां मनुष्यत्ववत्प्रतीतिरिति तन्न, देवताधर्मस्य मनुष्यधर्मविपरीत-त्वात्। मनुष्याणामनैश्वर्याद् देवतानां चैश्वर्य्यात्। दयानन्दस्तदीयाश्च विदुषो मनुष्याणां देवत्वमङ्गीकुर्वन्ति, तच्चैतद्विरुद्धमेव। कथं तदेवाह—इतरेतरजन्मानः। देवा ऐश्वर्याद् इतरेतरप्रकृतयः, नहि मनुष्याणामियं शक्ति-रनैश्वर्यात्। मनुष्याणां हि पिता पुत्रं जनयतीति पिता प्रकृतिः, न पुत्रः पितरं जनयितुं शक्नोति। देवतानां त्वग्नेः

यहाँ पर कुछ आचार्य परमेश्वर को ही मुख्य देवता मानते हैं और अन्य आचार्य प्राणात्मक हिरण्यगर्भ को। 'यह सत्ता लक्षण महान् आत्मा है। उससे आगे ब्रह्म की स्थिति है। वह भूतात्मा, सब भूतों की प्रकृति है' यह वचन इसमें प्रमाण है। 'वह एक देव कौन है? ब्रह्म' यह भी कहा जाता है। ब्रह्म रूप भी एक देव है। 'यह एक देव सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी है, सब भूतों का अन्तरात्मा है' यह श्वेताश्वतर श्रुति इसमें प्रमाण है। इस तरह अपर ब्रह्म रूप एक देव है और परब्रह्म रूप परमात्मा भी एक देवता है। ऋषिगण प्रकृतिभूमा के रूप में इसकी स्तुति करते हैं। एक देवतात्मा यहाँ प्रकृति कही गयी है, क्योंकि इसमें से ही सब विकार निकलते हैं, पर देवतात्मा रूप प्रकृति अनेकधा स्थावर, जंगम रूप से परिणत होती है। प्रकृति से प्राणियों की जो अनन्तता निष्पन्न होती है, उस अनन्तता को प्रकृति से अभिन्न देखते हुए देवात्मवित् कार्य और कारण की अभिन्नता होने से कारण की महिमा का आरोप कर अश्व प्रभृति सत्त्वों की भी स्तुति करते हैं। जैसे कि 'आकाश तुम्हारा पृष्ठ है, पृथिवी घर और अन्तरिक्ष आत्मा' इस मैत्रायणी श्रुति में किया गया है। सब स्थावर जंगम पदार्थ आत्मा ही हैं, यही देख कर अश्वमेध यज्ञ में मूल और शाखा के लिए भी हवि दी जाती है। इस तरह उस-उस विशेष स्थावर-जंगम रूप को धारण करने पर भी उसके प्रकृति से अभिन्न होने के कारण एकात्मना अवस्थित वह महान् देव ही सर्वत्र पूजित होता है, क्योंकि जो देवता नहीं होता, वह याग के योग्य नहीं है। इस प्रकार जो देवता नहीं है, उसकी देवता के समान पूजा नहीं होती, किन्तु एक महान् देवता ही विविध रूपों में स्तुत होता है। प्रकृति सार्वनाम्य से भी इसकी उपपत्ति होती है। नमन अथवा नति को नाम कहते हैं, सब तरह से नाम को सर्वनाम कहा जाता है और इस सर्वनाम के स्वभाव को सार्वनाम्य कहा गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यतः यह परम ऐश्वर्यशालिनी परमात्मा रूप प्रकृति ही सभी रूपों में परिणत होती है, अतः इन सबका नमन अदेवता के रूप में न होकर देवता के रूप में ही है।

हरि, रोहित्, हरित आदि इन्द्रादि के अश्वों की प्रकृति मनुष्य लोक के अश्वों के सदृश मानना भी गलत है, क्योंकि देवता और मनुष्यों के धर्म भिन्न-भिन्न होते हैं। मनुष्यों में ऐश्वर्य का अभाव है, जब कि देवगण ऐश्वर्यशाली हैं। दयानन्द एवं तदनुवर्ती विद्वान् मनुष्यों को ही देवता मानते हैं। यहाँ का प्रतिपादन उनके मन के विरुद्ध ही है। कैसे? यही यहाँ बताया गया है कि इनका जन्म एक दूसरे से भी होता है। देवगण अपने ऐश्वर्य के कारण इतरेतरप्रकृति होते हैं। मनुष्यों में यह सम्भव नहीं है,

सूर्यो जायते 'एष प्रातः प्रसुवति' (मंत्रा० १।५।७), तेन सूर्यस्याग्निः प्रकृतिः। सूर्याच्चाग्निः सायं जायते, तस्मादग्नेः सूर्यः प्रकृतिः। अदितेर्दक्षो दक्षाच्चादितिः (ऋ० १७२।४)। 'कोष्ठचादग्नेर्नाद इन्द्रो वलादिन्द्रान्मथ्यमानोऽग्निः' इत्यध्यात्मेऽपि। तासां माहाभाग्यादनन्तैश्वर्यादेव न मनुष्याणामिवागन्तवोऽश्वादयः, तेषामनागन्तुकत्वात्।

किमर्थं तर्हीश्वराः सन्तो देवा जायन्त इत्यस्य समाधानायोच्यते—कर्मजन्मानः। लोकस्य कर्मफलसिद्धयेऽग्निवायुसूर्या जायन्ते, एतेभ्य ऋते कर्मफलासिद्धेः। तस्मादैश्वर्य्यप्रख्यापनाय लोकानुजिघृक्षया कर्मफलसिद्धये देवा जायन्ते। दयानन्दस्तु कर्मणा जायन्त इत्याह, तन्न युक्तम्, सर्वस्यैव कर्मजन्यत्वेन वैशेष्यानुपपत्तेः।

कुतस्ते जायन्त इत्याशङ्कचाह निरुक्तकारः—आत्मजन्मानः। आत्मा योऽसौ एक आत्मा बहुधा स्तूयते, स स्थितावुपात्तसर्वभूतिः, प्रलये चोपरतसर्वभूतिर्भवति। स एव सर्गकाले षोढात्मानं विभज्य जगद्भावमुपगच्छति। तस्मादेव जायन्ते देवाः। यद्यपि सर्वमपि तस्मादेव जायते, तथापि न कामकारेण। देवास्तु तमेवात्मानं पश्यन्तो योगेन कामकारेण जायन्ते, आत्मनैव वा जायन्त इत्यात्मजन्मानः। लोकानुग्रहाय स्वेच्छयैव देवाः सूर्य्यादयः स्वेनैव जायन्ते, तेषां संकल्पानुविधायित्वात्। न तदनीश्वराणां संभवति। अत एवैषां देवानामेकदेवतात्मनोऽङ्गभूतानामात्मैव रथः, आत्मैवायुधम्, आत्मैवेषवः, आत्मा सर्वं देवस्य। न चैवं मनुष्याणां संभवति। नहि मनुष्यस्यात्मैवाश्वादयो भवन्ति।

एतेनापि मनुष्यादिभ्यो भिन्ना ऐश्वर्यवन्तो देवाः। तस्मादश्वादीनि सत्त्वान्यक्षरथप्रभृतीनि द्रव्याण्यदेवतेति यदुक्तम्, तन्न युक्तम्, देवता एवेमाः। रथादिरूपेण देवतैवात्मानं विकृत्य प्रकृतिभेदेन रथादिसाध्यमर्थं सम्पादयति।

क्योंकि वे अनीश्वर हैं। मनुष्यों में पिता पुत्र को पैदा करता है, अतः पिता पुत्र की प्रकृति है। पुत्र पिता को पैदा नहीं कर सकता। इसके विपरीत देवताओं में अग्नि से प्रातःकाल सूर्य पैदा होता है, इससे सूर्य की प्रकृति अग्नि हुई। वही अग्नि सायंकाल सूर्य से पैदा होती है, तो उस समय सूर्य अग्नि की प्रकृति है। इस प्रकार इनमें एक दूसरे को पैदा करने की सामर्थ्य है। ऋग्वेद में अदिति से से दक्ष और दक्ष से अदिति की उत्पत्ति बताई गई है। 'कोष्ठचादग्ने०' यहाँ अध्यात्म में भी यही बात कही गई है। इनके माहाभाग्य अर्थात् अनन्त ऐश्वर्यशाली होने के कारण ही सूर्य के अश्व मनुष्यलोक की तरह नश्वर न होकर अविनाशी होते हैं।

यदि देवगण निरतिशय ऐश्वर्यशाली हैं, तो फिर ये पैदा क्यों होते हैं, इसका उत्तर निरुक्त में 'कर्मजन्मानः' इत्यादि पद से दिया गया है। लोक में कर्म के फल को देने के लिए अग्नि, वायु, सूर्य आदि उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इनके बिना कर्मफल नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए ऐश्वर्य के प्रख्यापन के लिए, लोक का कल्याण करने के लिए और कर्म का फल देने के लिए देवगण जन्म लेते हैं। दयानन्द का कहना है कि ये देवगण अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न होते हैं, यह ठीक नहीं है। यह सिद्धान्त तो सभी पर लागू है, इससे देवताओं में किसी प्रकार की विशेषता नहीं प्रतीत होती।

ये देवगण कहाँ से पैदा होते हैं? इस आशंका का उत्तर निरुक्तकार ने 'आत्मजन्मानः' पद से दिया है। यह आत्मा, जो कि एक होते हुए भी अनेक प्रकार से स्तुतियोग्य होता है, स्थिति काल में सब प्राणियों की उत्पत्ति करता है और प्रलय काल में सब प्राणियों को अपने में समेट लेता है। वही सृष्टि काल में अपने को छः रूप में विभक्त कर इस जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। उसी से देवगण भी पैदा होते हैं। यद्यपि सब कुछ उसी से पैदा होता है, किन्तु यह मनमाने तरीके से नहीं होता। इसके विपरीत देवगण योगावस्था में अपने को ही देखते हुए इच्छानुसार अपने आप ही पैदा होते हैं। इसीलिये ये आत्मजन्मा कहलाते हैं। लोक पर अनुग्रह करने के लिये अपनी इच्छा से सूर्य प्रभृति देवता अपने आप ही पैदा होते हैं, क्योंकि इनमें सङ्कल्प मात्र से कार्य करने की सामर्थ्य है। अनीश्वरों में यह नहीं हो सकती। इसलिये इन देवताओं का, जो कि एक ही देवता के अङ्गभूत हैं, आत्मा ही रथ, आत्मा ही आयुध, आत्मा ही बाण और आत्मा ही सब कुछ है। ऐसा मनुष्यों में नहीं हो सकता। अश्व प्रभृति ही मनुष्य की आत्मा नहीं हो सकते।

इससे भी मनुष्य आदि से भिन्न ऐश्वर्यशाली देव सिद्ध होते हैं। इसलिये अश्व प्रभृति प्राणी और अक्ष, रथ प्रभृति द्रव्य देवता नहीं हैं, यह कहना ठीक नहीं। ये भी देवता ही हैं। रथादि के रूप में देवता ही अपने को बदल कर प्रकृति के भेद से रथ आदि के

सा तद्रूपा सती रथादिस्तुत्या स्तूयते । तत्स्तुतिसमवेतमर्थमाशासितं स्तोतुस्तेनैव रूपेण साधयितुमलम् । 'माहाभाग्या-देकस्या अपि बहु नामधेयानि' (नि० ७।५) । तासामग्न्यादीनां तिसृणां देवतानामैश्वर्य्ययोगादात्मानमनेकधा विकुर्वती-नामेकैकस्याः प्रतिविकारं नामप्रतिलम्भस्तेनैव रूपेण धारयन्त्यात्मानम् । देवस्येत्यावृत्तिरादरार्था । अतो 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' (नि० ७।१) इत्यस्य मन्त्रदेवतालक्षणस्य सर्वत्राव्याहतत्वाद् युक्तमेव लक्षणत्वम् ।

प्रकृतमनुसरामः । तस्मिन्नेवार्थेऽन्यदपि प्रमाणमुपस्थापयति दयानन्दः—'ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासः बर्हिरासदन् । विदन्नह द्वितासनन् ॥' (ऋ० सं० ६।२।३५।१), 'त्रयस्त्रिंशता स्तुवत भूतान्यशाम्यन् । प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥' (य० १४।३१), 'यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा । निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे । तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥' (अथर्व १०।२३।४।२३, २७), 'स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः । एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते, तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मा-न्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति। तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ कतम आदित्या इति? द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत

द्वारा सम्पाद्य प्रयोजन को पूरा करते हैं । वह देवता ही रथादि रूप में परिणत हुई है, अतः रथादि स्तुति से वह देवता ही स्तुत होती है । उस रथ आदि की स्तुति के प्रसङ्ग में जिस फल की आशा की जाती है, वह उसके देवता रूप के अङ्गीकार करने पर ही सम्भव हो सकती है । माहाभाग्य के कारण एक ही देवता के अनेक नाम हैं । उन अग्नि प्रभृति तीन देवों का, जो कि ऐश्वर्य के कारण अपने को अनेक रूपों में विभक्त करते हैं, एक-एक का प्रत्येक विकार के अनुसार एक नया नाम रख दिया जाता है और उसी नाम और रूप में वे अपनी अलग सत्ता भी रखते हैं । निरुक्त में 'देवस्य' इस पद की आवृत्ति आदर द्योतन के लिये की गई है । इसलिये निरुक्त में 'यत्काम ऋषि०' यहाँ पर किया गया मन्त्र और देवता का लक्षण सभी तरह से निर्दुष्ट होने के कारण सभी मानों में सही लक्षण है ।

अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं । इसी विषय में दयानन्द ने अन्य अनेक प्रमाण दिये हैं । जैसे कि—

तीस संख्या से आगे तीन अर्थात् तैंतीस देवता हमारे यज्ञ में हवि ग्रहण करने हेतु इस कुशा के आसन पर आकर बैठें । वे हवि देने वाले हमको पहचानें और हमको दो प्रकार का धन—सोना और पशु-प्रदान करें ।

प्रजापति ने तैंतीस माध्यमों से स्तुति की तो सारे प्राणी शान्त हो गये और इस प्रकार सत्यलोक में प्रजापति परमेष्ठी बन गये ।

जिसकी निधि अर्थात् खजाने की तैंतीस देवता सदा रक्षा करते हैं, उस निधि को कौन जानता है, जिसकी कि देवता रक्षा करते हैं । जिसके तैंतीस देवगण शरीर और उसके अंगों का विभाजन करते हैं, उन तैंतीस देवताओं को कुछ एक ब्रह्मविद् ही जानते हैं ।

उसने कहा कि यह तो देवताओं की महिमा है कि वे अनेक रूपों में दिखाई देते हैं, वास्तव में तो देवता तैंतीस ही हैं । वे तैंतीस कौन-कौन से हैं ? आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य इस प्रकार ये इकतीस हुए । इन्द्र और प्रजापति मिलकर ये तैंतीस होते हैं ।

आठ वसु कौन-कौन से हैं ? अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ वसु हैं । इन्हीं में यह सारा धन रक्खा हुआ है, ये ही सबको बसाते हैं । ये जो सबको यथा स्थान बसा देते हैं, अतः वसु कहलाते हैं ।

एकादश रुद्र कौन-कौन से हैं ? पुरुष में निवास करने वाले ये दस प्राण और ग्यारहवीं आत्मा । ये जब इस मर्त्य शरीर से निकलते हैं, तो संबन्धियों को रुला देते हैं । ये जो रुला देते हैं, अतः रुद्र कहलाते हैं ।

आदित्याः। एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ।। कतम इन्द्रः ? कतमः प्रजापतिः ? स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिः । कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । कतमो यज्ञः ? पशव इति ।। कतमे ते त्रयो देवा इतीमे एव त्रयो लोकाः । एषु हीमे सर्वे देवा इति । कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्च । कतमोऽध्यर्ध इति ? योऽयं पवत इति ।। तदाहुः— यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति ? यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति ? स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ।।' एतान्यपि प्रमाणानि न दयानन्दमतपोषकाणि । स तु मन्त्रा एव देवतापदवाच्या इति वक्ति, क्वचित्परमेश्वरः, क्वचिद् मनुष्या एव देवाः । इह तु तद्विपरीतमेवानेके देवा उक्ताः। समासव्यासरूपेण तेषामेकत्वमनेकत्वं च निगदव्याख्यातम्। व्याख्यातानि च कतिचिद्वचनानि तेन। अथैषामर्थः— वेदमन्त्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम् । शाकल्यं प्रति याज्ञवल्क्योक्तिस्त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः सन्ति । अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिश्च ।

तत्र वसवः—अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षमादित्यः, द्यौः, चन्द्रमा, नक्षत्राणि च । एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति । आदित्यः सूर्यलोकस्तस्य प्रकाशोऽस्ति । द्यौः सूर्यसन्निधौ पृथिव्यादिषु वा । अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव । कुत एते वसव इति ? यद्यस्मादेतेष्वष्टस्वेव इदं सर्वं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति । किञ्च, सर्वेषां वासाधिकरणानीमे एव लोकाः सन्ति । हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्तस्मात् कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञकाः सन्ति ।

येऽस्मिन् देहे प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्मः, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्चेमे दश प्राणाः, एकादशम आत्मा, सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति । कुत एते रुद्रा इत्यत्राह—यदा मरणधर्मकाच्छरी-

द्वादश आदित्य कौन-कौन से हैं ? वर्ष के बारह मास ही द्वादश आदित्य हैं । ये इस सारे जगत् को लेकर चलते हैं । यह जो लेकर चलते हैं, अतः आदित्य कहलाते हैं ।

यह इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ? यह स्तनयित्नु अर्थात् विद्युत् ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है । स्तनयित्नु का ही दूसरा नाम अशनि अर्थात् वज्रपात है और ये पशु ही यज्ञ कहलाते हैं ।

वे तीन देवता कौन से हैं ? ये तीन लोक ही तीन देवता हैं, क्योंकि इन्हीं तीन लोकों में सब देवता रहते हैं । दो देवता कौन से हैं ? अन्न और प्राण ये दो देवता हैं । एक और आधा देवता कौन हैं ? यह जो बहता है, अर्थात् पवन । इस प्रसंग में कहते हैं कि यह तो एक ही है, फिर इसको आधा और एक कैसे कहते हैं ? इस पवन में ही यह सब निहित है, अतः यह अध्यर्ध कहलाता है । एक देवता कौन सा है ? वह एक देवता 'ब्रह्म' नाम से अभिहित होता है ।

ये सब प्रमाण भी दयानन्द के मत को पुष्ट नहीं कर सकते । वे कहीं कहते हैं कि मन्त्र ही देवता हैं और कहीं वे परमेश्वर को तथा मनुष्य को देवता मानते हैं । इसके विपरीत यहाँ पर अनेक देवों का प्रतिपादन किया गया है । संक्षेप और विस्तार से उनके एकत्व और अनेकत्व का उल्लेख करते हुए व्याख्या की है । कुछ वचनों की उन्होंने स्वयं व्याख्या की है :—

'अब इनका अर्थ किया जाता है । वेद मन्त्रों का ही अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, यह जान लेना चाहिये । शाकल्य को याज्ञवल्क्य कहते हैं कि तैंतीस हो देवता हैं । आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ।

इनमें वसु ये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र । इन आठ को 'वसु' नाम दिया गया है । सूर्यलोक और उसका प्रकाश आदित्य कहलाता है । द्यौ सूर्य के पास अथवा पृथिवी प्रभृति में स्थित है । अग्निलोक ही अग्नि है । इनको वसु क्यों कहा जाता है ? क्योंकि इन आठ में ही यह सब पदार्थ विद्यमान हैं । इन लोगों में ही सब प्राणियों का निवास होता है और क्योंकि ये ही इस सारे जगत् को बसाते हैं, इसलिये ये अग्नि प्रभृति आठ देवता 'वसु' कहलाते हैं ।

जो इस देह में प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय ये दस प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा ये सब मिलकर एकादश रुद्र होते हैं । ये रुद्र क्यों कहलाते हैं ? जब ये मरणशील शरीर से निकलते हैं तो मृतक के सम्बन्धियों

रादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनान् रोदयन्ति तस्मादेते रुद्राः। चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वादश मासा आदित्या विज्ञेयाः। कुतः ? हि यतः, एते सर्वं जगदाददानाः, अर्थादा समन्ताद् गृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति। चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति। तस्मादादित्यसंज्ञा कृतास्ति।

इन्द्रः परमैश्वर्य्ययोगात् स्तनयित्नुरशनिर्विद्युदिति। प्रजापतिर्यज्ञः पशव इति। प्रजापालनहेतुत्वात् पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणी संज्ञा। एते त्रयस्त्रिंशद्देवा भवन्ति। देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या ह्येतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम्'।

'त्रयो लोकास्त्रयो देवाः। के त इत्यत्राह निरुक्तकारः—'धामानि त्रयाणि भवन्ति, स्थानानि नामानि जन्मानीति' (नि० ९।२८), 'त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः' (श० ब्रा० १४।४।३।११) एतेऽपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः। द्वौ देवावन्नं प्राणश्च। अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद् वायुर्देवः। किमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीत्याह—नैव, किन्तु स ब्रह्म यत्सर्वजगकर्तृ सर्वशक्तिमत् सर्वस्येष्टं सर्वाधारं सर्वव्यापकं सर्वकारणम् अनादि सच्चिदानन्दरूपमजं न्यायकारीत्यादिविशेषणं ब्रह्मास्ति, स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदान्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः, स एव सर्वैरुपास्यः। ये वेदोक्तमार्गपरायणास्ते सर्वदैव तस्योपासनं चक्रुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। अस्माद्भिन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्य्यत्वमेव मनुष्येषु सिद्ध्यतीति निश्चयः' (पृ० ७५) इति, तदपि न युक्तम्, तात्पर्यानवबोधात्, प्रकरणविरोधाच्च।

मन्त्रार्थस्तु—ये त्रिंशति त्रिंशत्संख्यायाः परः परस्तात् त्रयः त्रयस्त्रिंशद्देवता इत्यर्थः। ये देवासः देवा बर्हिः अस्मदीययज्ञसम्बन्धिनि बर्हिषि हविःस्वीकरणार्थमासदन आसीदन्तु। अथानन्तरं ते देवा विदन् हविषां प्रदातृ-

को रुला देते हैं, इसलिये इनको रुद्र कहते हैं। चैत्र से लेकर फाल्गुन पर्यन्त बारह महीने आदित्य कहलाते हैं। क्यों ? इसलिये कि ये बारह मास सारे जगत् को चारों तरफ से समेट कर अपने साथ प्रतिक्षण उत्पन्न हुई वस्तु की आयु को प्रलय के निकट ले चलते हैं। चक्र के समान परिवर्तनशील इस जगत् में एक के बाद दूसरी पैदा हुई वस्तु के अवयवों में क्रम से शिथिलता को पैदा कर ये उनमें परिवर्तन करते रहते हैं। इसलिये इनकी 'आदित्य' संज्ञा है।

परम ऐश्वर्य से संयुक्त होने से इन्द्र ही स्तनयित्नु, अशनि, विद्युत् कहलाता है। प्रजा का पालन करने के कारण यज्ञ और पशु प्रजापति कहलाते हैं। इनकी यह गौण संज्ञा है। ये ही ३३ देवता हैं। 'देवो दानात्' इत्यादि निरुक्त प्रदर्शित निर्वचन के अनुसार इनमें व्यावहारिक देवत्व मानना चाहिये।

तीन लोक हैं, तीन देवता हैं। वे कौन हैं ? इसका उत्तर निरुक्तकार ने दिया है—'धाम तीन होते हैं—स्थान, नाम और जन्म। 'ये ही तीन लोक हैं। वाणी ही पृथिवी लोक है, मन अन्तरिक्ष लोक और प्राण द्युलोक है। इन्हीं को तीन देवता मानना चाहिये। दो देवता अन्न और प्राण हैं। एक और आधा अर्थात् डेढ देवता वायु है, क्योंकि यह सूत्रात्मा के रूप में सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर सारे जगत् की वृद्धि करता है। क्या इन सबकी उपासना करनी चाहिए ? नहीं, केवल एक ब्रह्म ही सारे जगत् का कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वाभिलषणीय, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वकारण, अनादि, सत् चित् आनन्द स्वरूप, अज, न्यायकारी आदि विशेषणों से युक्त है। यह एक देव ही चौतीसवां वेदान्त सिद्धान्त में प्रकाशित परमेश्वर है। इसी की सबको उपासना करनी चाहिये। जो व्यक्ति वेद प्रकाशित मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे सदा इसी एक देव ब्रह्म की उपासना पहले करते थे, आज भी करते हैं और आगे भी करेंगे। इससे भिन्न को इष्ट मानने से अथवा उसकी उपासना करने से मनुष्यों में अनार्यता ही दृष्टिगोचर होगी' यह सब व्याख्यान भी उचित नहीं है। वे इस पूरे प्रकरण का तात्पर्य नहीं समझ सके हैं और की गई व्याख्या प्रकरण के विरुद्ध भी है।

मन्त्रों का सही अर्थ इस प्रकार है—जो तीस संख्या से आगे तीन जोड़ने से तैंतीस बनते हैं, ये देवगण हमारे यज्ञ संबन्धी हवि को ग्रहण करने के लिए कुशा के आसन पर बैठें। इसके बाद ये देवगण हवि देने वाले हमको जानें और दो प्रकार के

नस्मान् जानन्तु द्विता द्विप्रकारं धनं हिरण्यादिकं पश्वादिकं च असनन् अस्मभ्यं प्रयच्छन्तु । ...... । अनेन पौनः-पुन्यं लक्ष्यते । पुनः पुनरस्मभ्यं धनादिकं ददतु । अहेत्यव्ययपदमनुग्रहार्थम्, अनुग्रहदृष्टचाऽस्मान् जानन्त्वित्यर्थः ।

'तद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्याऽकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति स प्राणानब्रवीद् युस्माभिः सहेमाः प्रजाः प्रजनयानीति । ते वै केन स्तोष्यामह इति मया चैव युस्माभिश्चेति । तथैव ते प्राणैश्चेति प्रजापतिना चास्तुवन्' (श० ब्रा० ८।४।३।१-२) इति श्रुत्यनुसारेण प्रजापतिर्वागादिभिः परमात्मानं स्तुत्वा प्रजाः सृष्टवान् । मन्त्रा इमे—एकया तिसृभिः सृष्टिपदाभिधेयेष्टकोपधानम् । त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यासील्लोकं ता इन्द्रमित्यस्य यजुर्मन्त्रस्य त्वयमर्थः—'नवविंशत्याऽस्तुवत' इत्यत्र 'दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या नव प्राणाः' (८।४।३।१७) इति श्रुत्यनुरोधेन करपादाङ्गुलीभिर्नवभिश्छिद्ररूपैः प्राणैः स्तुतिरुक्ता । तथैव 'दशहस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा आत्मैकत्रिंशः' (८।४।३।१८) इति श्रुत्यनुसारेण एकत्रिंशत्स्तुतिरुक्ता । तथैव 'दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयस्त्रिंशः" (८।४।३।१९) इति शतपथ-श्रुत्यनुरोधेनात्रायं निष्कर्षः—प्रजापतिरेकया वाचा सहात्मानमस्तुवत स्तुतवान् । वचनव्यत्ययः । प्रजा अधीयन्त उदपाद्यन्त प्राजापत्यार्थमस्थाप्यन्तेति । सृष्टानां प्रजापतिरेवाधिपतिरासीत् । तिसृभिः प्राणोदानव्यानैरस्तौत् । ब्रह्म ब्राह्मणजातिः सृष्टा प्रजापतिश्च ब्रह्मणस्पतिरभूत् । पञ्चभिः प्राणैरस्तुवत ततो भूतानि सृष्टानि, सप्तभिः सप्तर्षयः, नवभिः पितरः । एवं क्रमेण त्रयस्त्रिंशता दश हस्त्याभिर्दश पाद्याभिरङ्गुलिभिर्दशभिः प्राणैर्द्वाभ्यां प्रतिष्ठाभ्याम् आत्मना च स्तुतवान्, ततः सर्वाणि भूतान्यशाम्यन्, शान्ता अभूवन् । परमे सत्यलोके परमेष्ठी प्रजापतिः सर्वेषां भूतानां पतिरासीत् । नात्र त्रयस्त्रिंशत्संख्यानां देवानां प्रतिपादनम्, पूर्वोक्तशतपथवचनविरोधात् ।

धन—सुवर्ण और पशु—को हमें दें । 'द्विता' इस पद से पौनःपुन्य लक्षित होता है, अर्थात् हमको बार-बार धन दें । 'अह' यह अव्यय पद अनुग्रह के अर्थ में है, अर्थात् अनुग्रह की दृष्टि से हमें देखें ।

'उस प्रजापति ने सब प्राणियों को पाप और मृत्यु से छुड़ाने की कामना की कि प्रजा की सृष्टि करूँ । उसने प्राणों से कहा कि तुम्हारी सहायता से मैं इस प्रजा की सृष्टि करूँ । प्राणों ने पूछा कि हम किससे स्तुति करेंगे तो प्रजापति ने उत्तर दिया कि मुझसे और तुमसे । इसीलिए प्राणों से और प्रजापति से स्तुति की जाती है' इस शतपथ श्रुति के अनुसार प्रजापति वाग् आदि के द्वारा परमात्मा की स्तुति कर प्रजा की सृष्टि करते हैं । ये मन्त्र एक, तीन आदि के क्रम से 'सृष्टि' पद से अभिहित होने वाली इष्टकाओं के उपस्थान के लिये हैं । 'त्रयस्त्रिंशता०' इस यजुर्मन्त्र का यह अर्थ है—'नवविंशति अर्थात् उन्तीस से स्तुति की' यहाँ पर 'दस हाथ की अंगुलियाँ, दस पैर की अंगुलियाँ और नौ प्राण' इस श्रुति के प्रमाण से हाथ और पैर की अंगुलियों और नौ छिद्र रूप प्राणों से स्तुति कही गई है । इसी तरह 'दस हाथ की अंगुलियाँ, दस पैर की अंगुलियाँ, दस प्राण और इकतीसवाँ आत्मा' इस श्रुति के प्रमाण से इकतीस से स्तुति की गई है । इसी तरह 'दस हाथ की अंगुलियाँ, दस पैर की अंगुलियाँ, दस प्राण, दो प्रतिष्ठा और तैंतीसवाँ आत्मा' इस श्रुति के प्रमाण से प्रस्तुत मन्त्र का यह निष्कर्ष है कि प्रजापति ने एक वाणी के साथ अपनी स्तुति की । यहाँ पर बहुवचन एकवचन में परिणत हो जाता है । उसने प्रजा पैदा की, प्राजापत्य प्रयोजन के लिए उपस्थापित की । सृष्ट प्रजा का प्रजापति ही अधिपति था । प्राण, उदान और व्यान इन तीन की सहायता से प्रजापति ने स्तुति की और ब्राह्मण जाति की सृष्टि कर स्वयं ब्रह्मणस्पति हो गया । पञ्च प्राणों से स्तुति कर पंच महाभूतों की, सात से सप्तर्षियों की और नौ से पितरों की सृष्टि की । इसी क्रम में दस हाथ की अंगुलियों, दस पैर की अंगुलियों, दस प्राणों, दो प्रतिष्ठा और एक आत्मा की सहायता से उसने स्तुति की । इसके बाद सारे प्राणी शान्त हो गये । परम सत्यलोक में परमेष्ठी प्रजापति सब प्राणियों का अधिपति था । इस प्रकार यहाँ पर तैंतीस देवताओं का प्रतिपादन नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर पूर्वोक्त शतपथ श्रुति से उसका विरोध होगा ।

अथर्वमन्त्राभ्यां तु त्रयस्त्रिंशद्देवा यस्य स्कम्भस्याङ्ग गात्राणि भवन्तीत्युक्तम्। एतेनापि देवतानां विशिष्टैश्वर्यशालिनीनां हिरण्यगर्भरूपा मुख्यदेवता अन्यास्तदङ्गभूताः सिद्धयन्ति।

शतपथवचनानि तु सर्वथा त्वत्प्रतिकूलान्येव। तानि सर्वाणि वचनानि त एव विषयाः काण्वशाखीये शतपथेऽपि चतुर्दशे काण्डे बृहदारण्यके समायान्ति। तत्र तृतीयाध्याये नवमब्राह्मणगतानीमानि वचनानि। तत्राद्यम्—'अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ। कति देवा याज्ञवल्क्येति। स हैतया निविदा प्रतिपेदे। यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति। स होवाच कत्येव देवा द्वाविति कत्येव....अध्यर्ध इत्योमिति....कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति ....इत्योमिति। कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति' इत्यादिभिर्देवताब्राह्मणं प्रवर्तते। हे याज्ञवल्क्य! कति देवाः सन्ति? याज्ञवल्क्यस्तु एतया निविदा प्रतिपेदे। अर्थाद् वैश्वदेवस्य शस्त्रस्य निविदि यावन्तो देवाः श्रूयन्ते तावन्त इत्युक्तम्। निविन्नाम देवतासंख्यावाचकानि मन्त्रपदानीति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाः। का सा निवित्? इत्याकाङ्क्षायां निवित्पदानि प्रदर्श्यन्ते। त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा, अर्थात् षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रलक्षणा मध्यमा संख्या, व्यासविवक्षया तेषामानन्त्यात्। शाकल्यः समासापेक्षया पुनः पृच्छति—कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति। याज्ञवल्क्यस्तु समासापेक्षयैव त्रयस्त्रिंशदित्याह। एवं प्रश्नोत्तरैः षट् त्रयो द्वौ अध्यर्धः (अर्धाधिकैकः), एक एव देव इत्युक्तम्। ततः शाकल्यः संख्येयस्वरूपं पृच्छति—कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति। याज्ञवल्क्यस्तु त्रयस्त्रिंशतां देवानामेते त्रयश्च त्री च शतेत्यादयो महिमानो विभूतय एव। परमार्थतस्तु त्रयस्त्रिंशदेव देवा इत्याह। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदिति प्रश्ने—अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्ते एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशत्संख्यापूरणौ तदभिप्रायेण त्रयस्त्रिंशदित्युक्तम्।

कतमे वसव इति तेषां प्रत्येकं स्वरूपं पृच्छयते। तत्राह—अग्निश्च, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौः, चन्द्रमा, नक्षत्राणि। प्राणिनां कर्मफलाश्रयत्वेन कार्यकारणसंघातरूपेण तन्निवासत्वेन च विपरिणमन्तो सर्वं जगद वासयन्ति च तस्माद्वसव उच्यन्ते।

अथर्ववेद के ऊपर उद्धृत दो मन्त्रों में भी उस आधारभूत परमेश्वरकाय के ये तैंतीस देवता अंग रूप से प्रतिपादित हैं। इस प्रकार यहाँ पर विशिष्ट ऐश्वर्यशाली देवगण में हिरण्यगर्भ मुख्य देवता और अन्य अंग देवता कही गई हैं।

शतपथ वचन तो सर्वथा आपके प्रतिकूल हैं। ये सब वचन और विषय काण्वशाखीय शतपथ के १४ काण्ड के बृहदारण्यक में भी विद्यमान हैं। वहाँ पर तृतीय अध्याय के नवम ब्राह्मण में ये वचन विद्यमान हैं। वहाँ का पहला वचन 'अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः' इत्यादि है। यह देवताब्राह्मण कहलाता है। इसका यह अभिप्राय है कि 'हे याज्ञवल्क्य! कितने देवता हैं? इस प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य इस निविद् से देते हैं। अर्थात् वैश्वदेव शस्त्र की निविद् में जितने देवता सुने गये हैं, उतने ही देवता हैं। भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है कि देवताओं की संख्या बताने वाले मन्त्रपद 'निविद्' नाम से कहे जाते हैं। यह निविद् क्या है? इस आशङ्का को निवृत्ति के लिये निवित्पद बताये जाते हैं। 'त्रयश्च त्री च' यहां पर देवताओं की मध्यम संख्या ३३०६ बताई गई है, विस्तार करने पर यह संख्या अनन्त हो जायगी। शाकल्य संक्षेप की दृष्टि से पुनः पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य! कितने देवता हैं और इसका उत्तर भी याज्ञवल्क्य संक्षेप की दृष्टि से ही देते हैं कि इनकी संख्या तैंतीस है। इसी प्रकार के प्रश्न और उत्तर में यह संख्या छः, तीन, दो, अध्यर्ध अर्थात् आधे के साथ एक (डेढ़), और अन्त में एक बताई गई है। इसके बाद शाकल्य संख्येय देवता के स्वरूप को पूछते हैं कि इन ३३०६ देवताओं का क्या स्वरूप है! याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यह सब तैंतीस देवताओं की ही विभूतियाँ हैं। वास्तव में देवता तैंतीस ही हैं। ये तैंतीस कौन-कौन से हैं? इस प्रश्न के उत्तर में आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य ये इकतीस देवता हैं। ३३ संख्या की पूर्ति करने वाले इन्द्र और प्रजापति हैं, इसीलिये इनको 'त्रयस्त्रिंशौ' इस द्विवचन से कहा गया है।

'कतमे वसवः' इस प्रश्न से उन आठ वसुओं में से प्रत्येक का स्वरूप पूछते हैं। इसके उत्तर में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये उनके नाम बताये गये हैं। ये वसुगण प्राणियों के कर्मों के फल का आश्रय लेकर कार्य-

कतमे रुद्रा इति प्रश्नस्योत्तररूपेणाह—दशेमे पुरुषे प्राणाः। अत्र पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्येव दश प्राणाः, न प्राणापानादयः। आत्मेति मनो गृह्यते, तथैव श्रीशङ्कराचार्यैर्व्याख्यातत्वात्। षष्ठेऽध्याये बृहदारण्यके—'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः। तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति। तद्धोवाच यस्मिन् वा उत्क्रान्ते इदं शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति। वाग्घोच्चक्राम चक्षुर्होच्चक्राम' इत्यादौ वागादीनामेव प्राणशब्देन ग्रहणात्। 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृहदारण्यक० ४।४।२) इत्यत्र वायुरूपस्य नासिक्यप्राणस्योत्क्रमणानन्तरं वागादीनामेव प्राणानामुत्क्रमणमुक्तम्। ते यदास्माच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति मृतकसम्बन्धिन इति रुद्रा उच्यन्ते।

संवत्सरात्मा कालस्तस्यावयवभूता मासाः पुनः पुनः परिवर्तमानाः प्राणिनामायूंषि कर्मफलं चाददाना यान्ति, तस्मादादित्या उच्यन्ते।

अन्यत्तु स्तनयित्नुर्वज्रं वीर्यं बलं यत्प्राणिनः प्रमापयति स इन्द्रः। इन्द्रस्य हि तत्कर्म तेन न विद्युन्मात्रस्येन्द्रत्वम्। यद्वा अशनिरिन्द्रस्य परमेशता परमैश्वर्यम्। यज्ञः प्रजापतिः। कतमो यज्ञ इति प्रश्नस्योत्तरम्—पशव इति। यज्ञस्य साधनानि पशवः, यज्ञस्यामूर्तत्वात् साधनातिरिक्तरूपाभावाद्यज्ञस्य पश्वाश्रयत्वाच्च पशवो यज्ञ इत्युच्यते, कारणे कार्योपचारात्। दयानन्दस्तु—'प्रजापालनहेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणी संज्ञा' (पृ० ७५) इत्याह, तत्तूपेक्ष्यमेव। प्रकृते पशूनां यज्ञत्वमेवोक्तं न प्रजापतित्वम्। प्रजापतिस्तु सूत्रात्मत्वात्समष्टिकर्मरूप एव, सर्वेषां कर्मणां तदाश्रयत्वाच्च। कर्मसु यज्ञ एव श्रेष्ठतमं कर्म। तस्माद्यज्ञस्य प्रजापतिरूपत्वं युक्तमेव। द्रव्यं देवता च कर्मणो रूपं

कारण की परम्परा के रूप में, उनमें सब प्राणियों के निवास के रूप में परिणत होकर सारे जगत् को बसाते हैं और स्वयं भी बस कर वसु कहलाते हैं।

'कतमे रुद्राः' इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—'पुरुष में वर्तमान ये दस प्राण' इत्यादि। यहाँ पर पञ्च कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही दस प्राण हैं, प्राण, अपान आदि नहीं। आत्मा शब्द से मन गिना जाता है। ऐसी ही व्याख्या शङ्कराचार्य ने की है। बृहदारण्यक के छठे अध्याय में—'मैं ही बड़ा हूं, आपस में इस विवाद के उठ खड़े होने पर ये प्राण ब्रह्म के पास गये और उनसे पूछा कि हममें कौन बड़ा है? ब्रह्म ने कहा कि जिसके निकल जाने पर यह शरीर अपवित्र मान लिया जाता है, वही तुम में बड़ा है। पहले वाणी निकली, फिर चक्षु निकला' इत्यादि श्रुति में वाणी प्रभृति ही प्राण शब्द से गृहीत हैं। 'उस आत्मा के उत्क्रमण करते समय, अर्थात् शरीर छोड़ते समय प्राण उसके पीछे चला और प्राण के निकल जाने पर अन्य सब प्राण भी उसके साथ निकल जाते हैं' इस बृहदारण्यक श्रुति में वायुरूप नासिकावर्ती प्राण के उत्क्रमण के बाद वाग् आदि प्राणों का उत्क्रमण बताया गया है। ये वाक् प्रभृति प्राण जब इस शरीर से निकलते हैं तो मृतक के सम्बन्धी जनों को रुला देते हैं, इसलिए ये रुद्र कहलाते हैं।

संवत्सर रूपी काल और उसके अवयव भूत मास बार-बार परिवर्तित रूप में चक्र के समान आते जाते हुए प्राणियों की आयु और कर्म को भी अपने साथ लेते जाते हैं, इसलिए 'आदित्य' नाम से अभिहित होते हैं।

स्तनयित्नु वज्र को कहते हैं, इसकी सहायता से जो अपने वीर्य-बल से प्राणियों को मार डालता है, वह इन्द्र कहलाता है। यह इन्द्र का कार्य है, अतः केवल विद्युत् को इन्द्र नहीं कहा जा सकता। अथवा अशनि का अर्थ इन्द्र का परम ऐश्वर्य है। यज्ञ प्रजापति है। 'कतमो यज्ञः' इस प्रश्न के उत्तर में पशुओं को यज्ञ कहा गया है। पशु यज्ञ के साधन हैं। यज्ञ अमूर्त है, साधन के अतिरिक्त इसका कोई स्वरूप नहीं है और यज्ञ पशु पर आश्रित है, अतः कहा जाता है कि पशु यज्ञ है। यहाँ पर कारण में कार्य का औपचारिक प्रयोग होता है। दयानन्द ने यहाँ कहा है कि प्रजा का पालन कर सकने के कारण पशु और यज्ञ को यहाँ पर गौण रूप से प्रजापति कहा गया है, यह ठीक नहीं। प्रस्तुत स्थल में पशु को यज्ञ कहा गया है, प्रजापति नहीं। समष्टि कर्मरूप सूत्रात्मा ही प्रजापति है। वह इसलिये भी प्रजापति है कि सभी प्राणियों के कर्म तदाश्रित हैं। कर्मों में यज्ञ ही सर्व श्रेष्ठ कर्म है। इसलिये यज्ञ की प्रजापति रूपता ठीक ही है। द्रव्य और देवता यही कर्म का स्वरूप है, द्रव्य और देवता से ही कर्म के स्वरूप का निरूपण होता है। इनमें देवता

भवति, ताभ्यामेव तन्निरूपणात्। तत्रापि देवता त्वतीन्द्रिया एव भवति। द्रव्यस्येन्द्रियगम्यत्वाद् युक्तमेव पशूनां यज्ञनिरूपकत्वाद्यज्ञरूपत्वम्।

कतमे षडित्यग्निः पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च षडेते हीदं सर्वं षडिति। अग्न्यादयो ये वसुत्वेन पठितास्त एव चन्द्रमसं नक्षत्राणि च वर्जयित्वा षड् भवन्ति। एतेष्वेव सर्वेऽन्तर्भवन्ति। कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोकाः। पृथिवीं चाग्निं चैकीकृत्यैको देवः, अन्तरिक्षं च वायुं चैकीकृत्य द्वितीयः, दिवं चादित्यमेकीकृत्य तृतीयः। अत एव तिस्र एव देवता इति केचिन्नैरुक्ताः। कतमौ द्वौ इत्यस्योत्तरम् अन्नं च प्राणश्च। अनयोः सर्वेषामन्तर्भावः। कतमोऽध्यर्ध इत्यस्योत्तरं योऽयं पवत इति। तदाहुर्यदयमेक इवैव पवते, कथमध्यर्धः, अर्धाधिकैक इति यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्धः। तत्राहुः केचिच्चोदका यदयं वायुरेक एव पवते, अत्र कथमिवाध्यर्धः? इवेत्यस्य कथमित्यनेन संबन्धः। तस्योत्तरम्—अस्मिन् वायौ इदं सर्वमध्यार्ध्नोद् ऋद्धिं प्राप्नोति तस्मात् स अध्यर्ध इत्युच्यते। एको वायुरर्धे सर्वमिदं तस्मादर्धाधिकैको देवः। प्राणस्यातत्वादेकत्वमन्नस्य भोग्यत्वादर्धत्वमिति। दयानन्देन तु मौनमेवावलम्बितमत्र।

कतम एको देव इति प्राण इत्युत्तरम्। स ब्रह्मेति स प्राणो ब्रह्म, सर्वदेवात्मकत्वात्तन्महत्। तेन स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते। त्यदिति परोक्षाभिधायकेन शब्देनेति श्रीशाङ्करभाष्यम्। तस्य परोक्षत्वात् प्रतिपत्तौ प्रयत्नगौरवार्थं कथयतीत्यानन्दगिरिः। दयानन्दस्तु ब्रह्मपदेनात्र परमात्मानमेव मनुते। तच्च न युक्तम्, स इत्यनेन सामानाधिकरण्यात्। नहि प्राण एव परमात्मा, तस्यापरब्रह्मत्वात्। समष्टिसूक्ष्मप्रपञ्चविशिष्टश्चेतनो हिरण्यगर्भः। सूक्ष्मशरीरे बुद्धेः प्राधान्याद्धिरण्यगर्भत्वम्, प्राणस्य प्राधान्यात् सूत्रात्मत्वम्। यदि ब्रह्मपदार्थः परमात्मैवेष्यते, तदा कथं तेन

अतीन्द्रिय है, द्रव्य ही इन्द्रियगम्य है। अतः साक्षात् पशु के द्वारा ही यज्ञ के स्वरूप का अवबोध होने से पशु को यज्ञ मानना उचित ही है।

'कतमे षट्' इस प्रश्न के उत्तर में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ ये छः पदार्थ गिनाये हैं। ये ही सब कुछ हैं। अग्नि प्रभृति का पहले वसुओं में परिगणन किया गया है। इनमें से चन्द्रमा और नक्षत्रों को निकाल देने से छः होते हैं। इन्हीं में सबका अन्तर्भाव हो जाता है। वे तीन देवता कौन से हैं? ये तीन लोक ही तीन देवता हैं। पृथिवी और अग्नि को मिलाकर पहला, अन्तरिक्ष और वायु को मिलाकर दूसरा, द्यौ और आदित्य को मिलाकर तीसरा लोक बनता है। इसलिये कुछ निरुक्तकार तीन ही देवता मानते हैं। दो देवता कौन से हैं? इसका उत्तर है अन्न और प्राण। इन्हीं दो में सबका अन्तर्भाव हो जाता है। डेढ देवता कौन सा है? इसका उत्तर है पवन। 'तत्राहुः·····तेनाध्यर्धः' इस श्रुति का यह अभिप्राय है कि कुछ लोग पूछते हैं कि पवन तो अकेला ही बहता है, तो इसको डेढ किस प्रकार कहा गया है? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि इस पवन के बहने से ही यह सब कुछ ऋद्धि, समृद्धि की ओर बढ़ता है, इसलिये इसको 'अध्यर्ध' (डेढ) कहा जाता है। पवन एक है और आधे में सब कुछ है, इसलिये यह देवता एक न कहला कर डेढ कहा गया है। प्राण की सर्वत्र व्याप्ति के कारण एकता है और उसमें आधा भाग भोग्य अन्न का है। दयानन्द ने तो इसकी व्याख्या न कर मौन ही धारण कर लिया है।

एक देवता कौन सा है? इसका उत्तर है कि प्राण। यह प्राण ही ब्रह्म है। यह ब्रह्म सर्वदेवात्मक होने से महान् है। इसलिये यह ब्रह्म 'त्यत्' कहा जाता है। श्रीशांकरभाष्य में 'त्यत्' को परोक्ष का अभिधायक शब्द माना है। आनन्दगिरि का कहना है कि उस ब्रह्म के परोक्ष होने के कारण उसको जानने के लिये विशेष प्रयत्न की अपेक्षा है, यही 'त्यत्' शब्द से जाना जाता है। दयानन्द तो यहाँ पर ब्रह्म पद से परमात्मा का ग्रहण करते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ पर तत्पद से सामानाधिकरण्य है। प्राण ही परमात्मा नहीं है, क्योंकि वह तो अपर ब्रह्म है। सूक्ष्म प्रपंच का समष्टिभूत चेतन हिरण्यगर्भ कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर में जब बुद्धि का प्राधान्य रहता है, तो वह हिरण्यगर्भ और प्राण के प्राधान्य में सूत्रात्मा कहलाता है। यदि ब्रह्म पद का अर्थ परमात्मा

प्राणस्य सामानाधिकरण्यम्। नहि सोऽयं देवदत्त इतिवत्तयोः सामानाधिकरण्यं संभवति, भिन्नयोस्तदसंभवात्। नापि मृद्घट इतिवत्कार्यकारणभावमूलकं सामानाधिकरण्यम्, मृद्घटयोरिवोपादानोपादेयतानङ्गीकारात्। नापि सर्पो रज्जुरिति बाधसामानाधिकरण्यं संभवति, सामाजिकैस्तयोरधिष्ठानाधेयभावानङ्गीकारात्।

दयानन्दस्तु 'किंमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीति' प्रश्नमुत्थाप्य 'नैव किन्तु' इत्युक्त्वा 'स ब्रह्म' इति प्रतीकमुद्धृत्य 'यत्सर्वजगत्कर्तृ सर्वशक्तिमत् सर्वस्येष्टं ···ब्रह्मास्ति, स एवैकश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्यः' (पृ० ७५) इति वक्ति। तत्र स इतिपदेन प्रकृतः कतम एको देव इति प्रकृतं प्राणमुपेक्ष्य परमात्मग्रहणं निर्मूलमेव। 'कतमो एको देव इति ? स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' इत्यत्र कतम उपास्य इति प्रश्नस्योत्थापयितुमशक्यत्वाद्वैदिकशब्दबाह्यत्वाच्च।

नवमब्राह्मणस्य प्रथमप्रघट्टक एव—'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य, त्रयस्त्रिंशदित्योमिति कत्येव षडित्योमिति त्रय इत्योमिति कत्येव द्वावित्योमिति कत्येव अध्यर्ध इत्योमिति कत्येव देवः याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति'। एवं क्रमेण संख्यासम्बन्धीनि प्रश्नप्रतिवचनानि दृश्यन्ते। तदनन्तरं संख्येयस्वरूपसम्बन्धीनि प्रश्नप्रतिवचनानि द्वितीये प्रघट्टके कतमे त्रयस्त्रिंशदिति प्रश्नस्य प्रतिवचनरूपेण अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इन्द्रश्च प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशावित्युक्तम्। तृतीये कतमे वसव इति प्रश्नस्योत्तरम्। चतुर्थे कतमे रुद्राः, पञ्चमे कतम आदित्याः, षष्ठे कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरित्येतेषामुत्तरम्। सप्तमे कतमे षड् इत्यस्योत्तरम्। अष्टमे कतमे त्रयः कतमौ द्वौ कतमोऽध्यर्ध इत्येषां प्रश्नानामुत्तरम्। नवमे कतम एको देव इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरम्। नात्र मध्येऽकस्मादेतत् किमेते सर्वे एवोपास्या सन्तीति प्रश्नः संभाव्यते, प्रकृतपरित्यागाप्रकृतप्रक्रिययोः प्रसङ्गात्।

माना जाता है, तो उसके साथ प्राण का सामानाधिकरण्य कैसे बनेगा। 'यह वही देवदत्त है' यहाँ जैसे 'यह' और 'वह' शब्द से बोधित देवदत्त का सामानाधिकरण्य बनता है, वैसा सामानाधिकरण्य प्राण और परमात्मा के भिन्न होने से नहीं बन सकता। मिट्टी और घड़े के समान कार्यकारणमूलक सामानाधिकरण्य भी नहीं बन सकता, क्योंकि उस तरह का उपादान और उपादेय भाव प्राण और परमात्मा का नहीं बनता। सर्प और रज्जु के समान यहाँ पर बाध सामानाधिकरण्य भी नहीं बन सकता, क्योंकि आर्यसमाजियों ने प्राण और परमात्मा में अधिष्ठान और अधिष्ठेय भाव भी नहीं माना है।

दयानन्द ने तो यहाँ पर 'क्या इन सबकी उपासना करनी चाहिये' ऐसा प्रश्न कर 'नहीं किन्तु' ऐसा कह कर 'स ब्रह्म' इस प्रतीक को उद्धृत कर 'जो सब जगत् का कर्ता, सर्व शक्तिमान्, सबका इष्ट, सबको उपासना के योग्य, सबका धारण करने वाला, सबमें व्यापक और सबका कारण है·······वही ब्रह्म है। वहां अकेला चौतीसवां देव वेदादि शास्त्रों में प्रकाशित है। इसी परमेश्वर देव की सब मनुष्यों को उपासना करनी चाहिये' ऐसा कहा है। यहाँ पर 'स' इस पद से प्रकृत में कौन एक देवता है ? प्रसंग से प्राप्त प्राण को छोड़कर परमात्मा का ग्रहण करना निर्मूल है। 'एक देव कौन है ? वह ब्रह्म त्यत् कहलाता है' यहाँ पर किसकी उपासना करनी चाहिये ? यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा और ऐसा करना वैदिक शब्दों में बाहरी अर्थ की खींचतान करना ही माना जायगा।

नवें ब्राह्मण के पहले प्रघट्टक में ही 'हे याज्ञवल्क्य ! कितने देवता हैं ? तैंतीस, हाँ। कितने देवता हैं ? छः, हाँ। तीन, हाँ। कितने हैं ? दो, हाँ। कितने हैं ? डेढ, हाँ। हे याज्ञवल्क्य, कितने देवता है ? एक, हाँ।' इस क्रम से संख्या संबन्धी प्रश्न और उत्तर विद्यमान हैं। उसके बाद द्वितीय प्रघट्टक में संख्येय के स्वरूप के संबन्ध में प्रश्न और उत्तर दिये गये हैं। कितने ? तैंतीस, इस प्रश्न के उत्तर में आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ये तैंतीस है, ऐसा उत्तर दिया गया है। तीसरे प्रघट्टक में वसु कितने हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है। चतुर्थ में रुद्र कितने हैं ? पाँचवें में आदित्य कितने हैं, छठे में इन्द्र कैसा है ? और प्रजापति कैसा है ? इन प्रश्नों के उत्तर हैं। सप्तम में छः कौन से हैं ? इसका उत्तर है। अष्टम में तीन, दो और डेढ कौन कौन से हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर है। नवे प्रघट्टक में एक देव कौन है ? इसका उत्तर है। इस बीच में अकस्मात् ही क्या इन सबकी उपासना करना चाहिये ? यह प्रश्न नहीं उठ सकता। इस प्रकार प्रकृत बात का परित्याग और अप्रकृत का परिग्रहण का दोष दयानन्द की व्याख्या में आता है।

किञ्च, 'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' इति वाक्यस्य व्याख्यानमेव तेन न कृतम्। मध्ये 'धामानि त्रयाणि स्थानानि नामानि जन्मानि' इत्यादीनि निरुक्तवाक्यानि समुत्थाप्य तद्व्याख्यानमकृत्वैव कतमे ते त्रय इत्यादिव्याख्यानमारब्धम्। तदेतत्सर्वं सर्वथोच्छृङ्खलं शाब्दन्यायवहिर्भूतं चेति विद्वांसो विवेचयन्तु। तत्रापि 'त्यदित्याचक्षते' इति वचनं न स्पृष्टमेव, तच्च मन्ये तदज्ञानादेव। शाङ्करभाष्यतट्टीकानुसारेण तु त्यदिति परोक्षाभिधायकेन शब्देन परोक्षत्वप्रतिपत्तौ प्रयत्नगौरवमेव सूच्यते। शाङ्करभाष्यरीत्याऽनन्तानां देवानां निवित्संख्याविशिष्टेषु देवेष्वन्तर्भावः। तेषामपि त्रयस्त्रिंशदादिषूत्तरोत्तरे यावदेकस्मिन् प्राणे (अन्तर्भावः)। प्राणस्यैकस्यैव सर्वोऽनन्तसंख्याको विस्तरः। एवमेकश्चानन्तश्चावान्तरसंख्याविशिष्टश्च प्राण एव। तत्र च देवस्यैकस्य नामरूपकर्मगुणशक्तिभेदोऽधिकारभेदात्। तत एव निरुक्तकारो यास्को दुर्गाचार्यश्च प्राणात्मकस्य महत आत्मनो हिरण्यगर्भस्य सूत्रात्मन एव महिमानः सर्वे देवा इति प्रदर्शितवन्तौ।

वस्तुतो वेदेषूपनिषत्सु परापरभेदेन ब्रह्मोपासनद्वैविध्यं दृश्यते। विराड्ढिरण्यगर्भादिरूपेणापरं ब्रह्म तत्र तत्रोपास्यते। किं वहुना, गौण्या वृत्त्या अन्नं ब्रह्म प्राणो ब्रह्मेत्यादिष्वपि ब्रह्मपदप्रयोगो दृश्यते। परंब्रह्मापि निराकारनिर्गुणब्रह्मरूपेण सगुणनिराकारब्रह्मरूपेण सगुणसाकारब्रह्मरूपेण चोपास्यते। अग्न्यादित्यादयोऽपि देवा अदेवतावदचेतनाः प्रतीयमाना अप्यैश्वर्य्यवन्तश्चेतना विग्रहवन्तश्च भवन्तीत्यपि प्रतिपादयिष्यते। बृहदारण्यके त्वितरोपासनापेक्षया प्राणोपासनस्य माहात्म्यातिशयः प्रोक्तः। तस्य च ब्रह्मलोकप्राप्तिफलकत्वेऽपि निष्कामस्य शुद्धब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यताप्राप्तिरेव मुख्यं फलम्।

'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' इस वाक्य की उन्होंने व्याख्या ही नहीं की। बीच में ही 'धाम तीन हैं—स्थान, नाम और जन्म' इस निरुक्त के वाक्य को उद्धृत कर विना उसकी व्याख्या किये ही वे तीन कौन से हैं? इसकी व्याख्या कर दी। यह सब सर्वथा कोई क्रम न होने के कारण उच्छृंखल व्याख्या है और शाब्दिक नियम पद्धति के विरुद्ध भी है, विद्वद्गण इसकी परीक्षा करें। यहाँ पर भी 'त्यदित्याचक्षते' इस वचन की व्याख्या नहीं की गई, लगता है वे इसका अर्थ ही न समझ सके। शांकरभाष्य और उसकी टीका के अनुसार 'त्यत्' इस परोक्ष के वोधक शब्द से परोक्ष के ज्ञान के लिये बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है, यह सूचित होता है। शांकरभाष्य के अनुसार अनन्त देवों का निवित् संज्ञक मन्त्रपदों में वताई संख्या में अन्तर्भाव हो जाता है। इनका भी तैंतीस में और क्रमशः होते होते एक प्राण में इन सबका अन्तर्भाव हो जाता है। यह सारा अनन्त संख्या का विस्तार केवल एक प्राण का ही है। इस प्रकार एक, अनन्त और अवान्तर संख्या वाला भी केवल प्राण ही है। एक ही देव का नाम, रूप, कर्म, गुण और शक्ति का भेद अधिकार के भेद की दृष्टि से है। इसीलिये निरुक्तकार यास्क और उसके भाष्यकार दुर्गाचार्य ने यह बताया है कि प्राणात्मक महान् आत्मा के ही, जो कि हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मा शब्दों से भी जाना जाता है, ये सब देवता महिमा हैं।

वस्तुतस्तु वेद और उपनिषद् में पर और अपर भेद से दो प्रकार की ब्रह्म की उपासना देखी जाती है। विराट्, हिरण्यगर्भ आदि के रूप में अपर ब्रह्म की जहाँ तहाँ उपासना विहित है। इतना ही नहीं, गौणी वृत्ति से 'अन्न ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है' इत्यादि स्थलों में अन्न आदि के लिये ब्रह्म शब्द प्रयुक्त है। परब्रह्म भी निराकार, निर्गुण, ब्रह्मरूप से, सगुण निराकार ब्रह्मरूप से और सगुण साकार ब्रह्मरूप से उपासित होता है। अग्नि, आदित्य प्रभृति देवता यद्यपि अचेतन होने के कारण देवता नहीं प्रतीत होते, तो भी ये ऐश्वर्यशाली, चेतन और शरीरधारी भी होते हैं, यह आगे बताया जायगा। बृहदारण्यक उपनिषद् में अन्य उपासना के बजाय प्राण की उपासना का विशेष माहात्म्य बताया है। प्राण की उपासना का फल यद्यपि ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी है, तो भी निष्काम उपासना से शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार कराना इसका मुख्य फल है।

यच्च—'त्रयो लोकास्त्रयो देवाः' के ते इत्यत्राह निरुक्तकारः—'धामानि त्रयाणि भवन्ति, स्थानानि नामानि जन्मानि च' (पृ० ७५) इति निरुक्तवाक्यमुद्धृतम्, तत्तु सर्वथा प्रसङ्गशून्यमेव। के त्व इत्यस्य प्रश्नस्य 'अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं च आदित्यश्च द्यौश्च' इति शतपथवाक्यैरेवोत्तरितत्वात्।

वस्तुतस्त्विदं निरुक्तवचनं धामस्वरूपनिरूपणाय प्रवृत्तम्, ततः पूर्वं नवमाध्यायस्याष्टविंशे खण्डे—'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥' (ऋ० १०।९७।१) इत्यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं प्रवृत्तम्। तथाहि या ओषधय पूर्वा जाताः (प्रथमजाताः)। कुतः पूर्वा इत्यपेक्षायामाह—देवेभ्यः। कियति काले इत्याकाङ्क्षायामाह—त्रियुगं पुरा। कलिद्वापरत्रेताभ्यः पूर्वमादिकल्पे आद्ये कृतयुगे देवानामपि जीवनहेतुत्वात्ततः पूर्वमेवान्नमुत्पद्यते ततो देवा उत्पद्यन्ते। अहं तासां बभ्रुवर्णानां कपिलवर्णानां वर्णव्यापत्त्या हरणानां क्षुदादिहन्त्रीणां भरणानां भूतग्रामभर्त्रीणां वा शतं धामानि सप्त च सप्ताधिकं शतं धामानि मनै यथावज्जाने। अत्र धामपदस्य कोऽर्थं इति जिज्ञासायामुक्तम्—'धामानि त्रयाणि भवन्ति, स्थानानि नामानि जन्मानि च' इति। इह तु धामपदेन जन्मैवाभिप्रेतम्। सप्तशतमोषधिजातयोऽत्र मन्त्रेऽभिप्रेताः। पूर्वोक्तशतपथीयवाक्यप्रसङ्गे सर्वथाऽनुपयुक्तमेव तन्निरुक्तवचनम्। एवं 'त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः' (शत० १४।४) इति वचनमपि नात्रोपयोगि, तद्वचनस्य वाङ्मनःप्राणेषु पृथिव्यादिदृष्टिविधायकत्वात्। यथा पञ्चाग्निविद्यायां योषादिष्वग्निबुद्धिस्तद्वत्।

यच्चोक्तम्—'देवशब्दे दिवु धातो। क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदकान्तिगतिरूपाः सर्वेऽर्थाः संगच्छन्ते। इयांस्तु भेदः—अन्या देवताः परमेश्वरप्रकाश्याः, परमेश्वरस्तु स्वयंप्रकाशः। तत्र क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-स्वप्न-निद्रा-मदरूपा व्यवहारवृत्तयो भवन्ति। तत्सिद्धिहेतवोऽग्न्यादयो देवताः सन्ति। तत्रापि नैव सर्वथा

'तीन लोक ही तीन देवता हैं' वे कौन हैं? इस प्रश्न के उत्तर में निरुक्तकार ने कहा है—धाम तीन होते हैं—स्थान, नाम और जन्म।' इस प्रकार दयानन्द का यहाँ पर निरुक्त वाक्य को उद्धृत करना सर्वथा अप्रासंगिक है। वे तीन देव कौन से हैं? इस प्रश्न का उत्तर—'अग्नि और पृथिवी, वायु और अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ' इस शतपथ श्रुति से हो जाता है।

वस्तुतस्तु यह निरुक्त का वचन धाम के स्वरूप के निरूपण के लिये प्रवृत्त हुआ है। इससे पहले नवम अध्याय के २८ वें खण्ड में 'या ओषधीः०' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का व्याख्यान हुआ है। जैसे कि—'जो ओषधियाँ पहले पैदा हुई हैं। किससे पहले? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया कि देवताओं से पहले। कितनी पहले ओषधियाँ पैदा हुई? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि तीन युग पहले। कलि, द्वापर और त्रेता युग से पहले आदिकल्प अर्थात् पहले कृत युग में देवताओं की स्थिति थी। अतः पहले ओषधी अर्थात् अन्न पैदा होता है और उसके बाद देवता पैदा होते हैं। मैं उन कपिलवर्ण वाली क्षुधा तथा रोग आदि की निवृत्ति करने वाली और प्राणिमात्र का भरण-पोषण करने वाली ओषधियों के सात अधिक सौ अर्थात् १०७ स्थानों को ठीक से जान लूँ।' यहाँ पर 'धाम' शब्द का क्या अर्थ है? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है कि—'धाम तीन हैं—स्थान, नाम और जन्म। यहाँ पर 'धाम' शब्द का अर्थ जन्म अभिप्रेत है। इस मन्त्र में १०७ जाति, अर्थात् प्रकार की ओषधियाँ चर्चित हैं। पूर्व उद्धृत शतपथ श्रुति के प्रसंग में इस निरुक्त वाक्य को उद्धृत करना सर्वथा अनुपयुक्त है। इसी तरह—'ये ही तीन लोक हैं—वाक् पृथ्वीलोक है, मन अन्तरिक्ष लोक है और प्राण द्युलोक है' यह शतपथ वचन भी यहाँ उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ पर केवल वाक्, मन और प्राण में पृथिवी आदि की दृष्टि का विधान है। जैसा कि पञ्चाग्निविद्या में योषा (स्त्री) प्रभृति में अग्नि की बुद्धि आरोपित की जाती है।

यह कहा गया है कि—'देव शब्द से दिवु धातु के सभी क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, कान्ति, गति रूप अर्थ संगत होते हैं। इतना फरक है कि अन्य देव परमेश्वर से प्रकाशित होते हैं और परमेश्वर स्वयंप्रकाश है। इनमें क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, स्वप्न अर्थात् निद्रा और मद, ये व्यवहार की ही विभिन्न वृत्तियाँ हैं और इनकी सिद्धि देने वाले अग्नि प्रभृति

परमेश्वरस्य त्यागो भवति। तस्य सर्वत्रानुषङ्गितया सर्वोत्पादकाधारकत्वात्' (पृ० ७७) इति, तदपि यत्किञ्चित्, देवशब्दस्य योगरूढत्वाङ्गीकारात्। अन्यथा द्यूतपरायणा मत्तादयोऽपि देवशब्दव्यपदेश्याः स्युः। सर्वोत्पादकाधारकत्वादिति प्रयोगस्तु निरर्थको गौरवावहश्च, सर्वोत्पादकत्वात् सर्वाधारत्वाच्चेत्येवं प्रयोगस्य सुवचत्वात्। यच्च 'द्युतिस्तुतिमोदकान्तिज्ञानप्राप्त्यायस्तु परमेश्वर एव यथावत् संगच्छते। अतोऽन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वृत्त्या वर्तन्ते' (पृ० ७७) इति, तदपि न, वेदान्तदृष्ट्या सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्येऽसङ्गे नित्ये निर्गुणे तद्भिन्नद्युतिस्तुतिगुणाद्यसंभवात्। सगुणे त्वचिन्त्यानन्तकल्याणगुणाः सन्त्येव। तत्सत्तया अन्यत्र द्युत्यादयो भवन्तीति तु न विचारसहम्, अन्यगुणैरन्यस्य गुणवत्त्वासंभवात्। वेदान्तिदृष्ट्या तु यथा रज्जुसत्तया तत्र कल्पिताः सर्पादयः सत्तावन्तः, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तकल्पितसत्तानङ्गीकारात्; तथैव सर्वस्यैव जगतो ब्रह्मणि कल्पितत्वाद् ब्रह्मसत्तास्फर्तिभ्यामेव सत्तावत्त्वं स्फूर्तिमत्त्वं च युक्तमेव। न च त्वया प्रपञ्चस्य ब्रह्माध्यस्तताऽङ्गीक्रियते।

यच्च 'वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद् वेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति' (पृ० ७८) संशयोत्थापकवाक्यम्, तदपि न युक्तम्, विकल्पानुपपत्तेः। किमत्र वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानात् परमेश्वरस्यैवोपासनं कर्तव्यमिति सिद्धान्तस्य संदिग्धत्वमापाद्यते, आहोस्वित् पूजाभिधानाद् वेदाविरुद्धाभिधायित्वेन तेषां प्रामाण्यस्य संदिग्धत्वमापाद्यते। कुतः, वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणादित्युत्तरोपसंहारेण प्रथमपक्ष एव प्रतीयते। परन्तु वाक्यं तु न तदनुरूपम्। तथा च तादृशसिद्धान्तस्यैव संशयास्पदत्वमागतं न वेदानां संशयास्पदता, वेदानां विरुद्धाभिधायित्वेऽपि तेषां प्रामाण्यस्यैव संशयास्पदता न वेदानाम्, तेषां स्वरूपस्य संशयानास्पदत्वात्।

देवगण हैं। यहाँ पर भी सर्वथा परमेश्वर का त्याग नहीं होता। वह सर्वत्र अनुस्यूत है, अत एव सभी को उत्पत्ति और धारकता में कारण है, यह भी कुछ नहीं है। देव शब्द यहाँ पर योगरूढ माना गया है। अन्यथा जुआड़ी और नशे में मतवाले लोग भी देवता मान लिये जायँगे। परमात्मा सर्वोत्पादकों का आधार है, यह कहना भी निरर्थक है। यही सबका उत्पादक है, इतना ही कहना काफी है, इसके साथ आधार शब्द को जोड़ने में गौरव दोष है। अतः 'सर्वाधारत्वाच्च' मात्र इतने शब्दों का प्रयोग पर्याप्त है। 'द्युति, स्तुति, मोद, कान्ति, ज्ञान, प्राप्ति इत्यादि परमेश्वर में ही यथावत् संगत होते हैं। परमेश्वर से भिन्न प्राणी में उसी की सत्ता के कारण गौण प्रयोग होता है।' यह भी ठीक नहीं है। वेदान्त की दृष्टि से सजातीय, विजातीय, स्वगत इन तीनों भेदों से रहित, असंग, नित्य, निर्गुण ब्रह्म में उससे भिन्न द्युति, स्तुति इत्यादि गुणों की सत्ता ही नहीं है। सगुण ब्रह्म में तो अचिन्त्य, अनन्त, कल्याणदायक गुण हैं ही। उस परमात्मा की सत्ता से दूसरी जगह द्युति प्रभृति गुण होते हैं, यह बात तर्क से सिद्ध नहीं हो सकती। एक के गुण से दूसरा गुणवान् नहीं हो सकता। वेदान्त की दृष्टि से तो यह उसी प्रकार संगत हो जाता है, जैसे कि रज्जु की सत्ता से उसमें कल्पित सर्प प्रभृति की सत्ता मान ली जाती है। यहाँ पर अधिष्ठान से अतिरिक्त कल्पित वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती। इस तरह सारे जगत् की कल्पना ब्रह्म में की जाती है, अतः ब्रह्म की सत्ता में उसकी सत्ता और ब्रह्म की स्फूर्ति से जगत् में भी स्फूर्ति मानना उचित ही है। आप तो प्रपञ्च का ब्रह्म में अध्यास मानते नहीं।

'वेद में जड़ और चेतन की पूजा का विधान करके वेद संशय की स्थिति में डाल दिये गये हैं' इस प्रकार की शंका उठाने वाला यह वाक्य भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ कोई विकल्प नहीं बनता। यहाँ पर वेद में जड़ और चेतन की पूजा का विधान होने से परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिये, इस सिद्धान्त में सन्देह होता है, अथवा पूजा का विधान होने से वेद विरोधी बात कहने के कारण उनके प्रामाण्य में संदेह होता है? वेद में जहाँ-जहाँ उपासना विहित है, वहाँ-वहाँ ईश्वर ही देवता के रूप में परिगृहीत है, इस प्रकार का आगे उपसंहार होने के कारण प्रथम पक्ष ही यहाँ मालूम पड़ता है, परन्तु वाक्य उसके अनुरूप नहीं है। इस प्रकार उक्त सिद्धान्त ही संशयास्पद बन जाता है, इसमें वेद संशयास्पद नहीं बनते। वेदों के विरुद्धाभिधायी होने पर भी उनका प्रामाण्य ही संदिग्ध होगा, वेदों की संदिग्धता नहीं होगी। क्योंकि उनका स्वरूप तो सदा संशय से मुक्त है।

यच्च 'मैवं भ्रमि' इत्यारभ्य 'ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात्। यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षितास्ति, अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोऽस्ति। अत्र कश्चिद् ब्रूयान्नेत्रेण सूर्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं नऽदर्शयतीति, यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति तथा पूजाविषयेऽपि ज्ञेया। यतः पूजा सत्कारः प्रियाचरणमनुकूलाचरणं चेत्यादयः पर्य्यायाः सन्ति। इयं पूजा चक्षुषोऽपि सर्वैर्जनैः क्रियते। एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति तावद्देवतात्वमस्ति' (पृ० ७८) इति, तदप्यसंवद्धमेव, वाक्यानां परस्पराकाङ्क्षाराहित्यात्। पदार्थेषु स्वातन्त्र्यं परमेश्वराधीनं भवेत्तदा कथं स्वातन्त्र्यम्। पदार्थेषु स्वातन्त्र्यं चेत्कथं परमेश्वराधीनता। नहि स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं चैकत्र संभवति, व्याहतत्वात्। चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिः परमेश्वरेण रक्षिता स्यात्तदा तल्लोपो न स्यात्। दृश्यते च क्वचिल्लोपोऽपि। ईश्वरः स्वतन्त्रः सर्वशक्तिमांश्चेत्तदा नेत्रेण सूर्यादिभिश्च विना रूपं कथं न दर्शयतीयं शङ्का व्यर्थैवास्तीत्यत्र हेतुस्तु नोपन्यस्तः, निराकरणहेतुमन्तरा शङ्कायास्तादवस्थ्यपातात्। यथा त्वद्रीत्या सर्वशक्तिमत्त्वेनैव कण्ठताल्वादिमन्तरापीश्वरो वेदमुच्चारयति, तथैव कुतो न सर्वशक्तिमत्त्वेन चक्षुरन्तरापि जनान् रूपं दर्शयतीति शङ्काया अनपनोदनात्।

किञ्च, त्वद्रीत्या मन्त्रात्मका एव वेदा न च तत्रेश्वरोपासनविधानं न वाऽचेतनोपासनविधानं वास्ति, पूजादिविधानस्य ब्राह्मणेष्वन्तर्भावात्। तेषु च परमेश्वरस्याग्न्यादीनां चोपासनं समानमेव विहितम्। उपास्यमभिलक्ष्य तदाकारां वृत्तिं संपाद्य दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारतया यदासनं तदेवोपासनम्। सति चैवं कथमीश्वरोपासनमेव मुख्यं नादित्याद्युपासनं मुख्यम्। वेदेषु यत्रोपासना विधीयत इति यदुक्तं तदपि न संगतम्, मन्त्रेषु विधानासंभवादेव।

'ऐसा भ्रम मत करो' इससे आरम्भ कर 'ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुण रक्खे हैं। जैसे कि आँख में उसने रूप को देखने की शक्ति रक्खी है, इसीलिये आँख वाला ही देखता है, अन्धा नहीं, ऐसा व्यवहार है। यहाँ पर यदि कोई पूँछे कि आँख और सूर्य प्रभृति प्रकाश के बिना ही ईश्वर रूप क्यों नहीं दिखाता? जैसे उसकी यह शंका व्यर्थ है, उसी तरह पूजाविषयक यह शंका भी है। क्योंकि पूजा शब्द के सत्कार, प्रियाचरण, अनुकूलाचरण आदि शब्द पर्याय हैं। सभी मनुष्य आँख की भी इसी प्रकार की पूजा करते हैं। इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना जितना अर्थ का प्रकाश, दिव्यगुण, क्रियासिद्धि और उपकार लेना संभव है, उतना उतना उनमें देवपन मानने में कुछ भी हानि नहीं हो सकती।' यह सब बात असंबद्ध है, क्योंकि ये वाक्य परस्पर आकांक्षा से रहित हैं। पदार्थों की स्वतन्त्रता यदि परमेश्वर के अधीन है, तो फिर स्वतन्त्रता कैसी? पदार्थों में स्वतन्त्रता यदि है तो फिर परमेश्वर के अधीन क्यों रहेंगे? स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनों एक जगह नहीं रह सकते, क्योंकि ये परस्पर विरोधी हैं। आँख में देखने की शक्ति परमेश्वर द्वारा रक्षित हो तो फिर उसका लोप नहीं होना चाहिये, किन्तु इसका लोप तो कहीं-कहीं देखा जाता है। ईश्वर स्वतन्त्र और सर्व शक्तिमान् है तो फिर आँख और सूर्य प्रभृति के बिना रूप को क्यों नहीं दिखलाता, यह शंका व्यर्थ ही है, इसमें कोई कारण नहीं बतलाया गया। कारण सहित यदि शंका का समाधान नहीं किया जाता तो वह बनी ही रह जाती है। जैसे आपके मत से सर्व शक्तिमान् होने से ईश्वर कण्ठ, तालु आदि स्थान के बिना ही वेद का उच्चारण करता है, उसी तरह सर्व शक्तिमान् होने से ही वह बिना चक्षु के भी मनुष्यों को रूप के देखने में समर्थ क्यों नहीं कर देगा, इस प्रकार की शंका का परिहार यहाँ नहीं होता।

दूसरी बात आपके मत से वेद मन्त्रात्मक ही हैं। इनमें ईश्वर की अथवा अचेतन की उपासना का विधान नहीं है। पूजा आदि का विधान तो ब्राह्मण भाग में हुआ है। इनमें परमेश्वर और अग्नि प्रभृति की उपासना समान रूप से बताई गई है। उपास्य को लक्षित कर, उपास्य के आकार की ही अपनी चित्तवृत्ति को बनाकर दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर सत्कार पूर्वक उसमें स्थिर रूप से बैठना ही उपासना कहलाती है। ऐसी अवस्था में ईश्वर की उपासना ही मुख्य होगी, आदित्य आदि की उपासना नहीं, यह कैसे बन सकता है। 'वेदों में जहाँ उपासना का विधान है' आपका यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि मन्त्रों में तो कोई विधि नहीं है।

चक्षुरादयस्तु भृत्यवन्मनुष्याज्ञावशंवदा एव। न तेषां पूजा भवति, पूज्येष्वेव पूजासंभवात्। भृतिं ददानोऽपि नहि भृत्यं पूजयतीति वदति लोकः। वस्तुतस्तु ब्राह्मणभागेष्वपि क्वचिदपि न जडस्य पूजोक्ता, किन्तु तत्तदधिष्ठातृदेवतस्यैवोपासनविधानादिति निरुक्तादिसिद्धान्तनिरूपणेन पूर्वमुक्तमेव।

यदपि 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव', 'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि' (पृ० ७८-७९) इति देवतोपासनप्रमाणमुक्तमिति, तदपि ब्राह्मणवचनमेव। एवमेव तैत्तिरीयोपनिषद्यपि 'नमो ब्रह्मणे नमो वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि' अत्र मन्त्रे मित्रवरुणार्यमेन्द्रबृहस्पतिविष्णुब्रह्मवायूनां संस्तवनं दृश्यते। मातृपित्राचार्यातिथ्यादिषु तु पूज्यत्वातिशयाद्देवबुद्धिरेव कर्तव्या। यथा मात्रादयः सशरीरा देवताः, तथा ब्रह्मापि सशरीरम्, 'नमो हिरण्यबाहवे' इत्यादिभिस्तस्य हिरण्यशरीरत्वप्रतिपादनात्। आत्मस्वरूपापेक्षया त्वग्न्यादित्यादयो देवा अपि निःशरीरा ब्रह्मरूपा एव।

यदपि 'तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वसवो विग्रहवत्यः। एवमेकादश रुद्रा द्वादशादित्या मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुविधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवते स्तः' (पृ० ७९) इति, तदपि तुच्छम्, शास्त्रार्थानवबोधात्। अन्तर्यामिब्राह्मणे परमेश्वरस्य पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशदिगादिसर्वशरीरकत्वमुक्तम्। तथैव तत्र प्राणवाक्चक्षुर्मनोविज्ञानादिशरीरत्वं च परमात्मनो निगदव्याख्यातम्। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। योऽप्सु......योऽन्तरिक्षे......यो वायौ......यो दिवि......य आदित्ये......यो दिक्षु......य आकाशे......यश्चन्द्रतारके......यः सर्वभूतेषु......यः प्राणे......यो वाचि...यश्चक्षुःषु......यो मनसि...यो विज्ञाने......' (बृ० उ० ३।७।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

आंख आदि तो मनुष्य के नौकर के समान उसी के अधीन हैं। उनकी पूजा नहीं होती, क्योंकि पूजा तो पूज्य की होती है। यह लोक व्यवहार में देखा गया है कि वेतन देने पर भी मनुष्य भृत्य (नौकर) की पूजा नहीं करता। वास्तव में ब्राह्मण भाग में भी कहीं पर जड़ की पूजा का विधान नहीं है, किन्तु उस उस जड़ वस्तु की अधिष्ठाता देवता की ही सर्वत्र उपासना विहित है, यह बात निरुक्त आदि के सिद्धान्त का निरूपण करते समय हमने पहले ही कही है।

'माता को देवता मानो, पिता, आचार्य और अतिथि को देवता मानो', 'तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुमको ही मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा' ये वचन देवता की उपासना में प्रमाण बताये गये हैं। ये वचन ब्राह्मण भाग के हैं। इसी तरह तैत्तिरीय उपनिषद् में भी 'ब्रह्मा को नमस्कार करता हूँ, वायु को नमस्कार करता हूं। आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको ही मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा' इस मन्त्र में मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु, ब्रह्मा और वायु की स्तुति है। माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये अत्यन्त पूजनीय हैं, इसलिये इनमें देवता बुद्धि करनी ही चाहिये। जैसे माता प्रभृति सशरीर देव हैं, वैसे ही ब्रह्मा भी है। 'नमो हिरण्यबाहवे' इत्यादि मन्त्र उसको सुवर्णमय शरीर वाला बतलाते हैं। आत्मस्वरूप की अपेक्षा से तो अग्नि, आदित्य प्रभृति भी निःशरीर, ब्रह्मरूप ही हैं।

'इसी तरह पूर्वोक्त देवताओं में अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच वसुगण के देवता विग्रहधारी हैं। एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, मन के साथ पांच ज्ञानेन्द्रियां, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ और मन्त्र इनके शरीर नहीं होता। इसी तरह स्तनयित्नु अर्थात् बिजली और विधियज्ञ मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् भी हैं'। यह कथन भी सारहीन है। कहने वाले ने शास्त्र के अर्थ को ठीक से नहीं समझा है। अन्तर्यामी ब्राह्मण में परमेश्वर को पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिगादिरूपता, अत एव सर्वशरीरता कही गई है। इसी तरह वहां पर परमात्मा की प्राण, वाक्, चक्षु, मन, विज्ञानादिशरीरता भी शब्द द्वारा प्रतिपादित है। जैसे कि—'जो पृथिवी में स्थित होकर उसका आन्तर भाग बनता है, जिसको पृथिवी भी नहीं जानती, जिसका शरीर पृथिवी है, जो उसके अन्दर स्थित होकर पृथिवी का नियमन करता है, यही तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा है। इसी तरह जो जल में......अन्तरिक्ष में......वायु में......स्वर्ग में......आदित्य में......दिशाओं में......आकाश में......चन्द्र और ताराओं में......जो सब प्राणियों में......जो प्राण में......जो वाणी में......जो चक्षुओं में......जो मन्त्र में......जो विज्ञान में......' इत्यादि श्रुतियों नें उक्त अर्थ ही कहा गया है।

देवताधिकरणे निरुक्ते च अग्न्यादित्यादिदृश्यज्योतिर्व्यतिरिक्तानां विग्रहवतीनामैश्वर्यशालिनीनां देवतानां प्रतिपादनाच्च। नह्यग्न्यादित्यादीनां ज्योतिषां विग्रहवत्त्वं त्वन्मतेऽपि सम्भवति, दृश्यजडातिरिक्तचेतनानामग्न्यादित्यादीनां त्वयानभ्युपगमात्। किञ्च, नहि दृश्यज्योतिषां शरीरवत्त्वं सम्भवति, चेष्टावत्त्वे सत्यन्त्यावयवित्वं शरीरमिति तल्लक्षणासङ्गतेः। कथञ्चिदभ्युपगमेऽपि तेषां शरीरवत्त्वे तद्भिन्नस्यान्यस्य शरीरिणोऽङ्गीकारापत्तेः। नहि विग्रहस्यैव विग्रहवत्त्वं सम्भवति, तस्य भेदघटितत्वात्।

वस्तुतस्तु निरुक्तादौ पुरुषविधत्वेनैव विग्रहवत्त्वमुक्तम्। 'तत्रैषां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वम्' (पृ० ७९) इति यत्, तदपि तुच्छम्, व्यवहारोपयोगिषु घटादिषु देवतात्वाभावात्। एवमीश्वरस्यापि व्यवहारोपयोगित्वमविशिष्टमेव, तस्य जगद्व्यवहारप्रवर्तकत्वेन सर्वव्यवहारास्पदत्वात्। यदपि 'परमिष्टोपयोगित्वेनैवोपास्यः' (पृ० ७९) इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्न्यादावपीष्टोपयोगित्वाविशेषात्। वस्तुतस्तु स्वामिदयानन्दो बायबलकुरानाद्यनार्यग्रन्थैः प्रभावितत्वादेव मतमिदमास्थितो यद् ईश्वरातिरिक्तः कश्चनोपास्यो नास्तीति। मन्त्रब्राह्मणात्मकेषु वेदेषु पृथिव्यग्न्यादित्यादीनामप्युपासनविधानात्। तेषामपि नमस्कारस्तुतिहविर्दानध्यानभाक्त्वेन वर्णनात्। 'नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे' (वा० सं० ३६।२१) इति विद्युदधिष्ठातृदेवतादीनां नमस्कारादिप्रतिपादनात्। यथा लोके राजाश्रयणाय तदमात्या अपि आदरणीया भवन्ति, तथैवेश्वरोपासनाय तदङ्गभूतानि देवतान्तराण्यप्युपास्यान्येव। दयानन्दोऽपि संस्कारविधौ सूर्यचन्द्रादीनामर्घ्यदाननमस्कारादिकमुक्तवानेव। तद्रीत्यापि कस्मैचिज्जडाय प्रह्वीभावो मस्तकावनामस्तस्य पूजनं च मूर्तिपूजैवास्ति (सत्यार्थप्रकाशे नानकमतखण्डने)।

देवताधिकरण और निरुक्त में अग्नि, आदित्य आदि दृश्य ज्योति से भिन्न ऐश्वर्यशालिनी शरीरधारिणी देवताओं का प्रतिपादन मिलता है। आपके मत में अग्नि, आदित्य आदि ज्योतियाँ विग्रहधारिणी हो नहीं सकतीं, क्योंकि आप परिदृश्यमान जड अग्नि, आदित्य के मंडल से अतिरिक्त चेतन अग्नि, आदित्य को नहीं मानते। इन दृश्य ज्योतियों का शरीर नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें शरीर का लक्षण नहीं घटता, जो कि चेष्टा वाला होते हुए अन्त्यावयवी माना जाता है। यदि किसी तरह उनका शरीर मान भी लिया जाय तो फिर उससे भिन्न कोई शरीरी मानना पड़ेगा। विग्रह ही विग्रहवान् तो नहीं होता, क्योंकि ये दोनों वस्तुएं भेद से ही घटित होती हैं।

वस्तुतस्तु निरुक्त प्रभृति में देवताओं का पुरुषों का सा शरीर माना गया है। अतः 'इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार के लिये हैं' (पृ० ७९) यह कथन भी निःसार है, क्योंकि व्यवहार के उपयोगी घट प्रभृति में हम देवपन नहीं मानते। इसी तरह ईश्वर में भी व्यवहारोपयोगिता समान है। ईश्वर सारे जगत् के व्यवहार का प्रवर्तक है, अतः वही सभी व्यवहारों का आश्रय है। इसी तरह—'परमेश्वर ही सब मनुष्यों का इष्ट है, अतः उसी की उपासना करनी चाहिये' (पृ० ७९) यह कथन भी कुछ नहीं, क्योंकि अग्नि प्रभृति में भी तो इष्टसाधनता विद्यमान है। वस्तुतस्तु स्वामी दयानन्द बाइबिल, कुरान आदि अनार्य ग्रन्थों से प्रभावित होने के कारण ही यह मानने लगे हैं कि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई उपास्य नहीं है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद में तो पृथिवी, अग्नि, आदित्य प्रभृति की भी उपासना विहित है। इनके प्रति भी नमस्कार, स्तुति, आहुति, दान, ध्यान, भावना आदि का विधान है। 'विद्युत् को नमस्कार है, स्तनयित्नु को नमस्कार' इत्यादि यजुर्मन्त्र में विद्युत् की अधिष्ठातृ देवता को नमस्कार किया गया है। जैसे लोक में राजा का आश्रय लेने के लिये उसके मन्त्री प्रभृति का भी आदर किया जाता है, उसी तरह ईश्वर की उपासना के लिये तदंगभूत अन्य देवताओं की भी उपासना की जाती है। दयानन्द ने भी संस्कारविधि में सूर्य-चन्द्र प्रभृति के लिये अर्घ्यदान, नमस्कार आदि का विधान किया ही है। उनके मत से तो किसी जड पदार्थ के प्रति मस्तक झुकाकर प्रणाम करना मूर्तिपूजा के समान ही माना जायगा। (देखिये सत्यार्थप्रकाश नानकमत खण्डन)

यच्च—'इदानीन्तनाः केचनार्या बहवो यूरोपखण्डनिवासिनश्च वदन्ति यत् पुरा ह्यार्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन्। ताः सम्पूज्य सम्पूज्य बहुकालानन्तरं परमात्मानं पूज्यं विदुः' (पृ० ८०) इत्याशङ्क्योक्तम्—'तथैवार्याणा मासृष्टिप्रारम्भमनेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नामभिर्वेदोक्तरीत्यैव ईश्वरस्योपासनानुष्ठानावगमात्' इति, तदप्यर्धसत्यम्, आर्या यद्यप्यनादिकालात् परमेकमेवाद्वितीयं मन्यन्ते, तथाप्यधिकारिभेदाद् ईश्वराङ्गप्रत्यङ्गभूतानामन्यासामपि देवतानामुपासनमूरीकुर्वन्त्येव। 'तदेवाग्निस्तदादित्यः' (वा० सं० ३२।१), 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इत्यादि-मन्त्रैरिन्द्रमित्रादीनामभेदस्तु प्रकृतिविकारभेदेनोक्त एव। यथा घटशरावादयः स्वरूपेण भिन्ना अपि मृदात्मना अभिन्ना एव, तथैव परस्परं भिन्ना अपीन्द्रादयः प्रकृतिभूतपरमात्मनाऽभिन्ना एव।

तत्रानेके मन्त्रा उपनिषद्वाक्यानि च समुद्धृतानि। तानि च न व्याख्यातानि, अत एव मयापि न व्याख्यायन्ते। वेदाधिकारिभिः परमेश्वरो निर्गुणः सगुणश्चोपास्यते स्म, साम्प्रतमप्युपास्यते। मैक्समूलरादीनां रीत्या पूर्वं सर्वे मानवा असभ्या आरण्यका ज्ञानशून्याश्चासन्। क्रमेण तेषु ज्ञानं विकसति स्म। एष एव सिद्धान्तस्तैर्वेदेष्वारोपितः।

बृहदारण्यकस्य तृतीयेऽध्याये चतुर्थब्राह्मणे 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (३।४।१) सर्वान्तरात्मभूतं परमतत्त्वं प्रदर्शितम्। 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१), 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२)।

पञ्चमे ब्राह्मणे ब्रह्मप्राप्तियोग्यतासिद्धये विवेकवैराग्यादिसाधनान्युक्तानि। 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।' (बृ० ३।५।१)

आगे—'कितने ही आजकल के आर्य और यूरोपवासी, अर्थात् अंगरेज आदि लोग इसमें ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है। आर्य लोग पहले भूतों की पूजा करते थे। उन्हें पूजते बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था' (पृ० ८०) ऐसी आशंका उठाकर 'उनका यह कहना मिथ्या है, क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आरंभ से आज पर्यन्त इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि नामों से वेदोक्त प्रमाण के आधार पर एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं' (पृ० ८०), इस कथन में भी आधी सचाई है। आर्य यद्यपि अनादि काल से परमेश्वर को एक ही अद्वितीय मानते हैं, तो भी अधिकारी के भेद से ईश्वर की अंग-प्रत्यंग भूत अन्य देवताओं की उपासना भी स्वीकार करते ही हैं। 'वही अग्नि है, वही आदित्य है', 'इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और स्वर्ण के पंख वाला गरुड, यह सब एक ही उस भगवान् की महिमा है। ब्राह्मण एक ही उस भगवान् को अग्नि, यम, पवन आदि नामों से पुकारते हैं' इत्यादि मन्त्रों में इन्द्र, वरुण आदि में प्रतिपादित अभेद इनमें परस्पर प्रकृति और विकार के संबन्ध का सूचक है। जैसे घट, शराव आदि परस्पर स्वरूप से भिन्न होते हुए भी मिट्टी के रूप में अभिन्न हैं, उसी तरह इन्द्र प्रभृति देवगण परस्पर भिन्न होते हुए भी प्रकृतिभूत परमात्मा से अभिन्न ही हैं।

यहाँ पर स्वामी दयानन्द ने अनेक मन्त्र और उपनिषदों के वाक्य उद्धृत तो किये हैं, किन्तु उनकी व्याख्या नहीं की। इसलिये हम भी इसको छोड़ देते हैं। वेद के अधिकारी विद्वान् परमेश्वर की निर्गुण और सगुण रूप में उपासना करते थे और अब भी करते हैं। मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में सभी मानव पहले असभ्य, जंगली और अज्ञानी थे। धीरे धीरे उनमें ज्ञान का विकास हुआ। इसी सिद्धान्त को वे वेदों पर भी आरोपित करना चाहते हैं।

बृहदारण्यक के तृतीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में 'जो साक्षात् अपरोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष है, वह ब्रह्म है' इस प्रकार परम तत्त्व को सबकी अन्तरात्मा से अभिन्न माना है। 'यह तुम्हारी आत्मा सबके भीतर निवास करती है', 'इससे भिन्न सब कुछ मिथ्या है'।

पञ्चम ब्राह्मण में इस ब्रह्म की प्राप्ति की योग्यता के संपादन के लिए विवेक, वैराग्य आदि साधन बताये हैं—'इस प्रकार उस आत्मा को जानकर ब्राह्मणगण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठकर भिक्षावृत्ति अर्थात् संन्यास स्वीकार कर लेते हैं'।

षष्ठे ब्राह्मणे ब्रह्मणः सर्वान्तरत्वं निर्णेतुं सर्वं ब्रह्मकार्यं विचारितम्। 'अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ.... ....यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्च' (बृ० ३।६।१) याज्ञवल्क्येन 'वायौ' इत्युक्त्वा वायोरान्तरत्वं कारणत्वं चोक्तम्। कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यादिप्रश्नोत्तरपारम्पर्येण ब्रह्मलोके सर्वेषामोतत्वं प्रोतत्वं चोक्तम्। ब्रह्मलोकः कस्मिन्नोतः प्रोत इति गार्गीप्रश्ने मूर्धपातभयप्रदर्शनेन तां रुरोध याज्ञवल्क्यः। वार्तिकसारे तदभिप्राय इत्थं वर्णितः—'पञ्चीकृतानां भूतानां सूक्ष्मताण्डे समाप्यते। एतावदेव तर्केण गम्यं न तु ततः परम्॥ अण्डारम्भकभूतानामपञ्चीकृतभूतगम्॥ सूत्रं कारणमित्येतदागमेनैव गम्यते॥ अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।' इति।

तत्रैव सप्तमे ब्राह्मणे आरुणिरुद्दालकः पारम्पर्यमाश्रित्य सूत्रमन्तर्यामिणं च पप्रच्छ, याज्ञवल्क्यश्चोत्तरं ददौ। 'स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्ति' (३।७।२), 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्' (बृ ३।७।३) इत्यादिनाऽन्तर्यामिणं चोक्तवान्। 'सूत्रबद्धं दारुयन्त्रं पुरुषो नर्तयेद्यथा। अन्तर्यामी जगत्तद्वत् सूत्रबद्धं नियच्छति॥ सूत्रान्तर्यामिणौ सर्वं जगत्यनुगतावतः। तौ विद्वानखिलं वेदेत्यतो ज्ञातव्यता तयोः॥' अत्र वायुपदेनापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतसमष्टिलिङ्गात्मैव विवक्षितः। तत्र बुद्धिप्राधान्येन हिरण्यगर्भपदप्रयोगः, क्रियाशक्तिप्राणप्राधान्येन सूत्रात्मपदप्रयोगः, तेन सूत्रात्मना सर्वं जगद् धृतम्। अस्यापञ्चीकृतभूतकार्यत्वात् सौक्ष्म्यम्, अत एवात्राण्डारम्भकभूतान्योतानि प्रोतानि च। सूत्रादप्यान्तरं तत्त्वमन्तर्यामिकारणरूपम्। सर्वात्मत्वद्योतनायैव पृथिव्यादिषु बहुषूपाधिषु नियामकत्वेनान्तर्यामी वर्णितः।

षष्ठ ब्राह्मण में ब्रह्म की सर्वान्तरता की सिद्धि के लिए यह सब कुछ ब्रह्म का ही कार्य है, यह विचार किया गया है। 'अब वाचक्नवी गार्गी ने पूछा—यह बताया गया है कि यह सब कुछ जल में ओत-प्रोत है, मेरी यह जानने की जिज्ञासा है कि यह जल किसमें ओत-प्रोत है' ऐसा पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि वायु में, ऐसा कह कर उन्होंने जल की अपेक्षा वायु की आन्तरिकता और कारणता बताई है। इसके आगे यह वायु किसमें ओत-प्रोत है, इत्यादि प्रश्नोत्तर परम्परा से अन्त में ब्रह्मलोक में सबकी ओत-प्रोतता दिखाई गई है। ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है, गार्गी के यह पूछने पर याज्ञवल्क्य ने उसको रोक दिया कि इस प्रकार के अतिवादी प्रश्न करने से प्रश्नकर्ता को शिरःपात का भय उपस्थित हो सकता है। इसका अभिप्राय वार्तिकसार में इस प्रकार समझाया गया है—'पञ्चीकृत भूतों की सूक्ष्मता अणु में समाप्त हो जाती है। तर्क यहीं तक पहुँच सकता है, इससे आगे नहीं। अणु के आरम्भक भूतों का कारण आगमशास्त्र ने सूत्र को माना है, जो कि अपञ्चीकृत भूतों में वर्तमान है। जो भाव अचिन्त्य हैं, उनकी सिद्धि तर्क से नहीं हो सकती'।

वहीं सप्तम ब्राह्मण में आरुणि-उद्दालक प्रसंग-प्राप्त सूत्र और अन्तर्यामी के विषय में पूछते हैं और याज्ञवल्क्य उसका उत्तर देते हैं—'उसने कहा कि हे गौतम, यह सूत्र वायु है। इस वायु रूपी सूत्र से ही यह लोक और दूसरा लोक तथा सारे प्राणी बँधे हुए हैं। इसीलिए हे गौतम, जब वायु इस शरीर को छोड़ देता है तो उसकी प्रेत संज्ञा हो जाती है, अतः वायु के सूत्र से ही यह सब कुछ संदृब्ध है', 'जो पृथिवी में रहता हुआ भी पृथिवी से सूक्ष्म है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है' इत्यादि वाक्यों में अन्तर्यामी का निरूपण किया गया है। 'जैसे डोरी में बंधी हुई गुड़िया को आदमी नचाता है, उसी तरह अन्तर्यामी ईश्वर सूत्रात्मा से जुड़े हुए इस सारे जगत् का नियन्त्रण करता है। इस प्रकार सूत्रात्मा और अन्तर्यामी सारे जगत् में अनुगत हैं। इनको जानने वाला सब कुछ जान जाता है, अतः इनको जानने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये' यहाँ पर वायु पद से अपंचीकृत पञ्च महाभूत की समष्टि लिंगात्मा विवक्षित है। यहाँ पर बुद्धि की प्रधानता में हिरण्यगर्भ, क्रियाशक्ति प्राण के प्राधान्य में सूत्रात्मा का प्रयोग होता है। इस सूत्रात्मा से यह सारा जगत् धृत है। यह अपंचीकृत भूत का कार्य होने से सूक्ष्म है, इसीलिये इसमें अण्डारम्भक भूत ओत-प्रोत हैं। सूत्र से भी आन्तर तत्त्व अन्तर्यामी है। इसकी सर्वात्मा को बताने के लिये ही पृथिव्यादि अनेक उपाधियों में अन्तर्यामी को नियामक रूप में माना गया है।

अष्टमब्राह्मणे ब्रह्मतत्त्वं निरूपितम्—सूत्रात्मताऽन्तर्यामिता च यत्रौतप्रोततां गता। गार्गीप्रश्नः—'सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे ·····कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति' (बृ० ३।८।६)। याज्ञवल्क्यस्योत्तरम्—'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' (बृ० ३।८।७)। यद्दिव ऊर्ध्वं पृथिव्या अधो विद्यमानं सूत्रात्मतत्त्वं तस्मिन्नेव द्यावापृथिवी भूतं भवद् भविष्यञ्च ओतं प्रोतम्। तत्कस्मिन्नोतं प्रोतमिति गार्ग्याः प्रश्नस्याशयः। याज्ञवल्क्यस्तु व्याकृतं सूत्रात्मतत्त्वमव्याकृते कारणे ब्रह्मण्योतं च प्रोतं च। अत्राकाशपदेन न वियन्मात्रं विवक्षितम्। किन्तु 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८।१४।१) इत्यादिश्रुतिषु कारणं मायाविशिष्टं ब्रह्मैव विवक्षितम्। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' (श्वे० ४।१०) इति श्रुतेः। उत्तरेण विस्मिता गार्गी याज्ञवल्क्यं प्रणनाम। याज्ञवल्क्यस्य दृढनिश्चयजिज्ञासया पुनर्गार्गी पूर्वपृष्टमेव पप्रच्छ। याज्ञवल्क्यश्च दृढनिश्चयेन तथैव प्रतिवचनं ददौ। पुनश्च गार्गी पप्रच्छ—'कस्मिन्नु खलु आकाश ओतश्च प्रोतश्च' (बृ० ३।८।७) तदुत्तरं च याज्ञवल्क्य आह—'स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन' (बृ० ३।८।८), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९)। उत्तरं श्रुत्वा 'सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति, ततो ह वाचक्नव्युपरराम' (बृ० ३।८।१२)। अत्र पूर्वांशेनाशेषविशेषातीतं निषेधशेषं निषेधसाक्षिभूतं स्वप्रकाशं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरब्रह्मात्मतत्त्वमतद्व्यावृत्तिमुखेनोक्तम्।

यद्यपि सर्वसाक्षिणि चित्स्वरूपे निरुपाधौ विवादानास्पदे नास्त्येव प्रमाणापेक्षा, तथापि प्रमाणापेक्षायाः सर्वनियामकत्वेनान्तर्यामिणोऽक्षरस्य सिद्धिः। विवादगोचरा जगत्स्थितिर्नियन्तृपूर्वा, व्यवस्थितत्वात्, राजनियत-

अष्टम ब्राह्मण में ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है, जिसमें कि सूत्रात्मा और अन्तर्यामी ओत-प्रोत हैं। यहाँ पर गार्गी ने पूछा है कि—'हे याज्ञवल्क्य, जो स्वर्ग से ऊपर और पृथ्वी के नीचे तथा पृथिवी और अन्तरिक्ष के बीच में विद्यमान हैं, यह सब किसमें ओत-प्रोत हैं'। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि 'यह सब आकाश में ही ओत-प्रोत है। जो स्वर्ग से ऊपर और पृथिवी के नीचे सूत्रात्म-तत्त्व विद्यमान है, उसी में द्यावापृथिवी, भूत, वर्तमान, भविष्य ओत-प्रोत हैं। वह सूत्रात्मा किसमें ओत-प्रोत है, यही गार्गी के प्रश्न का तात्पर्य है। याज्ञवल्क्य के उत्तर का अभिप्राय यह है कि व्याकृत सूत्रात्मक तत्त्व अव्याकृत ब्रह्म में ओत-प्रोत है। यहाँ पर आकाश पद से केवल वियन्मात्र विवक्षित नहीं है, किन्तु 'आकाश नाम और रूप का नियामक है' इस छान्दोग्य श्रुति के अनुसार मायाविशिष्ट ब्रह्म विवक्षित है। 'माया को प्रकृति और उसके स्वामी को महेश्वर जाने' यह श्वेताश्वतर श्रुति भी इसमें प्रमाण है। इस उत्तर से विस्मित गार्गी ने याज्ञवल्क्य को प्रणाम किया। याज्ञवल्क्य के दृढ निश्चय को जानने के अभिप्राय से फिर वही बात पूछी और याज्ञवल्क्य ने भी अपने दृढ निश्चय के अनुसार उसका वही उत्तर दिया। फिर गार्गी ने पूछा कि—'यह आकाश किसमें ओत-प्रोत है।' इसका उत्तर याज्ञवल्क्य ने इस इस प्रकार दिया कि—हे गार्गि, ब्राह्मणगण उस अक्षर ब्रह्म को इस प्रकार बताते हैं कि वह न तो स्थूल है, न अणु, न ह्रस्व है, न दीर्घ, वह अलोहित, अस्नेह, अच्छाय, तम से रहित, वायु और आकाश से भिन्न, असंग, तेज, प्राण, मुख और मात्रा से रहित तथा आन्तर और बाह्य भेद से रहित है। न वह किसी को खाता है और न कोई उसको खाता है', 'हे गार्गि, इस अक्षर ब्रह्म की आज्ञा में ही सूर्य और चन्द्र भी कार्यरत हैं।' इस उत्तर को सुनकर—'वह बोली कि आप जैसे ब्राह्मणों का जिस पर अनुग्रह हो जाय, उसको आप नमस्कार करने मात्र से मुक्त कर सकते हैं। शास्त्र-चर्चा में आपको कोई जीत नहीं सकता, इतना कह कर वह चुप हो गई'। यहाँ पर पूर्वांश से सारे विशेषों से रहित, निषेध से बचा हुआ, निषेध का साक्षी, स्वप्रकाश, प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न परब्रह्म तत्त्व तद्भिन्न सब पदार्थों की व्यावृत्ति के माध्यम से बताया गया है।

यद्यपि सबके साक्षीभूत, चित्स्वरूप, निरुपाधि, विवाद के अविषय इस परब्रह्म में प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, तो भी प्रमाण की सर्वनियामकता के कारण अन्तर्यामी अक्षर की भी सिद्धि इससे होती है। विवाद विषय इस जगत् की स्थिति किसी

लोकस्थितिवत्। सेव्याद्राज्ञो यथा सेवाफलप्राप्तिर्भवति, तथैव दानयागादिक्रियाफलं यस्माद् भवति स परमेश्वरः। एवमादिभिरनेकैरनुमानैरपि परमेश्वरः साधितः। परमेश्वरोऽन्तर्याम्येव मायोपाधिराहित्येनाशेषविशेषातीतमक्षरं ब्रह्म भवति। तदभिप्रायेणैवोक्तम्—'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ·······नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' (बृ० ३।८।११) इत्यादिभिरद्वितीयस्वप्रकाशाखण्डबोधरूपत्वं निगदव्याख्यातम्।

नवमब्राह्मणे तस्यैवान्तर्यामिणः प्राणरूपेण वर्णनम्। तस्यैव चाग्न्यादिरूपेण नानात्वमानन्त्यं प्राणरूपेण चैकत्वमुक्तम्। तत्रापि 'कतमौ तौ द्वौ' (बृ० ३।९।८) इति प्रश्नः, 'अन्नं चैव प्राणश्चेति' (बृ० ३।९।८) इति उत्तरितम्। 'कतमोऽध्यर्धः' (बृ० ३।९।८) इत्यस्योत्तरं 'योऽयं पवत इति' (बृ० ३।९।८) इति। एकस्मिन् पवमाने वायौ सर्वस्यार्धत्वाद् वायोरध्यर्धत्वम्। 'कतम एको देवः' (बृ० ३।९।९) इत्यस्य 'प्राणः' (बृ० ३।९।९) इत्युत्तरम्। 'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' (बृ० ३।९।९) सर्वदेवतात्मकत्वात् सर्वतोऽपि महानयम्, तस्माद् ब्रह्म त्यच्छब्देन कथ्यते। त्यदिति परोक्षवाचकः शब्दः। इदमेव देवतानां नानात्वमेकत्वं च। अनन्तानां देवतानां निवित्संख्या विशिष्टेष्वन्तर्भवति। त्रयस्त्रिंशतामपि प्राणेऽन्तर्भावोऽत एकस्य प्राणस्यैव नानारूपगुणशक्तिभेदेनानन्तसंख्याविस्तारः। रुद्राध्याये—असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्। तेषां सहस्रयोजनेव धन्वानि तन्मसि।' (वा० सं० १६।५४) अन्तर्यामिरूपेण कारणब्रह्मैव प्राणशब्देनात्रोक्तम्। अव्याकृतरूपेण सूत्रात्मा च वायुशब्देनोक्तः। प्राणवायुशब्दाभ्यामयमेव भेदो ज्ञातव्यः। सूत्राकार-विशिष्टत्वात् कारणादधिकत्वात् सूत्राकारविकारस्य स्वातन्त्र्याभावाच्चार्धत्वमेव। तस्य तेन सार्धैकरूपत्वादध्यर्धता ज्ञेया। तदुक्तं वार्तिककारैः—'सूत्राकारविकारोऽयं कारणादधिकस्तु सः। अस्वतन्त्रतयार्धश्च वायोरध्यर्धता मता॥'

व्यवस्थित नियन्ता के कारण है, जैसे कि राजा के द्वारा नियन्त्रित प्रजा की स्थिति व्यवस्थित होती है। राजा से सेवक को उसकी सेवा का फल मिलता है, उसी तरह परमेश्वर से भी दान-याग आदि क्रियाओं के फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के अनेक अनुमानों से भी परमेश्वर सिद्ध होता है। परमेश्वर अन्तर्यामी होते हुए भी माया की उपाधि से शून्य होने से सारी विशेषताओं से अतीत अक्षर ब्रह्म है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि—'हे गार्गि! यह अक्षर ब्रह्म बिना दर्शन के द्रष्टा, बिना श्रवण के श्रोता, बिना मनन के मन्ता, बिना विज्ञान के विज्ञाता होता है, इससे भिन्न कोई द्रष्टा, मन्ता, विज्ञाता नहीं है'। यहाँ पर ब्रह्म की अद्वितीय, स्वप्रकाश, अखण्डबोध रूपता शब्दों से ही स्पष्ट है।

नवम ब्राह्मण में उसी अन्तर्यामी का प्राण के रूप में वर्णन है। अग्नि आदि के रूप में उसकी अनन्तता और नानात्व का और प्राण के रूप में उसकी एकता का निरूपण हुआ है। वहाँ पर प्रश्न होता है कि 'ये दो कौन हैं'? उसका उत्तर है कि—'अन्न और प्राण'। 'आधा और एक कौन है? इस प्रश्न का उत्तर है कि 'जो यह बहता है'। एक प्रवहमान पवन के सामने सब कुछ आधा प्रतीत होता है, अतः पवन को 'अध्यर्ध' कहा गया है। 'एक देव कौन है' इस प्रश्न का उत्तर है 'प्राण'। 'इसी को त्यद् ब्रह्म कहा जाता है।' यह ब्रह्म सर्वदेवतात्मक होने से सबसे महान् है, इसलिये इस ब्रह्म को 'त्यत्' शब्द से कहा जाता है। यह परोक्ष वाचक शब्द है। इसी कारण देवताओं में नानात्व और एकत्व दोनों की स्थिति होती है। अनन्त देवताओं का निवित्संख्याविशिष्ट देवों में अन्तर्भाव होता है और तैंतीस देवताओं का प्राण में। इसलिये गुण, शक्ति के भेद से एक ही प्राण के नाना रूपों का अनन्त संख्या में विस्तार हो जाता है। इसीलिये रुद्राध्याय के 'असंख्याता सहस्राणि' इस मन्त्र में असंख्य रुद्रों की चर्चा है। अन्तर्यामी रूप से कारण ब्रह्म को ही प्राण शब्द से कहा गया है और अव्याकृत रूप से सूत्रात्मा ही वायु शब्द से अभिहित है। प्राण और वायु शब्द की भिन्नता का यही रहस्य है। सूत्राकार से विशिष्ट होने, से कारण से अधिक होने से वह एक ओर सूत्राकार के विकार की स्वतन्त्रता न होने से यह आधा है। इस आधे रूप के साथ रहने से पवन की सार्धैकता, अध्यर्धता मानी जाती है। वार्तिककार ने यही बात कही है कि—'यह सूत्राकार विकार कारण से अधिक है, किन्तु अस्वतन्त्र होने से आधा है, अतः पवन की अध्यर्धता मानी गई है'। दो आदि संख्याओं में भी

द्विसंख्यादिष्वपि कारणावस्थापेक्षयाऽधिकत्वात् तदपेक्षयाऽस्वातन्त्र्येण हीनत्वाच्चाध्यर्धता सम्भाव्यते। तस्माद्वायोश्च-राचरसम्पूर्णप्रपञ्चसमृद्धिहेतुत्वादेव श्रुतिर्वायोरध्यर्धतामभिप्रैति। तदप्युक्तम्—'ईदृगध्यर्धतान्येषु द्विसंख्यादिष्वपीक्ष्यते। अतोऽधिकसमृद्धचैव श्रुतिरध्यर्धतां जगौ॥' वार्त्तिकसारे नवमब्राह्मणार्थे—'अनन्तेष्वपि देवेषु योऽयं देव उपास्यते'। 'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' इति शिवमहिम्नस्तोत्रे।

यद्यपि—'साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।४।१)' इति श्रुत्या परंब्रह्मापरोक्षमेव, तथाप्यनाद्यविद्यामायादि-योगेनापरोक्षमपि ब्रह्म परोक्षवदवभासते। श्रवणमनननिदिध्यासनैस्तदेव ब्रह्म स्वात्मतयाऽपरोक्षं भवति। श्रवणादि-योग्यताप्राप्त्यर्थं तदुपासनमपेक्षितम्।

देवतास्वरूपनिरूपणम्

'शब्दादेव प्रमितः' (ब्र० सू० १।३।२४) इत्यत्र—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूत-भव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्॥' (का० २।४।१३) इति श्रुतिमधिकृत्य संशयः—किमत्र विज्ञानात्मा प्रतिपादितः किं वा परमात्मेति। परमात्मनोऽनन्तस्य नाङ्गुष्ठपरिमाणत्वमुपपद्यते। उपाधिमत्त्वाद्विज्ञानात्मन एव कयाचिदपेक्ष-याऽङ्गुष्ठपरिमाणत्वं सम्भाव्यते। 'अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशंगतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥' (म० भा० व० प० २९७।१७) इति विज्ञानात्मनो जीवस्याङ्गुष्ठपरिमाणत्वं स्मर्यते च। नहि परमेश्वरो बलाद्यमे-नाक्रष्टुं शक्यः। तेन विज्ञानात्मैव पूर्वोक्तश्रुतिनिर्दिष्ट इति पूर्वपक्षय्य सिद्धान्तितम्—परमात्मैवात्राङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः, ईशानो भूतभव्यस्येति शब्दात्। नहि परमेश्वरादन्यस्य भूतभव्यनियन्तृत्वं सम्भवति।

कारणावस्था की अपेक्षा से आधिक्य होने पर और स्वतन्त्रता के अभाव में हीनता आने पर अध्यर्धता बन सकती है, किन्तु श्रुति केवल वायु की ही अध्यर्धता का प्रतिपादन करती है, क्योंकि वायु ही सचराचर सारे जगत् प्रपंच की समृद्धि का कारण है। यही बात इस श्लोक में कही गई है—'इस प्रकार की अध्यर्धता दो संख्या आदि में भी बन सकती है, किन्तु अधिक समृद्धि वाला गुण वायु में ही देखकर श्रुति वहीं इस अध्यर्धता का प्रतिपादन करती है।' नवम ब्राह्मण के अर्थ के प्रतिपादक वार्त्तिकसार में कहा गया है कि—'अनन्त देवताओं की विद्यमानता में भी इस एक प्राणमय देव की उपासना विहित है।' शिवमहिम्नस्तोत्र में भी यही बात कही गई है कि—'रुचि की विभिन्नता के कारण मनुष्य टेढ़े-सीधे रास्ते से चलते हैं, किन्तु वे सब एक ही भगवान् के पास पहुँचते हैं, जैसे कि सारी नदियों का जल समुद्र में पहुँचता है।'

यद्यपि 'जो साक्षात् अपरोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष है, वह ब्रह्म है' इस श्रुति के प्रमाण पर ब्रह्म प्रत्यक्ष ही है, तो भी अनादि अविद्या माया आदि के कारण वह परोक्ष हो जाता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा उस ब्रह्म का स्वात्मतया प्रत्यक्ष बोध होता है। श्रवणादि की योग्यता के अर्जन के लिये उसकी उपासना करनी पड़ती है।

देवता स्वरूप निरूपण

ब्रह्मसूत्र के 'शब्दादेव प्रमितः' इस सूत्र में कठोपनिषद् के 'अङ्गुष्ठमात्रः' इत्यादिक वाक्य को लेकर यह संदेह उपस्थापित किया गया है कि यहाँ पर जीवात्मा प्रतिपादित है या परमात्मा? श्रुति का यह अभिप्राय है कि 'जो अंगुष्ठ परिमाण पुरुष शरीर के मध्य में स्थित है, वह धूम रहित ज्योति के समान है, भूत-भविष्यत् का शासक है, वही आज (वर्तमान काल में) है और वही कल (भविष्यत् में) भी रहेगा। यहाँ वह ब्रह्म तत्त्व है।' अनन्त आयाम और विस्तार वाला परमात्मा अंगुष्ठमात्र परिमाण हो, यह युक्त नहीं है। जीवात्मा तो उपाधि युक्त है, अतः किसी कल्पना से वह अंगुष्ठ परिमाण हो सकता है। महाभारत वनपर्व के इस श्लोक में भी कि 'इसके बाद यमराज ने सत्यवान् के शरीर से अपने पाशों में बाँधे गये, अत एव वशीभूत अंगुष्ठमात्र पुरुष को बलपूर्वक खींच लिया' विज्ञानात्मा जीव को ही अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला माना गया है। यमराज का यह सामर्थ्य नहीं है कि वह परमात्मा को बलपूर्वक खींच ले जाय। इसलिये उक्त श्रुति में जीवात्मा ही निर्दिष्ट है। इस प्रकार पूर्वपक्ष की उपस्थापना करने के बाद उक्त सूत्र में यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि परमात्मा ही अंगुष्ठ परिमाण पुरुष हो सकता है, क्योंकि इस श्रुति में पुरुष को भूत और भव्य का स्वामी बताया गया है। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई विज्ञानात्मा पुरुष भूत और भव्य का नियन्ता नहीं हो सकता।

कथं सर्वगतस्य परमेश्वरस्याङ्गुष्ठपरिमाणत्वमिति चेत्तत्राह वादरायणो महर्षिः—'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्'(१।३।२५) हृदयापेक्षत्वात्तदुपाधिकस्य परमेश्वरस्योपपद्यत एवाङ्गुष्ठपरिमाणत्वमिति। ननु पशुपक्ष्यादीनां हृदयस्यानियतपरिमाणत्वात् कथमङ्गुष्ठपरिमाणत्वमिति चेन्न, शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वादुपनयनादिशास्त्राच्च शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वात् (जैं० सू ६।१।४-५) मनुष्याणां च नियतपरिमाणकायत्वात् तद्धृदयमपि नियतपरिमाणमङ्गुष्ठपरिमाणम्, तदुपाधित्वात् सर्वगतस्यापि परमेश्वरस्याङ्गुष्ठपरिमाणत्वमुपपद्यते।

'तदुपर्यपि वादरायणः सम्भवात्' (१।३।२६) इति मनुष्यादुपरि ये देवास्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति वादरायणाचार्यो मन्यते, तेषामप्यर्थित्वादिसम्भवात्। मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात्तेषां सामर्थ्यमपि विज्ञायते। न चोपनयनशास्त्रेणाधिकारो निवर्त्यते, तेषां स्वयंप्रतिभातवेदत्वेन तदनपेक्षणात्। वेदाध्ययनार्थमेवोपनयनविधानात्। 'न देवानां देवतान्तराभावात्', 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' (जैं० सू० ६।१।६-७) इति यदनधिकारकारणमुक्तं तदपि न ब्रह्मविद्यासु सम्भवति, विद्यास्वधिक्रियमाणानामिन्द्राद्युद्देश्येन किञ्चित्कृत्याभावात्। तस्माद् देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते? देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्येत।

यदपि विग्रहवत्त्वाभ्युपगमेनेन्द्रादीनां कर्माङ्गभावेन वहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपतः सन्निधानानुपपत्तिरूपो विरोध इति, तदपि न, अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्। किञ्चैकस्यानेककायत्वमदर्शनाद् वाधाद् वा नोपपद्यते?

सर्वगत परमात्मा अंगुष्ठ परिमाण कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि बादरायण ने 'हृद्यपेक्षया' इत्यादिक सूत्र से दिया है। मनुष्य हृदय में ही परमात्मा का ध्यान करता है। इसलिये मनुष्य के हृदय का परिमाण परमात्मा में आरोपित कर लिया जाता है। यहाँ यह शंका होती है कि पशु-पक्षी आदि सबका हृदय एक परिमाण का तो होता नहीं, तब फिर हृदय की अंगुष्ठ परिमाणता कैसे सिद्ध होगी? सिद्धान्ती का कहना है कि आचार्य जैमिनि के मीमांसासूत्र के प्रमाण से शास्त्र में केवल मनुष्य ही अधिकारी होता है, क्योंकि वही समर्थ है, कामनाविशेष से युक्त है, श्रुत्युक्त कर्मानुष्ठान में अनिराकृत है और शास्त्र उसके उपनयन आदि का विधान करता है। मनुष्यों का शरीर निश्चित परिमाण वाला होता है, इसलिये उनके हृदय का परिमाण भी उचित रूप में नियत अंगुष्ठमात्र होना चाहिये और मनुष्य के हृदय में अवस्थित होने के कारण परमात्मा की औपाधिक अंगुष्ठपरिमाणता युक्ति सिद्ध होगी।

आचार्य बादरायण का कहना है कि मनुष्यों से श्रेष्ठ देवता आदि भी शास्त्र में अधिकृत हैं, क्योंकि देवताओं में भी अर्थित्व आदि अधिकार के कारण विद्यमान हैं। मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लौकिक अनुभव से भी यह अवगत होता है कि वे शरीरधारी हैं, अतः उनमें सामर्थ्य विद्यमान है। उपनयन आदि शास्त्र से उनका अधिकार निवृत्त नहीं होता, कारण कि उपनयन वेद के अध्ययन के लिये होता है। ऐश्वर्यवशात् देवताओं को विना पढ़े ही वेद का ज्ञान स्वयं हो जाता है, अतः उनको वेदाध्ययन के लिये उपनयन की आवश्यकता ही नहीं है। 'देवताओं का यागादि कर्म में अधिकार नहीं है, क्योंकि अन्य देवताओं का अभाव है, अर्थात् इन्द्र से पृथक् अन्य इन्द्र का अभाव है और ऋषियों का भी यागादि कर्म में अधिकार नहीं है, क्योंकि दूसरे ऋषि का अभाव है' इस प्रकार पूर्व मीमांसा में देवताओं और ऋषियों का कर्म में अनधिकार बताया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि देवताओं और ऋषियों का यागादि कर्म में अधिकार माना जायगा तो दूसरे इन्द्र के अभाव में याग कर्ता इन्द्र किसको उद्दिष्ट कर हवि देगा और इसी प्रकार यदि ऋषि को यह अधिकार दिया जाता है तो वह आर्षेय प्रवरण में दूसरे ऋषि के अभाव में किसका प्रवरण करेगा? सिद्धान्ती का कहना है कि यह बात ब्रह्मविद्या में लागू नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मविद्या में अधिकृत इन्द्र आदि के लिये स्वयं अपने को उद्दिष्ट कर कोई कर्म नहीं करना पड़ता। अतः देवादि का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार कौन रोक सकता है? देवादि के अधिकार होने पर भी अंगुष्ठमात्र श्रुति अपने अंगुष्ठ की अपेक्षा से विरुद्ध नहीं होगी।

नाद्यः, श्रुतिस्मृतिभ्यां तद्दर्शनात्। नहि लौकिकेन प्रमाणेनादृष्टत्वाद् आगमेन दृष्टमदृष्टं भवति, तथात्वे यागादीनां स्वर्गादिसाधनत्वाभावापातात्। ननु मनुष्यशरीरस्य मातापितृसंयोगजन्यत्वनियमादसति पित्रोः संयोगे कुतः शरीरान्तर-सम्भवः? सम्भवे वा अनग्नितो धूमः स्यादिति बाधदर्शनादेव तदनुपपत्तिरिति चेन्न, देवताशरीरस्य मातापितृसंयोगजत्व-साधने शरीरत्वहेतोरनैकान्तिकत्वात्। स्वेदजोद्भिज्जानां शरीराणामतद्धेतुत्वात्। न च देहादीनामिच्छामात्रनिर्माणत्व-मदृष्टचरमिति वाच्यम्, भूतोपादानत्वेनेच्छामात्रनिर्माणत्वासिद्धेः। भूतवशिनां देवादीनां नानाकार्यचिकीर्षावशाद् भूत-क्रियोत्पत्तौ भूतानां संयोगेन नानाकायसमुत्पादात्। दृष्टाश्च वशिन इच्छावशाद्वश्यैर्भूतैर्व्यवहरन्तः। यथा विषविद्याविद इच्छामात्रेण विषशकलप्रेरणम्। ननु विषविद्याविदो विषशकलादिदर्शनेनाधिष्ठानं दृष्टम्, व्यवहितविप्रकृष्टभूतादर्शनाद् देवादीनां कथमधिष्ठानमिति चेन्न, काचाभ्रपटलविहितस्य विप्रकृष्टस्य च भौमशनैश्चरादेर्दर्शनेन व्यभिचारात्। तथाहि देवादीनामसंसक्ता दृष्टयः काचपाटलादिवन्महीमहीधरादिभिर्नैव व्यवधीयन्ते। न चास्मदादिवत्तेषां शरीरित्वेन व्यवहितविप्रकृष्टदर्शनासम्भवोऽनुमातुं शक्यः, आगमविरोधिनोऽनुमानस्यानुदयात्। अन्तर्धानमप्यञ्जनादिना मनुष्याणामिव तेषां नानुपपद्यते। तेन क्रतुदेशे सन्निहितानामप्यदर्शनं नानुपपद्यते।

अत एव 'कति देवाः' इत्युपक्रम्य 'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' (बृ० उ० ३।९।१) इति श्रुत्या वैश्वदेवशस्त्रस्य निविदि कति देवा इति शाकल्यप्रश्नस्य याज्ञवल्क्येन निविदेवोत्तरं दत्तम्। निविन्नाम शस्य-

यहाँ शंका उपस्थित होती है कि यदि देवताओं को शरीरधारी माना जायगा, तो उनको उद्दिष्ट कर एक ही समय में किये गये अनेक यागों में एक साथ कैसे अपने स्वरूप से उपस्थित हो सकेंगे? इसका यह समाधान है कि श्रुतियों में यह देखा गया है कि एक ही समय में एक ही देवता अनेक शरीर धारण कर सकती है। एक व्यक्ति के अनेक शरीर नहीं हो सकते, इसमें आप अदर्शन और बाध ये दो हेतु देते हैं। इनमें पहला हेतु इसलिये ठीक नहीं है कि श्रुति और स्मृति के प्रमाण पर यह सिद्ध है कि एक व्यक्ति के अनेक शरीर हो सकते हैं। आगम अर्थात् शास्त्र में प्रतिपादित वस्तु का लौकिक प्रमाण से बाध नहीं हो सकता। यदि ऐसा मान लिया जाय तो फिर यागादि में स्वर्गादि की साधनता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। आपका यह कहना भी उचित नहीं है कि मनुष्य का शरीर माता-पिता के संयोग से ही उत्पन्न होता है, अतः माता-पिता के अभाव में दूसरा शरीर कैसे उत्पन्न हो सकता है। यदि यह हो सकता है तो फिर बिना ही अग्नि के धूम की सत्ता भी माननी पड़ेगी। अतः बाध हेतु से एक देवता के अनेक शरीर उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि देवताओं का शरीर भी माता-पिता के संयोग से उत्पन्न है, किन्तु इसको सिद्ध करने में शरीरत्व हेतु अनैकान्तिक दोष से ग्रस्त है। स्वेदज, उद्भिज्ज जीवों के शरीर माता-पिता के संयोग के बिना ही होते देखे गये हैं। अनेक देहों की इच्छामात्र से निर्मिति कहीं नहीं देखी गई। इसके लिये पंच महाभूतों का उपादान आवश्यक है, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि देवतागण भूतवशी हैं। जब वे नाना शरीरों की रचना करने लगेंगे, उस समय भूतों में स्वाभाविक क्रिया होगी और उनके संयोग से नाना शरीरों का निर्माण संभव हो सकेगा। भूतवशी योगिगण अपनी इच्छानुसार वशीभूत द्रव्यों से व्यवहार करते देखे गये हैं, जैसे कि विषविद्या में प्रवीण गारुडिक की इच्छामात्र से विषशकल प्रेरित होता है। विषविद्या प्रवीण विषशकल को देखता रहता है, इसलिये यहां अधिष्ठान देखा जाता है। व्यवहित और विप्रकृष्ट भूतों के न दिखाई देने से देवताओं की अधिष्ठानता दृष्ट नहीं है, यह उक्ति इसलिये ठीक नहीं है कि काच (शीशा) और अभ्रपटल (मेघमंडल) से व्यवहित वस्तुओं का तथा सुदूरवर्ती मंगल, शनि आदि ग्रहों का प्रत्यक्ष होता है, अतः उक्त हेतु व्यभिचरित है। क्योंकि देवताओं की दृष्टि अप्रतिहत होती है, इसलिये उनको काच और अभ्रपटल से व्यवहित वस्तुओं के ही समान पृथ्वी-पर्वत आदि से व्यवहित वस्तुओं का भी दर्शन होता है। हमारे ही समान यदि देवतागण शरीरी हैं तो उनको भी व्यवहित, विप्रकृष्ट आदि वस्तुओं का दर्शन नहीं होना चाहिये, इस प्रकार का अनुमान आगमविरोधी होने के कारण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। मनुष्य जैसे अंजन आदि के प्रयोग से अन्तर्हित हो जाता है, उसी भाँति देवताओं के शरीरधारी रहने पर भी याग प्रदेश में उपस्थित होने पर उनका अदर्शन युक्तिसंगत है।

मानदेवतासंख्यावाचकानि मन्त्रपदानि । वैश्वदेवस्य निविदि यावत्संख्याका देवास्त एतावन्तः । अनन्यशक्तेर्भगवतोऽनन्तानन्तकार्योत्पादानुकूलाः शक्तयस्तदवच्छिन्नाश्चेतना देवा अप्यनन्ता एव । तेषामनन्तदेवानां निवित्संख्याविशिष्टेषु देवेष्वन्तर्भावः । ते च, षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रसंख्याकाः । पुनश्च शाकल्येन 'कतमे ते' इति संख्येयेषु पृष्टेषु याज्ञवल्क्येनोक्तम्—'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः' (बृ० उ० ३।९।२) इति । त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडाद्यन्तर्भावक्रमेण 'कतम एको देव इति प्राणः' (बृ० उ० ३।९।९) इति प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन् तस्यैवैकस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति । तथा च यथा प्राणस्यैवाध्यर्धद्वित्रिषट्त्रिंशदादिरूपता, तथैव तेष्वप्येकस्यानेकरूपता सम्भवत्येव ।

'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ । योगी कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ।। प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् । संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ।।' अधुना च महाभारते शान्तिपर्वणि ३०० अध्याये एतच्छ्लोकद्वयमधस्तनेन रूपेणोपलभ्यते—'आत्मनां च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ । योगः कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ।।२६।। प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्पुनश्चोग्रं तपश्चरेत् । संक्षिपेच्च पुनस्तात सूर्यस्तेजोगुणानिव ।।२७।। इत्येवंजातीयका देवताधिकरणस्थशाङ्करभाष्योद्धृतस्मृतिः प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरसम्बन्धं दर्शयति । तेनाजानसिद्धानां देवानां युगपदनेकशरीरप्रतिपत्तिः कैमुतिकन्यायसिद्धा । तथा च देवता बहुरूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गतां गन्तुं शक्नोत्येव । यद्यपि श्राद्धेष्वनेकेष्वेको ब्राह्मणो नाङ्गभावमुपगच्छति, तथापि तमेवैकमुद्दिश्य बहुभिर्नमस्कारः क्रियत एव यथा, तथैव स्वस्थानस्थितामेकां देवतामुद्दिश्य बहुभिर्यजमानैर्नानादेशावस्थितैर्युगपद्धविस्त्यज्यते । असन्निहिताया अपि देवताया अङ्गभावः सम्भवत्येव । तस्याश्च युगपद्विप्रकृष्टानेकार्थोपलम्भसामर्थ्यमुक्तमेव । एवं च विग्रहवत्त्वेऽपि देवानां न कर्मणि किञ्चिद्विरोधः ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में शाकल्य ने प्रश्न किया है कि वैश्वदेव शस्त्र की निविद् में कितने देवता हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने निविद की भाषा में ही उत्तर दिया है कि उसमें तीन सौ तीन और तीन हजार तीन अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः देवता हैं । किसी कर्म में स्तुत्य देवताओं को संख्या बताने वाले मंत्र निविद् नाम से जाने जाते हैं । वैश्वदेव की निविद् में इतने ही देवता स्तुत्य हैं । अनन्त शक्ति संपन्न भगवान् की अनन्त कार्यों की उत्पत्ति में समर्थ अनन्त शक्तियाँ हैं और उन शक्तियों में अनुस्यूत देवतागण भी अनन्त हैं । उन अनन्त देवताओं का निवित्संख्या के देवताओं में अन्तर्भाव होता है । इनकी संख्या तीन हजार तीन सौ छः है । शाकल्य ने जब पुनः प्रश्न किया कि वे कौन-कौन से हैं, तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि वस्तुतः ३३ ही देवता हैं । अन्य देवतागण इन्हीं की महिमा का विस्तार है । ३३ देवताओं का ६ में अन्तर्भाव बतला कर अन्त में एक प्राण में ही सभी देवताओं का समावेश कर दिया गया है और बताया गया है कि यह प्राणरूप देवता ही एक साथ अनेक रूप धारण कर लेता है । इस प्रकार जैसे एक प्राण के ही डेढ़, दो, तीन, छः, तीस आदि भेद होते हैं, उसी प्रकार उनमें से किसी एक के भी अनेक रूप (शरीर) हो ही सकते हैं ।

'हे भरतर्षभ, योगी योगबल से अपने अनेक शरीर बना सकता है और उनसे सारी पृथ्वी पर घूम सकता है । कुछ शरीरों से वह विषय सुख का उपभोग करता है तो अन्य शरीरों से उग्र तपस्या करता है । सूर्य जैसे अपनी किरणों को समेट लेता है, उसी भाँति वह योगी उन सब शरीरों को समेट कर पुनः एक कर लेता है ।' इस अभिप्राय के ये दो श्लोक कुछ पाठभेद के साथ महाभारत के शान्तिपर्व के ३००वें अध्याय में मिलते हैं । उक्त श्लोक देवताधिकरण के शांकरभाष्य में उद्धृत हैं । यह स्मृति जब अणिमादि सिद्धि संपन्न योगियों के एक साथ अनेक शरीर संबन्ध को दर्शाती है, तो फिर आजानसिद्ध देवतागण एक साथ अनेक शरीर धारण कर सकेंगे, इसमें कहने की बात ही क्या है ? अतः देवतागण अपने को अनेक रूपों में प्रविभक्त कर एक साथ अनेक यागों में अंगभाव को प्राप्त कर ही सकते हैं । यद्यपि अनेक श्राद्धों में एक ब्राह्मण एक साथ भोजन नहीं कर सकता, तो भी एक ही ब्राह्मण को जैसे अनेक व्यक्ति एक साथ नमस्कार कर सकते हैं, उसी तरह अपने स्थान में स्थित एक देवता को नाना स्थानों में अवस्थित अनेक यजमान एक साथ हवि दे सकते हैं । देवता के

ननु शब्दे विरोधः ? अर्थाद् देवताया विग्रहवत्त्वेनानित्यत्वापत्त्या तस्या न नित्येन वैदिकेन शब्देनौत्पत्तिकः सम्बन्धः सम्भवति, तदभावे च न वेदानां प्रामाण्यम्, शब्दस्यार्थेनौत्पत्तिकं सम्बन्धमाश्रित्यैवानपेक्षत्वेन वेदानां प्रामाण्यव्यवस्थापनात्। अयमभिप्रायः—गोत्वादिवत् पूर्वावमर्शाभावादुपाधेरप्येकस्याभावात् पाचकादिवद् आकाशादिशब्दा वस्वादिशब्दाश्च व्यक्तिवाचका एव। देवतानां नित्यत्वे सत्येव वैदिकैः शब्दैः स्वाभाविकः सम्बन्धः सम्भवति। विग्रहवत्त्वे त्वनित्यत्वात्ततः पूर्वं वस्वादिशब्दो न स्वार्थेन सम्बन्धुमर्हति, स्वार्थस्यैवाभावात्। उत्पन्ने तु वस्वादौ वस्वादिसम्बन्धः प्रादुर्भवन् देवदत्तादिशब्दसम्बन्धवत् पुरुषबुद्धिप्रभव इति तत्पूर्वको वाक्यार्थप्रत्ययोऽपि पुरुषबुद्ध्यधीन एव स्यात्। पुरुषबुद्धिश्च मानान्तरापेक्षैव। तथा च मानान्तरापेक्षमेव प्रामाण्यं नानपेक्षतयेति चेन्न, 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।३।२८) इत्यतो वैदिकशब्दाद् देवादिजगतः प्रभवात्।

ननु 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इति सूत्रे ब्रह्मप्रभवत्वं जगतो निर्धारितम्, कथमिह वैदिकशब्दप्रभवत्वमुच्यते, इति चेन्न, तत्र देवादिजगतः कर्तृत्वोपादानत्वाभ्यां ब्रह्मकारणकत्वेऽपि वैदिकशब्दस्य निमित्तत्वे बाधाभावात्। नन्वेवमपि वस्वादित्यरुद्रादीनामुत्पत्तिमत्त्वेनानित्यत्वात् तद्वाचिनां शब्दानामप्यनित्यत्वात् शब्दार्थसम्बन्धानामौत्पत्तिकत्वं भज्यत एव, लोके पुत्र उत्पन्न एव पित्रादिभिर्नामकरणदर्शनादिति चेन्न, गवादिशब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वदर्शनात्। तथा च गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वेऽपि गोत्वादिजातीनां नित्यत्ववद्वस्वादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वेऽपि

असंनिहित रहने पर भी उसका याग के प्रति अंगभाव संभव है और उसमें एक साथ दूर की अनेक वस्तुओं की प्राप्ति का सामर्थ्य विद्यमान है, यह बताया जा चुका है। इस प्रकार देवताओं के शरीरधारी होने पर भी कर्म में किसी प्रकार का विरोध नहीं आवेगा।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि देवताओं के शरीरधारी होने पर भी कर्म में भले ही कोई दोष न आवे, शब्द में तो विरोध उपस्थित होगा, क्योंकि देवता के शरीरधारी होने पर वह अनित्य होगी और इस कारण से उसका नित्य वैदिक शब्द के साथ स्वाभाविक संबन्ध नहीं बन पावेगा। फलतः वेदों की प्रामाणिकता भी सिद्ध न हो सकेगी, क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ स्वाभाविक संबन्ध मान करके ही वेद का प्रमाणान्तर निरपेक्ष प्रामाण्य स्थापित किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि गोत्व आदि जातिवाचक शब्दों के साथ जैसे अनन्त गो व्यक्तियों का परामर्श होता है, उस प्रकार का परामर्श न होने के कारण तथा किसी उपाधि के भी न रहने के कारण पाचक आदि शब्द के समान आकाश आदि शब्द और वसु आदि शब्द भी व्यक्तिवाचक हैं। देवता के नित्य होने पर ही वैदिक शब्द के साथ उसका स्वाभाविक संबन्ध बन सकता है। देवता के शरीरधारी होने पर वह अनित्य होगी, क्योंकि वसु आदि देवतागण के तत्तत् शरीर ग्रहण करने के पूर्व उनकी अविद्यमानता के कारण वसु आदि शब्द का उससे संबन्ध ही नहीं बन पावेगा। वसु आदि के शरीर ग्रहण करने के बाद वसु आदि शब्द का संबन्ध उसी प्रकार पुरुष बुद्धि से उत्पन्न माना जायगा, जिस प्रकार कि देवदत्त आदि शब्द का होता है। इस प्रकार के शब्दों के माध्यम से होने वाला वाक्यार्थ का परिज्ञान भी पुरुष-बुद्धिजन्य ही माना जायगा। पुरुष-बुद्धि दूसरे प्रमाण की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार देवता के शरीरधारी मानने पर शब्द का प्रमाणान्तर-सापेक्ष प्रामाण्य मानना पड़ेगा, निरपेक्ष नहीं। इस प्रश्न का समाधान 'शब्द इति' इत्यादि सूत्र से किया गया है। इसका अभिप्राय है कि वैदिक शब्द से ही देवादि जगत् की उत्पत्ति होती है, यह बात श्रुति और स्मृति के प्रमाण से सिद्ध है।

यहां शंका उपस्थित होती है कि 'जन्माद्यस्य' इत्यादि सूत्र में यह निश्चय किया गया है कि जगत् की ब्रह्म से उत्पत्ति होती है, तो यहां यह कैसे कहते हो कि वैदिक शब्द से जगत् उत्पन्न होता है ? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म देवादि सृष्टि का कर्ता और उपादानकारण है तथा शब्द निमित्तकारण है। इस प्रकार दोनों वाक्यों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। पुनः शंका उपस्थित होती है कि वसु, आदित्य, रुद्र आदि उत्पन्न होते हैं, अतः अनित्य हैं और इसीलिये तद्वाचक शब्द भी अनित्य हैं। इस प्रकार शब्द और अर्थ के संबन्ध की स्वाभाविक नित्यता टूट जाती है, क्योंकि लोक-व्यवहार में देखा गया है कि पुत्र के उत्पन्न होने के बाद ही पिता आदि उसका नामकरण करते हैं। इसका उत्तर है

वसुत्वादिजातीनां नित्यत्वाद्, वैदिकवस्वादिशब्दानां वस्वादिजातिभिरौत्पत्तिक एव सम्बन्धः सिद्धयति। न च व्यक्तिभिरेव शब्दसम्बन्ध इति वाच्यम्, व्यक्तीनामानन्त्येन सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः। तथा च देवादिव्यक्तीनां वैदिकशब्दात्प्रभवाभ्युपगमेऽपि जातेर्नित्यत्वान्न वैदिकवस्वादिशब्देष्वनित्यत्वपौरुषेयत्वादिविरोधः सम्भवति। मन्त्रार्थवादादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वावगमान्नित्यान्निवसुत्वादिजातिभिरेव सम्बन्धो युक्तः, प्राड्विवाक-सेनापत्यादिशब्दवत्। स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्तत्वाच्च वैदिकैर्नित्यैरेव वस्वादिशब्दैर्वस्वादयोऽभिधीयन्ते। यथा यो यः प्राड्विवाकादिपदमधिरोहति स स एव तेन तेन शब्देनाभिधीयते, तथैव यो या वस्वादिस्थानमारोहति स स एव वस्वादिशब्दैरभिधीयते।

ननु वैदिकशब्देभ्यो देवादिप्रपञ्चोत्पत्तिरेव कुत इति चेदुच्यते—प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्। ते हि शब्दपूर्वमेव सृष्टिं दर्शयतः। 'एत इति प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति श्रुत्या (एषा शाङ्करभाष्योद्धृता श्रुतिः) 'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (बृ० उ० १।२।४) इत्यादिना च तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्रूयते। स्मृतिरपि—'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥' (म० भा० शा० प० २३२।२५), 'सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥' (म० १।२१) नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥' (इति शाङ्करभाष्य उदाहृता स्मृतिः। अधुना महाभारते शान्तिपर्वणि

कि गो आदि शब्दों और अर्थों का संबन्ध नित्य दिखाई देता है। गो आदि व्यक्तियों को उत्पत्ति होने पर भी जैसे उनकी आकृति (जाति) की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वे नित्य हैं, उसी तरह वसु आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति मानने पर भी वसुत्व आदि जातियां नित्य होंगी। इस प्रकार वैदिक वसु आदि शब्दों का वसु आदि की आकृति के साथ स्वाभाविक नित्य संबन्ध सिद्ध होता है। शब्द का व्यक्ति के साथ ही संबन्ध हो सकता है, यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि व्यक्तियों के अनन्त होने के कारण उन सबके साथ शब्द का संबन्ध जोड़ पाना असंभव है। इस प्रकार देवादि व्यक्तियों की वैदिक शब्द से उत्पत्ति मानने पर भी जाति (आकृति) के नित्य होने के कारण वैदिक वसु आदि शब्दों में अनित्यत्व, पौरुषेयत्व आदि दोष नहीं आवेंगे। मन्त्र, अर्थवाद आदि से देवताओं के शरीरधारी होने की बात मालूम है, अतः जैसे स्थानविशेष संबन्ध रूप उपाधि को लेकर प्राड्विवाक, सेनापति आदि शब्दों की प्रवृत्ति होती है, उसी भांति वसु आदि शब्दों का भी नित्य वसुत्व आदि जातियों से ही संबन्ध माना जायगा। इस प्रकार नित्य वैदिक वसु आदि शब्दों से ही वसु आदि देवता अभिहित होंगे। जैसे कि कोई भी व्यक्ति न्यायाधीश के पद पर बैठेगा, वही प्राड्विवाक कहलावेगा, उसी भांति जो भी देवता वसु आदि के स्थान पर बैठेगा, वही वसु आदि शब्दों से अभिहित होगा।

प्रश्न उठता है कि वैदिक शब्द से देवादि प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है, इसमें क्या प्रमाण है? उत्तर है कि प्रत्यक्ष और अनुमान इसमें प्रमाण हैं। श्रुति प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि यह अपने प्रामाण्य के लिये किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। स्मृति अनुमान प्रमाण है, क्योंकि स्मृति अपने प्रामाण्य के लिये मूलभूत श्रुति की अपेक्षा रखती है। ये दोनों ही शब्दपूर्वक सृष्टि को दिखलाती है। 'एते' इस पद से प्रजापति ने देवताओं की, 'असृग्रम्' पद से मनुष्यों की, 'इन्दवः' से पितरों की, 'तिरःपवित्रम्' से ग्रहों की, 'आशवः' पद से स्तोत्र की, 'विश्वानि' से शस्त्र की तथा 'अभिसौभगाः' इस पद से अन्य प्रजाओं की सृष्टि की। शाङ्करभाष्य में उद्धृत इस श्रुति के तथा 'उस प्रजापति ने मन के द्वारा वेदत्रयीरूप वाणी की मिथुन भाव से भावना की' इस बृहदारण्यक श्रुति के प्रमाण पर स्थल-स्थल पर शब्दपूर्वक सृष्टि का प्रतिपादन मिलता है। 'सृष्टि के आरम्भ में स्वयंभू ब्रह्मा ने अनादि, अनन्त, नित्य और दिव्य वेदमयी वाणी को अभिव्यक्त किया, जिससे अन्य सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ हुईं', 'उसने आरम्भ में सम्पूर्ण भूतों के पृथक्-पृथक् नाम, रूप, कर्म एवं अवस्थाओं का वेद के शब्दों से ही निर्माण किया' इत्यादि स्मृतियाँ भी वेद से ही सृष्टि दिखलाती हैं। 'उस महेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में वैदिक शब्दों से ही भूतों के नाम, रूप और सत्कर्मों के अनुष्ठान की प्रवृत्ति का निर्माण किया' शांकरभाष्य में उद्धृत यह स्मृति महाभारत के शान्तिपर्व के २३२ वें अध्याय में कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होती है। लोक-व्यवहार में यह प्रति दिन देखा जाता है

२३२ अध्याय इत्थमुपलभ्यते—'नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।।२५।। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः ।।' इति)। लोकेऽपि कुलालादिभिश्चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठति यथा, तथैव प्रजापतिरपि सृष्टेः पूर्वं वैदिकैः शब्दैस्तांस्तानर्थान् स्मृत्वैव तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते। तथा च श्रुतिः 'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्' (तै० ब्रा० २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति। किञ्च—जानाति, इच्छति, करोतीति रीत्यापि यथा लोके ज्ञानेच्छापूर्विका कार्यसृष्टिः, तथैव परमेश्वरकर्तृकापि विश्वसृष्टिर्मन्तव्या। ज्ञानं च शब्दानुविद्धमेव जायते। 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।' (वा० प० १।१२३) इति हरिवचनात्। ते च शब्दाः स्रष्टव्यस्मारका एवेति देवादिप्रपञ्चसर्जनानुकूलपरमेश्वरीयज्ञाने देवादिवैदिकशब्दानामनुवेधो युक्तः।

किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते ? स्फोटमित्याह। वर्णपक्षे हि तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वान्नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यनुपपन्नं स्यात्। अयमभिसन्धिः—वाचकशब्दप्रभवत्वं हि देवानामभ्युपेतव्यम्, अवाचकेन तेषां बुद्धावनालेखनात्। तत्र न तावद् वस्वादीनां वकारादयो वर्णा वाचकाः, तेषां प्रत्युच्चारणमन्यत्वेनाशक्यसंगतिग्रहत्वात्, अगृहीतसंगतेश्च वाचकत्वेऽतिप्रसङ्गात्। किञ्च, वर्णाः प्रत्येकं वाक्यार्थमभिदधति, मिलिता वा ? नाद्यः, एकैकवर्णोच्चारणात् प्रत्ययादर्शनात्, वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गाच्च। नापि मिलिताः, तेषामेकवक्तृप्रयुज्यमानानां रूपतो व्यक्तितो वा प्रतिक्षणं प्रध्वंसिनां साहित्यासम्भवात्। न चान्यः प्रकारः सम्भवति। न चाग्नेयादीनामिव संस्कारद्वारकं साहित्यमस्त्विति वाच्यम्,

कि कुम्हार आदि जिस वस्तु को बनाना चाहते हैं, पहले उस वस्तु के बोधक शब्द का स्मरण करते हैं, पश्चात् उसकी रचना करते हैं, उसी तरह प्रजापति ने भी सृष्टि के प्रारम्भ में वैदिक शब्दों के माध्यम से उन-उन अर्थों का स्मरण कर पश्चात् शब्द के अनुगत अर्थों की रचना की, ऐसा ज्ञात होता है। 'उसने भू ऐसा उच्चारण कर पृथ्वी की सृष्टि की' इत्यादि श्रुतियाँ मन में प्रादुर्भूत हुए 'भू' आदि शब्दों से उत्पन्न हुए 'भू' आदि लोकों को दिखलाती है। लोक में देखा गया है कि मनुष्य पहले किसी वस्तु को जानता है, फिर उसको चाहता है, तदनन्तर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जानने और चाहने के बाद कार्य की सृष्टि होती है। परमेश्वर की बनाई सृष्टि में भी यही नियम लागू होगा। ज्ञान की उत्पत्ति शब्द के अनुवेध (जुड़े होने) से ही होती है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने कहा है कि 'लोक में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जिसमें कि शब्द न जुड़ा हो। सारा ज्ञान शब्द में अनुस्यूत होने के बाद ही भासित होता है।' ये शब्द उस पदार्थ का स्मरण कराते हैं, जिनकी कि सृष्टि अभिप्रेत है। अतः परमेश्वरीय ज्ञान में, जब कि वह देवादि प्रपञ्च की सृष्टि करना चाहते हैं, देवादि वैदिक शब्दों की अनुस्यूति उचित है।

यहाँ पर वैदिक शब्द से देवादि प्रपञ्च की उत्पत्ति मानी गई है। यह शब्द किस प्रकार का है ? वैयाकरणों का कहना है कि शब्द स्फोटात्मक है। यदि शब्द को वर्णात्मक माना जायगा तो वर्णों के उत्पत्तिविनाशशील होने के कारण नित्य शब्द से देवादि की सृष्टि नहीं बन पावेगी। इसका अभिप्राय यह है कि देवादि की सृष्टि अपने वाचक शब्द से माननी चाहिये। जो शब्द वाचक नहीं है, उससे उस देवता की आकृति बुद्धि में नहीं बन पावेगी। वकार आदि वर्ण वसु आदि के वाचक नहीं हो सकते, क्योंकि प्रत्येक उच्चारण में वर्णों की भिन्नता के कारण उनका संगतिग्रह अशक्य है। बिना संगति बोध के ही यदि वर्णों को वाचक मान लिया जाय, तो किसी भी वर्ण से किसी भी वस्तु का बोध होने लगेगा। फिर आप यह बताइये कि प्रत्येक वर्ण वाक्यार्थ का बोध कराते हैं, या मिलकर ? इसमें पहला पक्ष इसलिए उचित नहीं है कि एक-एक वर्ण के उच्चारण से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता। यदि एक ही वर्ण से वाक्यार्थ का बोध हो सके तो फिर दूसरे वर्णों का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा। यदि आप कहें कि सभी वर्ण मिलकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक वक्ता के द्वारा उच्चरित वर्ण का भी रूप अथवा व्यक्तित्व प्रतिक्षण विनाशशील है, अतः इनका साहित्य बन ही नहीं सकता। इन दोनों से भिन्न अन्य प्रकार नहीं है। संस्कार के द्वारा आग्नेय आदि के साहित्य के

विकल्पासहत्वात्। तथाहि—कोऽयं संस्कारो नाम? किमपूर्वमाग्नेयादिजन्यमिव, किं वा भावनापरनामा स्मृतिप्रसवबीजम्? नाद्यः, नहि शब्दः स्वरूपतोऽङ्गतो वाऽविदितोऽविदितसङ्गतिरर्थधीहेतुरिन्द्रियवत्, उच्चरितस्य बधिरेणागृहीतस्य गृहीतस्य वाऽगृहीतसङ्गतेरप्रत्यायकत्वात्। तस्माद् धूमवद्विदितो विदितसम्बन्धो विदितसमस्तप्रत्यायनाङ्गश्च शब्दः प्रत्यायको मन्तव्यः। तथा चापूर्वः संस्कारः प्रत्यायनाङ्गम् इत्यर्थप्रत्ययात् प्रागवगन्तव्यः। न च तदानीं तदवगमोपायोऽस्ति। अर्थप्रत्ययात्तु तदवगमसमर्थनेऽन्योन्याश्रयः—संस्कारज्ञानादर्थप्रत्ययः, ततश्च तज्ज्ञानमिति। नान्त्यः, तस्य स्मृतिजनकत्वेऽप्यर्थप्रत्ययहेतुत्वायोगात्। नहि वह्नेर्दहनशक्तिरेव प्रकाशनशक्तिः। नापि शक्तेः शक्त्यन्तरं च तत्। किञ्च, व्युत्क्रमेणोच्चारितेभ्यो वर्णेभ्यः सैवास्ति बीजवासनेत्यर्थप्रत्ययः प्रसज्येत। तस्मान्न कथञ्चिदपि वर्णा अर्थधीहेतवः।

प्रत्युच्चारणमन्यथाऽन्यथा प्रतीयमाना उत्पन्नप्रध्वंसिनो वर्णा अनित्या एव। 'अत एवादृश्यमानोऽपि पुरुषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते। न च वर्णविषयोऽन्यथात्वप्रत्ययो भ्रान्तिरेवेति वाच्यम्, बाधकप्रत्ययाभावात्। नह्येकैको वर्णोऽर्थमवगमयितुमलम्, व्यभिचारात्। न च वर्णसमुदायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवत्त्वाद्वर्णानां समुदायानुपपत्तेः। यत्तु पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थमवगमयिष्यतीति, तन्न, तादृशप्रतीत्यभावात्। धूमादिवत्सम्बन्धग्रहापेक्षः शब्दः स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेत। नहि पूर्वपूर्ववर्णानुभवाहितसंस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति, संस्काराणामप्रत्यक्षत्वात्। न च कार्यप्रत्यायितैः संस्कारैः सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थमवगमयिष्यतीति युक्तम्, संस्कारकार्यस्य स्मरणस्यापि क्रमवत्त्वात्। तस्मात् स्फोट एव शब्द इति वैयाकरणाः।

समान यहाँ वर्णों का साहित्य संभव हो सकेगा, ऐसा कहने वाले के पास इस विकल्प का कोई उत्तर नहीं है कि यह संस्कार आग्नेयादि जन्य अपूर्व है, या स्मृति की उत्पत्ति में हेतुभूत भावना है? अपूर्व संस्कार इसलिये नहीं हो सकता कि इन्द्रिय के समान ही शब्द की स्वरूपतः अथवा अंगतः संगति अविदित है, तो उससे अर्थबोध नहीं हो सकता। शब्द के उच्चरित होने पर भी यदि बहिरा व्यक्ति उसको नहीं सुनता अथवा सुन लेने के बाद भी उसकी संगति का बोध नहीं होता, तो उससे अर्थावगति नहीं होती। इसलिए धूम के समान ही जिस शब्द का अर्थ, स्वरूप, संबन्ध तथा अन्य सभी जानने योग्य बातें विदित हैं, वही प्रत्यायक माना जायगा। अपूर्व रूप संस्कार भी अर्थ प्रत्यायन का अङ्ग है, इसलिये अर्थावगति से पहले इनका बोध होना चाहिये। किन्तु उस समय इसको जानने का कोई साधन नहीं है। अर्थावबोध से अपूर्व की अवगति मानने पर अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा। क्योंकि अर्थ की अवगति के लिये अपूर्व रूप संस्कार की और अपूर्व के अवबोध के लिये अर्थावगति की परस्पर अपेक्षा होगी। भावना भी संस्कार नहीं बन सकती, क्योंकि भावना यद्यपि स्मृति में कारण है, तो भी उससे अर्थावगति नहीं हो सकती। वह्नि की दहन शक्ति और प्रकाशन शक्ति एक ही नहीं है। दहन शक्ति को दूसरी शक्ति प्रकाशन शक्ति हो, ऐसा भी नहीं है। इसमें दूसरा दोष यह भी आवेगा कि वर्णों का विपरीत उच्चारण करने पर भी उससे अर्थावगति का प्रसंग उपस्थित हो जायगा, क्योंकि वहाँ पर भी स्मृति बीज वासना विद्यमान है। इसलिये वर्ण किसी भी प्रकार अर्थावगति में कारण नहीं हो सकते।

वर्ण उत्पन्न और विनष्ट होते हैं, क्योंकि प्रत्येक उच्चारण में ये भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। जैसे कि अध्ययन की ध्वनि के सुनने पर दिखाई न पड़ने वाला पुरुष भी विशेष रूप से निर्धारित हो जाता है कि यह देवदत्त पढ़ रहा है, यह यज्ञदत्त पढ़ रहा है। यह वर्णों की भिन्न रूप से प्रतीति गलत नहीं है, क्योंकि इसका कोई बाधक ज्ञान नहीं है। एक-एक वर्ण की अर्थावगति में हेतु मानने पर व्यभिचार दोष बताया गया है। वर्णसमुदाय भी अर्थ का प्रत्यायक नहीं होता, कारण कि वर्ण क्रम वाले हैं। अतः उनका समुदाय नहीं बन सकता। यदि ऐसा कहो कि पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से जन्य संस्कार सहित अन्त्य वर्ण अर्थ का बोध करावेगा तो यह उक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि संबन्ध ग्रहण की अपेक्षा रखता हुआ वह शब्द धूमादि के समान स्वयं प्रतीयमान होकर अर्थ का बोध करा सकता है। पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव जन्य संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि संस्कार अप्रत्यक्ष है। यदि कहो कि शाब्दबोध रूप कार्य से ज्ञापित संस्कारों से युक्त अन्तिम वर्ण अर्थ की प्रतीति करावेगा तो यह युक्त नहीं, क्योंकि संस्कार का कार्यरूप स्मरण भी क्रमवाला है। इस प्रकार वर्णों में अर्थप्रतीति का अभाव होने से स्फोट ही शब्द है, यह वैयाकरणों

कोऽयं स्फोट इति चेच्छृणु, गौरित्येकं पदं गामानयेत्येकं वाक्यमिति नानावर्णपदातिरिक्तैकपदवाक्यतावगतेर्वर्णातिरिक्तः स्फोटः सिद्धयति ।

न चाप्यसति बाधके एकपदवाक्यतानुभवो मिथ्येति वक्तुं शक्यम् । नाप्यौपाधिकस्तदुनिर्वचनात् । तथाहि—एकधीग्राह्यता खलूपाधिरेकार्थधीहेतुता वा ? नाद्यः, एकधीगोचराणां धवखदिरपलाशानामेकनिर्भासप्रत्ययाभावात् । नाप्यन्त्यः, वर्णेष्वेकार्थधीहेतुत्वस्य निरस्तत्वात् । तद्धेतुत्वेन साहित्यकल्पने त्वन्योन्याश्रयतैव । साहित्यात्तद्धेतुत्वम्, हेतुत्वात्तु साहित्यम् । तस्मादयमबाधितोऽनुपाधिश्च पदवाक्यगोचर एकनिर्भासोऽनुभवो वर्णातिरिक्तं वाचकं स्फोटमेवावलम्बते ।

स च रत्नतत्त्ववत् पदवाक्यघटकवर्णानुभवजनितसंस्कारसचिवचेतोलब्धजन्मनि चरमे चेतसि विशदं भासते । अत एव नान्त्यध्वनीनामानर्थक्यं न वा पूर्वेषां ध्वनीनामानर्थक्यम्, तदभावे तज्जनितसंस्कारतत्परिपाकाभावेनानुग्रहाभावात् । अन्त्यस्य केवलस्य चेतसोऽजनकत्वात् । न च पदप्रत्ययवत् प्रत्येकमव्यक्तामर्थबुद्धिमाधास्यन्ति प्राञ्चो वर्णाः, चरमस्तु तत्सचिवः स्फुटतरामर्थधियमाधास्यतीति वाच्यम्, व्यक्ताव्यक्तावभासतायाः प्रत्यक्षज्ञान एव नियमात् । यथा रत्नस्य प्रतीन्द्रियसन्निकर्षमभिव्यक्तावपि द्वाभ्यां तिसृभिश्चतसृभिः पञ्चभिरभिव्यक्तिभिर्जनितसंस्कारपरिपाकरूपसहकारिसहकृतान्तःकरणेन जनिते चरमप्रत्यये विशदं रत्नतत्त्वं चकास्ति, न प्राक्षु प्रत्ययेषु, नापि तैर्विरहिते चरमचेतसि, एवं स्फोटः प्रत्येकं ध्वनिभिरभिव्यक्तोऽपि ध्वन्यन्तरजनिताभिरभिव्यक्तिभिर्ये संस्कारा जायन्ते तत्तत्परिपाकवच्चेतःपरिणामे चरमे चेतसि चकास्ति, तदनन्तरमर्थधीर्भवति न प्राक् । न चैवमर्थोऽपि प्रत्येकं ध्वनिभिर्व्यंज्यताम्,

का कहना है । यह स्फोट क्या है ? सुनिये । 'गो' यह एक पद है, 'गामानय' यह एक वाक्य है, इन प्रतीतियों में नाना वर्णों और नाना पदों के अतिरिक्त एक पद है, एक वाक्य है, इस प्रकार की प्रतीति होती है, अतः वर्णों से भिन्न एक स्फोट सिद्ध होता है ।

एक पद और एक वाक्य की प्रतीति मिथ्या नहीं हो सकती, क्योंकि कोई दूसरी बाधक प्रतीति नहीं है । यह प्रतीति औपाधिक है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ उपाधि का स्वरूप निर्वचन नहीं बनता । उपाधि एकधीग्राह्य मानी जावेगी या एकार्थधीहेतु ? 'धवखदिरपलाशाः' इस प्रतीति का एक ही बुद्धि से ग्रहण होने पर भी यहाँ पर एकाकार प्रतीति नहीं होती, अतः पहला पक्ष नहीं बनता । दूसरा पक्ष इसलिये नहीं बनता कि वर्णों में एकार्थबुद्धिजनकता का निरास किया जा चुका है । धवखदिरपलाशादि के तथा वर्णों के साहित्य को एकार्थ बुद्धि का कारण माना जाय तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, क्योंकि साहित्य से एकार्थधीहेतुता बनेगी और एकार्थधीहेतुता होने पर साहित्य बन सकेगा । इस प्रकार किसी बाधक प्रतीति के और उपाधि के भी उपस्थित न होने के कारण एक पद और एक वाक्य की प्रतीति से वर्णातिरिक्त स्फोट सिद्ध होता है ।

रत्न पारखी जौहरी जैसे बार-बार के अनुभव जनित संस्कार के कारण रत्नादि की परीक्षा में प्रवीण हो जाता है, उसी भाँति इस स्फोट की भी प्रतीति उस चरम चित्त में स्पष्ट रूप से होगी, जिसका कि संस्कार पद-वाक्य घटित वर्णों के अनुभवों से संस्कृत चित्तों के द्वारा हो चुका है । इस प्रकार न तो अन्तिम ध्वनियाँ ही निरर्थक होंगी और न पूर्वध्वनियाँ ही, क्योंकि संस्कार की उत्पत्ति में सभी ध्वनियों को सार्थकता है । इन सबके अभाव में संस्कार का परिपाक नहीं हो सकता । यह कहना ठीक नहीं है कि जैसे पदावगति से अस्पष्ट वाक्यार्थावबोध होता है, उसी भांति प्रारम्भिक वर्ण अस्पष्ट अर्थावगति में कारण होंगे और चरम वर्ण से स्पष्ट अर्थावगति होगी, क्योंकि अव्यक्त और व्यक्त अवगति केवल प्रत्यक्ष ज्ञान में ही होती है । जैसे कि रत्न का चक्षु से संनिकर्ष होने पर भी दो चार बार परख लेने के बाद ही अन्तिम रूप से उसकी कीमत आंकी जा सकती है, पहिले नहीं । यदि चित्त में पूर्व संस्कार न हों तब भी उसकी कीमत ठीक से नहीं आंकी जा सकती । इसी तरह स्फोट भी यद्यपि प्रत्येक ध्वनि से अभिव्यक्त होता है, तो भी इन ध्वनियों की अभिव्यक्ति से जनित संस्कारों से चित्त में जो परिपाक होता है, तत्परिणाम भूत अन्तिम चित्त से स्फोट की अवगति होगी । तदनन्तर ही अर्थ का ज्ञान होगा, इसके पहिले नहीं । प्रत्येक ध्वनि से अर्थ की अस्फुट अभिव्यक्ति होती है और पूर्व अभिव्यक्त अर्थ

पूर्वार्थव्यक्तिसंस्कारसहितमन्त्यं चेतस्तत्त्वमर्थस्य व्यनक्तीति युक्तम्, स्फोटज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेन तत्र रत्नतत्त्व इव व्यक्ताव्यक्तावभासितायाः सम्भवेऽपि मानान्तरजातायां प्रत्यक्षायामर्थबुद्धौ स्फुटत्वास्फुटत्वायोगात्, तस्माद्वर्णैरर्थोऽभिहितश्चेन्नाव्यक्तः, सन्दिग्धस्तु नाभिहितः। प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् स्फोटस्य नित्यत्वम्। भेदप्रत्ययस्तु वर्णविषय एव। स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः स्फुटयते वर्णैर्व्यज्यत इति वा स्फोटः। तस्मादेव क्रियाकारकफललक्षणमभिधेयभूतं जगज्जायत इति।

तन्न, वर्णेष्वेव नित्यत्वबोधकत्वसम्भवेन तदतिरिक्तस्फोटकल्पनाया निराधारत्वात्। अत एव 'वर्ण एव तु शब्दः' इति भगवानुपवर्षः। न च वर्णानामुत्पन्नप्रध्वंसित्वं सम्भवति, त एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। न च प्रत्यभिज्ञानं त एव केशा इतिवद् भ्रान्तिमूलकमिति वाच्यम्, प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेणाबाधनात्। न च जातिनिबन्धनं प्रत्यभिज्ञानम्, व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात्। यदि प्रत्युच्चारणं गवादिर्व्यक्तिवद् अन्या अन्या व्यक्तयः प्रतीयेरंस्तदा जातिनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानं स्यात्, न त्वेतदस्ति। तस्माद्वर्णव्यक्तय एव प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते। एवं द्विर्गोशब्द उच्चरित इति प्रतीतिर्भवति, न तु द्वौ गोशब्दाविति।

ननु देवदत्तयज्ञदत्ताद्युच्चारणध्वनिभेदाद्वर्णभेद एव युक्त इति चेन्न, ध्वनिभेदेऽपि तदभिव्यङ्ग्यस्य प्रत्यभिज्ञायमानस्य वर्णस्याभेदोपपत्तेः। अपि च, वर्णव्यक्तिभेदवादिनापि प्रत्यभिज्ञानोपपत्तये वर्णजातयः कल्पयितव्याः, तासु च परोपाधिको भेदप्रत्ययो मन्तव्यः। तदपेक्षया वरं वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्ययः, स्वरूपनिबन्धनं च प्रत्यभिज्ञानम्। इदं प्रत्यभिज्ञानं वर्णविषयकभेदप्रत्ययस्य बाधकम्।

संस्कार से संस्कृत अन्तिम चित्त में अर्थ का स्पष्ट बोध होता है, यह उक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्फोट ज्ञान के प्रत्यक्ष होने के कारण यहां पर रत्न तत्त्व के समान स्फुट और अस्फुट ज्ञान की स्थिति हो सकती है, किन्तु शब्दादि प्रमाण के आधार पर हुई प्रत्यक्ष बुद्धि में यह सम्भव नहीं है, ऐसा अभी कहा जा चुका है। इसलिये वर्णों से यदि अर्थ अभिहित होगा तो वह अव्यक्त नहीं रह सकता, अर्थ संदिग्ध है तो समझा जायगा कि वह वर्णों से अभिहित नहीं है। उच्चारण की भिन्नता होने पर भी प्रत्येक उच्चारण में स्फोट की प्रत्यभिज्ञा होने से वह नित्य है। भेद प्रतीति वर्णों के कारण होती है। यह स्फोट इसलिये कहा जाता है कि इससे अर्थ स्पष्ट होता है, अथवा यह वर्णों से अभिव्यक्त होता है। इसी स्फोट रूप नित्य वाचक शब्द से क्रिया, कारक और फलस्वरूप अभिधेय भूत जगत् उत्पन्न होता है।

वैयाकरणों की यह उक्ति ठीक नहीं है। वर्णों में ही नित्यता और अर्थबोधकता भी बनती है, इसलिये वर्णों से अतिरिक्त स्फोट की कल्पना निराधार है। इसीलिये भगवान् उपवर्ष कहते हैं कि वर्ण ही शब्द है। वर्ण उत्पत्तिविनाशशाली नहीं है, क्योंकि ये वही वर्ण हैं, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है। 'ये वही केश हैं' इस प्रतीति के समान उक्त प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिमूलक है, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि केश प्रतीति में तो बाधक ज्ञान उपस्थित है, उस प्रकार की बाधक प्रतीति वर्णप्रत्यभिज्ञा में उपस्थित नहीं है। इसको वर्णजाति की प्रत्यभिज्ञा भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें व्यक्ति की प्रत्यभिज्ञा होती है। जाति की प्रत्यभिज्ञा तब मानी जाय, जब कि गो शब्द के उच्चारण से जैसे प्रत्येक बार भिन्न-भिन्न गो व्यक्ति की प्रतीति होती है, उसी तरह 'ग' आदि वर्णों के उच्चारण के समय भी भिन्न-भिन्न 'ग' वर्णों की प्रतीति हो। ऐसा होता नहीं, इसलिये प्रत्येक उच्चारण में वर्ण व्यक्ति की ही प्रत्यभिज्ञा माननी पड़ेगी। इसीलिये दो बार गो शब्द उच्चरित हुआ, यह प्रतीति होती है, न कि दो गो शब्दों का उच्चारण।

देवदत्त, यज्ञदत्त आदि के उच्चारण में ध्वनियों की भिन्नता के कारण वर्णभेद माना जाना चाहिये, ऐसा भी नहीं होगा, क्योंकि ध्वनि की भिन्नता में भी उससे अभिव्यक्त हुए वर्णों की प्रत्यभिज्ञा होने से भेद नहीं हो सकता। जो प्रतिवादी वर्ण व्यक्तियों में भेद मानते हैं, उनको प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति के लिये वर्णों की जाति माननी पड़ेगी और भेद प्रतीति के लिये कोई उपाधि भी मानना होगा। इस गौरव की अपेक्षा वर्ण व्यक्तियों में भेद ही किसी उपाधि से माना जाय और प्रत्यभिज्ञा को स्वाभाविक माना जाय तो इसमें लाघव होगा। यह प्रत्यभिज्ञान ही वर्ण विषयक भेद प्रतीति का बाधक है।

ननु तर्हि कथमेकस्मिन् काले बहुभिरुच्चारयितृभिरुच्चारितो गकारो युगपदनेकरूपः स्यात्, उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितः सानुनासिको निरनुनासिकश्चेति। तस्माद्विरुद्धधर्मवत्त्वेन नानात्वमेव युक्तं गकारादेः। न चोदात्तादयो व्यञ्जकधर्मा न वर्णधर्मा इति वाच्यम्, व्यञ्जकानां वायूनां तत्संयोगविभागानां चाश्रावणत्वेनोदात्तादिधर्मानुपपत्तेरिति चेन्न, वायूनामश्रावणत्वेऽपि तद्गुणानामुदात्तादीनां श्रावणत्वे बाधाभावात्। गुणगोचरस्येन्द्रियस्य गुणिगोचरत्वे मानाभावात्। अन्यथा गन्धरसशब्दगोचराणां घ्राण-रसन-श्रोत्राणां पृथिव्युदकाकाशगोचरत्वापत्तिः। तथा चाभिव्यञ्जकधर्मा उदात्तादयः शब्दाः संसर्गाग्रहात् शब्दधर्मत्वेनाध्यवसीयन्ते। न प्रत्यभिज्ञानावधृतैकत्वस्य शब्दस्य स्वरूपत उदात्तादयो धर्माः परस्परविरोधिनो युगपत्सम्भवन्ति। यथैकस्य मुखस्य मणि-कृपाण-दर्पणाद्युपाधिवशान्नानादशपरिमाणसंस्थानभेदभ्रमः, एवमेकस्यापि वर्णस्य व्यञ्जके ध्वनिनिबन्धनोऽयं विरुद्धनानाधर्मसंसर्गविभ्रमः, न तु स्वाभाविको नानाधर्मसंसर्गः। गुणगुणिनोरेकेन्द्रियग्राह्यत्वेऽपि न दोषः, ध्वनीनामेव शब्दव्यञ्जकत्वात्। तेषां च शब्दवच्छ्रावणत्वात्। कोऽयं ध्वनिर्नामेति चेत्तदाह भाष्यकारः—'यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति, प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वासञ्जयति (स ध्वनिरिति शेषः)। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः, वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। न चायमनिर्धारितविशेषवर्णत्वसामान्यमात्रप्रत्ययो न तु वर्णातिरिक्ततदभिव्यञ्जकध्वनिप्रत्यय इति साम्प्रतम्, तस्यानुनासिकत्वादिभेदभिन्नस्य गादिव्यक्तिवत् प्रत्यभिज्ञायमानत्वाभावात्। अप्रत्यभिज्ञायमानस्य चैकत्वाभावेन सामान्यभावानुपपत्तेः। तस्माद् वर्णात्मकः शब्दः शब्दातिरिक्तो वा ध्वनिः श्रावणोऽभ्युपेयः। सर्वथाप्यक्षु व्यञ्जनेषु च तत्तद्ध्वनिभेदोपधानेनानु-

प्रश्न है कि एक ही समय में बहुत लोगों से उच्चारित गकार यदि एक ही है, तो वह युगपत् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से अनेक रूप कैसे हो सकेगा? इसलिये अनेक विरोधी धर्म वाले गकारादि का नानात्व ही मानना उचित है। उदात्त आदि व्यंजक ध्वनि के धर्म हैं, वर्ण के नहीं, इस प्रकार ध्वनि की अभिव्यंजक वायु और उसके संयोग-विभाग का श्रावण प्रत्यक्ष न होने से उदात्त आदि धर्म उपपन्न न हो सकेंगे। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि वायु का श्रावण प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके उदात्त आदि गुणों के श्रावण प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं है। गुण का प्रत्यक्ष करने वाली इन्द्रिय तद्गुण-युक्त पदार्थ का भी प्रत्यक्ष करे, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो गन्ध, रस और शब्द को ग्रहण करने वाली घ्राण, रसन और श्रोत्रेन्द्रिय पृथिवी, जल और आकाश का भी प्रत्यक्ष करने लगेगी। इस प्रकार उदात्तादि के अभिव्यंजक धर्म होने पर भी शब्दों के साथ संसर्ग के कारण शब्दों के धर्म मान लिये जाते हैं। प्रत्यभिज्ञा के द्वारा शब्द का एकत्व सिद्ध है, अतः उसमें स्वरूपतः परस्पर विरोधी उदात्त आदि धर्म एक साथ नहीं रह सकते। जैसे एक ही मुँह का मणि, कृपाण, दर्पण आदि उपाधि के कारण नाना देश, परिमाण और आकार का भेदभ्रम उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार एक ही वर्ण का व्यंजक ध्वनि के भेद से नाना विरुद्ध धर्मों के संपर्क से भ्रम हो जाता है, यह संपर्क वास्तविक नहीं है। गुण और गुणी की एकेन्द्रियग्राह्यता में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि शब्द की अभिव्यंजक ध्वनियाँ ही हैं, वायु नहीं। ध्वनियों का भी शब्द के समान श्रावण प्रत्यक्ष होता है। यह ध्वनि नाम की वस्तु क्या है? इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि दूर से सुनने वाले और अलग-अलग वर्णों को न जानने वाले पुरुष के कान में जो प्रवेश करती है और समीप में सुनने वाले के लिए पटुत्व, मृदुत्व आदि भेदों का वर्णों में आरोप करती है, वह ध्वनि है। उदात्त आदि विशेष उससे होते हैं, वर्ण स्वरूप से नहीं, क्योंकि प्रत्येक उच्चारण में वर्ण प्रत्यभिज्ञा के विषय होते हैं। इस प्रत्यय को वर्ण से अतिरिक्त तदभिव्यंजक ध्वनि न मानकर वर्णों का ऐसा सामान्य प्रत्यय मानना, जिसकी कि विशेषता स्पष्ट नहीं हुई है, उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के अनुनासिक आदि भेद वाले वर्ण की गादि व्यक्ति के समान प्रत्यभिज्ञा नहीं देखी गई है। जो प्रत्यभिज्ञात नहीं है, एकत्व के अभाव में उसका सामान्य भाव भी नहीं हो सकता। इसलिये अवर्णात्मक शब्द अथवा शब्द से अतिरिक्त ध्वनि का श्रावण प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। दोनों ही प्रकारों में इन्द्रिय और व्यंजक ध्वनि में ध्वनिभेद के कारण परस्पर भिन्न अनुनासिक आदि धर्मों की प्रतीति होगी। इस प्रकार यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि वर्णों के क्षणिक होने से संगति बोध के अभाव में वाचकता

नासिकत्वादयो धर्माः परस्परभिन्ना भासन्ते। एतेन क्षणिकत्वेनासङ्गतिग्रहाद् वाचकत्वाभावात् स्फोटोऽभ्युपेय इत्यपास्तम्, वर्णानां नित्यत्वेन बोधकत्वोपपत्तौ स्फोटकल्पनाया व्यर्थत्वात्।

यदुक्तम्—'प्रत्यक्षमेव स्फोटोऽनुभूयते न कल्प्यते, एकैकवर्णानुभवाहितसंस्कारवत्यां बुद्धौ झटिति प्रत्यवभासनादिति, तन्न, अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात्। एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयं गौरित्याकारा बुद्धिः समस्तवर्णविषया न स्फोटविषया, तस्यां बुद्धौ गकारादिवर्णानामेव प्रथनात्। यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात्, ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या व्यावर्तेरन्, न तु तथास्ति, तस्माद् गौरित्येकं पदमित्याद्येकविषया बुद्धिर्वर्णविषया स्मृतिरेव।

नन्वनेकत्वाद्वर्णानां नैकबुद्धिविषयता युक्तेति चेन्न, सेना-वन-पङ्क्ति-शत-सहस्रादिवदनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वसम्भवात्। तस्माद् गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिर्बहुष्वेव वर्णेषु एकार्थावच्छेदनिबन्धनौपचारिकी वनादिप्रत्ययवत् सम्भवत्येव। नन्वेवमेकबुद्धिविषयाणामेव वर्णानां पदत्वे 'जारा' 'राजा' 'कपिः' 'पिकः' इत्यादिपदविशेषप्रतीतिर्न स्यात्, तेषामेव वर्णानां तत्र तत्र प्रत्यवभासनादिति चेन्न, उभयत्र समस्तवर्णप्रत्यवमर्शेऽपि क्रमानुरोधिनोष्वेव पिपीलिकासु पङ्क्तिबुद्धिवन्नियतानुपूर्वीकेषु वर्णेष्वेव तत्तत्पदबुद्ध्युपपत्तेः। अत एव क्रमविशेषकृतैव पदविशेषप्रतिपत्तिः।

वृद्धव्यवहारे क्रमाद्यनुगृहीता गृहीतार्थविशेषसम्बन्धाः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिनि चेतसि तादृशा एव भासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययन्तीति वर्णवादे लाघवम्, स्फोटवादे तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति, स्फोटश्चार्थं व्यनक्तीति व्यक्तं गौरवम्। यत्तु स्फोटात्म-

न बनने के कारण स्फोट मानना चाहिये, क्योंकि उक्त युक्तियों से वर्णों की नित्यता सिद्ध है, अतः वर्णों में ही बोधकता की उपपत्ति संभव होने से तदतिरिक्त स्फोट कल्पना व्यर्थ है।

यह कहना कि स्फोट का तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसकी कल्पना नहीं करनी है, क्योंकि एक-एक वर्ण के ग्रहण से अनुभव जन्य संस्कार सहित बुद्धि में शीघ्र स्फोट का प्रत्यवभास होता है, इसलिये उचित नहीं है कि यह बुद्धि भी वर्णविषयक है। एक-एक वर्ण का ग्रहण होने के अनन्तर 'गो' यह जो एक बुद्धि होती है, वह समस्त वर्ण विषयक है, स्फोट विषयक नहीं। क्योंकि उस बुद्धि में गकारादि वर्णों की ही अनुवृत्ति होती है। यदि इस बुद्धि का गकारादि से भिन्न स्फोट रूप अर्थ विषय हो तो दकारादि के समान गकारादि भी उस बुद्धि से व्यावृत्त हो जायेंगे। अर्थात् जैसे गकार विषयक बुद्धि में दकारादि विषयक अनुवृत्ति नहीं होती, वैसे स्फोट विषयक बुद्धि में गकारादि की भी अनुवृत्ति नहीं होगी। किन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिए 'गो' यह एक पद है, इस प्रकार की एकविषयक बुद्धि वर्णविषयक स्मृति ही है।

वर्णों के अनेक होने से उनमें एक बुद्धि विषयता नहीं बन सकती, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सेना, वन, पंक्ति, शत, सहस्र इत्यादि स्थलों में अनेक में एक बुद्धि विषयता देखी जाती है। इसलिए 'गौ' यह एक शब्द है, इस प्रकार की बुद्धि वन, सेना आदि बुद्धि के समान बहुत वर्णों में एकार्थ बोधक संबन्ध से औपचारिक रूप से प्रयुक्त होती है। स्फोटवादी यहाँ कहते हैं कि यदि वर्ण ही सब मिलकर एक बुद्धि की विषयता को प्राप्त होकर पद बनते हों तो जारा, राजा, कपि, पिक, इत्यादि में पद विशेष की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि वे ही वर्ण इधर-उधर प्रत्यवभासित होते हैं। इस पर हमारा कहना है कि ऐसे स्थलों में सब वर्णों का प्रत्यवमर्श होने पर भी जैसे क्रम के अनुसार ही पिपीलिकाओं में पंक्ति बुद्धि होती है, वैसे ही क्रम के अनुसार वर्ण भी पद बुद्धि में आरूढ होते हैं। इसीलिए क्रमविशेष के अनुसार ही पदविशेष की प्रतिपत्ति होती है।

क्रम आदि के अनुसार गृहीत उन वर्णों का वृद्ध व्यवहार में, अर्थात् शक्तिग्रह दशा में भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है, अतः मध्यम व्यवहार में भी एक-एक वर्ण का ग्रहण होने पर समस्त वर्णों को विषय करने वाली बुद्धि में वैसे ही अवभासित हुए उस-उस अर्थ का अव्यभिचार रूप से ज्ञान कराते हैं, इस प्रकार वर्णवादी की कल्पना में लाघव है। स्फोटवादी

कस्य शब्दस्याभागस्य भागा वर्णाः कल्पिता एवेति, तदपि न, प्रमीयमाणानां वर्णानां मिथ्यात्वे मानाभावात् । न चैकत्वधीरेव वर्णनानात्वबाधिकेति वाच्यम्, नानात्वप्रतीतेरप्येकत्वबाधकत्वोपपत्तेः । वस्तुतस्तु सेनावनबुद्धिवद् एकत्वनानात्वे न विरुद्धे, भिन्नानामेवं सतां केनचिदुपाधिनैकत्वव्यवहारोपपत्तेः । तस्मात् प्रत्येकवर्णानुभवजनितभावनानिचयलब्धजन्मनि निखिलवर्णावगाहिनि स्मृतिज्ञाने एकस्मिन् भासमानानामेकज्ञानविषयतया वा एकार्थधीहेतुतया वा सम्भवत्येवौपचारिकमेकत्वम् । न चैकार्थधीहेतुत्वेनैकत्वम्, एकत्वेन चैकार्थधीहेतुत्वमित्यन्योन्याश्रयः, अर्थप्रत्ययात् पूर्वमप्येतावन्तो वर्णा एकस्मृतिसमारोहिण इत्यस्य प्रथनात् । तत एव वृद्धस्यार्थबुद्ध्युपपत्तेः । तस्माच्च तेषामेकार्थधियं प्रति कारकत्वेनैकत्वनिर्णयात् । प्रत्युच्चारणं वर्णानामन्यत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञाविषयतया वर्णसामान्यानामभ्युपगन्तव्यत्वेन या वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया सा सामान्येषु संचारयितव्या । तस्माद्वरं शब्दनित्यत्वमेव । ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम् ।

नित्यादेव शब्दाज्जगदुत्पत्तिर्युक्ता नानित्यात्, तस्याप्युत्पत्तिमत्त्वेन सापेक्षत्वात् । तस्माद् नित्यो वेदः, जगदुत्पत्तिहेतुत्वादीश्वरवत् । तदाह भगवान् बादरायणः—'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) । अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद् वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम् । तथा च मन्त्रः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् । तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते ।।' (ऋ०सं० १०।७१।३)। यज्ञेन पुण्येन वाचो वेदस्य पदवीयतां वेदग्रहणयोग्यताम्, आयन् प्राप्तवन्तः । तत ऋषिषु अतीन्द्रियार्थदर्शिषु प्रविष्टां तां वाचमन्वविन्दन् उपलब्धवन्तः । 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इत्यत्र वेदलक्षणाया वाचः स्पष्टमेव नित्यतोक्ता ।

के मत में दृष्ट हानि और अदृष्ट कल्पना दोष आते हैं। क्रम से गृहीत हुए ये वर्ण स्फोट को व्यक्त करते हैं, वह स्फोट अर्थ को व्यक्त करता है, इस प्रकार कल्पना गौरव भी है। यह कहना कि स्फोटात्मक शब्द भागरहित है, वर्ण उसके कल्पित भाग हैं, इसलिये उचित नहीं है कि वर्णों की प्रतीति यथार्थ है, उसको मिथ्या नहीं बताया जा सकता। एकत्वधी को वर्णों के नानात्व में बाधक माना जाय तो नानात्व प्रतीति भी एकत्व में बाधक हो सकेगी। वास्तव में सेना, वन आदि में जैसे एकत्व और नानात्व बुद्धि परस्पर विरुद्ध नहीं है, वैसे ही वर्णों में भी समझना चाहिये। भिन्न होने पर भी किसी उपाधि के कारण एकत्व व्यवहार हो सकता है। प्रत्येक वर्ण के अनुभव जनित भावना नामक संस्कार समूह से जिसका जन्म हुआ है, उस सारे अर्थों का अवगाहन करने वाले एक स्मृति ज्ञान में भासमान हो रहे वर्णों में एकत्व का आरोप इसलिये हो सकता है कि वह एक ज्ञान के विषय हैं, अथवा एकार्थ बुद्धि के जनक हैं। एकार्थ बुद्धि की जनकता से एकत्व का बोध होगा और एकत्व से पदार्थ की हेतुता बनेगी, यह अन्योन्याश्रय दोष यहां नहीं आवेगा, क्योंकि अर्थावबोध के पूर्व भी इतने वर्ण एक स्मृति में समारूढ हैं, यह अवगत रहता है। इसी से वृद्ध व्यवहार में अर्थ बुद्धि उपपन्न हो सकती है। इस प्रकार वर्णों की एकार्थ बुद्धि के प्रति कारकता होने से उनके एकत्व का निर्णय होता है। प्रत्येक उच्चारण में भिन्न-भिन्न वर्ण होते हैं, तो भी प्रत्यभिज्ञा के प्रमाण पर वर्णगत जातियों को अवश्य स्वीकार करना होगा और वर्णों में जो अर्थ प्रतिपादन प्रक्रिया रची गई है, उसका वर्णगत जातियों में संचार करना पड़ेगा। इस कारण नित्य शब्दों से देवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

नित्य शब्द से ही जगत् की उत्पत्ति होनी चाहिये, अनित्य से नहीं। यदि शब्द को अनित्य मानेंगे तो वह अपने प्रामाण्य में दूसरे की अपेक्षा करेगा। अतः वेद नित्य है, क्योंकि ईश्वर के समान वह भी जगत् की उत्पत्ति में कारण है। भगवान् बादरायण ने इसी बात को 'अत एव' इत्यादि सूत्र में कहा है। नियत आकृति विशिष्ट देव आदि जगत् की वेद शब्द से उत्पत्ति होने के कारण वेद शब्द में नित्यत्व समझना चाहिये। 'यज्ञेन वाचः' इत्यादि मन्त्र पूर्व कल्प सिद्ध वेदमयी वाणी की उपलब्धि दिखलाता है। मन्त्र का अर्थ है कि पूर्व सुकृत (पुण्य) कर्म से वेद के लाभ की योग्यता को प्राप्त हुए याज्ञिक पुरुषों ने ऋषियों में स्थित उस वेदमयी वाणी को प्राप्त किया। 'वाचा विरूपनित्यया' इस मन्त्र में भी वेदरूपी वाणी की नित्यता स्पष्ट ही प्रदर्शित की गई है।

यद्यप्यभिधानाभिधेयाविच्छेद एव सम्बन्धनित्यत्वं सिद्धयति, एवमध्यापकाध्येतृपरम्पराऽविच्छेदे वेदस्य नित्यत्वं सिद्धयति, निरन्वयस्य जगतः प्रविलयेऽत्यन्तासतोऽपूर्वस्योत्पादे तु तत्सर्वं नोपपद्यते। नापि जीवास्तद्वासनावासिताः, अन्तःकरणोपहितानां तेषामुपाधिप्रलये तदभावात्। न च ब्रह्मणस्तद्वासना, तस्य विद्यात्मनः शुद्धस्य तदसम्भवात्। सृष्ट्याद्यावुत्पन्ना अन्तःकरणादयस्तदवच्छिन्नाश्च जीवा न पूर्वकर्माविद्यावासनावन्तोऽपूर्वत्वादिति तत्राह—'समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च' (ब्र० सू० १।३।३०)।

संसारस्यानादित्वात् सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि प्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानाद् वेदपरम्पराऽविच्छेदोपपत्तेः। यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो न जन्मान्तरव्यवहारमनुसन्दधते, तथापि न प्राकृतवदेव सर्वैर्भवितव्यमिति नियमः, श्रुतिस्मृत्यादिभिरैश्वर्यतारतम्यावगतेः। अतः परमेश्वरानुग्रहात् सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन प्राक्कल्पीयां वेदानुपूर्वीं स्मरन्ति हिरण्यगर्भादयः। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेः। प्रतिवेदं चैव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते। श्रुतिरपि ऋषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति। अथ यो मन्त्रे मन्त्रे वेद सर्वमायुरेति श्रेयान् भवति। अयातयामान्यस्य च्छन्दांसि भवन्ति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्या' (आर्षेयब्राह्मणम्, १।६) इति।

प्राणिनां सुखदुःखप्राप्तितत्परिहारसिद्धये धर्माधर्मज्ञानमवश्यमभ्युपेतव्यम्। यथाद्यत्वे दृष्टानुश्रविकसुखदुःखविषयौ रागद्वेषौ न विलक्षणविषयौ, तथैव कल्पान्तरेष्वपि मन्तव्यौ। तथा च धर्माधर्मफलोत्तरा निष्पद्यमाना

यद्यपि सम्बन्ध की नित्यता तभी हो सकती है, जब कि अभिधान और अभिधेय का सम्बन्ध कभी विच्छिन्न न हो। इसी तरह वेद की नित्यता भी तब सिद्ध होगी, जब कि अध्यापक और अध्येता की परम्परा न टूटे। जगत् का निरन्वय विनाश हो जाने पर और अत्यन्त असत् अपूर्व जगत् की उत्पत्ति मानने पर यह सब सम्भव नहीं हो सकता। इस अवस्था में विद्यमान जीवों में वासना रूप में ये विद्यमान रहेंगे, ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तःकरणों से उपहित जीवों की उपाधि के भी विनाश हो जाने से ये वासनाएं कहाँ रहेंगी। ब्रह्म में वासना की अवस्थिति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि विद्या स्वभाव शुद्ध ब्रह्म में वासनाएं नहीं रह सकतीं। सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अन्तःकरण एवं उनसे युक्त जीव पूर्व कर्म से उत्पन्न अविद्या की वासनाओं से युक्त इसलिये नहीं हो सकते कि ये तो एकदम नये हैं। इस आक्षेप के समाधान के लिये 'समाननाम' इत्यादि सूत्र की अवतारणा होती है।

संसार अनादि है, अतः प्रलयावस्था में सब प्रकार के व्यवहार के लुप्त हो जाने पर भी परमेश्वर के अनुग्रह से युक्त सामर्थ्यशाली हिरण्यगर्भ आदि देवताओं में कल्पान्तर के व्यवहार का अनुसन्धान रहने से वेद की परम्परा विच्छिन्न नहीं होती। पामर प्राणियों में जन्मान्तर के व्यवहार का अनुसन्धान नहीं देखा जाता, तो इसका मतलब यह नहीं है कि पामर प्राणियों के समान ही सब कोई हों। ऐश्वर्य प्रत्येक प्राणी में कम-बेशी देखा गया है, यह बात श्रुति और स्मृति से भी सिद्ध है। अतः जैसे सोकर उठा व्यक्ति पहले की बातों को याद रखता है, उसी तरह हिरण्यगर्भ प्रभृति देवतागण परमेश्वर के अनुग्रह से पूर्वकल्प की वेदानुपूर्वी को याद कर लेते हैं। 'जो सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसकी बुद्धि में वेदों का आविर्भाव करता है' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। प्रत्येक वेद में काण्ड आदि के द्रष्टा ऋषियों का स्मरण किया गया है। 'यो ह वा' इत्यादि श्रुति भी ऋषि के ज्ञान के साथ ही मन्त्र से अनुष्ठान दिखलाती है। इसका अर्थ है कि जिसे मन्त्र के छन्द, ऋषि, देवता तथा विनियोग का ज्ञान नहीं है, वह यदि किसी को यज्ञ कराता है अथवा पढ़ाता है तो स्थाणु हो जाता है, नरक में जाता है, अथवा मर जाता है। वह पापपुंज से लिप्त हो जाता है, उसका वेदाध्ययन निष्प्राण हो जाता है। इसके विपरीत जो प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द के विनियोग को जानता है, वह पूरी आयु पाता है, कल्याणभागी होता है, इसका अध्ययन प्राणवान् होता है। इसलिये प्रत्येक मन्त्र के ऋषि आदि का ज्ञान अवश्य रखना चाहिये।

प्रत्येक प्राणी को सुख की प्राप्ति के लिये धर्म के विधान का तथा दुःख के परिहार के लिये अधर्म के निषेध का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। जैसे आजकल ऐहिक और पारलौकिक सुख-दुःख में राग और द्वेष होते हैं, अन्य विषयों में नहीं, उसी तरह

सृष्टिः पूर्वसृष्टिसदृश्येव निष्पद्यते। तथा च स्मृतिः—'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः। हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥' (म० भा० शा० प० २३२।१६-१७), 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥' (ऋ० सं० १०।१९०।३), 'अग्निर्वा अकामयत। अन्नादो देवानां स्यामिति। स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति नक्षत्रेष्टिविधावग्निरेवाग्नये निरवपद् इति समाननामरूपवन्तावग्नी श्रूयेते 'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवेभ्यो ददात्यजः ॥ यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥', 'यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह। देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥' इति।

('अधुना इमे श्लोका इत्थं महाभारते उपलभ्यन्ते—'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः ॥२५॥ ''' शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः ॥२६॥ 'यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा ब्रह्महरादिषु ॥४०॥' (म० भा० शा० प० २३२ विष्णुपुराण १।५।६४-६६)।)

इत्यादिशाङ्करभाष्योद्धृतश्रुतिस्मृतिभिः प्रतिसर्गं समाननामरूपवतां देवर्ष्यादीनामुत्पत्तिज्ञानाद् वेदपारम्पर्यस्याविच्छेद एव ज्ञायते। तस्मन्नास्यां सृष्टावन्य एव वेदाः, अन्य एव चैषामर्थाः, अन्य एव वर्णाश्रमाः, धर्माच्चानर्थोऽधर्माच्चार्थ इति। नहि कदाचिदपि पिपासुर्दहनमादाय पिपासामुपशमयति।

देवतासम्बन्धे—'ज्योतिषि भावाच्च' (ब्र० सू० १।३।३२) इत्यत्रादित्यादिज्योतिषि देवताशब्दप्रयोगात् तेषां च जडत्वावगमादन्नादित्याग्न्यादिदेवतानां यज्ञेषु न वोपासनास्वधिकारः, द्युस्थानं ज्योतिर्मण्डलमहर्निशं

कल्पान्तर में भी मानना चाहिये। इसलिये धर्म और अधर्म के फलभूत होने वाली उत्तरोत्तर सृष्टि उत्पन्न हुई पूर्व सृष्टि के सदृश ही निष्पन्न होती है। इसमें यह स्मृति भी प्रमाण है कि 'प्राणियों में जिन प्राणियों ने जो-जो कर्म प्रथम सृष्टि में किये उन कर्मों को वे पुनः पुनः उत्पन्न होकर प्राप्त करते हैं। हिंसा-अहिंसा, मृदुता-क्रूरता, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य इत्यादि धर्मों से भासित ये प्राणी उत्पन्न होकर पुनः उन्हीं भावों को प्राप्त करते हैं और वे ही उनको रुचिकर होते हैं', 'ब्रह्मा ने पूर्व कल्प के समान ही सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की रचना की', 'अग्नि ने कामना की कि मैं देवों के मध्य में अन्नभक्षक होऊं। उसने कृत्तिका नक्षत्रों के अभिमानी देवता अग्नि के लिये आठ कपालों में बनाया गया पुरोडाश (हविष्य) अर्पित किया' यह श्रुति नक्षत्रेष्टि विधि में अग्नि ने ही अग्नि को हविष्य अर्पित किया, इस प्रकार दोनों अग्नियों के नामरूप की समानता को दिखलाती है। 'पूर्वकल्प में जो जो ऋषियों के नाम थे और उनकी जो वेदविषयक दृष्टि थी, प्रलय के अन्त में पुनः उनके उत्पन्न होने पर ब्रह्मा उन्हीं नामों और शक्तियों को उन ऋषियों को देता है। जैसे वसन्त आदि ऋतुओं के बदलने पर उनके नव पल्लव आदि चिह्न प्रकट होते हैं और दिखाई देते हैं, वैसे ही सृष्टि के आदि में पदार्थ दिखाई देते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों के अभिमानी देवता जो अतीत कल्प में थे, वे ही इस कल्प में भी हैं। अतीत देवताओं के नामरूप के समान ही इनके नामरूप भी हैं।' (ये श्लोक कुछ पाठ भेद के साथ महाभारत में उपलब्ध हैं। इनका स्वरूप मूल में दिया गया है) शाङ्कर भाष्य में उद्धृत इन श्रुति और स्मृति वाक्यों से ज्ञात होता है कि प्रत्येक सर्ग में समान नामरूप वाले ही देवता एवं ऋषिगण उत्पन्न होते हैं, अतः देवपरम्परा कभी विच्छिन्न नहीं होती। इसलिये इस सृष्टि में न तो वेद ही भिन्न हैं, न इनके अर्थ ही भिन्न हैं और न वर्णाश्रम ही भिन्न हैं। न कोई ऐसी बात ही है कि धर्म से अनर्थ हो और अधर्म से इष्टसाधना होने लगे। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि प्यासा आदमी आग से अपनी प्यास बुझा सके।

देवता के संबन्ध में 'ज्योतिषि भावाच्च' इस सूत्र में बताया गया है कि आदित्य आदि ज्योति में देवता शब्द का प्रयोग होता है और यह ज्ञात है कि ये जड़ हैं, इसलिये आदित्य, अग्नि आदि देवताओं का यज्ञ अथवा उपासना में अधिकार नहीं होगा।

वम्भ्रमज्जगदवभासयति, तस्मिन्नेवादित्यादयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते, लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च । न च तस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयार्थित्वादिना वा सम्बन्धः, मृदादिवदचेतनत्वात् । तथैवाग्न्यादयोऽपि ज्ञातव्याः ।

यत्तु मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वावगमादधिकारसाधनम्, तदपि न युक्तम्, मन्त्राणां व्रीह्यादिवद् विनियुक्तानां कर्मापेक्षितद्रव्यदेवतास्मरणादौ स्तोत्रशस्त्रादीनां कर्मसमवेतदेवतादावुपक्षीणत्वेन देवताविग्रहादिप्रतिपादने तात्पर्याभावात् । अर्थवादानां च विधिभिरेकवाक्यतया विधिस्तुतिष्वेवोपयोगो नान्यत्र । इतिहासपुराणादीनां तु पौरुषेयत्वेन प्रमाणान्तरसापेक्षत्वादेव न स्वातन्त्र्येण देवताविग्रहसद्भावे प्रामाण्यम्। प्रत्यक्षादयस्तु न सन्त्येव तत्र विषये । लोकस्तु न स्वतन्त्रं प्रमाणम्, अविचारितप्रत्यक्षादीनामेव लोकप्रमाणपदव्यपदेश्यत्वात् ।

एवं ब्रह्मविद्यासु देवानामधिकार उक्तः शब्दविरोधश्च परिहृतः । तत्र जैमिनिराचार्यो देवानामनधिकारं मन्यते । कुतः, मध्वादिष्वसम्भवात् । कथं 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छा० उ० ३।१।१) इत्यत्र मनुष्या मध्वध्यासेनोपासीरन्, देवादिष्वप्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वादित्यः कमन्यमादित्यमुपासीत ? एवमादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्युपक्रम्य वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्च पञ्च देवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्तीत्युपदिश्य 'स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेन तदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' इत्युक्तम्, तत्र वस्वादयः कानन्यान् वस्वादीन् अमृतोपजीविनो विजानीयुः ? कथं वाऽन्यं वस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः ?

न च मन्त्रार्थवादानां स्तुत्याद्यर्थता देवतादिविग्रहादिपरता च युज्यते, तथात्वे वाक्यभेदापत्तेः । न च सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो युक्तः, तस्मादन्यपराच्छब्दान्नाप्रसिद्धविग्रहवत्त्वादिप्रतिपादनं सम्भवति । एवं प्राप्ते

आकाश स्थित जो ज्योतिर्मण्डल दिन रात घूमता हुआ जगत् को प्रकाशित करता है, उसमें आदित्य आदि देवतावाचक शब्द प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि यह लोकप्रसिद्धि और वाक्यशेष प्रसिद्धि है । इस ज्योतिर्मण्डल का हृदयादि शरीर के साथ अथवा चेतनता, अर्थित्व आदि के साथ कोई संबन्ध नहीं है, क्योंकि मिट्टी आदि के समान वह अचेतन है । इसी प्रकार अग्नि आदि के संबन्ध में भी समझना चाहिये ।

यह कहना कि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोक व्यवहार से भी यह प्रतीत होता है कि देवादि शरीरधारी हैं, अतः अनधिकार रूप दोष नहीं है, इसलिये उचित नहीं है कि सामान्य मन्त्रों के सामर्थ्य के विनियुक्त व्रीहि आदि के समान कर्म के लिये अपेक्षित द्रव्य, देवता आदि के स्मरण में और स्तोत्र-शस्त्र आदि का कर्म में समवेत देवता के स्मरण में उपक्षय हो जाने से वे देवता के शरीरधारी होने की बात का प्रतिपादन नहीं कर सकते । अर्थवादों की विधि वाक्यों से एकवाक्यता होती है, अतः उनका उपयोग केवल विधि की स्तुति में होता है, अन्यत्र नहीं । इतिहास, पुराण आदि पौरुषेय हैं, अतः इनके प्रमाणान्तर सापेक्ष होने से ये स्वतन्त्र रूप से देवताओं के शरीरधारी होने में प्रमाण नहीं माने जा सकते । देवता शरीरधारी हैं, इस विषय में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । लोक कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, क्योंकि जिसके विषय में विशेष विचार नहीं किया गया है, ऐसा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रसिद्ध हुआ अर्थ ही लोकप्रसिद्धि के नाम से कहा जाता है ।

इस प्रकार ब्रह्मविद्या में देवताओं का अधिकार कहा गया है और वैदिक शब्द में उपस्थापित विरोध का भी परिहार किया गया है । इस विषय में जैमिनि आचार्य का मत है कि देवादि का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है, क्योंकि मधुविद्या आदि में उनका अधिकार संभव नहीं है । 'असौ वा' इत्यादि श्रुति में बताया गया है कि 'अथवा यह आदित्य देवों का मधु है' अतः मनुष्यों को मधु के अध्यास से आदित्य की उपासना करनी चाहिए । देवादि को उपासक रूप में स्वीकार किए जाने पर आदित्य किस अन्य आदित्य की उपासना करेगा ? तथा आदित्य के आश्रित पाँच रोहित आदि का उपक्रम कर वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य में पाँच देवगण क्रम से उस अमृत का उपभोग करते हैं, ऐसा उपदेश कर कहा गया है कि 'इस प्रकार जो इस अमृत को जानता है, वह वसुओं में से ही कोई एक होकर अग्नि रूप मुख से इसे देखकर तृप्त हो जाता है' । यहां पर यदि हम वसु आदि को उपासक मानें तो वसु आदि अमृतोपजीवी किन अन्य वसु आदि को जानेंगे ? अथवा किन अन्य वसु आदि की महिमा को प्राप्त करना चाहेंगे ?

आह—'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि' (ब्र० सू० १।३।३३) इति सूत्रेण समाधानम्—बादरायणस्तु देवादीनामधिकारस्य भावं मन्यते, अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषिद्धत्वसम्भवात्। 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १।४।१०) इत्यत्र देवादीनां ब्रह्मावगमेन ब्रह्मभावप्राप्तिश्रवणात्। न चात्र मनुष्यशब्देन विद्वांसो मनुष्या एवोच्यन्ते 'विद्वांसो वै देवाः' इति श्रुतेः, तथात्वे मनुष्याणामिति पृथङ्निर्देशानुपपत्तेः। न च मनुष्यशब्देनाविद्वांसो मनुष्या उच्यन्ते, ब्रह्मज्ञानेन तेषां ब्रह्मभावप्राप्तिश्रवणात्। विद्वांसो वै देवा इत्यत्र तु देवानां विद्वत्त्वमुक्तम्, सुकृतविशेषात्तेषामाजानसिद्ध्याद्यैश्वर्यवत्त्वात्। 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्' इति, 'इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्' (छा० ८।७।२) इत्यनेनापि देवानां प्रजापतौ ब्रह्मचर्यवासतत्त्वज्ञानप्राप्त्यादिकं श्रूयते।

यदुक्तम्—'ज्योतिषि भावान्न देवतानां विग्रहादिमत्त्वम्' इति, तन्न, ज्योतिरादिविषयाणामप्यादित्यादिदेवताशब्दानामैश्वर्याद्युपेतचेतनावदर्थसमर्पकत्वात्। मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात्। ऐश्वर्ययोगाद्देवतानां ज्योतिराद्यात्मिकावस्था तु यथेष्टतत्तद्विग्रहधारणसामर्थ्यसद्भावात्। तथा च सुब्रह्मण्यार्थवादे—'मेधातिथेर्मेषेति ॥१४॥ मेधातिथिं ह काण्वायनं मेषो भूत्वा जहार ॥१५॥' (षड्विंशब्राह्मणम्—१)। स्मर्यते च—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह ॥' (इति शाङ्करभाष्य उद्धृतम्) 'इन्द्रो वै वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (ऐ० ब्रा० ४।२) इति श्रुतिः। मृदादयोऽपि नाचेतना एव 'मृदब्रवीत्' (श० ब्रा० ६।१।३।४), 'आपोऽब्रुवन्' (श० ब्रा० ६।१।३।२) इति श्रवणात्। तथैव ज्योतिरादीनां भूतधातुत्वेनाचेतनत्वेऽपि तदधिष्ठातॄणां देवतानां चेतनत्वाविरोधात्।

मन्त्र और अर्थवाद वाक्यों का स्तुति आदि में तथा देवताओं के शरीरधारी होने में तात्पर्य नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने में वाक्यभेद की आपत्ति होगी। एकवाक्यता के रहते वाक्यभेद उचित नहीं माना जाता। इसलिये अन्य अभिप्राय से पठित शब्द से, देवता शरीरधारी है, यह अप्रसिद्ध अर्थ नहीं प्रतिपादित किया जा सकता। इस आपत्ति का परिहार 'भावं तु' इत्यादि सूत्र से किया जाता है। बादरायण तो ऐसा मानते हैं कि देवता आदि का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है, क्योंकि इनमें अर्थित्व, सामर्थ्य, अप्रतिषेध विद्यमान है, जो कि अधिकार प्राप्ति में कारण बताए गये हैं। 'तद्यो यो' इत्यादि श्रुति में बताया गया है कि 'उसे देवों में से जिस जिस ने आत्मरूप से जाना, वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में से जिस जिसने उसे जाना, वह तद्रूप (ब्रह्म) हो गया'। मनुष्य शब्द से यहाँ केवल विद्वान् मनुष्य ही नहीं अभिहित होते, क्योंकि श्रुति में देवताओं को भी विद्वान् बताया गया है, यदि ऐसा माना जाय तो मनुष्यों के पृथक् निर्देश की आवश्यकता न रहती। मनुष्य शब्द से उनका ग्रहण करना चाहिये, जो विद्वान् नहीं हैं, ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मज्ञान के द्वारा उनके ब्रह्मभाव की प्राप्ति सुनी जाती है। 'विद्वांसो वै देवाः' यहाँ पर देवताओं की विद्वत्ता बतायी गई है, क्योंकि उनमें सुकृत कर्मों के कारण आजानसिद्धि आदि ऐश्वर्य विद्यमान हैं। 'वे कहने लगे कि हम उस आत्मा को जानना चाहते हैं, जिसे जानकर जीव सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है', 'देवताओं का राजा इन्द्र और असुरों का राजा विरोचन ये दोनों प्रजापति के पास आये' इन श्रुति वाक्यों में भी देवता आदि का प्रजापति के पास ब्रह्मचर्यवास एवं उनसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति आदि का वर्णन है।

यह जो कहा गया है कि आदित्य आदि ज्योति में देवता शब्द का प्रयोग होने से देवताओं को शरीरधारी नहीं माना जा सकता, इसका उत्तर यह है कि ज्योतिर्मण्डल आदि के बोधक होने पर भी देवता वाचक आदित्य आदि शब्द चेतना वाले, ऐश्वर्य आदि से युक्त उस-उस देवता का बोध कराते हैं, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद आदि में ऐसा व्यवहार है। ऐश्वर्य के योग से देवताओं का ज्योतिर्मण्डल आदि रूप से अवस्थान हो सकता है और यथेष्ट विग्रह के धारण करने की सामर्थ्य भी उनमें है। सुब्रह्मण्य अर्थवाद में 'इन्द्र ने भेड़ बन कर कण्व के पुत्र मेधातिथि का अपहरण किया', अतः इस श्रुति में इन्द्र के प्रति 'मेधातिथि का मेष' ऐसा संबोधन है। 'आदित्य पुरुष बनकर कुन्ती के पास गया' ऐसी स्मृति भी है। 'इन्द्र ने वृत्र के विरुद्ध वज्र उठाया' यह श्रुति भी है। 'मृत्तिका बोली, जल बोला' इत्यादि श्रुतियाँ मृत्तिका आदि में भी चेतन अधिष्ठाता स्वीकार करती हैं। इसी तरह आदित्य आदि में ज्योतिर्मण्डल आदि भौतिक वस्तु के अचेतन होने पर भी उनके अधिष्ठाता देवतागण चेतन माने जायेंगे।

यदुक्तम्—मन्त्रार्थवादादीनामन्यपरत्वेन न तद्देवताविग्रहवत्त्वादिकं सिद्धयति, सद्भावासद्भावयोः प्रत्ययाप्रत्यययोः कारणत्वेनान्यार्थत्वानन्यार्थत्वयोरप्रयोजकत्वात्, अन्यार्थं प्रस्थितस्यापि पथिपतिततृणपर्णादिज्ञानदर्शनात्।

यदुक्तम्—तृणपर्णादिविषयं प्रत्यक्षमेव तदस्तित्वे मानम्, प्रकृते तु विध्युद्देश्यैकवाक्यतयाऽर्थवादस्य स्तुत्यर्थतानिर्णयेन पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषयस्याध्यवसातुमशक्यतैव। नहि महावाक्येऽर्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक् प्रत्यायकत्वं सम्भवति। यथा—'न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वाक्ये पदत्रयसम्बन्धात् सुरापानप्रतिषेधरूप एक एवार्थोऽवगम्यते, न पदद्वयसम्बन्धात् सुरापानविधेरपि सम्भव इति, तदपि न, विषमोपन्यासात्। तथाहि—सुरापानप्रतिषेधकवाक्ये पदान्वयस्यैकत्वाद् युक्तमेवावान्तरवाक्यार्थस्याग्रहणम्, विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्यानन्तरं कैमर्थ्याकाङ्क्षायां कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते। यथा—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां वाय्वादिपदानां विधिना सम्बन्धः, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता। वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति। स एवैनं भूतिं गमयति' इत्यर्थवादगतपदानामपि विधिनैवैकवाक्यता। नहि भवति वायुर्वा आलभेतेति, क्षेपिष्ठा वा देवता आलभेतेत्यन्वयः, किन्तु तानि पदानि वायुस्वभावसङ्कीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैव विशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति। सोऽवान्तरवाक्यार्थो यत्र प्रमाणान्तरगोचरो भवति तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्तते। यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादः। यत्र तदुभयं न स्यात् तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद् गुणवादः स्यादाहोस्वित्प्रमाणान्तराविरोधाद् विद्यमानवादः स्यात्? तत्र प्रतीतिशरणैर्विद्यमानवाद एवाभ्युपेयते न गुणवाद इति शाङ्करभाष्याभिप्रायः।

वाचस्पतिरीत्या तु लोके विशिष्टार्थप्रत्यायनाय प्रयुक्तानि पदानि न स्वार्थमात्रस्मारणे पर्यवस्यन्ति, किन्तु तेषां वाक्यार्थबोधे स्वार्थस्मारणमवान्तरव्यापारः। न च यद्यदर्थं तत्तेन विना पर्यवस्यतीति न स्वार्थमात्र-

यह जो कहा गया है कि मन्त्र और अर्थवाद के प्रतिपादन का प्रयोजन दूसरा है, अतः वे देवता के विग्रह को नहीं सिद्ध कर पाते। इस पर हम कहते हैं कि वस्तु के सद्भाव और असद्भाव में उसका प्रत्यय एवं अप्रत्यय ही कारण है, अतः अन्यार्थकत्व अथवा अनन्यार्थकत्व इसमें प्रयोजक नहीं हो सकते। क्योंकि किसी अन्य प्रयोजन के लिये चला मनुष्य मार्ग में पड़े हुए तृण-पत्ते आदि को देखता ही है।

पुनः यह कहना कि तृण-पर्णादि विषय तो प्रत्यक्ष हैं, जिससे उनके अस्तित्व की प्रतीति होती है। प्रकृत में तो विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता प्राप्त करने से स्तुतिपरक अर्थवाद में स्वतन्त्र रूप से भूतार्थविषयक प्रवृत्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता। अर्थबोधक महावाक्य में अवान्तर वाक्य पृथक् रूप से अर्थ बोध नहीं करा सकता। जैसे कि 'सुरा न पिये' इस नकार वाले वाक्य में तीन पदों के सम्बन्ध से सुरापान का प्रतिषेध रूप एक ही अर्थ अवगत होता है, पुनः दो पदों के सम्बन्ध से सुरापान की विधि का नहीं। इसका यही उत्तर है कि आपका यह दृष्टान्त ठीक नहीं है, क्योंकि सुरापान के निषेध वाक्य में पदान्वय एक होने के कारण अवान्तर वाक्यार्थ का ग्रहण नहीं होगा, विधिपरक अर्थवाद में से तो अर्थवाद के पद पहले भूतार्थ विषय से पृथक् अन्वित होकर अनन्तर कैमर्थ्य (इस अर्थवाद का क्या प्रयोजन है? किसलिये है?) की आकांक्षा में यथेच्छ विधिवाक्य के स्तावक होते हैं। जैसे 'ऐश्वर्य चाहने वाला वायव्य श्वेत पशु का आलभन करे' इस श्रुति में विधिवाक्य गत वायु आदि पदों का विधि के साथ सम्बन्ध है, वैसे ही 'वायु निश्चय ही शीघ्रगामी देवता है। जो यजमान हवि को वायु के लिये देता है, वह वायु के समान अपने मनोरथ के पास पहुँचता है, वही उसको ऐश्वर्य के पास ले जाता है' इस अर्थवादवाक्यगत पदों का भी विधि से ही सम्बन्ध है। इन पदों का 'वायु का आलभन करे, अथवा क्षेपिष्ठा देवता का आलभन करे' इस प्रकार का पार्थक्येन अन्वय नहीं होता, किन्तु ये वायु स्वभाव के कथनोपरान्त अवान्तर अन्वय प्राप्त कर यह एक विशिष्ट देवता सम्बन्धी कर्म है, इस प्रकार विधि को स्तुति करते हैं। यह अवान्तर वाक्यार्थ जहाँ प्रमाणान्तर का विषय होता है, वहाँ उसके अनुवाद से अर्थवाद प्रवृत्त होता है। जहाँ प्रमाणान्तर से विरोध है, वहाँ गुणवाद से। जहाँ ये दोनों नहीं हैं, वहाँ प्रमाणान्तर के अभाव से गुणवाद हो अथवा प्रमाणान्तर के अविरोध से विद्यमान अर्थवाद हो, ऐसा सन्देह उपस्थित होने पर प्रतीतिशरण पुरुषों को चाहिये कि वे विद्यमान अर्थवाद (भूतार्थवाद) का आश्रयण करें, गुणवाद का नहीं। शाङ्करभाष्य की सहमति इसी पक्ष में है।

पर्यवासनं पदानाम्। न च नञ्वति वाक्ये विधानपर्यवसानम्, तथा नञ्पदस्यानर्थक्यापातात्। तदेवोक्तम्—'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्। वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले॥ वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्। पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥' इति। इयं गतिस्त्वेकवाक्ये। यत्र त्वेकस्य वाक्यस्य वाक्यान्तरेण सम्बन्धस्तत्र तु लोकानुभूतार्थव्युत्पत्तौ सिद्धायामेकैकवाक्यस्य तत्तद्विशिष्टार्थप्रत्यायनेन पर्यवसितवृत्तिनोऽपि पश्चात्कुतश्चिद्धेतोः प्रयोजनान्तरापेक्षायामन्वयः। यथा 'वायुर्वै'इत्यादिकम्। इह स्वाध्यायाध्ययनविधिना स्वाध्यायशब्दवाच्यवेदराशेः पुरुषार्थतोक्ता। अत एवार्थवादा अपि पुरुषार्था एव मताः। न च विध्युद्देशवाक्यैकवाक्यतामन्तरा भूतार्थमात्रपर्यवसितानां तेषां पुरुषार्थता सम्भवति, तस्मात् स्वाध्यायविधिवशात् कैमर्थ्याकाङ्क्षायां वृत्तान्तादिगोचराः सन्तस्तत्प्रत्यायनद्वारा विधिप्राशस्त्यं लक्षयन्ति। अविवक्षितस्वार्थास्तु न प्राशस्त्यलक्षणे प्रभवन्ति, अन्यथा लक्षणैव न स्यात्, नामधेयसम्बन्धाभावात्। अत एव गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दः स्वसम्बद्धमेव तीरं बोधयति न तु समुद्रतीरम्। कुतः ? स्वार्थप्रत्यासत्त्यभावात्। न चैतत्सर्वं स्वार्थाविवक्षायां युज्यते।

ननु यदि लक्षणायामभिधेयविवक्षा तर्हि विरुद्धार्थवादे कथं लक्षणा स्यात्, तत्राभिधेयस्य विरुद्धत्वादेव विवक्षानुपपत्तेरिति चेन्न, तत्र गुणवादाभ्युपगमात्। यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धार्था अर्थवादाः, यथा—'आदित्यो वै यूपः', 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादयस्तत्र प्रमाणान्तराविरोधासिद्धये स्तुतये च गुणवादाश्रयणम्। 'यजमानः प्रस्तरः' इति किं विधिराहोस्विदर्थवाद इति संशयेऽपूर्वार्थलाभाद्विधिरिति प्राप्ते सिद्धान्तः—यदि प्रस्तरकार्ये यजमानो विधीयेत

वाचस्पति मिश्र का कहना है कि लोक में विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन के लिये प्रयुक्त पद केवल अपने अर्थ को ही बतलाकर विरत नहीं होते, किन्तु वाक्यार्थ बोध के समय अपने अर्थ का स्मरण कराना उनका अवान्तर व्यापार है। जो जिसका अर्थ है, उस अर्थ का बोध उस पद के बिना नहीं हो सकता, अतः केवल स्वार्थ मात्र में पदों का पर्यवसान नहीं हो सकता। नञ्पदघटित वाक्य में विधि का प्रतिपादन नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार नञ्पद व्यर्थ हो जायगा। कहा भी है कि 'वर्ण यद्यपि साक्षात् पद के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, तथापि इस निष्फल कार्य में उनका पर्यवसान नहीं होता। उनका अन्तिम उपयोग वाक्यार्थ के अवबोध में होता है। वाक्यार्थ की प्रवृत्ति में पदार्थ प्रतिपादन इनका अवान्तर व्यापार है, जैसे कि रसोई बनाने में काष्ठ की ज्वाला अवान्तर व्यापार है।' यह एक वाक्य की व्यवस्था है। जहां पर एक वाक्य का सम्बन्ध दूसरे वाक्य से है, वहाँ लोकानुभूत अर्थ की व्युत्पत्ति की सिद्धि के उपरान्त विशिष्ट अर्थ का बोध कराकर एक वाक्य की वृत्ति के उपरत हो जाने पर भी किसी कारण से दूसरे प्रयोजन के उपस्थित होने पर पुनः अन्वय होता है। जैसा कि 'वायुर्वै' इत्यादि वाक्यों में देखा गया है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि वाक्य में स्वाध्याय शब्द वाच्य वेदराशि की पुरुषार्थता प्रतिपादित है। इसलिये अर्थवाद वाक्य को भी पुरुषार्थता सिद्ध है। विधि वाक्य से एक वाक्यता के बिना भूतार्थ मात्र के बोधक अर्थवाद वाक्यों की पुरुषार्थता बन नहीं सकती। इसलिये स्वाध्याय विधि के प्रसङ्ग में इन अर्थवाद वाक्यों का क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार की आकांक्षा होने पर भूतार्थबोधक अर्थवाद वाक्य विधि के प्राशस्त्य को लक्षित करते हैं। स्वार्थ की अविवक्षा में ये विधि के प्राशस्त्य को लक्षित न कर सकेंगे। स्वार्थ की अविवक्षा में लक्षणा भी न बन सकेगी, क्योंकि तब किसी नाम से उसका सम्बन्ध नहीं बनेगा। इसलिये 'गङ्गायां घोषः' यहाँ पर गंगा शब्द अपने से सम्बद्ध तीर को ही बताता है। समुद्र के तीर को नहीं, क्योंकि वह संनिहित नहीं है। स्वार्थ की विवक्षा के बिना यह सब नहीं हो सकता।

लक्षणा में यदि अभिधेय की विवक्षा मानी जायगी तो विरुद्ध अर्थवाद में लक्षणा कैसे होगी, क्योंकि ऐसे स्थलों में अभिधेय के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन होने से विवक्षा नहीं बन पावेगी ? इस प्रश्न का उत्तर है कि ऐसे स्थलों में गुणवाद माना जायगा। जहाँ पर अर्थवाद वाक्यों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध प्रतीत होता हो, जैसे कि 'यूप आदित्य है', 'यजमान प्रस्तर है' आदि वाक्यों में प्रत्यक्ष विरोध स्पष्ट है, अतः इस विरोध के परिहार के लिये और स्तुति के लिये गुणवाद का आश्रय लेना पड़ता है। 'यजमान प्रस्तर है' यह विधि है या अर्थवाद ? इस संशय के उपस्थित होने पर अपूर्व अर्थ की अवगति होने से यह विधि है, इस पूर्वपक्ष के

तदा 'प्रस्तरं प्रहरति' इति वचनाद् यजमानोऽग्नौ हूयेत, ततः प्रयोगो न समाप्येत। अथ यजमानकार्ये प्रस्तरो विधीयते तदानीमप्यशक्यविधिः। नहि प्रथमलूनदर्भमुष्टिः प्रस्तरः शक्नोति चेतनयजमानकार्यं कर्तुम्। तस्मात् प्रस्तरं बर्हिष उत्तरे सादयतीत्यस्य विधेरर्थवादः। द्वितीयादिलूनमुष्टिर्बर्हिः। कथं तर्हि सामानाधिकरण्यं तत्राह—'गुणवादस्तु' इति (जै० सू० १।२।१०)। अर्थाद् गौणीवृत्त्या प्रस्तरे यजमानशब्दप्रयोगः।

को गुण इत्यपेक्षायां 'तत्सिद्धिर्गुणाश्रयः' (जै० सू० १।४।१३) तस्य यजमानस्य कार्यं क्रतुनिर्वृत्तिः प्रस्तरादपि सिद्ध्यति। स हि जुह्वाधारतया क्रतुं निर्वर्तयति। 'आदित्यो यूपः' इत्यत्र तेजस्वित्वं गुणः, तेजसा घृतेन यूपस्याक्तत्वाद् इत्यादि। तस्माद्यत्र प्रमाणान्तरविरोधः, तत्र गुणवादेन प्राशस्त्यलक्षणा लक्षितलक्षणा। यत्र तु प्रमाणान्तरसंवादस्तत्र प्रमाणान्तरादिनार्थवादादपि सोऽर्थः प्रसिद्ध्यति, द्वयोः परस्परानपेक्षयोः प्रत्यक्षानुमानयो-रिवैकत्रार्थे प्रवृत्तेः। प्रमात्रपेक्षया त्वनुवादकत्वम्। प्रमाता ह्यव्युत्पन्नः प्रथमं यथा प्रत्यक्षादिभ्योऽर्थमवगच्छति, न तथाम्नायतः, तत्र व्युत्पत्त्याद्यपेक्षत्वात्। न तु प्रमाणापेक्षयानुवादकत्वम्, द्वयोः स्वार्थेऽनपेक्षत्वात्।

ननु मानान्तरविरोधेऽपि कस्माद् गुणवादः? शब्दविरोधे मानान्तरमेव कस्मान्न बाध्यते? यथा वेदान्तैरद्वैतविषये प्रपञ्चगोचराः प्रत्यक्षादयः, कस्माद्वा अर्थवादवद्वेदान्ता अपि गुणवादेन न नीयन्त इति चेत्तन्न, शब्दानां द्वारतस्तात्पर्यतश्च विषयद्वैविध्येनादोषात्। यथैकस्मिन् वाक्ये पदार्था द्वारतो वाक्यार्थश्च तात्पर्यतो विषयः, एवं वाक्यद्वयैकवाक्यतायामपि। यथेयं गौः क्रेतव्येत्येकं वाक्यम्, एषा बहुक्षीरेत्यपरम्। अत्र बहुक्षीरत्वप्रतिपादनं द्वारं

उत्तर में सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि यदि प्रस्तर के कार्य में यजमान का विधान किया जायगा तो 'प्रस्तर को अग्निसात् करता है' इति वचन से यजमान को अग्नि में समर्पित कर देना पड़ेगा और इस प्रकार प्रयोग अपूर्ण रह जायगा। यदि यजमान के कार्य के लिये प्रस्तर को अधिकृत किया जाय तो भी विधि संभव न हो सकेगी, क्योंकि प्रथम काटी गई दर्भमुष्टि को प्रस्तर कहा जाता है। यह अचेतन प्रस्तर चेतन यजमान के कार्य को नहीं कर सकता। इसलिये 'प्रस्तर को बर्हि के उत्तर में रखते हैं' इस विधि का यह अर्थवाद वाक्य है। दूसरी बार काटी गई दर्भमुष्टि को बर्हि कहा जाता है। इनका सामानाधिकरण्य 'गुणवादस्तु' इस जैमिनि सूत्र में प्रदर्शित पद्धति से बनेगा। अर्थात् गौणी वृत्ति से प्रस्तर के लिये यजमान शब्द प्रयुक्त होता है।

गुण क्या है? इसका उत्तर 'तत्सिद्धिर्गुणाश्रयः' इस जैमिनि सूत्र में दिया गया है। याग को संपन्न करना यजमान का कार्य है, यह कार्य प्रस्तर से भी सिद्ध होता है, क्योंकि वह जुहू का आधार बन कर यज्ञ को सम्पन्न करता है। 'आदित्य यूप है' यहाँ पर तेजस्विता गुण है, क्योंकि यूप पर तेज रूपी घृत का लेप रहता है। इसलिये जहाँ पर प्रमाणान्तर से विरोध उपस्थित हो, वहाँ गुणवाद के आधार पर प्राशस्त्य बताने वाली लक्षितलक्षणा होती है। जहाँ प्रमाणान्तर से संवाद हो, वहाँ पर प्रमाणान्तर से और अर्थवाद से भी वह अर्थ प्रतिपादित हो सकेगा। जैसे कि परस्पर अनपेक्ष प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से एक ही अर्थ की सिद्धि होती है। प्रमाता की अपेक्षा से इसमें अनुवादकता रहेगी। अव्युत्पन्न प्रमाता जैसे पहले प्रत्यक्षादि प्रमाण से किसी वस्तु को जानता है, उस तरह शास्त्र से नहीं जान पाता, क्योंकि शास्त्र के ज्ञान के लिये व्युत्पत्ति आदि की अपेक्षा रहती है। प्रमाण की अपेक्षा से अनुवादकता नहीं बनती, क्योंकि दोनों ही स्वार्थ के अवबोध में इतर निरपेक्ष हैं।

प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक शब्द गौणी वृत्ति से अर्थलाभ करेगा, ऐसा क्यों माना जाय? शब्द प्रमाण विरोधी अन्य प्रमाण ही क्यों न बाधित माने जायें, जैसे कि अद्वैतविषयक वेदान्त वाक्यों से प्रपंचविषयक प्रत्यक्ष आदि प्रमाण बाधित होते हैं। अथवा अर्थवाद वाक्यों के समान वेदान्त वाक्यों का भी गौणी वृत्ति से क्यों न अर्थ किया जाय? इसका उत्तर है कि शब्द द्वारतः और तात्पर्यतः अपने विषय का दो प्रकार से प्रतिपादन करता है, अतः उक्त दोष नहीं होगा। जैसे कि एक वाक्य में विद्यमान पदों का अर्थ द्वारतः तथा वाक्य का अर्थ तात्पर्यतः जाना जाता है, उसी भाँति दो वाक्यों की एक वाक्यता करने पर भी होगा। जैसे कि 'यह गाय खरीदने योग्य है' यह एक वाक्य है और 'यह बहुत दूध देती है' यह दूसरा।

तात्पर्यं तु क्रेतव्येति वाक्यान्तरार्थे। तत्र यद् द्वारतस्तत्प्रमाणान्तरविरोधेऽन्यथा नीयते, यथा विषं भुङ्क्ष्वेति वाक्यं शत्रुगृहे न भोक्तव्यमिति वाक्यान्तरार्थपरं सत्। यत्र तु तात्पर्यं तत्र मानान्तरविरोधे पौरुषेयमप्रमाणमेव स्यात्। वेदान्तास्तु पौर्वापर्यपर्यालोचनया निरस्तसमस्तभेदप्रपञ्चब्रह्मप्रतिपादनपराः। अपौरुषेयतया स्वतःसिद्धतात्त्विकप्रमाणभावाः सन्तः प्रत्यक्षादीन्येव तात्त्विकप्रमाणभावात् प्रच्याव्य सांव्यावहारिकप्रमाणभावे व्यवस्थापयन्ति। न च 'आदित्यो यूपः' इति वाक्यमादित्यस्य यूपत्वप्रतिपादनपरम्, अपि तु यूपस्तुतिपरमेव। तस्मात् प्रमाणान्तरविरोधे द्वारभूतोऽर्थो गुणवादेन नीयते। यत्र तु प्रमाणान्तरविरोधो न स्यात्, यथा देवताविग्रहादौ, तत्र द्वारतोऽपि प्रतीयमानो विषयो न त्यक्तुं शक्यते, न च गुणवादेन नेतुं शक्यते, सम्भवति मुख्ये गौणाश्रयणेऽतिप्रसङ्गात्।

ननु तथा सति प्रमाणान्तरानधिगतं विग्रहादिकं प्रतिपादयत् तात्पर्यार्थं च बोधयद् वाक्यं भिद्येतेति चेन्न, तादृशप्रसङ्गे वाक्यभेदाङ्गीकारेऽपि दोषाभावात्। न च तर्हि तात्पर्यभेदोऽप्यस्त्विति वाच्यम्, द्वारतोऽपि तदवगतौ तात्पर्यान्तरकल्पनाऽयोगात्। न च यत्र यस्य न तात्पर्यं तस्य तत्र न प्रामाण्यमिति वाच्यम्, तथात्वे विशिष्टपरवाक्यस्य तात्पर्याभावेन विशेषणेष्वप्रामाण्यापत्त्या विशेषणाविषयत्वेन विशिष्टपरत्वानुपपत्त्यापातात्। यदि तु विशिष्टविषयत्वेन विशेषणप्रमित्याक्षेपस्तदा परस्पराश्रयत्वापत्तिः, आक्षेपाद्विशेषणप्रतिपत्तौ सत्यां विशिष्टविषयत्वं विशिष्टविषयत्वाच्च तदाक्षेप इति।

ननु पदैः पदार्था योग्यतादिवशेन विशेषणविशेष्यभूता लोकतो गम्यन्ते, तदवगतौ च प्रतीतो विशिष्टविधिर्विशेषणविधीनामाक्षेप्ता भवेदिति चेन्न, वाक्यैकगम्यस्यापि विशेषणस्य सम्भवात्। 'यथैतस्यैव रेवतीषु

यहाँ पर 'बहुत दूध देने वाली है,' इसके प्रतिपादन के द्वारा इस वाक्य का 'इसको खरीदना चाहिये' इस दूसरे वाक्य में तात्पर्य है। यहाँ पर द्वारतः प्रतीत हुए अर्थ का यदि प्रमाणान्तर से विरोध प्रतीत हो तो उसका तात्पर्यतः अर्थ गृहीत होता है। जैसे कि 'विष खाओ' यह वाक्य तात्पर्यतः बतलाता है कि शत्रु के घर में भोजन नहीं करना चाहिये। शब्द जब तात्पर्यतः किसी अर्थ को बताता है, तब उसका अर्थ यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध प्रतीत होता है, तो ऐसी अवस्था में पौरुषेय वाक्य प्रमाण नहीं माना जायगा। इसके विपरीत वेदान्त वाक्य समस्त भेद प्रपंच का खण्डन कर ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। वेदान्त वाक्य अपौरुषेय हैं, इनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, अतः ये प्रत्यक्षादि प्रमाणों को ही यथार्थ प्रमाण की पदवी से हटाकर इनकी सांव्यावहारिक अर्थात् कल्पित प्रमाणता व्यवस्थापित करते हैं। 'आदित्य यूप है' यह वाक्य आदित्य को यूप नहीं बताता, अपि तु यूप की स्तुति करता है। इसलिये प्रमाणान्तर से विरोध होने पर द्वारभूत अर्थ गुणवाद से अन्यत्र ले जाया जाता है। देवता शरीरधारी हैं, इत्यादि स्थलों में जहाँ पर कि प्रमाणान्तर से विरोध नहीं है, द्वारतः प्रतीयमान अर्थ भी नहीं छोड़ा जा सकता और न गुणवाद से अन्यत्र ही ले जाया जा सकता है, क्योंकि मुख्य अर्थ की विद्यमानता में गौण अर्थ का ग्रहण उचित नहीं होता।

ऐसा होने पर प्रमाणान्तर से अनधिगत विग्रह आदि का प्रतिपादन करने वाला और साथ ही तात्पर्यार्थ का बोध भी कराने वाला वाक्य भिन्न मानना पड़ेगा, तो ऐसे प्रसंगों में वाक्यभेद कोई दोष नहीं है। ऐसे स्थलों में तात्पर्य का भेद इसलिये उचित नहीं है कि द्वारतः भी उसी अर्थ की प्रतीति होने से उससे भिन्न तात्पर्य की कल्पना नहीं की जा सकती। जिसका जहाँ तात्पर्य नहीं है, उसका वहाँ प्रामाण्य नहीं हो सकता, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर विशिष्टपरक वाक्य का विशेषणों में तात्पर्य के अभाव में अप्रामाण्य होने से विशिष्ट में भी तात्पर्य नहीं बन पावेगा। विशिष्टविषयक प्रतीति होने से विशेषण का प्रामाण्य आक्षेपलभ्य है, ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि आक्षेप से विशेषण की प्रतीति होने पर विशिष्ट वस्तु का बोध होगा और विशिष्टविषयक बोध होने पर आक्षेप से विशेषण की प्रतीति होगी।

यदि यह कहा जाय कि योग्यता आदि के कारण पदों के द्वारा विशेषण-विशेष्यभूत पदार्थों की प्रतीति लोक व्यवहार के अनुसार होती है, विशेषण और विशेष्य की अवगति के बाद हुई विशिष्ट विधि की प्रतीति विशेषण विधि का आक्षेप करेगी, तो

वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत' इत्यत्र विशिष्टविधौ रेवन्तीनामृचां वारवन्तीयसाम्नश्च सम्बन्धो विशेषणं तच्च वाक्यैकगम्यम्। तस्माद्यथा विशिष्टप्रत्ययपरेभ्यो वाक्येभ्योऽपि विशेषणानि प्रतीयमानानि तस्यैव वाक्यस्य विषयत्वेनानिच्छताप्यभ्युपेयानि, तथान्यपरेभ्योऽप्यर्थवादवाक्येभ्यो देवताविग्रहादयः प्रतीयमाना असति प्रमाणान्तरविरोधे न त्यक्तुं शक्याः, मुख्यार्थसम्भवे गुणवादायोगात्।

एतेन—अर्थवादा मानान्तरापेक्षाः, सिद्धार्थत्वात्, पुंवाक्यवद् इति न देवताविग्रहादौ प्रमाणमस्तीति तेषामप्रामाण्यमेवेत्यप्यपास्तम्, सापेक्षस्य मूलमानरहितत्वेनाप्रामाण्येऽप्यपौरुषेये तदयोगात्। वाक्यस्य सतः सापेक्षत्वे पौरुषेयत्वस्योपाधित्वात्। तस्माद् भूतार्थमप्यपौरुषेयं वाक्यं न मानान्तरापेक्षम्, अपौरुषेयत्वेनैतदनपेक्षणात्।

ननु यदि तात्पर्यैक्येऽपि वाक्यभेदस्तर्हि कथमर्थैकत्वादेकं वाक्यम्, 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्' (जै० सू० २।१।४२) इति न्यायविरोधात्। एतत्सूत्रार्थस्तु—तत्र 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे' इति मन्त्रे भिन्नं वाक्यमेकं वाक्यं वेति संशये पदानामर्थभेदात् समुदायस्यावाचकत्वाद् भिन्नं वाक्यमिति प्राप्ते सिद्धान्तः—एकप्रयोजनोपयोगिविशिष्टार्थस्यैक्यात्तद्बोधकपदान्येकं वाक्यम्, तच्च तर्ह्येव स्याद् यदि पदविभागे सति पदवृन्दं साकाङ्क्षं स्यात्। अत एव 'भगो विभजत्वर्यमा वा विभजतु' इत्यत्र सत्यपि विभजत्यर्थैक्येऽनाकाङ्क्षत्वेन वाक्यभेदः। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि तस्मिन् सीद, अमृते प्रतितिष्ठ' इत्यत्रापि सत्यपि साकाङ्क्षत्वेऽर्थभेदेन वाक्यभेदः। तथा च तात्पर्यैक्येऽपि वाक्यभेदाभ्युपगम एतदधिकरणविरुद्ध एवेति, तन्न, यथा सत्यपि वाक्यैकवाक्यत्वे प्रयाजादिवाक्या-

यह इसलिये उचित नहीं है कि विशेषण सर्वत्र लोकगम्य ही नहीं होता, कहीं-कहीं केवल वेद वाक्य से भी विशेषण की प्रतीति होती है। जैसे कि 'रेवती नामक तीन ऋचाओं से संबद्ध वारवन्तीय अग्निष्टोम साम का अनुष्ठान करके पशुकाम पुरुष इससे यजन करे' इस श्रुति में प्रतिपादित विशिष्ट विधि में रेवती नामक ऋचाओं का और वारवन्तीय साम का विशेषण-विशेष्यभाव संबन्ध केवल वाक्य से ही अवगत होता है। इसलिये जैसे विशिष्ट अर्थ के बोधक वाक्यों से प्रतीयमान विशेषणों को बिना चाहे भी उसी वाक्य का विषय मानना पड़ता है, उसी तरह अन्य अर्थ के लिए प्रयुक्त अर्थवाक्य वाक्यों से देवता शरीरधारी हैं, इस प्रकार की अर्थावगति होती है, तो उसको प्रमाणान्तर से यदि विरोध नहीं है, तो छोड़ा नहीं जा सकता। मुख्य अर्थ की उपस्थिति में गुणवाद की अपेक्षा नहीं होती।

उपर्युक्त विवेचन से इस उक्ति का भी खंडन हो जाता है कि अर्थवादवाक्य सिद्धार्थ के प्रतिपादक होने के कारण पुरुष वाक्य के समान अपने प्रामाण्य में प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखते हैं, अतः उनसे देवता शरीरधारी हैं, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि यद्यपि मूल प्रमाण के अभाव में सापेक्ष वाक्य प्रमाण नहीं माना जाता, तथापि अपौरुषेय वाक्य में यह नियम लागू नहीं होता। सापेक्ष वाक्य की अप्रमाणता में पौरुषेयत्व उपाधि विद्यमान है। इसलिये भूतार्थ प्रतिपादक होने पर भी अपौरुषेय वाक्य के लिये प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होगी, क्योंकि अपौरुषेय होने से ही वह प्रमाणान्तर निरपेक्ष होगा।

तात्पर्य की एकता में भी यदि वाक्यभेद माना जायगा तो फिर एक अर्थ के लिये एकवाक्यता के जैमिनि प्रतिपादित न्याय से विरोध होगा। 'अर्थैकत्वात्' इत्यादि सूत्र का अर्थ यह है—'देवस्य त्वा' इस मन्त्र में भिन्न वाक्य है या एक? संशय की इस अवस्था में पदों का अर्थ भिन्न-भिन्न है और समुदाय के वाचक न होने से भिन्नवाक्यता उचित है, इस पूर्वपक्ष की उपस्थिति में सिद्धान्त पक्ष बतलाया गया है कि एक प्रयोजन के उपयोगी विशिष्ट अर्थ की एकता के कारण विशिष्ट अर्थ के बोधक पदों की एकवाक्यता होगी। यह तभी हो सकता है, जब कि पदों के विभाग में एक समूह साकांक्ष हो। इसीलिये 'भग देवता अथवा अर्यमा देवता इसका विभाग करें' इस श्रुति में विभाग रूप अर्थ की एकता में भी निराकांक्ष होने से वाक्यभेद होगा। 'तुम्हारे लिये सुन्दर घर बनाता हूँ, उसमें तुम बैठो, अमृत में निवास करो' यहाँ पर साकांक्ष होने पर भी अर्थभेद के कारण वाक्यभेद होता है। इसलिये तात्पर्य की एकता में वाक्यभेद मानना उक्त अधिकरण के विरुद्ध होगा। इसका उत्तर है कि जैसे पूरे प्रकरण की एकवाक्यता रहने पर भी प्रयाजादि वाक्यों का

नामवान्तरभेदः, एवमर्थवादानामप्यवान्तरवाक्यत्वे बाधाभावः। जैमिनीयैरपि स्तुतिं लक्षयितुं तत्तत्पदार्थविशिष्टैक-पदार्थप्रतीतिरभ्युपेया, अन्यथाऽभिधेयाविनाभावरूपः शक्यसम्बन्धो न स्यादित्युक्तत्वात्। तथा चार्थवादाः स्तुतौ पर्यवस्यन्तु। ततश्च वाक्यैकवाक्यतामुपयन्तु।

नन्वेवं प्रयाजादिवाक्येभ्योऽर्थवादानां को भेद इति चेदुच्यते, स्तुतिप्रतिपत्तिद्वारं विग्रहादि, प्रयाजादि-तु नान्यप्रतीतौ द्वारं किन्तु द्वारि, स्वतात्पर्यविषयत्वात्। न चौदनं भुक्त्वा ग्रामं गच्छतीत्यत्रापि वाक्यभेदः स्यात् संसर्गभेदात्, अन्य ओदनं भुक्त्वा अन्यो हि ग्रामं गच्छतीति वाच्यम्, एकत्र प्रतीतेरपर्यवसानात्। भुक्त्वेति समान-कर्तृकता पूर्वकालता च प्रतीयते। अस्याश्चापरकालं क्रियान्तरप्रतीतिमन्तराऽपर्यवसानम्, तस्माद्यावति पदसमूहे पदाहिताः पदार्थस्मृतयः पर्यवस्यन्ति, तावदेकं वाक्यम्। अर्थवादवाक्ये चैताः पर्यवस्यन्ति, विधिवाक्यं विनैव विशिष्टार्थ-प्रतीतेः। नन्वेवं द्वाभ्यां द्वाभ्यां पदाभ्यां विशिष्टार्थप्रत्ययपर्यवसानात् पञ्चषट्पदवत्येकस्मिन् वाक्ये नानात्वप्रसङ्गः स्यादिति चेन्न, विशेषणानां नानात्वेऽपि विशिष्टस्यैकत्वेन तददोषात्। सकृच्छ्रुतस्य प्रधानभूतस्य विशेष्यस्य गुणभूत-विशेषणानुरोधेनावृत्त्ययोगात्। प्रधानभेदे तु वाक्यभेद इष्ट एव। प्रकृते तु विधिवाक्यादर्थवादस्यान्यत्वादुभयोर्वाक्ययोः स्वस्ववाक्यार्थप्रत्ययावसितव्यापारयोः पश्चात् कुतश्चिदपेक्षायां परस्परान्वयः।

नन्वतत्परादपि वेदादर्थः प्रतीयेत, स यदि तात्पर्यगम्यार्थोपयोगी स्यात्, विशिष्टविधाविव विशेषणम्, देवताविग्रहादिकं न तथेति चेन्न, इन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि विद्वद्भिर्देयानीति विधिरेवेन्द्रादीनां स्वरूपज्ञानमपेक्षते, अर्थवादादिभिस्तत्स्वरूपं च समर्प्यते। तथाहि—देवतोद्देशेन हविस्त्याग एव यागशरीरम्। न च स्वरूपरहिता इन्द्रा-

अवान्तर भेद होता है, उसी तरह अर्थवाद वाक्यों की भी अवान्तर वाक्यता में कोई बाधा नहीं है। मीमांसकों को भी अर्थवाद वाक्यों की स्तुतिबोधकता के लिये तत्तत्पदार्थ विशिष्ट एक समष्टि की प्रतीति माननी पड़ेगी। अन्यथा अभिधेय के साथ अविनाभाव रूप शक्य सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। अतः अर्थवादों का पहले स्तुति में पर्यवसान होगा और बाद में उनकी विधिवाक्य के साथ एक-वाक्यता होगी।

प्रश्न है कि तब प्रयाजादि वाक्यों से अर्थवादों का क्या भेद रह जायगा? उत्तर यह है कि अर्थवाद वाक्यों से स्तुति के द्वारा देवता के विग्रहादि की प्रतीति होती है, इसी तरह प्रयाजादि के द्वारा किसी अन्य पदार्थ की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि उनका तात्पर्य अपने ही प्रतिपादन में है। ऐसा मानने पर 'भोजन करके गाँव जाता है' यहाँ पर भी संसर्गभेद से वाक्यभेद हो जायगा, क्योंकि भोजन करने वाला दूसरा है और गाँव जाने वाला दूसरा, यह उक्ति इसलिये ठीक नहीं है कि यहाँ पर एक ही जगह में प्रतीति का पर्यवसान नहीं होता। क्त्वा प्रत्यय से यहाँ पर एककर्तृकता और भोजन की पूर्वकालता प्रतीत होती है। अपरकाल और क्रियान्तर की प्रतीति के बिना इस प्रतीति का पर्यवसान नहीं होता। इसलिये जितने पदसमूह में पदों के द्वारा संनिहित पदार्थ की स्मृति का पर्यवसान होता है, उतना एक वाक्य होगा। अर्थवादवाक्य में ही इनका पर्यवसान हो जाता है, क्योंकि इनसे विधिवाक्य की सहायता के बिना ही विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। यह कहना कि दो-दो पदों से ही विशिष्टार्थ प्रतीति का पर्यवसान हो जाने से पाँच, छः, पदों वाले वाक्य अनेक माने जायेंगे, इसलिये उचित नहीं है कि विशेषणों के अनेक होने पर भी विशिष्ट के एक होने से नाना वाक्य नहीं होंगे। एक बार सुने गये प्रधान विशेष्य की गुणभूत विशेषणों के कारण आवृत्ति नहीं होती। प्रधान के भेद से तो वाक्यभेद माना ही जाता है। प्रकृत में विधिवाक्य से अर्थवादवाक्य भिन्न है, इसलिये इनके अपने-अपने वाक्यार्थ का बोध कराकर उपरत हो जाने पर भी पश्चात् किसी आकांक्षा के होने पर परस्पर अन्वय होता है।

अतत्पर वेद से भी अर्थ की प्रतीति हो सकती है, यदि वह तात्पर्यगम्य अर्थ का उपयोगी हो। जैसे कि विशिष्ट विधि में विशेषण उपयोगी होता है। देवताओं के विग्रह आदि के प्रतिपादन का तो कोई उपयोग नहीं है, यह बात भी ठीक नहीं है। विद्वान् मनुष्यों को इन्द्र आदि देवताओं को उद्दिष्ट कर हवि देना चाहिये, यह विधि ही इन्द्र आदि के स्वरूप ज्ञान की अपेक्षा रखती है और

दयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते। न च चेतस्यनारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते। 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३।८)। अतो देवतारूपापेक्षिणा यागविधिनैव यादृशमन्यपरेभ्योऽपि मन्त्रार्थवादेभ्यस्तद्रूपमवगतं तदभ्युपेयते, रूपान्तरकल्पनायां मानाभावात्। यथा 'व्रात्यो व्रात्यस्तोमेन यजेत' इत्यत्र व्रात्यस्वरूपापेक्षायां 'यस्य पिता पितामहो वा सोमं न पिबेत् स व्रात्यः' इति व्रात्यस्वरूपमवगतं व्रात्यस्तोमविध्यपेक्षितं सद्विधिप्रमाणकं भवति। यथा 'स्वर्गकामो यजेत' इति विध्यपेक्षितमर्थवादतोऽवगम्यमानं स्वर्गस्वरूपमलौकिकं विधिप्रमाणकं भवति, तथा देवतास्वरूपमपि विध्यपेक्षितत्वाद् विधिप्रमाणकमेव। यत्तु 'उद्देशो रूपज्ञानमपेक्षते न पुना रूपम्, देवतायाः समारोपेणापि रूपज्ञानमुपपद्यते। तेन समारोपितमेव देवतास्वरूपमन्त्रार्थवादैरुच्यते' इति, तदपि मन्दम्, सत्यं रूपज्ञानमपेक्षते विधिः, तस्य चान्यतोऽसम्भवाद् मन्त्रार्थवादेभ्य एव तदवगन्तव्यम्। तस्य रूपस्यासति बाधकेऽनुभवारूढं तथाभावं परित्यज्यान्यथात्वमननुभूयमानं कल्पयितुमसाम्प्रतम्। तस्माद्विध्यपेक्षितं मन्त्रार्थवादैरन्यपरैरपि देवतारूपं बुद्धावुपनिधीयमानं विधिप्रमाणकमेवेति युक्तम्।

ननु विध्यपेक्षायामन्यपराद्वाक्यादवगतोऽर्थः स्वीक्रियते, प्रकृते नास्त्येव देवतास्वरूपापेक्षा, शब्दरूपस्यैव देवतात्वात्, तस्य च प्रत्यक्षगम्यत्वादिति चेन्न, शब्दमात्रस्य देवतात्वासम्भवात्, शब्दार्थयोर्भेदात्। तस्मान्मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां यादृशं रूपमवगम्यते, तादृशं शब्दप्रमाणकेन न प्रत्याख्यातुं युक्तम्। इतिहासपुराणमपि सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवत्येव देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि तत्सम्भवति, अस्माकमप्रत्यक्षस्यापि चिरन्तनानां प्रत्यक्षत्वात। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्ति स्मेति स्मर्यते।

अर्थवाद आदि वाक्यों से उनका स्वरूप अवगत होता है। किसी देवता को उद्दिष्ट कर दी गई हवि को ही याग कहते हैं। स्वरूप से रहित इन्द्रादि देवताओं का चित्त में आरोप नहीं किया जा सकता और न ध्यान में अनारूढ उस देवता को हवि ही दी जा सकती है। 'जिस देवता के लिये हवि का ग्रहण किया गया हो, उस देवता का 'वषट्' इस शब्द का उच्चारण कर ध्यान करे' ऐसा श्रुति कहती है। इस प्रकार यागविधि को देवता के स्वरूप की अपेक्षा है, अतः अन्यपरक मन्त्र, अर्थवाद आदि से जैसा भी इनका स्वरूप ज्ञात होता है, वही यहाँ पर मान्य होता है, क्योंकि किसी दूसरे स्वरूप की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। जैसे कि 'व्रात्य व्रात्यस्तोम से यजन करे' यहाँ पर व्रात्य के स्वरूप की अपेक्षा होने पर 'जिसके पिता और पितामह ने सोमपान नहीं किया, वह व्रात्य है' इस श्रुति से व्रात्यस्तोम विधि के लिये अपेक्षित व्रात्यस्वरूप की अवगति विधिप्रमाणक होती है। अथवा जैसे 'स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे' इस विधि के लिये अपेक्षित स्वर्ग का अलौकिक स्वरूप अर्थवाद वाक्य से अवगत होकर विधिप्रमाणक होता है, उसी तरह देवता का स्वरूप भी विधि के लिये अपेक्षित होने से विधिप्रमाणक होता है। यह कहना कि उद्देश्य के लिये केवल रूपज्ञान की अपेक्षा है, रूप की नहीं। देवता के समारोप से भी रूपज्ञान हो सकता है, इसलिये मन्त्र, अर्थवाद आदि देवता के समारोपित स्वरूप को ही कहते हैं, इसलिये उचित नहीं है कि यद्यपि यह बात ठीक है कि विधि रूपज्ञान की अपेक्षा करती है, तो भी उसकी अवगति किसी अन्य प्रमाण से न होने से मन्त्र, अर्थवाद आदि से ही वह जाना जाता है। किसी बाधक प्रमाण के अभाव में देवता का जो स्वरूप अनुभव पर चढ़ा हुआ है, उसको छोड़कर अननुभूयमान नये रूप की कल्पना उचित नहीं है। इसलिये विधि के लिये अपेक्षित देवतास्वरूप अन्यपरक मन्त्र, अर्थवाद आदि से बुद्धि में आरूढ होकर भी विधिप्रमाणक ही माना जायगा, यह ठीक ही है।

विधि की अपेक्षा में अन्यपरक वाक्य से अवगत अर्थ स्वीकृत हो सकता है, प्रकृत में तो देवता के स्वरूप की अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि देवता शब्दरूप है, और वह प्रत्यक्षगम्य है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ में भेद होने से शब्दमात्र को देवता नहीं कहा जा सकता। इसलिये मन्त्र और अर्थवाद से इन्द्रादि का जैसा स्वरूप अवगत होता है, उसको शब्द को प्रमाण मानने वाले अस्वीकार नहीं कर सकते। इतिहास और पुराण भी मन्त्र और अर्थवादमूलक होने से देवादि के विग्रह आदि सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। प्रत्यक्षादि भी उसमें प्रमाण हो सकते हैं। हम लोगों के लिये जो प्रत्यक्ष नहीं है, उसका भी प्रत्यक्ष चिरन्तन लोगों को हो सकता है। स्मृतियों में बताया गया है कि व्यास आदि ऋषिगण देवताओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे।

यत्तु नेदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नासीद्देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति तत्तुच्छम्, तथात्वे जगद्वैचित्र्यापलापापत्तेः। इदानीमिव कदापि सार्वभौमः क्षत्रियो नासीदिति न कश्चिद्वक्तुं शक्नोतीति, तथात्वे राजसूयादिविधिविरोधात्। इदानीमव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् दृष्ट्वा कश्चिन्नैवं वक्तुं शक्नुयाद्यत् 'कालान्तरेऽप्येवमेवाव्यवस्थिता वर्णाश्रमधर्मा इति, व्यवस्थाविधायिशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात्। तस्माद् धर्मोत्कर्षवशात् प्राचीना देवादिभिर्व्यवजह्रुरिति युक्तमेव। 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' (यो० सू० २।४४) इत्यादिस्मृतिरपि स्वाध्यायाद्देवतासाक्षात्कारं वक्ति। योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः। योगशास्त्रे यन्निरूप्यते तस्यापि प्रत्याख्यानं तु साहसमात्रमेव। 'पृथ्व्यप्तेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥' (श्वे० उ० २।१२) इति श्रुतिरपि योगस्य माहात्म्यं स्पष्टमाह। एतदर्थस्तु—पादतलमारभ्याजानोः, जानोरारभ्यानाभि, नाभेरारभ्याग्रीवम्, ग्रीवाया आकेशप्ररोहदेशम्, ततश्चाब्रह्मरन्ध्रं क्रमेण पृथ्व्यादिभूतानां धारणया पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मके भूतगणे समुत्थिते। जिते योगगुणे अणिमादौ प्रवृत्ते योगाभिव्यक्ताग्निमयं तेजोमयं ब्रह्मशरीरं प्राप्तस्य योगिनो रोगजरामृत्य्वादिभयं न भवति। सर्वथापि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनामृषीणां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम्। तस्मादितिहासपुराणमपि समूलम्, असति बाधके लोकप्रसिद्धिरपि नापलापार्हा। 'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे' (ई० उ० १०) इति श्रुत्या पूर्वेषामादरप्रदर्शनात्।

तत्र भामतीकाराः—एवं मन्त्रार्थवादादिभिः सिद्धे देवताविग्रहादौ गुर्वादिपूजावद्देवतापूजात्मको यागो देवताप्रसादाद्विद्वारेण सफलोऽवकल्पते, अचेतनस्य पूजास्तुत्यादिकमप्रतिपद्यमानस्य तदनुपपत्तेः। न चैवं यज्ञकर्मणो देवतां प्रति गुणभावाद् देवतातः फलोत्पादे यागभावनायाः श्रुतं फलवत्त्वं यागस्य च तां प्रति तत्फलांशं वा प्रति

ऐसा कोई कहे कि आजकल के समान प्राचीन लोगों की भी देवादि के साथ व्यवहार करने की सामर्थ्य नहीं थी तो यह गलत है। ऐसा कहने वाला जगत् की विचित्रता का प्रतिषेध करता है और आजकल के समान अन्य समय में भी सार्वभौम क्षत्रिय नहीं थे ऐसा कहे, तो राजसूय आदि विधि बाधित हो जायगी। आजकल के समान अन्य समय में भी वर्णाश्रम धर्म अव्यवस्थित प्रायः थे, ऐसी प्रतिज्ञा करे तो ऐसी स्थिति में व्यवस्था के विधायक शास्त्र अनर्थक हो जायंगे। इससे सिद्ध होता है कि धर्म के उत्कर्ष के कारण प्राचीन लोग देवादि के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे, यह युक्त ही है। 'स्वाध्याय से इष्ट देवता का सांनिध्य मिलता है' इत्यादि स्मृति भी स्वाध्याय से देवता के साक्षात्कार को बतलाती है। योग से भी अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। योगशास्त्र में यह जो प्रतिपादित किया जाता है, उसका प्रत्याख्यान साहसमात्र है। 'पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्च महाभूतों से बने शरीर में जब यौगिक गुणों की प्रवृत्ति होती है, तब योगाग्नि से परिपूत उस देह में न कोई रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है' यह श्रुति भी योग के माहात्म्य को स्पष्ट बताती है। इस श्रुति का अभिप्राय यह है कि पादतल से आरम्भ कर घुटने तक, घुटने से नाभि तक, नाभि से ग्रीवा तक, ग्रीवा से ललाट तक और इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त पृथ्वी आदि भूतों की धारणा से पृथिव्यादि पञ्च महाभूतों को जीत लेने पर अणिमादि योग गुण की प्रवृत्ति होती है। इससे यौगिक अग्नि से अभिव्यक्त तेजोमय ब्रह्मशरीर प्राप्त योगी को रोग, जरा, मृत्यु आदि का भय नहीं रहता। किसी भी तरह मन्त्र तथा ब्राह्मण रूप वेद के द्रष्टा ऋषियों की सामर्थ्य की अपनी सामर्थ्य से तुलना करना युक्त नहीं है। इसमें इतिहास, पुराण भी प्रमाण हैं। लोकप्रसिद्धि भी बाधक के अभाव में अपलाप योग्य नहीं है। 'इस प्रकार हमने उन धीर मनुष्यों से सुना है, जो कि हमको ज्ञान और कर्म का उपदेश देते रहे हैं' इस श्रुति में हमने पूर्व पुरुषों के प्रति आदर देखा है।

यहाँ पर भामतीकार कहते हैं कि इस प्रकार मन्त्र, अर्थवाद आदि से देवताओं के शरीरी सिद्ध होने पर गुरु आदि की पूजा के समान देवपूजात्मक याग देवता के प्रसन्न होने पर सफल होता है। अचेतन में पूजा, स्तुति आदि को ग्रहण करने की सामर्थ्य न रहने से यह नहीं बन पावेगा। ऐसी बात नहीं है कि ऐसा मानने पर यज्ञकर्म का देवता के प्रति गुणभाव होने से देवता के प्रसाद से ही फलोत्पत्ति होगी, ऐसी दशा में याग भावना में सुनी गई स्वर्गादिफलवत्ता और याग की भावना अथवा फलांश के प्रति सुनी गई

श्रुतं कारणत्वं हातव्यम्। यागभावनाया एव हि फलवत्या यागलक्षणस्वकरणावान्तरव्यापारत्वाद् देवताभोजन-प्रसादादीनाम्, कृषिकर्मण इव तत्तदवान्तरव्यापारस्य सस्याधिगमसाधनत्वम्। यथा वाग्नेयादीनामिवोत्पत्तिपरमापूर्वावान्तरव्यापाराणां पूर्वमीमांसकमते स्वर्गसाधनत्वम्।

अत्रायमभिप्रायः—'देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्' (जै० सू० ६।१।६) इत्यत्र देवता धर्मान् प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य यागस्य तदर्थत्वात्। यथातिथिप्रीत्यर्थं आतिथ्यधर्मास्तथैव देवताप्रीत्यर्था यागधर्माः। तेन देवताविग्रहादीनां यथाविध्युद्देशोपयोगस्तथैव फलनिर्देशोपयोगोऽपि। न च प्रयाजवाक्यवद्देवताविग्रहादावप्यवान्तरतात्पर्यमस्त्विति वाच्यम्, अर्थवादानां स्तुतावन्तरतात्पर्येऽवश्यवक्तव्ये प्रतीतमात्रतया स्तुत्युपकारिणि तद्द्वारभूतेऽप्यवान्तरतात्पर्यकल्पनस्यायुक्तत्वात्। तदभावेऽपि मानान्तरप्राप्तिबाधरूपापवादराहित्यप्रतिष्ठितौत्सर्गिकप्रामाण्यबलाद् देवताविग्रहादिसिद्धौ तत एव देवताध्यानविधेर्देवतासायुज्यादिफलनिर्देशस्य चापेक्षाशान्त्या देवताविग्रहादितात्पर्यवद् वाक्यान्तरकल्पनस्यार्थवादपदवृन्दस्यैवावान्तरतात्पर्यकल्पनस्य चानपेक्षितत्वात् फलनिर्देशापेक्षितदेवताविग्रहादिवाक्यप्रामाण्यस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वेन तद्बलेनैव व्युत्पत्तिविरोधस्य परिहारात्। न चावान्तरतात्पर्यस्याप्यभावेऽतत्परस्य वाक्यस्य कथं देवताविग्रहादिसत्त्वे प्रामाण्यम्, 'विषं भुङ्क्ष्व' इति वाक्यस्य विषभक्षणेऽप्रामाण्यवद् इति वाच्यम्, विषभक्षणवाक्यस्य लोकतो विरोधादप्रामाण्येऽपि प्रकृते विरोधाभावेन प्रामाण्यस्योक्तत्वात्। न चातत्परत्वेन देवताविग्रहादेरविवक्षितत्वापत्तिरिति वाच्यम्, अवान्तरतात्पर्येऽपि दोषाभावात्।

यत्तु इन्द्रादिशब्दविषयो भविष्यत्युद्देशः, 'ऐन्द्रं दधि' इत्यादौ प्रथमोपस्थितस्येन्द्रशब्दस्य देवतात्वेनान्वयसम्भवे तदधीनचरमोपस्थितिकस्यार्थस्य देवतात्वेन कल्पनाऽयोगात्। शब्दकार्यासम्भव एवार्थे कार्यविज्ञानात् प्रसिद्धज्योति-

कारणता को छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि देवता भोजन, प्रसाद आदि फलवती यागभावना के ही यागलक्षण साधन के अवान्तर व्यापार हैं, जैसे कि कृषि कर्म के अवान्तर व्यापारों की अन्न को उपलब्धि में कारणता होती है। अथवा जैसे पूर्व मीमांसक के मत में परमापूर्व की उत्पत्ति में आग्नेयादि अवान्तर व्यापारों की साधनता होती है।

इसका अभिप्राय यह है—'देवता वा' इत्यादि जैमिनि सूत्र में बताया गया है कि देवता धर्मों को फलदान के प्रति उन्मुख करेगा, क्योंकि जैसे भोजन अतिथि के लिये होता है, उसी तरह याग देवता के लिये है। आतिथ्य धर्म जैसे अतिथि की प्रसन्नता के लिये है, उसी भांति यागधर्म देवता को प्रीति के लिये है। इससे देवता के विग्रह का जैसे विधि को उद्दिष्ट कर उपयोग होता है, उसी तरह फल निर्देश में भी उपयोग होगा। प्रयाज वाक्य के समान देवता के विग्रह आदि में भी अवान्तर तात्पर्य नहीं होगा, क्योंकि अर्थवाद वाक्यों का स्तुति में अवान्तर तात्पर्य बताना ही पड़ेगा, ऐसी दशा में ज्ञानमात्र से स्तुति के उपकारक (द्वारभूत) विग्रहादि में अवान्तर व्यापार की कल्पना अयुक्त होगी। अवान्तर तात्पर्य की कल्पना के विना भी मानान्तर प्राप्ति के बाधक अपवाद की अनुपस्थिति में जिसका प्रामाण्य प्रतिष्ठित है, ऐसे उत्सर्ग नियम से देवता के विग्रह के सिद्ध होने से और इसी से देवता की ध्यानावधि और देवता सामान्य रूपी फलनिर्देश की अपेक्षा की शान्ति हो जाने से देवता के विग्रह में तात्पर्य प्रतिपादक वाक्यान्तर कल्पना की और अर्थवाद के पदसमूह के अवान्तर तात्पर्य की कल्पना की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु फलनिर्देश के लिये अपेक्षित देवता के विग्रह प्रतिपादक वाक्य की प्रामाणिकता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी, इसी से व्युत्पत्ति के विरोध का परिहार भी हो जायगा। प्रश्न है कि अवान्तर तात्पर्य के अभाव में अतत्पर वाक्य का देवता विग्रह की सत्ता में प्रामाण्य कैसे होगा? जैसे कि 'विष खाओ' इस वाक्य में विषभक्षण में तात्पर्य न रहने से प्रामाण्य बोध नहीं होता। उत्तर है कि विषभक्षण वाक्य में लोक से विरोध होने से अप्रामाण्य होगा, प्रकृत में कोई विरोध न होने से वह प्रामाणिक ही माना जायगा। अतत्पर वाक्य की देवता के विग्रह प्रतिपादन में अविवक्षा रहने पर भी अवान्तर तात्पर्य मानने में कोई दोष नहीं है।

कहा गया है कि इन्द्रादि शब्द विषयक उद्देश्य मान लिया जायगा, क्योंकि 'दही इन्द्र का है' यहाँ पर प्रथम उपस्थित इन्द्र शब्द का देवता के साथ अन्वय हो जाने पर उसके अधीन होकर बाद में उपस्थित होने वाले अर्थ को देवता मानना अनुचित है।

रादिविषयो, भविष्यत्युद्देशो न विग्रहवती देवता। नह्यश्वमेधे यन्मेहसि तस्मै स्वाहा, यच्छक्कृत्करोषि तस्मै स्वाहा, इत्यादिमन्त्रानुष्ठेयहोमानां प्रसिद्धमेध्याश्वमूत्रपुरीषात्मकमन्तरेणोद्देश्यमस्तीति, तदपि न युक्तम्, शब्दस्याचेतनस्य ज्योतिरादेर्वा देवतात्वे तत्र देवतादर्शनसम्भाषणादिफलकर्मोपासनादिविधीनामप्रामाण्यप्रसङ्गेन सङ्कर्षादिषु तथोक्तेरभ्युपगमवादत्वात् (अन्वारुह्यवादत्वात्), प्रथमोपस्थिते शब्दे कार्यान्वयस्यौत्सर्गिकत्वे ऋचि प्रणवं दधातीत्यत्रापि प्रणवशब्दस्यैवानुवाकान्ते निधानापत्त्या तदर्थस्योङ्कारस्य निधानं व्यवस्थापयता सङ्कर्षगतेनाधिकरणान्तरेण विरोधापत्तेश्च।

नन्वतिथेरातिथ्यवद् देवताप्रीत्यर्थो याग इति यदुक्तम्, तत् 'अतिथौ तत्प्रधानत्वं भावः कर्मणि स्यात् तस्य प्रीतिविधानत्वात्' (जै० सू० ६।१।१०) इति सूत्रेण विरुद्धचते। अत्र यज्ञस्य आतिथ्यवैषम्यमुक्तम्, न तु देवताप्रीत्यर्थो यज्ञ इति तत्र दर्शितम्, तथा च देवताप्रीत्यर्थो यज्ञ इति विरुद्धचते, इति चेन्न, प्रीतिविधानादिति हेतोरर्थानभिज्ञानात्। तत्र येन येन यावताऽतिथिः प्रीयते, तेन तेन द्रव्येण तावता स पूजनीय इत्यातिथ्यं कर्मातिथिप्रधानं भवति, यज्ञकर्मणि तु येन द्रव्येण यावता वा देवता प्रीयते, तावता सा पूजनीयेति प्रीतिविधानं नास्ति, किन्तु देवतैक्येऽपि तत्तत्कर्मविशेषव्यवस्थितैराज्यचरुपुरोडाशादिभिश्चतुर्गृहीतद्वयावदानादिपरिमितैः स्वरूभिरनदनीयैः प्रस्तरादिभिश्च यष्टव्यमित्येव विधानम्। अतस्तस्य प्रीतिविधानत्वादिति हेतुना विरोधः। परं सिद्धान्ते तु स विरोधो नास्त्येव। विहितद्रव्यैरेव 'एतद्वै देव्यं मधु यद् घृतम्, तद्वै देवा हविर्जुषन्ते, अल्पामप्येकामाहुतिमपि तद्‌गिरिमात्रं वर्धयन्ते' इत्याद्यर्थवाददर्शनेन हविषां देवतोचितद्रव्यरूपेण देवताभोजनपर्याप्तपरिमाणेन च विपरिणतिमङ्गीकृत्य देवताप्रीत्यर्थत्वसमर्थनात्। तस्मादस्मिन् पक्षेऽप्यातिथ्यन्यायेन तत्तद्देवताप्रीतिकरद्रव्यपरिणामविधानमनपेक्षितम्, विहितैरेव प्रीतिविधानस्यो-

शब्द में कार्य न होने से ही अर्थ में कार्य होगा। इस तरह प्रसिद्ध ज्योतिरादि अर्थ में ही कार्य संपन्न होगा, देवता को विग्रहवती मानना उचित नहीं है। अश्वमेध याग के प्रकरण में जो 'तुम मूत्र करते हो उसके लिये हवि देते हैं, जो तुम लीद करते हो उसके लिये हवि देते हैं' इत्यादि मन्त्रों से अनुष्ठीयमान होम का उद्देश्य प्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ के अश्व के मूत्र और पुरीष से भिन्न और कुछ नहीं है। यह उक्ति इसलिये ठीक नहीं है कि अचेतन शब्द अथवा ज्योतिरादि को देवता मानने पर कर्मानुष्ठान का देवता को देखने-सुनने, उनसे बात करने आदि फल को बताने वाले वाक्य अप्रामाणिक हो जायेंगे, इसी अभिप्राय से संकर्ष काण्ड में इस प्रकार की उक्ति को केवल अभ्युपगम वाद कहा है। प्रथम उपस्थित शब्द में ही यदि कर्मानुष्ठान का उत्सर्ग मान लिया जायगा, तो 'ऋचा में प्रणव का निधान करता है' इस स्थल में अनुवाक के अन्त में प्रणव शब्द का निधान करना पड़ेगा और इससे प्रणव के अर्थ ओंकार का निधान बताने वाले संकर्ष काण्ड के एक अन्य अधिकरण से विरोध होगा।

प्रश्न है कि अतिथि सत्कार जैसे अतिथि की प्रसन्नता के लिये होता है, उसी तरह याग भी देवता की प्रीति के लिये है, इस उक्ति का 'अतिथौ तत्प्रधानत्वं' इत्यादि मीमांसा सूत्र से विरोध होगा। इस सूत्र में यज्ञ की आतिथ्य से भिन्न स्थिति बताई गई है कि वह देवता के प्रीति के लिये नहीं है। इसका उत्तर है कि 'प्रीतिविधानात्' इस हेतु का अर्थ ठीक से न समझ कर यह आपत्ति की जाती है। उस सूत्र में जिस-जिस और जितने द्रव्य से अतिथि प्रसन्न हो, उतने से उसकी पूजा करनी चाहिये, इस प्रकार आतिथ्य कर्म प्रधानतः अतिथि के लिये ही है। यज्ञ कर्म में तो जितने परिमाण के जिस द्रव्य से देवता प्रसन्न हो, उतने से उसकी पूजा करनी चाहिये, इस प्रकार का विधान नहीं है। वहाँ पर विधान इस बात का है कि एक देवता के लिये भी उस-उस विशेष याग के लिये निर्धारित आज्य, चरु और पुरोडाश से, चतुर्गृहीत द्वयावदान आदि परिमित स्वरूप से और अभक्षणीय प्रस्तर आदि से यज्ञ करना चाहिये। इसलिये इसका प्रीतिविधान हेतु से विरोध होगा। हमारे मत में यह आपत्ति उपस्थित नहीं होगी, क्योंकि 'घृत देवताओं का अमृत है। देवता जिस हवि का ग्रहण करते हैं, उस थोड़ी सी एक आहुति को भी वे पर्वत के बराबर बढ़ा लेते हैं' इस अर्थवाद वाक्य के अनुसार विहित द्रव्यों की हवि का देवता के लिये उचित द्रव्य के रूप में उसको तृप्ति पर्यन्त भोजन में परिणति स्वीकार कर उसकी देवताप्रीतिजनकता का समर्थन किया जा सकता है। इसलिये इस पक्ष में भी आतिथ्यन्याय से उस उस देवता के प्रीतिकारक द्रव्यों का विधान अनपेक्षित है, क्योंकि

त्त्वात् । अत एव—'अपि वा शब्दपूर्वत्वात् यज्ञकर्मप्रधानं गुणत्वे देवताश्रुतिः' इति सूत्रविरोधोऽपि नास्ति, उद्देश्यत्वेन देवताया गुणत्वस्वीकारात् । सूत्रार्थस्तु—यज्ञकर्मप्रधानमङ्गग्राहि न देवता, 'यजेत स्वर्गकामः' इति यागफलसाधनतायाः शब्दपूर्वत्वात् । देवता तूद्देश्यत्वाद् भूतस्य भव्यस्य यागस्य गुण इति देवताशब्दो गुणत्वे वर्तते ।

बादरायणरीत्या तु 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (का० उ० १।२।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५), 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यादिप्रमाणैर्मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य सर्वस्यैव वेदस्यैकस्मिन् परमे देवे ब्रह्मण्येव महातात्पर्याभ्युपगमात् तदङ्गभूतेषु देवेष्वपि तात्पर्यमस्त्येव । तत एव श्रुतिं-स्मृति-इतिहास-पुराण-दर्शन-तर्क भक्तलोकप्रत्यक्षसिद्धमेव देवतातत्त्वमिति मन्तव्यम् । शास्त्रविहितकर्मोपासनादिमन्तरा असिद्धत्वादेवाज्ञातज्ञापकत्वमपि वेदानामक्षुण्णमेव ।

विधिबलात् पृथिव्यां पात्रत्वं समुद्रे सोमत्वं यथा भाव्यते, तथैव स्वरुप्रस्तरादिष्वपि विधिबलात् तृप्तिकरत्वं सम्पद्यते । तथाहि 'लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि' (ब्र० सू० ३।३।४४) इत्यत्र विचारितम्—'नैव वा इदमग्रे आसीत्' इत्येतस्मिन् ब्राह्मणे मनोऽधिकृत्याधीयते—'तत् षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान् मनश्चितः' इत्यादि । तथैव 'वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः' इति पृथगग्नीन् साम्पादिकानामनन्ति । तत्र संशयः—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूताः, उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका इति । तत्रास्मिन् ब्राह्मणे भूयांसि लिङ्गान्येषां केवलविद्यात्मकत्वमुपोद्बलयन्ति दृश्यन्ते—'तद्यत्किञ्चेमानि भूतानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इति । 'तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति चैवंजातीयकानि । लिङ्गं च प्रकरणाद् बलीय इति पूर्वपक्षे प्राप्ते सिद्धान्तः—'पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत्'

विहित द्रव्यों से ही देवता प्रसन्न होंगे । इसीलिए 'अपि वा' इत्यादि मीमांसा सूत्र से भी कोई विरोध नहीं होगा, क्योंकि यज्ञ कर्म को उद्दिष्ट कर देवता की गौणता हमने भी मान रखी है । इस सूत्र का अर्थ यह है कि यज्ञ कर्म में प्रधानता है, क्योंकि वही अंगों का आक्षेप करता है, देवता नहीं । 'स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे' यहाँ पर याग की स्वर्गसाधनता शब्द से ज्ञात होती है । देवता यहाँ पर उद्देश्य है, भूत है, अतः देवता के भव्य याग का गुण होने से देवता शब्द की भी गौणी वृत्ति है ।

बादरायण के मत से तो 'सब वेद उसी ब्रह्म के स्थान को बताते हैं', 'सभी वेदों से मैं ही जानने योग्य हूँ', 'समस्त वेदान्त वाक्यों के तात्पर्य का समन्वय ब्रह्म में ही है' इत्यादि प्रमाणों के आधार पर मन्त्रब्राह्मणात्मक संपूर्ण वेद का महातात्पर्य एकमात्र परम देव ब्रह्म में ही स्वीकार किया जाता है, अतः उस परम देव के अंगभूत अन्य देवताओं में भी उनका तात्पर्य है ही । इसीलिये श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, दर्शन, तर्क एवं भक्त लोगों के प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर भी देवता का स्वरूप सिद्ध है । शास्त्रविहित कर्मोपासना के बिना इस स्वरूप का बोध नहीं हो सकता, अतः विधि की अज्ञात वस्तु की ज्ञापकता वेदों में बिना बाधा के विद्यमान है ।

विधि के प्रमाण से पृथिवी में पात्र की तथा समुद्र में सोम की भावना की जाती है, उसी तरह विधि के प्रमाण से ही स्वरुप और प्रस्तर आदि में भी देवता को तृप्त करने वाले गुण की भावना की जाती है । 'लिङ्गभूयस्त्वात्' इत्यादि वेदान्तसूत्र में विचार किया गया है कि 'उत्पत्ति के पूर्व यह नहीं था' इस ब्राह्मण वाक्य में मन को प्रस्तुत कर 'उस मन ने अपने अर्चनीय, मनोमय, मन में संजोयी गयी, छत्तीस सहस्र अग्नियों को देखा' तथा 'वाणी में, प्राण में, चक्षु में, श्रोत्र में और कर्म में संजोई गई अग्नियों को देखा' इस प्रकार भिन्न-भिन्न सांपादिक अग्नियों का विधान है । यहाँ पर संशय होता है कि क्या ये मनश्चित् आदि क्रिया में अनुप्रवेश कर उस कर्म के अंगभूत होते हैं या स्वतन्त्र रूप से केवल विद्यात्मक हैं ? इस ब्राह्मण में विद्यमान अनेक लिंग ये अग्नियाँ केवल विद्यात्मक हैं, ऐसा समर्थन करते हुए देखे गये हैं, जैसे कि 'ये भूत प्राणी मन से जो कुछ संकल्प करते हैं, वह उन अग्नियों का ही काम है' तथा 'ऐसी उपासना करने वाला यदि सोया हुआ हो, तो भी उसके लिये सभी भूत सदा उन अग्नियों का चयन करते हैं' इत्यादि । लिङ्ग प्रकरण से बलवान् होता है, इस पूर्वपक्ष की उपस्थिति में 'पूर्वविकल्पः' इत्यादि सूत्र से यह सिद्धान्त स्थिर

(ब्र० सू० ३।४।४५) अर्थाद् नैतद्युक्तम्, स्वतन्त्रा अनन्यशेषभूता अग्नयः, पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात्, तस्मात्तद्विषय एवायं विकल्पविशेषो न स्वतन्त्रः। तस्मात् साम्पादिका अप्येतेऽग्नयः प्रकरणात् क्रियानुप्रवेशिन एव स्युर्मानसवत्। यथा दशरात्रस्य दशमेऽह्न्यविवाक्ये पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजापतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाम्नायन्ते। स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात् क्रियाशेष एव। भामत्युद्धृतश्रुतिस्त्वित्यम्—'द्वादशाहे तु श्रूयते अनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाति'। अत्र पृथिव्यां ग्रहबुद्धिः समुद्रे सोमबुद्धिः क्रियते।

केचित्तु 'विद्वांसो हि देवाः' (पृ० ९३) इत्याश्रित्य विदुषो मनुष्यानेव देवान् वदन्ति, तन्न, पूर्वोक्तदेवनिष्ठवैलक्षण्यानां मनुष्येष्वसम्भवात्। 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः' (भ० गी० ३।११) इत्यत्र देवानां मनुष्याणां च परस्परभावनेन यज्ञैर्देवानामिज्यत्वमुक्तम्। न चात्र विद्वांसो मनुष्या एव देवाः सम्भवन्ति, यज्ञकर्तॄणां मनुष्याणामपि विद्वत्त्वेनोभयेषां देवत्वे भेदानुपपत्तेः। तस्मान्नात्र मूर्खा मनुष्या विद्वांसो देवा इत्युक्त्या समाधानं सम्भवति। अत एव मनुष्या यज्ञैर्देवान् मनुष्यविलक्षणान् दिव्यैश्वर्यभाजो यजन्ति। ते च देवा वृष्ट्यादिद्वाराऽभीष्टप्रदानेन मनुष्येभ्य उपकुर्वन्ति। अत एव मनुष्यादिवद् योनिविशेषा एव देवा इति मन्तव्यम्। 'विद्वांसो हि देवाः', 'सत्यसंहिता वै देवाः'; 'अनृतं मनुष्याः' इत्यादिवचनैर्न विद्वांसः सत्यनिष्ठा वा मनुष्या एव देवाः, वचनान्तरविरोधात्। अतोऽनयोर्वचनयोरयमर्थो ज्ञेयः—मनुष्या विद्वांसोऽविद्वांसश्च भवन्ति, देवास्तु विद्वांस एव नाविद्वांसः। मनुष्याः सत्यसंहिता अनृताश्च भवन्ति, देवास्तु सत्यसंहिता एव भवन्ति नानृता इति।

किया गया है कि यह जो कहा गया है कि ये अग्नियाँ अन्य का अंग न होकर स्वतन्त्र हैं, यह युक्त नहीं है, क्योंकि पहले क्रियामय अग्नि का प्रकरण होने से यह विकल्प विशेष का उपदेश भी तद्विषयक ही होना चाहिये, स्वतन्त्र नहीं। इसलिये सांपादिक होती हुई भी ये अग्नियाँ प्रकरण से मन के समान क्रिया में अनुप्रवेश करने वाली ही होनी चाहिये। जैसे दशरात्र क्रतु के दसवें दिन पृथिवीरूप पात्र से गृह्यमाण समुद्ररूप सोम का प्रजापति देवता के लिये ग्रहण, आसादन, हवन, आहरण, उपह्वान और भक्षण आदि केवल मानसिक ही श्रुति में कहे गये हैं। जैसे वह मानस ग्रहकल्प क्रिया प्रकरण से क्रिया का अंग होता है, इसी तरह यह अग्निकल्प भी क्रिया का ही अंग होगा। भामती में उद्धृत इस श्रुति का पूरा स्वरूप यहाँ दिया गया है। यहाँ पर पृथिवी में ग्रह अर्थात् पात्र की तथा समुद्र में सोम की भावना की गई है।

कुछ लोग 'विद्वांसो हि देवाः' इस श्रुति के आधार पर विद्वान् मनुष्यों को ही देवता कहते हैं, यह ठीक नहीं है। पहले देवताओं की अनेक विलक्षणताएं बताई गई हैं। ये विशेषताएं मनुष्यों में नहीं हैं। 'इसलिये मनुष्यों को देवताओं की उपासना करनी चाहिये और देवतागण मनुष्यों का उपकार करें' इस गीता वाक्य में देवताओं और मनुष्यों की परस्पर भावना में यज्ञों के द्वारा देवता की इज्या (उपासना) विहित है। विद्वान् मनुष्यों को ही देवता मानने पर यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले मनुष्य भी विद्वान् हैं, इस प्रकार दोनों के ही देवता होने से परस्पर भेद नहीं रहेगा। इसलिये यहाँ पर यह समाधान भी नहीं हो सकता कि मनुष्य मूर्ख हैं और देवता विद्वान् हैं। मनुष्य याग आदि करके मनुष्यों से विलक्षण दिव्य ऐश्वर्य वाले देवताओं की उपासना करते हैं और वे देवतागण वृष्टि आदि इच्छित वस्तु प्रदान कर मनुष्यों का उपकार करते हैं। इसलिये मनुष्य आदि के समान देवतागण भी योनि विशेष हैं। 'देवतागण विद्वान् हैं', 'देवतागण सच बोलते हैं', 'मनुष्य असत्यभाषी हैं' इत्यादि वचनों से यह नहीं सिद्ध होता कि विद्वान् और सत्यनिष्ठ मनुष्य ही देवता है, क्योंकि दूसरे वाक्य इस बात के विरोधी उपलब्ध हैं। इसलिये इन वाक्यों का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये कि मनुष्य विद्वान् और मूर्ख दोनों तरह के होते हैं और देवता विद्वान् ही होते हैं, अविद्वान् नहीं। मनुष्य सत्यनिष्ठ और अनृतभाषी भी हैं, किन्तु देवता केवल सत्यनिष्ठ ही हैं, अनृतभाषी नहीं।

देवानां मनुष्ययोनिभिन्नत्वे प्रमाणानि—'विश्वेदेवा अमर्त्याः' (वा० सं० २१।१७) अनेन देवानाममर्त्यत्वं मनुष्यभिन्नत्वं ज्ञायते। 'सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवोतिभिः' (अथर्व २०।२५।१) हे इन्द्र ! मर्त्यस्तवोतिभिर्लीलाभिः, सुप्रावीः सुष्ठु रक्षितो भवति। अत्रापि मर्त्यसामान्यस्येन्द्रोपकार्यता विज्ञायते। 'इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्' (वा० सं० ८।३९) हे इन्द्र हे ओजिष्ठ, त्वं यथा देवेषु ओजिष्ठः असि तथाहं मनुष्येषु ओजिष्ठो भूयासम्। अत्रापि देवेभ्यो मनुष्याणां भिन्नत्वयुक्तम्। अत्र स्तोता देवेष्विन्द्रस्यौजिष्ठत्वं वर्णयन् स्वस्य मनुष्येष्वोजिष्ठत्वं कामयते। 'अमृतानामुत मर्त्यानाम्' (ऋ० सं० १०।३३।८), 'देवानामुत यो मर्त्यानाम्' (ऋ० सं० ६।१५।१३), 'देवा उत मर्त्यासः' (ऋ० सं० ८।४८।१), 'मानुषीणां विशां दैवीनामुत' (ऋ० सं० ३।३४।२), 'देवस्य मर्त्यस्य च' (ऋ० सं० २।७।२), 'पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत' (ऋ० सं० १०।१०९।६), 'देवस्य वा मरुतो मर्त्यस्य वेजानस्य' (ऋ० सं० ५।४८।२०) अत्र श्रुतौ वाशब्देन भिन्नता बोधिता। 'अग्निर्देवेषु राजत्यग्निर्मर्तेष्वाविशन्' (ऋ० सं० ५।२५।४), 'अदेव आपदिषं दीर्घायो मर्त्यः' (ऋ० सं० ८।७०।७) अत्र श्रुतौ मर्त्यस्यादेवत्वमुक्तम्, विदुषां मनुष्याणां देवत्वे तन्नोपपद्येत। 'देवो न मर्त्यः' (ऋ० सं० १०।२२।८) अत्र श्रुतौ देवस्य मर्त्यभिन्नत्वमुक्तम्। 'नहि देवो न मर्त्यः' (ऋ० सं० १।१९।२) अत्रापि परस्परमसंश्लिष्टाभ्यां द्वाभ्यां नञ्भ्यां द्वयोरत्यन्तभेदो ज्ञायते। 'त्वावाँ अन्यो अस्तीन्द्र देवो न मर्त्यो ज्यायान्' (ऋ० सं० ६।३०।४), नकिर्देवा वारयन्ते न मर्ताः' (ऋ० सं० ४।१७।१९), 'देवानामुत मानुषाणाम्' (अथर्ववेदसंहिता ४।३०।३), 'यस्मिन् देवा अमृजत यस्मिन् मनुष्या उत' (अथर्व० सं० १२।२।१७), अत्र श्रुतौ उतशब्दो देवानां मानुषाणां च भेदबोधकः। 'यत्र देवाश्च मनुष्याश्च' (अथर्व० सं० १०।८।३४) अत्र श्रुतौ चशब्देनापि भेदो बोध्यते। 'ये च देवा असुर ये च मर्ताः' (ऋ० सं० २।२७।१०) अत्रापि चशब्देन भेदः। 'दैवीर्मनुष्यजा उत' (अथर्व० सं० ११।६।१६)। 'न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः' (अथर्व० सं० २०।२७।४)। अर्थात् हे इन्द्र, यस्मै धनं ददासि तस्य निवारको देवो वा मनुष्यो वा नास्ति। 'तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति, दैवीं च मानुषीं च',

देवता मनुष्यों से भिन्न हैं, शास्त्रों में इसके अनेक प्रमाण हैं। जैसे कि 'विश्वेदेव अमर्त्य हैं' इस श्रुति से देवताओं की अमर्त्यता अर्थात् मनुष्यभिन्नता ज्ञात होती है। 'हे इन्द्र ! मनुष्य तुम्हारी लीलाओं से सुरक्षित है' यहां पर भी बताया गया है कि मनुष्य मात्र इन्द्र से उपकृत रहता है। 'हे इन्द्र, जैसे तुम देवताओं में अतितेजस्वी हो, वैसे ही मैं भी मनुष्यों में ओजस्वी होऊँ' यहां पर भी देवता से मनुष्य का भेद बताया है। यहां पर स्तोता देवताओं में इन्द्र की ओजस्विता का वर्णन करते हुए मनुष्यों में अपने ओजस्वी होने की कामना करता है। 'अमृतों का अथवा मर्त्यों का', 'जो देवताओं का अथवा मनुष्यों का', 'देवता अथवा मनुष्य', 'मानुषी प्रजा का', 'देवता और मनुष्य का', 'पुनः देवता देते हैं, अथवा पुनः मनुष्य देते हैं' 'मरुत् देवता का अथवा याजक मनुष्य का' इन श्रुतियों में 'वा' शब्द से मनुष्य और देवता का भेद बोधित होता है। 'अग्नि देवताओं में शोभा पाता है, अग्नि मनुष्यों में प्रविष्ट होता है' इस श्रुति में मनुष्य को देवता से भिन्न बताया गया है, विद्वान् मनुष्यों को ही देवता मानने पर यह कैसे संभव हो सकता है। 'देव मनुष्य नहीं है' इस श्रुति में भी देवता मनुष्य से भिन्न बताया गया है। 'न देवता है और न मनुष्य' यहाँ पर भी परस्पर असंपृक्त दो नकारों से दोनों की अत्यन्त भिन्नता ज्ञात होती है। 'हे इन्द्र, तुम से बढ़ कर न कोई देवताओं में है और न मनुष्यों में', 'उसको न देवता रोक सकते हैं और न मनुष्य ही', 'देवताओं का अथवा मनुष्यों का', 'जिसमें देवता अथवा मनुष्य'......इन श्रुतियों में 'उत' शब्द देवता और मनुष्य में भेद बताता है। 'जहाँ पर देवता और मनुष्य' यहाँ पर 'च' शब्द भी दोनों में भेद का ही बोधक है। 'हे असुर ! जो देवतागण और मनुष्यगण' यहाँ स्थित 'च' शब्द भी दोनों का भेदक है। 'देवता से उत्पन्न हुई अथवा मनुष्य से', 'हे इन्द्र ! जिसको तुम धन देना चाहते हो, उससे तुमको रोकने वाला न कोई देवताओं में है और न मनुष्यों में', 'इसलिये ब्राह्मण देवता और मनुष्य दोनों की वाणी बोलता है', 'देवता, पितृगण और मनुष्यगण जिसका सदा सहारा लेते हैं', 'देवता, पितृगण, मनुष्य, गन्धर्व और अप्सराएँ

(काठकसंहिता १४।५), 'यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा' (अथर्ववेदसंहिता १०।६।३२), 'देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये' (अथर्व० सं० १०।९।९) अनयोः श्रुत्योर्देवपितृमानवानां पृथक्त्वोक्त्या तेषां योनिभेदो ज्ञायते। नहि नरस्यैव विदुषो नररूपेणावस्थाने वैशिष्ट्यं ज्ञायते। तस्माज्जीवन्त एव मनुष्याः पितरः, विद्वांस एव मनुष्या देवा इति कथनं निर्मूलमेव।

अपरमपि प्रमाणजालमुपन्यस्यते—'देवेषूत मानुषेषु' (अथर्व० सं० ४।२८।५), 'अव देवैर्देवकृतमेनोऽयक्ष्यव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्' (वा० सं० २०।१८) अत्रापि मर्त्यदेवयोर्भिन्नता बोधिता। 'नहि त्वा शूर देवा न मर्तासो दित्सन्तम्' (सा० सं० उ० २।१।२।६।३) अर्थात् हे इन्द्र, दित्सन्तं त्वां देवा मर्त्या वा नावरोद्धुं शक्नुवन्ति। 'तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्' (नि० १३।९), 'उभये ह वा इदमग्रे सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च' (श० ब्रा० २।३।४।४), 'दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः' (वा० सं० ८।५२) अस्यां श्रुतौ पृथिव्या भिन्नं द्युलोकं प्राप्य तत्र देवदर्शनमपि जातमित्युच्यते। 'देवो वा मानुषो वा त्वम्' (वा० रा० यु० का० १२५।४३), 'रोदनादतिनिःश्वासाद् भूमिसंस्पर्शनादपि। न त्वां देवीमहं मन्ये.....।।'(वा० रा० सु० का० ३३।१०) अत्र श्लोके देवानां लक्षणं सीतायां नास्तीति प्रतिपादितम्। एतदेव लक्षणं कालिदासेन रघुवंशे प्रतिपादितम्—'महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः' (र० म० का० २।५०)। 'तस्य यज्ञस्य सम्पत्त्या तुतुषुर्देवता अपि। विस्मयं परमं जग्मुः किमु मानुषयोनयः।।' (म० भा० शा० प० ३८।१०) अत्र मनुष्ययोनेर्देवानां भिन्नता बोधिता। अमरकोषेऽपि मानवयोनेः पृथग् देवयोनिगणनम्। यथा—'विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः।।'(१।१।११)। 'बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।।' (म० ७।८) इति वदता मनुनापि देवनरयोर्भेदो दर्शितः। 'पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्'

इन श्रुतियों में देवता, पितृगण और मनुष्यों का पृथक् परिगणन होने से इनका योनिभेद ज्ञात होता है। विद्वान् मनुष्य यदि मनुष्यरूप में ही अवस्थित रहता है, तो उसमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं ज्ञात होती। इसलिये जीवित मनुष्य ही पितृगण हैं और विद्वान् मनुष्य ही देवता हैं, यह कहना निर्मूल, बिना प्रमाण का है।

इस विषय में पुनः अनेक प्रमाण दिये जाते हैं। 'देवताओं में अथवा मनुष्यों में', 'देवताओं के द्वारा किये गये पाप को देवताओं से और मनुष्यों के किये पाप को मनुष्यों से छुड़ा देता है' यहाँ पर भी देव और मनुष्य की भिन्नता प्रदर्शित है। 'हे इन्द्र! जब तुम देना चाहते हो तो तुमको न कोई देवता रोक सकता है और न मनुष्य', 'इसलिये ब्राह्मण देवता और मनुष्य दोनों की वाणी बोलते हैं', 'देवता और मनुष्य दोनों पहले साथ रहा करते थे', 'पृथिवी से द्युलोक में जाकर ज्योतिर्मय देवताओं का दर्शन किया' इस श्रुति में पृथिवी से भिन्न द्युलोक में जाकर देवदर्शन प्रतिपादित है। 'तुम देवता हो या मनुष्य', 'तुम रो रही हो, लम्बी उसासें भर रही हो, पृथ्वी को छूकर खड़ी हुई हो, इससे मैं जानता हूँ कि तुम देवी नहीं हो' इस श्लोक में देवताओं के लक्षण सीता में नहीं हैं, यह बताया गया है। 'समृद्ध राज्य और ऐन्द्र पद अर्थात् स्वर्ग में केवल इतना ही अन्तर है कि वह पृथ्वीतल का स्पर्श कर रहता है' रघुवंश के इस श्लोक में कालिदास ने भी इसी बात की ओर संकेत किया है। 'उस यज्ञ की समृद्धि को देख कर देवतागण भी संतुष्ट और परम विस्मित हुए तो फिर मनुष्यों की बात ही क्या है' यहाँ पर भी मनुष्य योनि की देवताओं से भिन्नता प्रतिपादित है। 'विद्याधर, अप्सरस्, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत ये दस देवयोनियाँ हैं' अमरकोष के इस श्लोक में भी मानवयोनि से देवयोनि का पृथक् परिगणन है। 'मनुष्य है, ऐसा सोचकर बालक राजा की भी अवमानना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि मनुष्य के रूप में राजा महान् देवता है' ऐसा कहते हुए मनु ने भी देव और मनुष्य में भेद दिखाया है। 'पितृगण, देवता और मनुष्यों का वेद सनातन चक्षु है' यहाँ पर मनुष्य पद से साधारण मनुष्यों का वेदरूपी चक्षु से योग न होने से केवल विद्वान् ही परिगृहीत होते

(म० १२।९४) नात्र मनुष्यपदेन साधारणा मनुष्या उच्यन्ते, तेषां सनातनवेदचक्षुष्ट्वायोगात्, विदुषामेव तत्सम्भवात्। 'ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥' (म० ४।२१) अत्र ऋष्यादियोनिभेदेन मनुष्यदेवादियज्ञभेद उक्तः। 'देवान् मनुष्यान् असुरानुत ऋषीन्' (अ० सं० ८।९।२४), 'देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च।' (छा० उ० ७।२।१) अत्रापि पशुपक्ष्यादियोनिभेदवदेव मनुष्यदेवयोरपि योनिभेदो मन्तव्यः। 'देवा गन्धर्वा मनुष्याः पितरोऽसुराः' (तै० आ० १०।२१।१), 'तानि वा एतानि चत्वार्यम्भांसि देवा मनुष्याः पितरोऽसुरा इति' (तै० ब्रा० २।३।८।३), 'देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः। तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥' (म० १२।४०)। देवानां कार्यभेदोऽपि दृश्यते—'इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्। नह्यस्या अपरं च न जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥' (ऋ० सं० १०।८६।११) इत्यादिभिर्देवस्येन्द्रस्याजरामरणधर्मत्वं विज्ञाप्यते, न चैतन्मनुष्येषु सम्भवति। 'देवा मृत्युमुपाघ्नत' (अ० सं० ११।७।१९), 'अमृता देवाः' (श० ब्रा० २।१।३।४) इत्यनयोः श्रुत्योर्देवानाममृतत्वं श्रूयते। 'मुनिपर्वते गिरौ हरितसंकाशे सङ्कल्परमणेऽमरौ उभौ सममसौ चरावः' (काठकगृह्यसूत्र १२) इत्यत्र देवभावं गतयोर्दम्पत्योरमरत्वं श्रूयते।

केचित्तु—'यज्ञेषु मानुषः' (ऋ० सं० १।४४।१०), 'मानुषवसूनि' (ऋ० सं० १।८४।२०), 'दशारित्रो मनुष्यः' (ऋ० सं० २।१८।१) इत्यत्र प्रथमायां श्रुतौ अग्नेर्द्वितीयस्यामिन्द्रस्य तृतीयस्यामिन्द्ररथस्य सामानाधिकरण्येन प्रयुक्तं मानुषशब्दं मनुष्यशब्दं च दृष्ट्वा देवेषु मनुष्येषु च भेदं नाङ्गीकुर्वन्ति, तन्न युक्तम्, उपर्युक्तश्रुतौ मनुष्येभ्यो हितो मानुष इत्येव मानुषशब्दार्थः। 'तस्मै हितम्' (पा० सू० ५।१।५), 'छन्दसि च' (पा० सू० ५।१।६७), 'हलो यमां यमि लोपः' (पा० सू० ८।४।६४) इति सूत्रैस्तत्सिद्धिः। तथा 'क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः' (यो० सू० ४।३३) इत्यत्र व्यासभाष्ये—'मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीति पृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः, पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति' इत्यत्र मनुष्येषु देवेषु च जातिभेद उक्तः। 'देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥' (अ० सं० ११।९।२७) इति श्रुतौ देवानां

है। 'मनुष्य ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ आदि का अनुष्ठान यथाशक्ति सदा करता रहे, इनको छोड़े न' यहाँ पर ऋषि आदि योनि के भेद से मनुष्य, देव आदि के निमित्त किये जाने वाले यज्ञों का भेद बताया गया है। 'देवताओं को, मनुष्यों को, असुरों को तथा ऋषियों को', 'देवों को, मनुष्यों को, पशुओं को और पक्षियों को' यहाँ पर भी पशु, पक्षी आदि के योनिभेद के समान मनुष्य और देवों का भी योनिभेद माना है। 'देव, गन्धर्व, मनुष्य, पितृगण और असुर', 'देव, मनुष्य, पितृगण और असुर ये चार जल हैं', 'सात्त्विक मनुष्य देवगति को, राजस जन मनुष्य योनि को और तामस प्रकृति के व्यक्ति तिर्यग् योनि को निश्चय ही पाते हैं, ये ही तीन गतियाँ हैं।' देवताओं का कार्यभेद भी देखा जाता है। 'इन्द्राणी को मैं सबसे बढ़कर सौभाग्यशालिनी मानता हूँ, जिसका पति कभी मरता नहीं' इत्यादि श्रुतियों में इन्द्र देवता को अजर, अमर बताया गया है, यह मनुष्यों में संभव नहीं है। 'देवताओं ने मृत्यु को दूर भगा दिया', 'देवगण अमर हैं' इन श्रुतियों में देवों की अमरता प्रतिपादित है। 'संकल्प रमणीय हरे भरे मुनिपर्वत गिरि में हम दोनों अमर होकर साथ साथ घूमें' इस काठक श्रुति में देवयोनि में पहुँचे हुए दम्पती की अमरता बताई गई है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'यज्ञों में मानुष अग्नि', 'इन्द्र संबन्धी धन', 'दशारित्र इन्द्र रथ' इन श्रुतियों में से पहली में अग्नि का, दूसरी में इन्द्र का और तीसरी में इन्द्ररथ के समानार्थ में प्रयुक्त हुआ मानुष और मनुष्य शब्द देव और मनुष्य का भेद मिटा देता है, यह बात ठीक नहीं है। उक्त श्रुति में मनुष्य के लिये जो हितकारक है, उसको मानुष कहा गया है। इस शब्द की सिद्धि 'तस्मै हितम्', 'छन्दसि च', 'हलो यमां' इत्यादि पाणिनि सूत्रों से होती है। 'क्षणप्रतियोगी' इत्यादि योगसूत्र के व्यासभाष्य में बताया गया है कि 'मनुष्य जाति श्रेष्ठ है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर एक वाक्य में नहीं हो सकता, पशुओं की अपेक्षा मनुष्य जाति श्रेष्ठ है और देवता तथा ऋषियों की अपेक्षा नहीं, इस प्रकार दो वाक्यों में विभक्त करने पर ही इसका ठीक उत्तर होता है।' इस प्रकार मनुष्य और देवता की भिन्न जाति का प्रतिपादन है। 'देवता, पितृगण, मनुष्य, गन्धर्व और अप्सराएँ ये सब उस परमात्मा के प्रसाद से ही पैदा

द्युलोके निवास उक्तः। 'द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः' (नि० १२।४१) नहि मनुष्याणां तत्सम्भवति। देवा दिवौकस उच्यन्ते। 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ० सं० १०।१९०।३) अत्र श्रुतौ द्युलोकस्य पृथिवीलोकाद्भेदोऽप्युक्तः। 'सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः' (ऐ० ब्रा० २।१७) अत्र श्रुतौ भूमेः स्वर्गलोकस्य मार्गावधिरुक्तः। 'न वै देवाः स्वपन्ति' (श० ब्रा० ३।२।२।२२), 'द्राघीयो हि देवायुषं ह्रसीयो मनुष्यायुषम्' (श० ब्रा० ७।३।१।१०), 'तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः' (श० ब्रा० ३।१।१।८), 'मनो ह वै देवा मनुष्यस्य आजानन्ति' (श० ब्रा० २।१।४।१) नहि मनुष्येष्वेतादृक् सामर्थ्यं दृश्यते। 'परो हि मर्त्यैरसि समो देवैः' (ऋ० सं० ६।४८।१९) अत्र पूषा मनुष्यैर्भिन्नो देवैः सम उक्तः। 'एको देवत्रा दयसे हि मर्तान्' (अ० सं० २०।१२।५) हे इन्द्र! देवतासु त्वमेको मर्त्यान् दयसे। अत्र श्रुतौ मर्त्या दयनीया इन्द्रश्च दयावानुक्तः। 'देवा वै नाकसदः' (श० ब्रा० ८।६।१।१), 'द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्' (श० ब्रा० १४।३।२।८) अत्रापि श्रुतौ देवानां विशिष्टं स्थानमुक्तम्, न तन्मनुष्याणां सम्भवति।

महाभाष्ये पस्पशाह्निके—'एवं हि श्रूयते—'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम' इति श्रुतिरुद्धृता। अत्र दिव्यवर्षपदेन देवतानां वर्षं उक्तो वेदितव्यः, अन्यथा दिव्यपदवैयर्थ्यं प्रसज्येत। मनुष्येषु मानुष्यवर्षेणापि वर्षसहस्रं प्रवचनं नोपपद्यते। वर्षपदेन दिवसग्रहणे तु किमपि बीजं नास्ति। तथात्वे तत्र वैशिष्ट्यमपि नास्ति। तेन तात्पर्यबाधः स्पष्ट एव। तस्य तु वचनस्य तात्पर्यमिदमेव यद् बृहस्पतिर्विशिष्टो वक्ता विशिष्टायेन्द्राय श्रोत्रे दिव्यसहस्रसंवत्सरं यावत् प्रतिपदोक्तं शब्दमुपदिदेश, परं नान्तं जगामेति।

'यावतीर्वै देवतास्ता वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति' (तै० आ० २।१५)। यदि मनुष्या एव देवतास्तदा वेदविदि कथं तेषां वासः सम्भवति। देवतास्तु विशिष्टैश्वर्ययोगादंशेन वेदविदि स्थातुं शक्नुवन्ति। 'यो देवो मर्त्याँ अति'

हुए हैं। देवगण स्वर्ग में निवास करते हैं' इस श्रुति में देवताओं का स्वर्गलोक में निवास बताया गया है। 'देवगण द्युस्थानीय हैं' ऐसा निरुक्तकारों का मत है, अतः मनुष्य द्युस्थानीय नहीं हो सकते। देवताओं को 'दिवौकसः' अर्थात् 'स्वर्ग में घर वाले' कहा गया है। 'द्युलोक, पृथ्वीलोक और अन्तरिक्ष के बाद स्वर्गलोक को बनाया' इस श्रुति में द्युलोक का पृथिवी लोक से भेद बताया गया है। 'यहाँ से स्वर्ग लोक बहुत दूर है' इस श्रुति में पृथ्वी से स्वर्गलोक की दूरी बताई गई है। 'देवतागण सोते नहीं', 'देवताओं की आयु लम्बी और मनुष्यों की थोड़ी होती है', 'देवताओं की अपेक्षा मनुष्य हीन कोटि के हैं', 'देवतागण मनुष्य के मन की बात जानते हैं' इस प्रकार की सामर्थ्य मनुष्यों में नहीं है। 'हे पूषन्, तुम मनुष्यों से ऊँचे और देवताओं की बराबरी के हो' यहाँ पर पूषा मनुष्यों से भिन्न और देवताओं के बराबर बताया गया है। 'हे इन्द्र, देवताओं में तुम्हीं एक हो कि मनुष्यों पर दया करते हो' यहाँ मनुष्यों को दयनीय और इन्द्र को दयालु बताया गया है। 'देवता स्वर्ग में निवास करते हैं', 'द्युलोक सब देवताओं का निवास स्थान है' यहाँ पर देवताओं का निवास स्थान बताया गया है। मनुष्यों की स्थिति वहाँ नहीं है।

महाभाष्य पस्पशाह्निक में—'ऐसा सुना जाता है कि बृहस्पति ने इन्द्र को देवताओं के एक हजार वर्ष पर्यन्त प्रत्येक पद की व्युत्पत्ति का उपदेश दिया, किन्तु उसका अन्त नहीं हुआ' इस श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ पर 'दिव्य वर्ष' पद से देवताओं का वर्ष कहा गया है, अन्यथा 'दिव्य' पद व्यर्थ हो जायगा। मनुष्यों में तो मानुष वर्ष के हिसाब से भी एक हजार वर्ष तक उपदेश संभव नहीं है। वर्ष पद से दिन का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। एक हजार दिन पर्यन्त उपदेश किया, ऐसा कहने पर वह वैशिष्ट्य भी नष्ट हो जायगा, जो कि अभिप्रेत है। श्रुति का तात्पर्य पदों (शब्दों) की अनन्तता के प्रतिपादन में है कि बृहस्पति सदृश विशिष्ट वक्ता ने इन्द्र सदृश विशिष्ट श्रोता को एक हजार दिव्य वर्ष पर्यन्त पदों (शब्दों) का उपदेश दिया, तो भी वह संपूर्ण पदों (शब्दों) का उपदेश न कर सके। यदि यहाँ पर मनुष्यों के एक हजार दिन पर्यन्त उपदेश किया, यह अर्थ लिया जाता है, तो स्पष्ट ही यह श्रुति के तात्पर्य का बाध है।

अत्र मनुष्येभ्यो देवा विशिष्टशक्तय उक्ताः। 'प्राची हि देवानां दिगथो उदगुदीची हि मनुष्याणां दिक्' (श० ब्रा० १।७।१।१२),° 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ० उ० ४।१।२) अस्याः श्रुतेर्भूशुद्धिभूतशुद्ध्यादिन्यासजालैश्च देववद् भूत्वा देवानप्येतीत्येवार्थः। अन्यथा सामाजिकानां रीत्या ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति नोपपद्यते, द्वैतिरीत्या जीवस्य वास्तविक-ब्रह्मभावानुपपत्तेः। 'आग्ने वह हविरद्यापदेवान्' (ऋ० सं० ७।११।५) अत्र श्रुतौ अग्निदवानां कृते हविर्वहति (वस्तुतस्तु सायणानुसारं हविर्भक्षणाय देवान् वहतीत्यर्थः)। 'अग्निर्देवानां जठरम्' (तै० ब्रा० २।७।१२।३), 'ऋणं ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः' (श० ब्रा० १।७।२।१), 'यदन्नहोमान् जुहोति देवानेव तत्प्रीणाति' (श० ब्रा० १३।२।१।१) नहि मनुष्या अग्निमुखेनाश्नन्ति। सामाजिकानां रीत्या विद्वांसो मनुष्या एव देवाः, तेषामृणं गृहीतं स्यात्तदाऽग्निहोमेन तदृणापाकरणापत्तिः।

'आग्ने वह हविरद्याय देवानिन्द्रज्येष्ठास इह मादयन्ताम्। इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥' (ऋ० सं० ७।११।५) अत्र श्रुतावग्निद्वारा देवानां तृप्तिरुक्ता। 'अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति' (श० ब्रा० ३।१।३।१), 'यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुह्वत्यग्नावेव न जुह्वत्यग्निमुखा हि तद्देवा अन्नमकुर्वत' (श० ब्रा० ७।१।२।४), 'अग्निर्वै सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति' (श० ब्रा० ३।४।१।१९), 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' इति निरुक्ते (१४।३२) इत्यत्रोद्धृतम्। 'अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतर जीवसे नः॥' (अ० सं० ६।४१।३) अत्र मन्त्रे देवताभ्य आयुः काम्यते, नहि मनुष्याणामायुर्दानसामर्थ्यमस्ति। 'इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु॥' (अ० सं० १४।१।५४) नहि मनुष्यरूपा देवा अन्यविवाहितायां प्रजाः कर्तुं प्रभवन्ति। न वा तेभ्यस्तादृशी

° 'जितनी देवताएँ हैं, वे सब वेदज्ञ ब्राह्मण में निवास करती हैं' यदि मनुष्यों को ही देवता माना जाय तो फिर इस श्रुति के अनुसार वेदज्ञ ब्राह्मण में उनका निवास कैसे हो सकेगा। देवतागण तो अपने विशिष्ट ऐश्वर्य के प्रभाव से अंश रूप में वेदज्ञ ब्राह्मण में निवास कर सकते हैं। 'देवतागण मनुष्यों की अपेक्षा विशिष्ट शक्ति वाले हैं', 'पूर्व दिशा देवों की है और पश्चिम दिशा मनुष्यों की', 'स्वयं देव होकर देवताओं के पास जाता है' इस श्रुति का अर्थ है कि भूतशुद्धि, न्यास-ध्यान आदि के माध्यम से उपासक स्वयं देव सदृश बनकर देवता की उपासना करता है। अन्यथा आर्यसमाजिकों की दृष्टि में 'स्वयं ब्रह्म बनकर ब्रह्म को प्राप्त करता है' इस श्रुति वाक्य की उपपत्ति न बन सकेगी, क्योंकि द्वैतवादियों के मत से जीव का वास्तविक ब्रह्मभाव अनुपपन्न है। 'हे अग्ने, आज तुम देवताओं के लिये हवि का वहन करो' इस श्रुति के अनुसार अग्नि देवताओं के लिये हवि ले जाता है। सायण ने इस श्रुति का अर्थ यह किया है कि अग्नि हवि के भक्षण के लिये देवताओं को ले जाता है। 'अग्नि देवता का पेट है', 'उत्पन्न होते ही व्यक्ति ऋणी हो जाता है, वह देवताओं का, ऋषियों का, पितृगणों और मनुष्यों का ऋणी होता है', 'यह जो अन्न का होम किया जाता है, उससे देवता प्रसन्न होते हैं' मनुष्य अग्नि के मुँह से भोजन नहीं करते। आर्यसमाजियों के मत से विद्वान् मनुष्य ही देवता हैं, उनसे लिये गये ऋण का अदायगी क्या अग्नि में होम करने से हो जायगी।

'हे अग्ने, आज तुम देवताओं के लिये हवि का वहन करो। इन्द्र आप लोगों में श्रेष्ठ हैं, उनके साथ आप यहाँ प्रसन्न होवें। इस यज्ञ में दी गई हवि को आप स्वर्ग में देवताओं के पास ले जाय और आप हमारा सदा कल्याण करें' इस श्रुति में अग्नि के द्वारा देवताओं की तृप्ति बताई गई है। 'अग्नि में सब देवताओं के लिये हवन करता हैं', 'जिस किसी देवता के लिये अग्नि में ही हवन करता है, देवतागण अग्नि के मुख से ही अपना अन्न ग्रहण करते हैं', 'अग्नि सब देवताओं का प्रतिनिधि है, क्योंकि अग्नि में ही सब देवताओं के लिये आहुति दी जाती है' यह श्रुति निरुक्त (१४।३२) में भी उद्धृत है। 'हे अमरगण, हम मनुष्यों का आप चारों तरफ से भला कीजिये, दीर्घ जीवन के लिये हमारी आयु बढ़ाइये' इस मन्त्र में देवताओं से दीर्घायु की कामना की गई है। मनुष्यों में दीर्घायु देने की सामर्थ्य नहीं है। 'इन्द्र, अग्नि, द्यावापृथिवी, वायु, मित्र, वरुण, भग, दोनों अश्विनीकुमार, बृहस्पति, मरुद्गण, ब्रह्मा, सोम ये देवगण इस नारी की सन्तति प्रदान द्वारा वृद्धि करें' देवता यदि मनुष्य रूप हैं, तो वे दूसरे की विवाहित

प्रार्थना युज्यते। 'उभौ लोकावभिजयेयं देवलोकं च मनुष्यलोकं च' (श० ब्रा० १३।२।४।१), 'अयं वै लोको मनुष्य-लोकोऽयासौ देवलोकः' (श० ब्रा० १३।२।४।१) एवं लोकभेदेनापि देवमनुष्यभेदः सिद्ध्यति। नहि विदुषां मनुष्याणां पृथिवीलोकाद् भिन्नो लोकः सम्भवति। 'प्रजापतिः प्रजा असृजत। स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवानसृजत। येऽवाञ्चः प्राणास्तेभ्यो मर्त्याः प्रजाः' (श० ब्रा० १०।१।३।१) अत्रोत्पत्तिभेदादपि देवानां मनुष्येभ्यो भेद उक्तः। 'त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम्। अंशान् जानीध्वं विभजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥' (अथर्व० ११।१।५), 'तेज इमं यज्ञं नो वह' अत्रापि भेदः स्पष्टः। 'एष वै देवाननु विद्वान् यदग्निः' (श० ब्रा० १।५।१।६), 'देवेभिर्मानुषे जने' (सामसंहितायामाग्नेयकाण्डे १।२), 'स यदग्नौ जुहोति तद्देवेषु जुहोति। तस्माद्देवाः सन्त्यथ यत्सदसि भक्षयन्ति तन्मनुष्येषु जुहोति तस्मान्मनुष्याः सन्त्यथ यद्धविर्धानयोर्नाराशंसाः सीदन्ति तत्पितृषु जुहोति तस्मात्पितरः सन्ति' (श० ब्रा० ३।६।२।२५) एभिर्वचनैः स्पष्टमेव देवानां मनुष्याणां च भेदः सिद्ध्यति।

'तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम् ......आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि। तेष्वपि भूतसंयोगाः पुरुषार्थं-तन्त्रा इति' इति वात्स्यायनभाष्यम् 'पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः' (न्या० द० ३।१।१८) इति सूत्रे। 'तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च' (१७४), 'धर्मविशेषाच्च' (१७६), 'समाख्याभावाच्च' (१७७), 'संज्ञाया आदित्वात्' (१७८), 'सन्त्ययोनिजाः' (१७९), 'वेदलिङ्गाच्च' (१८०) इति वैशेषिकसूत्राणि। एषु प्रशस्तपादभाष्यम्—'शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च। तत्रायोनिजमनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते। क्षुद्रजन्तूनां यातनाशरीराण्यधर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायन्ते। शुक्रशोणितसन्निपातजं योनिजम्। तद्द्विविधम्—जरायुजमण्डजं च। मानुषपशुमृगाणां जरायुजम्। पक्षिसरीसृपाणामण्डजम्। .... तत्र शरीरमयोनिजमेव वरुणलोके पार्थिवावयवोप-

पत्नीं में सन्तति उत्पन्न नहीं कर सकते और न ऐसी प्रार्थना ही उचित मानी जा सकती है। 'मैं देवलोक और मनुष्यलोक दोनों को जीत लूँ', 'यह लोक मनुष्यलोक हैं, इससे भिन्न वह देवलोक है' इस प्रकार लोक के भेद से भी देवता और मनुष्यों की भिन्नता सिद्ध है। विद्वान् मनुष्यों का पृथिवीलोक से भिन्न दूसरा कोई लोक नहीं है। 'प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की। उसने अपने ऊर्ध्व प्राण से देवताओं को और अवाक् प्राण से मनुष्यों को बनाया' यहाँ पर उत्पत्ति के भेद से भी देवताओं की मनुष्यों से भिन्नता बताई है। 'देवताओं का, पितृगणों का और मनुष्यों का इस प्रकार पहले आप लोगों के लिये तीन हिस्से किये गये थे, आप लोग जाइये, उन अंशों को विभक्त कर मैं दे रहा हूँ', 'हे तेजोमय अग्ने, इस यज्ञ का हमारे लिये वहन करो' यहाँ पर भी भेद स्पष्ट है। 'अग्नि देवताओं में श्रेष्ठ हैं', 'देवताओं से मनुष्यों में', 'यह जो अग्नि में हवन करता है, वह देवताओं के लिये है, यह जो समूह में भोजन करते हैं, वह मनुष्यों के लिये है। यह जो हविर्धान में नाराशंसी गाथा के साथ दिया जाता है, वह पितृगणों के लिये है' इन वचनों से स्पष्ट ही देवताओं की मनुष्यों से भिन्नता सिद्ध होती है।

'पार्थिवं' इत्यादि न्यायसूत्र के वात्स्यायन भाष्य में बताया गया है कि 'मनुष्य का शरीर पृथिवी का बना है। जल, तेज और वायु के बने शरीर लोकान्तर में हैं। इनमें भी भूतचतुष्टय का संयोग भोगाधीन है।' 'योनिज और अयोनिज भेद से शरीर दो प्रकार का है', 'अदृष्ट विशेष के कारण, इतिहास आदि में वर्णित समाख्या के आधार पर, सर्ग के आदि में दी गई संज्ञा के कारण और वेद मन्त्र, ब्राह्मण वाक्य आदि से भी अयोनिज शरीर सिद्ध हैं' इन वैशेषिक सूत्रों का भाष्य प्रशस्तपाद ने इस प्रकार किया है—'योनिज और अयोनिज भेद से शरीर दो प्रकार का है। शुक्र और रज की बिना अपेक्षा किये धर्मविशेष से प्रेरित परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न हुआ देवता, ऋषि आदि का शरीर अयोनिज है। क्षुद्र जन्तुओं के यातनामय शरीर अधर्मविशेष से प्रेरित परमाणुओं संयोग से पैदा होते हैं। शुक्र और रज के संयोग से पैदा हुए शरीर योनिज कहलाते हैं। योनिज शरीर जरायुज और अण्डज भेद से दो प्रकार के हैं। मनुष्य, पशु और मृगों का शरीर जरायुज और पक्षी, सर्प आदि का अण्डज होता है।....वरुण लोक में शरीर अयोनिज होता है और पार्थिव अवयवों के सहारे वह उपभोग योग्य बनता है।....आदित्य लोक में भी शरीर अयोनिज है और वह पार्थिव

ष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम् ।'''शरीरमयोनिजमेवादित्यलोके पार्थिवात्रयवोपष्टम्भाश्चोपभोगसमर्थम् ।'''तत्रायोनिजमेव शरीरं मरुतां लोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम् ।

'प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् । प्रजा वै भूतानि विनो धेहि यथा जीवामेति । ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्ववाच्योपासीदंस्तानब्रवीद्यज्ञो वोऽन्नममृतत्वं व ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिरिति ।।१।। अथैनं पितरः । प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्ववाच्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि मासि वोऽशनं स्वधा वो मनोजवी वश्चन्द्रमा वो ज्योतिरिति ।।२।। अथैनं मनुष्याः प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदंस्तानब्रवीत्सायंप्रातर्वोऽशनं प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्वो ज्योतिरिति ।।३।।' (श० ब्रा० २।४।२) अत्र देवानां यज्ञोऽन्नम्, पितॄणां मासि मासि स्वधा भोजनम्, मनुष्याणां द्विभोजनम्, देवानाममृतत्वं मनुष्याणां च मृत्युः प्रोक्तः । 'अथैनं पशव उपासीदन् तेभ्यः स्वैषमेव चकार यदैव यूयं कदा च लभाध्वै यदि काले यद्यनाकालेऽथैवाश्नायेति । तस्मादेते यदैव कदा च लभन्ते यदि काले यद्यनाकालेऽथैवाश्नन्ति ।' (श० ब्रा० २।४।२।४), 'अथ हैनं शश्वदप्यसुरा उपसेदुरित्याहुः । तेभ्यस्तमश्च मायां च प्रददावस्त्यहैवासुरमायेतीव पराभूता ह त्वेव ताः प्रजास्ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात् ।' (श० ब्रा० २।४।२।५) अत्र देवपितृमनुष्या-सुराणां भोजनादिव्यवस्थोक्ता । 'नैव देवा अतिक्रामन्ति । न पितरो न पशवो मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति ।' (श० ब्रा० २।४।२।६) अत्र देवादिभ्यो मनुष्याणां स्पष्टो भेद उक्तः । 'देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः' (श० ७।४।२।४०) अत्र स्पष्टं योनिभेद उक्तः ।

'विद्वांसो हि देवाः 'इत्यस्य सम्पूर्णपाठस्त्वित्थम्—'उशिजो वह्नितमानिति विद्वांसो हि देवाः, तस्मादाहो-शिजो वह्नितमानिति' (श० ३।७।३।१०) तदेतद् ब्राह्मणम् 'देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्' (यजु०

अवयवों की सहायता से ही उपभोग योग्य होता है।'''वायुलोक में भी शरीर अयोनिज है और वह पार्थिव अवयवों के सहारे उपभोग करता है।'

'किसी समय प्रजापति के पास सब प्राणी इकट्ठे हुए। उन्होंने प्रजापति से प्रार्थना की कि हमारे लिये भोजन दीजिये, जिससे कि हम जी सकें। इस समय देवगण बायें कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण किये दाहिना घुटना मोड़कर बैठे थे। उनसे प्रजापति ने कहा कि यज्ञ तुम्हारा अन्न है, इससे तुमको अमरता और ओजस्विता प्राप्त होगी, सूर्य तुम्हारी ज्योति है। इसके बाद पितृगण आये। ये दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत पहने बाया घुटना मोड़ कर बैठे, उनसे प्रजापति ने कहा कि प्रत्येक मास में दी गई स्वधा तुम्हारा भोजन होगा, मन के समान तुम्हारी गति होगी और चन्द्रमा तुम्हारी ज्योति। अब मनुष्यों की पारी आई। ये गले में यज्ञोपवीत डाले पालथी मार कर बैठे थे। इनसे प्रजापति ने कहा कि तुम लोगों के लिये प्रातः और सायं दो बार भोजन विहित है, मृत्यु तुम्हारी अन्तिम गति है और अग्नि तुम्हारी ज्योति।' इस शतपथ श्रुति में देवताओं का भोजन यज्ञ, पितृगण का भोजन प्रत्येक मास की स्वधा और मनुष्यों का भोजन दिन में दो बार विहित है। देवता अमर हैं और मनुष्य मरणशील। 'इसके बाद प्रजापति के पास पशु आये। इनके लिये प्रजापति ने यथेच्छ आचरण का विधान किया कि तुम लोगों को जब कभी समय-असमय में जो कुछ मिल जाय, उसी को खाओ। इसी लिये पशुओं को जब कभी समय-असमय में जो कुछ मिल जाता है, उसी को खाते हैं।', 'ऐसा कहा जाता है कि उसी समय असुरगण भी प्रजापति के पास पहुँच गये। इनके लिये प्रजापति ने तम और माया का विधान किया। यही वह असुरों की माया है, जिससे कि सारी प्रजा पराभूत हो जाती है। इस प्रकार यह सारी प्रजा का आचरण उसी प्रकार का है, जैसा कि प्रजापति ने उनके लिये कहा है। 'यहाँ पर देवता, पितृगण, मनुष्य, पशु और असुरों के भोजन की व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्था का अतिक्रमण देवता, पितृगण और पशु भी नहीं करते, केवल एक मनुष्य ही अतिक्रमण करता है' यहाँ पर देवादि से मनुष्यों का भेद स्पष्ट बताया गया है। 'देव योनि दूसरी है और मनुष्य योनि दूसरी' यहाँ पर योनिभेद भी स्पष्ट है।

'विद्वांसो हि देवाः' शतपथ श्रुति के इस वाक्यांश का पूरा पाठ ऊपर उद्धृत किया गया है। इस ब्राह्मण वाक्य में माध्यन्दिन संहिता के 'देवान् देवी' इत्यादि मन्त्र का अर्थ स्पष्ट किया गया है। यहाँ पर 'उशिजः' यह पद देव शब्द का विशेषण है।

सं० ६।७) इति मन्त्रस्य विवरणम्। उशिज इति पदं देवशब्दस्य विशेषणम्, निघण्टु ३।१५ इत्यत्र बुद्धिमन्नामसु पाठात्। तथा च विद्वांसो हि देवास्तस्मादाह उशिजो वह्नितमान्, हि यस्माद् देवा विद्वांसो भवन्ति तस्माद् मन्त्र आह उशिजो वह्नितमान् 'यन्मनुष्याणां परोक्षं तद् देवानां प्रत्यक्षम्' (ताण्डचमहाब्राह्मणे २२।१०।३), 'मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति' (श० ३।४।२।६), 'न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति' (ऋ० सं० १०।१०।८) अत उशिज इति मन्त्रांशस्य 'विद्वांसो हि देवाः' इति विवरणमेव। यदि देवशब्दस्य विद्वानेवार्थस्तदोशिज इति विशेषणं नोपपद्यते, उभयोरेकार्थत्वात्। 'यो देवस्य प्रियो विद्वान्' इति बौधायनीयगृह्यसूत्रे (१।२२।१५) देवस्य विद्वानिति वैयधिकरण्येन देवविदुषोर्भेद एव सिद्धयति। 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' (भ० गी० १७।१४) इत्यत्र देवशब्दाद् देवप्राज्ञयोर्भेदो मन्तव्यः। 'एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशत आहूतो युगपत्सर्वत्र भवति' इति 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।६४) इति सूत्रे महाभाष्यम्। तथा च देवानां कायव्यूहनिर्माणेन युगपदनेकयज्ञसन्निधानादैश्वर्यवत्त्वं मनुष्यवैलक्षण्यं च स्पष्टं ज्ञायते। मनुष्यास्तु विद्वांसोऽविद्वांसश्च भवन्ति, देवास्तु जन्मनैव विद्वांसो भवन्ति, पक्षिणामाकाशगमनशक्तिरिव स्वाभाविकं तेषां विद्वत्त्वम्। अतो देवशब्दो विशेष्यो विद्वांस इति तु विशेषणम्। व्याख्येयमन्त्रे तु विद्वच्छब्दो नास्त्येव, तेन विद्वांस इत्यस्य न विशेष्यत्वं सम्भवति। यदि देवविद्वच्छब्दयोः पर्यायवाचकत्वं स्यात्, तदा तु 'विद्वांसो ये शतक्रतुदेवाः सत्रमतन्वत इति' (श० ११।५।५।१२) इत्यादौ पुनरुक्तेर्दुरुद्धरत्वात्। 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः' (भ० गी० १०।२) इत्यादौ यदि देवगणापरपर्यायस्य सुरगणशब्दस्य विद्वत्समुदायोऽर्थः, तदा महर्षिपदस्य मूर्खार्थबोधकत्वमेवापतेत्। अमरकोषेऽपि देवशब्दः स्वर्गवर्गे विद्वच्छब्दस्तु मनुष्यावान्तरभेदब्रह्मवर्गे निर्दिष्टः। तेन देवानां विद्वत्त्वेऽपि न विदुषां मनुष्याणां देवत्वं सिद्धयति।

निघण्टु में परिगणित विद्वानों की नामावली में यह उन्नीसवां है। देवगण विद्वान् होते हैं, अतः मन्त्र में उनको 'उशिजो वह्नितमान्' कहा गया है। 'जो वस्तु मनुष्यों के लिये परोक्ष है, उसको देवगण प्रत्यक्ष देखते हैं', 'देवगण मनुष्य के मन की बात जानते हैं', 'जो व्यक्ति पृथ्वी को नहीं छूता, जिसकी पलक नहीं झपती, उसको जानना चाहिये कि यह कोई देवताओं का चर (जासूस) है' इन सब से स्पष्ट है कि 'देवता विद्वान् हैं' यह वाक्य मन्त्र में स्थित 'उशिजः' इस पद का विवरण है। यदि देव शब्द का अर्थ भी विद्वान् ही है तो फिर 'उशिजः' यह विशेषण नहीं बन सकता, क्योंकि दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। 'जो विद्वान् है, वह देवताओं को प्रिय है' बौधायनगृह्यसूत्र के इस वाक्य में देवता का विद्वान् के साथ वैयधिकरण्येन अन्वय देवता और विद्वान् के भेद को सिद्ध करता है। 'देवता, द्विज, गुरु और विद्वान् का पूजन करना' इस गीता वाक्य में देव और प्राज्ञ शब्दों के पृथक्-पृथक् होने से देव और प्राज्ञ का भेद मानना चाहिये। 'सरूपाणाम' इस पाणिनि सूत्र के महाभाष्य में बताया गया है कि एक ही इन्द्र सैकड़ों यज्ञों में बुलाये जाने पर एक साथ पहुँच जाता है। इससे मालूम होता है देवताओं में मनुष्यों को अपेक्षा यह विलक्षणता है कि देवगण ऐश्वर्य के बल से कायव्यूह अर्थात् अनेक शरीरों का निर्माण कर एक साथ अनेक यज्ञों में पहुँच जाते हैं। मनुष्य विद्वान् और मूर्ख दोनों प्रकार के होते हैं, किन्तु देवगण जन्म से ही विद्वान् होते हैं। पक्षियों की आकाशगमन की शक्ति के समान देवताओं की विद्वत्ता स्वाभाविक अर्थात् जन्मसिद्ध है। इसलिये देव शब्द विशेष्य है और विद्वान् शब्द उसका विशेषण। व्याख्येय मन्त्र में विद्वत् शब्द के न रहने से 'विद्वांसः' इस पद की विशेष्यता नहीं बन सकती। यदि देव और विद्वान् शब्द की पर्यायता मानी जाय तो फिर 'इन्द्रप्रभृति विद्वान् देवताओं ने सत्र (यज्ञ) का आरंभ किया' इत्यादि स्थलों पर पुनरुक्ति दोष का परिहार न हो सकेगा। 'देवगण और महर्षिगण मेरी उत्पत्ति के विषय में नहीं जानते' इस गीता वाक्य में 'देवगण' अर्थ को बताने वाले 'सुरगण' शब्द का अर्थ यदि 'विद्वत्समुदाय' लिया जाय तो 'महर्षि' पद का अर्थ 'मूर्ख समुदाय' होने लगेगा। अमरकोश में भी देव शब्द का पाठ स्वर्ग वर्ग में और विद्वत् शब्द का पाठ मनुष्य के अवान्तर भेद वाले ब्रह्मवर्ग में किया गया है। इससे यह सिद्ध है कि देवतागण यद्यपि विद्वान् हैं, तो भी विद्वान् मनुष्य ही देवता नहीं हो सकते।

'द्वया वै देवा देवाः। अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः' (श० ब्रा० २।२।२।६) इत्यादिस्थलेषु मनुष्यदेवशब्दस्य मूर्खविद्वानित्यप्यर्थः कार्यः स्यात्। 'न र्मडिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु' (ऋ० १०।६४।२) देवेभ्योऽन्यः कश्चिदपि मर्डिता सुखयिता नास्ति। 'यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड' (अथर्व० सं० ११।२।२८), 'सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति' (अथर्व० सं० ११।७।२), 'यजाम देवान् यदि शक्नवाम' (ऋ० सं० १।२७।१३) अत्र सामर्थ्ये सुति देवयजनमुक्तम्। 'यज्ञे यज्ञे स मर्त्यो देवान् सपर्यति' (ऋ० सं० १०।९३।२) अत्र मर्त्यैर्देवपूजोक्ता। 'देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे' (ऋ० सं० १०।६५।१५) अत्र देवपूजायां वसिष्ठेतिहासोऽप्युक्तः। शतपथे तैत्तिरीयोपनिषदि च आनन्दमात्राभेदेनापि देवा उक्ताः। 'अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः। स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः ॥३३॥ अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते ॥३४॥ अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः। स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः ॥३५॥ अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः। स एको देवलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। ३६॥' (श० १४।७।१)। अन्यत्रेन्द्रबृहस्पतिप्रजापतीनामपि पूर्वपूर्वापेक्षया शतगुणितानन्दभेदेन भेदा उक्ताः—'ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एक प्रजापतेरानन्दः। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य (तै० उ० ३।८)।

यत्तु ऋतुहविर्भूतमधुमांसादि सदा भुञ्जानानां ब्रह्मविद्यार्थं ब्रह्मचर्यानुष्ठानं न सम्भवतीति तन्न, कायव्यूहवतां देवानां गुरुकुलवासादिना रूपेण ब्रह्मचर्यं यज्ञदेशागतेन स्वपदस्थितेन वा रूपेण हविर्भोक्तृत्वं सम्भवतीति तदुपपत्तेः। मयि वर्चः सामगानं त्रैलोक्यैश्वर्यकामिनः विहितं तदेवेन्द्रत्वं भवति। देवभावं प्राप्तस्यैव स्वर्गः

'देवता दो तरह के हैं, एक देवता स्वर्ग में रहते हैं और दूसरे वे मनुष्य देवता हैं, जो ब्राह्मण कि वेद का सांगोपांग श्रवण और अध्ययन करते हैं' इत्यादि स्थलों में 'मनुष्यदेव' शब्द का 'मूर्ख विद्वान्' यह अर्थ करना पड़ेगा। 'देवताओं से भिन्न कोई सुखदाता नहीं हैं', 'जो देवताओं की सत्ता में श्रद्धा करता है, उसको पुत्र-पौत्रादि से तथा पशुसम्पत्ति से सुखी करो', 'वह सब देवताओं को अपने तप से तृप्त करता है', 'यदि समर्थ हो तो हम देवताओं के लिये यज्ञ करें', 'यज्ञ यज्ञ में मनुष्य देवता का पूजन करता है' यहाँ पर मनुष्यों के द्वारा देव पूजन विहित है। 'वसिष्ठ ने अमरणशील देवताओं की वन्दना की' यहाँ पर देव पूजन के साथ वसिष्ठ का इतिहास जुड़ा है। शतपथब्राह्मण और तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्द की मात्रा के भेद से भी देवताओं का वर्णन मिलता है—'मनुष्यों के सौ आनन्दों के बराबर परलोक को जीतने वाले पितृगणों का एक आनन्द है, जितलोक पितृगणों के सौ आनन्द की बराबर उन कर्मदेवों का एक आनन्द है जो कि अपने शुभ कर्मों से देवत्व प्राप्त करते हैं। इन कर्मदेवों के सौ आनन्दों की बराबर आजानदेवों का तथा उस श्रोत्रिय का एक आनन्द हैं, जो कि निष्पाप एवं सभी प्रकार की कामनाओं से निर्लिप्त है। इन आजानदेवों के सौ आनन्दों की बराबर देवलोक का तथा निष्पाप, अकामहत श्रोत्रिय का एक आनन्द है।' दूसरे स्थल पर इन्द्र, बृहस्पति और प्रजापति का पूर्वापेक्षया शतगुणित आनन्द वर्णित है—'जो यह देवताओं के सौ आनन्द हैं, उनके बराबर इन्द्र का एक आनन्द है। यह जो इन्द्र के सौ आनन्द हैं, उनके बराबर बृहस्पति का एक आनन्द है। बृहस्पति के सौ आनन्द की बराबर प्रजापति का एक आनन्द है। प्रजापति के सौ आनन्दों की बराबर ब्रह्म का तथा अकामहत निष्पाप श्रोत्रिय का एक आनन्द है।'

यह जो कहा गया है कि याग की हवि के रूप में उपस्थापित मद्य-मांसादि का सदा भक्षण करने वाले देवगण ब्रह्मविद्या के लिये आवश्यक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान कैसे कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि देवताओं में कायव्यूह अर्थात् एक साथ अनेक शरीर धारण करने की सामर्थ्य है। इसलिये देवगण गुरुकुल में रहते हुए शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे और यज्ञ स्थल में उपस्थित अथवा अपने स्थान में स्थित स्वरूप से हवि का ग्रहण करेंगे। 'मैं ओजस्वी हूँ, सामगान मेरे लिये होता है, त्रैलोक्य का ऐश्वर्य मेरे

सम्भवति। स्वर्गो हि नाम सङ्कल्पमात्रोपनतस्रक्चन्दनवनितादिसाधनप्रभवसाधनार्जनदुःखासम्भिन्नस्वदारनियमभ्रंशादिप्रयुक्ताग्निनरकदुःखग्रासरहितश्च सुखविशेषः। 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥' इति स्मरणात्। स चास्मिन् देहे न सम्भवति, 'सुवर्गे लोके यजमानं हि धेहि। मां नाकस्य पृष्ठे परमे व्योमन्' (तै० ब्रा० ३।७।६।५) इत्यादिमन्त्रार्थवादेभ्यश्च। 'तद्यथा पेशस्कारी। पेशसो मात्रामपादायान्यं नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायं पुरुष इदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं रूपं तनुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा दैवं वा मानुषं वान्येभ्यो वा भूतेभ्यः' (श० १४।७।२।५) इत्यादिश्रुतिप्रतिपन्नदिव्यशरीरं प्राप्तेनैव स्वर्गो लभ्यत इति वक्तव्यम्। तत्प्राप्तश्च देव एव। तथा च देवतासामान्यनिराकरणे ज्योतिष्टोमादीनां निष्फलत्वापत्तिः स्यात्। नाप्याजानदेवानामिन्द्रादीनां निषेधः सम्भवति, शताश्वमेधप्राप्येन्द्रादिपदप्रसिद्धेः।

सामविधानब्राह्मणे—'मयि वर्चो अथो यशो' इत्यस्यामृचि गीतं साम 'मृष्टः शुक्लवासा' इत्यादिनियमेन चत्वारि वर्षाणि जपतस्त्रैलोक्याधिपत्यं भवतीति श्रूयते। तथाहि—'मासमुपवसेदेकमेकमयाचितं भुञ्जीत मयि वर्च इत्येतेन कल्पेन चत्वारि वर्षाणि प्रयुञ्जानस्त्रयाणां लोकानामाधिपत्यं गच्छति' (३।९)। एतदेवेन्द्रपदम्। तस्मिन्नेव ब्राह्मणे—'अथ यः कामयेतावर्तयेयमित्येकरात्रं क्षुरसंयुक्तस्तिष्ठेत् सुतासो मधुमत्तमा इति वर्ग एतेषामेकमनेकं वा सर्वाणि वा प्रयुञ्जान एकरात्रेण कुटुम्बिनमावर्तयति। द्विरात्रेण राजोपजीविनं त्रिरात्रेण राजानं चतूरात्रेण ग्रामं पञ्चरात्रेण नगरं षड्रात्रेण जनपदं सप्तरात्रेणासुररक्षांस्यष्टरात्रेण पितृपिशाचान् नवरात्रेण यक्षान् दशरात्रेण गन्धर्वाप्सरसोऽर्धमासेन वैश्रवणं मासेनेन्द्रं चतुर्भिः प्रजापतिं संवत्सरेण यत्किञ्चिज्जगत् सर्वं हास्य गुणीभवति' (२।५) इति

पास हैं' यही इन्द्र का स्वरूप है। देवभाव की प्राप्ति के बाद ही स्वर्ग मिलता है। बिना साधन के अर्जन के, संकल्प मात्र से पुष्पमाला, चन्दन, वनिता आदि साधनों से उपलभ्य, दुःख से असंपृक्त तथा स्वादाराभिगमन आदि नियमों के तोड़ने से होने वाले नरक वास आदि के भी दुःख से रहित सुखविशेष का नाम ही स्वर्ग है। 'जो दुःख से संपृक्त नहीं है, किसी अन्तराय से बाधित नहीं है, जो इच्छामात्र से उपलब्ध हो जाता है, वही सुख स्वर्गपद से अभिप्रेत है।' यह स्मृति भी इसमें प्रमाण है। इस देह में यह संभव नहीं है। 'मुझ यजमान को आप परम व्योम स्वरूप स्वर्गलोक में ले जाय' इत्यादि मन्त्र और अर्थवाद वाक्यों से यह स्पष्ट है। 'जैसे कि रेशम का कीड़ा अपने शरीर से रेशम की कुछ मात्रा को निकाल कर दूसरे नये और सुन्दर स्वरूप की रचना करता है, उसी तरह यह पुरुष इस शरीर को छोड़कर अविद्या के सहारे दूसरे नये स्वरूप का विस्तार कर पितृलोक, गन्धर्वलोक, ब्रह्मलोक, प्रजापतिलोक, देवलोक, मनुष्यलोक अथवा अन्य भूतों में पैदा होता है' इत्यादि श्रुति के सहारे यह मानना पड़ेगा कि दिव्य शरीर की प्राप्ति के बाद ही स्वर्ग मिलता है। इस दिव्य शरीर को जिसने प्राप्त कर लिया, वह देव ही होगा। इस प्रकार के सामान्य देवताओं का निषेध करने पर ज्योतिष्टोम आदि याग निष्फल हो जायँगे। इन्द्र आदि आजानदेवों का भी निषेध संभव नहीं है, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि सौ अश्वमेध यज्ञ करने से इन्द्र पद की प्राप्ति होती है।

सामविधानब्राह्मण में बताया गया है कि 'मयि वर्चो' इत्यादि ऋचा में गाये गये साम को धोये हुए श्वेत वस्त्र धारण कर नियम पूर्वक चार वर्ष पर्यन्त जपने वाला व्यक्ति त्रैलोक्य का अधिपति हो जाता है। वहाँ का वाक्य इस प्रकार है—'एक मास पर्यन्त उपवास करे। एक बार बिना मांगा भोजन करे। इस प्रकार 'मयि वर्चः' इस कल्प का चार वर्ष पर्यन्त प्रयोग करने से तीनों लोकों का अधिपति बन जाता है।' इसी को इन्द्र पद कहा जाता है। इसी ब्राह्मण में—'जो चाहे कि मैं सबको अपने वश में कर लूँ तो वह एक रात्रि पर्यन्त अपने हाथ में छुरा लिये 'सुतासो मधुमत्तमा' इस वर्ग के एक, अनेक अथवा सभी सामों का पाठ करे तो वह सभी कुटुम्बी जनों को वश में कर लेता है। दो रात्रि तक करने पर राजपुरुषों को, तीन रात्रि के प्रयोग से राजा को, चार रात्रि से ग्राम को, पाँच रात्रि से नगर को, छः रात्रि से जनपद को, सात रात्रि से असुर-राक्षसों को, आठ रात्रि पर्यन्त प्रयोग से पितृगण एवं पिशाचों को, नवरात्रि से यक्षों को, दस रात्रि से गन्धर्व और अप्सराओं को, एक पक्ष के प्रयोग से कुबेर को, एक मास से इन्द्र

ब्रह्मेन्द्रवरुणादिवशीकरणकामस्य 'सुतासो मधुमत्तमाः' इत्यस्यामृचि गीतानामष्टानां साम्नां मध्ये एकस्यानेकस्य सर्वषां वा साम्नां जपश्चतुर्मासकालावच्छिन्नो विहितः। षड्विंशब्राह्मणे च—'ब्रह्मणः सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं गच्छन्ति य एतदुपयन्तीति' 'विश्वसृजामयनस्य ब्रह्मसालोक्यसार्ष्टिसायुज्यफलान्युक्तानि। नाधुनेयं श्रुतिः षड्विंशब्राह्मणे, किन्तु तैत्तिरीयारण्यके दशमे प्रपाठके चतुर्दशेऽनुवाके इत्थमुपलभ्यन्ते—'ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतासामेव देवतानां सायुज्यं सार्ष्टितां समानलोकतामाप्नोति य एवं वेद' इति। तथा ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पञ्चविंशेऽध्यायेऽष्टादशे खण्डे—'ब्रह्मणः सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं गच्छन्ति य एतदुपयन्ति' (ता० २५।१८।६) इति। एतस्मिन्नेव ताण्ड्य-महाब्राह्मणे—'वाजपेययाजी वाव प्रजापतिमवाप्नोति' (१८।६।४) इति वाजपेयस्य ब्रह्मप्राप्तिः फलमुक्तम्। यदि ब्रह्मेन्द्रादयो देवास्तत्तल्लोकविशेषेषु विग्रहवन्तो दिव्यभोगयुक्ता न स्युस्तदानीं तत्तद्देवभावाप्तितत्तद्वशीकरणादि-फलार्थत्वेन विहितकर्मणां नैष्फल्यमेव स्यात्। तस्माद्यथा स्वर्गाय विहितस्य ज्योतिष्टोमविधेर्निर्वाहाय मन्त्रार्थवादा-दिषु प्रतिपादितस्य स्वर्गशब्दार्थस्य सत्यत्वम्, तथा ज्योतिष्टोमादितः स्वर्गफलावश्यंभावविरोधिनः 'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वेति' (तै० सं० ६।१।१।१) इति फलसन्देहप्रतिपादनस्यासत्यत्वं स्वीकर्तव्यम्, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्।

'अथ यः कामयेत पिशाचान् गुणीभूतान् पश्येयमिति संवत्सरं चतुर्थे काले भुञ्जानः कपालेन भैक्षं चरन् 'प्राणाः शिशुर्' (पावमानकाण्ड सा० वे० सं० खण्ड १० मन्त्र ५) इत्यन्त्यं सदा सहस्रकृत्व आवर्तयन् पश्यति' (सा० वि० ब्रा० ३।७), 'संवत्सरमष्टमे काले भुञ्जानः पाणिभ्यां पात्रार्थं कुर्वाणो 'वृत्रस्य त्वा, श्वसथादीषमाणा' इत्येतयोः पूर्वं सदा सहस्रकृत्व आवर्तयन् गन्धर्वाप्सरसः पश्यति' (सा० वि० ब्रा० ३।७), 'अयाचितमेतेन कल्पेन द्वितीयं प्रयुञ्जानो देवान् पश्यति' (सा० वि० ब्रा० ३।७) इति देवादिदर्शनार्थं सामजपविधिनिर्वाहाय तदीयकाय-व्यूहप्रतिपादनस्य सत्यत्वं तद्विरोधिनामसत्यत्वं च स्वीकार्यम्, अन्यथा बहुषु युगपद्देवदर्शनार्थं सामजपं कुर्वत्सु तावतां तत्फलालाभप्रसङ्गात्।

को, चार मास से प्रजापति को और एक वर्ष पर्यन्त किये गये अनुष्ठान से सारे जगत् को अपने वश में कर लेता है' इस प्रकार ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण आदि को वश में करने के लिये 'सुतासो मधुमत्तमा' इस ऋचा में गाये गये आठ सामों में से किसी एक, अनेक अथवा सभी सामों का जप विहित है। षड्विंश ब्राह्मण में बताया गया है कि 'इस नियम का पालन करने वाले ब्रह्मा की सलोकता, सार्ष्टिता और सायुज्य को पाते हैं' (आज कल यह श्रुति षड्विंश ब्राह्मण में उपलब्ध नहीं है, तैत्तिरीय आरण्यक में ऊपर दिये कुछ पाठभेद के साथ यह उपलब्ध है)। ताण्ड्य महाब्राह्मण में भी यही वाक्य उपलब्ध है। इसी ताण्ड्य महाब्राह्मण में 'वाजपेय यज्ञ करने वाला प्रजापति को पाता है' इस प्रकार वाजपेय याग का फल ब्रह्मप्राप्ति बताया गया है। यदि ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवगण उन उन विशेष लोकों में शरीर धारण कर दिव्य भोग का उपभोग न कर रहे हों तो उस उस देवता के स्वरूप की अधिगति तथा उसके वशीकरण के लिये विहित कर्म निष्फल हो जायेंगे। इसलिये जैसे स्वर्ग की प्राप्ति के लिये विहित ज्योतिष्टोम आदि विधि के निर्वाह के लिये मन्त्र, अर्थवाद आदि में प्रतिपादित स्वर्ग शब्द के अर्थ की सत्यता मानी जाती है और ज्योतिष्टोम आदि से स्वर्ग फल की प्राप्ति अवश्य होती है, इत्यादि वाक्यों की फलोत्पत्ति में सन्देह पैदा करने वाले 'यह कौन जानता है कि उस लोक में कुछ है भी कि नहीं' ऐसे वाक्यों की असत्यता माननी पड़ती हैं, उसी तरह देवताओं को शरीरधारी न मानने वाली युक्तियाँ असत्य मानी जायेंगी।

'जो चाहता हो कि पिशाच मेरे वश में हो जाय, वह एक वर्ष पर्यन्त दिन के चौथे भाग में कपालपात्र में माँगी गई भिक्षा का आहार करता हुआ 'प्राणः शिशुः' इस अन्तिम साम की प्रतिदिन आवृत्ति करे', 'अपने हाथ में भिक्षा लेकर दिन के आठवें भाग में एक वर्ष पर्यन्त भोजन करने वाला 'वृत्रस्य त्वा' इत्यादि दो साममन्त्रों की प्रतिदिन सहस्र आवृत्ति करके गन्धर्व और अप्सराओं को देखता है', 'विना माँगी हुई भिक्षा से निर्वाह करता हुआ जो इस प्रयोग को सिद्ध करता है, वह देवताओं को देखता है' इस प्रकार देवादि के दर्शन के लिये बताई गई साम जप की विधि के निर्वाह के लिये देवताओं के कायव्यूह निर्माण की सत्यता और इसके विरोधी

एवमेव कर्मदेवाजानदेवानां सिद्धौ ज्योतींषि रविमण्डलादीनि तत्तत्प्रभामण्डलानि पर्यवस्यन्ति। आमनन्ति हि—'सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणीति'। तद्बलात् कानिचिन्नक्षत्राणि कर्मदेवानामिव रविचन्द्रग्रहतारकादिज्योतींष्याजानदेवानां प्रभामण्डलान्येव भवन्ति। रविरादित्यश्चन्द्र इन्द्र इत्यादिशब्दास्तु नेत्रादिशब्दा गोलकेष्विव स्वस्ववाच्याधिष्ठानेषु प्रभामण्डलेषु गौणाः। देहप्रभामण्डलदर्शनं कृत्वा सर्वजनदृश्यत्वमादित्यस्योक्तम् 'असौ योऽवसर्पति' (वा० सं० १६।७) इति मन्त्रे। तस्मिन् अन्येषु च केषुचिन्मन्त्रेष्वादित्यगतरूपस्य नीलग्रीवत्वाद्युक्तिः, तथा 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' (छा० उ० १।६।६), 'नमो हिरण्यबाहवे'(वा० सं० १६।१७), 'हिरण्यपतयेऽम्बिकापतय उमापतये, (महानारायणोपनिषद् २।२२) इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रतिपन्नमादित्यान्तर्यामिणः शिवस्य रूपमभिप्रेत्य 'अर्यमा याति वृषभः'(तै० सं० २।३।१४।१९) इति मन्त्रे त्वादित्यस्येन्द्ररूपत्वोपपत्तिः, इन्द्रस्यापि द्वादशादित्यमध्ये क्वचिन्निवेशः। यथा हरिवंशे—'अदित्यां कश्यपाज्जाता आदित्या द्वादशैव हि। इन्द्रो विष्णुर्भगस्त्वष्टा वरुणोंऽशोऽर्यमा रविः।। पूषा मित्रश्च वरदो धाता पर्जन्य एव च।।' इति। विष्णुपुराणेऽपि—'मारीचात् कश्यपाज्जाता अदित्या दक्षकन्यया।।१३१।। तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव हि। अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा च भारत।।१३२।। विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च। अंशो भगश्चातितेजा आदित्या द्वादश स्मृताः।।१३३।।' (१।१५) महाभारते आदिपर्वणि—'धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च। भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा।।१५।। एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।' (म० भा० आदिपर्व ६५।१५-१६)।

'सर्पा वा आदित्यः' इत्युक्तिस्तु यूपादित्योक्तिवत् प्रशंसापरा। हविर्भोजनार्थमाहूतानां यज्ञदेशमागतानां हविर्भोक्तृत्वम्। तत्रापि न हविरुत्क्रमणविरोधः। 'यद्वै देवा हविर्जोषयन्ते तदपि गिरिमात्रं कुर्वते' (श० १।९।१।१०)

वचन की असत्यता माननी पड़ेगी, अन्यथा अनेक व्यक्तियों के देवदर्शन के निमित्त एक साथ साम जप करने पर उनका दर्शन कैसे संभव हो सकेगा।

इसी तरह कर्मदेव और आजानदेवों की सत्ता स्वीकार किये जाने के कारण रविमण्डल आदि ज्योतियाँ प्रभामण्डल रूप माननी पड़ेगी। शास्त्र में कहा भी गया है कि 'यह जो नक्षत्र दिखाई देते हैं, वे पुण्यात्माओं के प्रकाशमय स्वरूप हैं'। इस वाक्य के बल से जैसे कुछ नक्षत्र कर्मदेवों के प्रकाशमय स्वरूप हैं, उसी तरह रवि, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि ज्योतियाँ आजानदेवों का प्रभामण्डल होगा। नेत्रगोलक, कर्णकुहर आदि में जैसे चक्षु, कर्ण आदि का गौण व्यवहार होता है, उसी तरह रवि, आदित्य, चन्द्र, इन्द्र आदि शब्दों का भी इन शब्दों के वाच्य अधिष्ठान प्रभामण्डल आदि में गौण व्यवहार है। इस प्रभामण्डलमय स्वरूप के दिखाई देने के कारण ही 'वही आदित्य है, जो कि यह घूमता दिखाई देता है' इस मन्त्र में आदित्य को सभी प्राणियों के प्रत्यक्ष योग्य माना गया है। इस मन्त्र में और अन्य कुछ दूसरे मन्त्रों में भी आदित्य का स्वरूप नीली गरदन वाला बताया गया है। इसी तरह 'यह जो आदित्य मंडल में हिरण्मय पुरुष हैं', 'हिरण्यबाहु को नमस्कार हैं', 'हिरण्यपति, अम्बिकापति, उमापति को नमस्कार है' इत्यादि अन्य श्रुतियों में आदित्यवर्ती अन्तर्यामी को शिवस्वरूप माना गया है। 'इन्द्र वृषभ रूप से जाता है' इस मन्त्र में आदित्य को इन्द्र बताया गया है। कहीं कहीं १२ आदित्यों में इन्द्र का भी नाम दिखाई देता है। जैसे कि हरिवंश में—'कश्यप से अदिति में बारह आदित्य उत्पन्न हुए। इन्द्र, विष्णु, भग, त्वष्टा, वरुण, अंश, अर्यमा, रवि, पूषा, मित्र, धाता और पर्जन्य ये उनके नाम हैं'। विष्णुपुराण में भी—'मरीचि के पुत्र कश्यप से दक्षकन्या अदिति में विष्णु और इन्द्र पुनः उत्पन्न हुए। हे भारत, अर्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अंश और अतितेजस्वी भग में सब मिल कर बारह आदित्य कहलाते हैं'। महाभारत के आदिपर्व में भी—'धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, दसवें सविता, ग्यारहवें त्वष्टा तथा बारहवें विष्णु' इस प्रकार १२ आदित्यों का वर्णन किया है।

'आदित्य सर्प हैं' यह कथन उसी तरह प्रशंसापरक अर्थवाद मात्र है, जैसे कि यज्ञ के यूप को आदित्य बताने वाले वाक्य हैं। हवि को ग्रहण करने के लिये बुलाये गये देवतागण यज्ञस्थान में आकर ही उसको ग्रहण करते हैं। यहाँ पर भी यज्ञ की हवि के

इति त्यक्तस्य हविषो वृद्धिश्रवणेनैवं ज्ञायते यत् कियानप्यंशस्तृप्तिपर्याप्तो देवैर्भुज्यते, कियानप्यंशो-वृष्ट्यन्नादि-रूपेणावर्तत इति। इत्थमेवोभयविधश्रुतिनिर्वाहसम्भवः। न च हविर्वृद्धि-तदंशभोजन-तदंशान्तरोत्क्रमणप्रत्यावृत्त्यभ्युपगमे प्रत्यक्षविरोधः, त्यक्ते हविषि ततो निर्गत्वरस्य तदीयसूक्ष्मरसांशस्यैव वृद्ध्याद्यभ्युपगमात्। 'अवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी' (वा० सं० १९।६६) इति सुरभीकृतहविरवस्थान्तरनयनलिङ्गात्। एवं च पर्यग्नीकरणान्तोत्सृष्ट-पश्वादीनां सूक्ष्मांशापगमेऽपि मधुकरोपभुक्तरसांशानां पुष्पाणामिव ताद्रूप्यस्थ्यदर्शनमपि नानुपपन्नम्।

हविषः सूक्ष्मे रसे तत्र तत्तद्देवतातृप्तिपर्याप्तां वृद्धिमाप्नुवन् भक्ष्यांशस्तत्तदास्वादनयोग्यरूपेण सूर्यं प्राप्य प्रत्यावर्तते, तदितरांशो वृष्ट्यन्नप्रजारूपेण परिणमत इति कुशकाशदारुशकला (स्वरु) दीनामनदनीयत्वदोषोऽपि न प्रसज्यते। श्राद्धेषु पित्राद्युद्देशेन दत्तस्यान्नस्य पित्रादिप्राप्तजात्युचिताहारतया परिणामः स्मृतिपुराणेषूक्त एव। तथाहि मत्स्यपुराणे—'देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः ॥६॥ तस्यान्नममृतं भूत्वा दिव्यत्वेऽप्यनुगच्छति ॥ गान्धर्वे भोग्यरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत् ॥७॥ श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति ॥ पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम् ॥८॥ दनुजत्वे तथा माया प्रेतत्वे रुधिरोदकम् ॥ मनुष्यत्वेऽन्नपानादिनानाभोगरसो भवेत्' ॥९॥ (अध्याय १९)। अत्र लिङ्गं च श्रौतमन्त्रः—'एतद्वै मधु दैव्यं यदाज्यम्' (ऐ० ब्रा० २।२)। भट्टपादैरपि तन्त्रवार्त्तिके लोकवेदाधिकरणे प्रोक्तम्—'यच्चैतद् घृतमस्माकं देवानां मध्विदं यदि। रसवीर्यादिभिस्तत्र न शब्दार्थोऽन्यथा पतेत् ॥' इति।

उत्क्रमण का विरोध नहीं है। 'देवता जिस हवि का ग्रहण करते हैं, उसको पहाड़ की बराबर बढ़ा देते हैं' इस प्रकार देवताओं के द्वारा छोड़ी गई हवि की वृद्धि शतपथश्रुति में सुनी गई है। इससे यह प्रतीत होता है कि उस हवि का तृप्ति के लिये पर्याप्त अंश देवगण पा लेते हैं और कुछ अंश वृष्टि, अन्न आदि के रूप से वापस कर देते हैं। इसी तरह दोनों तरह की श्रुतियों का निर्वाह हो सकेगा। हवि के बढ़ने में, उत्क्रमित हवि के एक अंश का देवगण द्वारा ग्रहण और अवशिष्ट अंश की वृष्टि-अन्न आदि के रूप में वापसी में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता, क्योंकि देवताओं के लिये अर्पित हवि में उत्क्रमणशील सूक्ष्म रस की ही वृद्धि मानी जाती है। 'तुम हवि को सुगन्धित करके ग्रहण करते हो' इस वाक्य से प्रतीत होता है कि सुरभीकृत हवि के रूप में परिवर्तित कर देवगण आहुति को अंगीकार करते हैं। इस तरह पर्यग्निकरण पर्यन्त विधि के द्वारा देवताओं के निमित्त दिये गये पशु आदि के सूक्ष्म अंश के निकल कर चले जाने पर भी उनकी उसी रूप में अवस्थिति वैसे ही संभव है, जैसे कि मधुमक्खियों के द्वारा पुष्पों के रस को चूस लेने के बाद भी पुष्प उसी तरह दिखाई देते हैं।

हवि के सूक्ष्म रस में उस देवता की तृप्ति के लायक पर्याप्त वृद्धि होती है। देवता का ग्रहणीय अंश सूर्य की किरणों के माध्यम से सुस्वादु बन कर उनके पास पहुँचता है और बचा हुआ अंश वृष्टि, अन्न और प्रजा के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार कुश, काश, दारुशकल (लकड़ी के बने स्वरु) आदि कैसे खाये जा सकेंगे? यह दोष भी नहीं आवेगा। क्योंकि श्राद्ध में पितरों के निमित्त दिया गया अन्न पितरों के द्वारा प्राप्त उस उस जाति के लिये उचित आहार के रूप में परिणत हो जाता है, यह बात स्मृति, पुराण आदि में बताई गई है। जैसे कि मत्स्यपुराण में—'शुभ कर्मों के प्रभाव से पिता ने यदि देवयोनि प्राप्त की है, तो उसको दिया गया अन्न अमृत बनकर वहाँ पहुँचता है। गन्धर्व होने पर भोग्य रूप में, पशु होने पर तृण के रूप में और नाग होने पर श्राद्धान्न वायु के रूप में उनके पास जाता है। यक्ष होने पर मदिरा के रूप में, राक्षस होने पर कच्चे मांस के रूप में, दनुज होने पर माया के रूप में, प्रेत होने पर रुधिर के रूप में और मनुष्य होने पर वह श्राद्धान्न अन्न, पान आदि नानाविध भोग्य रसों में परिणत होकर पहुँचता है'। इस स्मृति वाक्य का उपोद्वलक यह मन्त्र है—'यह घृत ही देवताओं का अमृत है'। कुमारिलभट्ट ने भी लोकवेदाधिकरण के तन्त्रवार्त्तिक में कहा है कि—'यह जो हमारा घृत है, वही यदि देवताओं का अमृत है, तो फिर दोनों योनियों में इनका रस-वीर्य परिपाक अपने ढंग का ही होगा।

यत्र—'अग्निमग्न आवह', 'इन्द्रागच्छ' इत्यादिभिर्देवानामाह्वानम्, तत्र ता एव देवतास्तेष्वागत्य त्यक्तं भुञ्जते। तदितरे त्वग्निना नीतं भुञ्जत इत्यागमनश्रुतिर्हविर्नयनश्रुतिश्चोभयमुपपद्यते।

श्राद्धेषु यद्यप्यतीताः पित्रादय आगच्छन्तीति स्मर्यते, तथापि तेषामधिष्ठातार आजानपितरः सन्तीति तत्पितृपितामहप्रपितामहानां वसुरुद्रादित्या वरुणप्रजापत्यग्नयः मासर्तुसंवत्सरा विष्णुब्रह्ममहेश्वराः प्रद्युम्नसङ्कर्षण-वासुदेवाः स्कन्दचण्डगणेशा ईशसदाशिवशान्ताश्चाधिष्ठातारः स्मृतिपुराणागमेषु दर्शिताः। अन्ये चाग्निष्वात्ता बर्हिषद आज्यपाः सुकालिन आजानपितरो वर्णिताः। तेषु तत्तदधिकारिभेदव्यवस्थया तदव्यवस्थया चान्ये श्राद्धीयेषु होमपिण्ड-भोजनेषु भोक्तारः। यथा गर्भवृद्ध्युद्देश्येन सुहृद्भिर्दत्तं दौर्हृदं भुक्त्वा तृप्यन्त्यो गर्भिण्यो गर्भानपि पोषयन्ति सुहृदश्च प्रत्युपकुर्वन्ति, तथा पित्राद्युद्देश्येन पुत्रादिभिर्दत्तमन्नं भुक्त्वा तृप्तास्तदधिष्ठात्र्यो देवताः पित्रादीनपि तर्पयन्ति पुत्रादिभ्यः श्राद्धकल्पोक्तप्रदानेनोपकुर्वन्ति च। तदुक्तम्—'वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः। प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेषु तर्पिताः॥ एवमेते महात्मानः श्राद्धे सत्कृत्य पूजिताः। सर्वान् कामान् प्रयच्छन्ति शतशोऽथ सहस्रशः॥' तेषां सर्वेषामागमनं न स्मर्यते। अतीतपितॄणां स्थावरतिर्यङ्मनुष्यनारकजन्मप्राप्तानामागमनं न सम्भवतीति तदर्थत्वे 'अवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी' (वा० सं० १९।६६) इति श्राद्धीयहविर्नयनश्रवणं सङ्गच्छते।

यच्च—'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति' इति देवाशनपानप्रतिषेधः, तत्तु प्रकृतपञ्चामृतमात्र-विषयः। 'रोहितगुणात्मकान्यमृतानि' तेषां दर्शनमात्रेण तृप्तिरुक्ता। यद्यप्यैन्द्रभारतेष्ट्यादिष्वाहूतप्रत्याख्यातानां

जहाँ 'अग्नि को पहले बुलाओ', 'इन्द्र आओ' इत्यादि वाक्यों से जिन देवताओं को बुलाया जाता है, वे ही वहाँ आकर छोड़ी गई हवि का ग्रहण करते हैं, इनसे भिन्न देवगण अग्नि के द्वारा उनके पास पहुँचाई गई हवि का। इस प्रकार देवताओं के आगमन का प्रतिपादन करने वाली और अग्नि के द्वारा हवि को उस देवता तक पहुँचाने का प्रतिपादन करने वाली उभयविध श्रुतियों की संगति बैठ जाती है।

श्राद्ध में यद्यपि अतीत अर्थात् मृत पिता, पितामह आदि का आगमन सुना जाता है, तो भी उनके अधिष्ठाता आजान पितृगण हैं, अतः पिता, पितामह और प्रपितामह के वसु, रुद्र और आदित्य; वरुण, प्रजापति और अग्नि; मास, ऋतु और संवत्सर; विष्णु, ब्रह्मा और महेश्वर; प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव; स्कन्द, चण्ड और गणेश; ईश, सदाशिव और शान्त—ये देवगण अधिष्ठाता हैं, ऐसा स्मृति, पुराण और आगम शास्त्र में प्रदर्शित है। इनके अतिरिक्त अग्निमुख, कुशासन पर बैठने वाले, घृत पीने वाले, शुभ काल के सूचक, आजान पितृगण भी वर्णित हैं। इनमें से प्रत्येक का अधिकार व्यवस्थापूर्वक निश्चित किया गया है, अतः श्राद्धीय होम, पिण्डदान और भोजन में ये तदनुसार ही उपस्थित होते हैं। जैसे गर्भ की वृद्धि के निमित्त शुभचिन्तक मित्रों के द्वारा दिये गये दोहद को खाकर तृप्त हुई गर्भिणी स्त्री अपने गर्भ की भी पुष्टि करती है और अपने मित्रों को भी उपकृत करती है, वैसे ही पिता आदि के निमित्त पुत्र आदि के द्वारा दिये गये अन्न को खाकर तृप्त हुए ये अधिष्ठाता देवगण उनके पितरों को भी तृप्त करते हैं और पुत्रादि को भी श्राद्धकल्पोक्त फल देते हैं। निम्न श्लोकों में यही बात कही गई है—'वसु, रुद्र, आदित्य आदि पितृगणों के अधिष्ठाता देवता हैं। ये श्राद्ध में स्वयं तृप्त होकर श्राद्ध करने वाले के पितरों को भी तृप्त कर देते हैं। इसी प्रकार ये महात्मा देवगण श्राद्ध में सत्कार पूर्वक पूजे जाने पर पूजने वालों की सैकड़ों-हजारों कामनाओं को भी पूरी करते हैं। इन सबका आगमन शास्त्र में नहीं सुना गया। बीते जमाने के पितृगणों का, जिनका कि जन्म स्थावर, तिर्यक्, मनुष्य अथवा नारक आदि योनियों में हो चुका है, श्राद्ध स्थल में उपस्थित हो पाना संभव नहीं है, इस लिये उनके लिये 'हवि को सुरभित करके ले जाता है' इस प्रकार श्राद्धीय हवि को ले जाने की जो बात सुनी जाती है, वह उचित ही है।

'देवता न कुछ खाते हैं, न पीते हैं' इस प्रकार देवताओं के खाने-पीने का जो निषेध सुना जाता है, वह केवल प्रस्तुत पंचामृत के लिये है। 'अमृत रोहित गुण वाला है।' इनके दर्शन मात्र से ही तृप्ति बताई गई है। यद्यपि ऐन्द्रभारत आदि इष्टियों में बुलाकर बिना हवि दिये वापस कर दिये गये देवताओं के निमित्त पुनः दी गई हवि से उन देवताओं की तृप्ति लोकविरुद्ध है और

पुनस्तदुद्देश्येन त्यक्तैरपि हविर्भिः प्रीतिर्लोकविद्विष्टा, यद्यपि च प्रीतिमतीनां देवतानां कल्पान्तरभाविफलप्रदातृत्वं न सम्भवति, तथापि यत्र प्रीतिः सम्भवति तत्र फलप्रदायां प्रीतौ सा द्वारमिति कल्पनायां न काचिदनुपपत्तिः। ईश्वरस्यापि प्रीतिः कर्मणः तदाश्रितकारकेण वा फलोत्पत्तौ द्वारमात्रम्, न तु तयोरीश्वरप्रीतावुपक्षय इति कर्मतत्कारकवैचित्र्यमप्युपपद्यत इत्यादिकं न्यायरक्षामणौ।

प्राणशब्देन क्वचित् परमात्मा गृह्यते। यथा छान्दोग्योपनिषदि—'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत् कतमा सा देवतेति ॥४॥ प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' (छा० उ० १।११) उषस्तिचाक्रायणऋषिर्धनकामनया राज्ञो यज्ञमभिगम्य ज्ञानवैभवमात्मनः प्रकटयितुं प्रस्तोतारमुवाच—हे प्रस्तोतः, या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् मम विदुषः समक्षं प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते व्यपतिष्यति। स प्रस्तोता (ऋत्विक्) भीतः सन् पप्रच्छ कतमा सा देवतेति, तत्प्रतिवचनं 'प्राणः'। प्राणमभिलक्ष्य सर्वाणि भूतानि लयकाले संविशन्ति, उत्पत्तिकाले तत एवोज्जिहते उद्गच्छन्ति। इत्यत्र प्राणशब्देन ब्रह्मैव विवक्षितम्, 'अत एव प्राणः' (ब्र० सू० १।१।२३) इत्यत्र बादरायणेन तथैव निर्णयात्। 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२), 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) इत्यादिस्थलेषु ब्रह्मण्येव प्राणशब्दप्रयोगः। तदर्थस्तु—हे सोम्य! मनः मनउपाधिको जीवः प्राणबन्धनं बध्यतेऽस्मिन्निति बन्धनं प्राणः कारणब्रह्म बन्धनमाश्रयो यस्य तत् प्राणबन्धनमर्थात् सुषुप्तौ मनउपाधिको जीवो ब्रह्मण्येव प्रविलीयते। 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति श्रुतेः। यथा दग्धुरग्नितादात्म्यापन्नस्यायःपिण्डस्य दग्धा शुद्धोऽग्निरुच्यते, तथैव प्राणस्य जीवनधारणहेतोः प्राणः परमेश्वर एव। प्राणशब्देन वायुविकारः पञ्चवृत्तिः प्राणोऽपि लोके वेदे प्रसिद्धः।

यद्यपि प्रसन्न हुए देवतागण में यह सामर्थ्य नहीं है कि वे कल्पान्तर में होने वाले फल का विधान कर सकते हों, तो भी ऐसे स्थलों में जहाँ कहीं भी प्रीति होती है, वह फल प्रदान करने वाली प्रीति में सहायक मानी ही जा सकती है। इस कल्पना में कोई अनुपपत्ति नहीं प्रतीत होती। ईश्वर की प्रीति भी शुभाशुभ कर्म के द्वारा अथवा तदाश्रित अदृष्ट के द्वारा फल की उत्पत्ति में सहायक मात्र होती है, कर्म अथवा तज्जन्य अदृष्ट का केवल ईश्वर की प्रीति ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। इस प्रकार कर्मवैचित्र्य की भी सार्थकता इसलिये सिद्ध होती है कि उनकी फलवैचित्र्य में ईश्वर प्रीति के द्वारा कारणता बनी रहती है। अप्पय दीक्षित ने इस विषय को अपने न्यायरक्षामणि नामक ग्रन्थ में विस्तार से समझाया है।

प्राण शब्द से कहीं परमात्मा का ग्रहण होता है। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् के 'प्रस्तोतर्या देवता' इत्यादि वाक्य में है। यहाँ पर बताया गया है कि उषस्ति चाक्रायण ऋषि धन पाने की इच्छा से किसी राजा के यज्ञ में जाते हैं। वहाँ पर अपने ज्ञान के वैभव को प्रकट करने के लिये वे प्रस्तोता से कहते हैं कि हे प्रस्तोतः, तुम्हारे द्वारा की जा रही इस स्तुति की कौन सी देवता है, इसको जाने बिना मेरे जैसे विद्वान् के सामने यदि तुम स्तुति करोगे तो तुम्हारा शिर टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। उस ऋत्विक् ने डर कर पूछा कि वह कौन सी देवता है। उसका उत्तर था कि 'प्राण'। प्रलयकाल में सब प्राणी प्राण में प्रवेश कर जाते हैं और सृष्टिकाल में प्राण से ही पुनः निकल पड़ते हैं। अतः यह 'प्राण' ही प्रस्तुत स्तुति का विषय हो सकता है। यहाँ पर 'प्राण' शब्द से 'ब्रह्म' अभिप्रेत है। बादरायण ने 'प्राणः' इस सूत्र में यही निर्णय किया है। 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (हे सोम्य, मन प्राण से बँधा हुआ है), 'प्राणस्य प्राणम्' (यह प्राण का भी प्राण है) इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में ब्रह्म के लिये प्राण शब्द आया है। इसका अभिप्राय यह है कि हे सोम्य! मन उपाधिक जीव प्राणरूपी कारणब्रह्म के आश्रित है, अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में मन उपाधिक जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। श्रुति कहती है कि 'हे सोम्य, उस सुषुप्ति अवस्था में यह जीव सत् से सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है'। जैसे धधकते अङ्गारे के समान जलता हुआ लोहे का टुकड़ा जला देने की सामर्थ्य रखता है, किन्तु यह शक्ति उसमें शुद्ध अग्नि से प्राप्त होती है, उसी तरह प्राण के कारण ही यद्यपि जीव जीवित रह सकता, किन्तु उस प्राण को यह शक्ति देने वाला परमात्मा ही है। प्राण शब्द से लोक और वेद में वायु का विकार प्राण, अपान आदि पाँच वृत्ति वाला प्राण भी प्रसिद्ध है।

यद्यपि प्रपञ्चोत्पत्तिहेतुत्वं पारमेश्वरं कर्मेति परमेश्वरत्वं तल्लिङ्गत्वात् सुगमम्, तथापि 'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः', 'स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायते' (श० ब्रा० १०।३।३।६) इति प्राणस्यापि वागादिप्रलयोत्पत्तिहेतुत्वश्रवणात् पञ्चवृत्तिः प्राण एवात्र विवक्षितः स्यादिति भवति संशयः। दृश्यते च सुप्तौ प्राणवृत्तावपरिलुप्यमानायामेवेन्द्रियादिवृत्तयो विपरिलुप्यन्ते ? प्रबोधे च पुनरुद्भवन्ति। इन्द्रियसारत्वाच्च भूतानामपि तत्रैव भूतसंवेशनोद्गमनबोधकवचनमपि सङ्गच्छत इति पूर्वपक्षय्य बादरायण आह— 'अत एव प्राणः' (ब्र० सू० १।१।२३) तल्लिङ्गादेव प्राणशब्दबोध्यमपि परं ब्रह्मैव भवितुमर्हति। प्राणशब्दबोधिते ब्रह्मण्येव भूतसंवेशनोद्गमनश्रवणात्। प्रसिद्धप्राणे तु स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेवाप्ययोद्गमौ श्रूयेते। प्रस्ताव-मन्वायत्ते प्राणे तु सेन्द्रियाणां सशरीराणां जीवाविष्टानां भूतानामप्ययोद्गमनश्रवणम्, 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' (छा० १।११।५) इति श्रुतेः।

ननु 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कश्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैवं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' (कौ० ३।३) इति श्रुत्या विषयैः सहैवेन्द्रियाणां प्राणेऽप्ययः प्राणाच्च प्रभवः स्वापप्रबोधयोः श्रूयत इति चेन्न, तत्रापि तल्लिङ्गाद् ब्रह्मपर एव प्राणशब्दो ज्ञातव्यः। तस्मात् प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वमेव।

एवमेव 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३।३), 'एष प्राण एव प्रज्ञात्मान-न्दोऽजरोऽमृतः' (कौ० ३।९) इत्यत्रापि प्राणशब्दव्यपदेश्यं ब्रह्मैव। तदपि 'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० १।१।२८) इत्यत्र निर्णीतम्। यद्यपि तल्लिङ्गन्यायेनात्रापि प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृत इति ब्रह्मलिङ्गात् सुकरो ब्रह्मपरत्वनिर्णयः, तथाप्य-नेकलिङ्गदर्शनात् संशयः। 'मामेव विजानीहि' (कौ० ३।१) इतीन्द्रवचनं देवतात्मलिङ्गम्, इदं शरीरं परिगृह्योत्थाप-

यद्यपि प्रपंच की उत्पत्ति करना परमेश्वर का ही काम है और इस प्रपंच के कारणरूप परमेश्वर को समझ लेना सरल है, तो भी 'जब यह पुरुष सो जाता है, तब वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन ये सब प्राण में लीन हो जाते हैं', 'जब वह जागता है तो फिर प्राण से ही वे सब निकल आते हैं' इत्यादि स्थलों में प्राण को भी वाणी आदि के प्रलय और उत्पत्ति का कारण बताया गया है। इससे यह संशय होने लगता है कि यहाँ पर प्राण, अपान आदि पाँच वृत्ति वाला प्राण ही अभिप्रेत हो सकता है। सुषुप्ति अवस्था में देखा गया है कि प्राणवृत्ति लुप्त नहीं होती और इसके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों की वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं। जागने पर ये पुनः उद्बुद्ध हो जाती हैं। इन्द्रियाँ भूतों का सार तत्त्व है। अतः इन्द्रियों के ही उदाहरण से भूतों के लय और सृष्टि का आधार भी यही प्राण माना जाना चाहिये। बादरायण ने इसी आशय के पूर्वपक्ष को रखकर तदनन्तर 'अत एव प्राणः' इस सूत्र से उसका उत्तर दिया है। इसका अभिप्राय है कि इसी प्रमाण से यह प्रतीत होता है कि प्राण शब्द से यहाँ पर परब्रह्म का ही बोध होता है कि प्राण शब्द से अभिप्रेत ब्रह्म में ही भूतों का विलयन और उद्गमन सुना जाता है। लोकप्रसिद्ध प्राण में केवल सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों का ही विलयन और उद्गमन होता है। इसके विपरीत प्रस्ताव भक्ति (स्तुति) से अन्वित प्राण में इन्द्रिय और शरीर सहित जीवों का और तदाविष्ट भूतों का भी विलयन और उद्गमन 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुतियों में बताया गया है।

'सुषुप्ति अवस्था में जब यह किसी स्वप्न को भी नहीं देखता, उस समय अकेला प्राण रह जाता है, तब अपने सब स्वरूपों के साथ वाणी इसमें लीन हो जाती है' इस श्रुति से यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे यह श्रुति कहती हो कि क्रमशः स्वाप और प्रबोध अवस्था में विषयों के साथ इन्द्रियाँ प्राण में लीन होती हैं और प्राण से ही निकलती हैं, तो भी प्राण शब्द से यहाँ पर भी ब्रह्म ही गृहीत होता है, पंचवृत्ति प्राण नहीं। इसलिये प्रस्ताव भक्ति में संस्तुत प्राण देवता ब्रह्म ही है।

इसी तरह 'प्रज्ञानात्मा प्राण ही इस शरीर को ग्रहण कर उसको उठाता है', 'यह प्रज्ञानात्मा प्राण आनन्द, अजर, अमृत है' इत्यादि स्थलों में भी प्राण शब्द से ब्रह्म ही का बोध होता है। इसका निर्णय ब्रह्मसूत्र में 'प्राणस्तथाऽनुगमात्' यहाँ पर किया गया है। यद्यपि यहाँ पर भी 'प्रज्ञानात्मा आनन्द, अजर, अमृत है' इन लक्षणों से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ पर ब्रह्म ही वर्णित है, किन्तु साथ ही अन्य अनेक लक्षण भी यहाँ पर वर्णित हैं। जैसे कि 'मुझे ही जानो' इन्द्र का यह वचन देवता का बोधक है। 'इस शरीर का

यतीति प्राणलिङ्गम्, 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' (कौ० ३।८) इति जीवलिङ्गम्। तथा चानेकलिङ्गदर्शनात् संशयः। तथापि ब्रह्मपरमेव तद्वाक्यं ज्ञेयम्, कुतोऽनुगमात्, पौर्वापर्येण वाक्ये पर्यालोच्यमाने पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते। तथा हि 'वरं वृणोष्व' इतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनः परमं पुरुषार्थं वरमुपचिक्षेप 'त्वमेव वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' (कौ० ३।१), तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः परमात्मैव स्यादिति युक्तम्, परमात्मज्ञानादन्यत्र हिततमप्राप्त्यसम्भवात्। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) इति श्रुतेः। परमात्मविज्ञान एव सर्वकर्मक्षयोपपत्तिः। 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते' (कौ० ३।१) इत्यपि ब्रह्मपरमेव वाक्यं सूचयति। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मु० २।२।८) इति परमात्मविज्ञान एव सर्वकर्मक्षयबोधनम्।

प्रज्ञात्मत्वं चापि ब्रह्मपक्ष एव युज्यते, अचेतनस्य वायुमात्रस्य प्राणस्य प्रज्ञात्मत्वानुपपत्तेः। उपसंहारेऽपि 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' (कौ० ३।९) इत्यानन्दादीन्यपि न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्यक् सम्भवन्ति। 'स न साधुना कर्मणा भूयान् भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' इति शाङ्करभाष्ये उद्धृता श्रुतिः 'एष लोकाधिपतिरेष लोकपाल एष लोकेशः' इति शाङ्करभाष्ये उद्धृता च श्रुतिः (कौ० ३।९) इत्यत्रोपलभ्यते। तदेतत्सर्वं परमात्मन्येव सम्भाव्यते। तस्मात् प्राणो ब्रह्मैव, प्रत्यगात्मसम्बन्धबाहुल्याच्च। 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' (कौ० ३।८) इत्युपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिता एष प्राण एष प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' (कौ० ३।९) विषयेन्द्रियव्यवहारानभिभूतप्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति। 'स म आत्मेति' (कौ० ३।९) इति चोपसंहारः परमात्मग्रहण

आश्रय कर उसको उठाता है' यह वचन प्राण का बोधक है। वाणी को नहीं, उसको बोलने वाले को जाने' यह वाक्य जीव का परिचायक है। इस प्रकार प्रज्ञानात्मा में एक साथ अनेक लक्षणों का समावेश हो जाने से संशय उठना स्वाभाविक है, तो भी अनुगम के कारण इन सब वाक्यों की संगति ब्रह्म में ही मानी जानी चाहिये। जब हम पहले के और बाद के वाक्यों की आलोचना करते हैं, तो उनकी संगति ब्रह्म के प्रतिपादन में ही पूरी तरह से बैठती है। जैसे कि 'वर माँगो' इन्द्र के ऐसा कहने पर प्रतर्दन ने परम पुरुषार्थ को ही वर के रूप में माँगा कि 'जिसको तुम मनुष्य के लिये हिततम समझते हो, वही वर मुझे दो'। इन्द्र ने इसके बाद प्रतर्दन को मनुष्य के लिये हिततम (सबसे अधिक कल्याणकारी) मान कर प्राण का उपदेश दिया। यह प्राण परमात्मा ही हो सकता है। परमात्मा के ज्ञान के सिवाय अन्यत्र कहीं से भी हिततम की प्राप्ति हो नहीं सकती; क्योंकि श्रुति ने कहा है कि—'उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से ऊपर उठकर अमृतत्व को प्राप्त करता है, इसके सिवाय उस पद की प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं है'। परमात्मा का ठीक से जानने पर ही सब कर्मों का क्षय हो सकता है। 'जो मुझे जान लेता है, उसका कोई कर्म जन्मान्तर का कारण नहीं बनता' यह वाक्य भी ब्रह्म का ही बोधक है। 'उस परात्पर परमात्मा को देख लेने पर सब कर्मों का क्षय हो जाता है' यह श्रुति बतातो है कि परमात्मा को जानने से ही सब कर्मों का क्षय होता है।

प्रज्ञानात्मा भी ब्रह्म ही हो सकता है, अचेतन वायुमात्र प्राण नहीं। उपसंहार में 'आनन्द, अजर, अमृत' यहाँ प्रदर्शित आनन्द आदि धर्म भी ब्रह्म के सिवाय अन्यत्र कहीं सम्यक् रूप से नहीं मिल सकते। 'वह भले कामों से न तो बढ़ता है और न बुरे कामों से छोटा होता है। वह भगवान् ही उस व्यक्ति से भले काम कराता है, जिसको कि वह इस लोक से ऊपर उठाना चाहता है', 'यह लोकाधिपति, लोकपाल और लोकेश है' इस प्रकार की श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं। यह सब परमात्मा में ही संभव हो सकता है। इसलिये यहाँ पर प्राण शब्द ब्रह्म का हो बोधक है। उपसंहार वाक्यों का संबन्ध अधिकतर प्रत्यगात्मा में मिलता है, इससे भी उक्त बात ही सिद्ध होती है। 'वाणी को नहीं, वाणी को बोलने वाले को जाने' इस वाक्य से आरम्भ कर 'जैसे कि रथ की अरा में नेमि जुड़ी है और नाभि में अरा जुड़ी है, इसी तरह भूतमात्रा प्रज्ञामात्रा में और प्रज्ञामात्रा प्राण में अर्पित है। यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर, अमृत है' इस प्रकार विषय और इन्द्रिय के व्यवहार से असंपृक्त प्रत्यगात्मा का बोध उपसंहार में कराया गया है।

एवोपपद्यते। 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० सू० १।१।३०), 'मामेव विजानीहि' (कौ० ३।१) इति प्रत्यक्-परमात्माभेदविवक्षया प्रत्यगात्मत्वेन तस्यैव व्यपदेशः।

तथाप्यन्यत्र हिरण्यगर्भरूपमपरब्रह्मैव प्राणशब्दार्थः। तथाहि—'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० उ० २।७), 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के ते ऋषय इति। प्राणा वाव ऋषयः' इत्यत्र प्रागुत्पत्तेः प्राणानां स्थितिः श्रूयते। तथा 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३), 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २।१।८) इत्यत्र प्राणस्योत्पत्तिरपि श्रूयते। परमात्मनश्च—'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २।१।२) इति प्राणभिन्नत्वं श्रूयते। उत्पत्तिमत्त्वेऽपि स्वविकारापेक्षया प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावो न विरुद्ध्यते। 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' (तै० सं० ५।१।७।१), 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' (तै० सं० ५।३।२।५) इत्यादिभिः 'तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यादौ च परमात्मभिन्नप्राणस्य तमनु प्राणानां वागादीनामुत्क्रमणं श्रूयते। 'अणवश्च' (ब्र० सू० २।४।७) इत्यनेन सूक्ष्मत्वात् परिच्छिन्नत्वाच्चाणुत्व-मुक्तम्, न परमाणुतुल्यत्वात्, कृत्स्नदेहव्यापिकार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्मात् सूक्ष्माः परिच्छिन्नाश्च प्राणाः। 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५।१।१) तस्य देहे प्रथमवृत्तिलाभाद् ज्येष्ठत्वं श्रेष्ठत्वं चोक्तम्। 'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' (बृ० ६।१।१३) इह मुख्यप्राणस्य श्रेष्ठत्वमुक्तम्।

'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्' (ब्र० सू० २।४।९) स प्राणो न वायुः, प्राणापानादयोऽपि न, नापि करण-व्यापाररूपा क्रिया। कुतः? पृथगुपदेशात्। वायोः प्राणस्य पृथगुपदेशात्। 'स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३।१८।४), 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति प्राणस्येन्द्रियादिभ्यः पृथगुपदेशात्

'वही मेरा आत्मा है' यह उपसंहार वाक्य भी परमात्मा में ही संगत हो सकता है। 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो' इत्यादि ब्रह्मसूत्र में और 'मामेव विजानीहि' इत्यादि श्रुतियों में प्रत्यग् परमात्मा के साथ अभेद की विवक्षा होने से प्रत्यगात्मा शब्द से परमात्मा का ही व्यपदेश होता है।

इस प्रकार यद्यपि यहाँ पर प्राण शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण होता है, तो भी ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ पर प्राण शब्द से हिरण्यगर्भ रूप अपर ब्रह्म बोधित होता है। जैसे कि 'सृष्टि के प्रारम्भ में असत् की सत्ता थी', 'वह असत् क्या था? इसके उत्तर में बताया गया है कि ऋषि असत् रूप में थे। वे ऋषि कौन थे? बताया गया है कि प्राण ऋषि थे' यहाँ पर सृष्टि की उत्पत्ति के पहले प्राणों की स्थिति बताई गई है। इसी तरह 'इसी से प्राण, मन और सब इन्द्रियों को उत्पत्ति होती है', 'उससे सप्त प्राण उत्पन्न होते हैं' यहाँ पर भी प्राण की उत्पत्ति सुनी गई है। 'वह परमात्मा प्राण और मन से भिन्न शुभ्र वर्ण है' यहाँ पर परमात्मा को प्राण से भिन्न माना है। यद्यपि प्राण की भी उत्पत्ति होती है, तो भी अपने विकारों की अपेक्षा यह पूर्व उत्पन्न होता है। इसलिये सृष्टि के प्रारम्भ में इसकी सत्ता मानी जाती है। 'सात प्राण मनुष्य के शिरोभाग में रहते हैं', 'सात प्राण मनुष्य के शिरोभाग में और दो अधोभाग में रहते हैं', 'शरीर से आत्मा के निकल जाने पर प्राण उसके पीछे निकलते हैं और प्राण के निकल जाने पर उसके साथ और सब प्राण निकल पड़ते हैं' इत्यादि स्थलों में परमात्मा से भिन्न प्राण का तथा वाणी इत्यादि अन्य सब प्राणों का शरीर से उत्क्रमण बताया गया है। 'अणवश्च' इस ब्रह्मसूत्र में प्राणों की सूक्ष्मता और परिच्छिन्नता के कारण उसको अणु कहा गया है, परमाणु की तरह होने के कारण नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर सारे शरीर में व्यापृत कार्यों की उत्पत्ति न हो सकेगी। इसलिये प्राण सूक्ष्म और परिच्छिन्न है। 'प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं' यहाँ पर प्राण को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ इसलिये कहा है कि शरीर में सबसे पहले प्राण का व्यापार ही प्रारंभ होता है। 'तुम्हारे बिना हम जीने में समर्थ नहीं होंगे' यहाँ पर मुख्य प्राण की श्रेष्ठता बताई गई है।

'न वायुक्रिये' यहाँ बादरायण सूत्र में बताया गया है कि वह प्राण वायु से भिन्न है। प्राण अपान आदि से भिन्न है और यह प्राण करणव्यापार रूप क्रिया भी नहीं है, क्योंकि वायु से प्राण का अलग से उपदेश है। 'वह वायु की ज्योति से प्रकाशित होता है और तपता है।' 'इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं'-यहाँ पर इन्द्रिय इत्यादि से भिन्न प्राण का उपदेश है। इससे

वागादिकरणवृत्तित्वमपि नोपपद्यते। ननु कथं तर्हि 'यः प्राणः स वायुः' इति प्राणस्य वायुरूपत्वमेवोक्तमिति चेन्न, अध्यात्ममापन्नस्य पञ्चव्यूहात्मनाऽवतिष्ठमानस्य प्राणशब्दवाच्यत्वात्। यतो नापि तत्त्वान्तरं नापि वायुमात्रम्, तस्मात् प्राणस्य वायोश्च भेदोऽभेदश्चोपपद्यते।

'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एवैको जागर्ति प्राण एवैको मृत्युनाऽनाप्तः प्राणः संवर्गो वागादीन् संवृङ्क्ते प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्' इत्यादिरूपो मुख्योऽपि प्राणो राजमन्त्रिवज्जीवस्य सर्वार्थकारित्वेन जीवस्योपकरणभूतश्च न स्वतन्त्रः। 'अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे' (छा० ५।१।६) इत्युपक्रम्य 'यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठः' (छा० ५।१।७) इत्युपन्यस्य प्रत्येकं वागाद्युत्क्रमणेनैकैकवृत्तिमात्रहीनं यथापूर्वं जीवनदर्शनात् प्राणोच्चिक्रमिषायां वागादिशैथिल्यापत्तिं शरीरपातप्रसङ्गं च दर्शयन्ती श्रुतिः 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथा अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' (प्र० २।३) इति चैतमेवार्थं द्रढयति। 'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' (बृ० ४।३।१२) इति चक्षुरादिसुप्तौ प्राणनिमित्तां शरीररक्षां दर्शयति। 'कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' (प्र० ६।३), 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इति च तन्निमित्तैव जीवोत्क्रान्तिः श्रूयते। मनोवदेव स प्राणापानादिपञ्चवृत्तिः। 'अणुश्च' (ब्र० सू० २।४।१३) इति मुख्यप्राणोऽपि सौक्ष्म्यात् परिच्छिन्नत्वाच्चाणुः। स एवाधिदैविकेन समष्टिव्यष्टिरूपेण हैरण्यगर्भेण प्राणात्मना विभुरूपेणाम्नायते। आध्यात्मिकेन रूपेण परिच्छिन्नः 'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः' (बृ० १।३।२२) इति श्रुतेः।

इसको वागादि करण वृत्तिरूप भी नहीं माना जा सकता। 'जो प्राण है, वही वायु है' यहाँ पर वायु को ही प्राण इसलिये कहा गया है कि अध्यात्म में प्रवेश कर वायु ही पांच व्यूहों में विभक्त होकर निवास करती है, क्योंकि वह न तो वायु से भिन्न कोई नया तत्त्व है और न केवल वायु ही है। इसलिये प्राण और वायु का भेद भी है और अभेद भी।

'वाणी इत्यादि के सो जाने पर अकेला प्राण जागता है, यह प्राण ही मृत्यु की पकड़ में नहीं आता। यह संवर्ग प्राण वाणी इत्यादि इन्द्रियों का वरण करता है। माता जैसे पुत्र की रक्षा करती है, उसी तरह यह प्राण दूसरे प्राणों की रक्षा करता है' यहाँ पर वर्णित मुख्य प्राण भी राजा के मन्त्री के समान जीव के सब प्रयोजनों को पूरा करने के कारण वह जीव का उपकरण है, स्वतन्त्र नहीं। 'प्राण इत्यादि में अपनी श्रेष्ठता के बारे में विवाद उठ खड़ा हुआ' यहाँ से आरम्भ कर 'जिसके निकल जाने पर यह शरीर घोर पातकी के समान अस्पृश्य हो जाता है, वही तुममें श्रेष्ठ है' यह कह कर वाणी प्रभृति प्रत्येक इन्द्रिय के शरीर से निकल कर बाहर जाने पर शरीर केवल एक वृत्ति से रहित भले ही हो जाता है, किन्तु उसमें जीवन पहले के समान ही विद्यमान रहता है! प्राण जब निकलने की तैयारी करता है तो वाणी प्रभृति सारी इन्द्रियों की शिथिलता और शरीर की मृत्यु के प्रसंग को दिखाती हुई श्रुति कहती है कि—'वरिष्ठ प्राण ने उन वाणी प्रभृति प्राणों से कहा कि तुम सब मोह में मत पड़ो। मैं ही अपने को पाँच रूपों में विभक्त कर इस शरीर को धारण करता हूँ' इस प्रकार यह पूरा प्रकरण मुख्य प्राण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है। 'प्राण इस घोंसले की रक्षा करता है' यह श्रुति कहती है कि चक्षु आदि इन्द्रियों के सो जाने पर प्राण के द्वारा शरीर की रक्षा होती है। 'किसके निकलने पर मैं निकलूंगा और किसके ठहरने पर मैं ठहरूंगा', 'उसने प्राण की सृष्टि की' यहाँ पर प्राण प्रयुक्त ही आत्मा की उत्क्रान्ति बताई गई है। मन के समान ही इसकी भी प्राण, अपान आदि पाँच वृत्तियाँ हैं। 'अणुश्च' इस सूत्र में मुख्य प्राण को भी सूक्ष्म और परिच्छिन्न होने से 'अणु' बताया गया है। वही प्राण आधिदैविक समष्टि-व्यष्टि रूप में हिरण्यगर्भ के प्राण के रूप में जब वर्णित होता है, तो विभु कहलाता है। आध्यात्मिक रूप से जब वह शरीर से परिच्छिन्न होता है, तो—'चिनगारी के समान, मच्छर और नाग के समान तथा इन तीनों लोकों के समान होता है' इस श्रुति के अनुसार न केवल सूक्ष्म एवं परिच्छिन्न, अपि तु विभु और अपरिच्छिन्न भी रहता है।

'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च, ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः' (बृ० १।३।१) इत्युपक्रम्य 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायत्। यत्कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्' (बृ० १।३।२), 'चक्षुरूचुः' (बृ० १।३।४), 'मन ऊचुः' (बृ० १।३।६), 'तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्। स यथाश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंसेतैवं हैव विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशुः' (बृ० उ० १।३।७) इत्यादिभिर्वागादीनामासुरपाप्मविद्धता, मुख्यप्राणस्यासुरपाप्मनाऽविद्धत्वात् तस्यैवोपास्यत्वमुक्तम्। पाप्मासङ्गलक्षणमृत्युदूरत्वात् तस्य दूर्नामोक्तम्। 'सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयाञ्चकार' (बृ० १।३।१०) इति प्राण एव वागादीनां पाप्मासङ्गमपहत्य दिगन्तप्रापणेन वागादीनां व्यष्टचभिमानमपसार्य समष्टचग्न्यादिभावं प्रापयामास। अत्र मुख्यस्य प्राणस्य समष्टि-हिरण्यगर्भप्राणाभेदेनोपास्यतोक्ता। 'सोऽग्निरभवत्' (बृ० १।३।१२), 'स वायुरभवत्' (बृ० १।३।१३), 'स आदित्योऽभवत्' (बृ० १।३।१४) इति श्रुतेः।

तस्यैवाङ्गिरसबृहस्पतिब्रह्मणस्पतिसामादिरूपेण चोपास्यतोक्ता। समष्टिलिङ्गशरीराभिमानिचैतन्यस्यैव हिरण्यगर्भत्वं प्राणरूपत्वं चोक्तम्। तदुपासनपरिपाकेनोपासक इतरानवरोपासकानभिभूय 'पाप्मन औषत्' (बृ० १।४।१) पाप्मादिदाहात् पुरुषो भवति। हिरण्यगर्भो भूत्वापि 'सोऽबिभेत्' (बृ० १।४।२), 'स वै नैव रेमे' (बृ० १।४।३) इति तस्यापि भयारत्यादिमत्त्वेन संसारधर्मानतिक्रान्तिरुक्ता। वैराग्यपरब्रह्मवेदनाय च कारणब्रह्मरूपस्यान्तर्यामिण एव समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानेन हिरण्यगर्भत्वं समष्टिस्थूलशरीरवैशिष्टचेन विराड्रूपत्वं माण्डूक्यादावुक्तम्। उपासकानां च तद्भावापन्नानां तद्रूपत्वं तदंशेनैव तत्र भयारत्यादिमत्त्वं विज्ञेयम्। अन्तर्याम्यादीनां त्वीश्वरत्वमेव। अतस्तस्मात

'देव और असुर प्रजापति की सन्तान हैं। इनमें देवता छोटे और असुर बड़े हैं' यहाँ से आरम्भ कर 'उन्होंने वाणी से कहा कि हमारे लिये उद्गीथ का गान करो। वाणी ने उनकी बात स्वीकार कर ली। वाणी में जो भोग था, उसको देवताओं के लिये और जो कल्याण था, वह अपने लिये रख लिया। जब असुरों ने यह समझ लिया कि इस उद्गीथ गान से हमारी विजय नहीं हो सकती तो उन्होंने वाणी को पाप से घेर दिया। इसी तरह चक्षु, मन आदि को भी पाप से घेर दिया। इस प्रकार पत्थर पर गिर कर मिट्टी का ढेला जैसे बिखर जाता है, उसी भाँति वे चारों तरफ से नष्ट हो गये' इस श्रुति में वाणी प्रभृति इन्द्रियों की असुरों के पाप से विद्धता वर्णित है। मुख्य प्राण से उसकी अविद्धता के कारण मुख्य प्राण ही उपास्य है। पाप से अविद्ध, असंलग्न होने के कारण ही यह मृत्यु से दूर है, अतः इसको 'दूः' नाम से कहा गया है। 'इस मुख्य प्राण देवता ने इन देवताओं के पाप को, मृत्यु को हटा कर उसको दिशाओं के अन्त तक दूर भगा दिया' यहाँ पर प्राण ने ही वाणी प्रभृति से पाप को अलग कर उसको दिशाओं के अन्त में ढकेल दिया है। इसका यह अभिप्राय है कि प्राण ने वाणी प्रभृति का व्यष्टि में विद्यमान अभिमान दूर कर उनमें समष्टिभाव, अग्नि प्रभृति देवताओं के साथ अभेदभाव की प्रतिष्ठा की है। यहाँ पर मुख्य प्राण को समष्टिभूत हिरण्यगर्भ की प्राण से अभिन्न रूप में उपास्यता बताई है। 'वह अग्नि हुआ, वह वायु हुआ, वह आदित्य हुआ' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

इसी की आंगिरस, बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति साम के रूप में उपासना कही गई है। समष्टि लिंगशरीर के अभिमानी चैतन्य को ही हिरण्यगर्भ और प्राण कहा गया है। इसकी उपासना का परिपाक होने पर उपासक अन्य उपासकों को परास्त कर 'पाप्मन औषत्' इस श्रुति के अनुसार सब पापों के जल जाने से 'पुरुष' बन जाता है। हिरण्यगर्भ हो जाने पर भी 'वह डर गया', 'उसको शान्ति-सुख न मिला' इन श्रुतियों में उसके भय, अरति आदि सांसारिक धर्मों से ऊपर न उठ पाने का वर्णन मिलता है। इसी लिये वैराग्य के सहारे परब्रह्म का अवबोध करने के लिये कारणब्रह्म रूप अन्तर्यामी को ही माण्डूक्य आदि श्रुतियों में समष्टि सूक्ष्म-शरीर का अभिमानी होने से हिरण्यगर्भ तथा समष्टि स्थूलशरीर विशिष्ट होने से विराट् कहा गया है। इनके उपासक इनके रूप की उपासना करते करते तद्रूप हो जाते हैं, किन्तु उनमें विद्यमान भय,- अरति आदि से इसलिये विमुक्त नहीं हो सकते कि उनके

प्राणरूपाद् हिरण्यगर्भादेव ब्रह्मक्षत्रादीनामप्युत्पत्तिरुक्ता। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्' (बृ० १।४।११)।

शङ्करभगवत्पादास्तृतीयब्राह्मणोपसंहारे तदुपासनस्वरूपमाहुः—'य एवमेतत्साम प्राणं यथोक्तनिर्धारितमहिमानं वेदाहमस्मि प्राण इन्द्रियविषयासङ्गैरासुरैः पाप्मभिरधर्षणीयो विशुद्धो वागादिपञ्चकं च मदाश्रयत्वादग्न्याद्यात्मरूपं स्वाभाविकविज्ञानोत्थेन्द्रियविषयासङ्गजनितासुरपाप्मदोषवियुक्तं सर्वभूतेषु च मदाश्रयान्नाद्योपयोगबन्धनमात्मा चाहं सर्वभूतानामाङ्गिरसत्वाद् ऋग्यजुःसामोद्गीथभूतायाश्च वाच आत्मा तद्व्याप्तेस्तन्निर्वर्तकत्वाच्च मम साम्नो गीतिभावमापद्यमानस्य बाह्यं धनं भूषणं सौस्वर्यं ततोऽप्यान्तरं सौवर्ण्यं लाक्षणिकं सौस्वर्यं गीतिभावमापद्यमानस्य मम कण्ठादिस्थानानि प्रतिष्ठा। एवं गुणोऽहं पुत्तिकादिशरीरेष कार्त्स्न्येन परिसमाप्तोऽमूर्तत्वात् सर्वगतत्वाच्चात्मा एवमभिमानाभिव्यक्तेर्वेदोपास्तेरित्यर्थः' इति। एवं हिरण्यगर्भमेव प्रकृत्य शङ्कराचार्याः प्राहुः—'केचित् पर एव हिरण्यगर्भः', 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' (ऋ० सं० १।१६४।४६), 'एष ब्रह्मैव इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवाः' इति मन्त्रवर्णात्। स्मृतिरपि—'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥' (मनु० १२।१२३), 'योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥' (म० १।७) इति।

मैक्समूलरमतनिराकरणम्

यत्तु—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋ० सं० १०।१२१।१) एतन्मन्त्रव्याख्यानावसरेऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोऽस्तीति भट्टमोक्षमूलरेण स्वकीये संस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थ उक्तम्, तन्न सङ्गच्छते। यच्च

अंशभूत ही तो वे हैं। अन्तर्यामी प्रभृति तो ईश्वर ही है। इसलिये इस प्राणरूप हिरण्यगर्भ से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि की उत्पत्ति बताई गई है। 'ब्रह्म वा' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है।

भगवत्पाद शंकराचार्य ने अपने बृहदारण्यक भाष्य में तृतीय ब्राह्मण के उपसंहार में उस उपासना का स्वरूप इस तरह बतलाया है—'जो उपासक इस सामरूपी प्राण को जिसकी कि महिमा यहाँ बताई गई है, ठीक से जानता है और समझता है कि मैं इस प्राण में इन्द्रिय, विषय आदि से प्रसक्त असुर प्रदत्त पापों से स्पृष्ट न होने से विशुद्ध हूँ। वाक् प्रभृति पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी मेरी आश्रित हैं, अतः अग्नि आदि तदभिमानी देवताओं की स्वरूपभूत ये इन्द्रियाँ भी स्वाभाविक विज्ञान से, इन्द्रिय और विषय की आसक्ति से उत्पन्न हुए असुर प्रदत्त पापों के दोषों से विमुक्त हैं। सब भूत भी मेरे ही आश्रित हैं, अतः उनकी बन्धनरूपता समाप्त हो गई है। मैं आंगिरस हूँ, अतः सब भूतों का आत्मा हूं। मैं ही ऋक्, यजुः, साम और उद्गीथ रूप वाणी का आत्मा हूँ। उसमें मैं व्याप्त हूँ और उसका निष्पादक हूँ, अतः जब मैं सामगान के रूप में उपस्थित होता हूँ तो मेरा बाहरी धन और भूषण सुरीला स्वर और भीतरी धन सुन्दर वर्ण है। मेरा बाहरी धन ही लाक्षणिक रूप से सामगान के समय कण्ठ आदि स्थानों में प्रतिष्ठित होता है। इन गुणों से युक्त होते हुए भी मैं पुत्तिका शरीर में पूरी तरह से प्रविष्ट हो जाता हूँ और इस परिस्थिति में भी अमूर्त और सर्वगत आत्मा हूँ। इसी अभिमान को अभिव्यक्ति के लिये वेद की उपासना विहित है'। इसके बाद हिरण्यगर्भ के विषय में आचार्य शंकर कहते हैं कि—'कुछ लोगों का कहना है कि हिरण्यगर्भ परब्रह्म ही है। 'इसी को इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं' यह मन्त्र इसमें प्रमाण है। 'यह ब्रह्म ही इन्द्र, प्रजापति और सब देवताओं का स्वरूप है' यहाँ पर भी वही बात कही गई है। 'इसको कोई अग्नि कहते हैं, कोई मनु, प्रजापति, इन्द्र, प्राण अथवा शाश्वत ब्रह्म कहते हैं', 'यह जो इन्द्रियों का अग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय, अचिन्त्य ब्रह्म है, वह स्वयं ही उत्पन्न हुआ है' इत्यादि मनुस्मृति के वाक्यों में उक्त विषय हो प्रतिपादित है।

मैक्समूलर के मत का खण्डन

'डाक्टर मैक्समूलर साहब ने अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि आर्य लोगों को क्रम से, अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था। वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उनके नवीन होने

वेदानां द्वौ भागौ, एकश्छन्दो द्वितीयो मन्त्रश्च। तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धिप्रेरणाजन्यं स्वकल्पनया रचनाभावं यथा ह्यज्ञानिनो मुखादकस्मान्निःसरेद् ईदृशं तद्वचनं तच्छन्द इति विज्ञेयम्। तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंशच्छतानि वर्षाणि अधिकादधिकानि व्यतीतानि। तथैकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति। तदुक्तानि प्रमाणानि—'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीडचो नूतनैरुत' (ऋ० सं० १।१।२) इत्यादीनि ज्ञातव्यानि।

तदिदमप्यन्यथास्ति, कुतः, हिरण्यशब्दस्यार्थज्ञानाभावात्। अत्र प्रमाणानि—'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' (श० १०।४।१।६), 'ज्योतिरेषो अमृतं हिरण्यम्' (श० १०।४।१।६), 'केशो—केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति। काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा। केशीदं ज्योतिरुच्यते' (नि० १२।२५), 'यशो वं हिरण्यम्' (ऐ०ब्रा० ७।३), 'किज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः' (श० १४।७।१।६), 'ज्योतिरिन्द्राग्नी' (श० १०।४।१।६)। एषामर्थः—ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः। एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो ज्योतिरमृतं मोक्षो ज्योतिर्विद्युदित्यादयः। केशाः प्रकाशका लोकाश्च। यशः सत्कीर्तिर्धन्यवादश्च। ज्योतिरात्मा जीवश्च। ज्योतिरिन्द्रः सूर्योऽग्निश्च। एतत्सर्वं हिरण्याख्यं गर्भे सामर्थ्ये यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः।

अतो हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगाद् वेदानामुत्तमत्वं सनातनत्वं तु न निश्चीयते, नवीनत्वं तु द्योतते। अस्य प्राचीनत्वे किमपि प्रमाणं नोपलभामहे, तद्भ्रममूलकमेव विज्ञेयम्। यच्चोक्तं मन्त्रभागस्य नवीनत्वे 'अग्निः पूर्वेभिः' इत्यादिकारणम्, तदपि तादृशमेव, कुतः? ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात्। ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति। भूतभविष्यद्वर्तमानकालिकैर्मन्त्रद्रष्टृभिः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभिरहमेवेडचो बभूव भवामि भविष्यामि चेति विदित्वेदमुक्तमित्यदोषः। अन्यच्च, ये वेदशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीना ये चाधीयते ते नवीनाः। ऋषिभिरग्निः परमेश्वर एवेडचोऽस्त्यतश्च (पृ० ८४-८५)।

में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। इनमें से एक तो 'हिरण्यगर्भ' शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दो सौ वर्ष पीछे बना है और दूसरा यह कि वेदों में दो भाग हैं—एक छन्द और दूसरा मन्त्र। उनमें से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ संबन्ध रखता है और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम नहीं पड़ता कि जिसकी उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हुई और उसमें कथन इस प्रकार का है कि जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो। उसकी उत्पत्ति में इकतीस सौ वर्ष व्यतीत हुये हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में उनतीस सौ वर्ष हुए हैं। इसमें 'अग्निः पूर्वेभिः' इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है।

सो उनका कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि इन्होंने 'हिरण्यगर्भ' और 'अग्निः पूर्वेभिः' इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है। मालूम होता है कि उनको 'हिरण्यगर्भ' शब्द नवीन जान पड़ा होगा, इस विचार से कि हिरण्य नाम है सोने का, वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है, अर्थात् मनुष्यों की उन्नति, राजा और प्रजा के प्रबन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है। सो यह बात भी उनको ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि 'ज्योतिर्वै०' इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण पर इस शब्द का अर्थ यह है कि हिरण्य नाम है ज्योति का, ज्योति कहते हैं विज्ञान को, सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है, ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिसके और ज्योति जो प्रकाश स्वरूप सूर्यादि लोक जिसके गर्भ में हैं, तथा ज्योति जो जीवात्मा जिसके गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है, तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिसके स्वरूप में है, इसी तरह ज्योति इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अग्नि ये सब जिसके सामर्थ्य में है, ऐसा जो एक परमेश्वर है, उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं।

इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है, परन्तु उससे उनका नवीनपन कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इससे डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना जो वेदों के नवीन होने के विषय में है, सो सत्य नहीं है। जो उन्होंने 'अग्निः पूर्वेभिः' इसका प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है, सो भी अन्यथा है, क्योंकि इसमें वेदों के कर्त्ता, त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जान के कहा है कि वेदों को पढ़कर जो विद्वान् हो चुके हैं या जो पढ़ते हैं, वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें। तथा ऋषि नाम मन्त्रद्रष्टा पुरुष, मन्त्र प्राण और तर्क का भी नाम है। इनसे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है। इसी अपेक्षा से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है। इससे वेदों का सनातनपन

इत्यादिमोक्षमूलरस्य खण्डनं कृतम्, तत्तु यत्किञ्चित्, पूर्वपक्षस्वरूपतन्निरसनयोरुभयोरप्यविज्ञानात्। भट्टमोक्षमूलरपदप्रयोगोऽपि तत्र नोचितः, तस्मिंस्तदर्थासङ्गतेः। तदर्थाभिप्रायेण तन्नामकरणाभावाच्च। भट्टत्वं षट्-शास्त्राभिज्ञानामुपाधिर्नच तत्र सोऽस्ति, तैरपि तदनङ्गीकारात्।

मैक्समूलरस्य कथनं तु विकल्पासहत्वान्निरस्यते। तथा हि—कोऽस्याभिप्रायः? किमयमभिप्रायो यत् सृष्टे-र्बहोः कालादनन्तरं हिरण्यमुत्पन्नम्, यस्य चर्चास्मिन् मन्त्रेऽस्ति। तेन हिरण्यगर्भेति नाम्नाऽस्य मन्त्रस्य नवीनता विज्ञा-यते, अथवा 'समवर्तताग्रे' इतिशब्दाभ्यां भूतकालनिर्देशेनेदं विज्ञायते यदयं मन्त्रो हिरण्यगर्भोत्पत्तिसमये नासीदिति, यदि स्यात्तर्हि भूतकालनिर्देशो न स्यात्। नाद्यः पक्षः क्षोदक्षमः, मन्त्रे हिरण्यशब्देन ज्योतिर्मयब्रह्माण्डस्य विवक्षणेन प्रकृते सुवर्णवर्णनस्याप्रासङ्गिकत्वात्। अत एव सायण-महीधरोव्वटादिरीत्याऽस्य मन्त्रस्यायमर्थः—हिरण्मये ब्रह्माण्डे गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिरेव हिरण्यगर्भः। स एवाग्रे प्राणिसृष्टेः पूर्वं समवर्तत सृष्टेरादौ जातः। भूतस्योत्पत्स्यमा-नस्य एकः पतिः स्वामी स आसीत्। स एव पृथिवीमुतेमां द्यां दाधार धारितवान्। कस्मै प्रजापतये हविषा विधेम परिचरेम। मनुनाऽप्ययमेवार्थो निरूपितः प्रथमेऽध्याये—'योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूत-मयोऽचिन्त्यः स एष स्वयमुद्बभौ ॥७॥ सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ॥८॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥९॥' इति।

एवं यदि प्रजापत्युत्पत्तेरपि पूर्वमेव हिरण्मयमण्डमासीत्, तदा सृष्टेर्बहोः कालादनन्तरं सुवर्णोत्पत्तिर्जातेति रिक्तं वचः। 'सन्तुष्यतु दुर्जनः' इति न्यायेन हिरण्योत्पत्तेः पश्चाद्भावेऽपि वैदिकशब्दानां नानित्या व्यक्त्योऽर्थः, जातौ

और उत्तमपन तो सिद्ध होता है, किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। इसी हेतु से डाक्टर मोक्षमूलर साहब का कहना ठीक नहीं' (पृ० ८५-८६)

इस प्रकार से मोक्षमूलर के मत का खण्डन भी उचित रूप से नहीं हुआ। यहाँ पर पूर्वपक्ष का स्वरूप और उसका खण्डन दोनों ही ठीक तरह से नहीं रक्खे गये हैं। 'भट्ट मोक्षमूलर' यहाँ पर भट्ट पद का प्रयोग भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें भट्ट पद के अर्थ की संगति नहीं है। इस अर्थ के अभिप्राय से वह नाम रक्खा भी नहीं गया है। षट्शास्त्र के अभिज्ञाता को भट्ट कहा गया है। मोक्षमूलर में यह नहीं हैं, इस बात को उन्होंने भी माना ही है।

मैक्समूलर के कथन में आगे दिये गये विकल्प का कोई उत्तर नहीं है। तदनुसार ही उसका खण्डन किया जाता है। हमारा पूँछना है कि इन श्रुतियों की व्याख्या के द्वारा आप अपना क्या अभिप्राय बताना चाहते हैं? क्या आपका यह अभिप्राय है कि सृष्टि होने के बहुत समय बाद सुवर्ण (हिरण्य) उत्पन्न हुआ, जिसकी कि चर्चा इस मन्त्र में है, जिससे कि 'हिरण्यगर्भ' इस नाम की नवीनता का परिज्ञान होता है? अथवा 'समवर्तत अग्रे' इन दो शब्दों में भूतकाल का निर्देश होने से यह मालूम होता है कि यह मन्त्र हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के समय में नहीं था? यदि होता तो यहाँ पर भूतकाल का निर्देश उचित नहीं। इनमें पहला पक्ष किसी आक्षेप को नहीं सहन कर सकता। मन्त्र में हिरण्य शब्द से ज्योतिर्मय ब्रह्माण्ड विवक्षित है, अतः यहाँ पर सुवर्ण का वर्णन समझना गलत है। इसलिये सायण, महीधर, उव्वट आदि की पद्धति से इस मन्त्र का अर्थ यह है—हिरण्मय ब्रह्माण्ड में गर्भरूप से अवस्थित प्रजापति ही हिरण्यगर्भ है। वही प्राणियों की सृष्टि के पहले विद्यमान था। वह सृष्टि की आदि में हुआ। आगे उत्पन्न होने वाले सारे जगत् का वह स्वामी था। उसी ने इस पृथिवी और इस आकाश को धारण किया। उस प्रजापति को हम हविः प्रदान करके सेवा करते हैं। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में भी यही प्रतिपादित है—'यह जो अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय, अचिन्त्य परमात्मा है, वह स्वयं उत्पन्न हुआ। उसने ध्यान करके विविध प्रजा की सृष्टि करने के अभिप्राय से अपने शरीर से सबसे पहले जल की सृष्टि की और उसमें अपना वीर्य स्थापित किया। वह वीर्य सूर्य के समान तेजोमय हैम अण्ड के रूप में परिणत हो गया। उस अण्ड में से सारे जगत् का पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुआ'।

इस तरह से प्रजापति की उत्पत्ति के पहले ही यदि हिरण्मय अण्ड विद्यमान था, तब यह कहना एकदम व्यर्थ है कि सृष्टि के बहुत समय बाद सुवर्ण की उत्पत्ति हुई। आपके सन्तोष के लिये हम हिरण्य की उत्पत्ति बाद में मान लेते हैं, तब भी वैदिक

शक्तेरङ्गीकारात्। तदुक्तं जैमिनिना—'आकृतिस्तु क्रियार्था' (मी० सू० १।३।३३) क्रियाप्रयोजनत्वादाकृतिर्जातिरेव शब्दार्थः, यदि व्यक्तयः पदार्थाः स्युस्तदा 'श्येनचितं चिन्वीत' (तै० सं० ५।४।११।१) इति विधेः श्येनपक्षिसदृशाकारामग्निवेदिं चिन्वीतेत्यर्थो न स्यात्, किन्तु सर्वाभिः श्येनव्यक्तिभिस्तुल्यां वेदिं चिन्वीत, अथवा, कयाचित् श्येनव्यक्त्या तुल्याम्? नाद्यः पक्षः, एकस्या वेदेः सर्वश्येनवेदितुल्यत्वासम्भवात्। नान्त्यः, तथात्वे तस्या व्यक्तेर्नाशे श्येनयागनाशापत्तेः। यदि च श्येनत्वजातीयासु व्यक्तिषु स्यात्तदा तासां मध्ये कयाचित्तुल्या वेदिर्निर्मातव्येति तदर्थः स्यात्। तथा च श्येनत्वजातिरेव श्येनपदार्थ इति सिद्धम्। एतदनुसारेण सर्वत्र पदानां जातावेव शक्तिः। देवतानिरूपणप्रसङ्गेऽप्येतत् स्पष्टीकृतम्।

अत्रैव भट्टपादोऽपि—'विशेषं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इत्याह। यदा विशेषणभूतां जातिं बोधयित्वा पदानि चरितार्थानि तदा क्षीणशक्तित्वाद् विशेष्यभूतां व्यक्तिं न गच्छेयुः, जातिबोधादेव नान्तरीयकतया व्यक्तिबोधसम्भवात्। तथा च हिरण्यव्यक्तीनां कादाचित्कत्वेऽपि जातेर्नित्यत्वात्तद्बोधकत्वेऽपि न वैदिकपदानामनित्यत्वं न वा तेन वेदानामनित्यत्वं कादाचित्कत्वं च सम्भवति।

नान्त्यस्यापि पक्षस्य सम्भवः, यतो हि विधिवाक्यबलादधिकृताः पुरुषा मन्त्रान् द्रव्यदेवतास्मरणार्थं यज्ञेषु पठन्ति। तदेव मन्त्राणां मुख्यं प्रयोजनम्। वाच्यार्थे तु तेषां मुख्यं तात्पर्यं न भवति। संस्कृतव्याकरणानुसारेण भूतभविष्यद्वर्तमानकालानां निम्नोक्ता व्यवस्था—शब्दोच्चारणाधिकृतः कालो वर्तमानः कालः। स च लट्प्रकृतिकैः 'ति, ते' इत्यादि शब्दैर्बोध्यते। वर्तमानकालात् पूर्वः कालो भूतकालः। स च लुङ्लङ्प्रकृतिकैः 'त्, त' आदिभिर्बोध्यते। भूतकालेऽपि तिस्रो विधाः। तत्र 'त्' आदयस्तावन्तमेव भूतं बोधयन्ति, उच्चारणकालात् प्राग् यावान् दिनभागो व्यतीतः

शब्दों का अर्थ अनित्य व्यक्तियों से संबन्ध न रख कर जाति से संबद्ध माना जाता है। 'आकृतिस्तु क्रियार्था' इस जैमिनि सूत्र में बताया गया है कि क्रिया का प्रयोजन आकृति में सिद्ध होता है, अतः जाति ही शब्द का अर्थ माना जाता है। यदि व्यक्ति को पदार्थ माना जाय तो 'श्येनचितं चिन्वीत' इस विधिवाक्य का श्येनपक्षी के सदृश आकार वाली वेदि का चयन करे, यह अर्थ न होकर सभी श्येन पक्षियों के सदृश वेदि का चयन करे अथवा किसी एक श्येन पक्षी सदृश? इस विकल्प को पैदा करेगा। इनमें पहला पक्ष नहीं बनेगा, क्योंकि एक ही वेदि सभी बाज पक्षियों के तुल्य नहीं बन सकती। दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि उस श्येन पक्षी के मर जाने पर श्येन याग के भी नष्ट हो जाने की आपत्ति आवेगी। इसलिये श्येन जाति वाली व्यक्तियों की आकृति के तुल्य वेदि का निर्माण संभव हो सकेगा। इस तरह श्येनत्व जाति ही श्येन पद का अर्थ हुआ। तदनुसार सर्वत्र पदों की जाति में ही शक्ति मानी जायगी। देवता निरूपण के प्रसंग में भी हमने यह स्पष्ट किया है।

इसी प्रसंग में भट्ट कुमारिल ने भी 'विशेषं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादि प्रसिद्ध वचन कहा है। इसका यह अभिप्राय है कि जब विशेषणभूत जाति का बोध करा कर पद चरितार्थ हो गये, तब इस कार्य में उनकी शक्ति के क्षीण हो जाने से पुनः वे विशेष्य भूत व्यक्ति को अवगत कराने में असमर्थ हो जाते हैं। जाति का बोध हो जाने पर अगत्या व्यक्ति का बोध अपने आप हो जाता है। इस तरह हिरण्य व्यक्ति के कदाचित् उत्पन्न होने पर भी हिरण्य जाति के नित्य होने से तद्बोधक वैदिक पदों में अनित्यता दोष नहीं आवेगा और न वेदों की ही अनित्यता तथा कादाचित्कता संभव होगी।

'समवर्तत अग्रे' इन दो शब्दों के माध्यम से उठाया गया दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि विधिवाक्य के सहारे अधिकृत पुरुष यज्ञ में द्रव्य और देवता के स्मरण के लिये मन्त्रों का पाठ करते हैं। यही मन्त्रों का मुख्य प्रयोजन है। वाक्यों में उनका मुख्य तात्पर्य नहीं होता। संस्कृत व्याकरण के अनुसार भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की व्यवस्था इस प्रकार है—जिस समय शब्द का उच्चारण हो रहा है, वह वर्तमान काल है। यह काल लट् लकार के 'ति' 'ते' इत्यादि प्रत्ययों से अवगत होता है। वर्तमान काल से पहले का समय भूतकाल है। इसका बोध लुङ्, लङ् आदि लकार के 'त्' 'त' आदि प्रत्ययों से होता है। भूतकाल के तीन भेद हैं। 'त्' आदि प्रत्ययांश उतने ही भूतकाल का बोध कराते हैं, जितना कि समय उच्चारण से पहले दिन के भाग का बीत चुका

स्यात्। यथा—'अगमत्'। स एवाद्यतनभूत उच्यते। तन्मूलं लकारः। 'अगच्छत्' यश्च क्रियाया उच्चारणदिनात् पूर्वकालः सोऽनद्यतनकालः लङ्वाच्यः। यदि चोच्चारणदिनात् पूर्वं क्रिया स्याद् उच्चारयित्रा च प्रत्यक्षेण न दृष्टा स्यात् तदा लिट्प्रकृतिकः 'त्' प्रयोगो भवति, यथा जगाम। उच्चारणदिनात् पूर्वं गत उच्चारयित्रा च प्रत्यक्षेण गमनक्रिया न दृष्टा स चानाद्यतनपरोक्षभूतकाल उच्यते। तद्‌बोधकत्वे लिट्प्रकृतिकाः 'त्' 'अ' 'ए' इत्यादयः प्रयुज्यन्ते। उच्चारण-कालादुत्तरकालो भविष्यत्कालः। तस्यापि द्वैविध्यम्—लृट्प्रकृतिकात् 'ष्य' 'ति' इत्यस्माद् उच्चारणदिवसीय उत्तरकालो बोध्यते। उच्चारणदिनादुत्तरकालोऽनद्यतनभविष्यदुच्यते। स च लुट्प्रकृतिकात् 'ता' इत्यस्माद्बोध्यते। यथा—'गन्ता'। अनया रीत्या 'हिरण्यगर्भः समवर्तत' तथा च यस्मिन् दिनेऽस्य मन्त्रस्योच्चारणमासीत् तस्मात्पूर्वं हिरण्यगर्भः प्रादुर्बभूव। यदि मन्त्रः पौरुषेयः केनचित्पुरुषेण कृतस्तदा तु प्रथमोच्चारणकालमपेक्ष्य पूर्वकाले हिरण्यगर्भ-प्रादुर्भावः सिद्धयति, प्रथमोच्चारणस्यैव रचनापदार्थत्वात्। सिद्धान्तदृष्टया तु मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदोऽपौरुषेयः, तेनेश्वरोऽपि पूर्वपूर्वकल्पीयामेव वेदानुपूर्वीमुत्तरकल्प उपदिशति, तस्मादुच्चारणपरम्पराया अनादित्वादेवोच्चारणस्य प्राथम्यं नास्ति। तथा च कस्यचिदुच्चारणात् पूर्वकाले हिरण्यगर्भस्य प्रादुर्भावेऽपि न मन्त्रस्य नवीनत्वं सिद्धयति।

वेद ईश्वररचित इति पक्षेऽपि मैक्समूलरस्याक्षेपोऽकिञ्चित्करः। यस्मिन् यस्मिन् दिने यो यः पुरुष इमं मन्त्रमुच्चारयेत्, स ततः पूर्वकाले हिरण्यगर्भप्रादुर्भावं स्मरेदिति तात्पर्येणेश्वरेणास्य मन्त्रस्य रचितत्वात्। यद्यपि ईश्वरकृतमन्त्ररचनाकाले हिरण्यगर्भो नासीत्, तथापि मन्त्रोच्चारयितॄणामुच्चारणकालात् पूर्वकाले हिरण्यगर्भस्या-विर्भाव आसीदेव। परमेश्वरस्य सर्वज्ञत्वेन भविष्यज्ञत्वात् तथा ज्ञानं न दुर्लभम्। स च स्वेनैव यज्ञेषु मन्त्राणा-मुच्चारणाय गुरुपरम्परया वेदाध्ययनाय न वेदान् विदधाति, निष्कामत्वेनाप्तसमस्तकामत्वात्, किन्तु तेषां तेषां यज-मानानामृत्विजां चोच्चारणायाध्ययनाय च निर्माति। यथा यदा शिक्षको यजमानानामृत्विजां चोच्चारणशिक्षणाय

हो, जैसे कि अगमत्। इसी को अद्यतन भूत कहते हैं। क्रिया के उच्चारण दिन से पहले का काल अनद्यतन काल है, उसमें लङ लकार होता है, जैसे कि अगच्छत्। यदि उच्चारण दिन के पूर्वकाल की क्रिया हो और उस क्रिया को उच्चारयिता ने प्रत्यक्ष न देखा हो, तब लिट् प्रकृतिक प्रत्यय होता है, जैसे कि जगाम। उच्चारण काल से आगे आने वाला समय भविष्यत्काल है। इसके दो भेद हैं—लृट् प्रकृतिक 'ष्य' 'ति'। इन प्रत्ययों से उच्चारण के दिवस का उत्तर काल बोधित होता है। उच्चारण दिन से आगे का काल अनद्यतन भविष्यत् कहलाता है। इसका बोध लुट् प्रकृतिक ता प्रत्यय से होता है। जैसे कि गन्ता। इस पद्धति से 'हिरण्यगर्भः समवर्तत' यहाँ पर यह अर्थ होगा कि जिस दिन इस मन्त्र का उच्चारण किया गया था, उससे पहले हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव हुआ। यदि मन्त्र पौरुषेय अर्थात् किसी व्यक्ति का बनाया गया होता, तब तो प्रथम उच्चारण की अपेक्षा से पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव सिद्ध हो सकता है, क्योंकि रचना पद का अर्थ प्रथम उच्चारण है। हमारे मत में तो मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद अपौरुषेय हैं, ईश्वर भी पूर्व-पूर्व कल्प में विद्यमान वेद की आनुपूर्वी का स्मृति के आधार पर उत्तर कल्प में उपदेश देता है। इसलिये उच्चारण की परम्परा के अनादि होने से यहाँ पर उच्चारण का प्राथम्य बनता ही नहीं है। अतः किसी के उच्चारण से पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ के प्रादुर्भाव को मानने पर भी मन्त्र का नवीनता नहीं होगी।

वेद ईश्वर रचित हैं, इस पक्ष में भी मैक्समूलर का आक्षेप गलत है। जिस-जिस दिन जो-जो व्यक्ति इस मन्त्र का उच्चारण करे, वह उससे पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ के प्रादुर्भाव का स्मरण करे, इसी तात्पर्य से ईश्वर ने इस मन्त्र की रचना की है। यद्यपि ईश्वर द्वारा की गई मन्त्र रचना के समय में हिरण्यगर्भ नहीं था, किन्तु मन्त्रों के उच्चारण करने वाले व्यक्तियों के द्वारा किये गये उच्चारण काल के पहले हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव हो ही चुका था। परमेश्वर तो सर्वज्ञ होने से भविष्य की बात भी जान सकता है, अतः इस प्रकार का ज्ञान दुर्लभ नहीं है। वह स्वयं ही यज्ञों में मन्त्रों के उच्चारण के लिये तथा गुरुपरम्परा से वेदों के अध्ययन के लिये वेदों की रचना नहीं करता, क्योंकि निष्काम होने से वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर चुका है, किन्तु यजमान और ऋत्विजों के उच्चारण और अध्ययन के लिये वह वेदों की रचना करता है। जैसे शिक्षक यजमान अथवा ऋत्विजों को उच्चारण की शिक्षा देने के लिये जब मन्त्र का

स्वयं मन्त्रमुच्चारयति, तदा तस्येदमेव तात्पर्यं भवति यद् यजमानादयोऽप्येवमेवोच्चारयेयुः। तथैवेश्वरोऽपि कर्मठा उपासकाश्चोच्चारणकालात् पूर्वकाले प्रादुर्भूतं हिरण्यगर्भं चिन्तयेयुरित्यभिप्रायेणैव मन्त्रानुच्चारयति विरचयति वा। अतः परमेश्वरकर्तृकोच्चारणात् पूर्वकाले हिरण्यगर्भ आविर्बभूवेति न विवक्षितम्। लौकिकलुङाद्यर्थापेक्षया वैदिकलुङाद्यर्था विलक्षणा एव भवन्ति। वेदानामनादित्वात् केऽपि लुङादयस्तादृशा न सन्ति, ये भगवत्कर्तृकवेदोच्चारणापेक्षया पूर्वकालबोधका भवेयुः। तस्माच्छिक्षणीयपुरुषापेक्षया तत्तदुच्चारणकालात् पूर्वकाल एव लुङाद्यर्थः। लोकेऽपि शिक्षावाक्येभ्योऽन्यत्रैवोच्चारणापेक्षया पूर्वकालो लुङाद्यर्थोऽभ्युपगम्यते। हिरण्यगर्भश्च समष्टिसूक्ष्मशरीरावच्छिन्नचेतनरूप ईश्वर एव, सूक्ष्मशरीरे बुद्धिप्राधान्याद् हिरण्यं ज्योतिर्बुद्धिरूपं गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भः। हिरण्यशब्देन ज्योतिर्मयं नित्यज्ञानं वा गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भ इति च। स चेश्वर ईश्वरकर्तृकमन्त्रोच्चारणादपि पूर्वमासीदेव। गर्भपदस्य स्वरूपं सामर्थ्यं वार्थ इति तु प्रमाणापेक्षमेव।

वस्तुतस्तु येषु कालेषु लडादयो भवन्ति, न तेषां वस्तुत्वं तत्प्रयोगे कारणम्, किन्तु वक्तृतात्पर्यानुसारेण लडादयः प्रयुज्यन्ते। अत एव यद्यपि परोक्षानद्यतनभूतार्थे लिड्विधानम्, तथापि वक्तृतात्पर्यानुरोधेन लुङ्प्रयोगोऽपि दृश्यते। यथा—'अभून्नृपो विबुधसखः' (भट्टिकाव्यम् १।१) अत्र बभूवेति वक्तव्यत्वेऽपि मदुच्चारणात् पूर्वकाल आसीदिति विवक्षया लुङ्लकारः प्रयुक्तः। एवमेव 'अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्याम्' (भट्टि० १।५) अत्रापि तथैव विवक्षा मन्तव्या। अन्यथा 'जज्वाल लोकस्थितये स राजा' इतिवल्लिट्प्रयोग एव स्यात्। एवं 'व्यातेने किरणावलीमुदयनः' इत्यादिस्थलेषु किरणावलीग्रन्थनिर्माणकाल एवानद्यतनभूतार्थकं लकारं प्रयुक्तवानुदयनाचार्यः। अनायासनिष्पन्नताबोधनार्थं भूतत्वं शीघ्रनिष्पन्नताबोधनार्थमनद्यतनत्वं विवक्षितम्। अत एवाह दर्पणकारः—'न वास्तवं परोक्षादि-

उच्चारण स्वयं करता है, तब उसका यह तात्पर्य रहता है कि यजमान और ऋत्विक् भी इसी प्रकार उच्चारण करें, वैसे ही ईश्वर भी इसी अभिप्राय से मन्त्रों का उच्चारण और विरचन करता है कि कर्मठ उपासक उच्चारण काल से पूर्वकाल में प्रादुर्भूत हिरण्यगर्भ का ध्यान करें। अतः यहाँ पर परमेश्वर कृत उच्चारण के पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ आविर्भूत हुआ था, यह विवक्षित नहीं है। लौकिक लुङादि की अपेक्षा से वैदिक लुङादि का अर्थ विलक्षण ही होता है। वेद अनादि हैं, अतः यहाँ पर लुङादि का ऐसा अर्थ कभी नहीं होगा कि वे भगवान् द्वारा किये गये वेद के उच्चारण के पूर्वकाल के बोधक हों। इसलिये शिक्षणीय पुरुष की अपेक्षा से उसके उच्चारण का पूर्वकाल ही लुङादि का अर्थ होगा। लोक में भी शिक्षा वाक्यों से अन्यत्र ही उच्चारण की अपेक्षा से पूर्वकाल लुङादि का अर्थ माना गया है। हिरण्यगर्भ सूक्ष्म शरीरों की समष्टि से युक्त चेतन स्वरूप ईश्वर ही है। सूक्ष्म शरीर में बुद्धि की प्रधानता है, अतः हिरण्य अर्थात् ज्योतिरूप बुद्धि जिसके गर्भ में है, वह हिरण्यगर्भ है। अथवा हिरण्य शब्द से ज्योतिर्मय नित्य ज्ञान का ग्रहण होगा, यह जिसके गर्भ में है, वह हिरण्यगर्भ कहलावेगा। यह ईश्वर ईश्वरकृत मन्त्रोच्चारण से पहले भी था। गर्भपद का स्वरूप अथवा सामर्थ्य अर्थ करना बिना प्रमाण के सम्भव नहीं।

वास्तव में जिन कालों में लट् आदि लकारों का प्रयोग होता है, उनकी अवस्थिति उनके प्रयोग में कारण नहीं होती, किन्तु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार लट् आदि का प्रयोग होता है। इसीलिये यद्यपि परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में लिट् लकार का विधान है, तथापि वक्ता के तात्पर्य के अनुसार लुङ् का भी प्रयोग होता है। जैसे कि 'अभून्नृपो विबुधसखः' इस भट्टिकाव्य के पद में 'बभूव' पद का प्रयोग होना चाहिये था, किन्तु उसके स्थान में विवक्षा के अनुसार लङ् लकार का प्रयोग किया गया है; इसी तरह 'अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्याम्' यहाँ पर विवक्षा के अनुसार लङ् लकार प्रयुक्त हुआ है। अन्यथा 'जज्वाल लोकस्थितये स राजा' इसके समान उक्त दोनों स्थलों में भी लिट् लकार का ही प्रयोग होता। इसी तरह 'व्यातेने किरणावलीमुदयनः' यहाँ पर किरणावली ग्रन्थ के निर्माण के काल में ही उदयनाचार्य ने अनद्यतन भूतार्थक लिट् लकार का प्रयोग विवक्षाधीन ही किया है। यहां पर ग्रन्थ की रचना बिना आयास के हुई, यह बताने के लिये भूतकाल की और शीघ्र पूरी हो गई, इस भाव की अभिव्यक्ति के लिये अनद्यतन की विवक्षा है। इसीलिये दर्पणकार ने कहा है कि—'परोक्षादि काल लिट् आदि लकारों के वास्तविक नियामक नहीं हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर 'अध्यास्त

लिडादिनियामकम्, 'अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्याम्' इत्यत्र लङोऽसाधुत्वापत्तेः। एवं—'रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति' (वा० रा० १।१।९७) इत्यत्रानद्यतनत्वाविवक्षया प्रयातेति लुट्प्रयोगं न कृतवान् महर्षिः, किन्तु राज्यकरणोत्तरकालमात्रविवक्षया लृटं प्रयुक्तवान्। एवमेव 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति' (म० ४।२२९) अत्र तृप्तिजलदानयोः कार्यकारणभावमात्रविवक्षया लट्प्रयोगो न वर्तमानकालबोधार्थम्। कालसामान्यं वा लडर्थः। तथैव 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यत्रापि हिरण्यगर्भस्यास्तित्वपृथिव्यादिधारणकर्तृत्वविवक्षयैव लङ्प्रयोगः। न भूतकालोऽत्र लङर्थः। अत एव वेदे लङादीनां कालसामान्यमेवार्थः, न भूतकालः। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति सूत्रेण येषु येष्वर्थेषु लुङादयो विहिताः, तद्भिन्ने कालसामान्ये वेदे भवन्तीत्युक्तम्। तत्र लुङ् उदाहरणानि 'देवो देवेभिरागमत्' (ऋ० सं० १।१।५), 'तेभ्योऽकरं नमः' (ऋ० सं० १०।८५।१७) इत्यादीनि। 'अग्निमद्य होतारमवृणीतायं सुतासुती यजमानः' (तै० ब्रा० ३।६।१५।१) इति लङ उदाहरणम्। 'अद्या ममार' (तै० आ० ४।२०।१) इति लिट उदाहरणम्। वेदस्यापौरुषेयत्वादेव पाणिनिर्वेदे लुङादीनां कालसामान्यमेवार्थमुक्तवान्। भूतादिबोधकत्वे कदाचिद्वेदासत्त्वापत्त्यानादित्वभङ्गापत्तिः स्यात्। एवमेव निष्ठाप्रत्ययस्य अग्रे पुरा पूर्वम् आदिशब्दानामपि वेदे न वेदात् पूर्वार्थबोधकत्वम्। किन्त्वन्योन्यापेक्षया पूर्वकालार्थमेव। तद्रीत्या 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (वा० सं० १३।४) इत्यस्य अग्रे प्रतिसर्गं सृष्टेः पूर्वकाले हिरण्यगर्भः ब्रह्मा समवर्तत भवति। एवं सिद्धान्तं ज्ञात्वैव चार्वाकादयो नास्तिका अपि वैदिकशब्दैर्वेदानामर्वाचीनत्वसाधनाय न प्रयतितवन्तः। ततोऽपि मन्दाः पाश्चात्यास्तदनुगामिनो दयानन्दस्तदीयाश्च लुङादिभिर्मन्त्राणां ब्राह्मणानां च सादित्वं पौरुषेयत्वं चापादितवन्तः।

ननु वेदे लुङादीनां भूतार्थत्वाभावे भूतार्थवादासङ्गतिः, भूतार्थबोधकत्वेनैवार्थवादविशेषस्य भूतार्थवादत्वप्रसिद्धेरिति चेन्न, स्वार्थेऽवान्तरतात्पर्यवत्त्वेन गुणवादानुवादभिन्नार्थवादे भूतार्थवादत्वप्रसिद्धेः। अत एव प्रातिशाख्ये

सर्वर्तुसुखामयोध्याम्' यहाँ पर लङ्लकार का प्रयोग गलत हो जायगा। इसी तरह 'रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति' यहाँ पर महर्षि वाल्मीकि ने अनद्यतन की अविवक्षा के कारण 'प्रयाता' इस लुट्लकार का प्रयोग नहीं किया, किन्तु राज्य करने के उत्तर काल मात्र की विवक्षा में लृट् का प्रयोग किया। इसी तरह 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति' यहाँ पर केवल तृप्ति और जलदान की कार्यकारणता मात्र की विवक्षा से लट्लकार का प्रयोग है, वर्तमान काल के अवबोध के लिये नहीं। अथवा कालसामान्य के लिये लट् का प्रयोग हुआ है, उसी तरह 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' यहाँ पर भी हिरण्यगर्भ के अस्तित्व, पृथिव्यादिधारणकर्तृत्व आदि की विवक्षा से ही लङ्लकार का प्रयोग हुआ है। यहाँ पर लङ् का अर्थ भूतकाल नहीं है। इसीलिये वेद में लङादि का कालसामान्य ही अर्थ है, भूतकाल नहीं। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इस पाणिनि सूत्र में यह बताया गया है कि जिन-जिन अर्थों में लोक में लुङ् आदि का विधान हुआ है, उससे भिन्न कालसामान्य में भी वेद में इनका प्रयोग होता है। इनमें 'देवो देवेभिरागमत्', 'इदं तेभ्योऽकरं नमः' इत्यादि लुङ् के उदाहरण हैं। 'होतारमवृणीत' यह लङ् का उदाहरण है। 'अद्या ममार' यह लिट् का उदाहरण है। वेद के अपौरुषेय होने से ही पाणिनि ने वेद में लुङादि का कालसामान्य अर्थ बताया है। भूतादि का बोधक मानने पर कदाचित् वेद के असत्त्व की आपत्ति के कारण वेद की अनादिता नष्ट हो सकती है। इसी तरह निष्ठा प्रत्यय की तथा आगे, पुरा, पूर्व आदि शब्दों की वेद में भी वेद के पूर्ववर्ती अर्थ की बोधकता नहीं मानी जाती, किन्तु अन्योन्य की अपेक्षा पूर्वकालतामात्र की बोधकता है। इसी पद्धति से 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' यहाँ पर भी 'अग्रे' पद का अर्थ प्रति सर्ग में सृष्टि के पूर्व काल में हिरण्यगर्भ ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, यही किया जाता है। इस सिद्धान्त को जानने के ही कारण चार्वाक प्रभृति नास्तिकों ने वैदिक शब्दों से वेदों को अर्वाचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। ये पाश्चात्य विद्वान्, उनके अनुयायी दयानन्द और उनके शिष्य इन नास्तिकों से भी अधिक मन्द बुद्धि के हैं कि ये लोग लुङ् आदि लकारों के प्रयोग मात्र से मन्त्र और ब्राह्मण भाग की सादिता और पौरुषेयता सिद्ध करना चाहते हैं।

प्रश्न उठता है कि यदि वेद में लुङादि की भूतार्थता नहीं मानी जायगी, तो भूतार्थवाद की कैसे सङ्गति बैठेगी, भूत अर्थ के बोधक होने से ही अर्थवादविशेष का नाम भूतार्थवाद पड़ता है? इसका उत्तर यह है कि स्वार्थ में अवान्तर तात्पर्य के कारण

कात्यायनोऽपि 'लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात्' इत्युक्त्या लौकिकवाक्यानां प्रतिपिपादयिषितार्थज्ञानपूर्वकं प्रयोगं मनुते। वैदिकानां तु नित्यत्वान्न तथेति। अतो वैदिकवाक्यैर्न सर्वथापि भूतकालबोधोऽभिमतः। पूर्वोक्तसूत्रप्रातिशाख्याद्यनभिज्ञा एव वेदेषु लौकिकमितिहासं पौरुषेयत्वं च सिषाधयिषन्ति। यानेव कुतर्कान् सामाजिका ब्राह्मणेषूत्थापयन्ति ते मन्त्रेष्वप्यापतन्त्येव। तत्र यत्तेषां समाधानं तदेव ब्राह्मणेष्वपि।

मैक्समूलरप्रोक्तश्छन्दोमन्त्रविभागोऽपि निःसारः, निष्प्रमाणत्वात्। वैदिकानां व्यवहारे तु छन्दःशब्देन मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदोऽभिधीयते। एवं छन्दोमन्त्रयोः कालविशेषकल्पनापि निराधारैव, छन्दःपदाभिधेयस्य वेदस्य मन्त्रपदाभिधेयस्य वेदैकदेशस्य चानादित्वाविशेषात्। 'अग्निः पूर्वेभिः' (ऋ० सं० १।१।२) इत्यादिमन्त्रगतपूर्वशब्दस्य न वेदगतपूर्वकालत्वमर्थः, किन्तु तेन ऋषीणामेव प्राचीनत्वं नवीनत्वं चोक्तम्। तदपि न वेदापेक्षया, किन्तु ऋषीणामेवान्योन्यापेक्षया प्राचीनत्वं नवीनत्वं च, वेदानां नित्यत्वेन तत्र प्राचीनत्वनवीनत्वकल्पनानुपपत्तेः।

यत्तु स्वामिदयानन्देन ऋषिभिरित्यस्य भूतभविष्यद्वर्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभिरित्यर्थः (पृ० ८५) कृतस्तत्रेदं विचारणीयम्—यद्यप्यृषिशब्देन मन्त्रद्रष्टारो मन्त्राः प्राणास्तर्काश्चोच्यन्ते, तथापि मन्त्रेषु न प्राचीनत्वं नवीनत्वं वा वक्तुं शक्यते, तेषां नित्यत्वात्। प्राणास्तर्काश्च चेतना अचेतना वा? नाद्यः, त्वया तदनभ्युपगमात्। नान्त्यः, स्तुतेर्जडकर्तृत्वासम्भवात्। 'ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वाध्यापयन्ति ते प्राचीनाः, ये चाधीयते ते नवीनाः, तैर्ऋषिभिरग्निरीडचः' (पृ० ८५) इति, तदपि निर्मूलम्, अध्यापयितृषु अध्येतृषु चर्षित्वस्य निष्प्रमाणकत्वात्। मन्ये तद्वचनेनैव दयानन्दीयैर्दयानन्दस्यर्षित्वं महर्षित्वं च ख्यापितम्।

गुणवाद और अनुवाद से भिन्न अर्थवाद को भूतार्थवाद कहा जाता है। इसीलिये प्रातिशाख्य में कात्यायन ने 'लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात्' इस उक्ति के द्वारा लौकिक वाक्यों के प्रयोग को उस अर्थ के परिज्ञान के साथ जोड़ दिया है, जिसका कि प्रतिपादन अभीष्ट है। वैदिक वाक्यों की नित्यता के कारण वहाँ यह संभव नहीं है। इसलिये वैदिक वाक्यों से सर्वथा भूतकाल का बोध अभिमत नहीं है। पूर्वोक्त सूत्र, प्रातिशाख्य आदि से अनभिज्ञ जन ही वेदों में लौकिक इतिहास देखते हैं और उसमें पौरुषेयता सिद्ध करना चाहते हैं। जिन कुतर्कों को उत्थापना सामाजिक गण ब्राह्मणों के लिये करते हैं, वे सब मन्त्रों में भी लागू होते हैं। ऐसी अवस्था में मन्त्रों के लिये जो समाधान दिया जाता है, वह ब्राह्मणों के लिये भी लागू होता है।

मैक्समूलर का बताया हुआ छन्द और मन्त्र का विभाग भी निःसार है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वैदिकों के व्यवहार में तो छन्दः शब्द से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का ग्रहण होता है। इसी तरह छन्द और मन्त्र की काल की कल्पना भी निराधार ही है, क्योंकि छन्दःपदाभिधेय पूरे वेद और मन्त्रपद से अभिहित होने वाले वेद के एक भाग की अनादिता समान रूप से मान्य है। 'अग्निः पूर्वेभिः' इत्यादि मन्त्रगत पूर्व शब्द से मन्त्रगत पूर्वापरभाव का बोध न होकर केवल ऋषियों को प्राचीनता और नवीनता का बोध होता है। यह भी वेद की अपेक्षा से न होकर ऋषियों की ही परस्पर प्राचीनता और नवीनता को लेकर होता है। वेद तो नित्य है, वहाँ प्राचीनता और नवीनता की कल्पना नहीं हो सकती।

यह जो स्वामी दयानन्द ने 'ऋषिभिः' इस शब्द का भूत, भविष्य और वर्तमान में स्थित मन्त्रद्रष्टा मनुष्य, मन्त्र, प्राण और तर्क अर्थ किया है, वहाँ यह बात विचारणीय है कि यद्यपि ऋषि शब्द से मन्त्रद्रष्टा, मन्त्र, प्राण और तर्क का भी ग्रहण होता है, तो भी मन्त्र में प्राचीनता और नवीनता नहीं बताई जा सकती, क्योंकि वे नित्य हैं। आप यह बताइये कि प्राण और तर्क अचेतन हैं या चेतन? आपने इनको चेतन तो माना नहीं है और अचेतन स्तुति कैसे कर सकेगा? 'जो वेदादि शास्त्र को पढ़कर विद्वान् होकर पढ़ाने लगते हैं वे प्राचीन और जो पढ़ते हैं वे नवीन, इन प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के ऋषियों के द्वारा अग्नि स्तुत्य है' यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि अध्यापयिता और अध्येता कहीं भी ऋषि नहीं कहे गये हैं। लगता है दयानन्द के इस वचन को ही प्रमाण मानकर आर्यसमाजियों ने दयानन्द को ऋषि ही नहीं, महर्षि बना दिया है।

तत्पोषणायोद्धृतं निरुक्तप्रघट्टकमपि न तत्पोषकम्, तस्य मन्त्रनिर्वचनप्रकारबोधकत्वात्। तद्व्याख्यानमपि तादृशमेव। 'तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। नह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं, पुरस्तात्। मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्। मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किञ्चनानूचानोऽभ्यूहति आर्षं तद् भवति' (नि० १३।१२) (पृ० ८६-८७)। ततः पूर्वं त्वक्षरनिर्वचनमुक्तम्—'अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वा। क्षयं भवति वाचोऽक्ष इति वाक्षो भवति। यानस्याञ्जनात् तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामर्थ्यादिति'। 'अथवा वाक्क्षयो भवति। नादरूपो वर्णलक्षणायां वाचो निवासो भवति, तत्रैव तदभिव्यक्तेः। तस्माद्वाचः क्षयो निवासो भवति। अक्षरो ह्यक्ष इवानुप्रविश्य व्यञ्जनं धारयति। अथवा अक्षः कस्मादुच्यते यानाक्षस्तावत्समञ्जनात्। नित्यं ह्यसौ अज्यते तैलादिना। तत्प्रकृतीतरत् स्वराख्यमक्षरं वर्तनसामान्यात् स्वरमधिरूढानि व्यञ्जनानि भवन्ति'॥ इति दुर्गाचार्यरीत्या तत्प्रकृतीतरद् वर्तनसामान्यादिति पूर्वेण सम्बद्धचते। परिसमाप्त्यर्थमितिकरणम्।

स्वामिदयानन्दस्तु—'तस्य मन्त्रसमूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदायानाम् इतरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्तमानानां मन्त्राणामर्थचिन्ता भवति' इत्युत्तरेण संयोजितवान्। तत्तु न सङ्गतम्, तदिति पूर्वप्रकृतबोधकं पदम्। न च तस्मात् पूर्वं मन्त्रसमूहः प्रकृतः। अक्षरनिर्वचनं तु प्रकृतम्। प्रकृतिशब्देन पदशब्दाक्षरसमुदायानां ग्रहणे किं बीजम्? मन्त्रसमुदायस्य तु मन्त्रा एव प्रकृतयः, तैरेव समुदायारम्भात्। पदशब्दयोः शब्दाक्षरयोः को भेद

अपनी बात की पुष्टि के लिये उद्धृत निरुक्त का प्रघट्टक भी उसका पोषक नहीं है, क्योंकि वह तो मन्त्र के निर्वचन की पद्धति बताता है। इसी तरह की दयानन्द की इस प्रकरण की व्याख्या भी है। निरुक्त का उक्त प्रघट्टक इस प्रकार है—'स्वर व्यंजन की प्रकृति है क्योंकि व्यंजन स्वरों का ही आश्रय लेते हैं। मन्त्रों के अर्थ की चिन्ता ऊह द्वारा कल्पित की जा सकती है, तो भी श्रुति के प्रमाण पर आधारित तर्क के सहारे ही यह होना चाहिये और इसमें प्रसंग का भी ध्यान रखना जरूरी है। जो ऋषि अथवा तपस्वी नहीं है, उसको मन्त्र का अर्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यह पहले कहा गया है कि शास्त्र के पारंगत विद्वानों में बहुश्रुत अधिक श्रेष्ठ होता है। एक एक कर जब इस दुनिया से ऋषिगण उठने लगे तो देवताओं से मनुष्यों ने पूछा कि हमको वेदों का, मन्त्रों का अर्थ समझाने वाला कौन होगा, तो देवताओं ने मनुष्यों को तर्क को ऋषि मानकर दिया कि इस ऊह के सहारे से मन्त्र के अर्थ की चिन्ता की जा सकेगी। इसलिये वेदों में पारंगत विद्वान् जो कुछ तर्क के सहारे कहता है, वह ऋषि का ही वचन माना जाता है'। निरुक्त में इसके पहले अक्षर शब्द का निर्वचन बताया गया है। दुर्गाचार्य की पद्धति से उसका यह अर्थ होता है—'इसको अक्षर इसलिये कहते हैं कि इसका कभी अन्यथाभाव नहीं होता, अथवा यह कभी भी मूल से नष्ट नहीं होता, अथवा यह वाणी का निवास है, क्योंकि नाद वर्णलक्षण वाणी का घर है। अथवा इसको अक्षर इसलिये कहते हैं कि यह अक्ष के समान व्यंजनों को धारण करता है। जैसे कि रथ की धुरी तेल आदि से चिकनी रहती है, तो उसकी सहायता से यान की गति ठीक रहती है, उसी तरह व्यंजनों की स्थिति अपनी प्रकृति, अर्थात् स्वरों के सहारे से ही ठीक रहती है'। इसके अनुसार 'तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यात्', इसका अन्वय पूर्व वाक्य से ही होता है। यह बात 'इति' शब्द से सूचित होती है।

इसके विपरीत स्वामी दयानन्द ने—'इसमें विचार करना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् बिना विचारे उनके अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं, क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त है, अर्थात् उनमें जितने मन्त्र और पद हैं, वे सब संपूर्ण सत्य विद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है' (पृ० ८८), इस वाक्य को आगे के वाक्यों के साथ जोड़ दिया है, यह ठीक नहीं है। तत्पद पूर्व में जो प्रकृत है, उसका बोधक होता है। इसके पहले मन्त्रसमूह का प्रसंग नहीं है। प्रसंग अक्षर के निर्वचन का है। प्रकृति शब्द से पद, शब्द, अक्षरसमुदाय के ग्रहण करने में क्या प्रमाण है? मन्त्रसमुदाय की प्रकृति मन्त्र ही होगा। मन्त्रों से ही उनका समुदाय बनेगा। पद और शब्द का, शब्द और अक्षर

इति च वक्तव्यम्, आनुपूर्वीविशिष्टानामक्षराणां पदत्वे शब्दशब्दस्योभयोरन्तर्भावसम्भवात् किमर्थं पृथगुल्लेखः? पदशब्दाक्षरसमुदायानामितरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति। अत्र 'इतरत्' पदस्य परस्परविशेष्यविशेषणतयेति कथमर्थः? पदशब्दाक्षरसमुदायानां मन्त्राणां चोभयोः षष्ठ्यन्तपदयोः कः सम्बन्धः? वर्तनसामान्यादित्यस्य 'सामान्यवृत्तौ' इत्यर्थकरणे किं बीजम्? विशेष्यविशेषणतया वृत्ता इत्यनेनैवोपपत्तौ सामान्यपदस्य किं प्रयोजनम्? वस्तुतस्तु सर्वत्रैव प्रकृतिप्रत्ययाकाङ्क्षायोग्यतासत्तानैरपेक्ष्येण वाक्यार्थलापनेऽयं स्वाच्छन्द्यमेवाचरति।

दुर्गाचार्यरीत्या तु तत्स्वराख्यमक्षरं प्रकृतीतरद् व्यञ्जनभिन्नं वर्तनसामान्यात्। यथाक्षानुप्रविष्टधुरायां धार्यमाणस्य वर्तनं तथैव स्वरेण व्यञ्जनानां वर्तनम्। तदेवाह—'स्वरमधिरूढानि व्यञ्जनानि वर्तन्ते'। मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहे तद्रीत्यापि न पूर्वांशस्य सम्बन्धः। अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहः, मनुष्येण कर्तव्य इति विधीयते, तस्य कृतत्वात्। अनेकेषां मन्त्राणामर्थचिन्ताभ्यूहः कृत एव प्रथमाध्यायमारभ्य त्रयोदशाध्यायगतैकादशखण्डं यावत्। अत एव दुर्गाचार्यः स्पष्टमाह—'मन्त्रार्थचिन्तानामभ्यूहो मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहः। वितर्कितः, मन्त्रार्थनिर्णयोपयोगितर्कैस्तर्कितः। शक्य एतावता मन्त्रार्थोऽभ्यूहितुम्। दयानन्दरीत्या चिन्ताशब्दो निरर्थक एव, तेन मन्त्राभ्यूहशब्दस्यैव 'कोऽयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहः, बुद्धावाभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्कः' (पृ० ८७) इत्यर्थकरणात्।

'नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् पृथग् मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः' (पृ० ८७) इत्यप्यशुद्धम्, श्रवणमात्रेणैव मन्त्रार्थनिर्वचनासम्भवात्। अत एव दुर्गाचार्यानुसारेण श्रुतिसाहाय्येन तर्कसाहाय्येन च निरुक्तशास्त्रमिदं समाप्तम्। श्रुतिभ्यो ब्राह्मणेभ्यो निगमशेषेभ्यश्चोन्नीतार्थाभिधानसामर्थ्येभ्यः, तर्कतश्च लक्षणन्यायाच्च मन्त्रा

का क्या भेद है? यह भी आपको बताना पड़ेगा। आनुपूर्वी विशिष्ट अक्षरों को यदि पद कहा जाता है तो पद और अक्षर में ही 'शब्द' शब्द का अन्तर्भाव हो जाएगा, फिर पृथक् उल्लेख किस प्रयोजन से किया गया? पद, शब्द और अक्षरसमुदाय रूप मन्त्रों की परस्पर विशेष्यविशेषण रूप से सामान्य वृत्ति में वर्तमान रहने पर अर्थ ज्ञान की चिन्ता होती है'। यहाँ पर 'इतरत्' पद का परस्पर विशेष्यविशेषणभाव से, यह अर्थ कैसे हुआ? पद-शब्द-अक्षरसमुदाय और मन्त्र इन दोनों षष्ठ्यन्त पदों का परस्पर क्या संबन्ध है? 'वर्तनसामान्यात्' इस पद का 'सामान्य वृत्ति में' यह अर्थ कैसे होगा? विशेष्यविशेषणभाव से वृत्ति होने पर, इसी से वाक्य की उपपत्ति बन जाती है तो फिर बीच में सामान्य पद को जोड़ने से क्या लाभ है? वास्तव में स्वामी दयानन्द सभी जगह प्रकृति, प्रत्यय, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति की ओर बिना ध्यान दिये मनमाने ढंग से वाक्य का अर्थ करने लगते हैं।

दुर्गाचार्य की पद्धति से तो वह स्वर रूप अक्षर व्यंजन से भिन्न है, क्योंकि जैसे चक्र में अनुप्रविष्ट धुरी में धार्यमाण रथ की वृत्ति है, उसी तरह स्वर से व्यंजनों का व्यवहार चलता है, यह उसका अर्थ हुआ। व्यंजन स्वरों में अधिरूढ रहते हैं, इस वाक्य में यही बात कही गई है। मन्त्र के अर्थ की चिन्ता के अभ्यूह में दयानन्द के मत से भी इस पूर्ववाक्य का संबन्ध नहीं बनेगा। मन्त्र के अर्थ की चिन्ता के लिये अभ्यूह मनुष्य को करना चाहिये। अनेक मन्त्रों को अर्थचिन्ता का अभ्यूह प्रथम अध्याय से आरंभ कर त्रयोदश अध्याय के एकादश खण्ड तक किया गया है। दुर्गाचार्य ने स्पष्ट कहा है कि—मन्त्रों के अर्थ की चिन्ता का अभ्यूह किया गया, अर्थात् मन्त्र के अर्थ के निर्णय के लिये उपयोगी तर्क का सहारा लिया गया, इस तरह से मन्त्र के अर्थ का ऊह संभव हो जाता है। दयानन्द की रीति से चिन्ता शब्द निरर्थक ही है, क्योंकि उन्होंने मन्त्राभ्यूह शब्द का ही यह अर्थ किया है कि इस मन्त्र का अर्थ क्या होगा, इस तरह का अभ्यूह, अर्थात् बुद्धि में भली भांति से विशेष ज्ञान का उद्भावक तर्क होता है।

'केवल श्रुतिमात्र से ही नहीं, तर्क के सहारे भी पृथक् पृथक् मन्त्रों का अर्थनिर्वचन करना चाहिये' यह उक्ति भी गलत है, क्योंकि श्रवणमात्र से अर्थ का निर्वचन हो ही नहीं सकता। इसीलिये दुर्गाचार्य के अनुसार श्रुति और तर्क दोनों की सहायता से यह निरुक्त शास्त्र समाप्त हुआ है। श्रुति का अर्थ ब्राह्मण है, जिनकी कि अर्थ को कहने की सामर्थ्य निगमशेष वाक्यों से अधिगत है, तर्क का अर्थ है लक्षण, इनकी सहायता से मन्त्रों का निर्वचन होना चाहिये। इस तरह से यद्यपि श्रुति और तर्क से मन्त्रों का

निर्वक्तव्याः । यद्यप्येवं श्रुतितस्तर्कतश्च मन्त्रा निर्वक्तुं व्याख्यातुं शक्यन्ते, तथापि न प्रकरणशः पृथक्त्वे मन्त्रा वक्तव्याः, किन्तु प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः । प्रकरणानि तु मन्त्राणां यागं दैवतमध्यात्ममितिहासानुप्रवेशः, तदनुरोधेन मन्त्र-व्याख्यानं युक्तम् । किं कारणं तत्राह—'नह्येषु मन्त्रेषु प्रत्यक्षम् (आधुनिकानामर्थप्रत्यक्षज्ञानं भवति) अनृषेरतपसो वा' (नि० १३।१२) । यच्च ऋषिर्जन्मान्तरीयसुकृतपरिपाकवशात् परमेश्वरानुग्रहाल्लब्धविशिष्टज्ञानसामर्थ्यो यश्च तपस्वी तपसा दग्धकिल्विषश्च स्यात्, तयोरेव मन्त्रेषु प्रत्यक्षं यथावदर्थज्ञानं भवति ।

'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति' (नि० १।१६) । पारोवर्येणाचार्योपदेशपरम्परया ये विजानते ते पारोवर्यविदः, न साक्षात्कृतधर्माणः, तेषु यो भूयोविद्यो बहुश्रुतः स्यात् स एव मन्त्रार्थज्ञाने प्रशस्यो भवति नेतरो मन्दबुद्धिरशिक्षितः । सर्वविद्यास्थानभावेन लोकव्यवहारभावेन च मन्त्रार्थं एव विप्रकीर्णो विजृम्भत इति नाबहुश्रुतस्तमूहितुं शक्नोति । पारम्पर्यविशुद्धये चाख्यायिकामाह—'मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति (पुराकल्परूपोऽर्थवादोऽयम्) । तेभ्य एवं तर्कमृषिं प्रायच्छन्' । मनुष्याः साक्षात्कृतधर्मसु ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् । नोऽस्मासु क ऋषिर्भविष्यति । ते देवा एतं तर्कं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहं प्रायच्छन् तस्मै यो निरुक्तशास्त्रेऽनूचानः । विद्वान् यदेव किञ्चिद् मन्त्रेष्वभ्यूहति आर्षं तद् भवति ।

दयानन्दस्तु 'पृथक् पृथग् मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः' (पृ० ८७) इत्याह । मन्त्रर्षिषु किं पार्थक्यमिति तु नोक्तवान् । 'प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः' (पृ० ८७) । वस्तुतस्तु निर्वचनं व्याख्यानमेव भवति । अत एव मन्त्रा निर्वक्तव्या भवन्ति न मन्त्रार्थाः । यत्तु—'न यावद्वा पारोवर्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो भवति, न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्तीति' (पृ० ८७),

व्याख्यान भी हो सकता है, तो भी बिना प्रकरण के मन्त्रों का निर्वचन नहीं होना चाहिये, किन्तु प्रकरण के अनुसार ही वह होना चाहिये । प्रकरण से मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग, देवता, अध्यात्म, इतिहास इत्यादि का बोध होता है । तदनुसार ही मन्त्र की व्याख्या होनी चाहिये । इसका क्या कारण है ? अतः कहा गया है कि इन मन्त्रों के अर्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान आधुनिक मनुष्यों को नहीं हो सकता, जो कि ऋषि अथवा तपस्वी नहीं हैं । जो कि ऋषि हैं, अर्थात् जन्मान्तर के पुण्यपरिपाक के कारण परमेश्वर का अनुग्रह होने पर जिनको विशिष्ट ज्ञान की सामर्थ्य प्राप्त है और जो तपस्वी हैं, अर्थात् तपस्या करने से जिसके सारे पाप भस्म हो गये हैं, ऐसे मनुष्यों को मन्त्रों के अर्थ का प्रत्यक्ष, अर्थात् यथावत् ज्ञान होता है ।

'पारोवर्यवित्सु' इत्यादि निरुक्त वचन का यह अर्थ है कि पारोवर्य अर्थात् आचार्यों के उपदेश की परम्परा से जिनको ज्ञान प्राप्त होता है, वे पारोवर्यविद् कहलाते हैं, ये धर्म के साक्षात्कर्ता नहीं होते । इनमें से जो बहुश्रुत होता है, वही मन्त्रों के अर्थज्ञान में प्रशस्य होता है, इतर मन्दबुद्धि अशिक्षित व्यक्ति नहीं । लोक की सभी विद्याओं में और लोकव्यवहार में मन्त्रों का अर्थ ही नाना प्रकार से बिखरा हुआ है, अतः जो बहुश्रुत नहीं है, वह उसको समझने में असमर्थ रहता है । पारम्पर्य की विशुद्धि के लिये यहाँ आख्यायिका दी गई है—'मनुष्या वा' इत्यादि । यह पुराकल्परूप अर्थवाद है । इसका अभिप्राय है कि मनुष्यों ने धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों के संसार से उठ जाने पर देवताओं से कहा कि अब हमको धर्म का उपदेश देने वाला ऋषि कौन होगा ? उन देवताओं ने निरुक्त शास्त्र के पारंगत विद्वानों को तर्क का सहारा लेने के लिये कहा, जिससे कि मन्त्र के अर्थ की चिन्ता में सहायता मिल सके । इस प्रकार के पारोपर्यविद् विद्वान् इस ऊह की सहायता से जो भी अर्थ चिन्तन करते हैं, वह भी आर्ष ही माना जाता है ।

दयानन्द ने तो इसकी व्याख्या की है कि पृथक्-पृथक् मन्त्रों के अर्थों का निर्वचन करना चाहिये, किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि मन्त्रों के अर्थ में पार्थक्य है क्या ? 'प्रकरण के अनुकूल पूर्वापर संबन्ध का विचार करके ही निर्वचन बताने चाहियें' यहाँ पर भी निर्वचन का अर्थ व्याख्या ही है । इसीलिये मन्त्रों का ही निर्वचन हो सकता है, मन्त्रों के अर्थों का नहीं । 'वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ

तदपि न सङ्गतम्, साक्षात्कृतधर्मभ्य ऋषिभ्यः पारोवर्यविदां भिन्नत्वात्। नहि साक्षात्कृतधर्माण एव पारोवर्यविदः। न वा साक्षात्कृतधर्मसु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति, 'तेषूत्क्रामत्सु' इत्यादि निरुक्तविरोधात्।

यत्तु—'अत्रेतिहासमाह—पुरस्तात्कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषु उत्क्रामत्सु अतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यति ? तेभ्यः सत्यासत्यविवेकेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् अयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीति उत्तरं दत्तवन्तः, यः कश्चिदनूचानो विद्यापारगः पुरुषोऽभ्यूहति तदेवार्षमृषिप्रोक्तं व्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम्' (पृ० ८७), तदपि मूलविरुद्धम्, मनुष्या देवानब्रुवन्नित्युक्तिविरोधात्। अत्र मनुष्यभिन्ना एव देवा माहाभाग्याद् देवताया ऐश्वर्यवत्त्वात् तान् मनुष्यविलक्षणानब्रुवन् इत्येतस्यैवार्थस्य युक्तत्वात्। न च विद्वांसो मनुष्या एव देवाः, देवताप्रतिपादकवेदनिरुक्तादिवचनविरोधात्। न च विद्वांसो मनुष्या देवा अविद्वांसो मनुष्या इति वाच्यम्, अविद्वत्सु तर्कस्यासम्भवात्। 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च' (नि० १।२०) इति निरुक्तविरोधात्। अत्र स्पष्टं साक्षात्कृतधर्मभिरसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रदानमुक्तम्। त एव पारोवर्यविदः अवरकालीनाः श्रुतर्षयः।

साक्षात्कृतधर्माणस्तु श्रवणमन्तरेणैव तपोविशेषात् परमेश्वरानुग्रहाद् ऋषयो भवन्ति, 'ऋषिर्दर्शनात्' (नि० २।११) इति वचनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। 'पश्यत्यसौ सूक्ष्मानप्यर्थान् तारकेण ज्ञानेन' इति दुर्गाचार्यः। 'तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यनार्षत् त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वम्' (तै० आ० २।९) इति

आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों और शास्त्रान्तरों का यथावत् बोध न हो और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके सङ्ग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखें, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता' (पृ० ८८) यह भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों से पारोवर्यविद् विद्वान् भिन्न ही हैं, एक नहीं। धर्म का साक्षात्कार करने वालों में भूयोविद्य प्रशस्य भी नहीं होता, क्योंकि निरुक्त में उनके उत्क्रमण के बाद भूयोविद्य की चर्चा हुई है।

आगे दी गई 'यहाँ पर इतिहास बताया जाता है—पुराने जमाने में किसी समय मनुष्यों ने मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों के समाप्त हो जाने पर विद्वानों से पूछा कि अब हमारे बीच में ऋषि कौन होगा ? उन विद्वानों ने उत्तर दिया कि सत्य और असत्य के विवेक के लिये और वेदार्थ के ज्ञान के लिये यह तर्क ही आप लोगों के बीच में ऋषि होगा। इसलिये विद्याओं का पारंगत विद्वान् जिसको मन्त्रार्थ निश्चित करता है, वही ऋषिप्रोक्त व्याख्यान माना जाता है' यह व्याख्या भी मूल निरुक्त वचन के विरुद्ध है। निरुक्त में कहा गया है कि मनुष्यों ने देवताओं से पूछा। इसका अभिप्राय है कि देवता मनुष्यों से भिन्न हैं। देवता माहाभाग्य अर्थात् महान् ऐश्वर्य से युक्त हैं, इस रूप में वे मनुष्यों से विलक्षण हैं, यही अर्थ उचित हो सकता है। विद्वान् मनुष्यों को ही देवता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस तरह देवताप्रतिपादक वेदवाक्य, निरुक्त आदि के साथ विरोध होगा। विद्वान् को देवता और अविद्वान् को यदि मनुष्य कहा जाय, तब भी बात बनेगी नहीं, क्योंकि अविद्वान् व्यक्ति में तर्कशक्ति नहीं रहती और इस निरुक्त वचन से भी विरोध होगा कि 'पहले धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषिगण हुआ करते थे। उन्होंने बाद के असाक्षात्कृतधर्मा मनुष्यों को मन्त्रों का उपदेश दिया। इससे भी आगे जब मनुष्य उपदेश ग्रहण करने में भी असमर्थ होगये तो संक्षेप में शास्त्रों को जानने की इच्छा से वेद और वेदांगों की रचना की गई'। यहाँ पर स्पष्ट ही साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से असाक्षात्कृतधर्मा मनुष्यों को उपदेश के द्वारा मन्त्र की प्राप्ति का उल्लेख है। पश्चात्कालीन ये श्रुतर्षिगण ही यहाँ पर पारोवर्यविद् कहे गये हैं।

साक्षात्कृतधर्मा ऋषिगण तो बिना श्रवण के ही अपने तपोबल के प्रभाव से और परमेश्वर के अनुग्रह से ऋषि हुए थे 'ऋषिर्दर्शनात्' यह निरुक्त वचन इसमें प्रमाण है। 'आचार्य उपमन्यु के शिष्यों का कहना है कि उपमन्यु ने स्तोमों का दर्शन किया था' इस निरुक्त वाक्य का दुर्गाचार्य ने यह अर्थ किया है—ऋषि सूक्ष्म पदार्थों को भी अपने तारक ज्ञान की सहायता से देख लेता है।

ब्राह्मणवचनाच्च । तद् यत्तपस्यमानानेनान् ब्रह्मऋग्यजुःसामाख्यं स्वयम्भु अक्रत अभ्यगच्छत् प्रादुर्बभूव अनधीतमेव तपोविशेषेण ऋषयो ब्रह्मरूपं वेदं दृष्टवन्तस्तत एव तेषामृषित्वमिति तदर्थः । ते च शिष्योपाध्यायिकया वृत्त्या मन्त्रान् ग्रन्थतोऽर्थतश्च श्रुतर्षिभ्यः प्रत्तवन्तः । तेऽपि चोपदेशेनैव जगृहुः । तेषामेवामोषां सङ्कोचमवेक्ष्य कालानुरूपां ग्रहणशक्तिमवेक्ष्य बिल्मग्रहणाय समाम्नासिषुः । एकं सन्तं वेदं सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः । तेषु तादृशेषु ऋषिषूत्क्रामत्सूपरतेषु कथमस्माकं यथावद्वेदार्थज्ञानं भविष्यतीति चिन्तव्याकुला मनुष्या देवान् विशिष्टैश्वर्यवतोऽब्रुवन् ते च देवास्तेभ्यो निरुक्तं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहरूपं तर्कं दत्तवन्तः । तर्कोऽपि नात्र लौकिको ग्राह्यः, किन्तु निरुक्तशास्त्ररूप एव, शुष्कतार्किकैर्वेदार्थानधिगमात् । 'हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः । अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे ॥' (ऋ० सं० १०।७१।८) इति मन्त्रवर्णात् । तेष्वर्थेषु सूक्ष्मेषु मन्त्रार्थव्याख्याने त्वमेकमविद्वांसं विजहुः त्यक्तवन्तः । केन तत्यजुः ? वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः । ये पुनः ओहब्रह्माण इदं निरुक्तशास्त्रम् ऊहब्रह्म येषामस्ति ते शब्दार्थन्यायसङ्कटेष्वप्रतिबद्धमाना अतिक्रम्याविद्वांसं विशेषतः प्रतिपूज्यमानाश्चरन्तीति दुर्गाचार्यः ।

यदुक्तम्—'पूर्वेभिः पूर्वकालावस्थैः कारणस्थैः प्राणैः परमेश्वर ईड्यः' (पृ०८८) इति, तदसङ्गतम्, कारणे गुणवर्णनलक्षणस्तुत्यसम्भवात् ।

छन्दोमन्त्रयोरेकत्वम्

यत्तु—'मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात्, यजुर्यजतेः, साम सम्मितमृचा' (नि० ७।१२)। गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन् वर्तते स मन्त्रो वेदः, तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति, 'मन ज्ञाने' इत्य-

'तद् यदेनान्०' इत्यादि तैत्तिरीय आरण्यक का वचन भी इसमें प्रमाण है। इसका यह अर्थ है कि—तपस्या करते हुए इन ऋषियों को ब्रह्म अर्थात् ऋक्, यजुः, साम का स्वयं ज्ञान आविर्भूत हो गया, विना पढ़े ही तपोबल के माहात्म्य से ऋषियों को ब्रह्मरूप वेद का दर्शन हो गया, इसीलिये वे ऋषि कहे जाते हैं। इन आद्य ऋषियों ने शिष्य और उपाध्याय की परम्परा के माध्यम से अर्थ सहित मन्त्रों को श्रुतर्षियों को दिया। उन्होंने भी उपदेश द्वारा ही उनको ग्रहण भी कर लिया। बाद में इनमें कालगति के अनुसार ग्रहण शक्ति का संकोच देखकर सुखावबोध के लिये विभिन्न शास्त्रों का उपदेश किया गया। एक ही वेद को सुखपूर्वक ग्रहण करने के लिये अलग अलग शास्त्रों की रचना की गई। ऐसे ऋषिगण भी जब दुनियाँ से उठने लगे तो हमको वेद का अर्थज्ञान कैसे होगा, ऐसी चिन्ता में पड़े मनुष्यगण विशिष्ट ऐश्वर्य वाले देवताओं के पास गये। देवताओं ने निरुक्त, याने मन्त्रार्थ की चिन्ता के लिये ऊह याने तर्क का सहारा लेने को कहा। तर्क शब्द से यहाँ लौकिक तर्क का ग्रहण न होकर निरुक्त शास्त्र का ग्रहण हुआ है, क्योंकि शुष्क तार्किक वेदों के अर्थ को नहीं जान सकते। 'हृदा तष्टेषु' इस ऋग्वेद के मन्त्र में यही बात कही गई है। इस मन्त्र का दुर्गाचार्य ने यह अर्थ किया है कि—'मन्त्रों के व्याख्यान के प्रसंग में सूक्ष्म अर्थों के उपस्थित होने पर तुम्हारे जैसे जिज्ञासु अविद्वान् मनुष्यों को छोड़कर उनके पास जाते हैं, जो कि जानने लायक सारी प्रवृत्तियों को जानकर तथा निरुक्त आदि शास्त्रों की सहायता से शब्द और अर्थ के इस संकट से पार पाकर सही अर्थ का अवबोध करा कर विशेष रूप से पूजा एवं संमान के भाजन बनते हैं।'

यह कहना कि 'पूर्वकाल में अवस्थित कारण रूप प्राण से परमेश्वर की स्तुति करना चाहिये', इसलिये असङ्गत है कि कारण में गुणवर्णन रूप स्तुति का सम्भावना ही नहीं है।

छन्द और मन्त्र की एकता

आगे 'मनन में सहायक मन्त्र, छादन करने वाले छन्द, स्तवन करने से स्तोम, यजन में सहायक यजुः और ऋक् की समानता वाले साम होते हैं' इस निरुक्त वचन को उद्धृत कर यह जो व्याख्या की गई है कि 'गुप्त पदार्थों का भाषण जिसमें है, वह वेद

स्माद् धातोः 'ष्ट्रनि मन्त्रशब्दनिष्पत्तेः। मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन् वा स मन्त्रो वेदः। तदवयवाः 'अग्निमीळे' इत्यादयः' (पृ० ८९) इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदेतरग्रन्थेषु व्यभिचारात्। धर्मार्थ-काममोक्षशास्त्रेषु पौरुषेयेष्वपि गुप्तानां पदार्थानां भाषणात्। प्रत्यक्षानुमानेष्वपि सत्यपदार्थवेदकत्वाच्च।

यदपि—'अविद्यादिदुःखानां निवारणात् सुखैराच्छादनात् छन्दो वेदः' (पृ० ८९) इति, तदपि न युक्तम्, व्यभिचारात्, पौरुषेयग्रन्थेषु वेदानुवादेष्वप्याह्लादकत्वप्रकाशकत्वादिसम्भवात्।

नैरुक्तमन्त्रछन्दआदीनां तु दुर्गाचार्यादिसम्मतोऽयमर्थः—एभ्यो ह्यध्यात्माधिदैवाधियज्ञादिमन्तारो मन्यन्ते तदेषां मन्त्रत्वम्। वैदिकमन्त्रेभ्य आध्यात्मिकादयोऽर्था मन्यन्त इति योगरूढोऽत्र मन्त्रशब्दः। ते पुनश्छन्दोमयाः। नाच्छन्दसि वागुच्चरति। छन्दांसि कस्मात्? छादनात्। यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वमिति विज्ञायते। यजतेर्यजुः, याज्यान्ते वषट्कारविधानात्। ऋचा सम्मितं साम। ऋचा समं मेन इति नैदानाः।

यत्तु—'छन्दांसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्' (श० ८।२।२८), 'एता वै देवताश्छन्दांसि' (श० ८।३।३।६) इत्यत्र यानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वाद् देवताशब्देन गृह्यन्ते। अतश्छन्दांस्येव देवा वयोनाधाः सर्वक्रियानिबन्धनाः। तैश्छन्दोभिरेव वेदैर्वेदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमिति विज्ञेयम्। येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्या आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति, तस्माच्छन्दांसि वेदा मननाच्च मन्त्राश्चेति पर्यायौ। 'श्रुतिश्च वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः' (म० २।१०), 'इत्यपि निगमो भवति' इति निरुक्ते। श्रूयते वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च। निगमो वेदो मन्त्रश्चेति। तथा व्याकरणे—

मन्त्र कहलाता है, उसके अनेकार्थक अवयव भी मन्त्र कहलाते हैं। 'मन ज्ञाने' इस धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय होने पर मन्त्र पद निष्पन्न होता है। जिनसे सभी मनुष्य सत्य पदार्थों को जान पाते हैं, वे मन्त्र वेद हैं। उसके अवयव 'अग्निमीळे' इत्यादि हैं', यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह लक्षण तो वेद से भिन्न शास्त्रों में भी मिल जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक पौरुषेय शास्त्रों में भी गुप्त पदार्थों की व्याख्या की गई है। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से भी सत्य पदार्थों की अवगति होती है।

यह कथन भी अयुक्त है कि 'अविद्या आदि दुःखों का निवारण कर वेद व्यक्ति को सुख से आच्छादित कर देते हैं, अतः उनको छन्द कहा जाता है', क्योंकि यहाँ पर भी पूर्ववत् व्यभिचार दोष है। पौरुषेय ग्रंथ और वेदों के अनुवाद ग्रंथों में भी आह्लादकत्व, प्रकाशकत्व आदि गुण विद्यमान हैं।

निरुक्त में उल्लिखित मन्त्र, छन्द आदि शब्दों का दुर्गाचार्य प्रभृति का अर्थ इस प्रकार है—इन मन्त्रों से अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ के स्वरूप का जिज्ञासुजन अवबोध करते हैं, अतः इनको मन्त्र कहा जाता है। वैदिक मन्त्रों से आध्यात्मिक आदि अर्थ जाने जाते हैं, अतः यहाँ पर मन्त्र शब्द योगरूढ है। ये मन्त्र छन्दोमय होते हैं। विना छन्द के वाणी नहीं उच्चरित होती। इनको छन्द क्यों कहा जाता है? इसलिये कि ये छादक हैं। देवताओं ने मृत्यु के डर से अपने को इन छन्दों से ढक लिया, इसलिये ये छन्द कहलाये। यज् धातु से यजुः शब्द बनता है, क्योंकि याज्या के अन्त में वषट्कार का विधान है। ये मन्त्र साम इसलिये कहे जाते हैं कि इनको निरुक्तकार ऋचाओं के समान मानते हैं।

आगे 'छन्दांसि वै देवा' इत्यादि शतपथ श्रुति के दो वचनों को उद्धृत कर उनकी व्याख्या की गई है कि—'जो गायत्री प्रभृति छन्द और तदन्वित मन्त्र हैं, वे सभी अर्थों के अवद्योतक होने से देवता शब्द से गृहीत होते हैं, अतः ये छन्द रूप देव ही सारी क्रियाओं के निष्पादक होते हैं, उन छन्दों से और वेद मन्त्रों से ही यह सारा विश्व और उसके कर्म ईश्वर से बंधे हुए हैं। इन छन्दों में निबद्ध सारी विद्याएं भली-भांति धारण कर ली जाती हैं, समझ ली जाती हैं, इसलिये ये छन्दोमय वेद और मननमय मन्त्र पर्याय कहलाते हैं। 'श्रुति वेद का नाम है, धर्म-शास्त्र को स्मृति कहा गया है' यह मनुस्मृति का वचन है। 'इस प्रकार का भी निगम होता है' यह निरुक्त का वचन है। जिससे सारी विद्याएँ सुनी जाती है, उसको श्रुति कहते हैं। श्रुति, वेद, मन्त्र, और निगम—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिभ्यो लेः' (पा० सू० २।४।८०), 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः, (पा० सू० ३।४।६), 'वा षपूर्वस्य निगमे' (पा० सू० ६।४।९) अत्रापि छन्दो-मन्त्र-निगमाः पर्यायवाचिनः। एवं छन्दआदीनां पर्याये सिद्धे यो भेदं ब्रूते, तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञेयम्' (पृ० ९०) इति, तत्तु सर्वमसम्बद्धम् असङ्गतं निरर्थकं च, ब्राह्मणार्थापरिज्ञानात्। छन्दःशब्दबाहुल्यवचनप्रदर्शनेन धूलिप्रक्षेपमात्रत्वाच्च।

तथाहि—'छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः' इतीदं वाक्यं शतपथब्राह्मणेऽष्टमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमप्रपाठके षष्ठब्राह्मणेऽष्टमे मन्त्रे दृश्यते। तत्र चयनप्रसङ्गे वैश्वदेवेष्टकोपधानं प्रकृतम्, अथ वैश्वदेवीरुपदधाति। तत्स्तुत्यर्थमाख्यायिकोक्ता। यामिष्टकामेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय तदा अश्विनावुपाधत्तां सैषा द्वितीया चितिः, तामुपधायेदं सर्वमभवतां तौ यदिदं किञ्चित् प्रतीयते तत्सर्वमिदं तयोः स्वाधीनमभूत्, ते देवा इदं सर्वमश्विनावभूताम्, अतो यथा येन प्रकारेण इह सर्वस्मिन् वयमप्यसाम ततस्तथा उपजानीत इति परस्परमब्रुवन्। एवमुक्त्वा ते पुनरब्रुवन् चेतयध्वमिति। एवं वदतामुक्तेरभिप्रायं श्रुतिरितरथा ब्रूते 'चितिमिच्छन्त इति वाव तदब्रुवन्निति। इतस्ततो विक्षिप्ताया बुद्धिवृत्तेरैकाग्र्येणैकत्र प्रवेशश्चितिः। ते चेतयमाना एता वैश्वदेवीरिष्टका अपश्यन्। स्वातन्त्र्येण कार्यं साधयितुमशक्तास्ते देवा एवमब्रुवन्। इदं सर्वं पूर्वमश्विनावभूताम्। अतो वयमप्यश्विभ्यामेव साधनाभ्यां तपश्चितिमनुसृत्यैव वैश्वदेवीरूपं दधामहे। एवमुक्त्वा ते तथैवाकुर्वन्। तस्मादश्विप्रधानत्वाद् एतां द्वितीयां चितिमाश्विनीमित्याचक्षते तज्ज्ञाः। अश्विभ्यां साधितत्वाद् यथैव पूर्वासामाश्विनीनामुदर्को मन्त्रस्यावसानमश्विनावध्वर्यू सादयतामित्येवंरूपः।

एवमेतासां वैश्वदेवीनामुदर्कं प्रकारान्तरेण स्तुवन्नाह—'यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधाति' इत्यादि। ये खलु विश्वेदेवा एतां वैश्वदेवीभिर्निर्मितां द्वितीयां चितिमपश्यन्, ते देवा एतेन रसेनोपायेनोपायन्, रसेन सङ्गता अभवन्। ते एते प्रसिद्धा विश्वेदेवास्तानेव रसोपेतान् देवान् एतेन वैश्वदेवीनामुपधानेनोपदधाति अध्वर्युः। कोऽसौ रस इति स उच्यते

व्याकरण में भी 'मन्त्रे०' इत्यादि तीन सूत्रों में छन्द, मन्त्र और निगम को पर्यायवाची शब्द माना है। इस तरह शब्दों की पर्यायवाचिता सिद्ध होने के उपरान्त भी जो लोग इनमें भेद मानते हैं, उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं' (पृ० ९०)। ये सब व्याख्यान असम्बद्ध हैं, असङ्गत और निरर्थक भी, क्योंकि यहाँ पर उद्धृत शतपथब्राह्मण का अर्थ दयानन्द समझ नहीं पाये हैं। छन्दः शब्दों की जहाँ अधिकता है, ऐसे वचनों को उद्धृत कर धूलिप्रक्षेप करने का प्रयत्न किया गया है।

'छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः' यह वाक्य शतपथब्राह्मण में अष्टम काण्ड के द्वितीय प्रपाठक के छठे ब्राह्मण के आठवें मन्त्र में दिखाई देता है। वहाँ पर चयन के प्रसङ्ग में वैश्वदेव सम्बन्धी इष्टका का उपधान प्रकृत है। उसकी स्तुति के लिये आख्यायिका दी गई है। इन देवताओं के निमित्त जिस इष्टका को अश्विनीकुमारों ने खरीदा, वह द्वितीया चिति है। इस चिति को रखने से सब कुछ अश्विनीकुमारों के अधीन हो गया। इस पर उन देवताओं ने परस्पर सोचा कि जैसे इस इष्टका के उपधान से सब कुछ उन अश्विनीकुमारों के अधीन हो गया, उसी भाँति हम भी हो जाँय। ऐसा कहकर वे पुनः बोले कि सावधान हो जाओ। देवताओं की इस उक्ति के अभिप्राय को श्रुति में इस प्रकार कहा है कि वे बोले कि चयन करना चाहिये। इधर-उधर फैली हुई बुद्धि वृत्ति की एकाग्रता भी चिति कही जाती है। उन देवताओं ने एकाग्रचित्त होकर इन वैश्वदेव सम्बन्धी इष्टकाओं को देखा। स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध करने में असमर्थ उन देवताओं ने ऐसा कहा कि इनका उपधान पहले अश्विनीकुमारों ने किया था, अतः हम लोग भी उनकी अनुष्ठित विधि से ही चिति का अनुष्ठान कर विश्वेदेव स्वरूप धारण करें। ऐसा कहकर उन्होंने उसी तरह किया। इसमें अश्विनी का प्राधान्य है, अतः इस द्वितीय चिति का नाम अश्विनीचिति ही उसके जानकार विद्वानों ने रखा है। अश्विनीकुमारों के द्वारा साधित इस चिति ने जैसे उनकी सौभाग्य वृद्धि की, अतः तदनुरूप ही इस मन्त्र का अवसान हुआ।

इस वैश्वदेवी चिति का माहात्म्य 'यद्वेव०' इत्यादि श्रुति में प्रकारान्तर से बताया गया है। जिन विश्वेदेवों ने इस द्वितीय चिति का दर्शन किया है, वे इसके रस से, फल से लाभान्वित हुए हैं। इन शुभ फल देने वाले विश्वेदेवों की ही अध्वर्यु वैश्वदेवी चिति के उपधान द्वारा स्तुति करता है। यह शुभ फलरूप रस क्या है? यह सारी प्रजा यहाँ रस शब्द से कही गई है। यह परिदृश्यमान

ता एताः सर्वाः प्रजाः, ता रसत्वेन निर्दिष्टा इष्टका एताः परिदृश्यमानाः सर्वाः प्रजाः। एतासां स्थानमाह—'ता रेतःसिचोर्वेलयेति। तस्माद्रेतःसिचोर्मातापित्रोर्द्यावापृथिव्यात्मकत्वात् तयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये प्रजा वर्तन्त इति शेषः। विस्रस्तात् प्रजापतेर्मध्यतः सर्वाः प्रजा उद्गताः। एतस्याः प्रजोत्पत्त्यादिकाया योनेः सकाशाद् उद्गताः प्रजाः प्रजापतिशरीरस्य सम्बन्धिन्यः, एतस्मिन् प्रतिहिते प्रजापतिं पुरस्तात् प्रापद्यन्त। कोऽसौ विस्रस्तः प्रजापतिरित्याह—अयमेव स योऽयमग्निश्चीयते। कास्ताः प्रजा एतास्ता वैश्वदेव्यः। एवं बहुधा प्रशस्य अथासां पञ्चानां वैश्वदेवीनामुपधाने मन्त्रं विधातुमाह—यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधात्येतद्वै प्रजापतिरित्यादिना आत्मनः शरीरस्य मध्यमेऽङ्गे प्रतिहिते अकामयत प्रजाः सृजेयमिति। एवं कामयमानः स ऋतुप्राणसंवत्सराश्विभिः सयुक् तत्सहायो भूत्वा एता वक्ष्यमाणवैश्वदेव्याख्याः प्रजाः प्राजनयत्। तस्मात्सयुग्भावाद्धेतोर्वैश्वदेवीनामुपधानमन्त्रेषु सजूः (सजूरित्यनुवर्तते) ऋतून् प्राजयत्। ऋतुभिः सयुग्भूत्वाऽन्यान् विश्वेदेववस्वादीन् देवान् प्राजनयत् सजूर्देवैर्वयोनाधैरिति तत्रैवोक्तं मूले 'सजूर्विधाभिः सयुग्भूत्वा प्राजनयत्। तत्र विधाशब्दार्थमाह—आपो वै विधाः। कुत इति चेत् तत्र विधाशब्दप्रवृत्तिं दर्शयति—अद्भिर्हीदं विधीयते क्रियते, तेनापो विधा इत्युच्यन्ते। तत्र यद्देवा इत्याचक्षते। देवशब्देन येऽभिधीयन्ते ते सर्वे विवक्षिताः सजूर्देवैर्वयोनाधैरिदं सर्वं प्राजनयत्। तत्र वयोनाधशब्दार्थमाह—प्राणा वै देवा वयोनाधाः। वयोनाधशब्दः कथं प्राणानभिधत्त इति तदुपपादयति—प्राणैर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्, वयो वयुनं नह्यन्ति बध्नन्तीति वयोनाधाः प्राणाः। वयःशब्दस्य 'अथोच्छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः' इत्यत्र विवक्षितार्थान्तरमाह—अत्र वयःशब्देन छन्दांस्युच्यन्ते; ततो वयोनाधा देवाः, अर्थात् छन्दोरूपा देवा इत्यर्थः।

ततश्च तृतीयेऽध्याये 'छन्दस्या उपदधाति' इत्यादिना छन्दस्यानां छन्दोलिङ्गमन्त्रोपधेयानामिष्टकानामुपधानमुक्तम्, पशवो छन्दांस्यन्तरिक्षं मध्यमा चितिरन्तरिक्षे तत्पशन् दधाति तस्मादन्तरिक्षायनाः पशव इत्यादिभि-

सारी इष्टकाएं प्रजामय हैं। 'ता रेतःसिचो' इत्यादि से इनका स्थान बताया गया है कि चूंकि वीर्य के सेचक माता-पिता आकाश-पृथ्वीमय हैं, अतः आकाश और पृथिवी इन दोनों के बीच ही यह सारी प्रजा निवास करती है। विस्रस्त प्रजापति के मध्य से यह सारी प्रजा निकली। इस प्रजा की उत्पत्ति की कारणभूत योनि से निकली प्रजा प्रजापति के शरीर से सम्बद्ध है। अतः प्रजा इस प्रजापति को ही पहले पहचान पाती है। यह विस्रस्त प्रजापति कौन है? जिस अग्नि का चयन होता है, वही विस्रस्त प्रजापति है। यह प्रजा कौन है? ये विश्वेदेव की इष्टकाएं। इस प्रकार इन वैश्वदेवी इष्टकाओं को अनेक प्रकार से स्तुति करके इन पाँच वैश्वदेवी इष्टकाओं के उपधान के लिये मन्त्र का विधान करते हुए 'यद्वेव वैश्वदेवी' इत्यादि वचन कहा गया है। अपने शरीर के मध्यम अङ्ग में प्रतिहित होने पर उसने प्रजा की सृष्टि की कामना की। इस प्रकार की इच्छा होने पर उसने ऋतु, प्राण, संवत्सर, अश्विनी आदि को सहायता से आगे बताई वैश्वदेवमयी सृष्टि की। इस सयुग्भाव के कारण वैश्वदेवी के उपधान मन्त्रों में ऋतुओं को पैदा किया, ऋतुओं की सहायता से अन्य वसु आदि देवताओं को पैदा किया। यहीं पर 'सजूर्देवैर्वयोनाधैः' यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ भी वहीं बताया गया है कि 'सजूः' शब्द से युक्त होकर उसने सृष्टि की। आगे वहीं पर विधा शब्द का अर्थ दिया गया है कि जल ही यहाँ पर विधा है। कैसे? इसको समझाने के लिये विधा शब्द की प्रवृत्ति बताई गई है कि यह सब कुछ जल से ही बनाया जाता है, इसलिये जल को 'विधा' कहा जाता है। यहाँ पर जो देव शब्द से अभिहित होते हैं, वे सब इस शब्द से परिगृहीत होते हैं। 'सजूर्देवैः' इत्यादि का यह अभिप्राय है कि यहाँ पर वयोनाध शब्द से प्राण अभिप्रेत है, क्योंकि यहाँ सब कुछ प्राण से जुड़ा हुआ है। वय अर्थात् वयुन को बाँधने वाले प्राण हैं। वय शब्द से छन्द का ग्रहण होता है, अतः देवगण छन्दों से बंधे हुए हैं, अर्थात् देवगण छन्दोमय हैं।

इससे आगे तीसरे अध्याय में 'छन्दस्या उपदधाति' इत्यादि से छन्दस्या अर्थात् छन्द लिंग वाली ऋचाओं से उपधेय इष्टकाओं का उपधान कहा गया है। 'पशु छन्द है, अन्तरिक्ष मध्यमा चिति, अन्तरिक्ष में पशुओं का उपधान करते हैं, इसलिये पशुगण अन्तरिक्षायन कहलाते हैं', इत्यादि वाक्यों से छन्दस्य इष्टकाओं को पशुरूप बताया गया है। 'बारह इष्टकाओं का उपधान करते हैं,

श्छन्दस्यानामिष्टकानां पशुरूपत्वं दर्शितम् । द्वादश उपदधाति द्वादशाक्षरा वै जगती । अथातो निरुक्तान्येव छन्दांस्युपदधातीत्युक्त्वा पङ्क्तिश्छन्द उष्णिक्छन्दो बृहतीच्छन्दोऽनुष्टुप्छन्दो विराट्छन्दो गायत्रीछन्दस्त्रिष्टुप्छन्दो जगतीछन्द इत्येतानि निरुक्तानि विराडष्टमानि छन्दांस्युपदधाति पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्द इति । यान्येतद्देवत्यानि छन्दांसि तान्येवैतदुपदधाति । अग्निर्देवता वातो देवतेत्येता वै देवताश्छन्दांसि तान्येवैतदुपदधाति । एता वै देवता वै छन्दांसि । अग्निवातसूर्यादिदेवताः खलु छन्दांसि । 'अग्नेर्गायत्र्यभवद् इति वाक्यादेव ताभ्यश्छन्दसामुत्पत्तेः । अत्रोत्पादकोत्पाद्यानामभेदविवक्षया, देवतानां छन्दस्त्वव्यपदेशः, न सर्वार्थावद्योतकत्वाच्छन्दसां देवतात्वम्, प्रकरणविरोधात् । अथवा पशवो छन्दांसीति रीत्या छन्दसामेव पशुत्वमपि वक्तव्यं स्यात् । गायत्र्यादिच्छन्दोऽन्वितानां देवतात्वं तु पूर्वं निराकृतमेव । तस्मात् पौर्वापर्यज्ञानशून्यत्वादेव छन्दोनामभिर्बहु जल्पितम् ।

यच्च 'छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति (पृ० ९०) इत्युक्तम्, तदतीव मन्दम्, तथात्वे 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्' (पा० सू० ३।२।७१), 'अवे यजः' (पा० सू० ३।२।७२), 'विजुपे छन्दसि' (पा० सू० ३।२।७३) इति क्रमेण पठितेषु सूत्रेषु मन्त्रपदानुवृत्त्या कार्यसिद्ध्या विजुपे छन्दसीत्यत्र छन्दोग्रहणस्य वैयर्थ्यापातात् । तस्मान्मन्त्रपदेन केवलमन्त्रभागस्य ग्रहणम्, ब्राह्मणपदेन केवलब्राह्मणभागस्य, छन्दोवेदनिगमश्रुत्यादिशब्दैस्तु मन्त्रभागब्राह्मणयोरुभयोरपि ग्रहणमित्येव युक्तम् । अधिकं तूपरिष्टाद् वक्ष्यते ।

वेदसंज्ञाविचारः

यदुक्तम्—'कोऽयं वेदो नाम, मन्त्रभागसंहितेत्याह' (पृ० ९१), तदपि तुच्छम्, मन्त्रभागशब्देनैव मन्त्रभागेतरस्य ब्राह्मणभागस्य सिद्धत्वात्, भाग इत्यंशस्य वाचकः शब्दः । अंशोऽवयवो भाग इति पर्यायाः । कस्य भाग इत्या-

जगती छन्द बारह अक्षर वाला है' । इनके बाद 'निरुक्त छन्दों से उपधान करते हैं' ऐसा कहकर पंक्ति, उष्णिक्, बृहती, अनुष्टुप्, विराट्, गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती इन छन्दों की निरुक्ति कर कहा गया है कि 'विराट् के साथ आठ छन्दों का उपधान करता है, पृथिवी छन्द, अन्तरिक्ष छन्द आदि इसी देवता वाले छन्दों से उनका उपधान करता है, अर्थात् अग्निदेवता, वातो देवता इत्यादि मन्त्रों में बताये गये देवताओं को इन छन्दों से उपधान करते हैं । ये अग्नि, वायु, सूर्य प्रभृति देवता ही छन्दोमय हो जाते हैं । यही बात 'अग्नि से गायत्री छन्द की निष्पत्ति हुई' इत्यादि वाक्यों से कही गई है । यहाँ पर उत्पाद्य और उत्पादक को अभिन्न मानकर ही देवताओं को छन्द कहा गया है, सभी अर्थों की अवद्योतकता छन्दों में नहीं है, अतः वे इस रूप में देवता नहीं कहे गये हैं, क्योंकि इस तरह प्रकरण से विरोध हो जायगा । अन्यथा 'छन्द पशु है' इस श्रुति के अनुसार उनको पशु भी मानना पड़ेगा । गायत्री प्रभृति छन्दों से युक्त मन्त्रों का देवतात्व पहले ही निराकृत कर दिया गया है । इसलिये पूर्वापर सम्बन्ध का बिना ज्ञान हुए ही छन्द के नाम पर बहुत कुछ कह दिया गया है ।

यह कहना कि 'छन्द, मन्त्र और निगम शब्द पर्यायवाची हैं' बड़ी गलत बात है । ऐसा मानने पर ऊपर उद्धृत तीन पाणिनि सूत्रों में, जो कि क्रम से पढे गये हैं, मन्त्र पद की अनुवृत्ति से ही कार्य को सिद्धि हो जाने पर तृतीय सूत्र में छन्दः शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाता है । इसलिये मन्त्र पद से केवल मन्त्र भाग का ग्रहण होता है, ब्राह्मण पद से केवल ब्राह्मण भाग का और छन्द, वेद, निगम, श्रुति इत्यादि शब्दों से मन्त्र और ब्राह्मण भाग दोनों का ग्रहण होता है, यही कहना ठीक है । इस सम्बन्ध में आगे विस्तारपूर्वक कहा जायगा ।

वेद संज्ञा का विचार

'वेद किनका नाम है ? मन्त्र संहिताओं का' (पृ० ९१) यह उक्ति भी ठीक नहीं है । मन्त्र भाग शब्द से ही मन्त्र भाग से इतर ब्राह्मणभाग की भी सत्ता अपने आप सिद्ध हो जाती है । भाग यह अंशवाचक शब्द है । अंश, अवयव, भाग इन सबका एक

काङ्क्षाया अवयविनमंशिनं चान्तराऽनिवृत्तेः। एतेन मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यांशिनो द्वौ भागौ मन्त्रभागो ब्राह्मणभागश्चेति भागान्तरस्यापि सिद्धेः, अन्यथा भागपदनैरर्थक्यापत्तेः, फलस्य धान्यराशेरयममुको भाग इत्युक्तेर्भागान्तरसिद्धेस्तन्नान्तरीयकत्वात्। अत एव जैमिनिना—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (मी० सू० १।१।३१), 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० सू० १।१।३२)। अर्थान्मन्त्रातिरिक्तेषु वेदभागेषु ब्राह्मणशब्द इति जैमिनिना महर्षिणोक्तम्। 'विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैक्यशब्दात्' (मी० सू० १।१।३०) अर्थाद् ब्राह्मणभागमन्त्रभागयोरैक्यशब्दादर्थाद् वेदशब्दादैकार्थ्यमेव तात्पर्यमुक्तम्। नहि नारङ्गादिफलस्यैको भागो नारङ्गोऽपरो भागः कलिन्दो भवति। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति कात्यायनोक्तिरीत्या मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयत्वप्रसिद्धेः।

किं ब्राह्मणानां वेदत्वं नास्ति ?

यत्तु ब्राह्मणानां वेदसंज्ञाभावे 'पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद् वेदव्याख्यानाद् ऋषिभिरुक्तत्वाद् अनीश्वरोक्तत्वात् कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्च' (पृ० ९१) इति हेतव उक्ताः, तदपि तुच्छम्, व्यभिचारित्वादसाधकत्वादसिद्धत्वाच्च। तथा ह्यनुमानप्रयोगः—'ब्राह्मणं न वेदः, पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्' इति, तच्चायुक्तम्, हेतोरसिद्धत्वात्। ऐतरेयशतपथादिब्राह्मणेषु पुराणेतिहाससंज्ञकत्वासिद्धेः। विष्णुपुराणादिषु रामायणमहाभारतादिषु पुराणेतिहासत्वप्रसिद्धेः। यदि तु पुरातनार्थप्रतिपादकत्वेन ऐतिहासिकार्थप्रतिपादकत्वेन च पुराणत्वमितिहासत्वं चोच्यते, तदापि न तादृशस्य पुराणेतिहाससंज्ञकत्वस्य वेदसंज्ञकत्वस्य च विरोधः, वेदसंज्ञकस्यापि ब्राह्मणभागस्य पुराणेतिहाससंज्ञकत्वसम्भवात्। अप्रयोजकश्चायं हेतुः। पुराणेतिहाससंज्ञकत्वमस्तु ब्राह्मणभागस्य वेदसंज्ञकत्वाभावो

ही अर्थ है। यह किसका भाग है ? यह प्रश्न जब उठता है तो वह अंशी, अवयवी को जाने बिना समाहित नहीं होता। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रब्राह्मण स्वरूप अंशी वेद के दो भाग हैं एक मन्त्र भाग दूसरा ब्राह्मण भाग। इस प्रकार 'मन्त्र भाग के अतिरिक्त ब्राह्मण भाग भी वेद का ही अंश हो जाता है। अन्यथा भाग पद का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। फल का, धान्यराशि का यह अमुक भाग है, ऐसा कहने पर उसका दूसरा भाग अगत्या सिद्ध हो जाता है। इसीलिये जैमिनि ने 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या', 'शेषे ब्राह्मण शब्दः' इन दो सूत्रों से मन्त्रातिरिक्त वेद भाग को ब्राह्मण शब्द से जाना है। 'विधिमन्त्रयो०' इस सूत्र से ब्राह्मण भाग और मन्त्र भाग को एक ही वेद शब्द से बोधित माना हैं। नारंगी का एक भाग तो नारंगी और दूसरा भाग कलिन्द नहीं हो जाता। 'मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है' इस कात्यायन की उक्ति के आधार पर मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद माने जाते हैं।

क्या ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हैं ?

'ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है। वे ईश्वरोक्त नहीं है, किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उनके वेद होने में साक्षी नहीं दी है और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं। इन हेतुओं से ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद की संज्ञा नहीं दी जा सकती' (पृ० ९२) उक्त बात की पुष्टि में दिये गये ये हेतु भी व्यभिचरित और असिद्ध होने से साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते। आप यह कहेंगे कि ब्राह्मण वेद नहीं है, क्योंकि इसकी पुराण-इतिहास संज्ञा है। यह अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ हेतु असिद्ध है। ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों को पुराण अथवा इतिहास नहीं कहा जाता, विष्णुपुराण, रामायण, महाभारत आदि को ही पुराण-इतिहास कहा जाता है। यदि पुरातन अर्थ के प्रतिपादक होने से, ऐतिहासिक अर्थ के प्रतिपादक होने से इनको पुराण और इतिहास कहा जायगा, तो इस तरह की संज्ञा से वेद संज्ञा का कोई विरोध नहीं है, वेद संज्ञा के रहते हुए भी ब्राह्मण भाग की पुराण-इतिहास संज्ञा भी हो सकती है। यह हेतु अप्रयोजक भी है, क्योंकि इस शंका के उपस्थित होने पर कि ब्राह्मण भाग की पुराण-इतिहास संज्ञा तो रहे, किन्तु वेद संज्ञा का अभाव न रहे, इसमें क्या दूषण है ? तो इस शंका का समाधायक तर्क यहाँ उपलब्ध नहीं है। इन दोनों संज्ञाओं में इस तरह

मास्तु किं दूषणमिति व्यभिचारनिवर्तकतर्काभावात्। न चानयोः संज्ञयोः क्वचिद्विरोधो दृष्टचरो येन तत्साधर्म्यादत्र विरोधोऽनुमीयेत। यच्चुच्येतेतिहासाभिधेयेषु महाभारतादिषु पुराणाभिधेयेषु श्रीमद्भागवतादिषु वेदत्वव्यवहाराभावात् पुराणेतिहाससंज्ञकत्वं वेदसंज्ञकत्वविरोधीति, तदपि न क्षोदक्षमम्, त्वया तदनभ्युपगमात्। स्वीक्रियतां वा महाभारत-श्रीमद्भागवतादिषु पुराणेतिहासत्वं वेदसंज्ञाविरोधित्वं च। तथा च पुरातनार्थप्रतिपादकत्वं ब्राह्मणभागस्य न वेदसंज्ञा-विरोधित्वं वेदस्य त्रैकालिकार्थप्रतिपादकत्वस्य 'भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' (म०१२।९७) इति मनुस्मृतेः प्रामाण्यं व्याहरमाणेन त्वयाऽप्यङ्गीकृतत्वात्। अन्यथा त्रैकालिकार्थप्रतिपादकत्वेन पुरातनार्थप्रतिपादकस्य वेदस्याप्युक्त-हेतुनाऽवेदत्वापत्तिर्दुर्वारा। यथा चैकस्यापि कम्बुग्रीवादिमतोऽर्थस्य घटत्वं कलशत्वं चेति नानाभिधानत्वं न विरुद्धयते, तथैकस्यापि ब्राह्मणग्रन्थस्य वेदत्वं पुराणेतिहासत्वादिकं च न विरुद्धयते।

वेदव्याख्यानादित्ययमपि हेतुर्न ब्राह्मणभागस्य वेदसंज्ञकत्वाभावं साधयितुमलम्, हेतोरनैकान्तिकत्वात्। तथाहि—वेदपदव्यपदेश्यवाक्यकदम्बस्य पदान्तरेणार्थकथनमेव वेदव्याख्यानं भवति। तच्च वेदमन्त्रेष्वपि लभ्यते। यजुर्वेदीयस्य पुरुषसूक्तमन्त्रार्थस्याथर्ववेदीयपुरुषसूक्तमन्त्रेणाथर्वमन्त्रेण च कथनात्। 'स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (वा० सं० ३१।१), 'स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (अथर्व० १९।६।१), 'त्रिपादूर्ध्व-मुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥' (वा० सं० ३१।४), 'एतावानस्य महिमा' (वा० सं० ३१।३), 'तावन्तो अस्य महिमानः' (अथर्व १९।६।३), 'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः' (वा० सं० ३१।११), 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' (अथर्व० सं० १९।६।६), 'ततो विराडजायत' (वा० सं० ३१।५), 'विराडग्रे समभवत्' (अथर्व० सं० १९।६।९), 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति' (वा० सं० ३१।१), 'उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत्सह' (अथर्व० सं० १९।६।४)। एवमेव ऋङ्मन्त्रेष्वपि शब्दभेदो द्रष्टव्यः। 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परितो बभूव' (ऋ० सं० ८।७।५), 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव' (मा० सं० २३।६५), 'नवो नवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्। भागं देवेभ्यो विदधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः (अथर्व० सं० ७।८६।२), 'नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्। भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥'

का कोई विरोध दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसके कि सहारे यहाँ विरोध का अनुमान हो। यदि आप कहें कि इतिहास के रूप में प्रसिद्ध महाभारत आदि में और पुराण के रूप में प्रसिद्ध श्रीमद्भागवत आदि में वेद शब्द का व्यवहार नहीं होता, अतः पुराण-इतिहास संज्ञा वेद संज्ञा की विरोधिनी है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आप ऐसा नहीं मानते। आप इस बात को मानते हैं कि श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि पुराण-इतिहास है और इनका वेद संज्ञा से विरोध है, तो भी ब्राह्मण भाग का पुरातन अर्थ के प्रतिपादक होने के कारण वेद संज्ञा से विरोध नहीं होगा। वेद तीनों काल के अर्थ का प्रतिपादक है, इस बात को आपने भी 'भूत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ वेद से ज्ञात होता है' इस मनुस्मृति की उक्ति को प्रमाण मानते हुए स्वीकार किया है। अन्यथा त्रैकालिक अर्थ का प्रतिपादक वेद जब पुरातन अर्थ का प्रतिपादन करने लगेगा, तो आपकी युक्ति से वह भी वेद नहीं रह जायगा। जैसे कम्बु-ग्रीवादि से युक्त एक ही पदार्थ के घट, कलश आदि अनेक नामों से कहे जाने पर कोई विरोध उपस्थित नहीं होता, उसी तरह एक ही ब्राह्मण ग्रन्थ के वेद होने में और पुराण-इतिहास होने में भी कोई आपत्ति नहीं होगी।

वेद का व्याख्यान होने से भी ब्राह्मण भाग की वेदभिन्नता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि यह हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास से दुष्ट है। वेद पद से कहे जाने वाले वाक्यसमूह का दूसरे पदों से अर्थ का कथन ही यहाँ वेदव्याख्यान कहा गया है। यह तो वेद मन्त्रों में भी उपलब्ध है। यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त के मन्त्रों का अथर्ववेद के पुरुषसूक्त के मन्त्रों में तथा अन्यत्र भी व्याख्यान मिलता है। जैसे कि 'स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा' इस यजुर्मन्त्र का 'स भूमिं विश्वतो वृत्वा' यह व्याख्यान है। इसी तरह 'त्रिपादूर्ध्व०' इत्यादि में भी समझना चाहिये। ऊपर मूल में यजुर्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों की तुलनात्मक तालिका दी गई है। इसी तरह ऋग्वेद के मन्त्रों में भी शब्द भेद के द्वारा मन्त्रों का व्याख्यान मिलता है। इसके भी उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। इस सब स्थलों में विलक्षण पदों से

(ऋ० सं० १०।८५।१९)। अत्र मन्त्राणां विलक्षणपदघटितत्वेनैकस्य मन्त्रस्यैवार्थो विलक्षणपदघटितमन्त्रान्तरेण कथ्यते। तथा च कथं नामैकान्तिकत्वं वेदव्याख्यानादिति हेतोः। किञ्च, स्मर्यमाणकर्तृकत्वमुपाधिरप्यत्र हेतौ, तेन, सोपाधिकत्वमपि। यत्र यत्र महाभारतादौ वेदत्वाभावस्तत्र तत्र स्मर्यमाणकर्तृकत्वमस्ति। वेदव्याख्यानत्वं पूर्वोक्तमन्त्रेष्वप्यस्ति, स्मर्यमाणकर्तृकत्वं तत्र नास्ति। तथा च साध्यव्यापकसाधनाव्यापकस्य स्मर्यमाणकर्तृकत्वस्योपाधेः सत्त्वेन हेतोः साध्यासाधकत्वेनोपाध्यभावात् पक्षे साध्याभावानुमानत्वसम्भवात्।

'ऋषिभिरुक्तत्वात्' इत्ययमपि हेतुरहेतुरेव। ब्राह्मणानि न वेदा ऋषिभिरुक्तत्वादित्येव हि प्रयोगः। स च न युक्तः, ऋष्युक्तत्वस्य ऋगादिमन्त्रसाधारणत्वात्। अपरिगणितैर्महर्षिभिर्ऋगादयो मन्त्रा अपि पठ्यन्ते। तथा च ऋष्युक्तत्वादेव नहि तेऽवेदा भवन्ति। यदि तु ऋष्युक्तत्वपदेन ऋषिप्रणीतत्वमभिप्रेतम्, तदापि न ब्राह्मणेभ्य इतरे वेदाः सिद्ध्यन्ति, तेषामपौरुषेयत्वेन ऋषिप्रणीतत्वासिद्ध्या हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्।

यच्च—'याज्ञवल्क्यजनकादिसंवादानां ब्राह्मणेषु सत्त्वात् तेषामृषिप्रणीतत्वमिति', तदप्यनवगतवेदसम्प्रदायस्यैव शोभते, वेदेष्वतीतानागतवर्तमानसन्निकृष्टविप्रकृष्टादिसकलार्थवेदकत्वेऽपि वेदत्वानपायात्। लौकिकान्येव वाक्यानि प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य प्रयुज्यन्ते, वैदिकानि तु वाक्यानि नित्यानि, प्रमाणान्तरेणार्थज्ञाननैरपेक्ष्येण पूर्वानुपूर्वीसव्यपेक्षमेवोच्चार्यन्ते। तथाहि प्रातिशाख्ये कात्यायनो लौकिकानामर्थपूर्वकत्वादित्याह। तेनार्थपूर्वको लौकिकपदप्रयोगः। वैदिकानां पुनर्नित्यानां वाक्यानां नार्थपूर्वकः प्रयोगः सङ्गच्छते। ततश्च वस्तुसद्भावमनपेक्षमाणा वेदा लोकवृत्तमवगमयन्तो याज्ञवल्क्यजनकादिसंवादमभिदधीरन् यदि, तदापि न काचित् क्षतिः। लोकेऽपि सुखाववोधार्थाख्यायिका भवति वस्तुवृत्तानपेक्षा। अन्यथा 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० सं० १०।१९०।३) इत्यादिमन्त्राणामुर्वशीपुरूरवोयमयम्यादि-

घटित एक मन्त्र की अन्य विलक्षण पदों से व्याख्या की गई है। इस तरह 'वेदव्याख्यानात्' यह हेतु एकान्त रूप से ब्राह्मण भाग में ही न रह कर मन्त्र भाग में भी रहता है, अतः अनैकान्तिक हेत्वाभास से दुष्ट है। दूसरा दोष इसमें स्मर्यमाणकर्तृक रूप उपाधि भी है, अतः यह हेतु सोपाधिक है। जहाँ जहाँ महाभारत आदि में वेद का अभाव सिद्ध है, वहाँ वहाँ सब जगह उनका कर्ता मालूम है। वेद की व्याख्यानता पूर्वोक्त मन्त्रों में है, किन्तु उनका कोई कर्ता प्रतीत नहीं है। अतः उक्त हेतु सोपाधिक है। फलतः साध्य में व्यापक और साधन में अव्यापक स्मर्यमाणकर्तृक उपाधि के होने से हेतु साध्य की सिद्धि नहीं कर सकेगा और उपाधि के रहने से पक्ष में साध्याभाव का अनुमान संभव हो सकेगा।

ब्राह्मण ऋषियों के द्वारा उक्त है, यह हेतु भी गलत है। यहाँ पर अनुमान इस प्रकार बनेगा—ब्राह्मण वेद नहीं है, क्योंकि वे ऋषियों के द्वारा उक्त हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऋग् आदि के मन्त्र भी तो समान रूप से ऋषियों के द्वारा उक्त हैं। अपरिगणित महर्षिगणों के द्वारा ऋक् आदि के मन्त्र पढ़े गये हैं। इस तरह ऋषि के द्वारा उक्त होने से वे वेद से बाहर नहीं हो जाते। यदि 'ऋष्युक्त' पद से 'ऋषि के द्वारा प्रणीत' यह अर्थ अभिप्रेत है, तो भी वेद ब्राह्मण से भिन्न नहीं सिद्ध होते, क्योंकि ये सब अपौरुषेय हैं, अतः इनमें ऋषिप्रणीतता की सिद्धि के अभाव में हेतु स्वरूपासिद्ध हो जायगा।

'ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य-जनक आदि का संवाद निबद्ध है, अतः ये ऋषि प्रणीत हैं' यह उक्ति भी वेद के सम्प्रदाय को न समझने वाले को ही शोभा दे सकती है, क्योंकि वेद में अतीत, अनागत, वर्तमान, सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट आदि सकल अर्थों की अवबोधकता रहने पर भी उसका वेदत्व नष्ट नहीं होता। लौकिक वाक्यों का ही प्रयोग दूसरे प्रमाणों से अर्थ की उपलब्धि के बाद होता है। वैदिक वाक्य तो नित्य हैं, दूसरे प्रमाणों से अर्थज्ञान के बिना भी पहले की आनुपूर्वी के अनुसार इसका उच्चारण होता है। अपने प्रातिशाख्य में कात्यायन ने लौकिक वाक्यों का प्रयोग अर्थज्ञान पूर्वक बताया है। इसलिये लौकिक पदों का प्रयोग उनके अर्थज्ञान के बाद ही होता है। वैदिक वाक्य तो नित्य हैं, इसलिये उनके प्रयोग में अर्थज्ञानपूर्वकता नहीं बन सकती। इस प्रकार वस्तु की सत्ता की बिना अपेक्षा किये वेद लोकवृत्त को बताते हुए याज्ञवल्क्य-जनक आदि के संवाद को कहते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है। लोक में भी अनेक आख्यायिकाएं ऐसी हैं, जिनका कि वस्तुस्थिति से कोई संबन्ध नहीं रहता। यदि ऐसा न माना जाय तो 'धाता ने सूर्य

संवादपराणां च मन्त्राणामवेदत्वापत्तिः स्यात् । यथैव जनकयाज्ञवल्क्यादिसंवादस्य ब्राह्मणेषु दर्शनाद् जनककालानन्तरकालवृत्त्युत्पत्तिमत्त्वं ब्राह्मणानां परिकल्प्यते, तथैव मन्त्राणामपि सूर्यचन्द्रोर्वश्यादिकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वेनानित्यत्वमेवापद्येत । तस्माद्यथा सूर्यचन्द्राद्युत्पत्तिबोधकोऽपि मन्त्रो न तदुत्पत्तिकालोत्तरकालोत्पत्तिमान्, वेदवाक्यानामर्थपूर्वकत्वनियमविरहात्, तथैव ब्राह्मणवाक्यानामप्यर्थपूर्वकत्वाभावात् सुखाववोधार्थं याज्ञवल्क्यजनकादिसंवादबोधनेऽपि नानित्यत्वम् । यथा पाश्चात्त्या वेदेषु नदी-पर्वत-वन-पशु-मनुष्यादीनां विविधनामदर्शनादेव तदनन्तरकालिकत्वं कल्पयन्ति, तामेव सरणिमनुसरन्ति ब्राह्मणभागेषु सामाजिका इति पाश्चात्त्या इव तेऽप्यपाकरणीयाः ।

किञ्च, 'लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते । ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥' (उत्तररा० च० १।१०) इति रीत्या यदा विशिष्टानामृषीणामप्यर्थनिरपेक्षभविष्यदादिवक्तृत्वसामर्थ्यं भवति, तदा परमेश्वरनिःश्वासभूतेषु वेदेषु भूतभव्यभविष्यबोधकत्वे का नामानुपपत्तिः ? 'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धचति' (म० १२।९७) इति मनुस्मरणात् । वेद इन्द्रवस्वादिपदानां प्राड्विवाकादिवत् स्थानविशेषबोधकत्वेन जननमरणवतामपि संवादादिवर्णने न वेदानां पौरुषेयत्वमित्यपि देवताधिकरणे प्रोक्तमेव । तस्मान्न मन्त्रब्राह्मणभागयोर्ऋषिप्रणीतत्वं न वा तेन तयोः पौरुषेयत्वमवेदत्वं च सिद्धचति, चोद्यपरिहारयोः समानत्वात् । ब्राह्मणानां यद्यप्यृषिकृतत्वं न श्रूयते, तथापि मन्त्राणामृषिकृतत्वं ब्राह्मणेषु मन्त्रेषु चोक्तमेव । तथाहि—'सूयं ऋषिर्मन्त्रकृत्' (ऐ० ब्रा० ६।१), 'यत्र धीरा वाचमक्रत' (ऋ० सं० १०।७१।२), 'ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानित्यौपमन्यवः' (नि० ३।२), 'ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः' (ऋ० सं० ९।११४।२) इत्यादिवाक्यैर्मन्त्राणामृषिकृतत्वेन मन्त्राणामेवावेदत्वापत्तिस्त्वद्रीत्या । सिद्धान्ते तु 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इति मन्त्रानुरोधेन दर्शनं सम्प्रदायप्रदर्शनमेव तेषां मन्त्रकर्तृत्वम् ।

और चन्द्रमा को पहले की भांति बनाया' इत्यादि मन्त्रों को, उर्वशी-पुरूरवासंवाद, यम-यमी संवाद इत्यादि के प्रतिपादक मन्त्रों की वेदता नहीं बन पावेगी । जैसे जनक-याज्ञवल्क्य के संवाद को ब्राह्मणों में देख कर यह कल्पना की जाती है कि ये ब्राह्मण जनक के काल के बाद में बने, उसी तरह मन्त्रों को भी रचना सूर्य, चन्द्र, उर्वशी आदि के समय के उपरान्त होने से उनकी अनित्यता माननी पड़ेगी । इसलिये जैसे सूर्य, चन्द्र आदि की उत्पत्ति के बोधक मन्त्र की उत्पत्ति बाद में नहीं मानी जाती, क्योंकि वेद वाक्यों की अर्थज्ञानपूर्वकता नहीं मानी जाती, उसी प्रकार ब्राह्मण वाक्यों को भी अर्थज्ञानपूर्वकता के न मानने से और लौकिक आख्यानों के समान जनक-याज्ञवल्क्य आदि के संवादों की चरितार्थता सुखपूर्वक वैदिक वस्तु को समझाने में होने से अनित्यता नहीं मानी जायगी । जैसे पाश्चात्य विद्वान् वेदों में नदी, पर्वत, वन, पशु, मनुष्य आदि के भांति भांति के नाम देखकर वेदों को उनके बाद की रचना मानते हैं, उन्हीं का अनुसरण करने वाले आर्यसमाजी उन्हीं की पद्धति को स्वीकार कर ब्राह्मण भाग के विषय में वही बात कहते हैं, अतः पाश्चात्य मत के समान इस मत का भी खण्डन आवश्यक है ।

'लौकिक सज्जन व्यक्तियों की वाणी अर्थ का अनुधावन करती है । इसके विपरीत आद्य प्राचीन ऋषियों की वाणी का अर्थ अनुगमन करता है' इस भवभूति की उक्ति के अनुसार जब विशिष्ट ऋषियों की वाणी भी बिना अर्थ की अपेक्षा के भूत, वर्तमान और भविष्य का अवबोध कराती है तो परमेश्वर के निःश्वासभूत वेदों को भूत, वर्तमान और भविष्य अर्थ का अवबोधक मानने में क्या आपत्ति हो सकती है ? मनुस्मृति में स्पष्ट बताया गया है कि भूत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ वेद से सिद्ध होता है । यह हमने देवताधिकरण में बताया है कि प्राड्विवाक, न्यायाधीश आदि शब्दों की भांति इन्द्र, वसु आदि शब्द स्थानविशेष में स्थित व्यक्ति के वाचक हैं, अतः इनके जनन-मरणशील मानने पर भी, इनमें संवाद का वर्णन होने पर भी वेद की पौरुषेयता नहीं सिद्ध होगी । इस तरह से मन्त्र और ब्राह्मण भाग की न तो ऋषिप्रणीतता मानी जायगी, न ही वे पौरुषेय होंगे और न उनकी वेदभिन्नता ही सिद्ध हो सकेगी, क्योंकि जो आक्षेप आप ब्राह्मणभाग पर लगाते हैं, वह मन्त्रभाग पर भी लागू होता है और उस आक्षेप के मन्त्रभाग पर लागू होने पर आप उसका जो समाधान देते हैं, वही ब्राह्मणभाग के आक्षेप का भी उत्तर हो जाता है । ब्राह्मणों की ऋषिप्रणीतता यद्यपि नहीं सुनी जाती, तो भी मन्त्रों की ऋषिप्रणीतता ब्राह्मण और मन्त्रभाग दोनों में श्रुत है । ऊपर दिये गये मन्त्रों के आधार

यदपि—ब्राह्मणानि न वेदा अनीश्वरोक्तत्वादिति, तदपि तुच्छम्, ऋष्युक्तखण्डनेनैव खण्डितत्वात्, पुनरुक्तारूपनिग्रहस्थानाच्च। यदि त्वीश्वरानुक्तत्वमेव तदर्थः, तदापि न तत्सनातनिनामनिष्टकरम्, वेदेषु तैरीश्वरविरचितत्वानङ्गीकारात्। नैयायिकादयो यूयं सामाजिकाश्च परमेश्वरनिर्मितत्वं वेदस्याङ्गीकुरुथ, कृतकानां नित्यत्वव्याहतत्वात्, ईश्वरेणापि पूर्वकल्पीयां वेदानुपूर्वीमनुसृत्यैवोत्तरकल्पीयवेदानुपूर्व्या उपदिष्टत्वाच्च।

यदपि कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वाद् ब्राह्मणभागस्यावेदत्वमाशङ्कितम्, तदपि तुच्छम्, यस्य कस्याप्यृषेराप्तत्वेन प्रामाण्याविशेषात्। अन्यैर्ऋषिभिरनुक्तत्वेऽपि कात्यायनेन महर्षिणा मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञास्वीकारेण ब्राह्मणानामवेदत्वशङ्कापरिहारसम्भवात्। 'वृद्धिरादैच्' (पा० सू० १।१।१), 'वृद्धाच्छः' (पा० सू० ४।२।११४) इत्यादिभिः पाणिनिनैव वृद्धयादिसंज्ञाया उक्तत्वेऽपि यथा तत्संज्ञायां न विप्रतिपत्तिः, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। ननु मा भूत्पाणिन्युपज्ञे व्याकरणे पाणिनिकृतसंज्ञासु कस्यचिद्विप्रतिपत्तिः, वेदसंज्ञायां तु न तथा कात्यायनोपज्ञतेति चेन्न, अस्मिन् विषये दयानन्दस्य सर्वथानभिज्ञताख्यापनात्। तथाहि—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति रीत्याऽऽपस्तम्बमहर्षिणा मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञास्वीकारात्। अन्यैरपि महर्षिभिर्वेदसंज्ञा स्वीकृता। यथा बौधायनगृह्यसूत्रे (२।६।३), बौधायनधर्मसूत्रे (२।९।७) च।

आपस्तम्बश्रौतसूत्रे (२४।१।३१), सत्याषाढश्रौतसूत्रे (१।१।७), कात्यायनपरिशिष्टप्रतिज्ञासूत्रे (२) च 'वेदं च समाप्य स्नायात्' इति प्रसङ्गे, एवं 'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' इति पारस्करगृह्यसूत्रे च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा स्वीकृतानेकैर्महर्षिभिः। तस्मात् कात्यायनभिन्नैर्महर्षिभिर्वेदसंज्ञाया अस्वीकृतत्वाद् इति कथनं दयानन्दस्य दुःसाहसं धूलिप्रक्षेपमज्ञजनप्रतारणपरायणत्वं च सूचयति। 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० सू० २।१।३०) इत्याद्यनेकैः सूत्रैर्जैमि-

पर मन्त्रों की ऋषिप्रणीतता सिद्ध है, अतः आपकी पद्धति से तो मन्त्रभाग की ही वेदभिन्नता सिद्ध हो जायगी। हमारे मत में तो 'वाचा विरूपनित्यया' इस श्रुति के आधार पर दर्शन पद का अर्थ संप्रदाय प्रदर्शन होगा, यही उनकी मन्त्रकर्तृता मानी जायगी।

अनीश्वरोक्तत्व हेतु से ब्राह्मण भाग की वेदभिन्नता मानना भी गलत है। 'ऋष्युक्त' हेतु के खण्डन से यह भी खण्डित हो जाता है। इसमें एक नया दोष पुनरुक्तता रूप निग्रहस्थान भी है। ईश्वर के द्वारा नहीं कहे गये, इस अर्थ के कहने पर भी सनातनियों के मत से दोष नहीं आवेगा, क्योंकि वे तो स्वयं ही उसको ईश्वर विरचित नहीं मानते। नैयायिक तथा आप लोग वेद को ईश्वर कृत मानते हैं। कृतकता नित्यता को नष्ट कर देती है, अतः यही मानना उचित है कि ईश्वर भी पूर्व कल्प की वेदानुपूर्वी का अनुसरण कर उत्तर कल्प की वेदानुपूर्वी का उपदेश देता है।

एक कात्यायन को छोड़कर किसी अन्य ऋषि ने ब्राह्मण भाग के वेद होने में साक्षी नहीं दी है, यह कथन भी दमदार नहीं है, क्योंकि एक भी आप्त ऋषि का प्रामाण्य अव्याहत है। दूसरे ऋषियों के न कहने पर भी केवल कात्यायन महर्षि के द्वारा मन्त्र और ब्राह्मण की वेद संज्ञा मान लेने पर ब्राह्मणों की वेदभिन्नता की आशङ्का निर्मूल हो जायगी। केवल पाणिनि ही वृद्धि आदि संज्ञाओं का उपदेश देते हैं, एतावता एक ऋषि के उक्त होने पर भी जैसे वहाँ पर कोई विवाद नहीं उठता, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। प्रश्न है कि अष्टाध्यायी व्याकरण शास्त्र का तो स्वयं पाणिनि ने ही सर्वप्रथम उपदेश दिया है, अतः वहाँ तन्निर्दिष्ट परिभाषाएं अवश्य प्रमाण मानी जायगी, किन्तु वेद संज्ञा का तो सर्वप्रथम उपदेश कात्यायन ने नहीं किया है, अतः यह तो विवाद का विषय बना ही रहेगा। इस पर हमारा कहना है कि इस विषय को दयानन्द ने ठीक से नहीं समझा है, क्योंकि 'मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद है' इस कथन के अनुसार आपस्तम्ब महर्षि ने भी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद माना है। इसी तरह अन्य ऋषियों ने भी दोनों को वेद माना है। जैसे कि बौधायन गृह्यसूत्र में और बौधायन धर्मसूत्र में।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में, सत्याषाढ श्रौतसूत्र में, कात्यायन परिशिष्टवर्ती प्रतिज्ञासूत्र में और 'वेद को समाप्त कर स्नातक बने' इस प्रसङ्ग में आये 'विधि, विधेय और तर्क की वेद संज्ञा है' इस पारस्कर गृह्यसूत्र में अनेक ऋषियों ने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद माना है। इसलिये कात्यायन से भिन्न किसी महर्षि ने 'ब्राह्मण को वेद नहीं माना है, दयानन्द का यह कथन केवल उनके

निनापि मन्त्रातिरिक्तेषु वेदभागेषु ब्राह्मणशब्दः प्रयुक्तः। 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (कणादसूत्रे ६।१।१) इति सूत्रेण कणादमहर्षिरपि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्यानां निर्दोषस्वतन्त्रसर्वज्ञपुरुषकर्तृकत्वमाह। 'ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम्' (वैशेषिकसूत्रे ६।१।२) इति सूत्रेण यथा पिता लोके स्वपुत्रस्य विष्णुमित्रादिनामकरणं करोति, तथैव ब्राह्मणभागे 'उद्भिदा यजेत', 'अभिजिता यजेत' इत्यादिभिरुद्भिदादिनामकरणं करोति परमेश्वरः। तस्मात् परमेश्वरकर्तृक एव ब्राह्मणग्रन्थः। किं बहुना, मनु-व्यास-पाणिनि-पतञ्जलिप्रभृतयः सर्वेऽप्यास्तिका ब्राह्मणभागस्य वेदसंज्ञामङ्गीकुर्वन्ति।

शावरभाष्यस्य प्रामाण्यमङ्गीकरोति दयानन्दः सत्यार्थप्रकाशे। 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मि० सू० २।१।३०) इत्यत्र शावरभाष्ये 'मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः, तत्र मन्त्रलक्षण उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्' इत्युक्तम्।

यत्तु केनचित्सामाजिकेनोक्तम्—'प्रतिज्ञापरिशिष्टं कात्यायनमहर्षिप्रोक्तमित्यमनुतोऽपि ग्रन्थकारस्य दुर्जनतोषन्यायेन प्रोक्तं स्वीकृत्येदमुक्तम्' (कात्यायनभिन्नैरित्यादि)। तत्तु दयानन्दोक्तिविरुद्धमेव, तेन तत्रास्वारस्यानभिव्यञ्जनात्। यदपि तेनैव 'दयानन्देन कृष्णयजुषः श्रौतसूत्राणि नैव दृष्टानीति नैव वक्तुं शक्यते, स्वकीयग्रन्थेष्वापस्तम्बादिवचनानामुद्धृतत्वात्, किन्तु तस्यायं विशिष्टोऽभिप्रायो यन्मन्त्ररूपाणामृग्यजुःसामाथर्वश्रौतसूत्रप्रवक्तृषु कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्ऋक्सामाथर्वश्रौतसूत्रकारैर्ऋषिभिरेतादृशस्य वचनस्यानुक्तत्वमिति, तत्तुच्छमेव, तद्वचनविरुद्धत्वात्। नह्यापस्तम्बबौधायनपारस्करादयो नर्षयः, त्वद्रीत्यापि तद्वचनानामार्षत्वेनैवोद्धृतत्वात्। किञ्च, नहि मनुव्यासजैमिनिपाणिनिप्रभृतयः सर्वेऽपि कृष्णयजुःशाखिन एव। यत्तु—'कृष्णयजुषः सर्वासु संहितासु मन्त्रब्राह्मणयोः सम्मिश्रणं प्रत्यक्षमिति हेतोस्तत्सूत्रकाराणां परिभाषाप्रकरणे तादृश्याः पारिभाषिक्या वेदसंज्ञायाः करणं न दोषः,

दुःसाहस, धूलिप्रक्षेप और अनजान आदमी को ठगने की प्रवृत्ति का परिचायक है। 'शेष वेद के लिये ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त होता है' इत्यादि अनेक सूत्रों से जैमिनि ने भी मन्त्र से अतिरिक्त वेद भाग के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है। 'वेद की वाक्य-रचना बुद्धिपूर्वक है' इस सूत्र में महर्षि कणाद ने 'स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे' इत्यादि वाक्यों का कर्ता निर्दोष, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ पुरुष को माना है। 'ब्राह्मण भाग में परिदृश्यमान संज्ञाशब्द सर्वज्ञ पुरुष की सिद्धि में हेतु है' इस सूत्र से प्रतीत होता है कि जैसे लोक में पिता अपने पुत्र का विष्णुमित्र आदि नाम रखता है, उसी तरह ब्राह्मण भाग में 'उद्भिद् याग से यजन करे', 'अभिजित् याग से यजन करे' आदि स्थलों में परमेश्वर ही इन नामों की रचना करता है। इसलिये ब्राह्मण भाग भी परमेश्वर का ही रचा हुआ है। मनु, व्यास, पाणिनि, पतंजलि प्रभृति सभी आस्तिक ब्राह्मण भाग को भी वेद ही मानते हैं।

सत्यार्थप्रकाश में दयानन्द ने शावरभाष्य को प्रमाण माना है। 'शेषे' इत्यादि उक्त मीमांसा सूत्र के शावरभाष्य में 'मन्त्र और ब्राह्मण वेद हैं, मन्त्र के लक्षण के कह देने पर परिशेष सिद्ध होने से ब्राह्मण के लक्षण के कथन की आवश्यकता नहीं है' ऐसा कहा गया है।

यह जो किसी आर्यसमाजी ने कहा है कि 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट कात्यायन मुनि का बनाया हुआ है, यह न मानते हुए भी ग्रंथकार ने 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से उसकी बात को मानकर 'कात्यायन भिन्न' आदि वाक्य कहा है', यह बात दयानन्द के कथन के विरुद्ध है, क्योंकि उन्होंने कहीं भी अपने अस्वारस्य की अभिव्यक्ति नहीं की है। उसी व्यक्ति का यह कथन भी 'दयानन्द ने कृष्ण यजुर्वेद के श्रौतसूत्र नहीं देखे थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थों में आपस्तम्ब आदि के वचनों को उद्धृत किया है। इस प्रसङ्ग में उनका विशिष्ट अभिप्राय यह है कि मन्त्र रूप ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद के श्रौतसूत्रकारों में कात्यायन से भिन्न अन्य ऋषियों ने ऐसा नहीं कहा', व्यर्थ है, क्योंकि यह दयानन्द की उक्ति के विरुद्ध है। आपस्तम्ब, बौधायन, पारस्कर आदि ऋषि नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आपने भी आर्षवचन के रूप में ही उनको उद्धृत किया है। मनु, व्यास, जैमिनि, पाणिनि प्रभृति सभी कृष्णयजुर्वेद के ही अध्येता नहीं थे। यह जो कहा गया है कि कृष्ण यजुर्वेद की सभी संहिताओं में मन्त्र और ब्राह्मण का संमिश्रण प्रत्यक्ष है, अतः उस वेद के सूत्रकारों का परिभाषा प्रकरण में वेद की इस प्रकार की परिभाषा करना अनुचित नहीं है।

पारिभाषिकी संज्ञा स्वस्मिन् ग्रन्थ एव प्रवर्तते न ततोऽन्यत्रेति न सामान्यरूपेण ब्राह्मणानां वेदत्ववोधनाय सा समर्था' इति, तदपि कुशकाशावलम्वनम्, तथात्वे मन्त्राणामपि वेदसंज्ञाऽसिद्ध्यापातात् । अन्यैर्ऋषिभिस्तु मन्त्राणामिव ब्राह्मणानामपि तत्र तत्र वेदत्वमुक्तमेव ।

किञ्च, कात्यायनादिभिर्यज्ञपरिभाषाऽपि कृता । सैव च सर्वेष्वास्तिकग्रन्थेष्वभिमता । कृष्णयजुषः संहितासु मन्त्रब्राह्मणयोः सम्मिश्रणदर्शनादपि मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि वेदत्वमेव सिद्ध्यति, वेदत्वाविशेषात् । व्यासकर्तृकाद्विभागात् पूर्वं सर्वोऽपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदराशिरेक एवासीत् । तत एव मन्त्रसंहिताभागो ब्राह्मणभाग इति व्यवहारः, तथा 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० सू० २।१।३०) इत्यादीनि प्रमाणानि च सङ्गच्छन्ते । किञ्च, कौषीतकिसूत्ररीत्यापि मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वं सुश्लिष्टम् । कौशिकसूत्रमथर्ववेदीयम् । तत्रापि—'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' (१।३) इति मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा निर्विवादा । 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम प्रोक्तमृगादिषु ।' (४।२७१) इति शुक्रनीतिरपि मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वं मनुते ।

वस्तुतस्तु स्वामिदयानन्देन आपस्तम्वादिसूत्राणि पूर्वोक्तानि च सूत्राणि न दृष्टानीत्येव वक्तुं युक्तम् । यथा कणादसूत्राणि तेन यद्यप्युद्धृतानि, तथापि शब्दानित्यत्वप्रतिपादकानि कणादसूत्राणि तेन नैव दृष्टानीत्येव वक्तुं सुशकम्, यतो हि कणादसिद्धान्तविरुद्धं शब्दनित्यत्वं कणादनाम्ना तेन प्रतिपादितम् । एवमेवापस्तम्वादिसूत्रग्रन्थाः कदाचिद् दृष्टा भवेयुरपि, तथापि पूर्वोद्धृतानि सूत्राणि तु न दृष्टान्येव । तत एव कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वं नोक्तमित्युक्तम् । यदा सामाजिकानां समक्षं सनातनिभिर्वौधायनापस्तम्वादिनानासूत्राण्युपस्थापितानि तदानीमिदमेवोचितमासीत्, यत्तैरपि ब्राह्मणानामपि वेदत्वमङ्गीक्रियेत, दयानन्दस्य भ्रान्तिः स्वीक्रियेत, परं तैस्तु कात्यायनेन मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वमुक्तमिति दयानन्दीयं सत्यमपि वचनमन्यथा कृतम् ।

पारिभाषिक संज्ञा अपने ग्रन्थ में ही लागू हो सकती है, इसलिये वह अन्यत्र भी सामान्य रूप से ब्राह्मण भाग को भी वेद बताने में समर्थ नहीं हो सकती, यह बात नदी में बहते हुए व्यक्ति के किनारे में उगे हुए कुश अथवा काश को पकड़ने के बराबर है, क्योंकि ऐसा मानने पर मन्त्रों की भी वेद संज्ञा न बन पावेगी । अन्य ऋषियों ने अनेक स्थलों पर मन्त्रों के समान ब्राह्मणों को भी वेद ही माना है ।

एक बात और है । कात्यायन आदि ने यज्ञ की परिभाषा भी की है । उसी को सभी आस्तिक ग्रन्थों में माना गया है । कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में मन्त्र और ब्राह्मण का संमिश्रण होने से भी मन्त्र और ब्राह्मण भाग वेद माने जायेंगे । व्यास के द्वारा किए गए विभाग से पहले सारा मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदराशि एक ही था । उसके बाद ही यह मन्त्र संहिता भाग है, यह ब्राह्मण भाग है, इस प्रकार का व्यवहार और 'अवशिष्ट भाग में ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त होता है' इत्यादि मीमांसा सूत्रों की सङ्गति बैठती है । अपि च, कौषीतकि सूत्र के प्रमाण से भी मन्त्र और ब्राह्मण भाग की वेदता स्पष्ट है । अथर्ववेद के कौशिक सूत्र में 'मन्त्र और ब्राह्मण आम्नाय अर्थात् वेद हैं' इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण की निर्विवाद रूप से वेद संज्ञा मानी गई है । 'मन्त्र और ब्राह्मण का ऋग्वेद आदि में वेद नाम बताया गया है' इस प्रकार शुक्रनीति भी मन्त्र और ब्राह्मण को वेद मानती है ।

वास्तव में यही कहना उचित है कि स्वामी दयानन्द यहाँ पर उद्धृत आपस्तम्ब आदि सूत्रों को नहीं देख पाए थे । जैसे कि यद्यपि उन्होंने कणाद के सूत्रों को उद्धृत किया है, तो भी शब्द की अनित्यता के प्रतिपादक कणाद सूत्रों पर उनकी दृष्टि नहीं गई, यह आसानी से कहा जा सकता है, क्योंकि कणाद के सिद्धान्त के विरुद्ध शब्दनित्यता का उन्होंने कणाद के नाम से प्रतिपादन किया है । इसी तरह आपस्तम्ब आदि सूत्र ग्रन्थों को कदाचित् उन्होंने देखा भले ही हो, तो भी पूर्वोद्धृत सूत्रों को वे नहीं देख पाये । इसीलिए उन्होंने कह दिया कि कात्यायन से भिन्न अन्य किसी ऋषि ने मन्त्र और ब्राह्मण को वेद नहीं माना है । जब आर्यसमाजियों के सामने सनातनियों ने बौधायन, आपस्तम्ब आदि नाना सूत्रों को प्रमाण रूप में उपस्थित कर दिया, तो उनके लिये यही उचित था कि वे भी ब्राह्मणों की वेदता स्वीकार कर दयानन्द की भ्रान्ति को मान लेते, किन्तु उन्होंने तो कात्यायन ने ही वेद और ब्राह्मण को वेद माना है, दयानन्द के इस तथ्य को भी तोड़ मरोड़ दिया है ।

यत्तु 'परिभाषाप्रकरणोक्तत्वात् तद्ग्रन्थेष्वेव सा संज्ञाऽङ्गीकार्या नान्यत्र' इति कथनम्, तदपि तुच्छम्, यत्र हि वृद्धिगुणादिशब्दा अन्यार्थेषु प्रसिद्धाः सन्ति, तत्रैव गुणवृद्ध्यादिसंज्ञानां सङ्कोचः। वेदशब्दस्तु केवले मन्त्रे न क्वापि प्रसिद्धः। धात्वर्थानुरोधेन तु ज्ञानमेव तदर्थः। 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इत्यादौ तु कुशमुष्टौ वेदशब्दः प्रसिद्धः। तस्मान्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति वैदिकानामेव संज्ञा। यथा कोशादिभिः सास्नादिमद्व्यक्तिविशेषस्य गौरिति नामकरणम्, तथाऽनादिसिद्धनामनामिसम्बन्धो महर्षिभिर्बोध्यते। अन्यथाऽनेन कृष्णयजुर्वेद एव मन्त्राणामपि वेदसंज्ञापि कृष्णयजुर्वेद एव स्यात्। अपौरुषेयवाक्यत्वादेव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा। अपौरुषेयवाक्यत्वं च सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वमेव। 'तुल्यं साम्प्रदायिकम्' (मीमांसासूत्रे १।२।८) इत्यनेन सम्प्रदायाविच्छेदादेवार्थवादानामपि प्रामाण्यमुक्तम्। यदि ह्यापस्तम्बबौधायनादयो नर्षयः कृष्णयजुर्वेदो न वेदस्तर्हि तद्रीत्या कथङ्कारं कृष्णयजुर्वेदीयमन्त्रब्राह्मणयोरपि वेदत्वं स्यात्? परमेतत्तु सामाजिकानां मस्तिष्कविकारमात्रम्। ते हि प्रामाणिकग्रन्थानामपि क्षेपकत्वं घोषयन्ति।

सर्वानुक्रमकारैस्तु वैदिकप्रसिद्ध्यनुरोधेनैव काण्व-माध्यन्दिनीयमन्त्राणां ब्राह्मणानां च निर्णयः कृतः। प्रसिद्ध्यनुरोधेनैव 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इत्यादीनां विधायकानामपि मन्त्रधर्मेण पठनात् मन्त्रत्वमङ्गीक्रियते, तत्सम्बन्धिब्राह्मणान्तराभावाद् ब्राह्मणत्वमपि।

यदपि तेनैवोक्तम्—'यज्ञकर्मसु कृष्णयजुःशाखिनां प्राधान्यम्, तत एव कृष्णयजुःशाखाप्रसिद्धमन्त्रब्राह्मणलक्षणं शुक्लयजुःशाखिभिरपि याज्ञिकैर्गृहीतम्। तत एव कात्यायनपरिशिष्टे कात्यायननाम्ना केनचिन्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति सूत्रं लिखितम्' इति, तदपि निराधारतया प्रलाप एव, यज्ञकर्मणां सर्वास्वेव शाखासु प्राधान्यदर्शनात्। तदेतत् सत्यं 'मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि' इति मन्त्रेण स्पष्टं ज्ञायते। ऋषिभि-

'परिभाषा प्रकरण में उक्त होने से यह परिभाषा उन्हीं ग्रन्थों में स्वीकार्य है, अन्यत्र नहीं' यह कथन भी व्यर्थ है, क्योंकि जहाँ पर वृद्धि, गुण आदि संज्ञा दूसरे अर्थों में प्रयुक्त होती हो, वहीं पर इनके अर्थ का संकोच किया जा सकता है। वेद शब्द केवल मन्त्रभाग के लिये कहीं प्रसिद्ध नहीं है। धातु के अर्थ के अनुसार वेद शब्द का अर्थ केवल ज्ञान है। 'वेद के बाद वेदि बनाता है' यहाँ पर कुशमुष्टि के लिये वेद शब्द प्रयुक्त है। इस लिये 'मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद है' यह केवल वैदिक संज्ञा है। जैसे कोश आदि के द्वारा सास्ना आदि से युक्त प्राण विशेष का नाम 'गौ' रक्खा जाता है, उसी तरह ये महर्षिगण नाम और नामी के अनादि सिद्ध सम्बन्ध को बताते हैं। इसके उपरान्त भी यदि इसको कृष्ण यजुर्वेद की ही संज्ञा मानते हैं, तो फिर मन्त्रों की वेद संज्ञा भी केवल कृष्ण यजुर्वेद के मन्त्रों की ही माननी पड़ेगी। अपौरुषेय वाक्य होने से ही मन्त्र और ब्राह्मण वेद हैं। अपौरुषेय पद का अर्थ यह है कि सम्प्रदाय का विच्छेद न होने पर भी जिसका कर्ता न सुना गया हो। 'तुल्यं साम्प्रदायिकम्' इस मीमांसा सूत्र में सम्प्रदाय की अविच्छिन्न प्रवृत्ति रहने के कारण ही अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य माना गया है। यदि आपस्तम्ब, बौधायन आदि ऋषि नहीं हैं, कृष्ण यजुर्वेद यदि वेद नहीं है, तो उनके प्रमाण पर कृष्ण यजुर्वेद के मन्त्र और ब्राह्मण भाग भी वेद कैसे माने जायेंगे? यह सब आर्यसमाजियों की अजीब दिमागी उपज है कि वे प्रामाणिक ग्रन्थों में भी अपने विचार के विरोधी अंशों को प्रक्षिप्त मान लेते हैं।

सर्वानुक्रमणी के रचयितागण वैदिक प्रसिद्धि के अनुसार ही काण्व और माध्यन्दिन शाखीय मन्त्रों और ब्राह्मणों के सम्बन्ध में निर्णय करते हैं। प्रसिद्धि के अनुसार ही 'वसन्त के लिये कपिजलों का आलभन करता है' इस प्रकार के विधायक वाक्य मन्त्रों के बीच में पढ़े जाने से मन्त्र और साथ ही इसकी व्याख्या करने वाले दूसरे ब्राह्मण वाक्य के न उपलब्ध होने से ब्राह्मण भी कहलाते हैं।

पुनः वही कहते हैं कि यज्ञ कर्म में कृष्ण यजुर्वेद शाखा का प्राधान्य है, इसीलिये कृष्ण यजुर्वेद की शाखा में प्रसिद्ध 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद है' यह लक्षण शुक्ल यजुर्वेद के याज्ञिकों ने भी मान लिया। इसीलिये कात्यायनपरिशिष्ट में कात्यायन के नाम से किसी ने इस सूत्र की रचना कर दी। यह कथन भी निराधार है। यज्ञ कर्म का प्राधान्य सभी शाखाओं में समान है। इस तथ्य की जानकारी 'पुरातन कवियों ने मन्त्रों में जिन यज्ञ कर्मों को देखा, उनका विस्तार त्रेतायुग में बहुत हुआ' इस मन्त्र से मिलती है। जैमिनि ने 'वेद

मन्त्रेषु सन्ततानि कर्माण्यपश्यन् कवयः। जैमिनिना 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मी० सू० १।२।१) इत्याम्नायस्य क्रियार्थत्वमेवोक्तम्। श्रौतसूत्रकारास्तु पूर्वमीमांसारीत्या सर्वशाखोपसंहारन्यायेनानुष्ठानक्रमं निर्णीय सूत्राणि रचयन्ति। तस्मादेव माध्यन्दिनीयशाखायामनुपलभ्यमानाः शाखान्तरेषूपलभ्यमाना मन्त्रा अपि श्रौतसूत्रेषूल्लिख्यन्ते। प्रयोगेषु तेषामनिवार्यमेवोच्चारणम्। यदुक्तम्—'ऋक्सामयजुःशब्दैर्मन्त्राणामेव ग्रहणं न ब्राह्मणानाम्' इति, तदपि तुच्छम्, ऋगादिशब्दानां मन्त्रबोधकत्वेऽपि ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदशब्दैर्मन्त्रब्राह्मणात्मकशब्दराशीनामेव ग्रहणात्। एतच्च पूर्वं निर्णीतमेव।

किञ्च, 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० सू० १।१।२), 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इत्यादिभिर्धर्मब्रह्मणोर्लक्षणमुक्तम्। तदेव लक्षणं सर्वैरप्यास्तिकैर्गृह्यते। एवमेव मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमित्येव लक्षणं सर्वैरप्यास्तिकैर्गृह्यते। लक्षणप्रणयनात् प्राग् धर्मब्रह्मणोरस्तित्वं नासीदिति यथा न वक्तुं शक्यते, तथैव लक्षणप्रणयनात् प्राग् मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वं नासीदित्यपि न वक्तुं शक्यते। मन्त्राणां वेदत्वं येन लक्षणेन वक्ष्यते ततः पूर्वं मन्त्राणामपि त्वद्रीत्याऽवेदत्वप्रसक्तिरनिवार्यैव स्यात्। अत एव 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यादिमहाभाष्यवचनसङ्गतिः। महाभाष्यरीत्या तु—'चत्वारो वेदा बहुधा भिन्ना एकविंशतिधा बाह्वृचम्, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाऽथर्वणो वेदः' इत्येवमनेकशाखोपबृंहिता मन्त्रब्राह्मणात्मका वेदाः।

अग्निहोत्रादिधर्माणां ज्ञाने 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' (शां० ब्रा० २।८) इत्यादिब्राह्मणवाक्यान्येव प्रमाणानि। तेषां च श्रुतित्वं मनुरप्याह—'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (मनु० १।१३)। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मी० सू० १।१।१), 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' (मी० सू०) इत्यादिभिर्द्वादशलक्षण्यां धर्मविचारप्रसङ्गे प्रायेण ब्राह्मणवचनान्येव विचारितानि। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यादिब्रह्मसूत्रगतैः सूत्रैश्चतुर्लक्षण्यां ब्राह्मणवचनान्येवाश्रित्य ब्रह्मविचारः कृतः।

यज्ञानुष्ठान के लिये है, इसलिये भिन्नार्थक वाक्य अनर्थक हैं' इस सूत्र में आम्नाय अर्थात् वेद की उपयोगिता यज्ञानुष्ठान में ही बताई है। श्रौतसूत्रकार पूर्वमीमांसा की पद्धति से सब शाखाओं का उपसंहार कहाँ पर होता है, इस बात का निर्णय कर तदनुसार अनुष्ठान क्रम को रखकर सूत्रों की रचना करते हैं। इसीलिये अन्य शाखाओं के भी वे आवश्यक मन्त्र इन श्रौतसूत्रों में उद्धृत मिलते हैं, जो कि अपनी शाखा में उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि प्रयोगों में उनका उच्चारण अनिवार्य है। 'ऋक्, साम, यजुः शब्द से मन्त्रों का ही ग्रहण होता है, ब्राह्मणों का नहीं' यह कहना भी व्यर्थ है, क्योंकि ऋक् आदि शब्द यद्यपि केवल मन्त्रों के ही बोधक हैं, तो भी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद शब्दों से मन्त्रब्राह्मणात्मक पूरी वेदराशि परिगृहीत होती है। इसका निर्णय पहिले ही किया जा चुका है।

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस मीमांसा सूत्र में धर्म का और 'जन्माद्यस्य यतः' इस वेदान्त सूत्र में ब्रह्म का लक्षण बताया गया है। इन्हीं लक्षणों को सभी आस्तिक जन मानते हैं। इसी तरह मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है, यह लक्षण भी सभी आस्तिकों को मान्य है। लक्षण बनाने से पहले धर्म और ब्रह्म की सत्ता नहीं थी, ऐसी बात जैसे नहीं कही जा सकती, उसी तरह लक्षण बनाने से पहले मन्त्र और ब्राह्मण वेद नहीं थे, यह भी नहीं कहा जा सकता। जिस लक्षण से आप मन्त्रों की वेदता कहेंगे, आपकी रीति से तो उससे पहले मन्त्रभाग भी वेद नहीं माना जायगा। इसीलिये महाभाष्य में कहा गया है कि शब्द और अर्थ का संबन्ध नित्य है। महाभाष्य में यह स्पष्ट बताया गया है कि चारों वेद अनेक शाखाओं में विभक्त हैं। ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हैं। इससे सिद्ध है कि मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद अनेक शाखाओं में विभक्त है।

'अग्निहोत्र करे' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य ही अग्निहोत्र आदि का ज्ञान कराते हैं। मनु ने इन ब्राह्मण वाक्यों को भी वेद ही माना है कि 'धर्म को जो जानना चाहता है, उसके लिये श्रुति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है'। द्वादश अध्याय वाले पूर्वमीमांसा दर्शन में 'अथातो धर्म जिज्ञासा', 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इत्यादि सूत्रों में जहाँ धर्म के लक्षण का विचार किया है, प्रायः सर्वत्र ब्राह्मण वाक्यों को ही

वस्तुतस्तु ब्राह्मणं वेद इत्यत्र त्वपरिगणितान्यार्षाणि प्रमाणानि दर्शितानि दर्शयिष्यन्ते च। परन्तु ब्राह्मणं न वेद इत्यत्र तु कस्याप्येकस्याप्यृषेर्वचनं प्रमाणतया नोपन्यस्तं दयानन्देन तदीयैर्वा। अनृषेरपि कस्यचित् प्रामाणिकस्य वचनं नोपस्थापितं ब्राह्मणभागस्यावेदत्वसाधनाय। यदपि—'ब्राह्मणं न वेदो मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्' इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम्, मनुष्यबुद्धिरचितत्वस्याद्याप्यसिद्धेः साध्यसमो हेतुः। महर्षिणा गोतमेन तु 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' (गो० सू० २।१।५७) इति सूत्रेण स्थूणानिखननन्यायेन वेदप्रामाण्यं द्रढयितुं ब्राह्मणवाक्यान्येवोदाहृत्य तेषां प्रामाण्यव्यवस्थापनेन वेदप्रामाण्यं दृढीकृतम्। तत्रानृतादीनामुदाहरणानि वात्स्यायनमुनिना प्रदर्शितानि—तत्र 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' अत्र श्रुतौ पुत्रेष्ट्यनुष्ठानेन पुत्रप्राप्तिः श्रूयते। न च तदनुष्ठानेऽपि पुत्रोत्पत्तिर्दृश्यत इत्यनृतस्योदाहरणम्। 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति', 'समयाध्युषिते जुहोति' इत्युदितानुदितहोमविधानानि दृश्यन्ते। तेषामेव तत्र निन्दावचनानि श्रूयन्ते—'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति', 'शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति', 'श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति' इति उदितहोमादीनां विधानं तेषामेव चापवादो व्याघातः। 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति पुनरुक्ततादोषश्च। एवमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यो वेदानामप्रामाण्यं शङ्कितम्। तानि च ब्राह्मणवचनान्येवेति तेषां वेदत्वं यदि न स्यात्तदा कथं तेषामनृतादिभिर्वेदानामप्रामाण्यमाशङ्क्येत? नहि श्रोत्रदोषैर्नेत्रस्याप्रामाण्यं शक्यशङ्कम्। तस्माद् ब्राह्मणानि वेदाः, तत एव तद्गतानृतादिदोषैर्वेदानामप्रामाण्यं शङ्क्यते।

प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि चार अध्याय के ब्रह्मसूत्रों में भी प्रायः ब्राह्मण वचनों के आधार पर ही ब्रह्म के लक्षण का विचार किया गया है।

ब्राह्मण भाग भी वेद ही है, इस बात की पुष्टि में अनेक ऋषियों के वाक्य प्रमाण रूप में उद्धृत किये गये हैं और आगे भी दिखाये जायेंगे। किन्तु ब्राह्मण वेद नहीं है, इसके प्रमाण में किसी एक भी ऋषि का वाक्य स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी नहीं दिखा सके। ऋषि की बात छोड़े, किसी प्रामाणिक ग्रन्थकार का भी वचन उपलब्ध नहीं है, जो कि ब्राह्मण भाग को वेद न मानता हो। ब्राह्मण भाग मनुष्य की रचना होने से प्रमाण नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण भाग की रचना मनुष्य की बुद्धि से हुई है, यह बात आज भी सिद्ध नहीं हो सकी है, अतः इस हेतु में 'साध्यसम' नाम का हेत्वाभास दोष है। महर्षि गोतम के 'वेद प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें असत्य, परस्पर विरुद्ध और एक ही बात बार बार दोहराई गई है' इस न्यायदर्शन के सूत्र में तो स्थूणानिखनन न्याय से वेद के प्रामाण्य को दृढ़ करने के लिये ब्राह्मण वाक्यों को ही उद्धृत कर उनकी प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने अनृत आदि दोषों के उदाहरण इस प्रकार दिये हैं—'पुत्र की कामना वाला पुत्रेष्टि याग करे' इस प्रकार श्रुति में पुत्रेष्टि के अनुष्ठान से पुत्र की प्राप्ति सुनी गई है, किन्तु पुत्रेष्टि के अनुष्ठान के बाद भी पुत्र की प्राप्ति नहीं होती, यह अनृत का उदाहरण है। 'सूर्योदय वेला में हवन करता है, सूर्योदय से पहले ही हवन करता है, सूर्योदय वेला बीत जाने पर भी हवन करता है' इन तीनों वाक्यों के व्याघातक (काट करने वाला) निम्न वाक्यों में इनकी निन्दा की गई है 'काला कुत्ता उसकी आहुति को खा जाता है, जो कि सूर्योदय वेला में हवन करता है, चितकबरा कुत्ता उसकी आहुति को खा जाता है, जो कि सूर्योदय से पहले आहुति देता है, काला और चितकबरा दोनों कुत्ते मिलकर उसकी आहुति को खा जाते हैं, जो कि सूर्योदय वेला के बीत जाने पर आहुति देता है' इस प्रकार पहले होम का विधान और बाद में उसकी निन्दा की गई है। यही व्याघात दोष है। 'प्रथम ऋचा की और अन्तिम ऋचा की तीन तीन बार आवृत्ति करे' यहाँ पर पुनरुक्तता दोष है। इस प्रकार अनृत, व्याघात और पुनरुक्ति दोष के कारण वेद के प्रामाण्य में शंका उपस्थित की गई है। यहाँ पर उद्धृत सभी वाक्य ब्राह्मणों के हैं। यदि ब्राह्मण वाक्य वेद नहीं हैं, तो फिर इनमें अनृतता आदि दोषों के कारण वेद की अप्रामाणिकता कैसे आशंकित होगी? कान में दोष होने पर नेत्र अप्रामाणिक नहीं माने जा सकते। इसलिये मानना पड़ेगा कि ब्राह्मण भी वेद हैं, इसी लिये इनमें विद्यमान अनृतता आदि दोषों के कारण वेदों की प्रामाणिकता आशंकित होती है।

तत्रैवोत्तरम्—'कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्' (गो० सू० २।१।५८), 'अभ्युपेत्यकाले दोषवचनात्' (गो० सू० २।१।५९), 'अनुवादोपपत्तेश्च' (गो० सू० २।१।६०) इत्यादिसूत्रैर्महर्षिणा गोतमेन तत्समाधानमपि विहितम्। तदुक्तं भाष्ये—'इष्टिः करणम्, पितरौ कर्तारौ, संयोगः कर्म। त्रयाणां गुणयोगात् पुत्रजन्म, वैगुण्याद्विपर्ययः। इष्ट्याश्रयं तावत्कर्मवैगुण्यं समीहाभ्रेषः, कर्तृवैगुण्यम् अविद्वान् प्रयोक्ता कपूयाचरणश्च, साधनवैगुण्यं हविरसंस्कृतमुपहतमिति, मन्त्रा न्यूनाधिकाः स्वरवर्णहीना इति, दक्षिणा दुरागता हीना निन्दिता चेति। अथोपजनाश्रयं कर्मवैगुण्यं मिथ्यासम्प्रयोगः, कर्तृवैगुण्यं योनिव्यापादो बीजोपघातश्चेति, साधनवैगुण्यम् इष्टावभिहितम्। लोके च 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' इति विधिवाक्यम्, तत्र मिथ्याभिमन्थनं कर्मवैगुण्यम्, कर्तृवैगुण्यं प्रज्ञाप्रयत्नगतः प्रमादः, साधनवैगुण्यम् आर्द्रं सुषिरं दारु इति'।

अर्थात् पुत्रेष्टिप्रभृतियागानां यथावदनुष्ठाने पुत्रादिफलप्राप्तिर्भवत्येव। कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यादेव पुत्रेष्ट्यादीनां फलासाधकत्वमिति न तावताऽनृतार्थबोधकत्वेन तादृशवचनानामप्रामाण्यम्। व्याघातोऽपि नास्ति, कुतः? सङ्कल्पकाले उदितादिपक्षेष्वन्यतममभ्युपेत्य तत्त्यागे दोषकथनायैव श्यावशबलादिकर्तृकाहुतिभक्षणोक्तिरर्थवादरूपा, नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुमिति मीमांसकसिद्धान्तात्। तथा च सङ्कल्पितपक्षनिष्ठादार्ढ्यायैवेतरपक्षे दोषदर्शनम्। एवमेवैकादशसामधेनीनामृचां पञ्चदशत्वसम्पादनाय 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति प्रथमाया उत्तमायाश्चावृत्तिर्विहिता। तदप्युक्तम्—'अनुवादोपपत्तेश्च' (गो० सू० २।१।६०) इति सूत्रे। अर्थवानभ्यासो नानर्थकः। त्रिर्वचनेन प्रथमोत्तमयोः पञ्चदशत्वं सामधेनीनां भवति। तथा च मन्त्राभिवादः—'इदमहं भ्रातृव्यं पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेणापबाधे योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' इति पञ्चदशसामधेनीर्वज्रं मन्त्रोऽभिवदति।

महर्षि गोतम ने इस आशंका का समाधान वहीं पर 'कर्मकर्तृ' आदि सूत्रों के द्वारा किया है। भाष्य में बताया गया है कि 'पुत्रप्राप्ति में इष्टि साधन है, माता-पिता कर्ता हैं और संयोग कर्म है। इन तीनों के ठीक-ठीक प्रयोग से ही पुत्र जन्म होता है, अन्यथा नहीं। इष्टि की सभी क्रियाओं का यथावत् संपादित न होना कर्मवैगुण्य, इष्टि का संपादक विद्वान् न हो अथवा दुराचारी हो तो यह कर्मवैगुण्य, हवि ठीक से संस्कृत न हुई हो अथवा संस्कृत हो जाने के बाद भी किसी कारण से उसमें दोष आ गया हो, मन्त्र का न्यूनाधिक प्रयोग हुआ हो या उनके उच्चारण में स्वर, वर्ण आदि की हीनता जैसे दोष हों, दक्षिणा गलत रास्ते से आई हो, कम हो अथवा निन्दित हो, ये सब साधन के दोष हैं। ये इष्टिगत दोष हैं। इसी प्रकार के दोष पुत्रोत्पादन की क्रिया में भी आते हैं। माता-पिता का गलत सहवास कर्मवैगुण्य, योनिदोष और शुक्रदोष कर्तृवैगुण्य है और साधनवैगुण्य इष्टि के वैगुण्य के कारण होता है। 'अग्नि चाहने वाला दो अरणियों का मन्थन करे' इस प्रकार के लौकिक विधि वाक्यों में भी गलत तरीके से लकड़ी का मथना कर्मवैगुण्य, व्यक्ति का प्रज्ञागत तथा प्रयत्नगत प्रमाद कर्तृवैगुण्य और गीली तथा छिद्र आदि से जर्जर लकड़ी साधनवैगुण्य है।'

इन सूत्रों तथा भाष्य का अभिप्राय यह है कि पुत्रेष्टि प्रभृति यागों का यथाविधि अनुष्ठान होने पर पुत्रादि फल की प्राप्ति अवश्य होती है। कर्म, कर्ता और साधन के वैगुण्य के कारण पुत्रेष्टि आदि से फल नहीं मिलता, इतने से यह गलत बात का उपदेश देने के कारण ये अप्रमाण हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। व्याघात दोष भी इनमें नहीं है, क्योंकि संकल्प के समय उदित आदि पक्षों में से किसी एक को स्वीकार कर जो उसका पालन नहीं करता, उसी के लिये अर्थवाद वाक्य में श्याव-शबल कुत्तों के द्वारा आहुति के परिगृहीत होने की बात कही है। मीमांसकों का यह सिद्धान्त है कि निन्दा वाक्यों का तात्पर्य किसी की निन्दा में न होकर विधेय की स्तुति में होता है। इसलिये यहाँ पर संकल्पित पक्ष में दृढ़ निष्ठा रखने के प्रयोजन से ही अन्य पक्ष में दोष दिखाया गया है। इसी प्रकार एकादश सामधेनी ऋचाओं की संख्या पन्द्रह करने के लिये प्रथम तथा अन्तिम ऋचाओं की तीन बार आवृत्ति करने का विधान किया गया है। 'अनुवादोपपत्तेश्च' इस सूत्र में स्पष्ट बताया गया है कि किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये की गई आवृत्ति अनर्थक नहीं होती। प्रथम और अन्तिम की तीन बार आवृत्ति से सामधेनी ऋचाओं की संख्या पन्द्रह हो जाती है। 'यह मैं पन्द्रह बार बोले गये वाणी रूपी वज्र से अपने उस शत्रु को नष्ट करता हूँ जो कि हमसे द्वेष करता है और फलतः हम भी जिससे

तदभ्यासमन्तरेण न स्यादिति सूत्रभाष्यकाराभ्यां गोतमवात्स्यायनाभ्यां ब्राह्मणवचनानामेवाक्षेपसमाधानाभ्यां विचार्य प्रामाण्यव्यवस्थापनाद् ब्राह्मणभागस्याक्षुण्णमेव वेदत्वम् ।

एवं मन्त्रब्राह्मणयोर्व्याख्यानव्याख्येयभावेऽपि न ब्राह्मणभागस्यावेदत्वम्, वैपरीत्यस्यापि दर्शनात् । तथाहि तैत्तिरीयोपनिषदि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति ब्राह्मणं व्याख्येयम्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।।' इति मन्त्रस्य तद्व्याख्यानरूपत्वमुक्तम् । भाष्येष्वपि व्याख्यानव्याख्येयभावो दृश्यते । यथा—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इति सूत्रानुकारिभाष्यमेव व्याख्येयम्, भाष्यमेव च तद्व्याख्यानमपि ।

यदुक्तम्—'यथा ब्राह्मणेषु नामोल्लेखपूर्वका इतिहासाः सन्ति न तथा मन्त्रभागेषु' (पृ० ९२) इति, तदपि तुच्छम्, उक्तोत्तरत्वात् । लौकिकं वाक्यमेवार्थपूर्वकं न वैदिकं तस्य नित्यत्वात् । यथा मन्त्रेषु सूर्यचन्द्रादिप्रतिपादकत्वेऽपि न सादित्वम्, तथैव ब्राह्मणेषु कासाञ्चिद् घटनानां प्रतिपादनेऽपि न तेषामनादित्वनित्यत्वव्याहतिः, अर्थपूर्वकत्वविरहात् । 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ।।' (वा० सं० ३।६२) इति मन्त्रेऽपि व्यक्तिविशेषनामोल्लेखो दृश्यत एव । यदुक्तम्—'चक्षुर्वै जमदग्निः' (श० ८।१।२।३), 'कश्यपो वै कूर्मः' (श० ७।५।१।५), 'प्राणो वै कूर्मः' (श० ७।५।१।७) इत्यादिवचनेश्चक्षुःप्राणयोरेव जमदग्निकश्यपादिसंज्ञा, न कस्यचिद्देहधारिणः' (पृ० ९२-९३) इति, तदपि तुच्छम्, यथाहि—'योषा वा अग्निर्गोतम' (बृ० ६।२।१३) इति बृहदारण्यके गौणीवृत्त्याऽग्निशब्दप्रयोगस्तथैव चक्षुरादिषु गौणवृत्त्यैव जमदग्न्यादिशब्दप्रयोगः । यथा योषायामग्निपदप्रयोगेऽपि नाग्निपदार्थापलापस्तथैव चक्षुरादिषु जमदग्न्यादिपदप्रयोगेऽपि न मुख्यजमदग्न्यादीनामृषीणामपलापः सम्भवति । यथा वा 'वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः' (श० १४।४।३।१२) इत्यादौ वागादिषु

क्षेप करते हैं' यह मन्त्र पन्द्रह सामधेनी ऋचाओं को वज्र बताता है । बिना मन्त्र की आवृत्ति के यह हो नहीं सकता । इस प्रकार गोतम और वात्स्यायन ने ब्राह्मण वाक्यों को लेकर आक्षेप और समाधान किया है तथा वेद का प्रामाण्य सिद्ध किया है, अतः इनके प्रमाण पर भी ब्राह्मण ग्रन्थ वेद ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं रहता ।

ब्राह्मण भाग मन्त्र भाग की व्याख्या करते हैं, इससे भी ब्राह्मण भाग वेद नहीं हैं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इसके विपरीत भी देखा गया है । अर्थात् तैत्तिरीयोपनिषद् में 'ब्रह्मविद् ब्रह्म को प्राप्त करता है' इस ब्राह्मण वाक्य की ही व्याख्या 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि मन्त्र से की गई है कि 'सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप ब्रह्म अत्यन्त छिपा हुआ रहस्य है, इसको जो जानता है, वह सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है' इस प्रकार यहाँ मन्त्र ही ब्राह्मण भाग की व्याख्या करता है । इस प्रकार का व्याख्यान-व्याख्येयभाव भाष्यों में भी देखा जाता है । जैसे कि 'पश्वादिभिः' इत्यादि स्थलों पर सूत्र के अनुसार ही भाष्य व्याख्येय होता है और भाष्य ही उस प्रकार का व्याख्यान करते हैं ।

'जैसे ब्राह्मणों में नामोल्लेख पूर्वक इतिहास विद्यमान है, यह बात मन्त्रभाग में नहीं है' यह कथन भी नगण्य है, इसका उत्तर दिया जा चुका है । अर्थपूर्वक प्रवृत्ति लौकिक वाक्य में ही होती है, वैदिक में नहीं, क्योंकि वैदिक वाक्य नित्य हैं । जैसे मन्त्रों में सूर्य-चन्द्र आदि का प्रतिपादन होने पर भी उनमें अनित्यता नहीं मानी जाती, उसी तरह ब्राह्मणों में भी कुछ घटनाओं का उल्लेख होने पर भी उनकी अनादिता, नित्यता आदि में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि यहाँ पर भी शब्द की प्रवृत्ति अर्थानुसन्धान के साथ संपृक्त नहीं है । 'जमदग्नि, कश्यप और देवताओं के बराबर हमारी आयु हो' इस प्रकार मन्त्र भाग में भी व्यक्तिविशेष का नाम दिखाई ही पड़ता है । यह जो कहा गया है कि 'चक्षु ही जमदग्नि हैं', 'कूर्म ही कश्यप हैं', 'प्राण ही कश्यप है' इन प्रमाणों से चक्षु और प्राण की ही जमदग्नि और कश्यप संज्ञा है, किसी देहधारी की नहीं, यह भी तुच्छ बात है । जैसे कि 'हे गोतम, यह स्त्री ही अग्नि है' इस बृहदारण्यक श्रुति में गौणी वृत्ति से स्त्री में अग्नि शब्द का प्रयोग है, उसी प्रकार चक्षु आदि में जमदग्नि आदि शब्दों का प्रयोग गौणी वृत्ति से होता है । जैसे स्त्री में अग्नि शब्द का प्रयोग करने पर भी मुख्य अग्नि का अपलाप नहीं होता, उसी तरह चक्षु आदि में जमदग्नि पद का प्रयोग होने पर भी मुख्य जमदग्नि आदि ऋषियों का अपलाप नहीं हो सकता । अथवा जैसे 'वाणी ही

ऋग्वेदप्रयोगेऽपि न ऋग्वेदादीनामपलापः सम्भवति। निरुक्तकारोऽप्याह—'वहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति, अग्निर्वैश्वानरः संवत्सरो वैश्वानरो ब्राह्मणो वैश्वानरः' (नि० ७।२४) इति। न तावता मुख्यस्य वैश्वानरस्यापलापः, तथैव प्रकृतेऽपि न जमदग्न्यादिमुख्यार्थापलापः सम्भवति।

यत्तु—'हे ईश्वर जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः, कश्यपनाम्नः प्राणस्य त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु देवेषु विद्याप्रभावयुक्तत्रिगुणमायुर्भवति तन्नोऽस्तु, तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तमायुरस्तु। 'विद्वांसो हि देवाः' (श० ३।७।३।१०) इत्यनेन विद्वांसो मनुष्या एव देवा उच्यन्ते' (पृ० ९३) इति, तदसङ्गतम्, नः त्र्यायुषमस्त्वित्युक्त्यैव त्रिगुणितायुषप्रार्थनोपपत्तौ जमदग्न्यादिपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यापातात्। यावदेव मनुष्याणामायुर्भवति तावदेव व्यावहारिकचक्षुरादीनामपि भवति, मनुष्यादिमरणे तेषामकिञ्चित्करत्वदर्शनात्। सूक्ष्मशरीरावयवभूतानां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्राणानां च प्रलयपर्यन्तावस्थायित्वमस्ति। तेन तदीयत्र्यायुषत्वं मनुष्याणां न सम्भवत्येवेति कुतस्तदभ्यर्थनम्? विद्वांसोऽपि सामान्यमनुष्यवदेव शतायुषो भवन्ति। चक्षुषः प्राणस्य त्वदभिमतदेवानां च समानान्येवायूंषि भवन्ति। तथा तेषां त्रिगुणितायुषप्रार्थनापेक्षया मानुषत्र्यायुषप्रार्थनैव लाघवाद्युज्यते। न च त्रीणि शतान्यायूंषि सम्भाव्यन्ते, तादृशप्रार्थनावतामपि तददर्शनात्। जमदग्निर्महर्षिस्तु दीर्घायुर्भवति, कश्यपः प्रजापतिर्देवा इन्द्रादयश्च दीर्घायुषो भवन्ति, तेषां त्र्यायुषप्रार्थनापि सम्भाव्यते। इह जन्मनि जन्मान्तरे वा तन्नासम्भवि। तस्मात् पूर्वोक्तमन्त्रस्य उव्वट-सायणमहीधराद्यनुसारी अयमेवार्थो युक्तः—'त्र्यायुषमिति यजमानो जपति' (का० ५।२) इति यजमानस्य मुण्डनकाले जपनीयोऽयं मन्त्रः। तदर्थस्तु—जमदग्नेर्मुनेस्त्रयाणां बाल्ययौवनस्थाविराणामायुषां समाहारस्त्र्यायुषं यथा सुचरितं सुखमयं कल्याणमयम्, तथा कश्यपस्य कश्यपनाम्नः प्रजापतेः सम्बन्धि यत् त्र्यायुषम्, तथा देवेषु इन्द्रादिषु यत् त्र्यायुषमस्ति, तत्सर्वं

ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है, प्राण सामवेद है' इत्यादि स्थलों में वाणी आदि में ऋग्वेद आदि पदों के प्रयुक्त किये जाने पर भी ऋग्वेद आदि का अपलाप नहीं होता। निरुक्तकार ने भी कहा है—ब्राह्मणों में एक पद का अनेक अर्थों में भाक्त प्रयोग किया गया है। अग्नि भी वैश्वानर है, संवत्सर भी वैश्वानर है, ब्राह्मण भी वैश्वानर है'। ऐसा होने पर भी जैसे मुख्य वैश्वानर का अपलाप नहीं होता, उसी तरह प्रकृत में भी जमदग्नि आदि के मुख्य अर्थ का अपलाप नहीं हो सकता।

'हे ईश्वर, जमदग्नि नामक चक्षु की, कश्यप नामक प्राण की त्र्यायुष अर्थात् तीन गुनी आयु, तीन सौ वर्ष की आयु हो, देवों में विद्या के प्रभाव से तीन गुनी आयु होती है, वह आयु इन्द्रिय-मन आदि से संवलित हम लोगों की भी सुखमय हो। 'विद्वान् ही देवता हैं' इस वचन से विद्वान् मनुष्य ही देवता कहे गये हैं' यह उक्ति भी असंगत है। हमारी तीन गुनी आयु हो, इतना कहने से ही तीन गुनी आयु की प्रार्थना पूरी हो जाती है, तब जमदग्नि आदि पद निरर्थक हो जायेंगे। जितनी मनुष्यों की आयु होती है, उतनी ही मनुष्य के व्यवहार साधक चक्षु आदि की भी होती है, मनुष्य की मृत्यु के बाद वे कुछ नहीं कर सकते। सूक्ष्म शरीर की अवयवभूत चक्षु आदि इन्द्रियाँ और प्राण प्रलय पर्यन्त अवस्थित रहते हैं। इनकी अपेक्षा तीन गुनी आयु मनुष्य को होती नहीं, अतः इसके लिये प्रार्थना भी कैसे की जा सकती है? विद्वान् भी सामान्य मनुष्य के समान सौ वर्ष की आयु वाले ही होते हैं। इस प्रकार चक्षु, प्राण और आपके अभिमत विद्वान् रूपी देवता—इन सबकी आयु एक सी है। ऐसी अवस्था में इन सबकी तिगुनी आयु माँगने की अपेक्षा मनुष्य की तीन गुनी आयु माँगने में ही लाघव है। तीन सौ वर्ष की आयु इस प्रकार की प्रार्थना करने वाले विद्वानों को भी देखी नहीं जाती। इसके विपरीत महर्षि जमदग्नि दीर्घायु वाले हैं। प्रजापति कश्यप और इन्द्रादि देवगण भी चिरजीवी होते हैं। इनकी तीन गुनी आयु की प्रार्थना की जा सकती है। इस जन्म में और जन्मान्तर में यह असंभव भी नहीं है। इसलिये उक्त मन्त्र का उव्वट, सायण और महीधर का किया हुआ अर्थ ही ठीक है कि 'त्र्यायुष इत्यादि मन्त्र का जप यजमान करता है' कात्यायन के बताये इस विनियोग के अनुसार यजमान के मुण्डन के समय इस मन्त्र का जप किया जाता है। मन्त्र का अर्थ यह है—जमदग्नि मुनि की बाल्य, यौवन और वार्धक्य इन तीन अवस्थाओं के समाहार को 'त्र्यायुष' कहा गया है, जैसे जमदग्नि मुनि की ये तीनों अवस्थाएँ सुचरित, सुखमय,

त्र्यायुषं नोऽस्माकं यजमानानामस्तु । अर्थाज्जमदग्न्यादीनां महर्षीणां देवानामिन्द्रादीनां यादृशं त्र्यायुषं कल्याणमयं सुखमयं सुचरितमस्ति, तथैवास्माकमपि बाल्ययौवनस्थाविरायुषां समाहारोऽपि सुचरितोऽस्तु । तच्च नासम्भवि, 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः' (वा० सं० २५।२१) इत्यादावपि भद्रश्रवणदर्शनलक्षणस्य कल्याणमयस्य सुखमयस्य सुचरितस्यैवाभ्यर्थितत्वात् । 'विद्वांसो हि देवाः' (श० ३।७।३।१०) इति वचनं तु न विदुषां देवत्वं बोधयति, किन्तु देवानां विद्वत्त्वं बोधयति । तस्मादत्र जमदग्न्यादिनाम्नामुल्लेखो नापलापमर्हति ।

'यद्देवेषु त्र्यायुषम्' (वा० सं० ३।६२) इत्यस्य व्याख्यानमारचयता दयानन्देन यत् 'देवेषु विद्वत्सु यावद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवतीति' (पृ० ९३) यदुक्तम्, तत्रेदमुच्यते—दयानन्दो विद्वानासीन्न वा ? यद्यासीत्कुतो न शतत्रयायुर्जातः ? न चेत्कथं तद्भाष्यं प्रामाण्यमर्हति ? किञ्च, मन्त्रेषु येषां विदुषां देवानां त्रीणि शतान्यायूंषि निगदितानि ते मन्त्रोत्पत्तेः प्रागुत्पन्नाः पश्चाद्वा ? आद्ये मन्त्रेष्वायातमेवेतिहासत्वम् । यस्येतिहासो भवति तदीयजन्मानन्तरमेव तदुल्लेखः, तादृशग्रन्थोऽपि तदीयजन्मनः पश्चादेव भवतीति दयानन्दोयसत्यार्थप्रकाशवचनात् (सत्यार्थप्रकाशे पृ० १२७) । 'किमग्ने देवेषु प्रवोचः' इति मन्त्रभाष्ये दयानन्देनोक्तम्—'हे अनन्तविद्यामय जगदीश्वर ! देवेषु सृष्टयादौ जातेषु पुण्यात्मसु अग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु प्रवोचः प्रोक्तवान्' इति । अयं तदोयोऽर्थो यदि शुद्धस्तर्हि मन्त्रेषु समायात एवेतिहासः । यद्यशुद्धोऽर्थस्तदा तदुक्तौ कथं विश्वासः ? तथात्वेऽपि मन्त्राणां यथा वेदत्वं तथैव ब्राह्मणभागस्यापि ।

किञ्चात्रैव भूमिकायां दयानन्देन लिखितम्—'ननु इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' (ऋ० सं० १०।७५।५) इति गङ्गादिनदीनां वेदे प्रतिपादनं कृतमस्ति त्वया न मन्यते, अत्रोच्यते—मन्यते तासां नदीसंज्ञेति, ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति । ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्धयादिगुणैर्यावानुपकारः स्यात् तावत्तासां मान्यं करोमि' इति, तत्रेयं जिज्ञासा—

कल्याणमय हैं, तथा जैसे कश्यप नाम के प्रजापति की तथा इन्द्र आदि देवताओं को तीन अवस्थाएँ हैं, वही त्र्यायुष हमारे यजमानों की भी हो । अर्थात् जमदग्नि आदि महर्षियों की तथा इन्द्रादि देवताओं की तीन अवस्थाएँ जैसी कल्याणमय, सुखमय तथा सुचरित हैं, वैसी ही हमारी भी बाल्य, यौवन, स्थाविर अवस्थाएँ सुखमय हों । यह कोई असंभव बात नहीं है । 'हे यज्ञ की रक्षा करने वाले देवों, हम कान से भली बातें सुनें, आँखों से भली चीजें देखें' इत्यादि मन्त्रों में भी भली बातों के देखने-सुनने के रूप में कल्याणमय, सुखमय, सच्चरित्र जीवन की ही प्रार्थना की गई है । 'देवता विद्वान् हैं' यह वचन विद्वानों को देवता नहीं बताता, किन्तु देवताओं की विद्वत्ता का प्रतिपादक है । इसलिये इस मन्त्र में जमदग्नि आदि के नामों का उल्लेख छिपाया नहीं जा सकता ।

'यद्देवेषु' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने जो यह कहा है कि देवों अर्थात् विद्वानों की दो प्रकार के प्रभाव वाली तीन गुनी आयु होती है, इसके उत्तर में हमारा कहना है कि दयानन्द विद्वान् थे कि नहीं ? यदि थे तो वे तीन सौ वर्ष तक जीवित क्यों न रहे ? यदि विद्वान् नहीं थे तो उनका भाष्य कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है ? दूसरी बात यह कि मन्त्रों में जिन विद्वान् रूपी देवताओं की तीन सौ वर्ष की आयु बताई गई है, वे मन्त्रों की रचना के पहले उत्पन्न हुए या बाद में ? यदि मन्त्रों की रचना से पहले हुए तो फिर मन्त्रों में इतिहास आ ही जायगा । जिसका इतिहास होता है, उसके जन्म के बाद ही उसका उल्लेख किया जाता है और वैसा ग्रंथ भी उसके जन्म के बाद की ही रचना माना जाता है । सत्यार्थप्रकाश में स्वयं दयानन्द ने इस बात को स्वीकार किया है । 'किमग्ने देवेषु' इत्यादि मन्त्र का भाष्य करते हुए दयानन्द ने कहा है कि 'हे अनन्त विद्यामय जगदीश्वर सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए पुण्यात्माओं को, अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और मनुष्यों को आपने बताया' । यदि उनका यह अर्थ ठीक है तो फिर मन्त्रों में इतिहास आ ही गया । यदि अर्थ गलत है तो फिर उनके कथन में विश्वास कैसे किया जा सकता है ? इतिहास रहने पर भी मन्त्रभाग जैसे वेद माना जाता है, उसी तरह ब्राह्मणभाग भी वेद माना जायगा ।

यहीं पर भूमिका में दयानन्द ने लिखा है कि 'इमं मे गङ्गे' इत्यादि वेद मन्त्रों में गंगा आदि नदियों का प्रतिपादन किया गया है, उसको आप क्यों नहीं मानते ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनकी नदी संज्ञा हमें मान्य है । वे गंगा आदि नदियाँ हैं, उनसे

किं गङ्गादीनामुत्पत्तिमतामनित्यानामुत्पत्तेः प्रागयं मन्त्र आसीदनन्तरं वोत्पन्नः ? आद्ये तथैव जमदग्निकश्यपयाज्ञवल्क्यादीनामप्युत्पत्तेः प्राग् मन्त्रब्राह्मणादीनां सत्त्वे न तेषां पौरुषेयत्वमनित्यत्वं वा न सम्भाव्यते, तथा च मन्त्राणामर्थपरिवर्तनप्रयासो व्यर्थ एव। यदि गङ्गादीनामुत्पत्तेरनन्तरं तद्बोधकमन्त्राणामुत्पत्तिस्तदा तेषामपीतिहासत्वमनिवार्यमेव।

यदप्युक्तम्—'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च' (अथर्व० सं० १५।३।१) इति मन्त्रे ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं न भागवतादीनाम्' (पृ० ९४) इति, तत्रापीदं वक्तव्यं यत् मन्त्रोऽयं ब्राह्मणनिर्माणात्प्राक् पश्चाद्वा निर्मितः ? आद्ये मन्त्रस्येतिहासत्वमायातम्। तथात्वेऽपि चेन्मन्त्राणां वेदत्वं तर्हि ब्राह्मणैः किमपराद्धं यदेषां वेदत्वं न स्यात् ? 'कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥' (ऋ० सं० १।२४।१), 'अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम। स नो मह्या……॥' (ऋ० सं० १।२४।२) इत्यादिमन्त्रेषु शुनःशेपस्याख्यानमस्ति। न चास्याप्यन्योऽर्थः कर्तुं शक्यः, ऐतरेयब्राह्मण आख्यानपरत्वेनैव तद्व्याख्यानात्। 'हन्ताहं देवता उपधावामीति। स प्रजापतिमेव प्रथमं देवतानामुपससार कस्य नूनं कतमस्यामृतानामित्येतयर्चा। तं प्रजापतिरुवाच। अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठस्तमेवोपधावेति। सोऽग्निमुपससार अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानामिति। पुनश्चाग्निप्रेरणया शुनःशेपः सवितारमुपससार। तं सवितोवाच वरुणाय वै राज्ञे नियुक्तोऽसि। तमेवोपधावेति। स वरुणं राजानमुपससार उत्तराभिरेकत्रिंशता। पुनश्च वरुणप्रेरणया सोऽग्निं तुष्टाव। तत्प्रेरणया विश्वेदेवानस्तुवत। तत्प्रेरणया चेन्द्रं तुष्टाव। इन्द्रस्तुष्टस्तस्मै हिरण्यरथं ददौ। तस्मा इन्द्रः स्तूयमानाय प्रीतो मनसा हिरण्यरथं ददौ। पुनश्चेन्द्रप्रेरणया सोऽश्विनौ तुष्टाव। अश्विप्रेरणया स उषसं तुष्टाव अत उत्तरेण त्यृचेन। तस्य ह स्म ऋच्युक्तायां विपाशो मुमुचे। (ऐ० ब्रा० ७।१६)।

जल-शुद्धि आदि के द्वारा जितना उपकार होता है, उसको हम मानते हैं'। इस प्रसंग में यह जिज्ञासा होती है कि क्या उत्पत्तिशील, अनित्य गंगा आदि नदियों की उत्पत्ति के पहले यह मन्त्र था या बाद में रचा गया ? यदि मन्त्र पहिले ही था तो इसी प्रकार जमदग्नि, कश्यप, याज्ञवल्क्य आदि की भी उत्पत्ति के पहिले मन्त्र-ब्राह्मण की सत्ता मानने से उनमें पौरुषेयत्व, अनित्यत्व आदि की सम्भावना नहीं रहेगी, इस प्रकार मन्त्रों के अर्थ को बदलने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। यदि गंगा आदि की उत्पत्ति के बाद उन मन्त्रों की उत्पत्ति हुई है, तो फिर इनमें भी इतिहास अनिवार्य रूप से मानना पड़ेगा।

यह जो कहा गया है कि 'तमितिहासश्च' इस अथर्ववेद के मन्त्र में ब्राह्मण ग्रन्थों का ही ग्रहण है, भागवत आदि पुराणों का नहीं, इस पर हम पूछते हैं कि यह मन्त्र ब्राह्मणभाग की निर्मिति के पहिले बना या बाद में ? यदि पहिले बना तो मन्त्र में इतिहास मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर भी यदि मन्त्रभाग वेद है, तो फिर ब्राह्मणभाग ने क्या अपराध किया है कि उसको वेद न माना जाय ? 'कस्य नूनं', 'अग्नेर्वयं' इत्यादि ऋग्वेद के मन्त्रों में शुनःशेप की कथा वर्णित है। इसका दूसरा अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण में इसकी कथापरक व्याख्या हो की गई है। 'मैं अपने बचाव के लिये किसी देवता के पास दौड़ चलूँ, ऐसा सोचकर वह 'कस्य नूनं' इत्यादि मन्त्र से स्तुति करता हुआ देवताओं में प्रथम प्रजापति के पास पहुँचा। उसको प्रजापति ने कहा कि देवताओं में अग्नि सबसे नजदीक हैं, तुम उसके पास दौड़ जाओ। तब वह 'अग्नेर्वयं' इस मन्त्र का जप करते हुए अग्नि के पास पहुँचा। फिर अग्नि के कहने पर शुनःशेप सविता के पास गया। उसको सविता ने कहा कि मैं तुमको वरुण के पास जाने की सलाह देता हूँ। इसके बाद की ३१ ऋचाओं का पाठ करते हुए वह राजा वरुण के पास गया। पुनः उसने वरुण के कहने पर अग्नि की स्तुति की। अग्नि की प्रेरणा पर विश्वेदेवों का स्तवन किया और उनके कहने पर इन्द्र की स्तुति की। इन्द्र ने सन्तुष्ट होकर उसको हिरण्यरथ दिया। फिर इन्द्र के कहने पर उसने अश्विनाकुमारों की स्तुति की और उनके कहने पर आगे की तीन ऋचाओं में शुनःशेप ने उषा देवी का स्तवन किया है। अन्तिम ऋचा के उच्चारण के साथ ही वह पाशमुक्त हो गया'।

एवमेवोर्वशीपुरूरवसोरितिहासोऽपि ऋक्संहितायां दशममण्डले पञ्चनवतितमे सूक्ते समुपलभ्यते। 'हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु। न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे च नाहन्' ।। (ऋ० सं० १०।९५।१) हे जाये घोरे क्षणं पूर्ववदनुरागवता चित्तेन मत्पार्श्वे तिष्ठ। नौ आवयोः मन्त्रा एकान्तवाच अनुदितासोऽवशिष्यन्त एव। एते मन्त्राः परतरेऽन्तिमे दिनेऽद्य मयस्करन् सुखकरा भवन्ति। तया चोक्तम्—'किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव। पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ।।' (ऋ० सं० १०।९५।२) केवलया वाचा किं सिद्धयति? अहं प्राक्रमिषम्, त्वामतिक्रम्य गतवत्यस्मि। हे पुरूरवः, त्वमस्तं गृहं परेहि गच्छ। अहं वात इव दुरापना दुष्प्रापास्मि। शतपथे चैवमेव व्याख्यातेयमृक्। 'दुरापा अहं त्वयैतर्ह्यस्मि पुनर्गृहानिहीति हैवैनमुवाच' (श० ११।५।१।७)। अयमितिहासः शतपथे व्याख्यातः—'उर्वशी हाप्सराः पुरूरवसमैडं चकमे। तं ह विन्दमानोवाच त्रिः स्म माह्नो वैतसेन दण्डेन हतादकामां स्म मा निपद्यासै। मोस्म त्वा नग्नं दर्शमेष वै नस्त्रीणामुपचार इति। सा हास्मिञ्ज्योगुवास। अपि हास्माद् गर्भिण्यास। तावज्ज्योग्घास्मिन्नुवास। ततो ह गन्धर्वाः समूदिरे। ज्योग्वा इयमुर्वशी मनुष्येष्ववात्सीदुपजानीत, यथेयं पुनरागच्छेदिति। तस्यै हाविद्वर्युरणा शयन उपबद्धास। ततो ह गन्धर्वा अन्यतरमुरणं प्रमेथुः। सा होवाच अवीर इव वत मेऽजन इव पुत्रं हरन्तीति द्वितीयं प्रमेथुः। सा ह तथैवोवाच। अथ हायमीक्षांचक्रे। कथं नु तदवीरं कथमजनं स्यात् यत्राहं स्यामिति। स नग्न एवानूत्पपात। चिरं तन्मेने यद्वासः पर्य्यधास्यत्। ततो हि गन्धर्वा विद्युतं जनयाञ्चक्रुस्तं यथा दिवैवं नग्नं ददर्श। ततो हैवेयं तिरोबभूव। पुनरैमीत्येत्तिरोभूतां स आध्या जल्पन् कुरुक्षेत्रं समया चचारान्यतः प्लक्षेति बिसवती तस्यै हाध्यन्तेन वव्राज। तद्ध ता अप्सरस आतया भूत्वा परिपुप्लुविरे। तं हेयं ज्ञात्वोवाच। अयं वै स मनुष्यो यस्मिन्नहमवात्समिति। ता होचुस्तस्मै वाविरसामेति। तथेति तस्मै हाविरासुः। तां हायं ज्ञात्वाभिपरोवाद। हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे' इत्यादिना। 'पुरूरवो मा मृथा मा प्रपप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्। न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ।।' (ऋ० सं० १०।९५।१५)।

इसी तरह ऋग्वेद के १०म मण्डल के ९५ वें सूक्त में उर्वशी और पुरूरवा का इतिहास मिलता है। 'हये जाये मनसा' इस मन्त्र में पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि—हे जाये, इस विपत्ति के समय में तुम पहिले की हो तरह अनुराग युक्त चित्त से मेरे पास रहो। हम दोनों की एकान्त की बातें अभी पूरी नहीं हुई हैं। आज हमारे मिलन के अन्तिम दिन यह एकान्त वार्तालाप सुखमय हो'। इसके उत्तर में अगले मन्त्र में उर्वशी कहती है कि—'केवल वार्तालाप से क्या मिलने वाला है, अब मैं तुमको छोड़कर जा रही हूँ। हे पुरूरवा, अब तुम भी अपने घर जाओ। पवन को पकड़ पाना जैसे कठिन है, उसी तरह अब मुझे नहीं पा सकते'। इस मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में भी इसी तरह की गई है कि—'अब तुम मुझे नहीं पा सकते, अतः अपने घर जाओ, यह बात उर्वशी ने पुरूरवा से कही'। शतपथब्राह्मण में इस कथा की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'अप्सरा उर्वशी इला के पुत्र पुरूरवा को चाहने लगी। उसके साथ रहने के लिये उसने तीन शर्तें रक्खी :— १. दिन में तीन बार से अधिक समागम न करना, २. बिना इच्छा के समागम न करना और ३. नग्न न दिखाई देना। क्योंकि ये बातें स्त्रियों के शील सम्मान के विपरीत हैं। वह दिव्य अप्सरा उसके साथ सम्मानपूर्वक रहने लगी और वह गर्भिणी हो गई। इस पर गन्धर्व परस्पर बातें करने लगे कि यह दिव्य अप्सरा उर्वशी मनुष्यों में जाकर बस गई है, कैसे वह वापस आवे। उर्वशी के शयन स्थान में दो भेड़ें बंधी हुई थीं। गन्धर्वों ने उनमें से एक भेड़ चुरा ली। इस पर उर्वशी चिल्लाने लगी कि हाय मेरे पुत्र को चुरा ले जा रहे हैं, जैसे कि मैं निर्बल और असहाय होऊँ। गन्धर्वों ने दूसरी भेड़ को भी चुरा लिया और उर्वशी ने पुनः अपनी बात दोहराई। यह सुनकर पुरूरवा विचार करने लगा कि मेरे रहते उर्वशी भला निर्बल और असहाय कैसे हो सकती है। वह शयन से उठकर नंगा ही दौड़ पड़ा। उसने सोचा कि कपड़े पहनने में देरी हो जायेगी। इसी बीच गन्धर्वों ने बिजली चमका दी, दिन के समान प्रकाश हो गया और उसमें उर्वशी ने पुरूरवा को नंगा देख लिया। इसके साथ ही वह तिरोहित हो गई। कालान्तर में इधर-उधर भटकते हुए पुरूरवा को पहचान कर उर्वशी बोली कि यह वही मनुष्य है, जिसके साथ मैं रही थी।

मर्तुमुद्यतं पुरूरवसं तानि वारयत्य आहुः—हे पुरूरवः, त्वं मा मृथाः मा च प्रपप्तः, पर्वतेभ्य इति शेषः। मा च त्वा वृकासः अद्युः। स्त्रैणानि सख्यानि न भवन्ति। एतासां सालावृकाणामिव घोराणि हृदयानि चेतांसि भवन्ति। शतपथेऽपि तथैवोक्तम्—'मैतदादृथा न वै स्त्रैणं सख्यमस्ति। पुनर्गृहानिहीति हैवैनं तदुवाच' (११।५।१।९)।

यथा शतपथे पारीक्षितजनमेजयस्य नामोल्लेखस्तथैवाथर्वसंहितायां प्राह्लादेर्विरोचनस्य वैवस्वतस्य मनोर्वैन्यस्य पृथोर्नामोल्लेखो दृश्यते। 'सोदक्रामत्। सोऽसुरानागच्छत्। तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥१॥' 'तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीत् ॥२॥' (अथर्वसं० ८।१३)। 'तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्। तां पृथी वैन्योऽधोक्। तां कृषिं च सस्यं चाधोक्' (अथर्वसं० ८।१३।११), 'सोदक्रामत्। सा सप्त ऋषीनागच्छत्।' (अथर्वसं० ८।१३।१३), 'तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक्' (अथर्वसं० ८।१३।२५)। किं ब्राह्मणेषु लौकिकेतिवृत्तप्रदर्शनेनैषां वञ्चकनिर्मितत्वम्, अथवा ब्राह्मणग्रन्थानामपौरुषेयत्वाभावः, आहोस्वित्तेषामुत्पत्तिमत्त्वमादिमत्त्वं वा सिद्ध्यति? नाद्यः, लौकिकेष्वितिहासेषु व्यभिचारात्। न द्वितीयः, वेदानां सर्वविद्यास्थानत्वेन सृष्ट्युत्पत्तिस्थित्यादिक्रमाभिधानवद् बोधसौकर्याय याज्ञवल्क्यादिसंवादमुखेन ब्रह्मविद्योपदेशेऽप्यपौरुषेयत्वानपायात्। न तृतीयः, सुखावबोधार्थं ब्राह्मणेषु तदाख्यानसत्त्वेऽप्यर्थपूर्वकत्वविरहात्। तत एवानादित्वनित्यत्वसिद्धेरुक्तत्वात्।

यदुक्तम्—'सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रचिदपीतिहासवर्णनं कृतम्, तत्सर्वं भ्रममूलकमस्ति' इति, तदप्यपास्तं वेदितव्यम्, दयानन्दभाष्यस्यैव भ्रान्तिमूलकत्वात्। तच्चानुपदं 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' (वा० सं० ३।६२) इति मन्त्रव्याख्यान एव स्फुटम्।

अप्सराओं ने कहा कि इसके सामने हम प्रकट हो जांय, उर्वशी की स्वीकृति मिलने पर वे प्रकट हो गईं। उर्वशी को पहचान कर ही पुरूरवा ने 'हये जाये' इत्यादि वाक्य कहा।

इसका निराशाजनक उत्तर सुनकर पुरूरवा को आत्मघात के लिये उद्यत देखकर अप्सराएं उसको रोकती हैं और कहती हैं कि 'हे पुरूरवा, तुम पर्वत से गिरकर मत मरो, भेड़िये तुम्हारे मांस को न नोंचने पावें। स्त्रियों की किसी से मित्रता नहीं होती। इनका हृदय कुत्तों के समान क्रूर होता हैं'। यही बात शतपथब्राह्मण में भी कही गई है कि 'इसको आदर मत दो। स्त्रियों से मित्रता नहीं होती। अब तुम घर जाओ'।

जैसे शतपथब्राह्मण में परीक्षित के पुत्र जनमेजय के नाम का उल्लेख है, उसी तरह अथर्ववेद में प्रह्लाद के पुत्र विरोचन का, वैवस्वत मनु और वैन्य पृथु का नाम मिलता है। 'वह चलकर असुरों के पास आई। उसको असुरों ने बुलाया कि हमारे पास आओ। प्रह्लाद का पुत्र विरोचन इसी का बच्चा था', 'मनु वैवस्वत उसका पुत्र था। उस पृथ्वी को वैन्य पृथु ने दुहा, कृषि और सस्य के रूप में', 'वह चलकर सप्त ऋषियों के पास आई', 'उसको आङ्गिरस बृहस्पति ने दुहा' इत्यादि। ब्राह्मणों में लौकिक इतिहास मिलने से क्या यह सिद्ध होता है कि इनकी रचना वंचकों ने की है, अथवा ब्राह्मण ग्रंथ अपौरुषेय नहीं है या किसी समय इनकी रचना की गई है, अतः ये नित्य नहीं है? पहली बात इसलिये गलत है कि लौकिक इतिहासकार भी वंचक नहीं माने जाते। दूसरी बात भी इसलिये गलत है कि वेद सब विद्याओं के उत्पत्तिस्थान हैं, अतः यहां पर सृष्टि का उत्पत्ति, स्थिति आदि के क्रम को बताने पर भी, सरलता से समझाने के लिये याज्ञवल्क्य आदि के वार्तालाप के माध्यम से ब्रह्मविद्या का उपदेश होने पर भी इनकी अपौरुषेयता अक्षुण्ण रहती है। तीसरी बात भी गलत है, क्योंकि सरलता से समझाने के लिये ब्राह्मणभाग में उपाख्यानों का उपयोग होते हुए भी उनमें अर्थपूर्वकता नहीं है और इसीलिये इनमें अनादित्व और नित्यत्व माना जाता है, यह बात पहले विस्तार से बताई जा चुकी है।

इससे यह भी खण्डित हो जाता है कि 'सायण आदि आचार्यों ने वेदप्रकाश प्रभृति भाष्य-ग्रन्थों में जहाँ कहीं इतिहास का वर्णन किया है, वह सब भ्रान्तिमूलक है'। इसके विपरीत दयानन्द का भाष्य ही भ्रान्तिमूलक है। इसका एक उदाहरण 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इत्यादि मन्त्र के व्याख्यान की समालोचना कर दिखाया जा चुका है।

यच्च—'ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति, न ब्रह्मवैवर्त-श्रीमद्भागवतादीनामिति. निश्चीयते', तदपि तुच्छम्, गोतमसूत्रे 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' (४।१।६२) इति वात्स्यायनेन मुनिना ब्राह्मणभिन्नानामितिहासपुराणानां प्रामाण्यसिद्धये ब्राह्मणप्रमाणस्योपस्थापितत्वात्। तत्रैव (४।१।६२) विषयव्यवस्थापनाच्च यथाविषयं प्रामाण्यमुक्तम्। यथा—'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः। तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते, यथाविषयं तानि प्रमाणानि, इन्द्रियवत्।' इति। अत एव ब्रह्मयज्ञविधाने सूत्रेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु 'यद् ब्राह्मणानि इतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' इत्यादीनि वचनानि ब्राह्मणातिरिक्तेतिहासपुराणबोधकानि दृश्यन्ते। 'ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसौ ब्राह्मणानि इतिहासपुराणानि' आश्वलायनगृह्यसूत्रे, 'ब्राह्मणानि इतिहासपुराणानि' तैत्तिरीयारण्यके (२।९)। अथर्ववेदेऽपि—'स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य पुराणस्य गाथानां नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद' (अथर्वसंहिता १५।६।१०-१२) इति प्रमाणेन ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना एवेतिहासपुराणादयो ज्ञायन्ते।

यदुक्तम्—'एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न श्रीमद्भागवतादीनाम्। कुतः, ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात्' (पृ० ९४)। तत्र 'देवासुराः संयत्ता आसन्' (श० १३।३।४।१) इत्यादय इतिहासा ग्राह्याः, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१), 'आत्मा वा इदमग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चन मिषत्' (ऐ० उ० १।१।१), 'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (श० ११।१।६।१), 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चिदासीत्' इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपराणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि। कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशकाः। तद्यथा—'इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै तदाह यदाहेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग् रसो जायते तस्यै तदाह' (श० १।७।१।२), 'सविता वै देवानां प्रसविता

यह कहना भी कुछ अर्थ नहीं रखता कि 'ब्राह्मण ग्रन्थ ही इतिहास और पुराण कहे जाते हैं, ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भागवत आदि पुराण नहीं', क्योंकि ४।१।६२ संख्या के न्यायसूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने 'ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण पर इतिहास-पुराण का प्रामाण्य माना जाता हैं' इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों से भिन्न इतिहास-पुराण की प्रामाण्य सिद्धि के लिये ब्राह्मण वचनों के प्रमाण दिये है। वहीं पर यह भी बताया है कि इनमें से प्रत्येक का विषय विभक्त है—'यज्ञ मन्त्र-ब्राह्मण का विषय है, लोक-व्यवहार की व्यवस्था धर्मशास्त्र में की गई है, और लौकिक इतिहास इतिहास ग्रंथों और पुराणों में वर्णित है। इनमें से कोई एक सबकी व्यवस्था नहीं कर सकता, इन्द्रियाँ जैसे अपने-अपने विषय के ग्रहण में प्रमाण हैं, उसी तरह ये शास्त्र भी अपने-अपने विषय में प्रमाण होंगे। 'इसलिये ब्रह्मयज्ञ के प्रतिपादक सूत्रों में और ब्राह्मण ग्रन्थों में—'ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी' इत्यादि वचन ब्राह्मण से अतिरिक्त इतिहास पुराण के बोधक हैं। 'ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, ब्राह्मण, इतिहास, पुराण' यह गणना आश्वलायन सूत्र की है। तैत्तिरीय आरण्यक में 'ब्राह्मण, इतिहास, पुराण' यह उक्ति है। अथर्ववेद में भी बताया गया है कि—'वह व्रात्य विद्या की दिशा में मुड़ा तो उसके पीछे इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी चलने लगे। जो इस बात को जानता है, वह इतिहास, पुराण, गाथा, और नाराशंसी का प्रिय खजाना हो जाता है'। इन सब प्रमाणों से यह मालूम होता है कि इतिहास, पुराण आदि ग्रंथ ब्राह्मण ग्रंथों से भिन्न हैं।

दयानन्द का कहना कि—'इन प्रमाणों से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही ग्रहण होता है, श्रीमद्भागवत आदि का नहीं, क्योंकि इतिहास, पुराण आदि शब्दों का अन्तर्भाव ब्राह्मणों में ही हो जाता है। यहाँ पर 'देव और असुर तैयार थे' आदि वाक्यों में इतिहास बताया गया है। 'सौम्य, सृष्टि के आरम्भ में केवल एक सत् ही था, दूसरा और कुछ नहीं', 'सृष्टि के आरम्भ में केवल एक आत्मा विद्यमान थो, अन्य कुछ नहीं', 'सृष्टि के आरम्भ में केवल जल, चारों ओर पानी ही पानी था', 'सृष्टि के आरम्भ में कुछ भी नहीं था' इत्यादि जगत् की पूर्वावस्था के प्रतिपादक ब्राह्मण भाग के वचन ही पुराण पद से अभिप्रेत हैं। कल्पसूत्र मन्त्रों के अर्थ और विनियोग को बताते हैं। जैसे कि—'इषे त्वोर्जे त्वा' इस मन्त्र का विनियोग वृष्टि के लिये है। इसका अभिप्राय है कि वृष्टि से जो रस पैदा होता

सवितृप्रसूता' (श० १।७।१।४) इत्यादयो ग्राह्याः। गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादः, यथा शतपथब्राह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति। (वस्तुतस्तत्र गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परप्रश्नोत्तरकथनयुक्ता गाथास्तु न सन्त्येव। दयानन्दस्तु तदनवलोक्यैव तथोक्तवान्)। नाराशंस्यश्च—अत्राहुर्यास्काचार्याः—नाराशंसो यज्ञ इति काथक्यो नरा अस्मिन्नासीना शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणिः, नरैः प्रशस्यो भवति (नि० ८।६)। नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्तान्तर्गता एव कथा नाराशंस्यो ग्राह्या नातोऽन्याः' (पृ० ९५) इति।

तदपि तुच्छम्, तथात्वे ब्राह्मणेभ्यः पृथगितिहासपुराणोल्लेखवैयर्थ्यापत्तेः। 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' इति वात्स्यायनमुनिवचनविरोधाच्च। तथाहि न्यायसूत्रे (४।१।६२) इत्यत्र वात्स्यायनभाष्ये—'चातुराश्रम्यविधानाच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्रेषु ऐकाश्रम्यानुपपत्तिः' इत्युक्तम्। तत्रेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणामप्रामाण्यमाशङ्क्य समाहितम् 'तदप्रमाणमिति चेन्न, प्रमाणेन प्रामाण्याभ्यनुज्ञानात्। व्याख्यातं च स्ववाक्यं भाष्यकारेण 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते। ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन्निति पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदमिति। तस्मादयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति। अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहारलोपाल्लोकोच्छेदप्रसङ्गः। प्रकारान्तरेण च तेषां प्रामाण्यमुपपादितं भाष्यकारेण—'द्रष्टृ-प्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः, य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च' इति। प्रकारान्तरेण तदेवाह—'विषयव्यवस्थापनाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्, अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयोऽन्यच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणामिति। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः, तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यत इति यथाविषयमेतानि प्रमाणानीन्द्रियवत्।' एतावता महर्षिर्वात्स्यायनो

है, उसके लिये इसमें प्रार्थना की गई है', 'सविता सब देवों का जनक है, वे सब उसी से उत्पन्न हैं' ये ब्राह्मण वाक्य ही 'कल्पसूत्र' कहलाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में प्रश्नोत्तर के रूप में दिये गये याज्ञवल्क्य-जनक संवाद, गार्गी-मैत्रेयी आदि के संवाद 'गाथा' कहलाते हैं। (वास्तव में शतपथब्राह्मण में प्रश्नोत्तर के रूप में गार्गी-मैत्रेयी संवाद उपलब्ध नहीं है, दयानन्द ने बिना देखे ही यह लिख दिया है।) यास्काचार्य ने निरुक्त में 'नाराशंसी' पद की निरुक्ति यह दी है—'काथक्य के मत से नाराशंस यज्ञ को कहा जाता है। शाकपूणि का मत है कि मनुष्य इसमें बैठकर अग्नि की स्तुति करते हैं। जो मनुष्यों के द्वारा प्रशंसित होता है, वह नाराशंसी कहलाता है'। इस तरह जिनमें मनुष्यों की प्रशंसा है, जहाँ मनुष्यों के द्वारा प्रशंसा की जाती है, वह ब्राह्मण, निरुक्त आदि में वर्णित कथा 'नाराशंसी' कही जाती हैं, इससे भिन्न नहीं।'

दयानन्द की यह उक्ति इसलिये व्यर्थ है कि ऐसा होने पर ब्राह्मणों से पृथक् इतिहास, पुराण आदि का उल्लेख निरर्थक हो जायगा। 'ब्राह्मण वाक्य के प्रमाण से इतिहास-पुराण की प्रामाणिकता मानी जाती है' इस वात्स्यायन मुनि के वचन का भी विरोध होगा। ४।१।६२ संख्या के न्यायसूत्र के वात्स्यायन भाष्य में—'इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रों में चार आश्रमों का विधान होने से आश्रम एक ही है, यह बात नहीं मानी जा सकती' ऐसा कहा है। वहाँ पर इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र प्रमाण नहीं हो सकते, ऐसी आशंका कर उसका समाधान दिया गया है कि—'यह सब प्रमाण नहीं माने जा सकते, ऐसी बात नहीं है, प्रमाण के द्वारा उनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है'। अपने इस वाक्य की व्याख्या स्वयं भाष्यकार ने इस प्रकार की है—'प्रमाणभूत ब्राह्मण वाक्यों के द्वारा इतिहास-पुराण की प्रामाणिकता मानी जाती है। अथर्ववेद के वाक्यों में 'पुराण पाचवाँ वेद है' इस प्रकार इतिहास-पुराण की प्रशंसा की है। इसलिये इनको अप्रामाणिक बताना गलत है। धर्मशास्त्र को यदि प्रमाण नहीं माना जायगा तो प्राणियों के परस्पर व्यवहार का ज्ञान न रहने से उच्छृंखलता फैल जायगी'। भाष्यकार ने प्रकारान्तर से भी इनकी प्रामाणिकता का उपपादन किया है—'इन सबके द्रष्टा और प्रवक्ता समान हैं, इसलिये भी ये अप्रामाणिक नहीं हो सकते। जो मन्त्र और ब्राह्मण के द्रष्टा हैं, वे ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के प्रवक्ता हैं'। इसी बात को दूसरे रूप में इस प्रकार कहा है—'इन सबका विषय व्यवस्थित है, अतः विषय के अनुसार ये प्रमाण हैं। मन्त्र और ब्राह्मण का विषय भिन्न है और इतिहास, धर्मशास्त्र, पुराण का विषय भिन्न। मन्त्र और ब्राह्मण

मन्त्रब्राह्मणस्य यज्ञो विषय इति मन्यते। ब्राह्मणप्रमाणकस्येतिहासपुराणस्य लोकवृत्तं विषय इत्यपि मन्यत इति पुराणस्य ब्राह्मणप्रमाणकत्वाद् ब्राह्मणभिन्नमेव पुराणं मनुते, तथैव—'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदमिति' (छा० ७।२) इति श्रुतिरपीतिहासपुराणं पञ्चमं वेदं मनुते। 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां महाभारतपञ्चमानां वेदं व्याकरणमित्यर्थः' इति शङ्कराचार्याः। अर्थाद् इतिहासपुराणं वेदविवरणरूपं ज्ञातव्यम्।

बृहदारण्यकोपनिषदि तु ब्राह्मणरूपमेवेतिहासपुराणम्, तस्य महतो भूतस्य निःश्वसितरूपत्वात्। तथाहि—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं विद्याः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि निःश्वसितानि' (बृ० उ० २।४।१०) इति। तत्र शाङ्करभाष्यम्—'निःश्वसितमिव निःश्वसितम्, यथाऽप्रयत्नेनैव पुरुषनिःश्वासो भवति, एवम्। एतेन निःश्वासवत् पुरुषप्रयत्नानपेक्षत्वात् तन्निःश्वसितवेदस्यापौरुषेयत्वं पुरुषाश्रितसकलपुदोषशङ्काकलङ्कशून्यत्वात् स्वतः प्रामाण्यम्, निःश्वसितरूपत्वाद् अत्रत्येतिहासादीनामपि ब्राह्मणान्तर्गतत्वाद् वेदत्वमेव' इति। तथैवात्रोक्तं शङ्करभगवत्पादैः—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्, वेदशब्दस्य मन्त्रब्राह्मणपरत्वेऽप्यत्र लक्षणया मन्त्रपरत्वमेव, कुतोऽष्टविधस्य ब्राह्मणस्य पृथङ्निर्दिष्टत्वात्। इतिहास उर्वशीपुरूरवसोः संवादादिरुर्वशी हाप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव, पुराणमसद्वा इदमग्र आसीदित्यादि, विद्या देवजनविद्या नृत्यगीतादिशास्त्रं वेदः सोऽयं वेदाद् बहिर्न भवतीत्यर्थ इत्यानन्दगिरिः। उपनिषदः प्रियमित्येतदुपासीतेत्याद्याः, श्लोकाः ब्राह्मणप्रभवाः, मन्त्रास्तदेते श्लोका इत्यादयः, सूत्राणि वस्तुसंग्रा-

का विषय यज्ञ है, इतिहास-पुराण का विषय लोकवृत्त और धर्मशास्त्र का विषय लोक-व्यवहार की व्यवस्था करना है। एक से सबकी व्यवस्था नहीं हो सकती, अतः चक्षुरादि इन्द्रियों के समान नियत विषयों में ही ये प्रमाण हैं'। इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि महर्षि वात्स्यायन यज्ञ को मन्त्र-ब्राह्मण का विषय मानते हैं। उन्होंने यह भी माना है कि ब्राह्मण वाक्यों से प्रमाणित इतिहास-पुराण लोकवृत्त का प्रतिपादन करते हैं। इस तरह ब्राह्मण वाक्यों के आधार पर पुराण की प्रामाणिकता मानने से यह स्पष्ट है कि वे पुराण को ब्राह्मण से पृथक् करते हैं। इसी तरह—'हे भगवन्, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद का और इतिहास-पुराण नामक पंचम वेद का अध्ययन करता हूँ' यह श्रुति भी इतिहास-पुराण को पाचवां वेद मानती है। शंकराचार्य ने इस श्रुति की व्याख्या इस प्रकार की है—'इतिहास-पुराण महाभारत सहित पाँच वेदों की व्याख्या करते हैं' अर्थात् इतिहास और पुराण को वेद का व्याख्यान मानना चाहिये।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इतिहास-पुराण को ब्राह्मण रूप ही माना है, क्योंकि यह उस महान् भूत (परमेश्वर) का निःश्वास है। जैसे कि—'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, विद्या, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान—यह सब उस महान् भूत (परमात्मा) के निःश्वास हैं।' यहाँ का शांकरभाष्य इस प्रकार है—'यह सब निःश्वास के समान है। जैसे सांस लेने और छोड़ने में पुरुष को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसी तरह ये शास्त्र परमात्मा के मुँह से अनायास निकले हैं। इससे निःश्वास में जैसे पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती, उसी तरह पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा न रहने से परमात्मा के निःश्वास वेद की अपौरुषेयता, अर्थात् पुरुष के आश्रित सारे दोषों की कलंक कालिमा से रहित होने से इनकी स्वतः प्रमाणता सिद्ध होती है। यहाँ पर वर्णित इतिहास भी ब्राह्मण का भाग होने से वेद ही है'। भगवत्पाद शंकर ने यहीं कहा है—'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इस प्रकार मन्त्रभाग के चार भेद हैं। वेद शब्द यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का संग्राहक है, तो भी यहाँ पर लक्षणा से केवल मन्त्र का ही बोधक है, क्योंकि यहाँ पर अष्टविध ब्राह्मण भाग का पृथक् प्रतिपादन मिलता है। 'उर्वशी हाप्सरा' इत्यादि में बताया गया उर्वशी-पुरूरवा आदि का संवादरूप इतिहास ब्राह्मण ही है, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि पुराण का विषय भी ब्राह्मण में है, देवजनविद्या, नृत्य, गीत आदि 'विद्या' के नाम से कहे जाते हैं। आनन्दगिरि का कहना है कि यह भी वेद के अन्तर्गत ही है। 'प्रियमेतदुपासीत' इत्यादि भाग उपनिषद् कहा जाता है। 'तदेते श्लोका भवन्ति' इत्यादि स्थलों में बताये गये श्लोक ब्राह्मण

हृकवाक्यानि'। वेदे यथा—'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादीनि। अनुव्याख्यानानि मन्त्रविवरणानि, व्याख्यानान्यर्थवादाः, अथवा वस्तुसंग्राहकवाक्यविवरणानि अनुव्याख्यानानि, यथा चतुर्थाध्याये आत्मेत्येवोपासीतेत्यस्य यथाऽन्योसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरित्यस्यायमध्यायशेषः। मन्त्रविवरणानि व्याख्यानानि एवमष्टविधं ब्राह्मणम्'। एतेन यत्र वृहदारण्यकादौ महतो भूतस्य परमेश्वरस्य निःश्वसितरूपेणेतिहासपुराणस्य चर्चास्ति, तत्र वेदरूपत्वाद् ब्राह्मणान्तर्गतत्वमेव। यत्र निःश्वसितत्वोक्तिर्नास्ति तत्र तु श्रीमद्भागवतादिपुराणानामेव ग्रहणं न्याय्यम्, यथा छान्दोग्यवाक्ये वात्स्यायनोद्धृते ब्राह्मणे च। तत एव वात्स्यायनो महर्षिर्ब्राह्मणेन प्रमाणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमुक्तवान्।

नन्वर्वाचीनानामितिहासपुराणानां कथमनादिवेदेषु वर्णनं सम्भाव्यत इति चेन्न, यथाहि ब्राह्मणानामादिमत्त्वमङ्गीकुर्वाणा अपि सामाजिकाः 'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्' (अथर्वसं० १५।६।११) इत्यथर्वमन्त्रे तेषां वर्णनमभ्युपगच्छन्ति, तथैवादिमतामपि पुराणानां वेदे वर्णनं न दोषाधायकम्। वस्तुतस्तु इतिहासपुराणमप्यनाद्येव, प्रतिकल्पं ब्रह्मणस्तदाविर्भावस्मरणात्। 'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥'(म० भा० शा० प० २०।१९)। नन्वेवं वेदपुराणयोः को भेद इति चेच्छृणु—नियतवर्णानां नियतानुपूर्वी भिद्यते। इतिहासपुराणस्य तु कल्पान्तरेष्वपि नानुपूर्वीपरिवर्तनं सम्भवति। 'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः॥' (अथर्वसं० ११।९।२४), 'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सनिरुक्ताः सपुराणाः सानुशासनाः' (गोपथपूर्वभागे २।१०), 'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥' (या० स्मृ० १।३) इत्यादिषु सर्वत्र श्रीमद्भागवतादय एव पुराणपदग्राह्याः।

भाग में वर्तमान मन्त्रों को कहते हैं। 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादिक वस्तुसंग्राहक वाक्यों को सूत्र कहते हैं। मन्त्र का विवरण करने वाले वाक्य अनुव्याख्यान कहे जाते हैं। अर्थवाद वाक्य व्याख्यान कहलाते हैं। अथवा वस्तुसंग्राहक वाक्यों के विवरण अनुव्याख्यान कहे जाते हैं। जैसे कि 'आत्मेत्येवोपासीत' इस संग्राहक वाक्य का विवरण 'यथाऽन्यो' इत्यादि अवशिष्ट पूरे अध्याय में किया गया है। मन्त्रों के विवरण व्याख्यान कहलाते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण भाग अष्टधा विभक्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ पर वृहदारण्यक आदि में महान् भूत परमेश्वर के निःश्वासभूत इतिहास-पुराण की चर्चा है, वह वेद रूप होने से ब्राह्मण के ही अन्तर्गत माना जायगा। जहाँ पर ईश्वर के निःश्वासभूत इतिहास-पुराण की चर्चा नहीं है, वहाँ पर तो श्रीमद्भागवत आदि पुराणों का ग्रहण करना ही उचित है, जैसे कि छान्दोग्य वाक्य में और वात्स्यायन के द्वारा उद्धृत ब्राह्मण में। इसीलिये महर्षि वात्स्यायन ने ब्राह्मण वाक्य के प्रमाण पर इतिहास-पुराण का प्रामाण्य माना है।

अनादि वेद में अर्वाचीन पुराणों का वर्णन कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि जैसे आर्यसमाजी ब्राह्मणों को बाद की रचना मानते हुए भी 'इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी उसके पीछे पीछे चले' इस अथर्ववेद के मन्त्र में उनका वर्णन मानते हैं, उसी तरह अर्वाचीन पुराणों का भी वेद में वर्णन मानने में कोई दोष नहीं है। वास्तव में तो इतिहास-पुराण भी अनादि हैं। 'प्रलयकाल में अन्तर्हित इतिहास सहित वेदों को महर्षिगण तपस्या के बल से स्वयम्भू ब्रह्मा की आज्ञा से पुनः प्राप्त करते हैं' इत्यादि वाक्यों में प्रत्येक नये कल्प में ब्रह्मा के द्वारा उनका आविर्भाव सुना गया है। तब वेद और पुराण में क्या भेद रह जायगा? भेद यह रहेगा कि वेदों में नियत वर्णों की आनुपूर्वी भी नियत है, इसलिये दूसरे कल्प में भी यह आनुपूर्वी भिन्न नहीं होती। इसके विपरीत इतिहास-पुराण में अर्थ की एकता रहने पर भी आनुपूर्वी में परिवर्तन संभव है। इसलिये 'ऋक्, साम, छन्द, यजुस् और पुराण इन सबका परिज्ञान देवलोक के देवताओं को बाद में हुआ', 'इस प्रकार कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यान, निरुक्त, पुराण और अनुशासन के साथ सब वेदों की रचना हुई', 'अपने ६ अंगों के साथ ४ वेद पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र को मिलाकर विद्या और धर्म के १४ प्रस्थान होते हैं' इत्यादि सभी स्थलों में पुराण शब्द से श्रीमद्भागवत आदि का ही ग्रहण होता है।

किञ्च, यदि पुरावृत्तार्थप्रतिपादकत्वेन ब्राह्मणानामेवेतिहासपुराणत्वम्, तदा तु 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० सं० १०।१९०।३), 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (वा० सं० १३।४), 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः' (ऋ० सं० ४।२६।१) इत्यादिसंहितामन्त्राणामप्यैतिहासिकार्थप्रतिपादकतयेतिहासपुराणत्वापत्तिः स्यात्। पुरावृत्तार्थप्रतिपादकत्वेऽपि यथा त्वया मन्त्राणामितिहासपुराणत्वं नाभ्युपेयते, तथैव ब्राह्मणानामपि न तत्सम्भवति। अत एव वात्स्यायनेन यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषय उक्तः। लोकवृत्तमितिहासपुराणानां विषय उक्तः। गाथा नाराशंस्यश्च मन्त्रेष्वप्युपलभ्यन्ते। वस्तुतस्तु पुराणेतिहासगुणयोगादेव ब्राह्मणेषु मन्त्रेषु च गौणमेवेतिहासत्वं पुराणत्वं च, मुख्यपुराणत्वं तु श्रीमद्भागवतादीनामेव।

किञ्च, त्वद्रीत्या ब्राह्मणं न वेदः, किन्त्ववर्वाचीनमृषिकृतम्, तथापि मन्त्रेषु ब्राह्मणानां ब्राह्मणविशेषाणां पुराणेतिहासादीनां नामोपलब्धावपि यथा मन्त्राणामनादित्वं न भज्यते, तथैव ब्राह्मणेषु मनुष्यादीनां महिदासादिनाम्नां सत्त्वेऽपि तेषामनादित्वं वेदत्वं च न भज्यत इत्यपि समानयोगक्षेमम्।

यदुक्तम्—'तेषु तेषु वचनेषु यतो यस्माद् ब्राह्मणानीति संज्ञीपदमितिहासादिस्तेषां संज्ञेति, तद्यथा ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति' (पृ०९५) तदपि तुच्छम्, निर्मूलत्वात्। प्रमाणमन्तरेण कथं ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयादिति तदर्थः सम्भवति? संज्ञीपदमित्यत्र दीर्घेकारप्रयोगोऽशुद्धः, संज्ञिपदमित्यस्यैव युक्तत्वात्।

यदपि—'वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्' (गो० सू० २।१।६०) इत्यत्र वात्स्यायनभाष्यम् 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके। विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः' इति। अयमभिप्रायः—ब्राह्मणशब्दा लौकिका एव न वैदिकाः, तेषां त्रिविधो त्रिभागो लक्ष्यते 'विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्' (गो० सू० २।१।६१)। अत्र वात्स्यायनभाष्यम्—'विधि-

पुरानी घटनाओं का वर्णन देखकर यदि आप ब्राह्मणों को ही इतिहास-पुराण मानने का हठ करते हैं, तो फिर 'ब्रह्मा ने पूर्वकल्प की भांति इस नई सृष्टि में भी चन्द्र और सूर्य को बनाया', 'सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ ब्रह्मा वर्तमान थे', 'पूर्व जन्म में मैं मनु था, सूर्य था, कक्षीवान् ऋषि था और अब ब्राह्मण वामदेव हूँ' इन संहिता मन्त्रों में भी इतिहास का प्रतिपादन होने से इनको भी इतिहास-पुराण मानना पड़ेगा। इतिहास का उल्लेख मिलने पर भी जैसे आप मन्त्र भाग को इतिहास-पुराण के अन्तर्गत नहीं मानते, वैसे ही ब्राह्मणों के लिये भी समझना चाहिये। इसलिये वात्स्यायन ने यज्ञ को मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का विषय माना है और लोकवृत्त को इतिहास-पुराण का। गाथा और नाराशंसी न केवल ब्राह्मण भाग में, अपितु मन्त्र भाग में भी उपलब्ध होते हैं। वास्तव में पुराण-इतिहास के गुण धर्मों की उपलब्धि मन्त्र और ब्राह्मण भाग में भी होने से इनमें इतिहास-पुराण शब्द का प्रयोग गौण रूप से होता है, मुख्य रूप से इसका प्रयोग श्रीमद्भागवत आदि के लिये ही किया जा सकता है।

आपके मत से ब्राह्मण अनादि वेद न होकर अर्वाचीन ऋषियों की कृति है। हमारा कहना है कि मन्त्रों में ब्राह्मणों का, विशेष ब्राह्मणों का, इतिहास-पुराण आदि का नाम मिलने पर भी जैसे मन्त्रों की अनादिता नहीं टूटती, उसी तरह ब्राह्मणों में भी महिदास आदि मनुष्यों के नामों के मिलने पर भी उनको अनादि वेद मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों की स्थिति समान है।

यह भी कहा गया है कि—'उन-उन पूर्वोद्धृत वचनों में जिससे 'ब्राह्मण सृष्ट हुए' यह संज्ञी पद है और इतिहास आदि उसकी संज्ञाएं हैं। जैसे कि ब्राह्मणों को ही इतिहास जाने, ये ही पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी हैं'। प्रमाण रहित होने से यह बात निर्मूल है। विना प्रमाण के यह कैसे माना जा सकता है कि 'ब्राह्मणों को ही इतिहास जाने' यह उस वाक्य का अर्थ होता है? 'संज्ञीपदम्' यहाँ पर दीर्घ इकार का प्रयोग भी अशुद्ध है, इसका शुद्ध रूप 'संज्ञिपदम्' होता है।

इस प्रसङ्ग में अपने मत की पुष्टि में निम्न न्यायसूत्र और वात्स्यायन भाष्य उद्धृत किये गये हैं—'अनुवाद वाक्यों की भी सार्थकता के कारण प्रामाण्य है' यह न्यायसूत्र है। यहाँ न्यायभाष्य में बताया गया है कि 'लौकिक वाक्यों के समान समस्त वैदिक शब्द

वचनानि, अर्थवादवचनानि, अनुवादवचनानि' इति। 'विधिर्विधायकः' (गो० सू० २।१।६२)। अत्र वात्स्यायनभाष्यम्—'यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा। यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि। 'स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः' (गो० सू० २।१।६४)। अत्रत्यं भाष्यम्—'विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः सम्प्रत्ययार्था स्तूयमानं श्रद्दधीतेति प्रवर्तिका च। फलश्रवणात् प्रवर्तते, 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयति' एवमादि। अनिष्टफलवादो निन्दा वर्जनार्था, निन्दितं न समाचरेदिति—'स एष प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वान्येन यजते गर्ते पतत्ययमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा' इत्येवमादि। अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः 'हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति। अथ पृषदाज्यं तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाऽग्रेऽभिघारयन्ति। अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधति' इत्येवमादि। ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्पः। 'तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोममस्तौषन्। योनेर्यज्ञं प्रतनवामहा' इत्येवमादि। कथं परकृतिपुराकल्पावर्थवादौ? स्तुतिनिन्दावाक्येनाऽभिसम्बन्धाद् विध्याश्रयस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति' इति। 'विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः' (गो० सू० २।१।६५) विध्यनुवचनं चानुवादः, विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः।' (पृ० ९६-९८)

हिन्दीभाषानुवादे च (पृ० ९७-९८) यथा लोके त्रिविधानि वचनानि भवन्ति, तथैव ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि। यथा देवदत्तो ग्रामं गच्छेत् सुखार्थं तथैव 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति ब्राह्मणम्। पदार्थगुणप्रकाशनं स्तुतिः, यतो मनुष्याणामुत्तमकार्यकरणे गुणानां ग्रहणं च श्रद्धा स्यात्। निन्दितकर्मणां दोषप्रदर्शनं निन्दा, यथा चोरेण निन्द्यं

सप्रमाण हैं। ब्राह्मण वाक्य तीन प्रकार के हैं' इसका यह अभिप्राय है कि ब्राह्मण शब्द लौकिक है, वैदिक नहीं। इनके तीन प्रकार हैं—'विधि, अर्थवाद और अनुवाद के रूप में ब्राह्मण वाक्यों का तीन प्रकार से विनियोग होता है' इस सूत्र के वात्स्यायन भाष्य में बताया गया है कि—'विधिवचन, अर्थवादवचन और अनुवादवचन ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं'। 'विधायक वाक्य विधि है' इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि—'जो वाक्य विधायक अर्थात् प्रेरक है, वह 'विधि' कहलाता है। विधि दो प्रकार की है—नियोग और अनुज्ञा। जैसे कि 'स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे' इत्यादि। 'स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प के भेद से अर्थवाद चार प्रकार का हैं' इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार है—'स्तुतिपरक अर्थवाद वाक्यों में विधि के फल की प्रशंसा की जाती है, इसलिये कि उसमें विश्वास जमे, स्तूयमान यागादि में विश्वास उत्पन्न हो। यह स्तुति प्रवर्तिका भी है, क्योंकि फल की स्तुति सुनने से उसमें मनुष्य प्रवृत्त होता है। जैसे कि 'देवताओं ने सब कुछ पाने के लिये और सभी पर विजय पाने के लिये 'सर्वजित्' यज्ञ का अनुष्ठान किया, जो इसका अनुष्ठान करता है वह सब कुछ पा लेता है, सबको जीत लेता है'। निन्दापरक अर्थवाद अनिष्ट फल की सूचना देते हैं, इसलिये कि निन्दित कर्मों में मनुष्य प्रवृत्त न हो। जैसे कि 'ज्योतिष्टोम सभी यज्ञों में प्रथम है। जो इसका बिना अनुष्ठान किये दूसरे यज्ञों का अनुष्ठान करता है, वह गड्ढे में गिर पड़ता है, नष्ट हो जाता है, बुरी मौत मरता है' इत्यादि। परकृति नामक अर्थवाद में दूसरों के द्वारा किये गये विधिविरोधी कार्यों का उल्लेख रहता है। जैसे कि 'हवन के बाद पहले वपा का अभिघारण किया जाता है, बाद में पृषदाज्य का। इसके विपरीत चरक शाखा के अध्वर्युगण पहले पृषदाज्य का अभिघारण करते हैं और कहते हैं कि पृषदाज्य अग्नि का प्राण है'। पुराकल्प नामक अर्थवाद इतिहास के समान दिखाई पड़ता है। जैसे कि—'इसी लिये पुराकाल के ब्राह्मण 'योनेर्यज्ञं प्रतनवामहै' इत्यादि बहिष्पवमान साम स्तोम से स्तुति करते थे' इत्यादि। परकृति और पुराकल्प कैसे अर्थवाद होंगे? इसलिये कि स्तुति अथवा निन्दापरक वाक्य से जुड़ कर ये विधि प्रतिपादित किसी अर्थ को बतलाते हैं। 'विधि से विहित पदार्थ का किसी उद्देश्य से पुनः विधान किया जाय तो यह अनुवाद कहलाता हैं' इसका भाष्य यह है—'अनुवाद विधि के अनुवचन और विहित के अनुवचन के भेद से दो प्रकार का है। पहला शब्द का अनुवाद है और दूसरा अर्थ का'।

हिन्दी भाषा के अनुवाद में बताया गया है कि जैसे लोक में तीन तरह के वाक्य होते हैं, उसी तरह के वाक्य ब्राह्मणों में भी हैं। जैसे 'सुख के लिये देवदत्त गाँव में जाय' यह लौकिक वाक्य है, उसी तरह 'स्वर्ग को चाहने वाला अग्निहोत्र करे' यह ब्राह्मण वाक्य भी है। किसी वस्तु के गुणों को प्रकाशित करना स्तुति कहलाती है। इससे मनुष्य की अच्छे कार्य करने में प्रवृत्ति और गुणों की

कार्यं कृतं तेन स दण्डितः, अन्येन सुपुरुषेण साधु कर्म कृतं तेन स प्रतिष्ठां प्राप्तः। पुराकल्पो यथा जनकसभायां याज्ञवल्क्यगार्गीशाकल्यादिभिः प्रश्नोत्तररूपः संवाद कृतः।

परमेतत्सर्वं सूत्रभाष्यसंस्पर्शशून्यमेव, प्रमाणं शब्दो यथा लोके इत्यनेन भाष्यवाक्येनैव दयानन्देनेदं निर्णीतं यद् ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिका इति। परमेष निर्णयस्तद्भ्रान्तिमूलक एव, सूत्रभाष्यशब्दैस्तादृशस्यार्थस्यानवगमात्। वस्तुतस्तु 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' इत्ययमंशः (गो० सू० २।१।६१) इति सूत्रस्यावतरणिकारूपः, तेन ब्राह्मणभागस्य लौकिकता कथं सिद्धयति? स्वामिदयानन्देनास्याभिप्रायो नावगतः। यदि परिज्ञातस्तदा तु धूलिप्रक्षेपमात्रमेव तेन कृतम्। लोकदृष्टान्तेन मन्त्राणां विभागः पोष्येत तदा किं मन्त्रभागस्यापि लौकिकत्वमभ्युपगंस्यते सामाजिकैः? नो चेल्लोकदृष्टान्तेन ब्राह्मणभेदकथनेऽपि कथं ब्राह्मणभागस्य लौकिकत्वसिद्धिः? यथा लोके राज्ञः संस्तवस्तथा मन्त्रेषु परमेशस्तव इत्येवं लोकदृष्टान्तेन मन्त्राणां भेदनिर्देशो भवत्येव।

किञ्च, लौकिकवैदिकवाक्ययोरभेद एवोपवर्णितो वात्स्यायनेन। भिद्यते लौकिकाद् वाक्याद् वैदिकं वाक्यं प्रेक्षापूर्वकारिप्रणीतत्वेन। मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदाद् वेदानां नित्यत्वम्, आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यं लौकिकेषु शब्देषु चैतत्समानमिति (गो० सू० २।१।६८) इत्यत्र वात्स्यायनभाष्यम्। नहि लौकिकशब्दसमानत्वकथनेन वैदिकशब्दानां लौकिकत्वं भवति, तथैव ब्राह्मणविभागस्य लौकिकशब्दविभागसमानत्वकथनेनापि न ब्राह्मणभागस्य लौकिकत्वम्। किमेवं मन्त्राणामपि लौकिकत्वं न सिद्धयति? यास्केनापि लौकिकदृष्टान्तेनैव मन्त्राणां सार्थकता प्रदर्शिता। 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्। समान एव हि शब्दो लोके मन्त्रेषु च। स एव गोशब्दो लोके, स्वरसंस्कारयुक्तः स एव मन्त्रेष्वपि। तत्रैवं सति स एवार्थवांल्लोके, स एव चानर्थको मन्त्रेष्विति

ग्रहण करने में श्रद्धा होती है। बुरे कामों में दोष दिखाना निन्दा कही जाती है। जैसे कि चोर ने बुरा काम किया, इसलिये वह दण्डित हुआ। दूसरे आदमी ने अच्छा काम किया, अतः वह प्रशंसित हुआ। जनक की सभा में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्य आदि का प्रश्नोत्तररूप संवाद पुराकल्प का उदाहरण है।

यह सारा कथन सूत्र और भाष्य का अर्थ ठीक से न समझने के कारण है। 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' भाष्य के इस वाक्य के आधार पर ही दयानन्द ने यह निर्णय कर लिया कि ब्राह्मण ग्रन्थों के शब्द लौकिक हैं, वैदिक नहीं। यह उनकी भ्रान्ति है, क्योंकि सूत्र और भाष्य के शब्दों में यह बात नहीं कही गई है। वास्तव में 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' भाष्य का यह अंश २।१।६१ संख्या के न्यायसूत्र की अवतरणिका है। इससे ब्राह्मण भाग की लौकिकता कैसे सिद्ध हो सकती है? स्वामी दयानन्द ने इसका अभिप्राय नहीं समझा। यदि समझा है, तो वे केवल धूलिप्रक्षेप करना चाहते हैं। यदि लौकिक दृष्टान्त से मन्त्रों का भी विभाग कर दिया जाय तो क्या आर्यसमाजी मन्त्र-भाग को भी लौकिक मानने लगेंगे? यदि नहीं तो फिर लौकिक दृष्टान्त से ब्राह्मण वाक्यों का भेद बताने पर ब्राह्मण भाग की लौकिकता अर्थात् अवैदिकता कैसे होगी? जैसे लोक में राजा की स्तुति की जाती है, उसी तरह की स्तुति वेदों में देवताओं की मिलती है, इस प्रकार लौकिक दृष्टान्त से मन्त्रों का भी भेद दिखाया जा सकता है।

वात्स्यायन ने लौकिक और वैदिक वाक्य में अभेद बतलाया है। २।१।६८ सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि लौकिक वाक्य से वैदिक वाक्य का इस माने में कोई अन्तर नहीं है कि दोनों की रचना करने वाले व्यक्ति विचारक हैं। वेद नित्य इसलिये हैं कि इनके सम्प्रदाय का विच्छेद बीते हुए अथवा आने वाले मन्वन्तर और युगान्तर में भी न हुआ है और न होगा। आप्त पुरुषों के प्रमाण पर वैदिक और लौकिक दोनों ही वाक्य सप्रमाण हैं। लौकिक शब्दों के साथ समानता बताने से वैदिक शब्द लौकिक नहीं हो जाते, उसी तरह लौकिक वाक्य विभाग के समान ब्राह्मण वाक्यों का भी विभाग होता है, ऐसा कहने से भी ब्राह्मण भाग लौकिक नहीं हो जायगा। ऐसा मानने पर क्या मन्त्रों की भी लौकिकता सिद्ध न हो जायगी। यास्क ने भी लौकिक दृष्टान्तों से ही मन्त्रों की सार्थकता दिखाई है। 'मन्त्र सार्थक हैं, क्योंकि ये भी शब्द ही हैं। लोक में और मन्त्रों में एक से ही शब्द हैं। जिस 'गौ' शब्द का व्यवहार लोक में होता है, वही स्वर से संस्कृत होकर मन्त्र में भी प्रयुक्त होता है। ऐसी अवस्था में एक ही शब्द लोक में सार्थक और मन्त्र में

विशेषहेतुर्नास्ति' इति दुर्गाचार्यः। यथा नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या लौकिकेष्वपि एतद्यथेन्द्राग्नी पितापुत्राविति। लौकिकेष्वप्येतद्यथाऽसपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽनमित्रो राजा' (नि० १।१६)।

प्रमाण शब्दो यथा लोके। अत्र यथाशब्द उपमाबोधकः। यथा लौकिकाः शब्दाः प्रमाणं तथैव वैदिका अपीति तदर्थः। नैतावता मन्त्राणां ब्राह्मणानां वा लौकिकत्वं सिद्ध्यति। 'विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्' (गो० सू० २।१।६२) इति सूत्रेण ब्राह्मणभागस्य त्रैविध्यमुक्तम्। (२।१।६३), (२।१।६४), (२।१।६५) इति सूत्रैस्तेषां लक्षणान्युक्तानि। (२।१।६५) सूत्रे वात्स्यायनेन पूर्वोक्तब्राह्मणवाक्यानां सार्थकत्वबोधनाय लौकिकान्युदाहरणान्युक्तानि। लोकेऽपि विधिरर्थवादोऽनुवाद इति त्रिविधं वाक्यं भवति। ओदनं पचेद् इति विधिः। आयुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितमित्यर्थवादः। पचतु पचतु भवानित्यभ्यासः क्षिप्रं पच्यतामिति वा। अङ्ग पच्यतामित्यध्येषणार्थम्। पच्यतामेवेति चावधारणार्थम्। एवं लौकिकैर्वाक्यैः 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इति ब्राह्मणवाक्यस्य सामञ्जस्यमुक्तम्। वात्स्यायनोक्तेषु लौकिकवाक्येष्वेकमपि ब्राह्मणवाक्यं नास्ति। वैदिकवाक्यानां यान्युदाहरणानि तेनोक्तानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणवाक्यान्येव, मन्त्रभागस्य एकमप्युदाहरणं नास्ति। यथा लौकिके वाक्ये विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं तथा वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हतीति।

उपसंहारवाक्ये वेदवाक्यनाम्ना ब्राह्मणवाक्यस्योदाहरणाद् ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमभिमतं वात्स्यायनस्य। 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्' (गो० सू० २।१।६८) इत्यत्रापि लौकिकस्यायुर्वेदस्योदाहरणेन वेदानां प्रामाण्यं साधितम्। किमेतावता वेदस्य लौकिकत्वमेव भवेत्? ब्राह्मणवाक्यानामवेदत्वे वेदप्रकरणे तदुपस्थापनमप्रकृतप्रक्रियैव स्यात्। ब्राह्मणानामेव प्रसङ्गे 'एवं वेदवाक्यानामपि प्रामाण्यं भवितुमर्हतीति कथनं ब्राह्मणानामवेदत्वे सर्वथैवासङ्गतं स्यात्। तस्मात् सूत्रभाष्यकारवचनैर्न मनागपि ब्राह्मणानामवेदत्वशङ्कापि भवति।

अनर्थक हो, इसमें कोई कारण नहीं दिखाई देता' निरुक्त की यह व्याख्या दुर्गाचार्य ने की है। 'वाक्य विन्यास की पद्धति और आनुपूर्वी वैदिक और लौकिक वाक्य में समान है। जैसे—वेद में 'इन्द्राग्नी' शब्द का प्रयोग होता है, वैसे ही लोक में 'पितापुत्रौ' शब्द प्रयुक्त होता हैं। इस ब्राह्मण का कोई शत्रु नहीं है, इस राजा का कोई मित्र नहीं है, इत्यादि प्रयोग लोक में भी देखे गये हैं।

'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' यहाँ पर 'यथा' शब्द उपमा को बताता है। जैसे लौकिक शब्द प्रमाण हैं, उसी तरह वैदिक भी, यह उसका अर्थ हुआ। इतने से मन्त्र अथवा ब्राह्मण की लौकिकता नहीं सिद्ध होती। २।१।६२ संख्या के न्यायसूत्र से ब्राह्मण भाग की त्रिविधता बताई गई और बाद के तीन सूत्रों में इनके लक्षण कहे गये हैं। लोक में भी विधि, अर्थवाद और अनुवाद इस तरह वाक्यों के तीन भेद होते हैं। 'चावल पकावे' यह विधि वाक्य है। 'आयु, ओज, बल, सुख और प्रतिभा ये सब अन्न में प्रतिष्ठित हैं' यह अर्थवाद है। 'भोजन बनाओ बनाओ' अथवा 'शीघ्र बनाओ' यह अभ्यास है। 'भाई भोजन बनाओ' यह निवेदन है और 'भोजन बनाओ ही' यह आज्ञा देना है। इस तरह लौकिक वाक्यों के साथ 'अग्निहोत्र करे' इत्यादिक ब्राह्मण वाक्यों की समानता बताई गई है। वात्स्यायन के द्वारा उदाहृत लौकिक वाक्यों में एक भी ब्राह्मण वाक्य नहीं है। वैदिक वाक्यों के जितने उदाहरण दिये हैं, वे सब ब्राह्मणों के वाक्य हैं। इनमें मन्त्रभाग का एक भी उदाहरण नहीं है। जैसे लौकिक वाक्यों का अपने-अपने विभाग के अनुसार अर्थ परिगृहीत होने से प्रामाण्य है, उसी तरह वेद के वाक्यों का भी अपने विभाग के अनुसार हो अर्थ परिगृहीत होने से प्रामाण्य होगा।

वात्स्यायन ने उपसंहार वाक्य में वेद वाक्य के नाम से ब्राह्मण वाक्य का उदाहरण दिया है, इससे यह प्रतीत होता है कि वात्स्यायन ब्राह्मण भाग को भी वेद मानते हैं। 'मन्त्र और आयुर्वेद के समान उसका प्रामाण्य है' इस सूत्र में भी लौकिक शास्त्र आयुर्वेद का उदाहरण देकर वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया है। क्या इससे वेद लौकिक हो जायेंगे? ब्राह्मण वाक्य यदि वेद नहीं हैं तो वेद के प्रसङ्ग में उनका उल्लेख करना एक अप्रासंगिक चर्चा होगी। ब्राह्मण वाक्य के प्रसङ्ग में 'इस प्रकार वेद वाक्यों का भी प्रामाण्य सिद्ध होता है' यह कहना ब्राह्मणों को वेद न मानने पर सर्वथा असङ्गत हो जायगा। इसलिये सूत्रकार और भाष्यकार के वचनों के आधार पर ब्राह्मणों के वेद होने में लवलेश भी शङ्का नहीं उठती।

नैयायिकाभिमतप्रमाणचतुष्ट्ववादः

'न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रमाण्यात्' (गो० सू० २।२।१) इति सूत्रं तु पूर्वपक्षपरमेव, तेनैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावानां नैयायिकमतेन प्रामाण्योपपादनं तु दयानन्दस्य शास्त्रानभिज्ञतैव। (पृ० ९८) तथाहि— पूर्वमुद्दिष्टप्रमाणस्य विभागप्रसङ्गे 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' (गो० सू० १।१।३) इत्यत्र प्रमाणचतुष्ट्वमेवोक्तम्। वात्स्यायनेन च 'अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चाज्ज्ञानमनुमानम्। सारूप्यज्ञानमुपमानम्। शब्द्यतेऽनेनेति शब्दः' इति संक्षेपेण तल्लक्षणान्युक्तानि। सूत्रकारैश्च विशेषतस्तत्तल्लक्षणानि तत्परीक्षाश्चोक्ताः। द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयाह्निके प्रमाणचतुष्ट्वपरीक्षाऽऽरब्धा। अयथार्थः प्रमाणोद्देश इति मत्वाहेति (पूर्वपक्षी) न चतुष्ट्वमिति सूत्रस्योत्थानिका। सूत्रव्याख्यानेऽपि तदेवोक्तम्। न चत्वार्येव प्रमाणानि, किं तर्हि ऐतिह्यमर्थापत्तिः सम्भवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि, तानि कस्मान्नोक्तानि। तेषां लक्षणान्युदाहरणानि च प्रदर्शितानि भाष्यकारेण। तथाहि—भाष्यकारो वात्स्यायनः पूर्वपक्षं व्यावर्तयन्नाह—सत्यमेतानि प्रमाणानि न तु प्रमाणान्तराणि, पूर्वोक्तप्रमाणचतुष्ट्यान्तर्गतान्येवैतानीति न प्रमाणान्तराणि न वा पृथग्गणनार्हाणीत्यर्थः।

तेषां स्वरूपं तु—इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्। अर्थादापत्तिरर्थापत्तिः, आपत्तिः प्राप्तिः प्रसङ्गः। यत्राभिधीयमानेऽर्थे योऽन्योऽर्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः। यथा मेघेष्वसत्सु वृष्टिर्न भवतीति, किमत्र प्रसज्यते ? सत्सु भवतीति। सम्भवो नामाविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणम्, यथा द्रोणस्य सत्ताग्रहणादाढकस्य सत्ताग्रहणम्, आढकस्य सत्ताग्रहणात् प्रस्थस्य। अभावो विरोधी अभूतं भूतस्य विद्यमानस्याविद्यमानं वर्षकर्म विद्यमानस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य प्रतिपादकम्, विधारके हि वाय्वभ्रसंयोगे गुरुत्वादपां पतनं न भवतीति।

नैयायिक सम्मत चार प्रमाण

'ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये भी प्रमाण हैं, अतः प्रमाण चार हैं, यह कहना ठीक नहीं है' यह न्यायदर्शन का पूर्वपक्ष सूत्र है। इसके आधार पर ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव को नैयायिक मत से प्रमाणता सिद्ध करने से दयानन्द की इस शास्त्र में अनभिज्ञता सूचित होती है। प्रथम अध्याय में पदार्थों के परिगणन करने के बाद जहाँ प्रमाणों का विभाग किया गया है, वहाँ पर 'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये प्रमाण हैं' इस प्रकार चार प्रमाण गिनाये हैं। वात्स्यायन ने—'प्रत्येक इन्द्रिय की अपने विषय के प्रति प्रवृत्ति प्रत्यक्ष कहलाती है। परीक्षित लिंग से किसी वस्तु का परिज्ञान अनुमान है। सदृशता का परिज्ञान उपमान है। जिससे अर्थ का अभिधान होता है, वह शब्द है। इस प्रकार संक्षेप में उनके लक्षण किये हैं। आगे चलकर सूत्रकार ने स्वयं भी इनके लक्षण दिये हैं और उनकी परीक्षा की है। द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में प्रमाण चार हैं, इस बात की परीक्षा की गई है। 'न चतुष्ट्वम्' इत्यादि सूत्र की चर्चा करते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि 'प्रमाण चार हैं, यह कहना गलत है। सूत्र की व्याख्या में भी वही बात कही गई है। चार ही प्रमाण नहीं हैं, किन्तु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव भी प्रमाण हैं। इनको क्यों नहीं गिनाया गया। इनके लक्षण और उदाहरण भाष्यकार ने वहीं दिये हैं। इसके बाद भाष्यकार वात्स्यायन पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'यह सच है कि ये भी प्रमाण हैं, किन्तु ये प्रमाणान्तर नहीं हैं। अर्थात् पूर्व निर्दिष्ट चार प्रमाणों में ही इनका अन्तर्भाव है। इसलिये न तो ये अतिरिक्त प्रमाण हैं और न इनका पृथक् परिगणन ही हो सकता है'।

इनका स्वरूप इस प्रकार का है—लोक में प्रचलित किंवदन्ती, जिसके कि कहने वाले का कोई पता नहीं है, 'ऐतिह्य' कहलाती है। अर्थ से जिसकी आपत्ति अर्थात् प्राप्ति का प्रसङ्ग आता है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जिसकी चर्चा से प्रसङ्गवश जो अर्थ बोधित होता है, वह अर्थापत्ति है। जैसे कि मेघों के न रहने पर पानी नहीं बरसता, यहाँ क्या मालूम होता है ? यही कि मेघों के रहने पर पानी बरसता है। किसी पदार्थ की सत्ता बिना अवयव के नहीं होती, इनका अविनाभाव सम्बन्ध होता है। सम्भव वह प्रमाण है, जहाँ पर कि व्याप्य की सत्ता से व्यापक की सत्ता का बोध होता है, जैसे कि द्रोण परिमाण के ज्ञान से आढक का और आढक परिमाण

प्रमाणान्तरं च मन्यमानेन (पूर्वपक्षिणा) पूर्वोक्तप्रमाणचतुष्ट्वस्य प्रतिषेध उच्यते 'शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः' (गो० सू० २।२।२) अनुपपन्नः प्रतिषेधः। अर्थात् प्रमाणचतुष्ट्वप्रतिषेधो न युक्तः, कुतः? शब्द इत्यादि सूत्रेण पूर्वोक्तप्रमाणचतुष्टय एवैतिह्यादीनामन्तर्भावात्। तत्र भाष्यम्—'आप्तोपदेशः शब्द इति न शब्दलक्षणमैतिह्याद् व्यावर्तते। सोऽयं भेदः (शब्दविशेष्यः) सामान्यात् (शब्दसामान्यात्) संगृह्यते, विशेषस्य सामान्यान्तर्गतत्वादित्यर्थः। अर्थाद् आप्तोपदेशः शब्द इत्येव शब्दस्य लक्षणं भवति। तच्चैतिह्येऽपि सङ्गतमेव। अनिर्दिष्टप्रवक्तृकस्य शब्दविशेषस्यैवैतिह्यत्वात् तद्विशेषस्य सामान्यान्तःपातित्वात्। प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानम्। तथाभूताश्चार्थापत्तिसम्भवाभावाः। अनुमानेऽन्तर्भवन्तीत्यर्थः। एकैकं स्पष्टयति—वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनाभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव। अविनाभाववृत्त्या च सम्बद्धयोः समुदायसमुदायिनोः समुदायेनेतरस्य ग्रहणं सम्भवः। तदप्यनुमानमेव। अस्मिन् सतीदं नोपपद्यत इति विरोधित्वे प्रसिद्धे कार्यानुपपत्त्या कारणस्य प्रतिबन्धकमनुमीयते।

सोऽयं यथार्थ एव प्रमाणोद्देशः। अर्थात् प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा इति प्रमाणचतुष्ट्वमेव युक्तमित्यर्थः। सूत्रार्थस्तु—शब्दादर्थान्तरत्वाभावादैतिह्यस्य शब्देऽन्तर्भावात्, अनुमानादर्थापत्तिसंभवाभावानामर्थान्तरत्वाभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानामन्तर्भावात् प्रमाणचतुष्ट्वस्याप्रतिषेध एव युक्तः। अर्थान्तरस्य भावोऽर्थान्तरभावो न अर्थान्तरभावोऽनर्थान्तरभावस्तस्मादिति। 'अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात्' (गो० सू० २।२।३) इत्यादिभिर्दश-

के ज्ञान से प्रस्थ का ज्ञान होता है। विरोधी पदार्थ अभाव कहलाता है। वर्षा न होने से मालूम होता है कि विघारक वायु और मेघ का संयोग विद्यमान है। क्योंकि वायु और अभ्र (मेघ) के संयोग के अवरोधक रूप में रहने से गुरुत्व के रहते हुए भी जल की वर्षा नहीं होती।

इन सबको भी स्वतन्त्र प्रमाण मानते हुए पूर्वपक्षी 'चार ही प्रमाण हैं' पहिले कही गई इस बात का निषेध करता है। यह निषेध नहीं बन सकता यह बात अगले सूत्र में कही गई है—'ऐतिह्य शब्द है, अर्थापत्ति सम्भव और अभाव अनुमान से भिन्न नहीं है, अतः उक्त निषेध नहीं बन सकता'। इसका यह अभिप्राय है कि प्रमाण चार ही है, इस बात का खण्डन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस सूत्र में यह दिखाया गया है कि पहिले बताये गये चार प्रमाणों में ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। यहाँ का भाष्य इस प्रकार है—'आप्त पुरुष का उपदेश शब्द कहलाता है। यह लक्षण ऐतिह्य से व्यावृत्त नहीं होता, किन्तु उसमें विद्यमान है। इसलिये ऐतिह्य के रूप में विद्यमान विशेषशब्द सामान्यशब्द से भिन्न नहीं है, किन्तु उसी में परिगृहीत होता है। क्योंकि विशेष सामान्य के अन्तर्गत होता है'। अर्थात् आप्त का उपदेश शब्द है, यही शब्द का सामान्य लक्षण है। वह ऐतिह्य में भी लागू होता है, क्योंकि जिसका कहने वाला परिज्ञात नहीं है, ऐसे विशेष शब्द ही ऐतिह्य हैं। ये विशेष शब्द भी सामान्य शब्द के अन्तर्गत ही हैं। प्रत्यक्ष वस्तु के द्वारा उससे सम्बद्ध अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान अनुमान कहलाता है। अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव में भी यही होता है, अतः इनका अनुमान में अन्तर्भाव इष्ट है। भाष्य में इनको अलग अलग समझाया गया है—देवदत्त मोटा है, इस प्रकार के वाक्य के परिज्ञान के बाद बिना भोजन के मोटा नहीं हो सकता, अतः भोजन रूपी अनभिहित अर्थ का ज्ञान अर्थापत्ति में माना जाता है। यह अनुमान ही है। इसी तरह अविनाभाव संबन्ध से समुदाय और समुदायी का, एक से दूसरे का ग्रहण संभव माना जाता है। यह भी अनुमान ही है। इसके रहते यह नहीं हो सकता, इस प्रकार जहाँ परस्पर विरोध प्रसिद्ध है, वहाँ पर कार्य के अभाव को देखकर कारण की प्रतिबन्धकता का अनुमान ही होता है।'

इस प्रकार यह प्रमाणों का परिगणन उचित है। अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण हैं, यही बात ठीक है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—शब्द से अर्थान्तर न होने से ऐतिह्य का शब्द में अन्तर्भाव होता है, अनुमान से अर्थान्तर न होने से अर्थापत्ति, संभव और अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव होता है। अतः चार ही प्रमाणों को स्वीकार किया जाना चाहिये। भिन्न अर्थ का होना अर्थान्तरभाव कहलाता है, इससे विपरीत अर्थ अनर्थान्तरभाव का है। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ समानार्थकता है; अर्थात् उक्त प्रमाणों का निर्दिष्ट चार प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, अतः इनको भिन्न प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं

सूत्रैरर्थापत्त्यभावयोः प्रमाणभावाभ्यनुज्ञाक्षेपपरिहारादिभिः प्रमाणचतुष्ट्वपरीक्षणमेव कृतम्। सर्वथाऽपि दयानन्दस्य न चतुष्ट्वमिति सूत्रावष्टम्भेन प्रमाणाष्टकस्य नैयायिकाभिमतत्ववर्णनं पौर्वापर्यानववारणसूत्रार्थाज्ञानमूलकमेव।

यच्चात्रैव सूत्रेऽनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यमिति भाष्यमुद्धृत्य 'अनेन प्रमाणेनापोतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्ये ग्रन्थाः' (पृ० ९८) इति कथनम्, तत्तु सर्वथा गतत्रपस्यैव शोभते, तत्र ब्राह्मणानामितिहासत्वावेदत्वप्रसङ्गाभावात्। नित्यत्वान्मन्त्राणामप्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन कुतो नावेदत्वम्, कुतश्च नेतिहासत्वम्?

किं ब्राह्मणानां वेदव्याख्यानत्वम्?

यदप्युक्तम्—'ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव न वेदाख्यानि, इषे त्वोर्जे त्वेती'ति (श० १।७।१।२) इत्यादिप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्' (पृ० ९९) इति, तदपि तुच्छम्, भावानवबोधात्। तथाहि—त्वदुक्तेरिदं तात्पर्यं यद् ब्राह्मणानि न वेदाः, वेदवाक्योद्धरणपूर्वकवेदव्याख्यानरूपत्वात्। एतच्चानुमानं व्याप्यत्वासिद्धिदोषदूषितं सत्प्रतिपक्षितं च, स्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य रागवत्पुरुषकर्तृकत्वस्य च तत्रोपाधित्वात्। ब्राह्मणानि वेदाः, अपौरुषेयवाक्यत्वात्, सहस्रशीर्षेति वाक्यवत्—इति प्रत्यनुमानाच्च। न चैवं परस्परविरोधेन ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमपि न सिद्धयतीति वाच्यम्, प्रकृते ब्राह्मणग्रन्थानामवेदत्वसाधकानुमानस्य प्रत्यनुमानेन दूषयितुमिष्टत्वात्। सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादपौरुषेयत्ववेदत्वयोः प्रागेव सिद्धत्वात्, अप्रयोजकत्वाच्च। व्याख्यानरूपत्वं व्याख्येयत्वं

है। इसके आगे न्यायसूत्र में 'अर्थापत्ति' इत्यादि १० सूत्रों से अर्थापत्ति और अभाव को प्रमाण मानकर उसके विरुद्ध किये गये आक्षेपों का परिहार करते हुए प्रमाण चार ही हैं, इस बात की परीक्षा की गई है। इस तरह दयानन्द का 'न चतुष्ट्वम्' इत्यादि सूत्र के प्रमाण पर यह सिद्ध करना कि नैयायिकों को आठ प्रमाण अभिप्रेत हैं, सर्वथा पौर्वापर्य का ठीक तरह से निरीक्षण न करने के कारण है। वास्तव में उन्होंने सूत्र के अर्थ को ही ठीक से नहीं समझा।

इसी सूत्र के 'जिसका प्रवक्ता निर्दिष्ट नहीं है, ऐसी प्रवाद परम्परा को ऐतिह्य कहते हैं' इस भाष्यांश को लेकर यह कहना कि 'इस प्रमाण से भी इतिहास आदि नामों से ब्राह्मणों का ही ग्रहण होता है, दूसरे ग्रन्थों का नहीं', उसी व्यक्ति का काम हो सकता है, जिसने कि लज्जा को तिलांजलि दे दी है, क्योंकि यहाँ पर ब्राह्मणों के इतिहास होने, वेदभाग न होने आदि का कोई प्रसंग नहीं है। मन्त्र नित्य हैं, इनका प्रवक्ता भी कोई निर्दिष्ट नहीं है, तो क्यों मन्त्रभाग को भी वेद माना जाय, इनको भी ऐतिह्य, इतिहास क्यों न माना जाय।

क्या ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के व्याख्यान हैं?

'ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के व्याख्यान हैं, वे स्वयं वेद नहीं हैं, क्योंकि इनमें 'इषे त्वोर्जे त्वा' इत्यादि मन्त्रों के प्रतीकों का उद्धरण कर उन वेद मन्त्रों की व्याख्या की गई है' यह उक्ति उचित नहीं है, क्योंकि बिना इस प्रसंग को समझे यह कह दिया गया है। आपकी उक्ति का न्यायदर्शन की भाषा में यह स्वरूप हो सकता है कि ब्राह्मण वेद नहीं है, क्योंकि यहाँ पर वेद वाक्यों को उद्धृत कर उनका व्याख्यान किया गया है। इस अनुमान में व्याप्यत्वासिद्धि और सत्प्रतिपक्ष ये दोष हैं। यहाँ पर स्मर्यमाणकर्तृक और रागवत्पुरुषकर्तृक ये दो उपाधियाँ हैं, अर्थात् वेद के समान ब्राह्मणों का भी कोई कर्ता नहीं सुना गया और न ऐसा ही सुना गया है कि किसी राग-द्वेष बुद्धि वाले पुरुष ने इनकी रचना की है, अतः इनके कर्ता की अवगति न होने से ये अपौरुषेय वेद ही माने जायँगे। फलतः आपके अनुमान के विपरीत इस अनुमान वाक्य की प्रवृत्ति होगी कि ब्राह्मण वेद हैं, क्योंकि ये अपौरुषेय वाक्य हैं, 'सहस्रशीर्षा' आदि वाक्यों की तरह। आप कहें कि दो परस्पर विरोधी अनुमानों की उपस्थिति में ब्राह्मण भाग की वेदता कैसे सिद्ध होगी, तो यह गलत है, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों की अवेदता को सिद्ध करने वाले अनुमान के परिहार के लिये ही दूसरा अनुमान उपस्थित किया गया है। बिना संप्रदाय की विच्छिन्नता के किसी कर्ता की स्मृति के न रहने से ब्राह्मणों को अपौरुषेयता और वेदता तो पहले से ही सिद्ध है। व्याख्यानरूपता और व्याख्येयरूपता पौरुषेयता तथा अपौरुषेयता के प्रयोजक नहीं हैं, अर्थात् जो व्याख्येय हैं, वे

वा न पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वप्रयोजकम्, गोतमदर्शनस्य व्याख्येयत्वेऽप्यवेदत्वदर्शनात्। मन्त्रेषु शब्दान्तरेणार्थकथनात्मकव्याख्यानपरत्वेऽपि वेदत्वदर्शनाच्च। किन्त्वपौरुषेयवाक्यत्वमेव वेदत्वप्रयोजकम्, तच्च मन्त्रब्राह्मणयोरुभयत्र सममेव। न च इषे त्वेति प्रतीकमादाय ब्राह्मणेषु व्याख्यानदर्शनात् स्फुटमेव ब्राह्मणानां मन्त्रानन्तरकालिकत्वमिति कुतो वेदत्वमनादित्वं च ब्राह्मणानां सम्भवतीति वाच्यम्, क्रमिकेषु संहितामन्त्रेष्वपि पूर्वोत्तरभावस्यावर्जनीयतया वेदत्वव्यवस्थायां पूर्वोत्तरभावस्याकिञ्चित्करत्वात्।

यच्चोक्तम्—'महाभाष्येऽपि केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावद् गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि 'शन्नो देवीरभिष्टये', 'इषे त्वोर्जे त्वा', 'अग्निमीळे पुरोहितम्' 'अग्न आयाहि वीतये' इति, ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टा स्यात्तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात्। अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि, किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकान्युदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणग्रन्थेषु घटन्ते। कुतः, तेष्वीदृशशब्दव्यवहारदर्शनात्' इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्। महाभाष्ये स्थानान्तरेषु वेदशब्दैर्ब्राह्मणवाक्यानामुदाहरणदर्शनात्। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा० सू० १।१।५६) इत्यत्र महाभाष्ये 'वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतिकातृणान्यभिषुणुयादित्युच्यते' इति ब्राह्मणवचनमेव वेदशब्देन निर्दिष्टम्। 'एकः पूर्वपरयोः' (पा० सू० १।३।८४) इत्यत्र महाभाष्ये 'वेदे खल्वपि वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः ऋतुभिर्यजेत' इति ब्राह्मणवचनं वेदत्वेन निर्दिष्टम्। पस्पशाह्निकभाष्येऽपि वेदे खल्वपि 'पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्यः' इत्यादिकं ब्राह्मणवचनमेवोद्धृतम्। प्रकृते तु मन्त्रब्राह्मणारण्यकोपनिषदन्तमेवैकं वेदं मत्वा प्रारम्भिकमन्त्रप्रतीकोदाहरणेन ब्राह्मणादिशब्दा अपि उदाहृता एवेति न पृथग्ब्राह्मणानुदाहरणेन न ब्राह्मणानामवेदत्वसिद्धिः। अन्यथा

अपौरुषेय हैं और जो व्याख्यात हैं वह पौरुषेय हैं, यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि गोतम के न्यायदर्शन के सूत्र भी व्याख्येय हैं, किन्तु उनको कोई वेद नहीं कहता। दूसरी ओर मन्त्रों में ही अनेक स्थलों में पर्यायवाची दूसरे शब्दों के द्वारा व्याख्यानात्मक पद्धति से अर्थ स्पष्ट किया गया है, किन्तु उनकी कोई पौरुषेयता इससे नहीं बन जाती। अपौरुषेय वाक्य ही वेदत्व का प्रयोजक है और यह मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में समान है। 'इषे त्वा' इत्यादि प्रतीक देकर मन्त्रों की व्याख्या देखने से ब्राह्मणों की मन्त्रभाग की अपेक्षा कालिक स्थिति परवर्ती माननी पड़ेगी, फलतः ब्राह्मणों की वेदता और अनादिता कैसे संभव होगी? इसका उत्तर यह है कि क्रमिक संहिता मन्त्रों में भी पूर्वोत्तर भाव अवश्यंभावी है, अवर्जनीय है। वस्तुतः वेदत्व को व्यवस्थापित करने में यह पूर्वोत्तर भाव कुछ भी नहीं कर सकता।

यह कहा जाता है कि—'महाभाष्य में भी किन शब्दों का? लौकिक और वैदिक शब्दों का। गो, अश्व, पुरुष, हस्ती, शकुनि, मृग, ब्राह्मण ये सब लौकिक शब्द हैं। शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतये ये सब वैदिक शब्द हैं। यदि ब्राह्मण ग्रन्थों की भी वेदता इष्ट होती तो उनका भी उदाहरण दिया जाता। इससे स्पष्ट है कि महाभाष्यकार ने मन्त्रभाग को ही वेद मान कर वैदिक शब्दों के उदाहरण में उनके प्रथम मन्त्रों के प्रतीक दिये हैं। इसके विपरीत लौकिक उदाहरण में दिये गये गो, अश्व आदि शब्द ब्राह्मण वाक्यों के साथ मेल खाते हैं, क्योंकि ब्राह्मणों में भी ऐसे ही शब्द प्रयुक्त हैं', यह उक्ति वक्ता के अज्ञान को ही प्रदर्शित करती है, क्योंकि महाभाष्य में ही दूसरे स्थलों में उद्धृत वेद वाक्यों की उपलब्धि ब्राह्मण ग्रन्थों में होती है। 'स्थानिवत्' सूत्र के भाष्य में 'वेद में भी सोम के स्थान में पूतिका तृण का रस निकाले' यहाँ पर वेद के नाम से ब्राह्मण वाक्य दिया गया है। 'एकः पूर्वपरयोः' सूत्र के भाष्य में 'वेद में भी कहा गया है कि वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्निष्टोम आदि यज्ञ करें' इस प्रकार ब्राह्मण वाक्य ही वेद के रूप में निर्दिष्ट है। पस्पशाह्निक भाष्य में 'ब्राह्मण पयोव्रती और क्षत्रिय यवागूव्रती हो' इस ब्राह्मण वाक्य को ही वेद के नाम से स्मरण किया है। प्रकृत स्थल में मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इन सबको मिलाकर एक वेद माना है। फलतः प्रारम्भ के मन्त्र का प्रतीक देने से ब्राह्मणों का भी उसी में समावेश हो जाने से अलग से ब्राह्मणों के उदाहरण नहीं दिये गये। इससे ब्राह्मण भाग की अवेदता नहीं सिद्ध होगी। यदि हम ऐसा मानने लगें तब तो दूसरे

मन्त्रान्तराणामनुदाहरणेन तेषामप्यवेदत्वापत्तिः। न च संहितानामाद्यमन्त्रस्य प्रतीकत्वेनोपस्थापितत्वात् तद्घटितानां मन्त्राणां तासामवयवत्वेन वेदत्वसिद्धौ ब्राह्मणेषु कस्यापि वाक्यस्यानिर्देशात् कथमिव तेषां वेदत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, उक्तोत्तरत्वात्। निखिलब्राह्मणस्य तत्संहितोत्तरभागरूपतया संहितायाः प्रथममन्त्रप्रतीकग्रहणेनैव विशिष्टायाः सब्राह्मणारण्यकोपनिषत्कायाः संहितायाः प्रदर्शनस्य सिद्धत्वात्। किञ्च, प्रतीकशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वेन प्रतीकानीति दयानन्दीयोल्लेखोऽशुद्ध एव।

यदुक्तम्—किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव घटन्ते, तेष्वीदृशपाठव्यवहारदर्शनादिति, तदपि निःसारम्, यजुःसंहितायां चतुर्विंशेऽध्याये—'उक्ताः सञ्चराः, एताः शुनस्तिरीयाः' (२४।१९) इत्यादिपशूनां बहूनां सर्पव्याघ्रमृगादीनामन्येषां पक्षिणां च नामोत्कीर्तनस्यासकृद्दर्शनात्। न चैवं ब्राह्मणस्यापि संहितापदव्यपदेश्यत्वमस्त्विति वाच्यम्, वेदपदस्य मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि प्रयोगेऽपि ब्राह्मणपदस्य संहितायां संहितायाश्च ब्राह्मणे प्रयोगायोगात्। यथाष्टाध्याय्या व्याकरणशास्त्रत्वेऽपि स्त्रीप्रत्ययस्य तद्धितत्वं तद्धितस्य च स्त्रीप्रत्ययत्वमिति व्यवहारो न भवति, तद्वत् प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। सामाजिकाश्च कथयन्ति यत् 'महाभाष्यकारेण यासां संहितानामादिममन्त्राणामुद्धरणं कृतं ताः संहिता एव वेदः' इति, तदपि न युक्तम्, तथात्वे तत्सम्मतायाः शौनकीसंहिताया अवेदत्वापत्तेः। यतो नहि शौनकसंहिताया 'शन्नो देवीरभिष्टय' इत्यादिमो मन्त्रः। अयं मन्त्रो यस्याः संहितायाः प्रथमो मन्त्रः सा तु पैप्पलादी संहिता। तां सामाजिकाः शाखां मन्यन्ते न वेदमिति। कश्चित्तु प्राथम्यं नाभिप्रैति। तेन शौनक्यां संहितायामप्युक्तमन्त्रस्य सत्त्वेन तस्या वेदत्वसिद्धिरिति, तदपि दयानन्दमतविरुद्धमेव, प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषूदाहृतानीति दयानन्दीयवाक्ये प्रथमपदप्रयोगविरोधात्। न च शौनक्यां संहितायां 'शन्नो देवीरभिष्टय' इति प्रथमो मन्त्रः।

मन्त्रों के भी उदाहरण न दिये जाने के कारण उनके ऊपर भी अवेदता वाली आपत्ति आ जायगी। संहिता के प्रथम मन्त्र का प्रतीक दिये जाने से उस संहिता के अंगभूत सभी मन्त्रों की वेदता तो सिद्ध हो जायगी, किन्तु ब्राह्मणों में से किसी का भी उदाहरण न दिये जाने से उनको वेदता कैसे सिद्ध हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है। सारा ब्राह्मण भाग उसी संहिता का उत्तर अंग होने से संहिता के प्रथम मन्त्र के प्रतीक से ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् के साथ पूरी संहिता के परिगृहीत होने के कारण इनके पृथक् उदाहरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। प्रतीक शब्द पुंलिङ्ग है, अतः दयानन्द का 'प्रतीकानि' इस प्रकार इस शब्द का नपुंसक लिंग में प्रयोग गलत है।

'किन्तु जो गो, अश्व आदि लौकिक उदाहरण दिये गये हैं, वे ब्राह्मण ग्रन्थों में घटते हैं, वहीं इस प्रकार के शब्दों का व्यवहार देखा गया है', इस कथन में भी कोई सार नहीं है। यजुःसंहिता के २४ वें अध्याय में 'उक्ताः संचरा एताः शुनस्तिरीयाः' यहाँ पर बाघ, हिरण आदि नाना प्रकार के पशुओं का और पक्षि, सर्प आदि की नामावली का बार-बार उल्लेख मिलता है। इन लौकिक शब्दों के मिलने से उनकी अवेदता नहीं होती तो ब्राह्मण भाग की ही क्यों अवेदता होगी। यदि ब्राह्मण आदि संहिता के ही अङ्ग हैं, तो उनको संहिता ही क्यों नहीं कहा जाता? उत्तर है कि वेद पद का व्यवहार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लिये है, किन्तु ब्राह्मण पद का संहिता में और संहिता पद का ब्राह्मण में व्यवहार नहीं किया जा सकता। जैसे कि पूरी अष्टाध्यायी यद्यपि व्याकरण शास्त्र है, किन्तु स्त्रीप्रत्यय में तद्धित का और तद्धित में स्त्रीप्रत्यय का आरोप नहीं किया जा सकता, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। समाजी लोग कहते हैं कि 'महाभाष्यकार ने जिन संहिताओं के प्रथम मन्त्रों के प्रतीक दिये हैं, वे संहिताएं ही वेद हैं', यह ठीक नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो जिस शौनकी संहिता को वे वेद मानते हैं, यह सम्भव न हो सकेगा। क्योंकि 'शन्नो देवीरभिष्टय' यह मन्त्र शौनक संहिता में प्रथम नहीं है, किन्तु पिप्पलाद की यह स्थिति है। इस पिप्पलाद संहिता को समाजी शाखा मानते हैं, संहिता नहीं। किसी का यह कहना कि यहाँ पर मन्त्रों का प्रतीक अभिप्रेत नहीं है। फलतः इस मन्त्र की उपलब्धि शौनक संहिता के प्रारम्भ में न सही, बाद में होने से उसी को वेद माना जायगा, तो यह मत दयानन्द की उक्ति से विपरीत जा रहा है, क्योंकि दयानन्द ने यह स्वीकार किया है कि यहाँ पर प्रथम मन्त्र का प्रतीक ही अभिप्रेत है। शौनक संहिता में यह प्रथम मन्त्र नहीं है।

यदप्युक्तम्—'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा० सू० २।३।६०), 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२), 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा० सू० ४।३।१०५) इत्यादीनि पाणिनिसूत्राणि। एषु पाणिन्याचार्येर्मन्त्रब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादनं कृतम्, तद्यथा पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्माद्यर्षिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति। अत एतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति। यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽभीष्टा भवेत् तर्हि 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्। कुतः, 'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा० सू० २।३।६०) इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात्, अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति' (पृ० ९९—१००) इति, तदेतत्सर्वमनवगतव्याकरणशास्त्रतत्त्वस्य चेष्टितम्, सामान्यविशेषभावानवगमात्। तथाहि—श्रुतिच्छन्दोवेदाम्नायपदानि मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदसामान्यबोधकानि, मन्त्रपदं केवलं मन्त्राणामेव बोधकं न ब्राह्मणानाम्, ब्राह्मणपदं केवलं ब्राह्मणानामेव बोधकं न मन्त्राणामित्यसकृदुक्तत्वात्। तस्माद् 'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा० सू० २।३।६०) इति सूत्रेण ब्राह्मणविषये प्रयोगे व्यवहृतपणिसमानार्थकस्य दीव्यतेः कर्मणि द्वितीया विभक्तिर्भवति। 'गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः' इति ब्राह्मणवाक्येऽनेनैव सूत्रेण गोरिति षष्ठीस्थाने गामिति द्वितीया भवति। 'द्वितीया ब्राह्मणे'(पा० सू० २।३।६०)इति सूत्राभावे तु 'दिवस्तदर्थस्य' (पा० सू० २।३।५८) इति सूत्रेण शतस्य दीव्यतीतिवत् 'गामस्य तदहः' इत्यत्रापि गामित्यस्य स्थाने गोरिति षष्ठी स्यात्। तां बाधित्वा 'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा० सू० २।३।६०) इति सूत्रेण द्वितीया विधीयते। तथा चात्र ब्राह्मणशब्देन वेदैकदेशे ब्राह्मणभागे द्वितीया विधीयते। श्रुतिच्छन्दोनिगमाम्नायवेदपदवाच्ये मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदसामान्ये द्वितीया न भवति।

'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इति सूत्रेण मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदे चतुर्थ्यर्थे क्वचित् षष्ठी भवति। 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसः', 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसे' इदं मन्त्रोदाहरणम्। 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते' इदं ब्राह्मणोदाहरणम्। अत्र तस्या इति षष्ठीस्थाने चतुर्थी जाता। 'यां मलवद्वाससं सम्भवन्ति, यस्ततो जायते

पुनः कहा जाता है कि 'द्वितीया ब्राह्मणे', चतुर्थ्यर्थे, 'पुराणप्रोक्तेषु' प्रभृति अष्टाध्यायी के सूत्रों में पाणिनि ने मन्त्र और ब्राह्मण को भिन्न माना है। जैसे कि ब्रह्मा प्रभृति पुरातन अतिप्राचीन ऋषियों के द्वारा उपदिष्ट ब्राह्मण, कल्प प्रभृति वेद के व्याख्यान हैं। इसीलिये इनको पुराणेतिहास नाम दिया गया है। यदि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा अभीष्ट होती तो 'चतुर्थ्यर्थे' सूत्र में छन्द पद को देने की कोई आवश्यकता नहीं थी, 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र से 'ब्राह्मण' पद की अनुवृत्ति आ ही रही थी। उस अनुवृत्ति को न मानकर इस सूत्र में छन्दस् पद देने से यह ज्ञात होता है कि पाणिनि को छन्दस् और ब्राह्मण में भिन्नता अभिप्रेत है, अर्थात् पाणिनि ब्राह्मणों को वेद नहीं मानते'। ये सब बातें भी वही कह सकता है, जो कि व्याकरण शास्त्र के सामान्य-विशेष भाव के तत्त्व को ठीक से नहीं समझ सका है। जैसे कि श्रुति, छन्द, वेद, आम्नाय ये सब पद मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद सामान्य के, पूरे वैदिक वाङ्मय के बोधक हैं। मन्त्र पद केवल मन्त्रों का बोधक है, ब्राह्मण आदि का नहीं। ब्राह्मण पद केवल ब्राह्मण का बोधक है, मन्त्र आदि का नहीं। यह बात हम बार-बार दुहरा चुके हैं। इसलिये 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र से ब्राह्मणान्तर्गत प्रयोग में व्यवहृत खरीद-बिक्री अर्थवाले दीव्यति पद के रहने पर कर्म में द्वितीया विभक्ति का विधान किया गया है। 'गामस्य' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य में इसी सूत्र से 'गोरस्य' इस षष्ठी विभक्ति के स्थान में 'गामस्य' इस द्वितीया का विधान होता है। इस सूत्र के अभाव में 'दिवस्तदर्थस्य' इस सूत्र में 'शतस्य दीव्यति' इस प्रयोग के समान 'गामस्य' यहाँ पर भी 'गाम्' के स्थान में 'गोः' यह प्रयोग बनाना पड़ेगा। इसको बाधित करने के लिये ही 'द्वितीया ब्राह्मणे' सूत्र से द्वितीया का विधान किया गया है। इस प्रकार यहाँ पर ब्राह्मण शब्द से वेद के एक भागविशेष ब्राह्मण में द्वितीया का विधान है। श्रुति, छन्दस्, निगम, आम्नाय पद वाच्य पूरे वेद सामान्य में तो द्वितीया न होकर षष्ठी ही होती है।

'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' इस सूत्र से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक पूरे वेद में चतुर्थी के अर्थ में कहीं षष्ठी का विधान है। 'जो गर्भिणी खर्व से पीती है, उसके बौना बच्चा होता है' यह ब्राह्मण का उदाहरण है। यहाँ पर 'तस्याः' इस षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी विभक्ति हुई है। जो गर्भिणी मैला कपड़ा पहनती है, उसको सुन्दर पुत्र होता है। जो वन की अभिलाषा करती है, उसको चोर; जो

सोऽभिशस्तो यामरण्ये तस्यै स्तेनो यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्यप्रगल्भो या स्नाति तस्या अप्सु मारुको याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा या प्रलिखते तस्यै खलतिरपस्मारी याऽङ्क्ते तस्यै काणो या दतो धावते तस्यै श्यावदन् या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी या कृणत्ति तस्यै क्लीबो या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुको या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको अहल्यायै जारमनाय्यै तन्तुः' इत्यादीन्युदाहरणानि महाभाष्यकारेण बाहुल्येन ब्राह्मणगतान्येवोपस्थापितानि। तथा मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि ग्रहणाय सूत्रे छन्दोग्रहणं युक्तमेव। तेन यदि छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽभीष्टा स्यात्तदा सूत्रे छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यादित्युक्तिर्व्यर्थैवास्ति। अन्यथा 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्' (पा० सू० ३।२।७१), 'अवेयजः' (पा० सू० ३।२।७२), 'विजुपे छन्दसि' (पा० स० ३।२।७३) इत्यत्र मन्त्रस्य प्रकृतत्वात् तदनुवृत्त्या कार्यसिद्धौ 'विजुपे छन्दसि' (पा० सू० ३।२।७३) इत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्, तथा च मन्त्राणामेवावेदत्वापत्तिरुदियात्। यथा 'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा० सू० २।३।६०) इत्यत्र ब्राह्मणोपादानानन्तरं 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इत्यत्र छन्दोग्रहणे ब्राह्मणस्यावेदत्वं साध्यते सामाजिकैस्तथैव मन्त्रानन्तरं छन्दोग्रहणेन मन्त्राणामप्यवेदत्वमनिवार्यमेव स्यात्, न्यायस्य तुल्यत्वात्। तस्मान्मन्त्रशब्देन वेदैकदेशो मन्त्रभाग एव गृह्यते, ब्राह्मणशब्देनापि वेदैकदेशो ब्राह्मणभाग एव गृह्यते, वेदच्छन्दोनिगमश्रुत्याम्नायशब्दैर्मन्त्रब्राह्मणात्मकः सर्वोऽपि वेदो गृह्यत इत्यकामेनाप्यभ्युपेतव्यम्। मन्त्रशब्देन मन्त्रभागस्य ग्रहणेऽपि ब्राह्मणभागस्य ग्रहणं न भवति, ततो मन्त्रब्राह्मणोभयभागग्रहणार्थं छन्दोग्रहणं युक्तमेव, तथैव ब्राह्मणशब्देन ब्राह्मणभागस्य ग्रहणेऽपि मन्त्रभागस्य ग्रहणं न भवति। तस्मादुभयग्रहणार्थं 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इत्यत्र छन्दोग्रहणं युक्तमेव। नैतावता कस्यापि भागस्यावेदत्वमायाति। आश्चर्यमिदं वैयाकरणेषु प्रसिद्धोऽयमर्थः कथं दयानन्देन तदनुयायिभिश्च नावगम्यते।

नैतावदेव 'अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि' (पा० सू० ८।२।७०) इत्यस्मिन् सूत्रे छन्दःपदमुपादायापि 'भुवश्च महाव्याहृतेः' (पा० सू० ८।२।७१) इत्यत्र रुत्वस्य वैकल्पिकविधानार्थं महाव्याहृतिग्रहणेन महाव्याहृतेरप्य-

छिपना चाहती है, उसको लज्जालु और प्रगल्भ; जो नहाना चाहती है, उसको जल में मरने वाला, जो उबटन करती है, उसको दुष्ट चरित्र वाला; जो खुजलाती है, उसको गंजा और पागल; जो आँजन लगाती है, उसको काना; जो दौड़ना चाहती है, उसको काले दाँत वाला; जो नख काटती है, उसको कुनखी; जो दाँत काटती है, उसको नपुंसक; जो रस्सी बीनती है, उसको फाँसी लगाने वाला; जो पत्ते से पानी पीती है, उसको पागल; अहल्या के समान आचरण वाली को व्यभिचारी' इस तरह के उदाहरण महाभाष्यकार ने प्रायः ज्यादातर ब्राह्मण ग्रन्थों से ही दिये हैं। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के ग्रहण के लिये सूत्र में छन्दस् पद का ग्रहण उचित ही है। इससे यह कहना गलत है कि यदि छन्दस् और ब्राह्मण की वेद संज्ञा अभीष्ट होती तो सूत्र में छन्दस् पद का ग्रहण व्यर्थ हो जाता। अन्यथा 'मन्त्रे', 'अवेयजः', 'विजुपे छन्दसि' इन सूत्रों में मन्त्र के प्रकृत होने से उसकी अनुवृत्ति से ही कार्य सिद्ध हो जाने से 'विजुपे छन्दसि' इस सूत्र में छन्दस् पद का रखना व्यर्थ हो जायगा और इस प्रकार मन्त्रों को ही अवेदता की आपत्ति उठ खड़ी होगी। जैसे 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में ब्राह्मण पद की अनुवृत्ति के बाद भी 'चतुर्थ्यर्थे' यहाँ पर छन्दस् पद के ग्रहण से समाजियों द्वारा ब्राह्मण को अवेदता सिद्ध की जाती है, उसी तरह मन्त्र पद की अनुवृत्ति होने पर छन्दस् पद के ग्रहण से मन्त्रों की भी अवेदता माननी पड़ेगी, क्योंकि दोनों जगह समान न्याय, अर्थात् स्थिति है। इस आपत्ति के निवारण के लिये न चाहते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि मन्त्र शब्द से वेद के एक अंश मन्त्र भाग का, ब्राह्मण शब्द से भी वेद के एक अंश ब्राह्मण भाग का और वेद, छन्दस्, निगम, श्रुति और आम्नाय शब्दों से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक पूरे वेद का ग्रहण होता है। मन्त्र शब्द से मन्त्रभाग के गृहीत होने पर भी ब्राह्मण भाग का परिग्रहण नहीं होता, इसलिये मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का परिग्रहण करने के लिये छन्दस् पद आवश्यक है; इसी तरह ब्राह्मण शब्द से ब्राह्मण भाग के गृहीत होने पर भी मन्त्रभाग का परिग्रहण नहीं होता, इसलिये दोनों के परिग्रहण के लिये 'चतुर्थ्यर्थे' इस सूत्र में छन्दस् पद का ग्रहण उचित है। इससे कोई एक भाग वेद नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह आश्चर्य की ही बात है कि वैयाकरणों में अच्छी तरह से प्रसिद्ध यह बात दयानन्द और उनके अनुयायियों को क्यों मालूम नहीं है।

वेदत्वमापद्येत, तस्मादिदमपि मन्तव्यं यद् यथा सामान्यशब्दसम्बन्धेन विशेषशब्दग्रहणं न व्यर्थम्, तथैव विशेषशब्द-सम्बन्धेन सामान्यशब्दग्रहणमपि न व्यर्थं भवति । तेन ब्राह्मणशब्दसम्बन्धेन छन्दःशब्दो न व्यर्थो भवति ।

ननु यदि छन्दःशब्देन मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि ग्रहणं भवत्येव तर्हि 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (पा० सू० ४।२।६६) इति सूत्रे ब्राह्मणग्रहणं व्यर्थमेव स्यादिति चेन्न, ब्राह्मणशब्दस्य पुराणप्रोक्तब्राह्मणविशेषग्रहणार्थं सार्थ-क्यात् । तेन नवीनैर्ऋषिभिः प्रोक्तेषु ब्राह्मणेषु नानेन सूत्रेण कार्यं भवति । अत एव याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानीत्यादिस्थलेषु 'छन्दोब्राह्मणानि' (पा० सू० ४।२।६६) इति सूत्रस्य प्रवृत्तिर्न भवति । अत एव महाभाष्य-कारः 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यस्तुल्यकालत्वात्' इति वार्त्तिकेन णिनिप्रतिषेधेन याज्ञवल्क्यानीतिपदं साधितवान् । प्रवाहरूपेण समेषामृषीणामनादित्वात् तुल्यकालत्वमेव । प्राचीनत्वमर्वाचीनत्वं वा न केषाञ्चन सम्भ-वति । तत एव महाभाष्यकारो वार्त्तिकमुपयुक्तं मेने । प्रवाहरूपेणानादित्वेऽपि प्रादुर्भावे पौर्वापर्यसम्भवात् पूर्वा-विर्भूतानां प्राचीनत्वम्, पश्चादाविर्भूतानां नवीनत्वं सम्भवत्येव । तत एव 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (पा० सू० ४।३।१०५) इति सूत्रे पाणिनिना पुराणशब्दग्रहणं कृतम् । सर्वथापि याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानीत्यस्य 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (पा० सू० ४।२।६६) इति सूत्रविषयत्ववारणाय पुराणप्रोक्तब्राह्मणविशेषग्रहणाय 'छन्दोब्राह्मणानि' (पा० सू० ४।२।६६) इत्यत्र ब्राह्मणग्रहणं सार्थकमेव । यदि तत्र ब्राह्मणविशेषग्रहणं नाभीष्टं स्यात् तदा पुराणप्रोक्तेषु सूत्रप्रवृत्तिर्व्यर्थैव स्यात् । अत एव 'छन्दोब्राह्मणानि' (पा० सू० ४।२।६६) इत्यत्र छन्दःपदं केवलमन्त्रभागपरम्, तथा 'विजुपे छन्दसि' (पा० सू० ३।२।७३) इत्यत्र छन्दःपदं केवलब्राह्मणभागपरं मन्तव्यम् । अन्यथा मन्त्रभागस्यैव वेदत्वे पूर्वसूत्रात् 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्' (पा० सू० ३।२।७१) इत्यस्मादनुवृत्त्यैव कार्यसिद्धौ 'विजुपे छन्दसि'

इतना ही नहीं, 'अम्नरूधरव० इत्यादि सूत्र से छन्दस् पद का उपादान करके भी 'भुवश्च महाव्याहृतेः' यहाँ पर सत्व के विकल्प का विधान करने के लिये महाव्याहृति का ग्रहण किया गया है । आपकी दृष्टि से तो इससे महाव्याहृति की अवेदता हो जायगी, क्योंकि यदि छन्दस् पद की अनुवृत्ति इस सूत्र में है, तो फिर महाव्याहृति के भी छन्दान्तर्गत होने से उसी से कार्य की निष्पत्ति हो सकेगी, इतना होने पर भी महाव्याहृति का उपादान यही सिद्ध करेगा कि पाणिनि को महाव्याहृति वेदान्तर्गत अभिप्रेत नहीं है । इस दोष से छुटकारा पाने के लिये यही मानना पड़ेगा कि जैसे सामान्य शब्द से सम्बन्ध होने पर विशेष शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ नहीं है, उसी तरह विशेष शब्द से सम्बन्ध होने पर सामान्य शब्द का ग्रहण भी व्यर्थ नहीं है । इससे ब्राह्मण शब्द का सम्बन्ध होने पर भी छन्दस् पद की व्यर्थता, नहीं होगी ।

यदि छन्दस् शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता है तो 'छन्दोब्राह्मणानि' इस सूत्र में ब्राह्मण पद का ग्रहण व्यर्थ होगा ? नहीं । क्योंकि यहाँ पर ब्राह्मण शब्द से पुराण प्रोक्त ब्राह्मण विशेष के ही ग्रहण करने में उसकी सार्थकता है । इसलिये नवीन ऋषियों के द्वारा उपदिष्ट ब्राह्मणों में इस सूत्र से कार्य नहीं होते । इसी लिये याज्ञवल्क्य के द्वारा उपदिष्ट ब्राह्मणों में यह सूत्र नहीं प्रवृत्त होता । यही कारण है कि महाभाष्यकार ने 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः' इत्यादि वार्त्तिक से णिनि प्रत्यय का निषेध कर 'याज्ञवल्क्यानि' इस पद की सिद्धि की है । प्रवाहनित्यता के सिद्धान्त के अनुसार सभी ऋषियों के अनादि होने से तुल्यकालता है । इनमें परस्पर प्राचीनत्व, अर्वाचीनत्व व्यवहार नहीं बन सकता । इसी कारण से महाभाष्यकार ने वार्त्तिक की उपयोगिता स्वीकार की है । प्रवाहनित्यता के कारण अनादि होने पर भी प्रादुर्भाव के कारण इनके परस्पर पूर्वापरभाव बन सकता है, अतः पहले आवि-र्भूत ब्राह्मणों की प्राचीनता और बाद में आविर्भूत ब्राह्मणों की नवीनता संगत है । इसी लिये 'पुराणप्रोक्तेषु' इत्यादि सूत्र में पाणिनि ने पुराण शब्द का ग्रहण किया है । सभी तरह से 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि' यहाँ पर 'छन्दोब्राह्मणानि' इस सूत्र की प्रवृत्ति के निवारण के लिये और यहाँ पर पुराणप्रोक्त ब्राह्मण विशेष का ही ग्रहण होता है, यह जनाने के लिये इस सूत्र में ब्राह्मण पद की सार्थकता है । यदि यहाँ पर ब्राह्मण विशेष का ग्रहण अभीष्ट न होता तो पुराणप्रोक्त ब्राह्मणों में सूत्र की प्रवृत्ति व्यर्थ हो जाती । इसी लिये 'छन्दोब्राह्मणानि' यहाँ पर छन्दस् पद केवल मन्त्र भाग का सूचक है और 'विजुपे छन्दसि' यहाँ पर वही पद केवल ब्राह्मण

(पा० सू० ४।२।६६) इत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थमेव स्यात्। एवमेव 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।२०९) इति सूत्रेऽपि छन्दःपदं ब्राह्मणभागमात्रपरम्, मन्त्रभागमात्रपरत्वे 'नित्यं मन्त्रे' (पा० सू० ६।१।२१०) इत्यत्र पूर्वसूत्रात् 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।२०९) इत्यस्याच्छन्दःपदानुवृत्त्या कार्यसिद्धौ 'नित्यं मन्त्रे' इत्यत्र मन्त्रपदग्रहणं व्यर्थमेव स्यात्।

यदि च 'छन्दोब्राह्मणानि' (पा० सू० ४।२।६६) इति सूत्रे छन्दःपदपार्थक्येन ब्राह्मणपदग्रहणाद् ब्राह्मणभागस्यावेदत्वं स्यात् तदा पूर्वप्रदर्शितस्थलेषु छन्दोऽनुवृत्तिसिद्धौ मन्त्रपदग्रहणेन मन्त्रभागस्याप्यवेदत्वापत्तिर्दुर्निवारा। किञ्च, 'तनादिकृञ्भ्य उः' (पा० सू० ३।१।७९) इत्यत्र यथा तनादिषु कृञः पाठेऽपि पुनः कृञो ग्रहणं तद्वैशिष्ट्यबोधनाय स्वीक्रियते, तथैव छन्दःपदेन मन्त्रभागब्राह्मणभागयोरविशेषेण ग्रहणसम्भवेऽपि पुनर्ब्राह्मणग्रहणं ब्राह्मणभागस्य वैशिष्ट्यबोधनायैव मन्तव्यम्।

तदुक्तं काशिकायाम्—'ब्राह्मणग्रहणं ब्राह्मणविशेषग्रहणार्थम्, तेन याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानीत्यत्र न तत्कार्यप्रवृत्तिः। गोबलीवर्दन्यायेन छन्दःशब्देन मन्त्राणां ग्रहणम्, यथा 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।२०९) इति सूत्रे छन्दःशब्देन ब्राह्मणानां ग्रहणम्, 'नित्यं मन्त्रे' (पा० सू० ६।१।२१०) इत्यत्र मन्त्रग्रहणात्। छन्दोग्रहणेनैव ब्राह्मणानां ग्रहणे सिद्धे ब्राह्मणविशेषप्रतिपत्त्यर्थं पुनर्ब्राह्मणग्रहणम्, तेन याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानीति तद्विषयता न भवति। तेन ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन वैशिष्ट्यद्योतनाय पुनर्ब्राह्मणग्रहणम्। नहि ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इत्युक्तौ कश्चिद्वशिष्ठस्याब्राह्मणत्वं प्रत्येति।

'स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छा० ७।१।२) इत्यादिस्थलेषु वेदशब्देन मन्त्रभागब्राह्मणभागयोरुभयोरपि ग्रहणम्। यथा गोपथे 'सर्वे वेदा

भाग का ही बोधक है। अन्यथा मन्त्रभाग को ही वेद मानने से पूर्व सूत्र 'मन्त्रे०' इत्यादि से अनुवृत्ति के द्वारा ही कार्य सिद्ध हो जाने पर 'विजुपे छन्दसि' यहाँ पर पुनः छन्दस् पद का उपादान व्यर्थ हो जायगा। इसी तरह 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' इस सूत्र में भी छन्दस् केवल ब्राह्मण भाग का ही बोधक है। यदि इसको मन्त्रभाग परक भी माना जाय तो 'नित्यं मन्त्रे' यहाँ पर 'जुष्टार्पिते०' इत्यादि पूर्व सूत्र से छन्दस् पद की अनुवृत्ति होने से कार्य सिद्ध हो जायगा, फलतः इस सूत्र में पुनः मन्त्र पद का ग्रहण व्यर्थ होगा।

यदि 'छन्दोब्राह्मणानि' इस सूत्र में छन्दः पद से पृथक् ब्राह्मण पद का ग्रहण करने से ब्राह्मण भाग की अवेदता आपको अभीष्ट है, तो उसी न्याय से उक्त सभी स्थलों में छन्दस् पद की अनुवृत्ति से भी कार्य की सिद्धि हो सकती थी, इस पर भी मन्त्र पद के उपादान करने से यही सिद्ध होगा कि पाणिनि को मन्त्रभाग छन्दस् पद से अभिप्रेत नहीं है। फलतः मन्त्रभाग की भी अवेदता की आपत्ति को किसी प्रकार हटाना कठिन हो जायगा। इसलिये जैसे 'तनादिकृञ्भ्य उः' इस सूत्र में तनादि में कृञ् का पाठ होने पर भी पुनः कृञ् पद का उपादान उसके वैशिष्ट्य के अवबोधन के लिये स्वीकार किया गया है, उसी तरह छन्दस् पद से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का समान रूप से ग्रहण होने पर भी पुनः ब्राह्मण पद का ग्रहण ब्राह्मण भाग के वैशिष्ट्य का अवबोधक मानना चाहिये।

इस सूत्र की व्याख्या में काशिका वृत्ति में इसी लिये कहा गया है कि ब्राह्मण विशेष का ग्रहण करने के लिये यहाँ पर ब्राह्मण पद उपात्त है। इससे याज्ञवल्क्य प्रोक्त ब्राह्मणों में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। गोबलीवर्दन्याय से यहाँ पर छन्दस् पद से केवल मन्त्रों का ग्रहण होता है, जैसे कि 'जुष्टार्पिते च च्छन्दसि' इस सूत्र में छन्दस् शब्द से ब्राह्मणों का ग्रहण होता है, क्योंकि 'नित्यं मन्त्रे' इस सूत्र में मन्त्र परिगृहीत हैं। छन्दस् पद के ग्रहण से ही ब्राह्मणों का भी ग्रहण सिद्ध है, पुनः ब्राह्मण पद का ग्रहण ब्राह्मण विशेष की प्रतिपत्ति के लिये किया गया है। इसलिये 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि' यहाँ पर यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। अतः ब्राह्मणवशिष्ठन्याय से वैशिष्ट्य प्रदर्शन के लिये यहाँ पर पुनः ब्राह्मण पद गृहीत है। सभी ब्राह्मण आ गये और वसिष्ठ भी आ गये, ऐसा कहने पर कोई वसिष्ठ को अब्राह्मण नहीं मानता।

निर्मिताः सब्राह्मणाः' इत्यत्र वेदशब्देन केवलस्य मन्त्रभागस्य ग्रहणम्, तथैव 'तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च' (नि० १।१०।२) अत्र वेदशब्देन ब्राह्मणानामेव ग्रहणं मन्त्रभागस्य प्रथममेवोक्तत्वात्। 'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (नि० १।२।७) अत्रापि मन्त्रात्पृथग् वेदशब्दो ब्राह्मणबोधक एव, ब्राह्मणभाग एव कर्मसम्पादकमन्त्राणामाम्नातत्वात्। अत एव यदुक्तम्—'ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः' (श० १३।१।५।३), 'समानार्थावेतौ वृषशब्दो वृषन्शब्दश्च ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च' (महाभाष्ये ५।१।) इत्यादिप्रमाणैश्चतुर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि' इति, तदपि तुच्छम्, क्वचिद् ब्रह्मशब्दस्य पूर्वोक्तप्रमाणैः ब्राह्मणपरत्वेऽपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१), 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति······तद्ब्रह्म' (तै० उ० ३।१) इत्यादौ ब्रह्मशब्दस्य जगत्कारणत्वप्रतिपादकत्वात्, 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (भ० गी० ३।१५) इति गीतायां ब्रह्मशब्दस्य वेदपरत्वाभ्युपगमात्। 'स उत्तमां दिशमनुव्यचलत् तमृचश्च सामानि यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्। ऋचां च वै साम्नां च यजुषां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद' (अथर्ववेदसंहिता १५।१।६) इत्यत्र ब्रह्मशब्दस्य ब्राह्मणभागात्मको वेदोऽर्थः। ब्रह्मशब्दस्यात्र मन्त्रभागोऽर्थ इति तु न वक्तुं शक्यम्, मन्त्राणामृगादिशब्दैरुक्तत्वात्। तेन ब्रह्मेत्यपि ब्राह्मणभागात्मकस्य वेदस्य श्रौती संज्ञा। अत एव 'ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव' (म० ४।१००) इति श्लोके कुल्लूकभट्टः 'ब्रह्मशब्देन ब्राह्मणभागस्य ग्रहणम्। 'तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे' (ऋ० सं० १०।९०।) इत्यत्र छन्दःशब्देनापि ब्राह्मणभागस्यैव ग्रहणम्, मन्त्राणामृगादिशब्दैरेवोक्तत्वात्। स्वामिदयानन्दस्तु वेदानां गायत्र्यादिछन्दोऽन्वितत्वात् पुनश्छन्दांसीतिपदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्युक्तवान्। वस्तुतस्त्वथर्ववेदस्य त्रिविधमन्त्रानतिरिक्तत्वाद् ऋगादिशब्दैरेव तद्ग्रहणसम्भवाद् ब्राह्मणभागस्यैव छन्दःशब्देन ग्रहणं

'उसने कहा—भगवन्, मैं ऋग्वेद पढ़ता हूँ, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ वेद अथर्व को भी मैं पढता हूँ। वेदों में पाँचवें वेद इतिहास-पुराण को भी मैं पढ़ता हूं' इत्यादि स्थलों में वेद शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों का ग्रहण होता है। जैसे गोपथ ब्राह्मण में 'ब्राह्मण सहित सब वेद निर्मित हुए' यहाँ पर वेद शब्द से केवल मन्त्रभाग का ग्रहण होता है, उसी तरह 'उन आद्य ऋषियों ने बाद के उन ऋषियों को, जिनको कि धर्म का साक्षात्कार नहीं था, मन्त्रों का उपदेश किया। इस उपदेश की परम्परा में भी जब शिथिलता आने लगी तब वेद और वेदांग आदि ग्रन्थों का सम्प्रदाय प्रवृत्त हुआ' इस निरुक्त वाक्य में वेद शब्द से ब्राह्मणों का ही ग्रहण होता है, क्योंकि मन्त्रभाग का पहले ही उल्लेख हो चुका है। 'पुरुषविद्यानित्यत्वाद् मन्त्रो वेदे' इस निरुक्त वाक्य में भी मन्त्र से पृथक् वेद शब्द ब्राह्मण भाग का ही बोधक है, क्योंकि ब्राह्मण भाग में ही कर्मसम्पादक मन्त्रों का विधान है। इसीलिये—'ब्रह्म ब्राह्मण है, क्षत्र राजन्य', 'वृष और वृषन् शब्द के समान ब्रह्म और ब्राह्मण शब्द समानार्थक हैं' इत्यादि प्रमाणों से चतुर्वेदविद् ब्राह्मण महर्षियों द्वारा उपदिष्ट वेदव्याख्यान ही ब्राह्मण है, यह उक्ति सारहीन है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रमाणों से कहीं पर ब्रह्म शब्द ब्राह्मण का अवबोधक भले ही हो जाय, किन्तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यतो वा·····तद् ब्रह्म' इत्यादि स्थलों में ब्रह्म शब्द को जगत् का कारण माना गया है। 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' इत्यादि गीता वाक्य में ब्रह्म शब्द वेदपरक है। 'स उत्तमां' इत्यादि अथर्ववेद के पूर्वव्याख्यात व्रात्य सूक्त में ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्राह्मणभागात्मक वेद अभिप्रेत है। ब्रह्म शब्द से यहाँ मन्त्रभाग अभिप्रेत है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऋक् आदि शब्दों के द्वारा मन्त्रों का ग्रहण हो चुका है। इससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणभागात्मक वेद की 'ब्रह्म' यह श्रौती संज्ञा है। इसीलिये 'ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव' इस मनुस्मृति के श्लोक की व्याख्या में कुल्लूक भट्ट ने ब्रह्म शब्द से ब्राह्मण भाग का ग्रहण किया है। 'छन्दांसि जज्ञिरे' यहाँ पर भी छन्दस् पद से ब्राह्मण भाग का ही ग्रहण होता है, क्योंकि यहाँ पर मन्त्रभाग का ऋगादि शब्दों से विधान हो चुका है। यहाँ पर स्वामी दयानन्द ने सभी वेद गायत्री आदि छन्दों से अन्वित ही हैं, पुनः छन्द पद के परिग्रहण से यहाँ पर चतुर्थ वेद अथर्ववेद की उत्पत्ति ज्ञापित होती है, ऐसा माना है। वस्तुतः अथर्ववेद त्रिविध मन्त्रों से अतिरिक्त नहीं है, अतः

युक्तम् । 'यस्मादृचोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥' (अथर्ववेदसं० १०।७।२०) इत्यत्र तु मन्त्रब्राह्मणात्मकस्याथर्ववेदस्य प्राधान्यविवक्षया पृथङ् निर्देशो युक्त एव ।

किञ्च—'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' (अमरकोषे १।६।३) इत्यमरकोषानुसारेण दयानन्दरीत्या च छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्तीति (ऋ० भा० भू० ७९-८० पृष्ठे) छन्दोवेदनिगमश्रुतीनां पर्यायवाचकतोक्ता। पाणिनिसूत्रेषु महाभाष्येषु जैमिनिसूत्रशावरभाष्येषु ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्येषु च नैकधा शाखान्तरीयमन्त्राणां ब्राह्मणानां चोद्धरणं दृश्यते, तेन तद्दृष्टया ब्राह्मणानां शाखान्तरीयमन्त्राणां च वेदत्वं स्पष्टमेव । न च ब्रह्मभिः कृतत्वाद् ब्राह्मणमिति संज्ञा, ब्रह्मशब्दस्य वेदपरत्वे बाधानुपपत्तेः । तेन ब्रह्मन्ब्राह्मणशब्दयोरपि वेदभागविशेष एवार्थः । 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्चहवींषि' (तै० ब्रा० १।६।४।३) चातुर्मास्यप्रकरणे । 'तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च व्यचलन्' (अथर्ववेदसंहिता १५।१।६) इति स्पष्टं ब्राह्मणं ब्रह्म चेति ब्राह्मणभागस्यैव बोधकम् । 'आचारे पुनर्ऋषिर्नियमं वेदयते, तेऽसुरा हेलय इति ब्राह्मणवचनमेव ऋषित्वे (वेदत्वे) नोक्तम् । 'शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन', 'योऽग्निष्टोमेन यजते' इति ब्राह्मणवचनं वेदोदाहरणत्वेन निर्दिष्टम्। 'ऋलृक्' सूत्रे महाभाष्ये—'अनुकरणं शिष्टाशिष्टप्रतिषिद्धेषु वैदिकोदाहरणरूपेण 'विश्वसृजः सत्राण्यध्यासते' इति ब्राह्मणवचनमुद्धृतम्। लौकिकोदाहरणरूपेण भाष्यकारैरन्यैश्चाचार्यैः क्वापि ब्राह्मणवाक्यं नोदाहृतम् । ('उभये देवमनुष्याः' इति शाङ्खायनब्राह्मणवचनं महाभाष्यकारेण लौकिकोदाहरणे प्रयुक्तमिति ज्ञेयम्)। (पा०सू० १।१।१) महाभाष्ये 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इति वार्तिकस्योदाहरणरूपेण वेदेऽपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति 'स्फ्यो' 'यूपश्चे'ति ब्राह्मणभागस्यैवोदाहरणमुपस्थापितम् । 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा०सू० १।१।५६) इत्यत्र वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतिकातृणान्यभिषुणुयादित्युच्यते । वेदोदाहरणरूपेण ब्राह्मणमुद्धृतम् । 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (पा० सू० ५।२।९४) इति सूत्रे 'सन्मात्रे चर्षिदर्शनात्' इति वार्तिकविवरणे महाभाष्यकारः—'सन्मात्रे च पुनर्ऋषिः (वेदः) दर्शयति मतुपमित्युक्त्वा 'यवमतीभिरद्भिर्यूपं प्रोक्षति' इति ब्राह्मणवाक्यं वेदत्वेनोदाहृतम् ।

ऋगादि शब्दों से ही उसका परिग्रहण हो जाने से छन्दस् पद से यहाँ पर ब्राह्मण भाग ही अभिप्रेत है । 'यस्मादृचोऽपातक्षन्' इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्र में तो मन्त्रब्राह्मणात्मक अथर्ववेद की प्रधानता बतलाने के लिये उसका पृथक् उल्लेख उचित ही है ।

'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' अमरकोश के इस वाक्य के अनुसार और दयानन्द की ऋग्भाष्यभूमिका (पृ० ७९-८०) की उक्ति के अनुसार भी छन्दस्, वेद, मन्त्र, निगम, श्रुति आदि शब्द पर्यायवाची हैं। पाणिनि के सूत्रों में, महाभाष्य, जैमिनिसूत्र, शाबरभाष्य, ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य आदि में अनेक शाखान्तरीय मन्त्रों और ब्राह्मणों के उद्धरण इन्हीं नामों से मिलते हैं, अतः इनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शाखान्तरीय मन्त्र भी वेद हैं, यह बात स्पष्ट है । 'ब्राह्मण' इस पद की प्रवृत्ति इसलिये नहीं हुई है कि यह ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मणों की कृति है, क्योंकि यहाँ पर ब्रह्म शब्द का अर्थ वेद करने में कोई बाधा नहीं है । इसलिये ब्रह्म और ब्राह्मण शब्द का वेदभाग रूप एक ही अर्थ है । तैत्तिरीय ब्राह्मण के चातुर्मास्य प्रकरण में 'एतद्ब्राह्मणान्येव' यहाँ पर तथा 'तमृचश्च' 'ब्रह्म च' इस अथर्ववेद की उक्ति में ब्राह्मण और ब्रह्म शब्द स्पष्ट ही ब्राह्मण भाग के अवबोधक हैं। महाभाष्य में आचार के विषय में ऋषि नियम बताते हैं, ऐसा कहकर 'तेऽसुरा हेलयः' यह ब्राह्मण वाक्य ही ऋषि (वेद) के नाम से उद्धृत है । 'शास्त्रपूर्वके प्रयोगे' यहाँ पर भी 'योऽग्निष्टोमेन यजते' यह ब्राह्मण वाक्य ही वेद के नाम से उद्धृत किया गया है । 'ऋलृक्' सूत्र के महाभाष्य में 'अनुकरण शिष्ट, अशिष्ट, प्रतिषिद्ध में देखा गया है, ऐसा कहकर 'विश्वसृजः' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य का ही वेद के नाम से उदाहरण दिया है । लौकिक उदाहरण के रूप में भाष्यकार पतञ्जलि अथवा अन्य किसी आचार्य ने कहीं भी ब्राह्मण वाक्य को उदाहृत नहीं किया । ('उभये देवमनुष्याः' यह शाङ्खायन ब्राह्मण का वचन भाष्यकार द्वारा लौकिक उदाहरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, इतना जानना चाहिये) । अष्टाध्यायी (१।१।१) सूत्र के भाष्य में 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इस वार्तिक के उदाहरण के रूप में 'वेद में भी याज्ञिक गण संज्ञा करते हैं, ऐसा कह कर 'स्फ्य, यूप' इत्यादि ब्राह्मण भाग के ही उदाहरण दिये हैं । 'स्थानिवदादेशो' इस सूत्र के महाभाष्य में भी 'वेद में भी सोम के स्थान पर पूतिका तृण का अभिषव करे, ऐसा कहा गया है' इतना कहकर वेद के रूप में ब्राह्मण वाक्य ही उदाहृत है । 'तदस्यास्त्यस्मिन्०' इस सूत्र में

'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (पा० सू० ७।२।२८) इत्यत्र प्रत्युदाहरणरूपेण भाषाभिन्ने मन्त्रे 'युवं सुतरा-मश्विना' (वा० सं० २०।७६) इति मन्त्रोदाहरणमुक्तम्। तथैव 'युवं वै ब्रह्माणो भिषजौ' (श० ८।२।१।३), 'युवमिदं निष्कुरुतम्' (ऐ० ब्रा० २।२८) इति ब्राह्मणमुदाहृतम्। वेदत्वाविशेषेऽपि यथा यजुःसामवेदयोरनुस्वारस्य श-ष-स-ह-वर्णेषु परेषु सत्सुकारो भवति, ऋग्वेदाथर्ववेदयोश्च न भवति, तथैव वेदत्वाविशेषेऽपि किञ्चित्कार्यं मन्त्रे न भवति, ब्राह्मणे भवति, किञ्चिच्च ब्राह्मणे न भवति मन्त्रे भवति। 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (पा० सू० ७।४।३८) इति सूत्रेण यजुर्वेदीयकठशाखायामाकारो विधीयते नान्यत्र। 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५), 'यजुष्युरः' (पा० सू० ६।१।११७) इति प्रकृतिभाव ऋग्यजुर्भिन्नेषु वेदेषु न भवति।

यदुक्तम्—'कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात् सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा सम्मतेति ज्ञायते। एवमपि न सम्यगस्ति, एवं तेनानुक्तत्वात्' (पृ० १००) इति, तदपि तुच्छम्, अनुक्तोपालम्भात्। नहि वैदिका ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वाद् ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमभ्युपगच्छन्ति, किन्तु मन्त्रभागस्येव ब्राह्मणभागस्यापि स्वातन्त्र्येण तेषां वेदत्वाभ्युपगमः।

यदुक्तम्—'अन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्' (पृ० १००) इति, तदपि तुच्छम्, अज्ञानविजृम्भितं च, आपस्तम्ब-बौधायनपारस्करादिभिरनेकैर्महर्षिभिर्ब्राह्मणानां वेदत्वप्रतिपादनात्। 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (२।३।३१), 'भेदश्रुतेः' (२।४।१८), 'सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः' (३।२।४), 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' (३।२।७) इति वैयासिकेषु ब्रह्मसूत्रेषु श्रुत्यादिशब्दैर्ब्राह्मणवचनान्येव श्रुतित्वेनोदाहृतानि। मनुना 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः' (म० २।१०) इति श्रुतिवेदयोरभेदमभिधाय 'विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः' (म० ६।२९) इत्युपनिषदामपि श्रुतित्वमुक्तम्। 'वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः।' (म० ६।९४) इह वेदान्तशब्देनो-पनिषदां श्रवणमुक्तम्।

भी 'सन्मात्रे चर्षिदर्शनात्' इस वार्त्तिक का विवरण करते हुए महाभाष्यकार 'ऋषि, अर्थात् वेद पुनः सन्मात्र में मतुप् का विधान दिखाता है' ऐसा कहकर 'यवयुक्त जल से यूप का प्रोक्षण करते हैं' इस ब्राह्मण वाक्य को ही वेद का उदाहरण मानते हैं।

'प्रथमायाश्च०' यहाँ पर प्रत्युदाहरण रूप में भाषाभिन्न मन्त्र में 'युवं सुतराम्' इस मन्त्र को उपस्थित किया है। इसी तरह 'युवं वै', 'युवमिदं' यह ब्राह्मण वचन भी उदाहृत है। समान रूप से वेद होते हुए भी जैसे यजु और सामवेद में श ष स ह वर्णों के आगे होने पर अनुस्वार का ॅं कार होता है और ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में नहीं होता, उसी तरह समान रूप से वेद रहने पर भी कुछ कार्य मन्त्रों में नहीं होता, ब्राह्मणों में होता है और कुछ कार्य ब्राह्मणों में न होकर मन्त्रों में होते हैं। 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' इस सूत्र से यजुर्वेद की कठशाखा में आकार विहित है, अन्यत्र नहीं। 'प्रकृत्यान्त', 'यजुष्युरः' इन सूत्रों से प्रकृतिभाव ऋक् और यजुर्वेद से भिन्न वेदों में नहीं होता।

'कात्यायन ने भी ब्रह्म, अर्थात् वेद के साथ रहने से सहचार को उपाधि मान कर ब्राह्मणों की वेद संज्ञा मानी है, ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा उन्होंने कहीं कहा नहीं' यह आक्षेप भी व्यर्थ का है, क्योंकि इसमें जो कहा नहीं गया, उसको लेकर आक्षेप किया गया है। वैदिक लोग ब्रह्म अर्थात् वेद के सहचार से ब्राह्मण भाग की वेदता नहीं स्वीकार करते, किन्तु मन्त्र भाग के ही समान ब्राह्मण भाग को भी स्वतन्त्र रूप से ही वेद मानते हैं।

'अन्य ऋषियों ने इसको नहीं माना है' यह कहना भी गलत ही नहीं, उनके अज्ञान का भी सूचक है, क्योंकि आपस्तम्ब, बौधायन, पारस्कर प्रभृति अनेक महर्षियों ने ब्राह्मणों को वेद माना है। 'परात्तु०', 'भेदश्रुतेः', 'सूचकश्च०', 'तदभावो०' इत्यादि व्यासकृत ब्रह्मसूत्रों में श्रुति आदि शब्दों से ब्राह्मण भाग के वचन ही उदाहृत हैं। मनु ने 'श्रुति को वेद और धर्मशास्त्र को स्मृति कहा जाता है' यहाँ पर श्रुति और वेद की अभेदता बताकर 'आत्मा की संसिद्धि अर्थात् प्राप्ति के लिये विविध औपनिषद श्रुतियाँ हैं' यहाँ पर उपनिषदों को भी श्रुति कहा है। 'विधिवत् वेदान्त को सुनकर तीनों ऋणों से उऋण होकर द्विज संन्यास ग्रहण करे' यहाँ पर वेदान्त शब्द से उपनिषदों का ग्रहण होता है।

शास्त्रदीपिकानुसारेण—'प्रजापति……सोऽकामयत' (श० ११।५।८।१) इत्युपक्रम्य 'तस्मादुच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना' इतिवचनैर्ऋक्सामभिरुच्चस्वरेण यजुषा च मन्दस्वरेण कर्म कर्तव्यमुक्तम्। तत्र संशयः—किमुपसंहारश्रुत्यनुरोधेनोच्चैस्त्वादयो धर्मा ऋगादिमन्त्राणामेव विधीयन्ते, अथवा मन्त्रब्राह्मण-संहितानामृग्वेदादीनामुच्चैस्त्वादयो धर्मा विधीयन्त इति। तत्र 'प्रजापति……सोऽकामयत' (श० ११।५।८।१), 'अग्नेर्ऋग्वेदो' (श० ११।५।८।३) इत्युपक्रमानुरोधेन वेदधर्मः प्रतीयते, उपसंहारानुरोधेन च ऋगादिमन्त्राणामेव धर्मा इति प्रतीयते। ऋगादयः शब्दा मन्त्रेष्वेव प्रयुज्यन्ते, वेदशब्दस्तु मन्त्रब्राह्मणात्मके समस्ते वेदराशौ प्रयुज्यते। पूर्वपक्षरीत्या उपसंहारश्रुतेर्विधिरूपत्वेन प्राधान्यमुपक्रमश्रुतेरर्थवादत्वेनाप्राधान्यम्। अत उपसंहारश्रुत्यनुरोधेनोप-क्रमश्रुतिस्थस्य वेदशब्दस्य मुख्यार्थं मन्त्रब्राह्मणसमुदायमपहाय लाक्षणिक ऋगादिमन्त्रा एवार्थः। उपक्रमश्रुतेः प्राधान्यान्न गौणार्थाश्रयणम्, उपक्रमश्रुतेरप्राधान्यात् तत्र गौणार्थाश्रयणं युज्यते। सिद्धान्ते त्वसञ्जातविरोधत्वान्मन्त्रा ब्राह्मणरूपो मुख्य एवार्थं ऋग्वेदादिशब्दस्य गृह्यते। एवं वेदशब्दस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदपरत्वे निश्चिते 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इति ऋगादिशब्दानां मुख्यमर्थं मन्त्रमपहायोपक्रमानुरोधेन मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूप एवार्थो ग्राह्यः, मुख्यार्थ-ग्रहण उपक्रमश्रुतिविरोधापत्तेः। तथा चोपसंहारस्थायाः श्रुतेरयमर्थः स्यात्—ऋग्वेदादिब्राह्मणगतैर्विधिभिर्येषां कर्मणां विधानं स्यात्, तान्युपसंहारश्रुत्यनुसारेणोच्चैस्त्वादिधर्मेण कर्तव्यानि। यजुर्वेदविहितानां कर्मणामुपांशु (मन्दस्वरेण) अनुष्ठानं युक्तम्। 'श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्' (मी० सू० ३।३।१) इति जैमिनिसूत्रेऽपि तादृशो विचारः। तत्र पूर्वपक्षे ऋगादिमन्त्राणामेवोच्चैस्त्वादिधर्मा विधीयन्ते, ऋगादिशब्दानां मन्त्रमात्रार्थत्वात्। उत्तरपक्षीयं सूत्रम्—'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (मी० सू० ३।३।२)। तदर्थस्तु—उच्चैस्त्वादयो धर्मा मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यैव, न केवलं मन्त्राणा-मेव। तेन ऋग्वेदादिविहितकर्मणामेवोच्चैस्त्वादयो धर्माः, उपक्रमे वेदशब्दस्य दृष्टत्वाद् इति प्रायःपदार्थः।

शास्त्रदीपिका के अनुसार 'प्रजापति ने इच्छा की' ऐसा उपक्रम कर 'इसलिये ऋङ्मन्त्रों का उच्च स्वर से, यजुर्मन्त्रों का मन्द स्वर से और साम मन्त्रों को उच्च स्वर से' इत्यादि वचनों से ऋक् और साम से उच्च स्वर से और यजुर्मन्त्रों से मन्द स्वर से कर्म करने का विधान है। यहाँ पर संशय उठता है कि क्या उपसंहार श्रुति के अनुसार उच्च-मन्द आदि धर्म केवल ऋगादि मन्त्रों के लिये ही विहित हैं? अथवा मन्त्र, ब्राह्मण, संहिता आदि सभी के लिये ये धर्म विहित हैं? 'प्रजापति ने चाहा'; 'अग्नि से ऋग्वेद' इस उपक्रम वाक्य के अनुरोध से यह वेद का धर्म प्रतीत होता है और उपसंहार वाक्य के अनुरोध से केवल ऋगादि के ही ये धर्म हैं, ऐसा प्रतीत होता है। ऋगादि शब्द मन्त्रों में ही और वेद शब्द मन्त्रब्राह्मणात्मक समस्त वेदराशि में प्रयुक्त है। अतः उपसंहार श्रुति के अनुरोध से उपक्रम श्रुति स्थित वेद शब्द के मुख्यार्थ मन्त्रब्राह्मणात्मक समुदाय का त्याग कर ऋगादि मन्त्रपरक लाक्षणिक अर्थ परिगृहीत होता है। उपक्रम श्रुति की प्रधानता के कारण वहाँ पर गौण अर्थ नहीं होगा, उपसंहार श्रुति की अप्रधानता के कारण वहाँ पर गौण अर्थ लिया जा सकता है। सिद्धान्त में तो विरोध के न होने के कारण ऋग्वेद आदि शब्द का मन्त्रब्राह्मण रूप अर्थ ही मुख्य होगा। इसी तरह वेद शब्द के मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदपरक माने जाने पर 'उच्चैर्ऋचा' इत्यादि स्थलों पर ऋगादि शब्द के मुख्य अर्थ मन्त्र को छोड़कर उपक्रम के अनुरोध से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक समुदाय रूप अर्थ का ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि मुख्यार्थ का ग्रहण करने पर उपक्रम श्रुति से विरोध हो जायगा। ऐसा करने पर उपसंहार-श्रुति का यह अर्थ होगा—ऋग्वेद आदि के ब्राह्मणों में प्रतिपादित विधि से जिन कर्मों का विधान हुआ है, उनको उपसंहार श्रुति के अनुसार उच्चैस्त्व आदि धर्मों से युक्त करना चाहिये। यजुर्वेद विहित कर्मों का उपांशु अर्थात् मन्द स्वर से अनुष्ठान उचित है। 'श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्' इस जैमिनि सूत्र में भी इसी तरह के विचार हैं। यहाँ पर पूर्वपक्ष सूत्र में ऋगादि मन्त्रों के ही उच्चैस्त्व आदि धर्म विहित हैं, क्योंकि ऋगादि शब्दों का मन्त्रमात्र ही अर्थ होता है। 'वेदो वा' इत्यादि उत्तरपक्ष सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि उच्चैस्त्व आदि धर्म मन्त्रब्राह्मणात्मक पूरे वेद के हैं, केवल मन्त्रों के नहीं। इसलिये ऋग्वेद आदि से विहित कर्मों के ये उच्चैस्त्व आदि धर्म हैं, क्योंकि उपक्रम में वेद शब्द देखा गया है। यह सूत्र के प्रायः पद

लिङ्गाच्च ऋक्पदैरन्यत्रापि वदार्थत्वदर्शनात् 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥' (तै० ब्रा० ३।१२।९।१) अत्र वेदैरिति बहुवचनेन ऋग्भिरित्यत्रापि ऋग्वेदैरित्येवार्थो ग्राह्यः।

'धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः' (मी० सू० ३।३।४) ऋचि उच्चैस्त्वविधानम्, 'ऋक्षु सामानि गीयन्ते' (शां० ब्रा० ६।११), 'ऋचि साम गीयते' (श० ८।१।३।३), 'ऋचि साम प्रतिष्ठितम्' (सा० वि० ब्रा० १।१२), 'ऋच्यध्यूढं साम' (छा० उ० १।६।१)। तेन साम नाक्षररूपं भवति, किन्तु गीतिरूपमेव। तदपि ऋङ्मन्त्राणामेव। तेन साम्नामुच्चैस्त्वविधानं व्यर्थमेव स्यात्। यदि तु सामपदेन सामवेदग्रहणं स्यात्, तदा तु मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मकसामग्रहणेन ताण्डयादिब्राह्मणानामपि ग्रहणं स्यात्। तस्मात्तद्विहितानां कर्मणामुच्चैस्त्वविधानं सार्थकं स्यात्। तस्माल्लक्षणया ऋगादिशब्दानामपि मन्त्रब्राह्मणसमुदाय एवार्थो ग्राह्यः। 'उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥' (मनु० २।१५) इति मनुवाक्येन 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इत्यादिब्राह्मणवाक्यानां स्पष्टमेव वैदिकत्वं श्रुतित्वं चोक्तम्।

'यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥' (म० २।७)। मनुप्रोक्तः सर्वोऽपि वर्णाश्रमलक्षणो धर्मो वेदेऽभिहितः। न च मन्त्रसंहितासु अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-ज्योतिष्टोमादिकर्मणां विधानमुपलभ्यते। ब्राह्मणभागे त्वेव तदुपलब्धिर्भवति। तस्मादपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं सिद्ध्यति। अन्येऽपि मनूक्ता धर्मा ब्राह्मण एवोपलभ्यन्ते, न संहिताचतुष्टये। 'राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः' (म० ७।९७) अत्र योद्धारो विजितधनेभ्यो राज्ञ उद्धारं दद्युरित्येषा वैदिकी श्रुतिरिति मनुना प्रोक्तम्। परं चतसृष्वपि संहितासु न तादृशाभिप्रायको मन्त्र उपलभ्यते। 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा' (ऐ० ब्रा० ३।२१) इत्युपक्रम्य 'स महान् भूत्वा देवता अब्रवीत् उद्धारं म उद्धरत' (ऐ० ब्रा० ३।२१) इति ब्राह्मण एव तदुपलम्भः।

का अर्थ हुआ। ऋक् पद से अन्यत्र भी वेद का परिग्रहण देखा गया है, इस लिंग रूप प्रमाण से भी यही अर्थ निकलता है। जैसे कि—'सूर्य देव की पूर्वाह्ण में ऋग्वेद के मन्त्रों से, मध्याह्न में यजुर्वेद से और सायाह्न में सामवेद के मन्त्रों से स्तुति की जाती है, इस प्रकार सूर्य कभी भी वेदों से शून्य नहीं होता' यहाँ पर 'वेदैः' इस वेद पद में बहुवचन होने से 'ऋग्भिः' यहाँ पर भी 'ऋग्वेदैः' इस प्रकार बहुवचनान्त ही अर्थ होगा।

'धर्मोपदेशाच्च०' इस मीमांसा सूत्र तथा 'ऋक्षु सामानि गीयन्ते' इत्यादि श्रुतियों के उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि साम अक्षर रूप नहीं है, किन्तु गीतिरूप है। ये भी तो ऋङ्मन्त्र ही हैं, अतः इनका उच्चैस्त्व विधान व्यर्थ जायगा। यदि साम पद से सामवेद का ग्रहण हो तो फिर मन्त्रब्राह्मणात्मक समुदाय के सामवेद होने से ताण्डय आदि ब्राह्मणों का भी ग्रहण होगा और इस प्रकार इन ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिपादित कर्मों के उच्चैस्त्व आदि के विधान की सार्थकता होगी। इसलिये लक्षणा से भी ऋगादि शब्दों का मन्त्रब्राह्मणात्मक समुदाय ही अर्थ होगा। 'सूर्योदय वेला में, सूर्योदय से पहले अथवा सूर्योदय होने के उपरान्त समय व्यतीत हो जाने पर भी सभी समयों में यज्ञ की प्रवृत्ति होती है, यह वैदिक श्रुति है' मनुस्मृति के इस श्लोक में 'उदिते जुहोति' इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों की स्पष्ट ही वैदिकता एवं श्रुतिता प्रतिपादित है।

'मनु ने जिस किसी के लिये जो धर्म बताया है, वह सब वेद में अभिहित है, क्योंकि मनु को सभी वेदशास्त्र आदि का ज्ञान है' इस मनुस्मृति के श्लोक में बताया गया है कि सारा वर्णाश्रम लक्षण धर्म वेद में अभिहित है। मन्त्र संहिताओं में तो अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि कर्मों का विधान उपलब्ध नहीं है, ब्राह्मण भाग में ही वह उपलब्ध होता है। इससे भी ब्राह्मण भाग की वेदता सिद्ध है। मनु उपदिष्ट अन्य अनेक धर्म भी ब्राह्मणों में ही उपलब्ध होते हैं, चारों संहिताओं में नहीं। 'राज्ञश्च दद्युः' इस मनु वाक्य में योद्धाओं के द्वारा राजा को दिये गये उद्धार, अर्थात् विजित धन के अंशदान की बात वैदिक श्रुति में प्रतिपादित मानी

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मी० सू० १।२।१) इत्यत्राक्रियार्थानामर्थवादानामप्रामाण्यमाशङ्क्य 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्' (मी० सू० १।२।७) इति विधिस्तावकत्वेन तत्प्रामाण्यमुक्तम्। ब्राह्मणानामाम्नायत्वमनङ्गीकुर्वाणस्य मते सर्वमेव तद् बाध्येत। एवम्—'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इति ब्राह्मणवाक्येन 'उरु प्रथस्व' इति मन्त्रार्थप्रकाशनान्मन्त्रानर्थक्यम्। 'तदर्थशास्त्रात्०' (मी० सू० १।२।२९) अत्र शास्त्रपदेन वेदवाक्यमेव, 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इतिवत्। अर्थान्मन्त्रार्थबोधकाद् उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयतीति ब्राह्मणवाक्यान्मन्त्रानर्थक्यमुक्तं पूर्वपक्षिणा। सिद्धान्तदृष्ट्या ब्राह्मणभागस्य वेदत्वात् स्वतःप्रामाण्यमेव। व्रीहियवादिवन्मन्त्रा अपि ब्राह्मणवाक्यैस्तेषु तेषु कर्मसु विनियोज्यन्ते। यथा—'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (मै० सं० ३।२।४)। एतावता ब्राह्मणभागस्य वेदतुल्यं प्रामाण्यं नास्तीति मतं सर्वथाऽपास्तमेव, विनियोज्यमन्त्रापेक्षयापि विनियोजकब्राह्मणवाक्यानां तत्परत्वेन निरपेक्षप्रामाण्ये बाधाभावात्।

'बुद्धशास्त्रात्' (मी० सू० १।२।२९) इति सूत्रेणापि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं सिद्ध्यति। सूत्रार्थस्तु कर्मानुष्ठानात्पूर्वमध्ययनकाले 'अग्नीदग्नीन् विहर' (श० ४।२।५।११), 'बर्हिः स्तृणीहि' (श० ४।२।५।११) इत्यादिब्राह्मणवाक्यैर्ऋत्विजः स्वस्वकर्तव्यानि कर्माण्यवगच्छन्त्येवातो 'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इत्यादिमन्त्ररूपशास्त्रैस्तदर्थबोधनं व्यर्थमेवातः पाठद्वारैव मन्त्रा यागोपकारकाः, यथा 'तदर्थशास्त्रात्' (मी० सू० १।२।२९) अत्र ब्राह्मणभागबोधनार्थं शास्त्रपदोपन्यासस्तथैव 'बुद्धशास्त्रात्' (मी० सू० १।२।२९) इत्यत्र मन्त्रभागबोधनाय शास्त्रपदोपन्यासः। तेनाप्युभयोर्मन्त्रब्राह्मणभागयोरविशिष्टं शास्त्रत्वं वेदत्वं च।

गई है। लेकिन चारों संहिताओं में इस अभिप्राय का कोई मन्त्र नहीं मिलता। 'इन्द्र ने वृत्रासुर को मारकर' इस प्रकार उपक्रम कर 'उस देवता ने महान् होकर कहा कि मुझे उद्धार दो' इस ऐतरेय ब्राह्मण के वाक्य में ही उद्धार की चर्चा है।

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्०' इस मीमांसा सूत्र में अर्थवाद वाक्यों में, जिनकी कि क्रिया में कोई उपयोगिता नहीं है, अप्रामाण्य की आशंका कर 'विधिना त्वेकवाक्य०' इस सूत्र के द्वारा विधि की स्तुति इन वाक्यों में होने से इनका प्रामाण्य स्थापित किया गया है। ब्राह्मणों को आम्नाय न मानने वाले के मत में यह सब बाधित हो जायगा। इसी तरह 'उरु प्रथस्व' इस मन्त्र से पुरोडाश का प्रथन करता है' इस ब्राह्मण वाक्य से 'उरु प्रथस्व' इस मन्त्र का अर्थ प्रकाशित किया गया है, अतः मन्त्र अनर्थक हो जायगा। 'तदर्थशास्त्रात्' इस मीमांसा सूत्र में 'शास्त्रयोनित्वात्' इस वेदान्त सूत्र के समान शास्त्रपद वेदपरक है। इसका यह अभिप्राय है कि पूर्वपक्षी ने मन्त्रार्थबोधक 'उरु प्रथस्व' इस मन्त्र से पुरोडाश का प्रथन करता है' इस ब्राह्मण वाक्य के प्रमाण से मन्त्रों को अनर्थक माना है, किन्तु सिद्धान्ती की दृष्टि में चूंकि ब्राह्मण भाग भी वेद है, अतः उसके द्वारा मन्त्र के अर्थ का ज्ञान कराये जाने पर भी उसका स्वतः प्रामाण्य व्याहत नहीं होता। ब्राह्मण वाक्य व्रीहि, यव आदि के समान मन्त्रों का भी उन उन कर्मों में विनियोग करते हैं। जैसे कि 'ऐन्द्री अर्थात् इन्द्र संबन्धी ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थापन करते हैं' यहाँ पर किया गया है। इतने मात्र से ब्राह्मण भाग की वेद के समान प्रामाणिकता नहीं है, ऐसा कहना सर्वथा गलत है। विनियोज्य मन्त्रों की अपेक्षा से भी विनियोजक ब्राह्मण वाक्यों की वेदपरता, अर्थात् मन्त्रसापेक्षता ही बनती है, अतः इनके निरपेक्ष प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती।

'बुद्धशास्त्रात्' इस सूत्र से भी ब्राह्मण भाग की वेदता सिद्ध है। सूत्र का अर्थ यह है—कर्मानुष्ठान से पहले अध्ययन के समय 'अग्नीदग्नीन् विहर', 'बर्हिः स्तृणाति' इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों से ऋत्विग्गण अपने अपने कर्तव्य कर्मों से अवगत हो जाते हैं, अतः 'अग्नीदग्नीन् विहर', 'बर्हिः स्तृणाति' इत्यादि मन्त्र रूप शास्त्र से इनके अर्थ की अवगति व्यर्थ होने से मन्त्रभाग केवल पाठ द्वारा ही याग का उपकारक होगा, अर्थात् मन्त्रभाग में अर्थावगति की कोई उपयोगिता नहीं है। जैसे 'तदर्थशास्त्रात्' यहाँ पर ब्राह्मण भाग की अवगति के लिये शास्त्रपद का उपन्यास किया गया है, उसी तरह 'बुद्धशास्त्रात्' यहाँ पर भी मन्त्रभाग की अवगति के लिये शास्त्र पद का उपन्यास किया है। इससे भी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों की अविशेषेण शास्त्रता और वेदता सिद्ध होती है।

'स्वाध्यायवदवचनात्' (मी० सू० १।२।३७) इत्यत्र यथा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (श० ११।५।६।३) इति ब्राह्मणवाक्येन वेदाक्षरैरध्ययनविधानम्, तथैव मन्त्रैरर्थः स्मर्तव्य इति विधायकब्राह्मणवाक्याभावान्मन्त्राणां स्वार्थे तात्पर्याभावः, पाठमात्रेण गतार्थता च। तेन मन्त्राध्ययनप्रवृत्तिरपि ब्राह्मणवाक्यमूलिकैवेति। तदभावे तु सुतरां निरर्थकानां मन्त्राणामध्ययने प्रवृत्तिर्न स्यात्। एतावता विधिमाहात्म्यं स्पष्टं व्यज्यते। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति सकलवेदाध्ययनविधानादेव सिद्धान्ते मन्त्राणामर्थवत्त्वमपि। 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० सू० २।१।३०) इति सूत्रेण स्पष्टं प्रतीयते यद्वेदस्य द्वौ भागौ स्तः—मन्त्रभागो ब्राह्मणभागश्च। मन्त्राणां लक्षणमुक्त्वा शेषे भागे ब्राह्मणशब्दः प्रयुज्यत इति तदेव ब्राह्मणलक्षणमिति सूत्रार्थः। न चात्र शेषशब्दस्याङ्गमर्थं इति वाच्यम्, 'शेषे यजुःशब्दः' (मी० सू० २।१।३४) इत्यत्रापि तथात्वापत्तेः। तस्मादुभयत्र शेषशब्दस्यावशेष एवार्थो मन्तव्यः। तदुक्तं शबरस्वामिनापि—'अथ किंलक्षणं ब्राह्मणं मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः। तत्र मन्त्रलक्षण उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्। मन्त्रलक्षणेनैव सिद्धं यस्यैतल्लक्षणं न भवति तद् ब्राह्मणमिति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम्।

'विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्' (मी० सू० २।१।२७) अत्र वार्तिककारेण श्लोक उद्धृतः—'यस्माद् व्रीह्यादिवन्मन्त्राः करणत्वेन कर्मणाम्। ब्राह्मणेन नियुज्यन्ते तस्मात्ते न विधायकाः॥' इति। एतावता ब्राह्मणभागस्य वेदत्वाभावे कथं मन्त्राणामुपयोगः प्रामाण्यं धर्ममूलकत्वं च स्युः? 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० सू० १।१।२) इति सूत्रमपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे प्रमाणम्, अनेन धर्मे विधिवाक्यस्यैव प्रमाणत्वोक्तेः। विधिवाक्यं च ब्राह्मणेष्वेव भवति न मन्त्रेषु। तथाहि—'स्वर्गकामो यजेत' (ता० म० ब्रा० १६।३।३) इत्यत्र लकारस्याख्यातोऽर्थः। आख्यातस्य च भावना (अनुष्ठानम्) अर्थः। सा च किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेद् इति साध्यसाधनेतिकर्तव्यता-

'स्वाध्यायवदवचनात्' इस सूत्र में जैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस ब्राह्मण वाक्य से स्वाध्याय अर्थात् वेदाक्षरों के अध्ययन का विधान है, उसी तरह मन्त्रों से अर्थ का स्मरण करना चाहिये, इस प्रकार के विधायक ब्राह्मण वाक्य के अभाव में मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है, और उनकी पाठमात्र से गतार्थता है, ये दोनों बातें परिज्ञात होती हैं। इससे मन्त्रों के अध्ययन की प्रवृत्ति भी ब्राह्मण वाक्य मूलक है। अतः ब्राह्मणों के अभाव में नितान्त निरर्थक मन्त्रों के अध्ययन में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इससे विधि का वैशिष्ट्य स्पष्ट प्रतीत होता है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यहाँ पर फल सहित वेदाध्ययन का विधान होने से सिद्धान्त में मन्त्रों की अर्थवत्ता मानी जाती है। 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इस मीमांसा सूत्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद के दो भाग हैं। ये हैं मन्त्रभाग और ब्राह्मण भाग। मन्त्रों का लक्षण बताकर शेष भाग के लिये ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त होता है, ऐसा कहने से यही ब्राह्मण का लक्षण है, यह सूत्र का अर्थ होता है। यहाँ पर शेष शब्द का अर्थ 'अंग' नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर 'शेषे यजुःशब्दः' यहाँ पर भी वही अर्थ करना पड़ेगा। इसलिये दोनों स्थलों पर शेष शब्द का अर्थ अवशेष मानना पड़ेगा। शबरस्वामी ने यही बात कही है—'ब्राह्मण और मन्त्र का क्या लक्षण है? ब्राह्मण भी वेद है। इनमें मन्त्र के लक्षण के कह देने पर परिशेष सिद्ध हो जाने से ब्राह्मण का लक्षण नहीं कहना है। यह मन्त्र के लक्षण से ही सिद्ध हो जाता है कि जिसका यह लक्षण नहीं है, वह ब्राह्मण होता है, इस परिशेष विधि से ब्राह्मण का लक्षण बन जाता है।

'विधिमन्त्रयोः०' इस मीमांसा सूत्र में वार्त्तिककार ने एक श्लोक उद्धृत किया है। उसका अर्थ है कि—'क्योंकि कर्म के प्रति जैसे व्रीहि आदि की करणता है, उसी तरह की करणता मन्त्रों की भी है, जो कि ब्राह्मण वाक्यों द्वारा निर्धारित होती है, अतः वे मन्त्र विधायक नहीं हो सकते'। यदि ब्राह्मण भाग की वेदता न मानी जाय, तो मन्त्रों का उपयोग, उनका प्रामाण्य और उनकी धर्ममूलकता कैसे होगी? 'चोदनालक्षणो०' यह सूत्र भी ब्राह्मण भाग की वेदता में प्रमाण है। इस सूत्र ने धर्म के लिये विधि वाक्य की ही प्रमाणता मानी है और विधि वाक्य ब्राह्मणों में ही मिलते हैं, मन्त्रों में नहीं। जैसे कि 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे) यहाँ पर लकार का अर्थ आख्यात है और आख्यात का अर्थ भावना (अनुष्ठान) है। वह भावना क्या करे? किससे करे? और किस प्रकार

शत्रयवती भवति। तत्र समानपदोपात्तेन यागेनैव साध्याकाङ्क्षा पूर्यते न स्वर्गेण, तस्य भिन्नपदोपात्तत्वात्, पुरुष-विशेषणत्वेनाप्रधानत्वाच्च। प्रधानं प्रधानेनान्वेतीति नाख्यातेन तदन्वयः प्राप्यते, किन्तु समानपदोपात्तत्वाद् आख्या-तस्य स्वप्रकृतिभूतेन यजिनैवान्वयः सम्भवति। यागश्च कष्टरूपत्वात् स्वतोऽपुरुषार्थत्वान्न स्वतः पुरुषप्रवृत्तिगोचरो भवति, किन्तु पुरुषार्थसाधनतया तत्र पुरुषः प्रवर्त्यते। अतो विधिप्रत्ययेन प्रवर्तनारूपा शाब्दी भावना बोध्यते। सा च समानप्रत्ययोपात्तत्वाद् धात्वर्थयागापेक्षयाऽप्यन्तरङ्गा। प्रत्ययांशे आख्यातत्वं लिङ्त्वं च भवति। आख्यातत्वं दशलकार-साधारणं लिङ्त्वं तु लिङ्येव। शाब्दी भावनापि साध्यसाधनेतिकर्तव्यतांशत्रयवती भवति। तत्र पुरुषप्रवृत्तिरूपयार्थी-भावनया तस्याः साध्याकाङ्क्षा पूर्यते। अपुरुषार्थत्वात् सन्निकृष्टमपि यागमपहाय विप्रकृष्टेन कामनाविशेषणेनापि स्वर्गेणार्थीभावना शाब्दीभावनाबलेन संसृज्यते। तेन स्वर्गं साध्यत्वेन यागं साधनत्वेन गृह्णाति। तेन यागेन स्वर्गं भावयेद् इत्यर्थो लभ्यते।, परिणामतः स्वर्गसाधनत्वेन यागे पुरुषप्रवृत्तिः सम्पद्यते। तेन विधिसत्त्व एव यागादौ श्रेयः-साधनता धर्मता च सिद्धयति, नान्यथा। तदुक्तम्—'औत्पत्तिकस्तु' (मी० सू० १।१।५) इति सूत्रे भट्टपादैः—'विधा-वनाश्रिते साध्यः पुरुषार्थो न लभ्यते। श्रुतस्वर्गादिबाधेन धात्वर्थः साध्यतां व्रजेत्॥ विधौ तु तमतिक्रम्य स्वर्गादिः साध्यतेष्यते। तत्साधनस्य धर्मत्वमेवं सति च लभ्यते॥' इति। स्वर्गं भावयेद् यागेन भावयेत् प्रयाजादिभिरङ्गैरुपकृत्य भावयेद् इत्यंशत्रयवतीमार्थीभावनां भावयेत्, लिङादिज्ञानेन भावयेत्, अर्थवादैः प्राशस्त्यं बोधयित्वा भावयेद् इति शाब्दी भावना भवति।

'विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्' (मी० सू० २।१।२७) इति सूत्रेणायं पूर्वपक्षः—'देवांश्च याभिर्यजते ददाति च' (ऋ० सं० ६।२८।३) इत्यादिमन्त्रवाक्यानामपि विधिवाक्यानामिव कर्मविधायकत्वमस्ति। तथा च

करे? इस प्रकार साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता रूप तीन अंश वाली है। इनमें से 'यजेत' इस समान पद से उपात्त याग से ही साध्याकांक्षा की पूर्ति होती है, स्वर्ग से नहीं, क्योंकि वह भिन्न पद से उपात्त है। पुरुष का विशेषण होने से स्वर्ग अप्रधान भी है। प्रधान का प्रधान से ही अन्वय होता है, इस लिये आख्यात से उसका अन्वय प्राप्त नहीं होता, किन्तु समानपदोपात्त होने से आख्यात का अपने प्रकृतिभूत यजि धातु से ही अन्वय होता है, याग का अनुष्ठान कष्टसाध्य है। इनमें स्वतः पुरुषार्थता भी विद्यमान नहीं है, अतः यह स्वतः पुरुष-प्रवृत्ति का कारण नहीं होता, किन्तु पुरुषार्थ का साधन होने से इसमें प्रवृत्ति कराई जाती है। अतः विधिप्रत्यय से प्रवर्तनारूप शाब्दी भावना बोधित होती है। यह समान प्रत्यय से उपात्त है, अतः यह धात्वर्थ याग की अपेक्षा से भी अन्तरङ्ग है। प्रत्ययांश में आख्यातत्व और लिङ्त्व रहते हैं। आख्यातत्व दसों लकारों में रहता है और लिङ्त्व केवल लिङ् लकार में। यह शाब्दी भावना भी साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता रूप तीन अंश वाली है। इनमें से पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थी भावना से उसकी साध्याकांक्षा की पूर्ति होती है। याग में पुरुषार्थता न होने से उससे संनिकृष्टता होने पर भी याग को छोड़कर विप्रकृष्ट स्वर्ग के साथ कामना का विशेषण होने पर भी उक्त आर्थी भावना शाब्दी भावना के बल से संसृष्ट होती है। इससे स्वर्ग का साध्यत्वेन और याग का साधनत्वेन ग्रहण होता है। इससे याग से स्वर्ग की भावना करे, यह अर्थ प्राप्त होता है। परिणामतः स्वर्ग का साधन होने से याग में पुरुष की प्रवृत्ति होती है। इससे विधि की सत्ता होने पर ही यागादि में श्रेयःसाधनता और धर्मता सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं। औत्पत्तिक सूत्र में भट्टपाद कुमारिल ने कहा है—'विना विधि का आश्रय लिये साध्य पुरुषार्थ उपलब्ध नहीं होता। श्रुत स्वर्गादि का बाध हो जाने से धात्वर्थ को ही साध्य मानना पड़ता है। विधि में धात्वर्थ का अतिक्रम कर स्वर्गादि की साध्यता इष्ट है और इस प्रकार स्वर्गादि के साधन की धर्मता लब्ध होती है'। स्वर्ग की भावना करे, याग से भावना करे, प्रयाज आदि अङ्गों से भावना करे—ये तीन आर्थी भावना के अंश हैं। लिङ् आदि के ज्ञान की भावना करे, अर्थवाद से प्राशस्त्य का बोधन कर भावना करे यह शाब्दी भावना है।

'विधिमन्त्रयो०' इत्यादि मीमांसा सूत्र का पूर्वपक्ष यह है कि 'देवांश्च याभि०' इत्यादि मन्त्र वाक्यों की भी विधि वाक्यों के समान कर्मविधायकता है। तथा च विधि और मन्त्र वाक्य की एकार्थता होनी चाहिये, क्योंकि दोनों में यजते, ददाति इस तरह एक

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमस्तु, ऐकशब्दयात्, यजते ददातीति समानशब्दत्वात्। न चात्र लिङ्लटोर्भेदेनार्थभेदः, 'समिधो यजति' (श० ब्रा० ३।४) इत्यादौ लिङभावेऽपि तदर्थबोधदर्शनात्। 'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्' (मी० सू० २।१।३१) इति सूत्रेण सिद्धान्त उच्यते। सूत्रार्थस्त्वेवम्—मन्त्रो मन्त्रस्थाख्यातपदमभिधानवाचि स्यात् प्रयोगानुष्ठानकालेऽर्थप्रकाशनपरं स्यात्, न कर्मविधायकं भवति। ब्राह्मणस्थं विधिवाक्यं किञ्चित्कर्मानूद्य वाक्यान्तरेण न विनियुज्यते, अतो विधायकम्। मन्त्रास्तु ब्राह्मणवाक्यविहितकर्माण्यनूद्य कर्मस्मारकरूपेण विनियुज्यन्ते, अतो मन्त्राणां विधायकत्वं नास्ति।

किञ्च, यदियच्छब्दसम्बोधनविभक्तिभिर्विधिशक्तिर्विहन्यते, मन्त्रेषु प्रायेणैतान्युपलभ्यन्ते, यथा—'न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति। देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥' (ऋ० सं० ६।२८।३) याभिर्यजते याश्च ददाति ता गावो न नशन्ति तस्करो न ताश्चोरयति। अमित्रकृताः व्याधिकृता वा पीडास्तदङ्गेषु न भवन्ति। गोपतिस्ताभिश्चिरं सचते। यत्पदेन गोदानादिकं पूर्वसिद्धं प्रतीयते यत्पूर्वसिद्धं तन्न विधीयते, असिद्धस्यैव विधानात्।

'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इत्यादिमन्त्रेषु 'अहे' इति सम्बोधनपदाद् विधिशक्तिर्विहन्यते। हे अहे अहिंसक बुध्निय अग्ने मे मन्त्रं गोपाय सम्बोद्धव्यस्य पुरःस्थितस्य वरप्रदानायोद्यतस्य सम्बोधनमभीष्टप्रार्थनं च सम्भवति। विधिश्चाप्रवृत्तप्रवर्तको भवति। 'बर्हिर्देवसदनं दामि', 'शुक्रं त्वा शुक्राय धाम्ने यजुषे यजुषे गृह्णामि' अत्रोत्तमपुरुषप्रयोगाद् विधिर्न सम्भवति, स्वात्मनि प्रवर्तनासम्भवात्। 'यदि सोममपहरेयुः' अत्र प्राप्तिबोधकयदिशब्दाद् अप्राप्तप्रापिका विधिशक्तिर्विहन्यते।

विधिवाक्यविहिततत्तत्कर्मानुस्मारकत्वाच्च मन्त्रेषु विधायकत्वं न सम्भवति। तथापि वेदाभ्यासजन्यसंस्कारवशात् कर्मानुष्ठानकाले द्रव्यदेवतास्मरणस्यापि सम्भवान्मन्त्राणां नैरर्थक्याशङ्कयेव मन्त्रैरेव द्रव्यदेवते स्मर्तव्ये

समान शब्द है। यहाँ पर लिङ् और लट् के भेद से अर्थभेद भी नहीं है, क्योंकि 'समिधो यजति' इत्यादि स्थलों में लिङ् के अभाव में उसी अर्थ की प्रतीति होती है। इसके बाद 'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात्' इत्यादि सूत्र से सिद्धान्त पक्ष कहा गया है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—मन्त्र में स्थित आख्यात पद अभिधानवाची होगा, अर्थात् प्रयोग के अनुष्ठान के समय केवल अर्थप्रकाशक होगा, कर्मविधायक नहीं। ब्राह्मण स्थित विधिवाक्य किसी कर्म का अनुवाद कर वाक्यान्तर से विनियुक्त नहीं होता, अतः विधायक है। मन्त्रों का तो ब्राह्मण वाक्यों से विहित कर्मों का अनुवाद कर कर्म के स्मारक रूप में विनियोग होता है, अतः मन्त्रों की विधायकता नहीं है।

यदि, यत् आदि शब्दों से तथा सम्बोधन विभक्ति से विधिशक्ति का विघात हो जाता है और मन्त्रों में प्रायः ये पद मिलते हैं। जैसे कि 'न ता नशन्ति' इत्यादि ऋङ्मन्त्र में। इसका यह अर्थ है कि जिन गायों की सहायता से यज्ञ का सम्पादन करता है और जिनका दान करता है, वे गायें नष्ट नहीं होतीं। उनको चोर नहीं चुराता। शत्रु के द्वारा अथवा किसी रोग से उनको पीड़ा नहीं होती। गायों का स्वामी चिरकाल तक उनके साथ सुख शान्ति से रहता है। यहाँ पर 'यत्' पद से पूर्व सिद्ध गोदान आदि की प्रतीति होती है। पूर्वसिद्ध का विधान नहीं होता, क्योंकि असिद्ध की ही विधि मानी गई है।

'अहे बुध्निय' इत्यादि स्थलों में मन्त्र में 'अहे' इस सम्बोधन पद के होने से विधिशक्ति का विघात हो जाता है, इसका अर्थ है कि हे अहे, अहिंसक बुध्निय, अग्ने, आप मेरे मन्त्र की रक्षा करें। यहाँ पर संमुख उपस्थित, वर प्रदान के लिये उद्यत, सम्बोध्य अग्नि को सम्बोधित कर अभीष्ट की प्रार्थना की गई है। विधि तो अप्रवृत्त कार्य में प्रवृत्ति कराती है। 'बर्हिर्देवसदनं दामि', 'शुक्रं त्वा शुक्राय' इत्यादि स्थलों में उत्तम पुरुष के प्रयोग के कारण विधि नहीं होती, क्योंकि अपने लिये प्रवर्तना वाक्य का प्रयोग सम्भव नहीं है। 'यदि सोममपहरेयुः' यहाँ पर प्राप्ति के बोधक 'यदि' शब्द के प्रयोग के कारण अप्राप्त की प्रापिका विधिशक्ति का विनाश हो जाता है।

इति नियमादृष्टाय मन्त्रसार्थक्यमुक्तम् । अतो मन्त्रा लौकिकवाक्यवदेव न विधायकाः, किन्त्वभिधायका एव भवन्ति । 'विधिमन्त्रयोः' (मी० सू० २।१।२७) इति सूत्रे विधिवन्मन्त्रस्यापि समानाख्यातशब्दत्वाद् विधायकत्वमाशङ्कितम्, उत्तरसूत्रे तु वैषम्यप्रदर्शनेन तद्वारितम् । तेनात्र विधिवाक्यानामेव विधायकत्वं प्राधान्यं चोक्तम् । मन्त्रवाक्यानामनुवादकत्वेनाप्राधान्यमेवोक्तम् । तथा च विधिभागस्यैव धर्ममूलत्वं लौकिकवाक्यविलक्षणत्वं प्रमाणान्तरानधिगतार्थबोधकत्वं साध्यसाधनेतिकर्तव्यतोपेतयार्थीभावनया तादृश्यैव शाब्दीभावनया च युक्तत्वं सम्पन्नं वेदितव्यम् ।

'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (मी० सू० १।१।२७) इति सूत्रेण वेदानां पौरुषेयत्वमाशङ्कितम् । एके नैयायिकादयो वेदान् सन्निकर्षं सन्निकृष्टकालं पुरुषरचितत्वेनाधुनिकग्रन्थमाहुः । कुतः ? पुरुषाख्याः पैप्पलाद-कालाप-काठक-कौथुमादिपुरुषनामभिः समाख्याताः । 'अनित्यदर्शनाच्च' (मी० सू० १।१।२८) । 'ववरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इति वाक्ये जननमरणशीलप्राणिसम्बद्धभूतकालिकाख्यानवर्णनाच्च वेदानां सन्निकृष्टकालत्वमाधुनिकत्वं पौरुषेयत्वमनित्यत्वं च ज्ञायते ।

'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी० सू० १।१।३१) इत्यादिभिः सूत्रैर्जैमिनिना वेदानामपौरुषेयत्वं नित्यत्वं च साधितम् । अर्थात् 'ववरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इत्यादिवेदवाक्येषु ववरादिशब्दा न पुरुषविशेषबोधकाः, किन्तु लोके यथोपदेशसौकर्याय सुखाववोधार्थमाख्यायिकाभिः कल्पितनामभिर्व्यवहारो भवति, तथैव वेदेऽपि भवतीति श्रुतिसामान्यमात्रत्वान्न तेन वेदानां पौरुषेयत्वं सिद्ध्यति । तथा च ववरः प्रावाहणिरिति कल्पितमेव नाम मन्तव्यम् । प्रवहणशीलो ववरो वायुरेव वा विज्ञेयः । यद्वा यथा 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० सं० १०।१९०।३)

विधिवाक्य से विहित कर्मों की अनुस्मारकता मन्त्रों में है, अतः उनकी विधायकता नहीं बन सकती । वहाँ पर भी वेदाभ्यासजन्य संस्कार के कारण कर्म का अनुष्ठान करते समय द्रव्य और देवता का स्मारक होने से मन्त्र निरर्थक हो जायगा, इस आशङ्का के कारण मन्त्रों से ही द्रव्य और देवता का स्मरण करना चाहिये, इस नियम से अदृष्ट की सार्थकता में मन्त्रों का सार्थक्य माना है । इसलिये मन्त्र लौकिक वाक्यों की ही तरह विधायक नहीं होते, किन्तु अभिधायक ही होते हैं । 'विधिमन्त्रयोः' इत्यादि सूत्रों में विधिवाक्य के समान मन्त्र में भी आख्यात पद की समानता को देखकर उसमें विधायकता की शङ्का की गई है, किन्तु आगे के सूत्र में इन दोनों में वैषम्य बताकर उसका परिहार कर दिया गया है । इस प्रकार यहाँ पर विधि वाक्यों की ही विधायकता तथा प्रधानता बताई गई है और मन्त्र वाक्यों की अनुवादकता, अत एव अप्रधानता दिखाई गई है । अतः विधि भाग की ही धर्ममूलकता, लौकिक वाक्य से विलक्षणता, प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ की बोधकता, साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता रूप तीन अंश से युक्त आर्थी भावना और तीन ही अंश वाली शाब्दी भावना से युक्तता सम्पन्न होती है ।

'वेदांश्चैके०' इत्यादि सूत्र में वेदों की पौरुषेयता की आशंका की गई है । सूत्र में कहा गया है कि कोई एक नैयायिक गण वेदों को संनिकृष्ट काल के पुरुष के द्वारा रचित ग्रन्थ मानते हैं, क्योंकि इनके साथ पैप्पलाद, कालाप, काठक, कौथुम आदि पुरुषों के नाम जुड़े हुए हैं । 'अनित्यदर्शनाच्च' इस दूसरे सूत्र में बताया गया है कि 'ववरः प्रावाहणि०' इत्यादि वाक्यों में जन्म-मरणशील प्राणियों से संबद्ध भूतकालिक आख्यानों का वर्णन मिलता है । इससे भी वेदों की संनिकृष्टकालता, आधुनिकता, पौरुषेयता और और अनित्यता ज्ञात होती है ।

इससे आगे के 'परन्तु श्रुति०' इत्यादि मीमांसा सूत्रों में उक्त आक्षेपों का परिहार कर जैमिनि ने वेदों को अपौरुषेयता और नित्यता सिद्ध की है । अर्थात् 'ववरः प्रावाहणि०' इत्यादि वेद वाक्यों में ववर आदि शब्द पुरुषविशेष के वाचक नहीं हैं, किन्तु लोक में जैसे सरलता से किसी बात को समझाने के लिये आख्यायिका (कहानी) में कल्पित नामों का व्यवहार होता है, उसी तरह वेद में भी है । इस प्रकार यह बात श्रुति एवं लोक में समान होने से उससे वेदों की पौरुषेयता नहीं सिद्ध हो सकती । इस तरह ववर प्रावाहणि आदि नाम कल्पित हैं । अथवा प्रवहणशील ववर वायु ही माना जा सकता है । अथवा जैसे 'धाता ने पूर्व सृष्टि की भांति

इति प्रतिकल्पं चन्द्रसूर्यादीनामुत्पत्तिर्भवति, तथैव प्रतिकल्पं बवरस्य प्रावाहणेरपि जन्म भवति। अतस्तेष्वनुगतं प्रावाहणित्वसामान्यमेव वेदवाक्येषु विवक्षितम्। तथा चाकामयतेति यत्प्रस्तुताख्याने भूतकालिकता प्रतीयते सा भविष्यत्कालिककल्पापेक्षयैव। तेन चन्द्रसूर्यवत् प्रतिकल्पमनुप्रवृत्तप्रावाहणिबवरादिषु प्रवाहनित्यतैव युक्ता, न तावतापि वेदनित्यत्वव्याहतिः। सामाजिका ब्राह्मणभागेषु यथा संशेरते, तथैव पूर्वपक्षमुत्थाप्यात्र समाधानं कृतम्।

'अनित्यसंयोगात्' (मी० सू० १।२।६) अर्थवादाधिकरणे यथा अर्थवादा धर्मे प्रमाणं न वेति विचारस्तथैव 'बवरः प्रावाहणिः' इत्येवंजातीयका अर्थवादा धर्मे प्रमाणं न वेति संशयः। तत्र जननमरणधर्मकानित्यपुरुषप्रतिपादकत्वात् सादित्वात् स्वार्थेऽपि तेषां न प्रामाण्यं कुतो धर्म इति पूर्वपक्षः। 'अन्त्ययोर्यथोक्तम्' (मी० सू० १।२।१८) अर्थवादाधिकरणस्थं सिद्धान्तसूत्रमिदम्। तत्र 'अभागिप्रतिषेधाच्च' (मी० सू० १।२।५), 'अनित्यसंयोगात्' (मी० सू० १।२।६) इति सूत्रोपन्यस्तचोद्ययोर्यथोक्तमेव समाधानम्। अर्थात् 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी० सू० १।१।३१) इति सूत्रोक्तसमाधानमेव 'अनित्यसंयोगात्' (मी० सू० १।२।६) इति सूत्रसमाधानम्। यच्च 'अभागिप्रतिषेधाच्च' इति सूत्रेणोक्तम् 'न पृथिव्यां नान्तरिक्षे न दिव्यग्निश्चेतव्यः' (तै० सं० ५।२।७।१) एवंभूता अर्थवादा अप्रतिषेध्यप्रतिषेधकत्वादप्रमाणम्। आकाशे स्वर्गे चाप्रसक्तत्वात् प्रतिषेधो व्यर्थः। पृथिव्यां विहितत्वादेवाप्रतिषेध्यप्रतिषेधः। तत्समाधानं तु 'रुक्ममुपदधाति' (तै० सं० ५।२।७।२) इति वाक्येन हिरण्यव्यवहितचयनविधिस्तुत्यर्थमेव पृथिव्यामपि चयननिषेधः। नान्तरिक्षे न दिवीति 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (वा० सं० २३।१०) इतिवन्नित्यानुवादमात्रम्।

'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्' (मी० सू० १।२।३९)। मन्त्रा अविवक्षितार्थाः, अतोऽदृष्टद्वारैव क्रत्वङ्गम्, अथवाऽनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वात् क्रत्वङ्गमित्येवं संशये 'नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे' (तै० आ० १।३१।६), 'किं ते

नई सृष्टि की' इस वेद वाक्य के अनुसार प्रत्येक कल्प में चन्द्र, सूर्य आदि की उत्पत्ति होती है, उसी तरह प्रत्येक कल्प में बवर प्रावाहणि का भी जन्म माना जा सकता है। अतः इनमें अनुगत प्रावाहणित्व सामान्य ही वेद वाक्यों में विवक्षित माना जायगा। इस प्रकार प्रस्तुत आख्यान में 'अकामयत' इस पद के द्वारा जो भूतकालिकता प्रतीत होती है, वह भविष्यत्कालिक कल्प की अपेक्षा से होती है। इससे चन्द्र, सूर्य आदि के समान प्रत्येक कल्प में अनुस्यूत प्रावाहणि बवर आदि की भी प्रवाहनित्यता मानी जानी चाहिये। इससे वेद की नित्यता में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। इस प्रसंग में ब्राह्मण भाग की वेदता में जिस प्रकार आर्यसमाजीगण संशय करते हैं, उसी तरह का पूर्वपक्ष मीमांसासूत्रों में उपस्थापित कर उसका समाधान किया गया है।

'अनित्यसंयोगात्' इत्यादि अर्थवादाधिकरण में जैसे अर्थवाद धर्म में प्रमाण हैं या नहीं? यह विचार है, उसी तरह 'बवरः प्रावाहणि०' सरीखे अर्थवाद धर्म में प्रमाण हैं या नहीं? यह संशय भी उठता है। यहाँ पर जन्म-मरणशील अनित्य पुरुष के प्रतिपादक इन वाक्यों की सादिता के कारण ये स्वार्थ में ही प्रमाण नहीं हो सकते, तो धर्म में किस प्रकार प्रमाण हो सकते हैं? यह पूर्वपक्ष स्थापित किया गया है। 'अन्त्ययोर्यथोक्तम्' यह अर्थवादाधिकरण का सिद्धान्त सूत्र है। 'अभागिप्रतिषेधाच्च' और 'अनित्यसंयोगात्' इन दो सूत्रों के द्वारा उपस्थित की गई शंका का समाधान पहले ही कह दिया गया है। अर्थात् 'परन्तु श्रुति०' इस सूत्र में प्रदर्शित समाधान ही इनका भी समाधान है। 'अभागिप्रतिषेधाच्च' इस सूत्र में जो यह बताया गया है कि 'पृथ्वी, आकाश और स्वर्ग में अग्नि का चयन न करें' इस प्रकार के अर्थवाद अप्रतिषेध्य का भी प्रतिषेध करते हैं, अतः अप्रमाण हैं। आकाश और स्वर्ग में अग्नि का चयन प्रसक्त ही नहीं है, अतः उसका निषेध व्यर्थ है। पृथिवी में तो वह विहित ही है, अतः यहाँ पर भी अप्रतिषेध्य का प्रतिषेध किया गया है। उसका समाधान यह है कि 'रुक्ममुपदधाति' इस तैत्तिरीय श्रुति में विहित सुवर्ण से व्यवहित चयन विधि की स्तुति के लिये पृथिवी में भी चयन का निषेध किया गया है। 'अग्नि जाड़े की दवा है' इस वाक्य के समान 'नान्तरिक्षे न दिवि' यह वाक्य भी नित्यानुवाद मात्र है।

'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्' यहाँ पर मन्त्रों का अर्थ विवक्षित न होने से ये अदृष्ट के द्वारा क्रतु के अंग हैं, या अनुष्ठेय अर्थ के प्रकाशक होने से क्रतु के अंग हैं? इस प्रकार के संशय के' उठने पर 'हम वैश्रवण को नमस्कार करते हैं', 'तुम्हारी गायें मगध

कृण्वन्ति कीकटेषु गावः' (ऋ० सं० ३।५३।१४) इत्यादिमन्त्रा यदि विवक्षितार्थाः स्युस्तदाऽनित्यविश्रवणपुत्रमगधादिदेशप्रतिपादकत्वाद् वेदानामनित्यत्वपौरुषत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्। अतोऽविवक्षितार्था अक्षरपाठमात्रेण क्रत्वङ्गतामुपगच्छन्तीति पूर्वः पक्षः। 'उक्तश्चानित्यसंयोगः' (मी० सू० १।२।४०) इत्यत्र मन्त्राधिकरणस्योत्तरपक्षे वेदार्थानित्यतावारणाय 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी० सू० १।१।३१) इति सूत्रोक्तमेव समाधानम्। अर्थाद् बोधसौकर्याय कल्पितार्थप्रतिपादनं न कस्यचिदाधुनिकव्यक्तिविशेषस्य। यद्वा चन्द्रसूर्यादिवत् प्रवाहनित्यपदार्थानामेव प्रतिपादनमत्रास्ति। अर्थवादप्रकरणस्थसूत्राभ्यां ब्राह्मणान्तर्गतेष्वर्थवादेषु मन्त्राधिकरणस्थसूत्राभ्यां च मन्त्रेषु प्रसक्तायाः पौरुषेयताया निराकरणं ज्ञातव्यम्। यदि मन्त्राणामेव वेदत्वं स्यात्तदा तु मन्त्रेष्वेव पौरुषेयत्वमाशङ्क्य तत्प्रत्याख्यानं युक्तं स्यात्, न तु ब्राह्मणानां पौरुषेयत्वशङ्कासमाधानम्। किञ्च, यदि मन्त्राणामेव वेदत्वमपौरुषेयत्वं चेष्टं स्यात्तदा प्रथमसूत्रे वेदपदेनान्त्यसूत्रे मन्त्रपदेन च विषयनिर्देशो व्यर्थ एव स्यात्। सामाजिकाः काठकादिशाखा वेदत्वेन न मन्यन्ते, पुरुषसम्बन्धमितिहासं च दृष्ट्वैव ब्राह्मणानामवेदत्वं मन्यन्ते। तेषां रीत्या कथङ्कारं पूर्वोत्तरपक्षस्थानि पूर्वोक्तानि सूत्राणि सङ्गच्छेरन्। यदि तु पुरुषाख्या इत्यनेन पौरुषेयत्वशङ्का, 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी० सू० १।१।३१) इत्यनेन च समाधानमिष्येत, तदा तु ब्राह्मणगताख्यायिकानामपि तथैव समाधानं भवत्येव। कथं पुनरितिहासमिश्रणेन ब्राह्मणानामवेदत्वं शङ्क्यते।

'ऊहः' (मी० सू० १।२।५२) इति सूत्रेणापि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं सिद्ध्यति। यद्यपि वेदेषु 'ऊहः कर्तव्यः' इति न श्रूयते, प्रत्युत 'न माता वर्धते न पिता' इत्यनेनोहनिषेध एव श्रुतः। मन्त्रो विवक्षितार्थ इत्यस्यार्थस्य साधनाय प्रकृतं सूत्रमस्ति। तत्तात्पर्यमिदम्—यदि माता पितामही प्रपितामही तथा पिता पितामहः प्रपितामहो विवक्षिता भवेयु-

में क्या करती हैं' यहाँ पर मन्त्रों का अर्थ यदि विवक्षित माना जायगा तो अनित्य विश्रवण के पुत्र तथा मगध देश आदि के प्रतिपादक इन वेद वाक्यों में अनित्यता, पौरुषेयता आदि दोष उठ खड़े होंगे। अतः मन्त्रों के अर्थ विवक्षित न होकर अक्षर पाठ मात्र से इनकी क्रत्वंगता मानी जानी चाहिये, यह पूर्व पक्ष स्थापित किया गया है। 'उक्तश्चानित्यसंयोगः' यह मन्त्राधिकरण का सिद्धान्त सूत्र है। यहाँ पर वेदार्थ की अनित्यता की आपत्ति के निवारण के लिये 'परन्तु श्रुति०' इत्यादि सूत्र में दिया गया समाधान ही उपस्थित कर दिया गया है। अर्थात् सरलता से समझाने के लिये इन नामों की कल्पना की गई है, ये किसी आधुनिक व्यक्ति के नाम नहीं हैं। अथवा चन्द्र, सूर्य आदि के समान यहाँ पर भी प्रवाह रूप से चले आ रहे पदार्थों का ही प्रतिपादन है। अर्थवादाधिकरण में स्थित दो सूत्रों से ब्राह्मण भाग में स्थित अर्थवादों का और मन्त्राधिकरण में स्थित दो सूत्रों से मन्त्र भाग में प्रसक्त पौरुषेयता का निराकरण जानना चाहिये। यदि मीमांसासूत्रकार को केवल मन्त्र भाग को ही वेदता स्वीकार होती, तो फिर केवल मन्त्रों की ही पौरुषेयता की शंका उठाकर उसका समाधान किया होता। ब्राह्मणों की पौरुषेयता का शंका-समाधान तब अपेक्षित नहीं था। दूसरी बात यह है कि सूत्रकार को यदि मन्त्रों की ही वेदता और अपौरुषेयता अभीष्ट होती, तो प्रथम सूत्र में वेद पद से और अन्तिम सूत्र में मन्त्र पद से विषय का निर्देश करना व्यर्थ ही हो जाता। आर्यसमाजी काठक आदि शाखाओं को वेद नहीं मानते और पुरुष संबन्ध तथा इतिहास देखकर ब्राह्मणों की भी अवेदता सिद्ध करते हैं। उनके मत से यहाँ पर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के सूत्रों की संगति किस प्रकार बैठ सकती है? यदि पुरुष की आख्या अर्थात् नाम के उपलब्ध होने से पौरुषेयत्व की शंका और 'परन्तु श्रुति०' इस सूत्र से उसका समाधान माना जाता है, तो उसी न्याय से ब्राह्मणगत आख्यायिकाओं का भी समाधान हो जाता है। ऐसी स्थिति में इतिहास के मिश्रण से ब्राह्मणों की अवेदता कैसे बन सकेगी?

'ऊहः' इस सूत्र से भी ब्राह्मण भाग की वेदता सिद्ध होती है। वेद में कहीं भी नहीं सुना गया, प्रत्युत 'उसके माता पिता दीर्घायु नहीं होते' इत्यादि स्थलों में ऊह का निषेध ही किया गया है। मन्त्र का अर्थ विवक्षित है, इस बात को सिद्ध करने के लिये प्रकृत सूत्र है। उसका तात्पर्य यह है कि यदि माता, पितामही, (दादी) प्रपितामही (परदादी) तथा पिता, पितामह, प्रपितामह

स्तथापि 'माता मन्यतामनु पिता' इति मन्त्रे 'माता, पिता' इति पदयोर्यथाश्रुतमेकवचनमेव प्रयोक्तव्यम्, नात्र मातरः पितरो वेत्यूहेन बहुवचनं कर्तव्यम्, विवक्षितार्थत्वे मन्त्राणां सत्येवैकत्वबहुत्वानुरोधेनोहः सम्भवति। अत्र निषेधेनैवान्यत्र मन्त्रेष्वर्थप्रकरणाद्यनुरोधेनोहः प्राप्यते, प्राप्त्यभावे निषेधानुपपत्तेः। ऊहनिषेधेनोहनिश्चयादेव सूर्यदेवताके यागे सौर्यचरुनिर्वापसमये यदा 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' (तै० ब्रा० ३।२।४।६) इति मन्त्रः पठ्यते, तदा तत्राग्निशब्दमपसार्य सूर्यशब्दो योज्यते। 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' इत्येवं मन्त्रः पठ्यते। तत्रोदाहरणरूपेण 'न माता वर्धते न पिता' इति ब्राह्मणवाक्यमुपस्थाप्यते। यदि ब्राह्मणं वेदो न स्यात् तदोह एव न स्यात्। तदभावे साक्षात्पठितमग्निशब्दमपसार्य पठितसूर्यादिपदस्योहः कथङ्कारं कर्तुं शक्यते।

'वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्' (मी० सू० ३।२।३) इदमपि ब्राह्मणस्य वेदत्वे प्रमाणम्। महाग्निचयने 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (मै० सं० ३।२।४) इति श्रुतम्। तत्र संशयः—ऐन्द्रचा इन्द्रस्योपस्थानं कर्तव्यं गार्हपत्याग्नेर्वा ? मन्त्रे इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यलिङ्गाद् इन्द्रोपस्थानं युक्तमिति पूर्वपक्षः, वचनबलाद् गार्हपत्याग्न्युपस्थानमिति सिद्धान्तः। तत्र ब्राह्मणस्यावेदत्वे कथं तद्बलान्मन्त्रस्य स्वार्थविरुद्धार्थोपस्थानविनियोगः स्यात्।

ननु 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते'॥ (तै० सं० १।४।२२।१)। हे इन्द्र, कदाचिदपि न स्तरीरसि हिंसको न भवसि, किन्तु दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय फलप्रदानार्थं सश्चसि गच्छसि। कुत्र ? उपोपेन्नु यजमानस्यात्यन्तसमीप एव। हे मघवन्, भूय इन्नु पुनरेव देवस्य ते तव दानं देयं हविः पृच्यते सम्बद्धचत इति मन्त्रार्थानुसारेणेयमैन्द्री ऋगुच्यते। इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यमत्र स्पष्टं दृश्यते। तेना-

विवक्षित हों, तो भी 'माता मन्यतामनु पिता' इत्यादि मन्त्रों में वर्तमान माता-पिता पदों का यथाश्रुत एक वचन में ही प्रयोग होना चाहिये, यहाँ पर ऊह के द्वारा 'मातरः, पितरः' इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि मन्त्रों में अर्थ के विवक्षित होने पर ही एकत्व अथवा बहुत्व के अनुरोध से ऊह हो सकता है। यहाँ पर जो ऊह का निषेध किया गया है, इसी से सिद्ध होता है कि अन्यत्र मन्त्रों में अर्थ प्रकरण आदि के अनुरोध से ऊह प्राप्त है, क्योंकि बिना प्राप्ति के निषेध नहीं होता। एक स्थान पर ऊह के निषेध से अन्य स्थानों में ऊह होता है, ऐसा निश्चय होने से ही सूर्य देवता वाले याग में सूर्य के लिये दिये जाने वाले चरु के निर्वाप के अवसर पर 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इस मन्त्र में से 'अग्नि' पद को हटाकर 'सूर्य' शब्द को जोड़कर 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' इस प्रकार मन्त्र का पाठ हो जाता है। यहाँ पर उदाहरण के रूप में 'न माता' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य उद्धृत किया जाता है। यदि ब्राह्मण वेद न होता तो वहाँ ऊह कैसे होता ? और उसके अभाव में साक्षात् पठित अग्नि शब्द को हटाकर उसके स्थान में अपठित 'सूर्य' आदि पद का ऊह कैसे सम्भव होता ?

'वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्' यह सूत्र भी ब्राह्मण भाग की वेदता में प्रमाण है। महाग्निचयन में 'ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य अग्नि के पास उपस्थित होता है' यह श्रुति है। यहाँ पर संशय उपस्थित होता है कि ऐन्द्री ऋचा से इन्द्र का उपस्थान कर्तव्य है अथवा गार्हपत्य अग्नि का ? मन्त्र में इन्द्र के प्रकाशक चिह्नों के कारण इससे इन्द्र का ही उपस्थान होना चाहिये, इस पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर सिद्धान्त रूप से बताया गया है कि वचन के सामर्थ्य से यहाँ पर गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करना चाहिये। यदि ब्राह्मण को वेद नहीं माना जायगा, तो उसके सामर्थ्य से मन्त्र के अपने अर्थ के विरुद्ध अग्नि के उपस्थान में कैसे विनियोग होगा ?

'कदाचन स्तरीरसि०' इत्यादि मन्त्र ऐन्द्री ऋक् है। इसका अर्थ यह है—'हे इन्द्र, तुम कभी भी हिंसक नहीं होते, किन्तु हवि देने वाले यजमान को उसका फल देने के लिये उस यजमान के बहुत समीप में पहुँच जाते हो। हे मघवन्, तुमको दी जानी वाली हवि पुनः तुमसे संपृक्त हो जाती है।' इस अर्थ के अनुसार इस ऋचा का संबन्ध इन्द्र से है। यहाँ पर इन्द्र के प्रकाशन का सामर्थ्य स्पष्ट दिखाई देता है, इससे इसका मुख्य देवता इन्द्र ही है। इसके अनुरोध से 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस ब्राह्मण वाक्य में स्थित गार्हपत्य शब्द का अर्थ अग्निविशेष न कर गौण अर्थ इन्द्र ही गृहीत होना चाहिये। मन्त्र की संगति भी इन्द्र के

स्या इन्द्र एव मुख्यो देवता भवति। तदनुरोधेन 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते। (मै० सं० ३।२।४) इति ब्राह्मणवाक्यस्थगार्हपत्यशब्दस्याग्निविशेषमर्थमगृहीत्वा गौणोऽर्थ इन्द्र एव ग्राह्यः। इन्द्रोपस्थान एव मन्त्रार्थसङ्गतेरिति चेन्न, 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (मै० सं० ३।२।४) इत्यत्र ऐन्द्रचेति तृतीयाश्रुत्या गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्या च गार्हपत्यस्य प्राधान्यम् ऐन्द्रचास्तदङ्गत्वं विज्ञायते। तेन गार्हपत्यशब्दस्य मुख्योऽर्थोऽग्निविशेष एव, गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति न्यायेनाप्रधान एव गौणार्थकल्पनं युक्तम्। अत एव सिंहो माणवक इत्यत्र सिंहशब्दस्य मुख्यं पशुविशेषमर्थमगृहीत्वा प्रधानभूतमाणवकयोग्यशौर्यक्रौर्यादिविशिष्टगौणार्थ एव गृह्यते, तथैव प्रकृते इन्द्रशब्दस्य गार्हपत्यशब्दमुख्यार्थाग्निविशेषयोग्यपरमैश्वर्यविशिष्टगौणार्थ एव गृह्यते। सूत्रार्थस्तु—ऐन्द्री ऋगेवायथार्था गौणार्थबोधिका। कुतः, वचनात् 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति वचनबलात्। यद्यपि रूढिर्योगाद् बलीयसीति न्यायेन रूढिवशादिन्द्र एवैन्द्रचा अर्थो युक्तः, तथापि पूर्वोक्तविनियोगवचनबलेन 'उपतिष्ठते' इति क्रिययेप्सिततमस्य गार्हपत्यस्य कर्मत्वात् प्राधान्यं कर्मत्वादेव द्वितीया। तस्माद् द्वितीयाश्रुतिबलाद् रूढिर्योगाद् बलीयसीति न्यायो बाध्यते। अतो गार्हपत्यानुरोधेन रूढचोपस्थितमर्थमपहाय परमैश्वर्यरूप इन्द्रपदस्य यौगिकोऽर्थो गृह्यते। ऐन्द्रचा इत्युपक्रमस्थतद्धितश्रुत्यापीन्द्रोपस्थान एवास्या विनियोगो यद्यपि युक्तः, तथापि परमैश्वर्यविशिष्टगौणोऽर्थो गार्हपत्योऽपीन्द्रशब्दस्यार्थः सम्भवति, तद्धितप्रत्ययोऽपि तत्र नानुपपन्नः। एवं ब्राह्मणवाक्योपात्तगार्हपत्यशब्दस्य मुख्योऽर्थोऽग्निविशेष एव गृह्यते। ऐन्द्रचा ऋचोपात्तस्येन्द्रशब्दस्यैव गौणोऽर्थो ग्राह्यः।

ननु चैन्द्रचा ऋच इन्द्रपदानुरोधेन विनियोजकब्राह्मणगतस्य गार्हपत्यशब्दस्यैव गौणोऽर्थो गृह्यतां यश्चेन्द्रपदसमन्वययोग्यः स्यादिति चेन्न, ब्राह्मणगतविधिवाक्यस्य प्रधानत्वात्। कुतः? मन्त्रैरन्यैश्च लौकिकैः प्रमाणैस्तदर्थानधिगमात्। अनधिगताबाधितार्थस्वार्थबोधकत्वेन स्वार्थपर्यवसायित्वाद् ब्राह्मणस्य प्राधान्यम्। अत एव न विधौ परः

उपस्थान में ही है। यह पूरा कथन इसलिये ठीक नहीं है कि 'ऐन्द्रचा' इस तृतीया श्रुति से और 'गार्हपत्यम्' इस द्वितीया श्रुति से गार्हपत्य का प्राधान्य और ऐन्द्री की तदंगता ज्ञात होती है। इसलिये गार्हपत्य का मुख्य अर्थ अग्निविशेष ही होगा। 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इस न्याय से अप्रधान की उपस्थिति में ही गौण अर्थ परिगृहीत होता है। इसी लिये 'सिंहो माणवकः' यहाँ पर सिंह शब्द के मुख्य अर्थ पशुविशेष को न लेकर प्रधान अर्थभूत माणवक के योग्य शौर्य, क्रौर्य आदि सिंह के विशिष्ट गुणों का गौणी वृत्ति से से परिग्रहण होता है, उसी तरह प्रकृत में इन्द्र शब्द का गार्हपत्य शब्द के मुख्यार्थ अग्निविशेष के योग्य परमैश्वर्य विशिष्ट गौणार्थ ही गृहीत होता है। अतः इस सूत्र का अर्थ यह होता है कि ऐन्द्री ऋचा ही अयथार्थ अर्थात् गौण अर्थ की बोधिका होती है, क्योंकि इसी आशय का 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यम्' इत्यादि वचन मिलता है। यद्यपि 'रूढिर्योगाद् बलीयसी' इस न्याय से बलवती रूढि के कारण ऐन्द्री ऋचा का इन्द्र अर्थ ही उचित है, तो भी पूर्वोक्त विनियोग वचन के प्रमाण से 'उपतिष्ठते' इस क्रिया का ईप्सिततम कर्म गार्हपत्य प्रधान है, कर्म होने से ही यहाँ द्वितीया विभक्ति हुई है। इसलिये द्वितीया श्रुति के सामर्थ्य से 'रूढिर्योगाद्' इत्यादि न्याय बाधित हो जाता है। इसलिये गार्हपत्य के अनुरोध से रूढि के द्वारा उपस्थित अर्थ को छोड़कर इन्द्र पद का परमैश्वर्य युक्त यौगिक अर्थ ही लिया जाता है। 'ऐन्द्रचा' इत्यादि उपक्रम वाक्य में स्थित तद्धित श्रुति से भी यद्यपि इन्द्र के उपस्थान में ही इसका विनियोग उचित है, तो भी परमैश्वर्य विशिष्ट गौण अर्थ गार्हपत्य भी इन्द्र शब्द का अर्थ हो सकता है, इस अर्थ में भी तद्धित श्रुति की अनुपपत्ति नहीं है। इस प्रकार ब्राह्मण वाक्य में गृहीत गार्हपत्य शब्द का मुख्य अर्थ अग्निविशेष ही गृहीत होता है। ऐन्द्री ऋचा में उपात्त इन्द्र शब्द का ही गौण अर्थ कर लेना चाहिये।

ऐन्द्री ऋचा के इन्द्र पद के अनुरोध से विनियोजक ब्राह्मण वाक्यगत गार्हपत्य शब्द का ही गौण अर्थ क्यों न कर लिया जाय, जिसका कि इन्द्र पद के साथ समन्वय हो सकता हो? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि ब्राह्मणगत विधिवाक्य प्रधान है, क्योंकि मन्त्रों से अथवा अन्य लौकिक प्रमाण से उस अर्थ की अधिगति नहीं हुई है, जिसको कि यह ब्राह्मण वाक्य बताता है। यहाँ पर प्रमाणान्तर से अनधिगत तथा अबाधित स्वतन्त्र अर्थ का प्रतिपादक होने से स्वार्थपर्यवसायी ब्राह्मण वाक्य की प्रधानता है। इसी

शब्दार्थ इति न्यायेन विधिवाक्येषु मुख्यार्थत्यागो न, गौणार्थस्वीकारश्च न भवति। तद्वैपरीत्येन ब्राह्मणबोधितार्थबोधकत्वान्मन्त्रस्याप्राधान्यं भवति, तत एव मुख्यार्थत्यागो गौणार्थस्वीकारश्च भवति। तेन ब्राह्मणापेक्षया मन्त्रस्य दौर्बल्यं स्वतः सिद्धं भवति। तच्च ब्राह्मणस्यावेदत्वे कथं सम्भवति? तस्मान्मीमांसावृत्ताऽज्ञानभिज्ञ एव ब्राह्मणस्यावेदत्वं प्रलपति।

'अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागशः स्यात्' (मी० सू० २।१।३४) इति सूत्रमपि ब्राह्मणस्य वेदत्वे प्रमाणम्, एतदव्यवहितपूर्वाभ्यां 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (मी० सू० २।१।२९), 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० सू० २।१।३०) इति सूत्राभ्यां मन्त्रब्राह्मणयोर्विभागः कृतः। 'अग्ने महान् असि ब्राह्मणभारत असावसौ दर्शपूर्णमासयोर्होतृनिगदो भवति'। प्रयोगकालेऽसावसाविति स्थाने भार्गवच्यवनाप्नवानौर्वजामदग्न्या इत्यादयः प्रक्षिप्यन्ते। प्रवराख्यानमपीदमेव। एवमेव 'अग्नये' इत्यस्य स्थाने 'सूर्याय' इति प्रक्षेपो भवति। एवं 'आसामनुष्ठा' इति होतृवरणमन्त्रे नामधेयप्रक्षेपो भवति। एवं प्रवरो ह नामधेयो मन्त्रा भवन्ति न वेति संशयः। मन्त्रमध्यपातित्वाद् मन्त्रैकार्थप्रतिपादकत्वाद् मन्त्ररूपेण व्यवह्रियमाणत्वाच्च मन्त्र एवेति पूर्वपक्षः। उपर्युक्तसूत्रेण सिद्धान्ते वेदे प्रत्यक्षानाम्नाताः प्रवरादयो न मन्त्रा इति सिद्धान्त इत्युक्तम्। तत्र प्रत्यक्षाम्नातेषु मन्त्रब्राह्मणवाक्यान्येव गृहीतानि। अत्र ब्राह्मणभागस्य साक्षादाम्नातत्वोपगमात् स्पष्टमेव वेदत्वमूरीकृतम्। 'वेदसंयोगात्' (मी० सू० ३।४।३२), 'सुवर्णंभार्यं सुवर्ण एव भवति दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति। अत्र सुवर्णधारणेन यजमानस्य सुवर्णता तद्भ्रातृव्यस्य च दुर्वर्णतोक्ता। तत्र 'सर्वं हिरण्यं रजतम्' (तै० ब्रा० ३।१२।६।६) इति वाक्येन रजतस्यापि हिरण्यत्वमुक्तम्। तस्मात्तद्वारणाय हिरण्यस्य सुवर्णविशेषणमुक्तम्। अनारभ्यश्रूयमाणत्वात् सुवर्णधारणं यज्ञोपकारकम्, पुरुषस्य वोपकारकमिति संशयः? यज्ञस्योपकारकमिति निर्णयार्थं पूर्वोक्तं सूत्रम्। सूत्रार्थस्तु—वेदे आध्वर्यवसमाख्यायुक्ते यजुर्वेदे 'सुवर्णं भार्यम्' इति ब्राह्मणवाक्य-

लिये 'विधि में दूसरा शब्दार्थ नहीं होता' इस न्याय से विधिवाक्य में न तो मुख्य अर्थ का त्याग होता है और न गौण अर्थ की स्वीकृति ही होती है। इसके विपरीत ब्राह्मण के द्वारा बोधित अर्थ का बोधक होने से मन्त्र की अप्रधानता होती है। इसी लिये यहाँ पर मुख्यार्थ का त्याग कर गौण अर्थ स्वीकार किया जाता है। ब्राह्मण की अपेक्षा से यहाँ मन्त्र का दौर्बल्य स्वतः सिद्ध है। ब्राह्मण को वेद न मानने पर यह कैसे संभव हो सकता है? इस प्रकार मीमांसा के मर्म को न जानने वाला ही कह सकता है कि ब्राह्मण भाग वेद नहीं है।

'अनाम्नातेष्व०' यह सूत्र भी ब्राह्मण भाग के वेद होने में प्रमाण है। ठीक इससे पहले के 'तच्चोदकेषु', 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इन दो सूत्रों से मन्त्र और ब्राह्मण का विभाग किया गया है। 'अग्ने महान् असि'''असावसौ' यहाँ पर 'असावसौ' इस पद के स्थान में भार्गव, च्यवन, आप्नवान्, और्व, जामदग्न्य इत्यादि शब्दों का प्रक्षेप होता है। इसी को प्रवराख्यान कहा जाता है। इसी तरह 'अग्नये' के स्थान में 'सूर्याय' पद का प्रक्षेप होता है। इसी तरह 'आसामानुष्ठा' इस होता के वरण मन्त्र में नामधेय का प्रक्षेप होता है। इस प्रकार ये प्रवर, ऊह और नामधेय मन्त्र हैं या नहीं? यह संशय उठता है। पूर्वपक्षी का कहना है कि मन्त्र के मध्य में इनका प्रक्षेप होता है, मन्त्र के साथ मिल कर एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं और मन्त्र के रूप में इनका व्यवहार भी होता है, अतः ये मन्त्र ही कहे जायंगे। किन्तु ऊपर उद्धृत सूत्र में यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि वेद में प्रत्यक्षतः जिनका उपदेश नहीं हुआ है, ऐसे प्रवरादि मन्त्र नहीं कहे जा सकते। यहाँ पर मन्त्र और ब्राह्मण वाक्यों को ही प्रत्यक्षतः आम्नाय माना गया है। इससे ब्राह्मण भाग की भी साक्षात् आम्नायता मानने से स्पष्ट ही है कि उसको भी वेद माना गया है। 'वेदसंयोगात्' इस सूत्र में 'सुवर्ण धारण करना चाहिये, वह सुवर्ण होता है, उसका शत्रु दुर्वर्ण होता है' इस श्रुति के द्वारा सुवर्ण के धारण से यजमान की सुवर्णता और उसके शत्रु की दुर्वर्णता प्रतिपादित है। 'सारा सुवर्ण रजत कहलाता है' इस तैत्तिरीय श्रुति में रजत को भी हिरण्य माना है। उसकी निवृत्ति के लिये यहाँ पर हिरण्य का सुवर्ण विशेषण दिया गया है। सुवर्ण धारण यहाँ पर अनारभ्य श्रूयमाण है, अतः यह यज्ञ का उपकारक है या पुरुष का, यह संशय उठता है। वह यज्ञ का उपकारक है, ऐसा निर्णय उक्त सूत्र से होता है। सूत्र

संयोगादध्वर्युर्यजुर्वेदीय ऋत्विक् सुवर्णधारणेन संस्कार्यः। तेन यज्ञोपकारो जायते। एवमत्र सुवर्णं हिरण्यं भार्यमिति वाक्यस्य यजुर्वेदपठितत्वाङ्गीकारेण जैमिनिना स्पष्टं ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमूरीकृतम्।

'दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात्' (मी० सू० ३।४।३४) इदं सूत्रमपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे प्रमाणम्। 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (तै० सं० २।३।१२।१) इत्यत्र 'प्रतिगृह्णीयात्' इति विधिपदश्रवणात् प्रतिग्रहीतुरिष्टिः प्रतीयते। परमुपक्रमेऽर्थवादे 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्। स स्वां देवतामार्च्छत् स पर्यदीर्यत स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत् तन्निरवपत्। ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत'(सं०सं० २।३।१२।१) इति वाक्येन दातुरिष्टिः प्रतीयते। असञ्जातविरोधित्वादुपक्रमस्य प्राबल्यात् तदनुसारेण प्रतिगृह्णीयादित्यत्रान्तर्भावितं णिजर्थमभ्युपगम्य प्रतिग्राहयितुर्दातुरेवेष्टिरिति सिद्धान्तः कृतः। तत्र पुनः संशयः—लौकिकाश्वदाननिमित्तेयमिष्टिर्वैदिकाश्वदाननिमित्तका वा? तत्र प्रायश्चित्तरूपेयमिष्टिः स्वेच्छानिमित्ताश्वदाननिमित्तकैव, प्रायश्चित्तविधानस्य दोषश्रवणादेव सम्भवात्। वैदिकाश्वदानं तु 'वारुणं यवमयं चरुमश्वो दक्षिणा' (तै० स० १।८।८।१) इति वैदिकवाक्येन विहितम्। अतो न तत्र दोषः सम्भाव्यते। अत्राश्वदानविधायकस्य 'वारुणं यवमयं चरुमश्वो दक्षिणा' (तै० सं० १।८।८।१) इति ब्राह्मणवाक्यस्य वेदत्वमभ्युपगतं जैमिनिना। 'वैदिके न दोषः स्यात्' इत्यंशेन यज्ञे यत्रैकस्मिन् पात्रेऽनेके ऋत्विजो भक्षयन्ति तत्र संशयः—कः प्रथमं भक्षयेदिति। भोज्यहोमद्रव्यस्याध्वर्युसमीपस्थत्वात् स एव प्रथमं भक्षयेदिति पूर्वपक्षे, ऋग्वेदी होता प्रथमं भक्षयेदिति सिद्धान्त उक्तः। 'होता वा मन्त्रवर्णात्' (मी० सू० ३।५।३७), 'वचनाच्च' (मी० सू० ३।५।३८) इति सूत्राभ्याम्। 'ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत् होतेव नः प्रथमः पाहि…' इत्यादि मन्त्रलिङ्गैस्तथा 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' इति ब्राह्मणवाक्येन च वषट्कर्तुर्होतुः प्रथमभक्षः सिद्धान्तितः। पूर्वोक्तसिद्धान्तानुसारेण मन्त्रेषु विधानशक्त्यभावादेव 'होतेव न' इत्यादिमन्त्रस्य होतुर्भक्षणस्य

का अर्थ इस प्रकार है—वेद में अर्थात् आध्वर्यव नाम से प्रसिद्ध यजुर्वेद में 'सुवर्णं भार्यं' इस ब्राह्मण वाक्य के अनुसार अध्वर्यु अर्थात् यजुर्वेदीय ऋत्विक् को सुवर्ण धारण द्वारा संस्कृत करना चाहिये। इससे यज्ञ का उपकार होता है। इस प्रकार यहाँ पर 'सुवर्णं भार्यं' इस वाक्य को यजुर्वेद पठित मानकर जैमिनि ने स्पष्ट ही ब्राह्मण भाग को वेद माना है।

'दोषात्त्विष्टि०' यह सूत्र भी ब्राह्मण को वेद मानने में प्रमाण है। 'जितने अश्वों को ले, उतनी ही संख्या के वरुण देवता के चतुष्कपालों का निर्वाप करें' यहाँ पर 'प्रतिगृह्णीयात्' इस विधि पद के कारण प्रतिगृहीता की इष्टि प्रतीत होती है। परन्तु उपक्रम में स्थित इस अर्थवाद वाक्य से कि—'प्रजापति ने वरुण को अश्व भेंट में दिया, उसने वरुण सम्बन्धी चतुष्कपाल को देखा। इस चतुष्कपाल का वरुण देवता के लिये निर्वाप कर वह वरुण के पाश से मुक्त हो गया' इष्टि दाता की है, यह प्रतीत होता है। किसी प्रकार के विरोध न उत्पन्न होने से, उपक्रम के प्रबल होने से, उसी के अनुसार 'प्रतिगृह्णीयात्' इस पद में णिजर्थ को अन्तर्भावित मानकर प्रतिग्राहयिता अर्थात् दाता की ही इष्टि सिद्धान्त रूप में स्वीकार की गई है। यहाँ पुनः संशय उठता है कि यह इष्टि लौकिक अश्वदान के निमित्त है या वैदिक? यह इष्टि प्रायश्चित्त के रूप में की जाती है, अतः स्वेच्छाप्रयुक्त लौकिक अश्वदान ही यहाँ विहित है, क्योंकि दोष श्रवण के बाद ही प्रायश्चित्त का विधान होता है। वैदिक अश्वदान तो 'वरुण देवता का यवमय चरु और दक्षिणा अश्व होती है' इस वैदिक वाक्य में विहित है। यहाँ पर किसी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं है। यहाँ पर अश्वदान विधायक 'वारुणं यवमयं' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य को जैमिनि ने वेद माना है। 'वैदिके न दोषः स्यात्' उक्त सूत्र के इस अंश से यज्ञ में जहाँ पर एक पात्र में अनेक ऋत्विक् भोजन के लिये बैठते है, वहाँ पर संशय उठता है कि पहले कौन आहार ग्रहण करे। भोज्य होम द्रव्य अध्वर्यु के पास रहता है, अतः वही पहले आहार ग्रहण करे, इस पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि पहले ऋग्वेदी होता भोजन करे। 'होता वा मन्त्रवर्णात्', 'वचनाच्च' इन सूत्रों से तथा 'ग्रावाणः सुकृतः' इत्यादि मन्त्रों के प्रमाण से तथा 'वषट्कर्ता का प्रथम भक्षण है' इस ब्राह्मण वाक्य से वषट्कर्ता अर्थात् होता का प्रथम भक्षण विहित है। पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रों में विधान की शक्ति न रहने से

प्राथम्यविधानेऽसामर्थ्यादेव 'होता वा मन्त्रवर्णात्' (मी० सू० ३।५।३७) इत्युक्त्यापि जैमिनेर्न सन्तोषः। तत एव 'वचनाच्च' (मी० सू० ३।५।३८) अर्थात् 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' इति ब्राह्मणवाक्याद् भक्षणस्य प्राथम्यं सिद्धान्तितम्। ब्राह्मणभागस्यावेदत्वे कथं मन्त्रेणासाधितमर्थं ब्राह्मणवाक्यं साधयेत्। ब्राह्मणभागस्य यदि वेदत्वं न स्यात् तदा होतुर्भक्षस्य प्राथम्यं न स्यात्, अध्वर्योः सविधे भक्ष्यद्रव्यस्य सत्त्वात् क्रमरूपेण लौकिकेन प्रमाणेनाध्वर्योरेव भोजने प्राथम्यं प्राप्तम्, ततो मन्त्रलिङ्गेन प्राथम्यविधानमसम्भवं मत्वा ब्राह्मणभागस्यापौरुषेयत्वाद् वेदत्वाच्च तेन वषट्कर्तुर्भक्षस्य प्राथम्यविधानाज्जैमिनिना 'वचनाच्च' (मी० सू० ३।५।३८) इति सूचितम्।

'वेदोपदेशात् पूर्ववेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः' (मी० सू० ३।७।५०) इदं चतुर्विंशाधिकरणस्य पूर्वपक्षसूत्रम्। त्रयोविंशेऽधिकरणे चेदं निर्णीतं यद् आध्वर्यवसमाख्यायुक्तेन यजुर्वेदेन विधीयमानचमसहोमादिकर्मणामनुष्ठानमध्वर्युः कुर्यात्। औद्गात्रसमाख्यायुक्तेन सामवेदेन विहितानां श्येनयागादीनाम्, तथा आध्वर्यवसमाख्यायुक्तेन यजुर्वेदेन विहितानां वाजपेयादियागानामनुष्ठानं यथाक्रममुद्गातृगणोऽध्वर्युगणश्च कुर्याताम्, अथवा यागे नियुक्ताः सर्वे ऋत्विजः कुर्युरिति संशयः। तत्र पूर्वोद्धृतसूत्रेण यानि कर्माणि येन वेदेन समाख्यातानि तानि तैरेव ऋत्विग्भिः कार्याणि। तेनाद्गात्रा समाख्याते सामवेदे विहितानामुद्गातृगणेन, अध्वर्युसमाख्याते यजुर्वेदे विहितानां वाजपेयादीनामध्वर्युगणेनानुष्ठानं युक्तम्, नान्यैर्ऋत्विग्भिः। एतेन ब्राह्मणानां वेदत्वं स्पष्टं प्रतीयते, कुतः? मन्त्रेषु कर्मणां विधायकत्वायोगात्। चमस-होत्र-श्येन-वाजपेयादियागानां तत्तद्वेदीयब्राह्मणेष्वेव विधानं भवति। तस्मात् 'वेदोपदेशात् पूर्ववद्वेदान्यत्वे' (मी०सू० ३।७।४८) इति सूत्रे प्रथमवेदशब्देन यजुर्वेदस्य ब्राह्मणभागः, द्वितीयवेदशब्देन सामवेदीयब्राह्मणभागश्च सूचितः।

'संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद् व्यवतिष्ठेरन्' (मी० सू० ३।८।३) इति सूत्रेणापि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं सिद्ध्यति। तथाहि ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'केशश्मश्रू वपते। नखानि निकृन्तते। दतो धावते। स्नाति'

'होतेव न' इत्यादि मन्त्रों से होता के प्रथम भक्षण के विधान में सामर्थ्य न होने से 'होता वा मन्त्रवर्णात्' यह कह देने पर भी जैमिनि को संतोष न हुआ। इसीलिये 'वचनाच्च' इस सूत्र से 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' इस ब्राह्मण वाक्य से भक्षण के प्राथम्य को पुष्ट किया है। ब्राह्मण भाग के वेद न माने जाने पर मन्त्र से असाधित अर्थ का विधान ब्राह्मण वाक्य से कैसे सम्भव होता ? ब्राह्मण को यदि वेद न माना जाय, तो होता के प्रथम भक्षण का विधान नहीं हो सकता। अध्वर्यु के पास भक्ष्य द्रव्यों के रहने से लौकिक प्रमाणों से क्रमानुसार अध्वर्यु के भोजन का ही प्राथम्य प्राप्त है। इस अवस्था में मन्त्र लिङ्ग से प्राथम्य विधान असम्भव है, ऐसा मानकर ब्राह्मण भाग के भी अपौरुषेय होने से और वेद होने से उसी के द्वारा वषट्कर्ता के प्रथम भक्षण का विधान जैमिनि ने 'वचनाच्च' इस सूत्र के द्वारा सूचित किया है।

'वेदोपदेशात्०' यह चतुर्विंशाधिकरण का पूर्वपक्ष सूत्र है। तेईसवें अधिकरण में यह निर्णय किया गया है कि आध्वर्यव समाख्या वाले यजुर्वेद से विधीयमान चमस होम आदि कर्मों का अनुष्ठान अध्वर्यु करे। इसके बाद औद्गात्र समाख्या वाले सामवेद से विहित श्येन याग आदि का तथा आध्वर्यव समाख्या वाले यजुर्वेद से विहित वाजपेय आदि यागों का अनुष्ठान क्रमशः उद्गातागण और अध्वर्युगण करें अथवा याग में नियुक्त सभी ऋत्विक्‌गण मिलकर करें, यह संशय उठता है। इस परिस्थिति में पूर्व उद्धृत सूत्र से जिन कर्मों का समाख्यान जिस वेद ने किया है, उन कर्मों का अनुष्ठान उसी वेद के ऋत्विक् को करना चाहिये। अतः औद्गात्र समाख्या वाले सामवेद में विहित कर्मों का अनुष्ठान उद्गातागण द्वारा और आध्वर्यव नाम वाले यजुर्वेद से विहित वाजपेय आदि का अध्वर्युगण द्वारा अनुष्ठान ठीक है, अन्य ऋत्विजों द्वारा नहीं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैमिनि ब्राह्मणों को भी वेद मानते हैं, क्योंकि मन्त्रों में कर्मों की विधायकता नहीं होती। चमस, होत्र, श्येन, वाजपेय आदि का विधान उस-उस वेद के ब्राह्मणों में ही मिलता है। इसीलिये 'वेदोपदेशात् पूर्ववद् वेदान्यत्वे' इस मीमांसा सूत्र के प्रथम वेद शब्द से यजुर्वेद का ब्राह्मण भाग तथा द्वितीय वेद शब्द से सामवेदीय ब्राह्मण भाग सूचित होता है।

(तै० ब्रा० ३।८।१।३) इति। तत्र संशयः—यजुर्वेदे विहिता इमे संस्कारा अध्वर्योरेव यजमानस्य वेति। तत्र पूर्वपक्षे यथा चमसहौत्रादिपदार्था येन ऋत्विजा समाख्याते वेदे विहिता तेनैव ऋत्विजाऽनुष्ठेयाः, तथैव प्रकृतेऽप्यध्वर्युसमाख्याते आध्वर्यववेदेऽप्युपदिष्टा ये केशश्मश्रुवपनादिसंस्कारास्तेऽध्वर्योरेव विहिता न यजमानस्य। यदा मन्त्रेषु विधायकत्वमेव नास्ति, तदा संस्कारविधायकेषु 'केशश्मश्रू वपते' इत्यादिब्राह्मणभागस्थवाक्येष्वेव यथावेदं व्यवतिष्ठेरन्निति वाक्यं जैमिनिना प्रयुक्तम्। एतेनोक्तसंस्कारविधायकब्राह्मणवाक्यानां वेदत्वं स्पष्टमुक्तं भवति।

'गुणत्वाच्च वेदेन व्यवस्था' (मी० सू० ३।८।१२) इदमपि सूत्रं प्रस्तुतविषये प्रमाणम्—तथाहि सामवेदविहितश्येनयागप्रकरणे 'लोहितोष्णोषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति' (षड्विंशं ब्राह्मणम् ४।२२) इत्युक्तम्। तथैव यजुर्वेदविहिते वाजपेयप्रकरणे 'हिरण्यस्रज ऋत्विजो भवन्ति (ता० म० ब्रा० १८।७।६, गो० ब्रा० २।५।८) इत्युक्तम्। तत्र संशयः—किं श्येनयागे समाख्यानुसारेण उद्गातृगणस्था एव ऋत्विजो लोहितोष्णोषा लोहितवसनाः प्रचरेयुः सर्वे वा ऋत्विज इति। तथैव वाजपेये हिरण्यमालिनो यथावेदमध्वर्युगणस्था एव ऋत्विजोऽन्ये वेति? तत्र पूर्वोक्तसूत्रेणोत्तरम्—गुणत्वाद्वेदेन न व्यवस्था। अर्थाद् यत्र प्रधानरूपेण वेदसमाख्यानुसारेण ऋत्विजां कृते तानि तानि कर्माणि विहितानि, तत्रैव यथावेदं कर्मनियमनम्। यथाऽमुकोऽमुकं कर्म कुर्यात्। प्रकृते तु 'लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति, हिरण्यमालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति' इति लोहितोष्णीषित्वविशिष्टानां हिरण्यमालित्वविशिष्टानामृत्विजां विधानमस्ति। तेन विशेषणत्वाल्लोहितोष्णीषित्वस्य हिरण्यमालित्वस्य चाप्राधान्यमेवास्ते। यद्यत्र 'लोहितोष्णोषिभिर्ऋत्विग्भिर्भाव्यम्, हिरण्यमालिभिर्ऋत्विग्भिर्भाव्यमित्येवं विधानं स्यात्, तदा यथावेदं व्यवस्था

'संस्कारास्तु' इस मीमांसा सूत्र से भी सिद्ध होता है कि ब्राह्मण भाग भी वेद है। जैसे कि ज्योतिष्टोम याग के प्रसङ्ग में यह कहा गया है—'केश और दाढ़ी मूछ बनाता है, नख काटता है, दतुअन करता है, स्नान करता है'। यहाँ संशय उठता है कि यजुर्वेद में विहित ये संस्कार अध्वर्यु के हैं या यजमान के? यहाँ पर पूर्वपक्ष में कहा गया है कि जैसे चमस होम आदि पदार्थ जिस ऋत्विक् की समाख्या वाले वेद में विहित हैं, उसी ऋत्विक् द्वारा उनका अनुष्ठान अभिप्रेत है, उसी तरह प्रकृत में भी अध्वर्यु समाख्या वाले आध्वर्यव वेद में उपदिष्ट केश-श्मश्रु वपन आदि संस्कार भी अध्वर्यु के ही लिये विहित होते हैं, यजमान के लिये नहीं। जब मन्त्रों में विधायकता ही नहीं है, तब संस्कार विधायक 'केशश्मश्रू वपते' इत्यादि ब्राह्मण भाग के वाक्यों के लिये ही 'यथावेदं व्यवतिष्ठेरन्' यह वाक्य जैमिनि ने कहा है। इससे स्पष्ट है कि वे उक्त संस्कार के विधायक ब्राह्मण वाक्यों को वेद मानते हैं।

'गुणत्वाच्च०' यह मीमांसा सूत्र भी प्रस्तुत विषय में प्रमाण है। सामवेद में वर्णित श्येन याग के प्रकरण में—'लाल पगड़ी और वस्त्र धारण किये, जनेऊ कंठ में लटकाए ऋत्विक्गण चलते हैं' यह वाक्य कहा गया है। इसी तरह यजुर्वेद में प्रतिपादित वाजपेय याग के प्रकरण में ऋत्विक् गण 'सोने की माला पहने होते हैं' यह कहा गया है। यहाँ संशय उठता है कि श्येन याग में समाख्या के अनुसार उद्गाता कहे जाने वाले ऋत्विक् ही लाल पगड़ी और कपड़े पहन कर चलते हैं या सभी ऋत्विक्? इसी तरह वाजपेय याग में सोने की माला पहिने वेद की समाख्या के अनुसार अध्वर्यु कहे जाने वाले ऋत्विक् ही होते हैं, या सभी ऋत्विक्? इस शङ्का का समाधान पूर्वोक्त सूत्र में दिया गया है कि यहाँ पर गुण का विधान होने से वेद इसकी व्यवस्था करता है। अर्थात् जहाँ पर कि प्रधान रूप से वेद की समाख्या के अनुसार ऋत्विक्गण के लिये उन उन कर्मों का विधान होता है, वहीं पर वेद के अनुसार कर्म का नियमन किया जाता है। जैसे कि अमुक व्यक्ति अमुक कर्म का अनुष्ठान करे। प्रस्तुत स्थल में तो 'लाल पगड़ी और कपड़े वाले ऋत्विक् चलते हैं, सोने की माला वाले ऋत्विक् चलते हैं' यहाँ पर लाल पगड़ी वाले और सोने की माला वाले ऋत्विक्गण विहित हैं। विशेषण होने से लाल पगड़ी वाले, सोने की माला वाले को प्रधानता नहीं है। यदि यहाँ पर ऋत्विजों को लाल पगड़ी वाला और सोने की माला वाला होना चाहिये, ऐसा विधान होता तो अपने-अपने वेद के अनुसार व्यवस्था होती, ऐसा नहीं है। अतः 'लाल पगड़ी वाला' इस विशेषण की अप्रधानता के कारण और ऋत्विजों की प्रधानता होने के कारण श्येनयाग में सभी ऋत्विक् लाल पगड़ी और कपड़े वाले

स्यात्। अतो लोहितोष्णीऽषित्वादीनामप्रधानत्वादृत्विजां प्राधान्यात् सर्वे लोहितोष्णीषा लोहितवसनाः श्येनयागे, वाजपेये च सर्वे हिरण्यमालिनो भवेयुः। अत्रापि ब्राह्मणभागे व्यवस्थापकत्वाङ्गीकारेण वेदशब्देन ब्राह्मणभागस्योल्लेखः कृतः।

'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परावभूवुस्तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः' महाभाष्यकारेणेयं श्रुतिरुपस्थापिता। न च मन्त्रेष्वस्या उपलम्भः। 'म्लेच्छितवै' इत्यत्र 'कृत्यार्थे तवै केन्केन्यत्वनः' (पा० सू० ३।४।१४) वेद एवं कृत्यार्थे तवैप्रत्ययो भवति। पस्पशाह्निके महाभाष्ये वेदशब्दा अप्येवं वदन्ति—'योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद', 'योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद' (तै० ब्रा० ३।११।७।२) इत्यादीनि ब्राह्मणभागस्य चत्वारि वाक्यानि वेदशब्देन समुद्धृतानि। 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति' श्रुतिरियं न मन्त्रभागेषूपलभ्यते। 'छन्दसि निष्टर्क्य·····' (पा० सू० ३।१।१२३) इति सूत्रे महाभाष्यकारेण 'निष्टर्क्यं (अग्निं) चिन्वीत पशुकामः' इति श्रुतिरुद्धृता, न चेयं सामाजिकानां वेदेषूपलभ्यते। तस्माद् ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं महाभाष्यकारसम्मतम्।

यदि चत्वारि सामाजिकाभिमतानि पुस्तकान्येव वेदास्तदा 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्रा० ३।१०।११।४) इति तैत्तिरीयश्रुतिविरोधश्च। नात्रानन्तार्था वेदा इत्युक्तम्, नापि स्तुत्यर्थोक्तिः, वैशब्दप्रयोगात्। यदि चतस्रः संहिता एव वेदास्तदा लक्षाध्याय्याः पितामहस्मृतेराधारोऽपि नोपपद्यते। सर्वाश्च स्मृतयो विप्रकीर्णश्रुतिमूलिका एवाभ्युपेयन्ते। श्रुतिमूलकत्वादेव तासां प्रामाण्यं भवति। तत एव—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मी० सू० १।३।३) इति सूत्रसङ्गतिः स्यात्। सामाजिकानां दृष्ट्या सर्वाः श्रुतयोऽलुप्ता एवेति कुतः स्मृतिमूलश्रुतिकल्पनावकाशः? सिद्धान्ते तु विमता स्मृतिः श्रुतिमूलिका, स्मृतित्वात्, मन्वादिस्मृतिवदिति श्रुत्यनुमानं भवत्येव। चतसृणां

होंगे और वाजपेय याग में सभी ऋत्विक् सोने की माला पहने होंगे। यहाँ पर ब्राह्मण वाक्य व्यवस्थापक माने गये हैं, अतः जैमिनि ने स्पष्ट ही ब्राह्मण भाग को भी वेद मान कर ही यहाँ उसका उल्लेख किया है।

'वे असुर लोग 'हेलय-हेलय' ऐसा कहते हुऐ हार गये, इस लिये ब्राह्मण को म्लेच्छ प्रयुक्त अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। जो यह अपभ्रंश शब्द है, वह म्लेच्छ के समान है' महाभाष्यकार ने इस श्रुति का प्रमाण दिया है। मन्त्र भाग में यह उपलब्ध नहीं है। 'म्लेच्छितवै' यहाँ पर कृत्य अर्थ में तव प्रत्यय हुआ है। कृत्य अर्थ में तवै प्रत्यय केवल वेद में ही होता है। पस्पशाह्निक महाभाष्य में 'वेद शब्द भी ऐसा कहते हैं' ऐसा कहकर 'जो अग्निष्टोम यज्ञ करता है और जो इसको जानता है', 'जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है और जो इसको जानता है' इस तरह ब्राह्मण भाग के चार वाक्य वेद के नाम से उद्धृत किये गये हैं। 'एक शब्द का भी यदि सम्यग् ज्ञान हो गया, शास्त्र के अनुसार उसका ठीक प्रयोग हो सका, तो वह स्वर्ग तथा लोक में भी सभी कामनाओं को पूरा करने वाला है' महाभाष्य में उद्धृत यह श्रुति भी मन्त्र भाग में उपलब्ध नहीं होती। 'छन्दसि निष्टर्क्य' इस सूत्र के महाभाष्य में 'पशु की कामना वाला निष्टर्क्य अग्नि का चयन करे' यह श्रुति उदाहृत है। समाजियों के वेद में यह श्रुति नहीं मिलती। इसलिये महाभाष्यकार यह मानते हैं कि ब्राह्मण भाग भी वेद हैं।

यदि सामाजिकों को अभिप्रेत चार पुस्तकें ही वेद होतीं, तो 'वेद अनन्त हैं' इस तैत्तिरीय श्रुति से विरोध हो जायगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि वेद अनन्त अर्थ वाले हैं और न यह वचन स्तुतिपरक ही है, क्योंकि यहाँ पर 'वै' शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि चार संहिताएं ही वेद होतीं, तो लाख अध्याय वाली प्रजापति स्मृति का कुछ आधार नहीं बन सकेगा। सारी स्मृतियों की प्रमाणता इधर-उधर बिखरी हुई श्रुतियों के आधार पर ही मानी जाती है। श्रुतिमूलक होने से ही ये धर्म के प्रति प्रमाण हैं। इसीलिये 'विरोधे त्वनपेक्षं' इस मीमांसा सूत्र की संगति बैठती है। सामाजिकों के मत में तो सारी श्रुतियाँ अलुप्त अर्थात् विद्यमान ही हैं, अतः उनके मत से स्मृतिमूलक श्रुति की कल्पना कैसे सम्भव है? सिद्धान्त में तो विवादास्पद स्मृति वेदमूलक है, क्योंकि वह मनु आदि की स्मृति के समान ही स्मृति है, इस अनुमान से उसकी श्रुतिमूलकता बन सकती है। चार संहिताओं के अर्थ

संहितानामर्थसङ्कलनाय मन्वादिस्मृतीनामुपयोगं को विश्वसेत् ? पुनश्च स्मृतयो विधिनिषेधप्रधाना भवन्ति, मन्त्रेषु विधायकत्वं नास्तीति तासां मन्त्रमूलकत्वं नास्त्येव ।

'मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत्' (मी० सू० ३।४।१५) इति सूत्रेण विज्ञायते यद् ब्राह्मणभागीयलिङ्गादिविनियोगवशाद् द्रव्यदेवतास्मारकत्वमेव मन्त्राणां मुख्यं प्रयोजनम् । येषां तादृश उपयोगो नास्ति ते यजमानसम्बन्धिनः सन्तो यथाकथञ्चित् सार्थक्यं भजन्ते । ब्राह्मणभागस्यावेदत्वे पौरुषेयत्वापत्त्या निष्क्रम्य विनियोगसामर्थ्याभावान्मन्त्राणामानर्थक्यमेव स्यात् ।

यदपि दयानन्दो वेदमूलकत्वेन ब्राह्मणभागस्य प्रामाण्यमुक्तवान्, तदपि न सङ्गतम्, ब्राह्मणभागस्य विधिनिषेधप्रधानत्वात्, मन्त्राणां च विधिनिषेधहीनत्वात् । यथा पशुर्न मनुष्यमूलम्, तथैव ब्राह्मणं न मन्त्रमूलकम्, विलक्षणत्वात् । न च ब्राह्मणेषु मन्त्रविनियोगदर्शनान्मन्त्रब्राह्मणभागयोरस्तु मूलमूलिभाव इति वाच्यम्, यवव्रीह्यादीनां विनियोगवन्मूलमूलिभावाभावेऽपि तदुपपत्तेः । न च क्वचिद् दृष्टचरेण व्याख्यानव्याख्येयभावेन तयोर्मूलमूलिभावः स्यादिति वाच्यम्, मन्त्रभागेष्वपि व्याख्येयव्याख्यानभागस्योक्तत्वात् । पूर्वोक्तरीत्या ब्राह्मणोक्तद्रव्यदेवतास्मारकत्वाद् ब्राह्मणोक्तार्थानुवादकत्वादपि न ब्राह्मणस्य मन्त्रमूलकत्वं सम्भवति ।

वस्तुतस्तु ब्राह्मणभाग्ये यथा व्रीहियवादीन् यज्ञे विनियोज्य तेषां यज्ञयोग्यतानिष्पत्तये 'व्रीहीनवहन्ति', 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादिवाक्यैस्तत्संस्कारान् विदधाति, तथैव मन्त्ररूपं द्रव्यं यज्ञे विनियोज्य तत्संस्कारार्थं तद्व्याख्यानं विदधाति, ब्राह्मणव्याख्यानेनैव तद्यथार्थज्ञानसम्भवात् । अत एव ब्राह्मणभागो विधिना विहितकर्मस्मारकत्वेन व्याख्यानेन च तदुपयोगयोग्यतां सम्पादयति ।

का संकलन करने के लिये मनु आदि स्मृतियों की रचना हुई है, इस बात पर कौन विश्वास करेगा ? दूसरी बात यह है कि स्मृतियाँ विधि-निषेध प्रधान होती हैं । मन्त्रों में विधायकता नहीं है, अतः स्मृतियों को मन्त्रमूलकता किसी प्रकार नहीं बन पाती ।

'मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत्' इस मीमांसा सूत्र से भी मालूम होता है कि ब्राह्मणभाग स्थित लिङ्ग आदि के बोधक वाक्यों से बनाये गये विनियोग के अनुसार द्रव्य और देवता का स्मरण कराना ही मन्त्रों का मुख्य प्रयोजन है, जिनका इस प्रकार का कोई उपयोग नहीं है, वे यजमान से सम्बद्ध होकर जिस किसी तरह सार्थक होते हैं । ब्राह्मण भाग को वेद न मानने पर वह पौरुषेय हो जायगा, फलतः इनकी विनियोग में सामर्थ्य न रह जाने से मन्त्रों की अनर्थकता हो जायगी ।

दयानन्द ने वेदमूलक होने से ब्राह्मण भाग को प्रमाण माना है । यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण भाग में विधि और निषेध की प्रधानता है और मन्त्र भाग में विधि और निषेध का अभाव है । जैसे पशु मनुष्य का मूल नहीं है, उसी तरह वेद भी ब्राह्मण का मूल नहीं है । क्योंकि दोनों में परस्पर विलक्षणता है । ब्राह्मणों में मन्त्रों का विनियोग परिदृष्ट होने से मन्त्र और ब्राह्मण भाग का मूल-मूलिभाव, परस्पर सापेक्षता माननी पड़ेगी, यह नहीं कह सकते, क्योंकि मूल-मूलिभाव सम्बन्ध के बिना भी यव-व्रीहि आदि के विनियोग के समान इसकी उपपत्ति बन जायगी । ब्राह्मण भाग में कहीं-कहीं मन्त्रों की व्याख्या दिखाई पड़ती है । इस व्याख्यान-व्याख्येयभाव के कारण भी मूल-मूलिभाव नहीं बनेगा, क्योंकि इस प्रकार की व्याख्या मन्त्र भाग में भी अनेक स्थलों पर मिलती है । पूर्व प्रदर्शित रीति के अनुसार मन्त्र भाग के ब्राह्मण भाग में प्रदर्शित द्रव्य और देवता के स्मारक होने से तथा ब्राह्मण भाग में प्रतिपादित अर्थ के अनुवादक होने से भी ब्राह्मण भाग की मन्त्रमूलकता नहीं बन सकती ।

वस्तुतः ब्राह्मण भाग जैसे व्रीहि, यव आदि का विनियोग कर उनको याग के योग्य बनाने के लिये 'व्रीहीनवहन्ति', 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादि वाक्यों से उनके अवघात, प्रोक्षण आदि संस्कार का भी विधान करता है, उसी तरह मन्त्ररूप द्रव्य का यज्ञ में विनियोग कर उनके संस्कार के लिये मन्त्रों का व्याख्यान भी करता है, क्योंकि ब्राह्मण भाग में दी गई व्याख्या से ही मन्त्रों का ठीक अर्थ समझा जा सकता है । इसीलिये ब्राह्मण भाग विधि वाक्य से विहित कर्म का स्मरण कराकर और मन्त्र भाग की व्याख्या भी करके मन्त्रों की उपयोगिता प्रदर्शित करता है ।

केचित्तु विधिनिषेधप्रधानो ब्राह्मणभागः, प्रधानवेदो विधिनिषेधशून्यः, मन्त्रभागो व्रीहियवादिवदप्रधानः पौरुषेयः। ये च ऋषयस्तद्द्रष्टारस्त एव तत्कर्तारोऽत एव ऋषयो मन्त्रकृत इत्युच्यते। मन्त्रभाग एव वेद इति साधनाय नैकमपि वचनं प्रमाणमस्ति। प्रसिद्धानां केषाञ्चनापि तादृशं वचनं नास्ति, किमुतार्षं वचनं प्रमाणं नास्ति।

यत्तूक्तम्—'ब्राह्मणभागेषु प्राचीनवृत्तान्तोपवर्णनमिति तत्पौरुषेयत्वम्' इति, तदपि तुच्छम्, वेदे लुङादिप्रत्ययानां भूतकालाद्यर्थबोधकत्वाभावेन तदनुपपत्तेः। मैक्समूलरादिभिर्वेदे मन्त्रभागे संग्रामादिवर्णनदर्शनात् पौरुषेयत्वमिष्यते। तत्तु खण्डितमेव। पाश्चात्त्या ऋषीनेव कर्तृत्वेनोपयन्ति। वैदिकास्तु 'ऋषिर्दर्शनात्' (नि० २।११) इति निरुक्तदृष्ट्या तपोबलादीश्वरानुग्रहाच्च तत्तन्मन्त्रद्रष्टॄणामेव ऋषित्वं वदन्ति। दर्शनं च विद्यमानमन्त्राणामेव सम्भवति नाविद्यमानानाम्, सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन येषामाधिकारिकगुरूणां मन्त्रदर्शनं भवति, तेषामेव ऋषित्वेन प्रसिद्धिः। ते च प्रतिकल्पं प्रादुर्भवन्ति, अत एव प्रवाहरूपेण नित्या एवेति देवताधिकरणादौ स्पष्टम्। जातिवाचकाः प्राड्विवाकादिवत्स्थानविशेषवाचका वा ते शब्दास्तेन नौत्पत्तिकत्वहानिः। सामाजिकास्तु पाश्चात्त्यानां प्रभावेणैव ब्राह्मणभागस्य पौरुषेयत्वं ब्रुवते। वेदेषु पाठभेदकल्पनमपि निराधारमेव, शाखाभेदेन सर्वेषां पाठानां प्रामाणिकत्वात्। यत्तु वेबरेणोक्तम्—'या ऋचः सामसंहितायामुपलभ्यन्ते, ताः संशोधनसिद्धाः' इति, तदपि तुच्छम्, सामसंहितास्थमन्त्राणां स्वतन्त्रत्वात्। संहिताभेदेन मन्त्रा भिद्यन्त एव, सर्वेषामेव पाठानामनादित्वात्। 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' (म० भा० १।१।५) इति रीत्या वैदिकवाक्यानुसारेणैव व्याकरणं निर्मीयते, न व्याकरणानुसारेण वैदिकवाक्यानि शोध्यन्ते। वेदे सुखावबोधार्था आख्यायिका उपलभ्यन्ते, न तेन वृत्तान्तवर्णनसमर्थनं संभवति।

कुछ लोगों का कहना है कि ब्राह्मण भाग में विधि और निषेध की प्रधानता है, प्रधान वेद में विधि और निषेध का अभाव है और मन्त्रभाग व्रीहि, यव आदि के समान ही अप्रधान, अतः पौरुषेय है। जो ऋषिगण इन मन्त्रों के द्रष्टा माने गये हैं, वे ही वास्तव में उनके रचयिता है, इसीलिये ऋषिगण 'मन्त्रकृतः' अर्थात् मन्त्रों की रचना करने वाले कहे गये हैं। मन्त्र भाग ही वेद है, इस बात को सिद्ध करने वाला एक भी वचन प्रमाण में उपस्थित नहीं किया जा सकता, प्रसिद्ध आचार्यों की भी कोई उक्ति इस प्रकार की नहीं मिलती, आर्ष वचन के मिलने की बात तो बहुत दूर है।

ब्राह्मण भाग में प्राचीन इतिहास का वर्णन होने से उसको पौरुषेय मानना पड़ेगा, यह आक्षेप भी निःसार है, क्योंकि वेद में लुङ् आदि प्रत्यय भूतकाल के अर्थ के अवबोधक नहीं होते, केवल इस उक्ति से ही उस आक्षेप का परिहार हो जाता है। मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् वेद के मन्त्र भाग में युद्ध आदि का वर्णन देखकर इसको पौरुषेय मानते हैं। इनके मत का खण्डन किया जा चुका है। पाश्चात्य विद्वान् ऋषियों को मन्त्रों का कर्ता मानते हैं। वैदिक लोगों का कहना है कि 'ऋषिर्दर्शनात्' निरुक्त की इस उक्ति के अनुसार अपनी तपस्या के सामर्थ्य से तथा ईश्वर की कृपा से उन-उन मन्त्रों के द्रष्टाओं को ही ऋषि कहा जाता है। पहले से विद्यमान का ही दर्शन हो सकता है, अविद्यमान का नहीं। सोकर उठे मनुष्य को जैसे पहले की सब बातें याद आ जाती हैं, उसी तरह जिन अधिकार सम्पन्न गुरुजनों को मन्त्रों के दर्शन होते हैं, वे ही ऋषि कहलाते हैं। इस प्रकार के ऋषियों का प्रत्येक कल्प अर्थात् सृष्टि के आरंभ में प्रादुर्भाव होता है, अतः ये प्रवाह रूप से नित्य हैं, इस प्रकार का निर्णय देवताधिकरण आदि में किया गया है। अथवा ये शब्द उसी तरह जाति के बोधक हैं, जैसे कि प्राड्विवाक आदि शब्द होते हैं, अर्थात् प्राड्विवाक पद पर प्रतिष्ठित कोई भी व्यक्ति जैसे प्राड्विवाक कहलायेगा, उसी तरह देवता और ऋषियों के नामों को भी व्यक्तिवाचक न मानकर जातिवाचक मानना चाहिये। इस प्रकार प्रवाहनित्यता के कारण शब्द और अर्थ की औत्पत्तिकता, अर्थात् नित्य संबन्ध की किसी प्रकार हानि नहीं होगी। आर्यसमाजी पाश्चात्यों के प्रभाव से ही ब्राह्मण भाग को पौरुषेय मानते हैं। वेदों में पाठभेद की कल्पना भी निराधार है, क्योंकि शाखा के भेद से सभी पाठ प्रामाणिक हैं। पाश्चात्य विद्वान् वेबर ने लिखा है कि 'ऋग्वेद के जो मन्त्र सामवेद में आये हैं, यहाँ पर उनका परिष्कार किया गया है' यह भी व्यर्थ की उक्ति है, क्योंकि सामवेद स्थित मन्त्र एकदम स्वतन्त्र हैं। संहिता के भेद से मन्त्र भी भिन्न हो जाते हैं, क्योंकि मन्त्रों के सभी पाठ अनादि हैं। 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' महाभाष्य की इस उक्ति के अनुसार वैदिक वाक्यों के अनुसार ही व्याकरण बनाया जाता है, व्याकरण के अनुसार वैदिक वाक्यों का परिष्कार नहीं किया जाता।

यत्तु—मेघस्थनीजेनानुवर्णितस्य मनुष्यस्य यजुर्वेदे दर्शनाद् ईशवीयपूर्वतृतीयशतके यजुर्वेदनिर्माणमिति, तत्तुच्छम्, मेघस्थनीजवर्णितस्य मनुष्यनाम्नो यजुर्वेदीयनाम्नोऽपभ्रंशसम्भवेऽपि वेदस्य तन्मूलकत्वकल्पनायोगात्। यथा गिरिजागृहवर्णनस्य गिर्जागृहमूलकत्ववर्णनं भ्रान्तिरेव, तथैव प्रकृतेऽपि भ्रान्तिरेव मन्तव्या।

ब्राह्मणभागरचनाकालकल्पनमपि निराधारमेव। ब्राह्मणभागेषूपलब्धानामृग्वेदसम्बन्धिनीनामाख्यायिकानां पौराणिकैरुपाख्यानैः सम्बन्धं संयोज्य वेवरेणामुकांशोऽमुकसमयसम्बन्धीति कल्पितम्। तथैव सामाजिका अपि जल्पन्ति। परन्तु सर्वे चैतेऽर्थवादाधिकरणसिद्धान्तानभिज्ञा एव। विधिना त्वेकवाक्यत्वाद् विधीनां स्तुतिष्वेवार्थवादानां तात्पर्यम्, न स्ववाच्येऽर्थे इति सिद्धान्तेन तत्कल्पनाया निर्मूलत्वसिद्धेः। यत्तु वेवरेण रुद्राध्यायस्य यजुर्वेदे पश्चाद्योजनमित्युक्तम्, तदपि निर्मूलम्। महाभारते भगवता व्यासेन द्रोणपर्वणि २०३ अध्याये भगवतो रुद्रस्य माहात्म्यं वर्णयता रुद्राध्यायस्य चर्चा कृता। 'वेदे चास्य समाम्नातं शतरुद्रियमुत्तमम्। नाम्ना चानन्तरुद्रेति ह्युपस्थानं महात्मनः ॥११८॥' इति। शतपथेऽपि रुद्राध्यायस्य प्रयोगो दृश्यते। तस्मान्निर्मूलैव सा कल्पना।

यत्तु तैत्तिरीय-खाण्डवीय-कृष्णयजुः-शुक्लयजुरादिनामभिस्तत्तद्वेदसंहितानां पौरुषेयत्वादिकल्पनम्, तत्तु व्याघ्रगोप्रभृतिनामभिः प्रकृतिप्रत्ययानुसारेण तदर्थनिर्धारणकल्पमेव। नहि गमनशीलस्यैव गोपदार्थत्वनिर्धारणं युक्तम्, सुप्तासीनमृतानामपि गोशब्दवाच्यत्वाविशेषात्। नहि यो विशेषेणासमन्ताज्जिघ्रति स एव व्याघ्रपदार्थः सम्भवति, तत्र व्यापादकत्वस्यापि दर्शनात। निरुक्ते प्रकृतिप्रत्ययानुसरणमवश्यं दृश्यते, तथापि तेन न लोकप्रसिद्धिविरुद्धोऽर्थो

वेद में प्रतिपादित विषय वस्तु को सरलता से समझाने के लिये वहाँ पर कहानियाँ दी गई हैं, इससे वहाँ पर कोई इतिहास वर्णित है, इस बात की पुष्टि नहीं होती।

मेघस्थनीज ने जिस प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया है, उस तरह का वर्णन यजुर्वेद में भी देखा जाता है, अतः यजुर्वेद की रचना ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में हुई है, यह भी व्यर्थ की बात है। मेघस्थनीज के द्वारा वर्णित नाम यजुर्वेद में वर्णित नाम का अपभ्रंश हो सकता है। इससे वेद की तन्मूलक कल्पना नहीं हो सकती। जैसे कि कहीं गिरिजा अर्थात् पार्वती के घर का वर्णन देखकर गिरजाघर का वर्णन यहाँ पर है, किसी का ऐसा कहना केवल भ्रम ही माना जायगा, उसी तरह की भ्रान्ति यहाँ पर भी समझनी चाहिये।

ब्राह्मण भाग के रचना के समय की कल्पना भी निराधार है। ब्राह्मण भाग में उपलब्ध ऋग्वेद संबन्धी आख्यायिकाओं का पौराणिक उपाख्यानों से संबन्ध जोड़कर बेवर ने अमुक अंश अमुक काल की रचना है, ऐसी कल्पना की है। वही बात आर्यसमाजी भी कहते हैं। किन्तु ये सभी अर्थवादाधिकरण के सिद्धान्त को ठीक से न समझ सके। विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता होने से विधि की स्तुति में ही अर्थवाद वाक्यों का तात्पर्य है, अपने वाच्य अर्थ में नहीं, इस सिद्धान्त के अनुसार उनकी सारी कल्पनाएँ निराधार सिद्ध हो जाती हैं। बेवर ने यह भी कहा है कि रुद्राध्याय यजुर्वेद में बाद में जोड़ा गया है, यह भी निरर्थक उक्ति है। महाभारत में भगवान् व्यास ने द्रोणपर्व में २०३ अध्याय में भगवान् रुद्र के माहात्म्य का वर्णन करते हुए रुद्राध्याय की चर्चा की है—'वेद में भगवान् रुद्र का शतरुद्रिय अध्याय में उत्तम वर्णन किया गया है। वहाँ पर महात्मा रुद्र की अनन्त नामों से स्तुति की गई है'। शतपथ में भी रुद्राध्याय का प्रयोग है। इस प्रकार उक्त कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

तैत्तिरीय, खाण्डवीय, कृष्णयजुः, शुक्लयजुः इत्यादि नामों से उन वेद संहिताओं की पौरुषेयता सिद्ध होती है, यह कथन भी ठीक उसी तरह का है, जैसा कि व्याघ्र, गो इत्यादि नामों से प्रकृति, प्रत्यय आदि के अनुसार उनके अर्थ को निर्धारित करना। गोपद का अर्थ केवल गमनशील प्राणी नहीं लिया जाता, किन्तु सोई हुई, बैठी हुई अथवा मरी हुई गौ के लिये भी यह पद समान रूप से प्रयुक्त होता है। व्याघ्र पद केवल वहीं प्रयुक्त नहीं होता, जो कि विशेष रूप से चारों तरफ सूंघता हो, किन्तु उसके साथ मार डालने की आदत भी जुड़ी हुई है। निरुक्त में प्रकृति, प्रत्यय का अनुसरण अवश्य किया गया है, तो भी इससे लोक-प्रसिद्धि

गृह्यते। प्रकृतिप्रत्ययज्ञानपूर्वकवैदिकशब्दपाठेन पुण्यातिशयाय सा प्रक्रिया विद्यते। अत एव क्वचित्संज्ञाशब्दप्रसिद्धमर्थमपहाय व्युत्पत्तिमात्रलभ्येनार्थेन शब्दसम्बन्धो दृश्यते। अत एवानादिवेदे तैत्तिरीयादिसंज्ञा अप्यनादिभूता एव। पुराणेषूपलभ्यमानास्तत्तन्नामसम्बन्धिन्य आख्यायिकास्तु स्वार्थतात्पर्यशून्यास्तत्तद्वेदप्रशंसापर्यवसायिन्य एव। लौकिक्योऽपि संज्ञा नान्वर्था भवन्ति, कुतस्तरां वैदिक्योऽनादिभूताः संज्ञाः। अतस्ता अपि प्रकृतिप्रत्ययाननुसारिण्य एव। कथञ्चित्तदभ्युपगमेऽपि 'आख्या प्रवचनात्' (मी० सू० १।१।३०) इति सूत्ररीत्या यस्य यस्य वेदभागस्य तित्तिरिप्रभृतिभिर्ऋषिभिः प्रवचनं कृतं ते ते वेदभागास्तैत्तिरीयादिनामभिः प्रसिद्धा जाताः। तत्तन्नामका ऋषयः प्रतिकल्पं भवन्तीति नानादित्वविरोधोऽपि। याज्ञवल्क्यच्छर्दितानि यजूंषि तित्तिरा भूत्वा ऋषयो जगृहुरिति तानि यजूंषि तैत्तिरीयनाम्ना प्रसिद्धानीत्याद्याख्यायिकानां तु शुक्लयजुर्वेदप्रशंसायामेव तात्पर्यम्।

वेदे सम्प्रदायद्वैविध्यम्

वेदे ब्रह्मादित्यसम्प्रदायभेदेन सम्प्रदायद्वैविध्यम्। विष्णुः शङ्खासुरापरनामानं हयग्रीवं हत्वा तदपहृतान् वेदांस्तत आहृत्य ब्रह्मणे प्रददौ। ब्रह्मा च द्वेधा विभज्य तमेकं भागमादित्ये निहितवान्। अपरं च भागं वशिष्ठाङ्गिरोमरीच्यत्रिप्रभृतिभ्योऽध्ययनविधिना प्रायच्छत्। तेऽपि स्वपुत्रशिष्यादिभ्यः प्रायच्छन्। द्वापरान्ते भगवान् व्यासोऽल्पशक्तीनल्पमेधसोऽल्पायुषश्च जनाननुजिघृक्षुर्वेदमेकमृग्यजुःसामाथर्वभेदेन चतुर्धा व्यस्य क्रमात् पैल-वैशम्पायन-जैमिनि-सुमन्तूनध्यापयामास। पैलादयोऽपि शाखाप्रभेदादिना तेषां शिष्यपरम्परया भेदं कृतवन्तः। योगीश्वरो याज्ञवल्क्योऽस्मिन्नेव सम्प्रदाये विदग्धशाकल्याद्दृग्वेदमधीतवान्। केनचित् कारणेन गुरुणा सह विवदमानस्ततोऽधीतं

के विरुद्ध अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता। प्रकृति-प्रत्यय के ज्ञान के साथ वैदिक शब्दों का पाठ करने से अतिशय पुण्य मिलता है। इसी के लिये निरुक्त की प्रक्रिया वर्णित है। इसी लिये कहीं कहीं पर संज्ञा शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर व्युत्पत्ति मात्र से उपलब्ध होने वाले अर्थ के साथ शब्द का संबन्ध देखा गया है। इसी लिये अनादि, नित्य वेद में तैत्तिरीय आदि संज्ञाएँ भी अनादि, नित्य हैं। पुराणों में उपलब्ध होने वाली उन नामों से संबद्ध आख्यायिकाओं का अपने स्वार्थ में कोई तात्पर्य न होकर केवल वेद की प्रशंसा में ही पर्यवसान होता है। लौकिक संज्ञाएँ भी अपने अर्थ का अनुसरण नहीं करती, तो फिर अनादिभूत वैदिक संज्ञाओं की तो बात दूर की है। इसलिये ये भी प्रकृति-प्रत्यय आदि का अनुसरण नहीं करतीं। किसी प्रकार यहाँ पर प्रकृति-प्रत्यय आदि का अनुसरण मान भी लिया जाय तो 'आख्या प्रवचनात्' इस मीमांसा सूत्र के अनुसार जिस जिस वेद भाग का तित्तिरि प्रभृति ऋषियों ने प्रवचन किया, वे वे वेद भाग तैत्तिरीय आदि नामों से प्रसिद्ध हो गये। उन उन नामों वाले ऋषिगण प्रत्येक कल्प में होते हैं, अतः अनादिता का विरोध नहीं उठता। याज्ञवल्क्य के द्वारा वमन किये गये यजुर्मन्त्रों को अन्य ऋषियों ने तीतर पक्षी का रूप धारण कर ग्रहण कर लिया, इस लिये उन यजुर्मन्त्रों की तैत्तिरीय नाम से प्रसिद्धि हुई, इस प्रकार की आख्यायिकाओं का केवल शुक्ल यजुर्वेद की प्रशंसा में ही तात्पर्य है।

वेद में द्विविध सम्प्रदाय

वेद में ब्रह्मा और आदित्य ये दो सम्प्रदाय हैं। विष्णु ने हयग्रीव को, जिसका कि दूसरा नाम शङ्खासुर था, मार कर उसके द्वारा छीन लिये गये वेदों को लाकर ब्रह्मा को सौंप दिया था। ब्रह्मा ने उसके दो विभाग किये और उसमें से एक भाग को आदित्य में छिपा दिया और दूसरे भाग को वसिष्ठ, अङ्गिरा, मरीचि, अत्रि, प्रभृति महर्षियों को पढ़ाया। उन्होंने भी इन वेदों को अपने पुत्रों और शिष्यों को पढ़ाया। द्वापर युग के अन्त में भगवान् वेदव्यास ने मनुष्यों की स्मरण शक्ति की कमी, बुद्धि की कमी और आयु की कमी को ध्यान में रखते हुए उन पर कृपा कर एक ही वेद को ऋक्, यजुः, साम और अथर्व के भेद से चार तरह से विभक्त कर क्रम से पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु इन चार शिष्यों को उनको पढ़ाया। पैल प्रभृति ने भी उनको अनेक शाखाओं में विभक्त कर अपने विभिन्न शिष्यों को पढाया। योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने इस सम्प्रदाय परम्परा में विदग्ध शाकल्य से ऋग्वेद का अध्ययन किया था। किसी कारण से उनका अपने गुरु के साथ विवाद हो जाने पर उन्होंने अपने इन गुरु से पढ़े वेद का परित्याग कर दिया। इसके

तत्याज। ततः स्वमातामहं महर्षिं वैशम्पायनमुपेत्य यजुर्वेदमधीतवान्। तेनापि दुर्दैवात् कलहे तदपि त्यक्तवान्। ततस्तपसा त्रयीमयं भगवन्तमादित्यमाराध्य सन्तोष्य तस्माच्चतुरो वेदानधीतवान्। तांश्च शाखाप्रशाखादिभेदेन परम्परया विततान। 'स तथेति प्रतिज्ञाय प्रविश्यादित्यवाजिनः। कर्णेऽपठत्ततो वेदाश्चतुरोऽपि च तन्मुखात्॥' (स्कान्दे नागरखण्डे, अ० २७८), 'इत्युक्तो भगवान् सूर्यो याज्ञवल्क्यं महामुनिम्। वेदान् षडङ्गसहितान् रहस्यादिसमन्वितान्॥ चतुरोऽध्यापयामास स्थापयित्वा निजे रथे॥' (आत्मपुराणे ७।३८-४०), 'अथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाच ता गाः सौम्योदज सामश्रवा इति ता उदाजहार' (श० बृहदारण्यके)। एवं वेदचतुष्टयानां सम्प्रदायभेदेन द्वैविध्यं वेदे।

तत्र कृष्णशुक्लभेदेन यजुर्वेदद्वैविध्यम्। ब्रह्मणः सम्प्रदायः कृष्णः, आदित्यस्य सम्प्रदायः शुक्लः। मन्त्रब्राह्मणयोर्मिश्रत्वं कृष्णत्वं पार्थक्येनाभिधानं शुक्लत्वम्। 'प्रवर्तितः खण्डशस्तैर्न सम्यग् बुद्ध्यते नृभिः। आध्वर्यवं क्वचिद्धौत्रं क्वचिदित्यव्यवस्थया॥ बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात् तद्यजुः कृष्णमीरितम्। याज्ञवल्क्यस्ततः सूर्यमाराध्यास्मादधीतवान्॥ व्यवस्थितप्रकरणं यजुः शुक्लं तदीरितम्। पौराणिकीं कथामेतां वेदव्याख्यान आदरात्॥' इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः। चरणव्यूहभाष्यरीत्या तु—'एतत्सखिलं सशुक्रियं मध्याह्ने सूर्येण दत्तं तच्छुक्लयजुः। वेदोपक्रमणे चतुर्दशीयुक्तपूर्णिमाग्रहणात् शुक्लयजुः। तैत्तिरीयकवेदोपक्रमणे औदयिकपर्वग्रहणादर्थात् कृष्णप्रतिपद्विद्धपौर्णमासीग्रहणात् कृष्णयजुरिति'।

बाद उन्होंने अपने मातामह महर्षि वैशम्पायन के पास आकर यजुर्वेद का अध्ययन किया। दुर्भाग्य से इनके साथ भी कलह हो जाने पर इसको भी याज्ञवल्क्य ने छोड़ दिया। तब अपने तप से त्रयी स्वरूप भगवान् आदित्य (सूर्य) की आराधना कर और उनको सन्तुष्ट कर के याज्ञवल्क्य ने उनसे चारों वेदों का अध्ययन किया और उनको शाखा-प्रशाखा के भेद से अपनी शिष्य-परम्परा के द्वारा सारे लोक में फैलाया। स्कन्दपुराण के नागर खण्ड में बताया गया है—'उस याज्ञवल्क्य ने इस तरह की प्रतिज्ञा कर सूर्य के घोड़ों में प्रविष्ट होकर सावधानी से कान लगाकर सूर्य भगवान् के मुँह से चारों वेदों को पढ़ा'। आत्मपुराण में यही बात इस तरह से कही गई है—'ऐसा कहने पर भगवान् सूर्य ने महामुनि याज्ञवल्क्य को अपने रथ में बैठाकर षडङ्ग और रहस्य, परिशिष्ट आदि के साथ चारों वेदों को पढ़ाया'। इस तरह से सम्प्रदाय के भेद से चारों वेदों के दो प्रकार उपलब्ध हैं।

शुक्ल और कृष्ण के भेद से यजुर्वेद के दो प्रकार हैं। इनमें कृष्ण यजुर्वेद ब्रह्मा के सम्प्रदाय से प्राप्त है और शुक्ल यजुर्वेद आदित्य के सम्प्रदाय से। मन्त्र और ब्राह्मण भाग का एक ही ग्रंथ में मिश्रण होने से कृष्ण यजुर्वेद और इनका अलग-अलग ग्रंथों में विभाग होने से शुक्ल यजुर्वेद कहलाता है। काण्व संहिता के भाष्य में सायणाचार्य ने इन विभागों के कारणों का प्रतिपादन इस तरह से किया है—'कृष्ण यजुर्वेद की परम्परा के आचार्यों ने टुकड़ों-टुकड़ों मे अनेक विषयों का प्रवचन किया था, इस कारण से मनुष्यों को ये विषय ठीक से समझ में नहीं आते थे। कहीं तो इनमें अध्वर्यु के कृत्यों का प्रतिपादन रहता था और कहीं बीच में ही होता के कर्मों का प्रतिपादन होने लगता था। इस अव्यवस्था के कारण इनको पढ़ने वाले की बुद्धि मलिन हो जाती थी। यही कारण है कि इनको कृष्ण यजुर्वेद नाम दिया गया। इस अव्यवस्था को देखकर बाद में याज्ञवल्क्य ने भगवान् आदित्य (सूर्य) की आराधना कर उनसे जिस वेद का अध्ययन किया, उसमें प्रत्येक प्रकरण का व्यवस्थित पद्धति से प्रवचन किया था। इसीलिये इसको शुक्ल यजुर्वेद नाम दिया गया। इस पौराणिक कथा का इस वेद की व्याख्या करते समय आदर से स्मरण करना उचित ही है'। चरणव्यूह के भाष्य में यह बात इस तरह से प्रतिपादित है—'खिल भाग और शुक्रिय अध्यायों के साथ इस वेद को सूर्य ने मध्याह्न काल में याज्ञवल्क्य को दिया था, इसलिये इसको शुक्ल कहते हैं। इस वेद का उपक्रम चतुर्दशी तिथि से युक्त पूर्णिमा के दिन किया जाता है, अतः इसको शुक्ल यजुर्वेद कहते हैं। तैत्तिरीय वेद का उपक्रम औदयिक पर्व में, अर्थात् कृष्ण प्रतिपदा से विद्ध पौर्णमासी में किया जाता है, अतः उसको कृष्णयजुः कहते हैं'।

ब्राह्मणे तु—'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' (श० १४।९।४।३३) इत्युक्तम्। तद्भिन्नत्वं कृष्णत्वम्। श्रीमद्भागवतादौ यथा—वैशम्पायनेन ब्रह्महत्यांहःक्षपणव्रताचरणायाज्ञप्तेषु शिष्येषु किमेभिरल्पसारैरहमेव व्रतं चरिष्यामीति याज्ञवल्क्येनोक्ते विप्रावमन्त्रा त्वया शिष्येण नार्थः, मदधीतं परित्यज्य गच्छेति गुरुणोक्तो याज्ञवल्क्यो योगबलाद् यजूंषि मूर्तरूपाण्यापाद्य त्यक्तवान्, आदित्याच्चायातयामान्यपूर्वाणि तानि प्राप्तवान् इति स्पष्टम्। देवीभागवतरीत्या—'अयातयामानि तु भानुगुप्तान्यन्यानि जातानि तु नीरसानि। यजूंषि तेषामथ याज्ञवल्क्यो ह्ययातयामानि रवेरवाप ॥' यातयामत्वं कृष्णत्वमयातयामत्वं शुक्लत्वम्। निरुक्तरीत्या—वान्तोच्छिष्टत्वं यातयामत्वं तद्भिन्नत्वमयातयामत्वम्।

कात्यायनोऽपि—'यजुर्वेदः कल्पतरुः शुक्लः कृष्ण इति द्विधा। सत्त्वप्रधानाच्छुक्लाख्यो यातयामत्ववर्जितात् ॥६०॥ कृष्णस्तु तित्तिरेर्भक्षस्तामसाद्यातयामतः। अतः शुक्लस्य यजुषो नोपकुर्यान्न चोत्सृजेत् ॥६१॥ तदुपाकर्म चोत्सर्गः किन्त्वध्यापनतो व्रजेत्। कृष्णस्य तद्यातयामनिवृत्त्यर्थं हि चोच्यते ॥६२॥' इति मन्त्रभ्रान्तिहरपर्यायसूत्रमन्त्रप्रकाशिकायाम्। श्रीमद्भागवतादिपुराणरीत्या वैशम्पायनेन ब्रह्महत्यांहःक्षपणव्रताचरणायाज्ञप्तेषु शिष्येषु किमेभिरल्पसारैरहमेव व्रतं चरिष्यामीति याज्ञवल्क्येनोक्ते विप्रावमन्त्रा त्वया शिष्येण नार्थः, मदधीतं परित्यज्य गच्छेति रुष्टस्य वैशम्पायनगुरोराज्ञया याज्ञवल्क्येन योगबलादधीतानां यजुषां मूर्तरूपत्वापादनपुरःसरं छर्दितत्वात् तित्तिरिभूतैर्ऋषिभिस्तेषां ग्रहणात् कृष्णत्वम्। याज्ञवल्क्येन तपोबलादादित्यादवाप्तानां यजुषामयातयामत्वमपूर्वत्वं शुक्लत्वं तु प्रसिद्धमेव। वस्तुतस्तु प्रकृतेऽपि शुक्लयजुर्वेदप्रशंसार्थवादरूपाण्येव कृष्णयजुषामपकर्षबोधकानि वाक्यानि, नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुमिति न्यायात्।

शतपथ ब्राह्मण में तो बताया गया है कि ये शुक्लयजुर्मन्त्र आदित्य से प्राप्त हैं, वाजसनेय याज्ञवल्क्य इनका प्रवचन करते हैं। आदित्य से प्राप्त न होने के कारण अन्य यजुर्मन्त्र कृष्ण कहलाते हैं। श्रीमद्भागवत में इसकी कथा इस तरह से वर्णित है—'वैशम्पायन के द्वारा ब्रह्महत्या के नाम की परिशुद्धि के लिये प्रायश्चित व्रत का आचरण करने के लिये कहे जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि इतने सारे प्रभावहीन शिष्यों के व्रत के आचरण से क्या होने वाला है, मैं अकेला ही इस प्रायश्चित व्रत का आचरण कर आपको पापमुक्त कर सकूंगा। यह सुनकर गुरु वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य से कहा कि तुम ब्राह्मणों का अपमान करते हो, तुम्हारे जैसे शिष्यों की मुझे आवश्यकता नहीं, तुम मेरा पढाया हुआ छोड़कर यहाँ से चले जाओ। गुरु के ऐसा कहने पर याज्ञवल्क्य ने अपने योग-बल से यजुर्मन्त्रों को मूर्त रूप देकर उनको छोड़ दिया और आदित्य से तरो-ताजा अपूर्व यजुर्मन्त्रों को प्राप्त किया।' देवीभागवत में कहा गया है—'सूर्य के द्वारा रक्षित यजुर्मन्त्र तरो-ताजा बने रहे और अन्य यजुर्मन्त्र बासी हो गये। इनमें से तरो-ताजा यजुर्मन्त्रों को याज्ञवल्क्य ने भगवान् सूर्य से प्राप्त किया था। कृष्णयजुर्मन्त्र बासी हो गये और शुक्लयजुर्मन्त्र तरो-ताजा बने रहे। निरुक्त की पद्धति से वान्तोच्छिष्ट (उल्टी करके उच्छिष्ट के रूप में निकाल दिये गये) मन्त्र यातयाम और इनसे भिन्न यजुर्मन्त्र अयातयाम कहलाते हैं।

मन्त्रभ्रान्तिहरपर्यायसूत्रमन्त्रप्रकाशिका में कात्यायन कहते हैं—'यजुर्वेद एक कल्पवृक्ष है, शुक्ल और कृष्ण के भेद से यह दो प्रकार का है। यातयाम दोष से वर्जित सत्त्व गुण की प्रधानता के आधार पर इसको शुक्ल नाम दिया गया है। इसके विपरीत कृष्णयजुः तित्तिर का खाद्य, तामस और यातयाम है। इसलिये शुक्लयजुः का उपाकर्म और उत्सर्जन आवश्यक नहीं है। अध्यापन के साथ ही उपाकर्म और उत्सर्जन भी संबद्ध रहते हैं। इनका विधान कृष्णयजुर्वेद के लिये ही है। वह इसलिये कि इन उपाकर्म और उत्सर्जन नामक संस्कारों के द्वारा कृष्णयजुर्मन्त्रों का यातयाम दोष दूर हो जाय।' ऊपर बताई श्रीमद्भागवत की कथा के अनुसार जब याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु के द्वारा प्रदत्त यजुर्मन्त्रों को मूर्त रूप देकर बाहर निकाल दिया तो अन्य ऋषियों ने तित्तिरि पक्षी का रूप धारण कर उनको चुग लिया। इसी लिये वे मन्त्र कृष्णयजुः कहे जाने लगे। याज्ञवल्क्य ने अपने तपोबल के प्रभाव से सूर्य भगवान से जिन यजुर्मन्त्रों को प्राप्त किया, उनकी निर्दोषता, अपूर्वता अत एव शुक्लता प्रसिद्ध है। वास्तव में तो प्रकृत स्थल में भी शुक्लयजुर्वेद की प्रशंसा करने के अभिप्राय से ही अर्थवाद के रूप में कृष्णयजुर्वेद के अपकर्ष को बताने वाले वाक्यों की व्याख्या

ब्राह्मणानां वेदत्वम्

केचित्त 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (पा० सू० ४।२।६६), 'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सब्राह्मणाः' (गो० १।२।१०) इत्याश्रित्य वदन्ति—'ब्राह्मणस्यापि वेदत्वे छन्दोग्रहणेनैवाभीष्टकार्यसिद्धौ ब्राह्मणग्रहणं व्यर्थमेव स्यात्। द्वितीये प्रमाणेऽपि वेदाभिन्नतया ब्राह्मणग्रहणं व्यर्थं स्यादिति, तत्तुच्छम्, वेदच्छन्दःशब्दयोर्मन्त्रब्राह्मणसमुदायवाचकत्वेऽपि क्वचिदवयववाचकत्वे बाधाभावात्। 'समुदायेषु वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते—पूर्वे पञ्चाला उत्तरे पञ्चालाः, घृतभुक्तं तैलभुक्तम्' (महाभाष्ये पस्पशायाम्) 'पटग्रामादिषु' (ब्रह्मसूत्रे ३।३।९) शाङ्करभाष्ये। तस्मात् प्रकृतस्थलेषु छन्दःशब्दा वेदशब्दा वा केवलमन्त्रभागस्य केवलब्राह्मणभागस्योभयस्यापि च वाचको भवति। प्रकृतसूत्रे छन्दःशब्दो मन्त्रभागमात्रवाचकः। 'विजुपे छन्दसि' (पा० सू० ३।२।७२) अत्र छन्दःशब्दः केवलब्राह्मणवाचकः। यद्यत्र मन्त्रवाचक एव ब्राह्मणशब्दः स्यात्तर्हि 'मन्त्रे श्वेतवह०' (पा० सू० ३।२।७१) इति सूत्रान्मन्त्रशब्दानुवृत्त्यैव कार्यं सिद्ध्येत्। 'छन्दोग्रहणं ब्राह्मणार्थम्' इति काशिकावचनाच्च। एवमेव 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।२०९) इत्यत्रापि छन्दःशब्दो केवलब्राह्मणपरोऽवसेयः। मन्त्रमात्रबोधकत्वे तूत्तरस्मिन् 'नित्यं मन्त्रे' (पा० सू० ६।१।२१०) इति सूत्रे मन्त्रग्रहणं व्यर्थं स्यात्, अनुवृत्त्यैव कार्यसिद्धेः।

यदि च 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (४।२।६६) इत्यत्र छन्दोग्रहणेन ब्राह्मणस्यावेदत्वं तर्हि प्रदर्शितसूत्रे मन्त्रभागस्यापि वेदभिन्नत्वं सिद्ध्येत्। तथा च—'तनादिकृञ्भ्य उः' (पा० सू० ३।१।७९) इति सूत्रेण तनादिषु कृञः पाठादेव

को जानी चाहिये, क्योंकि मीमांसा का यह सामान्य न्याय है कि वेद में किसी को निन्दा निन्दा करने के अभिप्राय से नहीं की जाती, किन्तु उसका उपयोग विधेय की स्तुति में किया जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेद ही हैं

कुछ आर्यसमाजी विद्वान् 'छन्दोब्राह्मणानि०' इत्यादि पाणिनि सूत्र और 'एवमिमे''सब्राह्मणाः' इत्यादि गोपथ ब्राह्मण के वचनों के आधार पर कहते हैं कि ब्राह्मण भाग को भी यदि वेद माना जाय तो छन्द शब्द के ग्रहण से ही ब्राह्मणों का भी ग्रहण हो जाने से अलग से ब्राह्मण शब्द का उल्लेख करना उक्त पाणिनि सूत्र में व्यर्थ हो जायगा। दूसरे गोपथ ब्राह्मण के वचन में भी ब्राह्मण यदि वेद से अभिन्न हैं, तो उनका अलग से उल्लेख करना व्यर्थ हो जायगा। किन्तु उनका यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि वेद और छन्द शब्द यद्यपि मन्त्र-ब्राह्मण समुदायात्मक वेद के बोधक हैं, किन्तु कभी कभी वे इनमें से किसी एक अवयव के बोधक हों तो भी कोई बाधा नहीं मानी जायगी। महाभाष्य पस्पशाह्निक में और ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि समुदायार्थक शब्दों की कभी कभी उनके अवयवों के लिये भी प्रवृत्ति देखी जाती है, जैसे कि पूर्व पांचाल, उत्तर पांचाल तथा घृतभुक्त तैलभुक्त आदि प्रयोगों में देखा जाता है। इसलिए प्रकृत उदाहरण स्थलों में छन्द शब्द अथवा वेद शब्द केवल मन्त्र भाग, केवल ब्राह्मण भाग या दोनों भागों के लिये प्रसंगानुसार प्रयुक्त होते हैं। उक्त पाणिनि सूत्र में छन्द शब्द केवल मन्त्र भाग का वाचक है। 'विजुपे छन्दसि' इस पाणिनि सूत्र में छन्द शब्द केवल ब्राह्मण भाग का वाचक है। यदि यहाँ छन्द को मन्त्र का वाचक मान लिया जाय तो 'मन्त्रे श्वेतवह०' इत्यादि पाणिनि सूत्र से मन्त्र शब्द की अनुवृत्ति हो जाने से ही उक्त कार्य की सिद्धि हो जाने पर इस सूत्र में छन्द शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। इसी लिये काशिकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि इस सूत्र में छन्द शब्द से केवल ब्राह्मण भाग का ही ग्रहण होता है। इसी तरह से 'जुष्टार्पिते०' इस पाणिनि सूत्र में भी छन्द शब्द केवल ब्राह्मण भाग के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द को यदि मन्त्रभाग मात्र का बोधक माना जाय, तो आगे के 'नित्यं मन्त्रे' इस सूत्र में मन्त्र शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि तब उक्त सूत्र से छन्द पद की आवृत्ति करने से ही काम चल जायगा।

यदि 'छन्दोब्राह्मणानि०' इत्यादि सूत्र में छन्द पद का अलग उल्लेख होने से ब्राह्मण भाग को वेद न माना जाय तो इस सूत्र में मन्त्र भाग से भी छन्द का अलग उल्लेख होने से मन्त्र भाग भी वेद नहीं माना जायगा। इसलिये यहाँ यही समाधान देना

कार्यसिद्धौ सूत्रे कृञ्ग्रहणेन यथा तस्य वैशिष्ट्यं तथैव छन्दोब्राह्मणानीति सूत्रे छन्दोग्रहणेन गृह्यमाणस्यापि ब्राह्मणस्य पुनर्ग्रहणं तस्य वैशिष्ट्यं द्योतयति। एतदेव काशिकायामुक्तम्—'ब्राह्मणग्रहणं किं यावता छन्द एव तत्'। तत्रोत्तरम्—ब्राह्मणविशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। इह तद्विषयता मा भूत्, याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि'। कैयटेन तु गोवलीवर्दन्यायेन छन्दःशब्देन मन्त्राणां ग्रहणमूरीकृतम्। (पा० सू० १।३।१०)। तेन 'छन्दोब्राह्मणानि' इत्यत्र ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन वैशिष्ट्यबोधनाय ब्राह्मणग्रहणम्, न तु तस्यावेदत्वज्ञापनार्थम्। "सर्वे वेदा निर्मिताः सब्राह्मणाः' (गो० १।२।१०) इत्यत्रापि ब्राह्मणपदं ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन तस्य वैशिष्ट्यबोधनायैव प्रयुक्तम्, ब्राह्मणविधिमन्तरा वेदस्य सार्थक्यायोगात्। अत एव—'स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छा० ७।१।२) इत्यत्र ऋग्वेदादिशब्दैरेव मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य सर्वस्य वेदस्य ग्रहणम्। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः···इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि निःश्वसितानि' (बृ० उ० २।४।१०) इत्यत्र त्वितिहासादिपदेनाष्टविधं ब्राह्मणमेवोक्तम्, निःश्वसितश्रुतेः।

अत एव शङ्करभगवत्पादाः—इतिहासः उर्वशीपुरूरवसोः संवादः, 'उर्वशी हाप्सरा आस' इति ब्राह्मणमेव। पुराणम् असद्वा इदमग्र आसीत्। विद्या देवजनविद्या। सोऽयमित्याद्या उपनिषदः। प्रियमित्येतदुपासीतेत्याद्याः श्लोका ब्राह्मणप्रभवा मन्त्राः, तदेते श्लोका इत्यादयः। सूत्राणि वस्तुसंग्राहकाणि वेदे यथात्मेत्येवोपासीतेत्यादीनि। अनुव्याख्यानानि मन्त्रविवरणानि यथा चतुर्थाध्याये आत्मेत्येवोपासीतेत्यस्य यथा अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा

पड़ेगा कि जैसे 'तनादिकृञ्भ्य उः' इस सूत्र से तनादि गण में कृञ् धातु का पाठ होने से ही अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जायगा, तथा पुनः कृञ् धातु का अलग से उल्लेख इसलिये माना जाता है कि उसकी विशिष्टता सिद्ध हो, उसी तरह से 'छन्दोब्राह्मणानि' इस सूत्र में भी छन्द शब्द से भी यद्यपि ब्राह्मणभाग का भी ग्रहण हो जाता है, तो भी उसका अलग से उल्लेख उसकी विशिष्टता को बताने के लिये है। इसी बात को काशिकाकार ने इस तरह से कहा है—"इस सूत्र में ब्राह्मण का ग्रहण अलग से क्यों किया गया, जब कि वह भी छन्द ही है? इसका उत्तर यह है कि विशेष ब्राह्मण भाग ही यहां अभिप्रेत है। अतः याज्ञवल्क्य प्रोक्त ब्राह्मण भी याज्ञवल्क्य कहलाते हैं, किन्तु यहां उक्त सूत्र की विषयता अर्थात् प्रवृत्ति इसी वैशिष्ट्य के आधार पर नहीं मानी जाती। इसके विपरीत कैयट ने यहां गोवलीवर्दन्याय से छन्द शब्द से मन्त्रों का भी ग्रहण माना है। इसके मत के अनुसार 'छन्दोब्राह्मणानि' इस सूत्र में ब्राह्मवशिष्ठन्याय के अनुसार ब्राह्मणभाग की विशिष्टता को जताने के लिये अलग से ब्राह्मण पद का उल्लेख माना गया है, वह वेद नहीं है, यह इसका अभिप्राय कभी नहीं है। उक्त गोपथब्राह्मण के वचन में भी ब्राह्मण पद ब्राह्मणवशिष्ठन्याय से उसकी विशिष्टता का ही बोधक माना गया है, क्योंकि ब्राह्मणों के द्वारा विधि का उपदेश हुए बिना वेद की सार्थकता ही नहीं हो सकती। इसीलिये 'स होवाच' इस छान्दोग्यश्रुति में ऋग्वेद आदि शब्दों से ही मन्त्रब्राह्मणात्मक संपूर्ण वेद का ग्रहण होता है। इसके विपरीत 'अस्य महतो भूतस्य' इस बृहदारण्यक श्रुति में इतिहास प्रभृति पदों से अष्टविध ब्राह्मणभाग ही अभिप्रेत है, क्योंकि ऐसी व्याख्या करने पर ही इतिहास प्रभृति को परमेश्वर का निःश्वास माना जा सकता है, इतिहास आदि से यदि महाभारत आदि ग्रहण किया जाय, तो यह परमेश्वर का निश्वास न होकर व्यास प्रभृति की रचनाएं हैं।

इसीलिये भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने इस प्रकरण की व्याख्या करते हुए आठ तरह के ब्राह्मणों का उदाहरण देते हुए इस तरह से समझाया था—'उर्वशी और पुरूरवा का संवाद यहाँ इतिहास कहा गया है, यह कथा 'उर्वशी हाप्सरा' इत्यादि ब्राह्मण भागों में ही आती है। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य पुराण नाम से जाने जाते है। देवयजन विद्या के प्रतिपादक ब्राह्मण वाक्य 'विद्या' पद से अभिहित हैं। 'सोऽयम्' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य उपनिषद् हैं। 'प्रियमित्येतदुपासीत' इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों द्वारा प्रतिपादित अर्थों के समर्थक 'तदेते श्लोकाः' इस वाक्य के अनन्तर दिये गए मन्त्र श्लोक शब्द से जाने जाते हैं। प्रकरण की पूरी वस्तु को 'आत्मेत्येवोपासीत' इस तरह से संक्षेप में बताने वाले वाक्य सूत्र कहलाते हैं। मन्त्रों के विवरण अनुव्याख्यान कहे जाते है, जैसे कि चतुर्थ अध्याय

पशुरित्येवमादिकम् । एवमष्टविधं ब्राह्मणम् । छान्दोग्यवाक्ये तु ऋग्वेदादिपदैरेव सर्वविधब्राह्मणस्य ग्रहणं जातमितीतिहासपुराणयोर्वेदातिरिक्तत्वमेव बोध्यम्, तत्र निःश्वसितत्वानुक्तेः । एतदभिप्रायेणैव वात्स्यायनेन—'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणयोः प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' इति ब्राह्मणभिन्नयोरितिहासपुराणयोः प्रामाण्याय ब्राह्मणवचनं प्रमाणितम् । अत एव गोपथस्थवेदशब्दः केवलमन्त्रभागवाचकः । क्वचिद्वेदशब्दः केवलब्राह्मणस्यैव वाचको भवति । यथा निरुक्ते—'तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च ।' (नि० १।२०) अत्र वेदपदं ब्राह्मणपरमेव, मन्त्राणां प्रागेवाम्नातत्वात् । 'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (नि० १।२) अत्र मन्त्रात् पृथगाम्नातो वेदशब्दो ब्राह्मणपरः । कर्मसम्पादकमन्त्राणां ब्राह्मणभागे प्रोक्तत्वात् । मन्त्रभागे तु कर्मोपासनाज्ञानसम्पादकास्त्रिविधा मन्त्रा उक्ताः । यथा त्रिपुत्रो न खल्वेकपुत्र उच्यते, तथैव कर्मादित्रयसम्पादका न कर्मसम्पादका वक्तुं शक्यन्ते । ब्राह्मणभागे तु यज्ञोपयुक्ताः केवलं कर्मकाण्डसम्पादका मन्त्रा उच्यन्ते ।

'द्वितीया ब्राह्मणे' (पा० सू० २।३।६०) इति सूत्रं ब्राह्मणभागार्थमेव निर्मितम् । 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इति सूत्रं तूभयोरेव भागयोः कृते । यदुक्तं दयानन्देन—छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्तीति, तत्तुच्छम्, छन्दोवेदनिगमश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वादिति ऋग्वेदादिभूमिकायां (८९ पृष्ठे) तद्वचनविरोधात् । यत्तु केनचिदुच्यते 'क्वचित् स्तुत्यर्थमेव वेदेऽपि वेदाम्नायादिशब्दाः प्रयुज्यन्ते' इति, तत्तुच्छम्, वेदोदाहरणे प्रदातव्येऽवेदस्य वेदत्वेनोदाहरणदृष्टान्ताभावात् । अन्यथा मन्त्रभागस्यापि परमात्मप्रणीतत्वं स्तुतिमात्रं कश्चिन्मन्येत ।

में 'आत्मेत्येवोपासीत' इस वाक्य का विवरण 'अन्योऽसा०' इत्यादि श्लोक द्वारा उपस्थापित है। इस तरह यहाँ इतिहास प्रभृति शब्दों से ब्राह्मण भाग के ही आठ विभागों का उल्लेख किया गया है। इसके विपरीत छान्दोग्य वाक्य में ऋग्वेद प्रभृति शब्दों से ही इन सभी प्रकारों के ब्राह्मणों का भी ग्रहण हो जाता है, अतः वहाँ इतिहास-पुराण शब्द वेद से अतिरिक्त इतिहास-पुराण ग्रन्थों के प्रतिपादक माने जाते हैं, क्योंकि यहाँ इन इतिहास-पुराण प्रभृति को ईश्वर का निःश्वास नहीं बताया गया है। इसी अभिप्राय से वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में 'प्रमाणेन खलु' इत्यादि कह कर ब्राह्मण भिन्न इतिहास और पुराण के प्रामाण्य के लिये ब्राह्मण के वचन को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि गोपथ ब्राह्मण में स्थित वेद शब्द केवल मन्त्र भाग का ही वाचक है। कहीं वेद शब्द केवल ब्राह्मण भाग का ही वाचक होता है। जैसे कि निरुक्त के 'तेऽवरेभ्यो' इत्यादि वचन में वेद पद केवल ब्राह्मण भाग का ही वाचक है, क्योंकि मन्त्रों के समाम्नाय का वर्णन इससे पहले ही किया जा चुका है। 'पुरुषविद्या' इस निरुक्त वचन में भी मन्त्रों से पृथक् वर्णित वेद शब्द ब्राह्मण भाग का ही वाचक है, क्योंकि कर्मसम्पादक मन्त्रों का विधान ब्राह्मण भाग में ही हुआ है। मन्त्र भाग में कर्म, उपासना और ज्ञान के भी सम्पादक त्रिविध मन्त्र बताये गए हैं। जैसे तीन पुत्र वाला व्यक्ति एक पुत्र वाला नहीं कहलाता, उसी तरह से कर्म, ज्ञान और उपासना के सम्पादक मन्त्र केवल कर्मकाण्ड के सम्पादक नहीं माने जा सकते। ब्राह्मण भाग में तो केवल यज्ञ के सम्पादन के लिये उपयोगी कर्मकाण्ड सम्बन्धी मन्त्र ही कहे गए हैं।

'द्वितीया ब्राह्मणे' पाणिनि के इस सूत्र की रचना केवल ब्राह्मण भाग के लिये की गई है और 'चतुर्थ्यर्थे' इसकी रचना मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों के लिये है। दयानन्द छन्द और मन्त्र में भेद बताते हैं, किन्तु उनकी यह बात गलत है, क्योंकि उन्होंने अपनी ऋग्वेदादिभूमिका (पृ० ८९) में छन्द, वेद, निगम और श्रुति शब्द को पर्यायवाची माना है। उससे यह बात विरुद्ध पड़ती है। किसी आर्यसमाजी का कहना है कि कहीं-कहीं स्तुति के लिए ही वेद में वेद, आम्नाय आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, किन्तु यह कथन भी निःसार है, क्योंकि जहाँ वेद का उदाहरण होना आवश्यक हो, ऐसे स्थानों में वेदभिन्न ग्रन्थों का उदाहरण वेद के नाम से दे दिया हो, ऐसा कहीं नहीं देखा गया है। अन्यथा कोई ऐसा व्यक्ति भी मिल सकता है, जो कि मन्त्रभाग को भी परमात्मा के द्वारा प्रणीत स्तुतिमात्र मान लेगा।

यच्च दयानन्देन ऋग्वेदभूमिकायामुक्तम्—'यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकान्युदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव घटन्ते, कुतस्तेष्वीदृशशब्दव्यवहारदर्शनादिति, तदपि तुच्छम्, मन्त्रेष्वपि गौरश्व आदिप्रयोगदर्शनात्। तथाहि—'गोः' 'अश्वः' (वा० सं० ३१।८), 'पुरुषः' (वा० सं० ३१।१), 'हस्ती' (अथर्ववेदसंहिता ३।२२।६), 'शकुनिः' (ऋ० सं० २।४२।१), 'मृगः' (ऋ० सं० १०।१८०।२), 'ब्राह्मणम्' (वा० संहिता २२।२२) इत्यादीन्युदाहरणानि। त्वद्रीत्या मन्त्रभागस्यावेदत्वापत्तेः। यदपि च—'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' (गो० सू० २।१।६०) 'विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः' (गो० सू० भा० २।१।६१) इति वात्स्यायनभाष्यम् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां ८४ पृष्ठे उद्धृत्य 'अयमभिप्रायः, ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिकाः' इति लिखितम्, तत्तु छद्मैव, 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' इत्यस्य वाक्यस्य (२।१।६०) इति न्यायसूत्रभाष्यगतत्वेन, 'विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः' इत्यस्य वाक्यस्य (२।१।६१) सूत्रावतरणिकारूपत्वेन तयोः परस्परं सम्बन्धाभावात्। 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' (गो० सू० भा० २।१।६०) इत्यस्य तु शब्दो वेदः प्रमाणं यथा लोके, न भिद्यते लौकिकाद् वाक्याद् वैदिकं वाक्यमिति प्रेक्षापूर्वकारिपुरुषप्रणीतत्वेन (४।१।६०) इति स्थलीयवात्स्यायनभाष्येण मन्त्रवाक्यानामपि लौकिकत्वोक्त्या वैदिकवाक्यत्वापत्तेः। न च लौकिकदृष्टान्तमात्रेण ब्राह्मणादिवाक्यस्य लौकिकत्वं सिद्धयति, अन्यथा मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्' (गो० सू० २।१।६८) इति लौकिकायुर्वेददृष्टान्तेन वेदस्य लौकिकत्वं स्यात्।

यत्तु ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां ८५ पृष्ठे 'न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्' (गो० सू० २।२।१) इति न्यायसूत्रमुद्धृत्य 'न चत्वार्येव प्रमाणानि, किं तर्हि—ऐतिह्यमर्थापत्तिः सम्भवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि' इति वात्स्यायनभाष्यमुद्धृत्य 'इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकप्रवादपारम्पर्यमैतिह्यमित्यैतिह्यलक्षणपरं

दयानन्द ने ऋग्वेदादिभूमिका में कहा है—'गो, अश्व इत्यादि जितने लौकिक उदाहरण दिए गये हैं, वे सब ब्राह्मण ग्रन्थों में घटते हैं, क्योंकि उनमें इस तरह के शब्दों का व्यवहार देखा जाता है' किन्तु यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि मन्त्रों में भी गो, अश्व प्रभृति शब्दों का प्रयोग देखा गया है। उदाहरण के रूप में वेद की विभिन्न संहिताओं में आए गो, अश्व, पुरुष, हस्ती, शकुनि, मृग, ब्राह्मण शब्दों को दिखाया जा सकता है। आपके मत के अनुसार तो इन शब्दों का ऋग्वेद प्रभृति में व्यवहार देखकर उनको भी वेद न माना जायगा।

इसी तरह से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के (पृ० ८४) पर 'प्रमाणं शब्दो' इत्यादि तथा 'विभागश्च' इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों का त्रिविध विभाग बताने वाले वात्स्यायन के न्यायभाष्य को उद्धृत कर उसका यह अभिप्राय बताया गया है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के शब्द लौकिक ही माने गए हैं, वैदिक नहीं, किन्तु उनका यह कथन केवल चालाकी से भरा है, क्योंकि 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' इस वाक्य का और 'विभागश्च' इत्यादि वाक्य का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, इनमें से पहला वाक्य पूर्वसूत्र की व्याख्या प्रस्तुत करता है और दूसरा वाक्य आगे के सूत्र की अवतारणा करता है। 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' इस भाष्य वाक्य का अभिप्राय यह है कि वैदिक शब्द भी उसी तरह से प्रमाणीभूत है, जैसा कि लौकिक शब्द होता है। लौकिक वाक्य से वैदिक वाक्य किसी तरह से भिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनकी रचना सोच-समझ कर पुरुष या परमपुरुष ईश्वर के द्वारा की जाती है। इस तरह से वात्स्यायन भाष्य के अनुसार तो मन्त्रवाक्य भी लौकिक वाक्यों के समान भी ठहरते हैं, तब मन्त्रवाक्य भी उनकी दृष्टि से अवैदिक माने जाने लगेंगे। वास्तव में लौकिक दृष्टान्त दे देने मात्र से ब्राह्मण वाक्य लौकिक नहीं सिद्ध हो जायेंगे, अन्यथा लौकिक मन्त्र और आयुर्वेद का दृष्टान्त देने से भी वेद की लौकिकता सिद्ध होने लगेगी।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ही (पृ० ८४) पर 'न चतुष्ट्वं' इत्यादि न्यायसूत्र को उद्धृत कर 'प्रमाण चार ही नहीं हैं, किन्तु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये सब भी प्रमाण हैं' इस वात्स्यायन भाष्य को उद्धृत कर और भाष्य के अनुसार ही ऐतिह्य का लक्षण (ऐसा कहा जाता है, इस तरह की प्रवादपरम्परा को, जिसका कि प्रथम प्रवक्ता कौन है, पता नहीं चल पाता, ऐतिह्य कहा जाता है) बता कर कहा गया है—'इस प्रमाण से भी इतिहास प्रभृति शब्दों से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही ग्रहण किया जाता है,

भाष्यमुल्लिख्योक्तम्—'अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते नान्यदिति', तदपि धाष्ट्यं पूर्णं छद्मैव, तत्र ब्राह्मणभागस्याप्रकृतत्वात्। न च ब्राह्मणमितिहासग्रन्थः, तस्य विधिप्रधानत्वात्। व्यवहारे विधेरेव प्रधानत्वेनेतिहासस्याप्रमाणत्वात्, इतिवृत्तस्य विधिविरुद्धस्यापि सम्भवात्।

यत्तु—'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इत्यस्येतिहासत्वनिराकरणाय 'चक्षुर्वै जमदग्निः' इति शतपथवचनाच्चक्षुषो जमदग्नित्वमुक्तम्, तदपि तुच्छम्, जमदग्निशब्दस्य गौण्या वृत्त्या चक्षुरर्थत्वेऽपि तन्नामर्षेरपलापासम्भवात्। अन्यथा—'वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः' (श० १४।४।३।१२) इति वागादीनामेव 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥' (वा० सं० ३१।७) इति मन्त्रे ऋगादिपदग्राह्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, त्वदभिमतवेदानां परमेशादुत्पत्त्यसिद्धेरप्रामाण्यापातात्। नहि 'आयुर्वै घृतम्' इत्युक्त्या घृतस्यायुष्ट्वं सम्भवति, न वा घृतस्यायुर्व्यतिरिक्तत्वाभावः सिद्ध्यति।

यत्तु—ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ८२-८३ पृष्ठयोः 'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।' (अथर्ववे० सं० १५।३०।४) एतैः प्रमाणैः पुराणशब्देन ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते, न श्रीमद्भागवतादीनाम्' इति, तदपि तुच्छम्, विचारासहत्वात्। तथाहि पुराणेतिहासादिशब्देन ब्राह्मणग्रन्थानां ग्रहणेऽपि ब्राह्मणभागनिर्माणान्तरमेव मन्त्रा निर्मिताः प्रागेव वा ? आद्ये त्वद्रीत्या ब्राह्मणभागस्येतिहासत्वापत्तिः। यदि प्रागेव तर्हि तथैव ब्राह्मणभागस्यापीतिहासत्वानापत्तिः। यदि ब्राह्मणानतिरिक्तानीतिहासपुराणानि तर्हि—'ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानीतिहासपुराणानि' (आश्व० गृ० सू०) इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रे कथं ब्राह्मणेभ्यः पथगितिहासपुराणान्युच्येरन्। तैत्तिरीयारण्यकेऽपि (२।९।२) इत्यत्र 'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि' इति पाठः।

अन्य महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों का नहीं', किन्तु यह कथन भी धृष्टता और चालाकी से भरा हुआ है, क्योंकि यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों का कोई प्रसङ्ग नहीं है। ब्राह्मणों को इतिहास का ग्रन्थ माना भी नहीं जाता, क्योंकि उनमें प्रधानतः वैदिक विधियों, क्रियाकलापों का वर्णन है। व्यवहार में विधि को ही प्रमाण माना जाता है, इतिहास को नहीं, क्योंकि इतिहास तो विधि के विरुद्ध कल्पित भी हो सकता है।

'त्र्यायुषं जमदग्ने' इस मन्त्र में इतिहास को अस्वीकार करने के अभिप्राय से इस मन्त्र में आये 'जमदग्नि' शब्द का अर्थ शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण पर 'चक्षु' करना भी गलत है, क्योंकि जमदग्नि शब्द का अर्थ गौणी वृत्ति के आधार पर यद्यपि 'चक्षु' भी हो सकता है, किन्तु इससे 'जमदग्नि' नाम के ऋषि का अपलाप कर दिया जाय, यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। अन्यथा ऋग्वेद को वाक्, यजुर्वेद को मन और सामवेद को प्राण बताने वाली शतपथ श्रुति के आधार पर वाणी प्रभृति को ही पुरुषसूक्त में वर्णित पुरुष से उत्पन्न ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का पर्यायवाची मान लेना पड़ेगा। यदि आप यह कहें कि ऐसा मान लेने में कोई आपत्ति हमें नहीं है, तो उसमें यह आपत्ति आवेगी कि आप जिन वेदों को परमेश्वर से उत्पन्न मानते हैं, वे परमेश्वर से उत्पन्न न होकर वाणी प्रभृति से उत्पन्न होने के कारण अप्रमाण मान लिये जायेंगे।

इसी तरह से ऋग्वेदभाष्यभूमिका के (पृ० ८२-८३) पर कहा गया है कि 'तमितिहासश्च' इस अथर्ववेद संहिता के व्रात्यकाण्ड में स्थित वचन के प्रमाण पर पुराण शब्द से यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों का ही ग्रहण किया जाता है, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों का नहीं', किन्तु यह कथन भी विचार करने पर सही नहीं सिद्ध होता। आप यह बताइये कि पुराणेतिहास शब्द से भले ही ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण किया जाय, किन्तु इन ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण के बाद मन्त्रों का निर्माण हुआ या उनसे पहले ? यदि ब्राह्मण भाग के निर्माण के बाद मन्त्रों का निर्माण माना जाय, तो आपकी विचार पद्धति के अनुसार ब्राह्मण भाग को इतिहास अवश्य मानना पड़ेगा और यदि मन्त्रों का निर्माण पहले हुआ है, तो जैसे मन्त्रों में उर्वशी-पुरूरवा इत्यादि का आख्यान रहते हुए भी आप उसको इतिहास नहीं मानते, उसी तरह से ब्राह्मण भाग में भी इतिहास के रहते हुए भी उसको आपकी ही पद्धति से इतिहास नहीं माना जायगा। यदि इतिहास-

'क्त्वापि छन्दसि' (पा० सू० ७।१।३८) इत्यस्माच्छन्दसीत्यनुवृत्तौ 'स्नात्व्यादयश्च' (पा० सू० ७।१।४९) इति सूत्रस्य छान्दसोदाहरणम्—'स्विन्नः स्नात्वी मलादिव' इति। अयं मन्त्रः शुक्लयजुर्वेदीयकाण्वसंहितायां २२।५ स्थाने लभ्यते। वाजसनेयिसंहितायां च 'स्विन्नः स्नातो मलादिव' (३०।२०) इति पाठो लभ्यते। अथर्ववेदस्य शौनकसंहितायां (६।११५।३) इति स्थाने 'स्विन्नः स्नात्वा मलादिव' इति पाठः। कृष्णयजुर्वेदीयकाठकसंहितायां (३८।५।६३) इत्यत्र पाणिनिप्रोक्तः पाठो लभ्यते। 'स्विन्नः स्नात्वी मलादिव' मैत्रायणीसंहितायां (३।११।११।१०) इत्यत्र तथैव पाठः। तैत्तिरीयब्राह्मणेऽपि (२।४।४।९) स्थले स्नात्वी पाठो लभ्यते। ये सामाजिकाः पुस्तकचतुष्टयमेव वेदं मन्यन्ते, तेषां पुस्तकेषु नायं छान्दसोऽष्टाध्यायीसम्मतः पाठो लभ्यते। तेन पुस्तकचतुष्टयवेदत्ववादोऽशुद्ध एव। ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां 'छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' (पृ० ८९) इति लेखाच्छन्दो-मन्त्र-निगम-श्रुतिशब्दानां पर्यायवाचित्वं दयानन्दाभिमतम्। 'छन्दसि निष्टक्र्यं' (पा० सू० ३।१।१२३) इत्यादिसूत्रेण 'निष्टक्र्यं चिन्वीत पशुकामः' इति वैदिकमुदाहरणमिष्टम्। श्रीदयानन्देनाप्याख्यातिके तदेवोदाहृतम्। परन्तु सामाजिकाभिमतेषु वेदपुस्तकेषु तन्नोपलभ्यते। यदि तदभिमतानि चत्वारि पुस्तकान्येव न्यूनाधिक्यप्रक्षेपादिरहितानि वेदाः स्युस्तदा तेषु तदनुपलम्भः कथमिव युज्येत? अयं पाठस्तु कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहितायां (६।१।७।२) तथा ऐतरेयब्राह्मणे (५।१।३३) उपलभ्यते।

'बहुलं छन्दस्यमाङ्' (पा०सू० ६।४।७५) सिद्धान्तकौमुद्यामस्योदाहरणम्—'भावः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः' इत्युक्तम्। आपस्तम्बसूत्रे (२।६।१३।६), बौधायनसूत्रे (२।३।३६) चोद्धृतोऽयं पाठः। परं तत्रापि 'वाप्सुः' इति पाठो न 'अवाप्सुः' इति। सामाजिकाभिमतेषु वेदेष्वयमपि मन्त्रो नोपलभ्यते। तस्मात् तद्भिन्नानि संहिताब्राह्मणानि च वेदा इति सिद्धयति। पाणिनिसूत्रे (२।३।६२) 'षष्ठयर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' इति कात्यायनवार्त्तिकम्। तत्रत्यं वैदिकमुदाहरणं महाभाष्यकारेण 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः' इत्युपन्यस्तम्। स्वामिदयानन्देनापीदमेवोदाहरणं दत्तम्।

पुराण ब्राह्मण ग्रन्थों से अतिरिक्त नहीं है, तो आश्वलायन गृह्यसूत्र में उनका ब्राह्मण ग्रन्थों से अलग से उल्लेख क्यों किया जाता। तैत्तिरीय आरण्यक में भी इतिहास-पुराण का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों से उनको पृथक् मानकर ही किया गया है।

'क्त्वापि छन्दसि' इस सूत्र से 'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति होने पर 'स्नात्व्यादयश्च' इस पाणिनि सूत्र का छान्दस उदाहरण 'स्विन्नः स्नात्वी मलादिव' यह है। यह शुक्ल यजुर्वेद की काण्वसंहिता का २५।५ मन्त्र है। वाजसनेय संहिता में 'स्विन्नः स्नातो मलादिव' यह पाठ मिलता है। अथर्ववेद की शौनक शाखा का पाठ 'स्विन्नः स्नात्वा मलादिव' यह है। कृष्णयजुर्वेद की काठकसंहिता (३८।५।६३) में पाणिनि उदाहृत का पाठ मिलता है। मैत्रायणी संहिता (३।११।११।१०) में भी यही पाठ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।४।४।९) में भी 'स्नात्वी' पद ही प्रयुक्त है। जो आर्यसमाजी चार पुस्तकों को ही वेद मानते हैं, उनमें उक्त छान्दस अष्टाध्यायी संमत पाठ के न मिलने से, उनका कथन गलत ही माना जायगा। ऋग्वेदभाष्यभूमिका में 'छन्द, वेद, निगम और श्रुति शब्दों के पर्यायवाचक होने से' इस प्रकार इन शब्दों की पर्यायता दयानन्द को स्वीकार है। 'छन्दसि निष्टक्र्यं' इत्यादि सूत्रों में 'निष्टक्र्यं चिन्वीत पशुकामः' यह वैदिक उदाहरण इष्ट है। दयानन्द ने भी आख्यात प्रकरण में यही उदाहरण दिया है। किन्तु आर्यसमाजियों की वेद नाम से अभिमत चार पुस्तकों में यह उपलब्ध नहीं है। न्यूनता, अधिकता, प्रक्षेप आदि से रहित ये चार पुस्तकें ही यदि वेद हैं, तो उसमें यह मन्त्र मिलना चाहिये। फिर यह मिलता क्यों नहीं? यह मन्त्र तो कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता और ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है।

'बहुलं छन्दस्यमाङ्' इति सूत्र का उदाहरण सिद्धान्तकौमुदी में 'भावः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः' यह दिया गया है। आपस्तम्ब सूत्र और बौधायन सूत्र में यह उद्धृत है। किन्तु वहाँ पर 'वाप्सुः' यह पाठ है, 'अवाप्सुः' यह नहीं। आर्यसमाजियों के अभिप्रेत चार वेदों में यह मन्त्र भी उपलब्ध नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि अष्टाध्यायी के प्रमाण पर इन चार ग्रन्थों से भिन्न संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेद हैं।

परमेतदपि सामाजिकाभिमतेष चतुर्षु पुस्तकेषु नास्ति। तैत्तिरीयसंहितायां (२।५।११७) इत्यत्र चोपलभ्यते। एवमेव पाणिनिसूत्रे (३।१।७) इत्यत्र महाभाष्ये ऋषिः (मन्त्रः) पठति 'शृणोत ग्रावाणः' इति वेदमन्त्रांश उद्धृतः। 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इत्यत्राप्ययं छान्दसो मन्त्रोऽभिप्रेतः। परमयं मन्त्रः शुक्लयजुर्वेदसंहितायां नोपलभ्यते। वाजसनेयिसंहितायां 'श्रोता ग्रावाणः' (६।२६) इत्यत्र पाठोऽस्ति। तथैव काण्वसंहितायां पाठः। यद्यपि 'शृणोत' 'श्रोता' इत्यत्र चार्थभेदो नास्ति, तथाप्यानुपूर्वीभेदोऽस्त्येव। कृष्णयजुस्तैत्तिरीयसंहितायाम् (१।३।१३।१), काण्वसंहितायाम् (३।३३), मैत्रायणीसंहितायाम् (१।३।४) चायं पाठः। तस्माच्चतस्रः संहिता एव वेद इति मतमपास्तं वेदितव्यम्।

एवमेव 'महाभाष्येऽथर्ववेदस्यादिमो मन्त्रः शन्नो देवीरित्युक्तः' इति स्वामिदयानन्देन ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां लिखितम्। प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानीत्युक्तम् (पृ० ८६)। परन्तु सामाजिकाभिमतेऽथर्ववेदे स आदिमो मन्त्रो नास्ति, किन्तु पिप्पलादसंहितायामेव विद्यते। 'ओषधे त्रायस्वैनम्', 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इत्ययं मन्त्रो यास्केन मन्त्रसार्थक्यप्रकरणे (१।१५।६) निरुक्त उद्धृतः। 'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' (मी० सू० ३।२।३५) इत्यत्र शावरभाष्येऽप्युद्धतः। काण्वसंहितायाम् (४।२) 'ओषधे त्रायस्व', 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इत्येतावानेव पाठ उपलभ्यते। तत्र त्रायस्वैनमिति पाठो नास्ति। शुक्लयजुर्वेदे वाजसनेयिसंहितायां (४।१) स एव पाठः। निरुक्ते तु 'त्रायस्वैनम्', 'स्वधिते मैनम्' इत्युभयत्र 'एनम्' इति पाठः। स च कृष्णयजुर्वेदे मैत्रायणीसंहितायां (१।२।२) तथा (१।२।१०) एवं (१।१।११०) अपि च (३।९।३) इति स्थलेषु तथा काठकसंहितायाम् (३।२।९) तथा तैत्तिरीयसंहितायाम् (१।२।११) तथा (१।३।५) निरुक्तानुसारी पाठ उपलभ्यते। तेन यास्करीत्या तासां संहितानां वेदत्वमेव।

'अग्नये समिद्धमानाय अनुब्रूहि' अयं मन्त्रो निरुक्ते (१।१५।८) उद्धृतः। स च मैत्रायणीसंहितायां (१।४।४५) उपलभ्यते नान्यत्र। 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' इत्ययं मन्त्रो निरुक्ते (१।१५।७) उद्धृतः। परन्तु

२।३।६२ संख्या के पाणिनि सूत्र पर 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' यह कात्यायन का वार्तिक है। इसका वैदिक उदाहरण महाभाष्यकार ने 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः' यह दिया है। स्वामी दयानन्द ने भी यही उदाहरण दिया है। किन्तु यह भी उक्त चार पुस्तकों में नहीं है। यह मन्त्र तैत्तिरीय संहिता में मिलता है। इसी तरह ३।१।१७ संख्या के पाणिनि सूत्र के भाष्य में 'शृणोत ग्रावाणः' यह मन्त्रांश उद्धृत है। 'तप्तनप्तनथनाश्च' इस सूत्र के छान्दस उदाहरण में भी यही मन्त्रांश अभिप्रेत है। किन्तु यह मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद संहिता में नहीं मिलता। यहाँ पर 'श्रोता ग्रावाणः' यह पाठ है। यद्यपि 'शृणोत' और 'श्रोता' में कोई अर्थ का भेद नहीं है, तो भी आनुपूर्वी का भेद तो है ही। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता और मैत्रायणी संहिता में यह मिलता है। अतः चार संहिताओं को ही वेद मानने वाला मत उक्त प्रमाणों से खण्डित हो जाता है।

इसी तरह स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में लिखा है कि 'महाभाष्य में अथर्ववेद का पहला मन्त्र 'शन्नो देवी' बताया गया है, प्रथम मन्त्रों के प्रतीक वैदिक शब्दों के उदाहरण में दिये गये हैं, ऐसा वहाँ कहा है, किन्तु सामाजिकों की अभिमत अथर्ववेद की पुस्तक के प्रारम्भ में यह मन्त्र न मिलकर पैप्पलादसंहिता के प्रारम्भ में मिलता है।

'ओषधे त्रायस्वैनम्', 'स्वधिते मैनं हिंसीः' यह मन्त्र यास्क ने निरुक्त में मन्त्रसार्थक्य प्रकरण में उद्धृत किया है। 'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' इस मीमांसा सूत्र के शावरभाष्य में भी यही मन्त्र मिलता है। काण्वसंहिता में 'ओषधे त्रायस्व'; स्वधिते मैनं हिंसीः' यही पाठ उपलब्ध है। वहाँ पर 'त्रायस्वैनम्' यह पाठ नहीं है। शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयि संहिता में भी काण्वसंहिता सरीखा ही पाठ है। इसके विपरीत निरुक्त में 'एनम्' पदघटित पाठ है। यह पाठ कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता में मिलता है। तैत्तिरीय संहिता और काठकसंहिता में भी निरुक्त का अभिप्रेत पाठ है। अतः यास्क के मत से ये संहिताएं भी वेद हैं।

'अग्नये समिद्धमानाय अनुब्रूहि' यह मन्त्र निरुक्त में उद्धृत है। यह केवल मैत्रायणी संहिता में मिलता है, अन्यत्र नहीं। 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' यह मन्त्र भी निरुक्त में उद्धृत है। परन्तु आर्यसमाजियों के अभिप्रेत वेद में यह नहीं मिलता। इससे

सामाजिकाभिमतेषु वेदेषु नोपलभ्यते। तेन चत्वारि पुस्तकान्येव वेदा इति मतं खण्डितम्। ११३१ संहिता ब्राह्मणानि च वेदा इत्येव सिद्धान्तः। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' (तै० सं० १।८।६।१) इति पाठः। उपर्युक्तश्च पाठो लुप्तशाखासु भविष्यति। ऋग्वेदीयशाकलसंहितायां शुक्लयजुर्वेदस्य काण्व-वाजसनेयिसंहितयोः कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीय-काठक-कपिष्ठल-मैत्रायणीसंहितासु सामवेदस्य कौथुमीराणायनीयजैमिनीयसंहितासु तथाथर्वणः शौनक-पिप्पलादसंहितयोश्च निरुक्तोक्तः पाठो नोपलभ्यते।

'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' इति मन्त्रस्योद्धरणं निरुक्ते निपातप्रकरणे (१।११।१) लभ्यते। 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' (पा० सू० ३।४।८) इति पाणिनिसूत्रेऽपि वैदिकं तदेवोदाहरणम्। स्वामिदयानन्देनापि तदेवोदाहरणमुक्तम्। तथापि स मन्त्रश्चतसृषु संहितासु नोपलभ्यते। ऋक्परिशिष्टेऽष्टमाष्टके षष्ठेऽध्याये द्वितीये वर्गे स मन्त्रो लभ्यते। तेन ऋक्परिशिष्टोऽपि वेदः।

निरुक्ते (९।५।१) 'भद्रं वद दक्षिणतः' इतीयमृक् समुद्धृता। सा च ऋक्संहितायां नोपलभ्यते। ऋक्परिशिष्टे(२।१३।१) चोपलभ्यते। तेन ऋक्परिशिष्टानामपि वेदत्वमेव। कर्मोपासनकाण्डेषु त्रिष्वपि यदुक्तव्यमवशिष्टं तस्य सर्वस्याभिधानेन प्रकीर्णरूपत्वं खिलत्वमिति तैत्तिरीयारण्यकव्याख्याने सायणः। तथा हरिवंशावतरणिकायां नीलकण्ठोऽपि—'यच्च शाखान्तरस्थं शाखान्तरे प्रयोजनवशात् पठ्यते, यथा बह्वृचे श्रीसूक्तमेधासूक्तादि, तत् खिलमुच्यते' इति। मनुरपि 'स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये पुराणानि खिलानि च' (म० ३।२२२) इति।

निरुक्तकारः 'इत्यपि निगमो भवति' इत्युक्त्वा वेदवाक्यं निर्दिशतीति सर्वसम्मतमेव। श्रीदयानन्दोऽपि तथैवाभ्युपगच्छति। 'अमेनांश्चिज्जनितवतश्चकर्थ', 'ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत' इत्यपि निगमौ भवतः' (नि०

भी उनके इस मत का खण्डन हो जाता है कि चार पुस्तकें ही वेद हैं। वस्तुतस्तु यही मानना पड़ेगा कि ११३१ संहितायें और ब्राह्मण वेद हैं। सम्प्रति 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' यह पाठ तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध है। निरुक्त में उद्धृत पाठ किसी लुप्त शाखा का हो सकता है, क्योंकि यह ऋग्वेद की शाकल संहिता, शुक्ल यजुर्वेद की काण्व और वाजसनेयि संहिता, कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक, कपिष्ठल, मैत्रायणी संहिता, सामवेद की कौथुमी, राणायनीय, जैमिनीय संहिता और अथर्ववेद की शौनक और पिप्पलाद संहिता—सम्प्रति उपलब्ध इन संहिताओं में से किसी में उपलब्ध नहीं है।

'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' यह मन्त्र निरुक्त के निपात प्रकरण में उदाहृत है। 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' इस पाणिनि सूत्र का वैदिक उदाहरण भी यही मन्त्र है। स्वामी दयानन्द ने भी यही उदाहरण दिया है, किन्तु यह मन्त्र उक्त चारों संहिताओं में नहीं मिलता। यह ऋक्परिशिष्ट के आठवें अष्टक के छठे अध्याय के दूसरे वर्ग में मिलता है। इससे मानना पड़ेगा कि ऋक्परिशिष्ट भी वेद है।

निरुक्त में 'भद्रं वद दक्षिणतः' यह ऋचा उद्धृत है। यह ऋग्वेद में न मिलकर ऋक्परिशिष्ट में मिलती है। इससे भी ऋक्परिशिष्ट वेद माना जायगा। 'कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड तीनों में कहने से जो बच गया, उन सबका अभिधान होने से खिल भाग प्रकीर्ण रूप में उक्त है' यह बात सायण ने तैत्तिरीय आरण्यक की व्याख्या में कही है। इसी तरह हरिवंश की अवतरणिका में नीलकण्ठ ने कहा है—'किसी प्रयोजन को लेकर दूसरी शाखा का वचन दूसरी शाखा में उद्धृत हो तो वह 'खिल' कहलाता है, जैसे कि ऋग्वेद में श्रीसूक्त, मेधासूक्त आदि हैं'। मनु ने भी कहा है—'पितृ श्राद्ध के समय वेद का स्वाध्याय करे, पुराण और खिल भाग सुनावे'।

निरुक्तकार 'इत्यपि निगमो भवति' ऐसा कह कर वेद वाक्य का उदाहरण देते हैं, यह सब कोई मानते हैं। श्रीदयानन्द ने भी यही माना है। निरुक्तकार ने ऐसे दो उदाहरण दिये हैं—'अमेनांश्चिज्जनितवतश्चकर्थ', 'ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत'। इनमें से पहला मन्त्र शाकली संहिता का है। परन्तु दूसरा मन्त्र सामवेदीय ताण्ड्य महाब्राह्मण में मिलता है। इससे यह सिद्ध है कि निरुक्तकार

३।२१।२) तयोः 'अमेनान्' इति मन्त्रः शाकलीसंहितास्थः। परन्तु 'ग्नास्त्वा' इति मन्त्रः सामवेदीये ताण्ड्यमहाब्राह्मणे (१।८।९) उपलभ्यते। तेन निरुक्तकारो यास्को ब्राह्मणमपि निगमं मन्यते। मैत्रायणीसंहितायाम् (१।९।४), काठकसंहितायाम् (९।९) च मन्त्रोऽयं लभ्यते। तेन शाखान्तराणामपि निगमत्वं स्पष्टमेव। 'पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति', 'नेमे देवा नेमेऽसुराः' इत्यपि निगमौ भवतः' (निरुक्त ३।२०।५) अत्रापि प्रथमो मन्त्र ऋक्संहितायां लभ्यते, द्वितोयश्च काठकसंहितायाम् (१४।९) उपलभ्यते। तेन शाकलीमाध्यन्दिनीकौथुमीशौनकीसंहितावदेव मैत्रायणीकाठकादिसंहितादीनामपि वेदत्वं स्पष्टमेव। तथैव 'नो परस्याविष्कुर्याद् इत्यपि निगमो भवति' (निरुक्त ३।५।२) अयं निगमो ब्राह्मणवचनमेव। तथैव निरुक्ते तं मरुतः ५।१ इत्यत्रापि निगमत्वेन ब्राह्मणवाक्यमेवोद्धृतम्। (२।३।१) निरुक्ते 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।।' इत्यपि निगमो भवति। अयं मन्त्रः कृष्णयजुर्वेदीयश्वेताश्वतरोपनिषद्येवोपलभ्यते (३।९)। तेनोपनिषदामपि वेदत्वं सिद्धयति।

तथैव पाणिनिसूत्रैरपि शाखान्तराणां ब्राह्मणानां च वेदत्वं सिद्धयति। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इति सूत्रेण 'आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि' (ऋ० सं० ३।४५।१)। यथा मन्त्रे कार्यं भवति, तथैव 'समिधं सोम्य आहर उप त्वा नेष्ये' (छा० ४।४।५) उपनिषद्यपि कार्यं भवति। तथापि ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनोपनिषदां वेदत्वेऽपि प्राधान्येन पृथगुपदेशः। 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिसूत्रे 'क्त्वापि छन्दसि' (पा० सू० ७।१।३८) इत्यतश्छन्दोऽनुवृत्तौ तेन यथा 'सविता प्रथमेऽहन्' (वा० सं० ३९।६) इति मन्त्रे ङिलोपः, 'न ङिसम्बुद्धयोः' (पा० सू० ८।२।८) वैदिकलोपाभावश्च भवतस्तथैव 'यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' (श० १४।६।८।३) इति शतपथब्राह्मणेऽपि ङिलोपनलोपाभावौ भवतः। एतावता ब्राह्मणभागस्यापि पाणिनिमतेन स्पष्टमेव छन्दस्त्वम्।

यास्क ब्राह्मण को भी निगम मानते हैं। मैत्रायणीसंहिता और काठकसंहिता में यह मन्त्र मिलता है। इससे दूसरी शाखाओं की भी निगम संज्ञा है, यह स्पष्ट है। निरुक्त में ही दूसरे स्थान पर दो अन्य निगम मन्त्र दिये हैं। यहाँ का पहला मन्त्र 'पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति' ऋक्संहिता में मिलता है और 'नेमे देवा नेमे असुराः' यह दूसरा मन्त्र काठकसंहिता का है। इससे यह स्पष्ट है कि शाकली, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी संहिताओं के समान मैत्रायणी, काठक आदि संहिताएं भी वेद हैं। इसी तरह निरुक्त में निगम के नाम से उद्धृत यह वचन 'नो परस्याविष्कुर्यात्' ब्राह्मण का वाक्य है। निरुक्त (५।१) में ही यहाँ पर उदाहृत निगम भी ब्राह्मण का ही वाक्य है। निरुक्त में ही 'यस्मात् परं नापरमस्ति' यह निगम वाक्य कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर उपनिषद् का है। इससे यह सिद्ध है कि उपनिषद् भी वेद हैं। मन्त्र का अर्थ है कि 'जिससे बढ़कर कोई दूर नहीं है, जिससे बढ़ कर कोई नजदीक नहीं है, जिससे बढ़ कर कोई सूक्ष्म और महान् नहीं है, जो कि मैदान में खड़े अकेले वृक्ष के समान आकाश में अकेला विद्यमान है, उस पुरुष से यह सारा जगत् भरा हुआ है'।

इसी तरह पाणिनि सूत्रों के प्रमाण पर भी यह सिद्ध होता है कि अन्य शाखाएँ तथा ब्राह्मण भी वेद हैं। 'व्यवहिताश्च' इस सूत्र की प्रवृत्ति जैसे 'आ मन्द्रैरिन्द्र' इस ऋग्वेद के मन्त्र में होती है, उसी तरह 'समिधं सोम्य आहर उप त्वा नेष्ये' इस उपनिषद् वाक्य में भी। उपनिषद् यद्यपि वेद ही है, तो भी ब्राह्मणपरिव्राजक न्याय से, अर्थात् जैसे परिव्राजक भिक्षु के ब्राह्मण रहने पर भी उसका ब्राह्मण से पृथक् निर्देश किया जाता है, उसी तरह यहाँ पर उपनिषदों का अलग से निर्देश किया गया है। इसका उद्देश्य है उसकी प्रधानता बताना। 'सुपां सुलुक्' इस सूत्र में 'क्त्वापि छन्दसि' इस सूत्र से छन्द पद की अनुवृत्ति कर जैसे 'सविता प्रथमेऽहन्' यहाँ पर 'ङि' का लोप किया जाता है और 'न ङिसंबुद्धयोः' इस सूत्र से वैदिक 'न्' का लोप नहीं होता, उसी तरह 'यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' इस शतपथ ब्राह्मण के वाक्य में भी 'ङि' का लोप और 'न्' का अलोप होता है। इस प्रकार पाणिनि के मत से सिद्ध होता है कि ब्राह्मण भाग भी वेद है।

'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति पाणिनिसूत्रेण भगवच्छब्दस्य सम्बोधने 'भगवः' इति रूपं छन्दस्येव निष्पद्यते न लोके। उपनिषत्सु च 'भगव इति शुश्राव' (छा० ४।५।१) इति छान्दोग्येऽन्यत्र च 'भगवः' इत्युपलभ्यते। तेनाप्युपनिषदां ब्राह्मणानां च छन्दस्त्वं स्वतः सिद्धम्। 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) यथा मन्त्रे प्रवर्तते, तथा ब्राह्मणेऽपि, यथा—'आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथ्वी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म पूता पुनातु माम्॥' (तैत्तिरीयारण्यके १०।२३) इत्यत्र ब्रह्मणस्पतिरित्यत्र अम्स्थाने सुप्रयोगो भवति। 'ब्रह्मपूता' इत्यत्र लिङ्गव्यत्ययः।

एवं वेदाङ्गप्रकाशे आख्यातिके ३२८ पृष्ठे 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ३।२।८८) इति वैदिकसूत्रस्योदाहरणरूपेण स्वामिदयानन्देन 'भ्रातृहा सप्तमं नरकं विशेत्' इति वेदमन्त्र उपस्थापितः, सोऽपि तत्सम्मते वेदे नोपलभ्यते, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थे लभ्यते। वस्तुतस्तु विश्वबन्धुप्रकाशितवैदिकपदानुक्रमकोषानुसारं न मन्त्रसंहितासु न ब्राह्मणेषु न वोपनिषत्सूपलभ्यते।

एवमेव सामासिके 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद् अष्टा हिरण्या दक्षिणा' इत्युदाहरणं (पा० सू० ६।३।१२६) इति सूत्रे छन्दसि दत्तम्। एतावता तद्रीत्यापि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमायातम्।

एवमेव दयानन्देनाव्ययार्थभागे २१ पृष्ठे 'तवै तुमर्थे छन्दसि' लिखित्वा 'ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै' इत्युदाहरणं दत्तम्। एवमेव ३९३ पृष्ठे 'भावलक्षणे''''तोसुन्' (पा० सू० ३।४।१६) इति वैदिकसूत्रोदाहरणरूपेण 'काममाविजनितोः सम्भवामः' इति मन्त्र उद्धृतः। अयमपि मन्त्रस्तदभिमतेषु वेदेषु नोपलभ्यते। तेन चत्वारि पुस्तकान्येव वेद इति भ्रान्तिरेव। एकत्रिंशदधिकशतोत्तरसहस्रशाखात्मके मन्त्रब्राह्मणात्मके बृहच्छब्दराशावेव वेदशब्दप्रयोगो युक्तः।

तैत्तिरीयसंहितायां (२।५।१।५) इति स्थले 'काममाविजनितोः सम्भवामः' इति पठितम्। एवमेव स्त्रैणतद्धिते ६५ पृ० 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (पा० सू० ४।२।६५) इति सूत्रविवरणे दयानन्देन छन्दसः

'मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि' इस पाणिनि सूत्र से भगवत् शब्द के संबोधन में 'भगवः' यह रूप वेद में बनता है, लोक में नहीं। यह रूप 'भगव इति ह शुश्राव' इस छान्दोग्य उपनिषद् वाक्य में तथा अन्यत्र भी उपलब्ध होता है। इससे भी उपनिषदों और ब्राह्मणों को वेद माना जाना स्वतः सिद्ध होता है। 'व्यत्ययो बहुलम्' यह सूत्र जैसे मन्त्रों में लागू है, उसी तरह ब्राह्मणों में भी। जैसे कि 'आपः पुनन्तु' इत्यादि तैत्तिरीय आरण्यक में प्रयुक्त 'ब्रह्मणस्पति' पद में 'अम्' के स्थान 'सु' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

इसी तरह वेदाङ्गप्रकाश के आख्यात प्रकरण में 'बहुलं छन्दसि' इस वैदिक सूत्र के उदाहरण के रूप में स्वामी दयानन्द ने 'भ्रातृहा सप्तमं नरकं विशेत्' इस वेद मन्त्र को रखा है। यह वाक्य भी उनकी अभिप्रेत वेद की चार पुस्तकों में उपलब्ध नहीं है। यह किसी ब्राह्मण का ही वाक्य हो सकता है। वस्तुतस्तु विश्वबन्धु शास्त्री के द्वारा होशियारपुर से प्रकाशित वैदिकपदानुक्रमकोश के अनुसार यह वचन संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि में उपलब्ध नहीं होता।

इसी तरह स्वामी दयानन्द ने समास प्रकरण में ६।३।१२६ संख्या के सूत्र के उदाहरण में 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद् अष्टा हिरण्या दक्षिणा' यह वाक्य दिया है। इससे भी यह सिद्ध है कि ब्राह्मण भाग वेद है।

इसी तरह दयानन्द ने अव्ययार्थ भाग के २१ वें पृष्ठ पर 'तवै तुमर्थे छन्दसि' यह लिखकर 'ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै' यह उदाहरण दिया है। इसी तरह ३९३ पृष्ठ पर 'भावलक्षणे'''तोसुन्' इस वैदिक सूत्र के उदाहरण के रूप में 'काममाविजनितोः संभवामः' यह मन्त्र उद्धृत किया है। यह मन्त्र भी उनकी अभिमत वेद-पुस्तकों में नहीं मिलता। इससे चार पुस्तकों को ही वेद मानने वाला विचार गलत है। ११३१ शाखाओं से युक्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक महान् शब्दराशि में ही वेद शब्द का प्रयोग युक्त है। 'काममावि' इत्यादि वचन तैत्तिरीय संहिता का है।

इसी तरह तद्धित स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में ६५ वें पृष्ठ पर 'छन्दो-ब्राह्मणानि' इत्यादि सूत्र के विवरण में दयानन्द ने छन्द के उदाहरण में कठ, मौद, पैप्पलाद और वाजसनेयों का परिगणन किया है। इससे बिना चाहे भी आर्यसमाजियों को यह मानना पड़ेगा

(वेद) उदाहरणे कठाः, मौदाः, पैप्पलादाः, वाजसनेयिन उक्ताः। तेन शाखान्तराणां वेदत्वं छन्दस्त्वमनिच्छद्भिरपि सामाजिकैरभ्युपेतव्यमेव। सूत्रकृत्पाणिनिमहाभाष्यकृत्पतञ्जलिनिघण्टुनिरुक्तकृद्भिश्च ये वैदिकाः शब्दाः प्रदर्शितास्तेषामुपलम्भो वेदे परमावश्यकः। न चेत्तेषां संहिताचतुष्टय उपलम्भस्तदा यत्रोपलम्भस्तासामवश्यमन्यसंहितानामपि वेदत्वमङ्गीकार्यम्।

महाभाष्ये पस्पशाह्निके 'ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दास्तेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व? वेदे' इत्युक्त्वा यद्वा 'रेवत्यामूष' इति वेदवाक्यमुद्धृतम्। तच्च नेदानीन्तनेषूपलब्धेषु वेदेषूपलभ्यते। 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' एवमृणसंयोगं वेदो दर्शयति। वचनं चेदं बौधायनधर्मसूत्रे (२।९।१६।७), न्यायदर्शनभाष्ये (४।१।५९-६०) वेदनाम्नोद्धृतम्। न्यायदर्शनभाष्ये—'जायमानो ह वै ऋणवान्' इति पाठः, तैत्तिरीयसंहितायां च 'जायमानो वै ऋणवा' इति पाठः। परमयं मन्त्रः कृष्णयजुःसंहितायाम् (६।३।१०।५) उपलभ्यते। तस्मात् स्पष्टमेव तस्याः संहिताया वेदत्वं सिद्धयति।

यास्को निघण्टुग्रन्थं वैदिकशब्दसंग्रहमुक्तवान्। 'छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः'(नि० १।१।४)। सामाजिकाश्चैतदभ्युपगच्छन्ति। न च निघण्टुशब्दाः सामाजिकाभिमतवेदसीमावरुद्धाः, किन्तु सर्वास्वेव शाखासु ब्राह्मणेष्वारण्यकेषूपनिषत्सु तेषामुपलम्भो भवति। यथा 'काञ्चनं जातरूपम्' (नि० १।२) हिरण्यनामसु पठितम्। न चैष चतसृषु सामाजिकाभिमतसंहितासूपलभ्यते। 'वियत् आकाशम्' अन्तरिक्षनामसु पठितम्। तदपि तासु नोपलभ्यते। 'आष्ठा' इति दिशां नामसु, 'शोची' (नि० १।७) रात्रिनामसु, बलिशानो बलाहकः (नि० १।१०) मेघनामसु, 'बेकुरा' (नि० १।११) वाङ्नामसु, सर्णीकं स्वृतीकम् (नि० १।१२) इति जलनामसु पठितम्। नैते शब्दा अपि सामाजिकानां वेद उपलभ्यन्ते। एवमेतादृशा बहवः शब्दाः। दिङ्मात्रमिह प्रदर्शितम्।

कि शाखान्तर भी वेद हैं। सूत्रकार पाणिनि, महाभाष्यकार पतंजलि और निघण्टुकार, निरुक्तकार आदि ने जिन वैदिक शब्दों का पाठ किया है, उनकी उपलब्धि वेद में हो, यह परम आवश्यक है। यदि ये शब्द केवल चार संहिताओं में नहीं मिलते, तब जहाँ ये मिलते हैं, उन सभी संहिताओं को भी वेद के अन्तर्गत मानना जरूरी है।

महाभाष्य पस्पशाह्निक में 'जिन शब्दों को आप अप्रयुक्त मानते हैं, उनका भी प्रयोग मिलता है। कहाँ? वेद में' यह कह कर 'रेवत्यामूषः' यह वेदवाक्य उद्धृत किया है। यह वाक्य आज कल उपलब्ध हो रहे वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। 'ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन तरह से ऋणी हो जाता है' इस वेद में ब्राह्मण का ऋण से संबन्ध बताया गया है। यह वाक्य बौधायन धर्मसूत्र और न्यायदर्शन भाष्य में वेद के नाम से प्रदर्शित है। न्यायभाष्य में 'ऋणवान्' और बौधायन में 'ऋणवा' पाठ है। बौधायन का पाठ तैत्तिरीय संहिता में मिलता है, जो कि कृष्ण यजुर्वेद से संबद्ध है। इससे यह स्पष्ट है कि यह संहिता भी वेदान्तर्गत है।

यास्क निघण्टु में वैदिक शब्दों का संग्रह मानते हैं। उनका कहना है कि 'इनका संग्रह वेदों से चुन चुन कर किया गया है। आर्यसमाजी भी इस बात को मानते हैं। निघण्टु के ये शब्द केवल समाजियों को बाँधी गई वेद की सीमा तक ही सीमित नहीं हैं, किन्तु सभी शाखाओं में, ब्राह्मणों में, आरण्यक और उपनिषदों में वे मिलते हैं। जैसे कि कांचन, जातरूप सुवर्ण के नामों में पठित है। यह शब्द समाजियों की चार संहिताओं में उपलब्ध नहीं है। वियत्, आकाश अन्तरिक्ष के नामों में पठित है। यह शब्द भी उनमें नहीं है। इसी तरह दिशाओं के लिये 'आष्ठा', रात्रि के नामों में 'शोची', मेघ के नाम के लिये बलिशान और बलाहक, वाणी के लिये 'बेकुरा', और जल के लिये 'सर्णीक' तथा स्वृतीक' शब्द पठित हैं। ये शब्द भी सामाजिकों के अभिप्रेत वेद ग्रन्थों में नहीं मिलते। इसी तरह के अन्य अनेक शब्द हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

'एतावता पातञ्जलमहाभाष्योद्धृतवैदिकमन्त्राणां यदि चतसृष्वेव संहितासूपलम्भः स्यात्, तदा ता एव वेदत्वेनाङ्गीकारार्हाः। यदि त्वन्यास्वपि शाखासु महाभाष्योक्तानि वाक्यान्युपलभ्येरन्, तदा तु महाभाष्योक्ता बहुधा भेदभिन्नाः शाखा वेदा मन्तव्याः। 'वैदिकाः खल्वपि 'शं नो देवीरभिष्टये', 'इषे त्वोर्जे त्वा', 'अग्निमीळे पुरोहितम्', 'अग्न आयाहि वीतये' इति वेदचतुष्टयस्य प्रथममन्त्रप्रतीकान्युद्धृतानि। समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्त इति पस्पशाह्निकस्थमहाभाष्यवचनानुरोधात् सर्वासु शाखासु प्रवृत्तो वेदशब्दस्तदवयवेषु स्वाभिमतचतसृषु संहितास्वपि प्रयोक्तुं शक्यत एव।

'देवेभिः', 'ब्राह्मणासः', 'सभेयः', 'त्मना' इत्यादिलौकिकविलक्षणवैदिकशब्दैः पूर्ववद्वेदसंहितामन्त्रोद्धरणैर्वा वैदिकशब्दप्रदर्शनं सम्भवति। महाभाष्यकारैस्तु द्वितीयः पक्षोऽवलम्बितः। 'शन्नो' इत्यादिलोकवेदसाधारणशब्दप्रदर्शनेन लौकिकवैदिकशब्दभेदग्रहणासम्भवात्। महाभाष्यकारेण यदि लोकविरुद्धपदघटितकतिचिन्मन्त्रोद्धरणं कृतं स्यात्तदापीष्टसिद्धिः स्यादेव। परं प्रस्तुतवेदसंहितामन्त्रेषु लोकविलक्षणमेकमपि पदं नास्ति। महाभाष्यकारीय-मन्त्रोद्धरणक्रमो निर्निमित्तो न वक्तुं शक्यते। अतश्चतसृभ्यः संहिताभ्य एकैकः प्रथममन्त्र उद्धृतः। अन्यथैकस्य द्वयोर्वा मन्त्रयोरुद्धरणं स्यात्, न चतुर्णां मन्त्राणामुद्धरणं सार्थकं स्यात्।

ननु ऋगादिक्रमेण कथं न मन्त्रोद्धरणमिति चेन्न, नियामकाभावेनैच्छिकप्रयोगे बाधाभात्। अत एव क्वचिद् वाजसनेयिसंहितायामृचां साम्नां यजुषां छन्दसां क्रमः, क्वचिद् अथर्वसंहितायामृचां यजुषां साम्नामथर्वाङ्गिरसां क्रमो दृष्टः। तद्रीत्याऽथर्वमन्त्रस्य 'शन्नो देवीरभिष्टय' इत्यस्य प्राथम्यमसङ्गतमेव स्यात्। इच्छाया अपीदं कारणं सम्भाव्यते यत् ११३१ संहितामन्त्राणामुद्धरणासम्भवात् स्वसम्प्रदायानुरोधेन गुरुपारम्पर्येण प्राप्तानां वा चतुर्वेदगत-चतुर्णामादिममन्त्राणामुद्धरणं सम्भवति। तत्रापि स्वकुलशाखानुरोधेनाथर्ववेदस्य प्राथम्यं सम्भवति। तेनाथर्ववेदित्वात् प्रथममथर्वसंहितामन्त्रोद्धरणमपि सङ्गच्छते।

इसी तरह पातंजल महाभाष्य में उद्धृत वैदिक मन्त्र यदि चार संहिताओं में ही मिल जाय, तब तो उनको ही वेद मानना ठीक है। किन्तु यदि अन्य शाखाओं में भी इनकी उपलब्धि हो, तब तो महाभाष्य में प्रदर्शित अनेक शाखाओं में विभक्त पूरे वैदिक वाङ्मय को, उसकी सभी शाखाओं को वेद मानना पड़ेगा। महाभाष्य में कहा है—'शं नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतये—ये सब वैदिक शब्द हैं'। यहाँ पर चार वेदों के प्रथम मन्त्रों का प्रतीक दिया गया है। 'समुदाय के लिये कहा गया शब्द उसके अवयव के लिये भी प्रयुक्त होता है' पस्पशाह्निक महाभाष्य की इस उक्ति के अनुसार वेद शब्द की प्रवृत्ति सभी शाखाओं के लिये है, किन्तु इनकी अवयवभूत स्वाभिमत चार संहिताओं के लिये भी इसका प्रयोग हो ही सकता है।

देवेभिः, ब्राह्मणासः, सभेयः, त्मना इत्यादि लोकविलक्षण वैदिक शब्दों से अथवा पूर्ववत् वेदसंहिताओं के मन्त्रों के उद्धरण से वैदिक शब्द दिखाये जा सकते हैं। इनमें महाभाष्यकार ने दूसरा पक्ष स्वीकार किया है। 'शन्नो' यह शब्द लोक-वेद साधारण है, इससे लौकिक और वैदिक शब्दों का भेद नहीं जाना जा सकता। महाभाष्यकार ने यदि लोकविरुद्ध पदों से घटित किसी मन्त्र का उल्लेख किया होता, तब भी इष्टसिद्धि होती, लेकिन यहाँ पर उद्धृत वेदसंहिता के मन्त्रों में ऐसा एक भी पद नहीं है। महाभाष्यकार का मन्त्रों को उद्धृत करने का क्रम बिना प्रयोजन का हो नहीं सकता। अतः मानना पड़ेगा कि यहाँ पर चारों संहिताओं से एक एक मन्त्र उद्धृत किया गया है। अन्यथा एक अथवा दो मन्त्रों के उद्धरण से भी काम चल सकता था, चार मन्त्रों के उद्धरण की कोई आवश्यकता नहीं थी।

यहाँ पर ऋगादि के क्रम से मन्त्रों का उद्धरण इस लिये नहीं दिया गया कि इस प्रकार के ऐच्छिक प्रयोगों के विरुद्ध कोई नियामक वाक्य उपलब्ध नहीं है। इसी लिये वाजसनेयिसंहिता में कहीं ऋक्, साम, यजुः यह क्रम है और कहीं अथर्वसंहिता में ऋक्, यजुः, साम, अथर्व यह क्रम है। इस पद्धति से अथर्व मन्त्र 'शन्नो देवी' का प्रथम प्रयोग असंगत हो जायगा। इच्छा के ही नियामक होने से यहाँ पर ११३१ संहिताओं के आदि वाक्यों का उद्धरण असंभव है, ऐसा मानकर अपने संप्रदाय और गुरु-परम्परा

वेदनामभिः स्वातन्त्र्येण चत्वारो वेदाः क्वापि नोपलभ्यन्ते, किन्तु सर्वा अपि शाखा मिलित्वा वेदपदव्यपदेश्या भवन्ति। समुदायैकदेशत्वाद् एकैकशाखास्वपि वेदपदप्रयोगो भवति। तेन स्वकुलशाखात्वादेव पिप्पलादशाखायाः शन्नो देवीरित्युपन्यासो युक्तः। अन्तिमास्तु त्रयो मन्त्रा यजुर्वेद (वाजसनेयिसंहिता—तैत्तिरीयसंहिता)-ऋग्वेद (शाकलीसंहिता)—सामवेद (कौथुमीसंहिता) संहितानां सन्तीति निर्विवादमेव।

यदा अन्तिमा मन्त्राः संहितात्रयस्य प्रथममन्त्रास्तदा तद्वदेवं 'शन्नो देवी' रित्यथर्वमन्त्रोऽपि प्राथमिक एव भवितुमर्हः, वैयाकरणैः साहचर्यनियमस्य प्राधान्याभ्युपगमात्। शौनकीसंहितायां नायं मन्त्रः प्रथमः, पिप्पलादसंहितायामेवास्य प्राथम्येन निर्देशात्। महाभाष्ये यत्र यत्र अथर्वसंहितानां नामनिर्देशस्तत्र तत्र पिप्पलादसंहिताया एव प्राधान्यम्। तस्मादथर्ववेदेऽपि पिप्पलादशाखीयत्वादेव महाभाष्यकारस्य तदुपपत्तिः। तृतीयं प्रतीकं शाकलीसंहितास्थः प्रथमो मन्त्रः, ळपाठस्य ऋग्वेदादन्यत्राप्रयोगात्। मन्त्रोऽयं सामवेदेऽपि पूर्वार्चिके आरण्यकपर्वणि (६।३।४) उपलभ्यते। तथापि तत्र 'अग्निमीडे' इत्येव पाठः। 'अग्निमीळे' इत्यंशस्यैवोद्धरणे ऋक्संहितायाम् (५।१४।५) तथा (१०।२०।२) इत्यत्रत्योऽपि मन्त्रो ग्रहीतुं शक्योऽतः प्राथम्यबोधनाय पुरोहितमित्यप्यंशो निवेशितः, तेन 'अग्निमीळेऽन्यं कविम्', 'अग्निमीळे भुजां यविष्ठं' इति पूर्वनिर्दिष्टयोर्व्यावृत्त्या प्रथमस्यैव बोधनम्।

'इषे त्वा' इत्यपि यजुःसंहितायाः प्रथममन्त्रप्रतीकमेव। तत्रापि कस्याः संहितायाः प्राथमिकोऽयं मन्त्र इति जिज्ञासायां बाधकाभावात् शुक्लकृष्णयजुषोरुभयोरेव ग्रहणं युक्तम्, 'एकशतमध्वर्युशाखाः' इति तद्वचनानुरोधात्। यदि कृष्णयजुस्तैत्तिरीयसंहिताया ग्रहणं नेष्टं स्यात्तदा तद्व्यावृत्त्यै 'इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः' इत्येवं निर्दि-

के अनुरोध से चतुर्वेद गत चार मन्त्रों को उद्धृत किया गया और इनमें भी अपने कुल की शाखा होने से अथर्ववेद को प्राथमिकता दी गई। अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा के मन्त्र का उद्धरण पहले देने से यही प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार इस शाखा के अनुयायी थे।

वेद के नाम से स्वतन्त्र रूप से वेद की चार पुस्तकों का उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता, किन्तु सभी शाखाएँ मिलकर वेद कहलाती हैं। समुदाय का एक अंश होने से प्रत्येक शाखा के लिये वेद शब्द प्रयुक्त होता है। इस लिये अपने कुल की शाखा होने से पिप्पलाद शाखा के मन्त्र का प्रथम उपन्यास युक्त है। अन्तिम तीन मन्त्र यजुर्वेद की वाजसनेयी और तैत्तिरीयसंहिता, ऋग्वेद की शाकलीसंहिता और सामवेद की कौथुमीसंहिता के प्रथम मन्त्र हैं, इसमें कोई विवाद नहीं है।

जब अन्तिम तीन मन्त्र तीन संहिताओं के प्रथम मन्त्र हैं, तो उसी तरह प्रथम मन्त्र भी अथर्ववेद का आद्य मन्त्र होना चाहिये। वैयाकरणों ने साहचर्य नियम को प्रधान माना है। शौनकी संहिता का यह आद्य मन्त्र नहीं है, पिप्पलाद शाखा के ही प्रारम्भ में यह मिलता है। महाभाष्य में जहाँ कहीं भी अथर्वसंहिता का उल्लेख है, सभी जगह पिप्पलाद शाखा की प्रधानता है। यह तभी संगत हो सकता है, जब कि महाभाष्यकार को पिप्पलाद शाखा का अथर्ववेदी माना जाय। तृतीय प्रतीक शाकलीसंहिता का पहला मन्त्र है, क्योंकि 'ळ' का पाठ ऋग्वेद के सिवाय अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यह मन्त्र सामवेद पूर्वार्चिक के आरण्य पर्व में भी उपलब्ध है, किन्तु वहाँ पर 'अग्निमीडे' यह पाठ है। 'अग्निमीळे' इतना ही उद्धरण देने पर ऋक्संहिता के दो अन्य मन्त्रों का ग्रहण किया जा सकता था, इसलिये प्रथम मन्त्र का ही बोधन कराने के लिये 'पुरोहितम्' यह अंश भी जोड़ा गया। इससे उक्त दो मन्त्रों की निवृत्ति होकर प्रथम मन्त्र की ही अवगति होती है।

'इषे त्वा' यह भी यजुःसंहिता का प्रथम मन्त्र है। यहाँ पर भी किस संहिता का यह प्रथम मन्त्र है ? इस बात की जिज्ञासा होने पर किसी बाधक प्रमाण के न रहने से शुक्ल और कृष्ण दोनों ही संहिताओं का ग्रहण हो सकता है। महाभाष्यकार के कथनानुसार यजुर्वेद की १०१ शाखाएं हैं। यदि कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा महाभाष्यकार को अभिप्रेत न होती तो उसकी व्यावृत्ति के लिये वे 'इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः' इस प्रकार मन्त्र का पाठ करते। यद्यपि 'इषे त्वा सुभूताय' यह मन्त्र मैत्रायणी

शेत्। यदि वा शुक्लयजुर्व्यावृत्तये 'उपायवः स्थ' इति निर्दिशेत्। यद्यपि 'इषे त्वा सुभूताय' इति मैत्रायणीसंहिताया मन्त्रोऽप्यादिमस्तथापि कृष्णशुक्लयजुषोरेकैकसंहिताया ग्रहणेन सर्वासां गतार्थत्वान्न पृथगुद्धरणं कृतम्। 'अग्न आयाहि वीतये' इति चतुर्थप्रतीकमपि सामवेदीयप्रथममन्त्रस्यैव। 'अग्न आ याहि' इत्येतावत एवोद्धरणे (अथर्ववेदशौनक २०।१०३।३) शाखाया ग्रहणं स्यात्, तन्मा भूदिति 'वीतये' इत्यप्युपात्तम्। अयमपि मन्त्रः कौथुमीशाखाया आदिमः।

'शन्नो देवीः' इति यद्यथर्ववेदस्य प्रथममन्त्रप्रतीकं न विवक्षितं स्यात्, तदा तु शन्नो देवीरिति मन्त्रोद्धरणेनैव चतुर्वेदमन्त्रप्रतीकान्युद्धृतानि स्युरित्यन्यमन्त्रप्रतीकोद्धरणं व्यर्थमेव स्यात्। कुतः? अस्य मन्त्रस्य चतुर्ष्वपि वेदेषु सत्त्वात्। तथाहि—ऋक्संहितायाम् (१०।९।४), शुक्लयजुर्वाजसनेयिसंहितायाम् (३६।१२), मैत्रायणीसंहितायाम् (४।१०।४), काठकसंहितायाम् (३६।१२), कौथुमीसंहितायामाग्नेयपर्वणि (१।३।१३), शौनकसंहितायाम् (१।६।१) च विद्यमानोऽयं मन्त्रः। तस्माच्चतुर्णां वेदानां प्रथममन्त्रप्रतीकोद्धरणमेव तदभीष्टं ज्ञातव्यम्।

शौनकीयाथर्वसंहितायास्तु प्रथममन्त्रप्रतीकम् 'ये त्रिषप्ता' इति। 'शन्नो' मन्त्रस्तु शौनक्या अथर्वसंहितायाः षष्ठसूक्तस्यादिमो मन्त्रः। महाभाष्यकारस्तु पिप्पलादसंहितायाः प्रथममन्त्रप्रतीकोद्धरणेन सर्वासामप्यथर्वसंहितानामुद्धरणं मनुते स्म। स्वशाखात्वाल्लोके प्रतिष्ठितत्वाच्च पिप्पलादशाखायाः प्रथममन्त्रप्रतीकमुद्धृतवान् महाभाष्यकारः। पस्पशाह्निकेऽपि 'ओ३म् इत्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमादीन् शब्दान् पठन्ति' अत्रापि शमित्येवादौ येषां तान्, अर्थात् शन्नो देवीरिति मन्त्रमेव सूचयति। 'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।' (म० २।७४), 'न मामनीरयित्वा ब्राह्मणा ब्रह्म वदेयुः, यदि वदेयुरब्रह्म तत्स्यादिति' (अथर्ववेदे गोपथब्राह्मणे १।१।२३)। मां प्रणवं तस्माद् ॐ शन्नो देवीरिति पिप्पलादशाखीयप्रथममन्त्रप्रतीकमेव मन्तव्यम्। किञ्च, 'इषे त्वेकमधीष्व', 'शन्नो देवीयकमधीष्व (पा० स० १।३।२) अत्राथर्वसंहिताया आदिममन्त्रप्रतीकमुद्धार महाभाष्यकारः। अत एव 'चत्वारो वेदा ··· ··· ··· ···एक-

संहिता के आरम्भ में है, तो भी शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद की एक एक संहिता के ग्रहण से ही सबकी गतार्थता हो जायगी, इस आशय से यहाँ पर उसका पृथक् उद्धरण नहीं दिया गया। 'अग्न आयाहि वीतये' यह चौथा प्रतीक भी सामवेद के प्रथम मन्त्र का है। 'अग्न आयाहि' इतना मात्र कहने से अथर्ववेद की शौनक शाखा के (२०।१०३।३) संख्या के मन्त्र का ग्रहण हो सकता था, उसकी निवृत्ति के लिये 'वीतये' यह जोड़ा गया। यह मन्त्र कौथुमी शाखा के आरम्भ का है।

'शन्नो देवी' यह उद्धरण अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र के रूप में अभिप्रेत न होता, तो केवल इस मन्त्र के उद्धरण से ही चारों वेदों के मन्त्रों के प्रतीक स्वरूप के उपलब्ध हो जाने से अन्य मन्त्रों का प्रतीक उद्धरण अनावश्यक हो जाता, क्योंकि यह मन्त्र चारों वेदों में उपलब्ध है। ऋक्संहिता में (१०।९।४), शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयिसंहिता में (३६।१२), मैत्रायणीसंहिता (४।१०।४), काठकसंहिता (३६।१२), कौथुमीसंहिता आग्नेय पर्व (१।३।१३) और शौनकसंहिता (१।६।१) में यह मन्त्र विद्यमान है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि यहाँ पर महाभाष्यकार को चारों वेदों के प्रथम मन्त्रों के प्रतीक उद्धृत करना अभीष्ट था।

शौनकीय अथर्वसंहिता का प्रथम मन्त्र 'ये त्रिषप्ता' है। 'शन्नो' मन्त्र इस संहिता के छठे सूक्त का पहला मन्त्र है। महाभाष्यकार पिप्पलाद शाखा के प्रथम मन्त्र के प्रतीक को उद्धृत कर यह मानते हैं कि इस प्रकार सभी अथर्वसंहिताओं का यह प्रतिनिधित्व करता है। पिप्पलाद शाखा लोक में प्रतिष्ठित थी और उनके कुल की संहिता थी, इसीलिये महाभाष्यकार ने सबसे पहले इसी के प्रथम मन्त्र का प्रतीक दिया। पस्पशाह्निक में भी—'ॐ' का उच्चारण कर वृत्तान्तशः 'शम्' इत्यादि शब्दों को पढ़ते हैं' यहाँ पर भी 'शम्' शब्द जिसके आदि में हैं, ऐसे 'शन्नो देवी' मन्त्र को ही सूचित किया है। 'वेद के आदि और अन्त में सदा प्रणव का उच्चारण करें', 'मुझे (प्रणव को) बिना बोले ब्राह्मणगण वेद का उच्चारण न करें, यदि बोलेंगे तो वह वेद न रह जायगा' इन सब प्रमाणों से 'ॐ शन्नो देवी' यह मन्त्र पिप्पलाद शाखा के प्रथम मन्त्र का प्रतीक माना जाना चाहिये। इसी तरह १।२।२ सूत्र का भाष्य करते हुए पतंजलि ने यजुर्वेद के साथ अथर्ववेद के पहले मन्त्र का प्रतीक उद्धृत किया है। इसीलिये 'चार वेद हैं।····यजुर्वेद की

शतमध्वर्युशाखा..........नवधाऽथर्वणो वेदः' इत्याद्युक्त्वा महाभाष्यकारः स्पष्टमेव ११३१ शाखात्मकानेव चतुरो वेदानाह। अत एव शाखाभ्योऽतिरिक्तान् वेदान् नाभिमनुते महाभाष्यकारः। किञ्च, यदि शन्नो देवीरित्यनेन शौनकसंहितास्थमन्त्रप्रतीकं विवक्षितं स्यात्, तदा 'शन्नो देवीरभिष्टय आप' इत्येवं लिखेत्, किन्तु 'शन्नो देवीरभिष्टये' इति एकारान्तं लिखितम्। तत्र 'ए' इति लुप्तमात्रां कथं लिखेत्? आप इत्यलेखेनात्र पिप्पलादशाखीय 'शन्नो देवीरभिष्टये शन्नो भवन्तु पीतये' इति मन्त्रस्योल्लेखः। अत्राजभावादेव एकारस्य लोपोऽप्राप्तः। तत एव 'अभिष्टये' इति लिखितम्, न 'अभिष्टय' इति। तेन पैप्पलादशाखीयप्रथममन्त्र एव महाभाष्यकारेणोद्धृतः।

यद्येकमात्राविपर्यासेऽपि शौनकीयमन्त्र एवायमित्याग्रहस्तदा तु कतिचिन्मात्राविपर्यासेऽपि शाखान्तराणामपि वेदत्वसिद्ध्या त्वदनिष्टापत्तिः। यदुच्येत वेदमन्त्राणां विद्यमानत्वे परिवर्तितशाखामन्त्राणां वैयर्थ्यमेवेति चेत्, तदा यजुःसंहितास्थानां चतुःशतसंख्यानां मन्त्राणामृक्संहितायां किञ्चित्परिवर्तनेन युक्तत्वाद् वैयर्थ्यं स्यात्। तथा सति पञ्चसप्तत्युत्तरैकोनविंशतिशतसंख्याकेभ्यो मन्त्रेभ्यः सप्ताशीत्युत्तरनवशतमन्त्राणां निष्कासनेनाष्टाशीत्युत्तरनवशतमन्त्रघटिता यजुर्वेदसंहिता मन्तव्या स्यात्। तथैव सामसंहितायाश्चतुर्विंशत्यधिकाष्टादशशतसंख्याकमन्त्रघटिताया विकृताविकृतानामृग्वेदीयानां मन्त्राणां निष्कासनेन पञ्चसप्ततिरेव मन्त्रा अवशिष्टा भविष्यन्ति। सप्तसप्तत्युत्तरनवपञ्चाशच्छतमन्त्रवत्या अथर्वसंहितायाः सकाशाद् ऋग्वेदीयमन्त्राणां निष्कासनेन सप्तशतसंख्याका एव मन्त्राः स्थास्यन्ति। यदि तु ते ते मन्त्रास्तासां तासां संहितानां यादृशा उपलभ्यन्ते तादृशास्तदीया एव, न च व्यर्थास्तदा शाखान्तरस्थिताश्चतुःशाखास्थमन्त्रतुल्या अपि तदीया एव नान्यशाखागता न वा व्यर्थाः। तच्छाखीयेषु यज्ञेषु ते तथैव पठ्यन्ते। तासु कुलपरम्परानुरोधेन ता गृह्यन्ते। शाकल्यादिचतुःशाखासंहितावदेव ता अपि वेदा एवेति न शाखान्तराणामवेदत्वम्। पिप्पलादकाठकादिशाखानामद्यत्वे विरलप्रचारत्वेऽपि महाभाष्यकारसमये ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं प्रोच्यते स्म।

१०१ शाखाएँ हैं.......अथर्ववेद की नौ' इत्यादि कहकर महाभाष्यकार ने स्पष्ट ही वेद को ११३१ शाखाएँ बताई हैं। इसलिये महाभाष्यकार वेदों को इन शाखाओं से अतिरिक्त नहीं मानते। यदि 'शन्नो देवीः' यह प्रतीक शौनक शाखा का विवक्षित होता, तो 'शन्नो देवीरभिष्टय आपः' इस प्रकार दिया गया होता, किन्तु ऐसा न होकर 'शन्नो देवीरभिष्टये' यह एकारान्त पाठ मिलता है। 'आपः' इसका उल्लेख न होने से यहाँ पर पिप्पलाद शाखा के मन्त्र का प्रतीक इसको मानना चाहिये। यहाँ पर 'अभिष्टये' पद के आगे 'अच्' न होने से एकार के लोप का कोई प्रसंग नहीं है। इसी लिये 'अभिष्टये' ऐसा लिखा गया है, 'अभिष्टय' ऐसा नहीं। इन सब बातों का यही निष्कर्ष निकलता है कि महाभाष्यकार ने पिप्पलाद शाखा के प्रथम मन्त्र का ही प्रतीक दिया है।

आप यदि यह आग्रह करते हैं कि एक मात्रा में परिवर्तन रहने पर भी यह मन्त्र शौनक शाखा का ही माना जायगा, तो फिर कुछ मात्राओं में विपर्यय होने पर भी इसी युक्ति से दूसरी शाखाओं को भी वेद मानने में क्या आपत्ति होगी? यदि आप कहें कि वेद मन्त्रों के रहते हुए उनमें कुछ परिवर्तन कर दूसरी शाखाओं में उनको रखना व्यर्थ है, तो फिर यजुःसंहिता के जो ४०० मन्त्र ऋग्वेद में कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं, उनकी व्यर्थता हो जायगी। ऐसा होने पर १९७५ मन्त्रों में से ९८७ मन्त्रों के निकाल देने पर ९८८ मन्त्रों की यजुर्वेद संहिता रह जायगी। इसी तरह साम संहिता के १८२४ मन्त्रों में से कुछ परिवर्तित अथवा बिना किसी परिवर्तन के उपलब्ध ऋग्वेद के मन्त्रों को निकाल दिया जाय तो यहाँ केवल ७५ मन्त्र ही बच जायेंगे। इसी तरह ५९७७ मन्त्रों वाली अथर्वसंहिता में से ऋग्वेद में उपलब्ध मन्त्रों को हटा दिया जाय तो यहाँ पर केवल ७०० मन्त्र बच रहेंगे। यदि यह माना जाय कि उन उन संहिताओं के जो मन्त्र जिस रूप में मिलते हैं, उसी रूप में वे उसके अंग हैं और सार्थक हैं, तो इसी पद्धति से अन्य शाखाओं में विद्यमान उन मन्त्रों की भी सार्थकता माननी पड़ेगी, जो कि चार शाखाओं में विद्यमान मन्त्रों के तुल्य हैं। क्योंकि उन शाखाओं के अनुयायी उन्हीं से यज्ञ-यागादि संपन्न करेंगे। विभिन्न शाखाओं के अनुयायियों की कुल परम्परा में उन्हीं का पाठ होता है। शाकल्य आदि चार शाखा संहिताओं के समान अन्य शाखाओं की संहिताओं को भी वेद के अन्तर्गत ही माना जायगा। पिप्पलाद,

'शन्नो देवीः' इत्यथर्ववेदीयप्रथममन्त्रप्रतीकमिति स्वामिदयानन्देनाप्यभ्युपगम्यते। तथाहि—'वैदिकाः खल्वपि 'शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वा, अग्निमीले, अग्न आयाहि वीतये' इति महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकशब्देषूदाहृतानि।' (ऋ० भा० भू०, पृ० ८६)। तथा च तद्रीत्यापि पिप्पलादशाखीय-प्रथममन्त्रप्रतीकोपादानमेव सिद्धचति। तथा च सिद्धमेव शाखान्तराणामपि वेदत्वम्। तेन विज्ञायते यत् स्वामिदयानन्देन सर्वासामेव शाखानां वेदत्वं मन्यते स्म। तत एव पूर्वोद्धृतनामिकाख्यातिकसामासिकादिग्रन्थेषु शाखान्तरमन्त्राश्छन्दस्त्वेनो (वेदत्वेन) द्धृताः। ते ग्रन्था न तदीया इत्युक्तिस्तु सामाजिकानां पलायनमेव।

स्त्रैणतद्धितस्य ६५ पृ० 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (पा० सू० ४।२।६५) इति सूत्रे छन्दस उदाहरणे पैप्पलादा वाजसनेयिन इत्युक्तम्। छन्दोवेदनिगमाम्नायश्रुतीनामैक्यमपि तेन बहुधाऽङ्गीकृतमेव। स्त्रैणतद्धितस्य ८० पृष्ठे 'चरणाद् धर्माम्नाययोः' पैप्पलादकम् इत्युक्त्या तेन पिप्पलादसंहिताया आम्नायत्वमङ्गीकृतम्। एवमेव स्त्रैणतद्धितस्य ४३९ पृष्ठे वार्त्तिकेऽथर्वन्शब्दस्य चरणवाचित्वमङ्गीकृत्य आथर्वणिकस्य धर्म आम्नायो वा आथर्वण्य इत्युदाहरणं दत्तम्।

निरुक्तस्य निपातप्रकरणेऽध्यायपदं वेदसंहितापरम्। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इति स्वशाखीयं वेदं बोधयति। अत एवोक्तम्—'यः स्वशाखोक्तमुत्सृज्य परशाखोक्तमाचरेत्। अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोऽन्धे तमसि मज्जति॥' (गृह्यसंग्रहे २।९३)।

यत्तु दयानन्देनोक्तम्—'एकशतव्याख्यानयुतो यजुर्वेदः, सहस्रव्याख्यानोपेतश्च सामवेदः, एकविंशति-व्याख्यानोपेत ऋग्वेदः, नवव्याख्यानोपेतोऽथर्ववेदः' इति, तन्न, व्याख्यानातिरिक्तानां व्याख्येयग्रन्थानामनुपलम्भात्।

काठक आदि शाखाओं का आज प्रचार भले ही कम हो गया हो, महाभाष्यकार पतंजलि के समय में काठक और कालापक संहिताओं का पाठ घर घर में होता था।

'शन्नो देवीः' यह अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र का प्रतीक है, इसको स्वामी दयानन्द भी मानते हैं। 'शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वा, अग्निमीळे, अग्न आयाहि वीतये' ये वैदिक शब्द हैं इस प्रकार महाभाष्यकार ने मन्त्र भाग को ही वेद मानकर उनके प्रथम मन्त्र के प्रतीकों को वैदिक शब्दों के उदाहरण में दिया है' (पृ० ८६)। इस प्रकार उनके कथनानुसार यह सिद्ध है कि यहाँ पर पिप्पलाद शाखा के प्रथम मन्त्र का प्रतीक गृहीत है। तब यह सिद्ध हो जाता है कि दूसरी शाखाएँ भी वेद हैं। फलतः यह मानना पड़ेगा कि स्वामी दयानन्द सभी शाखाओं को वेद मानते थे। यही कारण है कि नामिक, आख्यातिक, सामासिक प्रकरणों में, जिनका कि अभी पहले उल्लेख किया गया है, स्वामी दयानन्द ने दूसरी शाखाओं के मन्त्रों को भी उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। ये ग्रन्थ स्वामी दयानन्द के नहीं हैं, यह कहना समाजियों का पलायनवाद है।

तद्धित के स्त्रीप्रत्यय प्रकरण (पृ० ६५) में 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' इस सूत्र के छान्दस उदाहरण में 'पैप्पलादाः, वाजसनेयिनः' यहा कहा गया है। छन्द, वेद, आम्नाय और श्रुति की पर्यायता उन्होंने अनेक स्थलों पर मानी है। तद्धित के स्त्रीप्रत्यय प्रकरण (पृ० ८०) 'चरणाद् धर्माम्नाययोः' यहाँ पर 'पैप्पलादकम्' यह उदाहरण दिया है, इससे यह सिद्ध है कि वे पिप्पलाद संहिता को आम्नाय अर्थात् वेद मानते हैं। इसी प्रकरण के पृ० ४३९ में वार्त्तिक के उदाहरण में 'अथर्वन्' शब्द को चरण-वाची मान कर यहा कहा है कि आथर्वणिक का धर्म अथवा आम्नाय 'आथर्वण्य' कहलाता है।

निरुक्त के निपात प्रकरण में अध्याय शब्द वेद संहिता का बोधक है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यहाँ पर स्वाध्याय शब्द अपनी शाखा के वेद को बतलाता है। इसी लिये गृह्यसंग्रह की यह उक्ति है—'जो व्यक्ति अपनी शाखा की विधि को छोड़ कर दूसरी शाखा में कही गई विधि के अनुसार आचरण करता है, वह अपने कुल पुरुष ऋषि को अप्रमाण मानने के फल स्वरूप घोर अन्धकार में डूब जाता है।'

'यजुर्वेद के १०१ व्याख्यान हैं, सामवेद के एक हजार, ऋग्वेद के २१ और अथर्ववेद के ९ व्याख्यान ग्रन्थ हैं' स्वामी दयानन्द की यह उक्ति इसलिये ठीक नहीं है कि व्याख्यान के अतिरिक्त व्याख्येय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। शाकली, कौथुमी,

याश्चतस्रः शाकली-कौथुमी-माध्यन्दिनी-शौनकीसंहिता वेदपदेनाभिप्रेयन्ते सामाजिकैस्ता अपि त्वदभिमतव्याख्यानभूतासु शाखास्वेवान्तर्भवन्ति। यथा पाणिनिर्यदा यजुर्वेदमात्रं (सर्वा यजुःशाखाः) बुबोधयिषति, तदा 'यजुषि' लिखति। यदा विशिष्टसंहिता विजिज्ञापयिषति, तदा 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (पा० सू० ७।४।३८) इतिवल्लिखति। प्रकृते च महाभाष्यकारो विशिष्टानां नामान्यनुल्लिख्य 'ऋग्वेद' एवमादि लिखितवान्। तस्मात्सर्वा अपि शाखा वेदपदव्यपदेश्या भवन्ति। 'यजुषि काठके' इति लेखेन पाणिनिरपि काठकवदेव माध्यन्दिनीभिन्ना अन्या अपि शाखा यजुर्वेदं मनुते।

प्रत्याहाराह्निके 'एओङ्' सूत्रे पूर्वपक्षिणाऽर्धैकारौकारयोः सिद्धये प्रोक्तम्—'ननु च भोः! छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। 'सुजाते एश्व सूनृते' इति।' तत्र महाभाष्ये समाधानमुक्तम्, परिषत्कृतिरेषा तत्रभवताम्। नैव लोके नान्यस्मिन् वेदे अर्ध एकारोऽस्ति'। अर्थाद् राणायनीयशाखीयानां सा स्वीया शैली अर्ध एकारो लोके तथा अन्यस्मिन् राणायनीयभिन्ने वेदे न भवति। एतावता राणायनीयशाखाया वेदत्वमङ्गीकृत्यैवान्यस्मिन् वेद इति प्रयोगः सम्भवति। अन्यथा नैव लोके नैव वेदे इत्येव ब्रयात्।

'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा० सू० १।१।१६) अत्र ऋषिपदं वेदपरम्। 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' (पा० सू० ३।२।१८६) दयानन्देनाप्याख्यातिके ३६१ पृष्ठे 'ऋषिर्वेदः' इत्युक्तम्। (पा० सू० ३।१।७) अत्र महाभाष्ये सर्वस्यैव चेतनत्वसिद्धयर्थं 'ऋषिः पठति 'शृणोत ग्रावाणः'। नायं पाठस्त्वदभिमते वेदे, किन्त्वन्यशाखास्वित्यनुपदमुक्तमेव। 'तस्मादेतदृषिणा अभ्यनुक्तम्। दध्यङ् ह मधु'(श० १४।१।१।२५) इत्यनेन ब्राह्मणेन ऋग्वेदीशाकलसंहितामन्त्रः (१।११६।१२) इति स्थले वर्तमान ऋषिपदेन निर्दिष्टः। तथैव 'तदाहुः—मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति, मनसा

माध्यन्दिनी और शौनकी इन चार संहिताओं को आर्यसमाजी वेद मानते हैं। ये भी आपकी उन व्याख्यानभूत शाखाओं के अन्तर्गत ही हैं। पाणिनि जब यजुर्वेद की सभी शाखाओं को बतलाना चाहते हैं तो 'यजुषि' लिखते हैं और जब किसी विशिष्ट शाखा को कहना होता है, तो 'यजुषि काठके' इस प्रकार उसका स्पष्ट उल्लेख करते हैं। उसी पद्धति से प्रकृत स्थल पर महाभाष्यकार विशिष्ट नाम का उल्लेख न कर 'ऋग्वेद' इत्यादि सामान्य नामों को देते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि यहाँ पर उनको सभी शाखाएँ 'वेद' पद से अभिप्रेत हैं। 'यजुषि काठके' पाणिनि के इस उल्लेख से यह भी प्रतीत होता है कि वे काठक शाखा के ही समान माध्यन्दिन से भिन्न अन्य शाखाओं को भी यजुर्वेद मानते हैं।

प्रत्याहार आह्निक में 'एओङ्' सूत्र में पूर्वपक्षी अर्ध एकार और ओकार की सिद्धि के लिये कहता है कि—'सामवेद की सात्यमुग्रि राणायनीय शाखा वाले अर्ध एकार और ओकार का पाठ करते हैं। जैसे कि 'सुजाते एश्व सूनृते' इस मन्त्र में'। इसका महाभाष्यकार ने यह समाधान दिया है कि 'यह केवल आपकी गोष्ठी का बात है, न तो लोक में और न ही किसी अन्य वेद में अर्ध एकार है'। अर्थात् राणायनीय शाखा वालों की यह अपनी शैली है, अर्ध एकार लोक में तथा राणायनीय शाखा से भिन्न किसी अन्य वेद में नहीं होता। यहाँ पर राणायनीय शाखा को वेद मानने पर ही 'अन्य वेद' शब्द का प्रयोग हो सकता है. अन्यथा 'न तो लोक में और न ही वेद में' इतना ही कहना पर्याप्त था।

१।१।१६ और ३।२।१८६ पाणिनि सूत्रों में 'ऋषि' पद वेद का बोधक है। स्वामी दयानन्द ने भी आख्यातिक प्रकरण में (पृ० ३६१) 'ऋषि वेद ही है' यह कहा है। ३।१।७ संख्या के सूत्र के महाभाष्य में सभी पदार्थों की चेतनता को बताने के लिये 'वेद का कहना है कि हे पत्थरों सुनो' यह मन्त्र 'ऋषि' नाम से उद्धृत किया गया है। यह मन्त्र आप जिन चार पुस्तकों को वेद मानते है, उनमें उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनसे भिन्न शाखा की पुस्तक में उपलब्ध है, यह बात थोड़ी ही देर पहले कही गई है। शतपथ ब्राह्मण में (१४।१।१।२५) ऋग्वेद की शाकलसंहिता का (१।११६।१२) संख्या का मन्त्र 'ऋषि' पद से निर्दिष्ट है। इसी तरह 'ऐसा कहा जाता है कि देवता मनुष्य के मन की बात जानते हैं। मनुष्य मन में संकल्प करता है, वह प्राण में पहुँच जाता है, प्राण उसको

सङ्कल्पयति तंत्प्राणमभिपद्यते प्राणो वातं वातो देवेभ्य आचष्टे तथा पुरुषस्य मनः' (श० ३।४।२।६), 'तस्मादेत-दृषिणाऽभ्यनूक्तम्—'मनसा सङ्कल्पयति तद् वातमभिगच्छति। वातो देवेभ्य आचष्टे यथापुरुष ते मनः'(श० ३।४।२।७) ऋषिपदेनोद्धृतोऽयं मन्त्रः। न च शौनकीसंहितायामेतादृशः पाठः। 'तद् देवाँ अपि गच्छति' इति वैरूप्यदर्शनेन मानुषत्वापत्तेः। शतपथे 'तद् वातमभिगच्छति', शौनकीसंहितायाम् 'तद्देवाँ अपि गच्छति' इति महान् भेदः। ब्राह्मणे यदुत्तरार्धं तत्तु शौनकीसंहितायां नास्त्येव। तत्र तु 'ब्रह्माणो वशामुपयन्ति याचितुम्' इति। अतः शतपथे कस्याश्चि-दन्यस्याः संहिताया एव मन्त्र इष्टः। तथा च शाकल्यादिसामाजिकाभिमतसंहिताचतुष्टयभिन्नसंहितायां यस्यामयं पाठो लभ्येत, तस्या वेदत्वे ११३१ संख्याकानां सर्वासामेव वेदत्वं सिद्धयति।

किञ्च, यदि शाकल्यादिचतस्रः संहिता एव वेदाः स्युस्तदा यास्कः कथङ्कारं 'ओषधे त्रायस्वैनम्' इति निरुक्ते (१।१५।६) उदाहरेत्। पूर्वमीमांसायां (१।२।३५) शाबरभाष्येऽयमेव मन्त्र उदाहृतः। न च सामाजिका-भिमतेषु वेदेष्वेष मन्त्र उपलभ्यत इति पूर्वं दर्शितमेव। तस्मात् कृष्णयजुःसंहिताया वेदत्वमभिप्रेत्यैवायं मन्त्रस्तत उद्धृत इत्यप्युक्तमेव। एवमेव 'वनस्य तस्यापरा भवति' (८।२८।१) इति प्रधानस्तुतिमुदाहरता यास्केन 'वनस्पते रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्। देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारमृतेषु वोचः॥' इत्युदाहृतम्। शाकल्यसंहितायां तु—'वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान्। स्वदाति देवः कृणवद्धवींष्यवतां द्यावापृथिवी हवं मे॥'(१०।७०।१०) इति। उभयोः पाठयोर्महान् भेदः स्पष्टः। न च यास्कः पाठपरिवर्तने समर्थः, तस्य मानुषत्वापत्तेः। 'यदि यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद् होतारं विश्ववदसमा' (श० १।४।१।३३) इति कण्डिकारीत्या शाकल्यसंहितापाठो मूलवेदः स्यात्तदा यास्कोक्तः पाठो मूलवेदो न स्यात्। यद्युभयोरपि मूलवेदत्वमभिप्रेतम्, तदा तु ११३१ संख्याकानां मूलवेदत्वमङ्गीकार्यम्। निरुक्तोक्तः पाठः किञ्चिद् भेदेन मैत्रायणीसंहितायाम् (४।१३।६५) उपलभ्यते। निरुक्ते 'दिधिषोः' इति पाठः। मैत्रायणीसंहितायाम् 'दधिषोः' पाठः। यदि तादृशभेदेन संहितापाठस्य

पवन के पास पहुँचा देता है और पवन उस बात को देवताओं को कह देता है कि मनुष्य के मन में यह बात है' यह कह कर शतपथ श्रुति बताती है कि 'यही बात 'ऋषि' अर्थात् इस वेद मन्त्र में भी कही गई है'। यहाँ पर जो मन्त्र ऋषि पद से कहा गया है, उसका पाठ शौनकसंहिता के समान नहीं है। शतपथ का पाठ 'तद्वातमभिगच्छति' है और शौनकसंहिता में 'तद् देवाँ अपि गच्छति'। इस प्रकार इन दोनों पाठों में बड़ा अन्तर है। ब्राह्मण भाग में प्रदर्शित उत्तरार्ध शौनकसंहिता में है ही नहीं। वह पाठ है—'ब्रह्माणो वशामुपयन्ति याचितुम्' यह है। इससे यह प्रतीत होता है कि शतपथ ब्राह्मण में यहाँ पर किसी दूसरी संहिता का मन्त्र अभिप्रेत है। इस तरह आर्यसमाजियों के अभिप्रेत शाकली आदि चार संहिताओं से भिन्न जिस संहिता में यह मन्त्र पाठ मिलेगा, उसकी वेदता सिद्ध होने पर सभी ११३१ शाखाओं की वेदता सिद्ध हो जायगी।

यदि शाकली आदि चार संहिताएं ही वेद मानी जाती, तो निरुक्तकार यास्क 'ओषधे त्रायस्वैनम्' इस मन्त्र का उद्धरण कैसे देते? पूर्वमीमांसा (१।२।३५) के शाबरभाष्य में भी यही मन्त्र उद्धृत है। आर्यसमाजियों के अभिमत वेद भाग में यह मन्त्र नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि कृष्ण यजुर्वेद की संहिता को भी वेद मान कर ही यह मन्त्र उद्धृत है। इसी तरह निरुक्तकार यास्क (८।२८।१) यहाँ पर प्रधान स्तुति का उदाहरण देते हुए मूल में निर्दिष्ट मन्त्र को उद्धृत करते हैं। शाकल्य संहिता का पाठ इससे भिन्न है, यह भी मूल में दिये गये पाठ से स्पष्ट है। दोनों पाठों में स्पष्ट ही बड़ा भेद है। यास्क पाठ में परिवर्तन नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करने पर वेद मनुष्यनिर्मित माना जायगा। 'जैसा ऋचा का पाठ है, तदनुसार ही उच्चारण करें' इत्यादि शतपथ श्रुति (१।४।१।३३) की कण्डिका के अनुसार शाकल्य संहिता का पाठ ही मूल वेद है, तो यास्क का बताया पाठ मूल वेद नहीं माना जायगा। यदि दोनों को मूल वेद मानना है तो सभी ११३१ शाखाओं को मूल वेद मानना पड़ेगा। निरुक्त का पाठ कुछ पाठभेद के साथ मैत्रायणी संहिता में (४।१३।६५) मिलता है। निरुक्त का पाठ 'दिधिषोः' है और मैत्रायणी संहिता का

ऋक्त्वं न स्यात्, तदा शाकल्यसंहितायाम् (१०।१८।८) 'दिधिषोः' इति पाठः, अथर्ववेदीयशौनकीसंहितायां (१८।३।२) 'दधिषोः' इति पाठः। तेनान्यतरस्यैव मूलवेदत्वं मन्तव्यम्, न च तदिष्टं सामाजिकानाम्, तैरुभयोरपि मूलवेदत्वाङ्गीकारात्। निरुक्तकारस्य वेदज्ञत्वमपि सामाजिकैरुपेयते। यास्कस्य प्रवृत्त्येदमपि प्रतीयते यत् स स्वकुलपरम्पराप्राप्तशाखापाठापेक्षयाऽन्यसंहितापाठस्य मानुषत्वं मन्यते। तत एव 'वनेन वायो न्यधायि चाकन्' (ऋ० सं० १०।२९।१) इत्यत्र वायः 'वेः पुत्रः' इत्युक्त्वा शाकलसंहिताया दोषं दर्शयति—'वा इति य इति च चकार शाकल्यः' (नि० ६।२८।३)। अर्थात् शाकल्यः 'वायः' इत्येकस्य पदस्य 'वा, यः' इति पदच्छेदं कृत्वा पदद्वयं चकार। तच्च न युक्तमित्यप्याह—'उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः' (नि० ६।२८।३) इति। एतेनेदं विज्ञायते यद् यास्को यत्रर्ग्वेदे वाय इत्येकं पदमेवास्ति तमेव मूलवेदं मनुते, न 'वा, यः' इति पदद्वयघटितं वेदम्। सामाजिकानामजमेरवैदिकयन्त्रालयप्रकाशितायामृग्वेदसंहितायां तु प्राचीनसंस्करणे ५६० पृष्ठे १०।२९।१ वा य इत्येव पाठः प्रकाशितः। तथा च यास्कदृष्ट्या शाकलीसंहितायाः सामाजिकाभिमताया वेदत्वमपौरुषेयत्वं च न स्यात्।

कश्चित्तु—'यदस्य पूर्वमपरं तदस्य यद्वस्यापरं तद्वस्य पूर्वम्। अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानन्ति' (ऐ० ब्रा० ३।४३) इत्यस्य व्याख्यां कुर्वन्नाह—शाकलशाखाया आद्यन्तयोः प्रथमदशममण्डलयोः १९१ सूक्तानां सत्त्वात् शाकलसंहिताया अहेरिव गतिः। अहिश्च सूर्योऽभिप्रेतस्तेन शाकलीसंहितैव तदभिमता। परमष्टकघटितायाम् ऋग्वेदसंहितायां तु प्रथमाष्टके २६५ सूक्तानि, अन्तिमे च २४६ सूक्तानि सन्तीति न तत्र पूर्वापरयोः समानता घटते। श्रीस्वामिविश्वेश्वरानन्दट्रस्टप्रकाशितायां शाकलसंहितासूच्यां 'वायः' इत्येकं पदं क्वापि नास्ति, किन्तु 'वा' ३७१ पृष्ठे 'यः' ३२१ पृष्ठे। एतेनैव वैदिकयन्त्रालयप्रकाशितायाम् अथर्वसंहितायाम् 'वा' 'यः' इति द्वे पदे प्रकाशिते।

'दधिषोः'। यदि इस स्वल्प भेद के कारण इस संहिता का पाठ 'ऋचा' नहीं कहा जायगा, तो शाकल्यसंहिता (१०।१८।८) में 'दिधिषोः' पाठ है और अथर्ववेद की शौनकसंहिता में (१८।३।२) पर 'दधिषोः' पाठ होने से किसी एक को ही मूल वेद मानना पड़ेगा। आर्यसमाजियों को यह अभीष्ट नहीं होगा, क्योंकि वे इन दोनों संहिताओं को मूल वेद मानते हैं। समाजी लोग निरुक्तकार को भी वेदज्ञ मानते हैं। यास्क की प्रवृत्ति से ऐसा मालूम होता है कि वह अपनी कुलपरम्परा से प्राप्त शाखा के पाठों की दृष्टि से अन्य संहिता के पाठ को मनुष्यकृत मानते हैं। इसी लिये 'वनेन वायो न्यधायि चाकन्' यहाँ पर 'वायः वेः पुत्रः' ऐसा कह कर शाकल संहिता में दोष दिखाते हैं कि 'वा इति य इति च चकार शाकल्यः' अर्थात् शाकल्य ने 'वायः' इस एक पद को 'वा यः' इस तरह पदच्छेद कर दो पदों में विभक्त कर दिया है। वहीं यह भी बताया गया है कि यह उचित नहीं है, क्योंकि 'ऐसा करने पर आख्यात उदात्त हो जाता है और इससे अर्थ की संगति भी नहीं बैठती है'। इससे यह मालूम होता है कि यास्क जिस ऋग्वेद में 'वायः' इस एक पद से घटित पाठ है, उसी को मूल वेद मानते हैं, जिसमें 'वा यः' इन दो पदों से घटित पाठ है, उसको नहीं। समाजियों के अजमेर वैदिक यन्त्रालय से प्रकाशित ऋग्वेद संहिता के प्राचीन संस्करण में ५६० पृष्ठ पर इस मन्त्र का 'वा यः' यही पाठ छपा है। इससे यास्क की दृष्टि में शाकली संहिता का, जिसको कि समाजीगण मूल वेद मानते हैं, वेदत्व और अपौरुषेयत्व नहीं बनेगा।

'यदस्य पूर्वमपरम्' इत्यादिक ऐतरेय ब्राह्मण के वचन की व्याख्या करते हुए किसी ने कहा है कि शाकल शाखा के आदि और अन्त अर्थात् प्रथम और दशम मण्डल में १९१ सूक्त विद्यमान हैं, इसलिये इसकी गति अहि के समान है। अहि शब्द यहाँ सूर्य का वाचक है। अर्थात् उदय और अस्त (आदि और अन्त) काल में जैसे सूर्य की समान स्थिति होती है, वही स्थिति शाकल संहिता की है, क्योंकि इसके भी प्रथम और अन्तिम मण्डल में सूक्तों की संख्या समान है। किन्तु अष्टक घटित ऋग्वेद संहिता में प्रथमाष्टक में २६५ सूक्त और अन्तिम अष्टक में २४६ सूक्त है। इस प्रकार यहाँ पर आदि और अन्त में समानता नहीं है। श्रीस्वामी विश्वेश्वरानन्द ट्रस्ट से प्रकाशित शाकल संहिता की सूची में 'वायः' यह एक पद कहीं भी नहीं है, किन्तु ३७१ पृष्ठ पर 'वा' तथा ३२१ पृष्ठ पर 'यः' पद है। इसी लिये वैदिक यन्त्रालय से प्रकाशित अथर्वसंहिता में 'वा' और 'यः' ये दो पद प्रकाशित हैं। इस तरह निरुक्त के अनुसार समाजियों

तथा च निरुक्तानुसारेण सामाजिकानां शाकलीसंहिता शौनकीसंहिता च न वेदपदव्यपदेश्यतामर्हतः। सायणादिभिस्तु 'वा' 'यः' इति पदद्वयाभ्युपगमेऽपि व्याख्यानावसरे 'वायः' इत्येकं पदं मत्वैव व्याख्यानं कृतम्। तथापि किं पदद्वयघटितायाः संहिताया वेदत्वमपौरुषेयत्वं च न स्याताम्? यद्येवं सत्यपि शाकलशौनकसंहितयोर्वेदत्वं तथा यास्काभिमताया एकपदघटितायाः संहिताया अवेदत्वं भविष्यति। यदि तूभयोरपि वेदत्वं तदा तु सर्वासामपि ११३१ संहितानां वेदत्वमेव युक्तम्। तथापि स्वसम्प्रदायप्राधान्यविवक्षयैव शाखान्तरपाठस्य निन्दनं क्वचिद् दृश्यते, निन्दार्थवादेनैव क्वचित् शाखान्तरपाठस्य मानुषत्वमप्युच्यते, तथापि सर्वासामेव शाखानामपौरुषेयत्वं वेदत्वं चाक्षुण्णमेव, निन्दार्थवादस्य स्वार्थे तात्पर्याभावात्। तथैव पुराणेष्वपि कस्याश्चिद्देवतायाः प्राधान्यवर्णनप्रसङ्गे नेतरदेवतानामपकर्षवर्णनं दृश्यते।

'शाखाभेदाश्च ये केचिद् याश्च शाखासु गीतयः। स्वरवर्णसमुच्चाराः सर्वांस्तान् विद्धि मत्कृतान्॥' (म० भा०, शा० प० ३२४) इति भगवदुक्तिरेषा भगवत्कृतिरपौरुषेयत्वानुगुणैव। 'तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (वा० सं० ३१।७) इत्यत्र 'जज्ञिरे' इत्युक्त्यापि यथा न पौरुषेयत्वम्।

निरुक्ते—'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' (१।१५।७), 'अग्नये समिद्ध्यमानाय अनुब्रूहि' (१।१५।७) इत्यादिमन्त्राणामुद्धरणम्। इमे मन्त्राः शाकल्यादिसंहितासु नोपलभ्यन्ते। सामाजिकास्तु यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि-शतपथादिप्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तोऽपि नैतान् मन्त्रान् मन्यन्ते।

केषाञ्चिद्रीत्या पाणिनिसूत्रे (४।३।१०१) महाभाष्यकारैः संहितानां या वर्णानुपूर्वी तस्या अनित्यत्वमुक्तम्। तत्रानित्यत्वस्यासमानत्वमेवार्थः। नात्र कासाञ्चिदपौरुषेयत्वं पौरुषेयत्वं च कासाञ्चित् साध्यते। तद्रीत्या वर्णानुपूर्वीणामनित्यतारूपाऽसमानतैव संहिता भवति।

की शाकली और शौनकी संहिता वेद नहीं कही जा सकती है। सायण प्रभृति ने यहाँ पर दो पद मानते हुए भी व्याख्या करते समय इसको एक ही पद मान कर उसका अर्थ किया है। तो क्या दो पद वाली संहिता में वेदत्व और अपौरुषेयत्व नहीं माना जायगा? यदि यह माना जायगा कि दो पद वाली शाकल और शौनक संहिता वेद है, तो यास्क की अभिमत एक पद घटित संहिता वेद नहीं मानी जायगी। यदि दोनों को वेद मानना है, तो फिर सभी ११३१ शाखाओं की संहिताओं को वेद मानना ही ठीक होगा। ऐसा मानने पर यह संगति बैठ जाती है कि अपने सम्प्रदाय को प्रधान मान कर दूसरी शाखा के पाठ की निन्दा इसलिये की जाती है कि निन्दापरक अर्थवाद वाक्य के द्वारा कहीं कहीं दूसरी शाखा के पाठ को मनुष्यकृत मान लिया गया है। इससे सभी शाखाओं की अपौरुषेयता और वेदता में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं आती, क्योंकि निन्दापरक अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता। इसी पद्धति पर पुराणों में किसी एक प्रधान देवता के वर्णन के प्रसंग में अन्य देवताओं की हीनता बताई जाती है। उसका केवल प्रधान देवता की प्रशंसा में तात्पर्य होता है, अन्य देवताओं की निन्दा में नहीं।

'वेद के जितने शाखाभेद हैं, उन शाखाओं में विभिन्न गीतियाँ, स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण की विभिन्न विधियाँ ये सब मेरी ही बनाई हुई हैं' महाभारत की यह भगवदुक्ति वेद अपौरुषेय है, ईश्वर प्रदत्त है, इस कथन के अनुकूल ही है। इसी लिये 'उस यज्ञ से, जिसमें कि सभी प्रकार की आहुतियाँ दी गई थीं, ऋक्, यजु और साम की उत्पत्ति हुई' यहाँ पर वेद की उत्पत्ति वर्णित है, तो भी उसकी अपौरुषेयता में कोई बाधा नहीं आती।

निरुक्त में 'एक एव रुद्रः', 'अग्नये समिद्धमानाय' आदि मन्त्रों के उद्धरण उपलब्ध होते हैं। ये मन्त्र शाकली आदि चार संहिताओं में नहीं मिलते। आर्यसमाजी यास्क, पाणिनि, पतंजलि, शतपथ ब्राह्मण आदि को प्रमाण मानते हुए भी इनको मन्त्र मानने को तैयार नहीं हैं।

कुछ लोगों के मत से ४।३।१०१ संख्या के पाणिनि सूत्र पर महाभाष्यकार पतंजलि ने संहिताओं की वर्णानुपूर्वी को अनित्य माना है। यहाँ पर अनित्य पद का अर्थ असमान किया जाना चाहिये। इससे महाभाष्यकार को कुछ शाखाओं की पौरुषेयता तथा कुछ की अपौरुषेयता अभिप्रेत नहीं है। पतंजलि के मत से वर्णानुपूर्वी की अनित्यता, अर्थात् असमानता ही संहिता-भेद का प्रयोजक माना गया है।

कश्चित्समाजिकस्तु काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति महाभाष्यमाश्रित्य काठकादीनामनित्यानुपूर्वीकत्वेन पौरुषेयत्वं तद्भिन्नानां शाकलो-कौथुमी-माध्यन्दिनी-शौनकीसंहितानां नित्यानुपूर्वीकत्वेनापौरुषेयत्वमाह। तत्तुच्छम्, तथात्वे काठकादिभिन्नानां मैत्रायणी-काण्व-तैत्तिरीय-कपिष्ठल-कठ-राणायनीयादीनां नित्यानुपूर्वीकत्वेनापौरुषेयत्वापत्तेः। न च युष्माभिस्तासां वेदत्वमपौरुषेयत्वं चोपेयते। तस्मात् काठकपैप्पलादकादिकतिचिच्छाखानामुल्लेखस्तु सर्वशाखानामुपलक्षणार्थमेव मन्तव्यः।

तत्र पूर्वपक्षः—छन्दोऽर्थं तेन प्रोक्तमिति सूत्रमस्तु, नहि छन्दांसि क्रियन्ते (पूर्वमीमांसारीत्या)। तत्रोत्तरपक्षः—छन्दोर्थं 'तेन प्रोक्तम्' (पा० सू० ४।३।१०१) इति सूत्रं स्याच्चेत्तुल्यमेतद्भविष्यति। ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं प्रोच्यते, तत्रादर्शनात्। न च तत्र प्रत्ययो भवति। (सुशर्मणा प्रोक्ता सौशर्मणी शाकलसंहिता, सौशर्मणी काठकसंहितेति प्रत्ययो दृश्यते)। यत्र च प्रोक्तप्रत्ययो भवति ग्रन्थः स भवति। तत्र ग्रन्थस्य कृतत्वात् 'कृते ग्रन्थे' (पा० सू० ४।३।११६) इत्येव सिद्धम्। (न च तत्र तेन प्रोक्तमित्यधिकारस्य प्रयोजनीयता)। पुनः पूर्वपक्षः—ननु चोक्तं नहि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसि। उत्तरपक्षः—यद्यपि (छन्दसाम्) अर्थो नित्यः, या त्वसौ (छन्दसां सर्वेषामानुपूर्वी) सा अनित्या (असमाना) तद्भेदात् (तस्या आनुपूर्व्या) अनित्यत्वात् (असमानत्वात्) एतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति। अत्र महाभाष्ये छन्दःपदेन शाकलवाजसनेयादिकाः ११३१ सर्वाः संहिता उच्यन्ते। शाकल्यादयोऽपि तत्रैवान्तर्भवन्ति।

दयानन्दरीत्यापि छन्दःशब्देन वेदसंहितोच्यते। 'छन्दःशब्देन मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति' इति (पा० सू० २।३।६२) पृष्ठे ३१० स्वीयेऽष्टाध्यायीभाष्ये दयानन्दः। तस्मादर्थस्य नित्यत्वे समानत्वेऽप्यानु-

आर्यसमाजियों में से ही किसी का कहना है कि यहाँ पर महाभाष्य में काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादक इत्यादि का नाम देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि काठक आदि संहिताओं में अनित्य आनुपूर्वी होने से वे पौरुषेय हैं और इससे भिन्न शाकली, कौथुमी, माध्यन्दिनी और शौनकी संहिता की आनुपूर्वी नित्य है, अतः वे अपौरुषेय हैं। यह बात ठीक नहीं है। यदि यह मान लिया जाय तो आपको काठक आदि से भिन्न मैत्रायणी, काण्व, तैत्तिरीय, कपिष्ठल, कठ, राणायनीय आदि की आनुपूर्वी नियत होने से इनको भी आपको अपौरुषेय मानना पड़ेगा, किन्तु आप इनको वेद और अपौरुषेय मानते नहीं हैं। इसलिये यहाँ पर काठक, पैप्पलाद आदि कुछ शाखाओं का नाम लिया जाना सभी शाखाओं का बोधक माना जाना चाहिये।

यहाँ पर महाभाष्य में पूर्वपक्ष इस प्रकार है—'वैदिक प्रयोगों के लिये 'तेन प्रोक्तम्' यह सूत्र होना चाहिये, क्योंकि वेद बनाये नहीं जाते (पूर्व मीमांसा की रीति से)'। इसके बाद यह उत्तर पक्ष है—'वेदों के लिये यदि 'तेन प्रोक्तम्' यह सूत्र होगा तो वह समान हो जायगा, अर्थात् इसका उत्तर वही होगा, जो कि इस सूत्र के प्रारंभ के भाष्य में कहा है। वह यह कि गाँव गाँव में काठक और कालापक शाखा का प्रवचन होता है, किन्तु वहाँ पर यह प्रत्यय नहीं देखा जाता (अर्थात् सुशर्मा ने जिसका प्रवचन किया हो वह सौशर्मणी शाकलसंहिता, सौशर्मणी काठकसंहिता इत्यादि स्थलों में यह प्रत्यय नहीं होता) और जहाँ पर यह प्रत्यय होता है, वह ग्रन्थ हो जाता है। यह ग्रन्थ बनाया जाता है, अतः वहाँ पर 'कृते ग्रन्थे' इस सूत्र से ही प्रत्यय हो जायगा। इस प्रकार वहाँ पर 'तेन प्रोक्तम्' इस 'अधिकार सूत्र' का कोई प्रयोजन नहीं है'। इसके बाद पुनः पूर्वपक्ष किया गया है—'यह बताया गया है कि छन्द (वेद) बनाये नहीं जाते, वे तो नित्य हैं'। पुनः उत्तर दिया गया है—'यद्यपि (वेदों का) अर्थ नित्य है, किन्तु उनकी आनुपूर्वी के अनित्य, अर्थात् असमान होने से इस सूत्र से प्रत्यय लग कर काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादक आदि पदों की निष्पत्ति होती है'। यहाँ पर महाभाष्य में छन्दस् शब्द से शाकल, वाजसनेय आदि ११३१ सभी संहिताएँ परिगृहीत हैं। शाकली आदि संहिताएँ भी इन्हीं में हैं।

दयानन्द की पद्धति से भी छन्दस् पद से वेद संहिताएं उक्त हैं। अपने अष्टाध्यायी भाष्य (२।३।६२) में दयानन्द ने कहा है—'छन्दः शब्द से मन्त्रभागात्मक मूल वेद का ग्रहण होता है' (पृ० ३१०)। इसलिये अर्थ की नित्यता के सर्वत्र समान होने पर

पूर्वीणामसमानत्वम् । यथा—'शृणोत ग्रावाणः' (तै० सं० १।३।१३।१), 'श्रोता ग्रावाणः' (वाज० सं० ६।२६) इति । मूलवेदनाम्ना संहिताभ्योऽतिरिक्तः कश्चनापि ग्रन्थो नोपलभ्यते । अर्थस्तु समान एव सर्वासाम् । तदेवोक्तं वायुपुराणे—'सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचकाः । पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा ॥' (६१।५९) इति । अत्र शाखानां भेदोऽर्थाभेदश्चोक्तः । नागेशेन वेदत्वस्य शब्दार्थोभयनिष्ठतोक्ता । तेन शाखासु पाठभेदेऽप्यर्थाभेदो दृश्यते । पुरुषसूक्तमन्त्रेषु संहिताभेदेन भेदो दृश्यते, अर्थस्तु समान एव ।

'सहस्रशीर्षा···स भूमिं विश्वतो वृत्वा' (ऋ० सं० १०।९०।१), 'सहस्रशीर्षा···स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा' (वा० सं० ३१।१), 'सहस्रशीर्षा···स भूमिं सर्वतो वृत्वा (सामवेदसंहिता, आरण्यकपर्व ६।४।३), 'सहस्रबाहुः पुरुषः···स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् (अथर्ववेदसंहिता शौनकी १९।६।१), 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' (ऋ० सं० १०।९०।९), 'छन्दो ह जज्ञिरे तस्मात्' (अथर्वसंहिता १९।६।१३), 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्···ततो विष्वङ् व्यक्रामत्' (ऋ० सं० १०।९०।४), त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् तथा व्यक्रामद् विष्वङ्' (अथर्व० १९।६।२), 'एतावानस्य महिमातो' (ऋ० सं० १०।९०।३), 'तावन्तो अस्य महिमानः' (अथर्व० १९।६।३), 'उतामृतत्वस्येशानो' (ऋ० सं० १०।९०।२), 'उतामृतत्वस्येश्वरो' (अथर्व० १९।६।४), 'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः' (ऋ० सं० १०।९०।१२), 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' (अथर्ववेदसंहिता १९।६।६), 'कौ बाहू का ऊरू पादा' (ऋ० सं० १०।९०।११), 'किं बाहू किमूरू पादाः' (अथर्व० सं० १९।६।५), 'विराडग्रे समभवत्' (अथर्ववेदसंहिता १९।६।९), 'तस्माद् विराडजायत' (ऋ० सं० १०।९०।५) इमे सर्वेऽपि पाठास्तत्तत्संहितानां स्वतन्त्राः शुद्धा एव ।

नन्वत्र नित्यानित्यशब्दाभ्यां समानत्वासमानत्वरूपोऽर्थः कथं गृह्यते ? किं तस्य मूलमिति चेत् ? तात्पर्यानुपपत्तेरेव तत्र मूलत्वात् । यत्तु—'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्येति 'मतौ छः सूक्तसाम्नोः' (५।२।५९) इति पाणिनिसूत्रे महाभाष्यकारेण वर्णानुपूर्व्या नियतत्व(नित्यत्व)मुक्तम्' इति, तत्रायमाशयः—वेदानां वर्णानुपूर्व्या नित्यत्वमनित्यत्वं च न सम्भवति । नहि छन्दसामानुपूर्व्या अनित्यत्वमाम्नायस्य चानुपूर्व्या नित्यत्वं सम्भवति, उभयोः पर्यायवाचकत्वात् । अनित्यपदस्यासमानार्थकत्वेऽपि छन्दस्याम्नाये चाविशेषमेव स्यात् । ननु काठकादिसंहितानामेव

भी आनुपूर्वी की असमानता देखी जाती है । जैसे कि—'शृणोत ग्रावाणः' और 'श्रोता ग्रावाणः' में है । मूल वेद के नाम से संहिताओं से भिन्न कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । इन सबके अर्थ में समानता है । यही बात वायुपुराण में कही गई है—'इन सबके चार पाद हैं (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्), ये सभी एक ही अर्थ का प्रतिपादन करती हैं । पाठान्तर के कारण ये शाखाएँ जिस किसी तरह भिन्न हो जाती हैं' । यहाँ पर शाखाओं का भेद और अर्थ का अभेद बताया गया है । नागेश ने वेद शब्द को शब्द और अर्थ उभयनिष्ठ माना है । इसी से शाखाओं में पाठभेद के रहते भी अर्थ का भेद नहीं होता । पुरुषसूक्त के मन्त्रों में संहिता के भेद से पाठभेद तो दिखाई देता है, किन्तु सबका अर्थ समान है ।

ऊपर मूल में विभिन्न संहिताओं के पाठों का संकलन किया गया है । ये सब विभिन्न संहिताओं के स्वतन्त्र पाठ हैं और सभी शुद्ध हैं ।

यहाँ पर नित्य और अनित्य शब्द का अर्थ समानता और असमानता कैसे लिया जाता है ? उसका मूल क्या है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि तात्पर्य की अनुपपत्ति के कारण ही ऐसा अर्थ करना पड़ता है । 'अस्यवाम शब्द में स्वर नियत है' इसकी चर्चा करते हुए महाभाष्यकार ने 'मतौ छः सूक्तसाम्नोः' इस सूत्र के भाष्य में वर्णानुपूर्वी को नियत (नित्य) माना है । इसका यह अभिप्राय है कि वेदों को वर्णानुपूर्वी की नित्यता अथवा अनित्यता नहीं होती । छन्दस् की आनुपूर्वी से अनित्यता और आम्नाय की आनुपूर्वी से नित्यता होगी, इस उक्ति का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि छन्द और आम्नाय पदों का अर्थ एक ही है । अनित्य शब्द का अर्थ असमान किया जाय, तब भी छन्दस और आम्नाय में कोई विशेषता नहीं आवेगी । यदि आप कहें कि छन्दस् पद का प्रयोग काठक

छन्दस्त्वमिति चेन्न, 'यत्र ब्रह्मा पवमानः छन्दस्यां वाचं वदन्' (ऋ० सं० ९।११३।६) 'छन्द्यं वचः' (सा० सं० पू० ३।३।३) इति शाकलीकौथुम्यादिसंहितास्वपि वाचां छन्दस्त्वोक्तेः। 'छन्दांसि जज्ञिरे' इत्यादिनाऽथर्ववेदसंहिताशौनकीसंहितादिष्वविशेषेण छन्दस्त्वव्यपदेशात्। यदि काठकादिसंहितानामाम्नायत्वं न स्यात्, तदा 'गोत्रचरणाद् वुञ्' (पा० सू० ४।३।१२६) इति सूत्रे महाभाष्यकारैः कठपैप्पलादीनाम्नायं मत्वा वुञ्विधानानुपपत्तिः। न च महाभाष्यकारस्य पूर्वापरविरोधः शक्यशङ्कः, तस्य भ्रमप्रमादादिरहित्येन परमाप्तत्वाभ्युपगमात्। तस्मान्नियतनित्यशब्दयोरर्थभेद एव मन्तव्यः। तेन आम्नाये आनुपूर्वी नियता निश्चिता इत्येवार्थो न नित्येति, अनित्यत्वोक्तिविरोधात्। एतस्मिन्नतिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। नात्र नियतशब्दो नित्यार्थकः, किन्तु निश्चितार्थक एव।

शब्दानां निश्चितविषयत्वमेव भवति न नित्यविषयत्वम्, घटाद्यनित्यविषयत्वस्यापि सम्भवात्। देशः खल्वाम्नाये नियतः, कालः खल्वपि नियतः 'श्मशाने नाध्येयम्, 'नामावास्यायामध्येयम्'। पदैकदेशः खल्वप्याम्नाये नियतः। 'अस्यवामीयम्' इत्यादिवचनानि कस्मिन्नाम्नाये विद्यन्ते? सामाजिकैर्वक्तव्यं तेषामभिमते कस्मिन्नाम्नाये वचनान्येतानि समुपलभ्यन्ते। अत्रापि नियतशब्दो निश्चितार्थक एव। लौकिकेष्वप्येतत्। 'नियतवाचोयुक्तया नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (नि० १।१६।४) इति यास्कानुसारेण 'पितापुत्रौ', 'इन्द्राग्नी' इत्येवमादिषु लौकिकेष्वपि शब्देषु नियतानुपूर्वी भवति। अत्रापि निश्चितार्थक एव नियतशब्दः। क्वचिन्नित्यशब्दोऽप्यनित्यार्थको भवति। तदुक्तं महाभाष्यकारैः— 'अथवा नेदमेव नित्यलक्षणं ध्रुवं कूटस्थमविचालि अनपायोपजनविकारि यत् तन्नित्यम्, तदपि नित्यं यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते' (पस्पशाह्निके नित्यतासाधकपक्षनिर्णयाधिकरणे)। अन्यत्रापि 'अयं खलु नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु

आदि संहिताओं के लिये ही होता है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'यत्र ब्रह्मा पवमानः छन्दस्यां वाचं वदन्', 'छन्द्यं वचः' शाकली और कौथुमी संहिता के इन वचनों को छन्दस् पद से संबोधित किया गया है। 'छन्दांसि जज्ञिरे' यहाँ पर अथर्ववेद संहिता, शौनकी संहिता प्रभृति सभी के लिये समान रूप से छन्दस् पद का प्रयोग किया गया है। यदि काठक प्रभृति संहिताएं आम्नाय के अन्तर्गत नहीं मानी जातीं तो 'गोत्रचरणाद्वुञ्' इस सूत्र में महाभाष्यकार कठ, पैप्पलाद आदि को आम्नाय मान कर वुञ् का विधान न करते। यह नहीं कहा जा सकता कि महाभाष्यकार पूर्वापर विरुद्ध बात कहते हैं, क्योंकि वे भ्रम-प्रमाद से रहित परम आप्त माने गये हैं। इसलिये नियत और नित्य शब्द का भिन्न अर्थ करना पड़ेगा। इसलिये आम्नाय में आनुपूर्वी नियत अर्थात् निश्चित है, यही अर्थ करना पड़ेगा, नित्य नहीं। क्योंकि इसका अनित्य उक्ति से मेल नहीं खायगा। शब्द के प्रयोग का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इनमें से प्रत्येक शब्द का विषय नियत है। यहाँ पर नियत शब्द नित्यार्थक न होकर निश्चितार्थक है।

शब्द निश्चितविषयक ही होते हैं, नित्यविषयक नहीं। क्योंकि इनके घट आदि अनित्य पदार्थ भी विषय होते हैं। आम्नाय में देश और काल नियत कर दिये गये हैं, जैसे कि 'श्मशान में नहीं पढ़ना चाहिये', 'अमावास्या के दिन नहीं पढ़ना चाहिये'। आम्नाय में पद के एक देश को भी नियत कर दिया गया है। समाजियों को यह बताना चाहिये कि 'अस्यवामीयम्' इत्यादि वचन उनके अभिप्रेत किस आम्नाय में हैं। यहाँ पर भी नियत शब्द निश्चितार्थक ही है। यह बात लौकिक शब्दों में भी लागू होती है। 'कुछ निश्चित शब्दों का प्रयोग नियत आनुपूर्वी के अनुसार होता है' यास्क के इस वचन के अनुसार 'पितापुत्रौ', 'इन्द्राग्नी' जैसे लौकिक शब्दों में आनुपूर्वी नियत है। यहाँ पर भी नियत शब्द निश्चितार्थक है। कहीं पर नित्य शब्द भी अनित्यार्थक होता है। जैसे कि महाभाष्यकार ने कहा है—'नित्य का यही लक्षण नहीं है कि उसको ध्रुव, कूटस्थ, अविचल, किसी विकार को उत्पत्ति और विनाश से रहित होना चाहिये, किन्तु नित्य वह भी है जो कि जिसका तत्त्वतः विनाश नहीं होता', दूसरी जगह भी बताया गया है कि— 'यह नित्य शब्द अवश्य ही कूटस्थ, अविचल पदार्थों में प्रयुक्त हो, यह बात नहीं है, पौनःपुन्य के अर्थ में भी इसकी प्रवृत्ति होती है, जैसे कि नित्यप्रहसित, नित्यजल्पित शब्दों की प्रवृत्ति बहुत हँसने और बहुत बोलने वाले व्यक्ति के लिये होती है।' इस प्रकार नियत शब्द को नित्यार्थक मानने में भी अनित्य के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। नागेश भट्ट ने इस प्रसंग में यह अर्थ किया है कि वह

भावेषु वर्तते; किं तर्हि आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते। तद्यथा—नित्यप्रहसितो नित्यजल्पितः' (पस्पशाह्निके मङ्गलार्थाधिकरणे)। तथा च नियतशब्दस्य नित्यार्थकत्वेऽपि नानित्यत्वविरोधः। नागेशभट्टेन च—'सानुपूर्वी तत्कल्पसमाप्तिपर्यन्तं नियता' इत्यर्थः कृतः। न्यायभाष्यकारेण वात्स्यायनेनाप्यतीतानागतसम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदतयैव वेदानां नित्यताऽभ्युपेयते। नियतत्वेनैव वेदस्यापौरुषेयत्वसाधने 'पितापुत्रौ', 'इन्द्राग्नी' इत्यादिनियतानुपूर्वीकाणां लौकिकशब्दानामप्यपौरुषेयत्वं स्यात्, न च तदिष्यते सामाजिकैः।

प्रकृते आम्नायशब्दो वैदिकसम्प्रदायपरः। तथा च स्वस्ववैदिकसम्प्रदाये स्वरवर्णानुपूर्वी नियता प्रलयपर्यन्तमेकरूपैव भवति। एवमर्थानभ्युपगमे नित्यार्थकत्वे च नियतशब्दे स्वरवर्णानुपूर्वी नित्या भवतीत्यर्थः स्यात्। तथात्वे विरोध एव स्यात्। 'अस्यवामस्य' (ऋ० सं० १।१६४।१) इत्यत्रैव स्वरभेददर्शनात्। एकत्र 'स्य'पदे स्वरितस्वरोऽन्यत्र तत्रैव स्यपदेऽनुदात्तो दृश्यते। तथा स्वरस्य नित्यत्वं स्यात्तदा नैष भेद उपपद्येत। वर्णानुपूर्वी चापि नैकरूपा 'सप्त स्वसारोऽभि सं नवन्ते' (ऋ० सं० शाकली १।१६४।३), 'अभिसं नवन्त' (अ० सं० ९।९।३) इत्युभयत्र ए० अ० मात्राभेदः स्पष्टः। 'अचिकित्वाञ्चिकितुषः' (ऋ० सं० १।१६४।६), 'अचिकित्वांश्चि' (अथर्वसं० ९।९।७), 'विद्मने' (ऋ० सं० १।१६४।६), 'विद्मना' (अथर्वसं० ७।४९।१), 'सनेमि····तस्मिन्नार्पिता' (ऋ० सं०१।१६४।१४), 'सनेमि····यस्मिन्नातस्थुः' (अथर्वसं० ९।१४।१४), 'अयं स शिङ्क्ते' अस्यवामीयसूक्तस्य प्रसिद्धे मन्त्रे (ऋ० सं० १।१६४।२९) 'मर्त्यम्' अथर्वसंहितायां 'मर्त्यान्' (६।४१।३) इति भेदः।

यत्तु—'अस्यवामीयसूक्तस्यानुपूर्वी नियता नेष्टा, किन्त्वस्यवाम इति पदांशस्यानुपूर्वी नियतेति', तदपि न युक्तम्, तथात्वेऽन्यसंहितापेक्षया त्वदभिमतासु संहितासु वैशेष्यानुपपत्तेः। तस्मादस्याः स्वरवर्णानुपूर्व्याः सर्वासु संहितास्वसमानत्वादनित्यत्वमुक्तं भाष्यकारेण।

कुलपारम्पर्येण स्वकीयामाथर्वणीं पैप्पलादशाखां स्मरति गोनर्दीयो महाभाष्यकारः। (पा० सू० ३।२।११४) इत्यत्र 'अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः'। महाभाष्यकारैः कुत्राप्येतन्नोक्तं यदिमे चत्वारो

आनुपूर्वी उस कल्प की समाप्ति पर्यन्त अनुस्यूत रहती है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन भी अतीत और अनागत संप्रदाय के अभ्यास और प्रयोगों को अविच्छिन्नता के कारण ही वेदों की नित्यता मानते हैं। नियत प्रयोगों के कारण वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने पर 'पितापुत्रौ', 'इन्द्राग्नी' इत्यादि नियत आनुपूर्वी के लौकिक शब्दों को भी अपौरुषेय मानना पड़ेगा, जो कि समाजियों का भी अभिप्रेत नहीं है।

प्रकृत में आम्नाय शब्द वैदिक संप्रदाय का बोधक है। अपने अपने वैदिक संप्रदाय में स्वर और वर्ण की आनुपूर्वी नियत है। वह प्रलय पर्यन्त एक रूप ही रहेगी। इस प्रकार अर्थ को न मानने पर और नियत शब्द को नित्यार्थक मानने पर स्वर और वर्ण की आनुपूर्वी नित्य होती है, यह अर्थ होगा। ऐसा होने पर विरोध उपस्थित होगा। क्योंकि 'अस्यवामस्य' यहीं पर स्वरभेद है। एक जगह 'स्य' पद का स्वरित स्वर और दूसरी जगह अनुदात्त दिखाई देता है। यदि स्वर की नित्यता हो तो यह भेद नहीं होना चाहिये। वर्ण की आनुपूर्वी में भी सर्वत्र एकरूपता नहीं है। 'सप्त स्वसारोऽभि सं नवन्ते', 'अभिसं नवन्त' इन दोनों जगहों में मात्राभेद (ए और अ) स्पष्ट है। मूल में इसी प्रकार के अन्य उदाहरण दिये गये हैं, जहाँ कि वर्ण, मात्रा आदि का भेद स्पष्ट है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि अस्यवामीय सूक्त की आनुपूर्वी नियत है, यह हमारा कहना नहीं है, किन्तु 'अस्यवाम' इस पदांश की आनुपूर्वी नियत है, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्य संहिताओं की अपेक्षा से आपकी अभिप्रेत संहिताओं में कोई विशेषता नहीं रह जायगी। इसी लिये सभी संहिताओं में स्वर और वर्ण की आनुपूर्वी की असमानता को देखकर ही भाष्यकार ने उनको अनित्य माना है।

३।२।११४ संख्या के सूत्र पर 'हे देवदत्त, तुम जानते हो, हम कश्मीर जायेंगे' कहते हुए महाभाष्यकार गोनर्दीय अपनी कुल परम्परा की आथर्वण पिप्पलाद शाखा का स्मरण करते हैं। महाभाष्यकार ने यह कहीं भी नहीं लिखा है कि ये चार ही मूल वेद

मूलवेदाः । अन्याः संहिताः शाखाः । किन्तु 'चत्वारो वेदा बहुधा भिन्नाः' इत्युक्त्वा ११३१ शाखाभेदान् दर्शितवान् । अन्यथा चतुरो मूलवेदानुक्त्वा ११२७ शाखास्तद्व्याख्यानभूता इत्यवश्यं वदेत् । न केवलं मन्त्रसंहिताः, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थानपि महाभाष्यकारो वेदं मन्यते । पस्पशाह्निके—'वेदे खल्वपि पयोव्रतो ब्राह्मणः' इत्यादिब्राह्मणवाक्यान्येवोदाहृतवान् । आचारे पुनर्ऋषि(वेदः)नियमं वेदयते 'तेऽसुरा हेलयो हेलयः' इत्यादि । 'वेदेऽपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषालः' (पा० सू० १।१।१), 'वेदे खल्वपि वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेत' (पा० सू० ६।३।८४) इत्यादिवाक्यानि वेदरूपेणैवान्यशाखाभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्चोद्धृतानि । यदि चतस्रः संहिता एव वेदाः स्युः, तदा श्रौताः स्मार्ताश्च हिन्दूसनातनधर्मा निरालम्बना एव प्रसज्येरन्, संहितासु ज्योतिष्टोमादिविधीनामसत्त्वात् । विविधासु संहितासु ब्राह्मणेष्वारण्यकेषूपनिषत्स्वेव ते सर्वे उपलभ्यन्ते । एवमेव यदि लौकिकशब्दमहासमुद्रसिद्धिरष्टाध्यायीसूत्रैः पाणिनिना कृता, तदाऽपरिमितसंहितामन्त्रशब्दानां साधने किं नाम काठिन्यम् ? परन्तु तेषां सिद्ध्यर्थं 'बहुलं छन्दसि' इति द्वादश सूत्राणि, 'छन्दस्युभयथा' इति सूत्रद्वयम्, 'वाच्छन्दसि' इति सूत्रद्वयम् 'दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति' इति १।१।६ इत्यत्र महाभाष्ये इष्टिः—इत्यादिसूत्राणि विरचितानि, इष्टयश्च । एतेषां सूत्राणामिष्टीनां च तदानीमेव सार्थक्यं यदा विविधशाखाविशिष्टानां मन्त्राणां ब्राह्मणारण्यकोपनिषदां वेदत्वं स्यात् । अन्यथा नैतानि सङ्गच्छेरन् । ततश्चत्वारि पुस्तकान्येव वेदा इति भ्रान्तिरेव ।

'शतं च नव शाखाः स्युर्यजुषामेव जन्मना । साम्नः सहस्रशाखाः स्युः पञ्चशाखा ह्यथर्वणः ॥' (सीतोपनिषदि), 'ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यया । नवाधिकं शतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥ सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नां परन्तप । अथर्वणस्तु शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ॥' (मुक्तिकोपनिषदि) इत्यादिप्रमाणैः शाखानां भेदोऽपि कल्पभेदेन सङ्गच्छते । 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्रा० ३।१०।११।४) इति तैत्तिरीयश्रुतिरोत्या

हैं और अन्य संहिताएँ शाखाएँ हैं। किन्तु चार वेदों के अनेक भेद हैं, ऐसा कह कर उन्होंने ११३१ शाखाएँ बताई हैं। अन्यथा उनको यह अवश्य कहना चाहिये था कि मूल वेद चार हैं और उनकी व्याख्यानभूत शाखाएँ ११२७ हैं। न केवल इन सभी मन्त्र संहिताओं को, अपितु ब्राह्मण ग्रन्थों को भी महाभाष्यकार वेद मानते हैं। पस्पशाह्निक में वे कहते हैं—'वेद में पयोव्रत ब्राह्मण का उल्लेख है', ऐसा कह कर वे ब्राह्मण के वाक्यों को उद्धृत करते हैं। 'आचार के विषय में 'तेऽसुराः' इत्यादि वाक्यों से वेद नियम का विधान करते हैं', 'वेद में भी याज्ञिकगण स्फ्य, यूप आदि संज्ञाएँ करते हैं', 'वेद में बताया गया है कि ब्राह्मण वसन्त ऋतु में अग्निष्टोम आदि यज्ञों का अनुष्ठान करे' ये सब वाक्य वेद के नाम से ही अन्य शाखाओं और ब्राह्मणों से लिये गये हैं। यदि चार संहिताएँ ही वेद मानी जायं तो हिन्दुओं के श्रौत और स्मार्त सनातन धर्म निराधार हो जायेंगे, क्योंकि संहिताओं में ज्योतिष्टोम आदि की विधि उपलब्ध नहीं है। विभिन्न संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् में ही वे सब उपलब्ध होते हैं। इसी तरह यदि लौकिक शब्दों के अथाह महासमुद्र की सिद्धि पाणिनि ने अष्टाध्यायी सूत्रों से की तो संहिता मन्त्रों के परिमित शब्दों की सिद्धि में क्या कठिनाई हो सकती है ? किन्तु उनकी सिद्धि के लिये बारह बार 'बहुलं छन्दसि' इस सूत्र की रचना करनी पड़ी। 'छन्दस्युभयथा' और 'वा च्छन्दसि' इस सूत्रों की दो बार आवृत्ति करनी पड़ी। छन्द के लिये दृष्टानुविधि और इष्टियाँ बनाई गई। इन सूत्रों और इष्टियों की सार्थकता तभी हो सकती है, जब कि विविध शाखाओं के मन्त्रों और ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों को भी वेद माना जाय। अन्यथा इनकी कोई संगति न रह जायगी। अतः चार पुस्तकें ही वेद हैं, यह एक भ्रान्ति है।

सीतोपनिषद् में—'प्रारंभ से ही यजुर्वेद की १०९ शाखाएँ हैं, सामवेद की एक हजार और अथर्ववेद की पाँच' तथा मुक्तिकोपनिषद् में—'ऋग्वेद की २१ शाखाएँ हैं। हे मारुतात्मज, यजुर्वेद की १०९ और हे परन्तप, सामवेद की एक हजार शाखाएँ हुई और अथर्ववेद की शाखाओं के पचास भेद हुए' इस तरह से वेद की शाखाओं की संख्या में भिन्नता दिखाई पड़ती है, यही कल्पभेद के कारण है। अर्थात् विभिन्न कल्पों में वेद की शाखाएँ विभिन्न संख्या में विभक्त थीं, यही इससे सिद्ध होता है। 'वेद अनन्त हैं' इस तैत्तिरीय

परमेश्वरीयानन्तज्ञाननिष्ठा वदा अनन्ताः। मानवबुद्धिग्राह्या वेदास्तु कस्मिंश्चित्कल्पे ११९०, कस्मिंश्चित्कल्पे किञ्चिन्न्यूनाः। पतञ्जल्यादिकालोपलब्धास्तु ११३१ शाखात्मका एव वेदाः।

अपरञ्च—उणादिप्रकरणे 'छन्दसीणः' (१।२) इत्यस्यार्थो लिखितः—वेदे इण्धातोरुण्प्रत्ययो भवति। अत्र दयानन्देन छन्दसीत्यस्य वेद इत्यर्थः कृतः। (पा० सू० ३।१।१२३) इत्यनेन छन्दसि निष्टक्र्यशब्दः साधितः। स्नात्वी इत्यपि छान्दसः शब्दः। वैदिकनिघण्टुग्रन्थे आष्ठा (दिक्), शोकी (१।७) रात्रिः, जातरूपम्, वलिशानः (१।१०) मेघः, वेकुरा (१।११) वाक् सर्णीकं स्वृतीकं १।१२ उदकनाम—एवमादयः शब्दाश्चतसृषु सामाजिकाभिमतासु संहितासु नोपलभ्यन्ते, तस्मादन्यासु संहितासु ब्राह्मणेषु वैदिकानामेतेषां शब्दानामुपलम्भस्तेषां वेदत्वं साधयति। अन्यथा पाणिन्यादिप्रोक्ताः प्रयोगाः स्वाभिमतासु संहितासु सामाजिकैर्दर्शनीयाः। स्वामिदयानन्देन सन्ध्यायां 'ॐ भूः पुनातु', 'ॐ वाग् वाक्' इत्यादयो मन्त्रा लिखिताः, तेऽपि तदभिमतासु संहितासु न सन्ति।

शाखान्तराणां ब्राह्मणानां च वेदत्वम्

यत्तु (१०१५) 'स एवार्थः' इति दुर्गाचार्यवचनेन शाखान्तराणामवेदत्वसाधनम् (पृ० ३६), तदपि तुच्छम्, तदक्षरार्थानवबोधात्। तत्र 'स एवार्थः, केवलशाखान्तरमन्यत्' एवं पाठो विद्यते। स्वाभीष्टसाधनायान्यथा पाठः परिकल्पितः। तत्र 'रुद्रो रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्। यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकं तस्यैषा भवति' इति निरुक्तवचनव्याख्यानप्रसङ्गे कठवचनं व्याख्याय वचनान्तरस्यापि स एवार्थ इत्युक्तवान् दुर्गाचार्यः। शाखान्तरत्वमात्रं भेदः। एकशाखीयनिर्वचनं प्रदर्श्य शाखान्तराणां

श्रुति के प्रमाण पर परमेश्वर के अनन्त ज्ञान में अनन्त वेद विद्यमान हैं। इनमें से बुद्धिग्राह्य वेदों की संख्या किसी कल्प में ११९० तो किसी में कम है। पतञ्जलि के समय उपलब्ध वेदों की शाखाएँ ११३१ थीं।

एक दूसरी बात भी है। उणादि प्रकरण में 'छन्दसीणः' इस सूत्र का अर्थ लिखा गया है कि 'वेद में इण् धातु से उण् प्रत्यय होता है। यहाँ पर दयानन्द ने छन्दस् पद का अर्थ 'वेद' किया है। ३।१।१२३ संख्या के पाणिनि सूत्र से 'निष्टक्र्य' शब्द सिद्ध किया गया है। 'स्नात्वी' यह भी छान्दस शब्द है। वैदिक निघण्टु ग्रन्थ में आष्ठा (दिक्), शोकी (रात्रिः), जातरूप, वलिशान (मेघ), वेकुरा (वाक्), स्वर्णीक-स्वृतीक (उदक) इस तरह के अनेक शब्द दिये हैं। ये सब शब्द आर्यसमाजियों की अभिप्रेत चार वेद की पुस्तकों में नहीं मिलते। इसलिये अन्य संहिताओं और ब्राह्मण आदि अन्य ग्रन्थों में इनकी उपलब्धि से यह सिद्ध होता है कि ये सब वेद ही हैं। अन्यथा पाणिनि, यास्क आदि के द्वारा प्रदर्शित इन वैदिक शब्दों को अपने अभिप्रेत वेद ग्रन्थों में आर्यसमाजियों को दिखाना चाहिये। स्वामी दयानन्द ने सन्ध्या विधि के लिये 'ॐ भूः पुनातु', 'ॐ वाक् वाक्' इत्यादि मन्त्र लिखे हैं। ये मन्त्र भी आपकी अभिप्रेत संहिताओं में उपलब्ध नहीं हैं।

अन्य शाखाओं और ब्राह्मणों का वेदत्व

निरुक्त (१०१५) की व्याख्या में स्थित दुर्गाचार्य के 'स एवार्थः' इस वचन से अन्य शाखाओं की वेदभिन्नता सिद्ध करना भी गलत है, जिज्ञासुजी ने उन अक्षरों का अर्थ ही ठीक से नहीं समझा है। वहाँ पर 'स एवार्थः। केवलशाखान्तरमन्यत्' यह पाठ है। अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये यहाँ पर अन्यथा पाठ गढ लिया गया है। निरुक्त में बताया गया है कि रुद्र शब्द की निष्पत्ति तीन प्रकार से होती है- 'क्योंकि वह वज्र के समान शब्द करता है, अथवा शब्द करता हुआ वह मेघों के बीच में दौड़ता है, अथवा वह शत्रुओं को रुला देता है। इस विषय में ब्राह्मण भी प्रमाण हैं। यहाँ पर 'यदरुदत्' यह काठक का वचन है और 'यदरोदीत्' यह हारिद्रविक का। इस निरुक्त वचन की व्याख्या के प्रसंग में कठ के वचन की व्याख्या करके दुर्गाचार्य कहते हैं कि हारिद्रविक के वचन का भी वही अर्थ है, केवल शाखा का भेद है। एक शाखा का निर्वचन बताने के बाद अन्य शाखाओं के निर्वचन उपेक्षणीय हैं,

निर्वचनान्युपेक्ष्याणि, न पृथक् पृथक् सर्वशाखीयनिर्वचनानि प्रदर्शनीयानि, एकव्याख्यानेनैव गतार्थत्वात्, इत्येव तदाशयः। शाखाग्रन्थानामेवावेदत्वे काठकशाखीयनिर्वचनस्यापि तथात्वापत्तिः, त्वद्रीत्या कठशाखाया अप्यवेदत्वात्। किञ्च, इह तु काठकशाखीयनिर्वचनं प्रदर्शितमेवेति कुतः काठकस्यावेदत्वमनेन सिद्धयति? तस्माद् यत्किञ्चिदेतत्।

यत्तु—'अनुवादे चरणानाम्' (पा० सू० २।४।३) इत्युद्धृत्य 'अनुवदते कठः कलापस्य' अर्थात् कठः कलापप्रवचनस्यानुवादं करोति। एतेन कठादिशाखानामृषिप्रवक्तृकत्वं सिद्धयति' (पृ० ३६) इति, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, त्वदभिमतशाकलीशौनक्यादीनामपि शाकल्यादिविशिष्टप्रवक्तृकत्वाविशेषात्। न केवलं विशिष्टप्रवक्तृकत्वम्, अपरिगणिताध्यापकप्रवक्तृकत्वस्यापि सत्त्वात्। अध्यापनमेव प्रवचनं भवति। सर्वोऽपि वेदोऽध्यापकप्रवक्तृक एव। अत एव "आख्या प्रवचनात्' (जै० सू० १।१।३०) इति सूत्रेण जैमिनिना काठकादिसमाख्या प्रवचनमूलिकेत्युक्तम्। काठकादीत्यत्रादिपदेन शाकल्यादिसमाख्यानामपि समर्थनम्। न च पदकारत्वेन शाकल्यनाम्ना तत्प्रसिद्धिः, शौनक्यादीनां तथात्वासंभवात्। यदि तत्रापि तन्मूलिका संभाव्या, तर्हि काठकादीनामपि तन्मूला समाख्या न दण्डवारिता। किञ्च, प्रवचनमूलिका तु सा जैमिन्यादिसूत्रसिद्धा। पदकारत्वमूलिकायास्तु प्रमाणशून्यायास्त्वत्कपोलकल्पितत्वात् कुतः प्रामाणिकता। तथात्वानङ्गीकारे वाल्मीकीयमित्यादिवत् शाकलीशौनक्यादीनां शाकल्यादिकर्तृकत्वापत्तेः। अत एव शौनक्यादयश्चतस्रः संहिता वेदाः, काठकादिसंहिताः शाखा इत्यर्धनास्तिकस्यैव मतम्। 'तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमिति' (पा० सू० ४।३।१०१) इत्यत्र न्यासकारोऽपि कठादिभिरध्यापितत्वादेव काठकादिसमाख्याः समर्थयते, तेन तदुद्धरणं व्यर्थमेव।

पृथक् पृथक् सब शाखाओं के निर्वचनों को बताने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि एक की व्याख्या करने से अन्य निर्वचन उसी से व्याख्यात हो जाते हैं। दुर्गाचार्य का मात्र इतना ही आशय है। शाखा ग्रन्थों को यदि वेदभिन्न मान लिया जाय, तो काठक शाखा का निर्वचन भी तो वेदभिन्न हो जायगा, क्योंकि आपके मत से तो कठ शाखा की गिनती भी वेदों में नहीं होती। दूसरी बात, जब यहाँ प्रमाण रूप में काठक शाखा का निर्वचन बताया गया है, तो फिर काठक शाखा की अवेदता कैसे सिद्ध होगी। अतः इस तरह की बातें व्यर्थ ही उठा दी जाती है।

आगे 'अनुवादे चरणानाम्' इस अष्टाध्यायी के सूत्र को उद्धृत करके 'अनुवदते कठः कलापस्य' इस उदाहरण की व्याख्या की गई है कि कठ कलाप के प्रवचन का अनुवाद करता है और इससे सिद्ध किया गया है कि कठ आदि शाखाओं के प्रवक्ता ऋषिगण हैं। यह भी नदी की बाढ़ में कुश-काश के तिनकों का सहारा लेने के बराबर है। आपने जिनको वेद माना है, उन शाकली, शौनकी आदि संहिताओं के साथ भी शाकल्य आदि का नाम प्रवचनकर्ता के रूप में जुड़ा है। न केवल किसी एक विशिष्ट प्रवक्ता का, किन्तु अनगिनत अध्यापक प्रवक्ताओं का उनसे संबन्ध है। अध्यापन ही तो यहाँ प्रवचन कहा जाता है। सारा वेद ही अध्यापक प्रवक्ताओं के द्वारा उपदिष्ट है। इसीलिये 'आख्या प्रवचनात्' इस सूत्र में जैमिनि ने काठक आदि समाख्या का आधार प्रवचन को माना है। काठक आदि यहां पर दिये गये आदि पद से शाकल्य आदि नामों का भी समर्थन प्रवचन पद्धति के आधार पर ही होता है। इस संहिता के पदकार शाकल्य हैं, इसी लिये इनके नाम से इस संहिता का नाम पड़ गया, यदि आप ऐसा कहें तो यही युक्ति शौनकी के विषय में क्यों नहीं लागू होगी? यदि यहाँ पर आप कल्पना के सहारे कहते हैं कि शौनकी का पदपाठ शौनक ने किया होगा, तो फिर यही नियम काठक आदि के नाम के साथ भी तो लागू हो सकता है। एक बात और है, समाख्या प्रवचनमूलिका होती है, यह बात तो जैमिनि आदि के सूत्रों से सिद्ध है। पदकारमूलक समाख्या में तो कोई प्रमाण नहीं है, यह केवल आपकी कपोलकल्पना है। इसके कोई प्रमाण नहीं है। यदि आप ऐसा नहीं मानते तो वाल्मीकीय रामायण के समान शाकली, शौनकी आदि संहिताओं को इनकी रचना मानना पड़ जायगा। इसलिये शौनकी प्रभृति चार संहिताएँ वेद हैं और काठक प्रभृति शाखाएँ हैं, यह बात आधा नास्तिक ही कह सकता है। ४।३।१०१ संख्या के पाणिनि सूत्र में न्यासकार ने कहा है कि 'उसने व्याख्या की अथवा उसने पढ़ाया' इन दोनों ही अर्थों में 'तेन प्रोक्तम्' यह

यत्तु 'ऋक्सामयोरेवाभ्यभिषिच्यते' (का० ३७।३), यजुर्भी रायस्पोषे सनिषा मदेन' (का० २।४), 'आशीर्वा अथर्वभिः' (का० सं० ५।४) इति चतुर्वेदस्योद्धरणात् काठकसंहिताया अवेदत्वं सिद्ध्यति' (पृ० ३७) इति, तद्बुद्धिदौर्बल्यमेव, तथात्वे त्वदभिमतवेदस्याप्यवेदत्वापत्तेः। 'तस्माद्यज्ञात्....ऋचः सामानि छन्दांसि तस्माद्यजुः' (माध्यन्दिनीसं०), 'यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।।' (अथर्वसं० १०।७।२०) इति चतुर्वेदोद्धरणात्तेषामप्यवेदत्वापत्तिः स्यादेव। तत्र शाकल्यादिसंहितानां नामनिर्देशाभावेन तद्भिन्नानां वेदत्वावगमापातात्।

यत्तु 'वामदेवस्यैव पञ्चदशं रक्षोघ्नं सामिधेन्यो भवन्ति। स वामदेव उखयमग्निमविभक्तमवैक्षत स एतन्मूलमपश्यत कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथिवीमिति' (का० १०।५) इत्यत्र यो वेदप्रतीकमुद्धृत्य तदृषिं वर्णयति, स स्वयमेव कथं वेदो भवितुमर्हतीति सामान्यबुद्धिरप्यवगच्छति' (पृ० ३७) इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, तथात्वे ऋक्संहिताया अप्यवेदत्वापत्तिः। यथा सूत्रानुकारि भाष्यं तद्व्याख्यानं च भाष्यमेव, तथैव मन्त्रास्तद्व्याख्यानांशं ब्राह्मणमपि वेद एव। 'रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुपमुहूर्तमेवैः। प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषा वस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः।।' (ऋ० ३।३३।५) अत्र कुशिकसूनुर्विश्वामित्रो वर्णितः। 'अकारि त इन्द्र गोतमेभिः' (ऋ० १।६३।९) अत्र गोतमा ऋषयो वर्णिताः। 'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना' (ऋ० ९।११२।२) अत्र ऋषिः स्वमेव मन्त्रसमूहरचयितारमाह। 'आभोगयं प्र यदिच्छन्त ऐतना पाकाः प्राञ्चो मम केचिदापयः। सौधन्वनासः' (ऋ० १।११०।२) इह सौधन्वना व्यक्तिविशेषा वर्णिताः। अत्र मध्ये वक्त्रा कुत्सेन ऋभुदेवता मम पूर्वजा इत्युक्तम्। 'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्य उत नूतनैरुत' इत्यादिमन्त्रेषु प्राचीना नवीनाश्च ऋषयो वर्णिताः। कथमेतेऽपौरुषेया ईश्वरकृताः ? 'अद्या मुरीय यदि यातुधानोऽस्मि' (ऋ० ७।१०४।१५), 'सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्' (ऋ० १०।९५।१४) इत्यादिशपथाभिशापादिबोधका

सूत्र प्रवृत्त होता है। इस प्रकार न्यासकार कठ आदि के द्वारा पढ़ाई जाने के कारण काठक आदि समाख्या का समर्थन करते हैं। अतः इस प्रसंग में न्यासकार को उद्धृत करना भी व्यर्थ ही है।

'ऋक्सामयोः, यजुर्भी०, अथर्वभिः' इस प्रकार चारों वेदों का उद्धरण होने से काठक संहिता इन वेदों से भिन्न सिद्ध होती है' यह उक्ति भी वक्ता की बुद्धि की दुर्बलता की सूचक है। ऐसा मानने पर आपने जिनको वेद मान रखा है, वे भी वेद नहीं रह जायँगे। 'तस्माद्यज्ञात्' इस यजुर्वेद के मन्त्र में तथा 'यस्मादृचो' इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्र में भी चारों वेद उद्धृत हैं, अतः उक्त कथन के अनुसार ये भी वेद नहीं रह जायँगे। यहाँ पर यह भी आपत्ति होगी कि इनमें शाकल्य आदि संहिताओं के नाम का निर्देश न होने से इनसे भिन्न संहिताओं को ही वेद मान लिया जायगा।

'वामदेवस्यैव पञ्चदशं०' इस प्रकार वेद के प्रतीक को उद्धृत कर जो वामदेव ऋषि का वर्णन भी करता है, वह स्वयं वेद किस प्रकार हो सकता है, यह बात सामान्य बुद्धि के व्यक्ति की भी समझ में आ सकती है' यह कथन भी तभी तक अच्छा लगता है, जब तक कि इस पर विचार नहीं किया जाता, क्योंकि ऐसा मान लेने पर ऋग्वेद की संहिता भी वेद नहीं रह जायगी। यहाँ पर इस सिद्धान्त को समझ लेना चाहिये कि जैसे किसी भाष्य का सूत्रसदृश संक्षिप्त वाक्य और फिर विस्तार के साथ की गई व्याख्या दोनों भाष्य ही माने जाते हैं, उसी तरह मन्त्र और उनकी व्याख्या करने वाले ब्राह्मणवाक्य भी वेद ही हैं। ऋग्वेद के 'रमध्वं मे वचसे' इत्यादि मन्त्र में कुशिक के पुत्र विश्वामित्र का वर्णन है, 'अकारि त इन्द्र' इस ऋचा में गोतम ऋषि वर्णित हैं, 'कारुरहं' इत्यादि मन्त्र में ऋषि स्वयं अपने को मन्त्रसमूह का कर्ता बताता है, 'आभोगयं प्र यदिच्छन्त' यहाँ पर सौधन्वन नाम के व्यक्तिविशेष वर्णित हैं, इस मन्त्र में वक्ता कुत्स ने कहा है कि ऋभु देवता मेरे पूर्वज थे, 'अग्निः पूर्वेभिः' इत्यादि स्थलों पर प्राचीन और नवीन ऋषियों का वर्णन किया गया है। ये मन्त्र अपौरुषेय और ईश्वरकृत कैसे हो सकते हैं ? इसी तरह 'अद्या मुरीय', 'सुदेवो अद्य' इत्यादि शपथ और शाप आदि के बोधक मन्त्र वेद कैसे हो सकते हैं ? इन सबके विषय में एक समान आपत्ति उठती

मन्त्राः कथं वेदा भवितुमर्हन्तीति समानमेव। व्याख्यानविशेषेणापौरुषेयत्वसमर्थनं तु काठकादिवचनेष्वपि समानमेव। यदि यमयमीसंवादस्योर्वशीपुरूरवःसंवादस्यापि वर्णनमपौरुषेयेऽनादौ वेदे संभवति, तर्हि वेदस्य वर्णनमृषेश्च वर्णनं कथं न संभवति। तेन प्रोक्तमित्यपि तु पिष्टपेषणमेव। 'होता यो विश्ववेदसं' (पृ० ३९) इत्यंशस्यापि समाधानं जातमेव।

यत्तु 'वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतः प्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितमित्यनेन हरिस्वामिवचनेन वेदशास्त्रयोर्भेदसिद्धिर्वेदस्य प्रामाण्यस्वतस्त्वं शाखानां तु तद्धेतुत्वात्प्रामाण्यमिति' (पृ० ३९), तदपि बुद्धिदौर्बल्यम्, भावानवबोधात्। यथा सूत्रसमूहात्मकस्य पटस्य कार्पासिकत्वे सिद्धे तद्धेतुत्वात् सूत्राणामपि कार्पासिकत्वं सिद्धयति, तथैव एकत्रिंशदुत्तरैकादशशतशाखात्मकस्य वेदस्य सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्य्यमाणकर्तृकत्वेन वेदे सिद्धे शाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यम्, बादरायणजैमिन्यादिभिराचार्य्यैस्तथैव प्रतिपादितत्वात्।

किञ्च, महाभाष्यकारश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्य्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽथर्वणो वेद इति वर्णयन् चत्वारो वेदा बहुधा भिन्ना इत्युक्त्वा वेदभेदानेव व्याचष्टे—एकशतमध्वर्य्युशाखा इत्यादिना। एकत्रिंशदुत्तरैकादशशतशाखासु तेन निर्दिशितास्वेव भवदीयवेदत्वेनाभिमताः शाकली-कौथुमी-माध्यन्दिनी-शौनकीसंहिता अपि। तासां वेदत्वे कथं नान्यासां वेदत्वम्? शाखात्वाविशेषेऽपि कथमासां वेदत्वम्? शाखाभ्यो वेदानामन्यत्वे तत्स्वरूपादिकमप्यवश्यं निर्दिशेत्। त्वदभिमतानां चतसृणां संहितानामेव वेदत्वे एतासां वेदत्वमुक्त्वा सप्तविंशत्युत्तरैकादशशतसंख्याका एव शाखा निर्दिशेत्। तथा च एकोनशतमध्वर्य्युशाखाः, सहस्रवर्त्म साम, विंशतिधा बाह्वृच्यम्, अष्टधाऽथर्वण इत्येव वदेत्, तेन महाभाष्याभिमताः

है। इनकी विशेष प्रकार की व्याख्या के आधार पर अपौरुषेयता का समर्थन करना है, तो वह काठक आदि के विषय में भी उसी प्रकार लागू हो सकेगी। यदि यम-यमी संवाद और उर्वशी-पुरूरवा का संवाद अपौरुषेय, अनादि वेद में हो सकता है, तो फिर उसमें वेद और ऋषि का वर्णन मिलता है, तो क्या आश्चर्य है? 'तेन प्रोक्तम्' इत्यादि का प्रमाण देना पिष्टपेषण मात्र है। 'होता यो विश्ववेदसम्' इसका भी उत्तर दिया जा चुका है।

'वेद के अपौरुषेय होने से उनकी स्वतः प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। उनकी शाखाओं का भी उन्हीं के आधार पर विस्तार होने से बादरायण प्रभृति ने प्रामाणिकता मानी है, हरिस्वामी के इस वचन के आधार पर वेद और शाखाओं का भेद सिद्ध होता है। इससे यह भी मालूम होता है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं और शाखाओं का प्रामाण्य वेदों के अधीन है' यह उक्ति भी बुद्धि की दुर्बलता को ही सूचित करती है। वक्ता ने इसका भाव नहीं समझा है। जैसे धागों के ढेर से बना कपड़ा रुई से बना है, यह सिद्ध हो जाने पर ये धागे भी रुई से ही बने हैं, यह मालूम हो जाता है, उसी तरह ११३१ शाखा वाले वेद के सम्प्रदाय के विच्छेद के न होने पर इसका कोई कर्ता नहीं सुना गया, इस आधार पर इन सबकी वेदता सिद्ध हो जाने पर शाखाओं का भी प्रामाण्य उसी आधार पर माना जायगा। बादरायण, जैमिनि आदि आचार्यों का भी यही कहना है।

महाभाष्यकार ने भी 'अङ्गों और रहस्यों सहित चार वेद अनेकधा विभक्त होते हैं' ऐसा कह कर यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १०००, ऋग्वेद की २१ और अथर्ववेद की ९ शाखाएँ होती हैं इत्यादि ग्रन्थ से इन भेदों का ही वर्णन किया है। इनके द्वारा बताई गई ११३१ शाखाओं में ही शाकली, कौथुमी, माध्यन्दिनी और शौनकी संहिताएँ भी हैं, जिनको कि आप वेद मानते हैं। ये यदि वेद हैं तो दूसरी शाखाएँ वेद क्यों नहीं होंगी? ये सभी शाखाएँ हैं तो फिर केवल चार ही वेद कैसे कहलायगीं? शाखाओं से वेद यदि भिन्न हैं, तो उनका लक्षण बताना पड़ेगा। आप जिन चार संहिताओं को वेद मानते हैं, वे ही यदि सचमुच वेद हैं, तो फिर महाभाष्यकार पहले वेद के चार भेद करके बाद में ११२७ शाखाओं को बताते। ऐसी अवस्था में यजुर्वेद की १००, सामवेद की ९९९, ऋग्वेद की २० और अथर्ववेद की ८ शाखाएँ बताते। ऐसा न करने से प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार शाखासमूह

शाखासमूहरूपा एव चत्वारो वेदाः। यथा पञ्चगौड-पञ्चद्रविडादितत्तच्छाखासमूहा एव ब्राह्मणा न ताभ्योऽतिरिच्यन्ते, यथा वा धवखदिरादिभ्यो न वनमतिरिच्यते, तथैव शाखाभ्यो नातिरिच्यन्ते वेदा अपि।

यत्तु—'ऋग्यजुःसामाथर्वणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति' (नृसिंहपूर्वतापनी), 'एतद् बृहज्जाबालमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वाणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स कल्पानधीते' (बृहज्जाबालोपनिषद्) इत्यत्र ऋगादिवेदेभ्यः पृथक्शाखानिर्देशात् शाखानामवेदत्वं स्वत एव सिद्धयति' (पृ० ४०) इति, तत्तात्पर्याज्ञानविजृम्भितम्, यत ऋगादिपदैः स्वशाखासम्बन्धिनामेवर्ग्वेदादीनां ग्रहणं शाखापदेन तदतिरिक्तशाखानां ग्रहणम्। नृसिंहतापनीयानुसारेण स्वशाखीयाः परशाखीयाश्च ऋगादयश्चत्वारः पादा भवन्ति। नन्वत्र किं मानमिति चेत्, स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति श्रुतिगतस्वशब्दस्यैव तत्र प्रमाणत्वात्। अधीयत इत्यध्यायो वेदः, स्वस्याध्यायः स्वाध्यायः, स्वशाखीयो वेदः स्वाध्यायपदवाच्यार्थः। स्वशाखोपलक्षितः सर्वोऽपि वेदराशिस्तेनैव विधिनाऽधीयते स्वशाखाध्ययनानन्तरम्। पूर्वं स्वशाखासम्बन्धिन ऋक्सामयजुरथर्वशाखा अप्यध्येतव्याः, तदनन्तरमन्या अपि शाखा अध्येतव्याः। स्वशाखाध्ययनमन्तराऽन्यशाखाध्ययनेन तु वैदिकेषु शाखारण्डसंज्ञा भवति। पारम्पर्य्येण ब्राह्मणादीनां नियताः शाखाः सन्ति। स्वशाखीयेष्वेवार्त्विज्यादिकं भवति। परम्पराशून्यास्तु सामाजिकास्तदभावादेव भ्राम्यन्ति। बृहज्जाबालाध्ययनेन तु स्वशाखाध्ययनफलं भवत्यन्यशाखाध्ययनफलं च भवतीत्यर्थः। ऋगादिमन्त्राणामन्यशाखास्वपि सत्त्वात् सर्वासामेवर्गादिवेदत्वमव्याहतमेव।

यत्तु—'पाठभेदेनापूर्वप्रवचनाद्वेदः शाखारूपं धारयति। मूलग्रन्थेषु परिवर्तनमन्तरा पदपाठकरणाद्वा शाखाव्यवहारो भवति। प्रथमनियमस्योदाहरणं तैत्तिरीयकाण्वादयः, द्वितीयस्योदाहरणं शाकली संहिता। पदपाठ-

रूप ही चार वेद मानते हैं। जैसे पञ्च गौड़, पञ्च द्रविड़ आदि में अवान्तर शाखाओं में विभक्त होते हुए भी ब्राह्मण जाति इनसे भिन्न नहीं है, अथवा जैसे धव, खदिर आदि वृक्षों के समूह से भिन्न वन नहीं है, उसी तरह वेद भी शाखाओं से भिन्न नहीं है, यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये।

इसी तरह 'ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद अंग और शाखाओं के साथ चार पाद होते हैं' इस नृसिंहपूर्वतापनी के वाक्य से तथा 'जो इस बृहज्जाबाल को पढ़ता है, वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को पढ़ लेता है, वह शाखाओं और कल्पों को पढ़ लेता है' इस बृहज्जाबाल उपनिषद् के वाक्य से स्पष्ट होता है कि ऋगादि वेदों से शाखाएँ भिन्न हैं, इस प्रकार शाखाओं की वेद से भिन्नता स्वतः सिद्ध हो जाती है' इस कथन से यह प्रतीत होता है कि वक्ता को इसका तात्पर्य ठीक से नहीं अवगत हुआ है, ऋगादि पद से अपनी शाखा से संबद्ध ग्रन्थ का ही ग्रहण होता है और शाखा पद से इससे भिन्न शाखाओं का। नृसिंहतापनीय उपनिषद् के अनुसार अपनी और उससे भिन्न अन्य सभी शाखाओं के ऋगादि वेद चार पाद के होते हैं, इसमें क्या प्रमाण है? 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य में स्थित 'स्व' शब्द ही इसमें प्रमाण है। जो पढ़ा जाता है, वह अध्याय अर्थात् वेद है, अपने अध्याय को स्वाध्याय, अर्थात् अपनी शाखा का वेद स्वाध्याय पद का वाच्य अर्थ होता है। अपनी अपनी शाखा के रूप में पढ़ा जाने वाला सारा वेद शाखासमुदाय इसी विधि से पढ़ा जाता है। इसका यह अभिप्राय है कि व्यक्ति को अपनी शाखा का अध्ययन करने के बाद अपनी शाखा से संबद्ध ऋक्, साम, यजु और अथर्व की शाखाओं का अध्ययन करना चाहिये और उसके बाद अन्य शाखाओं का भी। अपनी शाखा के अध्ययन के बिना अन्य शाखाओं के अध्ययन करने पर उस व्यक्ति की 'शाखारण्ड' संज्ञा हो जाती है। परम्परा से ब्राह्मणादि की नियत शाखाएँ हैं। अपनी शाखा में ही ऋत्विक् आदि का वरण किया जाता है। आर्यसमाजियों में इस प्रकार की परम्परा के न होने से ही वे भ्रम में पड़ जाते हैं। बृहज्जाबाल श्रुति के अध्ययन से अपनी शाखा के अध्ययन का फल तो मिलता ही है, अन्य शाखाओं के अध्ययन का फल भी प्राप्त होता है, यही उसका तात्पर्य है। ऋगादि मन्त्रों की अवस्थिति अन्य शाखाओं में भी है, अतः इन सभी शाखाओं को ऋगादि वेद के नाम से बिना बाधा के पुकारा जा सकता है।

'यह कहना कि—'पाठों के भेद से विलक्षण प्रवचन होने के कारण वेद शाखारूप में परिणत हो जाते हैं, अथवा मूल ग्रन्थ में बिना परिवर्तन किये पदपाठ आदि के कारण भी शाखाएँ बन जाती है। यहाँ पर पहले नियम का उदाहरण तैत्तिरीय,

करणादेव शाकल्यनाम्ना तत्प्रसिद्धिः' (पृ० ४०) इति, तदपि न किञ्चित्, निर्मूलत्वादुक्तोत्तरत्वाच्च। वेदस्य अनुश्रव इत्यन्वर्थकं नाम। गुरोर्मुखादनुश्रूयत इत्यनुश्रवः, श्रूयत एव परं न केनचित् क्रियते। सत्येवं कथं पाठपरिवर्तनेन प्रवचनं संभवति। प्रवक्तृत्वमध्यापयितृत्वमेवेत्यसकृदुक्तम्। प्रवचनादेव शाकल्यादिसमाख्याऽपि, अन्यथा पौरुषेयत्वापत्तिरेव स्यात्।

यत्तु 'उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने। तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते।। यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः। तां विद्वांसो महाभागा भद्रमश्नुवते महत्।।' (तै० सं० भाष्ये) इति भट्टभास्कर-वचनादात्रेयीशाखायाः पुरुषकृतत्वं सिषाधयिषितमिति (पृ० ४०), तत्तूपहासास्पदम्। यैः सामाजिकैर्वेदशाखाया अपि प्रामाण्यं नाभ्युपगम्यते, पुराणेतिहासाद्यार्षग्रन्थानां च प्रामाण्यं नाङ्गीक्रियते, तैः स्वविरुद्धसिद्धान्तीयभट्ट-भास्करीयवचनमाश्रित्यापि स्वाभिलषितं साधयितुमिष्यते। तथापि न तेन तत्समीहितसिद्धिः, तथात्वे शाकलीशाखा-वदेवात्रेयीशाखाया अपि वेदत्वेन तवापसिद्धान्तापातात्। सिद्धान्ते तु 'नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः' (तै० आ० ४।१।१) इति पूर्वोद्धततैत्तिरीयारण्यकवचनानुसारेण सम्प्रदायप्रवर्तयितृत्वमेव कर्तृत्वं विवक्षितम्। श्लोकार्थस्तु—यामिमां शाखामुख आत्रेयाय उपदिष्टवान् सेयं शाखा आत्रेयप्रणीता आत्रेयाय अध्यापिता सती आत्रेयी शाखोच्यते, प्राप्ताया निर्माणासंभवात्। तस्याः शाखाया एव आत्रेयः पदकारो जातः। तस्या व्याख्यानरूपां वृत्तिं कुण्डिनः कृतवान् इति नानेन पुरुषकर्तृत्वं सिद्ध्यति।

यदपि कृष्णयजुर्वेदगणेषु प्रतीकमादाय व्याख्याकरणात्तासामवेदत्वमेव, काण्वसंहितायामपि मन्त्रव्याख्यान-सत्त्वान्माध्यन्दिनीसंहिताया एव मूलवेदत्वम्, तदपि धाष्टर्यमेव, शब्दान्तरेणार्थकथनरूपव्याख्यानस्य पुरुषसूक्तेषु सत्त्वात्त्वदभिमतसंहितास्थपुरुषसूक्तानां व्याख्यानरूपत्वेनावेदत्वापातात्।

काण्व इत्यादि संहिता और द्वितीय का उदाहरण शाकली संहिता है। पदपाठ करने के कारण ही इस संहिता का नाम पदपाठ कर्ता के नाम पर पड़ गया', इसलिये गलत है कि एक तो इसमें कोई प्रमाण नहीं है, दूसरे इसका उत्तर हम पहले ही दे चुके हैं। वेद का 'अनुश्रव' यह नाम अन्वर्थक है, क्योंकि गुरु के मुँह से यह सुना जाता है। इसका यह तात्पर्य है कि गुरु के उच्चारण के अनन्तर ही यह सुना ही जाता है, इसको कोई बनाता नहीं। ऐसी परिस्थिति में पाठ का परिवर्तन कर प्रवचन कैसे हो सकता है? प्रवक्तृत्व का अर्थ यहाँ पर पढ़ाना मात्र है, यह बात हम बार बार कह चुके हैं। प्रवचन कर्ता के नाम पर ही शाकल्य आदि संहिताओं के नाम भी पड़ गये हैं। ऐसा न मानने पर वेदों में पौरुषेयत्व की आपत्ति दुर्निवार हो जायगी।

'आचार्य उख ने यशस्वी आत्रेय को इस शाखा का उपदेश दिया। उसने इस शाखा का प्रणयन किया, अतः इसको आत्रेयी शाखा कहा जाता है। इसका पदकार आत्रेय और वृत्तिकार कुण्डिन है। इसका अध्ययन कर महान् भाग्यशाली विद्वान् कल्याण को प्राप्त करते हैं' इस प्रकार तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में भट्ट भास्कर के कथन के अनुसार आत्रेयी शाखा पुरुष विरचित है, यह सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु यह कथन भी उपहासास्पद है, जो आर्यसमाजी वेद की शाखाओं का भी प्रामाण्य नहीं मानते और पुराण-इतिहास आदि आर्ष ग्रन्थों को भी जो प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करते, वे अपने विरुद्ध सिद्धान्त वाले भट्ट भास्कर के वचन का सहारा लेकर अपनी बात सिद्ध करना चाहते हैं। इससे भी उनको अभीष्ट सिद्धि नहीं होने वाली है। ऐसा मानने पर शाकली शाखा के समान आत्रेयी शाखा की भी वेदता सिद्ध हो जाने पर आपको अपसिद्धान्त का दोष पड़ेगा। हमारे मत से तो 'नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः' इस पूर्व उद्धृत तैत्तिरीय आरण्यक के वचन के अनुसार सम्प्रदाय के प्रवर्तक ही कर्ता कहे जाते हैं। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—इस शाखा का उख ने आत्रेय को उपदेश दिया। यह शाखा सबसे पहले आत्रेय को पढ़ाई गई, अतः आत्रेय के लिये प्रणीत होकर आत्रेयी शाखा कहलाती है। जो प्राप्त होता है, उसको निर्माण करना नहीं कहा जाता। इसी शाखा के पदकार आत्रेय हुए। इसकी व्याख्यान रूप वृत्ति कुण्डिन् ने की, तो इससे इस शाखा की पुरुषकर्तृकता सिद्ध नहीं होती।

यह कहना भी धृष्टता ही है कि 'कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में प्रतीक लेकर व्याख्या करने की पद्धति से उनकी अवेदता ही सिद्ध होती है। इसी तरह काण्व संहिता में भी मन्त्रों की व्याख्या देखी जाती है, अतः इसकी भी मूल माध्यन्दिन संहिता को ही

यदपि च—'गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी मद्रास' इत्यस्य सूचीपत्रभागीय १११, ३४३६ पृष्ठीय नं० २४४६ माध्यन्दिनशाखाविषयनामकस्यैकस्य पुस्तकस्याद्यन्तयोः खण्डितत्वात् पुस्तकनामाज्ञातमेव। तदीयपृष्ठे निम्नोद्धतपाठः—'अत्र पञ्चदशं शाखासु माध्यन्दिनशाखैव मुख्या वेदितव्या। यदुक्तं बृहन्नारदीये—'यजुर्वेदमहाकल्पतरोरेकोत्तरं शतम्। शाखात्र च शिखाकारा दशपञ्चाथ शुक्लगाः॥' तथा चेदं होलीरभाष्यम्—'यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनीयकः। सर्वानुक्रमणी तत्र कात्यायनकृता तु सा॥' इति। तस्मान्माध्यन्दिनीशाखा पञ्चदशसु वाजसनेयशाखासु मुख्या सर्वसाधारणी च सा। अत एव वसिष्ठेनोक्तम्—'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा' इत्युद्धरणेन माध्यन्दिनीयशाखाया एव मुख्यं वेदत्वमिति। यजुःसर्वानुक्रमणीभाष्यं होलीरभाष्यम्। एतेन प्रमाणेन वर्षशतचतुष्टयात् प्राग् माध्यन्दिनीशाखैव वेदत्वेन परिज्ञायते स्म। अद्यापि कतिपयेषु हस्तलेखेषु माध्यन्दिननामोल्लेखस्थाने वाजसनेयिसंहितेति नामोल्लेखः। 'शाकलसंहिताया इव माध्यन्दिनशाखाया अपि माध्यन्दिनः पदकारः सम्भाव्यते' (पृ० ४०-४१) इति यत्, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, बृहन्नारदीयादिपुराणानां त्वदीयदृष्ट्याऽप्रामाण्यात्। सर्वानुक्रमणी चापि त्वया नाभ्युपेयते, कुतस्तदीयहोलीरभाष्यस्य प्रामाण्यं संभवति। माध्यन्दिनीयशाखाप्रशंसापराणि तानि वाक्यानि नेतरशाखानामवेदत्वसाधनपराणि, व्यासजैमिनिपाणिनिपतञ्जल्यादिवचनविरोधात्।

केषुचिद्धस्तलेखेषु माध्यन्दिननामानुल्लेखस्तु न तस्या अमाध्यन्दिनीयत्वप्रयोजकः, प्राचीनलेखेषु मन्त्रसंहितायां वेदशब्दानुल्लेखात्तस्या अवेदत्वापत्तेः। वाजसनेयिनामोल्लेखस्तु न विरुद्धः, माध्यन्दिनीयशाखाया अपि वाजसनेयित्वाविशेषात्, द्रव्यत्वगुणत्वादिव्याप्यजातिमत्सु तद्व्यापकसत्ताजातिवत्। ते हस्तलेखाः प्रामाणिकाः सन्ति न वेत्यपि चिन्तनीयमेव।

वेद माना जायगा', क्योंकि दूसरे शब्दों के द्वारा अर्थकथनरूप व्याख्यान पुरुषसूक्त में भी है, अतः आपने जिनको मूल संहिता माना है, उनमें विद्यमान पुरुषसूक्त के व्याख्यान रूप होने से उनकी अवेदता सिद्ध हो जायगी।

आगे कहा गया है कि 'गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी मद्रास' की सूची के तृतीय भाग के पृ० ३४३६ पर २४४६ संख्या की माध्यन्दिन शाखा को कोई पुस्तक उद्धृत है, इस ग्रन्थ के आदि और अन्त के भाग के खण्डित होने से पुस्तक का नाम अज्ञात है। वहाँ पर निम्न पाठ मिलता है—इन पन्द्रह शाखाओं में माध्यन्दिन शाखा को ही मुख्य समझना चाहिये। जैसा कि बृहन्नारदीय में कहा गया है—यजुर्वेद रूपी महाकल्प तरु की १०१ शाखाएँ हैं। इनमें दीपशिखा के समान उज्वल १५ शाखाएँ शुक्ल यजुर्वेद की हैं। होलीर भाष्य में भी कहा गया है कि यजुर्वेद का मूल माध्यन्दिन संहिता है, अन्य उसके भेद हैं। इसके ऊपर कात्यायन कृत सर्वानुक्रमणी है। इसलिये पन्द्रह वाजसनेय शाखाओं में माध्यन्दिन शाखा मुख्य है और यह सबके लिये साधारण है। इसी लिये वसिष्ठ ने कहा है कि माध्यन्दिन शाखा सबके लिये समान है। इस उद्धरण से यजुःसर्वानुक्रमणी के होलीर भाष्य के अनुसार माध्यन्दिन शाखा को मुख्य वेद माना गया है। इस प्रमाण से यह ज्ञात होता है कि आज से ४०० वर्ष पहले भी माध्यन्दिन शाखा को ही मुख्य वेद माना जाता था। आज भी अनेक हस्तलेखों में माध्यन्दिन के स्थान पर वाजसनेयि संहिता यही नाम लिखा रहता है। शाकल संहिता के ही समान माध्यन्दिन शाखा का भी माध्यन्दिन पदकार मालूम पड़ता है, किन्तु यह सब भी तिनके का सहारा लेने के समान है। बृहन्नारदीय प्रभृति पुराणों को आप प्रमाण नहीं मानते। सर्वानुक्रमणी को भी आपने स्वीकार नहीं किया है, तब उसके होलीर भाष्य के प्रामाण्य की संभावना ही कहाँ है। माध्यन्दिन शाखा के प्रशंसक वाक्य अन्य शाखाओं की अवेदता को नहीं सिद्ध करते, ऐसा मानने पर व्यास, जैमिनि, पाणिनि, पतंजलि आदि के वचनों से विरोध होगा।

कुछ हस्तलेखों में माध्यन्दिन नाम का उल्लेख न होने से वे माध्यन्दिन से भिन्न नहीं हो जायगी, प्राचीन हस्तलेखों की मन्त्रसंहिता में वेद का नाम न रहने से वे वेदभिन्न नहीं हो जाते। वाजसनेयी नाम का उल्लेख विरुद्ध नहीं है, क्योंकि माध्यन्दिन शाखा भी तो समान रूप से वाजसनेय ही है। द्रव्यत्व, गुणत्व आदि व्याप्य जाति वाले पदार्थों में व्यापक सत्ता जाति की स्थिति रहती ही है। ये हस्तलेख प्रामाणिक हैं या नहीं, यह प्रश्न भी यहाँ पर विचारणीय ही है।

यदपि—'शाखाग्रन्थानां गम्भीरविचारेण तेषु पर्याप्तपाठान्तराणि सन्ति। कुत्रचित् क्लिष्टपाठस्थाने सुगमपाठनिवेशः। मैत्रायणीकठकपिष्ठलादिसंहितासु ब्राह्मणमिश्रणमप्यस्ति। काण्वमाध्यन्दिनीयसंहितयोरपि तथैव पाठभेदः। 'भ्रातृव्यस्य वधाय' (१।१८) इति माध्यन्दिनीयपाठस्थाने काण्वसंहितायां 'द्विषतो वधाय' इत्युक्तम्। माध्य० (९।४) 'एष वोऽमी राजा' इति स्थाने काण्वपाठे 'एष वः कुरवो राजा' (११।३।३)। तत्र भ्रातृव्यस्येत्यपेक्षया द्विषत इति स्पष्टार्थकः। अमी राजेत्यत्र अमीति सर्वनामपदम्। राजसूये विनिमुक्तोऽयं मन्त्रः। सर्वराजसमानत्वा-न्माध्यन्दिनपाठः साधारणः। काण्वपाठे कुरव इति विशेषनिर्देशात् तत्प्रचारवाहुल्यस्य कुरुपाञ्चालेष्वेव सत्त्वात् काण्वपाठस्तत्सम्बद्ध एव। अन्यदेशीयानां राज्ञां राजसूयकरणे तन्मन्त्राप्रवृत्तेरिति' (पृ० ४१), तदपि न क्षोदक्षमम्, पाठभेदस्यावेदत्वाप्रयोजकत्वात्। अन्यथा पुरुषसूक्तानां पाठभेदात्तेषामवेदत्वापत्तेः, वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वाच्च। त्वदभिमतसंहिताया अप्यवेदत्वापत्तेः। नहि क्लिष्टपाठो वेदत्वप्रयोजकः, तथात्वे 'चन्द्रमा मनसो जातः' इत्यादीनाम-वेदत्वापत्तेः। ब्राह्मणमिश्रणमपि न दोषः, ब्राह्मणभागस्य वेदत्वाविशेषात्। 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि' इति माध्यन्दिनीययजुः(२३।६५)पाठः। 'प्रजापते ·········विश्वा जातानि' इति ऋ० (८।७।५) पाठः। 'नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्। भागं देवेभ्यो विदधास्यायन्' इत्यथर्वमन्त्रः, 'उपसामेत्यग्रं विदधात्यायन्' इति ऋक्पाठः। पाठभेदस्यावेदत्वप्रयोजकत्वे त्वदभिमतवेदानामवेदत्वमेव स्यात्। पुरुषसूक्ते पाठभेदः। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा (यजु० ३१।१), 'स भूमिं विश्वतो वृत्वा' (अथर्व० १९।६।१), 'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥' (यजु० ३१।२), 'त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् तथा व्यक्रामत् साशनानशते अनु' (अथर्व० १९।६।२), 'एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः' (यजुः), 'तावन्तोऽस्य महिमानस्ततो ज्यायाँ' (अथर्व०), 'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः' (यजु०), 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' (अथर्व०), 'ततो विराडजायत' (यजु०), विराडग्रे समभवत्

'गंभीर विचार करने पर ज्ञात होता है कि शाखा ग्रन्थों में पर्याप्त पाठभेद मिलते हैं। कहीं पर क्लिष्ट पाठों के स्थान पर सरल पाठ बना दिया है। मैत्रायणी, कठ, कपिष्ठल आदि में ब्राह्मण भाग भी मिला दिया गया है। इसी तरह काण्व और माध्यन्दिन संहिता में भी पाठभेद हैं। माध्यन्दिन संहिता (१।१८) के 'भ्रातृव्यस्य वधाय' के स्थान पर काण्व संहिता में 'द्विषतो वधाय' यह पाठ है। माध्यन्दिन (९।४) के 'एष वोऽमी राजा' इस पाठ के स्थान में काण्व में 'एष वः कुरवो राजा' पाठ है। यहाँ पर 'भ्रातृव्यस्य' के स्थान पर 'द्विषतः' यह पाठ स्पष्टार्थक है। 'अमी राजा' यहाँ पर अमी यह पद सर्वनाम है। इस मन्त्र का विनियोग राजसूय में है। सभी राजाओं के लिये होने से माध्यन्दिन का पाठ सर्व साधारण है। इसके विपरीत काण्व पाठ में 'कुरवः' इस विशेष निर्देश के होने से, उसका प्रचार प्रायः कुरुपाञ्चाल देश में अधिक होने से काण्व पाठ उसी देश से संबद्ध है। अन्य देश के राजा जब राजसूय यज्ञ करेंगे, तब काण्व मन्त्र का पाठ न होकर माध्यन्दिन मन्त्र का पाठ किया जायगा' यह कथन भी परीक्षा में ठीक नहीं उतरेगा, क्योंकि पाठभेद के कारण मन्त्र वेद से भिन्न नहीं हो जायगा। अन्यथा पुरुषसूक्त में पाठभेद मिलने से वे भी वेदान्तर्गत नहीं रहेंगे। आपके कथन का विपरीत अर्थ भी हो सकता है कि आपकी अभिमत संहिता में पाठभेद के रहने से वह भी वेद न रह जायगी। क्लिष्ट पाठ वेदत्व का प्रयोजक नहीं हो सकता, ऐसा मानने पर 'चन्द्रमा मनसो जातः' ऐसे सरल पाठ वाले मन्त्र वेद न रह जायेंगे। ब्राह्मण भाग से मिश्रित होना भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण भाग भी तो समान रूप से वेद माना जाता है। इसी तरह 'प्रजापते····· विश्वा रूपाणि' यह माध्यन्दिन संहिता का पाठ है, 'प्रजापते विश्वा जातानि' यह ऋक्संहिता का। 'नवो नवो····रुषसामेष्यग्रम्। भागं देवेभ्यो विदधास्यायन्' इस अथर्व पाठ के स्थान में ऋग्वेद में 'उपसामेत्यग्रं विदधात्यायन्' यह पाठ है। पाठ भेद को यदि अवेदत्व में कारण मान लिया जाय तो आप जिनको वेद मानते हैं, वे भी वेद नहीं रह जायेंगे। पुरुषसूक्त में पाठभेद मिलता है। यजुः के 'स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा' के स्थान पर अथर्व में 'स भूमिं विश्वतो वृत्वा' पाठ है, 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्' इत्यादि यजुः पाठ के स्थान पर अथर्व में 'त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्' इत्यादि पाठ है, यजुः के 'एतावानस्य' इत्यादि पाठ के स्थान में अथर्व में 'तावन्तोऽस्य महिमानस्ततो' इत्यादि पाठ मिलता है, यजुः के 'ऊरू तदस्य' के स्थान में अथर्व में 'मध्यं तदस्य' यह पाठ है, इसी तरह यजुः के 'ततो विराडजायत'

(अथर्व०), 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेन तिरोहतिः' (यजु०), 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेन भवत्पुनः' (अथर्व०), 'मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू' (यजु०), 'कौ बाहू' (ऋ०) नात्र कस्याप्यवेदत्वमङ्गीक्रियते।

वस्तुतस्तु पारम्पर्येणानेकशाखाविशिष्टस्य तत्समुदायरूपस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य शब्दराशेर्वेदत्वं मनुवसिष्ठव्यासजैमिन्यादिभिः शिष्टैरङ्गीक्रियते। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जै० सू० १।१।२), 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१), 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० सू० १।२।७) इत्यादिसूत्रैर्जैमिनिना धर्मस्य चोदनाप्रमाणकत्वमुक्तम्। विधिनिषेधरूपचोदना च ब्राह्मणेष्वेव लभ्यते, न मन्त्रेषु क्रियार्थत्वेन च वेदानां प्रामाण्यमुक्तम्, क्रिया च ब्राह्मणैरेव विधीयते न मन्त्रैः। 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र०सू० १।१।२) इत्यादिवैयासिकानि सूत्राणि प्रायेण ब्राह्मणवाक्यविचारपराणि।

'ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां ८९ पृष्ठे छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्य्यायवाचकत्वात्' इति वचनेन छन्दआदीनां पर्य्यायवाचकताङ्गीकृता। तथात्वे 'मन्त्रे श्वेतवह' (पा० सू० ३।२।७१) इति सूत्रे मन्त्रपदसत्त्वेन 'विजुपे छन्दसि' (पा० सू० ३।२।७८) इति सूत्रे छन्दोग्रहणं तद्रीत्या व्यर्थमेव स्यात्। ऋषिभिरुक्तत्वाद्दयानन्देन ब्राह्मणभागस्य काण्वादिशाखानां चावेदत्वमुक्तम्, तदपि विरुद्धमेव, तथात्वे तदभिमतसंहितामन्त्राणामप्यवेदत्वापत्तिः। यतः 'सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत्' (ऐतरेयब्रा० ६।१) इति वचनेन मन्त्राणामपि सर्पर्षिकृतत्वसिद्धेः। 'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत' (ऋ० १०।७१।२), 'ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः' (नि० ३।११), 'ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः' (ऋ० ९।११४।२) इत्यादिमन्त्रैर्ब्राह्मणैर्निरुक्तवचनैश्च मन्त्राणामृषिकृतत्वं सिद्ध्यति।

सनातनसिद्धान्ते तु यथा 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इति मन्त्रानुरोधेन सम्प्रदायप्रवर्तकत्वं मन्त्रद्रष्टृत्वं वा कर्तृत्वम्। काण्वादिशाखासु ब्राह्मणेषु च क्वचित्कठशाकल्यशौनकादिकर्तृकत्वं श्रूयेत चेत्, तत्रापि तथैव समाधानं युक्तम्। एतेनैव 'सर्वे वेदा निर्मिताः सब्राह्मणाः' (गो० १।२।९) इति गोपथब्राह्मणीय-

के स्थान में अथर्व में 'विराडग्रे समभवत्', 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति' के स्थान में 'उतामृतस्येश्वरो यदन्नेन भवत्पुनः', यजुः के 'मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू' के स्थान में ऋग्वेद में 'कौ बाहू' यह पाठ मिलता है। इन पाठ भेदों के रहते हुए भी इनमें से किसी को भी वेदभिन्न नहीं माना जाता।

वास्तव में परम्परा से अनेक शाखाओं वाले, शाखासमुदायरूप मन्त्र और ब्राह्मणात्मक सारी शब्दराशि को मनु, वसिष्ठ, व्यास, जैमिनि प्रभृति आदरणीय आचार्यों ने वेद माना है। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः', 'आम्नायस्य०', 'विधिना०' इत्यादि सूत्रों से जैमिनि ने धर्म में चोदना को प्रमाण माना है। विधि और निषेधरूप चोदनावाक्य ब्राह्मणों में ही उपलब्ध होते हैं, मन्त्रों में नहीं। क्रियार्थक होने से वेदों का प्रामाण्य माना गया है, यह क्रिया भी ब्राह्मणों में ही विहित है, मन्त्रों में नहीं। 'जन्माद्यस्य' इत्यादि व्यास के वेदान्तसूत्र भी प्रायः ब्राह्मण वाक्यों पर ही विचार करते हैं।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका के ८९ पृष्ठ पर छन्द, वेद, निगम, मन्त्र और श्रुति शब्द की पर्यायवाचकता मानी गई है। ऐसा मानने पर 'मन्त्रे श्वेतवह' इस अष्टाध्यायी सूत्र में मन्त्र पद के रहने से 'विजुपे छन्दसि' इस सूत्र में छन्दः पद का ग्रहण व्यर्थ हो जायगा। ऋषियों की उक्ति के अनुसार दयानन्द ने ब्राह्मण भाग को और काण्व प्रभृति शाखाओं को वेद नहीं माना, यह कथन भी विरुद्ध ही है, क्योंकि ऐसा मानने पर आपकी संहिताओं के मन्त्र भी वेद नहीं रह जायंगे, 'सर्प ऋषि मन्त्रों का कर्ता है' इस ऐतरेय ब्राह्मण के वचन में सर्प ऋषि को मन्त्रों का कर्ता माना गया है। 'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत', 'ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः', 'ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः' इत्यादि मन्त्र, ब्राह्मण और निरुक्त के वचनों से मन्त्रों की ऋषिकर्तृकता सिद्ध होती है।

सनातनियों के सिद्धान्त में तो 'वाचा विरूपनित्यया' इस श्रुति के अनुसार इस सब स्थलों में कर्तृत्व का अर्थ सम्प्रदाय का प्रवर्तयिता अथवा मन्त्रद्रष्टा है। काण्व प्रभृति शाखाओं में ब्राह्मणों में कहीं कठ, शाकल्य, शौनक, आदि को कर्ता के रूप में

वचनमपि समाहितमेव, तत्रापि स्वसजातीयोच्चारणसापेक्षानुपूर्वीनिर्माणस्यैव निर्माणपदार्थत्वात्। एवं क्वचित्काण्व-कपिष्ठलादिमन्त्रेषु ब्राह्मणेषु मन्त्रव्याख्यानेऽपि नावेदत्वं सिद्धयति। यथा दयानन्दः संस्कृतेन ऋग्वेदभूमिकां कृत्वा तद्व्याख्यामपि स्वयं कृतवान्, तथैवेश्वरो मन्त्रान्निर्माय तद्व्याख्याभूतानपि मन्त्रान् ब्राह्मणानि च निर्मितवानित्यस्यापि संभवात्। तत एव 'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः' (४।१।६२) इति न्यायभाष्यकारो वात्स्यायनो मन्त्रब्राह्मणयोरविशेष्येण प्रामाण्यमुक्तवान्। 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः ···वेदं च वेदाङ्गानि च' (नि० १।२०।२) अस्मिन्निरुक्तवचने मन्त्रान् संप्रादुः, वेदं चेति मन्त्रेभ्यः पृथग् वेदपदवाच्यं ब्राह्मणमेव मन्तव्यम्, मन्त्रब्राह्मणाभ्यामन्यस्य वेदत्वाप्रसिद्धेः। न च वेदपदेन तत्र मन्त्रग्रहणं संभवति, मन्त्रानिति स्वशब्देनैव तदुक्तेः। 'उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥' (मनु० २।१५) इति वचनेनोदिते जुहोतीत्यादिब्राह्मणग्रन्थस्यैव वैदिकश्रुतित्वमुक्तं मनुना। 'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (नि० १।२) अत्रापि मन्त्रशब्दात् पृथग्वेदपदग्रहणं ब्राह्मणग्रहणार्थमेव। 'ओषधे त्रायस्वैनम्' (यजु० ४।१) अयं ब्राह्मण-मन्त्रः 'आम्नायवचनात्' (नि० १।१६।६) इत्याम्नायपदेनोक्तः। 'एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्। विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥' (म० ६।२९) इत्यत्र 'औपनिषदीः श्रुतीः' इत्युक्त्योपनिषदां च श्रुतित्वमुक्तम्।

'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (६।१।१) इति कणादसूत्रेण 'स्वर्गकामो यजेत' इति ब्राह्मणवाक्यस्य परमेश्वर-बुद्धिकृतत्वमभ्युपेतम्। सूत्रार्थस्तु लौकिकवाक्यानामिव वेदवाक्यानामपि बुद्धिपूर्वकत्वमनुमेयम्, वाक्यत्वादेव हेतोः। सा च कृतिर्नास्मदादिबुद्धिपूर्विका संभवति, 'स्वर्गकामो यजेत' (ता० म० ब्रा० १६।३।३) इति वैदिकवाक्यमन्तरा प्रमाणान्तरेण यागस्य स्वर्गहेतुत्वबुद्धयसंभवात्। तस्मादतीन्द्रियार्थप्रतिपादकवाक्यहेतुबुद्धिर्यदाश्रिता, स परमेश्वर एव

स्मरण किया गया है, तो वहाँ पर भी यही समाधान देना चाहिये। इसीसे 'ब्राह्मणों के साथ सभी वेदों का निर्माण किया गया' इस गोपथ ब्राह्मण के वचन का भी समाधान हो जाता है, क्योंकि यहाँ पर निर्माण पद का अर्थ स्वसमानजातीय उच्चारण की अपेक्षा रखने वाली आनुपूर्वी का विधान ही है। इसी तरह कहीं कहीं काण्व, कपिष्ठल आदि के मन्त्रों में और ब्राह्मणों में मन्त्र की व्याख्या के मिलने पर उसकी अवेदता नहीं होगी। जैसे कि दयानन्द ने संस्कृत में ऋग्वेदभाष्यभूमिका बनाकर उसकी व्याख्या भी स्वयं ही की है, उसी तरह ईश्वर ने भी पहले मन्त्रों का निर्माण कर बाद में उनकी व्याख्या करने वाले अन्य मन्त्रों और ब्राह्मणों को भी बनाया, इस कल्पना को कौन रोक सकता है? इसी लिये 'यज्ञ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का विषय है' ऐसा कह कर न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने मन्त्र और ब्राह्मण का समान प्रामाण्य माना है। 'साक्षात्कृतधर्मा ऋषि होते थे। उन्होंने बाद के उन ऋषियों को, जिन्होंने कि धर्म का साक्षात्कार नहीं किया था, मन्त्रों का उपदेश दिया ···वेद और वेदांगों का' इस निरुक्त वचन में मन्त्रों से पृथक वेद शब्द का ग्रहण किया है। इस वेद शब्द से ब्राह्मणों का ग्रहण होता है, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मणों से पृथक् वेद सिद्ध नहीं है। वेद पद से भी यहाँ पर मन्त्रों का ही ग्रहण किया जायगा, यह कथन इसलिये ठीक नहीं होगा कि मन्त्रों का तो यहाँ स्पष्ट ही अलग से उल्लेख किया गया है। 'उदिते' इत्यादि श्लोक में मनु ने 'उदिते जुहोति' इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ के वचनों को ही वैदिक श्रुति माना है। 'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' इस निरुक्त वचन में मन्त्र शब्द से पृथक् वेद पद का ग्रहण ब्राह्मणों के लिये ही किया गया है। 'ओषधे त्रायस्वैनम्' इस ब्राह्मण मन्त्र को निरुक्त में आम्नाय कहा गया है। 'एताश्चान्याश्च' इस पद्य में 'औपनिषदीः' पद से उपनिषदों को श्रुति माना गया है।

'बुद्धिपूर्वा०' इत्यादि कणाद सूत्र से 'स्वर्गकामो यजेत' इस ब्राह्मण वाक्य को परमेश्वर कृत माना है। सूत्र का अर्थ यह है कि वेद वाक्यों को भी लौकिक वाक्यों की तरह ही बुद्धिपूर्वक रचित मानना चाहिये, क्योंकि ये भी वाक्य हैं। वैदिक वाक्यों की रचना हमारी बुद्धि से नहीं हो सकती, क्योंकि 'स्वर्गकामः' इत्यादि वैदिक वाक्यों के बिना दूसरे प्रमाणों से याग की स्वर्गहेतुता बुद्धि नहीं होती। इसलिये अतीन्द्रिय अर्थ के प्रतिपादक वाक्य की प्रेरक बुद्धि जिसमें विद्यमान है, वह परमेश्वर ही हो

भवितुमर्हति। तादृशानि वाक्यानि ब्राह्मण एव प्रायेण सन्ति, तेन ब्राह्मणस्य वेदत्वं कणादसंमतम्। वेदस्य तर्कादिसिद्धार्थप्रतिपादकत्वे तु नातीन्द्रियार्थवाक्यहेतुबुद्धचाश्रयत्वेन परमेशसिद्धिः। 'ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम्' (वै० सू० ६।१।२) इदमपि कणादसूत्रं परमेश्वरं साधयति। यथा पिता स्वपुत्रस्य विष्णुमित्रादि नाम करोति, तथैव ब्राह्मणे 'उद्भिदा यजेत', 'विश्वजिता यजेत' इत्यादिब्राह्मणविहितकर्मणां नाम यः करोति, स ईश्वर एवेत्यभ्युपगन्तव्यम्। जीवा अलौकिकफलानि तत्साधनानि कर्माणि च न जानन्तीति न कर्मणां नामकर्तारः, तस्मात् कर्मसंज्ञासिद्धिहेतुत्वेनापीश्वरः स्वीकार्यः। एतेनापि ब्राह्मणानामीश्वरकर्तृकत्वं वेदत्वं च सुतरां सिद्धचति।

न च प्रथमसूत्रे वेदग्रहणेन द्वितीयेन ब्राह्मणग्रहणेन वेदाद् ब्राह्मणस्य भिन्नत्वमेव सिद्धचतीति वाच्यम्, सामान्यविशेषभेदेन पृथग् ब्राह्मणपदसार्थक्यात्। कणादमतेन प्रामाण्यस्वतस्त्वानङ्गीकारेण गुणवद्वक्तृकत्वेन वेदानां प्रामाण्यसाधनाय वेदानामाप्तः स्वतन्त्र ईश्वरः कर्ता अपेक्षितः। अत एव मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदसामान्यस्य प्रामाण्यादपि तद्धेतुत्वेन सर्वज्ञः परमेश्वरः साधितः। द्वितीयसूत्रेण विशेषतया ब्राह्मणगतकर्मणामुद्भिदादीनां संज्ञाकरणलिङ्गादपि परेशसिद्धिरुक्ता।

महर्षिणा गोतमेन न्यायदर्शने मन्त्रायुर्वेदवद्वेदानां प्रामाण्यमुक्तम्। तथाहि—'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्' (गो० सू० २।१।६८) इति। 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' (न्या० सू० २।१।५७) अनेन सूत्रेण स्थूणानिखननन्यायेन वेदानामप्रामाण्यमाशङ्क्यते प्रामाण्यदार्ढ्याय, पूर्वं तत्राप्रामाण्यशङ्कोत्थापनाय यान्युदाहरणान्युपस्थापितानि, तानि ब्राह्मणगतान्येव। यथा 'पुत्रकामः पुत्रेष्टचा यजेत', 'अग्निहोत्रं जुहुयात्', 'उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्', 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति। पुत्रेष्टौ कृतायामपि पुत्रजन्म न भवति। एवं दृष्टार्थवाक्यस्य मिथ्यादृष्टत्वादग्निहोत्रं जुहुयादित्यदृष्टार्थवाक्यानामपि मिथ्यात्वमायाति। एवं विहितस्याग्निहोत्रस्य

सकता है, ऐसे वाक्य प्रायः ब्राह्मण ग्रन्थों में ही हैं, इसलिये कणाद के मत से ब्राह्मण भी वेद हैं। वेद को तर्क आदि से सिद्ध अर्थ का प्रतिपादक मानने पर अतीन्द्रिय अर्थ के प्रतिपादक वाक्य की प्रेरक बुद्धि के आश्रय से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकेगी। कणाद का दूसरा सूत्र भी ईश्वर को सिद्ध करता है। जैसे पिता अपने पुत्र का विष्णुमित्र आदि नाम रखता है, उसी तरह ब्राह्मण ग्रन्थों में विहित कर्मों के उद्भिद्, विश्वजित् आदि नाम भी जो रखता है, वह ईश्वर ही हो सकता है। अस्मदादि जीव अलौकिक फल और उनके साधनों को नहीं जान सकते, इसलिये वे उन कर्मों का नाम भी नहीं रख सकते। इसलिये इन कर्मों की संज्ञा रखने वाला ईश्वर ही हो सकता है। इस प्रमाण से भी ब्राह्मणों की ईश्वरकर्तृता और वेदता सुतरां सिद्ध होती है।

यहाँ पर प्रथम सूत्र में वेद का और द्वितीय सूत्र में ब्राह्मण का ग्रहण होने से वेद से ब्राह्मण भिन्न ही माने गये हैं, यह कथन इसलिये ठीक नहीं होगा कि सामान्य और विशेष के भेद से पृथक् ब्राह्मण पद की सार्थकता है। कणाद के मत में प्रामाण्य का स्वतस्त्व नहीं माना गया है, अतः गुणवान् वक्ता के द्वारा वेदों के प्रामाण्य की सिद्धि के लिये वेदों का आप्त स्वतन्त्र ईश्वर कर्ता अपेक्षित है। इसी लिये मन्त्र और ब्राह्मणात्मक वेदसामान्य के प्रामाण्य से भी इनका कारणभूत सर्वज्ञ परमेश्वर सिद्ध किया गया है। दूसरे सूत्र से विशेष रूप से ब्राह्मणगत उद्भिदादि कर्मों की संज्ञा रखने से प्रमाण से भी परमेश्वर की सिद्धि की गई है।

न्यायदर्शन में महर्षि गोतम ने मन्त्र और आयुर्वेद के समान वेदों का प्रामाण्य माना है। 'तदप्रामाण्य०' इत्यादि सूत्र से इसी बात को स्थूणानिखनन न्याय से और पुष्ट करने के लिये वेद के अप्रामाण्य की आशंका उठाई जाती है। यहाँ पर उसके अप्रामाण्य की आशंका को उठाने के समय जो उदाहरण दिये गये, वे सब ब्राह्मणों के ही वाक्य हैं। जैसे 'पुत्रकाम पुत्रेष्टि से यज्ञ करे', 'अग्निहोत्र हवन करे', 'उदिते होतव्यम्.....अनुदिते होतव्यम्', 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इत्यादि श्रुतियों का उदाहरण देकर कहा है कि पुत्रेष्टि के करने पर भी पुत्र जन्म नहीं होता। इस तरह दृष्टार्थक वाक्य के मिथ्या हो जाने से अग्निहोत्र आदि के विधायक अदृष्टार्थ वाक्यों का मिथ्यात्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसी तरह विहित अग्निहोत्र का 'जो सूर्योदय काल में हवन करता है, उसको श्याव खा जाता जो सूर्योदय से पहले हवन करता है, उसकी आहुति को शबल खा जाता है' इस प्रकार विहित का व्याघात भी देखा गया है। इसी

'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदितो जुहोति, शवलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदितो जुहोति' इति विहितव्याघातोऽपि स्यात्। एवं त्रिः प्रथमामिति पुनरुक्तदोषोऽपि भवति। तत्र यदि ब्राह्मणं वेदो न स्यात्तदा वेदाप्रामाण्यप्रदर्शनाय ब्राह्मणवाक्यान्युदाहृत्य तत्र दोषदर्शनं विसंगतिरेव स्यात्! तस्माद् ब्राह्मणस्य वेदत्वमभ्युपगम्यैव तत्रानृतव्याघातपुनरुक्त्यादयो दोषाः शङ्कितुं योग्या नान्यथा। पूर्वोक्तशङ्कानिराकरणपराणि सूत्राण्यपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं साधयन्ति। 'न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्', 'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्', 'अनुवादोपपत्तेश्च' (गो० सू० २।१।५८-६०)। तत्र कर्मकर्तृसाधनेषु वैगुण्यात् पुत्रेष्टौ कृतायामपि फलानुत्पत्तिरुपपद्यते, न तेन पुत्रपुत्रेष्टिकार्यकारणबोधकवचनस्य मिथ्यात्वम्। संकल्पकाले स्वीकृतकालस्य त्यागे श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरतीत्यादिदोषवचनं न विहितव्याघातः। सामिधेनीनां पञ्चदशत्वसम्पादनायैकादशसामधेनीनां प्रथमाया उत्तमायाश्च त्रिर्वचनमिति न निरर्थिका पुनरुक्तिः। यदि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं नाभिप्रेतं स्यात्तदा ब्राह्मणगतानृतव्याघातपुनरुक्तदोषपरिहाराय व्यर्थ एव प्रयत्नः स्यात्।

अपि च, वेदस्य दोषतन्निराकरणप्रसङ्गे ब्राह्मणस्यावेदत्वे ब्राह्मणदोषतन्निराकरणप्रदर्शनं कर्णस्पर्शे कटिचालनमिवासंबद्धमेव स्यात्। दोषपरिहारपूर्वकं विषयभेदेन व्यवस्थामप्युक्तवान् वात्स्यायनः। तथाहि—'विषयव्यवस्थापनाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्, अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः, अन्यश्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणामिति। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यत इति यथाविषयमेतानि प्रमाणानि। इन्द्रियवत्' (गो० सू० ४।१।६२)इत्यत्र भाष्यम्। वेदस्य पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वबुद्धिपूर्वकत्वादिसम्बन्धे न्यायवैशेषिकयोर्मीमांसकैर्मतभेदेऽपि मन्त्रब्राह्मणभागयोर्वेदत्वे ऐकमत्यमेव। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम प्रोक्तमृगादिषु' (४।२७२) इति शुक्रनीतावपि मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वमुक्तम्। दयानन्दोऽपि शुक्रनीतिं प्रमाणत्वेनाभ्युपगतवान्।

तरह 'पहली को तीन बार बोले' यहाँ पर पुनरुक्ति दोष है। यदि गोतम के मत में ब्राह्मण वेद न होता तो वेद के अप्रामाण्य को दिखाने के लिये ब्राह्मण वाक्यों का उदाहरण देकर उनमें दोष दिखाना, उचित नहीं कहा जा सकता। इससे यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों को भी वेद मान करके ही वहाँ पर अनृत, व्याघात, पुनरुक्त आदि दोष उठाये जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। पूर्वोक्त शंका का निवारण करने वाले सूत्र भी ब्राह्मण भाग को वेद मान कर ही चलते हैं। 'न कर्मकर्तृ०' इत्यादि तीन सूत्रों से उक्त तीनों दोषों का परिहार गोतम ने किया है। इनमें से प्रथम अनृत दोष इसलिये नहीं होगा कि कर्म, कर्ता और साधन में किसी प्रकार की कमी आने पर पुत्रेष्टि के करने पर भी उसके फल के न मिलने की संभावना रहती है। इससे पुत्र और पुत्रेष्टि के कार्यकारणभाव के बोधक वचन मिथ्या नहीं हो जाते। संकल्प के समय जिस काल में अग्निहोत्र करने का अनुष्ठाता ने संकल्प किया, उस स्वीकृत काल को छोड़ देने पर 'श्याव उसकी आहुति ले जाता है', आदि वचनों से उसमें दोष दिखाया गया है, इसमें कोई परस्पर विरुद्ध बात नहीं है। इसी तरह सामिधेनी ऋचाओं की पन्द्रह संख्या को पूरा करने के लिये ग्यारह सामिधेनी ऋचाओं में से पहली और आखिरी मन्त्र का तीन बार पाठ विहित है, इस प्रकार यह पुनरुक्ति भी निरर्थक नहीं है। यदि ब्राह्मण भाग को वेद न माना जाय तो ब्राह्मणभाग गत अनृत, व्याघात, पुनरुक्त दोषों के परिहार का यह सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जायगा।

दूसरी बात वेद के दोषों के परिहार के प्रसंग में ब्राह्मण के दोषों का निराकरण उसी तरह विचित्र लगेगा, जैसे कि किसी के कान पकड़ने पर वह कमर मटकाने लगे। उक्त स्थलों पर आये दोषों का निराकरण करने के बाद न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने विषय-भेद की व्यवस्था के अनुसार शास्त्रों का प्रामाण्य स्थापित किया है—मन्त्र और ब्राह्मणों का विषय भिन्न है और इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र का विषय अन्य। मन्त्र और ब्राह्मण का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ है, इतिहास-पुराण का लोकवृत्त तथा लोक-व्यवहार की व्यवस्था करना धर्मशास्त्र का विषय है। इनमें से कोई एक सबकी व्यवस्था नहीं कर सकता, इसलिये अपने अपने विषय में ही ये प्रमाण हैं, जैसे कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूपदर्शन आदि अपने अपने विषय में स्वतन्त्र रूप से प्रमाण हैं। वेद के अपौरुषेयत्व तथा पौरुषेयत्व, बुद्धिपूर्वकत्व अथवा अबुद्धिपूर्वकत्व आदि के संबन्ध में न्याय-वैशेषिक और मीमांसा दर्शन में मतभेद के रहते हुए भी मन्त्र

यथा 'तनादिकृञ्भ्य उः' (पा० सू० ३।१।७९) इति सूत्रे कृञ्धातोस्तनादिषु पाठसत्त्वेऽपि वैशिष्ट्यबोधनाय पृथङ्निर्देशः, तथैव ब्राह्मणस्य छन्दोरूपत्वेऽपि क्वचिद्वैशिष्ट्यबोधनाय पृथङ्निर्देशः। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा० सू० १।१।५६) महाभाष्ये—'वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतीकतृणान्यभिषुणुयादित्युच्यते' इति ब्राह्मणवचनं वेदपदेन निर्दिष्टम्। 'एकः पूर्वपरयोः' (पा० सू० ६।१।८४) महाभाष्ये—वेदे खल्वपि 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेतेति' ब्राह्मणवचनं वेदत्वेन निर्दिष्टम्। पस्पशाह्निकमहाभाष्येऽपि 'वेदे खल्वपि' इत्युक्त्वा 'पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्यः' इत्यादिब्राह्मणवचनमुद्धृतम्।

पाणिनिश्च 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (पा० सू० ७।४।३९) इति सूत्रेण यजुर्वेदस्य कठशाखायामाकारं विदधाति। नायं विधिर्ऋगादिशाखायां भवति। 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र०सू० १।१।४), 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र०सू० २।३।४१), 'भेदश्रुतेः' (ब्र० सू० २।४।१८), 'सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते तद्विदः' (ब्र० सू० २।३।४), 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेः। (ब्र० सू० ३।२।७) इति सूत्रैर्व्यासेन ब्राह्मणवचनान्येव विचारितानि। शङ्कराचार्यरामानुजाचार्य्यैश्च तथैव व्याख्यातानि। 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' (म० २।१०) इति वचनेन मनुनापि श्रुतिशब्देन वेद एवोक्तः। 'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' (२।५) पारस्करगृह्यसूत्रकारोऽपि विधिभागस्य प्राथम्येन वेदत्वं वक्ति। 'वेदसंयोगात्' (जै० सू० ३।४।२२) इत्यत्र 'सुवर्णं हिरण्यं भार्य्यं सुवर्ण एव भवति दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति' इति ब्राह्मणवाक्यमेव वेदशब्देनोक्तम्। 'नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात्' (जै० सू० ३।७।३३) इत्यत्र 'प्रथममग्नीध्रे ददाति ततो ब्रह्मणे' इत्यादिब्राह्मणवाक्यमेव श्रुतित्वेनोदाहृतम्।

एवं मनु-शुक्र-व्यास-जैमिनि-गोतम-कणादर्षिमुन्यादिवचनसहस्रैर्ब्राह्मणोपनिषदादिसहितस्य सर्वशाखात्मकस्य वेदराशेर्वेदत्वं स्पष्टं निर्णीयते। काठकादिशाखानामवेदत्वप्रतिपादनं सामाजिकानां स्वपादयोः कुठाराघातः, तेनैव न्यायेन शाकल-कौथुम-माध्यन्दिन-शौनकशाखानामप्यवेदत्वापत्तेः। महाभाष्यादिपरिगणितासु शाखास्वेव तासामप्यन्तर्भावत्वाविशेषात्।

और ब्राह्मण दोनों को वेद मानने के विषय में इनमें ऐकमत्य ही है। शुक्रनीति में (४।२७३) भी मन्त्र और ब्राह्मण को वेद माना गया है। दयानन्द भी शुक्रनीति को प्रमाण मानते हैं।

जैसे 'तनादिकृञ्भ्य उः' इस सूत्र में कृञ् धातु का पाठ उसके तनादि गण में होने पर भी अलग से उसका वैशिष्ट्य बताने के लिये किया गया, उसी तरह ब्राह्मण के वेद रूप होने पर भी उसका वैशिष्ट्य बताने के लिये कहीं पर अलग से निर्देश किया जाता है। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इस सूत्र के भाष्य में 'वेद में भी सोम के स्थान में पूतीक तृण का अभिषव करे' ऐसे ब्राह्मणवचन को ही वेदपद से संबोधित किया है। 'एकः पूर्वपरयोः' इस सूत्र के भाष्य में भी वेद के नाम पर 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नि०' इत्यादि ब्राह्मण वचन उद्धृत है। इसी तरह पस्पशाह्निक भाष्य में भी वेद के नाम पर 'पयोव्रतो ब्राह्मणो०' इत्यादि ब्राह्मणवचन उदाहृत है।

पाणिनि 'देवसुम्नयो०' इत्यादि सूत्र में यजुर्वेद की काठक शाखा में आकार का विधान करते हैं। यह विधि ऋगादि की शाखाओं में नहीं होती। 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादि अनेक सूत्रों में भगवान् व्यास ने ब्राह्मण-वचनों पर ही विचार किया है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य प्रभृति आचार्यों ने भी इन सूत्रों की वैसी ही व्याख्या की है। 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो' इत्यादि श्लोक में मनु ने भी श्रुति शब्द से वेद को ही माना है। 'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' इस सूत्र में गृह्यसूत्रकार पारस्कर ने विधिभाग को पहला स्थान दिया है। 'वेदसंयोगात्' इस मीमांसासूत्र में 'सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य को ही वेद के नाम से उद्धृत किया है। इसी तरह 'नियमस्तु दक्षिणाभिः' इत्यादि जैमिनि सूत्र में भी 'प्रथममग्नीध्रे०' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य ही श्रुति के रूप में उदाहृत है।

इस तरह मनु, शुक्र, व्यास, जैमिनि, गोतम, कणाद प्रभृति ऋषि-मुनियों के हजारों वचनों से ब्राह्मण और उपनिषद् सहित सर्वशाखात्मक वेदराशि को स्पष्ट रूप से वेद माना गया है। काठक आदि शाखाओं को वेद न मानना आर्यसमाजियों का अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने के समान है, क्योंकि उन्हीं तर्कों से शाकल, कौथुम, माध्यन्दिन और शौनक शाखाओं की भी अवेदता की आपत्ति उठ खड़ी होगी। महाभाष्य आदि में परिगणित शाखाओं में उनका भी समान रूप से अन्तर्भाव है।

जिज्ञासुमतसमीक्षणम्

कश्चित्तु वेदार्थनिकषरूपान् कांश्चिन्नियमानाह—

१—वेदे सार्वभौमनियमानां प्रतिपादनं युक्तं येन मानवसमाजे परस्परविरोधो न स्यात्।

२—कस्यचिज्जातिविशेषस्य देशविशेषस्य सम्बन्धेन तत्र न भाव्यम्। ईश्वरीयैर्गुणैः कर्मभिः सृष्टिनियमैश्च विरोधो यत्र न स्यात् स एव वेदार्थः।

३—यः 'सर्वज्ञानमयो हि सः' इति रीत्या सर्वविद्याप्रकाशकः स्यात्।

४—यत्र मानवज्ञानसम्बन्धिनीनां सर्वासामावश्यकतानां पूर्तिः स्यात् स वेदार्थः।

५—यश्च मानवजीवनापेक्षितानि सर्वाण्यङ्गानि पूरयेत्।

६—यश्च न्यायादिशास्त्रीयनियमविपरीतो न स्यात्, यश्च तर्कनिकषैः परीक्षितुं शक्येत।

७—यत्र व्यक्तिविशेषस्येतिहासोल्लेखो न स्यात्।

८—यश्चाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकत्रिविधार्थबोधकः स्यात् स वेदार्थः।

९—यश्चाप्तसम्मतः स्यादृषिमुन्यादिधारणाविपरीतो न स्यात्।

१०—यस्याज्ञा आज्ञान्तरेण न विरुद्धयेत।

तद्व्याख्याप्रसङ्गे स एवाह—'सर्वतन्त्रसिद्धान्ताः सार्वभौमनियमाश्च त एव भवन्ति, ये सर्वमान्याः सर्वानुकूलाः, यान् सर्वे सदैव मन्यन्ते मंस्यन्ते च, ये च प्राणिमात्रस्य हितकारकास्ते सर्वमान्याः सर्वतन्त्रसिद्धान्ता एव सुखशान्तिप्रतिपादका भवन्ति। यथा—'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्"'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' (यजु० ३६।१८), 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः' (यजु० ४०।७), 'स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः'

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के मत की समीक्षा

कुछ लोग वेद का अर्थ करने के लिए निम्न १० नियमों की स्थापना करते हैं—

१. वेद में सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन ही उचित है, जिससे कि मनुष्य समाज में परस्पर विरोध न हो।

२. किसी जातिविशेष अथवा देशविशेष का संबन्ध उससे नहीं होना चाहिये। ईश्वरीय गुण, कर्म और सृष्टि के नियमों से जहाँ विरोध उपस्थित न हो, वही वेद का अर्थ है।

३. 'वह पूरे ज्ञान का खजाना है' इस नियम के अनुसार जहाँ पर सभी विद्यायें प्रकाशित होती हों, वही वेदार्थ है।

४. जहाँ पर मानव ज्ञान संबन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती हो, वह वेदार्थ है।

५. जो मानव जीवन के सभी अंगों की पूर्ति करता हो।

६. जो न्यायशास्त्र आदि के नियमों से विपरीत न हो और जो तर्क की कसौटी पर खरा उतरे।

७. जहाँ व्यक्तिविशेष के इतिहास का उल्लेख न हो।

८. जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के अर्थ का बोधक हो, वह वेदार्थ है।

९. जो प्रामाणिक पुरुषों को मान्य हो और ऋषि-मुनि आदि की धारणा के विपरीत न हो।

१०. जिसकी आज्ञा दूसरी किसी आज्ञा से बाधित न हो।

इन नियमों की व्याख्या करते हुए वे ही महानुभाव कहते हैं कि सभी शास्त्रों के सामान्य सिद्धान्त और सार्वभौम नियम वे ही होते हैं, जो कि सबको मान्य और सबके अनुकूल हों। जिनको कि सभी सदा मानते हों और आगे भी मानेंगे। जिनसे प्राणी मात्र का हित हो, ऐसे सर्वमान्य सर्वतन्त्र सिद्धान्त ही सुख-शान्ति के प्रतिपादक हो सकते हैं। जैसे कि 'सब प्राणी मित्र की दृष्टि से मुझे सम्यक् देखें""हम सब लोग परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से सम्यक् देखें', 'जिस ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में प्राणी मात्र

(अथर्व० १।३१।४)। तत्कथमीश्वरज्ञानं स्याद्येन देशेषु जातिषु च परस्परं विघटनं स्यात् ? समताप्रतिपादनेन मानव-हृदयवैषम्यनिवारणमेव तदीयं ध्येयम्' (पृ० ४३) इति।

तत्रोच्यते—प्रमाणानां वस्तुतन्त्रत्वेन पुरुषाभिप्रायानुसरणासंभवात्। वेदानुसारेणैव वेदार्थः प्रामाणिकः। अन्यस्य त्ववेदार्थत्वमेव। क्रिया हि पुरुषाभिप्रायानुसारिण्यो भवन्ति, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च शक्यत्वात्। अश्वेन गच्छति, पद्भ्यां गच्छति, न वा गच्छतीतिवत्। ज्ञानं तु न तथा। नहि चक्षुषा रूपसन्निकर्षे सति ज्ञानमुत्पादयितुमनुत्पादयितुमन्यथा वोत्पादयितुं शक्यम्, वस्त्वनुसारित्वात्तस्य। अत एवानिष्टघटनाया अनिष्टगन्धस्यानिष्टशब्दस्यानभीप्सितत्वेऽपि सतीन्द्रियसम्बन्धे भवत्येव प्रकाशः। तथैव विदितपदतदर्थशाब्दन्यायसतत्त्वस्य वैदिकलौकिकवाक्यैरपि जायमानं ज्ञानमपि न पुरुषतन्त्रं प्रमाणत्वाविशेषात्। तस्मात् पूर्वत एव काञ्चिद्धारणां मनसि निधाय वेदार्थावगमाय तद्व्याख्यानाय नैव प्रवर्तितव्यम्। वृद्धव्यवहारव्याकरणनिघण्टुनिरुक्तादिसापेक्षपदपदार्थशक्तिग्रहसहकृतश्रौतसूत्रपूर्वोत्तरमीमांसान्यायाद्यनुगृहीतोपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वत्वफलोपपत्तिरूपैस्तात्पर्यग्राहकलिङ्गयुक्तैर्वेदवाक्यैरेव योऽर्थो निर्धार्य्येत स एव वेदार्थः। अत एव वेदवेदार्थखण्डनपरायणस्य नास्तिकस्यापि विदितपदतदर्थशाब्दन्यायसतत्त्वस्य स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयादिति वाक्यश्रवणेनाग्निहोत्रहोमस्वर्गयोः कार्यकारणभावरूपोऽर्थो विज्ञायतेऽनिच्छतोऽपि। न तस्यान्यथाज्ञानमज्ञानं वा संभवति। कारणदोषबाधज्ञानादुत्पन्नस्यापि ज्ञानस्याप्रामाण्यं गृह्यते। तद्वेदेषु न सम्भवति। तथाहि—अपौरुषेयत्वाद्वेदस्य कर्तुरभावाद् भ्रमप्रमादकरणापाटवादिकारणदोषज्ञानमपि न भवति। अतीन्द्रियत्वात् कार्यकारणभावस्य प्रमाणान्तरागोचरत्वात्तद्बाधोऽपि न संभवति। येन प्रमाणेन यज्ज्ञायते तदभावोऽपि तेनैव गृह्यते। श्रोत्रविदितस्य शब्दस्याभावो नेत्रादिभिर्ज्ञातुमशक्य एव। न च वेदप्रमाणेन तद्बोधः, तादृग्वेदवचनस्यानुपलम्भादेव।

अपनी आत्मा बन जाती हैं', 'गायों के लिए स्वस्ति हो; जगत् के सारे पुरुषों का कल्याण हो' इत्यादि वेदवचन हैं। वह ईश्वर का ज्ञान कैसे हो सकता है, जिससे देश और जाति का परस्पर विघटन हो। समता के प्रतिपादन के द्वारा मानव के मन में बैठी विषमता को दूर करना ही उसका ध्येय है।

इस विषय में हमारा कहना है कि वस्तु के स्वभाव के अनुसार ही प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है, अतः किसी पुरुष के अपने अभिप्राय के अनुसार उसमें फेर-बदल नहीं किया जा सकता। वेद का वेदानुसारी अर्थ ही प्रामाणिक हो सकता है, इसके विपरीत अर्थ वेद का नहीं हो सकता। कोई क्रिया पुरुष के अपने अभिप्राय के अनुसार हो सकती है, क्योंकि उसके करने, न करने अथवा अन्यथा करने में वह स्वतन्त्र है। जैसे कि कोई व्यक्ति घोड़े पर चढ कर जाता है, पैदल ही चला जाता है, अथवा जाता ही नहीं। ज्ञान की स्थिति ऐसी नहीं है। चक्षु के साथ किसी रूप का संपर्क हो जाने पर ज्ञान की उत्पत्ति, अनुत्पत्ति अथवा अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह ज्ञान वस्तु का अनुसरण करता है। इसी लिये अनिष्ट घटना से, अनिष्ट गन्ध से, अनिष्ट शब्द से इन्द्रिय का संबन्ध हो जाने पर न चाहने पर भी उसका प्रत्यक्ष होता ही है, उसी तरह शब्दशास्त्र के नियमों के अनुसार पद और पदार्थ के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वैदिक और लौकिक वाक्यों से भी उत्पन्न होने वाला ज्ञान पुरुष के अधीन नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों की स्थिति समान है। इसलिये पहिले से ही कोई धारणा बना कर वेद के अर्थ को जानने की, उसकी व्याख्या करने की प्रवृत्ति उचित नहीं है। वृद्ध-व्यवहार, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त आदि की सहायता से परस्पर सापेक्ष पद और पदार्थों का ज्ञान कर श्रौतसूत्र, पूर्वमीमांसा, न्यायशास्त्र के अनुसार उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास आदि तात्पर्य के बोधक वेदवाक्यों के सहारे जो अर्थ निर्धारित होता है, वही सही वेदार्थ हो सकता है। इसीलिये वेद और वेदार्थ के खण्डन में लगे नास्तिक को भी पद और पदार्थ के शब्दशास्त्रीय तात्त्विक संबन्धों का परिज्ञान हो जाने पर 'स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे' इस वाक्य के सुनने के बाद न चाहते हुए भी अग्निहोत्र और स्वर्ग के कार्यकारणभाव रूप अर्थ को जान जाता है। उसको विपरीत ज्ञान नहीं होता, और न ऐसी ही कोई बात होती है कि उसको इसका ज्ञान ही न हो। कारणदोष अथवा बाधज्ञान होने पर पूर्वोत्पन्न ज्ञान की अप्रामाणिकता ज्ञात होती है, यह बात वेद में लागू नहीं हो सकती, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं। वेद के कर्ता के अभाव में उसमें भ्रम, प्रमाद, इन्द्रियों का असामर्थ्य आदि दोषों की

आधुनिका युक्तियुक्तसर्वोपयोगिहृदयग्राह्यार्थप्रतिपादकत्वाद्वेदस्य प्रामाण्यं महत्त्वं चाभ्युपयन्ति। वैदिकास्तु स्वतःप्रमाणवेदवचनावगतत्वादेव तत्तदर्थानां युक्तियुक्तत्वं सुन्दरत्वं हृदयग्राह्यत्वं च वदन्ति। सुन्दरत्वं युक्तियुक्तत्वं हृदयग्राह्यत्वमर्थस्य यैः प्रमाणैर्ज्ञायेत तत्स्वरूपस्यापि तैरेव प्रमाणैर्ज्ञातुं शक्यत्वेन तदर्थं वेदस्यानावश्यकत्वापाताच्च। अत एव सर्वमान्यसर्वतन्त्रस्यार्थस्य सर्वैरेव सर्वदैव ज्ञातस्यार्थस्य बोधकत्वे ज्ञातज्ञापकत्वेनाप्रामाण्यमेव वेदानामापतेत्, प्रसिद्धस्यार्थस्य प्रतिपादनानपेक्षणेनाकिञ्चित्करत्वं च।

यदुक्तं लौकिककोषाद्यनुसारेण वाच्यवाचकभावं निर्धार्य वेदार्थकरणादेव वेदार्थविलोपो जात इति, तदप्यमनोज्ञम्, शक्तिग्रहस्य लोकैकसमधिगम्यत्वात्। अलौकिकैरर्थैरलौकिकानां शब्दानां सम्बन्धग्रहासंभवात्। अत एव 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० सू० १।२।३०), 'लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतेः' (सां० सू० ५।४), 'य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एवैषामर्थाः' इति शबरस्वामिनश्च। अत एव वेदाक्षरैरेव तत्त्वनिर्णयो युक्तः, देशजातिविशेषा-सम्बन्धग्रहाग्रहस्यापि तदर्थग्रहप्रतिबन्धकत्वात्।

क ईश्वरः? के वा तदीया गुणाः? कानि वा तदीयानि कर्माणि? के वा सृष्टिनियमाः? यदि प्रामाण्य-मन्तरापि तदधिगमः संभवति कृतं वेदप्रामाण्यग्रहेण। वेदार्थज्ञानात् पूर्वं तदज्ञाने कथं तदनुसारेणार्थकरणं संभवति। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'(बृ० उ० ३।९।२६), 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० सू० १।१।२), 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३), 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इत्यादिश्रुतिसूत्रवचनैस्तु परमेश्वरस्य वेदैकसमधिगम्यत्वमेव ज्ञायते। परमेशस्य गुणाः कर्माणि सृष्टिनियमाश्च न लोकप्रमाणगम्याः, तदभावे कथं तदनुसरणं

अविद्यमानता में प्रमाणान्तर का विषय न होने से बाध की प्रवृत्ति नहीं होगी। जिस प्रमाण से जो वस्तु गृहीत होती है, उसके अभाव का ग्रहण भी उसी से होता है। श्रोत्रेन्द्रिय से परिगृहीत शब्द का अभाव नेत्र आदि के द्वारा परिज्ञात नहीं होता। वेद के प्रमाण से भी उसका बोध नहीं होता, क्योंकि ऐसा वेदवचन उपलब्ध ही नहीं है।

आधुनिक विद्वान् युक्तियुक्त, सर्वोपयोगी और हृदय को छू लेने वाले अर्थ का प्रतिपादक होने से वेद के प्रामाण्य और महत्त्व को स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत वैदिकगण वचनों की स्वतःप्रमाणता के कारण ही वेदार्थ की युक्तियुक्तता, सुन्दरता और हृदयहारिता का प्रतिपादन करते हैं। वेदार्थ की सुन्दरता, युक्तियुक्तता और हृदयग्राह्यता जिन प्रमाणों से ज्ञात होती है, उन्हीं से उसके स्वरूप की भी अवगति हो जाने पर उनके अवगम के लिये वेद की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। ऐसी अवस्था में सर्वमान्य सर्वशास्त्रसंमत अर्थ के, जिसका कि सभी को सदा परिज्ञान है, बोधक मानने पर ज्ञातज्ञापक होने से वेदों में अप्रामाण्य दोष उठ खड़ा होगा। प्रसिद्ध अर्थ के प्रतिपादन की अपेक्षा न रहने से वह व्यर्थ भी हो जायगा।

लौकिक कोश आदि की सहायता से वाच्यवाचकभाव का निर्धारण कर उससे वेद के अर्थ का निर्धारण करने में ही वेद का सही अर्थ लुप्त हो गया है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दों की शक्ति का परिज्ञान केवल लोक से ही हो सकता है। अलौकिक अर्थ के साथ अलौकिक शब्दों का संबन्ध परिज्ञात नहीं हो सकता। इसी लिये 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' इति जैमिनि सूत्र में शबरस्वामी ने कहा है कि 'लोक में व्युत्पन्न व्यक्ति को ही वेदार्थ की प्रतीति होती है, जो लौकिक शब्द हैं, वे ही वैदिक हैं, वही उनका अर्थ है। इसलिये वेद के अक्षरों से ही तत्त्व का निर्णय होना उचित है। देशविशेष, जातिविशेष से वेद का संबन्ध न मानने का आग्रह भी वेद के अर्थ के ग्रहण में प्रतिबन्धक ही है।

ईश्वर कौन है? ईश्वर के गुण कौन कौन से हैं? ईश्वर के कार्य क्या हैं? सृष्टि के नियम क्या हैं? यदि बिना प्रमाण के भी इन अर्थों की अवगति हो सकती है, तो वेद के प्रामाण्य की अवगति की क्या आवश्यकता है? वेद के अर्थ के परिज्ञान से पहले यदि इनकी अवगति नहीं होती, तो उसके अनुसार अर्थ करना संभव नहीं है। 'उस औपनिषद पुरुष को पूछता हूँ', 'धर्म की अवगति विधि वाक्य से होती है', 'धर्म में शास्त्र ही प्रमाण है', 'उस महान् ब्रह्म को वेद को न जानने वाला नहीं जान पाता' इत्यादि श्रुतियों और सूत्रों के आधार पर परमेश्वर की अवगति केवल वेद से ही हो सकती है। परमेश्वर के गुण, कर्म और सृष्टि के नियम लौकिक

संभवति ? तस्माद्वैदिकशब्दैरेव तेषामपि ज्ञानं युक्तम्। न च तदर्थज्ञाने तदनुसरणं संभवति, वेदार्थज्ञानात् पूर्वं तदज्ञानात्। सृष्टिनियमा अपि नाल्पज्ञगम्याः। वेदस्य सर्वविद्याग्रन्थत्वमपि वेदादेव ज्ञायते न पुरुषाभिप्रायेण, 'नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते' इति न्यायात्। अन्यथा तन्त्रीसंदेशविज्ञानसिद्धये तरुतारशब्दाश्रयणवद् वर्तमान-कम्प्यूटरराकेटादिविज्ञानस्यापि वैदिकत्वसाधनाय तादृशशब्दाभासा-श्रयणापातो न्यूनत्वापत्तिर्वा स्यात्।

मानवजीवनस्य कान्यङ्गानि तज्ज्ञानिसम्बन्धिन्यश्च का आवश्यकता इत्यपि दुर्ज्ञानम्। परिवर्तनि संसारे तेषामैकरूप्याभावात्। वैदिकरीत्या तु मानवैर्वेदा अनुसरणीयाः। तदनुसारीण्यङ्गानि निर्मातव्यानि, आवश्यकताभिश्च तदनुसारिणीभिरेव भाव्यम्, स्वातन्त्र्ये तेषामव्याहतप्रसरत्वात्।

न्यायादिशास्त्राणि वेदानुगामीनि न वेदास्तदनुगामिनः, वेदानां तदनुसारित्वे स्वात्मस्वरूपस्याप्य-निर्णयापातात्। न्यायवैशेषिकानुसारेण ज्ञानादिगुणक आत्मा, सांख्ययोगरीत्या असङ्गश्चेतनस्वरूप आत्मा। एवमणुत्वमहत्त्वादिविरुद्धाभिप्रायाणां तेषामनुसरणे कथं वेदार्थनिर्धारणं स्यात् ? अपि च, एवं तर्कनिकषैर्वेदार्थ-परीक्षणमपि दुर्घटम्, तर्काप्रतिष्ठानत्वस्य वेदान्तसूत्रैरेव प्रतिपादनात्, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (काठको० १।२।९) इति श्रुतिविरोधाच्च। मनुनापि वेदशास्त्राविरोधिना तर्केण वेदार्थानुसन्धानमुक्तम्। स्वर्गाग्निहोत्रहोमयोस्तर्का-गम्यत्वमेव, वेदार्थस्य प्रमाणान्तरगम्यत्वे वेदस्यानुवादकत्वेनाप्रामाण्यापत्तेः।

व्यक्तिविशेषेतिहासानुल्लेखाग्रहोऽपि न वेदार्थत्वनिकषः, शब्दार्थशक्त्या जायमानोल्लेखस्यापलापानर्हत्वात्, चक्षुरादिवत् स्वार्थप्रकाशने वेदवाक्यस्य स्वतन्त्रत्वात्। वेदान् ईश्वरं वा न पर्यनुयोक्तुं वयं शक्नुमस्तदभिप्रायं तूपक्रमो-

प्रमाणों से नहीं जाने जा सकते। इसके अभाव में उनका अनुसरण कैसे हो सकता है। इनका ज्ञान भी वैदिक शब्दों से ही हो सकता है। वेद के अर्थ के परिज्ञान से पहले इन सृष्टि आदि के नियमों का परिज्ञान नहीं हो सकता। ये सृष्टि आदि के नियम अल्पज्ञ लोगों की समझ के बाहर भी हैं। वेद सभी विद्याओं का ग्रन्थ है, इसका ज्ञान भी वेद से ही हो सकता है, पुरुष के अभिप्राय से नहीं; क्योंकि कस्तूरी की गन्ध को कोई शपथ दिला कर रोक नहीं सकता। अन्यथा तार से संदेश भेजने का विज्ञान वेद में है, इसको सिद्ध करने के लिये 'तरु तार' आदि शब्दों के समान वर्तमान कम्प्यूटर, राकेट आदि विज्ञानों को भी वैदिक सिद्ध करने के लिये उसी तरह के शब्दों की कल्पना करनी पड़ेगी, अथवा वेद में इस प्रकार के शब्दों की न्यूनता माननी पड़ेगी।

मानव जीवन के अंग क्या हैं ? इनके ज्ञान से संबद्ध आवश्यकताएं कौन-कौन सी हैं ? यह जानना भी कठिन है। परिवर्तनशील संसार में इन आवश्यकताओं की एकरूपता हो भी नहीं सकती। वैदिक पद्धति के अनुसार तो मानवों को ही वेदों का अनुसरण करना है। तदनुसार ही जीवन के अंगों की निर्मिति और आवश्यकताएं निर्धारित होनी चाहिये। इसके लिये मनुष्य को स्वतन्त्र मानने पर बिना रोक-टोक के उच्छृंखलता फैल जायगी।

न्यायशास्त्र आदि ही वेदानुगामी हैं, वेद इनका अनुगामी नहीं है। वेदों को यदि इनका अनुगामी माना जाय, तो आत्मा के स्वरूप का निर्धारण होना भी कठिन हो जायगा। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान आदि गुण वाला है। सांख्य और योग की दृष्टि से आत्मा असंग और चेतनस्वरूप है। एक दर्शन आत्मा को अणु मानता है, तो दूसरा महान्। इस प्रकार परस्पर विरोधी दर्शनों का अनुसरण करने पर वेदार्थ का निर्धारण कैसे संभव है ? इसी तरह तर्क की कसौटी पर वेदार्थ को परखा भी नहीं जा सकता। वेदान्तसूत्रों में तर्क को अप्रतिष्ठित माना माना है। 'तर्क से यह बुद्धि हटायी नहीं जा सकती' इस श्रुति से तर्क का विरोध भी है। मनु ने भी कहा है कि वेद शास्त्र के अविरोधी तर्क से ही वेदार्थ का अनुसन्धान किया जा सकता है। स्वर्ग, अग्निहोत्र आदि का प्रतिपादन तर्क से नहीं किया जा सकता। वेदार्थ का अवबोध यदि दूसरे प्रमाणों की सहायता से हो जाता है, तो वेद में अनुवादकता के कारण अप्रामाण्य की आपत्ति उठ खड़ी होगी।

व्यक्तिविशेष के इतिहास का न होना भी वेदार्थ का प्रयोजक नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द की शक्ति से यदि वहाँ पर इतिहास का उल्लेख मिलता है, तो उसका अपलाप हम नहीं कर सकेंगे। अपने अर्थ के प्रकाशन में वेद उसी प्रकार स्वतन्त्र है, जैसे

पसंहाराभ्यासापूर्वतार्थवादोपपत्त्यादिभिरवगन्तुं शक्नुमः। वशिष्ठाद्या महर्षयः शङ्कराचार्यप्रभृतय आचार्या वैदिकशब्दैरेव वेदार्थं निर्णयन्ति, न पूर्वं मनसि कञ्चिदर्थं निधाय वेदाक्षरेभ्यो बलात्तत्साधयन्ति। किञ्च, व्यक्तिविशेषेतिहासो वेदेषु नैव प्रतीयते, प्रतीयमानोऽपि वा नाभ्युपेतव्यः। न प्रतीयते चेत्तदा तस्य वेदार्थत्वाशङ्कैव नोदेति। वैदिकशब्देभ्यः प्रतीयते चेत् कथं प्रतीतिशरणैस्तदपलापो युक्तः, प्रमाणभूतवैदिकशब्दजनितायाः प्रतीतेः प्रमारूपत्वात्। न च जातिविशेषदेशविशेषव्यक्तिविशेषवर्णनेन वेदस्य पक्षपातित्वापत्तिस्तदनन्तरभावित्वापत्तिश्च लौकिकेतिहासस्येव भविष्यतीति वाच्यम्, वेदशब्देभ्यः सृष्टचभ्युपगमेन पदार्थसृष्टचानन्तर्य्यानुपपत्तेः, जातौ शक्त्यङ्गीकारेण जातेश्च नित्यत्वेन शब्दार्थसम्बन्धानां नित्यत्वस्याव्याहतत्वात्। अपि च, ऋक्संहितायामुर्वशीपुरूरवआदीनामुपवर्णनमस्त्येव। यच्च 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्' (वा० सं० ३।६८) इति मन्त्रे 'चक्षुर्वै जमदग्निः' (८।१।२।३) इति शतपथवचनाच्चक्षुष एव जमदग्नित्वम्' इति, तदपि चिन्त्यम्, तावतापि जमदग्निकश्यपादीनामपलापायोगात्। 'योषा वाव गौतमाग्निः' (छा० ५।७।१) इति प्रमाणेन योषायामग्नित्वारोपेऽपि वस्तुभूतस्याग्नेर्नापलापः संभवति। एवमेव 'त्रयो वेदा एत एव। वागेवर्ग्वेदः, मनो यजुर्वेदः, प्राणः सामवेदः' (श० १४।४।३।१२) इति शतपथब्राह्मणेनोपासनार्थं वागादीनामृगादित्वोक्तावपि 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यत्र वागादीनामुत्पत्तिर्दयानन्देनापि नाभिप्रेता।

दयानन्देन सत्यार्थप्रकाशे लिखितम्—'यस्येतिहासो भवति तस्य जन्मनोऽनन्तरमेव स लिख्यते' (सत्यार्थप्रकाशे १२७ पृ०) इति। तेनैव 'अग्ने देवेषु प्रवोचः' (ऋ० १।२७।४) इति मन्त्रभाष्ये—हे अनन्तविद्यामय जगदीश्वर देवेषु सृष्टचादौ जातेषु पुण्यात्मस्वग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु प्रवोचः प्रोक्तवान् इति व्याख्यातम्। तद्रीत्या-

चक्षुरादि इन्द्रियाँ अपने विषय के प्रकाशन में स्वतन्त्र होती हैं। वेद अथवा ईश्वर को हम किसी प्रकार की आज्ञा नहीं दे सकते, केवल उसके अभिप्राय को उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, अर्थवाद, उपपत्ति आदि से समझ सकते हैं। वसिष्ठ आदि ऋषिगण और शंकराचार्य प्रभृति आचार्यगण वैदिक शब्दों से ही वेदार्थ का निर्णय करते हैं, मन में पहले से बैठाये गये किसी अर्थ को वेद के अक्षरों से जबर्दस्ती नहीं सिद्ध करते। दूसरे व्यक्तिविशेष का इतिहास वेद में प्रतीत भी नहीं होता, यदि प्रतीत होता हो तो उसको नहीं मानना चाहिये। यदि यह प्रतीत नहीं होता तो उसके वेदार्थ होने की शंका का उदय ही नहीं होगा। यदि वैदिक शब्दों से यह प्रतीत होता है तो फिर प्रतीति को ही प्रमाण मानने वाले इसका अपलाप किस प्रकार कर सकते हैं, क्योंकि प्रमाणभूत वैदिक शब्दों से उत्पन्न हुई यह प्रतीति प्रमारूप ही मानी जायगी। जातिविशेष, देशविशेष, व्यक्तिविशेष के वर्णन से वेद इनके साथ पक्षपात करता है और यह इनके बाद की रचना है, इस प्रकार की आपत्ति लौकिक इतिहास के तरह की होगी, यह उक्ति इसलिये उचित नहीं है कि यहाँ पर वेद के शब्दों से ही सृष्टि मानी जाती है, अतः पदार्थ की सृष्टि के बाद वेद की स्थिति का प्रश्न ही नहीं उठता। शब्द की शक्ति जाति में मानी जाती है और जाति नित्य है, अतः शब्द और अर्थ के संबन्ध की नित्यता में कोई बाधा नहीं आती। ऋग्वेद में उर्वशी-पुरूरवा आदि का वर्णन हम मानते ही हैं। 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इत्यादि मन्त्र में 'चक्षुर्वै जमदग्निः' इस शतपथ श्रुति के प्रमाण पर जो चक्षु को ही जमदग्नि माना गया है, यह विचारणीय है। इस प्रकार के अर्थ कर लेने पर भी जमदग्नि, कश्यप आदि का अपलाप नहीं किया जा सकता। 'हे गौतम, यह योषा (स्त्री) ही अग्नि है' यहाँ पर जैसे योषा में अग्नि का आरोप करने पर भी वस्तुभूत अग्नि का अपलाप नहीं होता। इसी तरह 'तीन वेद हैं—इनमें वाणी ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद और प्राण सामवेद है' इस शतपथ श्रुति में उपासना के लिये वाणी इत्यादि के ऋग्वेद आदि कहे जाने पर भी 'उस सर्वहुत यज्ञ से ऋक्, साम आदि की उत्पत्ति हुई'. इस मन्त्र का अर्थ करते समय स्वामी दयानन्द ने भी वाणी इत्यादि की उत्पत्ति नहीं मानी।

दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि 'जिसका इतिहास होता है, उसके जन्म के बाद ही वह लिखा जाता है'। इसीलिये 'अग्ने देवेषु प्रवोचः' इस मन्त्र के भाष्य में—'हे अनन्त विद्यामय जगदीश्वर, आपने देवों में, अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न पुण्यात्मा अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा आदि मनुष्यों में इस ज्ञान का उपदेश दिया' यह व्याख्या की है। उनकी व्याख्या के अनुसार

प्यनेनेतिहास एव सिद्धयति। किञ्च, ऋग्वेदस्य प्रथममण्डले चतुर्विशं सूक्तमारभ्य त्रिंशं सूक्तं यावत् शुनःशेपस्याख्यानं प्रसिद्धम्। ऐतरेयब्राह्मणेऽपि तथैव तद्विवरणमपि दृश्यते। दशमे मण्डलेऽष्टादशर्क्षु उर्वशीपुरूरवसोराख्यानं दृश्यते। शतपथे 'जनमेजयं पारिक्षितं याजयाञ्चकार' (श० १३।५।४।१) इति पारीक्षितजनमेजयस्य चर्चा समायाति। तथैवाथर्वसंहितायां प्राह्लादेर्विरोचनस्य, वैवस्वतस्य मनोः, आङ्गिरसस्य बृहस्पतेः, वैन्यस्य पृथोश्चर्चा स्पष्टमायाति।

यत्तु 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै० सू० ६।१।१) इत्यनुसारेण वेदे तर्कविरुद्धं न किञ्चिदपि संभवति। 'तर्कमृषिम्' (नि० १३।१२) इति रीत्या ऋषीणां वचनानुसारेण केचिदपि मन्त्रा नास्य नियमस्यावहेलनं कर्तुं प्रभवन्ति' (पृ० ४४), तदेतद्बालभाषितम्, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (काठको० १।२।९) इत्युपनिषद्वचनेन दत्तोत्तरत्वात्। ऋषयस्तद्वाक्यानि च वेदानुसारीणि भवन्ति, न तु वेदास्ताननुसरन्ति, तथात्वे प्रामाण्यपरतस्त्वप्रसङ्गात्। कणादसूत्रं तु वेदवाक्यनिर्मितिमीश्वरबुद्धिपूर्वां वक्ति। न वेदेन तर्कविरुद्धो नोच्यत इत्येतत्परं तत्। सूत्रार्थस्तु पूर्वमेव व्याख्यातः। निरुक्ते (१३।१२) तु यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति। वेदार्थनिर्धारणाय वेदाविरुद्धोऽभ्यूहरूपस्तर्को युक्तः। तदर्थमेव तर्कमृषिं प्रायच्छन्नित्युक्तम्। न 'तर्क एव ऋषिः' इति वचनं तत्रत्यम्।

वेदस्य सर्वज्ञानमयत्वेनापि न तेनैव कम्प्यूटर-राकेटादिनिर्माणविद्या गतार्था भवति। धर्मब्रह्मज्ञानस्य साक्षात्परम्परया च सर्वार्थज्ञानमूलत्वात्तत्प्रकाशनेन सूत्ररूपेण सर्वार्थप्रकाशनं भवत्येव। श्रीशङ्कराचार्य्यास्त्वनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्येत्युक्त्या साङ्गोपाङ्गवेदस्य सर्वार्थविद्योतित्वमुक्तवन्तः, तदीयदृष्ट्या सर्वज्ञस्य सर्वज्ञानानुविद्धशब्दानामानन्त्यान्निरुपचारेणैव सर्वार्थविद्योतित्वं संभवति, 'अनन्ता वै वेदाः'

भी यहाँ पर इतिहास ही सिद्ध होता है। इसी तरह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २४वें सूक्त में ३०वें सूक्त तक शुनःशेप का आख्यान प्रसिद्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसका विवरण मिलता है। दशम मण्डल में १८ ऋचाओं में उर्वशी और पुरूरवा की कथा मिलती हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी इसका वर्णन है। 'परीक्षित के पुत्र जनमेजय को यज्ञ कराया' इस शतपथ श्रुति में जैसे पारीक्षित जनमेजय की चर्चा है, उसी भाँति अथर्वसंहिता में प्रह्लाद के पुत्र विरोचन की, वैवस्वत मनु, आंगिरस बृहस्पति और वैन्य पृथु की चर्चा स्पष्ट आती है। मन्त्र और ब्राह्मण के वचनों के प्रमाण से ज्ञात हो रहे अर्थ की उपेक्षा कर जबरदस्ती अप्रतीत अर्थ की कल्पना ठीक नहीं कही जा सकती। इससे तो अव्यवस्था ही फैलेगी।

'वेद के वाक्यों की रचना बहुत सोच समझ कर की गई है' इस वैशेषिक सूत्र के अनुसार वेद में तर्कविरुद्ध कोई बात नहीं हो सकती। निरुक्त के अनुसार तर्क ही ऋषि है। इस ऋषि के वचन के आधार पर कोई भी मन्त्र इस नियम की अवहेलना नहीं कर सकते, यह कहना भी बेसमझी की बात है। 'तर्क के द्वारा यह बुद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती' यह उपनिषद् का वाक्य ही इसका उत्तर दे देता है। ऋषिगण और उनके वाक्य ही वेद का अनुसरण करते हैं, वेद उनका अनुसरण नहीं करते। यदि ऐसा माना जायगा, तो वेदों का स्वतः प्रामाण्य नहीं बन पावेगा। उनमें परतः प्रामाण्य होने से वे अप्रमाण हो जायेंगे। कणाद सूत्र का अभिप्राय केवल इतना ही है कि वेदवाक्य का निर्माण ईश्वर की बुद्धि के अनुसार होता है। वेद में तर्क के विरुद्ध कोई बात नहीं कही जाती, यह उसका अर्थ नहीं है। निरुक्त में कहा गया है कि 'अनूचान अर्थात् सम्पूर्ण वेद-वेदांग का ज्ञाता जिस बात को सोचता है, वह भी आर्ष वचन हो जाता है' यहाँ पर वेदार्थ के निर्धारण के लिये वेद का अविरोधी विचार रूप तर्क गृहीत होता है। इसी अर्थ में 'तर्क रूप ऋषि को दिया' यह वचन प्रयुक्त हुआ है। 'तर्क ही ऋषि है' यह उसका अभिप्राय नहीं है।

वेद के सर्वज्ञानमय होने पर भी उसीसे कम्प्यूटर, राकेट आदि के निर्माण की विद्या गतार्थ नहीं हो जायगी। धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान ये ही साक्षात् अथवा परम्परा से सभी ज्ञानों के मूल में हैं। वेद इनके प्रकाशक हैं, अतः सूत्र रूप से वेद सभी विषयों के प्रकाशक माने ही जा सकते हैं। श्रीशंकराचार्य ने 'अनेक विद्याओं के उपबृंहक होने से, प्रदीप के समान सभी वस्तुओं के प्रकाशक होने से, वह सर्वज्ञकल्प है' इस उक्ति के अनुसार अंग और उपांग सहित वेद को सभी विषयों का प्रकाशक माना है। उनकी दृष्टि में

(तै० ब्रा० ३।१०।११।४)' इति श्रुतेः। मानवबुद्धिग्राह्यस्यैकत्रिंशदुत्तरैकादशशतशाखात्मकस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यापि मानवापेक्षितसर्वार्थावभासित्वं संभवत्येव। न च कण्वमाध्यन्दिनसंहितयोरिव किञ्चिदेव वैलक्षण्यं नोल्लेखनीयविशिष्टविषयकत्वमिति वाच्यम्, तत्रापि मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च बहुभिरंशैर्वैलक्षण्यस्य दर्शनात्। शुक्ल-कृष्णयजुःशाखासु वैलक्षण्यभूमिष्ठत्वदर्शनात्। तत्रापि—'पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥' (या० स्मृ०) इति याज्ञवल्क्यस्मृतिरीत्याऽष्टादशपुराणानि, न्यायवैशेषिकशास्त्रे, पूर्वोत्तरमीमांसे, मन्वाद्यष्टादशधर्मशास्त्राणि, व्याकरणादिषडङ्गानि, चत्वारो मन्त्रब्राह्मणोपनिषद्रूपाः सर्वशास्त्रात्मका वेदा इमानि चतुर्दश विद्यास्थानानि भवन्ति। धर्मनियन्त्रितमानवजीवनोपयोगिनः सर्वेऽर्था अत्रान्तर्भवन्ति। एतद्दृष्ट्यैव सर्वार्थविद्योतिनो वेदाः। चतसृषु शाखास्वपि केवलाश्चतस्रो मन्त्रसंहिताः कथं नाम सर्वार्थविद्योतिन्यः स्युः।

यद्यपि कर्मोपासनतत्त्वज्ञानक्रमेण सर्वस्यैव वेदस्य परब्रह्मात्मप्रतिपादन एव महातात्पर्यम्, तथाप्यवान्तर-तात्पर्यं कर्मोपासनादावप्यस्त्येव। वेदेषु बाहुल्येन विविधयज्ञहोमादिकर्मणामेव प्रतिपादनम्। अत एव जैमिनिराह—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मी० सू० १।२।१), 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (मी० सू० १।२।७)। नैतन्नियमनम्, किन्तु वेदस्वरूपपर्य्यालोचनम्, तदर्थावधारणे दिग्दर्शनं च। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनां···॥' (म० २।६), 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (म० २।१३) इति मनुरप्याह। 'वेदो धर्ममूलम्' इति गोतमः। न्यायदर्शने (४।१।६२) 'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः, लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः, तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यत इति यथाविषयमेतानि प्रमाणानि, इन्द्रियादिवत्' इति वात्स्यायने। एतदेव महाभारतेऽपि स्पष्टम्—

सर्वज्ञ के सभी ज्ञानों से संलग्न शब्दों की अनन्तता के कारण स्वभावतः सभी अर्थों की प्रकाशकता बन सकेगी। 'वेद अनन्त हैं' इस श्रुति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। मानव बुद्धिगम्य ११३१ शाखा वाले मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद में मानव के लिये अपेक्षित सभी विषयों की प्रकाशकता हो ही सकती है। काण्व और माध्यन्दिन संहिता के समान इन शाखाओं में थोड़ा बहुत ही अन्तर है, इनमें परस्पर कोई उल्लेखनीय विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मन्त्रों और ब्राह्मणों में अनेक अंशों में विलक्षणता दिखाई देती है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद में तो यह विलक्षणता बहुत अधिक है। इसके उपरान्त भी 'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और छः अंगों के साथ चारों वेद मिलकर धर्म और विद्या के चौदह प्रस्थान माने जाते हैं' यह याज्ञवल्क्य स्मृति का वचन बतलाता है कि अठारह पुराण, न्याय-वैशेषिकशास्त्र, पूर्व और उत्तर मीमांसा शास्त्र, मनु आदि के १८ स्मृतिरूप धर्म-शास्त्र, व्याकरण प्रभृति ६ अंग और चार मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद् रूप वेद—ये विद्या के सभी शास्त्रों का संग्रह करने वाले चौदह प्रस्थान होते हैं। धर्म के द्वारा नियन्त्रित मानव के जीवन के लिये उपयोगी सभी विषय यहाँ आ जाते हैं। इसी दृष्टि से वेदों को सभी विषयों का प्रतिपादक कहा गया है। चार शाखाओं में भी केवल चार मन्त्रसंहिताएँ ही कैसे सभी विषयों का प्रकाशन कर सकती हैं?

यद्यपि कर्म, उपासना और तत्त्वज्ञान के क्रम से पूरे वेद का परब्रह्म के प्रतिपादन में ही महातात्पर्य है, तो भी कर्म और उपासना के प्रतिपादन में भी उसका अवान्तर तात्पर्य है ही, क्योंकि वेदों में बहुत जगह विविध यज्ञ, होम आदि कर्मों का प्रतिपादन मिलता है। इसी अभिप्राय से जैमिनि ने 'आम्नाय अर्थात् वेद के क्रियाप्रतिपादक होने से जो अंश क्रियाप्रतिपादक नहीं है, वह व्यर्थ हो जायगा', 'विधि वाक्यों के साथ ऐसे वाक्यों की एकवाक्यता होने से विधि के स्तावक रूप में उनकी सार्थकता हो जायगी' इत्यादि सूत्रों की रचना की है। यहाँ पर जैमिनि ने कोई नियम प्रदर्शित नहीं किया है, किन्तु वेद के स्वरूप का पर्यालोचन किया है और उसके अर्थ के निर्धारण के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। 'पूरा वेद धर्म का मूल है, इसी तरह धर्म के प्रति स्मृति और शील का भी प्रामाण्य है और सज्जनों का आचार भी इसमें प्रमाण है', 'धर्म के स्वरूप को जानने वाले के सामने सबसे बड़ा प्रमाण श्रुति है' वेद के प्रति यह मनु की उक्ति है। 'वेद ही धर्म का मूल है' यह गोतम का कहना है। न्यायदर्शन के भाष्य में वात्स्यायन ने कहा है—

नारद उवाच—'कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलं धनम्। कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥११०॥

युधिष्ठिर उवाच—कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम्। कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥१११॥

नारद उवाच—अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम्। रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥११२॥
(महा० सभा० ५।११०-११२)

एतदनुसारेणैव मन्त्रा ब्राह्मणानि श्रौतसूत्राणि याज्ञिकपद्धतयः परम्पराश्च सन्ति। तदनुरोधिन्येव पूर्व-मीमांसा, ब्रह्ममीमांसाऽपि नात्र प्रतिकूला। बुद्धिशुद्धयर्थं तदनुसारिणां यज्ञतपोदानादीनां त्वयाप्यङ्गीकारात्। तेन सायणादीनां व्याख्यानमेकपक्षीयं दयानन्दीयव्याख्यानमेव सर्वतोभद्रमित्यप्यपास्तम्।

अत एवाध्यात्मिकाधिदैवाधिभौतिकभेदेन वेदार्थत्रैविध्यमपि न मुख्यम्, अर्थभेदेन वाक्यभेदप्रसङ्गात्। अत एव सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयतीति प्रसिद्धिः। तथापि मुख्यार्थाविरोधेनैव लाक्षणिका गौणा अन्येऽर्थाः। केश्चिदपि तथाऽव्याख्यानाच्च। केषाञ्चिन्मन्त्राणामनेकार्थत्वप्रदर्शनेऽपि समेषामाद्योपान्तमन्त्राणां संगतिभिस्तन्निर्वाहो न केनचित्कृतः। यथा कर्मार्थता आर्षप्रमाणसिद्धा, न तथान्यार्थता। पूर्वोत्तरमीमांसानिष्णातैर्यथा—'सप्रसङ्ग उपोद्घात हेतुतावसरस्तथा। निर्वाहतैककार्यत्वे षोढा संगतिरिष्यते॥' इति संगत्या मन्त्रब्राह्मणादिव्याख्यानं क्रियते, न तथान्यैः। वाक्यानां परस्परविरोधे तत्परिहारोऽन्वेषणीयः। आधुनिकसंविधानेष्वपि परस्परविरोधे समन्वयाय प्रयत्यते। पूर्वोत्तरमीमांसयोस्तु विरोधपरिहारपराण्यनेकानि सूत्राण्यपि सन्ति।

'यज्ञ की विधि बताना मन्त्र और ब्राह्मण का विषय है, लोकव्यवहार की व्यवस्था करना धर्मशास्त्र का, इस प्रकार एक शास्त्र सबकी व्यवस्था नहीं कर सकता, अतः अपने-अपने विषय के अनुसार इनका प्रामाण्य व्यवस्थापित होता है, जैसा कि चक्षुरादि इन्द्रियों का अपने-अपने विषय के प्रति प्रामाण्य अभिप्रेत है'। यही बात महाभारत में भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है—

नारद ने कहा कि—क्या तुम्हारे वेद सफल हैं? क्या तुम्हारा धन सफल है? क्या तुम्हारी स्त्रियां सफल हैं? और क्या तुम्हारा शास्त्राध्ययन सफल है?' इस पर युधिष्टिर ने पूछा कि—'वेद कैसे सफल होते हैं? धन कैसे सफल होता है? स्त्रियाँ कैसे सफल होती हैं और शास्त्राध्ययन कैसे सफल होता है'। नारद ने उत्तर दिया कि—'अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठान करने से वेद सफल होते हैं, दान देने और उसका उपयोग करने में धन का साफल्य है, रति और पुत्र प्राप्ति से स्त्रियों का साफल्य है और शील और वृत्त का परिज्ञान कराकर शास्त्र सफल होते हैं'।

इसी के अनुसार मन्त्र, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, याज्ञिक पद्धतियां और परम्पराएं हैं। इन्हीं का अनुवर्तन करती हुई पूर्व-मीमांसा और ब्रह्ममीमांसा इनके प्रतिकूल नहीं जाती। बुद्धि की शुद्धि के लिये तदनुकूल यज्ञ, तप, दान आदि का प्रतिपादन ब्रह्ममीमांसा में भी किया गया है। तब सायण प्रभृति का व्याख्यान एकपक्षीय है और दयानन्द का व्याख्यान ही सब तरह से उत्तम है, यह कहना गलत है।

इसी लिये आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेद से वेद का मुख्यार्थ तीन प्रकार का नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थ के भेद से वाक्य में भेद मानना पड़ेगा। इसी लिये यह नियम प्रसिद्ध है कि एक बार उच्चरित शब्द एक बार ही अर्थ का ज्ञान कराता है। इस मुख्यार्थ के अविरोधी लक्षणा से अधिगत अन्य अर्थ गौण कहलाते हैं। आपकी पद्धति से वेदमन्त्रों का व्याख्यान कहीं उपलब्ध नहीं होता। कुछ मन्त्रों के अनेक अर्थ प्रदर्शित किये गये हैं, किन्तु सभी मन्त्रों की आद्योपान्त संगति बैठाते हुए इस पद्धति का निर्वाह किसी ने नहीं किया है। वेद मन्त्रों की कर्मार्थता जैसे आर्ष प्रमाणों से सिद्ध है, उसी तरह इन मन्त्रों की अन्यार्थता के साधक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पूर्व और उत्तर मीमासा में निष्णात विद्वान् जैसे प्रसङ्ग, उपोद्घात, हेतु, अवसर, निर्वाहता और एक-कार्यता रूप षडविध संगति के आधार पर मन्त्र और ब्राह्मण की व्याख्या करते हैं, उस तरह की व्याख्या अन्यत्र नहीं उपलब्ध होती।

शाखासम्बन्धिप्रलापस्य निराकरणेन 'शाखा एवं वेदार्थ' इति शीर्षकलेखस्यापि (पृ० ४७) निराकरणं जातमेव। ब्राह्मणग्रन्थानां यथा वाक्यशेषेण वाक्यार्थो ज्ञायते, समानवाक्यान्तरैर्वा वाक्यार्थो ज्ञायते, तथैव मन्त्रान्तरैरपि मन्त्रार्थो ज्ञायते। अस्मिन्नेवार्थे वेङ्कटमाधवीयवचनं प्रमाणं न त्वत्कुकल्पनापोषकम्। 'अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थानेवं मन्त्रान्तरैरपि। शाखास्वन्यासु पठितैर्विस्पष्टार्थैर्मनीषिणः॥' इत्यत्र 'अन्यासु' इति शब्देन व्याख्यास्यमानां शाकल-संहितामपि वेङ्कटमाधवः शाखामेव मन्यते। कश्चित्तु ब्राह्मणग्रन्थं वेदव्याख्यानमेव मनुते (पृ० ४७), तत्तु खण्डितमेव। अपि च, सामाजिका यदि ब्राह्मणग्रन्थं मन्त्रव्याख्यानमेवाङ्गीकुर्वन्ति, व्याख्यानमपि तत्तदृषिकृतं मन्यन्ते, तर्हि आर्षमेव तद्व्याख्यानं कुतो नाङ्गीकुर्वन्ति। ब्राह्मणेषु स्पष्टं यज्ञानां वर्णनं दृश्यते, तथा सति यज्ञो वेदार्थ इत्येव समायाति। तथापि मन्त्रव्याख्याने किमिति तदपहाय राजादिवर्णनपरत्वेन मन्त्रान् बलादिव योजयन्ति।

निरुक्तकारयास्क-दुर्ग-सायणादयस्तु तत्र तत्र निगमत्वेन ब्राह्मणानि समुद्धरन्त्येव। सायणस्तु मन्त्राणामिव ब्राह्मणानामपि विस्तृतं भाष्यं कृतवान्, तत्र तत्र यथायोग्यमाध्यात्मिकादीनप्यर्थान् व्यञ्जितवान् ऐतरेय-तैत्तिरीय-ब्राह्मणारण्यकशतपथादिव्याख्यानप्रसङ्गे। सामाजिकास्तु केवलं कुचोद्यमेव कुर्वन्ति।

आरण्यकान्युपनिषदश्च ब्राह्मणान्तर्गतत्वाद्वेदा एव, तथापि यथा मन्त्रान्तरैरपि मन्त्राणामर्थो व्यज्यते, तथैव क्वचिद् ब्राह्मणैर्मन्त्रार्था व्यज्यन्ते, क्वचिच्च मन्त्रैर्ब्राह्मणार्था अपि व्यज्यन्ते। यथा तैत्तिरीयोपनिषदि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', (तै० उ० २।१) इति सूत्रात्मकस्य ब्राह्मणस्य व्याख्यानम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥' इति। कात्यायनादिसूत्राण्यपि वेदार्थव्याख्यायामत्यन्तोपकारीणि, तैर्मन्त्राणां कर्मसम्बन्धः स्पष्टं व्यज्यते।

वाक्यों में परस्पर विरोध उपस्थित होने पर उसका परिहार खोजना पड़ता है। आधुनिक संविधानों में भी परस्परविरुद्ध अंशों के समन्वय पर बल दिया जाता है। पूर्व और उत्तर मीमांसा में इस प्रकार के विरोध के परिहार के लिये अनेक सूत्र हैं।

शाखा संबन्धी प्रलाप के निराकरण कर देने पर 'शाखा ही वेदार्थ हैं' इस शीर्षक के लेख का खण्डन भी हो ही जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यशेष से जैसे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, अर्थात् समान वाक्यान्तरों से वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाता है, उसी तरह दूसरे मन्त्रों की सहायता से भी मन्त्रों का अर्थ परिज्ञात होता है। इसी अर्थ में वेंकट माधव का वचन प्रमाण है, आपकी की गई खोटी कल्पना में नहीं। 'इसी तरह दूसरे मन्त्रों की सहायता से भी, जिनका कि अर्थ अन्य शाखाओं में स्पष्ट है, मन्त्रों के अर्थों को विद्वद्‌गण निश्चित करते हैं' यहाँ पर 'अन्यासु' इस शब्द से शाकल संहिता को भी, जिसकी कि वेंकट माधव व्याख्या करने जा रहे हैं, शाखा ही मानते हैं। कुछ लोग ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद का व्याख्यान मानते हैं। इसका खण्डन किया जा चुका है। एक बात और है। यदि आर्यसमाजी ब्राह्मण ग्रन्थों को मन्त्रों का व्याख्यान मानते हैं और उसको ऋषिकृत मानते हैं, तो फिर इस आर्ष व्याख्यान को स्वीकार क्यों नहीं करते। ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट ही यज्ञों का वर्णन किया गया है। इससे यही ज्ञात होता है कि यज्ञ ही वेद का अर्थ है। तब मन्त्र की व्याख्या करते समय वे इनको छोड़कर राजा आदि के वर्णन के अर्थ में मन्त्रों को क्यों जबर्दस्ती घसीटते हैं?

निरुक्तकार यास्क, दुर्ग, सायण आदि जहाँ-तहाँ निगम के नाम से ब्राह्मणों को उद्धृत करते ही हैं। सायण मन्त्र-संहिताओं के ही समान ब्राह्मणों का भी विस्तृत भाष्य करते हैं और उचित स्थान पर उनके आध्यात्मिक आदि अर्थ भी करते हैं, जैसा कि उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, शतपथ ब्राह्मण आदि के भाष्यों में किया है। आर्यसमाजी गण केवल कुतर्क करना जानते हैं।

आरण्यक और उपनिषद् भी ब्राह्मण के अन्तर्गत होने से वेद ही हैं, तो भी जैसे दूसरे मन्त्रों को सहायता से मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट होता है, उसी भाँति कहीं ब्राह्मणों की सहायता से मन्त्र का अर्थ जाना जाता है और कहीं मन्त्रों की सहायता से ब्राह्मणों का अर्थ। जैसे कि तैत्तिरीय उपनिषद् के 'ब्रह्मविद् उस परम स्वरूप को पाता है' इस सूत्रात्मक वाक्य का अर्थ—'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है। रहस्य में आवृत इस ब्रह्म को जो जान लेता है, वह सभी कामनाओं के साथ विपश्चित् ब्रह्म को भी प्राप्त कर

याज्ञिकानां रीत्या 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' (ऋ० सं० ४।५८।३) इत्यंशस्यायमेवाभिप्रायो यद् यज्ञात्मकधर्मरूपो वृषभो मन्त्रेण ब्राह्मणेन कल्पसूत्रेण संवद्धस्तैस्त्रिभिरेव सुज्ञेयः। सायणोव्वटमहीधरभाष्याण्येव तदनुसारित्वान्मुख्यो वेदार्थ इति स्पष्टमेव व्यज्यते।

वेदाङ्गोपाङ्गानामन्येषां वाऽऽर्षग्रन्थानां वेदव्याख्याने वेदार्थानुष्ठाने चोपयोगः। यत्तु ऋषिभिः सरलो वेदार्थः कुतो न कृतः (पृ० ५०) इत्याशङ्क्य निरर्थं बहु जल्पता ब्रह्मदत्तेन तेषां सार्वज्ञ्याभावादसामर्थ्यं दर्शितम्, यच्च तेनैव 'यास्कपाणिनिपतञ्जलिव्यासजैमिनिभिरेकैकविभागमेवाश्रित्य वेदार्थोपदेशः कृतः' (पृ० ५०) इति साकूतमीरितम्, तदतीव मन्दम्। तथात्वे त्वदीयदयानन्दीयभाष्यं सुतरामपूर्णमशुद्धं च सिद्धयति। यत्र मन्दरो मज्जति तत्र परमाणोः का कथा? यत्राषाढवाते चलति द्विपेन्द्रोऽपि कम्पते, तत्र चक्रीवतः का कथा। ऋषयोऽपि यदि वेदार्थं व्याख्यातुं न प्रभवन्ति, तदा पदे पदे स्खलितस्य दयानन्दस्य व्याख्यानं सर्वतोभद्रमित्युक्तिरुपहासायैव। वस्तुतस्तु—'तस्मान्नाल्पश्रुतैर्मन्दैः कार्यो वेदार्थनिर्णयः' इति वेङ्कटमाधवीयवचनेन सामाजिकैः शिक्षा ग्राह्या। एवंविधा अर्धनास्तिकाः सम्पूर्णनास्तिकेभ्योऽपि दुश्चिकित्स्या भवन्ति। ते निरङ्कुशत्वादृषीनप्यवजानन्ति।

सिद्धान्ततस्तु सर्वेऽप्येते सर्वज्ञकल्पा ऋषयो वेदार्थं जानन्ति। वेदार्थज्ञानसामग्रीमुपस्थापयन्ति। तदनुसारेणैवान्येऽपि वेदार्थं वोद्धुं प्रभवन्ति। सायणादयश्च निश्चितं वेदार्थं प्रतिपादितवन्तः। दयानन्दस्तु पलायनपरायणत्वादेवानेकाः संहिता ब्राह्मणानि सूत्राणि त्यक्त्वा परम्पराहीनत्वाद्यत्किञ्चिज्जल्पितवान्। यथा व्याकरणशास्त्रं शब्दतत्प्रकृतिप्रत्ययतदर्थनिरूपणेन वेदार्थज्ञानायोपयुज्यते, तथैव निरुक्तं शब्दार्थनिर्वचनाभ्यामुपकरोति। यथोक्तमेव

लेता हैं' इस मन्त्र से स्पष्ट होता है। कात्यायन आदि के सूत्र भी वेद के अर्थ की व्याख्या के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। उनसे मन्त्रों का कर्म से संवन्ध स्पष्ट होता है।

याज्ञिकों की पद्धति से 'त्रिधा बद्धो' इत्यादि मन्त्र का यह अभिप्राय है कि यज्ञात्मक धर्मरूप वृषभ मन्त्र, ब्राह्मण और कल्पसूत्र इन तीन से संवद्ध होने पर ही सुगमता से जाना जा सकता है। सायण, उव्वट, महीधर आदि के भाष्य इन्हीं का अनुसरण करते हैं, अतः स्पष्ट है कि इनके द्वारा प्रदर्शित अर्थ ही वेद का मुख्यार्थ है।

वेदाङ्ग, उपांग तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों का वेद की व्याख्या में तथा वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में उपयोग होता है। ऋषियों ने वेद का सरल अर्थ क्यों नहीं किया, इस आशंका के उत्तर में अनाप-शनाप वहुत लिखते हुए ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने कहा है कि ये सर्वज्ञ नहीं थे, अतः उनमें यह सामर्थ्य ही नहीं थी कि वे मन्त्रों का सरल अर्थ करते। साथ ही उन्होंने व्यंग्यात्मक भाषा में यह भी लिखा है कि यास्क, पाणिनि, पतंजलि, व्यास, जैमिनि आदि आचार्यगण केवल एक विभाग की व्याख्या के आधार पर ही वेद के अर्थ का उपदेश करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु उनका यह कथन बड़ा कमजोर है। यदि ऐसा मान लिया जाय, तब तो दयानन्द का भाष्य ही नितरां अपूर्ण और अशुद्ध मानना पड़ेगा। जहाँ मन्दर जैसा पहाड़ डूब सकता है, वहाँ परमाणु जैसी छोटी वस्तु के डूब जाने की बात ही क्या है? आषाढ मास की आँधी के सामने जब हाथी नहीं ठहर सकता, तो फिर गधे की क्या बिसात होगी? ऋषिगण भी यदि वेद का अर्थ नहीं कर सकते तो, स्थल स्थल पर लुढक जाने वाले दयानन्द का व्याख्यान सर्वश्रेष्ठ है, यह उक्ति मात्र उपहास के लिये ही हो सकती है। वास्तव में—'इसलिये अल्पश्रुत मन्दवुद्धि वाले व्यक्तियों को वेद के अर्थ का निर्णय नहीं करना चाहिये' इस वेंकट माधव की उक्ति से आर्यसमाजियों को शिक्षा लेनी चाहिये। इस प्रकार के आधे नास्तिक पूरे नास्तिकों की अपेक्षा अधिक खतरनाक हैं। निरंकुश होने के कारण ये प्राचीन ऋषियों की भी अवमानना करने लगते हैं।

वास्तव में ये सभी सर्वज्ञकल्प ऋषिगण वेद के अर्थ को जानते हैं। वेद के अर्थ को जानने के लिये सामग्री जुटाते हैं और इन्हीं की सहायता से दूसरे भी वेदार्थ को जानने में समर्थ होते हैं। सायण प्रभृति आचार्यों ने परम्परा से निश्चित वेदार्थ का प्रतिपादन किया है। दयानन्द तो पलायन वादी थे, अतः अनेक संहिताओं, ब्राह्मणों और सूत्रों को छोड़कर, किसी परम्परा के अभाव

दुर्गाचार्यण---'यस्मात् स्वतन्त्रमेवेदमर्थनिर्वचनम्, व्याकरणं तु लक्षणप्रधानम्' (नि० १।५) इति। तत्रार्थव्याख्यानं निर्वचनम्। तत्र बुद्धिवैशद्यार्थकार्थपर्य्यवसायीन्यनेकानि निर्वचनानि भवन्ति। यथा शृङ्गनिर्वचनानि—'शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणोतेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा'(नि० २।७)इति। (शिरसि) आश्रितत्वात् शृङ्गम्, हिंसार्थकशृणातेर्वा, तेन हिनस्ति इति शृङ्गम्, शिरसो निर्गतत्वाच्च। अत्रार्थानुगमान्यनेकानि निर्वचनानि प्रदर्शितानि। अर्थभेदाच्च निर्वचनभेदः। पृथिव्यर्थके निर्ऋतिशब्दे 'निरमयात्' (नि० २।७) निविष्टानि रमन्तेऽस्यामिति निर्वचनम्। दुःखसंज्ञिकायां निर्ऋतौ नितराम् ऋच्छति कृच्छ्रमायातीति निर्ऋतिः।

सर्वथाऽपि निर्वचनेऽपि सापेक्षतैव। तथैव च दुर्गाचार्येणोक्तम्—'यद्यपि गतिकर्मणां द्वाविंशतिसंख्यानामविशिष्टं गमनमेकोऽर्थः, तथापि प्रसिद्धचनुरोधाय कसतिर्लोठते श्च्योतन इत्येवमादयः प्रतिनियतसत्त्वगमनविषया एव द्रष्टव्याः। तद्यथा य एवोत्कटिक उरसा वा गच्छति स एव कसतीत्युच्यते, नेतरो य ऊर्ध्वं गच्छति। य एव निम्नेन कश्चिदचेतनो लोष्टादिरन्यो वा चेतनः पुरुषादिरकामकारेण गच्छति, स एव लोठत इत्युच्यते। तथा यदेव द्रवद्रव्यं किञ्चित् स्रवति तदेव श्च्योतत इत्युच्यते' (नि० ४।१)। यत्रानवगतसंस्कारेषु नैगमेषु पदेषु गत्यन्तरं नास्ति, यथार्थं विभक्तीः संनमयेद् इत्यादिकं न यथाश्रुतार्थोपपत्तौ सत्यां तथा सत्यर्थेऽराजकतापत्तेः।

यदुक्तं प्रतिमन्त्रस्याध्यात्मिकाधिदैविकयज्ञभेदेन त्रिविधोऽर्थो भवति। यत्र भाष्ये त्रिविधोऽर्थो भवेत्, तदेव वेदार्थव्याख्यानम्। तत्समर्थनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' (नि० १।२०) इति निरुक्तवचनमुद्धृतम् (पृ० ५५); तत्तु

में जो कुछ मन में आया वे लिखते चले गये। जैसे व्याकरणशास्त्र शब्द का, उसके प्रकृति-प्रत्यय का और उसके अर्थ का निरूपण कर वेदार्थ के ज्ञान में सहायक होता है, उसी तरह निरुक्त भी शब्द और अर्थ के निर्वचन के द्वारा वही कार्य करता है। दुर्गाचार्य ने कहा भी है कि—'क्योंकि यह अर्थनिर्वचन का प्रकार एक स्वतन्त्र विषय है। व्याकरण तो लक्षणप्रधान है, अर्थात् शब्द के प्रकृति-प्रत्यय आदि लक्षणों का व्याख्यान करता है'। निर्वचन में अर्थ की व्याख्या की जाती है। वहाँ पर बुद्धि के परिष्कार के लिये एक ही अर्थ को प्रदर्शित करने वाले अनेक निर्वचन किये जाते हैं। जैसे कि निरुक्त में शृंग शब्द के अनेक निर्वचन किये गये हैं—'श्रयति, शृणोति और शम्नाति धातु से, अथवा शरण के लिये निकला, शिर से निकला है, इस अर्थ में शृंग का निर्वचन किया जा सकता है'। इसका अर्थ है कि शिर में आश्रित होने से यह शृंग कहलाता है, अथवा हिंसा अर्थ वाले शृणाति धातु से जिससे मारता है, वह शृंग कहलाता है। शिर से निकलता है, इसलिये भी इसको शृंग कहते हैं। इस प्रकार के अर्थ के अनुसार अनेक निर्वचन बताये जाते हैं। अर्थ के भेद से भी निर्वचन भिन्न होते हैं। जैसा कि पृथिवी के अर्थ में 'निर्ऋति' शब्द का निर्वचन 'निरमणात्' किया जाता है। इसका अर्थ है कि 'जिस पृथिवी में निवास कर प्राणी सुखी होते हैं। इसके विपरीत निर्ऋति शब्द का अर्थ जब दुःख किया जाता है, तो उसका निर्वचन 'जिसके कारण प्राणी नितान्त कष्टदायक अवस्था में पहुँच जाता है' यह होता है।

निर्वचन भी सदा सापेक्ष होता है। यही बात दुर्गाचार्य ने भी कही है—'यद्यपि गतिकर्मक २२ धातुओं का अविशेषेण एक ही गमन अर्थ है, तो भी प्रसिद्धि के अनुरोध से कसन, लोठन, श्च्योतन आदि का किसी निश्चित प्राणी के गमन में ही प्रयोग किया जाता है। जैसे कि जो प्राणी उकड़ू बनकर चलता है, अथवा छाती के बल चलता है, वहीं कसति का प्रयोग होता है, उसके लिये नहीं, जो कि उठकर चलता है। जो कोई अचेतन ढेला आदि की तरह चेतन पुरुष भी अनिच्छा से चलता है, वहीं पर 'लोठते' इस पद का प्रयोग होता है। तथा जो कोई तरल द्रव्य कुछ बहने लगता है तो उसके लिये 'श्च्योतते' धातु का प्रयोग होता है'। जहाँ पर किसी प्रकार के शब्द संस्कार की अवगति न हो, इस तरह के नैगम पदों में किसी दूसरी गति के अभाव में अर्थ के अनुसार विभक्त में परिवर्तन का विधान है, यथाश्रुत पदों से अर्थ की उपलब्धि हो जाने पर नहीं, क्योंकि ऐसा करने पर अर्थ प्रक्रिया में अराजकता आ जायगी।

प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधियज्ञ के भेद से तीन प्रकार का अर्थ होता है। अतः जिस भाष्य में उक्त तीनों प्रकार का अर्थ किया गया हो, वही वेद का सही व्याख्यान है। इसके समर्थन में 'अर्थं वाचः' यह निरुक्त वाक्य उद्धृत

तदर्थापरिज्ञाननिबन्धनमेव। तत्र—'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥' (ऋ०१०।७१।५) तदर्थस्तु—उत अपि त्वमेकम्। एकमपि वागर्थज्ञं बहूनाहुः। कीदृशम्? विदुषः सख्ये सखिभावे देवसख्ये यस्मिन् देवानां सखिभावस्तस्मिन् सख्ये स्थाने रमणीये देवलोकस्थाने स्थिरमविचालितं विपरीतार्थं गृहीतार्थमाहुः ऋचः, नैनं हिन्वन्ति नैनं वागर्थज्ञं बहवोऽनर्थज्ञा मन्दचेतसो बहवोऽपि नानुगन्तुं प्रभवन्ति। अत एवैकमपि बहूनाहुः। क्व नानुगन्तुं प्रभवन्तीत्याह वाजिनेषु वाग्ज्ञेयेष्वर्थेषु बलवत्स्वपि दुर्ज्ञेयेषु समुद्रपिहितरत्नतुल्येषु देवताज्ञानादिषु व्याकर्तव्येषु नान्येऽवगन्तुं प्रभवन्ति। वागर्थज्ञस्तु शक्नोति तान् व्याकर्तुम्। एवमर्थज्ञं प्रशस्योत्तरार्द्धेनानर्थज्ञो निन्द्यते—एष अधेन्वा चरति। सा अधीता वेदलक्षणा वाग् इह परत्र च न धिनोति नाभीष्टं पूरयति, यस्या अर्थो न विज्ञायते। तया अर्थज्ञानरहितयाऽनभीष्टदोहया अधेन्वा वाचा चरति निरर्थकं पर्य्यटति। यथा कश्चिन्मायया सुवर्णं बिभृयात्तथैवायमिमामपुष्पां वाचं बिभर्ति, सा च नास्मै कामान् दुग्धे। कीदृशान् कामान्? ये तस्या वाचो मनुष्यस्थानेषु देवतास्थानेषु च दोग्धव्याः प्राप्तव्याः कामास्तानित्यर्थः। य एवमफलामपुष्पां श्रुतवान् भवति, अन्येभ्यः श्रुत्वाऽवस्थितो भवति, तस्याध्ययनात् पाठमात्रादृते नान्यदस्ति वाचि किञ्चिन्मृग्यम्। यथा ह्यसौ पश्यत्यपुष्पामफलां तथैव भवति, अथवा तदल्पत्वं नञर्थः। तथा चार्थज्ञानरहिता वागल्पफलैव भवतीत्यर्थः। अध्ययनमात्रेऽपि किञ्चिदल्पं फलं भवत्येव, न परिश्रमो व्यर्थः। वास्तवं वाचः किं पुष्पं किं फलमित्याह—रूपककल्पनया पुष्पफलविभागेन याज्ञदैवते देवताध्यात्मे वा पुष्पफले। यज्ञपरिज्ञानं याज्ञं पुष्पं देवतापरिज्ञानं दैवतं फलम्। दैवतं पुष्पम् अध्यात्मज्ञानं फलमिति वा। वेदलक्षणायाः सर्वस्या एव वेदराशेस्त्रिधा विभागः। यदाभ्युदयलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते, तदा याज्ञं यज्ञपरिज्ञानं तदनुष्ठानं च पुष्पम्, पुष्पस्येव तस्य पूर्वमेव विस्तारात्। दैवतं देवताज्ञानं तत्प्रसादश्च फलम्। यदा निःश्रेयसलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते,

किया गया है। इस प्रकरण का ठीक अर्थ न जान पाने के कारण ही यह सब कहा जाता है। निरुक्त में इस प्रसंग में 'उत त्वं सख्ये' इत्यादि मन्त्र उदाहृत किया गया है। इसका यह अर्थ है—वस्तुतः विद्वानों का कहना है कि वाणी के सही अर्थ को जानने वाला एक ही विद्वान् अनेकों के समान है। देवताओं की मित्रता के स्थान स्वर्ग में ऐसे अर्थविद् विद्वान् की स्थिति अविचल होती है, ऐसा वेदमन्त्रों का कहना है। इस अर्थज्ञ अकेले विद्वान् की मन्दबुद्धि, अर्थ से अनभिज्ञ अनेक व्यक्ति बराबरी नहीं कर सकते, जब कि समुद्र में छिपे रत्नों के समान अत्यन्त दुरुह पदों के अर्थ को समझने का प्रसंग आता है। इसीलिये इस एक ही अर्थज्ञ को अनेक कहा गया है। क्योंकि इन दुरुह पदों के अर्थ को अनेक अविद्वान् मिलकर भी नहीं समझ सकते, किन्तु अर्थज्ञ अकेला ही उनको समझ लेता है। इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्ध से अर्थज्ञ की प्रशंसा करके उत्तरार्ध से अनर्थज्ञ की निन्दा की गई है। यह अनर्थज्ञ व्यक्ति बिना गाय का है, अर्थात् वह जो विद्या पढ़ता है, वह उसके लिये न तो इस लोक में और न पर लोक में ही फलवती होती है, क्योंकि वह उसके अर्थ को नहीं जानता। उस अर्थज्ञानरहित वाणी के साथ वह उसी प्रकार व्यर्थ विचरण करता है, जैसा कि कोई दूध न देने वाली गाय के साथ विचरण करता हो। जैसे कोई इन्द्रजाल से उत्पादित सुवर्ण को धारण करना चाहता हो, उसी तरह बिना अर्थ की इस वाणी को धारण करने वाला भी उससे अपनी मनोकामनाओं को नहीं पा सकता, जो कि उस वाणी से मनुष्यलोक और देवलोक में उसको मिल सकती हैं। जो व्यक्ति इस प्रकार की अफल और अपुष्प वाणी को दूसरे से सुन कर रह जाता है, उसके लिये उसको पढ़ लेने के सिवाय वाणी का और कोई प्रयोजन नहीं है। जैसी अफल और अपुष्प वाणी को वह देखता है, उसी तरह की स्थिति उसका हो जाती है। अथवा यहाँ पर नञ् का अर्थ अल्पता है। अर्थात् अर्थज्ञान के बिना पढ़ी गई वाणी थोड़ा फल देती है। केवल अध्ययन मात्र से भी थोड़ा बहुत फल मिलता ही है, वह परिश्रम व्यर्थ नहीं जाता। वाणी का वास्तविक फल और पुष्प क्या है? रूपक की कल्पना कर याज्ञ और दैवत अथवा देवता और अध्यात्म को यहाँ पर पुष्प और फल कहा गया है। यज्ञ का परिज्ञान यहाँ पर याज्ञ पुष्प है और देवता का परिज्ञान दैवत फल। अथवा देवता का परिज्ञान पुष्प और अध्यात्मज्ञान फल है। सारी वेदराशि तीन प्रकार से विभक्त हो जाती है। जब अभ्युदयलक्षण धर्म अभिप्रेत होता है, तब याज्ञ अर्थात् यज्ञ का परिज्ञान और उसका अनुष्ठान पुष्प कहलाता है, क्योंकि पुष्प के समान पहले यज्ञ कर्म का विस्तार होता है। देवता का ज्ञान और उसकी प्रसन्नता फल है। जब निःश्रेयस्,

तदा पूर्वतने उभे अपि याज्ञदैवते पुष्पम् । पुष्पत्वमेव धर्मं बिभृतः। दैवते याज्ञस्यान्तर्भावात् । दैवतपदेन कर्मानुष्ठानसहित-देवतोपासनं गृह्यते। ब्रह्मात्मसाक्षात्कारापेक्षितस्वान्तर्नैर्मल्यैकाग्र्यसम्पादकत्वात् पुष्पस्थानीयं तत् । तदनन्तरं मुमुक्षु-रधियज्ञमधिदैवतं चोच्छिद्याध्यात्ममेवाभिसंपादयति। स एवात्मयाजी भवति, अध्यात्मार्थत्वादधिदैवतस्य, तत्रैव पुरुषार्थ-पर्य्यवसानात् । दुर्गाचार्य्यश्च स्पष्टमेव वक्ति—स एष सर्वोऽपि मन्त्रब्राह्मणराशिरेव त्रिविधो विभक्तः, तीव्रमुमुक्षुत्व-प्रादुर्भावात्पूर्वमधियज्ञाधिदेवपरस्तदनन्तरं तु ब्रह्मात्मपर एव सर्वोऽपि वेदराशिः, बुद्धिनैर्मल्यतदेकाग्र्यसम्पादनद्वारा तयोरपि परब्रह्मपर्यवसायित्वात् । अत एव पूर्वमीमांसायां सर्वस्यैव वेदस्य कर्मपर्य्यवसायित्वमुक्तम्, 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' (मी० सू० १।२।१) इति । उत्तरमीमांसायां तु 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इति । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (का० १।२।१५) इत्यादिश्रुतिषु सर्वस्यैव वेदस्य ब्रह्मपर्य्यवसायित्वमुक्तम् ।

गीतायां च—'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (श्री० भ० गी० २।४५) इति कर्मकाण्डाभिप्रायेणोक्तम् । 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (श्री० भ० गी० १५।१५) इति ज्ञानकाण्डाभिप्रायेणोक्तम् । यज्ञदेवताप्रतिपादनस्यापि ब्रह्मात्मपद-प्राप्त्यर्थत्वात्तात्पर्यविषया सफलवेदराशेर्ब्रह्मपर्यवसायित्वम्, सर्वेषामपि शब्दानां जातौ शक्तेरङ्गीकारात्, जातेश्च स्वव्यापकीभूतायां परसत्तायां सत्ताजातौ, तस्याश्च ब्रह्मण्येव पर्य्यवसानात् । न केवलं वैदिकानामपि तु समेषामपि शब्दवाक्यतत्कदम्बानां ब्रह्मण्येव पर्य्यवसानम् । वेदराशेरीश्वरपरत्वव्याख्यानं तु नासंगतम् । 'सर्वे वेदा यत्पदमा-मनन्ति' (का० १।२।१५) इत्यादिश्रुतिसमर्थितत्वात्, स्थूलदृष्ट्या अभिधाशक्त्या यज्ञदेवतादिप्रतिपादनपराणामपि वेदवाक्यानां लक्षणादिभिर्ब्रह्मपरत्वप्रतिपादनसंभवात्। अत एव यथा गोपाङ्गनानां ते ते गोपा लौकिकाः पतयः पत्याभासा एव श्रीकृष्णस्तु मुख्यः पतिः, तथैवेन्द्रवरुणादयः श्रुतीनामवान्तरतात्पर्य्यगोचराः । ब्रह्मात्मतत्त्वं तु श्रुतीनां मुख्यः परमार्थः । तथा च वेदानां धर्मब्रह्मपरत्वं वा प्रामाणिकमेव, तत्रापि पूर्वेण मन्त्रेण निरुक्तवाक्येन वा कथञ्चिदप्येतन्न

मोक्षलक्षण धर्म अभिप्रेत होता है, तो पहले के दोनों याज्ञ और दैवत पुष्प स्थानीय कहे जाते हैं । पुष्प के समान ये धर्म को धारण करते हैं । दैवत कर्म में याज्ञ कर्म का अन्तर्भाव हो जाता है । दैवत पद से कर्मानुष्ठान सहित देवतोपासन गृहीत होता है । ब्रह्मात्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिये अपेक्षित अन्तःकरण की निर्मलता और एकाग्रता का संपादक होने से देवतोपासन यहाँ पुष्पस्थानीय है । उसके बाद मुमुक्षु अधियज्ञ और अधिदैवत को छोड़कर अध्यात्म के संपादन में ही लग जाता है । वह आत्मयाजी कहलाता है । अधिदैव का उपयोग अध्यात्म के लिये है, वहीं पुरुषार्थ का पर्यवसान हो जाता है । दुर्गाचार्य स्पष्ट ही कहते हैं कि मन्त्र और ब्राह्मण के रूप में विभक्त यह सारा वेदवाङ्मय तीन विभागों में विभक्त हो जाता है । तीव्र मुक्ति की इच्छा के प्रादुर्भाव होने से पहले इसका तात्पर्य अधियज्ञ और अधिदेव में होता है और बाद में सारा वेद ब्रह्मात्मपरक हो जाता है, क्योंकि अधियज्ञ और अधिदैव का भी बुद्धि की निर्मलता और चित्त की एकाग्रता के संपादन द्वारा परब्रह्म में ही पर्यवसान होता है । इसीलिये पूर्वमीमांसा में सारे वेद का तात्पर्य कर्मपरक माना है, इसमें 'आम्नायस्य०' इत्यादि सूत्र प्रमाण है । 'सर्वापेक्षा च०' इत्यादि वेदान्तसूत्र और 'सर्वे वेदा०' इत्यादि उपनिषद् वेद का ब्रह्म में पर्यवसान मानते हैं ।

गीता का 'त्रैगुण्यविषया०' इत्यादि वचन कर्मकाण्ड के अभिप्राय से और 'वेदैश्च०' इत्यादि वचन ज्ञानकाण्ड के अभिप्राय से उक्त है । यज्ञ और देवता का प्रतिपादन भी ब्रह्मात्मपद की प्राप्ति के लिये ही है । इस प्रकार सकल वेदराशि का पर्यवसान तात्पर्य-विषया ब्रह्म में ही होता है । सभी शब्दों की शक्ति जाति में ही मानी जाती है, जाति की शक्ति अपनी व्यापक परसत्ता में होती है और परसत्ता का पर्यवसान भी ब्रह्म में ही होता है । केवल वैदिक ही नहीं, सभी शब्द, वाक्य और उनके समुदाय का ब्रह्म में ही पर्यवसान होता है । वेदराशि की ईश्वरपरक व्याख्या असंगत नहीं है, क्योंकि यह 'सर्वे वेदा०' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से समर्थित है और स्थूल दृष्टि से अभिधा वृत्ति के द्वारा यज्ञ, देवता आदि के प्रतिपादक वेदवाक्यों की लक्षणावृत्ति से ब्रह्मपरकता का प्रतिपादन किया जा सकता है । इसीलिये जैसे गोपियों के लौकिक पति केवल आभासमात्र हैं, उनके वास्तविक पति तो श्रीकृष्ण हैं, उसी तरह इन्द्र, वरुण आदि में श्रुतियों का अवान्तर तात्पर्य है, श्रुतियों का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मतत्त्व ही है । इस तरह से वेदों की धर्म और

सिद्धयति यत्प्रत्येकमन्त्रस्य त्रयोऽर्था अवश्यं व्याख्यातव्या इति । 'तिस्र एव देवताः' (नि० ७।५) इत्यनेन तु स्पष्टमेव देवतात्रैविध्यमुक्तमिति नानेनापि मन्त्राणामर्थत्रैविध्यनियमनम् । वस्तुतस्तु निरुक्तकारयास्कस्य तट्टीकाकारस्य दुर्गाचार्य्यस्य च सिद्धान्ता विडम्बन्त्येव सामाजिकानां मतम् । एतच्च प्रतिपादितं विस्तरेण पूर्वम् ।

वेदार्थज्ञानाय निरुक्तविद्या अपेक्षितेति तु प्राचीनैराचार्य्यैरप्यभ्युपगम्यत एव । यदुक्तं 'वेदस्य सर्व एव शब्दाः यौगिकाः प्रकृतिप्रत्यययोगादेव स्वार्थं व्यञ्जयन्तीत्येष यास्कसिद्धान्तः' इति, तदपि शब्दार्थविषयबुद्धिवैशद्यायैव न बलात् स्वाभीष्टार्थे वैदिकशब्दानां योजनाय । तत एव रूढिवादिनामिव नैरुक्तानामपि नियतार्थतैव शब्दानाम् । अत एव 'यः कश्च तत् कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्' (नि० १।१४) इत्यनेकेषामेकक्रियायोगादेकनामता प्रसज्येतेत्यस्य समाधानं कृतं दुर्गाचार्य्येण पश्यामः । 'समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज इति । तक्षन् कश्चित्तक्षोच्यते । अन्यस्तक्षन्नपि न तक्षेत्युच्यते । कोऽत्र हेतुरिति चेच्छृणु, लोकमेव पृच्छ । तमेवोपालभस्व । न मयैष नियमः कृतः । यथा समानमीहमानानां कश्चिदेवार्थेन युज्यते कश्चिन्न । न चेदानीमेकोऽर्थेन संयुज्यत इत्यन्यैरपि संयोक्तव्यमेकेन वा लब्धमित्यन्यैरपि लब्धव्यम् । स्वभावतो हि शब्दानां क्रियाजत्वेऽपि सति काञ्चि-देव क्रियामङ्गीकृत्यावस्थितिर्भवतीति । अथवा क्रियातिशयकृतो वा नियमः स्यात्' (नि० १।१४) इत्यादिभिर्दुर्गाचार्येण स्पष्टीकृतम् । एतेन योगवृत्त्याग्नीन्द्रादिशब्दैः स्वैरं क्वचिद्राजानं क्वचिन्मन्त्रिणं क्वचित्सेनापत्याद्यर्थानुपाददानाः सामाजिकाः प्रत्याख्याता एव । अनेकेषामेकक्रियायोगेऽपि व्यवस्थित एव शब्दनियमः स्वभावतो लोके! निरुक्तेतु यथाव-स्थितानां शब्दानामन्वाख्यानमात्रमेव क्रियते । लक्षणशास्त्रस्यापि रूढ्यनुविधायित्वमेवाङ्गीकृतं नैरुक्तैरपि । भवति हि

ब्रह्मपरता दोनों ही प्रामाणिक हैं, तो भी पूर्वमन्त्र से या निरुक्त वाक्य से भी यह किसी तरह से सिद्ध नहीं होता कि प्रत्येक मन्त्र का तीनों प्रकार का अर्थ बताया जाना चाहिये । 'तिस्र एव देवता' इससे तो स्पष्ट ही देवता की त्रिविधता का प्रतिपादन किया गया है, अतः इससे मन्त्रों की त्रिविधता नहीं सिद्ध होती । वास्तव में निरुक्तकार यास्क और उसके भाष्यकार दुर्गाचार्य के सिद्धान्त आर्य-समाजियों के मत के विपरीत ही हैं । 'देवतोपपरीक्षा' (७।४) प्रभृति निरुक्त के वाक्यों की व्याख्या करते समय इस पर पहले ही विस्तार से विचार किया जा चुका है ।

वेदार्थ के ज्ञान के लिये निरुक्त विद्या अपेक्षित है, इस बात को प्राचीन आचार्यगण भी मानते ही हैं । यह जो कहा गया है कि 'वेद के सभी शब्द यौगिक हैं, अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय के योग से ही अपने अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, यह यास्क का सिद्धान्त है' । इसका यह अभिप्राय है कि इससे शब्दार्थविषयक बुद्धि खुलती है । इसके द्वारा वैदिक शब्दों का जबर्दस्ती मन चाहा अर्थ नहीं किया जा सकता । एक रूढिमात्र को मानने वालों की तरह निरुक्तकारों के मत में भी शब्दों के अर्थ नियत हैं । इसी लिये 'जो कोई वह कार्य करेगा, उन सबका उससे संबन्ध माना जायगा । इस प्रकार एक क्षरण क्रिया से संयुक्त अनेक पदार्थों का एक ही नाम हो जायगा' इसका समाधान दुर्गाचार्य ने इस प्रकार किया है—'यह देखने में आता है कि समान क्रिया करने वाले कुछ लोगों का एक नाम होता है, दूसरों का नहीं होता । जैसे कि तक्षा, परिव्राजक, जीवन, भूमिज आदि शब्द हैं । कोई एक व्यक्ति तक्षण क्रिया करता हुआ तक्षा कहलाता है, यह काम करने वाला दूसरा व्यक्ति इस शब्द से अभिहित नहीं होता । इसमें क्या कारण है ? सुनो, इसका उत्तर लोगों से ही पूछो । तुम उन्हीं को उलाहना दो, यह नियम मेरा बनाया हुआ नहीं है । जैसे कि समान इच्छा के रहते हुए भी किसी की इच्छा पूरी होती है, दूसरे की नहीं, तो इसके लिये कोई यह नहीं कहता कि एक की कामना पूरी हुई तो दूसरे की कामना भी अवश्य पूरी क्यों नहीं हुई ? एक ने कोई चीज पाई तो दूसरे ने क्यों नहीं पाई ? स्वभावतः शब्दों की उत्पत्ति क्रिया के अनुसार होती है, तो भी इनकी अवस्थिति किसी एक क्रिया के अनुसार ही मानी जाती है । अथवा जिस क्रिया की अधिकता जिसमें रहती है, तदनुसार नियम बनता है । इस प्रकार दुर्गाचार्य ने इस प्रकरण को स्पष्ट किया है । दुर्गाचार्य के इस कथन से आर्य-समाजियों की अर्थ करने की इस मनमानी प्रवृत्ति का खण्डन हो जाता है कि योग वृत्ति से अग्नि, इन्द्र आदि शब्दों का कहीं राजा, कहीं मन्त्री और कहीं सेनापति अर्थ स्वच्छन्दता से किया जा सकता है । अनेक व्यक्तियों का एक क्रिया से योग होने पर भी लोक में शब्द का नियम व्यवस्थित है । निरुक्त में यथावस्थित शब्दों का उपदेश मात्र, निर्वचन मात्र किया जाता है । निरुक्तकारों ने लक्षणशास्त्र को

निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः। तत एव प्रथनात् पृथिवीति निर्वचने क एनामप्रथयिष्यत् किमाधारश्चेत्याद्यनुपपत्ति-माशङ्क्य पृथिव्याः पृथुत्वदर्शनादपि निर्वचनमुपपादितम्। अत एव 'कदाचन स्तरीरसि' (का० सं० ८।२) इति मन्त्र ऐन्द्र उच्यते। 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति विनियोगबलात्तु पारमैश्वर्य्ययोगाद् गौण्या वृत्त्या गार्हपत्योऽपीन्द्रपदबोध्यो भवति। धातूनामनेकार्थत्वेन प्रामाणिकान्येव निर्वचनान्युक्तानि, न स्वैरतया, अव्याहतप्रसरत्वात्तस्याः।

यदप्युक्तं 'वेदेष्वनित्येतिहासो व्यक्तिविशेषस्येतिहासो नास्त्येव निरुक्तसिद्धान्ते' इति, तदपि चिन्तनीयम्, केषाञ्चित् दृष्टचा तथात्वेऽपि नैतिहासिकपक्षोऽपलापमर्हति, निरुक्त एव तत्पक्षस्यापि दर्शनात्। तद्यथा 'को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः' (नि० २।१६)। इन्द्रोऽस्य शत्रुः शमयिता वा। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। वैद्युतेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेनोपतप्यमाना आपः स्पन्दन्ते। उपमार्थेन तु युद्धवर्णा भवन्ति। युद्धवर्णनं तु रूपककल्पनयाऽप्युपपद्यते। अत एव मन्त्रवर्णोऽपि युद्धं मायामात्रमाह—'यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से॥' (ऋ० १०।५४।२)। हे इन्द्र! त्वं नानाप्रकारं तत्वा वावृधानः शरीरेण वावृधानः विग्रहवान् भूत्वा पुनः पुनर्वर्धमानः, यच्चास्मीयानि वीर्य्याणि प्रब्रुवाण इवाचरः, माया सा तव। ऐश्वर्य्ययोगात्तथान्यथा वा भवति यतस्तव शत्रुः प्रत्यनीकः पुरा वा अद्य न कश्चिदासीदस्ति वा यावद्वीर्य्यं किञ्चिदस्ति सर्वं तत्त्वमेव। 'वीर्य्यं वै प्राणो वीर्यमिन्द्र इति ह विज्ञायते' (मै० सं० १।६।९)।

तथैव 'प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (नि० १०।४६) इत्यत्रापि पुरूरवा इत्यस्य प्राण एव हि पुरूरवा स बहुधा रोरूयते इति पक्षं व्याख्याय 'समस्मिञ्जायमान आसतग्ना उतेम वर्धयन्नद्यः स्वगूर्ताः। महेयत्वा पुरूरवो रणाया वर्धयन् दस्युहत्याय देवाः॥' (ऋ० १०।९५।७) इत्यस्य मन्त्रस्य तादृशपुरुषपरत्ववर्णनावसरे 'आपो

भी रूढि का अनुवर्ती ही माना है। शब्द के प्रयोग के निश्चित हो जाने पर तदनुसार यौगिक व्युत्पत्ति ढूंढ ली जाती है। इसी लिये 'प्रथन होने से पृथिवी है' इस निर्वचन में इसको किसने नापा और कहाँ वह खड़ा था? इस शंका के उठने पर पृथिवी की विशालता के अनुसार भी निर्वचन किया गया है। इसीलिये 'कदाचन०' इत्यादि मन्त्र का देवता इन्द्र को माना जाता है। 'ऐन्द्रचा गार्हपत्य' इस विनियोग के आधार पर पारमैश्वर्य के योग से गौणी वृत्ति के आधार पर गार्हपत्य अग्नि भी इन्द्र पद से बोधित होती है। धातुओं की अनेकार्थता के आधार पर निरुक्तकार ने प्रामाणिक निर्वचन ही दिये हैं। इसमें उन्होंने थोड़ी सी भी मनमानी नहीं की, क्योंकि ऐसा करने पर उस पर कहीं भी अंकुश लगाना असंभव हो जायगा।

यह कहना कि निरुक्त के सिद्धान्त के अनुसार वेदों में अनित्य इतिहास, अर्थात् विशेष व्यक्तियों का इतिहास नहीं है, इस लिये विचारणीय हो जाता है कि कुछ लोगों की दृष्टि से ऐसा होने पर भी इतिहास का पक्ष एकदम उपेक्षित नहीं है, क्योंकि निरुक्त में ही इस पक्ष का भी प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि—'वृत्र कौन है? निरुक्तकारों के मत से मेघ और ऐतिहासिकों की दृष्टि से त्वाष्ट्र असुर' इन्द्र इसका शत्रु अथवा शमयिता है। जल और ज्योति के मिलने से वर्षा होती है। विद्युत् की ज्योति से, जो वायु से आवेष्टित हो, उपतप्त होकर जल बरसने लगता है। उपमा अलंकार के द्वारा वर्णित भाषा में यही घटना युद्ध के वर्णन जैसी हो जाती है। रूपक की कल्पना से भी युद्ध का वर्णन बनता है। इसीलिये मन्त्र में भी युद्ध को कोरी माया बताया है। 'यदचरस्तन्वा०' इत्यादि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'हे इन्द्र, तुम भाँति-भाँति के शरीर धारण कर अपना बल बता रहे हो और जो अपने पराक्रम का बखान करते जा रहे हो, यह सब तुम्हारी माया है। ऐश्वर्य के कारण तुम अनेक शरीर धारण कर लेते हो। तुम्हारा कोई शत्रु न पहले था और न अब है। इस जगत् का यावन्मात्र वीर्य सब तुम्हीं हो। यह प्राण ही वीर्य है, यह इन्द्र ही वीर्य है, ऐसा श्रुति में कहा भी गया है।

इसी प्रकार 'प्रीतिर्भवति०' यहाँ पर भी 'पुरूरवा' इस पद का 'प्राण ही पुरूरवा है, क्योंकि वही नाना प्रकार से कोलाहल करता है' इस पक्ष की व्याख्या के बाद 'समस्मिन् जायमानः' इस मन्त्र की व्याख्या करते समय उसको पुरुषपरक बताते हुए जल को देवपत्नी बताया है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'इस पुरूरवा के पैदा होने पर, अर्थात् वर्षा काल में वर्षा के रूप में परिणत

देवपत्न्यो वा' (नि० १०।४७) इत्युक्तम्। एतस्मिन् पुरूरवसि जायमाने वर्षकर्मण्यात्यानं लभमाने प्रावृट्काले समासत ग्ना आपः समागम्य तं परिकार्य्य तद्विधेयतामुपगम्य आसते तिष्ठन्ति। उतापि वर्षासु स्वगूर्ताः स्वयं गामिन्यो भूत्वा नद्य इमं वर्धयन् एनं वर्धयन्ति। प्रत्यक्षीभूतमाह—हे पुरूरवः! यत्त्वा त्वां महे महते रणाय मेघेन सह रमणीयाय संग्रामाय अवर्धयन् वर्धयन्ति माध्यमिका देवा दस्युहत्याय मेघवधाय तस्मात्त्वामवश्यं ग्नाः समागम्यासते वर्धयन्ति च नद्यः। ऐतिहासिकपक्षेऽपि दुर्गाचार्य्येण तथैव व्याख्यातम्। समागम्यैतस्मिन्नैडे पुरूरवसि आसत ग्नाः सर्वा देवपत्न्यः। स हि स्त्रीणां स्वभावो यत्प्रजायमानां स्त्रियं परिवार्य्यासते। उतेममवर्धन् नदना ग्नाः स्तुतिपरास्तस्य। स्वगूर्ता स्वयंगामिन्यः अपरप्रणेयाः। सर्वमेतदुपपद्यते त्वयि हे पुरूरवः! यस्मान्महते रणाय असुरैः रमणीयाय संग्रामाय दस्युहत्याय शत्रुवधाय त्वामवर्धयन् स्वैर्महिमभिस्त्वं नोऽरातीनसुरान् जेष्यसीति पुरश्चक्रुर्देवास्त्वाम्।

'तत्रेतिहासमाचक्षते' (नि० २।१०, २।२४, ९।२३, १०।२६, १२।१०) इत्यत्रापीतिवृत्तपक्षो वर्णितः। वेदानां नित्यत्वविरोधपरिहाराय दुर्गाचार्यस्तद्व्याचक्षाण आह—'आत्म इतिवृत्तं परकृत्वार्थवादरूपेण यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थं आख्यायते दिष्ट्यु दितार्थावभासनार्थं स इतिहास उच्यते। स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थस्तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात्' इति। तदेतन्नैतिहासिकानां न वा सनातनिनां प्रतिकूलम्, वेदस्य तैरपि 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) इति नित्यत्वाभ्युपगमात्। तेषां तेषामैतिहासिकव्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि विभिन्नकल्पीयतत्तद्व्यक्तिगतजातेर्नित्यत्वान्नित्यशब्दार्थसम्बन्धोपपत्तेः। अर्थवादानां परमतात्पर्य्यस्य विधिस्तुत्यादौ सत्त्वेऽवान्तरतात्पर्य्यस्य स्वार्थेऽपि सत्त्वेन बाधाभावात्। अत एव—'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानात्' इत्यर्थवादत्रैविध्याभ्युपगमः। उत्तरमीमांसकानां मते सर्वथापि लौकिकेतिहाससम्बद्धघटनानुसारीणि वैदिकान्याख्यानानि न सन्ति। वैदिकाख्यानानुसारिण्यो घटनास्तु भवन्त्यो

होने पर जल उसके पास आकर उसके अनुचर बन जाते हैं। वर्षा काल में नदियाँ भी इसकी अनुगामिनी होकर इसको बढाती हैं। प्रत्यक्ष देखते हुए कहते हैं कि हे पुरूरवा, तुम्हारे महान् मेघ के साथ होने वाले रमणीय संग्राम में तुम्हारा बल बढ़ाते हुए दस्यु अर्थात् मेघ को मार डालने के लिये माध्यमिक देव संलग्न हैं। इसलिये ये नदियाँ पानी से भरी हुई तुम्हारे पास आती हैं। ऐतिहासिक पक्ष में भी दुर्गाचार्य ने ऐसी ही व्याख्या की है। इस ऐड पुरूरवा के पास सारी देवपत्नियाँ आ गईं। स्त्रियों का यह स्वभाव है कि प्रसूति स्त्री को वे घेरकर बैठ जाती हैं। वे उसकी वृद्धि के लिये स्तुति करती हैं। बिना किसी की आज्ञा के वे स्वयं उसके पास पहुँच जाती हैं। हे पुरूरवः, यह सब तुम्हारे साथ भी हो सकता है, क्योंकि देवताओं ने तुमको इसलिए आगे किया है कि इस महान् रमणीय युद्ध में तुम देवताओं के द्वारा बढ़ाये गये बल के सहारे इन दस्युओं, शत्रुओं को जीत लोगे'।

निरुक्त में 'तत्रेतिहासमाचक्षते' यहाँ पर भी इतिहास पक्ष का वर्णन किया गया है। वेदों की नित्यता के विरोध के परिहार के लिये दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'इतिवृत्त का अर्थवाद के रूप में विनियोग होता है। जो कुछ आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ कहा जाता है, यह स्वर्ग में उदित अर्थ को प्रकट करने के लिये इतिहास के रूप में कहा जाता है। यह सारा इतिहास अनित्य है, इसका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है, इसका उपयोग इतना ही है कि वह वेदार्थ को जानने में प्रवृत्त व्यक्ति को सहायता देता है'। यह व्याख्या न तो 'ऐतिहासिकों के और न सनातनियों के मत में प्रतिकूल है। वेद को उन्होंने भी नित्य ही माना है। उन-उन ऐतिहासिक व्यक्तियों की अनित्यता होने पर भी विभिन्न कल्पों की उस-उस व्यक्ति में वर्तमान जाति तो नित्य ही है, अतः शब्द और अर्थ के संबन्ध की नित्यता बन जाती है। अर्थवाद वाक्यों का परम तात्पर्य विधि की स्तुति-निन्दा आदि में रहने पर भी अवान्तर तात्पर्य स्वार्थ में रहता ही है, अतः इसमें कोई बाधा नहीं आती। इसीलिये 'विरोध में गुणवाद, अवधारण में अनुवाद और अतीत वस्तु के लिए भूतार्थवाद' इस प्रकार तीन प्रकार का अर्थवाद बताया गया है। उत्तर मीमांसकों के मत से किसी भी प्रकार से लौकिक आख्यानों का अनुसरण वैदिक आख्यान नहीं करते, किन्तु वैदिक आख्यानों का अनुसरण

न निवार्य्यन्ते, वेदशब्देभ्य एव भूरादिप्रपञ्चसृष्टयभ्युपगमात्। स्कन्दस्वाम्यादीनामपि वेदेषु नित्येषु घटनानुसारीतिहासस्यासंभवादेव तदौपचारिकत्वमभिमतम्, न तु तदनुसारिवृत्तापलापोऽभिमतः, तस्य पुराणेतिहासप्रमाणसिद्धत्वात्। न च पुराणेतिहासप्रामाण्यापलापो युक्तः, 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते। अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः, अन्यश्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणाम्' (गो० सू० ४।१।६२) इति गोतमसूत्रे वात्स्यायनेनाभ्युपगमात्। तदनुसारेणैव सायणोव्वटमहीधरादयो वेदभाष्यकारा ऐतिहासिकपक्षेण मन्त्रान् व्याचक्षाणा अपि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां तेषां तत्तदुपदेशपरत्वमाहुः। अनेवंविदस्त्वैतिहासिकपक्षमपलपन्त्येव। लौकिकेतिहासानामपि धर्मसदाचाराद्युपदेशपरत्वेनैव सार्थक्यम्, अन्यथा निखातशवानां पुनः पुनस्तदुत्खननमिवातीतघटनानां पुनः पुनरावर्तनं व्यर्थमेव स्यात्। तत एव रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदिति रामायणनिष्कर्षः, युधिष्ठिरादिवद्वर्तितव्यं न दुर्योधनादिवदिति महाभारतनिष्कर्षः शिष्टैर्बोध्यते।

यदप्युक्तम्—'यास्कोऽर्थानुसारेण विभक्तीनां स्वराणां च परिणाममुचितं मन्यते 'अर्थनित्यः परीक्षेत' (नि० २।१), 'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्' (नि० २।१), 'कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्याद् दृष्टव्ययं तु भवति' (नि० १।८) इति तदुक्तेः। न पदपादोऽनुबध्नात्यर्थमिति यास्कः, 'अरुणो मासकृत्' (नि० ५।२१) इति हि तत्र पदविभागः। दयानन्दीय भाष्यं च तदनुसरत्येव' इति, तत्तुच्छम्, तन्निरुक्तवचनाद्दयानन्दीयमतसमर्थनासंभवात्। तथाहि निरुक्तवचनप्रसङ्ग इत्थम्—'अथ निर्वचनम्। तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत, केनचिद्वृत्तिसामान्येनअविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयान्न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति यथार्थं विभक्तीः संनमयेत्। प्रत्तमवत्तमिति

करने वाली लौकिक घटनाओं का निषेध नहीं किया जा सकता। वेद के शब्दों से ही पृथिवी आदि प्रपंच की सृष्टि मानी गई है। स्कन्दस्वामी आदि के मत से भी वेद नित्य हैं, अतः उसमें घटनानुसारी इतिहास के असंभव होने से उसकी औपचारिकता मानी गई है। वेद वर्णित घटनाओं का भविष्य में होना असंभव नहीं है, क्योंकि पुराण-इतिहास आदि से उनकी सिद्धि होती है पुराण-इतिहास आदि की प्रामाणिकता का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'प्रमाणभूत ब्राह्मण वचनों से इतिहास-पुराण का प्रामाण्य स्वीकृत है। मन्त्र-ब्राह्मण का, इतिहास-पुराण और धर्मशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय भिन्न भिन्न है' यह बात गोतमसूत्र के न्यायभाष्य में वात्स्यायन ने कही है। तदनुसार ही सायण, उव्वट, महीधर आदि वेदभाष्यकारों ने ऐतिहासिक पक्ष से मन्त्रों की व्याख्या करते हुए भी प्रयोजन की आकांक्षा में वेद और ब्राह्मण को इतिहास का निरूपक बताया है। जो इस बात को नहीं जानते, वे तो ऐतिहासिक पक्ष को नहीं स्वीकार करते। लौकिक इतिहास की भी सार्थकता धर्म, सदाचार आदि की शिक्षा देने में ही है, अन्यथा गड़े मुर्दे को बार बार खोदकर निकालने के समान बीती घटनाओं की भी आवृत्ति व्यर्थ ही होगी। इसी लिये राम के समान व्यवहार करना चाहिये, रावण के समान नहीं, यह रामायण का निष्कर्ष है और युधिष्ठिर आदि के तरह व्यवहार करना चाहिये, दुर्योधन आदि की तरह नहीं, यह महाभारत का निष्कर्ष है, ऐसा शिष्टजनों का कहना है।

यह जो कहा गया है कि—'यास्क अर्थ के अनुसार विभक्ति और स्वरों के परिणाम को उचित मानते हैं, 'नित्य अर्थ की परीक्षा करें', 'अर्थ के अनुसार विभक्ति का परिणाम कर लें', 'अनुदात्त प्रकृति वाला नाम कैसे होता है, इसकी परीक्षा करनी पड़ती है' इत्यादि में यही बात कही गई है। यास्क पदपाठ को अर्थ के साथ नहीं बाँधते, जब कि वे 'अरुणो मासकृत्' इत्यादि पद विभाग करते हैं। दयानन्द का भाष्य इस निरुक्त की पद्धति का ही अनुसरण करता है' किन्तु यह भी बड़ी बेतुकी बात है, इन निरुक्त वचनों से दयानन्द से मत का समर्थन नहीं हो सकता, क्योंकि निरुक्त के उक्त वचनों का प्रसंग इस प्रकार है—'अब निर्वचन का विचार किया जाता है। जिन पदों के स्वर और संस्कार समर्थ हैं, प्रादेशिक गुणों से युक्त है, तो तदनुसार ही उनका निर्वचन होना चाहिये। इसके विपरीत अर्थ के अनन्वित होने पर, विकार के अप्रादेशिक होने पर नित्य अर्थ की परीक्षा किसी सामान्य वृत्ति के सहारे करना चाहिये, सामान्य की भी अविद्यमानता में अक्षर, वर्ण आदि की समानता से निर्वचन करना चाहिये। निर्वचन कभी छोड़ा न जाय और न केवल संस्कार

वात्वादी एव शिष्येते' (नि० २।१) इत्यादि। पूर्वं नामाख्यातोपसर्गलक्षणमुक्त्वा शास्त्रारम्भप्रयोजनानि वेदवेदाङ्ग-व्यूहं च सप्रयोजनं निघण्टुसमाम्नायविरचनां च प्रकरणत्रयविभागेनोक्त्वा दैवतमुत्कृष्य नैघण्टुकनैगमे प्रकरणे पुरस्कृते नैघण्टुकानि नैगमानीहेति। तत्र निर्वचनलक्षणमन्तरा निर्वचनेन तद्व्याख्यानमशक्यमिति निर्वचनलक्षणमुच्यते। तत्रापि हि तस्य परोक्षवृत्तावतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्। येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थाववि-परीत्येन गतार्थौ प्रादेशिकेन गुणेन विकारेण च प्रादेशाभिधायिना धातुरूपेणान्वितौ तेषु यथालक्षणमेव निर्ब्रूयात्, न तत्रार्थप्राधान्येन लक्षणमनादृत्य निर्वचनं युक्तम्। दयानन्दस्तु स्वाभिमतसाधनाय समर्थस्वरसंस्कारेष्वपि शब्देषु यथेष्टं निर्वक्तुं प्रवर्तते यथेष्टं च विभक्तीः परिवर्तयितुम्। तदेतद् यजुर्वेदीयप्रथमकण्डिकायां स्पष्टम्। तद्वारणायैव दुर्गाचार्येण टीकाकृतापि—'अर्थप्रधानत्वादनादृत्यैव लक्षणमेषु नैरुक्तो निर्ब्रूयात्, तन्मा भूदित्यत इत्युच्यते' इत्युक्तम्।

येष्वसमर्थस्वरसंस्कारेषु प्रादेशिकधातुरूपैरनन्वितेषु यथालक्षणं निर्वचनमशक्यं स्यात्तत्रैवार्थप्रधानः सन्ननादृत्य स्वरसंस्कारौ केनचिदर्थवृत्तिसामान्येन निर्ब्रूयात्। इममेवार्थमधिकं स्पष्टतया दुर्गाचार्यो वक्ति—'अथ पुनरनन्वितेऽर्थे न्याय्यस्वरसंस्कारयुक्तेन शब्देन यत्र निपुणमप्यन्विष्यमाणः शब्दोऽर्थवान् कल्पयितुं न शक्येत, अन्यथैवार्थो व्यवतिष्ठतेऽन्यथैव शब्दः, प्रादेशिकेन विकारेण विक्रियमाणोऽपि चासौ शब्दो विपरिणम्यमानोऽप्यप्रादेशिक एव स्यादसमर्थ एव तां प्रदेशाख्यामभिधेयसत्त्वस्थां क्रियामभिधातुम्, तत्रैवार्थप्रधानः परीक्षेत। एतेन यत्रान्या गतिरेव न स्यात्तत्रैवार्थप्राधान्येन स्वरसंस्काराद्यनादरणं न सर्वत्र। अन्यथा शब्दार्थनिर्धारणेऽव्यवस्थैव स्यात्। यतोऽर्थ एव प्रधानं तद्गुणभूत एव शब्दः, ततोऽर्थसामान्यस्य शब्दसामान्यापेक्षया बलीयस्त्वात्तस्यैवादरो युक्तः।

का ही सहारा ले, क्योंकि वृत्तियां संशय से युक्त होती हैं। अर्थ के अनुसार विभक्ति का विपरिणाम करे। प्रत्तम्, अवत्तम् इत्यादि स्थलों में धातु के आदि भाग ही बचे रहते हैं, इस प्रकार यहां पर पहले नाम, आख्यात और उपसर्ग का लक्षण बताकर शास्त्र के आरम्भक प्रयोजन, वेद और वेदांग का व्यूहन, उसका प्रयोजन—निघण्टु की रचना विधि को भी इन तीन भागों में विभक्त कर दैवत प्रकरण से पहले नैघण्टुक और नैगम प्रकरण की व्याख्या की गई है। यहां पर निर्वचन का लक्षण किये बिना निर्वचन से इसकी व्याख्या संभव नहीं है, अतः पहले निर्वचन का लक्षण बताया गया है। परोक्षवृत्ति से शब्द को निकाल कर विग्रह बताना ही निर्वचन कहलाता है। जिन पदों में स्वर और संस्कार समर्थ हैं, बिना किसी विपर्यय के गतार्थ होते हैं, प्रादेशिक गुण और विकार से धातुरूप आदि से युक्त होते हैं, ऐसे पदों का लक्षण के अनुसार निर्वचन करे। ऐसे स्थलों में भी अर्थ की प्रधानता को छोड़ कर निर्वचन करना उचित नहीं। इसके विपरीत दयानन्द अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए समर्थ स्वर और संस्कार की विद्यमानता में भी शब्दों का यथेच्छ निर्वचन करने लगते हैं और अपनी इच्छा के अनुसार विभक्ति का परिणाम करने लगते हैं। यह बात यजुर्वेद की प्रथम कण्डिका में स्पष्ट है। इस दोष के निवारण के लिए ही टीकाकार दुर्गाचार्य ने कहा है कि अर्थ की प्रधानता के कारण लक्षण का अनादर कर नैरुक्त निर्वचन न करने लग जायं, इसीलिये यह बात कही गई है।

जहां पर पदों के स्वर और संस्कार असमर्थ हैं, जो प्रादेशिक धातु रूपों से अनन्वित हैं, जहां पर लक्षण के अनुसार निर्वचन न किया जा सकता हो, तो वहां पर अर्थ की प्रधानता का आश्रय लेकर स्वर और संस्कार की उपेक्षा कर किसी सामान्य अर्थवृत्ति के सहारे निर्वचन करना चाहिये। इसी बात को दुर्गाचार्य अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार कहते हैं—अर्थ के अन्वित न होने पर, अर्थात् जहां उचित स्वर संस्कार से युक्त शब्द से सावधानी से खोजने पर भी उचित अर्थ की प्रतीति न हो सकती हो, जहां पर अर्थ दूसरे प्रकार का और शब्द दूसरे प्रकार का प्रतीत होता हो, प्रादेशिक विकार से युक्त होने पर भी, उस रूप में विपरिणत होने पर भी जो उस अर्थ को स्पष्ट करने में असमर्थ हो, उस प्रादेशाख्य अभिधेय सत्त्व स्थित अवस्था का, क्रिया न बता सकती हो, वहीं पर अर्थ की प्रधानता स्वीकार करे निर्वचन करे। इससे यही प्रतीत होता है कि जहां दूसरी कोई गति न हो, वहीं पर अर्थ की प्रधानता के आधार पर स्वर और संस्कार का अनादर होना चाहिये, सर्वत्र नहीं। अन्यथा शब्द और अर्थ के निर्धारण में अव्यवस्था हो जायगी। अर्थ ही प्रधानभूत है, शब्द उसका गुणभूत है, अर्थसामान्य शब्दसामान्य की अपेक्षा से बलवान् है, अतः अर्थ का ही आदर होना चाहिये।

यत्रार्थसामान्यमपि न स्यात्तत्राप्यक्षर(वर्ण)सामान्यान्निर्ब्रूयादेवं न संस्कारमाद्रियेत। वृत्तयश्चानिश्चिता भवन्ति। तत्रार्थप्राधान्येनैव विभक्तयोऽपि परिवर्तयितुं शक्यन्ते। स्वरवर्णसामान्येनापि निर्ब्रूयादेव अमुष्मिन् धातावयं स्वरो वर्णो वा मया दृष्टः स एवायमस्मिन्नभिधाने लक्ष्यत इत्येवमुत्प्रेक्ष्य स धात्वर्थः सूत्रबद्ध इव तस्मिन्नाहृत्य विस्फार्य्य च कृत्स्नः प्रकाशनीयः, इतरथाऽनर्थकमेव निरुक्तं स्यात्। तदर्थं लक्षणपराङ्मुखेषु शब्देषु संस्कारं नाद्रियेत।

तदुदाहरणान्यपि तत्रैव निर्दिष्टानि दुर्गाचार्येण—प्रवीणोदार निस्त्रिंशशब्दा इति। तद्यथा प्रकृष्टो वीणायां प्रवीणो गान्धर्वे वीणावादने प्रकृष्टो मनुष्यः प्रवीण उच्यते। अत्रास्य शब्दस्य मुख्या वृत्तिः। स स्वार्थमुत्सृज्यैव गान्धर्वमभ्यासपाटवमात्रं सामान्यमाश्रित्यान्यत्रापि प्रवर्तते। यो यस्मिन् विषये यत्नातिशयेनोत्पादितकौशलः स तत्र प्रवीण उच्यते। तद्यथा प्रवीणो व्याकरणे प्रवीणो निरुक्ते। एवमेवोदारशब्दोऽपि प्रागारसंनिपाताद् व्याहृतमात्रेणैवाभिप्रायमात्रेण वा सारथेर्योऽश्वोऽनड्वान् वा वहति रथं स उदारः, उद्गतारत्वात्। तत्रैवास्य शब्दस्य मुख्या वृत्तिः। अयमपि शब्दः स्वार्थमुत्सृज्याभिप्रायमात्रानुसारित्वं सामान्यमाश्रित्य यो हि कस्मिंश्चिदभिप्रायानुसारेणैव प्रागेव प्रार्थनाद्ददाति, तस्मिन् प्रवर्तते, स उदार इत्युच्यते। तथैव निस्त्रिंशशब्दोऽपि। यो हि त्रिभिः प्रदेशैर्द्वाभ्यां धाराभ्यामग्रेण च निशितः श्यति स निस्त्रिंशः कृपाणः। तत्रैवास्य शब्दस्य मुख्या वृत्तिः, तथापि छेदनरूपं क्रौर्यसामान्यमाश्रित्यास्य क्रूरेऽपि प्रवृत्तिः, क्रूरो निस्त्रिंश उच्यते। ईदृशा एवान्येऽपि शब्दा अभ्यूहनीयाः।

कारकहारकादिशब्दास्तु व्याकरणादिभिः प्रसिद्धार्था एव, किन्तु दुर्बोधाः परोक्षातिपरोक्षवृत्तय एव शब्दा निरुक्ते निरुच्यन्ते। यस्मात्तादृशशब्दानामर्थेषु वृत्तयो बहुसंशयवत्यो भवन्ति। । केचिदर्थसामान्येन क्वचि-

जहाँ पर अर्थसामान्य भी न हो, ऐसे स्थलों में अक्षर (वर्ण) की समानता के आधार पर निर्वचन करे, संस्कार का समादर न करे, क्योंकि वृत्तियाँ अनिश्चित होती हैं। ऐसे स्थलों में अर्थ की प्रधानता के आधार पर ही विभक्तियों का विपरिणाम भी किया जा सकता है। स्वर और वर्ण की सामान्यता के आधार पर भी निर्वचन किया जाय, इस धातु में यह स्वर अथवा वर्ण मैंने देखा है, वही इस अभिधान में भी दिखाई पड़ता है, इस प्रकार कल्पना करके उस धातु के अर्थ को, मानो वह उसमें बंधा हुआ हो; इस प्रकार उसको पकड़ कर तथा उसका विस्तार कर अच्छी तरह से प्रकाशित करना चाहिये। अन्यथा निरुक्त की व्यर्थता सिद्ध हो जायगी। इसलिये लक्षण से रहित शब्दों में संस्कार की अपेक्षा न करे।

इसके उदाहरण के रूप में दुर्गाचार्य ने वहीं पर प्रवीण, उदार और निस्त्रिंश शब्दों को निर्दिष्ट किया है। संगीतशास्त्र में वीणा बजाने में उत्कृष्ट मनुष्य को प्रवीण कहा जाता है। इस अर्थ में इस शब्द की मुख्य वृत्ति है। वह अपने स्वार्थ गान्धर्वशास्त्र को छोड़कर केवल अभ्यास की पटुतामात्र सामान्य वृत्ति का आश्रयण कर दूसरे स्थलों में भी प्रवृत्त हो जाता है। जो व्यक्ति जिस विषय में पूरा प्रयत्न कर कुशल हो जाता है, वही उस विषय में प्रवीण माना जाता है। जैसे व्याकरण में प्रवीण, निरुक्त में प्रवीण। इसी तरह उदार शब्द भी चाबुक पड़ने से पहले ही केवल कहने मात्र से अथवा सारथि के इशारे से ही जो घोड़ा अथवा बैल रथ को चलाने लगता है, वह उदार कहलाता है। इसी अर्थ में इस शब्द की मुख्य वृत्ति है। यह शब्द भी अपने स्वार्थ को छोड़कर अभिप्राय मात्र से समझने की सामर्थ्यरूप सामान्य धर्म को स्वीकार कर जो कोई भी प्रार्थना से पहले ही केवल अभिप्राय का अनुसरण कर अभीष्ट वस्तु को दे देता है, उसको उदार कहते हैं। इसी तरह का शब्द निस्त्रिंश भी है। जो तीन प्रदेशों से, दो धाराओं से और आगे से भी तीखी धार वाला रहकर मार डालता है, उस कृपाण को निस्त्रिंश कहते हैं। इसी अर्थ में इसकी मुख्य वृत्ति है। तो भी छेदन रूप सामान्य क्रौर्य धर्म को लेकर इस शब्द की क्रूर व्यक्ति में भी प्रवृत्ति होती है। इसी तरह के अन्य शब्दों को स्वयं समझ लेना चाहिये।

कारक, हारक आदि शब्दों के अर्थ तो व्याकरण आदि से प्रसिद्ध ही है, किन्तु दुर्बोध, परोक्ष एवं अतिपरोक्ष वृत्ति वाले शब्दों का निर्वचन निरुक्त में किया जाता है, क्योंकि ऐसे शब्दों की अर्थों में वृत्तियाँ अनेक संशयों से युक्त होती हैं। कुछ शब्दों की

वृत्तन्ते शब्दाः। केचिच्च स्वरसामान्येन केचिच्च वर्णसामान्येन वर्तन्ते। अतो विभक्तीरपि यथार्थमेव विपरिणमयेत् पूर्वोत्तरपदप्रकरणाविरोधेन। सर्वेऽपि प्राचीना भाष्यकारा निपुणमन्वीक्ष्यैव विभक्तिविपरिणामादिकमभ्युपगच्छन्ति न स्वैरम्। सुपो स्थाने सुपो भवन्तीति—'हृत्सु शोकैः' अत्र हृदयानि शोकैः।

प्रपूर्वस्य 'डुदाञ् दाने' इत्यस्य निष्ठायां प्रत्तमिति। अवपूर्वस्य 'दोऽवखण्डने' इत्यस्य निष्ठायां अवत्तमिति-रूपम्। एवमस्तेर्निवृत्तिस्थानेषु गुणवृद्धिनिवृत्तिस्थानेषु 'श्नसोरल्लोपः' (पा० सू० ६।४।१११) इत्यादिलोपे स्तः सन्तीति रूपं भवति। एवं दृष्ट्वान्यत्रापि यथासंभवमनुविधेयम्। एवं जग्मतुः, जग्मुरित्यादौ गमेरुपधारूपस्यास्य लोपः। तथैवान्यत्राप्यनुविधेयम्। राजा दण्डीत्यादावुपधाविकारो दैर्घ्यम्। तत्वायामी' (ऋ० सं० १।२४।११) इत्यत्र वर्णलोपः, याचामीत्यत्र छान्दसश्चकारलोपो द्रष्टव्यः। याञ्चाकर्मा याचतिः। 'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशं समान आयुः प्रमोषीः॥' (ऋ० १।२४।११) शुनःशेपोऽनया त्रिष्टुभा वरुणं तुष्टाव। हे वरुण, तदहं त्वां वरुणं यामि याचामि ममाभिप्रेतम्। कथम्? ब्रह्मणा ऋक्-साम-यजुराख्येन वन्दमानः स्तुवन्, तदेवायं यजमानोऽपि हविर्भिः संस्कृतैः सान्नाय्यादिभिराशास्ते। एवं स्तुतिभिः हविर्भिश्च भवन्तमावामेकमेवार्थं याचावहे। याच्यमानः सर्वो हि क्रुध्यति। त्वं त्वहेडमानो अक्रुध्यन् हे वरुण! बोधि बुद्धयस्व। बुद्धवाचावयोरभिप्रेतार्थं कुरु। हे ऊरुशंस बहुभिः संस्तुत! नोऽस्माकं याचमानानामायुः मा प्रमोषीः। अत्र त्र वर्णलोपेनार्थसंगतिः। क्वचिद् द्विवर्णलोपोऽपि भवति यथा तृच इति। अत्र ऋवर्णेन सह रेफोऽपि लुप्यते, रेफ ऋवर्णोदरं कृमिवदनुप्रविष्टो द्रष्टव्यः। क्वचिच्चाद्यन्तयोर्विपर्ययो भवति। यथा 'श्च्युतिर् क्षरणे' इति धातोराद्यन्तविपर्ययेण स्तोका इति निष्पत्तिः। 'सृज विसर्गे' इत्यस्य रज्जुः, 'कृती छेदने' इत्यस्य तर्कुः, 'कस विकसने' इत्यस्य सिकता। 'तत्कथमनुदात्त-

वृत्ति अर्थ सामान्य से कहीं होती हैं, कुछ की स्वर सामान्य से और अन्यों की वर्ण सामान्य से होती है। अतः विभक्तियों का विपरिणाम भी अर्थ के अनुसार पूर्वोत्तर पद और प्रकरण के अनुसार करे। सभी प्राचीन भाष्यकार सावधानी से परीक्षण करने के उपरान्त ही विभक्ति के विपरिणाम को स्वीकार करते हैं, अपनी इच्छा में नहीं। सुपों के स्थान में सुप् ही होते हैं, जैसे 'हृत्सु शोकैः' इसके स्थाने 'हृदयानि शोकैः' इस तरह का विभक्ति का विपरिणाम होता है।

प्रपूर्वक 'डुदाञ् दाने' इस धातु से निष्ठा में 'प्रत्तम्' यह रूप बनता है। अव उपसर्ग पूर्वक 'दो अवखण्डने' इस कातु से निष्ठा में 'अवत्तम्' यह रूप होता है। इसी तरह अस्ति के निवृत्तिस्थान में गुण, वृद्धि अलोप आदि होने पर 'स्तः सन्ति' आदि रूप होते हैं। ऐसे ही प्रयोगों को देखकर दूसरी जगह भी यथासंभव विधान करना चाहिये। इसी तरह जग्मतुः, जग्मुः—आदि स्थलों में गम् धातु के उपधा रूप का लोप हो जाता है। इसी तरह दूसरी जगह भी किया जाता है। राजा, दण्डी इत्यादि स्थलों में उपधा के विकार के रूप में दीर्घ का विधान है। 'तत्त्वायामि' यहाँ पर वर्ण का लोप और 'याचामि' यहाँ पर चकार का लोप देखा जाता है। याचति धातु का कर्म याञ्चा है। 'तत्त्वायामि' इस त्रिष्टुप् मन्त्र से शुनःशेप वरुण की स्तुति करते हैं। हे वरुण, मैं आप से अपनी अभीष्ट वस्तु की याचना करता हूँ। कैसे? ब्रह्म अर्थात् ऋक्, यजुः, साम से आप की स्तुति करना हुआ। इसी तर यह यजमान भी संस्कृत सान्नाय्य आदि की हवि से आपकी पूजा करता है। इस तरह से स्तुति और हविः से आपको प्रसन्न कर हम दोनों एक ही वस्तु चाहते हैं। माँगने पर सभी क्रुद्ध हो जाया करते हैं। आप बिना क्रुद्ध हुए हमारे अभिप्राय का समझिये और ठीक से समझ कर हमारी मंशा पूरी कीजिये। हे अनेकों मनुष्यों के स्तवनीय वरुण, आप हमारी, माँगने वालों की आयु को क्षीण मत कीजिये। यहाँ पर वर्ण के लोप के द्वारा अर्थ की संगति बैठती है। कहीं पर दो वर्णों का भी लोप देखा गया है, जैसे कि 'तृच' यहाँ पर ऋवर्ण के साथ रेफ का भी लोप हो जाता है। रेफ ऋवर्ण के उदर में कृमि के समान बैठा रहता है। कहीं पर आदि और अन्त के वर्ण का विपर्यय हो जाता है, जैसे कि 'श्च्युतिर् क्षरणे' इस धातु के आदि और अन्त के विपर्यय से 'स्तोक' शब्द की निष्पत्ति होती है। 'सृज विसर्गे' इस धातु से रज्जु शब्द की, 'कृती छेदने' से तर्कु शब्द की, 'कस विकसने' से सिकता शब्द की निष्पत्ति देखी गई है। 'तो अनुदात्त

प्रकृति नाम स्याद् दृष्टव्ययं तु भवत्युत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुरिति' (नि० १।८)। एतेनापि शब्देषु स्वैरचारिता न सिद्ध्यति, तदभिप्रायस्तु टीकायां तत्रैव स्पष्टमुक्तः।

'ऋचां त्वः पोषमास्ते' (ऋ० सं० १०।७१।११) इत्यत्र त्व इति निपातो वा नाम वेति संशये निपात इत्येकः पक्षः। कुत इति चेदनुदात्तत्वात्। तदेवाह—तदेतच्छन्दरूपमनुदात्तस्वभावं सत्कथं नाम स्यात्? उत्सर्गेणैवान्तोदात्तानि प्रातिपदिकानीति स्वयं निरुक्तवृत्तौ (१।७) इत्युक्तेरित्येकीयपक्षमुक्त्वा सिद्धान्तमाह—अन्यत्र चापवादादिति। त्वत्वनेमसमसिमेत्यनुदात्तानीति। उत्सर्गादपवादो बलीयानिति न्यायात्। तस्माद्विप्रतिपन्नस्वरमपि यन्न व्येति विकारमाप्नोति तदव्ययम्। त्वशब्दस्य तु तत्तद्विभक्तिषु विकारदर्शनान्नाव्ययत्वं निपातत्वं वा। तदेतन्नामैव दृष्टव्ययं तु भवति। तुशब्दो हेत्वर्थो हेतुसमुच्चयार्थो वा। अनुदात्तप्रकृतित्वेऽपि सति दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति। तस्मात्तत्र अनुदात्तस्य दृष्टत्वात्तथैव विधिर्मन्तव्य इति दृष्टव्ययत्वान्नामेति तद्भवति। अपवादश्रवणाद् व्ययदर्शनाच्चानुदात्तमपि तन्नामैव भवति। निपातत्वेऽपि कल्प्यमानेऽस्य स्वरसामञ्जस्यं न भवत्येव। निपाता अप्याद्युदात्ता भवन्ति (फिट्सू० ४।१२)। तस्मात्कृतापवादत्वाद् दृष्टव्ययत्वाच्च नामैवैतदिति। क्व पुनरस्य व्ययो दृष्ट इति चोद्यमुद्भाव्य उच्यते—'उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे' (ऋ० १०।७१।४) इति चतुर्थ्यामेकवचने व्ययो दृष्टः। 'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः' (ऋ० १०।७१।५) इत्यत्र द्वितीयायामेकवचन एव। न मनागप्यत्र स्वातन्त्र्यम्। उत्सर्गादपवादस्य प्राबल्यादेवानुदात्तं त्वेतिपदम्।

'मासकृत् मासानां चार्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमा' (नि० ५।२१) इत्यत्रापि नोच्छृङ्खलतायाः समर्थनम्। यदप्युक्तम्—'अर्थप्राधान्यादेव आशुशुक्षणिरिति प्रथमान्तस्य पञ्चम्यर्थे प्रथमेत्याह' (नि० ६।१) (पृ० ५७)

प्रकृति का नाम कैसे होगा, यह परीक्षणीय है, 'उत त्वं सख्ये' इत्यादि में यह देखा गया है' इस निरुक्तवचन से भी शब्दों में मनमानी नहीं चलती। इसका अभिप्राय वही टीका में स्पष्ट किया गया है।

'ऋचां त्वः पोषमास्ते' यहाँ पर 'त्वः' यह निपात है या नाम? इस संशय की अवस्था में एक पक्ष का कहना है कि यह निपात है, कैसे? क्योंकि यह अनुदात्त है। यही बात यहाँ कही गई है कि—यह शब्द रूप अनुदात्त स्वभाव का होकर नाम कैसे हो सकता है? उत्सर्ग से ही प्रातिपदिक अन्तोदात्त होते हैं, यह बात स्वयं निरुक्त की वृत्ति में कही गई है। इस प्रकार एक पक्ष का प्रतिपादन कर बाद में सिद्धान्त पक्ष बताया गया है कि यह बात अपवाद से भिन्न स्थान में लागू होती है। त्व, त्व, नेम, सम, सिम ये अनुदात्त हैं, क्योंकि उत्सर्ग से अपवाद बलवान् होता है। इसलिये इसके स्वर में विप्रतिपत्ति तो है ही। जिसमें कोई विकार नहीं होता, वह अव्यय कहलाता है। त्व शब्द का तो तत्तद् विभक्तियों में विकार दिखाई देता है, अतः यह न तो अव्यय है और न निपात ही है, किन्तु यह नाम है। क्योंकि इसमें विकार देखा जाता है। तु शब्द यहाँ पर हेतु के समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त है। अनुदात्त प्रकृति के रहने पर भी वेद में यथादृष्ट विधि मानी जाती है। इसलिये यहाँ पर अनुदात्त स्वर के दिखाई देने से तदनुसार ही विधि माननी चाहिये। विकार के दिखाई देने से वह नाम ही होता है। अपवाद के सुनाई देने से और व्यय के दर्शन से अनुदात्त होते हुए भी वह नाम ही रहता है। निपात की कल्पना में भी स्वर का सामंजस्य नहीं बैठता। निपात भी आद्युदात्त होते हैं। इसलिये अपवाद के होने से और विकार के दिखाई पड़ने से यह नाम ही माना जायगा। इसका विकार कहाँ देखा गया है? इस शंका को उठा कर बताया गया है कि 'उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे' यहाँ पर चतुर्थी के एकवचन में उसका विकार देखा गया है और 'उत त्वं सख्ये' यहाँ पर द्वितीया के एक वचन में। इसमें थोड़ी भी स्वतन्त्रता नहीं है। उत्सर्ग की अपेक्षा अपवाद के प्रबल होने से ही त्व पद अनुदात्त है।

'मासकृत् अर्थात् मासों एवं अर्धमासों (पक्षों) का करने वाला चन्द्रमा है' यहाँ पर किसी भी तरह से उच्छृंखलता का समर्थन नहीं किया गया है। यह कहना भी कि 'अर्थ की प्रधानता के कारण ही 'आशुशुक्षणिः' इस प्रथमान्त पद में पञ्चमी के

इति, तदपि न किञ्चित्, तत्रापि हेतोः सत्त्वात्। तथाहि—स्वयमेव टीकाकार आह—'किं पुनः कारणं प्रथमैषा सती पञ्चमीत्वे विपरिणम्यत इति। उच्यते—'तथाहि वाक्यसंयोगः' (नि० ६।१)। तेन प्रकारेण पञ्चमीत्वेन परिणतस्य शब्दस्यानेन वाक्येन संयोगोऽर्थसंगतिर्भवति न यथावस्थितस्य। 'त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यः' (ऋ० सं० २।१।१) इत्येतान्युत्तराणि बहूनि पदानि पञ्चम्यन्तानि सन्ति। तस्मादनेनापि तथैव भाव्यम्' इति। एवं प्रामाणिको विपरिणामस्तु भाष्यकारैरभ्युपेयत एव। न तावताऽपि प्रकरणाविरुद्धमर्थमपहाय स्वाभिमतार्थयोजनाय बहुलं छन्दसीत्याद्याश्रयेण यथेष्टं योगविभक्तिविपरिणामादिकमाश्रयणीयम्।

यत्तु ब्रह्मदत्तेनोक्तम्—गुरुपरम्परामन्तराऽऽर्षज्ञानमन्तरा च वेदार्थो नाधिगन्तुं शक्य (पृ० ५७) इति, तत् सिद्धान्तरूपेण संगतमपि तन्मुखादुपहासास्पदम्। यत आर्यब्रुवाणां सम्प्रदायेऽद्य यावद् गुरुपरम्पराया अभावादेवार्थज्ञानं तु दूरे तिष्ठतु मूलमन्त्रोच्चारणमपि कर्तुं कश्चिदपि न प्रभवति। अवश्यमार्षज्ञानं गुरुगम्यं परं किं दयानन्दोऽपि कश्चिद् ऋषिः? तथात्वे कञ्चनाप्यनर्थं ब्रुवाण ऋषित्वात् सर्वनियमनिर्मुक्तः स्यात्। स च दूषणमपि भूषणं ब्रूयात्।

'वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। गोभिः सन्नद्धः' (ऋ० सं० ६।४७।२६) (नि० ९।१२) इत्यत्र वनस्पतिशब्दस्य वनस्पतिविकारो रथोऽर्थ इति तु सम्यगेव, यथाश्रुतार्थग्रहणे विशेषणान्तराणामसङ्गतेः। तदर्थस्तु—हे वानस्पत्य रथ! त्वं दृढाङ्गो भव, ततश्चास्मत्सखा सन् प्रतरणं संग्रामाणां पारं नेता सुवीरः अवस्थाता भव। गोभिः सन्नद्धः गव्येन चर्मणा श्लेष्मणा च नद्धः आत्मानं कीलयस्व स्वात्मानमवस्तम्भय। संस्तब्धे त्वयि अधिष्ठाता तव योद्धा यानि तेन जेतव्यानि सर्वाणि जयतु। सनातनिदृष्ट्या तु रथान्तर्यामी भवत्यत्र मन्त्रे देवता। तव सामाजिकस्य मते कथं जडो रथः संबोध्यः स्यात्?

अर्थ में प्रथमा विभक्ति का विधान है, एकदम गलत है, यहाँ पर भी हेतु विद्यमान है। क्योंकि टीकाकार ने स्वयं ही कहा है कि क्या कारण है कि प्रथमा के स्थान पर यहाँ पञ्चमी में विपरिणाम किया जाता है? इसलिये यह किया जाता है कि ऐसा करने पर वाक्य से संयोग होता है, अर्थात् इस प्रकार पंचमी में विपरिणत कर देने पर शब्द के साथ वाक्य की अर्थसंगति ठीक से बैठ जाती है। यथास्थित रहने पर यह सम्भव नहीं हो पाता। 'त्वमग्ने द्युभिः' इत्यादि अनेक उत्तर पद पञ्चम्यन्त हैं। इसलिये इस पद का भी पंचमी विभक्ति में विपरिणाम उचित है। इस प्रकार का प्रामाणिक विभक्ति-विपरिणाम भाष्यकार को भी अभिमत है। ऐसा होने पर भी प्रकरण से अविरुद्ध अर्थ को छोड़कर स्वाभिमत अर्थ को जोड़ने के लिये 'बहुलं च्छन्दसि' इत्यादि का सहारा लेकर अपनी इच्छा के अनुसार योग, विभक्ति-विपरिणाम आदि को अंगीकार नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने यह जो कहा है कि बिना गुरुपरम्परा के और आर्ष ज्ञान के बिना वेदार्थ नहीं जाना जा सकता, यह बात सिद्धान्त रूप से सही होते हुए भी उनके मुँह से हँसी की बात लगती है, क्योंकि आर्यसमाजियों के सम्प्रदाय में गुरुपरम्परा के अभाव में ही अर्थ के ज्ञान की बात को दूर रही, कोई भी मूल मन्त्र का उच्चारण भी ठीक से नहीं कर सकता। यह बात अवश्य ठीक है कि आर्ष ज्ञान गुरुगम्य है, किन्तु क्या दयानन्द भी कोई ऋषि हैं? यदि उनको ऋषि माना जाय तो ऋषि होने के कारण जो उनके मन में आवेगा, बिना नियम के उसका प्रतिपादन करने लगेंगे और यह दूषण भी उनमें भूषण हो जायगा।

'वनस्पते०' इत्यादि मन्त्र में वनस्पति शब्द से वृक्ष के विकार, लकड़ी से बने रथ का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि वनस्पति का ग्रहण करने पर वहाँ पर अन्य विशेषण व्यर्थ हो जायेंगे। इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'हे वनस्पति से बने रथ, तुम दृढ अंग वाले हो जाओ, तब हमारे सहायक होकर हमको सुखपूर्वक युद्ध के पार पहुँचा दो, अर्थात् हमें वीरतापूर्वक विजय दिला दो। गाय के चमड़े से मढे जाकर तुम अपने को पूरी तरह मजबूत बना लो, तुम्हारे मजबूत हो जाने पर तुम पर बैठा योद्धा सभी शत्रुओं को जीत लेगा'। यहाँ पर सनातनियों की दृष्टि से रथ में निवास करने वाला देवता संबोध्य होता है, समाजियों के मत से यहाँ पर जड़ रथ कैसे संबोध्य होगा?

वस्तुतस्तु निरर्थकमेवायं कतिचिन्निरुक्तवचनान्युद्धृत्य प्रजल्पति। सायणादिभाष्येषु नैरुक्तपक्षस्यापि समादरो भवत्येव, नैरुक्तमन्तरा क्वचित्केवलेन लिङ्गज्ञानेन याज्ञे कर्मणि देवतानिर्णयो दुःशक एव। 'इन्द्रं न त्वा शवसा देवतावायुं पृणन्ति' (नि० १।१७) इत्यत्रेन्द्रस्य वायोश्च श्रवणात् कस्य देवतात्वं स्यात्? तदुक्तम्—लिङ्गबाहुल्यादेव देवतापरिज्ञानं दुर्लभम्। वस्तुतो यज्ञानुष्ठानं न केवलं लिङ्गज्ञानेन सम्पद्यते, किन्तु व्याकरणनिरुक्तकल्पमीमांसानिर्णयानुसारमेव तद्भवति। तन्निर्णयानुसारमाग्नेयीयमृक्। तस्मादग्नेरेवात्र प्राधान्यम्। मन्त्रस्वरूपमिदम्—'त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने। इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः॥' (ऋ० सं०६।४।७)। भरद्वाजस्यार्षम्। हे अग्ने! त्वां हि त्वामेव मन्द्रतमं मृदुतमं सुखाराध्यतमं ववृमहे संभजामहे। केन साधनेन अर्कशोकैः। अर्क इति अर्चनसाधनं मन्त्र उच्यते। शोक इति यथोक्तब्रह्मचर्यपूर्वकाध्ययनजनितवीर्य्यमर्थाद् दीप्तिरुच्यते। अर्थात् सम्यगध्ययनजनितवीर्य्यवद्भिरर्चनसाधनैर्मन्त्रैस्त्वां भजामहे। स त्वं नो मन्त्रैः सेव्यमानः, महि महत् स्तोत्रं युष्मद्गुणानुस्मृतिसन्तानगर्भैरुपग्रथितं स्तोत्रं श्रोषि शृणु। त्वं महती देवता। सर्वा देवतास्त्वामेवैकमिन्द्रमिव वायुमिव च शवसा बलेन बलकृतिस्तुतिभिरभ्यर्चन्ति किं पुनस्त्वदीयैः कर्मभिः। ये के च नृलोके बलधनश्रुतैर्नृतमास्तेऽपि च त्वामेव पृणन्ति पालयन्ति पूरयन्ति वा राधसा हविर्लक्षणेन धनेन। एवं सदैव मनुष्यस्य जगतः पूज्यस्त्वं न केवलमस्माकम्। अत्रान्यदेवताश्रवणेऽप्यग्नेः प्राधान्यात् स एव मुख्या देवता।

यदप्युक्तम्—'एक एवात्मा बहुधा स्तूयते' (नि० ७।४), एकं ब्रह्मैव मुख्यं प्रतिपाद्यम्, अग्निवाय्वादयस्तस्यैव गुणभेदेन नामभेदः' (पृ० ५७) इति, तदपि न विचारचारु, तथात्वे पूर्वोक्तमन्त्रसिद्धान्तविरोधात्। एकस्य ब्रह्मण एव प्रतिपाद्यत्वे देवतात्वे च प्राधान्याप्राधान्यविचारानर्थक्यप्रसङ्गात्। अत्राग्नेरेव प्राधान्यम्, तस्यैव देवतात्वं

वस्तुतस्तु जिज्ञासु महोदय व्यर्थ ही कुछ निरुक्त के वचनों को पकड़ कर मनमानी बात कहने लगते हैं। सायण प्रभृति के भाष्य में निरुक्त के पक्ष का भी आदर किया गया है। निरुक्त के बिना कोई भी केवल लिंग-ज्ञान से यज्ञ-कर्म में देवता का निर्णय नहीं कर सकता। 'इन्द्रं न त्वा' इस मन्त्र में इन्द्र और वायु दोनों का उल्लेख होने से इसका देवता कौन होगा? कहा गया है कि केवल लिंग के बाहुल्य से देवता का परिज्ञान दुर्लभ है। वस्तुतः यज्ञ का अनुष्ठान केवल लिंग-ज्ञान से नहीं होता, किन्तु व्याकरण, निरुक्त, कल्पसूत्र, मीमांसा आदि के निर्णय के अनुसार ही वह होता है। उनके निर्णय के अनुसार इस मन्त्र का देवता अग्नि है। इसलिये यहाँ पर अग्नि का ही प्राधान्य माना जायगा। मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—'त्वां हि मन्द्र०' इत्यादि। इस मन्त्र का ऋषि भरद्वाज है। हे अग्ने, मैं आपको ही सुखपूर्वक आराध्य मानकर भजता हूँ। किस साधन से? अर्क और शोक से। पूजा का साधन मन्त्र 'अर्क' कहलाता है। शोक का अर्थ यथाविहित ब्रह्मचर्य के पालनपूर्वक अध्ययन से उत्पन्न वीर्य अर्थात् दीप्ति है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सम्यग् अध्ययन करने से उत्पन्न हुए दीप्ति युक्त अर्चा के साधन मन्त्रों से आपकी सेवा करता हूँ। आप मन्त्रों से सेवित होकर इस उत्कृष्ट स्तुति को, जिसमें कि आपके गुणों की अनुस्मृति, सन्तान आदि का ग्रथन है, आप सुनें। आप सबसे बड़े देवता है। सभी देवता केवल आपको ही इन्द्र और वायु के समान आपके बल और यश का वर्णन करने वाली स्तुतियों से पूजा करते हैं। आपके कर्म के विषय में क्या कहा जाय। इस मनुष्य लोक में जो कुछ बल, धन, श्रुत आदि से भरा हुआ है, वह सब हवि आदि के माध्यम से आपकी ही सेवा और पूरण के लिये है। इसी कारण आप सारे जगत् के पूज्य हैं, केवल हमारे ही नहीं। इस मन्त्र में अन्य देवताओं का नाम भी सुनाई पड़ता है, किन्तु उनमें अग्नि प्रधान है, इसलिये वही इस मन्त्र का देवता है।

यह कथन भी—'एक ही आत्मा अनेक प्रकार से सुनी जाती है, इस वचन के अनुसार एक ब्रह्म ही मुख्य प्रतिपाद्य है, अग्नि, वायु प्रभृति गुणभेद से उसी के नाम भेद हैं', विचार करने पर ठीक नहीं लगता, क्योंकि ऐसा मान लेने पर पूर्वोक्त मन्त्र के सिद्धान्त से उसका विरोध होगा। यदि एक ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है और वही एक देवता है, तो प्रधान और अप्रधान देवता का विचार व्यर्थ हो जायगा। यहाँ पर अग्नि का ही प्राधान्य है, इन्द्र और वायु देवता का नहीं, यह कथन गलत हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में

नेन्द्रवाय्वोरित्युक्तिरयथार्थैव स्यात् । देवताज्ञानस्य दौर्लभ्यमपि न संभवति, तथात्वे परमेश्वरस्यैव सर्वमन्त्रदेवतात्व-निर्णयात् ।

निरुक्तेऽपि तत्रैवान्यासां देवतानां तदङ्गत्वमुक्तम् । 'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति' (नि०७।४)। दुर्गाचार्योऽपि तथैवाह—'एकोऽपि सन् देवतात्मा बहुधा स्तूयते प्रकृतिभेदेन वाऽप्रकृतिभेदेन वा वर्धमानः ।. निगमोऽपि हि भवत्यैश्वर्य्यख्यापकः—'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' (ऋ० सं० ३।५३।८) इति । किमेकस्यैवेश्वरस्य रूपभेदेन दैवतभेदं सामाजिका अङ्गीकुर्वन्ति ? न चेत्, स्पष्टमेव निरुक्ततट्टीकाविरोधः । देवतानानात्वं निगमेन प्रख्याप्यत इति दुर्गाचार्य्यः । छन्दसि दृष्टानुविधिः । नानात्वे देवतासंवादः प्रमाणम् । शुनःशेपाख्याने तत्तद्देवताप्रेरणयैव तत्तद्देवतानां स्तवनं वर्णितमेव । हविर्वहनादिकर्माणि च यावदभिधानं देवतानानात्वविधिव्यवस्था । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' (ऋ० १।१६४।४६) इत्यकात्म्यं च श्रूयते । तत्रैकात्म्यपक्षमाश्रित्य समाधानं माहाभाग्यादेकस्य देवतात्मनः प्रकृतिभेदेनाप्रकृतिभेदेन वा ऐकात्म्येऽपि नानात्वमुपपद्यते । 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० सं० ६।४७।१८) इति वचनेनापीश्वरस्य मायाभिः शक्तिभेदैर्भिन्नरूपता व्यज्यते । 'चेतनाचेतना विकरणधर्मित्वादात्मानं विकुर्वतोऽस्यान्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति' इत्यपि दुर्गाचार्यः (७।४) निरुक्तव्याख्यायामाह । अग्नीन्द्रसूर्याणां परस्परापेक्षमन्यत्वमेकेन देवतात्मना (परमेश्वरेण) महता अनन्यत्वम् । ततोऽप्यधिकं मृदादिदृष्टान्तेन स्पष्टयति दुर्गः—'यथा घटादीनां मृदा' इति । यथा घटशरावादीनां परस्परं भेदेऽपि मृदात्मना तेषामनन्यत्वमेवं देवातानां सम्बन्धेऽपि ज्ञेयम् ।

सनातनसिद्धान्तस्येयमेव रीतिः । नह्यङ्गिनमङ्गानि व्यतिरिच्यन्ते, भेदेनाग्रहणात् । न वाङ्गान्यनपेक्ष्य प्रत्यङ्गानि भवन्ति । नह्यधिष्ठानमनपेक्ष्य प्रत्यधिष्ठानं भवति । स एव महानात्माऽग्नीन्द्रसूर्य्याद्यङ्गप्रत्यङ्गभावेन

देवता के ज्ञान में कोई कठिनाई भी नहीं रह जायगी, क्योंकि उक्त मत के अनुसार एक परमेश्वर ही सभी मन्त्रों का देवता निश्चित हो चुका है।

निरुक्त में भी वहीं पर अन्य देवताओं को उसका अंग माना है कि 'एक आत्मा के अन्य देवता अंग होते हैं । दुर्गाचार्य का यहाँ पर कहना है कि एक ही देवता प्रकृति-भेद से अथवा अप्रकृति-भेद से बढ़कर अनेक रूपों में विद्यमान होता है और उसकी स्तुति भाँति भाँति से की जाती है । 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' इत्यादि निगम वचन भी देवताओं के ऐश्वर्य को बताने वाला है। क्या आर्यसमाजी एक ही ईश्वर के रूप के भेद से देवताओं का भेद मानते हैं ? यदि नहीं मानते तो स्पष्ट ही इस निरुक्त के वचन से और टीका से उनका विरोध होगा । दुर्गाचार्य ने स्पष्ट कहा है कि देवताओं का नानात्व निगम में प्रसिद्ध है । छन्द में दृष्टानुविधि होती है । इनके नानात्व में देवताओं का संवाद भी प्रमाण है । शुनःशेप के आख्यान में उस उस देवता की प्रेरणा से ही शुनःशेप अलग अलग देवताओं के पास जाकर उनकी स्तुति करता है । हवि के वहन कर्म में भी भिन्न भिन्न नामों के अनुसार देवताओं के नानात्व की सिद्धि होती है । 'इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि उसी एक परमात्मा को कहते हैं' इत्यादि मन्त्रों में इनकी एकात्मता भी सुनी जाती है । इनमें से ऐकात्म्य पक्ष को लेकर समाधान इस प्रकार किया जाता है कि एक ही देवतात्मा के महदैश्वर्य के कारण प्रकृति-भेद से अथवा अप्रकृति-भेद से नानात्व हो जाता है । 'इन्द्र माया का आश्रय कर अनेक रूप धारण कर लेता है' इस श्रुतिवचन के प्रमाण से भी एक ही ईश्वर माया अर्थात् शक्ति के भेद के कारण अनेक रूपों से अभिव्यक्त होता है । चेतन, अचेतन, अविकरण धर्मा यह ईश्वर जब विकार रूप में अपने को परिणत करता है, तब अन्य देवता उसके अंग हो जाते हैं, यह बात निरुक्त की व्याख्या में ही दुर्गाचार्य ने कही है । अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि देवता एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु एक महान् देवता परमेश्वर से इनका अभेद भी है । मृदादि के दृष्टान्त से दुर्गाचार्य ने इस बात को और अधिक स्पष्ट किया है कि जैसे घट, शराव आदि का परस्पर भेद रहते हुए भी मिट्टी से बने होने के कारण इन सबकी समानता है, उसी तरह देवताओं के संबन्ध में समझना चाहिये ।

सनातन सिद्धान्त की यही रीति है । अंग अंगी से कभी अलग नहीं रहता, क्योंकि उसकी कभी अलग से प्रतीति नहीं होती । इसी तरह अंगों के बिना प्रत्यंगों की भी पृथक् स्थिति नहीं है । अधिष्ठान की बिना अपेक्षा के प्रत्यधिष्ठान नहीं बनता । वही

व्यूहमनुभवन्नेकोऽपि सन् बहुधा स्तूयते (नि० टी० ७१४)। मूल एव निरुक्ते (७१४) इति स्थले देवा इतरेतरजन्मान इतरेतरप्रकृतयश्चोक्ताः। अत एव मनुष्यधर्माद्देवताधर्मस्य भिन्नतोक्ता। इह तु—अग्नेः सूर्यो जायते, 'एष प्रातः प्रसुवति' (मैं०सं० १६५।७)। सूर्याच्चाग्निः सायं जायते—'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि' (ऋ० १०।७२।४)। तथैव 'किमर्थमीश्वराः सन्तो देवा जायन्ते' इत्याशङ्क्य समाहितम्—देवतानां जन्मकर्मसिद्धये लोकस्य कर्मफलसिद्धये अग्निवायुसूर्या जायन्ते। ऐश्वर्य्यप्रख्यापनाय च तेषां जन्म भवति। कुतो जायन्ते देवाः ? इत्याशङ्क्य आत्मन एव ते जायन्ते। यद्यपि सर्वमेव ततो जायते, तथापि देवतानां यथा कामकारेण स्वेच्छया संकल्पवशाज्जन्म तथा नेतरेषां मनुष्यादीनामनीश्वराणाम्। किमेवंविधा देवास्तेषां स्वेच्छया जन्म सामाजिकैरभ्युपेयते ? न चेत्, कथं तेषां मतं निरुक्तसंमतम् ? नैरुक्तदृष्ट्या यतस्ते ईश्वरास्तस्मादात्मनः संकल्पानुविधायित्वात्।

'आत्मैवेषां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुद्धमात्मेषवः' (नि० ७१४)। किं सामाजिकैरीश्वरस्याश्वरथादिरूपेण संकल्पवशात् प्रादुर्भावोऽभ्युपेयते? दुर्गाचार्यस्तु—'रथादिरूपेण देवतैवात्मानं विकृत्य प्रकृतिभेदेन रथादिसाध्यमर्थं साधयति। सा तद्रूपा सती रथादिस्तुत्या स्तूयते' (नि० ७१४) इत्याह। नहि सामाजिकैस्तदभ्युपेयते। निरुक्ते (७१५) स्थले विविधपक्षाणां सामञ्जस्यमुक्तम्। आत्मवित्पक्षेण सर्वस्यैव प्रपञ्चस्यैक्यमुक्तम्। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' (वा० सं० ३१।२) इति। याज्ञिकपक्षेण देवतानानात्वमेव, अभिधानभेदात्, स्तुतिभेदाच्च। विधिमन्त्रार्थवादविद्यावशेन देवतानानात्वसिद्धिः।

वस्तुतस्तु 'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः' (नि० ७१५) इत्यनेनापि सामाजिकमतमपनुद्यते। यतोऽत्र पृथिवीस्थानस्याग्नेरन्तरिक्षस्थानस्य वायोर्द्युस्थानस्यादित्यस्य स्थानभेदेन देवतात्रैविध्यमुक्तम्। 'प्रजापतिर्वै त्रीन्

एक महान् आत्मा इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि अंग-प्रत्यंग भाव से व्यूहित होकर एक ही अनेक रूपों में स्तुत्यर्ह बन जाता है। निरुक्त में देवताओं की एक दूसरे से जन्य-जनकता बताई गई है, अर्थात् एक ही देवता जिसकी प्रकृति है, उसी से वह उत्पन्न भी हो सकता है। इसलिये मनुष्य और देवताओं का स्वभाव भिन्न-भिन्न कोटि का है। यहाँ पर तो प्रातःकाल अग्नि से सूर्य पैदा होता है और वही सूर्य सायंकाल अग्नि को पैदा करता है। अदिति से दक्ष पैदा होता है और दक्ष से अदिति पैदा होती है। देवगण ईश्वर हैं, तब वे क्यों पैदा होते हैं ? इस आशंका का समाधान यह किया गया है कि देवताओं का जन्म कर्म के फल की सिद्धि के लिये है। लोक को कर्म का फल देने के लिये अग्नि, वायु, सूर्य प्रभृति देवगण पैदा होते हैं। ऐश्वर्य की प्रसिद्धि के लिये भी उनका जन्म होता है। देवता किससे पैदा होते हैं ? ऐसी आशंका कर ये देवगण स्वयं अपने से ही पैदा होते हैं, यह उत्तर दिया गया है। यद्यपि सब कुछ इन्हीं से पैदा होता है, तो भी देवताओं का जैसे स्वेच्छया अपने संकल्प से जन्म होता है, उस तरह का जन्म देवताओं से भिन्न इतर असमर्थ मनुष्य आदि का नहीं होता। क्या आर्यसमाजी इस तरह के देवताओं का स्वेच्छया जन्म मानते हैं ? यदि नहीं मानते तो उनका मत निरुक्त-संमत कैसे हो सकता है ? निरुक्त की दृष्टि में तो यह संभव है, क्योंकि ये ईश्वर हैं, अतः इनमें अपने संकल्प के अनुसार बदलने की सामर्थ्य है।

'इन देवताओं की स्वात्मा ही रथ, अश्व, आयुध और बाण भी होती है' इस निरुक्त-वचन के अनुसार क्या आर्यसमाजी ईश्वर का ही अश्व, रथ आदि के रूप में अपने संकल्प के अनुसार प्रादुर्भाव मानते हैं ? दुर्गाचार्य के अनुसार रथादि के रूप में देवता ही अपने को विकृत, परिणत करके रथादि के द्वारा साध्य अर्थ को सिद्ध करती है। जब वह रथादि के रूप में परिणत हो जाती है, उस समय उसकी रथादि के रूप में स्तुति की जाती है। सामाजिक तो इस बात को नहीं मानते। निरुक्त में इसी प्रसंग में (७१५) विविध पक्षों का सामञ्जस्य बैठाया है। आत्मवित् के पक्ष से सारे प्रपंच का ऐक्य 'पुरुष एवेदं' इत्यादि श्रुति के प्रमाण से बताया गया है। याज्ञिक पक्ष से देवताओं का नानात्व नामभेद से और स्तुतिभेद से सिद्ध किया गया है। विधि, मन्त्र, अर्थवाद, विद्या आदि के भेद से देवताओं का नानात्व सिद्ध किया गया है।

महिम्नोऽसृजताग्निं वायुं सूर्यम्' (मै० सं० ४।२।१२)। नहीश्वरः स्वात्मानमेव रचयतीति त्वद्रीत्योपपद्यते। निरुक्तदृष्ट्याऽप्यनेके पक्षाः सन्ति। अत एव 'अपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति' (नि० ७।५) इति याज्ञिकपक्षोपन्यासः। 'माहाभाग्यात्' (नि० ७।५) इत्याचार्येणात्र पृथक्त्वहेतुर्न प्रत्युक्तः। इष्ट एव हि याज्ञिकपक्षे प्रत्यभिधानमर्थभेद इति दुर्गाचार्यः। याज्ञिकपक्षे भेदो मुख्योऽभेदो गुणतः। तत्रापि स्थानैकत्वसंभोगैकत्वाभ्यामेकत्वमव्याहतम्। यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वं पृथिव्याः पर्जन्येन च संभोगैकत्वं दृश्यते, तथैवेतरयोरपि स्थानयोर्द्रष्टव्यमितरेतरोपकारित्वम्। संभोगैकत्वं समानोपकार्यता। तत्तु भिन्नस्थानानामपि भवति। यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च संभोगः। लोकेऽपि येषां समानकार्यता भवति, तेषामैक्यव्यवहारः। भेदाभेदसामञ्जस्यानुरूपो दृष्टान्त उक्तः। राष्ट्रमित्यभेदः, नरा इति भेदः। एवं पृथिव्यग्निरित्यभेदः, जातवेदा वैश्वानर इति भेदः। आत्मेत्यभेदः, लोकाश्च लोकिनश्चेति भेदः। सर्वत्रैव सामान्यविशेषधर्मो द्रष्टव्यः।

पुरुषबुद्ध्यपेक्षातश्च गुणप्रधानता, अपेक्षा च पुरुषानुरागवशादित्यपि (नि० ७।५) इत्यत्र टीकायां स्पष्टम्। आत्मनि त्रित्वनानात्वे गुणीकृत्य तदङ्गप्रत्यङ्गभावेन कल्पयित्वैकमात्मानं पश्यन्ति ब्रह्मविदः। नानैकत्वे गुणीकृत्य त्रित्वं पश्यन्ति नैरुक्ताः। त्रित्वैकत्वे गौणीकृत्य नानात्वं याज्ञिका मन्यन्ते।

एवं देवतानामाकारचिन्तनेऽपि भेदः। 'पुरुषविधाः स्युः' (नि० ७।६)। यतश्चेतनावतामेव स्तुतयो भवन्ति। अचेतनाः पाषाणादयः, अल्पचेतनाः पश्वादयश्च न स्तूयन्ते। संवादसूक्तेषु परस्परमुक्तप्रत्युक्तानि भवन्ति। यथा—'कुतस्त्वमिन्द्र' (ऋ० १।१६५।३) इति। तस्मात् पुरुषविधत्वमेव देवानाम्। यतो हि—पौरुषविधिकैरङ्गैः

इसी तरह 'वास्तव में तीन ही देवता हैं, यह नैरुक्तों का मत है' इस निरुक्त-वचन से भी सामाजिकों का मत खण्डित हो जाता है। क्योंकि यहाँ पर पृथिवीस्थानीय अग्नि, अन्तरिक्षस्थानीय वायु और आकाशस्थानीय आदित्य का स्थानभेद के कारण त्रैविध्य उक्त है। 'प्रजापति ने अग्नि, वायु और सूर्य इन तीन महिमामंडित देवताओं की सृष्टि की' यहाँ पर ईश्वर अपनी ही रचना करे, यह आपके मत से नहीं बन सकता। निरुक्त की दृष्टि से तो अनेक पक्ष हैं। इसीलिए 'अथवा ये पृथक् ही होंगे, क्योंकि इनकी अलग-अलग स्तुतियाँ हैं' यहाँ पर याज्ञिक पक्ष उपन्यस्त किया गया है। यहाँ पर आचार्य ने पृथक्त्व के हेतु के रूप में महाभाग्यता को उपन्यस्त नहीं किया है। याज्ञिक पक्ष में प्रत्येक अभिधान के साथ अर्थ का भेद भी इष्ट है। याज्ञिक पक्ष में भेद मुख्य और अभेद गौण। यहाँ पर भी स्थान की एकता और संभोग की एकता के कारण एकत्व में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। जैसे पृथिवी में मनुष्य, पशु और देवताओं के स्थान की एकता है, उसी तरह पृथिवी के साथ पर्जन्य के संभोग की एकता है। इसी तरह अन्तरिक्ष और आकाश में भी इतरेतर की उपकारिता समझनी चाहिये। संभोग की एकता समान उपकारकता को कहते हैं। यह भिन्न स्थान वालों की भी होती है। जैसे कि पृथिवी की पर्जन्य से और वायु तथा आदित्य से भी संभोग की एकता है। लोक में भी जिनका समान कार्य होता है, उनमें ऐक्य व्यवहार होता है। भेद, अभेद और सामंजस्य के अनुरूप दृष्टान्त दिये गये हैं। राष्ट्र पद अभेद का बोधक है, मनुष्य पद भेद का। इसी तरह अग्नि शब्द अभेद का बोधक है और जातवेदा, वैश्वानर आदि पद भेद के। आत्मा पद अभेद का बोधक है, लोक और लौकिक यह भेद को बताते हैं। सभी जगह सामान्य और विशेष धर्मों के कारण यह होता है।

पुरुष-बुद्धि की अपेक्षा के अनुसार गौण और प्रधान व्यवहार हुआ करता है। अपेक्षा पुरुष के अनुराग के अनुसार होती है। यह बात भी वहीं पर (७।५) निरुक्त की टीका में स्पष्ट है। अपने में त्रित्व और नानात्व को गौण करके उनकी अंग और प्रत्यंग भाव से कल्पना करके ब्रह्मवेत्ता अपने को एक ही देखता है। नानात्व और एकत्व को गौण मानकर निरुक्तकार उसमें त्रित्व बुद्धि रखते हैं और त्रित्व और एकत्व को गौण करके याज्ञिक गण इनमें नानात्व मानते हैं।

इसी तरह देवताओं के आकार की चिन्ता के विषय में भी मतभेद हैं। निरुक्त का कहना है कि देवता पुरुषों के समान होते हैं, क्योंकि चेतनायुक्त प्राणी की ही स्तुति की जा सकती है। अचेतन पत्थर आदि और अल्प चेतना वाले पशु आदि की स्तुति नहीं की जाती। संवाद सूक्तों में परस्पर उक्ति-प्रत्युक्तियाँ रहती हैं। जैसे कि 'हे इन्द्र, तुम कहाँ से आये'। इसलिये देवता पुरुषों के

स्तूयन्ते । तद्यथा 'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता' (ऋ० ६।४७।८) (नि० ७।६) हे इन्द्र ! ऋष्वौ शत्रूणां रेषणौ स्थविरस्य महतस्तव बृहन्तौ महान्तौ बाहू शरणौ आश्रयणीयौ नित्यं उपस्थेयाम उपतिष्ठेम । इत्यादिमन्त्रेषु इन्द्रदेवताया बाहुस्तुतिः श्रूयते । तेन पुरुषविधता विग्रहवत्त्वं विज्ञायते देवानाम् ।

तथैव द्रव्यविशेषसंयोगाच्च पुरुषविधत्वं साधितम् । 'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः । आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ॥' (ऋ० २।१८।४) । हे इन्द्र ! यदि तावद् अस्माभिर्हूयमानः, तव द्वौ हरी संनिहितौ ततस्तावेव युक्त्वा ताभ्यामायाहि । अथ चत्वारस्ततस्तैश्चतुर्भिः, अथ षट् ततस्तैः । अथाष्टौ ततस्तैः । अथ दश ततस्तैरायाहि । इदं सोमपेयं सोमपानकर्म प्रति । यतः सुतः, अभिषुतः सोमस्त्वदर्थम् । स त्वं हे सुमख सुधन मा अन्तरा केनचित् मृधः संग्रामं कार्षीः । अविलम्बितमागच्छेत्यर्थः । अनेन अश्वयुक्तेन रथेन इन्द्रः सोमपानार्थं मखेष्वाहूतः शीघ्रं यातीति ज्ञायते । एवम्—'अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जायाः सुरणं गृहे ते' (ऋ० ३।५३।६) । हे इन्द्र ! सोमं पीतवानसि स त्वं पुनः अस्तं गृहं प्रयाहि । यस्मात्तव गृहे कल्याणीः जायाः । तत्र बृहतो रथस्य निधानं रथशाला । विमोचनं च वाजिनः । संग्रामं जित्वागतस्य अन्यदपि यद्रमणीयम् तत्सर्वं तव गृहे वर्तते । तस्मात् पुनरस्तं प्रयाहि । नह्येतत् सर्वमचेतनस्याल्पचेतनस्यापुरुषविधस्य चोपपद्यते ।

'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य' (ऋ० सं० १०।११६।७) । हे इन्द्र! हविराज्यादिकमद्धि भक्षय, प्रस्थितस्य हविर्धानादुत्तरवेदिं प्रति प्रस्थापितस्य सोमस्य च स्वमंशं पिब । 'आ श्रुत्कर्ण श्रुधी हवं (ऋ० १।१०।९) । हे श्रुत्कर्ण आभिमुख्येन श्रुधि शृणु त्वमाह्वानमस्माकम् । एवमादीनि कर्माणि पुरुषविधस्यैव संभवन्ति । नहि गवादयोऽद्धि शृणुहीत्युक्ताः किञ्चित् प्रतिपद्यन्ते । तस्मान्मनुष्यवदेव देवतानां कार्यकरणसंनिवेश इत्येकः पक्षः ।

सदृश ही है । इनकी स्तुति में भी पुरुषों के समान ही अंगों का वर्णन है । जैसे कि 'ऋष्वा त इन्द्र' इत्यादि मन्त्र में इन्द्र के बाहु की स्तुति है । मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है कि—हे इन्द्र, शत्रुओं को रुला देने वाले तुम्हारे जैसे महान् देवता के बलशाली बाहु शरण ग्रहण करने योग्य हैं, उनकी शरण में हम नित्य उपस्थित रहना चाहते हैं । इससे देवता की पुरुषों के समान शरीरधारिता सिद्ध होती है ।

इसी तरह द्रव्यविशेष के संयोग से भी देवताओं की पुरुषों के आकार से समानता साधित होती है । जैसे कि 'आ द्वाभ्यां०' इत्यादि मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि सोमपान के लिये यज्ञ में आहूत इन्द्र अश्वयुक्त रथ से शीघ्र पहुँच जाता है । मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'हे इन्द्र, यदि हम आपको बुलावें, उस समय आपके पास दो घोड़े हों तो उन्हीं को जोतकर हमारे पास शीघ्र आ जाओ । यदि चार हों तो उनके साथ, छै हों तो उनको जोतकर, आठ हों तो उनके साथ अथवा यदि दस हों तो उनके साथ आप आवें । इस सोमरस को पीने के लिये । क्योंकि हमने तुम्हारे लिये सोम का रस निकाल लिया है । हे सुमुख सुधन इन्द्र, तुम बीच में किसी से लड़ाई करने में मत लग जाना । तुम हमारे पास शीघ्र ही आजाओ' । इसी तरह का एक दूसरा मन्त्र 'अपाः सोम०' इत्यादि है । इसका यह अर्थ है—हे इन्द्र, तुमने सोमपान कर लिया है । अब तुम पुनः अपने घर जाओ । क्योंकि तुम्हारे घर में कल्याणी पत्नी है, रथ को रखने के लिये बड़ी रथशाला है और घोड़ों के लिये घुड़साल है । संग्राम को जीत कर आये हुए व्यक्ति के लिये सभी रमणीय वस्तुओं का संग्रह तुम्हारे घर में है । इसलिये तुम पुनः अपने घर चले जाओ' । ये सब बातें अचेतन अथवा अल्पचेतन पुरुष-भिन्न किसी प्राणी में संभव नहीं हो सकती ।

इसी प्रकार 'अद्धीन्द्र' इस मन्त्र में कहा गया है कि हे इन्द्र, तुम हवि, आज्य आदि के अपने अंश का भक्षण करो, उत्तर वेदि में स्थापित सोमरस का पान करो' । इसी तरह से 'आ श्रुत्कर्ण' इस मन्त्र में कहा गया है कि हे श्रुत्कर्ण, तुम चारों तरफ से हमारे आह्वान को सुनो । इस तरह की बातें पुरुष के समान प्राणी में ही संभव हो सकती है । गाय आदि पशु 'सुनो' आदि कहने से कुछ भी नहीं समझ सकते । इसलिये मनुष्यों के समान ही देवताओं का शरीर, इन्द्रिय आदि का ढाँचा होता है, यह एक पक्ष है ।

अपुरुषविधा देवता इत्यपरः । 'अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति' (नि० २।१६)', 'तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्देवासुरम्' (शतपथे ११।१।६।९), 'न त्वं युयुत्से' (श० ११।१।६।१०) इत्याद्युक्तेः । 'अपुरुषविधं तद्यथाग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति' (नि० ७।७)। चेतनावत्स्तुतिमत्त्वं नहि देवानां पुरुषविधत्वे हेतुः, अक्षप्रभृत्योषधिपर्यन्तानामचेतनानामपि स्तूयमानत्वात् । पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यप्यहेतुर्देवानां पुरुषविधत्वे, ग्राव्णां तथैव स्तूयमानत्वात् ।। एते वदन्ति शतवत् सहस्रवदभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः। विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित् पूर्वे हविरद्य मासत ।। (ऋ० १०।९४।२) अर्बुदस्यार्षम् । एते ग्रावाणः अभिषवाख्यं कर्म कुर्वाणाः शतवत् सहस्रवद् वदन्ति शब्दबाहुल्याभिप्रायेण । अभिक्रन्दन्ति आह्वयन्ति सोमपातॄन् आगच्छतास्माभिरभिषुतं सोमं पातुम् । येयं ग्राव्णां विष्ट्वी अभिषवानुकूला क्रिया, तया सुकृत्या शोभनया क्रियया एते सुकृतः शोभनस्य कर्मणः कर्तारः, होतुश्चित्पूर्वे होतुरप्यग्नेः, मनुष्यहोतुर्वा पूर्वं प्रथमतरं हविः, एतत् सोमाख्यम् अद्यम् अदनीयं हरितेभिर्हरितवर्णैः आसभिरास्यैः, आशत अश्नन्ति । अत्र सोमसंयोगमात्रमशनं ग्राव्णामुपचर्य्यते। तथैवेन्द्रादीनामपि भावनामयैर्बाहुमुष्ट्यादिभिः स्तुतिः स्यात् । यथैवास्यादिकल्पना दृष्टव्यभिचारित्वाद् ग्रावप्रभृतिषु न संभवति, रूपकमात्रं स्तुत्यर्थं हि तत्, तथैव हरिरथजायादिस्तुतयो रूपकमात्रम् ।

'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ । महान् ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः ।।' (ऋ० १०।७५।९)। सिन्धुक्षितः प्रियमेधसः पुत्रस्यार्षम् । सिन्धुः नदी सुखहेतुं यतो रथमुदकमश्विनम् अशनेन व्यापनेन उदकरथं युक्तवती, तेन वाजम् । अन्नं सनिषत् संभक्तवती उत्पादितवती । अस्मिन्नाजौ संग्रामे यतो यतो गच्छति ततस्ततो व्रीह्याद्यन्नाद्यमभिनिष्पादयति । तस्मादेवास्य अदब्धस्यानुपक्षीणस्य विरप्शिनः शब्दकारिणोऽश्विनस्योदकरथस्य महान् महिमा महाभाग्यं पनस्यते स्तूयते स्तोतृभिः । अत्रापि रूपकोपन्यासेन स्तुतिः। 'होतुश्चित् पूर्वे हवि-

दूसरे पक्ष का कहना है कि देवता मनुष्यों से भिन्न होते हैं । जल और ज्योति के मिश्रण से वर्षा होती हैं । यहाँ पर उपमा के रूप में युद्ध का सा वर्णन किया गया है । इसीलिये कहा गया है कि 'यह युद्ध देव और असुर कें समान नहीं है', 'तुम नहीं लड़ते हो' इत्यादि उक्तियाँ युद्ध के वर्णनों में प्रमाण हैं । अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा ये अपुरुषविध हैं, अर्थात् इनका आकार पुरुषों के सदृश नहीं है । चेतन के समान स्तुति किये जाने मात्र से देवगण पुरुषों के सदृश नहीं माने जायेंगे, क्योंकि अक्ष से औषधि पर्यन्त अचेतन द्रव्यों की भी स्तुति की गई है । पुरुषों के सदृश अंगों के रूप में देवताओं की स्तुति की जाती है, अतः वे पुरुषों के सदृश होंगे, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पत्थरों की भी स्तुति की गई है, 'एते वदन्ति०' इत्यादि ऋचा के अर्बुद ऋषि हैं । इस मन्त्र का अर्थ यह है—'ये पाषाण सोम का रस निकालते समय सैकड़ों, हजारों तरह से बोलते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि सिल और लोढी की रगड़ से अनेक तरह के शब्द होते हैं । ये सोमपान करने वालों को बुलाते हैं कि हमारे द्वारा निकाले गये रस को पीने आओ । पाषाणों की इस सोमरस को निकालने की सुन्दर क्रिया से ये हवन कर्ता का भला करते हैं । ये अग्नि और होता मनुष्यों से भी पहले सर्वप्रथम अदनीय सोमरूप हवि को अपने हरित वर्ण के मुँह से ग्रहण करते हैं' । यहाँ पर सोम से संयोग मात्र ही अशन, अर्थात् भोजन पाषाणों में उपचरित है । इसी तरह इन्द्र प्रभृति में भी भावनामय बाहु, मुष्टि आदि से स्तुति की जा सकती है । जैसे कि पाषाण आदि की मुंह आदि की कल्पना प्रत्यक्ष विपरीत है, उसी तरह हरि, रथ, जाया आदि की कल्पना भी केवल स्तुति के लिये रूपकमात्र है ।

'सुखं रथं०' इत्यादि मन्त्र में भी रूपक के माध्यम से स्तुति की गई है । इसका यह अर्थ है—'सिन्धु नदी ने सुखपूर्वक चलने के लिये जल में व्याप्त होकर उसी को रथ बनाकर जोत लिया । उसने उससे अन्न पैदा किया । इस संग्राम में वह जहाँ-जहाँ जाती है, वहाँ-वहाँ व्रीहि आदि अन्न पैदा करती है । इसीलिये जिसकी गति कहीं क्षीण नहीं होती, शोर मचाने वाले इस उदक-रथ की महिमा स्तुति-गायकों के द्वारा गाई जाती है' । इसी तरह 'होतुश्चित्पूर्वे०' इत्यादि मन्त्र में भी पाषाण की अशनशक्ति की क्रिया के

रथमाशत' (ऋ० १०।९४।२) इत्यादौ यथाशनशक्तिक्रियया ग्राव्णां स्तुतिः। 'एते ग्रावाणो वदन्ति' इत्यादि कर्माण्यप्यौपचारिकाण्येव, तथैवेन्द्रादिष्वपि कल्पनामयान्येव कर्माणीति। 'अपि वोभयविधाः स्युः' (७।७) इति वचनेन निरुक्तकारः समन्वयमाह, उभयहेतुप्रामाण्यात्। अपुरुषविधाः क्षितिजलादयः, तदधिष्ठातारः पुरुषविधाः। तथा सति प्रत्यक्षागमयोरुभयोरपि प्रामाण्यमबाधितं भविष्यतीति दुर्गाचार्याशयः।

'एष चाख्यानसमयः' (नि० ७।७) इत्यपि यास्केनोक्तम्। दुर्गाचार्योऽपि—'भारते चाख्यानसमयः। एष एव सिद्धान्त इत्यर्थः। पृथ्वी स्त्रीरूपेण भारावतारणाय ब्रह्माणं ययाचे (महाभारते आदिपर्वणि ६४ अध्याये), अग्निश्च ब्राह्मणरूपेण वासुदेवार्जुनावुभौ खाण्डवं ययाचे (२२४-२२५ आ० प० महाभारते)। तदेतत् चतुर्धा भिद्यते, मन्त्रार्थदर्शनादेव। पौरुषविध्यमपौरुषविध्यं कर्मार्थोभयविध्यं नित्यमौभयविध्यमेवेति। सर्वं चैतदुपपद्यते। माहाभाग्ये सत्यैश्वर्यात् कथमिव देवता न स्याद् अमूर्ता मूर्ता एकधा द्विधा बहुधा वेति। यथा तु वर्तमानमपश्यन् मन्त्रदृशस्तथा तथाऽस्तुवन्, सर्वथैवादोषः, फलदर्शनान्नानावस्थादर्शनवदाख्यातॄणाम्। परिदेवनानिन्दादिष्वपि चेन्द्रादीनां कामतस्तद्रूपमवस्थितानां सा सा स्तुतिरेव न निन्दा। उक्तं च—'हीना न निन्दा स्तुतिरेव सा स्याद् देवान् मर्त्यः सम्यगभिष्टयात् कः। शक्तिक्षयेऽप्यध्यवस्यन्ति शिष्टाः स्तोतुं न पश्यन्ति गतिं यतोऽन्याम्॥' इति (७।७ नि० टीकायां दुर्गः)।

यदुक्तम् 'यस्य मन्त्रस्य योऽर्थस्तदनुसार्येव मन्त्राणां विनियोगः। अन्यथा विनियोग उक्त एव' (नि० १।१६) (पृ० ५७) इति, तदपि तुच्छम्, 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति श्रुत्या इन्द्रस्तुतिपराया अपि गार्हपत्याग्न्युपस्थाने विनियोगदर्शनात्। (नि० १।१६) इत्यत्र तु लैङ्गिको विनियोगोऽर्थज्ञानमात्रेण न संभवतीत्युक्तम्। 'इन्द्रं नत्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति' (नि० १।१७) इत्याद्यैन्द्रवाय्वाद्यनेकलिङ्गदर्शनादर्थज्ञानमन्तरेण प्राधान्याप्राधान्यानिर्णयान्नानेन

माध्यम से स्तुति की गई है। ये पाषाण बोलते हैं, इत्यादि क्रियाएँ जैसे औपचारिक हैं, उसी तरह इन्द्र प्रभृति में नाना प्रकार के कर्म कल्पना-प्रसूत हैं। इस परिस्थिति में निरुक्तकार ने समन्वय का रास्ता निकाला है कि देवता पुरुषविध और अपुरुषविध दोनों तरह के होते हैं, क्योंकि दोनों तरह के प्रमाण मिलते हैं। पृथिवी, जल प्रभृति अपुरुषविध और उनके अधिष्ठातागण पुरुषसदृश हैं। ऐसा होने से प्रत्यक्ष और आगम दोनों का प्रामाण्य बाधित नहीं होगा, यह दुर्गाचार्य का कहना है।

'यही महाभारत आदि का सिद्धान्त है' यह भी यास्क ने कहा है। दुर्गाचार्य ने यहां कहा है कि महाभारत में आख्यान सिद्धान्त प्रतिपादित है। पृथ्वी ने स्त्री का रूप धारण कर उसका भार हलका करने के लिये ब्रह्मा से प्रार्थना की, यह कथा महाभारत के आदिपर्व में है। अग्नि ने ब्राह्मण का रूप धारण कर वासुदेव और अर्जुन से खाण्डव वन को जलाने में सहायता करने की प्रार्थना की। इस प्रकार यह देवताओं का स्वरूप मन्त्रार्थ के आधार पर चार प्रकार का होता है—एक पुरुषविध, दूसरा अपुरुषविध, तीसरा कर्मार्थोभयविध तथा चौथा नित्योभयविध। यह सब उपपन्न हो जाता है। महान् भाग्य अर्थात् ऐश्वर्य के कारण देवता अमूर्त, मूर्त, एक, अनेक, दो आदि क्यों नहीं हो जायंगी? मन्त्रद्रष्टाओं ने वर्तमान में जिस रूप में देवता को देखा, उसी रूप में उसकी स्तुति की। इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि सभी प्रकार से देवताओं की उपासना करने पर फल मिलता ही है। आख्या के भेद से नाना अवस्थाओं का दर्शन होता है। परिदेवन, निन्दा आदि वाक्यों में भी इन्द्रादि के इच्छानुसार रूप धारण करने के कारण उसकी स्तुति ही होती है, निन्दा नहीं। कहा भी गया है—देवता में कुछ कमी बताना भी उसकी निन्दा नहीं है, वह उसकी उत्कृष्ट स्तुति ही है। क्योंकि ऐसा कौन मनुष्य है, जो कि ठीक तरह से देवता की स्तुति कर सके। शिष्टगण शक्ति के क्षीण हो जाने पर भी स्तुति में निरत रहते हैं, क्योंकि वे अन्य कोई उपाय नहीं देखते। यह बात वहीं पर अपनी टीका में कही है।

यह कहना कि 'जिस मन्त्र का जो अर्थ है, तदनुसार ही उसका विनियोग कहा गया है, यह निरुक्त का कथन है, किन्तु यह भी तुच्छ बात है, क्योंकि 'ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य का उपस्थान करता है' इस श्रुति में इन्द्र की स्तुति होने पर भी गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग देखा गया है। निरुक्त में यहाँ पर यही कहा गया है कि अर्थज्ञानमात्र से लैंगिक विनियोग नहीं हो सकता। 'इन्द्रं न त्वा' इत्यादि में इन्द्र, वायु आदि अनेक लिंगों के दर्शन से अर्थज्ञान के बिना प्रधान और अप्रधान का निर्णय न

श्रौतो विनियोगो बाधितुं शक्यः, लिङ्गाद्यपेक्षया श्रुतेः प्राबल्यात्। 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (मी० सू० ३।३।१३) इति न्यायात्। एतेन दयानन्दीयभाष्यं निरुक्ताद्यार्षग्रन्थविरुद्धमेव ज्ञातव्यम्। पाणिनिपतञ्जल्यादिविरुद्धमिति तु प्रदर्शितमेव।

यत्तु ब्रह्मदत्त उक्तवान्—'सायणभाष्यात् प्राचीनभाष्यकाराणां नैव मौलिकभेद आसीत्। सर्वं एवैते याज्ञिकवादस्थूणानिबद्धा एव। बहोः कालाद् वेदार्थः संकुचितरूप आसीत्। तत्र पूर्वभाष्यकारेषु स्कन्दस्वामि-दुर्ग-(निरुक्तटीका)-उद्गीथ-हरिस्वामि-उव्वट-वररुचि(निरुक्तसमुच्चय)-भट्टभास्कर (तै० सं० तै० ब्रा०)-वेङ्कटमाधव-(ऋग्भाष्य)-आत्मानन्द(अस्यवामीयभाष्य)-आनन्दतीर्थ(ऋ० ४० सूक्तभाष्य)-शत्रुघ्न(मन्त्रार्थदीपिका)-गुणविष्णु-(छान्दोग्यमन्त्रभाष्य)-माधव(सामवेदभाष्य)-भरतस्वामिदेवपाल-आनन्दबोध(कण्वशाखा)-सायणाः(ऋक्सामाथर्व-कण्वभाष्याणि)। एते सर्वेऽपि यज्ञपरत्वमेव वेदव्याख्यानं युक्तं मन्वत इति (पृ० ५९)', तत्तु क्षुद्रतामूलकमेव। दयानन्दीयाः 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इति न्यायेन सर्वानेवैतान् भाष्यकारान् वेदार्थानभिज्ञान् मन्यन्ते, दयानन्द एव वेदार्थज्ञ इति च ब्रुवन्ति। तदेतत् साहसमात्रं निर्लज्जता च, दुर्गाचार्यस्कन्दस्वामिसायणादिपदवीं गन्तुमसमर्थत्वात्।

स हि क्षुद्रतावशादनादरपूर्णशब्दैर्दुर्गाचार्यं सायणाचार्यं च निर्दिशति। दुर्गाचार्यनिरुक्तव्याख्यामपि यज्ञ-पर्य्यवसायिनीमेव व्यदधात्। सायणस्तु तत्र निमग्न एव। अयं हि यानाश्रित्य किञ्चिदाध्यात्मिकाधिदैवादिवादं प्रलपति तानेव निन्दति। वस्तुतो धर्मब्रह्मपर्य्यवसायिन एव वेदाः। तत्राप्यवान्तरतात्पर्यरीत्याधिकांशवेदभागस्य कर्मोपासन-पर्य्यवसायित्वम्। महातात्पर्यविषया तु सर्वस्यैव वेदस्य ब्रह्मपर्य्यवसायित्वमेव। अत एव व्यासजैमिनिशबरवात्स्याय-

हो पाने के कारण इससे श्रौत विनियोग का बाध नहीं हो सकता, क्योंकि लिंग आदि की अपेक्षा से श्रुति प्रबल होती है।' श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या में समवाय होने पर पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल होता है, क्योंकि पूर्व की अपेक्षा पर में अर्थ की कल्पना दुर्बल पड़ती जाती है' यह मीमांसा का न्याय इसमें प्रमाण है। इससे यह जानना चाहिये कि दयानन्द का भाष्य निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों के विपरीत है। पाणिनि, पतंजलि आदि के भी विरुद्ध हैं, यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने कहा है—'सायण भाष्य की अपेक्षा अन्य प्राचीन भाष्यों का कोई मौलिक भेद नहीं था। ये सभी भाष्य याज्ञिक पक्ष के अनुसार ही व्याख्या करते हैं, इस प्रकार बहुत समय से वेदार्थ संकुचित हो गया था। इनमें पूर्व भाष्यकारों में स्कन्दस्वामी, निरुक्त के टीकाकार दुर्ग, उद्गीथ, हरिस्वामी, उव्वट, वररुचि का निरुक्तसमुच्चय, भट्ट भास्कर का तैत्तिरीयसंहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण का भाष्य, वेङ्कटमाधव का ऋग्भाष्य, आत्मानन्द का अस्यवामीयभाष्य, आनन्दतीर्थ का ऋक्सूक्तभाष्य, शत्रुघ्न की मन्त्रार्थदीपिका, गुणविष्णु का छान्दोग्यमन्त्रभाष्य, माधव का सामवेदभाष्य, भरतस्वामी, देवपाल के भाष्य, आनन्दबोध का काण्वशाखा का भाष्य, सायण का ऋक्, साम, अथर्व, काण्वशाखा का भाष्य—ये सब वेद की व्याख्या यज्ञपरक ही मानते हैं' यह यह कथन भी क्षुद्रतामूलक है। दयानन्द के अनुयायी 'वहाँ तक पहुँचने में असमर्थ होने पर निन्दा करने लगते हैं' (अंगूर खट्टे हैं) इस लोकोक्ति के अनुसार इन सभी भाष्यकारों को वेदार्थ के अनभिज्ञ मानते हैं और कहते हैं कि केवल दयानन्द ही वेद का सही अर्थ जानते हैं। उनकी यह उक्ति दुःसाहसमात्र और निर्लज्जता की हद है, क्योंकि वे दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी, सायण प्रभृति के स्थान तक कभी नहीं पहुँच सकते।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु अपनी क्षुद्रता दिखाते हुए दुर्गाचार्य, सायण प्रभृति का अनादर भरे शब्दों से उल्लेख करते हैं। 'दुर्गाचार्य ने निरुक्त की व्याख्या यज्ञपरक ही की है। सायण तो उसमें पूरी तरह से डूबा हुआ है'। इसी क्षुद्रता को आगे कर वह आध्यात्मिक, अधिदैव वाद की चर्चा करते हैं और यज्ञपरक व्याख्या करने वाले उक्त आचार्यों की निन्दा करते हैं। वस्तुतस्तु सभी वेद धर्म और ब्रह्म के प्रतिपादन में ही लगे हैं। अवान्तर तात्पर्य के रूप में वेद का अधिकांश भाग कर्म और उपासना के प्रतिपादन में ही पर्यवसित है और महातात्पर्य की दृष्टि से सारे वेद का ब्रह्म के प्रतिपादन में ही विनियोग है। इसीलिये व्यास, जैमिनि, शबर-

यनादिभिर्यज्ञपरत्वमेव वेदानां व्याख्यातम्। यथैकार्थत्वेनैकवाक्यताऽनेकार्थत्वेन वाक्यभेदो भवति, तथैवैकार्थपर्य्यवसायित्वेनैवैकशास्त्रत्वम्। वेदगाम्भीर्यप्रदर्शनार्थमवान्तरतात्पर्य्यविधयाऽनेकार्थत्वप्रदर्शनं मन्तव्यम्। 'अर्थनित्यः' (नि० २।१) इत्यादि तु पिष्टपेषणमेव। प्रकरणसामर्थ्याच्छब्दोऽप्यर्थान्तरं भजत इत्यादिकमपि सिद्धान्तसम्मतमेव, परं नैतावता शब्दस्य मुख्यया वृत्त्या प्रकरणादिसंगतावपि बलाद् गौणो लक्ष्यो वार्थो ग्राह्यः। अत एव प्रकरणसामर्थ्यादित्युक्तम्।

यत्तु 'वर्तिका वर्तते पुनः पुनरावर्तयत इत्युषा' अत्र वर्तिकाऽभिप्रेता न चटकेति नित्यपक्षमाश्रित्य (नि० टीका पृ० ३६६; ऋ० १।११७।१६) स्कन्देन टीका कृता (ऋ० मद्राससंस्करण ४७७)। वर्तिका चटकानां युवामित्यर्थः कृतः। स च निरुक्तविरुद्धः (पृ० ६३-६४), तदेतदज्ञानविजृम्भितम्, मीमांसकरीत्या जातौ शक्त्यङ्गीकारेण चटकात्वजातिबोधकत्वेऽपि नित्यत्वानपायात्। अन्यथा खण्डकालस्यानित्यत्वेनोषःकालस्यापि तदन्तःपातित्वेन नित्यत्वासंभवः।

यदुक्तम् 'ब्रह्मनिष्ठाया न्यूनत्वात् परमात्मपरा व्याख्या भाष्यकारैर्न कृता। आध्यात्मिकार्थप्रकाशनश्रेयो दयानन्दस्यैव' इति, तदपि वेदार्थानभिज्ञानमूलकम्, दयानन्दस्यापि सायणोच्छिष्टभोजित्वात्। उव्वटसायणमहीधरादिव्याख्यां दृष्ट्वा विकृत्य च दयानन्देन किमपि लिखितम्। यथा चैत्तथा भाष्य एव द्रष्टव्यम्। तत्र तत्र मन्त्रब्राह्मणेषु विस्तृतं भाष्यं कुर्वता सायणेन वेदार्थ उद्घाटितः। दयानन्दस्तु पारम्पर्येण मन्त्रब्राह्मणानभिज्ञो यत्किञ्चिदेवोक्तवान्। नरदेवशास्त्रिप्रभृतयः सामाजिका अपि तद्भाष्यं नादृतवन्तः। पं० भीमसेनोऽखिलानन्दो ज्वालापूरमहाविद्यालयीयश्च भीमसेनो दयानन्दभाष्यं तन्मतं चानेकधा खण्डितवन्तः।

स्वामी, वात्स्यायन प्रभृति ने वेदों की यज्ञपरक ही व्याख्या की है। जैसे एक अर्थ होने पर एकवाक्यता और अनेक अर्थ होने पर वाक्यभेद होता है, उसी तरह एकार्थपर्यवसायी होने से पूरा वेद एक ही शास्त्र है। वेद की गंभीरता को बताने के लिए अवान्तर तात्पर्य के द्वारा अनेक अर्थों का भी प्रदर्शन यहाँ माना जाना चाहिये। 'अर्थनित्यः' इत्यादि निरुक्त वाक्य केवल पिष्टपेषण करने वाले हैं। प्रकरण के अनुसार शब्द दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है, ये सब बातें हम भी मानते हैं, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि शब्द की मुख्य वृत्ति से प्रकरण आदि की संगति बैठ जाने पर भी जबरदस्ती गौण अथवा लक्ष्य अर्थ को भी पकड़ा जाय। इसी लिये यहाँ पर 'प्रकरण को सामर्थ्य से' यह शब्द जोड़ा गया है।

जिज्ञासुजी ने 'वर्तते इति वर्तिका' इस व्युत्पत्ति के आधार पर बार बार आवृत्ति वाली उषा को वर्तिका कहा है, क्योंकि उषाकाल की प्रतिदिन प्रातःकाल आवृत्ति होती है। वर्तिका का अर्थ चटका (चिड़िया) नहीं किया जाता। उन्होंने इसके लिये नित्य पक्ष को स्वीकार करने वाले स्कन्दस्वामी को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है, किन्तु यह कथन केवल उनके अज्ञान को उजागर करता है। मीमांसक पद्धति से जाति में शक्ति मानने से चटकात्व जाति का बोधन होने पर भी नित्यता नहीं चली जाती। अन्यथा खण्ड काल के अनित्य होने से तदन्तःपाती उषाकाल की भी नित्यता नहीं बन पावेगी।

यह कहना कि 'ब्रह्मनिष्ठा की न्यूनता के कारण भाष्यकारों ने परमात्मापरक व्याख्या नहीं की। आध्यात्मिक अर्थ को प्रकाशित करने का श्रेय दयानन्द को ही दिया जा सकता है', यह भी वेद के अर्थ को ठीक से न समझने के कारण है। दयानन्द भी सायण के उच्छिष्ट को ही खाने वाले हैं। उव्वट, सायण, महीधर आदि की व्याख्या देखकर और उसको विकृत करके ही दयानन्द ने सब कुछ लिखा है। इसका प्रमाण भाष्य में ही देखना चाहिये। जहाँ-तहाँ मन्त्र और ब्राह्मणों पर विस्तृत भाष्य लिखते हुए सायण ने वेदार्थ का उद्घाटन किया है। दयानन्द तो परम्परा से मन्त्र और ब्राह्मण को नहीं जानते थे, इसलिये इन्होंने जो मन में आया, लिख दिया। नरदेव शास्त्री प्रभृति आर्यसमाजी भी इनका आदर नहीं करते। पं० भीमसेन, अखिलानन्द और ज्वालापुर महाविद्यालय के भीमसेन प्रभृति विद्वानों ने दयानन्द के भाष्य और उनके मत का अनेक तरह से खण्डन किया है।

' सायणभिन्नविद्यारण्यस्योपनिषत्सु वार्तिकसारस्तादृशो ग्रन्थोऽस्ति यस्यार्थमपि दयानन्दो नावगन्तुमशकत् । उपनिषत्सु तदीयो ग्रन्थः, अनुभूतिप्रकाशः, विवरणप्रमेयसंग्रहः, पञ्चदशी इत्यादयो ग्रन्थाश्चाध्यात्मिकास्तदीयाः प्रौढग्रन्थाः । तथापि यज्ञप्रकरणे यज्ञपरं व्याख्यानं युक्तमेव ।

यदुक्तम्—'यत्र स्पष्टतयाऽऽध्यात्मिकोऽर्थो व्यज्यते, तत्रापि बलादेभिः साय़णादिभिर्याज्ञिकोऽर्थः प्रतिपादितः' (पृ० ६४) इति, तत्तुच्छम्, विपरीतस्यैव सुवचत्वात् । तदुदाहरणं शुक्लयजुर्वेदस्य प्रथमकण्डिकाया एव व्याख्यानम् । तत्र 'इषे त्वेति शाखां छिनत्ति' इत्यादिब्राह्मणवचनैः स्पष्टमेव यज्ञाङ्गेषु शाखाच्छेदनमार्जनवत्सापाकरणादिषु 'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्राणां विनियोगः । तदपहाय बलादीश्वरस्तुतिपरतया सा कण्डिका व्याख्याता दयानन्देन । सायणभाष्यनिन्दनं तु सामाजिकानां कृतघ्नतामूलकमेव । सायणभाष्यादर्शने सति कस्यापि वेदमन्त्रस्य तैरर्थो नागवगन्तुं शक्यते स्म ।

यत्तु 'श्रौतसूत्रानुसार्य्येव सायणीयं व्याख्यानम्, गृह्यसूत्रसम्बन्धि व्याख्यानं सायणेन न कृतमेव' (पृ० ६४), इति, तदपि तुच्छम्, श्रौतार्थव्याख्यानेनैव स्मार्तार्थस्य गतार्थत्वात् । अंशतस्तु यथा पूर्वमीमांसकैः स्मृत्यादिसमन्वयः कृतस्तथा सायणेनापि कृत एव । दयानन्देन तु श्रौतोऽर्थो न कृतः, किमुतान्यः । आध्यात्मिकमपि व्याख्यानं तस्य वेदविरुद्धमेव । यथा चैतत्तथा तत्र तत्र दर्शयिष्यामः । दुर्गाचार्य्योऽपि तथैव मन्त्रान् व्याख्याति । जैमिनि-शबर-वात्स्यायन-भट्टपाद-शङ्कराचार्यादयश्च तथैव यज्ञपरत्वेनैव वेदव्याख्यानमनुमन्यन्ते ।

यत्तु—'जनमानुषेषु यजमानेषु' इत्यत्र मनोरपत्ये यजमानरूपायां प्रजायां मनुषो मनुष्यस्याध्वर्य्योः, जनान् यजमानान् जनानां यजमानानां विशां यजमानरूपाणां प्रजानां नरः कर्मणां नेतारोऽध्वर्य्वादयः' इत्यादि-सायणीयव्याख्यानमभिलक्ष्योक्तम्—'मनुष्यशब्देन यजमान एवोक्त इत्यत्र को नियामकः' (पृ० ६५), इति तत्

सायण से भिन्न विद्यारण्य का उपनिषदों पर वार्तिकसार ऐसा ग्रन्थ है कि दयानन्द इसको समझ भी नहीं सकते । उपनिषदों पर ही अनुभूतिप्रकाश, विवरणप्रमेयसंग्रह, पंचदशी आदि उनके ग्रन्थ वेदों की आध्यात्मिक व्याख्या करने वाले प्रौढ़ ग्रन्थ हैं । तो भी यज्ञ के प्रकरण में यज्ञपरक ही व्याख्यान उचित है ।

यह कहना तो बड़ी तुच्छ बात है कि 'जहाँ पर स्पष्ट ही आध्यात्मिक अर्थ की प्रतीति होती है, ऐसे स्थलों में भी सायण प्रभृति ने जबरदस्ती याज्ञिक अर्थ का प्रतिपादन किया है', क्योंकि दयानन्द के भाष्य के विषय में भी हम इसके विपरीत कह सकते हैं कि उन्होंने ही जबरदस्ती सब जगह आध्यात्मिक अर्थ कर दिया है । शुक्ल यजुर्वेद की प्रथम कण्डिका के ही व्याख्यान को हम देखें, यहाँ पर 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्र से ब्राह्मण वचनों के द्वारा शाखा के छेदन का विधान है, जिसका कि विनियोग यज्ञ के अंग के रूप में शाखाछेदन मार्जन, वत्स के अपाकरण आदि में किया गया है । इसको छोड़कर दयानन्द ने जबरदस्ती इस मन्त्र की व्याख्या ईश्वर-स्तुतिपरक की है । सायण भाष्य की निन्दा करना समाजियों की कृतघ्नता है । सायण भाष्य को बिना देखे वे किसी भी मन्त्र का अर्थ नहीं कर सकते थे ।

यह कथन भी गलत है कि 'सायण ने अपनी व्याख्या श्रौतसूत्रों के आधार पर ही की है उन्होंने गृह्यसूत्रों से संबद्ध व्याख्या कहीं नहीं की', क्योंकि श्रौत अर्थ की व्याख्या कर देने पर स्मार्त अर्थ उसी से गतार्थ हो जाता है । कहीं कहीं पर अंशतः सायण ने भी पूर्व मीमांसकों की भाँति स्मृति आदि के साथ समन्वय किया ही है । दयानन्द ने तो श्रौत अर्थ ही नहीं किया, फिर दूसरे की बात ही क्या ? उसकी आध्यात्मिक व्याख्या भी वेदविरुद्ध ही है । इसको आगे स्थान-स्थान पर हम स्पष्ट करेंगे । दुर्गाचार्य भी वेद मन्त्रों की इसी तरह व्याख्या करते हैं । जैमिनि, शबरस्वामी, वात्स्यायन, कुमारिलभट्ट, शंकराचार्य प्रभृति भी इसी तरह वेदों की व्याख्या यज्ञपरक ही करते हैं ।

'जनमानुषेषु यजमानेषु' इस स्थल पर 'मनु की सन्तान, यजमानरूप प्रजा में अध्वर्युरूप मनुष्य के यजमानों की प्रजा को अध्वर्यु प्रभृति कर्म में प्रेरित करते हैं' इस सायण की व्याख्या के संबन्ध में यह जो कहा गया है कि 'मनुष्य शब्द से यजमान ही कहाँगया है, इसमें क्या प्रमाण है', यह बात वही कह सकता है, जिसको कि वेद की गन्ध भी न लगी हो । सामान्य जन को

सर्वथानाघ्रातवेदार्थगन्धस्यैव शोभते, जनसामान्यस्य वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानानधिकारादेव 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति विधिना 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' इत्यध्यापनविधिना वाऽध्ययनं विधीयते। 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्' इति श्रुतिभिरेकवाक्यतयोपनयनस्य वेदाध्ययनाङ्गता ज्ञायते। तस्माद्येषां त्रैवर्णिकानामुपनयनं विहितं तेषामेव वेदाध्ययनमपि विहितम्। न च त्रैवर्णिकेतराणां नराणामप्युपनयनं वेदाध्ययनं वा विहितम्। तस्मान्नरा मनुष्या मर्त्या इत्यादयः सर्वेऽपि शब्दा अधिकृतनरपरा एव ज्ञातव्याः। एवमेव यज्ञप्रसङ्गेन आयातो नर इति प्रकरणवशादेवाध्वर्य्यादय ऋत्विजो गृह्यन्ते। अवश्यं क्वचिन्नरमात्रा अपि नरादिशब्देन व्यपदिश्यन्ते—यथा 'न कर्म लिप्यते नरे' (यजु० ४०।२)। विस्तरेण च पूर्वमीमांसायामुत्तरमीमांसायां च त्रैवर्णिकानामेव वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानादिष्वधिकारो निर्णीतः।

किञ्च, 'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥' (ऋ० १०।७१।११) इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। 'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी गायत्रमेको गायति शक्करीषूद्गाता 'गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः' (नि० १।८), 'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति ब्रह्मा सर्वविद्यः' (नि० १।८), 'एकोऽध्वर्युः' (नि० १।८) इत्यादिवचनैर्निरुक्तकारयास्क एव ऋगादिवेदानामार्त्विज्यसंबन्धं प्रतिपादयति, टीकाकारो दुर्गाचार्योऽपि तथैव व्याख्याति। तथाहि—'बृहस्पतेरार्षम्। ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमनयर्चाचष्टे। य एते चत्वारो महर्त्विजः, एतेषां त्वः एकः ऋचां पोषं पुष्टिं पुपुष्वान् पुनः पुनः भृशं वा देवतायाथात्म्यानुचिन्तनसन्तानगर्भस्थानकरणानुप्रदानवतीर्यथाकालमृचोऽधीयानः। स हि तासां पोषः। कतम एक एतत्कर्म कुर्वन्नास्त इत्यपेक्षायामाह—होता। 'यदृचा होत्रं क्रियते' (श० ११।४।२।७) इति श्रुतेः। त्वः एकः शक्करीषु ऋक्षु गायत्रं गायति। कतम इत्याह—उद्गाता। उद्गातरि सामगानकर्म विनियुक्तम्, 'साम्नोद्गीथम्' (ऐ० ब्रा० २५।८) इति श्रुतेः। ब्रह्मा त्वो ब्रह्मानामैको ऋत्विग् जाते जाते प्रायश्चित्ते विद्यां वदति विद्यात्रयहेतुत्वात्।

वेद के अध्ययन और उसके अर्थ के अनुष्ठान में अधिकार नहीं है, 'स्वाध्याय करे' इति विधि वाक्य से, अथवा 'आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन करे, उसको पढावे' इस अध्यापन विधि से अध्ययन का विधान होता है। 'वसन्त में ब्राह्मण का उपनयन करे, ग्रीष्म में क्षत्रिय का, शरद् में वैश्य का' इन श्रुतियों से एकवाक्यता होने से उपनयन की वेदाध्ययन को अंगता जानी जाती है। इसलिये जिन त्रैवर्णिकों का उपनयन विहित है, उन्हीं का वेदाध्ययन भी विहित है। इस तरह त्रैवर्णिक से भिन्न मनुष्यों का उपनयन तथा अध्ययन विहित नहीं है। इसलिये नर, मनुष्य, मर्त्य आदि सभी शब्द अधिकृत मनुष्य को ही बतावेंगे। इसी तरह यज्ञ के प्रसंग में 'मनुष्य आ गया' ऐसा कहने पर प्रकरण के बल से अध्वर्यु प्रभृति ऋत्विजों का ही बोध होगा यह अवश्य है कि कहीं कहीं मानवमात्र नर आदि शब्दों से कहे जाते हैं, जैसे कि 'मनुष्य कर्म से लिप्त नहीं होता' इस ईशावास्य उपनिषद् के वाक्य में। पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा में विस्तार से त्रैवर्णिकों का ही वेद के अध्ययन और वेदार्थ के अनुष्ठान में अधिकार बताया गया है।

'ऋचां त्वः' इस ऋचा में ऋत्विक् के कर्मों का विनियोग बताया गया है। एक होता ऋग्वेद की ऋचाओं से कर्म और यजमान को पुष्ट करता है। उद्गाता शक्वरी में गायत्र सूक्त का पाठ करता है। गायत्र शब्द की निष्पत्ति स्तुतिकर्मा गायति धातु से होती है। ब्रह्मा उचित अवसरों पर सबको निर्देश करता है, क्योंकि वह सभी विद्याओं में निष्णात है। एक शब्द से अध्वर्यु का बोध होता है' इत्यादि वचनों से निरुक्तकार यास्क ही ऋगादि वेदों के साथ विभिन्न ऋत्विग् जनों के सम्बन्ध को बताते हैं, टीकाकार दुर्गाचार्य भी इसी तरह की व्याख्या करते हैं। जैसे कि—इस ऋचा का ऋषि बृहस्पति है। इस ऋचा से ऋत्विग् जनों के कर्मों का विनियोग कहा गया है। यह जो चार बड़े ऋत्विक् हैं, इनमें से एक ऋचाओं की पुष्टि बार बार अथवा पूरी तरह से करता है, क्योंकि वह देवता के यथार्थ स्वरूप के चिन्तन के साथ सन्तान, गर्भस्थान, करण, अनुप्रदान वाली ऋचाओं का समयानुसार पाठ करता है। यही ऋचाओं की पुष्टि है। इस कर्म को कौन करता है? इसके उत्तर में बताया गया है कि 'होता', क्योंकि ऋचाओं के द्वारा होत्र कर्म किया जाता है। एक शक्वरी ऋचाओं में गायत्र का गान करता है। यह कौन है? उद्गाता। उद्गाता के लिये साम का गान निश्चित है। 'साम्नोद्गीथम्' यह ऐतरेय श्रुति इसमें प्रमाण है। ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् प्रायश्चित उपस्थित होने पर इतर ऋत्विग् जनों को उसका उपाय बताता है।

विद्यां विज्ञानं वदतीतरेभ्य ऋत्विग्भ्यः। स पुनः सर्वविद्यः। येनासौ सर्वं वेदितुमर्हति। नह्यसर्ववित्तमधिकारं शक्नुयान्निर्वर्तयितुम्। तदुक्तमेव—'अथ केन ब्रह्मत्वमित्यनया त्रय्या विद्यया'(श० ११।४।२।७)इति। त्वः एकः यज्ञस्य मात्रां विमिमीते। यज्ञस्येतिकर्तव्यतां विमिमीते अध्वर्युः। शक्वरीति ऋचां बोधकः शब्दः। तद्यदाभिरभिष्टुत इन्द्रो वृत्रं हन्तुमशकत्तत्तदेतच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्। 'ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः' (नि० १।८)। स हि त्रयीं विद्यां वेद। 'अध्वरं युनक्ति यः सोऽध्वरस्य नेता प्रापयिता सोऽध्वर्युः' इत्यादिनिरुक्ततट्टीकाकर्तृभिः स्पष्टमेव ऋक्सामयजुषां तत्सम्बन्धिनामृत्विजां च यागेषु मुख्योपयोग उक्तः। तथा च तत्सम्बधिनो नरमर्त्यादिशब्दाः कथं साधारणमनुष्यादिकं परामर्शयितुमर्हन्ति? आश्चर्यमिदं यत् स्कन्दस्वामिदुर्गाचार्य्याद्याचार्याणां वचनान्याश्रित्यैवायं स्वपक्षं स्थापयितुमीहते, परं सत्यवसरे तदीयान् सिद्धान्तानेव भृशं विरुणद्धि। तेषामवेदार्थज्ञत्वकथनेऽपि नैव संकुचति। सायणाचार्यभाष्यसम्बन्धे यद्बह्वनर्गलमुक्तं तत्तु तस्य क्षुद्रतैव।

'यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः।।'(ऋ० १।१।६)इत्यस्य मन्त्रस्यार्थः कृतः—प्रियतम देव शरणागत कल्याणकारित्वं त्वदीयं व्रतम्। स्वयमेवास्य प्रशस्तिं लिखति कीदृग्घृदयग्राहिसुन्दरोऽयमर्थः संतप्तहृदयज्वालाहर आत्मसमर्पणस्य प्रभुप्रेम्णः प्रभुभक्तेरसीमनिष्ठाया अद्भुतं दृश्यम्। एतेनैव सर्वचित्तवृत्तिनिरोधो जायते। आत्मस्वरूपावस्थितिसाधनभूतोऽयं मन्त्रः। 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इति योगसूत्रेणापीदमेवोक्तम्। दयानन्दीये भाष्येऽयमेवार्थः स्फुटीकृतः। सायणाचार्यो यद्याध्यात्मिकमर्थं जानीयात् तदा यादृशोऽर्थो कृतो न तथा कुर्यात्' (पृ० ६५) इत्यादि, तत्तु केवलं प्रतारणमात्रम्, तदर्थस्यापि सायणोक्तार्थमाश्रित्यैवान्यथाकल्पनानतिरिक्तत्वात्। सायणोक्तस्यैव प्रामाणिकत्वात्। तथाहि—'अङ्ग' इत्यभिस्वीकारार्थो निपातः। अङ्ग इत्यस्यैवार्थे मम प्रियतम इति।

यह सब विद्याओं का जानकार होता है। इसीलिये यह सब कुछ जानता है। जो सब कुछ नहीं जानता, वह सब अधिकार को नहीं प्राप्त करता। यही बात इस शतपथश्रुति में कही गई है कि 'ब्रह्मत्व किससे मिलता है? इस त्रयी विद्या को जानने से।' एक ऋत्विग् यज्ञ की मात्रा, इतिकर्तव्यता का मापन करता है, वह अध्वर्यु है। शक्वरी शब्द ऋचाओं का बोधक है। इन ऋचाओं से स्तुति किये जाने पर इन्द्र वृत्र को मारने में समर्थ हो गया, इसलिये इनको शक्वरी कहा जाता है। 'ब्रह्मा शास्त्रों के परिज्ञान के कारण श्रेष्ठ है, वह तीनों वेदों को जानता है। जो यज्ञ की योजना करता है, यज्ञ को पूरा करता है, उसका अध्वर्यु कहते हैं' इत्यादि वाक्यों से निरुक्तकार और उसके टीकाकारों ने स्पष्ट ही ऋक्, साम, यजुः का और इनके परिज्ञाता ऋत्विजों का याग कर्म में मुख्य उपयोग बताया है। इसलिये इनसे संबद्ध नर, मर्त्य आदि शब्द भी साधारण मनुष्यों के लिये क्यों प्रयुक्त होंगे। यह आश्चर्य की ही बात है कि जिज्ञासुजी स्कन्दस्वामी, दुर्गाचार्य प्रभृति के वचनों के सहारे ही अपना पक्ष स्थापित करना चाहते हैं, किन्तु अवसर आने पर उन्हीं के सिद्धान्तों का भरसक विरोध भी करते हैं। वह उनको वेद का अर्थ नहीं आता, यह कहने में भी संकोच नहीं करते। सायणाचार्य के भाष्य के संबन्ध में जो बहुत सी अनर्गल बातें कहीं हैं, वह तो क्षुद्रता की हद है।

'यदङ्ग दाशुषे' इस मन्त्र का यह अर्थ किया है कि—'हे प्रियतम, देव! आपका व्रत शरणागत के लिये कल्याणकारी है'। इसके बाद वे स्वयं ही इस अर्थ का प्रशस्तिगान करते हैं कि कैसा हृदयग्राही सुन्दर अर्थ है। दुःख से संतप्त हृदय की ज्वाला को दूर कर देने वाला, आत्मसमर्पण, ईश्वर के प्रेम और प्रभु की भक्ति की असीम निष्ठा का यहाँ पर अद्भुत दृश्य है। इसीसे सभी प्रकार की चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। इस मन्त्र से साधक की स्वात्मस्वरूप में अवस्थिति होती है। योगदर्शन के 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्र में यही बात कही गई है। दयानन्द के भाष्य में भी यही अर्थ स्पष्ट किया गया है। सायणाचार्य भी यदि आध्यात्मिक अर्थ को जानते होते तो जैसा उन्होंने अर्थ किया है, वैसा न करते' यह सारा कथन केवल वंचनामात्र है। सायण के अर्थ का सहारा लेकर ही यहाँ पर उसमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। वास्तव में प्रामाणिक सायण का अर्थ ही है। जैसे कि—

तत्र न नव्यः कश्चनार्थः । हे अग्ने दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थं यद् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं करिष्यसि तद् भद्रं तव इत् तवैव सुखहेतुरिति शेषः । हे अङ्गिरः, अग्ने ! एतच्च, सत्यं न त्वत्र विसंवादोऽस्ति । यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेऽग्नेरेव सुखं भवति । भद्रमित्यस्य प्रजापश्वादिरूपार्थो ब्राह्मणप्रमाणको न तदभ्यूहः । तदाह भद्रशब्दार्थं शाट्यायनिनः समामनन्ति । 'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद्भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्' इति । कर्मकाण्डप्रसङ्गे तदेव भद्रं काम्यतेऽपि । यत्र विशेषोल्लेखो न भवेत्तत्र भद्रशब्दस्य कल्याणसामान्यवाचकत्वेऽपि यत्र स्पष्टमेव भद्रस्य श्रौतो व्याख्योपलभ्यते, तत्र तदुपेक्ष्य कल्याणसामान्यपरत्वमसङ्गतमेव । सामान्यस्यापि विशेषपर्यवसायित्वमेव । यत्र श्रुत्यैव विशेषो निर्दिश्यते तत्र कल्पनाप्रसरस्यानवकाश एव ।

यज्ञप्रसङ्गे 'दाशुषे' इत्यस्य हविर्दत्तवते इत्यर्थो युक्तः, नात्मसमर्पणम् । आत्मसमर्पणं तु यज्ञादिफलमेव भवति । पुरुषव्यापारस्तु साधनगोचर एव भवति न फलगोचरः, साधनगोचरव्यापारेण फलस्यानायाससिद्धत्वात् । सायणाचार्योऽग्निशब्देनात्र देवताविशेषमभिप्रैति । 'एकं सद्विप्राः' इति मन्त्रोऽग्निशब्दं परमात्मपरमभिप्रैति । अग्निदेवतापि न भौतिकाग्निरूपः, किन्तु चेतनो माहैश्वर्य्यशीलः परमेश्वराङ्गभूतः । अग्निस्तुतेरपि ब्रह्मपर्य्यवसायित्वमेव, निरुक्तादौ परमेश्वरस्यैव विभिन्नदेवादिरूपेण माहाभाग्यदाविर्भूतत्वात् । यद्यप्यग्न्यन्तर्यामिपरत्वमप्यस्य मन्त्रस्य सायणसंमतमेव, तथापि प्रथमोपस्थितत्वाद्देवविशेष एव ग्राह्यः । इहाग्निशब्दो देवताविशेषमेव गमयति । न च सोऽपि परमेश्वरपर एव, 'अङ्गारेष्वङ्गिरा' (नि० ३।१७) इति निरुक्तवचनविरोधात्, 'येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (ऐ० ब्रा० ३।३४) इत्यैतरेयब्राह्मणविरोधाच्च । एवं सायणभाष्यस्य ब्राह्मणानुसारित्वेऽपि स्वकाल्पनिकार्थस्य समर्थनाभिनिवेशो निरर्थक एव । विनियोगोऽपि न विस्मर्तव्यः । 'अग्निमीळे' इति सूक्तं प्रातरनुवाके आग्नेये क्रतौ विनियुक्तम् । 'अवानो अग्न इति, अग्निमीळेऽग्निं दूतम्' (४।१३) इत्याश्वलायनोक्तत्वात् । तथा च देवताविशेष

अङ्ग यह निपात चतुरस्र स्वीकृति के लिये है। मेरे प्रियतम, इसी शब्द का अर्थ है। इसमें कोई नवीनता नहीं है । हे अग्ने, हवि देने वाले यजमान के लिये, उसकी प्रीति के लिये जो तुम भद्र अर्थात् धन, घर, सन्तान, पशु आदि देकर उसका कल्याण करोगे, वह सब तुम्हारे ही सुख के लिए होगा । हे अग्नि, यह सब सच है, इसमें कोई विवाद नहीं है । यजमान के पास जब धन-धान्य आदि सम्पत्ति हो जाती है, तो उसके बाद वह यागादि का अनुष्ठान करता है । इस प्रकार इससे अग्नि को ही सुख मिलता है । भद्र शब्द का प्रजा, पशु आदि अर्थ ब्राह्मणों के प्रमाण पर किया जाता है । इसको जिज्ञासुजी ने नहीं माना है । कहा गया है—शाट्यायन के अनुयायी भद्र शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं—पुरुष का जो धन है, वह भद्र है । गृह, प्रजा, पशु ये सब भद्र हैं । कर्मकाण्ड के प्रसंग में इन्हीं सब भद्रों का कामना भी की जाती है । जहाँ पर विशेष उल्लेख न हो वहां भद्र शब्द का अर्थ कल्याण सामान्य भी हो सकता है, किन्तु जहाँ स्पष्ट ही भद्र शब्द की श्रौती व्याख्या उपलब्ध है, वहाँ उसकी उपेक्षा कर कल्याण सामान्य अर्थ करना ठीक नहीं है । सामान्य का पर्यवसान भी विशेष में ही होता है । जहाँ पर श्रुति से ही विशेष का भान हो जाता है, वहाँ पर कल्पना का घोड़ा दौड़ाना ठीक नहीं है ।

यज्ञ के प्रसंग में 'दाशुषे' पद का अर्थ 'हवि देने वाले' यही उचित है, 'आत्मसमर्पण' नहीं । आत्मसमर्पण तो यज्ञ आदि का फल होता है । पुरुष का व्यापार साधन के लिये होता है, फल के लिये नहीं । साधन के लिये किये गये व्यापार से फल अनायास सिद्ध हो जाता है । सायणाचार्य यहाँ पर अग्नि शब्द से देवताविशेष का ग्रहण करते हैं । 'एकं सद्विप्राः' यह मन्त्र अग्नि शब्द को परमात्मा का बोधक मानता है । अग्नि देवता भौतिक अग्नि रूप नहीं है, किन्तु चेतन, महान् ऐश्वर्यशाली, परमेश्वर का अंगभूत ही है । अग्नि की स्तुति का भी पर्यवसान ब्रह्म में ही होता है । निरुक्त आदि में बताया गया है कि परमेश्वर ही महान् ऐश्वर्य के कारण विभिन्न देवताओं के रूप में आविर्भूत होता है । यद्यपि इस मन्त्र के अग्नि शब्द से अन्तर्यामी परमात्मा की बोधकता भी सायण संमत है, तो भी प्रथम उपस्थित होने से देवविशेष, अग्नि देवता की ही यहाँ बोधकता मानी गई है । उसको भी परमेश्वर ही नहीं माना जा सकता, क्योंकि मूल में उद्धृत निरुक्त और ऐतरेय ब्राह्मण के वचन से इसका विरोध होगा । यहाँ पर स्पष्ट ही अग्नि का पृथक् विशेष रूप से वर्णन है । इस प्रकार सायण भाष्य के ब्राह्मणानुसारी होने पर भी अपने काल्पनिक अर्थ के समर्थन के लिये अभिनिवेश निरर्थक

एवात्राग्निपदार्थः । तथा च सायणीयमेव व्याख्यानं विजयते । न चास्मिन्नर्थे आध्यात्मिकसम्पत्तेरवर्णनं दूषणम् परमात्मपराणां सूक्तानामाध्यात्मिकतत्त्वपरत्वेनान्यत्र बहुधा व्याख्यातत्वात् । मनुष्याणामधिकृतानां प्रथमं कर्माधिकारित्वमेव, उपासनातत्त्वज्ञानयोस्तदनन्तरभावित्वात् । तेन हविर्दानमेव प्राथमिकं देवाराधनम् । नान्यानि शुभानि कर्माणि, तैर्न कल्याणमिति नैव सायणो वक्ति । आध्यात्मिकयज्ञोऽपि प्राथमिकद्रव्ययज्ञानन्तरभाव्येव, गौणप्रधानयोः प्रधाने कार्यसंप्रत्यय इति न्यायात् । ज्ञाने तु यज्ञत्वारोप एव, हविरग्न्यादीनां तत्र काल्पनिकत्वात् । 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥' (श्री० भ० गी० ४।२४) इति ब्रह्मणि गीतायामग्न्याद्यारोपस्मरणात् । हविःप्रदानस्वरूपं किमित्यज्ञानादेव नोक्तं सायणेनेत्युक्तिरेवाज्ञानमूलिका, 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' (ऋ० सं० १।१६४।३९) इत्यादिमन्त्रव्याख्याने तस्याध्यात्मज्ञानवैशद्यप्रसिद्धेः । 'आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा । यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥' (पृ० ६६) इति सायणस्योक्तिः पूर्वोक्त 'ऋचां त्वः पोषमास्ते' इत्यादिमन्त्रमूलिकैव । यजुर्वेदस्याध्वर्युवेदत्वेनैव प्रसिद्धिः । पुरोऽनुवाक्यायाज्यानुवाक्याघटितस्यर्ग्वेदस्य हौत्रकर्मण्युपयोग इत्यपि स्पष्टमेव ।

यदुक्तम्—'सायणभाष्यपठनेन वेदेषु श्रद्धा नोत्पद्यते । सायणभाष्यं पठित्वा परमात्मबुद्धिपूर्विका वेदकृतिरिति कस्यापि बुद्धिर्न भवति । वेदेषु केषाञ्चिदुच्चतमानां सिद्धान्तानां मानवसमाजसम्बन्धिनीनामुत्कृष्टभावनानां च विविधान्यावश्यकानि ज्ञानानि प्रतिपादितानीति जिज्ञासुः सायणभाष्यान्नैराश्यं भजते' (पृ० ६६) इति, तदपि निरर्गलम्, प्रमात्मकज्ञानस्य वस्तुतन्त्रत्वेन पुरुषानधीनत्वात् । भाष्यकारस्य व्याख्येयग्रन्थस्य यथार्थविवरणमेव कर्तव्यम् । न श्रद्धोत्पादनाय न वा स्वाभीष्टसिद्धान्तानां स्वाभिमतोत्कर्षभावानां वा तत्र संनिवेशाय भाष्यं क्रियते । 'यत्परः शब्दः

है । इस प्रसंग में विनियोग को भी नहीं भुलाया जा सकता । 'अग्निमीळे' यह सूक्त आश्वलायन के मत के अनुसार प्रातरनुवाक के आग्नेय याग में विनियुक्त है । इस प्रकार अग्निपद का अर्थ यहाँ देवताविशेष ही है, अतः सायण के अर्थ की ही जीत मानी जायगी । इस अर्थ में आध्यात्मिक सम्पत्ति का वर्णन नहीं है, अतः यह अर्थ दुष्ट है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो सूक्त परमात्मा का बोधक है, उनकी विस्तृत व्याख्या आध्यात्मिक दृष्टि से ही की गई है । अधिकार प्राप्त होने के बाद मनुष्यों का पहला काम यागादि का अनुष्ठान है, उपासना और तत्त्वज्ञान उसके बाद ही हो सकते हैं । इस प्रकार हवि देना ही देवता की आराधना की पहली सीढ़ी है । अन्य शुभ काम नहीं हैं, उनसे कल्याण नहीं होता, यह सायण का कहना नहीं हैं । आध्यात्मिक यज्ञ भी प्राथमिक द्रव्य यज्ञ की सम्पत्ति के बाद ही हो सकता है, गुण और प्रधान की एक साथ उपस्थिति में प्रधान कार्य की निष्पत्ति हुआ करती है । ज्ञान में यज्ञ शब्द आरोपित है, क्योंकि यहाँ पर हवि, अग्नि आदि की भावना की जाती है । 'ब्रह्मार्पणं' इत्यादि गीता के श्लोक में ब्रह्म में ही अग्नि आदि का आरोप किया गया है । हवि देने का स्वरूप क्या होगा, इसका परिज्ञान न होने से सायण उसको नहीं बता सके, यह कथन भी जिज्ञासुजी के अज्ञान का ही सूचक है, क्योंकि 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में सायण के आध्यात्मिक ज्ञान की विशद जानकारी मिलती है । 'यज्ञों में अध्वर्यु के कर्म का प्राधान्य है । इसलिये उसकी पहले व्याख्या की गई, अब हौत्र कर्म के लिये ऋग्वेद की व्याख्या की जाती है । सायण की यह उक्ति 'ऋचां त्वः' इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्रों के सिद्धान्त का ही अनुसरण करती है । यजुर्वेद की प्रसिद्धि अध्वर्युवेद के रूप में है । यह भी स्पष्ट है कि पुरोनुवाक्या, याज्यानुवाक्या घटित ऋग्वेद का उपयोग होत्र कर्म के लिये होता है ।

यह कहना कि—'सायण के भाष्य के पढने से वेदों में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती । सायण भाष्य के पढने से किसी को भी यह मालूम नहीं होता कि वेद की रचना परमात्मा ने बुद्धिपूर्वक की है । वेदों में कुछ उच्च सिद्धान्तों और मानवसमाज संबन्धी उत्कृष्ट भावनाओं के लिये विविध, आवश्यक ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है । इस संबन्ध में जिज्ञासुजनों को सायण भाष्य से निराशा होती है', एकदम निरर्गल है । प्रमात्मक ज्ञान वस्तुतन्त्र है, वह पुरुष के अधीन नहीं होता । भाष्यकार को व्याख्येय ग्रन्थ का यथार्थ विवरण ही करना रहता है । श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये अथवा अपने अभीष्ट सिद्धान्तों का तथा अपनी अभिमत उत्कृष्ट भावनाओं का इसमें संनिवेश करने के लिये भाष्य नहीं किया जाता । 'शब्द जिस अर्थ को सरलता से बताता है, वही शब्दार्थ है'

स शब्दार्थः' इति रीत्या प्रमाणैरुपक्रमोपसंहारादिभिर्लिङ्गैरेव तात्पर्यनिर्धारणं भवति। वेदास्तु नित्यत्वादेव न कस्यापि बुद्धिप्रसूता इति परमेशबुद्धिपूर्वकत्वासिद्धिर्भूषणमेव न दूषणम्।

यत्तु 'ऋषीणां विचाराः संस्कृतयस्तदभीष्टभावनाश्च सायणाचार्येण यथा सारहीनसंकुचितदरिद्रतापूर्णया रीत्योपस्थापिताः, तेषां यदि स्वीकृतिस्तदा भारतीयानामुच्चभावनाः, वेदानां प्रामाणिकता, दिव्यज्योतींषि च हेयतामुपगच्छन्ति। सायणभाष्यानुसारेण वेदास्तात्कालिक्येका पर्य्यनुयोज्याऽन्धपरम्परैव सिद्ध्यति। यस्याः कारणं सायणस्य मिथ्याधारणैव' (पृ० ६६), इति तत्तु सूर्योपरि ष्ठीवनायितं पातकमेव। कतिचिन्मुष्टिमेयार्धनास्तिकान् कुपुरुषानपहाय सर्वेषामपि चिरन्तनवैदिकसनातनधर्मानुयायिनां बहुमतमेव सायणभाष्यम्। सायणभाष्येणैव श्रौतस्मार्त-कर्मणामुपासनानां तत्त्वज्ञानस्य च यथार्थस्वरूपं व्यज्यते। दयानन्दीयं भाष्यं तु भाष्यपदाभिलपनार्हमपि नास्ति। सायणभाष्य इन्द्राग्न्यादीनां चैतन्यविशिष्टार्थपरत्वं तिरस्कृत्य भौतिकार्थपरत्वमेवोपपादितमिति त्वनाघ्रातसायण-भाष्यगन्धस्यैव शोभते। नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। सायणरीत्या पलाशशाखादीनामपि चैतन्य-विशिष्टत्वेनैव संबोधनार्हतोपपादिता, किमुताग्नीन्द्रादीनां महाभाग्यवतां देवानाम्।

यदुक्तम्—'अग्ने पूर्वा अनूषसो विभावसो दीदेथ विश्वदर्शतः। असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः॥' (ऋ० सं० १।४४।१०) अस्मिन् मन्त्रेऽग्नेर्विभावसुत्वं विश्वदर्शनीयत्वं ग्रामरक्षकत्वं यज्ञे पुरोहितत्वं मानुषत्वं चोक्तम्, भौतिकेऽग्नौ कथमेतानि विशेषणानि संभाव्यन्ते' (पृ० ६७) इति, तत्तु सायणार्थचौर्यमेव कृतम्। नहि सायणाचार्यो भौतिकाग्निपरं मन्त्रं व्याचष्टे, किन्तु दिव्यदेवपरमेव तु व्याचष्टे। तथाहि सायणव्याख्यानम्—'हे विभावसो विशिष्टप्रकाशनरूप धनवन् अग्ने! विश्वदर्शतः सर्वैर्दर्शनीयस्त्वं पूर्वा उषसः अनु अतीतानुषःकालाननुलक्ष्य दीदेथ दीप्तवानसि। तादृशस्त्वं ग्रामेषु जननिवासस्थानेषु अविता असि, रक्षको भवसि। यज्ञेषु अनुष्ठेयकर्मसु पुरोहितः

इस उक्ति के आधार पर उपक्रम, उपसंहार आदि प्रमाणों से ही तात्पर्य का निर्धारण होता है। वेद तो नित्य होने से ही किसी की बुद्धि से पैदा नहीं हुए हैं, इस प्रकार इनमें परमेश्वर की बुद्धि का भी उपयोग नहीं हुआ है। वेद के लिये यह भूषण ही है, दूषण नहीं।

इसी प्रकार 'ऋषियों के विचार, संस्कृति और उनकी अभीष्ट भावना को सायणाचार्य ने ऐसी सारहीन, संकुचित, दरिद्रता भरी रीति से उपस्थापित किया है कि यदि उनको हम मान लें तो भारतीयों की उच्च भावनाएँ, वेदों की प्रामाणिकता और उनकी दिव्य ज्योति हेठी हो जायगी। सायण भाष्य के अनुसार वेद उस समय की एक अन्ध परम्परा के ही पोषक सिद्ध होते हैं। इसका कारण केवल सायण की मिथ्या धारणा है' यह कथन भी सूर्य के ऊपर थूकने के समान एक पातक ही है। कुछ इने-गिने आधे नास्तिक पुरुषों को छोड़कर सभी चिरन्तन वैदिक सनातन धर्मानुयायी जनों के सायण आदर के पात्र हैं। सायण भाष्य के सहारे ही श्रौत-स्मार्त कर्मों और उपासनाओं का तथा तत्त्वज्ञान का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट होता है। दयानन्द का भाष्य तो भाष्य कहलाने लायक भी नहीं है। सायण भाष्य में इन्द्र, अग्नि प्रभृति के चैतन्य विशिष्ट अर्थ का तिरस्कार कर केवल भौतिक अर्थ ही किया गया है, यह कथन उसी को शोभा देता है, जिसको कि सायण भाष्य की गन्ध भी नहीं मिली है। सायण की रीति से पलाश की शाखा आदि में भी चैतन्य विशिष्टता को ही संबोधित किया गया है, फिर महा भाग्यशाली इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के विषय में तो कहना ही क्या है?

यह कहा गया है कि—'अग्ने पूर्वा०' इत्यादि मन्त्र में अग्नि को विभावसु, विश्वदर्शनीय, ग्रामरक्षक, यज्ञ में पुरोहित और मनुष्य स्वभाव का बताया है, भौतिक अग्नि में ये विशेषण कैसे संगत होंगे', यहाँ पर सायण के अर्थ को ही चुरा लिया गया है। सायण ने इस मन्त्र की व्याख्या भौतिक अग्नि के पक्ष में नहीं की है, किन्तु दिव्य देव अग्नि के पक्ष में की है। सायण भाष्य इस प्रकार है—'हे विभावसो, विशिष्ट अर्थ प्रकाशन रूप धनवान् अग्ने, तुम सबके दर्शनीय हो, तुम अतीत उषाकाल में चमकते रहे हो। अपनी दीप्ति से तुम गाँवों में रहने वाले मनुष्यों के रक्षक हो। अनुष्ठेय यज्ञ में वेदि की पूर्व दिशा में अवस्थित होकर तुम ऋत्विक् और

वेदेः पूर्वस्यां दिश्यवस्थितः, मानुषः असि ऋत्विग्यजमानानां मनुष्याणां हितोऽसि । नह्यत्र भौतिको वा जडोऽग्निः स्तूयते, किन्त्वाहवनीयाग्न्यधिष्ठातृदेवतरूप एवाग्निः स्तूयते, तस्यैव संबोधनार्हत्वात् । हितकारित्वमपि तस्यैव संभवति । नहि त्वद्रीत्याऽग्नेः परमेश्वरस्य वा मानुषत्वं पुरोहितत्वं वा संभवति, जडत्वनिराकारत्वाभ्युपगमात् । सनातनधर्मरीत्या तु देवानां यज्ञेऽग्नेः पुरोहितत्वं होतृत्वं मानुषत्वं चाङ्गीकृतम्, महाभाग्याद्देवानां यथेष्टरूपधारित्वसंभवात् । तस्मादत्रापि सायणार्थ एव विजयते ।

यदपि—'त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम् । सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य' (ऋ० सं० १।३१।१०) अत्राग्नेः प्रकृष्टमतित्वं पितृत्वं सुवीरत्वम् असंख्यधनवत्त्वमुक्तम् । एतानि विशेषणानि रूढिवादानुसारेण कथं भौतिकेऽग्नौ संभवन्ति' (पृ० ६७) इति, तदपि सायणभाष्याज्ञानविजृम्भितम्, सायणार्थस्यैव तत्रापि वरिष्ठत्वात् । तथाहि सायणभाष्यम्—'हे अग्ने ! त्वं प्रमतिः अस्मदनुग्रहरूपप्रकृष्टमतियुक्तोऽसि । (न केवलं मतिमान्, किन्त्वनुग्रहार्द्रमतियुक्तः) त्वं नः अस्माकं पिता पालकोऽसि । त्वं वयस्कृत् आयुष्यप्रदोऽसि । त्वदीयमते कथमप्यग्नेरायुष्प्रदत्वं न संभवति । परमेश्वरो राजा वा नाग्निपदार्थः, प्रथमस्य सर्वसमत्वात् कर्मफलप्रदत्वाच्च । द्वितीयस्याल्पशक्तित्वात् । वयमनुष्ठातारः तव जामयः बन्धवः । हे अदाभ्य ! केनापि अहिंसनीय अग्ने ! सुवीरं शोभनपुरुषयुक्तं व्रतपां कर्मणः पालकं त्वां शतिनः शतसंख्यायुक्ता रायः धनानि संयन्ति सम्यक् प्राप्नुवन्ति । तथा सहस्रिणः सहस्रसंख्याका रायः संयन्ति । महाभाग्यवतो देवस्याग्नेरियं स्तुतिः, न केवलस्य भौतिकस्याग्नेरिति बुद्धयस्व । न केवले परमेश्वरे संगच्छन्ते मन्त्रोक्तानि विशेषणानि । निरङ्कुशैश्वर्यस्य तस्य सीमितैश्वर्य्यवर्णनमस्तुतिरेव । अग्निरूपदेवविशेषरूपधारकस्य तु तस्य संगच्छन्ते विशेषणानि । त्वया तु न परमेश्वरस्याग्न्यादिदेवरूपधारकत्वमुपगम्यते, तस्मादत्रापि सायणभाष्यमेव विजयतेतमाम् ।

यजमान का हित साधन करते हो' । यहाँ पर भौतिक अथवा जड़ अग्नि की स्तुति नहीं की गई है, आहवनीय अग्नि का अधिष्ठाता अग्निदेव ही स्तुति का विषय है, क्योंकि संबोधन के योग्य वह देव अग्नि ही हो सकता है, वही किसी का कल्याण भी कर सकता है। आपके मत से परमेश्वर अग्नि मनुष्य अथवा पुरोहित नहीं हो सकता, क्योंकि आप तो उसको जड़ तथा निराकार मानते हैं। सनातन धर्म की पद्धति से तो देवताओं के यज्ञ में अग्नि को पुरोहित, होता और मनुष्य माना गया है। देवता महा भाग्यशाली है, अतः वह अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण कर सकता है। इस प्रकार यहाँ पर भी विजय सायण के द्वारा किये गये अर्थ की ही होती है।

इसी तरह 'त्वमग्ने०' इत्यादि मन्त्र में अग्नि को प्रकृष्टमति, पिता, सुवीर, असंख्य धन संपन्न कहा गया है। ये विशेषण रूढ़िवाद के अनुसार भौतिक अग्नि में कैसे अन्वित होंगे,' इस कथन में भी सायण भाष्य की अज्ञानता की ही प्रतीति होती है, क्योंकि यहाँ पर भी सायण का भाष्य ही ठीक है। वह इस प्रकार है—'हे अग्ने, तुम हमारे अनुग्रह के योग्य उत्कृष्ट मति से संपन्न हो, (वह केवल मतिमान् ही नहीं, किन्तु उसकी बुद्धि अनुग्रह से भरी हुई भी है), तुम हमारे पालक पिता हो, लंबी आयु देने वाले हो'। आपके मत से अग्नि कभी भी आयुदाता नहीं माना जा सकता। परमेश्वर अथवा राजा अग्नि पद का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि परमेश्वर तो सबके लिये समान है और वह कर्म का फल देता है। राजा अल्पशक्ति है, अतः वह भी आयुदाता नहीं हो सकता। 'हम अनुष्ठान करने वाले आपके बन्धु हैं। हे अग्ने, आपको कोई भी मार नहीं सकता। आप पराक्रम से युक्त हैं। यज्ञ के प्रतिपालक हैं, अतः आपके पास अनेक प्रकार की संपत्ति आती है'। महाभाग्यशाली अग्नि देवता की यह स्तुति है, केवल भौतिक अग्नि की नहीं, यह आपको समझना चाहिये। परमेश्वर में ये विशेषण संगत नहीं होते। निरंकुश ऐश्वर्य वाले परमात्मा की सीमित ऐश्वर्यशील के रूप में स्तुति नहीं मानी जायगी। अग्निरूप देवविशेष का रूप धारण करने वाले के लिये ये विशेषण उचित ही है। आप तो परमेश्वर को अग्नि आदि का रूप धारण करने वाला मानते नहीं, अतः यहाँ पर भी सायण भाष्य की ही विजय होती है।

यदुक्तम्—'बलादिमे मन्त्राः सायणेन यज्ञभाषाः भाष्यन्ते' (पृ० ६७) इति, तत्तुच्छम्, विपरीतस्यैव सुवचत्वात्।' यज्ञाङ्गपर्यवसायिन एते मन्त्रा इति त्वाश्वलायनादयः सूत्रकाराः प्रतिपादयन्ति। त्वया तु बलादिमे मन्त्रा राजमन्त्रिपुरोहितादिभाषा भाष्यन्ते। अनुक्रमणिकाकारः कात्यायनः 'त्वमग्ने द्व्यूना हिरण्यस्तूप आग्नेयं त्रिष्टुबन्त्याष्टमी षोडश्यौ च' इति प्राह। प्रातरनुवाके आग्नेये क्रतौ आश्विनशस्त्रे च 'त्वमग्ने प्रथमः' इति सूक्तम्। आश्वलायनश्च 'त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्नूंचित् सहोजा अमृतो नितुन्दते' (आश्व० श्रौ० सू० ४।१३) इति सूचितवान्। 'त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा इत्याग्निमारुतम्' (आश्व० श्रौ० ७।७) इति। 'तृतीयेनाभिप्लविकेनोक्तं तृतीयसवनम्' (आश्व० श्रौ० ९।९) इत्यतिदिष्टत्वाद् वाजपेये आग्निमारुते एतत्सूक्तं जातवेदस्यं निविद्धानीयम्।

यदपि यज्ञपरस्यार्थस्य निम्नतमत्वमुक्तम्, तत्तु नास्तिक्यं मौर्ख्यमेव वा, 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (श० १।७।१।५) इति श्रुतिविरुद्धत्वात्। जैमिनि-गौतम-वात्स्यायनादिभिर्महर्षिभिर्मन्त्रब्राह्मणस्य यज्ञपरत्वोक्तेश्च। सायणभाष्यस्य दुर्भाग्यपूर्णः परिणामस्त्वादृशानां नास्तिकानामेव कृते, तेन त्वदभिप्रेतस्यार्थस्य समूलकाषं कषितत्वात्।

यदपि—'सायणभाष्येण प्राचीनासु मिथ्याधारणासु सुप्रामाणिकतामुद्राङ्कनम्। वेदार्थविषये भ्रान्तिकारकेषु मुख्योऽयं सायणाचार्यः। यद्यप्यन्येऽपि भाष्यकाराः प्राचीना मिथ्याधारणावशाद् यज्ञपराण्येव व्याख्यानानि कृतवन्तः। सर्वेऽप्येते वेदार्थस्य यथार्थप्रक्रियाया लोपकास्तादृशा एव, तथापि तेषु क्वचित्क्वचित्केषाञ्चित् सिद्धान्तानां निर्देशो लभ्यते। सायणेन तु ते निर्देशा अपि विलोपिताः' (पृ० ६८) इति, तदेतदपि प्रमत्तप्रलाप एव, निर्मूलत्वादार्षसिद्धान्तविरुद्धत्वाच्च। सायणभाष्यं तु प्रचण्डमार्तण्डमण्डलवदेव त्वादृशानुलूकानपवर्जयन् राजत एव। वेदाब्जभास्करेण सायणाचार्येण वेदसिद्धा एव प्राचीनाः सिद्धान्ता लब्धप्रतिष्ठा धारणाश्च समर्थिताः, याः सर्वदेव त्वादृशैर्नास्तिकैरगम्या एव।

यह कथन भी तुच्छ है कि 'सायण इन मन्त्रों की जबर्दस्ती यज्ञ की भाषा में व्याख्या करते हैं, क्योंकि इसके विपरीत भी कहा जा सकता है। ये मन्त्र यज्ञ के अंग के रूप में पर्यवसित होते हैं, यह बात आश्वलायन प्रभृति सूत्रकार भी कहते हैं। आप तो जबर्दस्ती इन मन्त्रों की राजमन्त्री, पुरोहित आदि की भाषा में व्याख्या करने लगते हैं। अनुक्रमणिकाकार कात्यायन ने 'त्वमग्ने द्व्यूना' इत्यादि सूत्र के द्वारा प्रातः अनुवाक में आग्नेय क्रतु तथा आश्विन शस्त्र में 'त्वमग्ने प्रथमः' इस सूत्र का विनियोग बताया है। आश्वलायन ने भी 'त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा' इत्यादि सूत्र में यही बात कही है। 'तृतीयेनाभि०' इत्यादि सूत्र में वही बताया गया है कि अतिदेश के द्वारा वाजपेय से अग्निमारुत सूक्त के स्थान पर यह अग्निदेवताक सूक्त निबद्ध होना चाहिये।

यज्ञपरक अर्थ को निम्नकोटि का बताना नास्तिकता और मूर्खता के ही लक्षण हो सकते हैं। यह बात 'यज्ञ सर्वश्रेष्ठ कर्म है' इस श्रुति के विपरीत है। जैमिनि, गोतम, वात्स्यायन प्रभृति महर्षियों ने मन्त्र और ब्राह्मणात्मक वेद की यज्ञपरकता ही बताई है। सायण भाष्य का दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम आप जैसे नास्तिकों के लिये ही हो सकता है, क्योंकि उसने आपके अभिप्रेत अर्थ को जड़-मूल से उखाड़ फेंका है।

'सायण भाष्य से प्राचीन मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मुहर लग गई है। वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति फैलाने वालों में सायण ही मुख्य है। यद्यपि अन्य प्राचीन भाष्यकारों ने भी मिथ्या धारणा के कारण गलत व्याख्यायें लिखी है, अतः ये सभी वेदार्थ की यथार्थ प्रक्रिया का लोप करने वाले हैं, तो भी उनमें कहीं-कहीं कुछ प्राचीन सिद्धान्तों का भी निर्देश मिल जाता है। सायण ने तो इस निर्देशों को भी नष्ट कर दिया' यह कथन भी पागल का प्रलाप कहा जायगा, क्योंकि एक तो इसमें कोई प्रमाण नहीं है, दूसरे यह बात सिद्धान्त के भी विपरीत है। सायण भाष्य तपते हुए सूर्यमंडल के समान है, इसके सामने आपके जैसे लक्ष्मीवाहन टिक नहीं सकते। वेदरूपी कमल को विकसित करने वाले भास्कर के समान सायणाचार्य ने वेदसिद्ध प्राचीन सिद्धान्तों को ही प्रतिष्ठित किया है और प्राचीन धारणाओं का समर्थन किया है, जो कि आपके जैसे नास्तिकों के लिये सदा अगम्य रहेंगी।

अयं जिज्ञासुर्भास्कराभं सायणाचार्यमेकवचनेन (सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुचा, पृ० ६८) स्मरति। खद्योताभं दयानन्दं (महान् दयानन्द का प्रादुर्भाव, पृ० ७४) इति स्मरति। आध्यात्मिकाधिदैविकमर्थमजानानस्य सायणस्य भाष्यं तृतीयांशमेव वेदार्थस्य व्यञ्जयति, तावतैव तस्यानभिज्ञताऽपूर्णता स्पष्टं सिद्ध्यतीति वक्ति। एवमेव त्रिविधवेदार्थप्रक्रियाया अवहेलनं हिमालयाभामनवधानतां द्योतयतीति प्रलपति (पृ० ६८)। तत्सर्वं सायणभाष्यानभिज्ञस्यैव शोभते। सायणभाष्याभिज्ञानां तु तत्र यथावसरं यथास्थानमाध्यात्मिकमाधिदैविकं भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वमेव लक्ष्यते। वेदानभिज्ञस्य दयानन्दस्य भाष्ये तु काचिदप्यर्थप्रक्रिया नोपलभ्यते। संगतिस्तु तद्भाष्येऽन्वेषणेनापि नोपलब्धुं शक्या। उन्मत्त इव क्वचिन्मन्त्रे यत्किञ्चिद्वदति। क्वचिद्राजा क्वचिन्मन्त्री क्वचित्पुरोहितः क्वचित्सैनिकास्तदीया देवताः। ईश्वरोऽपि तदीयः क्वचित् किमपि वदति। नहि सर्वत्र मन्त्रेषु दयानन्दोऽपि त्रिविधानर्थानुपपादयति। अनेकार्थत्वेन वाक्यभेदापत्तिश्च मीमांसकसंमतो दोषः।

यदपि 'ऋग्वेदभाष्योपोद्घाते यज्ञेष्वाध्वर्यवादिकर्मनिरूपणाय वेदभाष्यं करोमीति सायणेनोक्तम्। सामवेदभाष्यभूमिकायां चोक्तम्—'यज्ञो ब्रह्मा च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः। अध्वर्य्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञसंपदः ॥' अत्र वेदस्य यज्ञब्रह्मपरत्वमुक्तम्, काण्वसंहिताभाष्ये च कर्मकाण्डब्रह्मकाण्डौ वेदे द्वौ काण्डौ स्तः। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डः, तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोः कर्मकाण्डत्वम्, तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिककर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्। सायणेन न केवलं शतपथे, किन्तु संहितायामपि दर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपादनमुक्तम्। तदेतद् भास्करस्कन्दस्वाम्यभिमतत्रिविधार्थप्रक्रियाविरुद्धमेव' (पृ० ६८-६९) इति, तदेतदपि सायणभाष्याक्षरानभिज्ञानमूलकमेव, ब्रह्मविद्वेषमूलकमेव वा। ऋग्वेदभाष्यभूमिकायामपि वेदस्य धर्मब्रह्मपरत्वोक्तेः। तथा च ऋग्वेदभाष्योपोद्घात एव धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये इत्युक्तम्। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यते।

जिज्ञासु महाशय सूर्य के समान तेजस्वी सायणाचार्य को एक वचन से स्मरण करते हैं (सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुँचा) और जुगनू की मानिन्द दयानन्द को 'महान् दयानन्द का प्रादुर्भाव' इस तरह से स्मरण करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ को न जानने के कारण सायण वेद के तृतीय अंश को ही स्पष्ट कर सके, इसीसे इनकी अनभिज्ञता और अपूर्णता स्पष्ट होती है। इसी तरह त्रिविध वेदार्थ प्रक्रिया की अवहेलना करके सायण ने हिमालय के समान बड़ी भूल की है, इस तरह की सारी बकवास, जो सायण के भाष्य को ठीक से न समझ सकता हो, उसी को शोभा देती है। जो सायण के भाष्य को ठीक से समझते हैं, उनको अवसर के अनुसार उचित स्थान पर आध्यात्मिक, आधिदैविक, भूत, भव्य, भविष्य सब तरह का अर्थ मालूम हो जाता है। वेद के अनभिज्ञ दयानन्द के भाष्य में तो कोई भी अर्थ प्रक्रिया उपलब्ध नहीं होती। उनके भाष्य में परस्पर संगति खोजने पर भी नहीं मिलती, उन्मत्त के समान किसी मन्त्र में कुछ भी कह देते हैं। कहीं राजा, कहीं मन्त्री, कहीं पुरोहित, कहीं सैनिक उनके देवता हैं। उनका ईश्वर भी कहीं कुछ भी कह देता है। सभी मन्त्रों में दयानन्द भी त्रिविध अर्थ नहीं बताते। अनेक अर्थ करने पर मीमांसकों के मत के अनुसार वाक्य भेद का दोष आता है।

'ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात में सायण ने कहा है कि यज्ञ में अध्वर्यु आदि के कर्म के निरूपण के लिये वेद भाष्य कर रहा हूँ और सामवेद भाष्य को भूमिका में कहा है कि वेदों में दो काण्डों में यज्ञ और ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। अध्वर्यु प्रभृति चार ऋत्विगों से सारी यज्ञ की संपत्ति निष्पन्न होती है। यहाँ पर वेद को यज्ञ और ब्रह्मपरक कहा है। काण्व संहिता के भाष्य में कहा है कि वेद में कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड ये दो काण्ड हैं। बृहदारण्यक ग्रन्थ में ब्रह्मकाण्ड का और उससे भिन्न शतपथ ब्राह्मण और संहिता में कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है, क्योंकि इन दोनों स्थानों में आधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि कर्मों का विधान है। इस तरह सायण ने न केवल शतपथ ब्राह्मण में, किन्तु संहिता में भी दर्शपूर्णमास आदि कर्म का ही प्रतिपादन माना है। यह बात भास्कर, स्कन्दस्वामी आदि की अभिमत त्रिविध वेदार्थ प्रक्रिया के विरुद्ध है' यह सब कथन भी सायण भाष्य का अक्षर-बोध न होने के कारण है, अथवा इसके मूल में ब्राह्मण द्वेष की भावना काम कर रही है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में भी वेद को धर्म और ब्रह्म दोनों का प्रतिपादक माना है। उसने ऋग्वेद-भाष्य के उपोद्घात में ही धर्म और ब्रह्म केवल वेद से ही जाने जा सकते हैं, यह बात कही

श्रुतिश्च भवति 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति। 'रूपलिङ्गादिराहित्यान्न मानान्तरयोग्यता। तस्मादनन्यलभ्यत्वाद्धर्मब्रह्मणोर्वेदविषयत्वम्। तदुभयज्ञानं वेदस्य साक्षात्प्रयोजनम्'·····सम्बन्धस्तु वेदस्य धर्मब्रह्मभ्यां प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः। इत्येवमादि सायणभाष्यमदृष्ट्वैव यत्किञ्चित् प्रलपति ब्रह्मदत्तः। सायणभाष्यस्य सर्वाण्यक्षराणि प्रमाणमूलकानि न दयानदस्येव भङ्गोल्लासमयानि।

यद्यपि संहितामन्त्रेष्वपि ब्रह्मविष्णुरुद्राग्निरूपेण ब्रह्मणः प्रतिपादनमस्ति, तथापि तेषां मन्त्राणां तेषु तेषु कर्मसु विनियुक्तत्वात् कर्मोपासनापरत्वेन तत्रानन्यशेषत्वस्वप्रधानत्वाभ्यां ब्रह्मप्रतिपादनं नास्त्येव। अन्यपरत्वे तु तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसीति न्यायात् कर्मपरैरागमैः प्रत्यक्षानुमानैश्च विरोधेऽतत्प्रधानानि ब्रह्मबोधकानि वाक्यानि बाधितानि भवेयुः। अतो यानि कर्मस्वविनियुक्तानि कर्मानङ्गानि मन्त्रब्राह्मणवचनानि तान्येवानन्यशेषाणि स्वप्रधानानि बलीयांसि। तानि च कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वबोधकानि शास्त्रवाक्यानि प्रत्यक्षानुमानानि च बाधन्ते। शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीसंहितायाः काण्वसंहितायाश्च ईशावास्यमित्यादयो मन्त्रा बृहदारण्यको ग्रन्थश्च स्वप्रधाना एव।

नन्वीशावास्यमित्यादयो मन्त्रा अपि कर्मशेषाः, मन्त्रत्वात्, इषे त्वादिमन्त्रवदिति कर्मशेषत्वमेव तेषामपि सिद्धयतीति चेन्न, विनियोजकश्रुत्यादिप्रमाणसत्त्वस्योपाधित्वात्। इषे त्वेत्यादौ साध्यव्यापकत्वमुपाधेः, ईशा वास्यमित्यादौ साधनस्य मन्त्रत्वस्य सत्त्वेऽपि विनियोजकप्रमाणसत्त्वस्योपाधेरसत्त्वेन साधनाव्यापकत्वं च। न च लिङ्गादिबलात्तेषामपि देहादिभिन्नकर्तृवाचकत्वेन कर्मोपासनाद्यङ्गदेवताबोधकत्वेन वा कर्माङ्गत्वमव्याहतमेवेति वाच्यम्,

है। शास्त्र के प्रमाण से ही यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म जगत् के जन्मादि का कारण है। श्रुति का कथन है कि 'उस बृहद् ब्रह्म को वेद का अनभिज्ञ नहीं जान पाता'। रूप और लिंग आदि के न होने से अन्य प्रमाण यहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकते। इसलिये धर्म और ब्रह्म की अधिगति अन्य प्रमाणों से न हो सकने के कारण वेद ही इनको जानने का एकमात्र साधन है। वेद का साक्षात् प्रयोजन धर्म और ब्रह्म का परिज्ञान ही है। वेद का धर्म और ब्रह्म के साथ प्रतिपाद्यप्रतिपादक संबन्ध है। सायण भाष्य के इन अंशों को बिना देखे ब्रह्मदत्त मनमाना बकवास करते हैं। सायण भाष्य के सभी अक्षर प्रमाणमूलक हैं, दयानन्द की भाँति ये सब भाँग के नशे में नहीं बक दिये गये हैं।

यद्यपि संहिता मन्त्रों में भी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन है, तथापि उन उन मन्त्रों का उन उन कर्मों में विनियोग होने से कर्म और उपासनापरकता के कारण अनन्यशेष और अपनी प्रधानता के रूप में यहाँ पर ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं हो सकता। अन्यपरता के होने से 'तत्प्रधान अतत्प्रधान से बलवान् होते हैं' इस नियम के अनुसार कर्मपरक आगम वचनों और प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से विरोध उपस्थित होने पर अतत्प्रधान ब्रह्मबोधक वाक्य बाधित हो जायेंगे। इसलिये जो मन्त्र और ब्राह्मण वचन कर्म में विनियुक्त न होने के कारण कर्म के अंग नहीं हैं, वे ही ब्रह्म के प्रति अनन्यशेष तथा अपनी प्रधानता के कारण बलीयान हैं। इस तरह के वाक्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व, नानात्व आदि के बोधक शास्त्र वाक्यों को और प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण को बाधित कर देते हैं। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता के 'ईशा वास्यम्' इत्यादि मन्त्रों में और बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म की ही प्रधानता है।

'ईशा वास्यम्' इत्यादि मन्त्र भी कर्मशेष हैं, क्योंकि वे भी 'इषे त्वा' इत्यादि के समान ही मन्त्र हैं, अतः ये भी कर्म के ही अंग माने जायेंगे, ब्रह्म के नहीं, यह कथन इसलिये उचित नहीं है कि यहाँ पर 'विनियोजक श्रुत्यादिप्रमाणसत्त्व' यह उपाधि है। 'इषे त्वा' इत्यादि में उक्त उपाधि साध्य में व्याप्त है, किन्तु 'ईशा वास्यम्' इत्यादि में साधन मन्त्रत्व के रहने पर भी विनियोजक श्रुत्यादिप्रमाणसत्त्व रूप उपाधि के न रहने से यह हेतु साधन में व्याप्त नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि लिंग आदि के बल से देहादि से भिन्न कर्ता के बोधक होने से अथवा कर्म एवं उपासना के अंगभूत देवताओं के बोधक होने से इनमें भी कर्मांगता

तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रतिपादकत्वेन तदनुपपत्तेः। अत एवोपोद्घाते बृहदारण्यको ग्रन्थो ब्रह्मकाण्ड उक्तः। ईशा वास्यमित्यादीनामकर्मशेषाणामपि बृहदारण्यकमुपलक्षणं वेदितव्यम्, मन्त्रब्राह्मणात्मकस्याक्षरराशेर्वेदत्वाभ्युपगमात्।

न केवलं सायण एव, उपनिषदपि परापराविद्यारूपेण धर्मब्रह्मपरत्वेन धर्मपरमेवाधिकांशं वेदभागमुक्त्वा ब्रह्मबोधकभागस्य परविद्यात्वं वक्ति। 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मु० १।१।४-५)। साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां कर्मकाण्डपराणां मन्त्राणां ब्राह्मणानां चापरविद्यात्वमुक्तम्। परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वादुपनिषदां परविद्यात्वमुक्तमित्यपि तत्रैव सायणेन स्पष्टीकृतम्। अत एव 'सायणः कर्मपरमेव वेदं मन्यते न ब्रह्मपरमनध्यात्मविदेव सः' इत्यादि बहुजल्पनमज्ञजनप्रतारणमेव। नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। उपनिषत्सु मन्त्रा अप्यायान्त्येव। 'सायणभाष्यं वेदार्थविषये दुर्लङ्घ्योऽत्युच्चप्राचीर एव संवृत्तस्तं चार्यो दयानन्द उल्लङ्घितवान्' (पृ० ६९) इति, तदपि स्वदौर्जन्यमेव व्यञ्जितम्। त्वादृशैर्जन्मशतैरपि सायणभाष्यावगाहासंभवात्।

यत्तु 'शतं हिमाः' इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्। शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् ब्राह्मणं पश्चाद्भावि। व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकसंहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमं भवति। सायणः काण्वभूमिकायां शतपथस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वमङ्गीकृत्यापि ऋगादिभाष्यभूमिकायां मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमित्येव रटति' (पृ० ६९) इति, तदपि भाष्याविवेकमूलकमेव, व्याख्येयत्वस्य व्याख्यानत्वस्य च वेदत्वाप्रयोजकत्वात्। सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्यैव वेदत्वप्रयोजकत्वस्यासकृदुक्तत्वात्। अत एव पुरुषसूक्ताद्यनेकेषां मन्त्राणां शब्दान्तरेण मन्त्रान्तराणा-

बिना बाधा के सिद्ध हो जायगी, क्योंकि ये मन्त्र अकर्मशेष आत्मा की यथार्थता के प्रतिपादक हैं, अतः इनकी कर्मांगता नहीं बन सकती। इसीलिये उपोद्घात में बृहदारण्यक को ब्रह्मकाण्ड कहा गया है। 'ईशा वास्यम्' इत्यादि अकर्मशेष मन्त्रों को भी बृहदारण्यक को उपलक्षण मानना चाहिये, क्योंकि मन्त्रब्राह्मणात्मक पूरी शब्दराशि को वेद कहा जाता है।

केवल सायण ही नहीं, उपनिषद् भी पर और अपर विद्या के रूप में धर्म और ब्रह्म का प्रतिपादन करती है और अधिकांश वेदभाग को धर्म का प्रतिपादक बता कर ब्रह्मविद्या के बोधक भाग को पर विद्या के नाम से संबोधित करती है। 'ब्रह्म वेत्ताओं का कहना है कि परा और अपरा के नाम से दो विद्याएँ जाननी चाहिये। इनमें अपरा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष को कहा जाता है। परा उस विद्या को कहते हैं, जिससे कि अक्षर ब्रह्म की अधिगति होती है'। ब्रह्मज्ञान के साधनभूत धर्मज्ञान में कारण होने से छः अंगों सहित संहितामन्त्रों और ब्राह्मणों को, कर्मकाण्ड के प्रतिपादक होने के कारण, अपर विद्या कहा गया है, परम पुरुषार्थभूत ब्रह्मज्ञान का कारण होने से उपनिषद् पर विद्या के नाम से कही गई है, यह बात भी वहीं सायण ने कही है। इसलिये 'सायण वेदों को कर्मपरक ही मानते हैं, ब्रह्मपरक नहीं, अतः वह अध्यात्म पक्ष को नहीं जानते थे' इत्यादि उक्तियाँ अल्पज्ञ लोगों को ही भ्रम में डाल सकती है। यह स्थाणु (ठूंठ) का अपराध नहीं है कि उसको अन्धा नहीं देख पाता। उपनिषदों में भी मन्त्र आते ही हैं। 'सायण भाष्य वेदार्थ के विषय में दुर्लंघ्य ऊँची दीवार बन गई, इसको स्वामी दयानन्द ने लांघा' यह भी अपनी दुर्जनता को ही अभिव्यक्ति है। आपके जैसे व्यक्ति सैकड़ों जन्मों में भी सायण के भाष्य को नही समझ सकते।

'शतं हिमाः' यह व्याख्येय मन्त्र का प्रतीक है। शतपथ ब्राह्मण मन्त्रों की व्याख्या करता है, अतः ब्राह्मण बाद की रचना है, व्याख्येय मन्त्रों के प्रतिपादक संहिता ग्रन्थ पूर्वभावी होने से पहले के हैं। सायण काण्व संहिताकी भूमिका में शतपथ ब्राह्मण की मन्त्रव्याख्यान रूपता को मान कर भी ऋगादिभाष्यभूमिका में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानने की रट लगाता है', यह कथन भी भाष्य को न समझ पाने के कारण है, क्योंकि व्याख्येयत्व और व्याख्यानत्व वेदत्व के प्रयोजक नहीं हैं। संप्रदाय के विच्छिन्न न होने पर भी इसका कर्ता किसी की स्मृति में नहीं है, यही बात वेदत्व की प्रयोजक है, यह बार बार कहा जा चुका है। इसी लिये पुरुष-

मर्थकथनरूपव्याख्यानत्वं वेदत्वं चाव्याहतमेव। तस्माद्यथा महाभाष्यादिषु सूत्रानुकारिभाष्यं तद्व्याख्यानभाष्यं च सर्वं भाष्यमेव, रामायणमहाभारतादौ सूत्रस्थानीयं श्लोकमुक्त्वा तद्व्याख्यानभूतमुत्तरसर्गमध्यायं वा लिखति ग्रन्थकारः, स सर्वोऽपि व्याख्येयं व्याख्यानं तद्ग्रन्थरूपमेव, यथा गीताया एकादशाध्यायान्ते 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः' इति श्लोकस्य व्याख्यानभूत एव द्वादशाध्यायः। यथा वा तैत्तिरीयोपनिषदि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति सूत्रस्थानीयं ब्राह्मणवचनम्, तद्व्याख्यानभूतं च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥' इति मन्त्रवचनम्।

'किञ्चिंज्ज्ञोऽपि कः सायणस्य विद्वत्तां प्रशंसेत् ? इतिहासादिसम्बन्धे सायणस्य मनसि सन्देह एवासीत्। सायणेऽध्यात्मभावनैव नासीत्। दयानन्दवद् अष्टादशघण्टा यावत् समाधिभिर्वेदस्य मौलिकसिद्धान्तान् जानीयात्तदा सम्यग् लिखेत्' (पृ० ६९) इत्यादि, तत्तु प्रमत्तप्रलापप्रायमेव। संक्षेपेण त्वदीयव्याख्यानादिसम्बन्ध एव त्वदुक्तिरुपयुज्यते। त्वादृशा एव स्वयं नष्टाः परान्नाशयन्ति। मन्त्रब्राह्मणात्मकस्याक्षरराशेर्वेदत्वं तु बहुधा प्रतिपादितमेव।

यत्तु—'तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते। यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते, तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानाद् इति ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां सायणः' इति, स्वोक्तावपि सायणो न स्थितः' (पृ० ६९) इति, तदपि सायणभाष्यानभिज्ञानमूलकं द्वेषमूलकमेव वा। वस्तुतस्तु दयानन्दादयः सर्वेऽपि सायणभाष्याधमर्णा एव, सायणभाष्याभावे वैदिकस्यार्थस्य तैः किञ्चिदपि ज्ञातुमशक्यत्वात्। साधन एव पुरुषव्यापारः फलपर्य्यवसायी भवति, कुठारगोचरोद्यमननिपातनरूपव्यापारस्यैव द्वैधीभावरूपे पर्य्यवसानदर्शनात्। तत एवाधिकांशसंहितामन्त्राणां ब्राह्मणांशानां च ब्रह्मज्ञानसाधनभूतधर्मबोधन एव पर्य्यवसानम्। तादृशांशव्याख्यानकाले कर्मणामेव बोधनं प्रशंसनं च युक्तमेव। अत

सूक्त आदि के अनेक मन्त्रों की शब्दान्तर से व्याख्या करने वाले मन्त्र इनकी व्याख्या करते हुए भी बिना बाधा के वेद माने जाते हैं। इसलिये जैसे महाभाष्य आदि में सूत्र का अनुकरण करने वाला भाष्य तथा उसकी व्याख्या करने वाला भाष्य, सब भाष्य ही कहलाता है; रामायण, महाभारत आदि में सूत्रस्थानीय किसी श्लोक को कह कर उसकी व्याख्या में अगला सर्ग अथवा अध्याय लिखा जाता है; वह सब व्याख्येय और व्याख्यानभूत उस ग्रन्थ का ही अंग होता है; जैसे कि गीता के ११ वें अध्याय के अन्त में विद्यमान 'मत्कर्मकृत्' इत्यादि श्लोक की व्याख्या ही अगले बारहवें अध्याय में की गई है; अथवा जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' यह सूत्रस्थानीय ब्राह्मण वचन है और इसी की व्याख्या 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वभाव है। इसको रहस्य से आवृत अवस्था में जो देख लेता है, वह विपश्चित् ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं को पा लेता है' इस मन्त्र के द्वारा की गई है।

'कोई अल्पज्ञ व्यक्ति भी सायण की प्रशंसा क्यों करेगा ? इतिहास आदि के विषय में सायण के मन में सन्देह बना ही हुआ था। सायण में अध्यात्म भावना है ही नहीं। दयानन्द के समान १८ घंटा पर्यन्त समाधि लगाकर वेदों के मौलिक सिद्धान्तों को जब जाने, तब तो वे कुछ लिख सकते हैं' यह कथन केवल पागल की बकवास के समान है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि आप लोगों की व्याख्या के संबन्ध में ही आपलोगों की बात ठीक बैठती है। ऐसे ही लोग स्वयं तो नष्ट होते ही हैं, दूसरों का भी नाश करते हैं। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक अक्षरराशि ही वेद है, यह बात अनेक बार कही जा चुकी है।

'इसलिये सब कोई परमेश्वर को उद्दिष्ट करके ही यागादि करते हैं। यद्यपि जहाँ-तहाँ इन्द्र आदि के लिये हवन किया जाता है, तो भी परमेश्वर ही इन्द्र आदि के रूप में अवस्थित रहता है, यह बात ऋग्वेदभाष्यभूमिका में सायण ने कही है। अपनी इस उक्ति पर भी सायण टिक न सके', यह कथन भी या तो सायण के भाष्य को न समझने से अथवा द्वेषवश प्रयुक्त हुआ है। वास्तव में दयानन्द प्रभृति सभी सायण भाष्य के ऋणी हैं। सायण भाष्य के अभाव में उनको वेद का अर्थ कुछ भी समझ में न आता। पुरुष का काम तभी पूरा होता है, जब कि तदनुकूल साधन उसे उपलब्ध हों, कुल्हाड़ी को बार-बार उठाने और गिराने के बाद ही लकड़ी के दो टुकड़े होते हैं। इसीलिये अधिकांश संहिता मन्त्रों का और ब्राह्मणों का पर्यवसान ब्रह्मज्ञान के साधनभूत धर्म के बोधन

एवेशावास्यादिमन्त्राणां व्याख्यानमुपनिषदां च व्याख्यानमपरविद्यावोधितधर्मस्य परमं फलं परमपुरुषार्थरूपब्रह्मापरोक्षज्ञानपर्य्यवसाय्येव। दयानन्दादिभाष्यं कुत्राप्यर्थे नाभ्रान्तम्, किन्तु निर्लज्जतापूर्णं धाष्टर्यमेव तस्य सर्वत्र लक्ष्यते। 'एकां लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्यविजयी भवेत्' यथैतत्तथा तत्र तत्र व्याख्याने दर्शयिष्यामः।

'बुद्धस्तु सायणाद्वहोः कालात् पूर्वमुत्पन्न इति सायणभाष्यप्रभावेण स कथमेवं निगदेद् यदहं हिंसाप्रधानं वेदं न मन्ये। वेदेष्वाख्यानसमयो यदामुना निरुक्तग्रन्थ एव विद्यमानो दर्शितः, वेदेष्वाख्यानसमयो नास्तीति' (पृ० ७०) तदपि वेदानभिज्ञस्यैव शोभते। मनुस्तु—'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' (१२।९७) इति स्पष्टमेवोक्तवान्। सामाजिकास्तु वैदिकैरर्थवादैर्मन्त्रैश्च स्पष्टतयाऽभिधावृत्त्या प्रतिपादितमपीतिहासमपलपन्ति तद्व्यवस्थां कर्तुमशक्नुवानाः। यदि वेदः सर्वज्ञानमयः सर्वविद्यानां स्थानस्त्वयाऽप्यभ्युपेयते, तर्हि इतिवृत्तविद्यायाः प्रतिपादनात् कुतो भयम्? मानान्तरविरोधे सत्यौपचारिकोऽयमाख्यानसमय इति तु सायणस्यापि सिद्धान्त एव"। त्वादृशा अल्पज्ञा एव सायणभाष्याद् भ्राम्यन्ति। यथोलकाः प्रचण्डमार्तण्डमण्डलमप्यन्धकारमयं विभावयन्ति, तथैव त्वादृशाः सर्वार्थाविवोधनपरं सायणभाष्यमनिष्टकरमेव मन्यन्ते। मानान्तरविरुद्धस्याख्यानस्य गौणार्थत्वेऽपि मानान्तरसिद्धार्थकस्यानुवादकत्वम्, मानान्तरासिद्धार्थकस्य मानान्तरविरुद्धार्थकस्याख्यानस्यापि स्तुत्यादौ मुख्यतात्पर्य्येऽप्यवान्तरतात्पर्य्यस्य स्वार्थेऽपि सत्त्वे वाधाभावात्। सर्वत्रैव सायणाचार्यः परमात्मपदप्राप्तिमेव परमपुरुषार्थं मन्यते। तत्साधनरूपेणैव चापरविद्यायाः प्रतिपाद्यं धर्ममभिप्रैति।

यदुक्तं 'दुरभिसन्धयः पाश्चात्याः सायणभाष्यानुसारेणैव वेदेष्वश्रद्धामुत्पादयन्ति' (पृ० ७०), तत्तुच्छम्। दुरभिसन्धयो हि सुव्याख्यानस्यापि दुष्परिणाममेवाभिलषन्ति, यथा यूयं भारतीया अपि ईसायीधर्मप्रभावाक्रान्ताः

में ही होता है। ऐसे अंशों की व्याख्या के समय कर्मों का ज्ञान कराना और उन्हीं की प्रशंसा करना ठीक ही है। इसीलिये 'ईशा वास्यम्' इत्यादि मन्त्रों और उपनिषदों का व्याख्यान अपर विद्या बोधित धर्म का परम फल हैं, इसका पर्यवसान परम पुरुषार्थ रूप ब्रह्म के साक्षात्कार में होता है। दयानन्द आदि का भाष्य किसी भी अर्थ में अभ्रान्त नहीं है। यहाँ पर स्थान-स्थान में निर्लज्जता से भरी धृष्टता के ही सर्वत्र दर्शन होते हैं। 'एक लज्जा को छोड़कर त्रिलोकी को जीत ले' इस आभाणक को यहाँ जिस प्रकार चरितार्थ किया गया है, उसका विवरण व्याख्यान में स्थान-स्थान पर दिया जायगा।

बुद्ध तो सायण से बहुत पहले हुए थे। वे सायण भाष्य के प्रभाव से ऐसा कैसे कहेंगे कि मैं हिंसाप्रधान वेद को नहीं मानता। जब इन्होंने माना है कि निरुक्त में आख्यान की परम्परा मान्य थी तो उस परिस्थिति में यह कहना कि वेदों में आख्यानों की परम्परा नहीं है, वेदों को न जानने वाले को ही शोभा दे सकता है। मनु ने तो स्पष्ट ही कहा है कि — 'भूत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ वेद से ही जाना जाता है'। आर्यसमाजी वैदिक अर्थवाद और मन्त्रों में स्पष्ट रूप से अभिधा वृत्ति के द्वारा प्रतिपादित इतिहास का भी अपलाप करते हैं, क्योंकि वे इस समस्या का कुछ समाधान नहीं दे पाते। यदि वेद को आप सब ज्ञान से युक्त, सब विद्याओं का उत्पत्तिस्थान मानते हैं, तो इतिवृत्त विद्या का प्रतिपादन होने पर भय क्यों? यह तो सायण भी मानते ही हैं कि दूसरे प्रमाण से विरोध उपस्थित होने पर यह इतिहास का प्रतिपादन औपचारिक माना जाता है। आपके जैसे अल्पज्ञ ही सायण भाष्य से भ्रम में पड़ते हैं। जैसे उलूक प्रचण्ड सूर्यमंडल को भी अन्धकार से भरा मानता है, उसी तरह आपके जैसे व्यक्ति ही सभी तरह के अर्थों के प्रतिपादन में समर्थ सायण भाष्य को अनिष्टकर मानते हैं। प्रमाणान्तर से विरुद्ध आख्यान के गौणार्थक होने पर भी मानान्तर से सिद्ध की अनुवादकता और मानान्तर से असिद्ध एवं मानान्तर से अविरुद्ध आख्यान का स्तुति आदि में मुख्य तात्पर्य होते हुए भी स्वार्थ में अवान्तर तात्पर्य के रहने में भी कोई बाधा नहीं हो सकती। सायणाचार्य सभी जगह परमात्मपद की प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। अपर विद्या के प्रतिपाद्य धर्म को वे परमात्मपद की प्राप्ति का साधन ही मानते हैं।

'पाश्चात्य विद्वान् दुरभिसन्धिपूर्वक सायण-भाष्य का सहारा लेकर ही वेदों के प्रति अश्रद्धा पैदा करते हैं' यह कथन भी गलत है। जिनके मन में खोट है, ऐसे व्यक्ति अच्छी व्याख्या से भी बुरा ही अर्थ निकालते हैं। जैसे कि आप लोग भारतीय

सनातनधर्मविरोधिनो जाताः। तथा तज्जीवातुभूतं भाष्यं निन्दथ, विज्ञानदृष्टया यूयमपीसायीमतानुयायिप्रेरणयैव तदनुगुणवेदव्याख्याने संलग्नाः स्थ। येषां सनातनधर्मे, अवतारवादे, परलोकवादे, जातिवादे, विवाहादिनियमे, भोजन-पानादौ, स्पर्शास्पर्शादौ विश्वासो भवति, ते कदाचिदीसायिमुस्लिमादीन् स्प्रष्टुमपि संकुचन्ति। किमु तेषां तद्धर्मप्रवेशे वक्तव्यम्। तस्माद् बद्धमूलस्वधर्मश्रद्धोन्मूलनेन यूयं तत्सहायका एव। मोनियरविलियम-हेमन-विलिसन-रॉथ-ह्विटनी-मैक्समूलरप्रभृतयो वस्तुतः सनातनधर्मस्यैव विरोधिनः। आर्यसामाजिकास्तु तत्सहकारिण एव, सनातनधर्म-निराकरणे जातिवादोन्मूलने सर्वविवाहादिकार्येषु समेषामेषामैकमत्यात्।

मैक्समूलरस्य पत्रे यल्लिखितम्—

The edition of mine and translation of Veda will here after tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of souls in that country. It is root of their religion and to show them what is the root is, I fell sure is the only way of uprooting all that has sprung from it, during the last three thousand years.

अस्य पत्रस्यानुवादे यदुक्तं सायणभाष्यसहितस्यर्ग्वेदस्य मयानुवादप्रकाशनं भारतीयभाग्यं सुदूरं यावत्प्र-भावं भावयिष्यतीति (पृ० ७२), तत्तु सर्वथाऽशुद्धं दुरभिसन्धिपूर्णं च। तत्र सायणभाष्यीयचर्चाया अभावात्। अन्यथा वेदार्थानुवादे नायं वेदार्थ इत्युक्त्वा विद्वांस उपेक्षेरन्नेव। तत एव त्वादृशा अपि तदनुवादं सायणसंमतं मन्यन्ते। वस्तु-तस्तु मैक्समूलरस्त्वादृशाश्च सायणभाष्योक्तमर्थमबुद्ध्वैव तद्विषये यत्किञ्चिदपि जल्पन्ति। मैक्समूलरस्तु तत्स्थाना-पन्नमीसायीधर्मं मन्यते। त्वादृशाः सामाजिका आर्य्यब्रुवास्तु वैदिकधर्मनाम्नैव म्लेच्छधर्मं प्रतिपादयन्ति। अथ च बाह्यधर्मभासानां कृते निरर्गलद्वारं कुर्वन्ति।

होते हुए भी ईसाई धर्म से प्रभावित होकर सनातन धर्म के विरोधी हो गये हैं। आप उसके प्राणभूत भाष्य की निन्दा करते हैं और उन्हीं की प्रेरणा से वैज्ञानिक दृष्टि का बहाना लेकर उनकी इच्छा के अनुकूल ही वेद की व्याख्या में लग गये हैं। जिनका सनातन धर्म में—अवतारवाद, परलोकवाद, जातिवाद, विवाह इत्यादि के नियम, भोजन-पान आदि की शुद्धि, स्पर्शास्पर्श का विचार आदि में विश्वास है, वे कदाचित् ईसाई, मुस्लिम आदि के छूने में भी संकोच करेंगे, फिर ऐसे व्यक्तियों का उनके धर्म में प्रवेश एक असंभव बात है। इसलिये अपने धर्म में जिनकी श्रद्धा गहराई से बनी हुई है, उनकी श्रद्धा को जड़ से उखाड़ फेंकने में आप उनके सहायक ही हैं। मोनियर विलियम, हेमन, विलसन, राथ, ह्विटनी, मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् वास्तव में सनातन धर्म के विरोधी हैं। आर्यसमाजी उनके सहायक ही हैं, क्योंकि सनातन धर्म का खण्डन करने में, जातिवाद के उन्मूलन में और सबका परस्पर विवाह आदि संबन्ध कराने में ये सब एकमत हैं।

मैक्समूलर का मूल अंग्रेजी पत्र ऊपर उद्धृत किया गया है। इस पत्र का अनुवाद करते समय जिज्ञासुजी ने जोड़ा है कि—'सायण भाष्य के साथ ऋग्वेद के अनुवाद का जो प्रकाशन मैं कर रहा हूँ, उसमें भारतीयों के भाग्य पर सुदूरगामी प्रभाव पड़ेगा' यह अनुवाद सर्वथा अशुद्ध और दुरभिसन्धि से भरा है। वहाँ सायण भाष्य की कोई चर्चा नहीं है। बिना सायण भाष्य की सहायता के अनुवाद करने पर यह वेद का अर्थ ही नहीं है, ऐसा मानकर विद्वान् उसकी उपेक्षा कर सकते हैं। इसीलिये तो आपके जैसे भारतीय भी उनके अनुवाद को सायणसंमत मानते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि मैक्समूलर और आप जैसे व्यक्ति सायण भाष्य में किये गये अर्थ को बिना समझे ही उसके विषय में ऊल-जलूल बकते रहते हैं। मैक्समूलर तो वैदिक धर्म के स्थान पर ईसाई धर्म को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। अपने को आर्य कहने वाले आपके जैसे समाजी भी वैदिक धर्म के नाम पर म्लेच्छों के धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं और इस तरह से बाह्य धर्मों के लिये, जो कि वस्तुतः धर्म नहीं है, अपने घर का दरवाजा खोल देते हैं।

भारतीयं वैदिकधर्मं जैकालियट-गोल्डस्टूकरप्रभृतयः प्रशंसन्ति, पाश्चात्यानां दुर्भावनां चोद्घाटयन्ति। बेवर-रॉथ-भोटलिङ्ग-कूहनप्रभृतयो भारतीयगौरवं विनाशयितुमुद्यताः। सायणीयवेदार्थस्तु मन्त्र-ब्राह्मण-वेद-व्याकरण-निरुक्त-सूत्र-पूर्वोत्तरमीमांसा-पुराणेतिहासादिसंमत एव। ये तन्निष्ठान् भारतीयान् द्विषन्ति त एव वेदवैदिकशत्रवः।

यदुक्तम्—'यदि सायणभाष्यातिरिक्तभाष्यं पाश्चात्यैरुपलब्धं स्यात्तदा पाश्चात्यैस्तस्यैवानुवादः कृतः स्यात्। यदि सायणस्य भाष्यं नोपलब्धं स्यात्तदा मैक्समूलरस्य ऋग्वेदभाष्यस्योपरि लेखः, तथा ग्रिफिथस्य ऋग्यजुः-सामानुवादः, राथस्य ह्विटनीमहाशयस्य चाथर्ववेदीय इङ्लिशानुवादः, बैनफीमहाशयस्य सामवेदीयो जर्मनीभाषामयोऽनुवादः, कीथस्य तैत्तिरीयसंहितायास्तथा ऐतरेय-कौषीतकिब्राह्मणानुवादः, हागस्य ऐतरेयब्राह्मणानुवादः, एगलिङ्गस्य शतपथब्राह्मणानुवादः, विलसनस्य ऋग्वेदीय इङ्लिशानुवादः, लुड्विगस्य ऋग्वेदोयजर्मनानुवादश्चावश्यमन्यथैव कृता भवेयुः। सायणीयेन वेदार्थेन सर्वेषां नेत्रेषु पट्टप्रावरणमेव कृतम्। रोजन-ग्रासमंन-ओल्डनवर्ग-बेवर-कोलब्रुक-ब्लूमफील्ड-आफ्रेरव्ट-जंकोबी-स्टीवेन्सन-मैकडानल-भोटलिङ्गप्रभृतीनां यैर्वैदिकवाङ्मयेषु वहु परिश्रान्तं तेषां फलमन्यथैव स्यात्। एवमेव एडोल्फप्रभृतीनां श्रौतगृह्यसूत्रादिपरिश्रमस्याप्यन्यदेव फलं स्यात्' (पृ० ७३) इति, तदेतदपि धूलिप्रक्षेप एव। यतः सर्वे चैते सद्भावनया दुर्भावनया वा वेदार्थान्वेषण एव प्रवृत्ता आसन्। अन्धविश्वासिनोऽप्येते नासन्। तस्मात् सायणभाष्यस्य माहात्म्यमवगम्यैवैते तदनुसारणमेवार्थं कृत्वा विकृत्य चोपस्थापितवन्तः। ये तु दुर्भावनाहीनास्तैस्तु सायणभाष्यस्य तदनुसारिणः सनातनवैदिकहिन्दुधर्मस्य च प्रशंसैव कृता।

भगवद्दत्तमतखण्डनम्

भगवद्दत्तानुसारेण (पृ० ९) कात्यायनस्य ऋक्सर्वानुक्रमणी पाश्चात्यलेखकानां रीत्या विक्रमाद् वर्षशतत्रयात् प्राचीना, मम मते (भगवद्दत्तमते) तु सेतोऽतीव प्राचीना। वृहद्देवता अस्या अपि प्राचीनो ग्रन्थः।

भारतीय वैदिक धर्म की जैकालियट, गोल्डस्टूकर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् प्रशंसा करते हैं और पाश्चात्यों की दुर्भावना का पर्दाफाश करते हैं। बेवर, राथ, भोटलिंग, कूहन् प्रभृति विद्वान् भारतीय गौरव को विनष्ट करने में लगे हैं। सायण का किया गया वेदार्थ मन्त्र, ब्राह्मण, वेद, व्याकरण, निरुक्त, कल्पसूत्र, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, पुराण, इतिहास आदि से समर्थित है। जो व्यक्ति इनमें निष्ठा रखने वाले भारतीयों से द्वेष रखते हैं, वे ही वास्तव में वेद और वैदिकों के शत्रु हैं।

इसी तरह—'यदि सायण भाष्य से भिन्न कोई भाष्य पाश्चात्यों को उपलब्ध हुआ होता, तो वे उसी के आधार पर अनुवाद करते। यदि सायण का भाष्य न मिला होता तो मैक्समूलर का ऋग्वेद भाष्य के ऊपर लेख, ग्रिफिथ का ऋक्, यजुः, सामवेद का अनुवाद, राथ और ह्विटनी के अथर्ववेद के अंग्रेजी अनुवाद, बैनफी महाशय का सामवेद का जर्मन भाषा का अनुवाद, कीथ का तैत्तिरीय संहिता और ऐतरेय एवं कौषीतकि ब्राह्मण का अनुवाद, हाग का ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद, एगलिंग का शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद, विलसन का ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद, लुड्विग का ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद—ये सब अवश्य ही किसी भिन्न ही पद्धति से किये गये होते। सायण के किये वेद के अर्थ ने इन सबकी आँखों पर पर्दा डाल दिया। रोजन, ग्रासमैन, ओल्डनवर्ग, बेवर, कोलब्रुक, ब्लूमफील्ड, आफेरक्ट, जैकोबी, स्टीवेन्सन, मैकडानल, भोटलिंग प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों का कार्य, जिन्होंने कि वैदिक वाङ्मय में बड़ा परिश्रम किया है, दूसरी ही दिशा में हुआ होता। इसी तरह एडोल्फ इत्यादि के श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र आदि पर किये गये परिश्रम का भी फल भिन्न ही हुआ होता'। यह सब कथन भी सीधे आँख में धूल झोंकने के समान है, क्योंकि ये सब सद्भावना अथवा दुर्भावना से प्रवृत्त होकर वेदार्थ के अन्वेषण में लगे हैं। ये सब विद्वान् अन्धविश्वासी भी नहीं हैं। सायण भाष्य के महत्त्व को ठीक से समझ करके ही इन्होंने तदनुसार ही अपने अनुवाद किये, कहीं-कहीं इन्होंने उसको विकृत भी कर दिया है। जिन पाश्चात्य विद्वानों में कोई दुर्भावना काम नहीं कर रही है, उन्होंने तो सायण भाष्य की तथा तदनुसारी सनातन वैदिक धर्म की प्रशंसा ही की है।

भगवद्दत्त के मत का खण्डन

भगवद्दत्त (पृ० ९) लिखते हैं कि कात्यायन की ऋक् सर्वानुक्रमणी का काल पाश्चात्य लेखकों के अनुसार विक्रम से कोई ३०० वर्ष पूर्व का है। हमारे (भगवद्दत्त के मत के) अनुसार तो उसका काल इससे भी बहुत पहले का है। वृहद्देवता इस सर्वानुक्रमणी

हिन्दीभाषामये 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' पुस्तके प्रथमेभागे तत्रैव प्रथमेऽध्याये (पृ० ९) मैकडानलस्य भूमिकागतोद्धरणे ईसवीयकालाद् वर्षशतत्रयात् प्राचीनो बृहद्देवताग्रन्थः। तत्रैव बृहद्देवताग्रन्थेऽष्टमेऽध्याये—'महानाम्न्य ऋचो गुह्यास्ता ऐन्द्र्यश्चैव यो वदेत्। सहस्रयुगपर्यन्तमहर्ब्राह्मं स राध्यते ॥१८॥' अस्य श्लोकस्योत्तरार्धं स्वल्पेनान्तरेण भगवद्गीतायाम् (८।१७), निरुक्ते (१४।४), मनुस्मृतौ (१।७३) चोपलभ्यते (पृ० १०)।

याज्ञवल्क्यस्मृतिः कौटल्यार्थशास्त्रात् प्राचीना। कौटल्यार्थशास्त्रनिर्माता च कौटल्यश्चन्द्रगुप्तस्य महामात्यः। मनुस्मृतिर्याज्ञवल्क्यस्मृतेरपि प्राचीना। मनुस्मृतौ प्रथम एवाध्याये युगानां युगनाम्नां कल्पानां च विस्तरशो वर्णनमुपलभ्यते (पृ० १०)।

सायणमहीधरादिरीत्या 'ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश।' (पृ० ५३) पारम्पर्येणैष सिद्धान्तः सर्ववैदिकसम्मतः। स्वामिदयानन्दस्तदनुयायिनोऽपरे सामाजिकाश्च तमेतं सविरूढमूलं सिद्धान्तं स्वमनीषयोद्भावितैरर्थशून्यैस्तर्काभासैराक्षिपन्ति।

तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये आरम्भे भट्टभास्करोऽप्येतदेवाह—'पूर्वं भगवता व्यासेन जगदुपकारार्थमेकीभूय स्थिता वेदा व्यस्ताः शाखाश्च परिच्छिन्नाः' (पृ० ५३)।

दुर्गाचार्योऽपि—'वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः' (नि० १।२० वृत्तौ)। 'जातुकर्णोऽभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः। अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः॥ एको वेदश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु।' (विष्णुपु० ३।३।१९-२०), 'वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु' (मत्स्यपु० १४४।११) (पृ० ५४)।

से भी कुछ पूर्व का ग्रन्थ है। हिन्दी भाषा में लिखे गये 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक पुस्तक के प्रथम भाग के प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में भगवद्दत्त लिखते हैं कि अध्यापक मैकडानल अपने बृहद्देवता के संस्करण की भूमिका में लिखते हैं कि—'बृहद्देवता ४०० ईसा पूर्व के पीछे का नहीं हो सकता'। उस बृहद्देवता के आठवें अध्याय में लिखा है कि—'इन्द्र देवता संबन्धी रहस्यमयी ऋचाओं को जो जपता है, वह सहस्र युग पर्यन्त रहने वाले ब्रह्मा के एक दिन को प्राप्त होता है'। इस श्लोक के उत्तरार्ध का पाठ स्वल्प पाठान्तरों के साथ भगवद्गीता (८।१७), निरुक्त (१४।४) और मनुस्मृति (१।७३) में मिलता है (पृ० ९-१०)।

याज्ञवल्क्य स्मृति कौटल्य के अर्थशास्त्र से कहीं पहले की है। तथा कौटल्य का अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त के अमात्य चाणक्य की ही कृति है। मनुस्मृति तो याज्ञवल्क्य स्मृति से बहुत पहले की है। उस मनुस्मृति के आरंभ में युगों, युगनामों और प्रत्येक युग के वर्षों की संख्या का तथा कल्प आदि की गणना का बड़ा विस्तृत वर्णन है (पृ० १०)।

सायण, महीधर आदि मध्यकालीन ग्रन्थकारों के मत के अनुसार ब्रह्मा की परम्परा से वेदव्यास को वेद मिला और उन्होंने क्रमशः मनुष्यों की मति मन्द होती जायगी, ऐसा जानकर उन पर कृपा करने के अभिप्राय से वेद को ऋक्, यजुः, साम और अथर्वण इस तरह के चार भागों में बाँट दिया और उनको क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नाम के अपने चार शिष्यों को पढ़ाया (पृ० ५३)। परम्परा प्राप्त यह सिद्धान्त सभी वैदिकों को मान्य है। स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी अन्य आर्यसमाजी विद्वान् इस दृढ़मूल प्राचीन सिद्धान्त को अपनी कल्पना शक्ति से उद्भावित अर्थशून्य गलत तर्कों के आधार पर निरस्त करना चाहते हैं।

महीधर के पूर्ववर्ती भट्ट भास्कर अपने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य के आरंभ में लिखते हैं—'भगवान् व्यास ने जगत् के उपकार के लिये एकत्र स्थित वेदों का विभाग करके उनकी शाखाएँ नियत कीं' (पृ० ५३)।

भट्ट भास्कर से भी बहुत पहले होने वाले आचार्य दुर्ग निरुक्त (१।२०) की वृत्ति में लिखते हैं—'वेद पहले एक था तो यह बड़ा विशाल था। इसका अध्ययन कर पाना कठिन काम था। इसलिये इसको अनेक शाखाओं में विभक्त कर दिया कि व्यस्तरूप से इसका सुखपूर्वक अध्ययन किया जा सके'। इस मत का प्रतिपादन पुराणों में मिलता है। विष्णुपुराण और मत्स्यपुराण में लिखा है—

श्रीमद्भागवतादिषु चायमेव सिद्धान्तः स्थापितः। सर्वैरपि द्वैत-विशिष्टाद्वैत-द्वैताद्वैत-शुद्धाद्वैत-निर्विशेषाद्वैतवादिभिर्वैष्णवैः शैवैः स्मार्तैश्च धर्माचार्यैरयमेव पक्षः समाद्रियते।

यच्च दयानन्देन सत्यार्थप्रकाशस्यैकादशे समुल्लासे जल्पितम्—'जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यासजी ने इकट्ठे किये, यह बात झूठी है। क्योंकि व्यास के पिता, पितामह, प्रपितामह पराशर, शक्ति, वशिष्ठ और ब्रह्मा आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे। (पृ० ५४) तदेतत् सिद्धान्ताज्ञानविजृम्भितम्, अनुक्तोपालम्भनात्। केनैतदुक्तं यद् व्यासेन वेदा एकत्रिताः? पूर्वाचार्यैस्त्विदमेवोक्तं यद एकत्रिता वेदा व्यासेन व्यस्ताः। ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसो मन्त्रा ब्राह्मणानि चैतद्भागद्वयघटितो मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदराशिरविविक्त एक एवासीदिति विष्णुपुराणादिसम्मतः सिद्धान्त एव पूर्वाचार्याणामभिप्रेतः। तमेव 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति कात्यायनापस्तम्बादयोऽपि वदन्ति। महर्षिर्जैमिनिश्च—'सा ऋग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (मी० सू० २।१।३२), 'गीतिषु सामाख्या' (२।१।३३) 'शेषे यजुःशब्दः' (मी० सू० २।१।३४) इति ऋक्सामयाजुषमन्त्राणां लक्षणानि विधाय 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० सू० २।१।३५) इति ब्राह्मणलक्षणं विदधाति। मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदमाश्रित्यैव जैमिनिः पूर्वमीमासायां बादरायण उत्तरमीमांसायां धर्म-ब्रह्म-विचारं प्रवर्तयतः। तत्र ऋक्सामयाजुषशब्दैः केवलं मन्त्रा उच्यन्ते। ब्राह्मणारण्यकोपनिषदादिशब्दैर्ब्राह्मणान्युच्यन्ते। ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेदशब्दैर्मन्त्रब्राह्मणात्मकाः पृथक् पृथग् वेदराशय उच्यन्ते। तत्रैकैकराशिः शाखापदेन व्यवह्रियते। सर्वो वेदराशिः वेदपदेन व्यपदिश्यते। व्यासपराशरादयः सामर्थ्यातिशयात् सर्वं ब्रह्मसम्प्रदायप्राप्तं वेदराशिमधीतवन्तः। अविविक्ता अपि तत्र ऋचः सामानि यजूंषि (मन्त्राः),

प्रत्येक द्वापर के अन्त में एक ही चतुष्पाद वेद चार भागों में विभक्त किया जाता है। यह विभाग-करण अब तक २८ बार हो चुका है। जो कोई उस विभाग को करता है, उसका नाम व्यास होता है। (पृ० ५३–५४)

श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में भी यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, निर्विशेषाद्वैत वादी सभी वैष्णव, शैव और स्मार्त आचार्यों ने इस मत का समादर किया है।

भगवद्दत्त ने ऊपर उद्धृत मत को पूर्वपक्ष में रख कर उत्तरपक्ष के रूप में स्वामी दयानन्द के मत का इस प्रकार प्रतिपादन किया है—'दयानन्द सरस्वती स्वामी इस मत का खण्डन करते हैं। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश समुल्लास एकादश में लिखा है—'जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यासजी ने इकट्ठा किया, यह बात झूठी है। क्योंकि व्यास के पिता, पितामह, प्रपितामह, पराशर, शक्ति, वसिष्ठ और ब्रह्मा आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे' (पृ० ५४)। यह पूरा कथन सिद्धान्त को ठीक से न समझ पाने के कारण है। यह हमारे ऊपर जबरदस्ती का उलाहना है। जिस बात को हमने कहा नहीं, वह हमारे ऊपर थोपी जा रही है। यह हमने कब कहा कि व्यास ने वेदों को एकत्र किया? पूर्वाचार्यों ने केवल यह कहा है कि एकत्रित वेदों को व्यास ने विभक्त किया। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन चार भागों में विभक्त मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग इन दो मोटे विभागों में विभक्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदराशि पहले अविभक्त रूप में एक में ही मिला था। इस तरह का विष्णुपुराण आदि संमत सिद्धान्त ही पूर्वाचार्यों को मान्य है। इसी बात को 'मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है' इस रूप में कात्यायन, आपस्तम्ब प्रभृति आचार्य कहते हैं। महर्षि जैमिनि भी—'जहाँ पर अर्थ के अनुसार पाद की व्यवस्था हो उसको ऋक् कहते हैं, गीतियाँ साम नाम से कही जाती हैं, अवशिष्ट भाग यजुः कहलाता है' इस तरह से तीन सूत्रों में ऋक्, साम और यजुः मन्त्रों का लक्षण बताने के बाद 'अवशिष्ट भाग ब्राह्मण कहलाता है' इस सूत्र के द्वारा ब्राह्मण का लक्षण कहते हैं। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद के आधार पर ही पूर्वमीमांसा में जैमिनि और उत्तरमीमांसा में बादरायण धर्म और ब्रह्म संबन्धी विचार प्रस्तुत करते हैं। यहाँ पर ऋक्, साम और यजुः शब्द से केवल मन्त्र भाग गृहीत होता है और ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् शब्द से ब्राह्मण भाग का ग्रहण होता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद शब्द से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदराशि में से एक एक का अलग अलग बोध होता है। पृथक् पृथक् प्रत्येक राशि 'शाखा' पद से अभिहित होती है। पूरी वेदराशि 'वेद' नाम से प्रसिद्ध है। व्यास, पराशर प्रभृति ने अपना अपनी अतिशय सामर्थ्य के आधार पर ब्रह्मा के द्वारा संप्रदाय परम्परा से प्रवर्तित सारी वेदराशि का अध्ययन किया। उस समय अविविक्त रूप में ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व और अंगिरा के द्वारा

अथर्वाङ्गिरोदृष्टा अथर्वमन्त्राः, ब्राह्मणारण्यकादयश्च आसन्नेव। अतः सम्पूर्णवेदराश्यध्ययनेन चत्वारोऽपि वेदास्तैरधीयन्त एव, सर्वेषामेव तत्र विद्यमानत्वात्। अत एव श्रीमद्भागवते युगह्रासात् शक्तिमेधादिह्रासादेव सर्ववेदस्य दुरध्येयत्वेन वेदव्यसनैर्मुक्तम्। 'ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्। चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः॥' (श्री० भा० १।३।२१)। नैतावता तदानीमृगादयो मन्त्रभेदा मन्त्रब्राह्मणभेदा वा नासन्, किन्तु सन्तोऽपि मिश्रिता एवासन्। अल्पमेधोभिर्दुर्धार्यत्वाद् हौत्रौद्गात्राध्वर्यवादिकार्यसौविध्याय व्यासेन विभागः कृतः, शाखाभेदाश्च कृताः। शाखाभेदास्तु पतञ्जलिना महाभाष्येऽङ्गीकृता एव। याज्ञवल्क्येन भगवतः सूर्यात् शुक्लयजुर्वेदीयाः पञ्चदशशाखा उपलब्धा इत्यपि पारम्पर्यात् श्रीमद्भागवतादिपुराणेभ्यः पाणिन्यादिसूत्रैश्च विज्ञायते।

एतावता भगवद्दत्तसमुद्धृतानि वचनान्यपि समाहितानि भवन्ति। तथाहि—'यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः' (अथर्व० ४।३५।६), 'ब्रह्मा प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोऽग्नयः। तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु॥' (अथर्व० १९।९।१२) अत्र वेदाः साङ्गाश्चत्वार इति सायणः। 'वेदेभ्यः स्वाहा' (तै० सं० ७।५।११।२) अयमेव मन्त्रः काठकसंहितायां (५।२) इत्यत्र। 'चत्वारि शृङ्गा इति वेदा वा एतदुक्ताः' (कठब्राह्मणम्), 'आथर्वणो वै ब्रह्मणः समानः', 'चत्वारो हीमे वेदास्तानेव भागिनः करोति मूलं वै ब्रह्मणो वेदाः, वेदानामेतन्मूलं यदृत्विजः प्राश्नन्ति तद् ब्रह्मौदनस्य ब्रह्मौदनत्वम्।' (काठकशताध्ययनब्राह्मणे प्रारम्भे ब्रह्मौदनप्रकरणे), 'ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे। स···सर्वांश्च वेदान्·······' (गोपथब्राह्मणे १।१।१६), 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' (श्वेता० ६।१८), 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥' (मु० उ० १।१) एवमादीनि सर्वाणि वचनानि न पूर्वप्रतिकूलानि।

परिदृष्ट अथर्व मन्त्र तथा ब्राह्मण, आरण्यक आदि विद्यमान थे ही। अतः संपूर्ण वेदराशि का अध्ययन करने के कारण उन्होंने चारों वेद पढ़े थे, क्योंकि इस वेदराशि में सबका समावेश है। इसीलिये श्रीमद्भागवत में युग के ह्रास के अनुसार मनुष्यों की मेधा शक्ति का भी ह्रास होने से सभी वेदों का अध्ययन इनके लिये कठिन देख कर वेदों का विभाग करने की बात कही गई है—'इसके बाद सत्रहवें सर्ग में सत्यवती के गर्भ से पराशर के पुत्र व्यास उत्पन्न हुए। इन्होंने मनुष्यों को अल्प मेधा शक्ति को जानकर वेद रूपी वृक्ष को अनेक शाखाओं में विभक्त कर दिया'। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ऋगादि मन्त्रों के भेद अथवा मन्त्र-ब्राह्मण आदि का भेद उस समय नहीं था। इसका इतना ही तात्पर्य है कि यद्यपि वे थे, किन्तु उनकी स्थिति मिश्रित थी, अर्थात् वे एक दूसरे में मिले थे। अल्प मेधा शक्ति के मनुष्य इनको धारण नहीं कर सकते, इसलिये होता, उद्गाता, अध्वर्यु आदि के कार्य को सुकरता की दृष्टि से व्यास ने इनका विभाग कर दिया और इनकी अलग अलग शाखाएँ भी बना दीं। शाखाओं के भेद को पतंजलि ने अपने महाभाष्य में स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य ने भगवान् सूर्य से शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाएँ उपलब्ध कीं, यह बात भी परम्परा से, श्रीमद्भागवत प्रभृति पुराणों से और पाणिनि प्रभृति के सूत्रों से भी ज्ञात होती है।

इस तरह की व्याख्या के आधार पर भगवद्दत्त के द्वारा इनके खण्डन के लिये उद्धृत वचनों की भी (पृ० ५४–५८) उपपत्ति अपने मत के समर्थन में की जा सकती है। जैसे कि—'जिस परब्रह्म में समस्त विद्याओं के भंडार वेद स्थिर हैं' इस अथर्ववेद के मन्त्र में और 'ब्रह्म प्रजापति०' इत्यादि मन्त्र में 'वेदाः' बहुवचनान्त पद आया है। इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण कहते हैं—'इस मन्त्र में बहुवचनान्त वेद पद से चारों वेद अभिप्रेत हैं।' 'वेदेभ्यः स्वाहा' यह तैत्तिरीय संहिता का मन्त्र है। यही मन्त्र काठक संहिता में भी मिलता है। कठ ब्राह्मण में मिलता है—'चत्वारि शृंगाः प्रतीक वाले प्रसिद्ध मन्त्र में चारों वेदों का कथन मिलता है'। पुनः काठक शताध्ययन ब्राह्मण के आरंभ के ब्रह्मौदन प्रकरण में अथर्ववेद की प्रधानता का वर्णन करते हुए चार ही वेदों का उल्लेख किया है—'आथर्वणो वै०' इत्यादि। अर्थात् वेद चार ही हैं। अथर्व उनमें प्रथम है, इत्यादि। गोपथ ब्राह्मण के पूर्व भाग में लिखा है—'परमात्मा ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया। उसे चिन्ता हुई कि किस एक अक्षर से मैं सारे वेदों का अनुभव करूँ'। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है—'जो ब्रह्मा को आदि में उत्पन्न करता है और उसके लिये वेदों को भेजता है'। इसी तरह से मुण्डकोपनिषद्

अविविक्तेष्वपि वेदेषु ते भेदा विद्यमाना आसन् यानादाय व्यासेन वेदा विभक्ताः । तेषामविद्यमानत्वे विभागोऽपि किं मूलकः स्यात्? यथाद्यत्वे कस्याञ्चित् सभायामविभागेन विद्यमाना ब्राह्मणक्षत्रियादयो विभज्येरन्, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम् ।

यत्तूक्तं भगवद्दत्तेन—'ब्रह्मा न मनुष्येतरः' (पृ० ५७) इति, तत्तुच्छम्, 'देवानां प्रथमः सम्बभूव' (मुण्डको० १।१) इति वचनविरोधात् । मनुष्येतरे देवा इत्यस्य देवतानिरूपणे साधितत्वात् ।

यदुक्तम्—'अधिष्ठातुर्ब्रह्मणः पुत्र एव नासीत् (पृ० ५७) इति, तदपि तदुद्धृतवचनविरुद्धमेव । 'ज्येष्ठ-पुत्राय' (मु० १।१) इति वचनस्य जागरूकत्वात् । तेन ब्रह्मणाऽऽदिसृष्टावग्न्यादिभ्यश्चत्वारो वेदा लब्धा इत्यपि निर्मूलम् । 'यो वै ब्रह्माणम्' (श्वे० ६।१८) इति वचनविरोधात् । तस्मिन् वचने परमात्मनैव ब्रह्मणे वेदाः प्रहिता इति श्रवणात् । 'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' (पृ० ५८) इत्यादिशतपथवचनं[1] शौनकवचनं च विविधशाखा-विशिष्टेऽविविक्ते वेदे ऋग्वेदादीनां विद्यमानतामेवाह ।

तस्मात् पारम्पर्यपुराणादिसम्मतसमन्वितपूर्वोक्तवचनार्थाज्ञानविजृम्भितमेवैतत् । यथा वा—(अत्र) 'वेदा अवेदा' (भवन्ति) (बृ० उ० ४।३।२२), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति छान्दोग्यादि-दृष्ट्या सृष्टेः पूर्वकाले वेदादीनामसत्त्वोक्तावपि प्रतिसर्गं वेदानामाविर्भावनियमाद्वेदानादित्वमपि न विरुद्धयते; तथैव 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इत्येकवचनानुसारेण 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।२) इत्येकवचनानुसारेण च वेदानामेकत्वेऽपि प्रतिद्वापरं विभागनियमाद्विभागानादित्वमपि न विरुद्धयते ।

में कहा गया है—'देवताओं में ब्रह्मा सबसे पहले पैदा हुआ । वही इस जगत् का कर्ता और उसका पालयिता है । उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, जो कि सब विद्याओं की जननी है' । इस तरह के भगवद्दत्त के द्वारा (पृ० ५४-५७) उद्धृत सभी वचन हमारे द्वारा प्रतिपादित पूर्व सिद्धान्त के विरोध में नहीं जाते, क्योंकि वेदों की अविविक्त अवस्था में भी वे भेद विद्यमान थे, जिनके सहारे वेदव्यास ने वेदों का विभाग किया । यदि वे पहले से विद्यमान न होते, तो उनका विभाग कैसे हो सकता है ? जैसे आज की सभा में एकत्र हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के अलग अलग समूह बनाये जा सकते हैं, उसी तरह से प्रकृत स्थल में भी जानना चाहिये ।

यहाँ पर भगवद्दत्त ने कहा है कि ब्रह्मा को मनुष्येतर मानना युक्तियुक्त नहीं (पृ० ५७) । किन्तु यह कथन गलत है, क्योंकि 'देवताओं में ब्रह्मा सबसे पहले पैदा हुए' इस वचन से उनकी बात विरुद्ध पड़ती है । देवता मनुष्यों से भिन्न हैं, इस बात को हम देवताधिकरण में विस्तार से सिद्ध कर चुके हैं ।

यह कहना कि 'अधिष्ठाता ब्रह्मा के पुत्र ही नहीं है' (पृ० ५७) उनके द्वारा उद्धृत वचन के विरुद्ध है, क्योंकि वहीं पर अथर्वा को ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र बताया गया है । ब्रह्मा ने सृष्टि के आरंभ में अग्नि प्रभृति से चारों वेदों को प्राप्त किया, यह कथन भी यहीं पर उद्धृत 'यो वै ब्रह्माणं०' इत्यादि श्वेताश्वतर श्रुति के विपरीत है । इस वाक्य में यह स्पष्ट प्रतिपादित है कि परमात्मा ने ही ब्रह्मा के लिये वेदों का सन्देश भेजा । वहीं पर (पृ० ५८ में) उद्धृत 'ऋग्वेदो०' इत्यादि वचन भी, जो कि शतपथ ब्राह्मण और शौनक संहिता में भी मिलता है, विविध शाखाओं वाले अविविक्त वेद में ऋग्वेद आदि विभागों की सत्ता का ही प्रतिपादन करता है ।

इस तरह से भगवद्दत्त का यह पूरा प्रतिपादन परम्परा और पुराण आदि की संमति से युक्त उक्त वचनों का अर्थ ठीक से न समझ पाने के कारण निरर्थक है । जैसे कि 'इस अवस्था में वेद अवेद हो जाते हैं,' 'हे सोम्य, सृष्टि के आरंभ में अकेले, अद्वितीय सत् की ही सत्ता थी' इन छान्दोग्योपनिषद् आदि के वचनों में सृष्टि से पहले वेद आदि की सत्ता के भी अभाव का वर्णन मिलता है, किन्तु प्रत्येक सर्ग में वेदों के आविर्भाव के नियम के आधार पर वेदों की अनादिता से उसका कोई विरोध नहीं होता, उसी तरह से 'वाचा विरूपनित्यया' यहाँ पर परिदृष्ट एकवचन के अनुसार और 'पूर्वे पूर्वेभ्यो०' इस तैत्तिरीय ब्राह्मण के वचन के अनुसार वेदों की एकता

---

१. शतपथब्राह्मणे (११।५।८।३) इत्यादिस्थलेषु ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-शब्दाः । तत्रैव (११।५।६।७) इत्यत्र अथर्वाङ्गिरस इति शब्दः । अथर्ववेदस्य शौनकसंहितायाम् (१०।७।२०) इत्यत्र अथर्वाङ्गिरस इति शब्दः ।

प्राचीनेतिहासः

भगवद्दत्तो रामायणं महाभारतं च प्राचीनेतिहासत्वेनाभ्युपैति। तदनुसारेणैव कृष्णद्वैपायन ऐतिहासिकः पुरुषः। पराशरः शक्तिश्च तदीयपितृपितामहौ। तद्दृष्ट्याऽन्येतिहासग्रन्थापेक्षयापि महाभारतस्य वैशिष्ट्यमस्ति। तत्र महाभारते तदुद्धृतेष्वेव वचनेषु (पृ० ६०-६१) यथा—'समाप्ति नागमद्विद्या नापि वेदा विशाम्पते।' (म० भा० शल्यप० ४०।४), 'वेदैश्चतुर्भिः' (म० भा० द्रो० प० ५१।२२) इत्यत्र बहुवचनेन वेदानां बहुत्वं ज्ञायते। तथैव—'ब्रह्मचर्येण कृत्स्नो मे वेदः श्रुतिपथं गतः' (म० भा० आ० प० ८१।१४) इत्येकवचनेन वेदानामेकत्वमपि ज्ञायते। एवमेव—'क्षमा वेदाः' (म० भा० व० प० २९।३६), 'ऋचो बह्वृचमुख्यश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः। शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ॥३१॥ अथर्ववेदप्रवराः पूर्वयाज्ञिकसम्मताः। संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते ॥३३॥' (म० भा० आ० प० ६४) इत्यादीन्यपि वचनानि पूर्वोक्तार्थानुगुणान्येव। प्रतिसर्गं प्रतिकल्पं पदक्रमादियुक्तानां संहितानामाविर्भावनियमादनादित्वोपपत्तौ बाधाभावात्। तेनैवेतिहासिकपुरुषेण वेदव्यासेन विष्णुपुराणादयो ग्रन्था निर्मिता इति तेऽप्यैतिहासिका एव। तेषु पुराणेषु स्पष्टमेव व्यासकर्तृकवेदव्यसनमुक्तमिति तदपलापः सर्वथापि भगवद्दत्ताय न शोभते।

यत्तु तेनैवोक्तम्—'तदानीं पदक्रमोपेताया अथर्वसंहितायाः पाठकाले वेदानां समस्तशाखा नैव निर्मिता आसन्, मन्त्राणां व्याख्यारूपाणि पाठान्तराणि गुरुकुलेषु प्रसिद्धानि, ब्राह्मणग्रन्थानां सामग्रीभेदा अप्यनेकास्वाचार्यपरम्परास्वेकत्रिता आसन्, एतैर्वेदपाठान्तरैरेव कालान्तरे शाखा निर्मिताः। तदानीं वेदाः प्रवक्तॄणामृषीणां नामभिर्न प्रसिद्धा आसन्। त एव वेदाः सनातनकालात् प्रसिद्धाः। व्यासेनानेकेषामृषीणां साहाय्येन तैः पाठान्तरैर्वेदशाखा निर्मिताः। शाखानुकूल्येन ब्राह्मणग्रन्थसामग्रीभेदा अपि क्रमं नीताः, अथ च ब्राह्मणानि सङ्कलितानि। यैर्ब्राह्मणा-

भी सिद्ध है। प्रत्येक द्वापर युग में नियमतः वेदों के विभाग की चर्चा होने से वेदों के इस विभाग की भी अनादिता में कोई बाधा नहीं उपस्थित हो सकती।

प्राचीन इतिहास

भगवद्दत्त रामायण और महाभारत को प्राचीन इतिहास ग्रन्थ मानते हैं (पृ० ५९-६०)। उनके मत के अनुसार कृष्णद्वैपायन वेदव्यास एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। उन्हीं के शिष्य-प्रशिष्यों ने ब्राह्मण आदि ग्रन्थों का संकलन किया। उन्हीं के पिता, पितामह पराशर, शक्ति आदि हुए हैं। उन्होंने ही महाभारत की रचना की। भगवद्दत्त के मत के अनुसार अन्य इतिहास ग्रन्थों की अपेक्षा महाभारत की अपनी विशिष्टता है। महाभारत के निम्न वचनों को उन्होंने उद्धृत किया है (पृ० ६०-६१)—'प्राचीन काल में कृतयुग में आर्ष्टिषेण गुरुकुल में पढ़ते थे। तब वे न ही विद्या को समाप्त कर सके और न वेदों को ही'। इसी तरह 'वेदैश्चतुर्भिः' इस वचन में भी बहुवचन के आधार पर वेदों का बहुत्व प्रतीत होता है और 'ब्रह्मचर्येण०' इस उक्ति में स्थित एकवचन से वेदों की एकता भी ज्ञात होती है। 'क्षमा वेदाः' 'ऋचो बह्वृच० इत्यादि वचन भी पूर्वोक्त अर्थ के अनुगुण ही हैं। प्रत्येक कल्प में पद, क्रम आदि से युक्त संहिताओं का नियमतः आविर्भाव होता है, अतः इनकी अनादिता में कोई बाधा नहीं है। उसी ऐतिहासिक पुरुष वेदव्यास ने विष्णुपुराण प्रभृति ग्रन्थों को भी बनाया है, इसलिये ये भी ग्रन्थ इतिहास ही माने जायेंगे। उन पुराणों में स्पष्ट ही व्यासकृत वेदों के विभाग का प्रतिपादन किया गया है। इस बात का अपलाप करना भगवद्दत्त के लिये शोभा की बात नहीं है।

भगवद्दत्त ने ही आगे लिखा है—'उस समय (महाराज दुष्यन्त के काल में) भी अथर्ववेद की संहिता पद और क्रम सहित पढ़ी जाती थी। यह उस काल का वर्णन है, जब वेदों की संप्राप्त शाखाएं न बनी थीं, परन्तु जब मन्त्रों के व्याख्यारूप पाठान्तर आर्यावर्त के अनेक गुरुकुलों में प्रसिद्ध थे। उस समय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों की सामग्री भी अनेक आचार्य परम्पराओं में एकत्र हो चुकी थी। इन्हीं वेदों की पाठान्तर आदि व्याख्या होकर आगे अनेक शाखाएं बनीं। तब वे वेद किसी ऋषि प्रवक्ता के नाम से प्रसिद्ध नहीं थे। यही वेद सनातन काल से चले आये हैं। व्यासजी ने अनेक ऋषि-मुनियों की सहायता से उन पाठान्तरों को एकत्र करके वेद-शाखाएं

नामपि वदत्नमुपेयते, तैरेव व्यासेन वेदा विभक्ता इत्युक्ता इत्युच्यते। पुराणेष्वपि नैतद्वैपरीत्येनोक्तम्, वेदश्चतुष्पादासीदिति तत्रोक्तम्। तदर्थस्तु एकस्य वेदस्य चतस्रः संहिता आसन्नित्येव' (पृ० ६१-६२) इति, तत्तु पाश्चात्यमतान्धानुकरणमेव। बेवर-मैक्समूलरादिप्रभावित एव भगवद्दत्तो यत्किञ्चिज्जल्पितवान्। सर्वशाखाविशिष्टवृक्षस्येव सर्वशाखाविशिष्टस्य वस्तुन एव वेदत्वेन वेदस्य नित्यत्वे तच्छाखानामपि नित्यत्वानपायात्। अत एवाद्यत्वे न शाखाव्यतिरिक्ताः केचिद्वेदा उपलभ्यन्ते। सामाजिकाभिप्रेता वेदा अपि शाकल-माध्यंदिन-कौथुम-शौनकशाखात्वेनैव प्रसिद्धाः। महाभाष्यकारैरपि शाखारूपेणैव वेदा उक्ताः। नहि शाखाभ्यो भिन्नाः केचिद्वेदा भाष्यकारैरुक्ताः। मन्त्रब्राह्मणानां च वेदत्वं समारोहेण साधितमेव। नहि पाठान्तरं व्याख्या भवति, सर्वत्र तयोर्भेदस्य प्रसिद्धत्वात्। पाठान्तरैः शाखानिर्माणम्, ब्राह्मणानि निर्मितानीत्येतत्सर्वं निर्मूलमेव।

पुराणानामुद्धरणानि पुराणानां प्रामाण्यचर्चा भगवद्दत्तेनाभ्युपेयते। पुराणेषु स्पष्टमेव वेदानां विभाग उक्तः। तथाहि—

'परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा। युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे॥ भौतिकानां च भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम्। अश्रद्दधानान् निःसत्त्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुषः॥ दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा। सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक्॥ चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्। व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥' (श्रीमद्भा० म० पु० १।४।१४-१९) इत्यादिवचनैरेकस्य वेदस्य विभाग उक्तः।

भगवद्दत्तोऽपि पञ्चमेऽध्यायेऽपान्तरतमस इतिहाससम्बन्धेऽधस्तनं वचनमुद्धरति (पृ० ६३) अहिर्बुध्न्यसंहितायाः—'अथ कालविपर्यासाद् युगभेदसमुद्भवे॥५०॥ त्रेतादौ सत्त्वसङ्कोचाद्रजसि प्रविजृम्भिते। अपान्तरतमा-

बनाई और ब्राह्मण ग्रन्थों की सामग्री को भी क्रम देकर तत्तत् शाखानुकूल उनका संकलन किया। कई लोग ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद कहते थे, अतः उन्होंने यही कहना आरम्भ कर दिया कि व्यासजी ने ही वेदों का विभाग किया। वेदव्यासजी ने तो ब्राह्मण आदि का ही विभाग किया था। वेद तो सदा से चले आये हैं। वस्तुतः पुराणों में भी इसके विपरीत नहीं कहा गया। वहाँ भी यही लिखा है कि वेद आरम्भ से ही चतुष्पाद था, अर्थात् एक वेद की चार ही संहिताएं थीं' (पृ० ६१-६२)। यह पूरा कथन पाश्चात्य मत का अन्धानुकरणमात्र है। वेबर, मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों से प्रभावित होकर भगवद्दत्त मनमाना लिख गये हैं। सभी शाखाओं से विशिष्ट वृक्ष जैसे एक ही है, उसी तरह से सभी शाखाओं से विशिष्ट वेद भी वस्तुतः एक ही है और वह नित्य है। वेद जब नित्य है तो उसकी शाखाएं भी नित्य ही मानी जायेंगी। इसीलिये आजकल शाखाओं से अतिरिक्त कोई वेद उपलब्ध नहीं है। आर्यसमाजियों के अभिप्रेत वेद भी शाकल, माध्यन्दिन, कौथुम, शौनक नाम की शाखाओं के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी शाखारूप में ही वेदों का वर्णन किया है। शाखाओं से भिन्न कोई वेद भाष्यकारों ने नहीं बताये हैं। मन्त्र और ब्राह्मण भाग की वेदता को हमने विस्तार से सिद्ध किया है। पाठान्तर को कोई व्याख्या नहीं कहता। सर्वत्र पाठान्तर और व्याख्या को परस्पर एक दूसरे से भिन्न ही माना गया है। पाठान्तर के आधार पर शाखाओं का निर्माण हुआ, इसके बाद ब्राह्मणों का निर्माण हुआ, इस तरह का पूरा प्रतिपादन सर्वथा निराधार है।

भगवद्दत्त पुराणों का उद्धरण देते हैं और उनको प्रमाण भी मानते हैं। पुराणों में स्पष्ट ही वेदों का विभाग इस तरह से बताया गया है—'भूत और भविष्य के ज्ञाता ऋषि वेदव्यास ने अव्यक्त के प्रवाह में पतित काल के प्रभाव से इस पृथ्वी पर प्रत्येक युग में धर्म के व्यतिक्रम की संभावना को दृष्टि में रख कर और भौतिक पदार्थों की शक्ति का ह्रास देख कर अल्पायु, दुर्बुद्धि, बलहीन, अश्रद्धालु, कुलक्षण मनुष्यों की भावी सृष्टि को अपने दिव्य चक्षुओं से देख कर, सभी वर्णों और आश्रमों के लिये क्या हितकर वस्तु है? इस पर विचार किया और अपनी अमोघ दृष्टि से प्रजा के हितकारक शुद्ध चातुर्होत्र कर्म को देखा और इन यज्ञों के विस्तार के लिये एक ही वेद को चार भागों में विभक्त कर दिया' इस तरह के श्रीमद्भागवत प्रभृति पुराणों में अनेक वचन मिलते हैं, जिनमें कि एक ही वेद के चार विभागों का वर्णन है।

नाम मुनिर्वाक्सम्भवो हरेः ॥५३॥…कपिलश्च पुराणर्षिरादिदेवसमुद्भवः। हिरण्यगर्भो लोकादिरहं पशुपतिः शिवः ॥५४॥ उद्भूत्तत्र धीरूपमृग्यजुःसामसङ्कुलम्। विष्णुसङ्कल्पसम्भूतमेतद्वाच्यायनेरितम् ॥५८॥' एतेन वचनेनाप्ययमर्थः सिद्धयति। 'तेन भिन्नास्तदा वेदा मनोः स्वायंभुवेऽन्तरे' (म० भा० शा० प० ३४९।४२) अत्र भिन्ना वेदा इत्यस्य विभक्ता वेदा इत्येवार्थः। एतावता त्वद्रीत्यापि वेदविभागः सिद्धयत्येव। शाखाविभागः कृत इति तु मूलासंस्पृष्टस्त्वदीयोऽर्थः। मूले तु वेदा भिन्नाः (विभक्ताः) इत्येवोक्तम्। 'एतावता कृष्णद्वैपायनेनापि कदाचिद्विभागः कृतः स्यात्तदा को विरोधः? मुख्यार्थमुपेक्ष्य गौणार्थानुसरणं तु दयानन्दादेव सामाजिकैः शिक्षितम्। तच्च शाब्दन्यायविरुद्धमेव। अन्यच्च सामाजिकानामयं दुश्चिकित्स्यो रोगो यत्ते दयानन्दं कांश्चित्सामाजिकांश्च बहुवचनेन स्मरन्ति व्याहरन्ति च। क्वचित् स्वामिदयानन्दखण्डनमपि कुर्वन्ति, तथापि बहुवचनेनैव स्मरन्ति। अन्यांश्च परमाचार्यानाप्येकवचनेनैव स्मरन्ति।

यदपि च 'महाभारतयुद्धात् कतिचिद्वर्षेभ्यः प्राग् एको ब्रह्मा बभूव तत्पुत्रो वशिष्ठ आसीत्' (पृ० ६४) इत्यादिकम्, तत्तु निर्मूलमेव। पूर्वं तस्य देववरिष्ठत्वोक्तेः। पुराणेभ्यस्तस्य सृष्टिहेतुत्ववर्णनात्। उपर्युद्धृतैरहिर्बुध्न्यसंहितावचनैरयमेव सिद्धान्तः पुष्यति।

भगवद्दत्तप्रभृतयः सामाजिका विद्वांसः सर्वत्रैवार्धजरतीयमनुसरन्ति। स्वानुकूलानि वाक्यानि प्रमाणत्वेनोरीकुर्वन्तोऽपि विरुद्धान्यप्रमाणानि क्षेपकाणि वा ब्रुवन्ति। अत्र तु प्रामाण्येनाभिमताद्वायुपुराणादेव तदुद्धृतान्येव वचनानि (पृ० ६५,६७) तन्मतं खण्डयन्ति। 'वेदद्रुमश्च यं प्राप्य सशाखः समपद्यत ॥' (वायु० पु० १।४५), 'भवन्तो बहुलाः

भगवद्दत्त अपने ग्रन्थ के पांचवें अध्याय के आरम्भ में अपान्तरतमा का इतिहास बताते हुए अहिर्बुध्न्यसंहिता के निम्न वचन को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं (पृ० ६३)—'कालचक्र के परिवर्तन के कारण युगभेद की प्रवृत्ति होने पर त्रेता युग में सत्त्व गुण का जब संकोच और रजोगुण की वृद्धि हुई तो उस समय वाक् का पुत्र वाच्यायन अपरनाम अपान्तरतमा उत्पन्न हुए थे। विष्णु की आज्ञा से अपान्तरतमा, कपिल और हिरण्यगर्भ आदि ने क्रमशः ऋग्यजुःसाम लक्षण वेद, सांख्य शास्त्र और योग आदि का विभाग किया'। इस वचन से भी हमारे द्वारा प्रतिपादित मत की ही पुष्टि होती है। 'अपान्तरतमा ऋषि वेदाचार्य अथवा जिनको प्राचीनगर्भ कहा जाता है, उन्होंने मनु के स्वायम्भुव के अन्तर में वेदों का विभाग किया' इस महाभारत के वचन का भी अभिप्राय यही है कि वेदों का विभाग किया। इस तरह से आपके द्वारा उद्धृत प्रमाणों के आधार पर भी वेदों का विभाग सिद्ध हो जाता है। उक्त वचन का 'शाखाओं का विभाग किया' इस तरह का अर्थ मूल से बिलकुल सम्बद्ध नहीं है। मूल में 'वेदों का विभाग किया' केवल इतना ही कहा गया है। इसी तरह से कृष्ण द्वैपायन ने भी किसी समय वेदों का विभाग किया हो, तो इनमें विरोध का प्रसङ्ग ही कहाँ उठता है? मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ को स्वीकार करने की बात आर्यसमाजियों ने स्वामी दयानन्द से ही सीखी है। यह बात शब्दशास्त्र के नियम के विरुद्ध है। आर्यसमाजियों की यह बड़ी भारी लाइलाज बीमारी है कि वे लोग स्वामी दयानन्द और कुछ अन्य आर्यसमाजियों को बहुवचन से सम्बोधित करते हैं। ये लोग स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन करते समय भी उनको बहुवचन से ही सम्बोधित करते हैं। इसके विपरीत अन्य महान् आचार्यों को एकवचन से सम्बोधित करते हैं।

भगवद्दत्त ने आगे कहा है कि—'भारत युद्ध से कई सौ वर्ष पहले भी एक ब्रह्मा थे। उनके पुत्र का नाम वसिष्ठ था' (पृ० ६४) इस तरह का सारा कथन भी निर्मूल है, क्योंकि अभी यहीं पर कुछ पहले ब्रह्मा की देवताओं में श्रेष्ठता का वर्णन किया जा चुका है। पुराणों में ब्रह्मा को ही सृष्टि का कर्ता माना गया है। ऊपर उद्धृत अहिर्बुध्न्यसंहिता के वचनों से भी यही बात पुष्ट होती है।

भगवद्दत्त प्रभृति सभी सामाजिक विद्वान् सब जगह 'आधा तीतर आधा बटेर' वाली कहावत को चरितार्थ करते हैं। ये लोग अपने अनुकूल वाक्यों को तो प्रमाण रूप में स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु विरोधी वचनों को अप्रमाण अथवा क्षेपक मान लेते हैं। यहाँ पर भगवद्दत्त के द्वारा प्रमाण रूप से स्वीकृत वायुपुराण आदि के वचनों से ही उनका मत खण्डित हो जाता है। जैसे कि— जिस वेदव्यास को प्राप्त कर यह वेदरूपी वृक्ष नाना शाखाओं वाला हो गया', 'आपके शिष्य-प्रशिष्य अनेक हों और वेद का आप लोग विस्तार करें',

सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम्' ।।४४।। (शा० प० ३२७), 'शैलादस्मान् महीं गन्तुं काङ्क्षितं नो महामुने। वेदाननेकधा कर्तुं यदि ते रुचितं प्रभो ।।४।।' (म० भा०, शा० प० ३२८) इति । महर्षेर्व्यासस्य जीवनकालसम्बन्धेऽपि तदीयकल्पना कल्पनामात्रमेव, महर्षेस्तस्य ततोऽप्यधिकजीवित्वात् ।

भगवद्दत्तोद्धरणानुसारेणाश्वघोषोऽपि तथैवाह—'सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वम् । व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वशिष्ठः कृतवान्न शक्तिः ।।'" (बुद्धचरिते १।४७) (पृ० ६९) । अत्रायं भगवद्दत्तो व्यासमेव सारस्वतमाह, तत्तु न युक्तम्, तस्य नष्टवेदद्रष्टृत्वेन पृथङ्निर्देशात् । व्यासस्य तु वेदविभाजकत्वमाह सः ।

पुराणानुसारेणाऽष्टाविंशतिसंख्याका व्यासाः कल्पभेदेन भवन्ति, पराशरादयश्च कल्पान्तरे व्यासा आसन्नित्यर्थेन सङ्गतिसिद्धेः । तेन न व्यासकाल एव तत्पित्रादयो व्यासा आसन् । महाभाष्यकारोऽपि वेदा बहुधा भिन्ना इत्याह पस्पशायाम् ।

'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि' (नि० १।१७) अत्र चरणशब्देन शाखा गृह्यते । यथा पदान्येव संहन्यमानानि संहिता भवति । तस्मात् पदान्येव प्रकृतिः संहिता विकारः । तथैव पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि, सर्वेषां चरणानां पार्षदानि सर्वेषां चरणानां सर्वशाखान्तराणामित्यर्थ इति दुर्गाचार्यः । पार्षदानि प्रातिशाख्यानि । स्वचरणपर्षद्येव यैः प्रतिशाखानियतमेव पदावगृह्यप्रगृह्याप्रगृह्यक्रमसंहितास्वरलक्षणमुच्यते तानीमानि पार्षदानि । तस्यां तस्यां शाखायां शाखीयसमूहरूपायां पर्षदि पदादिस्वरान्तं नियमाः प्रातिशाख्येषु प्रसिद्ध्यन्ति ।

'शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' (ब्र० सू० १।२।२०) अत्राप्युभयेऽपि शाखिनः काण्वा माध्यन्दिनाश्चान्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते । 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (बृ० ३।७।२२) इति काण्वाः, 'य आत्मनि तिष्ठन्' (श० १४।६।७।३०) इति माध्यन्दिनाः ।

'हे महामुने व्यासजी, अब हम इस पर्वत से पृथ्वी पर जाना चाहते हैं और यदि आपकी रुचि हो तो वेदों की अनेक शाखाएं आप बनायें' (पृ० ६५-६७) । महर्षि व्यास के जीवन काल के सम्बन्ध में भी भगवद्दत्त की कल्पना (पृ० ६७-६९) कोरी कल्पना ही है, क्योंकि महर्षि व्यास अधिक काल पर्यन्त जीवित रहे हैं ।

भगवद्दत्त के कथनानुसार अश्वघोष भी व्यास के विषय में उनके ही मत का प्रतिपादन करते हैं । बुद्धचरित में अश्वघोष ने कहा है कि—'जो काम वसिष्ठ और शक्ति न कर सके, वह उन्हीं के वंशज व्यास ने किया । सारस्वत व्यास ने ही वेद की शाखाओं का प्रवचन किया' । 'यहाँ पर भगवद्दत्त (पृ० ६९) व्यास को ही सारस्वत मानते हैं, यह ठीक नहीं है । क्योंकि नष्ट हुए वेदों के द्रष्टा के रूप में उनका अलग से निर्देश है । अश्वघोष ने भी वेदों का विभागकर्ता ही व्यास को माना है ।

पुराणों के अनुसार कल्प के भेद से २८ व्यास होते हैं । पराशर प्रभृति भी कल्पान्तर में व्यास थे, इस अर्थ से उनकी सङ्गति बैठ जाती है । इससे व्यास के समय में ही उनके पिता, पितामह प्रभृति भी व्यास नहीं हो सकते । महाभाष्यकार पतंजलि ने भी पस्पशाह्निक में वेदों के अनेक विभागों की बात कही है ।

'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि' इस निरुक्त वचन में चरण शब्द से शाखा का ग्रहण किया जाता है । जैसे कि पदों के इकट्ठा हो जाने को संहिता कहते हैं, इस लिये पद ही प्रकृति है और संहिता विकार है, उसी तरह से सब चरणों में पार्षद पदप्रकृति है । यहाँ पर चरण शब्द का अर्थ शाखान्तर किया जाता है, यह दुर्गाचार्य का कथन है । पार्षद प्रातिशाख्य को कहते हैं । इसका विग्रह इस तरह से है कि अपने चरण की परिषद् में ही अर्थात् जो अपनी शाखा में ही नियत रहकर पदों का अवग्रह आदि करके उनके क्रम, संहिता, स्वर आदि का लक्षण बताते हैं, उनको पार्षद अर्थात् प्रातिशाख्य कहते हैं । उस-उस शाखा में, अर्थात् शाखासमूहरूप पर्षत् में जिसकी सहायता से पदादि स्वरान्त नियमों का विश्लेषण किया जाता है, वह शास्त्र प्रातिशाख्य के नाम से प्रसिद्ध है ।

'शारीरश्चोभयेऽपि०' इस बादरायण सूत्र में काण्व और माध्यन्दिन दोनों ही शाखाओं के अध्येतागण अन्तर्यामी से भिन्न इस शरीर आत्मा को पृथिव्यादि अधिष्ठान के समान और नियम्य मानते हैं । जैसे कि 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' यह काण्व श्रुति है और 'य आत्मनि तिष्ठन्' यह माध्यन्दिन श्रुति है ।

'अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्' (ब्र० सू० ३।३।५५)। अर्थात् 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१), 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१), 'उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्तम्', 'इयमेव पृथिवी', 'अयं वाव लोकः', 'एषोऽग्निश्चितः' इत्येवमाद्या य उद्गीथादिकर्माङ्गावबद्धाः प्रत्ययाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विहितास्ते तत्तच्छाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु भवेयुरथवा सर्वशाखागतेष्विति विशयः। तत्र स्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु विधीयेरन्निति। कुतः? सन्निधानात्। सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां सन्निकृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाकाङ्क्षादिनिवृत्तेः। तदतिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणाभावात्। तस्मात् प्रतिशाखं व्यवस्था। एवं प्राप्ते ब्रवीति—'अङ्गावबद्धास्तु' इति। तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति। नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवतिष्ठेरन्, अपि तु सर्वशाखास्वनुवर्तेरन्। कुतः? उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात्। सन्निधानात्तु श्रुतिर्बलीयसी। न च सामान्याश्रयः प्रत्ययो नोपपद्यते, तस्मात् स्वरादिभेदे सत्यप्युद्गीथत्वाद्यविशेषात् सर्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिष्वेवंजातीयकाः प्रत्ययाः स्युः (शाङ्करभाष्यम्)। अत्र प्रसिद्धवेदेष्वेव शाखापदप्रयोगः। चरणपदप्रयोगोऽपि वेदशाखास्वेव दृश्यते, गृह्यग्रन्थानां प्रातिशाख्यलक्षणवत् प्रतिचरणं पाठव्यवस्थोपलभ्यते। तद्यथा—'वासिष्ठं बह्वृचैरेव गृह्यते, शङ्खलिखितोक्तं च वाजसनेयिभिः' (१।३।११) इति। तन्त्रवार्त्तिकेऽपि चरणपदेन शाखैव गृह्यते। 'अनूचो माणवे बह्वृचश्चरणाख्यायाम्' (पा० सू० ५।४।१५३) इति महाभाष्येऽपि तथैव।

'अनुवादे चरणानाम्' (पा० सू० २।४।३)। 'चरणानां शाखाध्येतृवाचिनामित्यर्थः' इति तत्त्वबोधिनी। चरणानां द्वन्द्व एकवत् स्यात् सिद्धस्योपन्यासे—उदगात् कठकालापं प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।

'अङ्गावबद्धास्तु०' इस बादरायण सूत्र का अभिप्राय यह है कि 'ओमित्येतदक्षरमुपासीत' इत्यादि ऊपर उद्धृत श्रुतियों में उद्गीथ प्रभृति कर्मों से संबद्ध विधियाँ प्रत्येक वेद की शाखा के अनुसार पृथक् पृथक् विहित हैं। ये विधियाँ उस उस शाखा में प्रतिपादित उद्गीथ प्रभृति के ही अंग होंगे अथवा सभी शाखाओं में प्रतिपादित उद्गीथ आदि के? इस संशय के उपस्थित होने पर पूर्वपक्षी का मत इस तरह से उपस्थित किया गया है कि सन्निधि के आधार पर अपनी शाखा में प्रतिपादित उद्गीथ आदि के ही ये अंग होने चाहिये। सामान्य रूप से विहित कर्मों के संबन्ध में विशेष आकांक्षा के उपस्थित होने पर सन्निकृष्ट स्वशाखागत कर्मों से उनकी विशेष आकांक्षा की निवृत्ति हो जाती है। उसका उल्लंघन कर शाखान्तर विहित विशेष कर्मों से उसका संबन्ध जोड़ने में कोई सहायक कारण सामग्री उपलब्ध नहीं है। इसलिये प्रत्येक शाखा में विहित इस तरह के कर्मों की केवल उस शाखा में वर्णित विधियों से ही अंगता बन सकती है। पूर्वपक्षी के इस मत का खण्डन करने के लिये ही इस सूत्र की प्रवृत्ति हुई है। इस सूत्र में विद्यमान 'तु' शब्द उक्त पूर्वपक्षी के मत का निराकरण आरंभ करने के अभिप्राय से उक्त है। ये कर्म प्रत्येक वेद की अपनी अपनी शाखा तक ही सीमित नहीं रहेंगे, अपितु सभी शाखाओं में वर्णित कर्मों से इनकी अंगता मानी जायगी, क्योंकि उद्गीथ आदि श्रुति सभी शाखाओं में समान है। सन्निधि की अपेक्षा श्रुति बलवती मानी जाती है। सर्व शाखा सामान्य उद्गीथ आदि की प्रतीति न होती हो, ऐसी बात नहीं है। इसलिये स्वर आदि के भेदों की विद्यमानता में भी उद्गीथ आदि कर्मों का स्वरूप सभी शाखाओं में समान है, अतः सर्वशाखा गत उद्गीथ आदि में इस तरह की विधियाँ संबद्ध रहेंगी। इस सूत्र की शांकरभाष्य संमत व्याख्या यही है। यहाँ पर वेद के नाम से प्रसिद्ध संहिता ग्रन्थों के लिये भी शाखा पद का प्रयोग किया गया है। चरण पद का प्रयोग भी वेद की शाखाओं के लिये ही किया गया है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों की ही तरह गृह्यसूत्र ग्रन्थों में भी प्रत्येक चरण के अनुसार पाठ की व्यवस्था उपलब्ध होती है। जैसा कि तन्त्रवार्तिक में बताया गया है कि 'वसिष्ठ सूत्र को ऋग्वेदी ही प्रमाण मानते हैं और शंखलिखित सूत्र को वाजसनेयी'। यहाँ पर चरण पद से शाखा का ही ग्रहण किया है। 'अनूचो माणवे' इत्यादि महाभाष्य में भी इसी बात का समर्थन मिलता है।

'अनुवादे चरणानाम्' इस पाणिनि सूत्र में विद्यमान चरण शब्द का अर्थ तत्त्वबोधिनीकार ने शाखा का अध्येता किया है। सिद्ध का उपन्यास करने पर चरणों का द्वन्द्व एकवत् होता है, जैसे कि उदगात् कठकालापम्, प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्, इन उदाहरणों में कठकालापम्, कठकौथुमम् का द्वन्द्व एकवचन में पर्यवसित हो जाता है।

'अव्ययात्त्यप्' (पा० सू० ४।२।१०४), 'गहादिभ्यश्च' (पा० सू० ४।२।१३८), 'गोत्रचरणाद्वुञ्' (पा० सू० ४।३।१२६), वा० 'चरणाद्धर्माम्नाययोः' इति वक्तव्यम्। उदाहरणम्—(गो० औपगवकम्, च० काठकम्)। 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' (पा० सू० ४।१।६३) इत्यत्र महाभाष्ये जातिलक्षणम्—'गोत्रं च चरणैः सह' इति व्याख्यायां गोत्रमित्यपत्यमित्यर्थः। चरणशब्देन शाखाध्यायिनो गृह्यन्ते इति कैयटः।

'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यत्र वार्त्तिकम्—'चरणाद्धर्माम्नाययोः'। अत्र महाभाष्यम्—'चरणाद्धर्माम्नाययोरिति वक्तव्यम्। कठानां धर्म आम्नायो वा काठकम्। कालापकम्। मौदकम्। पैप्पलादकम्। 'चरणे ब्रह्मचारिणि' (पा० सू० ६।३।८६) अत्र सूत्रे चरणशब्दः शाखावाचीति नागेशः। चरणः शाखेति सिद्धान्तकौमुदी। अत्र सूत्रे महाभाष्यम्—'अत्र किं निपात्यते। ब्रह्मण्युपपदे समानपूर्वे व्रते कर्मणि चरेर्णिनिर्व्रतलोपश्च। ब्रह्मण्युपपदे समानपूर्वे व्रते कर्मणि चरेर्णिनिः प्रत्ययो व्रतलोपश्च निपात्यते। समाने ब्रह्मणि व्रतचारीति सब्रह्मचारी।

'गहादिभ्यश्च' (पा० सू० ४।२।१३८) अत्र वार्त्तिकम्—चरणसम्बन्धेन निवासलक्षणोऽण्। भाष्यम्—चरणसम्बन्धेन निवासलक्षणोऽण् वक्तव्यः। त्रयः प्राच्याः। त्रय उदीच्याः। त्रयो माध्यमाः। सर्वे निवासलक्षणाः। अत्र कैयटः—पृथ्वीमध्यं निवास एषां चरणानामित्यत्रार्थे माध्यमाश्चरणा इति भवतीत्यर्थः। चरणाः कठादयः। भाष्यम्—गहादिषु पृथिवीमध्यस्य मध्यमभावो वक्तव्यः। पृथिवीमध्ये भवो मध्यमीयः। 'शेषाद्विभाषा' (पा० सू० ५।४।१५४) अत्र भाष्यम्—अनृचो माणवे बह्वृचश्चरणाख्यायाम्।

यदुक्तम्—'भारद्वाजसत्याषाढादिशाखाः सौत्रशाखाः, नैताश्चरणेषु परिगण्यन्ते, एतासां स्वतन्त्रसंहिताब्राह्मणाभावात्। अतश्चरणशब्दापेक्षया किञ्चित् सङ्कोचेन शाखाशब्दप्रवृत्तिः' (पृ० ७१) इति, तदपि तुच्छम्,

'अव्ययात् त्यप्', 'गहादिभ्यश्च', 'गोत्रचरणाद् वुञ्', 'चरणाद्धर्माम्नाययोः' इत्यादि सूत्रों और वार्तिक में भी इसी तरह एकवचन का विधान है, जैसे कि औपगवकम्, काठकम् इत्यादि। 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इस पाणिनि सूत्र के महाभाष्य में 'गोत्रं च चरणैः सह' इसकी व्याख्या में जाति का लक्षण गोत्र अर्थात् अपत्य किया गया है। यहां पर कैयट का कथन है कि चरण शब्द शाखा के अध्येताओं के लिये प्रयुक्त है।

'तस्येदम्' इस पाणिनि सूत्र पर 'चरणाद्धर्माम्नाययोः' यह वार्तिक है। इसकी महाभाष्यकार ने इस तरह से व्याख्या की है—'यहां पर चरणवाची शब्दों से धर्म और आम्नाय के अर्थ में प्रत्यय का विधान मानना चाहिये। जैसे कि कठ चरण के अध्येताओं का धर्म अथवा आम्नाय काठक कहलावेगा। इसी तरह से कालापक, मौदक, पैप्पलादक शब्दों की भी निष्पत्ति और अर्थ समझना चाहिये। 'चरणे ब्रह्मचारिणि' इस सूत्र में चरण शब्द शाखा का बोधक है, यह नागेश का कथन है। सिद्धान्तकौमुदी में भी इसका यही अर्थ किया गया है। इस सूत्र का महाभाष्य इस तरह से है—'इस सूत्र में किसका निपात किया जाता है। ब्रह्म अर्थात् वेद वाचक शब्द के उपपद में रहने पर व्रत अर्थात् कर्म की समानता के बोधन में णिनि प्रत्यय का और व्रत के लोप का विधान निपात द्वारा सिद्ध किया जाता है। जैसे कि समान ब्रह्म अर्थात् वेदशाखा में अध्ययन के व्रत का आचरण करने वाला 'सब्रह्मचारी' कहलाता है'।

'गहादिभ्यश्च' इस सूत्र पर वार्तिक है—'चरणसंबन्धेन निवासलक्षणोऽण्'। इस पर भाष्य इस प्रकार से है—'चरण के संबन्ध से निवास लक्षण अण् प्रत्यय का विधान करना चाहिये। त्रयः प्राच्याः, त्रय उदीच्याः, त्रयो माध्यमाः—इन सब उदाहरणों में यह निवास लक्षण अण् प्रत्यय विहित है'। यहां पर कैयट कहते हैं कि पृथिवी का मध्यभाग जिन चरणों का निवास स्थान है, वे चरण माध्यम कहलाते हैं, इसी अर्थ में यहां पर प्रत्यय का विधान है। कठ आदि चरण कहलाते हैं। भाष्य में भी कहा गया है—गहादि गण में पृथिवी मध्य के स्थान में मध्यम भाव का विधान करना चाहिये। पृथिवी के मध्य भाग से जो पैदा होता है, उसको 'मध्यमीय' कहते हैं। 'अनृचो माणवे बह्वृचश्चरणाख्यायाम्' यह भाष्य 'शेषाद्विभाषा' इस सूत्र पर है।

यहां पर भगवद्दत्त कहते हैं कि—'अनेक शाखाएं केवल सौत्र शाखाएं हैं। यथा—भारद्वाज, सत्याषाढ आदि शाखाएं। इन्हें कोई विद्वान् चरणों में नहीं गिनता। न इनकी स्वतन्त्र संहिता है और न ब्राह्मण। अतः चरण शब्द की अपेक्षा शाखा शब्द कुछ

तासां संहितादिविलोपेन तदनुपलब्धेः। 'पृष्टश्च गोत्रचरणं स्वाध्यायं ब्रह्मचारिणम्' (शान्तिपर्व १७०।२ कुम्भघोण-संस्करणम्)। अत्रापि चरणपदेन शाखैव गृह्यते। स्वाध्यायपदेन कियदध्ययनमित्येव प्रश्नः। काः शाखा इति प्रश्ने वेदावयवा एवेत्युत्तरम्।

यदुक्तम्—'शाखानां वेदत्वेऽनेकसूत्राणां वेदत्वापत्तिः' (पृ० ७२) इति, तन्न, तेषां सूत्रत्वप्रसिद्ध्यैव मन्त्र-ब्राह्मणानुपलब्धेश्च वेदत्वानुपपत्तेः। येषां सूत्राणां मन्त्रसंहिताब्राह्मणानि चोपलभ्यन्ते, न तानि सूत्राणि वेदत्वेन गण्यन्ते, तथैव सत्याषाढादिसूत्राणामपि वेदत्वानापत्तिः समानैव। नृसिंहतापिन्यादीनां तु वेदत्वमेव, मौक्तिकोपनिषदि परिगणन-दर्शनात्।

यदुक्तम्—'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति' इत्यत्राङ्गानि शाखाश्च वेदेभ्यः पृथक्कृताः' (पृ० ७२) इति, तदतीव तुच्छम्, 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥' इति मन्त्रे छन्दोभ्यः पृथगृगादिनिर्देशेन तेषामछन्दस्त्वेनावेदत्वापत्तेः। तस्माद् ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन (ब्राह्मणा आगता वशिष्ठोऽप्यागत इति विशेषाभिप्रायेण) यथा वशिष्ठस्य पार्थक्येनोक्ति-स्तथैव प्रश्नेऽपि शाखानां पृथगुल्लेखः। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (ब० २।४।१०) इत्यादिस्थलेषु ऋग्वेदादिवत् सूत्रश्लोकादीनां ब्राह्मणविशेषाणामपि परमेश्वरनिःश्वसितत्वेन नित्यत्वमपौरुषेयत्वं चोक्तम्। बृहज्जा-बालोपनिषद्यपि तदभिप्रायेणैव जाबालोपनिषदध्ययनेन ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते स शाखा अधीत इत्युक्तम्।

संकुचित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है' (पृ० ७१-७२) यह सब व्यर्थ की बकवास है। इन शाखाओं की संहिताएँ अब लुप्त हो गई हैं, इसलिये वे अब उपलब्ध नहीं होती। अर्थात् इन शाखाओं के भी संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ कभी विद्यमान थे। 'पृष्टश्च गोत्रचरणं' इस महाभारत वचन में बताया गया है कि 'राक्षस ने उस ब्राह्मण से उसका गोत्र, चरण, शाखा और ब्रह्मचर्य पूछा। स्वाध्याय का अर्थ यहाँ शाखा प्रतीत होता है और चरण से यह पृथक् गिना गया है' (पृ० ७२)। भगवद्दत्त का यह प्रतिपादन भी गलत है, यहाँ पर भी चरण पद से शाखा का ही ग्रहण होता है। यहाँ पर स्वाध्याय पद से यही पूछा गया है कि आपने कितना अध्ययन किया। किन शाखाओं का अध्ययन किया? इस प्रश्न के उत्तर में वेद के अवयवों को ही गिनाना पड़ेगा।

कहा गया है कि—'यदि शाखाएँ वेदावयव ही मानी जाएँ तो अनेक सूत्र ग्रन्थ भी वेद बन जायेंगे' (पृ० ७२), यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि सूत्र ग्रन्थ इसी नाम से प्रसिद्ध हैं और इनके मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग भी उपलब्ध नहीं होते, अतः इनको वेद नहीं कहा जा सकता। जिन सूत्रों के मन्त्र, संहिता और ब्राह्मण भाग उपलब्ध होते हैं, वे सूत्र भी वेद रूप से परिगणित नहीं होते। इसी तरह से सत्याषाढ प्रभृति सूत्र ग्रन्थ भी वेद नहीं माने जायेंगे, यह ठीक ही है। नृसिंहतापिनी प्रभृति उपनिषद् तो वेद माने ही जायेंगे, क्योंकि मौक्तिकोपनिषद् में वह परिगणित है।

कहा गया है कि 'ऋक्, यजुः, साम और अथर्व चार वेद हैं। ये अंगों के साथ और शाखाओं के साथ चार पाद होते हैं' इस उपनिषद् के प्रमाण पर यहाँ शाखाओं को वेदों से पृथक् कर दिया गया है' (पृ० ७२) यह कथन भी एकदम गलत है, क्योंकि यदि हम ऐसा मानें तो 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः' इस मन्त्र में छन्दस् से पृथक् ऋगादि का निर्देश होने में वे छन्द नहीं माने जायेंगे और फलतः वे वेद भी न माने जा सकेंगे। इसलिये ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय (ब्राह्मण आ गये साथ ही वसिष्ठ भी आ गये हैं) के अनुसार, जैसे उक्त न्याय में विशेष अभिप्राय से वसिष्ठ का अलग से निर्देश किया जाता है, उसी तरह से प्रकृत स्थल में भी शाखाओं का अलग उल्लेख विशेष अभिप्राय से किया गया गया है। 'इस महान् भूत ब्रह्म के निःश्वासभूत यह ऋग्वेद आदि हैं' इत्यादि श्रुतियों में ऋग्वेद आदि की तरह सूत्र, श्लोक प्रभृति ब्राह्मण वचन भी परमेश्वर के निःश्वासभूत हैं, अतः वे भी नित्य और अपौरुषेय ही माने जायेंगे। बृहज्जाबालोपनिषद् में भी इसी अभिप्राय से 'जाबालोपनिषद् के अध्ययन से ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद के अध्ययन का और शाखाओं के अध्ययन का फल मिलता है' इस तरह से शाखा का पृथक् ग्रहण किया गया है।

अत्रैवं ज्ञातव्यम्—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (श० ११।५।६।३) इति वचनेनाधीयते गुरुपारम्पर्येणेत्यध्यायः, स्वस्याध्यायः स्वाध्यायः स्वशाखीयो वेदः, तत्सम्बन्धिन्यो वेदान्तरशाखाश्च ऋक्सामयजुरथर्वाङ्गिरसादिशब्देनोच्यन्ते। शेषास्तु शाखाः शाखाशब्देनोच्यन्ते। अन्यथा शाखाभ्यो भिन्ना वेदा उपलभ्येरन्। न च कैश्चिन्महर्षिभिः शाखाभ्यो भिन्ना वेदा उच्यन्ते। सामाजिकवेदा अपि माध्यन्दिनादिशाखात्वेनैव प्रसिद्धाः।

यत्तु—'नहि मैत्रायणी शाखा काठकस्यात्यन्तविलक्षणा' (वालक्रीडा १।७) इति विश्वरूपवचनेन यदि शाखा वेदाः स्युस्तदा मैत्रायणीशाखाया अत्यन्तविलक्षणत्वनिषेधो नोपपद्यते' (पृ० ७३) इति कृत्वा शाखानां वेदभिन्नत्वसाधनम्, तदेतत् कुशकाशावलम्बनमात्रम्, शाखानां वेदत्वेऽप्यनेकसाधर्म्येणात्यन्तविलक्षणत्वनिषेधे बाधाभावात्। यथा ऋग्यजुषादिगतपुरुषसूक्तानामत्यन्तवैलक्षण्याभावेऽपि स्वतन्त्रवेदत्वमिति तद्वत्। 'सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः। पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा॥' (वायुपु० ६१।५९) (पृ० ७३) इति वचनमपि न नः प्रतिकूलम्, पुरुषसूक्तानामिवैकार्थत्वेऽपि पाठभेदेन पृथग्भूतत्वस्येव शाखानामेकार्थत्वेऽपि पाठभेदेन पृथक्त्वोपपत्तेः।

किञ्च, पुराणसंहितास्वपि परमतात्पर्यस्यैक्येऽपि यथाऽवान्तरा अनेके कर्मव्रतोपासनाकथाभेदाः सन्ति, तथैव शाखास्वप्यवान्तरा अनेके भेदाः सन्ति। काण्वमाध्यन्दिनादिमन्त्रब्राह्मणेषु तैत्तिरीयादिमन्त्रब्राह्मणेष्वपरिगणिता भेदाः सन्त्येव। अत उक्तवचनेनापेक्षिकमेवैक्यं मन्तव्यम्। अत एव पाठभेदेन शाखा निर्मिता इति बालजनप्रतारणमेव। पद-क्रम-जटा-मालादिविकृतिभिः शुद्धपाठरक्षणायैव परमप्रयत्नवत्सु वैदिकधौरेयेषु वेदेषु पाठभेदकल्पना पाश्चात्य-

यहाँ पर यह समझ लेना चाहिये कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस शतपथ श्रुति में निर्दिष्ट स्वाध्याय शब्द—जो गुरु-परम्परा से पढ़ा जाता है, उसको अध्याय कहते हैं, अपना अध्ययन अर्थात् अपनी शाखा का अध्ययन स्वाध्याय है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वाध्याय शब्द से अपनी शाखा वाला वेद कहलाता है। अपनी शाखा से संबद्ध अन्य वेदों की शाखाएँ ऋक्, साम, यजु और अथर्वा-गिरस् प्रभृति शब्दों से कही जाती हैं। अन्य शाखाएँ केवल 'शाखा' पद से अभिहित होती हैं। यदि हम ऐसा न मानें तो शाखाओं से भिन्न वेदों की उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु किसी भी महर्षि ने शाखाओं से भिन्न वेदों की सत्ता के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। सामाजिकों के अभिप्रेत वेद भी माध्यन्दिन प्रभृति शाखाओं के नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

'इसी प्रकार यदि सब शाखाएं वेदावयव ही होतीं, तो याज्ञवल्क्य स्मृति की वालक्रीड़ा टीका में विश्वरूप यह न लिखते कि—'मैत्रायणी शाखा काठक से बहुत भिन्न नहीं है' (पृ० ७३)। भगवद्दत्त ने इस तरह से शाखाओं को वेद से भिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यह भी बाढ़ में बहते व्यक्ति के लिये तिनके का सहारा लेने की तरह है, क्योंकि शाखाओं को वेद मानने में और अनेक समानताओं के आधार पर इनमें अत्यन्त विलक्षणता का निषेध करने में कोई बाधा नहीं है। जैसे ऋग्वेद और यजुर्वेद प्रभृति में विद्यमान पुरुष सूक्त में अत्यन्त विलक्षणता न होने पर भी इनको स्वतन्त्र माना जाता है, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये। भगवद्दत्त द्वारा उद्धृत—'उस चतुष्पाद एक पुराण की अनेक संहिताएं बनीं। उनमें पाठान्तरों के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं था। यह पाठान्तरों का भेद वैसा ही था, जिसके कारण कि वेदशाखाएं बनीं हैं' (पृ० ७३) वायुपुराण का यह कथन भी हमारे सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं पड़ता, पूर्वोक्त विभिन्न वेदों में विद्यमान पुरुषसूक्त मन्त्रों का अर्थ यद्यपि एक ही है, किन्तु पाठभेद के कारण वे अलग-अलग हैं, उसी तरह से सभी शाखाओं के मन्त्रों के अर्थ यद्यपि एक ही हैं, तो भी पाठभेद के आधार पर इनमें भिन्नता मानी जायगी।

दूसरी बात पुराणों की विभिन्न संहिताओं में परम तात्पर्य की एकता रहने पर भी जैसे कर्म, व्रत, उपासना आदि के प्रतिपादक अनेक अवान्तर तात्पर्य माने जाते हैं, उसी तरह से वेदों की शाखाओं में भी अनेक अवान्तर भेद विद्यमान हैं। काण्व और माध्यन्दिन प्रभृति शाखाओं के मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग में तथा तैत्तिरीय प्रभृति शाखाओं के मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग में अपरिगणित भेद विद्यमान हैं। अतः उक्त वचन से आपेक्षिक एकता का ही प्रतिपादन किया जा सकता है। इस तरह से पाठभेद के आधार पर शाखाओं के निर्माण की बात अबोध व्यक्तियों को ठगने के लिये ही कही गई है। पद, क्रम, जटा, माला प्रभृति विकृतियों के

लाङ्गूलानामेव शोभते। वाल्मीकीये रामायणे च 'हृदयेष्ववतिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम्' (अयो० ४५।२५) इति। 'व्याख्यानार्थमेव पाठभेदाः कृताः' (पृ० ७३) इत्यपि वालभाषितम्, व्याख्यानार्थं मूलपाठेषु नानुन्मत्तः कश्चित् पाठभेदं करोति, न वा तथा वक्ति।

यदुक्तम्—'पुराणवचनानि तदेव समर्थयन्ते। यथा—'प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः।' (वायुपुराणे ६१।७५) अत्र प्रजापतेः कुलपरम्पराप्राप्ता नित्या श्रुतिः शाखास्तु तद्विकल्पा एव' (पृ० ७३) इति, तदतीव मन्दम्, श्लोकस्यार्थान्तरप्रतिपादकत्वात्। प्रजापतौ भवा प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या। तेन देवमनुष्यादिगतश्रुत्यनित्यत्वेऽपि न हानिः। वहुधा भिन्नाः शाखास्तु यथाकालं भिद्यन्ते लुप्यन्ते च। यथाद्यत्वे ऋग्वेदादीनामनेकाः शाखा लुप्ताः। पञ्चदशशाखा याज्ञवल्क्येनाविर्भूताः। एते शाखाभेदाः प्रजापतिहृदयस्थश्रुतेरेव विकल्पा भेदा इत्यर्थः।

'तेन प्रोक्तम्' (पा० सू० ४।३।१०१) इति सूत्रे काशिकाविवरणपञ्जिकाकर्तुर्जिनेन्द्रबुद्धेः 'तेन व्याख्यानं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते' (पृ० ७४) इति प्रोक्तस्य व्याख्यानमपि न सिद्धान्तप्रतिकूलम्, किन्तु त्वत्प्रतिकूलमेव। मूलवेदत्वेन तवाभिमताः कौथुमादिशाखा अपि व्याख्यातत्वेन पौरुषेयत्वमापद्येरन्।

सामाजिकास्तु पुराणानां प्रामाण्यं नाभ्युपगच्छन्ति। भगवद्दत्तः स्वार्थसिद्धये तेषां प्रामाण्येऽर्धजरतीयमनुसरति। स्वाभीष्टमङ्गीकरोति विपरीतं मुञ्चति। तथाहि वायुपुराण एवोनषष्टितमेऽध्याये—'प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते' (५६) इति वचनमस्ति। तेन प्रतिमन्वन्तरमन्याऽन्या श्रुतिर्निर्मीयत इत्युच्यते। अत एव—'ऋचो यजूंषि सामानि यथावत्प्रतिदैवतम्। आभूतसम्प्लवस्थायि वर्ज्यैकं शतरुद्रियम् ॥५७॥' शतरुद्रियं वर्जयित्वा प्रतिदैवत-

आधार पर शुद्ध पाठ की रक्षा में परम प्रयत्न करने वाले वैदिक मूर्धन्य विद्वानों के रहते वेदों में पाठभेद की कल्पना पाश्चात्य विद्वानों के पुछल्ले लोगों के लिये ही शोभा की बात हो सकती है। इसीलिये वाल्मीकीय रामायण में कहा गया है कि—'वेद हमारे हृदयों में विराजमान हैं, वे हमारे लिये सर्वोत्कृष्ट धन हैं'। 'मूल पुराण के पाठान्तर जिस प्रकार जान-बूझ कर व्याख्यानार्थ ही किये गये थे, वैसे ही वेदसंहिताओं के पाठान्तर भी जान-बूझ कर व्याख्यानार्थ ही किये गये' (पृ० ७३) यह भी बच्चों की सी बात है, क्योंकि कोई भी समझदार आदमी व्याख्या करते समय मूलपाठ में न तो पाठभेद ही करता है और न इस तरह की कोई बात ही कहता है।

'इसी विचार की पुष्टि में पुराणों का दूसरा वचन है—'प्रजापति की कुल परम्परा वाली श्रुति तो नित्य है, पर शाखाएँ उसी का विकल्प मात्र हैं' (पृ० ७३) यह कथन भी अत्यन्त दुर्बल है, क्योंकि उक्त श्लोक का अर्थ कुछ दूसरा ही है। प्रजापति में प्रादुर्भूत श्रुति प्राजापत्य कहलाती है। यह श्रुति नित्य हैं। इससे देव-मनुष्य प्रभृति में प्रादुर्भूत श्रुति को अनित्य मानने में भी कोई दोष नहीं है। अनेक प्रकार से भिन्न शाखाएँ तो समय के अनुसार प्रादुर्भूत होती रहती हैं और लुप्त होती रहती हैं। जैसे कि आजकल ऋग्वेदादि की अनेक शाखाएँ लुप्त हो गई हैं। शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाएं याज्ञवल्क्य के चित्त में आविर्भूत हुई थीं। ये शाखाभेद प्रजापति के हृदय में आविर्भूत उस नित्य श्रुति के ही विकल्प, अर्थात् भेदोपभेद हैं, यही उक्त वायुपुराण के वचन का सही अर्थ है।

'पाणिनीय सूत्र' 'तेन प्रोक्तम्' पर टीका करते हुए काशिका-विवरण-पंजिका के कर्ता जिनेन्द्रबुद्धि लिखते हैं—'व्याख्या करने अथवा पढ़ाने को प्रवचन कहते हैं। शाखा प्रोक्त हैं। अतः व्याख्यान या अध्यापन के कारण ये ऐसा कहाती हैं' (पृ० ७४) 'प्रोक्त' पद की इस तरह की व्याख्या भी हमारे प्रतिकूल न जाकर आपके ही प्रतिकूल पड़ती है, क्योंकि आपके द्वारा मूलवेद के रूप में स्वीकृत कौथुम प्रभृति शाखाएँ भी व्याख्यान और प्रवचन के आधार पर पौरुषेय माननी पड़ जायेंगी, क्योंकि प्रवचन परम्परा के द्वारा ही वे भी आजकल चली आ रही हैं।

आर्यसमाजी विद्वान् पुराणों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। भगवद्दत्त अपने अभिमत की सिद्धि के लिये उनका प्रामाण्य स्वीकार करने में 'अर्धजरतीय' न्याय का अनुसरण करते हैं। जो अपने मतलब की बात है, उसको मान लेते हैं और जो अपने मत के विरुद्ध पड़ती है, उसको छोड़ देते हैं। क्योंकि वायुपुराण के ही ५९ अध्याय में—'प्रत्येक मन्वन्तर में यह श्रुति भिन्न रूप में निर्मित होती है' यह वचन मिलता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न भिन्न प्रकार की श्रुतियों का निर्माण किया जाता है। इसी लिये वायुपुराण के ही 'ऋचो यजूंषि०' इस वचन में बताया गया है कि एक शतरुद्रिय को छोड़कर प्रत्येक

माविर्भूतानि ऋगादीन्याभूतसम्प्लवस्थायीनि । अत एव प्रतिमन्वन्तरमन्यान्या श्रुतिर्निर्मीयते । उत्पत्तिरत्र प्रादुर्भाव एव । तदपि तत्रैवोक्तम् । 'अथर्वयजुषां साम्नां वेदेष्विह पृथक्-पृथक् । ऋषीणां तप्यतामुग्रं तपः परमदुश्चरम् ॥६०॥ मन्त्राः प्रादुर्बभूवुर्हि पूर्वमन्वन्तरेष्विह । परितोषाद् भयाद् दुःखात् सुखाच्छोकाच्च पञ्चधा ॥६१॥' तत्रैव भृगुमरीच्यङ्गिरःपुलहादीनामृषीणां मन्त्रकर्तृत्वमुक्तम् । अत एव ऋषिजातय उक्ताः—'परं हि ऋषते यस्मात् परमर्षिस्ततः स्मृतः ॥८०॥', 'ईश्वराः स्वयमुद्भूता मानसा ब्रह्मणः सुताः ॥८१॥', एते मन्त्रकृतः सर्वे काश्यपांस्तु निबोधत' (वायुपु० ५९।१०२), 'इत्येते चात्रयः प्रोक्ता मन्त्रकारा महर्षयः' (वायुपु० ५९।१०४) इति ।

तत्रैव षष्टितमेऽध्याये वेदानां नाशोऽप्युक्तः—'वेदे नाशमनुप्राप्ते यज्ञो नाशं गमिष्यति । यज्ञे नष्टे देवनाशस्ततः सर्वं प्रणश्यति ॥६॥ आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसंज्ञितः । पुनर्दशगुणः कृत्स्नो यज्ञो वै सर्वकामधुक् ॥७॥' तत्रैव मनुकर्तृको वेदविभाग उक्तः—'एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा मनुर्लोकहिते रतः । वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः ॥८॥' तत्रैव व्यासकृतो विभागोऽप्युक्तः—'तस्मिन् युगे कृतो व्यासः पाराशर्यः परन्तपः । द्वैपायन इति ख्यातो विष्णोरंशः प्रकीर्तितः ॥११॥ ब्रह्मणा चोदितः सोऽस्मिन् वेदं व्यस्तुं प्रचक्रमे ॥ अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदकारणात् ॥१२॥ जैमिनिं च सुमन्तुं च वैशम्पायनमेव च ॥ पैलं तेषां चतुर्थं तु पञ्चमं लोमहर्षणम् ॥१३॥ ऋग्वेदश्रावकं पैलं जग्राह विधिवद् द्विजम् ॥१४॥' अत्रैव शाखाविस्तार उक्तः । अत्रैव शाकल्योऽपि वर्णितः—'शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथान्तरः ॥३१॥ तस्य जनकसभायां याज्ञवल्क्येन शास्त्रार्थः । शाकल्यस्य याज्ञवल्क्यशापेन नाशः । 'शाकल्यस्तमविज्ञाय सद्योमृत्युमवाप्नुयात् ॥५९॥' शाकल्ये मृते—'मेरुपृष्ठं समासाद्य तैस्तदा त्विति मन्त्रितम् । यो

देवता में आविर्भूत ऋगादि वेद प्रलयकाल पर्यन्त स्थिर रहते हैं । इसी लिये प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न भिन्न श्रुतियों के निर्माण की बात कही जाती है । उत्पत्ति से अभिप्राय प्रादुर्भाव से है । यह बात भी वहीं कही गई है—'अथर्व, यजुः, साम इन वेदों की पृथक् पृथक् उपलब्धि के लिये ऋषिगण जब परम दुश्चर उग्र तप कर रहे थे, तब पूर्व मन्वन्तरों में मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ था। परितोष, भय, दुःख, सुख और शोक ये पाँच कारण मन्त्रों के प्रादुर्भाव के माने गये हैं' । वहीं पर भृगु, मरीचि, अङ्गिरा, पुलह प्रभृति ऋषियों को मन्त्रों का कर्ता माना गया है । इसी के आधार ऋषियों की एक जाति मानी गई है—'परमर्षि इसलिये कहे जाते हैं कि इनसे पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ज्ञान वेद का प्रादुर्भाव होता है', 'ब्रह्मा के मानसपुत्र ईश्वर इस प्रकार से हैं कि ये स्वयं अपनी इच्छा से उत्पन्न होते हैं', 'ये सब मन्त्रों के निर्माता हैं । अब मैं कश्यप ऋषि के पुत्रों का वर्णन करता हूँ, सो सुनो', 'इस तरह से अत्रि वंश के मन्त्रद्रष्टा महर्षियों का वर्णन किया गया' ।

वायुपुराण के ही ६० वें अध्याय में वेदों के नाश की बात भी कही गई है—'वेद के नष्ट हो जाने पर यज्ञ भी नष्ट हो जायेंगे । यज्ञों के नष्ट हो जाने पर देवताओं का नाश हो जायगा और तब अन्ततः सब कुछ नष्ट हो जायगा', 'पहले वेद के चार विभाग थे, तब उसमें एक लाख मन्त्र थे । फिर यह पूरा वेद दश गुणित हो गया, जिसमें कि सब कामनाओं की पूर्ति करने वाले यज्ञों का विधान था । वायुपुराण में मनु के द्वारा किये गये वेद विभाग का भी वर्णन मिलता है—'ऐसा कहने पर तथास्तु कहते हुए मनु ने लोक के कल्याण के लिये चार पाद वाले वेद को चार विभागों में बाँट दिया' । वही व्यासकृत वेदविभाग भी वर्णित है—'उस कृत युग में शत्रुओं के लिये तापकारी पराशर के पुत्र व्यास द्वैपायन के नाम से प्रख्यात हुए । ये विष्णु के अंश से प्रादुर्भूत हुए थे । इन्होंने ब्रह्मा के कहने पर यहाँ वेदों का विभाग किया और अपने चार शिष्यों को इन व्यस्त वेदों को पढाया । इनके नाम जैमिनि, सुमन्तु, वैशम्पायन थे । इनमें चतुर्थ नाम पैल है, जिन्होंने कि ऋग्वेद को सुना । इनके पंचम शिष्य लोमहर्षण थे । इन शिष्यों को उन्होंने विधिवत् वेद और पुराण पढाये' । वायुपुराण में यहीं पर वेद की शाखाओं का विस्तार से वर्णन है । यहीं शाकल्य का भी वर्णन है—'इनमें पहला शाकल्य था और दूसरा रथन्तर था' । इस शाकल्य का जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ होता है और शाकल्य याज्ञवल्क्य के शाप से नष्ट हो जाते हैं । वायुपुराण में यह बात भी इस तरह से वर्णित है—'शाकल्य ने याज्ञवल्क्य के प्रभाव को नहीं जाना, फलतः उनकी तत्काल मृत्यु हो गई' । शाकल्य की मृत्यु के बाद—'सुमेरु पर्वत के शिखर पर इकट्ठा होकर उन्होंने इस तरह

नोऽत्र सप्तरात्रेण नागच्छेद् द्विजसत्तमाः ॥ स कुर्याद् ब्रह्मवध्यां वै समयो नः प्रकीर्तितः ॥१३॥' (अ० ६१) वैशम्पायनस्तत्रानागमनाद् ब्रह्मवध्यादोषमवाप्तवान्। तत्प्रायश्चित्ताय तेन शिष्या आज्ञप्ताः। याज्ञवल्क्य उक्तवान्—'अहमेव चरिष्यामि तिष्ठन्तु मुनयस्त्विमे ॥१७॥' (अ० ६१)। गुरुः क्रुद्धस्तमुवाच—'यत्त्वया मत्तोऽधीतं सर्वं प्रत्यर्पयस्व मे ॥१८॥ (अ० ६०) 'एवमुक्तः स रूक्षाणि यजूंषि प्रददौ गुरोः ॥१९॥(६१)……ततः स ध्यानमास्थाय सूर्यमाराधयद् द्विजाः। सूर्ये ब्रह्म यदुच्छिन्नं खं गत्वा प्रतितिष्ठति ॥(२०) ततो यानि गतान्यूर्ध्वं यजूंष्यादित्यमण्डलम्। तानि तस्मै ददौ तुष्टः सूर्यो वै ब्रह्मरातये। अश्वरूपाय मार्तण्डो याज्ञवल्क्याय धीमते ॥२१॥(अ० ६१)। तत एव तदध्येतारो वाजिनो वाजसनेयिनो वा जाताः। 'यजूंष्यधीयते यानि ब्राह्मणा येन केन च। अश्वरूपाय दत्तानि ततस्ते वाजिनोऽभवन् ॥२२॥ (अ० ६१)। यैर्ब्रह्महत्याव्रतं चीर्णं ते चरकाः……इत्येते वाजिनः प्रोक्ता दशपञ्च च संस्मृताः ॥२६॥ तत्रैव जैमिनिशिष्याननध्यायेष्वधीयानान् शतक्रतुर्जघानेत्यप्युक्तम्। 'अनध्यायेष्वधीयानान् ताञ्जघान शतक्रतुः' ॥२९॥ (अ० ६१)। राणायनीयकौथुमादिशाखानां प्रचार उक्तः। एवं बहुधा शाखाभेदानुक्त्वा 'सर्वमन्वन्तरेष्वेवं शाखाभेदाः समाः स्मृताः ॥(७४) (अ० ६१) इति।

तत्र पूर्वोक्तरीत्या शाखानामुत्पत्तिनाशादिश्रवणाद् वेदानामनित्यत्वं प्राप्तम्, तदपाकरणायोक्तम्—'प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः। अनित्यभावाद्देवानां मन्त्रोत्पत्तिः पुनः पुनः ॥' (वायुपुराणे ६१।७५)। भगवद्दत्तस्तूत्तरार्धं स्वविरुद्धत्वाद् गोपयामास। तत्रानेनेदमुक्तम् 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (ऋ० सं० १०।९०।९), 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्' (बृ० उ० २।४।१०), 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं०

से मन्त्रणा की कि सात रात्रि बीत जाने पर भी हम में से जो व्यक्ति यहाँ नहीं पहुँचेगा, उसको ब्रह्महत्या का पाप लगेगा'। नियत अवधि में वैशम्पायन वहाँ नहीं आ पाये, फलतः उनको ब्रह्महत्या का दोष लगा। इसका प्रायश्चित्त करने के लिये उन्होंने अपने शिष्यों से कहा, तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'मैं अकेला ही प्रायश्चित्त कर लूँगा, इन सब मुनियों को कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। इस पर गुरु ने क्रुद्ध होकर उससे कहा कि जो कुछ तुमने मुझसे पढ़ा है, उसे तुम मुझे वापस कर दो। गुरु के ऐसा कहने पर याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु को जो कुछ उनसे पढ़ा था, वापस कर दिया।……ऐसा करने के उपरान्त याज्ञवल्क्य ने ध्यान लगाकर, चित्त को एकाग्र कर सूर्य की आराधना की। इस संसार में वेद का जो भाग उच्छिन्न हो जाता है, वह सूर्यमण्डल में जाकर ठहर जाता है। याज्ञवल्क्य के द्वारा सूर्य की आराधना करने पर, जो यजुर्मन्त्र आदित्यमण्डल में जाकर स्थिर हो गये थे, उनको सूर्य ने संतुष्ट होकर याज्ञवल्क्य को सौंप दिया। ब्रह्मराति याज्ञवल्क्य उस समय अश्व का रूप धारण किये हुए थे। उसी अवस्था में मार्तण्ड सूर्य ने यह वेद उनको सौंपा। इस लिये इस वेद के अध्येतागण वाजिन् अथवा वाजसनेयिन् कहलाते हैं। जो ब्राह्मण जिस किसी से भी इन यजुर्मन्त्रों का अध्ययन करते हैं, वे वाजिन् नाम से अभिहित होते हैं, क्योंकि सूर्य ने अश्व रूप को धारण किये याज्ञवल्क्य को इनका प्रथम उपदेश किया था। जिन्होंने ब्रह्महत्या का प्रायश्चित किया, वे चरक कहे जाते हैं। सूर्यप्रदत्त यजुर्मन्त्रों का अध्ययन करने वाले वाजिन् १५ प्रकार के कहे जाते हैं'। वायुपुराण में ही यह भी बताया गया है कि इन्द्र ने अनध्याय के दिनों में अध्ययन करने वाले जैमिनि के शिष्यों का वध कर दिया था। यहीं पर राणायनीय, कौथुम प्रभृति शाखाओं का प्रचार कहां है, यह भी बताया गया है। अन्त में अनेक प्रकार के शाखा-भेदों को बताकर वायुपुराण में कहा गया है कि ये शाखा-भेद सभी मन्वन्तरों में एक ही तरह के होते हैं।

इस पूरे प्रकरण के सन्दर्भ में पूर्वोक्त रीति से शाखाओं के उत्पत्ति और विनाश का वर्णन होने से वेदों की अनित्यता प्राप्त होती है। इस आपत्ति के परिहार के लिये कहा गया है कि—'प्राजापत्य श्रुति नित्य है और बाद में इसी श्रुति के अनेक भेदोपभेद हो जाते हैं। देवताओं की स्थिति अनित्य होने से इनसे संबद्ध मन्त्रों की उत्पत्ति बार बार होती रहती है'। इस वायुपुराण के श्लोक के उत्तरार्ध को अपने मतलब का न समझ कर भगवद्दत्त ने उसको उद्धृत नहीं किया। 'उस सर्वहुत यज्ञ से ऋक् और साम की उत्पत्ति हुई', 'इस महान् भूत ब्रह्म का निःश्वासभूत यह वेद है', 'अपरिणामी नित्य वाणी से वेद की उत्पत्ति हुई है', 'अनादि-

८७५।१६), 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।' (म० भा०, शा० प० २३२।२५), 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९)। परमेश्वरे तदीयज्ञाने श्रुतिर्मन्त्रब्राह्मणलक्षणाऽनन्ता स्थिता, 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्रा० ३। १०।११।४) इति श्रुतेः। तत एव ब्रह्मणा प्रजापतिना प्राप्ता तद्धृदये स्थिता प्राजापत्या श्रुतिः। सापि नित्या, मन्वन्तरीयस्थायिनित्यापेक्षया ब्रह्मणः कल्पान्तस्थायित्वात्। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० ६।१८)। ततोऽग्निवाय्वादित्यादिक्रमेण ऋगादयो व्यक्ताः। ततो मनुव्यासादिभिः शाखाभेदेन भिन्नाः। तत्र लोके शाखालोपदर्शनाद् वेदानामनित्यत्वशङ्का सम्भवति। तत्पूर्वमेकधा समाहितम्—'सूर्ये ब्रह्म यदुच्छिन्नं खं गत्वा प्रतितिष्ठति।' उच्छिन्नं ब्रह्म (वेदः) खं गत्वाऽऽदित्ये प्रतितिष्ठति। ततो यान्यूर्ध्वं गतानि यजूंषि तान्येव सूर्यो देवरातये ददौ। अपरं समाधानमिदं यल्लोके प्रचलितशाखानामुच्छेदेऽपि प्राजापत्या प्रजापतौ विद्यमानाऽनन्ता श्रुतिराकल्पान्तं स्थिता। प्रजापतौ शुद्धे परमात्मनि स्थिता श्रुतिर्निरतिशयनित्यैव। तथा च तेषु तेषु कल्पेषु मन्वन्तरेषु ब्रह्मणा मनुव्यासादिभिः सैव नित्या श्रुतिर्विकल्प्यते। शाखाभेदेन भिद्यते। ततः शाखाभेदास्तद्विकल्पास्तद्भेदा एव। द्रष्टार एव ऋषयो भवन्ति। उच्चारणे स्वातन्त्र्यात् तेषां कर्तृत्वं व्यवह्रियते। ते प्रथमोच्चारयितारो न भवन्ति, पूर्वोच्चारणसापेक्षत्वात्। तत एव ते द्रष्टृत्वाद् ऋषय उच्यन्ते। पूर्वानुपूर्वीसव्यपेक्षोच्चारयितृत्वेन वस्तुतस्ते द्रष्टार एव न कर्तारः। उच्चारयितृभेदेन ध्वनिभेदादानुपूर्वीणां भेदेऽपि सर्वासामानुपूर्वीणामीश्वरमारभ्यास्मदादिपर्यन्तोच्चरितानामैकरूप्यादानुपूर्व्या ऐक्यान्नियतत्वेन परमेश्वरे सदैव स्थितत्वेन नित्यता च।

यत्तु—'महाभाष्ये 'तेन प्रोक्तम्' (पा० सू० ४।३।१०१) इत्यत्र 'नहि च्छन्दांसि क्रियन्ते। नित्यानि च्छन्दांसीति। यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादक-

निधन यह नित्य वाणी स्वयम्भू ब्रह्मा से उत्पन्न हुई', 'इसी लिये वह नित्य है' ये सब उक्त बात के ही समर्थक प्रमाण हैं। परमेश्वर के ज्ञान में मन्त्र-ब्राह्मणात्मक अनन्त श्रुतियाँ विद्यमान है, 'अनन्ता वै वेदाः' यह श्रुति इस बात में प्रमाण है। इसी लिये उक्त वायुपुराण के वचन का अभिप्राय यह है कि—'ब्रह्मा अर्थात् प्रजापति के द्वारा उसके हृदय में प्राप्त आविर्भूत श्रुति नित्य है, क्योंकि एक मन्वन्तर पर्यन्त रहने वाले नित्य पदार्थ की अपेक्षा से ब्रह्मा कल्पान्त तक रहता है, अतः अधिक स्थायी अर्थात् नित्य है। 'जो पहले ब्रह्मा को बनाता है और उसमें वेदों का संचार करता है' यह श्वेताश्वतर श्रुति इसमें प्रमाण है। इसके बाद अग्नि, वायु, आदित्य आदि के क्रम से ऋगादि की अभिव्यक्ति होती है। तब इनका शाखा विभाग मनु, व्यास प्रभृति ने किया। इन शाखाओं का लोप हो जाता है, यह बात लोक में प्रसिद्ध है, अतः वेदों के अनित्यता की शंका का उठना स्वाभाविक है। इसका एक समाधान यह दिया जा चुका है कि—ब्रह्म अर्थात् वेद का जो भाग यहाँ नष्ट हो जाता है, वह जाकर सूर्यमण्डल में अवस्थित हो जाता है। इसलिये इस तरह के यजुर्मन्त्र जो सूर्यमण्डल में जाकर एकत्र हो गये थे, उन्हीं को सूर्य ने देवराति याज्ञवल्क्य को दिया था। इसका दूसरा समाधान यह है कि लोक में प्रचलित शाखाओं के उच्छिन्न हो जाने पर प्रजापति के हृदय में आविर्भूत अनन्त श्रुतियाँ कल्पपर्यन्त अवस्थित रहती हैं और शुद्ध परमात्मा में स्थित श्रुति तो निरतिशय नित्य है। अतः इस पूरे प्रकरण का यह निष्कर्ष निकलता है कि उन उन कल्पों में और मन्वन्तरों में ब्रह्मा और मनु-व्यास प्रभृति उसी नित्य श्रुति का विस्तार करते हैं, शाखा भेद करते हैं। इस तरह से शाखा भेद और विकल्प उसी नित्य वेद के भेद हैं। ऋषि इनके द्रष्टा मात्र होते हैं। उच्चारण की स्वतन्त्रता के आधार पर वे इनके कर्ता माने जाते हैं। वे इनके प्रथम उच्चारयिता नहीं होते, क्योंकि उनका उच्चारण भी पूर्व उच्चारण की अपेक्षा रखता है। इसी लिये मन्त्रों के द्रष्टा 'ऋषि' कहलाते हैं। पूर्व आनुपूर्वी की सहायता से ही वे वेदों को प्रथम उच्चारण करते हैं, अतः वस्तुतः ये उनके द्रष्टा ही कहे जाते हैं, कर्ता नहीं। उच्चारयिता के भेद के साथ ध्वनि का भेद यद्यपि लगा हुआ है, अतः आनुपूर्वी का भी भेद यद्यपि वहाँ रहेगा, तथापि ईश्वर से लेकर अस्मदादि पर्यन्त उच्चारित यह आनुपूर्वी एक सी ही है, इसी आधार पर इसकी एकता मानी जाती है और यह परमेश्वर में सदा विद्यमान रहती है, अतः यह नित्य मानी जाती है।

'तेन प्रोक्तम्' इस पाणिनि सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने कहा है कि 'छन्द कृत नहीं है, छन्द नित्य हैं। यद्यपि अर्थ नित्य हैं, पर वर्णानुपूर्वी अनित्य है। उसी अनित्य वर्णानुपूर्वी के भेद से काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादक आदि भेद हो गये हैं।

मिति' अत्र वर्णानुपूर्व्या अनित्यत्वकथनं शाखानां पाठान्तराभिप्रायेणैव, अर्थस्य नित्यत्वकथनेन पाठान्तराण्येकमूलपर्यवसायीनि व्याख्यानान्येव' (पृ० ७४) इति, तदसङ्गतम्, तथात्वे 'नित्यानि च्छन्दांसि, यद्यप्यर्थो नित्यः' इत्यनयोरसङ्गत्यापत्तेः। छन्दोऽर्थं 'तेन प्रोक्तम्' इदं सूत्रं भवतु। 'कृते ग्रन्थे' इत्यनेन न तत्र प्रत्ययो भवति, छन्दसोऽकृतत्वाद् इत्युक्तौ छन्दसामेव नित्यत्वं साधितं भाष्यकारेण आनुपूर्व्या अनित्यत्वसाधनेन, नाच्छन्दसाम्। अन्यथा कर्णस्पर्शे कटिचालनप्रसङ्गापातात्। तेन न काठकादिशाखानां छन्दोभिन्नत्वं वक्तुं शक्यम्।

किञ्च, छन्दःपदेन शाकली-शौनकी-कौथुमी-माध्यन्दिनी-संहिता गृह्यन्ते न वा ? न चेत्तद्वेदत्वस्य दत्तजलाञ्जलिता स्यात्। गृह्यन्ते चेत्तत्र प्रत्ययार्थं तेन प्रोक्तमिति सूत्रं भवत्विति कुतस्तत्प्रत्याख्यानावसरः ? यतस्तासां नित्यत्वात् 'कृते ग्रन्थे' इति सूत्रेण न निर्वाहः। तथा च महाभाष्यमसङ्गतमेव स्यात्। तस्मादिदं मन्तव्यं यत्काठकादिकं शौनक्यादिशाखानामप्युपलक्षणम्, न्यायस्य तुल्यत्वात्। तेषामप्यानुपूर्वीणामनित्यत्वस्येष्टत्वात्। नहि नित्यानां विभूनां च वर्णानामानुपूर्वी संभवति, तस्याः परिच्छिन्नानित्यधर्मत्वात्। तस्माद् वर्णाभिव्यक्तीनामेव पौर्वापर्य्यरूपानुपूर्वी मन्तव्या। अत एवाचार्योच्चारितानुपूर्व्या भिन्नैव माणवकोच्चारितानुपूर्वी, शिक्षकगात्रविक्षेपाद् भिन्ननर्तकीगात्रविक्षेपवत्। ऐक्यरूप्याच्च तासां नियतत्वरूपं नित्यत्वमितीहैवान्यत्र च विस्तरः।

'तदु हैकेऽन्वाहुः। होता यो विश्ववेदस इति' (श० १।४।३।३५) इत्यादीनामपि निन्दार्थवादत्वेन स्वशाखाप्रस्तुतावेव तात्पर्यम्। 'होता यो विश्ववेदसः' (पृ० ७४) इत्यस्य पाठस्य कस्याञ्चिदपि शाखाणामनुपलम्भाच्च। शाखान्तरीयैस्तत्पाठस्यापि तथैवानादरणीयत्वोक्तेश्चेत्यस्यापीहैवान्यत्र विस्तरः।

भगवद्दत्त इस पर अपना निष्कर्ष इस तरह से व्यक्त करते हैं—'इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्णानुपूर्वी के अनित्य कहने से पतंजलि का अभिप्राय शाखाओं के पाठान्तरों से ही है। परन्तु क्योंकि वह अर्थ को नित्य मानता है, अतः पाठान्तर एक ही मूल अर्थ को कहने वाले व्याख्यान हैं'[5] (पृ० ७४), यह बात भी असंगत है, क्योंकि ऐसा कहने पर 'छन्द नित्य हैं, यद्यपि अर्थ नित्य है' इन दोनों वाक्यों की परस्पर संगति नहीं बैठेगी। वेदों के लिये 'तेन प्रोक्तम्' इस सूत्र का विधान माना जाय, 'कृते ग्रन्थे' इस सूत्र से वहाँ प्रत्यय नहीं होगा, क्योंकि वेद अकृत है, ऐसा कह कर आपके मत के अनुसार भाष्यकार ने आनुपूर्वी की अनित्यता को सिद्ध करके एक तरह से वेद की ही नित्यता को सिद्ध किया, वेद भिन्न साहित्य की नित्यता को नहीं। यह कार्य कान पकड़ने पर कमर मटकाने के समान है। इसलिये काठकादि शाखाओं की वेदभिन्नता नहीं सिद्ध की जा सकती।

आप यह बताइये कि छन्दः पद से शाकली, शौनकी, कौथुमी और माध्यन्दिनी संहिताओं का बोध होता है या नहीं? यदि नहीं तो इनको वेद मानने की बात को तिलांजलि दे देनी पड़ेगी। यदि वेदों में इनकी गणना होती है, इनमें प्रत्यय का विधान करने के लिये 'तेन प्रोक्तम्' इस सूत्र की आवश्यकता रहेगी, तब उसका प्रत्याख्यान कैसे किया जा सकता है, क्योंकि ये नित्य हैं, अतः 'कृते ग्रन्थे' इस सूत्र से वहाँ प्रत्यय नहीं हो सकता। इस तरह से महाभाष्य में असंगति आ जायगी। इसलिये यहाँ पर यह समझना चाहिये कि काठकादि पद शौनकी आदि शाखाओं के भी उपलक्षक हैं, क्योंकि इन सबकी स्थिति एक ही तरह की है। इन सबकी आनुपूर्वी सदा अनित्य ही मानी जाती है। नित्य और विभु वर्णों की कोई आनुपूर्वी नहीं हो सकती, क्योंकि आनुपूर्वी परिच्छिन्न और अनित्य वस्तु का धर्म है। इसलिये वर्णों की अभिव्यक्ति में ही पौर्वापर्य रूप आनुपूर्वी मानी जाती है। इसी लिये आचार्य के द्वारा उच्चारित आनुपूर्वी से भिन्न ही आनुपूर्वी माणवक अर्थात् शिष्य के उच्चारण में रहती है, जैसे कि नृत्य शिक्षक के अंगचालन से भिन्न ही अंगचालन नर्तकी का होता है। इनकी समानता के आधार पर इनमें नियतता रूप नित्यत्व माना जाता है, इस बात को इसी ग्रन्थ में अन्यत्र विस्तार से समझाया गया है।

भगवद्दत्त ने 'तदु हैकेऽन्वाहुः' इत्यादि शतपथ श्रुति को उद्धृत कर अपने मन्तव्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है (पृ० ७४)। वस्तुतः यह निन्दार्थवाद है, इसका विनियोग अपनी शाखा की स्तुति में होता है। 'होता यो विश्ववेदसः' यह पाठ किसी अन्य शाखा में उपलब्ध नहीं होता और यह पाठ शाखान्तर के अनुवर्तियों के लिये स्वीकार्य नहीं हो सकता, इस बात को भी हमने इसी ग्रन्थ में अन्यत्र स्पष्ट किया है।

यदपि 'तत्र नाट्यशास्त्रशब्देन चेदिह ग्रन्थस्तद्ग्रन्थस्येदानीं करणं न तु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यानरूपं करणाद्भिन्नम्। कठेन प्रोक्तमिति यथा' (पृ० ७५) इति भरतनाट्यशास्त्रभाष्यकर्तुः प्रसिद्धस्य आचार्याभिनवगुप्तस्य वचनम्, तदपि त्वत्प्रतिकूलमेव, प्रवचनस्य करणाद्भिन्नत्वे काठकस्य चाकृतत्वान्न 'कृते ग्रन्थे' इत्यनेन निर्वाहः। तथा च तेन प्रोक्तमित्यस्य प्रत्याख्यानमसङ्गतमेव स्यात्। तस्मादत्र वाक्येऽध्यापनापरपर्यायं प्रवचनरूपमेव व्याख्यानमेष्टव्यम्, तस्यैव करणाद्भिन्नत्वसम्भवात्। अत एव 'आख्या प्रवचनात्' इति जैमिनिसूत्रानुसार्येवाभिनवगुप्तवचनम्। कठेन प्रोक्तं काठकमिति कठप्रवक्तृकत्वेन काठकमिति समाख्योपपत्तौ कठेन कृतं काठकमिति समाख्यामूलकपौरुषेयत्वस्य जैमिनिना निराकरणात्। 'सचिविदम्' (ऋ० सं० १०।७१।६), 'सखिविदं सखायम्' (तै० आ० १।३।१ तथा २।१५।१) इत्यादीनां समाधानमुक्तमिति तत्रैव कणेहत्यालोचनीयम्।

यत्तु 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' इति ग्रन्थस्य प्रथमे भागे सप्तमेऽध्याये पुराणवचनाश्रयेण बहु जल्पितम्, तत्सर्वमपार्थकमेव। तेन पुराणानां प्रामाण्यानभ्युपगमात्। स्वेच्छया पाठभेदकल्पनाच्च।

महाभाष्यकारस्तु 'शाकल्यसंहितामनु प्रावर्षत्.........शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत (पा० सू० १।४।८४) इत्यत्र शाकल्येन संहिता प्रोक्ता इत्येवार्थं कृतवान्, न तु शाकल्येन कृतेति, नित्यत्वात्।

भगवद्दत्तेन—'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामके ग्रन्थे यत्किञ्चिदपि लिखितम्, ये ग्रन्था यानि च वचनानि समुद्धृतानि प्रायेण सर्वाणि सनातनिनां ग्रन्थाः ग्रन्थस्थवचनानि च। सनातनिग्रन्थानामभावे पेटिकापरिमिता अपि ग्रन्था न स्थास्यन्ति। मन्त्राणां ब्राह्मणानामारण्यकोपनिषदामपि समेषां प्रामाण्यं तेनान्यैश्च सामाजिकैर्नाभ्युपेयते।

'यदि नाट्यशास्त्र शब्द से यहाँ ग्रन्थ का ग्रहण है, तो उसका कर्तृत्व अभिप्रेत है, प्रवचन नहीं। प्रवचन व्याख्यान होता है और करण से पृथक् होता है, जैसे कठ का व्याख्यान है' (पृ० ७५) भगवद्दत्त भरत नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध भाष्यकार अभिनव गुप्त की इस उक्ति को अपने पक्ष के समर्थन में उद्धृत करते हैं, किन्तु इससे उनके पक्ष का समर्थन नहीं हो पाता, क्योंकि प्रवचन यदि करण से भिन्न है और काठकादि शाखाएँ कृत नहीं हैं, तब वहाँ पर 'कृते ग्रन्थे' इस सूत्र से प्रत्यय नहीं हो सकेगा। इस परिस्थिति में 'तेन प्रोक्तम्' इस सूत्र का भाष्यकार द्वारा किया गया प्रत्याख्यान असंगत हो जायगा। इसलिये इस वाक्य में अध्यापन, प्रवचन और व्याख्यान एक ही अर्थ में प्रयुक्त माने जाने चाहिये, क्योंकि यह अध्यापनरूप व्याख्यान या प्रवचन ही करण से भिन्न हो सकता है। इसलिये यहाँ का अभिनव गुप्त का वचन 'आख्या प्रवचनात्' इस जैमिनि सूत्र का अनुवर्तन करने वाला है। कठ ने जिसका प्रवचन किया, वह काठक कहलाती है, इस तरह से इस नाम की व्युत्पत्ति जब हो सकती है, तो कठ ने जिसको बनाया वह काठक है, इस नाम के आधार पर इन शाखाओं की पौरुषेयता का निराकरण जैमिनि ने किया है। 'सचिविदम्', 'सखिविदं सखायम्' इत्यादि उद्धरणों के आधार पर भगवद्दत्त ने (पृ० ७५) जिन शंकाओं को उठाया है, उनका समाधान हम कर चुके हैं। मनोयोगपूर्वक उनका अवलोकन वहीं करना चाहिये।

'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के सप्तम अध्याय में (पृ० ७७ से) पुराणों के वचनों के सहारे बहुत कुछ कहा है। वह सब व्यर्थ है, क्योंकि एक तो वे पुराणों को प्रमाण नहीं मानते, दूसरे वे उनका मनमाना पाठभेद गढ़ लेते हैं।

भगवद्दत्त ने (पृ० ९१) महाभाष्यकार के इस वचन को अपने मत के प्रमाण में उद्धृत किया है कि—'शाकल्य के द्वारा भले प्रकार की गई संहिता के पाठ की समाप्ति के बाद बादल बरसा'। वस्तुतः भाष्यकार ने यहाँ पर शाकल्य ने संहिता का प्रवचन किया, यही अर्थ किया है, शाकल्य ने संहिता को बनाया, यह नहीं, क्योंकि संहिता तो नित्य है।

भगवद्दत्त ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है, जिन ग्रन्थों के जिन वचनों को उद्धृत किया है, प्रायः वे सब सनातनियों के मान्य ग्रन्थ हैं या उनके वचन हैं। सनातनियों के इन ग्रन्थों के अभाव में एक आलमारी में रखने लायक ग्रन्थ भी उनके पास नहीं रहेंगे। सभी संहिताओं, ब्राह्मणों और आरण्यक-उपनिषदों का वे तथा अन्य आर्यसमाजी प्रामाण्य

प्रायो येषां पुराणानामवहेलनैव क्रियते, तान्येवाश्रित्य ग्रन्थेऽस्मिन्ननेकानि पृष्ठानि रञ्जितानि। शाखानामृषीणां संबन्धे सामाजिका मूलग्रन्था न सन्त्येव।

'ऋषयः', 'ऋषिकाः', 'ऋषिपुत्राः', 'महर्षयः' (पृ० २४६) आदिभेदा वायुपुराणादिभ्य एव ज्ञातव्याः। भगवद्दत्तेन विकृतिं नीत्वैव ते प्रकाशिताः। दयानन्दप्रभृतयः सर्वेऽपि सामाजिकाः प्रकृतिप्रत्ययनैरपेक्ष्येण स्वैरितयैव वाक्यानि व्याचक्षते। य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति (न्या० भा० ४।१।६२)।

वेदार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु लभ्यते, अतो वक्तुं शक्यते यद् ऋषयो वेदार्थरूपस्य ब्राह्मणस्य द्रष्टारः। सर्वथैषोऽर्थो वचनानुगत एव। 'य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामिति' (न्या० सू० २।२।६७)। नोभयोरुपर्युक्तयोर्वाक्ययोरेकार्थ्यं ज्ञातव्यम्, यतो हि पूर्वस्मिन् वाक्ये मन्त्रब्राह्मणयोर्द्रष्टृत्वं येषामृषीणां तेषामेवेतिहासपुराणस्य द्रष्टृत्वं प्रवक्तृत्वं चोक्तमुत्तरस्मिंस्तु वेदार्थद्रष्टृणामायुर्वेदादिप्रवक्तृत्वमुक्तम्। मन्त्रार्थज्ञत्वमृषीणामुक्तमेव। पाश्चात्यरीत्यैव भगवद्दत्तोऽपि भारतीयग्रन्थगतपुरुषादीनां नामानि दृष्ट्वा भारतीयग्रन्थानां कालं निर्धारयति, परन्तु मन्त्रब्राह्मणादीनां सम्बन्धे तदसंगतमेव, तेषां नित्यत्वेनार्थपूर्वकत्वाभावात्।

गोत्रकृत ऋषयो देवाश्च मन्त्रब्राह्मणसूत्रेतिहासपुराणादिभ्यो ज्ञायन्ते। सिद्धान्ते त्वेते जातिविशेषा अभ्युपेयन्ते। सामाजिकास्तु देवानपि मनुष्यानेव मन्यन्ते, कर्मणैव वर्णव्यवस्थामङ्गीकुर्वन्ति, केषाञ्चिदपि ब्राह्मणत्वमृषित्वं चाङ्गीकुर्वन्ति। चतुर्दशेऽध्याये भगवद्दत्तः पुराणादीनि प्रशंसति, महाभारताद्याख्यानमप्याश्रयते, परन्तु सर्वथाऽपि स्वैरमाच-

नहीं स्वीकार करते। प्रायः जिन पुराणों की वे सदा अवहेलना करते हैं, उन्हीं के सहारे इस ग्रन्थ के अनेक पृष्ठ रंगे गये हैं। शाखाओं और ऋषियों से संबद्ध मूल ग्रन्थ आर्यसमाजियों के यहाँ हैं ही नहीं।

ऋषि, ऋषीक, ऋषिपुत्र, महर्षि (पृ० २४०-२४१) आदि भेदों का ज्ञान वायुपुराण प्रभृति ग्रन्थों से ही हो सकता है। भगवद्दत्त ने इन वचनों को विकृत रूप में उपस्थित किया है। दयानन्द प्रभृति सभी आर्यसमाजी विद्वान् प्रकृति-प्रत्यय का बिना विचार किये इन वाक्यों का मनमाना अर्थ करते हैं। न्यायभाष्यकार के इस वचन की ओर उनका ध्यान जाना चाहिये कि जो ऋषिगण मन्त्र और ब्राह्मण के द्रष्टा हैं, प्रवक्ता हैं, वे ही इतिहास-पुराण और धर्मशास्त्र के भी प्रवक्ता हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद का अर्थ भी उपलब्ध होता है, अतः कहा जा सकता है कि ऋषि लोग वेदार्थरूप ब्राह्मण ग्रन्थों के द्रष्टा हैं। यह अर्थ सर्वथा प्रमाणों द्वारा समर्थित भी है। न्यायभाष्यकार कहते हैं कि जो आप्तगण वेदार्थ के द्रष्टा और प्रवक्ता हैं, वे ही आयुर्वेद प्रभृति ग्रन्थों के भी प्रवक्ता हैं। (पृ० २५१) उक्त दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ है, यह न समझ लेना चाहिये, क्योंकि पहले वाक्य में जो ऋषि मन्त्र-ब्राह्मण के द्रष्टा हैं, वे ही ऋषि इतिहास-पुराण के द्रष्टा और प्रवक्ता बताये गये हैं और दूसरे वाक्य में वेदार्थ के द्रष्टा ऋषियों को आयुर्वेद आदि शास्त्रों के प्रवक्ता बताया गया है। ऋषिगण मन्त्रों के अर्थ के ज्ञाता हैं, यह बात पहले ही बताई जा चुकी है। पाश्चात्य विद्वानों की पद्धति से ही भगवद्दत्त भी भारतीय ग्रन्थों में विद्यमान व्यक्तियों के नामों को देखकर उनके समय का निर्धारण करते हैं, किन्तु मन्त्र-ब्राह्मण आदि के संबन्ध में यह बात उचित नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वे नित्य हैं, उनमें अर्थपूर्वकता नहीं है, अर्थात् किसी वस्तु को देखकर उनकी रचना नहीं की गई है, किन्तु उन उन वस्तुओं और व्यक्ति आदि का नाम वेदों के आधार पर ही निर्धारित किया गया है।

गोत्रों के प्रवर्तक ऋषियों और देवताओं का ज्ञान मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्र, इतिहास, पुराण प्रभृति ग्रन्थों से होता है। सिद्धान्ततः ये विशेष जातियाँ मानी जाती हैं। आर्यसमाजी देवताओं को भी मनुष्य जाति का ही मानते हैं, ये वर्णव्यवस्था का आधार कर्म को मानते हैं। इनके मत से कोई भी ब्राह्मण अथवा ऋषि हो सकता है। चतुर्दश अध्याय (पृ० २३९ से) में भगवद्दत्त पुराणों की तथा महाभारत की प्रशंसा करते हैं, महाभारत के अनेक आख्यानों को प्रमाणरूप में स्वीकार भी करते हैं, परन्तु उनका अर्थ

रत्यर्थे। अन्तरिक्षस्थान् ऋषीन् कृष्णो ददर्श। तदर्थं तु पर्वतेभ्योऽवतरन्तो दृष्टा इति करोति। यदुक्तम्—'सर्वदैव ऋषियुगो भवति' इति, तत्तुच्छम्, 'ऋषिषूत्क्रामत्सु' इति निरुक्तेन ऋष्युत्क्रमणकालो ज्ञायते।

मनुस्मृतिदृष्ट्या—'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥' (१।५) मेधातिथ्यादिरीत्या तस्या महारात्र्या अनन्तरं स्वयंभूः स्वेच्छया कृतशरीरपरिग्रहो भगवानव्यक्त इदं सर्वं जगद् व्यञ्जयन् तमोनुदः प्रादुरासीत्। 'ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्। महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥' (१।६) वेदान्तवेद्यः परमात्मैव स इति। 'योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥' (१।७) सोऽभिध्याय स्वाच्छरीराद्विविधाः प्रजाः सिसृक्षुरादावपः ससर्ज तासु वीर्यमवासृजत्—'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्॥' (१।८)। ततो हैममण्डमभवत्—'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥' (१।९), 'तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्। स्वयमेवात्मनो ध्यानात् तदण्डमकरोद् द्विधा॥' (१।१०)। 'ताभ्यां स सकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे। मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥' (१।१३)। स च मनस्तत्पूर्वं महङ्कारं तत्पूर्वमपि महान्तं ततोऽपि पूर्वं त्रिगुणमव्यक्तं निर्माय तन्मात्रा इन्द्रियाणि च निर्माय तैः सर्वभूतानि निर्ममे (१।१५-१६)। सर्वाणि भूतानि तेषां नामानि कर्माणि च पृथक् पृथग् वेदशब्देभ्य एव निर्ममे। 'सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥' (१।२१)। स एव 'कर्मात्मनां च देवानां

करने में बड़ी मनमानी करते हैं। कृष्ण ने अन्तरिक्ष में स्थित ऋषियों को देखा, इसका अर्थ वे पर्वत से उतरते हुए ऋषियों को देखा, ऐसा करते हैं। भगवद्दत्त कहते हैं कि—'सामान्यतः तो ऋषिकार्य की समाप्ति कभी भी नहीं होती। तप से; योग से, ज्ञान से, वेदाभ्यास से कोई व्यक्ति कभी भी ऋषि बन सकता है' (पृ० २५६-२५७) यह कथन सर्वथा अनुचित हैं, 'ऋषिषूत्क्रामत्सु' इस निरुक्त वाक्य से ऋषियों का उत्क्रमण काल ज्ञात हो जाता है, अर्थात् उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ऐसा काल आता है, जब कि ऋषियों की परम्परा समाप्त हो जाती है।

मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में सृष्टि-प्रक्रिया इस तरह से वर्णित है—'सृष्टि से पहले सब कुछ अन्धकार में निमग्न था, वह क्या है; इसका किसी को ज्ञान नहीं था और न उसका कोई लक्षण ही किया जा सकता था। इसका स्वरूप अप्रतर्क्य, अविज्ञेय था। ऐसा लगता था मानों सब कुछ चारों तरफ से सुनसान है'। मेधातिथि प्रभृति टीकाकारों के अनुसार उस महारात्रि के बाद स्वयम्भू भगवान् ने स्वेच्छया शरीर धारण कर स्वयं अव्यक्तावस्था में रहकर इस सारे जगत् को अभिव्यक्त कर और अन्धकार को नष्ट कर स्वयं उस रूप में प्रकट हुए। 'तब इन्द्रियों से प्रकाशित न होने वाले, स्वयं सारी सृष्टि करने में समर्थ, अपनी इच्छा से शरीर धारण करने वाले और प्रकृति के प्रेरक भगवान् आकाश आदि महाभूतों को प्रकाशित करते हुए प्रकट हुए' यह वेदान्तवेद्य परमात्मा ही थे। 'यह परमात्मा इन्द्रियों से ग्रहण करने के अयोग्य, शरीर रहित, सूक्ष्म रूप, नित्य, सब प्राणियों का आत्मा और चिन्तन करने के अयोग्य है। वही अपने आप प्रकट हुआ। उस परमात्मा ने अनेक प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से ध्यान करके अपने शरीर से पहले जल को उत्पन्न किया और उस जल में शक्तिरूप बीज डाला, तब सुवर्णमय अण्ड की उत्पत्ति हुई। 'वह बीज सूर्य के समान कान्ति वाला सुवर्ण का अंडा हो गया और उसमें सब लोकों के कर्ता ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुआ। वह भगवान् ब्रह्मा उस अण्डे में एक वर्ष तक रहे, तब अपने ध्यान से उस अंडे के दो टुकड़े कर दिये। उन दोनों टुकड़ों से उस ब्रह्मा ने स्वर्ग और पृथिवी को बनाया और बीच में आकाश, आठों दिशा और जल के स्थिर स्थान, अर्थात् समुद्र को बनाया। फिर ब्रह्मा ने अपने अव्यक्त अंश से संकल्प-विकल्पात्मक मन को और मन की उत्पत्ति के पहले 'मैं' इस अभिमान से युक्त, काम करने में समर्थ अहंकार को उत्पन्न किया। अहंकार से पूर्व आत्मा के सहाय्यक महत्तत्त्व को और सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों को तथा अन्ततः धीरे धीरे रूप, रस, गन्ध आदि विषयों को ग्रहण करने वाली पाँच इन्द्रियों को उत्पन्न किया। इन सबकी सहायता से ब्रह्मा ने अन्ततः सभी प्राणियों की सृष्टि की। उस परमात्मा ने सभी प्राणियों के अलग-अलग नाम और उनके पृथक्-पृथक् कार्य वेद के शब्दों के आधार पर ही जानकर बनाये।

सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः। साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥' (१।२२) इति रीत्या मनुष्याणां देवानां च गणमसृजत्, यज्ञं यज्ञार्थं देवानां गणमसृजत्, ततः साध्यानां गणमसृजत्। एतेन देवा हविर्भुजो मनुष्येभ्यो भिन्ना एवेति विज्ञायते। तत्र मेधातिथिः—काश्चिद्देवता यागादिकर्मणीव स्वरूपत इतिहासे श्रूयन्ते यथेन्द्रो रुद्रो विष्णुरिति। अन्यासां याग एव देवतात्वं न स्वरूपतः, यथा—अक्षा ग्रावाणो रथाङ्गानि।

स एव प्रजानां कृतेऽग्निवायुरविभ्यः सनातनं वेदं प्रादुर्भावितवान्। 'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥' (१।२३)। सामाजिकास्तु ब्रह्मा अग्निवायुरविभ्यो वेदमधीतवानिति वर्णयन्ति, तत्तुच्छम्, 'वेदशब्देभ्य एवादौ' (१।२१) इति श्लोके ततः प्रागेव स्रष्टुर्ब्रह्मणः सकाशान्नामरूपादीनां निर्माणश्रवणात्। तस्यैव ब्रह्मणो मुखबाहूरुपादतो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिरुक्ता। 'लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ (१।३१) इति वचनात्। एतावता गुणकर्मादिभिः समाजेनैव ब्राह्मणादयो निर्मीयन्त इत्यपास्तम्। स विराडात्मनो देहं द्विधा कृत्वाऽर्धेन पुरुषोऽर्धेन नार्यभवत्। स तस्यां विराजमसृजत्। स एव मनुः 'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥' (१।३२) 'तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः' (१।३३)।

तदनन्तरं सुदुश्चरं तपस्तप्त्वा प्रजापतीनसृजत्। 'अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्। पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। प्रचेतसं वशिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥' (१।३४-३५)। एतेऽमितौजसो महर्षयः सप्तान्यान् मनूनसृजन्, भूरितेजसो देवान् देवनिकायान् स्वर्गब्रह्मलोकादीनि

उसी ब्रह्मा ने कर्मात्मक देवताओं के समूह को, अन्य प्राणियों को तथा सूक्ष्म साध्य-गणों को बनाया और उसी ने सनातन ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञों को उत्पन्न किया'। यहां पर उद्धृत मनुस्मृति के इस अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने मनुष्यों और देवताओं के गणों को उत्पन्न किया। यज्ञ के लिये पहले देवताओं के गण को और बाद में साध्यों के गण को उत्पन्न किया। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञ में प्रदत्त हविष्यान्न के भोक्ता देवगण मनुष्यों से भिन्न ही हैं। यहां पर मनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि का कहना है कि कुछ देवता यागादि कर्मों की ही तरह स्वरूपतः इतिहास-पुराण ग्रन्थों में भी वर्णित हैं। जैसे कि इन्द्र, रुद्र और विष्णु। कुछ देवता केवल यज्ञों के लिये ही हैं, स्वरूपतः उनकी कोई स्थिति नहीं है। जैसे कि अक्ष, ग्रावा और रथांग।

मनुस्मृति की यह सृष्टि प्रक्रिया आगे इस तरह से चलती है—'उसी ब्रह्मा ने प्रजा के कल्याण के लिये, यज्ञ की सिद्धि के लिये ऋक्, यजु और साम इन सनातन वेदों को अग्नि, पवन और सूर्य से क्रमपूर्वक प्रकट किया'। इस श्लोक का आर्यसमाजी यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्मा ने अग्नि, पवन और सूर्य से वेद का स्वयं अध्ययन किया। यह बात गलत है, क्योंकि इससे पहले ही 'वेदशब्देभ्य एवादौ' इस श्लोक में स्रष्टा ब्रह्मा वेद के शब्दों के आधार पर जगत् के सभी पदार्थों के नाम-रूप आदि का निर्माण करते हैं, यह बात कही जा चुकी है। मनुस्मृति में उसी ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघा और पाद से ब्राह्मण आदि वर्णों की उत्पत्ति वर्णित है—'ब्रह्मा ने लोकों की वृद्धि के लिये मुख, बाहु, जंघा और चरण से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रम से बनाया'। मनु के इस वचन के प्रमाण से गुण-कर्मादि के आधार पर समाज में ही ब्राह्मणादि वर्णों का अपने आप निर्माण कर लिया जाता है, इस उक्ति का खण्डन हो जाता है। वह ब्रह्मा अपने शरीर को दो भागों में बांट कर आधे से पुरुष और आधे से नारी बन गया और पुरुष के रूप में उसने विराट् की सृष्टि की। इसी बात को मनु ने इस तरह से कहा है—'प्रभु ब्रह्मा अपने देह को दो खंडों में विभक्त कर आधे से पुरुष और आधे से स्त्री बन गया और उसने स्त्री में विराट् पुरुष को उत्पन्न किया'। यहां पर मनु कहते हैं कि— हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों, उस विराट् पुरुष ने तप करके जिसको उत्पन्न किया, इस सारे जगत् के स्रष्टा के रूप में विद्यमान मैं वह मनु ही हूँ'।

इसके बाद मनु ने कठिन तपस्या करके प्रजापतियों की सृष्टि की। जैसा कि वहीं बताया गया है—'मैंने प्रजा को उत्पन्न करने की इच्छा से बड़ा कठिन तप करके पहले प्रजापति नामके दस महर्षियों को उत्पन्न किया'। इनके नाम ये हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद'। इन अत्यन्त तेजस्वी महर्षियों ने अन्य सात मनुओं की,

स्थानानि महर्षींश्चासृजन् । 'एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन् भूरितेजसः । देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ।।' (१।३६) । एतावता मनुष्येभ्यो विशिष्टा देवा ऋषयश्च । 'यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ।।' (१।३७) । यक्षरक्षःपिशाचा गन्धर्वाप्सरसोऽसुरा नागाः सुपर्णाः पितृगणा अपि मनुष्यभिन्ना एव । यक्षादीनां स्वरूपभेदश्चेतिहासप्रमाणक एव । यक्षा वैश्रवणानुचराः, रक्षांसि विभीषणादयः, एतेभ्योऽपि क्रूरतराः पिशाचाः । हिंस्रास्तु सर्वं एव । छद्मना केचित्प्राणिनां जीवमाकर्षन्त्यदृष्टया शक्त्या व्याधींश्च जनयन्तीत्यैतिहासिका मन्त्रवादिनश्चेति मेधातिथिः । गन्धर्वा देवानुचरा गीतनृत्तप्रधानाः । अप्सरसो देवगणिका उर्वश्याद्याः । असुरा देवशत्रवो वृत्रविरोचनहिरण्याक्षप्रभृतयः । नागा वासुकितक्षकादयः । सर्पाः प्रसिद्धाः । सुपर्णा गरुत्मत्प्रभृतयः पक्षिविशेषाः । पितरः सोमपाज्यपादिनामानः । स्वस्थाने देववद्वर्तन्ते, 'देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः । न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ।।' (म० ३।७२) इत्यत्र देवतापित्रादीनां दानमानादिकमुक्तम् । तेषामर्चनप्रकारोऽप्युक्तः । 'स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि । पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि वलिकर्मणा ।।' (म० ३।८१) अत्र नृभ्यो भिन्नानामृषिदेवादीनां स्वाध्यायहोमादिभिरर्चनमुक्तम् । नहि मनुष्याणां होमेन प्रयोजनम् । अत्र जीवन्तः पित्रादय एव न पितरः, तेषां तर्पणार्थं ब्राह्मणादीनां तर्पणविधानात् । 'एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयाज्ञिके । न चैवात्राशयेत् कञ्चिद् वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ।।' (म० ३।८३) । 'तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि । प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ।।" (मुण्डक० २।१।७) अत्र देवा मनुष्येभ्यः पृथगेवोत्पन्नाः । नहि कश्चिद्विद्वानेवोत्पद्यते, विद्वत्वस्य तद्भवीयप्रयत्नसाध्यत्वात् । साध्याश्च देवविशेषाः ।

देवनिकायों की, स्वर्ग-ब्रह्मलोक प्रभृति स्थानों की और महर्षियों की सृष्टि की, जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है—'इन महातेजस्वी महर्षियों ने अन्य सात मनुओं को, देवताओं तथा देवताओं के रहने योग्य स्थानों को और बड़े तेजस्वी महर्षियों को उत्पन्न किया'। इस वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि देवता और ऋषिगण मनुष्यों की अपेक्षा विशिष्ट जाति के प्राणी हैं। 'इन प्रजापतियों ने यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, सुपर्ण तथा पितरों के गणों को अलग अलग उत्पन्न किया'। इस श्लोक से यह भी स्पष्ट होता है कि यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सुपर्ण और पितृगण भी मनुष्यों से भिन्न हैं। यक्ष प्रभृति का भिन्न-भिन्न स्वरूप इतिहास-पुराण प्रभृति ग्रन्थों से ज्ञात होता है। यक्ष कुबेर के अनुचर हैं। विभीषण प्रभृति राक्षस कहे जाते हैं। पिशाच इन दोनों से अधिक क्रूर होते हैं। ये सभी हिंसक प्राणी हैं। यहाँ पर मेधातिथि का कहना है कि इनमें से कुछ धोखे से प्राणियों को मार डालते हैं और अपनी अदृष्ट शक्तियों की सहायता से रोग-पीड़ा आदि पैदा कर देते हैं। इस विषय में इतिहासविद् और मन्त्रवादी तान्त्रिकगण प्रमाण हैं। गन्धर्व देवताओं के अनुचर हैं। इनका प्रधान कार्य गीत, नृत्य आदि है। उर्वशी प्रभृति देवताओं की गणिकाएँ अप्सरा कहलाती हैं। देवताओं के शत्रु वृत्र, विरोचन, हिरण्याक्ष प्रभृति असुर कहे जाते हैं। वासुकि, तक्षक प्रभृति नाग हैं। सर्पलोक में ये आज भी प्रसिद्ध हैं। सुपर्ण गरुड प्रभृति पक्षी कहे जाते हैं। सोमपा, आज्यपा प्रभृति पितृगण इतिहास-पुराणों में प्रसिद्ध हैं। ये पितृलोक में देवताओं के समान रहते हैं। 'जो व्यक्ति देवता, अतिथि, सेवक, पितर और आत्मा इन पाँचों को अन्न नहीं देता, वह स्वास लेता हुआ भी नहीं जीता है, अर्थात् यह मरे के समान है' इस मनुस्मृति के श्लोक में देवता पितर प्रभृति के दान और मान (सत्कार) की बात कही गई है। एक अन्य श्लोक में उनकी पूजा की विधि भी बताई गई है—'वेदपाठ से ऋषियों को, होम से देवताओं को, श्राद्ध से पितरों को, अन्न से मनुष्यों को और बलिकर्म से भूतों को विधिपूर्वक पूजना चाहिये'। यहाँ पर मनुष्यों से भिन्न ऋषि, देवता प्रभृति का स्वाध्याय, हवन आदि से अर्चन उक्त है। मनुष्यों का होम से कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ पर केवल जीवित पिता प्रभृति ही पितर नहीं हैं, क्योंकि पितरों की तृप्ति के लिये ब्राह्मण प्रभृति को तृप्त करने का विधान मनुस्मृति में है :—'पंचयज्ञ में पितरों के निमित्त एक ही ब्राह्मण को जिमावे। इसमें वैश्वदेव के निमित्त किसी ब्राह्मण को भी न जिमावे'। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि 'उस ब्रह्म से अनेक देवताओं की उत्पत्ति हुई, साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधिग्रन्थों की उत्पत्ति भी उसी ब्रह्म से हुई'। यहाँ पर देवताओं की उत्पत्ति मनुष्यों से पृथक् वर्णित है। कोई भी

मानवधर्मशास्त्रे ब्रह्मावर्त-ब्रह्मर्षिदेश-मध्यदेश-आर्यावर्तादिदेशानां माहात्म्यातिशयवर्णनात् तद्भिन्न-देशानां म्लेच्छदेशेषु परिगणनाद् वहिर्देशादार्या अत्रागता इति मतमपास्तमेव। पौण्ड्र-चोल-द्रविड-काम्बोज-यवन-पारद-पह्लव-चीन किरात-दरद-खसादिजातयः क्षत्रिया एव ब्राह्मणादर्शनेन शूद्रत्वं गताः। अयं प्रसङ्गो मनुधर्मशास्त्रे द्वितीये-ऽध्याये सप्तदशं श्लोकमारभ्य त्रयोविंशं यावत् तथा दशमेऽध्याये (४३-४४) इत्यत्र द्रष्टव्यः। 'अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता। मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥' (वा० रा० १।५।६) इत्यार्षेतिहासानु-सारेणातीव प्राचीनकालाद् वर्णाश्रमिणामार्याणामावासभूमिर्भारतमासीदिति ज्ञायते।

यत्तु केश्चित् —'अथर्ववेदे—'आलिगी-विलिगी-उरुगूल-ताबुवम्'—शब्दाः चालडियनभाषागताः, तत्सङ्गाद्वेदे सन्निविष्टाः' (पृ० ४०) इति, तथा यच्च भाषाविज्ञानदृष्ट्या वेदगता जेन्दावेस्तागताश्च पाश्चात्याः शब्दा इति तत्तुच्छम्, निर्मूलत्वात्। वस्तुतो यस्य यूनानदेशस्य सभ्यतामनुसृत्य पाश्चात्यैरितिहासादिकं परिकल्प्यते, तस्य प्रामाणिका इतिहासाः सर्वथापि नोपलभ्यन्ते। वर्तमाना यूनानदेशीया भाषा कदा प्रचलिता, कदा कदा तत्र कानि कानि परिवर्तनानि जातानीति कः स्पष्टं वक्तुं शक्नोति। भारत एव विक्रमात् पूर्वस्मिन् ३०७९ वत्सरे महाभारतकाले संस्कृतग्रन्था महाभारतादयो निर्मीयन्ते स्म। अग्निवेशीयचरकसंहिता आपस्तम्बबौधायनादिसूत्रग्रन्थाः प्रचलिता आसन्। संस्कृतभाषा तु ततोऽपि बहोः कालात् पूर्वं प्रचलितासीत्। एतेन 'ऋग्वेदे (६।७५।१७) इत्यत्र समागतो बाणशब्दोऽनार्यभाषाया वेदे समागतः' (पृ० ४३) इत्यादि, तदपि निर्मूलम्, वैदिकभाषाया एवास्य शब्दस्य तत्र प्रसारसिद्धेः। अस्या भाषायास्तु पञ्चसहस्रवत्सरेभ्यः पूर्वमेव 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३। २९) इति ब्रह्मसूत्रान्नित्यत्वमेव साधितम्। प्राचीने 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इति ऋग्वेदे वैदिक-वाङ्मयस्य नित्यत्वमेवोक्तम्।

व्यक्ति विद्वान् नहीं उत्पन्न होता। विद्वत्ता उस जन्म में किये गये प्रयत्न से प्राप्त होती है। साध्य शब्द से यहाँ पर देवताविशेष बोधित होते हैं।

मानव धर्मशास्त्र में ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश, आर्यावर्त प्रभृति देशों का बड़ा माहात्म्य वर्णित है और इनसे भिन्न देशों का म्लेच्छ देशों में परिगणन किया गया है। इससे इस मत का खण्डन हो जाता है कि आर्य लोग बाहर से यहाँ आये थे। पौण्ड्र, चोल, द्रविड, काम्बोज, यवन, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खस प्रभृति जातियाँ पहले क्षत्रिय थीं। ब्राह्मणों का संपर्क न होने से ये शूद्रों के समान आचरण वाली हो गई। यह प्रसंग मनु के धर्म-शास्त्र के दूसरे अध्याय के १७ वें श्लोक से लेकर २३ श्लोक तक और दसवें अध्याय के ४३-४४ श्लोकों में देखा जा सकता है। 'वहाँ पर अयोध्या नाम की लोकविश्रुत नगरी थी, जिसका कि मानव-श्रेष्ठ मनु ने स्वयं निर्माण कराया था' ऋषि वाल्मीकि के इस इतिहास ग्रन्थ रामायण के प्रमाण पर ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने वाले आर्यों की निवास भूमि यह भारत देश ही थी।

'कुछ लोगों का कथन है कि अथर्ववेद के आलिगी, विलिगी, उरुगूल और ताबुव शब्द चालडियन भाषा के हैं। उन्हीं के संसर्ग से ये शब्द वेद में आये' (पृ० ४०), यह भी कहा जाता है कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से वेद, जेन्दावेस्ता और पाश्चात्य भाषाओं के अनेक शब्द एक से हैं' (पृ० ४०)। यह बात भी निराधार है। वस्तुतः जिस यूनान देश की सभ्यता का सहारा लेकर पाश्चात्य विद्वान् इतिहास की परिकल्पना करते हैं, उसका कोई भी प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता, वर्तमान यूनान देश की भाषा कब प्रचलित हुई? कब कब उसमें किस किस तरह के परिवर्तन हुए? इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर कौन दे सकता है? भारत में ही यह विशेषता है कि यहाँ पर विक्रम से ३०७९ वर्ष पूर्व भी महाभारत काल में महाभारत जैसे संस्कृत के ग्रन्थ निर्मित होते थे। उस समय अग्निवेश की चरकसंहिता, आपस्तम्ब, बौधायन प्रभृति के सूत्र-ग्रन्थ प्रचलित थे। संस्कृत भाषा तो इससे भी बहुत पहले प्रचलित थी। इन सब प्रमाणों के रहते 'ऋग्वेद के ऊपर अंकित मन्त्र में आया बाण शब्द अनार्य भाषा से वेद में लिया गया है'. (पृ० ४३) इत्यादि कथन सर्वथा निर्मूल हैं। इसके विपरीत इससे यही सिद्ध होता है कि वैदिक भाषा से यह शब्द वहाँ भी प्रचलित हुआ। आज से पाँच हजार

• अस्थिशास्त्र-प्राणिशास्त्र-विकाशवादादिविषये सुभृशो विचारस्त्वस्मन्निर्मिते हिन्दीभाषामये ग्रन्थे मार्क्सवादरामराज्याख्ये मनोहृत्य द्रष्टव्यः।

यदुक्तम्—'ग्रन्थवाचिब्राह्मणशब्दस्य वेदे मन्त्रसंहितासु नोपलम्भः सम्भवति, ब्राह्मणग्रन्थस्य पश्चात् प्रकाशितत्वात्' (पृ० १) इति, तत्तुच्छम्, मन्त्रब्राह्मणादिशाखाग्रन्थेभ्यो भिन्नस्य वेदग्रन्थस्याद्याप्यसिद्धत्वात्। तैत्तिरीयसंहिताब्राह्मणादिषु (तै० सं० ३।१।९।३० तथा ३।५।२।१; शतपथ० ४।६।९।२०) त्वदुद्धरणरीत्या ब्राह्मणशब्ददर्शनात्। 'ब्राह्मणं ब्रह्मसङ्घाते वेदभागे नपुंसकम्' इति मेदिनीकोषे (६७) ब्राह्मणस्य वेदभागत्वाङ्गीकाराच्च। 'मन्त्राः सब्राह्मणाः प्रोक्तास्तदर्थं ब्राह्मणं स्मृतम्। कल्पना च तथा कल्पाः कल्पश्च ब्राह्मणस्तथा ॥' (विष्णुधर्मोत्तर० ३।१७)। यदुक्तम्—'मन्त्रैः सार्धं ब्राह्मणानां प्रवचनं कृतम्, तेषां मन्त्राणां व्याख्यानाद्यर्थं ब्राह्मणं ज्ञातव्यमिति तद्व्याख्यानं कृतम्' (पृ० १) इति, तत्तुच्छम्, व्याख्यानमित्यस्य कपोलकल्पितत्वात्। श्लोकार्थस्त्वयं यद् ब्राह्मणैः सार्धं मन्त्राः प्रोक्ताः। मन्त्राणां विनियोगार्थं ब्राह्मणं स्मृतम्। ब्राह्मणैरेव प्राधान्येन मन्त्राणां विनियोगात्। कल्पाः कल्पसूत्राणि च कल्पा भवन्ति, ब्राह्मणमूलकत्वात्। गौण्या वृत्त्या कल्पोऽपि ब्राह्मण उच्यते। ब्राह्मणेन तुल्यो ब्राह्मण इत्यर्थः।

'य इमे ब्राह्मणा प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम्। एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव ॥' (म० भा० उद्यो० प० १७।१०)। यदुक्तम्—'ब्राह्मणं ब्रह्मसङ्घाते वेदभागे नपुंसकम्' इति रीत्या सर्वं ब्राह्मणं नपुंसकलिङ्गं दृश्यते। उक्तस्थलद्वये पुल्लिङ्गोऽपि ब्राह्मणशब्दो दृश्यते' (पृ० १-२) इति, तन्न, पूर्ववचने ब्राह्मणव्याख्यानभूतकल्पेष्वेव पुल्लिङ्गब्राह्मणशब्दप्रयोगात्। महाभारतवचने तु 'य इमे ब्रह्मणा प्रोक्ता मन्त्राः' (म० भा०, उ० प० १७।९) इत्येव पाठो न तु ब्राह्मणा इति पाठ इति कृत्वा दोषविरहात्। ब्राह्मणेन प्रोक्ता विधयो ब्राह्मणा इत्यर्थो वा।

वर्ष पहले वर्तमान बादरायण ने इस भाषा की नित्यता को 'अत एव च नित्यत्वम्' इस सूत्र से सिद्ध किया है। उससे भी प्राचीन ऋग्वेद के 'वाचा विरूपनित्यया' इस मन्त्र में वैदिक वाङ्मय की नित्यता बताई गई है।

अस्थिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, विकासवाद आदि के विषय में हमने अपने हिन्दी भाषा में निर्मित ग्रन्थ "मार्क्सवाद और रामराज्य' में बड़े विस्तार से विचार किया है। इस विषय को मनोयोगपूर्वक वहीं देखना चाहिये।

यहाँ कहा गया है कि—'वेद अर्थात् मन्त्र संहिताओं में ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द का अभाव है। ब्राह्मणों का प्रवचन मन्त्रों के प्रकाश के पीछे हुआ। इसलिये मन्त्रों में इस शब्द का अस्तित्व मिलना भी न चाहिये' (पृ० १)। यह बात एकदम निराधार है, मन्त्र, ब्राह्मण, शाखा से भिन्न वेद नाम का कोई ग्रन्थ आज प्रसिद्ध नहीं है। तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण प्रभृति में आपके ही दिये गये उद्धरणों के प्रमाण पर ब्राह्मण शब्द विद्यमान है। मेदिनीकोष में स्पष्ट ही ब्राह्मण को वेद का भाग माना गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि—'ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों के साथ ब्राह्मणों का प्रवचन मिलता है, इसी लिये उनको ब्राह्मण कहा जाता है'। भगवद्दत्त ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'मन्त्रों के साथ ब्राह्मणों के प्रवचन किये गये। उन्हीं मन्त्रों के (व्याख्यान आदि के) लिये ब्राह्मण जानना चाहिये' (पृ० १), किन्तु यह अर्थ गलत है, क्योंकि यहाँ पर व्याख्यान की बात कपोल-कल्पित है। इस श्लोक का सही अर्थ इस प्रकार से है—'ब्राह्मणों के साथ मन्त्रों का भी प्रवचन किया गया है। मन्त्रों के विनियोग को ब्राह्मण बताते हैं, क्योंकि प्रधानतः ब्राह्मण ग्रन्थों से ही मन्त्रों का विनियोग मालूम होता है कि अमुक मन्त्र का अमुक कार्य में विनियोग होता है। कल्प अर्थात् कल्पसूत्र भी ब्राह्मणमूलक होने के कारण कल्पना अर्थात् विनियोग के बोधक होते हैं, अतः गौणी वृत्ति से कल्पसूत्र भी ब्राह्मण कहे जा सकते हैं। क्योंकि ये कल्पसूत्र विनियोग बताने में ब्राह्मणों के समान ही हैं'।

भगवद्दत्त ने (पृ० २) 'जो ये ब्राह्मण और मन्त्र गोमेध में पढ़े गये, हे वासव ! ये आपको प्रमाण हैं या नहीं' इस महाभारत के वचन को उद्धृत कर कहा है कि 'ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्' इस मेदिनीकोष के प्रमाण पर सभी ब्राह्मण ग्रन्थ नपुंसक लिंग से ही बोधित होते हैं, किन्तु विष्णुधर्मोत्तर और महाभारत में ब्राह्मण शब्द पुल्लिग में भी देखा गया है (पृ० १-२) यह कथन भी गलत है, क्योंकि पहले उदाहरण में ब्राह्मणों के व्याख्यानभूत कल्पों के लिये ही ब्राह्मण शब्द का पुल्लिग में प्रयोग हुआ है। महाभारत के वचन में तो 'ब्रह्मणा प्रोक्ताः' यह पाठ है, 'ब्राह्मणाः प्रोक्ताः' यह नहीं। इस तरह से ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द के लिये

यदुक्तम्—'ब्राह्मणान्तर्गतविद्यानां विषयाः संक्षेपेणैकस्मिन्नथर्वमन्त्रे संगृहीताः। यथा—'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्' (अथर्व० १५।६।११) एतेन मन्त्राणामनन्तरं ब्राह्मणादीनां प्रकाशनान्मन्त्रेषु न तद्विषयाणामुल्लेखसम्भवः' (पृ० २) इति, तदपास्तम्, मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरप्यनादित्वात्। पौर्वापर्यं च मन्त्रेष्वप्यस्त्येव।

यदुक्तम्—'ब्राह्मणशब्दस्यार्थो भाष्यादिषु स्यान्नैव लिखितः, सायणाचार्यस्तु मन्त्रभिन्नं ब्राह्मणं लिखितवान्' इति, तदसङ्गतम्, 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (पू० मी० सू० २।१।३०) इति जैमिनिनापि तथैवोक्तत्वात्। यदुक्तम्—'व्याकरणे ब्राह्मणशब्दस्य ब्रह्मसम्बन्धीत्यर्थः। 'ब्रह्म वै मन्त्रः' (श० ७।१।१।५), 'वेदो ब्रह्म' (जै० उ० ४।२५।३), 'ब्रह्म वै मन्त्रांशः' इति पाठस्तु नास्त्येव, किन्तु 'ब्रह्म वै मन्त्रः' इत्येव पाठः। 'वेदो ब्रह्म' इति पाठो जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मणे नास्त्येव। तेनैतरेयादयो ग्रन्था मन्त्रव्याख्यानरूपास्तस्माद् ब्राह्मणशब्देनोच्यन्ते। ब्रह्मणां वेदानां व्याख्यानानि ब्राह्मणानि इति दयानन्दसम्मतम् (पृ० २-३) इति, तदसङ्गतम्, तादृशव्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्। ब्रह्मशब्दो जगत्कारणे ब्रह्मण्यपि वर्तते, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते.......तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' (तै० उ० ३।१) इति श्रुतेः, 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इति ब्रह्मसूत्राच्च ब्रह्मपर्यवसायित्वाद्वेदेऽपि ब्रह्मपदप्रयोगः। वेदश्च मन्त्र-ब्राह्मणात्मक एव। गीतायामपि—'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' इत्यत्र मन्त्रब्राह्मणत्मके वेदे ब्रह्मपदं प्रयुक्तम्। न च मन्त्र एव, मन्त्रेषु कर्मणां विधानादर्शनात्। ब्राह्मणेष्वेव तु तद् दृश्यते।

यज्ञक्रियाव्याख्यानं ब्राह्मणमिति यद्यप्यर्थतः सत्यम्, तथापि न ब्राह्मणशब्दार्थः, कल्पेष्वपि तद्व्याख्यान-दर्शनात्। 'दुरारोहणं रोहति, तस्योक्तं ब्राह्मणम्' (ऐ० ब्रा० ६।२५) इत्यपि न ब्राह्मणशब्दार्थनिरूपणम्, तत्तदर्थ-

कहीं भी पुल्लिंग प्रयोग नहीं मिलता, अतः उक्त दोष का कोई प्रसंग ही नहीं है। भगवद्दत्त संमत पाठ में भी 'ब्राह्मण ग्रन्थों से निष्पाद्य विधियाँ ब्राह्मण कहलाती हैं' इस तरह की व्युत्पत्ति के आधार पर पुल्लिंग प्रयोग को गतार्थता की जा सकती है।

यह भी कहा गया है कि—'ब्राह्मणों में जो विषय संगृहीत हैं, उन्हीं विषयों का कथन अथर्ववेद के एक मन्त्र में मिलता है—'तमितिहासश्च०' इस मन्त्र में किसी ग्रन्थविशेष का संकेत नहीं है। सामान्य रूप से विद्याविशेषों का वर्णन है। इन्हीं इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि का संग्रह ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। इस तरह से मन्त्रों के बाद ब्राह्मणों का प्रकाशन होने से मन्त्रों में ब्राह्मणों के विषयों का समावेश नहीं मिल सकता' (पृ० २) यह कथन भी गलत है, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही अनादि माना जाता है। इस तरह का पौर्वापर्य तो मन्त्रों में भी विद्यमान है।

भगवद्दत्त ने पुनः लिखा है कि—'संस्कृत के ग्रन्थकारों, भाष्यकारों, वार्तिककारों और टीकाकारों ने ब्राह्मण शब्द का अर्थ कहीं शायद ही लिखा हो। सायण प्रभृति भाष्यकार लक्षणमात्र करके ही सन्तुष्ट हो गये हैं। अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में सायण कहते हैं—'जो परम्परा से मन्त्र नहीं वह ब्राह्मण है और जो ब्राह्मण नहीं वह मन्त्र है' (पृ० २), किन्तु यह भी गलत आक्षेप है, क्योंकि 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इस सूत्र में महर्षि जैमिनि ने भी ब्राह्मण शब्द का यही अर्थ किया है। पुनः कहा गया है—'व्याकरण की रीति से ब्राह्मण शब्द का अर्थ ब्रह्म अर्थात् मन्त्र या वेद संबन्धी है। जैसे कि 'ब्रह्म वै मन्त्रः' और 'वेदो ब्रह्म' यहाँ पर। इसलिये ये ऐतरेय आदि ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेदों का व्याख्यान हैं, इसी से इनका नाम ब्राह्मण रखा है। इस अर्थ में स्वामी दयानन्द की भी संमति है कि—ब्राह्मण ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेदों के व्याख्यान हैं (पृ० २-३)। यह भी असंगत उक्ति है। इस तरह की व्याख्या सर्वथा निराधार है। ब्रह्म शब्द जगत् के कारणभूत ब्रह्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। 'जिससे इन सब भूतों की उत्पत्ति होती है'''उसको तुम जानो, वही ब्रह्म है' यह तैत्तिरीय श्रुति इसमें प्रमाण है। 'जिससे इस जगत् की सृष्टि आदि होती है, वह ब्रह्म है' इस बादरायण सूत्र से भी उसी ब्रह्म की सिद्धि होती है। सारे वेदों का पर्यवसान ब्रह्म में ही होता है, इसी लिये वेदों को भी ब्रह्म कह दिया जाता है और यह वेद मन्त्र और ब्राह्मण, उभयात्मक है। गीता में 'सारे कर्म अर्थात् यज्ञ प्रभृति को तुम ब्रह्म से उद्भूत जानो' यहाँ पर मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद के लिये ही ब्रह्म पद प्रयुक्त हुआ है, केवल मन्त्रों के लिये नहीं, क्योंकि मन्त्रों में कर्मों का विधान नहीं मिलता, यह तो ब्राह्मण ग्रन्थों में ही विहित है।

'ब्राह्मणों में यज्ञ संबन्धी क्रिया की व्याख्या मिलती है' (पृ० ३), यह कथन यद्यपि अर्थ की दृष्टि से ठीक है, तथापि इससे ब्राह्मण शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि इस तरह की व्याख्या कल्पसूत्रों में भी मिलती है। 'दुरोहणं रोहति तस्योक्तं

बोधकब्राह्मणानामिव मन्त्राणामपि दर्शनात् । 'तदुक्तमृषिणा' इत्यादिभिर्ब्राह्मणोक्तेऽर्थे मन्त्राणामप्युल्लेखदर्शनात् । 'तदेषाभ्युक्ता—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१), 'तदेष श्लोको भवति' (बृ० २।२), 'यद्गोरिवीतं तस्योक्तं ब्राह्मणम्' (ऐ० ८।२) इत्यत्रापि गोरिवीतसामबोधकं ब्राह्मणमित्येवार्थः । यथैव तत्तदर्थबोधका मन्त्रा भवन्ति, तथैव ब्राह्मणान्यपीति (पृ० ३-४) । एवमेव श्रौतगृह्यादिसूत्रेषु 'विज्ञायते' इत्युक्त्वा ब्राह्मणोद्धरणेनापि न ब्राह्मणस्य व्याख्यानरूपत्वं सिद्धयति, प्रमाणभूतवचनेनावगम्यत इत्येव तदर्थः (पृ० ४) ।

द्विविधं ब्राह्मणम्—कर्मब्राह्मणं कल्पब्राह्मणमित्यादिकं तु तदवान्तरभेदनिरूपणमेव । 'अनुब्राह्मणादिनिः' (पा० ४।२।६२), 'अनुब्राह्मणं च भवति—अष्टावेतानि हवींषि । अथ राजसूयस्यानुब्राह्मणमित्यादिशिक्षाव्यवहार-दर्शनादेते ब्राह्मणानामवान्तरभेदा एव । वस्तुतस्तु मन्त्रभागेऽपि स्पष्टमेव ब्राह्मणग्रन्थरूपवेदस्योल्लेखो दृश्यते । तत्र ब्राह्मणमेव मन्त्रोपलक्षकमपि । तथाहि—'यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि बोलपेषु । यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद्ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ।।' (अथर्व० का० ७।६८।१) मेघादियुक्ते अन्तरिक्षे यदि वाते ब्राह्मणं आस यच्चोपले वृक्षेषु चास यश्चाद्यमानं व्यक्तं पठ्यमानं ग्राम्या आरण्याश्च अश्रवन् अशृण्वन् तन्निस्तेजो यातयाममनध्या-याध्ययनेनोपहतं तदेतद् ब्राह्मणं त्वत्प्रसादात्तेजस्वि सन्नस्मान् उपैतु । ब्राह्मणपदमत्र मन्त्रब्राह्मणवेदोपलक्षणार्थम् । 'पुन-र्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थामाकल्पयन्तामिहैव (७।६९।१) अत्रापि ब्राह्मणशब्दो ब्राह्मणभागोपलक्षितमन्त्रब्राह्मणपरः मन्त्रौ चात्रैवान्यत्र व्याख्यातौ ।

यत्तु कीथप्रभृतिभिर्भगवद्दत्तेन च ऐतरेयब्राह्मणस्येतरब्राह्मणापेक्षया प्राचीनत्वे श्वेतकेतोरारुणेश्चानुल्लेखो हेतुत्वेनोच्यते (पृ० ६), तत्तुच्छम्, श्वेतकेत्वादीनां सत्त्वेऽपि तदनुल्लेखसम्भवात् । परमेश्वरशब्दस्य प्राचीनत्वेऽपि

ब्राह्मणम्' इस ऐतरेय वचन में भी ब्राह्मण शब्द के अर्थ का निरूपण नहीं किया गया है, क्योंकि उस उस पद के अर्थबोधक ब्राह्मण वाक्यों की तरह मन्त्र वाक्य भी कभी कभी व्याख्यानात्मक मिलते हैं । 'तदुक्तमृषिणा' इत्यादि वाक्यों की सहायता से ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिपादित विषय में मन्त्रों को भी प्रमाण रूप से उद्धृत किया जाता है । 'तदेषाऽभ्युक्ता', 'तदेष श्लोको भवति' इत्यादि वाक्यों के सहारे भी मन्त्रभाग को ब्राह्मण भाग की पुष्टि के लिये उद्धृत किया जाता है । 'यद्गोरिवीतं तस्योक्तं ब्राह्मणम्' यहाँ पर गोरिवीत नामक साम का बोधक ब्राह्मण, यही अर्थ होता है । इस तरह से जैसे ब्राह्मण वाक्य मन्त्र वाक्यों के अर्थ के बोधक होते हैं, उसी तरह से मन्त्र वाक्य भी ब्राह्मण वाक्यों की व्याख्या करते हुए मिलते हैं (पृ० ३-४) । इसी तरह से श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रों में तथा निरुक्त प्रभृति ग्रन्थों में 'इति विज्ञायते' ऐसा कहकर ब्राह्मण ग्रन्थों को उद्धृत किया जाता है (पृ० ४), किन्तु इससे भी ब्राह्मण ग्रन्थ व्याख्यानात्मक हैं, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता । उसका केवल इतना ही अर्थ है कि यह बात ब्राह्मणों के प्रमाणभूत वचनों से भी ज्ञात होती है ।

'ब्राह्मण ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं—एक कर्म ब्राह्मण और दूसरा कल्प ब्राह्मण' (पृ० ४-५) इत्यादि कथन भी केवल उनके अवान्तर भेद को ही प्रदर्शित करते हैं । 'अनुब्राह्मण से इनि प्रत्यय होता है', 'इस विषय में अनुब्राह्मण का प्रमाण है कि यहाँ पर आठ आहुतियाँ दी जाती हैं', 'यह राजसूत्र का प्रतिपादक अनुब्राह्मण है' (पृ० ५) इन सब वाक्यों में भी ब्राह्मणों के अवान्तर भेद ही प्रदर्शित हैं, क्योंकि शिक्षा और व्यवहार में ऐसा ही देखा जाता है । वस्तुतस्तु मन्त्रभाग में भी स्पष्ट ही ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है और वे भी वेद ही माने जाते हैं । यहाँ पर ब्राह्मण शब्द ही मन्त्रभाग का भी द्योतक माना जाता है । जैसे कि—'यद्यन्तरिक्षे' इस अथर्ववेद के मन्त्र में आया ब्राह्मण शब्द मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदभाग का उपलक्षक है । इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार है—'आकाश के मेघाच्छन्न रहने पर, आँधी चलने पर जो मैंने ब्राह्मण का उच्चारण किया, शून्य गृह और वृक्षों के झुंड में जो मैंने उच्चारण किया, स्पष्ट रूप से उच्चारित मेरे वेदभाग को जो ग्राम्य और आरण्य प्राणियों ने सुना, इन अनध्याय प्रसंगों में अध्ययन करने से मेरा स्वाध्याय निस्तेज, निष्प्रभाव हो गया है, वह ब्राह्मण आपके प्रसाद से तेजस्वी बन जाय' । इसी तरह से 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' इस अथर्ववेद के मन्त्र में भी ब्राह्मण शब्द ब्राह्मण और मन्त्र भाग दोनों का उपलक्षक है । इन मन्त्रों की इसी ग्रन्थ में अन्यत्र विस्तार से व्याख्या की गई है ।

तदनुल्लेखात्। संहितामन्त्राणां सत्त्वेऽपि शङ्कराचार्यादिभिर्बहूनां मन्त्राणामनुल्लेखदर्शनात्। ऐ० ६।३ बुडिलआश्वतराश्व्युल्लेखेनापि न महिदासस्य तदपेक्षयाऽर्वाचीनत्वं विज्ञायते, वेदशब्दानां व्यक्तिघटनापूर्वकत्वस्य निराकरणात्। अन्यथा मन्त्राणामप्यर्वाचीनत्वप्रसङ्गः। यैस्तर्कैः पाश्चात्त्यैर्मन्त्राणामर्वाचीनत्वं साध्यते, तैरेव सामाजिकैर्ब्राह्मणानामर्वाचीनत्वं साध्यते। आख्यायिकानां सुखाववोधार्थकत्वेन घटनाभिर्नामभिश्च मन्त्राणामिव ब्राह्मणानामपि कालनिर्धारणमशक्यमेवेत्युक्तमेव। एतेन 'एगलिङ्गानुसारेण शतपथस्य (१२-१०-११) इति कानिचित् काण्डानि नवीनानि' इत्यप्युपास्तम् (पृ० १०), निर्मूलत्वात्।

यत्तु भगवद्दत्तेन 'अनुसूर्लक्ष्यलक्षणं सर्वसादेर्द्विगोश्चलः। इकन्पदोत्तरपदात् शतषष्टेः षिकन् पथः॥' (म० भाष्य० ४।२।६०) अत्र शतपथषष्टिपथोल्लेखेन प्रथमकाण्डमारभ्य नवमं यावत् षष्टयध्यायदर्शनेन च नवकाण्डपर्यन्तमेव षष्टिपथनाम्नैवायं ग्रन्थ आसीदिति वेवरमतं समर्थितम् (पृ० ९), तत्तु तस्य ब्राह्मणद्वेषमूलकमेव। शतपथान्तर्गतषष्टिपथसिद्धावपि शतपथाभावासिद्धेः। पाश्चात्त्याः प्रसिद्धाया ऋक्संहिताया अपि दशमस्य मण्डलस्य बहूनां सूक्तानां चार्वाचीनत्वं जल्पन्ति, तत्त्वशुद्धमेव। घटनानामाद्युल्लेखेन मन्त्रब्राह्मणादिग्रन्थानां कालनिर्धारणासम्भव एव, नामादिसृष्टेरेव वैदिकशब्दपूर्वकत्वात्। एवमेव कालैण्डमतमप्यसङ्गतमेव।

'ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्। चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥१६॥ ""सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ॥२२॥ ···कर्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया ॥२३॥' (म० भा० शा० प० ३१८) इति महा-

कीथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् और भगवद्दत्त ऐतरेय ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मणों की अपेक्षा प्राचीन है, इस बात को सिद्ध करने के लिये कहते हैं कि ऐतरेय में श्वेतकेतु अथवा प्रसिद्ध आरुणि का उल्लेख नहीं है (पृ० ६-७)। किन्तु यह गलत बात है, क्योंकि श्वेतकेतु की स्थिति रहने पर भी उनका उल्लेख यहाँ न किया गया हो, ऐसा संभव हो सकता है। परमेश्वर शब्द प्राचीन है, किन्तु उसका भी कुछ प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख नहीं है। अनेक संहिता मन्त्रों की विद्यमानता में भी उनका उल्लेख शंकराचार्य प्रभृति ने नहीं किया है, तो क्या उन मन्त्रों का इससे अभाव सिद्ध किया जा सकता है? ऐतरेय ब्राह्मण में बुडिल आश्वतराश्वि का उल्लेख होने पर भी महिदास को उससे अर्वाचीन नहीं सिद्ध किया जा सकता (पृ० ७), क्योंकि वेद के शब्द व्यक्तियों के इतिहास से संबद्ध हैं, इस बात का निराकरण हम कर चुके हैं। अन्यथा इसी प्रमाण से मन्त्रों की भी अर्वाचीनता सिद्ध होने लगेगी। जिन तर्कों के सहारे पाश्चात्य विद्वान् मन्त्रों की अर्वाचीनता को सिद्ध करते हैं, उन्हीं के आधार पर आर्यसमाजी ब्राह्मणभाग की अर्वाचीनता को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। आख्यायिकाएँ वैदिक अर्थ को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये हैं, इनका घटनाओं से और व्यक्तियों के नामों से कोई संबन्ध नहीं है, इस तरह से इनके आधार पर मन्त्रभाग की ही तरह ब्राह्मणभाग का भी काल निर्धारण कथमपि संभव नहीं हो सकता। एगलिंग प्रभृति कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि शतपथ ब्राह्मण के कुछ काण्ड नवीन हैं (पृ० १०)। इस बात का खण्डन भी उक्त तर्कों के सहारे हो जाता है। पाश्चात्य विद्वानों की इस तरह की बातें सर्वथा निर्मूल हैं।

भगवद्दत्त ने अपने इतिहास में (पृ० ९) व्याकरण महाभाष्य में उद्धृत 'अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे०' प्रभृति कारिका के आधार पर कहा है कि 'इसमें शतपथ और षष्टिपथ का कथन मिलता है। अब यह आश्चर्य की बात है कि इस शतपथ के प्रथम नौ काण्डों में ६० ही अध्याय हैं। वेबर ने यह सुझाया है कि संभवतः प्रथम नौ काण्ड ही कभी षष्टिपथ माने जाते जाते थे'। इस तरह की उक्तियां इन लोगों के केवल ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रति द्वेषबुद्धि को ही व्यक्त करती हैं। शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत षष्टिपथ की सिद्धि भले ही हो जाय, किन्तु इससे शतपथ के अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है? पाश्चात्य विद्वान् प्रसिद्ध ऋक्संहिता के दसवें मण्डल के अनेक सूक्तों को अर्वाचीन सिद्ध करते हैं। इस बात को भगवद्दत्त भी क्या अशुद्ध नहीं मानते? घटना, नाम आदि के उल्लेख के आधार पर मन्त्रभाग अथवा ब्राह्मणभाग दोनों का ही काल-निर्धारण कथमपि संभव नहीं हो सकता। इन नामों की सृष्टि भी वैदिक शब्दों के आधार पर ही की जाती है। इसी पद्धति से कालैण्ड प्रभृति अन्य पाश्चात्य विद्वानों के मत भी असंगत ही माने जायेंगे।

'याज्ञवल्क्य ने परिशेष, संग्रह और रहस्य युक्त संपूर्ण शतपथ ब्राह्मण को परम प्रसन्न मुद्रा में बनाया', 'हे नराधिप! भगवान् सूर्य की कृपा से मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ', 'मैं इस शतपथ के निर्माण में प्रवृत्त हुआ और इसको पूरा भी कर सका'

भारतानुसारेण व्यासस्य दृष्टया शतपथस्य प्रामाणिकत्वम् । याज्ञवल्क्यस्य शतपथकर्तृत्वं तु ऋषीणां मन्त्रकर्तृत्वमिवौपचारिकमेव । '६-९ काण्डेषु शाण्डिल्यस्यैव नाम दृश्यते न याज्ञवल्क्यस्य । तेन तद्भिन्नव्यक्तिकर्तृकमिति वेबर-एगलिङ्गमतं भ्रान्तमेव, महाभारतवचनविरोधात् । वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्या विज्ञाता । 'समान एवं चाभेदात्' (ब्रह्मसूत्र ३।३।१९) इत्यत्र—'वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्या विज्ञाता' इति शाङ्करभाष्यम् । श्रीमच्छङ्करभगवत्पादानुसारेण तद्विद्यायाः शाण्डिल्यनाम्ना प्रसिद्धेरेव तदुल्लेखो न तत्प्रोक्तत्वेन । अतस्तदपि याज्ञवल्क्यप्रोक्तमेव । यथा काठके नाचिकेताग्निविद्या नचिकेतोनाम्ना प्रसिद्धा आम्नाता । सा च कठप्रोक्ता, तद्वत् । भगवद्दत्तोऽत्र परमादरणीयं विश्ववन्द्यमाचार्यरत्नं शङ्कराचार्यमपि 'शङ्कर लिखता है' (पृ० १०) इत्येवंविधया निम्नस्तरीयभाषया एकवचनेन स्मरति ।

एतेन विवेचनेन 'शतपथे कुबेर-वैश्रवणोल्लेखः, अनेकेषामृषीणां राज्ञां च वर्णनं दृश्यते । तेन तत्रत्याः काश्चन सामग्र्यः प्राचीनाः काश्चन नवीनाः' इति यदुक्तं भगवद्दत्तेन (पृ० १२), तदपि तुच्छम्, अनाद्यनन्ते वेदे प्राचीनार्वाचीनसर्ववस्तुप्रतिपादनेऽपि दोषाभावात्, सृष्टेः शब्दपूर्वकत्वसिद्धान्तात् । पाश्चात्यास्तु संहितासम्बन्धेष्वपि तथैव प्रलपन्ति । अङ्ग-वङ्ग-कलिङ्गादिदेशविशेषेषु प्रचारस्त्वाधुनिकप्रचाराभिप्रायेण ।

कृष्णयजुर्वेदीयसंहिताब्राह्मणादीनामपि विषये भगवद्दत्तादीनां प्रलापा (पृ० १३-१४) उपेक्षणीया एव, शाकल्यादिशाखानामिव तेषामपि वेदत्वाविशेषात् । यत्तु केनचित् ताण्ड्यादिषु स्वराभावादवेदत्वमुच्यते, तदपि तुच्छम्,

महाभारत के इन सब वचनों के आधार पर केवल यही सिद्ध होता है कि व्यास शतपथ ब्राह्मण को वेद के समान ही प्रमाण मानते हैं । यहाँ पर याज्ञवल्क्य को शतपथ का कर्ता उसी तरह से औपचारिक रूप में स्वीकार किया गया है, जैसा कि ऋषियों को औपचारिक रूप से मन्त्रों का कर्ता माना जाता है । 'शतपथ के चार (६-९) काण्डों में शाण्डिल्य का नाम बहुधा आता है । इन अध्यायों में याज्ञवल्क्य का नाम आता ही नहीं । इनसे पहले और पिछले अध्यायों में याज्ञवल्क्य का ही मत प्रायः मिलता है । इससे वेबर, एकलिंग आदि परिणाम निकालते हैं कि ये काण्ड भिन्न व्यक्ति के रचे हो सकते हैं (पृ० १०), किन्तु उनका यह कथन भी सर्वथा भ्रान्त है । इसमें स्पष्ट हो महाभारत का विरोध परिलक्षित होता है । 'समान एवं चाभेदात्' इस बादरायण सूत्र के शांकरभाष्य में कहा गया है कि 'वाजसनेयी शाखा के अग्निरहस्य प्रकरण में शाण्डिल्य-नाम की विद्या परिज्ञात होती है' । श्रीशंकरभगवत्पाद के कथनानुसार इस विद्या का शाण्डिल्य के नाम से उल्लेख उसी नाम से उसकी प्रसिद्धि के कारण है, इसका मतलब यह नहीं है कि इस विद्या का प्रवचन शाण्डिल्य ने किया है । वास्तव में इस विद्या का भी प्रवचन याज्ञवल्क्य ने हो किया है । जैसे कि काठकोपनिषद् में नाचिकेत अग्निविद्या नचिकेता के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु उसके प्रवक्ता कठ ही माने जाते हैं, उसी तरह से यहाँ भी समझना चाहिये । भगवद्दत्त यहाँ पर (पृ० १०) परमादरणीय, विश्ववन्द्य, आचार्यरत्न, शंकराचार्य को भी 'शंकर लिखता है' इस तरह की निम्न स्तर की भाषा में एकवचन में उद्धृत करते हैं !

उपर्युक्त विवेचन से भगवद्दत्त के इस मत का भी खण्डन हो जाता है कि—'शतपथ ब्राह्मण में कुबेर-वैश्रवण का उल्लेख है, तथा अनेक ऋषियों एवं राजाओं का वर्णन मिलता है, इससे यह सिद्ध होता है कि शतपथ ब्राह्मण की कुछ सामग्री प्राचीन और कुछ नवीन है' (पृ० १२) । वेद अनादि और अनन्त हैं । इसमें प्राचीन और अर्वाचीन सभी तरह की वस्तुओं का प्रतिपादन मिलने पर भी कोई आक्षेप लागू नहीं हो सकता, क्योंकि हमारे मत से सारी सृष्टि शब्दपूर्वक है, अर्थात् ईश्वर द्वारा वेद में विद्यमान शब्दों के उच्चारण के साथ ही तत्तत् वस्तुओं की सृष्टि मानी जाती है । पाश्चात्य विद्वान् संहिताओं के संबन्ध में भी इसी तरह के आक्षेप करते हैं, जिस तरह के आक्षेप कि आर्यसमाजी ब्राह्मण ग्रन्थों के संबन्ध में करते हैं । अंग, वंग, कलिंग प्रभृति देशों में माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के विशेष प्रचार की बात (पृ० १२) आधुनिक प्रचार को दृष्टि में रखकर कही गई है ।

इस तरह से कृष्णयजुर्वेद संहिता, ब्राह्मण प्रभृति के विषय में भगवद्दत्त प्रभृति (पृ० १३-१४) के प्रलाप सर्वथा उपेक्षणीय हैं, क्योंकि शाकली प्रभृति शाखाओं की तरह ये भी समान रूप से वेद-ग्रन्थ माने जाते हैं । कुछ लोग ताण्ड्य प्रभृति

शतपथ-ताण्डि-भाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः (३।२५) इति भाषिकस्वरसिद्धेः । 'द्वितीयप्रथमौ एनौ तण्डिभाल्लविनां स्वरौ । तथा शातपथावेतौ स्वरौ वाजसनेयिनाम् ।।' (१।१३) इति नारदीयशिक्षावचनाच्च । (पृ० १५)

यदुक्तम्—'लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति' (पृ० १६) षड्विंशब्राह्मणे (३।८।२२), तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते (षड्विंशब्राह्मणे ४।५।४) इति प्रथमं सन्ध्यावर्णनम् । नित्येषु मन्त्र-ब्राह्मणात्मकेषु वेदेषु प्राथम्याप्राथम्यानुपपत्तेः । गुणोपसंहारन्यायेन सर्वशाखागुणसमन्वयेनैव सन्ध्यादिकर्म-निर्णयाच्च । यदपि—'पुष्ये चानुमतिर्ज्ञेया सिनीवाली तु द्वापरे । खार्वायां तु भवेद्राका कृतपूर्वे कुहूर्भवेत् ।।' (षड्विंश-ब्रा० ४।६।५) पुष्यः=कलिः । खार्वा त्रेता । युगानां प्राचीननाम्नामत्रैवोल्लेखः' (पृ० १७) इति । 'कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः । उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ।।' (ऐ० ब्रा० ७।१५), इत्यैतरेये 'कृताय सभाविनम्, त्रेताय आदिनवदर्शम्, द्वापराय बहिःसदम्, कलये सभास्थाणुम्' (तै० ब्रा० ३।४।१६।१) तैत्तिरीयेऽपि च युगनामोल्लेखात् ।

'उज्जहारागमाम्भोधेर्यो धर्मामृतमञ्जसा । न्यायैर्निर्मथ्य भगवान् स प्रसीदतु जैमिनिः ।। सामाखिलं सकल-वेदगुरोर्मुनीन्द्राद् व्यासादवाप्य भुवि येन सहस्रशाखम् । व्यक्तं समस्तमपि सुन्दरगीतरागं तं जैमिनिं तलवकारगुरुं नमामि ।।' इति परम्परागतान् ऐतिह्यदर्शकान् श्लोकान् प्रशंसति भगवद्दत्तः, (पृ० २२), दयानन्दश्च जैमिनिसूत्राणि शावरभाष्यं च प्रमाणत्वेनाङ्गीकरोति, तथापि तदुक्तं धर्मं वेदार्थपद्धतिं च नाङ्गीकरोति । यज्ञानां वायुजलादिशुद्धि-मेव फलं मनुते ।

'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'—ग्रन्थे द्वितीयभागे सप्तमेऽध्याये लिखति भगवद्दत्तः—'शबर, पितृभूति, शङ्कर, कुमारिल, भवस्वामी, देवस्वामी, विश्वरूप, मेधातिथि, कर्क, धूर्तस्वामी, देवत्रात, वाचस्पतिमिश्र, रामानुज,

ब्राह्मणों में स्वर के अभाव में उनकी अवेदता को सिद्ध करना चाहते हैं (पृ० १५) । किन्तु यह बात भी गलत है, क्योंकि भाषिक सूत्र में लिखा है कि 'शतपथ के समान ही ताण्ड्य और भाल्लवियों का ब्राह्मण स्वर था' । ऐसा ही नारद शिक्षा में भी लिखा है—'इनमें से ताण्डि और भाल्लवियों के द्वितीय और प्रथम स्वर बनते हैं और ये ही वाजसनेयी यजुर्वेदियों के शतपथ ब्राह्मण के स्वर हैं' ।

भगवद्दत्त ने कहा है कि 'लाल पगड़ियों वाले और लाल कपड़े वाले (लाल किनारे की धोतियों वाले) निवीत ऋत्विग् होते हैं' इस वचन से उस समय के ऋत्विजों के वेश का परिचय मिलता है । इसी तरह से सायं-प्रातः सन्ध्या का वर्णन भी प्रथम वार इसी (षड्विंश) ब्राह्मण में मिलता है—'तस्माद् ब्राह्मण०' इत्यादि' (पृ० १६-१७) । यह कथन भी गलत है, मन्त्र-ब्राह्मणात्मक नित्य वेदों में प्राथम्य और अप्राथम्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । सन्ध्या प्रभृति कर्म का निश्चय गुणोपसंहार न्याय और सर्व शाखा गुणसमन्वय न्याय के आधार पर होता है । यह भी कहा गया है—'युगों के प्राचीन नाम प्रथम वार इसी (षड्विंश) ब्राह्मण के 'पुष्ये चानुमतिर्ज्ञेया०' इस श्लोक में मिलते हैं । यहाँ पर पुष्य शब्द से कृत युग का और खार्वा शब्द से त्रेता का बोध होता है' (पृ० १७), किन्तु यह कथन भी गलत है, क्योंकि 'कलिः शयानो भवति' इस ऐतरेय ब्राह्मण के वचन में तथा 'कृताय सभाविनम्०' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति में भी चारों युगों के नाम उल्लिखित हैं ।

आगे (पृ० २२ में) भगवद्दत्त जैमिनीय ब्राह्मण में प्राप्त—'वेद के समुद्र से धर्मरूपी अमृत को जिसने न्यायों से मन्थन करके निकाला, वह भगवान् जैमिनि मेरे ऊपर प्रसन्न हों । सारे वेदों के गुरु मुनिश्रेष्ठ व्यास से समस्त सामों का ज्ञान प्राप्त करके जिसने संसार में सहस्र शाखाओं को प्रकाशित किया और साम के सब गान निकाले, तलवकार के गुरु उस जैमिनि को मेरा नमस्कार हो' इन परम्परागत श्लोकों की इतिहास के ज्ञापक श्लोकों के रूप में प्रशंसा करते हैं । स्वामी दयानन्द जैमिनिसूत्र और शाबरभाष्य को प्रमाण मानते हैं, तो भी उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म और वेदार्थ की पद्धति को स्वीकार नहीं करते । वे वायु, जल प्रभृति की शुद्धि को ही यज्ञों का फल मानते हैं ।

'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक ग्रन्थ के द्वितीय भाग के सातवें अध्याय में भगवद्दत्त लिखते हैं—'शबर, पितृभूति, शंकर, कुमारिल, भवस्वामी, देवस्वामी, विश्वरूप, मेधातिथि, कर्क, धूर्तस्वामी, देवत्रात, वाचस्पति मिश्र, रामानुज, उव्वट, महीधर,

उवट, मस्करी, सायण प्रभृति सब ही बड़े बड़े आचार्य मन्त्र-ब्राह्मण दोनों को वेद मानते आये हैं। गत ३००० वर्ष में आर्यावर्त के किसी विद्वान् को इस बात का सन्देह नहीं हुआ कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हैं। इतने काल से आर्यों के हृदयों में ब्राह्मणों की श्रुतियों का उतना ही मान रहा है, जितना संहिताओं के मन्त्रों का। आर्यों के समस्त श्रौत कर्म इन दोनों को तुल्य मान कर ही होते चले आये हैं।' (पृ० ९९)। एवं मन्वानोऽपि भगवद्दत्तो ब्राह्मणानां वेदत्वं विरुणद्धीति कौतुकमेव।

'मोच्चैरिति होवाच—कर्णिनी वै भूमिरिति' (तलवकारब्राह्मणे १।१२६) (पृ० २२)। समस्ते जगति नोच्चैर्वक्तव्यं यतो भूमेरपि श्रोत्रं भवतीति, इत एव प्रसृतमिति नाश्चर्यम्, वेदस्यैव सर्वव्यवहारमूलत्वात्। गोपथ-ब्राह्मणस्यार्वाचीनत्वसाधकाः पाश्चात्त्या अपि भ्रान्ता एव। मन्त्रब्राह्मणकल्पानामेकत्र वसिष्ठाद्याश्रमाणां प्राचीन-साम्राज्यानां वर्णनं च न तस्याधुनिकत्वापादकम्, नित्येषु मन्त्रेष्विव नित्येषु ब्राह्मणेष्वपि तदविरोधात्। 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इदं सर्वशाखासु सर्वकर्मसूपयूज्यते। (पृ० २४)

यदपि ब्राह्मणभाष्यकाराणां सायणाचार्यस्य च सम्बन्धे प्रलपति भगवद्दत्तः—'सायणादयः शब्दार्थमेव कुर्वन्ति। ब्राह्मणानां रहस्यानि, ईश्वरीयसृष्टेराधिदैविकतत्त्वानि न स्पष्टयन्ति' (पृ० ५२) इति, तत्तु नितरामज्ञान-मूलकम्, तैत्तिरीयारण्यकैतरेयारण्यकादिषु मन्त्रसंहितासु ब्रह्मविद्याविषये च बाहुल्येन विवरणदर्शनात्। यत्तु 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थे द्वितीयभागे पञ्चमाध्याये विभिन्नब्राह्मणेषु वर्णितानामृषीणां राज्ञां चैतिहासिककालादि-कल्पनम्, तदपि वृथा श्रमेण कालयापनमात्रम्, आख्यायिकानां सुखाववोधार्थत्वेन स्वार्थे तात्पर्याभावेन कालाद्यसिद्धेः।

सायण प्रभृति सभी बड़े बड़े आचार्य मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते आये हैं। गत तीन हजार वर्ष में आर्यावर्त के किसी विद्वान् को इस बात का सन्देह नहीं हुआ कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हैं। इतने काल से आर्यों के हृदयों में ब्राह्मणों की श्रुतियों का उतना ही मान रहा है, जितना संहिताओं के मन्त्रों का। आर्यों के समस्त श्रौत कर्म इन दोनों को तुल्य मान कर ही होते चले आये हैं' (पृ० ९९)। यह आश्चर्य की ही बात है कि ऐसा कहते हुए भी भगवद्दत्त ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद मानने के विरोध में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं।

इसी (जैमिनीय ब्राह्मण) ब्राह्मण में वह उक्ति पाई जाती है, जो कि सारे संसार की भाषाओं में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। अर्थात्—'मोच्चैरिति होवाच कर्णिनी वै भूमिरिति' (इसी ब्राह्मण को तलवकार ब्राह्मण भी कहते हैं)। इसका अर्थ यह है कि—ऋषि अपनी पत्नी से कहते हैं कि ऊंचे मत बोलो। भूमि के भी कान होते हैं (पृ० २२)। वेद से ही इस तरह की बात सब जगह फैली हो, इसमें आश्चर्य की बात क्या है? क्योंकि वेद ही तो जगत् के सारे व्यवहार का मूल है। गोपथ ब्राह्मण की अर्वाचीनता के साधक पाश्चात्य विद्वान् भ्रान्त ही माने जायेंगे। यहाँ पर मन्त्र, ब्राह्मण और कल्पों का एक साथ उल्लेख है, वसिष्ठ आदि के आश्रमों का और प्राचीन साम्राज्यों का वर्णन मिलता है। इन सब कारणों से इसकी आधुनिकता नहीं सिद्ध की जा सकती (पृ० २४)। नित्य मन्त्रों की तरह नित्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इस तरह की बातों की ऐतिहासिकता के विषय में कोई प्रमाण नहीं है। 'यस्यै देवतायै०' इस गोपथ वाक्य का सभी शाखाओं और सभी कर्मों में समान रूप से उपयोग होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के भाष्यकारों और विशेष कर सायणाचार्य के संबन्ध में भगवद्दत्त कहते हैं—'ये सब भाष्यकार प्रायः एक ही ढंग का अर्थ करते हैं। इनमें से जितने पुराने हैं वे तो शब्दार्थमात्र करके ही सन्तुष्ट रहते हैं। हाँ, सायण आदि नवीन भाष्यकार कहीं कहीं व्याख्यान भी करते हैं। पर इनमें ब्राह्मणों के रहस्यों का तात्पर्य बहुत कम दिखाया गया है। ईश्वरीय सृष्टि के आधिदैविक तत्त्वों के निदर्शन का, जो ब्राह्मणों में सर्वत्र मिलता है, वे भाष्यकार स्पष्टीकरण नहीं करते' (पृ० ५२)। यह सारा कथन अज्ञान-मूलक है, क्योंकि तैत्तिरीय आरण्यक, ऐतरेय आरण्यक प्रभृति में और मन्त्र संहिताओं में ब्रह्मविद्या के विषय में विस्तार से विवरण मिलते हैं। 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक ग्रन्थ के द्वितीय भाग के पांचवें अध्याय में (पृ० ५४-६५) विभिन्न ब्राह्मणों में वर्णित ऋषियों और राजाओं का ऐतिहासिक काल-निर्धारण बड़े प्रयत्न से किया गया है। यह सब वृथा श्रम करके समय बिताना मात्र है। वहाँ पर वर्णित आख्यायिकाएँ सुविधापूर्वक अर्थ को समझाने के लिये हैं, उनका स्वार्थ में कोई तात्पर्य नहीं है, अतः उनसे समय का

नित्यवैदिकशब्दानुसारिण्यस्तु घटना भवन्त्योऽपि न वार्यन्ते, अपरिमिते काले तदसम्भवाभावात्। तेन जनक-उद्दालक-श्वेतकेत्वादीनां समसामयिकत्वादिसाधनायासो निर्मूल एव।

'नैमिष्या वै सत्रमासत। त उत्थाय सप्तविंशतिं कुरुपञ्चालेषु वत्सतरान् अतन्वत। तान् वको दाल्भिरब्रवीद् यूयमेवैतान् विभजध्वमिममहं धृतराष्ट्रं वैचित्रवीर्यं गमिष्यामि' (काठकसंहिता १०।६) इति वचनेन सिद्धयति यन्महाभारतकाले ब्राह्मणग्रन्थसङ्कलनमासीदिति। तथाहीममेवार्थं महाभारते व्यास आह—'ययौ राजंस्ततो रामो वकस्याश्रममन्तिकात्। यत्र तेपे तपस्तीव्रं दाल्भ्यो वक इति श्रुतिः ॥३२॥' (शल्यपर्व ४१), 'यत्र दाल्भ्यो वको राजन् पश्वर्थं सुमहातपाः। जुहाव धृतराष्ट्रस्य राष्ट्रं कोपसमन्वितः ॥१॥....तानब्रवीद् वको दाल्भ्यो विभजध्वं पशूनिति ॥५॥' (शल्यपर्व ४२) न चायं धृतराष्ट्रो महाभारतकालात् कश्चिदतिप्राचीन इति साम्प्रतम्, महाभारते युधिष्ठिरसमये तस्य वर्तमानत्वात्। 'अथाब्रवीद् वको दाल्भ्यो धर्मराजं युधिष्ठिरम्। सन्ध्यां कौन्तेयमासीनमृषिभिः परिवारितम् ॥' (व० प० २६।४) (पृ० ७७-७८) इत्यादि प्रदर्श्य भगवद्दत्तो यन्महाभारतकाले ब्राह्मणारण्यकादीनां सङ्कलनं साधयति, तदत्यल्पमेव, यतो महाभारतकाले व्यासेन तच्छिष्यैश्च सर्ववेदशाखासङ्कलनस्यापि स्मरणात्। यथा वेदानामपौरुषेयत्वमाधुनिकत्वं च तथैव केषाञ्चिद् ब्राह्मणानां महाभारतकाले सङ्कलितत्वेऽपि दोषविरहात्। अत एव महाभारतोद्धृतेन 'दाल्भ्यो वक इति श्रुतिः' इति वचनेन वकदाल्भ्यबोधकब्राह्मणवचनस्य श्रुतित्वमुक्तम्। न च महाभारतकालिकवकदाल्भ्यस्य चर्चादर्शनात् तद्ग्रन्थस्य कथं नित्यत्वमिति वाच्यम्, मन्त्रेष्वपि गौतमजामदग्न्यादीनां चर्चाया विद्यमानत्वेन पौरुषेयत्वापत्तेः। वेदस्य घटनापूर्वकत्वाभावेन घटनायाश्च वेदपूर्वकत्वेन समाधानं तूभयत्र समानमेवेत्यन्यत्र प्रपञ्चितमेव। एतेन पारिक्षितस्य जनमेजयस्य ब्राह्मणे वर्णनमपि समाहितं वेदितव्यम्। 'दिवोदासो भैमसेनिरारुणिमुवाच'(काठकसंहिता ७।८)। तित्तिरि-महिदास-ऐतरेय-जैमिनि-तलवकारादीनामपि समाधानं वेदितव्यम्।

निर्धारण नहीं किया जा सकता। नित्य वैदिक शब्दों का अनुसरण कर होने वाली घटनाओं का निषेध हम नहीं करते, अपरिमित काल में यह असंभव भी नहीं है। इसलिये जनक, उद्दालक, श्वेतकेतु प्रभृति की समसामयिकता जैसी बातों को सिद्ध करने का सारा प्रयास सर्वथा निर्मूल है।

'ब्राह्मण ग्रन्थों का संकलन महाभारत काल में हुआ, इसमें एक और प्रमाण है। काठक संहिता के आरंभ का यह वचन है—'नैमिष्या वै सत्रमासत०'। इसी कथा का उल्लेख महाभारत शल्यपर्व में भी है—हे राजन्, तब बलराम जी वक के आश्रम के समीप गये, जहाँ दाल्भ्य वक ने तीव्र तप किया, ऐसा श्रुति में कहा है। वहीं पर अध्याय ४२ में भी बक दाल्भ्य की चर्चा है—'यत्र दाल्भ्यो वको०' इत्यादि। इससे निश्चय होता है कि काठक संहिता में विचित्रवीर्य के पुत्र धृतराष्ट्र का वर्णन है। कोई ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि धृतराष्ट्र वैचित्रवीर्य कोई पुरातन काल का राजा हो सकता है, पर यह कल्पना असत्य है। काठक संहिता में धृतराष्ट्र वैचित्रवीर्य के साथ जिस ऋषि 'बक दाल्भ्य' का कथन है, वह महाराज युधिष्ठिर के समय में विद्यमान थे। जैसा कि महाभारत वनपर्व के 'अथाब्रवीद्वको०' इस श्लोक से ज्ञात होता है' (पृ० ७७-७८)। इतना सब कहने के बाद भगवद्दत्त महाभारत काल में ब्राह्मण, आरण्यक आदि के संकलन की बात सिद्ध करते हैं। यह अधूरी बात है, क्योंकि महाभारतकाल में व्यास और उनके शिष्यों ने सभी वेद की शाखाओं का भी संकलन किया था। जैसे वेदों के लिये अपौरुषेयता और आधुनिकता दोनों संगत है, उसी तरह से कुछ ब्राह्मणों को महाभारतकाल में संकलित माना जाय तो भी कोई दोष नहीं है। इसी लिये महाभारत में उद्धृत 'दाल्भ्यो बक इति श्रुतिः' इस वचन में बक दाल्भ्य के बोधक ब्राह्मण ग्रन्थ के वाक्य को श्रुति के नाम से संबोधित किया गया है। कोई प्रश्न करे कि जब महाभारतकाल के वक दाल्भ्य की जब इस ग्रन्थ में चर्चा है, तो वह नित्य कैसे माना जा सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि मन्त्रों में भी तो गौतम, जमदग्नि प्रभृति की चर्चा है, तब क्या उनको आप पौरुषेय एवं अनित्य मानेंगे? यदि आप कहें कि वेदों में किसी घटना का वर्णन नहीं है, किन्तु घटनाएँ ही वेदमूलक हैं, तो यही समाधान ब्राह्मण ग्रन्थों पर भी लागू होगा। इस बात को अन्यत्र हमने विस्तार पूर्वक बताया है। पारिक्षित जनमेजय का ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त वर्णन भी इसी पद्धति से समाधातव्य है। 'दिवोदास भैमसेनि अरुणि

१०९

पुराणेतिहासेषु केचिन्मन्त्रब्राह्मणगताः पुरुषाः क्वचित्काल्पनिकाः क्वचिच्चैतिहासिका उच्यन्ते। क्वचिच्च मन्त्रब्राह्मणगता ऐतिहासिकाश्च तुल्यनामानो भवन्ति। तेनैव मन्त्रब्राह्मणगतानामप्यैतिहासिकत्वभ्रान्तिः। मन्त्रब्राह्मणगता आख्यायिकास्तु सुखावबोधार्था एव नैतिहासिक्यः, तासां मन्त्रब्राह्मणगतानामाख्यायिकानां काल्पनिकत्वात्। अन्यास्तु सम्भवन्त्यैतिहासिक्यः। महिदासस्य ऐतरेयब्राह्मणे, याज्ञवल्क्यस्य शतपथे वर्णनदर्शनाच्च। 'एतद्ध स्म वैतद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः' (ऐ० ब्रा० २।१।८), 'तदु होवाच याज्ञवल्क्यः' (श० १।३।४।२१, २।३।१।२१) इत्यादिषु नाम्नां कल्पितत्वमैतिहासिकानां ततो भिन्नत्वमेव च वेदितव्यम्।

नन्वेवं यमनचिकेतआदीनां काल्पनिकत्वे कथं शङ्कराचार्यस्तान् आचार्यान् मत्वा प्रणमति। 'नमो वैवस्वताय' इत्यादि। इति चेन्न, आख्यायिकाया भूतार्थवादत्वेन तदनुसारिणां यमादीनां सत्त्वेऽपि बाधाभावात्। आख्यायिकानां घटनापूर्वकत्वाभावाच्चापौरुषेयत्वं चोपपद्यते। एतेन शतपथस्यान्ते वंशसूच्यां पञ्चचत्वारिंशद्वाचार्याणां नामान्युल्लिख्यन्ते। तेषां समेषामन्ते वयंपदोल्लेखः। तत्र वयंपदेनान्तिमा एव गृह्यन्ते, यैः शतपथे खिलभागो योजितः। यैर्वा समस्ते याज्ञवल्क्यप्रोक्ते शतपथे ब्राह्मणे प्रक्षेपः कृतः, ते वा वयंपदेन गृह्यन्ते। प्रक्षेपस्त्वल्पः। खिलभागस्तु तैरेव योजितः, ये भारतोत्तरशतद्वयशतत्रयवर्षकालिका याज्ञवल्क्योत्तरभाविनः। ब्राह्मणकालनिर्णये तैरेव प्रक्षेपैरैतिहासिको बाधोतिष्ठते। यथा छान्दोग्योपनिषदि जैमिन्युपनिषदि महिदासायुषसम्बद्धैः प्रक्षेपैः। 'तद्यथा—एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः। स ह षोडशं वर्षशतमजीवत' (छा० ३।१६।६), 'एतद्ध स्म तद्विद्वान् ब्राह्मण उवाच महिदास ऐतरेयः स ह षोडशशतं वर्षाणि जिजीव' (जै० उपनिषद्ब्राह्मणे)(४।२।११) (पृ० ८७) इति, तदप्यपास्तं वेदितव्यम्।

से बोला' (पृ० ७९) इसका भी समाधान इसी पद्धति से किया जाना चाहिये और तित्तिरि, महिदास ऐतरेय, जैमिनि, तलवकार प्रभृति नामों का भी।

पुराणेतिहास ग्रन्थों में मन्त्र और ब्राह्मण भाग में वर्णित कुछ पुरुष कहीं काल्पनिक और कहीं ऐतिहासिक माने जाते हैं। कहीं मन्त्र और ब्राह्मण भाग में वर्णित और ऐतिहासिक पुरुष समान नाम वाले होते हैं। इसी से मन्त्र और ब्राह्मण भाग गत पुरुषों की ऐतिहासिकता की भ्रान्ति होने लगती है। मन्त्र और ब्राह्मण भाग में वर्णित आख्यायिकाएँ उनका अर्थ सरलता से समझाने के लिये वर्णित हैं, उनमें कोई ऐतिहासिकता नहीं है, क्योंकि ये मन्त्र और ब्राह्मणभाग में पठित आख्यायिकाएँ काल्पनिक हैं। कुछ ब्राह्मण गत आख्यायिकाएँ ऐतिहासिक भी हो सकती हैं। महिदास का ऐतरेय ब्राह्मण और याज्ञवल्क्य का शतपथ ब्राह्मण में वर्णन मिलता है। 'एतद्ध स्म ''' महिदास ऐतरेयः', और 'तदु होवाच याज्ञवल्क्यः' इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों में नाम कल्पित ही हैं, अतः ऐतिहासिक महिदास और याज्ञवल्क्य इनसे भिन्न ही माने जाने चाहिये।

प्रश्न है कि यम-नचिकेत आदि भी यदि काल्पनिक व्यक्ति हैं, तो शंकराचार्य उनको आचार्य मानकर कैसे प्रणाम करते हैं—'नमो वैवस्वताय' इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि आख्यायिकाएँ भूतार्थवाद की द्योतक हैं, अतः तदनुसारी यमादि की स्थिति में भी कोई बाधा नहीं है और ये आख्यायिकाएँ घटनाओं के आधार पर नहीं लिखी जाती, अतः इनकी अपौरुषेयता भी बनी रहती है। इस सिद्धान्त को मान लेने से भगवद्दत्त की इस बात का भी खण्डन हो जाता है कि—'माध्यन्दिन शतपथ के अन्त में जो वंशसूची दी गई है, उससे याज्ञवल्क्य के उत्तरवर्ती ४५ आचार्यों के नाम मिलते हैं। उन सबके अन्त में पैंतालीसवें नाम के स्थान में वयं लिखा है। 'वयं' पद से निर्दिष्ट वे अन्तिम लोग थे, जिन्होंने शतपथ के साथ खिल भाग जोड़ा या सारे ही याज्ञवल्क्य प्रोक्त ब्राह्मण में प्रक्षेप किया। हमारा अपना विचार है कि उन्होंने प्रक्षेप थोड़ा ही किया होगा। खिल तो अवश्य उन्हीं के हैं। ये लोग महाभारत काल से दो तीन सौ वर्ष पीछे के हो सकते हैं। ब्राह्मणों का काल निर्णय करने में जो कहीं कहीं ऐतिहासिक अड़चन आ पड़ती है, वह इन्हीं प्रक्षिप्त भागों से संबन्ध रखने वाली मानी जा सकती है। छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण के महिदास की आयु से संबन्ध रखने वाले वाक्य ऐसे ही प्रक्षेपों में से हो सकते हैं' (पृ० ८७)। जैसे कि—'एतद्ध स्म' इत्यादि उक्त

परम्पराप्राप्तेषु ब्राह्मणेषु प्रक्षेपकल्पनाया निर्मूलत्वात्। छान्दोग्यजैमिन्युपनिषद्ब्राह्मणे महिदासबोधकवाक्यस्य प्रक्षिप्तत्वे मानाभावाच्च। दृढतराभिर्युक्तिभिर्मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य सर्वस्यैव वेदस्य नित्यत्वसाधनेन मन्त्रगतानां नाम्नां घटनानां चाख्यायिकारूपत्वेन नैतिहासिकत्वम्, वैदिकशब्दानुसारेण सृष्टचभ्युपगमेन क्वचिन्नाम्नां घटनानां चैतिहासिकत्वेऽपि वैदिकशब्दानां नित्यत्वेन तत्पूर्वत्वं घटनानां न युक्तम्। खिलकाण्डानामपि न प्रक्षिप्तत्वं न वा पश्चाद्भावित्वम्, नित्यत्वादेव। अत एव वायुपुराणादौ खिलसंहितानामेव सम्प्रदायवर्णनम्। अत एव भगवत्पादैः शङ्कराचार्यैर्वंशब्राह्मणभाष्य उक्तम्—'अथेदानीं समस्तप्रवचनवंश' (पृ० ८७) इति। 'सान्निध्यात्खिलकाण्डस्य वंशोऽयमिति शङ्कां निवर्तयन् वंशब्राह्मणतात्पर्यमाह' इत्यानन्दगिरिः। ब्राह्मणस्य नित्यत्वेन सर्वस्यैव ब्राह्मणस्य स्वयम्भुब्रह्मण एव पारम्पर्येण प्राप्तत्वात्। नहि प्रवक्तृसामान्यस्य वंशब्राह्मणे वर्णनम्, तथात्वे साम्प्रतिकानामपि प्रवक्तृणां तत्र सन्निवेशापत्तिर्दुर्वारा। अत एव यथा नहीदानीन्तनान् प्रवक्तृनाश्रित्य काठकादिसंहिताऽऽख्यायते, अन्यथा काठकादिसंहितानामेवेदानीन्तनान् प्रवक्तृनाश्रित्य सुशर्मादिभिः प्रोक्तत्वात् सौशर्मणीत्याद्याः समाख्याः सम्भवेयुः। तथैव वंशब्राह्मणेऽपि न परम्परायामागता अपि सर्वे प्रवक्तारः समायान्ति, किन्तु वेदगतकठादय इव पौतिमाष्यादिशब्दा अपि नित्यसामान्यवाचका एव। तत्र तत्र कल्पे वसिष्ठादय इव तेऽपि भवन्ति।

'यथा कुशलवप्रवक्तृकत्वेन रामश्रोतृकत्वेनैव वाल्मीकिना रामायणं निर्मितम्, सूतप्रवक्तृकत्वेन महाभारतवर्णनम्, तथैव स्वयम्भुब्रह्मादिपौतिमाषीपुत्रपर्यन्तप्रवक्तृकत्वेन शतपथो नित्य एव। यदा सर्वोऽपीतिहासो डिण्डिमघोषेण शतपथस्य याज्ञवल्क्यप्रोक्तत्वं वर्णयति, तदा तत्र वयंपदेन तद्भिन्ना अन्ये आचार्याः कथङ्कारं गृह्येरन्? 'अतोऽवश्यमेभिराचार्यैर्यथाकालं तत्र प्रक्षेपा योजिताः। अयं वंशस्तु प्रक्षिप्तो मन्तव्यः' (पृ० ८७-८८) इति यदाह भगवद्दत्त-

ग्रन्थों के वाक्य। इन परम्परा प्राप्त ब्राह्मण वाक्यों में प्रक्षेप की कल्पना सर्वथा निराधार है। उक्त दोनों स्थलों पर महिदास के बोधक वाक्य के प्रक्षिप्त होने में कोई प्रमाण नहीं है। अत्यन्त दृढ युक्तियों से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक सारे वेद की नित्यता सिद्ध की जा चुकी है और यह भी बार बार कहा जा चुका है कि मन्त्र-ब्राह्मणगत नाम और घटनाएँ आख्यानात्मक हैं, अतः ये इतिहास के अंग नहीं बन सकते। वैदिक शब्दों के सहारे से ही सृष्टि का निर्माण होता है, अतः कहीं कहीं पर इन नामों और घटनाओं की ऐतिहासिकता मान भी ली जाय, तो भी वैदिक शब्दों के नित्य होने से इन घटनाओं को वैदिक मन्त्रों और ब्राह्मणों से प्राचीन नहीं माना जा सकता। इसी आधार पर खिल काण्डों को भी न तो हम प्रक्षिप्त ही मान सकते हैं और न यही माना जा सकता है कि इनकी रचना बाद में हुई, क्योंकि ये सब नित्य हैं। इसी लिये वायुपुराण आदि में खिल संहिताओं के संप्रदाय का वर्णन मिलता है। इसी लिये भगवत्पाद शंकराचार्य ने वंशब्राह्मण के भाष्य में समस्त प्रवचन वंश का उल्लेख किया है (पृ० ८७)। 'खिल काण्ड की संनिधि के कारण यह उसके वंश का वर्णन है, इस शंका की निवृत्ति के लिये आचार्य वंशब्राह्मण के तात्पर्य को समझाते हैं' यह आनन्दगिरि का कथन है। ब्राह्मण भाग की नित्यता प्रतिपादित है, अतः सभी ब्राह्मण ग्रन्थ स्वयम्भू ब्रह्मा से ही परम्परा के द्वारा प्राप्त हुए हैं। वंशब्राह्मण में सामान्य प्रवक्ताओं का वर्णन नहीं है, यदि ऐसा होता तो आजकल के प्रवक्ताओं के नाम भी उसमें जुड़ जाने की आपत्ति उठ खड़ी हो सकती है। इसी लिये आजकल के प्रवक्ताओं के नाम के आधार पर काठक संहिता प्रभृति की नई आख्या नहीं बनाई जा सकती। अन्यथा काठकादि संहिता की तरह आजकल के प्रवक्ताओं के नाम के आधार पर सुशर्मा प्रभृति के द्वारा प्रोक्त होने से सौशर्मणो प्रभृति समाख्याएँ इन संहिताओं की बनने लगेगी। इसी तरह से वंशब्राह्मण में भी परम्परा में आये सभी प्रवक्ताओं का समावेश नहीं होता, किन्तु वेदगत कठादि के समान पौतिमाष्य प्रभृति शब्द भी नित्य सामान्य के वाचक हैं, व्यक्ति के नहीं। उन उन कल्पों में वसिष्ठ प्रभृति की तरह इनका भी प्रादुर्भाव होता रहता है।

वाल्मीकि ने अपनी रामायण में कुश और लव को उसका प्रवक्ता और राम को उसके श्रोता के रूप में चित्रित किया है। महाभारत के प्रवक्ता भी सूत को माना जाता है। इसी तरह से स्वयम्भू ब्रह्मा से लेकर पौतिमाषी पुत्र पर्यन्त ऋषियों की प्रवक्तृ-परम्परा में शतपथ ब्राह्मण भी नित्य ही माना जायगा। 'जब सारा इतिहास उच्च स्वर से कहता है कि शतपथ ब्राह्मण याज्ञवल्क्य प्रोक्त है तो उसके प्रवक्ता 'वयं' पद से अभिप्रेत अनेक आचार्य कैसे हो सकते हैं? अवश्य इन आचार्यों ने समय समय पर इस ब्राह्मण

स्तदपि मन्दम्, मन्त्राणां ब्राह्मणानां चेतिहासाविषयकत्वस्योक्तत्वात्। वैदिकग्रन्थानां प्रवचनं त्वध्यापनमेव। अत एवानेकाचार्यप्रवक्तृकत्वमेकस्य ग्रन्थस्य नानुपपन्नम्। 'आख्या प्रवचनात्' (मी० सू० १।१।३०) इत्यादिजैमिनिसूत्रैः शावरभाष्यादिभिश्च तत्समर्थितमेव। अन्यथा शाकलीशौनक्यादिसमाख्याभिस्त्वदभिमतानां वेदानामपि शाकल्य-शौनकादिकर्तृत्वेनाधुनिकत्वापत्तिर्दुर्निवारैव स्यात्। 'मन्त्रकृताम्' (ऋ० सं० ६।११४।२) इत्यादिमन्त्रैश्च मन्त्राणां सकर्तृकत्वेनानित्यत्वापत्तिरपि तथैव स्यात्। जैमिनिव्यासादिभिस्तु नित्यवेदरूपत्वेनैव मन्त्रब्राह्मणारण्यकोपनिषदादीनां विचारः कृतः, सूत्राणां श्रुतिकुसुमग्रथनार्थत्वात्। तेन ब्रह्मसूत्रेषु ब्राह्मणारण्यकादीनां सङ्कलनात्तेषां महाभारतकालिकत्वमित्यपि निर्मूलमेव।

एवमेव—'तदु ह वाह्लिकः प्रातिपेयः शुश्राव कौरव्यो राजा' (पृ० ९०) (शत० १२।९।३।३) इत्यनेनापि शतपथस्य महाभारतकालिकत्वसाधनमनभिज्ञतामूलकमेव, मन्त्रेषु उर्वशीपुरूरवसोर्वर्णनान्मन्त्राणां तत्कालिकत्वापत्तेः। तेषामन्यार्थता तु नात्रापि दण्डवारिता।

अत एव—'कौशल्यां च य आशीर्भिर्भक्तः पर्युपतिष्ठति। आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित्॥१५॥' ....'पशुकामिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च। ये च मे कठकालापा वहवो दण्डमाणवाः॥१८॥' (वा०रा० अयोध्याकाण्ड ३२) इति श्रीरामकालिके वाल्मीकीये रामायणे दाक्षिणात्यसंस्करणे कठकालापादीनामुल्लेखः, वङ्गीये पश्चिमोत्तरीये च संस्करणे—'आचार्यस्तैत्तिरीयाणाम्' (पृ० ९०) इति पाठोऽस्त्येव, तस्माद् भगवद्दत्तादिसामाजिकानां पाश्चात्यनानां च ब्राह्मणादिवेदग्रन्थानां कालनिर्धारणमशुद्धमेव। प्रक्षिप्तत्वकथनेन तु सामाजिकैः पाश्चात्यशिष्यत्वमेवात्मनः प्रख्या-

में प्रक्षेप किये होंगे, चाहे वे प्रक्षेप थोड़े ही हो। हो सकता है कि इस विचार को कई लोग स्वीकार न करें, पर यह वंश तो उनको भी प्रक्षिप्त मानना ही पड़ेगा' (पृ० ८७-८८)। भगवद्दत्त का यह कथन भी गलत है, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण भाग में कोई इतिहास वर्णित नहीं है, यह बात बार बार कही जा चुकी है। वैदिक ग्रन्थों का प्रवचन उनका अध्यापन ही है। इसी लिये एक ही ग्रन्थ के अनेक आचार्यों को प्रवचन कर्ता मानने में कोई दोष नहीं है। इस बात का समर्थन 'आख्या प्रवचनात्' यह मीमांसा सूत्र और उसके भाष्य-कार शबर स्वामी करते हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो शाकली, शौनकी आदि समाख्याओं के आधार पर आपके अभिमत वेदों को भी शाकल्य, शौनक आदि की रचना मानकर अनित्यता की आपत्ति का निवारण नहीं किया जा सकता। इसी तरह से 'मन्त्रकृताम्' इत्यादि मन्त्रों के आधार पर मन्त्रों की सकर्तृकता की सिद्धि होने से अनित्यता की आपत्ति आवेगी। जैमिनि, व्यास प्रभृति ने मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् का विचार उनको नित्य वेद मान कर ही किया है, क्योंकि सूत्र ग्रन्थ श्रुति रूपी कुसुमों को गूँथ कर उनकी माला बनाते हैं। इसी लिये ब्रह्मसूत्रों में ब्राह्मण, आरण्यक आदि का संकलन होने से उनकी रचना महाभारत-काल में हुई यह कथन भी सर्वथा निर्मूल है (पृ० ८९-९०)।

इसी तरह से 'प्रतीप के तीसरे पुत्र वाह्लीक का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में मिलता है—'तदु ह०' इत्यादि। यह व्यक्ति महाभारतकालीन ही है और इसका उल्लेख करने से शतपथ भी लगभग उसी काल का ठहरता है' (पृ० ९०), यह कथन भी वक्ता की अनभिज्ञता का ही सूचक है। मन्त्रों में उर्वशी और पुरूरवा का वर्णन मिलता है, तो इस आधार पर उन मन्त्रों की तात्कालिकता मानी जायेंगी। उनका यदि कोई भिन्न ही अर्थ किया जाता है, तो उसी तरह का अर्थ यहाँ भी कर दिया जाता है, तो इसको रोकने के लिये कौन डंडा लेकर खड़ा है।

इसी लिये—'कौशल्यां च०' इत्यादि वाल्मीकीय रामायण के श्लोकों में तैत्तिरीय, कठ, कालापक आदि आचार्यों का उल्लेख है, इस पर जो शंका उठाई जाती है कि श्रीरामकालिक रामायण में इनका उल्लेख कैसे हो सकता है? यद्यपि कठ-कालापक का उल्लेख दाक्षिणात्य संस्करण में ही है, किन्तु तैत्तिरीयों का उल्लेख वंगीय और पश्चिमोत्तरीय संस्करण में भी है। इसी तरह के उद्धरणों के आधार पर भगवद्दत्त प्रभृति आर्यसमाजी और पाश्चात्य विद्वान् ब्राह्मणादि ग्रन्थों का काल निर्धारण करते हैं, जो कि गलत है। किसी भी अंश को प्रक्षिप्त मान लेने में आर्यसमाजियों ने अपने को पाश्चात्यों को पूरा चेला बना दिया है। इसी लिये आर्यसमाजियों

पितम् । तत एव सामाजिकानां रीत्या महाभारत-रामायण-पुराण-मनुस्मृत्यादिषु सर्वेषु ग्रन्थेषु प्रक्षेपसम्भवात् प्रामाण्यं दुर्घटमेव । सनातनिसिद्धान्तरीत्या तु समेषामेषां ग्रन्थानां प्रामाण्यमेव । पूर्वोक्तग्रन्थेषु गौतमकणादव्यासजैमिनिवात्स्यायनादिभिर्ब्राह्मणानां वेदत्वमनादित्वं प्रामाण्यं चाव्याहतमेवाङ्गीक्रियते । अत एव ब्राह्मणभाषा वेदभाषैव । यत्तु 'ब्राह्मणभाषा लौकिकभाषा' (पृ० ९६), तदपि सामाजिकानां भाषाविज्ञानजनिता भ्रान्तिरेव, प्रामाणिकैराचार्यैस्तेषां वेदत्वाभ्युपगमात् ।

इतिहासः, धर्मशास्त्रम्, आयुर्वेदः, अनुशासनानि, विद्या, वाकोवाक्यम्, पुराणम्, गाथाः, नाराशंस्यः, उपनिषदः, सूत्राणि, अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि, आख्यानानि, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पजनविद्या, शिक्षा, कल्पः, व्याकरणम्, निरुक्तम्, छन्दः, ज्योतिषम्, उपाङ्गग्रन्थाः, माहेश्वरयोगशास्त्रम्, बार्हस्पत्यार्थशास्त्रम्, न्यायशास्त्रम्, प्राचेतसकल्पः, महाभारतम्, रामायणम्—इत्यादयो ग्रन्था वैदिकवाङ्मयत्वेन परिगण्यन्ते । (पृ० ९२-९५) भगवद्दत्तेन सर्वे चैते ब्राह्मणसम्मता इति स्वीक्रियते, तथापि ब्राह्मणानां प्रामाण्यस्वतस्त्वं नैवाभ्युपगम्यते । तेन केवलमाडम्बरमेव तत्सर्वमिति ।

यदुक्तम्—'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः' (गोपथब्राह्मणे, पृ० २१९) अत्र ब्राह्मणकारः स्वयं कथयति यत् कल्पादयो न वेदाः, किन्तु वेदार्थसाहाय्याय तैः सार्धं निर्मिताः । यदा ब्राह्मणकारा एव एतेषां वेदत्वं नाङ्गीकुर्वन्ति चेत्कथं वयं तेषां वेदत्वं मन्यामहे' (पृ० ९९-१००) इति, तदपि न्याय्यमार्गाद्दवीयः, एते वेदा न सन्ति, वेदार्थसाहाय्याय निर्मिता इति वाक्यस्य पूर्वोक्तवचनबहिर्भूतत्वात् । ब्राह्मणकारः कथयतीत्यपि निर्मूलम्, तस्यापौरुषेयत्वेन पुरुषकर्तृकत्वायोगात् । सवशिष्ठा ब्राह्मणाः सत्कर्तव्या इत्युक्तौ यथा न वशिष्ठस्याब्राह्मणत्वं तथैव सब्राह्मणाः सोपनिषत्का वेदा इत्युक्तावपि ब्राह्मणादीनामवेदत्वासिद्धेः । तेन ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणवशिष्ठ-

सामाजिकों की पद्धति से महाभारत, रामायण, पुराण, मनुस्मृति आदि सभी ग्रन्थों में प्रक्षेप होने से इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। सनातनियों की दृष्टि से तो इन सभी ग्रन्थों का प्रामाण्य अव्याहत है। पूर्वोक्त ग्रन्थों में गौतम, कणाद, व्यास, जैमिनि, वात्स्यायन प्रभृति आचार्यों ने ब्राह्मण ग्रन्थों को अनादि वेद माना है और इनका अव्याहत प्रामाण्य भी स्वीकार किया है। इसलिये ब्राह्मणों की भाषा वेद की ही भाषा है। भगवद्दत्त ने ब्राह्मणों की भाषा को लौकिक भाषा माना है (पृ० ९६), किन्तु यह गलत है, आर्यसमाजियों में भाषाविज्ञान के अध्ययन से यह भ्रम कैसा है। हमारे यहाँ के सभी प्रामाणिक आचार्यों ने ब्राह्मणों को वेद ही माना है।

इतिहास-पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, गाथा, नाराशंसी, उपनिषद्, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, आख्यान, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पजनविद्या, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, उपांग ग्रन्थ, माहेश्वर का योगशास्त्र, बृहस्पति का अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र, प्राचेतस कल्प, महाभारत, रामायण इत्यादि ग्रन्थ वैदिक वाङ्मय के अंग के रूप में गिनाये गये हैं (पृ० ९२-९५)। इन सबका प्रामाण्य ब्राह्मण ग्रन्थों में स्वीकृत है, तो भी भगवद्दत्त ब्राह्मणों को स्वतः प्रमाण नहीं मानते। इसलिये उनका यह पूरा प्रतिपादन आडम्बर मात्र है।

'एवमिमे सर्वे वेदाः' इस गोपथ ब्राह्मण के वचन को उद्धृत करके भगवद्दत्त कहते हैं कि—'यहाँ ब्राह्मणकार स्वयं कह रहे हैं कि—कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषत्, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण, स्वर [ग्रन्थ], संस्कार [ग्रन्थ], निरुक्त, अनुशासन, अनुमार्जन और वाकोवाक्य आदि ग्रन्थ वेद नहीं है। वे वेदार्थ की सहायता के लिये उनके साथ निर्मित हुए थे। जब ब्राह्मणकार स्वयं इन्हें वेद नहीं मानते तो फिर हम क्यों इन्हें वेद मानें' (पृ० ९९-१००)। यह बात भी औचित्य से बहुत दूर है, क्योंकि उक्त गोपथ ब्राह्मण के वचन से यह बाहर की बात है कि 'ये वेद नहीं हैं, किन्तु वेदार्थ की सहायता के लिये उनके साथ निर्मित हुए थे'। 'ब्राह्मणकार कहते हैं' यह भी निर्मूल है, क्योंकि ये सब अपौरुषेय हैं, अतः इनमें पुरुषकर्तृकता का संबन्ध हो ही नहीं सकता। वसिष्ठ के साथ ब्राह्मणों का सत्कार करना चाहिये, ऐसा कहने पर जैसे वसिष्ठ अब्राह्मण नहीं माने जाते, उसी तरह से ब्राह्मण और उपनिषदों के

न्यायेन वा वशिष्ठस्य ब्राह्मणविशेषत्ववद् ब्राह्मणादीनां वेदविशेषत्वेन सब्राह्मणा वेदा इत्युक्तेः सार्थक्यात्। एते ब्राह्मणग्रन्था एव ब्राह्मणानां वेदभिन्नत्वं कथयन्तीति कथनं मूढजनप्रतारणमेव, अन्यथा वेदा निर्मिता इत्युक्तवचनेन पौरुषेयत्वमपि स्यात्। यदि परमेश्वरेण निर्मिता इत्युक्त्या वेदानामपौरुषेयत्वम्, तर्हि सब्राह्मणाः सोपनिषत्का वेदा ईश्वरेण निर्मिता इति ब्राह्मणादीनामपि परमेशनिर्मितत्वेनापौरुषेयत्वसिद्धिः।

यत्तु—'आचार्या आरण्यकं वेदत्वेन न मन्यन्ते स्म 'उक्तं च शौनकेन सुरूप कृत्स्नभूतय' (ऐतरेयारण्यके ५।२।५) इदं वचनं सायणेन स्वीये ऋक्संहिताभाष्ये (१।४।१) इति मन्त्रस्योपोद्घात उद्धृतम्। एतेन स्पष्टं ज्ञायते यत् सायणोऽप्येतरेयब्राह्मणस्येममंशं शौनककृतं स्वीकरोति' (पृ० १००-१०१) इति, तदतीव तुच्छम्, उपरिनिर्दिष्ट वचनेनारण्यकस्यावेदत्वासिद्धेः। शौनकस्य प्रवक्तृत्वात् तेनोक्तमिति कथनमपि नासङ्गतम्, मन्त्राणामृषिकर्तृकत्वश्रवणवत्।

किञ्च, 'ऋचो यजूंषि सामानि यथावत्प्रतिदैवतम्। आभूतसम्प्लवस्थायि वर्ज्यैकं शतरुद्रियम्॥' (वायुपुराणे ५९।५७) प्रतिकल्पमृगादीनां लोपाभिप्रायेणैषोक्तिः। शतरुद्रियं तु तदानीमपि न नश्यति, तदधिष्ठातरि ब्रह्मणि विद्यमानत्वात्। 'प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या' (वायु० पु० ६१।७५) ऋगादीनामपि प्रजापतौ सत्त्वेन नित्यत्वमेव। लोकेऽनुपलब्ध्यभिप्रायेणैवाभूतसम्प्लवस्थायित्वव्यवहारः। 'ग्राम्यारण्यं समन्त्रं च ऋग्ब्राह्मणयजुः स्मृतम्। तथा हारिद्रवीयाणां खिलान्युपखिलानि च॥ तथैव तैत्तिरीयाणां परक्षुद्रा इति स्मृतम्।' (वायुपुराणे ६१।६५-६६)।

सामाजिकास्तु दयानन्दग्रन्थानामपि प्रामाण्यमुपेक्षन्ते। दयानन्देन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां वेदाम्नायश्रुत्यादिशब्दानां वेदपरत्वमङ्गीकृतम्। भगवद्दत्तस्तु—'विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥' (मनु० ६।२९),

साथ वेद की चर्चा करने से ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों से भिन्न नहीं हो जाते। इसलिये ब्राह्मणपरिव्राजक न्याय से अथवा ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय से जैसे वसिष्ठ में ब्राह्मण्य का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है, उसी तरह से ब्राह्मणादि ग्रन्थों को भी वेदविशेष के रूप में ही स्वीकार किया जाता है, इस तरह से 'ब्राह्मण सहित वेद' यह उक्ति सार्थक होती है। ये ब्राह्मण ग्रन्थ ही ब्राह्मणों को वेद से अलग बताते हैं, यह बात केवल अज्ञ जनों को ठगने के लिये है, क्योंकि 'वेदा निर्मिताः' इस वाक्य से आपकी पद्धति से वेदों की पौरुषेयता क्यों न सिद्ध हो जायगी। यदि इसका परिहार इस तरह से किया जाता है कि इनको परमेश्वर ने बनाया तो ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों के साथ वेदों को ईश्वर ने बनाया, इस तरह का अर्थ करने से ब्राह्मणादि भी परमेश्वर निर्मित होने से अपौरुषेय ही सिद्ध होंगे।

'...आचार्य आरण्यकों को वेद नहीं मानते। एक आरण्यक को स्पष्ट ही एक ऋषि का बनाया हुआ माना गया है। सायण ऋग्वेदभाष्य (१।४।१) के उपोद्घात में लिखते हैं—'उक्तं च शौनकेन०'। यह वाक्य ऐतरेय आरण्यक (५।२।५) में मिलता है। इससे पता चलता है कि बहुत पुराने काल में ही नहीं, प्रत्युत सायण तक भी ऐतरेय आरण्यक के इस अंश को शौनक कृत मानते हैं' (पृ० १००-१०१)। यह कथन भी गलत है, क्योंकि ऊपर निर्दिष्ट वचन से आरण्यक ग्रन्थों की अवेदता नहीं सिद्ध हो पाती। शौनक इस भाग के प्रवक्ता हैं, इस आधार पर 'तेनोक्तम्' यह कथन असंगत नहीं है, जैसे मन्त्रों की ऋषि-कर्तृकता के माने जाने पर भी उसमें कोई दोष नहीं उद्भावित किया जाता।

अपि च, 'ऋक्, यजु और साम इन तीनों की स्थिति प्रलय पर्यन्त प्रत्येक अलग अलग देवता में रहती है। एक शतरुद्रिय अध्याय इसका अपवाद है' वायुपुराण की यह उक्ति प्रत्येक कल्प में वेद लुप्त हो जाते हैं, इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये कही गई है। शतरुद्रिय अध्याय तब भी लुप्त नहीं होता, क्योंकि इस अध्याय की स्थिति उन देवताओं के भी अधिष्ठाता ब्रह्मा में रहती है और यह स्पष्ट ही प्रतिपादित है कि प्राजापत्य श्रुति नित्य होती है। ऋगादि की भी स्थिति प्रजापति में रहती है, अतः वे भी नित्य हैं। लोक में उनके उपलब्धि न होने से उनकी स्थिति प्रलय काल पर्यन्त ही बताई गई है। 'ग्राम्य और आरण्य साम, मन्त्रों सहित ऋग्वेद का ब्राह्मणभाग, यजुर्वेद, हारिद्रव शाखा के खिल तथा और उपखिल तथा इसी प्रकार से तैत्तिरीय शाखा के अंश ये सब नित्य वेद के ही अन्तर्गत हैं'।

'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।' (मनु० २।१०) इत्यादिषु वेदसामीप्याद् वेदश्रुत्यादिशब्दप्रयोगं मनुते। (पृ० १०१), तन्निर्मूलमेव । 'अष्टौ सहस्राणि शतानि चाष्टावशीतिरन्यान्यधिकश्च पादः । एतत्प्रमाणं यजुषामृचां च सशुक्रियं सखिलं याज्ञवल्क्यम् ।।' (ब्रह्माण्डपुराणपूर्वभागे ३५।७७ तथा वायुपुराणे ६१।६८), 'सर्वमन्वन्तरेष्वेवं शाखाभेदाः समाः स्मृताः ।' (वायुपुराण ६१।७४), 'ये ये श्रूयन्ते दिवं प्राप्ता ऋषयो ह्यूर्ध्वरेतसो मन्त्रब्राह्मणकर्तारः', 'मन्त्रब्राह्मणकर्तारो जायन्ते हि युगक्षये ।' (वायुपु० ६१।१०२), 'भविष्ये द्वापरे चैव द्रौणिर्द्वैपायनः । वेदव्यासो ह्यतीते..... महातपाः ।। भविष्यन्ति भविष्येषु शाखाप्रणयनानि तु । तस्मै तद्ब्रह्मणा ब्रह्म तपसा प्राप्तमव्ययम् ।।' 'कश्यपश्चैव वत्सारो नैध्रुवो रैभ्य एव च । असितो देवलश्चैव षडेते ब्रह्मवादिनः ।।' (वायु० पु० ५९।१०३), अत्रिरर्चिः सनश्चैव श्यावाश्वश्चाथ विष्ठुरः । इत्येते चात्रयः प्रोक्ता मन्त्रकारा महर्षयः । (वायुपुराणे ५९।१०४), 'वशिष्ठश्चैव शक्तिश्च तथैव च पराशरः । चतुर्थ इन्द्रप्रमृतिः पञ्चमस्तु भरद्वसुः ।। षष्ठस्तु मैत्रावरुणः कुण्डिनः सप्तमस्तथा ।।' (वा० पु० ५९।१०५), सुद्युम्नश्चाष्टमश्चैव नवमश्च बृहस्पतिः । दशमस्तु भरद्वाजो मन्त्रब्राह्मणकारकाः ।।' (वा० पु० ५९।१३१) इत्युपर्युक्तैर्वचनैः शाखाभेदा ब्राह्मणानि खिलान्युपखिलानि च प्रतिकल्पमाविर्भवन्ति । स्वरूपतस्तु प्रजापतौ नित्यान्येव ।

'वेदे खल्वपि पयोव्रतो ब्राह्मणः' (महाभाष्ये १।१।१) इत्यादिष्वनेकेषु स्थलेषु पतञ्जलिना ब्राह्मणे वेदपदप्रयोगात् स्पष्टं ब्राह्मणानां वेदत्वं सिद्ध्यति । महासाहसिकः सामाजिकस्तु वेदव्याख्यानरूपत्वेन ब्राह्मणे वेदशब्दप्रयोगं मन्वानस्तत्र मूलं किञ्चिदनाकलयन् कथं न स्वीयं महासाहसिकत्वं ख्यापयन् उपहासास्पदं भवेत् ?

आर्यसमाजी विद्वान् दयानन्द के ग्रन्थों के प्रामाण्य की भी उपेक्षा करते हैं। दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेद, आम्नाय, श्रुति प्रभृति शब्दों की वेद-बोधकता को माना है। इसके विपरीत भगवद्दत्त (पृ० १०१) 'विविधाश्चोपनिषदः०', 'श्रुतिस्तु वेदो०' इत्यादि मनुस्मृति के वचनों को उद्धृत कर कहते हैं कि—'वेद व्याख्यान होने से ये वेद के बहुत समीप हैं। इसीलिये इन्हें वेद या श्रुति कहा गया है' (पृ० १०१) यह भी निर्मूल कथन है, क्योंकि 'अष्टौ सहस्राणि०' इत्यादि ब्रह्माण्डपुराण और वायु-पुराण के वचन में ऋक्, यजुः, खिल, ब्राह्मण आदि को वेद मान करके ही उनकी संख्या का निरूपण किया है। 'सर्वमन्वन्तरेषु०' इत्यादि वायुपुराणादि के ऊपर उद्धृत वचनों में सभी मन्वन्तरों में शाखाभेद की बात कही गई है, ऊर्ध्वरेता दिवंगत ऋषियों को मन्त्र और ब्राह्मण भाग के कर्ता बताया गया है, युगक्षय अवस्था में मन्त्र-ब्राह्मण भाग के कर्ता ऋषियों की उत्पत्ति बताई गई है, भविष्य काल में द्वापर में द्रोणपुत्र द्वैपायन वेदव्यास की उत्पत्ति और उनके द्वारा शाखाओं के भेदोपभेद के विस्तार की बात और इस ज्ञान की ब्रह्म से प्राप्ति की बात बताई गई है, कश्यप, वत्सार, नैध्रुव, रैभ्य, असित और देवल ये छः ब्रह्मवादी ऋषि माने गये हैं। अत्रि, अर्चि, सन, श्यावाश्व, विष्ठुर, आदि अत्रिगोत्र के मन्त्रकार महर्षि वर्णित हैं और अन्त में वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, इन्द्रप्रमति, भरद्वाज, मैत्रावरुण, कुण्डिन, सुद्युम्न, बृहस्पति, भरद्वाज ये दस मन्त्र-ब्राह्मण भाग के द्रष्टा ऋषियों का वर्णन किया गया है। इन सब वचनों के प्रमाण पर शाखाओं के भेद, ब्राह्मण, खिल उपखिल आदि का प्रादुर्भाव प्रत्येक कल्प में होता है, यह ज्ञात होता है। ये सब स्वरूपतः प्रजापति में नित्य अवस्थित रहते हैं।

व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि 'वेदे खल्वपि पयोव्रतो ब्राह्मणः' इत्यादि उक्तियों के माध्यम से ब्राह्मण भाग को ही वेद के नाम से उद्धृत करते हैं और इससे स्पष्ट ही ब्राह्मण भाग की भी वेदता सिद्ध हो जाती है, किन्तु महासाहसिक आर्यसमाजी भगवद्दत्त (पृ० १०२-१०४) कहते हैं कि वेद का व्याख्यान करने के कारण यहाँ पर ब्राह्मण भाग के लिये भी वेद शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। ऐसा कहते समय अपनी बात के समर्थन में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। बिना प्रमाण के ज़बरदस्ती अपनी बात मनवाने का दुःसाहस करने वाले ऐसे व्यक्ति क्या उपहासास्पद नहीं हैं ?

यत्तु—'ओमित्यृचः प्रतिगरः, एवं तथेति गाथायाः, ओमिति वै दैवम्, तथेति मानुषम्' (ऐ० ब्रा० ७।१८), 'अनृतं हि गाथा अनृतं नाराशंसीः' (काठकसंहिता १४।५), 'अनृतं मनुष्याः' (श० १।१।१।४) अमुके यज्ञे गाथाया उत्तरे तथेति वदेत्, तथा मनुष्योऽस्तीदं ब्राह्मणेन स्वीकृतम्। ऋचायाः प्रतिपक्षे गाथाया उल्लेखात् परमेश्वरोक्तर्क्, मनुष्योक्ता गाथा। शतपथानुसारेण मनुष्याश्चानृतरूपाः। काठकसंहितानुसारेण गाथा नाराशंस्यश्चानृताः, मानवीया इत्यर्थः। इमा एव पौरुषेय्यो गाथा ब्राह्मणग्रन्थेषूद्धृताः (शतपथ० १३।५।४।२,३,६,७,९,११)। लौकिकभाषास्वेवेमाः। एता यत्रोपलभ्यन्ते, तेषां ब्राह्मणानामवेदत्वमेव। ब्राह्मणानां वेदत्वेऽनृतगाथानामीश्वरकर्तृकत्वं मन्तव्यं स्यात्, तच्च ब्राह्मणविरुद्धमेव' इति, तन्न युक्तम्, ब्राह्मणैस्तासां मनुष्यकर्तृकत्वोक्तेः' इत्यादि, (पृ० १०४-१०५) तदेतत् सर्वं भगवद्दत्तस्याज्ञानविजृम्भितं प्रलपितमेव, पूर्वोक्तवचनानामन्यार्थत्वात्।

तथाहि—'ओमिति ऋचः प्रतिगरः' (ऐ० ब्रा० ७।१८) इत्यैतरेयवचनेनाध्वर्युणा प्रयोक्तव्यं प्रतिगरविशेषं दर्शयति—ओमिति ऋच इति। होत्रा प्रयुक्ताया एकैकस्या ऋचोऽन्ते हिरण्यकशिपौ हिरण्यकूर्चे वा तिष्ठतोऽध्वर्योः ओम् इत्येतादृशः प्रतिगरो भवति। एकैकस्या गाथायाश्चान्ते तथेति प्रतिगरः। वक्त्रा प्रोक्तस्यार्थस्याङ्गीकारवचनोऽत्र प्रतिगरशब्दः। अद्यत्वेऽपि कथानकश्रवणे श्रोतारोऽङ्गीकारार्थे ओमिति हूं इति मध्ये मध्ये वदन्ति। ओमित्येतच्छन्दोरूपं देवैरङ्गीकारार्थे प्रयुज्यते, तत्तथेति मानुषं मनुष्याङ्गीकारे तथेतिशब्दः प्रयुज्यते। नास्मिन् वाक्य ऋचां देवत्वं न वा गाथानां मानुषत्वमुच्यते। ओमिति प्रतिगरस्य दैवत्वं तथेति प्रतिगरस्य मानुषत्वमुच्यते। तदेतत्सूत्रकारैरप्युच्यते। तदेतत् शौनःशेपाख्यानं परःशतगर्गाथमपरिमितं हिरण्यकशिपावासीनः प्रतिगृणाति—ओमित्यृचः प्रतिगरः, एवं तथेति गाथायाः, ओमिति वै मानुषम्। तथेति मानुषम्' (शाङ्खायनश्रौतसूत्रे १५।२७; कात्यायनश्रौतसूत्रे १५।१५४)।

भगवद्दत्त आगे कहते हैं—ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—'ओमित्यृच०' इत्यादि, पुनः काठक संहिता में कहा है—'अनृतं हि गाथा०', और शतपथ में कहा है—'अनृतं मनुष्याः'। इससे निश्चय होता है कि जो बात पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण से स्पष्ट होती है, वही सिद्धान्त काठक संहिता से प्रकाशित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि अमुक यज्ञ में बैठकर गाथा के उत्तर में 'तथा' कहे। यहाँ 'तथा' मानुष है, यह स्वयं ब्राह्मण में स्वीकार किया गया है। ऋचा के प्रतिपक्ष में गाथा का उल्लेख स्पष्ट करता है कि जहाँ ऋचा दैवी ईश्वरीय है, वहा गाथा मनुष्योक्त है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि मनुष्य अनृत रूप है और काठक संहिता ने कहा है कि गाथा और नाराशंसी भी अनृत हैं, अर्थात् मानवीय हैं। ये ही पौरुषेय गाथाएँ ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर उद्धृत की गई हैं। ये गाथाएँ पूरी तरह से लौकिक भाषा में ही हैं। जिन ग्रन्थों में लौकिक भाषा वाली पौरुषेय गाथाएँ पाई जावें और पाई ही न जाएँ, किन्तु उद्धृत की गई हों, वे ग्रन्थ वेद अर्थात् ईश्वरीय नहीं हो सकते। यदि ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद मानेंगे तो ब्राह्मणोद्धृत अनृत गाथाएँ ईश्वरकृत माननी पड़ेगी। यह बात ब्राह्मण के ही विरुद्ध है। ब्राह्मण तो गाथाओं को मनुष्यकृत कह रहा है, फिर ब्राह्मण को वेद मानना अपने ही अज्ञान का प्रकाश करना है (पृ० १०४-१०५)। यह भगवद्दत्त का पूरा प्रतिपादन अज्ञान प्रयुक्त प्रलापमात्र है, क्योंकि इन वाक्यों का अर्थ कुछ दूसरा ही है।

वस्तुतः 'ओमिति ऋचः प्रतिगरः' इस ऐतरेय वचन में अध्वर्यु के द्वारा प्रयोग किये जाने वाले प्रतिगर विशेष का विधान है। होता के द्वारा प्रयुक्त एक एक ऋचा के अन्त में हिरण्यकशिपु अथवा हिरण्यकूर्च में बैठे अध्वर्यु को 'ओम्' इस तरह का उच्चारण करना चाहिये और एक एक गाथा के अन्त में 'तथा' शब्द का उच्चारण करना चाहिये। यहाँ पर वक्ता के द्वारा कहे गये वचन की स्वीकृति के अर्थ में, अर्थात् मैंने इस बात को या मन्त्र को सुन लिया, इसकी स्वीकृति अर्थात् सूचना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आज भी कहानी आदि सुनते समय श्रोतागण हम इस बात को सुन रहे हैं, इसकी स्वीकृति के लिये 'हूं' इस शब्द का उच्चारण बीच बीच में करते हैं। 'ओम्' यह छन्दोरूप देवताओं के द्वारा स्वीकृति की सूचना में प्रयुक्त होता है और 'तथा' यह शब्द मनुष्यों के द्वारा। इस वाक्य में इस तरह से ऋचाओं का देवत्व अथवा मानुषत्व नहीं विहित है। 'ओम्' यह देवताओं की स्वीकृति और 'तथा' यह मनुष्यों की स्वीकृति का सूचक शब्द है। यही बात श्रौतसूत्रकारों ने भी कही है।

शौनःशेपमाख्यायते ऋचो गाथाभिश्च परःशता परःसहस्रा वा ओमिति ऋचः प्रतिगरः, तथेति गाथायाः'. (आपस्तम्ब-श्रौ० सू० १८।१३)। तदेतत्सर्वं किमर्थम्, किमर्थं च प्रतिगरभेद इत्याशङ्कां परिहरन्ती श्रुतिरेव वक्ति—'ओमिति ऋचः प्रतिगरः, तथेति गाथायाः। ओमिति वै दैवं तथेति मानवम्, दैवेन चैवैनं मानुषेण च पापादेनसः प्रमुञ्चति (ऐ० ब्रा० ७।१८) तेन दैवेन मानुषेण च प्रतिगरेणाध्वर्युरेनं राजानमहिकादेनसोऽपकीर्तिलक्षणान्नरकहेतोश्च प्रमुञ्चति मुक्तं करोति। तस्मान्मानुषादैहिकाद् दैवाच्च पापात् प्रमोकसिद्ध्यर्थं दैवमानुषप्रतिगरविधानमिह दृश्यते। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१), 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० सू० १।२।७) इति रीत्यार्थवादानां विध्यर्थस्तावकत्वेन स्वार्थे मानाभावात्। द्विविधपापप्रमोकफलदैवमानुषप्रतिगरविधिशेषत्वेन तत्रैव लक्षणया दैवत्वमानुषत्वबोधकवाक्येऽपि तात्पर्यात्। तच्च ऋचो गाथायाश्च वेदत्वेऽपि प्रतिगरयोर्दैवत्वमानुषत्वाभ्यामुपपद्यते, समुच्चयविधित्सया मृत्युतरणामृतत्वसाधनयोरपि विद्याविद्ययोरन्धंतमःप्राप्तिहेतुत्वोक्तिवत्। 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥', 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥' (ईशावास्य०) इति मन्त्रवर्णेभ्यः। तेन नात्र गाथानां मानवत्वमुक्तम्, न वा तत्र तात्पर्यम्, विधिस्तुतौ तात्पर्यात्।

श्रुतौ तु यथा ऋचां यजुषां साम्नां चाध्ययने यज्ञत्वसम्पत्तिरुक्ता, तथैव ब्राह्मणेतिहासपुराणगाथादीनामध्ययनेऽपि यज्ञत्वसम्पत्तिरुक्ता। तथाहि—'यदृचोऽध्यगीषत ताः पय आहुतयो देवानामभवन्, यद्यजूंषि घृताहुतयो यत्सामानि सोमाहुतयो यदथर्वाङ्गिरसो मध्वाहुतयो यद्ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी-

'यह प्रकरण शौनःशेप आख्यान से संबद्ध है, जिसमें कि १०० ऋचाएँ और गाथाएँ हैं। हिरण्यकशिपु स्थान में आसीन अध्वर्यु इनको सुनता है और यह मन्त्र या गाथा मैंने सुन ली, इसकी स्वीकृति देता है—'ओमित्यृचः प्रतिगरः' इत्यादि, 'शौनःशेप आख्यायते' इत्यादि। ये वचन शांखायन श्रौतसूत्र, कात्यायन श्रौतसूत्र और आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के हैं। यह सब किस लिये किया जाता है और यह प्रतिगर का उच्चारण किस लिये किया जाता है, इन्हीं सब आशंकाओं का परिहार करने के लिये ऐतरेय श्रुति स्वयं ही कहती है कि 'ओम्' यह ऋचा का प्रतिगर है और 'तथा' यह गाथा का, 'ओम्' यह शब्द देवताओं से संबद्ध है और 'तथा' शब्द मनुष्यों से। ऐसा करके अध्वर्यु दैव एवं मानुष पापों से अपने यजमान को भी मुक्त कर लेता है'। अर्थात् दैव और मानुष प्रतिगर का उच्चारण करके अध्वर्यु इस यजमान राजा को ऐहिक अपकीर्ति लक्षण पाप से और नरक लक्षण पारलौकिक पाप से मुक्त कर लेता है। इसलिये मानुष अर्थात् ऐहिक और दैव अर्थात् पारलौकिक पाप से अपने यजमान को मुक्त करने के लिये दैव और मानुष प्रतिगर का विधान यहाँ किया गया है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वा०', 'विधिना त्वेक' इन मीमांसा सूत्रों के प्रमाण पर अर्थवाद वाक्यों का विनियोग विध्यर्थ की स्तुति के लिये किया जाता है, अतः उनका तात्पर्य अपने अर्थ में नहीं रहता। दैव और मानुष इन द्विविध पापों से छुटकारा दिलाने के लिये विहित दैव और मानुष प्रतिगर विधि के अंग के रूप में ही दैवत्व और मानुषत्व बोधक वाक्यों में भी लक्षणा से तात्पर्य का बोध हो जाता है। अर्थात् ऋचा और गाथा दोनों में वेदत्व की समान स्थिति रहने पर भी प्रतिगर में दैवत्व और मानुषत्व की उपपत्ति हो सकती है, जैसा कि कर्म और ज्ञान का समुच्चय करने की दृष्टि से मृत्युतरण और अमृतत्व साधन रूप विद्या और अविद्या इन दोनों को घोर अन्धकार में ले जाने वाले कारण के रूप में चित्रित किया गया है। 'जो व्यक्ति घोर अन्धकार में गिरते हैं, जो कि अविद्या की उपासना करते हैं। और जो विद्या की उपासना में निरत हैं, वे उससे भी अधिक गहन अन्धकार में गिरते हैं', 'अविद्या से मृत्यु को जीतकर विद्या से अमृतत्व को प्राप्त करते हैं' ये ईशावास्य उपनिषद् के वचन इसमें प्रमाण हैं। इस तरह से यहाँ पर गाथाओं की मनुष्यकृतित्व का वर्णन नहीं है और न यहाँ पर उनका तात्पर्य ही इस अर्थ में बताया जा सकता है।

श्रुति में जैसे ऋक्, यजु और साम के अध्ययन में यज्ञ करने के फल की प्राप्ति बताई गई है, उसी तरह से ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, गाथा प्रभृति के अध्ययन में भी इसी फल की प्राप्ति वर्णित है। जैसे कि—'ऋग्वेद का जो अध्ययन किया, वह देवताओं के लिये दूध की आहुतियों के समान हुआ, यजुर्वेद का अध्ययन घृताहुति, सामवेद का अध्ययन सोमाहुति, अथर्ववेद का

मेंदाहुतयो देवानामभवन्। ताभिः क्षुधं पाप्मानमपाघ्नन्नपहतपाप्मानो देवाः स्वर्गं लोकमायन् ब्राह्मणः सायुज्य-मृषयोऽगच्छन् इति ।।' (तै० आ० २।९।१) इति श्रुतिः। श्रुत्यर्थस्तु-पादबद्धमन्त्रा ऋचस्ता अध्यगीषत त ऋषयोऽधीतवन्त इति यदस्ति ता अध्ययनक्रिया देवानां क्षीरद्रव्याहुतयोऽभवन्। तदाहुत्या या तुष्टिः सा तेषामृगध्ययनेन सम्पन्ना। एतदन्यत्रापि योज्यम्। अथर्वभिरङ्गिरोभिश्च दृष्टा मन्त्रा अथर्वाङ्गिरसः। ब्राह्मणानि कर्मचोदनाः 'वायव्यं श्वेतमालभेत' (तै० सू० २।१।१।१) इत्यादयः। 'देवासुराः संयत्ता आसन्' इत्यादय इतिहासाः। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत्' इत्यादीनि सृष्टिप्रतिपादकानि पुराणानि। कल्पाः प्रयोगप्रतिपादकानि वाक्यानि। गाथा गायति चोदिता मन्त्रविशेषायोऽस्य कौष्ठच इत्यादयः, यमगाथाभिः परिगायतीति विधानात्। नराशंसपदोदेता नाराशंस्यो 'होता यक्षन्नराशंसम्' इत्याद्याः। मन्त्रब्राह्मणान्तःपठितानामपि पुनरुक्तिः फलातिशयद्योतनार्था। मेदाहुतयो मांसाहुतयः। ताभिराहुतिभिर्देवाः क्षुद्रूपं पाप्मानं विनाशितवन्तः। स्वाध्यायजन्यतृप्त्या क्षुधं विस्मृतवन्तः। ततः क्षुद्रूपपापरहिता देवाः सुखमनुभवितुं स्वर्गं गताः। ऋषयश्च पूर्वोक्ता अध्ययनेन ब्रह्मयज्ञेन जगत्कारणस्य ब्रह्मणः सायुज्यं प्राप्ताः। ब्रह्मज्ञानोत्पादनद्वारा मुक्तिहेतुत्वं ब्रह्मयज्ञस्य युक्तम्। अत एव ज्ञानसाधनेषु प्राथम्येन वेदानुवचनं वाजसनेयिनः समामनन्ति। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४।४।२२) इति।

वस्तुतो गाथानां मानुषत्वं तु निरुक्तविरुद्धम्। 'तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति' (४।६ नि०)। तदर्थस्तु तत्र तस्मिन् 'त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये' (ऋ० सं० १।१०५।१७) इत्येवमादिसूक्ते ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं च भवति। पुनरितिहासश्च ऋग्बद्धो गाथाबद्धश्च भवति। यदुक्तम्—'तेषां गाथेति पारिभा-

अध्ययन मधु की आहुति और ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी का अध्ययन मेदाहुति के समान है। इन आहुतियों से क्षुधा और पापों का नाश हो जाता है। देवता पापों के नष्ट हो जाने से स्वर्ग लोक में आ गये और वेदों के अध्येता ऋषिगणों ने ब्रह्मा से सायुज्य को प्राप्त कर लिया'। इस श्रुति का विवरण इस प्रकार है—पादों में निबद्ध मन्त्र ऋक् कहलाते हैं, इन ऋचाओं का अध्ययन ऋषियों ने किया। यह अध्ययन देवताओं के लिये क्षीर द्रव्य की आहुति के समान तृप्तिकर हुआ, अर्थात् क्षीर द्रव्य की आहुति से जो उनको तृप्ति होती, वह तृप्ति उनको ऋचाओं के अध्ययन से प्राप्त हो गई। इसी तरह से यजु और साम के संबन्ध में भी इसी तरह का अभिप्राय समझना चाहिये। अथर्व और अंगिरा प्रभृति के द्वारा परिदृष्ट मन्त्रसमुदाय अथर्वांगिरस कहलाता है। कर्म का विधान करने वाले वाक्य ब्राह्मण कहलाते हैं, जैसे कि 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस तरह के वाक्य। 'देवासुरा संयत्ता आसन्' इस तरह के वाक्य इतिहास कहलाते हैं। 'आत्मा वा' इत्यादि सृष्टि प्रभृति के प्रतिपादक वाक्य पुराण कहलाते हैं। प्रयोगों को स्पष्ट करने वाले वाक्य कल्प कहलाते हैं। 'यमगाथाभिः परिगायति' इस तरह से गायति क्रिया से चोदित 'योऽस्य कौष्ठचः' इत्यादि वाक्य गाथा कहलाते हैं। 'नराशंस' इस पद से युक्त 'होता यक्षन्नराशंस' इस तरह के वाक्य 'नाराशंसी' कहलाते हैं। इन सबका पाठ मन्त्रभाग या ब्राह्मणभाग में ही मिलता है, तो भी इनका अलग से वर्णन इनके पाठ से अतिशय फल प्राप्त होता है, इस बात को दिखाने के लिये है। मेदाहुति का अर्थ मांसाहुति है। इन आहुतियों से देवताओं की क्षुधा-रूपी पाप-समुदाय से मुक्ति हो गई और इस वेदादि के स्वाध्याय से जो उनकी तृप्ति हुई, उसके आगे वे क्षुधा को भूल गये। तब क्षुधा रूप पाप से मुक्त होकर देवगण सुख का अनुभव करने के लिये स्वर्ग गये और ऋषिगण पूर्वोक्त अध्ययन अर्थात् ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान कर जगत् के कारण ब्रह्म से सायुज्य को प्राप्त कर लिया। ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा ब्रह्मयज्ञ की मुक्ति की कारणता उचित ही है। इसी लिये वाजसनेयी शाखा के अध्येतागण ज्ञान के साधनों में प्रथम स्थान वेदानुवचन को देते हैं—'इस ब्रह्म को ब्राह्मण वेद का स्वाध्याय कर जानना चाहते हैं और इसके लिये यज्ञ, दान और अनश्वर तप का भी अनुष्ठान करते हैं'।

गाथाओं को मनुष्यों की रचना मानना निरुक्त के भी विरुद्ध है। वहां पर कहा गया है कि—'तत्र ब्रह्मेतिहास०' इत्यादि। इसका अर्थ यह है कि 'त्रितः कूपे०' इत्यादि ऋङ् मन्त्रों में इतिहास और गाथाओं का मिश्रण है। यहाँ ऋचाओं में और गाथाओं में दोनों में इतिहास भी निबद्ध मिलता है। यहां पर भगवद्दत्त का—'कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिनकी पारिभाषिक संज्ञा

षिकी संज्ञेति, (पृ० १०६) तत्तु निर्मूलम्, दुर्गाचार्यादिभिस्तथाऽव्याख्यानात्। यदुक्तम्—'यथा श्लोकशब्दो लोके मन्त्रे चोपलभ्यते लोके वेदे च गाथाशब्दो लभ्यते' (पृ० १०६), तत्तु नास्मत्प्रतिकूलम्, सिद्धान्तेऽपि गाथाशब्दस्य मन्त्रे ब्राह्मणे लोके पुराणेतिहासेषु च प्रयोगाभ्युपगमात्। न तावतापि मन्त्रब्राह्मणगतगाथानां मानुषत्वं पौरुषेयत्वं च सिद्धयति।

तत्र नाराशंस्यः पौरुषेय्यो यज्ञगाथाः, गाथा आत्मवादश्लोकाः, पुरुषकृता एव गाथा इत्यन्ये। 'अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः' (म० ९।४२) अत्र गाथाशब्दो वृत्तविशेषवचनः। यथोक्तं पिङ्गलेन 'अत्रासिद्धं गाथेति'। 'अविगीताः परम्परागताः श्लोका अप्युच्यन्ते' इति मेधातिथिः। वचनानि तु पुराणादिप्रसिद्धगाथाभिप्रायेणैवोक्तानि। तद्यथा—'अपि चेयं पुरा गीता गाथा सर्वत्र विश्रुता। मनुना मानवेन्द्रेण तां श्रुत्वा मे वचः कुरु ।।११।। गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। कामचारप्रवृत्तस्य न कार्यं ब्रुवतो वचः।।१२।। (वाल्मीकीयरामायणे पश्चिमोत्तरशाखीयेऽयोध्याकाण्डे २५), 'अत्र गाथाः कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जनाः। अम्बरीषेण या गीता राज्ञा राज्यं प्रशासता ।।४।। समुदीर्णेषु दोषेषु बाध्यमानेषु साधुषु। जग्राह तरसा राज्यमम्बरीष इति श्रुतिः ।।५।। (म०भा० आश्व० ३२, पृ० १०७) इत्यादिका गाथाः पौरुषेय्यो मानुष्योऽभ्युपेयन्त एव।

ब्राह्मणगतगाथाभिप्रायस्तु—'गाथाशब्देन ब्राह्मणगता ऋच उच्यन्ते। यज्ञार्था गाथा यज्ञगाथाः' इत्याश्वलायनश्रौतसूत्रे (५।६) स्थले तट्टीकाकृन्नारायणः (पृ० १०८)। 'गाथा नाम ऋग्विशेषाः' इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रे (३।३।१) स्थले स एव। निकषग्रावणि चायमेव सिद्धान्तः शुद्धः स्थिरश्च। पूर्वोक्तनिरुक्तानुसारेण मन्त्रा अपि गाथा भवन्ति। तथा च सायणः स्वीये तैत्तिरीयारण्यकभाष्ये (२।९) स्थले व्याचष्टे 'गाथा मन्त्रविशेषाः' इति।

गाथा हैं' (पृ० १०६) यह अर्थ सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि दुर्गाचार्य प्रभृति ने वहाँ पर ऐसी कोई व्याख्या नहीं की है। 'जैसे श्लोक शब्द साधारण श्लोक के लिये भी प्रयुक्त होता है और वेद मन्त्रों के लिये भी प्रयुक्त होता है, वैसे ही गाथा शब्द का भी द्वयर्थक प्रयोग है' (पृ० १०६) यह बात हमारे मत के प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि गाथा शब्द का मन्त्र, ब्राह्मण, लोक, पुराण, इतिहास इन सबमें एक ही अर्थ में प्रयोग होता है, ऐसी हमारी मान्यता है ही, किन्तु इससे मन्त्र और ब्राह्मण भाग में विद्यमान गाथाओं को किसी तरह से मनुष्यकृत अर्थात् पौरुषेय नहीं सिद्ध किया जा सकता।

'पौरुषेयी यज्ञ की गाथाएँ नाराशंसी कहलाती हैं, आत्मप्रशंसा परक श्लोक गाथाएँ कहलाती हैं, कुछ लोगों के मत से गाथाएँ मनुष्यकृत होती हैं'। 'अत्र गाथा' इत्यादि मनुस्मृति के श्लोक में गाथा शब्द वृत्तविशेष का बोधक है। जैसा कि पिंगल ने कहा है—जो यहाँ सिद्ध न हो उसको गाथा कहा जाता है। 'अविगीत परम्परागत श्लोक गाथा कहलाते हैं' यह मेधातिथि का कथन है। (पृ० १०७) ये सब वचन पुराणादि में प्रसिद्ध गाथा शब्द के लिये कहे गये हैं। जैसा कि वाल्मीकीय रामायण में मिलता है—'यह पुराने समय से चली आ रही गाथा सब जगह सुनने को मिलती है, जिसको कि सबसे पहले मानवेन्द्र मनु ने गाया था कि यदि गुरु भी गर्वोन्मत्त हो जाय, कार्याकार्य का विचार न करे और मनमाना आचरण करने लगे, तो उसकी बात नहीं मानना चाहिये'। इसी तरह की गाथाएँ महाभारत आश्वमेधिक पर्व में भी मिलती हैं—'पुराकल्प के वेत्ता विद्वान् राजा अम्बरीष के द्वारा राज्य का शासन सम्यग् रूप से चलाते समय गाई गई कुछ गाथाओं को सुनाते हैं। उनमें कहा गया है कि प्रजा में दुर्गुणों की अभिवृद्धि होने पर और साधु जनों के पीडित किये जाने पर अम्बरीष ने पूरी शक्ति से सारे शासन की बागडोर को कड़ाई से अपने आप संभाल ली'। इस तरह की गाथाओं को तो हम भी पौरुषेय अर्थात् मनुष्यनिर्मित मानते हैं।

आश्वलायन श्रौतसूत्र के टीकाकार नारायण ब्राह्मणगत गाथा का अभिप्राय बताते हुए कहते हैं कि 'गाथा शब्द से ब्राह्मणगत मन्त्रों का बोध होता है और यज्ञ-गाथा शब्द का अर्थ है यज्ञ के लिये गाई गई गाथा, अर्थात् ऋचाएँ'। आश्वलायन गृह्यसूत्र की व्याख्या करते हुए वे ही कहते हैं कि 'गाथा ऋग्विशेष को कहते हैं'। (पृ० १०८) परीक्षा की कसौटी पर यही सिद्धान्त शुद्ध और स्थायी उतरता है। उक्त उद्धृत निरुक्त वचन के अनुसार मन्त्र भी गाथा कहलाते हैं। इसी तरह की व्याख्या तैत्तिरीयारण्यक के भाष्य में सायण ने भी की है—'गाथा मन्त्रविशेष कहे जाते हैं' (पृ० १०८)।

तत्र पुराणेतिहासादिगतानां मानुषीत्वेऽपि न मन्त्रब्राह्मणगतानां गाथानां पौरुषेयत्वं सिद्धयति। यथा पुराणादिगतानां श्लोकानां पौरुषेयत्वेऽपि न मन्त्रगतानां श्लोकानां पौरुषेयत्वमिति तद्वत्। ब्राह्मणप्रसङ्गे गाथाशब्देन ब्राह्मणरूपाणां गाथानामपि ग्रहणं युक्तमेव।

यदुक्तम्—'अनृतं मनुष्याः' (श० १।१।१।४) इति शतपथे मनुष्याणामनृतत्वमुक्तम्' (पृ० १०५) इति, तदपि तुच्छम्, त्वन्मते देवानामपि मनुष्यत्वाविशेषान्मन्त्राणामपि मानुषत्वापत्तेः। यथा च मानुषत्वेन 'अनृतं हि गाथाऽनृतं नाराशंसोः' (काठकसंहिता १४।५) इति मानुषत्वेन गाथादीनामनृतत्वम्, तथैव मन्त्राणामप्यनृतत्वापत्तिः, 'विद्वांसो वै देवाः' इति प्रमाणेन ऋग्वेदभूमिकास्वनेकत्र दयानन्देन विदुषां मनुष्याणामेव देवत्वाभ्युपगमात्। सिद्धान्ते तु—'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः' (श० ब्रा० १।१।१।४)। अत्र सायणः—यद् इदं जगत् तत्सर्वमनृतं सत्यं वेति कोटिद्वयमेव न तृतीया कोटिरस्ति। सत्यमेव देवाः, चिरावस्थानात् नियमेन सत्यवादित्वाद्वा। अनृतं मनुष्याः स्वप्नदृष्टवदल्पकालावस्थानात् प्रायेणानृतवादित्वाद्वा। तथा च सत्यानृतवादित्वमैतरेयकेऽप्याम्नातम्—'सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः' (ऐतरेयब्राह्मण १।६)। सत्यानृतवदनसाहित्यं हि तत्र विवक्षितोऽर्थः—'तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्' (ऐतरेयब्राह्मण १।६)। तत्रास्य सायणेनेत्थमर्थोऽनुवर्णितः—देवा एव सत्य संहिताः सत्ये तात्पर्यवन्तः। मनुष्यास्तु प्रायेण अनृते तात्पर्यवन्त इति।

यदुक्तम्—'यद्ब्रह्मणः शमलमासीत् सा गाथा नाराशंस्यभवत्। यद्वेदस्य मलमासीत्तदेव गाथा नाराशंस्यभवत्' (पृ० १०५) इति, तदपि तुच्छम्, तस्य प्रतिग्रहनिषेधार्थपरत्वेन निन्दायां तात्पर्यात्। 'देवा वै ब्रह्मणश्चान्नस्य शमलमपाघ्नन्। यद्ब्रह्मणः शमलमासीत् सा गाथा नाराशंस्यभवत्। यदन्नस्य सा सुरा' (तै० ब्रा० १।३।२।६)

इस परिस्थिति में पुराण-इतिहास आदि के ग्रन्थों में उपलब्ध गाथाएँ यद्यपि पौरुषेय हैं, किन्तु मन्त्र-ब्राह्मणभाग गत गाथाएँ उन्हीं के उदाहरण से पौरुषेय नहीं सिद्ध की जा सकतीं। जैसे कि पुराणादिगत श्लोकों के पौरुषेय होने पर भी मन्त्रगत श्लोकों की पौरुषेयता नहीं सिद्ध हो सकती। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रसंग में आये गाथा शब्द से ब्राह्मण रूप गाथाओं का ही ग्रहण हो, यह उचित ही है।

'शतपथ ब्राह्मण में मनुष्यों को अनृत कहा गया है' (पृ० १०५) यह कथन भी गलत है, क्योंकि आपके मत से तो देवता भी मनुष्य ही हैं, अतः मन्त्रों की भी पौरुषेयता ही माननी पड़ जायगी। जैसे मनुष्यनिर्मित होने से गाथा और नाराशंसी अनृत है, उसी तरह से मनुष्यनिर्मित होने से मन्त्रों की भी अनृतता माननी पड़ेगी, क्योंकि आप देवताओं को भी मनुष्य मानते हैं। 'विद्वांसो वै देवाः' इस वचन के प्रमाण के आधार पर ऋग्वेदभाष्यभूमिका में अनेक स्थलों पर स्वामी दयानन्द ने विद्वान् मनुष्यों को ही देवता माना है। सिद्धान्त में तो पूरा शतपथ ब्राह्मण का वाक्य इस प्रकार से है—'द्वयं वा०' इत्यादि। इसका सायणसंमत अर्थ है—'यह सारा जगत् सत्य है या अनृत, इन दो कोटियों में हो बटा हुआ है। इसमें कोई तीसरा विकल्प नहीं हो सकता। इनमें देवगण सत्य इसलिये हैं कि उनकी स्थिति चिरकाल पर्यन्त रहती है, अथवा वे नियमपूर्वक सत्य ही बोलते हैं। मनुष्य अनृत इसलिये हैं कि वे सपने में देखी वस्तु की तरह बहुत थोड़ी देर के लिये रहते हैं, अथवा प्रायः अनृतभाषी होते हैं। मनुष्यों और देवों का इसी तरह का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में भी मिलता है--'देवगण सत्य प्रतिज्ञा वाले और मनुष्य असत्य प्रतिज्ञा वाले होते हैं'। इसका अभिप्राय यह है कि देवगण सत्य वचन से और मनुष्य असत्य वचन से अपना लगाव रखते हैं। 'इसलिये दीक्षित व्यक्ति को सच ही बोलना चाहिये' इस ऐतरेय वाक्य का सायण ने यह अर्थ किया है--'देवगण ही सत्यसंहित, अर्थात् सत्य में अपना अभिप्राय रखते हैं। इसके विपरीत मनुष्यों का अभिप्राय प्रायः असत्य में रहता है'।

'यद् ब्रह्मणः' इत्यादि तैत्तिरीय ब्राह्मण के वचन को उद्धृत करके जो यह कहा गया है कि—'जो वेद का मल था, वह गाथा, नाराशंसी बन गया' (पृ० १०५) यह भी गलत है, क्योंकि उक्त वाक्य प्रतिग्रह (दान) का निषेध करता है, अतः इस अर्थवाद वाक्य का केवल निन्दा में तात्पर्य है। यहाँ का पूरा प्रसंग इस प्रकार है—'देवा वै·····सा सुरा इति'। इसका सायण ने यह अर्थ

इति। अत्र सायणः—कश्चित् प्रतिग्रहनिषेधं विधित्सुः प्रस्तौति—देवा इति। ब्रह्मणो वेदस्य शमलं मलिनभागम्, अपाघ्नन् अपनीतवन्तः। नराणां राजामात्यादीनामासमन्तात् प्रशंसनं नराशंसस्तद्विषया गीर्नाराशंसी। प्रतिग्रहनिषेधं विधत्ते—तस्माद् गायतश्च मत्तस्य च न प्रतिगृह्यम्। यत्प्रतिगृह्णीयात् शमलं प्रतिगृह्णीयात्। सन्तुष्यतु दुर्जनन्यायेन निन्दापरत्वेऽपि मानुषमलिनभागस्यापि यथा मानुषत्वमेवमेव वेदमलिनभागस्यापि वेदत्वमेव सिद्ध्यति नावेदत्वम्। प्रकृते च ब्रह्मणः शमलमिति स्पष्टमुक्तम्।

न च ब्रह्मणि वेदे युष्माभिः शमलमभ्युपेयते, तथात्वे ब्रह्मणो वेदस्याप्रामाण्यापत्तिः। तस्मादर्थवादत्वान्नास्य वचनस्य वैदिकमन्त्रब्राह्मणगतानां गाथानां नाराशंसीनां शमलत्वप्रतिपादने तात्पर्यम्, किन्तु लौकिकानां राजामात्यादीनां समन्तात् प्रशंसनं नराशंसस्तद्विषया नाराशंसीस्तादृशीनामेव गाथानां निन्दने तात्पर्यम्, तस्मान्मनुष्यविषयगानस्तुतिपरस्य सुरापानमत्तस्य प्रतिग्रहनिषेधतात्पर्यमङ्गीकार्यम्। अन्यथा—'ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः। सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः॥' (म० ४।१२४) इति वचनेन यजुर्वेदस्य मानुषत्वमेवोक्तम्। तेन यजुर्वेदस्य मानुषत्वेन पौरुषेयत्वमाधुनिकत्वं चायाति। नैतावदेव, सामवेदध्वनेरशुचित्वमप्युक्तम्। तेन सामवेदस्य शमलत्वमिवाशुचित्वमुक्तम्। तेन त्वदुक्त्या सामवेदस्यापि लौकिकत्वं सिद्ध्यति। वस्तुतस्तु 'सामध्वनौ ऋग्यजुषी नाधीयीत कदाचन। वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च॥' (म० ४।१२३) इति पूर्ववचनस्यार्थवादोऽयम्। 'नात्र तदीयस्य ध्वनेरशुचित्वं परमार्थतो विज्ञेयम्, किन्तर्हि यथाऽशुचिसन्निधाने नाध्येतव्यमेवं तत्सन्निधान इति सामान्यमशुचित्वावलम्बनम्' इति मेधातिथिभाष्यम्।

किया है—'प्रतिग्रह का निषेध करने के अभिप्राय से कोई कहता है—देवताओं ने ब्रह्म अर्थात् वेद के मलिन भाग को नष्ट कर दिया। नर अर्थात् किसी राजा या उसके अमात्य प्रभृति मनुष्यों को सब तरह से प्रशंसा नराशंस कहलाती है। नराशंस करने वाली वाणी नाराशंसी कहलाती हैं। प्रतिग्रह के निषेध का विधान इस वाक्य से किया जाता हैं—इसलिये गाने वाले और मत्त व्यक्ति का दान नहीं लेना चाहिये। जो दान लेता है वह उसके पाप को ले लेता है। यहाँ पर यद्यपि निन्दापरक वाक्य का कोई स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है, तो भी 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय के अनुसार यदि स्वार्थ का ग्रहण किया भी जाय, तो मनुष्य के मलिन भाग को भी जैसे मनुष्य ही कहा जायगा, उसी तरह से वेद के मलिन भाग को भी वेद ही माना जायगा, वह उससे भिन्न किसी दशा में नहीं माना जा सकता। प्रकृत स्थल में गाथा, नाराशंसो को वेद का ही मलिन भाग कहा गया है।

वेद अर्थात् ब्रह्म में मलिनता को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर ब्रह्म अर्थात् वेद का अप्रामाण्य हो जायगा। इसलिये अर्थवाद वाक्य होने से इस वचन का तात्पर्य वैदिक मन्त्र-ब्राह्मण गत गाथा और नाराशंसी को सफलता के प्रतिपादन में नहीं है, किन्तु लौकिक राजा, मन्त्री आदि की सब तरह से प्रशंसा करने वाली नाराशंसी गाथाओं को निन्दा करने में है। इसलिये उसका यहाँ यह तात्पर्य लेना चाहिये कि जो व्यक्ति मनुष्यों की प्रशंसा में गाथा गाने में लगा हुआ है और सुरापान कर मदमत्त हो जाता है, उससे दान नहीं लेना चाहिये। अन्यथा—'ऋग्वेद के देवता देव, यजुर्वेद के मनुष्य और सामवेद के पितृगण देवता हैं। इसलिये सामवेद की ध्वनि अशुचि मानी जाती हैं' इस मनुस्मृति के वचन के अनुसार यजुर्वेद मानुष माना गया है, अतः यजुर्वेद की मानुषता के आधार पर पौरुषेयता और आधुनिकता भी सिद्ध हो जायगी। इतना हो नहीं, यहाँ पर सामवेद की ध्वनि को अशुचि भी माना गया है। इस तरह से सामवेद केवल समल ही नहीं, अशुचि भी हो जाता है। इस तरह से आपकी व्याख्यान, पद्धति अनुसार सामवेद भी लौकिक सिद्ध हो जायगा। वस्तुतस्तु मनुस्मृति में इसके पहले के श्लोक में बताया गया है कि 'जब सामवेद की ध्वनि हो रही हो, उस समय ऋग्वेद और यजुर्वेद का पाठ न करे। इस वेद के अन्तिम भाग का अध्ययन करके अथवा आरण्यक का उच्चारण करने के बाद ही इनका अध्ययन करे'। इस पूर्ववचन का यह अर्थवाद वाक्य है। इसका तात्पर्य परमार्थतः सामवेद की ध्वनि की अशुचिता में नहीं है, किन्तु जैसे अशुचि पदार्थ की संनिधि में वेद का अध्ययन नहीं किया जाता, उसी तरह से यहाँ पर भी समझना चाहिये। इस तरह से यहाँ पर सामान्य अशुचिता का ही विधान मनुभाष्यकार मेधातिथि को स्वीकार्य है।

इतिहासपुराकल्पादयो ब्राह्मणानि भवन्तीत्यत्र न विवादः, शङ्करभगवत्पादैरपि 'अस्य महतो भूतस्य' (वृ० २।४।१०) इति श्रुतिव्याख्यानावसरे तथैवोक्तत्वात्। तथापि ब्राह्मणातिरिक्तान्यपीतिहासपुराणानि नापलपितुमर्हाणि। वात्स्यायनेन—'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' (न्यायभाष्य ४।१।६२) इतीतिहासपुराणादीनां प्रामाण्यव्यवस्थापनात्। नहि ब्राह्मणेनैव ब्राह्मणस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं युक्तमित्युक्तमन्यत्र प्रकरण इहैव ग्रन्थे विस्तरात्।

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आपस्तम्बश्रौतसूत्रे २४।१।३१; सत्याषाढश्रौतसूत्रे १।१।७, कात्यायनपरिशिष्टप्रतिज्ञासूत्रे १; बौधायनसूत्रे २।६।३ च), 'मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते' (बौधायनगृह्यसूत्रे २।६।३६); बौधायनधर्मसूत्रे २।६।७ च) 'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' (कौ० सू० १।३) इत्यादिभिरार्षैः सूत्रैर्मनुव्यासजैमिनिशबरवचनैश्च मन्त्राणां ब्राह्मणानां च वेदत्वसिद्धेः। ब्राह्मणभागस्य मानुष्यत्वोक्तिर्निष्प्रमाणत्वात् प्रायश्चित्तार्हैव।

यत्तु—'श्रौतसूत्रजन्मदातृभिर्ब्राह्मणैरेव ब्राह्मणानामवेदत्वमुक्तम्, तदा कल्पसूत्राणां किं मूल्यम्' (पृ० १११) इति, दपि मिथ्याभाषणमेव, ब्राह्मणानामवेदत्वप्रतिपादकब्राह्मणवचनानामभावात्, 'सर्वे वेदाः...सब्राह्मणा' (गोपथब्राह्मणे १।२।९) इत्यनेन तत्साधनं तु तदर्थाज्ञानमूलकमित्युक्तमेव। अन्यथा 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' (ऋ० सं० १०।९०।९) इति छन्दसः पृथग्गृगादीनां कथनेन तेषां छन्दोभिन्नत्वसिद्धेः।

'इतिहासो वेदः' (श० १३।४।३।१२), 'पुराणं वेदः' (श० १३।४।३।१३) इत्यादिवचनं नौपचारिकम्, किन्तु ब्राह्मणरूपाणां पुराणेतिहासादीनां भगवन्निःश्वसितत्वेन ऋगादिमन्त्राणामिव वेदत्वानपायात्। 'श्रुतिश्च द्विविधा—वैदिकी, तान्त्रिकी च' इति (म० २।१) इत्यत्र कुल्लूकभट्टः। 'सौत्रेषु वैदिकेषु च मन्त्रेषु' इति सत्याषाढ-

इतिहास, पुराकल्प प्रभृति ब्राह्मणभाग के ही अन्तर्गत आते हैं, इस बात में कोई विवाद हम नहीं मानते। भगवत्पाद आचार्य शंकर ने 'अस्य महतो भूतस्य०' इस बृहदारण्यक श्रुति की व्याख्या करते समय ऐसा ही कहा है। तथापि ब्राह्मणभाग के अतिरिक्त भी इतिहास-पुराण हैं, इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में—'प्रमाणभूत ब्राह्मण वाक्य इतिहास-पुराण की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करते हैं' इस तरह से इतिहास-पुराण का प्रामाण्य स्वीकार किया है। ब्राह्मण वाक्य ही ब्राह्मण भाग के प्रामाण्य को सिद्ध करने में किसी तरह से समर्थ नहीं हो सकते, इस बात को हमने इसी ग्रन्थ में अन्यत्र विस्तार से समझाया है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, सत्याषाढ श्रौतसूत्र, कात्यायनपरिशिष्ट स्थित प्रतिज्ञासूत्र और बौधायनसूत्र में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद माना है। बौधायन गृह्यसूत्र में कहा गया है कि मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहा जाता है। बौधायन धर्म सूत्र में 'जायमानो वै ब्राह्मणः' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य को उद्धृत कर बताया गया है कि इस प्रमाण को वेद शब्द से व्यवहृत किया गया है। कौशिक सूत्र में कहा गया है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों आम्नाय अर्थात् वेद कहे जाते हैं। इस प्रकार अनेक आर्ष सूत्रों के और मनु, व्यास, जैमिनि, शबरस्वामी प्रभृति के वचनों के प्रमाणों से मन्त्र और ब्राह्मण उभय भागों को जब वेद माना गया है, तो इस परिस्थिति में ब्राह्मण भाग को मनुष्य-निर्मित मानना, प्रमाण रहित होने से प्रायश्चित्त योग्य ही है।

'श्रौतसूत्रों का जन्मदाता जब ब्राह्मण स्वयं कह चुका है कि वह वेद नहीं, तो कल्पसूत्रों के इन स्मार्त प्रमाणों का क्या मूल्य हो सकता है' (पृ० १११) यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि ब्राह्मण वेद नहीं है, इस बात के प्रतिपादक ब्राह्मण वाक्यों का नितान्त अभाव है। 'सर्वे वेदाः सब्राह्मणा' इत्यादि गोपथ ब्राह्मण प्रभृति के वचनों से इस बात को सिद्ध करना, उनके अर्थ को ये लोग ठीक से नहीं समझ पाये हैं, इसी बात का सूचक है। अन्यथा 'तस्माद्यज्ञात्' इत्यादि श्रुति से छन्द पद का पृथक् ग्रहण होने से ऋगादि की भी इनसे भिन्नता माननी पड़ जायगी।

'इतिहास वेद है, पुराण वेद है' इस तरह के शतपथ ब्राह्मण के वचन औपचारिक नहीं हैं' (पृ० ११२), किन्तु ये वचन यही सिद्ध करते हैं कि ब्राह्मणभाग के अंगभूत पुराणेतिहास आदि भी भगवान् से ही निकले हैं, अतः ऋगादि मन्त्रों की तरह ये भी वेद ही माने जायेंगे। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट का कहना है कि श्रुति दो तरह की होती है—वैदिकी और तान्त्रिकी। सत्याषाढ

श्रौतसूत्रे (७।१ इत्यत्र) गोपीनाथभट्टः। यथा श्रुतिमन्त्रयोर्द्वैविध्यम्, तथैव गाथानामपि लौकिकत्वं वैदिकत्वं च ज्ञेयम्। मन्त्रब्राह्मणरूपाणां वैदिकत्वं पुराणादिगतानां लौकिकत्वम्। यथा श्रुतिमन्त्रद्वैविध्येऽपि शाकल्यसंहितास्थमन्त्राणां न लौकिकत्वं तथैव मन्त्रब्राह्मणगतानां गाथानाराशंस्यादीनां न लौकिकत्वम्, न वा कल्पसूत्रेषु ब्राह्मणानामौपचारिकं वेदत्वम्, तथात्वे शाकल्यादिमन्त्राणामप्यौपचारिकवेदत्वापत्तेः।

'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' (न्या० सू० ४।१।६२) इति गौतमसूत्रभाष्ये तु ब्राह्मणभिन्नपुराणानां प्रामाण्यं समर्थ्यते। तच्च बृहदारण्यकोक्तभगवन्निःश्वसितपुराणादिभ्यो भिन्नं छान्दोग्योक्तमेवेति पूर्वमुक्तमेव। यदुक्तम्—'पुराणेतिहासादीनि ब्राह्मणेभ्यः पूर्वमप्यासन्। तेषां सङ्कलनेनैव ब्राह्मणग्रन्थनिष्पत्तिः' (पृ० ११३) इति, तत्तुच्छम्, निर्मूलत्वात्। तथात्वे तु ब्राह्मणस्य तत्कार्यत्वेन कथं तेन स्वमूलप्रामाण्याभ्यनुज्ञानम्? तथा वेदप्रामाण्यस्य तत्कार्यस्मृत्यादिग्रन्थायत्तत्वप्रसङ्गात्।

'अथाष्टमेऽहनि······कञ्चिदितिहासमाचक्षीत' (श० १३।४।३।१२), 'अथ नवमेऽहन्·····पुराणं वेदः···सोऽयमिति किञ्चित्पुराणमाचक्षीत' (श० १३।४।३।१३), 'पुराणं कस्मात् पुरा नवं भवति' (नि० ३।१८)। पुरा नवं भवति न वर्तमानकाल इत्यर्थः। क्षिप्रोत्पन्नं नूत्नं भवतीति ब्राह्मणभिन्नस्यैव पुराणत्वमुक्तम्। ब्राह्मणस्य तु नित्यत्वेऽपि गुणवृत्त्यैव पुराणेतिहासादिसंज्ञा भवति। ब्राह्मणभिन्नानां पुराणेतिहासगाथानाराशंस्यादीनां पारिप्लवे वर्णनं भवति। यदि तु वोधायनसंशब्दनादस्य शिष्योऽस्य ग्रन्थस्य कर्तेति न्यायः काठकादिष्वाश्रयिष्यते, तदा शाकल्यादिषु संश्रयात्तेषामपि शाकल्यादीनां शाकल्यादिसंहिताकर्तृत्वमेवायास्यति (पृ० ११३)।

श्रौतसूत्र की व्याख्या में गोपीनाथ भट्ट लिखते हैं कि सौत्र और वैदिक मन्त्रों में। इन दोनों स्थलों में जैसे श्रुति और मन्त्र का द्वैविध्य
प्रतिपादित है, उसी तरह से गाथाओं के भी वैदिक और लौकिक ये दो भेद जानने चाहिये। इनमें से मन्त्र-ब्राह्मणगत गाथाएँ वैदिक
और पुराणादिगत गाथाएँ लौकिक कहीं जायगी। जैसे श्रुति और मन्त्रों के दो भेदों के रहते हुए भी शाकल्यसंहिता में वर्तमान मन्त्र
लौकिक नहीं माने जायेंगे, उसकी तरह से मन्त्र-ब्राह्मणगत गाथा, नाराशंसी प्रभृति भी लौकिक नहीं माने जा सकते और न कल्पसूत्रों में
ब्राह्मणों की औपचारिक वेदता ही सिद्ध की जा सकती है, क्योंकि ऐसा मानने पर शाकल्य संहिता प्रभृति के मन्त्रों की भी औपचारिक
वेदता की आपत्ति से छुटकारा नहीं मिल सकेगा।

'प्रमाणभूत ब्राह्मण से इतिहास और पुराण की प्रामाणिकता ज्ञात होती है' (पृ० ११३) इस प्रकार न्यायसूत्र के
वात्स्यायन भाष्य में ब्राह्मणभिन्न पुराणों के प्रमाण का समर्थन किया गया है। यहाँ पर बृहदारण्यक में उक्त भगवान् के निःश्वासभूत
पुराणादि से भिन्न छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित पुराणादि विद्याओं का ग्रहण करना चाहिये। कहा गया है कि—'पुराण-इतिहास की
स्थिति ब्राह्मणों से भी पहले थी। उन्हीं को सामग्री का संकलन करके प्रवचन की भाषा में इन ब्राह्मणों में समावेश किया गया है' (पृ०
११३), यह कथन भी तुच्छ एवं निराधार है। यदि ऐसा माना जाय तो ब्राह्मणभाग का आधार ये इतिहास-पुराण हुए, ऐसी अवस्था
में ब्राह्मणभाग के प्रमाण पर उनके मूलभूत इतिहास-पुराण का प्रामाण्य कैसे माना जा सकता है? यदि ऐसा माना जाय तो वेद का
प्रामाण्य भी वेद के आधार पर निर्मित स्मृति प्रभृति ग्रन्थों के अधीन मानना पड़ेगा।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—'यथाष्टमेऽहन्'··'पुराणं वेदः···सोऽयमिति किञ्चित्पुराणमाचक्षीत'। इससे सिद्ध होता
है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में इतिहास और पुराण की चर्चा है। 'पुराणं कस्मात्? पुरा नवं भवति' इस निरुक्त वचन में पुराने अर्थात् पुराण
का यह निर्वचन किया है कि 'प्रथम होते समय नया हो।' इसका अर्थ यह हुआ कि पहले नया होता है, वर्तमान काल में नहीं। तुरन्त
उत्पन्न हुई वस्तु नवीन कहलाती है, इस तरह से पुराण ब्राह्मण से भिन्न ही कहे जायंगे। ब्राह्मण तो नित्य हैं, अतः उनमें पुराण-
इतिहास प्रभृति संज्ञा का प्रयोग गुण वृत्ति से ही माना जायगा। पारिप्लव के अवसर पर ब्राह्मणभिन्न पुराण, इतिहास, गाथा, नाराशंसी
आदि का वर्णन पढ़ा जाता है। यदि वोधायन के कथन के प्रमाण पर काठक आदि शाखाओं के कर्ता इनके शिष्य पाये जाते हैं, तो उसी
न्याय का सहारा शाकल्य प्रभृति संहिताओं में भी लेने पर अर्थात् शाकल्य प्रभृति को ही इन संहिताओं के कर्ता मान लेने पर इनमें भी
पौरुषेयता की आपत्ति समान रूप से उठ खड़ी होगी (पृ० ११३)।

यदुक्तम्—'दृष्टं साम' (पा० सू० ४।२।७), 'तेन प्रोक्तम्' (पा० सू० ४।३।१०१), 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा० सू० ४।३।१०५), 'उपज्ञाते' (पा० सू० ४।३।११५) इत्यादीनामयमभिप्रायो यन्मन्त्रा दृष्टा भवन्ति, मूलवेदभिन्नानि शाखाब्राह्मणानि च प्रोक्तानि भवन्ति, स्फूर्त्या प्रादुर्भूतानि पाणिन्यादिशास्त्राण्युपज्ञातानि, तांस्तान् ग्रन्थानाश्रित्य निर्मिता ग्रन्थाः कृता भवन्ति' (पृ० ११४) इति, तदपि निरर्गलम्, तथा सति मूलवेदस्य गगनकुसुमायितत्वापातात्। त्वदीयमूलवेदत्वेनाभिमताः शाकल्यादयः चतस्रः संहितास्तु शाकल्यादिभिः प्रोक्ताः शाखा एव। अत एव दृष्टान्येव मन्त्रब्राह्मणानि प्रोच्यन्ते। प्रवचनेन प्रचार्यन्ते। पतञ्जलिना तु 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) इतिसूत्रं प्रत्याख्याय 'कृते ग्रन्थे' इत्यनेनैव शाकल्यकाठकादिपदसिद्धिरुक्ता। तच्चान्यत्रैहैव ग्रन्थे मीमांसितम्।

यदुक्तम्—'मन्त्रा एव दृष्टा भवन्ति, न ब्राह्मणानि' (पृ० ११४) इति, तदपि तुच्छम्, त्वयैवैतेषां प्रजापतिदृष्टत्वाभ्युपगमात्। 'आधानं ब्राह्मणं प्रजापतेः। इष्टिब्राह्मणानि प्रजापतेः।' (चारायणीयमन्त्रार्षाध्याये ९, ११) त्वयैतस्य प्रमाणत्वेनोद्धरणात्। 'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि' (ब्र० सू० १।३।६३) इति सूत्रे शङ्करभगवत्पादैरपि ऋषीणां मन्त्रब्राह्मणदर्शिनामङ्गीकारात्। यत्तु—'श्रीशङ्कराचार्योक्तिरैतिह्यविरुद्धेति' (पृ० ११४), तत्तु निर्मूलमेव, सर्वसम्मतवैदिकवाङ्मयेतिहासस्याद्याप्यसिद्धेः। आधुनिका ऐतिहासिकास्तु त्वदभिमतवेदानामपि ईसवीयसन्पूर्वाणि द्वित्राणि वर्षसहस्राण्येवायुरभ्युपगच्छन्ति। त्वदीयवाङ्मयेतिहासस्तु पक्षपातपूर्णत्वेन सर्वथाऽप्रामाणिक एव। दयानन्देन गोतमसूत्र-वात्स्यायनभाष्ययोः प्रामाण्यमभ्युपेतम्। वात्स्यायनस्तु (४।१।६२) इति गोतमसूत्रे 'य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च' इति ब्रवीति। अर्थान्मन्त्रवद् ब्राह्मणस्यापि दर्शनं प्रवचनं चोपगच्छति। तथा च त्वदितिहासस्यैवाप्रामाण्यं सिद्ध्यति (पृ० ११४-११५)।

यत्तु 'मन्त्रार्षाध्याय इत्यमिधैव द्योतयति यन्मन्त्राणामेव द्रष्टार ऋषयो न ब्राह्मणानाम्'(पृ० ११४) इति, तदति स्थवीयः, यतो हि तत्रैव अष्टादशस्थानकादनन्तरं 'ब्राह्मणानि प्रजापतेः। ब्राह्मणपठितान् मन्त्रानथोदाहरि-

'भगवान् पाणिनि ने अपने अष्टक में ये सूत्र कहे हैं—दृष्टं साम, तेन प्रोक्तम्, पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु, उपज्ञाते, कृते ग्रन्थे। इनका अभिप्राय यह है कि मन्त्र दृष्ट हैं, शाखाएं (मूल वेदों को छोड़ कर) ब्राह्मण और कल्प प्रोक्त हैं, पाणिनि आदि के ग्रन्थ स्फूर्ति से प्रकट हुए हैं, साधारण ग्रन्थ काँट-छाँट कर बनाये जाते हैं' (पृ० ११४) यह कथन भी निरर्गल है, क्योंकि ऐसा मानने पर मूल वेद की स्थिति आकाश-कुसुम के समान हो जायगी। आप जिनको मूल वेद मानते हैं, ये शाकली प्रभृति चार संहिताएं शाकल्य प्रभृति ऋषियों के द्वारा प्रोक्त शाखाएं ही हैं। इसी लिये यथादृष्ट मन्त्र और ब्राह्मण का केवल प्रवचन किया जाता है और प्रवचन के माध्यम से ही उनका प्रचार किया जाता हैं। पतंजलि ने (तेन प्रोक्तम्) इस सूत्र का ही प्रत्याख्यान कर दिया है और 'कृते ग्रन्थे' इसी सूत्र से शाकल्य, काठक प्रभृति पदों की सिद्धि की हैं। इस बात की हमने इसी ग्रन्थ में अन्यत्र विस्तार से चर्चा की है।

'मन्त्र दृष्ट हैं और ब्राह्मण प्रोक्त हैं' (पृ० ११४) यह कथन भी गलत है, क्योंकि आप स्वयं ही इन ब्राह्मणों को प्रजापति के द्वारा परिदृष्ट मानते हैं। 'आधानं ब्राह्मणं प्रजापतेः' इत्यादि चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय को आपने ही प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। 'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि' इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकर भगवत्पाद ने ऋषियों को मन्त्र और ब्राह्मण का द्रष्टा माना है। आपने कहा है कि शंकराचार्य की यह उक्ति वैदिक ऐतिह्य के विरुद्ध है (पृ० ११४ टि०), किन्तु यह सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि सर्वसंमत वैदिक वाङ्मय का इतिहास आज भी नहीं बना है। आधुनिक ऐतिहासिक तो आपके अभिमत वेदों को भी ईसवीय शताब्दी से कोई दो तीन हजार वर्ष पहले के मानते हैं। आपका बनाया इतिहास भी पक्षपात से भरा है, अतः उसको हम सर्वथा अप्रामाणिक मानते हैं। दयानन्द ने गोतमसूत्र और उसके वात्स्यायन भाष्य को प्रमाण माना है। ४।१।६२ संख्या के गोतम सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन का कहना है कि मन्त्र और ब्राह्मण भाग का ऋषिगण दर्शन और प्रवचन करते हैं। अर्थात् मन्त्रभाग के समान ब्राह्मणभाग के भी दर्शन और प्रवचन को वे अंगीकार करते हैं। इस तरह से आपके इतिहास की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

ष्यामः' (पृ० ११६) इति पाठो लभ्यते। तथा चानेन वचनेन स्पष्टमेव ब्राह्मणानां प्रजापतेरार्षमुच्यते। यत्तु—'य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः' (गोतमसूत्र २।१।६८) इत्यत्र वात्स्यायनोक्त्या वेदार्थ (वेदव्याख्यान) भूतानां ब्राह्मणानां द्रष्टार एव ऋषयः। तादृशव्याख्यानेन सार्धमितिहासपुराणादिकमपि प्रोक्तमृषिभिः। तथा च निरुक्तम्—'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता १०।१०, १०।४६, इत्याख्यानम्। ११।१९, ११।२५, ११।३४ इत्यादि (पृ० ११५), तदतितुच्छम्, तथा सति मन्त्रद्रष्टृणामित्यस्य मन्त्रार्थद्रष्टृणामित्येवार्थः स्यात्। तथा च मन्त्रद्रष्टार ऋषय इति त्वत्सिद्धान्तो व्याकुप्येत।

किञ्च, मन्त्रब्राह्मणद्रष्टारो वेदार्थद्रष्टारोऽपि भवन्तु, न तावता तेषां मन्त्रब्राह्मणद्रष्टृत्वमनुपपद्यते, मन्त्रब्राह्मणद्रष्टृणां वेदार्थद्रष्टृत्वसम्भवात्। यत्तूदाहृतनिरुक्तवचनस्य व्याख्यानं यत्—'वेदार्थ इतिहासादिभिर्युक्तो यदोच्यते तदा स प्रियो भवति। मन्त्राणां वेदत्वे तदर्थो ब्राह्मणेषूक्तः। ब्राह्मणानामपि वेदत्वे तदर्थः केषु ग्रन्थेषु ? न केषुचित्तदर्थो वर्णितः' (पृ० ११५) इति, तदपि बालभाषितम्, त्वदुद्धृतनिरुक्तवचनानां त्वदभिप्रायविरुद्धार्थबोधकत्वात्। तथाहि—'यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवानक्रतुना कर्मणा पर्यभवत्' (मं० सं० १०।२।१२) इत्यादिमन्त्राणामेवात्रैतिहासिकोऽर्थ उक्तः, तस्मादैतिहासिकोऽपि मन्त्रार्थो भवतीत्युक्तम्। निरुक्तकारादयः सर्वे तत्तच्छाखागतानां मन्त्राणामेवमर्थं वर्णयन्ति। गृत्समदस्यार्षम्। इन्द्राय मनस्वते पुरोडाशस्य याज्या (मं० सं० १०।२।१२) गृत्स्मदमिन्द्रवरप्रदानादैन्द्रं रूपं बिभ्रतमिन्द्रोऽयमिति मन्यमाना जिघांसवोऽसुराः किल मरुद्गणैर्विनाकृतोऽयमिदानीमेकः शक्यो हन्तुमिति परिवव्रिरे। स किल भीतोऽनेन सूक्तेनेन्द्रं तुष्टाव। आत्मानं च ब्राह्मणं परेभ्यः प्रतिवेदयाञ्च-

मन्त्रार्षाध्याय' यह नाम ही प्रकट करता है कि मन्त्रों के ही ऋषि हैं, ब्राह्मणों के नहीं (पृ० ११४), यह भी बड़ी
मोटी अकल की बात है, क्योंकि वहीं पर १८ वें स्थानक के बाद कहा गया है कि 'सामान्य रूप से ब्राह्मणों के प्रजापति ऋषि हैं। अब
ब्राह्मण पठित मन्त्रों का उदाहरण देंगे' इस वचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों का ऋषि प्रजापति हैं। 'य एवाप्ता वेदार्थानां
द्रष्टारः' वात्स्यायन की इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि वेद व्याख्यानभूत ब्राह्मणों के ऋषिगण केवल द्रष्टा हैं। उस व्याख्यान के साथ
साथ ऋषियों ने इतिहास, पुराण आदि का भी प्रवचन कर दिया है। निरुक्त में भी कहा है—'ऋषेर्दृष्टार्थस्य', 'इत्याख्यानम्'। इसका भी
यही अभिप्राय होता है कि जब वेदार्थ इतिहास आदि से संयुक्त कहा जाता है तो वह प्रिय और रुचिकर लगता है' (पृ० ११५) यह कथन
भी कुछ नहीं है, ऐसा मानने पर भी 'मन्त्रद्रष्टृणाम्' इस पद का 'मन्त्रार्थद्रष्टृणाम्' यह अर्थ करना पड़ेगा और इस तरह से आपका
यह सिद्धान्त दुष्ट हो जायगा कि ऋषिगण मन्त्रद्रष्टा हैं।

अपि च, मन्त्र और ब्राह्मण के द्रष्टा ऋषिगण वेदार्थ के भी द्रष्टा माने जांय तो इसमें आपत्ति क्या है ? वेदार्थ के
द्रष्टा होने से वे मन्त्र और ब्राह्मण के द्रष्टा नहीं रह जायेंगे, ऐसी बात तो होगी नहीं, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण के द्रष्टा वेदार्थ के
भी द्रष्टा हो ही सकते हैं। भगवद्दत्त ने ऊपर उद्धृत निरुक्त वचन की व्याख्या इस तरह से की है—'वेदार्थ इतिहास आदि से संयुक्त कहा
जाता है, तो वह प्रिय और रुचिकर लगता है। मन्त्रों को वेद मानने से उनका अर्थ ब्राह्मणों में किया गया है। यदि ब्राह्मणों को भी
वेद मानोगे तो उनका अर्थ किन ग्रन्थों में बताओगे ? उनका अर्थ तो कहीं वर्णित नहीं है' (पृ० ११५), किन्तु यह सब बच्चों की सी बातें
हैं, क्योंकि आपके द्वारा उद्धृत निरुक्त का वचन आपके अभिप्राय के विरुद्ध ही अर्थ का प्रतिपादक है। क्योंकि 'यो जायमान०' इत्यादि
मन्त्रों का ही ऐतिहासिक अर्थ यहाँ बताया गया है। इसी लिये ऐतिहासिक पद्धति से भी मन्त्र का अर्थ किया जा सकता है, यह बात
यहाँ कही गई है। निरुक्तकार प्रभृति सभी आचार्यगण उन उन शाखाओं में विद्यमान मन्त्रों का इसी तरह से अर्थ करते हैं। 'यो
जायमान' इस मन्त्र के ऋषि गृत्समद हैं। गृत्समद ऋषि इन्द्र के वरदान के प्रभाव से स्वयं इन्द्रस्वरूप हो गये। इनको इन्द्र मानकर
मार डालने के अभिप्राय से असुरों ने देखा कि अभी यह इन्द्र मरुद्गणों के बिना अकेला ही दिखाई पड़ रहा है। इस अकेले इन्द्र को
हम आसानी से मार सकते हैं, ऐसा सोचकर इन्द्र बने गृत्समद ऋषि को उन्होंने घेर लिया। इस अवस्था में 'भयग्रस्त गृत्समद ऋषि
इस सूक्त से इन्द्र की स्तुति करने लगे और उन इन्द्र-शत्रु असुरों से कहा कि मैं तो गृत्समद नाम का ब्राह्मण हूँ। मन्त्र का अर्थ इस

कार। मन्त्रार्थस्तु—जात एव जातमात्र एव प्रथमो मुख्यः सर्वभूतानां प्रतिमुख्यतां सम्पेदे। मनस्वी मेधावी। अन्ये तु यथाकालं मुख्या भवन्तीन्द्रस्तु जातमात्र एवेत्यर्थः। देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत पर्यगृह्णाद् परिगृहीतवान् स्वामित्वेन पर्यरक्षद्वा। मुख्यत्वादत्यक्रामद्वा। यस्य शुष्माद् बलाद् रोदसी अभ्यसेताम् अबिभीताम्। नृम्णस्य महाबलस्य सेना-लक्षणस्य महत्त्वेनास्यासह्यबलमित्यवश्यमावां सादयिष्यतीत्येवं यस्य बलादतिमहत्यावेते द्यावापृथिव्यावबिभीताम्, हे असुरजनाः! स इन्द्रो नाहमिन्द्रो ब्राह्मणोऽहं तत्प्रसादादेवावाप्ततद्रूप इति। निरुक्तवचनार्थस्तु—ऋषेर्दृष्टार्थस्यानुभूतेन्द्र मैत्रस्येन्द्रवयस्यस्य गृत्समदस्येन्द्रं प्रति प्रीतिस्तुष्टिर्भवत्याख्यानसम्बद्धा, अथवा दृष्टार्थस्य देवतार्थसतत्त्वतो दृष्टवतो भावितान्तःकरणस्य तत्रोपजातप्रीतेरतिहर्षाद् आख्यानयुक्ता अन्येभ्यः कथनसंयुक्ता इत्यर्थः। १०।४६ इत्यत्रापि—'एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं मातारेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्॥' (ऋ०सं०१०।११४।४) इति मन्त्रेऽपि ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानयुक्ता। मन्त्रार्थस्त्वयम्—एकोऽद्वितीयः सुपर्णः सुपतनो वायुः समुद्रमन्तरिक्षं नित्यमाविशति। स सर्वभूतानुप्रवेशी भुवनानि अभिपश्यति। तमेवं वर्तमानमहं पाकेन मनसा विपक्वमनसा अहमन्तिकमिवापश्यम्। दृष्टं देवतावादसतत्त्वमृषिः कस्यचिदाचक्षाणो ब्रवीति। तं माता माध्यमिका वाग् उपजीवति। स च तामुपजीवति, परस्पराश्रयत्वात्तयोर्वृत्तेः।

एवमेव 'किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः। कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत् कथं रसाया अतरः पयांसि॥' (ऋ० सं० १०।१०८।१)। देवपणयः किलासुराः देवगवीरपजह्रुः। ततः किलेन्द्रस्तद-न्वेषणाय तदालयं सरमां प्राहिणोत्। ते च तां दृष्ट्वा पप्रच्छुरनयर्चा—इदमस्मत्स्थानं किमिच्छन्ती प्रानट् प्राप्तवती। दूरे ह्यध्वा महदन्तरमध्वानं न यदृच्छया गन्तुं शक्यम्। य एवं जगुरिः भृशं गन्ता स एवागन्तुं शक्तः।

तरह से है—'यह इन्द्र उत्पन्न होते ही सब प्राणियों के बीच अपना प्रमुख स्थान बना लेता है। यह बड़ा मनस्वी मेधावी है। इसका अभिप्राय यह है कि अन्य प्राणी तो समय पाकर प्रमुख स्थान बनाते हैं, किन्तु इन्द्र तो उत्पन्न होते ही प्रमुख बन जाता है। वह अपने प्रभाव से सभी देवताओं को इकट्ठा कर लेता है। अथवा सभी देवताओं का स्वामी होने से वह इनकी रक्षा करता है। अथवा अपनी प्रमुखता के कारण वह इन सबसे आगे बढ जाता है। जिस इन्द्र के पराक्रम से द्यावापृथिवी कांपते रहते हैं कि बड़ी भारी सेना रखने के कारण महान् बलशाली यह इन्द्र कहीं हम लोगों को नष्ट न कर दे। इस तरह से जिसके पराक्रम से ये अतिविशाल द्यावापृथिवी थर थर कांपते रहते हैं, हे असुरों, वह इन्द्र मैं नहीं हूँ, किन्तु उसी के प्रसाद से, वरदान से तत्सदृश इन्द्र के स्वरूप को प्राप्त हुआ मैं ब्राह्मण हूँ'। उक्त निरुक्त के वचन का अर्थ यह है—दृष्टार्थ अर्थात् जिसने इन्द्र की मैत्री का अनुभव किया है, उस इन्द्र के मित्र ऋषि गृत्समद की इन्द्र के प्रति प्रीति का इस आख्यान से संबन्ध है। अथवा दृष्टार्थ अर्थात् इन्द्र को देवता के रूप में देखने वाले, उसकी प्रीति के लिये अपने अन्तःकरण को समर्पित कर देने वाले और उसमें अनुराग उत्पन्न हो जाने के कारण परम प्रसन्न मुद्रा में स्थित गृत्समद दूसरे व्यक्तियों के सामने उस इन्द्र के गुणों का वर्णन करते हैं। इसी तरह से 'एकः सुपर्णः' इत्यादि मन्त्र में भी दृष्टार्थ ऋषि की प्रीति आख्यान से संयुक्त होती है। मन्त्र का अर्थ यह है—'एक अर्थात् अद्वितीय, सुपर्ण सुखपूर्वक बहने वाला पवन सदा अन्तरिक्ष में बहता रहता है। वह सभी प्राणियों में श्वासोच्छ्वास के रूप में प्रविष्ट होता रहता है और सारे जगत् का अवलोकन करता रहता है। उस पवन को इस रूप में मैं सदा अपने पवित्र मन से अपने पास देखता रहता हूँ'। यहाँ पर भी देवतावाद के तत्त्व को जिसने ठीक तरह से जान लिया है, ऐसा कोई ऋषि किसी को समझाने के लिये बोल रहा हैं। उस ऋषि की सहायता मातृस्थानीया मध्यमा वाणी कर रही हैं, वह ऋषि उसकी सहायता ले रहा है और इस तरह से एक दूसरे की सहायता से व्यवहार चलता है।

यही स्थिति 'किमिच्छन्ती०' इत्यादि मन्त्र की भी है। एक बार देवताओं के शत्रु असुरों ने देवताओं की गायों का अपहरण कर लिया। तब इन्द्र ने इनको खोजने के लिये असुरों के यहाँ सरमा को भेजा। असुरों ने जब सरमा को देखा तो इस ऋचा के द्वारा वे सरमा से पूछते हैं—'हे सरमे, तुम किस अभिप्राय से हमारे घर आई हो। तुम अपने घर से बहुत दूर चली आई हो, बिना अभिप्राय के इतनी दूर आ पाना संभव नहीं है। बहुत दूर तक जिसका चलने का अभ्यास हो, वहीं इतनी दूर आ सकता

पराचैः पराङ्मुखैर्गमनैरचिता आगता देवनिवासात् का तवास्मासु आहुतिरर्थस्याधानं कोऽस्मत्तोऽर्थस्तव प्राप्तव्यः। का परितक्म्या सुखा रात्रिः अन्तरा तवासीत् कथं रसाया नद्याः पयांसि अतरः। श्रान्तायास्तवान्तरावासाः केऽवासन् ? समूद इत्याख्यानम्। ११।२५ इत्यत्रापि मन्त्र एवाख्यानमुक्तम्। एवमेव—'अन्यमूषु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥' (ऋ० सं० १०।१०।१४) यमी किल यमं चकमे भ्रातरम्, तां यमोऽनयर्चा प्रत्याचचक्षे—हे यमि, अन्यमूषु त्वं परिष्वजस्व मैथुनाभिप्रायेण लिबुजा वल्ली समीपजं वृक्षम्। अन्य एव त्वां परिष्वजतां यस्य योग्या त्वम्। तस्य वा त्वं मन इच्छा। तस्य च त्वं मनः प्रवेष्टुमिच्छ। अथैवमेकचित्त्यमुपगम्यमानेन समानेन सह कृणुष्व संविदं सुभद्राम्। यमी यमं चकमे तां यमः प्रत्याचक्षे व्याख्यानम्। (नि० ११।३४) त्रित्वपक्षे तु—माध्यमिको यमो माध्यमिकां वाचमुषसमात्मनः प्रविभक्तामिव कृत्वोभयस्थानां तां ब्रवीति—हे यमि।

'समस्मिन् जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः। महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन् दस्युहत्याय देवाः ॥' (ऋ० सं० १०।९५।७) उर्वश्या आर्षम्। देवपत्न्यो वापि (नि० १०।४७) आख्यानपक्षोऽपि दर्शितः। 'विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि। जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥' (ऋ०सं० १०।९५।१०) अत्राप्यैतिहासिकः पक्षो दुर्गाचार्येण दर्शितः। ऐतिहासिकपक्षे त्वैलः पुरूरवा अप्सरसा वियुक्तो ब्रवीति—विद्युदिव या पतन्ती। 'त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन' (ऋ०सं० १०।९५।५) ऐतिहासिकार्थाभिप्रायेणैव 'शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य' (नि० ३।२१) इत्यत्रैतिहासिकोऽर्थोऽभिप्रेतः। अत्र सर्वत्र मन्त्रेष्वेवाख्यानवर्णनं दृश्यते।

यदुक्तम्—'ब्राह्मणे वेदार्थो विद्यते। ब्राह्मणस्यापि वेदत्वे वेदार्थः कस्मिन् भविष्यतीति' (पृ० ११५) निस्तत्त्वम्, ब्राह्मणार्थस्यापि मन्त्रेण वर्णनात्। तथाहि—'ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० उ० २।१) इति ब्राह्मणम्।

है। आज तुम देवताओं के यहाँ न जाकर उलटे मुँह हमारे यहाँ चली आई हो तो इसका क्या प्रयोजन है ? हमसे तुम क्या प्राप्त करना चाहती हो। तुम्हारी मार्ग में पड़ी रात्रि तो सुखपूर्वक बीती ? मार्ग के बीच में पड़ी नदियों को तुमने किस तरह से पार किया ? थक जाने पर तुम कहाँ विश्राम करती थी'। इसी तरह से 'समूद' (११।२५) इत्यादि निरुक्त व्याख्यात मन्त्र में भी आख्यान ही वर्णित है। यही स्थिति 'अन्यमूषुत्वं०' इत्यादि मन्त्र की भी है। किसी समय यमी अपने भाई को ही चाहने लगी। इस ऋचा के द्वारा यम उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है—'हे यमि, तुम मैथुन के अभिप्राय से लता के समीपवर्ती किसी अन्य वृक्ष का सहारा लो। जिस व्यक्ति के तुम योग्य हो, वही तुम्हारा आलिंगन करे, तुम उसी व्यक्ति के मन को जीतने का प्रयत्न करो। इसी तरह के किसी समान अभिलाषा वाले व्यक्ति को पाकर तुम उसके साथ अपनी कल्याणकारिणी बात पक्की करो'। यहाँ पर यमी जब यम को चाहने लगी तो यम ने उसका जो प्रत्याख्यान किया, उसीका वर्णन है। त्रित्व पक्ष में तो माध्यमिक यम माध्यमिक वाणी उषा को अपने से अलग करके उभय स्थान में स्थित उसके साथ वार्तालाप करता है—हे यमि।

इसी तरह से 'समस्मिन् जायमान०' इस मन्त्र की वक्ता ऋषि उर्वशी है। यहाँ पर भी 'देवपत्न्यो वापि' इस निरुक्त वचन में आख्यान पक्ष भी वर्णित है। इसी तरह से 'विद्युन्न या पतन्ती' इस ऋङ् मन्त्र में भी दुर्गाचार्य ने ऐतिहासिक पक्ष बताया है। ऐतिहासिक पक्ष में इस मन्त्र में ऐल पुरूरवा अप्सरा उर्वशी से वियुक्त होने पर कहता है—विद्युदिव या पतन्ती। इसी तरह से 'त्रिः स्म माह्नः०' इत्यादि मन्त्र का जब ऐतिहासिक पक्ष में अर्थ किया जाता है, तभी निरुक्त की यह उक्ति सार्थक हो सकती है—'शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य' इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार को यहाँ पर ऐतिहासिक अर्थ अभिप्रेत है। यहाँ जितने उदाहरण दिये गये हैं, वे सभी मन्त्रभाग से ही उद्धृत हैं। इन सभी स्थलों में आख्यानों का वर्णन मिलता है, जो कि आपके मत से केवल ब्राह्मणभाग में ही मिलने चाहिये।

'मन्त्रार्थ तो ब्राह्मणों में विद्यमान है, यदि ब्राह्मणों को वेद मानोगे तो उनका अर्थ किन ग्रन्थों में बताओगे' (पृ० ११५) यह कथन भी निस्तत्त्व है, क्योंकि ब्राह्मणों का अर्थ भी कहीं-कहीं मन्त्रों में वर्णित है। जैसे कि 'ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस

अस्य व्याख्यानम्—'तदेषाम्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।' (तै० उ० २।१) तत एव मीमांसायां ब्राह्मणोक्तार्थानुवादकत्वेन विधायकत्वमित्युक्तमेव । वेदव्याख्यानायैव पूर्वोत्तरमीमांसे, धर्मशास्त्राणि, इतिहासपुराणानि च प्रवृत्तानि । 'वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः' (वा०रा० १।४।६), 'भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः' (श्रीमद्भा० १।४।२९), 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' (१।२०१) इत्यादिप्रमाणेभ्यः । वेदार्थद्रष्टृत्वेन मन्त्रब्राह्मणद्रष्टृत्वे मन्त्रद्रष्टृत्वस्यापि बाधापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, 'तद् यदेनांस्तपस्यमानाम् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यनार्षत् त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वम्' (नि०.२।११) इति निरुक्तोद्धृतब्राह्मणविरोधात् ।

यदुक्तम्—'ब्रह्मपदेन मन्त्रा एवोच्यन्ते' (पृ० ११६) इति, तत्तुच्छम्, ब्रह्मपदेन मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यैव ग्रहणात् । 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' (गौ० सू० २।१।५७) इति प्रामाण्यनिरूपणावसरे वात्स्यायनभाष्ये 'पुत्रकामः पुत्रेष्टचा यजेत' इति ब्राह्मणोदाहरणमपि सुस्पष्टमेव ब्राह्मणानां वेदत्वं साधयति । यदुक्तम्—'तत्र तच्छब्दो न वेदबोधकः, तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वेन वेदस्य च पूर्वमप्रकृतत्वेन तच्छब्देन वेदग्रहणासम्भवात्' (पृ० ११८) इति, तत्तुच्छम्,, तच्छब्देन प्रसिद्धबुद्धिस्थप्रधानपरामर्शित्वेन वेदस्यैव ग्रहणसम्भवात् । 'शब्द'-शब्दोऽपि न शब्दसामान्यबोधकः, किन्त्वाप्तोक्तशब्दस्यैव । तत्र च वेदस्यैव प्राधान्याद् ब्राह्मणानामवेदत्वेन मन्त्रा एवोदाहर्तव्याः स्युः । न्यायसूत्रे (२।१।५७) इत्यत्र 'तस्येति शब्दविशेषमेवाधिकुरुते भगवानृषिः' इति वात्स्यायनवचनमप्येतदनुकूलमेव ।

ब्राह्मणवाक्य की व्याख्या इस तरह से की गई है—'इस ब्राह्मणवाक्य के समर्थन में यह ऋचा कही गई है—ब्रह्म, सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है । परम आकाश में छिपे ब्रह्म के इस स्वरूप को जो जानता है, वह विद्वान् ब्रह्मस्वरूप सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है ।' इसीलिये मीमांसा में मन्त्रों की ब्राह्मणोक्त अर्थ की अनुवादकता के आधार पर अविधायकता मानी गई है । वेदों के व्याख्यान के लिये ही पूर्व और उत्तरमीमांसा, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण आदि की प्रवृत्ति हुई है । 'वेदार्थ के उपबृंहण के लिये भगवान् ने इतिहास और पुराण की सृष्टि की', 'महाभारत की रचना के बहाने से वेदार्थ का उपबृंहण भी किया गया है', 'इतिहास और पुराण की सहायता से वेदार्थ का उपबृंहण करें' इत्यादि वाल्मीकि रामायण, श्रीमद्भागवत, वायुपुराण आदि के वचन इसी बात की पुष्टि करते हैं । वेदार्थ के द्रष्टा मन्त्र और ब्राह्मणभाग के भी द्रष्टा यदि माने जायँगे तो मन्त्र भाग भी उनकी कृति माना जायगा, इस बात को आप स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर निरुक्त में उद्धृत इस ब्राह्मणभाग के वचन से विरोध होगा कि—'ये लोग जब तपस्या कर रहे थे तो स्वयंभू ब्रह्मा ने स्वयं प्रभूत ज्ञान का इनमें संचार किया । इस संचरित ज्ञान के कारण ये लोग ऋषि कहलाये ।' यहाँ पर स्पष्ट ही बताया गया है कि वेदों को ऋषियों ने स्वयं नहीं देखा, किन्तु तपस्या करके स्वयंभू ब्रह्मा से उनको प्राप्त किया ।

'ब्रह्म नाम वेद अर्थात् मन्त्रों का ही है' (पृ० ११६) यह कथन भी गलत है, क्योंकि ब्रह्मपद से मन्त्रब्राह्मणात्मक संपूर्ण वेद का ग्रहण किया जाता है । 'तदप्रामाण्यमनृत०' इस गोतम सूत्र के वात्स्यायन भाष्य में पूर्वपक्ष के रूप में वेद का अप्रामाण्य निरूपित करते समय 'पुत्रकामः पुत्रेष्टचा यजेत' यह ब्राह्मण वाक्य उदाहरण के रूप में उपस्थित किया गया है । इसमें स्पष्ट ही ब्राह्मण भाग भी वेद माना गया है । वहाँ पर 'तत्' शब्द वेद का बोधक नहीं है । 'तत्' शब्द सदा अपने से पहले जो विषय विद्यमान रहता है, उसका परामर्शक माना जाता है । यहाँ पर वेद का कोई प्रसंग नहीं है, अतः 'तत्' शब्द से वेद का परामर्श नहीं हो सकता' (पृ० ११८), किन्तु यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि 'तत्' शब्द बुद्धि में प्रसिद्ध वस्तुओं में जो प्रधान होता है, उसी का परामर्शक माना जाता है, अतः यहाँ पर वेद का ग्रहण होगा । 'शब्द' पद भी केवल सामान्य शब्द का बोधक न होकर आप्त अर्थात् प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा उच्चारित शब्द ही माना जायगा । इन शब्दों में सर्वप्रधान वेद ही माने जायँगे । ब्राह्मण जब वेद नहीं है तो यहाँ पर मन्त्रों का ही उदाहरण दिया जाना चाहिये । न्यायसूत्र (२।१।५७) पर 'तस्य' इस पद को शब्द विशेष के लिये ही भगवान् ऋषि प्रयुक्त करते हैं' यह वात्स्यायन का वचन भी हमारे अर्थ की ही पुष्टि करता है ।

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (१।१।३) इति वैशेषिकसूत्रेऽपि प्रसिद्धपरामर्शित्वेनेश्वरो गृह्यते, ईश्वरस्य तत्राप्रकृतत्वात्। स्वामिदयानन्देनापि तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनादिति व्याख्यातमृगादिभूमिकायाम्। तेनेश्वरेण वचनात्प्रणयनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति तत्रोपस्कारकृत्। 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्' (गो० सू० २।१।६८) अत्रापि तत्पदेन वेदस्य ग्रहणं भवति यथा तथैव 'तदप्रामाण्यम्' (गो०सू० २।१।५७) इत्यत्रापि तत्पदेन वेदस्यैव ग्रहणम्। न च तत्रापि वेदशब्दः प्रकृतः। न च तत्रापि वेदो न गृह्यत इति वाच्यम्, त्वद्गुरुणा दयानन्देन तत्र तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यमित्यर्थस्वीकारात् (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां वेदनित्यत्वविचारे)। तस्मात् सर्वथैव भगवद्दत्तादयः सामाजिका धूलिप्रक्षेपमेव कुर्वन्ति। तद्रीत्या तु 'तदप्रामाण्यम्' ५७ सूत्रमारभ्य ६८ सूत्रपर्यन्तं वेदप्रामाण्यविचारो नास्त्येव, तेषामप्रसक्तत्वादिति साधु समर्थितं दयानन्दमतं तेन देवानांप्रियेण।

यदुक्तम्—'सप्ताक्षरं ब्रह्म। ऋगित्येकाक्षरं ब्रह्म। सामेति द्वेऽथ यदतोऽन्यद् ब्रह्मैव तद् द्व्यक्षरं वै ब्रह्म तदेतत्सर्वं सप्ताक्षरं ब्रह्म' (श० १०।२।४।६) अत्र ब्रह्मपदेनाथर्ववेदो गृह्यते' (पृ० ११६) इति, तत्तुच्छम्, तथात्वे सप्ताक्षराणामुक्तानां ब्रह्मरूपत्वेऽप्यृगादिमन्त्राणामब्रह्मत्वापत्तेः। तस्मात् प्रकृते ऋगादिशब्दैर्न केवलमृगादिमन्त्रा एव गृह्यन्ते, किन्तु मन्त्रब्राह्मणात्मका वेदा एव ऋगादिशब्दैर्ग्राह्याः। 'वेदो वा प्रायदर्शनात् (मी०सू० ३।३।२) इत्यत्र 'उच्चैर्ऋचा क्रियते। उपांशु यजुषा। उच्चैः साम्ना' इत्यत्र मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्यैव ऋगादिशब्दैर्ग्रहणस्य निर्धारितत्वात्। यद्वात्र ब्रह्मपदेन ब्राह्मणस्यैव ग्रहणम्, अथर्वमन्त्राणामपि त्रिविधमन्त्रेष्वन्तर्भावात्। प्रकृते 'आदित्य एकः' इत आरभ्य 'शतधात्मानं विधायाग्निं सर्वान् कामानात्मानमचिनुत स सर्वे कामा अभवत् स एकः शतधा सप्तविधं सम्पद्यते। तस्य सप्ताक्षरे प्रतिष्ठितत्वात्। तथा चाग्निविद्याङ्गत्वेनोक्तवचनस्य वेदत्वावेदत्वाविवेचनायाः प्रवृत्तेः। तस्माद्यथा—

'तद्वचनादाम्नायस्य०' इस वैशेषिक सूत्र में भी 'तत्' पद की प्रसिद्ध परामर्शिता के आधार पर ही ईश्वर का ग्रहण होता है, यद्यपि ईश्वर वहाँ प्रकृत नहीं है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामी दयानन्द ने भी 'तयोः' पद से धर्म और ईश्वर का ग्रहण किया है। उपस्कार के रचयिता ने यहाँ व्याख्या की है कि 'उस परमेश्वर के द्वारा प्रणीत होने से आम्नाय का प्रामाण्य है।' 'मन्त्रायुर्वेद०' इस सूत्र में जैसे 'तत्' पद से वेद का ग्रहण होता है, उसी तरह से 'तदप्रामाण्य०' इत्यादि सूत्र में भी 'तत्' पद से वेद का ही ग्रहण होगा। यहाँ पर भी तो वेद शब्द प्रकृत नहीं है। यहाँ पर भी वेद का ग्रहण नहीं होगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आपके गुरु दयानन्द ने वहाँ पर ईश्वरोक्त नित्य वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया है (ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में वेद की नित्यता का विचार करने वाले प्रकरण में)। इस तरह से सभी जगह भगवद्दत्त प्रभृति आर्यसमाजी आँख में धूल झोंकने का प्रयत्न किया करते हैं। इनके मत से 'तदप्रामाण्य० ५७' इस सूत्र से लेकर ६९ सूत्र पर्यन्त वेद के प्रामाण्य का विचार किया ही नहीं गया है, इस तरह से इन चेलों ने अपने गुरु दयानन्द के मत का अच्छा समर्थन किया है।

'सप्ताक्षरं ब्रह्म०' इत्यादि शतपथश्रुति में ब्रह्म पद से अथर्ववेद गृहीत होता है' (पृ० ११६ टि०) यह कथन भी गलत है, क्योंकि ऐसा मानने पर उक्त सप्ताक्षरों के केवल ब्रह्मरूप (अथर्ववेद रूप) होने से ऋगादि मन्त्र अब्रह्म स्वरूप हो जायेंगे। इसलिये प्रकृत उद्धरण में ऋक् प्रभृति शब्दों से केवल ऋगादि मन्त्रों का ही ग्रहण नहीं होगा, किन्तु मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद भी ऋगादि शब्दों से गृहीत माने जायेंगे। 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' इस मीमांसा सूत्र के उदाहरणभूत 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यादि वाक्यों में मन्त्रब्राह्मण समुदाय का ही ग्रहण ऋगादि शब्दों से किया जाता है, ऐसा निर्णय किया गया है। अथवा यहाँ पर ब्रह्मपद से केवल ब्राह्मणभाग का ही ग्रहण किया जायगा, क्योंकि त्रिविध मन्त्रों में अथर्ववेद के मन्त्रों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। प्रकृत स्थल में 'आदित्य एकः' यहाँ से आरम्भ करके वह अग्नि के रूप में अपने को शतधा विभक्त करके सभी कामनाओं का चयन कर लेता है और तब वह शतधा विभक्त अपने स्वरूप को सात भागों में विभक्त कर लेता है और सात अक्षरों में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस तरह से उक्त वचन अग्निविद्या का अंगभूत है, अतः यहाँ पर वेदत्व और अवेदत्व के विवेचन का कोई प्रसंग नहीं है। इसलिये जैसे 'वाणी ही ऋक् है, प्राण साम है'

'वागेव ऋक् साम प्राणः' इत्यादिभिर्वागादिषु ऋगादिबुद्धिः क्रियते, तथैव सप्ताक्षरे ब्रह्मदृष्टिर्विधीयते, न सप्ताक्षराणां ब्रह्मविधाने तात्पर्य्यम्।

पौर्वापर्यानुरोधेन क्वचिद् ब्रह्मशब्दस्य देवताविशेष एवार्थो यथा स्वाध्यायब्राह्मणे सायणः—'अस्य प्रपाठकस्य स्वाध्यायब्राह्मणमिति समाख्यातः स्वाध्याय एव प्राधान्येनात्र विधेयः। तस्मिश्च शुद्धः पुमानधिकारी। अतः शुद्धिहेतून् यज्ञोपवीतसन्ध्यावन्दनकूष्माण्डहोमानभिधाय स्वाध्यायं विधातुमुपाख्यानमाह—'अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वम्। तां देवतामुपातिष्ठन्त यज्ञकामास्त एतं ब्रह्मयज्ञमपश्यन् तमाहरन् तेनायजन्त इति' (तै० आ० २।९) कल्पादावेव ब्रह्मणाः सृष्टाः, नह्यस्मदादिवत् कल्पमध्ये पुनः पुनर्जायन्ते तस्मादजाः। ते च पृश्नयः शुक्लाः। स्वरूपेणैव निर्मलाः सन्तोऽपि पुनस्तप आचरन्। तदीयेन तपसा तुष्टं स्वयम्भु ब्रह्म जगत्कारणत्वेन स्वतः सिद्धं परब्रह्म वस्तु कांचित् मूर्ति धृत्वा तपस्यमानांस्तानृषीननुग्रहीतुमभ्यानर्षत् आभिमुख्येन प्रत्यक्षमागच्छत्। ततस्ते मुनय ऋषिधात्वर्थविषयत्वाद् ऋषयोऽभवन्। तस्मादन्येषामपि ऋषीणामनयैव व्युत्पत्त्या ऋषित्वं सम्पन्नम्। ततस्ते मुनयः सर्वकामप्रदं कञ्चिद्यज्ञं कामयमानाः स्वयम्भुब्रह्मरूपां तां देवतामुपासितवन्तः। तद्देवतानुग्रहात्ते मुनय एतं वक्ष्यमाणं ब्रह्मयज्ञं समकामहेतुमपश्यन्। दृष्ट्वा च तं यज्ञमाहरन् अनुष्ठितवन्तः। तेन यज्ञेन देवानपूजयन्त' इति।

यत्तु—'स एवं त्रिवृतं सप्ततन्तुमेकविंशतिसंस्थं यज्ञमपश्यत्' (गोपथ० १।१।१२) अत्र मन्त्रेषु यज्ञक्रियाभावदर्शनं यथा तथैव ब्राह्मणदर्शनमिति' (पृ० ११७), तन्न, मन्त्रेषु यज्ञविधानाभावेन तत्र यज्ञदर्शनासम्भवात्। तस्मात्तत्र यज्ञबोधकब्राह्मणदर्शनमेव मन्तव्यम्, तत्रैव यज्ञविधानोपलम्भात्। किञ्च, मन्त्रदर्शनेष्वपि मन्त्रार्थदर्शनमेव

इत्यादि वचनों में वाणी आदि में ऋगादि बुद्धि भी भावना की जाती है, उसी तरह से सप्ताक्षर में ब्रह्मबुद्धि की भावना की जाती है। इस तरह से यहाँ पर सप्ताक्षरों को ब्रह्म सिद्ध करने का कोई प्रसंग नहीं है।

पौर्वापर्य के अनुरोध से कहीं पर ब्रह्म शब्द का अर्थ देवताविशेष ही लिया जाता है, जैसा कि स्वाध्याय ब्राह्मण की व्याख्या करते समय सायण ने किया है—इस प्रपाठक की समाख्या स्वाध्याय ब्राह्मण है, अतः यहाँ पर प्रधानरूप से स्वाध्याय का ही विधान है। इसका अधिकारी शुद्ध पुरुष ही हो सकता है। इसलिये शुद्धि के कारणभूत यज्ञोपवीत, सन्ध्यावन्दन, कूष्माण्ड होम प्रभृति का विधान बताने के उपरान्त स्वाध्याय का विधान करने के लिए एक उपाख्यान बताते हैं—'अजान् ह वै पृश्नीन्०' इस तैत्तिरीय आरण्यक श्रुति का तात्पर्य यह है कि—इन मुनिगणों की सृष्टि कल्प के आदि में ब्रह्मा के द्वारा ही होती है, हमारी तरह ये कल्प के मध्य में बार-बार उत्पन्न नहीं होते, इसलिये ये 'अज' कहे जाते हैं। ये अज आज पृश्नि अर्थात् शुक्ल होते हैं। ये लोग स्वरूपतः तो निर्मल थे ही, पुनः इन्होंने तपस्या की। इनकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर स्वयंभू ब्रह्मा ने, सारे जगत् के कारणभूत स्वतःसिद्ध परब्रह्म ने कोई स्वरूप धारण कर तपस्या में लीन ऋषियों पर अनुग्रह करने की दृष्टि से उनके सामने अपने को प्रकट कर दिया। तब ये मुनिगण 'ऋषि' धातु के अर्थ से सम्बद्ध हो जाने से ऋषि कहलाने लगे। इसी तरह से अन्य ऋषियों का ऋषित्व इसी व्युत्पत्ति के सहारे सम्पन्न हुआ है। इसके बाद ये मुनिगण सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाले किसी यज्ञ का अनुष्ठान करने की इच्छा से स्वयंभू ब्रह्मस्वरूप उस देवता की उपासना करने लगे। उस देवता के अनुग्रह से उन्होंने वक्ष्यमाण ब्रह्मयज्ञ को ही अपनी सारी कामनाओं की पूर्ति के कारण के रूप में देखा और इस देखने के बाद वे इस यज्ञ का अनुष्ठान करने लगे, इस स्वाध्याय यज्ञ के द्वारा वे देवता की आराधना करने लगे।'

'गोपथ ब्राह्मण के 'स एवं त्रिवृतं०' इस वाक्य में त्रिवृत् सप्ततन्तु और एकविंशति संस्था वाले यज्ञ को देखने की बात कही गई है। यज्ञ क्रिया है। इसी क्रिया का भाव ऋषियों ने मन्त्रों में देखा। वैसे ही ब्राह्मण वाक्यों का भाव भी उन्होंने जाना था' (पृ० ११७) यह कथन भी गलत है, क्योंकि मन्त्रों में यज्ञ का विधान नहीं है, अतः वहाँ पर यज्ञ का दर्शन नहीं हो सकता। इसलिये

किन्न स्यात् ? यदि तु मन्त्राणामृषिकर्तृकत्वे नित्यत्वविरोधस्तर्हि प्रकृतेऽपि तत्समानयोगक्षेमम् । नित्यत्वं तु मन्त्र-ब्राह्मणसमुदायस्यैव तत्र श्रूयते । यदुक्तम्—'वेदव्याख्यानरूपत्वेन ब्राह्मणानां क्वचिद्वेदरूपेण ग्रहणं न दुष्यति' इति, तदपि न सङ्गतम्, तथात्वे श्रौतसूत्राणामपि वेदपदवाच्यत्वापत्तेः । तस्माद् ब्राह्मणानां वेदत्वबोधकानां श्रौतसूत्रकार-मनु-व्यास-जैमिनिवचनानामौपचारिकार्थत्वकथनमपलापो वाऽर्थनास्तिक्यमेव सामाजिकानाम् ।

यदपि 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति रीत्या यथा व्याकरणादिसूत्रेषु छन्दोवत्कार्याणि भवन्ति, तथैव ब्राह्मणेष्वपि भवन्ति न तावता तेषां वेदत्वम्, अन्यथा सूत्राणामपि वेदवत् पुरुषरचितत्वाभावः स्यात्' (पृ० ११९) इति, तत्तु अनुक्तोपालम्भ एव, छन्दोवत्कार्यत्वाद् ब्राह्मणेषु वेदत्वानुक्तेः । उत्तरास्फूर्तौ दयानन्दस्तदीयाश्च प्रमाण-ग्रन्थेषु क्षेपकत्वं शाब्दन्यायविरुद्धर्थान्तरत्वं वा वदन्ति, तच्च पलायनमेव । 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' (गो० सू० २।१।६१) (पृ० १२०) इति स्थले वात्स्यायनभाष्योत्तरं तु पूर्वमेवोक्तम् । यथा लोकशब्दस्य प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावस्तथेति । यथा लोके तथा वेद इति स्वाभाविक एवार्थः । यथापदबोध्यस्य सादृश्यस्य सप्रतियोगिकत्वात् । लोकानुयोगि सादृश्यं तु वेदप्रतियोगिकमेव भवति । यथा लोके तथा वेद इति बाहुल्येन प्रयोगदर्शनात् । अत एव यथा लौकिके वाक्ये विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वमेवं वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हतीति (गो० सू० २।१।६५) इति स्थाने लिखितं वात्स्यायनभाष्यमपि सङ्गच्छते । यदुक्तम्—'तत्र वाक्ये ब्राह्मणवचनं नास्ति' इति, तदपि विशृङ्खलम्, ब्राह्मणानामुदाहरणदर्शनात्, वेदवाक्यपदेन तेषामेव ग्रहणसम्भवात् । नहि तत्रोक्तो विध्यर्थवादानुवादादिविभागो मन्त्रेषूपलभ्यते । औपचारिकप्रयोगकथनं तु निर्मूलमेव ।

यहाँ पर यज्ञ के बोधक ब्राह्मणभाग के ही दर्शन को बात माननी पड़ेगी, क्योंकि यज्ञ की विधान-पद्धति वहीं मिलती है । अपि च, मन्त्रदर्शन का अभिप्राय भी हम मन्त्रार्थ का दर्शन क्यों न मानें ? मन्त्रों को ऋषियों की रचना मानने पर उनकी नित्यता का विरोध मानें तो प्रकृत में भी समान रूप से यही आपत्ति आवेगी और उसका परिहार भी समान पद्धति से ही हो सकेगा, क्योंकि मन्त्र-ब्राह्मण समुदायात्मक पूरे वेद को ही नित्य माना जाता है । 'चूंकि ब्राह्मणों में वेदों का व्याख्यान मिलता है, अतः कभी कभी ब्राह्मण वाक्यों को वेद के तुल्य मानकर उदाहरण देना बन सकता है' (पृ० ११९) यह कथन भी सही नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर श्रौतसूत्र भी वेद कहे जाने लगेंगे । इसलिये ब्राह्मणों को वेद मानने वाले श्रौतसूत्रकार, मनु, व्यास, जैमिनि प्रभृति आचार्यों के वचनों को औपचारिक मानने वाले अथवा उनका अपलाप करने वाले आर्यसमाजी भयंकर नास्तिक ही माने जायेंगे ।

'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' इसके अनुसार जब व्याकरण आदि के सूत्रों में वेद के तुल्य कार्य होते हैं, तो वेद के अति निकटवर्ती ब्राह्मणों में वेदतुल्य कार्य होवें तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । यदि वेद में जैसे कार्य होते हैं वैसे ब्राह्मणों में होने से उनका मूल वेद मान लिया जावे और मनुष्यबुद्धिरचित न माना जाय तो सूत्रादि को भी ऋषि रचित न मानना चाहिये, क्योंकि वहाँ भी छन्दोवत् कार्य होते हैं, तो उनको भी वेद मान लिया जावें ? (पृ० ११९) । यह हमारे ऊपर अनुक्त उपालम्भ है, क्योंकि यह हमने कभी नहीं कहा कि छन्दोवत् कार्य होने से ब्राह्मणभाग वेद माना जाता है । कोई उत्तर न सूझने पर दयानन्द अथवा उनके अनुयायी प्रमाण ग्रन्थों में क्षेपक मान लेते हैं, अथवा शाब्द न्याय के विरुद्ध अर्थान्तर की कल्पना करने लगते हैं, यह सब उनका पलायनवाद है । 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' (पृ० १२०) यहाँ पर वात्स्यायन भाष्य का उत्तर हम पहले दे चुके हैं कि जैसे लौकिक शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ देने में कोई प्रमाण नहीं है, उसी तरह से वैदिक शब्द के विषय में भी समझना चाहिये । यही स्वाभाविक अर्थ है । यथापद से प्रतीत होने वाला सादृश्य उसके प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है । लोक से अनुगत सादृश्य वेदप्रतियोगिक सादृश्य की ही अपेक्षा रखेगा । जैसा लोक में देखा गया गया है, वैसा ही वेद में भी देखा जाता है, इस तरह का वाक्य प्रयोग प्रायः देखा जाता है । इसी लिये जैसे लौकिक वाक्यों में अलग-अलग अर्थों की प्रतीति के आधार पर उनका प्रामाण्य माना जाता है, उसी तरह से वेद वाक्यों का भी अलग अलग अर्थों की प्रतिपादकता के आधार पर प्रामाण्य माना जायगा, इस तरह की व्याख्या उक्त सूत्र की वात्स्यायन ने उचित ही की है, अतः वह तर्कसंगत ही मानी जायगी । 'इस वाक्य में ब्राह्मण पद नहीं पढा गया है' (पृ० १२०) यह कथन भी विशृंखल है, क्योंकि यहाँ पर उदाहरण ब्राह्मणवाक्यों के ही दिये गये हैं, अतः वेद पद से उन्हीं का ग्रहण संभव हो सकता

यदपि—'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि वाचैव सम्राट् प्रजायन्ते' (श० १४।६।१०।६) अत्र वेदेभ्यः पृथग् उपनिषदामुपदेशाद् ब्राह्मणग्रन्थस्य वेदभिन्नत्वं सिद्धयति' (पृ० १२१) इति, तदतीव तुच्छम्, ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन ब्राह्मणस्यैव सतो वशिष्ठस्य वैशिष्ट्याभिप्रायेण ब्राह्मणेभ्यः पृथगुपदेशो भवति, तथैवोपनिषदां ब्रह्मविद्यारूपत्वाद् वेदरूपत्वेऽपि पृथगुपदेशो युक्तः। मुण्डकेऽपरविद्यारूपेण ऋग्वेदादीनां ग्रहणम्। ब्रह्मप्रतिपादकत्वाद् उपनिषदां परविद्यारूपेण वर्णनात्। 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' इत्युपक्रम्य 'तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः······अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते', 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।।' (मुण्डक०१।१।६)। क्वचिद् ब्राह्मणानां पृथग्व्यपदेशोऽपि मन्त्राणां विनियोजकत्वेन यज्ञादिविधायकत्वेन वैशिष्ट्याभिप्रायेणैव। एतेनैव तादृशान्यन्यान्यपि वचनानि व्याख्यातानि वेदितव्यानि। तस्मात् सनातनधर्मोद्धारकृतो महामोहविद्रावणकृतश्च यद्वर्णयन्ति तदविचार्यैव भगवद्दत्तोऽनर्गलं प्रलपति, तथा तदुक्तीरुद्धृत्य समाधातुं न पारयत्येव। 'यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा। श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्चान्यद् वाङ्मयं क्वचित् ।।' (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१८९) अत्र 'उपनिषदां पृथग्वचनं वेदभागान्तरस्य तादर्थ्यप्रदर्शनार्थम्' इति विश्वरूपाचार्योऽपि पूर्वोक्तमदुक्त्यभिप्रायेणैवोक्तवान्।

यदुक्तम्—'तानुपदिशति ऋचो वेदः······ऋचां सूक्तं व्याचक्षाणो यजूंषि वेदः, यजुषामनुवाकं व्याचक्षाणः···तानुपदिशति आथर्वणो वेदः···सामानि वेदः' (श० १३।३।३।६,७,१४), 'साम्नां दशतं ब्रूयात्' इत्यत्र

है। न्यायभाष्य प्रभृति में वर्णित विधि, अर्थवाद, अनुवाद रूप त्रिविध विभाग मन्त्रों में नहीं उपलब्ध होता। यहाँ पर वेद शब्द के औपचारिक प्रयोग की बात निराधार है।

'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस्, इतिहास, पुराण, विद्याएँ, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यानें, व्याख्यान ये सब वाणी के ही साम्राज्य में से निकलते हैं' इस शतपथ श्रुति में वेदों से पृथक् उपनिषदों का उपदेश है, इससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों से भिन्न हैं' (पृ० १२१) यह कथन भी बिलकुल बेकार है, क्योंकि ब्राह्मणवशिष्ठन्याय के अनुसार वशिष्ठ के ब्राह्मण रहते हुए भी उसका अलग से कथन उसकी विशेषता का द्योतक माना जाता है, उसी तरह से यहाँ पर भी उपनिषदों के वेद होते हुए भी अलग से वर्णन उनकी ब्रह्मविद्या प्रतिपादकता रूप विशेषता का प्रतिपादक माना जायगा। मुण्डक उपनिषद् में अपर विद्या के रूप में ऋग्वेद आदि ग्रहण किया गया है और ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक उपनिषदों को पर विद्या के अन्तर्गत माना गया है। जैसे कि - 'दो विद्याएँ जाननी चाहिये' इस तरह से प्रारंभ करके 'इनमें अपरा विद्या ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि····तथा परा विद्या वह है, जिससे यह अक्षर ब्रह्म परिज्ञात होता है। यह ब्रह्म बुद्धीन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों से गृहीत नहीं हो सकता, इसका कोई गोत्र या वर्ण नहीं है, यह चक्षु-श्रोत्र, पाणि-पाद से रहित है। नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है। यही सारे स्थावर-जंगम जगत् का कारण है। धीर विद्वान् ही इसको देख पाते हैं'। इसी तरह से कहीं कहीं ब्राह्मणों का पृथक् उल्लेख भी उनकी मन्त्रों की विनियोजकता और यज्ञादि की विधायकता रूप विशेषता को बताने के लिये ही किया गया है। इसी तरह से उसी पद्धति के अन्य वचनों की व्याख्या भी कर लेनी चाहिये। इस प्रकार सनातन धर्मोद्धार और महामोहविद्रावण नामक ग्रन्थों के रचयिता जिस बात को कहते हैं, उस पर बिना पूरा विचार किये ही भगवद्दत्त अनर्गल बातें कहते हैं, किन्तु उनकी उक्तियों को पूर्वपक्ष में रखकर वे अपने मत की स्थापना में समर्थ नहीं हो पाते। 'वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, भाष्य और इनके अतिरिक्त भी जो कुछ वाङ्मय विद्यमान है, वह सब उसी परमात्मा से प्रसूत हैं' याज्ञवल्क्य स्मृति के इस वचन में उपनिषदों का अलग से उल्लेख तादर्थ्य प्रदर्शन के लिये है, विश्वरूपाचार्य की यह उक्ति भी हमारे पूर्वोक्त अभिप्राय का ही अनुसरण करती है (पृ० १२१ टि०)।

'शतपथब्राह्मण की अनेकों कण्डिकाओं में क्रमशः कहा गया है—'तानुपदिशति····साम्नां दशतं ब्रूयात्'। अब विचारने की बात है कि यहाँ वेद शब्द केवल ऋगादि के लिये ही आया है, इसलिये ऋग्वेद प्रभृति शब्दों का प्रयोग भी नहीं होगा' (पृ० १२२)।

ऋगादीनां मन्त्राणामेव कृते वेदशब्दप्रयोगः। तस्मादृग्वेदादिशब्दा अपि तत्रैव प्रयुज्यन्ते' इति, तदपि पूर्वापरविचार-शून्यम्, अश्वमेधीयपारिप्लवाख्याने ऋक्पदेन लक्षणया मन्त्रब्राह्मणग्रहणात्। न च तत्र बीजाभावः, सर्पजनविद्यादीनां वेदत्वोक्तावपि ब्राह्मणानां पृथग्वेदत्वानुक्तेरेव बीजत्वात्। अत्रैव 'अङ्गिरसो वेदः', 'सर्पविद्या वेदः', 'देवजनविद्या वेदः' 'माया वेदः', 'इतिहासो वेदः', 'पुराणं वेदः' इत्यादयोऽनेके वेदा उपदिष्टाः। नैतासां सर्वासां विद्यानां वेदत्वं त्वयाऽभ्यु-पगम्यते। तस्माद्यथा तत्रौपचारिकं वेदत्वं त्वयाऽभ्युपगम्यते, तथैव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसशब्दानां मन्त्रब्राह्मण-समुदायपरत्वमभ्युपेतव्यम्, परमेशनिःश्वसितत्वेन तेषां वेदत्वनिर्णयात्।

किञ्च 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (मी० सू० ३।३।२) इत्यधिकरणे 'अग्नेर्ऋग्वेदः' इत्याद्युपक्रमवशात् 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यत्र ऋक्शब्देनापि मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मक ऋग्वेद एव गृह्यते यथा, तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। अङ्गिरस इत्युक्त्यैवाथर्वणमन्त्राणां ग्रहणसम्भवे 'आथर्वणो वेदः' (श० १३।३।३।७) इत्युक्तेः किं प्रयोजनमित्या-काङ्क्षायाम् अथर्वणा प्रोक्ता मन्त्रा ब्राह्मणानुवाकाश्च अथर्वाणि इति हरिस्वामिना व्याख्यातम्। तेन 'ऋचा' इत्यनेन ऋचो नियोज्यतया पठनीया यस्मिन् वेदे स ऋग्वेद एव ग्राह्यः। एवमेव यजुःसामशब्दानामप्यर्थो युक्तः। यथा 'यजुर्वेदे तिष्ठति मध्येऽह्नः' इत्यनुरोधेन 'उच्चैर्ऋचा' इत्यत्र ऋक्पदेन मन्त्रब्राह्मणसमुदायो गृह्यते, तद्वद् आथर्वण-पदप्रयोगसामर्थ्याद् ऋगादिशब्दा अपि मन्त्रब्राह्मणसमुदायपरा एव।

यदुक्तम्—'सर्पविद्या देवजनविद्या च अथर्ववेदस्यावान्तरविभागानामेव संज्ञा' इति, तत्तु त्वदभ्युपगम-विरुद्धम्। त्वया ऋग्वेदादिभ्यः पार्थक्येन ब्राह्मणादीनामुपदेशादेव तेषामवेदत्वमभ्युपगम्यते यथा, तथैव प्रकृतेऽपि ऋगादिभ्यो भिन्नत्वेनोपदेशात् तेषां वेदत्वानुपपत्तेः। यदि तावत् पृथगुपदेशेऽपि तेषां वेदत्वं तर्हि ब्राह्मणादिषु कस्तव मत्सरः? कथं न तेषां वेदत्वं स्यात्? 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं

यह कथन भी पूर्वापर प्रकरण का बिना विचार किये ही कहा गया है, क्योंकि अश्वमेधीय पारिप्लव आख्यान में ऋक् पद से लक्षणा के द्वारा मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण किया गया है। इसमें क्या प्रमाण है? यही प्रमाण है कि सर्पजनविद्या प्रभृति को तो वेद शब्द से जोड़ा गया है, किन्तु वहीं पर ब्राह्मणों को अलग से वेद पद से व्यपदिष्ट नहीं किया है। यहीं पर अङ्गिरस वेद, सर्पविद्यावेद, देवजनविद्यावेद, मायावेद, इतिहासवेद, पुराणवेद प्रभृति के नाम से अनेक वेदों का वर्णन मिलता है। इन सब विद्याओं को आप वेद नहीं मानते। इसलिये यहाँ पर जैसे आप इनको औपचारिक रूप से वेद मानते हैं, उसी तरह से ऋक्, यजुः, साम और अथर्वांगिरस शब्दों को भी आपको मन्त्र-ब्राह्मणात्मकसमुदाय के बोधक मानना पड़ेगा, क्योंकि ये भी परमेश्वर के निःश्वासभूत हैं, अतः इस पूरे समुदाय को वेद मानने का निर्णय करना पड़ेगा।

अपि च, 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' इस मीमांसा अधिकरण में 'अग्नि से ऋग्वेद प्रादुर्भूत हुआ' इत्यादि उपक्रम वाक्यों के अनुसार 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यादि वाक्यों में ऋगादि शब्दों से मन्त्रब्राह्मण समुदायात्मक पूरा ऋग्वेद गृहीत होता है, उसी तरह से प्रकृत स्थल में भी समझना चाहिये। 'अंगिरसः' इस उक्ति से ही आथर्वण मन्त्रों का ग्रहण हो सकता है, तो अलग से 'आथर्वणो वेदः' ऐसा कहने का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर देते हुए ही यहाँ पर शतपथ के व्याख्याकार हरिस्वामी ने कहा है कि अथर्वा से उक्त मन्त्र और ब्राह्मणों के अनुवाक इस शब्द से कहे जाते हैं। इसलिये 'ऋचा' पद से जहाँ पर ऋचाओं का नियोज्य रूप से पाठ किया जाता है, वह ऋग्वेद ही उक्त है। इसी तरह का अर्थ यजु और साम शब्द का करना चाहिये। जैसे 'यजुर्वेदे तिष्ठति०' इत्यादि वाक्य के अनुरोध से 'उच्चैर्ऋचा' यहाँ पर ऋक् पद से मन्त्रब्राह्मणात्मक समुदाय का ग्रहण किया जाता है, उसी तरह से 'आथर्वण पद' के प्रयोग के बल से ऋगादि शब्द भी मन्त्रब्राह्मणात्मक समुदाय के ही बोधक माने जायँगे।

'सर्पविद्या और देवजनविद्या अथर्ववेद के अवान्तर विभागों के ही नाम हैं' (पृ० १२२) यह बात भी आपके अपने मत के ही विरुद्ध है। आप जैसे ऋग्वेदादि से पृथक् ब्राह्मणों का उपदेश होने से उनको वेद नहीं मानते, उसी तरह से प्रकृत स्थल में भी सर्पविद्या प्रभृति का भी ऋग्वेदादि से अलग से उपदेश होने से उनको भी वेद के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। यदि पृथक् उपदेश

वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां देवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि' (छा०उ० ७।१।२) अत्रापि ऋग्वेदादिभ्यः सर्पविद्यादेवजनविद्ययोः पृथग् ग्रहणं विद्यते, तस्मात्त्वद्रीत्या तयोर्वेदादन्यत्वमेव। सिद्धान्ते तु तयोर्वेदत्वेऽपि पृथगुपदेशो ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन वैशिष्ट्याभिधित्सया न विरुद्ध्यते।

किञ्च, इतिहास-पुराण-सर्पविद्या-देवजनविद्यादिभिरपि ब्राह्मणं ग्रहीतुं शक्यते, पुराणादीनां त्वयापि ब्राह्मणविशेषत्वाङ्गीकारात्। सिद्धान्तेऽपि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्' (बृ० २।४।१०) इत्यत्र शाङ्करभाष्यानुसारेण पुराणादयो ब्राह्मणविशेषा एवाङ्गीक्रियन्ते। यत्र तु निश्वसितत्वोक्तिर्नास्ति तत्रेतिहासपदेन रामायणमहाभारतादिग्रन्थाः पुराणपदेन पाद्म-स्कन्द-शैव-भागवतादिग्रन्था गृह्यन्ते। यथा—ऋग्वेदो यजुर्वेद इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः' (श० १४।६।१०।६)। एतदभिप्रायेणैव 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' (४।१।६२) इति गोतमसूत्रे वात्स्यायनोक्तिः। तस्मान्नैतैर्वचनैर्ऋगादयो मन्त्रा एव वेदा इति सिद्ध्यति।

यदुक्तम्—'काञ्चिन्मायां कुर्यात्' (श० १३।३।३।११), 'कञ्चिदितिहासमाचक्षीत' (श० १३।३।३।१२), 'किञ्चित्पुराणमाचक्षीत' (श० १३।३।३।१३) इत्यादावौपचारिको वेदप्रयोगः' (पृ० १२३) इति, तदपि न युक्तम्, निर्मूलत्वात् प्रकरणातिक्रमे कारणाभावाच्च। अन्यथा ऋगादावप्यौपचारिकवेदत्वापत्तिः। यदप्युक्तम्—'आचष्टे सर्वान् वेदान्' (श० १३।३।३।१५) इति कण्डिकायां सर्ववेदकथनेऽपि ब्राह्मणानां स्वरूपकथनाभावात्तेषामौपचारिकत्वेनापि वेदत्वं नास्तीत्युक्तं भवति' (पृ० १२२) इति, तदपि निरर्गलम्, पुराणेतिहासरूपेणैव ब्राह्मणस्य गृहीत-

होने पर भी इनको आप वेद मानते हैं, तो ब्राह्मणभाग को भी वेद मानने में आपको क्या परेशानी है? तब ब्राह्मण भाग भी उसी पद्धति से वेद क्यों नहीं माने जायेंगे। 'भगवन् मैं ऋग्वेद का अध्ययन करता हूँ, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद का मैं अध्ययन करता हूँ। इसी तरह से इतिहास-पुराण जिसका स्थान वेदों में पाचवाँ है, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, देवजनविद्या इन सबका भी अध्ययन मैं करता हूँ' इस छान्दोग्य उपनिषद् के वचन में भी ऋग्वेदादि से पृथक् सर्पविद्या और देवजनविद्या का ग्रहण है। इसलिये आपकी पद्धति से इनकी वेदों से भिन्नता ही मानी जायगी। हमारे मत में तो इनको वेद मानते हुए भी इनके पृथक् उल्लेख का समाधान ब्राह्मणवशिष्ठ न्याय के आधार पर, उनकी विशिष्टता के प्रतिपादन के आधार पर किया जा सकता है, इस तरह से हमारे मत में यहाँ कोई विरोध नहीं उठ सकता।

अपि च, इतिहास, पुराण, सर्पविद्या, देवजनविद्या इन शब्दों से भी ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण हो सकता है। पुराणादि को आपने भी ब्राह्मणविशेष के रूप में ही स्वीकार किया है। हमारे मत में भी 'अस्य महतो०' इस बृहदारण्यक वाक्य के शांकर भाष्य के अनुसार पुराणादि को ब्राह्मण का ही विशेष भाग माना है। जहाँ पर निःश्वासभूत शास्त्र की चर्चा नहीं है, वहीं पर इतिहास शब्द रामायण-महाभारत प्रभृति ग्रन्थों तथा पुराण पद पाद्म, स्कन्द, शैव, भागवत प्रभृति ग्रन्थों के अर्थ में प्रयुक्त माना जाता है। जैसे 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, इतिहास, पुराण विद्या और उपनिषदें' इस शतपथश्रुति में वर्णित इतिहास-पुराण के लिये 'प्रमाणभूत ब्राह्मण ग्रन्थ इतिहास-पुराण की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं' गोतमसूत्र के व्याख्या के प्रसंग में वात्स्यायन की यह उक्ति है। इसलिये इस तरह के वचनों से केवल ऋगादि मन्त्र ही वेद है, यह बात किसी तरह से सिद्ध नहीं हो सकती।

'कांचिन्मायां कुर्यात्, कंचिदितिहासमाचक्षीत, किंचित् पुराणमाचक्षीत' इन तीनों शतपथ वाक्यों के साथ, जैसा हम पूर्व में कह चुके हैं, वेदपद का औपचारिक प्रयोग है' (पृ० १२२) यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक तो इस कथन का कोई आधार नहीं है और दूसरे प्रकरण का अतिक्रम कर औपचारिक व्याख्या करने का कोई कारण भी नहीं दिखाई पड़ता। अन्यथा ऋगादि में भी औपचारिक वेदत्व की आपत्ति उठेगी। 'आचष्टे सर्वान् वेदान्' इस कण्डिका में कहा गया है कि सब वेद कहे। यहाँ ब्राह्मणों का स्वरूप भी कथन नहीं किया गया और वास्तविक तथा औपचारिक भाव से वेद भी कह दिये। इसलिये ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य आदि ऋषि स्वप्न में भी ब्राह्मणों को वेद न मानते थे' पृ० १२२)। यह कथन भी निराधार है, क्योंकि यहाँ पर ब्राह्मण पुराण-इतिहास

त्वात्। अन्यथा त्वदभिमतस्यापि बाधात्। त्वया दयानन्देन च भूमिकायां पुराणेतिहासादीनामपि ब्राह्मणत्वाङ्गीकाराद् इतिहासपुराणादीनां 'वेदत्वेऽपि ब्राह्मणानामौपचारिकवेदत्वाभावः कथं न विरुद्धयते? तस्मादकामेनापि ब्राह्मणान्यत्रैवान्तर्भावितानि मन्तव्यानि। 'वेदे खल्वपि—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्यत्र महाभाष्यकृता ब्राह्मणवचनानां कण्ठरवेण वेदत्वस्वीकाराच्च। त्वयापि तत्रौपचारिकपदप्रयोगाभ्युपगमाच्च।

यदुक्तम्—'स एतानि त्रीणि ज्योतींष्यभ्यतपत्। सोऽग्नेरेवर्चः सृजत वायोर्यजूंष्यादित्यात् सामानि। एतां त्रयीं विद्यामभ्यतप्यत। अथैतस्या एव त्रय्यै विद्यायै तेजो रसं प्रावृहत्। स तेषामेव वेदानां भिषज्यायै स भूरित्यृचां प्रावहत्' (कौ० ६।१०), 'स त्रीणि ज्योतींष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः। स इमांस्त्रीन् वेदानभितताप तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदात्' (श० ११।५।८।८), 'स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्। तासां तप्यमानानां रसान् प्रावहत्। अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्॥ स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् ···· भूरित्यृग्भ्यः' (छा० ४।१७) इत्यादिभिर्ऋक्शब्द ऋग्वेदशब्दश्च पर्यायवाचिनावेव विज्ञायेते। ऋग्यजुःसाम्नां समूह एव त्रयी विद्या भवति। ब्राह्मणग्रन्थास्तु महाभारतकाले सङ्कलितास्तेषां सृष्ट्यादावनुत्पत्तेः' (पृ० १२३) इत्यादि, तत्सर्वमसङ्गतमेव, पौर्वापर्याननुसन्धानमूलकत्वात्। छान्दोग्ये पुष्पमधुकरभेदेन ऋग्वेदादीनामृगादीनां च भेदवर्णनेनोभयोः पर्यायवाचकत्वासिद्धेः। तथाहि—'असौ वा आदित्यो देवमधु, तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षं यूपः, मरीचयः पुत्राः, तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो नाडचः, ऋच एव मधुकृतः, ऋग्वेद एव पुष्पम्, ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः। एतमृग्वेदमभ्यतपंस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत'(छा० ३।१।२) अत्र 'सर्वदेवानां मोदनहेतुत्वात् सर्वयज्ञफलरूपत्वाद् आदित्यस्य मधुत्व-

रूप में ही परिगृहीत है। अन्यथा आपके अभिमत की सिद्धि में भी बाधा पड़ जायगी। आपने और स्वामी दयानन्द ने भी भूमिका
में पुराण-इतिहास को ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत माना है। इतिहास-पुराणादि को वेद मानने पर ब्राह्मण भाग को औपचारिक रूप से
भी वेद न मानना कैसे परस्पर विरुद्ध बात न होगी? इसलिये न चाहते हुए भी आपको ब्राह्मणों का वेद में ही अन्तर्भाव मानना
पड़ेगा। 'वेद में भी—'वसैन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे' इस महाभाष्य के प्रसंग में पतंजलि ने ब्राह्मणों को स्पष्ट शब्दों में वेद
स्वीकार किया है और आपने भी ऐसे स्थलों में औपचारिक पद के प्रयोग की बात मानी है।

'इसी प्रस्तुत विषय में हमारे सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले और भी प्रमाण देखो। प्रायः सारे ही ब्राह्मणों में प्रजापति
अर्थात् परमात्मा से वेद के प्रकाशित होने के संबन्ध में कुछ वाक्य आये हैं। कतिपय ब्राह्मणों से वे वाक्य नीचे दिये जाते हैं—'स एतानि
त्रीणि ज्योतींषि०', 'स इमानि त्रीणि०', 'स एतास्तिस्रो देवता०'। इस विषय के और भी ब्राह्मण वाक्य दिये जा सकते हैं, पर
इतनों से ही यथेष्ट अभिप्राय निकल पड़ता है। यहाँ ऋक् और ऋग्वेद शब्द पर्यायवाची ही हैं। ऋक्, यजु और साम इन तीनों का
समूह त्रयी विद्या है। ब्राह्मण ग्रन्थ तो आदि सृष्टि में प्रकट भी नहीं हुए। वे समय समय पर बनते चले आये हैं। उनका संकलन
महाभारत काल में हुआ है' (पृ० १२२-१२३) यह सारा कथन भी असंगत है, क्योंकि यहाँ पर पूर्वापर प्रकरण पर कोई ध्यान नहीं दिया
गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में पुष्प और मधुकर के भेद से ऋग्वेदादि और ऋगादि में भेद प्रदर्शित किया गया है, अतः इनको
पर्यायवाची शब्द नहीं माना जा सकता। जैसे कि—'अथवा वह आदित्य देवमधु है। उसके लिये तिरछा बांस अन्तरिक्ष है, अन्तरिक्ष
यूप, मरीचियां पुत्र हैं। इसकी प्राची की रश्मियाँ ही प्राची नामक नाडियाँ हैं। ऋचाएँ मधुकर हैं, ऋग्वेद पुष्प है। यह जो
अमृतमय जल है, वही ऋचाएँ हैं। इस तरह से ऋग्वेद को ऋषियों ने तपाया। उसके तपाने से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य अन्नाद्य और
रस उत्पन्न हुए'। यहाँ पर वसु प्रभृति सभी देवताओं की प्रसन्नता का कारण होने से और सभी यज्ञों का फलरूप होने से आदित्य
देवताओं का मधु कहलाता है। इस मधु की निष्पत्ति में भ्रमर के लिये जैसे तिरश्चीन वंश आधार होता है, उसी तरह से आदित्य के
लिये आकाश आधार होता है। आकाश ऐसा दिखाई पड़ता है मानो तिरछा पड़ा हुआ हो, इसी लिये आकाश की तिरश्चीन वंश के
रूप में कल्पना की गई है। अन्तरिक्ष मधु का छत्ता है, क्योंकि यह आकाश रूपी वंश में छत्ते के जैसे लटकता सा प्रतीत होता है।

मुक्तम्। अस्य मधुनो द्यौरेव भ्रामरस्येव मधुनस्तिरश्चीनवंशः, तिर्यग्गताया इव दिव उपलम्भात्। अन्तरिक्षं च मध्ययूपः। द्युवंशे लग्नः संलम्बत इव मध्ययूपसामान्याद् अन्तरिक्षस्य मधुनः सवितुराश्रयत्वाद् मध्ययूपः। मरीचयो रश्मिस्थाः, आपो भौमाः सवित्राकृष्टा अन्तरिक्षमध्ययूपस्थरश्म्यन्तर्गतत्वाद् भ्रमरबीजभूताः पुत्रा इव ता लक्ष्यन्ते। तथैव हि भ्रमरपुत्रा अपि नाड्यन्तर्गता भवन्ति। मध्वाश्रयस्य सवितुर्मधुनः प्राच्यां दिशि स्थिता रश्मय एवास्य प्राच्यो नाड्यो मध्वाधारच्छिद्राणीव। तत्र ऋच एव मधुकृतो लोहितरूपं सवित्राश्रयं मधु कुर्वन्तीति भ्रमरा यतो रसादानाय मधु कुर्वन्ति, तत्पुष्पमिव पुष्पमृग्वेद एव। तत्र ऋग्ब्राह्मणसमुदायस्य ऋग्वेदाख्यत्वात् शब्दमात्राच्च भोग्यरूपरसनिस्रावासम्भवादृग्वेदशब्देनात्र ऋग्वेदविहितं कर्म' इति शाङ्करभाष्यम्। मधुकरा इव पुष्पस्थानीयादृग्वेदाद् ऋग्वेदविहितात्कर्मणोऽप आदाय ऋचो मधु निर्वर्तयन्ति। ताः कर्मणि प्रयुक्ताः सोमाज्यपयोरूपा अग्नौ प्रक्षिप्ताः पाकाभिनिर्वृत्ता अमृता अमृतार्थत्वादत्यन्तरसवत्य आपः, ता वा एता ऋचः पुष्पेभ्य आददाना एव भ्रमरा ऋचः। एतमृग्वेदविहितं कर्म पुष्पस्थानीयमभ्यतपन्नभितापं कृतवत्य इवैता ऋचः कर्मणि प्रयुक्ताः। ऋग्भिर्हि मन्त्रैः शस्त्राद्यङ्गभावमुपगतैः क्रियमाणं कर्म मधुनिर्वर्तकं रसं मुञ्चति। पुष्पाणीव भ्रमरैश्चूष्यमाणानि। कोऽसौ रसो यशो विश्रुतत्वं तेजो देहगता दीप्तिः, इन्द्रियमिन्द्रियैरवैकल्यम्, वीर्यं सामर्थ्यम्, अन्नाद्यम् अन्नं च तदाद्यं चेत्यन्नाद्यं येनोपभुज्यमानेन देवानां स्थितिः स्यादेष रसो यागादिलक्षणात् कर्मणो जायते।

'येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूंष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः' (छा० ३।२।१-३), 'येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयः सामान्येव मधुकृतः, सामवेद एव पुष्पम्' (छा० ३।३।१-३), 'येऽस्योदञ्चो रश्मयः ''''' अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः, इतिहासपुराणं पुष्पम्' (छा० ३।४।१-३)। तयोश्चेतिहासपुराणयोरश्वमेधे

अन्तरिक्ष मधुरूप सविता का आश्रय होने से मध्ययूप कहलाता है। मरीचि रश्मियाँ कहलाती हैं। इन रश्मियों में विद्यमान सविता के द्वारा आकृष्ट भौम जल अन्तरिक्ष मध्ययूप स्थित रश्मियों में विद्यमान होने से भ्रमर बीजभूत पुत्रों के समान मालूम पड़ते हैं, उसी तरह से भ्रमरपुत्र भी मधु कोश के अन्दर रहते हैं। उस मधु के आश्रयभूत सविता के मधु की जो प्राची दिशागत रश्मियाँ हैं, वे ही उस मधुकोश के पूर्व दिशागत कोशविवर हैं, जिनमें कि मधु भरा रहता है। इन कोशविवरों में लोहित रूप वाले मधु का निर्माण जैसे पुष्पों के रस का आदान कर मधुपुत्र करते हैं, उसी तरह से रश्मियाँ सूर्य में लोहित रूप का आधान करती हैं। जिन पुष्पों से यह रस लिया जाता है, पुष्पस्थानीय यहाँ पर ऋग्वेद है। ऋग्ब्राह्मणसमुदायात्मक ऋग्वेद एक आख्या है और यह केवल शब्दात्मक है, इससे भोग्य रूप रस का निस्राव संभव नहीं हो सकता, अतः ऋग्वेद शब्द से ऋग्वेद विहित कर्म का ग्रहण शांकर-भाष्य के अनुसार किया जाता है। मधुकर जैसे पुष्पों से रस लेकर मधु का निर्माण करते हैं, उसी तरह से पुष्पस्थानीय ऋग्वेद विहित कर्मों की सहायता से मधुकरस्थानीय ऋचाएँ मधु का निर्माण करती हैं। इन कर्मों में अग्नि में आहुति के रूप में प्रयुक्त सोम, घृत, दुग्ध आदि द्रव्य अमृतमय होकर अत्यन्त रसमय हो जाते हैं। इन्हीं का ऋग्वेद रूप पुष्प से आदान करने वाली ऋचाएँ यहाँ पर भ्रमर कहलाती हैं। इस तरह से ऋग्वेद विहित कर्म, जो कि पुष्पस्थानीय हैं, उसको कर्म में प्रयुक्त होने वाली ऋचाओं ने तपाया। शस्त्र आदि के रूप में अंगभाव को प्राप्त हुए ऋङ्मन्त्रों की सहायता से क्रियमाण कर्म मधु के सदृश मधुर फल को देते हैं, जैसे भ्रमरों के चूसने पर पुष्प अपना मधुर रस उनको दे देते हैं। यह रस क्या है? यश प्रसिद्धि, तेज देहगत कान्ति, इन्द्रिय, इन्द्रियों की अविकलता, वीर्य, सामर्थ्य, अन्नाद्य जिसके खाने से देवताओं को स्थिति हो, वह रस यागादि लक्षण कर्मों के अनुष्ठान से उत्पन्न होता है।

'इस आदित्य की दक्षिण रश्मियाँ दक्षिण मधुनाडियाँ हैं, यजु मधुकर और यजुर्वेद पुष्प, इन्हीं से अमृतमय मधु प्राप्त होता है', 'इस आदित्य की पश्चिम रश्मियाँ''''' साम मधुकर और सामवेद पुष्पस्थानीय हैं', 'इस आदित्य की उत्तर दिशागत रश्मियाँ''''' यहाँ पर अथर्वांगिरस मधुकर और इतिहास-पुराण पुष्प हैं'। अश्वमेध में इतिहास-पुराण का कर्मांगतया विनियोग होता

कर्माङ्गत्वेन विनियोगात् । 'येऽस्योर्ध्वरश्मयः, ता एवास्योर्ध्वा नाड्यः, गुह्या एवादेशा मधुकृतः ब्रह्मैव पुष्पम्' (छा० ३।५।१-३) लोकद्वारमपावृणु पश्येम त्वा वयमित्यादिविषयः, उपासनानि च कर्मविषयाणि गुह्या आदेशाः । ब्रह्म प्रणवः पुष्पम्, शब्दाधिकारात् । तस्मादृग्वेदादिभ्यः पुष्पस्थानीयेभ्य ऋगादीनां भ्रमरस्थानीयानां स्पष्ट एव भेदः । तथा च ऋगादिपदबोध्या मन्त्रा एव । ऋग्वेदादिपदबोध्यास्तु ऋग्ब्राह्मणादिसमुदायरूपा एव । यत्र क्वचित्समानप्रकरणे ऋग्वेदादिस्थाने ऋगादय एवोक्तास्तत्रापि लक्षणया ऋग्वेदादिपरा एव मन्तव्याः ।

'प्रजापतिर्वा इमांस्त्रीन् वेदानसृजत ··· तेभ्य भूर्भुवःस्वरित्यक्षरत्, भूरिति ऋग्भ्योऽक्षरत्, भुवरिति यजुर्भ्योऽक्षरत्, स्वरिति सामभ्योऽक्षरत्' (षड्विंशब्राह्मणे १।५।७) (पृ० १२५) इत्यत्र तूपक्रमन्यायेन ऋगादिशब्दैरपि ऋग्वेदादय एव ग्राह्याः । भूरित्यृग्वेदादित्यादिशातपथश्रुत्यनुरोधात् । 'तेभ्यः संतप्तेभ्यस्त्रीन् वेदान् निरमिमीत' इति । गोपथेऽप्यस्मिन् प्रसङ्गे ऋग्वेदादय एवोक्ताः । तेन कौषीतकिछान्दोग्यादिगता ऋगादिशब्दा ऋग्वेदादिपरा एव बोध्याः । 'यजुर्वेदं सामवेदमिति अग्नेर्ऋग्वेदं वायोर्यजुर्वेदमादित्यात्सामवेदं······भूरित्यृग्वेदात्, भुवरिति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्' (गोपथे १।६) । ऋगादयो विनियोज्या मन्त्रा येषु त एव ऋग्वेदादयो मन्त्रब्राह्मणराशिरूपा ग्राह्याः । यदि क्वचिदृगादिशब्दा मन्त्रब्राह्मणसमुदाये प्रयुक्तास्तदा तत्र ते लक्षणयैव तद्बोधका विज्ञेयाः । यदि ऋग्वेदादिशब्दा ऋगादिमन्त्रेष्वेवं प्रयुज्येरन् तदा तत्रापि ते लक्षणयैव ज्ञातव्याः ।

तदिदं जैमिनिमीमांसायां तृतीयेऽध्याये तृतीये पादे व्यक्तम् । तथाहि—'श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्' (मी० ३।३।१) इत्यत्र श्रुतेः 'उच्चैर्ऋचा क्रियते', 'उच्चैः साम्ना', 'उपांशु यजुषा' इति श्रुतेः श्रवणाद् ऋक्त्वादिमन्त्रजाति-

है । 'इस आदित्य की ऊर्ध्वगत रश्मियाँ ही ऊर्ध्वगत नाड़ियाँ हैं । गुह्य आदेश मधुकर और ब्रह्म पुष्प हैं' । यहाँ पर 'हमारे चक्षु पर पड़े लौकिक आवरण को आप हटा लें तो हम आपका दर्शन कर सकें' इस तरह की विधियाँ और उपासनाएँ कर्मविषयक गुह्य आदेश कहलाते हैं । ब्रह्म अर्थात् प्रणव पुष्प है, क्योंकि यहाँ पर शब्द का ही अधिकार है । छान्दोग्य उपनिषद् के इस पूरे प्रकरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुष्पस्थानीय ऋग्वेदादि से भ्रमरस्थानीय ऋगादि का स्पष्ट ही भेद है । इस तरह से ऋगादि पदों से मन्त्रों का ही बोध होता है और ऋग्वेदादि पदों से ऋक् और उससे संबद्ध ब्राह्मणादि को भी प्रतीति मानी जाती हैं । जहाँ कहीं समान प्रकरण में ऋग्वेदादि के स्थान में केवल ऋगादि का उच्चारण किया गया है, वहाँ पर भी लक्षणा से इनका अर्थ ऋग्वेदादिपरक ही करना चाहिये ।

'प्रजापति ने इन तीन वेदों की सृष्टि की···इनसे भूः, भुवः, स्वः—इन तीन व्याहृतियों की सृष्टि हुई । ऋक् से भूः, यजु से भुवः और साम से स्वः को सृष्टि हुई' इस षड्विंश श्रुति को आपने अपने पक्ष की सिद्धि में उद्धृत किया है (पृ० १२५) । यहाँ पर उपक्रम न्याय से ऋगादि शब्दों से ऋग्वेदादि का ही ग्रहण होना चाहिये । 'भूः की सृष्टि ऋग्वेद से हुई' इत्यादि शतपथ श्रुति इसमें सहायक हैं । 'इनको तपा कर तीन वेदों की रचना की गई' यह वचन भी इसमें प्रमाण है । गोपथ ब्राह्मण में भी इस प्रसंग में ऋग्वेदादि का ही पाठ है । इन सब प्रमाणों के आधार पर कौषीतकि, छान्दोग्य आदि श्रुतियों में विद्यमान ऋगादि शब्द ऋग्वेदादि के ही बोधक माने जाने चाहिये । यहाँ पर 'यजुर्वेदं सामवेदमिति०' इत्यादि वचन गोपथ ब्राह्मण का है, जो कि हमारी बात का स्पष्ट प्रतिपादन करता है । यहाँ सभी जगहों पर 'ऋगादि विनियोज्य मन्त्र जिनमें विद्यमान हैं, वे ऋग्वेदादि कहे जाते हैं' । इनमें मन्त्रब्राह्मण समुदायात्मक पूरे वाङ्मय का ग्रहण इन शब्दों से होता है । जहाँ कहीं ऋगादि शब्दों का मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय में प्रयोग हुआ है, वहाँ पर वे लक्षणा द्वारा इस अर्थ के बोधक माने जायँगे और इसी तरह से यदि ऋग्वेदादि शब्दों का केवल ऋगादि मन्त्रों में प्रयोग होता है, तो वहाँ पर भी ऐसा लक्षण के द्वारा ही समझना चाहिये ।

यह बात जैमिनि मीमांसा के तीसरे अध्याय के तृतीय पाद में स्पष्ट व्याख्यात है । जैसे कि 'श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्' इस सूत्र में 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यादि श्रुतियों में ऋक्त्वादि मन्त्र जाति से सम्बद्ध श्रुतियों का उच्चैस्त्वादि उच्चारण से सम्बन्ध

बोधादुच्चैस्त्वादिकं तत्तन्मन्त्रजात्यैव सम्बद्धचते। वेदानामधिकारकः शब्दो नास्ति। ऋग्वेदव्यतिक्रान्तानामृचां यजुर्वेदे उच्चैस्त्वप्रयोगः कर्तव्यः, अन्यथा तासामुच्चैस्त्वमुपांशुत्वं चेत्युभौ धर्मौ वैकल्पिकौ स्याताम्। प्रकरणं चैवमनुगृहीतं भविष्यति। अन्यथा सर्वस्मिन्नपि क्रता उपांशुत्वं स्यात्। तस्माज्जाताधिकाराद् ऋगादिमन्त्रेष्वेवोच्चैस्त्वादयो धर्मा विधीयन्ते (जाताधिकार इत्यत्र जातपदेन भाष्यरीत्या ऋक्त्व-सामत्व-यजुष्ट्वादिजातिसमूहो गृह्यते। अन्येषां रीत्या समूहसामान्यमेव जातम्, तच्च जातिविलक्षणमेव)। इति पूर्वपक्षः। अथोत्तरपक्षः—'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (मी० सू० ३।३।८) इत्यनेन सिद्धान्तः। वेदमधिकृत्य 'उच्चैर्ऋचा' इत्याद्युक्तमतो वेदप्राये वाक्ये वेदोपक्रमे निगम्यमाना इमे शब्दाः। तस्मादृगादयोऽपि शब्दास्तदनुरोधेन लक्षणया वेदपरा एव। 'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। स तपोऽतप्यत। तस्मात्तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त। अग्निर्वायुरादित्य इति। ते तपोऽतप्यन्त……तेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः' इत्युपक्रम्य निगम्यते। तस्मादुपक्रमानुसारेण ऋगादिभिरपि वेदवचनैरेवोपसंहारो युक्तः। 'लिङ्गाच्च' (मी० सू० ३।३।३), 'ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्येऽह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः॥' (तै० ब्रा० ३।१२।९।१) यथात्र वेदैरिति बहुवचनानुरोधाद् ऋग्भिरित्यत्रापि ऋग्वेदैरित्येवार्थो भवति, तथैव ऋगादयो वेदाधिकारा वेदपरा एव। 'धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः' (मी० सू० ३।३।४) 'उच्चैः साम्ना' इति साम्न्युच्चैस्त्वविधानं वेदपक्षे सङ्गच्छते। जाताधिकारे तूच्चैर्ऋचा इत्यनेनैव गतार्थता स्यात्, ऋचामुच्चैस्त्वेन साम्नामप्युच्चैस्त्वसिद्धेः। 'ऋच्यध्यूढं साम' इति गीतिरूपाणां साम्नामृक्ष्वेवाध्यारूढत्वात्। सामपदेन सामवेदग्रहणे तु साममन्त्राणामृक्त्वाविशेषेऽपि सामवेदब्राह्मणानां ततो भिन्नत्वेन तदुक्तकर्मसूच्चैस्त्वविधानार्थमुच्चैः साम्नेति सार्थकं स्यात्।

स्थिर होता है। यहाँ पर पूरे ऋग्वेदादि से इनका सम्बन्ध है, इस तरह के अधिकार को बताने वाला कोई शब्द नहीं है। अतः यही सिद्ध होता है कि ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद आदि में आने वाली ऋचा के प्रयोग में भी उच्चैस्त्व धर्म का विधान है। यदि ऐसा न माना जाय तो यजुर्वेदगत ऋचा में ऋग्गत उच्चैस्त्व का और यजुर्वेदगत उपांशुत्व का विधान होने से उभय धर्म की विकल्पतया प्रवृत्ति होने लगेगी। इस तरह से प्रकरण भी अनुगृहीत हो जायगा। अन्यथा सम्पूर्ण क्रतु में उपांशुत्व का ही विधान मानना पड़ जायगा। इसलिये जाताधिकार के आधार पर ऋगादि मन्त्रों में ही उच्चैस्त्वादि धर्मों का विधान मानना पड़ेगा। 'जाताधिकारः' यहाँ पर जात पद से भाष्य की व्याख्या के अनुसार ऋक्त्व, सामत्व और यजुष्ट्व आदि जातिसमूह का ग्रहण होता है। अन्य व्याख्याकारों के अनुसार जात पद समूहसामान्य का वाचक है। यह जाति से विलक्षण माना जाता है। इस तरह से पूर्वपक्ष की व्याख्या हुई। अब उत्तर पक्ष की व्याख्या इस तरह से की जाती है—'वेदो वा प्रायदर्शनात्' यह सिद्धान्त सूत्र है। वेद के अधिकार में 'उच्चैर्ऋचा' इत्यादि कहा गया है, अतः प्रायः वैदिक वाक्यों के उपक्रम में इन शब्दों का निगमन किया जाता है। इसलिये ऋगादि शब्द भी इस निगमन के आधार पर लक्षणा वृत्ति से वेदपरक ही माने जायेंगे। यहाँ पर 'प्रजापति सृष्टि के आरम्भ में अकेला था। उसने तप किया। उसके तप करने से तीन देव उत्पन्न हुए—अग्नि, वायु और सूर्य। उन्होंने भी तपस्या की……उनसे तीन वेदों की उत्पत्ति हुई। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद' इस तरह से उपक्रम और निगमन होने से ऋगादि वेद वचनों से ही उपसंहार मानना उचित है। इस विषय में यह श्रुति भी प्रमाण है—'ऋग्वेद से प्रातःकाल द्युलोक में सूर्य की स्तुति की जाती है। यजुर्वेद से मध्याह्न में अन्तरिक्ष में इसका आह्वान किया जाता है और सामवेद से सायंकाल इसकी स्तुति की जाती है। इस तरह से यह सूर्य तीनों वेदों से कभी अलग नहीं होता'। यहाँ पर जैसे 'वेदैः' इस बहुवचन के अनुरोध से 'ऋग्भिः' यहाँ पर भी 'ऋग्वेद' यही अर्थ होता है, उसी तरह ऋगादि शब्द भी वेदाधिकार के आधार पर वेदपरक ही मानने चाहिये। 'धर्मोपदेशाच्च' इस सूत्र से यह सिद्ध किया गया है कि 'उच्चैः साम्ना' यहाँ पर साम में उच्चैस्त्व का विधान वेद पक्ष में ही संगत हो सकता है, जाताधिकार में तो 'उच्चैर्ऋचा' इस मन्त्र से ही सामवेद की भी गतार्थता हो जाती है, क्योंकि ऋचाओं के उच्चैस्त्व के विधान से ही साम के भी उच्चैस्त्व का विधान अपने आप हो जाता है, 'ऋच्यध्यूढं साम' इस लक्षण के अनुसार गीति में परिवर्तित ऋचाएं ही तो साम कहलाने लगती है। इसके विपरीत सामपद से जब केवल सामवेद का ही ग्रहण होगा, तो साम के मन्त्र यद्यपि ऋचाओं से अलग नहीं है, तो भी सामवेद के ब्राह्मण उनसे भिन्न हैं,

'त्रयीविद्याख्या च तद्विदि' (मी०सू० ३।३।५) त्रयीविद्या यस्य स त्रयीविद्यः। यस्त्रीन् वेदानधीते स त्रयीविद्यः प्रख्यायते। त्रयीशब्द ऋक्सामयजुःषु प्रसिद्धः। यदि ऋक्सामयजूंषीति त्रयो वेदा उच्यन्ते, तदैव तद्विदि त्रयीविद्य इत्याख्या युज्यते। तेन ऋक्सामयजुःशब्दा ऋक्सामयजुर्वेदपरा अपि भवन्ति। तस्मादुच्चैर्ऋचेत्यादौ ऋगादिशब्दा वेदपरा एव मन्तव्याः।

व्यतिक्रमे 'यथाश्रुतीति चेत्' (मी० सू० ३।३।६) यदुक्तम्—ऋग्वेदमतिक्रान्तानामृचां यजुर्वेदेऽप्युच्चैस्त्वं भविष्यतीति जाताधिकारः। तत्र मत्पक्षे यथाश्रुतः प्रयोगो भविष्यतीति पूर्वपक्षोपस्थापनम्। 'सर्वस्मिन्निवेशात्' (मी० सू० ३।३।७) अथ तस्य समाधानम्—नैष दोषोऽत्र प्रसरति सर्वस्मिन्निवेशात्। अर्थात् सर्वस्मिन्नृग्वेदे उच्चैस्त्वं सर्वस्मिन् यजुर्वेद उपांशुत्वं भवतीति उपांशुत्वं न ऋग्धर्मः, किन्तु वेदधर्मः। वेदस्य च न धर्मद्वयेन सम्बन्धः। तस्माद्यजुर्वेदगतानामृचामपि यजुर्वेदत्वेन तत्रोपांशुत्वमेव भविष्यति नोच्चैस्त्वं तस्मान्न धर्मद्वयसम्बन्धः।

यदुक्तम्—जाताधिकारे प्रकरणानुग्रहो भविष्यति, वेदसम्बन्धे तु सर्वक्रतुषूपांशुत्वमेव स्यादिति तत्परिहारार्थमुच्यते—'वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत' (मी० सू० ३।३।८) वेदसंयोगाद्वाक्येन प्रकरणे बाध्यमानेऽपि न दूषणम्। एवं जैमिनिसूत्रैः शाबरभाष्येण च ऋगादिशब्दानां मन्त्रवाचकानामप्युपक्रमानुरोधेन ऋग्वेदादिपरत्वं भवति, ऋगादिस्यश्च ऋग्वेदादीनां भेदोऽपि सिद्धयति। छान्दोग्यवचने च कण्ठरवेण भेद उक्तः। जैमिनिना च 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० सू० २।१।३०) इति सूत्रेण मन्त्रभागावशिष्टे भागे ब्राह्मणशब्द उक्तः। यथा ऋक्सामलक्षणनिरूपणानन्तरम्—'शेषे यजुःशब्दः' (मी० सू० २।१।३४) इति पूर्वोक्तलक्षणाभ्यामृक्सामभ्यामवशिष्टे मन्त्रे यजुःशब्द इति तद्वत्।

अतः तदुक्त कर्मों में उच्चैस्त्व के विधान के लिये 'उच्चैः साम्ना' इस वाक्य की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। 'त्रयीविद्याख्या च तद्विदि' इस सूत्र में बताया गया है कि जिसके पास तीन विद्याएं है, वह 'त्रयीविद्य' कहलाता है, अर्थात् जो तीन वेदों को पढ़ता है, वह 'त्रयीविद्य' है। यहाँ पर त्रयी शब्द ऋक् साम और यजु के लिये प्रसिद्ध है। यदि ऋक्, साम और यजुः शब्दों से तीनों वेदों का ग्रहण हो, तभी 'त्रयीविद्य' यह नाम सार्थक हो सकता है। इसलिये ऋक्, साम और यजु शब्द ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के बोधक माने जायंगे। इस तरह से भी 'उच्चैर्ऋचा' इत्यादि में ऋगादि शब्द वेदपरक ही माने जायंगे।

व्यतिक्रम होने पर 'यथाश्रुति विनियोग होने लगेगा'। अभी पहले बताया गया है कि ऋग्वेद से अतिक्रान्त अर्थात् ऋग्वेद को छोड़कर वर्तमान यजुर्वेद गत ऋचाओं में भी उच्चैस्त्व का विधान होने लगेगा, उसके परिहार के लिये यहाँ पर जाताधिकार मानना चाहिये। इस अवस्था में हमारे पक्ष में यथाश्रुत प्रयोग होगा, इस तरह से इस सूत्र में पूर्वपक्ष को उपस्थित किया गया है। 'सर्वस्मिन्निवेशात्' इस सूत्र से उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया है कि इस दोष की यहाँ पर प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि पूरे ऋग्वेद में उच्चैस्त्व का, पूरे यजुर्वेद में उपांशुत्व का विधान किया जाता है। इस तरह से उपांशुत्व ऋक् का धर्म न होकर वेद का धर्म है। वेद का दो धर्मों से सम्बन्ध नहीं हो सकता। यजुर्वेद में विद्यमान ऋचाओं को यजुर्वेद ही माना जायगा, अतः यहाँ पर उपांशुत्व का ही विधान होगा, उच्चैस्त्व का नहीं। इस तरह यहाँ पर दो धर्मों का सम्बन्ध नहीं होगा।

पहले बताया गया था कि जाताधिकार मानने पर प्रकरण अनुगृहीत होगा। इसके विपरीत वेद से इनका सम्बन्ध करने पर सभी क्रतुओं में उपांशुत्व का ही व्यवहार होगा, इस आशंका के परिहार के लिये यह सूत्र कहा गया है—'वेदसंगान्न प्रकरणेन बाध्येत'। अर्थात् वेद का संयोग होने से वाक्य से प्रकरण का बाध होने पर कोई दूषण नहीं है। इस तरह से जैमिनि सूत्र और शाबरभाष्य के प्रमाण पर मन्त्रवाचक ऋगादि शब्द उपक्रम के अनुरोध से ऋग्वेदादिपरक माने जाते हैं और ऋगादि से ऋग्वेदादि का भेद भी सिद्ध होता है। छान्दोग्यवचन में तो स्पष्ट ही इनका भेद बताया गया है। जैमिनि ने 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इस सूत्र के मन्त्रभाग से अवशिष्ट भाग के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है, जैसे कि ऋक् और साम का लक्षण बताने के बाद 'शेषे यजुःशब्दः' इस सूत्र में पूर्वोक्त ऋक् और साम लक्षण से अवशिष्ट मन्त्र के लिए 'यजु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

दयानन्देन शावरभाष्यस्य प्रामाण्यमङ्गीकृतम्, तेन शावरभाष्योपेक्षया स्वगुरुविरोध एव। अत एव च कात्यायनादिभिर्ऋषिभिश्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वमुक्तम्। 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (मी० सू० १।१।२७), 'अनित्यदर्शनाच्च' (मी० सू० १।१।२८) इति पुरुषाख्या काठकादिसमाख्यावशाद् वेदानां पौरुषेयत्वमाशङ्क्य 'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (मी० सू० १।१।२९), 'आख्या प्रवचनात्' (मी० सू० १।१।३०), 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी० सू० १।१।३१) इति सूत्रैः समाहितम्। शब्दपूर्वत्वमित्यत्र शब्दशब्दोऽध्ययनपरः। तेन सर्वस्य वेदाध्ययनस्य गुर्वध्ययन-पूर्वकत्वाद् वेदस्यानादित्वमेव मन्तव्यम्। काठकाद्याख्यास्तु न कर्तृत्वमूलिकाः, किन्तु प्रवचनमूलिकाः। प्रवचनं त्वध्यापनमेव न व्याख्यानम्, तथात्वेऽपौरुषेयत्वव्याघातात्। प्रकर्षेण वचनमनन्यसाधारणं कठादिभिरनुष्ठितम्। तथापि समाख्यातारो भवन्ति। स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी। कठः पुनरिमां केवलां शाखामध्यापयाम्बभूवेति। बहुशाखाध्यायिनां सन्निधौ एकशाखाध्यायी अन्यां शाखामनधीयाने तस्यां प्रकृष्टत्वादसाधारणमुपपद्यते विशेषणमिति शावरभाष्यम्। इत्येवं सूत्रैर्भाष्येण च काठकादिशाखानां वेदत्वमपौरुषेयत्वं च स्पष्टमेवोक्तम्।

यदुक्तं भगवद्दत्तेन—'शबरस्वामिना वेदापौरुषेयत्वाधिकरणे यान्युदाहरणान्युक्तानि तानि नोचितानि। शबरो ब्राह्मणस्यापि वेदत्वं मन्यते स्म। तेनैव ब्राह्मणवचनान्युदाहृतानि। मन्त्रोदाहरणान्येव दातव्यान्यासन्निति' (पृ० १२४), तत्तन्मत्तप्रलपितम्, सूत्राणां तात्त्विकान्यार्थासम्भवात्। शङ्करभगवत्पादास्तु—'तथा चाहुः शास्त्र-तात्पर्यविदः शबरस्वामिनः' इति यान् शास्त्रतात्पर्यवित्त्वेन स्मरन्ति, तानेकवचनेन स्मरन्तः सामाजिका क्षुद्रतामेव स्वीयां व्यञ्जयन्ति। मोदास्पदमिदमेव यदिदानीमपि मीमांसकाः शावरभाष्यं कौमारिलान् श्लोकवार्त्तिक-तन्त्रवार्त्तिक-टुप्टीकादिग्रन्थानेव मीमांसात्वेनाङ्गीकुर्वन्ति। मन्त्रा ब्राह्मणानि च नित्यान्यपौरुषेयाण्येव। ब्राह्मणानि व्यासकाल-

दयानन्द ने शावरभाष्य को प्रामाणिक ग्रन्थ माना है। भगवद्दत्त (पृ० १२४) जब शावरभाष्य की उपेक्षा करते हैं, तो वे अपने गुरु का ही विरोध करते हैं। इसी लिये कात्यायन प्रभृति महर्षियों ने मन्त्रब्राह्मणात्मक सारे शास्त्र को वेद माना है। जैमिनि ने 'वेदांश्चैके०', 'अनित्यदर्शनाच्च' इन सूत्रों के द्वारा काठक प्रभृति पुरुषों की आख्या के आधार वेदों की पौरुषेयता की आशंका उठा कर 'अयं तु शब्दपूर्वत्वम्' इत्यादि सूत्रों से उनका समाधान किया है। 'शब्दपूर्वत्वम्' यहाँ पर शब्द पद अध्ययन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेद का सारा अध्ययन गुरु के द्वारा अध्ययन की परम्परा के आधार पर ही प्रवृत्त होता है, अतः वेद को अनादि मानना पड़ेगा। काठक प्रभृति आख्याएँ कर्तृमूलक न होकर प्रवचनमूलक मानी जाती हैं। प्रवचन अध्यापन को कहते हैं, व्याख्यान को नहीं, क्योंकि कैसे व्याख्यान मान लेने पर अपौरुषेयत्व की हानि हो जायगी। इन ग्रन्थों का अनन्य साधारण प्रवचन कठादि ने किया था। 'अनेक शाखाओं के प्रवचन कर्ता होते हैं। वैशम्पायन सभी शाखाओं के अध्येता सुने जाते हैं। इसके विपरीत कठ ने केवल इस एक शाखा को ही पढाया था। बहुत सी शाखाओं के अध्येता के साथ एक शाखा का अध्ययन करने वाले तथा अन्य शाखाओं को न पढ़ने वाले व्यक्ति की कुछ असाधारण विशेषता होगी, इस तरह से उन उन शाखाओं के साथ काठकादि समाख्या का विशेषण के रूप में संनिवेश उचित ही माना जायगा' (यह शावरभाष्य का कथन है)। इस तरह से जैमिनि सूत्र और शावरभाष्य में स्पष्ट रूप से काठकादि शाखाओं को अपौरुषेय वेद के रूप में स्वीकार किया गया है।

भगवद्दत्त ने कहा है कि—'शबरस्वामी ने मीमांसा तर्कपाद के इस वेदापौरुषेयता अधिकरण में जो अनेक उदाहरण दिये हैं, वे उचित नहीं हैं। शबर तो ब्राह्मणों को वेद मानता था। अतः उसने ऐसे उदाहरण दे दिये। अन्यथा ऐसे सब उदाहरण मन्त्रों से देने चाहिये थे' (पृ० १२४)। यह सब पागलों के प्रलाप जैसा है। इसके अतिरिक्त सूत्रों का ओर कोई सही अर्थ हो हीं नहीं सकता। शंकर भगवत्पाद 'जैसा कि शास्त्र के तात्पर्य को ठीक से समझने वाले शबरस्वामी कहते हैं' इस तरह से जिनको आदर पूर्वक शास्त्रों के तात्पर्य के ज्ञाता के रूप में स्मरण करते हैं, उनको एक वचन से उद्धृत करने वाले आर्यसमाजी अपनी ओछी बुद्धि का ही प्रदर्शन करते हैं। प्रसन्नता की बात यही है कि आज भी मीमांसक शावर भाष्य को, कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक और टुप्टीका प्रभृति ग्रन्थों को ही मीमांसा मानते हैं। मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही नित्य एवं अपौरुषेय हैं। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों का

सङ्कलितानि। ब्राह्मणानां शाखानां सामग्र्योऽपि व्यासात्पूर्वं नासन्' इत्युक्तिरपि मूढजनप्रतारणमेव, पाश्चात्त्यव्यामोह-मूलिका च। मन्त्रब्राह्मणेषु समागता इन्द्रादिशब्दा जातिवाचकाः प्राड्विवाकादिवत्स्थानवाचका वा, नानित्यव्यक्तिवाचकाः। सृष्टिरपि वैदिकशब्दपूर्विका, न वैदिकशब्दाः सृष्टिपूर्वका इत्यनेकधा प्रतिपादितत्वात्। सामाजिकैर्येषामन्धानुकरणेन ब्राह्मणानां पौरुषेयत्वं साध्यते, तैः पाश्चात्त्यैः सामाजिकाभिमतवेदमन्त्राणामपि सादित्वमाधुनिकत्वं पौरुषेयत्वं चोच्यते। यानि ब्राह्मणवचनान्याश्रित्य तेषामुत्तरं दित्सितम्, तेषामाधुनिकत्वेऽनपेक्षतयाऽप्रामाण्ये कथं तत्प्रामाणिकं स्यात्? 'तस्य राज्ञः पुरोहितो ब्रह्मायुर्ब्राह्मणवेदेषु' इति महावस्तु ७७ पृष्ठस्थवाक्यमपि ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेनैव वेदात् पार्थक्येन ब्राह्मणं निर्दिशति।

यदुक्तम्—'यान् मन्त्रानपश्यत् स आथर्वणो वेदोऽभवत्' (गोपथ० पू० १।५) इति वचनं मन्त्रसमूहमेव वेदं वदति' (पृ० १२५) इति, तदपि न किञ्चित्, पाश्चात्त्यैरिव त्वयापि गोपथब्राह्मणस्याप्याधुनिकत्वाभ्युपगमेन तस्यानपेक्षप्रामाण्यानभ्युपगमात्। सिद्धान्ते त्वत्र मन्त्रशब्दो मन्त्रब्राह्मणपरः। यथा 'उच्चैर्ऋचा' इत्यत्र ऋगादिशब्दा मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपवेदपरास्तद्वद् ब्राह्मणवचनानामपि मन्त्ररूपत्वात्। ब्राह्मणेष्वपि 'तदेषाभ्युक्ता' इत्यादिरूपेण मन्त्रपाठदर्शनात्। यथा—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। (कठोप० १।२।२४) इत्यत्र ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितस्य प्रपञ्चस्यैवौदनस्थानीयत्वमुक्तम्। तथैवात्र मन्त्रशब्दो मन्त्रोपलक्षितस्य मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्यैव बोधकः, 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (मी०सू० ३।३।२) इति न्यायात्। अपि च सर्वमेतन्महाव्याहृतेः प्रशंसार्थवादरूपं तत्प्रशंसायामेव पर्यवस्यति, न मन्त्राणां वेदत्वविधाने।

संकलन व्यास के समय में हुआ, ब्राह्मणों की तथा शाखा ग्रन्थों की सामग्री का संकलन भी व्यास से पहले नहीं हुआ था, यह सारा प्रतिपादन अज्ञ जनों को ठगने के लिये है और इसके मूल में पाश्चात्य विद्वानों की भ्रमोत्पादक उक्तियों पर वक्ता का अन्धविश्वास है। मन्त्र और ब्राह्मणभाग में आये इन्द्र प्रभृति शब्द या तो जाति के वाचक हैं, अथवा प्राड्विवाक प्रभृति के समान स्थान के वाचक हैं, ये अनित्य व्यक्तियों के वाचक नहीं हैं। सृष्टि का आरंभ भी वैदिक शब्दों से ही होता है, सृष्टि का आरंभ होने के बाद वैदिक शब्द नहीं बनते, इस तरह से अनेक प्रकार से वेदों की अनादिता सिद्ध की जा चुकी है। आर्यसमाजी विद्वान् जिनका अन्धानुकरण कर ब्राह्मण ग्रन्थों को पौरुषेय मानते हैं, वे पाश्चात्य विद्वान् आर्यसमाजियों के द्वारा स्वीकृत वेद मन्त्रों की भी सादिता, आधुनिकता और पौरुषेयता को सिद्ध करते हैं। जिन ब्राह्मण वचनों का सहारा लेकर इनका उत्तर दिया जाना आप उचित समझते हैं, वे यदि आधुनिक हैं, उनका यदि अनपेक्ष प्रामाण्य नहीं है, तो उनके आधार पर दिया गया आपका यह प्रत्युत्तर कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? 'उस राजा का ब्रह्मायु नाम का पुरोहित''''ब्राह्मण और वेदशास्त्र में कुशल था' महावस्तु के इस वचन में ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय से वेद से पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्देश उनके वैशिष्ट्य को बताने के उद्देश्य से किया गया मानना चाहिये।

भगवद्दत्त ने ही कहा है कि 'जिन मन्त्रों को देखा उन्हीं से आथर्वण वेद की रचना ईश्वर ने की' इस गोपथ ब्राह्मण के वचन के अनुसार मन्त्रसमूह को ही वेद माना गया है (पृ० १२५), किन्तु यह कथन भी व्यर्थ ही है, पाश्चात्य विद्वानों की ही तरह आप भी गोपथ ब्राह्मण को जब आधुनिक मानते हैं, तो उसका निरपेक्ष प्रामाण्य आप कैसे सिद्ध कर सकते हैं? हमारे मत से तो यहाँ पर मन्त्र शब्द मन्त्र और ब्राह्मण के समुदाय का वाचक है। जैसे कि 'उच्चैर्ऋचा' इत्यादि स्थलों में ऋगादि शब्द मन्त्रब्राह्मण समुदाय रूप वेद के बोधक माने जाते हैं। ब्राह्मण वचन भी मन्त्र रूप होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'जैसा कि इस ऋचा में कहा गया है' ऐसा कह कर अनेक मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं। जैसा कि—'जिस परमात्मा का ब्रह्म और क्षत्र ये दोनों भोजन बनते हैं' इस कठ श्रुति में ब्रह्म और क्षत्र शब्द इन शब्दों से उपलक्षित होने वाले प्रपंच के बोधक होते हैं, क्योंकि यह प्रपंच ही इस परमात्मा का भोजन होता है, उसी तरह से यहाँ पर भी मन्त्र शब्द मन्त्र शब्द से उपलक्षित होने वाले मन्त्रब्राह्मणात्मक समुदाय का ही बोधक माना जाता है, 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' यह मीमांसा सूत्र इसमें सहायक होता है। दूसरी बात यह है कि यह सारा प्रकरण महाव्याहृति की प्रशंसा के लिये अर्थवाद के रूप में वर्णित है। इस पूरे प्रकरण का पर्यवसान महाव्याहृति की प्रशंसा में होता है, अतः मन्त्र भाग को वेद सिद्ध करने में इसका विनियोग नहीं किया जा सकता।

यदुक्तम्—'तस्य (ओमित्येतदक्षरस्य) प्रथमया स्वरमात्रया ऋग्वेदमन्वभवत्.......द्वितीयया यजुर्वेदं.....तृतीयया सामवेदं वकारमात्रया अथर्ववेदं मकारश्रुत्या उपनिषदः' (गोपथ० १।१।२१) इत्यादि (पृ० १२५)' मकारश्रुत्योपनिषदामुत्पत्तिरुक्ता। तासां वेदत्वे कथं पृथगुक्तिः स्यादिति, तदप्युक्तोत्तरम्, उपनिषदां सर्ववेदसारूपत्वाद् वेदान्तर्गतत्वेऽपि वैशिष्टयवोधनायैव पृथगुक्तिः। अत एव यथा प्रणवस्य प्रथममात्रया ऋग्वेदोत्पत्तिः, तथैव प्रणवस्य मकारश्रुत्योपनिषदामुत्पत्तिः। ऋग्वेदादिशब्दैरनु मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्यैव ग्रहणमिति तूक्तमेव। किञ्च, वेदात्पृथगुपदेशमात्राद्वा वेदभिन्नत्वे व्याहृतीनामपि वेदभिन्नत्वं प्रसज्येत। गोपथे तु तस्य प्रथमया स्वरमात्रया ... . ऋग्वेदं भूरिति व्याहृतिमिति व्याहृतेरपि प्राप्तिरुक्ता। द्वितीयया स्वरमात्रया यजुर्वेदं भुवरिति व्याहृतिं तृतीयया स्वरमात्रया सामवेदं स्वरिति व्याहृतिम्, ततश्च व्याहृतीनां वेदत्वेऽपि वैशिष्टयापेक्षया पृथगुपदेशोऽभ्युपेतव्यः। तथैव ऋग्वेदादिषु ब्राह्मणानामन्तर्गतत्वेन मन्त्रब्राह्मणेषु चोपनिषदामन्तर्भावेऽपि तत्सारत्वात् पृथगुपदेशो नायुक्तः। न केवलमुपनिषदां किन्तु इतिहासपुराणादीनामपि ततः प्रादुर्भावस्तदुक्तम्—'तस्य मकारश्रुत्येतिहासपुराणं वाकोवाक्यं गाथा नाराशंसीरुपनिषदोऽनुशासनानि' (गोपथ० १।२१) इति।

यदुक्तम्—'ऋग्वेदमखिलं द्रष्टारो ये महर्षयः' (अनुक्रमणी १।१) इत्यनेन विज्ञायते शौनको मन्त्राणां द्रष्टॄन् जानाति स्म, तदानीं ब्राह्मणस्यैका पङ्क्तिरपि नासीत्। तदीयशिष्यः कात्यायनो मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कथं वक्ष्यति? तस्मादिदं सूत्रमपि पश्चात्प्रक्षिप्तमेव' (पृ० १२६) इति, तदुन्मत्तप्रलपितमेव। ऋग्वेदशब्दस्य मन्त्रब्राह्मणसमुदाय एव प्रयुक्तत्वेन तादृशशङ्काया अनवकाशात्। अत एव तदीयशिष्यो मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्दं प्रायुङ्क्त।

भगवद्दत्त ने गोपथ ब्राह्मण के ही 'उस (ओम्) अक्षर की प्रथम स्वर मात्रा से ऋग्वेद की, द्वितीय स्वर मात्रा से यजुर्वेद की, तृतीय मात्रा से सामवेद की, वकार मात्रा से अथर्ववेद की और मकार से उपनिषदों की उत्पत्ति हुई' इस वचन के अनुसार मकार श्रुति से अलग से उपनिषदों की उत्पत्ति बताई गई है। यदि वे उपनिषदें भी वेद मानी जाती हैं, तो यहाँ पर उनका वेदों से पृथक् उल्लेख क्यों किया गया? ऐसे प्रयोग से उनका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि उपनिषदादि वेद नहीं हैं' (पृ० १२५)। इसका भी उत्तर हम दे चुके हैं। उपनिषदों ने सारे वेदों का सार विद्यमान है, अतः वेदान्तर्गत होने पर भी इनकी इस विशिष्टता को बताने के लिये यहाँ पर उनका अलग से उल्लेख हुआ है। इसी लिये जैसे प्रणव की प्रथम मात्रा से ऋग्वेद की उत्पत्ति हुई, उसी तरह से प्रणव की मकार श्रुति से उपनिषदों की उत्पत्ति यहाँ बताई गई है। ऋग्वेदादि शब्दों से यहाँ पर मन्त्रब्राह्मण समुदायात्मक वेदों का ग्रहण होता है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। यदि वेद से पृथक् उपदेश को देखकर आप वेदों से पृथक् उपनिषदों को मानने लगेंगे, तो व्याहृतियों को भी वेद से पृथक् मानना पड़ जायगा। क्योंकि गोपथ ब्राह्मण के उसी वाक्य में 'उस (प्रणव) की प्रथम स्वर मात्रा से ऋग्वेद और 'भूः' इस व्याहृति की उत्पत्ति हुई' इस तरह से अलग से प्रथम व्याहृति की उत्पत्ति बताई गई है। इसी तरह से द्वितीय स्वर मात्रा से यजुर्वेद की 'भुवः' इस व्याहृति की और तृतीय स्वर मात्रा से सामवेद और 'स्वः' व्याहृति की उत्पत्ति बताई गई है। इस तरह अलग उपदेश होने से यही निष्कर्ष निकालना पड़ेगा कि व्याहृतियाँ यद्यपि वेद ही है, तथापि यहाँ पर उनका वैशिष्ट्य बताने के लिये अलग से उल्लेख हुआ है। इसी तरह से ऋग्वेदादि में ब्राह्मण भाग का अन्तर्भाव होने पर भी और मन्त्रब्राह्मण समुदाय में उपनिषदों का अन्तर्भाव होने पर भी वेदों के सार के रूप में इनका अलग से उपदेश गलत नहीं है। केवल उपनिषदों का ही नहीं, किन्तु इतिहास-पुराण आदि का प्रादुर्भाव भी प्रणव से ही हुआ है। जैसा कि गोपथ ब्राह्मण में उसी प्रकरण में कहा गया है—'उसकी मकार श्रुति से इतिहास-पुराण, वाकोवाक्य, गाथा, नाराशंसी, उपनिषद् और अनुशासनों की उत्पत्ति हुई'।

'कात्यायन का गुरु शौनक आर्षानुक्रमणी के आरम्भ में लिखता है—'ऋग्वेदमखिलं०' इत्यादि। अर्थात्—अखिल ऋग्वेद के जो मुनिश्रेष्ठ द्रष्टा थे, ऐसा कह कर शौनक केवल मन्त्रों के ही द्रष्टाओं का उल्लेख करता है। इससे प्रतीत होता है कि शौनक के अनुसार मन्त्रसमूह ही अखिल ऋग्वेद था। उस ऋग्वेद में ब्राह्मण की एक पंक्ति भी नहीं थी। जब गुरु ऐसा मानता है, तो उसके शिष्य भी संभवतः वैसा ही मानते होंगे। अत एव कात्यायन आदि के ग्रन्थों में 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह वाक्य बहुत पीछे मिलाया गया होगा' (पृ० १२६)। यह कथन भी पागलों के प्रलाप जैसा है, क्योंकि ऋग्वेद शब्द का प्रयोग मन्त्र-ब्राह्मण के समुदाय के लिये ही होता है,

ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां स्वामिदयानन्देन कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वादिति वदता कात्यायनेन ब्राह्मणानां वेदत्वमङ्गीकृतमित्युक्तमेव। युष्माभिश्च तदपलप्यते। वस्तुतस्तु न केवलं कात्यायनेन, किन्तु आपस्तम्ब-बौधायन-कौशिकादिभिर्मनुव्यासजैमिन्यादिभिरपि ब्राह्मणानां कण्ठरवेण वेदत्वमुद्घोषितम्।

अथर्ववेदे 'पुराणं यजुषा सह' (११।९।२४), 'तमितिहासश्च पुराणं च अनुव्यचलन्' (१५।६।११ अथर्ववेदसं०) इत्यादिमन्त्रेष्वितिहासपुराणशब्दौ दृश्येते। युष्माभिस्तु इतिहासपुराणयोर्ब्राह्मणविशेषत्वमूरीक्रियते। तथा च त्वद्रीत्या त्वदभिमते वेदे ब्राह्मणानामितिहासपुराणानां च दर्शनं स्पष्टमेव। तथा च शौनककाले ब्राह्मणस्य एका पङ्क्तिरपि नासीदिति त्वदुक्तिः स्पष्टं वेदविरुद्धा। छान्दोग्ये एकस्मिन्नेव मन्त्रे 'ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पम्' (३।१।२) ऋगृग्वेदयोः पृथक् पृथग् उपदेशो दृश्यते। त्वद्रीत्या तु ऋग्वेदात् पृथगुपदेशेन ऋचामृग्वेदात् पृथक्त्वं तथैव सिद्धयति, यथा ऋग्वेदात् पृथग् ब्राह्मणानामुपदेशेन तेषां वेदात् पृथक्त्वं सिद्धयति।

यदुक्तम्—'ब्राह्मणानामदृष्टत्वादप्यवेदत्वं सिद्धयति' (पृ० १२६) इति, तत्तुच्छम्, अनुपदमेव दृष्टत्वस्य साधितत्वात्। 'यो ह वाऽविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजति वा याजयति वा' (१।१।६) इत्यार्षेयब्राह्मणेन ब्राह्मणस्याप्यार्षेयत्वोक्तेश्च। यदप्युक्तम्—'कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति' (श० ३।३।४।१९) इत्यत्र याज्ञवल्क्येनारुणिनोपज्ञातं निजस्फूर्तिरचितमित्युक्तम्, तेन ब्राह्मणमात्रस्याधुनिकत्वमुक्तम्' (पृ० १२६-१२७) इति, तदपि प्रमत्तगीतम्, तथात्वे 'मन्त्रकृतः' (ऋ० सं० ९।११४।२) इत्यादिमन्त्रवर्णादेव मन्त्राणामपि ऋषिकृतत्वेनाधुनिकत्वापत्तेः। यदि च कृतत्वोपपत्तिः 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इत्यनुसारेण योजनीया, तदा तेनैव

अतः इस प्रकार की शंका के लिये कोई अवसर ही नहीं रह जाता। इसी लिये शौनक के शिष्य मन्त्र-ब्राह्मण के समुदाय के लिये ही वेद शब्द का प्रयोग मानते हैं। ऋग्वेदभाष्यभूमिका में स्वामी दयानन्द ने कहा है कि कात्यायन को छोड़कर अन्य ऋषियों ने ब्राह्मणों को वेद नहीं माना है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कात्यायन ने ब्राह्मणों को भी वेद माना है, यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है। इस बात को अब आप नहीं मानना चाहते। वास्तव में कात्यायन ही नहीं, किन्तु आपस्तम्ब, बौधायन, कौशिक प्रभृति ऋषिगण और मनु, व्यास, जैमिनि प्रभृति सभी प्राचीन ग्रन्थकार ब्राह्मणों को स्पष्ट रूप से वेद मानते हैं।

अथर्ववेद के 'पुराणं यजुषा सह' यहाँ पर तथा 'तमितिहासश्च०' इन मन्त्रों में इतिहास और पुराण शब्द मिलते हैं। आप तो इतिहास और पुराण को ब्राह्मणभाग का ही विशेष अंश मानते हैं। इस तरह से आपके मत से ही आपके अभिमत वेद में ब्राह्मणभाग और इतिहास पुराण का भी वर्णन स्पष्ट रूप से हो जाता है। तब यह कहना कि शौनक के समय में ब्राह्मणभाग की एक भी पंक्ति विद्यमान नहीं थी, स्पष्ट ही उक्त वेद वाक्य के विरुद्ध होगा। छान्दोग्य उपनिषद् के एक ही मन्त्र में 'ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पम्' इस तरह से ऋक् और ऋग्वेद का अलग अलग उल्लेख दिखाई पड़ता है। आपके मत से ऋग्वेद का उल्लेख होने से उनसे ऋचाओं का पृथक्त्व उसी तरह से मान लिया जायगा, जैसे कि ऋग्वेद से अलग उल्लेख होने से आप ब्राह्मणों को वेदों से अलग मानते हैं।

'ब्राह्मण ग्रन्थ दृष्ट नहीं हैं, इसलिये भी वे वेद नहीं हैं' (पृ० १२६)। यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि ब्राह्मण भी दृष्ट हैं, इस बात को अभी अभी हम सिद्ध कर चुके हैं। 'जो व्यक्ति ऋषि, छन्द, देवता को बिना जाने ब्राह्मण अथवा मन्त्र से यजन कराता है' इस तरह के आर्षेय ब्राह्मण के वचन के प्रमाण से ब्राह्मणभाग की आर्षेयता सिद्ध होती है। यह भी कहा गया है कि—'साम ब्राह्मण में एक सुब्रह्मण्या आती है। उसके एक भाग में निम्नलिखित पद है—'कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति'। इसके विषय में शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि—'ठीक इस प्रकार यह सुब्रह्मण्या का भाग अभी अभी आरुणि ने निजस्फूर्ति से बनाया है'। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्राह्मण मात्र आधुनिक ग्रन्थ हैं' (पृ० १२६-१२७)। यह भी प्रमत्त का प्रलाप मात्र है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'मन्त्रकृतः' इस तरह के वचनों के प्रमाण पर मन्त्रों की भी ऋषिकर्तृकता और आधुनिकता माननी पड़ जायगी। यदि यहाँ पर आप कृतत्व की उपपत्ति 'वाचा विरूपनित्यया' इस श्रुति के अनुसार करना चाहते हैं, तो यहाँ पर भी उसी न्याय से उपज्ञानोक्ति का

न्यायेनोपज्ञातत्वोक्तिसमाधानमपि न दण्डवारितम्। तत्रैव शश्वदिति पदमपि शाश्वतस्यैव सुब्रह्मण्यामन्त्रस्य आरुणिनाऽस्मिन् कल्पे तदुपज्ञातमिति काठकादिवत् तन्नाम्ना प्रसिद्धिमगमदित्येवार्थः। एतेनैव 'अथ ह एके कौशिक गोतम ब्रुवाणेत्याह्वयन्ति तदुहं आरुणिनैव यशस्विनोपज्ञातम्' (जै० ब्रा० २।७९-८०) इत्यपि व्याख्यातम्। यथा शाकलीसंहिता शाकल्येन प्रसिद्धिमगमत् तद्वत् शौनकशाकल्यादिशाखानामिव वेदत्वमेव शाखात्वाविशेषात्। यस्य या शाखा तस्य स एव वेद इति वेदत्वमेव शाखान्तराणां शाखात्वमिव। यथा मन्त्राणामृषिदृष्टत्वं तथा ब्राह्मणानां प्रजापतिदृष्टत्वमुक्तमेव।

अत एव 'त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह। यजुर्वेदः स विज्ञेयः, अन्ये शाखान्तराः स्मृताः॥' (चरणव्यूहकण्डिका २) इति वचनमपि सम्यगेव। यत्तूक्तम्—'एतत् प्रक्षिप्तमेव' (पृ० १२७) इति, तत्तु पलायनमेव, सामाजिकानां सविधे उत्तरास्फूर्तौ प्रक्षिप्तत्वातिरिक्तगत्यभावात्। एवमन्यैरपि त्वदभिमतवचनानामपि क्षेपकत्वोक्तौ तवोपरि दोषस्य दुर्वारत्वात्। पाश्चात्यैस्त्वदीयवेदत्वेनाभिमतासु संहितास्वपि क्षेपकत्वमुच्यत एव।

यदुक्तम्—'मन्त्रोपदेशो वा भाषिकस्य प्रायोपपत्तेर्भाषिकश्रुतिः' (मी० सू० १२।३।१७) इति सूत्रेण भाषास्वरो ब्राह्मणे प्रवृत्त इति शवरेणापि ब्राह्मणस्वरो भाषास्वरः साधारणलौकिकस्वर इत्युक्तम्। यदा ब्राह्मणस्य स्वरो लौकिकस्वरस्तदा तस्य कथमीश्वरोक्तत्वं सम्भवति' (पृ० १२८) इति, तदपि स्वोक्तिपौर्वापर्याननुसन्धानमूलकम्, 'शवरस्वामिना ब्राह्मणानां वेदत्वाभ्युपगमात्' इति स्ववचनविरोधात्। 'मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः' (२।१।३३) इति शावरभाष्यविरोधाच्च। भाषास्वरशब्दस्य न लौकिकभाषास्वरोऽर्थः, पूर्वसूत्रे शवरस्वामिनैव तन्निर्वचनात्। 'भाषास्वरोपदेशादैरवत्प्रावचनं प्रतिषेधः स्यात्' (मी० सू० १२।३।२०) इति सूत्रेऽयं पूर्वपक्षः-

समाधान कर दिया जाय, इसके विरुद्ध कोई दंड लेकर नहीं खड़ा हुआ है। वहीं पर विद्यमान 'शश्वत्' पद भी शाश्वत सुब्रह्मण्या मन्त्र का प्रथम ज्ञान इस कल्प में आरुणि को प्राप्त हुआ, इसी बात को सिद्ध करता है। इसी लिये काठकादि समाख्या की तरह यह भी आरुणि के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। इस शतपथ वचन की व्याख्या के अनुसार ही 'अथ ह वा एके०' इस जैमिनि ब्राह्मण वचन की भी व्याख्या संगत हो जाती है। जैसे की शाकली शाखा शाकल्य के नाम से प्रसिद्ध हुई, उसी तरह से यहाँ पर भी समझना चाहिये। शौनक, शाकल्य प्रभृति शाखाओं को शाखा के साथ वेद मानने में कोई विरोध नहीं है। जिस व्यक्ति की जो शाखा है, वही उसका वेद है और अन्य शाखाएँ शाखा मात्र हैं। जैसे मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि हैं, उसी तरह से ब्राह्मणों के द्रष्टा प्रजापति हैं, यह बात पहले ही बताई जा चुकी है।

'मन्त्र और ब्राह्मणभाग के साथ जहाँ पर मन्त्रभाग से त्रिगुण ब्राह्मणभाग का पाठ मिलता है, वही वास्तव में यजुर्वेद है, अन्य केवल शाखाएँ हैं' इस चरणव्यूह के वचन की भी संगति है। भगवद्दत्त इसको प्रक्षिप्त सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं (पृ० १२७)। यह उनका शुद्ध पलायनवाद है। आर्यसमाजियों के सामने जब कोई उत्तर नहीं सूझता, तो उसको प्रक्षिप्त मान लेने के सिवाय कोई रास्ता नहीं बच रहता। इसी तरह से अन्य व्यक्ति भी आपके द्वारा प्रमाण रूप से उद्धृत वचनों को यदि प्रक्षिप्त मानने लगें, तो आपका दोष से पिण्ड छुड़ाना कठिन हो जायगा। पाश्चात्य विद्वान् आपके द्वारा वेद के रूप में स्वीकृत संहिताओं में भी क्षेपक मानते ही हैं।

'ब्राह्मण ग्रन्थों के ऋषिप्रोक्त होने में और भी प्रमाण हैं। मीमांसा सूत्र ऐसे पढ़ा गया है—'मन्त्रोपदेशो वा०'। इसी के भाष्य में शबर कहता है—'भाषास्वरो ब्राह्मणे प्रवृत्तः' अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों में वही स्वर प्रवृत्त हुआ है, जो साधारण भाषा में है। जब ब्राह्मण का स्वर अर्थात् लौकिक स्वर है, तो वह ईश्वर प्रोक्त कैसे हो सकता है' (पृ० १२८), किन्तु भगवद्दत्त की यह उक्ति अपनी ही कही गई पूर्वापर उक्तियों का बिना अनुसन्धान किये कही गई है, क्योंकि अभी अभी आपने कहा है कि 'शबर स्वामी ने ब्राह्मणों को वेद माना है' (पृ० १२४)। शबरस्वामी ने अन्यत्र स्पष्ट लिखा है कि 'मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद कहलाते हैं'। भाषा स्वर शब्द का आपका किया अर्थ 'लौकिक भाषा का स्वर' नहीं है। इससे पहले के सूत्र में शबर स्वामी ने इसका निर्वचन किया है। 'भाषा-

केचिन्मन्त्रा भाषिकेण स्वरेण ब्राह्मण उपदिष्टाः। मन्त्रसमाम्नाये च त्रैस्वर्येण पठिताः। यथा—'इमामगृम्णन्' इत्यश्वमेधे। कः पुनर्भाषिकस्वरः ? उच्यते—'छन्दोगा बह्वृचाश्चैव तथा वाजसनेयिनः। उच्चनीचस्वरं प्राहुः स वै भाषिक उच्यते ॥' अर्थात् छन्दोगा बह्वृचा वाजसनेयिनश्च उच्चनीचस्वरमुदात्तानुदात्तस्वरं भाषिकं स्वरं प्राहुः। तथा च यथा इरापदस्योपदेशात् कर्मकाले गिरापदस्य निवृत्तिर्भवति, तथा स्वरान्तरोपदेशात् प्रावचनमन्त्रप्रवचनगतत्रैस्वर्यप्रतिषेधो ज्ञेयः।

'मन्त्रोपदेशो वा भाषिकस्य प्रायापत्तेर्भाषिकश्रुतिः' (मी० सू० १२।३।२१) इदं सिद्धान्तसूत्रम्। अर्थाद् ब्राह्मणे मन्त्रस्योपदेशो न स्वरस्य, 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इत्युक्तत्वात्। ननु तर्हि कस्माद् भाषिकस्वरो दृश्यते तत्रेति चेत्तत्रोच्यते—प्रायापत्तेर्भाषिकश्रुतिः ब्राह्मणे भाषास्वरः प्रवर्तते। तन्मध्ये यदि मन्त्राम्नायप्रवचनगतत्रैस्वर्येण पठ्यते तदा भाषिकस्वरसन्तानो विच्छिद्येत, तस्मान्नात्र भाषिकस्वरोपदेशः। तस्माज्जपादिमन्त्रेषु मन्त्रसमाम्नायसिद्धस्वर एव प्रयोक्तव्यः। कात्यायनश्रौतसूत्रेऽपि 'मन्त्रे स्वरक्रिया यथाम्नातमविशेषात्' (१।८।१६), 'भाषिकस्वरो वा' (१।८।१७), 'तानो वा नित्यत्वात्' (१।८।१८) इति सूत्रैर्यज्ञे प्रयुक्तमन्त्रेषु मन्त्राम्नायगतत्रैस्वर्यप्रयोगो ब्राह्मणगतो भाषिकस्वरो वा प्रयोक्तव्य इति विचार्य तानस्वर उक्तः। एकश्रुतिस्तानः। उदात्तादिस्वरसामान्याभाव एकश्रुतिः, याज्यादिप्रयोगेऽन्यासम्भवात्। कुतः ? नित्यत्वात्, मन्त्रस्वरूपवर्णोच्चारणादिना भूतत्वात्। 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।२०९), 'नित्यं मन्त्रे' (पा० सू० ६।१।२१०) इत्यादिप्रमाणैश्छन्दोवाच्ये ब्राह्मणे विकल्पेनाद्युदात्तो 'नित्यं मन्त्रे' इत्यनेन छन्दसो मन्त्रभिन्ने भागे आद्युदात्तविधानात्। मन्त्रभिन्नवेदभागीयस्वर एव भाषिकस्वर इति वाचस्पत्यकोषः। न च सामान्यभाषायां जुष्टार्पिते च छन्दसीति स्वरविधानं भवति, छन्दस्त्वाभावात्।

स्वरो०' इस सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में यह अर्थ उपस्थापित किया गया है कि कुछ मन्त्र भाषिक स्वर के द्वारा ब्राह्मणों में उपदिष्ट हैं और मन्त्र समाम्नाय में इनका पाठ तीनों स्वरों में होता है। जैसे कि 'इमामगृम्णन्' इस मन्त्र का अश्वमेध में पाठ भाषिक स्वर से और मन्त्र समाम्नाय में तीनों स्वरों से होता है। प्रश्न होता है कि यह भाषिक स्वर क्या है ? इसका उत्तर है—'सामवेदी, ऋग्वेदी और वाजसनेयी शाखा के अध्येतागण उच्च-नीच स्वर को ही भाषिक स्वर के नाम से कहते हैं'। उच्चनीच स्वर का तात्पर्य यहाँ पर उदात्त और अनुदात्त स्वर से है। इस प्रकार जैसे 'इरा' पद के उपदेश से कर्म करते समय 'गिरा' पद का उच्चारण निवृत्त हो जाता है, उसी तरह से स्वरान्तर के उपदेश से प्रवचन के समय किये गये त्रैस्वर्य की निवृत्ति समझ लेनी चाहिये।

'मन्त्रोपदेशो वा०' यह सिद्धान्त सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण में मन्त्र का उपदेश किया गया है, स्वर का नहीं। 'इस मन्त्र से अश्वाभिधानी का ग्रहण करते हैं' ऐसा ब्राह्मण वाक्य है। प्रश्न होता है कि तब वहाँ पर भाषिक स्वर का विधान कैसे होता है ? इसका उत्तर है कि ब्राह्मण में भाषा स्वर की प्रवृत्ति प्रायिक आधार पर होती है। अर्थात् ब्राह्मण का स्वर प्रायः भाषिक ही होता है। उसके बीच में यदि मन्त्राम्नाय प्रवचनगत त्रैस्वर्य का पाठ किया जाय तो भाषिक स्वरसन्तान विच्छिन्न हो जायगा। इसलिये यहाँ पर भाषिक स्वर का उपदेश नहीं किया गया है। अतः जपादि मन्त्रों में मन्त्र समाम्नाय में सिद्ध स्वर का ही प्रयोग करना चाहिये। कात्यायन श्रौतसूत्र में भी 'मन्त्रे स्वरक्रिया०', 'भाषिकस्वरो वा', 'तानो वा नित्यत्वात्' इत्यादि सूत्रों से यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्रों के लिये मन्त्राम्नायगत त्रैस्वर्य का अथवा ब्राह्मणगत भाषिक स्वर का प्रयोग करना चाहिये, ऐसा विचार उपस्थापित करके अन्त में तान स्वर का विधान किया गया है। एकश्रुति स्वर तान कहलाता है। एकश्रुति वहाँ होती है, जहाँ कि उदात्तादि स्वरसामान्य का अभाव होता है। याज्यादि के प्रयोग और कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि वह नित्य है, मन्त्र के स्वरूप और उच्चारण आदि का वहाँ निश्चय हो चुका है। 'जुष्टार्पिते च छन्दसि', 'नित्यं मन्त्रे' इत्यादि पाणिनि सूत्रों के प्रमाण पर छन्दपद से कहे जाने वाले ब्राह्मण में विकल्प से आद्युदात्त का और 'नित्यं मन्त्रे' इस सूत्र से छन्द के मन्त्रभिन्न भाग में आद्युदात्त का विधान है। मन्त्रभिन्न वेदभागीय स्वर ही भाषिक स्वर कहलाता है, यह वाचस्पत्य कोश का कथन है। सामान्य भाषा में 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' इस सूत्र के आधार पर स्वर का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ पर छन्दस्त्व का अभाव है।

शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये प्रतिज्ञासूत्रपरिशिष्टे 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्युक्तम्। तत्राद्यो भागः कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतास्मारकः, मन्त्रेण स्मृतं कर्म कर्तव्यमिति नियमार्थवचनम्। 'मन्त्रान्तैः कर्मादिः सान्निपात्योऽभिधानात्' इति कल्पकृदुक्तेः। मन्त्रभागः संहितारूपः। तत्रापि 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० ३४।२०) इत्यादिषु न मन्त्रत्वम्। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (वा० सं० ३०।५) इत्यादिब्राह्मणाध्यायद्वयस्य ब्राह्मणत्वमेवेत्याचार्यैरुक्तत्वात्। तथापि मन्त्रान्तर्गतत्वान्मन्त्रधर्मा एव सर्वे भवन्ति। तथैव ब्राह्मणान्तर्गतमन्त्रभागानामपि ब्राह्मणधर्मा एव भवन्ति। ब्राह्मणभागो विधिनिषेधार्थवादनामधेयरूपो भवति।

शुक्लयजुःप्रातिशाख्येऽष्टमेऽध्याये 'शुचिना' (१७), 'शुचौ देशे' (१८) इति सूत्राभ्यां शुचिना त्रैवर्णिकेन यथावदुपनीतेन स्मार्तशौचाचारवता 'शूद्रपतितयोरसंश्रावं स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (१९) चतुर्थपतितयोर्यथा संश्रवं न स्यात्तथा स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्युक्तम्, स्वाध्याये मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपे स्वरप्रक्रिया चोक्ता। 'तस्मिन् शुक्ले याजुषाम्नाये माध्यन्दिनीयके मन्त्रे स्वरप्रक्रिया' (३) (प्रतिज्ञापरिशिष्टे) इत्यादिभिः पूर्वं मन्त्रे सोक्ता। 'स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः' इति प्रातिशाख्यसूत्रेण छन्दसि स्वरसंस्कारयोर्नियमः। स्वरा उदात्तादयः, संस्कारा वर्णागमादेशलोपविकारप्रकृतिभावप्रभृतयः। अत एव न मन्त्रब्राह्मणाभ्यां वेदभागाभ्यामन्यत्र स्वरप्रक्रिया दृश्यते। अस्मिन् ग्रन्थे कात्यायनेन महर्षिणा विशेषेण माध्यन्दिनीयशाखायाः स्वराः प्रोक्ताः। मध्यन्दिनसंज्ञेन लब्धो याज्ञवल्क्याच्छाखाविशेषो माध्यन्दिनीयः। तमधीयते विदन्ति वा ते माध्यन्दिनीया उच्यन्ते। 'उच्चैरुदात्तः' (पा० सू० १।२।२९), 'नीचैरनुदात्तः' (पा० सू० १।२।३०) इत्यादिभिरुदात्तादिलक्षणान्युक्तानि। 'हृद्यनुदात्तः' (४), मूर्ध्न्युदात्तः' (५), 'श्रुतिमूले स्वरितः' (६) इत्यादिभिर्हस्तस्वरा निर्दिष्टाः। तत्रैव 'एवं जात्यादयोऽभिहिताः' (७) 'जात्यः क्षैप्रोऽभिनिहितस्तैरोव्यञ्जन एव च। तैरोविरामः प्रश्लिष्टः पादवृत्तश्च सप्तमः॥' इत्यादिनारदोक्ताः। तत्रैव—'ब्राह्मणे

शुक्ल यजुर्वेद के प्रातिशाख्य के प्रतिज्ञासूत्र नामक परिशिष्ट में 'मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद है' ऐसा कहा गया है। इनमें पहला मन्त्रभाग कर्म के अंगभूत द्रव्य और देवता का स्मारक है। यह वचन इसलिये है कि मन्त्र के द्वारा स्मरण करके ही किसी कर्म का विधान किया जाय। किसी कल्पकार ने कहा भी है कि मन्त्रभाग से कर्म के अंगभूत सन्निपत्योपकारक द्रव्य-देवतादि का स्मरण किया जाता है। मन्त्रभाग संहिता के रूप में उपलब्ध है। इनमें भी 'वसन्ताय०' इस तरह के वाक्य मन्त्र नहीं कहलाते, क्योंकि आचार्यों ने बताया है कि 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' इत्यादि दो अध्याय ब्राह्मणभाग के अन्तर्गत आते हैं। तो भी इनका पाठ मन्त्रभाग के बीच में किया गया है, अतः सभी मन्त्रधर्मों का विधान इनके लिये भी होता है। इसी तरह से ब्राह्मणभाग के अन्तर्गत आने वाले मन्त्रभागों में भी ब्राह्मणभाग गत धर्मों का ही विधान होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि ब्राह्मणभाग विधि, निषेध, अर्थवाद, नामधेय आदि विभागों में बंटा हुआ है।

शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य के आठवें अध्याय में 'शुचिना', 'शुचौ देशे' इन दो सूत्रों में बताया गया है कि पवित्र त्रैवर्णिक को, जिसका कि विधिवत् उपनयन संस्कार हो गया है, स्मार्त शौच और आचार का पालन करते हुए चतुर्थ वर्ण शूद्र और पतित को जो न सुनाई पड़े, इस तरह से स्वाध्याय अर्थात् अपनी शाखा का अध्ययन करना चाहिये। स्वाध्याय मन्त्र और ब्राह्मणभाग को मिला कर पूरा होता है। इसमें स्वर प्रक्रिया भी संनिविष्ट है। प्रतिज्ञा परिशिष्ट में पहले मन्त्रभाग के लिये शुक्ल यजुर्वेद के आम्नाय में माध्यन्दिनीय शाखा के मन्त्रों की स्वर प्रक्रिया बताई गई है। 'स्वरसंस्कारयोर्नियमः' इस प्रातिशाख्य सूत्र के अनुसार छन्द में ही स्वर और संस्कार का नियम माना गया है। उदात्तादि स्वर और वर्णों के आगम, आदेश, लोप, विकार, प्रकृतिभाव प्रभृति संस्कार कहे जाते हैं। इसीलिये वेद के भाग मन्त्र और ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं स्वरप्रक्रिया के दर्शन नहीं होते। इस ग्रन्थ में महर्षि कात्यायन ने विशेष रूप से माध्यन्दिनीय शाखा के स्वरों का वर्णन किया है। मध्यन्दिन नाम के शिष्य ने याज्ञवल्क्य से जिस शाखा विशेष को प्राप्त किया, वह माध्यन्दिनीय कहलाती है। इसका अध्ययन करने वाले और इसको समझने वाले भी माध्यन्दिनीय कहलाते हैं। 'उच्चैरुदात्तः' इत्यादि से उदात्तादि स्वरों के लक्षण बताये गये हैं। 'हृद्यनुदात्तः' इत्यादि सूत्रों से उच्चारण के साथ हाथ के संकेतों से उदात्तादि स्वरों का निर्देश किया गया है। वहीं पर 'एवं जात्यादयोऽभिहिताः' इस सूत्र के द्वारा नारद के द्वारा उपदिष्ट जात्य, क्षैप्र, अभिनिहित, तैरोव्यंजन, तैरोविराम, प्रश्लिष्ट और पादवृत्त इन सात स्वरों का भी वर्णन किया गया है। वहीं पर 'ब्राह्मणे

सूदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वरौ' (८) इति सूत्रेण ब्राह्मणभागे उदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वरावुक्तौ। प्रत्यासत्त्या शतपथे स्वरावेतौ, चरकाणां तु ब्राह्मणे, मन्त्रवत्त्रैस्वर्यमिति खाण्डकीयौखीयानाम्, चातुःस्वर्यमपि क्वचित्। बाष्कलादि-ब्राह्मणानां तानरूपैकस्वर्यमिति। साम्नां मन्त्रेऽपि सप्तस्वर्यं प्रातिशाख्येऽभिहितम्।

यदुक्तम्—'ब्राह्मणे भाषिकस्वरविधानाद् ब्राह्मणानां भाषात्वेनावेदत्वम्' इति, तद्बालभाषितम्, 'स्वर-विशेषस्य भाषिकसंज्ञाविधानविरोधात्, भाषायां स्वरनियमाभावाच्च। छन्दस्येव तन्नियमस्योक्तत्वात्। सूत्रादिषु तानस्वरो विहितः। उदात्तादिस्वरसामान्याभावस्तानः। एकश्रुतिरित्यर्थः।

यदुक्तम्—'ब्राह्मणानां छन्दोभिस्तुल्यत्वात् तत्र स्वरप्रक्रिया न वेदत्वात्' इति, तत्तुच्छम्, 'तानस्वराणि छन्दोवत्सूत्राणि' (९) इति कात्यायनपरिशिष्टविरोधात्। अत्र छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीति कृत्वा तत्र तानस्वरो विहितो न भाषिकस्वरः। 'तान एवाङ्गोपाङ्गानाम्, तान एवाङ्गोपाङ्गानाम्' (का० प० ३।२८ भाषिकपरिशिष्टे) इति शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्दो-ज्योतिषादीनां तान उदात्तादिस्वररहित एकश्रुतिस्वरः।

अत एव भाषिकपरिशिष्टसूत्रे—'अथ ब्राह्मणस्वरसंस्कारनियमः' (१) इत्यस्य भाष्य उक्तम्—'तथाहि वक्ष्यति—जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टाच्चेति सूत्रेण पूर्वसिद्धं जात्यादिकमनूद्य भाषिकसंज्ञाम्, तथा स्वरितानुदात्तौ चेति सूत्रेण पूर्वसिद्धस्वरितानुदात्तावनूद्य ब्राह्मण उदात्तं विधास्यति। 'उक्तो मन्त्रस्वरः' (२), 'तेनात्र सिद्धम्' (३)। मन्त्रस्वरलक्षणेन सिद्धं स्वरमनूद्य ब्राह्मणे स्वरलक्षणं विधीयत इति तत्रैवानानन्तदेवयाज्ञिकाचार्यः।

'उदात्तानुदात्तौ भाषिकस्तत्सन्धिः' (४) शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये भाषिकपरिशिष्टसूत्रे उदात्तानुदात्तयोः सन्धिरेकवर्णरूपः, स भाषिकसंज्ञो भवति। यथा—अर्यमा आयुः भानो मित्रो रुर्य्यमायुः। 'अनुदात्तावन्तरेणोदात्तः'

सूदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वरौ' इस सूत्र के द्वारा ब्राह्मण भाग के लिये उदात्त और अनुदात्त भाषिक स्वर का विधान है। प्रत्यासत्ति-न्याय से शतपथब्राह्मण में भी ये ही दोनों भाषिक स्वर हैं। चरकाचार्यों के ब्राह्मणों में तो मन्त्र भाग की तरह तीनों स्वरों का विधान है। खाण्डकीय और औखीय शाखाओं में ही यही नियम है। कहीं-कहीं चार स्वर भी विहित हैं। बाष्कलादि ब्राह्मणों में तान नाम का एक ही स्वर विहित है। प्रातिशाख्य में सामवेद के मन्त्रों के सात स्वरों का भी विवरण मिलता है।

'ब्राह्मण ग्रन्थों में वही स्वर प्रवृत्त हुआ है, जो साधारण भाषा में है, अतः इनको वेद नहीं माना जा सकता' (पृ० १२८)। यह भी बच्चों की सी बात है, क्योंकि इसमें स्वरविशेष की भाषिक संज्ञा के विधान का विरोध होगा। दूसरे भाषा में स्वर का नियम भी नहीं है। यह कहा जा चुका है कि वेद में ही स्वरों का नियम है। सूत्र प्रभृति के लिये 'तान' स्वर का विधान है। उदात्त प्रभृति स्वरसामान्य का जहाँ अभाव रहता है, वहाँ तान स्वर माना जाता है। इसी का दूसरा नाम एकश्रुति स्वर है।

'ब्राह्मण भाग की छन्दो भाग से समानता के आधार पर वहाँ स्वर प्रक्रिया का विधान है, इसका मतलब यह नहीं है कि इनको वेद मान लिया जाय' यह कथन भी गलत है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'छन्द के समान सूत्र भी तान स्वर वाले होते हैं' इस कात्यायन परिशिष्ट से विरोध होगा। यहाँ पर छन्द की समानता के आधार पर सूत्रों में तान स्वर का विधान है, भाषिक स्वर का नहीं। भाषिक परिशिष्ट में बताया गया है कि वेदांग और उपांगों का 'तान' स्वर होता है। इस प्रकार शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष प्रभृति का उदात्तादि स्वर से भिन्न 'तान' नाम का एकश्रुति स्वर होता है।

इसीलिये भाषिक परिशिष्ट सूत्र के 'अथ ब्राह्मणस्वर०' इत्यादि सूत्र के भाष्य में कहा गया है—'जैसे कि 'जात्याभिनिहित' इत्यादि सूत्र से पूर्वसिद्ध जात्यादि का अनुवाद कर भाषिक संज्ञा को तथा 'स्वरितानुदात्तौ' इत्यादि सूत्र से पूर्वसिद्ध स्वरित और अनुदात्त का अनुवाद कर ब्राह्मणों में उदात्त का विधान करेंगे। इसके बाद 'उक्तो मन्त्रस्वरः', 'तेनात्र सिद्धम्' इन सूत्रों के द्वारा मन्त्रों में स्वरलक्षण से सिद्ध स्वर का अनुवाद करके ब्राह्मणों में स्वर के लक्षण का विधान किया जाता है'। इस भाष्य के कर्ता अनन्तदेव याज्ञिकाचार्य हैं।

शुक्ल यजुःप्रातिशाख्य के भाषिक परिशिष्ट सूत्र में उदात्त और अनुदात्त के एक वर्ण रूप सन्धि स्वर को भाषिक स्वर कहा गया है। जैसे कि 'अर्यमा' प्रभृति उदाहरणों में देखा जाता है। 'अनुदात्तावन्तरेणोदात्तः', 'अनुदात्तोदात्तयोः पूर्वमेकदेशः' इन

(६), 'अनुदात्तोदात्तयोः पूर्वमेकदेशः'। तस्मिन् सत्युदात्तवानुदात्तः। एवं सूत्रकृदेकादेशसन्धिर्भाषिकसंज्ञो भवतीत्युक्तवान्। क्वचिदपवादोऽपि भवतीत्यप्याह—आप्रपूर्वं आख्यातपरो न' (७) आप्रपूर्व आख्यातपरश्चोदात्तानुदात्तसन्धिर्भाषिकसंज्ञो न भवतीति। यथा 'आ अ प्राः', 'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि', 'समासश्चानाख्यातपरो न आप्रपूर्वः।' समासश्च अनाख्यातपरोऽपि न भाषिकसंज्ञो भवति। आ इष्ट एष्टा रायः।

'अपूर्वश्च समासो नैव' (९) अ इति ह्रस्वाकारपूर्वः समाससन्धिरपि भाषिकसंज्ञो न भवति। 'स नो विश्वायुः। 'जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टाश्च' (१०) जात्यादयश्चत्वारः स्वरिता भाषिकसंज्ञा भवन्ति। 'एकपदे नीचपूर्वसयवो जात्यः', 'एदोद्भ्यामकारो लुगभिनिहितः। युवर्णौ यवौ क्षैप्रः। इवर्णं उभयतो ह्रस्वः प्रश्लिष्टः। तत्र जात्यो यथा—'धान्यमसि', 'भूर्भुवःस्वः सुप्रजा'। अहिनिहितो यथा—'प्रसवेऽश्विनोः', 'पूष्णेऽग्नये', 'वेदोऽसि'। क्षैप्रो यथा—'त्र्यम्बकं यजामहे', 'द्रवन्तः', 'सर्पिरासुतिः'। प्रश्लिष्टो यथा—'अभीन्धता मुखे', 'दिवीव चक्षुः'।

अत्राप्यपवादाः सन्ति। 'उतो यो मो नो सो च' (११) एतेषां पञ्चानामोकारो भाषिकसंज्ञो भवति। 'ओञ्चंकेषाम्' (१२) एकेषामाचार्याणां मतेन ओकारश्च केवलो भाषिकसंज्ञो भवति—इत्यादिना महता प्रपञ्चेन भाषिकस्वरविचारो दृश्यते भाषिकपरिशिष्टसूत्रे। तस्माद् भाषिकस्वरो भाषास्वरो भवतीति कथनं वक्तुरनभिज्ञतां द्योतयति। भाषिकस्वरो मन्त्रेऽपि भवति पूर्वोक्तस्थलेषु। तदेते श्लोका भवन्ति—'उदात्तः स्वर्यते नीचो नोच उच्चस्वरो भवेत्। ब्राह्मणस्य स्वरो ह्येष ज्ञायते वेदपारगैः॥' इति।

यदुक्तम्—'ब्राह्मणग्रन्थेषु मन्त्राणां प्रतीकोद्धरणेन न केवलं मन्त्राणां व्याख्यानं कृतमपि तु ऋषिदेवतादयोऽप्युक्ताः' (पृ० १२८) इति, तदपि तुच्छम्, तावता ब्राह्मणानामाधुनिकत्वे इतिहास-पुराण-गाथा-नाराशंस्यादी-

सूत्रों के आधार पर पहले अनुदात्त और उदात्त का एक देश हो जाता है। ऐसा होने पर उदात्तवान् उदात्त हो जाता है। इस तरह से सूत्रकार कहते हैं कि आदेश सन्धि ही भाषिक संज्ञक स्वर कहलाता है। कहीं पर अपवाद भी होता है, इस बात को भी सूत्रकार 'आप्रपूर्व' इत्यादि सूत्र से कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आ और प्र जिसके पूर्व में हैं और आख्यात बाद में है, वहाँ पर उदात्तानुदात्त सन्धिस्वरूप भाषिक स्वर नहीं होता। जैसे कि 'आ अ प्राः' इस उदाहरण में देखा जाता है। 'समासश्चा०' इस सूत्र के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि आख्यात से भिन्न पद के आगे रहने पर भी समास में भाषिक स्वर नहीं होता। जैसे कि 'आ इष्ट एष्टा' इत्यादि स्थलों में।

वहीं पर 'अपूर्वश्च समासो नैव' इस सूत्र में बताया गया है कि ह्रस्व अकार जिसके पूर्व में है, वहाँ समास सन्धि रहने पर भी भाषिक संज्ञक स्वर नहीं होता, जैसे कि स नो विश्वायुः। 'जात्याभिनिहित०' इत्यादि सूत्र से बताया गया है कि जात्य प्रभृति चार स्वरित भाषिक संज्ञक होते हैं। इसके बाद यहाँ पर 'एकपदे' इत्यादि चार सूत्रों से जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट स्वरों का लक्षण बताकर उनके उदाहरण दिये गये हैं।

इसके भी अपवाद मिलते हैं। जैसे कि उतो यो मो नो और सो इनमें वर्तमान ओकार भाषिक स्वर वाला होता है और अन्य आचार्यों के मत से केवल ओकार भी भाषिक स्वर का होता है। इस तरह से यहाँ पर भाषिक परिशिष्ट सूत्र में बड़े विस्तार से भाषिक स्वर का विचार किया गया है। इन सब पर विचार करते हुए यह कहना कि भाषिक स्वर लौकिक भाषा में प्रयुक्त होने वाला स्वर है, केवल वक्ता की इस विषय की अनभिज्ञता को ही उजागर करता है, क्योंकि यहाँ हमने विस्तार से बताया है कि पूर्वोक्त उदाहरणों में मन्त्रों में भी भाषिक स्वर प्रयुक्त हुआ है। इस विषय का एक श्लोक यहाँ याद कर लेने लायक है—'जहाँ पर उदात्त स्वर अनुदात्त और अनुदात्त स्वर उदात्त हो जाता है, वेद के पारद्रष्टा विज्ञ जन इसी को ब्राह्मण का स्वर जानते हैं'।

'ब्राह्मणादि ग्रन्थों में मन्त्रों के प्रतीकें देकर 'इति' कहकर न केवल मन्त्रों का व्याख्यान ही किया है, प्रत्युत उनके ऋषि, देवता आदि भी दिये हैं' (पृ० १२८) यह कथन भी तुच्छ है। यदि इतने से ही ब्राह्मणों को आधुनिक माना जाय तो अथर्ववेद में इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी प्रभृति अंशों की उपलब्धि होने से उसकी भी आधुनिकता माननी पड़ जायगी। दूसरे शब्दों में

नामप्यथर्ववेदे वर्णनात् तस्याधुनिकत्वापत्तेः, शब्दान्तरेण तदर्थकथनरूपस्य व्याख्यानस्य पुरुषसूक्तादिमन्त्रेषु दर्शनात् तेषामप्याधुनिकत्वापत्तेश्च ।

यदुक्तं ब्राह्मणप्रमाणैर्मन्त्राणां सृष्ट्यादिनिर्मितत्वं साधितमिति (पृ० १२८), तदपि तुच्छम्, तवास्थया ब्राह्मणानामाधुनिकत्वेन तेषां त्वया प्रामाण्यानभ्युपगमेन तत्सिद्धचसम्भवात् । प्रामाण्ये वा तैरेव ब्राह्मणैर्मन्त्राणामिव ब्राह्मणानामपि परमेशनिःश्वसितत्वोक्त्या सृष्ट्यादौ सिद्धत्वाविशेषात् । सामाजिका एव सृष्ट्यादौ वेदनिर्माणं वदन्ति । सिद्धान्ते तु वेदानां नित्यत्वेन निर्माणस्यैवासम्भवात् ।

यदुक्तम्—'मन्त्रार्थद्रष्टार ऋषयस्तु सृष्टेः पश्चादेवोत्पन्नाः । ब्राह्मणादिग्रन्थास्तु नवीना नवीनर्षिप्रोक्ता एव । यथोक्तम्—'महित्रीणामवोऽस्तु' (का० सं० ७।२), 'इत्येष प्राजापत्यस्तृचः' (७।९), 'स वामदेव उख्यमग्निमवियस्तमवैक्षत स एतत्सूक्तमपश्यत् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथिवीम्' (का० सं० १०।५) (पृ० १२८) इति, तदप्यसङ्गतम् 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' (ऋ० सं० १।१।२), 'रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः। प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषाऽवस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥' (ऋ० सं० ३।३३।५) इति मन्त्रे कुशिकपुत्रवर्णनाच्च त्वदभिमतवेदानामाधुनिकत्वसिद्धचापत्तेः । 'अकारि त इन्द्र गोतमेभिः ब्रह्माण्योक्ता नमसा हरिभ्याम्' (ऋ० १।६३९), 'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी' (ऋ० ९।११२।३), 'सौधन्वनासः' (ऋ० १।११०।२), 'ऋभवो हि सुधन्वन आङ्गिरसस्य पुत्रा बभूवुः' (नि० ११।१६) इत्यादीनां मन्त्राणामर्थान्तरपरत्वव्याख्यानमाख्यायिकानां सुखाववोधार्थत्वेन व्यक्तिविशेषोल्लेखे तात्पर्याभावादिवर्णनं तु ब्राह्मणेष्वपि न तद्दण्डवारितम् । सिद्धान्ते तु मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्य नित्यत्वाद भूत-भव्य-भविष्यार्थबोधकत्वाच्चातीतानागतवस्तुवर्णनं भूषणमेव न दूषणम्, वेदस्य नित्यत्वेन सृष्टिपूर्वकत्वासिद्धचा सृष्टेश्च शब्दमूलकत्वसिद्धचा प्राचीनार्वाचीनव्यक्तिघटनादिवर्णनेऽपि न पौरुषेयत्वशङ्काकलङ्कपङ्कस्पर्शः ।

अर्थ को स्पष्ट करना ही व्याख्यान कहलाता है । इस तरह का व्याख्यान पुरुषसूक्त प्रभृति के मन्त्रों का देखने को मिलता है, अतः उनको भी नवीन मानना पड़ेगा ?

यह कहना भी गलत है कि 'ब्राह्मणों के प्रमाणों से हम वेदों का आदि सृष्टि में होना कह चुके हैं' (पृ० १२८), क्योंकि आपकी आस्था के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थ तो आधुनिक हैं, उनको आप प्रमाण नहीं मानते, तब उनसे आपकी बात कैसे सिद्ध हो सकती है । यदि ब्राह्मण ग्रन्थों को आप प्रमाण मानते हैं, तो उन्हीं से मन्त्रों की तरह ब्राह्मण भाग भी परमेश्वर के निःश्वास से निकलते हैं, अतः उनकी स्थिति भी सृष्टि के आदि में सिद्ध हो जाने से उन पर नवीनता की आपत्ति नहीं उठाई जा सकती । आर्यसमाजी ही सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों के निर्माण की बात कहते हैं । हमारे मत में तो वेद नित्य हैं, अतः उनके निर्माण का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है ।

'मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि उससे बहुत पीछे हुए हैं । उनका उल्लेख करने वाले ग्रंथ उससे पीछे के होंगे । इन मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों के नाम का सामान्यार्थ हो ही नहीं सकता । अतः ब्राह्मणादि ग्रंथ बहुत नये और ऋषि-प्रोक्त ही हैं । इसके उदाहरण काण्व संहिता में देखो—'महित्रीणामवोऽस्तु,' 'इत्येष प्राजापत्यस्तृचः', 'स वामदेव' इत्यादि' (पृ० १२८) । यह कथन भी असंगत है, क्योंकि 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' इस ऋग्वेद के मन्त्र में पूर्व ऋषियों का तथा 'रमध्वं वचसे...... कुशिकस्य सूनुः' यहाँ पर कुशिक के पुत्र का वर्णन होने से आपके अभिमत वेदों की भी आधुनिकता की आपत्ति आपकी ही पद्धति से उठ खड़ी होगी । इसी तरह से 'अकारि त इन्द्र गोतमेभिः', 'कारुरहं ततो भिषक्', 'सौधन्वनासः', 'ऋभवो हि सुधन्वन आङ्गिरसस्य पुत्रा बभूवुः' इन सब मन्त्रों में आये हुए पदों का अर्थान्तर करना और आख्यायिकाओं का उपयोग केवल विषय को सरलता से समझने के लिये मानना, उनका व्यक्तिविशेष में तात्पर्य न मानना, ये सब बातें ब्राह्मणों के पक्ष में भी मान लेने को कोई रोकने वाला नहीं है । हमारे मत से तो मन्त्र-ब्राह्मण समुदाय पूरा नित्य है, यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान सभी त्रिकाल की वस्तुओं का बोधक है, अतः यहाँ पर अतीत और अनागत घटनाओं का वर्णन इसकी महत्ता को बढ़ाने वाला है, इसके लिये शोभा की बात है, दूषण नहीं । वेद नित्य है, अतः इसकी रचना सृष्टि के आरंभ में हुई, इस बात को हम लोग नहीं मानते । इसके विपरीत हमारे यहाँ सृष्टि ही शब्दपूर्वक मानी जाती है, अर्थात् वैदिक शब्दों के आधार पर ही परमात्मा इस जगत् के सभी पदार्थों की सृष्टि करता है । इस तरह से प्राचीन और अर्वाचीन

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (३४) इत्यापस्तम्बसूत्रव्याख्याने 'कैश्चित्तु मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम्' इति धूर्तस्वामिना उक्तम्। अत्र 'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्' इत्यनेन ज्ञायते यदापस्तम्बात्पूर्वमाचार्या मन्त्राणामेव वेदत्वं मन्यन्ते स्म' (पृ० १२९) इति, तत्तु कुशकाशावलम्बनम्, पूर्वोत्तरमीमांसादिषु सर्वत्रैव सिद्धान्तनिर्धारणाय पूर्वपक्षवर्णनं दृश्यते, न तावता पूर्वपक्षस्य शिष्टजनपरिगृहीतत्वं भवति। तथाहि—'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' (मी० सू० १।१।२७) इति सूत्रे पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वमेवोक्तम्, न तावता तस्य ग्राह्यत्वं वक्तुं शक्यते। कथं पुनः कृतका वेदा इति केचिन्मन्यन्ते, यतः पुरुषाख्याः पुरुषेण समाख्यायन्ते वेदाः काठकं कालापकं पैप्पलादकमिति शाबरभाष्यम्।

यदुक्तम्—'आपस्तम्बसूत्रमिदं पश्चात् प्रक्षिप्तम्' (पृ० १२९) इति, तत्तु सामाजिकदुःस्वभावमूलकमेव। तदभिमते वेदेऽपि पाश्चात्यैः प्रक्षिप्तत्वमुच्यत एव, नास्तिकतुण्डस्य निरङ्कुशत्वात्।

यदुक्तम्—'महाभारतकालानन्तरं याज्ञिककाल आगतः। तत्र यज्ञेषु ब्राह्मणानामत्युपयोगाद् औपचारिकं वेदत्वं तत्र स्वीकृतम्। न केवलं ब्राह्मणे धर्मशास्त्रेष्वप्याम्नायपदप्रयोगः प्रवृत्तः। 'यत्र चाम्नायो विदध्यात्' (१।५१) इति गौतमधर्मसूत्रे मस्करिणोच्यते—'अथवाम्नायशब्देन मनुरुच्यते इति, तथैव ब्राह्मणेष्वपि मन्तव्यम्, स्मृतिग्रन्थेऽप्याम्नायशब्दप्रयोगात्। स्मार्तधर्माधिकारे हि शङ्खलिखिताभ्यामुक्तम्—'आम्नायः स्मृतिधारकः' इति। ग्रन्थाकारगतायाः स्मृतेस्तत्कृतग्रन्थाम्नायः स्मृतिग्रन्थाध्यायिनां स्मृतिधारणार्थत्वेनोक्त इति। अर्थात् स्मृतिग्रन्थेष्वप्याम्नायशब्दप्रयोगात् शङ्खलिखिताभ्यां च तथैवोक्तेः स्मृतिग्रन्थाध्यायिनः स्वमूलमाम्नायं गदितं शक्नुवन्ति' (पृ० १२९-१३०)

व्यक्तियों का, घटनाओं का वर्णन यहाँ पर मिलने पर भी उसके आधार पर मन्त्र-ब्राह्मण समुदायात्मक वेद में किसी भी तरह से पौरुषेय होने की शङ्का के कलंक रूपी पंक से तनिक भी स्पर्श नहीं होता।

'इस सारे लेख से यह ज्ञात हो चुका है कि मन्त्र-संहिताएं ही वेद हैं। वही अपौरुषेय हैं। अत्यन्त प्राचीन आचार्य ऐसा ही मानते थे। आपस्तम्बपरिभाषासूत्र—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' की व्याख्या में धूर्तस्वामी लिखता है—'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्'। अर्थात्—कई एक आचार्य मन्त्रों को ही वेद मानते हैं। इस लेख से प्रकट है कि धूर्तस्वामी की दृष्टि में आपस्तम्ब के काल से पहले के कई आचार्य मन्त्र भाग को ही वेद मानते थे' (पृ० १२९)। यह भी नदी की बाढ़ में बहते हुए आदमी के कुश-काश का, तिनके का सहारा लेने के समान है। पूर्व और उत्तर मीमांसा में सभी जगह सिद्धान्त पक्ष को स्थिर करने के लिये पूर्वपक्ष का वर्णन भी मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह पूर्वपक्ष भी शिष्टजनों के द्वारा स्वीकृत हो। जैसे कि 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' इस मीमांसा सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में वेदों को पौरुषेय सिद्ध किया गया है, इसका मतलब यह नहीं हुआ कि यही पक्ष ग्राह्य है। शाबर भाष्य में इसकी व्याख्या इस तरह से की गई है—'कुछ लोग वेदों को कृतक कैसे मानते हैं? इसलिये कि यहाँ पर कुछ शाखाएं पुरुषों के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसे कि काठक, कालापक, पैप्पलादक। ये संहिताएं व्यक्तियों के नामों के साथ जुड़ी हुई हैं।

यह कहना कि—'हमारा विचार है कि यह मूल सूत्र चाहे औपचारिक भाव से ही लिखा गया हो, पर आपस्तम्ब के काल से बहुत अर्वाचीन है। इसलिये संभवतः आपस्तम्ब आदि भी मन्त्रमात्र को ही वेद मानते थे। जब आपस्तम्ब आदि के ग्रन्थों में इस सूत्र का प्रक्षेप किया गया, तब उससे उत्तर काल में लोगों ने ब्राह्मणों को भी वेद मानना आरम्भ कर दिया' (पृ० १२९)। यह कथन आर्यसमाजियों की आदत के अनुसार ही है। आर्यसमाजी जिनको वेद मानते हैं, उनमें भी पाश्चात्य विद्वान् प्रक्षेप की बात करते हैं। बात यह है कि नास्तिकों की खोपड़ी निरंकुश हुआ करती है।

'महाभारतकाल के कुछ पश्चात् एक याज्ञिक काल आया। उसमें ब्राह्मणों का अत्यन्त उपयोग होने का अतिमान होने से ब्राह्मणों को औपचारिक दृष्टि से वेद कहा गया। ब्राह्मणों को ही क्या, धर्मशास्त्रों को भी कभी-कभी औपचारिक दृष्टि से आम्नाय कहा गया है। देखो गौतमधर्मसूत्र का टीकाकार मस्करी 'यत्र चाम्नायो विदध्यात्' इस सूत्र पर टीका करते हुए कहता है—'अथवा आम्नायशब्देन मनुरुच्यते'। अर्थात्—आम्नाय शब्द से मनुस्मृति का भी ग्रहण हो सकता है। जब आम्नाय शब्द किसी धर्मशास्त्री की दृष्टि में अपने मूल मनुस्मृति के लिये उपचार से प्रयुक्त हो सकता है, तो याज्ञिकों की दृष्टि में यज्ञक्रिया-प्रधान ग्रन्थों के लिये उपचार से वेद शब्द प्रयुक्त हो गया, इसमें अणुमात्र भी आश्चर्य नहीं। और भी देखो, तन्त्रवार्तिक में भट्ट कुमारिल लिखता है—'स्मृतिग्रन्थेऽप्याम्नायशब्दप्रयोगात्' इत्यादि। अर्थात् स्मृति ग्रन्थों के लिये भी आम्नाय शब्द का प्रयोग हुआ है। शङ्ख-लिखित भी ऐसा

इति, तदपि तुच्छम्, तथात्वे 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मी० सू० १।२।१) इत्यादिरीत्या विधिभागस्यैव विधायकत्वेन शासकस्थानीयत्वाद् मन्त्राणां च विधेयत्वेन भृत्यस्थानीयत्वाद् औपचारिकमेव वेदत्वम्। इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारोपायशासनाच्च शास्त्रत्वमपि विधायकानां ब्राह्मणानामेव स्यात्। मन्त्राणां त्वौपचारिकमेव शास्त्रत्वमपीति विपरीतस्यैव सूचत्वात्। धर्मशास्त्रे त्वौपचारिकमाम्नायत्वमिष्यत एव। भट्टपादीयवचनमपि न त्वदीयाभिप्रायसाधकम्। तदनन्तरमेव ततश्च मन्वादिवाक्यप्रतिषिद्धाचाराणां प्रामाण्यमाशङ्क्य तत्समाहितम्। पूर्वमप्युक्तम्—'यदि वेदविरोधः स्यादिष्येतैवाप्रमाणता। स्मृतिराम्नायशब्देन न तु वेदवदुच्यते॥' आम्नायशब्देन यद्यपि स्मृतय उच्यन्ते, तथापि प्रत्यक्षवेदतदनुप्राणितमन्वादिविरोधे तासामप्रामाण्यस्य व्यवस्थापनात्। अत एव आपस्तम्बवचनं तु बौधायनेन स्मृतिविरुद्धदुष्टाचारोदाहरणान्येव प्रयच्छता निराकृतम्। स्पष्टकामादिहेत्वन्तरदर्शनान्न विरुद्धाचाराणामापस्तम्बवचनस्य वा श्रुतिमूलकत्वोपपत्तिरिति तत्रत्यकौमारिलवचनाच्च।

'मनोर्ऋचः सामधेन्यो भवन्ति' इत्यस्य विधेर्वाक्यशेषे श्रूयते—'मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत् तद् भेषजं भेषजतायै' इत्यत्र ब्राह्मणस्य मनुव्यक्तिप्रतिपादकत्वेन पौरुषेयत्वे सादित्वे च प्राप्ते तत्परिहारमाहुः कुमारिलभट्टपादाः—न वै तच्छ्रुतिसामान्यमात्रम्, नित्येऽपि सम्भवात्। 'यज्ञेऽध्वर्युरिव ह्यस्ति मनुर्मन्वन्तरे सदा। प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते॥ स्थिताश्च मनवो नित्यं कल्पे कल्पे चतुर्दश। तेन तद्वाक्यघटितानां सर्वदैवास्ति सम्भवः॥ तदुक्तिज्ञापनाद्वेदो

ही कहते हैं। अतः स्मृतिग्रंथों के पढ़ने वाले अपने मूल को आम्नाय कह सकते हैं' (पृ० १२९-१३०)। यह कथन भी तुच्छ है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'आम्नायस्य क्रिया०' इस मीमांसा सूत्र के प्रमाण पर विधिभाग के ही विधायक शास्त्र होने से वही शासकस्थानीय माना जायगा और मन्त्रों की विधेयता के आधार पर भृत्यस्थानीयता होगी। इस प्रकार से औपचारिक वेद शब्द का प्रयोग मन्त्र भाग के लिये होने लगेगा, ब्राह्मण भाग के लिये नहीं। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के उपाय को बताने वाला शासन ही शास्त्र होता है। यह लक्षण भी ब्राह्मण भाग पर ही लागू होगा, मन्त्र भाग पर नहीं। इस तरह से मुख्य वेद और शास्त्र ब्राह्मणभाग ही माना जायगा, मन्त्रों में यह औपचारिक मानना पड़ जायगा, इस तरह से यह बात आपके सिद्धान्त से एकदम विपरीत पड़ेगी। धर्मशास्त्रों में तो औपचारिक आम्नाय पद का प्रयोग माना ही जाता है। भट्ट कुमारिल का वचन भी आपकी बात को नहीं सिद्ध कर पाता, क्योंकि इसके बाद ही मन्वादि स्मृति वाक्यों के द्वारा प्रतिषिद्ध आचारों की प्रामाणिकता की आशङ्का उठाकर उनका समाधान वहाँ किया गया है। इसके पहले भी वहाँ कहा गया है कि—'यदि स्मृति शास्त्र का वेद वचनों से विरोध पड़ता है, तो इस दशा में निश्चित रूप से स्मृति शास्त्र को ही अप्रमाण माना जायगा। स्मृति को आम्नाय कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसका प्रामाण्य वेद के समान मान लिया जाय'। आम्नाय शब्द से यद्यपि स्मृतियों का भी बोध होता है, तो भी प्रत्यक्ष वेद और वेदानुवर्तिनी मन्वादि स्मृतियों में किसी बात पर प्रत्यक्ष विरोध उपस्थित होने पर स्मृतियों का ही अप्रामाण्य व्यवस्थापित किया गया है। इसीलिये आपस्तम्ब के वचन को बौधायन ने स्मृति-विरुद्ध दुष्ट आचरणों की प्रतिपादकता के आधार पर उदाहरण देते हुए निराकृत किया है। भट्ट कुमारिल ने भी यहाँ अपनी स्पष्ट टिप्पणी दी है कि आपस्तम्ब ने अपने ग्रन्थ में जिन विरुद्ध आचारों का समर्थन किया है, ये श्रुतिमूलक इसलिये नहीं माने जा सकते कि उनमें क्षुद्र कामना प्रभृति की प्रवृत्ति-कारणता सिद्ध हो जाती है।

'मनोर्ऋचः' इस विधि वाक्य के अंश के रूप में यह वाक्य सुना जाता है कि जो कुछ मनु ने कह दिया है, उसी का सर्वोपरि प्रामाण्य मानना चाहिये। यहाँ पर ब्राह्मण वाक्य में मनु नाम के व्यक्ति का वर्णन होने से वह पौरुषेय और आधुनिक माना जायगा, इस आपत्ति का परिहार भट्ट कुमारिल ने इस तरह से किया है—'व्यक्ति के नाम के आधार पर ब्राह्मण वाक्यों में पौरुषेयता की आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि सामान्य रूप से व्यक्ति का नाम नित्य वेदों में भी आ सकता है। जैसे प्रत्येक यज्ञ में अध्वर्यु विद्यमान रहता है, उसी तरह से प्रत्येक मन्वन्तर में सामान्य रूप से मनु भी विद्यमान रहता है। यह श्रुति भी प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न-भिन्न स्वरूपों में आविर्भूत होती है। प्रत्येक कल्प में सदा ही चौदह मनुओं की स्थिति मानी गई है। इस लिये ब्राह्मणवाक्यगत मनुओं की स्थिति सदा मानी जा सकती है। इन नित्य वर्तमान मनुओं का निर्देश होने से वेद को अनित्य नहीं माना जा सकता।

नानित्योऽतो भविष्यति ! प्रतियज्ञं भवन्त्यन्ये सर्वदा षोडशर्त्विजः ।। आदिमत्त्वं च वेदस्य न तच्चरितवन्धनात् ।' (मी० सू० १।३।७) इत्येवं त्वदुक्तकुचोद्यस्य भट्टपादैः समूलोन्मूलनात् ।

स्मृतिप्रामाण्यसम्बन्धेऽपि भट्टपादैर्बहूक्तम्—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यात् प्रामाण्यं स्मृतिवन्धनम् । अविरोधे हि वेदेन तन्मूलमनुमीयते ।। या च वेदविरुद्धेह स्मृतिः काचन दृश्यते । सा तु स्याद् भ्रान्तिमूलैव न स्पष्टश्रुतिमूलिका ।। स्वातन्त्र्येण प्रमाणत्वं स्मृतेस्तावन्न सम्मतम् । वेदमूलानुमानं तु प्रत्यक्षेण विरुद्धचते ।।......प्रत्यक्षे श्रूयमाणे च न विद्येतानुमानिकम् ।' (मी० सू० १ ३।३) इत्यत्र तन्त्रवार्त्तिके । यदुक्तम्—'मन्त्रमात्रेण विधिना कार्यं चाल्यते स्म कैश्चिन्मीमांसकैः' (पृ० १३०) इति, तत्तु निर्मूलम्, प्रत्यक्षमीमांसाशास्त्रविरोधात् । 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (मै० सं० ३।२।४) इति विधिवाक्यैर्मन्त्राणां विधेयत्वावगमविरोधाच्च । 'मन्त्रेषु सर्वे विधयः सन्ति' (पृ० १३०) इति कथनं तु स्पष्टं धूलिप्रक्षेप एव । नहि मीमांसागतपूर्वपक्षीयवचनेन किञ्चिन्मतं मीमांसकमतं भवति । दयानन्दस्य मन्त्राणामेव वेदत्वसंज्ञा न ब्राह्मणग्रन्थानामिति (पृ० १३१) कथनं तु धाष्टर्यमेव, तदुक्तप्रमाणाभासानां समूलमुन्मूलितत्वात् । मन्त्र-ब्राह्मण-मनु-वशिष्ठ-गोतम-कणाद-वात्स्यायन-व्यास-जैमिनि-पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलि-शवरस्वामि-शङ्कर-रामानुज-निम्बार्क-मध्वाद्याचार्य-वल्लभाचार्य-भट्टपाद-वाचस्पति-श्रीहर्ष-मण्डनोदयनोवट-सायण-महीधराचार्यादिविरुद्धवदने धाष्टर्यमेव हेतुः, न पाण्डित्यम् । तेषां युक्तिखण्डने तु न वराकाणां सामाजिकानां जन्मान्तरेष्वपि सामर्थ्यमायास्यति । सनातनधर्मोद्धारादिग्रन्थानामपि खण्डने नैषां सामर्थ्यम् । यथास्माभिस्तदुक्तीनां खण्डनमक्षरशोऽनूद्य क्रियते, तथैकस्यापि ग्रन्थस्य तैः खण्डयितुमशक्यत्वात् ।

प्रत्येक यज्ञ में षोडश ऋत्विजों का विधान है । ये ऋत्विक् नये नये होते हैं, किन्तु उनके आधार पर वेद की सादिता नहीं सिद्ध की जा सकती' । इस तरह से आपके द्वारा उठाये गये कुचोद्य को भट्ट कुमारिल ने जड़-मूल से उखाड़ फेंका है ।

स्मृतियों के प्रामाण्य के सम्बन्ध में भी भट्ट कुमारिल ने बहुत कुछ कहा है—'श्रुति और स्मृति का विरोध रहने पर स्मृति का अनपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि इनमें परस्पर अविरोध रहने पर ही स्मृतिमूलक श्रुतिवचन का अनुमान किया जा सकता है । जो कोई स्मृतिवचन श्रुतिवचन के विरुद्ध दिखाई पड़ता है, उस स्मृति को भ्रान्त ही माना जायगा । उसके मूल में प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्ध अनुश्रुति की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि स्मृति का स्वतन्त्र रूप से प्रामाण्य नहीं माना जा सकता और प्रत्यक्ष श्रुति के विरोध में अनुमान के द्वारा स्मृति समर्थक श्रुति की कल्पना नहीं की जा सकती । जब प्रत्यक्ष श्रुति सुनाई पड़ रही हो तो उसके विरुद्ध श्रुति का अनुमान कैसे संभव हो सकता है ।' यह सारा प्रतिपादन तन्त्रवार्त्तिक में मिलता है । यह कथन भी सर्वथा निर्मूल है कि—'अनेक ऐसे मीमांसक हो चुके हैं, जो ब्राह्मण का परम आदर करते हुए भी मन्त्र मात्र से ही सारे 'विधिवाद' का काम चलाते रहे हैं' (पृ० १३०) । किन्तु यह बात मीमांसा शास्त्र के सर्वथा विपरीत है । 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस तरह के विधि वाक्यों से ही मन्त्रों की विधेयता की, विनियोग की अवगति होती है । 'मन्त्रों में किसी न किसी प्रकार से सारी 'विधि' कही गई है' (पृ० १३०) यह कथन आँखों में धूल झोंकने के समान है, क्योंकि मीमांसा शास्त्र में पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित मत को सिद्धान्त नहीं माना जा सकता । दयानन्द मन्त्रों को ही वेद मानते हैं, ब्राह्मणों को नहीं (पृ० १३१), यह कथन भी सरासर धृष्टता है । आपके द्वारा उद्धृत अनेक प्रमाणों का हम खण्डन कर चुके हैं । मन्त्र, ब्राह्मण, मनु, वसिष्ठ, गोतम, कणाद, वात्स्यायन, व्यास, जैमिनि, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, शवरस्वामी, शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, भट्ट कुमारिल, वाचस्पति, श्रीहर्ष, मण्डन, उदयन, उवट, सायण, महीधर प्रभृति आचार्यों के द्वारा 'सर्वमान्य रूप से' प्रतिपादित मत के विरुद्ध कहने में धृष्टता ही कारण हो सकती है, विद्वत्ता नहीं । इन आचार्यों के द्वारा दी गई युक्तियों के खण्डन की सामर्थ्य तो इन बेचारे आर्यसमाजियों में जन्म-जन्मान्तर में भी आने से रही । इनकी सामर्थ्य तो 'सनातन धर्मोद्धार' जैसे आधुनिक ग्रंथों के खण्डन में भी नहीं है । जैसे हम यहाँ पर उनकी प्रत्येक पंक्ति को उद्धृत कर उसका अक्षरशः अनुवाद कर खण्डन करते हैं, उस तरह का खण्डन वे हमारे किसी एक ग्रंथ का भी कर सकने में सर्वथा असमर्थ हैं ।